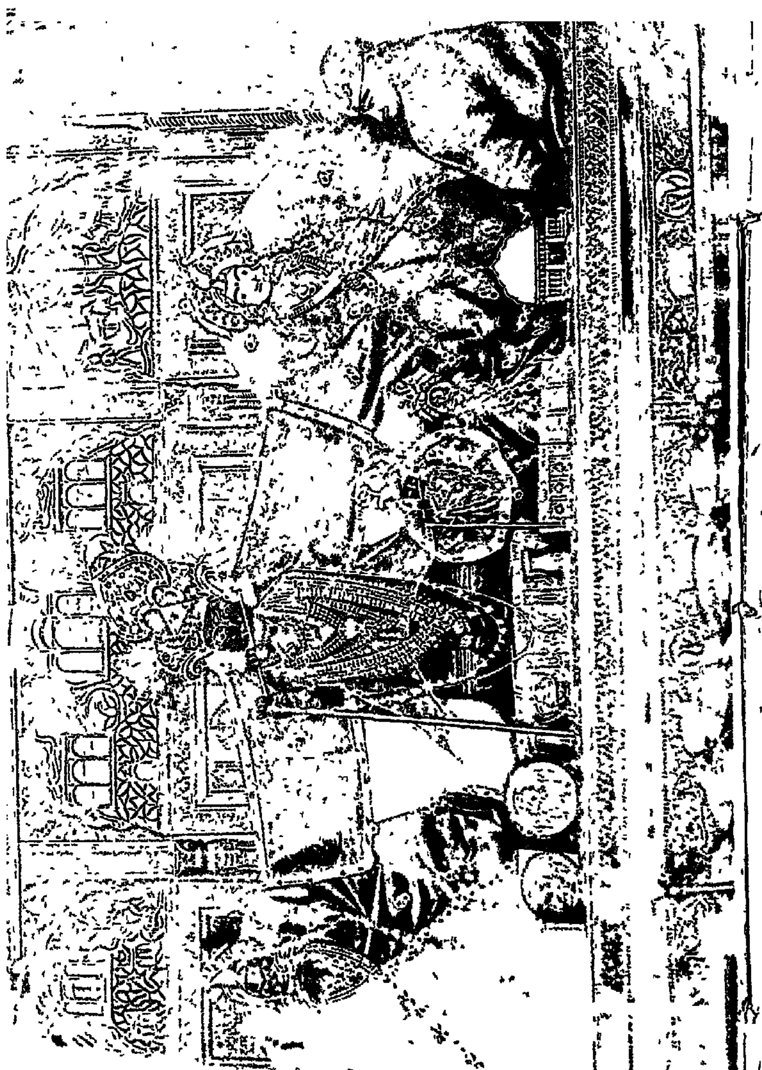


पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ

उपहार

रामचन्द्र पुरोहित, एम०ए०

॥ श्रीः ॥

साहित्य-वाचस्पति सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ

प्रधान-संपादक

वासुदेवशरण अग्रवाल

संपादक-मंडल

गुलाबराय

गोरीशंकर 'सत्येंद्र'

गोपालप्रसाद व्यास

एवं

जवाहरलाल चतुर्वेदी

आयोजक

अखिल भारतीय व्रज-साहित्य-मंडल

मथुरा

प्रकाशक
प्रधान-मंत्री—अखिल-भारतीय ब्रज-साहित्य-मंडल
मथुरा

अक्षय-तृतीया
संवत् २०१०

मुद्रक
के० सी० बोस
बिनानी प्रिंटर्स लि०,
कलकत्ता

ब्रज-साहित्य-मंडल, मथुरा : परिचय

प्राचीन ब्रजभाषा-साहित्य को प्रकाश में लाने, उसका अनुसंधान करने तथा ब्रज की संस्कृति और लोकजीवन की गवेषणा के निमित्त ब्रजमंडल के केंद्र-स्थल मथुरा में हिंदी-साहित्य-परिषद्-द्वारा आयोजित एक संमेलन में कार्तिक कृष्णा ५ संवत् १९९७ रविवार तारीख २ अक्टूबर सन् १९४० को ब्रज-साहित्य-मंडल स्थापित किया गया। इसके मुख्य उद्देश्य थे ब्रज-साहित्य की रक्षा, उसका प्रचार, लोक-संस्कृति में सौष्ठव की प्राण-प्रतिष्ठा तथा हिंदी-साहित्य की उन्नति व उसके प्रचार का प्रयत्न।

इसी अवसर पर ब्रज-साहित्य की खोज-पत्रिका 'ब्रजभारती' का प्रकाशन करने का भी निश्चय किया गया, जिसका प्रथम अंक फाल्गुण १९९७ में प्रकाशित हुआ। इस पत्रिका-द्वारा ब्रजभाषा-साहित्य के अनेक प्राचीन कवियों के संबंध में नवीन शोध-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत की गई तथा ब्रज-क्षेत्र की संस्कृति, उसके उत्सव व त्योहार, ब्रज के महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र, ब्रज के ग्राम-गीत, ग्राम-कहानियाँ व पारिभाषिक शब्द और ब्रज की विविध कलाएँ, ब्रजभाषा-व्याकरण आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर निबंध प्रकाशित किये जाते रहे। इस प्रकार करीब १० वर्ष से ब्रजभारती निरंतर प्रकाशित हो रही है। पहले यह मासिक थी, किंतु अब त्रैमासिक कर दी गई है।

मंडल ने चैत्र शुक्ला १-२ संवत् २००१ तदनुसार २५-२६ मार्च सन् १९४४ को विक्रम-सहस्राब्दी महोत्सव मनाया और एक विक्रम-ग्रंथ प्रकाशित किया। डा० सीताराम इसके अध्यक्ष थे।

ब्रज-साहित्य-मंडल का द्वितीय वार्षिक अधिवेशन ३० मार्च सन् १९४५ को श्री पं० श्रीनारायण जी चतुर्वेदी की अध्यक्षता में दिल्ली में हुआ, जिसका उद्घाटन माननीय श्री श्रीप्रकाश जी के करकमलों-द्वारा हुआ। इस संमेलन के साथ महाकवि 'निराला' जी की अध्यक्षता में एक भव्य कवि-संमेलन भी हुआ जिसका उद्घाटन स्वर्गीय भूलाभाई देसाई ने किया था। इसी अवसर पर मंडल ने 'अष्ट-छाप'-प्रदर्शन का आयोजन किया, जिसमें ब्रजभाषा के अष्ट-छाप के कवियों के काव्य का ही नहीं, तत्कालीन वेष, भूषा तथा कला का प्रदर्शन भी किया गया।

दिल्ली-संमेलन के बाद संस्था को अखिल भारतीय रूप में संगठित किया गया। इसी काल से ब्रज-साहित्य के अनुसंधान के कार्य को बढ़ाने के लिये मंडल ने अपने केंद्र दिल्ली, गोवर्धन, कोसी, सुरीर, बरसाना, वृंदावन में स्थापित किए, जिनकी संख्या अब लगभग ६० है। इन केंद्रों से बहुत से प्राचीन ग्रंथों का पता लगा तथा खोज-कार्य में प्रगति हुई।

ग्राम-साहित्य के संकलन का कार्य भी व्यवस्थित रूप से इसी समय प्रारंभ कर दिया गया। ब्रज-भाषा-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना पर 'श्री निवासदास-पुरस्कार' देने की घोषणा भी दिल्ली में की गई। मंडल के शोध-केंद्रों को प्रोत्साहन देने के लिये 'भारतेंदु-कलश' की स्थापना की गई जो प्रति वर्ष अपने क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ कार्य करनेवाले केंद्र को प्रदान किया जाता है।

वैशाख कृष्णा ३-४ संवत् २००२ ता० १९-२० अप्रैल सन् १९४६ को मंडल का तृतीय अधिवेशन प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी की अध्यक्षता में शिकोहाबाद में मनाया गया। इस अधिवेशन का उद्घाटन साहित्य मनीषी श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने किया। उसके साथ ही ब्रजभाषा-साहित्य पर गंभीर विचार के लिये एक ब्रजभाषा-परिषद् भी हुई।

इस वर्ष मंडल के लिये भवन-निर्माण के कार्य पर विशेष ध्यान दिया गया और बहुत विचार-विनिमय के उपरांत मथुरा की सीमा पर वृंदावन की ओर स्थित 'अंबरीष-टीला' नामक प्रसिद्ध पौराणिक स्थान मंडल के भवन के लिये चुन लिया गया। इस भूमि के क्रय का व्यय पोद्दार हीरक-जयंती के अवसर पर पोद्दार-परिवार के कुछ उत्साही युवकों ने उठाने का निश्चय किया और भूमि खरीद ली गई।

माघ शुक्ला ४-५ संवत् २००२ तदनुसार २६-२७ जनवरी ४७ को काव्य-शास्त्र के देशमान्य आचार्य साहित्य-वाचस्पति सेठ श्री कन्हैयालाल जी पोद्दार का 'हीरक-जयंती-उत्सव' मंडल-द्वारा श्री कृष्ण

दत्त जी पालीवाल के सभापतित्व में मनाया था। श्रद्धेय राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन ने इस महोत्सव का उद्‌घाटन किया। दूसरे दिन वसंतोत्सव मनाया गया जिसके अध्यक्ष श्री वियोगीहरि जी थे। इस जयंती-महोत्सव के समय पोद्दार जी को एक ग्रंथ भेंट करने की भावना जयंती के स्वागत मंत्री श्री रामकृष्ण जी अग्रवाल के हृदय में उत्पन्न हुई। वह अल्पायु में स्वर्गवासी हो गए, किंतु 'पोद्दार-अभिनंदन-ग्रंथ' तैयार करने के लिये हीरक-जयंती पर की गई घोषणा के अनुसार उसे तैयार कराने की व्यवस्था मंडल-द्वारा की गई।

वैशाख शुक्ला ५-६ संवत् २००४ ता० २५-२६ अप्रेल १९४७ को मंडल का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन फिरोजाबाद में श्री श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल की अध्यक्षता में हुआ। इसी वर्ष भाद्रपद कृष्णा ७ संवत् २००४ सितंबर १९४७ को शिक्षण-शिविर का उद्‌घाटन किया गया। यह शिविर १५ दिन तक चलता रहा, जिसमें अनेकों विद्वानों-द्वारा व्रज की लोक-वार्ता, कला, संगीत, इतिहास, साहित्य, लिपि आदि विषयों पर व्याख्यान दिए गए, जिनका संकलन करके 'व्रज-लोक-संस्कृति' नामक पुस्तक प्रकाशित की गई। इसी वर्ष 'व्रज की लोक-कहानियाँ' नामक लोक-साहित्य की पुस्तक मंडल-द्वारा प्रकाशित की गई।

व्रज-साहित्य-मंडल का पंचम अधिवेशन भी एटा में २१ मई १९४८ को श्री श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल के सभापतित्व में हुआ। इस वर्ष मंडल ने 'सूरदास जी की जयंती' का भव्य आयोजन किया, जिसमें सूर-साहित्य पर गंभीर चर्चाएँ हुईं तथा सूरदास जी के चित्र का उद्‌घाटन किया गया। इस जयंती को दिल्ली-रेडियो ने प्रसारित किया और तभी से 'सूर-जयंती' मनाने की अखिल भारतीय परंपरा का सूत्रपात हुआ। इसी वर्ष मथुरा में आयोजित सूर-जयंती का उद्‌घाटन करने के लिये माननीय श्री जगजीवनराम जी मंडल में पधारे और उनकी अध्यक्षता में अत्यंत सफलता से उत्सव मनाया गया। मंडल का छठा अधिवेशन सहारनपुर में पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की अध्यक्षता में अप्रेल सन् १९५० में हुआ। इसी वर्ष माननीय श्री संपूर्णानंद जी मथुरा पधारे, उनके सम्मान में चैत्र शुक्ला १-२ संवत् २००८ दिनांक ७-८ अप्रेल को मंडल की ओर से व्रज के साहित्यिकों और कलाकारों की एक गोष्ठी की गई।

मंडल ने मथुरा के इतिहास प्रसिद्ध अम्बरीष-टीले पर जो भूमि भवन-निर्माण के लिये प्राप्त की है, वहाँ श्री कृष्ण-जन्माष्टमी संवत् २००७ के पुण्य अवसर पर उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री पंडित गोविंदवल्लभ पंत के कर-कमलों-द्वारा प्राचीन सांस्कृतिक विधि-विधान पूर्वक भवन का शिलान्यास संपन्न हुआ। इसी वर्ष भवन-निर्माण-संबंधी कोष-संचय का शुभ श्री गणेश भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू-द्वारा प्रदत्त चैक से हुआ।

चैत्र शुक्ला १-२ संवत् २००८ को सप्तम वार्षिक अधिवेशन मथुरा में आचार्य श्री गुलाबराय जी के सभापतित्व में हुआ। उसका उद्‌घाटन माननीय नरहरि विष्णु गाडगिल ने किया। श्री बनारसी दास जी चतुर्वेदी व्रज-साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष थे।

संवत् २००९ में हाथरस-सम्मेलन हुआ। यह सेठ गोविंददास जी की अध्यक्षता में हुआ और इसका उद्‌घाटन महामहिम राष्ट्रपति श्री राजेंद्रप्रसाद जी ने किया। इस अवसर पर निम्न विशेष कार्य हुए—

१, व्रजनाट्य-परिषद् का उद्‌घाटन। २, व्रजभाषा-भाव-विभूति का प्रदर्शन।

३, हिंदी जनपदीय परिषद् की स्थापना, जिसकी प्रेरणा व्रज-साहित्य-मंडल की स्थायी-समिति ने हाथरस-सम्मेलन का कार्यक्रम निश्चित करते समय की।

४, नवलकिशोर पुरस्कार की घोषणा। ५, महाकवि तुलसीदास के जन्मस्थान की विधिवत शोध के लिए एक समिति का निर्माण।

कृष्ण-मेला—सहारनपुर सम्मेलन में मेले का प्रस्ताव हुआ, परंतु उस वर्ष माननीय पंत जी का परामर्श मानकर मेला स्थगित कर दिया गया था। पुनः संवत् २००८ व २००९ में मंडल ने श्री कृष्णजन्म-भूमि पर मेले का आयोजन किया। माननीय श्री कन्हैयालाल-माणिकलाल जी मुंशी के सभापतित्व में मंडल का एक विशेष अधिवेशन मथुरा में हुआ।

नमोवाक्

साहित्य-वाचस्पति श्री सेठ 'कन्हैयालाल जी' पोद्दार के अभिनंदन की इस सुंदर योजना में जिन-जिन महानुभावों ने ग्रंथ के बीजांकुर से लेकर अंतिम रूप-संपादन तक सहयोग और श्रम-दान दिया है, उनके मधुर कार्यों के प्रति 'नमोवाक' अर्पित है।

ऋग्वेद के 'आ नो भद्रीयं' सूक्त के द्रष्टा ने बहुत ही सुंदर कल्पना की है—

"शतमिन्नु शरदो अंति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् ।
पुत्रासो यत्र पितरो भवंति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गंतो ।।"

आयु के शत-परिमित वर्षों की निधि देवों ने हमारे पास रख दी है। संवत्सरों के उस सैंकड़े पर पहुँच कर हमारे तनु जीर्ण होंगे। वहाँ तक पहुँचते हुए हम पुत्रों को पिता बनता हुआ देखेंगे और तृप्त होंगे। हमारे आयुष्य की वेगवती धारा मध्य में कहीं रिसे नहीं।

श्री सेठ जी का सुंदर पुत्र-पौत्रीण रूप, साहित्यिक-यश की पावमानी स्थिति में पहुँचा हुआ जीवन शतसांवत्सरिक हो, यही उनके सुहृन्मित्रों की अभिलाषा है। इस अभिनंदन-ग्रंथ का पुण्यफल इसी रूप में उन्हें प्राप्त हो।

मथुरा के 'ब्रज-साहित्य-मंडल' ने अपने द्वादशवार्षिक जीवन में साहित्य की वेदि को नई-नई दृष्टियों से पवित्र किया है।

साहित्य की संस्था सचमुच लोक-कल्याण-कारिणी होती है। उससे निकले हुए साहित्य के निर्झर जन-मानस का मंगल-विधान करते रहते हैं। जहाँ साहित्यक मनीषी सौमनस्य के भावों से एकत्र मिलकर बैठते हैं, ऐसा स्थान देवों की सुधर्मा सभा से कम धन्य नहीं कहा जा सकता। वहाँ से साहित्यक गंगा-यमुनाओं की वेगवती धाराएँ जन्म लेती रहती हैं। मंडल ने अपने क्षेत्र में कई उपयोगी कार्य किए हैं। ब्रज के साहित्यिक ऋषि सूरदास जी की जयंती का प्रचार किया, उनके चित्र का उद्घाटन कराया, परासौली में सूर-कुटी पर उत्सव किया, अब उस स्थान के पुनरुद्धार के लिये योजना को आगे बढ़ाया है, कृष्ण-जन्म-भूमि (कटरा केशवदेव) पर कृष्ण मेले का प्रारंभ किया (आशा है कालांतर में इस स्थान पर कृष्ण का एक भव्य सांस्कृतिक स्मारक जन्म लेगा), ब्रज के जनपदीय साहित्य का संग्रह कराया, जनपदीय कार्य की शिक्षा देने के लिये जनपदीय शिक्षण-शिविर की योजना की (इसके प्राण श्री सत्येंद्र जी की महत्त्वपूर्ण सेवाओं को नहीं भूलाया जा सकता), मथुरा के इतिहास की सामग्री का संकलन किया, ब्रज के प्राचीन स्थलों की रक्षा का आंदोलन किया, करहला की प्रसिद्ध कदबखंडी और कुदरबन के रमणीय स्थान को कटने से बचाया, हस्तलिखित ग्रंथों की खोज की, ब्रज-साहित्य के प्रकाशन की प्रेरणा दी, ब्रज-जनपद की लोक-कहानियों का ब्रज-बोली में ही प्रकाशन किया, 'ब्रजभारती' पत्रिका द्वारा मंडल की साहित्यिक गति-विधि को अनुप्राणित किया, हिंदी के प्रमुख साहित्यिक और कवियों की कीर्ति-रक्षा के अवसरों में भाग लिया, मथुरा, वृंदावन, आगरा, एटा, सहारनपुर, शिकोहाबाद, फिरोजाबाद, हाथरस आदि केंद्रों में अपने वार्षिक अधिवेशन मनाकर ब्रज के क्षेत्र में साहित्यिकों को प्रेरणा दी, ब्रज के गाँवों में साहित्य और संस्कृति का नया उत्साह जाग्रत् किया एवं नागरिक-साहित्य और लोक-साहित्य के बीच के अंतर को दूर किया। ब्रज-साहित्य-मंडल अपने कार्यकर्ताओं के विषय में भाग्यशाली रहा है। ब्रज की जनता और साहित्यिक कार्यकर्ताओं के अपूर्व उत्साह के कितने ही मधुर चित्र नेत्रों के सामने आ जाते हैं। अनेक साहित्यिक मित्रों का मुझे स्मरण आता है, जिन्होंने मंडल के इन सांस्कृतिक कार्यों में अपने समय, शक्ति और धन का उन्मुक्त दान दिया। सर्व श्री सत्येंद्र जी, जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, प्रभुदयाल जी मीतल, जोशी बाबा राधेश्याम, गोपालप्रसाद जी व्यास, बाबू गुलाबराय जी, महेंद्र जी, रामनारायण जी अग्रवाल, कृष्णदत्त जी वाजपेयी, मदनमोहन जी नागर, गोपालदत्त जी शर्मा, बनारसी-

दास जी चतुर्वेदी, वालकृष्ण जी 'नवीन', द्वारकाप्रसाद परीख, जगदीशप्रसाद जी चतुर्वेदी, सिद्धेश्वरनाथ श्रीवास्तव, कामेश्वरनाथ जी, चद्रभान जी आदि कितने ही सम्मानित साहित्यिकों का स्मरण मन को प्रसन्न करता है। इस परिवार के और भी गावो में फैले हुए कितने ही सदस्य हैं। काम को उत्साह पूर्वक वॉट कर आगे बढाने में उन्होने सदा तत्परता का परिचय दिया और मुझे एक भी अवसर ऐसा याद नही जब इन सज्जनो को साहित्यिक कार्य के लिये दी हुई प्रेरणा फलवती न हुई हो।

हमारे इस सुखी सारस्वत कुटुब के 'पितामह' सेठ जी थे। सब उनके साथ प्रेम के मधुर बधन में बँध गए थे। प्रत्येक कार्य में वे युवक-सदृश उत्साह से प्रेरणा वाँटते, परिपक्व अनुभव से पथ-प्रदर्शन करते और सकल कार्यो की उस 'रीढ' से भी सहायता करते जिसके भरोसे ऐसे कार्य सपन्न हुआ करते हैं। मडल के भवन का निर्माण करने के लिये अबरीष-टीले की भूमि का क्रय उनकी ही सहायता से समव हुआ। मडल के कार्यकर्ता सेठ जी के इस अभिनदन में अपनी ही साहित्यिक भावनाओ को मूर्तिमान् देखते हैं। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं। साहित्य, सस्कृति और धर्म के साथ उनका सबध नित्य महत्त्व रखता है। सेठजी के निमित्त से इस अनुष्ठान की पूर्ति देखकर आज हम सब प्रसन्न हैं। जैसा श्री सत्येंद्र जी ने भूमिका में लिखा है—'पोद्दार अभिनदन-ग्रथ' का प्रथम सकल्प स्वर्गीय राम-कृष्ण अग्रवाल के मन में आया और २६ जनवरी १९४७ को अभिनदन-ग्रथ-निर्माण का निश्चय मडल की प्रबध समिति ने किया, आरभ में श्री सत्येंद्र जी ने ही इस कार्य को मुख्य रूप से सँभाला। उन्होने इसकी रूपरेखा तैयार की और अनेक लेखको को पत्र लिखकर लेखो का सग्रह किया। पीछे ग्रंथ का कार्य कई कारणो से मद पड गया और सन् १९४९ के आरभ में लगभग ऐसी स्थिति हो गई कि ग्रथ-प्रकाशन के विषय में सदेह होने लगा। सयोग से जून १९४९ के अतिम सप्ताह में मैं मथुरा गया, वहाँ व्रज-साहित्य-मडल की बैठक हुई, साहित्यिक मित्र ग्रथ के विषय में चिंतित थे। सोचा गया कि इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण आयोजन को असमाप्त न रहने देना चाहिए। अतएव अभिनदन-ग्रंथ सबधी समस्त कार्य की पूर्ति के लिये मेरे सुझाव पर एक समिति अलग बना दी गई जिसमें श्री सत्येंद्र जी, श्री गुलाबराय जी, श्री गोपालप्रसाद व्यास और मेरा नाम रक्खा गया। इस समिति को ग्रथ की तैयारी सपादन और प्रकाशन के पूरे अधिकार दे दिए गए। तदनुसार सत्येंद्र जी को दिल्ली बुलाकर उस समय तक की आई हुई सब सामग्री मैंने देख ली। आगे के लेखो की रूपरेखा बनवा दी और समिति की एक बैठक में यह तै किया कि सपादन का कार्य दिसबर १९४९ तक पूरा हो जाय और जनवरी १९५० में ग्रथ प्रेस में दे दिया जाय। इन निश्चयो की सूचना २७।७।४९ के पत्र में मैंने अपने प्रिय बधु श्री मदनगोपाल जी पोद्दार को कलकत्ते में दी और जैसे-जैसे ग्रथ की प्रगति होती रही उससे उन्हें सूचित करता रहा। ग्रथ की तैयारी वेग से आगे बढी, किंतु प्रयत्न करने पर भी काम को समेटने में डेढ वर्ष का समय और लग गया, इसमें मेरा ही उत्तरदायित्व है जिसके लिये क्षमा चाहता हूँ। अतत २५।६।५१ को सब लेख सामग्री लगभग १३० चित्रो के साथ श्री मदनगोपाल जी को भेजकर मैंने प्रार्थना की कि कृपया ग्रथ के मुद्रण का प्रबध कलकत्ते में करा दें, जहाँ कागज और छपाई दोनो की सुविधा है। इस सबध में मैं श्री मदनगोपाल जी का उपकार कभी नहीं भूल सकता। वे साहित्यिक अभिरुचि लेकर जन्मे हैं। उनका रोम प्रति रोम साहित्यिक रस में पगा है, जो अब भी उन्हें अपनी ओर खींचता रहता है। कलकत्ते में वे अत्यत व्यस्त एटार्नी का जीवन व्यतीत करते हैं; फिर भी उन्होंने ग्रथ की सामग्री देखकर ९।७।५१ के पत्र में सामग्री के परिवर्धन और सशोधन के सबंध में अनेक उपयोगी सुझाव दिए और तब से निरतर उसके मुद्रण-कार्य को सपन्न कराने में अपना बहुमूल्य समय देते रहे हैं। यह उन्हीं की प्रबध-कुशलता का फल है कि ग्रथ के लिये इतना बढिया कागज और सुदर छपाई उपलब्ध हो सकी। जब इस ग्रथ के आयोजन का निर्णय हुआ था, उस समय मदन-गोपाल जी को इस विषय में कुछ भी ज्ञात न था और अरसे बाद जब वे मथुरा आए, उस समय बात होने पर मडल के अर्थाभाव को यथासभव कम करने के लिये उनके कलकत्ते के परिचय का लाभ

मंडल के कार्यकर्ताओं ने उठाना चाहा और उन्होने विश्वास दिलाया कि कलकत्ते में इसके प्रबंध करने का वे भी उद्योग कर देंगे। हम सब इस आश्वासन से अत्यंत लघुभार हुए। मुझे अतिशय प्रसन्नता है कि उनके बहुविध सहयोग से ग्रंथ इस रूप में संपन्न हो सका है। अपने २६।३।५१ के पत्र में उन्होने मुझे विश्वास दिलाया कि ब्रज-साहित्य-मंडल के एक हितैषी के नाते और साहित्य में कुछ रुचि है इसी प्रेरणा से मैं भी आप लोगो की तरह इस कार्य में सहयोग दे रहा हूँ और साहित्यिक कार्य समझ कर ही इसमें प्रेरित हूँ। यहाँ पर में ब्रजभाषा के अनन्य भक्त और ब्रज-साहित्य के उद्धार के लिये रात-दिन चिंतित रहनेवाले श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकता। सयोग है कि अप्रैल १९५१ में वे मदनगोपाल जी से कलकत्ते में मिले और ग्रंथ की चर्चा आने पर उन्होनें अपने सहयोग का आश्वासन दिया। अतएव जब जून ५१ के अंत में लेख-सामग्री कलकत्ते पहुँची तो जुलाई में श्री जवाहरलाल जी ने उसे सँभाल लिया और प्रूफ, छपाई-संबंधी सब देख-रेख का भार अपने ऊपर ले लिया। यदि वे ऐसा न करते तो न जाने ग्रंथ के प्रकाशन में अभी कितना विलंब और होता। कलकत्ते में ही रहकर मुद्रण-कार्य को उन्होने अथक परिश्रम से पूरा कराया। उनके उस श्रम की मधुर स्मृति इस अभिनंदन-ग्रंथ की पूर्णाहुति के समय मेरे मन में है। यदि ग्रंथ को और प्रतीक्षा में न रखकर रामनवमी संवत् २०१० के लगभग प्रकाशित करने का आग्रह न होता तो 'छठे खंड' में ब्रज-काव्य-माधुरी का चयन और 'सातवें खंड' में ब्रजभाषा के ग्रंथो की सूचियाँ—नायिकाभेद, नखशिख, रीतिग्रंथ, अलंकारग्रंथ, गद्यग्रंथ, संग्रहग्रंथ, विविधग्रंथ और ब्रजभाषा-कवि-नामावलि, जिन्हें जवाहरलाल जी ने तैयार करने का वचन ही नहीं दिया था, वरन् प्रस्तुत भी कर लिया था और भी संमिलित की जाती। मुझे इस बात का खेद है कि श्री गोपालप्रसाद जी व्यास, जिन्होनें अपने मंत्रित्व-काल में और बाद में भी अभिनंदन-ग्रंथ की तैयारी और संगठन में बहुत सहयोग दिया था, सूरसागर के कठिन शब्दो का कोश, जो वे मेरे अनुरोध से बना रहे थे, समय पर उसे न तैयार कर सके और ब्रजभाषा की वह मूल्यवान् सामग्री, जिसके लिये मैं व्यक्तिगत रूप से उत्सुक था, इसमें न जा सकी।

अंत में मैं अपने उन समस्त मित्रों के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ जिन्होने इस ग्रंथ की तैयारी में अपना सहयोग सहर्ष प्रदान किया। इस प्रसंग में लगभग दो वर्षो तक कितने ही विद्वानो से पत्र-व्यवहार का मुझे अवसर मिला। वह मेरे लिये प्रसन्नता का विषय था। कभी-कभी ग्रंथ में अप्रत्याशित विलंब के कारण मुझे ऐसा लगता था कि विद्वान् लेखको के साथ अन्याय हो रहा है, किंतु आशा है कि अब इस कार्य-समाप्ति के अवसर पर उससे उत्पन्न आनंद में वे भी संमिलित होगे। श्री जगन्नाथ जी अहिवासी जिनकी जन्मभूमि ब्रज के बलदाऊ जी नामक स्थान में है, देश के प्रसिद्ध चित्रकारो में हैं। उन्होनें ग्रंथ के लिये ठाकुर जी की वेशभूषा के संबंध में ८५ मूल्यवान् चित्र बनाकर दिए, इसके लिए मैं उनका अत्यंत कृतज्ञ हूँ। श्री नंद बाबू के शिष्य जगदीश जी मित्तल भी होनहार चित्रकार हैं, उन्होने प्राचीन मथुरा-कला के आधारपर अनेक रेखा-चित्र दिल्ली में रहकर मेरे अनुरोध से तैयार किए जो लेखो की पुष्पिका के रूप में छपे हैं, उनका भी मैं आभारी हूँ। बंधुवर श्री मोतीचंद्र जी ने बालगोपाल-स्तुति के सादे और रंगीन ब्लाक अपनी देख-रेख में बबई में तैयार कराए और श्री राय कृष्णदास जी ने युगलमूर्ति और गोवर्धनधारी के रंगीन ब्लाक ग्रंथ के लिए प्रकाशनार्थ दिए। श्री कल्याण जी भाई (करमसी दामजी) बंबई तथा श्री गोपीकृष्ण जी कानोडिया कलकत्ता के 'होली' 'कृष्णगढ-शैली में राधाकृष्ण' और 'सूरसागर' के पद पर राजस्थानी का एक चित्र दिये हैं। इसके लिये मैं उनका उपकार मानता हूँ। जिन जिन महानुभावो ने आर्थिक सहायता देकर इस ग्रंथ के प्रस्तुत करने में सहयोग दिया है उनका भी मैं आभारी हूँ। श्री बाबू गुलाबराय जी और श्री सत्येंद्र जी तो आदि से अंत तक इस आयोजन से संबंधित रहे हैं। एक प्रकार से यह उनके अपने ही परिश्रम का फल है। उनके लिये पदे-पदे कृतज्ञता मेरे मनमें रही है। इस अवसर पर मैं अपने मित्र स्वर्गीय श्री एरिक डिकिसन का

भी कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करता हूँ। वे लाहोर में मयोकालेज के प्रिंसिपल थे। १९४७ के आरंभ में मेरा उनसे परिचय हुआ। अंग्रेज होकर भी भारतीय कला और हिंदी के वे अत्यंत भक्त थे। मुझे अत्यंत आश्चर्य और आनंद हुआ जब 'कवि जान' कृत 'कथा-कुतूहली' का अंग्रेजी अनुवाद एक दिन दिल्ली आकर उन्होंने मुझे सुनाया। उसके लालित्य को किसी प्रकार भी नहीं भुलाया जा सकता। मेरी भूमिका के साथ ग्रंथ को छपाने की बात थी। दुःख है कि उनके अकस्मात् देहावसान से वह अनुवाद लुप्त हो गया। पोद्दार-ग्रंथ के लिये उन्होंने अपना अत्यंत सुंदर अंग्रेजी लेख 'कृष्णगढ़ की राधा' नामक चित्र पर, जिसके आविष्कार का श्रेय पूर्ण मात्रा में उन्हीं को था, लिख कर दिया। वयोवृद्ध प० रामदहिन जी मिश्र का भी लेख-रूप में आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। खेद है कि वे भी ग्रंथ को प्रकाशित रूप में न देख सके।

कुछ लेख ऐसे भी हैं कि जो ग्रंथ के लिये प्राप्त होने पर भी स्थान की मर्यादा के कारण इसमें सम्मिलित न किए जा सके। विद्वान् लेखकों से संपादक-मंडल के साथ मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

कलकत्ते के बिनानी प्रिंटिंग वर्क्स लिमिटेड के अध्यक्ष सेठ श्री गोवर्धनदास जी बिनानी को भी धन्यवाद है जिन्होंने अति तत्परता से मुद्रण-कार्य समाप्त किया। श्री चंद्र भूषण त्रिवेदी ने लेख-टाइप करने और मुद्रणार्थ पाडुलिपि तैयार करने में जो परिश्रम किया उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे आशा है कि ब्रज-साहित्य-मंडल के कार्यकर्ता अपने उत्साहयुक्त कार्यों के लिये नए-नए कीर्ति-स्तंभ स्थापित करेंगे। साहित्यिक कार्य विशाल जनायन पथ है। इस पर चलने का सबको आवाहन है। सरस्वती के उदार प्रांगण में सबके लिये अवकाश है। ब्रज की भागवत संस्कृति, जिसके एक भद्र प्रतिनिधि इस ग्रंथ द्वारा अभिनंदनीय सेठ जी है, समन्वय की संस्कृति है। वह किसी का निराकरण नहीं करती। देव की अनेक विभूतियों में से अपनी-अपनी रुचि या रस के अनुकूल ग्रहण करती हुई सबके प्रति सौमनस्य भाव से आगे बढ़ती है। मथुरा-जनपद ने इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण के निर्माण और प्रसार में दो सहस्राब्दियों तक महत्त्वपूर्ण भाग लिया। एक प्रकार से समन्वय-प्रधान भागवत दृष्टि-कोण हमारा राष्ट्रीय दृष्टि-कोण हो बन गया है। मेरा आवाहन है कि ब्रजभूमि के कार्यकर्ता अपने इस प्राचीन मंत्र को कभी न भूलें। इस दृष्टि-कोण में अनंत रस का स्रोत है।

काशी-विश्वविद्यालय
अक्षय तृतीया
२०१०

वासुदेवशरण

भूमिका

ब्रज-साहित्य-मंडल एक महान् संस्था है, उसके उद्देश्य और कार्य महत्त्वपूर्ण है। लेखक, कवि, कलाकार तथा नवजीवन के सांस्कृतिक अभ्युत्थान में योग देनेवाले महानुभावो का संमान करना ऐसा उपयोगी कार्य है, जिसे मंडल ने सदा प्रमुख स्थान दिया है। इसी सुंदर उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त एक दिन ब्रज-साहित्य-मंडल की कार्य-कारिणी ने यह निश्चय किया कि सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार की 'हीरक-जयंती' मनाई जाय। इस कार्य-कारिणी में एक अत्यंत उत्साही नवयुवक भी था, जिसका नाम रामकृष्ण अग्रवाल था। मंडल का और हमारा दुर्भाग्य है कि यह नवयुवक अल्पायु में स्वर्ग सिधार गया। विशेष खेद इस लिये है कि उसका स्वप्न जिस समय पूर्ण हो रहा है, उस समय उसे देखने के लिये वह स्वयं जीवित नहीं। इस युवक ने हीरक-जयंती के समस्त आयोजन का उत्तरदायित्व अपने कधो पर लिया और उसे निभाने में वह पूर्णत· सफल हुआ। जिस कार्य-कारिणी में हीरक-जयंती-समारोह-संपन्न कराने का निश्चय किया गया था, उसी में इस युवक ने इस बात पर जोर दिया कि हीरक-जयंती मना लेने से ही हमें संतोष नहीं होना चाहिए इस अवसर की स्मृति में कोई ठोस कार्य होना चाहिए। तभी अभिनंदन-ग्रंथ का विचार उदय हुआ और श्री रामकृष्ण के विशेष आग्रह से अभिनंदन-ग्रंथ प्रस्तुत करने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। स्वर्गीय रामकृष्ण अग्रवाल ! आज तुम्हारा संकल्पित कार्य पूर्ण हो रहा है। यह सत्य है कि रामकृष्ण अग्रवाल ने न तो इस ग्रथ के प्रकाशन में योग दिया है, न संपादन में, न किसी अन्य प्रकार से सहायता वह दे सका है, क्योकि ऐसे किसी भी प्रकार के सहयोग के लिए वह जीवित ही नहीं रह सका, फिर भी बीज उसी का बोया था। इसी लिए हम करुणार्द्र होकर यों स्मरण कर रहे है।

स्वरूप और सपादक मडल

इस निश्चय का सभी ने मुक्त कंठ से स्वागत किया, इसका एक कारण था। अभिनंदन-ग्रंथो की एक अच्छी परंपरा है। इस परंपरा में इन ग्रंथो के संपादक भी बहुत उच्च कोटि के विद्वान् रहे, किंतु इस परंपरा में उस समय तक के सभी ग्रंथो में कई ऐसी बातें थीं जिन्हें दोष अथवा अभाव कहा जा सकता था। इनमें किसी व्यवस्थित स्वरूप का पता नहीं चलता, केवल बड़े से बडे विद्वानो के उनके मनचाहे लेख इन ग्रंथो में संमिलित कर दिए जाते थे, ग्रथ एक उद्देश्यहीन संग्रह होता था। इसमें अधिकांश भाग अभिनंदनीय व्यक्ति के जीवन के विषय में अथवा उसके व्यक्तित्व के विषय में रहता था। मंडल की कार्य-कारिणी ने एक नयी दृष्टि प्रदान की। उसने आरंभ में ही यह लक्ष्य स्वीकार किया, कि इस अभिनंदन-ग्रंथ को ब्रज का 'विश्वकोश' बनाया जाय। उसने यह भी निर्देश किया कि ग्रंथ में अभिनंदनीय व्यक्ति के संबंध में ४०-५० पृष्ठ के लगभग ही दिए जायें। इस नवीन दृष्टिकोण के कारण मंडल के इस विचार का हार्दिक स्वागत किया गया। मडल का लक्ष्य ऊँचा था, लगभग एक हजार पृष्ठो का ग्रंथ हो, ब्रज-विषयक समस्त सामग्री पर प्रामाणिक निबंध हो, एव उसकी छपाई-सफाई का स्तर भी ऊँचा हो। इतना ऊँचा लक्ष्य यो ही तो पूरा नहीं हो सकता था। उसके लिए धन का प्रबंध होना आवश्यक था। धन के प्रबंध के संबंध में मडल को अधिक चिंतित नहीं होना पड़ा। कलकत्ता के एक प्रतिष्ठित सेठ श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार तथा सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के एक सुपुत्र कलकत्ता के प्रभावशाली अटर्नी श्री मदनगोपाल पोद्दार ने इसका उत्तरदायित्व सँभाल लिया। उन्होने कहा कि हम कलकत्ता से इसकी व्यवस्था कर लेंगे। धन के इस प्रबंध से कठिन कार्य था अभिनंदन-ग्रंथ के संपादक-मंडल का निर्माण, इस ओर काफी सोच विचार के उपरात यह निश्चय किया गया कि डा० वासुदेव शरण अग्रवाल को प्रधान संपादक बनाया जाय। डा० अग्रवाल उस समय दिल्ली में एशियन ऐंटिक्विटीज म्यूजियम के सुपरिंटेंडेंट थे और, मथुरा के बहुत निकट। डा० सत्येंद्र को यह कार्य सोपा गया

कि वे डा० अग्रवाल से यह भार सँभालने की स्वीकृति प्राप्त कर लें, किंतु उस समय डा० अग्रवाल इतने अधिक व्यस्त थे कि बहुत लिखा-पढ़ी के उपरांत भी यह कार्य सँभालना स्वीकार नहीं किया। डा० सत्येंद्र को लिखा हुआ उनका अंतिम पत्र इस प्रकार था—

नई दिल्ली
ता० २०।१।४७

प्रिय सत्येंद्र जी,

आप का ६।१।४७ का कृपापत्र लाहौर में मिला था। परसों प्रात में लौट कर आया। आशंका है फिर एक बड़ी यात्रा के लिए न जाना पड़े। अपनी वर्तमान परिस्थिति में मेरे लिए अभिनंदन-ग्रंथ किंवा तत्सदृश अन्य साहित्यिक योजनाओं में सहयोग असंभव है। ऐसा कई बार लिखने पर भी आपको विश्वास नहीं हुआ, यह आप के स्नेह का ही सूचक है। परंतु सत्य से हम सब बँधे हैं और सत्य वही है जो मैं लिख चुका हूँ। मेरी यह इच्छा है कि इस ग्रंथ का संपादन आप ही करें। आप की महती साधना का भी जनता को परिचय होना आवश्यक है।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि ग्रंथ के लिए आर्थिक प्रश्न हल हो गया है, आशा है इसे व्रज का सांस्कृतिक कोश बनाने का आप का उद्देश्य सफल होगा।

भवदीय
वासुदेवशरण

तब पोद्दार जी की हीरक-जयंती के अवसर पर मंडल की स्थायी समिति ने सर्व श्री गुलाबराय जी तथा डा० सत्येंद्र को इस ग्रंथ का संपादक नियुक्त किया। बड़ी प्रगति से कार्य आरंभ हुआ, ग्रंथ की विस्तृत योजना प्रसारित हुई, लेखकों से संपर्क स्थापित हुए, उनके वचन आए और उनके निबंध आने आरंभ हो गए, किंतु सभी बड़े कार्यों में कुछ न कुछ विघ्न उपस्थित होते ही हैं। इतना कार्य करके कुछ व्यस्तता के कारण मुझे संपादन कार्य से विरत होना पड़ा। कुछ समय के लिए कार्य रुक गया। एक बार पुनः डा० वासुदेवशरण अग्रवाल से प्रार्थना की गयी, इस बार सौभाग्य से डा० साहब ने कार्य सँभाल लिया। यह हम सबके लिए सौभाग्य और प्रसन्नता की बात थी। मंडल उनका चिर ऋणी है और मेरे लिए तो यह ठीक वैसी ही आनंददायक थी जैसे भक्त की भगवान पर विजय आनंदप्रद होती है। देर से सही, ग्रंथ के हित में मेरा जो पहला संकल्प था कि डा० वासुदेव शरण ही इसके प्रधान संपादक हों वह पूर्ण हुआ। इसका शुभ परिणाम यह सुंदर ग्रंथ स्वयं प्रस्तुत है। हाँ, तब, एक संपादन-समिति का निर्माण किया गया। कार्य की शिथिलता दूर हुई और संपादन कार्य भी चल पड़ा। इस समिति की बैठकें दिल्ली में हुईं। ग्रंथ की समस्त रूप-रेखा दुहरायी गयी। अब सामग्री व्यवस्थित करके और अन्य आवश्यक निबंध मँगाकर प्रकाशन का कार्य आरंभ कराया गया।

प्रकाशन की समस्या कम कठिन नहीं थी—कहाँ छपे, कौन छपाई का कार्य सँभाले, कौन प्रूफ देखे, कौन उसके सौष्ठव का उत्तरदायित्व ले। इस कार्य में श्री मदनगोपाल पोद्दार ने बहुत सहायता पहुँचाई। उन्होंने छपवाने की संपूर्ण व्यवस्था का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। बहुत अच्छे प्रेस का प्रबंध कलकत्ते में किया और अपने मित्र पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी को छपाई और सौष्ठव की देख-भाल के लिए नियुक्त किया। पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी तो इस फन के उस्ताद ठहरे, मनोयोग से कार्य करने में प्रवृत हुए। १९५२ के जून के महीने में मैं भी इस कार्य के लिए कलकत्ता रहा।

संपादन और मुद्रण के अंतर्गत ही एक और महत्त्वपूर्ण अंग रहता है, चित्र और सज्जा का। मेरे संपादन काल में व्रज के प्रसिद्ध चित्रकार जगन्नाथ जी अहिवासी ने इस दिशा में पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया था। उन्होंने ग्रंथ-सज्जा के लिए कितने ही अभिप्राय अंकित कर भेजे थे। बाद

में श्री वासुदेवशरण जी और पं० जवाहरलाल जी चतुर्वेदी ने अभिप्रायो का संकलन किया। श्री वासुदेवशरण जी ने बहुमूल्य ऐतिहासिक और प्रामाणिक चित्रो की व्यवस्था करायी।

इस प्रकार २६ जनवरी १६४७ को जिसका सकल्प किया गया था वह महान् और पुनीत कार्य आज संपूर्ण हो रहा है, ६ वर्ष की दीर्घ अवधि और उसी के अनुकूल परिश्रम के उपरांत।

ग्रथ की मूल रूप–रेखा

यह ग्रंथ एक हजार पृष्ठ से कम का नही होगा। इसमें भारत के प्रसिद्ध चित्रकारो के अनूठे चित्रो की भी यथास्थान सयोजना रहेगी। विविध लेख भी यथा संभव सचित्र होगे।

यह ग्रथ अपने ढग का बिल्कुल नया होगा। इसमें सेठ जी का परिचय तो होगा ही, इसके अतिरिक्त निम्न खंड रहेंगे—

१ अलकार साहित्य-खड इस खड मे सस्कृत और हिंदी के अलकार-शास्त्रो का ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से विशद अध्ययन और शोध-पूर्ण सामग्री रहेगी।

२ व्रज सस्कृति कला-खड व्रज की सस्कृति और कला सबधी प्राय प्रत्येक ज्ञातव्य बातो पर शोध-पूर्ण निबध इसमें रहेंगे।

३ धर्म-खड इसमे व्रज की धार्मिक देन और विविध सप्रदायो पर रचनाएँ रहेंगी।

४ पुरातत्व और इतिहास-खड इसमे व्रज का भूगोल, पुरातत्व और इतिहास सबधी विषयो का निरूपण होगा।

५ साहित्य-शोध-खड व्रज-भाषा और साहित्य की शोध का विस्तृत दिग्दर्शन इस खड का विषय होगा।

६. हिंदी साहित्य-खड हिंदी-साहित्य के रचनात्मक तथा आलोचनात्मक रूपो का परिचय।

७ व्रज-परिचय खड व्रज का विविध दृष्टियो से परिचय—पशु, पक्षी, जन, उद्योग-धधे आदि।

८ वृहत्तर व्रज-खड मे व्रज का सस्कृत, बगला, गुजराती, मराठी आदि मे जो रूप और महत्त्व रहा है उसका परिचय रहेगा। इनके साथ उच्च कोटि के कवियो की कविताओ का भी सग्रह इसमे होगा।

९ मारवाड तथा मारवाडी-साहित्य पर भी एक खड रहेगा।

सक्षेप में यह अभिनंदन-ग्रंथ प्रमुखतः "व्रज का सांस्कृतिक विश्व-कोश होगा", पर यह सिद्ध सत्य था कि न तो रूप-रेखा से किसी लेखक को पूर्णतः बाँधा जा सकता था और न लेखक प्रत्येक विषय पर साधिकार लिख सकते थे। प्रत्येक लेखक अपनी सीमाओ को स्वीकार करके ही सहयोग दे सकता था। फलत. उक्त योजना के अनुसार पूर्ण सफलता मिलना तो सभव कहाँ था, इसी कारण संपादन-समिति ने उसे दुहराया। इस समिति ने ग्रथ को जो रूप प्रदान किया था उसके अनुसार सामग्री का सकलन और सपादन हो चुकने पर जब पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी जी को मुद्रण का भार सोपा गया और उन्होने समस्त सामग्री का निरीक्षण किया तो उन्होने भी कितने ही उपयोगी सुझाव रखे। प्रधान संपादक ने उनसे परामर्श करके ग्रथ को अतिम रूप दिया। इसी अतिम रूप में यह ग्रंथ प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रथ पाच खडो में है—

प्रथम—जीवन और अभिनदन-विषयक खड।
दूसरा—साहित्य खड।
तीसरा—सस्कृति (लीला) ख
चौथा—इतिहास खड।
पाँचवाँ—जनपदीय खड।

इनके अतिरिक्त 'ब्रज-काव्य-चयन' और ब्रज-साहित्य-संबंधी-ग्रंथो की सूचियाँ भी देने का विचार छठे-सातवें खंड के रूप में था, किंतु ग्रंथ के अतिशय विस्तार के कारण वह अंश स्थगित कर देना पड़ा। आशा है 'ब्रज-भारती' के द्वारा वह सामग्री कभी सुलभ की जा सकेगी।

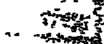
प्रत्येक खंड में अधिकारी विद्वानो के विचार पूर्ण प्रामाणिक निबन्ध दिये गये हैं। यह स्वाभाविक है कि साहित्य-खंड सबसे बड़ा खंड हुआ है। कारण स्पष्ट है सेठ जी की भी रुचि साहित्य में विशेष रही है। उच्च साहित्यक के नाते यह अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट किया जा रहा है, इसी के साथ ब्रज-भाषा-साहित्य-प्रेमी लेखको का समुदाय भी अधिकांशतः साहित्यिक है। कुछ विद्वानो ने हमारे आग्रह से सांस्कृतिक ज्ञान-वर्द्धक विषयो पर लिखना स्वीकार भी किया, उस कार्य में प्रवृत्त हुए, सामग्री एकत्र कर ली, मौलिक और प्रामाणिक साक्ष्य जुटा लिये, अध्ययन कर लिया और अब लिखकर निबंध पूरा करने का विचार कर रहे हैं। उदाहरणार्थ एक मित्र ने ब्रज के पशु-पक्षियो का स्वय निरीक्षण और अध्ययन करके निबंध लिखना आरंभ कर दिया है, दूसरे ने ब्रज के वृक्ष-वनस्पति पर पूरी तैयारी के बाद लेखनी उठा ली है, एक ब्रज के वर्तमान तथा ऐतिहासिक भूगोल का अध्ययन कर चुके है—आदि; किंतु यह अभिनंदन-ग्रंथ अब उनकी साधना के परिणाम का लाभ नहीं उठा सकेगा। इस ग्रंथ के संपादकों को प्रसन्नता केवल यह होगी कि उनकी प्रेरणा से ब्रज के जनपदीय अध्ययन की किन्हीं दिशाओ में कुछ अभाव की पूर्ति हो सकी। फिर भी अनेको ऐसे क्षेत्र शेष हैं, जिनका सुझाव हम लोगों ने प्रस्तुत किया, किंतु कुछ भी कार्य नहीं हो सका, आशा है कि भविष्य में उन विषयों पर भी विद्वान् लेखक प्रवृत्त होंगे और 'ब्रज-भारती' के द्वारा अपने प्रयत्नो का फल प्रस्तुत करेंगे।

यद्यपि मूल योजना में हेर-फेर हुई है, फिर भी मूल-दृष्टि-बिंदु से ग्रंथ च्युत नहीं हुआ। ब्रज के छोटे-से 'विश्वकोश' का कार्य यह भली प्रकार दे सकता है। प्रायः सभी ज्ञातव्य विषयो पर यत्किंचित यहाँ मिलेगा और वह अधिकारी लेखनी से लिखा गया सप्रमाण। हम अनुभव करते हैं कि ब्रज-विषयक अध्ययन और शोध के समय इस ग्रंथ का उपयोग विद्वानो के लिए अनिवार्य हो जायेगा।

ब्रज के साहित्य, धर्म, संस्कृति ने भारतीय राष्ट्र के ऐक्य और समन्वय में बड़ा भाग लिया है। फलतः ब्रज का अपना जनपदीय रूप तो है ही ब्रज का वृहत्तर भारतीय रूप भी है। ब्रज अपनी भूमि में अपने सत्य वृक्ष, लता, भवन, पर्वत, सरिताओ और प्राणियो में अब भी सजीव है, उससे भी अधिक यह ब्रज समस्त भारत के जन-जन में भाषा तथा प्रकृति की सीमाओ की अवहेलना करके व्याप्त है नामो में, भावो में, उत्सवों में, त्यौहारो में; अनुष्ठानो में, ब्रज दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम में विद्यमान है। इसने साहित्य, संगीत और कला में प्रेरणा प्रदान की है, इस ग्रंथ में इन दोनो का स्वरूप दीख सकता है। इसमें उस ब्रज की अनुभूति पाई जा सकती है, जिसे हृदयंगम कराने के लिए बीसवीं शताब्दी में 'अखिल भारतीय ब्रज-साहित्य-मंडल' सचेष्ट है।

इस युग में ब्रज-साहित्य-मंडल ने कितने ही दिशादर्शक कार्य किये हैं। क्या उसका लोक-संस्कृति विषयक दृष्टिकोण, क्या उसका लोक-संस्कृति-परायण शिक्षण-शिविर, क्या उसका लोक-संग्रहालयो का आयोजन, क्या उसका कवियो की स्मृति-रक्षा का उद्योग, क्या उसका ऐतिहासिक-रक्षा का भाव, क्या उसका गाँवो में साहित्य का दीप प्रज्वलित करने का आयोजन तथा क्या गाँव-गाँव में साहित्यिक और सांस्कृतिक जागरण का अभिनिवेश—सभी में ऐसा कुछ रहा है जो प्रभावित, आकर्षित और उत्साहित कर सके। उसी प्रकार यह अभिनंदन-ग्रंथ भी आगे के लिए दिग्दर्शक हो सकता है, ऐसा हमारा अनुमान है।

अंत में हमारा यह कर्त्तव्य है कि उन समस्त विद्वान् लेखकों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करें, जिन्होंने इस आयोजन को सफल बनाने के लिए अपनी अमूल्य रचना हमें प्रदान की, उन कलाकारों का आभार मानें जिनकी कला ने इस ग्रंथ को कमनीय और उपयोगी बनाया है, उन दानदाताओं को बधाई के पुष्प अर्पित करे जिनके त्याग से ग्रंथ प्रकाशित हो सका है। ग्रंथ की तैयारी,



संपादन, मुद्रण और प्रकाशन में जिन-जिन सज्जनों ने सहयोग और सहायता दी है उन सबके प्रति हम कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं।

हम सबके अभिनंदनीय और वंदनीय सेठ कन्हैयालाल पोद्दार जी के जो इष्ट देव हैं, उनकी पुण्य भूमि को नमस्कार कर, सेठ जी के निमित्त से ब्रज के समस्त भक्तों का अभिनंदन करने के लिए यह ग्रंथ आज हिंदी की साहित्य-वेदी पर समर्पित है।

आगरा
अक्षय तृतीया
२०१०

सत्येंद्र

चित्र-सूची

लेख-सूची

श्रद्धांजलि

प्रथम-खंड

साहित्य

द्वितीय-खंड

श्रीकृष्ण और उनकी लीलाएँ

तृतीय-खंड

इतिहास, पुरातत्त्व और कला

चतुर्थ-खंड

ब्रजजनपदीय

पंचम-खंड



श्रद्धाञ्जलि

अभिनंदन

जियो, काव्य के जगत्सेठ, तुम कृती कन्हैयालाल ;
भावों का व्यापार तुम्हारा चला करे चिरकाल ।

—श्री मैथिलीशरण गुप्त

॥ श्रीहरिः ॥

मंगलाचरण

— .o. —

वदन्तितत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यद् ज्ञानमव्ययम् ।
ब्रह्मेतिपरमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

—श्रीमद्भागवत,

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ॥

—महाभारत, आरण्यक पर्व ८६।२२,

पवित्राणा हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते ।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मंगलानां च मंगलम् ॥

—महाभारत, आरण्यक पर्व ८६।२३,

राग—सारग

जाको बेद रटत, ब्रह्मा रटत, संभु रटत, सेस रटत,
नारद-सुक-व्यास रटत पावत नहिं पार-री ।
ध्रुव-जन-पैहलाद रटत, कुंती के पूत रटत,
द्रुपद-सुता रटत नाथ-नाथन प्रतिपार-री ॥
गनिका-गज-गीध-रटत, गौतम की नारि रटत,
राजन की रमनी रटत सुतन करि-करि प्यार-री ।
'नंददास' श्रीगुपाल, गिरिवरधर रूप जाल,
जसुधा की कुँमर लाल, राधा-उर-हार-री ॥

राग—भैरव

मंगल माधौ-नाम उचार ।
मंगल बदन, कमल-कर मंगल, मंगल-जन के सदा सँहार ॥
देखत मंगल, पूजत मंगल, गावत मंगल चरित उदार ।
मगल स्रवन, कथा-रस मंगल, मंगल-तन बसुदेव-कुँमार ॥

गोकुल मगल, मधुबन मंगल, मगल रुचि वृंदावन-चंद ।
मंगल करन गोवरधनधारी, मंगल भेष जसोदा-नंद ।।
मगल धेनु-रेनु-भुव मंगल, मगल मधुर बजावत बेंन ।
मगल गोप-वधू-परिरंभन, मगल कालिंदी-पय-फेंन ।।
मंगल चरन-कमल-मनि मगल, मगल कीरत जगत-निवास ।
अनुदिन मगल ध्यान धरत मुनि, मगल मति 'परमांनंददास' ।।

राग—केदारा

हरि जू की आरती बनी ।
अति बिचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी ।।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँड़ी सेस-फनी ।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती सैल घनी ।।
रवि-ससि-जोति जगत परिपूरन, हरत तिमिर रजनी ।
उड़त फूल उडुगन नभ अतर अंजन घटा घनी ।।
नारदादि सनकादि प्रजापति, सुर, नर, असुर अनी ।
काल-करम-गुन-आदि-अंत नहिं, प्रभु इच्छा रचनी ।।
यह प्रताप दीपक सु निरतर लोक सकल भजनी ।
'सूरदास' सब प्रगट ध्यान में, अति बिचित्र सजनी ।।

राग—केदारा

बदो चरन-सरोज तिहारे ।
सुदर स्याम कमल-दल-लोचन, ललित त्रिभगी प्रान-पियारे ।।
जे पद-पदम सदा सिव के धन, सिंधु-सुता उरते नहिं टारे ।
जे पद-पदम तात-रिस-त्रासत, मन-बच-क्रम पैहलाद सँभारे ।।
जे पद-पदम-परसि जल पावन, सुरसरि-दरस कटत अघ भारे ।
जे पद-पदम परसि रिषि-पतिनी, बलि, नृग, व्याध पतित बहु तारे ।।
जे पद-परम रमत बृ दावन, अहि-सिर धरि अगनित रिपु मारे ।
जे पद-पदम परसि ब्रज-भामिनि सरबस दै सुत-सदन बिसारे ।।
जे पद-पदम रँमत पांडव-दल, दूत भए सब काज सँवारे ।
'सूरदास' तेई पद-पकज, त्रिबिध-ताप-दुख-हरन हमारे ।।

कवित्त

एठ बांध्यौ मुकट, सँमेट घुंघरारे-बार, कुडल चढाए कांन कँलगी सुघट की ।
जाँघिया जकरिकैं, अकरि अग-राग करि, कटिमें लपेटी कसि पेटी पीत-पट की ।।
मृगु-मद अक ढाल सकति तियाकी चिन्ह, 'सूदन' सनाह वनमाल लाल टटकी ।
कोटैंन सुभट की, निहारि मति सटकी, सो सुदर गुपाल की धरैंन भेष नट की ।।

श्रद्धांजलि

श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार

पूज्यचरण भाई साहेब सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार हिंदी-जगत् के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान, सुप्रसिद्ध समालोचक तथा श्रेष्ठ कवि हैं,—पुराने साहित्यिक महारथियो में से एक है। आचार्य द्विवेदीजी के बाद प्राचीन शैली के आलोचको और विचारको में आपका सबसे ऊँचा स्थान है। आधुनिक आलोचना-साहित्य पर विदेशी शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतीय साहित्यिक परंपरा का अध्ययन और अनुशीलन करके उसी दृष्टि से साहित्य की सर्वांगीण समीक्षा करनेवाले विद्वान् प्राय कम देखने में आते हैं। सेठ कन्हैयालालजी ऐसे ही विरल विचारको में समानित स्थान के अधिकारी हैं। अग्रवाल समाज के सुप्रसिद्ध व्यापारी-कुल में जन्म लेकर भी लक्ष्मी की सेवा में न लगकर आपने अपने जीवन का अधिकाश समय सरस्वती की सेवा में ही लगाया। आपका सस्कृत और हिंदी-ज्ञान अगाध है। सस्कृत रचनाओ के मर्म तक आपकी बुद्धि पहुँची है। आपके लेख और कविताएँ बहुत वर्षो से हिंदी के पाठ्यग्रथो में अध्ययन के लिए संकलित हैं। 'काव्य-कल्पद्रुम' में आपने काव्य के सभी अंगो का मार्मिक विवेचन किया है। काव्य-प्रकाश के निर्माता आचार्य मम्मट तथा ध्वन्यालोक के लिए लोचन प्रदान करनेवाले आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने रस-सिद्धात की जो गभीर आलोचना की है, वह बडे-बडे विद्वानो के लिये भी दुरूह है। काव्य-कल्पद्रुम में उन सबकी छाया लेकर बडे मार्मिक ढग से आलोच्य विषयो को स्पष्ट किया गया है। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः' इस भरत-सूत्रपर जो भट्ट लोल्लट, श्रीशकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्तपाद की विभिन्न व्याख्याएँ हैं, उनका मर्म समझने में साहित्य के विद्यार्थी प्राय भूल कर जाते है। श्रीकन्हैयालालजी ने अपने ग्रथ में उपर्युक्त आचार्यो के क्रमश आरोपवाद, अनुमितिवाद, भोगवाद और अभिव्यक्तिवाद का एक-दूसरे से अतर बताते हुए स्पष्ट विवेचन करके अध्ययनशील छात्रो का महान् उपकार किया है। अभिधा, लक्षणा और व्यजना-वृत्तियो के निरुपण में भी आपको पर्याप्त सफलता मिली है। महिमभट्ट के मतका निराकरण करते हुए व्यजना वृत्तिकी स्थापना का प्रकरण भी आपने अच्छी तरह हृदयगम कराने का प्रयत्न किया है। साहित्य पर्यालोचको मे आचार्य मम्मट के सिद्धातपर ही आपकी अधिक आस्था है और उनके सिद्धात को आपने बडी सफलता के साथ स्पष्ट किया है। अलकारो के लक्षण-विवेचन के साथ ही अनुकूल उदाहरण रूप में हिंदी-साहित्यसे उत्तमोत्तम पद्यो का उद्धरण देकर आपने ग्रंथकी सरसता एव उपादेयता को बहुत आगे बढा दिया है।

आपका दूसरा ग्रथ 'सस्कृत-साहित्य का इतिहास' है, जो दो भागो में प्रकाशित हुआ है। इसके द्वारा भी हिंदी में एक बहुत बडे अभाव की पूर्ति हुई है। इसमें सस्कृत-काव्य-परपरा, काव्यगत विशेषताओ की आलोचना-परपरा तथा साहित्य-समीक्षक विद्वानो की सप्रदाय-परपरा का जो क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया गया है, वह हिंदी में अद्वितीय है। प्रत्येक पृष्ठ में, जहाँ दृष्टि जाती है, लेखक के गभीर अध्ययन, दीर्घकालिक मनन, सूक्ष्म दर्शन तथा चमत्कारपूर्ण विवेचन-कलाका परिचय मिलता है। सस्कृत-साहित्य के अनुशीलन से आपकी ज्ञान-गरिमा बढी है और प्रतिपादन-शैली मे बडी प्रौढता आ गयी है। इन दोनो के अतिरिक्त भी कई छोटे-मोटे ग्रथ आपने हिंदी-जगत्को भेंट किये हैं। निबध लिखने की कला में भी आप सिद्धहस्त हैं। महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवत आदि

रामचन्द्र पु॰ किन, त.

पौराणिक साहित्य का भी आपने गहरा अध्ययन किया है। आपके साहित्यिक ही नही, धार्मिक निबंध भी बडे मार्मिक होते है। प्राय प्राचीन साहित्य-समीक्षक लौकिक रति को ही रस मानते आये है। देवविषयक या भगवद्विषयक रति को उन्होने 'भाव' माना है। सस्कृत में सर्वप्रथम गौडीय विद्वानो ने भगवद्विषयक रति को ही वास्तविक रस मानने की बात उठाई है। हिंदी में सर्वप्रथम केवल सेठ कन्हैया-लालजी पोद्दार ने 'कल्याण' में एक लेख लिख कर 'भक्तिरस' को सर्वोत्कृष्ट 'रस' सिद्ध किया है और इस प्रकार रसतत्त्व का निरूपण करनेवाले हिंदी के साहित्यिको के समक्ष एक नूतन सिद्धात विचार के लिए प्रस्तुत किया है। सभव है, उसे पढकर आधुनिक आलोचक अबतक की मानी हुई धारणा को बदलें और भक्तिरस को ही 'रसराज' की उपाधि से विभूषित करे। कल्याण के 'श्रीकृष्णाक' में सेठ श्री कन्हैयालालजी ने अवतारो के भेद-उपभेदो की शास्त्रीय दृष्टिसे जो सूक्ष्म विवेचना की है, वह अनुपम है, उससे आपकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। आपने 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए नि स्वार्थ भावसे ही हिंदी-साहित्य की सेवा तथा श्रीवृद्धि की है। आपमें सस्कृत के श्लोको का उसी छद में हिंदी-अनुवाद करने की अद्भुत प्रतिभा देखी जाती है। कालिदास के 'मेघदूत' का हिंदी पद्यानुवाद आपने इसी प्रकार किया है और वह अनुवाद भाव तथा भाषा सभी दृष्टियो से सफल हुआ है। सेठजी ने दीर्घकालतक हिंदी-साहित्य को अपनी विचार-पूर्ण कृतियो के द्वारा समुन्नत एव समानित किया है, यह हिंदी-जगत् के लिये सौभाग्य की बात है। हिंदी-जगत् आपके इस उपकार का बदला नही चुका सकता। इस 'अभिनदन-ग्रथ' द्वारा हम लोग अपने देश की इस अनुपम विभूति की यत्किंचित् अर्चना करके अपने-आपको ही गौरवान्वित कर रहे है। उनका गौरव तो स्वत सिद्ध है। आपकी विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ ही आपके नाम और यश को सदा प्रकाशित करती रहेंगी। भारतवर्ष को सेठजी के सदृश धर्मपरायण, सयमी, सदाचारी तथा प्रतिभाशाली विद्वान् साहित्यकार की सदा आवश्यकता रहेगी। जीवन के शेष भाग में आप स्वय भगवच्चिन्तन करते हुए साहित्यकों के जीवन में भी भगवद्भाव को बढानेवाली प्रेरणाऍ देते रहें। इन शब्दो के साथ मै आपकी सेवा मे अपनी श्रद्धाजलि भेंट करता हूँ और छोटे भाई के नाते आपके श्रीचरणो में श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम करता हुआ ऐसा आशीर्वाद चाहता हूँ कि जिससे मेरा शेष जीवन अब श्रीभगवान् के स्मरण-चिंतन में ही व्यतीत हो।



सेठजी के व्यक्तित्त्व सूत्र

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

सेठजी से मेरा परिचय सन् १६३१ में हुआ, जब मै मथुरा-सग्रहालय में कार्य करने गया। मथुरा में जिन साहित्यिक मित्रो ने मुझे अपनी ओर खीचा, उनमें श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार मुख्य थे। 'मेघदूत' पर लिखी हुई उनकी टीका से मै पहले ही परिचित हो चुका था, परतु अब सेठजी के खिलखिलाते व्यक्तित्व की परिधि का मै अग बन सका।

स्वामीघाट के निकट चूरूवालो का महल भव्य स्थान है। मथुरा के अनेक साहित्यिक मित्र वहाँ समय-समय पर एकत्र होते और गोष्ठी-सुख का अनुभव करते थे। यह सब मेरे उदीयमान मन के लिये आकर्षण की वस्तु थी और उसमें सेठजी की बालसुलभ सरलता, उनका उन्मुक्त हास्य, आठ पहर खुला हुआ स्वागत-भाव और हिंदी तथा सस्कृत-साहित्यो से सबध रखनेवाली प्रत्येक बात में गहरी रुचि, ऐसा घरेलू वातावरण उत्पन्न करती थी कि वे गोष्ठियाँ साहित्य-सेवियो के लिये सचमुच रस-तृप्ति की साधन बन गई थी। एक बात जो हम सबके मन पर असर डालती, वह यह थी कि साहित्यिको के साथ सेठजी सोलह आने सरस्वती-पुत्र की तरह ही सपर्क मे आते। एक भी उदाहरण ऐसा याद नही, जब धन-सबधी नीरसता ने बीच में व्यवधान डाला हो। यही कारण था कि मित्र लोग स्वच्छदतया वहाँ जमते और सारस्वत गोष्ठियो का जो सरल आनद है उससे छककर लौटते एव बार-बार उसका स्वाद लेने यमुना तट के समीप उस भवन मे एकत्र होते। आज मथुरा पीछे छूट गई है, परतु दस वर्षों तक अजस्र प्राप्त साहित्यिक बैठको के वे सुख भूलने के नही।

जीवन में रच-पचकर बहुत से सेठ-सेठिये धन के सुमेरु खड़े करते हैं, पर साहित्यिको को उसमें अमरता की गध नही आती। कहते है सोने मे सुगध नही होती, इसी कारण साहित्य के भ्रमर वहाँ नही पहुँचते। परतु सरस्वती का कमल जहाँ खिलता है, वहाँ भीना सौरभ चारो ओर फैलता ही है। सेठजी ने भी जीवन में सफल व्यापार किया है। वैश्यो की सहज पैनी बुद्धि से इस क्षेत्र में प्राप्त सिद्धि उनके लिये सच्चे सतोष का कारण है। किंतु उनका साहित्यिक भावो का व्यापार विलक्षण ही है, जिससे उन्होने अपने मानस के देवायतन में शारदा के लिये पूजा के कुछ फूल चढाए। आज इसीलिये हम उनका 'अभिनदन' करते है।

अस्सी वर्ष की आयु में भी सेठजी के मन में साहित्य-सस्कृति-सवर्धिनी रुचि के वे अकुर विद्यमान है, जो केवल सरस्वती-पुत्रो के ही बाँट में आते है। उनका मन द्विधा विभक्त नही है, जीवन में जिस वस्तु की उन्होने उपासना की उसे पाया, यह सतोष उनके श्रद्धावान् मन को आज प्रसन्न रखता है। पाणिनी के शब्दो में कहें तो 'पुत्र-पौत्रमनु भवति' वाले उनके पुत्र-पौत्रीण रूप को देखकर आज उनके मित्र हृदय से प्रसन्न है। जीवन में सबको परिमित समय और शक्ति ही मिलती है, उनका सदुपयोग यदि समय रहते किया जा सके तो यही लाभ है।

सेठजी प्राचीन परंपरागत जीवन-विधि के प्रति आस्थावान् है। वे उस परपरा के प्रतीक है, जो शास्त्रानुमोदित धर्म-कर्मो के श्रद्धायुत प्रतिपालन पर आश्रित है। किंतु उनके ये विचार और जीवन-चर्या एकानंत निजी व्यक्तित्व की परिधि में सिमटे हुए है। अतएव वे सर्वथा निर्विरोध रहकर जगत् के नितप्रति परिवर्तनशील नूतन विधि-विधानो के साथ टकराते नही। यह उनके और

उनके मित्रो के लिये पारस्परिक समझौते का कारण तो है ही, स्वयं उन्हें वर्तमान समाज से खीझने का अवसर नही देता।

साहित्य के क्षेत्र में भी उनका दृष्टिकोण इसी भाव से प्रेरित है। कालिदास, तुलसीदास, व्यास, वाल्मीकि के चार दृढ स्तभो पर जिस भवन का निर्माण भारतीय सस्कृति कर सकी, उसके वे एक नागरिक है। उन्होने परपरागत आलोचनात्मक-ततुओ से इन काव्यो का निरतर रसपान किया है। साहित्यिक जीवन में इसे वे अपनी पूंजी मानते हैं। किसी भी प्रकार की प्रयत्न-साध्य शिक्षा के बिना इन अमर काव्य-ग्रथो की कृपा से ही वे भारतीय साहित्य और संस्कृति का सान्निध्य प्राप्त कर सके है।

एक बात जो हमारे लिये पहेली रही है और आगे भी जिसकी गुत्थी खुलेगी ऐसी आशा नही, वह सेठजी का अलकारो के क्षेत्र में 'गजावलोकन'—हाथी की तरह घूम कर पूरी तरह देखना—है, अथवा हम इसे 'शृगग्राहिकया' प्रवेश कहें तो उपयुक्त रहेगा, अर्थात् अलकारो के 'मरखा बैल' के सीग पकड कर उसे सीधा कर लेना, इसे सचमुच हम सेठजी का साका कहते है। हमारी निजी प्रवृत्ति तो साहित्य की उस अनलकृता शकुतला की ओर रही है, जिसके लिये कालिदास ने लिखा था—

किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम् ?

किंतु इच्छा से, अनिच्छा से, अलकारो की महिमा तो माननी ही पडेगी। उनसे सचमुच काव्य का शरीर सजता है। उनकी परख दुरूह भले ही हो, वे है साहित्य के आवश्यक अग। सेठजी अलकारो के विषय को अपने साहित्यिक आँगन में 'कलोर बछडे' की तरह खेलते हुए पा सके, यह उनकी जन्मातर सिद्धि है।

ब्रज-साहित्य-मडल के लिये सेठजी सास्कृतिक दृष्टि से मथुरा के जनपदीय प्रतिनिधि है। उनका अभिनदन ब्रज-सस्कृति का अभिनदन है। साहित्य, सस्कृति, धर्म, कला और लोक के रूप में ब्रज-मडल का जो रूप इतिहास के पृष्ठो में सपादित हुआ है, उसका परिचय 'ब्रज-साहित्य-मडल' और उसके सस्थापक-सवर्धक श्री सेठजी दोनो के हृदय की वस्तु है। इसी भाव से यह सामग्री प्रस्तुत है। परिमित होते हुए भी यह श्रद्धा की वस्तु है, अतएव ग्राह्य है।



श्रद्धा के कुछ पुष्प

श्री देवीदत्त शुक्ल

विजेता मुसलमानो-द्वारा हिंदी के अपदस्थ कर दिये जाने पर भी वह अपदस्थ नही हो सकी। हिंदी-भाषियो का सास्कृतिक दृष्टिकोण इतने ऊँचे स्तर पर था कि राजनैतिक पराधीनता की दुरवस्था मे भी वे मातृभाषा का प्रेम नही त्याग सके। या यो कहे कि उस दृष्टिकोण के फलस्वरूप उनमे कालातर मे समय-समय पर ऐसे साहित्य-रत्न निकलते आए, जो वरवस हिंदी-भाषियो को अपनी ओर वरावर आकृष्ट ही नही किए रहे, किंतु उनपर ऐसा प्रभाव भी डालते रहे, जिससे उनमें साहित्यानुराग निरतर वढता ही रहा। यह इसी महान् सतत प्रयत्न का महा फल है कि आज हिंदी देश के साहित्य-क्षेत्र में गौरवपूर्ण स्थान ही नही प्राप्त किए है, किंतु उसने अपना स्वाभाविक पद भी प्राप्त कर लिया है और वह आज देश की सरकार-द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप मे ग्रहण की गई है। यह सव उन स्वार्थत्यागी तथा अनन्य मातृभाषा-प्रेमी विद्वानो की वदौलत हो सका है, जो असुविधाओ और विषम परिस्थितियो की परवा न करते हुए स्वात्म-सुखाय उसकी और उसके साहित्यकारो की सेवा-अर्चा मे वरावर सलग्न रहे है। प्रसन्नता की वात है कि हम अपनी उस प्राचीन परपरा को आज भी अक्षुण्ण वनाए हुए है।

जैसी हमारी क्षमता और शक्ति रही है, हमने वरावर मातृभाषा के साहित्य की अभिवृद्धि भी की है और अपने लोक-समादृत साहित्यकारो की पूजा भी। ऐसी ही पूजा-अर्चा का एक अभिनव थाल आज हम लेकर फिर उपस्थित हुए है, जिसकी भेट एक ऐसे ठोस साहित्यिक को की जा रही है, जो आत्म-प्रशसा या 'प्रोपेगेंडा' से सदैव दूर रहा है और जिसने एकमात्र हिंदी के साहित्य का व्यापक अध्ययन कर अपने 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक एक वृहत् ग्रथ से सहस्रो हिंदी-भाषियो की ज्ञान-वृद्धि के लिए एक अमूल्य साधन ही नही उपस्थित कर दिया है, किंतु अपनी सुकृति से मातृभाषा के साहित्य-भडार के गौरव को वढाया भी है। वे स्वनामधन्य साहित्य-मनीषी है मथुरा के वयोवृद्ध सेठ कन्हैयालाल पोद्दार। उनकी इस अवसरपर इस प्रकार अभ्यर्थना और पूजा कर इसके सयोजको ने अपने कर्तव्य का पालन ही नही किया है, किंतु अपनी इस सुकृति से उन्होने मातृभाषा का भी गौरव वढाया है। अतएव इस सत्कार्य के लिए वे लोग भी कम प्रशसा के पात्र नही है।

सेठजी का नाम मैने छात्रावस्था में मित्र-मडली की गोष्ठियो मे सुना था और उनके 'अलकार-प्रकाश' के भी दर्शन किए थे, परतु उनके वास्तविक रूप का दर्शन मुझे उनके 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक ग्रथ में हुआ। सेठजी के सपर्क में आने का सौभाग्य मुझे तव प्राप्त हुआ, जव पडित किशोरीदास वाजपेयी जी ने 'काव्य-कल्पद्रुम' की एक समालोचना 'सरस्वती' मे छपवाई। इसका उत्तर पोद्दारजी ने तुरत ही दिया, जो यथा-समय 'सरस्वती' मे छपा। तदुपरात वाजपेयी जी ने फिर एक लेख लिखा और जव पोद्दारजी ने उसका भी समुचित उत्तर दिया, तव वाजपेयी जी चुप हो गए और वह विवाद एक प्रकार से अधूरा ही रहा। उसका कोई उपयुक्त निष्कर्ष न निकल सका। यह देख कर मुझे दु ख हुआ और मैंने इस वातका अनुभव किया कि वाजपेयी जी के लेख को छापकर मैंने 'सरस्वती' के पृष्ठो को व्यर्थ ही वरवाद किया और एक आदरणीय वयोवृद्ध साहित्यिक को दु ख पहुँचाया, परतु पोद्दारजी के जो पत्र मुझे मिले थे, उनको पुन पढकर मैंने अपना समाधान कर लिया। उन पत्रो में

जो सात्विक भाव तथा सद्विचार सेठजी ने व्यक्त किए थे, वे सर्वथा उनके अनुरूप थे। इसके बाद पडित अबिकाप्रसाद वाजपेयी जी ने 'सरस्वती' मे 'रामचरितमानस' के सबध में अपनी लेखमाला छपवाई तब पोद्दारजी ने उसके विरुद्ध लेख लिख कर भेजा। उसे मैंने आदर के साथ 'सरस्वती' में छापा। यहाँ मै इतना अवश्य कहूँगा कि पोद्दारजी अपनी आस्तिकता के अतिरेक के कारण धोखा खा गए। वाजपेयी जी ने उक्त लेखमाला विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखी थी। यो वाजपेयी जी व्यक्तिगत रूप से आस्तिक ही नही, नियमपूर्वक ब्राह्मणोचित पूजा-अर्चा के बालपन से अभ्यासी है। तो भी यह विवाद साहित्यिको के लिए रुचिकर ही रहा। इन दो प्रसगो के कारण पोद्दारजी से मेरा जो पत्र-व्यवहार हुआ था, उससे मै भले प्रकार जान सका था कि वे साहित्यानुरागी तो है ही, उदात्त चरित के सदसद्विवेकी, सयमशील भक्त पुरुष भी है।

ऐसे महान् पुरुष की आज उनके ८१ वें वर्ष के वय में हिंदी के साहित्यानुरागियो-द्वारा जो अभिनदन किया जा रहा है, उससे सहयोग करना प्रत्येक मातृभाषा-प्रेमी का कर्त्तव्य है और नगण्य होते हुए भी इस सत्कार्य मे भाग लेने का मित्रवर प० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने जो अवसर मुझे प्रदान किया है, उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए मै भी सेठजी के कर-कमलो में यह 'शब्द-पुष्पाजलि' अर्पित करता हूँ और जगदीश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे शतजीवी हो।





[illegible]



[illegible]



[illegible]

पोद्दारजी का घराना और पोद्दारजी

पं० श्री झाबरमल्ल शर्मा

"यथा चतुर्भि· रत्न परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनताप ताडनै. ।
तथा चतुर्भि. पुरुष· परीक्ष्यते ज्ञानेन शीलेन कुलेन कर्मणा ।।"

देश "शेखावाटी" राजस्थान-जयपुर विभाग के अन्तर्गत एक उप-विभाग है। वहाँ आंबेर—जयपुर के कछवाहा राजवश की एक बलिष्ठ एव बहु-सख्या विशिष्ट शेखावत-शाखा का आधिपत्य है। कछवाहा-वश की शेखावत-शाखा का मूल पुरुष आंबेर के तेरहवें अधिपति राजा 'उदयकरण' (वि० स० १४२३-१४४५ तदनुसार सन् १४८०-१५०२ ई०) के अन्यतम पुत्र 'राव बाला' का प्रतापी पौत्र 'राव शेखा' (स० १४९०-१५४५) हुआ, जिसने स्व-बाहुबल से अपनी सत्ता स्थापित की। राव शेखा, जोधपुर-राज्य के सस्थापक वीरवर 'राव जोधा' का सम-सामयिक एव सम-शील योद्धा था। शेखावतो का अधिकार स्थापित होने के अनतर ही इस भाग का नाम 'शेखावाटी' प्रसिद्ध हुआ। 'वाटी' पट्टी का नामांतर है। उदयपुरवाटी[1] झुझुनूवाटी, नरहडवाटी, सिघाटनावाटी, सीकरवाटी और फतहपुरवाटी इत्यादि शेखावाटी के ही अतर्गत है। बांगूर (अलवर) तथा साण-अमरसर और खडेला के इलाके भी पुरानी शेखावाटीके ही अग है। कारण वहाँ शेखावत वश की ही प्रधानता रही है।

रामायण के समय मे यह प्रदेश 'मरुकातार' के अतर्गत था और महाभारत-काल मे इसकी गणना 'मत्स्य देश' में की जाती थी, जिसकी राजधानी का गौरव वर्तमान "वैराठ" को प्राप्त था। वैराठ का ही प्राचीन नाम 'विराट नगर' है। वैराठ की समीपवर्तिनी एक पहाडी की चट्टानपर बौद्ध सम्राट् अशोक का एक अभिलेख प्राप्त हो चुका है, जो विक्रम सवत् के प्राय २०० वर्ष पूर्व का है। यह लेख 'भाब्रू का शिला लेख' के नाम से प्रसिद्ध है और 'रायल एसियाटिक सोसायिटी बगाल' के सग्रहालय मे सुरक्षित है।

दशवी-ग्यारहवी शताब्दी—चोहाणो के शासन-काल में इस प्रात का 'सपाद लक्ष'[2] एव 'अनत'[3] नाम होना पाया जाता है। तत्परवर्ती-समय मे चोहाण, निर्वाण, मोरी, चदेल और जोड इत्यादि क्षत्रिय वशो के अतिरिक्त यहाँ कायमखानी और नागड पठान भी शासन कर चुके है। कायमखानियो के झुझुनू और फतहपुर—दो राज्य थे और नागड पठानो का परगना था नरहड। विक्रम की १८वी शताब्दी के अतिम भाग में शेखावत वीर 'शार्दूलसिंह' (उदयपुर) और 'राव शिवसिंह' (सीकर) ने जयपुर-प्रतिष्ठाता महाराजाधिराज 'सवाई जयसिंह' की सहानुभूति और सहायता से उक्त परगनो पर अधिकार स्थापित कर अपने 'शेखावत उपनिवेश' की सीमा बढायी।[4]

रामगढ

सीकर-सस्थान के 'राव देवीसिंहजी' (स० १८२०-१८५२) ने अपनी सीमा के अतवर्ती नोसा गाँव की जगहँ सवत् १८४८ मे 'रामगढ' की नीव डाली और वहाँ चूरू (बीकानेर) से सेठ

१ यह उदयपुर, मेवाड के उदयपुर से भिन्न है।
२ डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा—'राजपूताना के विभिन्न भागो के नाम'—पृष्ठ ५।
३ हर्ष के पहाड का 'शिलालेख'—श्लोक १६ वाँ, एपिग्राफिया इडिका–भाग २।
४ इस लेख के लेखक-द्वारा लिखित 'शेखावाटी के शिलालेख' शीर्षक लेख।

भगोतीरामजी पोद्दार[1] को उनके पुत्रो-सहित आदर पूर्वक लाकर बसाया, अतएव वह छोटासा गाँव कस्बे का रूप धारण कर "सेठो का रामगढ" कहलाया[2]। सेठ भगोतीरामजी के कारण थोडे ही समय में रामगढ की आबादी ही नही, प्रत्युत समृद्धि के साथ ख्याति भी बढ गई और उसकी गणना शेखावाटी के मुख्य बारह शहरो में हुई।

पोद्दारजी के पूर्व पुरुष

कहा जाता है, चूंकि तत्सामयिक ठाकुर साहब से जगात के प्रश्न को लेकर सेठ भगोतीरामजी की अन-बन हो गई थी। उस समय राव देवीसिंह जी ने वश-परपरा के लिये राज-समान के साथ अपनी ओर से सब तरह की सुविधाएँ देकर उन्हें रामगढ में बसने के लिये उत्साहित किया था। सेठ भगोतीरामजी तीन पुत्रो के पिता और आठ पौत्रो के पितामह थे। उनके पुत्रो में ज्येष्ठ सेठ चतुर्भुजजी ने एक सिद्ध महात्मा यति की श्रद्धापूर्वक सेवा की थी। यतिजी ने कृपापूर्वक उन्हें व्यापार के लिये यात्रा करने का मुहूर्त बताया। तदनुसार चतुर्भुजजी घरसे विदा होकर शहर से बाहर पहुँचे तो मार्ग में दाहिनी ओर एक काला सर्प फन उठाये दृष्टिगोचर हुआ। सर्पको देखते ही अपशकुन समझकर सेठजी लौट आये और सीधे यतिजी के पास पहुँचे—उन्हें अपने मन की बात कही। यतिजी ने सोचकर कहा—तुमने लौटकर अच्छा नही किया, वह अपशकुन नही—शुभ शकुन था और फलत तुम्हारे सरपर छत्र फिरता, अब भी विलब न कर तुरत चले जाओ तुम्हें ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी और तुम्हारा प्रताप बढेगा। अपने श्रद्धेय महात्मा का आशीर्वाद पाते ही चतुर्भुजजी पुन प्रस्थानित हुए और नोहर से भटिंडे पहुँचकर अपनी कोठी की स्थापना की और विपुल रूप में धनार्ज्जन किया। पजाब का भटिंडा नगर उन दिनो व्यापार का एक प्रधान केंद्र बना हुआ था। भटिंडे का नाम सेठ भगोतीरामजी के कृतज्ञ कुल में अब भी बडा शुभदायक समझा जाता है। चतुर्भुजजी-द्वारा प्रतिष्ठित भगवान् श्री चतुर्भुज जी का मदिर रामगढ में उनके पवित्र नाम का स्मरण दिलाने के लिये विद्यमान है।

सेठ गुरुसहायमलजी

सेठ चतुर्भुजजी के पुत्र ताराचदजी सरल स्वभाव के स्वधर्मनिष्ठ सज्जन थे। अपने पुत्रद्वय गुरुसहायमलजी और हरसहायमलजी को छोडकर वे युवावस्था में ही स्वर्गवासी हो गये थे। सेठ गुरुसहायमलजी और उनके कनिष्ठ सहोदर हरसहायमलजी का परस्पर में बडा स्नेह रहा। इन दोनो ही भाइयो ने अपने विशिष्ट गुणो के कारण यथेष्ट ख्यातिलाभकर स्व-कुल का गौरव बढाया। गुरुसहायमलजी ने सवत् १८९०-९१ के लगभग भाई से पृथक होकर अपना वैभव विस्तार किया। व्यापार में पृथकता रहने पर भी पारस्परिक स्नेहभाव में भाइयो ने किसी प्रकार का अतर नही आने दिया। गुरुसहायमलजी ने जिस प्रकार प्रचुर परिमाण में धनार्ज्जन किया, उसी प्रकार मुक्त हस्त होकर उसका धर्म के कामो में विनियोग किया। हिंदी के अन्यतम निर्माता सुदर्शन-सपादक स्वर्गीय पडित माधवप्रसादजी मिश्रके शब्दोमें उनकी धर्मनिष्ठा, ईश्वर-परायणता, साधु-सेवा और ब्रह्मण्यता का चित्र सहस्रो लोगो के हृदय-पटलपर अकित है। उनके चरित से अनेक उपदेशो के साथ यह शिक्षा मिलती है कि दीन-दुखियो की सहायता, विद्वानो का आदर और परोपकार करने से मनुष्य बडा होता है—केवल रुपये के बल से नही। सेठ गुरुसहायमलजी की महत्ता का इससे बढकर उत्कृष्ट उदाहरण क्या हो सकता है कि लोग परस्पर वार्त्तालाप में कहा करते थे कि 'ऐसा तू बडा गुरुसहायमल सेठ आ गया जो, दु ख-

[1] 'पोद्दार-अल्ल' वृत्ति मूलक है। किसी बादशाह या नवाब की पोतेदारी करने के कारण पोद्दार कहलाये। 'पोद्दार' बांसल गोत्र के अग्रवाल वैश्य है।

पोद्दार शब्द का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र प्रकरण ३७ में—"पौतवाध्यक्ष पौतवकर्मान्तात् कारयेत्" आया है। विभिन्न व्यवसाय-वाणिज्य के उपयोगी, अर्थात् रस, रत्न से लेकर वस्त्र और पत्थर तक की माप-तोल और बाँटो का निर्धारण करने का अधिकारी।

[2] सीकर का इतिहास पृष्ठ १०१।

दूर कर देगा।' सेठजी का व्यापार भारत के बडे नगरो, कस्बो और प्रसिद्ध व्यापारिक मडियो तक फैला हुआ था। यही नही—दूर देश चीन के 'हाग-काग' और 'सघाई' मे भी उनकी कोठियाँ थी[1]। वैसे तो आपकी कोठियो पर सराफे के साथ-साथ उस समय के प्रचलित सभी व्यापार होते थे, पर अफीम और बीमा का व्यापार मुख्य था। मालवा प्रात से अफीम खरीद कर बबई-द्वारा चीन भेजी जाती थी। उस समय अफीम का व्यापार बडी उन्नतावस्था मे था और सेठ जी उस क्षेत्र में अग्रगण्य थे। बीमाका व्यापार उस समय किसी विदेशी या स्वदेशी कपनी के हाथ में नही था। वह लूट-खसोट का ज़माना था—रक्षा के साधन भी बहुत स्वल्प थे। उस स्थिति में एक स्थान की वस्तु दूसरे स्थान तक सुरक्षित पहुँचा देने का भार उठाने का साहस सेठजी की कोठियाँ ही करती थी[2]। व्यापार मे जो लाभ होता था उसका एक विशेष भाग पुण्यार्थ-व्यय करने के लिये पृथक् रक्खा जाता था और जो भाग पृथक् रक्खा जाता था उससे भी अधिक व्यय करने में वे आनदानुभव करते थे। मथुरा-वृन्दावन की यात्रा सेठ गुरुसहायमलजी और हरसहायमलजी ने सवत् १६०० के लगभग की थी।

सेठ घनश्यामदासजी

गुरुसहायमलजी के पुत्र घनश्यामदासजी भी साथ थे। उस यात्रा में उनके हृदय में व्रज मे निवास करने का अनुराग उत्पन्न हुआ और वे वर्ष में छह महीने मथुरा और छह महीने रामगढ रहने लगे। सवत् १६०५ में अपने इष्टदेव श्री गोविंददेवजी का मदिर निर्मित कराके उसके भोगरागकी स्थायी व्यवस्था के लिये लक्षाधिक रुपये की स्थावर और जगम सपत्ति समर्पित की। मथुरा में सेठजी का घराना चूडीवालो के नाम से प्रसिद्ध है। वह मुहल्ला भी 'चूडीवाले सेठो की गली' कहलाता है। चूरूवाल का अपभ्रश 'चूडीवाल' होगया।

सेठ गुरुसहायमलजी ने काशी की यात्रा के उद्देश्य से जाकर वहाँ मीरघाट के पास एक कोठी खरीदी, जो 'बडी कोठी' के नाम से विख्यात है। उसी कोठी में सश्रद्धा उन्होने शिवालय की प्रतिष्ठा की और 'गुरुसहायमल घनश्यामदास' के नाम से अपना व्यापार आरंभ किया। काशी, मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार आदि तीर्थस्थानो में उनकी ओर से अन्नक्षेत्रो की समुचित व्यवस्था थी। दीन-दुखियो का दु ख-

[1] हागकांग और शंघाई में अफीम के व्यापार के लिये पहले-पहल गद्दी खोलने का साहस राजस्थानी—मारवाडी व्यवसायियो में सेठ भगोतीरामजी पोद्दार के वशजो ने ही किया था। उनकी चार कोठियाँ थीं, जिनके नाम थे—(१) ताराचद गुरुसहायमल, (२) स्योजीराम भगतराम, (३) स्योजीराम जोखीराम और (४) स्योजीराम हरगोविंद।

[2] सेठजी के यहाँ बीमा के व्यापार का प्रकार यह था कि जो वस्तु जिस जगह से जो कोई व्यक्ति जिस किसी स्थान को भेजने का इच्छुक होता, वहीं सेठजी की गद्दीके मुनीम-गुमास्ते पहुँचा देते। उसको 'हुंडा-भाड़ा' कहते थे। बीमा की दर प्राय. एक रुपया सैकडा और नीचे में बारह आने सैकड़ा तक नियत थी। प्रामाणिकता के साथ शुद्धता इतनी थी कि वस्तु को देखते तक नहीं थे। यदि कोई अपनी वस्तुओं की लाखो की जोखम बेचना चाहता तो उसके लिये भी तैयार रहते थे। जोखम या बीमाकी वस्तु के बोझ का भाड़ा अलग लिया जाता था। बीमाकी लिखावट यो होती थी—

श्रीरामजी सहाय

भाई नवलकिशोरजी से नारायणप्रसाद का रामराम वंचना। अपरच (कपडे का, या अफीम का या गहने का) 'हुडा-भाडा' मंदसौर से बंबई तक तुम्हारा लिया, जिसका रुपया रोकड़ी लिया। ताती, सीली, चोरी, जोरी, आई, अनआई हमारी छै। मिती-संवत् और मुनीम का हस्ताक्षर।

एक बार शेखावाटी के प्रसिद्ध डाकू डूगजी-जुहारजी ने एक 'साथ' (चालान) लूट लिया था। फिर भी बीमा बेचनेवालो को उसके १३ लाख रुपये देने में किंचित् भी विलंब या सकोच नहीं किया गया था। ऐसे सद्व्यवहार और उदार प्रवृत्ति के कारण ही सेठजी की गद्दी को मारवाड़ी समाज में सर्वोच्च सरपच होने का समान प्राप्त हुआ था।

मोचन करने के लिये वे सदा तत्पर रहे। विद्वानो का सत्कार और अतिथि-सेवा उनके जीवन का व्रत था। राजस्थान के ऋषिकल्प विद्वान् पडित 'मगलदत्तजी' और पडित 'तुलसीरामजी' जैसे त्यागशील, तपोधन महानुभावो के सत्सग और उपदेश का उन्होने विशेष लाभ उठाया था। विद्याप्रचार-कार्य में सेठजी उनके सहायक स्तभ रहे। महात्मा पडित मगलदत्तजी एव पडित तुलसीरामजी के साथ शत और अर्द्ध शत सख्या में अध्ययनशील ब्रह्मचारी विद्यार्थियो का समूह चलता था। वे प्राचीन भारत के कुलपतियो के प्रतीक थे। सेठ गुरुसहायमलजी विमल यश, अतुल सपत्ति और बडा परिवार छोडकर ज्येष्ठ शुक्ल ४ सवत् १९२४ को स्वर्गवासी हुए। रामगढ में उनके दाह-स्थानपर स्मारक के रूप में एक विशाल छत्री बनी हुई है।

सेठ गुरुसहायमलजी के पुत्र साधु स्वभाव सेठ घनश्यामदासजी अपने स्वर्गीय पिता के आदर्श-पर व्यापार करते हुए धार्मिक कार्यो में सलग्न रहे। श्री जगदीशपुरी और श्री रामेश्वर-धाम की यात्रा से प्रत्यावर्तित होते समय जब उनका कलकत्ता और बबई जाना हुआ, तब दोनो ही स्थानो पर उनके प्रति मारवाडी समाज के तत्सामयिक प्रमुख सज्जनो ने अपना पूर्ण समान प्रकट किया था। पच-पचायती के कार्यो में सर्वत्र आपके फर्म का नाम सर्वप्रथम लिखने की परपरा चली आरही है।

सेठ घनश्यामदासजी ने प्रथम पत्नीके देहावसान हो जाने पर अपना दूसरा विवाह किया था। पहली धर्मपत्नी से उनके पुत्र हुए सेठ जयनारायणजी और सेठ लक्ष्मीनारायणजी। दूसरी धर्मपत्नी के गर्भ से सेठ राधाकृष्णजी, सेठ केशवदेवजी और सेठ मुरलीधरजी का जन्म हुआ। ये पाँचों ही भाई परम प्रतापी और स्वनाम-ख्यात हुए।

सेठ जयनारायणजी

इनमें ज्येष्ठ जयनारायणजी का जन्म विक्रम सवत् १९०६ में हुआ था। अपने पितामह सेठ गुरुसहायमलजी के जीवनका उनपर विशेष प्रभाव पडा था। बाल्यकाल मे ही पितामह के सान्निध्य में बैठकर प्रतिदिन वे श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता और योगवाशिष्ठ आदि की कथाएँ श्रवण करते और यथावकाश उन कथाओ को लिपिबद्ध भी करते रहते थे। उस समय उनके हृदयमें धर्म की भावना दृढता से जम चुकी थी। उनकी दिनचर्या आदर्श थी। वे ब्राह्म मुहूर्त में गात्रोत्थानकर सूर्योदय पर्यन्त गीता आदि पचरत्नो का पाठ करते रहते थे। प्रतिदिन श्रीमद्भागवतका पाठ और कथा सुनते थे। सध्योपासनादि नित्यकर्म से लगभग ११ बजे निवृत्त होने के अनतर अपने पितामह-द्वारा सस्थापित श्री गोविंददेवजी के मदिर में १०८ परिक्रमा करने का उनका अवश्य पालनीय नियम था। उनके यहाँ ब्रजके प्रसिद्ध विद्वानो और साधु-सतो की उपस्थिति सदा बनी रहती थी। वे स्वभाव से ही उदार थे। उनकी ओर से धार्मिक ग्रथो के पाठ और गायत्री के जपानुष्ठान भगवत्प्रीत्यर्थ होते ही रहते थे।

सेठ जयनारायणजी ने सवत् १९३२ विक्रमाब्द में सकुटुब श्री जगदीशपुरी की यात्रा की थी। उस समय रेल रानीगज तक ही थी। आगे बैल गाडियो में जाना पडता था। मार्ग में मेदिनीपुर में विश्राम करने के लिये आपका सग ठहरा हुआ था कि रात्रिको अचानक मेदिनीपुर की नदी में बाढ आ गई। बाढ का वेग प्रबल था। जहाँ सेठजी का पडाव था, वह स्थान चारो ओर से बाढ के जल द्वारा घिर गया। उस दु स्थिति में सेठजी ने अपने इष्टदेव का स्मरण किया। कहा जाता है, उस समय एक श्यामकाय पुरुष ने हस्तावलबन पूर्वक पानी के प्रवाह से निकाल कर सेठजी को सपत्नीक और सपुत्र एक ऊँची टेकडी पर खडा कर दिया। इस विपत्ति से उद्धार पाने के लिये भगवान् का परम अनुग्रह मानकर उनके प्रीत्यर्थ सेठजी ने एक लक्ष ब्राह्मण भोजन का सकल्प किया। इस प्रकार ब्रज में एक बार नही कई बार स्वसकल्पानुसार ब्राह्मणो, साधुओ और दीन-दरिद्रो को भोजन कराके उन्होने अपनी धर्मनिष्ठा प्रकट की थी। वे कृश-काय होने के साथ-साथ प्राय अस्वस्थ ही रहते थे। सवत् १९४० में उनपर रोगका प्रबल आक्रमण हुआ। अपने रोग की असाध्यावस्था में उन्होने बहु सख्यक स्वर्ण-मुद्राओका दान अनाथो—असमर्थो को देकर उनका आशीर्वाद ग्रहण किया था। उनकी

अमित दान करने की गुप्त और प्रकट प्रवृत्ति से चिंतित होकर एक वार उनके पिताजी ने कहा कि तुम गृहस्थ हो, बडे कुटुंवी हो इसलिये व्यय करने में किंचित् बद्धमुष्ट रहने की आवश्यकता है, इसपर जयनारायणजी ने विनीत भाव से उत्तर दिया कि आपने जितना मुझे दिया है, उतना जब आपकी इच्छा हो, तब सँभाल लीजिएगा। मैं जो कुछ दान-पुण्य करता हूँ, भगवदर्पण करता हूँ। आश्विन शुक्ला १० सवत् १९४० को श्री गोविंददेवजी के चित्र का दर्शन करते-करते उन्होने अपने नश्वर शरीरका त्याग किया। उस समय उनकी अवस्था केवल ३४ वर्ष की थी और उनके पिता सेठ घनश्यामदासजी विद्यमान थे। अपने जीवन में सेठ घनश्यामदासजी के लिये ऐसा कोई विशेष दु खद प्रसग उपस्थित नही हुआ था। अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र के वियोग का शोकाघात वे सहन नही कर सके। पुत्र की असामयिक मृत्यु का दु सवाद सुनते ही उनके मुँहसे "जैनू नही है ?" केवल इतना ही निकला और वे अवाक् हो गए। इसके वाद न वोले, न खाया और न पीया। इसी स्थिति में रहकर पाँचवें दिन वे चल वसे। उनकी धर्मपत्नी ने तपस्विनी के रूप में अपना शेष जीवन व्यतीत किया। वे एक लक्ष भगवन्नाम का प्रतिदिन जापकर भोजन करती थी। कोई याचक उनके पास पहुँच कर रिक्त-हस्त नही लौटता था। अत में संवत् १९५२ में हरिद्वार में श्रीगगाजी के प्रवाह में उस देवीने अपनी देह उत्सर्ग कर शातिपद-प्राप्त किया।

सेठ जयनारायणजी के कनिष्ठ सहोदर अनन्य भगवद्भक्त, जीवन-मुक्त सेठ लक्ष्मीनारायणजी व्रज के पुण्य-स्थल नदगाँव और वरसाने के वीच 'प्रेम-सरोवर' के तट पर एक विशाल मदिर[1] वनाकर अपना अमर यश छोड गये हैं। भक्तवर लक्ष्मीनारायणजी को व्यवसाय मे कभी हानि उठानी नही पड़ी और जो लाभ हुआ, उसमें से कुछ भाग अपने पुत्रो को देकर अवशिष्ट सपूर्ण सपत्ति उन्होने श्रीकृष्णार्पण कर दिया। सेठ राधाकृष्णजी वड़े प्रेमी, मिलनसार, उदार, गुण-ग्राहक और पोद्दार-वश की चिरसचित कीर्ति के सवर्द्धक हुए। वे शौकीन भी एक ही थे। चित्रकूट में उन्होने सवत् १९७४ में एक सुदर शिवालय की प्रतिष्ठा की थी। वही सवत् १९७७ में उनका स्वर्गवास हुआ। सेठ केशवदेवजी भी अपने पूर्व-पुरुषो के अनुरूप स्वधर्मभक्त और श्रद्धालु सज्जन थे। उन्होने हरिद्वार के पवित्र गंगातट को अपना आवासस्थल वना लिया था। हरिद्वार में ही सवत् २००७ में उनकी शुद्ध, सात्विक जीवन-लीला समाप्त हुई। अपने पाँचो भाइयो में सवसे कनिष्ठ सेठ मुरलीधरजी थे। वे वीतराग

[1] यह दर्शनीय मंदिर पत्थर का सुदृढ़ वना हुआ है और कारीगरी का एक उत्कृष्ट नमूना है। ऊपर की मजिल में रहने के उपयुक्त भव्य एवं विशाल कमरे बने हुए हैं। वाहरी आहते में धर्मशाला, विद्यालय, अन्नक्षेत्र तथा शोभनीय उद्यान है। व्रज के दर्शनार्थी और परिक्रमा करने वाले श्रद्धालु जन यहाँ विश्राम के साथ भगवान् के दर्शन-लाभ कर कृतार्थ होते हैं। यहाँ भाद्रपद-शुक्ला ११ को जलझूलनी के उपलक्ष में प्रतिवर्ष मेला लगता है। भगवान की सवारी 'प्रेम-सरोवर' पर पधारती है। श्री ठाकुर जी नाव में विराज कर जल-विहार करते हैं और रासलीला होती है। इस प्रेम-सरोवर के संबंध में व्रज में यह दोहा प्रसिद्ध है—

प्रेम सरोवर प्रेम की, भरी रहै दिन रैन।
राधाजू के चरन पै कृष्ण धरे दोउ नैन।।

भक्तो की भावना है कि श्रीराधाकृष्ण का प्रथम मिलन इसी प्रेम-सरोवर पर हुआ था। इसकी वर्णना में सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार-द्वारा रचित एक सवैया यो है—

"उतै आवतहे जु गुविंद अहो! इतै आत रही वृषभानु-कुमारी,
प्रेम-सरोवर भेंट भई यह प्रेम-निकुज नवीन निहारी।
प्रिय पुष्पित वाटिका मजु यहाँ रहियै यह कीन विनै जव प्यारी,
नव नित्य निवास कियौ इत है मिलि राधे-गुविंद निकुंज-विहारी।।"

थे। जीवन-भर उत्तराखड (टेहरी-गढवाल) मे एक साधु के रूप में रहे। सेठ केशवदेवजी से पहले उनका देहात मथुरा में हो चुका था।

सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार

हमारे चरित नायक सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार, स्वर्गीय सेठ जयनारायणजी के ज्येष्ठ पुत्र है। आपका जन्म मथुरा मे विक्रम सवत् १९२८ में हुआ। आपके कनिष्ठ सहोदर हुए श्री गोविंद प्रसादजी और श्री कृष्णप्रसादजी। इनमे सेठ गोविंदप्रसादजी का शरीर नही रहा।

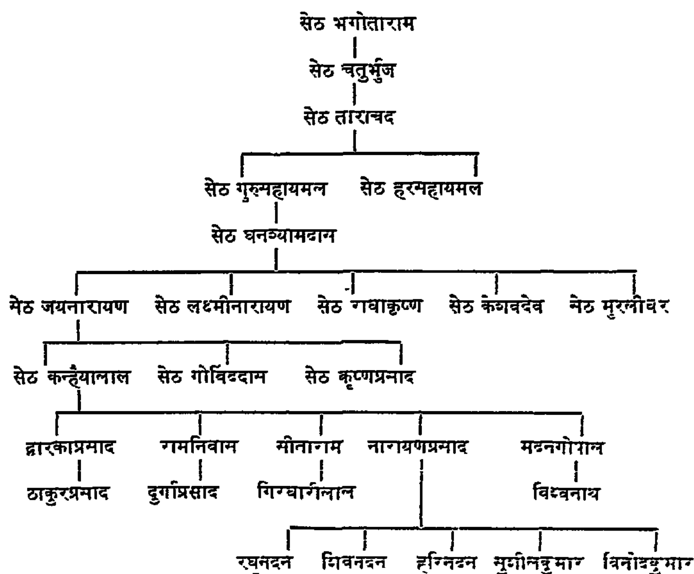
सेठ कन्हैयालालजी का कुल लक्ष्मी का चिरतन कृपापात्र तो था ही, आप लक्ष्मी के साथ-साथ सरस्वती का भी कृपा-वर लब्ध करने में सफल हुए। हिंदी-साहित्य-ससार में सेठ साहब एक सुगृहीत-नामधेय काव्यालकार-मर्मज्ञ, वयोवृद्ध साहित्यकार के रूप में सुपरिचित हैं। भारतवर्ष की स्वनामधन्य प्रसिद्ध सस्था—'काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा, आपको "साहित्य-वाचस्पति"—पदवी से विभूषित कर अपना समान प्रकट कर चुकी है। व्रजभाषा और खडी वोली—दोनो मे सस्कृत-श्लोको का सरल समश्लोकी हिंदी-पद्यानुवाद करने में आप सिद्ध हस्त है। मारवाडी समाज में आपको अपने कुलानुरूप प्रतिष्ठा प्राप्त है। युक्त प्रातीय मारवाडी अग्रवाल सभा (अधिवेशन-स्थान—हाथरस स० १९८० वि०), अखिल भारतवर्षीय मारवाडी पचायत (अधिवेशन-स्थान—बबई, स० १९८५ वि० तथा कलकत्ता स० १९२८ ई०) और अखिल भारतवर्षीय सनातन-धर्मावलवीय मारवाडी युवक-समेलन (अधिवेशन स्थान—लक्ष्मणगढ—सीकर—राजस्थान) आदि सस्थाओ के सभापति-पद को आप अलकृत कर चुके है। अध्यक्षासन से दिये हुए आपके सभी भाषण विचारपूर्ण और सामजस्य-स्थापक थे। आप सनातन धर्मानुयायी परमास्तिक, श्रद्धालु, स्व-सस्कृति-भक्त और धर्मविरुद्ध सुधारो के समर्थक महानुभाव हैं।

कन्हैयालालजी को उस समय की प्रथा के अनुरूप दस वर्ष की अवस्था में ही विवाह-बधन में बँधना पडा। सवत् १९३८ में फतहपुर निवासी 'श्रीतुगनरामजी' चौधरी की पुत्री का आपने पाणिग्रहण किया। वधू-पक्ष फतहपुर से विवाह करने के लिये मथुरा आ गया था। उभय पक्ष की उदारता और उत्साह से विवाहोत्सव मथुरा में सपन्न हुआ था। आपकी धर्मपत्नी यथार्थ रूप में सहधर्मिणी सिद्ध हुई हैं। पाँच वर्ष की वय होनेपर आपकी शिक्षा का श्रीगणेश 'महाजनी' से हुआ। बुद्धि आपकी तीक्ष्ण थी। पट्टी-पहाडो के साथ-साथ विष्णु-सहस्रनाम और गीता के श्लोक आपको कठस्थ करने पडते थे। आपके प्रारंभिक शिक्षा-गुरु थे मथुरा-निवासी पडित हरिश्चद्रजी जोशी। इन्ही पडित हरिश्चन्द्रजी ने 'राजा लक्ष्मणदासजी' को पढाया था। पडितजी की अवस्था उस समय ६० वर्ष के लगभग थी। बडी शात प्रकृति के देवता पुरुष थे। पडित हरिश्चद्रजी से ही आपने 'हसात' तक व्याकरण पढा।

सवत् १९४० वि० में एक साथ—पाँच दिन के भीतर आपको अपने पूज्य पिता और पितामह के वियोग का असह्य दुख सहन करना पडा। उम्र आपकी उस समय केवल १२ वर्ष की थी। पिता की मृत्यु से ज्येष्ठत्व के कारण घर-गृहस्थी के साथ ही पैतृक व्यवसाय के सचालन का भार भी आप पर आ गया। इस दशा में नियमित रूप से किसी विद्यालय में प्रविष्ट होकर पढने का सुयोग तो आपके लिये नही रहा, पर स्वाध्याय का आपने क्रम-भग नही होने दिया। तब तक साढेतीन अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता अर्थ-सहित आप पढ चुके थे। तदनतर श्रीमद्भागवत, श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायण और रामचरितमानस के नित्य पाठ का आपने नियम ग्रहण किया। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि रामचरितमानस के पाठ में आपका मन अधिक सलग्न हुआ। उसपर महत रामचरणदासजी अयोध्या निवासी की विशद एव विस्तृत टीका थी। टीका की भाषा थी अवधी। उसकी तीन-चार आद्योपात आवृत्तियाँ आपने मनोयोग से की। इसके अतिरिक्त आप 'भारतेंदु हरिश्चद्रजी' की गद्य-पद्य रचनाओ का अवलोकन करते रहते थे। निरतर और नियमित ग्रथावलोकन की प्रवृत्ति ने आपको केवल साहित्यानुरागी ही नही, प्रत्युत साहित्य-पारगत विद्वान् बनाया। इसी अवसर में राजस्थान के प्रसिद्ध काव्यकलाविद् गुसाँई 'गणेशपुरीजी' के तीन दिन के सत्संग का लाभ उठाने का आपको सुयोग प्राप्त

पोद्दारजी की वंशावली

—०*०—



हुआ। गणेशपुरीजी वंशभास्कर-रचयिता महाकवि 'सूर्यमल्लजी मिश्रण' के पट्टशिष्य और स्वयं वीररस की ओजपूर्ण कविता-रचना मे सिद्धहस्त थे। सवत् १९४७ वि० के लगभग आपका गणेशपुरीजी के साथ समागम हुआ और उनसे 'भाषाभूषण' का कुछ अश केवल तीन दिन आपने पढा, जिससे अलंकार-शास्त्र में आपकी अभिरुचि हुई। गणेशपुरीजी ने 'महाराणा सज्जनसिंह जी' (उदयपुर-मेवाड़-धराधीश) के अनुरोध से 'अलंकार-रत्नाकर' नामक पुस्तक का सपादन किया था। वह पुस्तक मँगाकर पढने की उन्होने सेठजी को समति दी। तदनुसार सेठजी ने पुस्तक मँगाने में विलव नही किया और अपने ज्ञान को वढाया। आपके पितृव्य सेठ राधाकृष्णजी की गुण-ग्राहकता से उनके पास गुणीजनो का सदा जमाव रहता था। विद्वद्वर गणेशपुरीजी भी उनके आग्रह से रामगढ पधारे हुये थे। समागत एव समुपस्थित विद्वानो तथा गुणियो से प्रशसापूर्ण शब्दो मे आपका परिचय देकर मिलाने का आपके पितृव्य महोदय का नियम-सा हो गया था। यह कहने की आवश्यकता नही कि उस प्रशंसा के अनुरूप अपनी योग्यता वढाने की लगन आपको लगी और हृदय से लगी, जिसने आपकी प्रतिभा को जगा दिया। एक पडित रामलालजी दिल्ली के निकटवर्ती ग्राम सदर-सराय के रहनेवाले थे। पंडितजी को उनके पाडित्य के विचार से आपके श्री गोविंददेवजी के मदिर की सस्कृत-पाठशाला के प्रधानाध्यापक-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था। वे सर्व शास्त्रदर्शी विद्वान् तो थे ही—वेदात में उनकी गति विशेष थी। सेठजी ने उनसे 'काव्य-प्रकाश' पढाने का अनुरोध किया। उन्होने काव्य-प्रकाश पढाना स्वीकार करने के साथ ही अपनी ओरसे 'पचदशी' पढने का भी आग्रह प्रकाश किया। सेठजी के समत होने पर पडित रामलालजी ने काव्य-प्रकाश का अलकार विषयक दशमोल्लास पढाया और उसके पश्चात् अपना अभिलषित वेदात ग्रंथ 'पंचदशी' भी। इसके अतिरिक्त व्यापार-क्षेत्र में निरतर काम करने के कारण साधारण अंगरेज़ी का भी अभ्यास आपको हो गया। इस प्रकार आपका विद्यानुराग, सत्संग और अध्यवसाय ही आपकी ज्ञान-वृद्धि का आधार बना। आपका चिर अभ्यस्त ग्रथावलोकन-क्रम इस समय भी चालू है।

संस्कृत और हिंदी-काव्यो के अनुशीलन से आपकी प्रवृत्ति रचना की ओर आकृष्ट हुई। आपकी रचना का प्रारंभ पद्य से ही हुआ। उन दिनो हिंदी का पहला दैनिक पत्र 'हिंदोस्थान' काला-कांकर (अवध) से प्रकाशित हो रहा था। उसके संपादकीय आसन पर स्वनाम धन्य पडित 'मदनमोहनजी' मालवीय, पडित 'प्रतापनारायणजी' मिश्र और वावू 'वालमुकुदजी' गुप्त जैसे महारथी विराजमान थे। हिंदोस्थान के स्तभो में काव्य-चर्चा के लिये भी स्थान निर्दिष्ट था। उसमें पहले समस्या और उसकी पूर्तियाँ प्रकाशित हुआ करती थी। समस्या-पूर्ति करनेवालो में प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी आदि थे। हमारे पोद्दारजी भी उस समय समस्या-पूर्ति करके भेजने लगे। जब हिंदोस्थान में प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी कृत 'शिव महिम्नस्तोत्र' का पद्यानुवाद निकलने लगा, तब आपने भी उसमें संस्कृत के 'भर्तृहरि-शतकत्रय' का पद्यानुवाद कर प्रकाशित कराया, जो छह महीने तक क्रमश. निकलता रहा। खेद का विषय है कि आपकी इस प्रारंभिक रचना की मूल हस्तलिखित प्रति खो गई, इसलिये वह आज उपलब्ध नही है। भर्तृहरि के तीनो शतको का पद्यात्मक अनुवाद आपने सवत् १९५० के लगभग किया था। अनंतर 'सरस्वती' इंडियन प्रेस प्रयाग-द्वारा सन् १९०० ई० में प्रकाशित हुई, तब 'महाकवि भारवि' पर आपका एक परिचयात्मक लेख उसके पहले वर्षमें ही प्रकाशित हुआ, जिसको पाठको ने बहुत पसंद किया था। वह आपका पहला गद्य लेख था। पश्चात् प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के संपादन-काल में समय-समय पर आपकी रचनाएँ 'सरस्वती' में निकलती रही और आपका रचनानुराग बढता ही गया। साहित्यावलोकन ने आपको साहित्यालोचन के लिये उत्साहित किया।

अलंकार-प्रकाश

आपने देखा कि जितने रीति-ग्रंथ मिलते हैं, उन सभी में अलकारो के लक्षण पद्यमें ही दिये गये हैं और लक्षणो को समझने के लिये भी उन ग्रंथो में गद्य में स्पष्टता नही की गई, इसलिये पाठको को विषय के समझने में जटिलता प्रतीत होती है। इस अभाव की पूर्ति के लिये आपने एक ऐसे ग्रंथ की आवश्यकता का अनुभव किया जिसमें 'अलंकार' जैसे गहन

विषयको समझने और समझाने के लिये गद्य मे अलकारो के लक्षण देकर उदाहरणो के रूप में लक्षणो का समन्वय समझाने को पद्य मे स्पष्टता की जाय। यद्यपि अलकारो का विषय आपका समझा हुआ था, तथापि अपने ज्ञान को और भी अधिक परिपुष्ट करने के लिये आपने पुन सस्कृत के अलकार विषयक ग्रथो का अनुशीलन आरभ किया और तदनतर ग्रथ-रचना में हाथ लगाया, जो "अलकार-प्रकाश" के नाम से सवत् १९५९ वि० मे 'श्री वेंकटेश्वर प्रेस बबई' में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ। उस समय हिंदी-साहित्य-ससार में उसका यथेष्ट समादर हुआ। बड़े-बड़े विद्वानो ने प्रशसापूर्वक शब्दो मे उसपर अपनी समतियाँ भेजी। अपने समय के प्रख्यात समालोचक बाबू बालमुकुद गुप्तजी ने 'भारत-मित्र' के चार कालमो मे विस्तृत आलोचना कर पोद्दारजी के सफल प्रयास की सराहना की थी। यह ग्रथ हिंदी-साहित्य-समेलन प्रयाग द्वारा उसकी मध्यमा-परीक्षा के पाठ्यक्रम में रक्खा गया।

गगालहरी और पचगीत

पोद्दारजी की तत्परवर्ती रचना पडितराज जगन्नाथ-प्रणीत गगालहरी के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत के दशम-स्कधान्तर्गत श्रीकृष्ण-चरित सवधीय वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, भ्रमरगीत एव महिषीगीत—इन पाँचो मनोहर और रसावह गीतो का व्रजभाषा में समश्लोकी पद्यानुवाद है। 'गगालहरी' और 'पचगीत' नामक दोनो ही पुस्तकें सवत् १९६०-६१ वि० में प्रकाशित होकर हिंदी-रसिको के कर-कमलो में पहुँची थी।

हिंदी मेघदूत-विमर्श

आपकी चतुर्थ महत्त्वपूर्ण कृति है—'हिंदी मेघदूत-विमर्श।' सस्कृत-वाड्मय में महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का स्थान बहुत उच्च है। इस काव्य पर केवल भारतीय विद्वान् ही नही, पश्चिमी विद्वान् भी मुग्ध है। हमारे पोद्दारजी, हिंदी मे उसी मेघदूत का सुदर समश्लोकी पद्य तथा गद्यात्मक अनुवाद के साथ टीका करके साहित्य-पारखी विद्वानो के विशेष प्रशसा-भाजन हुए है। पुस्तक की गवेषणापूर्ण ११० पृष्ठो की विस्तृत भूमिका में मेघदूत का परिचय, कालिदास की कविता-शक्ति, मेघदूत पर यूरोपीय विद्वानो के मत, मेघदूत का योरप में प्रचार, मेघदूत की टीकाओ का विवरण, मेघदूत और रामायण, मेघदूत के अनुकरण काव्य, मेघदूत के हिंदी-अनुवाद, इस अनुवाद और टीका के सबध में विनीत निवेदन, कालिदास का समय निरूपण, कालिदास और उनके सम-सामयिक कवि एव सम्राट् तथा कालिदास का जन्मस्थान—आदि विषयो पर विशद विवेचन करते हुए पूर्ण प्रकाश डाला गया है। टीका में मूल सस्कृत-श्लोक देकर गद्य-पद्यात्मक अनुवाद तथा कवि की वर्णना मे आये हुए ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थानो का परिचय, समान भाव-व्यजक दूसरे कवियो के अवतरण तथा कविके वचन से प्राप्त होनेवाली शिक्षा, अलकार—इत्यादि समाविष्ट है। थोडे शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि मेघदूत-सबधी जितनी तथ्यपूर्ण सामग्री का समावेश इस ग्रथ मे किया गया है, वह किसी एक ग्रथ मे उपलब्ध नही हो सकती। वस्तुत यह पोद्दारजी के तुलनात्मक अध्ययन, रचना-नैपुण्य और असाधारण काव्य-मर्मज्ञता का परिचायक है। इसका प्रकाशन सवत् १९७८ (सन् १९२१ ई०) में हुआ था। "हिंदी मेघदूत-विमर्श" को पाकर द्विवेदी-युग के प्रवर्तक स्वनामधन्य स्वर्गीय प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने दौलतपुर—रायबरेली से अपने २४ जनवरी सन् १९२२ ई० के एक पत्र मे ग्रथकर्त्ता पोद्दारजी को लिखा था—

" आपने यह पुस्तक बडी अच्छी लिखी। बड़ा परिश्रम किया है। बिखरी हुई अनेक महत्त्वपूर्ण बातो को एकत्र कर दिया है। मेघदूत का इतना विस्तृत सस्करण इतनी ज्ञातव्य बातो से पूर्ण मैंने और कोई नहीं देखा। आपको अनेक धन्यवाद और बधाइयाँ। आपके इस प्रणयोपहार को बडे मोल का समझ कर मैं सादर अपने सग्रह में रक्खूगा। मेरा कृतज्ञताज्ञापन स्वीकार कीजिए....।"

रस-मजरी और अलकार-मंजरी

पोद्दारजी अपने रचित 'अलकार-प्रकाश' के द्वितीय सस्करण में अलकार-विषय के अतिरिक्त रस, भाव-आदि सभी विषयो का समावेश विस्तृत रूप में करना चाहते थे, पर अवकाशाभाव

के कारण अपने विचारानुसार परिवर्द्धन तो नहीं कर सके, फिर भी सक्षेप में रस-भावादि का विषय बढ़ाकर—"काव्य-कल्पद्रुम" का नाम दे दिया, जिसको 'नागरी-प्रचारिणी सभा आगरा' ने प्रकाशित किया। इसके बाद के काव्य-कल्पद्रुम के सस्करण दो-भागो में—"रस-मजरी" और "अलकार-मजरी" के नामसे अब तक उत्तरोत्तर परिवर्धित और परिवर्तित रूप में निकलते रहे हैं। इनमें शब्द, अर्थ, अभिधालक्षणा, व्यजना, ध्वनि, रस-भावादि, गुणीभूत-व्यग्य एवं काव्य के गुण-दोष और अलकारो का विश्लेषण किया गया है। हिंदी में यद्यपि साहित्य विषयक प्राचीन रीति-ग्रथ अनेक है और काव्य-कल्पद्रुम के प्रकाशित होने के अनंतर भी सुयोग्य लेखको-द्वारा कतिपय ग्रथ लिखे गये हैं, तथापि काव्य-कल्पद्रुम में काव्य-साहित्य के सभी विषयो का पाडित्यपूर्ण आलोचनात्मक विवेचन किया गया है, जिसकी शैली नवीन और अपूर्व है। यह 'हिंदी-साहित्य-समेलन' प्रयाग की 'रत्न-परीक्षा' और कलकत्ता, आगरा-आदि के विश्वविद्यालयो तथा कई विद्यापीठो के पाठ्य-क्रम में स्वीकृत है। इस ग्रथ के प्रथम सस्करण 'अलकार-प्रकाश' के प्रकाशित होने के अनतर जितने ग्रथ प्रस्तुत विषय के अन्य लेखको-द्वारा लिखे गये है, उनमें अलकार-प्रकाश के अनुकरण रूप में लक्षण वार्त्तिक (गद्य) में लिखा जाना प्रचलित हुआ है। यही नही, प्रत्युत बाबू जगन्नाथदासजी 'भानु' ने काव्य-प्रभाकर में, लाला भगवानदीनजी 'दीन' ने अलकार-मजूषा और व्यग्यार्थ-मजूषा में, श्री रामशकरजी शुक्ल ने अलकार पीयूष में, अलकार-प्रकाश और काव्य-कल्पद्रुम की सामग्री का यथेष्ट उपयोग किया है। पोद्दारजी ने हिंदी-साहित्य-समेलन के अनुरोध से समेलन की मध्यमा (विशारद) परीक्षा के लिये अपनी अलकार-मजरी को सक्षेप में एक पृथक् पुस्तक का रूप देकर—'सक्षिप्त अलकार-मजरी' के नाम से भी संकलित कर दी है, जिसका स्वत्वाधिकार समेलन को दे दिया गया है।

संस्कृत का इतिहास

पोद्दारजी की अमर कृतियो के परिचय-प्रकरण में 'सस्कृत-साहित्य का इतिहास' भी उल्लेखनीय है। इस ग्रथ के दो भाग हैं। दोनो सन् १९३८ ई० में एक साथ प्रकाशित हुए। प्रथम भाग में वैदिक काल से आरभकर भरतमुनि और उनके नाट्य-शास्त्र, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और अग्निपुराण पर लिखते हुए भामह से पडितराज जगन्नाथ-तक के साहित्याचार्य और उनके ग्रथो के सबध में ऐतिहासिक आलोचनात्मक वर्णना की गई है। द्वितीय भाग में साहित्य-ग्रथो के विषय और साहित्य के पाँच सप्रदायो (स्कूलो)—रस, अलकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि पर काव्य-शास्त्र के आचार्य भरतमुनि से लेकर पडितराज जगन्नाथ के समय-तक काव्य के उक्त पाँचो सप्रदायों के विकास-क्रम के ऐतिहासिक विवेचन के साथ ही संस्कृत के विभिन्न आचार्यों द्वारा लिखे गये काव्य के लक्षणो एव विषयो पर गभीर विचार-विमर्श किया गया है। यह ग्रथ भी आपके गहरे अध्ययन और सतत अनुशीलन का निदर्शक है।

साहित्य-समीक्षा

साहित्य-शास्त्र-पारगत पोद्दारजी के समय-समय पर लिखे हुए कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक लेखो का सग्रह गत वसत पचमी (स० २००७ वि०) के अवसर पर 'साहित्य-समीक्षा' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें काव्य के मिश्रित भेद, लुप्तोपमा और असम, श्लेष अलकार की व्यापकता, विभावना-विभ्राट्, भक्ति रस है या भाव, गोस्वामी तुलसीदासजी और कालिदास, कालिदास का काव्य- वैचित्र्य, शब्दार्थ अथवा भावार्थ-साम्य तथा महाकवि भारवि शीर्षक निबधो के साथ आधुनिक रीति-ग्रथोपर और भी छह आलोचनात्मक लेखो का समावेश है, जिनके शीर्षक ये है —(१) तुलसीकृत रामायण और प० अबिका प्रसादजी वाजपेयी, (२) श्री विद्याभास्करजी का काव्य-सर्वस्व, (३) कविराजा का जसवत-जसोभूषण, (४) श्री रामशंकरजी शुक्ल एम० ए० रसाल का अलकार-पीयूष, (५) दीनजी की अलकार-मजूषा और (६) भानुजी का काव्य-प्रभाकर। कुल निबधो की सख्या पद्रह है। सभी निबध उच्च समालोचनादर्श से लिखे हुए है। आपकी समालोचना-शैली निष्पक्ष तथा विचार-पूर्ण है। हिंदी के प्राचीन और आधुनिक रीति-ग्रथो के देखने के प्रसग में जहाँ आपको दोष दिखाई पडे तथा जिन विद्वानो के साहित्य विषयक प्रकाशित लेखो में सिद्धात-विरोध दृष्टिगत हुआ

उन्हीको आपने अपनी आलोचना का पात्र बनाया और अपने पक्ष का साधिकार, सप्रमाण प्रतिपादन किया। आपने अपने विषय की परीक्षा और अन्वीक्षा के साथ समीक्षा की है। निस्सदेह आप हिंदी के गद्य-पद्य के उत्कृष्ट लेखक ही नही, एक उच्च कोटि के साहित्य-समीक्षक भी है।

आपकी साहित्यिक प्रतिभा के साथ-साथ आपके रचित और प्रकाशित ग्रथो तथा लेखो का सक्षेप में दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है। यहाँ आपके गुफित फुटकल पद्य-समूह से कुछ सुमधुर सूक्तियाँ उद्धृत की जाती है–

श्री गगा-स्तुति

भागीरथी, बिगरी गति मैं श्रव तू बिगरी-गति की है सुधारक।
रोगी हो मैं भव-भोगी डस्यौ अब याको प्रसिद्ध है तू उपचारक ।।
मैं तृषना अति व्याकुल हो, तू सुधा-रस आकुल ताप-निवारक।
मै जननी, सरनागत हों अरु तू करुना-रत है जग-तारक ।।

विधि वंचित ह्वै, करि किंचित पाप, भयौ जिनके चित खेद महा।
तिनके अघ-जारन कों जननी, अवनीतल तीर्थ अनेक यहाँ ।।
जिनकौं न समर्थ उधारन को अघ-नाशक कोउ न कर्म कहा।
उनकों भव-सागर तारन कों इक तो-सी तुही बस है, अघ-हा ।।

भीष्म-प्रतिज्ञा

पाडु-व्यूह-बीरन प्रसिद्ध रनधीरन कों, तीरन बिदीरन कै बीरज छुटै हो मै।
पारथ के सस्त्र और अस्त्रन अकारथ करि, सारथि हू तथा रथ-हांकन भुलैहों मैं।।
कीन्ही हों भीषम महाभीषम प्रतिग्या ताहि, गाजि कहों आज करि पूरन दिखैहों मै।
कै तौ हरि-हाथन में सस्त्र पकरै हों आज, कै लै कवों पान धनु-बान न उठैहों मै ।।

अन्योक्तियाँ—

उन्मत्त-मृग

सुमनावलि-गध-प्रलुब्ध, लिये हरिणी सँग मोद रहा भर है।
अनुरक्त हुआ मधुपावलि-गान, हरे तृण तुच्छ रहा चर है।।
वृक-संमुख लुब्धक पृष्ठ खडा जिसको शर-लक्ष्य रहा कर है।
फिर भी यह दौड़ रहा मृग मूढ, उसी पथ में न रहा डर है।।

भ्रात भ्रमर के प्रति

इस पंकज के विकसे वन में, न यहाँ भ्रम तू मधु-मत्त-अली।
सुख-लेश नहीं अति क्लेशमयी यह नाशक है सब रंग रली।।
मतिमूढ अरे, इस कानन का, वह भक्षक है गजराज बली।
उडजा अविलंब, विनाश न हो जब लौं रुक के इस कंज कली।।

वसत

अलि पुंजन की मद गुंजन सों बन कुंजन मंजु बनाय रह्यौ।
लगि अंग अनंग तरंगन सों रति-रंग-उमंग बढ़ाय रह्यौ।।
विकसे सर कंजन कपित कै रजरंजन लै छिरकाय रह्यौ।
मलयानिल मंद बसों दिसि मे मकरंद अमंद बहाय रह्यौ।।

शरद

सुर-चाप नखक्षत से जिसके यह अंकित पांडु पयोधर हैं।
सखि, जोकि प्रभावित हो उस से शरदेंदु प्रसिद्ध हुआ फिर है।।
यह देख शरद्-ऋतु का व्यवहार, न जो प्रतिकार सका कर हैं।
रवि के तन ताप बढ़ा इतना, वह सह्य नहीं धरणी पर है ।।

चन्द्रमा और कमलिनी

नलनी जग-जन्म निरर्थक है, करके कवि-वृंद प्रलोभित भी।
जब देख सकी न कभी वह है, निशिराज नभस्थल शोभित भी।।
रजनीपति का जग जन्म तथा कहते हम हैं, न प्रशंसित भी।
मन-मोहक जो नलिनी-प्रतिभा वह देख सका न प्रफुल्लित भी।।

मेघ

पाके ग्रीष्म-घोर चातक हुआ जो बच्च संताप से,
तेरा ही रख ध्यान नित्य दिन वे काटे बड़े ताप से।
दैवाधीन अदीन दर्शन उसे तेरे हुए आज हैं,
डालै जो करिका पयोद, अब तू ए रे तुझे क्या कहूँ।।

हंस

पय निर्मल मानसरोवर का, कर पान सुगंधित नित्य महा।
जिसका सुख से सब काल व्यतीत हुआ विकसे कल कंज वहाँ।।
विधि के वश राज-मराल वही इस पंकिल ताल गिरा अब हा!
बिखरे जल-जाल शिवाल तथैव रहे भर भेक अनेक जहाँ।।

श्री गंगाजी (हरिद्वार) का दृश्य

जाती ऊपर नील-मेघपटली छाया गिरे आ कभी,
है वो श्वेत-प्रवाह किंतु उससे आधा बने श्याम भी।
आती है मिलने कलिंद-तनया भागीरथी-द्वार में,
मानो संगम हो यहाँ फिर मिली वे जा रही साथ में।।

श्री यमुनाजी

दर्शनीय अति रम्य मनोहर हैं कलिंद-तनया का तीर,
कल्लोलित है विमल तरंगित मंद-मंद श्यामल शुचि नीर।
लतिकाओं को नृत्य-कला की शिक्षा देकर धीर-समीर,
मधुर-मधुर लेता है उनका सुमन-गंध मनहर गंभीर।।

घन रंभन थंभन पांतिन सौं रु कदंबन सौं सरसावनों हैं।
अति मंजु लतानि के कुंजन में अलि-गुंजन सौं मन-भावनों हैं।।
मलयानिल सीतल मंद बहैं, हिय काम-उमंग बढावनो है।
लखु चंदमुखी, जमुना-तट तू सहजै यह कैसौ लुभावनो है।।

मरुस्थल के मार्ग-तरु की परिस्थिति

रितु निदाघ दु:सह समय, मरु-मग पथिक अनेक ।
मटै ताप कितेन कौ, यह मारग-तरु एक ॥

स्थान-भ्रष्ट गजराज के प्रति

यूथप, तेरे मान सम, थान न इतै लखाँहि ।
क्यों हू काटि निदाघ-दिन, दीरघ कित इत छाँहि ॥

मृग को धन्यवाद

धन-अधन के मुख को न लखै, करि चाटुता झूंठ न बोलतु है ।
न सुनै कटु-गर्व-गिरा उनकी, करि आस भज्यौ नहिं डोलतु है ॥
मृदु-खाय समै पै हरे तृन औ जब नींद लगै सुख सोवतु है ।
धन रे मृग मित्र, बताय हमै तप कीन्हो कहा जिहिं भोगतु है ॥

प्रभात-वर्णनात्मक—

प्रात-संध्या

अरुण कांतिमय कोमल जिसके हस्तपाव हैं कमल स-नाल ।
मधुपावलि ही शोभित कज्जल नीलेंदीवर नयन विशाल ॥
प्रातः संध्या कल-खग-रव का करती-सी आलाप महान ।
भगी जा रही निशि के पीछे अल्पवयस्का सुता-समान ॥

चंद्रास्त

प्रिया कुमुदिनी हुई निमीलित रही दृष्टि-पथ रजनी भी न ।
हुए समस्त अस्त तारागण रहा सुपरिजन चिन्ह कहीं न ॥
चिंताग्रस्त इसी से हिमकर होकर विगत-प्रभा सु प्रभात ।
जलनिधि में गिरता है मानो क्षितिज-निकट जाकर अचिरात ॥

उदयकालीन सूर्य

उदयाचल-रूढ़ दिवाकर की प्रतिभा कुछ गूढ़ लगी विकसाने ।
कर-कोमल का जब स्पर्श हुआ, नलिनी मुख-खोल लगी मुसकाने ॥
अनुरक्त हुए रवि को वह देख, सहास-विलास लगी दिखलाने ।
मकरंद-प्रलुब्ध स्वभाविक ही, मधुपावली मंजु लगी मँडराने ॥

चंद्रोदय

तरल-तारका-रजनी-मुख को कर निज मृदुल करों से स्पर्श ।
रजनी-पति ने ग्रहण कर लिया, क्रमशः हो अनुरक्त सहर्ष ॥
रागावृत उत्सुक हो वह भी, विकसित होने लगी सुहान ।
स्खलित हुआ तिमिरांशुक सारा, उसका भी कुछ रहा न ध्यान ॥

गगन-सरोवर का प्रफुल्लित कमल

कल व्योम-सरोवर में निखरा सखि, है यह नीलिम-नीर भरा।
अति भूषित है उडुगावलि का मुकलावलि-मंडल रम्य घिरा ।।
कर षोडस हैं नव पल्लव ये जिनकी छवि से यह है उभरा।
शशि-कंज विकासित है जिसमें स्थित है यह अंक मिलिंद गिरा ।।

विविध—

मान और अपमान

विष भी युत-मान दिया यदि हो, कर पान उसे मर जाना भला।
सहके अपमान सुधारस ले, निज जीवन को न गिराना भला ।।
यह गौरवपूर्ण उदार चरित्र पवित्र सदा अपनाना भला।
वह कुत्सित वृत्ति कदापि कहीं, अति निंद्य नहीं दिखलाना भला ।।

राजनीति और वेश्या

कभी सत्य तथैव असत्य कभी, मृदु-चित्त कभी, अति क्रूर लखाती।
कभी हिंसक और दयालु कभी, सुउदार कभी अनुदार दिखाती ।।
धन-लुब्धक भी बनती कब ही, व्यय में कर-मुक्त कभी दृग-आती।
नृप-नीति की है न प्रतीति सखे, गणिका सम रूप अनेक बनाती ।।

दृढ व्रत

सूर-सस्त्र अरु कृपन-धन कुल-कामिनि कुल-कान।
सज्जन पर उपकार को छाँडतु है गत-प्रान ।।

नर और शर

लघु पुनि मलिन सपच्छ, गुन-च्युत ह्वै नर और सर।
पर भेदन में दच्छ, भय-दायक किहिं के न हो ।।

अस्ताचल गत सूर्य-द्वारा उपदेश

दूसरो को व्यर्थ करते ताप, वे—
सपदा चिरकाल तक पाते नहीं।
हो रहा है अस्त ग्रीष्म-दिनांत में,
दिवस-मणि करता हुआ सूचित यही ।।

चिता और चिंता

वहन करती चिता तन जीवन-रहित,
दुःख का अनुभव अतः होता नहीं।
रात-दिन करती वहन जीवन-सहित,
है न चिंता-ज्वाल की सीमा कहीं।

विष और पर-पीडक

निरपराधी-जनों को करना दुखित,
विषम-विष से भी अधिक है हीन यह।
जहर करता मात्र भक्षक को विनष्ट,
सा-मूल कुल को किंतु करता क्षीण यह॥

अपमानित नर और धूलि

अपमान को कर सहन रहते मौन जो,
उन नरों से धूलि भी अच्छी कहीं।
चरण का आघात सहती है न जो,
शीश पर चढ़ बैठती है तुरत ही॥

उत्कंठा

स्मरणमात्र से तरुणातप को कर करुणा हरता निःशेष।
जिसके निकट चमत्कृत रहतीं अगणित चपलाएँ सविशेष॥
अखिल विश्व निज कृपा-वृष्टि से आप्यायित करता निष्काम।
उत्कंठित हूँ सतत कब हो, वह दृग-पथ अभिनव घनश्याम॥

श्रांत पथिक के प्रति

यमुना-तट कानन में स्थित है, मिलता करने पर खोज, पता।
जन-आश्रित जो रहते, उनका पथ-खेद सभी हरता रहता॥
कमकाम-लता अवलंबित है, वह श्याम-तमाल सदा स्फुरता।
अविलंब शरण लेरे, उसकी अब क्यों यह ताप वृथा सहता॥

संतजन

भव-ग्रीषम की तन-ताप प्रचंड, असह्य हुई जलते-जलते।
बल से अविवेक-जंजीर उखाड़, नहीं रुकते चलते-चलते॥
उस आत्म-सुधा-सर के तट जा सुकृती जन मज्जन हैं करते।
अति शीतल निर्मल-वृत्तिमयी झरने जिसमें रहते झरते॥

व्रजस्थ प्रेम-सरोवर

चित्ताकर्षक दृश्य प्रेमसर का, नैसर्ग्य शोभामयी।
चक्राकार सुघाट शोभित जहाँ है दिव्य बुर्जें कयी॥
जिसका निर्मल जो हरी कुमुदिनी-छाया हुआ नीर है।
वो अत्यंत सुमिष्ट शीतल सदा सुस्वादु गंभीर है॥

आते हैं जन जीवजंतु मनमें आशा लगाये हुए।
पाते जीवन-दान हैं सब यहाँ होते हताशा न वे॥
हैं ये तो गुण-धाम, हीन-गुण ये, जिसके न ये भेद ही।
जो है नित्य उदार चित्त उनका संकीर्ण होता नहीं॥

चारों ओर लता-पता सघन जो झूमें झुकी हैं भली।
फूले फूल कदंब-कूल उनकी सौरभ्य आती चली ॥
छाया भी रहती निरंतर जहाँ संतापहारी घनी।
है निष्पंक अतीव तीर, उसकी शोभा मनो मोहिनी ॥

है स्वातंत्र्य लगी निकट ही नीरंध्र वृक्षावली।
गोलाकार कहीं, कहीं सहज ही सौंदर्य श्रेणी भली ॥
शाखा भूमि लगी विनीत उनकी, है नील पत्रावली।
फूली चित्र विचित्र मंजुल जहाँ अन्यत्र पुष्पावली ॥

क्रीडासक्त कहीं कपोत फिरते उन्मत्त होके महा।
गाती कोकिल-पुंज मंजुल कहीं स्वर्गीय तानें जहाँ ॥
छत्राकार कलाप नृत्य-रत है प्यारी मयूरावली।
है अत्यंत सुहावनी सुतट की प्रातीय वन्यस्थली ॥

जो है शांत कुटीर तीर उनकी शोभा मनोमोहिनी।
वे एकांत नितांत प्रात उनमें है स्वच्छताई घनी ॥
आती धीर समीर शीतल सदा सौरभ्य सानी हुई।
प्रायः संत जहाँ निवास करते होके समाधिस्थ ही ॥

सुरभित हरियाली में जहाँ मत्त होके,
मुखरित विहँगाली चित्त को है लुभाती।
सुमधुर रसवाली बोलियों को सुनाके,
मन हर पथिकों को पास मानो बुलाती ॥

प्रति-प्रति तरुओं की डालियों पास जाके,
भ्रमरित भ्रमराली क्या यही है बताती।
यह बन-लतिकाएँ भाग्यशाली महा हैं,
प्रतिदिन करते श्री कृष्ण लीला यहाँ हैं ॥

बबई का समुद्र-तट

सायंकाल समीर नीर-निधि की नीरोग कारी महा,
प्रायः शिक्षित, सभ्य लोग सब है आते इसी से यहाँ।
बैठे हास्य-विनोद मोद करते सानंद वे दो घड़ी,
शोभा दृश्य-विचित्र की तब वहाँ सौंदर्य होती बड़ी ॥

होती है तब दिव्य वारि-निधि की क्या ही प्रभा मोहिनी,
संध्याकाल गिरे दिनेशकर की रक्ताभ आके घनी।
नीचे से जब बार-बार उठती ऊँची तरंगावली,
आती है बढ़ के सुदूर फिर वे जाती वहीं है चली ॥

है उद्यान लगी मनोहर जहाँ सौंदर्य वृक्षावली,
फूली है कुसुमावली सुमधुरा सौरभ्य आती चली।
बैठी स्वागत-सी जहाँ कर रही प्यारी विहंगावली,
चित्ताकर्षक है बड़ी जलधि की स्वर्गीय प्रांतस्थली ॥

आती हैं मृगलोचनी सुललना नाना प्रभा-धारिणी,
वस्त्राभूषण-भूषिता स्मित मुखी, हैं वे मनोहारिणी।
हास्यालाप-निमग्न वे विचरती स्वच्छंदता से वहाँ,
आते बालक भी अनेक करने सानंद क्रीड़ा जहाँ ॥

आते हैं जन जो वहाँ श्रमित हो आशा लगाए यही—
जाके धीर-समीर शीतल बड़ी स्वच्छंद सेवें वहीं।
देके स्पर्श करे यथेष्ट उनका आतिथ्य वो भी तथा—
खोती है श्रम-स्वेद और तनकी सारी मिटाती व्यथा ॥

सुभग सदन-श्रेणी प्रांत में दीखती है,
प्रति-प्रति भवनों में वाटिकाएँ बनीं हैं।
सुरभित हरियाली चातुरी से लगी है,
विकसित कुसुमाली कुंडिका भी सजी है ॥

सुरुचिर-सुधावली रम्य हर्म्यस्थली वे,
विविध-विधि सजाये साज-शोभामयी वे।
जिस समय वहाँ हो भव्य दीपावली है,
प्रकटित तब मानो नित्य दीपावली हैं ॥

विलसित मदिराक्षी जो वहाँ कामिनी हैं,
अनुपम-छविवाली वे मनोभाविनी हैं।
दृग-पथ करने से चित्त आता यही है,
सुर-पुर-वनिता ही क्या यहाँ आ गई हैं ॥

शोभा समुद्र-तट-प्रांत दिनांत की वो,
जैसी विचित्र अति नित्य नितांत ही हो।
होता यथावत न वर्णन है तदीय,
है दृश्य केवल अहो, वह दर्शनीय ॥

कोकिल

गत जब रजनी हो, किंतु वो शेष भी हो,
उडुगण-क्षय भी हो दीखते भी कहीं हो।
मधुर-मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा,
तब पिक करती तू शब्द प्रारंभ तेरा ॥

अति सरस सुरीला शब्द सौंदर्य गाती,
सहृदय जन को तू नींद से है जगाती।
मन-हरण सुना के माधुरी वो प्रभाती,
अलसित चित को भी सत्य ही तू लुभाती।।

विहँग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे,
उस समय दिखाते शब्द-सौंदर्य सारे।
विरस तब सभी के शब्द तू है बनाती,
जब पिक, अपनी तू चातुरी है दिखाती।।

सघन उपवनो में, वाटिका में कभी तू,
गिरि-सरित-तटो के प्रांत में भी कभी तू।
सुरभित हरियाली हो जहाँ दीखती तू,
सुमधुर मतवाली कूक को कूजती तू।।

पीती स्वयं है, न किसे पिलाती,
प्रमत्त हो तू ध्वनि ही सुनाती।
तथापि उन्मत्त अहो बनाती,
बता कहाँ मादक-द्रव्य पाती ?

मिला अहो मंजु रसाल डाल से ?
किंवा किसी गुंजित भृंग-माल से ?
न सर्वथा ही उनसे मिला तुझे,
न दे दिखाई उनमें कहीं मुझे।।

तुझे मिला है रितुराज से यही,
अवश्य देता सबको न है वही।
मिले न तेरी समता उसे कहीं,
मिली प्रिया तू उसको अलभ्य ही।।

वसंत जाता जब है यहाँ से,
किसे सुनाती ध्वनि भी नहीं तू।
वसंत के आगम में पुनः वही,
अवश्य मीठी करती ध्वनि है।।

सदैव तू कोकिल, मंजुभाषिणी,
अतः सभी का मन-मोहती है।
वियोगियों की दयनीय वो दशा,
कभी नहीं तू कुछ सोचती है।।

कवि-जन गुण तेरे नित्य गाते तथापि—
अति परिचय से हो, तू न फीकी कदापि।
बस अधिक कहूँ क्या तू मनोभाविनी है,
अनुपम गुणवाली पूर्ण सौभागिनी है।।

परंतु दुःख-कातर सहृदय सेठजी पाँच[१] सुयोग्य पुत्रों के भाग्यशाली पिता और "बुद्धिमान मधराभाषी पूर्वभाषी प्रियवद." के मूर्त्तिमान उदाहरण हैं। मिलनसार इस कोटि के हैं कि एक बार मिलनेवाला सदा के लिये आपके प्रेम-सूत्र में बँध जाता है। स्वधर्मनिष्ठा के साथ अतिथि-सत्कार-परायणता आपका कुल-परंपरागत गुण है। प्रायः २५ वर्ष हुए, आप व्यापारिक कार्यों से अवकाश-ग्रहण कर चुके हैं। इस समय आपके दो ही कार्य मुख्य हैं—एक भगवदाराधन और दूसरा साहित्य-सेवा। आपकी साहित्य-सेवाका विशेष महत्त्व इसलिए है कि उसमें व्यवसाय की भावना नहीं। अवस्था ८० वर्ष के लगभग होगी, पर हृदय में उत्साह युवकों के समान है। ईश्वर आपको दीर्घायु प्रदान करे। आपकी गुण-गरिमा से समस्त राजस्थान गौरवान्वित है। आप के "अभिनंदन" के शुभोपलक्ष्य में इन पंक्तियों का लेखक भी आंतरिक संमान प्रकट कर अपने कर्त्तव्य से उपराम होता है।

[१] आप के सुपुत्र हैं—(१) श्री द्वारकाप्रसाद पोद्दार (२) श्री रामनिवास पोद्दार (३) श्री सीताराम पोद्दार (४) श्री नारायण प्रसाद पोद्दार और (५) श्री मदनगोपाल पोद्दार। इनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ व्यवसाय-क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं तथा पाँचवें श्री मदनगोपाल पोद्दार कलकत्ता-हाईकोर्ट के एक प्रसिद्धि-प्राप्त प्रभावशाली एटर्नी-एट-लॉ हैं। कलकत्ता के धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक कार्यों में उनका प्रकट और अप्रकट सहयोग रहता है। व्यवसाय-पटु श्री रामनिवास बाबू राजनीति और अर्थशास्त्रविद् होने के साथ ही साहित्यिक भी हैं। वे 'भारत में रेल-पथ' जैसा उपयोगी ग्रंथ लिख कर हिंदी-साहित्य-संसार में सुख्याति अर्जित कर चुके हैं। उनका कार्य-क्षेत्र बंबई है। बाबू नारायण प्रसाद भी मधुर हिंदी लिखते हैं। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख समय-समय पर निकलते रहते हैं। वे मथुरा में अपने पिताजी की सेवा में रहते हैं और वहाँ के कारोबार को संभालते हैं।



पोद्दारजी का प्रभाव

पं० श्री हरिशंकर शर्मा

श्रद्धेय सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार का नाम बचपन से ही सुनता आया हूँ। मेरे स्वर्गीय पिता (पडित श्री नाथूराम शकर शर्मा) सेठजी की प्रशसा मुक्तकठ से किया करते थे। उस समय कभी-कभी मै भी पिताजी के पुस्तकालय से सेठजी का लिखा 'अलकार-प्रकाश' लेकर पढ लेता था, पर समझ में कुछ न आता था। उदाहरण का यदि कोई छद समझ में आ जाता तो उसी के आधार पर मैं अपने को गर्वपूर्वक 'अलकार-प्रकाश' का विशेषज्ञ समझ लेता था। पूज्य पिताजी के अभिन्न मित्र तथा मेरे आचार्य स्व० पडित 'पद्मसिहजी शर्मा' वर्ष मे कई बार हमारे घर (हरदुआ गज) पधार कर, पद्रह-वीस दिन रह जाया करते थे। खूब साहित्य-चर्चा रहती थी। रात के दो-दो बजे तक पिताजी और शर्माजी काव्य-विनोद मे रत रहते थे। उन्ही दिनो कभी-कभी साहित्याचार्य पडित शालिग्राम शास्त्री, पडित ज्वालादत्त शर्मा, आचार्य नरदेव शास्त्री, महाकवि रत्नाकर, पडित सत्यनारायण कविरत्न, विद्वद्वर पडित भीमसेन शर्मा, अध्यापक श्री रामदास गौड-आदि भी पधारते थे। साहित्य-मर्मज्ञो की बात छिडने पर सपादकाचार्य पडित रुद्रदत्त शर्मा और श्रीमद् सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का उल्लेख अवश्य होता था। उस समय से मै समझने लगा कि सेठजी वास्तव में बडे विद्वान् और साहित्य-मर्मज्ञ है। जिस विद्वान् को साहित्य के धुरधर विद्वान् भी विद्वान् कह रहे है, उनकी विद्वत्ता में किसी को सदेह ही क्या हो सकता है। यह सब कुछ सुनकर श्रद्धेय सेठजी के दर्शन करने की लालसा मेरे हृदय मे जागृत हुई।

सन् १९२३ या २४ की बात है। मै अपने कई मित्रो के साथ आगरा में यमुना-तट पर बैठा था, मेरठ के कविवर मराल (स्वर्गीय श्री हरिशरण श्रीवास्तव, बी० ए०, एल० एल० बी०) भी हमारी मडली मे थे। वे अपनी कविता-सुधा का पान करा रहे थे। उनकी हृदय-हारिणी कविता और पीयूष-वर्षिणी वाणी के प्रभाव से सारी मडली मुग्ध थी। थोडी देर में ही काव्य-मर्मज्ञो और कलाकारो की चर्चा चलने लगी। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का जिक्र आया। पडित रामस्वरूप शास्त्री-काव्यतीर्थ उनके काव्य-ज्ञान की महिमा वर्णन करने लगे। अन्य लोगो ने भी उनकी ताईद की। मैने कहा—"भाई, ऐसे विद्वान् के दर्शन करने चाहिए। तुम तो आज सेठजी की प्रशसा करते हो; मै तो बहुत पहले से, बडे-बडे विद्वानो द्वारा उनकी तारीफ सुनता आ रहा हूँ।" बातो ने जरा गभीर रूप धारण किया। सध्या हो चुकी थी, अधेरा छाने लगा था। इतने ही में एक झुरमुट से सहसा गुरुवर पडित श्री भीमसेन शर्मा प्रकट हुए। मैने और शास्त्रीजी ने उनके चरण छुए। वे बोले—"भाई, मै बहुत देर से तुम्हारी बातें सुन रहा था। मरालजी के कविता-पाठ में तो सचमुच जादू-का-सा प्रभाव है। खूब पढते है। अच्छा, दो-चार छद और सुनाइये। फिर तुमको सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के दर्शन कराये जायँगे।" मैने बडी उत्सुकता से पूछा—"गुरुजी, कब—कहाँ?" वे बोले—"अभी, और आगरे में ही।" सुनकर हमारी उत्सुकता का ठिकाना न रहा।

खैर, 'मरालजी' ने अपनी स्वर-लहरी-द्वारा फिर श्रोताओ को मुग्ध करना प्रारंभ किया, पर अब की बार रगत नही जमी। एक तो सेठजी के दर्शनो की उत्सुकता और दूसरे गुरुजी की विद्यमानता, हम लोग भीगी-बिल्ली की भाँति शात बैठे रहे—सबकी जुबानें बद थी, न 'वाह' निकलती थी, न 'आह'! गुरुजी भी हम लोगो की मनोवृत्ति को ताड़ गए। वे बोले—"अच्छा, चलो तुमको सेठजी के दर्शन करावें।"

आगे-आगे गुरुजी और पीछे-पीछे आठ-दस रगरूट। हम लोग गुरुजी से तीस-चालीस कदम पीछे चल रहे थे, जिससे वे हमारे मनोविनोद को सुनने न पावें। थोडे ही चले होगे कि गुरुजी ने 'बेलन गज' के एक फाटक में प्रवेश किया। हम भी उनके साथ-साथ घुसे। उस समय एक वयोवृद्ध व्यक्ति कुएँ या नल पर बैठे नहा रहे थे, नहाते में कुछ गुनगुनाते भी जाते थे। गुरुजी को देखते ही बोले—"आइये महाराज, प्रणाम! आज प्रात काल आपके दर्शन नही हुए, किधर रम गए थे?"

गुरुजी ने सेठजी की बात सुनी-अनसुनी-सी करके कहा—"देखिये, ये लोग आपके दर्शनो को आए है, सब नवयुवक और साहित्य-प्रेमी है। मेरा, मरालजी का और रामस्वरूप शास्त्री का गुरुजी ने अति सक्षिप्त-सा परिचय भी दिया। अन्य मित्रो को वे जानते न थे। वे लोग कालिज के अध्यापक थे।

सेठजी ने बडी विनम्रता से कहा—"पडितजी, क्यो बनाते हो! भला मैं भी कोई दर्शन की चीज हूँ।" खैर, उन दोनो विद्वानो में विनोद प्रारभ हो गया और हम लोग प्रणाम करके अपने-अपने घरो को रवाना हुए। बेलन गज से लोहामडी तक बराबर सेठजी की विनम्रता और विद्वत्ता की चर्चा चलती रही। पडित रामस्वरूप शास्त्री काव्यतीर्थ, सेठजी की विद्वत्ता की विशेष प्रशसा करते आए, क्योकि उन्होने उनके ग्रथो का विधिवत् अध्ययन किया था।

समवत १९२९ ई० की बात है। आचार्य श्री पडित पद्मसिंह शर्मा, वृदावन—गुरुकुल-महोत्सव के कवि-समेलन का सभापति-पद सुशोभित करने पधारे थे। उत्सव की समाप्ति पर गुरुकुल से आगरा चलने का प्रोग्राम बना। आचार्यजी ने कहा—"भाई, मथुरा में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार से मिलते चलेंगे। क्यो, ठीक है न?" सबने कहा—'ज़रूर-ज़रूर।'

पूज्य शर्माजी की मडली ताँगो में सवार हो मथुरा के लिए रवाना हुई। मडली में विद्वद्वर पडित किशोरीदास वाजपेयी, दर्शन-केसरी पडित उदयवीर शास्त्री, पडित रामस्वरूप शास्त्री काव्यतीर्थ, पडित अमृतलाल चतुर्वेदी और मैं—कुल नौ-दस व्यक्ति थे। भाई सत्येंद्र एम० ए० के घर सामान रखा और सब लोग श्री सत्येंद्रजी के ही नेतृत्व में तुरत सेठजी के यहाँ चल दिए। सत्येंद्रजी के सिवा सेठजी किसी को न पहचानते थे। सत्येंद्रजी ने सर्वप्रथम पूज्य शर्माजी का परिचय कराया। कठिनता से उन्होने नाम ही लिया होगा कि सेठजी शर्माजी से लिपट-चिपट गए और गद्गद् कठ से अपने को बार-बार 'धन्य-धन्य' कहने लगे। दो साहित्य-महारथियो के समिलन का वह दिव्य दृश्य देखने ही लायक था। सेठजी श्री किशोरीदास वाजपेयी के भी दर्शन कर अति प्रसन्न हुए। शेष लोगो में से सबको तो नही, पर कई को पहले से ही जानते थे—नाम से परिचित थे। उनमें से एक व्यक्ति इन पक्तियो का लेखक भी था।

बातो ही बातो में साहित्य-चर्चा प्रारभ हो गई। श्री वाजपेयीजी और श्री सेठजी का किसी विषय पर मतभेद हुआ। पूज्य शर्माजी सब बातें बडे शात भाव से सुनते रहे। अत में, शर्माजी से व्यवस्था माँगी गई और उन्होने सेठजी के पक्ष की पुष्टि की। विदा माँगने पर सेठजी बोले—"शर्माजी, कुछ भी हो, आप आज सध्या को बिना भोजन किये नही जा सकते। यदि चले जायेंगे, तो मुझे घोर दुख होगा।" सहृदय-शिरोमणि शर्माजी ने सेठजी का आग्रह बडे विनीत भाव से स्वीकार कर लिया और सब लोग मथुरा ठहर गए।

रात्रि को प्रीति-भोज हुआ। नगर के कई अन्य साहित्यिक भी उसमें संमिलित थे। वास्तव में वह प्रीति-भोज ही था। सेठजी स्वय बडे प्रेम से परोस कर अपनी हार्दिक प्रीति का प्रशसनीय परिचय दे रहे थे। उनका मधुर प्रेम फूटा पडता था। वे आतिथ्य में आनद-विभोर थे—प्रसन्नता का पारावार न था।

भोजन के पश्चात् कवियो का कविता-पाठ हुआ। आगरा के सुकवि श्री अमृतलाल चतुर्वेदी ने व्रज-काव्य-माधुरी की मनोमुग्धकारिणी विमल धारा बहाकर समाँ बाँध दिया। आनद की गगा

उमड पड़ी। कविता-कल्लोलिनी में बाढ-सी आ गई। बीच-बीच में साहित्याचार्य पडित श्री पद्मसिंह शर्मा ने सस्कृत, फारसी और उर्दू-कविता का पुट देना शुरू किया। सारा वायुमडल 'वाह-वाह' से गूंज उठा। सैकडो कवि-समेलनो में भी वैसा मजा नही आ सकता, जैसा उस दिन उस गोष्ठी में आया।

रात्रि के बारह बज गए! दिसबर की कडकडाती सर्दी! परतु काव्य-धारा में निमग्न मडली अपने आपको भूल चुकी थी। कैसी रात और कैसा जाडा!

आधी से अधिक रात बीत जाने पर गोष्ठी का उपसहार हुआ। उपसहार करने वाला चायामृतपान और बिहारी के दोहो का रसास्वादन था। सब लोग भाई सत्येंद्रजी के घर आए, और सेठजी के साहित्य-ज्ञान और आतिथ्य की चर्चा करते-करते सो गए। सुबह पार्टी ने लॉरी-द्वारा आगरे को प्रस्थान किया।

इस सुखद घटना को काफी समय हो गया। वर्षों बीत गए, परतु उसकी ताजगी बराबर बनी हुई है। आचार्य श्री पद्मसिंह शर्मा नही रहे, परतु उनके वे शब्द अबतक कानों में गूंज रहे हैं—

"हरिशकरजी, मथुरा का प्रोग्राम बनाओ। चलो, एक बार फिर सेठजी से मिल आयें, फिर न जाने क्या हो! तुमको ऐसे जगम तीर्थों के बार-बार दर्शन करने चाहिएँ।"



कवियों की श्रद्धांजलि

कवित्त

देव श्री गुविंद के पदारविंद सेवी भक्त, गुन-अनुरक्त रस पोखन प्रथा के हैं।
प्रेम के पुजारी, धुनि-बिंजना बिवेकधारी, अलकार-पिंगल प्रबीन कविता के हैं।।
'पोद्दार' पूखन सनातनी समृद्धसाली, बैस्य बंस भूषन प्रदूखन अदा के हैं।
काव्य-कल्पद्रुम के रचैया श्री कन्हैयालाल, साहित-समुद्र के मथैया मथुरा के हैं।।

—सुकवि श्री गोविंद चतुर्वेदी

नव-रस बारौ रस प्रति छबि वारौ दिपै, भावन भँमर भूरि हावन उदार हैं।
'लला कबि' ज्वार-बिंजनान कौ प्रकार चारु, फूल-कल्पनान कौ अनूठौ हितकार है।।
अलकार-संजुत तरी है खरी ब्यंग-ढग, नायिका-बिभेद बादवान जुक्ति डार है।
साहित के सिंधु की सु सैर करवावै खूब, परम उदार 'पोद्दार' पतवार है।।

केंद्र मथुरा के श्री कन्हैयालाल पोद्दार, मंजु मत महत बिराजत गुणी-गथी।
'लला कबि' काव्य-कल्पतरु कौ सुरूप-रूप, सुमन सुहावै सदा सबन सुधी-मथी।।
सुकबि-समाज कौ सुबृद्ध बपुधारी भीष्म, ग्रीष्म-दोष-मटन भजावत लयी-पथी।
हरि-रस-रति बारौ, बिरस-बिरति बारौ, तीव्रगति-मति बारौ, साहित-महारथी।।

गोखावार, मोखावार, झोखावार, खिरकी तें, ऐंठदार अधिक उमेंठवार सगडी।
'लला कबि' रग चवनी की अभिबंदनीय, बदनीय बिमल बिलासन तें अगडी।।
जित-जित धावै तित आदर महान पावै, लावै ना बिलंब दरसावै छटा तगडी।
बगडी बलन-आगें, रगडी चलै न रंच, परम-प्रबीन पोद्दार जू की पगड़ी।।

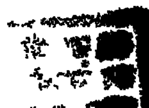
पडित, प्रबीन, पेख रूपक, सिहामें सदा, अतिसै, उल्लास, उल्लेख, गुन-आवृती।
'लला कबि' उभय, अभय बय बारी सजी, झूमका झमक दर्स, दृग अमराकृती।।
प्रासन-प्रसार, सदेह, उतप्रेच्छनीय, उपमा, प्रमान, है प्रदीप, ब्याज, ससृति।
पूरन ससी-सी मुख बारी सदा सुख बारी, पोद्दार बारी बनी मंजरी अलकृती[1]।।

—श्री रामलला 'लला कवि'

आई रितु सुखद सुहासिनी बिलासनी हूं, छाई मजु-महिमा ज्यो सौरभ दिगत-री।
सुहृद-सनेह-चित्त सहज प्रबन लागे, फैल फैल ब्रज में अनूप छबि सच-री।।
गंध-हीन किंसुक अपत से दिखान लगे, मोहकता तेरी लखि मोह्यौ मन-कंजरी।
पुंज-पुज भौर-भीर गुजरन लागी द्वार, फूली देखि सरस सुकाव्य-'रस-मंजरी'।।

—श्री चुन्नीलाल 'शेष'

[1] अलंकार-मंजरी।



विनम्र श्रद्धांजलि

श्री भगवानदास केला

मेरे जीवन में बहुत एकागीपन और सकोच रहा है। बिना किसी खास मतलब के अपने पास रहनेवालो से भी मिलना-जुलना कम रहा है और किसीसे मिलनेपर भी कुछ डरता-झिझकता-सा रहा हूँ। वृंदावन में सन् १९२० से १९४० तक रहने पर भी वहाँ के इने-गिने व्यक्तियो के संपर्क में आया हूँ और मथुरा के तो और भी कम। मुझे श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दारसे मिलाने का श्रेय श्री सत्येंद्रजी को है, और मुझे श्री सत्येंद्रजी की योग्यता और साहित्य-सेवा का पता भी वृंदावन-आने के कई वर्ष बाद लगा था। अस्तु सन् १९३२ के लगभग जब मै राजनीतिक शब्दावली के सशोधन के प्रसग में श्री सत्येंद्रजी की सहायता ले रहा था। तब उन्होंने मुझे श्री रामनिवासजी पोद्दार से मिलाया। श्री रामनिवासजी ने इस कार्य से बहुत सहानुभूति दरशाई। बहुत से अग्रेजी-शब्दो के हिंदी-पर्यायो पर विचार विनिमय करके अधिक उपयुक्त शब्द सुझाए। यही नही, आपने अग्रेजी के कितने ही नये शब्दो का सग्रह करके उनकी व्याख्या और पर्याय भी तैयार किए। आपसे इस कार्यके लिए समय-समय पर मिलना होता रहा, मन का सकोच हट गया और विविध सामयिक विषयो पर भी चर्चा होने लगी।

इस सिलसिले मे श्री रामनिवासजी के पिता श्री सेठ कन्हैयालालजी के दर्शन होना स्वाभाविक था। पर आपसे कुछ बातचीत करने मे बडा सकोच था। श्रद्धेय पोद्दारजी वयोवृद्ध होने के अतिरिक्त अपनी वेशभूषा में मारवाडी सेठ थे। क्रमश मुझे ज्ञात हुआ कि आपने हिंदी की बहुत सेवा की है, 'अलकार' और 'रस' के आप एक माने हुए पडित है और 'सस्कृत-साहित्य का इतिहास' लिख कर आपने राष्ट्र-भाषा के भडार मे एक अमूल्य और अनूठी भेंट प्रदान की है। यही नही, आप अपनी वृद्धावस्था में भी भरसक लिखने-पढने का काम करते हैं। आप विविध पत्र-पत्रिकाओ का अवलोकन करते है और जब कभी किसी लेखक की साहित्य-सबधी भूल देखते है तो आप उसका परिमार्जन करनेका प्रयत्न करते है। इन बातो को देख-सुन कर मैं क्रमश आपकी ओर अधिकाधिक आकर्षित होता रहा। आपके निजी पुस्तकालय से मै बहुत लाभ उठाने लग गया। अनेक बार जब मेरा वृंदावन से मथुरा आना होता तो आपके दर्शन करने और आपके सत्सग से कृतार्थ होने का अवसर चुकाना ठीक न समझता।

श्रद्धेय सेठजी, अपनी साहित्यिक योग्यता के कारण 'हिंदी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग' से "साहित्य-वाचस्पति" की उपाधि प्राप्त कर चुके है। ब्रज-साहित्य-मडल ने आपको 'ताम्र-पत्र' भेंट किया है और आपकी हीरक जयती भी मनाई है। इन बातो से आपकी योग्यता और विद्वत्ता का सहज ही परिचय मिल जाता है। पर मेरे लिए आपका सबसे बढिया गुण आपकी विनम्रता या विनयशीलता है। प्राय जिस आदमी के पास दो पैसे हो जाते है, या जो कुछ विद्वान् हो जाता है, अथवा कुछ सार्वजनिक प्रतिष्ठा पा जाता है, उसमें कुछ न कुछ अहकार या दंभ बढ जाता है। कुछ लोग तो दूसरो से अच्छी तरह बात करना भी अपनी शान के खिलाफ समझने लगते हैं। पर श्री पोद्दारजी है कि अपने मृदुभाषण और विनयशीलता में विलक्षण रूप से बढे हुए है। अपने से उम्र में छोटो तथा कम शिक्षितो से भी ऐसा व्यवहार करते है कि सहसा आपके सामने नत-मस्तक हो जाना पड़ता है। आपसे जब-जब भेंट हुई है तो उससे सस्कृत की कहावत 'विद्या ददाति विनय' याद आती रही है। आजकल

के विद्वान् और प्रतिष्ठा प्राप्त सज्जन श्री पोद्दारजी से विनयशीलता का नागरिक गुण प्राप्त करने की शिक्षा लें तो हमारे स्वतन्त्र भारत का नागरिक जीवन कितना अधिक सुखमय हो जाय।

श्री पोद्दारजी ने समय-समय पर साहित्य-कार्य के लिए सहायता या दान करके अपनी उदारता का परिचय दिया है। व्रज-साहित्य-मडल के भवन के लिए भूमि आप तथा आपके परिवार-द्वारा दिये गए धन से खरीदी गई है। इससे स्पष्ट है कि आप खास कर व्रज-साहित्य से कितना अनुराग रखते है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि व्यवसायी होते हुए भी आपने अपने जीवन का बहुत-सा मूल्यवान समय साहित्य-सेवा के लिए अर्पण किया है। आज कल कितने व्यवसायी सेठ है, जो साहित्य की गति-विधि से परिचित रहते हैं और कुछ साहित्य-कार्य करने के लिए अवकाश निकाल पाते है? प्राय व्यवसायी होना और साहित्य-कार्य करना दो वेमेल बातें समझी जाती हैं। श्री पोद्दारजी जैसे महानुभाव ऐसी धारणाको हटाने में सहायक ही हुए हैं। आपका उदाहरण बहुत शिक्षाप्रद है। यदि देश का व्यवसायी समाज आपका अनुकरण कर कुछ लोभ का त्याग करे और प्रवृत्त हो तो हमारे हिंदी-साहित्य-भंडार के कई प्रकार के अभाव शीघ्र ही दूर होने की आशा हो।

ऐसे महानुभाव को जो व्यवसायी होते हुए भी साहित्य-प्रेमी और साहित्य-सेवी है, जो अपने विषय के प्रकाड विद्वान् होते हुए भी विनम्र है, जो वयोवृद्ध होते हुए भी अपने से छोटी उम्र वालो तथा युवको के प्रति मिष्ट-भाषी है, उनके प्रति हमारी 'विनम्र-श्रद्धाजलि' सादर समर्पित है।



प्रणामांजलि

श्री गोपालप्रसाद व्यास

श्री सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार द्विवेदी-युग के प्रख्यात कवि, हिंदी में रस और अलकार-विषय के प्रतिभावान आचार्य, साहित्य-शास्त्र के प्रामाणिक आलोचक और हिंदी में सस्कृत-साहित्य के इतिहास को प्रथम वार शृखलाबद्ध-रूपमें प्रस्तुत करने वाले तथा यशस्वी निवध-लेखक है। आपकी हिंदी-सेवाएँ महत्त्वपूर्ण है। हिंदी के इस वयोवृद्ध पितामह-साहित्य-गुरु के समुख हमारा मस्तक सहज श्रद्धा से नत हो जाता है।

लक्ष्मी की जगमगाहट में प्रथम नेत्रोन्मीलन से आज तक स्नात रहते हुए भी उसकी चमक ने इन्हें विमूढ नही किया, व्यापारिक बाधाओ की लहरियाँ उनके तटस्थ, अचल व्यक्तित्त्व से टकरायी, पर वे विचलित नही हुए, युवावस्था के रागो की उद्दाम-धाराएँ भी उन्हें पथ-भ्रष्ट न कर सकी और आज वृद्धावस्था की अस्वस्थता भी उन्हें साहित्य-सेवा से विरत करने में असमर्थ सिद्ध हो चुकी है। सेठजी को हम आयु-पर्यंत साहित्य के महासाधक के रूप में देखते है। उनकी साठ वर्ष की साहित्यिक प्रगति उनके सस्कारी मन और परम आस्तिक स्वभावका चिन्तन करते हुए आज किसका मन अभिनदन के भावो से नही भर जाता? कारण यह है कि सेठजी के साहित्य-सर्जन की भूमि ठोस है, वह प्रचार की आकाक्षा से प्रेरित नही हुई, वरन् मन की अतर्निव अनुभूति पर आश्रित है।

सेठजी ने जब साहित्य में प्रवेश किया तब न ऐसे प्रेस थे और न ऐसी पत्रिकाएँ थी। हिंदी के आन्दोलन के लिए तब सभा-समेलनो ने भी बल नही पकडा था। हिंदी भाषा और उसके साहित्य में नवोन्मेष भरने वाली 'सरस्वती' (पत्रिका) का भी जन्म तब तक नही हुआ था।

'सरस्वती' हमारे साहित्य में नूतन प्रकाश लेकर अवतरित हुई। आरभ से ही सेठजी की रचनाएँ उसमें छपने लगी। पहले वर्ष में ही उसमे लेखको की जो चित्रावली प्रकाशित हुई, उसमें अगुलियो पर गिने जाने वाले तत्कालीन साहित्य-महारथियो में सेठजी समिलित थे। इस घटना को घटे आज ५० वर्ष बीत गए। इस अर्द्ध शताब्दी में हिंदी में कितनी उथल-पुथल नही हुई? युग आये और गये। वाद चले और समाप्त हुए। किंतु सेठजी साहित्य-सर्जन के अपने लक्ष्य पर अडिग, स्थिर रहे और दृढता से पैर उठाते हुए अपने पथ पर चलते रहे।

पोद्दारजी जैसे सजग और अध्यवसायी लेखक का जीवन-वृत्त आज की पीढी के लिए प्रेरणाओ से भरा हुआ है। उनके व्यक्तित्त्व के विकास में हिंदी के विकास की कहानी छिपी हुई है।

वंश-परिचय

राजस्थान की वीर-प्रसविनी भूमि रण-बाँकुरो के लिए ही नही, व्यवसाय-व्यापार शिरोमणि श्रेष्ठियो के लिए भी प्रसिद्ध रही है। राजस्थान के उज्ज्वल इतिहास में जहाँ अनेकानेक क्षत्रिय वीरो की प्राणो को प्रकपित करने वाली गाथाओ के प्रमाण मिलते है, वहाँ ऐसे भी अनेक प्रमाण उपलब्ध है कि यहाँ के मारवाडी व्यापारी समुदाय ने देश-विदेशो से केवल धन का ही सचय नही किया, अपितु अपनी परोपकारी वृत्ति से अक्षय धर्म का भी सचय किया है। विगडे दिनो में भारत के सामाजिक शील, साहित्यिक अनुराग और राजनीति के उत्कर्ष को भी मारवाडी जाति से प्रचुर प्रोत्साहन मिला है। मारवाडियो का व्यक्तिगत चरित्र गुलामी के दिनो में भी अपनी धुरी से नही हटा। ऐसे ही उज्ज्वल कीर्ति एव गौरवान्वित मारवाडी समाज के पोद्दार-वश में 'श्री कन्हैयालालजी' ने जन्म लिया।

इस पोद्दार-वंश में सेठ भगोतीरामजी पोद्दार बड़े भाग्यशाली हुए हैं। वे बीकानेर राज्य के चुरू नामक नगर के निवासी थे और अग्रवाल वंशीय पोद्दार कहलाते थे। सेठ भगोतीरामजी के सबसे बड़े पुत्र का नाम चतुर्भुजदासजी था। सेठ चतुर्भुजदास की एक साधु में बड़ी श्रद्धा थी। साधु ज्योतिष-विद्या में निष्णात थे। उन्होंने सेठजी को व्यापारार्थ प्रस्थान करने के लिए एक मुहूर्त शोध कर बताया। सेठजी उसी शुभ मुहूर्त में चल दिये और पंजाब के भटिंडा शहर में आकर दूकान जमा ली।

यहाँ कुछ समय-उपरांत एक घटना घटी। एक रात्रि को कुछ यात्रियों ने आपकी दूकान से खाद्य पदार्थ मोल लिए। उनके पास रुपया नहीं था, उन्होंने अपनी कुछ थालियाँ इनके पास रख दीं और बदले में आवश्यक सामान ले गए। दूसरे दिन प्रातःकाल शहर के बाहर तंबुओं में आग लगी हुई देखी गई। पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि कुछ डाकुओं ने वहाँ डेरा डाला था, परंतु जब उन्होंने देखा कि लोग उनका पीछा कर रहे हैं तो वे तंबुओं में आग लगा कर भाग गए। सेठजी ने अनुमान लगाया कि रात्रि में जो पुरुष खाद्य-वस्तु खरीदने आए थे वे डाकू ही थे। अब उन्होंने परीक्षा की दृष्टि से उन थालियों को देखा। वे थालियाँ पीतल की न होकर सोने की थीं। बाद में जब सेठजी को यह विदित हुआ कि जले हुए तंबुओं का सामान नीलाम हो रहा है तो सेठजी ने उनका सब सामान नीलाम में खरीद लिया। उस सामान में कई घोड़ों के तोबड़े थे। वे डाकुओं के द्वारा लूटे हुए सोने-चाँदी और हीरे-मोतियों से भरे हुए थे। कुछ समय के अनंतर सेठजी दूकान का काम मुनीमों को सौंपकर अपने जन्मस्थान चुरू आ गए।

अब तो सेठजी की अनेक स्थानों पर दूकानें चलने लगीं। जगात (कर) के संबंध में चुरू के ठाकुर साहब से अनबन हो जाने पर सेठ चतुर्भुजदासजी सीकर के रावराजा देवीसिंहजी बहादुर (राज्य-काल सं०–१८२७ वि० से सं०–१८५९ वि० तक) से मिले। रावराजाजी के अनुरोध करने पर ये सीकर राज्यांतर्गत "नौसा" ग्राम में (जो चुरू से लगभग ५ कोस अर्थात् १० मील की दूरी पर है) अपने पिता सेठ भगोतीरामजी के साथ रहने लगे। सेठजी के वहाँ आबसने पर आसपास के गाँवों के और लोग भी नौसा गाँव में आ बसे। यही नौसा गाँव आगे चलकर 'सेठों का रामगढ़' कहलाया।

रामगढ़ में सेठ चतुर्भुजजी ने अपने नाम के अनुसार भगवान् चतुर्भुजजी के मंदिर की स्थापना की। उनके एक पुत्र का नाम ताराचंदजी था। सेठ ताराचंदजी के वंशजों में सभी महानुभाव बहुत प्रसिद्ध धार्मिक एवं यशस्वी हुए हैं। सेठ ताराचंदजी बड़े सरल स्वभाव के संयमी और धार्मिक व्यक्ति थे। इनका स्वर्गवास तरुणावस्था में ही हो गया था। उनके दो पुत्र थे—गुरुसहायमलजी और हरसहायमलजी। ये दोनों ही अत्यंत प्रभावशाली थे। राजपूताने में आज भी 'हरसा-गुरसा' कहकर इन दोनों भाइयों के सद्गुणों की प्रशंसा की जाती है। सेठ गुरुसहायमलजी के एकमात्र पुत्र सेठ घनश्यामदासजी हुए।

सेठ गुरुसहायमलजी बड़े आदर्श पुरुष थे। भिवानी के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा सुदर्शन-पत्र के संपादक पंडित माधवप्रसादजी मिश्र ने कलकत्ता से प्रकाशित 'वैश्योपकारक मासिक पत्र' में आपके विषय में लिखा था कि परस्पर की बातों में लोग कहा करते थे कि 'तू बड़ा गुरुसहायमल सेठ है, जो झूठ नहीं बोलता।' इनके विषय में ऐसी अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि ये बड़े संयमी और सत्यवादी थे। इनके व्यापार का केंद्र केवल बड़े-बड़े नगरों में ही सीमित नहीं था, परंतु छोटे-छोटे अनेक शहरों और मंडियों से भी इनका व्यापार-संबंध था। हांगकांग और शंघाई में भी आपकी कोठियाँ थीं। सभी स्थानों पर आपके मुनीम लोग कार्य करते थे। आपकी इन कोठियों पर सराफे का ही काम नहीं होता था, उस समय के प्रायः सभी प्रचलित व्यापार होते थे, पर अफीम और बीमा लेने का व्यापार सब में प्रधान था। मालवा-प्रांत से अफीम खरीदी जाती थी। वहाँ से बंबई आती थी और बंबई से शंघाई जाती थी। उस समय अफीम का व्यापार बड़ी उन्नतावस्था में था और उस व्यापार में सेठजी अग्रगण्य माने जाते थे। जल-थल सभी प्रकार के

बीमे का काम सेठजी के यहाँ होता था। उस समय बीमे का व्यापार किसी विदेशी या स्वदेशी कपनियों के हाथ म न था। व्यापार में जो लाभ होता था उसका विशेष भाग धर्मार्थ के लिये पृथक रखा जाता था। सेठ गुरुसहायमलजी और घनश्यामदासजी दोनो पिता-पुत्र में धार्मिक भावना अत्यंत बद्धमूल थी। आपने अपने जन्मस्थान रामगढ में श्री वद्रीनाथ के मंदिर की स्थापना की और धर्मशाला बनवाई।

सं० १६०० वि० के लगभग दोनो पिता-पुत्र मथुरा की यात्रा के लिये आए। यहाँ आपने श्री गोविंददेवजी के मदिर की स्थापना की और उसके नित्त-नैमित्तिक व्यय के लिए लाखो रुपए की स्थावर और जगम संपत्ति दान में दी। इसके अतिरिक्त अन्नसत्र (सदाव्रत) का भी आयोजन किया। मथुरा में अपने निवास के लिए भी एक विशाल भवन निर्माण कराया जो श्री यमुना-तट के निकट चुरूवाले सेठो की गली मे श्री गोविंददेवजी के मदिर के समीप है। उसी समय से सेठ गुरुसहायमलजी अपने जन्मस्थान रामगढ़ से सपरिवार आकर अधिकतया मथुरा में रहने लगे। मथुरा में आपका घराना चूडीवालो के नाम से प्रसिद्ध है। चुरूवालो का अपभ्रश ही 'चूडीवाले' हो गया है। आपने काशी में मीरघाट के पास अपनी कोठी के एक भाग में विशाल शिवालय की स्थापना की। काशी, हरिद्वार और वृ दावन-आदि अनेक अन्य तीर्थस्थानो पर भी आपने अन्नसत्रो की आयोजना की। ये राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान् पडित मगलदत्तजी और चिडावा (जयपुर) के पडित तुलसीरामजी जैसे वीतराग महात्माओ के उपदेश सुनते थे और उनका सत्सग करते रहते थे। यो तो श्री भगवद्-सेवा के लिए विद्वान् पुजारी नियुक्त थे, परतु सेठजी स्वय नियमित रूप से भगवान् की सेवा करते थे। विद्वानो का सत्कार और अतिथि-सेवा तो आपका व्रत था। सेठ गुरुसहायमलजी अलभ्य यश, अतुल सपत्ति और सत् परिवार छोड कर सवत् १६२४ के लगभग स्वर्गवासी हो गए। आपकी अत्येष्टि-क्रिया में लाखो रुपयो का दान किया गया था। रामगढ में जिस स्थान पर सेठजी का दाह-कर्म हुआ वहाँ एक विशाल धार्मिक स्थापत्य बनाया गया। ऐसे स्मारक शेखावाटी में 'छत्री' कहलाते हैं।

सेठ घनश्यामदासजी अपने स्वर्गीय पिता के आदर्श पर व्यापार और धार्मिक कार्य में सलग्न रहते हुए उत्तरोत्तर वृद्धि करते गए। अपने समय में उनकी ऐसी प्रथा थी कि मारवाडी समाज तो आपको अपना अग्रगण्य ही मानता था। जब सेठजी श्री जगदीश की यात्रा के बाद कलकत्ते और श्री रामेश्वर की यात्रा से लौटते हुए बबई गए तो दोनो स्थानो पर वहाँ की समस्त मारवाडी समाज ने बडे उत्साह पूर्वक आपका स्वागत-सत्कार किया। जहाँ-जहाँ सेठजी की कोठियाँ थी, वहाँ-वहाँ के मारवाडी पचो में आपके फर्म का नाम सबसे पहले लिखा जाता रहा है। सेठजी को अपने जीवनकाल में दु ख-सहन करने का कोई अवसर नही आया। अपनी मृत्यु से केवल पाँच दिन पहले आपको एक बार ही हृदय-विदारक दु ख देखना पडा था। उसी दु ख ने ५५ वर्ष की अवस्था मे ही मिती आश्विन शुक्ला १५ स० १६४० वि० को आपके प्राणो की बलि ले ली। आपके ज्येष्ठ पुत्र का स्वर्गवास हुआ और उसके अनतर आप केवल पाँच दिन अचेतन अवस्था में ही जीवित रहे। सेठजी की प्रथम पत्नी के दो पुत्र थे—सेठ जयनारायणजी व लक्ष्मीनारायणजी। द्वितीय पत्नी से तीन पुत्र—सेठ राधाकृष्ण जी, सेठ केशवदेवजी और सेठ मुरलीधरजी हुए।

सेठजी के स्वर्गवास के पश्चात् आपकी पत्नी ने तपस्विनी के रूप में अपना जीवन व्यतीत किया। एक लक्ष भगवत्-नाम का प्रतिदिन जप कर आप भोजन करती थी। आप बड़ी दानशीला एवं दया की मूर्ति थी। आपने स० १६५२ वि० में हरिद्वार में श्री गगा के प्रवाह में अपने प्राण-विसर्जन किए। सेठ घनश्यामदासजी के पाँचो पुत्र बड़े प्रभावशाली थे। इनमें सबसे बडे सेठ जय-नारायणजी थे। इनका जन्म सं० १६०६ वि० में हुआ। आप बडे भगवद्भक्त, दानशील और पुण्यात्मा थे। अपने पितामह के साथ आप भी प्रतिदिन योगवासिष्ठ, श्रीमद्भागवत आदि पौराणिक कथाओ का श्रवण करते और तदनतर उनको लिपिबद्ध करते थे। बाल्यावस्था से ही आपके हृदय में

धार्मिक सस्कार दृढमूल हो गए थे। आपकी दिनचर्या आदर्श थी। ब्राह्म मुहूर्त में शय्या-छोडकर सूर्योदय पर्यन्त गीता आदि पचरत्नो का पाठ करते रहते थे। आपका शरीर कृश होने के कारण अस्वस्थ ही रहा करता था। फिर भी आप नित्य श्री यमुना-स्नान करते थे और नियमित रूप से श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण करते थे। सध्योपासनादि, नित्यकर्म से लगभग ११ बजे निवृत्त होकर आप अपने पितामह-द्वारा स्थापित श्री गोविंददेवजी के मदिर मे १०८ परिक्रमा करते थे। व्यापार-सबधी पत्रो को सुनकर और मुनीम-गुमास्तो को आदेश देने के पश्चात् आप श्रीमद्भागवत, रामचरित-मानस एव विनयपत्रिका आदि का पाठ करते थे। आप पर ब्रज के प्रसिद्ध विद्वानो और साधु-महात्माओ की वडी कृपा रहती थी।

सेठ जयनारायणजी वडे ही ब्रह्मण्य थे। आपके यहाँ सैकडो ब्राह्मण प्रतिदिन श्री भागवतादि का पाठ और गायत्री-आदि का जप किया करते थे। प्रतिदिन अनेक ब्राह्मण और अतिथियो को भोजन कराया जाता था। समय-समय पर महीनो तक सैकडो ब्राह्मणो को प्रतिदिन भोजन कराया जाता था। आपने मथुरा के चतुर्वेदियो को, जिनकी सख्या लगभग ४००० है—कई बार भोजन कराया और प्रति मनुष्य एक रुपया दक्षिणा दी। व्यापारिक कार्य में आप बहुत ही कम समय देते थे। सेठजी की अपने इष्टदेव श्री गोविंददेवजी पर घोर श्रद्धा और अटल विश्वास था। स० १९३२ वि० में आप सकुटुब श्री जगदीश-यात्रा को गए। उस समय रानीगज से आगे बैलगाडियो में जाना होता था। रास्ते में मेदनीपुर में पडाव किया तो रात में मेदनीपुर की नदी में भयकर बाढ आ गई। सेठजी के पडाव का स्थान चारो ओर से जलमग्न हो गया। कहते है कि उस समय सेठजी ने अपने इष्टदेव श्री गोविंददेवजी का स्मरण किया और प्रत्यक्ष-दर्शियो का कहना है कि उस समय एक श्यामकाय पुरुष ने कही से प्रादुर्भूत होकर अपना हस्तावलवन देकर पत्नी और पुत्र के सहित सेठजी को एक ऊँची टेकरी पर ले जाकर खडा कर दिया। उसी समय आपने एक लक्ष ब्राह्मण-भोजन का सकल्प किया। स० १९४० वि० मे आप रोगग्रस्त हो गए। जब आपको रोग असाध्य प्रतीत होने लगा तो आप स्वर्णमुद्राओ का मुक्त हस्त से अखड दान करने लगे। आश्विन शुक्ला १० स० १९४० वि० को श्री गोविंददेवजी के चित्र के दर्शन करते-करते आपका वैकुठवास हो गया।

जन्म

इन्ही जयनारायणजी के ज्येष्ठ पुत्र हमारे सेठ श्री कन्हैयालालजी है। आपका जन्म मथुरा में भादो सुदी १, सवत् १९२८ को हुआ। अपने कुल की दीर्घ परपरा से ही इन्हें गहन भगवद्भक्ति के साथ दान-मान और कुल-शील के सस्कार वडे स्थिर रूप में प्राप्त हुए है। शास्त्रो के अध्ययन की निष्ठा, विद्वज्जनो की सगति और साधुजनो की सेवा का निरतर पीढियो से चले आने वाला तप हमारे सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार के व्यक्तित्व में आकर फलीभूत हुआ और साथ ही लक्ष्मी के प्रसाद से समाज में अनत समान प्राप्त करने वाले इस यशस्वी कुल पर सरस्वती की भी कृपा हुई।

शिक्षा और संस्कार

पोद्दारजी ने किसी विद्यालय में विधिवत अध्ययन नही किया। क्योकि आपके पिताजी का वैकुठवास, जब आप केवल १२ वर्ष के ही थे, तभी हो गया था। इसलिए बाल्यावस्था में ही गृहस्थी और व्यापार का भार, आप पर आ पडा और गुरु-गृह या विद्यालय की शिक्षा से आप वचित रह गए। जो कुछ भी शिक्षा आपको मिली वह घर पर मिली। घर की इस शिक्षा में साधारण गणित एव वही-खाता और सस्कृत मे पचरत्न, कुछ अमरकोष और कुछ सारस्वत तक ही आपकी पढाई सीमित रही। आपके पिताजी अग्रेजी-शिक्षा के वडे विरोधी थे, इसलिए उसका प्रसग ही आरभ में नहीं उठा, किंतु वाद में सतत व्यापार-क्षेत्र में काम पडने से आपको अग्रेजी का भी साधारण ज्ञान हो गया।

असली शिक्षा तो आपको भगवान् व्यास की श्रीमद्भागवत और गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस से ही प्राप्त हुई। आपका यज्ञोपवीत सस्कार ६ वर्ष की अवस्था में ही हो गया

था। तभी से श्रीमद्भागवत और तुलसी-कृत रामायण आपके दैनिक पठन-पाठन के ग्रंथ बन गए। टीकाओ-द्वारा इन महान् ग्रथो की अनेकानेक पाठावृत्तियो ने पोद्दारजी के ज्ञान-कपाट खोल दिए और यही टीकाएँ आपको साहित्य-क्षेत्र की ओर प्रेरित करने का कारण बनी। फिर आप विधिवत् सस्कृत और हिंदी के साहित्यिक ग्रथो को मँगा-मँगा कर पढने लगे। विद्वान् पडितो और साहित्यकारो के सत्सग ने इस रुचि को और पुष्ट किया।

राजस्थान के बूदी निवासी राजमान्य महाकवि सूर्यमल्लजी के पट्ट शिष्य गणेशपुरीजी से आपने अलकार-विषय का प्रसिद्ध ग्रथ "भाषाभूषण" पढा। यद्यपि यह पढाई केवल तीन दिन ही चली, लेकिन इससे अलकार-विषय में सदा के लिए आपकी अभिरुचि हो गई। मारवाड के गग कवि से आपने पिंगल भी पढा।

यह पहले बताया जा चुका है कि आपने प्रात पूजा के समय श्रीमद्भागवत का पठन पहले कुछ दिनो हिंदी-भाषा-टीका के साथ किया, तदनतर सस्कृत-टीका के साथ करने लगे और इस तरह कई आवृत्तियाँ की, जिससे आपको सस्कृत समझने की बहुत कुछ शक्ति उपलब्ध हो गई और आप सस्कृत के काव्य, नाटक आदि देखने और समझने लगे। साथ-साथ आप हिंदी-भाषा के काव्य-नाटक भी देखते रहे। भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र आदि के नाटको से आपकी हिंदी-साहित्य की ओर विशेष अभिरुचि हुई। श्री रामचरितमानस का पाठ तो आप प्रतिदिन करते ही थे। इसपर श्री रामचरणदासजी और बैजनाथजी की टीकाएँ बडी महत्त्वपूर्ण एव विस्तृत हैं। उनकी भी आपने कई आवृत्तियाँ की। शनै-शनै. आपका अभ्यास बढता गया। आप सामयिक पत्र-पत्रिकाओ में लेख भेजने लगे और काव्य-रचना करने लगे। जब काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने "सरस्वती" का प्रकाशन आरभ किया तो प्रथम वर्ष ही आपका महाकवि भारवि पर एक उत्कृष्ट निबध आपके चित्र के साथ निकला था। साहित्य-विषय में आपकी उत्तरोत्तर रुचि बढती गई।

पहली रचना

आपकी सबसे पहली पुस्तक—"भर्तृहरि-शतक का भाषानुवाद" है। यह १९५० के आस-पास की रचना है। यह अनुवाद कालाकाँकर से निकलने वाले दैनिक 'हिंदोस्थान पत्र' मे क्रमश प्रकाशित हुआ था और तब उसकी बडी सराहना भी हुई थी।

आपका सबसे पहला लेख भी महामना श्रीमालवीयजी के प्रधान सपादकत्त्व में 'हिंदोस्थान' में ही छपा। उसकी कहानी भी रोचक है। आपने सपादक को पत्र लिखा कि आप जो लेख छापते है, उनकी छपाई भी कुछ लेते है या यो ही छाप देते है? सपादक ने उत्तर देते हुए लिखा कि हम सुदर लेखो को तो छाप देते है और शेष रद्दी की टोकरी मे फेंक देते है। इस पर आपने वहाँ लेख भेजने प्रारभ किए। आपका पहला लेख 'गेहूँ' और दूसरा 'अफीम-निर्यात' पर था। साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण होते समय जहाँ हमें एक ओर 'भर्तृहरि-शतक' के नीति-गर्भित-काव्य में इनकी प्रवृत्ति दिखाई पडती है, वही दूसरी ओर देश के व्यवसाय-व्यापार से सबधित आर्थिक विषयो की ओर भी प्रवृत्ति मिलती है। इस दिशा में इनके अपने प्रत्यक्ष व्यापारिक अनुभवो से इन्हें प्रेरणा मिली थी, इस ओर भी यदि ये अपनी अभिरुचि बनाये रहते तो आज आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्र को कुछ मौलिक सामग्री मिली होती।

अलंकारो की ओर

पोद्दारजी से पहले हिंदी-ग्रथो में अलकारो का विषय प्राय पद्य-बद्ध था। प्राचीन कविगण राज-समाज और पडित-प्रवीणो में आदर-प्राप्त करने के लिए रीति-ग्रथो की रचना किया करते थे। उन ग्रथो में प्रधान प्रतिपाद्य नायिका-भेद था और अलकार-विषय भी था, पर किंचित गौण। इन ग्रथो मे अलकारो के प्रतिपादन के लिए अधिकतया सस्कृत के चद्रालोक और कुवलयानद को ही आधार माना गया प्रतीत होता है। सस्कृत-ग्रथो में अलकारो के पद्यात्मक लक्षणो का प्रथम तो

ग्रथकारो ने स्वय अपनी वृत्ति में ही स्पष्टी-करण कर दिया है, फिर उन पर प्रकाड विद्वानो-द्वारा लिखी गई टीकाओ में विषय को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया। पर हिंदी के रीति-ग्रथकारो ने प्रथम तो अलकार-विषय को समझने का कष्ट ही नही उठाया, फिर उनके लक्षण भी पद्य में लिखे। पद्य में दिये गए लक्षण कभी पूर्णत स्पष्ट नही हो तो, उन पर वृत्ति या व्याख्या की आवश्यकता होती ही है। किंतु हिंदी में उनका कुछ भी स्पष्टी-करण गद्य में नही किया गया। फलत हिंदी-साहित्य के पाठको एव विद्यार्थियो तक के लिये इन ग्रथो की कोई उपयोगिता नही हो सकी। अलकारो की प्रतिपादन तथा स्पष्टी करण और उनकी व्याख्या-आदि के लिये, अत्यत गहन विवेक तथा सूक्ष्म तत्वदर्शी मेधा की आवश्यकता होती है। उस मेधा के बिना तथा तत्सबधी विवाद, व्यापक पाडित्य के बिना अलकारो के सूक्ष्म भेदो के मनोवैज्ञानिक तत्त्व स्पष्ट नही हो सकते। हिंदी में इसका एकात अभाव था।

पोद्दारजी ने हिंदी के रीति-ग्रथो की इस त्रुटि को लक्ष्य में रखकर सस्कृत के उपलब्ध प्राचीन साहित्य-ग्रथो का विशद अध्ययन किया और उनके आधार पर अपने ग्रथो की रचना की। पोद्दारजी से पूर्व हिंदी-साहित्य के विद्वानो ने सस्कृत के प्राचीनतम आचार्यों की ओर दृष्टिपात भी नही किया था। भामह, दडी, उद्भट, वामन, रुद्रट, ध्वनिकार एवं रुय्यक-आदि और पडितराज जगन्नाथ-आदि-द्वारा प्रणीत काव्यालकार, काव्यादर्श, काव्यालकार-सार-सग्रह, काव्यालकार-सूत्र, काव्यालकार, ध्वन्यालोक एव अलकार-सर्वस्व और रस-गगाधर आदि ग्रथ इनके लिए अस्पर्श्य ही रहे थे। पहली बार पोद्दारजी ने ही काव्य-प्रकाश, कुवलयानद और साहित्य-दर्पण के अतिरिक्त उपर्युक्त समस्त सस्कृत-ग्रथो के आधार पर विधिवत् वैज्ञानिक प्रणाली से अपने साहित्य-ग्रथो में साहित्य-शास्त्र की विवेचना की।

पोद्दारजी के इस परिश्रम से साहित्य के अध्येताओ को बहुत लाभ हुआ। पोद्दारजी के अलकार-सबधी ग्रथ उनके लिए वरदान सिद्ध हुए। आपने अलंकार जैसे जटिल विषय को अत्यत सरल बना दिया और उसमें जो दुरूहता और प्राचीन पडिताऊपन था उसे निकाल कर उसके स्थान पर ऐसा वैज्ञानिक विवेचन किया जो नवीन शिक्षा-प्रणाली के विद्यार्थियो की क्षमता के अधिक अनुकूल था। अलकारो के लक्षणो को पद्य-बद्ध लिखने की परिपाटी आपने बदल दी। आपने ये गद्य में लिखे। उनके उदाहरण श्रेष्ठ कवियो की प्रसिद्ध रचनाओ में से चुन-चुन कर रखे। प्राचीन परिपाटी के रीति-ग्रंथो में उदाहरण-सबधी बहुत प्रमाद था। सेठजी ने अपने अध्यवसाय से शुद्ध उदाहरण ही चुन कर प्रस्तुत किए। जहाँ अन्य विद्वानो के श्रेष्ठ उदाहरण नही मिले वहाँ पोद्दारजी ने अपने स्वय के लिखे उदाहरण दिये और इस प्रकार अलकार-शास्त्र का प्रथम बार प्रामाणिक प्रणयन हिंदी में आपके द्वारा हुआ, जिसमें आपने अलकारो के वर्गीकरण और विवेचन की प्राचीन और अर्वाचीन दोनो ही प्रणालियो का उपयोगी समन्वय प्रस्तुत किया।

अलंकार-प्रकाश

अलकार-विषय पर आपकी पहली कृति 'अलंकार-प्रकाश' के नाम से प्रकाशित हुई। इसे बबई के वेंकटेश्वर प्रेस ने छापा था। इस पुस्तक का हिंदी में बडा उत्साहपूर्वक स्वागत हुआ। तत्कालीन विद्वानो ने इसकी मुक्तकठ से प्रशसा की, पत्र-पत्रिकाओ में इसकी महत्वपूर्ण चर्चा हुई और परीक्षाओ में भी इसे स्थान दिया गया। बाबू बालमुकुद गुप्त ने अपने 'भारतमित्र' में इसकी प्रशसात्मक आलोचना लिखी थी। यह ग्रथ पोद्दारजी ने स्वात सुखाय ही लिखा था। हिंदी वालो ने इसे बडी हार्दिकता से अपनाया तो सेठजी ने अपने आपको इस शास्त्र की सेवा के लिये और अधिक विनियुक्त किया।

काव्य-कल्पद्रुम

पोद्दारजी का विचार था कि 'अलकार-प्रकाश' का दूसरा संस्करण केवल अलंकारों के प्रतिपादन तक ही सीमित न रखा जाय। वे उसमें रस, भावादि सभी विषयो का समावेश करना

चाहते थे। पर समयाभाव मे वे अपने विचारानुकूल वह संस्करण प्रस्तुत नहीं कर सके। फिर भी संक्षेप में रस-भावादि का विषय उन्होंने बढा दिया और उसको 'काव्य-कल्पद्रुम' का नाम देकर नागरी-प्रचारिणी-सभा आगरा के द्वारा प्रकाशित कराया गया। इस प्रकार 'अलंकार-प्रकाश' समृद्ध हुआ और काव्य-कल्पद्रुम बन गया। काव्य-कल्पद्रुम के बाद के समस्त संस्करण दो भागो मे विभक्त होकर 'रस-मंजरी' और 'अलंकार-मंजरी' के नाम मे निकलते रहे है। ये दोनो ग्रंथ उत्तरोत्तर परिवर्द्धित और परिवर्तित होते गए है। पोद्दारजी में सार-ग्राहिणी वृत्ति सदा ही अत्यंत प्रबल रही है। उनका अध्यवसाय तथा अध्ययन अखंड और अटूट रहा है। इसी कारण प्रत्येक नये संस्करण में उन्होंने महत्त्वपूर्ण परिवर्द्धन और परिवर्तन किए। नये-से-नये प्रकाशनो का भी मनोयोग पूर्वक आपने पारायण किया, और उसमें से सार-ग्रहण करके स्वतंत्र मनन-पूर्वक अपने ग्रंथ में उसका समावेश किया, इस प्रकार ग्रंथ प्रगति के साथ पूर्ण बनता गया। यों तो हिंदी मे साहित्य-विषयक प्राचीन रीति-ग्रंथ अनेक है। 'काव्य-कल्पद्रुम' के बाद भी आधुनिक लेखको-द्वारा कुछ ग्रंथ लिखे गए है, पर जिस नवीन शैली से 'काव्य-कल्पद्रुम' में काव्य-साहित्य के सभी विषयो का विद्वत्तापूर्ण आलोचनात्मक विषद विवेचन किया गया है, वह अपूर्व है और पोद्दारजी की साहित्य-विषयक विद्वत्ता का परिचायक है। पोद्दारजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा से गहराई में पैठ कर संस्कृत के आचार्यों तक के प्रमाद का उद्धार करने में संकोच नहीं किया और ऐसा उन्होंने श्रद्धापूर्वक सास्वत-धर्म समझ कर ही किया। हिंदी ही नहीं, संस्कृत के भी अनेक विद्वानों ने इस ग्रंथ पर अपनी बहुमूल्य प्रशंसित संमतियाँ प्रदान की है। अलंकार-प्रकाश के प्रकाश में आने के बाद जितने भी ग्रंथ इस विषय के अन्य लेखको-द्वारा हिंदी में लिखे गए है, उनमें अलंकार-प्रकाश के अनुकरण पर गद्य में लक्षण लिखा जाना प्रचलित हुआ है। उन दिनों अलंकार-प्रकाश, अलंकार-विषय के लेखकों के लिए आधार-ग्रंथ का काम देता था। बाबू जगन्नाथ प्रसादजी 'भानु' ने अपने 'काव्य-प्रभाकर' में लाला भगवानदीनजी 'दीन' ने अपनी 'अलंकार-मंजूषा' तथा 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' में, और श्री रामशंकरजी शुक्ल 'रसाल' ने 'अलंकार-पीयूष' में, 'अलंकार-प्रकाश' और 'काव्य-कल्पद्रुम' की सामग्री का यथेष्ट उपयोग किया है।

रस, ध्वनि और अलंकार-विषय पर सेठजी ने जो प्रशंसनीय कार्य किया, उसकी महत्ता को हिंदी के मान्य विद्वानों ने स्वीकार किया है। आचार्य द्विवेदीजी, पंडित रामचंद्र शुक्ल, बाबू श्याम-सुंदरदास, डा० पीतांबर दत्त बड्थ्वाल आदि ने आपके ग्रंथो की भूरि-भूरि सराहना की। 'आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास' लिखनेवाले पंडित श्री कृष्णशंकर शुक्ल की संमति देखिये—

"हिंदी में अलंकारों के ठीक-ठीक उदाहरण ढूंढ़ना बहुत परिश्रम का काम है और जो उदाहरण लक्षण की माँग पूरी करते हैं, उनमें उतना कवित्व नहीं रह जाता। संस्कृत के उदाहरणों के अनुवाद करने में भी कठिनाइयाँ है। मैंने आपकी पुस्तक (अलंकार-मंजरी) भूमिका-सहित पढी। आपका अध्ययन गंभीर है। हिंदी-साहित्य का भी आप घरेलू परिचय रखते है। घरेलू से मेरा तात्पर्य 'निकट' का है। पुस्तक बहुत अच्छी बन पड़ी है। इसे मैं तो अपने साहित्य की इस विषय की सर्वश्रेष्ठ रचना मानता हूँ।"

पोद्दारजी ने अलंकार-विषय पर जहाँ अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के भ्रमो और भूलों का परिमार्जन किया है, वहाँ अपने समकालीन लेखको को नयी शैली और नया प्रकाश भी प्रदान किया है।

रस, ध्वनि-आदि रीति-विषयो पर तो हिंदी में पहली बार साधिकार लेखनी पोद्दारजी ने ही उठाई और इन्होंने ही इन विषयो का प्रथम बार हिंदी में वैज्ञानिक विवेचन किया।

कवि-रूपमें

रस और अलंकार-विषय पर सेठजी ने जो हिंदी में सर्वप्रथम और सर्वोत्तम कार्य किया, उसके प्रकाश में आज आपका कविरूप ढक-सा गया है, लेकिन कविता के क्षेत्र में भी आपकी सेवाएँ

द्विवेदी-काल के किसी अन्य कवि से कम उल्लेखनीय नही। यह ठीक है कि आपने मौलिक रचनाएँ कम लिखी, आपके सभी काव्य-ग्रथ सस्कृत से अनूदित है, लेकिन सस्कृत का समश्लोकी अनुवाद और उसके साथ-साथ कवित्व के गुणो का सम्यक् निर्वाह, अनुवाद की इन दो महत्त्वपूर्ण विशेषताओ को निबाहने मे सेठजी, हिंदी में अकेले ही सफल हो सके हैं। आपके चार काव्य प्रकाशित हुए है—(१) भर्तृहरिशतक (२) गगालहरी, (३) पचगीत और (४) हिंदी मेघदूत-विमर्श। 'भर्तृहरिशतक' का अनुवाद आपने 'व्रजभाषा में किया था। यह सवत् १९५० के आसपास की रचना है। यह कालाकाकर के हिंदोस्थान में क्रमश छपा था। इन्ही दिनो द्विवेदीजी का भी गगालहरी का अनुवाद हिंदोस्थान मे छप रहा था। पोद्दारजी ने पडितराज जगन्नाथ की 'गगालहरी' और 'पचगीत' अर्थात् श्रीमद्भागवत के दशम-स्कध के पाँच अध्यायो का समश्लोकी अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित किया।

हिंदी मेघदूत-विमर्श

कवि रूप में सबसे अधिक ख्याति आपको 'हिंदी मेघदूत-विमर्श' से मिली। इसमें मूल सस्कृत के श्लोको के साथ बोलचाल की भाषा मे समश्लोकी पद्यानुवाद है। पद्य के साथ-साथ गद्य में भी मूल के अर्थ को बडे ही सरल ढग से समझाया गया है। समश्लोकी अनुवाद के कुछ उदाहरण देखिए—

छन्नोपान्त' परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
नून यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां-
मध्ये श्याम. स्तन इव भुवः शेषविस्तारपांडुः ॥१।१८

पद्यानुवाद—

वन्याम्रो के तरु फल-पके छा रहे प्रांत भाग-
बैठेगा तू शिखर-गिरि के स्निग्ध-वेणी-समान।
देखेंगे सो ललित-छवि वो, देव-देवांगना यो
मानो गोरे-भुवि-उरज के बीच में श्यामता हो ॥१।१८

दीर्घीकुर्वन्पटुमदकलं कूजितं सारसानां—
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषाय.।
यत्र स्त्रीणा हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकार. ॥१।३२

पद्यानुवाद—

चेतोहारी ध्वनि मद-भरी सारसो की बढाके,
प्रात. फूले कमल-रज की गंध को भी उडाके-
शिप्रा-वायु प्रिय-सम जहाँ प्रार्थना से रिझाता,
कांताओ का श्रम, सुरत का स्पर्श से है मिटाता ॥१।३२

यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा,
हंसश्रेणीरचितरसना नित्यपद्मानलिन्यः।
केकोत्कंठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा-
नित्यज्योत्स्ना. प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषा' ॥२।३

पद्यानुवाद—

भृंगाली मे गुजरित जहाँ वृक्ष है नित्य पुष्पा,
हंस-श्रेणी-ललित-रसना-पद्मिनी नित्य-पद्मा।

पिच्छाभा से युत गृह-शिखी नित्य-उत्कंठ-घोषा-
हैं ज्योत्स्ना से विगत-तम की नित्य-रम्या प्रदोषा ।।२।३

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्र प्रियाया—
निश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तंन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लंबालकत्त्वा—
दिंदोर्दैन्यं त्वदनुसरण क्लिष्टकांतेबिर्भर्ति ।।२।२३

पद्यानुवाद—

निश्चै उसके अति रुदन से सूजे हुए जो ।
हुए रूखे-अधरयुत भी तप्त-निश्वास पा वो ।।
छूटे केशों-गत मुख, धरा हाथ पै होयगा सो ।
धारें तेरे अनुगत अहो, चंद्र की दीनता को ।।२।२३

नत्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलंबे-
तत्कल्याणित्वमपि नितरां मागमः कातरत्वम् ।
कस्यैकांतं सुखमुपनतं दुःखमेकांततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशाश्चक्रनेमिक्रमेण ।।२।४८

पद्यानुवाद—

आशा से मैं दृढ़-चित किये धारता प्राण जो किं-
तु भी होना न दुखित यही सोच कल्याणि, क्योंकि-
किसको होता अति-सुख तथा दुःख किसको सदा है ?
ऊँची-नीची चलित-रथ के चक्र की-सी दशा है ।।२।४८

भूयश्चाहं त्वमपि शयने कठलग्ना पुरा मे ।
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सत्वरं विप्रबुद्धा ।।
सांतर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे ।
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ।।२।५०

पद्यानुवाद—

बोला है यों फिर, सुन, कभी साथ तू सो रही थी ।
पाके निद्रा कुछ चकित-सी शीघ्र रोती उठी थी ।।
पूछा मैंने बहुत तब यों बोलके तू हँसी थी—
अन्य-क्रीड़ा-रत ठग, तुम्हें स्वप्न में देखती थी ।।२।५०

कालिदास के मदाक्रांता-छंद की विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए और कला-पक्ष के साथ-साथ भाव-पक्ष का भी रसपूर्ण निर्वाह करते हुए पोद्दारजी ने समूचे मेघदूत का हिंदी में अनुवाद किया है। इस अनुवाद के साथ पोद्दारजी ने पांडित्यपूर्ण भूमिका भी इसमें जोड दी, जिससे सोने में सुगंध आ गई। इस अनुवाद को देखकर आचार्य द्विवेदीजी ने बडी प्रशंसा की थी।

'कलकत्ता-समाचार' ने तो अपने १४ मई १६२२ अंक के संपादकीय अग्रलेख—'हिंदी की श्रीवृद्धि'—शीर्षक में यहाँ तक लिखा था—

"हम इसे हिंदी का गौरव-वर्द्धक ग्रंथ समझते हैं। मेघदूत के कई गद्यात्मक एवं पद्यात्मक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं, किंतु आलोच्य पुस्तक में अन्य अनुवादों से अंतर ही नहीं,

महद्-अतर है। अब तक इसके समान विशद-व्याख्या-सयुक्त मेघदूत का सस्करण समृद्धशाली वग-भाषा या महाराष्ट्र-भाषा में भी प्रकाशित नहीं हुआ।"

मेघदूत की भूमिका वडी शोधपूर्ण और उपयोगी है। उसमें मेघदूत का परिचय, कालिदास की कविता-शक्ति, मेघदूत की टीकाओ का विवरण, मेघदूत और रामायण, मेघदूत के अनुकरण पर रचे गए काव्य, मेघदूत के हिंदी-अनुवाद आदि विषयो पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

कालिदास किस समय हुए—इस विषय को लेकर विद्वानो में वडा मतभेद रहा है। इस प्रश्न पर पोद्दारजी ने जो युक्तियाँ उपस्थित की है वे सप्रमाण और अनूठी हैं। पोद्दारजी ने महाकवि भास को 'चन्द्रगुप्त मौर्य' का समकालीन माना है। कालिदास को वे भास के बाद और भामह से पहले हुआ मनते हैं। भामह ने वररुचि के प्राकृत-प्रकाश की टीका लिखी है और वररुचि का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना है। इसलिए भामह का इस समय के पीछे होना सिद्ध है। मगध के अतिम राजा वृहद्रथ के वाद पुष्पमित्र हुआ। इसने अश्वमेध यज्ञ किया था। इसका उल्लेख पतजलि के महाभाष्य में है। यह ईसा से पहले दूसरी शताव्दी की रचना कही जाती है। इसी पुष्पमित्र का पुत्र अग्निमित्र था, जिसके नाम पर कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक लिखा है। पुष्पमित्र का समय ईसा से १८१ से १४८ वर्ष पहले वताया जाता है। अग्निमित्र इसके वाद आता है। अस्तु सेठजी का कथन है कि मालविकाग्निमित्र का काल ही कालिदास का काल समझना चाहिए।

पोद्दारजी ने कालिदास के वगाली होने की कल्पना का भी सप्रमाण खडन किया है और उनकी जन्मभूमि काश्मीर मानी है और कहा है कि उन्होने अपनी युवावस्था और प्रौढावस्था उज्जयिनी में व्यतीत की थी। स्मरण रहे कि अग्निमित्र पहले यहाँ के प्रातपति थे।

इस प्रकार सेठजी ने मेघदूत के समश्लोकी अनुवाद के साथ मेघदूत-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो की गवेषणा भी की और कालिदास के समय-निरूपण के प्रसग को इतिहास-वेत्ताओ की भाँति तर्कपूर्ण भाषा में सिद्ध किया। फलत 'मेघदूत-विमर्श' केवल काव्य-रसिको के आनंद की ही वस्तु नही रह गया, वह विद्वानो के अध्ययन और विचार के योग्य भी हुआ है। किसी काव्य या उसके अनुवाद को ऐसी विस्तृत शोधमयी आलोचनात्मक भूमिका के साथ प्रकाशित करने की परिपाटी भी हिंदी के लिए नयी थी और उसका गौरव तथा गरिमा वढाने वाली यह प्रणाली संस्कृत में भी कहाँ प्रचलित थी। स्पष्ट ही पाश्चात्य विद्वानो-द्वारा निर्देशित नई प्रणाली सेठजी ने भारतीय निष्ठा के साथ इस ग्रथ के रूप में प्रदान की। इसके द्वारा सेठजी की तत्ववेत्री प्रतिभा का प्रथम किंतु पुष्ट दर्शन हिंदी को मिला।

संस्कृत-साहित्य का इतिहास

कालिदास के मेघदूत का विद्वत्तापूर्ण विमर्श उपस्थित करने के वाद सेठजी की रुचि सस्कृत-साहित्य के ऐतिहासिक अनुसधान की ओर और भी तीव्र हो गई। उसका एक वडा कारण था। सेठजी को भारतीय पूर्वजो के ज्ञान मे अपूर्व श्रद्धा है। उन्होने मेघदूत के अध्ययन के सवंध में पाश्चात्य विद्वानो के भ्रमो का भी अवलोकन किया। उनकी नई प्रणाली तो इन्हे पसद आई, पर प्रमाणो और निष्कर्षो तथा सामग्री के उपयोग में व्याप्त मनोवृत्ति से इन्हें वहुत धक्का लगा। इन्होने उन्ही की प्रणाली से उनको उत्तर देने और उनके भ्रम को दूर करने का निश्चय किया। तत्सवधी देशी-विदेशी समस्त सामग्री का इन्होने गभीर अध्ययन किया और उसका फल 'सस्कृत-साहित्य के इतिहास' के रूप में प्राप्त हुआ।

यह ग्रथ दो भागो में विभक्त है। प्रथम-भाग में वैदिक काल से लेकर भरतमुनि और उनके नाट्य-शास्त्र, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और अग्निपुराण पर लिखकर फिर भामह से पडितराज जगन्नाथ तक के साहित्याचार्य और उनके ग्रथो के विषय मे ऐतिहासिक आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। द्वितीय-भाग में साहित्य-ग्रथो के विषय और साहित्य के प्रचलित पाँचो

सम्प्रदायो (स्कूलो)—रस, अलकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि पर विचार किया गया है। इसमें काव्य-शास्त्र के आचार्य भरतमुनि से लेकर पडितराज जगन्नाथ के समय तक काव्य के विकास-क्रम का भी सतर्क सप्रमाण प्रतिपादन है और उनका ऐतिहासिक विवेचन भी है। इतिहास में सस्कृत के विभिन्न आचार्यो-द्वारा लिखे गए काव्य के लक्षणो पर गभीर आलोचना की गई है, जिसके द्वारा पोद्दारजी के साहित्य-विषयक गहरे अध्ययन का पर्याप्त परिचय मिलता है।

हिंदी मे यह अपने विषय का प्रथम ग्रथ है। श्री 'काणे' और 'दे' महोदय के अग्रेजी भाषा के ग्रथो को यदि छोड दिया जाय तो अन्य भाषाओ में भी यह अपने विषय का प्रथम ग्रथ है।

वाह्य सामग्री के अभाव मे यह ग्रथ स्वतत्र रूप से लिखा गया है और इसलिए इसमे एक नवीन दृष्टिकोण और मौलिकता है। सस्कृत-कवियो के समय-निरूपण और उनके कवित्व के विश्लेषण मे पोद्दारजी नें विद्वत्ता और सहृदयता का परिचय दिया है। ग्रथ के प्रथम-भाग मे आपने सस्कृत-साहित्य के इतिहास पर लिखनेवाले देशी और विदेशी विद्वानो की त्रुटियाँ दिखाई है और पाश्चात्य विद्वानो के अधानुकरण का साहसपूर्वक खडन किया है। स्वय श्री एस० के० दे ने 'माडर्न-रिव्यू' में पोद्दारजी के इस ग्रथ की सराहना की और इसे भारतीय भाषा के माध्यम से सस्कृत-साहित्य-शास्त्र का परिचय प्राप्त करने के लिए उपयोगी साधन वताया तथा लेखक के स्वतत्र चितन और विषय-विवेचन की सराहना की। स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बरदत्त वडथ्वाल की इस ग्रथ के सवध में समति विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है—

"यह ग्रंथ विस्तृत अध्ययन और गहन पाडित्य का परिचायक है। संस्कृत में साहित्य-शास्त्र के क्रम-विकास पर इस ग्रंथ से पूर्ण प्रकाश पड़ता है। उपलब्ध सामग्री का इसमें अच्छा उपयोग किया गया है और स्वतंत्र चिंतन से काम लेने के कारण ग्रंथ का महत्त्व बढ गया है।"

निस्सदेह 'सस्कृत-साहित्य का इतिहास' पोद्दारजी की सबसे श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण रचना है।

निबंध-लेखन

सेठजी ने समय-समय पर आलोचनात्मक निवध भी प्रचुर मात्रा मे लिखे है। इन निबधो का हिंदी में अपना स्थान है।

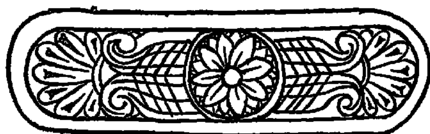
'काव्य-कल्पद्रुम' लिखते समय आपको हिंदी-भाषा के प्राचीन और आधुनिक ग्रथो को देखने का अवसर हुआ तो आपने अनुभव किया कि उन ग्रथो के लेखको-द्वारा अपने अधिकृत विषयो का निरुपण बहुत ही अनधिकारपूर्ण किया गया है। इसका परिणाम पाठको के लिए हानिकारक होने के कारण आपने उनकी आलोचना करना आवश्यक समझा। आपने अवकाशानुसार हिंदी के ऐसे ग्रथो की निष्पक्ष एव निर्भीक आलोचना लिखना प्रारभ कर दिया। सबसे प्रथम आपने श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के 'काव्य-प्रभाकर' की आलोचना लिखी[१]। दूसरी आलोचना काशी हिंदू-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी 'दीन' कृत 'अलकार-मजूषा' और 'व्यग्यार्थ-मजूषा' की लिखी[२]। श्री वावूरामजी वित्थरिया के 'हिंदी में नवरस' पर भी आपने अपने आलोचनात्मक विचार प्रकाशित किए[३]। श्री रामशकर शुक्ल 'रसाल' कृत 'अलकार-पीयूष' पर भी आपकी आलोचना प्रकाशित हुई[४]। जोधपुर के राज्य-कवि कविराजा मुरारीदान कृत 'जसवतजसोभूषण' हिंदी-भाषा के साहित्य-ग्रथो में केवल

[१] माधुरी, अगस्त सन् १९२८।
[२] माधुरी, अगस्त सन् १९२८। भूदेव शर्मा के नाम से।
[३] माधुरी, सन् १९२८।
[४] माधुरी, वर्ष—८, खंड—२, सख्या—३,५।

ग्राकार मे ही नही किंतु विषय-निरूपण में भी बडा महत्त्वपूर्ण है। उसका हिंदी-साहित्य में विशेष स्थान है। कविराजा ने एक नवीन सिद्धात कि—'ग्रलकार के नामो में ही लक्षण हैं', स्थापित करने की चेष्टा की और इसी सिद्धात को लेकर सस्कृत-साहित्य के प्राचीनतम महान् प्राचार्यों की बडी गर्व-पूर्वक कटु ग्रालोचना की है। पोद्दारजी ने उनके इस सिद्धात का युक्तिपूर्वक खडन कर इस ग्रथ की ग्रालोचना की, जो 'द्विवेदी-ग्रभिनदन-ग्रथ' में छपी। श्री भिखारीदासजी कृत 'काव्य-निर्णय' के सिद्धातो पर भी ग्रालोचना के रूप में ग्रापके विचार प्रकाशित हुए हैं।

हिंदी-साहित्य के ग्रथो की ग्रालोचना के ग्रतिरिक्त अन्य विद्वानो के साहित्य-विषयक लेख पत्र-पत्रिकाग्रो मे निकले। उनमे जिन विषयो से पोद्दारजी को ग्रपना मतभेद दृष्टिगत हुग्रा, उन पर भी ग्रापने बहुत से लेख लिखे है। ग्रभी कुछ दिन हुए हिंदी-साहित्य-समेलन के भूतपूर्व सभापति श्री ग्रबिकाप्रसादजी वाजपेयी की रामचरितमानस पर एक ग्रालोचनात्मक लेखमाला सरस्वती पत्रिका में निकली थी। उसकी प्रत्यालोचना पोद्दारजी ने बडी मार्मिकता के साथ लिखी थी, वह 'सरस्वती', 'भारत' ग्रौर 'सिद्धात' पत्रो में निकली है। ग्रापके समालोचनात्मक निबधो का एक सग्रह 'साहित्य-समीक्षा' नाम से छपा है। साहित्य-विषयक लेखो के सिवा ग्रापके भक्तियोग-सबधी लेख भी प्रसिद्ध पत्र 'कल्याण', मे बराबर निकलते रहे है।

इस प्रकार हम देखते है कि सेठजी हिंदी में सस्कृत-भाषा , भारतीय सस्कृति ग्रौर साहित्या-नुराग से प्रेरित होकर ग्राए। उन्होने ग्रपने विषय का गभीर ग्रध्ययन किया ग्रौर ग्रत्यत चितन ग्रौर मनन के बाद ग्रपनी लेखनी उठाई। साहित्य को उन्होने जीविका का नही, ग्रपने ग्रनुराग का, ज्ञानवर्द्धन का साधन बनाया ग्रौर जो कुछ लिखा उससे पाठको का ग्रनुरजन के साथ-साथ ज्ञानवर्द्धन भी हुग्रा। सेठजी जब हिंदी में ग्राए तब हिंदी में कवियो, कहानीकारो ग्रौर नाटककारो की धूम थी ग्रौर ग्राज भी साहित्य में उन्ही का बोलबाला है। सेठजी चाहते तो ग्रासानी से कविता के क्षेत्र में धूमधाम से उतर सकते थे, लेकिन उन्होने शीघ्र यश प्राप्त करने का साधन न चुनकर ग्रपनी यात्रा के लिए दुर्गम पथ ही चुना। उन्होंने स्वय कवि न बनकर कवियो को बनानेवाले ध्वनि, रस-रीति ग्रौर ग्रलकार जैसे विषय ग्रपने लिए चुन लिए। उन्होंने ग्रपना ग्रलग से कोई दूत नई ग्रलका-पुरी को नही भेजा, ग्रपितु महाकवि कालिदास का कीर्तिगान किया ग्रौर उनके यश को चौगुना चमका दिया। उन्होंने ग्रपने यश को फैलाने की चिंता नही की, सस्कृत-साहित्य के ज्ञात ग्रौर ग्रज्ञात सरस्वती-पुत्रो को प्रकाश में ले ग्राए। वे सस्ते यश की तरफ नही दौडे, उन्होंने ग्रध्ययन, चिंतन ग्रौर साहित्य-साधना को ग्रपना लक्ष्य बनाया ग्रौर उसमें वे सफल हुए। पोद्दारजी की साहित्यिक साधना के लिए हमारे हृदयो में कृतज्ञता के जो भाव है, वही श्रद्धा-सहित इस 'ग्रभि-नदन-ग्रथ' के रूप में प्रस्तुत है। इसे स्वीकार करके वयोवृद्ध पोद्दारजी ग्रानदित ग्रौर शतजीवी हों, ऐसी हम सबकी ग्रभिलाषा है।



सेठजी का साहित्यिक यशःशरीर

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

कवियो ने लक्ष्मी और सरस्वती में सपत्नी-भाव, अर्थात् सौहार्द्र के अभाव का वर्णन किया है[1] और इसी प्रकार 'सुवर्ण में सुगध' तथा 'सुगध मे सुवर्ण'[2] की कल्पना भी कवि-मुखो से ही कही-सुनी जाती आई है। इन कवि-मुख-वर्णित 'लोक-वदतियो का यदि कभी कही सगम दिखलाई पड जाता है तो वह गगा-यमुना के सुदर नैसर्गिक सगम की रमणीय शोभा से कम शोभा-प्रद नही होता। उक्त उभय-गुण-विशिष्ट साहित्य-जगत के सुनाम-ख्याति "साहित्य-वाचस्पति" 'सेठ कन्हैया-लालजी पोद्दार' ऐसे-ही गिने-चुने साहित्य-सृजेताओ मे हैं, जिन्होने प्रशसा से दूर 'स्वात सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा' की भाँति सरस्वती को तथा साहित्य-रचयिताओ और साहित्यिक सस्थाओ के लालन-पालन के लिए लक्ष्मी को अपनाया। वह समय, जिस समय सेठजी ने हिंदी के साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया था, ऐसा ही था। भारतेंदुजी से आदि लेकर कुछ इने-गिने साहित्यिक महानुभाव ही थे, जिन्होने सेठजी की भाँति 'माता भारती' का आह्वान पा उसकी 'लोकनमस्कृत-डेवढी' पर अपने-अपने रचना-प्रसून चढाए। इन भारती-भक्तो में सेठजी के अतिरिक्त प्रात स्मरणीय श्री मदनमोहनजी मालवीय, बाबू बालमुकुद गुप्त, पडित बालकृष्ण शर्मा भट्ट, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, तथा कवियो मे श्री मैथिलीशरण गुप्त, शोभाराम धेनुसेवक, गिरिधर शर्मा नवरत्न, ठा० गोपालशरणसिंह आदि कितने ही ज्ञात-अज्ञात हिंदी के वरद-पुत्र थे, जिन्होने अपने-अपने ध्येय से हिंदी-साहित्य की अभूत सेवा की। सेठजी ने भी हिंदी-साहित्य के कठोर तथा बनजर अलकार-क्षेत्र को चुना और उसमे स्वकीर्त्ति-रूप 'अलकार-प्रकाश' नाम का एक छोटासा बोध-गम्य 'बिरवा' का आरोपण किया, जो आगे चलकर—'काव्य-कल्पद्रुम' के रूप में पल्लवित होकर 'रस-मजरी' और 'अलकार-मजरी' के रूप मे फला-फूला। सम-श्लोकी-अनुवाद करने में पटु पोद्दारजी ने समय-समय पर 'भर्तृहरि-शतक, मेघदूत, श्रीमद्भागवत के पच-गीत—वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत, महिषीगीत, और गगालहरी आदि सस्कृत-काव्य-ग्रथो के हृदयहारी अनुवाद किए तथा सस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखा।

साहित्य

साहित्य के आलोचको ने साहित्य को कला के साथ सबधित कर कुछ अनुचित ही किया है। साहित्य तो शाश्वत सत्य तथा शिवत्व का अति सुदर रूप है। साहित्य-सृजन तथा परिशीलन से परे कोई अन्य आनद है, कहा नही जा सकता। भारतीय वाड्मयकारो ने साहित्य को—"ब्रह्मानद सहोदर" जैसे समाननीय सबोधन से सबोधित कर साहित्य-सृजेताओ को—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।"

कह कर स्तुति की है। सेठजीने इस साहित्य शब्द की उपयुक्त सुदर व्याख्या करते हुए—"साहित्य क्या है, वह कैसे बना, उसकी व्युत्पत्ति क्या है, साहित्य शब्द का प्रयोग काव्यके लिए ही क्यो किया जाय"—आदि का विवेचन बडे सुदर ढग से किया है। जिसे हम उनके ही शब्दो में यहाँ उद्धृत करते है।

[1] कुटिला लक्ष्मीर्यत्र प्रभवति न सरस्वती बसति तत्र।
प्रायः श्वश्रुस्नुयोर्न दृश्यते सौहृदं लोके॥

[2] सोने में सुगंध, ना सुगंध में सुन्यो-री सोनों, सोनो औ सुगंध तो में दोनो देखियतु है।

"वंदे कवींद्रवक्त्रेंदुलास्यमंदिरनर्तकीम् ।
देवीं सूक्तिपरिस्पंदसुंदराभिनयोज्ज्वलाम् ॥"

'साहित्य' शब्द सहित शब्द से भाव के अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय के सयोग से बनता है। सहित का अर्थ है मेलन—सहित×ष्यञ्=साहित्यम् (मेलनम्)—'साहित्यस्य भाव साहित्य', अर्थात् जिसमे एक से अधिक वस्तु मिली हो वह 'साहित्य' कहा जाता है। शब्दशक्ति-प्रकाशिका-आदि ग्रथो मे साहित्य की जो—'तुल्यवदेक क्रियान्वयित्व बुद्धिविशेषविषयत्व साहित्य'—इत्यादि परिभाषाएँ दी गई है, उनसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है। इसी अर्थ को लेकर भाषा-विशेष के समस्त विषयो का ग्रथ-समूह उस भाषा का साहित्य कहा जाता है। व्याकरण, न्याय, मीमासा-आदि शास्त्रो के ग्रथ-समूह के लिए साहित्य शब्द का प्रयोग किया गया है—

"साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं,
काव्यामृतं रक्षत हे कवींद्रा. ।
यत्तस्य दैत्या इव लुठनाय
काव्यार्थचोराः प्रगुणी भवति ॥"

—विक्रमांकदेव-चरित १।११

इसमें सस्कृत के समस्त विषयो के ग्रथ-समूह के लिए सामान्यतया साहित्य शब्द का व्यापक रूप में प्रयोग किया गया है। किंतु प्राचीनकाल से ही साहित्य शब्द का प्रयोग अधिकतर काव्य के पर्यायवाची विशेष अर्थ में प्रचलित है। जैसे—

"पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीय ।"

—कविराज राजशेखर-काव्यमीमासा पृ०-४

"व्याकरणमीमासातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात् ।"

—मुकुल भट्ट-अभिधावृत्तिमात्रिका पृ०-२१

"मीमासासारमेघात्पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात् ।
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधो- सौरिपादाब्जभृंगात् ॥"

—प्रतिहारेंदुराज[1]

"विना न साहित्यविदा परत्र गुणा कथंचित्प्रथते कवीनाम् ।"

—महाकवि मखक-श्रीकंठचरित २।१२

इन वाक्यो मे काव्य के लिये ही 'साहित्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न साहित्याचार्यो-द्वारा किया गया है। अब यह विवेचनीय है कि सभी शास्त्रो के लिये व्यापक रूप में प्रयोग किये जानेवाले 'साहित्य' शब्द का 'काव्य' के विशेष अर्थ मे कब से प्रयोग होने लगा है। ऊपर जिनके वाक्य उद्धृत किये गए है, वे साहित्याचार्य या काव्य-लेखक है और वे सभी लगभग ईसा की दशम शताब्दी में हुए है। किंतु, इनके पूर्व भी काव्य के लिये 'साहित्य' का प्रयोग प्राचीन समय में अन्य शास्त्रकारो-द्वारा भी किया गया है। भर्तृहरि का समय मैक्समूलर के मतानुसार ६५० ई० है। भर्तृहरि महान् वैयाकरण भी थे। इनकी 'सार' नामक महाभाष्य की टीका का परिचय कराते हुए व्याकरणाचार्य कैय्यट अपनी 'प्रदीप' टीका में कहते है—

"तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रथसेतुना ।
क्रममाण शनैः पार तस्य प्राप्तोऽस्मि पंगुवत् ॥"

ऐसे महान् व्याकरणाचार्य श्री भर्तृहरि ने भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य के लिए ही किया है—

[1] उद्भट के 'काव्यालकार-सार-सग्रह' की व्याख्या का अंतिम पद्य।

"साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।"

उक्त उपलब्ध ग्रंथो में ईसा की सप्तम शताब्दी के लगभग से काव्य के विशेष अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग मिलता है और इसका कारण यह है कि काव्य मे शब्द और अर्थ दोनो समिलित रूप मे प्रयुक्त होते है। आचार्य्य भामह ने जो ईसा की सप्तम शताब्दी के ही लगभग हुए हैं, काव्य का लक्षण—

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।"

—काव्यालकार १।२६

लिखा है। किंतु प्रश्न होता है कि शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष होने के कारण काव्य के अतिरिक्त अन्य सभी शास्त्रो मे भी शब्द और अर्थ समिलित ही रहते है। ऐसी परिस्थिति मे अन्य शास्त्रो की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ मे ही क्या विशेषता है, जिसके कारण काव्य को 'शब्दार्थौ सहितौ' कहा गया ? इस प्रश्न का समाधान राजशेखर की दी हुई साहित्य की—

"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या ।"

—काव्यमीमासा, पृ० ५

इस परिभाषा-द्वारा हो जाता है। इस परिभाषा में 'यथावत् सहभाव' पद-द्वारा स्पष्ट है कि काव्य मे शब्द और अर्थ दोनो का सहभाव समान रूप मे तुल्य-कक्ष होना अपेक्षित है, जब कि अन्य शास्त्रो में केवल अर्थ की प्रतीति के लिये ही शब्द का आश्रय लिया जाता है किंतु काव्य में शब्द के अनुरूप अर्थ का और अर्थ के अनुरूप शब्द का होना आवश्यक है। जैसा कि राजानक रुय्यक ने कहा है—

"न वै काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम् ।"

—व्यक्तिविवेक-व्याख्या

वक्रोक्तिजीवितकार राजानक कुतक ने साहित्य शब्द का विवेचन करते हुए इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। कुतक का कहना है—

"वाच्यार्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि ।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोयमेतयोः ।।
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पंदसुंदरः ।।"

—वक्रोक्तिजीवित १।८-९

अर्थात् प्रथम तो अन्य शास्त्रो की अपेक्षा काव्य में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द और अर्थ में बड़ा भेद है। अन्य शास्त्रो में वर्णनीय अर्थ के किसी भी वाचक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। किंतु काव्य में वर्णनीय अर्थ के वाचक अन्य बहुत से शब्दो के होते हुए भी ऐसे ही शब्द का प्रयोग होता है, जो कवि के केवल विवक्षित (ईप्सित) अर्थ का ही वाचक होता है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रो में जो अर्थ होता है, वह भी काव्य-मर्मज्ञ सहृदय-जनो के चित्त को एक बार ही आह्लाद से परिप्लुत करनेवाला होता है। फिर काव्य में शब्द और अर्थ का परस्पर सहित भाव (साहित्य) भी अन्य शास्त्रो की अपेक्षा विलक्षण होता है। अत काव्य के लिये 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किये जाने में यही विशेषता है। कहा है—

"साहित्यमनयोः शोभा शालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थितिः ।।"

—वक्रोक्तिजीवित १।१७

अर्थात् जिसमे शब्द और अर्थ दोनो की अन्यूनातिरिक्त परस्पर में स्पर्द्धापूर्वक मनोहारिणी श्लाघनीय स्थिति हो वह साहित्य है। साहित्य मे वाचक (शब्द) की वाचकातर के साथ और वाच्य (अर्थ) की वाच्यातर के साथ परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष या उत्कर्ष न होकर समान रूप में स्थिति अन्य शास्त्रो मे न रहकर काव्य में ही रहती है। जैसे—

"द्वयं गत सप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कातिमती कलावतः त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।।"

—कुमारसभव ५।७१

इस पद्य मे भगवान् शकर के साथ विवाह के लिए तपश्चर्य्या करती हुई पार्वतीजी के प्रति प्रेम-परीक्षा लेने को ब्रह्मचारी का छद्मवेश-धारण कर गये हुए स्वय श्री शकर की उक्ति है—"हे पार्वती, तेरे द्वारा कपाली (महादेव) के समागम की प्रार्थना किये जाने के कारण अब दो व्यक्ति शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गये है । एक तो कलाधारी चद्रमा की वह कातिमती कला और दूसरी तू जो अखिल विश्व के नेत्रो को आह्लादकारिणी है ।"

भगवान् शकर के नाम-वाचक सहस्रो शब्दो के होते हुए भी यहाँ 'कपाली' (नर-कपालो की माला धारण करने वाला) शब्द का प्रयोग ही कवि के विवक्षित अर्थ का (जो शकर को अत्यत घृणास्पद और निंद्य सूचन करना है, उस अर्थ का) वाचक है । यदि 'कपाली' के स्थान पर यहाँ 'पिनाकी'-आदि शकर के नाम-वाचक किसी अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता तो वह कवि के इस विवक्षित अर्थ का वाचक नही हो सकता था । प्रत्युत 'पिनाकी' (धनुप धारण करने वाला) आदि शब्द-द्वारा शकर का वीरत्व-आदि सूचन होता जो कि शकर की निंदा के प्रसग-विरुद्ध है । फिर यहाँ 'सप्रति' और 'द्वय' ये दोनो शब्द भी कवि के इस विवक्षित अर्थ के वाचक होने के कारण इनका प्रयोग भी बहुत उपयुक्त हुआ है, अर्थात् अब से पहले कपाली के ससर्ग में रहने के कारण एक चद्रकला ही लोक में सोचनीय हो रही थी , पर 'सप्रति' अब 'कपाली' जैसे घृणास्पद व्यक्ति के समागम की प्रार्थना करने वाली दूसरी तू भी उसी शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई है । यहाँ 'प्रार्थनया' शब्द भी अपना एक महत्त्व रखता है । अर्थात् तेरी यह शोचनीय दशा 'काकतालीय' घटना-द्वारा अकस्मात् नही हो गई है, किंतु तू तो समझबूझ कर ऐसे अमगल और घृणास्पद व्यक्ति की प्राप्ति के लिये घोर तपश्चर्या-द्वारा प्रार्थना कर रही है । इन शब्दो के अतिरिक्त यहाँ 'कलावत' 'कातिमती' और 'लोकस्य च नेत्रकौमुदी' ये विशेषणा-त्मक शब्द भी क्रमश चद्रकला और पार्वती जी के अलौकिक सौदर्य के उत्कर्षक और कपाली के साथ उनके सबध की अयोग्यता-सूचक होने के कारण शोचनीय अवस्था की परिपुष्टि कर रहे हैं । अत यहाँ एक शब्द दूसरे शब्द के साथ स्पर्द्धापूर्वक समान रूप में चमत्कारक है । यह प्रधानतया शब्द-सौंदर्य विन्यास के परस्पर साहित्य का दिक्दर्शन है । अब देखिये, परस्पर वाच्य (अर्थ) के रमणीय साहित्य का भी एक उदाहरण, जैसे—

"तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी मुनिः कुशेध्माहरणाय यात: ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।।"

—रघुवश १४।७०

इसमें भगवान् श्री रामचद्र की आज्ञा-वश सीताजी को लक्ष्मणजी-द्वारा वन में छोड़ने के बाद का वर्णन है कि—'कुश और समिधा लेने को जाते हुए कवि (महर्षि वाल्मीकि) सीताजी के रुदन का अनुसरण करते हुए उनके (सीताजी के) सन्मुख प्राप्त हुए । कौन से कवि ?—वही कवि-जिनका वह शोक, जो व्याध-द्वारा विद्ध किये गये क्रौच पक्षी को देखने से उत्पन्न होकर श्लोक में परिणत हो गया था ।'

यहाँ 'कवि' शब्द-द्वारा निर्देश किये हुए मुनि का परिचय 'वाल्मीकि' कह देने मात्र से दिया जा सकता था । किंतु यहाँ पद्य के उत्तरार्द्ध मे महर्षि वाल्मीकिजी का परिचय पूर्वानुभूत क्रौंच पक्षी के वृतात-द्वारा देकर कविशेखर कालिदास ने यह सूचित किया है कि जिन परम कारुणिक मुनि के अत करण का वह शोकोद्गार, जो एक पक्षी की शोचनीय दशा देखने पर उत्पन्न हुआ था—श्लोक-रूप में बलात् मुख से निकल पडा था, उनके अन्त करण की वह करुणाप्लावित विवश-दशा, जो निर्जन वन में परित्यक्ता जनकराज-पुत्री साकेताधिपति महाराजाधिराज श्री रामचद्र जी की प्राणप्रिया गर्भिणी सीताजी की तादृश अत्यत शोचनीय अवस्था को देखने पर हुई, किस प्रकार कथन की जा सकती है—अनिर्वचनीय है ।

इस पद्य के पूर्वार्द्ध का अर्थ जिस प्रकार 'करुण रस' से परिपूर्ण है, उसी प्रकार उत्तरार्द्ध का अर्थ करुण रस का परिपोषक होने के कारण दोनो अर्थ स्पर्द्धापूर्वक सहृदय-जनो के हृदय के आह्लादक है।

ऊपर के दोनो उदाहरणो मे जिस प्रकार वाचक के साथ वाचकातर की तथा वाच्य के साथ वाच्यातर की समान रूप मे सौदर्य-स्थिति है, उसी प्रकार वाचको (शब्दो) की वाच्यो (अर्थो) के साथ भी तुल्य-कक्षता है—वर्णनीय विषय के अनुकूल पदावली है। शब्द और अर्थ की परस्पर तुल्य-कक्षता का एक उदाहरण और भी देखिये—

"ततोऽरुणपरिस्पंदमंदीकृतवपुः शशी ।
दध्ने कामपरिक्षामकामिनीगडपांडुताम् ॥"[1]

अरुणोदय के प्रारभ-समय मे अस्तायमान निष्प्रभ चद्रमा को यहाँ काम-पीडा से क्षीण-काय होने वाली कामिनी के कपोलो की पाडुता-धारण करने वाला कहा गया है। अत जिस प्रकार यहाँ 'निदर्शना' अलकार की स्थिति-द्वारा अर्थ की चमत्कृति है उसी प्रकार 'स्पद-मंद'—आदि मे वर्णो की साम्यता के कारण वृत्यानुप्रास है—उसके द्वारा शब्द की चमत्कृति भी है। यहाँ अर्थ और शब्द परस्पर स्पर्द्धापूर्वक शोभायमान है। इसके विपरीत जहाँ शब्द या अर्थ का समान रूप में सह-भाव (साहित्य) नही होता, वहाँ वह वर्णन साहित्य या सत्काव्य-पद के अधिकार से च्युत भी हो जाता है। इसका भी एक उदाहरण देखिये—

"कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारैः रत्नान्यमूनि मकराकर मा वमंस्था ।
किं कौस्तुभेन भवतो विहितो न नाम यांचाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥"

—मल्लट शतक

इस पद्य में अन्योक्ति रूप से समुद्र को उपालभ दिया गया है कि—हे मकराकर, तू अपनी उत्तुग तरंगावली से सचालित पाषाणो के भयकर प्रहार से इन रत्नो का तिरस्कार न कर। देख, कौस्तुभ रत्न ने तेरा कैसा यश प्रसिद्ध कर दिया है—जिसके लिये स्वय पुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्ण ने हाथ पसार कर तेरे से याचना की थी।

यद्यपि अन्य शास्त्रो के समान शब्दो-द्वारा यहा अर्थ की प्रतीति अवश्य हो जाती है, किंतु काव्योपयोगी शब्द-प्रयोग समान रूप से यहाँ नही हो पाया है। यहाँ सामान्य रूप मे रत्नो की अवहेलना करने का समुद्र को उपालभ देकर कवि का ईप्सित तात्पर्य यह है, कि उन रत्नो मे के एक रत्न ने ही तेरा कितना उपकार किया है। पर उत्तरार्द्ध में सामान्य रूप में रत्नो का महत्त्व न बतला कर एक विशेष रत्न 'कौस्तुभ' का प्रयोग किया है, जिसके द्वारा सामान्यतया सभी रत्नो का महत्त्व सूचन नही हो सका है—केवल कौस्तुभ की ही प्रशसा सूचित होती है। इस कथन से कवि के दिये हुए उपालभात्मक अर्थ की पुष्टि नही हो सकी है—कौस्तुभ के सिवा अन्य रत्न ऐसे महत्त्वपूर्ण न होने के कारण उनका तिरस्कार समुद्र-द्वारा किया जाना अनुचित नही हो सकता। यदि तीसरे पाद में 'किं कौस्तुभेन विहितो' के स्थान पर 'एकेन किन्न विहितो' ऐसा प्रयोग किया जाता तो कवि के विवक्षित अर्थ (उपालभ) की पुष्टि हो जाने से अर्थ के अनुरूप शब्द-न्यास हो सकता था, क्योकि उसका अर्थ यह होता है—'जिनकी तू अवहेलना कर रहा है उनमें के एक रत्न ही ने तेरा दिगत-व्यापी यश प्रसिद्ध कर दिया।'

इस विवेचन-द्वारा स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ का तुल्य-कक्ष सहभाव काव्य में ही होता

[1] इस पद्य को सुभाषितावली संख्या २१५३ में श्री वाल्मीकिजी का और काव्यप्रकाश की आमलाचार्य की टीका पृ० ५९९ में महाभारत के द्रोणपर्व का कमलाकर भट्ट के अनुसार बताया गया है, किंतु यह बाल्मीकि रामायण और महाभारत दोनो ही में नहीं मिलता है।

है और इसलिये साहित्य शब्द का वास्तविक प्रयोग काव्य के लिये ही उपयुक्त और समुचित है। अस्तु, वर्तमान काल में साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य-ग्रथो के लिये ही रूढ हो रहा है।

काव्य या साहित्य क्या है? इस विषय पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्यो ने अनेक रीति-ग्रथ लिखे है। उनमें काव्य-शास्त्र-सबधी अत्यत गवेषणापूर्ण गभीर विवेचन किया गया है। काव्य के रहस्य से अभिज्ञ होने के लिये, एव उसके आनदानुभव के लिये, काव्य-सबधी 'रीति-ग्रथ' ही एक-मात्र साधन है। केवल व्याकरण-आदि शास्त्रो के जो विद्वान् है वे 'कर्णावतस' और 'जघनकाची'-आदि प्रयोगो के साहित्यिक रहस्यो को नही समझ सकते। साहित्य के अध्ययनशील विद्वान् ही यह जान सकते है कि इन शब्दो के प्रयोग में कौन-सा निर्दोष है और कौन-सा सदोष[1] है। रघुवश-आदि महाकाव्यो में किस-किस शब्द, पद अथवा वाक्य का प्रयोग स्थल विशेष पर क्यो किया गया है और उन प्रयोगो में क्या विशेषता है—उन प्रयोगो के व्यग्यात्मक या अलकारात्मक रचनाओ में क्या चमत्कार है, उसका दिक्दर्शन ऊपर कराया ही गया है। इस रहस्य को साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही समझ सकते है। व्याकरण-आदि शास्त्रों के ज्ञान से शब्दार्थ मात्र का ही बोध हो सकता है, न कि महाकवियो के रचना-रहस्य का। आलकारिको के शिरोभूषण महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने कहा है—

"शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम् ॥"

—ध्वन्यालोक १।७

काव्य-कल्पद्रुम

अनेक विद्वानो ने हिंदी में रीति-ग्रथो की रचना की है। इनमें कुछ रीति-ग्रथो का निर्माण हिंदी के सुप्रसिद्ध आचार्यो-द्वारा भी हुआ है। अत इस विषय के जो भी ग्रथ अब तक दृष्टिगत हुए है, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक ग्रथ किसी न किसी सस्कृत के रीति-ग्रथ के आधार पर लिखा गया है। फलत किसी ग्रथ में केवल अलकार-विषय का प्रतिपादन है और किसी में केवल रस-विषय का। किसी-किसी ग्रथ में प्रतिपादित प्रधान विषय के अतिरिक्त काव्य के अन्य अगागो का भी सक्षिप्त उल्लेख है। हिंदी के रीति-ग्रथो में विषयो का जो प्रतिपादन किया गया है, वह स्थूल दृष्टि से किया गया है, अर्थात् सस्कृत के ग्रथो में विषयो का जो मार्मिक विवेचन है वह किसी भी हिंदी-भाषा के ग्रथो में दृष्टिगत नही होता। दूसरी बात यह है कि इन ग्रथो मे वार्तिक (गद्य) में कुछ भी स्पष्टीकरण नही किया गया है। अतएव उल्लिखित विषयो का यथार्थत समझना बहुत कठिन है।

पोद्दारजी का 'काव्य-कल्पद्रुम' इस कमी को पूरी करता है। उन्हो ने महामुनि भरत के नाट्यशास्त्र, आचार्य भामहके काव्यालकार, उद्भट के काव्यालकारसार-सग्रह, वामनाचार्य के काव्यालकार-सूत्र, रुद्रट् के काव्यालकार, ध्वनिकारो के ध्वन्यालोक, मम्मटाचार्य के काव्यप्रकाश, रुय्यक के अलकारसर्वस्व, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण, जयदेव के चद्रालोक, अप्पय दीक्षित के कुवलयानंद एवं चित्र मीमासा और पडितराज जगन्नाथ के रसगगाधर-आदि ग्रंथो का आश्रय लेकर अपने ग्रथ का निर्माण किया है।

बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने अपने काव्य-प्रभाकर में, प० रामशकर शुक्ल 'रसाल' ने अलकार-पीयूष में तथा और भी आधुनिक रीति-ग्रथो के रचयिताओने अपने-अपने ग्रथो में—सहायक ग्रथो की नामावली में प्राय सस्कृत के सभी प्रधान ग्रथो के नामो का उल्लेख किया है। उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह उल्लेख केवल उन ग्रथो को गौरवान्वित करने मात्र के लिये किया गया है। वास्तविक वस्तुस्थिति का परिज्ञान पोद्दारजी-द्वारा इन ग्रथो की आलोचनाओ से ही हो सकता है[2]।

[1] 'कर्णावतंस' का प्रयोग निर्दोष और 'जघनकांची' के प्रयोग में दोष है।

[2] ये आलोचनाएँ समय-समय पर 'माधुरी'-आदि मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं, अब ये पोद्दारजी के आलोचनात्मक निबंधों के संग्रह "साहित्य-समीक्षा" में प्रकाशित हुई हैं।

हिंदी के अन्य रीति-ग्रथो से पोद्दारजी के काव्य-कल्पद्रुम मे जो विशेषताएँ है, उनका सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१—काव्य-कल्पद्रुम से पहले के जो भी हिंदी के रीति-ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, उनमें अलंकार-आदि के लक्षण और उदाहरण दोनो पद्यो में लिखे गये है और जो पद्यात्मक उदाहरण दिये गये है उनका लक्षणो के साथ किस प्रकार संतुलन और समन्वय होता है यह नही समझाया गया है। काव्य-कल्पद्रुम के प्रथम संस्करण 'अलंकार-प्रकाश' में सर्वप्रथम काव्य और उसके भेद तथा उपभेदो के लक्षण गद्य में लिखकर उदाहरणों में लक्षणो का समन्वय किस प्रकार होता है, यह समझाया गया है। जिससे विषय के समझने में कुछ भी कठिनता नही रहती है। काव्य-कल्पद्रुम के उक्त प्रथम संस्करण के पश्चात् हिंदी के जितने भी रीति-ग्रंथो का निर्माण हुआ उनमें काव्य-कल्पद्रुम के आदर्श पर वार्तिक में लक्षण-लिखना प्रारंभ हुआ है।

२—काव्य-कल्पद्रुम के प्रथम भाग—'रस-मंजरी' में शब्द और अर्थ एव अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-शक्तियों के भेद-उपभेदो का उदाहरणो के साथ जो विस्तृत विवेचन है वह अन्य किसी हिंदी-ग्रंथ में देखने को नही मिलता है।

३—ध्वनि के लक्षणा-मूला 'अविवक्षितवाच्य' के चार और अभिधा-मूला 'विवक्षितवाच्य' के सेंतालीस भेदो का विस्तृत विवेचन किया गया है। विवक्षितवाच्य-ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि के अतर्गत नव-रस-प्रकरण में आलंबन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के निरूपण में जो विवेचन पोद्दारजी ने किया है, वह भी अपूर्व है।

४—स्थायी भावों की रस अवस्था और रस की अभिव्यक्ति के विवेचन में भट्ट लोल्लट् के आरोप-वाद, श्री शंकुक के अनुमानवाद, भट्ट नायक के भोगवाद और श्री अभिनवगुप्ताचार्य के व्यक्तिवाद का पोद्दारजी ने नाट्य-शास्त्र की अभिनवभारती-व्याख्या एवं काव्य-प्रकाश के अनुसार बहुत ही विद्वत्तापूर्ण मार्मिक एवं विशद विवेचन किया है, किंतु इस महत्त्वपूर्ण विषय पर अन्य किसी ग्रंथ में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है।

५—भाव क्या पदार्थ है, रस और भाव में क्या अंतर है, इस पर भी काव्य-कल्पद्रुम में विशद विचार किया गया है। यह प्रकरण भी हिंदी के किसी अन्य ग्रंथो में दिखाई नहीं देता है।

६—काव्य-प्रकाश के आधार पर 'व्यंजना-शक्ति' के प्रतिपादन में ध्वनि-सिद्धात के विरोधी महिम भट्ट-आदि का जो खंडन काव्य-कल्पद्रुम में किया गया है, वह हिंदी के अन्य रीति-ग्रंथो से एक नवीनता है।

७—गुण और अलकार दोनो रस के उपकारक माने गये है। रस का गुण के साथ और अलंकारो का रस के साथ क्या संबंध है तथा अलंकारो की स्थिति किस अवस्था में रस की उपकारक हो सकती है—इत्यादि रस-विषय की जो मीमांसा काव्य-कल्पद्रुम में मिलती है इसका अन्य हिंदी-ग्रंथो में सर्वथा अभाव है।

८—गुणीभूत-व्यंग्य की चरचा अन्य किसी हिंदी के रीति-ग्रंथो में नहीं मिलती है, काव्य-कल्पद्रुम में इस विषय का बहुत ही मार्मिक विवेचन किया गया है। जैसे—काकु-उक्ति-व्यंग्य, गुणीभूत-व्यंग्य का विषय है और 'काक्वाक्षिप्त'-व्यंग्य ध्वनि-काव्य के अंतर्गत है, इस प्रकार की विभिन्नताओ को काव्य-कल्पद्रुम में भली-भांति समझाया गया है। गुणीभूत-व्यंग्य का हिंदी के अन्य एक-दो रीति-ग्रंथो में बहुत संक्षिप्त तथा स्थूल रूप में निर्देशमात्र किया गया है। कतिपय आधुनिक रीति-ग्रंथोकारो ने काव्य-कल्पद्रुम के इस विवेचन का अनुकरण किया है, किंतु वे इस कार्य में बिलकुल सफल नहीं हो सके है। अस्तु गुणीभूत-व्यंग्य का विवेचन काव्य-कल्पद्रुम में वस्तुत. उल्लेखनीय है।

९—काव्य-कल्पद्रुम के दूसरे भाग 'अलंकार-मंजरी' में उक्ति वैचित्र्य-द्वारा किसी एक विषय के वर्णन में किस प्रकार विभिन्न अलंकारात्मक वर्णन होता है—इसका जो विवेचन किया गया है, वह अन्य हिंदी-ग्रंथो में नहीं देखा जाता। संस्कृत के साहित्याचार्यों-द्वारा अलंकारो का क्रम-विकास एव अलंकारो की संख्या में किस प्रकार क्रमशः वृद्धि होती रही और किस-किस आचार्य-द्वारा कितने-

कितने अलंकार माने गये है तथा किन-किन आचार्यों ने किन-किन नवीन अलकारों का आविष्कार किया है, इन विषयो का ऐतिहासिक विवरण जो कि बहुत महत्त्वपूर्ण और उपादेय है ; सर्व प्रथम पोद्दारजी ने ही किया है।

१०–अलंकारो के जो नाम हैं वे अलंकारो के स्थूल चमत्कार के आधार पर हैं। इस विषय में जोधपुर के कविराजा मुरारीदानजी ने 'नाम ही लक्षण' इस सिद्धात का जो प्रतिपादन किया है, उसका काव्य-कल्पद्रुम में विद्वत्तापूर्ण खंडन किया गया है।

११–अलंकार का विषय मनोवैज्ञानिक होने के कारण अत्यंत गहन है। बहुत से अलंकार ऐसे हैं जिन के उदाहरणो में दूसरे अलकार का भ्रम हो जाता है। कितने ही अलंकार ऐसे हैं जिनमें किसी दूसरे अलंकार से बहुत सूक्ष्म अंतर है, ऐसे अलंकारो के विवेचन में उनके विषय-विभाजन को जिस सुंदर रीति से श्री पोद्दारजी ने स्पष्ट किया है, वह बात किसी भी हिंदी के अन्य रीति-ग्रथों में देखने को नहीं आती है।

१२–अलकार-आदि के लक्षण निर्माण करने में यदि कुछ असावधानी हो जाती है तो लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असभव दोष आ जाते हैं। हिंदी के अन्य रीति-ग्रंथो में इस प्रकार की असावधानी के अनेक प्रमाण मिलते हैं। काव्य-कल्पद्रुम में इस प्रकार के दोषो को दूर करने के लिये बहुत सावधानी रखी गई है।

अस्तु इस प्रकार की अनेक विशेषताओ के अतिरिक्त काव्य-कल्पद्रुम में विषय-प्रतिपादन तथा उनके सम्यक् उदाहरणो की अनेक विशेषताएँ है।

काव्य-कल्पद्रुम की आलोचना करते हुए हिंदी के कुछ मान्य विद्वानो ने लिखा था कि "काव्य-कल्पद्रुम मे सस्कृत-साहित्य के आचार्यो के मतो का ही प्रतिपादन है–हिंदी (ब्रजभाषा) के आचार्यों का नही।" पोद्दारजी का कहना है—"ब्रजभाषा के आचार्यो का कोई स्वतत्र मत नही है। उनकी रचनाओ के मूल-स्रोत सस्कृत-साहित्य के ही विविध-ग्रथ है। महाकवि केशव की 'कवि-प्रिया' हरिचरणदास का 'सभा-प्रकाश' और भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय'-आदि के मूलाधार क्रमश दंडी का काव्यादर्श, राजशेखर की काव्यमीमासा, केशवमिश्र का अलकारशेखर एव विश्वनाथ का साहित्यदर्पण है। जोधपुर-नरेश महाराज जसवतसिंहजी का भाषाभूषण, पद्माकरजी का पद्माभरण, और ग्वाल कवि का अलकारभ्रम-भजन-आदि अलकार-ग्रथ भी कुवलयानद और चद्रालोक के आधारपर ही लिखे गये हैं। ब्रजभाषा का नायका-भेद जो अपनी बारीकी तथा सुदरता में सस्कृत के साथ भारतीय अन्य साहित्यो से भी बढ-चढ कर है, सस्कृत की रसमजरी, रस-तरगिणी और साहित्य-दर्पण पर ही अवलवित है। सेठजी कहते हैं–"ब्रजभाषा के प्राचीन कवि नि सदेह बडे प्रतिभाशाली थे और उनका प्रधान ध्येय अपने-अपने आश्रय-दाताओ के मनोरजन के बहाने ब्रजभाषा-साहित्य की श्रीवृद्धि करना था। उन्होने प्राय शृगार-रस के आलवन-उद्दीपन-विभावो के अतर्गत नायिका-भेद और षट्ऋतु-आदि अनुभावोंके वर्णन में, उनके उदाहरण प्रस्तुत करने में तथा विषय को पल्लवित करने में ही अपनी प्रतिभा को समाप्त कर दिया है। सस्कृत-साहित्य-ग्रथो मे वर्णन किये गये गभीर और मार्मिक विवेचन को उन्होने स्पर्श तक नही किया। अत दुष्परिणाम यह हुआ कि इन ब्रजभाषा-साहित्य-रचयिता अति प्रतिभाशाली विद्वानो-द्वारा जहाँ गभीर रीति-ग्रथ लिखे जाने चाहिये थे, वहाँ वे विविध नायिकाओं के वर्णन में उलझ कर, नायिका-भेदादि के विवेचनात्मक-ग्रथ सस्कृत-जैसे नहीं लिख पाये हैं। यही नही, ये साहित्य के विषय को भी कहाँ तक समझ पाये है और अपने ग्रथो के आधारभूत सस्कृत-ग्रथों के अनुसार विषयों को समझाने में भी कहाँ तक सफल हुए है, इस पर प्रकाश डालना ब्रजभाषा-साहित्य के लिये यशस्कर है। उदाहरण-रूप सेठजी का कहना है—"ब्रजभाषा के आचार्यो ने सस्कृत-ग्रथो के आधार पर अपने ग्रथों में यह बात तो अवश्य लिखी कि 'रस और उसके स्थायी एवं सचारी भावों का (उन्ही) शब्दों में स्पष्ट कथन करना साहित्य-दोष है—रस-दोष है।" किंतु इन महानुभावो ने अपने ग्रथों में इस-विषय के

जो भी उदाहरण प्रस्तुत किये है, उनमे प्राय रस और उनके स्थायी भावो का स्पष्ट रीति से नामोल्लेख किया है। उदाहरण जैसे—

"मींडि मारचौ कलह, बियोग मारचौ बोरिकैं, मरोरि मारचौ अभिमान भरचौ भय भाँन्यो है।
सबकौ सुहाग-अनुराग लूटि लीन्हो, दीन्हो राधिका कुँवरि कहँ सब सुख-साँन्यो है ।।
कपट-झटाके डरचौ निपटिकैं (जु) औरन सो, भेंटी पैहचांन मन में हूँ पैहचाँन्यो है ।
जीत्यौ रति-रन, मथ्यौ मनमथ हू कौ मन 'केसौराइ' कोन हू पै 'रोष' उर आँन्यो है ।।"

यह छद महाकवि केशव ने 'रसिक-प्रिया' के रौद्र-रस' के उदाहरण में दिया है। अत रौद्र के स्थायी भाव 'रोष' का यहाँ स्पष्ट कथन होने से आपका यह उदाहरण काव्य-दोष-रहित नही कहा जा सकता। भिखारीदासजी के 'काव्य-निर्णय' मे भी इस प्रकार के दोष है, जैसे—

"कोऊ एक दास काऊ साहब की आसमें कितेक दिन बीलें रीत्यौ सबै भाँति बल है ।
बिथा जो बिनै सो करै ऊत्तर याहि सो लहै, सेवा-फल ह्वै-ही रहै, यामें नाहि चल है ।।
एक दिन 'हास'-हित आयौ प्रभु-पास, तन राखे ना पुराने बास कोऊ एक थल है ।
करत प्रनाम सो 'बिहँसि' बोल्यौ यैं कहा, कह्यौ कर-जोरि देव-सेवा ही कौ फल है ।।"

इस पद्य मे भी हास्य-रस का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए दासजी ने 'हास' तथा 'विहँसि' शब्दो का स्पष्ट प्रयोग कर वही दोष किया है।

सोमनाथजी ने भी अपने 'रस-पियूष' मे इस प्रकार की भूले की है। एक उदाहरण जैसे—

"गेंद के लाइबे के मिस कै, हँसिकैं कढि ग्वालन-संग विहार तें ।
पीत-पटी कटि सो कसिकैं, उर में डरप्यौ न कलिंदी की धार तें ।।
ए 'ससिनाथ' कहा कहिए, जु बढ़ी अरुनाई 'उछाह' अपार तें ।
काली फनिंद के कदन को, चढ़ि कूद्यौ गुबिंद कदंब की डार तें ।।"

इस छद मे भी वीर-रस के स्थायी भाव उत्साह (उछाह) का स्पष्ट कथन होने से रस-दोष आ गया है। वेनीप्रवीन ने 'नवरस-तरग' मे, पद्माकर ने 'जगत-विनोद' में, रसलीन ने 'रस-प्रवोध' मे और ग्वाल कवि ने अपने 'रस-रग' मे इसी प्रकार 'रस-दोष' की भूले की है।"

यहाँ सेठजी के आलोचक कह सकते है कि ऐसे 'दोप' तो गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने 'मानस' मे अनेक स्थलो पर किये है। उदाहरण जैसे—

"सुनि केवट के बैंन, प्रेम-लपेटे अटपटे ।
'बिहँसे' करुना-ऐंन, चितै जानकी-लखन-तन ।।"

यहाँ साहित्यिक बारीकी पकडने पटु पोद्दारजी कहते है कि 'इस दोहे मे विहसे पद से हास-स्थायी-भाव का शब्द-द्वारा स्पष्ट कथन अवश्य है, पर यहाँ वह काव्य वा रस-दोप नही है। क्योकि केवट के अटपटे वचन अनुभाव है, जिससे हास्य की ही नही, विस्मय-आदि की भी प्रतीति होती है।

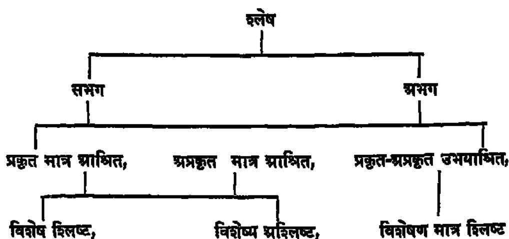
अलंकार-विवेचन

अलकार-प्रकाश और उसके परिवर्धित-रूप-काव्य-कल्पद्रुम तथा काव्य-कल्पद्रुम के भी परिवर्त्तित और परिवर्धित-रूप अलकार-मजरी में सेठजी ने बडे गहरे पैठ कर अलकारो की पहिचान, उनकी पृथक्ता तथा जहाँ अनेक अलकारो का आधिक्य हो वहाँ किस की प्रधानता-आदि पर गभीर मनन-योग्य सामग्री प्रस्तुत की है। सेठजी का कहना है—"अलकारो का विषय अत्यत जटिल एव बहु विवादास्पद है और उसका परिमार्जित तथा निर्दोप निरूपण किया जाना अति दु साध्य-व्यापार है। अलकारो के आचार्य श्री मम्मट्—जिन्हें विद्वद्समाज सरस्वती का अवतार कहता है, उन्होंने भी उक्त विषय पर अत्यन्त विचार और बडी गभीरता के साथ अपनी लेखनी उठाई है। सस्कृत-साहित्य के आचार्यो तथा विद्वान् व्याख्यानाओ का अलकारो के विषय मे काफी—गहरा मतभेद है। ऐसी परिस्थिति में अलकारो का यथार्थ तात्पर्य समझना और दूसरे को समझाना या आलोचनात्मक विवेचन करना अथवा उनकी एक दूसरे से पृथक्ता और श्रेष्ठता बतलाना ऐसी-वैसी नहीं

है। यो तो सभी अलकारो का विवेचन कठिन है, पर विशेषकर—"श्लेष, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, निदर्शना तथा पर्यायोक्ति"—आदि का तो इतना गहन और मिलाजुला विषय है कि उसपर अलकार-शास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्यो ने भी बहुत कुछ सोच-समझकर ही लिखा है।" उदाहरण रूप में 'श्लेष-अलकार' पर सेठजी के विचार सक्षिप्त रूप से उन्ही के शब्दो में नीचे देखिये। जैसे—

श्लेष-अलंकार

श्लिष्ट-शब्दो से अनेक अर्थो का अभिधान (कथन) किये जाने को 'श्लेष कहते है। 'श्लेष शब्द 'श्लिष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है चिपकना—मिलना। श्लिष्ट शब्द मे एक से अधिक अर्थ चिपटे या मिले रहते है। अत जिस शब्द के एक से अधिक अर्थ होते है, उसे 'श्लिष्ट' शब्द कहते है। ये दो प्रकार के होते है—सभग और अभग। जिस पूर्ण-शब्द के दो अर्थ होते हो वह 'अभग' और जिस शब्द के भग करने (तोडने) पर दूसरे-दूसरे अर्थ होते हो, उसे 'सभग'-श्लिष्ट कहा जाता है। अभग-सभग श्लेषो में जहाँ दोनो अर्थो, अर्थात् जब दो से अधिक अर्थ हो उन सभी अर्थो में 'प्रकृत'[1] का वर्णन किया जाय, वहाँ 'प्रकृत-मात्र आश्रित श्लेष' और जहाँ सभी अर्थों में 'अप्रकृत'[2] का वर्णन किया जाय वहाँ 'अप्रकृत मात्र आश्रित श्लेष' कहा जाता है। एव जहाँ एक अर्थ में प्रकृत वर्णन और दूसरे अर्थ में, या एक से अधिक अर्थ हो वहाँ उन सभी मे, 'अप्रकृत' का वर्णन होता हो वहाँ 'प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष' कहा जाता है। श्लेष में विशेषण-पद तो सर्वत्र श्लिष्ट ही होते है, किंतु विशेष्य-पद कही श्लिष्ट और कही अश्लिष्ट नही होते।



प्रकृत और अप्रकृत मात्र—आश्रित श्लेष मे विशेष्य का श्लिष्ट होना नियत—अनिवार्य नही। क्योकि कही विशेष्य श्लिष्ट होता है और कही विशेष्य श्लिष्ट न होकर केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है, पर प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में—केवल विशेषण-ही श्लिष्ट होता है, विशेष्य नही। क्योकि जहाँ विशेष्य और विशेषण दोनो श्लिष्ट होगे वहाँ 'शब्द-शक्ति-मूला ध्वनि' होगी, न कि श्लेष अलकार। इसके अतिरिक्त प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में—विशेषण मात्र की श्लिष्टता में, प्रकृत और अप्रकृत (प्रस्तुत-अप्रस्तुत) दोनो विशेष्यो का भिन्न-भिन्न शब्दो-द्वारा कथन होना आवश्यक है, केवल प्रकृत-विशेष्य का ही शब्द-द्वारा कथन होने पर 'समासोक्ति' अलकार होगा, श्लेष नही।"

सेठजी कहते है—"श्लेष, शब्दालकार है अथवा अर्थालकार इस विषय में भी अलकार-आचार्यो में मत-भेद है। रुय्यक का मत है कि 'सभग-श्लेष' शब्दालकार और 'अभग-श्लेष' अर्थालकार है, क्योकि

[1] जिसका वर्णन करना कवि को प्रधानतया अभिष्ट होता है उसे प्रकृत या प्रस्तुत अथवा प्राकरणिक अर्थ कहते है। प्रकृत या प्रस्तुत-आदि का प्रयोग प्राय. उपमेय के लिये किया जाता है।

[2] जिसका वर्णन किया जाना प्रधान न हो उसे अप्रकृत या अप्रस्तुत अथवा अप्राकरणिक कहते है। इसका प्रयोग उपमान के लिये किया जाता है।

सभंग-श्लेष मे "जतु काष्ठ-न्याय"[1] से दूसरा शब्द या पद भिन्न होने पर भी एक शब्द या पद मे मिला रहता है, इसलिए वह शब्दालकार है और अभग-श्लेष मे—"एक वृ त फल द्वय[2]" के न्यायानुसार एक-ही शब्द या पद में दो अर्थ लगे रहते हैं, अत वह अर्थालकार है।"

आचार्य उद्भट् ने सभग और अभग को क्रमश शब्द तथा अर्थ-श्लेष बता कर दोनो को अर्थालकार ही माना है। केवल शब्द की विचित्रता के कारण सभग को शब्द-श्लेष मानते हुए भी उसे शब्दालकार नही कहा जा सकता, क्योकि वस्तुत श्लेष अर्थ के ही आश्रित है और जब तक श्लेष-अलकार में एक से अधिक अर्थो की प्रतीति न हो तब तक उसे श्लेष-अलकार कहा ही नही जा सकता। अत श्लेष को अर्थालकारो के अतर्गत मानना ही युक्ति-युक्त है।

आचार्य मम्मट् ने अभग और सभग दोनो श्लेषो को शब्दालकार माना है। मम्मट् कहते हैं— गुण, दोष और अलकारो का शब्द तथा अर्थ-गत विभाग 'अन्वय'[3] और 'व्यतिरेक[4]' पर निर्भर है। अभग-श्लेष जहाँ अर्थाश्रित होगा वही अर्थालकार माना जायगा, शब्दाश्रित होने पर नही और जहाँ शब्दाश्रित अभंग-श्लेष होगा वहाँ वह शब्दालकार ही माना जायगा। अभग-श्लेष अर्थालकार वहाँ ही हो सकता है, जहाँ शब्द-परिवर्त्तन करने पर भी दो अर्थ बने रहे। आचार्य मम्मट् ने उद्भटाचार्य के मत की आलोचना करते हुए आगे कहा है कि 'सभग को शब्द-श्लेष और अभग को अर्थ-श्लेष स्वीकार कर फिर दोनो को अर्थालकार कहना कहाँ का न्याय है? क्योकि विचित्रता-ही-अलकार-के-प्राण है। अत जहाँ अर्थ मे विचित्रता हो वहाँ अर्थालकार और जहाँ शब्द मे विचित्रता हो वहाँ शब्दालकार मानना चाहिये। केवल अनेक अर्थ होने के कारण अर्थ का सहयोग मान कर श्लेष को अर्थालकार नही कहा जा सकता। अर्थ के सहयोग की अपेक्षा तो अनुप्रास, वक्रोक्ति और यमक में भी रहती है, फिर वे अर्थालकार न माने जाकर शब्दालकार क्यो माने जाते है? यही क्यो, शब्द के गुण और दोषो में भी अर्थ का सहयोग अपेक्षित है, क्योकि वहाँ अर्थ के सहयोग-द्वारा ही गुण और दोषो का निर्णय हो सकता है तथा अर्थ के गुण-दोषो में भी शब्द के सहयोग की अपेक्षा रहती है,—शब्द के द्वारा ही उनका प्रतिपादन किया जाता है, फिर भी गुण और दोषो का शब्द तथा अर्थ-गत विभाग है। निष्कर्ष यह है कि शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित हैं—एक के सहयोग-विना दूसरे में गुण, दोष और अलकार का प्रतिपादन नही हो सकता। अतएव जहाँ जिसकी प्रधानता हो वहाँ वही माना जाना चाहिये'[5]। अर्थात् जिस अलकार की विचित्रता शब्दाश्रित हो उसे शब्दालकार और जिस अलकार की विचित्रता अर्थ के आश्रित हो उसे अर्थालकार मानना उचित है। अत जहाँ शब्द बदल देने पर श्लेष न रहे ऐसा अभग-शब्द-अपरिवर्तनशील श्लेष और सभग दोनो श्लेषो मे शब्द के आश्रित चमत्कार होने के कारण इन्हें शब्दालकार मानना ही उचित है।

श्लेष की अन्य अलंकारो से पृथकता

सेठ जी का कथन है कि "श्लेष का विषय बहुत व्यापक है, क्योकि श्लेष की स्थिति बहुत से

[1] जतु—लाख लकडी से भिन्न होती हुई भी उसीपर चिपकी रहती है, इस न्यायानुसार।

[2] एक गुच्छे में दो फल।

[3] कारण के रहने पर कार्य का अवश्य रहना 'अन्वय' कहा जाता है। अर्थात् जिसके रहने पर उसके साथ रहने वाले दूसरे की स्थिति भी रहती हो जैसे—धूआँ होने पर अग्नि की प्रतीति।

[4] कारण के अभाव में कार्य का न होना 'व्यतिरेक' है। अर्थात् जिसके न रहने पर उसके साथ-रहने वाले दूसरे की स्थिति भी नहीं होती, जैसे जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूआँ भी नहीं होता।

[5] प्राधान्येनव्यपदेशा भवति।

—न्याय,

अलकारो में रहती है। वह प्राय सभी अलकारो का शोभाकारक है[1]। अतएव श्लेष का विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण और विवाद-ग्रस्त है। सस्कृत-ग्रथो मे श्लेष पर बहुत कुछ विवेचन किया गया है, पर हिंदी के किसी भी रीति-ग्रथ में इस विषय पर कुछ भी कहने योग्य नही है।"

"काव्यालकार-सार-सग्रह के प्रणेता उद्भटाचार्यादि का मत है कि 'जहाँ श्लेष होता है, वहाँ दूसरा अलकार अवश्य रहता है—अन्य अलकार से विविक्त (स्वतत्र) शुद्ध श्लेष का उदाहरण नही हो सकता। प्रकृत अथवा अप्रकृत मात्र के वर्णन से श्लेष के उदाहरणो में प्रकृत-अप्रकृत के एक धर्म का कथन होने के कारण श्लेष के साथ 'तुल्ययोगिता'[2] अलकार रहता है। इसी प्रकार प्रकृत-अप्रकृत दोनो के वर्णन वाले श्लेष के उदाहरणो में एक धर्म के कथन से श्लेष के साथ 'दीपक[3] अलकार और साथ ही ऐसे उदाहरणो में 'सदेह'[4] अलकार भी रहता है।

मुदित करन जन-मन विमल, राजत है असमान।
रम्य सकल-कल पुर लसत, यह ससि-बिंब-समान ॥

आदि उदाहरणो में श्लेष के साथ 'उपमा'[5] अलकार भी है। अत इस मत के प्रतिपादको का कहना है कि इस प्रकार श्लेष का स्वतत्र उदारहण नही हो सकता और यदि इस प्रकार के उदाहरणो में अन्यान्य अलकार मान लिये जायँगे तो श्लेष नाम का अलंकार ही नही रह सकता। अतएव जहाँ श्लेष के साथ तुल्य-योगिता-आदि अन्यान्य अलकार हो वहाँ श्लेष को—अन्य अलकार का आभास (झलक) मात्र समझ कर "निरवकाशो विधिरपवाद"[6] के न्याय-द्वारा उस अन्य अलंकार का—जिसकी स्थिति श्लेष के बिना भी हो सकती है, बाधक-अर्थात् अन्य अलकारो को हटाने वाला मान कर श्लेष को प्रधान समझना चाहिये और इस रीति से श्लेष स्वतत्र अलकार माना जा सकता है।

सेठ जी कहते हैं—"आचार्य मम्मट् को यह मत स्वीकार नही। मम्मट् का कहना है कि यह बात नही कि दूसरे-दूसरे अलकारो के बिना विविक्त (स्वतत्र) श्लेष नही हो सकता। जहाँ तुल्ययोगिता श्लेष के साथ कही जाती है वह तो शुद्ध श्लेष का उदाहरण है, क्योकि तुल्ययोगिता में जिन प्रकृत-अप्रकृत का वर्णन किया जाता है, उनका एक ही धर्म कहा जाता है। इसके विपरीत श्लेष में, जिन प्रकृत-अप्रकृतो का अथवा दोनो का एक साथ वर्णन किया जाता है, वहाँ उन सबके लिए श्लिष्ट (दो-अर्थ वाले) शब्दो-द्वारा पृथक्-पृथक् धर्म कहे जाते है। तुल्ययोगिता-मिश्रित श्लेष के जो उदाहरण देखनेमें आते हैं, वहाँ केवल शुद्ध श्लेष है और जो दीपक-मिश्रित श्लेष के उदाहरण है वहाँ भी शुद्ध श्लेष ही है, क्योकि दीपक में भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो का एक धर्म ही कहा जाता है, पर उदाहरणो में पृथक्-पृथक् धर्म कहे गए हैं—इत्यादि। सेठ जी कहते है कि आचार्य मम्मट् के मत का यह तात्पर्य नही है कि श्लेष के साथ अन्य अलकार मिश्रित नही होते। उनका कहना तो यह है कि श्लेष शुद्ध भी होता है और अन्य अलकारो से मिश्रित भी। किन्तु जहाँ श्लेष के साथ कोई अन्य अलकार समिलित होता है वहाँ न तो सर्वत्र श्लेष ही माना जा सकता है और न अन्य अलकार ही, किंतु दोनो मे जिसकी प्रधानता हो उसे ही मानना चाहिये।

[1] श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। —काव्यादर्श, २।३६३,

[2] तुल्ययोगिता—तुल्य-पदार्थों के योग को कहते हैं। जहाँ अनेक प्रस्तुतों का अनेक अप्रस्तुतों के गुण वा क्रिया-रूप एक धर्म में योग—संबधादि का कथन किया जाय, वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार माना जाता है।

[3] प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एकधर्म कहने को 'दीपक' अलंकार कहते हैं।

[4] किसी वस्तु के विषयमें सादृश्य-मूलक संशय होने में 'संदेह' अलंकार होता है।

[5] दो पदार्थों के साधर्म्य को उपमान-उपमेय भाव से कहने पर 'उपमा' अलंकार होता है।

[6] जिस वस्तु के रहने के लिए किसी विशेष स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थान नहीं होता, वह वस्तु उस दूसरी वस्तु को (जिसके लिए अन्यत्र स्थान भी हो) उसके स्थान से हटा कर वहाँ स्वयं प्रधानता प्राप्त कर ले उसे उक्त न्याय कहते हैं।

जिन उदाहरणो में श्लेप के साथ 'सदेह' का मिश्रण कहा गया है, वहाँ सदेह गौण है—सदेह का आभास मात्र है, अर्थात् श्लेप का वह अग है, श्लेप का सहायक होकर उसकी पुष्टि करता है। वहाँ प्रधान चमत्कार श्लेष ही में है, जो कवि को अभीष्ट है। किंतु—"मुदित करन जन-मन विमल" मे उपमा के साथ श्लेप मिश्रित होने पर भी यहाँ उपमा प्रधान है, श्लेष नही। अत यह उपमा का उदाहरण ही हो सकता है। यदि यहाँ श्लेप को उपमा का बाधक मान कर श्लेष ही माना जाय तो फिर 'पूर्णोपमा' का कोई उदाहरण न मिलेगा। पूर्णोपमा में इस प्रकार के श्लेप का होना अनिवार्य है। यदि यह भी कहा जाय कि श्लेष-रहित पूर्णोपमा के भी उदाहरण जैसे—"पुर ससि विंव समान" हो सकते है, पर यहाँ समान धर्म का कथन न होने से धर्म-लुप्ता (लुप्तोपमा) का उदाहरण होगा, पूर्णोपमा का नही।

निष्कर्ष यह कि उद्भटाचार्य-आदि तो समान-धर्म-द्योतक होने वाले पदो में शब्द-श्लेप होने के कारण श्लेप को उपमा का बाधक मान कर श्लेप अलकार मानते है, पर आचार्य मम्मट् कहते है कि "इमे यदि इस प्रकार श्लेप मानते हो तो जहाँ अर्थ-श्लेष हो वहाँ उसे उपमा का बाधक क्यो नही मानते? और यदि शब्द-श्लेप को ही उपमा का बाधक मानते हो तो अर्थ-श्लेष को उपमा का बाधक क्यो नही मानते? जिस प्रकार अर्थ-श्लेष को उपमा का बाधक नही माना जाता, उसी प्रकार शब्द-श्लेप भी उपमा का बाधक नही माना जा सकता। प्रत्युत पूर्णोपमा का श्लेप के विना स्वतत्र स्थान न होने के कारण पूर्वोक्त—"निरव-काशो विधिरपवाद"—न्याय से उपमा, श्लेष की बाधक है, अत वहाँ उपमा ही है, श्लेष नही।"

आचार्य मम्मट् यह भी कहते है कि यह आपत्ति भी नही हो सकती कि उपमा, गुण या क्रिया के के सादृश्य में ही हो सकती है, शब्द-मात्र के सादृश्य में नही। अस्तु, जहाँ गुण-क्रियात्मक सादृश्य नही है केवल शब्द-मात्र का सादृश्य है, वहाँ उपमा किस प्रकार सभव है? वहाँ सेठ जी कहते है कि "वास्तव मे बात यह नही है, केवल शब्द मात्र-सादृश्य में भी उपमा होती है। आचार्य रुद्रट् ने गुण और क्रिया की भाँति शब्द-साम्य को भी उपमा के सादृश्य का प्रयोजक बतलाया है[1]। अत उक्त स्थलो पर उपमा ही है, श्लेप नही। केवल उपमा ही नही, श्लेष-मिश्रित अन्य अलकारो में भी अनेक स्थलो पर श्लेप गौण होकर अन्य अलकारो की भी पुष्टि करता है। एक उदाहरण, जैसे—

"सखि, यह अचरज है हमें, लखि तुव दृगन - विलास।
कृष्ण-रंग-रत तउ करत करन - निकट नित बास॥"

यहाँ 'कृष्ण' और 'करन' शब्द श्लिष्ट है, अत विरोधाभास के साथ श्लेप है। इसलिए श्लेप की प्रधानता नही, केवल उसका आभास मात्र है, अर्थात् श्लेप विरोधाभास का अग है, क्योकि श्लेप के विना यहाँ विरोध का आभास नही हो सकता। अत श्लेप का बाधक होकर विरोधाभास ही प्रधान है। प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार विरोध के आभास में 'विरोधाभास' अलकार माना जाता है, उसी प्रकार श्लेप के आभास मे श्लेप क्यो नही मान लिया जाय? सेठ जी कहते है—"इसका उत्तर यह है कि वास्तविक विरोधात्मक वर्णन में तो दोप माना गया है, इसलिये विरोध के आभास में ही अलकार माना जाता है, किंतु वास्तविक श्लेप में कोई दोप नही और न श्लेप के आभास मे चमत्कार ही है। जहाँ श्लेप की प्रधानता होती है, वहाँ ही श्लेप अलकार माना जा सकता है। इस उदाहरण मे विरोध के आभास में ही चमत्कार होने के कारण विरोधाभास की ही प्रधानता है, अत पूर्वोक्त "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"—न्याय से विरोधाभास ही माना जाना युक्ति-सगत है।"

"अरि-कमला संकोच रवि गुनि-मानस सु मराल।"

[1] स्फुटमर्थालकारावेतावुपमासमुच्चयौ। किंतु आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सभवनः॥
—काव्यालंकार, ४।३२,

आदि पदो में रूपक के साथ श्लेष है, पर यहाँ मानस शब्द श्लिष्ट होते हुए भी कवि का अभीप्ट अर्थ 'राजा को विद्वानो के मन-रूप मानसरोवर मे निवास करने वाला हस कहने का है, अत यहाँ रूपक प्रधान है, पर मानस के श्लेषार्थ मानसरोवर के कहे बिना रूपक भी नही बन सकता, अत यहाँ रूपक का श्लेष अग है।

"नहि भगुर गुन कज-सम, तुम गाढे गुनवार ।"

यहाँ भी व्यतिरेक के साथ श्लेष है, क्योकि गुण-शब्द श्लिष्ट है। परतु राजा को कमल की अपेक्षा उत्कृष्ट कहना अभीप्ट होने से व्यतिरेक होने के कारण श्लेष उसका पोषक होकर अगीभूत है।

"अनुरक्ता सध्या तथा दिन हूँ सनमुख भात ।
तउ न समागम ह्वै अहो, विधि-गति कही न जात ।।"

यहाँ सायकाल के वर्णन में 'अनुरक्ता'-आदि श्लिष्ट शब्दो के विशेषणो-द्वारा परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति भी कवि ने कराई है, इसलिए समासोक्ति के साथ श्लेष है। यहाँ प्रकरण के अनुसार सायकाल के वर्णन की प्रधानता होने के कारण श्लेष समासोक्ति का सहायक मात्र है।

सेठ जी कहते है—"आचार्य मम्मट् के इस मत को उनके परवर्ती हेमचद्र और विश्वनाथ-आदि ने भी स्वीकार किया है। निष्कर्ष यह है कि जहाँ एक से अधिक अलकारो की स्थिति होती है, वहाँ किस अलकार को प्रधान मानना चाहिये, इस निर्णय के लिये यही देखना आवश्यक होगा कि उनमें कौन-सा अलकार प्रधान है और जहाँ जिस अलकार की प्रधानता हो वहाँ वही मानना चाहिये।"

श्लेष अलंकार और ध्वनि का पृथक्-करण

सेठ जी कहते है—"अलकारो के अतिरिक्त श्लिष्ट शब्दो का ध्वनि-काव्य के साथ भी गहरा सबध है। श्लेष-मय अलकारो में श्लिष्ट शब्दो-द्वारा एक से अधिक जितने अर्थ होते है, वे सब अभिधा-शक्ति-द्वारा वाच्यार्थ ही तो होते है। श्लेष की ध्वनि में अतिव्याप्ति न होने के लिये ही श्लेष अलकार के लक्षण में 'अभिधान' पद का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् श्लेष में जो दो या दो-से अधिक अर्थ होते है, वहाँ वे शब्द-द्वारा स्पष्ट कहे जाते है। श्लेष के उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि उसमे एक से अधिक सभी अर्थ अभिधा-शक्ति के अभिधेय—वाच्यार्थ होने के कारण उनका एक ही साथ ज्ञान हो जाता है। ध्वनि में एक के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का एक सग बोध नही होता, अपितु अभिधा-द्वारा एक वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर प्रकरण-आदि के कारण अभिधा की शक्ति रुक जाती है। वह दूसरे-दूसरे अर्थ का बोध नही करा सकती। उसके बाद ही दूसरा अर्थ (व्यग्यार्थ) ध्वनित होता है।

अप्पय दीक्षित ने, जहाँ विशेष्य-वाचक पद श्लिष्ट होता है, वहाँ प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित गूढ श्लेष अलकार ही माना है, ध्वनि नही। दीक्षित जी कहते है कि इस प्रकार के उदाहरणो में काव्य-प्रकाश-आदि मे जो शब्द-शक्ति मूला ध्वनि मानी गई है, वहाँ उपमेय-उपमान भाव के कारण उपमा की ही प्रतीति होती है और उसी मे वह सभव भी है, अप्राकृत-वर्णन में नही। यहाँ शका हो सकती है कि जहाँ अप्राकृत शब्द के अर्थ का बोध शीघ्र नही होता, वहाँ ध्वनि क्यो नही मानी जाय ? —'यह ठीक है कि, अप्राकरणिक शब्द-वा पद के अर्थ का प्राकरणिक शब्दार्थ के समान उतना शीघ्र बोध नही होता, पर तनिक विलब से अर्थ का बोध होने मात्र से भी तो ध्वनि नहीं मानी जा सकती। यदि अप्राकृतिक शब्द का अर्थ विलब से प्रतीत होता है तो उसे 'गूढ श्लेष' कहा जा सकता है, ध्वनि नही। सेठ जी कहते है कि "हमारे विचार से दीक्षित जी का यह मत उपयुक्त नही, ऐसे उदाहरणो मे श्लेष न मान कर ध्वनि मानना ही युक्ति-सगत है। इस विषय में पडितराज जगन्नाथ जी ने अति विस्तार से विवेचन किया है। यद्यपि दडी ने ऐसे स्थलो पर श्लेष अलकार ही माना है, क्योकि दडी के समय ध्वनि-सिद्धात का प्रतिपादन नही हुआ था।"

सेठजी का रस-विवेचन

भरतमुनि के सूत्र—"विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगाद्रसनिप्पत्ति" पर सेठजी के अपने मौलिक और गभीर विचार है। वे कहते है—"काव्य मे रस ही दुर्ज्ञेय और सर्वोपरि चमत्कारक होने के कारण

आस्वादन करने योग्य पदार्थ है। रस के स्वरूप का ज्ञान और उसका आस्वादन ही काव्य के अध्ययन और मनन का सर्वोपरि फल है।"

लोक-व्यवहार मे रति-आदि चित्त-वृत्तियो के—मनोविकारो के जो कार्य और सहकारी कारण होते है, वे नाटक और काव्य मे रति-आदि स्थायी भावो के कारण, कार्य और सहकारी कारण न कहे जाकर क्रमश. विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।" इन विभादिको के द्वारा ही स्थायी भाव व्यक्त होकर 'रस' कहा जाता है[१]।

विभाव के कारण निमित्त और हेतु पर्यायवाची शब्द है, जो एक ही अर्थ के बोधक है[२]। रति-आदि एक प्रकार के विशेष मनोविकार है, वे काव्य-नाटको मे स्थायी-भाव कहे जाते हैं। ये रति-आदि स्थायी एवं व्यभिचारी भाव सामाजिको—काव्य-पढनेवालो तथा नाटक देखनेवालो के हृदयो मे वासना रूप से अत्यत सूक्ष्म रूप मे स्थित रहते है उन भावो को ये विभावन करते हैं—आस्वाद के योग्य बनाते हैं, अत ये ही रस के उत्पादक है[३]।" पोद्दारजी, इस प्रकार अनुभाव, सात्विक भाव, सचारी भाव और स्थायी भावो का वर्णन-विश्लेषण करते हुए आगे 'स्थायी भावो की रस-अवस्था' पर अपने सुलझे विचार इस प्रकार प्रकट करते हुए कहते है—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो से व्यक्त स्थायी भाव ही रस है[४]।" व्यक्त का अर्थ है दूसरे रूप में परिणत हो जाना, जैसे—दूध से दही। अस्तु, रति-आदि स्थायी भाव, जो सामाजिको के अत करण मे वासना-रूप से पहिले से ही विद्यमान रहते है, उनके साथ जब विभावादि का सयोग होता है, तब वे ही रूपातरित हो 'रस'-रूप में व्यक्त होने लगते है। मिट्टी के नये पात्र मे गध पहिले से है, पर उसकी प्रतीति नही होती, जलके सयोग होने पर वह व्यक्त होने लगती है। इसी प्रकार सहृदय-जनो के हृदयो मे पूर्वानुभूत रत्यादि-मनोविकार अव्यक्त रहते हुए भी काव्य के पढने-सुनने अथवा नाटक देखने से—रति-आदि मनोविकार विभावादि का सयोग पाकर जाग्रत हो जाते है और उससे आनंदानुभव होने लगता है। अत इस प्रकार रति-आदि स्थायी भाव ही रस-सज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं।"

रस : अभिव्यक्ति

रस की अभिव्यक्ति के सबध मे पोद्दारजी कहते है—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो को रति-आदि स्थायी-भावो के क्रमश कारण, कार्य और सहकारी कारण का रूप बतलाया गया है, पर इनकी कारण, कार्य और सहकारी कारण के रूप मे पृथक्-पृथक् प्रतीति रस के उद्बोध होने के पूर्व-ही होती है, उसके उद्बोध के समय इनकी पृथक्ता की प्रतीति नही होती। उस समय विभावन के अलौकिक व्यापार-द्वारा ही विभाव, अनुभाव और सचारी समूह-रूप से रसको व्यक्त करते हैं और उस समय ये तीनों समूह-रूप मे

[१] कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानिचेन्नाटचकाव्ययोः ॥
विभावानुभावास्तत् कथ्यते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रस स्मृतः ॥
—काव्यप्रकाश, ४।२७-२८,

[२] विभावः कारण निमित्त हेतुरिति पर्याया.।
—भरत-नाटयशास्त्र.

[३] बहवोऽर्थाविभाव्यते वागंगाभिनयाश्रया. ॥
अनेन यस्मात्तेनायं विभावइति कथ्यते ॥
—भरत-नाटयशास्त्र ६।६

[४] व्यक्त स तैर्विभावाद्यै. स्थायीभावो रसस्मृतः।
—[illegible], ४।[illegible]

कारण वन जाते है[1]। अर्थात् रस के आनदानुभव के समय ये तीनो अपनी पृथक्ता-त्याग कर समूह-रूप से मिलकर, स्थायी भाव को 'प्रपानक-रस' की भाँति अखड रस के रूप में परिणत कर देते है। जैसे जल में डालने से प्रथम चीनी, मिर्च, जीरा, हीग और नमक-आदि का स्वाद विभिन्न होते हुए भी इन सबको मिलाने के बाद उनका भिन्नत्व न रहकर एक विलक्षण-आस्वाद युक्त पेय वन जाता है, उसी प्रकार विभावादि से मिलकर स्थायी भाव अखड घन चिन्मय रस-रूप में परिणत हो जाते है। सेठजी का कथन है कि "विभावादि के समिलित होने पर ही व्यजनीय रस की व्यजना हो सकती है, केवल विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भावो के स्वतत्र रूप से अकेले रहने पर नही। क्योकि विभावादि स्वतत्र-रूप से अकेले किसी रस के नियत नही है। जैसे सिंह-आदि हिंसक जीव कायर मनुष्य के लिये भय के कारण होते हुए भी 'भयानक रस' के आलवन-विभाव कहे जाते है ? पर वे वीर-पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के कारण भी वनते है और इस प्रकार वीर और रौद्र रस के आलवन भी होते है। अश्रु-पातादि प्रिय-वियोग मे होते है, इसलिए ये विप्रलभ-शृगार के अनुभाव है, पर भय और शोक में भी अश्रुपात होते है, यहाँ ये भयानक एव करुण रस के अनुभाव है। चिंता-आदि मनोभाव प्रिय-वियोग मे होने के कारण विप्रलभ-शृगार के सचारी है, पर भय और शोक में भी चिंता-आदि भाव होते है, जो भयानक और करुण रस के सचारी है। अत पोद्दारजी कहते है—"इससे स्पष्ट है कि विभावादि पृथक्-पृथक् स्वतत्र रहकर भी किसी रस विशेष के व्यजक नही हो सकते, अपितु जब विभाव, अनुभाव और सचारी भाव एक साथ जिस विशेष रस में होते है, वे ज्यो के त्यो मिले हुए किसी दूसरे रस में नही हो सकते। अत विभावादि तीनो के समिलन पर ही रस की अभिव्यक्ति होती है। जिससे रस—विभावादि-समूहालवनात्मक कहा जाता है।

यो तो किसी-किसी वर्णन में कही अनुभाव और सचारी के विना केवल विभाव, कही विभाव और सचारी के विना केवल अनुभाव तथा कही विभाव-अनुभाव के विना केवल सचारी दृष्टिगत होते है, और वहाँ रस की व्यजना भी होती है। अतएव इस अवस्था में प्रश्न हो सकता है कि फिर विभावादि तीनो के समिलित होने पर ही रस की अभिव्यक्ति क्यो कही जाती है ? यहाँ पोद्दारजी कहते है—"वात यह है कि जहाँ केवल विभाव या अनुभाव अथवा सचारी ही हो वहाँ भी रस की व्यजना 'विभावानुभावसचारी' के समूह-द्वारा ही होती है। विभावादि में से जिस किसी भाव की स्थिति रहती है वहाँ वह व्यजनीय रस का असाधारण सवधी होने के कारण किसी अन्य रस की व्यजना नही होने देता। अपितु एक भाव से ही अन्य दो भावो का आक्षेप-समिलन हो जाता है। अर्थात् वह एक ही भाव अपने व्यजनीय रस के अनुकूल अन्य दो भावो का वोध करा देता है।"

रसास्वाद

"रस का आस्वाद—आनदानुभव किस को होता है। रति-आदि स्थायी भाव जो एक प्रकार के मनोविकार है वे नायक-नायिकादि आलवनो मे उत्पन्न हो रति-आदि—विभावानुभावसचारी के सयोग से रस रूप हो जाते है, इसलिए रस का आनदानुभव उन्ही नायक-नायिकादि को होता है, सामाजिक[2] जिन पूर्वकालीन दुष्यत-शकुतला-आदि के चरित्र काव्य में पढते या नाटक में देखते है, उनका न तो कभी सामाजिको से साक्षात् हुआ है और न वे सामाजिको के सामने रहते ही है, और न सामाजिको का उनसे कोई सवध ही है। ऐसी परिस्थिति में दुष्यतादि के रति-जन्य रस के अनुभवो का आनद सामाजिको को किस प्रकार हो सकता है ? अन्य के दिये हुए आनद का अनुभव अन्य व्यक्ति को किस प्रकार हो सकता है, इत्यादि पर भरत-मुनि के उपर्युक्त सूत्र—विभानुभावव्यभिचारिसयोगात्रसनिष्पत्ति' को आधार मान उनके परवर्ती सम्कृत के

[1] कार्यं कारण संचारिरूपा अपि हि लोकत· ।
रसोद्‌वोधे विभावाद्या· कारणान्येवते मता ॥

—काव्यप्रकाश,

[2] काव्य के पाठक-श्रोता तथा नाटको के दर्शक—सामाजिक कहे जाते है।

महान् साहित्याचार्यों ने अति गंभीर विवेचन करते हुए विभिन्न मत प्रदर्शित किये हैं जो आरोपवाद, अनुमानवाद, भोगवाद और व्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं[1]।

अस्तु, सेठजी कहते हैं—"भरत-सूत्र के प्रथम व्याख्या-कर्ता मीमांसक भट्ट लोल्लट् हैं। उनका मत है कि शृंगारादि रसों के रति-आदि भाव नायक-नायिका रूप आलंबन और चंद-चाँदनी, पुष्प-वाटिका-आदि उद्दीपन विभावों से उत्पन्न होते हैं और उन आलंबन विभावों के कटाक्ष एवं भुजाक्षेप (हस्तसंचालनादि) चेष्टात्मक अनुभावों से प्रतीति के योग्य होकर उत्कंठादि व्यभिचारी भावों से जो पुष्ट होता है वह 'रस' है। यद्यपि यह रस, मुख्यतया जिनका काव्य-नाटकों में वर्णन या अभिनय किया जाता है उन्हीं दुष्यंत-शकुंतलादि में रहता है, अर्थात् उनकी रति-आदि का वास्तविक रसानुभव उन्हींको उपलब्ध है। किंतु जब पूर्व कालिक व्यक्तियों का काव्य-नाटकों में वर्णन अथवा अभिनय किया जाता है, तब दुष्यंतादि के रूप में नट को तदनुरूप चेष्टाएँ करता हुआ देख कर सामाजिक—नाटक के दर्शक और काव्य के पाठक, नट में दुष्यंतादि का 'आरोप'[2] कर लेते हैं। अतः उन सामाजिकों को नट में रस की प्रतीति होने लगती है।

अनुमानवाद के आचार्य नैयायिक श्री शंकुक भरत-सूत्र के द्वितीय व्याख्याता हैं। उन्होंने भट्ट-लोल्लट् के उक्त आरोपवादी मत को युक्ति-शून्य नहीं माना है। क्योंकि दुष्यंत-आदि में रहने वाले रस का आनंदानुभव सामाजिकों को किस प्रकार हो सकता है? जब कि सामाजिक दुष्यंतादि तथा अनुकरण करने वाले नटादि से भिन्न हैं। यदि आरोप करने मात्र से ही रसानुभव होना संभव हो तो शृंगारादि रसों के नाम सुन लेने एवं अर्थ-समझ लेने से भी रसानुभव होना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। अतः उन्होंने भरतसूत्र की व्याख्या न्याय-शास्त्रानुसार यह की है कि "रस की निष्पत्ति विभावादिकों से अनुमाप्य-अनुमापक भाव के संबंध से होती है, अर्थात् विभाव—आलंबन-उद्दीपन, अनुभाव—आलंबनों की चेष्टाएँ और व्यभिचारिजन्य औत्सुक्यादि तीनों रस के अनुमापक (अनुमान करने वाले) हैं और रस उनके द्वारा अनुमेय—अनुमान होने वाला है। जैसे धूआँ और अग्नि के अनुमाप-अनुमेय (व्याप्य-व्यापक) संबंध से जहाँ धूआँ वहाँ अग्नि का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी होते हैं वहाँ रस होने का अनुमान अवश्य हो जाता है। इसका निष्कर्ष-कथन करते हुए सेठजी कहते हैं कि "रस मुख्यतया तो दुष्यंतादि में ही रहता है, पर विभावादि-द्वारा सामाजिकों को नट में रस का अनुमान हो जाता है।" श्री शंकुक अपने उक्त मत को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "संसार में चार प्रकार के ज्ञान—सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य, प्रसिद्ध हैं। सम्यक्-(यथार्थ) ज्ञान जैसे—'देवदत्त को देवदत्त ही समझना", मिथ्या-ज्ञान जैसे—"कोई व्यक्ति पहिले देवदत्त ज्ञात हो बाद में यह जाना जाय कि वह देवदत्त नहीं है", संशय-ज्ञान जैसे—"यह देवदत्त है या नहीं?" इसी प्रकार सादृश्य-ज्ञान जैसे—"किसी व्यक्ति को देवदत्त जैसा समझना।"

इन लोक-प्रसिद्ध चारों ज्ञानों के अतिरिक्त एक प्रकार का ज्ञान और भी है, जिसे—"चित्र-तुरग-न्याय" कहते हैं। अर्थात् चित्र-लिखित घोड़े को देख कर कहा जाय कि यह घोड़ा है। सेठ जी कहते हैं कि यह ज्ञान पूर्वोक्त चारों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है। क्योंकि इस में सम्यक्-ज्ञान की भाँति चित्र-लिखित घोड़े को देख कर ऐसा कहा जा सकता है कि यही घोड़ा है और न मिथ्या-ज्ञान की भाँति चित्रांकित घोड़े को पहिले घोड़ा मान कर, बाद में यह कहा जाय कि यह घोड़ा नहीं है तथा संशय-ज्ञान की भाँति न यह कहा जा सकता है कि यह घोड़ा है या नहीं। इसी प्रकार सादृश्य-ज्ञान की भाँति यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह घोड़ा जैसा है। अतः चतुः ज्ञान विलक्षण चित्र-तुरग-ज्ञानानुसार नट को दुष्यंतादि के वेश में देखकर

[1] नाट्यशास्त्र पर अभिनव गुप्ताचार्य की "अभिनव-भारती" व्याख्या पृ०—२७४ तथा काव्यप्रकाश का चतुर्थ-उल्लास—रस-प्रकरण।

[2] किसी वस्तु को वस्तुतः वह न होते हुए भी दूसरी मान लेने को 'आरोप' कहते हैं। अर्थात् एक व्यक्ति को दूसरा व्यक्ति मान लेना। जैसे नट को दुष्यंतादि न होने पर भी दुष्यंतादि समझ लेना।

"यही दुष्यत है" यह समझ लेना चाहिये। तदनतर उस नट मे विभावादि-द्वारा रस सामाजिको को दृष्टि-पथ होने लगेंगे। क्योकि नाट्य-कला-कुशल नट दुष्यतादि के अनुकरण (अभिनय) करने में अत्यत अभ्यस्त होता है, जिससे अनुकरण के समय उसे स्वय यह ध्यान नही रहता कि मै किसी का अनुकरण—अभिनय कर रहा हूँ। उस समय तो वह अपने को दुष्यतादि ही समझने लगता है और उनकी सपूर्ण अवस्थाओ को अपने में उनके समान ही अनुभव करने लगता है। इस प्रकार नाट्य-कला के अभ्यास तथा काव्य के अनुसधान —कवि के अभीष्ट को साक्षात् के समान अनुभव करने के बल पर नट विभावादि को प्रगट करता है, अत नट की चेष्टाएँ कृत्रिम प्रतीत नही होती और दुष्यतादि के रति-आदि भावो का सामाजिको को अनुमान होने लगता है। यद्यपि सामाजिक नट में ही दुष्यतादि की रति का अनुमान करते है, तथापि काव्य-नाटको के वस्तु-सौंदर्य के प्रभाव से उसमें रसनीयता आ जाती है। अत वे रति-आदि भाव अन्य अनुपमेय से विलक्षण हो जाते है। सामाजिको को यह ध्यान ही नही रहता कि हम दूसरो की रति-आदि का अनुमान कर रहे है। अत अपने में न रहता हुआ रस सामाजिको की अपनी वासना से आस्वादित होता हुआ रसानुभव होने लगता है।"

भरत-सूत्र के तीसरे व्याख्याता है भोगवादी साख्यमतानुयायी भट्ट नायक। ये शकुक के उक्त अनुमानवाद को संतोषप्रद नही मानते। आप का मत है कि अन्य व्यक्ति में उद्भूत होने वाले रस का अन्य व्यक्ति अनुमान करके आस्वाद नही कर सकता वह तो प्रत्यक्ष-ज्ञान से ही रसास्वादन कर सकता है। अर्थात् अन्य की आत्मा में स्थित (दुष्यतादि में स्थित शकुतला-विषयक) रति के आनद का अन्य की आत्मा (अनुकरण करने वाले नटो और सामाजिको की आत्मा) में अनुमान करने से रसास्वाद कदापि नही हो सकता। यदि कहा जाय कि शकुतलादि विषयक दुष्यतादि की आत्मा में स्थित रति की प्रतीति सामाजिको को आत्मगतत्वेन होती है, तो उसमें अनेक दोष है। कहाँ वे धर्मात्मा यशस्वी सम्राट् और कहाँ हम वर्त्तमान्कालीन क्षुद्र जीव। शकुतला-विषयक प्रेम का हमारे हृदय मे उदय होना एक बार-ही महान् पाप-वृत्ति है, क्योकि जिसे हम अपना प्रेम-पात्र बनाना चाहते है उसमें हमारे प्रेम-पात्र होने का औचित्य आव-श्यक है। उसका केवल स्त्री होना-ही पर्याप्त नही है। स्त्री तो भगिनी-आदि भी होती है। अत सामाजिको के प्रेम के शकुतलादि आलबन कदापि नही हो सकते और आलबन के बिना रति स्थायी का आविर्भाव होना असभव है, अत रसास्वाद कहाँ? इस प्रकार अनुमान-ज्ञानजन्य रसास्वाद' की कल्पना निस्सार मान कर भट्ट नायक कहते है—

> "भरत-सूत्र के 'सयोग' शब्द का अर्थ है 'भोज्य-भोजक-भाव-संबध' और 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'भुक्ति'। अर्थात् काव्य की क्रियाएँ ही रस के उद्बोध का कारण है। क्योकि काव्य शब्दात्मक है और उस शब्द के तीन व्यापार है—"अभिधा, भावना और भोग।"

अभिधा-द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है और भावना का व्यापार है—'साधारणी-करण'। अत इस व्यापार-द्वारा किसी विशेष व्यक्ति में उद्भूत रति-आदि स्थायी भाव, व्यक्तिगत सबध छोडकर साधारण (सामान्य) रूप में प्रतीत होने लगते है। जैसे दुष्यत-शकुतला के प्रेम का इन दोनो (दुष्यत-शकुतला) से व्यक्तिगत सबंध न रह कर सामान्य दापत्य-प्रेम-रूप से प्रतीत होना। इस भावना के व्यापार-द्वारा रति-आदि भाव साधारण हो जाने पर अगम्य होना-आदि विरोधी-ज्ञान हट जाता है, फल यह होता है कि यही भावना सपूर्ण बातो को साधारण बना देती है और तब उसमें किसी व्यक्ति विशेष या देश-काल-आदि का सबध प्रतीत न हो कर रसास्वाद का प्रतिकूल-आवरण हट जाता है।

भोग-व्यापार-द्वारा भावना के प्रभाव से, अर्थात् अपना और परायापन दूर हो जाने पर साधा-रणीकृत विभावादि से सामाजिको को निर्बाध रसास्वादन होने लगता है। भोग का अर्थ है—

"सत्वोद्रेक प्रकाशानंद संविद् विश्रांतिः।"

अर्थात् सत्त्वगुण के उद्रेक[1] से प्रादुर्भूत प्रकाश-रूप आनंद का अनुभव। यह आनंदानुभव वेद्यांतरसंपर्कशून्य है, अन्य-संबंधी-ज्ञान से रहित है—लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है। इसी 'भोग-व्यापार'-द्वारा रस का आस्वाद सामाजिकों को होता है।

सेठ जी कहते हैं—"भट्ट नायक के उक्त मत का निष्कर्ष यह है कि "काव्य-नाटकों के सुनने और देखने पर तीन कार्य जैसे—प्रथम उसका अर्थ समझ में आता है, फिर उसकी—काव्य-नाटकों में देखे-सुने की, भावना अर्थात् चिंतन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह अनुभव नहीं कर पाते कि काव्य-नाटकों में जो सुना-देखा है, वह किसी दूसरे से संबंध रखता है, या यह हमारा ही है। इसके बाद सत्त्व-गुण के उद्रेक से और आत्मचैतन्य से प्रकाशित[2] साधारणीकृत रति-आदि स्थायी भावों का सामाजिक आस्वाद करने लगते हैं, यही रस है।"

व्यक्तिवाद के आचार्य अभिनवगुप्त[3] तथा मम्मट, भट्ट नायक के मत 'भोगवाद' को युक्ति-युक्त नहीं मानते। इनका मत है कि स्थायी भाव और विभावादि में वस्तुत. 'व्यंग्य-व्यंजक'—प्रकाश्य-प्रकाशक संबंध है। अर्थात् विभावादि के संयोग से व्यंजना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है, जिसके अलौकिक विभावन-व्यापार यानी साधारणी-करण के द्वारा सामाजिकों की वासना[4] जाग्रत् हो जाती है, वही रस की अभिव्यक्ति है—निष्पत्ति है। सेठ जी कहते हैं कि "ये अभिनवगुप्त और मम्मट, भट्ट नायक-द्वारा प्रतिपादित साधारणी-करण को तो मानते हैं, पर इनका कहना है कि भावना और भोग को शब्द के व्यापार मानना निर्मूल कल्पना है। क्योंकि केवल शब्दों-द्वारा न तो भावना ही उत्पन्न हो सकती है और न भोग[5]। वास्तव में भावना और भोग की सिद्धि व्यंजना-द्वारा व्यंजित होकर ही हो सकती है। अर्थात् ये भी अंततः व्यंजना पर ही अवलं-बित हैं[6]। निष्कर्ष यह कि अभिनवगुप्ताचार्य-आदि भट्ट नायक के अनुसार साधारणी-करण भावना का व्यापार नहीं, किंतु व्यंजना का अलौकिक विभावन—व्यापार मानते हैं। इस विभावन-व्यापार के, अर्थात् साधारणी-करण के प्रभाव से सहृदय-सामाजिक[7] विभावादिकों में—'अयं निजः परो वेत्ति', अर्थात् 'ये मेरे ही हैं',

[1] सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक (प्राधान्य) से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक वा प्राधान्य का अर्थ है, अपने से भिन्न दो गुणों का तिरस्कार करके अपना प्रादुर्भाव करना। सत्त्वोद्रेक का अर्थ रजोगुण-तमोगुणों को दबा कर सत्त्वगुण का प्रकाश होना है। सत्त्वोद्रेक का प्रभाव आनंद का प्रकाश करना है और उस आनंद का अनुभव 'भोग' है।

[2] 'आत्म चैतन्य से प्रकाशित' का भाव यह है कि आत्मा और अंतःकरण दो दर्पण-रूप हैं। इनमें आत्म-रूप-दर्पण चैतन्यमय आनंद-स्वरूप सर्वदा स्वच्छ है तथा अंत.करण रूप-दर्पण रजोगुण-तमोगुणों के आवरणों से मलिन रहता है। सत्त्वोद्रेक से रजो-तमोगुणों के दब जाने पर वह—अंत.करण रूप दर्पण, स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ अंतःकरण रूप-दर्पण में जब आत्म-चैतन्य आनंद-स्वरूप दर्पण का प्रतिबिंब या प्रकाश पड़ता है तब वह भी आनंद-स्वरूप हो जाता है। स्वच्छ-दर्पण में अभिमुख वस्तु का प्रतिबिंब पड़ने से दर्पण का तदाकार हो जाना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

[3] अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती-व्याख्या, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश—रस-प्रकरण।

[4] पहिले किसी समय की अपनी रति (प्रेम-व्यापार) आदि के आनंदानुभव का अपने अंत.करण में जो संस्कार हो जाता है, उसे 'वासना' कहते हैं।

[5] न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम् ... भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते।

[6] त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगकृतं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे सिध्येत्।

—ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० ७०

[7] अभिनवगुप्त और मम्मट के मतानुसार सहृदय सामाजिक, काव्य-नाटकों के ऐसे श्रोता और दर्शक होते हैं, जो नायक-नायिका की चेष्टा-आदि से उनकी पारस्परिक रति-आदि का अनुभव करने में सुदक्ष होते हैं और जिनको तत्काल ही नाटकादि में प्रदर्शित और वर्णित पात्रों की रति-आदि का अनुभव हो जाता है।

'ये दूसरे के हैं', 'मेरे नही हैं' वा 'ये दूसरे के नही हैं-'इत्यादि सबध विशेष का अनुभव नही करते। फलत अपने को तथा काव्य-नाटको के दुष्यत-शकुतलादि को अपने से अभिन्न समझने लगते हैं। उनको— मैं दुष्यत-शकुतला के प्रेम-व्यापार का दृश्य देख रहा हूँ, ऐसा ज्ञान नही रहता और न यही ज्ञान रहता है कि मैं—'अपने प्रेम-व्यापार का आनदानुभव कर रहा हूँ', अर्थात् सामाजिक काव्य-नाटको के विभावो के प्रेम-व्यापार का आनदानुभव अभिन्नता से करते है। यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिको को काव्य-नाटको के दुष्यत-शकुतलादि के विभावो में केवल अपने ही प्रेम-व्यापार-आदि की प्रतीति होती है तो ऐसा होने मे लज्जा और पापाचरण-आदि[1] दोष आते हैं और यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिको को दुष्यतादि के प्रेम-व्यापार का ही आनदानुभव होता है, तब प्रथम तो साक्षात् सबध न होने के कारण अन्य-द्वारा दिये प्रेम के व्यापार का अन्य व्यक्ति को आनदानुभव हो ही नही सकता, दूसरे अन्यदीय रहस्य-दर्शन लज्जास्पद और निंद्य है, ऐसी दशा में काव्य-नाटको के द्वारा आनदानुभव कहाँ? अतएव 'रस' के व्यक्त करने वाले जो विभावादि हैं उनमे जो रस प्रकट करने की शक्ति है, वही व्यक्तिगत विशेष सबध को हटा कर रसास्वाद कराने वाला साधारणी-करण है। अभिनवगुप्त और मम्मट् दोनो आचार्यो का कहना है कि जैसे मिट्टी के पात्र में गध रहते हुए भी वह व्यक्त नही होती, जल के सयोग से ही वह तत्काल प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार सामाजिको के अत करण में रति-आदि की वासना पहिले से ही अव्यक्त-रूप में वर्तमान रहती है और वह काव्य-नाटको[2] के विभावादि व्यजको के सयोग से अभिव्यक्त—जाग्रत् या उत्तेजित हो जाती है। अर्थात् रति-आदि स्थायी भावो के आनद का अनुभव होने लगता है। यही रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति है।"

रस अलौकिक है

आलबन-उद्दीपन विभावो के अनुभाव और सचारी यद्यपि लौकिक है, तथापि काव्य-नाटको के अतर्गत होने से उनमें विभावन-आदि अलौकिक व्यापार का समावेश हो जाता है। इस अलौकिक व्यापार के कारण ही विभावादिको को अलौकिक कहते है। जब विभावादि अलौकिक है तो उनके द्वारा व्यक्त रस भी अलौकिक होना चाहिये, क्योकि कारण के अनुरूप कार्य होते है। यदि यह कहा जाय कि शृगारादि रस तो लौकिक ही है? इस शका का निवारण करते हुए सेठ जी कहते है—"रस का चमत्कार तो वास्तव में अलौकिक ही है, पर दुष्यत-आदि के हृदय में जो शकुतला-आदि विषयक वास्तविक रति उत्पन्न हुई, वह साधारण दापत्य-रति थी, इसमें कोई विशेषता या विलक्षणता न होने के कारण वह लौकिक अवश्य थी। यदि काव्य-नाटको में दुष्यत-शकुतलादि की रति को भी लौकिक मान लें तो वह अन्यदीय होने से (पर रहस्य-दर्शन लज्जास्पद होने के कारण) रस-आस्वाद के अयोग्य होगी। अत वास्तव में काव्य-नाटको में दुष्यत-शकुतला-आदि की रति, विभावन के अलौकिक व्यापार-द्वारा अपने-परायेपन के भेद से रहित होकर —लज्जास्पद न रह कर रस का आस्वाद कराती है, " रस अलौकिक ही है।"

"दुष्यत-शकुतला-आदि में जो रति उत्पन्न हुई उसका आनद दुष्यत-शकुतलादि तक ही सीमित था। किंतु काव्य-नाटको में विभावादि-द्वारा प्रदर्शित रति स्थायी भाव, जो रस-रूप से व्यक्त होता है, दुष्यतादि में व्यक्तिगत न रहकर अनेक श्रोताओ और दृष्टाओ के द्वारा एक ही साथ समान रूप मे आस्वादनीय होता है। अत वह अपरिमित होने के कारण अलौकिक है।"

"लौकिक-पदार्थ या तो ज्ञाप्य[3] होते है या कार्य-रूप, किंतु रस को न तो ज्ञाप्य ही कह सकते

[1] शकुतलादि समान्य व्यक्तियो के साथ अपने प्रेम-व्यापार का अनुभव करना पापाचरण कहा जाता है।

[2] काव्य में केवल शब्दो-द्वारा और नाटको में शब्दो और पात्रो की शारीरिक चेष्टाओ-द्वारा।

[3] जिस वस्तु का ज्ञान किसी दूसरी वस्तु के द्वारा होता है, उसे 'ज्ञाप्य' कहते हैं और जिसके द्वारा किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान हो उसे ज्ञापक कहा जाता है। जैसे—अंधेरे में दीपक-द्वारा घडा-आदि का ज्ञान होने में घडा ज्ञाप्य और दीपक ज्ञापक होता है।

है और न कार्य, क्योकि ज्ञाप्य वही हो सकता है, जो ज्ञापक-हेतु के आने पर प्रत्यक्ष हो जाय। जैसे पहिले से विद्यमान 'घट' अपने ज्ञापक-हेतु दीपक या प्रकाश के आने पर स्वत प्रत्यक्ष हो जाता है, पर रस पहिले से तो विद्यमान होता नही, उसका अनुभव तो तभी होता है जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो का सयोग होता है, अतएव उसे ज्ञाप्य नही कह सकते। रस को कार्य भी किस प्रकार कहा जा सकता है, क्योकि प्रत्येक कार्य अपने कारण के नष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहता है। जैसे—कुम्हार और चाक-आदि के नष्ट हो जाने पर भी घट विद्यमान रहता है। यदि रस को कार्य माना जाय तो रस भी अपने कारण विभावादि के नष्ट हो जाने पर स्थित रहना चाहिये, किंतु वह उपलब्ध नही होता, अथवा कार्य और कारण का ज्ञान एक साथ नही होता। यदि विभावादिको को कारण और रस को कार्य मान लिया जाय तो रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति नही होनी चाहिये। किंतु रस और विभावादि तो 'समूहालबनात्मक[1]' है—रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति भी होती ही है। अत रस को कार्य नही कहा जा सकता।" यदि यह शका की जाय कि रस कार्य नही है, तो विभावादि रस के कारण क्यो कहे गये? सेठ जी कहते है—"इसका समाधान यह है कि रस की चर्वणा—उत्पत्ति के साथ रस उत्पन्न हुआ-सा और चर्वणा (आस्वाद) के नष्ट हो जाने पर नष्ट हुआ-सा ज्ञात होता है। वास्तव मे चर्वणा की उत्पत्ति ही रस है। लोक-व्यवहार मे रस को विभावादि का का कार्य कहना केवल उपचार[2] मात्र है।"

"लौकिक वस्तु की भाँति रस को नित्य भी नही कहा जा सकता। क्योंकि नित्य वस्तु असवेदन[3]-काल में नष्ट नही होती, पर रस असवेदन-काल मे नष्ट हो जाता। अर्थात् रस की विभावादिक-ज्ञान के पूर्व स्थिति नही होती। इसलिए भी रस अलौकिक है।"

"लौकिक पदार्थ भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान् होते है। रस न तो भविष्य मे होने वाला है और न भूतकालीन ही है। यदि ऐसा होता तो उस (रस) का साक्षात्कार कदापि नही हो सकता था। क्योकि कल होने वाली वस्तु का, या जो वस्तु हो चुकी है उसका साक्षात्कार आज नही हो सकता और न रस को वर्त्तमान ही कह सकते है, क्योकि वर्त्तमान वस्तु या तो ज्ञाप्य होती है या कार्य, किंतु रस न ज्ञाप्य है और न कार्य। इसी प्रकार "रस निर्विकल्पक-ज्ञान[4] का विषय भी नही है। निर्विकल्पक-ज्ञान में नाम, रूप,- जाति-आदि किसी विशेष प्रकार के सबधो का भान नही होता। किंतु रस विशेषरूप से भासित होता है, अर्थात् रस की प्रतीति में शृगार, हास्य, करुण-आदि रस विशेषरूप से विदित होते है। रस' सविकल्पक-ज्ञान' का विषय भी नही कहा जा सकता। सविकल्पक-ज्ञान के विषय घट-पटादि शब्द-द्वारा कहे जा सकते है, किंतु रस शब्दो-द्वारा नही कहा जा सकता, अर्थात् रस, रस पुकारने से रसानुभव नही हो सकता। जब वह विभावादि-द्वारा व्यक्त होता है—व्यजना-द्वारा व्यजित होता है, तब आस्वादनीय होता है। रस की यह भी अलौकिकता है।"

आगे सेठजी कहते है—"रस का ज्ञान परोक्ष का विषय भी नही, क्योकि परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार नही हो सकता और रस का साक्षात्कार होता है। रस अपरोक्ष भी नही, अपरोक्ष-पदार्थ का प्रत्यक्ष

[1] अनेक पदार्थो का समूह रूप से एक ही साथ प्रतीत होना—"समूहावलंबन-ज्ञान" है। जैसे—घट, पट, लकुटादि बहुत से पदार्थो पर दृष्टि जाने पर वे एक ही साथ समूह-रूप से प्रतीत होते है और जैसे—दीपक के प्रकाश में घट-पटादि के साथ दीपक भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार रसास्वाद के समय भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भाव जो स्थायी भाव को व्यक्त (प्रकाश) करते है, वे स्थायी भाव के साथ प्रकाशित होते है।

[2] किसी वस्तु के धर्म का, किसी विशेष संबंध के कारण दूसरी वस्तु में प्रतीत होना 'उपचार' है।

[3] ज्ञान के अभाव-काल में, अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं होता वह समय।

[4] घट-पट-आदि किसी विशेष वस्तु की प्रतीति न होकर सामान्यतः 'कुछ है' ऐसा प्रतीत होना 'निर्विकल्पक-ज्ञान' है।

होना सभव है, पर रस प्रत्यक्ष दृष्टिगत नही हो सकता। उसकी शब्दार्थ-द्वारा केवल व्यजना होती है। यह भी उसकी अलौकिकता है।"

कार्य, ज्ञाप्य, नित्य, अनित्य, भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, निर्विकल्पक और सविकल्पक-ज्ञान का विषय तथा परोक्ष-अपरोक्ष-आदि जो लौकिक वस्तुओ के गुणागुण और धर्म है, उन सभी का रस में अभाव है। तब प्रश्न होता है कि फिर वह क्या वस्तु है ? और उसके अस्तित्व का क्या प्रमाण है ? सेठजी कहते है—"वस्तुत रस अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, अखड और दुर्ज्ञेय है। इसीलिए उसका रसास्वाद—"ब्रह्मानद सहोदर"[1], कहा गया है। जैसे ब्रह्मानद का अनुभव विरले योगी-जन ही कर पाते है, उसी प्रकार रस का आस्वादन भी सहृदय-जन ही कर सकते है[2] और रस के अस्तित्त्व में सहृदय काव्य-मर्मज्ञोकी चर्वणा, अर्थात् रस के आस्वाद का अनुभव ही प्रमाण है। चर्वणा से रस अभिन्न है।"

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि आनदानुभव को ही 'रस' कहा जाता है तो करुण, बीभत्स और भयानक-आदि-द्वारा जब प्रत्यक्षतया दु ख, घृणा और भय-आदि उत्पन्न होते हैं तब उन्हें रस क्यो माना जाता है ? सेठ जी कहते है कि "शोकादि कारणो से दु ख का उत्पन्न होना लोक-व्यवहार में है—श्रीराम-वन-गमनादिक लोक में ही दु ख के कारण होते है और जब वे काव्य-रचना में निवद्ध हो जाते है या नाटको के अभिनयो में दिखलाए जाते है, तब उनमें पूर्वोक्त विभावन-नामक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है। अत विभावादि-द्वारा उनसे आनद ही होता है, लोक मे चाहे वे दु ख के ही कारण क्यो न हो। यदि करुण-आदि रस दु खोत्पादक ही होते तो करुण रसादि प्रधान काव्य-नाटको को कौन पढता, सुनता और देखता ? पर वे शृगार-रसात्मक काव्य-नाटको के समान ही सहर्ष पढे, सुने और देखे जाते हैं। इस विषय में सहृदय-जनो का अनुभव ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। यद्यपि करुण-प्रधान हरिश्चद्रादि के चरित्रो-द्वारा सामाजिको के अश्रुपातादि अवश्य होते है, किंतु वे चित्त के द्रवीभूत होने-से होते है। चित्त के द्रवीभूत होने का कारण केवल दु खोद्रेक-ही नही, आनद का आधिक्य भी होता है। अत आनद-जन्य अश्रुपात भी होता है[3]।"

वह सेठजीका मेघदूत-विमर्श

महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' पर पाश्चात्य और एतद्देशीय अनेक विद्वानो ने बहुत कुछ लिखा है। मेघदूत के अनेक पद्यमय अनुवाद भी किये गये है, जो सभी अच्छे है। परतु श्री पोद्दार जी के 'हिंदी मेघदूत-विमर्श' में इन सबसे विशेषता तथा अपूर्वता है। इस ग्रथ में जो समश्लोकी हिंदी-पद्यानुवाद है, उसमें कविकुल-मुकुट-मणि कालिदास कृत जैसी-ही सुदर, सरल तथा स्वाभाविक रचना का आस्वाद भली-भाँति उपलब्ध होता है और जो गद्यानुवाद है वह भी अन्य-अनुवादो की अपेक्षा अधिक सुदर तथा उसके गूढ भावो को समझने में अद्वितीय है। प्रत्येक पद्य का प्रासगिक भौगोलिक तथा ऐतिहासिक विवेचन बडा विद्वत्तापूर्ण है। अन्य महा कवियो ने मेघदूत की सदुक्तियो के अनुकरण पर जो पद्य-रचनाएँ की है, उनकी तुलनात्मक आलोचना की गई है। ११० पृष्ठो की 'भूमिका' अनेक दृष्टियो से बडी महत्त्वपूर्ण है। इसमें मेघदूत विषयक अनेक ज्ञातव्यबातो का उल्लेख जिस सुदर ढग से किया गया है, वह दर्शनीय है। महाकवि कालिदास के समय-निरूण करने के

[1] यहाँ 'ब्रह्मानंद' से सप्रज्ञात (सविकल्प) समाधि से तात्पर्य है, क्योकि उसीमें आनंद और अस्मिता-आदि आलबन रहते हैं। पातंजलि-सूत्र (समाधिपाद सूत्र—१७) में कहा है कि "वितर्क विचारानंदास्मितास्वरूपानुगमात् संप्रज्ञातः।" इसी प्रकार रसास्वाद में भी विभावादि आलंबन रहते हैं। अतएव सप्रज्ञात समाधि के आनंद के समान ही रसास्वाद कहा जा सकता है, असंप्रज्ञात-समाधि के समान नहीं, क्योकि वह निरालब है।

[2] पुण्यवंतः प्रमिण्वंति योगिवद्रस संततिम्।

[3] आनंदामर्षाभ्यां धूमांजनजृंभणाद्भयाच्छोकात्।
अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगाभवेदास्रम् ॥
—भरत-नाट्यशास्त्र ७।१५२

संबंध में प्रसंग-वस 'महाकवि भास', सम्राट् 'महापद्मनंद', सम्राट् 'चंद्रगुप्त' मौर्य, सम्राट् 'अशोक', महाराज 'पुष्पमित्र', भास और 'चाणक्य', भास और 'पणिनि', भास के समय पर अनेक विद्वानो के मत, भास और कालिदास, कालिदास और 'भामह', कालिदास और 'दिङ्नाग', कालिदास और 'विक्रमादित्य', कालिदास और 'अग्निमित्र'—आदि के समय पर साहित्यिक और ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। ऐसा विवेचन हिंदी के मेघदूत-विषयक अन्य ग्रथो मे देखने मे नही आता। अस्तु, मेघदूत जैसे विश्व-विश्रुत् सरस काव्य का आस्वादन पोद्दारजी के उक्त ग्रथ-द्वारा ही भली पकार हो सकता है। इस ग्रथ की भारत के सभी प्रतिष्ठित और अगणित विद्वानो ने बहुत प्रशसा की है।

संस्कृत-साहित्य का इतिहास

सस्कृत-साहित्य का इतिहास—नाम से हिंदी मे और भी कई ग्रथ विद्वानो-द्वारा लिखे गये है, जिनमे प्राचीन कवियो और महाकवियो के समय और उनके काव्य-नाटको का नाम निर्देश किया गया है। पोद्दारजी प्रणीत 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' हिंदी साहित्य मे एकदम नई चीज है। यह ग्रथ दो-भागो मे विभक्त है। प्रथम भाग मे निम्नलिखित शीर्षको मे गवेषणापूर्वक सस्कृत के इतिहास का महत्त्वपूर्ण विशद विवेचन है—

१—'साहित्य' शब्द के अर्थ और प्रयोग का क्रमशः विकास।

२—काव्य-रचना का वैदिक काल से कालक्रमानुसार विकास।

३—श्रीमद्वाल्मीकीय 'रामायण', भरतमुनि प्रणीत—'नाट्य-शास्त्र', 'महाभारत और अग्निपुराण की रचना-काल के विषय में पाश्चात्य और एतद्देशीय अन्य विद्वानो के मत पर आलोचनात्मक गंभीर विवेचन।

४—भट्टि, भामह, उद्भट, वामन, दंडी, रुद्रट, ध्वनिकार, राजशेखर, महाराज भोज, क्षेमेंद्र, भट्टाचार्य, रुय्यक, मंखक, केशव मिश्र, श्री रूपगोस्वामी, हेमचद्र जैनाचार्य, वाग्भट्, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और पंडित राज जगन्नाथ-आदि संस्कृत के सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के समय पर आलोचनात्मक विवेचन और उनके ग्रंथो का परिचय।

५—संस्कृत-साहित्य के विभिन्न रीति-ग्रथो का विषद विवरण।

६—काव्य के प्रयोजन और काव्य के हेतु के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतो का विवेचन।

७—भिन्न-भिन्न साहित्याचार्यों-द्वारा निर्मित काव्य के लक्षणो पर आलोचनात्मक विस्तृत विवेचन में काव्यप्रकाशोक्त 'काव्य-लक्षण' पर चंद्रालोक-कर्त्ता जयदेव तथा साहित्यदर्पण-प्रणेता विश्वनाथ-द्वारा किये गये कटु आक्षेपो का विद्वत्तापूर्ण खंडन।

८—रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि-काव्य के जो ये पॉच संप्रदाय स्थूल रूप से प्रचलित है, इन संप्रदायो के आचार्य तथा इन सप्रदायो के विषय में भिन्न भिन्न आचार्यो-द्वारा की गई आलोचना और इस प्रसंग पर पोद्दारजी का मत।

९—काव्य के दोषो पर विवेचन।

१०—दृश्य और श्रव्य-काव्य के भेद तथा उपभेदो का विवरण।

हिंदी-साहित्य में इस शैली का यह अनुपम ग्रथ है। इस ग्रथ के समकक्ष का और कोई ग्रथ हिंदी में अब तक दृष्टि-गोचर नही हुआ है।

सेठ जी का आलोचक-रूप

कवि-जगत् का कहना है—'काव्य के तत्त्व को विरले ही जान-पहिचान सकते है। यो तो पुष्पों के सौंदर्य से सभी का मन प्रसन्न होता है, पर उसमें स्थित मधुर रस का मर्मज्ञ भ्रमर ही होता है'[1]। इसी प्रकार

[1] तत्त्वं किमपि काव्यानां, जानाति विरलो भुवि।
मार्मिकः को मरन्दाना मंतरेण मधुव्रतम्॥

"सरस कविन के चित्त को बेधत है, सो कौन ।"

जैसेगूढ प्रश्न का उत्तर देने वाले साहित्य के वे ही पारखी है, जो अपनी पैनी दृष्टि से साहित्य के अतर्निहित भावो को निरखने-परखने में पटु और उसके अनुभवी है । अत वे ही इसके उत्तर-रूप में खुले हृदय से कह सकते है—

"असमझवार सिराहिवौ, समझवार कौ मौन ।"

सेठ जी ऐसे ही साहित्य-रस के लोभी भ्रमर और उसके रहस्य को समझने वाले रसज्ञ, एक ही व्यक्ति है । वे किसी की, वह चाहे कवि हो या कविराजा, साहित्य के प्रति 'मदाखलतबेजा' को चुपचाप देखते रहना, उसके प्रति कुछ न कहना उपयुक्त नही समझते । फलत. सेठ जी आलोचना-क्षेत्र में भी काफी सफल रहे । यहाँ भी आपने अपनी प्रतिभा में 'चार-चाँद' लगाये । स्वर्गीय पडित रामचद्र जी शुक्ल जैसे प्रतिष्ठित विद्वानो ने अपनी साहित्य-मर्मज्ञता की 'लकदक' चारु चाँदनी से आलोचना-क्षेत्र को अवश्य जगमगा दिया था, पर वह पाश्चात्य-विचार (आलोचना) शैली से प्रभावित जैसी है । शुक्लजी भारतीय-विचार-वीथी से—उसकी परपरा से दूर-दूर रहे है । सेठ कन्हैयालाल जी ने अपनी प्राचीन आलोचना-परिपाटी को पाश्चात्य-शैली का नया जामा पहिनाकर एक नई सुदरता उत्पन्न की है । उदाहरण-रूप में सेठ जी के एक आलोचनात्मक-निबध को उनके ही शब्दो और विचारो मे नीचे उद्धृत करते है, जैसे—

अलकार के नामो में ही हैं लक्षण यह नव सिद्धात,
इस जसवतजसोभूषण में, प्रतिपादित, वह भ्रांत नितांत ।
भरत-आदि पूर्वाचार्यों पर मिथ्याक्षेप, सगर्व महा—
किया उसी का इस निबध में खंडन है द्रष्टव्य यहाँ ।।

"जोधपुर-नरेश महाराजा 'जसवतसिंहजी' के राज-कवि चारण-कुलावतश कविराजा मुरारीदान जी ने अपने उक्त आश्रय-दाता महाराजा के नाम को चिरस्थायी रखने के लिये 'मोल और तोल में भारी' 'जसवत जसोभूषण' की रचना की । उक्त ग्रथ का हिंदी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है । कविराजा ने 'सुब्रह्मण्य शास्त्री' जैसे उत्कट विद्वान्-द्वारा साहित्यिक शिक्षा प्राप्त की थी । शास्त्री जी को उदयपुराधीश स्वनामधन्य स्वर्गीय महाराणा 'सज्जनसिह जी' बहादुर ने इसीलिए जोधपुर भेजा था । कविराजा मुरारीदान स्वय भी साहित्यिक विद्वान् थे । फिर इस ग्रथ की रचना में शास्त्रीजी की सहायता का सुयोग भी प्राप्त था । यही नही, श्री शास्त्रीजी-द्वारा जसवतजसोभूषण का सस्कृत-भाषा में अनुवाद भी—'यशवतयशोभूषण' नाम से प्रणीत किया गया था । अस्तु इस ग्रथ में कविराजा मुरारीदान जी ने अत्यत गर्व के साथ यह घोषणा की—

"अलंकारों के नामो में ही अलकारो के लक्षण हैं और इस रहस्य को आज तक किसी भी प्राचीन आचार्यों ने नहीं समझा । यदि वे इस रहस्य को जानते तो अलंकारों के लक्षण निर्माण न करते आदि . . . . . . ।"

किंतु, कविराजा की यह गर्वोक्ति केवल मिथ्यालाप है । न तो इस रहस्य से प्राचीन आचार्य अनभिज्ञ ही थे और न सभी अलकारो के नामो के अर्थ में लक्षण ही है । एव न कविराजा अपने इस भ्रात-मत को निर्भ्रांत सिद्ध ही कर सके है । कविराजा ने अपने इस भ्रात-मत की पुष्टि मे एक विभ्राट् प्रमाण भी उपस्थित किया है । वे कहते है कि 'जयदेव' प्रणीत' चद्रालोक' की—

"स्यात्स्मृतिभ्रांतिसदेहस्तदकालं कृति त्रयम् ।"

इस कारिका-द्वारा सिद्ध होता है कि श्री जयदेव के मत मे भी इन्ही तीन—स्मृति, भ्राति और सदेह अलकारो के अतिरिक्त अन्य अलकारो के नामो में लक्षण नही । पर चद्रालोक की उक्त कारिका-द्वारा कविराजा के कथन का समर्थन कदापि नही होता । इस कारिका का अभिप्राय केवल यही है कि इन स्मृति, भ्राति और सदेह

अलकारो में 'लोक-प्रसिद्ध वैचित्र्य' है, इसलिए इनके लक्षण लिखना अनावश्यक है, इनके नाम ही 'लक्षण-रूप' है। इन तीनो के अतिरिक्त अन्य सपूर्ण अलकार इतने सुबोध नही, जिनका यथार्थ-स्वरूप नाम-मात्र के सुनने मे समझ में आ जाय। अलकारो के नामो मे केवल उनके स्थूल चमत्कारो का सकेत-मात्र सूचित है, जो प्राचीन आचार्यो को स्वीकृत थे। वे नाम मे ही लक्षण वाली बात नही मानते थे। क्योकि अलकारो के नामो में लक्षण नही हो सकता। यदि प्राचीन सस्कृत-साहित्याचार्यो को यह ज्ञात न होता कि 'अलकारो के नाम उनके स्थूल चमत्कार के सकेत-सूचक हैं', तो वे काव्यप्रकाशादि अपने साहित्य-ग्रथो मे अलकारो के नामार्थ की व्युत्पत्ति किस प्रकार दिखाई जा सकती थी ? काव्यप्रकाश की वामनाचार्य कृत 'बालबोधिनी' टीका में अलकारो के नामार्थ, व्युत्पत्ति-द्वारा इस प्रकार समझाये गये हैं।

१, उपमेयोपमा—'उपमेयेन उपमा—उपमेयोपमा।'

२, समासोक्ति—'समासेन—संक्षिप्तेणार्थ द्वयकथनं समासोक्तिः।'

३, निदर्शना—'निदर्शन—दृष्टांतकरणम्।'

४, दृष्टांत—'दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टांतः।'

५, दीपक—'एकस्यैव समस्तवाक्यदीपनात्—दीपकम्।'

यह नामार्थ-व्युत्पत्ति का दिग्दर्शन मात्र है और कविराजा-द्वारा की गई अलकारो के नामार्थ की स्पष्टता भी प्राय इसी का अनुकरण मात्र है। जैसे—

"१, उपमेयोपमा—उपमेयेन उपमा।

२, समासोक्ति—संक्षेप ये सब पर्याय हैं।

३, निदर्शना—कर दिखाना।

४, दृष्टांत—दृष्टः अंतः निश्चयो यत्र स दृष्टांत।

५, दीपक—दीपयतीति दीपकम्।"

जसवत-जसोभूषण के इन अवतरणो से स्पष्ट है कि 'कविराजा ने नामार्थ स्पष्ट करने में प्राय काव्यप्रकाश का ही अनुसरण किया है। फिर भी आप 'उपमा' का नामार्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'यहाँ उप—उपसर्ग का अर्थ है—समीपता। कहा है 'चिंतामणिकोष'कार ने—'उप सामीप्ये। माङ् धातु से 'मा' शब्द बना है। माङ् धातु 'मान'-अर्थ में है—कहा है धातुपाठ में 'माङ्-माने', उप-सामीप्याद् मा मानम्—उपमा। समीपता करके किया गया मान, अर्थात् विशेष ज्ञान। यह उपमा का अक्षरार्थ है। उपमा के नाम का यह साक्षात् अर्थ प्राचीनो के ध्यान में नहीं आया। आया होता तो यह 'व्युत्पत्ति क्यो नहीं लिखते।"

खेद है, कविराजा जैसे मान्य विद्वान्-द्वारा ऐसे मिथ्या वाक्य लिखे गये हैं। जब कि उपमा का नामार्थ काव्यप्रकाश मे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"उपमेति। उपसमीपे मीयते परिच्छिद्यते (उपमानेन कर्त्रा उपमेय कर्म) अनयेत्युपमा। उप-पूर्वात् माङ्-माने—इति जौहोत्यादिकात्माधातो. 'आतश्चोपसर्गे (३-३,१०६) इति पाणिनि सूत्रेण करणे अङ् प्रत्ययः त अकर्तरि कारके इत्यनुवृत्तेरिति बोध्यम्।—पकजादिवत् योगरूढमिदमुपमा-पदम्।"

कहना अनावश्यक है कि काव्यप्रकाश में उपमा के नामार्थ की व्याख्या में जो कुछ कहा गया है, कविराजा ने उसी का भावार्थ हिंदी में लिख दिया है। अतएव कविराजा की—'अलकारो के नामार्थ का ज्ञान प्राचीन आचार्यो को न था', यह गर्वोक्ति अकाड-ताडव मात्र है।

कविराजा जी का आक्षेप यह भी है कि 'प्राचीनाचार्यो को नामार्थ का ज्ञान होता तो वे लक्षण क्यों लिखते।' इसका उत्तर यह है कि सभी अलकारो के नाम-मात्र में लक्षण हो ही नहीं सकते। उदाहरण रूप में—'प्रथम ग्रासे मक्षिकापात' की लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाला 'वक्रोक्ति'—अलकार को लीजिये।

इस अलकार में 'वक्र' (टेढी) उक्ति में चमत्कार होता है, जो इसके नामार्थ-द्वारा स्पष्ट नही होता । अत 'काव्यप्रकाश' में इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

"यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथान्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥"

अर्थात् अन्य अभिप्राय से कहे हुए वाक्य का दूसरे व्यक्ति-द्वारा श्लेष वा काकु-उक्ति से अन्य अर्थ—वक्ता के कहे हुए वाक्य का अन्य (दूसरा) अर्थ कल्पित किया जाय, वहाँ 'वक्रोक्ति' अलकार होता है । उस अन्य-अर्थ की कल्पना श्लेष वा काकु-उक्ति-द्वारा होती है । किंतु वक्रोक्ति के नामार्थ से यह बात स्पष्ट नही होती । इसलिए लक्षण-निर्माण किया जाना अनिवार्य था ।

नाम में ही लक्षण कहने वाले कविराजा जी ने वक्रोक्ति-अलकार के नामार्थ की स्पष्टता इस प्रकार की है—

"वक्र शब्द का अर्थ है कुटिल और इसके पर्याय हैं—बाँका, टेढ़ा इत्यादि तथा वक्रोक्ति-नाम की व्युत्पत्ति है—'वक्रो कृता उक्ति', बाँकी की हुई उक्ति । उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही हो सकता है ।. . . .वक्रोक्ति में कहीं श्लेष होता है, परंतु वह गौण रहता है ।"

इतना लिख कर कविराजा आगे फिर लिखते हैं—

"वक्र-करन पर-उक्ति को, नृप वक्रोक्ति-निहार ।
स्वर-विकार स्लेषादि सो, होत जु बहुत प्रकार ॥"

अत कविराजा ने 'वक्रोक्ति' नाम का अर्थ यह जो लिखा कि 'उक्ति का बाँका करना तो पर की-उक्ति का ही होता है', 'यह अर्थ वक्रोक्ति के अक्षरो से, कहाँ और कैसे निकलता है, समझ में नही आता । इसके अतिरिक्त—स्वर-विकार और श्लेषादि अर्थ भी वक्रोक्ति-शब्द के अक्षरोंसे नही निकलता है और उनका यह कहना भी कि वक्रोक्ति, 'पर' अर्थात् अन्य की उक्ति की ही की जा सकती है', सर्वथा मिथ्या-प्रलाप है । क्योकि वक्रोक्ति स्वय वक्ता अपनी उक्ति में भी कर सकता है, जैसे—

"चीराणि किं पथि न संति दिशंति भिक्षाम्,
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्य शुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किम जितोऽवति नोपसन्नान्—
कस्माद्भजंति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥

—श्रीमद्भागवत, २।२।५,

उक्त पद्य में श्री शुकदेवजी ने अपनी ही उक्ति मे वक्रोक्ति की है । उन्होने कहा है कि क्या मार्ग में चिथडे (फटे वस्त्र) नही मिलते ? क्या वृक्ष फल नही देते ? क्या नदियो का जल सूख गया है ? क्या रहने के लिये गिरि-कदराएँ वद हो गई हैं ? क्या शरणागतो की भगवान् रक्षा नही करते ? अत फिर विद्वज्जन धन-मदाधो की क्यो इच्छा करते है । किंतु काकु-उक्ति-द्वारा इसका यह अर्थ होता है कि 'पहनने के लिये मार्ग में वस्त्र अवश्य ही मिल सकते हैं, भोजन के लिये वृक्षो में फल भी हैं, पीने के लिये नदियो में जल भी प्रस्तुत है, रहने के लिये गिरि-गुहाएँ भी है और शरणार्थियो की भगवान् रक्षा भी अवश्य करते है, इसलिए विद्वज्जनो को धन-मदाधो से किसी वस्तु की इच्छा न करनी चाहिये ।' यहाँ वक्रोक्ति होते हुए भी वक्रोक्ति-अलकार नही है । क्योकि प्राचीनाचार्यो ने वक्रोक्ति-अलकार को वक्ता की उक्ति का किसी अन्य व्यक्ति-द्वारा अन्यार्थ कल्पित किये जाने में ही उसे सीमाबद्ध कर दिया है । अतएव जहाँ स्वय वक्ता अपनी उक्ति में वक्रोक्ति करता है, वहाँ वक्रोक्ति-अलकार न होकर 'काक्वाक्षिप्त-गुणीभूतव्यग्य' अथवा अवस्था विशेष में 'काकु-ध्वनि' काव्य होता है । वक्रोक्ति के नामार्थ के अनुसार तो पर तथा वक्ता की स्व-उक्ति दोनों-ही ग्रहण की जा सकती है । इसीलिए अगत्या कविराजा जी को भी वक्रोक्ति के नाम के अक्षरो में सभव न होने पर भी—'पर की उक्ति' जैसा वाक्य अधिक जोडना पडा है । कविराजा का 'नामार्थ में ही लक्षण है'—वाला सिद्धात तो तभी सिद्ध हो सकता था जब कि वे ऊपर से कुछ भी अधिक न कह केवल वक्रोक्ति के

अक्षरार्थ में ही वक्रोक्ति-अलकार का सर्वांगपूर्ण लक्षण स्पष्ट करके दिखलाते। अतएव कविराजाजी के 'नाम में ही लक्षण' वाले सिद्धात में अतिव्याप्ति-दोष अनिवार्य रूप से आ गया है। ऐसी अवस्था में उनकी यह गर्वोक्ति कि—'नाम में ही लक्षण' वाले सिद्धात में अव्याप्ति एव अतिव्याप्ति-दोष नही हो सकता', मन-मोदको का आस्वाद मात्र है। आश्चर्य तो यह है कि जिस लक्षण-निर्माण के विषय में कविराजा जी ने केवल प्राचीन साहित्याचार्य महामुनि भरतादि महानुभावो पर ही नही, भगवान् श्री वेदव्यास जी पर भी आक्षेप किया है, उसी लक्षण-निर्माण के सुगम-पथ का स्वय उन्होंने भी अनुसरण किया है। यहाँ तक कि आप ने अलकारो के लक्षणो के लिये जो भी भाषा-छद निर्माण किये है, वे प्राय संस्कृत-साहित्य-ग्रथो मे कथित लक्षणो का कोरा—नीरस अनुवाद मात्र है।

सत्य तो यह है कि अलकारो के स्वरूप समझने-समझाने के लिये महानुभाव प्राचीन साहित्याचार्यो ने जो बात लक्षणात्मक कारिका या सूत्र-द्वारा सक्षेप में कह दी है, उसे समझाने के लिए कविराजा जी ने कोषादि के अनेक प्रमाणो-द्वारा अत्यत विस्तार के साथ बडी कष्ट-कल्पनाएँ एव अनुपयुक्त खेचातानी करने के बाद भी वे अपने सिद्धात की स्थापना करने में तनिक भी सफल नही हो सके है। अततोगत्वा उन्हे भी प्राचीन-आचार्यो का ही अनुसरण करना पडा है। ऐसी अवस्था में उनकी इस गर्वोक्ति का मूल्य क्या हो सकता है—

"भोज-समै निकसी नहीं, भरतादिक की भूल।
सो निकसी जसवंत-समै, भए भाग अनुकूल॥"

यही नही, इसी नामार्थ में लक्षण के सिद्धात-रूप चक्र में भ्रमित होकर आप ने बहुत से स्वतत्र अलकारो को दूसरे-दूसरे अलकारो मे समावेश कर दिया है, जिसकी आलोचना के लिये अधिकाधिक समय की अपेक्षा है। साहित्य-विद्वानो के लिये उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त है।"

श्री पोद्दारजी के 'सत्य शिव सुदर' रूप रस, अलकार, हिंदी मेघदूत-विमर्श, संस्कृत-साहित्य का इतिहास-आदि और आलोचना के गहन विचार-युक्त अवतरण उनके शब्दो में ही दिये है, ये उनके गहरे साहित्य-परिशीलन की एक झलक मात्र है। इस से अधिक उन्हे निरखने-परखने के लिये उनके ही वे शब्द पर्याप्त है, जो उन्होंने इस लेख के अत में दिये है—

"......आलोचना के लिये अधिकाधिक समय की अपेक्षा है। साहित्य-विद्वानो के लिये उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त है।"



॥ श्री ॥

सेठजी के साहित्यिक लेखों की सूची

	शीर्षक	पत्रिका,	वर्ष,	संख्या,	पृष्ठ,
१	महाकवि भारवि,	सरस्वती	१६००	जनवरी	२१३-२१६
२	महाकवि माघ,	सरस्वती	१६०६	जनवरी	२८७-२६६
३	हिंदुस्थान का वस्त्र-व्यवसाय,	सरस्वती	१६१४	जून	३१८
४	व्यंग्यार्थ-मजूषा (आलोचना)	माधुरी	१६२८	अप्रैल	३१३-३१८ हितैषी के नामसे ।
५	काव्य-प्रभाकर (आलोचना)	माधुरी	१६२८	अगस्त	५४-६२
६	काव्य-प्रभाकर (आलोचना)	माधुरी	१६२८	अगस्त	८३२-८३७
७	हिंदी-काव्य में नवरस,	माधुरी	१६२८		१०-१५
८	"दीनजी" की अलकार-मजूषा,	माधुरी	१६२८	अगस्त	६०-६६ भूदेव शर्मा विद्यालकार के नामसे ।
९	अलकार पीयूष (आलोचना)	माधुरी	वर्ष ८	खड २ सख्या ३	२६०-२६५
१०	अलकार-पीयूष (आलोचना)	माधुरी	वर्ष ८	खंड २ सख्या ५	५८६-५६२
११	विद्यापति ठाकुर का एक पद्य,	माधुरी	१६३३	वैशाख सं० १६६० वि०	५१०-५१२
१२	महाभारत,	माधुरी	१६३३	श्रावण वर्ष १३ खड १ सख्या १	५१-५७
१३	साकेत और रामचरित-मानस,	माधुरी	१६३६	मार्च	१७७-१८०
१४.	अलकारो का क्रम विकास,	माधुरी	१६३६	अगस्त	३-१२
१५	महाकवि कालिदास और दिङ्नाग,	माधुरी	१६३७	जुलाई	८६४-८६७
१६	काव्य में अलकार क्या पदार्थ है ?	सुधा	१६३७	अगस्त	५५-५६
१७	काव्य में रस-अलकार,	वीणा	१६३७	सितंबर	८३५-८३८ भाद्रपद १६६४
१८	लुप्तोपमा और असम,	सुधा	१६३६	सितबर	२२५-२३०
१९	शब्दार्थ-साम्य अथवा शब्दापहरण,	माधुरी	१६३६	अगस्त	४७-५१
२०	असम और लुप्तोपमा,	मराल	१६३६	दिसबर	७ सख्या २२
२१	'विभावना' अलकार,	माधुरी	१६४२	अगस्त	७४-७८
२२	श्लेष अलकार और उसकी व्यापकता,	वीणा	१६४३	मई	२६३-२६८
२३	तुलसीकृत रामायण की आलोचना,	सरस्वती	१६४३	जनवरी	१६३-१६८ पौष १६६६
२४	रामायण में इतिहास,	सिद्धात	१६४३	सितंबर	२८ १६७-१६८
२५	तुलसीकृत रामायण और वाजपेयीजी,	सिद्धात	१६४३	नववर	२ २०७-२०८
२६	क्या विभावना अलकार असकीर्ण है ?	माधुरी	१६४५	मई	४६८-४६६
२७	विभावना अलकार,	माधुरी	१६४५	[illegible]	[illegible]
२८	श्री विद्याभास्करजी की मृत विभावना,	माधुरी	१६४६	जनवरी	[illegible]
२९	काव्य-कल्पद्रुम और विद्याभास्करजी,	माधुरी	१६४७	फरवरी	५२-५५
३०	श्री विद्याभास्करजी का काव्य सर्वस्व,	माधुरी	१६४७	[illegible]	३६६-४०२



साहित्य

साहित्य

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्—
जगद्ग्रावं प्रख्य निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्य प्रसर सुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयतात् ॥

—अभिनवगुप्ताचार्य,

कीरत भनति भूति भलि सोई ।
सुरसरि-सम सब कहँ हित होई ॥

—गोस्वामि तुलसीदास,

शौरसेनी भाषा की प्राचीन परंपरा

श्री सुनीतकुमार चाटुर्ज्या

भाषा के विषय में आज हम अनिश्चितता की कुहेलिका मे नही है। जो अपरिहार्य और अवश्यभावी था, उसे हमारे राष्ट्र-परिचालकों ने मान लिया है। हर्ष है कि अब आगे से भाषा के विषय में समस्त विवाद, विचार-वितडा, तर्कजाल भारतीय जनता को और विभ्रात नही कर सकेंगे। निखिल-भारत की राष्ट्रभाषा के स्थान पर हिंदी प्रतिष्ठित हो गई है। जिस ओर प्रकृति की गति थी, वहाँ रुकावट की आकाक्षा और चेष्टा व्यर्थ हो गई है। आदर्श की प्रतिष्ठा हो गई है, एव आदर्श -विपर्यय के डर से हम मुक्त हो गए है। अब हिंदी-हिंदुस्तानीवाली लडाई मिट गई है। पर समस्या का अत नही हुआ है। जीवन तो रणागनो की समष्टि है। नई समस्याएँ हमारे दृष्टिपथ पर आ खडी हुई है। इन्हें भी हल करना हमारा महान् कर्तव्य होगा।

राष्ट्र-परिचालकों ने इस समय हिंदी को जो मर्यादा दी है, वह उसके अपने अधिकार की की स्वीकृति ही है। यह मर्यादा बहुत पहले ही हिंदी को मिलनी चाहिए थी। हिंदी का आधुनिक महत्त्व केवल इन दिनो के प्रचार का फल नही है। हिंदी की आत प्रादेशिकता कुछ ऐतिहासिक और सास्कृतिक कारणो का फल है। इस समय जिनके द्वारा अपनी शिक्षा तथा बाहरी जीवन के क्षेत्रो मे हिंदी व्यवहृत की जाती है, उनकी सख्या कोई चौदह करोड से कम नही होगी। भारतवर्ष मे इन चौदह करोड मनुष्यो को लेकर इस विशाल देश का 'हिंदी-ससार' बना है। पर यह भी विचारणीय है कि इन चौदह करोडो में पाँच करोड से अधिक लोग हिंदी को अपनी मातृभाषा के रूप मे घरेलू बोली के तौर पर नही बोलते। अधिक से अधिक पाँच करोड मनुष्य उन बोलियो को (जिन्हें शास्त्रीय दृष्टि से हम 'पछाँही हिंदी' बोलते है और जो हिंदी की जड है) मातृभाषा के रूप मे बोलते है, जैसे— दिल्ली की खडी बोली, मेरठ-रोहिलखड आदि स्थानो की 'जानपद हिंदी', बाँगड (जाटू या हरियानी), व्रजभाषा, कन्नौजी और बुदेली। इन सबो के लिए हिंदी अपने पितृ-पुरुषो से प्राप्त 'मिरास' या 'रिक्थ' है। इनके अतिरिक्त 'हिंदी-ससार' के अवशिष्ट नौ करोड लोग घर मे और भाषाएँ बोलते है, जैसे हिंदकी पजाबी, गढवाली, कुमाऊँनी, विभिन्न राजस्थानी बोलियाँ तथा मालवी, कोसली या पूर्वी हिंदी, भोजपुरी, सदानी या छोटा नागपुरिया, मगही और मैथिली। परंतु हिंदी को इन्होने अपनाया है, हिंदी के सिवा इस समय इनका ध्यान और दूसरी किसी भाषा या बोली पर नही है। हम जो 'हिंदी-ससार' के साथ अंतरग नही बने, पर हिंदी से जिनका सहयोग और साहचर्य घनिष्ठ रूप से है— अर्थात् गुजराती, मराठी, उडिया, बँगला, आसामी आदि स्वतंत्र भाषाओ के बोलनेवाले उनके लिए ऐसी परिस्थिति कुछ आश्चर्यजनक है। पर यह बात पृथ्वी मे कोई नई या असाधारण नही है। भाषा मुख्यत सस्कृति का प्रकाश-क्षेत्र है। सांस्कृतिक सयोग या प्रभाव के कारण पडोस की भाषा का असर अक्सर किसी भाषा पर आ पडता है, खास करके जहाँ के शिक्षित लोग अपनी मातृभाषा के सबध में उदासीन रहते है, या एक या एकाधिक ऐतिहासिक कारणो से जहाँ के जन-समाज के परिचालक-स्वरूप उच्च वर्ग के मनुष्य अपनी खास प्रातीय जनता की भाषा छोड कर और किसी नजदीक की भाषा की ओर आकृष्ट होते है। ऐसे हिंदी के दो रूप व्रजभाषा और खडीबोली का गहरा प्रभाव पंजाब तथा राजस्थान एव पूरब अर्थात् कोसल की बोलियो और बिहार-प्रात की बोलियो पर आ गया है, यहाँ तक कि

इन सव जगहो के लोगो ने हिंदी को साग्रह अपना लिया है। यह सास्कृतिक इतिहास है। अस्तु, इतिहास जो हो सो हो, पर यह वात है कि पजावी (कुछ सिक्ख पडितो को छोड कर), राजस्थानी, कोसली, गढवाली, कुमाऊँनी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि भाषाओं के वोलनेवाले वडे अभिमान के साथ अपने को हिंदी-भाषी कहते है, और पछाही हिंदी वोलनेवालोंसे भी ज्यादा जोश के साथ हिंदी की सेवा में आत्म-नियोजित हुए है। यह तो सच ही है कि हिंदी के प्रसार के लिए भोजपुरी, मैथिली, मगही और कोसली वोलनेवालो ने, राजस्थानी और पजावी वोलनेवालो ने, जो अनमोल काम किया है, वह आधुनिक भारत के सास्कृतिक इतिहास में एक वडी भारी लक्षणीय वस्तु है।

हिंदी-ससार के अलावा—अर्थात् पछाँही हिंदीवालो और उनके साथ ही हिंदी को अपनाए हुए लोगो के अलावा भारत के 'आर्य-ससार' या आर्य-भाषी जनो की सख्या वारह करोड होगी। 'हिंदी-ससार' के चौवह करोड और गैरहिंदी आर्य-भाषियो के वारह करोड, समूचे मे छब्बीस करोड मनुष्यो में हिंदी भाषा किसी न किसी रूप में चालू है। हिंदी-ससार के वाहर के आर्य-भाषी लोगो की स्वाभाविक और सहज आत-प्रादेशिक भाषा हिंदी ही है। भारत के छब्बीस करोड आर्य-भाषियो में (जो समग्र भारत की जनसख्या के तिहत्तर प्रतिशत होते है) हिंदी की प्रतिष्ठा है। संख्या के विचार से हिंदी पृथ्वी की तो तीसरी भाषा है। उत्तरी चीनी और अंग्रेजी इन दोनो के बाद हिंदी का स्थान है। हिंदी के पीछे हमें इन भाषाओ को मानना पडेगा—रूसी, जर्मन, जापानी, हिस्पानी, वँगला और फ्रासीसी। सस्कृति की दृष्टि से फ्रासीसी की जो मर्यादा है, वह आधुनिक जगत् में न रूसी की है, न चीनी की और न हिंदी की। पर इसे सस्कृति-वाहिनी, आधुनिक भाषाओ में एक मुख्य भाषा वनाने की जिम्मेदारी हम भारतीयो की ही है, क्योकि आधुनिक भारत की यह भाषा अपनी सख्या और अपने खास वैशिष्ट्य के कारण प्रतिभू-स्थानीय भाषा वनी है। इसे अपने वहुल प्रचार के कारण तथा सहज-वोधता के कारण हम 'समानासु प्रथमा' मानते है।

हिंदी भारतीय जनता के कल्याण के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उत्तर-भारत को छोड दीजिए। द्राविड-भाषी दक्षिण-भारत की आम जनता के कुछ लोग शहरो में अंग्रेजी वोल लेते है, यह सच है, परतु उत्तर-भारत की आधुनिक भाषाओ में यदि कोई भी भाषा सव से अधिक लोगो की समझ मे आती है, तो वह हिंदी ही है। निखिल भारतीय जनो के लिए जो तीर्थ-स्थान वने है, ऐसे मदिर या क्षेत्र—जैसे तिरुपति या वालाजी, मदुरा, श्रीरगम्, सेतुवंध रामेश्वर, कन्याकुमारी, तिरुव्-अनतपुरम्, मैसूर, श्रवण-वेलगोला इत्यादि स्थानो में हिंदी वोलनेवाले पंडे, दुकानदार, व्यापारी, होटलवाले आदि वहुत से मिलेंगे। भारत के दूसरे अनार्यभाषी लोगो में भी हिंदी का ही प्रचार दिखाई देता है। अपने देश से प्रेम रखनेवाले, जो भारतीय राष्ट्र को एक और अखड मानते है, वे अवश्य स्वीकार करेंगे कि हमारी राष्ट्रीय, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक एकता के लिए हिंदी भाषा एक वडे भारी कार्य का साधन है—यहाँ तक कि मै इस खड, छिन्न और विक्षिप्त देश में तो, सस्कृत के वाद हिंदी को ही ईश्वर के आशीर्वाद-स्वरूप मानता हूँ। हमारे इस विराट् विशाल देश में—जो अपने आयतन में रूस को छोड कर सारे योरप-खंड के समान है और जहाँ एक दर्जन से अधिक वडी-वडी भाषाएँ चालू है, और विरोधी मनोवृत्ति तथा भारत-विरोधी जनो के कथनानुसार जहाँ कई सौ भाषाएँ और उप-भाषाएँ चालू है—वहाँ हिंदी ही के द्वारा हमें भाषा-सकट से छुटकारा मिल गया है। इग्लैण्ड और फ्रास में केवल ३० मील की इंग्लिश चैनल का व्यवधान 'डोवर' और 'कैले' वदरगाहो का अंतर है, पर अग्रेज जव इंग्लैण्ड से फ्रांस आता है तव वह दुस्तर भाषा-संकट में पड जाता है। फिर कई मीलो के वाद पच्छिमी वेलजियम में फ्लेमिश भाषा मिलती है, और इधर जर्मनी, जहाँ की भाषा फ्रासीसी से भी एकदम अलग है। जिसे अच्छी तरह से इन तीन-चार भाषाओ का ज्ञान न हो, उसके लिए योरप की सैर में वडी दिक्कत होती है। पर हमारे भारत में—विशेषत. उत्तर-भारत में—भाषा की चिंता हमें नही होती। कोई वँगाली वंवई आवे, या कोई सिंधी, गुजरात, महाराष्ट्र या

आसाम तक जाय, तो वह कभी भी भाषा के संबध मे सोचता ही नही। टूटी-फूटी बाजारू हिंदी के सहारे हम कश्मीर और पेशावर तक आसानी से काम चला सकते हैं। अखिल-भारतीय राष्ट्रीय एकता का एक मुख्य प्रतीक हमारी हिंदी भाषा है। इस विचार को हमारे देश के लोगो ने नि शब्द भाव से मान लिया है कि जो केवल अपनी प्रातिक भाषा जानता है, वह प्रादेशिक और सीमित रह जाता है, और जिसका हिंदी से परिचय है, वह सचमुच निखिल-भारतीय बन जाता है।

हिंदी के इस सर्वजन-स्वीकृत अखिल-भारत-व्यापी प्रभाव का ऐतिहासिक कारण क्या है? हिंदी का अपना देश है—आधुनिक पूर्वी पजाव और पश्चिमी सयुक्त या उत्तर-प्रदेश। इस स्थान का प्राचीन नाम है 'मध्यदेश'। कुरु-पाचाल राष्ट्र या कुरुक्षेत्र-मडल यह तो इस मध्यप्रदेश का ही एक अश है। ईसा के जन्म के पूर्व की पहली सहस्राब्दी के आरभ मे मध्यप्रदेश आर्यभाषामय भारत का केंद्र था। इसके पूर्व मे थे 'प्राच्य' या पूरब के देश, कोसल या अवध, काशी या भोजपुर-प्रदेश, विदेह या उत्तर-विहार, और मगध अर्थात् मगही-भाषा का प्रात, पश्चिम और उत्तर मे था 'उदीच्य' देश—मद्र या उत्तर-पजाव, कैकय और गाधार या पश्चिम-पजाव, और दक्षिण मे थी राजपूताने की मरुभूमि। इस मध्यदेश को, जो भारतीय आर्य तथा आर्य-पूर्व (द्राविड, निषाद और किरात) जातियो के सास्कृतिक मिश्रण का केंद्र था, हम हिंदू-ब्राह्मण सभ्यता का भी केंद्र या जन्मभूमि कह सकते हैं। इसी प्रात में ईसा के जन्म के पूर्व लगभग दसवी शती में मिश्र-आर्यानार्य सस्कृति ने अपना विशिष्ट रूप प्राप्त किया था। इसलिए इस देश का एक खास महत्त्व सवो ने माना है। इसी स्थान पर महर्षि वेदव्यास ने ब्राह्मणो के मुह से सुने गए चार वेदो की सहिताओ का सग्रह किया था और आर्यो तथा भाषा के अनुसार द्राविड, निषाद, किरात आदि अनार्यो की पुराण-कहानी का सग्रथन करना शुरू किया था। इसी जगह पर श्री कृष्ण वासुदेव ने अपनी शिक्षा का प्रचार किया था, जिसमे हिंदू चिंता-धाराओ का एक महान् समन्वय सामने आया। 'निगम' अर्थात् वेद और 'आगम' अर्थात् वेद-वाह्य तत्रादि शास्त्र, इन दोनो की उपासना-रीति अलग-अलग थी। वेद-मार्ग मे अग्नि द्वारा हवन और देवताओ के उद्देश्य से पशुओ के मास-मेदादि की आहुति दी जाती थी, और तत्र या आगमिक मार्ग की पूजा-रीति मे देवता की मूर्ति पर या दूसरे प्रतीक पर फूल, पत्ते, फल, चावल, पानी, खाद्य मिठाई (नैवेद्य) आदि चढाए जाते थे। इन दोनो को एक साथ मिला देने की सार्थक चेष्टा कृष्ण वासुदेव ने ही की थी। भारतीय सभ्यता ने आर्यों के आगमन के बाद वेद, पुराण और गीता को लेकर, मध्यदेश ही मे अपनी खास विशिष्टता प्राप्त की थी। मध्यदेश की सस्कृति अखिल आर्य प्रातो की एकमात्र सस्कृति बनी और यहाँ के बौद्धिक नेताओ की विद्वत्ता, लोक-परिचालन-शक्ति प्रभृति गुणो के कारण यहाँ के लोगो की भाषा सभी आर्य-भाषियो के लिए एक प्रामाणिक भाषा मानी गई। केंद्रीय स्थान की भाषा होने के कारण दूर-दूर के प्रातो के लोग इसे ही समझ सकते थे। पर इनमें एक प्रात के लोग सुदूर प्रातो की बोली समझने में कठिनाई अनुभव करते थे। पश्चिम-पजाव या महाराष्ट्र के आर्य-भाषी लोग पूरब के बिहार-प्रात के आर्य-भाषी की बोली को दुर्बोध्य समझते है, और वैसा अतीत में भी समझते थे; पर बीच की बोली होने के कारण मध्यदेश की बोली का सब कोई पीढी-दर-पीढी अच्छी रीति से उपयोग करते आए है और करते है। इस प्रकार भारतीय सभ्यता के इतिहास के प्राथमिक या आरंभिक युग में इस मध्यदेश में प्रचलित सस्कृत भाषा ही हमारी सभ्यता या सस्कृति का अनमोल प्रकाश-स्तभ या माध्यम बनी। पजाब और मध्यदेश से यह नवीन हिंदू सभ्यता जब समग्र उत्तर-भारत में फैली, तब से संस्कृत भाषा इसका माध्यम या वाहन बनी। हिंदू-सभ्यता का वाहन और साथ ही इसका प्रतीक बन कर यह सस्कृत भाषा समग्र भारत भूमि पर फैल गई, और साथ ही मध्यदेश की यह भाषा यथा-सभव सब लोगो से अपनाई गई। पिछले काल में सस्कृत परिवर्तित होकर प्राकृतिक और अपभ्रश में रूपातरित हो गई। परतु मध्यदेश की प्राकृत, जो सस्कृत का ही परिवर्तित रूप थी, सस्कृत की ही राह पर चली। बुद्धदेव के समय में, अर्थात् ईसा के पूर्व की सहस्राब्दी के मध्यभाग में, सस्कृत

जब (खास कर के प्राच्य देश या पूरब में) कुछ पुरानी और अप्रचलित होनेवाली हो गई, तब बौद्ध और जैन धर्म-नेताओ ने जनता की लोकभाषा प्राकृत को साहित्य की भाषा के रूप में अपनाया। इसका फल यह हुआ कि आम लोगो में चालू मौखिक या घरेलू बोलियो में साहित्य-सर्जना का आरभ हुआ। यो जैनो और बौद्धो के अपने-अपने धर्म-स्थापको के उपदेश की भाषा पूर्वी प्राकृत में उच्च कोटि का दर्शन और विचार-मूलक साहित्य बन गया। महावीर स्वामी की जीवन-कथाओ और उनके उपदेशो के आधार पर जो लोकभाषामय नया साहित्य बन गया, वही भविष्य काल में कुछ परिवर्तित होकर हमारे सामने अत में जैन अर्ध-मागधी साहित्य के रूप में विद्यमान है। यह जैन अर्धमागधी महावीर स्वामी के समय की पूरब की भाषा का उत्तर-कालीन कुछ-कुछ परिवर्तित निदर्शन है। बुद्धदेव ने तो साफ-साफ कह दिया था कि अपने उपदेश लोग अपनी-अपनी खास भाषाओ या बोलियो में सुने। उनकी शिक्षा पहले-पहल मगध की बोली में ही दी गई थी। शिक्षापदो का पहला सग्रह इसी प्राच्य या पूरब की मागधी भाषा में हुआ था। पर तुरत बुद्ध-वचनो के विभिन्न अनुवाद विभिन्न प्रातीय भाषाओ में होने लगे। निदान यह हुआ कि मूल बुद्धोपदेश, जो कि मागधी में सब से पहले लिपिबद्ध हुआ था, इस समय सपूर्णतया अवलुप्त हो गया है। पर इसके अस्तित्व के कुछ प्रमाण हमें मिलते है। इधर अशोक की धर्म-लिपि (इस अवलुप्त बुद्धवचन) से दो-चार वाक्य मिल गए है, उधर दूसरी प्राचीन शिला-लिपियो के कुछ शब्द और वाक्य तथा पालि में उपलब्ध बौद्धग्रथो में कही पालि के अतराल में उसके पहले की पूर्व प्राकृत मे लिखे गए मूल-स्वरूप बौद्ध शास्त्र की भाषा के कुछ शब्द-रूप और दूसरे चिह्नावशेष मात्र मिले है। हमें अब पता चला है कि प्राचीन भारत में बुद्धवचन के कम से कम तीन अनुवाद हुए थे—एक पालि मे, दूसरा बौद्ध सस्कृत में और तीसरा उदीच्य या उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित प्राकृत में (जिस प्राकृत को हम 'गाधारी' प्राकृत कह सकते है)। इन तीनो के अतिरिक्त प्राच्य भाषा मे लिखा हुआ मूल बुद्धवचन या बौद्धशास्त्र तो था ही। उदीच्य की बोली में लिखी गई बुद्धवचन की पुस्तकें न केवल आजकल के पजाब, कश्मीर और सीमात-प्रदेश में चालू थी, पर उन प्रातो से सब मध्य-एशिया में भी फैल गई थी, जहाँ उदीच्य के लोग भारतवर्ष से आर्य सस्कृति तथा भाषा लेकर कुस्तन (खोतन) आदि नगर बना कर बस गए थे। मध्य-एशिया के खडहरो में से इस उदीच्य प्राकृत में लिखे हुए बौद्ध शास्त्र-ग्रथो के कुछ अश मिले है। उनसे इस लुप्त साहित्य की सूचना मिली है। सस्कृत में अनुवाद किए बौद्ध शास्त्रो का बहुत अश नेपाल के बौद्धो ने बडे ही यत्न के साथ सरक्षित किया है। वह हमें प्राप्त हुआ है। पालि-भाषा में जो अनुवाद हुआ था वह सिंहल के बौद्ध भिक्षुओ द्वारा अबतक सुरक्षित होकर चला आया है। सिंहल से हीनयान मत के बौद्धो के शास्त्र के रूप मे यह पालि-अनुवाद बर्मा, कबोज और स्याम में लाया गया। वहाँ के भिक्षुओ में यह पालि-शास्त्र अब भी जीवित है। हीनयान मत के थेरवाद या स्थविरवाद सप्रदाय के बौद्ध लोगो ने भारतवर्ष ही मे इस पालि अनुवाद को बनाया था। कब और कहाँ? इसका स्थिर निश्चय अब तक नहीं हुआ। पर जहाँ तक हमें पता चला है, हमारा विचार यह है कि यह अनुवाद मध्यदेश की प्राकृत के बोलनेवाले बौद्ध गुरुओ के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। महाराज अशोक के पुत्र महेंद्र और पुत्री सघमित्रा का जन्म मालव-देश के एक प्रधान नगर विदिशा में हुआ था। उनकी माँ देवी नाम की सेठ-घर की बेटी अशोक से ब्याही गई थी, जिस समय राजकुमार अशोक अपने पिता मौर्य सम्राट् बिंदुसार अमित्रघात के प्रतिनिधि बन कर मालव-सूबे का शासन करते थे। बचपन में राजघराने के ये दो भाई-बहन विदिशा में ही पालित हुए थे। वहाँ की बोली, जो मध्यदेश की ही प्राकृत थी, इनकी अपनी भाषा बनी। अपने पिता अशोक की घरेलू बोली उनसे दूर रहने के कारण इनकी बोली नहीं हो सकी। बुद्ध-वचन इन्होने इसी मध्यदेश की भाषा में ही पढे, और जब बाद में अशोक ने धर्म-प्रचार के लिए अपनी पुत्री और पुत्र को लका द्वीप भेजा, तब ये जो बुद्धशास्त्र वहाँ ले गए साथ साथ वह मध्यदेशीय प्राकृत ही में लिखा हुआ था। पिछले समय उसका नाम बना पालि। पर निश्चय है

भिक्षुओ का उत्तर-भारत की भाषा-विषयक हालत से कुछ भी परिचय नही था। वे जानते थे कि बुद्धदेव मगध के थे, और प्रातीय मागधी प्राकृत में उपदेश किया करते थे। और मगध से मौर्य सम्राट् के द्वारा प्रेषित होकर मगध ही से शास्त्र लेकर जब राजघराने के प्रचारक आए, तो उनके लाए हुए शास्त्र की भाषा मागधी के सिवा और हो ही क्या सकती थी ? यो तो गलती से सिंहल के पालि-शास्त्र की भाषा का 'मागधी' नाम हुआ, पर प्राकृत भाषा-तत्त्व की एक साधारण बात यह है कि पालि का मेलजोल उस मागधी प्राकृत से बिलकुल नही है, जिस मागधी प्राकृत के व्याकरण तथा कुछ निदर्शन मिले हैं। इसका सादृश्य पुरानी 'शौरसेनी' प्राकृत ही से है। अत हम कह सकते हैं कि बौद्ध साहित्य की एक प्रौढ भाषा पालि मध्यदेश की प्राकृत शौरसेनी के प्राचीन रूप पर ही आधारित है। संस्कृत नाटको से हमें पता चलता है कि ईसा के आसपास की शतियो मे जितनी प्राकृत या आर्य लोक-भाषाएँ उत्तर-भारत में चालू थी, उनमें शौरसेनी प्राकृत—यानी मध्यदेश के अतर्गत शूरसेन या ब्रजमडल की प्राकृत सब प्राकृतो में उन्नत, शिष्ट और भद्र मानी जाती थी। जहाँ नाटको के पात्रो को अपने अभिजात्य के कारण सस्कृत ही में बोलना चाहिए था, वहाँ नारी या शिशु होने के कारण जिनसे सस्कृत बोली नही जाती थी, वे सहज रूप में शौरसेनी प्राकृत ही बोलते थे। ऐसे ही जब प्राकृत परिवर्तित होकर अपभ्रश की अवस्था में आ पहुँची, तब भी हम देखते है कि और सब प्रातीय अपभ्रशो का शौरसेनी या मध्यदेशीय अपभ्रश के सामने कोई भी मर्यादापूर्ण स्थान नही था। लगभग ८०० ईस्वी से शुरू कर १२००-१३०० तक शौरसेनी अपभ्रंश भाषा, जो 'नागर अपभ्रश' भी कहलाने लगी, उत्तर भारत मे एक विराट् साहित्यिक भाषा के रूप में विराजती थी। सस्कृत के बाद इस शौरसेनी अपभ्रश ही का स्थान उस समय था। विभिन्न प्रातीय अपभ्रश भाषाएँ थी तो सही, पर उनमे साहित्य-सर्जना मानो नही होने के बराबर ही थी। चार-छ सौ वर्षो तक सिंधु-प्रदेश से पूर्वी-बंगाल तक और कश्मीर, नेपाल, मिथिला से लेकर महाराष्ट्र और उडीसा तक तमाम आर्यावर्ती देश इस शौरसेनी या नागर अपभ्रश साहित्यिक भाषा का क्षेत्र बन गया था। राजपूत राजाओ का प्रभाव इसका एक कारण हो सकता है। पर मेरी राय मे इससे उत्तर-भारत का एक साधारण भाषा-साम्य या भाषा-विषयक सहज-बोधता भी प्रमाणित होती है। शौरसेनी अपभ्रश मे सिंध, महाराष्ट्र, पजाब, कश्मीर, विहार, और वगाल तक के कवियो के पद और दूसरी कविताएँ मिली है। साथ ही किसी-किसी प्रात में प्रातीय भाषाओ की उत्पत्ति के समय इनमें भी स्थानीय कवि लोग रचना करते थे—जैसे बगाल और मिथिला में। पछाँह-खड में, जो कि शुद्ध हिंदी का अपना देश है, और मालव, राजस्थान तथा गुजरात में तो शौरसेनी अपभ्रश की निजी भूमि ही थी। इसमे कोई सदेह नही कि लगभग ८००-१००० ईस्वी में किसी उत्तर-भारतीय आर्यभाषी को यदि देशाटन करना और साथ-साथ साधारण जनो तथा शिष्ट जनो से मिलना होता था, तो सस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी अपभ्रश के सिवा उसका काम ही नही चलता था। यह सच है कि शौरसेनी अपभ्रंश उन दिनो की आत प्रादेशिक भाषा ही थी और आजकल की ब्रजभाषा, खडी बोली आदि विभिन्न प्रकार की हिंदी का उद्भव इस शौरसेनी अपभ्रश से ही हुआ है। अब की तरह एक हजार वर्ष पहले हिंदी ही अपने पूर्व रूप में आंत प्रादेशिक भाषा के रूप मे अखिल उत्तर-भारत पर फैली थी और तमाम आर्य-भाषी लोगो मे पढी-पढाई और लिखी जाती थी।

इस तरह मध्यदेश की ही भाषा सिलसिलेवार विभिन्न युगो में भारत की मुख्य राष्ट्रिक तथा सास्कृतिक एव एकमात्र आत प्रादेशिक भाषा (सस्कृत के बाद यह तो मानना ही है) बन कर चली आई है। इसका साप्रतिक इतिहास और भी स्पष्ट है। यद्यपि बीच की कुछ बाते हमारे लिए व्यास-कूट या संशयमय बन रही है। विदेशी तुर्क लोगो ने मुसलमान-धर्म लेकर जब भारत पर चढाई की और हिंदू-भारतीयो को हराकर उत्तर-भारत के राजा बने, तब उत्तर-भारतीय आधुनिक भाषाएँ अपने-अपने सूतिकागार मे थी। पडितो में शिष्ट भाषा, ज्ञान-विज्ञान के लिए आत प्रादेशिक काम-काज की भाषा तो सस्कृत थी, पर जनता में शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रचलन था। शौरसेनी अपभ्रंश मौखिक

चालू बोलियो के मुकाबले कुछ प्राचीन-भाव-ग्रस्त थी। फिर मुसलमान राज्य कायम होने का पहला फल यह हुआ कि राजपूत हिंदू-राजाओ की सभाओ मे अपभ्रश के लेखक और कवियो को जो पृष्ठ-पोषकता मिलती थी, मुसलमान सुल्तानो के दरबारो में वह खतम हो गई। इधर लोक-भाषाओ के प्रकट होने का समय आया। मुसलमान राज के पहले दो शती तक नवीन लोक-भाषाएँ बच्चो की तरह पद-स्खलन करती हुई आगे बढी। हिंदू-जनता और हिंदू-राजाओ को इन नवीन लोक-भाषाओ ने अपने वश में कर लिया। अपभ्रश को अब ज्यादातर जैन सस्थाओ के पडित और साधु लोगो के पास ही आश्रय मिला। पर धीरे-धीरे अपभ्रश के दिन लद चुके थे। पजाबी (पश्चिमी और पूर्वी), सिंधी, मारवाडी, गुजराती, व्रजभाषा, कोसली (या बैसवाडी), मैथिली, बँगला, उडिया, आसामी, मराठी आदि सब बोल-चाल में अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हुई, और इनमें कुछ भाषाओ के लिए कवि लोग भी सचेत हुए एव अपनी मातृभाषा समझ इन्हे भी प्रीति-भरी दृष्टि के साथ देखने लगे। जैसे बगदेश के एक अज्ञातनामा कवि ने, जो सिर्फ 'बगाल कवि' नाम से परिचित है, ईस्वी १२०० वर्ष से पहले ही अपनी मातृभाषा के सबध में 'सदुक्तिकर्णामृत' नाम की श्लोक-सग्रह पुस्तक मे जो कि १२०५ ईस्वी के आस-पास बगाल के अतिम हिंदू राजा लक्ष्मण सेन की सभा में अवस्थित पडित और अमात्य श्रीधर-दास द्वारा बनाई गई थी, यह कविता लिखी है—

"घनरसमयी गँभीरा वक्रिमसुभगोपजीविता कविभिः।
अवगाढा च पुनीते गगा बंगाल वाणी च॥"

अर्थात् गगा तथा बगवाणी, इन दोनो में अवगाहन करने से वे मनुष्य को पवित्र कर देती है। गगा प्रचुर जलमयी है, बगभाषा नाना काव्य-रस से भरी है, गगा गहरी नदी है, बगभाषा अर्थ या भाव-गभीरा है, गगा नदी टेढी-बाँकी रीति से प्रवाहिता है, सुदर है और कवियो के द्वारा वर्णित है, और बँगला भाषा में बाँकापन या सावलील सौदर्य है—यह भाषा सुदर है, बहुत से कवि लोगो ने इसमें लिखा है और अब भी लिखते है।

यो बँगला, मैथिली, उडिया, कोसली, व्रजभाषा तथा प्राचीन राजस्थानी-गुजराती और मराठी को साहित्यिक मर्यादा मिली, पर अपभ्रश का पुराना स्थान रातो-रात नही मिटने का था। अखिल-भारत पर उसका प्रभाव चलता ही रहा। धीरे-धीरे मध्यदेश की दो भाषाएँ अपभ्रश की वारिस बनी—आगरा मथुरा और ग्वालियर की व्रजभाषा और दिल्ली की खडी बोली। बैसवाडी या कोसली को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला, जो भाषा मध्यदेश से सपर्कित अयोध्या में चालू थी। मध्ययुग के उत्तर-भारत के साहित्यिक इतिहास मे व्रजभाषा का स्थान सबको विदित है। ऐसा जँचता है कि अपनी बेटी व्रजभाषा में शौरसेनी अपभ्रश को नवीन कलेवर मिला, नये आयुकाल को उसने प्राप्त कर लिया। उधर बगाल से लेकर महाराष्ट्र और पश्चिम-पजाब तक व्रजभाषा कविता सगीत और राधा-कृष्ण-विषयक वैष्णव शास्त्र-ग्रथो की भाषा बनी। बगाल के कवियो की लिखी व्रजभाषा कविता मिली है, जैसे शौरसेनी अपभ्रश की। कवि भूषण ने अपनी ओजमयी व्रजभाषा में महाराष्ट्र-कुल-भूषण हिंदू-तिलक श्री शिवराज की प्रशस्ति की, जो शिवाजी महाराज के लिए उद्दीपनामय अनुप्राणना बनी। मराठे 'पोवाडा' या युद्धगीत के लेखक लोग भी कभी-कभी व्रजभाषा या दूसरी मध्यदेशीय भाषा का व्यवहार करते थे। सिक्ख गुरुओ के धर्मोपदेश की भाषा तो अपने मूल में व्रज और खडी बोली ही है। उसमें जो पजाबीपन दिखाई देता है, वह केवल स्थानीय भाषाओ के असर या प्रभाव के तौर पर। तुर्क और पठान सुलतानो के राज्यकाल मे, दिल्ली में और उसके बाद अकबर बादशाह के समय में आगरे में जब मुसलमान सल्तनत की राजधानी प्रतिष्ठित हुई और आखिर जब दिल्ली फिर पायतख्त बनी, तब व्रजभाषा और दिल्ली की खडी बोली, हिंदी के ये दो रूप उत्तर-भारत में फिर प्रतिष्ठित हुए। उधर ईस्वी १५ वी शती में सत कबीरदास की रचनाओ में दिल्ली की खडी बोली को स्थान मिला, कभी शुद्ध रूप में, कभी व्रजभाषा से मिले-जुले रूप में। दक्षिण-

ही एक शाखा ईस्वी १४ वी शती से प्रतिष्ठित हुई और उसके सहारे १६वी शती नी' या 'दखनी' भाषा और साहित्य की नीव डाली' गई। फिर इसी दकनी के प्रभाव में १८ वी शती के मध्य भाग मे 'मुसलमानी हिंदी' या उर्दू की प्रतिष्ठा हुई। इसके सन् १८०० में कलकत्ते मे हिंदी-उर्दू दोनो ने आधुनिक उत्तर-भारत के साहित्यिक तथा जीवन मे अपने स्थान बना लिये, और आजकल की 'साधु' या गद्यशैली की हिंदी का प्रसार होने लगा। धीरे-धीरे शिक्षा के विस्तार के साथ ही साथ पछाँह के बाहर पजाब, जस्थान, मालवा, बिहार, मध्य-प्रदेश आदि प्रातो मे एक विराट् नया 'हिंदी-ससार' १९ वी शती त्यार्द्ध से तैयार होने लगा।

हिंदी अब अपने प्रसार के कारण मध्यदेश की भाषा के गौरवमय इतिहास की नये तौर पर राधिकारिणी बनी। मध्यदेश का प्राचीन गौरव और उस स्थान की आधुनिक भाषा की सख्या-धिष्ठता दोनो एकत्र हो गए। अखिल-भारत की अखडता के सम्बन्ध मे हमारे राजनीतिक तथा सास्कृतिक नेता लोग बडे जोर के साथ सोचने लगे—खास करके बगाल के कुछ प्रख्यात बौद्धिक नेता। इन्होने हिंदी को भी अखिल भारतीय ऐक्य के सगठन की दृष्टि से देखा, और भारत के आयदा युग के इतिहास में हिंदी के स्थान और हिंदी द्वारा होनेवाली एकता बढने की सभावना पर उन्होने दूर-दृष्टिसपन्न भविष्यवादी की नजर से देखा। यो ईस्वी सन् १८७५ में बगाल में केशवचद्र सेन ने अपने समाचार-पत्र में 'हिंदी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्र भाषा बनने के योग्य है', इस विषय पर निबध लिखा। सन् १८७७ ई० मे बकिमचद्र चाटुर्ज्या द्वारा सपादित "बग दर्शन" पत्रिका मे, राष्ट्रीय एक्य के क्षेत्र मे हिंदी की उपयोगिता के विषय में निहायत अनुकूल एक लेख निकला था, जो निश्चित रूप से स्वय बकिमचद्र का अनुमोदित था। गुजरात प्रात से आए हुए महर्षि दयानद सरस्वती ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए अपनी अनमोल सेवा कर श्रीगणेश इसी समय से कर दिया था,' जिसने पजाब, उत्तर-प्रदेश तथा राजस्थान में बडा ही काम किया। १८०२ मे राज नारायण बोस ने और १८८६ में भूदेव मुखुर्ज्या ने भी भारत को एक जातीयता के सूत्र मे बाँधने के लिए हिंदी की उपयोगिता के विषय पर विचार-समुज्ज्वल वकालत की। सन् १९०५ से जब बगाल में बग-भग के बाद स्वदेशी आदोलन का आरभ हुआ, जिसके साथ हमारे स्वाधीनता सग्राम की नीव पडी, उस समय कालीप्रसन्न 'काव्य-विशारद' जैसे कुछ बगाली नेताओ ने हिंदी के पक्ष मे प्रयत्न किया कि हिंदी के सहारे जनता मे राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए आकाक्षा फैलाई जाय। फिर १९२० के बाद गाधी जी राष्ट्र-सग्राम के क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए और हिंदी को उन्होने भारत के राष्ट्रीय और आत-प्रादेशिक जीवन मे फौरन अपना यथायोग्य स्थान दिया। कुछ वर्षो तक हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी मामले के कारण देश में आदर्श-विपर्यय आ गया। बहुत से लोग विभ्रात हो गए पर अब अत मे यह आवर्त शात हो गया और हिंदी अपने अधिकार से "समानासु प्रथमा" मानी ही गई है।

ऐसे भारत में आर्य भाषा के इतिहास की पर्यालोचना करते हुए हम देखते है कि हिंदी कम से कम तीन हजार वर्षो की एक धारा—एक सिलसिले—के अत मे आ रही है। हिंदी एक प्रवाह या परपरागत वस्तु है, अचानक सामने आकर खडी हुई कोई नई चीज नही है। मध्यदेश की भाषा-परपरा में निम्नलिखित धारा के अनुसार हिंदी को आत प्रादेशिकता की मर्यादा मिली है (१) सस्कृत, (२) प्राचीन शौरसेनी, जिसका एक साहित्यिक रूप है 'पालि', (३) शौरसेनी प्राकृत, (४) शौरसेनी अपभ्रश तथा उसी का रूप-भेद नागर अपभ्रश, (५) राजस्थान की 'पिंगल' भाषा तथा पुरानी ब्रजभाषा, (६) मध्यकालीन ब्रजभाषा, ब्रजभाषा एव खडी बोली मिश्र शैली, (७) दकनी, (८) दिल्ली की खडी बोली, (९) आधुनिक नागरी हिंदी और उसका मुसलमानी रूप उर्दू, जिस उर्दू को अपनी स्वाभाविक गति मिलेगी—"सागरे मिलावत सागर-लहरी-समाना"—शुद्ध हिंदी ही के सागर में इस मुसलमानी हिंदी यानी उर्दू की लहर मिल जायगी।

यह तो हिंदी का बाहरी इतिहास है। भारत के गौरव के साथ ही साथ यह इतिहास और भी गौरवमय बनेगा। भारत के दो-तिहाई से अधिक लोगो में तो हिंदी किसी न किसी रूप में चालू है ही, पर समग्र भारतीय जनता के लिए भी हिंदी ही गृहीत होनेवाली है। अतर्राष्ट्रीय राष्ट्रनीति के क्षेत्र में भारत का महत्त्व बढता जाता है। इसी के साथ-साथ भारत की राष्ट्रभाषा का महत्त्व भी बढेगा। विश्व-राष्ट्रसघ में इस समय ससार की जो प्रमुख भाषाएँ मानी गई हैं, वे पाँच है—अग्रेजी, फ्रासीसी, हिस्पानी, रूसी और चीनी। हमारी राय में भाषा-भाषियो की सख्या के हिसाब से इनमें हिंदी को भी स्थान मिलना चाहिए। हमारा विश्वास है, एक दिन वह मिलेगा भी। परतु इस दायित्वपूर्ण परिस्थिति के लिए हमें तैयार होना चाहिए।

यह सच है कि इस समय अहिंदी प्रातो के लोगो क लिए, जिनमें बँगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू आदि साहित्य-समृद्ध भाषाएँ चालू है, सिर्फ राष्ट्रीयकरण के सिवा अर्थात् राजनीतिक ऐक्य में सहायक होने के सिवा हिंदी के प्रति और कोई आकर्षण नही है। इनके लिए हिंदी अब तक सस्कृतिवाहिनी भाषा नही बन सकी। राजनीतिक आवश्यकता को छोड देने से बहुतेरे अहिंदी-भाषियो के विचार में हिंदी अनावश्यक है। हिंदी जिनकी मातृभाषा है, या जिन्होने हिंदी को अपनाया है, उनको इस बात पर गौरव करना चाहिए। जिससे हमारी मानसिक और आत्मिक पुष्टि हो, रस-साहित्य के पर्याप्त परिमाण में नही होने से हिंदी लोकाकर्षक नही होगी। हम अहिंदी-प्रातके लोगो का सहज अधिकार तो इस विषय में है नही, हिंदी हमारी पूर्व-पुरुषागत मिरास या रिक्थ तो है नही, अतएव अपनी-अपनी मातृ-भाषा छोड कर हिंदी में साहित्य सर्जना की शक्ति हमें मिलनी असाधारणतया कठिन होगी। पर हम मामूली तौर पर कुछ ज्ञान या विद्या तो यथाशक्ति हिंदी के माध्यम से परोस ही सकते है। हिंदी को सूचनात्मक साहित्य के योग्य भाषा बनाने के लिए कुछ जिम्मेदारी, कुछ अधिकार, कुछ शक्ति, हम अहिंदी बोलनेवालो में अवश्य है। यदि न हो, तो इसके लिए हमें योग्यता का अर्जन करना होगा। हमारे इस विषय पर दत्त-चित्त होने से अखिल-भारत का कल्याण ही होगा।

और एक बात है। आजकल अग्रेजी के विरोध में कही-कही जनमत तैयार करने की कोशिश हो रही है। हमारी राय में यह मत भ्रात और आत्मघाती है। हम कभी अग्रेजी से सबध तोड नही सकते, क्योकि हमारे आधुनिक सास्कृतिक मदिर के जीवन में बाहर से हवा और रोशनी आने के लिए अग्रेजी एकमात्र वातायन-पथ बनी है। इसे कभी रुद्ध नही करना चाहिए। अपनी भारतीय जाति की कई पीढी-व्यापी अभिज्ञता के अनुसार सास्कृतिक व्यापार के सबध में, साहित्य-सर्जन के सबध में, दृढ-निश्चय होकर हम सलाह देते है कि हिंदी तथा अन्यान्य भारतीय भाषाओ के साहित्य को पुष्ट और सुसमृद्ध करना चाहो, तो अच्छी तरह से अग्रेजी भी सीखो। एक साधारण अतर्राष्ट्रीय मान या विचार-बोध, आधुनिक जगत् के लिए उपयोगी विश्व-मानवता, अग्रेजी के सिवा हमें कहाँ मिलेगी? हमारे मध्ययुग के भक्त कवि और अनुभवी कवि जो थे, जैसे कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, स्वामी हरिदास, हितहरिवश, अष्टछाप के अन्य कवि, हरीराम व्यास, चाचा वृदावनदास, दादूदयाल, मीराबाई, गुरु नानक, आनदघन तथा हिंदी के अन्य दूसरे सत कवि लोग—उनकी बात छोड दीजिए, वे सदा के लिए आध्यात्मिक रस-पिपासु मानव के चित्त को पुलकित करते हुए जीवित रहेंगे। पर आजकल की बात दूसरी है। क्या अग्रेजी जाने बिना रवीद्रनाथ और गाधी जी अपने प्रभाव को दूरगामी बना सकते थे? अग्रेजी भाषा अब केवल अकेले अग्रेजो की ही सपत्ति नही है। यह विश्व-सभ्यता का एकमात्र साधन, वाहन या माध्यम हो गई है। विश्व से हम बाहर नही है।

अखिल भारत के सास्कृतिक तथा राष्ट्रीय ऐक्य के लिए, अहिंदी-भाषियो के लिए जैसे हिंदी आवश्यक की जायगी, वैसे ही हिंदी-प्रसार के लिए भी उसके परिवर्तन में किसी एक प्रमुख भारतीय भाषा को अपने सुभीते या रुचि के मुताबिक चाहे वह मराठी हो, चाहे गुजराती, चाहे बँगला चाहे

तेलगू, चाहे उड़िया, चाहे कन्नड अवश्य पढ़नी होगी। भावग्राही होकर, देश का सर्वांगीण कल्याण सोच-कर सब को इस बात की युक्तिमत्ता पर ध्यान देना चाहिए। अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक भाषा अरबी की अरबों ने जिस उच्छ्वसित भाव से तारीफ की थी कि "अल्-हम्दु लिल्लाहि, अल्लधी खलक-लू-लिसान-ल्-अरबिय्यह, अल्-लिसान-ल्-अह् सन मिन् कुल्लि-ल्-अलसान्" अर्थात् ईश्वर की स्तुति इसलिए हो कि उन्होंने अरबी भाषा को बनाया, जो सब भाषाओं में सुंदरतम है, उसीके मुताबिक हम भी कहेंगे—

"सर्वज्ञं तदहं वंदे परं ज्योतिस्तमोहपम्।
प्रवृत्ता यन्मुखाद् देवी सर्वभाषासरस्वती॥
आर्याणां भारतीयानां विश्वसंस्कृतिवाहिनी।
बहुरूपा च सा नित्या प्रत्ननूत्नप्रभेदतः॥
एतज्जातीयभाषासु सर्वास्तुल्यास्यप्यसौ।
नव्या हिंदवी भाषा स्याद् राष्ट्रैक्यवर्धनी॥"



पाँच प्राचीन-पद

श्रीभट्ट--(स १३५२ वि०)

(राग-केदारा)

ब्रज-भूमि मोहनी में जांनी ।
मोंहन कुंज, मोहन वृंदावन, मोहन जमुना-पांनी ।।
मोंहन नारि सकल गोकुल की, बोलति मोहन बांनी ।
'श्रीभट' के प्रभु मोहन नागर, मोहन राधा-रांनी ।।

जाकौ मन वृंदा-विपिन हर्‌यौ ।
निरखि निकुंज पुंज-छवि राधे-कृष्ण-नाम उर धर्‌यौ ।।
स्यांमा-स्यांम-सरूप-सरोवर-परि स्वारथ विसर्‌यौ ।
'श्रीभट' राधे-रसिकराइ तहूँ सरबस दै निवर्‌यौ ।।

हरिव्यासदेवाचार्य--(सं०--१३२० वि०)

(राग-विहाग)

जगमगें चंद-बदन की जोति ।
अति सुंदर सोभा की सीमा लखि चकचोंधी होति ।।
पीतम के मुख-अंबुज-रस करि, चित्रित अमित उदोति ।
लखि सुख 'श्रीहरि-प्रिया' हितू सखि, वारति हूं लर-मोति ।।

(राग-आनंदसिंधु)

हो कहा कहो, सुख-फूल-मई ।
फूलें फूल फबे सब बन में, तन-मन की सब सूल गई ।।
फूल दिसॅन-विदिसॅन में फूले, छिति-अंबर में फूल छई ।
फूली लता, द्रुम, सरिस,-सरॅन में, खग, मृग सब ठौं फूल ठई ।।
फूल निकुंज-निलय-निकरनि में, बरन-बरन में फूल नई ।
'श्रीहरि-प्रिया' निरखि नॅनन-छवि, फूलॅन के उर फूल भई ।।

परसुरामदेव--(स०--१४५० वि०)

(राग-विहागरौ)

मन श्री मोहन के रंग रॅंग्यौ, सो न जात निचोर्‌यौ ।
रंग तजें फीक्यौ परै, झांझै झकझोर्‌यौ ।।
हरि-सनमुख जब-हीं चल्यौ, तब मैं न बहोर्‌यौ ।
हरि सो मिलि सरबसु दियौ, मोते मुख-मोर्‌यौ ।।
पलटि प्रान तहूँ को भयौ, मोते चित चोर्‌यौ ।
हरि-आधीन कुरंग ज्यो, डौलत संग डोर्‌यौ ।।
जतन-जतन करि प्रीति सौं, पंहलें मैं जोर्‌यौ ।
तापन-परसि प्रबल भयौ, टूटत नहिं तोर्‌यौ ।।
मन, मो तन चितयौ नहीं, मैं हूँ न निहोर्‌यौ ।
नॅन उभै सुख-सिंध त्यो, आवत न बहोर्‌यौ ।।
एकमेक पिय-प्रेम सौं, अंग-संग दुहोर्‌यौ ।
'परसा' पै पाती मिल्यौ, बिछुरत न बिछोर्‌यौ ।।

भाषामणि ब्रजभाषा

श्री चंद्रबली पांडे

मुगल-दरबार के गवैये जिस भाषा को भाषामणि कह कर उसका गान करते थे और मुगल बादशाह भी जिसमें रचना कर अपने को धन्य समझते थे, उसी का अपकार अंगरेजी शासन मे कैसे हो गया, यह विचार करने की बात है। इसकी सच्ची जानकारी के बिना हमारी आँख नही खुल सकती और न हम अपनी राष्ट्रभाषा का मर्म ही इसके अभाव मे पा सकते है। कहने को तो ब्रिटिश शासन की छाया में रहते हुए श्री लल्लूजी लालने भी अपनी 'लालचंद्रिका' की भूमिका मे लिख दिया—

पौरुष कविता त्रिबिध हैं, कबि सब कहत बखानि।
प्रथम देवबानी बहुरि, प्राकृत भाषा जानि॥
देस-भेद लें होति सो, भाषा बहुत प्रकार।
बरनत हैं तिन सबनि में, ग्वारियरी रस सार॥
ब्रजभाषा भावत सकल, सुरबानी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महा रस-मूल॥

किंतु स्वय 'फोर्ट विलियम' मे रह कर किया यह कि 'ब्रजभाषा' को 'रेखता' मे ढालने लगे। सुनिये, उन्ही का कहना है—

"एक दिन साहिब ने कहा कि 'ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रेखते की बोली में कहो ? मैंने कहा 'बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखने वाला दीजे, तौ भली-भाँति लिखी जाय।' उन्होने दो शाइर मेरे तैनाथ किये, मजहर अली खान विला औ मिरजा काजम अली जवाँ। एक बरष में चार पोथी का तरजुमा ब्रजभाषा से रेखते की बोली में किया।"

'ब्रजभाषा' के ग्रथो का अनुवाद 'रेखते की बोली' में न होता तो आगे चल कर क्या होता इसे कौन नही जानता ? निश्चय ही ब्रजभाषा ही आज हमारी 'राष्ट्रभाषा' होती और फलत देश में हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी का कोई काड भी नही उठता। शासन की सुविधा अथवा कूटनीति के चक्कर में पिस कर ब्रजभाषा कैसे पीछे छूट गई और उसकी उपजीवी 'रेखता' उर्दू तथा 'हिंदुस्तानी' के रूप में आगे बढ निकली, यह इतिहास की बात ठहरी। किंतु कृतज्ञ रहिए 'डाकतर गिलकिरिस्त साहिब' के कि उन्होने ब्रजभाषा को भी कुछ सहारा दिया। कारण स्वय श्री लल्लूजी लाल का लेख है—

"संबत् १८५७ में आजीविका कंपनी के कालेज में स्थित हुई। इसे उन्नीस बरष हुए। इसमें जो पोथियाँ ब्रजभाषा औ खडी बोली और रेखते की बनाईं सो सब प्रसिद्ध हैं।"

श्री लल्लूजी लाल ने 'लालचंद्रिका' की भूमिका मे अपना जो यह परिचय दिया है वह बडे महत्व का है। कारण हम देखते है कि 'ब्रजभाषा' जब तक मैदान मे रही 'खडी बोली' मे उसका द्वद्व चलता रहा, और जब राजाश्रयहीनता के कारण वह पीछे छूट गई तब 'खडी बोली' और 'हिंदुस्तानी' का झगडा छिड गया। मानो श्री लल्लूजी लाल को इसी 'निकडम' के हेतु फोर्ट विलियम कालेज में चाकरी मिली थी। जो हो, साहिबो ने आगे चलकर 'ब्रजभाषा' का सर्वथा बहिष्कार कर दिया और धीरे-धीरे वह कविता के क्षेत्र से भी ओझल हो गई। सोचिये तो सही कहाँ श्री लल्लूजी लाल ने उल्लास में आप ही लिखा था—

ब्रजभाषा भाखत सकल सुरबानी सम तूल।

कहाँ स्थिति यह हो गई कि 'भाखा' करके उसकी अवहेलना होने लगी और—

ताहि बखानत सकल कवि जानि महा रस मूल॥

के स्थान पर ब्रजवासी भी उसके बखान से मुँह मोड़ने लगे। उसके अंतिम लाडले का विषाद है—

बंग और महाराष्ट्र सुभग गुजरात देस में।
अटक कटक पर्यंत कहिय भारत असेस में॥
एक राष्ट्र भाषा की त्रुटि जो पूरत आई।
इतने दिन सो करति रही तुम्हरी सिवकाई॥
सत समरथ कवियनु की कविता प्रमान जामें।
निरखहु नैन उघारि कहाँ लौं सबनु गिनामें॥
इकदिन जो माधुर्य कांतिमय सुखद सुहाई।
मंजु मनोरम मूरति जाकी जग जिय भाई॥
देखत तुम निर्हाँचित जात ताके अब प्राना।
अभागिनी सोकारत कहहु को तासु समाना॥
लिखन रह्यौ इक ओर तासु पढिबौहू त्यागौ।
माता सो मुख मोरि कहाँ तुव मन अनुराग्यौ॥
सुभ राष्ट्रीय बिचारनु कौ जब पुन्य-प्रचारा।
कैसौ याके संग कियौ तुम्हनें उपकारा॥
रह्यौ बनावनु याहि राष्ट्रभाषा इक ओरी।
उलटौ जासु अनिष्ट करन लागे बरजोरी॥
या जीवन-संग्राम माँहि पावत सहाय सब।
नाम लेंन हूं तज्यौ किंतु तुम्हनें याकौ अब॥
क्यो यासों मन फिरयौ कृपा करि कछु क जतावौ।
वृथा आत्मा या ब्रजभाषा की न सतावौ॥
जिनके तुम बस परे अहहिं ते सकल बिमाता।
ब्रजभाषा ही सुद्ध संस्कृत साँची माता॥

कविरत्न श्री सत्यनारायणजी का यह विषाद कितना साध है इसके विवाद में हम नहीं पड़ते, पर प्रसंगवश 'विमाता' के प्रसंग में इतना कह ही देते हैं कि समय पर सचेत न होने का परिणाम है 'विमाता' के हठ से देश का विभाजन! पाकिस्तान!! कौन नहीं जानता कि उर्दू बनी नहीं कि ब्रजभाषा पर वज्रपात हुआ, पर साथ ही इतना और कितने लोग जानते हैं कि उर्दू बनी ही क्यों। जो हो, उर्दू के अमर अदीब मौलाना 'आजाद' का अपनी प्रसिद्ध रचना 'आबे हयात' के आरंभ में ही कहना है—

"इतनी बात हर शख्श जानता है कि हमारी उर्दू जबान ब्रजभाषा से निकली है और ब्रजभाषा खास हिंदुस्तानी जबान है।"

परन्तु आज इस सब की जानी हुई बात को माननेवाले कितने हैं? भाषामनीषी कुछ भी कहते रहें पर उर्दू का इतिहास साक्षी है इस कथन का कि उर्दू ब्रजभाषा पर से बनाई गई। 'आजाद' फिर भी अभी कल के प्राणी हैं। उनसे कितने दिन पहले मद्रास के बाक़र 'आगाह' ने कहा था सन् १७९८ ई० में कि—

"और हिंदुस्तान मुद्दत लग जबान हिंदी कि उसे ब्रजभाखा बोलते हैं रिवाज रखती थी।"

(मद्रास में उर्दू, इब्राहीमिया मशीन प्रेस हैदराबाद, १९३८ ई०, पृ० ४९) तथा—

"पीछे मुहावरा ब्रज में अल्फाज अरबी वो फारसी बतदरीज दाखिल होने लगे और अस-ल खास को बोलने लगे। सबब से इस आमेजिश के यह जबान रेखता से मुसंमा हुई।" (वही)

'रेखता' और 'उर्दू' के इतिहास मे जाने से कोई लाभ नही। सक्षेप मे कहना यहाँ यह है अब दिल्ली की अंजुमन में उर्दू का निर्माण हुआ तब—

"हिंद के मिरजाओ और फसीह सूफियों की बोलचाल की भाषा को लिया गया। इसके रिक्त चारों ओर की भाषा यहाँ तक कि हिंदी को जिसे 'भाखा' कहते है छोड़ दिया गया।"

उर्दू के आदि उस्ताद शाह हातिम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दीवानजादा' की भूमिका मे इसे स्पष्ट लिखा और खुल कर कह दिया कि अब 'उर्दू' अथवा मुगल दरबार में व्रजभाषा का मान नही। अब तो वहाँ सत्कार है वही की बोली का। मुगल राजकुमारो और गहरे मजहबी सूफियो की वानी का।

उधर 'दरबार' में व्रजभाषा की अवहेलना हुई तो उसके बाहर भी उसका मोल घटा, किंतु इसके ठीक पहले स्वय दरबार की स्थिति यह थी कि भाषा में प्रमाण 'ब्रज' का ही माना जाता था। ध्यान देने की बात है कि धाकवाले खान आरजू,—जिनका निधन उसी वर्ष हुआ जिस वर्ष श्री हातिम के 'दीवानजादा' का उदय, 'उर्दू की जबान' को प्रमाण नही मानते। उनके इस विचार को देख कर उर्दू के लोग विस्मय में पड जाते है। सुनिये, श्री हाफिज महमूद शेरानी साहब फरमाते है—

"इस सिलसिला में बाज वक्त उन्होने मुसन्निफ पर चोटें भी की है। सबसे जयादा जिस बात से तआज्जुब होता है यह है कि खान देहली की जबान और उर्दू को भी वकअत की निगाह से नहीं देखते। उनके नजदीक हिंदुस्तानी जबानो में सबसे जयादा शाइस्ता और मुहज्जब जबान ग्वालियारी है।"

श्री शेरानी साहब ने अपने लेख (ओरियटल कालेज मैगजीन लाहौर नबवर सन् १९३१ ई०) में अनेक अवतरण दिये है जिनसे समझ में आता है कि 'ग्वालियारी' और व्रजभाषा मे कोई ऐसा भेद नही कि दोनो को एक दूसरे से अलग माना जाय। श्री चिंतामणि का कथन है—

"जो न प्रयोगी सत कविन, भाषा काँची जाँन।
मथुरा मंडल, ग्वालियर की परिपक्व बखाँन।।"

'चिंतामणि' और 'खान आरजू' में कैसी एकता है! कैसा था वह समय!! जी हाँ, तो पुष्ट प्रमाणो के आधार पर इस जन ने सिद्ध कर दिया है कि सन् १७४४-४५ मे कभी दिल्ली में 'उर्दू की ईजाद' हुई और इसके ११-१२ वर्ष बाद खान आरजू का निधन हुआ। अजब नही कि उनके निधन से ही हातिम को विशेष बल मिला हो और उन्होने 'दीवानजादा' का निर्माण 'भाषा' के विनाश के लिये किया हो। जो हो, इस परिशीलन से इतना तो पक्का हो गया कि लगभग १७५० ई० के उर्दू से व्रजभाषा को गहरा धक्का लगा और चलते-चलते सन् १८०० ई० में फोर्ट विलियम में पहुँच कर अँगरेजी शासन मे वह निरत हो गई। इसके पहले बगाल में इसका कितना महत्व था, यह इसी से जाना जा सकता है कि वहाँ 'व्रजबूली' का अलग साहित्य ही बन गया है। श्री सत्यनारायण जी कविरत्न ने ठीक ही तो कहा है—

"बरनत को करि सकत भला तिह भाषा-कोटी।
मचलि, मचलि, माँगी जामें हरि माखन-रोटी।।"

पर विधि की विडंबना तो देखिये कि आज उसी रोटी के अभाव के कारण आज उसको कोई पूछता भी नही है। खोज के लोग भी 'खडी बोली' के ही खोजी बन रहे है। हा हन्त!

किंतु एक दिन था कि अपनी महिमा के कारण व्रजभाषा का सर्वत्र सम्मान था। यहाँ तक कि कट्टर औरंगजेब के शासन में उसके आदेश से राजकुमारों को शासन के लिये उसका व्याकरण भी फारसी में रचा गया। उसके रचयिता मीरजा खाँ ने उसमें स्पष्ट कहा—

"ब्रजवासियो की भाषा सभी भाषाओ में श्रेष्ठ है। गंगा और यमुना के बीच में जो देश है, जैसे—चंदवार आदि, वह भी शिष्ट गिना जाता है। चंदवार एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित प्रांत है। चूंकि इसी भाषा में प्रिय-प्रिया की प्रशंसा और सरस तथा अलंकृत कविता है। एव यही भाषा शिष्टो और काव्य की व्यापक भाषा है, इसलिये इसके व्याकरण की रचना की जाती है।" (ए ग्रामर आव व्रजभाषा, विश्वभारती, १९३५, पृ० ५४)

श्री मीरजा खा की इस गवाही के सामने श्री सत्यनारायण जी का यह कथन कितना साधु और सटीक ठहरता है—

"सुरपद वरन सुभाव, विविध रसमय अति उत्तम।
सुद्ध संस्कृत सुखद आत्मजा अभिनव अनुपम॥
देसकाल-अनुसार भाव निज व्यक्त करन में।
मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में॥
ईस्वर मानव-प्रेम दोउ इक संग सिखावति।
उज्ज्वल-स्यामल-धार जुगल यो जोरि मिलावति॥
भेद-भाव तजिवे की प्रतिभा जव रस-ऐनी।
जोग गहत तिनसो तव सुंदर वहति त्रिवेनी॥
करी जाय जदि जासु परीच्छा सविधि जथारथ।
याही में सव जग को स्वारथ अरु परमारथ॥"

इसी परम लाभ के विचार से तो अवध के 'रसलीन' विलग्रामी ने अपनी अनूठी रचना 'अंग-दर्पण' में लिखा सन् १७३७ ई० में—

"व्रजवानी सीखन रची, यह 'रसलीन' रसाल।
गुन, सुवरन, नग, अरथ लहि, हिय धरियो ज्यो माल॥"

और अवध के भिखारीदास जैसे आचार्य ने कहा यह कि—

"व्रजभाषा हेत व्रज-वास ही न अनुमानो, ऐसे-ऐसे कविन की वानी हूं सो जानिएं।"

इतना ही नही, कृपा कर उन्होने इतना और भी स्पष्ट कर दिया—

"व्रजभाषा भाषा रुचिर, कहै सुमति सव कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होइ॥"

स्मरण रहे 'व्रजभाषा' की यह व्यवस्था संवत् १८०३ वि० अर्थात् सन् १७४६ ई० की है। कहलें उर्दू की ईजाद के ठीक वाद की। 'उर्दू क्यो कर पैदा हुई', इसे सैयद इंशा अल्लाह के मुह से सुनिये। किस सचाई से साफ कह जाते है कि शाहजहानावाद के—

"खुशवयानो ने मुत्तफिक होकर मुताहिद जवानों से अच्छे-अच्छे लफ्ज निकाले और वाजे इवारतो और अल्फाज में तसर्रुफ करके और जवानो से अलग एक नई जवान पैदा की जिसका नाम उर्दू रक्खा।"

तो फिर इस कतर-व्योत और हेरफेर से वनी उर्दू की किसी सहज 'भाषा' से कैसे निभ सकती थी। फलत. 'भाखापन' की उपेक्षा हुई और लोग 'भाका' से चिढने लगे। मुहम्मदशाह 'रँगीला' का रँगीला शासन इस प्रकार 'भाषामणि व्रजभाषा' के लिये घातक सिद्ध हुआ और वह गाने की चीज भर रह गई। अँगरेजी शासन में प्रमाद और नीतिवश जव उर्दू ही हिंदुस्तानी के नाम से लोकभाषा मान ली गई तव व्रजभाषा की रही-सही प्रतिष्ठा भी जाती रही और निदान 'डाक्टर गिलकिरिस्त'

साहब को भी पछताना तथा कोसना पडा कि 'ब्रजभाषा' के साथ ही 'खडी बोली' को भी छोड कर 'फोर्ट विलियम' वालोने छात्रो का बडा अहित किया। उनका मूल कथन है—

> I very much regret that along with Brij Bhasa, the Khuree bolee was omitted since this particular idiom or style of the Hindoostanee would have proved highly useful to the student of that language (*The Oriental Fabulist*, 1803, p 5)

अर्थात् मुझे बड़ा खेद है कि ब्रजभाषा के साथ खडी बोली को छोड़ दिया गया, क्योंकि हिंदुस्थानी का यह विशेष मुहावरा वा शैली उस भाषा के विद्यार्थी के लिये विशेष रूपसे लाभदायक सिद्ध हो सकती थी।

फलत उपयोगिता के कारण 'खडी बोली' का फिर नाम फिरा और उसका दोहरा द्वद्व छिडा। राजकाज में उसकी उर्दू से मुठभेड हुई तो गद्य-पद्य में ब्रजभाषा से। गद्य के क्षेत्र में तो ब्रजभाषा अधिक नही अडी पर पद्य के क्षेत्र में उसकी 'खडी बोली' से ठन गई और अंत में हार भी उसी की हुई। फलत आज 'खड़ी बोली' किंवा 'नागरी' का राज है। इस राज्य के सबध मे संप्रति इतना ही कहना है कि स्वर्गीय श्री प्रतापनारायण मिश्र जी की वाणी मे—

"ब्रजभाषा भी नागरी देवी की सगी बहिन है। उसका निज स्वत्व दूसरी बहिन को सौंपना सहृदयता के गले पर छुरी फेरना है।"

निश्चय ही इस 'छुरी' से बचना चाहिए, अन्यथा राष्ट्र का सारा गौरव मिट्टी मे मिल जायगा। और स्मरण रखना चाहिए कि श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र जैसे पारखी की भाषा में ब्रजभाषा के—

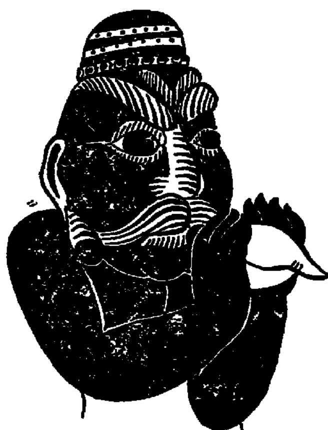
"कवियो ने अर्थ के लिये अपने व्यक्तित्व का, अपने आदर्श का, अपनी प्रतिभा का सर्वथा विनाश ही कर दिया हो, ऐसी बात नही है। अपने आश्रय दाताओं की वैयक्तिक प्रशंसा या विरुदावली इन्होने दो ही चार छंदों में गाई है। पूरा काव्य उन्हींके बखान में रचा हो, ऐसा नहीं। जो चाटुकारिता वर्तमान स्वतत्र भारत में राजकीय मन्त्रियो को अभिनंदन-ग्रंथ समर्पित करने में हिंदी के कविंमन्य और पडितंमन्य महानुभावो के द्वारा देखी जा रही है, उस का शतांश ही उनमें मिल सकता है। दरबारी मनोवृत्ति सप्रति आज कहीं अधिक है और राजनीति के नाम पर साहित्य न्यौछावर हो रहा है। रीतिबद्ध कवि 'नीति गलित' नहीं थे और न वैसा करके धन बटोरना चाहते थे। सभ्यता अपने विकास के साथ सचाई छिपाने के जितने अधिक साधन और मार्ग आज निकाल चुकी है, उतने उस समय नहीं थे। जितने थे भी उनका उपयोग कोई कवि कुटिलता पूर्वक नहीं करता था। उन्होने जो कुछ किया या जो कुछ लिखा, प्रत्यक्ष किया और लिखा। इस प्रत्यक्षवादिता के लिए सांप्रतिक राजनीति-सवलित कवि-पुगवो और साहित्यिको से अधिक प्रशंसा के भाजन अवश्य है। वे अर्थ की अपेक्षा राजसभा में बड़प्पन पाने के अभिलाषी थे। वे स्वार्थ-सिद्धि के स्थान पर समाज-सिद्धि का भी ध्यान रखते थे। रीतिबद्ध-काव्य हिंदी को शृंगार की उक्तियों का जैसा भारी भांडार सौंप गया है उसमें कूड़ा-करकट या केवल अशिष्ट या अश्लील वर्णन ही नहीं है, उसमें शृंगार की प्रभूत परिमाण में अच्छी-अच्छी उक्तियाँ भी सचित है। जितनी संस्कृत क्या किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकतीं। इसे इसकी कड़ी से कड़ी अलोचना करने वाले महानुभावो ने भी स्वीकार किया है।"

—बिहारी, वाणी-वितान- ब्रह्मनाल काशी, पृ० ६३-४

कहने का तात्पर्य यह कि ब्रजभाषा का गहरा अनुशीलन होना चाहिए और किसी आसमानी चरका मे आ कर उससे जी चुराना छोड देना चाहिए। 'प्रगति' या 'प्रयोग' के प्रेमी यदि 'पहचान' और 'परख' से जी बचाना चाहते है तो चार दिन के लिये चाहे जैसा रग जमा लें, किंतु अत में उतरना है उन्हें भी उसी घाट जिसे कहते है 'शृगार वा रसराज'। 'प्रगटत दुरत' वे आ भी रहे है उसी मार्ग पर। ऐसी परिस्थिति में आवश्यक है कि इस 'भाषामणि' की परीक्षा और इसके परिशीलन मे दत्तचित्त हो कुछ चित्तवृत्ति को जाना जाय और मनसाराम को परख कर ही नित नया-नया मनसूवा बाँधा जाय। जिससे—

"जगमगाय जातीय प्रेम सुधरै चरित्र-बल।
सब के हो आदरस उच्च उत्तम अरु उज्जल॥
विद्या, बिनय, बिवेक, प्रकृति छबि मनहिं लुभावै।
दुख कौ हो बस अंत देस भारत सुख पावै॥"

—सत्यनारायण



सोलहवीं शती में सगुण भक्ति के मेघजल

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल

भारतीय धार्मिक विचार-धारा मे तीन बडी क्रातियाँ हुई है। पहली क्राति वेदव्यास के द्वारा हुई, जिन्होने वैदिक तत्त्वज्ञान को लोक म व्याप्त निषाद-सस्कृति के धार्मिक आचार-विचारो के साथ मिला कर महाभारत में दोनो का समन्वय किया। दूसरी बडी क्राति विक्रम सवत् के लगभग भागवत-धर्म और महायान-धर्म के समन्वय-प्रधान चिंतन के रूप में आरभ हुई, जिसके द्वारा मोक्ष-प्रधान सन्यास-मार्ग और प्रवृत्ति-प्रधान गृहस्थ-मार्ग के बीच मे पडी हुई खाई को पाटा गया, जिसके अत में 'प्राप्तो गृहस्थैरपिमोक्षमार्ग" वाला चौडा मार्ग या महायान प्रचारित हुआ। शुग, कुषाण और गुप्तकाल के समस्त धार्मिक आदोलन इसी सेतुबध की ओर लक्ष्य करते हुए दिखाई पडते है। विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी का धार्मिक इतिहास भागवत-धर्म के समन्वयात्मक प्रयत्नो का इतिहास है। इन प्रयत्नो में जैन, बौद्ध, शैव सभी ने एक ही मूल प्रेरणा से केवल नाम-भेद रखते हुए भाग लिया। भागवतो के जगत् में अचिंत्य ब्रह्मतत्त्व विष्णु बन कर प्रकट हुए। सब प्राणियो को, सब विचार-धाराओ को अपने में व्याप्त कर लेना, सब में स्वय व्याप्त हो जाना, यही विष्णु की विशेषता थी। अतएव इस अन्वर्थ नाम की ओर इस सहस्राब्दी में समन्वय के प्रयत्न अपना ताना-बाना बुनते रहे। कालिदास ने अपने समन्वय प्रधान दृष्टिकोण से इसी युग-सत्य को विष्णु की स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा—

"बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतंत्योघा जान्हवीया इवार्णवे॥"

—रघुवश १०।२६

'सिद्धि को प्राप्त करानेवाले अनेक मार्ग आगम-सिद्धातो के अनुसार अलग-अलग बढे है, किंतु वे सब तुम्हारे पास ही पहुँचते है, जैसे गगा के प्रवाह समुद्र में मिलते है।'

विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी मे फिर एक क्राति के लिये जगह बनी। शुष्क तर्क-प्रतिपादित निर्गुण अद्वैत-तत्त्व का भार मानवी-बुद्धि के लिए दूभर हो गया। विचार-जगत् में पडित-वर्ग और लोक एक दूसरे से बिछुड गए। पडितो के पास तर्क की पैनी कैंची थी। निर्गुण तत्त्व की उससे मनमानी कतर-ब्योत की जा सकती थी। बौद्धो के अनेक प्रकार के अद्वैतवादी तर्क निर्गुणरूपी वस्त्र को काटते-छेदते रहे। शकराचार्य और उनके उत्तराधिकारी दार्शनिको के मायावाद में भी बुद्धि पर आश्रित तर्क का ही बोलवाला था। आठवी शती से ग्यारहवी शती तक पनपनेवाले सिद्ध और उनके उत्तराधिकारी नाथ गुरु निर्गुण की बात ही जनता की भाषा में कहने का प्रयत्न करते रहे, किंतु उनकी रूखी सूखी बारहखडी से जनता के लिये हृदयग्राही रसानुभूति की कोई विशेष बात न बन सकी। आत्माराम इस शरीर रूपी कुडल्ली या कुटिया में रम रहा है, इडा, पिंगला, सुषुम्णा की कला करने से उसे वश में किया जा सकता है, यह बात कितनी ही ठीक भी हो पर थी एकदम नीरस। उसे सुन कर लोक के मन में किसी तरह की फुरहरी या गुदगुदी उत्पन्न नहीं होती थी। निर्गुणी काव्य के क्षेत्र मे कबीर की वाणी अतिम पराकाष्ठा है। उसमें ओज और कविता का भरपूर आनद है, पर रसानुभूति के लिये उसकी असफलता का साक्षी प्राय प्रत्येक पाठक का अपना मन है। आकाश मे विचरने वाले दार्शनिको की फटकार से लोक का क्या भला हो सकता है? उसके लिये जिस आत्मिक परिवर्तन की

आवश्यकता थी, वह विष्णु स्वामी रामानुज, निंबार्क, मध्व, रामानंद, वल्लभ, चैतन्य आदि आचार्यों, सतो और भक्तो के द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस क्रांति की मुख्य विशेषता अद्वैत-वेदांत और भक्ति का समन्वय था। लोक-मानस के जिस सरोवर मे शताब्दियो से सूखा पड़ा हुआ था वही भक्ति-जन्य मनोभावो का अटूट जल बरस पड़ा। सगुण-लीलाओ को गाने के लिये जनता तरस रही थी, उसके लिये द्वार खुल गया। तुलसी के शब्दो मे साधुरूपी मेघ राम के यश का सुंदर जल लेकर चारो ओर बरसने लगे—

बरर्षाहि राम सुजस बरबारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥

प्रेम उस जल का मिठास था, भक्ति उसकी शीतलता थी। वही लोक के मनरूपी सरोवर में भर गया। वैसे एक सरोवर की कल्पना तुलसीदास का रामचरितमानस है। इस तालाब में जिसने डुबकी लगाई उसी का मन आनंद से भर गया। तुलसी आदि भक्त संतो का मत वेदमत (ऊँचादार्शनिक ज्ञान), पुराणमत (कथा-कहानी, देवचरित आदि) और संतमत (भक्तिज्ञान कृत साक्षात् अनुभव), इन तीनो का समन्वय था। तुलसी ने कहा है कि रामभक्ति की जो गंगा है, वेदमत और लोकमत उसके दो किनारे है, जिनको सीचती हुई वह जलधारा बही है।

सोलहवी शताब्दी में इस प्रकार की वेगवती भावधारा देश के प्रत्येक भाग में बह निकली। राम और कृष्ण उसके प्रतीक बने। वे ही रस-तत्त्व के सगुण और साकार रूप बन कर लोक में मान्य हुए। जहाँ निर्गुण का ताना बुना हुआ था, वहाँ सगुण रूप का गान करके भक्तो ने अपने मन की शक्ति से भरपूर रस उँडेला और लोक के मानस पट को खूब भिगोया। भारतीय इतिहास की यह अनूठी विशेषता है कि उसमें समय-समय पर होनेवाली धार्मिक हलचलो की छाप प्राय सारे देश पर एक सी पड़ी है। पद्रहवी-सोलहवी शताब्दियो के धार्मिक आदोलन ने प्रत्येक प्रांतीय भाषा के साहित्य को सराबोर कर दिया। असम भाषा के श्री शंकर नामक महाकवि ने अपनी प्रतिभा से भागवत का महान् काव्यानुवाद किया जो आज भी उस भाषा का भूषण है। रामसरस्वती नामक महाकवि ने फेंटा बाँध कर रामायण और महाभारत दोनो ही काव्यो का असम भाषा में अनुवाद कर डाला। बंगाल में तो चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण को केंद्र में रख कर भक्ति की बढ़िया ही बहा दी जिसका प्रभाव उड़ीसा, वृंदावन और कर्नाटक तक हुआ। चडीदास की 'कृष्ण-भक्ति-पदावली' पद-साहित्य का वैसा ही प्रयत्न है जैसा हिंदी-साहित्य में पदनिर्माता कवियो ने किया। जब गुसाँईजी ने रामचरितमानस लिखा उसी समय कीर्तिवास ओझा ने बंगीय रामायण लिखी। उड़ीसा में सोलहवी शताब्दी के प्रारंभ में जगन्नाथदास ने भागवत, बलराम ने रामायण, शारदादास ने महाभारत और अच्युतानंद ने हरिवंश के काव्यानुवाद उत्कल भाषा में तैयार किए, लेकिन उत्कल भाषा का कठहार सोलहवी शती में ही निर्मित 'रस-कल्लोल' नामक मनोहर काव्यग्रंथ है, जिसमें राधाकृष्ण के लीला-विलास का वर्णन हुआ है। लगभग इसी समय भक्त शिरोमणि पोतनामात्य ने तेलगु भाषा में भागवत का अनुवाद किया।

सोलहवी शताब्दी के आरंभ मे विजयनगर सम्राट् कृष्णराय के समय में धारवाड़ जिले के कुमार व्यास कवि ने कन्नड महाभारत की रचना की। इसी शताब्दी में कुमार वाल्मीकि ने कन्नड रामायण बनाई। चाटु विट्ठलनाथ ने इसी शताब्दी में भागवत पुराण का कन्नड भाषा में काव्यानुवाद किया। कन्नड-साहित्य की एक विशेष विभूति वैष्णवो के रचे हुए पद है, जिनकी रचना गाँव-गाँव में पैदल घूमते हुए भक्तो ने मध्वाचार्य और चैतन्य की शिक्षा के अनुसार की। दासर पदगल (दासो की पदावली) नाम से इन पदो का संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनमें सबसे प्रसिद्ध पंढरपुर के निवासी पुरंदरदास थे जिनकी १५६४ ई० में मृत्यु हुई। इन्ही के समकालीन 'कनकदास' थे जिन्होंने कृष्ण के संबंध में पौराणिक कथाओ को लेते हुए 'मोहन तरंगिणी' नामक ग्रंथ की रचना की। पुरंदरदास और कनकदास कन्नड भाषा के सूर और तुलसी हैं। मध्वाचार्य और चैतन्य के प्रभाव से

दाससज्ञक भक्तो ने जिस वैष्णव धर्म की स्थापना की वह कन्नड प्रदेश का समन्वय-प्रधान जातीय धर्म वन गया और उसी की गोद में जैन एव लिंगायत धर्म की धाराएँ भी लीन हो गईं। सोलहवी शताब्दी मे पाटण गुजरात के महाकवि भालण ने भागवत दशमस्कध का बहुत ही ललित पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। इससे पूर्व भी सवत् १५२८ मे प्रभास पट्टन के कायस्थ केशवहृदयराय ने भागवत दशमस्कध का पद्यानुवाद रचा था। उसके कुछ ही वर्ष बाद सवत् १५४१ मे सिद्धपुर पाटण के भीमनायक कवि ने 'हरिलीला षोडश-कला' नामक कृष्ण-चरित की रचना की। गुजराती पदो की रचना में कवि परमानद (१७ वी १८ वी शती) का स्थान बहुत ऊँचा है। इस प्रकार प्राय प्रातीय साहित्य ने सोलहवी शती की भक्ति-प्रधान क्राति मे और साहित्यिक पुनरुत्थान मे भाग लिया।

हिंदी के क्षेत्र मे तुलसी और सूर इस युग के मुख्य प्रतिनिधि है, जिनमे एक ही युगधारा राम और कृष्ण को प्रतीक बना कर दो रूपो में प्रकट हुई। कृष्ण-साहित्य के निर्माण की प्रेरणा मे वल्लभाचार्य (जन्म स० १५३५, मृत्यु स० १५८७) और उनके प्रतिभाशाली पुत्र विट्ठलनाथ (जन्म स० १५७२, मृत्यु १६४२) ने प्रमुख भाग लिया। वल्लभाचार्य ने यो तो सारे देश में भ्रमण किया था, किंतु व्रज को विशेष रूप से अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। उनके द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथ मे लोक-सग्रह की विलक्षण शक्ति थी। उन्होने कला, साहित्य और सगीत की योजना से वल्लभाचार्य के भक्ति धर्म को बहुत ही स्वरूपवान् बना दिया। कृष्ण-भक्ति के गायक आठ कवियो को लेकर अष्टछाप की कल्पना का श्रेय उन्ही को दिया जाता है। अष्टछाप के आठो विद्वानो का कार्य-काल सोलहवी शताब्दी ही है। इनमे से कुभनदास, सूरदास, परमानददास, कृष्णदास के दीक्षा-गुरु वल्लभाचार्य और गोविंद-स्वामी, नददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास के दीक्षा-गुरु विट्ठलनाथ थे। अष्टछाप के कवियो का हिंदी-साहित्य के लिये बहुत ही महत्त्व है। उत्तरभारत के लोकमानस से निर्गुण परपरा हटाकर उसमें सगुण भावो के प्रति आस्था भरने का बहुत अधिक श्रेय अष्टछाप के महायानी कवियो को है। हिंदी-जगत् के धार्मिक इतिहास की जमी हुई तहो को जब हम खोलना चाहेगे तब अष्टछाप का उद्घाटन किए बिना हमारा काम नही चलेगा।



श्री सूर के प्रति

श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय

ज्योतिमय वाणी तुम्हारी, रूपमय वाणी तुम्हारी ।
गूंजती ब्रज-वीथियों में, अमृतमय वाणी तुम्हारी ।।

कवि, तुम्हें पा कर धरा ने, व्यक्ति की अभिव्यक्ति पाई,
कवि, तुम्हें पा कर धरा ने, सृजन की नव शक्ति पाई !
स्वप्न था संसार, तुम ने सत्य धरणी पर उतारा,
कवि, तुम्हें पा कर स्वयं भगवान ने निज भक्ति पाई !
आदि कवि की साँस मुखरित हो रही वाणी तुम्हारी,
ज्योतिमय वाणी तुम्हारी, रूपमय वाणी तुम्हारी !

सहज शैशव रूप धारण कर सजल घनश्याम आये,
प्रेम की वंशी तुम्हारी, लहरियों पर स्वर[1] बजाये ;
चित्र अति सुकुमार तुम ने था बनाया राधिका का,
कृष्ण आ कर के तुम्हारी तूलिका में मुस्कराये !
भक्त उद्धव की कहानी, कह रही वाणी तुम्हारी,
ज्योतिमय वाणी तुम्हारी, रूपमय वाणी तुम्हारी ।

कवि, तुम्हारी पंक्तियों में झूमतीं घन की घटाएँ,
कवि, तुम्हारी पंक्तियों में गूंजती मधु की निशाएँ[2] ।
कृष्ण-सुधि में सजल स्यामल आत्म-विस्मृत दीपिकाएँ[3]
उतर आती हैं तुम्हारी पंक्तियों में गोपिकाएँ !
आँसुओं में डूबती ही जा रही, वाणी तुम्हारी,
रूपमय वाणी तुम्हारी, ज्योतिमय वाणी तुम्हारी ।

[1] स्वर लहरियों पर,
[2] झूमती धुन की दिशाएँ,
[3] कृष्ण-सुधि की सिसकियों में सजल दीपक को जला कर,

अष्टछाप की मधुर भक्ति

श्री दीनदयाल गुप्त

हिंदी व्रजभाषा के नीचे कहे आठ कवि 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं । सूरदास, परमानददास, कुंभनदास, कृष्णदास अधिकारी, नददास, चतुर्भुजदास, गोविंदस्वामी और छीतस्वामी। इनमे प्रथम चार आचार्य श्री वल्लभ (सवत् १५३५ से सवत् १५८७ तक) के शिष्य थे और अतिम चार आचार्यजी के उत्तराधिकारी गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी (सवत् १५७२ से सवत् १६४२) के शिष्य थे । ये आठो भक्त कवि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सहवासमे एक-दूसरे के समकालीन थे और व्रज में गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित श्रीनाथजी के मदिर मे कीर्तन की सेवा और वही रहकर भगवद्भक्ति रूप में पद-रचना किया करते थे । उस समय के वल्लभ सप्रदायी अनेक कवियो का उल्लेख उक्त सप्रदाय की वार्ताओ में आता है । परतु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने सप्रदाय के अनुयायी भक्त कवियो में से सर्वश्रेष्ठ भक्त, काव्याकार और सगीतज्ञ इन्ही आठ सज्जनो को छाँटा तथा इन पर अपनी प्रशसा और आशीर्वाद की छाप लगाई । गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की इस मौलिक तथा प्रशसात्मक छाप के बाद ये महानुभाव 'अष्टछाप' कहलाने लगे ।

ये आठो कवि उच्चकोटि के भक्त, कवि तथा सगीताचार्य थे । अपनी रचनाओ मे प्रेम की बहुरूपणी अवस्थाओ के जो चित्र इन कवियो ने उपस्थित किये है, वे काव्य की दृष्टि से वास्तव में उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। वात्सल्य, सख्य, माधुर्य, हास्य और शात-भावो की भक्ति का जो स्रोत अपने काव्य में इन भक्तो ने खोला है वह भी अत्यत सुखकारी है । लौकिक तथा अध्यात्मिक दोनो प्रकार की अनुभूतियो की दृष्टि से देखने पर इनका काव्य महान् है ।

'शाडिल्य—भक्तिसूत्र' में भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' ईश्वर में अत्यत अनुरक्ति ही भक्ति है और 'नारद-भक्तिसूत्र' में भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा ।२। अमृत स्वरूपा च ।३। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धोभवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।४।

अर्थात् "ईश्वर के प्रति प्रेम का नाम भक्ति है, वह अमृत स्वरूपा है, जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध और तृप्त हो जाता है । फिर वह किसी भी वस्तु की इच्छा नही करता, न वह शोक करता है और न द्वेष । न किसी सासारी वस्तु में आसक्त और न उस वस्तु से उत्साहित होता है ।"

श्रीमद्भागवत के स्कध ३, अध्याय २५, श्लोक ३२-३३ में भक्ति के विषय में कहा गया है कि सासारिक विषयो का ज्ञान देने वाली इद्रियो की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप मे भगवान् में जब लगती है, तब उस प्रवृत्ति को भक्ति कहते है । श्री वल्लभाचार्यजी ने इन सब व्याख्यानो का समन्वय करके 'तत्त्वदीप निवध शास्त्रार्थ-प्रकरण' श्लोक ४६ में भक्ति का लक्षण बताया है—

"भगवान् मे माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सुदृढ और सतत् स्नेह ही भक्ति है । मुक्ति का इससे अधिक और सरल उपाय नही है ।" माहात्म्य-ज्ञान और भगवान् के प्रति स्नेह के विषयमे श्री हरिराय गोस्वामी ने कहा है—

"श्री आचार्यजी के मारग कौ स्वरूप कहा है, जो महात्म्य-ज्ञान पूर्वक दृढ स्नेह तौ सर्वोपरि है सो ठाकुरजी को बहुत प्रिय है, परंतु जीव माहात्म्य राखें । सो काहे ते । जो माहा-

स्य-बिना अपराध कौ भय मिट जाय तासो प्रथम दशा में माहात्म्य-युक्त-स्नेह अवश्य कहिऐ। तासो माहात्म्य विचारै और अपराध सो डरपै। जब सर्वोपरि स्नेह होइगौ तव आपसी ते स्नेह ऐसौ पदार्थ जो माहात्म्य कों छुड़ाइ देयगौ।"

अष्टछाप-भक्तो ने जहाँ कृष्ण को वात्सल्य, सख्य, दास्य और काता भावो से भजा है, वहाँ उन्होंने कृष्ण के ईश्वरत्व के भाव की महत्ता को ध्यान में रखा है। ईश्वर कृष्ण के लोक-चरित्रो के वर्णन में भक्त की चित्त-वृत्ति कही लोक में ही न फँसी रह जाय, इसलिये वे बार-बार याद दिला देते है कि ये बालवत् या किशोरवत् लीलाएँ मनुष्य रूप में अवतरित भगवान की है, मायिक मनुष्य की नही है।

भक्ति दो प्रकार की कही गई है—'गौणी' और 'परा।' साधन दशा की भक्ति गौणी कहलाती है और सिद्ध दशा की भक्ति परा भक्ति है। गौणी भक्ति के पुन दो भेद है—'वैधी' तथा 'रागानुगा'। जिस भक्ति का साधन शास्त्रोक्त विधिपूर्वक होता है और जिसके विविध अगो का नियमपूर्वक साधन होता है उसे वैधी भक्ति कहते है। वैधी भक्ति को कुछ लोग मर्यादा भक्ति भी कहते है—

"शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते।
इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु॥"

—हरिभक्ति रसामृत सिंधु पूर्वभाग, लहरी २, श्लोक ४.

जिस प्रेम भाव की अनुभूति से भक्त के हृदय में परम शाति और आनद का उदय हो जाता है उसे 'रागानुगा भक्ति' कहते है। श्री रूप गोस्वामीजी ने 'हरिभक्ति रसामृत सिंधु' के पूर्व विभाग लहरी २, श्लोक ६३ में इसे दो प्रकार का कहा है—एक 'काम रूपा' और दूसरी 'सबध रूपा'। इद्रियो की तृप्ति की कामना लोक से न कर भगवान् से करने की इच्छा भक्ति पक्ष में 'काम' कहलाती है तथा दास, सखा, पिता-माता, पुत्र-पति-आदि के सबध में जो काम-रहित प्रेम है वह सबध-स्वरूपा—'रागात्मिका भक्ति' है। वैधी और रागानुगा भक्तियाँ दोनो साधन दशा की ही भक्ति है। जब भक्त पूर्ण शाति की अवस्था को पहुँच जाता है तब उसे किसी भी प्रकार की इच्छा नही रहती। कामना-रहित प्रेमानद में ईश्वर से प्रेम करना ही 'परा भक्ति' है। 'गौणी भक्ति' और परा भक्ति को 'साध्य भक्ति' भी कहते है।

मत्र योग की अग स्वरूपा भक्ति के अतिरिक्त वैधी और रागानुगा भक्ति को एक स्वतत्र साधन भक्ति-शास्त्र के आचार्यो ने माना है और इसमें मत्र योग के कुछ विधान जैसे—ईश्वर-मूर्ति की पूजा, अर्चना तथा ईश्वर-नाम रूप का ध्यान भी प्रविष्ट कर लिये गये है। 'शाडिल्य-भक्तिसूत्र', 'नारद-भक्तिसूत्र', 'हरिभक्ति-रसामृत सिंधु'—आदि ग्रथो में स्वतत्र भक्तिमार्ग की वैधी, रागानुगा तथा परा भक्तियो का विवेचन है। साधन स्वरूपा भक्ति की सिद्धि की दो अवस्थाएँ है—एक पूर्ण ज्ञान की अवस्था, दूसरी पूर्ण प्रेम भाव की अवस्था। श्री वल्लभाचार्य जी ने ज्ञान के साधन रूप में भक्ति का प्रचार नही किया। यद्यपि वल्लभ संप्रदाय में 'साधन भक्ति' और 'साध्य भक्ति' दोनो प्रकार की भक्तियो को अंगीकार किया है। परतु साधन भक्ति का लक्ष्य ज्ञान अथवा मोक्ष न होकर इस मार्ग मे पूर्ण प्रेम अवस्था का प्राप्त करना ही है। वैधी साधन भक्ति में आचार्य जी और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने पूजा, अर्चा, सेव्य स्वरूप (मूर्ति) का ध्यान, नाम-स्मरण आदि तथा आठ प्रहर की स्वरूप-सेवा-विधि को स्थान दिया है। भाव-भक्ति-द्वारा परा भक्ति का, निष्काम प्रेम या प्रेमलक्षणा भक्ति का प्राप्त करना इस सप्रदाय की भक्ति का ध्येय है। परा भक्ति अहेतुकी है, उस समय भक्त को भगवान के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य काम्य पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) नही चाहिये। साधन-स्वरूपा रागानुगा-भक्ति की सिद्ध अवस्था में आकर भक्त प्रेमोन्मत्त होकर विधि-निषेधो को भूल जाता है और प्रेम-भक्ति की व्याकुल विरहाग्नि में उसके सब पाप-कर्म भुन जाते है।

श्रीमद्भागवत (स्कंध ३, अध्याय २९ श्लोक ७।१४) में साधक के स्वभावानुसार भक्ति चार प्रकार की कही गयी है। इस प्रकार का विभाजन वल्लभ सप्रदाय में तथा सूरदास-द्वारा भी किया गया है। श्रीमद्भागवत का गुरु समन अनुकरण करते हुए सूरदास जी कहते हैं—

"माता भक्ति चारि परकार, सत, रज, तम-गुन सुद्धासार।
तमोगुनी चाहै या भाइ, मम वैरी क्यो हूँ मरि जाइ।
भक्ति सात्वकी चाहति मुक्ती, रजोगुनी धन, कुटुम-अनुरक्ती।
सुद्धा भक्ती मोच्छ न चाहैं, मुक्तिहु को सो नहिं अवगाहै।"

इस प्रकार से सूरदास ने दो प्रकार के भक्त कहे है—एक 'सकाम भक्त' और दूसरे 'निष्काम भक्त'।

भक्ति की प्रथम साधन अवस्था में वल्लभाचार्य जी ने गृहस्थाश्रम में रह कर धर्म-पालन करने का आदेश दिया है और गृहस्थ के कर्मो को कृष्ण की इच्छा मान कर करने का उपदेश दिया है[1]। वहाँ पर आचार्य जी ने प्रेम-भक्ति का अंकुर उगाने के लिए कर्म और भक्ति का मेल कर दिया है। इसी प्रकार उन्होने जब यह कहा है—"भगवान् सब कुछ है, उन्ही का रूप सर्वत्र है और उन्ही से सब कुछ उत्पन्न हुआ है, भक्त को ऐसा माहात्म्यज्ञान धारण करना चाहिये", उस समय उन्होने साधन-रूप में ज्ञान को भक्ति में स्थान दे दिया है। यह बात ध्यान करने की है कि वल्लभाचार्य और अष्टछाप-कवियो के मत में कर्म और ज्ञान, ये प्रेम-भक्ति की अवस्था प्राप्त करने के साधन-मात्र ही है, लक्ष्य रूप नही है।

वल्लभ-संप्रदाय के उपास्य देव सगुण रस-रूप श्री परब्रह्म श्री कृष्ण हैं। वहाँ यह भी बताया गया है कि इस मत मे कृष्ण के दो रूप मान्य है,—एक 'पूर्ण पुरुषोत्तम रस-रूप व्रज-कृष्ण' और दूसरे 'धर्म-सस्थापक व्यूहात्मक रूपधारी, (ऐश्वर्य-रूप) मथुरा-द्वारिका के वासुदेव'। अष्टछाप भक्तो की आस्था ईश्वर के सगुण, निर्गुण, पचदेव और चौबीस लीलावतार सभी रूपो में थी, परन्तु उनकी प्रेमाभक्ति के उपास्य देव बाल, पौगड और किशोर अवस्थाओ में लीलाधारी व्रज-कृष्ण ही थे। एक स्थल पर गोपी-वचनो में सूरदास जी कहते है—

"हो कैसें कै दरसन पाऊँ।
सुनहुँ पथिक, वा देस-द्वारिका जो तुम्हरे सँग जाऊँ।।
बाहर भीर बहुत भूपन की, बूझत बदन दुराऊँ।
भीतर भीर भोग-भामिनि की, तिहि ठाँ कौन पठाऊँ।।
बुधि-बल-जुक्ति-जतन करि वा पुर, हरि-पिय पैं पहुँचाऊँ।
अब बन-बसि निसि कुंज-रसिक-बिन, कोनहिं दसा सुनाऊँ।।
स्रम कै 'सूर' जाउँ पिय-पासहिं, मन में भलें मनाऊँ।
नव-किसोर-मुख-मुरली-बिन, इन नैनन कहा दिखाऊँ।।"

"हे पथिक, मैं प्यारे कृष्ण के कैसे दर्शन पाऊँ। मैं तुम्हारे साथ द्वारिका चल सकती हूँ, परतु वहाँ तो कृष्ण के राजसी ठाट होगे। वहाँ भोग-भरे भवन में मेरी पहुँच नही है। यदि अपनी बुद्धि और यत्नो के साधन से मैं वहाँ पहुँच भी जाऊँ तो व्रज-निकुज के रसिक बिना किसको अपने विरह-दुःख सुनाऊँगी। मैं, नव किशोर-तन मुख-मुरलीधारी कृष्ण के बिना इन नेत्रो को क्या दिखाऊँगी।" चतु श्लोकी (षोडश ग्रथ) में श्री वल्लभाचार्य जी ने कहा है—

"सर्वदा सर्व भावेन भजनीयो व्रजाधिप"

भगवान सर्वदा सर्वभाव से भजनीय है। प्रेम मे, द्रोह मे, भाव-कुभाव मे अर्थात् सर्व भावो मे यदि कृष्ण का ध्यान किया जाय तो वे भाव कल्याणकारी ही होते है। भागवतकार का भी कथन

[1] श्रीवल्लभाचार्य—भक्तिवर्धिनी श्लोक—५,

है कि "काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सुहृदभाव इनमें से कोई भी भाव भगवान् हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड कर ईश्वरीय हो जाते है।" नारद-भक्तिसूत्र में कहा गया है कि "यदि सब आचार भगवान को अर्पण करने पर भी काम, क्रोध अभिमानादि मानसिक भाव पीछा न छोडते हो तो उन्हें भी परमात्मा के प्रति करना चाहिये।" इन कथनो का वास्तव में तात्पर्य यही है कि किसी भी भाव से सही परमात्मा का सर्वदा ध्यान होना चाहिये और सब प्रकार के भावो का अवलबन ईश्वर ही हो। इस प्रकार के अभ्यास से साधक की चचल-मनोवृत्ति लोक से हट कर ईश्वर में ही केंद्रीभूत हो जाती है। यह भाव का योग है। भाव-द्वारा चित-वृत्ति का निरोध है।

मानव अनुभूति के विविध प्रकार के भावो मे से भक्ति-मार्ग के आचार्यों ने केवल प्रेम-प्रीतिके भावो को ही चुना है और उन्ही को लोक से उठा कर ईश्वर मे लगाया है। इस प्रीति की अभिव्यक्ति मुख्यत चार प्रकार से होती है। वास्तव में मानव-प्रेम के जितने रूप है उन सभी में प्रीति-सबधो को भक्तो ने परमात्मा से जोडा है और उसी के अनुसार भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने भक्ति के भावो का नाम-करण कर दिया है। जैसे—

"१. परमेश्वर मेरा पिता है, माता है, स्वामी है और मैं उसका आज्ञाकारी पुत्र अथवा स्वामि-भक्त दास हूँ। यह दास्य-प्रीति या दास्य-भक्ति है।

२. परमात्मा दुःख-सुख, आमोद-प्रमोद में मेरा साथी है, वह मेरा परम मित्र है, बंधु है, उसके सिवाय मेरा अन्य कोई ऐसा मित्र या बंधु नहीं है। यह सख्य-प्रीति या सख्य-भक्ति है।

३. परमेश्वर बालक है, पुत्र है और मैं उसकी पालक माता हूँ,—धात्री हूँ, मैं उसका पिता हूँ। शिशु के प्रति यह भाव वात्सल्य-प्रीति अथवा वात्सल्य-भक्ति है।

४. परमेश्वर पति है, मै उसकी पत्नी हूँ, अथवा परमेश्वर प्रिय है, मैं उसका प्रेमी हूँ या परमात्मा प्रेमी है और मै उसकी प्रिया हूँ। यह रति-प्रेम अथवा माधुर्य-भक्ति है।

भक्ति के ऊपर कहे चार-भावो के अतिरिक्त पाँचवाँ भाव शाता-भक्ति का भी है। उक्त चारो भावो की ईश्वरोन्मुख अनुभूति से, ससार की अस्थिर अवस्था तथा तत्त्व के ज्ञान से और वासनाओ के शमन से जो चित्त की स्थिर अवस्था होती है, उसे भक्ति का 'शम' भाव अथवा 'शाता-भक्ति' कहते है।

सगुण ईश्वरके उपासक भक्तो ने पीछे कहे सबधो में ईश्वर को तीन रूपो में देखा—एक स्त्री-रूप में, दूसरे पुरुष-रूप में और तीसरे युगल-रूप में। स्त्री-रूप के उपासको ने भागवान को मातृ-रूप तथा प्रिया-रूप इन दो रूपो में भजा है। भारतवर्ष के शाक्त उपासको की एक शाखा ने परम-तत्त्व ईश्वर की आराधना 'मातृ-भाव' अथवा 'जननी-जन्य-भाव' से की है। प्रिया-रूप मे अथवा 'माशूक' के रूप में भजने वालो में सूफी प्रेमी हुए है। राम, कृष्ण, नृसिंह आदि ईश्वर के रूपो की उपासना करने वाले भक्तो ने ईश्वर को एक तो पुरुष-रूप मान कर उससे सभी सबध जोडे है दूसरे उसको स्त्री-पुरुष दोनो की समष्टि-भावना में भी देखा है। पुरुष-रूप ईश्वर के साथ जो स्त्री-रूप है, वह अद्वैत वैष्णव सप्रदायो के अनुसार उसी की शक्ति है। भगवान् और उसकी महाशक्ति दोनो अभिन्न है और एक ही के वे दो रूप है। इसलिये भक्तो ने यदि भगवान् को पालक 'पिता' कहा तो भगवान् की शक्ति को 'माता' और यदि भगवान् को 'रस-रूप-परम पुरुष' कहा तो उसकी शक्ति को उसकी 'प्रिया'। अष्टछाप-कवियो की रचनाएँ राधाकृष्ण के युगल-रूप तथा केवल कृष्ण-रूप दो प्रकार के उपास्य की द्योतक है। ईश्वर को केवल स्त्री-रूप में देख कर जैसी भक्ति शाक्त और सूफी-मतावलबी-उपासना पद्धति में है, वैसी इन भक्तो की रचनाओ में नही है।

मर्यादा-भक्ति में भगवान् के साथ वे ही भाव जुडते है जो लोक-मर्यादा से समत है। परतु रागानुगा-भक्ति में विधि-निषिद्ध का ध्यान नही है। इसमें अच्छे-बुरे सभी सबध परमात्मा के साथ

जुड़ते हैं। प्रीति चाहे काम-रूपा हो, चाहे सबंध-रूपा उसका एक रूप स्त्री-पुरुष-रति का भी होता है। भक्ति-शास्त्र में इस रति-भाव-जन्य आनंद को 'मधुर-रस' कहते हैं और लोक-पक्ष में इसे 'शृंगार-रस'। काव्य-शास्त्र में स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रीति चाहे स्वकीय-भाव की हो चाहे परकीय-भाव की शृंगार-रसाभास का कारण होती है। भक्ति में शृंगार-रस तथा शृंगार-रसाभास दोनों के भाव को 'मधुर-रस' की संज्ञा दी जाती है। काव्य-शास्त्र में मधुर भावादि की भक्ति के आनंद को रस की संज्ञा नहीं दी गई, केवल भाव-कोटि में ही इसे गिना गया है। जिस प्रकार की रस-सामग्री (भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव) शृंगार-रस अथवा शृंगार-रसाभास की होती है उसी प्रकार की रस-सामग्री 'मधुर-रस' या 'उज्ज्वल-रस' की है। अंतर केवल इतना ही है कि मधुर-रस में जो प्रेम 'पति' अथवा 'जार' भाव से किया जाता है, उसका आलंबन लोक-नायक न होकर ईश्वर या ईश्वर का कोई अवतरित स्वरूप होता है। चैतन्य सम्प्रदाय के श्री रूपगोस्वामी जी ने अपने ग्रंथ 'हरिभक्ति-रसामृत-सिंधु' में भक्ति-रस के विवेचन के अंतर्गत इस मधुर-रस का भी निरूपण किया है। व्रज-कृष्ण तथा उनकी प्रियाएँ (भक्त) इस रस के आलंबन हैं। मुरली का मधुर स्वर, सखा, सखी—आदि इसके अनुभाव हैं तथा निर्वेद, हर्षादि जो शृंगार-रस के व्यभिचारी भाव हैं वे इसके भी हैं। कृष्ण में रति इस रस का स्थायी भाव है—इत्यादि। शृंगार-रस की तरह मधुर-भाव भी दो प्रकार का होता है—'संयोगात्मक' और 'वियोगात्मक'। संयोग-वियोग की वे ही अवस्थाएँ भक्ति-शास्त्र में कही गई हैं जो काव्य-शास्त्र में मानी गई हैं। क्योंकि प्रेम-भाव का मनोविज्ञान दोनों अवस्थाओं में (लौकिक प्रेम तथा ईश्वरीय प्रेम) एक-सा ही रहता है। इसी से भक्ति-प्रेम तथा लोक-प्रेम के चित्रण हमें एक-से प्रतीत हुआ करते हैं। मर्यादा-भक्ति जैसे दास्य, 'शीतल-भक्ति' भी कहलाती है और अमर्यादित भक्ति जैसे 'मधुर'—'उष्ण-भक्ति' कहलाती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्य मात्र का सबसे अधिक व्यापक भाव रति—प्रेम है। प्रीति के जितने संबंध हैं उनमें स्त्री-पुरुष के प्रेम में अधिक आकर्षण होता है, इसके अंतर्गत भी या तो प्रेम की पूर्वराग-अवस्था में अथवा स्वकीय-प्रेम की अपेक्षा परकीय-प्रेम या स्वकांत की अपेक्षा पर-पुरुष-प्रेम में अधिक तीव्रता, गहनता और टीस के आनंद होते हैं। इसीलिये अनेक आध्यात्मिक साधकों ने जहाँ प्रेम का साधन मार्ग लिया है, वहाँ उन्होंने वात्सल्य, सख्य, दास्य और दांपत्य-भावों की अपेक्षा 'पूर्वराग' अथवा 'जार'—प्रेम पर अधिक जोर दिया है। लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंध की व्यापकता को देख ज्ञानी साधकों ने भी ईश्वर के प्रति अपने आध्यात्मिक संबंध की अनुभूतियों को लौकिक शृंगार की भाषा तथा अन्योक्तियों में प्रकट किया है। काव्यशास्त्रकारों ने रति-भाव के रस को 'रस-राज' कहा है, क्योंकि एक तो यह व्यापक भाव है, दूसरे अन्य मानव-अनुभूत भावों का भी समावेश इसमें बड़ी हद तक हो जाता है। भक्त-शास्त्रियों ने भी मधुर-रस को भक्ति का मुख्य और सर्व श्रेष्ठ रस माना है। कांता-भाव की प्रीति में प्रेम की आत्मोत्सर्ग और आत्मविस्मृति की अवस्था पूर्णरूप में आ जाती है। आत्म-निवेदन तथा आत्म-समर्पण, प्रेम-भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन के साधन में जो अंतिम अवस्था आत्म-निवेदन की कही गई है वह कांता-भाव में ही पूर्ण होती है और विशेष रूप से 'जार-भाव' में।

अष्टछाप-भक्तों की रचनाओं के देखने से पता चलता है कि उनकी रागानुभक्ति प्रेम के विविध संबंधों में प्रकट हुई है, परंतु इन सब संबंधों में उनकी मानसिक वृत्ति मधुर-प्रेम में अधिक रमी है और मधुर-प्रेम की जितनी अवस्थाएँ होती हैं उन सब का व्यक्तीकरण उन्होंने किया है। इन भक्तों का वास्तव में चरम लक्ष्य भी यही है कि गोपी-भाव से वे भगवान् के सहवास में अखंड आनंद-लाभ करें। वियोग और संयोग अवस्थाओं में स्त्री रूप को लेकर उन्होंने जो प्रेमानुभूति की है वह बहुधा स्वकीय भाव की ही है। परकीय भाव का व्यक्तीकरण इनकी रचनाओं में

हैं कि "काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सुहृदभाव इनमें से कोई भी भाव भगवान् हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड़ कर ईश्वरीय हो जाते हैं।" नारद-भक्तिसूत्र में कहा गया है कि "यदि सब आचार भगवान को अर्पण करने पर भी काम, क्रोध अभिमानादि मानसिक भाव पीछा न छोड़ते हो तो उन्हें भी परमात्मा के प्रति करना चाहिये।" इन कथनो का वास्तव में तात्पर्य यही है कि किसी भी भाव से सही परमात्मा का सर्वदा ध्यान होना चाहिये और सब प्रकार के भावो का अवलबन ईश्वर ही हो। इस प्रकार के अभ्यास से साधक की चचल-मनोवृत्ति लोक से हट कर ईश्वर में ही केंद्रीभूत हो जाती है। यह भाव का योग है। भाव-द्वारा चित-वृत्ति का निरोध है।

मानव अनुभूति के विविध प्रकार के भावो में से भक्ति-मार्ग के आचार्यो ने केवल प्रेम-प्रीति के भावो को ही चुना है और उन्ही को लोक से उठा कर ईश्वर में लगाया है। इस प्रीति की अभिव्यक्ति मुख्यत चार प्रकार से होती है। वास्तव में मानव-प्रेम के जितने रूप है उन सभी में प्रीति-सबधो को भक्तो ने परमात्मा से जोडा है और उसी के अनुसार भक्ति-शास्त्र के आचार्यो ने भक्ति के भावो का नाम-करण कर दिया है। जैसे—

"१. परमेश्वर मेरा पिता है, माता है, स्वामी है और मै उसका आज्ञाकारी पुत्र अथवा स्वामि-भक्त दास हूँ। यह दास्य-प्रीति या दास्य-भक्ति है।

२. परमात्मा दुख-सुख, आमोद-प्रमोद में मेरा साथी है, वह मेरा परम मित्र है, बंधु है, उसके सिवाय मेरा अन्य कोई ऐसा मित्र या बधु नहीं है। यह सख्य-प्रीति या सख्य-भक्ति है।

३. परमेश्वर बालक है, पुत्र है और मै उसकी पालक माता हूँ,—धात्री हूँ, मैं उसका पिता हूँ। शिशु के प्रति यह भाव वात्सल्य-प्रीति अथवा वात्सल्य-भक्ति है।

४. परमेश्वर पति है, मै उसकी पत्नी हूँ, अथवा परमेश्वर प्रिय है, मैं उसका प्रेमी हूँ या परमात्मा प्रेमी है और मैं उसकी प्रिया हूँ। यह रति-प्रेम अथवा माधुर्य-भक्ति है।

भक्ति के ऊपर कहे चार-भावो के अतिरिक्त पाँचवाँ भाव शाता-भक्ति का भी है। उक्त चारो भावो की ईश्वरोन्मुख अनुभूति से, ससार की अस्थिर अवस्था तथा तत्त्व के ज्ञान से और वासनाओ के शमन से जो चित्त की स्थिर अवस्था होती है, उसे भक्ति का 'शम' भाव अथवा 'शाता-भक्ति' कहते है।

सगुण ईश्वर के उपासक भक्तो ने पीछे कहे सबधो में ईश्वर को तीन रूपो मे देखा—एक स्त्री-रूप मे, दूसरे पुरुष-रूप में और तीसरे युगल-रूप में। स्त्री-रूप के उपासको ने भगवान को मातृ-रूप तथा प्रिया-रूप इन दो रूपो में भजा है। भारतवर्ष के शाक्त उपासको की एक शाखा ने परम-तत्त्व ईश्वर की आराधना 'मातृ-भाव' अथवा 'जननी-जन्य-भाव' से की है। प्रिया-रूप में अथवा 'माशूक' के रूप मे भजने वालो में सूफी प्रेमी हुए है। राम, कृष्ण, नृसिंह आदि ईश्वर के रूपो की उपासना करने वाले भक्तो ने ईश्वर को एक तो पुरुष-रूप मान कर उससे सभी सबध जोडे है दूसरे उसको स्त्री-पुरुष दोनो की समष्टि-भावना में भी देखा है। पुरुष-रूप ईश्वर के साथ जो स्त्री-रूप है, वह अद्वैत वैष्णव सप्रदायो के अनुसार उसी की शक्ति है। भगवान् और उसकी महाशक्ति दोनो अभिन्न हैं और एक ही के वे दो रूप है। इसलिये भक्तो ने यदि भगवान् को पालक 'पिता' कहा तो भगवान् की शक्ति को 'माता' और यदि भगवान् को 'रस-रूप-परम पुरुष' कहा तो उसकी शक्ति को उसकी 'प्रिया'। अष्टछाप-कवियो की रचनाएँ राधाकृष्ण के युगल-रूप तथा केवल कृष्ण-रूप दो प्रकार के उपास्य की द्योतक है। ईश्वर को केवल स्त्री-रूप में देख कर जैसी भक्ति शाक्त और सूफी-मतावलबी-उपासना पद्धति में है, वैसी इन भक्तो की रचनाओ में नही है।

मर्यादा-भक्ति में भगवान् के साथ वे ही भाव जुडते हैं जो लोक-मर्यादा से समत हैं। परतु रागानुगा-भक्ति में विधि-निषिद्ध का ध्यान नही है। इसमें अच्छे-बुरे सभी संबध परमात्मा के साथ

जुड़ते है। प्रीति चाहे काम-रूपा हो, चाहे सबध-रूपा उसका एक रूप स्त्री-पुरुष-रति का भी होता है। भक्ति-शास्त्र में इस रति-भाव-जन्य आनद को 'मधुर-रस' कहते है और लोक-पक्ष में इसे 'शृगार-रस'। काव्य-शास्त्र मे स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रीति चाहे स्वकीय-भाव की हो चाहे परकीय-भाव की शृगार-रसाभास का कारण होती है। भक्ति मे शृगार-रस तथा शृगार-रसाभास दोनो के भाव को 'मधुर-रस' की सज्ञा दी जाती है। काव्य-शास्त्र में मधुर भावादि की भक्ति के आनंद को रस की संज्ञा नही दी गई, केवल भाव-कोटि मे ही इसे गिना गया है। जिस प्रकार की रस-सामग्री (भाव, विभाव, अनुभाव और सचारी भाव) शृगार-रस अथवा शृगार-रसाभास की होती है उसी प्रकार की रस-सामग्री 'मधुर-रस' या 'उज्ज्वल-रस' की है। अतर केवल इतना ही है कि मधुर-रस में जो प्रेम 'पति' अथवा 'जार' भाव से किया जाता है, उसका आलवन लोक-नायक न होकर ईश्वर या ईश्वर का कोई अवतरित स्वरूप होता है। चैतन्य सप्रदाय के श्री रूपगोस्वामी जी ने अपने ग्रथ 'हरिभक्ति-रसामृत-सिधु' में भक्ति-रस के विवेचन के अतर्गत इस मधुर-रस का भी निरूपण किया है। ब्रज-कृष्ण तथा उनकी प्रियाएँ (भक्त) इस रस के आलवन है। मुरली का मधुर स्वर, सखा, सखी—आदि इसके अनुभाव है तथा निर्वेद, हर्षादि जो शृगार-रस के व्यभिचारी भाव है वे इसके भी है। कृष्ण मे रति इस रस का स्थायी भाव है--इत्यादि। शृगार-रस की तरह मधुर-भाव भी दो प्रकार का होता है—'सयोगात्मक' और 'वियोगात्मक'। सयोग-वियोग की वे ही अवस्थाएँ भक्ति-शास्त्र में कही गई है जो काव्य-शास्त्र में मानी गई है। क्योकि प्रेम-भाव का मनोविज्ञान दोनो अवस्थाओ में (लौकिक प्रेम तथा ईश्वरीय प्रेम) एक-सा ही रहता है। इसी से भक्ति-प्रेम तथा लोक-प्रेम के चित्रण हमे एक-से प्रतीत हुआ करते है। मर्यादा-भक्ति जैसे दास्य, 'शीतल-भक्ति' भी कहलाती है और अमर्यादित भक्ति जैसे 'मधुर'—'उष्ण-भक्ति' कहलाती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्य मात्र का सबसे अधिक व्यापक भाव रति—प्रेम है। प्रीति के जितने सबध है उनमें स्त्री-पुरुष के प्रेम मे अधिक आकर्षण होता है, इसके अतर्गत भी या तो प्रेम की पूर्वराग-अवस्था में अथवा स्वकीय-प्रेम की अपेक्षा परकीय-प्रेम या स्वकात की अपेक्षा पर-पुरुष-प्रेम में अधिक तीव्रता, गहनता और टीस के आनद होते है। इसीलिये अनेक आध्यात्मिक साधको ने जहाँ प्रेम का साधन मार्ग लिया है, वहाँ उन्होने वात्सल्य, सख्य, दास्य और दापत्य-भावो की अपेक्षा 'पूर्वराग' अथवा 'जार'—प्रेम पर अधिक जोर दिया है। लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-सबध की व्यापकता को देख ज्ञानी साधको ने भी ईश्वर के प्रति अपने आध्यात्मिक सबध की अनुभूतियो को लौकिक शृगार की भाषा तथा अन्योक्तियो में प्रकट किया है। काव्यशास्त्रकारो ने रति-भाव के रस को 'रस-राज' कहा है, क्योकि एक तो यह व्यापक भाव है, दूसरे अन्य मानव-अनुभूत भावो का भी समावेश इसमें बडी हद तक हो जाता है। भक्त-शास्त्रियो ने भी मधुर-रस को भक्ति का मुख्य और सर्व श्रेष्ठ रस माना है। काता-भाव की प्रीति में प्रेम की आत्मोत्सर्ग और आत्मविस्मृति की अवस्था पूर्णरूप में आ जाती है। आत्म-निवेदन तथा आत्म-समर्पण, प्रेम-भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वदन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन के साधन में जो अतिम अवस्था आत्म-निवेदन की कही गई है वह काता-भाव मे ही पूर्ण होती है और विशेष रूप से 'जार-भाव' में।

अष्टछाप-भक्तो की रचनाओ के देखने से पता चलता है कि उनकी रागानुभक्ति प्रेम के विविध सबधो मे प्रकट हुई है, परन्तु इन सब सबधो मे उनकी मानसिक वृत्ति मधुर-प्रेम में अधिक रमी है और मधुर-प्रेम की जितनी अवस्थाएँ होती है उन सब का व्यक्तीकरण उन्होने किया है। इन भक्तो का वास्तव में चरम लक्ष्य भी यही है कि गोपी-भाव से वे भगवान् के सहवास में अखड आनद-लाभ करे। वियोग और सयोग अवस्थाओ में स्त्री रूप को लेकर उन्होने जो प्रेमानु-भूति की है वह बहुधा स्वकीय भाव की ही है। परकीय भाव की व्यक्तीकरण इनकी रचनाओं में

'नंददास' प्रभु जाके नाम-सुनत ऐसी गति,
माधुरी मूरति कैधौं कैसी दई-री ॥

चाहे प्रेम अनन्य-पूर्व (स्वकीय) हो अथवा अन्य-पूर्व (परकीय) हो, शृगार-रति की उत्कट पूर्वराग-अवस्था में प्रेमी लोक-लाज और कुल-मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाते है, ठीक यही दृश्य मधुर-प्रेम की 'पूर्वराग-अवस्था' में भक्तो का होता है। लोक-मर्यादा की दृष्टि से देखे हुए अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के ससार को पीछे छोडा है तथा वे विधि-निषेध के भावो की उपेक्षा कर द्वद्व-पूर्ण ससार से ऊँचे उठे है। परतु इस विषय में एक बात ध्यान रखने की यह है कि सभी कृष्ण-पूजा-सप्रदायो ने साधन की आरभिक अवस्था में मर्यादा का लगाव रक्खा है। अन्यथा ईश्वरोन्मुख-प्रेम की असिद्ध-अवस्था में साधक के आरभ से ही पथ-भ्रष्ट होने की आशका होती है। प्रेमी भक्तो ने लौकिक प्रेम-भाव को एक दम छोडा नही है। उनका प्रेम लोक से हट कर ईश्वर की ओर मुडा है। जिसके ससर्ग में सभी भाव सम-अवस्था में आ जाते हैं। अष्टछाप-भक्तो ने भी गोपी-प्रेम-द्वारा अपनी प्रेम-लक्षणा-भक्ति का परिचय देते हुए लोक-लाज तथा लोक-वेद की उपेक्षा का भाव प्रकट किया है।

मधुर प्रेम का सयोग-सुख

गोपी-कृष्ण-कथा में भागवत्कार से लेकर सभी लेखको ने कुज-लीला में गोपी-कृष्ण का सयोग कराया है। हिंदी-भाषा के भक्त कवियो ने इस प्रसग को बहुत विस्तार दिया है। यह सयोगावस्था एक तो गोपियो की उत्कट अभिलाषा-द्वारा उनके मानसिक जगत के काल्पनिक-मिलन में प्रकट हुई है, दूसरे वृ दाविपिन की कुजो के रास-रूप में। काल्पनिक सयोग-सुख भी गोपियो की पूर्वराग-अवस्था में तथा उनके प्रवास-वियोग में, इन दो स्थलो पर प्रकट हुआ है। इस प्रकार के मिलन को काव्य-शास्त्र में 'वियोग में सयोग' कहा है। अष्टछाप कवियो ने इन प्रसगो के चित्रण में अपने हृदय की प्रगाढ अनुभूति का परिचय दिया है।

प्रेम के जो उत्कर्ष-वर्द्धक-भाव होते है, जो सचारी रूप से मुख्य भाव के सहायक बनते हैं तथा कुछ वस्तुएँ और व्यापार भी जो उद्दीपन-विभाव रूप में प्रेम की वृद्धि करते है, उन सबका समावेश भक्ति-शास्त्र में किया गया है। अष्टछापी कृष्ण-भक्तो ने राधा के मान, गोपियो की खडिता, वासकसज्जा, अभिसारिका-आदि अवस्थाओ तथा सखी-सखा, नख-शिख की शोभा, ऋतु-वर्णन, यमुना, चद्र-चाँदनी, मोर, मुरली-गान-आदि के विशद वर्णन में कृष्ण-प्रेम के उत्कर्ष-वर्द्धक उपकरणो का चित्रण किया है। उनके उदाहरण सहित विवरण यहाँ विषय विस्तार के भय से नही दिये जा रहे हैं। प्रेम के इन सब लोकानुभूत-प्रसगो के चित्रण मे इन भक्तो की साग मधुर-भक्ति का ही दृष्टिकोण है।

मधुर-भक्ति का वियोग-पक्ष

वल्लभ-सप्रदायी भक्ति-पद्धति में ही नही, प्रेम-भक्ति के सभी उपासको ने प्रिय परमात्मा से प्रेमी आत्मा के बिछुडने के ज्ञान और उससे पुनर्मिलन की विकल अभिलाषा को भक्ति के साधनो में एक आवश्यक अनुभूति माना है। 'नारद-भक्तिसूत्र' में भी भक्ति की ११ आसक्तियो में से एक 'परम विरहासक्ति' भी बताई गई है। सच्चे प्रेम की गहराई का परिचय, चाहे वह प्रेम लौकिक हो, चाहे भगवान् के प्रति, वास्तव में प्रेमी की विरह-व्याकुलता ही से मिलता है। बहुधा देखा गया है कि विरुद्ध-ससर्ग से ही किसी अनुकूल भाव का प्रस्फुटन होता है। प्रेम की तीव्रता, प्रिय के प्रति विशेष आकर्षण, उसके अभाव में सदैव उसका ध्यान और मिलन-लालसा की पुष्टि, इस विरह-भाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ की अनुभूति से ही होती है। लौकिक प्रेम से कही अधिक बढी-चढी व्याकुलता की मधुर-भावना पतित-पावनी गगा की तरह भक्त की हृदय-भूमि में उसके भावो को और उसके कर्मो को पवित्र करती हुई विराट्-प्रेम-समुद्र की ओर बहा करती है। प्रेमीजन अपने प्रिय परमात्मा की

याद में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उनको आत्म-विस्मृति हो जाती है और वे अपने आपको प्रिय ही में मिला पाते है, अथवा प्रिय को ही अपने में और अपने से सर्वत्र देखते हैं[1]। प्रेम में विरह-भाव की अनुभूति की आवश्यकता तथा उसकी महत्ता का वर्णन सूरदास, परमानंद दास और नंददास ने कई स्थलो पर अपनी रचनाओ में किया है। सूरदास जी विरह की महत्ता के विषय में कहते हैं—

"बिरह-बुंद जहँ नाहि जाँमत, नाहि उपजत प्रेम।"

अथवा—

"ऊधौ, बिरही, प्रेम करै।
ज्यो बिन-पुट पट गहत न रँग को, रंग न रसै परै॥
ज्यो घर दहै बीज-अंकुर गिरि, तौ सत फरन फरै।
ज्यों घट-अनल दहत तन अपनो, पुनि पय अमी भरै॥
ज्यों रन-सूर सहैं सर सनमुख, तौ रवि-रथ हूँ अरै।
'सूर' गुपाल-प्रेम-पथ चलिकैं, क्यो दुख-सुखन डरै॥"

अष्टछाप भक्तो ने अनेक प्रकार से अपनी विरह-जन्य मानसिक अवस्था के चित्र अंकित किये हैं। काव्य-शास्त्र में कही हुई वियोग की सभी अवस्थाओ के जैसे—अभिलापा, चिंता, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता-आदि तथा विरह-वेदना से प्रताडित शारीरिक तथा मानसिक व्यापारो के जैसे—मलिनता, पाडुता, कृशता, अरुचि, दैन्य, तन्मयता—आदि बडे ही हृदय-ग्राही वर्णन उन्होने किये हैं। इन वर्णनो में इन कवियो का, मुख्यत सूरदास, परमानददास तथा कुभनदास का सच्चा भक्त-रूप प्रकट होता है। इन गोपी-रूप-भक्तो की विरह-वेदना दैन्य-भाव धारण कर उन्हें तन्मय बना देती है। उस समय वे अपने भाव-जगत में जीवन-मुक्ति के परमानद का अनुभव करने लगते हैं। "दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।"

"मधुकर कौंन मनायौ मांनैं।
हम अपने ब्रज ऐसेंहि रहि हैं, बिरह-बाइ-बौरांनैं॥
जागत, सोवत, स्वप्न, दिवस-निसि, रहि हैं रूप परवांनैं।
बारक लाल किसोरी-लीला सोभा-समुद समांनैं॥
जिनके तन, मन, प्रान 'सूर' सुनि, मुख-मुसिकांनि बिकांनैं।
परी जो पय निधि अल्प-बूंद जल, सु पुनि कौंन पैहचांनैं॥

जो कोऊ बिरहिनि कौ दुख जांनैं।
तौ तजि सगुन सांवरी मूरति, कित उपदेसै ग्यांनैं॥
कुमुद, चकोर मुदित बिधु-निरखत, कहा करै लै भांनैं।
चातक सदां स्वांति की सेवक, दुखित होत बिन पांनैं॥
भँमर, कुरंग, काग, कोइल कौ कबि-जन कपट बखांनैं।
'सूरदास' जो सरवस दीजै, कारौ, कृति-ही न मांनैं॥"

अष्टछापी कवियो की रचनाओ में शृंगार-भाव की जिस मधुर-भक्ति का हमें परिचय मिलता है, उसकी परपरा इन कवियो से पहले की है और उनके समकाल मे तो उसका बहुत ही प्रचलन हो गया था। नारद-भक्तिसूत्र, 'श्रीमद्भागवत' तथा 'भागवत' के अनेक टीकाकारो ने इस भक्ति को स्वीकार

[1] हौं जानो पिय-मिलन तें, बिरह अधिक सुख होइ।
मिलतें मिलिऐ एक तें, बिछुरैं सब ठाँ सोइ॥
—नंददास

किया है। दक्षिण भारत के आलवार भक्त, निंबार्काचार्य—आदि के कृष्णोपासक लगभग सभी संप्रदायो ने इस प्रकार की भक्ति को अपनाया था। चैतन्य सप्रदायी श्री रूपगोस्वामी जी ने मधुर-रस की भक्ति का विस्तार से विवेचन, अपने ग्रथ 'उज्वलनील-मणि' तथा 'हरि-भक्ति-रसामृत-सिंधु' में किया है। सस्कृत-कवि जयदेव ने इसी भाव को लेकर राधाकृष्ण-अनुराग के मधुर पद लिखे। सूरदास के पूर्ववर्ती मैथिल कोकिल विद्यापति के राधाकृष्ण-विषयक शृगार-काव्य से तो हिंदी-जगत भिज्ञ ही है। हिंदी-भाषा के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओ के कृष्णोपासक भक्त कवियो ने भी, जैसे—वगला के चडीदास, गुजराती के नरसी महता और मीरा—आदि भक्त, इस भाव का अनुगमन किया था।

पीछे कहा गया है कि मानव-अनुभूति में यह भाव व्यापक और स्वाभाविक होते हुए भी, लोक-मर्यादा की दृष्टि से सयम और सकोच में ही रक्खा गया है और इसके उत्कर्ष को निंदनीय ही कहा गया है। भक्ति-पक्ष में मधुर-भाव की निर्दोषिता पर भागवतकार से लेकर अब तक के कृष्णोपासक आचार्य और भक्त-जन कथन करते आये है। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी-टीका के 'रास-प्रकरण' में कहा है—

"कृष्ण-रास में काम की सब क्रियाएँ है, परंतु उनमें लौकिक-काम नहीं है। निष्काम भगवान् के ससर्ग-द्वारा गोपियो के लौकिक-काम का शमन और अलौकिक-काम की पूर्ति हुई। यदि लौकिक-काम से काम की पूर्ति होती तो ससार उत्पन्न होता, परंतु गोपियों की तो संसार से निवृत्ति[1] हुई।"

सन्यास-निर्णय ग्रथ में उन्होने कहा है—

"विषयाक्रांत देहानां नावेशः सर्वथा हरेः।"

'जिनका मन विषयो से आक्रात है उनमें प्रभु-प्रेरणा का आवेशकारी नही होता।

भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने इस भाव के अनुगमन के अधिकारी, भक्ति के साधन की एक विशेष अवस्था पर पहुँचे हुए भक्त ही बताये हैं। भाव-भक्ति की प्रथम सीढी वल्लभ-मत में 'बाल-भाव-भक्ति' मानी गई है और अंतिम सीढी मधुर-भक्ति की है, जिसके काल्पनिक सयोग और वियोगात्मक अभ्यास से चित्त की वृत्ति का कृष्ण मे निरोध होता है और पुण्य और पापो का शमन होता है।

मधुर-भाव की उच्चता और अनुकरण की निर्दोषिता के विषय में भी इस मार्ग के अनुगामी भक्त ये तर्क रखते है—

१ इस भाव के नायक अप्राकृत देहधारी ईश रूप, परब्रह्म श्री कृष्ण हैं।

२. विकार-पूर्ण लौकिक भावों का कृष्ण के साथ आरोप उनके संसर्ग से शुद्ध हो जाता है।

३ जैसे भगवान् के साथ माता-पिता, बंधु-सखा, पुत्रादि के संबंध जुड़ते हैं, उसी प्रकार 'पति' और 'जार' के सबध भी उनके साथ जुड़ सकते है।

[1] क्रिया सर्वत्र सैवाऽपि पर कामो न विद्यते।
तासा कामस्य सपूर्तिर्निष्कामेति सात्यता॥
कामेन पूरित काम' संसारं जनयेत्स्फुटम्।
कामाभावेन्पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न सशसय॥
अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलाऽपि च।
अतएतच्छृतेर्लोको निष्कामः सर्वदा भवेत्॥
भगवच्चरित सर्वं यतो निष्काममीर्यते।
अत' कामस्य नोद्बोधः तत' शुकवचः स्फुटम्॥

—श्रीमद्भागवत दशमस्कध-फल-प्रकरण-कारिका,

श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध अध्याय २९, श्लोक १५ में कहा गया है कि, काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सुहृदभाव इनमें से कोई भी भगवान् हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड ईश्वरीय हो जाते हैं[1]। इसी अध्याय के ११ वें श्लोक मे भागवतकार ने कहा है—

"जिन्होने परमात्मा का जार-बुद्धि से ध्यान किया, उनके भी बंधनो का क्षय हो गया और गुणमय शरीर से मुक्ति मिल गई। गोपियो का काम-भाव लोक से हटकर साधनावस्था में भगवान् से लगा था। जब ससीम भाव निस्सीम हो जाय और भाव और भावुक एक हो जायें तभी भाव-रूप भगवान् का साक्षात्कार है[2]।"

लौकिक काम शृंगार को मिटाने के लिये इस प्रकार की मधुर-भक्ति मे काम-शृंगार-भाव का ही प्रयोग किया गया है। विष की दवा विष अथवा कांटे से कांटा निकालने के सिद्धात में विष और कांटे के प्रयोग की सावधानी की आवश्यकता है, अन्यथा ये घातक हो सकते है। नंददास ने 'रूप-मजरी' ग्रथ में एक स्थान पर इस प्रकार की मधुर भक्ति के विषय मे कहा है कि इस भक्ति में गरल और अमृत एक जगह ही रक्खे हुए हैं। जो 'नीर-क्षीर-विवेक' से इनको अलग-अलग कर केवल अमृत-ग्रहण करता है वही भगवान के सानिध्य का सुख लाभ करता है, अन्यथा वासना के गर्व में और भी मानव फँसता है—

गरल-अमृत इक ठाँ करि राखे, भिन्न-भिन्न करि बिरले चाखे।
नीर-छीर निरवारै जोई, या मग प्रभु-पद पावै सोई।

और रास तथा रास में व्यक्त मधुर-भाव के विषय में नंददास ने अपनी पुस्तक 'सिद्धात-पचाध्यायी' में कहा है—

"सघन सच्चिदानंद नंद-नंदन ईस्वर-जस।
तैसेई तिनके भगत, जगत में भए भरे रस॥
नहिं कछु इंद्रिय-गाँमी-काँमी काँमिन के बस।
सब घट अंतरजाँमी स्वाँमी परम एक रस॥"

❀

"नाहिन कछु सिंगार कथा यै पचध्याई।
सुंदर अति निरवृत्ति-परातें इती बडाई॥
जे पंडित सिंगार-ग्रंथ-मत यामें साँनें।
ते कछु भेद न जानें, हरि कौं विषई माँनें॥
अनाकृष्ट मन कृष्ण दुष्ट-मद-हरन पियारे।
जहँ-जहँ उज्जल परम धरम ताके रखवारे॥

अथवा—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः—
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।

[1] कामं क्रोध भय स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्य हरौ विदधतो यांति तन्मयता हि ते॥
[2] तमेव परमात्मानं जारबुद्धयाऽपि संगताः।
जहुर्गुणमय देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं—
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥
—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध ३३।४०

राग-द्वारा राग को हटाकर वीतराग बनने तथा मानसिक मैल-काटने का यह साधन आरंभिक साधन नही कहा गया है। अष्टछाप-भक्तो ने पहले अपनी मानसिक वृत्ति भगवान् के बाल-रूप में रमाई थी। उनकी भक्ति उत्तरोत्तर सख्य और दास्य में होती हुई कांता-भाव में प्रविष्ट हुई थी और अंत में इस भाव की तन्मय आत्म-निवेदन अवस्था में उन्होने मुक्ति पाई थी। यह एक अत्यंत कठिन मार्ग है। लोक-व्यवहार में यह मार्ग अनुकरणीय नही है और सब अवस्था के पाठको के लिये इस भाव का कुछ अंश में, अष्टछाप-काव्य भी पढ़ने की वस्तु नही है।



सूरदास का काव्य

श्री नंददुलारे वाजपेयी

महाकवि सूरदास का काव्य, अबतक सम्यक् रूप से हमारे अध्ययन और समीक्षण का विषय नही बन सका है। इसके जो दो मुख्य कारण हमें दीखते हैं, उनमें पहला यह है कि सूरदास जी के प्रधान काव्य-ग्रंथ 'सूरसागर' का कोई ऐसा संस्करण अबतक प्रकाशित नही हुआ है जिसे सुंदर और विशिष्ट तो क्या, संतोषजनक भी कहा जा सके। दूसरा कारण जो पहले की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण है और जो बहुत अंशो तक पहले के लिए जिम्मेदार भी है—वह है, आधुनिक साहित्य के विद्वानो की मनोवृत्ति। यह मनोवृत्ति ऐसी है जो सूरदास जी की काव्यगत विशेषताओ की परख के लिए अनुकूल नही कही जा सकती। पहले तो हम सूरदास जी के वात्सल्य और शृगार-रस प्रधान काव्य को, अपनी ऊँची आदर्शवादिता के कारण, श्रेष्ठकाव्य मानने में ही हिचकते हैं; फिर उसे धार्मिक काव्य की श्रेणी में रखना तो हमारे लिए और भी कठिन हो जाता है। काव्य और धार्मिक काव्य दोनो ही के सबध में हमने जो पैमाने बना रखे है, उनमे सूरदास जी की कविता किसी तरह पूरी नही उतरती। हमारे कहने का यह आशय नही कि हम सूरदास जी को कवि ही नही मानते, पुरानी प्रथा के अनुसार हम उनकी गणना गोस्वामी तुलसीदास जी के साथ भी कर लिया करते हैं। पर हम हृदय से यह मानने को तैयार नही है कि सूरदास को गोस्वामी तुलसीदास की बराबरी का पद दिया जाना चाहिए। आज तक मेरे देखने में ऐसी एक भी समीक्षा नही आई जिसमें स्पष्ट रूप से प्रमाण देकर सूरदास के काव्य को तुलसीदास जी के काव्य की बराबरी मे रखा गया हो। कही तो प्रबध काव्य और मुक्तक काव्य के कृत्रिम विभेद खडे कर, कही जीवन परिस्थितियो की व्यापकता और विस्तार की दुहाई देकर तथा कही लोकधर्म, मर्यादा और शील का नाम लेकर सूरदास जी की हेठी दिखाई गई है। इस सब के मूल में जो स्थूल आदर्शवादी और शुष्क नीतिवादी विचारणा है, वह काव्य के मूल्य-निरूपण में बडी हद तक बाधक रही है। किंतु इस विचारणा से यह सारा युग आक्रात है। सूक्ष्म, किंतु जीवन की गहराई में स्थित स्थिर मनोवेगो का उद्घाटन और चित्रण क्या जीवन-परिस्थितियो की व्यापकता और विस्तार का बदला नही चुका लेते? लोकधर्म, मर्यादा और शील के निरूपण की अपेक्षा बाल्यकाल की निर्द्वंद्व क्रीडाओ, नटखटपन और नैसर्गिक स्नेहोद्गम का चित्राकण और ग्राम्य तथा वन्य जीवन की सहज सुषमा का प्रदर्शन क्या काव्य और कला के लिए कम उपयोगी या उत्कर्ष-साधक है? प्रबध और मुक्तक के बाहरी भेदो के आग्रह करने की अपेक्षा काव्य के अतरग गुणो—रस की प्रगाढता और उसकी मानस-प्रक्षालन-क्षमता—की परीक्षा क्या कला-विवेचन के लिए अधिक आवश्यक नही? पर हम कब इन कार्यों में प्रवृत्त होते है? कब तटस्थ होकर और आगे आनेवाली आदर्शवादिता को किनारे रखकर, विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य-चर्चा करते है?

सूरदास जी का सूरसागर केवल काव्य ही नही है, वह धार्मिक काव्य भी है। धार्मिक काव्य की दृष्टि से उसका समान जन-समाज में तो है, किंतु विद्वानो के बीच अक्सर इस विषय के विवाद उठा करते है कि सूरसागर की गणना धार्मिक काव्य-ग्रथो मे होनी चाहिए या नही? धार्मिक काव्य के विषय में इन विद्वानो के विचार बहुत कुछ विलक्षण है। अधिकाश लोगो का ऐसा ख्याल है कि त्याग, सन्यास और वैराग्य की शिक्षा देनेवाली रचनाएँ ही धार्मिक काव्य कहला सकती हैं। इस दृष्टि से हिंदी में कबीर और दादू आदि को ही धार्मिक कवि माना जा सकता है। तुलसीदास

को हम इस श्रेणी मे इसलिए स्वीकार कर लेते हैं कि उन्होने नीति और मर्यादा-बद्ध राम के उदात्त चरित्र का चित्रण किया है और भक्ति की महिमा सुनाई है। शेषाश में हम सूर, मीरा आदि की उन रचनाओ को भी धार्मिक काव्य कह लेते है, जो भजनो के रूप में प्रचलित हो गई हैं तथा जिनमे किसी चरित्र-विशेष का उल्लेख नही। किंतु जब श्रीकृष्ण के और गोपियो के चरित्र की बात आती है तब हमारे विद्वान् पशोपेश में पड जाते है। वे या तो कृष्ण-गोपी-चरित्र को आत्मा-परमात्मा का रूपक कह कर टाल देते है, या फिर विरोधी आलोचना करने में प्रवृत्त होते है। 'ईश्वर की छीछा-लेदर' और 'राधाकृष्ण' के सबध में निकले हुए व्यग्यात्मक लेख हिंदी-पत्रिकाओ में प्रकाशित हो चुके है। ये दोनो ही दृष्टिकोण सूरदास जी के काव्य और उसकी कलात्मक विशेषताओ के अध्ययन में विशेष रूप से बाधक हैं। इनमें से पहला जो आरभ ही से सारे चरित्र को रूपक मान लेता है, काव्य के द्वारा उत्पन्न किए गए चारित्रिक महत्त्व और उसके प्रभावो का अनुभव करने का अवकाश ही नही देता। कवियो की कलाजन्य विशेषताएँ और काव्यजन्य उत्कर्ष प्रदर्शित ही नही हो पाते, क्योकि हम तो पहले से ही मान बैठे है कि राधा और कृष्ण मे से एक आत्मा है और दूसरा परमात्मा। जहाँ मान ही लेने की बात हो, वहाँ कवि और कवि-कर्म की परीक्षा कैसे हो सकती है? कवि-कवि में जो अतर है उसका आकलन कैसे किया जा सकता है और सच तो यह है कि उस दशा में काव्य और कला के अध्ययन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। इसी प्रकार दूसरा दृष्टिकोण जो राधा और कृष्ण के चरित्रो का नाम सुनकर ही चौंक पडता है और भडक उठता है, कविकी रचना-चातुरी और मनोभावना की सम्यक् परीक्षा के बिलकुल विपरीत है। इसे हम एक प्रकार का स्थूल और उजड्ड दृष्टिकोण कह सकते है, क्योकि इसमें भी काव्य गुणो के अनुसधान का प्रयास नही है। केवल कथा की बाहरी रूप-रेखा सुनकर जो काव्य पर आक्रमण आरभ कर देते हैं उन्हें काव्य या कला-विवेचक कौन कहेगा? कुमारी मरियम को कौमार्य में ही ईसामसीह उत्पन्न हुए थे। अब यदि केवल इस ऊपरी बात को लें तो कितनी अविश्वसनीय और अपवादजनक यह प्रतीत होगी। किंतु इसी को लेकर ईसाई कलाकारो ने ससार की श्रेष्ठ कला कृतियो—मूर्तियो और चित्रो का निर्माण किया है जिनके दर्शन से हृदय में पवित्र भावना का प्रवाह बह चलता है। इस अवस्था में उस ऊपरी और अपवादजनक बात का क्या मूल्य रहा और उसी को मुख्यता देनेवाले व्यक्तियो की क्या वकत हो सकती है? कथा या कहानी तो बिना खराद का वह ऊबड-खाबड पत्थर है जिस पर कलाकार अपना कार्य आरभ करता है। मूर्ति के निर्माण हो जाने पर जब हम उस कला-वस्तु के सामने उपस्थित होते हैं तो क्या उस पत्थर की भी याद हमें आती है, जिसे काट-छाँट कर सँवारा गया और अशेष परिश्रम व्यय कर यह मूर्ति बनाई गई है? और क्या मूर्तियाँ भी सब एक-सी होती है? रचयिता की मनोभूमि जितनी ही प्रशस्त और परिष्कृत होगी, जितनी ही दिव्य और उदात्त कल्पनाओ का वह अधिपति होगा, साथ ही तराश के काम में जितना ही निपुण होगा—जितनी बारीकी से जितने गहरे प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता रखेगा, मानव-हृदय के रहस्यो को समझने और तदनुकूल अपनी कलावस्तु का निर्माण करने में वह जितना ही कुशल होगा, उसकी कला उतनी ही उदात्त और प्रशसनीय कही जाएगी। कला विवेचक का कार्य यह नही होता कि वह मूल कहानी या कच्चे माल को देखकर ही कोई धारणा बना ले अथवा अपने किन्ही व्यक्तिगत सस्कारो और प्रेरणाओ से परिचालित होकर कोई राय कायम कर ले, बल्कि उसे कला निर्माण सबधी विशेषज्ञता प्राप्त करनी होगी, कवि द्वारा नियोजित प्रतीको और प्रभावो का अध्ययन करना होगा और अतत कवि की मूल सवेदना और मनोभावना का उद्घाटन करते हुए यह बताना होगा कि वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल अथवा असफल हुआ है।

इसी दृष्टि से हम सूरदासजी के काव्य का अध्ययन आरभ करेगे। पाठको को यह विदित है कि सूरसागर ही सूरदासजी का प्रमुख काव्य-ग्रथ और उनकी कीर्ति का स्थायी स्तभ है। सूर-

सागर में यद्यपि श्रीमद्भागवत की कथा का अनुसरण किया गया है और भागवत के ही अनुसार इसमे भी बारह स्कध रक्खे गए है, किंतु वास्तव में सूरदासजी का मुख्य उद्देश्य श्रीकृष्ण के चरित्र का ही आलेख करना था। इसीलिए उन्होने एक चौथाई से भी कम हिस्से में सूरसागर के ग्यारह स्कध समाप्त कर शेष तीन चौथाई से अधिक मात्रा में एक ही (दशम) स्कध को पूरा करने में लगाया है। यही दशम स्कध कृष्ण-चरित्र है, जिसमें कवि की काव्यकला का सर्वाधिक विकास हुआ है। शेष स्कधो की रचना को हम परपरा-पालन अथवा भूमिका मात्र मान सकते है। प्रस्तुत सग्रह में इसीलिए हमने कृष्ण-चरित्र के ही चुने हुए अश एकत्र किए है। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि इन ग्यारह स्कधो में यत्र-तत्र बिखरे हुए आख्यानो और विचारो को लोग सूरदासजी की अपनी रचना और अपने विचार मान कर उद्धृत करते है। वास्तव में सूरदासजी का स्वतत्र कौशल और उनकी निजी विचारणा यदि कही व्यक्त हुई है तो एकमात्र दशम स्कध में ही। शेष सभी स्थल अधिकाश श्रीमद्भागवत के सक्षेप-मात्र है। उनसे सूरदास का सबध केवल अनुवाद कर्त्ता का-सा है। इस बात को ध्यान में न रखने के कारण अक्सर ऐसे स्थलो और विचारो से सूरदासजी का सबध जोड दिया जाता है, जिनसे उनका कुछ भी वास्तविक सपर्क नही। इस गलतफहमी से बचने के लिए ही ऊपर का उल्लेख है।

सूरदासजी का काव्य यद्यपि अधिकतर गीतिबद्ध है, पर साथ ही छोटे-छोटे कथा प्रसग और घटनाएँ भी गीतो के भीतर वर्णित हैं। यदि हम सूरसागर के दशम स्कध को ही लें तो देखेंगे कि श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर उनके बाल्य और कैशोर वय के चरित्र तथा उनका मथुरागमन और कसवध तक की मुख्य घटनाएँ भी यहाँ सग्रहीत है। सूरदासजी के काव्य की एक विशेषता यह है कि उसमें एक साथ ही श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी भी मिल जाती है और अत्यत मनोरम रूप और भाव सृष्टि भी। प्राय मुक्तक गीत ऐसे प्रसगो को लेकर रचे जाते हैं जिनमें कथा का कोई क्रमबद्ध सूत्र नही मिलता, बल्कि कथा-अश की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें दूसरे विवरणो का आश्रय लेना पडता है। गीतमात्र में केवल रूप या सौदर्य आलेख के टुकडे, सूक्ष्म मानसिक गतियाँ अथवा किसी विशेष अवसर पर उठने वाले मनोवेगो का प्रदर्शन ही प्राप्त होता है। स्थिति-विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करे, घटना-क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौदर्य और भाव-सौंदर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जाएँ, यह विशेषता हमे कवि सूरदास मे ही मिलती है। गोचारण अथवा गोवर्द्धन-धारण के प्रसग कथात्मक है, किंतु उन कथाओ को भी सजा कर सुदर भावगीतो में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नही समझ पाते कि कथानक के भीतर रूप-सौदर्य अथवा मनोगतियो के चित्र देख रहे हैं अथवा मनोगतियो और रूप की वर्णना के भीतर घटना का विकास देख रहे है। इन दोनो के सम्मिश्रण में अद्भुत सफलता सूरदासजी को मिली है।

कही कथनोपकथन की नियोजना करके (जैसे दानलीला में) और कही कथा की पृष्ठ-भूमि को ही (उदाहरणार्थ वन में विचरण, अथवा वन से ब्रज को लौटना) गीत में सज्जित करके समय, वातावरण और कथासूत्र का हवाला दे दिया गया है। सूरदासजी किसी नाटकीय स्थिति-विशेष अथवा किसी ऐकातिक मनोभावना-विशेष से आकर्षित होकर परिचालित नही हुए है। कृष्ण के सपूर्ण बालचरित्र पर ही वे मुग्ध है। फलत वे मुक्तक गीतो के अतर्गत सारे कथा सूत्र की रक्षा करने मे समर्थ हुए हैं। अवश्य जहाँ काव्य अधिक अतरमुख और मनोमय हो उठा है—जैसे वंशी के प्रति उपालभ, नेत्रो के प्रति आरोप, विरह, भ्रमर-गीत आदि में—वहाँ भाव ही कथा-रूप मे परिणत हो गए है। कथा की पृथक् योजना वहाँ हम नही पाते।

अब हम सूरसागर के अन्य अनावश्यक अशो को छोडकर मुख्य दशम स्कध को लें। वर्षा-ऋतु भाद्रपद मास (कृष्णपक्ष) अष्टमी की अधेरी आधी रात को चद्रमा उदय होने के समय कृष्ण

का आविर्भाव होता है। सूरदास इस बात का उल्लेख करना नही भूले है कि आकाश चद्रोदय के समय भी अघेरा है, किंतु पृथ्वी पर नवज्योति का आगमन हुआ है। कृष्ण-काव्य की परपरा के अनुसार कृष्ण का चार भुजा धारण कर अवतार लेना सूरदासजी ने भी दिखाया है, किंतु वह चतुर्भुज मूर्ति भी शिशु स्वरूप में है और उसके पृथ्वी पर आते ही माता उन अप्राकृतिक चिन्हो को छिपा देती है। बालक कृष्ण अपने प्रकृत रूप में हमारे सामने आते हैं। कला की दृष्टि से यह अलौकिक आभास एक क्षणिक और उपयोगी सभ्रम की सृष्टि कर जाता है। इतने गहरे वह नही पैठता कि माधुर्य की अनुभूति में किसी प्रकार का विक्षेप पडे, यद्यपि उस माधुर्य की तह में ऐश्वर्य की एक हलकी आभा भी अपना प्रभाव डाले रहती है।

असभव या अलौकिक की अप्राकृतिक स्मृति को और भी क्षीण करने में सहायक होता है—कृष्ण का उसी रात स्थानातरित होना, जन्म स्थान छोडकर गोकुल पहुँचाया जाना। मार्ग में कृष्ण की ज्योति का न छिपना और बढी हुई यमुना का कृष्ण के पैर स्पर्श करते ही रास्ता दे देना, पिता वसुदेव की प्रसन्नता और उत्साह का सूचक है। साथ ही मानव-व्यापार में प्रकृति के सहयोग की कल्पना भी इसमें निहित है।

असभव या अलौकिक की अप्राकृतिक स्मृति के स्थान पर उसकी एक सहज योजना कृष्ण के गोकुल आने से हो जाती है। वह योजना है कृष्ण के अयोनिज होने की। इसकी बडी नैसर्गिक और कलात्मक प्रतिष्ठा की जाती है। यह स्पष्ट है कि कृष्ण यशोदा के अगजात नही है और योनिज सबध न होने पर भी यशोदा के मन में परिपूर्ण पुत्र-भाव स्थापित होता है। क्योंकि कृष्ण यशोदा की अगजा के स्थानापन्न होकर आए है। यशोदा को इसकी सुध नही, किंतु पाठक इसे जाने रहते है। इस द्विविधा के द्वारा काव्य के भाव-सौंदर्य की वृद्धि होती है और आध्यात्मिकता अपने सहज कलात्मक रूप में प्रतिष्ठित होती है।

यशोदा का यह प्रौढावस्था का पुत्र है, जबकि माता यौवन की सीमा पर पहुँच कर ठहर चुकी है और निराशा के साथ नीचे ढलना आरभ कर रही है। इस सधि-काल का स्पर्श करना कृष्ण-काव्य की एक बडी कलात्मक सूझ है। कृष्ण के प्रति अकेले और बडे साध के बाद पाए हुए पुत्र का प्यार उभर पडता है। कुमारी मरियम का पुत्र यौवन के अनबीचे आरभ का है। और यशोदा का पुत्र यौवन के अतिम अवशेष क्षण का है। युवती की प्रतिमा दोनों ओर है—एक यौवन के इस पार, दूसरी उस पार। एक का पुत्र आशा के पहले और दूसरे का आशा के पश्चात् प्राप्त होता है।

कृष्ण का व्यक्तित्व कुछ अपने सौंदर्य के, कुछ माता के स्नेहातिरेक के कारण—ये दोनो ही नैसर्गिक अनुपात में है, इसलिए काव्य के कलात्मक विकास में सहायक भी—तथा शेष कुछ पिता के ग्रामाधिपति होने के कारण (यह एक आकस्मिक अथवा सयोग सिद्ध प्रसग है, जिस पर आवश्यक भार कवि ने कभी नही चढने दिया) प्रमुख रूपसे सामने आता है और अत तक निसर्गत प्रमुख ही रहता है। प्रमुखता तो काव्यो के सभी नायक मात्र के लिए आवश्यक होती है, किंतु कृष्ण की प्रमुखता कुछ ऐसी विशेषताऐं रखती है जो आध्यात्मिक काव्य के लिए आवश्यक है। इनमें सबसे पहली और मुख्य विशेषता है चरित्र के अंतर्गत एक रहस्यात्मक पुट की। रहस्यात्मक पुट तो जो भी जितना चाहे रख सकता है, किंतु काव्य में मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता भी अतिशय आवश्यक होती है। इन दोनो का सामजस्य स्थापित करने में ही धार्मिक अथवा आध्यात्मिक काव्य की सफलता है। कोरे धर्म ग्रथ और उन्नत धार्मिक काव्य मे यही मुख्य अतर है कि एक में हमारे विश्वास को असीम मानकर बर्ता जाता है और दूसरे में हमारे स्वस्थ मानसिक उपकरणो के साथ न्याय किया जाता है। लक्ष्य दोनो का एक ही होता है—चरित्र की अलौकिकता की नियोजना करना, किंतु इन दोनों की प्रणालियो में सारा अतर हुआ करता है।

जिन असाधारण और क्षिप्रवेग से घटी प्रथम दिन की घटनाओ का विवरण हम दे चुके है और साथ ही जिन मानसिक परिस्थितियो और प्रतिक्रियाओ का ऊपर उल्लेख कर चुके है उनके वाद कृष्ण चरित्र की असाधारणता के लिए जमीन तैयार है, ऐसा कहा जा सकता है। देखना यह है कि वह असाधारणता अथवा रहस्यात्मकता कितने नैसर्गिक रूप से प्रस्फुटित होती है। कृष्णजन्म की वधाई वज चुकी है और विशेष उत्सव मनाए जा चुके है। अन्नप्राशन और जन्म दिन की तिथियाँ वडे समारोह के साथ सपन्न हुई है। दिन-भर गाँव-भर की भीड नद के आँगन में रहा करती है, वालक कृष्ण की क्रीडाएँ देखने के लिए गोपियो का आवागमन लगा ही रहता है। नद का आँगन मणियो का वना है, खभे कचन के वने है, इतनी अतिरिक्त सौंदर्य-योजना आसानी से खप जाती है।

तीन वर्ष वीतते ही वीतते कृष्ण आरभ करते है चोरी, घर के भीतर नही, वाहर समाज में चोरी, गोपियो के घर-घर में माखन और दही की चोरी और उत्पात। चोरी सामाजिक धारणा मे एक अपराध है, पाप है और गोपियो को रोज-रोज तग करना भी कोई सदाचार नही। पर ग्राम के वातावरण और गोपियो की मन स्थिति में वालक कृष्ण की यह मूर्ति पाप-पुण्य निर्लिप्त दीख पडती है। चोरी करते हुए भी वे गोपियो के मोद के हेतु वनते है और अपने उत्पातो-द्वारा उनके प्रेम के अधिक निकट पहुँचते है। पाप-पुण्य निर्लिप्त इस शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा विना चोरी किए कैसे होती? अकर्म के भीतर से पवित्र मनोभावना का प्रसार एक रहस्य की सृष्टि करता है। यह रहस्य प्रकृत काव्यवर्णना का अग वन कर आया है, यही सूरदास की विशेषता है। सूर के भक्तिकाव्य का यह कौशल ध्यान देने योग्य है।

कृष्ण के इस स्वाभाविक नटखटपन के साथ जिस रहस्य की सृष्टि हो गई है, कवि समस्त काव्य में उसकी रक्षा और प्रवर्धन करता रहता है। स्वाभाविकता में अलौकिकता का विन्यास सूरदास की मुख्य काव्य साधना है। इस साधना में सर्वत्र वे सफल ही हुए हो यह नही कहा जा सकता, कही-कही वे रूढियो में भी फँस गए है, वहाँ काव्य का मनोवैज्ञानिक सूत्र खो गया है; फिर कही-कही वे परपरा प्राप्त 'मान' आदि के विस्तृत विवरणो में इतने व्यस्त हो गए है कि उनका रहस्यात्मक पक्ष नीचे दव गया है, ऊपर आ गई है कोरी और स्थूल शृंगारिकता। मै इन स्थलो को सूरदास के काव्य की असफलता मानता हूँ, किंतु सफलता के स्थल असफलता से कही अधिक है।

यहाँ मै असफलता के कुछ हवाले दूँगा। कृष्ण के वाल्य-चरित्र में कतिपय राक्षसो और राक्षसिनियो के वध किये जाने के आख्यान मिलते है। कतिपय विद्वानो ने इन आख्यानो में कृष्ण की शक्तिमत्ता का निदर्शन पाया है। जव से आचार्य पडित रामचद्र शुक्ल ने शक्ति, सौंदर्य और शील की पराकाष्ठा राम के चरित्र में दिखाई है, तव से लोगो ने समझ लिया है कि ये तीनो गुण काव्य चरित्रो के लिए अनिवार्य है और जहाँ कही अवसर आए इनकी ओर इगित कर देना चाहिए। यह भ्राति कला की विवेचना में अत्यधिक वाधक हो रही है। केवल शक्ति की, सौदर्य की अथवा शील की पराकाष्ठा दिखाना किसी काव्य का लक्ष्य नही हो सकता। काव्य का लक्ष्य तो होता है रस-विशेष की प्रतीति या अनुभूति उत्पन्न करना। इस काव्य-लक्ष्य को भूल जाने पर काव्य का समस्त कलात्मक और मनोवैज्ञानिक आधार ढह पडता है। फिर तो किसी पात्र में किन्ही गुणो की योजना कर देना—वे गुण चाहे काव्य शैली से प्रभावोत्पादक अथवा विश्वसनीय वनाए जा सके हो या नही—कवि कर्म समझा जाने लगता है। यह कलात्मक और काव्यात्मक ह्रास का लक्षण है। कृष्ण के साथ वाल्यावस्था में राक्षस वध की जो अलौकिक लीलाएँ जुडी हुई है, जव तक उनका सकेतात्मक मानसिक आधार नही मिलता, तव तक काव्य की दृष्टि से उसका क्या मूल्य है? कोई यह नही कह सकता कि कृष्ण ने वास्तव में वे कार्य नही किए थे, किंतु काव्य कृति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि असंभव के आधार पर वह अपना कार्य आरंभ न करे। प्रतीति के लिए उन मानस-सूत्रो का सग्रह आवश्यक है जो उन घटनाओ को विश्वसनीय ही नही वास्तविक भी वना सके। काव्य में किसी चरित्र के साथ किसी गुण की पराकाष्ठा नियोजित करना पर्याप्त नही है; उसकी प्रतीति की पराकाष्ठा भी नियोजित करनी होगी।

कई राक्षस पक्षी, बछड़े, गदहे और आँधी आदि का वेप बना कर आए थे, कृष्ण के द्वारा उनका पछाड़ा जाना स्वाभाविक रूपसे चित्रित है, पर कतिपय आख्यानो में सूरदासजी ने परंपरा का पालन भर कर दिया है, कथा को कला का स्वरूप देने की चेष्टा नही की। ब्रह्मा-द्वारा बछड़ो के हरे जाने पर नए बछड़े गोपबालक उत्पन्न करने वाला आख्यान पूतना-वध तथा ऐसे ही अन्य कतिपय प्रसग अपना सम्यक् मनोवैज्ञानिक आधार सूर के काव्य में नही पा सके है। इन्द्र का देवताओ सहित कृष्ण के पास वज्र आना केवल पौराणिक चित्रण है।

इसी प्रकार सूरदासजी के द्वारा चित्रित गोपिका-मान-प्रसग को भी लीजिए। सूरदासजी ने उसका मूलगत रहस्यात्मक आशय खूब अच्छी तरह समझा था। उन्होने आरभ में बडे सुदर ढग से इस रहस्य की सूचना दी है। राधा का मान वास्तव में भ्रांतिमूलक था। उन्होने कृष्ण के हृदय में अपनी परछाही देख कर यह समझ लिया कि इनके हृदय में कोई दूसरी गोपी बसती है। बस इसी कल्पना के आधार पर वे रूठ गई। कवि का प्रारंभिक आशय यह दिखाना रहा है कि गोपियाँ राधा की ही परछाँही या प्रतिरूप है। कृष्ण का उनसे सम्पर्क राधा के प्रति ही सम्पर्क है। सोलह हजार एक सौ आठ गोपिकाओ से कृष्ण का सबध दो दृष्टियो से प्रदर्शित है। एक तो कृष्ण के प्रेम की व्यापकता और सार्वजनीनता दिखाने के लिए (जिसमें ऐंद्रिय भाव सस्कृत और कलात्मक उद्यमो, नृत्य, गीत आदि में लीन हो जाए) और दूसरा कृष्ण चरित को निसर्गत रहस्यात्मक या अलौकिक स्तर पर पहुँचाने के लिए। किंतु हुआ क्या ? हुआ यह कि काव्य में कृष्ण का बहुनायकत्व ही अधिक उभर उठा है। रहस्यात्मक पक्ष पिछड गया है। कृष्ण एक-एक रात एक-एक गोपी के साथ व्यतीत करते और प्रात काल रक्तिम नेत्र, विचित्र वेप बनाकर दूसरी गोपिका के घर पहुँचते है। वहाँ उनका जैसा स्वागत होना चाहिए वैसा ही होता है। फलत यहाँ कृष्ण थोडी-सी निर्लज्जता भी धारण करके स्थिति का सामना करते है। एक तो इस प्रसग को इतना अनावश्यक विस्तार दे दिया गया है कि मूल भाव सँभाले नही सँभलता और दूसरे इसकी वर्णना में रहस्यात्मक व्यभिचार (सब गोपिकाओ से, जो वास्तव में एक ही गोपी की प्रतिरूप है, समान प्रेम) ने स्थूल जारत्व का रूप धारण कर लिया है। मेरे विचार से सूरदास की कला इस प्रसग मे उस उच्च उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकी है जिसके लिए इस प्रसग की नियोजना की गई थी। यहाँ वह अपने उच्च लक्ष्य और समुन्नत मानसिक धरातल से स्खलित होकर रूढि के अनुसरण में सलग्न हो गई है।

इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि इस प्रसंग को यहाँ रखने का उद्देश्य केवल कृष्ण की इस प्रतिज्ञा की पूर्ति करना है कि जो कोई उन्हें जिस भाव से भजता है, उसको वे उसी भाव में मिलते हैं। सब गोपिकाओ ने मिलकर उन्हें पति रूप में भजा था, इसलिए सबके प्रति वे समान व्यवहार दिखाना चाहते है। किंतु इस प्रतिज्ञा को इस हद तक खीचना ठीक न होगा कि काव्य में कृष्ण व्यभिचारी और कामुक के रूप में दिखाई देने लगें। गोपिकाओ की कामना पूर्ति बडे सुदर, स्वाभाविक और रहस्यात्मक रूप में रास-रचना द्वारा हो चुकी थी। बाह्य ऐंद्रिय सबंध को शब्दश पूर्णता तक पहुँचाना सूरदास जैसे उच्चकोटि के कवि का लक्ष्य नही हो सकता। मालूम होता है उस युग की बहुपत्नी-प्रथा के दुष्परिणाम से सूरदासजी का काव्य भी कोरा न रह सका। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि ह्रासोन्मुखी साहित्यिक रूढियो का अनिवार्य प्रभाव भी सूरदास के काव्य पर पडा।

किंतु, ऐसे स्थलो को हम अपवाद स्वरूप ही ले सकते है। मुख्यत सूरदास जी की कला उदात्त मानसिक भूमि पर ही खडी है। अवश्य कई बार राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसगो में शारीरिक सयोग की भी चर्चा आई है। हमारे देश क कवियो ने प्रेम के इस परिपाक को स्वाभाविक मानकर स्वीकार किया है, 'रोमांटिक' ढग से किनारा काटने की प्रथा उनकी नही थी। पर ये स्थल, काव्य में अन्य स्थलो की भाँति ही प्रसगत आ गए है, इनके लिए कतिपय अतिवादी कवियो की भाँति कोई खास तैयारी सूरदास जी ने नहीं की है।

मेरी अपनी धारणा यह अवश्य है कि सूरदास जी को ऐसे स्थल बचा देने चाहिए थे, अथवा सकेत से काम ले लेना था, क्योंकि धार्मिक काव्य के रचयिता को सामाजिक मर्यादा अधिक बर्तनी होती

है। फिर भी मैं यह कहूँगा कि स्नायुओं को विकृत कर देनेवाली आजकल की दीर्घसूत्री अनुराग चर्चाओं की अपेक्षा सूरदास जी का उपक्रम फिर भी बुरा नहीं। अवश्य उन्हें प्रेम या अनुराग की यह परिणति दिखाने से कोई नहीं रोकता—बल्कि यह आज के समाज के लिए किसी अंश तक उपयोगी भी है, किंतु शिष्टाचार के विचार से ऐसे प्रसंगों को मर्यादा की सीमा में रखना था। सर्वत्र सूरदास जी ने ऐसा नहीं किया है, उनके समय की काव्य परिपाटी में जान पडता है, इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं था।

ऐसे ही, चीरहरण के अवसर पर कृष्ण के मुख से गोपियों से यह कहलाना कि तुम हाथ ऊपर कर जल से निकलो और अपने-अपने वस्त्र लो, सूरदास जी की सुरुचि का परिचायक नहीं है। सच्चे प्रेम की अगोपनीयता प्रकट करने के लिए कवि के पास कोई दूसरा उपाय नहीं था, यह मैं नहीं कह सकूँगा। उनके उद्देश्य के संबंध में शंका न रखते हुए भी यहाँ उनकी शैली को मैं निर्दोष नहीं कह सकता।

पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ, ये इने-गिने स्थल अपवाद स्वरूप ही है और सूरदास जी के बृहत् काव्य पर कोई गहरा धब्बा नहीं लगाते। जो धब्बे हमें आज की दृष्टि से देख भी पडते हैं वे संभव है किसी युग-विशेष में क्षम्य भी हो। कम से कम यह तो कोई नहीं कह सकता कि सूरदास जी के काव्य में चित्रित राधा और कृष्ण का प्रेम अतिरिक्त भावात्मक उद्रेक या उबाल का द्योतक है। अथवा उसमें विषाक्त कामुकता या दंपति-वासना के लक्षण हैं। यदि यह त्रुटि नहीं है तो और सब आरोप गौण हो जाते हैं। यदि अनुराग के आरंभ में तीव्र आकर्षण, ऐकांतिक मिलनेच्छा और सामाजिक मर्यादालंघन की प्रेरणाएँ काम करती है तो प्रथम मिलन के पश्चात् तत्काल ही राधा में प्रेम-गोपन चातुरी, वाग्विलास आदि की सामाजिक भावना जागृत हो जाती है जो प्रेम के स्वस्थ विकास का परिचायक है।

अब मैं कृष्ण की माखन-चोरी-वाले प्रसंग पर छूटी हुई सूरसागर की अपनी सरसरी आलोचना के सूत्र को फिर से पकड लूँ। मैं कह चुका हूँ कि यह प्रसंग जहाँ एक ओर गोपियों के स्नेह की सहज धारा प्रवाहित कर देता है वहीं यह पाप-पुण्य से निर्लिप्त कृष्ण के उपास्य और रहस्य शुद्धाद्वैत के बाल रूप का भी उद्घाटन करने में सहायक हुआ है।

इसके पश्चात् सूरदास जी निरंतर नायक (कृष्ण) का सहज और साथ ही रहस्यमय गौरव दिखाते हुए और उपासना की दोहरी आवश्यकता-पूर्ति करते गए हैं। माखन चोरी का ही वय प्राप्त स्वरूप कृष्ण की दानलीला में दिखाई देता है। यहाँ प्रेम कला के खुले हुए दृश्य हमें दिखाई देते हैं। कृष्ण के दधिदान (दधि पर लगने वाला कर) माँगने पर गोपियों को कृष्ण से उलझने, वाग्युद्ध करने, धमकी देने और बदले में धमकी पाने का अवसर मिलता है। अंत में एक ओर राधा और उनकी सब सखियाँ तथा दूसरी ओर कृष्ण तथा उनके सब सखा खुलकर आपस में कहा-सुनी करते हैं। हाथा-पाई की नौबत भी आती है और अंत में गोपी-दल सखा-समेत कृष्ण को भरपूर माखन और दधि-दान देकर, अपने सामने भोजन करा निवृत्त होता है। गोपियों के प्रेम की यह दूसरी बडी स्वीकृति कृष्ण ने दी है।

इसके पूर्व ही राधा का कृष्ण से परिचय—समागम हो चुका है। राधा की भावी सास (यशोदा) ने उसकी माँग गूँथी और नई फरिया (बिना सिला लहँगा) भेंट की है। अंचल में मेवे डाले हैं। राधा की माता को पुत्री के सामने गाली दी और पिता को भी विनोद-वचन कहे, जिस पिछले का बदला वह राधा के द्वारा ही पा चुकी है। फिर उसने सूर्य की ओर अंचल-पसार कर उनसे आशीर्वाद माँगा है कि नई दंपति का कल्याण हो।

इसे रमणीय प्रेम और गार्हस्थ्य पुन रहस्य की आभा से अनुरंजित करने के लिए सूरदास जी ने समस्त कुमारिकाओं से कात्यायनी व्रत कराया और पति रूप में कृष्ण को पाने की कामना करके कार्तिक चतुर्दशी को उपवास और रात्रि-जागरण के पश्चात् पूर्णमासी को यमुना स्नान करते हुए दिखाया है। यही अवसर चीर-हरण का है।

भागवत में राधा का व्यक्तित्त्व परिस्फुट नहीं हो पाया है, इसलिए वहाँ व्यक्तिगत प्रेमालाप, वैवाहिक लोकाचार आदि का अवसर ही नहीं आया। बिना व्यक्तित्त्व के प्रेम की प्रगाढता कैसे प्रकट होती ?

सूरदास जी ने इस अभाव की सम्यक् पूर्ति की और फिर भागवत की ही भाँति उपास्य कृष्ण की भी स्थापना कर दी। जिस कौशल के साथ राधा और कृष्ण के एकनिष्ठ, व्यक्तिगत, प्रगाढ प्रेम सबध को सामूहिक स्वरूप सूरदास जी ने दिया है,—कृष्ण की प्रेम-मूर्ति को जिस चातुरी के साथ समाजव्यापी आराधना का पात्र बना दिया है, धार्मिक काव्य के इतिहास में उसके जोड की कोई वस्तु शायद ही मिले।

कृष्ण के सौदर्य को राधा की अनुरक्त दृष्टि ने रहस्यमय बना दिया है, गोपियाँ जब कि कृष्ण के अग-अग के सौदर्य का वर्णन करती है तब राधा कहती है मैंने तो कृष्ण को देखा ही नही। एक अग पर दृष्टि पडते ही आँखे भर आती है, सारे अगो को देखने की कौन कहे? उनके अगो पर कभी निगाह ही नही ठहरती। सौदर्य भी प्रतिक्षण और ही रूप धारण कर लेता है। यह रहस्यमय सौंदर्य दर्शन है, जिसकी शिक्षा गोपियाँ राधा से लेती है।

राधा तो कृष्ण प्रेम की प्रयोग कर्त्री है। वे स्वत प्रेम की आकर है। किंतु सूरदास जी का प्रयोजन एकमात्र आकर से ही नही सिद्ध होता, वे घर-घर उस आकर का प्रसार भी चाहते है। एतदर्थ राधा की सखियो की नियोजना की गई है जो प्रयोग कर्त्री राधा के सदेश को शतश प्रणालियो से सारी दिशाओ में फैला देती है। ब्रज की रज-रज में कृष्ण-प्रेम की सुगधि व्याप्त हो गई है। भक्ति की बेल इसी रस में से अकुरित होती, बढती और छा जाती है।

राधा श्रीकृष्ण की भक्त है अथवा प्रेमिका? सूरसागर में वे सर्वत्र कृष्ण की समानाधिकारिणी प्रेमिका है। उनकी श्री—शोभा पर कृष्ण मुग्ध है। कृष्ण के रूप-लावण्य पर राधा रीझी है। क्या यह भक्ति का सबध है? नही यह प्रेमी-प्रेमिका का सबध है। किंतु इसी प्रेमी-प्रेमिका-सबध का जब सामाजीकरण होता है, जब प्रत्येक गोपी राधा बन कर कृष्ण की आराधना करती है तब स्वभावत भक्ति का आगमन होता है। प्रेमी कृष्ण के द्वारा ही आराध्य कृष्ण की स्थापना सूरदास जी ने जिस सुचारु कोटिक्रम से कराई है वह काव्य-जगत में एक दम अनोखा है।

रास वह स्थल है जहाँ प्रेमी-प्रेमिका का सबध समाज-व्यापी होकर रहस्यमयी भक्ति में परिणत हो जाता है। श्रीकृष्ण सहस्रो गोपिकाओ के साथ रास में समिलित होते और सबकी कामना-पूर्ति करते है। यहाँ प्रेमिका का व्यक्तिगत सबध-धारणा और तज्जन्य गर्व का निराकरण भी किया गया है। राधा यह सबध-धारणा रखती थी, इसलिए कृष्ण कुछ काल के लिए अतर्धान हो जाते है। जब राधा का यह गर्व दूर होता है तब कृष्ण पुन उसके सामने आते है।

प्रेमी-प्रेमिका-सबध की यह अतिम परिणति ध्यान देने योग्य है। यह व्यक्तिगत सबध का पूर्ण सामाजीकरण है, जिसे हम भक्ति कह सकते है। रास में असख्यो गोपियो का भाग लेना, नृत्य-गीत आदि के द्वारा सबकी कामनापूर्ति, रहस्यमय रूप से सारी मडली का कृष्ण-केंद्र से सपर्कित होना और फिर रास में कृष्ण के वशी-वादन का प्रभाव—पाषाणो का द्रवित होना, यमुना की गति का स्तभित होना, चद्रमा का ठहर जाना, सभी एक ही लक्ष्य की ओर इगित करते हैं—शात का अनत में, व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान। इसलिए कृष्ण का रास अनत कहा गया है। यह वह आदर्श-स्थिति है जिसमें पूर्ण सामरस्य की स्थापना हो गई है, विक्षेप का कही अस्तित्व नही। सकीर्णता के हेतुभूत गर्व और अहकार गलित हो गए हैं,—घुल कर बह गए है और धुल कर निकली है दुग्ध-धवल चद्रिका में सब ओर छिटक रही उज्ज्वल कृष्ण भक्ति।

यह न समझना चाहिए कि हम आज दिन बाजारो में रासलीला सबधी जो भद्दे चित्र देखा करते है वही सूरदास का भी रास है। रास नाम तो दोनो में समान है, किंतु उसके अकन में सूरदास जी की समता करना साधारण चित्रकारो का काम नही। रास की वर्णना में सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच गया है। श्रीमद्भागवत की परपरागत अनुकृति कवि ने नही की है, वरन् वास्तव में वे अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठे है। उन्होने रास की जो पृष्ठ भूमि बनाई है, जिस प्रशात और समुज्वल वातावरण का निर्माण किया है, पुन रास की जो सज्जा, गोपियो का

जैसा नघठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केंद्रीकरण दिखाया है तथा रास की वर्णना मे सगीत की तल्लीनता और नृत्य की बँधी गति के साथ एक जागरुक आध्यात्मिक मूर्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशाति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किए हैं, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अतर्दृष्टि के द्योतक हैं। उनके काव्य-चमत्कार की तुलना मे वाजारू चित्रो को रखना, मणियो का मूल्य शाक-भाजी-द्वारा आँकना है।

रास के पश्चात् विशेपत मान का वर्णन कवि ने किया है, जिसके सवध में हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। मान का हेतु है राघा का अन्य गोपियो से अपने को पृथक् समझना, जब कि कवि की रहस्योन्मुख कला में वे राधा की प्रतिच्छाया मात्र हैं। इस लीला का आशय इस रहस्य को मुखरित करना ही था, किन्तु वर्णन की अतिरजना मे कवि का मूल उद्देश्य विलुप्त हो गया और राधा की भ्राति के स्थान पर कृष्ण का अपराधी रूप ही उभर आया है। निश्चय ही यह कवि की भावना के अनुरूप सृष्टि नही है।

कला की दृष्टि से मान-प्रसंग का एक दूसरा प्रयोजन राधा के व्यक्तित्व की, विशेपत उसके सौंदर्य की प्रतिष्ठा करना भी हो सकता है—वह सौंदर्य जिसका आकर्पण कृष्ण को भी विभ्रात कर देता है (गोपियो की तो हस्ती ही क्या ?) और वह व्यक्तित्व जिसके सामने कृष्ण भी झुक कर प्रार्थी होते हैं। किंतु इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए यह उपयुक्त अवसर नही कहा जा सकता। इसमें राधा का सौंदर्याकर्पण यद्यपि प्रमुख हुआ है, किंतु उससे भी प्रमुख हो गई है उनकी गोपियो के प्रति ईर्षा। क्या कवि का यह उद्देश्य (ईर्षा को प्रमुखता देना) हो सकता है ?

उच्च कला और सौदर्यस्थापन की दृष्टि से इसका समर्थन नही किया जा सकता, यद्यपि एक प्रकार के श्रद्धालु यह कहेंगे कि राधा की ईर्षा उनके अन्य गोपियो की अपेक्षा सुदर सज्जा करने और कृष्ण-प्रेम की एकात अधिकारिणी बनने में सहायक हुई है। उस समर्थक वर्ग की दलील भी हम सुन चुके हैं जो यह कहता है कि प्रत्येक गोपी ने जिस-जिस भाव से कृष्ण को भजा उसकी पूर्ति उन्होने की। उन्ही मे के कुछ यह भी कहेंगे कि बिना शारीरिक सयोग के गोपियो में उस विरह की जागृति दिखाना सभव न था जो कृष्ण के मथुरा गमन के पश्चात् समस्त व्रज में छा गया है। इस प्रकार की विचारणा उस विशेप वर्ग की है जो तात्रिक रहस्यवादी पद्धतियो का अनुगामी है। मेरे विचार से श्रेष्ठ कला और दर्शन की आवश्यकताएँ इससे भिन्न हैं।

मान-मोचन के वाद ही वसत और होली के अवसर आते है, जिनमें सामूहिक गान, वाद्य और छीना-झपटी के चटकीले और रगीन दृश्य दिखाई देते हैं। इसके पश्चात् सागर-स्नान और स्नानान्तर स्वच्छ नूतन वस्त्र धारण करना और फिर पुष्प मालाओ से आच्छादित स्वर्ण-हिंडोल मे गोपियो से परिवेष्ठित राधा-कृष्ण की झूलती हुई ऐश्वर्यशालिनी झाँकी। यही कृष्ण की व्रजलीला समाप्त होती है। पर्दा गिरता है। प्रशात ओजस्विता और प्रसन्न समादर के प्रभाव लेकर दर्शक मडली (व्रज की गोप-गोपियाँ) घर लौटती है।

इस अवसर पर जब व्रज में सब ओर सुख-समृद्धि छा गई है और हिंडोल-स्थित राधा-कृष्ण की किशोर मूर्ति चरम आकर्पण का विषय बन चुकी है, एक ऐसी निष्क्रियता और आत्मनिद्रा की सभावना है जो स्वभावत ऐसी परिस्थिति में उत्पन्न होती है। शेषशायी भगवान नारायण के-से दिव्य, किंतु अस्थिर और गति-हीन स्वरूप का उद्घाटन करना सूरदास की कला का लक्ष्य नही था, नही तो वे इसी स्थान पर अपना काव्य समाप्त कर देते। पर वे सारे व्रजमडल को चौका देते है, कृष्ण की मथुरा जाने की सूचना दे कर। असमाविक रूप से एक ऐसा झोका आता है जो सुख के प्रशात पारावार को दुख की तरगो से अभिभूत कर देता है। सब के सब व्यथित हो रहते हैं और कर्तव्य-शून्य होकर क्षोभ के महानद में डूबते-उतराते हैं। काव्य में जीवन की प्रगति का यही स्वरूप है। कृष्ण का कार्य अब व्रज में नही मथुरा में है। इसलिए वे समस्त काम्य-सवधो और प्रेम-बधनो को दूसरे ही क्षण तोड देने को (हृदय पर पत्थर रख कर) तैयार हो जाते हैं।

विजय का पूर्ण विश्वास प्रतिक्षण मन में रखते हुए भी, अर्थात् भीतर से निश्चित होते हुए भी, बाहर विकट संघर्षों का सामना कृष्ण को करना पड़ता है। वे सच्चे अर्थ में क्रांतिकारी का आत्म-विश्वास और उसी की-सी कष्ट सहिष्णुता लेकर इस नए नाट्य में प्रवेश करते हैं। अदने से अदना कार्य वे अपने हाथों करते हैं। क्योंकि वे किसी समृद्धि सेना के नायक नहीं, नए क्रांतिकारी हैं और अदनी से अदनी बात सुनने को तैयार रहते हैं। सूरसागर के इस प्रसंग को देखने पर इसकी अद्भुत समानता उन रचनाओं से देख पड़ती है जिनमें प्रचलित समाज व्यवस्था अथवा राज व्यवस्था के विरुद्ध क्रांतिकारी चरित्रों की अवतारणा की गई है। रजक के साथ कृष्ण का झगड़ा, उसके कपड़े छीन कर अपने साथियों को पहनाना (बहाना यह कि राजा के दरबार में मैले कपड़े पहन कर कैसे जायँ!) पाश्चात्य क्रांतिकारी प्रसंगों की याद दिलाता है। मल्लयुद्ध के पूर्व कुबरी का मिलना और तिलक सारना एक ऐसा विचित्र और शुभ-सूचक मनोवैज्ञानिक उपादान है जो आधुनिक क्रांतिमूलक रचनाओं में भी किसी न किसी रूप में मिल जाता है। कंस-वध के पश्चात् कृष्ण सबसे पहले कूबरी के घर जाकर ही उसका स्वागत-सत्कार स्वीकार करते हैं। कंस के दुराचारों के भार से दब कर ही मानो वह कूबरी हो गई थी और कृष्ण के आते ही वह सुंदर अंगवाली हो जाती है।

यहाँ, व्रज में, कृष्ण कितने कोमल प्रेम-तंतुओं को छिन्न-भिन्न कर गए हैं, इसका कुछ अंदाज गोपियों की विरह कातर पुकार से लग सकेगा। आज के समीक्षक को यह एतराज है कि कृष्ण के कुछ मील दूर मथुरा जाने पर गोपियों के रोने-धोने का इतना बड़ा पवाँरा सूरदास ने क्यों एकत्र किया? यही नहीं, सूरसागर काव्य के जो उत्कृष्ट स्थल हैं—वंशी को लक्ष्य करके दिए गए सैंकड़ों उपालंभ, जिनमें सूक्ष्म प्रेम-भावना भरी हुई है, नेत्रों पर किए गए अनेकानेक आरोप जिनमें रहस्यात्मक सौंदर्य-व्यंजना है, इन आलोचकों की व्यर्थ की मानसिक उधेड़-बुन और एक अतिभावुक युग का काव्यावशेष समझ पड़ता है। किंतु यह समझ एकदम भ्रांत है। असल में इन्हीं वर्णनाओं में, जो कवि की उत्कृष्ट तल्लीनता और सूक्ष्म मानसिक पहुँच और अधिकार की द्योतक है, कवि ने कृष्ण के रहस्यमय स्वरूप का निर्देश किया है, वह स्वरूप जो भक्ति का आधार और भक्तों का इष्ट है। भक्ति और भक्त का नाम सुन कर कोई मिथ्या धारणा नहीं बना लेनी चाहिए। मैं कह चुका हूँ कि व्यक्तिगत प्रेम का सामूहिक सामाजिक स्वरूप ही भक्ति है और साथ ही मैं कवि सूरदास की उन काव्य-चेष्टाओं की भी कुछ सूचना दे चुका हूँ, जिनमें उन्होंने इस समाज-व्यापिनी कृष्ण-भक्ति की नियोजना की है। इन्हीं चेष्टाओं के सर्वश्रेष्ठ अंश वे हैं जिन्हें उपर्युक्त आलोचक मानसिक विजृंभणा कह कर टाल देना चाहते हैं। पर इस प्रकार वे टाले नहीं जा सकेंगे। व्यक्त सौंदर्य की जो अव्यक्त और निगूढ़ अंतर्गतियाँ कवि ने दिखाई हैं वे कृष्ण को रहस्य स्वरूप प्रदान करती हैं। इसी रहस्यमय स्वरूप से उपास्य कृष्ण की प्रतिष्ठा होती है। जो प्रेम प्रसंग व्यक्तिगत और बाह्य घटनाओं से प्रकट हैं उनका उपयोग भी क्रमशः अनिर्वचनीय, रहस्यमय, सामूहिक प्रेम (भक्ति) की अभिव्यक्ति के लिए ही होता है। सूरदास की यही मुख्य काव्य-साधना है।

व्रज रहते, कृष्ण का जो प्रेम, गोपियों में इधर-उधर बिखरा था, अब उनके मथुरा जाने पर वह छनकर एकत्र हो रहा है। गोपियों के विरह-गीतों में उसका समाजवादी स्वरूप धारण करना जारी है। मिलने के अवसर पर जो रहे-सहे भेद-भाव थे, अब मिट गए हैं (जिन लोगों ने यह शंका की है कि सूरसागर में सोलह हजार गोपिका-सहचरियों से कृष्ण का प्रेम संबंध क्यों दिखाया गया है? उन्हें ऊपर के उत्तर से समाधान कर लेना चाहिए)। प्रेम-भावना अपना रहस्यमय सामाजिक स्वरूप धारण कर रही है।

और जब उद्धव निर्गुण का संदेश लाते हैं तथा गोपियाँ भ्रमर को संबोधित कर उन्हें मर्मस्पर्शी उत्तर देती हैं, तब तो रहस्य खुल ही जाता है। गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म का तिरस्कार क्यों करती हैं? क्योंकि वे जिसकी प्रेमिका या उपासिका हैं, वह निर्गुण से क्या कम है? निर्गुण से क्या कम सुंदर है? क्या कम श्रेष्ठ है? जिसको योगी योग द्वारा समाधि साध कर प्राप्त करते हैं उसे ही (नामान्तर से) गोपियों ने प्रेम-परि-चर्या से प्राप्त किया है। क्यों वे इसे छोड़कर उसे लें? क्या विशेषता है उसमें, जो इसमें नहीं है? क्या

रहस्य है उसमें, जो इसमें नही है ? जो विशेषण उसके साथ लगते है, वे सब इसके साथ भी लगते हैं। यह कोई व्यक्ति कृष्ण नही, यह तो रहस्यमयी परमसत्ता, परम उपास्य ही कृष्ण है और यही आकर सूरदास जी की आरम्भिक प्रतिज्ञा भी सार्थक हो जाती है—

अविगत - गति कछु कहत न आवै ।
सब विधि अगम विचारहि तातैं 'सूर' सगुन-पद गावै ।।

अविज्ञात निर्गुण के समकक्ष विज्ञात सगुण कृष्ण के रहस्यमय लीला-पद सूरदास सुनाते हैं ।



हम अलि, गोकुलनाथ-अराध्यौ

महाकवि सूरदास

राग—सोरठ

हम अलि, गोकुलनाथ-अराध्यौ ।
मन, बच, क्रम हरि सो धरि पतिब्रत, प्रेम-जोग-तप-साध्यौ ।।
मात-पिता हित प्रीति निगम-पथ तजि दुख-सुख भ्रम नाँख्यौ ।
मान, अमान परम परितोषी, अस्थिर-थित मन राख्यौ ।।
सकुचासन कुल, सील करषि करि, जगतबंद्य करि बंदन ।
मान, अपवाद पवन अवरोधन, हित-क्रम काम-निकंदन ।।
गुरुजन-काँनि अगिनि चहुँ दिसि, नभ तरनि ताप बिन देखे ।
पिवत धूम उपहास जहाँ तहँ, अपजस स्रवन अलेखे ।।
सहज समाधि बिसारि बपु बानक निरखि, निमेख न लागत ।
परम जोति प्रति अंग माधुरी, धरत यहै निसि जागत ।।
त्रिकुटी संग भ्रू-भंग तराटक, नैन, नैन लगि लागे ।
हँसन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि, चंद-सूर अनुरागे ।।
मुरली अधर स्रवन धुनि सो सुनि अनहद नाँद प्रमाँने ।
बरसत रस रुचि बचन संग सुख, पद आनंद समाँने ।।
मंत्र दियौ मन जात भजन लगि ग्याँन-ध्याँन हरि ही कौ ।
'सूर' कहौ गुरु कौंन करै, अलि, कौंन सुनैं मत फीकौ ।।

राग-मलार

प्रीति वा देस, न कोऊ जाँनत ।
तू तौ बात कहत अलि, ऐसी, बिथा नाँहि पैहचाँनत ।।
जो गुपाल ब्रजमें घर-घरते, दूध दह्यौ लै खात ।
सो अब दु.ख देत ब्रज-बासिह्न, निठुर भए पुर-जात ।।
नख-सिख-लौ बिष-रूप बसत हैं, मधुबन नाम कहावत ।
'सूर' कुटिलता सो सुनियत हैं, लोग पुरातन गावत ।।

राग-मलार

मधुकर, तुम्ह रस-लंपट लोग ।
कमल-कोष-बस रहत निरंतर, हमें सिखावत जोग ।।
अपने काज फिरत बन अंतर, निमिष नाँहि अकुलात ।
पुहुप गएँ बहुरौ बेलिन के, नेंक निकट नाँहि जात ।।
तुम्ह चंचल, वे चोर सकल अँग, बातह्न को पतियात ।
'सूर' बिधाता दोउ रचे है, मधुप-स्याँम इक गात ।।



श्री सूरदासजीके एक पद पर प्राचीन राजस्थानी-चित्र

सूरसागर का विकास और उसका रूप

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

बहुत दिन से मन में कुछ विचार सघर्ष कर रहे थे कि 'श्रीसूर' के 'सागर' का वर्तमान—"भागवत-अनुसार द्वादशस्कधात्मक" रूप सूरदास कृत नही है। इसके कुछ कारण थे और थी उनमें सत्यता। फिर भी विचार व्यतिक्रम के कारण पकड मे नही आ रहे थे। उन पर श्रद्धा-अश्रद्धा का आवरण जब-तब उतरता-चढता रहता था। वे कारण थे—श्री गोकुलनाथजी की 'वार्त्ता', उस पर श्री हरिरायजी का 'प्रकाश', नाभादास जी का 'भक्तमाल', प्रियादासजी की भक्तमाल पर 'टीका', भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र, रीवाँ के महाराज रघुराज सिंह आदि से लेकर अनेक 'भक्त-चरित्रात्मक' विवरणो के रचयिताओ के अनतर हिंदी-साहित्य के वे इतिहास-ग्रथ जो 'शिवसिंह-सरोज' से लेकर अबतक प्रकाश मे आ चुके है। इन सब ग्रथों में सूर और उनके सागर के प्रति विभिन्न मत होते हुए भी इस एक बात को सब ने दुहराया है कि श्रीसूर ने 'लक्षावधि' वा 'सहस्रावधि'-पद-रचना की, जो विचारणीय है, किंतु यहाँ लक्षावधि वा सहस्रावधि सज्ञा किसी हद वा परिमाण की द्योतक नही, उसकी अपारता की द्योतक है। फिर भी उदयपुर के मोतीलाल मेनारिया एम० ए० ने इस सहस्रावधि-पद सख्या को ही आधार मान कर अपने एक लेख मे सूर के सागर को एक हजार पदो की परिधि में समाप्त होने वाला ग्रथ बतलाया है। यह हजार पदो की सख्या का दायरा उदयपुर और बीकानेर के सरस्वती-भडारो से प्राप्त प्रतियो पर अवलवित है। अन्य प्रतियाँ जो उनके इस दायरे से कही अधिक है, उनके लिये शायद आप के हृदय में स्थान नही। सूरसागर के रूप पर भी उन्होंने कुछ प्रकाश नही डाला है कि वह सग्रहात्मक है या भागवत-अनुसार द्वादशस्कधात्मक, यद्यपि इन भडारो की प्रतियाँ उनके देखने में आ चुकी थी। सूर के सबध में लिखे गये अनेक ग्रथो के साथ-साथ समय-समय पर सूरसागर की प्रतियाँ यत्र-तत्र से हमारे देखने में भी आई, जो सब द्वादशस्कधात्मक, अर्थात् भागवत-अनुसार प्रथम स्कधसे लेकर द्वादशस्कध तक अनुवाद जैसी थी और इन्हें अप्रमाणिक मानने मे किसी आधार के बिना लोक-लज्जा थी। फिर भी हृदय सागर के इस द्वादशस्कधात्मक रूप को मानने में विवश था—इनकार कर रहा था, क्योकि 'नवलकिशोर प्रेस लखनऊ' की प्रति जो मुद्रित प्रतियो में उस समय सब से प्राचीन थी और जिसके—प्रथम सस्करण का सपादन व्रजभाषा के जाने-माने कवि महाराज मानसिंहजी उपनाम 'द्विजदेव' अयोध्या की देख-रेख में उस समय के किन्ही प० कालीचरण ने किया था और जिसके अनेक सस्करण आज तक निकल चुके है। वह सस्करण सग्रहात्मक है,—द्वादशस्कधात्मक नही। द्विजदेवजी व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे—उसके मर्मज्ञ थे और थे उस (व्रज-भाषा) के कवियो से, उसके इतिवृत्त से तथा उसके साहित्य से परिचित एव विज्ञ। जब उन्होंने अपनी देख-रेख में प्रकाशित होने वाले 'सूरसागर' को सग्रहात्मक रूप में प्रकाशित कराया, तब उसकी मान्यता के कुछ कारण अवश्य होने चाहियें, जो आज अज्ञात है। द्विजदेवजी-द्वारा मान्य सूरसागर का सग्रहात्मक रूप मोटे तौर पर विभिन्न शीर्षको के अतर्गत इस प्रकार है—

> "सूरसारावली (सवालाख पदो की सूची), नित्यकीर्त्तन (विभिन्न गेय-पद-रचयिता कवियो का संग्रह), बधाई के पद, बाल-लीला (माटी-भक्षण), माखन चोरी, दामोदर लीला, वत्सहरण लीला, राधा कृष्ण प्रथम मिलन—चकई-भौरा खेलन लीला, गोवर्धन लीला, गोचारण लीला, कालीदमन-लीला, दावानल-पान लीला, गोदोहन लीला, भुवंगम-डसन लीला, व्रतचर्या—वस्त्रहरण लीला, पनघट-लीला, दान लीला, अनुराग लीला, मुरली के पद, रास लीला, विनय के पद, मथुरा-गमन लीला और भ्रमरगीत-संबंधी पद।"

वार्ता तथा भक्तमाल-आदि ग्रथो मे जैसा लिखा जा चुका है कि श्रीसूर ने लक्षावधि या सहस्रावधि, अर्थात् किसी सख्या के दायरे में न आनेवाले रूपमें भगवान श्रीकृष्णके लीलात्मक पदो की रचना की। इस प्रमाण की अपुष्टता के प्रति कोई दलील नही दी जा सकती। यहाँ असत्यता की भी गुजाइश नही है, क्योकि वार्ता तथा भक्तमाल के उभय-रचयिता सूरदासजी के समकालीन थे। उन्होने सूर के पदो का सकलन भागवत-अनुसार द्वादशस्कधात्मक रूपमे नही देखा था, जिस से सागर के द्वादशस्कधात्मक होने में प्रमाण की अपुष्टता ही सिद्ध होती है। फिर भी समय-समय पर सूर के सागर का द्वादश-स्कधात्मक रूप ही प्राप्त होने से उसका यह रूप मानने में सकोच होता था। यह बात सच है—

"जिन खोजा तिन पाइयाँ, गँहरे पानी पैठ।"

अस्तु, कुछ काल बाद "सूरसागर" की खोज में ही 'जयपुर' जाना पडा। वहाँ अनेक राजकीय बाधाओ के रहते हुए भी उस समय के उच्च अधिकारी 'सर मिर्जाइस्माइल', तथा 'विजयानदजी चतुर्वेदी' की कृपा से बडी कठिनाइयो के बाद राज्यपुस्तकालय (पोथीखाना) मे सूरसागर की एक प्रति दो खडो में लिखी मिली। पुस्तक अति सुदर अक्षरो में जयपुर के साँगानेरी कागज पर काली चमकनी स्याही से सुनहले बार्डरो के बीच लिखी हुई थी। पुस्तक की शोभा उसकी सज-धज देखते ही बनती थी। प्रति देख कर मन तो प्रसन्न हुआ ही; बहुत दिन की साथिन शका भी दूर हो गयी, क्योकि पुस्तक सग्रहात्मक थी—द्वादशस्कधात्मक नही। फिर तो उदयपुर, काँकरोली, कुचामन, किशनगढ, कोटा, बूँदी, जोधपुर, बीकानेर-आदि से जितनी भी सूरसागर की प्रतियाँ देखने में आईं, वे सब सग्रहात्मक थी।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान मे रखने की है कि ये सब सग्रहात्मक प्रतियाँ सूरसागर के द्वादशस्कधात्मक रूप वाली प्रतियो से कही अधिक पुरानी है। इनमें-उनमें भी वर्ष का अतर है। ये प्रतियाँ पाठ में शुद्ध, सुदर और ब्रजभाषा की उच्चारण प्रणाली के भी अति निकट थी। बात जँच गयी और हृदय ने उसे स्वीकार कर लिया। श्री सूर ने महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य की शरण में आने से पूर्व जो कुछ गेय-पद रूप में साहित्य-सृजन किया वह विनय के—दीनता रूप अधकचरे बरसाती पानी के समान नीरस और स्वाद-हीन था। बाद में जब सूर—

"सूर ह्वै कें काहे कौं घिघियात हौं, कछु भगवद लीला बरनन करौं"

के सुहागे से उज्ज्वल हुए तब लीलात्मक पद-रचना करने लगे, जिसका श्रीगणेश निम्न पद से हुआ था—

"ब्रज भयौ मँहर कें पूत, जब यै बात सुनीं।"

यह रचना-क्रम उस समय तक निर्बाधगति से चलता रहा जबतक कि आपने अपने भौतिक शरीर का त्याग नही किया। तब आप को भागवत-अनुसार द्वादशस्कधात्मक पद-रचना करने का अथवा अपने सागर को तद्-रूप क्रम बैठाने का कब समय मिला? यह विचारणीय था, सदिग्ध था और मानने के योग्य नही था। वास्तव में श्री सूर-कृत सागर का रूप सग्रहात्मक ही होना चाहिये, क्योकि सूर लेखक न थे,—रचयिता थे।

"स्वात सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।"

की तरह कृष्ण-गाथा के, उनकी लीलाओ के गायक थे। वे लिखा नही करते थे, गाया करते थे। श्री गिरिराजजी के ऊपर स्थापित अपने आराध्य देव श्री श्रीनाथजी की मूर्ति के सन्मुख अपने बनाये नित्य नये लीलात्मक पद गाकर आत्म-विभोर हुआ करते थे। श्रीहरिरायजी के प्रकाश के अनुसार सूर जन्माध थे—सिलपट अधे, अर्थात् दोनो पलक जुडे हुए बरोनियाँ-रहित। अत सूर-द्वारा अपने सागर का द्वादशस्कधात्मक रूप रचने वा क्रम के देने का प्रश्न ही नही उठता? आप तो भगवल्लीला के उन्मुक्त गायक थे, जो गाते थे। रचने वाले थे, जो नित्य नये-नये रूप में अपनी जन-मन-मोहनी सुमधुर ब्रजवाणी में पद रच कर और अपने प्रभु के सान्निध्य मे गाकर अपने को धन्य किया करते थे। न उनमें सग्रह की चाह थी और न थी उसमें कोई क्रम बैठाने की उमग। उनका कार्य था अपने प्रियकी गुणावली गाना, उसके रसमें विभोर हो झूमना और भगवान श्रीकृष्ण की विविध बाल-लीलाओ से लेकर पौगड तक की लीलाओ में तदात्मभाव से मग्न होना। वहाँ अन्य बातो या किसी क्रम को बैठानेके लिये स्थान ही कहाँ था—उस नित्य नये सुमधुर रस से बिलगाव ही कहाँ था, जो इस द्वादशस्कधात्मक-रचना वा उसके क्रम के बैठाने के पचडे में पडते। किंतु सूर तथा उनके सगी अष्टछाप के

कवियो—"कृष्ण दास, गोविंद स्वामी, कुभन दास, नद दास, चतुर्भुज दास, परमानद दास तथा छीत स्वामी" के साथ-साथ इनके अन्य अनुयाई कवियो—पद-रचयिताओ के पदो का सग्रह—साप्रदायिक क्रम के अनुसार उन (सूर) के समय में हो चुका था, जो 'नित्य कीर्त्तन' तथा 'वर्पोत्सव' के नाम से पुकारे जाते है, क्योकि श्री आचार्य महाप्रभुके पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी के समय मे ही 'श्रीनाथजी' से भिन्न उनकी अन्य सेव्य-मूर्त्तियाँ श्री विट्ठलनाथजी के वशजो-द्वारा ब्रज से बाहर यत्र-तत्र जाने लगी थी। कारण जो कुछ रहा हो, पर वे गयी और अपने साथ अष्टछाप के कवियो के वे कीर्त्तनो (पदो) के सग्रह भी जिन्हे—नित्य-कीर्त्तन और वर्पोत्सव के पद नाम से सज्ञा दी जा चुकी थी, लिखवा कर—लिपि-प्रतिलिपि कराकर लेती गयी। पुष्टि, अर्थात् वल्लभ सप्रदाय मे, उसकी सेवा-प्रणाली में "साहित्य, सगीत और कला" का जो सुमधुर मिश्रण किया गया है वह अन्यत्र नही। सुबह से लेकर साँझ तक जो कुछ सेवा का क्रम नियुक्त किया गया है, वह साहित्य, कला तथा सगीत से ऐसा ओत-प्रोत है कि वर्णन नही किया जा सकता। कीर्त्तन के बिना सेवा नही और सेवा के बिना कीर्त्तन नही। इसी प्रकार साहित्य और कला का सम्मिश्रण किया जो उनकी सेवा प्रणाली में, उनके वस्तु-विन्यास में सुदर से सुदरतम रूप मे समाई हुई है। अस्तु, वे कीर्त्तन, सग्रह रूप मे प्रस्तुत होकर गये जो आज भी आचार्य-घरो मे जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे ही सही, पर सच्चे रूप मे मिलते है। कुछ समय बाद ये सग्रह बोझिल हो जाने के कारण तीन रूपो—'नित्य-कीर्त्तन, वर्षोत्सव तथा वसत-धमार सग्रह' मे परिणत हो गये। पुष्टिमार्गीय वैष्णवो ने भी इनके प्रसार मे सहायता दी, फलस्वरूप आज हजारो-लाखो घरो में ये सग्रह ग्रथ दो वा तीन रूपो मे विराज कर उन्हे उज्ज्वल और पावन बना रहे है। यह पूर्व-अनुमोदित क्रम आज भी चल रहा है तथा आगे भी चलते रहने की आशा है, क्योकि इस मे श्रेय और प्रेय का जितना लोक-रजक मधुर मिश्रण हुआ है वह अन्य सप्रदायो मे कठिनता से ही मिलेगा। इन सग्रह-ग्रथो की सख्या आज गिनती से परे है। मुद्रण-यत्रो ने भी इस प्रवाह मे अमोघ गति ही बढायी। यह गति मथुरा के लीथो प्रेसो से लेकर गुजरात के अनेक प्रेसो-द्वारा बढती गयी। वैष्णव ठाकुरदास सूरदास, लल्लू भाई छगनलाल देसाई, वसतराम हरिकृष्ण शास्त्री, भारत के प्रसिद्ध चित्रकार जगन्नाथ अहिवासी तथा इस लेख के लेखक से आदि लेकर अनेक महानुभावो, प्रकाशको तथा मुद्रण-यत्राधिकारियो ने इनके प्रसार मे अति सहयोग दिया, जो अवर्णनीय है। ये सग्रह-ग्रथ ही मूल रूप में 'सूरसागर' के धाता-विधाता बने, उसकी उत्पत्ति के कारण बने—जनक बने। आगे चलकर इन नित्य-कीर्त्तन, वर्षोत्सव तथा वसत-धमार सग्रहो से सूर-पदो का सागर ही नही, अष्टछाप के प्राय सभी कवियो के 'सागर' बने, जिन में तीन—'सूर-सागर', 'कृष्ण-सागर' और 'परमानद-सागर' मिलते है। नद-सागर, अर्थात् नददास जी के पदो के सागर का नाम-भर सुना जाता है, देखने में नही आया है। गोविंद स्वामी के दो सौ बावन पदो का सग्रह भी बहुत देखने में आता है। इसी प्रकार, कुभनदास, चतुर्भुजदास तथा छीत स्वामी के भी छोटे-मोटे पदो के सग्रह यत्र-तत्र मिलते है। फिर तो यह विकास नित्य नया रूप धारण करने लगा, फलस्वरूप सूर-पदो के तीन रूप, सग्रहात्मक तदनतर द्वादशस्कधात्मक तथा साहित्य-लहरी जो सूर के कूट पदो का सकलन है बने, जिनके निर्माण का—सग्रह का इतिहास आज समय के पृष्ठो पर से धुल-पुछ गया है। सूर के सागर का यह सग्रहात्मक रूप मोटे तौर पर इस प्रकार है—

> "भगवान श्रीकृष्ण की जन्म-बधाई, उनकी बाललीला—(पालना-आदि), ब्रज की अन्य लीला-रासादिक से लेकर विरह-पदावली तक, जिसे भँवरगीत नाम से उल्लेख किया जाता है। तदनतर तीनो—नृसिंह, वावन और राम-जयतियो के बाद विनय के पदो पर समाप्त हो जाता है।"

ये विनय-पदावली वही है जिसे श्री सूर ने श्री वल्लभ-चरण-शरण के आने से पूर्व रचा था। किन्ही रसज्ञ व्यक्ति ने इन सग्रहो से कुछ विशिष्ट दृष्टिकूट (अर्थ-सगति में कठिन) पदो का सकलन 'साहित्य-लहरी' नाम से किया। सूर को दृष्टि-कूट, अर्थात् अर्थ मे कठिनता उत्पन्न करने वाले पद-रचना करने की प्रेरणा महाभारत से मिली अथवा कही अन्यत्र से, यह कहना कठिन है, परन्तु—सूर के समय यह प्रणाली इस प्रकार की रचनाओ के लिये चल पडी थी।'

सूर के सागर का दूसरा रूप द्वादशस्कंधात्मक, अर्थात् भागवत-अनुसार बना। वह कब और किसने बनाया वा संग्रह किया, इसका आज कुछ पता नहीं चलता। अस्तु, सूर के पद रूप द्राक्षाओं में—लीलात्मक पद, जयति-पद, विरह-पद (भँवरगीत) और विनय के पदों में ये निंबफल-समान कथात्मक पद कब और किसने मिला दिये कुछ कहा नहीं जा सकता। उपलब्ध सामग्री से यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि सागर का वर्त्तमान—द्वादशस्कंधात्मक रूप सत्रहवीं शताब्दी तक नहीं बन सका था, इसमें प्रथम वह अपने संग्रहात्मक रूप में था। पर जैसा कि कहा जा चुका है आगे चलकर वह द्वादश स्कंधात्मक रूप में कब परिणत हुआ इसका इतिहास अभी अंधकार में है। अस्तु, सूर के पद रूप हीरों से इन काँच के मनियों का पृथक् किया जाना दुस्तर कार्य है और जिसे समय ही जर्जरित कर अपने से पृथक् करेगा। पर आज तो ये सूर-पद-प्रेमियों के लिये एक समस्या बन रहे हैं, इस सत्यता से मुँह नहीं मोडा जा सकता। सूरसागर का वर्त्तमान रूप (द्वादशस्कंधात्मक) विनय-पदों के अनंतर प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थस्कंधादि में परिणत व परवर्धित होकर द्वादशस्कंधात्मक बन गया है। यह क्रम आज भी चल रहा है। प्रमाण में वेंकटेश्वर प्रेस बंबई-द्वारा प्रकाशित प्रति, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित (दो खंडों में) वृहत् रूप, तत्पश्चात् वियोगी हरि, मिश्रबंधु, डा० बेणीप्रसाद आदि अनेक संपादकों-द्वारा संपादित सूरसागर के संक्षिप्त वाल्य-रूपों का नाम लिया जा सकता है। यही नहीं, सूरसागर की अंतर्गत लीलायें भी पृथक्-पृथक् अपनी रुचि अनुसार संग्रह की गयी और छापी गयी। सूरसागर से एक-एक विषय के जैसे—विनय के पद गोस्वामी तुलसीदासजी की 'विनय-पत्रिका' के रूप में, राम-चरित्रात्मक पद 'सूर-रामायण' के रूप में, नेत्र-संबंधी पद 'सूरदास . नयन' के रूप में, मुरली-संबंधी पद 'मुरली-माधुरी' के रूप में तथा विरह-संबंधी पद 'भ्रमर-गीत' रूप में पृथक् हुए,—संग्रह हुए और यत्र-तत्र छपे। विनय पदावली के भी छोटे-मोटे रूप बने, जिन्हें—सूर-साठी, सूर-सतक आदि नाम दिये गये। इनके भी अनेक संस्करण मुद्रित और हस्तलिखित रूप में आज मिलते हैं। भगवल्लीलात्मक पदों का भी विभाजन हुआ। राम और कृष्ण-लीलायें भी पृथक्-पृथक् संग्रह और प्रकाशित हुई। कृष्ण-लीला के भी विभिन्न रूपों से संग्रह हुए और छपे। इन लीलाओं से भी भक्त-चरित्रात्मक लीलायें पृथक् हुई। बाल लीला, गोवर्धन लीला, चीरहरण लीला, रास लीला ही नहीं, मोरध्वज लीला, ध्रुव लीला, प्रह्लाद लीला आदि-आदि, जो इस लेख के अंत में दिये गये वंश वृक्ष से क्रमानुसार अधिक सुगमता से समझ में आ सकेगा।

उपरोक्त वंश वृक्ष से सागर के मूल वंश-विकास के अतिरिक्त श्री सूर की इन संपूर्ण कृतियों को एक नजर में भी देखा जा सकता है। जैसे—

१. साहित्य-लहरी,

२. सूर सागर (संग्रहात्मक, द्वादशस्कंधात्मक तथा संक्षिप्त और पृथक्-पृथक् लीलायें)—"गोपालगारी, गोवर्द्धन लीला—छोटी-बड़ी, चीरहरण लीला, दशमस्कंध भागवत, दान लीला, दीनता-आश्रय के पद, नाग लीला (काली-दमन), पदसंग्रह, प्रान-प्यारी (श्याम सगाई), बाँसुरी लीला, बारह-मासा (मासी), बाल लीला, ब्याहलौ (ब्याह के पद), भगवच्चरण-चिह्नवर्णन, भागवत, मान-लीला, मानसागर (मान के पद), श्री राधा नख-शिख, राधा-रस-केलि-कौतुक, रामजन्म के पद, रामायण-पद, रास लीला के पद, वैराग्य-सतक, सूर-छत्तीसी, सूरदास के पद, सूर-पचीसी, सूर-बहोत्तरी, सूरसागर-सार, सूर-साठी तथा रुक्मिणी मंगल और सुदामा चरित्र वा लीला।"

३. सूर-गीता, (गीता का अनुवाद)[1]

४. सेवाफल, (गद्य)[2]

५. सूर-सारावली, (अनेक दृष्टियों में)

[1] यह पुस्तक जयपुर (राजपुताना) से प्राप्त हुई है।

[2] यह पुस्तक श्री वल्लभाचार्य के संस्कृत ग्रंथ 'सेवाफल' का ब्रजभाषा-अनुवाद है।

सूरसागर की प्रतियाँ

सूरसागर की हस्त-लिखित तथा मुद्रित-प्रतियाँ—संग्रहात्मक तथा द्वादशस्कधात्मक जो हमारे देखने-सुनने[1] मे आई है, उनके प्राप्त-स्थानो का विवरण अकारादि क्रम के अनुसार लिपि काल-सहित नीचे दिया जाता है।

हस्तलिखित

अज्ञात स्थानो की प्रतियाँ—

१. सूरसागर, सं०१७३५ की प्रति

२. सूरसागर, सं०१८१६ की प्रति[2]

बाबू राधाकृष्ण-द्वारा उल्लिखित—

१. सूरसागर, (प्रथमस्कंध से नवमस्कध तक) प्रा० स्था०—खड्ग-विलास प्रेस पटना,

२ सूरसागर, (दशमस्कध पूर्वार्द्ध) भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र-पुस्तकालय, काशी,

३. सूरसागर, (दशमस्कंध उत्तरार्द्ध से द्वादशस्कध तक) काशी राज्य—रामनगर की प्रति,

मिश्रबधुओ-द्वारा उल्लिखित—

सूरसागर, (पद-संख्या बारह हजार) खत्री मुहल्ला लखनऊ,

अमदावाद (गुजरात)—

सूरसागर, (संग्रहात्मक) प्रा०—प० केशवराम काशीराम शास्त्री, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायिटी, भद्रकाली।

अलीगढ (याज्ञिक-पुस्तकालय)—

१. सूरसागर प्रथमस्कध, नं०—२६७।२६,

२. सूरसागर (सपूर्ण), न०—२६६।५४, स०१८५४ की प्रति[3],

३. सूरसागर (अपूर्ण), नं०—३७५।२६,

४. सूरसागर (अपूर्ण), न०—४०१।२६, स०१६०० की प्रति,

५. सूरसागर (अपूर्ण), नं०—४०२।२६, सं०१६०० की प्रति,

६. सूरसागर (दशम, अपूर्ण), नं०—८१३।२६,

उज्जैन (मध्यभारत)—

सूरसागर, प्रा०—ओरियन्टल मनस्क्रप्ट लायब्रेरी—उज्जैन,

उदयपुर (मेवाड) सरस्वती-भडार—

१. सूरसागर (सपूर्ण संग्रहात्मक), सं०१६६७ की प्रति,

२. सूरसागर (संपूर्ण सग्रहात्मक), सं०१७६३ की प्रति,

३. सूरसागर (संपूर्ण संग्रहात्मक),

अन्य—

१. सूर-पदावली (सक्षिप्त), सं०१७६० की प्रति,

२. सूर-सारावली (संक्षिप्त), अतिम पद—"ब्रज तें पावस पै न गई।"

[1] यहाँ 'सुनने' का आशय उन खोज-रिपोर्टों से है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई हैं।

[2] दे० खोज-रिपोर्ट सन् —१६०६,

[3] ये पुस्तकें अब 'नागरी प्रचारिणी सभा काशी' में आ गई हैं।

कलकत्ता—

१. पूर्णचंद नाहर—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक)

२ हनुमानप्रसाद पोद्दार, फर्म—"ताराचंद घनश्यामदास"

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक), सं० १८९६ की प्रति

काँकरौली[1] (मेवाड) "सरस्वती-भडार"—

१. सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक), बध-स०-१,

२ सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), बंध-सं०-७, पुस्तक-स०-५

३ सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक), बंध-सं०-२१४६, पुस्तक-स०-५,

४. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), बध-सं०-४७, पुस्तक-सं०-५,

५. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), बध-सं०-६६, पुस्तक-सं०-१,

६ सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), बंध-सं०-८१, पुस्तक-स०-५,

७ सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक), सं०-१९१२ की प्रति,

८. सूरसागर (दशमस्कंध), बंध-सं०-४६, पुस्तक-सं०-५,

९. सूरदास के पद (स्फुट), बंध-स०-१०४, पुस्तक-सं०-३,

१० सूरदास के पद (स्फुट), बंध-स०-२५, पुस्तक-सं०-४,

कामवन (भरतपुर) "देवकीनदनाचार्य-पुस्तकालय"[2]—

सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक),

कालाकाँकर (अवध), राज्यपुस्तकालय,—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक) स०१८८९ की प्रति,

काशी, "नागरी प्रचारिणी सभा"—

१ सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक), सं०१८८० की प्रति,

२ सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), सं०१९०९ की प्रति 'सुबा साहिब वाली' प्रति

३. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक), सं०१९१६ की प्रति,

४ सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक),

५. सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक), डा० श्यामसुदरदास वाली प्रति,

अन्य—

१ शाह केशवदास 'रईश' काशी—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक) स०१७५३ की प्रति,

२ जानीमल खजाची, काशी[3]—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक), सं०१९०२ की प्रति,

३ राय कृष्णदास काशी—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक) सं०१९२६ की प्रति,

[1] यहाँ व्रजभाषा-साहित्य की हस्त-लिखित पुस्तकों का बडा भारी और सुंदर सग्रह है।

[2] कामवन के 'देवकीनदन-पुस्तकालय' में—श्री सूर कृत 'गोवर्धनलीला' तथा 'प्राणप्यारी'—(स्याम सगाई) भी है।

[3] डा० राधाकृष्णदास ने स्व-सपादित वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से मुद्रित सूरसागर की भूमिका में इनका नाम—जानीमल खाँनचंद लिखा है।

—वें० वेंकटेश्वर की प्रति स०-१९५३ का सस्करण,

४. गोकुलदास, 'रईश'—
सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
५. पं० रघुनाथराम, गायघाट,—काशी[१]—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक)
६, ला० रामरत्न छागरा, सगरा वाला, २४।२ लक्कड़ गली, काशी,—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
७, काशीराज—राज्य-पुस्तकालय 'सरस्वती-भडार' रामनगर—(काशी)—
सूरसागर, (पूर्ण दो खडो में, द्वादशस्कंधात्मक)

किशनगढ, (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय—सरस्वती-भडार,—
सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)

कुचामन, (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय—सरस्वती-भडार,—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) स०१६७५ की प्रति,

कोटा, (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय—सरस्वती-भडार,—
१. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) स०१६७० की प्रति,
२ सूरसागर, (पूर्ण, सग्रहात्मक)

खोज रिपोर्ट[२] (रिसर्च) के अनुसार

१, खोज रिपोर्ट सन् १६०१,-४ तथा ६, (उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित)—
१. सूरसागर, सं०१७६२ की प्रति,
२ सूरसागर, स०१८५३ की प्रति,
३ सूरसागर, स०१८६६ की प्रति,
४. सूरसागर, सं०१८७३ की प्रति,

२, खोज रिपोर्ट सन्—१६०६,-१० तथा ११, पृ०—७, ८—
सूरसागर,

३, खोज रिपोर्ट सन्—१६०२,—
सूरदास के पद, (स्फुट)

४, खोज रिपोर्ट, सन्—१६०६,-७,-८—
सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) स०१६६७ की प्रति,

छतरपुर (बुंदेलखड) 'राज्य पुस्तकालय',—
सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक)

जयपुर, (राजपूताना) राज्य 'पुस्तकालय'—
सूरसागर (पूर्ण दो खडो में, संग्रहात्मक) सं०१८५४ की प्रति,

[१] यह प्रति बहुत सुदर तथा पाठ भी शुद्ध है, सभा ने अपने सूरसागर का सपादन व मुद्रण कराते समय इसका उपयोग नहीं किया है।

[२] खोज-रिपोर्ट के अनुसार इन सूरसागरो का ठीक-ठीक पता प्राप्त न होने से सपादन में किसी ने इनका उपयोग नहीं किया है। इन खोज-रिपोर्टों में—'पद-सग्रह' (खो० रि० सन् १६०२ तथा ६), 'श्री आचार्य वल्लभाचार्य के 'उत्सव-पद' (खो० रि० सन् १६०२), 'कीर्तन'-पद (खो० रि० सन् १६०६) तथा इसी प्रकार—'ख्याल-टप्पा' (खो० रि० सन् १६०२)—आदि सग्रह-ग्रंथों में भी सूर के पदो का बहुत अधिक सग्रह है।

अन्य स्थान—'गिरधारी जी का मदिर'—जयपुर—

सूरसागर, (सग्रहात्मक)

जामनगर[१] (सौराष्ट्र) "वडी हवेली" (मदिर)—

सूरसागर, (सग्रहात्मक)

जूनागढ[२] (सौराष्ट्र) "वडी हवेली" (मदिर)—

सूरसागर, (संग्रहात्मक)

जौनपुर (उत्तरप्रदेश), प० गणेशविहारी मिश्र (मिश्रवधु) के पास लखनऊ—

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक) सं० १८५४ की प्रति,

झालरापाटन, (राजपूताना) 'राज्य पुस्तकालय'—

१. सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं०१६७८ की प्रति,

२ सूरदास जी के पद, (स्फुट-संग्रह)

दरियाबाद—(लखनऊ) राय राजेश्वरवली सिंह,—पुस्तकालय,

सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं०१८८२ की प्रति, लिपि-'फारसी'

दतिया (वुदेलखड) राज्य पुस्तकालय,—

१. सूरसागर, (पूर्ण, सग्रहात्मक) सं०१८०६ की प्रति,

२. सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

दिल्ली,—प्रो० नगेंद्र-द्वारा प्राप्त—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं०१८७७ की प्रति

नाथद्वारा[३] (मेवाड) सरस्वती-भडार—'श्रीनाथ जी का मदिर'—

सूरसागर, (पूर्ण, सग्रहात्मक) सं०१६५८ की प्रति,

पवायाँ (शाहजहाँपुर—उत्तरप्रदेश) प० लालमणि-पुस्तकालय,—

सूरसागर, (पूर्ण, तीन खंडो में द्वादशस्कधात्मक)

पूना, 'दक्खिन कालेज' पुस्तकालय—

सूर-पदावली, (स्फुट)

प्रयाग—

१ म्यूनिस्पिल-म्यूजियम (अजायबघर)—

१ सूरसागर, (केवल दान के पद) बं०सं०—२१८, पु०सं०—६५,

२ सूरसागर, (रास के पद) बं०सं०—२१६, पु०सं०—७४ (१)

३ सूरसागर, (अपूर्ण) पद संख्या २०११, बं०सं०—२१६, पु०सं०—८८

४. सूरसागर, (अपूर्ण) पद संख्या २५१६, बं०सं०—२१३, पु०सं०—१७, सं०१७४३ की प्रति

५ सूरदास के पद (छोटा संग्रह), बं०सं०—२०८, पु०सं०—५,

६ सूरपदावली, (खडित प्रति), बं०सं०—२१७, पु०सं०—१३३,

७ सूरदास-भजनावली, (नई प्रति) बं०सं०—१८६, पु०सं०—३५,

८ सूर-तुलसी-भजनावली, (संग्रह) बं०सं०—२१६, पु०सं०—२०१,

[१,२] जामनगर और जूनागढ़ (सौराष्ट्र) की इन हवेलियो में हिंदी (व्रजभाषा) साहित्य का बहुत कुछ भडार है, जो देखने योग्य है।

[३] नाथद्वारा के सरस्वती-भंडार में हिंदी (व्रजभाषा) साहित्य का अक्षय भंडार है, जो अभी तक देखने में नहीं आया है। यहाँ के पुराने अध्यक्ष श्री स्वर्गीय श्री रामनाथजी देवर्षि-द्वारा एक ही 'सूरसागर' की प्रति का उल्लेख आया है, वैसे यहाँ सूरसागर की बहुत अधिक प्रतियाँ है।

२ विहारी जी का मदिर (निंबार्क-पुस्तकालय) महाजनी टोला—
सूरसागर, (संग्रहात्मक खडित प्रति)

३ हिंदी साहित्य-समेलन—
१ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) बं०स०—२१६, पु०स०—४७, स०१८५० की प्रति,
२ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) ब०स०—२१६, पु०स०—३, स०१८३६ की प्रति,
३ सूरसागर के पद, (संग्रह) ब०सं०—१४६, पु०म०—२०८,
४ सूरदास के पद, (संग्रह, लिपि-फारसी) पु०स०—८६१,
५ सूरदास के भजन, (संग्रह, लिपि-फारसी) पु०स०—८५५,

बंबई, 'वेंकटेश्वर प्रेस'—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) बा० राधाकृष्णदास काशी की प्रति—यत्र-तत्र उन्हीं-द्वारा सशोधित,

बरौली (भरतपुर स्टेट) पो० पहाडी, ठा० रामप्रसाद सिंह—
सूरसागर, (पुस्तकनाम—"भागवत सूरदास कृत", पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १७६८ की प्रति,

बाजपेयी का पुरवा, (बहरायच) पो० मिमिया, प० शिवनारायण बाजपेयी—
सूरसागर, (पूर्ण द्वादशस्कंधात्मक) स० १८६६ की प्रति,

बिजावर (बुंदेलखंड) स्टेट,—राज्यपुस्तकालय,—
सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १८७३,

बीकानेर (राजपूताना) अनूप संस्कृत-लायब्रेरी (पुस्तकालय) राज्य, 'कोट' में—
१ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १६८१ की प्रति, बुरहानपुर, (दक्षिण) वाली,
२ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १६९५ की प्रति, प० वेणी जी की लिखी,
३ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १६९८ की प्रति, मथुरा (केशवदेवजी का मदिर मल्लपुरा) के वैद्य विष्णु भट्ट की लिखी,
४ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स० १७७३ की लिखी,
५ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)
६ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)
७ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)
८ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)
९ सूरसागर, (खंडित, संग्रहात्मक)
१० सूरसागर, (खंडित, संग्रहात्मक)
सूर-छत्तीसी (छोटा-सा संग्रह)
सूर-पच्चीसी (छोटा-सा संग्रह)

बूदी (राजपूताना) राज्यपुस्तकालय—'सरस्वती-भंडार'—
सूरसागर री पोथी, (पूर्ण, संग्रहात्मक) स०१६८१ की प्रति,

बेसवाँ (अलीगढ) ठा० मलगध्वजप्रसाद सिंह का पुस्तकालय—
१ सूरसागर, (प्रथमस्कंध से नवमस्कंध तक) सं०१८७६ की प्रति,
२ सूरसागर, (दशमस्कंध से द्वादशस्कंध तक) स०१८७९ की प्रति,

भरतपुर (स्टेट) राज्य,—पब्लिक-लायब्रेरी—
१ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक)
२ सूर-पच्चीसी, (छोटा-सा संग्रह)

भिंनगा स्टेट (बहरायच) राज्य-पुस्तकालय—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) पद-सं०—२१२४,

मथुरा—

१ पं० नटवरलाल चतुर्वेदी, सीतला पाड़सा, नई कोतवाली के पास—
१ सूरसागर, (पुस्तकनाम—भागवत सूरदास कृत) पूर्ण, संग्रहात्मक, सं० १६८८ की प्रति, तथा कुछ अंश सं०–१७४५ का लिखा पृथक्,
२ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७४० की प्रति,
२ पं० गोपालशंकर नागर—विहारीपुरा (सेठ भीखचंद गली)—
सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७५८ की प्रति,
३ जवाहरलाल चतुर्वेदी, कूवावाली गली,—
सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६४४ की प्रति, (यह प्रति सब से प्राचीन है)
महावन (मथुरा) बा० कृष्णजीवन लाल वकील,
१ सूरसागर, (पुस्तक नाम—'भागवत-पद' पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १८१० की प्रति,
२ सूरसागर, (खंडित—स्कंधात्मक) दशमस्कंध के अतिरिक्त प्रथमस्कंध से द्वादशस्कंध तक पूर्ण, सं० १८६७ की प्रति,
३ सूरपच्चीसी (स्फुट पद)
मिर्जापुर (बहरायच) पो०—बहरायच, विट्ठलदास महंत—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १९०४ की प्रति,
रीवाँ (बघेलखंड) राज्य पुस्तकालय,—
१ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७४० की प्रति,
२ सूरसागर, (खंडित प्रति)
रेवाड़ी (गुड़गावाँ) पं० रामस्वरूप शास्त्री काव्यतीर्थ, संस्कृत अध्यापक—अहीर हाईस्कूल—
१ सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
२ रासलीला, (सूरदास कृत)

लखनऊ—

१, ला० श्यामसुंदरदास अग्रवाल, मसकगंज,—
सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक) सं० १८६६ की प्रति,
२, पं० बद्रीनाथ भट्ट बी० ए०, प्रो०—लखनऊ यूनिवर्सिटी—
१ सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कंधात्मक)
२ सूरसागर, (खंडित प्रति) द्वादशस्कंधात्मक
अन्य —
१ भ्रमरगीत—सूरदास,
२ रुक्मिणीमंगल—सूरदास,
३ सुदामा-चरित्र—सूरदास,
३, पं० श्यामविहारी मिश्र (मिश्रबंधु)—
सूरसागर-सार, (स्फुट पदों का संग्रह)
लबेदपुर (बहरायच) बा० पंचवकस सिंह,
सूरसागर, (पूर्ण, दशमस्कंध)

शरेगढ़ (मथुरा) बा० गोकुलप्रसाद सक्सेना,

सूरसागर, (पुस्तक नाम—'सूरदास के पद' पूर्ण, सग्रहात्मक) स० १६८२ की प्रति,

स्वागीदयाल का पुरवा (बहरायच) पो०—सिसिया, प० स्वामीनारायण, वाजपेयी—

१ सूरसागर, (पूर्ण, द्वादशस्कधात्मक) स० १८९९ की प्रति,

२ भ्रमरगीत,—सूरदास, (सग्रह) स० १८९१ की प्रति,

अन्यत्र

भारत मे वाहर अमरीका और यूरोप मे भी 'सूरसागर' की प्रतियाँ मिलती है। जैसे—

अमरीका, "हार्डवर्ड यूनिवर्सिटी—लायब्रेरी"—

सूरसागर, (पूर्ण, सग्रहात्मक)

पेरिस, (फ्रास) "पेरिस लायब्रेरी"—

१ सूरसागर-किताव, (लिपि-फारसी, स्कधात्मक) स० १७६९ की प्रति,

२ सूरसागर-किताव, (लिपि-फारसी, सग्रहात्मक) स० १७७१ की प्रति,

लदन, "वृटिश-म्यूजियम",—

१ सूरसागर, (कापी) पूर्ण—द्वादशस्कधात्मक, स० १७८० की प्रति,

२ भँवरगीत—सूरदास, स० १७९९ की प्रति, श्यामजू पाँडे लिखित,

मुद्रित प्रतियाँ

सूरसागर की मुद्रित प्रतियो के दोही सस्करण—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, तथा वेंकटेश्वर प्रेस ववई के कहे-सुने जाते रहे हैं,—मिलते भी यही थे। कलकत्ता से भी एक छोटा-सा सग्रह—'सूर सगीत-सार' नाम मे प्रकाशित हुआ था। 'राग-कल्पद्रुम' में भी—जो तीन खडो मे कलकत्ता से ही प्रकाशित हुआ था, व्रजभाषा के अनेक पद-रचयिताओ के पदो के साथ श्री सूर के अधिकाधिक पद छपे है, पर इन सव मुद्रित प्रतियो में नवलकिशोर प्रेस की प्रति ही सव से पुरानी है। इघर खोज से 'सूरसागर' की इनसे भी पुरानी मुद्रित प्रतियाँ मिली हैं, जिन का विवरण निम्न प्रकार है—

आगरा—

१ सूरसागर, प्र०-मु०—मतवअ ईजाद प्रेस (लीथो), सन् १८६७, तीसरी बार

२ सूरसागर, प्र०-मु०—मतवअ कृष्णलाल प्रेस, सग्रहात्मक, (लीथो) सन् १८८२,

कलकत्ता—

१ सूर-सगीत-सार, प्र०—अरुणोदयराय, मु०—वगवासी प्रेस, सन् १९०२, "विनय तथा वाल-लीला से लेकर भ्रमरगीत के पदो तक का सक्षिप्त सग्रह"

२ राग-कल्पद्रुम, भाग—१, २, ३, सग्र०—कृष्णानद 'राग सागर', स०—नगेंद्रनाथ वसु, प्र०—वगीयसाहित्य-परिषद् कलकत्ता, मु०—विश्वकोष प्रेस कलकत्ता, स०—१९७१-७३,

काशी—

१ सूरसागर-रतन, (सग्रहात्मक पूर्ण) स०—रघुनाथदास, मु०—वनारस लाइट प्रेस, सन् १८६७, (लीथो)

२ सूरसागर, स०—'रत्नाकर', प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, मु०—इडियन प्रेस वनारस-शाखा, स० १९३४, आठ खडो में (अपूर्ण)

३ सूरसागर, (ऊपरवाला पूर्ण, दो खडो में) प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) मु०—हिंदी टायमटेबुल प्रेस, स०—२००५,

जयपुर—(राजपूताना)—

सूरसागर, (पूर्ण, सग्रहात्मक) प्र०—मतवअ ई ईजाद प्रेस (लीथो) सन् १८६५,

दिल्ली—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) प्र०—मतबग्र इलाही प्रेस, (लीथो) सन् १८६०,

मथुरा—

सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) प्र०—मुबंउल उलूम प्रेस, (लीथो) सन् १८६०,

बंबई—

१ सूरसागर, (पूर्ण, बड़ा आकार—द्वादशस्कंधात्मक) सं०—बा० राधा कृष्णदास काशी, प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९५३,

२ सूरसागर, (पूर्ण मँझोला आकार—द्वादशस्कंधात्मक) प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९९१,

लखनऊ[१]—

१ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक) प्र०—नवलकिशोर प्रेस, सन् १८६४ प्रथम बार (लीथो)

२ सूरसागर, (पूर्ण, संग्रहात्मक प्रथमवाला) सं०—पं० कालीचरण, प्र०—नवलकिशोर प्रेस, (टायप में)

३ सूरसागर, (ऊपर वाला ही) सं०—पं० रामरत्न वाजपेयी, प्र०—नवलकिशोरप्रेस, सं०-१८७४ (टायप में) तथा आठवीं बार सं० १९०२ में,

दृष्टिकूट पद (साहित्य-लहरी),

हस्त-लिखित प्रतियाँ

काँकरौली (मेवाड़)—सरस्वती-भंडार—

१. सूरदास जी के 'दृष्टिकूट-पद', ब०सं०—१२४, पु०सं०—१, (मूल)

२. सूरदास जी के 'गूढार्थ पद', (सटीक) टी०क०—अज्ञात, ब०सं०—३४, पु०सं०—६

३ सूरदास जी के दृष्टिकूटों की टीका[२], टीका-कर्त्ता—श्रीबालकृष्ण, ब०सं०—८८, पु०सं०१।

काशी—नागरी प्रचारिणी सभा (याज्ञिक-पुस्तकालय)—

दृष्टिकूट के पद कौ अर्थ (केवल दो पद)

मुद्रित-प्रतियाँ

आगरा—

दृष्टिकूट-पद. प्र०—हाजी प्रेस (लीथो), सन् १८६२

काशी—

दृष्टिकूट, (सटीक), टीका-कर्त्ता—सरदार कवि (काशीराज के आश्रित), प्र०—गोपीनाथ पाठक, मु०—बनारस लायट प्रेस, सन् १८६९ ई०, द्वितीय बार सन् १८७९ ई०[३] ।

दिल्ली—

सूरदास जी का 'दृष्टिकूट-पद', प्र०—हुसैनी प्रेस (लीथो) सन् १८५२ ई० ।

मथुरा—

दृष्टिकूट पद, सूरदास कृत, प्र०—मुंबंउल-उलूम प्रेस, (लीथो) सन् १८६४ ।

१ नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित ये सभी सूरसागर सूरसागर—"रागकल्पद्रुम" नाम में प्रकाशित हुए हैं । सूरसागर प्रथम अयोध्या के महाराज श्रीमानसिंह जी उपनाम "द्विजदेव" के तत्वावधान तथा मुंशी—जमनाप्रसाद की देख-रेख में पं०कालीचरण-द्वारा संशोधित होकर सं०१९२०में प्रकाशित हुआ।

२. इस प्रति का उल्लेख खोज रिपोर्ट सन्१९०० तथा १९०६ में भी है।

३. ये दोनो प्रतियाँ काशी—रामनगर के राज्य-पुस्तकालय में हैं ।

पटना—

१ सूर-सतक (पूर्वार्द्ध) सटीक, 'सूरदास कृत' दृष्टिकूट पदो की टीका, टीकाकर्त्ता—बालकृष्ण दास, संपा०, सशो० तथा परिवर्धक भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र, प्र० खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर पटना, सन् १८८६, प्रथम वार।

२, साहित्य-लहरी (सूरदास जी के दृष्टिकूट पद सटीक), संग्रा० तथा सपा०—भारतेंदु बा० हरिश्चद्र, प्र०—खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर—पटना, सन् १८६२. पुस्तक में टीकाकार का नाम—सूरदास लिखा हैं, जैसे—"इतिश्री कूटपद, सूरदास-टीका संयक्त, संपूर्णम्।

लखनऊ—

श्री सूरदास का दृष्टिकूट, (सटीक), टी०क०—सरदार कवि, प्र०—नवल किशोर प्रेस, सन् १९१२ ई०, चौथी बार[1]

लहेरियासराय (दरभगा)—

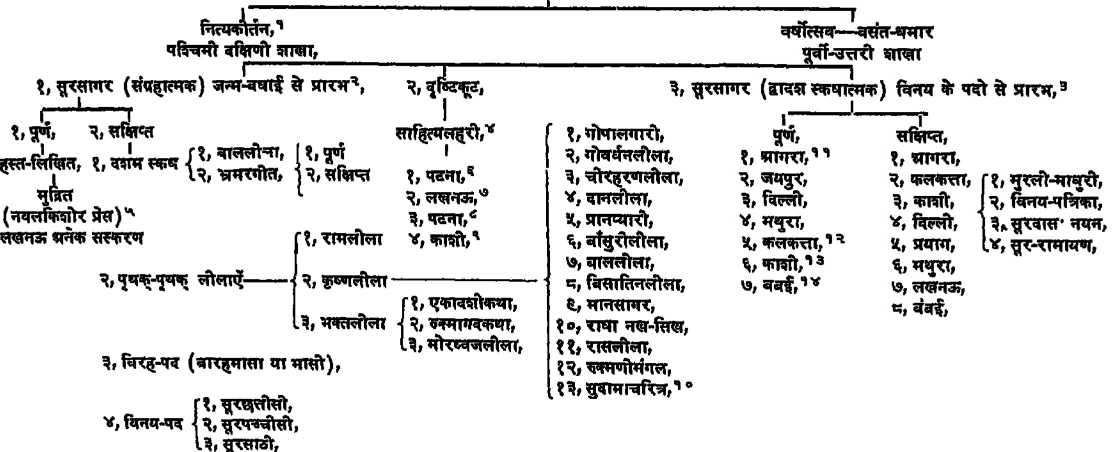
साहित्य-लहरी—महात्मा सूरदास कृत (सरल टीका सहित), टी०—महादेव प्रसाद एम० ए० (संस्कृत-हिंदी), प्र०—पुस्तक भंडार लहेरियासराय, मु०—विद्यापति प्रेस, लहेरियासराय, स० १९९६। विषय—'वक्तव्य, प्रस्तावना—१, व्यक्ति सूर, २, भक्त सूर, ३, कवि सूर, अकारादिनुक्रम से पद-सूची, साहित्य-लहरी।

सूरसागर और दृष्टिकूट की इन उपलब्ध प्रतियो में—अमदावाद अलीगढ, उज्जैन, उदयपुर (मेवाड), काँकरौली (मेवाड), कामवन (भरतपुर), किशनगढ, कुचामन, कोटा, (राजपूताना), खोज रिपोर्ट सन् १९०६, छतरपुर, (बुंदेलखड), जयपुर, (राजपूताना), जामनगर, जूनागढ, (सौराष्ट्र), झालरापाटन (राजपूताना), दतिया (बुंदेलखड), नाथद्वारा, (मेवाड), प्रयाग—विहारी जी का मंदिर, हिंदी साहित्य सम्मेलन, वरौली (भरतपुर), विजावर (बुंदेलखड), बीकानेर, बूंदी (राजपूताना), भरतपुर मथुरा, महावन (मथुरा), रीवाँ, शेरगढ (मथुरा) और भारत से बाहर अमरीका तथा पेरिस की हस्तलिखित प्रतियाँ एव आगरा (मतवअ-ईजाद प्रेस), काशी (सूरसागर - रतन), जयपुर, दिल्ली, मथुरा और लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस की मुद्रित प्रतियाँ 'संग्रहात्मक' है और द्वादशस्कधात्मक प्रतियों से कही अधिक पुरानी है। इन प्रतियो से यह भली-भाँति प्रगट हो जाता है कि श्री सूर के 'सागर' का सत्य रूप 'संग्रहात्मक' ही था—द्वादशस्कधात्मक नही। वह अपने संग्रहात्मक रूप स्वाभाविक साज-सज्जा को त्याग कर स्व-प्रकृति से विपरीत द्वादशस्कधात्मक के निर्जीव खलडे (शरीर) मे कब प्रविष्ट हुआ यह साहित्य के इतिहासकारो को आज विचारणीय है।

सूर के पदो का शुद्ध पाठ भी आज भ्रांति का विषय बना हुआ है। वह इन द्वादशस्कधात्मक प्रतियो के कारण अपने मूल रूप से कितना भिन्न और विकृत हो गया है, यह भी इन संग्रहात्मक प्रतियो तथा सूरसागर के मूलपुरुष-रूप 'नित्यकीर्त्तन' और 'वर्षोत्सव' की प्रतियो से सहज ही जाना जा सकता है। श्री सूर के पदो का शुद्ध रूप जब से उन (सूर) के कलकठ से विलग हुआ तब से आजतक अपने मूलरूप में —नित्यकीर्त्तन और वर्षोत्सव की प्रतियो के साथ इन संग्रहात्मक प्रतियो में सुरक्षित है। सौ वर्ष के अंतर से सूर के पदो का मूल पाठ इन द्वादशस्कधात्मक प्रतियों में कितना—भ्रष्ट, कितना—कर्ण-कटु और कितना—व्रजभाषा की श्रुत-मधुर प्रणाली से परे बना दिया, वह अकथनीय है। श्री वेंकटेश्वर प्रेस बबई की बात छोडिये, काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' जो एक सर्वमान्य संस्था है, सूरसागर के शुद्ध पाठ की ओर दृष्टिपात न कर स्वर्गीय श्री रत्नाकर जी के सिद्धातो के विपरीत उनके नाम पर पाठ-भ्रष्टता के चार चाँद लगा दिये हैं।

[1]. इस प्रति के पृ०—७७ पर "इति दूसरा-भाग" लिखा है पर यह द्वितीय-भाग यहाँ से प्रारम्भ होता है, कुछ पता नहीं चलता।

श्री.



[1] सं० १६३० की प्रतियाँ, नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सव के आगे चलकर पाँच रूप हुए—नित्य-कीर्तन, वर्षोत्सव, वसंत-धमार, ग्रीष्म-पद, तथा रास के पद। [2] सं० १६४४ की प्रति। [3] सं० १७५७ की प्रति। [4] इसकी हस्त-लिखित प्रतियाँ विशेष नहीं मिलतीं। [5] सं० १९२० प्रथम। [6] सन् १८९२ प्रथम। [7] सन् १८९० प्रथम। [8] सं० १९९६ प्रथम। [9] सन् १८६९ प्रथम। साहित्य-लहरी (दृष्टिकूट) प्रथम मथुरा, आगरा तथा दिल्ली से भी प्रकाशित हो चुकी हैं। [10] ये लीलाएँ भी अनेक स्थानों से छप चुकी हैं। [11] लीथो में। [12] टाइप में। [13] दो संस्करण। [14] दो संस्करण।

ब्रजभाषा का काव्य और श्रृंगार रस

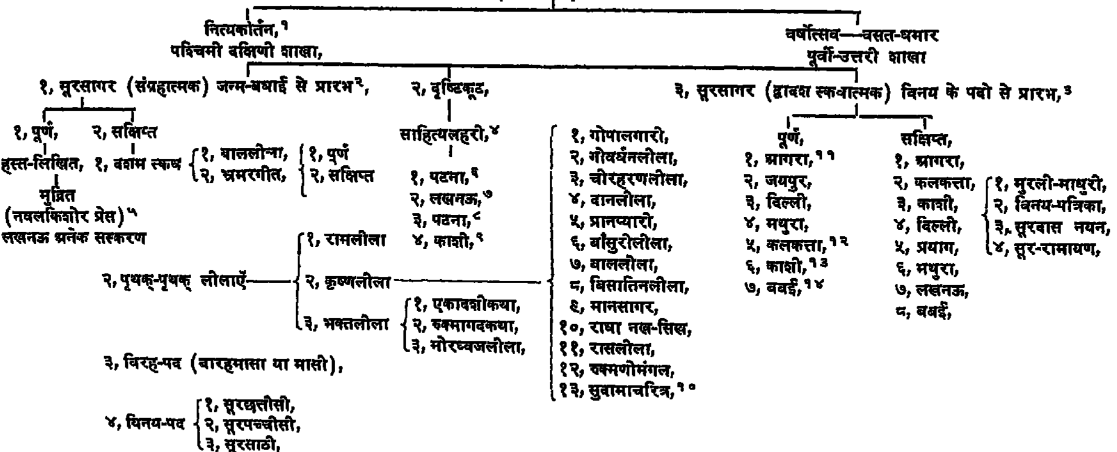
श्री रामप्रसाद त्रिपाठी

हिंदी-काव्य का दर्शन सबसे पहिले उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य का ह्रास और भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था में विप्लवात्मक परिवर्तन हो रहा था। हिंदी के कवि प्राय भाट या चारण होते थे। इनका मुख्य काम था अपने आश्रयदाता राजा के वंश का गुण-गान करना और अपनी ओजस्विनी कविता से योद्धाओ को उत्तेजित और रणाभिलाषी बनाना। तत्कालीन विद्वानो में हिंदी का विशेष आदर हो ही कैसे सकता था? उसके भविष्य का ज्ञान भी किसी को न था? हिंदी-कविता यद्यपि ओजस्विनी और सबल हो चली थी, परतु उसमें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य कोई बात न थी। हिंदू-राज्य की सत्ता ज्यो-ज्यो शिथिल होती गई त्यो-त्यो कविता भी निर्बल अथच निस्सार होती गई। यद्यपि ऐसा विरला ही दरबार था, जहाँ भाट या चारण न हो, परतु उनमें कोई विशेष रूप से उल्लेख्य नही।

विक्रम की नवी शताब्दी से लेकर भारत में जो परिवर्तन हुआ उस पर सूक्ष्म रूप से विचार करना आवश्यक है, क्योकि हिंदी-साहित्य के साथ उसका घना सबंध है और उसके जाने बिना हिंदी-साहित्य की उन्नति का तथा उसके रूप का ठीक-ठीक ज्ञान होना कठिन है। प्रत्येक देश या जाति के इतिहास का सबंध उस देश या जाति के साहित्य से होता है और कोई कारण नही कि यह नियम भारत के लिए चरितार्थ न हुआ हो।

भारत में मुसलमानो के आगमन से कुछ पूर्व, धार्मिक क्षेत्र में पौराणिक हिंदू-धर्म बल पकडने लगा था। उसमें व्यापकता के लक्षण भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो गए थे। वैदिक धर्म के कर्मकाड की जड को बौद्ध लोग पहले ही हिला चुके थे। उस जड को मजबूत करने के लिए किए गए गुप्तवशी राजाओ के सारे प्रयत्न निष्फल हुए, किंतु समय के फेर से बौद्ध-धर्म भी लोगो को रुचिकर न रहा। उस पर वेदात ने विजय तो प्राप्त कर ली, पर उसमे जो सन्यास और वैराग्य के आदर्श थे वे जनता को कठिन और दुर्गम जँचे। अतएव थोडे ही समय में, पुराण-प्रतिपादित भागवत-धर्म की उन्नति होने लगी और उत्तरोत्तर उसकी इतनी वृद्धि हुई कि चौदहवी शताब्दी से लगभग अठारहवी शताब्दी तक भारत में इस विषय का आदोलन जोरो पर रहा। भागवत-धर्म और भक्ति-मार्ग से वैष्णव-मत का यद्यपि बहुत घना सबंध है, तथापि इसका प्रभाव तत्कालीन अन्य मतो पर भी पडा।

नवी से ग्यारहवी शताब्दी तक भारत की राजनैतिक अवस्था अत्यत शोचनीय रही। इस समय उत्तरी और दक्षिणी साम्राज्यो का अत हो चुका था। भारत के वग, गुर्जर और कान्यकुब्ज राजाओ के साम्राज्य-विधायक उद्योग निष्फल हो चुके थे। इस समय भारत में कई छोटे-छोटे राज्य थे। इन्हे आपसी झगडो से ही फुरसत न थी। तुर्कों ने भी इसी समय धीरे-धीरे पैर फैलाना आरभ कर दिया। बारहवी शताब्दी का अत होते-होते उन्होने सिंधु नदी से लेकर गोमती तक सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। अगली दो शताब्दियों में तुर्कों ने धीरे-धीरे समग्र उत्तरी भारत और दो तिहाई के लगभग दक्षिण देश को भी अधिकार-भुक्त कर लिया। इससे हिंदुओ की राजनैतिक स्वतत्रता तो चौपट हो ही गई, उनकी सामाजिक और धार्मिक स्वाधीनता पर भी गहरा धक्का लगा। साहित्य पर इसका बुरा प्रभाव पडा। निराशा-मरुभूमि में साहित्य-सरस्वती के विलुप्त होने की भी कुछ दिनो तक आशका रही। इस समय गुण-ग्राहकता का बाजार इतना ठडा पड गया था कि उसमे आने का साहस सहृदयो को भी न होता था। इस सबंध में हमे फारसी का एक शेर याद आता है—



[1] सं० १६३० की प्रतियाँ, नित्य-कीर्त्तन और वर्षोत्सव के आगे चलकर पाँच रूप हुए—नित्य-कीर्त्तन, वर्षोत्सव, वसंत-धमार, ग्रीष्म-पद, तथा रास के पद। [2] सं० १६४४ की प्रति। [3] सं० १७५७ की प्रति। [4] इसकी हस्त-लिखित प्रतियाँ विशेष नहीं मिलतीं। [5] सं० १९२० प्रथम। [6] सन् १८९२ प्रथम। [7] सन् १८९० प्रथम। [8] सं० १९९६ प्रथम। [9] सन् १८६९ प्रथम। साहित्य-लहरी (दृष्टिकूट) प्रथम मथुरा, आगरा तथा दिल्ली से भी प्रकाशित हो चुकी हैं। [10] ये लीलाएँ भी अनेक स्थानों से छप चुकी हैं। [11] तीनों में। [12] दोनों में। [13] दो संस्करण। [14] दो संस्करण।

ब्रजभाषा का काव्य और शृंगार रस

श्री रामप्रसाद त्रिपाठी

हिंदी-काव्य का दर्शन सबसे पहिले उस समय हुआ जब सस्कृत-काव्य का ह्रास और भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था में विप्लवात्मक परिवर्तन हो रहा था। हिंदी के कवि प्राय भाट या चारण होते थे। इनका मुख्य काम था अपने आश्रयदाता राजा के वश का गुण-गान करना और अपनी ओजस्विनी कविता से योद्धाओ को उत्तेजित और रणाभिलाषी बनाना। तत्कालीन विद्वानो में हिंदी का विशेष आदर हो ही कैसे सकता था ? उसके भविष्य का ज्ञान भी किसी को न था ? हिंदी-कविता यद्यपि ओजस्विनी और सबल हो चली थी, परतु उसमें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य कोई बात न थी। हिंदू-राज्य की सत्ता ज्यो-ज्यो शिथिल होती गई त्यो-त्यो कविता भी निर्बल अथच निस्सार होती गई। यद्यपि ऐसा विरला ही दरबार था, जहाँ भाट या चारण न हो , परतु उनमें कोई विशेष रूप से उल्लेख्य नही।

विक्रम की नवी शताब्दी से लेकर भारत में जो परिवर्तन हुआ उस पर सूक्ष्म रूप से विचार करना आवश्यक है, क्योकि हिंदी-साहित्य के साथ उसका घना सबध है और उसके जाने विना हिंदी-साहित्य की उन्नति का तथा उसके रूप का ठीक-ठीक ज्ञान होना कठिन है। प्रत्येक देश या जाति के इतिहास का सबध उस देश या जाति के साहित्य से होता है और कोई कारण नही कि यह नियम भारत के लिए चरितार्थ न हुआ हो।

भारत मे मुसलमानो के आगमन से कुछ पूर्व, धार्मिक क्षेत्र में पौराणिक हिंदू-धर्म बल पकडने लगा था। उसमें व्यापकता के लक्षण भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो गए थे। वैदिक धर्म के कर्मकाड की जड को बौद्ध लोग पहले ही हिला चुके थे। उस जड को मजबूत करने के लिए किए गए गुप्तवशी राजाओ के सारे प्रयत्न निष्फल हुए, किंतु समय के फेर से बौद्ध-धर्म भी लोगो को रुचिकर न रहा। उस पर वेदात ने विजय तो प्राप्त कर ली, पर उसमे जो सन्यास और वैराग्य के आदर्श थे वे जनता को कठिन और दुर्गम जँचे। अतएव थोडे ही समय में, पुराण-प्रतिपादित भागवत-धर्म की उन्नत्ति होने लगी और उत्तरोत्तर उसकी इतनी वृद्धि हुई कि चौदहवी शताब्दी से लगभग अठारहवी शताब्दी तक भारत मे इस विषय का आदोलन जोरो पर रहा। भागवत-धर्म और भक्ति-मार्ग से वैष्णव-मत का यद्यपि बहुत घना सबध है, तथापि इसका प्रभाव तत्कालीन अन्य मतो पर भी पडा।

नवी से ग्यारहवी शताब्दी तक भारत की राजनैतिक अवस्था अत्यत शोचनीय रही। इस समय उत्तरी और दक्षिणी साम्राज्यो का अत हो चुका था। भारत के बग, गुर्जर और कान्यकुब्ज राजाओ के साम्राज्य-विधायक उद्योग निष्फल हो चुके थे। इस समय भारत मे कई छोटे-छोटे राज्य थे। इन्हे आपसी झगडो से ही फुरसत न थी। तुर्कों ने भी इसी समय धीरे-धीरे पैर फैलाना आरभ कर दिया। बारहवी शताब्दी का अत होते-होते उन्होने सिंधु नदी से लेकर गोमती तक सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। अगली दो शताब्दियो में तुर्कों ने धीरे-धीरे समग्र उत्तरी भारत और दो तिहाई के लगभग दक्षिण देश को भी अधिकार-भुक्त कर लिया। इससे हिंदुओ की राजनैतिक स्वतत्रता तो चौपट हो ही गई, उनकी सामाजिक और धार्मिक स्वाधीनता पर भी गहरा धक्का लगा। साहित्य पर इसका बुरा प्रभाव पडा। निराशा-मरुभूमि में साहित्य-सरस्वती के विलुप्त होने की भी कुछ दिनो तक आशका रही। इस समय गुण-ग्राहकता का बाजार इतना ठडा पड गया था कि उसमे आने का साहस सहृदयो को भी न होता था। इस सबध में हमे फारसी का एक शेर याद आता है—

"चुनी क़हतसाली शुद अदर दमिश्क।
कि यारां फरामोशकर्दन्द इश्क ।।"

बाहरवालो के समागम से हमारी सामाजिक अवस्था भी डाँवाडोल थी। पवित्रता-प्रिय आर्यजाति बाहरी जाति के साथ एकाएक कोई सामाजिक सबध कैसे स्थापित कर सकती थी। धन्य है उस समय के समाज-धुरधरो को जिन्होने इस विकट समस्या को भी हल करने का प्रयत्न किया। पर तुर्कवशी मुसलमानो के आक्रमण से यह काम अधूरा ही रह गया। इस समय हमारे सामाजिक जीवन का अत तो नही हुआ, हाँ शरीर सूख कर काँटा अवश्य हो गया।

बगाल की अवस्था और प्रातो से कुछ भिन्न थी। स्वतत्र मुसलमानी राज्य वहाँ आरभ ही से स्थापित हो गया था। दिल्ली के कई बादशाहो ने समय-समय पर उसे अपने अधिकार में लाने की चेष्टा की, पर उन्हें स्थायी सफलता न हुई। इसका कारण यह था कि बगाल के सुलतानो ने हिंदू प्रजा से सहानुभूति प्राप्त कर ली थी। मुसलमानो की नीति और प्रातो की अपेक्षा बगाल में कुछ नरम थी। अतएव हिंदी-साहित्य की सेवा राजस्थान, दक्षिण और बगाल में ही थोडी बहुत होती रही, क्योकि दक्षिण और राजस्थान में ही हिंदू नरेशो की वास्तविक सत्ता थी।

जिन्होने रामायण, महाभारत तथा पुराण-आदि पढे या सुने है वे जानते है कि भगवान् के अवतार लेने का कारण 'धर्म की ग्लानि' और 'दुष्कृतो की प्रबलता' होना बतलाया गया है। असुरो के अत्याचार से पीडित पृथ्वी, गाय का रूप धारण कर विधाता को दुखडा सुनाने गई। पृथ्वी और देवताओ की यह हालत देख कर विधाता को दया आई। उन्होने अपनी ओर से तथा देवताओ की ओर से भी प्रार्थना की। प्रार्थना स्वीकृत हुई और नये युग का आरभ हुआ। सातवी शताब्दी से लेकर चौदहवी शताब्दी तक हिंदुओ पर अगणित आपत्तियाँ पडी। पहिले की तरह उन्हें असुर-निकदन की शरण लेनी पडी। रघुवश (१०, ३४, ३८), कुमार सभव (३, ५१) और माघ (१, ७२, ७३) आदि साहित्य-ग्रथो में ये भाव भरे पडे है। पृथ्वीराज-विजय-काव्य के निर्माता 'जोनराज' कवि ने तो खासा उपालभ दिया है—

"त्वयाऽपि नून कलिकाल रात्रौ निद्राविधेयत्वमुपागतेन।
केशान्धनान्र्जितघूर्णनेन हित्वा स्थित शाततिया जिनत्वे ।।"

मनुष्यो के हृदय में इसी प्रकार के भाव स्थान पा रहे थे। अतएव उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचद्र और योगेश्वर श्री कृष्णचद्र के चरित्र अधिक रुचिकर और आशाजनक ज्ञात हुए। इसी से मनुष्यो की प्रवृत्ति भागवत-धर्म की ओर सहज ही हो गई।

आत्मिक कष्ट के समय उत्तरी भारत को दक्षिण से श्री शकराचार्य-द्वारा सहायता मिल चुकी थी। वही के श्री रामानद कृष्णोपासना के प्रचार के लिए अग्रणी बने। यहाँ, उत्तरी भारत मे कई परिवर्तन भी हो गए। पठान-साम्राज्य का अत हो गया। राजस्थान में मेवाड ने अच्छी उन्नति की। समयानुकूल सिद्धात ग्रहण करने के लिए जनता भी प्रस्तुत हो गई थी। इसी समय महात्मा 'रामानद' दक्षिण से बगाल होते हुए मध्यदेश में धर्म प्रचार करने पधारे। धर्म को सब के ग्रहण करने योग्य बनाने के लिए 'बाबा गोरख-नाथ' आदि ने हिंदी भाषा मे उपदेश देना आरभ किया था। अतएव रामानदजी ने भी हिंदी भाषा का ही सहारा लिया। आप के शिष्य 'कबीरदासजी' ने ऐसा ज्ञानामृत बरसाया कि मरुभूमि में भी ज्ञान का सोता फूट निकला। आपके ज्ञान-सागर से सतुष्ट होकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरित मानस' की सृष्टि की।

सोलहवी शताब्दी के आरभ में तैलग देश से महाप्रभु वल्लभाचार्यजी मथुरा के समीप ठहरे। आप बडे भारी विद्वान् थे। शीघ्र ही आप की प्रतिष्ठा होने लगी। आपके आगमन से ब्रज में फिर प्रेम की यमुना बहने लगी। आज भी ब्रज के मुख्य-मुख्य स्थानो को देख कर हृदय पुलकित हो जाता है। तब वल्लभाचार्यजी का और उनके पुत्र भक्त-शिरोमणि विट्ठलनाथजी का हृदय भावमय हो गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या? कविवर बिहारीलाल ने ठीक ही कहा है—

"सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजो वहै, वा जमुना के तीर।।"
—विहारी-सतसई

कृष्ण-भक्त्यात्मक धर्म ग्रहण करने के लिए ब्रजवासी तैयार थे ही। वल्लभाचार्य के उपदेश सुन कर उनके हृदय गद्गद् हो गए। उनके भाव, काव्य के रूप मे प्रकट हो गए। ब्रजमडल और ब्रजवासी प्रेम में किसी से पीछे कैसे रहते ? ब्रजवासियो और ब्रजबालाओ की भाव-लतिका, भाषा और जीवनचर्या रसमयी तथा लालित्य-पूर्ण थी। अतएव कविता के लिए ब्रज से बढकर उत्तम क्षेत्र और कौन हो सकता था। 'मुरली मनोहर' ने यही तो मधुर मुरली बजाई थी। आपके रस-रास का क्रीडा-स्थल भी यही स्थान था।

सच पूछिए तो हिंदी-साहित्य की उन्नति और काव्य की सरसता ब्रजवासियो की भावुकता का ही फल है। इसके पहिले इने-गिने दो-चार कवियो और काव्य-पुस्तको को छोड कर हिंदी में और था ही क्या। गोरख, कबीर और अन्य सत-महतो की रचना ज्ञान से पूर्ण है सही और काव्य मे वह रत्न-सदृश तथा आदरणीय भी है, पर उसमे विशेष रस नही। इनकी रचना के कारण कविता-सरिता के आगे वह निकलने में सहायता भी खूब मिली, परतु वह रचना उच्च श्रेणी में नही रक्खी जा सकती। हिंदी-काव्य तो कृष्ण के उपासक ब्रजवासियो की सहृदयता और मधुर ब्रजभाषा का ही प्रसाद है।

हिंदी-कविता की वृद्धि का कारण राजस्थान के मेवाडवश की उन्नति भी है। इससे हिंदुओ के हृदय आशान्वित होकर भाव-पूर्ण कविता लिखने की ओर झुके। राना सग्रामसिंह की हार से कविता की उन्नति में ठेस लग जाती, यदि ब्रज के समीप आगरे मे सहृदय सम्राट् अकबर राजधानी को न उठा लाते। राजधानी और राजदरबार का ब्रजमडल के निकट आ जाना ब्रजभाषा की उन्नति के लिए दृढ कारण हो गया। अकबर के दरबार और दरबारियो में साहित्य की अच्छी चर्चा तथा कवियो और काव्य की खासी चहल-पहल रही। साहित्य-सेवा की इच्छा से फारस और अन्यान्य देशो से आ-आकर, सहृदय कवि राजधानी मे बस गए। फारसी आचार-विचार, भाव और काव्यशैली की उन्नति ब्रजभाषा और कविता के लिए सहायक हुई। ब्रजवासी सहृदय, प्रेमी, सौदर्य के उपासक, शृगार के रसिक और माधुर्य के मधुकर थे। फारसी के प्रेमी भी ऐसे ही थे। इनके बीच एक प्रकार की मित्रता हो गई। सम्राट् और कुछ मुख्य सचिव, सेना-नायक एव राजकवि ब्रजभाषा के प्रेमी हो गए। इनकी देखा-देखी औरो में भी ब्रजभाषा का आदर बढा। छोटे-छोटे राजाओ और नवाबो के दरबारो में भी ब्रजभाषा और हिंदी-काव्य की पहुँच हो गई, क्योकि बडे दरबारो की नकले ही तो छोटी बैठकें है। भाषा-कवियो के भाग्य खुल गए। वे राजसी ठाट-बाट से रहने लगे। इनका आदर देख और लोग भी हिंदी-कविता और ब्रजभाषा का अध्ययन, ध्यान लगा कर करने लगे। क्योकि इससे मनोविनोद तो होता ही था, साथ ही आर्थिक लाभ की भी आशा थी। भक्ति और शृगार-विषयक कविता कुछ हिंदू ही न करते थे, मुसलमानो ने भी इस ओर ध्यान दिया है। कवि 'होलराय' ने एक प्रकार से ठीक ही कहा है—

"दिल्ली तें न तखत ह्वै है, बखत ना मुगल कैसो, ह्वै है ना नगर बढ़ि आगरा नगर ते।
गंग ते न गुनी, तानसेन ते न तानबाज, मान ते न राजा औ न दाता बीरबर ते।।
खान खानखाना ते न, नर नरहरि ते न, ह्वै है ना दिवान कोऊ बेडर टडर ते।
नश्री खंड, सात दीप, सात हू समुद्र पार, ह्वै है ना जलालदीन साह अकबर ते।।"

ब्रजभाषा के काव्य और उसकी उत्पत्ति पर विचार हो चुका। अब देखना है कि वह काव्य कैसा है। ब्रजभाषा में कृष्णभक्त्यात्मक और खास कर शृगार-रस की कविता है। डाक्टर ग्रियर्सन आदि कुछ विद्वानो और तदनुकूल विचार रखने वाले कुछ भारतीय विद्वानो की भी समझ में शृंगार-रस का प्राधान्य तत्कालीन भोग-विलासिता का द्योतक है और इसका प्रभाव हमारे विचारो पर तथा भारतीय आचरण पर बुरी तरह पडा है। अतएव इस ओर भी सावधानी से विचार कर लेना आवश्यक है।

साहित्य-शास्त्रियो ने काव्य की परिभाषा कई प्रकार की बनाई है, परतु उनके मुख्य आशय में विशेष अंतर नही। भाव-लहरी, पद-लालित्य और सुदर-शब्दावली की गूढ और मृदु मैत्री से काव्य की उत्पत्ति हो जाती है। भाव और रस के मुख्य भेदो को कवियो ने गिनाया है, परतु वास्तव में इनकी सख्या करना आकाश की तारावली गिनना है। सहृदय और तरगित हृदयो में पात्र के अनुकूल ये उत्पन्न होते रहते हैं, परतु इनको वाक्य-ततुओ से बाँध लेना कवियो ही का काम है। जातीय काव्य का उद्भव तभी होता है जब एक ही काल में बहुत से व्यक्तियो के हृदयातर्गत समान भावो की जागृति होती है। यह अवस्था समय-विशेष की सामाजिक, आत्मिक, राजनैतिक तथा अन्यान्य सर्वव्यापक कारणो के योग से उपस्थित हो जाती है। अतएव जातीय साहित्य और काव्य, कालक्रम के अनुसार स्थिर किया जाता है। ससार की सभी जातियाँ उनका कार्यक्रम और ऐतिहासिक ससरण एक-सा नही होता। सब में किसी न किसी प्रकार की विशेषता अथवा भिन्नता अवश्य रहती है। सब फूलो और लताओ के रग-रूप एक-से नही होते। उनके गुणो और सौरभ में भी समता या सादृश्य नही होता। इसी कारण, प्रत्येक जाति का साहित्य भी भिन्न-भिन्न होता है। यदि किसी देश का साहित्य बुरा है तो उससे यह फल निकलता है कि उस देश की साधारण अवस्था अवश्य बुरी होगी। साहित्य की हीनता पर शोक प्रकट करने के पहिले तत्कालीन इतिहास और सभ्यता पर दो आँसू डालना न्याय-सगत और स्वाभाविक है। इसी प्रकार साहित्य की श्रेष्ठता और परिपूर्णता से जातीय श्रेष्ठता और परिपूर्णता का भी अनुमान किया जा सकता है।

हम पहिले लिख चुके है कि पद्रहवी और सोलहवी शताब्दियो में भागवत धर्म की उन्नति हो रही रही थी, परतु भक्तिमार्ग के वैष्णव-सप्रदाय की प्रबलता थी। यही भाव मनुष्यो के हृदयो को आदोलित कर रहे थे। इन्ही भावो का विकास कवियो की अमृतमयी भाषा में हुआ। व्रजभूमि में पहुँच कर वैष्णव-धर्म ने और भी बल प्राप्त किया और इस पर एक विशेष रग चढ गया। व्रजनायक श्री कृष्णचद्र के जीवन-चरित्र का प्रथमाक यही पर खेला गया था और वही रहस्य यहाँ के निवासियो के हृदयो में प्रतिध्वनित हो रहा था। अतएव उनकी रुचि और भक्ति उस भाव और उस कला की ओर विशेष रूप से झुक गई। जो सज्जन इस रस-काव्य को शृगार-रस से सयुक्त होने के कारण भोग-विलासिता का प्रतिबिंब समझते हैं वे भगवद्भक्तो की शृगारमय उपासना तथा उनके भावो की पवित्रता की ओर सम्यक् ध्यान नही देते। भारतवर्ष में 'व्यास जी' के सदृश कोई सम्यक् दृष्टिवान् और महाकवि नही हुआ और यह बात भी प्रसिद्ध है कि उनके काव्य मे 'भागवत' का स्थान सबसे ऊँचा है। श्रीमद्भागवत में 'रासपचाध्यायी' दूध में मक्खन के तुल्य है। भक्त लोगो का हृदय उसे पढ अथवा सुनकर आज भी गद्‌गद् हो जाता है। ऐसे महर्षि के भक्त-मनोहारी और रोमाचकारी काव्य को व्यभिचार और भोगविलासिता का प्रतिपादक और प्रचारक समझना केवल दृष्टि-दोष और ज्ञान-दोष ही है। इन्ही महात्मा के काव्य का स्तब्ध स्रोत अनुकूल समय पाने पर व्रजभूमि में पुन प्रवाहित हो गया। इस काव्य को नवीन काव्य और इस भाव को नवीन भाव कहना भूल है। यह तो उसी वशी का प्रतिनाद है, जिसको व्यासजी शब्दो और वाक्यो में भर कर, भारतीयो के शोक और सताप के नाश के लिए छोड गए थे। व्रजभूमि तो पूर्णकला-प्रवीण मुरलीमनोहर की रगस्थली ही थी, उसका कहना ही क्या। वग और विहार में जयदेव, विद्यापति ठाकुर और चडीदास भी इस भाव से उन्मत्त होकर तन्मय हो गए थे। उनके गीतो और पदो को श्री चैतन्य महाप्रभु नेत्रो मे आँसू भर-भर कर गाते थे। भारत-वासियो को जब तक अपने आत्मीयत्व का स्मरण रहेगा, वे इन कवियो और इनके काव्य का मान और अभिमान करते रहेगे। किसी को यह काव्य बुरा और दुराचार-युक्त भले ही देख पडे, पर भक्तो को तो यह प्राणो से भी प्यारा है। कविवर "विहारीलाल" भी इसकी गवाही देते हैं—

"व्रजवासिन कौ उचित धन, सो धन रुचित न कोइ।
सुचित न आयौ सुचितई, कहौ कहाँ तें होइ॥"

इस पर यदि कतिपय न्यायपचानन हमारे कथन को भक्तो के धार्मिक काव्य के लिए ही उपयुक्त समझें, औरो के लिए नही, तो हम इस शंका पर भी सूक्ष्म रूप से विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

हिंदी-काव्य की सृष्टि पद्रहवी से सत्रहवी शताब्दी तक हुई है। कतिपय सज्जन इसे धार्मिक और मानुषिक दो मुख्य भागो में विभक्त करते है। धार्मिक काव्य मुख्यत वह है जिसका प्रादुर्भाव भक्तो के द्वारा हुआ। इस श्रेणी में सूर, तुलसी, हित हरिवश, स्वामी हरिदास, नददास, मीरा, रसखान, कबीर इत्यादि की गणना है। दूसरा, अर्थात् मानुषिक काव्य वह है जिसे राजकवियो तथा भक्तेतर मनुष्यो ने लिखा है। इस श्रेणी में गग, मतिराम, बिहारी, घनानद और देव और पद्माकर आदि कवि माने जाते है। इन दो मुख्य श्रेणियो के अतर्गत और भी अनेक भेद बतलाये गये है, जिनमें दो-चार जानने लायक है। धर्म-काव्य मे एक तो सतो का ज्ञानात्मक दूसरे भक्तो की भक्ति और राम-कृष्ण-लीलात्मक भेद है। इसी प्रकार मानुषिक काव्य मे शृगार-रसात्मक, सदाचार-शिक्षक और वीर-काव्य ये तीन भेद विशेष है। हमारी समति मे काव्य का यह विभाग उत्तम नही। यहाँ हम इसके मुख्य दोषो का सकेत कर देना अनुचित नही समझते। प्रथम दोष तो यह है कि इसमे एक श्रेणी के गुण दूसरी श्रेणी में विद्यमान है। दृष्टात के लिए नददास-कृत 'रासपचाध्यायी', विद्यापति ठाकुर-कृत 'पदावली' आदि ग्रथ लीजिए। इनमें शृगार-रस का इतना आधिक्य है कि इन्हे हम धर्म-काव्य से निकाल कर शृगार के अतर्गत कर दे सकते है। अतर यह हो जायगा कि ये कवि देव, मतिराम और बिहारी की श्रेणी में आ जायँगे। दूसरा दोष यह है कि यह विभाग बहुत कुछ अर्गलाबद्ध-सा है। दृष्टात के लिए तुलसीदास जी का काव्य, जो एक प्रकार से किसी भी श्रेणी में नही आता। यह धर्म-ग्रथ उसी प्रकार का है जैसा कि महर्षि वाल्मीक का आदि काव्य। परतु क्या वाल्मीकि की रामायण को धर्म-ग्रथो में रखना सस्कृतज्ञ उचित समझते है? क्या वे इसे इतिहास की श्रेणी मे नही रखते? फिर तुलसीदास की रामायण और विनय-पत्रिका काव्य की दृष्टि से, एक ही श्रेणी के अतर्गत नही? तीसरा दोष यह है कि इसमें नायिका-भेद आदि विषयक ग्रथ भी मिला लिए गए है। दृष्टात के लिए मतिराम-कृत 'रसराज', पद्माकर-कृत 'जगद्विनोद'। यह ठीक है कि ये कवि काव्य करने बैठे थे, परतु इनका मुख्य आशय नायक-नायिका-भेद, हाव-भाव वर्णन आदि भी था, अतएव इनकी सरस्वती स्वतत्र और अप्रतिबद्ध न सही, किंतु कतिपय भाव-विशेषो को उद्भासित करने में व्यग्र हो पडी थी। जिससे इनको निर्धारित स्रोत में बलात् बहना ही पडा।

हिंदी-काव्य के विभाजन की किसी नई शैली पर हम विचार नही करना चाहते। हम तो यह आशा करते है कि साहित्य-मर्मज्ञ यूरोपियनो की बताई हुई शैली का अवलब छोड कर स्वतत्र रूप से विचार किया करें, क्योकि यूरोपियनो की शैली सतोषजनक नही है। हिंदी के माध्यमिक काव्य तथा व्रजभाषा के काव्य पर विचार करते समय इस पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि इस स्रोत का मूल वैष्णव-भगवद्भक्ति मे है, राज-सभाओ में नही। यह काव्य न तो भाट और चारणो की सृष्टि है और न 'भोग-विलासिता' की उपज। वास्तव में व्रजभाषा का काव्य व्रजकिशोर, राधारमण, नटवर श्रीकृष्णचद्र की लीलाओ से प्रस्फुटित हुआ है। इनकी लीलाओ मे जो वैचित्र्य है, वह व्रजभाषा के काव्य में थोडा बहुत प्रतिबिंबित है। अत जिस प्रकार कृष्णलीलाओ पर विचार किया जाता है उसी प्रकार इन कवियो के भावो पर भी विचार होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि व्रजभाषा के काव्य पर श्रीमद्भागवत् तथा वेदव्यास का बहुत प्रभाव पडा है। अतएव इस ग्रथ के प्रकाश मे उस पर विचार करना ऐतिहासिक दृष्टि से न्याय-सगत होगा। भागवत के दशमस्कध में लौकिकता और अलौकिकता दोनो विद्यमान है, वही बात भाषा-काव्य मे भी है। इसलिए इसको केवल एक दृष्टि या एक ही भाव से देखना अपर्याप्त और अपूर्ण होगा। यह भी भूलना न चाहिए कि इस काल की भाषा में गद्य का अभाव था। प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह वास्तविक कवि हो या न हो, अपने भले-बुरे विचारो को छदोबद्ध करने को बाध्य था। कवित्व एक ईश्वरदत्त शक्ति है, जो हर एक व्यक्ति में नही पाई जाती और काव्य में भावोद्घाटन करना सर्वसाधारण के सामर्थ्य मे बाहर है। अतएव काव्य पर समालोचना करते समय रँगे और गढे कवियो को उसके अतर्गत कर लेना कूडा-कर्कट को काव्य समझना होगा। काव्य का स्थान ऊँचा है। उसको दूषित करने से ऊटपटाँग समालोचना होने की सर्वदा आशका है। उस पर विचार करते समय देख लेना चाहिए कि किस वास्तविक कवि की कहाँ तक पहुँच है और काव्य की उत्ताल तरल-तरग-माला किस शिखर तक कब पहुँची। इस पर भी जो सज्जन शृगार का नाम

लेते ही नाक-भौं सिकोड़ते हैं और उससे दूर भागते है, उनसे हम प्रार्थना करते हैं कि वे परमात्मा से सविनय सहृदयता का दान माँगें और ज़रा भक्त की दृष्टि से उस पर विचार करने की कृपा करे।

इन विचारो पर दृष्टि रखते हुए यदि हिंदी-काव्य की आलोचना की जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि उसमें न तो शृंगार-काव्य की इतनी अकथनीय अधिकता है और न शृंगार-रस ही इतना बुरा है कि उससे भय उत्पन्न होने की शका हो। यदि प्रेम और शृंगार-रस को आप निकाल दे तो क्या काव्य की सरसता उतनी रह सकती है ? और क्या ऐसा करना हिंदी के माध्यमिक साहित्य को निर्जीव करने के सदृश नही ? मनुष्य के हृदय में प्रेम के सदृश कोई उच्च भाव नही और साधारण मनुष्य के लिए सौंदर्य से बढ कर कोई उपासना नही। यह प्रेम, स्वार्थ और कुत्सित विचारो से दूषित होकर, कुपात्र-द्वारा भयानक और राक्षसी भाव ग्रहण कर लेता है। परतु ऐसी अवस्था में उसे प्रेम न कह कर 'विषय-वासना' कहना ही ठीक होगा। इस भेद को हिंदी-भाषा के कवि भली भाँति समझते थे और यद्यपि उसमें परकीया तथा अन्य नायिकाओ के अथवा उनके प्रति भावो का भी वर्णन किया गया है, परतु वह विषय के वैज्ञानिक अथवा यो कहिए कि अन्य अगो की पूर्ति के लिए है, अनुकरण के लिए नही। देखिए न, 'वात्स्यायन' ने 'कामसूत्र' की रचना करते हुए स्पष्ट कह दिया है—

"धर्मं अर्थं च कामं च प्रत्ययं लोकमेव च।
पश्यत्येतस्य तत्त्वज्ञो न च रागात्प्रवर्तते॥

तदेतद् ब्रह्मचर्येण परेण च समाधिना।
विहितं लोकयात्रार्थं न रागार्थोस्य संविधिः॥

असंगृहीत भार्यां च ब्रह्मस्त्रीं यश्चगच्छति।
सूतकं सततं तस्य ब्रह्महत्या दिने दिने॥"

देव कवि ने 'सुजानविनोद' में इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—

"बिषई जन व्याकुल बिषै, देखें बिष न पियूष।
सीठी मीठी सी उन्हे, झूठी जदपि मयूष॥"

"यै बिचारि प्रेमीन कौ, बिषई जन कौ नाहिं।
बिषै बिकाने जनन की, प्रेमी छियत न छाहिं॥

जप, तप, व्रत, रितु नेम सो, प्रेमी जन नर न्यात।
पूरन प्रेम प्रसन्न मन, ब्रह्मानंद समात॥"

यह तो हुई केवल साधारण और सासारिक दृष्टि, पर यदि आप इसे कृष्ण-भक्त की दृष्टि से देखें तो परकीया आदि नायिकाएँ गोपो की प्रेम-मदमाती गोपिकाएँ हैं, श्रीकृष्णजी ने इनके साथ रासलीला की। अत कवियो ने भी अपनी कीर्तन-शैली के अतर्गत इस विषय को कर लिया। इस पर राजा परीक्षित ने शका की तब श्रीशुकदेव ने कहा—

"यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबंधा।
स्वैरं चरंति मुनयोऽपि न नह्यमाना स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बधः॥"

—श्रीमद्भागवत दशमस्कंध ३३।३५,

यह विषय अलौकिक है, इसको अछूता रखना साहित्य-सेवियो का परम धर्म है। हिंदी के कवियो ने अपने काव्य के नायक और नायिका को प्राय स्पष्ट बतला दिया है और इस पर भी यदि कोई अपने दृष्टि-दोष से अन्यथा समझे तो इसमें उनका क्या दोष है। देखिए न—

"सत्य रसायन कविन को, श्री राधा-हरि सेव।"



"माया देवी नाइका, नाइक पुरुष जु आपु।
सबै दंपतिन में प्रगट, देव करै तिहि जापु॥

बरनि नाइका-नायकन, रच्यौ ग्रंथ मतिराम।
लीला राधारमन की, सुंदर जस अभिराम॥"

—रसराज

"या अनुरागी चित्त की, गति जानत नहिं कोइ।
ज्यो-ज्यो बूड़ै स्याम रँग, त्यो-त्यो ऊजर होइ॥"

"तजि तीरथ हरि राधिका, तन-दुति कर अनुराग।
जिहि ब्रज-केलि-निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग॥"

—विहारी

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते है, परतु हमारे कथन के लिए यही पर्याप्त है तो भी इस अलौकिक प्रेम की टिप्पणी मे परकीया ऐसी नायिका का प्रेम-विपयक सवैया सुन कर फिर आगे चलिए—

"क्यो इन नैनन सो निरसंक ह्वै, मोहन कौ तन पानिप पीजै।
नेंकु निहारें कलंक लगै, इहि गाँव बसें कहु कैसेंकै जीजै॥
होत रहै मन यो 'मतिराम' कहूँ बन जाइ बड़ौ तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिएँ लगिऐ अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै॥"

—रसराज

अब दूसरा प्रश्न यह है कि इस काव्य का प्रभाव सर्वसाधारण के हृदय पर कैसा पडा ? हम सुनते-सुनते थक गए कि इस काव्य का प्रभाव युवको पर बुरा पडा , परतु हमे इसकी पुष्टि के लिए अभी तक कोई प्रमाण नही मिला। इस काव्य से हमारे सामाजिक जीवन मे कौन सी बुराई उत्पन्न हो गई ? हमारी समझ में इससे कोई हानि-विशेप नही हुई। हा, इससे ब्रजभाषा के काव्य में मधुरता और सरसता अधिक बढ गई, जिससे उसका और कृष्ण-भक्ति का प्रचार खूब हुआ। शृगार-रस हिंदी-साहित्य का कलक नही वह तो उसका शिरोभूषण है।

कतिपय सज्जन कह बैठते है कि हिंदी-साहित्य शृगार-रस से इतना भरा पडा है कि उसमे जी ऊब जाता है और उसमें विपय-वैचित्र्य का शोचनीय अभाव है। उनकी यह धारणा हिंदी-साहित्य का समुचित प्रकाश न होने के कारण है। इसमे न्यूनाधिक रूप मे नवो रसो का समावेश है। योरोपियन साहित्य के पढनेवालो को यह शका विशेषतया इस कारण होती है कि उसमे मनुष्य और प्रकृति को एक दूसरे मे भिन्न माना है। अत दोनो एक दूसरे से विलकुल पृथक् प्रतीत होते है, परतु हमारे देश में, मनुष्य और प्रकृति विभिन्न नही। दोनो का पारस्परिक योग ही ठीक माना गया है। मनुष्य की श्रेष्ठता पर हमारे धर्म और शास्त्रो ने इतना जोर दिया है कि उसके सामने प्रकृति दब सी जाती है। अत हमारे कविगण जब कभी नैसर्गिक और प्राकृतिक विपयो का वर्णन करते है तब उनका तात्पर्य नायक अथवा नायिका, या यो कहिये कि पुरुष और स्त्री के गुणो को और भी उत्कर्पित करना तथा प्रकृतिवत् मानसिक भावो का तारतम्य दिखाना होता है, उसे मनुष्य की दूसरी प्रेयसी अथवा नायिका की सौत बनाना नही। इस भाव के लिए न ब्रजभाषा

का दोष है और न कवियो का, क्योकि यह हमारे मानसिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन का स्वा-विक फल है। शोक करने की इसमें कोई बात नही और न कोई अपूर्णता है। प्रत्युत यदि आप सूक्ष्म दृष्टि से विचार करेंगे तो इसमें पूर्णता ही दीख पडेगी।

इस लेख को और अधिक बढाना अनावश्यक है। इतने पर भी यदि प्रेम और शृगार के रहस्य-मर्म में किसी को सदेह रह गया हो तो हम उनकी सेवा में वही उत्तर देते हैं जो कि कृपा की टोप-टांग लगानेवाले उद्धव को व्रज-वनिताओ ने दिया था—

"मति अति आपकी अवल अवला सी लगै, सागर-सनेह कहो कैसें पार पायंगो।
खोलिऐ न जीह और लीजिऐ न नाम इत, 'वलदेव' व्रजराज जू की सुधि आवैगी॥
सुनतहिं प्रलय-पयोधि माँहि एक ऐसी, कैहैर करनहारी लैहैर सिधावैगी।
रावे-दृग-सलिल-प्रवाह माँहि आज ऊवौ, रावरे समेत ग्यान-गाथा वहि जायगी॥"

और स्वर्गीय श्री जगन्नाथ दास (रत्नाकर) जी के शब्दो में भी यही कहना उपयुक्त होगा—

"कोजै ग्यान-भानु को प्रकास गिरि-सृंगन पै, व्रज में तिहारी कला नेंकु खटि है नहीं।
कहै 'रतनाकर' न प्रेम-तरु पैहै सूखि, याकी डार-पात तृन-तूल घटि है नहीं॥
रसना हमारी चारु चातकी बनी है ऊधौ, पी-पी की बिहाइ और रट रटि है नहीं।
लौटि-पौटि बात कौ ववंडर बनावत क्यो, हिय तें हमारे घनस्याम हटि है नहीं॥"

(सरस्वती से)



श्री सूर का एक पद

गो० श्री व्रजभूषणलाल

"सूर आयौ सीस पै, छाया आई पाँइन तर, पयौ सव झुकि रहे देखि छाँह गेंहरी ।
धंधी-जन धंधि-छाँड़ि रहे-री सव धूप ही तें, पसु, पंछी, जीव,जंतु चिरैंयाँ चुप्प चैंहरी ।।
व्रज के सुकुमार लोग दै-किवार सोइ रहे, उपवन की व्यार तामें क्यो न सुख लैंहरी ।
'सूर' अलबेली चलि काहे को डरात जिय, माघ-मधि-रात जैसी जेठ की दुपैंहरी ।।"

श्री सूरदास का यह पद स्थूलरूप मे प्रगट में रीति-शास्त्र के अनुसार एक नायिका विशेष का निरूपण है, जिसका पर-पुरुष से प्रेम है , इसलिए धर्मानुसार यह नायिका—'परकीया' है[1] । परकीया में प्रणय की उत्कृष्टता, प्रेम की अनन्यता और लगन की एकनिष्ठ महत्ता अन्य नायिकाओं मे कही अधिक कही गई है । वह 'ऊढा'[2] भी है, क्योकि पर-पुरुष से प्रेम रखती है और कामार्त्त होकर स्वय नायक के पास—रूप-जनित कुछ मान के कारण अनमनी-सी होते हुए भी, जाने को उद्यत होने के कारण 'अभिसारिका'[3] भी है । दिन में ही मिलन के कारण से वह 'दिवाभिसारिका'[4] है । दूती,[5] नायिका के अन्तर्निहित मिलन रूप

[1] दुरें-दुरें पर-पुरुष सो, सुंदरि करै जु प्रीति ।
वुद्धि, चतुरई, चौगुनीं, 'परकीया' की रीति ।।
—मनोज-मजरी—२।२७

[2] जो व्याही तिय और की, करति और सो प्रीति ।
'ऊढा' तासो कहत हैं, हिऐं राखि रस रीति ।।
—मनोज-मजरी—२।२८

[3] केलि-हेत पिय-थल गमन, करै विलच्छन कोइ ।
पिय-हिं बुलावै आपु-थल, 'अभिसारिका' जु होइ ।।
—हित-तरगिनी—कृपाराम

[4] संस्कृत-रीति ग्रंथो में 'अभिसारिका' के ज्योत्स्नाभिसारिका, दिवाभिसारिका और तमोभिसारिका नाम से तीन भेद कहे हैं। व्रजभाषा के आचार्य केशव' ने प्रथम—स्वकीया-सामान्याभिसारिका का कथन कर उसके—प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका तथा कामाभिसारिका त्रिभेद करते हुए प्रत्येक के 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' नाम से दो-दो भेद और किए हैं। चिंतामणि ने संस्कृत रीति-ग्रथो के अनुसार ज्योत्स्नाभिसारिका, तमोभिसारिका तथा दिव्याभिसारिका नाम से तीन भेद माने हैं, परंतु सर्वसंमति से अभिसारिका के शुक्ला. कृष्णा तथा दिवाभिसारिका भेद ही अधिक प्रचलित हैं ।

[5] मिलि न सकें जे तिय-पुरुष, तिहि चित हित उपजाइ ।
छल, वल आँन मिलाव हो, सो दूती ठहराइ ।।
—मनोज-मजरी—३।६

उत्कठा को अपने मधुर वचनो द्वारा और भी सचेत कर 'अभिसार' के लिए प्रेरित कर रही है, इसलिए दूती भी उत्तमा[1] है, क्योकि—'क्यो न सुख लैहरी' उसका सकेत है और 'अलबेली' जैसा सार्थक सबोधन है। नायिका मे लज्जा और काम दोनो समान रूपसे है जिससे उसे 'मध्या'[2] भी कहा जा सकता है। जेठ की दुपहरी (मध्याह्न) तथा उपवन की ब्यारि (हवा) दोनो ही लज्जा और सुख की कामना के द्योतक होने के साथ-साथ काम-भाव के कारण भी है। अभिसार का समय केवल दिन या प्रकाशमय समय ही नही, जेठ की टीक दुपहरी (दिन का मध्य भाग), अर्थात् अति प्रकाशपूर्ण समय है। अत प्रस्तुत पद की नायिका को—'दूती-प्रेरित परकीया मध्यादिवाभिसारिका" कहा जा सकता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि उक्त नायिका व्रज की कोई यौवनवती—अलबेली गोपिका है। वह कामवती है, उद्बोधिता है, साथ ही गुरुजन-सभीता है, अतएव दु स्साध्या है तथा नायक व्रजराज कुँवर स्वय श्रीकृष्ण है, जिनकी रस-केलि से व्रज के समस्त वन-उपवन, निकुज-कुज, सर-सरिता-तट उल्लसित है। व्रज, एक ऐसे नैसर्गिक मधु-अचल में अवस्थित है जहाँ के मनुष्य ही नही पशु और पक्षी भी भावुक है। प्रकृति की मादक और कोमल गोद में पले होने के कारण वे सहज ही सुकुमार है। इसलिए काममावववावलित-नायक-नायिकाओ का सुकुमार होना निस्सदिग्ध है। कवि उसी व्यापक सुकुमारता का निदर्शन कर रहा है।

ज्येष्ठ मास के मध्याह्न का तीव्रतम उत्ताप है। प्राणीमात्र के लिए वह असह्य है। सूर्य भी ठीक शिरोबिंदु (माथे के ऊपर) पर आ गया है। प्राणियो वा पदार्थों की छाया उसके पद-तल मे सिमिट कर केंद्रीभूत हो गई है। इस समय पथिक-गन गहन छाया ढूँढ वहाँ दुपहरी बिताने के लिए 'सुक'—अति असक्त-से शीघ्र ठहरने की कामना करते है। यही दशा श्रमिक वर्ग की है। वे श्रम तभी तक करना चाहते है जब तक कि वह उनके लिए उल्लासमय हो—असह्य कष्ट साध्य नही। जब मनुष्य की यह दशा है तब अन्य पशु-पक्षी—जीव-जतु तो इनकी अपेक्षा निर्बल वा कोमल-तर है। वे निदाघ-दाघ के प्रमत्त वेग को कैसे सह सकते है—

"कहिलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगत तपोबन-सौ कियौ, दीरघ दाघ-निदाघ ॥"

—बिहारी

अत, वृक्ष-लताओ के निभृत कोटरो में, उनकी तल-छाया में निस्तब्ध, नि स्वन होकर वे विश्राम करना चाहते है। व्रज के इन कोमल पशु-पक्षियो की कोमल वृत्ति को देखिए कि वे इस तीव्र-ताप से उत्तापित हो चहकने के मीठे स्वरो से भी मुक्ति चाह कर पूर्ण विश्राम की कामना करते है। उधर व्रज के नागरिक-जन ग्रीष्म की अति उत्तप्त पवन और विषम धूप के प्रकाश से सुरक्षित होने के लिए अपने-अपने गृह-कपाटो को वद किए सो रहे है। वे दूसरे देशो की तरह जड-यत्र की भाँति ग्रीष्म की इस जलती दुपहरी में निरवधि चलायमान रहना नही चाहते। वे सारे दैनन्दिन व्यापार को स्थगित कर विश्राम कर रहे है। आखिर जीवन निरतर पिसते और जलते रहने के लिए ही तो नही। उसमें कुछ क्षण स्वस्थता और शाति के लिए भी सुरक्षित होने चाहिए। ये व्रज-वासी मानो अपने उस नागरिक अधिकार को खोना नही चाहते। व्रज का माधुर्य-क्रोड ही ऐसा है। इस प्रकार प्रकृति के साथ-साथ नागर-जीवन में भी एक शात निस्तब्धता और

[1] मधुरे बचन सुनाइ कैं, जो तिय-मन-हरि लेत।
तासो उत्तम दूतिका, सकल सुकवि कहि देत ॥

—सुदरी-सर्वस्व

[2] मुग्धा जामें पाइऐ, जोबन-आगम-रीति।
मध्या में लज्जा-मदन, प्रौढा में पति-प्रीति ॥

—रसप्रबोध—रसलीन

जन-रव वा जन-व्यापार के कोलाहल का अभाव है। उधर शीतल-मंद-सुगंध से अनुप्राणित ब्रज के वन, उपवन और निकुंजो में सुख, शांति तथा शीतलता खेल रही है। ऐसे समय प्रिय-मिलन कितना सुखद, कितना सरस होगा, यह रसिक हृदय ही जान सकते हैं।

अभिसार, वह भी एक मध्या परकीया का, अधिक से अधिक गोपन और अपने अनुकूल उपकरण वा वातावरण चाहता है। अभिसारिका घर से निकल कर अभिसार-पथ पर बढ़ेगी। संभव है गुरुजन वा पुर-जन उसकी अनुगामिनी छाया को देख कर कुछ भ्रम करले, पर इस समय वह भी भय नहीं है, क्योंकि—

"छाया आई पाँइन तर।"

छाया पावों-तले आगई है। फिर यह छाया दृष्टिगत न भी हो, नायिका स्वयं ही दृष्टि पड़ जाय, पर उसे भी यहाँ कौन देखेगा? क्योंकि—

"ब्रज के सुकुमार लोग दै-किंवार सोइ रहे।"

जो सुकुमार हैं, वे बंद कपाटों के रंध्रों से भी प्रकाश व तप्त वायु न आजाय, ऐसा प्रबंध कर सोये होंगे और जब सो-ही गए तब देखेगा कौन? यही नहीं, उनकी निद्रा को गहन वा उन्हें निद्रागत करने मे असहायक पशु-पक्षियों के कलरव का भी अभाव है। अतः प्रकृति की निस्तब्धता में किसी का जागरुक रहना असंभव है। उधर उपवन का ग्राम-मार्ग है—जन-व्यापार से शून्य, क्योंकि पशु-पक्षियों की भाँति मार्ग के बटोही एवं "धंधी-जन" निष्क्रिय और निःशब्द होकर विश्राम कर रहे हैं। सघन छाया की शीतलता की ओर से आँख हटाकर इस चिलकती धूप की ओर कौन देखने का साहस करेगा? अस्तु, यह जेठ मास की दुपहरी माघ मास की मध्य रात्रि की भाँति एकांत, शांत और निर्भ्रांत है। यहाँ श्री सूर के शब्दों की कितनी सुंदर ध्वनि है। अभिसार की समग्र अनुकूलताएँ यहाँ समन्वित हैं।

इन्हीं अनुकूलताओं से लाभ उठाने के लिए दूती—सखी, अपनी 'अलबेली' नायिका को उद्बोधित कर रही है। अलबेली शब्द जहाँ नायिका की उत्कृष्टता का द्योतक है वहाँ उसके मधुर यौवन के साथ-साथ काम-जनित मनोभावों को भी प्रगट करता है। इसमे एक अनुपम रस-वृत्ति है, उसके प्रतिफलन की कामना में एक अनूठापन है—अटपटापन है। अतः ऐसी 'टीक दुपहरी' की विभीषिका मे भी उसके अंतरस्तर में एक स्निग्ध भाव-रस की धारा उसके मानस को तरल भाव-वीचियों के साथ आपूरित कर रही है। वह अपनी रस-धारा में मानो ग्रीष्म की ऊष्मा को डुबो देगी—अपने चिर संतप्त हृदय को उपवन की शीतल-सुगंधित-समीर के झकोरों से आलोडित कर तीव्र-तपन को शमित कर देगी। काम का तीव्र-उद्वेग, भावों की झंझा, स्नेह का निर्बाध प्रवाह, स्थूल प्रकृति के प्रभावों को भी आमूल परिवर्तन कर प्रणयी के अनुकूल बना देते हैं। वह अणु-अणु को अपनी भाव-धारा में निमज्जन करता हुआ पाता है। उसके लिए प्रकृति अपने गुण-धर्मों को छोड़ देती है। यह तीव्र संवेदनशीलता भावुकता की पराकाष्ठा है। इसीलिए जेठ मास की दुपहरी नायिका को माघ मास की मध्य रात्रि की भाँति एकांत और शीतलता देने वाली है। दूती, नायिका के मन के विकारों को,—उसके विज्ञान को परखती है और उसकी सुकुमारता को जानते हुए भी ऐसी टीक दुपहरी में उपवन की शीतल बियार मे प्रिय-मिलन का सुख लेने के लिए प्रेरित करती है। मार्ग मे, एक तो अभिसार के मादन भावों मे डूबी हुई नायिका को जेठमास की टीक दुपहरी का उत्ताप अनुभव ही न होगा और यदि किंचित् हुआ भी तो उपवन की शीतल समीर उसे निवृत्त कर देगी। प्रिय के आश्लेष और परिरंभण का महासुख ही ऐसा है कि उससे ऐसे कष्टतम मार्ग की समस्त क्लांति की निवृत्ति मिलन के एक पल मात्र मे हो जाती है। फिर समग्र प्रकृति उसके अनुकूल है। एकांत निस्तब्ध वातावरण में लोक-लज्जा का भय भी नहीं। माघ की मध्य-रात्रि मे जहाँ अभिसार के लिए निर्गमपदता होती है वहाँ, बसंतकालीन निसर्ग सुषमा-बीच मादक काम-भाव और उसकी पूर्त्ति के अनुरूप उल्लासमय वातावरण भी होता है। जेठ की दुपहरी मे भी निकुंजश्री के प्रमत्त केलि-स्थलों में यही बात है। अतएव दूती की उक्ति—

"काहे को डरात जिय ।"

संगत और समीचीन है। इधर निकुज-स्थित नायक की तीव्र उत्कठा की भी कल्पना करे कि दूती-प्रेषण के बाद प्रेष्ठतमा नायिका के साथ इस अल्प कालीन मध्याह्न-व्यापिनी उपवन के समीर सुखोपयोग के लिए वह कितना उत्कठित है—उल्लसित है।

प्रस्तुत पद, 'सयोग-शृगार'[१] का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। नायक-नायिकाओ के हृदय में परस्पर मधुर मिलन की समुत्सुकता उनके रति-भाव की द्योतक है। रति, हृदय का एक मादन भाव है और भाव, अतस्तल की एक कोमल वृत्ति है—हृदय का एक तरल स्पदन है। अत जब यह भाव हृदय में स्थायित्व पाकर अपने आलबन का सबल ले तथा उद्दीपन, सचारी-विभाव और अनुभावो से परिपुष्ट होता है तब वह परिपक्व रस-सज्ञा पाता है।[२] रस, एक भाव चमत्कृति है,—मानव-मन के सवेदनशील कोमल ततुओ की एक स्निग्ध झकृति है। इसलिए रस मे एक सहज सुकुमारता है। रति-भाव में यह सुकुमारता और भी निखरती है। रति, हास, शोक, भय, उत्साह-आदि भाव मानव-हृदय मे बीज रूप से स्थिर रहते है। अतएव इन्हें स्थायी भाव[३] कहा गया है। स्थायी-भावो का कोई आलबन होता है, जिसके आश्रय से उनकी स्थिति सभव है। रति के आलबन विभाव नायक-नायिका वा प्रेमपात्र होते है[४]। आलबन को पाकर वाह्य उपकरणो के द्वारा स्थायी-भाव उद्दीप्त होता है[५]। ये वाह्य उपकरण वा रस-सामिग्री भावो में तीव्रता लाकर उन्हें उत्तेजित करती है, जिसे साहित्य-शास्त्र 'उद्दीपन-विभाव' कहते है[६]। रति की उद्दीपन-सामिग्री रस-शास्त्रो मे अनेक गिनाई गई है। इन स्थायी भावो की सर्वोपरिता होते हुए भी जल-निधि-तरल-तरगो की भाँति हृदय में अनेक आनुषगिक भावनाएँ सचारित होकर उठती-बैठती है। अतएव इन तात्कालिक उद्भावनाओ को 'सचारी-भाव' सज्ञा मिली है। प्रमुखत इनकी गणना तेंतीस की गई है। ये रति में भी सचारित होते है। हृदय जब इस भाव-भूमि पर पहुँच जाता है तब उसकी सवेदना आतर परिवेष्ठन मे चिरबदिनी नही रह पाती और तब जलधि-उर्मियो की भाँति सीमाबद्ध मर्यादाओ का अतिलघन कर वाह्य इद्रियो के माध्यम से वह प्रकट चेष्टा रूप में परिलक्षित होती है। ये ही अनुभाव है।

[१] मिलि दपति बहु भाँति की, क्रीडा करत अछेह ।
ताहि 'सँजोग सिंगार' बुध, बरनत सहित सनेह ॥

[२] विभावानुभावव्याभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति ।
—भरत नाट्य-शास्त्र, अ०—६

[३] नायक सब-ही भाव कौ, टारे टरै न रूप ।
तासो 'थाई' रूप कहि, बरनत है कवि-भूप ॥
—रस-पियूष-सोमनाथ

[४-५] रस उपजै 'आलंब' जिहि, सो 'आलबन' होइ ।
रस-हि जगावै दीप ज्यो, उद्दीपन कहि सोइ ॥
—भाव-विलास—देव

[६] थाई कारन को सुकवि, कहत बिभाव बिसेख ।
सो द्वै बिधि आलंबनरु, उद्दीपन अबरेख ॥
सखा, सखी, दूती, सुबन, षट्रितु, उपवन, पौन ।
उद्दीपन हि बिभाव मे, बरनत कवि मति-भौन ॥
चंद, चाँदनी, चंदनहुँ, पुहुप, पराग समेत ।
यों ही और सिंगार सब, उद्दीपन के हेत ॥
—मनोज-मजरी—अजान

अनुभावों की भी अपरिमित गणना है, जिसमे आठ सात्विक अनुभावो का विशेष विचार किया गया है। रति-भाव में भी इनमें से अधिकाश समावेश होते हैं और रस की सृष्टि करते हैं। प्रस्तुत पद में इसी प्रक्रिया से शृगार रस का परिपाक हुआ है।

शृगार को 'रस-राज' कहा गया है। सृष्टि का मूल ही शृगार है। द्वित्व या युग्म की भावना—एकत्व मे अनेकत्व की कल्पना, यही तो सृष्टि है और काम-वृद्धि की प्राप्ति ही उसका आदि कारण है। शब्दांतर मे यही शृगार है, जिससे काम-भाव अकुरित होता है। अतएव समस्त रस शृगार पर आधारित है। शृगार रस के देवता स्वय रसेश्वर भगवान श्रीकृष्ण है, जिनका वर्ण 'श्याम' माना गया है। इसीलिए श्री कृष्ण को—

"रसो वै स·।"

कहा गया है। सूरदास ने इन्ही रस-रूप श्रीकृष्ण को अपनी साहित्य-साधना का केंद्रबिंदु मान उनमें अधिष्ठित शृगार रस को अपने काव्य का आधार बनाया है। भाव-जगत में तो श्रीकृष्ण, सूर के सर्वस्व आराध्य है, वे उनके सखा है, स्वामी है,—सहचर है। इस दृष्टि से सूर के काव्य और भक्ति का चरम आदर्श अभिन्न है।

कवि सूर ने अपनी चरित्र-नायिका को अभिसारिका के रूप मे इसी उद्दाम शृगार के काम-भाव का स्फुरण निर्देशित किया है। उसके स्थायी भाव रति के आलबन सामान्य नायक नही, शृगार, काव्य और भक्ति के आदर्श अधिपति 'श्यामसुदर श्रीकृष्ण' ही है। उनके मधुर मिलन के लिए वह आर्तभाव से उत्कठित है। सूर्य का सिर पर आजाना, छाया का पद के तल मे पहुँचना, निकुज मे गहन तरु-वल्लरियो की गहन-छाया का विस्तार, पक्षियो का कोटरो मे झुक रहना, धर्मीजनो का धर्म को त्याग किसी शीतल स्थान में निस्तब्ध हो जाना, पशु, पक्षी, जीव, जतुओ का मौन-साधन, ब्रज के सुकुमार लोगो द्वारा दुरत जेठ की ठीक दुपहरी से घबडा कर विश्रामार्थ किए गए निज-निज घरो के बद-कपाट, उपवन की शीतल पवन और उससे सुख-उपभोग की मृदु कल्पना तथा जेठ मास की दुपहरी-जनित न सह सकने योग्य तीव्र-ताप के कारण सर्वत्र नगर तथा अभिसार-मार्ग एव केलि-स्थलो मे सहज निस्तब्धता की अनुकूलताएँ और दूती-द्वारा तत् ओर सकेत किया जाना आदि नायिका के रति-भाव को उत्तेजित करने वाली सपूर्ण रस-सामग्री—उद्दीपन विभाव है। अलबेली के हृदय मे, किसी की दृष्टि मे उसका अभिसार न आजाय, यह जो वितर्क, शका, चिंता और तज्जनित भय के भाव है, वे क्रमश एक के बाद एक उत्पन्न और विलीन होते रहने के कारण ही सचारी-भाव है। दूती की उपस्थिति और उसकी प्रेरणा वा सदेश भी उद्दीपन मे सहायक है। कामार्त्तता और मिलन की तीव्र इच्छा होते हुए भी नायिका अभिसार में प्रवृत्त न होकर स्थिर भाव से जो अपने स्थान पर बैठी है, यह उसका स्तभ रूप बाह्य-चेष्टा अथच अनुभाव है। इस प्रकार कवि ने शृगार रस के परिपाक के उपयुक्त सभी अग-उपागो का इस पद में समावेश किया है। शृगार की सफल व्यजना सूर के समग्र काव्य में प्राप्त होती है। यही वस्तुत उनका काव्य-सौदर्य और भाव-पूर्णता है। तथ्य तो यह है कि कवि स्वय अपने उस भावोन्मादिनी नायिका के भावावेश से ओतप्रोत है। किसी भाव-विशेष से हृदय का तादात्म्य वा तद्रूपता ही भाव-सृष्टि की चरम कोटि है और वही कवि कवि है, कलाकार—सच्चा कलाकार है। सूर मे यही बात है।

अस्तु, इस अभिसारिका मे हम सूर के हृदय की ही छाया पाते है। उसमें उन्ही की गोपी-भाव-विभूषित सरस अनुरक्ति का अभिनिवेश है। इस नायिका-भेद की पृष्ठभूमि मे सूर ने वह उच्चस्तर का आध्यात्मिक आदर्श भरा है जो उनकी जीवन-साधना का साध्य—(आदर्श) और उनके साहित्य का सर्वस्व है। सूर-सदृश विरक्त महानुभाव के लिए यह सर्वथा सभव नही कि वे किसी सामान्य वा लौकिक कामिनी के मनोविकारो का विश्लेषण करते हुए क्षुद्र ऐहिक शृगार रस मे अपनी दिव्य प्रतिभा को डुबो दे। जो त्यागी सत, बडे से बडे वैभव को ठुकरा कर, कामिनी-काचन की मोह-मरीचिका से मुख मोड चुका, वह फिर

उसके मनोभाव रूप कलुषित रस-वृत्ति में उलझ नही सकता। अतएव उनके शृगार में—उनकी ललित उद्भावनाओ के अतस्थल में, उस महान् मिलन के भाव गूँज रहे हैं जिसकी प्राप्ति के साधन-मार्ग में उनके परम गुरु श्रीवल्लभाचार्य ने उन्हें नियोजित किया था। वे गुरु-चरणो का आश्रय ले उस पुष्टिमार्ग पर गति-शील है जो दैवी जीव को उसकी अहता-ममता का निरसन कर, मोह-ज्वाला के ताप-दाप से निवृत्त कर, माया से निरावृत्त विशुद्ध सच्चिदानद मय ब्रह्म से सबद्ध कराता है। वे उस प्रेमलक्षणा-भक्ति-पथ के पथिक है, जिसमे प्रभु का अनुग्रह ही सर्वस्व है, जहाँ का सर्वस्व निवेदन—शरणागति ही मूलमत्र है। श्री सूर ने एक ऐसा साधन पाया है जो जीव के समस्त दोषो की निवृत्ति कर विशुद्ध स्वरूप मे सत्य और आत्म-निवेदन की चरम कोटि की भक्ति-द्वारा प्रभु की प्राप्ति कराता है। क्योकि जीव साधक है, प्रभु साध्य है, भक्ति साधन है और गुरु, प्रभु-प्राप्ति के माध्यम है। अतएव उनकी साहित्य-कला की साधना का चरम ध्येय वे ही प्रभु है।

सूर-काव्य के मूल में यही साम्प्रदायिक-सिद्धात की भावना समा रही है, उसके कण-कण मे विरम रही है। अस्तु, इस विवेच्य पद की अभिसारिका एक दैवी जीव के स्थानापन्न है और नायक श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म स्वरूप है। नायिका उसी अखड ब्रह्म का एक अणुरूप है। जो उस (ब्रह्म) का एक अभिन्न अश होते हुए भी विकेंद्रित होकर लीलामय के इस कौतुकपूर्ण क्रीडाभाड-जगत मे उसकी प्रेरणा से आता है। ब्रह्म और जीव के बीच माया का एक झीना आवरण है। जिसके हटने पर ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति होगी, किंतु इसके लिए उसमें तीव्र उत्कठा चाहिए—गहरी आकुल पिपासा होनी चाहिए। जब जीव का पृथक् अहत्व वा लिंगत्व नष्ट हो जाता है, वह द्वैध-भाव को भूल कर एकत्व की उपलब्धि के लिए उल्लसित होता है, तब ब्रह्म की ओर प्रधावित होकर उससे तादात्म्य पाकर एक अनिर्वचनीय आनद को समाधिगत करता है। प्रकृति और पुरुष, स्थूल और सूक्ष्म वा पार्थिव और चेतन, इन द्वि-विध भासमान् तत्वो के दोनो पार्श्व मिलकर ही पूर्णत्व की कोटि में आते है। इसी में द्वित्व की निवृत्ति और एकत्व की स्थापना है। सृष्टि-चक्र एकत्व की प्रसूति है, द्वित्व की अनत-क्रीडा है और पुन एकत्व मे पर्यवसित हो जाना उसकी चरम साधना की पराकाष्ठा है। नायक-नायिकाओ की ससृष्टि, उनके मूल में चेतनाओ का आकर्षण-विकर्षण अथवा मिलन-विरह उसी जीव-ब्रह्म के परस्पर आकर्षण-प्रत्याकर्षण वा सयोग-वियोग का प्रतीक विधान है। जिसे कवियो ने सहज सवेद्य मनोहर रूप देकर मानव सुलभ रस-वृत्ति को प्रोज्जीवन देते हुए उसी परात्पर अचिन्त्य ब्रह्म के स्वरूप की ओर सकेत किया है।

सूर की नायिका में नायक श्रीकृष्ण के मधुर मिलन और तद्रूपता में उसकी चरम परिणति के लिए तीव्र—उत्कट लालसा है। उसमें समुद्भूत उद्दाम प्रणय वा काम-भावना ही उसे नायक श्रीकृष्ण की ओर खीच रही है, किंतु उस (नायिका) के और नायक के बीच लोक-मर्यादा बाधक बन रही है। उसमें अभी अहभाव है, वह अभी अपना पृथक् अस्तित्व मान रही है। अत जब तक उसमें यह द्वैध-भावना है तब तक उस (ब्रह्म) के मिलन में विलब है। नायक (ब्रह्म) तो अपनी अहैतुकी कृपा की डोर से उसे खीच रहा है। दूती-प्रेषण का उद्देश्य भी यही है, किंतु अभी नायिका में लज्जा है, सकोच है और शील है। वह ऐहिक मर्यादाओ—विधि-निषेध और लोक-सीमाओ की बदिनी है। जिस दिन सासारिक अहता-ममता के बधन मे वह मुक्त हो जायगी, तभी उसे परम नायक श्रीकृष्ण की प्राप्ति होगी और तभी बाह्य जगत् के [illegible] निदाघ-ताप मे बच कर निकुज-व्यापिनी निस्सीम शीतलता से हृदय और जीवन को चिर सुखी कर सकेगी।

गुरु, भक्त और भगवान के बीच की एक मधुर पर दृढ कडी है जो दोनो को मिलाती है, [illegible] को एकत्व में परिणत करती है। वे प्रभु-प्राप्ति के मार्ग का निदर्शन कर बाधक तत्वो से निवृत्ति और साधक तत्वो से अनुरक्ति का साधन देते है। सामान्य निस्साधन जीव प्रभु की सहज में प्राप्ति नहीं कर सकता। वह गभीर ज्ञान और अनुभव के अभाव में समीचीन पथ से विचलित हो सकता है। इसलिए गुरु [illegible] है। यहाँ दूती, गुरु-स्थानापन्न है जो नायक ब्रह्म रूप श्रीकृष्ण से नायिका रूप जीव, अर्थात् [illegible]

गना को महा मिलन के लिए प्रेरित कर रही है। उसके निर्मूल भय और लोक-लज्जा वा मर्यादा रूप माया के झीने आवरण को निवारण कर निकुज-स्थित परम प्रभु नायक की ओर अभिसार करने का उद्बोधन दे रही है।

सूर के काव्य मे नायिका-भेद का यही रहस्य है। अभिसारिका (नायिका) का अतरग स्वरूप भी यही है। वाह्यत वे लौकिक शृगार अथच मानवीय रस-वृत्ति का निरूपण करते-से प्रतीत होते हैं, किंतु महा भाव के ग्राहक 'सूर' के लिए ऐसी कल्पना करना भी हेय और असगत है। उनके काव्य की यही विशेषता है, जिसमें हम उनके भक्त और कलाकार दोनो रूपो के विश्व-मगल का दिव्य-दर्शन पाते हैं।



श्री सूर के पाँच नये पद

राग—अडाना

सुंदर बदन सदन सोभा कौ, निरखि नैंन-मन थाक्यौ।
हौं ठाढी बीथिन्हि ह्वै निकस्यौ, उझकि झरोखें झाँक्यौ।।
मोहन इक चतुराई कीन्हीं, गैंद-उछारि गगैंन-मिस ताक्यौ।
बारो-री लाज, बैरिन भई मो को, हो गँमारि मुख-ढाँक्यौ।।
चितवन में कछु करि गयौ टोनौं, अब न रहत मन राख्यौ।
'सूरदास' प्रभु सरबस लै कें, हँसत-हँसत रथ हाँक्यौ।।

राग—रामकली

तुम्हें कोऊ टेरति है जू कौंन।
भोरी-सी गोरी थोरे दिनँन्ह की, बारी बैस उठौंन।।
छूटीं अलक, नील-पट ओढें, चंचल चतुर सुजौंन।
कहा कहों वाके मुख की सोभा, मौंनो ऊग्यौ भौंन।।
बंसीबट की ओर गई है, रसिक सिरोमनि जौंन।
'सूरदास' उठि चले जु मोहन, नई करेंन पैंहचौंन।।

राग—सारंग

तब लौं किऐं रहति ही मौंन।
जोबन-गुन-गरबित सुनि सजनी, तज्यौ नाहिं अग्यौंन।।
आज खिरक ते निकसे मोहन, अँग-अँग रूप-निधौंन।
निरखि बदन-छबि उरझि परयौ मन, भूली सबै सयौंन।।
को जानें तब ते नैंनन की, कहा भई गति औंन।
'सूर' सु को जु रहै अपने बल, सुनत बेंनु-कल-गौंन।।

राग—मलार

सखी-री, सौंमन दूल्है आयौ।
चार मास कौ लगन लिखायौ, बदरन्हें अंबर छायौ।।
बिजुरी चपल, बराती बगुला, कोकिल सबद सुनायौ।
दादुर, मोर, पपीहा उँमगे, इंद्र निसौंन बजायौ।।
हरित भूमि पै जरद देखियत सबज बिछोना छायौ।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे मिलन को, सखियँन्ह मंगल गायौ।।

राग—मलार

बरसै मेहा मंद, मंद।
कँसुभी चीर अग पै भींजै, निरखि हँसे नँद-नंद।।
मुरि मुसिकाइ चली, फिरि सकुची, कर दै आँनन-चंद।
'सूर' स्यौंम पट-पीत उढावत, पुलकत आँनद-कंद।।

ब्रजभाषा में नव रस

श्री राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी

"नारायन ब्रज भूमि को, को न नवावै माथ ।
जहाँ आइ गोपी भए, श्री गोपेस्वर नाथ ।।"

"ब्रजभाषा" इसी पुण्य भूमि ब्रज की भाषा है । इसी भाषा के पियूप पयोधि में "मंचलि-मचलि माँगी हरि माँखन-रोटी ।" इसी सरल भाषा मे भक्त और सत कवियो ने प्रेम-पयस्वनी की दिव्य धाराएँ वहाई है । जिस समय समस्त भारतवर्ष मुगलो एव यवनो के अत्याचारो से आक्रात था । जिस समय लोगो मे गज की टेर सुनकर आने वाले खरारि एव द्रौपदी का आर्त्तनाद सुनकर आने वाले मुरारि मे विश्वास नहीं रह गया था । उस समय इस भाषा के महात्मा कवियो ने ब्रज माधुरी-द्वारा अपने मानस को सरस सुहामना वनाया और दशो दिशाओ में जगन्मोहन की मधुर मुरली सुनाई ।

इन दिनो एक ओर सत-ज्ञानियो के वेदाती उपदेशो के द्वारा सासारिक निस्सारता का प्रतिपादन हो रहा था और दूसरी ओर आक्रमण कारियो के अत्याचारो के कारण हिंदू जाति मे जीवन के प्रति प्राय. कोई आकर्पण शेप न रह गया था । इस प्रकार देश का जीवन नैराश्यमय ही था । इन महात्मा कवियो ने अपने दिव्य प्रेम सगीत-द्वारा जीवन की मधुरिमा को उपस्थित किया तथा जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की । इस प्रेम-सुधा-धारा मे लोक के सुखद पक्ष के दर्शन हुए, फैली हुई उदासी या खिन्नता वह गई ।

जयदेव की कोमलकात पदावली युक्त देववाणी की स्निग्ध सुधा-धारा जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक-भाषा की सरिता मे परिणत होकर मिथिला की अमराइयो मे विद्यापति के कोकिल कठ से प्रकट हुई और आगे चल कर ब्रज के करील-कुजो में फैली और मुरझाये मनो को सुधारस का पान कराकर हराभरा करने लगी ।

महाकवि जयदेव ने स्वय ही कहा था कि लोक का चित्त रमाने के लिए ही उन्होने भगवान की भक्ति के लिए काव्य रचना की तथा विलासपूर्ण शैली को अपनाया है । यथा—

"यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलास कलासु कुतूहलम् ।
मधुर कोमल कात पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ।।"
—गीतगोविंद

आगे चल कर ब्रजभाषा के कवियो ने भी इसी परपरा को अपनाया और कृष्ण-नाम की रसायन को शृगार के मधुरावेष्टन में पर्यवेष्ठित कर जाति को नव किसलय युक्त मधुर जीवन प्रदान किया ।

इसी सुशीतल प्रेम निकुज की सुखद छाया मे सहस्रो ससार-सतप्त प्राणियो ने शाति पाई थी । प्रेमोन्मत्त मन इसकी भनक पडते ही आज भी आपे को भूलकर नाच उठते है ।

"वह मुरली अधरान की, वह चितवन की कोर ।
सघन कुंज की वह छटा, और वह जमुन हिलोर ।।"

"होत रहै मन यो 'मतिराम' कहूँ बन जाइ बडो तप कीजै ।
ह्वै बन माल हिएँ लगिऐ अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै ।।"

जब तक भारत की भारती और भारतीयता शेप है, जब तक गगा-जमुना मे जल शेप है, जब तक हमारे हृदय पटल पर ब्रज-वल्लभ की मधुर मूर्त्ति खचित है, तब तक ब्रज की वीणाएँ कृष्ण-कीर्त्तन करती रहेंगी और ब्रजभाषा-साहित्य हमारी अक्षुण्ण निधि के रूप मे वचा रहेगा ।

हिंदी का जन्म तलवारो की छपाछप और तीरो की सनसनाहट के बीच हुआ है। उसका आदि युग वीर गाथाओ का युग है। इन दिनो भालो की छाया में ही विवाह-मडप रचा जाता था। इस काल में विशेषत वीर-काव्य ही रचे गए थे। इन काव्यो मे दो प्रकार की भाषा व्यवहृत होती थी। एक भाषा का ढाँचा तो बिल्कुल राजस्थानी या गुजराती का होता था, जिसमें प्राकृत के पुराने शब्द मिले रहते थे। यह भाषा बहुत काल तक चारणो में प्रचलित रही है। घोर प्रातीयता के कारण वह 'पिंगल' के अनुकरण पर 'डिंगल' कहलाई। दूसरी भाषा एक ऐसी सामान्य साहित्यिक भाषा थी, जिसका प्रयोग वे विद्वान् करते थे, जो अपनी रचना को देश व्यापक एव अमर बनाना चाहते थे। यह शास्त्रानुसार छद-बद्ध होती थी और 'पिंगल' कहलाती थी। यह पिंगल और कुछ नही "ब्रजभाषा" का ही प्राचीन रूप है।

यद्यपि हिंदी का जन्म तो अपभ्रश के अतिम दिनो मे ही हो गया था और सिद्धो की भाषा में हमें इसका पूर्व रूप भी मिलता है, तथापि वर्त्तमान हिंदी तथा ब्रजभाषा के रूप का आभास 'पृथ्वीराजरासो' में पाया जाता है। देखिए रासो का शृगार वर्णन—

"मनहुँ कला ससि-भाँन कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस सिसुता समीप अमृत रस पिन्निय।।
बिगसि कमल मृग भ्रमर नैंन खजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिंब मोति नख सिख अहि घुट्टिय।।
छप्रप गयद हरि हस गति, बिह बनाइ सँच सच्चिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय, मनु काम कामिनि रच्चिय।।"

तथा—

तिहिं रिपुजय पुर हरन कौ, भे पृथिराज नरिंद।

विक्रम की चौदहवी शताब्दी में 'अमीर खुसरो' हुए। वह अरबी, फारसी, तुर्की, सस्कृत और हिंदी के विद्वान् और कई भाषाओ के कवि थे। उनके गीत और दोहो की भाषा "ब्रजभाषा" के बिल्कुल निकट है। यथा—

"खुसरो रैंन सुहाग की, जागी पी के सग।
तन मेरौ, मन पीउ कौ, दोऊ भए इक रग।।

* * *

गोरी सोवै सेज पै, मुख पै डारें केस।
चल 'खुसरो' घर आपने, रैन भई चहुँ देस।।"

* * *

चूक भई कछु वासौं ऐसी, देस छोड भयौ परदेसी,

अमीर खुसरो के बाद सत कवियो का समय आता है। देखिए कबीर की सधुक्कडी भाषा ब्रजभाषा के कितनी निकट आ चुकी थी—

"हौं बलि, कब देखौंगी तोहिं।
अहनिस आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापी मोहिं।।"

* * *

"जल में बसै कमोदिनी, चदा बसै अकास।
जो है जा कौं भावतौ, सो ताही के पास।।"

* * *

"प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होइ बिदेस।
तन में, मन में, नैन में, ताको कहा सँदेस।।"

"साँई के संग सासुर आई ।
संग न सूती, स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाईं ।।
जना चारि मिलि लगन सुधायौ, जना पाच मिलि माँडौ छायौ ।
भयौ विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई ।।"

इस काल के बाद तो ब्रजभाषा का स्रोत ही फूट पड़ा था तथा अनेक कवियो ने ब्रजभाषा मे रचनाएँ की । चलती हुई ब्रजभाषा मे सर्वप्रथम साहित्यिक रचना करने वाले कवि हैं साहित्य ससार के सूर्य महात्मा सूरदास । इनकी साहित्यिक रचना इतनी मधुर, प्रगल्भ और काव्यांग पूर्ण है कि अन्य कवियो की रचनाएँ इनकी जूठी जान पड़ती है । इसका अभिप्राय यह है कि विक्रम की १५वी शताब्दी तक ब्रजभाषा का साहित्यिक भाषा के रूप मे सफलतापूर्वक प्रयोग होने लगा था । 'सूरसागर' परम्परागत साहित्यिक भाषा का विकास है,—चलने वाली परपरा का मूल रूप नही । सूर गीत-परपरा के पहिले ही कवि नही थे । उनके हाथो वह पूर्ण रूप में निखरी अवश्य है, परतु उनके पूर्ववर्ती 'बैजू बावरा' के कुछ शृगार-गीत प्राप्त हुए है, जिनमे स्पष्ट है कि इस प्रकार की रचना पहले से ही होती आ रही थी । देखिए—

"मुरली बजाइ रिझाइ लई मुख मोहन तें ।
गोपी रीझि रही रस-तानन सो, सुध-बुध सब बिसराई ।।
धुनि सुनि मन मोहे मगन भई देखत हरि आँनन ।
जीव जंतु पसु पछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्राँनन ।।
'बैजू' बनवारी बसी अधर धरि बृदावन-चद, बस किए सुनतहि काँनन ।।"

ब्रजभाषा के शृगार साहित्य का जो निखरा हुआ रूप सूरदास की रचना मे दिखाई देता है, वह एकदम नही बन गया था । ब्रज-गीतो की स्थानीय परपरा तथा चैतन्य महा प्रभु-द्वारा लाई गई जयदेव, चडीदास तथा विद्यापति की वैष्णव-गीत-परपरा का उसमे सुखद समिश्रण हो गया था ।

अन्य भाषाओं की भाँति ब्रजभाषा का प्रारंभिक रूप भी मिश्रित ही था । प्राचीन रूप पिंगल में, खडी बोली, पजाबी, राजस्थानी तथा गुजराती के शब्द स्वतत्रतापूर्वक मिले रहते थे । आज दिन भी गुजरात में ब्रजभाषा के अनेक शब्द प्रचलित हैं । वास्तव मे ब्रजभाषा बहुत दिनो तक मिश्रित बनी रही । चद ने स्वय कहा है—'षट् भाषा पुरान च कुरान च कथित मया' । इस षट् भाषा का अर्थ स्पष्ट करने के लिए भिखारीदास का निम्न दोहा विचारणीय है—

"ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग यमन भाखानि ।
सहज पारसी हू मिलै, षट् विधि कहत बखानि ।।"

परतु यह मिश्रण ऐसा नही था कि ब्रजभाषा अपनापन छोड देती ।

"ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोइ ।
मिलि ससकृत पारस्यौ पै अति प्रकट जु होइ ।।"

सूरदास जी की भाषा मे भी पजाबी के प्रयोग पाए जाते है, जैसे 'महरि' के अर्थ मे 'प्यारी' शब्द । सूर के परवर्ती कवियो की रचनाओ में तो फारसी के शब्दो का भी स्वतत्रतापूर्वक प्रयोग होने लगा था । ये सब बातें ब्रजभाषा के व्यापक अस्तित्व को सूचित करती है तथा इस तथ्य का प्रमाण है कि ब्रजभाषा परपरागत एव चिर प्रतिष्ठित देश की व्यापक साहित्यिक भाषा है ।

ब्रजभाषा-काव्य की अक्षय निधि को पूर्ण करने में कितने महा कवियो ने योग दिया है, इसका बताना सहज नही । सूरदास के बाद नददास, सेनापति, बिहारी, पद्माकर, ग्वाल, देव, मतिराम, घनानद आदि अनेक ब्रजभाषा के महारथी हुए । इनका एक-एक शब्द नाविक का तीर है । भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र के समय से ब्रजभाषा का प्रयोग कम हो चला है । आज कल भी यत्र-तत्र ब्रजभाषा में रचनाएँ होती रहती हैं । नवनीत चतुर्वेदी, रत्नाकर तथा सत्यनारायण एक प्रकार से ब्रजभाषा के अतिम कवि कहे जा सकते हैं ।

अभी हाल मे 'प्रेमी' नाम के मुसलमानी कवि की एक हस्त लिखित पुस्तक मिली है। यह फ़ारसी लिपि में होते हुए भी ब्रजभाषा मे है। इसके अतिरिक्त हिंदी का प्राचीन गद्य भी ब्रजभाषा में ही है। सवत् १४०० के आस-पास रचे हुए हठ योग, ब्रह्म योग से सबध रखने वाले अनेक गोरख-पथी ग्रथ मिलते है। इनकी भाषा में प्राचीन ब्रजभाषा गद्य का स्वरूप उपलब्ध है। भक्ति काल मे कृष्ण भक्ति-शाखा के अतर्गत रचे गए गद्य ग्रथो में आते-आते तो ब्रजभाषा का स्वरूप बहुत कुछ व्यवस्थित हो चुका था। गोस्वामी विट्ठलनाथ विरचित "शृगाररस-मडन" के अतिरिक्त 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्त्ता' तथा 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' इन दो साम्प्रदायिक गद्य-ग्रथो का उल्लेख आवश्यक है। इनके अतिरिक्त भी ब्रजभाषा में अनेक गद्य-ग्रथ मिलते है, यथा अष्ट छाप—नाभादास, अगहन महात्म्य तथा वैसाख महात्म्य—वैकुठमणि शुक्ल, नासिकेतोपाख्यान, वैताल पच्चीसी—सूरति मिश्र, आईने अकबरी की भाषा वचनिका आदि।

काव्य की आत्मा रस

भक्ति-काल में ब्रजभाषा के स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और रीति-काल में उसे खूब साज-सँवारकर एक दम परिष्कृत एव सर्व रसोनुकूल तथा सर्व विषयोपयोगी बना दिया गया था। "कविर्मनीषी परिभू स्वयभू" —जिस प्रकार वैदिक वाणी के प्रथम प्रकाशक ब्रह्म को यह पदवी प्राप्त हुई, उसी प्रकार लौकिक वाणी के सर्व प्रथम वर्णपिता महर्षि वाल्मीकि भी "आदि कवि" की पदवी से विभूषित हुए। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा इस प्रकार की है—

"जिस प्रकार आत्मा की मूलावस्था का नाम ज्ञानदशा है अथवा सिद्धावस्था है, ठीक उसी प्रकार हृदय की मूलावस्था का नाम "रसदशा" है। इसी रसदशा की प्राप्ति के लिए मनुष्य की वाणी समय-समय पर जो शब्द-विधान करती आई है, उसी का नाम "कविता" है।"

निस्सदेह काव्य वही है जिसमें चित्त रमण करे, जो चित्त को अपने आप में लगा ले। काव्यानद लोकोत्तर आनद है। वह स्वार्थ सबधो से सर्वथा परे है। उसका उपभोग सहृदय जन ही कर सकते है।

कविता की यह परिभाषा 'वाक्य रसात्मक काव्य' का ही रूपातर है। रस ही काव्य की आत्मा है। अपनी-अपनी रुचि तथा अपने-अपने दृष्टिकोण से चाहे उसे अलकार कहें, चाहे वक्रोक्ति अथवा ध्वनि परतु सहृदयो के लिए 'रस' ही मुख है। नीलकठ दीक्षित इस तथ्य को बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं—

"रस रसज्ञा कलयाति वाचि परे पदार्था न परे पदानि।
वस्त्र कुविदा वणिजो विभूषा रूप युवानश्च यथा युवत्याम्॥"

रसज्ञ (रसिक) कविता में रस ढूँढते है, दूसरे विषय को ढूँढते है, तीसरे पद लालित्य पर दृष्टि देते है, जिस प्रकार किसी युवती को देखकर युवा उसके स्वरूप को सराहते है, जुलाहे, वस्त्र के व्यापारी, वस्त्र की प्रशसा करते है और सर्राफ उसके आभूषणो पर परख की दृष्टि डालते है।

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धात और अध्ययन' मे इसी का आश्रय लेकर विभिन्न मतो का समन्वय करते हुए काव्य की इस प्रकार परिभाषा की है—

"प्रति कवि की भाषा भाव प्रधान, किंतु क्षुद्र वैयक्तिक संबंधो से मुक्त मानसिक प्रतिक्रियाओ की कल्पना के साँचे में ढली हुई, श्रेय की प्रेय रूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। प्रभावोत्पादक शब्द-द्वारा भाषा की शक्तियो और अलकारादि के साथ पाठक को ओर भी सकेत हो जाता है।" इस परिभाषा में प्राय सभी बातें आ जाती है। किंतु उसमें वह लाघव नहीं जो "वाक्यं रसात्मं काव्य" में है। वास्तव में यह उसका बृहत् सस्करण है।

रसात्मक काव्य ही सत्काव्य है। रस, ध्वनि अथवा रस-चमत्कार ही वास्तव मे काव्य का सर्वस्व है। शब्दाडबर-युक्त एव सालकार पक्तियाँ नीरस होने पर व्यर्थ ही है, क्योकि जीवन ज्योति-रहित शव विभिन्न वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होने पर भी मिट्टी ही है। चमत्कृत भाव भाषा की अपेक्षा नही करते, उन्हे किसी प्रकार व्यक्त किया जाये, वे अपना प्रभाव डाल ही देते हैं—

"जामें रस कछु होत है, ताहि पढत सब कोइ ।
भाव अँनूठो चाहिऐ, भाषा कोऊ होइ ।।"

क्योंकि—

"नहीं मुहताज जेवर का जिसे खूबी खुदा ने दी ।"

साहित्यदर्पणकार ने काव्य के विभिन्न अवयवो का स्थान निर्धारित करते हुए उसके स्वरूप की इस प्रकार प्रतिष्ठा की है—

"काव्यस्य शब्दार्थ. शरीर, रसादिश्चात्मा, गुणा शौर्यादिवत्, दोषा काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयव सस्थान विशेषवत्, अलकारा कटककुडलादिवत् इति ।"

अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर है तथा रसादि आत्मा है, माधुर्यादि शौर्य-शीलादि की भाँति गुण है, श्रुतिकट्वादिक दोप काणापन की भाँति है । वैदर्भी, पाचाली-आदि रीतियाँ अवयवो के सगठन के सदृश्य है । अलकार कुडल और ककण की भाँति है । काव्य की कला से समता कर रीति-गुण-आदि का यथार्थ स्थान बता दिया है ।

रस ही काव्य की आत्मा है, उसका जीवन है । मम्मटाचार्य ने भारती की वदना "आह्लादैकमयी" करके की है । यह आह्लाद मानसिक होता है, जो 'रस'-द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है ।

'रस्यते इति रस', अर्थात् जिसका स्वाद लिया जाय, वह रस है । यह 'रस्' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'आस्वादन करना है' अथवा स्वाद लेना है । स्वाद आनददायक वस्तु मे ही आता है । अत आस्वादन का अर्थ केवल चखना ही नही वरन् चखकर आनद लेना है । वेद मे परमात्मा को 'रस' कहा गया है—'रसो वै स ।' काव्य-जन्य आनद रस का स्वरूप है, अत अनिर्वचनीय है, किंतु सहृदय जनो-द्वारा ही उसका आस्वादन या अनुभव किया जा सकता है ।

'रस' के मर्म को सर्वप्रथम भारतवर्ष के ऋषि-मुनियो ने ही समझा था । इसकी कल्पना सस्कृत-ग्रथो में ही हुई है । महामुनि भरत के कथनानुसार 'द्रुहिण, नामक किन्ही आचार्य द्वारा इसका आविष्कार हुआ था

एते ह्यष्टौ रसा प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।

—भरत नाट्य-शास्त्र

हालाँकि भरत मुनि को इस विषय का आविष्कारक तो नही कहा जा सकता, परन्तु फिर भी ससार मे रस प्रकरण के विवेचक वे ही है । शास्त्र के रूप मे तत्सबधी विधिवत वर्णन करने का श्रेय उन्ही को प्राप्त है । इस प्रकार भरतमुनि कृत "नाट्य-शास्त्र" ही इस विषय का प्राचीनतम ग्रथ ठहरता है । नाट्य-शास्त्र का समय कम से कम आज से दो हजार वर्ष पूर्व का है । आचार्य विश्वनाथ ने रस की व्याख्या इस प्रकार की है—

"विभावेनानुभावेन व्यक्त· सचारिणा तथा ।
रसतामेतिरत्यादि स्थायिभावा सचेतसाम् ।।"

—साहित्य-दर्पण

अर्थात् सहृदयो के हृदयो में स्थित वासना रूप रति-आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस रूप को प्राप्त होते है ।

भाव मे रस की उत्पत्ति मानी गई है । काव्य शास्त्र के आचार्यो ने मानसिक विकार अथवा वासना को ही भाव माना है । वास्तव में भावो की परिपक्वता ही रस है । आचार्य भरत मुनि ने भाव और रस को अन्योन्याश्रित कहा है—

"न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।"

—भरत नाट्य-शास्त्र

अभी हाल में 'प्रेमी' नाम के मुसलमानी कवि की एक हस्त लिखित पुस्तक मिली है। यह फारसी लिपि में होते हुए भी ब्रजभाषा मे है। इसके अतिरिक्त हिंदी का प्राचीन गद्य भी ब्रजभाषा मे ही है। सवत् १४०० के आस-पास रचे हुए हठ योग, ब्रह्म योग से सबध रखने वाले अनेक गोरख-पथी ग्रथ मिलते है। इनकी भाषा में प्राचीन ब्रजभाषा गद्य का स्वरूप उपलब्ध है। भक्ति काल मे कृष्ण भक्ति-शाखा के अतर्गत रचे गए गद्य ग्रथो में आते-आते तो ब्रजभाषा का स्वरूप बहुत कुछ व्यवस्थित हो चका था। गोस्वामी विट्ठलनाथ विरचित "शृगाररस-मडन" के अतिरिक्त 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्त्ता' तथा 'चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता' इन दो साप्रदायिक गद्य-ग्रथो का उल्लेख आवश्यक है। इनके अतिरिक्त भी ब्रजभाषा में अनेक गद्य-ग्रथ मिलते है, यथा अष्ट छाप—नाभादास, अगहन महात्म्य तथा वैसाख महात्म्य—वैकुठमणि शुक्ल, नासिकेतोपाख्यान, वैताल पच्चीसी—सूरति मिश्र, आईने अकबरी की भाषा वचनिका आदि।

काव्य की आत्मा रस

भक्ति-काल में ब्रजभाषा के स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई और रीति-काल में उसे खूब साज-सँवारकर एक दम परिष्कृत एव सर्व रसोनुकूल तथा सर्व विषयोपयोगी बना दिया गया था। "कविर्मनीषी परिभू स्वयभू"—जिस प्रकार वैदिक वाणी के प्रथम प्रकाशक ब्रह्मा को यह पदवी प्राप्त हुई, उसी प्रकार लौकिक वाणी के सर्व प्रथम वर्णयिता महर्षि वाल्मीकि भी "आदि कवि" की पदवी से विभूषित हुए। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा इस प्रकार की है—

"जिस प्रकार आत्मा की मूलावस्था का नाम ज्ञानदशा है अथवा सिद्धावस्था है, ठीक उसी प्रकार हृदय की मूलावस्था का नाम "रसदशा" है। इसी रसदशा की प्राप्ति के लिए मनुष्य की वाणी समय-समय पर जो शब्द-विधान करती आई है, उसी का नाम "कविता" है।"

निस्सदेह काव्य वही है जिसमें चित्त रमण करे, जो चित्त को अपने आप में लगा ले। काव्यानद लोकोत्तर आनद है। वह स्वार्थ सबधो से सर्वथा परे है। उसका उपभोग सहृदय जन ही कर सकते है।

कविता की यह परिभाषा 'वाक्य रसात्मक काव्य' का ही रूपातर है। रस ही काव्य की आत्मा है। अपनी-अपनी रुचि तथा अपने-अपने दृष्टिकोण से चाहे उसे अलकार कहें, चाहे वक्रोक्ति अथवा ध्वनि परतु सहृदयो के लिए 'रस' ही मुख है। नीलकठ दीक्षित इस तथ्य को बिल्कुल स्पष्ट कर देते है—

"रस रसज्ञा कलयाति वाचि परे पदार्था न परे पदानि।
वस्त्र कुविदा वणिजो विभूषा रूप युवानश्च यथा युवत्याम् ॥"

रसज्ञ (रसिक) कविता मे रस ढूँढते है, दूसरे विषय को ढूँढते है, तीसरे पद लालित्य पर दृष्टि देते है, जिस प्रकार किसी युवती को देखकर युवा उसके स्वरूप को सराहते है, जुलाहे, वस्त्र के व्यापारी, वस्त्र की प्रशसा करते है और सर्राफ उसके आभूषणो पर परख की दृष्टि डालते है।

बाबू गुलाबराय ने 'सिद्धात और अध्ययन' में इसी का आश्रय लेकर विभिन्न मतो का समन्वय करते हुए काव्य की इस प्रकार परिभाषा की है—

"प्रति कवि की भाषा भाव प्रधान, किंतु क्षुद्र वैयक्तिक संबधो से मुक्त मानसिक प्रतिक्रियाओ की कल्पना के साँचे में ढली हुई, श्रेय की प्रेय रूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। प्रभावोत्पादक शब्द-द्वारा भाषा की शक्तियो और अलकारादि के साथ पाठक को ओर भी सकेत हो जाता है।" इस परिभाषा में प्राय. सभी बातें आ जाती है। किंतु उसमें वह लाघव नहीं जो "वाक्य रसात्म काव्य" में है। वास्तव में यह उसका बृहत् सस्करण है।

रसात्मक काव्य ही सत्काव्य है। रस, ध्वनि अथवा रस-चमत्कार ही वास्तव में काव्य का सर्वस्व है। रस-विहीन शब्दाडबर-युक्त एव सालकार पक्तियाँ नीरस होने पर व्यर्थ ही है, क्योकि जीवन ज्योति-रहित शव विभिन्न वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होने पर भी मिट्टी ही है। चमत्कृत भाव भाषा की अपेक्षा नही करते, उन्हें किसी प्रकार व्यक्त किया जाये, वे अपना प्रभाव डाल ही देते है—

"जामें रस कछु होत है, ताहि पढत सब कोइ।
भाव अँनूठौ चाहिऐ, भाषा कोऊ होइ॥"

क्योंकि—

"नही मुहताज जेवर का जिसे खूबी खुदा ने दी।"

साहित्यदर्पणकार ने काव्य के विभिन्न अवयवो का स्थान निर्धारित करते हुए उसके स्वरूप की इस प्रकार प्रतिष्ठा की है—

"काव्यस्य शब्दार्थ. शरीर, रसादिश्चात्मा, गुणा शौर्यादिवत्, दोषा. काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयव सस्थानं विशेषवत्, अलकारा कटककुडलादिवत् इति।"

अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तथा रसादि आत्मा है, माधुर्यादि शौर्य-शीलादि की भाँति गुण है, श्रुतिकटुत्वादिक दोप काणापन की भाँति है। वैदर्भी, पाचाली-आदि रीतियाँ अवयवो के सगठन के सदृश्य है। अलकार कुडल और ककण की भाँति है। काव्य की कला से समता कर रीति-गुण-आदि का यथार्थ स्थान वता दिया है।

रस ही काव्य की आत्मा है, उसका जीवन है। मम्मट्टाचार्य ने भारती की वदना "आह्लादेकमयी" करके की है। यह आह्लाद मानसिक होता है, जो 'रस'-द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है।

'रस्यते इति रस', अर्थात् जिसका स्वाद लिया जाय, वह रस है। यह 'रस्' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'आस्वादन करना है' अथवा स्वाद लेना है। स्वाद आनददायक वस्तु मे ही आता है। अत आस्वादन का अर्थ केवल चखना ही नही वरन् चखकर आनद लेना है। वेद मे परमात्मा को 'रस' कहा गया है—'रसो वै स।' काव्य-जन्य आनद रस का स्वरूप है, अत अनिर्वचनीय है, किंतु सहृदय जनो-द्वारा ही उसका आस्वादन या अनुभव किया जा सकता है।

'रस' के मर्म को सर्वप्रथम भारतवर्ष के ऋषि-मुनियो ने ही समझा था। इसकी कल्पना सस्कृत-ग्रथो मे ही हुई है। महामुनि भरत के कथनानुसार 'द्रुहिण, नामक किन्ही आचार्य द्वारा इसका आविष्कार हुआ था

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।

—भरत नाट्य-शास्त्र

हालाँकि भरत मुनि को इस विषय का आविष्कारक तो नही कहा जा सकता, परतु फिर भी ससार मे रस प्रकरण के विवेचक वे ही है। शास्त्र के रूप में तत्सबधी विधिवत वर्णन करने का श्रेय उन्ही को प्राप्त है। इस प्रकार भरतमुनि कृत "नाट्य-शास्त्र" ही इस विषय का प्राचीनतम ग्रथ ठहरता है। नाट्य-शास्त्र का समय कम से कम आज से दो हजार वर्ष पूर्व का है। आचार्य विश्वनाथ ने रस की व्याख्या इस प्रकार की है—

**"विभावेनानुभावेन व्यक्त. सचारिणा तथा।
रसतामेतिरत्यादि स्थायिभावा सचेतसाम्॥"**

—साहित्य-दर्पण

अर्थात् सहृदयो के हृदयो में स्थित वासना रूप रति-आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस रूप को प्राप्त होते है।

भाव से रस की उत्पत्ति मानी गई है। काव्य शास्त्र के आचार्यो ने मानसिक विकार अथवा वासना को ही भाव माना है। वास्तव में भावो की परिपक्वता ही रस है। आचार्य भरत मुनि ने भाव और रस को अन्योन्याश्रित कहा है—

"न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित.।"

—भरत नाट्य-शास्त्र

रसो की सख्या

मनुष्य के हृदय में अनेक भाव उत्पन्न होते रहते है। इनमे कुछ भाव तो ऐसे होते है, जो कुछ समय तक अपना प्रभाव दिखाकर विलीन हो जाते है। उनकी स्थिति सागर की लहरो के समान मानवी चाहिए, इन्हें 'सचारी भाव' कहते है और कुछ भाव ऐसे होते है जो विरोधी एव अविरोधी भावो से विच्छिन्न नही होते, अपितु विरुद्ध भावो को भी अपने रूप में परिणत कर लेते है, इन्हें 'स्थायी भाव' कहते है। ये ही स्थायी भाव विभावादिको के सवध से 'रस रूप' बन जाते है। 'स्थायी भाव' वास्तव में वासना रूप से हृदय में विद्यमान रहते है और जब विभावादि-द्वारा उनको उद्बुध होने का अवसर मिलता है, तभी वे जाग्रत होकर अनुभाव तथा सचारी भावो की सहायता से रस रूप में दिखाई देते है। इस प्रकार रस के पूर्ण परिपाक के लिए निम्नलिखित सामग्री आवश्यक है। स्थायी भाव, सचारी भाव, विभाव (आलबन तथा उद्दीपन) तथा अनुभाव (अतर्भावो की सूचक वाह्य चेष्टाएँ आदि)। जो भाव को विशेष रूप से उत्पन्न करते है वे 'विभाव' कहलाते है। यद्यपि विभावो, सचारियो और अनुभावो में कार्य-कारण सबध है तथापि रस की निष्पत्ति में ये सभी कारण है। इसीलिए भरत मुनि ने इसी सामग्री को रस की निष्पत्ति में कारणता दी है—

"विभावानुभावव्यभिचारि सयोगाद्रस निष्पत्तिः।"

और किसी काव्य की रसात्मकता प्रमाणित करने में इसी सामग्री की खोज की जाती है।

स्थायी भाव नौ है—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य तथा निर्वेद। प्रत्येक स्थायी भाव के आधार पर एक-एक रस की कल्पना की गई है। यथा—शृगार रस, हास्य रस, करुण रस, रौद्र रस, वीर रस, भयानक रस, वीभत्स रस, अद्भुत रस तथा शात रस। किन्ही-किन्ही आचार्यों ने दसवाँ—'वात्सल्य रस' भी माना है। वात्सल्य रस का स्थायी भाव 'स्नेह' है, जो छोटो के प्रति प्रेम—रति का ही एक भेद होने के कारण 'शृगार रस' के ही अतर्गत आ जाता है। इस प्रकार रसो की सख्या नौ ही ठहरती है।

व्रजभाषा-काव्य के अतर्गत नवो रसो से सवलित सुदर रचनाएँ हुई है। व्रजभाषा के कवियो ने किसी भी रस को अछूता नही छोडा है। सभी का पूर्ण परिपाक हुआ है। व्रजभाषा केवल शृगार, करुण तथा शात जैसे कोमल रसो के ही उपयुक्त नही, वरन् उसमे रौद्र, वीर-आदि कठोर रसो के भी परिपाक की क्षमता है। वह पूर्ण सामर्थ्यवान् है।

शृगार रस

शृगार रस के सयोग और वियोग दो पक्ष होते है। यद्यपि आचार्यों ने दापत्य-रति को ही शृगार रस का मूल माना है और पुत्र-विषयादिक रतियो को भाव कहा है, तथापि आलवन-भेद से और इसमें प्रत्यक्ष चमत्कार होने के कारण पुत्र-विषयक रति को 'स्नेह' के नाम से 'वात्सल्य' का 'स्थायी भाव' माना है। कुछ आचार्यों ने इसी प्रकार भक्ति को भी स्वतत्र स्थान दिया है। सस्कृत के आचार्यों ने रति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।"

अर्थात् मन के अनुकूल अर्थ में हृदय के द्रवीभूत होने को 'रति' कहते है। इसी भाव को महाकवि देव ने इस प्रकार कहा है—

"नेकु जो प्रिय जन देखि-सुनि, आँन भाव चित होइ।
अति कोविद-पति-कविन के, सुमति कहति रति सोइ।।"

संयोग शृंगार-वर्णन

दर्श, स्पर्श, सलापादि जनित अश्रु-पुलकादि से व्यजित परस्परानद का वर्णन 'सयोग शृगार' का विषय बनता है। यथा—

"ए री! आज काल्हि कुल-कौनि सब त्यागि दोऊ, सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसाइबौ।
कहै 'रसखानि' दिना द्वै में बात फैलि जै है, कहाँ लो सयाँनी चद हाथँन्ह दुराइबौ।।

कालि ही निहार्‌यौ बीर निपट कलिंदी तीर, दोउन कौ दोउ न सो मुरि मुसिकाइबौ ।
दोऊ परें पइयाँ, दोऊ लेत हैं बलैइयाँ, उन्हें भूलि गईं गैयाँ, इन्हें गागरि उठाइबौ ।।"

'सनेह' शब्द से 'रति स्थायी' व्यजित है । कृष्ण तथा राधिका आलवन हैं । एकात कालिंदी-कूल उद्दीपन विभाव है । बात फैल जाने का डर, शका एव चिंता सचारी भाव है । दोनो की पारस्परिक चेष्टाएँ, 'दोउन कौ दोउन सो मुरि मुसिकाइबौ', तथा 'पैयाँ पडना' एव 'बलैयाँ' लेना कायिक अनु-अनुभाव एव हाव-भाव है । गैयाँ-भूल जाना तथा गागर (घडे) का ध्यान न रहना 'स्तभ' सात्विक अनुभाव है । महा कवि नददास-द्वारा किए गए रास वर्णन का अवलोकन कीजिए—

"दौरि लिपटि गईं ललित लाल, सुख कहत न आवैं ।
मीन उछरि ज्यौं पुलि न परे पै पानी पावैं ।।"

* * *

"नूपुर, ककन, किंकिनि, करतल, मंजुल, मुरली ।
ताल, मृदग, उपग, चग, एकहि सुर जुरली ।।
तैसिय मृदु पद पटकनि, चटकनि कट तारन की ।
लटकनि, मटकनि, झलकनि, कल कुडल, हारन की ।।
सुघर साँवरे पिय-सग, निरतति यो व्रज-बाला ।
ज्यौं घन मडल मजुल खेलति दामिनि-माला ।।"

शृगार रस का परिपाक एव निर्देशन तो है ही, साथ ही नृत्य का सजीव स्वरूप भी सम्मुख उपस्थित हो जाता है । भाषा सर्वदा भावो की अनुगामिनी और ध्वनि मात्र से अर्थ की व्यजक है । इसके शब्द ध्वन्यात्मक है । वे नृत्य की ताल-स्वर मय गति के द्योतक है । इन पदो मे शब्द नृत्य के हर्षोल्लास-पूर्ण गति मय पद-सचारण के द्योतक है । भाषा भावानुसारिणी होने के कारण रस के परिपाक मे पूर्ण सहायक हुई है । रास-नृत्यादि शृगार के उद्दीपन माने गए है । इसमें 'हर्ष' सचारी है । मिलन से पूर्व जो उत्कठा होती है, उसकी भी व्यजना 'मीन उछरि ज्यौ पुलिनि परे पै पानी पावै' कह कर की गई है । अन्य उदाहरण, जैसे—

"बतरस-लालच लाल, की मुरली धरी लुकाइ ।
सोह करै, भौहन हँसै, दैन कहै नटि जाइ ।।"

—बिहारी,

यहाँ 'भ्रू-विलास' अनुभाव का जीता जागता उदाहरण है । 'सोह करै, देन कहै नटि जाइ', मे 'अनुभाव' तथा 'हाव' दोनो का सुखद् समिश्रण है । यहाँ शब्दो मे ही 'चल-चित्र' की-सी गति आ जाती है । एक के बाद दूसरा दृश्य उपस्थित हो जाता है । गोपियो की सजीवता तथा मन की चचलता व्यजित है । 'चपलता' सचारी भाव है ।

विप्रलभ शृगार

नायक-नायिका के पारस्परिक क्षणिक या चिरकालीन सान्निध्य, विच्छेदअथवा मानसिक साम्य न रहने के कारण जो मिलन के सुख का अभाव रहता है, वही 'वियोग शृगार' का विषय होता है । यथा—

"मोहि तजि मोहनें मिल्यौ है मन मेरौ दौरि, नैंन हू मिले हैं देखि-देखि साँवरौ सरीर ।
कहै 'पदमाकर' त्यो ताँन-मय कान भए, हो तौ रही जकी, थकी, भूली-सी, भ्रमी-सी बीर ।।
दई निरदई ताते इनको दया न दई, ऐसी दसा भई जाते कैसें धरो मन धीर ।
हो तो मन हूँ कें मन नैंननि के नैंन जो पै, कौंनन कें कौंन, तौ पै जानते पराई पीर ।।"

प्रथम दर्शन में प्रेम उत्पन्न हो जाने पर गोपिका कृष्ण से न मिल सकने के कारण अधीर है । अत पूर्वानुराग-हेतुक विप्रलभ शृगार है । गोपी का जकी-सी, थकी-सी, भ्रमी-सी, भूली-सी रह जाना

अनुभाव है। कानो मे मुरली की टेर समा जाने के कारण रति उत्पन्न हुई है। श्रम, आलस्य, मोह, दीनता तथा जडता सचारी भाव है।

"दूरि जदुराई, 'सेनापति' सुखदाई रितु पावस की आई, न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी है, दरकी सुहागिल की छोह-भरी छतियाँ॥
आई सुधि बर की, हीए में आनि खरकी, तू मेरी प्रान-प्यारी ए पीतम की बतियाँ।
बीती औध आवन की, लाल मनभावन की, डग भई बावन की, सावन की रतियाँ॥"

यहाँ प्रवास-हेतुक विप्रलभ शृगार है, पावस की ऋतु, सावन का महीना और अँधेरी रात मे पानी बरसना, किसे अपने प्रीतम की याद न दिलायेंगे? ये उद्दीपन हैं। प्यारे की सुधि तक न मिलना और आने की अवधि बीत जाना तरह-तरह के वितर्क उत्पन्न करते है। 'शका' एव 'वितर्क' सचारी भाव हैं। छाती में धडकन होना मानसिक अनुभाव है। प्रियतम की बातो (प्राण प्यारी कह कर बुलाना—आदि) की याद आना 'स्मृति' एव 'गर्व' सचारी भाव की व्यजना है। 'डग भई बावन की सावन की रतियाँ'—यह द्योतित करता है कि वह उत्सुकता पूर्वक बाट जोह रही है और उसे नीद नही आ रही है। यहाँ 'उत्सुकता', 'विषाद' एव 'उद्वेग' सचारी भाव है।

'प्रिय-वियोग' में सुखदायक वस्तुएँ भी दुखदाई लगती है। शीतल मद समीर, लू की लपट की भाँति उष्ण लगती है। चद्र की शीतल किरणें अगार जान पडती है—

"बिन गुपाल बैरिन भई कुजें।
जो वे लता लगत तन सीतल, अब भई विषम अनल की पुजें॥
बृथाँ बहत जमुना तट खगरौ, बृथाँ कमल-फूलन अलि गुजें।
पवन, पाँनि, घनसार, सुमन हूँ, दधि-सुत-किरनि भानु सी भुजें॥
ए ऊधौ, कहियो माधौ सो, मदन मारि कीन्हीं हम लूजें।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग जोवत अँखियन भइ घुजें॥"

गोपाल आलबन है। लताएँ, शीतल वायु, यमुना-तट आदि उद्दीपन विभाव है। दग्ग का मग जोवत से उत्कठा और उत्सुकता तथा 'मदन मारि कीन्ही हम लुजें' से जडता सचारी भाव व्यजित है। प्राचीन सुखो की याद 'स्मृति सचारी' भाव है। मग जोते आँखो का धुजे (धुँधला) हो जाना कायिक अनुभाव है तथा इनके द्वारा अश्रु सात्विक व्यजित है। ये सब उद्दीपन विभाव है। एक ही उद्दीपन दृश्य स्थिति-भेद से सयोग में सुख की अनुभूति को तीव्रता प्रदान करता है और 'वियोग' में पूर्वानुभूति की स्मृति दिला कर वियोग के ताप को बढा देता है। इस पद का सानुस्वार शब्द-विन्यास माधुर्य गुण का सूचक है।

केवल प्रिय-दर्शन की लालसा शेष है, सयोग जन्य सुख प्राप्ति की इच्छा तक नहीं, प्रेम में आत्मोत्सर्ग की यही पहिचान है।

उद्दीपन आदि का स्वतत्र वर्णन

शृगार रस वर्णन के अतर्गत उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव का स्वतत्र वर्णन भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। नायिका भेद, नख-शिख-निरुपण और ऋतु वर्णन इन्ही के उपाग समझने चाहिए।

"रनित भृंग घटावली, झरत दान मधु नीर।
मद-मद आवत चल्यौ, कुजर कुज समीर॥"

—बिहारी

यहाँ मद पवन का वर्णन किया गया है। मद समीर की हाथी से समता की गई है। जिस प्रकार मत्त मतगज मद टपकाता, घटा घहराता मद गति से चलता है, उसी प्रकार कुज-समीर भ्रमर गुजन रूपी घटा-रव करता एव मधुर रस रूपी दान टपकाता हुआ मन्थर गति से चला आ रहा है। वसत ऋतु का सश्लिष्ट योजना-युत वर्णन भी देख लीजिए—

"कूकि उठी कोकिला, सु गूँजि उठी भौंर-भीर, डोलि उठे सौरभ समीर तरसावने।
फूलि उठी लतिका हूँ लोगन की लोनी-लोनी, झूमि उठी डारियाँ कदब सरसावने ।।
चहकि चकोर उठे, कीर करि सोर उठे, टेरि उठी सारिका विनोद उपजावने।
चटकि गुलाब उठे, लटकि सरोज पुज, खटकि मराल रितुराज सुनि आवने ।।"

ऋतुराज की अगवानी करने के लिए प्रकृति पूरी तरह से तैयार है। कण-कण मे चहल-पहल है। वसत मदन महीप का बालक है[1]। जड चेतन सब मस्त बने हुए मदन-महिमा का प्रदर्शन कर रहे है। स्पष्ट है कि ब्रजभाषा के अतर्गत शृगार रस का सागोपाग एव प्रचुर वर्णन तथा निरूपण हुआ है।

आलबन के अतर्गत नायक-नायिका आते है नायिकाओ के विश्लेषण और वर्गीकरण में ब्रजभाषा के कवि कुछ बदनाम से हो गए है, किंतु जहाँ आज कल का विज्ञान कीट-पतगो तक का वर्गीकरण करता है वहाँ यदि मनोदशाओ के आधार पर सजीव नायिकाओ का वर्गीकरण किया जाय तो हानि ही क्या है? 'नायिका भेद' वर्णन में ब्रजभाषा के कविगण अपने अग्रज सस्कृत-आचार्यो को भी पीछे छोड गए है।

वात्सल्य रस का वर्णन

जहाँ 'स्नेह' भाव की पुष्टि होती है वहाँ 'वात्सल्य रस' माना गया है। पुत्र, शिष्य, शिशु आदि बालक रूप इसके 'आलवन विभाव' माने गए है। देखिए—

"बर दत की पगति कुद कली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकें घन-बीच जगै छवि मोतिन-माल अमोलन की ।।
घुघराली लटें लटकें मुख-ऊपर, कुडल लोल कपोलन की।
निवछावर प्रान करैं 'तुलसी' वलि जाउँ लला इन बोलन की ।।'

—गोस्वामी तुलसीदास

बालक राम आलबन है। मुख पर लटकती हुई घुघराली लटे, मोतियो की माला आदि 'उद्दीपन' है। उनकी मधुर छवि, अवलोकन, चितवन अनुभाव है तथा हर्ष सचारी भाव है। पूर्ण रसत्व है।

ब्रजभाषा-साहित्य-सागर मे श्रीकृष्ण के बाल्यकाल से सबधित वात्सल्य-रस की सरिता अबाध रूप से बहाई गई है। महा कवि अधे 'सूर' की अतर्दृष्टि से इसका कोई कोना अछूता रहा ही नही है। इस रस का उनके द्वारा अद्भुत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। वियोग-जन्य वात्सल्य रस का परिपाक भी देख लीजिए—

"सँदेसौ, देवकी सो कहियो।
हो तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियो ।।
उबटन, तेल और तातौ जल, देखत ही भजि जाते।
जोई-जोई माँगत सोई-सोई देती, करम-करम के नाते ।।

[1] "डार-द्रुम पलना, बिछौना नव पल्लव कौ, सुमन झगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावैं, केकी-कीर बतरावैं 'देव', कोकिल हुलाइ हुलसावै कर तारी दै ।।
पूरित पराग सो उतारौ करै राई-लोन, कुज-कली नाइका लतानि सिर सारी दै।
मदन महीप जू को 'बालक बसत' ताहि, प्रात-हीं जगावत गुलाब चुटकारी दै ।।"

तुम तौ टेव जानति ही ह्वै हौ, तऊ मोहिं कहि आवै ।
प्रात उठत मेरे लाड-लड़ैतेहिं, माँखन-रोटी भावै ।।"[१]

यहाँ पर वियुक्त प्रिय पुत्र का 'गुण' कथन है तथा सुख के अनिश्चय की शंका तक न पहुँचती हुई भावना, 'दीनता' और क्षोभ जन्य 'उदासीनता' उपर्युक्त वचनो से टपक रही है। दूसरी ओर बालको को माता-पिता की याद किस प्रकार आती है, तनिक उसे भी सुन लीजिए—

"नीकें रहियो जसुमति मैया ।
जा दिन तें हम तुम ते बिछुरे, कोऊ न कहत कन्हैया ।।
प्रात न काहु कलेबा दीन्हो, साँझ न पीन्हीं धैया ।

* * *

कहियो जाइ नंद बाबा सो, निपट कठिन हिय कीन्हो ।
'सूर' स्याम पहुँचाइ मधुपुरी, बहुरि सँदेस न लीन्हो ।।"[२]

इसमें उपालभ है, जो 'मति' सचारी के नाम से आता है। 'स्मृति' तथा 'उत्कठा' सचारी भी है। यहाँ प्रेम के उद्दीपनो का प्रभाव दिखाया गया है।

कुछ आलोचको का कथन है यदि उसे हम आक्षेप कहे, तो अनुचित न होगा कि ब्रजभाषा की कोमल-कात-पदावली शृगार रस के ही अनुकूल है, अन्य रसो के परिपाक की उसमे क्षमता नही। यहाँ हम निवेदन कर देना चाहते है कि व्रजभाषा-साहित्य की अक्षुण्ण निधि में सब प्रकार के रत्न है। उसमे अन्य रसो पर भी कविता हुई है और खूब हुई है। भाषा किस प्रकार भावो के अनुगामिनी बन जाती है ग। उसमे अन्य रसो के परिपाक की कितनी क्षमता है, यह निम्न उदाहरणो से स्पष्ट विदित हो जायगा।

[१] सँदेसौ देवकी सो कहियो ।
हो तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियो ।।
जदपि टेव तुम्ह जानत उनकी, तऊ मोहि कहि आवै ।
प्रात होत मेरे लाड-लड़ैते, माँखन-रोटी भावै ।।
तेल,उबटनो औ तातौ जल, ताहि देखि भजिजाते ।
जोई-जोई माँगत सोई-सोई देती, क्रम-क्रम करिकैं न्हाते ।।
अलक-लड़ैतौ मो मन-मोहन, ह्वै है करत सँकोच ।
'सूर' पथिक सुनि मोहि रैन-दिन, बढ्यौ रहत उर मोच ।।

[२] नीकें रहियो, जसुमति मैया ।
आवैंगे दिन चार-पाँच में, हम हलधर दोउ भैया ।।
नोई, बेंत, बिषान, बाँसुरी, द्वार अबेर-सबेरे ।
लै जिन जाइ चुराइ राधिका, कछू खिलोना मेरे ।।
जा दिन ते हम तुम्हते बिछु रे, कोउ न कहत कन्हैया ।
उठ न सबेरें कियौ कलेवा, साँझ न पीई धैया ।।
कहियो इतौ नद बाबा सो, किनौ निठूर मँन कीन्हो ।
'सूर' दास पोहचाइ मधुपुरी, फेरि न सुधि तुह्म लीह्नो ।।

हास्य रस

इसका स्थायी भाव 'हास' है 'कौतुकार्थ' अनुपयुक्त वचन वा विकृत-रूप रचना मे आह्लाद-युक्त मनोविकार को 'हास' कहते हैं। यथा—

"चदकला चुनि चूनरी चारु दई पहिराइ लगाइ सु रोरी।
बेंदी विसाखा रची 'पदमाकर', अंजन आँजि समाजि कै गोरी ।।
लागी जबै ललिता पहिरावन, कान्ह को कचुकी केसर-बोरी।
हेरि हरें मुसिकाइ रही, अँचरा मुख-दै वृषभॉन किसोरी ।।"

कृष्ण को कचुकी पहनाते समय सखियो को हँसी आ जाना स्वाभाविक ही है। यह 'स्मित' हास है।

"आध पाव तेल में तयारी भई रोसनी की, आध पाव रुई में पुसाक बनी बर की।
आध पाव छोले के गिनोरे दिए भाइन को, माँगि-माँगि लायौ है पराई चीज घर की।।
आधी-आधी जोरि 'कवि बेनी' की विदाई कीन्हीं, ब्याहि आयौ जब ते न बोलै बात थिर की।
देखि देखि कागज तबियत सु मादी भई, सादी कहा भई बरबादी भई घर की।।"

इसमे किसी कजूस मक्खी-चूस का सुदर खाका उडाया गया है। इसमे उसकी कजूसी विकृति की अवस्था तक पहुँच जाती है। कहाँ शादी का सुअवसर और कहाँ यह कजूसी।

साधारणतया विवाहादि के अवसर पर लोग उदार बन जाते है और वे प्रसन्न वदन रहते है। यहाँ कजूस शादी को बर्बादी समझता है, सभी वस्तुओ के हास्यास्पद मात्रा मे खर्च होने पर यही विकृति अथवा अनुपयुक्तता हास्य का मूल है।[1]

सूरदास तथा नददास के भ्रमरगीत मे 'असूया' भाव मे प्रेरित कुब्जा और कृष्ण के ऊपर सुदर व्यग्य मिलते है, जैसे—

"ऊधौ, जान्यो ग्यॉन तिहारौ ।
जानें कहा राज-गति लीला, अत अहीर बिचारौ ।।
आवत नाँहि लाज के मारें, मानहुँ कॉन्ह खिसॉन्यो।
हम जु अयाँनी, एक सयाँनी कुब्जा सो मन मान्यो ।।
ऊधौ, जाहु बाँह धरि लाओ, सुदर स्यॉम पियारौ ।
ब्याहो लाख, धरौ दस कुबरी, अतहिं कॉन्ह हमारौ ।।"[2]

—सूरदास,

[1] हास्य के प्रथम—उत्तम, मध्यम और अधम भेद होते हैं। तदनतर इनके दो-दो भेद जैसे—उत्तम के—स्मित और हसित, मध्यम के—विहसित और उपहसित तथा अधम के अपहसित और अतिहसित भेद होते हैं। व्रजभाषा-काव्य में इनके उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते है और वे आज तक नहीं चुने गए।

[2] ऊधौ, जान्यो ग्यॉन तिहारौ ।
जानें कहा नीति राजन की, अत अहीर विचारौ ।।
भली भई हम सबै अयाँनीं, स्याँनो भो मन-मानो ।
आवत नाँहि लाज के मारे, भयौ बीर, खिसियानो ।।
लै आओ हम कछु न कहि हैं, मिलि है प्राँन-पियारौ ।
ब्याहौ बीस, धरौ दस कुबजा, अत-हिं स्याँम हमारौ ।।
सुनि-री सखी, कछु नाँहि कहिऐ, माधो-हि आँमन दीजै।
'सूरदास' प्रभु आँन मिलें जब, हाँसी करि-करि लीजै ।।

"कोऊ कहै रे मधुप, होहिं तुम्ह से जो सगी।
क्यो न होहिं तन-स्याम, सकल बातन चौरंगी।।
गोकुल में जोरी कोऊ, पाई नाहिं मुरारि।
मदन-त्रिभगी आपु है, करी त्रिभगी नारि।।
—रूप-गुन-सील की"

—नददास

गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति के अतर्गत 'हास' का सुदर समावेश किया है—

"बिंधि के बासी, उदासी, तपोब्रत-धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी 'तुलसी', सो कथा सुनि भे मुनि-बृद सुखारे।।
ह्वै है सिला सब चद्र-मुखी, परसें पद-मजुल-कज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनाइक जू, करुना करि कानन को पग धारे।।"

बहुत सभव है कि फ्राइड के मतावलबी मनोवैज्ञानिक इसमें लैंगिकता का उभार देखें तथा दापत्य रति की व्यजना का आभास पावें। हमारा उनसे निवेदन है कि गोस्वामी जी का अभिप्राय केवल भगवान की चरण-रज की पावनता का दिग्दर्शन कराना मात्र है? स्त्री-भावना आदि की ओर तो उनका ध्यान ही न था।

"माजू महारानी को बुलावौ महाराज हू को, लीजै मत केकई-सुमित्रा हू के जिय कौ।
रातैंन के बीच सात रिषिन के बिलसत, सुनौ उपदेस ता अरुधती के पिय कौ।।
'सेनापति' बिस्व में बखाने बिस्वामित्र नाम, गुरू बोलि पूछिऐ, प्रबोध करे हिय कौ।
खोलिऐ निसंक यह धनुष न सकर कौ, कुँवर मयंक-मुख ककन है सिय कौ।।"

शिष्ट हास्य का यह एक अत्यत सुदर उदाहरण है।

करुण रस

करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। प्रिय-पदार्थ के वियोग—'इष्ट के वियोग से उत्पन्न हुए रति-रहित मनोविकार को 'शोक' कहते हैं। विप्रलभ-शृगार मे प्रिय-मिलन की आशा रहती है, करुण में नही। यथा—

"पियरी परी ओप कपोलन की, तन में दुबराई बढी अति भारी।
लटकाएँ लटैं बिखरी मुख पै, उर सोचति मोचति लोचन-बारी।।
अति दीखति आकुल सोग-सनी, करुना-रस की मनु मूरति प्यारी।
तन-धारी बियोग बिथा-सी किधो, बन आइ रही मिथिलेस-दुलारी।।"

—सत्यनारायण कविरत्न

निर्जन बन मे भगवान राम तथा अयोध्या का चिर वियोग उद्दीपन है। अश्रु, मुख का विवर्ण हो जाना, गात्र की शिथिलता, मुख का पीला पड जाना—आदि अनुभव है। चिंता तथा विषाद सचारी भाव है।

करुण रस का नाम आ जाना रस-दोष अवश्य है, पर वैसे जानकी जी साक्षात् करुणा की मूर्ति बनी हुई है।

"मेरो सब पुरुषारथ थाकौ।
बिपति-बटावन बधु-बाहु बिन, करौं भरोसौ काकौ।।
सुनु सुग्रीव, साँचें हूँ मोपर, फेरयौ बदन बिधाता।
ऐसे समै सँमर-सकट हौं तज्यौ लखन सौ भ्राता।।

गिरि, कानन जैहं साखामृग, हौ पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वै हैं कहा विभीषन की गति, रही सोच-भरी छाती।।
'तुलसी' सुनि प्रभु-वचन भालु-कपि, सकल विकल हिय हारे।
जामवत हनुमत बोलि तब, औसर जानि प्रचारे।।"

—गीतावाली

लक्ष्मण का मृत शरीर 'आलवन विभाव है', 'समर-सकट' एव 'वानर-निकर' 'उद्दीपन विभाव' है। राम के शोक-पूर्ण वचन कायिक अनुभाव हैं। 'सोच भरि छाती' मानसिक अनुभाव की व्यजना करता है। 'अश्रु' सात्विक अनुभाव है। वैराग्य, निर्वेद, चिंता, स्मृति, व्याधि, दैन्य तथा वितर्क सचारी भाव हैं। अत शोक स्थायी पूर्णतया पुष्ट होकर 'करुण रस' हुआ।

रौद्र रस

रौद्र का स्थायी भाव 'क्रोध' है। अपमानादि से उत्पन्न हुए, हर्ष के प्रतिकूल मनोविकार को 'क्रोध' कहते हैं। मन की चचलता और आवेग रस की विशेषता है। इन्द्रियो की प्रबलता इसका सबसे बडा लक्षण है। यथा—

"वारि-टारि डारो, कुभकरनहिं विदारि डारो, मारो मेघनाद आजु, यो बल अनत हो।
कहै 'पदमाकर' त्रिकूट हू को ढाइ डारो, डारत करेई जातुधानन को अत हो।।
अच्छहिं निरच्छ, कपि-रुच्छ ह्वै उचारो इमि, तोसे तिच्छ तुच्छन कछू वै न गनत हो।
जारि डारो लकहिं, उजारि डारो उपवन, मारि डारो रावन को तौ मैं हनुमत हो।।"

यहाँ पर हनुमान जी वश-सहित रावण के नाश करने का प्रण कर रहे है। रावण-कुम्भकर्णादि शत्रु-वर्ग आलवन हैं। हनुमान जी को बाँध लाना, कटु वाक्य कहना-आदि राक्षसो की चेष्टाएँ 'उद्दीपन विभाव' है। ललकारना तथा अपने बल-विक्रम का बखान करना अनुभाव तथा 'गर्व' 'अमर्ष' तथा क्रूरता 'सचारी भाव' हैं। अतएव क्रोध स्थायी की पूर्ण पुष्टि है।

उक्त पद की शब्दावली विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। टकार, डकार युक्त वर्ण तथा अच्छहिं, निरच्छ, रुच्छहिं, तिच्छ, तुच्छन-आदि शब्द हनुमान जी के रौद्र रूप को सजीव बना देते हैं। रौद्र-रस मे ऐसी ही ओजमयी पदावली का विधान है। यहाँ पर भाषा भाव की अनुगामिनी हैं। निम्न सवैया मे परशु-राम जी के क्रोध का वर्णन है—

"गर्भ के अर्भक काटन को पटु धार कुठार कराल है जाको।
सोई हो बूझत राज-सभै, धनु को दलि हौ, दलिहौ बल ताको।।
छोटे मुँह उत्तर देत बडो, लरि है, मरि है, करि हैं कछु साको।
गोरो गरुर गुमान भरो कहौ कौसिक, छोटो-सो ढोटा है काको।।"

टूटा हुआ धनुष आलवन है। लक्ष्मण जी के उपाहास्यास्पद-वाक्य उद्दीपन है। परशुराम जी द्वारा बल एव तेज का बखान तथा कुठार दिखाना अनुभाव है। बाल-वध-द्वारा पाप का भाव 'वितर्क' सचारी भाव हैं।

वीर रस

वीर का स्थायी भाव उत्साह है। वैरी, भिक्षुक वा दीन को देख कर, वैरी को परास्त करना तथा भिक्षुक और दीन का कष्ट निवारण करने की उत्तरोत्तर बढती हुई इच्छा मे आनदानुभूति का होना उत्साह है। पराक्रम, शरीर-बल, आत्मरक्षा, साहस, हिम्मत, बहादुरी, दृढतापूर्वक कार्य करने की शक्ति, निर्भयता और युद्ध-आदि करने की तत्परता-आदि कार्यो मे 'वीर रस' का ग्रहण किया जाता है। यथा—

"छूटत कँमाल और तीर, गोली, बाँनन के, मुसकिल होत मुरचाँन हू की ओट में।
ताही समैं सिवराज हुमुक कै हल्ला कियौ, दावा बाँधि परे वीर वीर भट कोट मैं॥
'भूषन' भनत तेरी हिमत कहाँ लो कहो, किंमत इहाँ लगि है जाकी भट-ओट मैं।
ताव दै-दै मूँछन, कँगूरन पै पाँव दै-दै, अरि-मुख घाव दै-दै कूद परे कोट मैं॥"

यहाँ पर 'युद्ध वीर' का सजीव वर्णन है। अवयव स्पष्ट है। शत्रु तथा उसका ऐश्वर्य आलबन है। शत्रुओ की चेष्टाएँ तथा रण-क्षेत्र एव अस्त्र-शस्त्र की झकार उद्दीपन है और 'हुकार', 'सैन्य-सग्रह', 'मूँछो पर तावदेना', 'अग स्फुरण' तथा 'रोमाच' अनुभाव है। 'उग्रता' एव 'गर्व' सचारी भाव व्यजित है। 'वीर-रस' के तीन अन्य भेद भी होते है—दानवीर, दयावीर, और धर्मवीर।

"बेचि देह-दारा-सुअन, होइ दास हू मद।
रखि हौं निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचद॥"

यह 'धर्म वीर' का उदाहरण है।

भयानक रस

भयानक का स्थायी भाव 'भय' है। अपराध, विकृत शब्द, चेष्टा वा विकृति-जीवादि से उत्पन्न हुए मनोविकार को भय कहते है और इद्रिय-विक्षोभ-सहित भय की परि पुष्टता को 'भयानक रस' कहते है। देखिए—

"कोल कच्छ देव फँन फैलत फनी के मुख, धँसि गई धरा, धराधर उर धर के।
हरके रहे न भाँनु भरके तुरग कहूँ, भागि चले बाहन विरचि, हरि-हर के॥
क्षपित गगन झुकि कपित भुवन हले, कपित दुवन, गुन खैंचे रघुबर के।
दती दबे आसन, सकाने पाक सासन, न कोऊ थिर आसन, सरासन के करके॥"

यहाँ शिव जी के धनुष-टूटने का भयानक शब्द 'आलबन विभाव' है। धरा का धसकना, पर्वतो का विदीर्ण होना आदि भयोत्पादक दृश्य उद्दीपन है। त्रस्त इद्रादि देवताओ का सकपकाना, दिग्गजो का काँप उठना अनुभाव है। 'त्रास', 'दैन्य', तथा 'शका' सचारी भाव है।

निम्न पद में दावानल के वर्णन में भयानक रस पूर्ण परिपुष्ट है —

"भैहरात, झँहरात, दावानल आयौ।
घेरि चहूँ ओर, करि सोर, अधर बन, धरनि-अकास चहूँ पास छायौ॥
बरत बन-बाँस, थरहरत कुस-काँस, जरि उडत है भाँस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, पटकि फूल, फूटत द्रुम फटि चटकि लट लटकि नवायौ॥
अति अगिन-झार, भँमार धुधारि करि, उचटि अगार झझार छायौ।
बरत बन-पात, भैहरात, झँहरात, अररात तरु महा, धरनी गिरायौ॥
तृना, केसी, सकट, बकी, बक, अघासुर, बाम कर गिरि राखि ज्यो उबारयौ॥"

उक्त पद मे झकार, हकार, शब्द भीषणता का भाव उत्पन्न करने मे सहायक है।

"हाट, बाट, कोट, ओट अटनि अगार पोरि, खोरि-खोरि दौरि-दौरि दीन्हीं अति आगि है।
आरत पुकारत, सँभारत न कोऊ काहू, व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोग चले भागि है॥
बालधी फिरावै, बार-बार झहरावै, झरैं, बुँदियाँ-सी लक पिघलाइ पाग-पागि है।
'तुलसी' बिलोकि अकुलानी जातुधाँनी कहैं, चित्रहू के कपि सो निसाचर न लागि है॥"

लका-दहन का सजीव एव चित्रात्मक वर्णन है। चारो ओर उद्दीपन ही उद्दीपन है। लोगो का भागना, चिल्लाना अनुभाव है। 'मोह', 'शका', 'त्रास' तथा 'विषाद' सचारी भाव है। 'चित्रहू के कपि सो निसाचर न लागि है' से 'भय' स्थायी स्पष्ट ही व्यजित है। अत. 'भयानक रस' का पूर्ण परिपाक है।

वीभत्स रस

जुगुप्सा जनितेंद्रिय-सकोचकारी रस को 'वीभत्स' कहते है। इसका स्थायी भाव जुगुप्सा या ग्लानि है। मरघट मे चिताओ की चरचराहट, मास-मेद की दुर्गंधि, श्वान-आदि का मास-भक्षण, गिद्ध-कौओ-द्वारा अँतडियाँ निकाला जाना तथा कृमी-इत्यादि 'वीभत्स' रस के उद्दीपन विभाव है। यथा—

"सिर पै बैठ्यौ काग, आँख दोउ खात निकारत।
खेंचत जीभहिं स्यार, अतिहि आँनद उर-धारत।।
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि-खोदि कें माँस उपारत।
स्वाँन आँगुरिन काटि-काटि कें खाँन-विचारत।।
बहु चील नोचि लै जात तुच, मोद-मढ्यौ सब कौ हियौ।
मनु ब्रह्म-भोज जिजमाँन कोउ, आजु भिखारिन कहुँ दियौ।।"

निम्न पद में फूहड स्त्री का ग्लानि उत्पन्न करने वाला वर्णन भी देख लीजिए—

"भौंडे मुख-लार बहै, आँखिन में ढोड, राधि कौंन में, सिनक रेट भीतन पै डार देति।
खर्र-खर्र खुरचि खुजावै मटुका सौ पेट, टूड़ी लौ लटकते कुचन को उघार देति।।
लौटि-लौटि चीन घाँघरे की बार-बार फिरि, बीनि-बीनि डींगर नखन धरि मार देति।
लूगरा गँधात, चढी चीकट-सी गात, मुख धोवै न अन्हात प्यारी फूहर बहार देति।।"

इन घिनौनी बातो को देख कर नाक सिकोडना, आँख फेरना तथा थूकना-आदि अनुभाव प्रकट होना स्वाभाविक ही है। वीभत्स रस के अतर्गत हमे श्मशान के अनेक वर्णन मिलते हैं।

अद्भुत रस

अनिवार्य विस्मय के परिपाक को 'अद्भुत रस' कहते हैं। स्थायी भाव 'आश्चर्य' है। समझ मे न आने वाली वस्तुओ को देखने-सुनने वा स्मरण करने से उत्पन्न हुए मनोविकार को 'आश्चर्य' कहते है। देखिए—

"आयु सिता-सित रुप चितैचित, स्याँम सरीर रगे रँग रातें।
'केसव' काँनन हीं न सुनें, सु कहै रस की रसना विन बातें।।
बेंन किधो कोउ अतरजामी हीं, जानति बातन बूझति तातें।
दूर लौं दौरत है बिन पाँइन, दूर-दुरी दरसै मति जातें।।"

वह विना कानो के सुनता और विना वाणी के बोलता है। नेत्र न होने हुए भी घट-घट की बाते देखता और बिना पैरो दूर तक दौड लगाता है। ये लोकोत्तर कार्य-कलाप आलबन विभाव है। 'रोमाच' तथा 'सभ्रम', सात्विक अनुभावो की व्यजना है। 'वितर्क' एव 'हर्ष' सचारी भाव है।

"देखिरी देखि, अद्भुत रीत।
जलज-रिपु सो रिपु कियौ हित, छाँडि दई अनीत।।
कीर, कमठ, कपोत, कोकिल, कियौ ढिग-ढिग वास।
धनुष-ऊपर तिलक-रेखा, भयौ न रिपु कौ भास।।
जलज-माल सुढार ऊपर, निरखि मुदित अनग।
'सूर' स्याँम-निहारि यै छवि, भई मगना पग।।"

अनिवार्य विस्मय स्पष्ट है।

"लंकनाथ हरि जाके लरजि रह्यौ है हिय, मदर उठायौ जो दिगबर मुवेस कौ।
राजा, राज कुँवर, सुभट पुर तीन हू के, बल करि थाक्यौं जो चकावन सुरेस कौं।।
कवि 'लछिराम' जोर-सोर अचरज छायौ, कप सरसायौ पल ही में देस-देस कौं।
कर में तिनूका-सम करिकें कुँमार राम, मद मुसिकाइ तोरयौ धनुष महेस कौ।।"

जिस रावण ने मदराचल को उठा लिया था, वह भी शिव जी के धनुष को न उठा सका, परन्तु रामचद्र जी ने उसे पल भर मे तिनके की तरह उठा कर तोड डाला। कुमार राम का यह अद्भुत कार्य किसे आश्चर्य मे नही डाल देगा?

यहाँ 'रोमाच', 'गद्गद् स्वर', 'नेत्र विकास' एव 'सभ्रम' अनुभावो की व्यजना है। 'गर्व', 'भ्राति' एव 'हर्ष' सचारी भाव है। विस्मय का परिपाक होने से 'अद्भुत' रस हुआ।

वैष्णव-आचार्यो ने चार प्रकार का 'अद्भुत रस' माना है—दृष्ट, श्रुत, सकीर्तित और अनुमित। ब्रजभाषा-काव्य मे प्रत्येक से सबधित छद उपलब्ध हैं।

शात रस

"नास्ति यत्र सुख दुःख न द्वेषो न च मत्सर.।
सम सर्वेषु भूतेषु सशात प्रथितो रस ॥"

अर्थात् जहाँ न सुख है न दु ख है, न द्वेष है, न मात्सर्य और जहाँ पर सब भूतो में समान भाव रहता है, वह 'शात रस' कहा जाता है।

काम-क्रोधादि शमन पूर्वक निर्वेद की परिपुष्टता को 'शात रस' कहते हैं, अर्थात् शात रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' है। ज्ञान के विकास से सासारिक पदार्थों में तिरस्कार-बुद्धि का होना 'निर्वेद' कहलाता है।

ससार की असारता और अनित्यता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप-बोध इसके आलबन है। सद्गुरु-प्राप्ति, सत्सग, पवित्र आश्रम, पवित्र तीर्थ, रमणीय एकात वन, श्मशान एव मृतक व्यक्ति-आदि उद्दीपन है।

रोमाच, आनदाश्रु, गद्गद् कठ-आदि शात रस के अनुभाव हैं। धृति, मति, हर्ष, स्मरण, प्राणियो पर दया-आदि इसके सचारी भाव है। निर्वेद जब तत्व-ज्ञान से उत्पन्न होता है, तब वह स्थायी भाव होता है और जब निर्वेद इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट की प्राप्ति से होता है तब वह व्यभिचारी (सचारी) भाव कहा जाता है। *यथा*—

"सबै दिन गए बिषै के हेत।
तीनो पन्न ऐसें ही बीते, केस भए सब सेत।
आँखिन अंध, स्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन सँमेत।
गंगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि-तज पूजत प्रेत॥
मन-बच-क्रम जो भजैं राम को, चार पदारथ देत।
ऐसौ प्रभू छाँडि क्यो भटकै, अजहूँ चेत अचेत॥
राँम-नाँम बिन क्यो छूटौगे, चद-गहै ज्यों केत।
'सूरदास' कछु खरच न लागत, राँम-नाँम मुख लेत॥"

वृद्धावस्था में अग-शैथिल्य के कारण ससार की असारता का बोध उत्पन्न होना ही 'निर्वेद' है। आँखो से दिखाई न देना, कानो से सुनाई न देना-आदि तथा सत्सग-द्वारा राम-नाम की महिमा का ज्ञान आना उद्दीपन है। भगवान का स्मरण करते समय रोमाच एव आनदाश्रु अनुभाव है तथा पुराने कृत्यो का स्मरण तथा तद्जन्य पश्चात्ताप, धृति एव वितर्क सचारी भाव है। अतएव 'निर्वेद' पुष्ट होकर शात रस के रूप में परिणत हुआ है।

क्लान्ति और वैफल्य, व्यक्ति को किस प्रकार तत्व-चिंतन की ओर प्रेरित करती है यह रस-भोग की प्रतिक्रिया नीचे लिखे छद में स्पष्ट ही व्यक्त की गई है। इसे स्वय कवि के राग की थकान ही समझना चाहिए—

"हाइ कहा कहीं चचल या मन की गति में मति मेरी भुलांनी।
हौं समुझाइ कियौ रस-भोग, न 'देव' तऊ तिसनाँ बिनसाँनी॥
दाड़िम, दाख, रसाल, सिता, मधु, ऊख पिए औ पियूष से पाँनी।
पै न तऊ तरुनी-तिय के अधराँन के पीबे की प्यास बुझाँनी॥"

अथवा—

"ऐसौ जो हो जानतो कि जै है तू बिषै के संग, एरे मन मेरे हाथ-पाँइ तेरे तोर तो।
आजु लो हो कत नर-नाहन की नाहीं सुनि, नेह सो निहारि हारि बदन निहोर तो॥
चचल न देतो 'देव' चचल अचल करि, चाबुक चिताउनीनि मारि मुँह मोर तो।
भारी प्रेम-पाथर नगारौ दै गरे तें बाँधि, राधावर-बिरद के बारिधि में बोर तो॥"

यही कारण है कि उन्हे जीवन के सभी प्रकार के विषयो से विरक्ति हो गई। इस भोग की यही प्रतिक्रिया 'निर्वेद' की जननी है।

ब्रजभाषा में समस्त रसो से सबधित प्रचुर एव सफल काव्य-रचना हुई है। स्थानाभाव के कारण यहाँ तो प्रत्येक रस के एक-एक दो-दो उदाहरण देकर केवल दिग्दर्शन कराना मात्र ही अभीष्ट था।

पाश्चात्य सभ्यता के झोको तथा खडी बोली के आन्दोलन की लहरो के कारण ब्रजभाषा-काव्य-सरिता अवरुद्ध ही नही हो गई है वल्कि उसके अवयव भी छिन्न-भिन्न हो गए है। यही कारण है कि इस प्रेम-पयोधि के रस-रत्नो के सुधारस पान से हम वञ्चित बने हुए है। देखे यह नीरसना कब दूर होती है।

"सघन सजन घनस्याँम, अब दीजै रसु बरसाइ।
जासो ब्रजभाषा-लता, हरी-भरी लँहराइ॥"



ब्रजभाषा : साहित्य-शशि 'तुलसी' के तीन पद

राग-केदारौ,

रघुबर, बाल-छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव, कोटि-मनोज-सोभा-हरनि ।।
बसी मानो चरन-कमलन्हिं, अरुनता तजि तरनि।
रुचिर नूपुर, किंकिनी मन-हरत रुनझुन-करनि ।।
मंजु मेचक, मृदुल-तन, अनुहरत भूषन-भरनि।
जनु सुभग सिंगार-सिसु-तरु, फरयौ अदभुत फरनि ।।
भुजँन भुजंग, सरोज नैंनन, बदन बिधु-जित लरनि।
रहे कुहरँन, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि ।।
लसत कर प्रतिबिंब मनि-आँगन घुटुरुवन-चरनि।
जनु जलज-संपुट सुछबि भरि-भरि धरत उर धरनि ।।
पुन्न-फल अनुभवति, सुत-हिं बिलोकि दसरथ-घरनि।
बसत 'तुलसी'-हृदैं प्रभु-किलकँनि, ललित लरखरनि ।।

राग-केदारौ

नैंकि बिलोकि धौ रघुबरनि।
चारु फल त्रिपुरारि तो कौ, दिए कर नृप-घरनि ।।
बाल भूषन, बसँन, तन सुंदर रुचिर रज-भरनि।
परसपर खेलँन अजिर, उठि चलँन, गिरि-गिरि परनि ।।
झुकान झाँकन, छाँह सौं किलकँन, नटँन, हठि लरनि।
तोतरें बोलँन, बिलोकँन, मोहनी मन-हरनि ।।
सखि-बचँन सुनि कौसिला, लखि, सुढर पाँसे ढरनि।
लेति भरि-भरि अंक सैंतत, पैंत जनु दुहु करनि ।।
चरित निरखत बिबुध 'तुलसी' ओट दै जल-धरनि।
चँहत सुर सुरपति भयौ, सुरपति भयौ चँहैं तरनि ।।

राग-कान्हरौ

आँगन फिरत, घुटुरुवन धाए।
नील-जलद-तन-स्याँम-रौम-सिसु, जननि निरखि-मुख निकट बुलाए ।।
बंधुक-सुमन-अरुन-पद-पंकज, अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए।
नूपुर जनु मुनिवर-कल-हसँन्ह, रचे नीड दै बाँह बसाए ।।
कटि-मेखला, बर हार ग्रीव-दर, रुचिर बाँह भूषन पँहराए।
उर श्रीवच्छ मनोहर हरि-नख, हेंम-मध्य मनि-गन बहु ल्याए ।।
सुभग चिबुक, द्विज, अधर, नासिका, स्त्रवन, कपोल मोहि अति भाए।
भ्रू सुंदर, करुना-रस-पूरन, लोचन मनो जुगल जलजाए ।।
भाल बिसाल, ललित लटकन बर, बाल-दसा के चिकुर सुहाए।
मनु दोउ गुर-सनि कुज-आगें करि, ससि-हिं मिलन तम के गन आए ।।
उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट-पीत उढाए।
नील-जलद पै उडगन निरखत, तजि सुभाव मनो तडित छिपाए ।।
अंग-अंग पै मार-निकर मिलि, छबि-समूह लै-लै जनु छाए।
'तुलसि दास' रघुनाथ-रूप-गुन, तौ कहो जो बिधि होंहि बनाए ।।

दिव्य कवि सूरदास[1]

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा

"हाथ सितारौ सुर करयौ, मुख मैं मधरा बोल।
कान्हड़े कै राग मै, सूरदास कौ चोल ॥"

दिव्य कवि सूरदास व्यक्ति विशेष नही, व्यक्ति सामान्य है। कइयो का व्यक्तित्व जिस मे घुल मिल कर एक हो गया है उस कवि सूरदास ने मुक्तक गेय पदोमे रचना की है, उस रचना मे गीति काव्य के श्रेष्ठतम कवियो रवीद्रनाथ, विद्यापति और मीरा की रचनाओ में, का-सा हृदय-जात विराट् सगीत चाहे कितनी ही अल्प मात्रा में क्यो न हो, है अवश्य। गीति काव्य और गेय काव्य दोनो एक ही वस्तु नही है। गेय काव्य, गीति काव्य न हो यह हो सकता है। सूर के पदो मे शास्त्रीय सगीत है। दोहे[2] कवित्त[3] भी रागो में ढले है। किसी भी सगीत-प्रेमी के द्वारा राग-रागिनियो में गाये जा सकते है, किंतु सूरदास स्वय भी सगीतज्ञ थे। तानसेन और नाभादास ने उनके पदो के झुमा देने वाले सगीत की प्रशसा की थी और उन्होंने भी अपने सगीत-ज्ञान के बूते पर तानसेन की तान की दाद दी होगी—

"विधिना अस जिय जानि कैं, सेसहिं दिए न कांन।
धरा मेरु सब डोलते, तानसेंन की तांन ॥"

सूरसागर के अभी तक छपे सस्करणो में जो पद है वे विलावल, सारग धनाश्री, केदारा, कान्हरा मलार, देवगाधार, गौरी, आसावरी, सोरठ, मारू, रामकली, नट, कल्याण, विहागरौ और गूजरी आदि-आदि में मिलते है। यदि स्वय सूरदास भी उन्हे इन्ही रागो मे गाते रहे हो तो प्रतीत होता है कि विलावल,सारग और धनाश्री राग उन्हें अधिक प्रिय थे। इन मे भी विलावल का स्थान उनकी नजरो में सब से ऊँचा था। सूरसागर (राधाकृष्ण-सस्करण) का आरभ विलावल से हुआ है और विलावल मे ही उसकी समाप्ति हुई है। यही नही, सागर का प्रत्येक स्कध केवल दशम को छोड कर विलावल से आरभ हुआ है। दशम स्कध का परिचयात्मक आरभ सारग राग से किया है, किंतु लीला आरभ के लिए उसमे भी विलावल ही चुना गया है। रागो में होने से पदो मे श्रुति-मधुरता आ जाती है अन्यथा फीके पद भी सुनने पर प्रभाव पूर्ण प्रतीत होते हैं। पहली पक्ति की टेक भी सौदर्य को बढाती है। दोहा, रोला और टेक का समिश्रण जो कि नन्ददास कृत 'भ्रमरगीत' में अपने भव्यतम कलात्मक रूप में पहुँचा है और जिसे पहली वार स्वामी अग्रदास ने अपनाया था, सूरदास में मिलता है, किंतु शिथिल रूप में। मारू राग एक प्रकार से आल्हा का ही सत-भजनीय सस्करण है। युद्धो के लिये प्रेरणा देने वाली उत्साह भावना सतो के द्वारा इस राग के प्रयोग से ईश्वरोन्मुखी कर दी गई।

सूरदास ने महाभारत-रामायण की परपरा को न अपनाकर भागवत और गीतगोविंद की परपरा को अपनाया है। सूर सागर मे उन्होंने कहा भी है—

[1] ना. प्र सभा के सूरसागर-सस्करण, पृष्ठ ७०, छंद संख्या १३२ में पक्ति है—
"तौ जानो जौ मोहि तारि हौ, 'सूर' कूर कवि ढीठ ॥"

[2] वही पृष्ठ १७०, छंद संख्या ३२५

[3] वही पृष्ठ २७७, छंद संख्या ४३२

"व्यास कहे सुकदेव सों, द्वादस कंघ बनाइ।
सूरदास सोई कहे, पद भाषा कर गाइ ॥"

किंतु सूरसागर, भागवत का अनुवाद मात्र नही है। उसमे मौलिक उद्‌भावनाएँ भी है। अनुवाद जहाँ है वहाँ प्राय कथा-प्रसग अथवा राग-समाप्त होने पर कह दिया है–'सुक ज्यो नृप कों कहि समुझायौ सूरदास त्योंही कहि गायौ।' जहाँ स्वतत्र उद्‌भावनाएँ है वहाँ ऐसा नही कहा। कथा शैली और मुक्तक शैली सूरसागर को पौराणिक ढग का महाकाव्य और स्वतत्र मुक्तक काव्य दोनो एक साथ बना देती है, पर उन में तुलसी के ग्रथो की-सी सुसबद्धता नही है, भावो का दुहराव है। घोर से घोर नग्न शृगार है। प्रच्छन्नहास और पुलकित गंभीर वात्सल्य तथा उल्लास पूर्ण सख्य, कोमल माधुर्य, ओजस्वी वीर, प्रतापी रौद्र, स्निग्ध शान, करुण दास्य, विस्मित वीभत्स और चकित कर देनेवाला अद्भुत रस है। वस्त्र, भोजन और मिष्ठान्न की लबी चौड़ी सूची तथा रहन-सहन और सामान्य विश्वासो के लबे-चौडे ब्यौरे चाहे कितने ही जीवनोपयोगी क्यो न हों तनिक भी काव्योपयोगी नही है। कथा-क्रम को जोडनेवाले नीरस स्थलो की ऊब को दसम स्कध के विपुल-विस्तार से दूर किया है। इसी स्कध मे प्रेमा-भक्ति की उदार हरि-लीला कथा है, जिस के यशोगान में सूर की अपनी प्रतिभा खूब खिली है। नवम स्कध में गगा-जन्म के पश्चात् त्रिवेणी पर गगा का आखो देखा भव्य चित्र सूरदास की अपनी देन है। ये तीन पद गगा-विष्णुपादोदकी की स्तुति में बिलावल, भैरो और बिलावल में रचे है। जान पडता है सूर उस समय प्रयाग में थे और राम-कथा लिखने के लिये काशी, जहाँ कि गोस्वामी तुलसीदास जी थे, जा रहे थे। राम-कथा को सूर ने भागवत के अनुकूल ही, किंतु भावुकता के साथ लिखा है। परतु सूर की प्रतिभा की त्रिवेणी सागर के दशम-स्कध में है जिसमें हरिदास, हित हरिवश और वल्लभ की भी जलधाराएँ मिली हुई है।

"तत्रैव गंगा यमुना च वेणी, गोदावरी सिंधु सरस्वती च।
सर्वाणि तीर्थानि वसति तत्र यत्राच्युतोदार कथा प्रसंग ॥"

सूर की प्रेम-भक्ति की कथा कृष्ण-जन्म तथा उनकी रम्य बाल-लीलाओ से आरभ होती है। कृष्ण जन्म और बधाई आदि के बाद यदुवश का वह राजकुमार, गौवो के बीच में प्यार से पलने लगता है। यशोदा की गोद भर उठती है। मातृ-हृदय का प्राणवान स्वरूप, सूर ने यशोदा में अकित किया है। माँ-पुत्र के आपस के स्नेह पर ऐसे सुदर अनेको पद रचे है, जिन्होने साहित्य-शास्त्रियो को, अपत्य प्रेम को स्थाई रूप में स्वीकारने को बाध्य किया। यशोदा अपने लाल को कभी तो लोरी दे सुलाती है, उसकी एक-एक क्रिया देखती है और वह सुख पाती है जो कि अमर-मुनियो को भी दुर्लभ है। कभी वह अपने पुत्र को आँचर-तले ढक कर दूध पिलाती है और कभी मुँह देख फूली नही समाती। मातृ-हृदय की इस अनन्य आनद-अनुभूति को ही समझ कर सूर ने कहा–'धन्य सूर एकौ पल या सुख, का सत कलप जिएँ'। वास्तव में जिसने उस सौंदर्य के दर्शन पल भर कर लिए है उसका जीवन सफल हो गया। यशोदा फिर कभी अपने कृष्ण को अँगुलियो के बल चलना सिखाती है। लोरी दे यदि सुलाती है तो प्रभात के समय उन्हें कृष्ण-मन-भावनी चतुराई-भरी बातें कह-कह कर जगाती है। कृष्ण कभी तो नाना के नाम से चिल्ला उठते है, चद्र के लिए कभी मचलते हैं, कभी दूध पीने से आनाकानी करते है, चोटी बढ़ने के लालच पा दूध पीते ही चोटी टटोल कहने लगते हैं।

"मैया, कब बाढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहि दूध पियति भई, यै अजहूँ है छोटी!"

कृष्ण धीरे-धीरे कुछ बडे होते है। खेलने बाहर जाते है तो लोग उन्हें चिटाते है, "गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कित स्याम सरीर?" तग आ, घर आ, यशोदा से पूछते है तो यशोदा का ममत्व-भरा उत्तर मिलता है। "मोहिं गोधन की सो, हो माता तू पूत"। अहीरो के लिए गोधन से बढकर है ही क्या? उसी गोधन की सौगंध से विश्वास उत्पन्न कराती है। इस विश्वास, इस प्रेम से यह भी ध्वनित हो जाता है कि पराये पुत्र को भी प्रेम से किस प्रकार अपना ही निजी सगा बनाया जा सकता है और यही प्रेम आगे चलकर देवकी को संदेश दिया जाता है—'मैं तो कृष्ण की धाय भर रही, माता तुम ही हो, तब भी उसकी भावना को मैं अपनी तरह पहचान

हूँ, नहाने से दूर भागता है, सौ तरह के लालच दिलाकर काबू मे आता है। उठते ही उसे माखन रोटी चाहिए'—आदि।

कृष्ण कुछ और बडे होते है और गाये चराने जाते है। बलराम उन्हे घने कुञ्ज मे ले जाकर—'काटि खाउ रे हाऊ,' को सौंप देते है। ग्वाले उन्हें छितरी गायो को समेटने दौडाते है, उनका कवल छिपा देते है। लौटने पर कृष्ण अपना कवल ढूँढने लगते है तो उन्हे तग किया जाता है—अरे उसे तो गाय खा गई, वह देखो यमुना में वही चली जा रही है'—इत्यादि[1]। कभी उन्हे अपनी गायें अलग कर लेने की धमकी देते है, पर वे अलग होते कब है! इसी तरह उनकी बाँसुरी बजती है, गोधूलि से कुचित केशो युक्त ग्वाले साँझ को घर की ओर लौटते है और सूरदास उनके सौंदर्य के गान मे तल्लीन हो जाते है—"सोभा कहत कहे नहि आवै।" दृष्टि जहाँ-जहाँ जाती है, वही-वही लवलीन हो जाती है। इसी प्रकार न जाने कितने पद सूर ने कहे!

धीरे-धीरे कृष्ण किशोरावस्था में पहुँचते है। उनकी बाँसुरी की ध्वनि सुन, गोपियाँ घरबार छोड, खिची चली आती है। अपनी सुध-बुध भूल जाती है—

"अंगनि की सुधि भूलि गई,
स्याँम-अधर मृदु सुनत मुरलिका, चकित नारि भई!"

मुरली के प्रसग में लोगो ने माया-जीव और ब्रह्म के दार्शनिक अर्थ भी जोडे है। सूर भी इस भाव की अभिव्यक्ति कर उठते है, पर ये पद वैसे ही हो जाते है जैसे कि बाल-वर्णन मे प्रलय-मथनी आदि वाले चित्र।

धीरे-धीरे ये कृष्ण और गोप-गोपिया बडे हो जाते है। मुरली अपने यौवन के स्वर सुनाने लगती है। एक ओर सौंदर्य, दूसरी ओर कपन, बचपन का स्नेह प्रेम मे परिवर्तित हो जाता है। सयोग शृगार के अनेक चित्र सूर ने इस अवस्था के अकित किए है। गोपियाँ कृष्ण के रूप को देखकर रीझने लगती है। सदैव उस रूप का पान करना चाहती है, पर आखे तो दो ही है। विधाता को अपने वश में कर सकती तो यही माँगती रोम-रोम को आँखो मे परिणित कर दो। कृष्ण की माधुरी ने उन्हे मोल लिया है। उनके नेत्रो को कृष्ण की मुख-शोभा को ही निहारते रहने की टेव पड गई है—

"अँखियन यह ई टेव परी।
कहा करो बारिज-मुख ऊपर लागति ज्यो भ्रमरी!"

सूरदास की ये गोपियाँ, ग्राम-बालाओ की तरह अत्यत भोली है। उन्होने छल-कपट नही सीखा, बात बनाना नही जाना, अपने हृदय की दशाओ को वे सीधे से कह देती है।

एक दिन ब्रज को ऐसी स्थिति मे छोड, कृष्ण मथुरा चले जाते है। सारा ब्रज उनके वियोग मे पागल हो उठता है—

"ब्रज के बिरही लोग दुखारे।
बिन गुपाल ठगे से ठाढे, अति दुरबल तन भारे॥"

यशोदा बेचारी अपने प्रियपुत्र को खो विकल हो जाती है। वह खीझकर नद से कहती है—तुमने दशरथ की राह क्यो नही अपनाई? "छाँडि सनेह चल मथुरा कह दौरी न भीर गह्यौ, फाटि न गई बज्र की छाती, कित यह सूल सह्यौ!" यशोदा का नद को उलहना देना, यह सोचना कि जिस दुख ने उनकी छाती फटी जा रही है उसको यह ब्रजभूमि कैसे झेल रही है, यशोदा के मातृ-हृदय के दर्शन कराने को बहुत है।

[1] मैया, मेरी काँमरि चोरि लई।
एक कहै कान्हा तेरी काँमरि, सुरभी खाई लई।
एक कहै कान्हा तेरी काँमरि, जमुनाँ में जात बही।
'सूरदास' जसुधा के आगें, नैंनन-नदी बही॥
—राग-आसावरी

धीरे-धीरे उसकी यह झुंझलाहट दीनता का रूप ले लेती है और वह दीनता—"संदेसौ देवकी सो कहियो" में फूट पड़ती है।

बेचारी भोली-भाली गोपियाँ तो इस वियोग से पगला जाती है, उनका मन उनके हाथ में नहीं रहता। ब्रज की भूमि, उस के वन-उपवन, वे ही परिचित मधुवन उन्हें काटने को दौड़ते है। वे उन्हें कोसने लगती हैं—"मधुवन तुम कित रहत हरे? बिरह-वियोग स्यामि-सुदर के ठाढे क्यो न जरे?" पपीहा उन्हें प्रियतम की याद दिलाता है, उनकी पीडा को बढाता है और वे झुंझला कर कहती हैं—"हौं तो मोहन के बिरह बरी रे! तू कित जारत? रे पापी तू पखि पपीहा! 'पिउ-पिउ-पिउ' अधि रात पुकारत!" कभी वह मवेदक बन जाता है। आकाश में घिरे मेघ, कृष्ण की याद उन्हें दिलाते हैं—"आजु घनस्याँम की अनुहारि, आए उनै साँवरे सजनी, लेहु रूप निहारि।"

गोपियाँ इसी तरह जीवन काट रही थी। उद्धव का आना उनकी विरहाग्नि में घी डाल देता है। इतने दिन की वेदना बरस पडती है और वे अपना सारा क्रोध उद्धव पर ही निकाल बैठती हैं। भँवर को सबोधित कर सारे व्यग उसी पर कसे जाते है। वे भोली-भाली गोपिकाएँ, कृष्ण के ऐसा सदेश भेजने की बात पर विश्वास नही कर पाती। अभी कल-परसो तक तो राग-रग में वे मस्त थे, योग की गठरी कहाँ से अब मोल ले ली! उनकी सरल बुद्धि यही समझती है। कृष्ण ने अवश्य ही उद्धव को बेवकूफ बनाया है और इसी से वे पूछने लगती है—"साँच कहौ तुम को अपनी सौ बूझति बात निदाने, 'सूर' स्याँम जब तुम्हें पठाए, तब नेकहु मुसकाने?", किंतु बेचारियों की रही-सही आशा भी खो जाती है तो उद्धव से वे कहती है—हम ब्रज की भोली वनिताएँ है। हमारे पास एक ही मन था वह तो कृष्ण के हाथो बिक गया अब किस मन से निर्गुण को भजें!—"ऊधौ, मन नाही दस-बीस, एकहुतो सो गयौ स्याँम-सँग को आराधै ईस!" आखें तो हरि-दर्शन की भूखी है। ये योग की बातें उनको नही रुचती। मन ठिकाने नही है, उसे तो कृष्ण ले गये—"ऊधौ, मन नहिं हाथ हमारे, रथ-चढाए हरि सग गए लै, मथुरा जबै सिधारे।" यह सब जानते हुए भी कृष्ण कैसा सदेशा भेज रहे है! उन्हें विश्वास नही होता और उद्धवसे वे कहती है—"ऊधौ, जाहु तुम्हें हम जाने,स्याँम तुम्हे यहाँ नाहिं पठाए, तुम्ह हौ बीच भुलाने, ब्रजवासिन सो जोग कहत हौ, बातहु कहत न जाने!" अत में वे निराश होकर कह उठती है—"ऊधौ, अब नहिं स्याँम हमारे!" उनकी आखें निशिदिन बरसती ही रहती है। लोगो को कम से कम स्वप्न में तो सुख मिल जाता है, परंतु इन बेचारियो को स्वप्न में भी सोच है। जैसे ही दिखलाई दिया कि हरि ने उन्हें कठ लगाया है, वैसे ही नीद उचट गई। विधाता को काल्पनिक मिलन मे भी ईर्ष्या मानो होती है। कालिदास के यक्ष की तरह वे भी सोचने लगती है। चकई अपने प्रतिबिंब को चकवा समझ कर सुख पा रही थी। विधाता ने वैरिन निद्रा को उचटा दिया। पवन ने लहरो को कँपा दिया। प्रतिबिंब को भी मिटा दिया! उत्प्रेक्षा का इससे अधिक मार्मिक सुदर प्रयोग और क्या हो सकता है। उद्धव के विदा होते समय वे कहती है,—"ऊधौ, इतनी कहियो जाइ, अति कृस गात भईं ए तुम बिन परम दुखारी गाइ!" ध्वनि हुई—गायो की यह दशा है तो हमारी क्या दशा होगी! इद्रियाँ इतनी विकल है तो मन पर क्या बीत रही होगी! पशु होकर भी स्नेह को ये समझती है और प्रेमी ईश्वर पुरुष होकर भी प्रकृति की इस विकलता को, हमारी इस वेदना को तुम बिसारे हुए हो! ऐसा सदेशा भेज रहे हो!

गोपियो का व्यक्तित्व सामूहिक है, किंतु उन में से सूर ने एक राधा को अलग अकित किया है। बचपन से ही कृष्ण की वह अधिक प्रिय रही है। खेल में भी और यौवन में भी, सभी से वह ऊँची है। इन की धार उसीके मुखपर पडी है, 'तुम्हारा क्या चोर लेंगे'—सुनने का सौभाग्य उसी को प्राप्त हुआ। राधा का संयम-पूर्ण कलात्मक दिव्य-चित्र सूरदास की वह अपूर्व देन हिंदी साहित्य को है जो उन्हें कालिदास की कोटि का दिव्य कलाकार कवि बनाकर वल्लभ-संप्रदाय के महत्वाकाक्षी गर्व राहु को खुली चुनौती दे रहा है। सूरदास वल्लभ-सप्रदाय के ही नही राधावल्लभीय संप्रदाय के भी है, हित हरिवंश और हरिदास स्वामी का भी उन पर गहरा-प्रभाव पडा है। रास के एक पद में सूरदास ने वहाँ रहने की चाह भी प्रकट की है जहाँ कि हित-हरिवंशी और हरिदासी लोग रहते है। यथा—

"निस दिन स्याम सेश्रों मैं तोहिं, इहैं कृपा करि दीजै मोहिं ।
नव निकुंज सुख पुंज में, हरिवंसी-हरिदासी जहाँ, हरि करि कृपा राखहु तहाँ ।।"

भ्रमरगीत के सारे प्रसग मे सूर ने राधा को चित्रपट के पीछे कर दिया है, उसकी व्यथा अकथनीय है, शब्दो में सामर्थ्य नही जो उसे व्यक्त कर सके । सूरदास यदि अपनी वाणी को मूक पाते हैं तो राधा-कृष्ण के प्रेम-गान में । गोपियाँ व्यग भी कर लेती है, हँसी भी उडा लेती है , रो भी लेती है, पर राधा मौन है । इस मौन से ही सूरदास ने राधा की शाश्वत कलात्मक दिव्य मूर्ति अकित की है । बाल-लीला के पदो में चित्र है, सजीवता है, स्वाभाविक प्रसन्नता है, पर कलात्मक सयम की वह निपुणता जो कि एक बार रघुवश के कालिदास में देखी गई थी और जिस की कुछ किरणे विद्यापति के पदो में खिली है, सूरदास की राधा में एक बार फिर सौंदर्य के शृगो पर पहुँच जाती है । राधा की जो दिव्य मूर्ति सूरदास ने हमें दी है, अकेली वह ही उन्हें विश्व के महान् से महान् कलाकार कवि के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है ।

"लरिकाई को प्रेम कैसें अलि भूलि है[1]"—

यदि सत्य है तो इस वट-बीज से जो विशाल वृक्ष राधा के प्रेम का सूरदास ने अपने सागर मे विकसित किया है, उसीके पत्रो पर बाल गोविंद खेलते है, अपने पाँव का अँगूठा मुँह में डाले रहने के कारण कभी बूढे नही होते । उसी वट-वृक्ष की घनी छाया में गोप-गोपिकाएँ, गाएँ तथा व्रज के प्राणी कृष्ण की शाश्वत सुरीली विकल मुरली, शरद ज्योत्सना मे थिरकती कालिंदी के तीर सुनते है । सयोग और वियोग मे सौंदर्य का ज्योत्स्ना-सिंधु, सूरदास ने लहराया है । उसीमें रस-रूपिणी राधा की मौन वेदना है । राधा मौन है, पर सूरदास ने उसकी वेदना को व्यजना का मुख दिया है । गोपियाँ कहती है,—"बिनु माधौ, राधा-तन सजनी, सब विपरीत भई ।" मथुरा से कृष्ण अपना सदेशा यशोदा तथा नद के लिये भेजते है—'जादिन तें हम तुम ते बिछुरे कोऊ न कह्यौ कन्हैया, कहियो जाइ नद बबा सो बहुत निठुर मन कीन्हो, सूरदास पहुँचाइ मधुपुरी बहुरि न सोधौ लीन्हो ।" उद्धव भी मथुरा लौटने पर कहते है—"गोकुल की सुरति छाँडि कें कहाँ बसे हौ आइ !" कृष्ण एक आह भर छोडते है—"ऊधौ, मोहिं व्रज बिसरत नाही !" कचन की नगरी द्वारिका में पहुँच कर भी वे व्रज को नही भूल पाते, 'रह-रह कर रुक्मिणी से कहते हैं चलो उस व्रजभूमि को चलें, जहाँ हस-सुता के तीर सुदर सरल जीवन है, जहाँ हमारी बचपन की एक सखी रहती है । इस सखी (राधा) के दर्शन कुरुक्षेत्र मे पर्व के दिन कृष्ण ने रुक्मिणी को भी करवाये और सूरदास ने इस अवसर पर इतना ही कहा—"दोनो ऐसे ही मिली जैसे कि बहुत समय से बिछुडी हुई एक बाप की दो बेटियाँ मिलती है ।" सूर का सागर, तलैया भर रह जाता, यदि उसमे राधा-गोविंद की यह गभीर प्रेम-भावना और उससे सबधित अभिव्यक्ति-नैपुण्य न होता ।

भावनाओ की सुदरता को देखने में सूर की दृष्टि जितनी पैनी है उतनी ही तीव्र वह उन्हे कलात्मक ढग से व्यक्त करने में भी है । सूर की अनुभूति जन्य भाव-प्रवण-कल्पना, उनके सधे हुए सगीत स्वरो और मधुर कोमलकात-लीलाओ से मिल कर एक हो गई है । क्षण भर मे वह यशोदा की दृष्टि बन जाती है, क्षण

[1] लरिकाई की प्रेम कहौ अलि, कैसें छूटत ।
कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित, अंतरगत लूटत ।।
वह चितवन, वौ चाल मनोहर, वौ मुसकाँन, मंद-धुनि गावन ।
नटवर-भेष नंद-नंदन कौ,वह बिनोद,वो बन तें आवन ।।
चरन-कँमल की सोंह करति हौं, पै संदेस मोहिं बिष लागत ।
'सूरदास' पल मोहिं न बिसरत, मोहन-मूरत सोवत-जागत ।।
—राग-धनाश्री

भर में ही राधा और गोपियो की। कृष्ण का रूप अभी धारण कर लीलाएँ करने लगती है और थोडी ही देर में उन लीलाओ का सरस गुण गान करने के लिए लौट कर भावुक भक्त की आत्मा में प्रवेश कर जाती है।

साहित्य में सजीवता बोलचाल के शब्दो और मुहावरो को अपनाने से आती है। सूरदास ने जन-जीवन की भाषा के शब्दो तथा मुहावरो को सहृदय स्वच्छद रूप से अपनाये है। मँझार, परानछ लुटासी, सिवसिवता, घालि, ब्रीडत, फुरई, ताती, आँन, नान्हे-नून्हे, घुरत निसान, सैन-मैंत, टुकाई, नैन-पसार, मुखागर, खकि-खकि, हरि बैठत गोद, रई घमरको होइ, घमकि मथनिया होइ, मुँहाँचुहीं, मैंगल मन, सरजाई, दगाबाज, कुतवाल, नफा, मुस्तौफी, पटवारी, कपटी, रुक्का, तक्सीम, चमानन जिन्ने-उन के, बरामद, फौज, दामनगीर, आयो बाज, गरीब निवाज, मसकत, हवस, मुहकम, अरगाई, (बिन्मित), माइन (समानित, पूज्य), ढाढी (दमामी), लोचै (देखते है), जेठरौ (पुत्र), थरम (स्तमित, कपित), पैंडे (रास्ता) और (ताख), किलकत, घुटरुन, गभुआरे, अचगरि (नटखट), महयौ, छाक, खिरक (सूनी-गोठ, गोस्थली), ढिगनि (किनारी), गाँस (पट्टी पढाना) , नोआ (पाँव बाँधने की रस्सी), चँटाई (शीघ्रता), किनका (कण), खोरि (गली)—आदि-आदि सहज स्वाभाविक जन-वाणी-प्रवाह के प्रयोग उनके पदो के सौंदर्य को बढा रहे है।

शब्द-चुनाव और शब्द के संघटन में सूर की पटुता लक्षित होती है। बाल कृष्ण के छोटे-छोटे नये दूध-दंतो के लिए 'दूध की दँतुली' का प्रयोग जितना सुदर है, उतना ही सुदर प्रयोग गर्भ के बालो के अर्थ मे 'गभुआरे' शब्द का भी है। 'हम को सपने हूँ में सोच' वाले पद में 'बैरिन भई निदिया' और 'निठुर विधाता' प्रयोग मार्मिक सुदर है। गोचारण लीला के उपालंभ-प्रसग में रिंगाइ, दौराइ आदि-आदि एक से एक सुदर शब्द है। विषय के अनुकूल शब्द सूरदास ने चुने है। उनके विषयो में कोमल लीलाएँ अधिक है, इस-लिए वीर-रसोपयोगी ओजस्वी शब्दो की ढूँढ अधिक नही करनी चाहिए। फिर भी उनकी भाषा में ओज माधुर्य और प्रसाद तीनो ही गुण मिल जाते है। सूरदास जी ने व्रजभाषा को अपने पदो के लिए अपनाया। व्रज की लीलाओ का गुणगान करने के लिए गोप-वेष-विष्णु-नदिनी सौरसेनी अपभ्रंश प्रसूत व्रजभाषा उसी तरह उपयुक्त थी जिस तरह अर्द्ध मागधी प्रसूत अवधी राम-काव्य तथा अन्य प्रबंध काव्यो के लिए थी। कृष्ण-काव्य की मुक्तक लीलाओ के लिए व्रजभाषा ही अधिक उपयुक्त उस युग में हो सकती थी, जिसने उसका आधिपत्य उत्तर भारत के सपूर्ण जागरूक जीवन पर एक मनोन्मादिनी लहर की भाँति हो रहा था। माधुर्य, लालित्य और लोच ने व्रजभाषा को सगीतमय मधुर, कोमल पदो के लिए अधिकार सिद्ध बना दिया था। सूरदास ने उसे अपना कर बहुत अच्छा काम किया। उनके पदो ने व्रजभाषा की काव्य-सपत्ति को गौरव प्रदान किया है। भावो के अनुकूल अलंकारो का प्रयोग रस-सिद्ध कवियो के काव्य में सौंदर्य व चमत्कार उत्पन्न कर देता है। सूरदास, अलकार शास्त्री नही थे, किंतु काव्य-शास्त्र तथा संगीत-शास्त्र के सपूर्ण अगो के साथ अलकारो का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था। नाभादास ने उनके उक्ति वैचित्र्य तथा अनुप्रास विधान की प्रशसा की है, किंतु उनके हाथो व्यजनात्मक उत्प्रेक्षाएँ ही सबसे अधिक खिली है। रूपक पर जिस प्रकार का असाधारण अधिकार गोस्वामी तुलसीदास जी का है, उसी प्रकार उत्प्रेक्षा पर सूरदास जी का है। लाला भगवानदीन ने उन्हें 'उत्प्रेक्षाओ का बादशाह' ठीक ही कहा है। सूरदास की प्रतिभा-पूर्ण दृष्टि सौंदर्योपयोगी अलकार-उपकरणो पर पड़ कर उसी प्रकार चमकने लगती है, जिस प्रकार सूर्य किरण, मणियो पर पड कर चमकती है। "गोपी, गाइ, ग्वाल, गोसुत सब, अति ही दीन बिचारे, सूरदास प्रभु बिनु यो सोभित चद बिना ज्यो तारे", 'वारिज-मुख ऊपर लागति ज्यो भ्रमरी', "चितवति रहति चकोर चद ज्यो, बिसरति नाहिन घरी", "आयु घटति ज्यो अंजुलि पानी", "रावन पै लै गए सकल मिलि ज्यो लुब्धक पसु-जाल", "टूटत मनु रूके जहाँ-तहँ ज्यो तारागन भोर", "कनक-भूमि पर कर-पग-छाया", "यह उपमा इक राजति, करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि वसुधा कमल बैठकी भ्राजति", "कदली-दल-सी पीठ मनोहर", "कछक कुटिल कमनीय सघन सुर गोरज-मंडित केस", "सोभित मनु अंबुज पराग रुचि रँजित मधुप सुदेस", "फिरि-फिरि जाइ निरखि मुख छिन-छिन सब गोपिन के लाल, बिन विकसे कल कमल कोस है मनु मधुकर की माल", "हमको सपनेहूँ में सोच,

जा दिन तें बिछुरे नँद-नदन ता दिन ते यह पोच", "मनो गुपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही, कहा करो वैरिन भई निदिया, निमिप न और रही", ज्यो "चकई प्रतिविंव देखि के आनंदी पिय जानि, सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कियौ जल आनि"—आदि-आदि भाव प्रवण कल्पना के रस सिद्ध अलकारो के चित्रोज्ज्वली सौदर्योत्तेजक एक से एक सुदर उदाहरण सूरदास की पदावली में भरे पड़े है।

उपरोक्त उदाहरणो में से अतिम तीन की ओर ध्यान दीजिए। पहिले चित्र मे वन से लौटते समय कृष्ण के शोभन रूप का वर्णन है। केशो का वर्णन करते समय सूर की कल्पना, भौरो में साम्य देखती है। यदि पहिली ही पक्ति रही होती तो बालो का उतना सुदर चित्र नही खिंच पाता जितना कि उपयुक्त और सुदर साम्य के आ जाने से हो गया है। बाल कुछ घुँघराले है, सघन भी है और धूल से भरे हुए हैं, मानो, कमल के पराग से रजित भौरे हो। भौरो का लाना, घुँघरालेपन का भाव तो दे ही देता है, किंतु पराग और धूल का साम्य भी सामने आ जाता है। साथ ही वन से घर आती हुई दौडती गाएँ, डूबते सूर्य की रश्मियो से रजित अरुण सुनहरी धूल का कोमल सुदर चित्र दिखलाई देने लगता है और सौम्य-शात प्रभाव का अनुभव होने लगता है।

दूसरे चित्र मे, कृष्ण को सोया देख ग्वाल-बाल वापिस लौट जाते है, यह ऐसा ही है जैसा कि कमल के न दिखने पर मधुकरी का आ-आ कर लौट जाना। समय प्रभात का है, पद्म-सौदर्य से आकर्षित हो-हो भौरे कमल की ओर जैसे जाते है, ग्वाल-सखा अपने प्रिय कृष्ण की ओर वैसे ही आ रहे है। वापिस लौटने में निराशा का और बार-बार जाने में आशा, औत्सुक्य, उत्कठा तथा स्नेह गाभीर्य का साम्य है।

तीसरे चित्र मे मार्मिक वेदना के साथ सौदर्य-प्रभाव का साम्य व्यंजना सहित है। स्वप्न के के टूटने पर गोपी की वही हालत हो रही है जो कि चकई की तब होती है जब कि वह अपने ही प्रतिबिंब को जल में देख उसे प्रिय चकवा समझ खुश होने लगती है, पर उसी समय निठुर विधाता पवन को भेज कर जल को हिला देता है, उसका भ्रम-सुख मिट्टी हो जाता है[1] और इस अवस्था को देखने वाले पाठक के मुख से सहसा निकल पडता है—"क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतांतः" और उमे शिव प्राप्ति की कामना करने वाली सती की तीसरे पहर रात की—"असत्यकंठार्पित बाहु बंधना" की दशा याद आ जाती है। इस कोमल कठोर वेदना-चित्र मे व्यजना है, 'जिस की स्वप्न मे यह दशा है उसकी जाग्रत अवस्था मे क्या दशा होगी ?' स्वप्न का वर्णन दो-एक पक्तियो में ही करके जाग्रत की सारी कल्पना, कवि ने पाठक पर छोड दी है। थोडे से थोडे शब्दो में उत्प्रेक्षा के द्वारा जो कुछ सभव है कवि ने कह दिया है, जितना कहा है उसमे अधिक ध्वनित किया है। इसी मे कला की निपुणता है। इसी भाँति की व्यजना—"ऊधौ इतनी कहियो जाइ" तथा—

"बरु ए बदरा हू बरषँन आए।
अपनी अवधि जाँन नँदनदन, गरजि गगँन घँन छाए॥
कहियत है सुर लोक बसत सखि, सेवक सदौं पराए।
चातक पिक की पीर जाँनि कैं, तेउ तहाँ ते धाए॥

[1] हम को, सपनें-हू में सोच।
जा दिन ते बिछुरे नँदनंदन, ता दिन ते यह पोच॥
जनु गुपाल आए मेरे घर, हँसि-करि भुजा गही।
कहा कहौं बैरिन भई निंदिया, निमिष न और रही॥
ज्यो चकई प्रतिबिंब देखि कैं, आँनंदै पिय-जाँनि।
'सूर' पवन-मिलि निठुर बिधाता, चपल कियौ जल आँनि॥
—राग-मल्हार

द्रुम किए हरित, हरखि बेलीं मिली, दादुर मृतक-जिवाए।
साजत निविड नीड़ तृन सजि-सजि, पछिन हूं मन-भाए।।
समझति नाहिं चूक सखि अपनी,बौहतै हरि दिन लाए।
'सूरदास' प्रभु रसिक-सिरोमनि, मधुबन-बसि बिसराए।।

—राग-मलार

—आदि पदो में सूर की भाव-प्रवण कल्पना अत्यत सजीव हो गई है।

श्रीमद्भागवत की प्रेम-पयस्विनी, गीतगोविंद की कोमलकात सरस्वती तथा विद्यापति की सरस पदावली और मीरा की सगीत मदाकिनी के प्रसवित होने के समय से लेकर आज तक न जाने कितने कवियो ने गोविंद-गुणगान किया, न जाने कितने प्रेमी सतो, भक्तो और सगीतज्ञो ने श्याम मूर्ति को नयनो में धारण किया पर उन सूर के सधे सगीत के स्वरो की कुछ बात ही निराली है, जिनके हृदय से वह श्याम मूर्ति छिन भर भी इधर-उधर नही गई—

"चलत, चितवत, दिवस, जागत, सुपन सोवत रात।
हृदे तें वह स्याम-मूरति, छिन न इत उत जात।।"

सूर ने अपना अस्तित्व ही हरि-गुणगान में लीन कर दिया था। "सोई रसना जो हरि गुण गावै" के विश्वासी इस दिव्य कवि के लिए 'सौ बातन की एकै बात' यही थी कि "हरि हरि हरि सुमिरौ दिन-रात", इसीलिए वे अपने पदो में बार-बार गाते रहे हैं—"हरि-हरि-हरि-हरि सुमिरन करौ, हरि-चरनारबिंद उर धरौ"। हरि-राधिका के चरण-कमलो की वदना कर वे अपने हृदय के अनिर्वचनीय इद्रियातीत अविगत एक रस आनद को रूप और वाणी देने के लिए सगुण-लीला के पदो में लीन हो जाते हैं—

"रूप-रेख-गुन जाति जुगति बिनु, निरालंब मन चक्रत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातें, 'सूर' सगुन लीला पद गावै।।"

उनकी सगुण लीला के पदो के केंद्र में दिव्य ज्ञान-स्वरूप वह भुवन मोहन बालक है जिसका वास योगी और सतो की शब्दावली में उस गगन शिखर मे है जहाँ कोई बस्ती नही तथा—

चद्र-विहीन चाँदनी जहाँ सदैव खिलती है।

वैष्णवो ने शेषशायी, वट-वृक्ष-वासी, शाश्वत पुराण पुरुष बालक उसे कहा है और उसकी प्राप्ति के लिए विनय की सात भूमिकाओ—(१) दीनता, (२) मानमर्षता, (३) भय दर्शन. (४) भर्त्सना, (५) आश्वासन, (६) मनोराज्य, (७) विचारण और 'रहनि' के छ नियमो—(१) अनुकूल सकल्प, (२) प्रतिकूल वर्जन, (३) रक्षित-विश्वास, (४) गोप्तत्व वर्णन, (५) आत्म निक्षेप, (६) कार्पण्य, तथा 'भक्ति' के छ रसो—(१) दास्य, (२) सख्य, (३) माधुर्य, (४) शृगार, (५) वात्सल्य, (६) और शात का विधान किया है। सूर ने सत्य के लिए उद्धव, सुदर के लिए राधा-गोविंद-गोपी और शिव के लिए माथे-तिलक चद्रमा तथा गले में शेष नाग लपटाने वाले बाल जोगी को प्रतीक बनाया है। बालक में ब्रह्म और ब्रह्म मे बालक का तथा विराट विश्व में के, हरि जू की आरती बनाने का काम सूरदास ने दूध की चाँदनी मे किया है। सूर ने आँखें मूँदी तो साहित्याकाश में तुलसी का उदय हुआ।

"मन समुद्र भौ सूर कौ, सीप भए चख लाल।
हरि-मुक्ताहल परत ही, मूँदि गए ततकाल।।"

ब्रज साहित्य के शृंगार रस की मीमांसा

श्री गुरुप्रसाद टंडन

साहित्य की आत्मा रस है। रस-शून्य भाव साहित्य की कोटि मे नही आ सकता। रस में भी विशेष रस को ही महत्त्व दिया गया है। जो रस विशेष प्रभावशाली और मनमोहक होता है, उसे ही रसिक उत्तम कहते हैं। जिस प्रकार ईश्वर ने संसार की विविध वस्तुओ को शृंगार से विभूषित कर रखा है, इसी प्रकार साहित्य के लिए 'शृंगार रस' की उपयोगिता आवश्यक मानी गई है। जगत का यह स्वत सिद्ध नियम है कि शृंगार-युक्त वस्तु ही अधिक आनंदप्रद होती है। यद्यपि बहुत ज्ञानी, योगी, महात्मा आदि विरक्त मार्गावलम्बी शृंगार को हेय समझते है, तो भी किसी न किसी रूप से वे शृंगार के उपासक हैं। जब वे अपने उपास्य देव का वर्णन करेंगे तो अवश्य ही शृंगार-युक्त सुंदर मूर्ति के रूप मे उनका स्तवन होगा। अतएव शृंगार रस, जो जगत के अणु-अणु मे रम रहा है और जिसके प्रेम से सभी बंधे है, साहित्य में उसका उच्च स्थान होना अभिन्न सत्य है। लेखक एव कवि तो उसे पग-पग पर अपनाते ही है, किन्तु साधारण बोलचाल में भी लोग उसकी महत्ता स्वीकार करते हैं। साधारण व्याख्यान-दाता भी प्राय भाषा-शैली ऐसे सुंदर रूप में प्रस्तुत करते हैं कि जिससे श्रोताओं में विशेष आनंद का संचार हो और जनता भी उसकी ओर आकर्षित हो जाय। लेखक और कविगण रस की भावुकता में तन्मय होकर पीयूष वर्षी-धारा से सरस्वती का अभिषेक करते है। साहित्याचार्यों ने शृंगार रस को प्रधान रस इसी लिए माना है कि बिना इस रस में प्रेम किए कोई लेखक या कवि, यथार्थ में उस पदवी के उपयुक्त नहीं ठहरता। बिना इस रस के उसकी रचना रचना ही नहीं कही जा सकती।

मानव शृंगार, दैव शृंगार या प्राकृतिक शृंगार में से किसी न किसी शृंगार को कविगण अवश्य ही अपनाते हैं। यह बात दूसरी है कि वे अपने काव्यों मे प्रधानता एक रस को दे अथवा दूसरे को। यह कवियों की नैसर्गिक रुचि, जन-समाज-दशा तथा देश-स्थिति के ऊपर निर्भर है। आदि सृष्टि से आज तक के जितने कवि हुए हैं और यदि वे कवि कहलाने योग्य है तो उनके हृदय में शृंगार रस के प्रति अत्यंत प्रेम-भाव रहा है और रहेगा। जिस प्रकार मिठाई का प्राकृतिक गुण मिठास है, प्रकृति का गुण रम्यता है, अथवा शिशु का गुण कोमलता है, उसी प्रकार कवि का जन्म से ही नैसर्गिक गुण कवितागत शृंगार है। पुष्प प्रभात, सरल सन्ध्या एव निर्मल निर्झर-आदि प्राकृतिक शृंगार की सामग्रियो को देख कवि के हृदय मे मधुर मादकता छलका करती है। सारांश सृष्टि मात्र मे शृंगार रस का साम्राज्य है।

भक्ति और शृंगार

साहित्यिक नियमानुसार संसार की सभी भाषाओं पर शृंगार रस का आधिपत्य है। ब्रजभाषा में इस रस की अधिक विशेषता है। ब्रजभाषा की उन्नति का एक प्रधान कारण यही रस है। इस रस का आधिपत्य ब्रजभाषा पर प्रादुर्भाव काल से ही है। शृंगार, माधुर्य्य और भक्ति का घनिष्ठ संयोग है। भक्ति ही के प्रभाव से ब्रजभाषा और श्रीकृष्ण का अत्यंत घनिष्ठ संबंध दृढ़ हो चुका है। ब्रज-साहित्य श्रीकृष्णात्मक है। ब्रह्मा ने गोपी, ग्वाल और श्रीकृष्ण के प्राकट्य के साथ ही ब्रज की प्रकृति को भी मनोहरता की चरम सीमा तक अलंकृत किया था जिसका अवशिष्ट अंग आज भी 'निधिवन', 'सेवाकुंज' आदि कतिपय स्थानो में उस दिव्य दृश्य को प्रदर्शित करता है। ब्रजभाषा ने उत्पत्ति काल से ही इसी भक्ति के विस्तृत क्षेत्र में पदार्पण किया है। भारतवर्ष के कवियो की प्रकृति आदि काल से दैव-भाव-संयुक्त रही है। दैव-भाव पर ही संस्कृति

और प्राकृतिक साहित्य भरा है। इस प्रकार सभी मनोवाञ्छित साधन उपस्थित रहने से ब्रजभाषा ने प्राचीन कवियो की परिपाटी को विशेष उत्तेजन दिया। वैसे तो ईश्वरीय भाव मात्र कविता के उत्कर्ष का प्रमुख साधन है, किंतु श्रीकृष्ण विषयक ईश्वरीय भाव अन्य ईश्वरीय भावो की अपेक्षा अधिक विशिष्टता रखता है। इससे यह तात्पर्य नही कि श्री राम-आदि अन्य अवतार उससे कम महत्वशाली थे, किंतु भाव यह है कि श्रीकृष्णावतार में भगवान ने भक्ति का सुललित स्रोत बहा और गीता का उपदेश दे मानव समाज के कर्त्तव्यो तथा सुख प्राप्ति के उपायो का जो निदर्शन किया है वह अन्य अवतारो मे अलभ्य है। यह विषय अक्षत है। महात्मा व्यास जी ने ठीक ही कहा है—

"भरतखंड की सुकवि मडली, बरनत हू न अघात।"

इधर भारतेंदु जी भी स्वर मिला रहे है—

"जदपि कह्यौ बहु बिधि कविन, बरनि अनेक प्रकार।
तदपि सदाँ नित-नित नवल, कृष्ण-चरित्र उदार॥"

भक्ति का शृगार के साथ नित्य सबध है। जब हम किसी शृगार सुसज्जित सुदर वस्तु को देखते है तो उसके प्रति स्वभावत मन आकर्षित हो जाता है। सुदर शृगार से विभूषित प्रकृति हृदय में रस विशेष उपजाती है। भगवद्भक्ति-प्रचार के निमित्त विशुद्ध शृगार-पूर्ण वर्णन कई अशों में विशेष लाभदायी होते है। श्रीकृष्ण के दिव्य रहस्य का आश्रय पाकर ब्रजभाषा मे शृगार रस की विशेष प्रसिद्धि हुई है। श्रीकृष्ण के रहस्यो का श्रद्धा और विचारपूर्वक जिन्होने मनन किया है वे ही विज्ञ-जन ब्रज-साहित्य का पूर्णत रसास्वादन कर सकते है।

ब्रजभाषा के कवि समुदाय ने दो दृष्टियो से शृगार रस को अपनाया है। पहिली तो यह है कि उन्हे भगवान् की ललित लीलाओ का वर्णन शृगारमय करना ही पडता था। भगवद्-भक्ति के निमित्त शृगार-पूर्ण वर्णन अत्यत मनोहर होते थे। विरक्त होकर भी शुकदेव, समर्थ रामदास, ज्ञानदेव, चैतन्य देव, स्वामी हरिदास-आदि महात्माओ ने भगवद्शृगार का बडा ही अलौकिक और हृदय स्पर्शी वर्णन किया है। दूसरी बात यह है कि कवियो ने शृगार रस को एक केंद्र मानकर अपनी काव्य-कला प्रदर्शित की है।

ब्रजभाषा के कुछ कवियो ने नायक-नायिका भेदोपभेद तथा उनके नख-शिख-आदि का विषद वर्णन गोपिकाओ और श्रीकृष्ण के सबध पर घटा डाला है। कुछ कवियो ने स्वतत्र रूप से भी नायक-नायिका भेद-इत्यादि शृगारपूर्ण भाषा मे वर्णन किया है। नायक-नायिका भेद अथवा नख-शिख वर्णन मे शृगार की प्रचुरता होनी अनिवार्य है। अवस्थानुसार शृगार को सकुचित रूप भी दिया जा सकता है, किंतु अग-प्रत्यग के वर्णन में कविगण अश्लीलता के गदे गड्ढे की तह तक इस तरह डूब जाते है कि उन्हें दीन और दुनिया का कुछ विचार भी नही रहता। यद्यपि उस सासारिक विषय-लिप्त शृगारी साहित्य मे मानव समाज के घृणित व्यवहारो की दुर्गंध आती है और उसके लिये हम कवियो को दोषी भी ठहरा सकते है, तथापि उसमे बडे-बडे चमत्कारपूर्ण वर्णन देखने में आते है। उस रस में मस्त होकर कवि को अनूठी-अनूठी कल्पनाएँ सूझती है, उन्ही कल्पनाओ-द्वारा वह अपना काव्य-पीयूष बरसाता है।

हमारे आचार्यो ने शृगार को सर्व श्रेष्ठ रस मान रखा था। इसी मे उसकी ओर सहस्रो कवि आँख बद किए फिसलते ही चले गए। फलत ब्रजभाषा में दो तिहाई भाग शृगारी साहित्य है और शेष भाग में अन्य रस विभक्त हैं। शृगारी साहित्य दो प्रकार का है। एक में तो बडे-बडे विज्ञ महात्माओ ने उच्चकोटि का भगवद्शृगार वर्णन किया है और दूसरे में नायक-नायिका भेद-प्रधान मानव शृगार का वर्णन ससारी कवियो ने किया है। यह कहने में हमे कोई सकोच नही कि ब्रजभाषा में दिव्य तथा लौकिक दोनो ही प्रकार का प्रचुर शृगारी साहित्य है।

दिव्य शृंगार

दिव्य शृगार 'शृगार' के किसी भेद का नाम नही है, किंतु वह शृंगार रस की उस [illegible] का द्योतक है जहाँ स्वार्थ का अभाव और तन्मयता की पराकाष्ठा रहती है। दिव्य शृगार में तात्पर्य —

शृंगार-रस-संबंधी साहित्य में है जो भगवद्-संबंधी गोप्य रहस्यों से युक्त हो। श्रीकृष्णचन्द्र भक्ति और प्रेम के नायक हैं। प्रेम के पथ में उनका रूप ज्ञानमार्गियों के 'अखण्ड', 'अव्यक्त' ब्रह्म का-सा नही है, यहाँ तो उनका पद दूल्हा का है। 'प्रत्येक आत्मा उनकी दुलहिन है।' भक्तों के मत से दूल्हा-दुलहिन का यह संबध नित्य है, सत्य है। गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति इसी प्रकार का प्रेम है। श्रीकृष्णचद्र में सौंदर्य, प्रेम, ज्ञान, दया और सेवा का चरम विकास हुआ था। उनके सौन्दर्य और प्रेम के दर्शन वृंदावन में, ज्ञान के मथुरा और कुरुक्षेत्र में तथा सेवा और दया के द्वारका में होते हैं। शृंगार रस के यही कृष्णचन्द्र देवता हैं। प्रेमियों का मत है कि वृंदावन वाले कृष्ण में ही माधुर्य का सबसे अधिक समावेश हुआ है। शृंगार रस की कविता में कृष्ण के नायक और राधिका के नायिका होने का यही रहस्य है। श्रीकृष्ण या अन्य अवतारी महापुरुष सबंधी जितना साहित्य ब्रजभाषा में है वह सभी इसी कोटि का दिव्य शृंगार है, उसमे काव्यकला का पर्याप्त प्रदर्शन है। यद्यपि कुछ दुराग्रही साहित्यिक या वैज्ञानिक ज्ञान विहीन शृंगारी साहित्य को भी अश्लील की नाक से सूँघेंगे, किन्तु यथार्थ में उसे हम अश्लीलतापूर्ण कदापि नही कह सकते। जिनके हृदय में भाव विभोरता, तन्मयता और रसिकता है वही दिव्य रहस्य का अनुभव कर सकते हैं, ज्ञानी, ध्यानी नही। तभी तो बख्शी हस-राज कहते हैं—

"फोक षट् भूलि जिन कहियो, नेमी सो यह बांनी।
संगें भिदें तासु उर अतर, ज्यो पाथर में पांनी॥"

जो सज्जन भगवद्शृंगार में अश्लीलता का आरोप करते हैं उनसे हम यह पूछते हैं कि एक पाँच वर्ष के नग्न खेलते हुए, सुन्दर बालक को देखकर उनका हृदय वात्सल्य या प्रेम रस में क्यो परिपूर्ण हो जाता है? और एक नवयुवती को देखते ही वह क्यों विषय-तरगों में तैरने लगता है? इन प्रश्नो का उत्तर प्राकृत और अप्राकृत शृंगार का भेद बता देगा। बालक ही की सहज स्वभाव परमहसावस्था में ईश्वरीय द्युति की झलक आती है, जिसके प्रभाव से हम उसके शुद्ध स्नेह में प्लावित हो अपने को भूल जाते हैं। भगवद्शृंगार का यही महान सुंदर रूप है। जिन भगवद्-भक्तो ने अपने उत्कृष्ट प्रेमावेश में श्री राधा-कृष्ण का नख-शिख या गोपिकाओं का विरह वर्णन किया है, उसे हम किसी प्रकार अश्लीलतापूर्ण नही कह सकते। वृंदावन के कृष्ण का जीवन गोप-जीवन की मनोरम प्रतिकृति है। विद्वानो का मत है कि यह जीवन नितात सरल, निर्दोष और कुटिलता शून्य है। ऐसे जीवन का वर्णन पढने से प्रेम भक्ति की रमणीयता ही प्रकट होगी। सूरदास, स्वामी हरिदास, स्वामी हित हरिवंश प्रभृति विरक्त महात्माओ ने भगवद्शृंगार का बड़ा अलौकिक वर्णन किया है। स्थान-स्थान पर श्री राधिका जी के अंग-प्रत्यंग का भी वर्णन आ गया है। तो क्या इन विरक्त महात्माओं ने उस वर्णन का विषय वासना की दृष्टि से प्रत्यक्ष अनुभव किया था? कदापि नही। वे महात्मागण अपनी उत्कृष्ट भक्ति दर्शाते हुए श्रीकृष्ण के प्रेम में ऐसे निमग्न हो जाते थे कि उनके सामने मूर्तिमान विशुद्ध शृंगार नाचने लगता था। उन्होंने अपनी भक्ति के प्रभाव से भगवद् लीलाओं का प्रत्यक्ष अनुभव किया था, वे उन अनूठे उद्गारों को ललित काव्य के रूप में प्रकट करते थे। भक्त कवियो के शृंगार वर्णन में लाक्षणिकता का भी उचित समावेश है। 'जन्म कर्म च मे दिव्य' के अनुसार कृष्ण के कुछ विलास कृत्य अलौकिक माने जा सकते हैं, परतु इस समाधान की आवश्यकता नही। भक्त कवियों की यह प्रतिपत्ति सराहनीय है कि उन्होंने काव्य को रसात्मकता से वंचित नही होने दिया।

कहते हैं कि 'ब्रह्मात्मैक्य' में ही तन्मयता की पूर्ण अनुभूति होनी है, पर जिस स्पष्ट रूप में प्रेमियों के हृदयों में हम तन्मयता की दशा देखते हैं उस रूप में ब्रह्मात्मैक्य-वादियों को कदाचित् ही कभी वह अनुभव में आती हो। वे कहते हैं 'सोऽहमस्मि' (वह मैं हूँ), अथवा 'तत्वमसि' (वह तू है)। यहाँ 'स:' और 'अहं' अथवा 'तत्' और 'त्वम्' इन शब्दों का कुछ न कुछ स्मरण रहता ही है, पर भक्तों को तो 'वह' मुझमें है या 'मैं' उसमें हूँ, वह 'मैं' है या मै 'वह' हूँ इसका विचार ही नही रहता। हरिदास-इत्यादि भक्तजनों की तन्मयता ऐसी थी—

"कॉन्ह भए प्रान-मय, प्रान भए कान्ह-मय, हिय में न जान परै कॉन्ह है कि प्रॉन है।"

—भारतेंदु हरिश्चं

तन्मयता की इस मस्ती पर जिगर का एक शेर याद आ रहा है—

"कुछ खटकता तो है, पहलू में मेरे रह-रह कर।
अब खुदा जाने तेरी याद है, या दिल मेरा॥"

यह नही, इन भक्तो की प्रीति एक रस और अनन्य थी। जिस ठाकुर की वे अनन्यता के साथ उपासना करते थे उसके स्वरूप वर्णन में, सासारिक दृष्टि से वे मर्यादा पालन करना उचित न समझते थे। उनकी शृगार-पूरित रचनाओ में हृदय के मनोवेगो की झलक है, काव्य-रचना के उद्देश्य से प्रेरित हो उनकी रचना हुई थी, प्रत्युत भक्ति-प्रदर्शन ही उनका अभीष्ट था। इस अनन्यता की सुकवि ठाकुर ने बडी सुदर व्याख्या की है—

"कॉनन दूसरौ नाम सुनें नहिं, एक ही रंग-रँग्यौ यह डोरौ।
धोखेंहुँ दूसरौ नाम कढ़ै, रसना मुख-बाँधि हलाहल-बोरौ॥
'ठाकुर' चित्त की वृत्ति इही, हम कैसेंहुँ टेक तजैं नहिं भोरौ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जाउ, जो साँवरौ-छाँड़ि निहारतीं गोरौ॥"

कितनी चोज-भरी गर्वीली उक्ति है, पर सूरदास जी 'निहारने'—इत्यादि की कष्ट-कल्पना में नही पडे। उनका घर तो पहिले ही से भरा हुआ है, फिर भला वे दूसरे की खोज क्यो करे—

"नाहिन रह्यौ मन में ठौर।
नद-नंदन अछत कैसें, आँनिऐं उर और॥
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत रात।
हृदे ते वौ स्यॉम मूरति, छिन न इत-उत जात॥"[1]

अस्तु, तन्मयता और अनन्यता के उपर्युक्त रूपो को समझ लेने पर सूरदास, हितहरिवंश प्रभृति हरिदास के शृगारी पदो की दिव्यता का सहज अनुमान हो सकता है। उनमे किसी प्रकार की हानि की आशका नही है। उक्त अप्राकृत शृगार से प्रेम और भक्ति की वृद्धि होती है। श्री राधा-कृष्ण प्रकृति और पुरुष के अवतार थे। गोपिकाएँ कोई मायाजन्य विकारो से युक्त ससारी नायिकाएँ नही थी, प्रत्युत वे प्रेम के उच्चादर्श और भक्ति की उच्चावस्था को प्राप्त दैव मूर्तियाँ थी। श्रीमद्भागवत में तो इन्हें वेद की ऋचाएँ कहा है। भारतेंदु जी ने "श्री चंद्रावली नाटिका" में नारद जी के मुख से इन महाभाग गोपिकाओं के विषय में क्या ही अनूठा पद कहलाया है—

"गोपिन की सरि कोऊ नाँहीं।
जिन तृन-सम कुल-लाज-निगड सब, तोरी हरि-रस माँहीं॥
जिन निज बस कीन्हें नँद-नदन, विरही दै गल बाँहीं।
सब संतन के सीस रहौ इन चरन-छत्र की छाँहीं॥"

गोपियो के चरण सतो के छत्र है—यह भक्ति का गूढ रहस्य है, आलोचको के समझने की बात नही। गोपियाँ, निस्सदेह प्रेम की शुभ्र मूर्तियाँ थी। श्री कृष्णात्मक साहित्य में वे भिन्न नहीं की जा सकती और न ऐसे साहित्य को हम अश्लील ही कह सकते है। उसी भगवद्शृगार पर मोहित हो कितने ही महात्माओ ने परमहसावस्था प्राप्त की है। अतएव उक्त दिव्य शृगार को हम साहित्य में सर्वोच्च स्थान

[1] कहत कथा अनेक ऊधौ, लोग लोभ दिखाइ।
कहा करौं मन प्रेम-पूरन, घट न सिंधु समाइ॥
स्यॉम गात, सरोज आँनन, ललित मृदुमुख-हास।
'सूर' इनके दरस कारन मरत लोचन प्यास॥

पर सुशोभित करेंगे। ब्रज-साहित्य का अधिकांश भाग दिव्य शृंगार-सयुक्त है। उसके पढने से हृदय में दिव्य रस का उद्दीपन होता है। ऐसे शृंगार के हम सदैव उपासक रहेंगे।

लौकिक या अश्लील शृंगार

अश्लील का अर्थ है—अशिष्ट, लज्जाजनक कामोद्दीपक भाव। जिस वस्तु मे लज्जाजनक व्यवहार प्रतीत हो वही अश्लील है। साधारणत अश्लीलता की परिभाषा यही है, किंतु दूसरो को वैसी नही प्रतीत होती। हृदय के भावानुसार यह अपवाद प्राय सभी जगह रहता है। जो बात सर्व साधारण को लज्जाजनक ज्ञात हो, शाब्दिक परिभाषा के अतर्गत वह भले ही न आवे, पर वही अश्लील है। ससारी जनो की दृष्टि मे जो बात अश्लील है, वही उच्चावस्था-प्राप्त योगियो को तथा भोले-भाले बालको को अश्लील नही ज्ञात होती। इसका कारण यह है कि बालको की बुद्धि अनाघ्रात-कलिका के सदृश्य निर्मल होती है, वे ससारी-प्रपचो मे अनभिज्ञ रहते है। यथार्थ मे बालक का सौंदर्य और उसकी प्रतिभा इसी सरलता में है। कितने ही महात्मा भी इस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। श्री शुकदेव जी, राजर्षि जनक और रामकृष्ण परमहस इसी अवस्था के राजयोगी थे, किंतु यह बात पहुँचे हुए योगियो के लिये हे, जिन्हे श्लीलता अथवा अश्लीलता का आभास तक नही होता, साधारण लोगो के लिये नही। साधारण जन को तो अवश्य ही साधनावस्था में इससे बचना चाहिये। इसके अतिरिक्त कितने ही भक्त-गण या आस्तिक-जन ऐसे होते है कि उन्हें भगवद्सबधी गुप्त-साहित्य मे अश्लीलता नही ज्ञात होती, किंतु वही बात दूसरो को अवश्य ही अश्लील प्रतीत होगी। वस्तुत अश्लीलता को कोई भी निश्चित रूप नही दिया जा सकता, क्योकि देश, समाज और प्रकृति के अनुसार उसके रूपो मे अतर होता रहता है। फिर भी साहित्यिक दृष्टि से देखने पर हमारा यही मत है कि साहित्य स्वय उतना अश्लील या अहितकर नही है, जितना भावो की रुचि के अनुरूप वह बनाया जाता है।

पुस्तक की अश्लीलता के सबध में दिसबर १९२८ मे एक मनोरजक मुकदमा 'इगलैंड' मे हुआ था। उसका सार हम नीचे देते है—

मिस 'रैडक्लिफ हाल' के उपन्यास "दी वाल आफ लोनलीनेस" को अश्लीलतापूर्ण बतला कर 'सर चार्ल्स विरन' ने उसकी प्रतियाँ नष्ट करने की आज्ञा दी थी। लेखिका ने अपने उपन्यास मे यूरोप की उन ललनाओ के प्रति सहानुभूति प्रकट की है जो कुलवती स्त्रियो की भाँति जीवन नही व्यतीत करती और स्वेच्छाचार करती है। यही नही, उनके पक्ष का सुदर भाषा मे समर्थन करते हुए लेखिका ने ईश्वर का आह्वान किया है कि ससार के भिन्न-भिन्न समाज चाहे उक्त स्त्रियो का परित्याग कर दे, पर ईश्वर के आगे उन्हें स्थान मिलना ही चाहिए। मिस हाल के पक्ष वाले वकील ने कहा था—"The book could not be described fairly as obscene because in the course of it there were no filthy words—that it was well written and should be regarded as a work of literature"

अर्थात् पुस्तक की रचना सुदर ढग से हुई है, उसमे अशिष्ट शब्द नही हैं। इसलिये उसे अश्लील न कह कर साहित्य में स्थान दिया जाना चाहिए।

जज ने 'obscene' शब्द के अर्थ कोष के अनुसार ये बतलाए—'offensive to chastity, delicacy or decency or offensive to the moral senses as to excite lustful passions', और कहा—"The better an obscene book is written the greater the public to whom it is likely to appeal, the more palatable the poison the more insidious"

अर्थात् एक अश्लील पुस्तक जितनी सुचारु रूप से लिखी जायगी उतनी ही अधिक सख्या में जनता उसे अपनावेगी। जितना स्वादिष्ट विष होगा उतनी ही अधिक उसकी भयकरता होगी।

उक्त उपन्यास वाले मुकदमे मे 'filthy words' (अशिष्ट शब्द) और "To excite lustful passions (विषय भोग की उत्तेजना) विचारणीय है। प्राय हिंदी-साहित्य के समालोचक अश्लीलता की परख 'अशिष्ट शब्दो' से करते हैं। इस परख में सबसे बडा दोष यह है कि 'अश्लीलता' के गुण का आरोप शब्दोमें हो जाता है, आतरिक भाव से उसका कोई सबध नही और जैसा कि हम पहिले कह चुके

है 'अश्लीलता' भाव की वस्तु है। अश्लीलता की परिभाषा में "To excite lustful passions" रख से वह परिभाषा संकुचित हो जाती है, क्योंकि अश्लीलता के कई प्रकार हो सकते हैं।

अस्तु, विद्वानो की अधिकांश रुचि के अनुसार ही व्रज-साहित्य के अश्लील भाग पर विवेचन करना उचित है। व्रजभाषा के कुछ कवियो ने स्पष्ट शब्दो में नायिकाओ के अंग-प्रत्यंग का वर्णन किया है, जैसा कि हम कह आये हैं। व्रजभाषा में अश्लील शृंगार का साहित्य मुसल्मानी साम्राज्य के संसर्ग से विशेष रूप से आया है। उस समय नायक-नायिका भेद, तदीय नख-शिख आदि के वर्णन की ऐसी प्रथा चल गई थी कि कवियो ने उस पर सहस्त्रो ग्रंथ रच डाले। कितनो ने तो नायक-नायिका लक्ष्य रख, गोपिकाओ और श्रीकृष्ण को लपेट लिया है, उसे हम अवश्य अश्लील कहेंगे। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि वह भी तो भगवद्शृंगार है, उसे क्यो अश्लील कहा जाता है? इसका उत्तर यही है कि कवि की वर्णन-शैली ही स्पष्ट बतला देती है कि इसने अपना मुख्य विषय संसारी शृंगार का वर्णन रखा है, न कि विशुद्ध शृंगारात्मक भक्ति-भाव प्रदर्शन। भक्त कवियो की विशुद्ध भावुकता में और अलंकृत काल के कवियो की रीतिबद्ध कविता में अंतर मनोवैज्ञानिक दृष्टि का है। चाहे नख-शिख शृंगार हो या भगवल्लीला वर्णन, कवि की वास्तविक संवेदना छिप नही सकती। इस शैली के कवियो में कितने तो आजन्म शृंगार रस में डूबे रहे और कितनो ने अन्य विषयो का वर्णन किया भी तो उसमें भी शृंगार को ला ठूसा। इस घृणित कार्य के लिये वे कवि अत्यंत दोष-भागी है। यदि वे राधा-कृष्ण के गुणगान के मिस कवित्व-उपासना करते तो उसे हम दिव्य शृंगार में परिणत कर सकते थे, किंतु उन्होने तो अपने रीति-ग्रंथो के प्रत्येक विषय को राधा और कृष्ण पर घटाया है, यह विचार ही नही रखा कि वहाँ कहाँ तक हमारे विषय की संगति रह सकती है। राधा-कृष्ण हमारे पूज्य आराध्यदेव है, आर्य मात्र की उन पर दृढ श्रद्धा है, अतएव, उन्हें संसारी शृंगार का विषय मान कर कलंकित करना अत्यंत निंदनीय और नीचता-पूर्ण कार्य है। ये विषय कुरुचि के उत्पादक हैं। उनसे वैष्णव-भक्ति पर भी आघात पहुँचा है। विधर्मियो को हिंदू-धर्म पर कुटिल आक्षेप करने का अवसर मिला है।

अत ऐसे साहित्य को जिसके द्वारा श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम को कलंकित करने की गर्हणीय कुचेष्टा की गई है, उसे हम उपेक्षणीय समझने के पक्षपाती है, भले ही उसमें काव्य के उत्कृष्ट गुण हो। ऐसे साहित्य से हम उस साहित्य को श्रेष्ठ समझते है जिसमें नायक-नायिका-भेद साधारणत नायक-नायिका के रूप मे वर्णन किया गया है।

रीति-काल में अलंकार, पिंगल, रस-आदि जितने कुछ काव्य के विषय थे उन सब पर शृंगार रस का आधिपत्य था। रीति-ग्रंथ लिखने की कुछ चाल सी पड गई थी। इनके प्रत्येक अंगोपांग को, उदाहरणो के रूप मे कवियो ने शृंगार रस में डुबोया है। षट्ऋतु-वर्णन किया है तो वह भी हाव-भाव से अछूता न रह सका। सारांश, वह युग शृंगार का था। जो कवि नायक-नायिका के ही पीछे पडे रहे, उनके ग्रंथो में अश्लीलता की यत्र-तत्र खूब दुर्गंध मिलती है। इस साहित्य के परिपोषक मुख्यत केशव, बलभद्र मतिराम, सुखदेव, पजनेश, बोधा, पद्माकर, द्विजदेव-आदि है। बिहारी और देव ने दिव्य और लौकिक दोनों ही प्रकार के शृंगार का वर्णन किया है और भी कितने ही कवियो के काव्यो में यत्र-तत्र उभय प्रकार के शृंगार का समावेश पाया जाता है। पं० कृष्णविहारी मिश्र एक स्थान पर लिखते हैं—

"इन कवियों की निंदा इस कारण होनी चाहिए कि उन्होंने शृंगार रस के उस सुंदर रूप को भी क्यो नहीं दिखलाया, न कि इस कारण कि जो रूप उन्होंने दिखाया है, वह उन्हें दिखलाना ही न चाहिए था। विषय-रस में सराबोर कविता में भी रमणीयता है। उसके लिए उन्हें शाप देने की आवश्यकता नहीं है। . . . . उन्होने प्रतिकूल समय में कविता के दीपक को बुझने से तो बचाया। क्या हुआ, जो बुरे तेल के कारण दीपक से कुछ मलिन धुंआ भी निकला।"

मिश्र जी कितनी ही उदारता से क्यो न विचार करे, पर उनके विचार सर्व सम्मत नहीं हो सकते। जिस नग्न रूप को कवियो ने शृंगार रस में दिखाया है उसे मिश्र जी किसी अंश तक उचित समझते

है। विषय-रस-पूर्ण कविता में रमणीयता है, किंतु क्या केवल रमणीयता ही कविता के लिए अपेक्षित है ? कविता का एक प्रधान गुण है कि जिन भावों को कवि की थिरकती हुई कल्पना प्रकट करती है उनके फल-स्वरूप पाठक अथवा श्रोता के हृदय में भी एक प्रकार की कल्पना करने की शक्ति अथवा सूझ ((Creative power)) जागृत हो जाय। रीति-विषय अथवा केवल नायक-नायिका भेद-विभेद वर्णन करने में कवि की कल्पना-शक्ति संकुचित हो जाती है, मानव चरित्र का वास्तविक चित्र नहीं उपस्थित होता। इसके अतिरिक्त रमणीयता तो नवीनता मे रहती है। ब्रज-साहित्य के शृंगारी भाग पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होगा कि बिहारी, देव-आदि कतिपय कवियों को छोड कर प्राय अन्य कवियों के शृंगारी वर्णन पिष्ट-पेषण है, नवीन नहीं और फिर विशुद्ध रस की सत्ता वहाँ कितनी है ? हमे ध्यान रखना होगा कि कुरुचि-पूर्ण रचनाओं को आचार्यों ने रस नहीं रसाभास की कोटि मे रखा है। हाँ, इन शृंगारी कवियों का पक्ष-समर्थन एक दूसरे रूप से किया जा सकता है। वह है देश, काल और परिस्थिति का प्रभाव। आधुनिक युग के सदृश उस काल में मनोरंजन के अनेकानेक साधन अनुपस्थित थे। उपन्यास, गल्पादि-विषयों पर कदाचित् ही कोई ग्रंथ उस युग मे लिखा गया हो। उस समय इन्हीं रीति-विषयक ग्रंथों से समाज का मनोरंजन होता था। प्रकृति, जन-रुचि, नैतिक व सामाजिक अवस्था तथा स्वभाव का कवि पर बड़ा प्रभाव पडता है। कवि केवल एक सामयिक अवस्था का निरीक्षक और प्रदर्शक है।

अश्लील शृंगार के संबंध में सहृदयवर स्वर्गीय प० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' की भूमिका में लिखा है—

"ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीति-भ्रष्ट और कुरुचिसपन्न बनाने से नहीं होता; ऐसे प्रसंग पढ कर धूर्तविटों की गूढ़ लीला के दावघात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके—इस विषय में सतर्क रहे, यही ऐसे प्रसंग वर्णन का प्रयोजन है।"

इससे स्पष्ट है कि शर्मा जी की राय में अश्लील शृंगार भी लोकोपकारी हो सकता है, किन्तु इसमें संदेह के लिये स्थान है। धूर्तविटों के जाल मे किसी कामिनी को फँसा, उसका चरित्र-भ्रष्ट कर उससे यह शिक्षा ग्रहण करना कि "धूर्तविटों मे जनता सचेत हो जाय" कहाँ तक ग्राह्य है, कुछ समझ में नहीं आता। यह तो पाश्चात्य-सभ्यता का आदर्श है कि दुःखांत अभिनय-द्वारा जनता को उपदेश दिया जाना चाहिए। उपर्युक्त दृष्टांत से हमें तो यही शिक्षा मिलती है कि हम भी अनाचार मे प्रवृत्त हों ? प्राच्य-आदर्श तो यह है कि यदि हमे विरक्ति-भाव उत्पन्न करना है तो हम नायक या नायिका के सूक्ष्म शरीर का ऐसा वीभत्स और घृणित वर्णन करे कि वह हमे एक नारकीय कीडा समझ पडे। उसके द्वारा विरक्ति हो सकती है न कि किसी कामिनी को व्यभिचार मे प्रवृत्त कर गार्हस्थ्यों को नष्ट-भ्रष्ट कर यह परिणाम निकालना कि कामिनी हेय वस्तु है। इसका परिणाम तो व्यभिचार-वृद्धि ही होगा।

ब्रजभाषा के शृंगारी साहित्य के पृथक्-पृथक् विवेचन के अतिरिक्त हमें यह निर्णय भी करना चाहिये कि ब्रजभाषा मे शृंगाराधिक्य क्यों है और जनता को उससे क्या-क्या हानि-लाभ हुए एवं आधुनिक साहित्य-संसार की उस पर कैसी रुचि है।

ब्रजभाषा में शृंगार कविता अधिक क्यों हुई ?

संक्षेप में, ब्रजभाषा मे शृंगाराधिक्य के निम्नलिखित कारण दृष्टिगत होते हैं—

१ संस्कृत तथा प्राकृत में शृंगार रस का प्रचुर साहित्य है। काव्यांगों की दृष्टि से स्वतंत्र रीति-ग्रंथ भी उन भाषाओं में लिखे गए हैं। ब्रजभाषा पर स्वभावत उन भाषाओं की छाया पड़ी और रीति-ग्रंथ के विस्तार में शृंगार रस को सहारा मिला।

२ श्री कृष्ण-संबंधी रहस्य की कल्पनाएँ करके कवियों ने गोपिकाओं और श्रीकृष्ण का प्रेम वर्णन प्राकृत शृंगार-युक्त किया है। श्री कृष्ण की लीलाएँ ही भक्ति-पूर्ण हैं, इसलिए उनमें शृंगार का अस्तित्व अनिवार्य था।

३. ब्रजभाषा की माध्यमिक अवस्था में श्रृंगार रस की विशेष वृद्धि हुई है। उस समय मुगल-दरबार से ब्रजभाषा को अच्छा समान प्राप्त हुआ। मुसलमान बादशाह प्रायः श्रृगार-प्रिय थे। उन्हें श्रृंगारी वर्णन सुहाता था, उनके मनोरजनार्थ कवियो को श्रृगार रस-पूर्ण ग्रंथ लिखने पड़ते थे। बहुत से देशी नरेश भी श्रृगार के अत्यत रसिक थे। राजाओ को या बादशाहो को राज्य-मद के कारण भोग-विलास विशेष प्रिय था, श्रृंगारी कामोत्तेजक कविताएँ सुनने का विशेष चाव था। श्रृगारी कविताओ पर कवियो को यथेष्ट पुरस्कार भी प्राप्त होता था, फिर भला वे स्थिति के अनुसार कविताएँ क्यो न करते ?

४. फारसी तथा उर्दू भाषा में श्रृंगार का विशाल साहित्य है। उनमें आशिक-माशूक की प्रेम-पहेलियो पर श्रृंगार-पूर्ण वर्णन करने की सनातन प्रथा है। ब्रजभाषा का फारसी से सपर्क रहा है इसलिए मुसलमानों की रुचि के अनुसार भारतीय कवियो ने भी अपनी कविताओ को श्रृगार रस-पूर्ण प्रारभ किया। फिर भी मुसलमानी श्रृगारी-साहित्य और भारतीय श्रृगारी-साहित्य में अधिक अतर रहा है। पहिला मानव-भाव-प्रधान है तो दूसरा देव-भाव-प्रधान, किंतु फारसी-साहित्य की छाया से ब्रजभाषा का साहित्य अछूता नहीं रहा और धीरे-धीरे इसी प्रभाव से प्रभावित होकर देव-भाव में भी ह्रास होता गया और विषय-लिप्त श्रृगारी साहित्य की वृद्धि होती गई।

५. मुसलमानी साम्राज्य में विशेषत. मुगल साम्राज्य में जनता को शाति, सुख, व्यापार, वाणिज्य-आदि का सुभीता था। यद्यपि मुसलमानो के अत्याचार होते जाते थे, तो भी ऐश-आराम की विशेष वृद्धि थी। तत्कालीन जनता पर भी सत्ताधारियो का प्रभाव पड़ा। इस प्रकार जब देश में श्रृंगार रस को राज्य की ओर से सहायता प्राप्त हुई तब ब्रजभाषा में भी कवियों ने उसी रस की प्रधानता रखी।

६ संगीत और श्रृगार रस का अत्यंत घनिष्ठ सबध है। सगीत मनुष्य की हृदय-रजिनी-शक्ति पर विशेष प्रभाव डालता है। जब से मुसलमान भारत में आए तभी से वे राग-रग, नाच-गान के प्रेमी थे। केवल भारतीय संगीत को ही उन्होने आश्रय न दिया प्रत्युत ब्रज-साहित्य के सगीत-सगत पदों को उनसे बड़ा उत्तेजन मिला। भजन, कीर्तन और रास-लीला की दृष्टि से महात्मा सूरदास, स्वामी हितहरिवश, हरिदास, चाचा हित वृंदावनदास—इत्यादि कवि और भक्त जनो के पदो में पद-लालित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। इन पदो का प्रचार केवल ब्रजमडल में ही सीमा बद्ध न था, किंतु गुजरात, मारवाड़ और बगाल के अनेको प्रांतो में वे पद बडे चाव से गाए जाते थे। इस प्रकार हम देखते है कि ब्रज-साहित्य के श्रृगार रस का क्षेत्र अत्यत विस्तृत होता गया। उपासकों और पुजारियो की दृष्टि पर ध्यान रख कर भक्त गण कविता रचते थे। अलाउद्दीन खिलजी ने गोपाल नायक का, अकबर ने तानसेन का, बैरम खां ने बाबा रामदास का और शाहजहाँ ने प० जगन्नाथ राय त्रिशूली का जो समान किया था वह किसी से छिपा नहीं है। कहना न होगा कि नर्तकियो-द्वारा उर्दू-गजलें-आदि गाने से प्रथम अब भी लोग ब्रजभाषा की मधुर रागिनी गाने का अनुरोध करते है। अस्तु, लौकिक और पारलौकिक दोनो दृष्टियो से संगीत ने ब्रजभाषा में श्रृगार-वृद्धि की है।

७ जिन संप्रदायो में श्री राधिका जी की भक्ति को प्रधानता दी गई, अथवा जिनमें स्त्री-वेश-द्वारा श्री कृष्ण की अनन्य प्रेमिका का भाव प्रदर्शित करने की प्रथा प्रचलित की गई, उनसे ब्रजभाषा के श्रृगार रस को बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। पहिली श्रेणी में हितहरिवंश का राधावल्लभी सप्रदाय मुख्य है और दूसरी में हरिदास का टट्टी संप्रदाय या सखी सप्रदाय। देव, विहारी, चाचा हित-वृंदावनदास, व्यास-आदि कविगण राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित थे। इसी प्रकार नागरीदास, आनद-घन, सहचरिशरण, भगवत रसिक—इत्यादि कविगण 'टट्टी सप्रदाय' के अनुयायी थे। जिस प्रकार राधिका जी की भक्ति में श्रृंगार रस की विशेषता स्वाभाविक थी, उसी प्रकार अपने में स्त्री रूप का आरोपण करने से स्त्री-सुलभ श्रृगार-प्रियता का भाव आना स्वत सिद्ध था। यही कारण है कि हित-

हरिवंश जी के अनेकों शृंगार-परिप्लुत रहस्यपूर्ण पदों को 'हित निकुंज' के गोसाईं जी प्रकाशित करने का साहस नहीं करते। निस्संदेह अनधिकारियों के हाथों में उन पदों की दुर्गति होने की ही संभावना है। पंडित या ज्ञानी, प्रेम-प्रीति के अधिकारी नहीं होते। सखी संप्रदाय के उपासकों को शिक्षित समुदाय ढोंगी कह सकता है, किंतु एक आलोचक की दृष्टि से हम यही कहेंगे कि उक्त मत के गोप्य रहस्यों तथा सिद्धान्तों को समझने वाले नियम-नियंत्रण से परे भुक्तभोगी ही हो सकते हैं। तभी तो भगवत रसिक ने लिखा है—

"भगवतरसिक रसिक की बातें, रसिक बिना कोऊ समझि सकै ना।"

❀

"तेरौ मुख चंद, चकोर री मेरे नैंना।
अरबरात मिलबे को निस-दिन, ऐसे मिलें मनो कबहुँ मिले ना।।
अति आरत अनुरागी लपट, भूल गई गति पल-हु लगै ना।
'भगवत रसिक' रसिक की बातें, बिना रसिक कोऊ समझि सकै ना।।"
—राग-टोडी

विरह-व्यथित 'आनंदघन' जी एक पग आगे बढ़ कर कहते हैं—

"जग की कबिताई के धोखें रहैं, ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी।
समझै कविता 'घनआँनद' की, हिय आँखिन नेह की पीर तकी।।"[1]

ब्रजभाषा के दिव्य तथा लौकिक शृंगार रस से साधारणतः निम्नांकित लाभ हुए हैं—

"साहित्य के प्रचार में शृंगार रस से बड़ी सहायता मिलती है। जनता ने शृंगारी रुचि होने के कारण ब्रजभाषा के शृंगारी साहित्य को अपना कर हिंदी के प्राचीन साहित्य को बड़ा उत्तेजन दिया है। यदि तत्कालीन प्रवाह के साथ ब्रजभाषा में शृंगार का महत्त्व न होता तो ब्रजभाषा को अन्य रसों-द्वारा कदाचित् उतना उत्तेजन न मिलता जितना कि मिला है। शृंगारी रचनाओं के कारण अनेकों कवियों को राजाश्रय मिला है। यह प्रलोभन कवियों की यथेष्ट वृद्धि में सहायक हुआ। मुसलमानों में ब्रज-साहित्य के पठन-पाठन की रुचि बढ़ गई। उनके हृदय में उसके प्रति आदर भाव हुआ। परोक्ष रीति से अनेकों के हृदय में भगवद्भक्ति का भी उदय हुआ।

शृंगाराधिक्य से निम्न लिखित हानियाँ संभूत हुई हैं। शृंगार वर्णन की प्रथा चल जाने से कवियों ने शृंगार रस को ही अपना मुख्य विषय बनाया। सूरदास जी के समय में अन्य लोकोपकारी विषयों की रचनाएँ प्रायः रुक सी गईं। वही पुराना पिष्ट-पेषण बहुत काल तक स्थायी बना रहा। अन्य रसों को लोगों ने भुला दिया।

शृंगारी साहित्य के प्रचार से धार्मिक शैथिल्य भी बढ़ चला। ब्रजभाषा के प्रारंभिक युग में वैष्णव-धर्म तथा मुसलमानी राज्यों से बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी। उस समय दिव्य शृंगार का काल था। कुछ कालांतर में मुसलमानी-आदर्श से प्रभावित हो ब्रजभाषा के शृंगारादि वर्णनों से जनता में कुविचार फैलने लगा। उस समय के युग का विपरीत प्रभाव आज भी उसी प्रकार स्थित है।

जिन कवियों ने राधाकृष्ण को अपने विषयायुक्त वर्णन की वस्तु बनाकर क्षुद्र शृंगार के रूप में चित्रित किया है उन्होंने समाज के प्रति अन्याय किया है। इसके कारण आर्य-समाजी-आदि मूर्ति-खंडक उन

[1] प्रेम सदाँ अति ऊँचौ लहै, सु कहै इहि भाँति कि बात छकी।
सुनिकैं सब के मन लालच-दौरि, पै बौरे लखें सब बुद्धि चकी।।
जग की कविताई के धोखें रहै ह्याँ प्रवीनन की मति जति जकी।
समझै कविता 'घनआँनद' की, हिय-आँखिन नेह की पीरतकी।।

पर दोष आरोपित कर उनके चरित्र को कलकित करने का दुस्साहस करते है। इसमें सदेह नही कि इसी दोष के कारण ब्रज-साहित्य के शुभ्र यश पर कुछ कालिमा लगी है।

शृगारी साहित्य के कारण जब अग्रेजी राज्य में रुचि पलटी तब ब्रजभाषा में शैथिल्य आने लगा। आधुनिक शिक्षित समाज ब्रज-साहित्य मात्र को अश्लील कह कर उसकी उपेक्षा करने लगा।

बालिकाओ को ब्रज-साहित्य का परिचय देने में सकोच होता है। यों तो सूरदास-आदि महात्माओ के भजन प्रचलित है ही, किंतु देव, बिहारी, मतिराम, केशव—आदि ब्रजभाषा के रसिकाग्रगण्यो की ललित रचनाओ का अवगाहन किये बिना ब्रज-साहित्य का रसास्वादन पूर्णत नही प्राप्त हो सकता, पर इन कवियो की कविताओ में ऐसे-ऐसे विचित्र शृगारी वर्णन आये है कि जिन्हें बालिकाओ के गुरु, पिता या भाई सकोच-वश उन्हे पढाने मे असमर्थ है। इसी से किसी अश तक स्त्री-शिक्षा पर बडा कुठाराघात हुआ है।

ब्रज-साहित्य के शृगार रस में एक अग की कुछ कमी है। शृगार में आध्यात्मिक भाव के मधुर सकेत कम है। कवियो ने रहस्य-पूर्ण लौकिक प्रेम का चित्रण प्राय नही किया, जिसका लक्ष्य कभी-कभी पारलौकिक प्रेम की ओर होता है। इस प्रेम में साधारण प्रेमी अथवा प्रेमिका में दिव्य गुणो का आरोप किया जाता है, 'इश्क मिजाजी' के द्वारा 'इश्क हकीकी' का लक्ष्य रहता है। आधुनिक 'छायावाद' अथवा 'रहस्यवाद'-पूर्ण कविताओ में उसी आदर्श की हमें झलक मिलती है। जिस लौकिक प्रेम मे सच्ची लगन या व्यथित हृदय की एक हूक उठती है, वही समय पाकर पारलौकिक प्रेम में परिणत हो सकता है। जफर ने यह भाव क्या अच्छा प्रकट किया है—

"न कुछ हम हँस के सीखे है, न कुछ हम रोके सीखे है।
जो कुछ थोडा सा सीखे है, किसी के होके सीखे है।।"

इसी पर वियोगी हरि लिखते है—

"जब तक तुम किसी के हो नहीं गये, तब तक बेखुदी का मीठा-मीठा मजा मिलने का नहीं।"

परतु ब्रज-साहित्य में 'आनदघन' को छोड कर किसी ने लौकिक प्रेम का रहस्यात्मक शृगार-पक्ष नही लिया है।

आधुनिक रुचि

आधुनिक युग मे ब्रज-साहित्य के शृगार रस को प्राय अग्रेजी पढे-लिखे सज्जन उपेक्षणीय समझते है। वे यह भूल जाते हैं कि जहाँ हमें अश्लील साहित्य दु ख पहुँचाता है, वही दिव्य शृगारी साहित्य से हमारा मन आनदोत्फुल्ल हो जाता है और फिर अश्लील साहित्य का तिरस्कार कविगण कैसे कर सकते थे, जब कि हम 'राजशेखर' को यह लिखते हुए देखते है—

"तदिव श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते।"

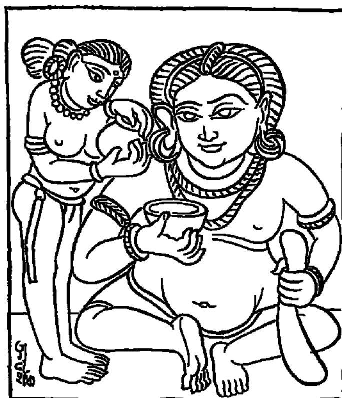
अर्थात् इस प्रकार का साहित्य जिसे हम अश्लील और असभ्य समझते है, श्रुतियो और शास्त्रो मे भी पाया जाता है।

इसकी कोई आवश्यकता नही कि हम नायक-नायिका-भेद जानें या नख-शिख पढें। हमें आवश्यकता है सूर और मीरा के हृदय वेधक पदो की, केशव और देव के उत्कृष्ट कवित्तो की, बिहारी, रहीम और वृ द के मत्र-फूकने वाले दोहो की। जहाँ हमें अश्लीलता का आभास मिले वहाँ काव्य-वैचित्र्य पर ही ध्यान देना चाहिए। यदि हम अपने विचारो को अच्छे प्रवाह मे बहायेंगे तो सुललित काव्य-प्रसून मिलेंगे, अन्यथा अवश्य ही कांटो में छिन्न-भिन्न होना पडेगा। जिनके विचार स्वभावत घृणित होते है, उन्हें पद-पद पर अश्लीलता ज्ञात होती है। इसके विपरीत सहृदयो को लौकिकता में भी दिव्यता का आनद प्राप्त हो सकता है। कवि के काव्य-कौशल, दूर दर्शिता और नैसर्गिक प्रवाह का आदर्श हमें ग्रहण करना चाहिए। जहाँ पर कवि

ने अश्लील वर्णन किया है, वहाँ पर हमे उस वर्णन के अगोपागो को देख उस विषय मे तल्लीन हो आसक्त होने की आवश्यकता नही, वरन् कवि की अनूठी उक्तियो की प्रशसा करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

कोई-कोई मन चले व्रज-साहित्य के श्रृगाराधिक्य को सामाजिक ह्रास का एक प्रधान कारण वतलाते है। खडी बोली वाले भी प्राय यह दोष व्रजभाषा पर आरोपित करते है। इस बात पर बडी हँसी आती है। यह लोग इस बात को भूल जाते है कि सामाजिक पतन का प्रधान कारण गदे उपन्यासो का प्रचार है, क्योकि उपन्यासो तथा रसीली कहानियो के रसिक आपको लाखो मिलेगे, व्रज-साहित्य के पढने और समझने वाले एक प्रति सैकडा भी न होगे। पात्रापात्र का विचार कर श्रृगारी-साहित्य का पठन-पाठन उचित है। बालक, ब्रह्मचारी, योगी, यती को श्रृगारी-साहित्य पढाने की आवश्यकता नही, परिपक्व विचार वाले पुरुषो को ही साहित्य-रसास्वादन के निमित्त उसमें योग देना चाहिए।

समयानुसार कवियो की रुचि मे परिवर्त्तन होना है। व्रज-साहित्य के कवियो ने अपने मनो-रजनार्थ तथा सामाजिक सुरुचि के अनुसार श्रृगार रस का विशेष परिपोषण किया। समाज को उन्नत अथवा अवनत करने की दृष्टि से उन्होने सामयिक काव्य नही रचे थे। उनका मुख्य तात्पर्य मनोरजन था। उसी साहित्य में व्रजभाषा के रत्न भरे पडे है। विहारी की सतसई, प्रेम-चन्द्रिका, ललित-ललाम, सुजान-सागर-आदि काव्य अगूठी पर नगीने से जडे है। इनमे ओज, प्रसाद, रचना चातुर्य, भाव गाभीर्य-आदि लोकोत्तर साहित्यिक चमत्कारो का समावेश हुआ है। अन्त मे हम अपने पाठको से यही कहेगे कि वे नीर-क्षीर विवेकी वनकर दिव्य और लौकिक साहित्य का विश्लेषण कर उसके उत्तम रत्नो का जौहर परखे।



गोस्वामी तुलसीदास : श्री कृष्ण-गीतावली

राग-बिलावल

माता, उछंग गोविंद-लै मुख बार-बार निरखै।
पुलकित तन आँनदघन, छिन-छिन मन-हरखै॥
पूँछत तुतरात बात, मात-हिं जदुराई।
अतिसै सुख कामें तोहिं, मोहिं कहौ माई॥
देखत तव बदँन-कँमल, मन-अनंद होई।
कहै कोन, रसनाँ मोंन, जानें कोइ-कोई॥
सुदर मुख नित दिखाउ, इच्छा यै मोरें।
मम सँमान पुन्न-पुंज, नाहीं कोहु औरे॥
'तुलसी'-प्रभु प्रेंम-बिबस, मनुज-रूप-धारी।
बाल-केलि-लीला-रस, ब्रज जन-हितकारी॥

राग-आसावरी

तोहि स्याँम की सोंह जसोधा, आइ देखि घर मेरे।
कैसौ हाल करचौ तो ढोठा, छोटे, निपट अनरे॥
गोरस-हाँन सह्यो, न कह्यों कछु, या ब्रज-बास-बसेरे।
दिन-दिन बासँन कोन बिसाहै, घर निधि काहू केरे॥
किएँ तिहारे हँसत, खिझत, नहिं डाटत नैंन-तरेरे।
अब-ही तें ए सीखे काथो चरित, ललित सुत तेरे॥
बैठ्यौ सकुचि साधु भयौ चाँहत, मात-बदन-तन हेरे।
'तुलसीदास'-प्रभु, कह्यो वे बातें, जो कहि भजे सबेरे॥

मोको, झूंठें-हीं दोष लगावत।
मैया, इन्हें बाँन पर-घर की, नाना जुगत बनावत॥
इनके लिएँ खेलिबौ छाँड्यौ, तऊ न उबरँन पावत।
भाजन-फोर, बिथोर सु गोरस, दैंन उराहनौ आवत॥
कबहूँ बाल-रुआइ, पाँनि-गहि, मिस-मिस करि उठि धावत।
करें आप, सिर-धरत आँन के, बचन-बिरंचि-हरावत॥
मेरी टेउ बूझि हलधर सो, संतत संग खिलावत।
जे अन्याइ करत काहू कौ, ते सिसु मोंहिं न भावत॥
सुनि-सुनि बचन-चातुरी ग्वालिनि, हँसि-हँसि बदन दुरावत।
बाल गुपाल-केलि-कल-कीरत, 'तुलसिदास' मुनि गावत॥

कबहू न जात पराए धाँम-हिं।
खेलति-ही देखों निज आँगन, सदाँ सहित-बलराँम-हिं॥
मेरे कहा टोट गोरस कौ, नव-निधि-मंदिर जाँम-हिं।
ठालीं ग्वारि उराहने के मिस, आइ बकें बेकाँम-हिं॥
हो बलि जाँउ जाहु कितहूँ जिन, मात सिखावत स्याँम-हिं।
बिन कारँन हठि दोष लगावत, तात गएँ गृह ताँम-हिं॥
हरि-मुख निरखि, पुरुष-बाँनी सुनि, अधिक-अधिक अभिराँम-हिं।
'तुलसिदास'-प्रभु देख्यौ-ही चाँहैं, श्रीउर ललित ललाँम-हिं॥

स्वामी हरिदास जी की वाणी

श्री गोपालदत्त

नित्य वृंदावन की निकुंज-केलि के माधुर्य का वर्णन तो बहुतो ने किया, परंतु उसका आस्वादन केवल रसिक शिरोमणि स्वामी 'हरिदास' जी ने ही किया। अनन्य रसिकता के बाँके पथ से चलकर वे उस भाव-भूमि में अवतीर्ण हो चुके थे जहाँ उनकी स्वामिनी श्यामा और स्वामी कुंजविहारी का हँसना, खेलना, बोलना, मिलना, परस्पर बीरी खाना और खिलाना तथा दामिनी और घन की मिथ क्रीडा जैसा सुरत का दान और प्रतिदान हरिदास जी के नयनो के आगे नाचता था। अर्ध निशा है, श्यामा और श्याम का अंत-रंगातरंग दरबार लगा है, सखियाँ तार, रबाव, अघौटी, बीन और मृदंग बजा रही है, श्रुतियाँ 'घुरि' रही है, राग केदारा तो सशरीर उपस्थित है और निकुंज-केलि में सहचरी रूप ललितावतार स्वामी श्री हरिदास अपने दिव्यातम्चक्षुओ से बहु-भाँति के उस परम सुख को 'रोर' रहे है—

राग-केदारौ

"हँसत, खेलत, बोलत, मिलत देखो मेरी आँखिन सुख।
बीरी परसपर लेत-खवावत, ज्यो दामिनी घन-चमचमात सोभा बहु भाँतिन सुख॥
स्रुति घुरि राग केदारौ जम्यौ अध-रात निसा रोरौं सुख।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी के गावत, सुर देत भोर भयौ परम सुख॥"[1]

[1], स्वामी हरिदास जी के केवल १२६ ध्रुपद मिलते हैं, जिनमें से १८ उपदेशात्मक हैं, जो 'सिद्धांत के पद' कहे जाते हैं। शेष १०८ (किसी-किसी के अनुसार ११०) श्री राधाकृष्ण के निकुंज-विहार के वर्णन विषयक हैं, जिनका सग्रह 'श्रीकेलि-माल' नाम से अभिहित होता है।

स्वामी हरिदास जी के पदो को 'पद' न कह कर 'ध्रुपद' कहना अधिक युक्ति-युक्त है। इनकी लंबी शब्द-योजना और यति के विलक्षण प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि ये पढने के लिये नहीं, केवल (ध्रुपद) गाने के लिये ही लिखे गये है। ध्रुपद के गायन में बिना दुबारा श्वास लिये जैसा लंबा स्वर का साधन करना पड़ता है, उसके अनुकूल शब्द-योजना के लिये लंबी-लंबी पंक्तियाँ ही अधिक उपयुक्त होती है। इनका प्रत्येक ध्रुपद—अस्थायी, अंतरा, सचारी और आभोग नामक ध्रुपद-संगीत के शास्त्रीय विभागानुसार चार खंडो में बँटा रहता है। ध्रुपद की चारो पंक्तियो में समान वर्ण योजना की कोई आवश्यकता नहीं रहती और न पढने के लय-सौकर्य्य का ही ध्यान रखा जाता है। वर्ण-योजना का एकमात्र आधार यही होता है कि वर्णों की लय ध्रुपद की ताल पर ठीक बैठे। यही कारण है कि स्वामी जी के पद जो यो ही पढ़ने में कुछ अटपटे-से लगते है, वे किसी ध्रुपद के गायक के मुख से सुनने में अद्भुत शक्ति और प्रवाह से भरे ज्ञात होते है। साधा-रण पाठक को इनकी गमक और नाद-सौंदर्य का यत्किंचित् आभास भी तभी हो सकता है जब इन्हें ध्रुपद की लय में पढा जाय। इन छंदो की इस विलक्षणता के कारण ही इनके प्रति, 'पद' शब्द का प्रयोग न कर 'ध्रुपद' शब्द का प्रयोग किया है। इन छंदो के लिये 'ध्रुपद' शब्द का प्रयोग पहले से भी विविक्त रूप से होता आया है। प्रमाण के लिये विभिन्न छंदो के अलग-अलग अधिकारी कवियो का नाम-ग्राहक यह कवित्त देखिये—

"चंदजू कौ छंद, छप्पै नाभा औ बैतालजू की, केसौ कौ कवित्त, दोहा विहारी के गाँस कौ।
वल्लभरसिकजू की माँझ, गिरधर कवि कुंडलिया, वाजिद की अरिल जो अतिसै प्रकाश कौ।
रसरास रेखता औ बात बीरबलजू की, तुलसी की चौपई असलोक वेदव्यास कौ।
भनत 'गुपाल' ए जहाँन बीच जाहिर है, सूर कौ पद औ धुरपद हरिदास कौ।"

यही परमसुख स्वामी जी का परम काव्य है, उनके लोक-परलोक की इयत्ता है। अनन्य रसिक की कामना है कि इस अखिल विश्व ब्रह्माड में न किसी और को देखूँ, न किसी और को जानूँ, न कहीं और जाऊँ और न किसी और से अनुराग करूँ, अहर्निश नेत्रो की वृत्ति युगल-स्वरूप में लगी रहे। प्यारे की भाँवती लाडिलीजू और भाँवती के प्यारे लालजू बस इन्ही दो से जान-पहचान हो। एकतान वृत्ति से 'श्रीवन' का सेवन करूँ, किसी भी परिस्थिति में यहाँ से इधर-उधर हटना न पड़े। नेत्र, बुद्धि और मन का यावत् दृश्य ज्ञेय और प्रेय है, उस सब को छेंक कर श्यामा और कुजविहारी की वही कुज-क्रीडासक्त बाँकी-झाँकी जब निरतर आँखो में झूलती रहे तभी तो जीवन-ग्रहण का चरम साफल्य है—

राग-कान्हरौ

"ऐसें-हीं देखत रहौ जनम सुफल करि मानौ।
प्यारे की भाँवती, भाँवती के प्यारे, जुगल-किसोरै जानौ॥
छिन न टरौ, पल न होंउ इति-उत, रहौ एक तानौ।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, मन-रानौ॥"

इस अनन्य प्रेमाभक्ति के दिव्य आलवन युगलकिशोर स्वय सहज-स्वरूप है। अनादिकाल से उनकी निकुज-केलि इसी भाँति चलती आई है और अनत काल तक इसी भाँति चलती रहेगी। भूत, वर्तमान और भविष्य में यह जोडी ही तो एकमात्र अपरिवर्त्तनीय है। सदा वही घन-दामिनी से उज्ज्वल वर्ण, वही सुघराई, वही सुदरता और वही किशोर वयस! हरिदास जी जैसे किसी बिरले साधक के सम्मुख ही यह चिरतन ज्योति-पुज सहज-युगल आविर्भूत होता है—

राग-कान्हरौ

"माई, सहज जोरी प्रगट भई, रंग की गौर-स्याँम घन-दाँमिनी जैसें।
प्रथम हूँ हुती, अबहूँ, आगे हूँ रहि है, न टरि है तैसें॥
अंग अंग की उजराई, सुघराई, सुंदरता ऐसें।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा कुंजबिहारी सम-बैस वैसें॥"

श्यामा-श्याम के अगणित लीला-विलास स्वामी जी के नेत्रो के आगे किसी अनत चलचित्र के बदलते हुए दृश्यो की भाँति निरतर आते चले जाते है। प्रत्येक ऋतु की अलग-अलग लीलाएँ हैं और प्रत्येक प्रहर का अलग-अलग खेल। शरदृतु का पूर्ण चद्र आकाश मे उदित है। त्रिविध पवन बह रहा है। वृदावन की कुज-कुज फूलो से महक रही है। ऐसे अनुकूल समय में किशोरी और किशोर रासमडल में नृत्य कर रहे है। सखियाँ बीन, तार, अघौटी, झिरनाँ, किन्नरी, चग, उपग, रबाब, हुरुक, बैंनु, बाँसुरी, भेरि, महुवरि, सहनाई (सहदान), राइ गिरगिरी, रुज, मृदग, पखावज, आवज, ढोल, ढोलकी, निसान, दुदुभी, डफ, ढफिया, मुरज, झाँझ-आदि वाद्य बजा रही है। समय-समय पर ध्रुपद की आचार्या ललिता सखी विचित्र वाणी मे गायन कर सिद्ध राग-रागिनियो के यूथ के यूथ साकार उपस्थित कर देती है। नृत्य के अनुकूल राइ, उपग, चर्चरी, झपताल, ध्रुवा, चद्रागति की तालो का बधान बँध रहा है, मृदग की तत्तथेई, तत्तथेई, थुंग, थुंग, धन्ननना, तन्ननना, तक्-तक् थुंग-ध्वनि पर युगलकिशोर के श्रीचरण सहज गति से उठते चले जा रहे है। कभी लाडलीजू देसी मे नाचती है तो लालजू त्रिभगी-युत सुधग में। ताडव, लास्य-आदि अगणित नृत्य-भेद प्रकट हो रहे हैं। उरप, तिरप, सुलप, सुघर, औघर गति के मानों की लागडाट, इक गुन, दुगुन, तिगुन, चतुरागुन होकर बढ रही है। युगल नर्त्तको के नृत्यानुकूल अभिनय में हस्तक-भेद, मस्तक-भेद, नेत्र-भेद, भ्रू-भेद और ग्रीवा-भेद के अगणित प्रकारो का सम बँधा है। इस महा रास के अलौकिक स्वरूप का दर्शन कर यमुना स्तब्ध हो अपनी गति भूल गई। कामदेव इस छवि पर तृण तोडता है। देव-गण पुष्प बरसाते हैं। इस अलौकिक रस का वर्णन करने में किसकी रसना समर्थ हो सकती है—

राग-कैदारौ

"अद्‌भुत गति, उपजत अति नृत्तत दोऊ मडल कुँवर-किसोरी ।
सकल सुधग अग-अंग भरि भोरी पीय नृत्तत मुसकँन मुखमोरी, परिरंभन रस रोरी ।।
ताल धरैं बनिता मृदग चंद्रागति घात बजै थोरी-थोरी ।
समैं पाइ भाषा विचित्र ललिता गायन चित-चोरी ।।
श्री बृंदावन फूलन फूल्यौ, पूरन ससि, त्रिविध पवन बहै थोरी-थोरी ।
गति विलास रस हास परसपर भूतल अदभुत जोरी ।।
जमुना-जल थिथकित पुहुपनि बरषा, रति-पति डारत तृन तोरी ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुज विहारोजू कौ रस, रसना कहै को री ।।"

शीत ऋतु आ गई है। भीनी-भीनी ठड पडने लगी है। रात हो आई, परतु राधाजू मान किये वैठी है, शयन नही करती। तब प्यारेजू अनुनय करते है—'बाली चुनरी मे तो जाडा लगता होगा। अब सुखतल्प पर चलिये। आप तो घडी-घडी मे रूसती है और हर बार मनाने मे एक-एक पहर बीत जाता है। रात तो यो ही निकल जायगी। उठिये, मै सदके जाऊँ, बलैया लूँ, ऐसी प्रकृति तो न होनी चाहिए। प्रेमियो का व्यवहार तो कामदेव ही निर्धारित किया करता है—

राग-विभास

"चूनरी में जाडौ लागत ह्वै है री, कीजिऐ सुख सैंन ।
घरी-घरी के रूसने पहर मनावत जात भीठें बैंन ।।
उठि सबकै बलाइ लोइ प्रकृति यो न चाहिऐ, धाइऐ ज्यो मैंन ।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजविहारी गहि, लपटाइ रहे माँन सबै सुख चैंन ।।"

श्रीवन में वसत का पदार्पण हुआ। रसिक विहारी और विहारिनि का रति-चोज नित नूतन बढने लगा। अब तो लाल को सखियो की उपस्थिति का व्यवधान भी नही सुहाता। कहते हैं—'चलो जी, उस निभृत निकुज में वसत खेलें जहाँ सखी तो क्या कोई पछी तक न पहुँचे। वहाँ दोनो जने एक दूसरे के मुख पर 'बूका' छिरकेंगे।' फिर बडे चाव से बोले—'अब के वसत का खेल न्यारे ही रह कर खेलना है। यह निश्चय कर लिया है कि तुम्हारे अतिरिक्त और किसी के साथ वसत खेलेंगे ही नही। दुचित्ते रहने में कुछ मजा नही आता। तुम्हें हमारी सौगध, तुम भी इन दिनो किसी सखी से मत मिलो, फिर देखो राग-रागिनियो का क्या रग जमता है'—

राग-वसत

"चलि री, भीर ते न्यारे खेलें। कुज निकुज मजु में झेलें ।।
तहाँ पछिन सहित सखी न सग कोऊ, तिहि बन चलि मिलि खेलें।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा, प्रेम परसपर बूका बंदन मेलें।।"

राग-वसत

"अब कें वसत न्यारेई खेलें, काहू सो न मिलि खेलें री तेरी सो ।
दुचिते होत कछू न सचु पाइऐं, तू काहू सखी सो न मिलि मेरी सो ।।
देखैंगी जु रंग उपजैंगो परसपर, राग-रागिनीन के फेरा फेरी सो ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुजबिहारी, राग ही में रँग रहे एरी सो ।।"

निकुज-भवन में 'होरी' हो रही है। सखियाँ गोल बाँधे ढफ-तार वजाती, होरी गाती, प्यारे और प्यारीजू को होरी खिला रही है। बीच-बीच मे 'हो-हो-होरी' की उच्च ध्वनि गूँज उठती है। दोनो ही 'हरिहार' बडे सुकुमार है। श्रम-कणो ने वैसे ही अग में अरगजा की कीच मचा रखी है, उस पर जवाद, कपूर, कस्तूरी छिडके जा रहे है। अबीर उड रहा है। कुमकुमा और बूका ताक-ताक कर चलाये

जा रहे है। बातो ही बातो के विनोद से अनुराग बढ रहा है। युगल किशोर निकुज की निभृति वीथियो की ओर दौड-दौड जाते है। होरी खेलते मे दोनो जो परस्पर भिड गये तो क्या छवि बनी है, मानो श्याम तमाल से कचन की तन्वगी लता उलझ रही हो—

राग-कान्हरौ

"बिन डफ-तार बजावत, गावत, भरत परसपर छिन-छिन होरी।
अति सुकमार बदन स्रम बरसत, भले मिले रसिक किसोर-किसोरी ॥
बातन बत-बतात राग-रंग रमि रह्यौ, इत-उत चाइ चलत तकि खोरी।
सुनि 'हरिदास' तमाल स्याँम सो, लता लपटि कचन की थोरी ॥"

सखियो की भीड से दूर जब लाडली और लाल एकात निकुज में प्रविष्ट हो गये तो सखियाँ भटकने लगी। कुछ दिन तो यो ही वीते फिर उनमें से एक बोली—'चलो री चलो, कुज-भवन में चलें। रसिक विहारी को 'चैंत' भी दे आवेंगे और उनकी 'भाँवती' के दर्शन भी कर आवेंगे।' ढूंढती-ढूँढती अचानक उसी ठौर आ निकली, जहाँ स्यामा-स्याम विराजे थे तो क्या देखती हैं कि स्यामाजू स्याम से पैर चँपा रही है। सच्चिदानदघन जिनके पाँव दवाएँ उन नवल किशोरी की महिमा का क्या कहना—

रागिनी-गौरी

"चलौ सखी, कुज-विहारी सों मिलि चैत दै, देखें हम उनकी भाँवती।
सुदर सो सुदरि मिलि खेलत, कैसें धो गावती ॥
औचक आइ परीं सखी तहाँ, जहाँ पिय पै पाँइ चपावती।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा सो मिलि पौढी, तन-मन रावती ॥"

ग्रीष्म ऋतु मे कभी राधिकाजी ग्राम की अन्य गोपियो के साथ यमुना-स्नान को गईं। नटनागर भी उधर आ निकले। अपरिचित स्त्रियो को देख सीधे राधा से बात न कर सके, परतु मिलने की आतुरता उत्कट थी। कुछ न बना तो गोपियो से राधा का नाम-पता ही पूछने लगे। राधिकाजी बोली—सखियो, तुम चुप रहो, मैं ही उत्तर देती हूँ—ललन, तुम यहाँ से चले जाओ। यह गाँव बाय से बावला हो रहा है। न जाने क्या-क्या अपवाद लगावेगा।' सखियाँ तो 'छिरका' खेलने लगी। राधा ने कहा—'तुम सब ठहरना, तब तक मैं स्नान कर लू।' जल में डुबकी जो ली तो उधर कृष्ण भी डुबकी लेकर गले से आ लगे। अब तो बडे असमजस में पड गईं लाडली जू—

राग-विभास

"कहौं मैं काकी बेटी, कहौं धो कहा है कुवरि कौ नाँउ।
तुम सब रहौ री, हो ही उत्तर देहो, चले किनि जाउ ढोटा, बाइ-बावरौ गाँउ ॥
सब सखि मिलि छिरका खेलन लागीं, तौलो तुम रहौ री, जौलो हौं न्हाँउ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुजबिहारी, लै डुबकी गरें लागे, चौकि परी कहाँ हौं जाँउ ॥"

श्रीवन में हिंडोला पड गया। 'विहारी-विहारिनि' डोल झूल रहे हैं। सखियाँ वाद्य बजा रही है—गा रही हैं, कोई-कोई अरगजा छिडक रही है। क्रीडा के कौतुक में स्यामा और स्याम ने डोल की डडियाँ हाथो से छोड दी और बढ-बढ कर 'झोटा' लेते गए। आश्चर्य है उनके पैर कैसे जमे रहे। नागरी और नागर दोनो ही झूलने में बडे निपुण हैं। उनके खेल को भला कोई पा सकता है।

राग-कल्याण

"डोल झूलत बिहारी विहारिनि, राग रमि रह्यौ।
काहू के हाथ अघौटी, काहू के बीन, काहू के मृदंग, कोऊ गहें तार, काहू के अरगजा छिरकत रग रह्यौ ॥
डाँडी छाँडें खेल बढचौ जो परसपर, नाहीं जानियत पग क्यों रह्यौ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुजबिहारी को खेल खेलत काहू ना लह्यौ ॥"

सखी रूप से स्वामी हरिदास जी प्रत्येक क्रीडा में युगल किशोर की सेवा को उपस्थित रहते हैं। कैसा अद्‌भुत सौभाग्य है। 'डोल-झूलने' के अवसर पर कभी श्याम स्वामिनीजू पर अबीर छिड़कते हैं तो कभी स्वामिनीजू श्याम पर, किंतु हरिदासजी दोनो पर समान रूप से अबीर छिड़क-छिड़क कर जीवन का सार प्राप्त कर रहे हैं। युगल सरकार की खवासी का यह अधिकार तो महामुनियो को भी नही मिलता —

राग-विभास

"डोल झूलत एक समें इकात बन में कुंजबिहारी ।
झोटा देत परसपर सब मिलि, अबीर उड़ावत डारी ।।
कबहूँक वे उनके वे उनके, हो दुहुन के झक सारी ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा कुंजबिहारी, रह्यौ रंग भारी ।।"

वर्षाकाल में घटाएँ उमड-घुमड कर घिर आईं। बादल की गरज सुन वनात में मोर नाच उठे। उधर नटवरलाल का नृत्य भी प्रारंभ हुआ। दोनो ही नाचने में एक से एक चतुर। मोरो में और श्याम में होड बद गई। श्याम बोले—'देखें, किसका रग जमता है। बढ-बढ कर गति लेते जाओ। हमारे-तुम्हारे बीच राधाजी मध्यस्थ है और किसीसे न्याय कराना चाहो तो उससे करा लो।' फिर क्या था! दुगुन, तिगुन, चतुरागुन की चालें चलने लगी—

राग-विभास

"होड़ परी मोरन्ह और स्याँमै ।
आवहु मिलहु मधि सच की गति लेंहि, रंग धो कांमैं ।।
हमारे तुम्हारे मध्यस्थ, राधे, और जाहि बदौ बूझि देखौ तिह्न दै कहा हैं याँमैं ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी कौ चौपरि कौ सौ खेल, इक गुन, दुगुन, तिगुन, चतुरागुन री जाके नाँमैं ।।"

अलौकिक नृत्य-समाज जुडा है। श्याम मोरो के सग नाच रहे हैं। कोकिला अलाप ले रही है। पपीहा सुर भरता है। मेघ मृदग बजाता है। दामिनि दीप दिखा रही है। सारी प्रकृति ही नटवर किशोर के नृत्त-विलास में सहयोग दे रही है। कृष्ण ने अपनी कला से राधेजू को मुग्ध कर लिया और स्वामिनीजू ने उन्हें कृपाकर आलिगन का पुरस्कार दिया—

राग-मलार

"नाँचत मोरँन-संग स्याँम मुदित स्याँमा रिझावत ।
तैसीऐ कोकिला अलापत, पपीहा देत सुर, तैसौई मेघ गरजि मृदंग-बजावत ।।
तैसीऐ स्याँम घटा निसि कारी, तैसीऐ दाँमिनी कौंधि दीप-दिखावत ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा-कुंजबिहारी, रीझि राधे हँसि कंठ लगावत ।।"

घटा घहरा आईं। बूंदें गिरने लगी। नन्ही-नन्ही बूदो की फुहार बडी भली लग रही है। युगल किशोर का भवन में जाने को मन नही करता। रसिकवर बोले—'अपने श्रीअग की चुनरी मुझे दे दीजिए। कही भीग न जाय और फिर अपने वक्षस्थल में आपको ऐसा छुपा लूगा जो बौछार की फुहिएँ भी न लगेंगी। बिजली कौध रही है। अब 'हाँ' कीजिए, यह 'हूँ' करने का अवसर नही—

राग-मलार

"बूंदें सुहावनी री लागत, मति भींजै तेरी चूनरी ।
मोंहि दै उतार धरि राखो बगल में सों तूनरी ।।
लगि लपटाइ रहे छाती सो छाती, जो न आवै तोहि बौछार की फूनरी ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी कहत, बीजुरी कौंधें करि हाँ कि हूँ न री ।।"

उधर बौछारे आई और इधर रस बरसने लगा—

राग-मलार

"भींजन लागे री, दोऊ जन,
अँचरा की ओट करत दोऊ जन ।।
अति उनमत्त रहत निसि-बासर, राग ही के रंग रँगे दोऊ जन।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, प्रेम परसपर नृत्य करत दोऊ जन।।"

कविजन, सावधान ! कही श्यामा-श्याम के इस नृत्त-विहार को दामिनी और मेघ की परस्पर क्रीडा की उपमा न दे बैठना, वरना झूठे बनोगे। युगलकिशोर की केलि को देख दामिनी मेघ से कहती है, 'जिन्होने इन दोनो की उपमा हम से दी वे बडे अनजान थे। सच्चे मेघ तो घनश्याम है और सच्ची विद्युल्लता श्यामाजू। भला कभी किसी ने सुना है कि कण बूद से वडा होता है या बूद समुद्र से श्रेष्ठ है। अटल-प्रीति के मचैया इन कन्हैया और किशोरी के देह-सौंदर्य के आगे हम जड लोगो की भला क्या गिनती—

राग-मलार

"दामिनि कहत मेघ सो हमारी उपमा देहिं ते झूंठे, एई मेघ, एई बीजुरी साँची।
जिन-जिन हमारी उपमा दींन्ही, तिन-तिन की मति काँची ।।
ऐसी कहूँ सुनीं जु बूंद तें कन न्यारौ, ता पटतर क्यो दीजै समुद्र रांची।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुजबिहारी, अटल प्रीति माँची।।"

मालूम होता है कि स्वामी हरिदास जी को श्रीवन (निधिवन) की वर्षाऋतु अन्य सब ऋतुओ से प्यारी लगती है। चारो ओर मोरो की कुहकन, मेघ की गर्जन, वृंदावन के लता-वृक्षो की शोभा, इंद्र-धनुष की छटा, हरी-हरी भूमि, उसपर लाल-लाल वीर बहूटियो का रेगना—क्या ही अद्भुत दृश्य है! वे कामना करते है कि ऐसी ऋतु तो सदा सर्वदा बनी रहे। इसी ऋतु में तो बिहारी और बिहारिनि का रति-रग दिन दूना वृद्धि पाता है। यही तो उनके मिल कर मलार गाने का समय है—

राग-मलार

"ऐसी रितु सदाँ सरवदा जो रहै बोलति मोरनि ।
नींके बादर, नींको धनुष चहूँ दिसि, नींकौ श्रीवृंदावन आछी नींकी मेघनि की घोरनि।।
आछी नींकी भूमि हरी-हरी, आछी नींकी बूढ़िनि की रेंगनि, काम की रोरनि।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुजबिहारी के मिल गावत, जम्यौ राग मलार किसोर-किसोरनि ।।"

प्रियाजू की एक-एक झाँकी, उनके श्रीअग की एक-एक झलक निराली है। प्यारे श्यामसुदर के लोचन भ्रमर उस रूप-मकरद का पान करते कभी अघाते ही नही। लाडलीजू सोधे से स्नान कर फुलवारी में बैठी अलकें सुखा रही है—वे अपनी कोमल चपकली सी अँगुलियो से बिखरी लटो को 'सुरझा' रही है। मसृण, चिक्कण, श्यामल सटकारे, केशो में उलझे उनके ज्योतिष्मत् नख जब चमकते है तो ऐसी शोभा होती है मानो नव-घन से तारागण झाँक रहे हो—

रागिनी-गौरी

"सोधें न्हाइ बैठी पैहैरि पट सुंदर, जहाँ फुलवारी तहाँ सुखवत अलकें।
कर-नख-सोभा कल केस सँम्हारत, माँनो नवघन में उड़गन झलकें।।
बिबिध सिंगार लिऐं आगें ठाड़ी प्रियसखी, भयौ भवआँनि रति-पति-दल-दलकें।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी की छबि निरखत लागत नाहीं पलकें।"

काम-कला-कोविद नवल नटनागर प्यारी को लाड लडाने में सदा व्यस्त रहते हैं। उन्हें रिझाने का कोई भी अवसर वे हाथ से नही जाने देते। चाटु वचनो में बडे चतुर है। प्यारीजू को स्नान किये बैठे देखा तो बोले—आपकी वेणी मै ही गूथूँगा। इस कला में मेरी 'रीस' (होड—बराबरी) कोई नही कर सकता। सिर पर ऐसी 'सिलसिली पाटी' डालूं, अलको के बीच-बीच में चपकली और स्वर्ण

यूथिका गुह कर, डोरी और चंद्रिका बाँध, रोरी और सिंदूर की 'पनारी' निकाल, सुदर 'चुटिला' देकर वह सुढार वेणी गूँथूँ जो आपकी सूक्ष्म कटि के मणिमजीर-युक्त प्रदेश में 'रुरकती' डोले—

राग-सारंग

"बेंनी गूँथ कहा कोउ जानें, मेरी-सी तेरी सो ।
बिच-बिच फूल सेत, पित, रातें, और को करि सकै एरी सो ।।
बैठे रसिक सँम्हारन वारन, कोमल कर ककही सो ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, नख-सिख लो-वनाइ दे काजर नख ही सों ।।"

इधर प्यारीजू की वेनी गुँथ रही है, उधर सखियो ने अग-अग के प्रसाधन और वस्त्राभूषण सामने ला रखे । अनेक प्रकार के 'वागे' हैं—"नील निचोल, मुखसारी, लाही-अँगिया, अतलस का लाल अनरौटा, नारी कुजर का सिलसिला लहँगा, सार की उढेनी, झूमक सारी, श्याम-कचुकी, चूनरी । हाथो के नखो को मेहदी, पाँव के तलुओ को कुकुम, चरण नखो को महावर । पाँवो को मृगमद ।" आभूषण तो अनगिनती हैं—"सिर के लिए टिपारी, हँसिखड, चुग, चँदिवा, वेणी को चुटिला और चद्रिका, माथे को तिलक, कठ को जगाली पोत की दुलरी, लाल पाट की चौकी, लटकन, मखतूली पोत, कठसिरी, हीरक-हार, गजमोतिन के गजरे और कनक-कमल की दो कली , कानो को खुभी (खुहनी), खुटिला, झुलमुली, तरकुली, वीरे, श्रवण-फूल, कुडल और मणि के ताटक, 'सुवासारी' नाक को नकफूल, गजमुक्ता, लटकन और नकवेसर , हाथो को चार-चार सादा चुरी, एक-एक कंकण, वलय, खमक, मखतूली, पहुँची, बाँहो को चौपहलू नवैया और अँगुलियो को नगजरी मुँदरी , कटि को किंकिनी, तिरनी, मनि-मजीर और चद्राक तथा दोनो चरणो को इकसार चौवारी (चौपहलू) चूरा, घूंघरू और नूपुर ।" सोलह शृगार कर वनी-ठनी स्वामिनीजू जब सुख-सिंहासन पर बैठी तो श्री बिहारी लाल अति आधीन आतुर हो लटपटाने लगे —

राग-कान्हरौ

"जोवन-रंग रँगीली सोने-से गात, ढरारे नैंना, कंठ पोत मखतूली ।
अंग-अंग अनंग झलकत, सोहत काननि बीरें सोभा देत, देखत ही बनें जोन्ह में जोन्ह-सी फूली ।।
तन सुखसारी, लाही अँगिया, अतलस अतरौटा, छबि चार-चार चूरी—
पहुँचिन पहुँची खमकि बनी, नकफूल जेब, मुखबीरा चौका कोंधें संभ्रम भूली ।
ऐसी नित्य विहारिन श्री विहारीलाल संग, अति आधीन आतुर—
लटपटात ज्यों तरु तमाल कुंज-द्वार 'श्री हरिदासी' जोरी सुरत-हिंडोरें झूली ।।"

सुरतात में उन्ही प्यारीजू की अल्पाभरण छवि लालजू के मन को और भी मोह लेती है । सौदर्य की अधिष्ठात्री स्वामिनीजू के श्रीअग की अलकरण तो अनुहार भी नही करते—

राग-कान्हरौ

"द्वै-लर मोतिन की, एक पुजा पोत कौ सादा, नैंनन दृष्टि लागौ जिनि मेरी ।
हाथॅन चारि-चारि चूरी, पाँयन इकसार चूरा चौपहलू, इकटक रहे हरि हेरी ।।
एक मरगजी सारी, तन ते कंचुकी न्यारी, अरु अँचरा की बाँई गति मोरि उरसन फेरी ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, या रस-बस भए हरें-हरे सरकन नेरी ।।"

श्री राधिका जी का सौदर्य क्षण-क्षण मे नवीनता प्राप्त करता है, पल-पल में दूना होता हैं । कवि तो चकित है कि यह क्या बात है, ऐसा सौंदर्य तो त्रिभुवन में और त्रिकाल में कही न होगा—

राग-कल्यान

"यह कोन बात जु अबहिं और, अबहिं और, अबहिं औरे ।
देव-नारि, नाग-नारि, औरो नारि, ते न होंहि और की औरे ।।
पाछें न सुनी ऐसी, अबहूँ, आगे हूँ न ह्वै हैं, यै गति रूप की अदभुत और की औरें ।
'श्री हरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, या रस ही बस भए यह भई और की औरें ।।"

श्री निकुजविहारी स्वामिनी जी के पूर्णत आधीन है। वे ही तो उनके प्राणो की रक्षा करने वाली है। सदा उनके यश का बखान करने में लगे रहते है, फिर भी पार नही पाते। राधिका जी के गुण भी तो ऐसे है जिन्हे गाने बैठो तो बात मे से बात निकले। एक जिह्वा भला उनका क्या पार पायेगी—

राग-केदारौ

"रोम-रोंम जो रसना होती, तौऊ तेरे गुन न बखाने जात।
कहा कहो एक जीभ सखी री, बात की बात बात॥
भाँनु स्रमित और ससि हू स्रमित, भई और जुवति जात।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कहत री प्यारी, तू राखत प्रान जात॥"

कोई पूछे—'भला ऐसी क्या बात है जिसके कारण कृष्ण भी राधाजी की इतनी चाटुकारी करते है। इतनी अनुनय-विनय करते है, इतनी कृतज्ञता-ज्ञापन करते है? अखिल कोटि ब्रह्माण्ड के कर्त्ता, भर्ता और हरता की एक गोप-वधू के समुख इतनी चिरौरी (खुशामद) तो शोभा नही देती।' स्वामी हरिदास जी इस शका का उत्तर देते है—'स्वामिनी जू के महत्व को पहचानो। उनके कृपा कटाक्ष से ही विहारी, विहारी हो सके है। जिसके दिये गुणो ने उन्हे इस पदवी पर पहुँचाया उसके कृतज्ञ न होगे। विश्व में और सब से वे बडे है, पर स्वामिनी जू से बडे नही हो सकते—

राग-कान्हरौ

"सुघर भए बिहारी, याही छाँह तें।
जे-जे गटी सुघर जानपने की, ते-ते याही बाँह तें॥
हूते तौ बड़े अधिक सब ही ते, पैं इनकी कस न खटात याहि तें।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, जकि रहे चाहि तें॥"

रसिक विहारी है तो बडे आधीन पर आखिर को है तो वही—"चौरजारशिखामणि"। कभी-कभी चोरी पकडी जाती है तो बडी बेढब अटकती है। राधाजी को जहाँ सदेह हुआ कि मान कर बैठी। कभी-कभी तो सखियाँ मध्यस्थ बन जाती है, पर जब कोई सखी आसपास नही होती तो मनमोहन स्वय ही समझाने की चेष्टा करते है—'सोचिये तो प्यारीजू, हम-तुम में से ही एक रूठ जायगा तो प्रीति के पन की रक्षा कैसे होगी? हमारी वेदना को जानने वाला यहाँ और कौन बैठा है? मै और तुम दोनो एक दूसरे का दूतत्त्व कर रहे है तो औरो को वीच में डालने और उनसे निपटारा कराने की क्या आवश्यकता है—

राग-विभाग

"प्यारी, हम-तुम दोऊ एक कुंज के सखा, रूठें क्यों बनें।
इहाँ न कोऊ मेरौ न तेरौ हितू, जो यह पीर जनें॥
हौं तेरौ बसीठ, तू मेरी, तो मेरे बीच और न सनें।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, कहत प्रीति पनें॥"

कभी-कभी अपने समझाने से बात नही बनती तो श्री हरिदास जी (सखी भाव में स्वामी हरिदास जी) की गवाही दिलानी पडती है। हरिदास जी का विश्वास स्वामिनी जू को भी बहुत है। उनकी बात मान व 'रिस' छोड देती है—

राग-कान्हरौ

"राधा सो रसिक कुंज-बिहारी कहत, जु हौं न कहूँ गयौ सुनि-सुनि राधे तेरी-सो।
मोहि न पत्याहु तौ संग हरिदासी हुती, पूछि देखि, भटू कहि धौं कहा भयौ मेरौ-सो॥
प्यारी तोहि गठोंद न प्रतीति, छाँडि छीया जान दै इतनी अब ए री-सौं।
'श्रीहरिदास' के स्वाँमी-स्याँमा-कुंजबिहारी, गहि लटपटाइ रहे दोऊ छैल, छाती सो छाती लगाइ फेर फेरो-सो॥"

परन्तु हरबार ऐसा सस्ता दाँव नहीं चलता। स्वामिनी रूठ कर जा बैठी, रासमंडल में आती ही नहीं। प्रीतमजू बाट देखते-देखते थक गये। तब हरिदासी जी गईं, किसी-किसी भाँति मना-मनू कर वृज-भवन में लाईं। राधाजू के आरोप तो सच्चे थे, अत श्याम उन्हें देख केवल हाथ जोड मौन होकर रह गये। कुछ कहते न बना। हरिदासी जी कहती हैं—लला, खोट तो आप करते हो और फिर चाहते हो कि प्यारीजू तुम्हारा केलि का आमंत्रण स्वीकार कर ले। क्यो करे? भला 'जात के हेटे' की राँधी खीर कौन सा ऊँच जाति का खा लेगा!' वह तो यह कहो कि मैं न जाने कैसे-कैसे इन्हें मना लाई—

राग-केदारौ

"प्यारी अब क्यों हूँ-क्यों हूँ आई है।
तुम इत बहुत भ्रमित मनमोहन, मैं क्यों हूँ समझाई है।।
उत हठ करत बहुत नव नागरि, तैसी यै नई ठकुराई है।
'श्री हरिदास' के स्वामी-स्यामा-कुंजविहारी, कर जोर मौन ह्वै दूबरे की राँधी खीर कहौ कौनें खाई है।।"

धन्य है वे सत शिरोमणि स्वामी हरिदास जिन्होने श्री श्यामा और कुजविहारी के नित्य विहार की इस प्रकार प्रत्यक्षवत् अनुभूति प्राप्त की और अपने अनन्य राग और परम विराग का चरमोत्कृष्ट मार्ग साधकों को दिखा गये और ससार को उपदेश दे गये कि हित करना है तो कमल-नयन से करो, जिसके प्रेम के आगे सभी प्रेम फीके हैं, या साधु-सगति से हित करो, जिससे मन की शुद्धि हो। ससार का हित तो ऐसा है जैसे बासी फूल का रग और कुजविहारी का हित ऐसा है जैसे मजीठ का रग जो धोये न धुले। इसी प्रेम से जीव के हित का परम साधन होता है —

"हित तौ कीजै कमल-नैन सो, जा हित के आगें और हित लागै फीकौ।
कै हित कीजै साधु संगति सो, कल-मल जाइ जी कौ।।
हरि कौ हित ऐसौ जैसौ रंग मजीठ, संसार कौ हित जैसौ कसूम दिन दुती कौ।
कहि 'श्री हरिदास' हित कीजै विहारी सो, और निवाह जानि जी कौ।।"

स्वामी जी ने बताया कि हरि के नाम लेने मे आलस्य मत करो। काल सिर पर मँडरा रहा है, न जाने कब आवेगा और आँधी की तरह उडा ले जायेगा। तब हीरा-जवाहर हाथी-घोडे, और बनी-ठनी वनिता कोई साथ नही जायगा। इसलिये तुरत ससार का मोह छोड हरि की शरण गहो—

"हरि के नाम कौ आलस कत करत है रे, काल फिरत सर-साँधे।
बेर-कुबेर कछू नहिं जानत, चढ़यौ फिरत है काँधें।।
हीरा बहुत जवाहर सचे, कहा भयौ हस्ती दर बाँधें।
कहि 'श्री हरिदास' महल में बनिता बनि ठाडी, एकौ न चलत जब आवत अंत की आँधें।।"

ससार भ्रम में पड जाय, परतु हे वैष्णव! तुम भ्रम में न पड जाना। जिस पति की शरण मे आने को गले में कठी बाँधी है उसे छोड किसी दूसरी ओर ताकना भी तुम्हारे पातिव्रत को दूषित कर देगा। भक्ति के पथ में चलनेवाला जब हरि के चरणो की अनन्य प्रीति प्राप्त करने के लिए ससार को छोडता है, तब उसके सभी बधनो को तोड कर आता है। सहज भक्ति के मार्ग में यज्ञ और देव-पूजा, पितृ-तर्पण और श्राद्ध सभी कुछ बाधक है। अग्नि, देवता और पितरो को मनाने में लोग रहे तो प्यारे कुजविहारी को क्या मुँह लेकर रिझाओगे—

"लोग तौ भूलें भलें, तुम मति भूलौ माला धारी।
अपनो पति छाँडि औरन सों रति, ज्यो दारन में दारी।।
स्याँम कहत ते जीव मोसो बिमुख भए, ऐसौऊ कौंन जिनि दूसरी करि डारी।
कहि 'श्री हरिदास' जग्य, देवता, पितरैन को श्रद्धा भारी।।"

भक्त के लिये एक ही धर्म है, एक ही मार्ग है। संसार के सारे लबाजमें को छोड मृत्तिका का करुवा हाथ मे ले और श्यामा तथा कुजविहारी की पावन चरण-रेणु से अकित व्रज-वीथियो को बुहारा करे। प्रीतम के शृगार के अर्थ श्रीवन (निधि वन) की लताओ से गुजा एकत्रित कर उनकी माला पिरोये। गौओ, बछरो, मृगी और मृग-छौनो को छोड किसी और के शरीर पर दृष्टि भी न डाले। अनन्य प्रीति के पथ में एक-एक पग फूँक-फूँक कर रखना पडता है। जैसे गूजरी का चित्त प्रतिक्षण अपने सिर पर रखी मटकी में लगा रहता है कि ध्यान बँटा और मटकी हाथ से गई, उसी प्रकार एकतान वृत्तिसे श्यामा और कुजविहारी से लौ लगी रहे। यही भक्त के जीवन का परम पुरुषार्थ है—

"मन लगाइ प्रीति कीजै कर करवा सो, व्रज-वीथिन दीजै सोहनी।
बृंदावन सो, उपवन सो, गुंज माल पोहनी॥
गो-गो-सुतनि सो, मृगी-मृग-सुतनि सो, और-तन नैंकु न जोहनी।
'श्री हरिदास' के स्वांमी-स्यांमा-कुंजबिहारी सो चित्त, ज्यो सिर पै दोहनी॥"

इस लेख में वस्त्राभूषणो तथा नृत्य-गीत-वाद्यादि के भेदो के कितने भी नाम प्रयुक्त हुए है उनमें से अधिकाश 'स्वामी हरिदास जी की वाणी' के है। शेष स्वामी जी के ही समकालीन वृदावन-निवासी महानुभावो यथा—श्री हरिराम व्यास प्रभृति की वाणी से लिये गये है।



ऋचारूपी गोपियाँ

●

श्रुत्यंतर रूपाणां गोपिकानाम् ।

—वल्लभाचार्य

●

ब्रजसुंदरि नहिं नारि, रिचा-स्रुति को सब आहीं ।
मैं ब्रह्मा अरु सिव पुनि लछमी, तिन सँम कोऊ नाहीं ॥

—सूरसागर

●

वेद-रिचा होइ गोपिका, हरि सों कियौ विहार ।

—सूरसागर

●

वल्लभाचार्य : वचन सूर-प्रति

"सूर ह्वै कें ऐसौ काहे घिघियातु है, कछु भगवद्-जस बरनन करि ।"

—चौरासी वैष्णव . वार्त्ता

वल्लभाचार्य का साधन मार्ग

श्री बलदेव उपाध्याय

वल्लभाचार्य भारतवर्ष के माननीय आचार्यों मे अन्यतम है। इन्होने पद्रहवी शताब्दी मे रुद्र सप्रदाय की पुन प्रतिष्ठा की। इस सप्रदाय के माननीय आचार्य थे—श्रीविष्णु स्वामी, परतु कराल कलि के विलास मे उनका आचार्य रूप में केवल अभिधान ही अवशिष्ट है। वैष्णव-ग्रथो मे उपलब्ध उल्लेख उनके जीवन-वृत्त विषयक हमारी जिज्ञासा को कथमपि शात नही करते। नाभादासजी के 'भक्तमाल' से पता चलता है कि विष्णु स्वामी के सप्रदाय में ही गभीर मति ज्ञानदेव नामक सत हुए थे तथा वल्लभ ने इसी मार्ग का अनुसरण कर अपना शुद्धाद्वैत मूलक पुष्टि-मार्ग चलाया। यदि ये ज्ञानदेव, सुप्रसिद्ध गीता-व्याख्या ज्ञानेश्वरी के रचयिता 'ज्ञानदेव' (१२७५–१२९६ ई०) ही हो, तो यह उल्लेख अपना ऐतिहासिक मूल्य रखता है। रसेश्वर-दर्शन के प्रसग मे माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शन-सग्रह' में इनका एक पद्य प्रमाण रूप से उद्धृत किया है। इन्ही वैष्णवो के रुद्र सप्रदाय के प्रवर्तक श्री विष्णु स्वामी के मत का उद्धार किया श्री वल्लभाचार्य (जन्म १४७९ ई०) ने। ब्रज-भाषा का सर्वातिशायी मधुर साहित्य वल्लभाचार्य के व्यापक महत्त्व को सदैव उद्घोषित करता रहेगा। 'अष्ट-छाप' के विख्यात भक्त कवियो की कविता आप ही के छाप के कारण इतनी समादृत हुई थी। हिंदी-साहित्य-गगन के सूर्य स्थानीय सूरदास जी आचार्य वल्लभ के ही पट्ट शिष्य थे तथा सूर की पदावली में वल्लभ के भक्ति-सिद्धातो की झलक स्पष्टत दृष्टिगोचर हो रही है, इसे हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञो के सामने उद्घाटन करने की विशेष आवश्यकता नही है।

आचार्य वल्लभ की दार्शनिक दृष्टि शुद्धाद्वैत की है, जिसका व्यवहार पक्ष 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रख्यात है। आचार्य जीव और ब्रह्म की नितात एकता के पक्षपाती है, परतु उनके विचार में ब्रह्म नितात विशुद्ध माया के सपर्क लेश से भी सर्वथा अस्पृष्ट रहता है। माया शवल ब्रह्म के मानने वाले शाकर-वेदात से अपने मत की भिन्नता दिखलाने के लिये उन्होने 'अद्वैत' से पूर्व 'शुद्ध' शब्द का प्रयोग कर अपने मत को शुद्धाद्वैत के नाम से व्यवहृत किया है। 'शुद्धाद्वैतमार्तंड' इस विचित्र नामकरण का यही कारण बतलाता है—

"माया संबंध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।
कार्य कारण रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ।।"

माया के सबध से रहित होने के कारण ब्रह्म शुद्ध कहा जाता है और यही माया रहित स्वतत्र ब्रह्म इस ससार में कार्य तथा कारण रूप सर्वत्र व्यापक है। इसी कारण यह मत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस मत में ब्रह्म सर्व-धर्म-विशिष्ट अगीकृत किया गया है। अत उसमें विरुद्ध धर्मो की सत्ता भी नित्य है। अद्वैत-वेदात के अनुसार ब्रह्म का श्रेष्ठ रूप निर्गुण है। वह माया के सबध से सगुण रूप धारण करता है। वह सगुण के सम प्रतीत होता है, परतु शुद्धाद्वैती-वल्लभ माया की सत्ता स्वीकार नही करते। ब्रह्म-विरुद्ध धर्मो की सत्ता माया से प्रतिभासित नही होती, प्रत्युत वह स्वाभाविकी है। भगवान् की महिमा अनवगाह्य है। अखिल रसामृत मूर्ति श्री आनद-कद कृष्ण ही यह परम ब्रह्म है। वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म ही जीव तथा जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। भगवान् सच्चिदानद रूप है। वह अपनी इच्छा से अपने तीनो गुणो को लेकर ईश्वर रूप से प्रकट होता है। वे अपने आनदाश को तिरोहित कर जीव की सृष्टि करते है और चित् तथा आनद-दोनो को तिरोहित कर जड जगत् की सृष्टि करते है। इस प्रकार ईश्वर में सत्, चित् तथा आनद इन तीनो गुणो का विकास रहता है और 'आनद' की ही प्रधानता रहती है। जीव में आनद को छोडकर शेष दो गुण विद्यमान

रहते हैं और चित् की प्रधानता रहती है। जगत् मे एक ही गुण विद्यमान रहता है और वह है केवल 'सत्', अर्थात् जड में सत्ता की ही एकमात्र स्थिति रहती है।

भगवान् ही इस सृष्टि के कर्ता हैं। इच्छा वाला ही व्यक्ति किसी कार्य का कर्ता या संपादक बनता है, भगवान् तो ठहरे आप्त काम। तब स्पृहा कैसी ?'—'आप्त कामस्य का स्पृहा"। इसका उत्तर वल्लभाचार्य देते हैं कि भगवान् स्वतत्र है। यह जगत् उनकी लीला का विलास है। वह स्वेच्छया क्रीडा में निरत होते हैं। सृष्टि जिस प्रकार लीला है, सहार भी उसी प्रकार लीला है। वह लीला-निकेतन ललित लीलाएँ किया करता है। हमारी क्रीडा या वालक की क्रीडा तथा भागवती क्रीडा में विशेष अतर है। इस भेद का स्पष्टीकरण यह श्लोक करता है—

"क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषाऽन्यत ।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदाऽन्यतः ॥"

अर्भक की क्रीडा में तीन बातें साफ दीख पडती है—उद्यम, वालक का प्रयत्न, काम-इच्छा तथा दूसरे के साथ की अपेक्षा, परतु भगवान् तो स्वत तृप्त ठहरे, समग्र कामनाएँ तृप्त है तथा सदा दूसरे से निवृत्त ठहरे। अत उनमें उद्यम तथा अन्य-सपर्क की आवश्यकता ही नही रहती। हा, विलास की इच्छा अवश्य रहती है। यही तो लीला है, परतु पूर्णानद रूप भगवान् में यह न तो कोई प्रयास उत्पन्न करती है और न कोई वाहरी कार्य ही पैदा करती है। इस लीला-तत्त्व की व्याख्या सुवोधिनी में आचार्य चरण ने वडे ही सुदर शब्दो में की है—

"लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्यावहि कार्यं जन्यते जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयास जनयति। किंतु अंतःकरणे पूर्णे आनंदे तदुल्लासेन कार्यजनन सदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते।"

—सुवोधिनी, भागवत तृतीय-स्कंध

द्विविध मार्ग

वल्लभाचार्य के अनुसार मार्ग दो प्रकार के होते है—मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग। मर्यादामार्ग वैदिक मार्ग है, जिसमे लोक-मर्यादा की रक्षा प्रधान लक्ष्य है। मर्यादामार्ग का मूल मत्र है—'कर्मानुरूप फलम्'। जो जैसा कर्म करेगा, भगवान उसे वैसा ही फल देते है। कर्म की विशेष महिमा है। कर्म के द्वारा जीवबद्ध हैं और फल देने के लिए भगवान् भी कर्म के द्वारा परतत्र है। भगवान् फल देने के लिये जीव के कर्मों की अपेक्षा रखते हैं। कर्म का करना प्रयत्न के ऊपर सापेक्ष हैं। प्रयत्न में काम की अपेक्षा है। काम में प्रवाह की अपेक्षा रहती है। इसी मर्यादा की रक्षा करने के लिये भगवान् ने वेद की रचना की। इसलिए ब्रह्म में दोष का गध भी नही है और न इसमें उनमें ऐश्वर्य-भाव का ही अभाव सपन्न होता है। मर्यादामार्ग की विशिष्टता यही ऐसी है कि ब्रह्म फल प्रदान करने के लिए जीवों के कर्मों की अपेक्षा रखते हैं। वे स्वय इस विषय में परतत्र हैं। आचार्य के शब्दो में ही मर्यादामार्ग की विचित्रता देखिए—

"फलदाने कर्मापेक्ष.। कर्मकारये प्रयत्नापेक्ष। प्रयत्ने कामापेक्ष। कामेप्रवाहापेक्ष.। इति मर्यादा रक्षार्थं वेद चकार। ततो ब्रह्मवि दोषगंधोऽपि न चानोश्वरत्वम्। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्।"

—अणु-भाष्य सूत्र, [illegible]

मर्यादामार्ग का भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है और यह फल शास्त्र विहित ज्ञान और कर्म के आचरण से ही मिलता है। इस मार्ग का पथिक शास्त्रों में विहित स्वकीय आश्रम-धर्म तथा वर्ण-धर्म का विधिवत् निष्पादन करता है और ज्ञान के द्वारा दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति पाने में समर्थ होता है।

"पोषणं तदनुग्रहः[1]।"

—भागवत २।१०।४

ज्ञान-कर्म की अपेक्षा मर्यादामार्ग मे रहती है। पुष्टिमार्ग इनके निरपेक्ष रहता है। पुष्टि का प्रधान साधन है भक्ति-प्रपत्ति। बिना भगवान् के शरणापन्न हुए मुक्ति नही होती और यह भक्ति भी 'आनद-कद श्री व्रजचद' के अनुग्रह से ही साध्य है। जगत का साधारण व्यापार भी बिना भागवती कृपा के सुलभ नही होता, तब भक्ति जैसे पदार्थ की प्राप्ति भी उसके बिना सुतरा दुष्कर है। भागवत जिसे 'पुष्टि' के नाम से पुकारता है वही है तत्रो की भाषा मे 'शक्तिपात'। क्रिष्टी धर्म में इसी का नाम है—

Descent of Divine Grace (डिसेंट आव् डिवाइन ग्रेस)

जीव में भगवत् कृपा का पतन होने पर ही वह अकुठित शक्ति होकर मुक्ति की ओर अग्रसर होता है, भक्ति करने का अधिकारी बनता है। वल्लभाचार्य के शब्दो में पुष्टिमार्ग—

"अनुग्रहैक साध्यः प्रमाणमार्गाद् विलक्षणः।"

—ब्र० सू०–४।४।९ पर अणुभाष्य

पुष्टिमार्ग एक अनुग्रह के ही द्वारा साध्य होता है, इसकी सिद्धि का अन्य मार्ग है ही नही। इसलिए यह प्रमाणमार्ग (मर्यादामार्ग) से विलक्षण होता है। पुष्टिमार्ग वही है जिसमें साधक सर्वथा समग्र विषयो को त्याग कर अपनी देह, वासना, कामना-आदि समस्त पदार्थों का समर्पण भगवान् मे कर देता है—

"समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि।
समर्पणं च देहादेः 'पुष्टिमार्ग' स कथ्यते॥"

इस मार्ग में भक्ति ही प्रधान साधन है। भगवान् सर्वथा स्वतंत्र है। फल देने के लिए वे कर्म की तनिक भी अपेक्षा नही रखते। वह सर्वशक्तिशाली प्रभु अपनी दया से आत्म समर्पणशील जीवो का उद्धार करता है। वह उनके न तो कुकर्मो पर दृष्टि डालता है और न वह उनके अज्ञान की ही ओर अपना ध्यान देता है। इस मार्ग में भगवान् की भगवत्ता तथा सर्वशक्तिमत्ता का पूर्ण रक्षण है। भगवान् को कर्मापेक्षी मानने वाले मार्ग भगवान् की शक्तिमत्ता का निर्वाह क्या अच्छे ढग से कर सकते है?

व्यवहार-पक्ष

यह तो हुआ पुष्टिमार्गीय सिद्धात। अब इसके व्यावहारिक साधन की ओर ध्यान दीजिए। इसका जिस विधि के द्वारा व्यावहारिक रूप निष्पन्न होता है उसका सम्प्रदाय में अभिधान है—"ब्रह्म संबंध"। आचार्य वल्लभ ने अपने 'सिद्धात रहस्य' नामक प्रख्यात स्तोत्र मे इस अनुष्ठान का उल्लेख स्वय किया है। इस अनुष्ठान के द्वारा भागवत-तत्ववेत्ता गुरु, मुमुक्षु शिष्य का भगवान् के साथ सबध जोड देता है। अधिकारी शिष्य को ही सुयोग्य गुरु 'शरणमंत्र' का उपदेश देते है। यह मननीय मत्र है—

"श्रीकृष्णः शरण मम।"

आचार्य पाद ने स्वय इस मत्र के विषय में अपने 'नवरत्न' में कहा है—

"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं 'श्री कृष्णः शरणं मम।'
वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥"

—नवरत्न, ९

इसके अनतर गुरु शिष्य को भगवान् के विग्रहके पास ले जाता है, कंठी और माला देकर 'दीक्षामत्र' का उपदेश देता है। यह सुतरा गोप्य मत्र 'आत्मनिवेदन मत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें साधक अपनी समस्त

[1] स्थितिर्वैकुंठविजयः 'पोषणं तदनुग्रहः।
मन्वंतराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः॥

वस्तुओ को अपनी देह, इद्रिय, प्राण, अत करण को, उनके धर्मों के साथ अपनी आत्मा को भी भगवान् को निवेदन कर देता है । वह मत्र यह है—

"सहस्र परिवत्सरमितकालजात कृष्ण वियोग जनित तापक्लेशानंद तिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेंद्रिय प्राणांत करणानि तद् धर्माश्च दारागार पुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ।"

सुनते है कि श्री कृष्ण ने ही आचार्यचरण को इस मत्र का स्वय उपदेश दिया था । इस मत्र-दीक्षा के अनतर साधक का नवीन जन्म सपन्न हो जाता है । मर्यादामार्ग में जीव के दो ही जन्म होते है, परतु पुष्टिमार्ग में दीक्षा के द्वारा जीव का तृतीय जन्म होता है । भक्त को गोपियो का आदर्श पालन करना चाहिए । भगवान् को आत्म-समर्पण के अनतर भक्त को अपने जीवन पर तनिक भी ममता नही—स्वतत्रता नही । वह तो यत्रवत् भगवान् की ही प्रेरणा से प्रपच में निरत रहे, तो भी उसके पतन का कोई भय नही, परतु साधक में होनी चाहिए सच्ची प्रपत्ति, सत्यनिष्ठा, ऐकातिकी भक्ति, अनन्या भक्ति । भागवत की यह उक्ति यथार्थ है—

"तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहंगृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण ! न ते जना. ।।"
—भागवत १०।१४।३६

राग-द्वेष तभी तक चोर के समान हृदयकी शांति को चुराते है, तभी तक गृह कारागृह है—जेल-खाने के समान भयानक तथा स्वतत्रता का अपहर्ता है, तभी तक मोह पैर का बधनहै , जब तक हे कृष्ण, हम आपके जन, सेवक, दास, शरणापन्न नही हो जाते ।

जगत् के प्रपच से भागनें की आवश्यकता नही है । भाग कर कोई जा ही कहाँ सकता है ? आवश्यकता हैं इसी ब्रह्म-सबंध की., अपनी समग्र वृत्तियो को, समग्र कामनाओ को भगवान् के समर्पण कर देने की। भगवान् के दास, भगवज्जन, भवदीय होते ही भक्त की सत्ता ही प्रथग्रूपेण नही रहती । उसका जीवन भगवन्मय हो जाता हैं और इसी कारण ससार में साधारणतया जो पदार्थ बधन का कार्य करते है वे ही इस दशा में मुक्ति के साधक बन जाते है । यह परिवर्तन तथा परिणाम ब्रह्मसबध की स्थापना पर ही सिद्ध होता हैं ।

मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग

अत मर्यादामार्ग से पुष्टिमार्ग की विलक्षणता स्पष्ट है । मर्यादामार्ग वैदिक है जो 'अक्षर ब्रह्म' की वाणी से उत्पन्न हुआ है, परतु पुष्टिमार्ग पुरुषोत्तम के साक्षात् शरीर से निकला है । ध्येय की भी दोनो में विभिन्नता है । मर्यादामार्ग में ज्ञान तथा श्रवण-आदि साधनो के द्वारा सायुज्यमुक्ति की प्राप्ति ही ध्येय है, परतु पुष्टिमार्ग में सर्वात्मना 'आत्मसमर्पण' तथा 'विप्रयोग' रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनद-धाम भगवान् के साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है । हरिराय जी ने पुष्टिमार्ग की विशिष्टता अतीव सुदर शब्दो में अभिव्यक्त की है —

"अनुग्रहेणैव सिद्धिः लौकिकी यत्र वैदिकी ।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्ग स कथ्यते ।।"

भक्ति साधन भी है और साध्य भी है । साधन-भूता भक्ति से ज्ञान का उदय होता है और इस ज्ञान के उदय से भक्ति उत्पन्न होती है । गीता के अनुसार भी साधन-मार्ग का यही क्रम है । गीता का साधन-क्रम भी यही है—कर्म-ज्ञान-भक्ति । कर्म के यथावदनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है और शुद्ध चित्त में ही ज्ञान-धारण करने की योग्यता है । पूर्णज्ञान के उदय होने पर भक्ति की उत्पत्ति होती है, परतु यह भक्ति साधन-रूपा न होकर साध्य-रूपा है । साधन-रूपा भक्ति ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक है, परतु प्रेम-रूपिणी भक्ति का अधिकारी वही व्यक्ति होता है जो पूर्ण ज्ञान से सपन्न होता है । गीता ने भक्ति को ज्ञान का साधन स्पष्टतया उद्घोषित किया है—

"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ।।"
—श्रीमद्भगवद्गीता, १८।५५

साधक भक्ति के द्वारा भगवान् को तत्वत जानता है। तत्व-ज्ञान की दो रूप से प्राप्ति होती है—"यावान् और य"—भगवान् का विस्तार तथा भगवान् का तात्विक स्वरूप। जगत् का यह विस्तार उपाधिकृत है। यह समग्र जगत् ही उसके विस्तार का पर्यवसान है, परतु यह समस्त उपाधिनिर्मित है, भगवान् का
"तत्त्वतो यश्चास्मि।"
तात्विक रूप समग्र उपाधियो से रहित है। वह उत्तम पुरुष है तथा आकाश के समान निरजन, अद्वैत तथा अमर है। इसकी उपलब्धि भक्ति के द्वारा होती है।

भक्ति-मीमांसा

सपूर्ण ज्ञान होने पर ही सच्ची भक्ति का उदय होता है। शाडिल्य के शब्दो मे भक्ति ईश्वर में परा, श्रेष्ठ अनुरक्ति है—"सा परानुरक्तिरीश्वरे"। भक्ति परम प्रेम-रूपा है। भक्त शिरोमणि रूप गोस्वामी ने भक्ति का बडा ही सुदर तथा तात्त्विक लक्षण इस प्रकार किया है—

"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।।"
—भक्तिरसामृतसिंधु १।१।११

भगवान् श्री कृष्ण परमस्नेहास्पद है। अत उनके अनुशीलन को भक्ति कहते है, जिसमे अन्य किसी पदार्थ की अभिलाषा न हो, ज्ञान (निर्गुण ब्रह्मानुसधान) तथा कर्म (स्मृति में प्रतिपादित नित्य-नैमित्तिक-आदि) का आवरण न हो, परतु कृष्ण के अनुकूल होनेवाली प्रवृत्ति की सत्ता हो। इस भक्ति का उदय ज्ञान के के अनतर ही होता है। इसी लिए ज्ञानी भक्त की गीता मे सर्वश्रेष्ठ भक्त के रूप में गणना है। इतना ही क्यो ? ज्ञानी भक्त तो भगवान् की ही आत्मा है—"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"। ज्ञानी भक्त की इस महती प्रतिष्ठा का एक कारण है। आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्त सकाम रहते है, क्योकि वे अपनी किसी कामना की पूर्ति में निरत रहते हैं, परतु ज्ञानी होता है आप्त काम, अर्थात् निष्काम भक्त। कामना विरहित होने से ही ज्ञानी भक्त भगवान् का विशेष प्यारा होता है। गीता के ऐसे कथन को 'ब्रह्मसूत्र' भी प्रमाणित कर रहा है। ब्रह्मसूत्र का स्पष्ट कथन है कि भगवान् मुक्त पुरुषो के द्वारा उपसर्पणीय होते है—

"मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।" १।३।४

भागवत पुराण भी इसी तत्व का प्रतिपादन विभिन्न शब्दो में इसी प्रकार करता है—

"आत्मा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्य हैतुकीं भक्तिमित्थंभूत गुणो हरिः ।।"
—भागवत

आशय यह है कि भगवान् श्री कृष्णचद्र इतने कमनीय गुणो के आगार है कि ससार की ग्रथियो का उन्मोचन करने वाले भी, आत्मा में रमण करने वाले सत लोग भगवान् में बिना किसी कामना के ही भक्ति किया करते है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्णज्ञानी ही भक्ति का विशिष्ट अधिकारी होता है, परतु यह साधन-भक्ति न होकर साध्य-रूपा भक्ति है। चैतन्य सप्रदाय के लोग भक्ति की तीन भूमिकाएँ मानते है—(१) साधन-भक्ति, (२) भाव-भक्ति तथा (३) प्रेमा-भक्ति। साधन-भक्ति वैधी तथा रागानुगा रूप से दो प्रकार की है। साधन-भक्ति का उत्कृष्ट रूप भाव-भक्ति है और यह घनीभूत भाव ही प्रेमा-भक्ति के नाम से कहा जाता है। रूप गोस्वामी के शब्दो में अतिम दोनो भक्तियो के रूप इस प्रकार है—

"रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ।
भावः स एव सांद्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ।।"

गौडीय वैष्णवो की भक्ति के इन तीन प्रकारो को वल्लभ-दो ही प्रकार की भक्ति के अंतर्गत मानते है। एक है मर्यादाभक्ति और दूसरी है पुष्टिभक्ति। जिनमें पहली है साधन-रूपा और दूसरी है साध्य-रूपा। भक्ति होने मे यही सर्वतोभावेन श्रेष्ठ साधन है।

इस प्रकार वल्लभाचार्य के मत से भगवान् श्री कृष्ण ही परम ब्रह्म है। उनके अनुग्रह से ही जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। इसका प्रधान साधन साध्य-रूपा भक्ति है। वल्लभ-मत के अनुसार ससार में तीन ही मुख्य लक्ष्य है—(१) आचार्य वल्लभ का आश्रय। (२) भागवत् पुराण की वल्लभाचार्य रचित रहस्योद्घाटिनी सुबोधनी नामक टीका। (३) भगवान् राधिकानाथ श्री कृष्ण की उपासना। बस वल्लभ-मत में ये ही तीन सार है।

"नाश्रितो वल्लाभाधीशो न त दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतल॥"

और स्तुति-रूप में—

"मायावादिकरींद्र दर्पदलने नास्येंदु राजोद्गत,
श्रीमद्भागवताख्यदुर्लभ सुधावर्षेण वेदोक्तिभिः।
राधावल्लभसेवया तदुचितेप्रेम्णोपदेशैरपि,
श्रीमद्वल्लभनामधेयसदृशो भावी न भूतोऽस्त्यपि॥"

—स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, ५



नंददास : अष्टछाप

श्री राकेश गुप्त

उस युग में भी, जब कि समालोचना का एक शास्त्र के रूप में विकास नही हुआ था और लेखको की भाषा, भाव तथा शैली सबधी विशेषताओ का सूक्ष्म विवेचन करने के लिए बडे-बडे लेख अथवा ग्रथ नही लिखे जाते थे, हमारे देश के सहृदय काव्य-प्रेमी किसी भी कवि का वास्तविक मूल्य पहचानने मे प्राय कोई भूल नही करते थे। वे विज्ञ रसिक अपने अध्ययन के निचोड के रूप में कभी-कभी किसी लेखक के सबध में सूत्र रूप मे कोई ऐसी बात कह देते थे जो अपनी यथार्थता के कारण शीघ्र ही व्यापक प्रचार पा जाती थी। महाकवि नददास के सबंध में भी इसी प्रकार की एक अत्यत प्रसिद्ध उक्ति है—

"नंददास जडिया, और सब गढिया।"

यद्यपि इस उक्ति के कहनेवाले का परिचय आज हमें प्राप्त नही है, पर इसके औचित्य एव सार्थकता की सराहना एक स्वर से हिंदी के सभी समालोचको ने की है। नददास ने अपनी रचनाओ में कही पर तो सस्कृत की सुसस्कृत मनोहर पदावली की योजना की है और कही पर नित्य प्रयोग में आनेवाले बोलचाल के शब्दो की स्वाभाविक छटा दिखलाई है, पर दोनो स्थलो पर शब्दो का चुनाव इतना सयत एव उपयुक्त है कि वे सचमुच ही कविता की स्वर्णमयी स्रोतस्विनी में रत्न-दीपो की भाँति चमकते हुए प्रतीत होते हैं।

बोलचाल की व्रजभाषा के सहज एव स्वाभाविक सौंदर्य के दर्शन हमें नददास के 'भँवरगीत' में होते हैं। इस रचना में लेखक ने माधुर्य और प्रसाद की एक अजस्र-धारा प्रवाहित करने के साथ ही साथ अपनी प्रबध-पटुता एव सगीत-मर्मज्ञता का भी परिचय दिया है। 'भँवरगीत' के जिस मार्मिक विषय को महाकवि सूरदास ने मुक्तक के रूप म अत्यत विस्तार के साथ गाया था, उसी को नददास ने प्रबध-काव्य के एक छोटे, किंतु सुसगठित वस्तु-विन्यास में ढाल दिया है। एक रोला तथा एक दोहे के पश्चात् दस मात्राओ की एक टेक के क्रम ने इस रचना की सगीतात्मकता को बहुत बढा दिया है। उद्धव जब व्रज में आकर गोपियो को श्रीकृष्ण का सदेश सुनाते हैं तथा उनके शीघ्र लौटकर आने की बात कहते हुए उन्हें सात्वना देने का प्रयत्न करते है, तो प्रेममयी गोपियाँ श्रीकृष्ण के मधुर रूप का स्मरण करती हुईं मूर्च्छित हो जाती हैं—

"सुनि मोंहन-संदेस, रूप सुमिरन ह्वै आयौ।
पुलकित आँनन अलक अंग आवेस जनायौ॥
विह्वल ह्वै धरनी परीं, व्रज बनिता मुरझाइ।
दै जल-छींट प्रबोधहीं ऊधौ बात बनाइ॥
सुनो व्रज नागरी॥"

बस यही से गोपियो के इस अलौकिक प्रेम को उनका मोह मात्र समझते हुए उद्धव उन्हे निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देना आरभ कर देते है और गोपियाँ अपनी अनुभूति और तर्क के आधार पर उद्धव की समस्त उक्तियो का विदग्धता-पूर्ण खडन करती चलती है। उद्धव और गोपियों के इस उत्तर-प्रत्युत्तर में, इस सजीव कथोपकथन में, एक विशेष नाटकीय सौंदर्य की सृष्टि हुई है, जिस तक पहुँचने में भँवरगीत के परवर्ती लेखक समर्थ नहीं हो सके। निर्गुण ब्रह्म को ज्ञान की आँखो से देखने के लिए कहने पर गोपियाँ उद्धव से कहती है—

"कौन ब्रह्म को जोति ? ग्यांन का सो कहौ ऊधौ ?
हमरे सुंदर स्यांम, प्रेम कौ मारग सूधौ॥

नैंन, बैंन, स्रुति, नासिका, मोहन-रूप दिखाइ ।
सुधि-बुधि सब मुरली हरी, प्रेम-ठगोरी लाइ ।।
सखा सुनि, स्यांम के ।।"

और इसके पश्चात् ब्रह्म की सगुणता का प्रतिपादन वे कितने आत्म-विश्वास के साथ करती है—

"जौ उनकें गुन नाहिं, और गुन भए कहाँ तें ?
बीज-बिना तरु जमै, मोंहि तुम कहौ कहाँ तें ?
वा गुन की परछाँइ री, माया-दरपन-बीच ।
गुन ते गुन न्यारे भए, अमल बारि मिलि कीच ।।
सखा सुनि, स्यांम के ।।"

उद्धव के साथ इस प्रकार कुछ समय तक वाद-विवाद कर चुकने पर गोपियाँ फिर प्रेम-विह्वल हो जाती है और इस अवस्था में उनके प्रियतम का चित्र उनके नेत्रो के आगे छा जाता है। अब वे उद्धव की ओर से अपना ध्यान हटाकर अपने प्यारे कृष्ण को ही सबोधित करती हुई अत्यत दीन और करुण वाणी में उनको ये मर्मस्पर्शी उपालभ देती है —

कोऊ कहै अहो स्यांम, कहा इतराइ गए हौ ।
मथुरा कौ अधिकार पाइ, महाराज भए हौ ।।

तथा—

कोऊ कहै अहो स्यांम, चहुँत मारन जौ ऐसैं ।
गिरि-गोबरधन-धारि, करी रच्छा तुम कैसैं ?
ब्याल, अनल, बिष-ज्वाल तें, राखि लईं सब ठौर ।
अब बिरहानल दहत हौ, हँसि-हँसि नंद किसोर ।।
चोरि चित लै गयौ ।।"[1]

गोपियो के इस उपालभ में श्रीकृष्ण के प्रति उनका अनन्य प्रेम तथा उनके हृदय की विवशता-पूर्ण वेदना मानो मूर्त हो उठी है। उनके प्रेम के इस वेग-युक्त प्रवाह में यदि उद्धव का 'नेम' बह गया और वे उनकी चरण-रज अपने मस्तक पर धारण करने को तैयार हो गए तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नही।

इसी समय कही से एक भौरा उन ब्रज-बालाओ के बीच में उडकर गुजरने लगा। गोपियो को उसके रूप में मानो एक अवलब मिला। उद्धव से सीधे कुछ अप्रिय बात कहना कदाचित् शालीनता और शिष्टाचार के विरुद्ध होता, पर अब तो वे उस मधुकर के बहाने से उद्धव और कृष्ण दोनो पर कठोर व्यग्य-बाणों की वर्षा करने लगी। 'नावक के तीरों' की भाँति पैने ये व्यग्य-बाण न केवल उद्धव को ही बेधते है, वरन् सहृदय पाठको के भी मर्मस्थल मे गहरा घाव करते है। उद्धव के योग की उपमा काले विषाक्त सर्प से देती हुई वे कहती हैं—

"कोउ कहै री बिस्व-मौंह, जेतिक है कारे ।
कपटी, कुटिल, कठोर, परम मानस मति हारे ।।
एक स्यांम-अँग परसि कें जरत आज लौं अंग ।
ता पाछैं फिर मधुप यैं लायौ जोग-भुजंग ।।
कहा इन को दया ।।"

[1] विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वय रक्षिता मुहु ।।
—भागवत १०।३१।३

श्रीभगवानके इस शुकोच्छिष्ट अनुवाद-रूप अमृत फल मे—'अब बिरहानल दहत हौ, हँसि-हँसि नदकिशोर, चोरि-चित लै गयौ' रूप उलाहने की अनूठी मिश्री मिलाकर कितनी मधुरता बढा दी है, धन्य कवि !

फिर वे श्रीकृष्ण को कपटी और गोरस-चोर विशेषणो से विभूषित करती हुई आपस मे एक-दूसरी को सावधान करती है—

"कोउ कहै रे मधुप, भेव उनहीं को धारयौ ।
स्यांम-पीत गुंजार, बैंन किंकिनि झनकारयौ ।।
या पुर गोरस चोरि कै, फिरि आयौ या देस ।
इनको जिनि मानौ कोऊ, कपटी इनकौ भेस ।।
चोरि जिनि जाइ कछु ।।"

श्रीकृष्ण ने गोपियो को छोड कर कुब्जा से अपना जो नवीन प्रेम-संबंध जोडा है, उसे स्त्रियाँ होने के नाते वे कैसे सहन कर सकती है ?—

"कोउ कहै रे मधुप, तुम्हैं लाजौ नहिं आवै ।
स्वांमी तुम्हरौ स्यांम, कूबरीनाथ कहावै ।।
ह्यां नीच पदवी हुती, गोपीनाथ कहाइ ।
अब जदु-कुल पावन भयौ, दासी जूठन खाइ ।।
मरत कहा बोल को ।।"

पर गोपियो के व्यंग्य-बाणो का तूणीर अक्षय तो नही था । अंत मे वह रिक्त हुआ और उसके रिक्त होने के साथ ही उनके विरह-संतप्त हृदय से प्रेम का समुद्र आँखो की राह बाहर उमड चला । उनके आँसुओ की इस बाढ से न केवल उनकी कंचुकियाँ और हार ही भीगे, वरन् उसमें उद्धव और उनकी ज्ञान की मेंड भी बह चली । उद्धव को विश्वास हो गया कि उनका ज्ञान-मार्ग गोपियो के प्रेम-मार्ग की तुलना में वैसा ही है जैसा हीरे की तुलना में कांच—

"जो ऐसैं मरजाद-मैंटि, मोहन को ध्यावै ।
क्यों नहिं परमानंद प्रेम-पदवी को पावै ।।
ग्यांन, जोग सब करम तें, प्रेम परे ही सांच ।
हौ यहि पटतर देत हौं, हीरा-आगैं कांच ।।
विषमता बुद्धि की ।।"

और यह विश्वास होने पर उद्धव के मन में गोपियो और उनके व्रज के प्रति इतनी श्रद्धा उत्पन्न होती है कि वे व्रज की धूलि अथवा लता बनने की कामना करते हैं ।[१]

संस्कृत की सुललित पद-योजना के सहारे माधुर्य गुण की पराकाष्ठा का निदर्शन है नंददास की रास-पंचाध्यायी । अपनी इस छोटी-सी रचना में लेखक ने अपनी संपूर्ण भावुकता और काव्य-कौशल को मानो 'गागर में सागर' के समान भर दिया है । उन्होने इस कृति के अंत में स्वयं लिखा भी है—

"यह उज्जल रस-माल, कोटि जतनन करि पोई ।
सावधान ह्वै पहिरौ, इहि तोरौ मति कोई ।।"

शृंगार के वियोग और संयोग दोनो पक्षो से संबंध रखनेवाली अनेक भावनाओ और परिस्थितियो का चित्रण इस रचना में इस कुशलता के साथ किया गया है कि पढते समय नेत्रो के सामने चल-चित्र सा खिंचता चला जाता है । अनुप्रास की अबाध छटा, उत्प्रेक्षा की मधुर उडान से इस रचना का स्वाभाविक सौंदर्य और भी निखर आया है । इसके अतिरिक्त क्लिष्टता के अभाव ने इस रचना के बीच से स्वच्छंदता-पूर्वक बहते हुए रस के प्रवाह की गति को सर्वदा अप्रतिहत रहने दिया है ।

१ आसामहोचरण रेणुजुषामहंस्यां वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजर्मुकुंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।
—भागवत १०।४७।६१

शरद-पूर्णिमा की रात्रि को दूर वन-प्रांत से श्रीकृष्ण की मुरली का मनोहर संगीत सुनकर गोपियाँ उनसे मिलने के लिए, माता और पिता, पति और भाई के अवरोध का उल्लंघन करके, घर से चल पड़ी। उनके निकट आने पर श्रीकृष्ण ने प्रेम की जिस तल्लीनता से उनका स्वागत किया, उसकी कितनी सुंदर व्यंजना इन पंक्तियों में है—

"तिनके नूपुर-नाँद सुने जब परम सुहाए ।
सब हरि के मन-नैंन सिमटि सब स्रवननि आए ॥
रुनुक-झुनुक पुनि भली भाँति सो प्रगट भई जब ।
पिय के अँग-अँग सिमटि मिले हैं रसिक नैंन तब ॥"

कामदेव को भी मोह लेनेवाले श्रीकृष्ण जिनके वस में है, ऐसी गोपियाँ यदि अपने रूप, गुण और प्रेम पर अभिमान करे तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है, पर भगवान् अभी उनके अपने प्रति प्रेम को और भी अधिक बढाना चाहते है और इसी लिए वे थोडी देर के लिए कुंज में छिप जाते है। लेकिन गोपियाँ ?—उनके लिए तो पलकांतर का वियोग भी करोडो युगो के बराबर है। फिर भला वे इस अवस्था में पागल कैसे न बनें?

"ह्वै गईं बिरह बिकल मन, बूझत द्रुम बेली बन ।
को जड़, को चेतन्न, कछु न जानत बिरही जन ॥"[1]

❀

हे चंदन, दुख-कंदन सब की जरनि जुडावहु ।
नँद-नंदन जग-बंदन, चंदन, हमहिं बतावहु ॥"

पुष्पित लताओ तथा प्रसन्न-नयन हरिणियों को देखकर उन्हें सरल विश्वास हो जाता है कि अवश्य ही उन्हें (हमारे) प्रियतम का स्पर्श और दर्शन प्राप्त हुआ है—

"पूछौ री, इन लतनि, फूलि रही फूलन जोई ।
सुंदर पिय के परस बिना, अस फूल न होई ॥
हे सखि, ए मृग-बधू, इनहिं किन पूछहु अनुसरि ।
डहडहे इनके नैंन, अबहिं कहुँ देखे हैं हरि ॥"

पर वे वृक्ष और लताएँ, वे पशु और पक्षी, वह पवन और पृथ्वी उन्हें क्या उत्तर देते? अंत में इनके उत्तर न देने पर इतना ही व्यंग्य करके रह गई—

"जमुन-निकट के बिटप-पूछि भई निपट उदासी ।
क्यो कहि है सखि, महा कठिन ए तीरथ-बासी ॥"

जब उनका विरह-उन्माद और बढा, तो वे श्रीकृष्णमयी होकर अनेक प्रकार से उन्ही की लीलाएँ करने लगी। तत्पश्चात् अत्यंत दीन वाणी में श्रीकृष्ण को पुकार-पुकारकर वे उनसे प्रकट होने की प्रार्थना करने लगी। ऐसा करते हुए प्रेम में अत्यंत विह्वल होकर जब वे अटपटे वचन बोलने लगी, तब अपनी मंद और मधुर मुस्कराहट को बिखेरते हुए श्रीकृष्ण एकाएक उनके बीच में प्रकट हो गये। इस समय अपने बिछुडे हुए प्रियतम से मिलने के लिए गोपियो की आतुरता का दृश्यांकन इन पंक्तियो में कितने स्वाभाविक तथा आकर्षक रूप में हुआ है—

"पियहि निरखि तिय बृंद उठे सब इक बेर यो ।
घट आएँ ज्यो प्रान, बहुरि उझकत इंद्री ज्यौं ॥
महा-छुधित कौं ज्यौं भोजन सौं प्रीति सुनी है ।
ताहू तें सतगुनी, सहस किधो कोटि गुनी है ॥"

[1] धूमज्योति सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः-
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे-
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ —मेघदूत—कालिदास

"दौरि लिपटि गईं ललित लाल, सुख कहत न आवै ।
मीन उछर सर-पुलिन परै पुनि पानी पावै ।।
कोउ चटपट सो कर लपटी, कोउ उर बर लपटी ।
कोउ गर लपटी कहति भले जू कान्हर कपटी ।।"

और इसके बाद वे श्रीकृष्ण को उनकी निष्ठुरता के लिए उपालभ देना नही भूलती—

"इक भजते को भजैं, एक बिन भजते भजहीं ।
कही कृष्ण, वे कोन आहिं, जे दोहुन तजहीं ?"

पर श्रीकृष्ण गोपियो के इस मधुर उपालभ का उन्हे क्या उत्तर देते ? लोक और वेद की सुदृढ श्रृखलाओ को तृण के समान तोडकर जिन गोपियो ने सर्वस्व उन्हें अर्पित कर दिया है, उनके तो वे अनतकाल के लिए ऋणी है—

"तब बोले ब्रजराज कुँवर, हौं रिनी तिहारौ ।
अपने मन ते दूरि करौ, किन्तु दोष हमारौ ।।
कोटि कलप-लगि तुम्ह प्रति कछु उपकार करहुँ जौ ।
हे मन-हरनी, तरुनी, उरनी नाहिं होहु तौ ।।
सकल विस्व अप बसकरि मो माया मोहत है ।
प्रेम-मयी तुम्हरी माया सो मो मोहत है ।।
तुम्ह जु करी सो कोउ न करै सुनो नवल किसोरी ।
लोक, बेद की सुदृढ़ सृंखला तृन-सम तोरी ।।"

मिलन-उद्वेग के कम होने पर अब उस 'महारास' का प्रारभ होता है जिसका सुख स्वर्ग के देवताओ के लिए भी दुर्लभ है। दो-दो गोपियो के बीच में श्रीकृष्ण की शोभा तथा उनके साथ उनके चचल नृत्य का दृश्याकन करते हुए उनके सबध में लेखक की उत्प्रेक्षाएँ कितनी सजीव और मोहक हैं—

"नव मरकत-मनि स्याँम, कनक-मनि-गन ब्रजबाला ।
बृंदावन को रीझि मनौं पैहराई माला ।।
साँवरे पिय-सँग निर्तत चचल ब्रज की बाला ।
जनु घन-मडल मजुल खेलति दाँमिनि-माला ।।"

और निम्नाकित पक्तियो को पढते समय तो उस दिव्य रास के सगीत और नृत्य की झकार मूर्त होकर कानो में गूजने लगती है—

"नूपुर, कंकन, किंकिनि, करतल मंजुल मुरली ।
ताल, मृदग, उपंग चंग एकहि सुर जुरली ।।
मृदुल मुरज-टंकार, तार झंकार मिली धुनि ।
मधुर जंत्र के तार, भँवर गुंजार रली पुनि ।।
तैंसिय मृदु पद-पटकनि, चटकनि कट तारन की ।
लटकनि, मटकनि, झलकनि कल कुंडल हारन की ।।"

इस नाद-सौदर्य-पूर्ण शब्द-योजना के माधुर्य की समता करनेवाली पक्तियाँ स्वभावत मधुर ब्रजभाषा के भी दूसरे कवियो की रचनाओ में कठिनता से ही मिलेंगी ।

रास के पश्चात् सयोग का यह दृश्य अश्लीलता की सीमाओ को बचाता हुआ भी कितना मादकता-पूर्ण सरस और चित्रोपम है—

हार, हार में उरझि, उरझि बहियाँ मैं बहियाँ ।
नील पीत-पट उरझि, उरझि बेसर नय महियाँ ।।

और फिर यमुना मे कृष्ण के साथ जल-विहार करते हुए ब्रज-बालाओ की भाव-भगी का यह दृश्य जितना स्वाभाविक है, उतना ही मनोहर भी है—

"छिरकत हैं छबि छैल, जमुन-जल अंजुलि भरि-भरि ।
अरुन कमल-मंडली फाग खेलत जनु रँग करि ।।
रुचिर दृगंचल चंचल अंचल में झलकत अस ।
सरस कनक के कंजन खंजन जाल परे जस ।।"

इस प्रकार अनेक सरस दृश्यो एव मधुर भावनाओ के सविधान से युक्त नददास की यह अनुपम रचना समाप्त होती है ।

नददास की कीर्ति को अमर बनाने के लिए यद्यपि उनकी ये दो छोटी रचनाएँ—भँवरगीत और रास पचाध्यायी ही पर्याप्त थी, पर उन्होने इनके अतिरिक्त और भी सुदर कृतियो की सृष्टि की है। यहाँ पर उनके सबध में विस्तृत विवेचन करने का तो अवकाश नही है, पर उनका सक्षिप्त निर्देश अवश्य किया जाना चाहिये।

'रूप-मजरी' एक रस-पूर्ण प्रेम-कहानी के आवरण में वास्तव में एक रूपक-कथा है। इसमें पुष्टिमार्ग के सिद्धातो का प्रेम-साधना के क्षेत्र में व्याप्त व्यावहारिक रूप निर्दर्शित किया गया है। नददास कहते हैं—

"भूत छिऐं, मदिरा पिऐं, सब काहू सुधि होइ ।
प्रेम-सुधा-रस जो पिऐं, तिहि न रहै सुधि कोइ ।।
जदपि अगम ते अति अगम, निगम कहत है ताहि ।
तदपि रँगीले प्रेम ते, निपट निकट प्रभु आहि ।।"[१]

रूप मजरी के सुदर वय का वर्णन भी सुदर हुआ है जैसे—

"ता भूपति के भवन की, उदै निवारै साँझ ।
बिन हीं दीपक दीप जनु, दिए कुँवरि घर-माँझ ।।
बाल-बैस को रूप जनु, दीप जग्यौ जग ऐन ।
उडि-उड़ि परत पतंग ज्यो, नर-नारिन के नैंन ।।"

इस रचना में प्रसगवश षट्-ऋतु वर्णन को भी स्थान मिला है।

'विरह-मजरी' में एक व्रजबाला के विरह-वर्णन के बहाने 'बारह मासा' लिखा गया है। कवि ने सयोग में वियोग का कारण देते हुए कितना सुदर कहा है—

"हौ जानौ पिय-मिलन ते विरह अधिक सुख होइ ।
मिलि तें मिलिऐ एक तें, बिछुरैं सब ठाँ सोइ ।।
और भाँति ब्रज कौ बिरह, बनैं न काहू अग ।
पूरनता हरि ब्रह्म की, परत न ता मैं भग ।।

'प्रस्न भयौ इक, सुदर स्याँम, सदाँ बसत बृंदावन-धाँम ।
वाको विरह जु उपज्यौ महा, कहौ 'नंद' सो कारन कहा ।
परम प्रेम उच्छलन को, बढ़यौ जु तन-मन-मैंन ।
ब्रज-बाला बिरहिन भई, कहत चंद सो बैंन ।।

जलचर ज्यो जल-भीर में, परसत नाहिन पीर ।
बिछुर परैं जब तीर पै, तब जानें गुन-नीर ।।"

और इस प्रकार नददास ने विरह के चारो अग—प्रत्यक्ष, पलकातर, बनातर और देशान्तर का वर्णन वर्ष के बारह महीनो के साथ किया है । जैसे—

बैसाख

या विधि बल बैसाख जो, बीत्यौ सुख-दुख लागि ।
सँडसी भई नुहार को, छिन पाँनी छिन आगि ।।

ज्येष्ठ

"तनक न रही उमेंठ, कहियो नवकिशोर सों ।
निपट निलज यै जेठ, धाइ धाइ बधुश्रॅन गहत ।।

भादो

भादो अति दुख-ऐंन, कहियो चब गुबिंद सो ।
घन औ धन के नेंन, होइन बरसत रैंन-दिन ।।

क्वार

कहियो उद्धव उदार, सुवर नंद किसोर सो ।
अस कुस कीन्हीं क्वार, हार-भार हू डरत जिय ।।

माघ

माह मास के कदन करि, मास रह्यौ नहिं देह ।
सास रही घट लिपट कें, बदन-चहन के नेह ।।"

'स्याम-सगाई' मे कृष्ण और राधा की सगाई के सबध में कुछ सरस प्रसगो की उद्भावना करके कवि ने एक मनोहर कथा कही है। सारी रचना प्रसाद गुण-पूर्ण सरस पद्यो से भरी पडी है।

"इक दिन राधा कुँवरि, नद-घर-खेलन आई ।
चंचल और बिचित्र देखि, जसुमति मन-भाई ।।
नंद मैहेरि मन में कह्यौ, देखि रूप की रासि ।
यै कन्या मो स्यांम-लगि, गोबिंद-पुजिबे आस ।।
—कि जोरी सोंहनी ।
तेरो राधे कुँवरि, स्यांम मेरौ अति नींकौ ।
तुम किरपा करि करौ, लाल मेरे कौ टीकौ ।।
सब भाँतिन सुख होइगौ, हम-तुम्ह बाढै प्रीति ।
और न कछु मन में चहो, यही जगत की रीति ।।
—परसपर कीजिऐ ।
रांनी उत्तर दियौ, नांहिं यै करो सगाई ।
मेरी राधा सुधि, स्यांम तेरौ अतिहिं चबाई ।।
वौ ढोठा लगर महा, दधि-माँखन कौ चोर ।
कहॅत-सुनॅत लज्जा नहीं, करत और सो और ।।
—कि लरिका अचपलौ ।
मन हरि लीन्हो स्यांम, परी राधे मुरझाई ।
बौहोत सिथिलि भई देह, बात कछु कहत न जाई ।।
दौरि सखी कुजन चलीं, नेंनन डारत नीर ।
अरी बीर, कछु जतन करि, ब्याकुल-बिरह-सरीर ।।
—हरयौ मन मोंहनौं ।"

'रुक्मिनी-मगल' मे श्रीकृष्ण-द्वारा रुक्मिणी-हरण की कथा है। जैसे—

"सिसुपालहिं को देति, रुकिमिनी बात सुनीं जब ।
चित्र लिखी-सी रही, दई यै कहा भई अब ।।
चकित चहूँ दिसि चहति, बिछुरि मनु मृगी-माल ते ।
भयौ बदॅन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नाल ते ।।

अलि पूँछति वलि बात, कहौ नैंनन क्यो पाँनी।
पुहुप-रैंनु उडि परी, कहति तिन्ह सो मृदु-बाँनी॥

टप, टप, टप, टप, टपकि नैंन सो अँसुवा ढर-हीं।
मनु नवनील-कमल-दल ते भल मुतियाँ झर-हीं॥

सुक, पिक, चातक-सबद, सुमीठी-धुँन यो रट-हीं।
मनों मार-चटसार, सुढार चटा से पढ-हीं॥
और विहंगम रंगन-भरि, बोलत हिय-हर-हीं।
मनु तरुवर रस-भरे, परसपर बातें कर-हीं॥"

सिद्धात-पचाध्यायी में रास-पचाध्यायी के आध्यात्मिक पक्ष को पुष्टिमार्ग के सिद्धातो के आधार पर स्पष्ट किया गया है। दशम स्कध मे श्रीमद्भागवत के दसवें स्कध के पहले उनतीस अध्यायो की कथा सक्षेप में चौपाई तथा दोहा छदो मे कही गई है। यह ग्रथ यद्यपि रचना-परिमाण की दृष्टि से सबसे बडा है, पर कवि नददास की सहज भावुकता के दर्शन इसमे प्राय नही होते। हाँ, दार्शनिक सिद्धातो के प्रतिपादन की दृष्टि से अवश्य इसका महत्व है।

नददास के स्फुट पद भी काव्य-कला की दृष्टि से असाधारण कोटि के है। वे भाषा के कोमल और सरस साँचे मे ढल कर सगीत की ध्वनि पर थिरकते हुए अनोखे सुदर रूप में अवतरित हुए है। जैसे—

राग-आसावरी

"जुरी चलीं है बधावन नंद महैर-घर, सुंदर ब्रज की बाला।
कंचन-थार-हाथ चंचल छवि, कहि न परत तिहि काला॥
डहडहे मुख कुंमकुम-रँग-रंजित, राजत रस के ऐंना।
कजन पर खेलत मनो खंजन, अंजन जुत बने नैंना॥
दमकत कठ पदक, मनि-कुंडल, नवल प्रेम-रँग बोरी।
आतुर गति मनु चंद उदै भएँ, धावत त्रिषित चकोरी॥
खसि-खसि परत सुमन सीसँन ते, उपमा कहा बखानो।
चरन चलन पर रीझि चिकुर-बर, बरखत फूलँन मानों॥
गावत गीत, पुनीत करत जग, जसुमति-मंदिर आँई।
बदन-बिलोक बलैयाँ लै-लै, देति असीस सुहाई॥
मंगल-कलस निकट दीपावलि, देखि-देखि मन भूल्यौ।
मानों आगम नंद-सुवन के, सुबरन-फूल ब्रज फूल्यौ॥
ता पाछें गँन-गोप ओप सो आए, अति सँ सोहै।
परमानंद कद रस-भींने, निकर-पुरंदर को है॥
आँनदघन ज्यो गाजत राजत, बाजत दुदुभि-भेरी।
राग-रागिनी गावत हरखत, बरखत सुख की ढेरी॥
परम धाँम, जग-धाँम, स्याँम अभिराँम श्रीगोकुल आए।
मिटि गए दुद 'नद दासन' के, भए मनोरथ भाए॥"

—बधाई-पद

राग-अडाना

"जरि जाओ-री लाज, मेरें ऐसी कौन काज आवै, कमल-नैंन नीकें करि देखन न दीने।
बन ते आवत मारग में भेंट भई, सकुचि रही-री इन लोगँन के सीने॥

कोटि जतन करि हारी-री निहारिबे कों, अँचरा की ओट दै-दै कोटि स्रम कीने ।
'नंददास' प्रभु-प्यारी ता दिन ते मेरे नैंना, उनहीं के अंग-अंग-रंग-रस भींने ।।"
—शयन-समय

"तेरी भोह की मरोरंन ते ललित त्रिभंगी भयौ, अंजन दै चितई तौ भए स्याँम बाँम ।
तेरी मुसिकाँनि देखि दाँमिनि-सी कोंध जात, बीन लै जाँचत प्यारी लेत राधे आधौ नाँम ।।
ज्यों-ज्यों नचायौ चहै, तैसे-हीं हरि नाचत बलि, अब तौ भया कीजै चलिऐ निकुंज-धाँम ।
'नंददास' प्रभु बोलौ तौ बुलाइ लाऊँ, उनको तौ कलप बीतें, तेरी घरी जाँम ।।"
—राग-अड़ाना

"तुम्ह पैंहलें तौ देखौ आइ मानिनी की सोभा लाल,
पाछे तें मनाइ लीजै प्यारे हो गुबिंदा ।
कर पर धरि कपोल, प्यारी रही नैंन-मूंदि,
कमल-बिछाइ मानों सोयौ सुख चंदा ।।
रिस-भरी भोह ता पै भौंरा बैठे अरबरात,
इंदु तर आयौ मकरंद-हित अरविंदा ।
'नंददास' प्रभु ऐसी काहे को रुसैऐ बाल,
जाके मुख देखे ते मिटत दुख-द्वंदा ।।"
—मान

नंददास के पद-साहित्य पर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है—खाटी स्वर्ण को कसौटी पर कसकर देखने जैसा है ।

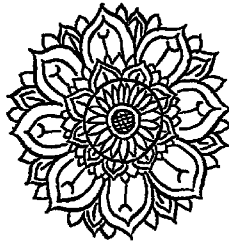
नंददास केवल कवि और दार्शनिक ही नहीं, भाषा और साहित्य-शास्त्र के भी आचार्य थे । मान-मंजरी, (नाममाला) नामक ग्रंथ में उन्होंने अमरकोष के आधार पर एक पर्यायवाची शब्द-कोष का निर्माण किया है । इसकी एक अद्भुत विशेषता यह है कि जिन शब्दों के पर्याय लिखे गये हैं, उन्हीं शब्दों को लेकर राधा की मान-कथा का भी वर्णन किया गया है और यह वर्णन इतने सुंदर तथा आकर्षक ढंग से हुआ है कि कहीं पर कृत्रिमता अथवा अस्वाभाविकता की झलक भी नहीं दिखायी देती । 'अनेकार्थ-मंजरी' में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दोहों में दिये गये हैं । 'रस मंजरी' नायक-नायिका-भेद संबंधी रचना है । हिंदी में कृपाराम मिश्र की 'हिततरंगिणी' इस विषय का पहला ग्रंथ है और यह दूसरा । इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के लक्षण इसमें इतनी सरसता से दिये गये हैं कि उनसे न केवल नायिकाओं का स्वरूप ही स्पष्ट होता है, वरन् मौलिक काव्य-रस का आनंद भी प्राप्त होता है । उदाहरण के लिए उत्कंठिता का लक्षण देखिये—

"बाँधि सँकेत पीउ नहिं आवै ।
चिंता करि तिय अति दुख पावै ।।
आरति कर संताप जुडाई ।
तन तोरति अरु लेति जँभाई ।।
भरि-भरि नैंन अवस्था कहै ।
उत्कंठिता नाइका सु अहै ।।"

नंददास के संबंध में यह कथन समाप्त करने से पहले उनके उस 'रसिक मित्र' का स्मरण और वंदन करना आवश्यक है जिसकी प्रेरणा से उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ निर्मित कर ब्रज-भारती को अर्पित की । नंददास से जो माधुर्य-गुण-पूर्ण श्रेष्ठ काव्य-संपदा हिंदी को प्राप्त हुई है, उसके लिए हिंदी-संसार को नंददास से भी अधिक उनके इस 'विचित्र मित्र' का आभार स्वीकार करना चाहिये ।

नददास रचित-ग्रथो के प्रति बडे भ्रामक विचार रहे है। उनकी सख्या कोई कुछ और कोई कुछ मानता था। यही नही, एक ही ग्रथ विशेष को, प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो में लिखे नाम-भेद के कारण पृथक्-पृथक् कई ग्रथो के रूप में मान लिया गया है। उदाहरण के लिए 'नंददास' की 'अनेकार्थ-मजरी' के "अनेकार्थ-भाषा, अनेकार्थ-मंजरी, अनेकार्थमणि-मजरी, अनेकार्थनाम-माला, अनेकार्थ-मणिमाला और अनेकार्थ-माला" नाम मिलते है, जिन्हें हिंदी-साहित्य के इतिहासकारो ने पृथक्-पृथक् ग्रंथ मान लिया था। इसी प्रकार और भी। भला हो 'जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा' का जिन्होने सर्वप्रथम कलकत्ता के 'विशाल भारत' में, जब कि उसके सपादक माननीय बनारसीदास चतुर्वेदी थे, नददास के वास्तविक ग्रथो पर प्रकाश डाला। अस्तु नददास की प्रामाणिक ग्रथ-रचनाएँ इस प्रकार है—

"पाच मंजरी-ग्रथ—रस-मंजरी, विरह-मंजरी, अनेकार्थ-मंजरी, मान-मंजरी, रूप मंजरी। रास-पचाध्यायी, श्यामसगाई, गोवर्धनलीला, भ्रमरगीत, रुक्मिणीमंगल, सुदामा-चरित्र, भागवत-दशम स्कंध, सिद्धांत-पंचाध्यायी, मालिनलीला, बीणावादिन,-लीला, प्रेम-बारहखड़ी (नवीन खोजसे प्राप्त) और पदावली।"



पुष्टिमार्गीय सिद्धांत की आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि

श्री प्रो० कंठमणि

सांस्कृतिक परपराओ से ओतप्रोत भारतीय दिव्य जीवन के मूल-स्रोतो में जिन मौलिक तत्वो का समावेश है, उनमें अध्यात्मवाद अपने आप मे परिपूर्ण, अगाध अथच सर्वतोविलक्षण एक ऐसा तत्व है जिसकी कोई उपमा नही और नही जिसका कोई प्रतिबिंब। वह सहृदयैक सवेद्य शाश्वत सत्य, शिव, सुदर विज्ञान है जो आप ही आप भारतीय जीवन-धारा को अनत काल मे अविच्छिन्न प्रवाहित करता आया है और करता रहेगा। उसे 'लौकिक' कहो चाहे 'अलौकिक', अध्यात्म वाद की परिस्फुटना समय-समय पर उन गभीर विचारशील महापुरुषो की गवेषणाओ के द्वारा होती रहती है जो अपने युग के प्रवर्तक, विभूति एव आदि पुरुष माने जाते हैं।

भारतीयता के विशाल अचल में जिन कल्याणकारी आदर्शों की समय-समय पर अभिव्यजना हुई है, उनमें जीवन को सरल, सुखद और सरस बनानेवाला एक मार्ग भक्तिमार्ग है जो अनादिकाल से मातृत्व-भावना के प्रतिफल रूप वात्सल्य, विश्व-बधुत्व की भावना के प्रतिफल रूप सख्य और दापत्यभावना के प्रतिफल रूप माधुर्य-भाव से विश्व की क्रीडास्थली मे मानव-जीवन के साथ अनुस्यूत होता चला आ रहा है। मानव-समाज ने जब से मानवता की उपाधि धारण की यह तीनो उसके जीवन के मूल आधार रहे हैं और भविष्य में रहेंगे।

पाश्चात्य आदर्श की भाँति भारतीय आदर्श कभी एकागी नही रहा है। वह भौतिकता के परिधान से वेष्टित होता हुआ भी उसकी सीमा को लाँघ कर कही दूर, बहुत दूर उस व्यापक क्षेत्र तक विस्तृत हो गया है जिसमें भौतिक, आत्मिक और दैविक इन तीनो वादो का पर्यवसान हो जाता है।[1] यह सूक्ष्म ईक्षिका उन विचारशील महापुषो के द्वारा व्यक्त होती आई है, जिन्हे वैदिक-सज्ञा में मत्र-दर्शी ऋषि, पौराणिक-संज्ञा में 'व्यास' और साम्प्रदायिक-सज्ञा में 'आचार्य' के अभिधान से अभिहित किया जाता है।

निगम-कल्पतरु की शुभोदर्कोदयशालिनी लहलहाती भक्ति-शाखा में भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे कई मनोहर सुमनो का यथा समय विकास हुआ है जो सामयिकता की अतर्वाणी में मरणोन्मुख-जीवन को ओजस्विनी चेतना प्रदान करने वाले ही नही थे, अपितु विविध आपदा-विपदाओ के सघर्षो से उसे सुरक्षित रख कर भविष्य के लिये विश्व-कानन को स्वकीय आध्यात्मिक सौरभ से सुवासित करने वाले थे। भारत के प्रागण मे वही मत, वही सप्रदाय, वही आदर्श पनप सका जो जन-जीवन के लिये अनिवार्य आवश्यक लौकिक और अलौकिक इन उभयवादो का मौलिक रूप में व्यावहारिकतया समन्वय कर सका। स्थिति-स्थापकता की उपेक्षा न कर निजी मौलिकता के अर्थ उद्ग्रीव रह सका। शेष ? शेष अस्त, ध्वस्त और परास्त हो जाने के कारण उन्मूलित कर फेंक दिये गये। इतिहास इसका साक्षी है और सुधी-समुदाय इसका निर्देशक है।

धार्मिक तत्व

वेद-शास्त्रादि प्रतिपादित विश्व जनीन एक ही धर्म, प्रादेशिक सघर्षों पर विजय पाने के लिये देश-काल-व्यवस्था, सामाजिक सघर्षों पर विजय पाने के लिये वर्ण-व्यवस्था, पारिवारिक सघर्षो से बचाने के लिये तत्तदधिकारानुकूल आश्रम-व्यवस्था और एषणाओ पर विजय लाभ के लिये नित्य-नैमित्तिक काम्य-कर्म आदि कर्त्तव्य व्यवस्था के कारण विविध रूप हो जाता है। त्रिविध गुण एव विभिन्न परिस्थितियो के विभेद-वश तो

[1] आध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविक. ।
यस्तत्रोभय विच्छेदः सःस्मृतो आधिभौतिकः ।।

इस धर्म में विशेष विभिन्नताएँ विज्ञात होने लगती है, जिससे धर्म का वास्तविक मौलिक स्वरूप साधारण कोटि के जन-समाज के मस्तिष्क में नहीं आता। फलत जहाँ कुछ स्थूल-प्रज्ञ व्यक्ति उसका समन्वय न कर सकने के कारण उसका विरोध करते हुए निष्कारण समाज के संमुख धर्म को एक विभीषिका के रूप मे उपस्थित करते है, वहाँ स्थित-प्रज्ञ आचार्यवर्य उसके वास्तविक रूप से सामयिक समाज को अपने उपदेशो-द्वारा परिचित करा उस की उपादेयता का प्रचार करते है, तदुपरि आपातत आगत आवरणो का निवारण करते है। उक्त परिस्थितियो को ध्यान-पथ में रख कर जब प्रशस्य धर्म-रहस्य समझने की चेष्टा की जाती है, तभी उसका स्वच्छ सर्वजनीन स्वाभाविक रूप हृदयगम होता है। अन्यथा वह परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होने लगकर विवाद एव अव्यावहारिकता का विषय बन जाता है।

"यस्तर्केणानु संधत्ते सधर्मं वेद नेतरः।"

इस वाक्य के 'तर्क' शब्द से यही स्वारस्य प्रकट होता है।

भारतीय काल-गणना के आधार पर निर्धारित चतुर्युग का एक विशेष महत्व है जो देश के मानव-जीवन के व्यापक कार्य-क्रम को परिदर्शित करने वाला एक प्रकार से नैतिक स्तर का सूचक परिपत्र है।

कृतयुग में सामूहिक जीवन-स्तर को सूचित करनेवाले धर्म के चार चरण—तप, शौच, दया और सत्य वर्तमान रहते है। त्रेता में तप के अतर्हित हो जाने पर धर्म त्रिपाद्, द्वापर में तप और शौच के अतर्हित हो जाने से द्विपाद् और कलि में तप, शौच तथा दया इन तीनो के अतर्हित हो जाने से वह धर्म एकपाद् माना जाता है। समय-प्रवाह से अतर्हित धर्म के उक्त साधन तत्तद्युगो में सर्वथा नष्ट न होकर न्यून प्रचार, कष्ट-साध्य एव फल-दान में प्राय असमर्थ हो जाते है। इसीलिये अपवाद रूप में इनका क्वचित्-क्वचित् अनुष्ठान परिलक्षित होता रहता है।

धर्म का प्रतिपक्षी अधर्म है। उसके भी चार चरण है, जो स्मय (गर्व), सग, मद और अनृत के रूप है। भागवतीय प्रथम स्कध के 'पृथ्वी-धर्म सवाद' के अध्यायो में धर्म को 'वृषभ' स्वरूप कहा गया है, जिसका गंभीर वैज्ञानिक रहस्य है। इधर अधर्म, अहकार किंवा अविवेक रूप होने के कारण, रासभ स्वरूप है। धर्म के चरणो के लिये जहाँ प्रमाण-प्रवृत्ति रूप दो शफो (खुरो) की आवश्यकता है, वहाँ अधर्म प्रवृत्ति रूप एक शफ (खुर) वाला ही है। उसके लिये प्रमाण की आवश्यकता न होकर केवल मात्र प्रवृत्ति ही पर्याप्त है। आप्त शास्त्रो के प्रमाण-वाक्य और आदर्श पुरुषो की प्रवृत्ति के उदाहरण जन-समाज को धर्माचरण के लिये उद्बोधित एव उत्साहित करते है, वहाँ पापाचरण के लिये न तो किसी प्रमाण-वाक्य की अपेक्षा होती है और न प्रवृत्ति के किसी उदाहरण की परमुखापेक्षिता की ही। उसमें स्वाभाविकतया जीवो की प्रवृत्ति हो जाया करती है। अत इन दोनो के चरणो की विभिन्नता प्रत्यक्ष सिद्ध है। सक्षेपत धर्म द्वि शफ है और अधर्म एक शफ।

सामयिक-वैशिष्ट्य

धर्माधर्म की स्थिति एव प्रचार के लिये देश-काल की अपरिहार्य उपयोगिता है। देशात्मक यह समस्त धरा-मडल किसी एक के चार चरणो के ही प्रतिष्ठान के लिये परिमित है। फिर वे चाहे केवल धर्म के हो किंवा अधर्म के अथवा व्यतिक्रम रूप से दोनो के। धर्म और अधर्म यह दोनो स्वकीय स्थिति का विस्तार देश की विशालता के अनुरूप कर लिया करते है। क्षेत्र का परिणाह उभय के लिये समान है। इसी प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति भेद से काल भी दोनों के लिये समान है, उसमें किसी एक के लिये पक्षपात नही है। युग-प्रवृत्ति में काल-धर्म का संस्थापक और युग-निवृत्ति में वही अधर्म का सस्थापक होता रहता है। इस कारण जहाँ किसी एक के चरणो की प्रवृत्ति होती है, वहाँ अन्य की स्वत निवृत्ति होने लग जाती है। प्रकृति परिवर्तन के कारण से ही अपरिच्छिन्न काल कृत, त्रेता, द्वापर और कलि इन अवच्छेदको (खडो) के द्वारा व्यवहृत होता है।

इस कथन का यह निष्कर्ष है कि केवल धर्म के अवच्छेदक काल की सज्ञा 'कृतयुग' है और केवल अधर्म के अवच्छेदक काल की कलि। भागश दोनों के अवच्छेदक काल को त्रेता और समान दोनो के अवच्छेदक काल को द्वापर कहते है।

"ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् ।"

इत्यादि श्रुति इसी अर्थका प्रतिपादन करती है ।[1]

उपर्युक्त स्मय, मग,मद और अनृत इन चार चरणों वाले अधर्म-प्रचुर कलियुग में जब कि धर्म का एक ही चरण सत्य, अनृत से बाधित न होकर प्रवृत्तिशील रहता है तो एक ऐसा मनोरम अवसर भी उपलब्ध होता है जो साधन-हीन साधकों के लिये क्षिप्र फल-दायक गिना जाता है। वह समय कलि के आद्य दश सहस्र वर्षों का है।[2]

ब्रह्माड पुराण मे कलियुग के आदिम दश सहस्र वर्षात्मक समय की सार-युक्तता और अवशिष्ट समय की सार-हीनता का युक्ति-पूर्ण विशद वर्णन किया गया है । वहाँ कलियुग को पुच्छ-सहित यव की उपमा देकर उसके प्राथमिक दस हजार वर्षों को 'यवाकारवत्' एव अवशिष्ट वर्षों को यव की सत्वहीन तुषमात्र पुच्छ के समान बतलाया गया है । जिस प्रकार यव, सत्व-सपन्न होते हुए भी अपेक्षाकृत अत्यधिक अपनी सत्वहीन पुच्छ से अतिशय अल्प होता है, उसी प्रकार कलिका आदिम १०००० वर्षात्मक काल स्वल्प होते हुए भी सत्व-विशिष्ट और अवशिष्ट भाग अधिक होते हुए भी, सर्वथा सार-विहीन है । यहाँ सत्व (सार) का तात्पर्य उस अगाध आध्यात्मिकता से है, जो भारतीय सस्कृति का मेरुदड है । जिसके बिना उसकी स्थिति सर्वथा असभव है । नि सत्वता से तात्पर्य उस भौतिकता से है जो मृत कलेवरवत् है ।

यव के प्रारभिक भाग मे केवल तुष की एक तीखी नोक होती है, उसके ऊपरी भाग में तुष और भीतर प्रारभ में क्रमश वर्द्धिष्णु सत्व होता है । मध्यभाग में पूर्ण सत्व और अतिम भाग मे क्रमश क्षयिष्णु सार-भाग होता है । ठीक इसी प्रकार की स्थिति कलियुग की भी कही गई है । कलि की नि सारता धर्मग्लानि और सत्वविशिष्टता उसकी धर्म-स्थिति तथा धर्म-सरक्षण की सूचक है । कलि के प्रारभिक काल से अद्यावधि घटित धार्मिक इतिहास की घटनाओं का सिंहावलोकन करने से यह कथन अक्षरश चरितार्थ हो जाता है ।

कलि की प्रारभिक अवस्था में यव की नोक के समान नि सत्वता । रूप जब धर्म-ग्लानि का समय आया तब धर्म-चक्र के आधिदैविक धर्मी स्वरूप परब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण अपने लीलानाटच का सवरण कर अतर्हित हो गये । अनतर उसके आधिभौतिक स्वरूप धर्मराज युधिष्ठिर भी स्वक्रिया-शक्तियों के साथ भूतल का परित्याग कर गये । भागवत में वर्णित 'पृथ्वी-धर्म-सवाद' तथा 'कलि-निग्रह' नामक प्रसग हमारे सन्मुख इसी वृत्तात का चित्रपट उपस्थित करते हैं ।

इस प्रारभिक धर्म-ग्लानि के अनतर यव के समान कलि में क्रमश सत्व स्वरूप आध्यात्मिक भागवत-धर्म का विकास होने लगा । यद्यपि यव के उपरितन तुष के तुल्य परित नि सत्वता के कारण समय-समय पर धर्म परिम्लान होता था, पर साथ ही साथ मध्यस्थ सत्व की क्रमिक अभिवृद्धि होते रहने से उसका सर्वथा लोप होना सभव नहीं था । ऐतिहासिक परपरा के साथ एकवाक्यता करते हुए इस समय का परिचय हमे उस रूप मे उपलब्ध होता है जब भगवान बुद्धावतार के द्वारा वैदिक धर्म का उच्छेद हुआ और तदनु नास्तिकता के प्रबल आघात से भौतिक भोगवाद का जन्म हुआ । इसके अनतर कुमारिल भट्ट, मडन मिश्र जैसे प्रकाड पडितो और जगद्गुरु शकराचार्य के द्वारा वैदिक धर्म की पुन प्रतिष्ठा से आस्तिकता पनपी, फूली और फली । कठोर कर्मवाद

[1] तप शौच दया सत्यमिति पादा. प्रकीर्तिताः ।
अधर्मांशै स्त्रयो भग्ना. स्मय संगमदैस्तव ॥
—भाग० प्र० स्क० अ० १७।२३ सुबोधिनी

[2] कलौ दश सहस्त्रेण विष्णुस्त्यक्ष्यति मेदिनीम् ।
तदर्द्धं जान्हवीतोयं तदर्द्धं सर्व देवता· ॥
—ब्रह्माड

कृते यद्ध्यायतो विष्णु त्रेताया यजतो मखै. ।
द्वापरे परिचर्याया कलौतद्धरिकीर्तनात् ॥
—भागवत प्र० स्क०-कारिका

की शृखलाओ को तोडकर जन-जीवन ने ज्ञान-विज्ञान के उन्मुक्त वातावरण में सास ली। इस परिवर्तन के अनतर यव की क्रमिक वर्धिष्णु अत सारतावत् यथा समय श्री विष्णुस्वामी, उनके सिद्धात-प्रवर्तक अनेक आचार्य, पूजनीय रामानुजाचार्य एव मध्वाचार्य-आदि ने अवतार लेकर अपने उपदेशामृतसिंचन-द्वारा जीवो के कल्याणार्थ भागवत धर्म की अभिवृद्धि की। यह समय कलि के दो हजार मे चार हजार वर्षो के भीतर का माना जा सकता है।[१]

यवाकार के प्रतिरूप कलि का सत्व-विशिष्ट मध्यभाग उसके ४५०० वर्षो के अनतर ५५०० वर्षो के भीतर मानना चाहिये। इसमें भी अधिक सत्व-पूर्ण विशिष्ट मध्य भाग तो ५००० वर्षो के लगभग ही परि-गणित किया जा सकता है। कलि के पाच हजार वर्ष पूरे हो जाने पर यवाकारवत् उसकी क्रमिक सत्वहीन स्थिति का प्रारभ होने लगता है। अततोगत्वा नि सत्वावस्था में उसके दस हजार वर्ष पूर्ण हो जाते हैं। अवसान में यव की पुच्छ के समान उसका सार-विहीन अतिम अधिक लवा भाग अवशिष्ट रह जाता है। कलि के इस सार-वृद्धि-ह्रास के अनुरूप धार्मिक भावनाओ एव क्रिया-कलापो में समाज-रुचि का भी वृद्धि-ह्रास होना रहता है। अत में एक ऐसा भी समय आता है जब केवल मात्र प्रभूत भौतिकवाद ही व्याप्त हो जाता है। सर्वथा आध्यात्मिक भावना से विहीन भौतिकता ही जन-जीवन का उपादेय पुरुषार्थ मानी जाती है। इस समय को पुराण अपनी परिभाषा में 'घोर कलि-काल' नाम से पुकारते हैं।

भारतीय निगमागम के कथनानुसार जन-समाज के लिये कल्याण मार्ग के निर्माण का ऐसा सुअवसर-तथाकथित कलि के आद्यदशसहस्र वर्षो के मध्यभाग जैसा फिर नही आता। वास्तव में विक्रम की सोलहवी शताब्दी, जो उक्त निर्दिष्ट अवधि के भीतर आई—आध्यात्मिकता के लिये सुवर्ण-काल थी। यही तो आर्य जाति के पुन जागरण का वह उप काल था, जब भागवत-मूर्धन्य महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य ने अपने हरि-सकीर्तन की ध्वनि-द्वारा सुषुप्त समुदाय के कर्ण-कुहरो में आत्म-चेतना का परिषेचन किया था। गिरिधर गोपाल के प्रेमोद्दाम प्रेम-रस में मदमाती मीरा ने आत्मिक-भावना में विभोर होकर अपनी कोमलकातपदावली गाकर जन-मानस को उल्लसित किया था। रामचरित-मानसकार महात्मा तुलसीदास ने अभिनव उच्च आदर्श स्थापित कर समाज की रग-रग में रक्त का सचार किया था। बाल गोपाल की रूप-माधुरी पर निछावर होने वाले, 'द्विविध आँधरे' भक्त कवि सूरदास ने जगत को साहित्यिक दिव्य प्रकाश प्रदान किया था। इस महापुण्यमय सक्राति के अवातर काल में जिन अन्य महानुभावो ने अवतार लिया, उन्होंने अपनी-अपनी साहित्यिक साधना की सुर-सरिता के आध्यात्मिक प्रवाह से समस्त भारत को आप्लावित कर दिया था।

इसी समय जबकि भारतीय सास्कृतिक-आध्यात्मिक परपरा को सर्वविध क्राति ने आक्रात कर क्लृ-पित कर दिया था, स० १५३५ वि० में वदनीय विभूति वल्लभाचार्य का प्राकट्य हुआ। इस महापुरुष ने स्वीय करुणापूर्ण वाणी में तत्सामयिक भारतीय मानव-जीवन के रेखा-चित्र को हमारे सम्मुख उपस्थित किया—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खल धर्मिणि।
पाषड प्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम॥

[१] यवाकार. कलिर्ज्ञेय. काल रूपेण केवलम्।
सपुच्छस्तु यवो ज्ञेयः पुच्छ शुष्कमिति स्मृतम्॥
आद्यं दश सहस्त्र तु यवरूपं प्रकीर्त्तितम्।
तदूर्ध्व पुच्छ संज्ञ स्यात् कलिकालंतु नीरसम्॥
तुषाधिकोऽल्पसत्वश्च ह्यादावंते यवो भवेत्।
सत्वाधिको मध्य भागे पुच्छे सारांश वर्जितः॥
—सम्प्रदायप्रदीपस्थ ब्रह्माड पुराण-वाक्य

म्लेच्छाक्रांतेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्र लोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।।
नानावाद विनष्टेषु सर्व कर्म व्रतादिषु ।
पाषडैक प्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।।
अपरिज्ञान नष्टेषु मंत्रेष्वव्रत योगिषु ।
तिरोहितार्थ दैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ।।
—कृष्णाश्रय स्तोत्र

अपरिग्रह वृत्ति, सौम्य साधुजीवन को कार्य रूप मे प्रतिफलित कर समस्त भारत का त्रिवार पदातिपरिभ्रमण करते हुए प्रसुप्त समाज को उपदेशामृत पिलाकर जागृत किया। सिद्धात-प्रतिपादन-द्वारा उन्होने मस्तिष्क को विवेकशील बनाया और विषम परिस्थितियो का सामना करने के लिये उसके शरीर को सुदृढ साँचे में ढाला।

यौगिक समन्वय

आप श्री ने स्वकीय सिद्धातो-द्वारा ऐसे मार्ग का प्रचार किया जिसमें न तो कठोर कर्मवाद की जडता थी, न थोथे ज्ञानवाद की उलझी हुई पहेलियाँ थी और न था नीरस भक्तिवाद का आडवर। यह सत्य है कि भारतीयता ने कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनो के योग (कर्म कौशल की समन्वयात्मक पद्धति) को नैज उभय-विध उन्नति का साधन माना था, पर मूल आचार्यों के अनतर विषयाववोध के लिये विरचित मीमासा और भाष्यो ने जैसे-जैसे प्रतिपाद्य वस्तु को विशद बनाने की चेष्टा की वह और दुर्ज्ञेय होती गयी।

कर्म रहस्य की मौलिक धारणा लुप्त प्राय हो गई और उसके विधि-विधानो, क्रिया-कलापो, आचार-विचारो और वाह्याडवरो ने समाज-जीवन को इतना ढक लिया कि जहाँ उसके सैद्धातिक शुद्ध स्वरूप के दर्शन दुर्लभ हो गए वहाँ उस की अवाछनीय अनुशासन प्रणाली से उस को विराग हो गया। ज्ञान-विज्ञान के महान् भार और उस की उलझी हुई पहेलियो को सुलझाते-सुलझाते विचारशील सर्व सन्यास-पूर्वक कर्मक्षेत्र से निर्वासित होकर कैवल्य मोक्ष की साधना में तत्पर हो गये। समाज में सन्यास-धर्म की बाढ आ गई। नीरस भक्तिवाद के घटाटोप ने मानव जीवन के लिये एक विचित्र समस्या उपस्थित कर दी जिसके कारण वह उस की 'हेयोपादेयता' को भी न समझ सका, पूजा मार्ग का प्रवाह चल पडा।

फलत कर्मवाद ने ज्ञान-भक्ति का, ज्ञानवाद ने कर्म-भक्ति का और भक्तिवाद ने कर्म-ज्ञान की नि सारता का उद्घोष कर दिया था। जिस का परिणाम यह हुआ कि वे तीनो व्यवहार जगत् की वस्तु न रह कर केवल अध्ययन की सामग्री बन गये।

दूसरे शब्दो में हम उक्त कथन को इस प्रकार समझ सकते है कि जहाँ भारतीय जीवन शरीर, मस्तिष्क और हृदय इन तीनो के सापेक्षिक सतुलन अथच समन्वय से सवलित होना चाहिए था, वहाँ यह तीनो परस्पर विद्रोही वन गये थे। परिश्रमशील शरीर के आगे विज्ञानशील मस्तिष्क और भावनाशील हृदय की कुछ न वन पडी। उसने विचार और विवेक के नियत्रणको मानने से जहाँ विद्रोह कर दिया, वहाँ भावुकता को कायरता का रूप मान कर उसे तिलाजलि दे बैठा। विचारशील मस्तिष्क ने शारीरिक नश्वरता का इदमत्थतया निर्णय कर आत्मिक कोमल भावनाओ को तर्क के द्वारा ऐसी ठोकर लगाई कि वे फिर पनप न सकी। हृदय ने भी अपने को उभयत असहाय पाकर श्रम और विचार दोनो से अपना पिंड छुडा लिया, वह भावुकता का अपना अलवेला अलग वजाने लगा।

प्रथक्-प्रथक् वर्ग की स्थापना और उसकी स्वतत्रता समाज के लिये घातक हो जाती है, यदि उसमें सभूयसमुत्थान के सौष्ठव का सर्वथा लोप हो जाय। वे एकागीवर्ग अन्य का सहयोग न पाकर जहाँ स्वय विनष्ट हो जाते है, वहाँ दूसरे वर्ग के विनाश के लिये भी वे कारण छोड जाते है। अत समय की आवश्यकता थी कि उक्त तीनो सिद्धातो का सकलन एव यथोचित उपयोग किया जाय और उनके मौलिक समन्वय में जन-जीवन को आगे वढने के लिये सक्षम वनाया जाय।

इस प्रकार की सामयिक परिस्थिति के पर्यालोचन के अनंतर आचार्य महाप्रभु श्री वल्लभ ने जिस सिद्धांत की नींव डाली, उसे वाद-विवादों और समर्थ-विद्वानों की शास्त्रार्थ-सभाओं में प्रतिपादित वैदिक पद्धति पर प्रतिष्ठित 'शुद्ध-अद्वैतवाद' कहा जाता है। सिद्धांत और उपदेश-ग्रंथों में इसे शास्त्र-रीत्या प्रतिपादित 'निर्गुण-भक्ति' मार्ग कहते हैं और स्थापित सेवा-प्रणाली के रूप में हार्दिक भावना के अनुरूप 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। इस मार्ग में शारीरिक, मानसिक उभयविध शुद्धि के लिये कर्म की आवश्यकता है, अंध श्रद्धा के विनिवारण एवं विवेक-पूर्ण आचरण के लिये ज्ञान-मार्ग की उपादेयता है और उच्छृं खलता एवं पाखंड के अपाकरणार्थ वैष्णव-शास्त्रों में प्रतिपादित भक्तिमार्ग की उपयोगिता है। नारद पंचरात्रादि वैष्णव-शास्त्रों में निर्णीत भक्तिमार्ग निर्गुण पर अवलंबित होने के कारण सगुण भक्तिमार्ग कहा गया है। गुणत्रय से परे शुद्ध अंतःकरण की अभिव्यक्तियों—जिन्हें शमदमोपेत मानसिक निर्मल संवेदना किंवा आध्यात्मिकता की कोमल भावनाएँ कहा जा सकता है—विशेष प्रश्रय देने के कारण वल्लभाचार्य के सिद्धांत को निर्गुण[1] भक्तिमार्ग अथवा पुष्टिमार्ग[2] यह संज्ञा प्रदान की गई है।

वास्तव में अमुक वस्तु में गुण और दोष की बुद्धि करना ही दोष-बुद्धि है और इन दोनों से रहित उसके शुद्ध रूप की बुद्धि करना ही गुण-बुद्धि है—यही निर्गुणता की दृष्टि है। निर्दोष सम ब्रह्म की सृष्टि में परमार्थतः दोष और गुण वस्तुगत न होकर बुद्धिगत है जिनका पदार्थों पर आरोप कर लिया जाता है।[3] गुणबुद्धि से की गई प्रवृत्ति और दोषबुद्धि से की गई निवृत्ति इन दोनों से ऊपर उठकर असक्त बुद्धि से की गई अनवच्छिन्न भगवद्विषया मनोगति ही इस पुष्टि-मार्ग का मूल कारण है। येनकेनाप्युपाय से की गई ईश्वर-विषयक मनोगति में गुण-दोष बुद्धि के अवरोधक साधन नहीं आने चाहिये। गंगा-प्रवाहवत् शाश्वत आनंदोदधि में लीन होने के लिये जिस मार्ग का निर्देश किया गया हो, वही भगवत्कृपामार्ग है, अनुग्रहमार्ग है, पुष्टिमार्ग है।

प्रामाण्य परिदर्शन

महाप्रभु श्री वल्लभ-द्वारा संस्थापित शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग, किसी नवीन कल्पित धारणा के आश्रय एवं उच्छृंखलता के अभिशाप से उसे सुरक्षित रखने के लिये ही किसी शास्त्रीय वाक्य-प्रामाण्य पर अवलंबित नहीं किया गया है, अपितु भारतीय सांस्कृतिक और आध्यात्मिक परंपरा की सुरक्षा के लिये उसे उसी साँचे में ढाला गया है जिसमें उनके पूर्ववर्ती महर्षि उसे ढालते आये थे।

चारों वेद, जो सत्य के संशोधक, ईश्वरीय निःश्वास रूप एवं ज्ञान-विज्ञान के अनंत भंडार होने के कारण स्वतः प्रमाणमूर्धन्यता को प्राप्त हो चुके हैं, शब्दतः प्रमाण हैं। परस्पर अन्योन्य-रूप अन्य वाक्यों को छोड़ कर गीतोक्त श्रीकृष्ण-वाक्य, ज्ञानावतार महर्षि वेदव्यास कृत ब्रह्मसूत्र (उत्तर मीमांसा) और महापुराण सात्वतसंहिता भागवत की समाधिभाषा, इस प्रमाण चतुष्टय की भित्ति पर इस अनुपम भक्ति-सिद्धांत का प्रासाद खड़ा किया गया है।[4]

[1] त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥—गीता

[2] भागवत शास्त्र के अपरिज्ञान के कारण कुछ अतिविमलमक संप्रदाय की वर्तमान कालिक स्थिति को देखकर 'पुष्टि' शब्द का विकृत अर्थ कर इस भक्तिमार्ग को भोग-विलास का पथ मानते और उसे उपहासास्पद बनाने की चेष्टा करते हैं, पर वे "विषयाक्रान्त देहानानावेश सर्वथा हरे" (सिद्धान्त निर्णय) तथा "काम क्रोधौ हरि प्राप्ति-प्रतिबंधक वर्तते"—इत्यादि सिद्धान्त-वाक्यों पर दृष्टि निक्षेप नहीं करते। पुष्टि शब्द का तात्पर्य "पोषणं तदनुग्रहः" से ईश्वरीय अनुग्रह का अर्थ होता है।

[3] गुण दोष दृशि दोषः गुणस्तूभयवर्जितः ।—भागवत एकादश स्कंध

[4] वेदा श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥
—शास्त्रार्थ-निर्णय

वल्लभाचार्य के पूर्ववर्ती सिद्धात-स्थापक अन्य आचार्यो ने वेद, गीता एव व्याससूत्र को ही प्रमाण मान कर प्रस्थानत्रयी की परिपाटी चलाई थी, पर श्री वल्लभ ने आध्यात्मिक ज्ञान के अगाध वारिधि भागवत की प्रामाणिकता का अपलाप नही किया। निगमकल्पतरु के देव-दुर्लभ अमृत-द्रव सयुत, परमहस शुक-मुख से आस्वादित इस सुपक्व फल की मधुरिमा से कैसे वचित रहा जा सकता था ? जिसका आविर्भाव ही नि साधन, दीन, हीन, स्त्री, शूद्र, द्विज-बन्धुओ के लिये ही हुआ था। श्री भागवत को प्रमाण-कोटि मे सन्निविष्ट कर आचार्य वल्लभ ने जहाँ प्रस्थान चतुष्टय-कोटि का आविष्कार किया था, वहाँ उसका एक तात्विक उपयोग भी था।

अल्पायुष्ट्व रूप सहज दोष, चित्त जाड्य (आलस्य), मदमतित्वरूप ज्ञानेद्रिय दोष तथा मदभाग्यता रूप अदृष्ट दोष इन चतुर्विध आगतुक दोषो से परिग्रस्त मानव-देहधारी जीवो के लिये सुस्पष्ट रूप से वैदिक रहस्य को समझ लेना जहाँ सरल नही था[1] वहाँ उसके परिज्ञान मे पदे-पदे उद्भूत संदेहो के निवारण का साधन भी सुदुर्लभ था। एतदर्थ वल्लभाचार्य ने गीता के श्री कृष्ण-वाक्यो का आश्रय लिया। गीता के सशयो की निवृत्ति के लिये व्यास-सूत्रो और उसमे उद्गत शकाओ के अपाकरणार्थ सात्वत-सहिता भागवत शास्त्र को अवलव बनाया।

इस प्रकार चारो की एक वाक्यता-द्वारा प्रतिफलित सिद्धात पुष्टिमार्ग के रूप मे स्वीकार किये गये। श्रुति-वाक्यो की विविधता, स्मृतियो के बाहुल्य, मुनियो के प्रथक्-प्रथक् मतो की विभिन्नता के कारण धर्म का सहृदय हृदयैकमवेद्य-तत्व किसी अज्ञात गुहा मे निहित हो गया था। प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता की कसौटी एक कठिन समस्या थी, जिसका कोई हल नही था। वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र इन तीनो की परस्पर विसवादी प्रतीत होने वाली उलझी हुई गुत्थी आचार्य वल्लभ ने सर्वसदेह-सदोहवारक भागवत शास्त्र के द्वारा सुलझाई और उक्त प्रमाण चतुष्टय की एकवाक्यता से इच भर भी विरुद्ध जानेवाले विचार की अग्राह्यता, अथच इससे अविरुद्ध सभी विचारो की मान्यता का नि शक समर्थन किया।[2]

भागवत-वैशिष्ट्य

अशेष सशयोच्छेदक भागवत के अभिप्राय परिज्ञानार्थ आचार्य महाप्रभु ने एक विशिष्ट व्याख्यान-शैली को स्वीकार किया। उन्होने कहा कि भागवत एक शास्त्र है, जिसमे कई स्कध है। स्कधो मे कई प्रकरण, उनमे कई अध्याय और अध्यायो मे कई श्लोक (वाक्य) है। वाक्यो मे पद और पदो मे कई अक्षर है। अत जिस प्रतिपाद्य विषय का भागवत में पतिपादन होता है, उसकी नि सदिग्धता के लिये शास्त्र, स्कध, प्रकरण, अध्याय, वाक्य और पद तथा अक्षर इन सातो के अर्थो की एक वाक्यता होना नितात आवश्यक है। यदि वे सभी एक दूसरे से विभिन्न अर्थो का प्रतिपादन करते है, एक दूसरे से विसवादी हो जाते है, तो भागवत की मौलिकता, प्रामाणिकता और सर्वसदेहवारकता ही क्या ? अविरोध-पद्धति से सात प्रकार से प्रतिपादित एकार्थ की ही परि-

[1] प्रायेणाल्पायुष सभ्य · कलावस्मिन्युगे जना.।
मदाः सुमदमतयो मद भाग्याह्युपद्रुता· ॥
—भाग० प्र० स्क० ५ भ० १० श्लोक सुबोधिनी

[2] उत्तर पूर्व सदेह वार क परिकीर्तितम्।
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं नतन्मानं कथचनं ॥

अविरुद्ध तु यत्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा ॥८॥
अर्थोऽयमेव निखिलैरपिवेव वाक्यं —
रामायणै· सहित भारत पच रात्रि· ।
अन्यैश्च शास्त्रवचनै. सहतत्त्व सूत्रै·—
निर्णीयते सहृदय हरिणा सदैव ॥१०८॥
—शास्त्रार्थ-निबध

पुष्टि होनी चाहिये ।[1] ऐसा होने पर ही भागवत-ज्ञान का परम फल प्राप्त हो सकता है । यह परम फ़ल अहताम-मतात्मक ससार के नाशके अनतर होने वाली जीव की स्वरूपावस्थिति है और यही कृतार्थता अथवा मुक्ति है । पचपर्वा अविद्या के द्वारा जीव ने आत्मस्वरूप को विस्मृतकर जो अन्यथा स्वरूप-ज्ञान कर लिया है उससे छुटकारा पाकर परमानद की प्राप्ति ही उसका चरम लक्ष्य है ।[2]

यहाँ यह ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि सच्चिदानद की लीलात्मक सृष्टि सद्रूप प्रपच एक नित्य कारण का कार्य है, जिसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है, उत्पत्ति और नाश नही । अहताममतात्मक ससार एक मानसिक भावना है, जिसका ज्ञान के द्वारा निराकरण करना स्वरूपावस्थान (मोक्ष) के लिये अपरिहार्य है । सद्रूप प्रपच अविकृत परिणामवाद-रूप में ब्रह्म कारण का कार्य होने से ब्रह्मरूप है और अहताममतात्मक ससार अविद्या का कार्य होने से त्याज्य है । मुक्ति में ससार का तो लय हो जाता है, पर प्रपच का नही ।[3]

श्री महाप्रभु ने भागवत के शास्त्र, स्कध, प्रकरण, अध्याय-आदि सातो के अर्थ का समन्वय कर उसी भागवत-तत्व-विज्ञान की पुष्टि की जो अविरोध रूप में एक दूसरे में अनुस्यूत होता चला जाय । 'भागवतार्थ-निबध' ग्रथ में महाप्रभु ने शास्त्र, स्कध और प्रकरण इन तीनो की एकार्थता का और भागवत-सुबोधिनी में अध्याय, वाक्य, पद और अक्षरो की उसी एकार्थता का प्रतिपादन किया है। फलत भागवत-शास्त्र का अर्थ सच्चिदानद, अक्लिष्ट कर्मा, परमात्मा, श्री हरि की आनदमयी लीला का वर्णन ही है ।

इस भागवत में त्रिविध भाषाओ का वर्णन है । 'भाषा' शब्द से तात्पर्य व्याख्यान से है, अर्थात् इस अनुपम ग्रथ-रत्न में 'लौकिक', 'परमत' और 'समाधि' नामक तीन भाषाओ में शास्त्रीय विषय का प्रतिपादन हुआ है । प्रस्तुत भाषात्रय का परिज्ञान कोई जटिल प्रश्न नही है । साधारणतया (१) जिस स्थल में लौकिक विषयो का प्रसगवश वर्णन हुआ है, वह लौकिक भाषा है—जैसे पुर, ग्राम, नगर-यात्रादि का वर्णन और नागरिक जीवन का उल्लेख । (२) सिद्धातो का प्रतिपादन करते हुए जहाँ अन्य विद्वानो के मतो का उल्लेख किया गया है, वहाँ 'परमत भाषा' मानी गई है और (३) महामुनि वेद व्यास ने स्वय समाधि में अनुभव कर जिस सिद्धात का निरूपण किया है वह 'समाधि-भाषा' कही जाती है । सक्षेपत 'लौकिक' और 'परमत' भाषा (व्याख्यान) को छोड कर अवशिष्ट भागवतीय सिद्धात 'समाधि-भाषा' कही जाती है । उक्त दोनो भाषाएँ समाधि-भाषा की पोषिकाएँ है । अत. उन-उन भाषाओ के वक्ताओ के अभिप्राय परत्वेन उन को प्रमाणि कोटि में गिना जा सकता है । साक्षात् प्रतिपादित सिद्धात के सबध मे समाधि-भाषावत् उनका प्रामाण्य नही माना जाता। इन दोनो भाषाओ का स्पष्टतया उल्लेख आचार्य ने स्वनिर्मित सुबोधिनी में तत्तत्स्थलों पर कर दिया है ।[4]

१ शास्त्रे स्कधे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे ।
एकार्थं सप्तधा ज्ञानम् अविरोधेन मुच्यते ॥२॥
—भागवतार्थ-निबध

२ अहता ममता नाशे सर्वथा निरहंकृतौ ।
स्वरूपस्थो यदाजीव कृतार्थं स निगद्यते ॥
मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति ॥
—षोडश-ग्रथ

३ प्रपचोभगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत् ।
—शास्त्रार्थ-निबध

ससारस्यलयोमुक्तौ न प्रपचस्य कर्हिचित् ॥
—षोडश-ग्रथ

४ एवा समाधिभाषा हि व्यासस्यामित तेजस ।
लौकिकीचान्य भाषा च समाधे पोषिकेषु ते ॥
[illegible] ॥ १२ ॥—भागवतार्थ-निबध

इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वल्लभाचार्य के प्रतिपादित यावन्मात्र सिद्धातो की मौलिकता आध्यात्मिक स्वरूप मे भागवत की समाधि-भाषा पर आकर अवलबित हो जाती है। जिसके परिज्ञान से सर्वसदेह-निवारण पूर्वक वास्तविक तत्व का परिज्ञान होता है।

इस समाधि-भाषा का समस्त व्याख्यान शुद्ध-अद्वैत साकार ब्रह्मके प्रतिपादन, उसकी सर्वोत्तम शक्ति-रूप माया के निरूपण, इस शक्ति के द्वारा सर्वत्र होने वाले समोह एव उससे मोचन करानेवाली भक्ति के सागोपाग वर्णन मे समाविष्ट हो जाता है।[1]

इस प्रकार आधिभौतिक रूप मे यावन्मात्र ब्रह्माड रूप में अवस्थित आधिदैविक रूप मे अतर्बहि व्याप्य-व्यापकतया विद्यमान एव तदतिरिक्त अचिंत्य, अनत शक्तिमान् वाङमनोगोचरातीत रूप मे अवशिष्ट, अथच आध्यात्मिक रूप में सर्वांतर्यामी, रसस्वरूप, परिपूर्ण, आत्मकाम, आनदमय उस परमात्मा सर्वदु ख-हर्ता श्री हरिकी लीलाओ का प्रतिपादन सपूर्ण भागवत का शास्त्रार्थ है।

इस समग्र शास्त्र मे बारह स्कध है, जिन मे तृतीय से लेकर द्वादश स्कध तक दस स्कधो मे (१) सर्ग, (२) विसर्ग, (३) स्थान, (४) पोषण, (५) ऊति, (६) मन्वतर, (७) ईशानुकथा, (८) निरोध, (९) मुक्ति और (१०) आश्रय इन दशविध लीलाओ का वर्णन किया गया है।[2] अचिंत्य, अनत शक्तिमान् परब्रह्म की शक्ति-द्वारा व्यापक ब्रह्माड मे प्रतिक्षण अनायास ही घटित होनेवाली क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ का नाम ही भागवत शास्त्र में 'लीला' है। समस्त भागवत में इन्ही लीलाओ का प्रतिपादन है, जैसे—

(१) इन ईश्वरीय लीलाओ के अभिज्ञानार्थ अधिकारी श्रोता और वक्ता के लक्षणो का परिज्ञान आवश्यक है, अत. प्रथम स्कंध में इसका इदमित्थतया निरूपण किया गया है।

(२) द्वितीय स्कंध में भागवतीय रहस्य-ज्ञान के लिये अपेक्षित साधनो का निरूपण है। जिसमें तत्व-ध्यानहृत्प्रसाद और मनन इन तीन प्रकरणो का १० अध्यायो में विश्लेषण किया गया है।

(३) 'सर्ग' (भौतिक सृष्टि) लीला प्रतिपादक तृतीय स्कंध में लौकिक-बंध-सृष्टि और अलौकिक-मुक्त-सृष्टि इन दो प्रकरणो का ३३ अध्यायो में विस्तार है।

(४) 'विसर्ग' (वैव-सृष्टि) लीला प्रतिपादन करने वाले चतुर्थ स्कंध में चतुर्विधपुरुषार्थ के चार प्रकरण हैं, जिन के अगोपांगो का वर्णन ३१ अध्यायो में हुआ है।

(५) 'स्थान' (सर्वोत्कृष्टता) लीला के प्रतिपादक पंचम स्कध में प्राकृत पदार्थ जय और आत्म-जय नामक दो प्रकरणो का वर्णन २६ अध्यायो में हुआ है।

(६) 'पोषण' (पुष्टि—भगवदनुग्रह) लीला के निरूपक षष्ठ स्कंध में नाम, ध्यान और अर्चन नामक तीन प्रकरण हैं, जिन का १९ अध्यायो में वर्णन है।

(७) 'ऊति' (कर्मवासना) लीला निरूपक सप्तम स्कधमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूप त्रिविध कर्म अथवा असद्वासना, सद्वासना और मिश्रित वासना इन त्रिविधि-वासनाओ का विश्लेषण १५ अध्यायो में है।

(८) 'मन्वतर' (सद्धर्म) लीला निरूपणात्मक अष्टम स्कंध है। जिसमें हरिस्मरण, दान, स्वोक्त निर्वाह तथा मत्स्यचरित्र नामक चार प्रकरण और २४ अध्याय हैं।

[1] साकार ब्रह्म शुद्ध हि माया तच्छक्तिरुत्तमा।
तया सर्वत्र संमोह साक्षाद्भक्तिश्चमोचिका ॥

[2] आनदस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो दशधाहिसा
अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थान पोषणमूतय:।
मन्वंतरेशानु कथा निरोधो मुक्तिराश्रय.॥
अधिकारी साधनानि द्वादशार्थास्ततोऽत्र हि।
—भागवतार्थ-निबंध

(६) 'ईशानुकथा' नामक लीला के निरूपक नवम स्कंध में ईश और उसके अनुवर्ती भक्तो के चरित दो प्रकरणो में वर्णित हैं, जिसमें २४ अध्याय है ।

(१०) 'निरोध' (आत्मशक्तियो के साथ ब्रह्म की स्थिति) लीला-निरूपक दशम स्कंध में—जन्म प्रकरण, तामस प्रकरण, राजस प्रकरण, सात्विक प्रकरण और गुण प्रकरण ऐसे पाँच प्रकरण है, जिसके विभागो का वर्णन ८७ अध्यायो में किया गया है । वत्स-हरण-प्रसग के तीन अध्याय प्रक्षिप्त माने गए है ।

(११) 'मुक्ति' (मोक्ष—स्वरूपावस्थान) लीला निरूपक एकादश स्कंध में जीव-मुक्ति और ब्रह्म-मुक्ति दो प्रकरण है, जिसमें ३१ अध्याय है ।

(१२) 'आश्रय' (सर्वाधिष्ठान) लीला के प्रतिपादक द्वादश स्कंध में कृष्णाश्रय, जगदाश्रय, वेदाश्रय, भक्तियोगाश्रय तथा भागवताश्रय नामक पाँच प्रकरणों का समावेश १३ अध्यायों में किया गया है ।

अधिकारी नर-समाज की श्रेयोबुभुत्सा और कर्तव्य-विविदिषा को लक्ष्य में रखकर भागवत-सिद्धात मे जिन त्रिविध कर्म, ज्ञान और भक्ति के योगों का आविष्कार किया गया था,[1] वल्लभाचार्य के पूर्व उसका कोई समन्वयात्मक प्रत्यक्ष आकार व्यवहार रूप में दृष्टिगत नही होता था । अद्यावधि कर्म, ज्ञान, भक्ति इस त्रितय का एकीकरण शरीर, मस्तिष्क और हृदय के सामजस्य रूप में प्रफलित नहीं हो पाया था—भगवती गीता का त्रिविध योगोपदेश अपना प्रत्यक्ष दर्शन नहीं दे पाया था ।

गीता-सिद्धात के अनुसार कर्मक्षेत्र (भू मडल) मे अवतरित कोई भी जीव जब क्षण भर भी 'अकर्मकृत्' होकर नही रह सकता तो सर्वतोभावेन उसका त्याग किस प्रकार सभव है ? अत कहा गया है कि अनासक्ति योग (फलाभिसधिराहित्य) पूर्वक कृष्णार्पणता की वृद्धि ही उस का उपयोग है । अत बाह्याभ्यतर शुद्धि जिसमे त्रिविध कर्म-फलो के वासना-सशोधन का भी समावेश हो जाता है के निमित्त कर्म करते रहने की नितात आवश्यकता है । तात्त्विक वस्तु-परिज्ञान के अतिरिक्त गतव्य पथ, उपादेय लक्ष्य और प्राप्तव्य पुरुषार्थ की प्राप्ति सर्वथा असभव है । हेयोपादेयता एव इतिकर्तव्यता का परिज्ञान भी नितरा आवश्यक है । ऐसी अवस्था में कर्म-ज्ञान दोनों की सशोधित रूप में स्वीकृति से विमुख नही हुआ जा सकता । साधन रूप गुणात्मिका भक्ति के सतत अनुष्ठान से ही गुणातीत साध्य भक्ति की उपलब्धि होती है ।

फलत वल्लभाचार्य के सिद्धात में उभयविध शुद्धि के अर्थ शास्त्रोदित कर्म करने की, सच्चिदानद पर-ब्रह्म श्रीकृष्ण के लीला माहात्म्यावबोध के लिये ज्ञान की एव विधिनिषेधात्मक रूप में प्रतिपादित शास्त्रीय साधन-रूपाभक्ति की आवश्यकता का निर्देश है । ऐसी अवस्था में ही परमप्रेमरूप व्यसनात्मिका (एकतानता) रूप साध्य (फलरूपा) निर्गुणभक्ति की सिद्धि हो सकती है । सर्वत -पर अभीष्ट वस्तु में गंगा के अविच्छिन्न प्रवाह के समान अहैतुकी और अव्यवहित चित्त की सतत एकतानता का नाम ही निर्गुणता है ।[2]

आनदघन परब्रह्म श्रीकृष्ण विषयक उक्त सतत मानसी भावना के लिये (चित्त की तत् प्रवणता प्राप्त करने के लिये) आचार्य महाप्रभु ने तनुजा (शारीरिक) और वित्तजा (आर्थिक) सेवा को साधन रूप से ग्रहण किया है । तनुजा-वित्तजा इस उभयविध सेवा के सतत आचरण से मानसी (आध्यात्मिक) सेवा-भावना

[1] योगास्त्रयो मयाप्रोक्ता नृणांश्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ।।

—भागवत एकादश स्कध २० अ०

[2] मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथागंगाम्भसोऽम्बुधौ ।।
लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्यह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।

—भागवत ३।२६।११-१२

की प्राप्ति होती है और ऐसा करने से ही सासारिक दु ख की आत्यतिक निवृत्ति और परमानद रूप ब्रह्म-बोधन होता है। इस मार्ग में दु खाभाव और सुख-प्राप्ति यह दो पुरुषार्थ माने गये है।[1]

अधिकारिता

इस स्वकीय सिद्धात की स्थापना वल्लभाचार्य ने जिस जिज्ञासु-वर्ग के लिये प्रतिष्ठापित की है, उसकी कक्षा उन सासारिक जीवो की अपेक्षा बहुत ऊची है, जो भौतिक आवरण में आच्छन्न होने के कारण अत पर किसी अनत, अविकारी अजर, अमर आनद-रूप आत्मिक वस्तु का दर्शन नही कर सकते। ऐसे जीवोको "प्रवाहमार्गस्थजीव'—सज्ञा दी गई है। अहता, ममताकी गर्हित सासारिक आवागमन एव भोग-विलासकी एषणा के चक्र मे पडे रहना अथवा तदुत्पादक कारणो का आश्रय लिये रहना ही जिन का एकातत स्वभाव-सा बन गया है—गीता की दृष्टि में द्विविध सृष्टि के अत पाती वे आसुरी सपद् के जीव है और तदातिरिक्त दैवी सपद् क।

ऐसे भौतिकवाद को प्रश्रय देने वाले किंवा तदीय रस में आपादचूड निमग्न रहने के अभिवलाषुक जीवो का इस पावन पथ में समावेश नही हो सकता। तुच्छ विषय रस के कीटाणु स्वच्छ आनदाम्बुनिधि क अमृत रसास्वादन मे कैसे प्रवृत्त हो सकते है ?

शुद्धाद्वैत का सिद्धात, भक्ति-मार्ग की सरणि, पुष्टि का अनुपम पथ उन्ही अधिकारी जीवो के उपयोग की वस्तु है जो गीता के मतमें दैवी-सपद् में अभिजात हुए है। स्वभाव, प्रकृति की अपेक्षा अधिक, वेद-शास्त्रादि ? विहित अलौकिक-आध्यात्मिक-कार्य करने वाले विशुद्ध सात्विक पुरुष ही इसके अधिकारी है। दैवी सपत्ति के गुणो से विभूषित अथवा जिनकी हृदय-भूमि मे इन गुणो के बीज विद्यमान हैं वही भगवत् सेवक है, वही निष्काम होने के कारण मुक्ति के अधिकारी है। ऐसे अधिकार से सपन्न मानवो के—जिन्होने एतदर्थ ही चरम शरीर प्राप्त किया है, अत करण में इस आध्यात्मिक तत्व का प्रतिफलन हो सकता है।

इस आध्यात्मिक तत्व-प्राप्ति की योग्यता के लिये सत्वपरिमार्जित बुद्धि, मानवीय जीवन की उपयोगिनी पूर्ण स्वस्थ आयु, सहज और आगतुक दोषो का अभाव एव बीज-भाव से विद्यमान भगवद्विषयक सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेह, ये आवश्यक गुण माने गये है। जिसमें ये गुण नही है उसे भला अधिकारिता क्या प्राप्त हो सकती है[2] ?

भागवतशास्त्र के अनुसार इस सदनुष्ठान में सबसे अधिक फल का बाधक 'मद' (दर्प) है। इसका उल्लेख प्रथम के चार चरणो के रूप मे किया जा चुका है। साधारणतया जब इस मद का स्वल्पाश भी मानसी-सेवा (आध्यात्मिक भावना) के अनुसरण में बाधक हो जाता है तब यदि वर्द्धमान-दशा मे यह विद्यमान हो तो फिर इसकी उग्रता का क्या कहना ? उच्चकुल में प्राप्त जन्म, राज्यादि के द्वारा अधिगत ऐश्वर्य, शास्त्राध्ययनोत्थ ज्ञान, एव विभूति-रूप में समागत श्री के द्वारा यह मद अभिवृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

यद्यपि सत्कुलीन जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्राध्ययन-आदि सद्गुण परमार्थ साधना में सहायक है, परतु वे ही अविवेक-वश मदोत्पादक हो जानेके कारण अध पात के आदि कारण हो जाते है। दृष्टाततया तडुलादिधान्य ओदन के रूप में पितृ-देव-मनुष्यो को तृप्ति-जनक अथच अमृत-स्वरूप होने पर भी विकृत अवस्थामें मदिरा-रूप में पर्यवसित होने पर त्याज्य हो जाते है, एतावता उसका सग्रह अपेक्षणीय नही हो सकता। इसी प्रकार आसुरी

[1] कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परामता।
चेतस्तत् प्रवणं सेवा तत् सिद्धयै तनुवित्तजा॥
ततः संसार दुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥ —सिद्धात-मुक्तावली
दुःखाभावः पुमार्थ स्तद्वपुमुचैवय मतम्। —सर्वनिर्णय-निबध

[2] सात्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः।
भवांत संभवा दैवा स्तेषामर्थे निरूप्यते॥
बुद्धिश्चायुश्च दोषाणामभावः कारण यतः।
यस्य नैते भविष्यंति तस्य ना स्त्यधिकारिता॥
—शास्त्रार्थ-तत्वद्वीप-निबध

संपद् के समावेश से जन्म, ऐश्वर्य, ज्ञान तथा श्री भी उन्मादक हो जाते है। जो शुद्ध गोत्रोद्भवता अविकृत रूप में कहीं अधिक अधिकारिता से संयुक्त हो सकती थी, वह ऐश्वर्य जो—अपने अविकृत रूप मे धार्मिक प्रशासन का कारण हो सकता था—मद-संवलित हो जाने से लोकोद्वेजक हो जाता है। वह शास्त्र-ज्ञान जो सौशील्य एव विवेक का आश्रय पाकर जनता का सन्मार्ग-दर्शक हो सकता था, मदाभिभूत होने से वितडावाद का कारण और असत् मत का संस्थापक हो जाता है। वह श्री, जो अपने लोकोत्तर निर्मलरूप में लोकोपकारिणी हो सकती है मदाविष्ठित होने से विलासोत्पादिका और कुमार्ग-गामिनी हो जाती है[1]।

इस प्रकार के किसी भी मद से आविष्ट पुरुष जो, उस मद की पक्वावस्था में आगे चलकर आप्त सज्जन-गुरु-आदि के द्वारा भी अनियम्य हो जाते है, इस भक्ति-मार्ग के अनधिकारी गिने गये है। वे किसी सत्कुल में उत्पन्न हुए है, उनका ऐश्वर्य देवस्थानीय है, उनका शास्त्रीय ज्ञान गभीर है, उनकी श्री परोपकार-क्षम है आदि हेतु उनकी मदाविष्टता के कारण संग्राह्य नही है। ऐसे व्यक्तियो की अधिकारिता का स्वरूपत निराकरण नही किया जाता, क्योकि भक्ति-मार्ग सर्व सुलभ है, उन्मुक्त कपाट है, फलत केवल उनकी अनधिकारिता सिद्ध होती है। सक्षेपत अनधिकारिता का कारण ऐसे पुरुषो के हृदय में भगवदावेश का अभाव ही है। उनके मुख से होने वाला ईश्वरीय गुणानुवाद परमार्थत न होकर व्यवहार मात्र होता है। अत भक्ति-मार्ग की अधिकार सिद्धि के लिये विषयो का सर्वथा त्याग, दु सग का परिवर्जन, काम-क्रोध-मदादि आसुरी-संपद् के लक्षणो का गाहित्य और शम-दमादि दैवी संपद के गुणो का आविर्भाव अत्यावश्यक है[2]।

ब्रह्म-संपत्ति

भक्तिमार्ग की अधिकार-प्राप्ति में मानवता की दृष्टि से निराकरणीय जहाँ कई स्वयभावित मानसिक अवरोध है, वहा उसकी सर्व सुलभता का भी लोप नही हो जाता। सत्कुलीन जन्म, उच्च जाति, कमनीय रूप, उदात्त विद्या, विपुल धन, पवित्र देश और अनुकूल काल-आदि किसी प्रकार की साधन-संपत्ति की सापेक्षिता उसके लिये अनिवार्य नही है—आत्मा से संबधित होने के कारण यह मानव-जीवन तक ही परिसीमित नही है। इसमें व्यावहारिक जगत् की नीचातिनीच और उच्चातिउच्च परिगणित कक्षाओं की जीव-श्रेणी का समानाधिकार है[3]। अनात्म्य धर्मो से असंपृक्त आत्मा और हृदय जहाँ भी विद्यमान है वही अकुरित ईश्वरीय प्रेम-बीज अनुकूल वातावरण पाकर पनप सकता है। सुदृढ एव सर्वतोऽधिक होने तक उस स्नेह-लतिका को विपरीत वातावरण से सुरक्षित रखने के लिये साधनो की आवश्यकता आ पडती है। इसीलिये शास्त्रीय साधनानुष्ठान की महत्ता का

[1] जन्मैश्वर्यश्रुत श्रीभिरेधमानमद पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातु वै त्वामकिंचन गोचरम् ॥२५॥
—भागवत १।८।२५ सुबोधिनी

[2] न भजति कुमनीषिणा स इज्या हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञ. ।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये विदधति पापमकिंचनेषु सत्सु ॥
—भागवत ४।३१।२१

दैवी संपद् विमोक्षाय निबधायासुरी मता ॥
—गीता १६।५

[3] देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गंधर्व एव च ।
भजन्मुकुदचरण स्वस्तिमान्स्याद् यथा वयम् ॥
नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वंवासुरात्मजा ।
प्रीणनाय मुकुदस्य न वृत्त न बहुज्ञता ॥
—भागवत ७।७।५०-५१

खगामृगाः पापजीवाः सति ह्यच्युततांगता ॥
—भागवत ७।७।५४

यत्र-तत्र प्रतिपादन किया गया है। अन्यथा तो यह मार्ग नि साधन जनोद्धारक ही है। गुणात्मक विधि-निषेध तो देह-इद्रियो के ही सबधी है, निर्गुण आत्मा के लिये परमार्थत इनकी आवश्यकता नही है।

रस-स्वरूप आनदमय परमात्मा की लीला-सृष्टि मे तारतम्य का कारण केवल मात्र उसकी इच्छा ही है। सजातीय, विजातीय, स्वगतद्वैतवर्जित उस ब्रह्म के सबध में किसी अन्य वस्तु की व्यवधान-सत्ता का स्वीकार करना कोई महत्व नही रखता। अत उसकी इच्छा ही एकमात्र कारण है। विभिन्नता एव वैचित्र्य का अपर नाम ही सृष्टि है। जहाँ एक रसता और एक रूपता है वहाँ सृष्टि कैसी ? दृष्ट-दृश्यत्व, ज्ञातृ-ज्ञेयत्व, प्राप्त-प्राप्तव्य इन भेदाऽसहिष्णु अभेदो का मौलिक कारण सर्वकाम परब्रह्म की वह कामना है जो सृष्टि के आदि में अभिव्यक्त होती है[1]। वैदिक सृष्टि-पद्धतिके अनुरूप जगत् को निरानद, जीवो को गुप्तानद और ब्रह्म को पूर्णानद की स्थिति में अवस्थित माना गया है। ऐसी परिस्थिति में अपने खोये हुए आनद की सप्राप्ति के लिये स्पृहयालु तथाच प्रयत्नशील होना जीवात्मा का स्वाभाविक कर्तव्य है, नैसर्गिक अभिरुचि है और वास्तविक धर्म है। वही उसका गतव्य पथ है, प्राप्तव्य लक्ष्य है और ज्ञातव्य रहस्य एव दर्शनीय दृश्य है[2]।

अतएव जीवात्मा के लिये अपने परम ध्येय की प्राप्ति मे किसी भौतिक कारण की अवरोधकता को स्वीकार करना भागवत शास्त्रानुसार श्री वल्लभाचार्य को समत नही है। वह एक प्रकार का आत्मावसादन ही है। विना किसी भेद-भाव के जीवात्मा के इस अधिकार की प्राप्ति और प्रापण का नाम ही पुष्टि-मार्ग मे 'ब्रह्म-सबध' करना और कराना कहा गया है। यह एक प्रकार की अधिकार-प्राप्ति किंवा दीक्षा है। दीक्षित-जन अपने ध्येय के प्रति अग्रसर होता है।[3] वह ब्रह्म-सबध के द्वारा स्वकीय काल, कर्म, स्वभाववश आये हुए अविद्या जनित दोषो से निवृत्त होकर निर्दुष्ट शुद्ध स्वरूपावस्थित होकर निर्दोष सर्व सम ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण की प्राप्ति करता है।

इस सर्वोच्च आध्यात्मिक 'ब्रह्म-सबध' के रहस्यकी सप्राप्ति अन्य साधारण साधनोके द्वारा सभव नही है। जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है, साधनो की उपयोगिता तभी तक है जब तक आत्मा की एकतानता (प्रवणता) नही हो जाती। उस के अनतर देह और इद्रियो के द्वारा अनुष्ठित साधनो की उतनी उपादेयता नही रहती जितनी साधनावस्था में प्रथम गिनी जाती है। इस आत्मिक प्रवणता के लिये नि साधनता—साधनराहित्य की भावना (दैन्य भाव)की नितात आवश्यकता है[4]। इस दैन्यभावना के अनतर आत्म-साक्षात्कार—जिसे शब्दातरो मे परमात्मदर्शन, ब्रह्मसायुज्य किंवा भगवत्-प्राप्ति कह सकते है—फल की प्राप्ति हो जाती है। औपनिषद-सिद्धात मे जिसे 'आत्मवरण' कहते है पुष्टि मार्ग में उसे ब्रह्म-सबध इस अभिधान से प्रसिद्ध किया गया है।

यह औपनिषद-आत्मवरण उसी को समधिगत होता है जिसको परमात्मा स्वय स्वीकार करता है, जिस पर उस दयार्णव की दया होती है, जिस दैवी जीव पर उस कृपा-निकेतन का अनुग्रह फलित होता है। परमात्मा

[1] सोऽकामयत बहुस्या प्रजायेय।

—श्रुति

[2] गुप्तानदा यतो जीवा निरानद जगद्यत.।
पूर्णानंदोहरिस्तस्याज्जीवै सेव्य· सुखार्थिभिः॥

—भागवत सुबोधिनी-दशम-कारिका

[3] सर्वेषां प्रभु संबधो न प्रत्येकमिति स्थिति·।

—नवरत्न ३

ब्रह्मसबध करणात्सर्वेषा देहजीवयोः।
सर्वदोष निवृत्तिर्हि दोषाः पचविधाः स्मृताः॥

—सिद्धात-रहस्य २

[4] भक्तानां दैन्यमेक हि हरि तोषण साधनम्॥

—भागवत-सुबोधिनी दशम स्कध-कारिका

की प्राप्ति के मार्ग का यह प्रकार ही 'कृपा मार्ग', 'अनुग्रह मार्ग' किंवा 'पुष्टि मार्ग'—आदि कितने ही नामो से सबोधित किया जाता है। [1]

इस 'अनुग्रह-मार्ग' का पथिक बन कर अधिकारी जीव, आनेवाली विपद्-बाधाओ, मासारिक विभीषिकाओ और वैषयिक प्रलोभनो से सावधान रह कर आत्मिक आनद के रूप में सर्वत्र सुलभ, परमानद-रस-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के सतत चिंतन से ही उन्हें समधिगत कर सकता है। [2]

वेदात-शास्त्र में जिसे 'ब्रह्म' कहा गया है, स्मृति अथवा पुरानो में जो परमात्मा शब्द से लक्षित है, भागवत शास्त्र में जसे 'भगवान्' शब्द से व्यक्त करते है, वही पुष्टि-मार्ग में रस-स्वरूप 'श्रीकृष्ण' है। नाम-रूप के विभेद से यही अनत नामा और अनत रूप है। यही सकल कलानिधि अपनी अचित्य, अनंत शक्ति रूपी लक्ष्मी से सेव्यमान होकर बाह्याभ्यतर इन उभयवृत्तिवाली कामना रूप रसनाओ से सयुक्त सहस्रानन वाले अत करण रूप शेष-शय्या पर सुखशायी होकर लीला-क्षीराब्धि में विराजमान है। [3]

यही विशुद्ध, 'योगिभिर्ध्यानि गम्य' परम तत्व—आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिये दापत्य-भावना की मधुरिमा के साकार प्रतिफल रूप में कोटिकदर्प लावण्याबुनिधि-'राधाकृष्ण' है, यही सख्य-भावना की गरिमा स्वरूप में 'सुदामा-कृष्ण' है और यही जगत् के सर्वस्व वात्सल्य-भावना की महिमाके आदर्श 'यशोदोत्सग लालित नद-नदन' है। इसकी इस त्रिविध सौंदर्य-सुधा पर वाणी के रूप में महानुभाव सत कवियो का काव्य-जगत्, व्यवहार के रूप में विश्व-सुहृद महात्मा साधु पुरुषो का नैतिक जगत् तथा दिव्य आध्यात्मिक रूप में भावुक भक्तो का रसात्मक जगत् अनुस्यूत हो रहा है—प्रेरित हो रहा है, अथच स्वय निछावर होकर कृतकृत्य होता चला जा रहा है। और—

"यही जगद्गुरु श्री वल्लभाचार्य के सिद्धात की अध्यात्मिक पृष्ठभूमि है।"

[1] नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो—
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूस्वाम्।
—कं०उ०

[2] तस्मात् श्रीकृष्ण मार्गस्थो विमुक्तः सर्व लोकत ॥
आत्मानद समुद्रस्थं कृष्णमेव विचिंतयेत्।
—सिद्धात-मुक्तावली १५।१६

[3] नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धि शायिनम्।
लक्ष्मी सहस्र लीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम् ॥
—भागवत-सुबोधिनी दशम स्कध-कारिका

परमानंद-सागर : परमानंद दास

श्री ललितकुमार देव

"परमानंद और सूर मिल, गाई सब ब्रज-रीति ।
भूलि जात विधि-भजन की, सुनि गोपिन की प्रीति ।।"

—ध्रुवदास

अष्टछाप के प्रात स्मरणीय रमणीय रत्नो मे परमानद स्वरूप "परमानद दास" का इतिवृत्त भी अन्य अष्टछाप के कवियो—भक्तो की भाँति समय के पन्नो पर कुछ ऐसा छिप गया है जो आज ढूढने पर भी नही मिलता। सप्रदाय में प्रचलित 'वार्ता' तथा उस पर श्रीहरिराय की 'भाव-प्रकाश' टीका के आधार पर कहा जा सकता है कि आपका जन्म उत्तर प्रदेशके "कन्नौज" नगरमें मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी स० १५५० वि०को "कान्य-कुब्ज-ब्राह्मण के कुल" में हुआ था। यही समय श्रीवल्लभाचार्य जी के पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता के रचयिता प्रसिद्ध "श्री गोकुलनाथ जी" का भी है। परमानददास जी के माता-पिता का नामोल्लेख वार्ता तथा भाव-प्रकाश मे नही है, किंतु उससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि आपका कुल अच्छा खाता-पीता—सपन्न था। कहते है कि जिस दिन परमानददास जी का जन्म हुआ उस दिन आपके पिता को नगरके किसी सपन्न सेठ ने दान मे विशेष धन दिया था, जिससे उन्हे 'परम-आनद' हुआ था, फलत आपने अपने पुत्र का नाम—"परमानद" रख दिया। नाम-करण के समय राशि- गणनानुसार ज्योतिषी ने भी यही नाम रखने का आग्रह किया।

परमानददास जी के माता के कोमल-क्रोड मे उतरने पर उनके लालन-पालन के साथ-साथ शिक्षा-दीक्षा का सुदर प्रबध किया गया। विशेषकर साहित्य और सगीत की प्रचुर शिक्षा उन्हें दी गई, जिससे ये अपने समय के योग्य कवि और श्रेष्ठ गायक—कीर्तन-कर्त्ता बने। ये नित्य नई पद-रचनाकर उन्हें विविध रागानुसार गाते रहते थे। परमानददास गुणी होने के कारण गुणी-जनो का भी अति आदर किया करते थे और उन्हें अपने साथ रखा करते थे। एक समय कन्नौज में भारी अकाल पडा तो वहाँ के हाकिम ने इनके पिता का सारा धन लूट लिया, जिससे वे बहुत दु:खी हुए। फलत परमानददास जी से धनोपार्जन के लिये कहा। परमानददास जी के पास सगीत और काव्य में निपुण होने के कारण धन की कुछ कमी न थी, पर ये उदार-हृदय उसका संचय न कर उसको अपनी प्रवृत्ति के वश गुणीजनो और साधुओ में वितरण कर दिया करते थे। आपके पिता धन के प्रति इनकी इस प्रकार विरक्ति देखकर अप्रसन्न हो द्रव्य के लिए दक्षिण-देश चले गये। पिता के बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी आपने विवाह नही किया।

सवत् १५७६ वि० के लगभग ये माघ-स्नान के लिए अपने दलबल के साथ 'प्रयागराज' गये। वहाँ भी आपके काव्य और मुद्धगमय विविध रागो में गाने की विज्ञता की धूम मच गई। प्रयाग के आस-पास के अनेकानेक गुणीजन, साधु-महात्मा इनके सुमधुर कीर्त्तन का आस्वादन करने के लिए वहाँ आने-जाने लगे। जिन दिनो परमानददास जी प्रयाग में अपने कलकठ से निसृत कीर्त्तनो का समा बाँध रहे थे, उन्ही दिनो प्रयाग के उस पार अडैल, प्राचीन नाम 'अलर्कपुर',में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी विराज रहे थे। परमानददास जी के कमनीय कीर्त्तनो की चारु चर्चा आपके समीप भी चली। अत आपने कहा—

"परमानंददास दैवी जीव हैं, वाकी ख्याति होंनी ही चाहिए।"

यह बात भी आचार्य-चरण के एक शिष्य 'कपूर क्षत्री' ने भी सुनी, जो पोरबदर (सौराष्ट्र) का रहने वाला था और आप (वल्लभाचार्य जी) की जल-सेवा (पानी भरने का कार्य) किया करता था। अत

कपूर सगीत-प्रेमी होने के कारण परमानददास जी के कीर्त्तन सुनने को लालायित हो उठा और वहाँ जाने का अवकाश ढूढने लगा। ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी की रात्रि को वह श्री आचार्य-चरणो के सो जाने के बाद यमुना के उस पार प्रयाग जाने और परमानददास जी के कीर्त्तन सुनने को प्रस्तुत हुआ। ज्येष्ठ की श्रीयमुना आज कल की देश-सपत्ति की भाँति सकीर्ण हो चुकी थी, उसमें पहिला (श्रावण-भाद्रपद) जैसा प्रवाह व विस्तार न था। कपूर यमुना के उस पार जाने का कोई साधन न पा जल में तैर कर वहाँ पहुँचा जहाँ परमानददास जी का कीर्तन समाज जुड रहा था। कपूर के पहुँचने पर वहाँ उपस्थित श्री आचार्य के अन्य सेवको ने उसे पहिचानकर आदर के साथ आगे बिठलाया। परमानददास जी ने कीर्त्तन करना प्रारम किया और भगवल्लीला के रात्रि के विविध रागो में गाये जाने वाले पदो के बाद कुछ विरह-सबधी पद भी गाये। सगीत-मुग्ध कपूर कीर्तन-समाज की समाप्ति पर परमानददास जी को भगवत्स्मरण—'जयश्रीकृष्ण' कह कर उसी प्रकार पुन तैर कर अडैल पहुँचा। इधर परमानददास जी कीर्तन-सेवा मे कुछ श्रमित होने के कारण निद्रित हुए तो उन्हें रात्रि के उस पिछले पहर में एक सुदर स्वप्न दिखलाई दिया कि कपूर की गोदी में बैठे हुए साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण 'नव-नीतप्रिय' के रूप में कीर्त्तन सुन रहे है। परमानददास जी पर इस स्वप्न का बडा प्रभाव पडा और वे कपूर क्षत्री से मिलने को उतावले हो गये। प्रात काल होते ही ये 'अडैल' पहुँचे और वहाँ श्री आचार्य-चरणो के दर्शनो से बहुत प्रभावित हुए। श्री आचार्य ने भी परमानददास का परिचय पाकर उन्हे निकट बैठने का अनुरोध करते हुए कोई लीलात्मक पद सुनाने का आग्रह किया। परमानददास जी ने आप की आज्ञा पा एक विरह-सबधी पद गाया, जो इस प्रकार है—

"जिय की साध, जियहिं रही री।
बहुरि गुपाल देखि नहिं पाए, बिलपति कुंज अहीरी॥
इक दिन सो जु सखी, या मारग बेचन जात दही री।
प्रीति-केलि-दाँन-मिस मोंहन, मेरी बाँह गही री॥
बिन देखें छिन जात कलप-भरि, बिरहा-अनल दही री।
'परमाँनद' स्वाँमी बिन दरसँन, नैंनन-नदी बही री॥"[1]

अथवा—

"सुधि करत कमल-दल-नैंन की।
भरि-भरि लेति नीर अति आतुर, रसि बृदावन चैंन की॥
दै-दै गाढे आलिगन सो मिलन लता-द्रुम-कुंज ऐंन की।
वे बतियाँ कैसें करि बिसरें, बाँह उसीसा सैंन की॥
बसि निकुंज में रास रचायौ, बिथा गँमाई मैंन की।
'परमाँनद' प्रभु सो क्यों जीवें, जे पोखीं मृदु-बैंन की॥"

श्री वल्लभाचार्य जी ने पद सुने और इनकी काव्य तथा सगीतज्ञता पर मुग्ध होते हुए परमानददास को कोई अन्य बाल-लीलात्मक पद सुनाने का आग्रह किया, तो ये बोले—

"जे, मोहि बाल-लीला को अनुभव नाहीं।"

श्री आचार्य-चरणो ने परमानददास से यह सुन कर और उन्हें स्नान करवा कर स्व-सप्रदाय की दीक्षा दी।

परमानददास जी के शरण (दीक्षा) का समय ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी स० १५७६ वि० कहा जाता है, पर यह समय आपके बैठक-चरित्रो के अनुसार आपकी हरिद्वार-यात्रा का होना है। इसके बाद ही आप (पर-

[1] इस अतिम तुक के दो पाठ-भेद और मिलते है, जैसे—
"नैंनन-नीद बही-री।"
"नैंनन-नीर बही-री।"

मानददास) व्रज में आए होंगे। अतएव इन के जन्म-संवत् का समय १५५० वि० मानना अधिक उपयुक्त होगा। परमानंददास जी की अवस्था भी उस समय बीस से तीस वर्ष के मध्य होनी चाहिये।

श्री यदुनाथ जी ने 'वल्लभ-दिग्विजय' में लिखा है कि सं० १५७२ वि० में गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी के जन्मोत्सव के बाद श्री आचार्य प्रयाग (अडैल) से अडैल पधारे थे और यहाँ उन्होंने विट्ठलनाथ का यज्ञोपवीत-संस्कार किया था, उसके बाद 'जगदीशपुरी' की यात्रा। यह समय सम्प्रदाय में सं० १५७६ वि० माना जाता है। जगदीशपुरी से लौटने पर आप पुनः 'अडैल' पधारे। इसी समय 'गयनपुरवाले' दामोदरदास के घर से 'श्री द्वारिकानाथ जी' का स्वरूप अडैल पधराया गया था। श्री द्वारिकानाथ जी की 'प्राकट्य-वार्ता' में भी यह समय (सं० १५७६ वि०) ही माना गया है। वल्लभ-दिग्विजय के कर्ता 'श्री यदुनाथ' जी कहते हैं—

"तत्र सं० १५७२ द्विसप्तत्युत्तर पंचदशशतेऽब्दे महालक्ष्म्यां गोस्वामी श्री विट्ठलनाथानां प्रादुर्भाव समभवत्। अथ पुनर्व्रजयात्रा कृता। तत श्री गोपीनाथ यज्ञोपवीत महोत्सव समभूत्। ततो जगदीशयात्रायां गमनागमन प्राप्ति.। कृष्णचैतन्यमिलनम्। रथयात्रोत्सवोजात। ततो जगदीशात्प्रत्यागमन चाभूत्। ततो हरिद्वार यात्रा। तत. पुनरडैलपुरे समागमनमभूत्। तत्र सर्वविद्या शिक्षण कृतम्। कान्यकुब्ज परमानंद मनुगृह्य मोनादर्शनं च कारितम्। तत श्री विट्ठलेशानां यज्ञोपवीतोत्सव. कृतः। तत द्वारिकेशागमनम्..।"

—पृ०-५२-५३

इससे भी जन्म का समय पूर्व-लिखित सं० १५५० वि० ही प्रगट होता है।

उक्त समय के बाद अर्थात् संवत् १५८२ वि० के आस-पास श्री महाप्रभु ने विट्ठलनाथ जी को श्री नाथ जी के चरण-स्पर्श कराने के लिए व्रज की ओर गमन करने का निश्चय किया तो परमानंददास जी ने भी सेवा में साथ चलने के लिए निवेदन करते हुए यह पद गाया—

"यै मांगों, गोपीजन-वल्लभ।
मानुष-जनम और हरि-सेवा, ब्रज-बसिवौ कीजै मोहिं सुल्लभ॥
श्री वल्लभ-कुल कौ रहौ चेरौ, बैस्नव-जन कौ दास कहाऊँ।
श्रीजमुनाजू नित-प्रति न्हाऊ, मन-बच-करम कृस्न-गुन-गाऊँ॥
श्रीभागवत स्रवन सुनौ नित, इन तजि चित्त कहूँ अँनत न लाऊँ।
'परमानंददास' यै मांगत, नित निरखौं कबहूँ न अघाऊँ॥"

अस्तु, परमानददास जी भी आचार्य-चरणों के साथ व्रज आने लगे तो मार्ग में आपका नगर—'कन्नौज' पड़ा। वहाँ परमानददास जी ने श्री आचार्य-चरणों को अपने घर बड़े ठाटबाट के साथ पधराकर अर्चना-वंदनादि के बाद यह पद सुनाया—

"हरि, तेरी लीला की सुधि आवै।
कमल-नैंन मन-मोंहन मूरत, मन-मन चित्र बनावै॥
एक बार जिहिं मिलत मया करि, सो कैसें बिसरावै।
मुख मुसिकॉन, बक अवलोकॅन, चाल मनोहर-भावै॥
कबहूँ निबिड तिमिर आलिंगन, कबहूँ पिक-सुर गावै।
कबहू नैंन-मूंदि अंतरगत, मनि-माला पहिरावै।
'परमांनद' प्रभु स्यांम-ध्यांन करि, ऐसें बिरह-गॅमावै॥"

वार्त्ताकार कहते हैं—श्री आचार्य महाप्रभु को यह पद सुनकर तीन दिन तक देहानुसंधान नहीं रहा और बार-बार उक्त पद की पुनरावृत्ति करते हुए निरंतर अश्रुधारा बहाते रहे। इस विमुग्ध-दशा के बाद श्री आचार्य परमानंददास की अनन्य भक्ति-जन्य निष्ठा और उनके कोमल काव्य-कौशल की प्रशंसा करते हुए व्रज पधारे तथा उन्हें "श्री नवनीत प्रिय" तथा "श्री श्रीनाथ" जी के दर्शन करा सामीप्य में कीर्तन-करने की सेवा सौंपी। परमानंददास, श्री गिरिराज जी की सुंदर तलहटी में स्थित—'सुरभीकुंड' (जतीपुरा) पर जहाँ

इंद्र ने सुरभि-गौ के दुग्ध से भगवान श्रीकृष्ण का 'गोविंदाभिषेक' किया था, श्यामतमाल वृक्ष के नीचे कुटी बना कर रहने और श्रीनाथ जी की श्री सूर के साथ कीर्तन-सेवा करने लगे।

परमानद जी का निधन-समय सप्रदाय-साहित्य के अनुसार 'भाद्रपद कृष्णा नवमी स० १६४१ वि० माना जाता है, जो कि साहित्य-सूर्य 'सूर' के अस्ताचलगमन-काल से एक वर्ष बाद का है। श्री सूर का निधन-काल स० १६४० वि० है। वार्ता-साहित्य में कहा गया है कि परमानददास जी ने अपने अतिम समय पर किसी वैष्णव को लक्ष्य कर श्री वल्लभाचार्य जी की स्तुति-युक्त यह यह पाद गाया था—

"प्रात समें उठि करिऐ श्री लछमन-सुत-गाँन ।
प्रघट भऐं 'बल्लभ प्रभु', देत भक्ति-दाँन ॥
'बिट्ठलेस' महाप्रभु रूप के निधाँन ।
'गिरिधर' श्री गिरिवर, उदै भए भाँन ॥
'गोविंद' आनंद-कद, बरनों गुन गाँन ।
'बालकृस्न' बाल-केलि, रूप ही सुहाँन ॥
'गोकुलनाथ' प्रघट कियौ, मारग बखाँन ।
'रघुनाथ लाल' देखि-देखि, मनमथ लजाँन ॥
'श्री जदुनाथ' महाप्रभु, पूरन भगवाँन ।
'श्री घनस्याँम' पूरन काँम, पोथी में ध्याँन ॥
पाँडुरंग बिट्ठलेस, करत 'बेद-गाँन ।
'परमानंद' निरखि लीला, थके सुर-बिमाँन ॥"

वैष्णव-प्रति गाये गए इस उद्बोधन-रूप पद में परमानददास जी ने श्री आचार्य-चरणो के साथ-साथ आपके पुत्र गोस्वामि श्री विट्ठलनाथ जी तथा उनके सातो पुत्रो का अत परिचय-सहित स्मरण व वदन किया है, यह तनिक विचारणीय है।

गोस्वामी जी के सातवे लाल जी (पुत्र) श्री घनश्यामलाल जी का जन्म स० १६२८ वि० कहा गया है। परमानददास जी ने आप के प्रति—

"श्रीघनस्याँम, पूरन-काँम, पोथी में ध्याँन ॥"

रूप वदना करते हुए दो विशेषणो—"पूरन काँम, पोथी में ध्याँन" का प्रयोग किया है। इन साभिप्राय विशेषणो से ज्ञात होता है कि श्री घनश्याम लाल जी आप के समय १२ या १३ वर्ष की वय में रहे होंगे। सप्रदाय मे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का लीला-प्रवेश सवत् १६४२ वि० माना जाता है। परमानददास जी का निधन आपके लीला-प्रवेश से प्रथम का है। अस्तु, श्री घनश्याम जी के जन्म-समय में यदि १२ या १३ वर्ष की सख्या और बढा दी जाय तो आप (परमानददास) के निधन का समय ऊपर लिखा स्पष्ट हो जाता है।

परमानददास—कवि, गायक (सगीतज्ञ) और भक्त थे। व्रजभाषा साहित्य-सूर्य 'श्रीसूर' की भाँति आपने भी 'सख्य-भक्ति' को अपने जीवन का अवलबन बनाया। भाव-प्रकाश में आपकी उक्त भक्ति-भावना का द्योतक एक सुदर प्रसग है—

"एक समय कोई राजा कुटुंब-सहित श्री गिरिराज में श्रीनाथ जी के दर्शन के लिये व्रज आया। उसकी कुल-मर्यादानुसार अंत पुर-वासिनियो के लिए दर्शनो के समय परदे का प्रबध किया गया। व्रज के ठाकुर (पुरुष-मात्र पुरुष) के भी सामने परदा ? यह श्री श्रीनाथ जी (भगवान) को अरुचिकर प्रतीत हुआ। तुरन्त इच्छा-शक्ति ने मंदिर का मुख्य-द्वार खोल दिया। बाहर खडी दर्शनार्थी भीड भीतर भर गई। परदा करने का सारा आयोजन निष्फल हो गया। परमानददास पास ही कीर्तन कर रहे थे, उन्हें आप (श्रीनाथजी) की यह 'मदाखलत-बेजा'—पसद न आई। शीघ्र ही एक नये पद की रचना कर कीर्तन करने लगे—

"कोन यै खेलिवे की बाँन ।"

श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी श्रीनाथजी की सेवा मे सलग्न थे। अत: आप को परमानददास का यह उलहने का कीर्तन पसद न आया और उन्हे टोकते हुए आज्ञा-रूप में बोल—"परमानद, यै ठीक नाही, या पद को या प्रकार गाओ"—

"भली यै खेलिवे की बाँन ।"

श्री आचार्यचरणो-द्वारा 'कोन' के स्थान पर 'भली' को तरजीह देना—बदलना, आपके व्रजभाषा-ज्ञान और उसके सुष्ठु प्रयोग का अच्छा-खासा परिचय देता है। साथ ही व्रजभाषा मे आपकी कितनी गति थी, काव्य के अतर्गत भावो के अनुकूल शब्द-चयन में कितनी सावधानी थी, यह आपके इस अल्प परिवर्तन से जानी जा सकती है। वास्तव में 'कोन' के स्थान पर 'भली' में अपनापन लिए गहरा व्यग है, जो देखते-समझते बनता है।

श्री हरिराय जी ने अपने भाव-प्रकाश में उक्त प्रसग का उल्लेख करते हुए लिखा है—"परमानद दास दास है, उन्हें प्रभु के प्रति "कोन" ऐसो कहनो उचित नाही।" यह सपूर्ण पद इस प्रकार है—

"भली यै खेलिवे की बाँनि ।
मदनगुपाल लाल काहू की, राखत नाँहिन काँनि ।।
अपने हाथ देत बनचरनन्हें, दूध, भात, घृत-साँनि ।
जौ बरजो तौ आँख दिखावत, पर घर कूद निवाँनि ।।
सुनि-री जसुधा करतब सुत के, यै ले मौंट-मथाँनि ।
फोरि, ढोरि, दधि डारि अजिर में, कोन सहै नित हाँनि ।।
ठाढी हँसति नदजू की राँनी, मूंद-कमल-मुख-पाँनि ।
'परमानंददास' जानत है, बोलि बूझि धो आँनि ।।"

श्री गोकुलनाथ जी ने—'चौरासी वैष्णव की वार्ता' मे तथा नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में परमानददास जी के कीर्तनो की, भक्ति की और भावो की भूरि-भूरि प्रशसा की है। वास्तव में परमानददास भगवान श्रीकृष्ण की बाल, पौगड और किशोर लीलाओ के वर्णन में बेजोड है। वार्ता में उनके इस साहित्य-सृजन को प्रथम 'अवतार-लीला', फिर 'निकुजलीला' (रासादिक), तदनतर 'चरण-वदनादि', 'स्वरूपवर्णन' और 'प्रभु-माहात्म्य' में विभक्त कहा गया है। जैसे—

"मोंहन, नंदराइ-कुँमार ।
प्रघट ब्रह्म निकुंज-नाइक, भक्त-हित औतार ।।
प्रथम चरन-सरोज बदो, स्याँम घन गोपाल ।
मकर-कुंडल-गंड-मंडित, चारु नेंन बिसाल ।।
राम-सहित बिनोद-लीला, सेस-संकर हेत ।
'दास परमानद' प्रभु हरि, निगम बोलत नेत ।।"

भक्ति-दृष्टि से भी आपका काव्य-बाल, काता और दास-भाव की भक्ति से परिपूर्ण है।

वार्ता मे कहा गया है कि परमानददास जी समय-समय पर नित्य नये पद रचकर श्री नवनीत-प्रिय जी के और अनोसर (अन्य अवसर) होने पर श्री आचार्य-चरणो के समक्ष व्रजलीला-सबधी पद गाया करते थे। साथ ही श्री आचार्य-मुख से भागवत-सुबोधिनी टीका, जो आप की एक अद्वितीय भावाविशिष्ट रचना है, सुनते और तदनुसार पद-रचना कर श्री आचार्य महाप्रभु को सुनाया करते थे। फलत आपके रचे कीर्तनो (पदो) की सख्या हजारो पर पहुच गई। इन्ही को बाद में सकलित करके 'सागर' नाम दिया गया। श्री गोकुलनाथ जी ने अपनी वार्ता में अपने पितृ-चरण गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ के वे वचन जो आपने परमानददास और उनके सागर (परमानद सागर) के प्रति कहे थे अविकलरूप से दुहराते हुए कहा है—

"वैष्णव तौ औरहू अनेक श्री आचार्य जी के कृपा-पात्र है, पर सूरदास और परमानंददास ए दोऊ 'सागर' भए। इन दोउन के कीर्तनन की संख्या नाहीं।"

३०

"पुष्टि मार्ग में दोइ 'सागर' भए। एक तौ सूरदास और दूजे परमानददास। सो तिन कौ हृदय अगाध-रस सागर जहाँ भगवल्लीला के रतन भरे परे है।"

अस्तु, खोज मे 'परमानदसागर' की जो प्रतियाँ मिली है, वे इस प्रकार है—

१ परमानद सागर, प्राप्ति स्थान—विद्याविभाग काँकरौली (मेवाड), बध-स० ४५, पुस्तक न० १। पृष्ठ-स० ११४, पद-स० ८५०। स० १६८० के लगभग लिखी हुई प्रति (अपूर्ण)।

२ परमानंद सागर, प्राप्तिस्थान—विद्याविभाग काँकरौली (मेवाड), बध-स० ५७, पुस्तक-स० ४। पृष्ठ-सं० ६ से १५३ तक। लिपि-समय वही स० १६८० के लगभग। अपूर्ण, जीर्ण होते हुए भी सुदर।

३. परमानद सागर, प्राप्तिस्थान—विद्या-विभाग काँकरौली (मेवाड), बध-स० ५७, पुस्तक-स० ३। पृष्ठ-स० १५२, पद-स० ११०२। अत में लिखा है—"इति श्री परमानददास जी के पद सपूर्ण, पोथी वैष्णव हरिदास की। पृ० १५२ से १५४ तक परमानंददास जी के कुछ और पद भी लिखे है।

४. परमानद सागर, प्राप्तिस्थान—विद्या-विभाग काँकरौली (मेवाड), बंध-सं० ३६, पुस्तक-स० ४। पृष्ठ-स० १७६, पद-स० ७४१। लिपि सुदर, सुवाच्य और शुद्ध। पुस्तक में शीर्षक रूप से—"परमानददास के कीर्तन" लिखा है।

५ परमानद सागर (गुटका), प्राप्तिस्थान—विद्या-विभाग काँकरौली (मेवाड), बध-स० १६, पुस्तक-स० ६। पृष्ठ-स० ३१४, पद-स० १०००। हासिये पर—"परमानद०" लिखा है जिससे—'परमानदसागर' और कीर्तन दोनो ही शीर्षक समझे जा सकते है।

६. परमानद सागर, प्राप्तिस्थान—श्री द्वारिकाधीश काँकरौली (मेवाड) के कीर्तनियाँ प० छोटे लाल। प्रति सुदर और पद सख्या ऊपर लिखी प्रतियो से कहीं अधिक।

७ परमानद सागर, प्राप्तिस्थान—जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा। पुस्तक अल्प है, पद सख्या—लगभग ७००। प्रामाणिकता में विशेष शुद्ध। चतुर्वेदीजी का कहना है कि "यह पुस्तक—बाई राधा मट्टड, ३२, बाँसतल्ला गली कलकत्ता की है।"

८. परमानद सागर, प्राप्तिस्थान—प्रसिद्ध कीर्तनियाँ जमुनादास—गोकुल (मथुरा) अथवा नाथद्वारा (मेवाड) पुस्तक नई लिखी-सी प्रतीत होती है, फिर भी सुदर है।

इनके अतिरिक्त काँकरौली (मेवाड) के विद्या-विभाग मे परमानददास जी के कीर्तनो की और भी छोटी-मोटी सग्रहात्मक प्रतियाँ है। साथ ही वहाँ साप्रदायिक नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सव के पद-सग्रहो की भी गिनती से परे प्राचीन तथा नवीन लिखी हुई अनेक प्रतियाँ है, जिनमें अष्टछाप के अन्य कवियो के साथ परमानददास जी के कीर्तन भरे पडे है। इन प्रतियो अर्थात् 'परमानद सागर' की इन विविध प्रतियो में तथा नित्यकीर्तन और वर्षोत्सवो में परमानददास जी के ऐसे अनेक पद है जो एक-दूसरे में नही है। अस्तु, परमानद सागर की इन उपलब्ध प्रतियो के आधार पर पद-सकलन का विषय-क्रम इस प्रकार है—

"१ मंगलाचरण, २ जन्म-समय के पद, ३ पलना के पद, ४ छठी के पद, ५ स्वामिनीजू के जन्म-समय के पद, ६ बाल-लीला के पद, ७ उराहने के बचन गोपिकाजू के रानीजू सो, ८ जसोदाजू कौ उत्तर गोपिका जू सो, ९ जसोदाजू कौ बरजिबौ प्रभुजू प्रति, १० गोपिकाजू के बचन प्रभुजू प्रति, ११ प्रभुजू के बचन जसोदाजू प्रति, १२ परस्पर हास्य-बचन, १३ सखन सो खेल, १४ असुर-मर्दन, १५ श्री यमना जू के तीर-मिलन, १६ मिथान्तर दर्शन, १७ गोदोहन-प्रसग, १८ बन-क्रीडा छाक के पद, १९ गोचारण समय २० दान-प्रसंग, २१ ढिग-मलि कौ प्रसग, २२ बन ते ब्रज को पाँउधारिबौ, २३ वेणु गान, २४ गोपिकाजू के आसक्ति बचन, २५ आसक्ति कौ वर्णन, २६ आसक्ति की अवस्था, २७ साक्षात् स्वामिनीजू के आसक्ति बचन, २८ साक्षात् भक्तन की प्रार्थना प्रभुजू प्रति, २९ साक्षात् प्रभुजू के बचन भक्तन प्रति, ३० प्रभु कौ स्वरूप-वर्णन, ३१ स्वामिनीजू कौ स्वरूप वर्णन, ३२ जुगलरस वर्णन, ३३ व्रतचर्या प्रसंग, ३४ रास समय के पद, ३५ अतर्ध्यान समय, ३६ जल-क्रीडा, ३७ सुरतांत, ३८ खडिता के बचन, ३९ खडिता कौ प्रत्युत्तर, ४० मानापनोद, ४१ सख्या के बचन, ४२ प्रभुजू कौ मनाइबौ, ४३ प्रभु कौ मान, ४४ किसोर लीला, ४५ फूल-मडली के पद, ४६ दीप-मालिका, गोवर्धनोद्धारण

अन्नकूट के पद, ४६ प्रबोधिनी के पद, ४८ बसंत-समय के पद, ४६ धमार (होरी) के पद, ५० डोल-उत्सव के पद, ५१ स्वामिनीजू की उत्कर्षता, ५२ सकेत के पद, ५३ ब्रजवासिन कौ माहात्म्य, ५४ मंदिर की सोभा, ५५ ब्रज कौ माहात्म्य, ५६ श्री जमुनाजू के पद, ५७ अक्षय तृतीया के पद, ५८ स्नान-यात्रा के पद, ५९ रथ-यात्रा के पद, ६० वर्षा-रितु के पद, ६१ हिंडोरा के पद, ६२ पवित्रा के पद, ६३ रक्षाबंधन के पद, ६४ दशहरा के पद, ६५ अपनो दीनत्व, प्रभु कौ माहात्म्य तथा बिनती, ६६ समुदाय पद, ६७ मथुरा-गमनादि के पद, ६८ गोपिन के विरह के पद, ६९ भ्रमर गीत, ७० जसोदा तथा नंदजू के वचन उद्धव-प्रति, ७१ उद्धव के बचन प्रभु सो, ७२ जरासंध के युद्ध कौ प्रसग, ७३ द्वारिकालीला, ७४ रामोत्सव, ७५ नरसिंघजू के पद, ७६ बामनजू के पद, ७७ समुदाय पद, ७८ फुटकर पद—इत्यादि ।"

यह संपूर्ण विषय-क्रम सूर के 'सागर' का ही रूपांतर है, जो अपनी भाव-व्यंजना, काव्य-सौष्ठव तथा कला के उपकरण—छंद (राग), अलंकार के साथ-साथ स्वभावोक्ति के सहज माधुर्य गुण में लिपटा साफ-सुथरी भाषा का परिचायक है। उदाहरण जैसे—

राग-बिलावल

बाल-बिनोद गुपाल के, देखत मोहि भावें।
प्रेम-पुलकि आँनद-भरि, जसुमति गुन-गावें ।।
बल-सँमेत घन-साँमरौ, आँगन में धावें।
बदन-चूंमि कौरें लिएँ, सुत जाँनि खिलावें ।।
सिब, बिरंचि, मुनि, देवता, जा कौ अंत न पावें।
सो 'परमाँनंद' ग्वारि कौ, हँसि भलौ मनावें ।।

राग-सारंग

रहि-री ग्वारि, जोबन-मद-माँती ।
मेरे छगँन-मगँन से लाल हि, कित लै उछँग लगावति छाती ।।
खीझत ते अब ही राख्यौ हैं, न्हाँनी उठत दूध की दाँती।
खेलन दै, घर जाहु आपने, डोलति कहा इती इतराती ।।
उठि चली ग्वारि, लाल लगे रोवन, तब जसुमति बुलाइ बहु-भाँती।
'परमानंद' ओट दै आँचर, फिरि आई नैंनन-मुसिकाती ।।

राग-सारंग

कोऊ मैया, बेर बेचँन आई ।
सुनत हि टेरि नंद-रावरि में, भीतर लई बुलाई ।।
सुनत धाँन परे आँगन में, कर-अंजुली बनाई।
ठुमक-ठुमक चलत अपने रँग गोपी-जन बलि जाँई ।।
लए उठाइ, लगाइ हृदै सौं, मुख-चूंमत न अघाई।
'परमाँनंद' स्वाँमी आँनदे, बौहौत 'बेर' जब पाई ।।

राग सारंग

एक समें जसुमति सखियँन सो बातें कहति बनाइ।
मों देखत कब धो मेरौ लालन, भूमि-धरेंगौ पाँइ ।।
फिर मोसो मैया कब कहि है, कुँमर कछुक तुतराइ ।
अरि हैं कभू दूध के कारन, तन गोरज-लपटाइ ।।
खिरक-दुहाँमन-जाति मोहि कब, आँन मिलेंगौ धाइ।
वौ धो द्यौस होइगौ कबहूँ, ललँन दुहैंगौ गाइ ।।

सोपि देंहुगी सुतहि चरावँन, गैयाँ घर, बनराइ ।
ए अभिलाष करत जसुमति जिय, 'परमाँनद' बलिजाइ ।।

राग-रामगिरि विलावल

यै तन वारि डारों कमल-नैंन पर, साँमलिया मोहि भावै ।
चरन-कमल की रेंनु जसोधा, लै-लै सिरहिं चढावै ।।
लै उछंग मुख निरखन लागी, रहि-रहि लोंन उतारै ।
कोन निरासी दीठि लगाई, लै-लै अचर झारै ।।
तू मेरौ बालक हो नँद-नंदन, तोहि विसंभर राखै ।
'परमाँनद'-स्वाँमी चिरजीग्रो, बार-बार यो भाँखै ।।

राग-धनाश्री

जसोधा, चंचल तेरौ पूत ।
आँनद्यो व्रज-भीतर डोलै, करै अटपटे सूत ।।
दह्यौ, दूध, घृत लै आगें करि, जहँ-जहँ धरो दुराइ ।
अँधियारे-घर कोहू न जानें, तहाँ पैहलें हीं जाइ ।।
गोरस के सब भाजन फोरै, माँखन खाइ चुराइ ।
लरकँन्ह के कर-काँन मरोरै, तहँ तें चलै पराइ ।।
बांट देत वनचरँन्ह कौतुकी, करै विनोद बिचारि ।
'परमाँनद'-प्रभु गोपी-वल्लभ, भावै मदन-मुरारि ।।

राग-सारग

ढोटा, रंचक माँखन खायौ ।
काहे कोह करत तू ग्वालिनि, सब व्रज गाजि हलायौ ।।
जा कौ जितनों होइ वावरी , दूनो मोपै लेहु ।
मेरौ काँन्ह यहै इकलौतौ, सब असीस मिलि देहु ।।
कमल-नैंन मो अखियँन-तारौ, कुल-दीपक व्रज-गेह ।
'परमानंद' कहति नँद-राँनी, सुत-प्रति अधिक सनेह ।।

राग-सारग

दुहि-दुहि ल्यावत, धौरी गैया ।
कँमल-नैंन को अति भावत है, मथ-मथ प्यावत घैया ।।
हँस-हँस ग्वाल कहत सब बातें, सुन गोकुल के रैया ।
ऐसौ स्वाद कभू नाँहि पायौ, अपनी सोंह कन्हैया ।।
मोहन अधिक भूँख जो लागी, छाक बाँट दै भैया ।
'परमानद' दास' को दीजै, पुनि-पुनि लेत बलैया ।।

राग-गौरी

नेंकि पढौ, गिरिधर को मैया ।
रही भिलसाइ, पतयाइ न औरें, इनके हाथ लगी मेरी गैया ।।
ग्वाल-बाल सब सखा सयाँने, पचिहारे बलदाऊ भैया ।
हूँक-हूँक इनहीं तन चितवत, चाँहत नाँहिन अपनों लैया ।।
सुन्ह ए बचन हाथ कौरें रह्यौ,दुहुँ दिसि चितवत कुँमर कन्हैया ।
'परमाँनद' जसुमति मुसकाँनी, सग दियौ गोकुल कौ रैया ।।

राग-बिलावल

नेंकि लाल, टेकौ मेरी बहियाँ ।
औघट-घाट चढ्यौ नहिं जाई, रपटति हो कालिंदी-महियाँ ।।
सुंदर, स्याँम, कमल-दल-लोचन, देखि सरूप ग्वारि उरझाँनी ।
उपजी प्रीति, काँम-अंतरगत, तब नागर नागरि पैहचाँनी ।।
हँस ब्रजनाथ गह्यौ कर-पल्लव, ज्यों गागर-सिर गिरन्हु न पावै ।
'परमानंद' सयाँनी ग्वारिनि, कमल-नैंन-तन परस्यौ भावै ।।

राग-आसावरी

साँमरौ बदन देखि लुभाँनी ।
चले जात फिरि चितयौ मो तन, तब ते संग लगाँनी ।।
वे वा घाट चरावत गैयाँ, हो इत तैं गई पाँनी ।
कमल-नैंन उपरैंनाँ फेर्यौ, 'परमानंद' हि जाँनी ।।

राग-सारंग

गोरस बेचति ही ठगी ।
कहा करो वाके बस नाहीं, मनसा अनंत लगी ।।
खेलत बीच मिल्यौ नँद-नंदन, कालिंदी के तीर ।
चितयौ तनक कमल-दल-लोचन, मन-मोहन बल-बीर ।।
और सखी सब बूझन लागीं, करत कोन कौ मोल ।
'परमानंददास' बलिहारी, मीठे तेरे बोल ।।

राग-आसावरी

अरी, गुपाल सो मेरौ मन-मान्यो, कहा करैगौ कोउ री ।
अब तौ चरन-कमल लपटाँनी, जो भावै सो होउ री ।।
माइ रिसाइ, बाप घर-मारै, हँसैं बटाऊ लोग री ।
अब तौ जिय ऐसी बनि आई, बिधनाँ रच्यौ सँजोग री ।।
बरु यै लोक जाइ किन्हि मेरौ, अरु परलोक नसाइ री ।
नँद-नंदन हो तऊ न छाडो, मिलो निसाँन-बजाइ री ।।
बहुरैं यै तन धरि कहाँ पैहो, बल्लभ-भेष मुरारि री ।
'परमाँनंद'-स्वाँमी के ऊपर, सरबस दै हो वारि री ।।

राग-धनाश्री

भावै मोहि मोहन बैंन-बजावन ।
मदनगुपाल देखि हो रीझी, मोहन की मटकावन ।।
कुंडल लोल, कपोल लोल मधु, लोचन चारु चलावन ।
कुंतल कुटिल, मनोहर आँनन, मीठैं बैंनु-बजावन ।।
स्याँम सुभग तन चंदन-मंडित, उर, कर, अंग, नचावन ।
'परमानंद' ठगी नँद-नंदन, दसँन-कुंद-मुसकावन ।।

राग-धनाश्री,-सारंग

जब ते प्रीति स्याँम सो कीन्हीं ।
ता दिन ते मेरे इन नैंनन, नेंकहु नींद न लीन्हीं ।।
सदाँ रहत चित चाक-चढ्यौ सौं, और कछू न सुहाइ ।
मन में रहै उपाइ मिलन कौ, यहै बिचारत जाइ ।।

'परमानद' यै पीर प्रेम की, काहू सो नहिं कहिऐ ।
जैसें बिया मूक बालक की, अपने तन-मन सहिऐं ।।

राग-सारग

मन, हरयौ कमल-दल नैना ।
चितवन चारु चतुर चिंतामनि, मृदु, मधु माधौ-बैंना ।।
कहा करो घर गयौ न भावै, चलन-बलन गति थाकी ।
स्याँम सुदर हठि दासी कीन्हीं, लखि न परै गति ताकी ।।
कहि उपदेस सैंहचरी मोसो, कहाँ जाँउ, कहाँ पाँऊ ।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, जहाँ लै नैंन मिलाँऊ ।।

राग-धनाश्री

मैं, तू कै बिरियाँ समझाई ।
उठि-उठि,उझकि-उझकि हरि-हेरति, चंचल टेव न जाई ।।
छिन-छिन, पल-पल, रह्यौ न परै तब, सैंहचरि ओट लगाई ।
कमल-नैंन को फिरि-फिर चितवत,, लोक की लाज मिटाई ।।
को प्रति उत्तर देइ सखी को, गिरिधर बुद्धि चुराई ।
मदनमोहन-राधा-रस-लीला, कछु 'परमाँनद' गाई ।।

राग-सारग

सोहत नव कुंजन छवि भारी ।
अदभुत रूप-तमाल सो लिपटी, कनक-बेलि सुकमारी ।।
बदन सरोज, डहडहे लोचन, निरखि छबी सुखकारी ।
'परमाँनद'-प्रभु-मत्त-मधुप हैं, वृषभाँन-सुता फनवारी ।।

राग-सारग

नव-रँग कचुकी तन गाढी ।
नव-रँग सुरँग चूनरी ओढ़ें, चंद-बधू सी ठाढी ।।
नव-रँग मदनगुपाल लाल सो, प्रीति निरंतर बाढी ।
स्याँम-तमाल-लाल-मन लिपटी, कनक-लता सी आढी ।।
सब रँग सुंदर नवल किसोरी, कोक-कला गुन-पाढी ।
'परमाँनद'-स्वाँमी की जीवन, रस-सागर-मथि काढी ।।

राग-सारग

सुनत हि जिय-धरि मुरि मुसकाँनी ।
कोन स्याँम, नद-सुत कैसौ, अनगढ-छोली-बाँनी ।।
कछु अनुराग जनायौ मन कौ, अलकलड़ी मन-ठाँनी ।
लै स्याँमता नैंन में राखी, अजन-रेख सयाँनी ।।
जिय की बात न प्रगट जनावत, चोंप रहत क्यो छाँनी ।
'परमानँद' प्यारी बिचित्र मति, मुख रूखी, हिय साँनी ।।

राग-बिलावल

चली उठि, कुज-भँमन ते भोर ।
डगमगात, लटकत लट छूटीं, पैंहरें पीत-पटोर ।।
अरुन नैंन घूमत आलस-बस, जन रस-सिंध-हिलोर ।
गिरि-गिरि परत गलित कुसुमावलि, सिथिल सीस कच-डोर ।।

पद-नख अंक जुगल राजत वर, सुभग-हिऐं तन-गोर ।
'परमाँनंद' प्रभु रमी निसा, अब लिपटि हँसी भख-मोर ।।

राग-सारग

छाँडि देत झूठौ अभिमाँन ।
मिल रस-रीति-प्रीति करि हरि सों, सुवर हैं भगवाँन ।।
यै जोवन-धन दिवस च्यारि कौ,पलटत रँग ज्यों पाँन ।
बौहौरि कहाँ यै औसर मिलि हैं, गोप-भेख कौ ठाँन ।।
वारवार दूतिका सिखवत, करि-री, अवर-रस पाँन ।
'परमाँनंद'-स्वाँमी सुख-सागर, सब गन रूप-निधाँन ।।

राग-कान्हरौ

मानिनी ऐतौ मान न कीजै ।
यै जोवन अंजलि कौ जल ज्यों, जब गुपाल माँगै तब दीजै ।।
दिन-दिन घटै, वढै नहिं सुदरि, जैसें कला चद की छीजै ।
पूरन पुन्य, सुकृत फल तेरौ, क्यों न रूप नैंन-भरि पीजै ।।
चरन-कमल की सपथि करत हो, ऐसौ जीवन दिन-दस जीजै ।
'परमाँनंद'-स्वाँमी सौ मिलकें, अपनौ जनम सफल करि लीजै ।।

राग-सारग

काँन्ह, कमल-दल नैंन तिहारे ।
अरुन, विसाल, वक अवलोकँन्ह, हठि मन हरत हमारे ।।
तिन्ह पैं वनी कुटिल अलकावलि, माँनो मधुप झँकारे ।
अतिसै रसिक, रसाल, रस-भरे, चित ते टरत न टारे ।।
मदन कोटि, रवि कोटि, कोटि ससि, ते तुम्ह-ऊपर वारे ।
'परमानंद दास' के जीवन, गिरिधर, नद-दुलारे ।।

राग-कल्यान

अँमृत-निचोइ, कियौ इक ठौर ।
तेरौ वदन सँवारि सुधा-निधि, ता दिन बिधिनाँ रचौ न और ।।
सुनि राधे, का उपमा दीजै, स्याँम मनोहर भए चकोर ।
सादर पियत, मुदित तोहि देखत, तपत काँम उर नव-किसोर ।।
कोन-कोन अँग करौ निरूपन, गुन औ सींव रूप की रासि ।
'परमाँनंद-स्वाँमी-मन वाँध्यौ, लोचन, वचन प्रेम की फासि ।।

राग-सारग

विधिनाँ, विधि करी बिपरीत ।
स्याँम मनोहर बिछुरन लागे, वाल-पनें के मीत ।।
लै अकरूर चले मधुबन को, सब ब्रज अति भै-भीत ।
साँचे भए तब-ही हम जानें, गन जो गाए गीत ।।
चूक परी सेवन नहिं पाए, चरँन-सरोज पुनीत ।
'परमाँनंद' अब कब हिं मिलेंगे, सुबल-सीदामा-मीत ।।

राग-केदारा

रैंन, पपीहा बोल्यौ-री माई ।
नीद गई, चिंता चित वाढी, सुरति स्याँम की आई ।।

सांमन-मांस देखि बरखा-रितु, हो उठि आँगन धाई।
गरजत गगँन, दाँमिनी दमकत, तामें जीउ उड़ाई॥
राग मलार कियौ जब काहू, मुरली मधुर बजाई।
बिरहिन बिकल 'दास परमाँनंद', धरनि परी मुरझाई॥

राग-सारंग

मोहन, तौ क्यों प्रीति बिसारी।
कहत, सुनत, सँमझत, उर-अंतर, दुख लागत है भारी॥
एक दिवस खेलत बन भीतर, बेंनी हाथ सँम्हारी।
बीनत फूल गयौ चुभि काँटौ, ऐसी सही बिथा री॥
हम पै कठिन हृदै अब कीन्हो, लाल गुबरधन-धारी।
'परमाँनंद' बल-बीर बिना हम, मरत बिरह की मारी॥

राग-गौरी

ब्रज की औरें रीति भई।
प्रात-समें अब नाहिन सुनियत, घर-घर चलत रई॥
ससि की किरन तरनि-सम लागत, जागत निसा गई।
उदभट भूप मकर-केतन की, आग्या होत नई॥
वृंदावन की भूमि भाँमती, ग्वालँन्ह छाँडि दई।
'परमाँनंद'-स्वाँमी के बिछुरें, बिधि कछु और ठई॥

राग-सारंग

गोबिंद, बीच दै सर मारी।
उर-तन-कुटी बिरह-दावानल, फूक-फूक सेंधि जारी॥
सोच-पोच तन छींन भयौ अति, कैसी देह बिगारी।
जो पैहलें बिधि हरि के कारन, अपने हाथ सँवारी॥
वह गोपी-घर जनम न लेती, रहत गरभ में डारी।
'परमाँनंद' एती कित ब्रज में नाँउ धरयौ ब्रज-नारी॥

राग-सारंग

ता दिन, सरवस देंहुगी बधाई।
जा दिन दौरि कहै कोहु सजनी, आए कुँवर कन्हाई॥
मैं अपनो-सौ बौहोत करत हो, लाल न देति दिखाई।
सोवत, जागत, दिन अवलोकत, वौ मन कबहुँ न जाई॥
मेरी उनकी प्रीति निरंतर, बिछुरत पल न घटाई।
'परमानंद' बिरहनी हरि की, सोचत बरु पछिताई॥

राग-सारंग

किते दिन गए रैंन सुख-सोऐं।
कछू न सुहाइ गुपालहिं-बिछुरें, रहो पूजी-सी खोऐं॥
जब ते गए नँदलाल मधपुरी, चीर न कोहू धोए।
मुख न तँबोर, नैंन नहिं काजर, बिरह सरीर बिगोए॥
ढूंढत बाट, घाट, बन, परवत, जहाँ-जहाँ हरि खेले।
'परमाँनंद' प्रभु अपनो पीतांबर, मेरे सिर पै मेले॥

राग-कल्यान

हरि-बिन, बैरिन रैन बढी ।
हम अपराधिन निठुर विधाता, काहे सँवारि गढी ।।
तन, धन, जोवन वृथाँ जात हैं, बिरहा अनल रढी ।
नंदनँदन कौ रूप बिचारत, निस-धर होरि चढ़ीं ।।
जिंहि गुपाल मेरे बस होते, सो बिद्या न पढी ।
'परमाँनद'-स्वाँमी न मिले तौ, घर तें भली मढी ।।

राग-सारंग

ऊधौ, नाहिंन परत कही ।
जब तें हरि मधपुरी सिधारे, बौहौतहि बिथा सही ।।
सुँमरि-सुँमरि वौ सुरति स्याँम की, बिरहा बौहौत दही ।।
निकसत प्राँन अटकि में राखे, अवध्यौ जाँन रही ।
'परमाँनद'-स्वाँमी के बिन अब नैंनन नदी बही ।।

राग-बिहाग

माईरी, चंद लग्यौ दुख दैंन ।
कहाँ वौ देस, कहाँ मन-मोहन, कहाँ वौ सुख की रैंन ।।
तारे गिनत गईं-री सब निस, नैंक न लागे नैंन ।
'परमाँनद'-प्रभु पिय बिछुरे तें, पल न परत चित चैंन ।।

राग-गौरी

बदरिया, तू कित ब्रज पै बौरी ।
असलैंन साल सलाँमन लागी, बिधनाँ लिख्यौ बिछौरी ।।
रहौ, जु रहौ, जाहु घर अपने, दुख पावत है किसोरी ।
'परमाँनद'-प्रभु सो क्यो जीबै, जा की बिछुरी जोरी ।।

राग-सारंग

पतियाँ, बाँचेंहू न आवै ।
देखत अंक नैंन जल पूरे, गदगद प्रेंम जनावै ।।
नवकिसोर सुहथ अच्छर लिखि, ऊधौ-हाथ पठाए ।
समाचार-मधुबन गोकुल में, मुख-ही बाँचि सुनाए ।।
ऐसी दसा देखि गोपिन की, भक्त भरँम सब जाँन्यो ।
मन, क्रम, बचन, प्रेंम-पद-अंबुज, 'परमाँनद' मन माँन्यो ।।

राग-सारंग

गुपाल-बिन कैसें ब्रज रहिबौ ।
धूसर अंग उठाइ गोद लै, लाल कौन सो कहिबौ ।।
जो मधुपुरी दिवस लागत हैं, सोच सूल तन सहिबौ ।
'परमाँनद' स्वाँमी को तजिकैं, सरँन कौन की गहिबौ ।।

राग-सारंग

बदसि बनीं कमल-दल-लोचँन ।
चितवन चारु चतुर चिंतामनि, बिन गुन चाँप मदन-सर मोचँन ।।
कटि पीतांबर, लाल उपरँनाँ, माथें पाग, मनोहर कुंडल ।
मुक्ता कंठ, हाथ में बीरा, पाँइ पाँमरी, गति ब्रज-मंगल ।।

नंद-किसोर कूल-कालिंदी, संग गुपाल सभा को मडन।
'परमानंददास' बलिहारी, जै जगदीस कंस-कुल-खडन ।।

राग-सारग

मारग, माधौ कौ जोवैं।
वौ अनुहारि न देख्यौ कोऊ, जो नैनन-दुख-खोवै ।।
बाल-बिनोद किए नँद-नंदन, सुँमरि-सुँमरि गुन रोवै।
बासर प्रति गृह-काज न भावै, निस भरि नींद न सोवै।।
अंतरगत की बिथा भालसी, सो तन अधिक बिगोवै।
'परमानंददास' गोविंद-बिन, अँसुवन-जल उर धोवै ।।

राग-सारग

मेरौ मन-गह्यौ माई, मुरली कौ नाँद।
आसन पोन, ध्यान नहिं जांनो कोन करे अब बाद-विवाद ।।
मुक्ति देहु संन्यासिन को हरि, काँमिनि-देहु कांम की रास।
धरमिन देहु धरम कौ मारग, मो मन रहै पद-अंबुज-पास ।।
जो कोऊ कहै ज्योति सब यामें, सपनेहु छियो न तिहारौ जोग।
'परमानंद' स्याँम-रँगराती, सबै सहो मिलि इक अँग लोग ।।

राग-गूजरी

वौ मुख, देख्यौ ही मोहिं भावै।
मदन गुपाल जगत कौ ठाकुर, बन ते जब घर आवै ।।
लोचन लोल, नासिका सुदर, कुडल ललित कपोल।
दसँन कुंद, बिंबाधर राते, मधु ते मीठे बोल ।।
कुचित केस पीत-रज मंडित, जनु भौंरन की पाँत।
कँमल-कोस ते कढि ढिग बैठे, पाँडुर बरन सुजात ।।
चंदक चारु मुकट सिर सोहत, बीच-बीच मनि-गुंजा।
गोपी-मोहन अभिनव मूरत, प्रघट प्रेम के पुंजा ।।
कंठ कंठमनि, स्याँम मनोहर, पीतांबर बनमाल।
'परमानंद' सबँन मनि मंगल, कूजत बेंनु रसाल ।।

राग-सारग

जाको तुम्ह, अंगीकार कियौ।
तिन्हँ के कोट बिघँन हरि टारे, अभै प्रताप दियौ ।।
बहु सासनाँ दई पैंहलादैं, तऊ निसंक जियौ।
निकसे खंभ-मध्य ते नरहरि, आपुन राखि लियौ ।।
दुरबासा अमरीष-सतायौ, सो पुनि सरँन लियौ।
राखि प्रतिग्या मदन मोहन उन-ही पै पठै दियौ ।।
मृतक भएँ हरि सबै जिवाए, दीठ हि अमृत पियौ।
'परमानंद' भगत के बस सो, उपमाँ कोन बियो ।।

परमानंददास जी के सागर में 'वार्त्ता' के अनुसार पूर्व में कहे गए वात्य से लेकर कांता और दास भाव-विभूषित भक्ति के—स्नेह के जितने भी भव्य और आकर्षक चित्र हो सकते है, वे सब उनकी व्यजनाविभूषित भाषा के सहारे, सत्यानुभूति के साँचे में ढल कर कुछ इस प्रकार निखर कर काव्य-भूमि पर उतरे है कि उनके सकलन में—उदाहरण छाँटने और प्रस्तुत करने में, नंददास जी की यह उक्ति—

"भरे भँवन के चोर भए बदलत ही हारे ।"

बार-बार विवश कर देती है । सागरके रत्न-रूप पदोकी व्याख्या करने या सुदरताके विषय मे कुछ कहने-सुननेमे भी विचार उत्पन्न होता है कि कही अल्पज्ञता वश उनके काव्यरूप यश शरीर की किसी 'रग' पर कठोर कलम का नस्तर न लग जाय—उनके भाव-भरे कोमल हृदय के किसी कोने को इस प्रकार न छू दिया जाय कि वह कराह उठे । सच तो यह है कि परमानददास ने उस समय की राष्ट्र भाषा—व्रजभाषा की लोक-पावन-प्रणालिका के सहारे व्रजभारती का वह अजस्र सहज स्रोत बहाया जो 'सत्यम् शिव सुदर' के स्वाभाविक रूप मे परिणत होकर "ब्रह्मानद-सहोदर काव्यानद" कहा जाता है । परमानददास जी ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, भाव-प्रवणता और कल्पना के स्वानुभूति पूर्ण सहज रगो के सहारे मानव की लोकरजक-भावनाओ की पृष्ठ-भूमि पर ऐसे अलौकिक चित्र अकित किए है, जिससे श्रोता-वक्ता, बिना किसी कठिन कल्पना के अपनी ही आत्म-अनुभूतियो मे डूबता-उतराता श्रीकृष्ण-भक्ति में निमग्न हो अपने को भूल जाता है—रस तृप्त हो जाता है । अस्तु, सगीत-प्रवीण परमानददास जी की रचना उच्चकोटि की है, उसमें रस प्रवाहिनी काव्य-शक्ति का रूप मुग्ध कर है—आकर्षक है । भाषा सजीव है, सरल है, सुबोध और मधुर है । स्वाभाविक रूप से आए हुए अलकारो के साथ काव्योचित अन्य गुणो और रीतियो का जाल नही, उनमें सच्ची स्वाभाविकता है । आपका शब्द-विन्यास नाद-सौदर्य की तरल-तरगो पर अठखेलियाँ करता हुआ काव्य के अतर्गत भावो को दबने नही देता, अपितु उन्हें अधिकाधिक खिलाता है । शब्दो के अर्थ सकेत के साथ उनकी लाक्षणिक ध्वनि बडी विलक्षण है जो भाव-भूमि को और भी उर्वरा बनाती हुई उसकी श्री को अनुपम रूप से उद्भासित करती है। लोकरुचि,परमानददास जी को, प्रेम के अतर्गत भाव-क्षेत्र मे सीमित रहनेवाला कह सकती है, वे सूर की भाँति वहाँ अधिक गहरे न उतरे हो, यह भी हो सकता है , पर अपनी अनुभूतिके छोटे से दायरे मे ही सही, वे बडे गहरे उतरे है । वहाँ उनकी पैनी दृष्टि अधिक प्रखर हुई है ।

पुष्टि-सप्रदाय में अष्टछाप के कवियो के प्रति सुदर भावनाएँ प्रचलित है । ये भावनाएँ उसकी निराली सूझ-बूझ की द्योतक तो है ही साथ ही साप्रदायिक रहस्य के समझने मे भी बडी सहायक है । अतएव उक्त भावनानुसार परमानददास—

"सारस्वत कल्प में गोलोक वासी भगवान श्रीकृष्ण के सखा तोष, श्री राधा-सहचरी—चंद्रभागा, वर्ण-केसरिया, प्रिय रितु—शिशिर, प्रिय कुंज—मान, प्रिय मनोरथ—गुप्तरस, सेवा कार्य—चित्रकारी, दूतीपन, कामशास्त्र, वशीकरण और स्वात बोलना एवं श्री महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के समय आपका प्रिय स्वरूप नवनीत प्रिय, प्रिय शृंगार-ग्वालपगा, प्रियलीला-बाल कही गई है । आपके अंग गायक थे—पद्मनाभदास, गोपालदास, आसकरण, गदाधरदास, सगुनदास, हरिजीवनदास, मानिकचंद, और रसिक बिहारी ।"

पद्मनाभदास जी के पद मुद्रित होकर पृथक् रूप से प्रकाश में आ चुके है । अन्य अग-स्वरूप कवियो की कृतियाँ—नित्यकीर्तन और वर्षोत्सव मे सकलित है ।

परमानदसागर का सपादन जैसा सुदर ढग से होना चाहिए था, वैसा हो चुका है । उदयपुर (मेवाड) 'साहित्य-समेलन' के अवसर पर जब हम लोग परम श्रद्धेय राजर्षि टडन जी के साथ 'कॉंकरौली' (मेवाड) गये थे, तब उसे देखा था । सागर के सपादक है—व्रजभाषा के चिरपरिचित मर्मज्ञ तथा उसके प्रसिद्धि-प्राप्त ज्ञाता—'जवाहरलाल जी चतुर्वेदी, मथुरा' । अब तो उसके प्रकाश मे आने की देर है । कॉंकरौली नरेश गोस्वामी श्री व्रजभूषण लाल जी महाराज उसके मुद्रण की चेष्टा में प्रयत्नशील है । गोस्वामी जी ने चतुर्वेदी जी को कॉंकरौली में अपने पास रख कर तथा अपने सुमधुर सहयोग दे परमानद-सागर का सपादन कराया था ।

परमानददास जी की कुछ अन्य रचनाएँ भी कही-सुनी जाती है, जो इस प्रकार है—

दानलीला, उद्धवलीला, ध्रुवचरित्र और सस्कृत-रत्नमाला ।

ये रचनाएँ अभी प्रकाश मे नही आई है । हो सकता है कि ये रचनाएँ किसी अन्य 'परमानददास जी' की हो, पर उनका भी तो पता लगना चाहिये, उनका इतिवृति भी तो प्रकाश में आने की चाह रखता है ।

परमानंद-सागर में परमानंददास जी की नाम-छाप भिन्न-भिन्न है, जैसे—"परमानंद, परमानंद-दास, परमानंद प्रभु, परमानंद स्वामी और दास परमानंद।"

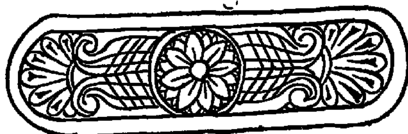
डा 'दीनदयाल गुप्त, लखनऊ' ने एक और नई छाप —जो हमारे देखने में नही आई 'परमानंद सारंग' का अपनी पुस्तक—"अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ०—११३" पर उल्लेख किया है तथा प्रमाण की-पुष्टि में 'भक्तमाल'—नाभादास' का यह पद दिया है—

"बाल, पौगंड, किसोर-गोप-लीला सब गाई।
अचरज का यैं बात, हुती पैहले जु सिखाई॥
नैंनन नीर-प्रवाह, रहत रोमाच रैंन दिन।
गदगद-गिरा उदार स्यांम-सोभा-भींज्यौ तन॥
'सारंग' छाप ता की भई, स्रवन सुनत आवेस देत।
ब्रज-वधू-रीति कलिजुग विषैं, परमांनद भौ प्रेम-केत॥"

डा गुप्त लिखते है कि "परमानंददास जी के जितने पद उपलब्ध हैं इनमें दो-तीन पदो में ही लेखक (डा० गुप्त) ने कवि के नाम के साथ 'सारंग' शब्द देखा है" और उदाहरण के लिये नीचे टिप्पणी (नोट) में यह अधूरा पद दिया है—

"जेहि भुज गोबर्धन राख्यो जिहि भुज कमला धर आनी।
जिहि भुज कंसादिक रिपु मारे, परमानंद प्रभु 'सारंग' पानी॥"
—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० —११४

यहाँ 'सारंग' शब्द छाप- रूप में नही 'प्रभु' के साथ 'पानी' (पाणि) से संबद्ध होकर भगवान श्रीकृष्ण के एक नाम-विशेष के रूप में आया है। साथ ही—'गोवर्धन' और 'राख्यो -शब्द-ब्रजभाषा की कोमल-शब्द-योजना तथा उसके अर्थ के प्रति कितना कुठाराघात कर रहे हैं! इसी प्रकार—'प्रभु' और 'स्वामी' छाप भी भगवान् श्रीकृष्ण की द्योतक है। इनकी अर्थ-संगति उन्ही के साथ बैठती है— 'परमानंद' के साथ नही।



हरिवंश और हिंदी वैष्णव काव्य

श्री व्रजेश्वर वर्मा

वाल्टर रूबेन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि हरिवश वस्तुत महाभारत का 'खिल' तथा समस्त पुराणो के पहले की रचना है[1]। उन्होने हरिवश के प्रक्षिप्त अशो का अनुमान करके उसके मूल रूप मे वर्णित कृष्ण-कथा का पुनर्निर्माण करने की चेष्टा की थी[2]। यदि महाभारतोपरात कृष्ण-कथा का मूल रूप हरिवश से जाना जा सके तो कृष्ण-साहित्य के विकास-क्रम को समझने में बहुमूल्य उपोद्‌घात सहायता मिलेगी। परतु अपने वर्तमान रूप में, अनेक प्रक्षेपो का समावेश किए हुए भी, हरिवश से हिंदी के कृष्ण-काव्य की ही नही, उत्तर भारत के समस्त वैष्णव साहित्य की पृष्ठभूमि समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। वस्तुत हिंदी-वैष्णव-काव्य के साथ वर्तमान हरिवश की तुलना करने में उसके प्रक्षिप्त अश बाधक नही, अपितु सहायक है, क्योकि जैसा कि हम आगे देखेंगे मूल और प्रक्षेप—संपूर्ण हरिवश की रचना हिंदी-कृष्ण-काव्य के बहुत पहले हो चुकी होगी। हरिवश और हिंदी भक्ति-काव्य के बीच पर्याप्त व्यवधान और कालातर है। उस व्यवधान मे पौराणिक, साहित्यिक तथा विकासशील लोकाचारिक अनेक शृखलाएँ है। श्रीमद्भागवत इन शृखलाओ मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शृखला कही जा सकती है, जिसमें हिंदी-कृष्ण-काव्य से ही नही, समस्त वैष्णव-साहित्य से अत्यधिक निकटता एव घनिष्ठता पाई जाती है।

हरिवश में कृष्ण-कथा एव कृष्ण-भक्ति का ही वर्णन प्रधान है, विष्णु के अन्य अवतारो की कथाएँ अत्यत सक्षेप से आनुसगिक रूप में आई है, परतु ऐसा नही कि हरिवश से केवल कृष्ण-काव्य की ही समानता हो, उससे उस समस्त वैष्णव-काव्य की तुलना की जा सकती है जिसमें कृष्ण और राधा-कृष्ण की भक्ति वाले समस्त सप्रदायो की रचनाएँ ही नही, अपितु राम-भक्त गोस्वामी तुलसीदास की रचनाएँ भी आ जाती है। इस हिंदी वैष्णव-काव्य के अतर्गत कृष्ण और राम की भक्ति के स्वरूप तथा परिणामत उनसे सबद्ध काव्य एक दूसरे से बहुत भिन्न दिखाई देते है, तथापि दोनो में हरिवश-वर्णित वैष्णव-भक्ति के भिन्न-भिन्न पहलुओ से विलक्षण समता है। हिंदी कृष्ण-काव्य मे विभिन्न सप्रदाय-समत विविध प्रकार की रचनाएँ है, परतु सामान्यत हम भक्त-प्रवर 'सूरदास' को उसका प्रतिनिधि कवि मान सकते है। राम-भक्ति के तो एक मात्र समर्थ कवि गोस्वामी 'तुलसीदास' ही है। अत हरिवश से हिंदी वैष्णव-काव्य की तुलना करने मे इन्ही दो कृष्ण और राम-भक्ति के प्रतिनिधि कवियो की रचनाओ को लक्ष्य किया गया है।

हिंदी के वैष्णव-काव्य में इसका सकेत भी नही मिलता कि मध्ययुग का वैष्णव-आदोलन प्राचीन वासुदेवोपासना अथवा नारायणीय-धर्म का पुनरुत्थान था[3]। हिंदी काव्य के कृष्ण तो केवल वसुदेव-पुत्र होने के कारण वासुदेव है, उनके वासुदेवत्व की ऐतिहासिकता का कही सकेत नही मिलता,[4] परतु जिस प्रकार

[1] पौराणिक वीक्षण—जर्नल ऑव दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९४१, पृष्ठ २४७-२५६

[2]. हरिवंश तथा कुछ पुराणो में कृष्णचरित—जर्नर ऑव दी अमेरिकन ओरिएंटल-सोसाइटी, ६१, १९४१, पृष्ठ ११५-१२७

[3]. दे० वैष्णववाद, शैववाद एव अवर धार्मिक पद्धतियाँ—आर० जी० भंडारकर, भाग १,७-९

[4] सूरसागर के तीसरे पद में अवश्य वासुदेव नाम से विष्णु की वंदना की गई है, जो कृष्ण-चरित्र से सीधे सबधित न होने से पुरातन वासुदेव को सकेत करती हुई कही जा सकती है, परंतु इस पद में भी अंत में 'जदुनाथ गुसाईं' का उल्लेख हो गया है। —दे० सूरसागर (वे० प्रे०),

गीता के श्रीकृष्ण अपने को 'वृष्णियो में वासुदेव'[1] घोषित करते है, हरिवंश में अनेक स्थलो पर बताया गया कि श्रीकृष्ण ही दूसरे वासुदेव है। कृष्ण-जन्म की भविष्य-वाणी में ही कहा गया है कि वसुदेव से 'दूसरे' वासुदेव का जन्म होगा[2]। 'दूसरे' वासुदेव का पद पाने के लिए अन्य समसामयिक व्यक्तियो ने भी प्रयत्न किया

दूसरे वासुदेव कृष्ण

था, परन्तु श्रीकृष्ण ने उन्हें परास्त करके अपना वासुदेवत्व प्रमाणित किया। करवीरपुर का शृगाल वासुदेव इसी प्रकार युद्ध में पराजित किया गया। श्रीकृष्ण से युद्ध करते हुए शृगाल वासुदेवत्व की प्रतियोगिता का सकेत करता हुआ कहता है कि तुम्हारे मरने से मै ही 'एक' वासुदेव रहूँगा और मेरे मरने से तुम्ही 'एक' वासुदेव रहोगे[3]। हरिवंश के प्रथम पर्व में इस प्रकार के अनेक सकेत है जिनके द्वारा श्रीकृष्ण को प्राचीन भागवत-धर्म के वासुदेव से अभिन्न सिद्ध करने का उद्योग किया गया है। उन्ही वासुदेव ने माथुर-कल्प मे श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लिया[4]।

उपर्युक्त शृगाल वासुदेव की भाँति पौंड्र नामक राजा भी वासुदेव नाम से विख्यात होना चाहता था। वह नारद से कहता है—"आप जहाँ-जहाँ जाते है, वहाँ-वहाँ तप-सिद्धि के लोक विख्यात है और वहाँ-वहाँ मै पौंड्र वासुदेव नाम से विख्यात हूँ। शख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग, तूणीर, धारण किए हुए मै राजसिंहो का विजेता सर्वदा सबका दाता हूँ। जो यह गोप वासुदेव कहा जाता है उस मेरे नाम धारण करने वाले में वीर्य और बल नही है। यह गोप-बालक व्यर्थ मेरा नाम धारण करता है। हे विप्रेंद्र, ऐसा निश्चित कहो कि मै ही 'एक' रहूँ। इस जगत् में उस बलिष्ठ यदु को जीत कर मै ही वासुदेव कहलाऊँ और सब वृष्णियो को बल से मार कर उस पुरी का नाश करूँ[5]।" नारद ने पौंड्र के इस दु साहस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि "सर्वत्रगामी विष्णु, दुष्टो को उनके बंधुओ सहित मार कर स्थित है, फिर उन हरि के होते हुए दूसरा कौन

1. वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि,
—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १०, श्लोक ३७

2. द्वितीयोवसुदेवाद्वै वासुदेवो भविष्यति।
—विष्णु पर्व, अध्याय २२, श्लोक ६०

3. लोकेस्मिन्वासुदेवोऽहं भविष्यामि हते त्वयि।
हते मयि त्वमप्येको वासुदेवो भविष्यसि॥
—विष्णु पर्व अध्याय, ४४, श्लोक २२

4. विष्णोस्तु माथुरे कल्पे यत्रते संशयो महान्।
वासुदेव गतिश्चैव साभया समुदाहृता॥
—विष्णु पर्व, अ० १२८, श्लोक २६

5. नारदेदं वदत्वं हि यत्र यत्र गतो भवान्।
तत्र तत्र तपः सिद्धो लोके प्रथित वीर्यवान्।
पौंड्र एव च विख्यातो वासुदेवेति शब्दित॥
शंखी चक्री गदी शार्ङ्गी खड्गी तूणी तनुत्रवान्।
विजेता राजसिंहाना दाता सर्वस्य सर्वदा॥
योऽद्य गोपकनामासौ वासुदेवेति शब्दित।
तस्य वीर्यबलेनास्तो नाम्नोस्य मम धारणे॥
सहि गोपो वृथा बाल्याद्धारयत्येव नाम मे।
इदं निश्चिनु विप्रेंद्र एक एव भवाम्यहम्॥
वासुदेवो जगत्यस्मिन्निर्जित्य बलिनं यदुम्।
वृष्णीन्सर्वान्बलात् क्षिप्त्वा निहनिष्येचतां पुरीम्॥
—भविष्य पर्व, अ० ९२, श्लो० ७,८,१०,११,१२

वासुदेव नाम रख सकता है[१] ?" इन कथनो से स्पष्ट है कि उस समय तक यह सर्वमान्य नही हो पाया था कि श्रीकृष्ण ही वासुदेव हैं।

ऋग्वेद में विष्णु-संबंधी बहुत कम ऋचाएँ हैं, फिर भी ब्राह्मण-काल तथा उससे कही अधिक महाभारत एवं पौराणिक-काल में विष्णु को जो उत्तरोत्तर महत्ता और महिमा प्राप्त होती गई उसका सूत्र

आदि पुरुष वैदिक साहित्य में मिलता है[२]। पुराणो में तो विष्णु को 'परब्रह्म' और 'आदिपुरुष' के रूप में

अद्वैत विष्णु उपस्थित किया गया है। हरिवंश भी उन्हे अव्यय, सहस्र-नेत्र, सहस्र-मुख, सहस्र-भुज, सहस्र-

विष्णु शिर, सहस्र-कर, सहस्र-जिह्वा और सहस्र-मुकुट बता कर[३] पुरुष सूक्त में वर्णित आदिपुरुष से अभिन्न घोषित करता है। श्रुति के वचनो[४] का मानो इससे भी अधिक घनिष्ठ उल्था करते हुए शिव के मुख से विष्णु के संबंध में कहलाया गया है—"तुम सहस्र शीर्ष पुरुष, सहस्राक्ष, सहस्र-पाद, सहस्र-प्रकार, सहस्र-मुख, सहस्रात्मा और स्वर्गपति हो। तुम इस समस्त भूमि मे व्याप्त हो कर सप्त द्वीपो और सागरो मे व्याप्त हो और अणु रूप से सर्वत्र दशांगुल देश में स्थित हो[५]।" विष्णु की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए शिव ही के द्वारा सृष्टि-काल में ब्रह्मा स्थिति काल में विष्णु और संहार काल में रुद्र और इस प्रकार त्रिधाम वाले कहलाया गया[६]। यही नही, उनमे वैदिक इंद्र, चंद्रमा, शुक्र, बृहस्पति आदि का भी समाहार किया गया[७]। हिंदी के वैष्ण-काव्य में विष्णु को त्रिदेव मे सर्वश्रेष्ठ एवं तीनो के एकात्मक रूप मे तो उपस्थित किया ही गया, उनके अवतार कृष्ण और राम को त्रिदेव से भी उच्च-आदि सनातन, परात्पर ब्रह्म के रूप में चित्रित किया गया है[८]। हिंदी के भक्ति-काव्य ने इस दिशा में पुराणो से भी अधिक प्रगति की।

१. विष्णौ सर्वत्रगे देवे दुष्टान्हत्वा सबांधवान्।
वासुदेवेति को नाम तिष्ठत्यस्मिन्हराविति ॥
—भविष्य पर्व अ० ९२, श्लो० १९

२. दे० वैष्णववाद शैववाद एवं अवर धार्मिक पद्धतियाँ—(आर० जी० भंडारकर, भाग १)

३. सहस्राक्षं, सहस्रास्यं सहस्रभुजमव्ययम्।
सहस्र शिर संवेदं सहस्रकरमव्ययम् ॥
सहस्र जिह्वं भास्वंतं सहस्र मुकुटं प्रभुम्।
सहस्रदं सहस्रादिं सहस्रभुजमव्ययम् ॥
—प्रथम पर्व, अ० ४१, श्लो० ३,४

४ सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सभूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥
—य० अ० ३१

५. सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्ष सहस्रपात्।
सहस्र धारः साहस्री सहस्रात्मा विवस्पतिः ॥
भूमिं सर्वामिमां प्राप्य सप्त द्वीपां ससागराम्।
अणुः सर्वत्रगो भूत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥
—भविष्य पर्व, अ० ८८, श्लो० ३३,३४

६ ब्रह्मात्वं सृष्टि कालेतु स्थितौ विष्णरसि प्रभो।
संहारे रुद्र नामाऽसि त्रिधामा त्वमसि प्रभो ॥
—भविष्य पर्व, अ० ८८, श्लो० ३१

७. हरिवंश प्रथम पूर्व, अ० ४२, श्लो० ४

८. दे० तुलसीदास—आध्यात्मिक विचार शीर्षक अध्याय—डा० माताप्रसाद गुप्त तथा—सूरदास इष्टदेव शीर्षक अध्याय—डा० ब्रजेश्वर वर्मा

वैदिक देवताओ में इद्र की अपेक्षाकृत अधिक महत्ता है, क्योकि वे देवासुर-सग्राम में सुरो का नेतृत्व करते हैं। उनका बल, वीर्य और पराक्रम अद्वितीय है। अत पुराणो के चतुर रचयिताओ के लिए यह आवश्यक था कि वे विष्णु के समक्ष इद्र की हीनता दिखा कर विष्णु में अद्वितीय वीरता और सुरो की रक्षा की सामर्थ्य प्रतिष्ठित करे। स्पष्टत इसी उद्देश्य से हरिवश मे देवता और असुरो के तारक-मय सग्राम का विष्णु और विस्तार के साथ वर्णन किया गया। असुरो-द्वारा विजित भयाक्रात देवताओ को विष्णु भगवान्

इंद्र ही अभयदान दे कर आश्वस्त करते है। उस महा भयकर सग्राम में असुरो का नेतृत्व करने वाले असुर श्रेष्ठ कालनेमि को विष्णु-सहित मदराचल के समान विशाल तथा नारायण की भांति पराक्रमशाली कहा गया[1] तथा देवताओ पर विजय प्राप्त करने के बाद दैत्यो-द्वारा उसी प्रकार उसका स्तवन कराया गया, जिस प्रकार विष्णु का किया जाता है[2]। कालनेमि अतुलित बलशाली था, परतु विपरीत कर्म करने के कारण उसे वेद, धर्म, क्षमा, सत्य एव नारायण की आश्रित श्री न प्राप्त हो सकी। इसी से रुष्ट हो कर वह 'वैष्णवपद' की इच्छा से नारायण के साथ युद्ध करने को उद्यत हुआ[3]। इद्रादि देवताओ के विरोधी कालनेमि को इद्र से भी अधिक महिमाशाली चित्रित करने का उद्देश्य विष्णु की सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित करना ही है। कालनेमि के वैष्णव पद की इच्छा तथा उसके वेदादि से हीन होने में पुन विष्णु की अद्वितीय महत्ता की व्यंजना है।

देवासुर-सग्राम मे विष्णु ने इद्रादि को पराजित करने वाले दैत्यो का नाश कर के भयाकुल, शरणहीन देवताओ को निर्भय किया। इसी प्रकार जब पृथ्वी पर ईर्ष्यालु राजाओ की वृद्धि हुई, नगर-नगर में एक-एक राजा तथा उन सबके पास कोटि-कोटि सैनिक-दल हो गए, तो उनके परस्पर विग्रह से व्यथित, भाराक्रात पृथ्वी[4] का बोझ हलका करने के लिए विष्णु भगवान् ने पहले देवताओ को पृथ्वी पर अशावतार लेने का आदेश दिया। अस्तु, अनत बलशाली देवता सैकडो,-सहस्रो की सख्या में वृष्णि-वश में उत्पन्न हुए, कुरु और पाचाल में भी देवताओ ने अवतार लिया[5]। दूसरी ओर दैत्यो ने भी भिन्न-भिन्न रूपो में पृथ्वी पर जन्म लिया। शौरसेन वशी उग्रसेन का पुत्र कस स्वय कालनेमि का अवतार था तथा केशी, वृषभ, कुवलयापीड, प्रलब, धेनुक, मुष्टिक और चाणूर—सभी किसी न किसी दैत्य के अवतार थे। भौमासुर और नरकासुर क्रमश मय और तारक थे। पृथ्वी पर इन दैत्यो के अत्याचारो से भारत कुल की रक्षा के निमित्त नारद ने विष्णु भगवान् से अवतार लेने की प्रार्थना की।[6] अस्तु, भगवान् विष्णु ने कश्यप के अवतार वसुदेव के यहाँ, जिनकी देवकी और रोहिणी नाम की पत्नियाँ क्रमश अदिति और सुरभी की अवतार थी जन्म लेने की इच्छा की[7]। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि भगवान् विष्णु ने वस्तुत देवताओ की रक्षा के ही अर्थ पृथ्वी पर अवतार लिया था। उनको इद्र के नेतृत्व में लडने वाले देवताओ की रक्षा करने के योग्य, अत इद्र से भी अधिक पूज्य, बनाने के लिए देवताओ का ही सगा भाई बनाया गया। इस प्रकार पृथ्वी पर विष्णु के रक्षा और सहार के कार्यों में देवासुर-सग्राम की ही पुनरावृत्ति हुई।

हिंदी वैष्णव-काव्य में भी हरिवश तथा अन्य पुराणो की भाँति कृष्ण और राम के माता-पिता को अदिति और कश्यप का अवतार तथा कृष्ण और राम के द्वारा मारे हुए दुष्टो को दैत्यो का अवतार कहा गया,

१. हरिवंश प्रथम पर्व अ० ४६ श्लो० ५६-६१
२. वही, अ० ४६
३ प्रथम, पर्व, अ०४८, श्लो० १-२
४. वही, अ० ५१, श्लो० २१
५. वही, अ० ५३, श्लो० ७३-७४
६. वही, अ० ५४, श्लो० ६४-७७
७. वही, अ० ५५

एवं उनके उद्धार-कार्य को पृथ्वी का भार उतारना और देव, मुनि-आदि की रक्षा बताया गया, किंतु इस कार्य को देवलोक के देवासुर-संग्राम से संबद्ध नहीं किया गया। हिंदी-काव्य में कालनेमि और मय-तारक-संग्राम का उस प्रकार का उल्लेख नहीं आया जिस प्रकार का हम हरिवंश में पाते हैं। हिंदी-काव्य के राम और कृष्ण मानव-लीला में ही व्यस्त हैं, देवताओं की ओर उनका ध्यान कम जाता है। निश्चय ही उस समय तक देवताओं की हीनता तथा उनके राजा इंद्र की अपेक्षा विष्णु की अतर्क्य श्रेष्ठता लोक-विश्वास में इतनी बद्धमूल हो चुकी थी कि उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। हिंदी के राम और कृष्ण इतने मानव हो गये कि उनके देवोद्धार-कार्य को शंका और संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। अक्रूर के साथ मथुरा जाते हुए कृष्ण के प्रति सूरदासव्यंग से कहते हैं कि 'कंस-निकंदन ने देवों को सनाथ करने के लिये व्रजवासियों को अनाथ करके आतुरता से रथ हँकवाया'[1] और, गोस्वामी तुलसीदास तो राम-वनवास के वर्णन में बारबार 'स्वार्थी और कुचाली' देवताओं की कटु आलोचना करते हैं।

विष्णु को इंद्रादि देवताओं का रक्षक प्रमाणित करने मात्र से पुराणों का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। यह तो इंद्रादि के स्थान पर विष्णु की एकमात्र पूजा-आराधना प्रचलित कराने के प्रयत्नों की केवल भूमिका है।

कृष्ण और इंद्र

हरिवंश में वर्णित कृष्ण और इंद्र-संबंधी उपाख्यानों से सूचित होता है कि उस समय तक इंद्र की हीनता का उस निर्भीकता एवं स्वच्छंदता से उल्लेख नहीं हो सकता था, जो कालांतर में दिखाई देता है। हरिवंश के अनुसार व्रजवासी इंद्र देवता को मेघों का राजा मानते थे। उनका विश्वास था कि इंद्र की आज्ञा से ही मेघ जल बरसाते हैं, जिससे धान्य उत्पन्न होता है। पुरहूत पुरंदर ही सूर्य की जलवाली किरणों को दुह कर मेघों को जल देते हैं। इंद्र के द्वारा धान्य और शस्य की वृद्धि होने पर पृथ्वी तृप्त होकर अमृतमय दिखाई देती है, गाएँ दूध और बछड़े देती तथा वृषभ पुष्ट होते हैं। मेघों के द्वारा आकाश में अभिनव श्री और शोभा का संपादन हो जाता है तथा समग्र प्राणियों को सुख मिलता है। इसी कारण राजा और प्रजा सब मिल कर इंद्रदेव की अर्चा करते हैं[2]। गो-धन और कृषि पर आश्रित देश में वर्षा के देव इंद्र की पूजा और मान्यता स्वाभाविक है। इस लोक-विश्वास को भंग करने के लिये पुराणों ने देवलोक में विष्णु-द्वारा देवों के रक्षा-कार्य का वर्णन पर्याप्त न समझ कृष्णावतार में गोवर्धन-धारण के प्रसंग की सृष्टि की। यह दिखाया गया कि इंद्र की अति वृष्टि से रक्षा करने वाले एकमात्र कृष्ण ही हैं तथा गौओं को तृण देने वाले कृष्ण-रूप गोवर्धन देव हैं। अतः इन्हीं की पूजा-अर्चा करनी चाहिए। अपनी वार्षिक पूजा न पाकर इंद्र जब घनघोर जल-वर्षण से भी व्रज को नहीं बहा सके, तब उन्होंने जाना कि व्रज के रक्षक स्वयं सुर-त्राता विष्णु भगवान के अतिरिक्त और कोई नहीं। अतः उन्होंने व्रज में आकर गोवर्धन की शिला पर स्थित गोपवेश-धारी कृष्ण-विष्णु का अभिनंदन किया। उन्होंने स्वीकार किया कि कृष्ण एकमात्र देवता—लोकों के सनातन देव हैं, उनकी समता दूसरा कोई नहीं कर सकता[3]। वे ही जगत के उपादान कारण भी हैं। जिस प्रकार धातुओं से कांचन बनता है, उसी प्रकार ब्रह्मा ने यह जगत् कृष्ण से बनाया है[4]। श्री कृष्ण का गो-लोक सब लोकों से ऊपर स्थित है। पाताल, जल, पर्वत, पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग और सूर्य-लोक क्रमशः उत्तरोत्तर उच्च और श्रेष्ठ हैं। इनसे भी उच्च देव-लोक है जहाँ इंद्र देवराज पद पर आसीन हैं। देवलोक से भी ऊपर ब्रह्म-लोक है तथा सबसे ऊपर

1. सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ४६० पद ३४
2. विष्णुपर्व, अ० १५, श्लो० ५—१९
3. एकस्त्वमसि देवानां लोकानां च सनातनः।
   द्वितीयं नानुपश्यामि यस्तेषां च धुरं वहेत॥
   —विष्णु पर्व १९।३५
4. स्वच्छरीर गतं कृष्ण जगत्प्रकरणं त्विदम्।
   ब्रह्मणा साधु निर्दिष्टं धातुभ्य इव कांचनम्॥
   —वही, १९।२३

महाकाश में स्थित गोलोक है। ब्रह्मा भी जिस गोलोक का परिचय इंद्र को न दे सके, वही श्री कृष्ण के साथ पृथ्वी पर अवतरित हुआ। इस प्रकार इंद्र ने कृष्ण का स्तवन करके गौओं की प्रशसा की और कृष्ण को गौओं का राजा तथा स्वय अपना इंद्र कह कर अभिषिक्त किया। इसी कारण कृष्ण पृथ्वी पर 'गोविंद' कहलाते हैं[1]। हरिवंश मे गोविंद की यह व्याख्या महाभारत से भिन्न है[2]। जो हो, हिंदी-कृष्ण-काव्य के गोपाल-कृष्ण से इसका सदर्भ मिल जाता है,[3] परतु कृष्ण की अनुपम महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भी हरिवंश ने उनके आगे इंद्र का इतना हीन नही चित्रित किया जितना हम परवर्ती कृष्ण-साहित्य, विशेषतया हिंदी-कृष्ण-काव्य में, पाते हैं। हरिवंश के अनुसार पृथ्वी पर अवतरित गोलोक में गौओं के राजा गोविंद के रूप में कृष्ण का अभिषेक स्वय इंद्र करते है और कहते है—हे कृष्ण, मैं भूतपति देवराज पुरदर हूँ और अदिति के गर्भ-पर्याय से तुम्हारा पूर्वज—ज्येष्ठ भ्राता हूँ[4]।' इसी कारण कृष्ण स्वर्गलोक में उपेंद्र कहे जाते हैं[5]। इंद्र का सम्मान ही नहीं हरिवंश में उनकी पूजा भी सुरक्षित रखी गई। उन्होंने वर्षा का पूर्वार्ध अपनी पूजा के लिए सुरक्षित रख कर उत्तरार्ध, अर्थात् शरद्-काल कृष्ण-पूजा के लिए निर्धारित कर दिया[6]।

इसके विपरीत सूरदास के इंद्र ब्रज को बहा देने के प्रयत्न में विफल होने पर अज्ञान में हुए अपने अपराध की उसी प्रकार क्षमा माँगते हैं जिस प्रकार ब्रह्मा ने बाल-वत्स-हरण के अपराध पर माँगी थी। ये

१. विष्णु पर्व–१६–१८–४६

२. डा० भंडारकर के अनुसार गोविंद ऋग्वेद के गोविद—गायों के ढूंढने वाले—का परिवर्तित रूप है। गोविंद का प्रयोग वेद में इंद्र के लिए हुआ है। वहीं इंद्र के लिए केशि-निषूदन भी आया है। महाभारत के आदि और शांति पर्व में विष्णु को वाराह रूप धारण कर जल-मग्न पृथ्वी को ढूंढ लाने के कारण गोविंद कहा गया है। भगवद्गीता में भी गोविंद का प्रयोग मिलता है।

—वै० वैष्णववाद, शैववाद, एव अ० धा० प०, भाग १, ६

३. उपर्युक्त गोलोक की उच्च कल्पना भी 'सूरसागर' में संकेतित 'गोलोक' से मेल खाती है। सूरदास ने गोलोक सहित ब्रज में अवतरित श्रीकृष्ण के मुरली-वादन पर वैकुंठवासी नारायण और कमला तक को मुग्ध होते चित्रित किया है। सूरदास की कल्पना निश्चय ही उनके भक्तिभाव से प्रभावित है। यथा—

"मुरली धुनि वैकुठ गई।
नाराइन, कमला सुनि दंपति अति रुचि हृदें भई॥
सुनो प्रिया यह बानी अद्भुत वृंदावन हरि देखौ।
धन्य-धन्य श्रीपति मुख कहि-कहि, जीवन ब्रज कौ लेखौ॥
रास-विलास करत नँदनदन, सो हमते अति दूरि।
धनि वन धाँम, धन्य ब्रज-धरनी, उडि लागै जो धूरि॥
यै सुख तिहूँ भुवन में नाहीं, जो हरि-सँग पल एक।
'सूर' निरखि नाराइन इक टक, भूले नैन निमेष॥

—सूरसागर (वैं० प्रे०), पृ० ३४८ पद ५१

४ अहं भूतपति: कृष्ण देवराज पुरदर।
अदितेर्गर्भ पर्याये पूर्वजस्ते पुराकृत:॥

—विष्णु पर्व १६।३७

५. उपेंद्र इति कृष्णात्वा गास्यंति दिवि देवता॥

—विष्णु पर्व १६।४६

६. ये चे मे वार्षिका मासाश्चत्वारो विहितामिमम्।
एषामर्धं प्रयच्छामि शरत्कालतु पश्चिमम्॥

—विष्णु पर्व १६।४८

श्रीकृष्ण के चरणो मे लोटते तथा उन्हें ही माता, भ्राता, जगदाता आदि सभी कुछ मान कर उसी प्रकार अपनाने की प्रार्थना करते है, जिस प्रकार माता अपने अबोध शिशु के अनजाने अपराधो को क्षमा करके अपनाती है[1]। सूरदास ने इद्र को कृष्ण-भक्तो मे भी कोई उच्च स्थान नही दिया, उनके पूज्य होने की तो बात ही दूर है। गोस्वामी तुलसीदास ने खलो की वदना करते हुए उनकी, जिन्हे 'सुरानीक' हितकारी' है,[2] ऐसे शक्र से समानता करके इद्र पर जो आरभ में ही हलका सा व्यग्य किया है वह आगे स्पष्ट हो जाता है, जब वे 'पोची मति' वाले 'कुचाली' ईर्ष्यालु देवताओ के 'ऊँचे निवास और नीची करतूत' का वर्णन करते है[3]। इसी प्रकार गोस्वामी जी ने अनेक बार 'कुटिल अमरपति' तथा अन्य देवताओ को बुरा-भला कहा है[4]। उनके पूज्यो में गणेश, सूर्य, शिव-अर्धनारीश्वर, भैरव, दुर्गा, कालिका, गगा, यमुना, चित्रकूट, सीता, लक्ष्मण, भरत, हनुमान आदि तो है, पर इद्रादि देवताओ पर उनकी सदैव वक्र दृष्टि ही रही।

हरिवश में गोवर्धन-धारण के प्रसग की भाँति पारिजात-आनयन की कथा मे कृष्ण और इद्र का एक और सघर्ष वर्णित है। रुक्मिणी के पास पारिजात-पुष्प देख कर कृष्ण की प्रिय पत्नी 'सत्यभामा' को ईर्ष्या हुई। जब वह किसी प्रकार प्रसन्न न हो सकी, तब श्रीकृष्ण ने पुष्प के स्थान पर पारिजात-वृक्ष लाने का वचन दिया, परतु कृष्ण का सदेश पाकर इद्र ने न केवल पारिजात देना अस्वीकार किया, वरन उन्हे स्त्रैण आदि कह कर अपमानित भी किया[5]। परिणामत कृष्ण को इद्र से युद्ध करना पडा। इस युद्ध में हरिवश ने कृष्ण की अपेक्षाकृत अधिक वीरता की व्यजना करते हुए भी उन्हें युद्ध-विजयी नही बनाया, अपितु दोनो के माता-पिता अदिति-कश्यप के द्वारा उनमें समझौता करा दिया है। शात होकर कृष्ण से इद्र ने कहा—'तुम सब लोक के प्रभु हो, हमने तुम्हे राज्य में स्थापित किया है, फिर तुम मेरी अवमानना क्यो करते हो ? हे कमल-पत्राक्ष,

१. सुरपति, चरन परयौ गहि धाइ।
जुग गुन धोइ सेस गुन जान्यो, सरनहि राखिलेउ सरनाइ ।।
हम बिसरे तुम्हरी माया में, तुम्ह बिनु नाहीं और सहाइ।
सरन-सरन पुनि-पुनि कहि-कहि मोहिं, राखि-राखि त्रिभुवन के राइ ।।
मोतें चूक परी बिनु जानें, मैं कीन्हे अपराध बनाइ।
तुम्ह माता, तुम्हही जगदाता, तुम्ह भ्राता अपराध छिमाइ ।।
जौ बालक जननी सो बिरुझै, माता ताकौं लेइ मनाइ।
ऐसेहिं मोहिं करौ करुनामय, 'सूर' स्याम ज्यो सुत-हित माइ ।।

—सूरसागर पृ० २१६, पद ७६

२. बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही। सतत सुरानीक हित जेही ।।

—रामचरित मानस, बालकाड, दोहा ३।५

३ बार-बार गहि चरन सँकोची। चली बिचारि बिबुध मति पोची।
ऊँच निवास नीचि करतूती। सकहिं न देखि पराइ बिभूती।

—रामचरित मानस, अयोध्याकाड, दोहा ११।३

४ माँगेउ बिदा प्रनाम करि, राम लिए उर लाइ।
लोग उचाटे अमरपति, कुटिल कुअवसर पाइ ।।

—रामचरित मानस अयोध्याकाड, दोहा ३१६

५. विष्णु पर्व अ० ६७–७३

भाई होकर मेरी ज्येष्ठता भुला कर तुम मेरे निर्वाण की इच्छा क्यो करते हो[१] ? शची ने भी कहा—हे उपेंद्र, पारिजात लेकर जाओ और अपनी वधू को उसके मनोनुकूल पुष्प प्राप्त कराओ[२]।' विदा होते समय कृष्ण माता-पिता अदिति-कश्यप के साथ शची और इद्र का भी अभिवादन करते है और शची उनकी सोलह सहस्र रानियो के लिए वस्त्राभूषण की भेंट देकर प्रेमपूर्वक विदा करती है[३]। अस्तु, कृष्ण और इद्र का यह झगडा गृह-कलह से अधिक नही जान पडता, यद्यपि हरिवशकार उसके द्वारा सूक्ष्म व्यजना के साथ कृष्ण की सापेक्ष महत्ता-प्रतिपादन का अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेता है। यह स्पष्ट है कि उस समय तक हिंदी के कृष्ण-काव्य की तरह इद्र के प्रति पूज्य भाव नि शेष नही हुआ था ।

इद्र की ऐंद्रिय लोलुपता की पुराणो में अनेक कथाए है, परतु हरिवश में केवल 'भविष्य पर्व' में अजितेंद्रिय इद्र के मृत घोडे मे प्रवेश करके जनमेजय की पत्नी वपुष्टमा से व्यभिचार करने का उल्लेख है। जिसके फलस्वरूप जनमेजय ने उन्हें शाप दिया था कि आज से अश्वमेध में तुझे कोई न पूजेगा[४]। बहुत सभव है यह उल्लेख उपर्युक्त प्रसगो के बाद रचा जा कर हरिवश में मिलाया गया हो, क्यो कि इसमें इद्र की हीनता की व्यजना कही अधिक गहरी है ।

वैदिक देवताओ मे इद्र के अतिरिक्त केवल वरुण और है, जिन्हें उषा-अनिरुद्ध-विवाह के प्रसग में वैष्ण-वास्त्र-द्वारा पराजित होकर कृष्ण की पूजा करते हुए दिखाया गया है[५]। सूरसागर में श्रीमद्भागवत के अनु-

कृष्ण और वरुण

सार एक भिन्न प्रसग में वरुण को श्री कृष्ण के समक्ष हीन चित्रित करके उनके प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित करते हुए दिखाया गया है[६]। ऋत के रक्षक महान् वैदिक देवता वरुण उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त होते गए और पौराणिक तथा भक्ति-काल में उनका नाम-मात्र शेष रह गया।

हरिवश में श्रीकृष्ण की महत्ता विष्णु की सर्वश्रेष्ठता एव अद्वैतता के वर्णन मे विशेष रूप से व्यजित है, स्वय उन्हें आदि देव 'सनातन-चराचर-स्वामी' आदि बताते हुए भी विष्णु का अशावतार ही कहा गया है[७]।

कृष्ण-विष्णु और शिव

इसके विपरीत जैसा कि पीछे सकेत किया जा चुका है, हिंदी के वैष्णव-काव्य में राम और कृष्ण को साक्षात् परब्रह्म तथा त्रिदेव के विष्णु से भी उच्च बताया गया है। कृष्ण की सर्वश्रेष्ठता के प्रतिपादन में हिंदी के कृष्ण-भक्त कवियो ने बाल-वत्स-हरण लीला के द्वारा ब्रह्मा की हीनता का प्रतिपादन तो किया,[८] परतु शिव के सबध में केवल उक्तियोंसे ही सतोष कर लिया गया है, उनको कृष्ण

१. त्वं प्रभुर्लोक कृत्कृत्स्न राज्येऽहं स्थापितस्त्वया ।
स्थापयित्वा कथं नाम पुनर्माभिवत्स्यसे ॥
भ्रातृत्वमुपगम्यैवं ज्येष्ठत्वं चाप्यपोह्य च ।
कथं कमलपत्राक्ष निर्वाणं कर्तुमिच्छसि ॥
—वही, अ० ७५।२८-२९

२. वही, अ० ७५।३८

३ विष्णु पर्व, अ० ७५, श्लो० ४१, ४२

४. अद्य प्रभृति वेवेंद्रमजितेंद्रियमस्थिरम् ।
क्षत्रिया वाजिमेधेन न यक्ष्यतीति शौनक ॥
—भविष्य पर्व अ० ५ श्लो० १७

५. वि० प०, अ० १२७

६. सूरसागर (वें. प्रे.) पृ० २३२-२३३

७ अंशावतरणे कृत्स्नं जाने विष्णोर्विचेष्टितम् । —भविष्य पर्व ४६।३२

८ अनजानत य करी मैं तुमसो बरिआई। ए मेरे अपराध छमहु त्रिभुवन के राई।
ज्यों बालक अपराध सत जननी, लेति सँभारि। सरन गएँ राखत सदा अवगुन सकल बिसारि।
—सूरसागर (वें० प्रे) पृ० १५७।४३०-२८

से हीन प्रमाणित करने के लिये किसी स्वतन्त्र प्रसग की अवतारणा नहीं की गई। उक्त प्रसग मे ब्रह्मा ही के द्वारा शिव को भी कृष्णके समक्ष नगण्य कहलाते हुए कृष्ण का स्तवन कराया गया है,[1] परतु हिंदी के कृष्ण-भक्त कवियो ने प्रत्यक्ष रूप में शिव और शिव-भक्तो की निंदा नही की और न उन्हें राम-भक्त तुलसीदास की भाँति विष्णुभक्तो में सम्मिलित किया। भ्रमरगीत में अवश्य उद्धव को योगी बना कर 'शैवो' की हीनता व्यजित की गई है,[2] परतु वहाँ भी शैवो से अधिक निर्गुणवादी 'अलख, अलख' चिल्लाने वाले गोरख-पथी हठ-योगियो को लक्ष्य किया गया है।[3] एक पद में अवश्य सूरदास प्रकारातर से शैवो की प्रत्यक्ष हीनता चित्रित करते पाये जाते हैं[4] तथा एक

१. मैं ब्रह्मा इक लोक कौं, ज्यो गूलर विच जीव।
प्रभु तुम्हरे इक रोम प्रति, कोटि ब्रह्म अरु सीव।।

तथा— —सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० १५८।४३०-२६

आदि सनातन हरि अविनासी। सदाँ निरंतर घट-घट वासी।।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं।। चतुरानन सिव अंत न जानैं।
—सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० १६०।५३

२ गोकुल सव गोपाल उपासी।
जे गाहक साधन के ऊधौ, ते सव बसत ईस पुर कासी।।
—सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ५४७।१५

३. हमतौ तबहीं जोग लियौ।
जबहीं ते मधुकर मधुवन को, मोहन गमन कियौ।।
रहित सनेह सरोरुह सब तन, श्रीखंड भसँम चढाए।
पैहरि मेखला चीर पुरातन, पुनि-पुनि फेरि सियाए।।
स्रुति, ताटंक, नैन मुद्रावलि, औधि अधार-अधारी।
दरसन भिच्छा माँगत डोलत, लोचन-पत्र पसारी।।
बाँधौ बेंनु कंठ सिंगी पिय, सुमिरि-सुमिरि गुन गावत।
करवर बेंत वंड डर डरत न, सुनत स्वाँन दुख धावत।।

❀

गोरख सवद पुकारत आरत, रस रसना अनुराग।
भोग भुगति भूलेंहु भावै नाँहि, भरी विरह वैराग।।

तथा— —सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ५२६।२५

यह उपदेस कह्यौ है माधौ। करि विचार सनमुख ह्वै साधौ।।
इँगला, पिंगला सुषमना नारी। सून्य सहज, में बसहिं मुरारी।।
ब्रह्म-भाव करि मै सब देखौ। अलख निरंजन ही कौं लेखौ।।
पद्मासन इक मन चित ल्यावौ। नैन-मूदि अंतरगत ध्यावौ।।
हृदै-कमल में ज्योति प्रकासी। सो अच्युत अविगत अविनासी।।
—सूरसागर (वें प्रे०) पृ० ५५६।८

४. अपनी भक्ति देहु भगवान।

❀

जरत ज्वाला, गिरत गिर तैं, स्वकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत, राखि सकत न ईस।।
—सूरसागर (सभा) १०६

अन्य स्थल पर वे श्रीकृष्ण के धूल-धूसरित रूप में जटा-जूट युक्त शिव-वेश का अंकन करके मानो शैवों को कृष्ण की रूप-राशि की ओर आकृष्ट करते पाये जाते हैं तथा उन श्याम-शिव का ध्यान करने को कहते हैं जिनके अंग देख कर अनंग भी लजाता है[1]। इससे अधिक उन्होंने शिव और शिव-भक्तों की ओर ध्यान नहीं दिया।

इस संबंध में मर्यादावादी स्मार्त गोस्वामी तुलसीदास की स्थिति भिन्न है। उन्होंने ब्रह्मा की हीनता का कोई वर्णन नहीं किया तथा शिव को राम के भक्तों में सर्वोच्च स्थान देकर उनकी महिमा इतनी अधिक बढ़ा कर बताई कि स्वयं राम उनकी भक्ति करते हैं। उन्होंने शिव-भक्ति के बिना नर को राम-भक्ति का अधिकारी तक नहीं माना[2]। रामचरितमानस में राम-भक्ति के साथ शिव-भक्ति का मणि-कांचन संयोग हुआ है, परंतु फिर भी इसमें संदेह नहीं रहता कि गोस्वामी जी की शिव-भक्ति राम-भक्ति का एक साधन अथवा अंग मात्र है[3]। शैवोपासना को मधुर वैष्णव-ढंग से आत्मसात् कर लेने का यह चतुरतापूर्ण उपाय समन्वय कहा जाता है, परंतु यह ढंग नया नहीं है। वैष्णव पुराणों में इसी प्रकार विष्णु की सापेक्ष महत्ता का प्रतिपादन होता आया है। तुलसीदास जी में यह एक विशेषता अवश्य है कि उन्होंने अपने समन्वय कार्य में शिव और राम का संघर्ष कहीं नहीं दिखाया। जब शिव राम के अनन्य भक्त हैं तो संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता, परंतु हरिवंश में शिव को राम का भक्त इतनी सरलता से नहीं बनाया जा सका। कदाचित् उस समय तक शैवोपासना का पर्याप्त जोर था। फलतः उसमें स्थान-स्थान पर शिव की महिमा का प्रतिपादन किया गया है और शिव और कृष्ण-विष्णु में अत्यंत चतुरतापूर्वक समन्वय-जैसा दृष्टिकोण रखते हुए विष्णु और कृष्ण की सापेक्ष महत्ता प्रमाणित की गई है। इस विषय में हरिवंश और गोस्वामी तुलसीदास में विलक्षण समता दिखाई देती है।

पारिजात के संबंध में कृष्ण-इंद्र-युद्ध-रूपी गृह-कलह को रोकने के लिये उनके पिता कश्यप भूतगणों के ईश्वर सौम्य स्वभाव महात्मा शिव की स्तुति करते हुए उन्हें अनंतमूर्ति, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, जगत् और जीवन के आदि कारण आदि अनेक विशेषणों से युक्त तथा अपने प्रसाद से सत्व गुण-प्रधान विष्णु को उत्पन्न करने वाला बताते हैं[4]। इसी प्रसंग में स्वयं कृष्ण पारिजात-प्राप्ति के लिये शिव की आराधना, अर्चना और स्तुति करते दिखाये गए हैं[5]। श्री कृष्ण शिव की स्तुति करते हुए उन्हें भक्तों के भक्त, ईश्वरों के ईश्वर, अव्यक्त, अक्लेश, महेश्वर, विश्वकर्मा, अमोघवीर्य, सर्वव्यापक, सूर्य को प्रकाशित करने वाले तथा ब्रह्मा, कपिलदेव एवं स्वयं कृष्ण को उत्पन्न करने वाले आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं। शिव जी ने इस स्तवन को सुन कर कृष्ण को वरदान दिया कि तुम्हें पारिजात प्राप्त होगा[6]। तदनंतर श्रीकृष्ण और शिव दोनों ने 'परियात्र पर्वत पर अपनी-अपनी प्रतिमा के पूजन का माहात्म्य बताया और इस प्रकार परियात्र-स्थित बिल्वोदकेश्वर महादेव की पूजा के साथ कृष्ण की प्रतिमा का पूजन भी सम्मिलित कर दिया गया। इसी अवसर पर महादेव ने श्रीकृष्ण को पारियात्र-पर्वत की गुफाओं में बसने वाले उन समस्त दैत्यों को मारने का आदेश दिया जिन्हें स्वयं शिव ने अवध्यता

१. सखी री नंद नंदन देखि।
धूरि-धूसर जटा-जटुली हरि कियौ हर-भेष ॥
—सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ७८८,

२. सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥
संकर बिमुख भगति चहै मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुँ बास॥
—रामचरित मानस, लंकाकांड दोहा ७-८

३. होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि।
—रामचरित मानस लंकाकांड, दोहा ३, चौ० ३

४. विष्णु पर्व अ० ७२

५. विष्णु पर्व अ० ७४

६. विष्णु पर्व, अ० ७४

का वरदान दिया था[१]। इसी प्रकार पेचीले ढंग से शिव के द्वारा रक्षा का वरदान पाए हुए निकुंभ दैत्य का श्री कृष्ण-द्वारा वध दिखा कर श्री कृष्ण की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। यह वध भी श्रीकृष्ण ने विल्वोदकेश्वर महादेव की इच्छा से उन्हे नमस्कार करके किया था। अंत में विल्वोदकेश्वर महादेव ने इस पर अत्यंत प्रसन्नता प्रकट की थी[२]।

कृष्ण, विष्णु और महादेव के संबंध में उपर्युक्त समन्वयात्मक, किंतु निश्चित रूप से वैष्णव दृष्टिकोण के साथ हरिवंश में दोनो के बीच सीधा संघर्ष भी दिखाया गया है। सबसे भीषण संघर्ष शिव-भक्त अहंकारी वाणासुर के आख्यान में वर्णित है। जब दैत्यगण युद्ध में श्रीकृष्ण के शस्त्र-प्रहार से भयभीत होकर भागने लगे तब स्वयं महादेव और स्वामी कार्तिक उनके सहायतार्थ आ उपस्थित हुए। विष्णु और रुद्र के घोर संग्राम की भयंकरता से समस्त पृथ्वी व्याकुल हो उठी[३]। उसने अपना संकट ब्रह्मा को सुनाया। पृथ्वी को आश्वासन देकर ब्रह्मा ने शिव को स्मरण दिलाया कि कृष्ण उन्ही के आत्मारूप है। यथार्थ ज्ञान होने पर शिव जी युद्ध में विरत हुए और तब शिव और कृष्ण दोनो प्रीति पूर्वक मिले[४]। ब्रह्मा ने शिव का हरि-रूप से और नारायण का शिव-रूप से चिंतन किया। उन्होने देखा जो विष्णु है, वह रुद्र है, जो रुद्र है वह ब्रह्मा है, ये तीनो रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा एक मूर्ति है[५]। रुद्र के परमरूप विष्णु और विष्णु के परमरूप शिव है। एक ही आत्मा द्विधारूप हो कर लोक में नित्य विचरता है। शंकर के बिना विष्णु नही और केशव के बिना शिव नही, इसलिए रुद्र और उपेंद्र एक ही है[६]। अस्तु, ब्रह्मा ने हरिहरात्मक स्तोत्र के द्वारा दोनो को भूरि-भूरि नमस्कार किया[७]।

दक्ष प्रजापति के यज्ञ के अवसर पर भी विष्णु और रुद्र के युद्ध का वर्णन किया गया है। यहाँ भी सूक्ष्म संकेतो-द्वारा विष्णु की महत्ता व्यंजित है,[८] परंतु इस विषय का सबसे अधिक विस्तार पुत्र-प्राप्ति-हेतु कृष्ण की कैलाश यात्रा के उपाख्यान में मिलता है[९]। रुक्मिणी को संतुष्ट करने के लिये कृष्ण ने 'तप' और 'ब्रह्मचर्य' से अविनाशी, विरूपाक्ष, आदि देव, अज, विभु, सब प्राणियो के हित में संलग्न, नील लोहित महादेव शंकर को प्रसन्न करके पुत्र-प्राप्ति के लिये कैलाश को प्रस्थान किया[१०]। उन्होने वहाँ बारह वर्ष पर्यंत घोर तप किया,

१ विष्णु पर्व अ० ७४
२ वही, अ० ८५
३. वही, अ० १२४
४. वही, अ० १२५, श्लो० १२–२२
५. यो विष्णुः स तु वै रुद्रो यो रुद्रः स पिता महः।
एको मूर्तिस्त्रियो देवा रुद्रविष्णुपितामहाः॥ —वही, अ० १२५, श्लो० ३१
६ रुद्रस्य परमो विष्णुर्विष्णोश्च परमः शिवः।
एक एव द्विधा भूतो लोके चरति नित्यशः॥
न विना शंकरं विष्णुर्न विना केशवं शिवः।
तस्मादेकत्व मायातौ रुद्रोपेंद्रौ तु तौ पुरा॥
—विष्णुपर्व, अ० १२५ श्लो० ४१-४२
७. वही, श्लो० ४३–४६
८. भविष्य पर्व, अ० ३२
९ वही अ० ७३-९०
१०. तत्रोपास्य महादेवं शंकरं नील लोहितम्।
ततो लब्धास्मि पुत्रं ते भवाङ्क् तहितेरतात्॥
तपसा ब्रह्मचर्येण भवं शंकरमव्ययम्।
तोषयित्वा विरूपाक्षमादिदेवमजं विभुम्॥
—वही, अ० ७३, श्लो० ३६, ३७

जिसे देखने के लिये इंद्र, धर्मराज, वरुण, आदित्य, वसु, समस्त रुद्र, सिद्ध, मुनि, गंधर्व, यक्ष, किन्नर, अप्सरा आदि और अंत में पार्वती-सहित स्वयं शिव आए। शिव के आने पर भूत, पिशाच, राक्षस, गुह्य, श्रेष्ठ मुनि सबने मिल कर श्री कृष्ण को विष्णु से अभिन्न बताते हुए उनकी स्तुति की[1]। विष्णु भगवान ने समाधि से जाग कर अपने को शिव की स्तुति में असमर्थ बताते हुए 'सर्वात्मन्, सर्व भूतेश, हर' से क्षमायाचनापूर्वक रक्षा की प्रार्थना की[2]। शिव जी ने अत्यंत आदर और प्रेम के साथ 'चक्रपाणि, जगत्पति, जनार्दन, देवेश्वर' विष्णु की इच्छा जान उन्हें पुत्र-प्राप्ति का वरदान दिया तथा सांख्य के अनुसार तत्व-विचार करके बताया कि सृष्टि के आदि कारण विष्णु ही हैं[3]। विष्णु में उन्होंने केवल ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की एकता का ही वर्णन नहीं किया, वरन् उन्हें 'सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष'—आदि विशेषणों वाला आदि पुरुष बतलाया[4]। शिव जी ने गीता के विभूतियोग (दशम अध्याय) की भाँति विष्णु की अनंत विभूति का वर्णन किया तथा उन्हें—जगत्पति, देवेश, विभु, भूत-भावन, सर्वात्मन्' आदि उन्हीं विशेषणों से विभूषित किया जिनका प्रयोग क्षणभर पहले स्वयं उनके लिये कृष्ण ने किया था[5]। इस परस्पर स्तुति-कथन में यद्यपि शिव और विष्णु की एकता का प्रतिपादन है, तथापि विष्णु की सापेक्ष श्रेष्ठता, शिव की महत्ता को भी स्वीकार करते हुए, असंदिग्ध रूप में व्यंजित की गई है। स्वयं शिव अपने भक्त मुनियों को एक मात्र विष्णु की आराधना का उपदेश देकर कहते हैं—'विष्णु नारायण से परे जगत में और कोई देव नहीं है। अतः सदा 'ओम्' *नाम से केशव का ही ध्यान और पाठ करना* चाहिए। उसी से निःश्रेयस की प्राप्ति होगी'[6]। शिव के अघोर-पंथी आराधकों के लिये तो कैलाश-यात्रा के आरंभ में ही, घंटाकर्ण और उसके भाई,—दो महा भयानक पिशाचों की विष्णु-भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। ये पिशाच पूर्वजन्म में विष्णु के विरोधी होने के कारण शिव की आराधना करने पर भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सके और जब शिव के कहने से उन्होंने जाना कि विष्णु-शरणागति ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है, तब वे कृष्ण-विष्णु की शरण में गए। कृष्ण-विष्णु ने उन्हें अभीप्सित मुक्ति प्रदान की और इस बात का विचार नहीं किया वे कि ब्रह्म-हत्या के अपराधी थे[7]।

'हंस-डिंभक" की कथा में भी प्रकारांतर से हरिवंश शिव की अपेक्षा विष्णु की महत्ता का प्रतिपादन करता है। शिव के भक्त हंस और डिंभक, महादेव के परम पराक्रम तथा भृंगी और रिटि दो भूतों की सहायता प्राप्त करके भी, श्रीकृष्ण और बलराम-द्वारा परास्त होते हैं और वैष्णवास्त्र के आगे रौद्रास्त्र कुंठित होते दिखाया जाता है[8]।

[1]. वही अ० ८५

[2]. क्षमस्व भगवन्देव भक्तोऽहं त्राहिमां हर।
सर्वात्मन्सर्वभूतेश त्राहिमां सतत हर॥
—वही, अ० ८७, श्लो० ३७

[3] भविष्य-पर्व अ० ८८, श्लो० ३—६

[4]. वही, श्लो० ३१—३४

[5] वही, श्लो० ५४—६७

[6] नान्यो जगति देवोस्ति विष्णोर्नारायणात्परः।
ओमित्येवं सदा विप्रा पठत ध्यात केशवम्॥
ततो निःश्रेयस प्राप्तिर्भविष्यति न संशयः।
एवं ध्यातो हरिः साक्षात्प्रसन्नो वो भविष्यति॥
—वही, अ० ९९, श्लो० ९,१०

[7]. वही, अ० ८०—८३

[8] भविष्य पर्व, अ० १०३—१२९

गोस्वामी तुलसीदास ने विष्णु की महत्ता के प्रतिपादन में शिव और विष्णु की आराधना के बीच समन्वय का जो दृष्टिकोण उपस्थित किया उसमें, जैसा कि पीछे कह आए है, हरिवंश की भाँति सघर्ष और विरोध नही दिखाया गया। राम के अनन्य भक्त तुलसीदासजी के लिए राम का विरोध और विरोधी सह्य नही। उनके शिव श्रेष्ठ राम-भक्त है और इसी कारण पूज्य है। इसी नाते गौरी, पार्वती या देवी भी पूज्य है। पतिव्रता स्त्रियो के लिये स्वामीजी ने गौरी की विशेष मान्यता वताई है। स्वय सीता पति-प्राप्ति के लिये गौरी-पूजन करती है[1]।

कृष्ण और शक्ति अथवा देवी

इस सवध में सूरदास तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियो का भाव भिन्न है। सूरदास की गोपयाँ श्रीकृष्ण की पति-रूप में प्राप्ति के लिये गौरी की नही, गौरी-पति शिव और रवि की आराधना करतीं है,[2] यद्यपि भागवत में गोपियो को कात्यायनी देवी की पूजा करते हुए दिखाया गया है[3]। इन्ही कात्यायनी देवी को आगे महा-माया, महायोगिनी, भद्रकाली---आदि कहा गया है, परन्तु सूरदास की एकात भाव-निष्ठा अनन्य कृष्ण-भक्ति मे यदि कोई देवी पूज्य है तो आदि शक्ति की अवतार कृष्ण की अर्द्धांगिनी राधा। हिंदी के अन्य कृष्ण-भक्त कवियो ने भी राधा-कृष्ण के अतिरिक्त किसी देवी-देव को पूज्य नही माना, परन्तु साथ ही किसी कृष्ण-भक्त कवि ने देवी की विगर्हणा भी नही की। कदाचित् शाक्त-मत उस समय तक या तो वैष्णव मत में किसी न किसी रूप मे घुलमिल गया था अथवा उसके द्वारा आच्छादित हो गया था, किंतु हरिवंश मे शाक्तो को पर्याप्त महत्व दिया गया है तथा शैवो की भाँति उन्हें भी विष्णु-पूजा की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। हरिवंश मे महादेवी, महाशक्ति की महिमा का विस्तार पूर्वक वर्णन और उनके अनंत गुणो का वारवार कथन किया गया है, किंतु फिर भी हरिवंश ने उन्हें मूलत विष्णु की "कालरूप निद्रा" मात्र माना है। मनुष्य रूप में वे सर्व प्रथम यशोदा के गर्भ से उत्पन्न हुई। इन्ही 'कालरूप निद्रा देवी' ने विष्णु की आज्ञा से अपने में अतर्हित षड्गर्भा दैत्यो को क्रमश देवकी के गर्भ में स्थापित किया था तथा सातवे गर्भ को सातवें महीने में 'सकर्षण' कर रोहिणी के गर्भ मे पहुँचाया था[4]। विष्णु ने उन्हे पहले ही वता दिया था कि तुम कस-द्वारा पटके जाने पर मेरे समान श्याम-छवि और सकर्षण-समान आनन-वाली, त्रिशूल, खड्ग, कवच-आदि धारण कर भुजग के समान भीम भुजाओ से दश दिशाओ को शोभित करते हुए घोर प्राणियो से युक्त मेरी आज्ञा की अनुवर्तिनी कौमार-व्रत में स्थित हो स्वर्ग को सिधारोगी। इन्द्र मेरे वताये विधान से तुम्हारा अभिषेक करके भगिनी के समान ग्रहण करेंगे। कुशिक-गोत्र में होने से तुम कौशिकी होगी। इन्द्र तुम्हें विंध्याचल पर्वत में शास्वत स्थान देंगे तथा वाद में तुम सहस्रो स्थानो मे स्थित हो पृथ्वी को शोभित करोगी। तुम्ही शुभ-निशुभ दानवो का अनुचरो सहित नाश करोगी। नवमी के दिन तुम, मास और वलि के सहित पूजा को प्राप्त करोगी। मेरे प्रभाव को जानने वाले जो व्यक्ति तुम्हारी वदना करेंगे, उनके लिए पुत्र और धन कुछ भी दुर्लभ न होगा। जो भक्तिपूर्वक इस स्तोत्र से तुम्हारी स्तुति करेंगे मैं उन्हे नही मारूंगा तथा वे

[1] जय गजवदन षडानन-माता। जगत जननि दामिनि दुति गाता।
नहिं तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव बेद नहिं जाना।
भव-भव विभव पराभव कारिनि। विस्व बिमोहनि स्ववस विहारिनि।
पति देवता सुतीय महुँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि, सहस सारदा सेस॥
---रामचरित मानस, वालकाड, दोहा २३४, २३५-२३६

[2]. सूरसागर (वें० प्रे०) चीर-हरण लीला, पृ० १९६ पद ५-६

[3]. हेमंते प्रथमे मासि नंदव्रजकुमारिकाः।
चेरुर्हविष्यं भुजानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम्॥
---श्रीमद्भागवत दशमस्कंध पूर्वार्ध अ०२२, श्लो०१

[4]. विष्णुपर्व, अ० २, श्लो० २५-३५

भी मेरा नाश नही करेगे[१]। इस आर्या स्तोत्र में श्री कृष्ण ने देवी को सिद्धि, धैर्य, कीर्ति, विद्या, सतति, वृद्धि, प्रभा, आभा, पुष्टि, तुष्टि, क्षमा, दया-आदि भाव-वाचक विशेषणो, सध्या, रात्रि, निद्रा, कालरात्रि, रजनी-आदि अवस्था-सूचक विशेषणों, ब्रह्मचारिणी, उग्रकर्मा, महाबला, ज्येष्ठा, नीलवस्त्रा, बहुरूपा, विरूपाक्षी, मृत्युस्वरूपा, विशालाक्षी, कलहप्रिया-आदि गुण-सूचक विशेषणो तथा नारायणी, त्रिभुवनेश्वरी, कात्यायनी, कौशिकी, स्कद-माता, जया, विजया, शकुनी, पूतना, रेवती, मोहिनी, पौराणी, पार्वती, अरुधती-आदि नामो से अभिहित किया। साथ ही उन्हें यम की भगिनी, 'बलदेव की भगिनी', नदगोप-सुता' एव सुरा-मास और बलि की इच्छा करने वाली भी कहा[२]। इन देवी को सपूर्ण यादव मन से पूजने लगे, क्योकि इन्ही के द्वारा कृष्ण की रक्षा हुई थी[३]।

देवी के उद्भव की उपर्युक्त कथा के अनतर जहाँ भी देवी की आराधना-स्तुति का अवसर आया वही हरिवश ने उन्हें इसी प्रकार विष्णु के अधीन घोषित किया। बाण-पुत्री 'उषा' के महल में बदी अनिरुद्ध ने रक्षा-निमित्त जब 'कोटवती देवी' की स्तुति की तो उसने सर्व प्रथम अनंत, अक्षय, दिव्य, आदि देव, सनातन, जगत के प्रभु नारायण को नमस्कार किया। तदनतर उन्ही नामो से देवी की स्तुति की जिन नामो से स्वय हरि ने की थी। उसने भी देवी को 'महेंद्र और विष्णु की भगिनी', 'कस की भयदायिनी' तथा 'नद और यशोदा की आनद-वर्द्धिनी, कहा[४]। स्तुति से प्रसन्न हो कर देवी उसे केवल इतना वरदान दे सकी कि 'श्री कृष्ण' आकर बाणासुर की सहस्र भुजाओ को काट कर तुम्हे इस बधन से छुडायेंगे[५]। इस आर्या स्तोत्र के पाठ का फल सब पाप से छूट कर 'विष्णुलोक' की प्राप्ति बताया गया है[६]।

उषा-अनिरुद्ध के ही आख्यान में स्वामिकार्तिक के साथ श्रीकृष्ण के युद्ध का वर्णन है जिसमे स्वामि-कार्तिक के द्वारा आहूत शक्ति की महा हुकार मात्र से एकबार श्री कृष्ण भी गिर जाते है। पुन श्री कृष्ण के चक्र सुदर्शन सँभालने पर स्वामिकार्तिक के रक्षार्थ सुतनु, दिग्वसना, लबमाना कोटवी, महामाया पार्वती के अष्टमाश से उत्पन्न चित्रा, कनक-शक्ति बाणासुर की माता नगी हो कर आ उपस्थित हुई। नग्न देवी को देख कर श्रीकृष्ण ने मुँह फेर लिया तथा समझा-बुझा कर उन्हे हटाने का प्रयत्न किया, परतु देवी किसी प्रकार नही मानी, फिर भी श्रीकृष्ण ने उनके साथ बल का प्रयोग नही किया। इस प्रकार देवी के द्वारा स्वामिकार्तिक की रक्षा तो हो गई पर साथ ही श्रीकृष्ण की वीरता, उनके शील-सौजन्य तथा उनकी उच्चतर महत्ता की भी असदिग्ध रूप मे व्यजना हो गई[७]।

प्रचलित वैष्णव-मतवाद को देखते हुए स्वय श्रीकृष्ण-द्वारा देवीपूजा में उपर्युक्त मास-मदिरादि की स्वीकृति विचित्र सी जान पडेगी, परतु हरिवंश में उपर्युक्त घटाकर्णादि ब्राह्मण-मास-भक्षी पिशाच, शैवो तथा देवी को बीभत्स बलि देने वाले शाक्तो के हिंस्र, जघन्य और अवैष्णव-कर्मों से भी अधिक वामाचारियो की क्रियाओ को स्वय वैष्णव-मत के अग-रूप वर्णित किया गया है। कृष्ण के द्वारा प्रेरित गोप गोवर्धन की पूजा मे दूध, घी, चावल आदि के साथ मास के ढेर और मेष, महिषादि की बलि भी चढाते है[८]। बलराम का मदोन्मत्त तामस रूप एव तालरस

वैष्ण मत और वामाचार

१ विष्णुपर्व, श्लोक ३१—५२
२. वही, अ० ३, श्लो० २—२४
३. वही, अ० ४, श्लो० ४८
४ वही, अ० १२०, श्लो० २—७
५. वही, श्लो० ४१
६ वही, श्लो० ४८
७. वही अ० १२६, श्लो० २८—२६
८ वही, अ० १६, श्लो० १४०,१५,१८

और मदिरा का प्रेम तो श्रीमद्भागवत[1] और सूरसागर[2] तक किसी न किसी रूप में चला आया, किंतु हरिवंश ने उनके इस मदोन्मत्त उच्छृंखल रूप के अपेक्षा-कृत अधिक विशद चित्र दिए हैं। हरिवंश के बलराम मदिरा के इतने प्रेमी हैं कि एकबार गोमत पर्वत पर अकेले विचरण करते हुए मद्य-पवन की गंध पाकर वे प्यास से विकल हो गए और उनका मुख सूख गया। दूसरे दिन उसी स्थान पर जाकर बडी तत्परता से उन्होंने वर्षा ऋतु के फूले हुए कदंब के ऊपर एक कोटर में एकत्र वारुणी खोज ही तो ली। आर्त के समान उसका पान करने से वे मदोन्मत्त हो झूमने लगे और उनकी आखें लाल हो गईं। वह 'मदिरा कादंबरी' कही जाने लगी तथा देवताओं की प्रिय बन गई[3]। यही नहीं, वारुणी के साथ बलराम को मदोन्मत्त अवस्था में मदिरा, कांति और श्री नाम की तीन देव-स्त्रियाँ भी उपलब्ध हुईं[4]।

बलराम की व्रज-यात्रा में उनके मद्य और तालरस पान करने तथा यमुना के सतीत्व को नष्ट करने वाले उच्छृंखल व्यवहार का भी हरिवंश में विशद वर्णन है,[5] परंतु पिंडार-यात्रा के अवसर पर कृष्ण, बलराम, नारद और समस्त यादवों की जिस नग्न-क्रीडा का विस्तृत वर्णन हरिवंश ने किया, उसके समक्ष तांत्रिक चक्र-पूजादि वामाचार भी मानो फीके पड जाते हैं। उग्रसेन व वसुदेव को नगर-रक्षा के लिए छोड कर समस्त यादव सहस्रों वेश्याओं को लेकर लोकनाथ जनार्दन के साथ पिंडार-यात्रा पर गए। मदोन्मत्त बलराम रेवती तथा सोलह सहस्र स्त्रियों के साथ-साथ सर्वदृक् गोविंद की जल-क्रीडा और रमण के चित्रों में[6] हरिवंश ने गोपी-कृष्ण-विहार की भाँति कृष्ण के दक्षिण नायकत्व, स्त्रियों के किंचित् भक्ति-भावना समन्वित ईर्ष्या-हीन प्रेम-भाव, परितृप्ति, प्रेम, गर्वादि के साथ अन्य विवरण भी दिये हैं[7]। यह कुतूहल जनक बात है कि इस उद्दाम इंद्रियोपभोग से परिपूर्ण वर्णन में

1. दे० दशम स्कंध उत्तरार्द्ध, ६७, ८–१६
2. ताल रस के पान ते अति मत्त भे बलराइ।

—सूरसागर (वें० प्रे०), पृ० १५०, पद ६८

और—

बारुनी बल घूर्न लोचन, विहरत बन सचुपाए।
मनहुँ महा गजराज बिराजत, करनि-जूथ सँग लाए॥

—सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ५८०, पद ३८

तथा—

बारुनी बलराम पियारी।

—सूरसागर (वें० प्रे०) पृ० ५८० पद ३६

3. विष्णुपर्व, अ० ४१, श्लो० ५–१३
4. वही, श्लो० १४–३५
5. वही, अ० ४६, श्लो० २२,४४,४५,
6. वही, अ० ८८, श्लो०–८–१३
7. सर्वा सुरत चिह्नांग्यः सर्वा सुरत तर्पिताः।
मान मुहुश्चलाः सर्वा गोविंदे बहुमानजम्॥
अहमिष्टाऽहमिष्टेति स्निग्धे परिजनेतदा।
नारायण स्त्रियः सर्वामुवाश श्लाघिरे शुभाः॥
करजद्विज चिह्नानि कुचाधरमतानिताः।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा जहृषिरेदर्पणे कमलेक्षणाः॥
एकार्पित मनो दृष्ट्यो नेर्ष्या ताश्चक्रिरेंगना.।
नारायणेन देवेन तर्प्यमाण मनोरथाः॥

—विष्णु पर्व, अ० ८८ श्लो० १५, १६, १७,२०

भी जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, कृष्ण के प्रति स्त्रियों की प्रेम-विवशता में भक्ति-भावना का आभास दिखाई देता है। सूरदास की रास की गोपियों के समान कमल-लोचना, तनुवस्त्रावृता-रमणियों के साथ केलि करते हुए कृष्ण जिस स्त्री का जो भाव है उसके साथ उसी भाव से रमण करते हैं और सब स्त्रियाँ तदनुरूप भावों से भगवान को वश में करती हैं,[1] परंतु सूरदास के कृष्ण के भावमय अलौकिक कृष्ण तथा सूरसागर के शत प्रति शत धार्मिक वातावरण से हरिवंश के शरीर-धर्म से आबद्ध कृष्ण एवं उसके ऐंद्रिय वातावरण में पर्याप्त अंतर है। इस वातावरण में उत्तरोत्तर नग्नता एवं वीभत्सता बढ़ती जाती है और ऐंद्रिय भोग में भक्ति-भावना ढूंढे भी नही मिलती। सब यादव-कुमार स्त्रियों के साथ समुद्र के जल में जब स्वच्छंद-क्रीडा में मग्न होते हैं, तब श्री कृष्ण अपने प्रभाव से पचचूड तथा कुबेर और महेंद्र की अप्सराओं को बुला कर नृत्य, गीत, अभिनय-आदि से उन्ही के समान समस्त यादवों को प्रसन्न करने का आदेश देते हैं[2]। इस उन्मुक्त केलि-विहार[3] में कादंबिनी के मद में चूर बलराम ही नही, रेवती, सत्यभामा, सुभद्रा अर्जुन, गद-सारण, प्रद्युम्न, सांब, सात्यकि, चारुदेष्ण, निशठ, उल्मुक,अक्रूर, शंकु-आदि के साथ स्वयं श्रीकृष्ण सम्मिलित होते हैं[4]। यहाँ तक कि एकांत-सेवी नारद भी नही बचते[5]। स्वयं अप्रमेय भगवान कृष्ण महा-मुनि नारद का हाथ पकड कर सत्राजित की पुत्री (सत्यभामा) और अर्जुन के साथ सागर में कूदते हैं।

१. तनुवस्त्रावृतास्तन्व्यो लीलयंत्यस्तथा पराः।
चिक्रीडुर्वासुदेवस्य जले जलजलोचनाः॥
यस्या यस्यास्तु यो भावस्तांस्तांस्तेनैव केशवः।
अनुप्रविश्य भावज्ञो निनायात्म वशं वशी॥

मिलाओ— —वही, श्लो० ३१,३२

काम क्रोध में नेह सुहृदता, काहू बिधि करै कोई।
धरें ध्यान हरि कौ जो दृढकरि 'सूर' सो हरि सौ होई॥

—सू०सा० (वें० प्रे०) पृ० ३४० पद ६४

और—

भजै जेहि भाव जो मिलैं ताहि त्यों भेदभेदा नहीं पुरुष नारी।
'सूर' प्रभु स्याम ब्रज-बाम आतुर-काम, मिलीं बन-धाम गिरिराज-धारी॥

—वही पृ० ३४०, पद ६५

२. पृथग्गोष्ठ्यः कुमाराणां प्रकाशं स्त्री गणैः सह।
अलं चक्रुर्जलं वीराः सागरस्य गुणाकराः॥
पचचूडां ततः कृष्णः कौवेर्यश्चवराप्सराः।
माहेंद्रीश्चानयामास दिव्यरूपेण हेतुना॥
क्रीडा युवत्यो भैमानां प्रविशध्वमशंकिताः।
मत्प्रियार्थं वरारोहा रमयध्वं च यादवान्॥
दर्शयध्वं गुणान्सर्वान्नृत्य गीतं रहः सु च।
तथाऽभिनय योगेषु वाद्येषु विविधेषु च॥
एवं कृते विधास्यामि श्रेयो वामनसेप्सितम्।
मच्छरीर समाह्येते सर्वे निरवशेषतः॥

—वही श्लो० ३६, ३९, ४१, ४२, ४३

३. वही, अ० ८६

४. विष्णु पर्व, अ० ८९, श्लो० १८-२१

५. वही, श्लो० २३

इस जल-क्रीडा को भी हरिवंश 'रास' नाम से अभिहित करता है[१]। श्रीकृष्ण की आज्ञा से समुद्र का खारी जल मधुर हो जाता है और उसमे सुंदर भ्रमर-सेवित कमल खिल जाते है तथा गौडी, माध्वी, पैष्टी मदिराओ से भरे कलश जल पर उतराने लगते है[२]। इस पृष्ठभूमि मे हरिवंश ने सत्यभामा, नारद और अर्जुन की जलक्रीडा का जो वर्णन किया है वह नग्न, गर्हित और अश्लील ही कहा जाएगा[३]। निर्द्वंद्व और उन्मत्त केलि-विलास के उपरांत पक्व मास, अम्ल फल, चूकि, दाडिम, शूल पर भुने हुए मास, मृगो के मास, घृत मे तर किए मास-खड, कटु रस तथा पक्षियो से युक्त घृत, मैरेय, माधवी सुरा, आसव-आदि अनेक पदार्थ सब स्त्री-पुरुष मिल कर खाते-पीते है। केवल उद्धव मास नही खाते और शाक एव फल का आहार करते है[४]। द्वारिका-वासी श्रीकृष्ण के इस आहार-विहार की परिणति गान, वाद्य और नृत्य में होती है, जिसमे सभी स्त्री-पुरुष पूर्ववत् सम्मिलित होते है। विशेष रूप में रभा, उर्वशी, हेमा, मिश्रकेशी, तिलोत्तमा और मेनका अपने-अपने नृत्य, गायन-आदि से श्री कृष्ण को प्रसन्न करती है। स्वय श्रीकृष्ण नृत्य और मुरली-वादन, अर्जुन मृदग-वादन तथा नारद वीणा-वादन के द्वारा सबको आनंदित करते है[५]। श्रीकृष्ण के इस विलक्षण रास-विहार मे वाममार्गियो की चक्र-पूजा से अद्भुत समता है। कदाचित ऐंद्रिय भोग-प्रवृत्त शाक्तो और तात्रिको को वैष्णवता की ओर आकृष्ट करने का यह भी एक उपाय किया गया था, जिसमे कालातर में अलौकिकता और रहस्यात्मकता का समावेश होता गया।

यह विस्मयजनक है कि हरिवंश के व्रजवासी कृष्ण उपर्युक्त द्वारकावासी कृष्ण की भाँति उच्छृखल नही है। केवल 'रास' अथवा 'हल्लीस क्रीडा' के वर्णन मे उन्हें शरद की मनोहर रात्रि मे चद्रकिरणो से पूर्ण वन को देख कर विहार की इच्छा करते हुए और गोप-युवतियो को प्रसन्न करते दिखाया गया है[६]। हल्लीस-क्रीडा के इस वर्णन में वरागना, गोप-युवतियो के उत्तुग, प्रथुल अग, कटाक्षपूर्ण नेत्र और रति-प्रियता मे पति, माता, भ्राता-आदि की अवहेलना का उल्लेख तो है, परतु पिंडार-यात्रा जैसा ऐंद्रिय वातावरण नही[७]। रास-मडल में श्रीकृष्ण चक्रवाल से शोभित, शरद् ऋतु की चंद्रिका-चर्चित मनोहर रात्रियो मे गोपियो के साथ क्रीडा करके अति प्रसन्न होते है[८]।

१. रासावसाने त्वथ गृह्य हस्ते महामुनिं नारदमप्रमेयः ।
पपात कृष्णो भगवान्समुद्रे सात्राजितं चार्जुनमेवचाथ ।।
—वही, श्लो० ३०

२. वही, श्लो० ३३–३७

३. इतीदमुक्त्वा भगवान्समुद्रं ततः प्रचिक्रीडसहार्जुनेन ।
सिषेच पूर्वं नृप नारदं तु सात्राजिती कृष्णमुखेंगितज्ञा ।।
—वही, श्लो० ३९

४. वही, श्लो० ५७–६५

५. वही, श्लो० ६७–७२

६. कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशिचंद्रमसोवनम् ।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रेरितं प्रति ।।
—वही, अ० २०, श्लो० १५

७. विष्णुपर्व, अ० २० , श्लो० १५

और—

तावार्यमाणा पतिभिर्भ्रातृभिर्मातृभिस्तथा ।
कृष्णं गोपांगना रात्रौ मृगयंते रतिप्रियाः ।।
—वही, श्लो० २४

८ एवं स कृष्णो गोपीना चक्रवालैरलंकृत ।
शारदीषु सचंद्रासु निशासु मुमुदे सुखी ।।
—वही, श्लो० ३५

श्रीकृष्ण के अतिरिक्त हरिवश में शिव और पार्वती की भी विहार-क्रीडा का वर्णन है, जिसमें गधर्व-पतिओ सहित सैकडो अप्सराओ के विहार, नृत्य, गायन, वादन-आदि का उल्लेख है, परतु पिंडार-यात्रा के समान विशद और विस्तृत रूप में नही। फिर भी चित्रलेखा के साथ शिव-रूप में उनके पार्षदो की एकात-क्रीडा और उसे देख कर अप्सराओ के 'किलकिला' शब्द करके हँसने का वर्णन वामाचार की कोटि का ही है[1]। हरिवश के अन्य घोर शृगारी वर्णनो में उषा-अनिरुद्ध के सयोग और गधर्व-विवाह का वर्णन भी उल्लेख-योग्य है[2]।

हिंदी-कृष्ण-काव्य की राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण लीलाओ में शृगारी वर्णनो की प्रचुरता है, तथापि जितनी नग्नता और निर्लज्जता हरिवश में मिलती है उतनी उन वर्णनो में नही मिल सकती। दूसरे हिंदी-कृष्ण-काव्य के शृगारिक-भाव केवल श्रीकृष्ण में सीमित है, उनके अंतरग सखा भी उनकी शृगारिक लीलाओं की छाया तक नही छू पाते। स्वय श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में वारंवार दुहराकर ही नही, सूक्ष्म रहस्यात्मक सकेतो-द्वारा अलौकिकता की गूढ व्यजना की गई है तथा समस्त वातावरण उस अनिर्वचनीय व्यक्तित्व के प्रति भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। सूरदास ने तो गोपी-कृष्ण लीला की प्रतीकात्मक व्याख्या भी दे दी है[3]। इसके विपरीत हरिवश में श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार कहने के अतिरिक्त उसमें किसी प्रकार की अलौकिकता की व्यजना नही की गई, वरन् उनके समस्त क्रिया-कलाप सर्वथा पार्थिव और घोर ऐंद्रिय रूप में उपस्थित किए गए है। हिंदी-कृष्ण-काव्य में परमानंद-रूप श्रीकृष्ण की सुख-क्रीडा का वर्णन होते हुए भी हम उसे उस अर्थ में भोगपूर्ण नही कह सकते। हरिवश की भाँति उसमें कही मास, मदिरा, वेश्या समिलित-रमण-आदि वीभत्स दृश्यो का उल्लेख नही है। फिर भी कृष्ण और राधा की नग्न तथा किसी अर्थ में तथा-कथित अश्लील रति-क्रीडाओ के वर्णन का सूत्र हरिवश के उपर्युक्त वर्णनो से जोडा जा सकता है।

हरिवश-वर्णित गोपियो की केलि-क्रीडा रास-विहार तक ही सीमित है और उसका भी जैसा कि हम देख चुके है, अत्यत सक्षेप में वर्णन है। हिंदी-कृष्ण-काव्य के रास-विहारी कृष्ण की उपर्युक्त पिंडार-यात्रा के कृष्ण से अशत समानता प्रतीत होती है, परतु इस केलि-विहार में कृष्ण के दक्षिण नायकत्व और गोपियो की रतिनायक मान-मनुहार का सूत्र नही मिलता। इसका सूत्र हमें पारिजात-पुष्प के सबध कृष्ण में सत्यभामा और कृष्ण के मान-मनुहार में मिल सकता है[4]। सत्यभामा के मान-कोप से भयभीत कृष्ण अत्यत चाटुकार और स्त्रैण रूप से चित्रित किए गए है। सत्यभामा का शोक उन्हें भस्म किए देता है, जिसके कारण वे अपने प्राणो की शपथ लेकर उसकी आज्ञा-पालन के लिए उद्यत होते है[5]। सत्यभामा खडिता गोपियो की भाँति[6] उन्हें धूर्त, छली, चचल, जन-वचक, चोर के समान प्रच्छन्न,

१. वही, अ० ११७, श्लो० १–१२

२. वही, अ० ११८, श्लो० ७०–७७

३. सू० सा० (वें० प्रे०) पृ० २६३–२६४

४. विष्णु पर्व, अ० ६५–६७

५. दहतीवममांगानि शोकः कमललोचने।
किमुतकारणं येन त्वमेवमति विक्लवा॥



शापितासि मम प्राणैराचक्ष्वानत्ययो यदि।
श्रोतव्यं यदि भक्तेन भर्त्रा सर्वांग शोभने॥

—वही, अ० ६७ श्लो २,३

६. सूरसागर (वें० प्रे०) खडिता-समय, पृ० ३७२–३८१

वाणी मात्र से मधुर, शठ-आदि अनेक प्रेमयुक्त दुर्वचनो से धिक्कारती है[1]। श्रीकृष्ण नाना-प्रकार उससे अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना करके पारिजात-पुष्प के स्थान पर समूचा पारिजात-वृक्ष लाने का वचन देते है[2]। सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए ही उन्हे ज्येष्ठ भ्राता महेंद्र से युद्ध करना पडा।

सूरदास की खडिता गोपियो के दक्षिण नायक कृष्ण का किंचित् रूप यहाँ मिल जाता है, परतु हरिवश के कृष्ण के इस कार्य की सूरदास के दक्षिण नायक कृष्ण की भाँति भक्ति-परक आध्यात्मिक व्याख्या नही की जा सकती।

हिंदी कृष्ण-काव्य की भाँति हरिवश में विष्णु अथवा कृष्ण-भक्ति को एकातिक धर्म नही बताया गया और न योग, यज्ञ, जप, तप-आदि की विगर्हणा की गई, अपितु उसमें उपवास, व्रत, तप, दान-आदि धर्माचरण का नियमित विधान किया गया और सदाचार की महत्ता बताई गई है। इस सबध में यह एक रोचक बात है कि धर्माचरण का विधान विशेषतया स्त्रियो के लिये और सदाचरण का माप भी उन्ही से सबधित रखा गया है। हरिवश में अनेक स्थलो पर स्त्रियो के पातिव्रत-धर्म की प्रशसा की गई है। पार्वती के द्वारा अरुधती को सुनाई

उपवास, व्रत, दान-आदि धर्माचरण एव सदाचार

हुई 'पुण्यक व्रत' की कथा में बताया गया है कि असती स्त्रियो-द्वारा दिया हुआ दान, उपवास, पुण्य-आदि सुकृत तथा पुण्यक व्रत भी निष्फल होता है। भर्ता की वचना करने वाली योनि-दुष्ट स्त्री पुण्य-फल को नही प्राप्त होती, वरन् नरक-गामिनी होती है[3]। ऐसी स्त्री का प्रायश्चित भी नही होता। सहस्र कल्पातर में भी उसकी गति नही होती और वह तिर्यक् योनि पाती है। यदि किसी प्रकार मनुष्य-योनि भी मिली तो वह कुत्ते का भोजन करने वाली चाडाल-योनि में जन्म लेती है[4]। व्याधि-युक्त, पतित, दीन अथवा कैसा भी पति क्यो न हो उसका त्याग करना उचित नही है; यही सनातन धर्म है। अकार्य करने वाले, पतित, गुणहीन पति को भी साध्वी स्त्री अपने साथ तार ले जाती है[5]। स्त्रियो का देव सदा पति ही है; जिसका भर्ता उससे प्रसन्न है वही स्त्री सती है[6]। पुण्यक-व्रत का विधान भी मन, वचन और कर्म से पातिव्रत को दृढ करनेके ही निमित्त है। पातिव्रत और पति-भक्तिसे सबधित उपर्युक्त विचारो से गोस्वामी जी के तत्सबधी विचार अत्यत साम्य रखते है[7], परतु गोस्वामी जी का दृष्टिकोण हरिवश की अपेक्षा अधिक कठोर और अपरिवर्तनवादी है। वे किसी भी दशा में स्त्री के दुराचरण को सहन नही कर सकते। इसके विपरीत हरिवश में जनमेजय की स्त्री वपुष्टमा के विषय में जो छली इद्र के साथ व्यभिचार-दोष से दूषित

१. विष्णुपर्व, अ० ६७, श्लो० २२—२६
२. वही, श्लो० २८—३२
३. वही, अ० ७८, श्लो० ५,-६
४. वही, श्लो० ११, १३, १४
५ व्याधित· पतितोवाऽपि दीनोवाऽपि कथंचन।
न त्यक्तव्य· स्त्रिया भर्ता धर्म एष सनातनः॥
अकार्य कारिणं वाऽपि पतितं वाऽपि निर्गुणम्।
स्त्री पतिं तारयत्येव तथात्मानं शुभानने॥
—वही, श्लो० ६,१०
६. भर्ता देव. सदा स्त्रीणां सद्भिर्दृष्टस्तपोधने।
यस्या हि तुष्यते भर्ता सा सती धर्मचारिणी॥
—वही, श्लो० १५
७ वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना।
एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा।
—रामचरितमानस आरण्यकाड, दोहा ४, चौपाई ४—५

थी, कहा गया है कि वह पाप-रहित है और त्यागने के योग्य नही है। अपापा स्त्री को त्यागने से वह शाप देती है। अदुष्ट और विशेषत दिव्य स्त्री को त्यागना नही चाहिए[1]। स्त्री भानु की प्रभा, अग्नि की शिखा, होता की वेदी है। स्वय उसकी इच्छा के बिना भोगी हुई स्त्री दूषित नही होती। विद्वानो को सदैव उनका ग्रहण, सत्कार और पूजन करना चाहिए। शीलवती स्त्रियाँ नमस्कार योग्य और लक्ष्मी के समान पूजनीय है[2]। स्वय जनमेजय इस स्त्री को त्याग देना चाहता था, क्योकि उसके विचार से ऐसी स्त्री को ग्रहण करने से मनुष्य न तो भोजन में स्वाद ले सकता है और न सुख की नीद सो सकता है। अत ऐसी स्त्री कुत्ते की छुई हुई हवि के समान त्याज है[3]। जनमेजय के इस विचार को बदलने के लिये ही गधर्वराज विश्वावसु के मुख से उपर्युक्त व्यवस्था दिलाई गई। काशिराज की पुत्री वपुष्टमा का दोष इस लिए मार्जनीय था कि वह वस्तुत रभा नामक अप्सरा थी जिसके साथ इद्र ने मृत घोडे में प्रवेश करके इस लिए भोग किया था कि वह जनमेजय के यज्ञ-फल-त्याग करने के कारण उससे डर गया था। नही तो वह अपने पौत्र की भार्या के साथ ऐसा व्यवहार कभी न करता[4]। सामान्यतया स्त्रियो के सबध में हरिवश के विचार मध्ययुगीन हिंदी के भक्त-कवियों, विशेषतया गोस्वामी तुलसीदास के विचारो से अधिक उदार कहे जायेंगे। वस्तुत हिंदी के सभी भक्त-कवियो ने नारी को काम-प्रवृत्ति का प्रतीक मान कर अपने वैराग्यपूर्ण विचारो के अनुरूप उसकी कटु आलोचना की है। इसी कारण मनुष्य को सचेत करने के लिये विरक्त साधु गोस्वामी तुलसीदास ने स्त्री के सामान्य अवगुणो पर इतना जोर दिया है। हरिवश तथा पुराणो के प्रवृत्ति-मार्ग से इसका अतर स्पष्ट समक्ष में आ जाता है।

स्त्री के लिये पातिव्रत सबसे बडा धर्म है और पति-सेवा सबसे बडा कर्म; परतु यदि किसी स्त्री से तन-मन से यह धर्म-कर्म न बन सके तो उसके लिए हरिवश ने साधनरूप 'पुण्यक व्रत' का विधान किया है। शरीर और मन की शुद्धि के जिन विविध उपायो का उल्लेख किया गया उसमें पति की सेवा के साथ श्वसुरादि गुरुजनो की सेवा भी सम्मिलित की गई है[5]। इस व्रत में स्नान, ध्यान, उपवासादि धर्म-कृत्यो में ब्राह्मणो को भाँति-भाँति की दान-दक्षिणा देने का बडे विस्तार से विधान है। दान मे देने योग्य सामान्य वस्तुओ की लबी सूची में भोजन की समस्त सामग्रियाँ, भाँति-भाँति के वस्त्राभूषण, बहु-मूल्य धातुओ की देव-प्रतिमाएँ तथा ग्रह, नक्षत्र आदि सम्मिलित किए गए है। इस सूची में भर्ता के कते सूत के वस्त्र और स्वय के कते सूत का विधान रोचक है। दान के सबध में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कोई भी दान पति-आज्ञा के बिना नही करना चाहिए[6]। विशेष फलो की प्राप्ति के लिये विशेष-विशेष दान भी बताए गए हैं। उदाहरणार्थ ललाट को सुदर बनाने के लिये चाँदी का वस्त्र, भ्रू की सुदरता के लिए पके फल, सोने के उर्द, दक्षिणा, लवण, घृतपात्र, कानो के सौंदर्य के लिये घी और दूध में डाल कर सोने के कान, नेत्रो को मृग के समान बनाने के लिए कमल-पत्र से भडित दुग्ध-पात्र, ओष्ठ की सुदरता के लिए मूँग, दाँतो को लाल वर्ण करने के लिए दूध में डाल कर चाँदी के दाँत, मुख के सौंदर्य के

१. भविष्यपर्व, अ० ५ श्लो० २५—३८

२ भानोः प्रभा शिखा वह्नेर्वेदी होत्रे तथाहुतिः।
परामृष्टाऽप्यसंसक्तानोपदुष्यंति योषित ॥
ग्राह्या लालयितव्याश्च पूज्याश्च सततं बुधै।
शीलवत्यो नमस्कार्याः पूज्याः श्रिय इवस्त्रिय. ॥
—वही, श्लो० ३६,४०

३. न स्वादु सोऽश्नाति नरः सुख स्वपितिवारह'।
अन्यास्लेयः प्रियां भार्यां परेण मृदितामिह ॥
पुनर्नैवोपि भुंजंति श्वावलीढं हविर्यथा ॥
—वही, श्लो० २३, २४

४. वही, श्लो० २५—३८

५. विष्णुपर्व, अ० ७८, श्लो० १९—२५

६. वही, अ० ७९

लिए चाँदी का चद्रमा, स्तनो को तालफल के समान बनाने के लिए दक्षिणा सहित सोने के दो बैल, उदर-क्षीणता के लिए फूल-युक्त जाति लता, हाथो के लिए दो सुवर्ण कमल, श्रोणी के लिए लवण तथा प्रजापति के मुख के आकार की स्वर्ण-प्रतिमा, पूर्ण-रत्न और लाल वस्त्र, वाणी के लिए दक्षिणा सहित लवण, गुल्फ को गूढ और शिर-चरण को सुदर बनाने के लिए घृत मे स्थापित चादी के दो कच्छप और स्वर्ण के दो कमल तथा वधुओ को गुणी बनाने के लिए स्वर्ण का वृक्ष और सोने का दीपक दान करने का विधान किया गया है। इन दान-दक्षिणादि के साथ अनेक प्रकार के व्रत, उपवास आदि धर्म-कर्मो का भी आदेश है। उदाहरणार्थं भोजन मे शशक, तु बी-फल, उत्पादिका वर्जित है। गगा-स्नान का भी विशेष माहात्म्य है।

हरिवश के उपर्युक्त धर्म-कर्म के विधानो के विपरीत हिंदी कृष्ण-काव्य में कृष्ण और राधाकृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त सब प्रकार की पूजा, व्रत, यज्ञादि का स्पष्ट प्रत्याख्यान मिलता है। कृष्ण-भक्ति-सप्रदायो में नाना प्रकार की भोग-सामग्रियो को कृष्ण की सेवा मे ही नियोजित करने की व्यवस्था है। अत प्रकारातर से उसमें भी दान का माहात्म्य है, यद्यपि काव्य में इस प्रकार के विवरण नही मिलते। भोग-सामग्रियो में सूरदासजी ने केवल नाना-प्रकार के शाक और अन्न-भोजनो की लबी-लबी सूचियाँ दी है। तुलसीदासजी का दृष्टिकोण इस सबध में किंचित् भिन्न है। उन्होने भक्ति के साधन अथवा अग रूप मे जप, तप, व्रत, दानादि की महत्ता को तो स्वीकार किया, किंतु भक्ति के अतिरिक्त उनके किसी इतर फल का प्रलोभन नही दिया। उन्होने न तो दानादि के विस्तार दिए और न भोग-सामग्रियो को ही अपने वैराग्य-पूर्ण भक्ति-मत मे समिलित किया।

हरिवश के साथ हिंदी के वैष्णव-काव्य की कृष्ण और राम-भक्ति-धाराओ की तुलना से यह स्पष्ट विदित होता है कि किस प्रकार ये दोनो भक्ति-धाराएँ पुराणो के समान स्रोत से विकसित हो कर भी अपना अलग-अलग स्वरूप सुरक्षित रख सकी। जहाँ एक ओर सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियो ने पुराणो के ऐंद्रिय भोग को, सूक्ष्म कल्पना, तीव्र भावना और आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा, अतिलौकिक और रहस्यात्मक स्वरूप प्रदान कर दिया और श्री कृष्ण की एकातिक भक्ति में सासारिक फल देने वाले किसी देवी-देवता की पूजा तथा व्रत, जप, तप आदि बाह्याचारो को कोई महत्व नही दिया, वहाँ दूसरी ओर गोस्वामी तुलसीदास ने वैष्णव-प्रचार के चतुर पौराणिक ढग को और अधिक चतुराई के साथ प्रयुक्त करके वैष्णव पुराणो के समन्वय जैसे दृष्टिकोण में समन्वयात्मक प्रतीति की और अधिक वृद्धि कर दी, पुराणो के व्रत, तप, दानादि को भक्ति का ही अग और साधन बना कर उनके सासारिक फल का निराकरण कर दिया, एव पुराणो के भोगवाद के स्थान पर वैराग्यवाद की प्रतिष्ठा कर दी।

कृष्ण और राम-भक्ति की धाराएँ स्वरूप में भिन्न होते हुए भी अनक बातो मे समान हैं। उनम सबसे महत्वपूर्ण समानता यह है कि दोनो ने पौराणिक वैष्णव मतवाद को अपने-अपने ढग से भोग से वैराग्य, पार्थिवता से अलौकिकता, स्थूलता से सूक्ष्मता तथा अनेकता और विश्रृखलता से एकता और व्यवस्था की ओर उन्मुख करने में अतीव सहायता पहुँचाई। इसमे सदेह नही कि हिंदी की इन काव्य-धाराओ को उनकी भक्ति-भावना के प्रतिपादक आचार्यो से अत्यधिक प्रेरणा और सहायता मिली, फिर भी यह नि सकोच कहा जा सकता है कि इन काव्य-धाराओ के प्रतिनिधि सूर और तुलसी की विचार-धारा मे मौलिकता ही विशेष है। गोस्वामी तुलसीदास की अमर रचना तो इस दृष्टि से एक स्वतत्र वैष्णव धर्म उपस्थित करने वाला भाषा-पुराण ही कही जा सकती है, जिसमें पुराणो की वैष्णव अद्वैतता और समन्वयवाद को चरम परिणति पर पहुँचाया गया तथा वैष्णव धर्म को न केवल पुराणो के स्थूल भोगवाद से, अपितु कृष्ण-भक्ति के सूक्ष्म, आध्यात्मिक, अतिलौकिक, किंतु भयावह भोगवाद से बचाने का भी उपक्रम किया गया। कृष्ण-भक्ति काव्य मे तात्रिक वामाचार जैसी उद्वेगजनक क्रियाओ को जिस प्रकार कृष्ण-भक्ति में समिलित करके उनका दैवीकरण और अतिलौकिकी-करण किया गया तथा सासारिक सिद्धियो के हेतु किए जाने वाले जप, तप आदि बाह्याडबरो की निंदा की गई उसके लिए ये कवि भी कम सराहनीय नही हैं।

रूप-रसिक जी की वाणी

धमार

हो घनस्यांम, भरौ जिन मो तन, चोवा छिरकन भोरे ही।
अपने रंग मिलायौ चांहत, सहत नांहि कछु गोरे ही ।।
जानति हो पछितावत ही मन, लखि मो अंगन ओरे ही।
'रूपरसिक' विधना के सारे स्रवंन होत बरजोरे ही ।।

राग-काफी

दुरि-मुरि खेल कहा यैं खेलत, खरे रहौ नैक सनमुख दोऊ।
हम हूं निरखि सकें छबि नेंसुक, छैल कहावत निज मुख दोऊ ।।
अलि बलि अभिलाषत हैं सबही, होत बनें नहिं सनमुख दोऊ।
'रूपरसिक' पैं होइ रपदई, रूप रहै पदरैंन मुख दोऊ ।।

प्यारे, हंम नहिं खेलें होरी।
हो-हो करत, अरत ही आवत, दिखरावत बरजोरी ।।
नए खिलार लाडिले, मुख पैं लै लपटावत रोरी।
'रूपरसिक' ई जांन परी अब, देखत हैं सब गोरी ।।

राग-सारंग

स्यांम-घन-तन चवन छबि देत।
देखौरी, देखौ अति अदभुत, चितैं चुराएं लेत ।।
मनो मंजु मनि नील सैल पर, खिली चांदनी सेत।
कै भीतर ते बाहर प्रगट्यौ, प्रान-प्रिया कौ हेत ।।
नहिं समांन पटतर दैके कौं, उपमा आन अचेत।
'रूपरसिक' रस उपजा मन मनु मीन कैत कौ खेत ।।

चलि, वा कदंम-कुंज की ओट।
यैं देखौ घन छाइ रह्यौ बन, करत न चहूं दिस कोट ।।
अब न सॅम्हरि है तब कहा करि हैं, परि है पांनी-ओट।
'रूपरसिक' ह्वै जैहैं ततछिन, अंग-अंग सगबगरोट ।।

राग-मलार

स्यांमघन, उँमगि-उँमगि इत आवैं।
मौट, मुकट, कुंडल, पीतांबर, मनु दामिनि दमकावैं ।।
मोतिन-माल लसत उर-ऊपर, मनु बग-पांति लगावैं।
मुरली-गरज मनोहर धुनि सुनि, स्रवंन मोर सकुचावैं ।।
हम पै कृपा करी हरि मांनों नीर-नेह-झर लावैं।
'रूपरसिक' यैं सोभा निरखत, तन, मन, नैंन सिरावैं ।।



नित-प्रति एकत ही रहत, बैस-बरन-मन एक ।
चहियतु जुगल किसोर-लखि, लोचन जुगल अनेक ॥
—बिहारी

हिंदी साहित्य में राधा-कृष्ण की भावना का विकास

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा

कृष्ण और राधा भारतीय जीवन में अति प्राचीन काल से विद्यमान है, किंतु जिस प्रकार बीज से वृक्ष का विकास, वर्द्धन और परिवर्तन अवस्थानुकूल होता रहता है उसी प्रकार कृष्ण और राधा की भावना का भी बीज तो वेदो, ब्राह्मणो तथा उपनिषदो में विद्यमान है, पर उसका स्फुटन, विकास, वर्द्धन, परिवर्तन आगामी युगो मे क्रमश सामयिक परिस्थितियो के अनुकूल होता चला आ रहा है। हिंदी (व्रज) साहित्य तथा साधना के क्षेत्र मे यह धारा सस्कृत-साहित्य तथा भक्ति के आचार्यो से होकर आई है, इसलिए हिंदी के क्षेत्र में उसका स्वरूप समझने से पहले उसके पूर्वरूप से परिचित हो जाना नितात आवश्यक है।

वेदो में 'द्यु'-लोक का अधिष्ठाता देवता आदित्य था। मध्य-लोक और भू-लोक का इद्र था। आदित्य अपने प्रकाश तथा ताप से सृष्टि को जीवन देता था। ताप से वृष्टि होती थी। वृष्टि से वनस्पति, अन्न, फल, फूल उत्पन्न होते थे, जिस से गाय, पशु, मनुष्य आदि सब प्राणी जीवित रहते थे, किंतु वृष्टि का सबध मध्य-लोक तथा भू-लोक से ही विशेष कर समझा जाता था, इसलिये इद्र वृष्टि, वनस्पति, व्रजभूमि और जीवन की खाद्य सामग्री का देवता—'राधाना पति' हो गया[1]। आदित्य अधकार को प्रकाश-द्वारा दूर करता था। हेमत और शिशिर की ठिठुरी हुई पृथ्वी में प्रकाश के कारण वसत मे जीवन आ जाता था। इसलिये जीवन-मरण के दु ख को दूर करने वाले देवता 'विष्णु' का उदय हुआ जो आदित्य का भी देवता समझा जाने लगा और 'सूर्यलोक' से भी परे 'गोलोक' में उसका निवास माना जाने लगा[2]। धीरे-धीरे इस विष्णु का यह महत्व इतना बढ गया कि इद्र को लोग भूल से गये[3]। अब अन्य देवताओ की कथाएँ भी विष्णु से सबद्ध होने लगी और विष्णु ही 'त्रिविक्रम विश्वस', 'भुवनस्यराजा' और 'राधानापति' हो गये। सूर्यलोक के अतिरिक्त व्रजभूमि मे भी उनकी 'गो-मडली' समझी जाने लगी। वे व्रजभूमि के गोपति हो गये[4]। ऐतरेय-ब्राह्मण मे विष्णु सब देवताओ में श्रेष्ठ हो गये[5]। राधाना पति की भावना के इस विकास के अनुकूल ही राधा का अर्थ अब अन्न-वनस्पति के स्थान पर सपत्ति (श्री, लक्ष्मी) लिया जाने लगा[6]। तैत्तरीय आरण्यक मे विष्णु एक प्राचीन ऋषि नारायण में समाहित हो गये और पाचरात्र-धर्म में उनकी पूजा होने लगी। बाद को यह सब भावनाएँ एक देवता वासुदेव में मिल गई, जिसकी पूजा पाणिनि के

[1] अग्नौ प्रास्ताहुति सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टिरन्नं तत· प्रजा ॥
—मनुसहिता

"अस्मा अवमघवन् गोमति व्रजे। यत्र गावो भूरिशृंगा अयास.।
स्तोत्रराधानापते गिर्वाहो वीर यस्तते ॥"
—ऋग्वेद ५।६।४६।१३

[2] शतपथ ब्राह्मण— १।५।३।१४,

[3] शतपथ ब्राह्मण— १।६।३।१०

[4] व्रजं च विष्णु सखिवा अपोर्णुते। —ऋग्वेद

[5] के० ऐम० मुंशी—'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' १२६–१२७,

[6]. डा० बी० के० गोस्वामी—'भक्ति कल्ट इन् ईस्ट इंडिया' पृ० ४०५–६

(ई० पू० समय ५०० शताब्दी) में जनसाधारण में प्रचलित थी[१]। पतजलि ने अपने भाष्य में 'विष्णु' और 'वासुदेव कृष्ण' में कोई अतर नही रखा है। इसलिये पतजलि के समय (१५० शताब्दी ई० पू०) से पहले ही विष्णु की भावना वासुदेव कृष्ण में मिल गई होगी[२]। पाचरात्र-धर्म महाभारत के नारायणीखड से ही[३] गीता की 'भक्ति' के पश्चात् विकसित हुआ,[४] क्योकि उसमें ऐसी बातें आ गई है जो गीता और अर्थ-शास्त्र में साधारण रूप में है। गीता में वासुदेव की गिनती वृष्णियो में हुई है, अर्थ-शास्त्र में सकर्षण का उल्लेख है, किंतु वहाँ उसका वह महत्व नही है जो पाचरात्र में। पाचरात्र में प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, सकर्षण और वासुदेव चारो 'व्यूह माने गये है। गीता की रचना 'गौतम बुद्ध' के बाद हुई[५] और अर्थशास्त्र का समय ई० पूर्व चार सौ माना जाता है। गौतम ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में विद्यमान थे। अस्तु, पाचरात्र-धर्म का विकास ईसा-पूर्व की चौथी शताब्दी के बाद हुआ होगा, वासुदेव की पूजा पाणिनि के समय ५०० शताब्दी ई० पू० में जनसाधारण में प्रचलित थी। वासुदेव की गिनती गीता में वृष्णियो में हुई है। वृष्णि, भडारकर के अनुसार, 'यादव' या 'सात्वत-वश' का नाम था और वासुदेव इसी वश में ईसा-पूर्व सौ में एक महान व्यक्ति हुए, जिन्होने ईश्वर के एकत्व का प्रचार किया। मृत्यु के बाद स्वय वे ही भगवान वासुदेव-रूप से पूजे जाने लगे[६]। भगवान-रूप में उनकी पूजा ईसा-पूर्व पाच सौ और छ सौ के बीच प्रचलित हो जानी चाहिए। ५०० शताब्दी ई० पू० में तो जनसाधारण मे भी उनकी पूजा प्रचलित हो गई थी, कदाचित् भगवान् शब्द गौतम के नाम के साथ, 'मारविजय' की उस कल्पना के कारण जो कि प्राचीन आदित्य भाग के अधकार और प्रकाश के बीच के युद्ध का ही प्रतीकात्मक रूपातर थी—तब तक जुड गया था और गौतम के इस गौरव-प्रदर्शक शब्द से वासुदेव धर्मावलबी भी अपने महान व्यक्ति को गौरवान्वित करना चाहते थे। आदर-प्रदर्शक शब्दो का इस प्रकार लिया जाना एक साधारण सी बात है, किंतु इन वासुदेव के साथ भगवान के अतिरिक्त कृष्ण शब्द भी प्रयोग में आता था। वासुदेव से इस शब्द के सयोग होने के दो कारणो की सभावना बतलाई जाती है। पहले तो यह कि कृष्ण एक वैदिक ऋषि थे, जिन्होने ऋग्वेद के अष्टम मडल की रचना की थी। छादोग्य उपनिषद में कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में आते है। ऋग्वेद के समय से छादोग्य उपनिषद के समय तक कोई जन-श्रुति (कृष्ण-सबधी) चली आती होगी। इसी के आधार पर प्राचीन कृष्ण का साम्य वासुदेव से तब हुआ होगा जब वे देवत्व के पद पर अधिष्ठित हुए होगें। दूसरा कारण यह बतलाया जाता है कि जातको की गाथा के भाष्यकार के अनुसार कृष्ण एक गोत्र (जिसका पूरा नाम कृष्णायन है) का नाम है। वासुदेव इसी गोत्र के क्षत्रिय थे, इसलिये वे वासुदेव कृष्ण कहलाये[७]।

वासुदेव कृष्ण के साथ विष्णु-नारायण की भावना तो पतजलि के समय के पूर्व ही मिल चुकी थी, किंतु गोपाल-कृष्ण की भावना सभवतया ईसवी की पहली और तीसरी शताब्दी मे बीच के आभीरो के देवता गोपाल कृष्ण के कारण आई। महाभारत में आभीरो का उल्लेख इधर-उधर घूमने वाले गोपालो के रूप में हुआ है। सभवतया सन् १५० ई० के पूर्व मे आभीरो ने पजाब के कई अशो पर अधिकार कर लिया था। सन् १८१ ई० के क्षत्रप रुद्रसिंह के लेख से पता चलता है कि उनके प्रधान सेनापति रुद्रभूमि आभीर थे। फिर सन् ३०० ई० के नासिक के गुफा-लेख से पता चलता है कि उन दिनो वहाँ नरपति ईश्वरसेन (जो शिवदत्त के पुत्र थे) का राज्य था।

१. के० ऐम० मुशी—'गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर पृ० १२६-१२७

२. इंडियन इस्टीक्वेरी—३-१६, जनरल आव् रायल एसियाटिक सोसायिटी स० १६०८, पृ० १७२,

३ डा० आर० सी० मजूमदार—रिलीजियो की लौकिक कलचर आव् इंडिया,

४ विश्वनाथ —रोसियल सीम्येसीस आव् हिंडू-कलचर, पृ० २००

५ भंडारकर—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर रिलीजियस सिस्टम्स पृ० ३, एफ डा० मैकिनिकौल

६ इंडियन थीइज्म पृ० ७६ ८, इंडियन थीइज्म पृ०—३३,

७ हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५६६,

३६० ई० के समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले स्तभ-लेख से पता चलता है कि आभीर एक शक्तिशाली जाति थी और उसका अधिकार समूचे राजस्थान पर हो गया था[१]। ये आभीर गोपालकृष्ण के उपासक थे और समवतया अपने साथ क्राइस्ट शब्द भी लाये थे। फलस्वरूप वासुदेव-कृष्ण और गोपाल-कृष्ण को एक कृष्ण में मिल जाने में देर न लगी[२]।

दार्शनिक विकास के साथ विष्णु की भावना मे भी अत्यधिक विकास हो चुका था, जिसके फलस्वरूप उपासना के लिये भी एक दृढ आधार मिल गया था। उपासना-पद्धति अब अधिक कठिन न रह गई थी, किंतु अभी मनुष्य के हृदय को विश्वास से भर देने के लिये विष्णु को मानव-रूप देने की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही अवतार की भावना का उदय हुआ। महाभारत मे विष्णु अवतार धारण कर दिव्य शक्तिशाली नीतिज्ञ कृष्ण के रूप में जनसाधारण के सामने आते है। प्रेम-प्रवण और नीति-निपुण कृष्ण की ओर दृष्टिपात करते ही जन-समुदाय के हृदय में प्रेम और विश्वास एक साथ जागरित हो गया। कृष्ण ने जनता के हृदय के कोमल-ततुओ का ही स्पर्श नही किया था, उनके हृदय मे अपने द्वारा सुरत्व की दृढ-भावना भी बद्धमूल कर दी थी। कृष्ण के प्रेम मे जनता ने अर्जुन के समान ही अपने आप को सुरक्षित समझा। ईसा के चार सौ वर्ष पहले 'चद्रगुप्त मौर्य' की सभा मे रहने वाले यवन राजदूत मेगास्थनीज ने जिस 'हिरेक्लीज' (हरि-कृष्ण) को उन 'शौरसेनियो का उपास्य देव बतलाया था, जिनके देश मे मथुरा नगरी अवस्थित है और यमुना प्रवाहित होती है,' वह कृष्ण ही था। पाचरात्रो के कारण यह ऐकातिक धर्म (जिसका प्रवर्तन सभवत बदरिकाश्रम में हुआ था) पाचरात्र और सात्वतो के कारण सात्वत-धर्म कहलाया। नारायण के साथ एकरूप होकर कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे, इसलिये वह वैष्णव-धर्म कहलाया। इनके भगवान या भगवत् कहलाने से इस धर्म की 'भागवत' सज्ञा भी हुई। ईसा के १४० वर्ष पूर्व तक्षशिला के यवन राजा, 'एटिआल्काइडस' का राजदूत, 'डिओस' का पुत्र 'हेलिओडोरस' जो विदिशा के राजा 'काशिपुत्र भगभद्र' की सभा में रहता था, भागवत था। उसने 'देवदेव वासुदेव' का गरुडध्वज स्तभ बनवाया था जिस पर उसने अपने आप को स्पष्टतया 'भागवत' लिखा था। 'गुप्तराजकुल' जिसका समय चौथी से आठवीं शताब्दी तक है, वैष्णव था। गुप्त राजा अपने आपको 'परम भागवत' कहा करते थे। उनके सिक्के तथा विहार, मथुरा और भिटारी के उनके शिलालेख इस बात के साक्षी है[३]।

दक्षिण भारत में भागवत तथा पाचरात्र-धर्म पहिली सदी ईसवी में जनसाधारणके जीवनमे व्याप्त था, इस बात के प्रमाण मिलते हैं। तामिल भाषा के प्रकाड पडित महामहोपाध्याय 'स्वामीनाथ अय्यर' ने प्राचीन तामिल कवियोकी कविताओ का एक सग्रह 'परोपदल' प्रकाशित किया है। उस में 'इलम पेरुवदि' 'कदुवन इलवेयिनन', 'किराडेन्यर' और 'नल्लेलुनेयर' आदि चार कवियो की विष्णु-भक्ति की कविताएँ है, जिनमें पाचरात्र-पूजा-विधान तथा कृष्ण की बाललीलाओ का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। इन कवियो का समय ईसा की प्रथम शताब्दी है[४]। इसलिए यह स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्ति और पाचरात्र-धर्म दोनो ही ईसवी सन् १०० से पहले ही सुदूर दक्षिण मदुरा तक पहुँच गए थे[५]। फिर 'चोलमडल' (कारामडल) तट पर वेंगी के पल्लवो के शिलालेखो से पता चलता है कि चौथी-पाँचवी शताब्दी के पल्लवराजाओ में भी भागवत-धर्म का समान था[६]। गुजरात के वलभियो के सबध में भी यही बात कही जा सकती है। उनके छठी शताब्दी

[१] हिंदी-साहित्य की भूमिका, पृ० २४,

[२]. भंडारकर—वैष्णविज्म, शेविज्म एण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स, पृ० ३८

[३]. हिंदी-काव्य में निर्गुण-संप्रदाय पृ० ९–१०—डा० पी० बड्थ्वाल।

[४]. अर्लि हिस्ट्री आव् वैष्णविज्म इन् साऊथ इंडिया, पृ० ९०—आर० एस० कृष्णस्वामी।

[५]. दे० भंडारकर—"देअर इज नथिंग टू शो दैट वैष्णविज्म हैड नोट पेनिट्रेटेड टूव तामिल कट्री अर्लियर दैट इज ऐबाउट द फर्स्ट सेंचुरी

[६] कनिघम—आर्कोलाजिकल सर्वे,

के शिलालेख से यह बात स्पष्ट है। शंकर-दिग्विजय के अनुसार शंकर को पांचरात्र और भागवत दोनों से शास्त्रार्थ करना पड़ा था[1]। फिर दूसरी से नवीं शताब्दी तक के आल्वार-संत भागवत-धर्मावलंबी थे जिनकी कविताओं से प्रभावित 'रामानुज' ने भागवत धर्म को दार्शनिक सिद्धांतों के अनुकूल प्रचारित किया। इनसे उन आचार्यों की परंपरा आती है, जिनके कारण भक्ति की लहर समस्त भारत में फैल गई।

पांचरात्र-धर्म और भागवत-धर्म के विकास के साथ भक्ति में सांसारिक प्रेम के सब गुणों का आरोप हुआ। नारद ने भक्तिसूत्र में भक्ति को परम प्रेम-स्वरूपा बतलाया है—"सा तस्मिन परम प्रेम रूपा।" शांडिल्य ने उसे ईश्वरोन्मुखी अनुराग कहा—'भक्ति. परानुरक्तिरीश्वरे'।

जब प्रेमा-भक्ति का प्राधान्य हो गया तो गो-लोक के गोपाल की पूजा होने लगी और समयानुसार 'राधानापति' के अर्थ में भी विकास हुआ। राधा का अर्थ आराधना से लिया जाने लगा और जब कृष्ण में विष्णु की भावना मिल गई तो 'राधा' शक्ति का अवतार मानी जाने लगी। तब व्रजभूमि तथा गोमंडली का संबंध विष्णु-पूजा से हो गया[3]।

दक्षिण के आचार्यों ने विष्णु स्वामी और निंबार्क से पहले विष्णु के गोपाल-रूप और राधा की ओर ध्यान नहीं दिया था। विष्णु स्वामी और निंबार्क का ध्यान इधर गया। इन्होंने गोपाल-कृष्ण और राधा को भक्ति में प्रधानता दी। पौराणिक काल की रुक्मिणी तथा लक्ष्मी से कहीं अधिक सजीव मानवी राधा की उत्पत्ति प्रेमा-भक्ति के कारण सन् ८०० ई० से पहले ही हो चुकी थी[4]। इसके पश्चात् 'आनंद-वर्द्धन' के 'ध्वन्यालोक' (८५० ई०) में राधा का उल्लेख मिलता है[5] और धारा के अमोघवर्ष के सन् ९९० ई० के शिलालेख में राधा का उल्लेख कृष्ण की प्रिया के रूप में हुआ है[6]। ग्यारहवीं शताब्दी में 'लीलाशुक' के 'कृष्ण-कर्णामृत' की रचना हुई[7]। अपनी सरसता और तन्मय-भावना के कारण यह ग्रंथ सारे भारतवर्ष में शीघ्र ही फैल गया।

बारहवीं शताब्दी में निंबार्क (११५० ई०) हुए। इनका जन्म भागवत कुल में, संभवतया बिलारी जिले के तैलंग ब्राह्मण-वंश में हुआ। इन्होंने भेदाभेद सिद्धांत में वैष्णव धर्म की पुष्टि की। रामानुज की श्री, भू और लक्ष्मी के स्थान पर इन्होंने राधा और कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। इनके अनुसार राधा कृष्ण (परब्रह्म) की अनन्य संगिनी हैं और उनके ही साथ गोलोक में निवास करती हैं। वह प्रेम-स्वरूपा सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाली, शृंगार की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं और व्रज में अपनी आठों प्रधान सखियों

[1] हिंदी-काव्य में निर्गुण-संप्रदाय पृ० १०,
[2] अर्लि हिस्ट्री आव वैष्णविज्म, पृ० ९०
[3] भक्ति कल्ट इन ऐन्संट इंडिया।
[4] के० ऐ मुंशी—गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर,
[5] तेषां गोपवधूविलाससुहृदा राधारह साक्षिणम्।
क्षेत्र भद्र कलिंदराजतनयातीरे लतावेश्मनाम्॥
[6] के० ऐम० मुंशी—गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर,
[7] हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिंदी-साहित्य की भूमिका।
[8] अष्ट-सखि नाम जैसे—"चंद्रावली, ललिता, विशाखा, चंपकलता, चंद्रभागा, राधा, श्यामा और भामा। अन्य मत—"ललिता, विशाखा, तुंगविद्या, रंगदेवी, इंदुरेखा, चंद्रभागा और चंपकलता।" तृतीय मत—"ललिता, विशाखा, चंद्रभागा, श्यामा, भामा, कुसुमा, तुलसी तथा माधवी।" चतुर्थ मत में—"ललिता, विशाखा, चंद्रभागा, चंपकलता, चित्रा, स्वर्णरेखा, इंदुमती एवं मध्यावली।"

तंत्र-मतानुसार इनकी संख्या सोलह है, जैसे—"ललिता, चंद्रावली, श्यामला, चित्ररेखा, ..., चंद्रा, हरिप्रिया, मदनसुंदरी, विशाखा, प्रिया, शैव्या, मधुमती, पद्मा, शशिरेखा, भद्रा और रसप्रिया।" यही नहीं, कोई इनकी संख्या कम, कोई ग्यारह और कोई बारह भी मानते हैं।

(जो कि आठो रसो की प्रतीक हैं) तथा अन्य सब गोपियो (जो कि सचारी भावो की प्रतीक हैं) के सहित कृष्ण की ही भाँति अवतरित होती है। व्रज-रूपक में ससार की उत्पत्ति है। यमुना जीवन की धार है और कृष्ण की वशी नादब्रह्म की प्रतीक है। राधा, उसकी सखियाँ तथा गोपिकाएँ परब्रह्म कृष्ण की ही भिन्न-भिन्न शक्तियाँ है, जो लीला के हेतु तथा जीवो में आनद-रूपा-भक्ति उत्पन्न करने के लिए कृष्ण के साथ व्रजभूमि में अवतरित होती है। राधा और कृष्ण की भक्ति उनकी कृपा से प्राप्त होती है, इस लिये कृपा की कामना के लिये प्रेम-भाव से उनकी भक्ति करनी चाहिए। कृष्ण-भक्ति के लिये निंवार्क ने 'व्रजभूमि' को ही उत्तम समझा, इसलिये वही राधा-कृष्ण की भक्ति में अपना जीवन विताया। इनके प्रधान ग्रथ 'वेदातसूत्र पर भाष्य—'वेदात पारिजात सौरभ' और 'दश श्लोकी' है।

महाभारत और पौराणिक काल मे कृष्ण विष्णु के अवतार थे, गीता मे वे एकात ब्रह्म के पद पर अधिष्ठित हो गये। निंवार्क के कृष्ण पूर्ण परब्रह्म है। कृष्ण की कृपा पर भक्ति के अवलवित होने की भावना एकातिक धर्म में महाभारत काल में ही आ गई थी। उपनिषदो में भक्ति का उपाय आत्म-चितन था, किंतु महाभारत काल में वह परमात्मा सजीव और अधिक निकट कृष्ण के रूप में आ गया। इस कृष्ण की कृपा पर ही भक्ति निर्भर है। कृष्ण के दर्शन वही कर सकता है जिसे वह अपनी कृपा दे[1]। भगवान की कृपा के विना ज्ञान और कर्म भी जीवन-मरन के वधन मे मुक्त करने में सफल न होगे। महाभारत में कृष्ण का महत्व जहाँ उनकी क्रिया-कुशलता और नीति के कारण है वहाँ उनकी शक्ति विष्णु का अवतार होने के कारण। गीता से शरणा-गति और प्रपत्ति की भावना का आरभ होता है। भगवान—'यदा यदाहि धर्मस्य' कह कर अपने अवतार लेने का कारण वताते है। विराट् रूप में अपनी शक्ति का परिचय देते है, अर्जुन उन्हे पूर्ण ब्रह्म की विभूतियो में मानते है[2]। भगवान ने अर्जुन को योग-प्राप्ति के अनेक मार्गों को वताने के उपरात अत मे सव धर्म-छोड कर शरण हो जाने को कहा—'सर्वं धर्मान्परित्यज्यमामेक शरण व्रज'—इससे भी स्पष्ट रूप में आगे चल कर वे कहते है——

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥"

—गीता ९।२६

भागवत के कृष्ण में अलौकिक-लीलाओ का समावेश है। राधा का उसमें नाम नही, किंतु गोपियों के विरह-वर्णन, चीर-हरण तथा रास-लीला के द्वारा जीव और परब्रह्म की लीलाओ का आदर्श जनता के सामने रखा गया। फिर भी आध्यात्मिकता की इस पुट के कारण कृष्ण विद्वानो की सीमा से वाहर नही आ सके। निंवार्क ने कृष्ण और राधा को परब्रह्म तथा उसकी शक्ति तो माना, किंतु मधुर प्रेम की भावना की पुट देकर उसे जन-साधारण के लिये भी सुलभ कर दिया। माधुर्य की पुट आ जाने से नायक-नायिका-भेद के लिये कृष्ण-चरित्र मे पर्याप्त स्थान निकल आया। राधा को प्रेम का अवतार मानने से सस्कृत-साहित्य के 'रस-सिद्धात' के विकास के अनुसार उसमें 'रसराज श्रृंगार' की स्थापना हो गई। सस्कृत में रस-सिद्धात का विकास नाटय-शास्त्र (जिसमें नायक-नायिका-भेद का पर्याप्त विकास हो चुका था) के आधार पर हो रहा था इसलिये नायक-नायिका-भेद का समावेश रस-रूप कृष्ण के चरित्र में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया। राधा की आठ प्रधान सखियाँ आठ रसो की और अन्य गोपिकाये सचारी भावों की प्रतीक मानी जाने लगी जव कृष्ण-भक्ति का यह रूप वगाल में पहुँचा तो कृष्ण-भक्ति की माधुर्य भावनाओ को नायक-नायिका-भेद की

[1] महाभारत १२। ३३७। २०.

[2] त्वमक्षरं परम वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता पुरातनस्त्व पुरुषो मतो मे॥

—गीता ११।१८

सूक्ष्म से सूक्ष्म नालियो में बहते देर न लगी। बगाल की सामयिक भाव-धारा के सयोग से कृष्ण-भक्ति का रूप ही बदल गया।

बगाल में दशवी शताब्दी में बौद्ध-धर्म की वज्रयान-शाखा ने तान्त्रिक-भावनाओ से प्रभावित हो कर 'सहजिया सप्रदाय' का रूप धारण कर लिया था। भक्ति के लिये कुमारी-पूजा और युवतियो के सपर्क में रहना अत्यत आवश्यक समझा जाने लगा था। सखा-भाव और गुरु-भाव अथवा कर्ता-भाव की इस भक्ति में अन्य वस्तुओ के अतिरिक्त सखियो को अपना शरीर भी गुरु को अर्पण करना होता था। काण्हु भट्ट (दशवी शताब्दी) जिस समय इस प्रकार के विकृत बौद्ध-धर्म का प्रचार बगाल में कर रहा था, उस समय तक राधा और कृष्ण की कथाएँ लोक-गीत और उत्सवो के द्वारा जन-साधारण तक पहुँच चुकी थी। अत इन दोनो भाव-धाराओ ने मिल कर कृष्ण-भक्ति को नया ही रूप दे दिया।

"ग्यारहवी शताब्दी में 'उमापति' (६६६ ई०) और बारहवी में निंबार्क के शिष्य जयदेव (११६३ ई०) ने अपने हृदय के मृदुल शृ गारी-उद्गारो को प्रकट किया[1]। शीघ्र ही जयदेव के जगत-प्रसिद्ध 'गीतगोविंद' की, राधा-माधव के क्रीडा-कलापो की प्रतिध्वनि मैथिल कोकिल 'विद्यापति' (१३९३ ई०) की कोमलकात 'पदावली' में सुनाई दी।। विद्यापति सस्कृत-साहित्य के प्रकाड पडित और रसिक-प्रवृत्ति के थे, इसलिये उन्होने अपनी भावुकता को साहित्य-शास्त्र के ढाँचे में ढाल कर राधा-कृष्ण के चरित्र को नायक-नायिका-भेद का अनुकरणीय जाल बना दिया। विद्यापति के राधा-कृष्ण भक्तो के राधा और कृष्ण न रह कर काम-शास्त्र में निपुण नायिका और नायक हो गये। विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खीचा है, उसमें वासना का रग बहुत ही प्रखर है। आराध्य देव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमें लेशमात्र भी नही है। सख्य-भाव से जो उपासना की गई है, उसमे कृष्ण तो यौवन मे उन्मत्त नायक की भाँति है और राधा यौवन की मदिरा में उन्मत्त एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है। आनद ही उसका उद्देश्य है और शरीर ही उसका क्रिया-कलाप। यौवन ही से उसके जीवन का विकास है[2]। विद्यापति की राधा का दर्शन हम उस समय करते है जब वह बेचारी विचित्र उलझन में पडी थी। उसके शैशव और यौवन आपस में जूझ रहे थे—एक उसके केशो को ढँकता तो दूसरा उन्हें बिथुरा देता था[3]। एक उसे हँसाता था[4] तो दूसरा उसके मुख पर आँचल ला देता था, एक उसकी आँखो को कोनो की ओर फेर देता[5] तो दूसरा उसके हाथ के अचल को धूल में गिरा देता था[6]। देखते ही देखते यौवन विजयी हो जाता है। चरणो की चपल गति अब लोचनो में आ जाती है[7]। मुकुर लेकर शृगार करने का अब नित्य-नियम हो गया है'[8]। चित्त लगा कर अब वह रस-कथा सुना करती है[9]। उसकी शोभा देख कर मन

१ हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १९६
—डा० रामकुमार वर्मा

२. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५९३.
—डा० रामकुमार वर्मा

३. कबहुँ झाँपय कच कबहुँ बिथार,
४ छन छन बसन छटा छट हास,
५. छन छन नयन कोन अनुसरई,
६. छन छन बसन धूलि तनु भरई,
७ चरन चपल गति लोचन लेल,
८. मुकुर लइ अब करइ सिंगार,
९. सुनत रस कथा थापए चीत,

चकित हो रहे हैं। उसके अभिराम यौवन[१] को देखकर त्रिभुवन के लावण्य-सार कृष्ण तक भी मूर्छित हो गये हैं[२]।

और अब राधा एक विचित्र खेल शुरू करती है—वह गजगामिनी सखियों के साथ चलती हुई पलट कर कृष्ण को देख हँस देती है[३]।' श्वास से कभी उसका अंचल उठ जाता है और उसकी तड़ित लता-सी देह कृष्ण को दीख जाती है[४], कभी घाट पर स्नान करती हुई वह कृष्ण के हृदय पर पचबाणों की वर्षा कर देती है,[५] उसकी वाक्पटुता का क्या कहना ? एक दिन कुंज-भवन से अकेली बाहर निकल कर क्या देखती है कि कृष्ण उसकी राह रोके खड़े हैं और टलते नहीं—वह दुहाई देने लगती है, कहती है—'माधव, मैं तुम्हारे ही नगर में रहती हूँ, बटमारी मत करो[६]। एक दिन घाट पर उसकी सखियाँ उसे अकेली छोड़ कर चली गईं, लेकिन कृष्ण वहीं थे। वह बड़ी मिन्नत करती है, कहती है—'कन्हैया मुझे पार कर दे, तुझे एक हार दूँगी'[७] और अन्त में कृष्ण जब एक दिन उससे सुरत माँगते हैं तो वह आश्चर्य प्रकट कर कहती है—"वह सुरत नाम का आदमी कहाँ रहता है[८] ?" विद्यापति की राधा यौवन की मूर्तिमयी वासना है और कृष्ण मूर्तिमान यौवन।

विद्यापति की शृंगारी पदावली ने बंगाल की सामयिक प्रवृत्ति को और अधिक उत्तेजित कर दिया। इस उत्तेजना को विद्यापति के समसामयिक 'चंडीदास' ने जो 'सहज सम्प्रदाय' में दीक्षित हो चुके थे रामी धोबिन के प्रति रचे गये प्रेम के गीतों से और भी आगे बढ़ा दिया। इस समय बंगाल में चैतन्य (विश्वम्भरनाथ मिश्र), १४८५ ई०—१५३३ ई०, कृष्ण-भक्ति से प्रभावित हो चुके थे। माध्व सम्प्रदायी 'माधवेन्द्रपुरी' के शिष्य 'ईश्वरपुरी' से दीक्षित होकर वे भक्ति का प्रचार करने लगे। जयदेव, विद्यापति और चंडीदास की शृंगारी-पदावलियों को गा-गा कर वे मस्त रहने लगे। विद्यापति और चंडीदास की उन्मत्त शृंगारी कविताओं में चैतन्य की भक्ति-भावना से भक्ति का संयोग हो गया और नायिका-भेद की भावना के अनुकूल कृष्ण-भक्ति को देखा जाने लगा। परकीया-प्रेम की भावना चैतन्य को कृष्ण-प्रेम के अधिक उपयुक्त ज्ञात हुई। भागवत की इस भक्ति में विद्यापति की नायिकाएँ मिल गईं। कृष्ण-भक्ति गोपी-भाव से होने लगी। चैतन्य गोपी की भाँति कृष्ण के विरह में व्याकुल रहते थे। चैतन्य ने वैधी-भक्ति के स्थान पर रागानुगा भक्ति को प्रधानता दी। रागानुगा भक्ति में भी माधुर्य उन्हें रुचि कर हुआ—ऐश्वर्य नहीं। माधुर्य की पाँच शाखाओं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य में से अंतिम माधुर्य-भावना की भक्ति चैतन्य तथा बंगाल की प्रकृति के अनुकूल थी। इसलिये माधुर्य-भावना की ही भक्ति की प्रधानता चैतन्य में है। चैतन्य के अनुसार राधा (जो कि प्रेम की प्रतीक है) की स्थिति कृष्ण में है और कृष्ण राधा के बिना नहीं रह सकते। कृष्ण में कर्षण है वह समस्त प्रकृति को अपनी ओर खींचता है। उनकी मुरली-ध्वनि ही वह अनादि प्रेम-संगीत

१. की ओर नव जोवन अभिरामा,

२. मुरछि परल छिति सन लावन-सार,

३. गेलि कामिनि गजहुगामिनी
बिहसि पालटि नेहारि

४. ससन परस खस अंबर रे देखल धनि देह
कामिनि करइ सिनाने

५. हेरइत हृदय हनत पंचवाने

६. कुंज भवन सेँ निकसल रे

७. कर धर कर मोँहि पारे
देब मैं अपरुब हार कन्हैया

८. सुरतक नाम सुनल हम आज
न जानिअ सुरत करए कौन काज

है जिसमें प्रकृति को नाम ले-लेकर वह अपने पास बुलाते है। इस ध्वनि को सुन लेने वाली प्राण-रूपी गोपिकायें सब वस्तुओ को त्याग कर प्रियतम कृष्ण के पास चली जाती है—रोके नही रुकती। यथार्थ में राधा तथा गोपिकाएँ ही परम प्रेम-स्वरूपा है। वे कृष्ण के विरह में व्याकुल रहा करती थी। एक पलक भी उन्हें कल्प के समान लगता था। यह इसलिये कि कृष्ण के प्रति उनका परम प्रेम था और कृष्ण की प्राप्ति उन्हें सहज नही हो सकती थी। वे परकीया थी। सामाजिक बधन उनके मार्ग में कॉटे (रोडे) थे। उन पर चल कर वे प्रेम नही कर सकती थी, इसलिये वे प्रेम की आदर्श है। कृष्ण की भक्ति परकीया-भाव से कर के ही भक्त कृष्ण को प्राप्त कर सकते है। चैतन्य की भक्ति आवेशात्मक थी, उनमें कृष्ण का अनन्य प्रेम था, इसलिये उनकी भक्ति में उनके लिये कोई दोष न था, किंतु उनके पश्चात् के दार्शनिक वैष्णव-भक्तो को उनकी परकीया-भाव की भक्ति की कमियाँ खटकने लग गई थी। परकीया-भाव को पवित्र सिद्ध करने के लिये अनेक दार्शनिक तर्क चैतन्य के शिष्य 'रूप गोस्वामी' और 'कृष्ण कविराज' आदि भक्तो ने किये। रूप गोस्वामी के अनुसार कृष्ण ने गोपियो से गंधर्व विवाह किया था, इसलिये वे परकीया न होकर यथार्थ में स्वकीया थी। इसी भाँति राधा, जो साधारण रीतिसे ब्रज के एक गोप आयन (ऐहण अथवा अभिमन्य) की स्त्री समझी जाती है, कृष्ण के सत्, चित् और आनंद स्वरूपो में से आनद-शक्ति का अवतार है, इसलिये कृष्ण का राधा-प्रेम भी परकीया-प्रेम नही वरन स्वकीया-प्रेम है[१]। कृष्णदास कविराजके अनुसार राधा कृष्णकी ह्लादिनी-शक्ति की प्रतीक है। राधा और कृष्ण दो शरीर एक प्राण है। कृष्ण में दैवी शक्ति थी, जिसके कारण गोपो ने उस समय जब कि गोपियाँ कृष्ण के साथ रास में लीन थी उन्हें अपने ही पास पाया[२]। कृष्ण किशोर थे, किशोर अवस्था में शुद्ध प्रेम होता है, गोपियो का कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम था। कृष्ण और गोपियो का प्रेम उन पतितो के उद्धार का भी आयोजन करता है, जिन्हें जीवन में आनद की कोई आशा नही रहती[३]।

यद्यपि कृष्ण-भक्ति के आचार्यो तथा कवियो ने इस प्रकार की सफाई दे कर राधा और कृष्ण की माधुर्य-भाव की भक्ति का प्रचार किया, किंतु वे उससे पड़ने वाले बुरे प्रभाव को न रोक सके। माधुर्य-भाव की कृष्ण-भक्ति में इसके लिये कोई उपाय न था। राधा-कृष्ण की केलि-कथाओ का स्मरण करना कृष्ण-भक्ति का एक अंग बन गया था। ऐश्वर्य-बोध के लिये उसमें स्थान रखा ही नही गया इसलिये दास्य भावना की (सूर के अतिरिक्त किसी में भी) जागर्ति न हुई, फलस्वरूप राधा-कृष्ण की वह भक्ति आदर्श और भावना की पवित्रता के अभाव में जनता को भौतिकता की ओर ही ले गई। समाज की चिंता रखने वाले भक्त तो इस विष से जातीय जीवन की रक्षा करना चाहते थे, इसलिये महाराष्ट्र में 'नामदेव' (१३१०–१४४० ई०) तथा 'तुकाराम' (१६०३–१६५०ई०) ने कृष्ण-भक्ति में राधा के स्थान पर स्वकीया 'रुक्मिणी' को प्रधानता दी। मध्यप्रदेश में 'कबीर' ने 'निर्गुण-भक्ति' और तुलसी ने 'राम-भक्ति' का प्रचार किया। राधा और कृष्ण के चरित्र की अपेक्षा सीता और राम के चरित्र में आदर्श और मर्यादा के लिये अधिक स्थान था। तुलसीदास जी ने दास्य-भाव की भक्ति-द्वारा ऐश्वर्य की भावना को प्रधानता देकर भक्ति-मार्ग को पतन से बचा लिया। राम और सीता, कृष्ण और राधा की भाँति, आनंद ही आनंद देकर जाति का दु:ख भुलाने के साधन मात्र न थे उनमें आनंद को सुरक्षित रखने वाली शक्ति और शील भी था। तुलसी के राम और सीता निराश जनता को कृष्ण-भक्त-कवियो के राधा-कृष्ण की अपेक्षा कही अधिक आशा और विश्वास दिलाने में समर्थ हुए, पर विलासी-वृत्ति को अपनी ओर मोड़ने में राधा-कृष्ण की ही जीत रही।

१. उज्ज्वलनीलमणि : रूप गोस्वामी

२. नासूयन्खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः॥

—भागवत १०।३३।३८

३. पोस्ट चैतन्य-सहजिया कल्ट पृ० २४, २५, २६, ३८

जिस समय बगाल में चैतन्य भक्ति का प्रचार कर रहे थे, उस समय मध्यदेश मे 'वल्लभाचार्य' का सम्प्रदाय बहुत प्रबल हो चुका था। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत के दार्शनिक सिद्धातो को निंवार्क के कृष्ण-चरित्र से मिला कर राधा-कृष्ण की माधुर्य-भाव की भक्ति का प्रचार सगठित रूप से किया। प्रसिद्ध महात्मा 'सूरदास' को अपने सम्प्रदाय में इन्होने ले लिया, जिससे इनका सम्प्रदाय महत्वपूर्ण हो गया। आत्म-समर्पण की भावना का पवित्र पुट पाकर पुष्टिमार्ग (सम्प्रदाय) खूब सपन्न हुआ। वल्लभाचार्य भक्त से बढ कर विद्वान और प्रचारक थे।।

वल्लभ-सम्प्रदाय मे कृष्ण-भक्ति के सबसे बडे कवि सूरदास हुए। सूरदास के कृष्ण गोपियो के वल्लभ होने के अतिरिक्त गोपो के सखा और यशोदा के बाल-गोविन्द और भक्तो के साकार परब्रह्म भी हैं। वे अलौकिक होते हुए भी लौकिक हैं। सूरदास उद्धव के अवतार कहे जाते हैं—उन्होने अपने उपास्य-देव को एक सखा की भाँति प्यार किया। महाभारत और गीता के कर्मयोगी कृष्ण के प्रति सूरदास की कुछ भी सहानुभूति नही है। वे शील तथा शक्ति के उपासक नही, सौंदर्य के उपासक थे। उन्हें उस ब्रह्म से कुछ भी सहानुभूति नही, जिसमे रूप, रेखा, रग, गुण कुछ भी नही है। जो लोग ससार को माया तथा मिथ्या कहते हैं, उनसे भी उन्हें कुछ सहानभूति नही। उनके गुरु (वल्लभाचार्य) ने उन्हें बतलाया था कि यह ससार मिथ्या नही, यह ससार माया नही। माया तो केवल ममत्व में होती है। 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा ही माया है। ब्रह्म और माया, पुरुष और प्रकृति, कृष्ण और राधा—यह उनका युगल स्वरूप है जिसमे वे कल्प-कल्प तक निमग्न रहते हैं। वैकुंठ-रूप नित्य ब्रज में होने वाली इस लीला में गोपी-रूप में समिलित होना ही जीव की परमगति है[१]।

सूरदास ने उस गोपी की भाँति कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन किया है जिसने अपनी आँखो से एक दिन ब्रज मे नद के दरवाजे के आगे बधाइयाँ बजती सुनी हो[२], अपनी आँखो से बालक कृष्ण को घुटनो के बल चलते देखा हो[३], अपनी आँखो से हठी बालगोविंद को चदा मागते हुए देखा हो[४] और घर का माखन चुराने पर खीझ कर जो कृष्ण को पकड कर यशोदा के पास ले गई हो, लेकिन फिर भी मुह में अँगूठा डाले हुए बालक को देख जो यह न भूल गई हो कि उसके इस कृत्य से शिव सोच में पड गये हैं और ब्रह्मा विचार करने लग गये हैं। फिर यौवन के आने पर उन्होने एक भोली गोपी की भाँति कृष्ण की छवि को प्यार किया है और उनके साहचर्य का सुख प्राप्त किया है। उसे कृष्ण के पलभर 'अतरधान' हो जाने से भी रुलाई आ जाती है[५], वह पास रह कर भी वियोग-दुःख का अनुभव करती है[६] और विरह में तो उसकी दशा अनोखी हो जाती है। वह अपने संदेशो से कुँए भर देती है[७], पानी भरने नही जाती। उसकी आँखो से यमुना बह उठतीहै[८], वह पपीहे को कोसती

१. सदा एक रस एक अखंडित, आदि अनादि अनूप।
कोटि-कलप बीतत नहिं जानत, बिहरत जुगल सरूप।।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि, माया सब बिधि काल।
प्रकृति-पुरुष श्रीपति-नाराइन, सब हैं अंस गुपाल।।
करम जोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायौ।
श्रीवल्लभ प्रभु तत्व सुनायौ, लीला-भेद बतायौ।।

२. आजु हो बधाई बाजै नंदराय के .....।

३ आँगन चलत घुटुरुवन .....

४. ऐसौ हठी मेरौ बाल गोविंदा।

५ नागरि मन गई, उरझाइ। —ना० प्र० स० काशी पृ० ४६८,

६ चलन चँहत पग, चलें न घर कों। —ना० प्र० स० काशी पृ० ५१६,

७ सँदेसनि मधुबन कूप भरे।

८ भरि-भरि जमुना उमड़ि चली हैं, इन नैननि के नीर।

है[१],—मधुवन को धिक्कारती है[२], प्रिय का पत्र पाकर उसे बार-बार छाती से लगाती है, उसे अपने आँसुओ से भिगो देती है[३]। उसकी आँखें सदा बरसती रहती है[४], वह सदा अधोमुख रहती है, ऊपर नहीं देखती[५], —सक्षेप में सूर के राधा-कृष्ण लौकिक-अलौकिक दोनो एक ही साथ है।

वल्लभ-सप्रदाय के कवियो (जिनकी सख्या बताना कठिन है) के अतिरिक्त 'मीरा' भी प्रख्यात कृष्ण-भक्त है। उसकी वाणी में स्थल-स्थल पर कृष्ण का उल्लेख है। उसका बहुत सा अश कृष्ण ही को सबोधित कर कहा गया है। मीरा ने स्वय कहा है कि 'मोर मुकुटधारी नदनदन' ही मेरे पति है। 'गिरिधर-गोपाल' के अतिरिक्त किसी दूसरे से वह अपना सबध ही नही मानती थी[६]। कृष्ण ही की बाँकी-साँवली-छवि, टेढी अलको और त्रिभगी मूर्ति पर उसकी लुभाई हुई आँखे अटकी रहती थी[७]।

अपने आप को गोपी कल्पित कर वह भाग्यशालिनी गोपियो के भाग्य पर ईर्ष्या करती है—

स्याँम म्हाँसूं ऐंडो डोलै हो।
औरन सूं खेलै धँमार, म्हाँसूं मुखहू ना बोलै हो।
म्हारी गलियाँ ना फिरै, वाके आँगन डोलै हो।
म्हारी अँचरा ना छुवै, वाकौ घूघट खोलै हो।
'मीरा' को प्रभु साँवरौ, रँग-रसिया डोलै हो।

परतु यदि गहरे पैठ कर देखा जाय तो जान पडेगा कि उसका उतना ध्यान अवतार की ओर नही है जितना ब्रह्म की ओर। जिस नद-नदन गिरिधर गोपाल के विरह में वह 'अँसुअन की माला' पिरोया करती है[८], जिसकी बाट जोहते-जोहते उसकी 'छमासी' रात बीतती है[९], जिसके रूप पर मुग्ध होकर उसे लोक-परलोक कुछ नही सुहाता है[१०], जिससे वह अपनी बाँह-गहवाना और घूघट-खुलवाना चाहती है[११], जिसके लिये

१. तू पापी रे पंखि पपीहा।
२. मधुबन तुम्ह कत रहत हरे!
३. निरखत अंक स्यामसुंदर के, बार-बार लावति छाती।
४. निसिदिन बरसत नैन हमारे।
५. अधोमुख रहति, उरध नहिं चितवति।
६. मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥
७. निपट बकट छवि अटके मेरे नैना, निपट बंकट छवि अटके।
देखत रूप मदन-मोहन को, पियत मयूखन मटके॥
बारिज भँवर, अलक टेढी मनो अति सुगंध रस अटके।
टेढी कटि औ मुरली टेढी, टेढी पाग लर लटके॥
'मीरा' प्रभु के रूप-लुभानी, गिरिधर नागर नटके।
८ इक बिरहिनि हम देखी, अँसुवन की माला पोवै—
—बानी पृ० २३,७१
९. एक टकटकी पथ निहारूं, भई छमासी रैन।
—बानी-पृ० २३,७३
१० जब से नदनँदन दृष्टि परयौ माई।
तब से लोक-परलोक कछू ना सुहाई॥
—बानी-पृ० २६,८७
११. म्हारी अँगुली ना छुवै, बाकी बहियाँ तोरै हो।
म्हारी अँचरा ना छुवै, बाकी घूँघट खोलै हो॥ —बानी ४३,२

वह घायल होकर तडपती फिरती है,[१] जिसको वह 'छप्पन भोग' 'छत्तीसो व्यजन' परोसती है,[२] जिस 'मिठ-बोला' के लिये विकलता ने उसके दिल की घुडी खोली है,[३] वह पूर्ण ब्रह्म है,[४] इसी निर्गुण का सुरमा वह अपनी आँखो मे लगाती है,[५] वह उसे पूर्णरूप से अपने अदर देखती है[६]। उस निर्गुण ब्रह्म का 'गगन-मडल' में निवास है[७]। गगन-मडल में बिछी हुई सेज पर ही प्रिय के मिलने की उत्कठा वह अपने मन में रखती है[८]। सुरति-निरति का वह दीपक बनाती है, जिसमे प्रेम के बाजार मे बिकने वाला (प्रेम का) तेल भरा रहता है और मनसा (इच्छा) की बत्ती जलती रहती है[९]। उसका प्रेम-मार्ग उसे ज्ञान की गली मे ले जाता है[१०]। उसका मन सुरत की आसमानी-सैर मे लगा हुआ है[११]। वह अगम के देस जाना चाहती है, जहा प्रेम की वापी में शुद्ध आत्मा-हस क्रीडा किया करते है[१२]। राणा को डाट कर वह कहती है कि मै आज की नही तब की हूँ जब से सृष्टि बनी है[१३]। कबीर के मार्ग की भाँति उसकी भी ऊँची-नीची-रपटीली राह है, जिसे वह 'झीनापथ' (सूक्ष्मज्ञान मार्ग) कहती है[१४]। निर्गुनियो का अभ्यास मीरा के निम्न लिखित पद मे आगया है—

१. घायल फिरूं तडपती, पीर नहिं जानें कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई। —बानी पृ० ५१, ५२

२ छप्पन-भोग छत्तीसो बिंजन, सनमुख राखों थाल जी। —बानी पृ०, ५२

३. साजन घर आवो मिठ बोला।
तुम देख्यां बिन कल न परत है, कर घर रही कपोला।
'मीरा' दासी जनम-जनम की, दिल की घुडी खोला। —बानी पृ०-१७, ३२

४ मात पिता तुमकौं दियौ, तुम हीं भल जांनों हो।
तुम तजि और भतार को, मन में नहिं आंनों हो।
तुम प्रभु पूरन ब्रह्म, पूरन पद दीजै हो। —बानी पृ० १२

५ सुरत सुहागिन नार- - - निरगुन सुरमौ सार। —बानी पृ० ३१, ७२

६. मेरे पिया मोहि माँहि बसत है, कहूं न आती-जाती। —बानी पृ० १०, १६
औरो के पिया परदेस बसत है, लिख-लिख भेजें पाती।
मेरे पिया हिरदे में बसत है, गूंज करूं दिन-राती। —बानी, पृ० २७, ६२

७ गगन-मंडल में सेज पिया की किस बिधि मिलना होई। —बानी पृ० ४, ३

८ तेरा कोई नहिं रोकनहार, मगन होइ मीरा चली।
ऊँची अटरिया, लाल किंवडिया, निरगुन-सेज बिछी॥- - -
सेज सुखमणा 'मीरा' सोवै, सुभ है आज घरी। —बानी पृ० ११, १९

९ सुरत-निरत का दिवला सँजोले, मनसा की कर बाती।
प्रेम हटी का तेल मंगा ले, जगा करै दिन राती॥ —बानी पृ० १०, २६

१० मान-अमान दोउ धर पटके, निकली हूं ग्यान-गली। —बानी पृ० ११, १३

११ मीरा' मन मानी सुरति, सैल असमानी। —बानी पृ० १९, ४१

१२ चलौं अगम के देस काल देखत डरै।
वहाँ भरा प्रेम का हौज, हस केला करै॥ —बानी पृ० १३

१३ आज-काल की मैं नहिं राणा, जद यह ब्रह्मड छायौ। —बानी पृ० ६७, ३२

१४. ऊँची-नीची राह-रपटीली, पाँव ना ठहराइ।
सोच-सोच पग धरू जतन से, बार-बार डिग जाइ॥
ऊँचा-नीचा महल पिया का, हम से चढ्या न जाइ।
पिया दूर पथ थांरा झीणा, सुरत-झकोला खाइ॥ —बानी पृ० २७

"नैन बनज बसाऊँ री, जो मै साहिब पाऊँ री।
इन नैनन मोरा साहब बसता, डरती पलक न लाऊँ री॥
त्रिकुटी-महल में बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न-महल में सुरति जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बलि जाऊँ री॥"

इसमें त्रिकुटी-ध्यान और भ्रू-मध्य-दृष्टि की ओर स्पष्ट सकेत है। मीरा का ध्येय है 'पूरन पद'[१], निरजन का वह ध्यान करती है[२]। अनाहत नाद को सुनती है[3] और 'आदि-अनादि साहब को' पाकर भव-सागर से तर जाती है[४]।

मीरा की सगुण-भावना, निर्गुण-भावना का प्रतीक मात्र थी। वह अवतार-भावना की विरोधिनी नही है, परंतु उधर उसका उतना ध्यान नही। वल्लभ-सप्रदाय के कवियो की भाँति उसका उद्देश्य कृष्ण की लीलाओ का वर्णन करना नही, अपनी अनुभूति का प्रकाश करना था। वह परब्रह्म कृष्ण की गोपी थी[५]। उसके कृष्ण मोर, मकुट वाले 'गिरिधर गोपाल' होते हुए भी परब्रह्म ही हैं।

वल्लभ-सप्रदाय की माधुर्य भाव की भक्ति मे 'रसिक रसखान' (१५७६–१६१४ ई०) ने डुबकी लगाई थी। वे अनन्य प्रेमी थे, इसलिये प्रेम ही रसखान का महामत्र था। वे श्री राधिका को 'प्रेम की अयनि' और नदनदन को 'प्रेम बरन' मानते थे।

"प्रेम अयनि श्री राधिका, प्रेम बरन नँदनंद।"

रसखान के कृष्ण परब्रह्म है, जिनके गुणो को 'सेस, गनेस, महेस, दिनेस और सुरेस' भी निरतर गाते रहते हैं, जिनको वेद—'अनादि, अनत, अखड, अछेद,अभेद' बताते हैं, जिसका पार नारद, शुक और व्यास सरीखे पच-पच कर हारने पर भी न पा सके, किंतु जिन्हें प्रेम के बल से 'अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पर नाच' नचा सकती है—

"सेस, गनेस, महेस, सुरेस, दिनेसहु जाहि निरतर गावैं।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद, सुबेद बतावैं॥
नारद से सुक ब्यास रहे पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया-भरि छाछ पै नाच नचावैं॥"

रसखान की भाँति घनानद भी कृष्ण-प्रेमी कवि थे, किंतु उनकी दीक्षा निंबार्क सप्रदाय में हुई थी। निंबार्क-मत में राधा कृष्ण की अनन्य सगिनी और श्रेय-शक्ति है। वह कृष्ण की ही भाँति भक्त की सब इच्छाओ को पूर्ण करने वाली है। कृष्ण के साथ वह 'गोलोक' में निवास करती है और लीला के हेतु अपनी अन्य सगियो (जो कि कृष्ण की ही अन्य शक्तियाँ हैं) सहित ब्रजभूमि में अवतरित होती है। अनन्य भाव से राधा तथा कृष्ण को आत्म-समर्पण करने तथा उन्ही के विरह में रहने से उनकी कृपा प्राप्त होती है। इस कृपा के प्राप्त हो जाने से ही ज्ञान की सार्थकता है। अकेले ज्ञान (अनुभूतिहीन, भक्तिरहित ज्ञान) से राधा और कृष्ण की प्राप्ति नही हो सकती। कृष्ण परब्रह्म है। परब्रह्म अचिंत्य है। उसकी प्राप्ति का आनद प्रेमाभक्ति (जिसे आचार्यों ने दशधा-भक्ति का भी नाम दिया है) से हो सकता है। जीव उसी परब्रह्म का अश है और क्रियाशील होने से उस परब्रह्म से अपनी भिन्न सत्ता समझता है। यथार्थ में वह परमात्मा से अलग भासित होने पर ठीक वैसे ही मिला हुआ है, जैसे लहर समुद्र में। परब्रह्म शात समुद्र है, जीव क्षुब्ध उठी हुई जल-राशि। जीव मुक्त होने से ही शा-

१ तुम प्रभु पूरन ब्रह्म, पूरन पद दीजै हो। —बानी पृ० १६२
२. जा को नाम निरजन कहिए, ताको ध्यान धरूंगी हो। —बानी पृ० २८, ५८
३. बिन करताल पखावज बाजै, अनहद की झंकार रे। —बानी पृ० ४२, ६
४ साहब पाया आदि अनादी, नातर भव में जाती॥ —बानी पृ० ६, ६
५ डा० बड़थ्वाल (१) मीराबाई और वल्लभाचार्य (२) हिंदी काव्य की निर्गुणधारा।

अवस्था को प्राप्त होता है। क्रिया-शक्ति का शात हो कर आनदावस्था में लीन होने का ही नाम मुक्ति है। आनदानुभव तो जीव ब्रह्म की ही भाँति कर लेता है, किंतु विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय उसके अधीन नही, ब्रह्म के अधीन है, किंतु विश्व की भी ब्रह्म से भिन्न सत्ता नही है। वह ब्रह्म का ही व्यक्त—भासित रूप है और इस कारण एकाएक असत्य भी नही है।

इन सिद्धातो में दीक्षित घनानद ने कृष्ण-विरह में एक गोपिका की भाँति जीवन बिताया, साँवरे की रसमयी छवि उनकी आँखो में बस गयी थी, इसीलिये और सब बातें उन्हें आग-सी लगती थी। वे घर, वन, वीथियो में सर्वत्र कृष्ण को ही ढूढते रहते थे। अपनी भावना की तल्लीनता के कारण उन्हें सर्वत्र कृष्ण नजर आते थे। कभी स्वप्न में भी कृष्ण को देख कर चौंक पडते थे, किंतु दूसरे ही क्षण सत्यता का बोध होते ही वे बेचैन हो जाते थे। बेचैनी बढने पर आकाश, पाताल, आग, पानी सब जगह वे हरि को ढूढने लगते थे। दादू की भाँति प्रियतम के दीदार देखने की मीठी चाह उनके हृदय में भी उठा करती थी। प्रिय का रूप-भर देखने से उन्हें शाति नही होती थी, वे स्वाति बूद को भी, प्रेम घट जाने की आशका से, न पीने वाले चातक-हृदय तुलसी की भाँति प्रेम की बढती प्यास के अतिरिक्त कुछ भी नही चाहते थे। मीरा की भाँति वे भी अपने को जन्म-जन्म का विरही समझते थे। प्रिय-मिलन की आनंदानुभूति न हो पाने पर वे बेचैन होने लगते थे। उन्हें यही दु ख बना रहता था कि वे उस रस-राशि आनदघन को नही पा सके है जो 'चाह का आलवाल' और अचाह का कल्पतरु है, जो निष्काम है, जो अमल, अपूरब, उजागर, अखड है, जो ताराओ को प्रकाश देता है, जो मित्र-मडल की शोभा है, जिसकी ज्योति के रस में डूबे रसिको की टकटकी उसी की ओर चकोर की भाँति लगी रहती है, जो आनद, अमृत-कद-सुषमा की सपत्ति है, और जिसके रूप के सामने कामदेव भी भिखारी लगता है।

घनानद विरहिन गोपिका की भाँति कृष्ण के प्रेम में घुलते रहे। उनकी आँखें प्रिय का मग माँपते-माँपते थक गई। वे आशा और निराशा में अपने जीवन को प्रिय का नाम ले-लेकर जिलाते रहे। कभी किसी पथिक को आता देख कर प्रिय का सदेश पूछने लगते थे, कभी प्रिय के देश की ओर जाने वाले मेघ से अपने आँसुओ को सुजान के आँगन मे ले जा कर बरसा देने की[1] प्रार्थना विरही यक्ष की भाँति करते थे और कभी जगत के प्राण पवन से प्रिय के चरणो की धूल ले आने की[2] विनती करते थे। वे उस घडी के लिये सदैव उत्कठित रहते थे, जब उनकी तृषित आँखें 'छवि के सदन' कृष्ण को देख सकेंगी, जब आनदघन कृष्ण चटकीले वेष में, मटकीली-चाल से, अधरो पर शोभित मुरली को लटकाते हुए आयेंगे, लोचन ढुरा कर, मीठी हँसी से बात कर उनके विरह-वीरान हृदय को हरा-भरा कर देंगे। उस घडी उस सिंगार-मूर्ति के दर्शन से आँखें शात होगी, ऐसी कल्पना घनानद करने लगते है और सोचते है 'उस समय अपनी रसना से मै उनके पावो को चूम लूगा, अपने कपोलो से उन पैरो की धूल पोछ लूँगा। मेरा सब दु ख उन्हें देखते ही मिट जाएगा।'

उस दिन को देखने के लिये,—उस प्रेम को पाने के लिये, मोर-पखो के बाह्य रूप में ही न भटके रहकर उस सूक्ष्म रूप को भी देख सकने के लिये जिसे योगी ही हृदय में धारण करते है, घनानद ने भगवान से ज्ञान की आँखें माँगी और स्वय सब साधनो की सार उस कृपा को अपने हृदय में सँवारा जिसके तनिक भी आ

[1] पर कारज देह को धारें फिरौ, परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ, सबही बिधि सज्जनता सरसौ।।
'घनआनँद' जीवन-दायक हौ, कछु मेरीहु पीर हिएँ परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन, मो अँसुवान कौं लै बरसौ।।

[2]. एरे बीर, पौन तेरौ सबै ओर गौन, तो सौ और कौन मनहि ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे-बड़े सो समान 'घनआँनद' निधान सुख-दान दुखियानि दै।।
रूप उजियारे, गुनवारे, वे सुजान प्यारे, अब ह्वै अमोही बैठे पीठ पतियानि दै।
बिरह बिथा की मूरि, आँखिन में राखो पूरि, धूरि तिन्ह पाँइन की हा-हा नैंकु आनि दै।।

जाने से नीरस हृदय भी रस-राशि हो जाता है, ऊसर में भी सर उत्पन्न हो जाते है, जिससे मनुष्य के सब दु ख दूर हो जाते हैं, जो विरह की अग्नि में जलते हुए को भी शीतलता प्रदान करती है और मूढ को भी पडित बना देती है । घनानद ने प्रियतम को मिला देने वाली इस कृपा की ही कामना सदैव की । ज्ञान,ध्यान, जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि की जरा भी परवाह न कर वे अपनी प्रेमा-भक्ति में ही लीन रहते थे । उनका पक्का विश्वास था कि कृपा ही वह साधन-रत्न है, जिससे सहज ही अनूप गुणी कृष्ण का नाम रूप-अरूप प्राप्त हो जाता है । उनकी मति 'कृपा ठकुराइन' के पावो की चेरी हो कर रहने लगी । उन्होने अपने मन-भ्रमर को श्याम-हृदय-सरोज के कृपा-मकरद में ही रमाया । विश्वास के बोहित, जहाज, पर चढ कर कृपा-सिंधु मे अवगाहन किया।

घनानद भगवान की प्राप्ति मनुष्य-रूप में ही चाहते थे । भगवान को मनुष्य रूप मे पाकर ही मनुष्य का विश्वास उनमें जम सकता है—'पीरिति-रतन करिबौ जतन, जदि सयाने-सयाने हय ।'

ईश्वर, ईश्वर रह कर हमारी श्रद्धा भले ही पाले, किंतु बिना रूप-आकार के वह हमारे दृढ विश्वास पर अवलबित प्रेम का भाजन सहज ही नही हो सकता । इसीलिये मनुष्य ने माता, पिता, सखा, भ्राता, वधु, पुत्र, पत्नी आदि नाना रूपो में ईश्वर की कल्पना कर अपनी वासनाओ की तृप्ति के लिये दृढ आधार ढूँढ निकाला है । इस दृष्टि से किसी (सभवतया रूसो) ने ठीक ही कहा था कि ईश्वर ने मनुष्य बनाया हो या न बनाया हो, किंतु मनुष्य ने ईश्वर जरूर बनाया है ।

घनानद न अपनी सच्ची प्रेमानुभूतियो और एकनिष्ठ लगन के कारण सुजान कृष्ण और राधा की भिन्न भिन्न लीलाओ को देखने में समर्थ हुए । कभी त्रिभगी कृष्ण की मीठी मुरली उनके हृदय में आनद देने वाली राग-रागिनी-तरग की धुनि उपजाती थी, कभी मजु मोर-चद्रिका सहित पचरगी पाग और झीने नीमा पहने कृष्ण सामने दिखाई देते थे, और कभी उनके अग-अगो से द्युति की उठती हुई तरगे अपनी भव्य शोभा की सौंदर्यमयी झलक दिखलाती हुई दिग्दिगत में बिखर जाती और कभी हँसी-भरे बोलो में फूलो की शोभा नजर आती । कभी काननचारी दृग गोरे मुख पर सौंदर्य की वृद्धि करते तो कभी कानो में लटकते कमल ध्यान को अपनी ओर खींच लेते । प्रत्येक अग में सौंदर्य अपने उभार से उमडता था जिसे देख-देख हृदय में आनद के फूलो की वर्षा हो जाती थी । कभी वे उस उदार रास-विहारी का रूप देख कर भ्रम में पड जाते थे ।

कृष्ण की जो अनुभूति उन्हें हुई उसका वर्णन करने में उन्होने वाणी को असमर्थ पाया, किंतु कृष्ण के सामीप्य के आनद का अनुभव उन्हें होने लगा और वे उसी आनद में डूबे रहने की चाहना करते रहे[1] ।

सक्षेप में घनानद ने जिस कृष्ण की नाना लीलाओ को अपनी प्रेम-भावना की तल्लीनता के कारण देखा वह अखड, नित्य, रसनायक, सहज ही रीझने वाला, उदार शृगार-मूर्ति परब्रह्म कृष्ण है, जिसने प्रेम के कारण सोलह कलाओ को धारण कर चद्र-वश मे जन्म लिया और यशोदा को अपनी माता बनाया । राधिका के मुख-चद्र का चकोर वही कृष्ण घनानद का मनोरथ था और मनोरथ को पूर्ण करने वाला 'सुजान' प्रिय भी।

घनानंद रीति-काल में उत्पन्न हुए थे । कृष्ण और राधा की भिन्न-भिन्न लीलाओ में भिन्न-भिन्न नायक-नायिकाओ का पूर्ण विकास उस समय तक हो चुका था । इस प्रवृत्ति का पूर्ण प्रभाव कृष्ण-भक्ति के तथा शृगार-काव्य के कवियो पर पडा । यद्यपि घनानद ने लक्षण-ग्रथो को अपना आदर्श बना कर कविता नही की, फिर भी विरहिन गोपिकाओ की भिन्न-भिन्न दशाओ के चित्रण में भिन्न-भिन्न नायिकाओ के जो चित्र पाठको के सामने आते हैं वे नायिका-प्रभाव की तथा 'विरही घनानद' की स्वात्म-अनुभूति की सूचना देते है । इन मानसिक दशाओ के चित्रण में भावना की पवित्रता सर्वत्र बनी है । कही भी उसमें शिथिलता अथवा उच्छृ खला नही आने पाई है । वह स्वाभाविक, सरल, स्पष्ट और हृदय-स्पर्शी है । कृष्ण की पवित्रता पूरी बनी

१ रसखान और घनानद (नागरी प्रचारिणी सभा काशी-सस्करण) छद सख्या—३३६, ६७, १५३, १६८, २११, २३, ६७, ३५६, १४६, ३३२, २८८, १११, २२, १३१, ७२, ५, १४६, २११, ३३३, ३३४, ३४२, ३३६. ३५४, ३५५, ३४१, ३४३, १८१, ३५६, ४००, ४, १७०, ३१०, २८१ ।

ही हुई है। वे अपने ब्रह्मत्व के पद तथा आनद-रस-रूप से नीचे नही गिरे हैं। इसलिये उनमें रीतिकाल के अन्य कवियो की सी कामुक लपटता का अभाव पाया जाना स्वाभाविक ही है। सच्चे हृदय की स्वाभाविकता में घनानंद के राधा और कृष्ण का सरल सौदर्य निखर गया है।

वल्लभ-सप्रदाय में समर्पण की भावना थी। इसमें मन, धन के साथ शरीर का भी समर्पण करना होता था। यह समर्पण एक दिन सहजिया-सप्रदाय के समर्पण के रूप में विकृत हो गया। कृष्ण-भक्ति की इस अवस्था में 'सूर' और 'नददास' के राधा-कृष्ण को लोग भूल गये। सूर और नददास आदि कृष्ण-भक्त कवियो के राधा और कृष्ण ब्रह्म और गोप-कुमार, सगुण और निर्गुण दोनो रूपो में थे। उनमे आध्यात्मिकता और भौतिकता दोनो थी, किंतु भक्ति की वह भावना जो सप्रदायो में पहले थी वह अब न रह गयी थी। आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता की ओर अधिक प्रवृत्तिथी। फलस्वरूप राधा और कृष्ण के चरित्र से आध्यात्मिकता जाती रही, वे विकृत भावनाओ को प्रकट करने के साधन रह गये।

कृष्ण-भक्ति का यह विकृत रूप जनता को आदर्श से गिरा रहा था, उस समय शक्तिहीन राजाओ में, वैभव की समृद्धि में डूबे हुए बादशाहो की विलास-प्रवृत्ति के अनुकरण की होड लग रही थी। फलत कुत्सित शृगारी-साहित्य को प्रोत्साहन मिल रहा था। हाल और गोवर्द्धनाचार्य के शृगारी साहित्य का विकास अलकार-शास्त्र के साथ और भरत के नाट्य-शास्त्र तथा वात्सायन के कामसूत्र से प्रभावित नाटक-साहित्य का विकास रस-संप्रदाय के साथ-साथ होता हुआ संस्कृत-साहित्य में चला आया था। जिससे मुक्तक शृगारी साहित्य और नायक-नायिका-भेद का रसानुकूल विवेचन समयानुकल परिवर्तनो के साथ सस्कृत-साहित्य में हुआ। इस विकास की सारी प्रवृत्ति विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में आ चुकी थी। इस संस्कृत-साहित्य के विकास का प्रभाव हिंदी के कवियो पर भी पडा, किंतु वे उससे पूरा लाभ न उठा सके। सस्कृत के प्रकाड पडित केशवदास को पाडित्य-प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति ने अलकारो के जाल में ही भटका दिया। कृष्ण-चरित्र में सब रसो की सामग्री[1] देख लेने पर भी वे उसका उपयोग न कर सके। अपने समय से ऊँचे उठने की सामर्थ्य उनमें नही थी, वरन अपनी शक्ति, पाडित्य और पद के कारण उन्होने साहित्य की धारा को ही अलकार-चमत्कार की ओर मोड दिया। भक्ति की प्रेरणा न होने तथा इद्रजीत के अखाडे में रहने के कारण केशव ने राधा-कृष्ण के चरित्र को कुत्सित भावनाओ के प्रकट करने का साधन मात्र बना दिया। कवियो की विकृत भावना को प्रबल करने में फारसी काव्य-धारा भी कम सहायक न हुई। फलस्वरूप कृष्ण और राधा के पवित्र चरित्र से अलौकिक देवत्व की भावना जाती रही। आध्यात्मिकता के दूर हो जाने पर वे अब कविता करने के बहाने मात्र रह गये[2]।

[1] श्री वृषभानु कुमारि हेतु सिंगार रूप भय।
बास, हास, रस, हेर, मात बंधन करुनामय ॥
केसी प्रति अति रौद्र, बीर मारौ वच्छासुर।
भय दावानल पान कियौ, बीभत्स बकी उर ॥
अति अदभुत बंचि बिरंचीमति, सांत संततै सोच चित।
कहि 'केसव' सेवहु रसिक-जन, नव-रस मैं ब्रजराज नित ॥

[2]. आगे के सुकवि रीझि है तौ कविताई, न तु राधिका-कन्हाई सुमिरन कौ बहानों है।
—दास

रसिक रीझि हैं जानि, तौ ह्वै है कविता सफल।
न तरु सदां सुखदांनि, श्री राधा-हरि कौ सुजस ॥
—द्विजदेव

सरस-मंजावली

श्री सहचरि शरण

निरखैं हूदैं न होहु मनोहर, सबैं रह्यौ मन भावन।
नवल मोहिलौ मोहि तजै जिन, तोहि सोह प्रिय-पावन॥
रसिक 'सहचरी-सरन' स्याँम-घन, रस-बरषावन सावन।
दरस देहु बर बदन-चंद्रमा, चख-चकोर बिलसावन॥१॥

बाँकी पाग चंद्रिका ता पर तुर्रा थरकि रहा है।
बर सिरपेच, माल उर बाँकी, पटकी चटक ग्रहा है॥
बाँकि नैंन मैंनसर बाँके, बैंन बिनोद महा है।
बाँके की बाँकी झाँकी करि बाकी रही कहा है॥२॥

कटि किंकनि, सिर मोर-मुकट, बर, उर बनमाल परी है।
करि मुसक्याँन चकाचौंधी चित, चितवनि रंग-भरी है॥
'सहचरिसरन' सु बिस्व-बिमोहनि, मुरली अधर धरी है।
ललित त्रिभंगी सजल मेघ-तन, मूरति मंजु खरी है॥३॥

मलयज तिलक ललाट पटल पट, अटल सनेह सटक सौं।
नवल बिजैं जनु करत पुरट मैं, कटि किंकनी कटक सौं॥
'सहचरिसरन' तरनि-तनया-तट, नटवर मुकट लटक सौं।
चित-चुरली मुरली-धुनि गावत, आवत चटक-मटक सौं॥४॥

दृग चलजात रसीले हँसि-हँसि, ललचत नहिं मन काके।
उर चटपटी लगावत छिन-छिन, बैंन मैंन मैं ताके॥
बरबस प्राँन हरत निरखौ री, मुख-बिलास मधु-छाके।
'सहचरिसरन' बौरि कोउ रोकौ, डारत फंद प्रभा के॥५॥

अधिक सलौंना टोना करिकैं, बैंन बजाइ गयौ री।
हुतो कोन कौ, कोन कहैं किन, कैसें गाइ गयौ री॥
'सहचरिसरन' रंग-भरि अखियाँ, चायँन चाइ गयौ री।
मदन मई मैं भई बिलोकत, मुख-मटकाइ गयौ री॥६॥

प्रफुलित अंग मिलावत चोंचनि, मृदु कूजनि अनु टौंनौं।
ओघ निकुंज घँसुबनि सीखें रस-खिल कोटि सलोनौं॥
स्याँम बिहंग, बिहंगिनि गोरी, जिमि उरझौ गुन गोनौं।
'सहचरिसरन' अचागर नागर, बर खिलवार खिलौंनौं॥७॥

कनक-जटित केकी कल कुंडल, भव भुजंग बिष-भंजन।
मन-मोंहन बर बाज भौंह, नख, ब्रज नख गाली गजन॥
रतन अमोल अमल दृग आयत, बिपति-दलन मन-रंजन।
'सहचरिसरन' त्रिताप तिमिर हर, बदन चंद मति मंजन॥८॥

छिति-पति लेत मोल पसु-पच्छिन इहि बिधि कबैं लहौगे।
रबि-दुहिता सुर-सरित भूमि जिमि, रस उर कबैं बहौगे॥
पकरत भृंग कीट कौं जैसें, तैसें कबैं गहौगे।
'सहचरिसरन' मराल मानसर मन इमि कबैं रहौगे॥९॥

गोस्वामी तुलसीदास की ब्रजभाषा-साहित्य को देन

श्री रामदत्त, कृष्णदत्त भारद्वाज

ब्रज-क्षेत्र की तट-सीमा पर आविर्भूत हो कर[1] प्रातःस्मरणीय गोस्वामी 'तुलसीदास' ने अपने काव्य-चषक में पुराण, निगम, आगम, रामायण और 'क्वचिदन्यतोऽपि' का जो पंचामृत भरा वह इतना अक्षय बना कि तुलसी को तो उसमे अतःसुख मिला ही, परवर्ती सहस्रशः भावुक भक्तो को भी उससे तृप्ति हुई है, हो रही है और आगे होती रहेगी। इस कवि की साधना ने अनेकानेक जीवो की साधनाओ को सफल कर दिया। तुलसी ने जो कुछ लिखा सब उपर्युक्त पुराण-आदि आर्ष-प्रमाणो के आधार पर ही कहा है। जितना ही तुलसी-साहित्य का अध्ययन किया जाता है, उतना ही इस तथ्य पर अधिकाधिक प्रकाश पडता है।

निगम-समत—इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर आदि बहुत से देवताओ की सत्ता ऋगादि वेदो से प्रतिपादित हुई है। तुलसी का उन सबके अस्तित्व मे विश्वास था। देवताओ के आकार-चिंतन में यास्क[2] ने जो कई विकल्प प्रदर्शित किये है, कहना न होगा कि तुलसीदास उनमें से पुरुषविधता के विकल्प को मानते थे।

पुराण-समत—तुलसी ने यथास्थान त्रिदेव-वाद का समर्थन किया है। त्रिदेववाद से तात्पर्य है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश जगतके कर्त्ता, भर्त्ता, हर्त्ता है। यद्यपि पुराणो के शैव, वैष्णव आदि प्रभेद हैं तथापि त्रिदेववाद उनका समानरूपेण प्रतिपाद्य है[3]। तुलसी के राम-काव्य में अनेकत्र इसका उल्लेख है।

आगम-समत—श्री राम के रूप का चिन्मय कह कर प्रतिपादन आगमानुकूल है। न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग दर्शनो में रूप का भौतिकत्व ही स्वीकार किया गया है, अद्वैत वेदात में ईश्वर-रूप का मायिकत्व भी,[4] किंतु वैष्णव-आगमो और तदनुसारी वैष्णव दर्शन-शास्त्र में उसका चिन्मयत्व भी बताया गया है,[5] अतएव तुलसी-द्वारा श्रीराम के विग्रह की चिन्मयता का प्रतिपादन आगम-समत है[6]।

१. विशेष परिचय के लिये देखिये श्री रामदत्त भारद्वाज का 'तुलसी का घरबार'
—नेशनल इन्फरमेशन एण्ड पब्लिकेशन्स लि० बबई

२ अथाकारचिंतनदेवानाम्। पुरुषविधाःस्युरित्येकम्।
—निरुक्त, दैवतकाड १।६

३. सृष्टिस्थित्यंतकरणीं ब्रह्म विष्णु शिवाभिधाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥
—विष्णु पुराण

४ स्यात् परमेश्वरस्यापि इच्छावशात् मायामयं रूप साधकानुग्रहार्थम्।
—ब्रह्मसूत्रे शाकरभाष्यम् १।१।२०

५. षाड्गुण्यविग्रहं देवं।
—सात्वत सहिता, १।२५
सच्चिदानंदसाद्रांगश्चिदानद घनाकृतिः।
—भक्तिरसामृतसिंधु

६. चिदानंदमय देह तुम्हारी, बिगत-बिकार जान अधिकारी।
—रामचरित-मानस

वाल्मीकि के अनुसार श्रीविष्णुभगवान् ही ब्रह्मादि के निवेदन से इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे—"सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णु" (६।११७।२९) तुलसी ने इस रामायण-समत वाद का उल्लेख किया है—

"भए प्रकट कृपाला, दीन दयाला, कौसल्या हितकारी।
लोचन अभिरामा, तनु घनस्यामा, निज आयुध भुज चारी॥"

और —'क्वचिदन्यतोऽपि' यह स्पष्ट है कि श्रीराम ही परात्पर है—

"जग पेखन तुम्ह पेखनहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे॥"

तुलसी की प्रतिमा वैदिक बहुदेववाद से पौराणिक त्रिदेववाद की ओर, पौराणिक त्रिदेववाद से आगमिक विष्णुवाद की ओर, आगमिक विष्णुवाद से रामायणीय रामावतार की ओर आकर अत में 'क्वचिदन्यतोऽपि' के राम-परत्व में परिनिष्पन्न हुई है। दूसरे शब्दो मे, इन्द्रादि देवताओ से ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा त्रिदेवातर्गत विष्णु बड़े हैं, विष्णु के ही अवतार राम हैं, किंतु तुलसी ने राम को विष्णु का अवतार मान कर भी राम के परत्व का भी प्रतिपादन किया है, अर्थात् राम विष्णु से भी बड़े हैं—यह माना है। ब्रजभाषा में श्री कृष्ण की महिमा प्राय गाई गई है, किंतु ब्रज-साहित्य को राम की परात्परता तुलसीदास की ही देन है।

दार्शनिकता और भक्ति

गोस्वामी जी ऊँची श्रेणी के दार्शनिक थे। उन्होने जीव, जगत्, माया, ईश्वर आदि विषयो पर अपनी वैदुष्य-पूर्ण, किंतु रोचक शैली में प्रकाश डाला है। विनय पत्रिका का—

"केसव, कहि न जाइ का कहिए।
देखत तव रचना बिचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिए॥"

आदि पद में सृष्टि के वैचित्र्य का एक दार्शनिक की दृष्टि से विवेचन करते हुए जो अपनी समति दी है उससे विदित होता है कि उनकी कल्पना की रेखा किस ऊँचाई की थी। पद के अत में वे कहते हैं—

"कोउ कह सत्य, झूंठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानें।
'तुलसिदास' परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानें॥"

इसमें उन्होने जगत् के मिथ्यात्ववाद, सत्यत्ववाद और उभयवाद इन तीनो ही वादो को भ्रात बता कर साधक को उनके परित्याग की समति दी है, क्योकि तुलसी की समति मे तभी आत्म-साक्षात्कार सभव है। यह सिद्धात अद्वैत वेदात के 'सदसद्भ्यामनिर्वचनीयवाद' के समकक्ष है[1]। माया को न सत् कह सकते है, क्योकि वह त्रिकाल में एक रस नही और न असत् ही कह सकते है, क्योकि वह इस समय प्रत्येता की प्रतीति का विषय जो बनी हुई है, एव युगपत्, सदसत् कह कर भी उसका प्रतिपादन नही किया जा सकता, क्योकि उस दशा में एक ही प्रत्येता को युगपत् दृश्य की प्रतीति और अप्रतीति होनी चाहिए जो कि अनुभव-विरुद्ध है। अतएव दृश्य प्रपच के लिये अनिर्वचनीय कह कर ही दार्शनिक की कल्पना शाति में समाप्त हो जाती है। इस प्रसग में यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अनिर्वचनीयता माया किंवा प्रपच के लिये ही कही गई है, श्री भगवान् के लिये नही। उन्हें तो तुलसी अबिगत, गोतीत और मायारहित कह कर सच्चिदानद ही बताते हैं—

"अबिगत गोतीतं, चरित पुनीतं, माया-रहित मुकुंदा।
निसि-बासर ध्यावहिं, गुन गन गावहिं, जयति सच्चिदानदा॥"

इतनी उच्चकोटि के विचारक होते हुए भी वे उच्चकोटि के भक्त भी थे। भगवान् के स्वरूप, रूप, गुण, लीला और धाम का यथा-प्रसग जो प्रतिपादन उन्होने किया है उससे उनकी परम और विशुद्ध भक्ति का परिचय मिलता है। उनकी तो आस्था यही रही है कि 'मगल-भवन, नव-नील-नीरद-सु दर श्रीराम' हृदय में बसे रहें, अन्यथा जीवन निरर्थक है—

१. अज्ञान तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीय त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपम्।
—वेदातसार ३४

"पग नूपुर औ पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिऐं ।
नव-नील-कलेवर पीत झगा झलकें पुलकें नृप गोद लिऐं ।।
अरबिंद सौ आँनन रूप मरंद, अनंदित लोचन भृंग पिऐं ।
मन में न बस्यौ अस बालक जो 'तुलसी' जग में फल कोन जिऐं ।।"

—कवितावली १।२

राम की रूप-माधुरी का वर्णन करते-करते तुलसी थकते ही नही । कभी—

"सरद मयंक बदन छबि सींवा । चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा ।।
अधर अरुन रद सुंदर नासा । बिधुकर निकर बिनिंदक हासा ।।
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला । पदक हार भूषण मनि जाला ।।"

इत्यादि चौपाइयो-द्वारा अपने आराध्य का आराधन करते है तो कभी—

"बिहरत अवध-बीथिन रांम ।
संग अनुज अनेक सिसु, नव नील नीरद स्यांम ।।
तरुन अरुन सरोज पद बनि कनकमय पद-त्रान ।
पीतपट कटि तून बर कर, ललित लघु धनु-बान ।।
लोचनन को लहत फल, छबि निरखि पुर-नर-नारि ।
बसत 'तुलसीदास, उर, अवधेस के सुत चारि' ।।"

—गीतावली १।४१

आदि गीतो के द्वारा उसका गान करते है, और कभी—

"जयति सिंगार सर तामरस दाम द्युति, देह गुन-गेह बिस्वोपकारी ।
सकल सौभाग्य सौंदर्य सुखमारूप, मनोभव कोटि गरवापहारी ।।"

—विनयपत्रिका ४४

की सेवा मे अपना विनय-निवेदन करते हैं—

"कबहुँक अंब, औसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ।।"

—विनयपत्रिका ४१

इत्यादि पद में तो जगज्जननी श्री सीताजी के चरणोमें अपन उद्धार का भार रखते हुए तुलसी का विनय अत्यत विनम्र हो गया है । व्रज साहित्य को तुलसी की यह देन बडी सु दर है ।

उदात्त चरित्र का चित्रण

व्रजभाषा के किसी ग्रथ में चरित्र का इतना उदात्त वर्णन नही हुआ है जितना मानस मे । मानस क्या है ? सस्कृत के श्रीराम-साहित्यरूपी अनेक रमणीय उद्यानो के वचन-कुसुमो का मधुर-मधु है, जिसकी मधुरिमा से व्रजभाषा-साहित्य शतियो से आमोदित होता चला आ रहा है और जिसने अपनी उत्कृष्टता से अब अमरत्व-लाभ कर लिया है । गोस्वामीजी ने इस नवीन मधु में पुरातन 'कृत'[1] का अमृत मिला कर भावुको के हृदयो

[1] कृतं स्मर ।

—ईशोपनिषद

कृतात्ययेऽनुशयवान् इत्यादि ।

—ब्रह्मसूत्र ३।१।८

सुकृत दुष्कृते एवेति तु बादरिः ।

—ब्रह्मसूत्र ३।१।११

को बहुत ही आकर्षित किया है। कृत के ही कर्म,[१] कर्त्तव्य, चरित[२], चरित्र, चरण[३], आचरण, आचार,[४] धर्म,[५] आदि पर्याय है। कृत वा चरित्र ही मानव को सासारिक सकटो मे आगे बढ़ाता हुआ दिव्यता के साम्राज्य मे पहुँचा देता है। श्रीराम-चरित्र का प्रतिपादन करते हुए गोस्वामी जी ने मानवमात्र के समुख मानव-चरित्र का अत्यत उदात्तरूप में निरूपण किया है। इस चरित्र-निर्झर का उद्गम नि सदेह वैदिक ऋचाओ में हुआ है और सस्कृत-साहित्य के विविध उच्चावचस्तरो को इसने अपनी झरी के कलकल से प्रचुरमात्रा में मुखरित किया है, किंतु सस्कृत-साहित्य की परिधि से निकाल कर घर-घर तक और जन-जन तक उसके प्रवाह को पहुँचाने का श्रेय गोस्वामीजी को मिला है और अपने इस स्तुत्य प्रयत्न के लिये उन्होंने व्रजभाषा को ही अवकाश में उपयुक्त माध्यम के रूप मे अगीकार किया।

चरित्र-सबधी ऐसी अनेक वैदिक भावनाओ को जो सस्कृत-साहित्य में लिपिबद्ध होने के कारण विद्वानो के ही काम की थी, अपने समय की प्रधान लोकभाषा, अर्थात व्रजभाषा में लिख कर गोस्वामीजी ने सर्व साधारण तक पहुँचा दिया। तुलसी के साहित्य का अध्ययन अध्येता के मानस-पटल पर जो सबसे गहरी अमिट छाप लगा देता है वह है, चरित्र की छाप। जगत् में मानव रूप से अवतीर्ण सपरिकर श्रीराम के परम स्पृहणीय चरित्र का मनन करने पर मनन करने वाले के मन में अपना भी चरित्र उदात्त बनाने की अभिलाषा का उदय स्वाभाविक है।

समन्वय

हिंदी-साहित्य में समन्वय की भावना तुलसी के काव्य में सर्वागीण हो गयी है। यह भावना भारत में अनादिकाल से चली आ रही है। ऋग्वेद का—'एक सद् विप्रा बहुधा वदति' यह वचन इसी का एक प्राचीन निदर्शन है। अनेक आराध्यो में अनुस्यूत एक ही परम चरम सत्ता का दर्शन उस समन्वय का एकमात्र लक्ष्य है। पुराण का त्रिदेव-वाद भी आपातत तीन विभिन्न मूर्तियो का एक अद्वितीय ईश्वर में समन्वय ही है। 'शिव अथवा विष्णु', ? 'सगुण वा निर्गुण', ? एवम् 'ज्ञान किंवा भक्ति' ? जैसे जटिल विरोधो का मनोरम समन्वय जितना गोस्वामीजी की रामायण ने किया है उतना और किसी ग्रथ ने नही। तुलसीदास समन्वय करने में बड़े सिद्धहस्त प्रतीत होते है। विनय-पत्रिका का हरिशकरीपद प्रसिद्ध है। रामचरितमानस मे——

"सिव-द्रोही मम भक्त कहावा, सो नर सपनेहु मोहिं न भावा।"

तथा—

"जा पर कृपा न करहिं पुरारी, सो न पाव मुनि भक्ति हमारी।"

आदि वचनो से उन्होने बडी सुगमता-पूर्वक शैव-वैष्णवो के पारस्परिक विद्वेष का समूल उन्मूलन करने का प्रशसनीय यत्न किया था। इसी प्रकार——

१. यान्यनवद्यानि कर्माणि।

—तैत्तिरीय १।११।२

चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्।

—ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य ३।१।११

२ यान्यस्माकं सुचरितानि।

—तैत्तिरीय १।११।२

३ तद्य इह रमणीयचरणाः।

—छादोग्य ५।१०।७

४. आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।

५. आचारोऽपि च धर्मं विशेष एव।

—ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य ३।१।११

"सगुनहिं-अगुनहिं नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि, पुरान, बुध, वेदा।"
आदि सुबोध वचनावली से उन्होंने परमात्मा के निर्गुण और सगुण-भाव का बड़ा ही रोचक समन्वय कर दिया था। एवं—

"ग्यानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा, उभै हरहिं भव-संभव खेदा।"
कह कर गोस्वामीजी ने ज्ञान और भक्ति के चिरतन उग्र विवाद को शात किया था।

धर्म-ग्रंथ

ब्रजभाषा-साहित्य को गोस्वामीजी ने एक अनुपम 'धर्म-ग्रंथ' प्रदान किया। रामचरितमानस एक एसा धर्म-ग्रंथ है जिसका मान हिंदू जनता श्रुति, स्मृति, गीता और पुराण के समान ही करती है। इसका प्रत्येक दोहा, प्रत्येक चौपाई एक-एक मंत्र के समान आदरणीय है—

"मंगल भवन अमंगल हारी, द्रवौ सो दसरथ-अजिर बिहारी।"
आदिक शतशः वचनोंका मंत्रवत् उच्चारण और जप किया जाता है, समस्त ग्रंथ का नवाह्न और मासिक आदि के रूप में पारायण किया जाता है और विशेष-विशेष कामनाओं की पूर्ति के लिये विशेष-विशेष चौपाइयों से अनुष्ठान किये जाते है। हिंदू-धर्म के प्राय: सभी मुख्य विषयों का—पुनर्जन्म,[1] वेदों की अपौरुषेयता,[2] श्राद्ध,[3] मूर्तिपूजा,[4] अवतार,[5] मुक्ति,[6] भगवत् साक्षात्कार[7] का इस ग्रंथ में परम सौष्ठव से प्रतिपादन हुआ है। इसमें सभी प्रकार के साधकों के लिये सामग्री का सन्निवेश है। गागर में सागर वाली सूक्ति इस ग्रंथ में पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। इस ग्रंथ-रत्न को पाकर ब्रज-भाषा और ब्रज-साहित्य धन्य हो गये हैं।

चौपाई

साहित्यिकों की यह धारणा है कि तुलसी को चौपाइयों में राम-चरित्र लिखने की प्रेरणा जायसी से मिली। यह धारणा सत्य हो सकती है, परंतु निश्चयात्मक प्रमाण की अनुपस्थिति में पूर्णरूपेण इसे सत्य नही कहा जा सकता। यद्यपि जायसी, तुलसी के पूर्ववर्त्ती थे, अतएव जायसी के द्वारा अपनाये हुए छंद से तुलसी का प्रभावित होना संभाव्य है, तथापि इस दिशा में हमारी एक और ही उत्प्रेक्षा है और वह यह कि जिस प्रांत की भाषा में तुलसी ने अपनी रचना का प्रचुर अंश लिखा उस प्रांत में इस चौपाई का प्रचलन जायसी की उत्पत्ति से भी शता-

[1] जनम-जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम मुख निकसत नाहीं॥
—रामचरितमानस, कि०कांड

[2] जाकी सहज स्वांस श्रुति चारी, । सो हरि पढ यह कौतुक भारी॥
—वही, बालकांड

[3] तब सुग्रीवहिं आयसु दीन्हा। मृतक-कर्म बिधिवत सब कीन्हा॥
—वही, किष्किंधाकांड

[4] सरसमीप गिरिजा-गृह सोहा। बरनि न जाय देखि मन मोहा॥
तथा—
खसी माल मूरति मुसकानी।
—वही, बालकांड

[5] बिप्र धेनु, सुर, संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गोपार॥
—वही

[6] अति दुरलभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
—वही, उत्तरकांड

[7] भगतवछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥
—वही, बालकांड

व्दियो पूर्व रह चुका था। हमारा अभिप्राय श्रीमद्भागवत की चतुष्पदियो से है। महर्षि व्यास, ने व्रजेंद्र-नंदन श्री कृष्ण की लीला-कथाओ के प्रतिपादन में अनेक 'गीत' भी लिखे थे, जो हमें भागवत में अविकल रूपसे उपलब्ध है। इन गीतो में से एक का नाम है 'युगल गीत' विज्ञ-जनो से यह तिरोहित नही है कि यदि यह युगल-गीत गाया जाय तो इसकी लय ठीक चौपाई के सदृश निकलेगी। उदाहृणार्थ इस गीत के इस पद्य को पढ़िये —

"वाम बाहु कृत वामकपोलो, वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलांगुलिभिराश्रित मार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुंदः ।।"

—भागवत १०।३५।२

और अब इसकी तुलना तुलसी की—

"स्याम-तामरस-दाम सरीरं, जटा-मुकुट परिधन मुनि चीरं ।
पानि चाप सर कटि तूनीरं, नौमि निरंतर श्री रघुवीरं ।।"

इस चौपाई से कीजिये। आपको विदित हो जायगा कि युगल-गीत की चतुष्पदी और जायसी-तुलसी की चौपाई में बहुत साम्य है। अंतर केवल अत्यानुप्रास का है। व्यासजी की रचना में उसका उपयोग नही हुआहै, किंतु गोस्वामी जी में हुआ है। सारांश यह है कि हिंदी-साहित्य में चौपाई का प्रलचन युगल-गीत की चतुष्पदी के आधार पर हुआ है। अतएव यह प्रतिपादन अयुक्त न होगा कि तुलसी ने श्री युगल-गीत की चतुष्पदियो से प्रेरणा पाकर अपने आराध्य पुरुषोत्तम के चरित्र-चित्रण के लिये उसी छद को अंत्यानुप्रास-पूर्वक अपना कर व्रजभाषा और साहित्य को भेंट कर दिया।

रामचरितमानस की भाषा

गोस्वामीजी की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ विनय-पत्रिका, गीतावली, कृष्ण-गीता वली और कवित्त-रामायण शुद्ध व्रजभाषा में है और उनका लोक-प्रिय विश्वविख्यात ग्रंथ 'रामचरितमानस' व्रजभाषा अथवा व्रजावधी में है। गोस्वामीजी की जन्मभूमि 'सूकरखेत' (सोरो) व्रज और 'अवध' प्रांतो की सीमा पर स्थित है, जहाँ व्रजभाषा इतने शुद्ध रूप से नही मिलती जितनी मथुरा-वृंदावन में, सोरो में अवधी की लटक है। बस गोस्वामीजी ने अपने जन्मस्थान की इसी भाषा को अपने इष्टदेव के चरित-गान के लिये अपनाया। इसमें व्रजभाषा का बाहुल्य है, किंतु अवधी के भी रूप विद्यमान है, क्रियाओ के रूप प्राय व्रजभाषा के है। रामचरित-मानस की सभी प्राचीन पांडु-लिपियो और नागरी प्रचारिणी सभा के छपे सस्करणो में रामचरित-मानस का व्रजावधीत्व निहित है, यद्यपि कुछ अन्य छपे सस्करणो में लोगो ने भ्रम-वश व्रजभाषा के रूपो को भी अवधी रूप दे देने की चेष्टा की है। देखिये 'रामचरित-मानस' की सर्व प्रथम हिंदी-पंक्तियाँ किस प्रकार प्रारंभ होती है——

"जिहिं सुमिरत सिधि होइ, गन-नायक करिबर बदन ।
करौ अनुग्रह सोइ, बुद्धि-रासि सुभ गुन-सदन ।।"

❀

"बंदौ गुरु-पद कंज, कृपा-सिंधु नररूप हरि ।
महा मोह तम पुंज, जासु बचन रबि कर निकर ।।"
"बंदौ गुरु-पद पदम-परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।।"

❀

"गुरु-पद मृदु मंजुल रज अंजन, नैंन अमिय दृग-दोष बिभंजन ।
तिहि कर बिमल बिवेक बिवेचन, बरनौं रामचरित भव-मोचन ।"

रामचरितमानस की अतिम पंक्तियों को भी देखिए—

"जाकी कृपा लवलेस तें, मति मंद तुलसीदास हूँ ।
पायौ परम बिस्राम, राम सँमान प्रभु नाहीं कहूँ ।।
मो सम दीन न दीन हित, तुम्ह समान रघुबीर ।
अस बिचारि रघुबंस-मनि, हरहु बिषम भव-भीर ।।

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागौ मोहिं राम ॥"

राम-काव्य का केंद्र

वर्णनीय विषय के रूप मे राम-चरित्र का वर्णन करके कवि ने अद्भुत चातुरी को प्रदर्शित किया है। प्रतिपाद्य वस्तु के कथानक-प्रधान होने के कारण कवि की शैली वर्णनात्मक रही है और आदि से अंत तक बड़ी प्रभावशालिनी है। तुलसी का राम-काव्य सजीव तो इतना है कि अपने इस गुण के कारण वह हिंदी-साहित्य का मुकुट-मणि बना हुआ है। सजीवता रसाधीन है और तुलसी की रचना में पद-पद पर पाठक को रसास्वाद का अवसर मिलता है। प्राय सभी रसो का उसमे यथावसर समावेश है, तथापि शृंगार का ही मुख्य सन्निवेश है। शृंगार मे प्रेम स्थायी होता है, जिससे तुलसी की राम-रचना ओतप्रोत है। अन्य रसो का उसमे ही पर्यवसान हुआ है, उसी की श्री-वृद्धि के लिये मानो उनका अस्तित्व हो। आराध्य देवता के प्रति रति (प्रेम) को साहित्यक-परिभाषा में 'भाव' कहा जाता है,[1] और यह भाव ही तुलसी के राम-काव्य का केंद्र है। इसी केंद्र के चारो ओर तुलसी ने काव्य-साहित्य के क्षेत्र मे पर्यटन किया है। यह ठीक है कि वे परम भक्त और भजनानंदी थे, किंतु वे रसिक और काव्य के परम मर्मज्ञ भी थे। अनेक लेखको ने उनकी साहित्यिक उत्कृष्टता पर प्रचुर प्रकाश डाला है, तथापि निम्नलिखित कतिपय उद्धरण 'स्थालीपुलाक न्याय' से पर्याप्त होगे।

भगवान् रामचंद्र भगवती सीता को घर रहने के लिए अनेक युक्तियाँ उपस्थित करते हैं, किंतु वह साध्वी नही मानती। तुलसीदास के शब्द कितने मार्मिक है—

"मोहि मग चलत न होइहि हारी, छिन-छिन चरन-सरोज निहारी।
सबहिं भाँति पिय सेवा करिहौ, मारग-जनित सकल स्रम हरिहौ।
पाँइ-पखारि बैठ तरु-छाहीं, करिहौ बाउ मुदित मन-माहीं।
स्रम-कन सहित स्याम तन देखें, कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें।
सम महि तृन तरु पल्लव डासी, पाँइ पलोटिहि सब निसि दासी।
बार-बार मृदु-मूरति जोही, लागहि तात बयारि न मोही।
को प्रभु-सँग मोहि चितवनि हारा, सिंघ-बधुहि जिमि ससक-सियारा।
मैं सुकुमारि, नाथ बन-जोगू, तुम्हहिं उचित तप, मो कहँ भोगू।"

राम, सीता और लक्ष्मण वन मे चले जा रहे है, सीताजी थक जाती है, उनकी थकावट का वर्णन कवि ने कितना सुदर किया है—

"पुरतें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति हैं चलिनौब कितौ, पिय परनकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की, अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥

—कवित्त रामायण

मार्ग में ग्राम-वधुएँ इन तीनो सुदर मूर्तियो को देख कर मुग्ध हो जाती है और सीताजी से पूछ बैठती है कि इन श्याम और गौर वर्ण वाले व्यक्तियो से तुम्हारा क्या सबध है। जानकीजी ने उन ग्राम-वधुओ को जो उत्तर दिया उसमे कवि का कौशल छिपा है—

"सहज सुभाइ सुभग तन गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन-विधु अंचल ढाँकी, पिय-तन चितै भौह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि।"

१. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाजितः भावः प्रोक्तः।
—काव्य-प्रकाश ४।३५

कवितावली में यही भाव इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"सुनि सुंदर बैन सुधारस साँने, सयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें, समुझाइ कछू मुसुकाइ चली॥"

केवट ने सुन रखा था कि भगवान् राम ने अहल्या को अपने चरणस्पर्शमात्र से तार दिया था। तुलसीदास उसकी भक्तिमयी स्पष्टवादिता का उल्लेख इस प्रकार करते हैं——

"इहि घाट तें थोरिक दूर अहै, कटि लौं जल थाह दिखाइ हौं जू।
परसें पग धूरि तरै तरनी, घरनी-घर क्यों समुझाइ हौं जू॥
'तुलसी' अवलंब न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइ हौं जू।
बरु मारिए मोहिं बिना पग धोएँ, हौं नाथ न नाव चढ़ाइ हौं जू॥"

—कवित्तरामायण

तुलसी रसिक थे, उनका युवाकाल अपनी विदुषी पत्नी 'रत्नावली' के साथ काव्य के रसास्वादन में व्यतीत हुआ था। गोस्वामीजी की रचना में विनोद-प्रियता का आभास मिलता है। उदाहरणतः जनकजी ने जब रामचंद्रजी के पैर विवाहोत्सव पर छूए थे तो दक्षिणा में सीताजी भेंट की, किंतु केवट तो निःशुल्क ही भगवान् के पादस्पर्श का आनंद लूटना चाहता था——

"सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना ऐन, चितै जानकी-लखन-तन॥"
कृपा-सिंधु बोले मुसुकाई, सोइ करि जेहि तव नाव न जाई।"

इस भाव को कवि ने 'कवितावली' में और भी अधिक स्पष्ट किया है—

"तुलसी सुनि केवट के बर बैन, हँसे प्रभु जानकी ओर हहा हो।"

विंध्याचल के तपस्वियों के प्रति तुलसीदासजी की कैसी मीठी चुटकी है——

"बिंध्य के बासी उदासी तपोब्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम-तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चंद-मुखी, परसें पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू, करुना करि कानन कों पगु धारे॥"

हनुमानजी ने लंका में भयंकर आग लगा दी है, जिससे वहाँ के राक्षस और राक्षसियाँ कितने आतंकित हो रहे हैं—

"लागि-लागि आगि, भागि-भागि चले जहाँ तहाँ, धीय को न माइ, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध, कहैं बारे-बूढ़े 'बारि-बारि' बार-बारहीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज, भारी भीर ठेलि, पेलि, रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति, तात-तात! तौंसियत झौंसियत झारहीं॥"

लंका के युद्धस्थल में योगिनियों के वर्णन में 'बीभत्स' की पराकाष्ठा है——

"ओझरी की झोरी काँधे, आँतन की सेल्ही बाँधें, मूँड के कमंडल, खपर किए कोरि कैं।
जोगिनी झुटुंग झुंड-झुंड बनी तापसी-सी, तीर-तीर बैठीं सो समर सरि खोरि कैं॥
सोनित सों साँनि-साँनि गूदा खात सतुआ से, प्रेत एक पियत बहोरि घोरि-घोरि कैं।
'तुलसी' बैताल-भूत साथ लिएँ भूतनाथ, हेरि-हेरि हँसत हैं हाथ-हाथ जोरि कैं॥"

निम्नलिखित पंक्तियों में 'अद्भुत रस' कितना स्पष्ट हो चला है————

"लीन्हौं उखारि पहार बिसाल, चल्यौ तेहि काल बिलंब न लायौ।
मारुत नंदन मारुत कौ, मन कौ, खगराज कौ बेग लजायौ॥
तीखी तुरा 'तुलसी' कहतो, पै हिएँ उपमा कौ समाउ न पायौ।
मानौं प्रतच्छ परब्बत की, नभ लीक लसी कपि यौं धुकि धायौ॥"

'सियाराममय सब जग जानी'--रूप प्रत्येक विचार, भाव, कल्पना का पर्यवसान भगवान राम में हो जाता है अत शात भाव से तुलसी के साथ गाइए——

"जय राम रमा रमनं समनं, भव-ताप भयाकुल पाहि जनं ।
अवधेस सुरेस रमेस विभो, सरनागत माँगत पाहि प्रभो ।।"

❀

गुनसील कृपा परमायतनं, प्रनमामि निरंतर श्री रमनं ।
रघुनंद निकंदय द्वंद घनं, महिपाल विलोकय दीनजनं ।।

गोस्वामी तुलसीदास ने राम का बाल रूप, राम का आदर्श चरित, राम की परात्परता, दर्शन की उच्चातिउच्च कल्पना, ज्ञान-भक्ति और हरि-शकर का समन्वय ब्रज-साहित्य को प्रदान किया। यही नही ब्रज-भाषा को चौपाई नामक छद भी उन्ही की देन है। तुलसी ने ब्रजभाषा और साहित्य को 'रामचरितमानस' नामक धर्म-ग्रथ भेंट किया जिसने लाखो नर-नारियो का उपकार किया है—वह धर्म-ग्रथ जो आज उपनिषद और गीता के समान प्रामाणिक समझा जाता है, जो न केवल भारतवर्ष में अपितु समग्र ससार में अत्यत आदर से देखा जाता है। ब्रज के दो रत्न है—सूर और तुलसी, एक ने मानव-जीवन की सूक्ष्म और कोमल वृत्तियो का विकास किया, दूसरे ने उसे कल्याणमय बनाया। तुलसीदास केवल ब्रज की नही विश्व की विभूति है।



कुछ विभिन्न पद-रचयिताओं के पद

राग-बिहाग

चलि बसिए वा गाँउ, जहाँ न बाजै बाँसुरी।
बन बन डोल कटाऊँ बाँस सब, उपजै न बाँस और बाजै न बाँसुरी ॥
काहे को बिरह-बिथा तन उपजै, काहे को नीर बहाउँ आँसुरी।
'रूपरंग' बैरिन ये बँसुरी, कैसें-कैसें दाग मिटाउँ पाँसुरी ॥

राग-बिहाग

सखी री, होत कहा समझाएँ।
नैंन, बैंन थकि रहे री निरखि छबि, मन परयौ हाथ पराएँ ॥
गढी कोर उर बक-बिलोकनि, कढत न क्यो हूँ कढाएँ।
'ब्रह्मदास'[1] तबहीं भलें जीवन, मोहन-बदन दिखाएँ ॥

राग-आसावरी

आज तोहि न छाँडोगी, मीँडोंगी मुखसो गुलाल।
औचक आँन फेंट गहि मेरी, दै गारी गए काल ॥
अपनी ओर जोर जुवतिन सो, हँस रस चाखत लाल।
'छबि-नायक' अब बस परे मेरे, छीनोंगी मुरली-माल ॥

राग-टोडी

मेरी बलाइ आवै, जो घरी-घरी मोहि खिजावै।
ऐसौ लँगर ढीठ काउऐ न देखँ, सबैंन-छाँडि मोही सो नेह जनावै ॥
गुरुजन में ठाढी तिन्हूँ में मोहि लजावै, सगरी तियनें में मोहि भौंह चलावै।
'चंचल ससि' प्रभु अति ही बहु नायक, काउऐ भावै यै काउऐ न भावै ॥

राग-टोडी

ए, गोइ गोइ राखौ री तैं ललँन को आली, अपने रस-बस करि।
रैंन-दिनाँ तोही-तोही को जपै पिय, सौतिन्ह के तू लेत प्रान हरि ॥
तोही सों हँसत, खेलत, मिलत प्रान-प्यारो, पल-पल सकुच रहै गुमाँन भरि।
अहो धन मान अति भाग-सुहाग तेरौ, देखें रीझे री सुजाँन औंर रहत जरि-जरि ॥

राग-टोडी

सोच कहा रहे हौ लालन, मन-ही-मन, अब कोन चितवन आँनि चढी।
नेंक होहूँ सुनि पाऊँ तौ करौं उपज, कोऊ नई कै पुरानी अडी ॥
वाहि बेगि लाऊँ मिलाऊँ, परचि राखिऐ गाँठ बाँधि, क्यों न होइ चतुर कढी।
'सदारंग' ललँन मोसों न छिपावौ, बात जात है अति बढी ॥

राग-देवगाधार

कहियो ऊधौ, तुम्ह जू नेह-बीज बै गमँन कीन्हो सो बिरवा लाग्यौ राधा के मन।
दृग तारे कूप कीन्हे, अँसुवन जल-धार सींचि-सींचि जाते बिरवा भयौ सघन घन ॥
भूमि हरी-भरी रोम-रूख तन छए, काँम की बेलि चढी-बढी तिय-तन।
कुच काछी रखवारे, फूल-फल होंन लागे, आइकें देखिऐ जीवन-धन ॥

[1] ब्रह्मदास—महाराज बीरबल।

आलम और रसखान

श्री भवानीशंकर याज्ञिक

आलम

हिंदी के मुसलमान कवियो मे जायसी, आलम, रसखान तथा रहीम अग्रगण्य है। ये चारो कवि समसामयिक है और इनकी अपनी-अपनी विशेषतायें है, जिनके कारण इनके समकक्ष अन्य किसी मुसलमान कवि को स्थान देना कठिन होगा। वास्तव मे इन चारो कवियो की चलाई काव्य-परिपाटी इतनी महत्त्वपूर्ण है कि अनेक हिंदू तथा मुसलमान कवियो के लिये ये पथ-प्रदर्शक रहे है। इनका अनुसरण करने वाले तथा इनसे प्रभावित होने वाले अनेक कवि हुए पर इनको अपने उच्चासन से डिगा नही सके। खेद की बात है कि इन सत्कवियो की वाणी पूर्णत प्राप्त नही है और इनके विषय मे जो कुछ जानकारी प्राप्त है वह असतोषजनक है।

आलम के समय-संबंधी भिन्न-भिन्न मत

आलम के सबध मे सब से अधिक महत्वपूर्ण जानने योग्य बात यही है कि उसका वास्तविक समय क्या है। यदि उसका समय जायसी, नरहरि, गग, रहीम, ब्रह्म के आसपास प्रमाणित हो सके तो उसका और उसकी रचनाओ का महत्व बहुत बढ जायगा। वह अनेक सत्कवियो का परवर्ती न हो कर पूर्वर्ती गिना जा सकेगा और जिन विशेषताओ के लिए अन्य कवियो को श्रेय दिया जाता है उनका न्यायोचित रूप से विचार किया जा सकेगा।

आलम के समय के सबध मे जो धारणा हिंदी-ससार मे बँधी हुई है उसका मुख्य आधार 'शिवसिंह सेंगर' कृत 'शिवसिंह सरोज' का एक छद है। इस छद में औरगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह की प्रशसा है और "आलम" शब्द उसके दूसरे चरण में आया है। शिवसिंह जी ने इस छद को आलम-रचित मान कर कवि का समय मुअज्जमशाह के समय के आस-पास "स० १७१२ में उ०" माना। यह ठीक-ठीक नही कहा जा सकता कि यह समय 'विक्रम सवत्' है या 'ईस्वी सन्'। इसी प्रकार 'उ०' अक्षर से 'उत्पन्न' अथवा 'उपस्थित' किसे सार्थक माना जाय।

स० १७६४ (सन् १७०७ ई०) में औरगजेब के निधन के अनतर मुअज्जम बहादुरशाह के नाम से राज्यासीन हुआ और स० १७६६ (सन् १७१२ ई०) में जाजऊ के युद्ध में मारा गया। सरोज-कार-द्वारा दिया हुआ आलम कवि का काल हिंदी के प्राय सभी इतिहासकारो ने ठीक मान लिया। इससे ऐसा भ्रम उत्पन्न हो गया जिसका निवारण अभी तक निश्चित रूप से नही हो पाया।

'मिश्रबधु विनोद' का प्रथम सस्करण स० १९७० वि० (सन् १९१३ ई०) में प्रकाशित हुआ था। उसमें "सरोज" के आधार पर मुअज्जम के राज्यकाल (स० १७६४-१७६६) से मेल रखते हुए आलम कवि का समय स० १७६० के लगभग निर्धारित किया गया था। इस ग्रथ-रत्न की समालोचना तथा भूलो का प्रदर्शन अनेक सामयिक पत्रिकाओ में हम समय-समय पर करते रहे है। सर्व प्रथम स० १९७२ में हमारे पितृव्य सद्गत 'मयाशकर' जी याज्ञिक ने प्रयाग से प्रकाशित 'मर्यादा' पत्रिका (भाग १० अक ३, भाद्रपद १९७२, सितबर १९१५) में आलम रचित 'माधवानल-कामकदला' के आधार पर इस कवि का कविता-काल अकबर के समय में निश्चित किया था। जोधपुर के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय मुशी देवीप्रसाद जी मुसिफ भी इसी मत के पुष्टिदाता थे।

इस भूल-सुधार की ओर साहित्य-मर्मज्ञो का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट नही हुआ। 'सरोज' के कथन पर 'विनोद' की छाप लग जाने से 'आलम' का भ्रमपूर्ण स० १७६० का समय प्राय सभी को सत्य-सा प्रतीत होने लगा और हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रथो मे इस भ्रामक बात को अटल स्थान मिल गया।

नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा की गई प्राचीन ग्रथो की खोज में 'माधवानल-कामकदला' की एक प्रति काशी-नरेश के पुस्तकालय में सन् १९०४ ई० में उपलब्ध हुई थी। उसके आधार पर आलम का समय अकबर के राज्य-काल में सिद्ध हो जाना चाहिए था, परतु खोज-विवरण के सपादक बाबू 'श्याम-सुदरदास'जी ने आलम नाम के दो भिन्न व्यक्ति, एक अकबर के समय में और दूसरे मुअज्जम के समय में घोषित कर दिए, परतु वे स्वय ही इस भ्रम-जाल से बाहर न निकल सके। स० १९८० में उन्ही के द्वारा सपादित 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तको का सक्षिप्त विवरण' (पहला भाग) में स० १७५३ के लगभग वर्तमान माने जाने वाले आलम को ही 'माधवानल-कामकदला' का रचयिता मान लिया गया। अकबर तथा टोडरमल के समय वाले 'माधवानल-कामकदलाकार आलम' को ही स० १७५३ वाले मुअज्जम (बहादुरशाह) का आश्रित मान कर समस्या अधिक जटिल कर दी। दो आलम मानते हुए भी उनके रचित ग्रथो का घोल-मेल कर दिया। इस भ्रम के निवारण के हेतु हमने इस ग्रथ की आलोचना एक लेखद्वारा स० १९८१ वि० में की। यह लेख माधुरी (ज्येष्ठ तु० स० ३००, जून १९२४ ई०) में प्रकाशित हुआ था।

इसके अनतर मिश्रबधु विनोद के द्वितीय सस्करण के प्रकाशन के पूर्व लखनऊ से प्रकाशित माधुरी (मार्गशीर्ष तु० स० ३०१ दिसबर १९२४ ई०) में एक लेख-द्वारा "अनेक सत्कविराजोक्ति सार सग्रह (दोहा सार सग्रह)" के स० १७२० वि० वाले सस्करण के आधार पर प्रमाणित किया था कि स० १७५३ वा १७६० के कई वर्ष पूर्व आलम कवि विद्यमान थे। हमारी धारणा निरतर यही रही कि मुअज्जम के समय में न होकर आलम अकबर के समय में हुए थे। इन लेखो द्वारा भ्रम-निवारण करने के प्रयास में हमें पूरी-पूरी सफलता नही मिली और 'सरोज', 'विनोद' तथा 'खोज-विवरण'-द्वारा पुष्ट भ्रमपूर्ण मत को ही साहित्य-नेताओ ने सत्य मान लिया। इस प्रकार एक के बाद दूसरी भूलो के समावेश से आलम के समय-सबधी गड़बड़ी का निराकरण अब तक ठीक प्रकार से नही हो पाया।

लाला 'भगवान दीन' ने स० १७५३ वि० की एक प्रति के आधार पर सपादित 'आलमकेलि' के कर्त्ता आलम का कविता-काल स० १७४० से १७६० तक माना है। प० रामनरेश त्रिपाठी अपनी 'कविता कौमुदी' मे सरोज के अनुसार स० १७१२ में जन्म मानते हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने स० १९८० में स्वसपादित "हस्तलिखित हिंदी पुस्तको का सक्षिप्त विवरण" में आलम को स० १७५३ के लगभग वर्तमान माना। इसी प्रकार सौराष्ट्र-वासी 'कहानजी धर्मसिंह' ने भी 'सरोज'-सम्मत स० १७१२ में जन्म माना। स० १९८६ मे 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका में भी एक ही आलम की स्थिति मानी गई है जो मुअज्जम के समय मे थे।

'माधवानल-कामकदला' के आधार पर अकबर-कालीन आलम का पता चलने पर आलम नामक दो कवियो की स्थिति अनुमानित की गई। एक थे माधवानल-कामकदला नामक प्रेमकथा को दोहा-चौपाई-सोरठा में रचने वाले अकबर-कालीन आलम और दूसरे थे मुक्तक कवित्त-रचयिता आलम जो 'सरोज' के अनुसार मुअज्जमशाह (स० १७६४-६६) के आश्रित समझे जाते थे।

स० १९९४ में प्रकाशित मिश्रबधु विनोद में आलम नामधारी दो भिन्न व्यक्तियों की [illegible] की गई। डा० 'पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल' ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष [illegible] अक [illegible] पृ० [illegible] [illegible] आलम-द्वारा 'सुदामा-चरित्र' की रचना का उल्लेख करते हुए दो 'आलम' की स्थिति [illegible] प० 'रामचद्र शुक्ल' ने भी अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (स० १९९९) में दो आलम [illegible] है। हिंदुस्तानी एकेडमी से सन् १९४१ ई० में प्रकाशित 'हिंदी के कवि और काव्य' [illegible] प्रसाद द्विवेदी ने दो आलम होने का फतवा जारी कर अपनी मनमानी [illegible] का [illegible]।

माधवानल-कामकदला के आधार पर अकबर के समय मे एक आलम का होना तो निर्विवाद है, परन्तु सरोज-कथित मुअज्जम के आश्रित आलम केवल शिवसिहजी की 'अटकल'-द्वारा समूत है । ऐसा होने पर भी मिश्रबंधुओ ने पूर्वालंकृत काल (स० १६८१-१७९०) के अतर्गत आदिम देवकाल (१७५१-७०) में ही आलम की स्थिति मानी । वास्तव में आलम का समय, जैसा आगे सिद्ध किया जायगा, इससे १००-१२५ वर्ष पूर्व होना चाहिए ।

क्या आलम नामधारी दो भिन्न कवि थे ?

आलम नाम हिंदू-मुसलमानो दोनो में प्रचलित है । आलमसिंह, आलमखाँ, आलमशाह, आलमगीर आदि उसके उदाहरण है । 'आलम' स्त्रियो का नाम भी होता है । अवध के अतिम नवाब वाजिदअलीशाह की एक बेगम का नाम 'आलम' था जिसके नाम से लखनऊ मे 'आलमबाग' नाम का स्थान है । वह हिंदी में पद-रचना भी करती थी । "कुल्लियातअख्तर" नामक वाजिदअलीशाह की रचनाओ के संग्रह में 'आलम बेगम' रचित पद भी है । (देखो माधुरी वर्ष ७ खंड १ भाग २)

चाँद सुत आलम कृत "ग्रथ सजीवन" नामक एक वैद्यक ग्रथ खोज में मिला है । अतएव आलम नामधारी एक से अधिक कवियो का होना असभव अथवा असगत नही है, परतु मूल प्रश्न तो यह है कि मुक्तक कवित्त-सवैयाकार 'आलम' तथा माधवानल-कामकदलाकार 'आलम' एक ही व्यक्ति है अथवा दो भिन्न-भिन्न ।

मुअज्जम की प्रशसा का छद जिसे सरोजकार ने आलम-रचित माना है इस प्रकार है—

"जानत औलि कितावन को जे निसाफ के माने कहे है ते चीन्हे ।
पालत हौ इत 'आलम' को उत नीकि रहीम के नाम को लीन्हे ।।
मौजमसाह तुम्हें करता, करिबे को दिलीपति है वर दीन्हे ।
काबिल है ते रहे कितहूँ, कहूँ काबिल होत है काबिल कीन्हे ।।"

उपरोक्त छद के दूसरे चरण में 'आलम' शब्द 'ससार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । आलम कवि की छाप नही है । इस छद को आलम-रचित ही क्यो माना जाय ? उसी चरण में रहीम का नाम भी तो है । हमने इस छद को आलम-रचित कभी नही माना । इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे पास आलम-रचित जो सामग्री है उसमें यह छद नही है । दूसरे ऐसे प्राचीन स्फुट सग्रह-ग्रथो मे आलम के छद प्रचुर मात्रा में मिलते है जिनका लिपि-काल मुअज्जम के समय के पूर्व का सहज ही अनुमानित किया जा सकता है । राजस्थान, पजाब तथा उत्तरप्रदेश में सर्वत्र ही आलम के ग्रथ मिलते है । कदाचित् ही कोई प्राचीन स्फुट सग्रह-ग्रथ हो जिसमें आलम के दो चार छद न दिये हो । आलम के छद अनत, प्रसिद्ध, गग, ब्रह्म, मडन आदि अकबर-जहाँगीर-कालीन कवियो के छंदो के साथ सग्रह-ग्रथो में मिलते है ।

हमारी ३५ वर्ष पुरानी धारणा अब सत्य प्रमाणित हो चुकी है । उपरोक्त विवादपूर्ण छद आलम-रचित नही है, किंतु 'जैत कवि' का है । जैत कवि ने मुअज्जम के नाम पर 'माजम-प्रभाव' नामक एक अलकार-ग्रथ की रचना की थी । इस ग्रथ में उपरोक्त छद दिया है , जिससे यह पूर्णतया निश्चित हो गया कि जो विवादपूर्ण छद आलम-रचित माना जाता था वह वास्तव में जैतसिंह गह्वापात्र का है । सरोजकार का अधानुसरण करने वाले इतिहासकारो की धारणा निर्मूल सिद्ध हुई । हिंदी-साहित्य में इस प्रकार का अधानुसरण का अन्य उदाहरण कदाचित् ही देखने को मिले । जब मुअज्जम के आश्रित किसी आलम का वर्तमान होना निश्चित रूप से असत्य सिद्ध हो गया तो प्रश्न उठता है कि मुक्तक कवित्त-सवैयाकार आलम का वास्तविक काल क्या है ? यदि उसका कविता-काल भी अकबर के समय तक सिद्ध हो सके और वाह्य तथा अतर्प्रमाणो-द्वारा उसे ही माधवानल-कामकदला-कार सिद्ध किया जा सके तो दो आलम मानने की कल्पना भी निर्मूल सिद्ध हो सकेगी । हम अब कुछ ऐसी ज्ञातव्य बातो का उल्लेख करते है जो आलम की प्राचीनता सिद्ध करने में सहायक हो सकती है ।

सर्वप्रथम यह मानना पडेगा कि 'माधवानल-कामकदला' के कर्ता आलम एक विख्यात कवि थे। उनकी रचना का बहुत आदर हुआ। कई स्थानो से इस ग्रथ-रत्न की प्रतियाँ मिली है। इसके दोहे दारा-शिकोह की आज्ञा से संकलित 'दोहासार सग्रह' में मिलते है। इस ग्रथ के छोटे तथा बडे दो प्रकार के सस्क-रण मिलते है और दोनो सस्करणो की कई प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि इस ग्रंथ में कामकंदला के नृत्य-गान के वर्णन में कवि ने जो सगीत-शास्त्र-समत राग-रागिनियो का वर्गीकरण किया है वह गुरु-ग्रंथ-साहब जैसे संमानित धार्मिक-ग्रथ में 'रागमाला' के नाम से दिया हुआ है। गुरु-ग्रथ-साहब में 'रागमाला' ग्रथ के अतिम भाग में दी गई है। आलम की यह रचना गुरु-मुख-वाणी के रूप में समादृत हुई, इससे स्पष्ट है कि माधवानल-कामकंदला के कर्त्ता आलम एक लब्धप्रतिष्ठ कवि थे।

आलम के कुछ पद्य 'रागमाला' के नाम से गुरु-ग्रंथ-साहब में है। इस सबध में सिक्ख-सप्रदाय में एक समस्या उत्पन्न हो गई। मुअज्जम के आश्रित भी एक आलम की कल्पना होने से रागमाला का अश गुरु-ग्रंथसाहब में प्रक्षिप्त समझा जाने लगा। गुरु नानक के पदो का सग्रह अकबर के राज्यकाल में गुरु श्री अर्जुनदेवजी ने स० १६६१ वि० (किसी के मत से स० १६३८) में कराया था। यही 'आदि ग्रथ' अथवा 'गुरु-ग्रथसाहब' के नाम से प्रसिद्ध है। अतिम और दसवें गुरु थे गुरु गोविंदसिंहजी। कहा जाता है कि सं० १६६१ वि० के पश्चात कोई भी अश ग्रथसाहब में नहीं बढाया गया और गुरु गोविंदसिंह के अन-तर तो यह असंभव था। मुअज्जम के समय वाले कल्पित आलम की रचना गुरु गोविंदसिंहजी के बाद की ठहरती है, इस प्रकार कुछ कट्टर सिक्ख रागमाला वाला आलम-रचित अंश प्रक्षिप्त मानने लगे और उसे गुरु-ग्रथसाहब से निकाल देने का प्रयत्न उठाने लगे। इस संबध में हम से स० २००३ में पूछताछ भी की गई थी और हमने अपना निश्चित मत देकर इस झूठी कल्पना के आधार पर उठी हुई उलझन को यथासाध्य सुलझाया। इसका परिणाम यह हुआ कि सिक्खो के समाधान के लिए माधवानल-कामकदला का एक संस्करण गुरुमुखी में छपवाया गया।

कवित्त-सवैयाकार आलम की प्राचीनता तथा लोक-प्रियता का वास्तविक दिग्दर्शन कराने की इच्छा से अन्य कवियो के ग्रथो में जो आलम-सबधी उल्लेख मिलते है उनका सूक्ष्म कथन इस प्रकार है। नवीन कवि के 'प्रबोध रस सुधासागर' के सं० १८८१ और १८९५ वाले दोनो सस्करणो में आलम तथा शेख छाप के छद दिये गये है। सूदन कवि (सं० १८०२-१०) ने भी आलम तथा शेख दोनों के नाम अपने सुजान-चरित्र में १७५ कवियो के साथ गिनाये है। 'दलपतिराय वशीधर' ने स्वरचित 'अलंकार-रत्नाकर' (स० १७९८) मे आलम के छंद दिये है। कृष्णकवि कृत बिहारी-सतसई की टीका (स० १७८८) मे शेख तथा आलम की छाप युक्त तीन छद दिये है। कालिदास संकलित 'हजारा' (स० १७५४) में भी शेख के छद थे। केशव केशवराय (बिहारी कवि के पिता) के नाती कुलपति मिश्र ने स्वरचित 'युक्ति'-तरगिणी' (स० १७४३) में आलम के लिये यह दोहा कहा है—

"नव रसमय मूरति सदा, जिन बरने नंदलाल।
आलम आलम बस कियौ, दै निज कविता जाल॥"

इसी प्रकार 'नूर' कवि ने अपने नख-शिख में शेख का दोहा दिया है—

"बेसर न्यारी वेह छबि 'सेष' हिए पर दाग।
फूल चुन्यौं मनु फूल सो, आभा रही पराग॥"

दोहासार सग्रह (स० १७२० का संस्करण) में एक दोहा आलम की छाप मे तथा दो दोहे [illegible] की छाप वाले दिये है जिन्हें हम माधुरी (मार्गशीर्ष तु० स० ३०१ दिसम्बर १९२४) में प्रकाशित [illegible] है। यही दोहे दारा शिकोह की आज्ञा से संकलित 'दोहासार संग्रह' (स० १७१० का [illegible]) में दिये हुए है। आलम प्रत्येक दोहे में अपनी छाप नही रखने थे इन कारण इनके दोहों को [illegible] सार-संग्रह' में से छाँटना कठिन है। संभव है इसमें आलम के छाप-रहित दोहे भी हों। [illegible] कविता मुसलमानो को भी प्रिय थी। आलम के ४०० छंदो की हमारी एक प्रति (स्व-संचित) [illegible]

इनायत खाँ जी के लिए स० १७६१ मे लिखी गई थी। फर्रुखसियर के दाहिने हाथ सैयद हुसैन अलीखाँ आलम की कविता के बडे प्रेमी थे। उन्होने एक पत्र-द्वारा मीर अब्दुल जलील बिलग्रामी (स० १७१८-१७८२ वि०) मे आलम के कवित्त और नखशिख मँगवाये थे[1]।

उपरोक्त अवतरणो मे आलम की प्राचीनता तथा व्यापक ख्याति का अच्छा दिग्दर्शन हो जाता है। स० १७०० के बहुत पूर्व ही उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी इस कारण उनका समय अकबर के राज्यकाल (स० १६१३–१६६२ वि०) से पूर्णतया मेल खाता है।

जब हम आलम-रचित ग्रथो के लिपिकाल की ओर दृष्टि करते है तो भी कवित्त-सवैयाकार आलम का समय अकबर के समकालीन ही ठहरता है। स० १९९४ के शीतकाल मे हमारे पितृव्य याज्ञार्थ नाथद्वारा, काँकरोली, कोटा आदि गये थे और वहाँ के प्रसिद्ध मदिरो के पुस्तकालयो मे प्राचीन ग्रथो की छानबीन की थी। उस सुअवसर पर उन्हें काँकरौली के श्री द्वारकेश पुस्तकालय में आलम के ४०० छदो की एक प्रति चतु शती (वध ७३ पुस्तक २८) के कल्पित नाम से देखने को मिली, जिसका लिपि-काल स० १७१२ वि० है। इससे अधिक प्राचीन कोई ऐसी प्रति नही मिली जिसमे लिपि-काल दिया हो। नाथद्वारा की प्रति (वध ७४ पुस्तक २) हमें सवत २००१ मे हालेड-स्थित भारतीय राजदूत डाक्टर मोहन-सिह महता की जो उस समय उदयपुर राज्य के माल-विभाग के मत्री थे, कृपा से देखने को मिली थी। उसमें आलम के ४१० छद है, परतु लिपि-काल नही दिया। दीनजी-द्वारा सपादित 'आलमकेलि' की मूलप्रति स० १७५३ की है। इस प्रकार प्राचीन प्रतियो के लिपि-काल के आधार पर मुक्तक कवित्त-सवैया-रचनाकार आलम का समय स० १७१२ वि० के पूर्व निश्चित रूप से था।

इस सबध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। स० १७१२ वाली काँकरोली की प्रति ४०० छद की है जिसमे कवित्त तथा सवैया छद अलग-अलग कर एक विशेप क्रम से सकलित है। लगभग ४०० छदो वाली कई प्रतियाँ हमें देखने को मिली जिनमे छदो का क्रम थोडे हेरफेर के साथ प्राय एक सा ही है। काँकरोली की प्रति, नाथद्वारा की प्रति, हमारी प्रति (१४०।२२), दीनजी-द्वारा सपादित स० १७५३ की प्रति आदि सभी में दो-चार छदो के हेर-फेर से एक सा ही क्रम है और सब मे ४०० के लगभग छद है। कम छदो वाली प्रतियो में भी छदो का क्रम विशेप रुप से नही बदला गया। इससे सिद्ध होता है कि स० १७१२ के पूर्व ही किसी ने आलम के छदो में से ४०० छदो को चुन कर क्रमबद्ध कर दिया था। वह क्रमबद्ध ४०० मुक्तक छदो का सग्रह उस समय तक विशेप रूप से प्रचलित हो चुका था। आलम के छदो की सख्या ४०० तक ही सीमित नही है। इससे कही अधिक छद मिलते है। कहने का तात्पर्य है कि स० १७१२ के पूर्व ही आलमकवि की ख्याति व्यापक रूप से फैल चुकी थी और उनके ४०० छदों का क्रमबद्ध सकलन दूर-दूर तक प्रचलित हो चुका था।

इन बाह्य प्रमाणो-द्वारा 'माधवानल-कामकदला' के कर्ता और मुक्तक कवित्त-सवैयाकार आलम के समय में कोई विशेप अतर नही रहता।

इस क्रमबद्ध ४०० छदो के सकलन में मूल सग्रह-कर्ता की भूल से एक छद दो बार लिख दिया गया, इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देखने में छ प्रतियाँ ऐसी मिली जिनमें छदो का क्रम एक-सा है और यह दो बार लिखा हुआ छद सभी प्रतियो में दो स्थानो पर मिलता है।

जब हम आलम के ग्रथो में से अत प्रमाणो की छानबीन करते है तो आलम नामधारी दो भिन्न कवियो को मानने का कोई कारण ही नही रहता। आलम के एक छद में कामकदला का नाम भी आया है, जिससे पता चलता है कि कवित्त-सवैयाकार आलम कामकदला की प्रेम-कथा से परिचित था। यह प्रेम-कथा बहुत प्राचीन अपभ्रश काल से चली आती है और अपने रचित छदो मे आलम के अतिरिक्त गग, सीतल आदि ने भी उल्लेख किया है। सरोज में जिस आलम का उल्लेख है उसका एक दोहा उसी ग्रंथ में उदा-

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२ अंक १, वैशाख-अषाढ २००४, पृ० ३५-३६।

हरण रूप से दिया हुआ है। यह दोहा माधवानल-कामकदला ग्रंथ में 'कदला-प्रेम-परीक्षा' खंड में थोड़े-से पाठ-भेद से दिया हुआ है। यह दोहा इस प्रकार है—

"आलम ऐसी प्रीति पर, सरबस दीजै वारि।
गुप्त-प्रघट कैसी रहै, दीजै कपट पिटारि॥"

माधवानल-कामकदला के छोटे तथा बड़े दोनो सस्करणो की जितनी प्रतियाँ हमें देखने को मिली उन सभी में 'सरोज'-उद्धृत छद दिया है।

आलम के कवित्त-सवैया-छदो का एक सग्रह-ग्रथ, जिसमें ४७१ छद दिये है, कॉंकरौली में है। इसका बध नबर ७७, पुस्तक ५ है और इसमें १६८ पृष्ठ है। ग्रथ के आदि-अत में "कवि शेष आलम कृत कवित्त" नाम दिया है, परतु पुस्तकालय वालो ने उसका "अक्षरमालिका" नाम कल्पित-रूप से रख लिया है। इसका कारण यह है कि उसमें छदो का क्रम वर्णमाला के अक्षरो के क्रम से है। पहिले व्यजन है और अंत में स्वर। स्वरो में क्रम उलट-पलट गया है। इस प्रति के आदि में मगलाचरण का प्रथम दोहा इस प्रकार है—

"नाथ निरंजन निरबिघन, करुनामय निसकाम।
निस्तारन तारन तरन, रटौ निरंतर नाम॥"

यह दोहा प्रेम-गाथाकार आलम के रचित 'स्यामसनेही' के मगलाचरण का है। इसी प्रकार 'अक्षरमालिका' का दूसरा छद एक छप्पय छद है जिसका पाठ इस प्रकार है—

"मुख-मंडल पर लसै जोन्हि-मंडित मयंक जनु।
जटित जोति अरबंग गौरि मज्जित बरपन तनु॥
धवल धूरि धरि अग उच्च सोहत संकर वर।
फनि-भूषित फनपत्ति चारु भूक्षिय चंदन तर॥
जिहि मिलत अंग 'आलम' सुमति, किय जल-थल उज्जल वरन।
नव करन जोति नव अंग कह, सुभ बिभूति भव उद्धरन॥"

यह छद भी 'स्यामसनेही' के मगलाचरण का प्रथम छद है। अक्षरमालिका का ६६ वें छद का पाठ निम्नलिखित है—

"गहरु न लावौ तिय-जन कौ संताप जानि, संकटहरन जानकी ते जान पाए हौ।
'आलम' सरूप स्याँम करुना के सिंधु स्वाँमी, तेरे गुन तारा हू अहिल्या नीकें गाए हौ॥
मेरी यो विपत्ति सुनि प्यारे प्राननाथ पिय, ऐसें पाँउ धारौ जैसे हाथी-काज धाए हौ।
पाती दीजो पढ़ित सँदेसौ मुख ऐसौ कहि, आवन की आसा बाढी मेरे जानि आए हौ॥"

यह छद भी स्यामसनेही का है। इस छद-द्वारा रुक्मिणी ने श्री कृष्ण के पास ब्राह्मण-द्वारा एक पत्र के अतिरिक्त मौखिक सदेश भेजा है। इन अवतरणो से पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि 'माधवानल-कामकदला' तथा 'स्यामसनेही' के रचयिता आलम ही मुक्तक कवित्त-सवैयाकार है—दोनो अभिन्न व्यक्ति है। इनके रचित एक ग्रथ के छद दूसरे में भी पाये जाते है और काल-गणना में भी अतर नही है। अत-एव दो आलम मानना भयकर भूल है। साहित्य-मर्मज्ञो को अपनी पुरानी भूल का परिहार कर आलम कवि को उसके प्राचीन समय और उत्कृष्ट रचनानुसार अधिक गौरवपूर्ण स्थान देना चाहिए। अब तक आलम कवि मतिराम, बिहारी, सेनापति आदि के परवर्ती माने जाते रहे है, परतु वे उनके पूर्ववर्ती थे।

आलम का वास्तविक कविता काल

एक ही आलम का अकबर के समय मे वर्तमान होना सिद्ध कर देने के अनतर हमे कवि का वास्तविक काल निर्णय करना अभी शेष रहा है। अकबर का राज्यकाल लगभग ५० वर्ष का था। इस ५० वर्ष के दीर्घकाल में आलम का कविता-काल पूर्वार्ध में था या उत्तरार्ध में यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है, कारण कि उनके सम-सामयिक अकबरकालीन कवियो में उनका स्थान निर्णय करने की आवश्यकता है। 'आद-

वानल-कामकदला' के जिन छदो के आधार पर कवि का काल निश्चय किया गया है, वे सर्व प्रथम हमारे पितृव्य ने प्रयाग से प्रकाशित मर्यादा मे स० १९७२ वि० (सितवर १९१५ ई०) मे छपवाये थे। उनका पाठ इस प्रकार है—

"अदली कहौं बखांन, सुजस प्रघट चहुँ खड में।
विद्या अरथ निधांन, साहु अकब्बर जगत गुरु ।।
जगपति राज कोटि जुग जीजै। साहि जलाल छत्रपति कीजै।
दिल्लीपति अकवर सुलतांना। सप्त दीप में जाकी आंना।
❀
धरमराज सव देस चलावा। हिंदू, तुरक-पंथ दुइ लावा।
आगें नैव महावल मंत्री। राजा वीप टोडरमल खत्री।
❀
उतपति विरह वियोग, कहौं कथा 'आलम' सुमति।
पुनि सिंगार सँजोग, नल-कंदल कारन कहत ।।
सन नव से इक्यानव जब हीं। कथा अरंभ कीन्ह यह तव हीं ।।"

उपरोक्त उद्धरण स० १९३५ में लिखी एक प्रति के आधार पर दिये थे। लेख-प्रकाशन (स० १९७२) के समय तक हमें कोई अन्य प्रति देखने को नही मिली थी। वास्तव मे मूल पाठ "सन नव सैं इक्यावन जब हीं" है। सन् ९५१ हि० का समय २५ मार्च सन् १५४४ ई० से १४ मार्च सन् १५४५ ई० (स० १६०१-१६०२ वि०) तक था, परतु यह सन् ९५१ हि० का समय अकबर के राज्यकाल से मेल नही खाता जैसा कि निम्नलिखित अकबर सवधी तिथियो से मिलान करने पर प्रतीत होगा—

जन्म—५ रज्जब ५९४९ हि० अथवा १५ अक्टूवर १५४२ ई० (स० १५९९ वि०)
राज्यारोहण—२ रबी उस्सानी ९६३ हि० अथवा १४ फरवरी १५५६ ई० (सं० १६१३ वि०)
मृत्यु—१३ जमादिल ओखरा १०१४ हि० अथवा १६ अक्टूबर १६०५ ई० (सं० १६६२ वि०)

हिजरी सन् ९५१ अकवर के राज्यकाल से मेल नही खाता, इसका कारण हमने लिपिकार की भूल मान कर 'इक्यावन' शब्द का पाठ "इक्यानव" माना और आलम कवि का कविता-काल ९९१ हि० (सन् १५८३ ई० अथवा स० १६४० वि०)। प्रयाग के प्रोफेसर प० शिवाधार पाडेय ने भी इस सवध में हमे स० १९८० में लिखा था कि ९५१ के स्थान पर ९९१ होगा।

कालातर में हमे जब अन्य प्रतियाँ भी देखने को मिली तो हमने कविता-काल-सूचक चौपाई का शुद्ध पाठ जानने का प्रयास किया। माधवानल कामकदला के छोटे तथा बडे दोनो प्रकार के सस्करणो में चौपाई की यह अर्द्धाली मिलती है। भिन्न-भिन्न प्रतियो में जो पाठ मिलता है वह इस प्रकार है——

१. सभा की प्रति २२९	लिपिकाल सं० १८१७	वि०—"सन नोसे इक्यावनु वैं आही।"
२. हमारी प्रति ३१३।२२	लिपिकाल सं० १८३६	वि०—"सन नौसै इक्यावन जवहीं।"
३. हमारी प्रति १०४।२२	लिपिकाल सं० १८७०	वि०—"सन नवसै इक्यावन आही।"
४. हमारी प्रति ५७५।२२	लिपिकाल सं० १९३५	वि०—"सन नवसै इक्यावन जवहीं।"
५. पजाब यूनीर्वासटी ३४८।४६६	लिपिकाल सं० १८९२	वि०—"सन नवसै इक्यावन जवहीं।"

फैजाबाद-निवासी निर्भीक जी की प्रति आदि से खडित होने के कारण समय-सूचक अर्द्धाली का पाठ उसमें अप्राप्य है। उपरोक्त सभी प्रतियो में सन् ९५१ हि० स्पष्ट है। इसे अशुद्ध मानकर ९५१ को ९९१ कर देना युक्तिसगत नही प्रतीत होता। खोज-द्वारा प्राप्त प्रति में भी 'इक्यावनुवैं' पाठ को "इक्या(व)नुवैं" कर ग्रथ-रचना का समय ९९१ हि० (स० १६४० वि०) माना और 'हस्त लिखित हिंदी पुस्तको के सक्षिप्त विवरण' में ९९१ हि० (स० १६४० वि०) ही स्वीकृत किया गया। रामचंद्र शुक्ल ने भी ९५१ के स्थान में ९९१ (स० १६४० वि०) माना। डा० रामकुमार वर्मा ने 'हिंदी साहित्य का

आलोचनात्मक इतिहास' के पृ० ३३२ पर न जाने किस आधार पर रचनाकाल स० १६४८ वि० माना है।

इस प्रकार सभी ने समय-सूचक अर्द्धाली के पाठ को अकबर के राज्य-काल से मेल मिलाने के लिए ९५१ हि० को ९९१ हि० कर दिया। सन ९९१ हि० (२५ जनवरी १५८३ ई० से १३ जनवरी १५८४ ई०) कर देने से रचना-काल में ३९ वर्ष का अतर उत्पन्न कर देना अनुचित है। अनेक प्रतियो की छानबीन कर हमें ९५१ हि० (स० १६०१ वि०) ही ग्रथारभ का समय उपयुक्त जान पडता है। यह समय अकबर के राज्यकाल से मेल नही खाता, परतु यह ग्रथारभ का समय है, जैसा कि "कथा अरभ कीन यह तब्हीं" से स्पष्ट है। ग्रथ-समाप्ति के समय अकबर का राजयकाल था इस कारण मसनवी की पद्धति के अनुसार "शाहेवक्त को सूचित करते हुए अकबर-सबधी पद्य लिख दिये गये।

ठीक इसी प्रकार की समय सबधी गडबडी 'जायसी' के सबध में भी है। उनका समय—

"सन नवसै सत्ताईस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा॥"

के अनुसार सन् ९२७ हि० शेरशाह के समय से मेल नही खाता। इतिहासकारो ने ९२७ हि० को ९४७ हि० कर दिया और समय-सबधी गडबडी का परिहार किया। आलम के सबध में भी यही उलझन है और उसका भी ९५१ को ९९१ कर समाधान कर लिया। हमारे मत से ग्रथारभ का समय ९५१ हि० (स० १६०१ वि०) तथा समाप्ति-काल अकबर के राज्यकाल में था। ९५१ हि० में शेरशाह का राज्य था। ग्रथ-समाप्ति का समय स० १६३९ से १६४६ वि० के बीच होगा। अकबर-विषयक चौपाइयो से स्पष्ट है कि वह राज्य-विस्तार कर एकछत्र राज्य स्थापित कर चुका था और 'जगद्गुरु' शब्द से सूचित होता है कि 'दीन-इलाही' का सस्थापन हो चुका था। आलम भी 'दीन-इलाही' मे समिलित हो गये होगे दीन-इलाही की सस्थापना स० १६३९ (सन्१५८२ ई०) में हुई थी। दूसरे 'नैब महाबल मन्त्री' (नायब मन्त्री) टोडरमल का उल्लेख होने के कारण ग्रथ-समाप्ति टोडरमल की मृत्यु (स० १६४६ वि०) के पूर्व ही होनी चाहिए। अतएव हमारा अनुमान है कि ग्रथ की समाप्ति स० १६३९ और स० १६४६ वि० के बीच में हुई। स० १६६१ में आलम के कुछ पद 'राग-माला' के नाम से गुरु ग्रथसाहब में समिलित किये गये थे। इस कारण सन् ९९१ हि० (स० १६४० वि०) की अपेक्षा सन् ९५१ हि० (स० १६०१ वि०) अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

इससे सिद्ध होता है कि आलम का समय अकबर के राज्यकाल के पूर्वार्ध में होना चाहिए इस तर्क से आलम का समय रसखान, रहीम, गग, ब्रह्म आदि से कुछ वर्ष पूर्व और नरहरि के समकालीन निश्चित किया जा सकता है। जायसी के पद्मावत तथा आलम के माधवानल-कामकदला के ग्रथारम-काल मे केवल २४ वर्ष का ही अतर है। आलम कवि का महत्व उनकी प्राचीनता के कारण बहुत बढ जाता है। वास्तव में वे केशवदास, गग, ब्रह्म, रहीम आदि से पूर्ववर्ती थे।

हमारे इस कथन की पुष्टि में एक प्रमाण यह भी है कि आलम-रचित कई छप्पय छद 'नरहरि' के छदो जैसी भाषा में लिखे हुए मिलते है, जिसका चलन उस काल तक प्राय सीमित-सा था। रासो-पद्धति में लिखे हुए छद प्राय' उसी काल के मिलते है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि' कवित्त-सवैया की पद्धति के प्रवर्तक गग के स्थान में आलम को ही मानना चाहिए। आलम का समय ९५१ हि० अथवा ९९१ हि० कुछ भी माना जाय वे गग से बडे थे। प्रौढ माध्यमिक काल में नरहरि और गग भाटोपयुक्त-कविता के रचयिता थे, जिसमें 'नरहरि' ने 'छप्पय छद' और 'गग' ने 'कवित्त (घनाक्षरी)' को विशेष रूप से अपनाया था। परतु कवित्त-सवैया की पद्धति में—"नवरसमयी नदलाल की' प्रेम-शृगार-युक्त नाना विषयक कविता रचने की प्रवृति सर्व प्रथम आलम में ही पाई जाती है। वे ही इस पद्धति के प्रवर्तक माने जाने चाहिए। आलम की चलाई हुई पद्धति २००—२५० वर्ष तक कितनी फूली-फली यह सभी जानते है। आलम के छदो का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी के अनेक उत्कृष्ट कवि आलम के ऋणी है। रीति मुक्त-कवियो में आलम का स्थान सर्वोच्च है। इन बातो पर विचार करने से आलम का महत्व अत्यधिक बढ जाता है। रीति-मुक्त कविताकार होने के कारण उनकी विशेषता और भी बढ जाती

है। सच बात तो यह है कि आलम की कविता का अध्ययन बिना किये रीतिकाल की शृंगारमयी कविता की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास अधूरा ही है।

आलम की कृतियाँ

आलम के नाम से जो ग्रंथ मिलते है वे है—(१) माधवानल-कामकदला, (२) श्याम-सनेही और (३) आलम के कवित्त। इसके अतिरिक्त 'सुदामा-चरित्र' भी एक आलम रचित मिला है। सुदामा-चरित्र के सबध में आगे चल कर विचार किया जायगा। माधवानल-कामकंदला के दो प्रकार के सस्करण मिलते है, एक बडा और दूसरा छोटा। साहित्यकारो ने यह निश्चय अभी नही किया कि कोन सा सस्करण मौलिक है और कौन सा उसका रूपातर। यह कोई महत्वपूर्ण प्रश्न भी नही है। मूलकथा अपभ्रंश काल से चली आती है। 'बोधाकवि' तथा 'हरिनारायण' ने भी यह कथा लिखी है और राजस्थान मे मारवाड़ी-दूहा छंद में भी यह कथा लिखी गई थी। श्याम-सनेही मे 'रुक्मणी-मगल' की कथा है और माधवानल-कामकदला की तरह दोहा, सोरठा, चौपाई-छदो मे यह ग्रथ आलम ने रचा है। आलम के कवित्त, कवित्त आलम के, रस कवित्त, आलमकेलि, अक्षरमालिका, चतु शती आदि अनेक नामो से आलम के कवित्त-सवैयो (कुछ छप्पय भी) में रचित मुक्तक छदो का सग्रह है। 'दूती-विज्ञप्ति', नख-शिष आदि इसी के अश प्रतीत होते है। आलम के ४०० छदो को चुन कर किसी ने इस सग्रह को क्रमवद्ध किया था जिसका प्रचुर प्रचार हुआ। इस ग्रंथ मे 'शेख' छाप-युक्त छद भी मिलते है। इस सग्रह-ग्रथ का कोई सर्वमान्य नाम नही है। 'चतु शती' और 'अक्षरमालिका' कल्पित नाम है। 'आलमकेलि' नाम भी "कवित्त (आलमके) लिख्यते" के कोष्ठातर्गत दिये हुए अक्षरो के समुदाय से गढा हुआ नाम प्रतीत होता है। आलम कवि ने अपने मुक्तक छदो का कोई विशेष नाम नही दिया। अतएव उन छदो का क्रमवद्ध सकलन भी आलम ने नही किया। यदि ४०० छदो का सकलन उसी के द्वारा किया हुआ होता तो वह उसका 'नामकरण' भी अवश्य करते।

आलम-कृत सुदामा-चरित्र की स० १८६७ के पूर्व की एक खडित प्रति के आधार पर सर्व प्रथम हमने 'साहित्य समालोचक' (भाग १ अक २ वैशाख१६८२, अप्रैल १६२५ ई०) मे प्रकाशित एक लेख द्वारा साहित्यनेताओ का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था। तब से हमें इस छोटे से ग्रथ की कई प्रतियाँ देखने को मिली। यह लावनी के ढग का कुकुभ छद में रेखता-भाषा का ग्रथ है। किसी में ५२ छद है, किसी मे ५१ और किसी में लगभग ६०। सब प्रतियो के छदो को एकत्रित करने से तह ६४ छंदो का ग्रथ होता है। हमारे देखने में कोई भी ऐसी प्राचीन प्रति नही आई जिससे रचयिता का समय अकबर-कालीन आलम के समय तक पहुँचाया जा सके। इस ग्रथ को हम अकबर-कालीन आलम रचित मानने या न मानने के संबध मे कोई निश्चित मत नही दे सकते, परतु इस सबंध में एक भ्रमात्मक बात मथुरा से प्रकाशित "ब्रजभारती" (स० १६६६ चैत्र पृ० १८) में छपी है। इस अक मे कॉकरौली की सुदामा-चरित्र की प्रति का परिचय पो० कठमणि शास्त्री ने दिया और विचित्र तर्क के द्वारा उस प्रति का लिपिकाल सं० १७२० निश्चित किया है। यह प्रति बध ७० पुस्तक स० ८।३ है और हमे भी स० १६६६ मे इसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

प्रति का लिपिकार कुछ विशेष रूप से शिक्षित नही था। प्रति बहुत अशुद्ध है। लिपिकार का नाम 'अभमन' (अभिमन्यु ?) था, उसके हाथ के लिखे निम्न लिखित छोटे-मोटे ग्रथ उसी पुस्तक में है—

१-करुणा-भरण नाटक, लछीराम कृत—"इति करुणाभरण नाटक संपूर्ण लच्छीराम कृत लिखित अभमंन, चि० लालजी वाचनार्थं।"

२-बंबेक वाररी नीसाणी (विवेक वार री नीसाणी)—"इति बंबेक वाररी नीसाणी" पुरी, आसोज सुद पुन लखी, कातिक बदि ३ पुरी (संवत् नहीं दिया)।"

३-आलम कृत सुदामा चरित्र।

४-असमेघ जग्ग री कथा (अश्वमेध यज्ञ की कथा) मुरली कृत।

५-स्फुट छंद सग्रह ।

६-स्फुट पद ।

७-रेखता इश्क चमन, (नागरीदास जी कृत) "येति 'श्रस्कचमन संपूरण' चरजीवी लालजी पठनार्थ ।"

८-वेणुविलास (नागरीदास जी कृत)—आदि ।

इस प्रति का लिपि-काल निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता, किंतु स० १७२० के आस-पास का लिपि-काल कदापि समव नही हो सकता । चि० लालजी को चि० लालाजी (श्री व्रजभूपण लाल जी) मान कर स० १७२० का अनुमान करना ठीक नही है । दो स्थानो पर 'लालजी' शब्द है 'लालाजी' नही। दूसरे, नागरीदास जी के ग्रथो का प्रतिलिपिकार अभिमन्यु का समय नागरीदासजी के समय (जन्म-सं०१७५६, मृत्यु-स० १८२०) से ७५-१०० वर्ष पूर्व किस प्रकार सभव है ? स्फुट सग्रह में दिये हुए पद या छदो के कुछ रचयिता भी स० १७२० के बहुत काल बाद के है । इस भ्रमात्मक लेख-द्वारा 'सुदामा-चरित्र' भी प्राचीन ग्रथ मान लिया गया और उसे अकवर-कालीन आलम-रचित घोपित कर दिया गया है (दे० नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५२ अक ३ कातिक-पौप स० २००४)। इस भूल के सवध में हमने 'व्रजभारती' वाले लेख के लेखक को इस भूल का दिग्दर्शन उसी समय स० १९९९ में करा दिया था और उसे उन्होने स्वीकार भी किया था, परतु अकवर-कालीन आलम की कृतियो में 'सुदामा-चरित्र' की गिनती होने लगी है, यह अनुचित है। हमें सुदामा-चरित्र के कर्ता आलम का समय स० १८५० के पूर्व मानने का कोई प्रमाण अभी तक नही मिला । भाषा, छद, भाव सभी दृष्टि से इस ग्रथ का अध्ययन करने पर इसे अकवर-कालीन आलम-रचित मानने का कोई कारण नही प्रतीत होता । लावनी का चलन विशेपत पद्माकर-काल के आस-पास था और सुदामा-चरित्र की प्रतियाँ भी उसी समय की मिलती है । पुष्ट प्रमाण के अभाव में एक भूल-भरी धारणा-द्वारा अकबर-कालीन आलम को सुदामा-चरित्र का लेखक मानना ठीक नही है। इस भूल का उचित प्रकार से परिहार होना चाहिए ।

आलम तथा शेख

सभी इतिहासकारो ने 'शेख' नामक एक रगरेजिन को आलम की स्त्री माना है । इस सबध में कुछ किंवदतियाँ भी प्रसिद्ध है । ऐसा कहा जाता है कि शेख रगरेजिन भी काव्यकाला में निपुण थी और इन्ही के मोह-वश ब्राह्मण-वश-जात आलम मुसलमान हुए । कुछ सज्जनो ने तो यहाँ तक कह डाला है कि अपने इस समाज विरोधी कार्य का औचित्य प्रतिपादन करने के लिये ही आलम ने 'माधवानल-कामकंदला' रचकर प्रेम की सर्वोपरि महत्ता प्रकट की । बोधा कवि ने अपनी प्रेयसी 'सुभान' के विरह में 'विरहवारीश' नाम से माधवानल-कामकदला चरित्र रचा था उसी से मेल मिलाते हुए आलम और शेख का भी सबध सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

आलम तथा शेख छापधारी छदो का मिश्रण सभी पुस्तको मे पाया जाता है। इन छदो पर विचार करने से यही धारणा दृढ होती जाती है कि 'शेख छाप' युक्त छदो के रचयिता स्वय आलम ही थे । कोई अन्य व्यक्ति नही था । आलम ने अपने रचित छदो में किसी मे 'शेख' और किसी में 'आलम' छाप का प्रयोग किया । प्रचलित किंवदतियो का कोई विशेष आधार नही है। हमारे कथन का यह तात्पर्य नही कि "शेख" नामधारी कोई कवि हुआ ही नही । शेख का नाम सूदन कवि की सूची में है। कालिदास के हजारा में भी शेख के छद है। नवीन कवि ने भी 'कवि नामवद्ध दानलीला' में २१२ कवियो के साथ 'शेख' का नाम भी दिया है । हमारा तो केवल यही कहना है कि आलम के छदो की प्रतियो में शेख छाप-युक्त जो छद मिलते है वे आलम-द्वारा ही रचित प्रतीत होते है ।

एक ही कवि की दो छाप होना अविश्वसनीय नही है। 'सूर'—सूरश्याम, आनदघन,—घन आनद जैसी मिलती-जुलती छापें तो बहुत प्रचलित है, परतु किसी-किसी कवि की दो-दो छापें सर्वथा भिन्न

होती थी, "नागर—पंडित, उदैनाथ—कविंद्र, नृपसभु—सभुराज, आनद—चद, कालिदास—महाकवि, दत्त—गुरुदत्त" आदि इसके उदाहरण हैं।

हमारी धारणा के कई कारण हैं। शेख नाम किसी स्त्री का होना असगत जान पडता है। शेख शब्द तो मुसलमानो के एक समुदाय विशेष का द्योतक है। सैयद, शेख, मुगल और पठान ये मुसलमानो की जातियाँ हैं। शेख समान-सूचक शब्द है। आलम शेख जाति के थे और उनका पूरा नाम 'शेख आलम' था। यह बात सत्य है कि आलम के किसी भी छद मे 'शेख आलम' छाप नही है। इसका कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने नाम के साथ समान सूचक शब्दो का प्रयोग स्वय नही करता। अन्य पुरुष ही उस समानित व्यक्ति का सबोधन करते समय उन समान-सूचक शब्दो को उसके नाम के साथ जोडता है। आलम स्वय ही समान-सूचक शब्द का प्रयोग अपने नाम के साथ नही कर सकते थे। वे अधिकतर 'आलम' छाप का ही प्रयोग करते थे और कभी-कभी केवल 'शेख' का। दोनो को मिला कर 'शेख आलम' का प्रयोग हास्यास्पद होता।

आलम के शब्दो की प्राचीन प्रतियो के देखने से यह सहज ही पता चल जाता है कि इनका नाम शेख आलम था। हम कुछ ऐसी प्रतियो के आदि-अत के अवतरण देते हैं जिनसे पता चलेगा कि कवि का नाम शेख आलम था और शेख तथा आलम भिन्न व्यक्ति नही थे। जैसे—

१. कांकरौली की प्रति ७३।२८ (चतु.शती–सं० १७१२)—
   आदि—खंडित है।
   अंत—"इति सेष आलम के कवित्त संपूर्ण।"
२. कांकरौली की प्रति ७७।५ (अक्षरमालिका)—
   आदि—"अथ कवि शेष आलम कृत कवित्त।"
   अंत—"इति श्री कवित शेष आलम के समाप्त।"
३. हमारी प्रति १४०।२२ (रसकवित्त–आलम को संग्रह–सं० १७९१)
   आदि—"शेष आलम कृत रस कवित्त लिख्यते।"
   अंत—"इति श्री शेष आलम कृत रस कवित्त समाप्तं संपूर्ण।"
४. हमारी प्रति १४१।२२
   आदि—"कवित्त सेषसाँई।"

ऊपर लिखित अवतरणो से स्पष्ट है कि कवि का पूरा नाम शेख आलम था। शेख शब्द उनके नाम के साथ समान और जाति-सूचक है। यदि शेख नामक कोई भिन्न व्यक्ति होता तो 'शेख और आलम' लिखा होता। अतिम प्रति में तो स्पष्टत 'शेख साँई' नाम आलम के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि शेख शब्द से आलम का ही तात्पर्य्य है। इस कारण शेख और आलम एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। शेख तथा आलम छाप-युक्त छद सभी प्रतियो में ऐसे घुले-मिले हैं और उनके भाव, भाषा आदि इतना अधिक साम्य रखते हैं कि दोनो प्रकार के छदो में कोई विशेष अंतर नही प्रतीत होता। जो सज्जन कुछ अतर सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं वे केवल बाल की खाल उतारने का व्यर्थ प्रयास करते हैं।

आलम कवि शेख थे और इसका इन्हें गर्व था। केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इडिया के अनुसार उस काल में शेख शब्द उन सच्चरित्र मुसलमानो के लिये प्रयुक्त होता था, जिनकी प्रकृति आध्यात्मिक होती थी और वे ईश्वर के भक्त गिने जाते थे। आलम ने अपने एक छद में इसी भाव को व्यक्त किया है—

"जपन नाम सोइ जपिय, नाँहिन बावन अक्षर मँह।
तब सुदरस दरसिऐं, चित्र सुपने-प्रतच्छ तहँ॥
सुख पवन बिन उठै सबद तहँ सुनिय स्रवन बिन।
तहँ न चित्त संचरै, न तहँ जुग-संधि रैन-दिन॥

जल पर जु बरन आलम सुमति, लिखि मेटत पढ़ि लिखित पुनि ।
सोइ सिद्ध सेख जापर सुमति, यह विवेक बूझै सु मुनि ।।

एक बात और उल्लेखनीय है कि कुछ ऐसे छद भी है जो आलम अथवा शेख दोनो के नाम से भिन्न-भिन्न प्रतियोमें मिलते हैं । यदि एक प्रति में आलम छाप है तो दूसरी में वही छद कुछ पाठ-भेद से शेख के नाम से मिलता है । ये प्रतियाँ प्रामाणिक हैं । वैसे तो सग्रह-ग्रथो में एक कवि का छद दूसरे के नाम से कभी-कभी देखने को मिलता है, परतु आलम के ग्रथो में ही किसी प्रति में शेख और किसी में आलम की छाप उसी छद में होने से यही सार निकलता है कि आलम की ही दो छापें थी ।

आलम तथा उनकी रचनाओ के सबध में और भी विचारणीय बातें है, परतु लेख-विस्तार के भय से इसे यही समाप्त किया जाता है । आलम के सदिग्ध छदो पर विचार एक लेख-द्वारा करना कठिन है । आशा है इस लेख-द्वारा आलम-सबधी भ्रामक बातो का निराकरण होगा और साहित्य के मच पर आलम को उचित स्थान प्राप्त होगा । साहित्य-मर्मज्ञो ने अभी तक आलम की रचनाओ का ठीक-ठीक अध्ययन नही किया । उसके ग्रथो का प्रामाणिक रूप से प्रकाशन भी नही हो पाया और इस कारण आलम के साथ अभी तक न्याय भी नही हो पाया ।

२

भक्तकवि 'रसखान'

भक्त कवि 'रसखान' के जीवन वृत्त जानने के लिए उपयोगी सामग्री का सर्वथा अभाव है। इधर-उधर से प्राप्त स्फुट उल्लेखो के आधार पर अथवा कल्पना की सहायता से इनके जीवन की घटनाओ का कुछ पता इतिहासकारो ने लगाने की चेष्टा की, परतु अनेक आवश्यक बातो का विश्वस्त रूप से कुछ पता नही चल पाया। अभी तक उनकी रचनाएँ भी पूर्ण रूप से उपलब्ध नही हो सकी। ऐसी अवस्था मे इनकी जीवन की मुख्य घटनाओ का प्रामाणिक विवरण देना दुष्कर सा है।

'प्रेमवाटिका' नामक ग्रथ मे भक्तकवि रसखान ने अपने विषय में केवल चार दोहे लिखे है। वे इस प्रकार हैं—

"देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसाँन।
छिनहिं बादसा वंस की, ठसक छोरि रसखाँन ।।
प्रेम निकेतन श्री बनहिं, आइ गोबरधन धाँम।
लह्यौ सरन चित चाहि कैं, जुगल सरूप ललाँम ।।
तोरि मानिनी तें हियौ, फोरि मोहिनी माँन।
प्रेम-देव की छबिहिं लखि, भए मियाँ रसखाँन ।।
बिधु १ सागर७ रस६ इंदु १ सुभ, बरस सरस रसखाँन।
प्रेम-बाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरख बखाँन ।।"

इस से स्पष्ट है कि राज्यलिप्साजन्य-विप्लव के कारण दिल्ली नगर की श्मशानवत् दुर्दशा देख कर शाही वश का गर्व क्षण भर मे छोड कर और एक मानिनी प्रेयसी से अपना मन फेर कर रसखान व्रज में आये। एव सवत् १६७१ वि० (बिधु० १, सागर, रस ६, इदु, १) मे 'प्रेमवाटिका' की रचना की। भक्त कवि रसखान की रचनाओ में इस अतर्साक्ष्य के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख नही है। कुछ बाह्य स्रोतो द्वारा या अन्य ग्रथो में वर्णित कथाओ से भी रसखान-विषयक कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है। प्राचीन ग्रथो मे रसखान विषयक जो विवरण मिलते हैं, उनका उल्लेख ऐतिहासिक परीक्षा सहित इस प्रकार है—

१—दो सौ बावन वैश्णव की वार्ता—वल्लभ-सप्रदाय मे यह एक प्रतिष्ठित ग्रथ है। जिस प्रकार 'चौरासी वैश्णव की वार्ता' में आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्यो का वर्णन है उसी प्रकार 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्यो तथा सेवको का वर्णन है। इस प्रकार के वार्ता-साहित्य अथवा साप्रदायिक ग्रथो का ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह कहना तो कठिन है, परतु इन्हे कल्पित एव अप्रामाणिक मान कर एक दम अग्राह्य भी नही कहा जा सकता। ये वार्ताएँ श्री गोस्वामी गोकुलनाथ जी (स० १६०८-१६९७) के श्रीमुख से उच्चारित हुई और प्राय उसी समय लिपिबद्ध हो गई। समस्त वार्ताओ की 'भाव प्रकाश' नामक व्याख्या के कर्ता श्री हरिराय जी का समय स० १६४७ से १७२ (आयु १२७५ वर्ष) माना जाता है। इन वार्ताओ की कई हस्तलिखित प्रतियाँ और प्रकाशित सस्करण मिलते हैं। यद्यपि उनमें पाठ और भाषा-भेद दृष्टि गोचर होता है, परतु मूल कथानक एक सा ही है। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में २१८ वी वार्ता भक्तकवि रसखान सबधी है। एक प्रामाणिक प्रतिके अनुसार यह वार्ता इस प्रकार है —

"अब श्री गुसाईं जी के सेवक रसखाँन पठाँन दिल्ली में रहते तिनकी वार्ता। सो दिल्ली में एक साहूकार रहतो हतो। सो वा साहूकार कौ बेटा बहुत सुंदर हतो। वा छोरा सो रसखाँन कौ मन बहुत लग गयौ। वाही के पाछें फिरयौ करैं और वाकौ झूठौ खाइ और आठ पहर वाही की नोकरी करैं। पगार कछू लेवै नाहीं, दिन-रात वाही में आसक्त रहैं। दूसरे बड़ी जात के (मुसलमान) रसखाँन की निंदा बहुत करते हते। पर रसखाँन काहू की सुनते नाहीं हते। और अष्ट प्रहर वा साहूकार के बेटा में चित्त लग्यौ रहतो। एक दिनां चार वैष्णव मिल कें भगवद्-वार्ता करते हते। करते-करते ऐसी बात निकसी जो प्रभु में चित्त ऐसौ लगावनो जैसे रसखाँन कौ चित्त साहूकार

के बेटा में लग्यौ है। इतने में रसखांन वा रस्ता निकस्यौ, जिननें ये बात सुनीं। तब रसखांन नें कही जो तुम मेरी कहा बात करौ हौ। तब वैष्णवन नें जो बात हती सो कही। तब रसखांन बोले, प्रभु कौ स्वरूप दीखै तौ चित्त लगाइये। तब वा वैष्णव नें श्रीनाथजी कौ चित्र दिखायौ। सो देखत ही रसखांन नें वो चित्र लै लियौ और मन में ऐसौ संकल्प करयौ जो ऐसौ स्वरूप देखनों जब ब्रज खानों और उहां सूं घोडा पै बैठ कें एक रात में वृंदावन आयौ और सबरे दिन सब मंदिरन में भेष बदल कें फिरयौ और सब मंदिरन में दरसन किये पर वैसे दरसन नाहीं भए। तब गुपाल पुर में गयौ। और भेष बदल कें श्रीनाथजी के दरसन करवे कूं गयौ। तब सिंघपौरिया ने भगवदिच्छा सूं वा के चिन्ह् बडी जात वारे (मुसलमान) के पहिचांने। तब वाकू धक्का मार निकास दियौ। भीतर पैंठन न दियौ। सो जाइ कें 'गोविंद कुंड' पर रह्यौ। तीन दिनां तांई परयौ रह्यौ। खायबे-पीवे की कछू अपेक्षा राखी नाहीं। तब श्रीनाथजी नें जानी यह जीव दैवी है और शुद्ध है, और सात्विक है, और मेरी भक्त है, याकूं दरसन देऊँ तो ठीक है। तब श्रीनाथजी ने दरसन दिये। तब वे उठि कें श्रीनाथजी कूं पकरवे दौरयौ। सो श्रीनाथजी भाज गए। फेर श्रीनाथजी नें श्री गुसांईं जी सूं कही ये जीव दैवी है और म्लेच्छ योनि कूं पायौ है, जासूं थाके ऊपर कृपा करौ याकूं सरन लेऔ। जहाँ तांईं तुम्हारौ संबंध जीव कूं नाहीं होवे तहाँ तांईं मैं वा जीव कूं स्पर्श नाहीं करूँ हूँ, वा सूं बोलू नाहीं हूँ और थाके हाथ कौ खाऊँ नाहीं, जासूं अब याकौं अंगीकार करौ। तब श्री गुसांईं जी श्रीनाथजी के वचन सुन कें गोविंद कुंड पै पधारे और वाकूं नाम सुनायौ और साक्षात श्रीनाथजी के दरसन श्री गुसांईंजी के स्वरूप में वाकू भए। तब श्रीगुसांईं जी तिन कू संग लै पधारे और उत्थापन के दरसन कराए। महाप्रसाद लिवायौ। तब रसखांन जी श्रीनाथ जी के स्वरूप में आसक्त भए। तब रसखांन नें अनेक कीर्तन और कविता और दोहा बहुत प्रकार के बनाए। जैसे-जैसे लीला के दरसन तिनकूं भए वैसें ही वरनन किए। सो वे रसखांन श्रीगुसांईं जी के ऐसे कृपापात्र हुते। जिनकूं चित्रके दरसन करत मात्र ही संसार सूं चित्त खिचकें श्रीनाथजी में लग्यौ। इनके भाग्य कौ कहा बडाई करनीं। वार्ता संपूर्ण।"

अन्य संस्करणो के पाठो से मिलान करने पर मूल कथा में कोई विशेष अंतर नही दीख पडता, परन्तु एक पाठ के अनुसार इन्हें केवल 'पठान' न लिख कर 'सैयद पठान' लिखा है और उसमें दिल्ली-निवासी होने का उल्लेख नही है। इस कथा में तथा भक्तमाल-टीका में कथित रहीम की कथा में कुछ अंशो में साम्य प्रतीत होता है। दोनो का श्रीनाथजी के दर्शन की उत्कट इच्छा से गोवर्द्धन जाना, मुसलमान होने के कारण दोनो की प्रवेश-द्वार पर रुकावट, गोविंदकुंड पर भगवान का स्वय दोनो को दर्शन देना और फिर गोस्वामी विट्ठलनाथजी का दोनोको अंगीकार करना और दोनोही द्वारा, हिंदी-काव्य में श्री कृष्ण का गुणगान किया जाना आदि सभी बातें एक सी है। वार्ता में कथित विवरण सर्वथा निराधार नही हो सकता। वार्ता से इतना अवश्य ही पता चलता है कि रसखान दिल्ली के पठान थे और प्रेमी स्वभाव के थे। किसी घटनावश रातोरात घोडे पर सवार होकर ब्रज पहुँचे और श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य होकर कवित्त-कीर्तनो-द्वारा कृष्ण-गुणगान करने लगे। वार्ता के अनुसार इन्हें श्री कृष्ण लीला के दर्शन होते थे, अर्थात् उन्हें श्रीकृष्ण की नित्य लीला—गोचारण, वंशीनाद, रास आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता था और जैसा देखते थे वैसा ही काव्य-गान करते थे। इनकी कविता में कृष्ण लीला का और एक-एक दिन की गोपी-कृष्ण-सबंधी घटनाओ का जीता-जागता स्वाभाविक वर्णन इनके काव्य की विशेषता की ओर स्पष्ट सकेत करता है।

चित्र-द्वारा कृष्ण-दर्शन की लालसा होने की बात 'वार्ता' में बताई गई है, इसका आभास रसखान की कविता में भी मिलता है। "छवि" शब्द का साधारण अर्थ "शोभा" होता है, किंतु कुछ प्रादेशिक भाषाओ में इस शब्द का अर्थ 'चित्र' भी होता है। "प्रेम देव की छबिहिं लखि, भए मियाँ रसखाँन" में यदि 'छवि' शब्द का अर्थ 'चित्र' लिया जाय तो 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' के विवरण की पुष्टि रसखान के उपरोक्त दोहे से हो जाती है।

२—मूल गुसाँईं चरित—सवत् १६८७ मे रचित 'बाबा बेणीमाधवदास' कृत 'मूल गुसाँईं चरित' मे भी रसखान का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि 'रामचरितमानस' की रचना २ वर्ष ७ मास और २६ दिवस में स० १६३३ मे समाप्त हुई। सबसे पहिले मिथिला के रूपारण्य स्वामी ने अयोध्या में उसे श्रवण किया। फिर सडीले के (हरदोई जिला) के स्वामी 'नदलाल' के शिष्य 'दयालदास' अथवा 'दलालदास' ने उसकी एक प्रति लिखी और अपने स्थान पर लौट कर तीन वर्ष तक 'यमुना-तट' पर 'मानस' को अपने गुरु को और रसखान को सुनाया। मूल ग्रथ का यह अश इस प्रकार है—

"मिथिला के सुसंत सुजान हुते। मिथिलाधिप भाव पगे रहते॥
सुचि नाम रुपारुन स्वाँमि जु तो। तिहिं औसर[1] औध में आयौ हुतो॥
प्रथमैं यह मानस तेई सुने। तिनहीं अधिकारि गुसाँई गुने॥
स्वाँमी नँद (सु) लाल[2] कौ सिष्य पुनी। तिसु नाम 'दलाल' सुदास गुनी॥
लिखिकैं सोई पोथि स्व-ठाँम गयौ। गुरु के ढिंग जाइ सुनाइ दयौ॥
जमुना-तट पै त्रय बत्सर लौ। रसखाँनहिं जाइ सुनावत भौ॥"

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि सवत १६३४ से १६३७ पर्यंत तीन वर्ष तक रसखान ने रामचरित-मानस की कथा सुनी। 'मूल गुसाँईं चरित' की प्रामाणिकता पर सदेह किया जाता है। ग्रथ के कुछ अश सदेहास्पद हो सकते है, परतु रसखान संबधी उल्लेख पर सदेह करने का कोई विशेष कारण नही प्रतीत होता। रसखान 'मानस'-प्रेमी भी अवश्य रहे होगे। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त शिव जी तथा गगा आदि पर भी छद-रचना करनेवाले रसखान राम-भक्त तथा 'मानस'-प्रेमी भी हो तो आश्चर्य की क्या बात है? 'गीता प्रेस' से प्रकाशित "कल्याण" (वर्ष ५ खड १ श्रावण-१९८७, जुलाई १९३०) के रामायणाक के पृष्ठ २२९ पर रामचरितमानस की प्रशसा में रसखान के नाम से रचित एक छद दिया हुआ है जिससे रसखान का मानस-प्रेमी होना सभव है। वह छद इस प्रकार है—

"सुरतरु-लताँन चारुफल है फलित किधो, कामधेंनु-धारा सम नेह उपजावनी।
कैंधो चिंतामनिन की माल उर सोभित बिसाल कठ में धरे है जोति-झलकावनी।
प्रभु की कहाँनी ते गुसाँई की मधुर बाँनी, मुक्ति सुखदाँनी 'रसखाँनि' मन-भावनी।
खाँड की खिजावनी-सी, कद की कुढावनी-सी, सिता को सतावनी-सी सुधा-सकुचावनी॥"

इस छद की प्रामाणिकता के विषय में कुछ नही कहा जा सकता, किसी भी प्रकाशित ग्रथ या हस्तलिखित प्रति में यह छद देखने को नही मिला। 'रसखाँनि' शब्द कवि की छाप न होकर 'रस की खानि' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो यह सभव है। इस प्रकार के छद रसखान रचित न होने पर भी सहज ही में रसखान के मान लेने की भल सभव है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहा रसखान रचित न होकर बाबा बेणीमाधव-दास रचित है, परतु छद की बनावट से इसे सहज ही रसखान का माना जा सकता है।

"परम मधुर पावन करनि, चार पदारथ दाँनि।
तुलसी कृत रघुपति कथा, कै सुरसरि-रसखाँनि॥"

हमे रसखान को मानस-प्रेमी सिद्ध करने की आवश्यकता नही है। 'मूल गुसाँईं चरित' के अनुसार तीन वर्ष तक यमुना तट पर 'मानस' की कथा रसखान ने श्रवण की इसमें तर्क-वितर्क की कोई आवश्यकता नही है।

३-'भक्तमाल'—नाभादास रचित भक्तमाल में रसखान का नाम तक नही है और न प्रिया-दास जी की टीका मे ही कुछ वर्णन है। ऐसा कहा जाता है कि भक्तमाल मे नाभादास जी ने स० १६४३ तक के भक्तो का ही उल्लेख किया है। अनुमानत स० १६४३ से पूर्व रसखान की ख्याति अधिक

१. रामचरित मानस की रचना समाप्त होने पर सं० १६३३ में।
२. संडीला तें आइकें, बसु स्वांमी नंदलाल।

नही हुई। नाभादास जी के भक्तमाल में रसखान का नाम न होते हुए भी शिवसिंह जी ने स्वरचित 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है कि 'इनकी कथा भक्तमाल' में पढने योग्य है । इस विरोध को दूर करने के लिए 'रसखान और उनका काव्य' (प्रकाशक—हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग) के लेखक प० चद्रशेखर पाडे ने तो 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' को ही भक्तमाल मान लिया ! वास्तव में कोई विरोध है ही नही। गलता (आमेर-जयपुर) निवासी 'अग्रदास' जी के शिष्य नारायणदास (नाभादास) रचित भक्तमाल केवल १९५ छप्पय, १७ दोहे तथा १ कुडलिया छद युक्त ग्रथ था, परतु इसकी कलेवर वृद्धि उनके शिष्यो द्वारा होती रही। मूल ग्रथ में सब मिला कर १२१० पक्तियाँ अथवा चरण थे। नाभादास जी की शिष्य-परपरा के प्रियादासजी ने "भक्तरसबोधिनी" नामक ६३४ कवित्तो की भक्तमाल की टीका स० १७६९ में रच कर ग्रथ में ३७४६ पक्तियाँ कर दी। प्रियादासी टीका तो मूल भक्तमाल का अग ही बन गई। दोनो में से किसी की पृथक सत्ता रही ही नही। प्रियादासी टीका रहित भक्तमाल की कोई प्रति देखने को नही मिलती। इसी प्रकार प्रियादासजी के पुत्र (अथवा पौत्र) वैष्णवदासजी ने भी गद्य-पद्य-मिश्रित 'भक्तमाल-प्रसग' की रचना कर भक्तमाल का आकार बढाया। वैष्णवदासजी ने भक्तमाल के प्रचारार्थ बडा परिश्रम किया। इन्होने कांधला निवासी लछमणदासजी-द्वारा सन् ११५८ हिजरी में भक्तमाल के आधार पर "भक्तमाल उरबसी" नामक फारसी ग्रथ रचवाया। इन्ही ग्रथो के आधार पर फारसी, उर्दू तथा हिंदी में भक्तो के चरित्र-सबधी अन्य ग्रथ भी रचे गये। इस प्रकार मूल भक्तमाल का रूपातर होता रहा। नाभादासजी तथा प्रियादासजी ने रसखान का उल्लेख नही किया, परतु वैष्णवदासजी ने अपने "भक्तमाल-प्रसग" (रचना काल स० १८४४) में इनकी कथा इस प्रकार दी है—

"पातस्याह नें देखी तुरक कंठी पैहरन लगे। तब रसखाँन बुलाए। देखें तौ सो कठी भार में परी है। तब पूंछी रसखाँन, कंठी क्यो राखें है? तब यें बोले—हजरत! काठ की नाव पै पत्थर तिरै याते मैं राखी है। यें काठ है, मैं पत्थर हों। यातें राख्यी हो। तब कही-भलें राखौ, परंतु इतेक तो हिंदू हूँ नाहीं राखें। तब रसखाँन बोल्यौ वे हलके है। मैं भारी पत्थर हो।"

यह कथा 'भक्तमाल-प्रसग' में ही नही है, किंतु उसके आधार पर रचित 'भक्त कल्पद्रुम' (भक्तमाल) तथा उर्दू भक्तमालो मे भी दी हुई है। शिवसिंहजी का उल्लेख इसी कथा की ओर सकेत करता है। रसखान के उत्तर का भाव 'विहारी' के निम्नलिखित दोहे में कितना खरा उतरा है—

"पतवारी-माला-पकरि, और न कछू उपाउ।
तरि संसार-पयोधि को, हरि-नामैं करि नाउ॥"

अबाला-निवासी तुलसीरामजी ने भक्तमाल तथा उसकी टीका के आधार पर फारसी-उर्दू में 'भक्तमाल प्रदीपन' की स० १९१३ में रचना की और उसका हिंदी रूपातर सवत् १९२३ में 'भक्त कल्पद्रुम' (भक्तमाल) के नाम से किया गया। उसमें रसखान-सबधी कथा में कठी-माला के प्रसग के साथ लिखा है कि वे मुसलमान थे। अपने पीर के साथ वृदावन में आ पहुँचे और वहीं श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त होते ही वही रह गये। अपने पीर के समझाने-बुझाने पर भी व्रज नही छोडा। इससे स्पष्ट है कि शिवसिंहजी का कथन निराधार नही था और रसखान भक्तो की श्रेणी में स्थान पा चुके थे। भक्तमाल की कथा में कठी-माला-धारण करने के सबध में राज्याधिकारियो-द्वारा निषेध करने का उल्लेख है, परतु क्या यह इतिहास-सिद्ध बात है?

कठी-माला-धारण के निषेध-सबधी विश्वस्त ऐतिहासिक प्रमाण खोज निकालने की भरपूर चेष्टा की, परतु सफलता नही मिली। नाभाजी ने भी एक भक्त की कथा में इसका उल्लेख किया है। वल्लभ-सप्रदाय के इतिहास में जहाँगीर-द्वारा इस प्रकार की आज्ञा निकाली जाने और गोस्वामी [illegible] नाथजी-द्वारा उस आज्ञा का विरोध करने का वर्णन "माला-प्रसग" के नाम से प्रकाश मिलता है। [illegible] प्रकार की आज्ञा निकाल देने की बात वैष्णव-समुदाय में सच्ची मानी जाती है, यद्यपि [illegible]

सबध में मौन है। कठी-माला के लिए गोस्वामी गोकुलनाथजी ने जो सफल प्रयास किया वह उनके जीवन की एक मुख्य घटना मानी जाती है।

सक्षेप में माला-प्रसग की घटना इस प्रकार कही जाती है कि जहाँगीर बादशाह ने चिद्रूप (जदरूप अथवा जडरूप ?) संन्यासी के कहने से कंठी-माला-धारण के विरोध में एक आदेश निकाल दिया। इसका घोर विरोध होना स्वाभाविक था। गोस्वामी गोकुलनाथजी ने ७० वर्ष की वृद्धावस्था मे काश्मीर-यात्रा कर जहाँगीर से भेंट की और इस आज्ञा को हटवा दिया। जहाँगीर ने चिद्रूप सन्यासी से प्रथम बार भेंट उज्जैन में माघ शुक्ल पूर्णिमा स० १६७३ को की थी। मथुरा की भेंट आश्विन शुक्ल दशमी स० १६७६ को हुई थी। चिद्रूप से अकबर ने भी एक बार भेंट की थी और ये दाराशिकोह के भी मित्र थे। जहाँगीर ने चिद्रूप संन्यासी की प्रशसा अपनी दिन चर्य्या की पुस्तक "तुजुक जहाँगीरी" मे विस्तार पूर्वक की है। चिद्रूप संन्यासी का कुँवर ध्यानसिंह-द्वारा चित्रित सत्रहवी शताब्दी का एक प्राचीन चित्र श्री कन्नोमलजी ने 'सुधा' नामक मासिक पत्रिका (वर्ष १ खड २ सख्या ३ पृ० ३२५-२६) में छपवाया था और मुशी देवीप्रसादजी मुसिफ ने 'श्री शारदा' (वर्ष १ सख्या २ पृ० १०२-१०५) में चिद्रूप सन्यासी सबधी एक लेख छपवाया था। कठीमाला-धारण करने के निषेध मे चिद्रूप का हाथ था या नही यह सिद्ध करना कठिन है।

'मालाप्रसग' के सबध मे श्री हरिरायजी ने गोस्वामी गोकुलनाथजी की प्रशसा मे यह कहा है——

"जयति विठ्ठल-सुवन, प्रगट वल्लभ बली, प्रबल पन करि तिलक-माल राखी।"

इस घटना से सबध रखने वाले हमें एक 'प्रसिद्ध' कवि के १६ छद खोज मे मिले है। कठी-माला-निषेध की प्रामाणिकता सिद्ध करने के हेतु केवल दो-चार छद यहाँ दिये जाते हैं। 'प्रसिद्ध' कवि रहीम, जहाँगीर आदि के समकालीन थे और इनके रचित रहीम की प्रशसा के छद मिलते हैं, अस्तु———

"जती[1] के हुकुमते लगाई न रतीक[2] बेर, हुकुम हजूर ही ते साहि[3] के कितै भए।
दूर करौ माल, ततकाल टीके भालन तें, काल हू ते विकराल दौरि हहदी[4] गए॥
बिठ्ठलेस-सुवन[5] दुवन[6] दलि भुवन में, जगत 'प्रसिद्ध' जस समयाँने[7] लै छए।
साखि परमेसुर है, भाखि कोन सकै मुख, नाखि[8] कें हुकम माला-राखि सुख को दए॥

माल तजौ साहि के कहत ही हजूर[9] गयौ, नैंक हू न नयौ[10] एक साँच ही को भाख्यौ है।
ऐंड़[11] भरे बेद-मेंड[12] को न कहू पेंड[13] तजी, जगत 'प्रसिद्ध' मरजाद को न नाख्यौ है॥
जान[14] जहाँगीर देखि धीर तन काँप उठ्यौ, गाँउं-छारि तीरथ को जाहु यहै भाख्यौ है।
बिठ्ठलेस के सपूत गोकुलेस[15] के हुलास, माल-राखि सो कलेस काहु में न राख्यौ है॥

गए कसमीर न समीर-सीत गन्यो कहूँ, ठौर ठौर परयौ सोर जोर पारावार[16] लो।
साहि के हजूर उमराव ठाढ़े सुनत है, ऐसी बात कही गोकुलेस केती बार लो॥
कठ तें न माला छारो, भाल न तिलक टारो, जगत 'प्रसिद्ध' छन डारो तन छार[17] लो।
तेही छन कीरति धरनि चहूँ ओर फिरी, जाइ देव लोक फिर पेंठिगी[18] पसार लो॥

साह सराहि कही बतियाँ, छतियाँ में गही रिस कै उसरयौ[19] ना।
कठ लें माल दिखाइ कें याहि, तजो न लजो न बजाइ[20] करयौ ना॥

[1] चिद्रूप नामक यती संन्यासी, [2] एक रत्ती भर भी, [3] जहाँगीर बादशाह, [4] सदेशवाहक सैनिक, अहदी, [5] गो० विठ्ठलनाथजी के पुत्र गोकुलनाथ जी, [6] दुष्ट, खल, [7] वितान, शामयाना, [8] उल्लंघन कर, [9] बादशाह के समक्ष, [10] झुके, [11] गर्व, [12] मर्यादा, [13] मार्ग, [14] चतुर-विज्ञ, [15] गो० गोकुलनाथ जी, [16] सिंधुपार, आरपार, [17] भस्म, क्षार, [18] समा गई, व्याप्त हुई, [19] दूर हटाना, [20] आज्ञा पालन, हुकुम-बजा लाना।

ऐसी सभा में प्रभा इनके मुख, धरम धुरंधर जीय डरयौ ना।
गोकुलनाथ जु टेक तें ए जग मांझ 'प्रसिद्ध' सु नेंक टरयौ ना॥

उपर्युक्त अवतरणों से रसखान की भक्तमाल-वर्णित कथा की पुष्टि होती है। चिद्रूप सन्यासी से जहाँगीर की भेंट सं० १६७३ तथा १६७६ में हुई थी। प्रेमवाटिका का रचना-काल सं० १६७१ है। इस कारण माला-प्रसंग के समय का रसखान के समय से मेल खाता है। गोकुलनाथजी की काश्मीर-यात्रा तथा जहाँगीर-द्वारा आज्ञा रद्द करने की बात जहाँगीर की मृत्यु (सं० १६८४) के पूर्व ही घटी होगी।

अनुमानतः जहाँगीर या उसके ब्रज-प्रदेश के उच्च पदाधिकारी ने केवल मुसलमानों-द्वारा कंठीमाला-धारण करने का निषेध किया होगा। भक्तमाल-प्रसंग में "तुरक कंठी पहिरन लगे" शब्दों में यही संकेत है। मुसलमानों-द्वारा कंठीमाला-धारण कर हिंदू-वेश-भूषा में फिरना कट्टर मुसलमानों को अवश्य ही असह्य हुआ होगा। राजद्रोह में संलग्न मुसलमान हिंदू-वेशभूषा में विचर कर गुप्त रूप से राजद्रोहात्मक विचारों का प्रचार करते थे, इसलिये राजनैतिक कारणों से भी मुसलमानों का कंठीमाला-धारण करना राज्याधिकारियों को सह्य नहीं हो सकता था। कंठीमाला-निषेध की आज्ञा इन कारणों से दी गई प्रतीत होती है। इस आज्ञा की चपेट में रसखान भी फँस गये हों तो आश्चर्य ही क्या? चिद्रूप सन्यासी का सगुणोपासक कृष्ण-भक्तों से धार्मिक मतभेद होना निश्चय है। उस पर बादशाह से मान पाना वैष्णवों को खटका होगा। चिद्रूप के नाम को कलुषित करने के लिये कुछ मनचले वैष्णवों ने शाही आज्ञा का दोष चिद्रूप के मत्थे मढ़ दिया होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्तमाल की कथा में ऐतिहासिक पुट होना संभव है। यह कथा सर्वांश में कल्पित अथवा अग्राह्य नहीं मानी जा सकती। कोई शाही आज्ञा न भी दी गई हो, परंतु कृष्ण-भक्तों में ऐसी आज्ञा पर सबको विश्वास था।

इन बहिर्साक्ष्य-पूर्ण अवतरणों के अतिरिक्त आधुनिक काल से पूर्व के लेखकों-द्वारा रसखान के विषय में कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नहीं मिलता। कवि-कोविदों ने काव्य के स्फुट संग्रह-ग्रंथों में भक्त-कवि रसखान रचित दो-चार छंदों का समावेश कर इनकी काव्य-प्रतिभा के प्रति सम्मान अवश्य प्रदर्शित किया है। भक्तों ने रसखान को भक्तश्रेणी में गौरवपूर्ण स्थान दिया और प्रातःस्मरणीय भक्त-नामावली में इनकी गणना भी कर ली गई। आगे चल कर "भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र" ने अपने 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' में तथा पं० 'राधाचरण गोस्वामी' ने अपने "नव भक्तमाल" में प्रचलित जनश्रुति के आधार पर ही इनका उल्लेख किया, परंतु व्यापक खोज-द्वारा इनके काव्य-संग्रह के लिये कोई सफल प्रयास नहीं किया। भारतेंदुजी इनकी कविता के अत्यंत प्रेमी थे। आपने भी अपने एक छप्पय छंद में अन्य मुसलमान भक्तों के साथ रसखान का केवल नाम ही गिनाया, पर कोई विशेष परिचय नहीं दिया। वास्तव में 'इन मुसलमान हरिजनन पैं, कोटिन हिंदू वारियै' इन थोड़े से शब्दों में सभी कुछ कह डाला। पं० राधाचरण गोस्वामी ने 'नव भक्तमाल' में नाभादास जी के ढंग पर रसखान का परिचय एक छप्पय छंद में 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' के मुख्य आधार पर इस प्रकार दिया है—

दिल्ली नगर निवास बादसा-बंस बिभाकर।
चित्र-देखि मन हरौ भरौ पन प्रेम सुधाकर॥
श्री गोबरधन आइ जबै दरसन नहिं पाए।
टेढ़े-मेढ़े-बचन-रचन निरभय ह्वै गाए॥
तब आप आइ सु मनाइ करि, सुस्रूषा महमाँन की।
कवि कौन मिताई कहि सकै, श्री नाथ-साथ रसखाँन की॥

इस वर्णन में तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' की कथा में मुख्य अंतर यही है कि 'नव भक्त-माल' के कर्त्ता के अनुसार रसखान ने दर्शन न पाने पर व्यंग रचना कर भगवान से कुछ उपालंभ-पूर्ण वचन कहे। भक्त-माल टीका के अनुसार रहीम ने ऐसी ही परिस्थिति में व्यंगपूर्ण दोहे रचे थे। अनुमानतः गोस्वामीजी ने ऐसी ही बात रसखान के संबंध में भी कह डाली। ऐसा भी कहा जाता है कि रसखान की

प्रेयसी बहुत मानिनी थी । उससे वे असतुष्ट से हो चले थे । एक बार श्रीमद्भागवत के फारसी अनुवाद मे गोपियो का कृष्ण-प्रति प्रेम का वर्णन पढ कर वे कृष्ण प्रेम की ओर आसक्त हो कर व्रज मे चले आये ।

इन सब वातो से यही सार निकलता है कि रसखान दिल्ली-निवासी थे और पठान बादशाहो के वश में जन्मे थे । राजनैतिक षडयंत्रो की चपेट में आकर दिल्ली की गृह-कलह और दुर्भिक्ष के कारण श्मशानवत्-दशा देख कर शाही ठाट-बाट और अपनी प्रेयसी को छोड व्रज मे आ बसे । भगवान का चित्र देख कर उन्हें श्री कृष्ण के दर्शन की उत्कट लालसा हुई और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अगीकार करने पर हिंदू-मदिरो मे प्रवेश पा हिंदू-भक्त के समान कंठी-माला-धारण कर जीवन व्यतीत करने लगे । स० १६३४ से १६३७ पर्यंत तीन वर्ष तक रामचरितमानस की कथा सुनी और सवत् १६७१ में प्रेमबाटिका की रचना की ।

भक्त कवि रसखान के कविता-काल संबंधी भिन्न-भिन्न मत

रसखान के जन्म-मरण के सवतो के विषय में अभी तक कोई मत स्थिर नही हो पाया है । शिवसिंहजी ने स्वरचित 'शिवसिंह सरोज' मे रसखान का जन्म स० १६३० में माना है । इसी के आधार पर बाबू 'राधाकृष्णदास' जी ने व्यक्टेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' की भूमिका में रसखान का जन्म स० १६३१ में माना है । शिवसिंहजी ने कवियो के जो समय दिये हैं वे अटकल से दिये हैं । ये अनेकाश में सदिग्ध सिद्ध हो चुके हैं । शिवसिंहजी-द्वारा अनुमानित सवत उचित् परीक्षा के बिना मान्य नही होने चाहिए, परतु अभी तक बिना परीक्षा के ही 'सरोज' के दिये हुए सवतो को शुद्ध मान लेने की भूल होती आई है ।

रसखान की कविता का सर्व प्रथम प्रकाशन कराने का श्रेय प० 'किशोरीलाल गोस्वामी' (वृदावन) को है । उन्होने प० 'प्रताप नारायण मिश्र' से सपादन करा के १०५ छदो सहित 'रसखान शतक' छपवाया था फिर 'सुजान रसखान' के नाम से स्वय भी सपादन किया था । 'सुजान रसखान' मे पहले गोस्वामी जी ने रसखान का जन्म-समय, 'प्रेमबाटिका' के रचना-काल, स० १६७१ से २५ वर्ष पूर्व माना था । इस अनुमान से रसखान का गोस्वामी विट्ठलनाथजी (स० १५७२-१६४२) का सेवक होना असभव हो जाता है । रसखान का निधन-काल प० किशोरीलाल गोस्वामी ने पहिले स० १६७० माना था । यह भी भ्रमात्मक था, कारण कि स० १६७१ में प्रेमवाटिका की रचना के कर्ता रसखान की मृत्यु स० १६७० मे सभव नही हो सकती । इसके पश्चात स्वसपादित 'प्रेमावटिका' के द्वितीय सस्करण (सन् १९०६-०७ ई०) की भूमिका में अपने पूर्व विचारो को बदल कर गोस्वामीजी ने रसखान का जन्म स० १६७१ से तीस-चालीस या पचास वर्ष पूर्व मानने की राय दी और विक्रम की सोलहवी शताब्दी मे रसखान का जन्म, कविता-काल तथा मरण माना । स० १६०० वि० के बाद के १६९९ तक के वर्षो को सोलहवी शताब्दी न कह कर सत्रहवी शताब्दी कहना चाहिए । स्पष्ट बात तो यह है कि गोस्वामीजी रसखान का समय ठीक-ठीक निर्णय करने में असफल रहे । स्वर्गीय बाबू 'अमीरसिंह' जी ने (सन् १९२८ ई०) 'रसखान और घनानद' नामक पुस्तक (प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी) मे पं० किशोरीलाल गोस्वामी के मतानुसार रसखान का समय स० १६७१ से तीस या चालीस वर्ष पूर्व और मरण भी उसी शताब्दी में माना है ।

मिश्रबधुओ (स०१९७०) ने भी रसखान का वास्तविक समय निश्चित करने की चेष्टा की । रसखान ने गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली थी । मिश्रबधुओ के मत से यह दीक्षा सं० १६४० के लगभग ली गई थी । उनके मत से विट्ठलनाथजी का गोलोक-वास स० १६४३ में हुआ था इससे कुछ वर्ष पूर्व ही यह दीक्षा ली गई होगी । उस समय उनकी आयु २५ वर्ष की मान कर रसखान का जन्म स० १६१५ के लगभग और मरण ७० वर्ष की अवस्था मे स० १६८५ मे माना । गोस्वामी विट्ठलनाथजी

का नित्यलीला-प्रवेश स० १६४३ में मानना ठीक नही है । वास्तविक समय माघ कृ० ७ स० १६४२ था। यह एक वर्ष की भूल 'मिश्रबधु विनोद' का आधार लेने वाले अन्य साहित्यकारो-द्वारा भी हुई है ।

शुद्धाद्वैत-संप्रदाय के प्रतिष्ठित विद्वान् प० वसतराम हरिकृष्ण शास्त्री (अहमदाबाद निवासी) ने अपने गुजराती ग्रथ 'पुष्टि मार्गनो इतिहास' मे रसखान का विस्तृत चरित्र बडे रोचक ढग से दिया है। यह चरित्र स० १९७६ में 'वैष्णव-धर्म पताका' के गुजराती तथा हिंदी दोनो सस्करणो में छपा था। शास्त्री जी ने रसखान का चरित्र एक गल्प के रूप मे लिखा था । उसमें ऐतिहासिक समीक्षा का अभाव है । शास्त्री जी ने मिश्रबधुओ द्वारा रचित 'मिश्रबधु विनोद' के आधार पर ही रसखान का जन्म स० १६१५ में माना है और यह समय गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय से मेल भी खा जाता है ।

प० रामनरेश त्रिपाठी ने पहिले अपनी "कविता कौमुदी" में रसखान का जन्म सं० १६४० में और निधन स० १६८५ में माना था । अनुमानत प० किशोरीलाल गोस्वामी के पुराने मत के आधार पर ही ये संवत् माने गये थे । त्रिपाठी जी ने अपने सपादित 'रामचरितमानस सटीक' की भूमिका के पृष्ठ ६२ पर अपना पूर्व निश्चित मत बदल-सा दिया और स० १६४० में रसखान का जन्म न मान कर अनुमानत मिश्रबधु विनोद' के आधार पर उसे वैष्णव धर्म-ग्रहण करने का समय माना।

प० वियोगी हरि ने 'विनोद' के आधार पर रसखान का जन्म स० १६१५ माना। प० रामचद्र शुक्ल ने इनका कविता-काल स० १६४० माना और डाक्टर रामकुमार वर्मा ने स० १६७१। प० प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी ने अपनी सपादित 'रसखान पदावली' (हिंदी प्रेस प्रयाग) में रसखान का जन्म स० १६१५ से १६४० के बीच में और निधन १६८० से १६८५ के बीच में माना। इन्होने उस समय प्रचलित भिन्न मतो का समन्वय करने की चेष्टा की, परतु यह नही बताया कि जन्म-समय सं० १६१५ से कुछ वर्ष पूर्व और निधन १६८५ के कुछ वर्ष पूर्व मानने में क्या शका उपस्थित होती है। प० परशुराम चतुर्वेदी ने जुलाई १९२७ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित अपने एक लेख में 'रसखान' के समय के सबध में छान-बीन करने की चेष्टा न कर केवल स्थूल रूप से उनका समय विक्रम की सत्रहवी शताब्दी माना।

उपर्युक्त विद्वानो में से किसी ने भी रसखान रचित 'प्रेमवाटिका' में दिये हुए आत्म-परिचय सबधी चार दोहे में से प्रथम दोहे पर वास्तविक विचार नही किया । रसखान ने दिल्ली को 'गदर' के कारण श्मशान के समान देखा और शाही वश का मोह छोड ब्रजवास किया। मिश्र बधु तथा उनके अनुयायियो-द्वारा मान्य स० १६१५ में जन्म और १६४० में वैष्णव धर्म ग्रहण करने के कालो को स्वीकार करने में हमे सबसे बडी कठिनाई यह पड़ती है कि १६१५-१६४० पचीस वर्ष के समय में ऐसा कोई गदर, उपद्रव या दुर्घटना होने का उल्लेख इतिहास-ग्रथो में नही मिलता जिसके फलस्वरूप दिल्ली नगर श्मशानवत् हो गया हो ।

श्री अमृतलाल शील ने 'सरस्वती' (अगस्त १९२७ ई०) में प्रकाशित एक लेख-द्वारा दिल्ली की इस दुर्घटना को नादिरशाह के भीषण आक्रमण से मेल मिलाते हुए रसखान का समय गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय के १५० वर्ष पश्चात् स० १८०० के लगभग कर दिया। अपने इस कथन के समर्थन के लिये 'प्रेमवाटिका' के रचना काल का स० १६७१ को विक्रम सवत् के स्थान में शक सवत् बनाया। उन्होंने यह विचार करना आवश्यक नही समझा कि नादिरशाह के आक्रमण के समय (स० १७९५वि० शक १६६० सन् १७३९ ई०) में रसखान गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से किस प्रकार दीक्षा ले सकते थे? इतिहास के साथ मनमानी खिलवाड करना अनुचित है ।

दिल्ली की दुरवस्था और राजनैतिक विप्लवो के कारण रसखान दिल्ली छोड ब्रज में आये थे। इस कारण सं० १६१५ से १६४० के अतकाल (अकबर के राज्यकाल) में एक भीषण विप्लव की खोज की गई। सामयिक इतिहास ग्रथो को उलट-पुलट कर एक साधारण सी घटना खोज निकाली गई और उसे ही रसखान कथित 'गदर' मान लिया गया । प० चंद्रशेखर पाडे ने अपनी पुस्तक 'रसखान और उनका काव्य' (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) में इस प्रकार के गदर का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा

की काबुल-विजय को दिल्ली के गदर का रूप दिया है। अकबर के धार्मिक विचार कट्टर मुल्लाओं को पसद न थे। इस कारण वे अकबर और उसके धार्मिक सिद्धातो का विरोध करते थे। वे अकबर से असतुष्ट होकर विप्लव की चेष्टा करने लगे, पर कभी सफल न हो पाये। काबुल का शासक मिर्जा मुहम्मद हकीम अकबर का सौतेला भाई था। मुल्लाओ ने उसे अकबर के विरुद्ध उभारा। उसने पजाब पर चढाई कर दी। अकबर ने बगाल मे उपद्रव शात कर स० १६८३ मे पजाब की ओर कूच किया, परतु उसका भाई युद्ध से मुँह छिपाता रहा। वह बडा व्यसनी और शराबी था। ६ अगस्त सन १५८१ ई० (स० १६३८) को काबुल-विजय कर काबुल में २० दिवस रहकर, अकबर लाहौर वापिस आ गया और १ दिसबर १५८१ ई० को दिल्ली पहुँच गया। अत्यधिक शराब पीने के कारण मुहम्मद हकीम की मृत्यु स० १६४२ (जुलाई सन् १५८५ ई०) में होने पर अफगानिस्तान मुगलराज्य मे मिला लिया गया। इस घटना मे ऐसी कोई बात नही हुई जिसे 'दिल्ली का गदर' कहा जा सके। दिल्ली मे तो कदाचित् एक भी गोली न चली हो। इस घटना को दिल्ली का गदर मानना एक क्लिष्ट कल्पना के अतिरिक्त कुछ नही है। क्या इस गदर से दिल्ली श्मशानवत् हो गई थी ?

यह अनुपम सूझ वास्तव मे किसकी है यह कहना कठिन है। प० चद्रशेखर पाँडे की पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व भारतवासी प्रेस, दारागज, प्रयाग से प्रकाशित 'रसखान रत्नावली' मे 'कवि किंकर' ने भी इसी घटना को ही दिल्ली का गदर माना है। किसी की भी सूझ हो पर है अनुपम। सवत् १६३८ की इस घटना को दिल्ली का गदर मानने मे एक आपत्ति यह भी है कि उस समय रसखान की आयु लगभग २३ की होती है और उससे पूर्व ही स० १६३४-१६३७ में उसने मानस की कथा सुनी। सवत् १६३८ के गदर के बाद दिल्ली छोडने वाले रसखान स० १६३४-१६३७ में मानस की कथा किस प्रकार सुन पाये ? स० १६१५ मे जन्म मानने से मानस-कथा-श्रवण के समय रसखान की आयु केवल १६ वर्ष की आती है। ये सब बाते असगत ही है और इन्हें मान्यता नही दी जा सकती।

पं० चद्रशेखर पाँडे ने 'प्रेमवाटिका' के रचना काल के दोहे मे 'विधु सागर रस इंदु' शब्दो मे 'सागर' का अर्थ ७ न मान कर ४ माना है और ग्रथ का रचना-काल स० १६७१ के स्थान में १६४१ माना है। यह इसलिये किया गया प्रतीत होता है कि उनकी धारणा के अनुसार 'प्रेमवाटिका' कवि की प्रारभिक काल की रचना है और उसके लिये उन्हें एक प्रमाण चाहिए था। ग्रथ की रचना के समय का अपने मत से विरोध दूर करने के लिये रचना काल में ३० वर्ष का अतर कर दिया। इस अनधिकार चेष्टा ने कवि के कविता-काल में और भी अधिक धाँधली उत्पन्न कर दी है।

रसखान के जन्म-मरण के समयो में जो धाँधली फैली हुई है उसका निराकरण करने के हेतु हमने एक छोटा लेख माधुरी (फाल्गुन स० २००१-मार्च १६४५ ई०) में प्रकाशित कराया था। उस लेख मे विस्तार से सभी बातो का उल्लेख न कर केवल सार बातो का ही उल्लेख किया था, परतु रसखान का समय ठीक निर्णय करने की ओर ठीक-ठीक ध्यान अभी तक किसी ने नही दिया। विश्वविद्यालयो में ऊँची डिगरियाँ प्राप्त करने के हेतु जो निबध लिखे जाते हे उन मे खोज सबधी कुछ चर्चा होती है। इन निबंधकारो ने मनमानी खोज कर समस्या को और भी जटिल कर दिया है।

रसखान के विषय मे एक बात और विचारणीय है। शिवसिंह जी ने उन्हे पिहानी-निवासी बताया है और नाम सैयद इब्राहीम लिखा है। 'सुजान रसखान' के सपादक श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने भी यही माना है। 'प्रेमवाटिका' में रसखान ने अपने को दिल्ली-निवासी बादशाह वश का लिखा है। इस कारण इन्हें पिहानी-निवासी सैयद इब्राहीम मानना असंगत प्रतीत होता है। रसखान सैयद थे या नहीं, इस पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे पठान थे। सैयद होना न होना दोनो ही संभव है।

रसखान का वास्तविक समय

अब तक जिन बातो का उल्लेख किया गया है उसमे यह निष्कर्ष निकलता है कि रसखान के वास्तविक कविता-काल-निर्णय के संबंध में कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हो सका। केवल एक या दो

वातो के आधार पर समय निश्चित करने की चेष्टा तो की गई, परतु इतिहास-सिद्ध प्रमाणो की कसौटी पर खरा उतरने वाला कविता-काल कोई भी निश्चित नही कर पाया । अशुद्ध काल-निर्णय के दो मुख्य कारण है । एक तो यह है कि नारद-भक्तिसूत्र तथा अन्य भक्तियोग-सबधी समानित ग्रथो के आधार पर स० १६७१ वि० में रचित 'प्रेमवाटिका' जैसे उत्कृष्ट ग्रथ को एक साधारण रचना मान कर उसे कवि के जीवन-काल की प्रारभिक रचना मान लिया गया है । दूसरा कारण यह है कि "प्रेमवाटिका" में दिये हुए दोहो पर ठीक-ठीक विचार नही किया गया । "देखि गदर हित साहिबी,दिल्ली नगर मसान" से जिस समय का सकेत मिलता है उसकी छानवीन आवश्यक है । किन ऐतिहासिक घटनाओ के कारण कब "गदर" हुआ और दिल्ली नगर कब श्मशानवत् हुआ, वही समय रसखान-द्वारा बादशाह-वश की ठसक छोड़ ब्रज में आने का हो सकता है । इस प्रकार से निश्चित किया हुआ समय 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता', 'मूल गुसाँई चरित' तथा 'भक्तमाल प्रसग' में वर्णित विवरणो के अनुकूल सिद्ध होने पर ही ग्रहण करने योग्य माना जा सकता है।

चौसा तथा कन्नौज के युद्धो में शेरशाह से पराजित हो कर हुमायू को स० १५९५ वि० में भारत छोड जाना पडा और कुछ वर्षों के लिये शेरशाह का राज्य स्थापित हो गया । उसकी नींव दृढ भी न होने पाई थी कि स० १६०२ (सन १५४५ ई०) मे शेरशाह सूर की मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् उसके बडे पुत्र आदिलखाँ के स्थान पर छोटे पुत्र 'सलीमशाह' उपनाम 'इसलाम शाह' ने राज्य पर अधिकार कर लिया । उसी समय से राज्य-लिप्सा-जन्य गृह-कलह का श्रीगणेश हुआ । सलीमशाह अत्यत ईर्ष्यालु था और किसी का विश्वास नही करता था । शेरशाह के समय के पुराने विश्वस्त सरदार उसे एक-एक कर छोडने लगे । उसका बडा भाई आदिल खाँ व्यसनी था और आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहता था। उसने राज्य प्राप्ति की कोई विशेष चेष्टा नही की और केवल बयाना की जागीर लेकर सतुष्ट हो गया, परतु सलीमशाह राज्य-प्राप्त कर लेने पर भी अपने बडे भाई की हत्या में सदैव प्रयत्नशील था । बिचारे आदिल खाँ को अपने प्राणो की रक्षा के हेतु भागना पडा । सलीमशाह ने उसके पुत्र (अपने भतीजे) महमूद खाँ को नजरबद किया और कुतुब खाँ सूर का दमन किया । अन्य कई सबधियो को दबाया । जलाल खाँ का वध कराया और उसके भाई को हाथी के नीचे कुचलवाया । कुछ सर्दारो ने सलीमशाह की हत्या का षडयत्र रचा और उसके चचा के पुत्र मुबारिज़ खाँ को गद्दी पर बैठाने का मतव्य किया । मुबारिज़ खाँ शेरशाह का भतीजा (निज़ाम शाह सूर का पुत्र) और सलीमशाह का चचेरा भाई और साला भी था, परतु इसी अवसर पर राज्य-प्राप्ति के आठ-नौ वर्ष बाद सलीमशाह ग्वालियर में अचानक बीमार पड गया और वही स० १६११ (सन् १५५४ ई०) में मर गया । मरते समय अपने १२ वर्ष के पुत्र का राज्य निष्कटक करने की इच्छा से अपनी बेगम 'बीबी बाई' से अपने साले मुबारिज़ खाँ की हत्या का प्रस्ताव किया, परतु उसकी स्त्री ने अपने भाई की हत्या न होने दी । सलीमशाह की मृत्यु (नवबर सन् १५५४ ई०) के बाद तुरत ही ग्वालियर में ही बारह वर्ष का राजकुमार फीरोज़ गद्दी पर बैठा दिया गया । केवल तीन दिन बाद ही 'मुबारिज़ खाँ' ग्वालियर पहुँच गया और अपने भाँजे फिरोज़ को उसकी माँ तथा अपनी बहिन 'बीबी बाई' की गोद से छीन कर बडी क्रूरता से उसका वध किया और स्वय मुहम्मद आदिल शाह (महमूद शाह आदिल) का नाम धारण कर सवत् १६११ वि० में राज्य हस्तगत कर लिया । इतने पर भी राज्य-लिप्सा-जन्य हत्याकाड का अत न हुआ और उसने शीघ्र ही और भी अधिक उग्र रूप धारण किया ।

महमूद आदिल शाह (पूर्व नाम मुबारिज़ खाँ) ने सलीमशाह के समय के बाज़ार-चौधरी के पद पर स्थित हेमू नामक एक हिंदू व्यक्ति को राज्य का पूर्ण कार्य-भार सौप दिया । हेमू का प्रभुत्व नित्यप्रति बढने लगा जिससे चिढ कर अन्य सरदारो ने विप्लव किया । उस समय सभी दलबदी में लगे हुए थे और शक्ति-सपन्न करने में जुटे हुए थे । महमूद आदिल शाह के चचेरे भाई और साले इब्राहीम खाँ ने राज्य हस्तगत कर महमूद आदिल शाह को पूर्व की ओर खदेड दिया । उसने भाग कर चुनारगढ में शरण ली और पूर्वी प्रदेशो पर अपनी सत्ता न्यूनाधिक रूप से जमाये रखी । पश्चिमी प्रदेशो पर इब्राहीम खाँ का ही अधिकार हो गया।

इस प्रकार कुछ ही महीनो में अपने भाँजे का वध कर जो राज्य महमूद आदिल शाह ने प्राप्त किया था उसे वह स० १६१२ वि० (सन् १५५५ ई०) मे खो बैठा।

इसी समय पजाब के अहमद खाँ ने इब्राहीम खाँ को परास्त कर दिल्ली और आगरा जीत लिया और सिकदरशाह का नाम धारण कर गद्दी पर आरूढ हो गया। इब्राहीम खाँ सभल मे मारा गया। सिकदर शाह (पजाब का अहमद खाँ) शेरशाह का भतीजा था और इसकी बहिन का विवाह महमूद शाह आदिल (पूर्व नाम मुबारिज खाँ) से हुआ था जो इब्राहीम खाँ से परास्त होकर चुनारगढ में जा छिपा था। इस विकट गृह-कलह का सुअवसर पाकर हुमायू ने अपनी शक्ति पुज सचित कर पजाब में सरहिंद पर अधिकार कर लिया और दिल्ली की ओर कूच कर स० १६१२ (सन् १५५५ ई०) में अपना खोया हुआ राज्य पुन प्राप्त किया। इस प्रकार नवबर १५५४ ई० से जनवरी १५५६ ई० के सवा वर्ष के अल्प समय मे राज्य की लालसा-वश दिल्ली में ऐसा भीषण गृह-कलह हुआ कि फीरोज, आदिलशाह, इब्राहीमशाह और सिकदरशाह ये चार सुलतान हुए और अत में सभी राज्य सत्ता खो बैठे।

ठीक इसी समय सवत् १६१२ (२३ जनवरी सन् १५५६ ई०) में अपने पुस्तकालय की सीढी से गिर पडने के कारण हुमायू की अचानक मृत्यु हो गई और अकबर १४ फर्वरी सन् १५५६ ई० (स० १६१३वि०) को गद्दी पर बैठा। उसने पठानो को खदेड-खदेड कर अशक्त कर दिया और कुछ ही वर्षों मे सबका दमन कर सूरवश का नाम मिटा दिया। सिकदरशाह सूर अकबर से प्राणो की भिक्षा पाकर शेष जीवन बगाल में व्यतीत करने लगा और तीन वर्ष बाद मर गया। महमूदशाह आदिल को, जो चुनारगढ मे था, बगाल के महमूद खाँ के पुत्र खिजिर खाँ ने अपने पिता के वध का बदला लेने के लिए बिहार में सूरजगढ में परास्त कर स० १६१७ में मरवा डाला। इब्राहीम खाँ जो सभल को भाग गया था, हेमू से बार-बार पराजित होकर बुदेल खड और फिर उडीसा भाग गया और कुछ वर्षों में मर गया। हुमायू की मृत्यु का समाचार मिलते ही हेमू मुगल-सेना से लडने गया और ५ नवबर १५५६ ई० को तीर की चोट से अधा होकर बदी हुआ और बैराम-खाँ-द्वारा मारा गया।

उपरोक्त इतिहास प्रसिद्ध गृह-कलह को ही रसखान ने 'गदर' का नाम दिया है। इसी गृह-कलह ने दिल्ली को श्मशानवत् कर दिया था। यह राज्य-लिप्सा-जन्य परस्पर का कलह रसखान के निकट-सबधियो के बीच ही हुआ था। वे स्वय बादशाह वश के पठान थे और अपने सबधियो में मारकाट मची देख कर व्याकुल हो गए थे। स० १६०२ में इस कलह का बीजारोपण सलीमशाह के द्वारा बडे भाई का राज्य हडपने के कारण हुआ और स० १६११-१२ में भयकर रूप से फैल गया जिसकी लपेट में सूरवश के पठानो का सर्वनाश हो गया। इस लगातार दो वर्षों के युद्धो के कारण दिल्ली नगर श्मशानवत् हो गया था और ठीक इसी वर्ष स० १६१२ वि० में भीषण अकाल के कारण जनता की बडी दुर्दशा हुई। सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। युद्ध और दुर्भिक्ष ने पीडित जनता में हाहाकार मचा दिया। बहुत बडी सख्या में मनुष्य मरने लगे। उस समय के इतिहासकार 'बदायुनी' ने इस दुर्भिक्ष और युद्ध-पीडित जनता का बडा हृदय-विदारक वर्णन किया है—

"इस समय (सं० १६१३ वि०) एक भयंकर अकाल पड़ा जो आगरा, बयाना तथा दिल्ली में विशेष रूप से प्रचड था। एक सेर ज्वारी का मूल्य २॥ टंक तक हो गया था और इस ऊँचे भाव पर भी वह अप्राप्य था। बहुतों नें विवश होकर मरने के लिए उद्यत हो अपने घरो के द्वार बंद कर लिये जिसमें दस-दस, बीस-बीस या इससे भी अधिक सख्या में प्राणी मरने लगे। अनेको को न कफन मिला न कब्र। हिंदू-जनता भी इसी प्रकार मरी। साधारण मनुष्य काँटेदार बबूल आदि वृक्षो के बीज, जगली घास और पशुओ की खाल पर जो धनिक वर्ग-द्वारा बेची जाती थी, निर्वाह करते थे। कुछ दिनो में हाथ-पैरो में सूजन आ जाने पर मृत्यु होती थी। मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है कि मनुष्य नरमांस-भक्षी हो गये थे। दुर्भिक्ष-पीडित जनता की मुखाकृति इतनी भयकर हो गई थी कि उनकी ओर देखना कठिन था। वर्षा की कमी, दुर्भिक्ष और अन्न का अभाव तथा दो

वर्ष के लगातार युद्ध के कारण समस्त देश मरुस्थल हो गया था। कृषि के लिये कृषक नहीं बचे थे। लुटेरो ने भी नगरो को खूब लूटा।"

रसखान के दोहे मे उपरोक्त ऐतिहासिक घटना का ही उल्लेख है। गदर और दिल्ली की श्मशान-वत दशा देख कर रसखान के मन में वैराग्य-सचार हुआ और वे बादशाह वश की ठसक छोड ब्रज मे चले गये। इसमें कोई सदेह नही कि दोहे में उल्लिखित घटना स० १६१२ वि० के आसपास की है। सवत् १६११ में अपने आश्रयदाता सलीमशाह की मृत्यु के बाद की देश की दुरवस्था का कुछ आभास हमें 'नरहरि' कवि के निम्नलिखित छद मे भी मिलता है,—जिसमे खेती का सूखना, अन्न-फसल का न उपजना, सेना-द्वारा प्रजा-पीडन, फूट के कारण पठानो का नाश, धन और धर्म का अभाव और हिंदू-मुसलमान दोनो की आकुलता-व्याकुलता का उल्लेख है—

"उदक-बनिज सुखि गयेउ,[1] भयेउ नहिं पुहुमि[2] अन्न-फल।
प्रजा दुखित दल मलित गयेउ फटि फूटि पठाँन-दल।।
दत्त सत्त गरुवत्त रहेउ धन धरम किति नति[3]।
मँडन सोर चहुँ ओर[4] बहुरि सँवरेउ मुगुल-पति।।
जगदीस बिलावहि बिल्खिऐ, कहिं नरहरि निस-दिन धुरक[5]।
सूरन बिन, साहि सलेम बिन, अकल-बिकल हिंदू-तुरक।"

कहने का तात्पर्य यह है कि रसखान ने सवत् १६१२ वि० की घटना से त्रस्त होकर अपने प्राण-रक्षार्थ या ससार से एकदम विरक्त होकर दिल्ली छोडी। इस तथ्य में सदेह का कोई कारण नही है। अकबर-द्वारा काबुल विजय की तुच्छ घटना को दिल्ली का गदर मानना भूल है। रसखान पठान थे। पठान वश के गदर से ही उन्हे घृणा हो सकती थी। मुगलवश का गृह-कलह उनके वैराग्य का कारण नहीं हो सकता था।

राजनैतिक कारणो से किये जाने वाले हत्याकाडो से व्यथित होकर अपने प्राण-रक्षार्थ रसखान अपनी शाही वेशभूषा तथा गर्व को त्याग और अपनी मानिनी प्रेयसी को छोड स० १६१२ में दिल्ली से ब्रज भाग आये थे। भेष बदल कर हिंदू साधु या भक्त बन कर वे अपना नाम-गाँव छिपाते हुए ब्रज में छिपे रहे और धीरे-धीरे हिंदू-से ही बन गये। उन्हें हज्ज करने की स्वय इच्छा हुई या किसी पीर का आदेश मिला, पर घटनावश न जा सके। हज्ज पर जाना सुगम भी न था। उसी समय के आस-पास बैराम खाँ को हज्ज-प्रयाण करने में ही प्राण-त्याग करने पडे थे। आत्म-रक्षार्थ अपना परिचय उन्होने किसी को न दिया होगा। न जाने कितने वर्षों तक उन्हें छद्मवेश में मारे-मारे फिरना पडा होगा। मुगल सेना निरतर शाही वश के पठानो के दमन में सलग्न थी। रसखान को गुप्त रूप से जीवन यापन करना पडा, इसी कारण उनका निवास-स्थान, माता-पिता का नाम तथा उनके वास्तविक नाम तक का भी किसी को पता नही चल सका। जो उन्हें पिहानी-निवासी सैयद इब्राहीम नाम से मानते हैं वे भूल करते है। रसखान का कल्याण अपने आप को गुप्त रखने में था। कालातर में वातावरण शुद्ध होने पर वृद्धावस्था में 'प्रेमवाटिका' में रसखान ने अपने रहस्यपूर्ण जीवन का सूक्ष्म परिचय दिया।

लगभग स० १६१२ मे जब रसखान दिल्ली छोड ब्रज में आये उनकी अवस्था बीस-बाइस वर्ष की होगी। शाही ठाठ-बाट मे रहने वाले विषयासक्त व्यक्ति के लिए वणिक-पुत्र तथा किसी प्रेयसी में आसक्त

१. जल तथा बनिज (व्यापार योग्य खेत में उपजा हुआ माल) सूख गया।
२. पृथ्वी पर।
३. दाता, सत्ताधारी और गौरव तथा धन और धर्म कहीं नहीं रहा।
४. चारो ओर शोर मँडरा गया।
५. खटका, भय, अदेशा।

होने की यही अवस्था उपयुक्त जान पडती है। इस अनुमान से इनका जन्म सं० १५६० के लगभग माना जा सकता है।

दिल्ली छोड कर रसखान व्रज मे स० १६१२ के आस-पास आये यह सिद्ध होने के बाद अब यह विचार करना है कि उन्होने वैष्णव-धर्म कब ग्रहण किया। मिश्रबंधुओ ने रसखान-द्वारा दीक्षा-ग्रहण का समय स० १६४० माना है। यह केवल अनुमान मात्र है। यदि यह बात दस-पद्रह वर्ष पूर्व भी हुई हो तो कोई बाधा नही पडती। हमारी धारणा है कि रसखान मे हिंदूधर्म के प्रति आस्था स० १६४० के पूर्व ही हो चुकी थी। यमुनातट पर स० १६३४ से तीन वर्ष तक निरतर रामचरितमानस की कथा श्रवण करने की बात हमारी धारणा को पुष्ट भी करती है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी (स० १५७२-१६४२) के चरित्र की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि वे प्रयाग के समीप अडेल मे रहते थे और उन्होने छ बार सुदूर द्वारिका की यात्रा की। स० १६२२-२३ में वे पहिली बार थोडे समय के लिये व्रज में पधारे थे। अकबर के एक शाही फरमान से सिद्ध होता है कि गोकुल की जमीन उन्हे स० १६२३ में मिली थी। फाल्गुण कृष्ण ७ स० १६२७ के दिन से वे सपरिवार गोकुल में स्थायी रूप से वास करने लगे थे। भूतल पर उनकी स्थिति ७० वर्ष २८ दिवस की रही और माघ कृष्ण ७ स० १६४२ में लीला विस्तारी। इससे ज्ञात होगा कि रसखान को गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ग्रहण करने का अवसर उनके गोकुल में स्थायी वास करने पर स० १६२७ के बाद मिला होगा।

साराश में हमारे मत से रसखान का जन्म स० १५६० के लगभग हुआ। स० १६१२ के लगभग दिल्ली छोड व्रज में आये। स० १६२७ के बाद वैष्णव-धर्म ग्रहण किया। स० १६३४ से १६३७ तक तीन वर्ष पर्यंत मानस की कथा सुनी और स० १६७१ में 'प्रेमवाटिका' रची। उनकी मृत्यु इसके कुछ वर्ष बाद लगभग ८५ वर्ष की अवस्था में स० १६७५ के आसपास हुई होगी। इस प्रकार इनका जीवनकाल गो० 'तुलसीदास' जी और 'गग' कवि के समय से पाँच-सात वर्षों के हेर-फेर से मेल खाता है। अष्टछाप के गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के चार शिष्य उनके समकालीन थे, परतु रसखान के निधन के ३०-३५ वर्ष पूर्व अष्टछाप के सभी कवियो की मृत्यु हो चुकी थी। 'रहीम' कवि रसखान से आयु मे छोटे थे और 'तानसेन' तथा 'बीरबल' के निधन के बाद भी रसखान जीवित थे।

रसखान की रचनाएँ

रसखान रचित 'प्रेमवाटिका' उनके यौवनकाल की रचना कदापि नही हो सकती। यह धारणा भ्रमपूर्ण है। इस भ्रमात्मक धारणा के आधार पर कविता-काल निश्चय करने के कारण रसखान का समय ठीक-ठीक निश्चि नही हो पाया। नारद-शाडिल्य आदि के भक्ति सबधी प्रतिष्ठित ग्रथो और श्रीमद्भागवत का मनन करने के बाद ही इसकी रचना रसखान ने की। ध्यान से 'प्रेमवाटिका' को पढने से हमारी धारणा की सत्यता सुगमता से सिद्ध हो जाती है। भक्तियोग के रहस्यपूर्ण सिद्धात का प्रतिपादन तथा गोपी-भाव की प्रेमाभक्ति की उत्कृष्टता का प्रदर्शन सरल दोहो मे करना कवि की विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है। इस प्रकार की रचना पूर्ण प्रौढावस्था प्राप्त होने पर ही हुई होगी। वह तरुणावस्था की रचना नही हो सकती।

रसखान के सवैये इतने श्रुति-मधुर और भाव-भरे है कि जो कोई भी उन्हें पढता है मत्रमुग्ध-सा हो जाता है। हिंदी-प्रेमी सर्वदा ही रसखान की कविता के प्रेमी रहे है। कुछ बातो में तो उनकी अपनी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका अनुकरण करने पर भी अन्य कवि उनकी बराबरी नही कर सके। एक मुसलमान-द्वारा ऐसी रचना करना जो भक्ति-रस से ओतप्रोत हो और माधुर्य भाव के कारण अनुपम हो, कोई साधारण बात नही है। साहित्य के मच पर रसखान का स्थान बहुत ऊँचा है, परतु खेद है कि उनकी रचित 'प्रेम-वाटिका' और कुछ स्फुट छदो के अतिरिक्त अन्य कोई रचना प्राप्त नही है। रसखान ने स्फुट छंद पर्याप्त सख्या में लिखे होगे, परतु सौ सवा सौ सवैयो के लगभग ही प्रकाश में आये है। जो कुछ प्राप्त हैं उसके

लिये हिंदी-प्रेमी प० किशोरीलाल गोस्वामी के चिरकाल तक ऋणी रहेंगे। उन्ही के प्रयत्न से हमें रसखान की कविता का आनंद प्राप्त हो सका है।

भक्त कवि रसखान की कविता की खोज के लिये भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, प० प्रतापनारायण मिश्र बाबू राधाकृष्णदास, प० राधाचरण गोस्वामी आदि ने यथेष्ट प्रयत्न किया था, परतु प० किशोरीलाल गोस्वामी-द्वारा सचित सामग्री से अधिक कुछ प्राप्त न हो सका। अन्य सज्जनो ने भी प्रयास किया। लखनऊ से प्रकाशित मासिक पत्रिका सुधा, (वर्ष १ खड २ सख्या ५) में 'रसखान-शतक' तथा रसखान के छदो को प्राप्त करने के लिये एक विज्ञप्ति भी प्रकाशित हुई थी, परतु कुछ नई सामग्री हाथ न लगी।

सबसे पहिले प० किशोरीलाल गोस्वामी ने कानपुर के पं० प्रतापनारायण मिश्र से सपादित करा कर १०५ छदो का सग्रह 'रसखान-शतक' के नाम से प्रकाशित कराया था। तदुपरांत 'सुजान रसखान' स० १९४८ में और दूसरी बार १९७६ में छपवाया। स० १९४८ में उन्हें 'प्रेमवाटिका' की प्रति मिली जिसे वह दो बार छपवा चुके हैं। दूसरा सस्करण स० १९६३ में छपा था। व्यकटेश्वर प्रेस बबई से प्रकाशित 'राग रत्नाकर' में जालधर निवासी 'लाला भक्तराम' ने भी रसखान के १०९ छद प्रकाशित किये। इसी प्रकार लखनऊ निवासी लाला केदारनाथ' ने १०५ छदो का सकलन "रसखान के कवित्त-सवैया" नाम से दो बार छपवाया। दूसरी बार उनका प्रकाशन स० १९७१ में हुआ था। इस प्रकार रसखान के छदो के तीन स्वतत्र संकलन छपे जो एक दूसरे से मेल नही खाते परतु छद-संख्या में अधिक अंतर नहीं है। 'सुजान रसखान' और 'राग रत्नाकर' में सकलित छदो के आधार पर अन्य सस्करण छपे, परतु लखनऊ से दो बार छपने पर भी लाला केदारनाथ के सग्रह से हिंदी-ससार अनभिज्ञ ही रहा। इन तीनो में प्रकाशित छद सख्या इस प्रकार है—

	'सुजान रसखान'	'रागरत्नाकर'	'लालाकेदारनाथ' का सग्रह	'संमिलितसख्या'
स्फुट दोहे-सोरठे	१४	१	–	१४
सवैया	१०३	९८	९६	१२६
कवित्त	१२	११	९	१३
योग—	१२९	११०	१०५	१५३

इसके बाद नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित अमीरसिंह जी का सस्करण स० १९८६ में, हिंदी-प्रेस प्रयाग से श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी की 'रसखान पदावली' स० १९८९ में, भारतवासी-प्रेस, प्रयाग से किंकर जी की 'रसखान रत्नावली' स० १९९७ में और हिंदी-साहित्य समेलन प्रयाग से चद्रशेखर पांडे का 'रसखान' स० १९९९ में प्रकाशित हुए। अहमदाबाद से भक्तिग्रथमाला में 'महानुभाव रसखान' प्रकाशित हुआ। इन सब सस्करणो में किसी नवीन सामग्री का समावेश नहीं हो सका। 'प्रेमवाटिका' के ५०-५३ दोहे मिला कर सभी प्रकाशित संस्करणो की समिलित छद-सख्या ६४ दोहे, ३ सोरठा, १२९ सवैया, १३ कवित्त और १ पद, इस प्रकार केवल २०७ छंद-पद-आदि से अधिक प्राप्त नहीं हैं। भारतेंदु जी के समय से आज तक अधिक छदो की खोज निकालने में किसी को भी विशेष सफलता नही मिली।

हमने मथुरा, वृंदावन, गोकुल, कामवन, नाथद्वारा, कांकरौली, बूंदी, कोटा, [illegible] आदि स्थानों में खोज की। मदिरो के तथा अन्य पुस्तकालयो में छानबीन की। गुजरात और राजस्थान में भी [illegible] किया। मु० देवीप्रसाद जी जोधपुर, पुरोहित हरिनारायण शर्मा जयपुर, गोविंद [illegible] वसतराम हरिकृष्ण शास्त्री अहमदाबाद (गुजरात), डाक्टर सरजू प्रसाद इंदौर आदि की सहायता से [illegible] गत ३० वर्ष के परिश्रम से कोई सतोषजनक सफलता न मिली। सग्रह-ग्रथो में से दो-दो [illegible] संकलन भी विशेष रूप से सहायक न हुआ। इस खोज के फलस्वरूप हम जो सामग्री [illegible]

संतोषजनक न होते हुए भी उससे इस समय प्राप्त सख्या मे ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। इस सामग्री में 'प्रेमवाटिका' के ५३ दोहे समिलित करने पर जो छन्द-सख्या निकलती है उसका विवरण इस प्रकार है—

	सभी प्रकाशित पुस्तको से प्राप्त छद	हमारी खोजसे प्राप्त अप्रकाशित अतिरिक्त छंद	पूर्णयोग
दोहा	६४	२	६६
सोरठा	३	१	४
सवैया	१२६	८६	१२५
कवित्त	१३	७	२०
पद	१	४	५
योग	२०७	१०३	३१०

हमारे प्राप्त छदो से सख्या में ही डेढ गुनी वृद्धि नही हुई, परतु प्राप्त छदो के पाठ मिलने मे भी बडी सुविधा प्राप्त हुई। विश्वविद्यालयो के विद्यार्थियो को अध्ययन की सुविधा दी गई और जिससे जैसा बना इन छदो का उपयोग किया और कुछ छदो को छपवाया भी। दो-दो चार-चार बिखरे हुए छद प्राचीन हस्तलिखित सग्रह-ग्रथो में अवश्य मिले, परंतु सबसे अधिक छद हमें स० १८७७ की हस्तलिखित प्रति 'कवित्त रसखान के' से स० १६८२ में प्राप्त हुए। इसमें १७६ छद है जिनमे लगभग १०० छद ऐसे है जो 'सुजान रसखान' में नही है। इससे अधिक सामग्री प्राप्त होने की आशा नही है। हिंदी-प्रेमियो को कदाचित् इतनी ही सामग्री से सतोष करना पडेगा। आवश्यकता तो एक प्रामाणिक सस्करण के प्रकाशन की है।



श्री भगवतरसिक जी की वाणी

राग-देवगाधार

सखी, यै सुनौं अलौकिक बात।
स्यांम-तमाल-असकंधन फूले द्वै सुंदर जलजात॥
तिन्ह के दर्सन अग्र-अग्रहि लखि, उडुपति तिनहिं लजात।
तिन्ह पै ब्याल-सुबर्न, बरही-सुत, खेलत हिलिमिलि गात॥
तिन्ह के कोस अरुनता अविचल, वारौं अरुन प्रभात।
तिन्ह के मूल मराल-मंडली, उछरि-उछरि किलकात॥
तिन्ह के निकट निवास सु तिन्हैं कौं, कलरव सुनत सिहात।
'भगवत रसिक' कहति नहिं आवै, निरखत नैंन सिरात॥

राग-आसावरी

अलौकिक वृच्छ बिलोक्यौ आज।
फूल्यौ,-फल्यौ, हरयौ नव रंग-रंग, मंजुल, मृदुल समाज॥
थर पर कमल, कमल पर कदली, कदली ऊपर सुर्ई।
सुर्ई ऊपर सुभग मनोहर, नारकेल-रस पुर्ई॥
नारिकेल पर फूल्यौ रबि-मुख, पाँच फूल ता माँही।
जया, कुंद, तिल, महुवर, अंबुज, उपमा को कछु नाँही॥
आलबाल रसिया 'भगवत' भुज, वेखत भावुक नैंना।
सेवत, सींचत रहत रैंन-दिन, बिमल-बारि उर ऐंना॥

राग-झझोटी

राधा-बदन पर जलजात।
चिकुर नभ सीमंत बर कबि पाँत कल जलजात॥
रूप रस ते प्रघट बर सोहैं नैंन जलजात।
हास-रस बचनावली बरषत मधुर जलजात॥
कंठ कलित त्रिरेख वेखत जलत बर जलजात॥
बिर्तेन-बेदैंन हरैंन को हरि बैंद बर जलजात॥
वारिऐं छबि धरनि पै त्रैलोक-मनि जलजात।
'रसिक भगवत' स्वाँमिनी बर, दाँन-सक जलजात॥

राग-राछरौ

हो प्यारी राधे, सौंमन मन-भाँमन भयौ, चलि सुरति-हिंडोरैं झूलि॥
हो प्यारी राधे, माँथे मुकट सुहाँमनौं अरु नचत सिखिर-चढि मोर॥
हो प्यारी राधे, घन गरजत, मुरली बजै, अरु दाँमिन मुरि मुसिकाँन॥
हो प्यारी राधे, बचैंन-रचैंन कल कोकिला अरु मुक्तावलि बग-पाँति॥
हो प्यारी राधे, स्याँम-घटा-तन अलि बन्यौं, अरु इंद्र-धनुष बनमाल॥
हो प्यारी राधे, छूटे कच टूटे धुरा, औ दादुर मृदु मंजीर॥
हो प्यारी राधे, अर्दैन-बर्दैंन बादर करे, अनुकूली बर मौंन॥
हो प्यारी राधे, हरित भूमि हरिखी-सुखी, अरु इंद्र-बधू अवतंस॥
हो प्यारी राधे, नवल नेह उलहो लता, अरु किसलैं-दल-पद-पाँन॥
हो प्यारी राधे, संतत रास-बिलास की, अरु चलत पवन झकझोर॥
हो प्यारी राधे, प्रेंम-पुलक रस धरखि-हीं, अरु सरसत सरित अनंग॥
हो प्यारी राधे, 'भगवत'-उर-सरवर भरयौ अरु फूले दृग-जलजात॥

ब्रजभाषा के गुजराती पद-प्रणेता

श्री जगदीश गुप्त

किसी एक प्रदेश के साहित्य में जब किसी अन्य प्रदेश की भाषा का प्रयोग मिलता है तो निश्चय ही उसके पीछे कोई न कोई सा कृतिक आधार रहाता है जो कभी राजनीतिक, कभी धार्मिक और कभी साहित्यिक कारणो से अद्भुत होता है। गुजरात के कवियो-द्वारा ब्रजभाषा का जो प्रयोग मिलता है उसका कारण राजनीतिक न होकर पूर्णतया धार्मिक एव साहित्यिक है। गुजरात तथा शूरसेन-प्रदेश का सास्कृतिक सबध अज्ञात काल से रहा है। कृष्ण का यादवो सहित मथुरा छोडना और सामूहिक रूप से द्वारावती अथवा द्वारका को अपनी राजधानी बना लेना दोनो प्रातो के सास्कृतिक इतिहास की एक अत्यत महत्त्व र्ण घटना रही है जिसका परोक्ष प्रभाव गुजराती और ब्रज के साहित्यक सबधो पर भी पडा है। एक महत्वपूर्ण तीर्थ-स्थानके रूप मे द्वारका की मान्यता के प्रभाव १० वी, ११ वी शती से मिलने लगते हैं और लगभग इसी समय तक प्रभास तथा सोमनाथ आदि का भी सार्वदेशिक महत्व स्थापित हो चुका था। १३ वी, १४ वी शती के चालुक्यो तथा सोलकियो का शासन कन्नौज तक फैला था और इस समय सूरसेन-प्रदेश से गुजरात का सास्कृतिक सबध और भी विकसित हो चुका था। १६ वी शताब्दी के भक्ति-आदोलनो ने राजस्थान और गुजरात को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया, किंतु यह प्रभाव उनके साहित्य में पूर्ण रूप से १८ वी शती के कवि 'दयाराम' में प्रकट हो सका, इस से पूर्व के साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति स्फुट रूप मे ही मिलती है। शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक वल्लभाचार्य ने सपूर्ण गुजरात की यात्रा की। 'चौरासी बैठकन के चरित्र' के आधार पर ज्ञात होता है कि उन्होंने द्वारका, जूनागढ, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि अनेक स्थानो का पर्यटन किया और वहाँ से लौटने के बा स० १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना की। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक गोस्वामी विट्ठलनाथ ने स० १६१० मे १६२८ तक छै वार गुजरात की यात्रा की[1]। इन यात्राओ का उद्देश्य ब्रज में स्थापित पुष्टिमार्ग या भक्ति-सप्रदाय के रूप मे व्यापक प्रचार करना था। वल्लभ-सप्रदाय के सिद्धातो की गुजरात की संस्कृति मे इतनी अनुकूलता रही कि कालातर में गुजरात में 'वैष्णव' शब्द पुष्टिमार्गी भक्त का पर्याय हो गया और गुजरात वल्लभ-मत का घर ही वन गया[2]। गोकुल और ब्रज कृष्ण की लीला-भूमि होने के नाते कृष्ण-भक्तो के लिये ऐसे ही पूज्य स्थान थे, सप्रदाय के प्रधान पीठ होने के नाते उसकी मान्यता गुजरात में और भी बढ गयी। जहाँ तक ब्रजभाषा का प्रश्न है, इस ब्रज-प्रदेश की भाषा का जन-भाषा होने के कारण, साहित्य-निर्माण से पहले भी एक लोक-व्यापक रूप था, परतु उसका साहित्यिक स्वरूप अब तक के उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर १६ वी शती से पूर्व ही स्थिर हो चुका था। १६ वीं तथा १७ वी शती में तो ब्रजभाषा-साहित्य ने चरम उत्कर्ष प्राप्त किया। समस्त उत्तर भारत में उसको आदर प्राप्त हुआ, यहाँ तक कि बगाल में कृष्ण-काव्य की भाषा का नाम ही 'ब्रजबुलि' पड गया। गुजरात में भी लगभग इसी काल में अनेक ऐसे कवि उपलब्ध होते हैं जिन्होंने

1. (१) अडेल से गुजरात। (२) स० १६१३ में पुन. अडेल से गुजरात। (३) सं० १६१९ गढा से। (४) सं० १६२३ में मथुरा से। (५) स० १६३१ में गोकुल से। (६) स० १६३८ में।

—गुजराती-साहित्य, मध्य ५, (मध्यकाल नो साहित्य-प्रवाह) पृ० ३६५

2. 'हवे सा वल्लभ मतनु धामज गुजरात थइ गयुं।'—वैष्णवधर्म नो संक्षिप्त इतिहास,

—दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, पृ० १८८

भालण के दशमस्कंध मे व्रजभाषा के अनेक पद मिलते है, जिनमें से छै पद भालण की छाप वाले हैं। शेष मे से तीन पद 'सूरदास' के, तीन 'विष्णुदास' के, एक 'मेहा' का तथा एक 'शीतलनाथ' अथवा 'रसातलनाथ' का है। प्रक्षिप्त पद ग्रथ की सभी हस्तलिखित प्रतियो मे समान रूप से नही मिलते। जो प्रतियाँ प्राचीन है उनमे सूरदास का केवल एक पद मिलता है और विष्णुदास के व्रजभाषा के पदो के स्थान पर अन्य गुजराती कवियो के पद प्राप्त होते है[1], किंतु जहाँ तक भालण की छाप वाले पदो का सबध है वे नवीन-प्राचीन सभी हस्तप्रतियो मे उपलब्ध होते हैं। इससे उनके भालण कृत होने की ही सभावना अधिक प्रतीत होती है। भालण के छहो पद निम्नलिखित है—

"कौन तप कीनो री माई नँद-घरणी।
लै उछंग हरिकूँ पय प्यावत, मुख चुबन मुख भींनो री।।
तृपत भए मोहन जु हसत हैं, तब उगमत अधर ही कीनो री।
(जशोमती) लटपट पूछन लागी, बदन खेंचि तब लीनो री।।
रिदे लगाये बद जु मोहि तू कुलदेवा दीनो री।
सुदरता अग-अग कहा बरनूं, तेज ही सब जुग हीनो री।।
अतरिच्छ सुर इंद्रादिक बोलत, ब्रज-जन कौ दुख छीनो री।
इह रससिंधु गान करी गाहत है 'भालण' जन-मन-भींनो री।।

—पृ० ५३-५४

मैया, मोहे भावे दधि भात।
निद्रा में हरि असो बोले, ठाडी सुनत देवकी मात।।
तब आगे दंतधावन कीनो, निकट आय जननी कहे प्रात।
दधि ओदन भोजन करौ लालन, जो मन में रुचि सामल गात।।
मैया सो तो ग्वाल कौ खेबौ अब मेरे मनने भात।
कहो गोकुलीचें ते लालन असो कहे जननी मुसकात।।
कहाँ सगो कहाँ दधि-यमुना तट, कहाँ वे रुचि कहाँ अब्रुज पात।
'भालण' प्रभु रघुनाथ बदत है, बरस की रही व्रज में बात।।

—पृ० १९९-२००

व्रज को सुख समरत स्याम।
परनकुटी सो बीसरत नाहीं, नाहींन भावत सुंदर धाम।।
बदीर मात्र नवनीत के कारन, ऊखल बाँधे ते बहु दाम।
चित्त में वेजु चुभी रही है, चोर-चोर कहते हे नाम।।
निस दिन फीरतो जु सुरभि के संगे, सिर पर परत शीत घन धाम।
निस फुनि दोहन-बंधन को सुख, करि बेठत नाहीं जो नाम।।
मोरपिच्छ गुंजाफल ले ले, वेख बनावत रुचिर ललाम।
'भालण' प्रभु विधाता की गति, चरित्र, तुमारे हे सब वाम।।

—पृ० २००-२०१

कहो मैया, कैसे सुख पाउँ।
नाहिन सो लोक श्रीदामा खेलन सग कोन में जाउँ।।
नाहिन गृहे वे ब्रजबासीन के, जहाँ चोर-चोर दधि माखन खाउँ।
नाहिन वृंदावन अति वल्लभ, जा कारन हुं गौ चराउँ।।

[1]. हिंदुस्तान (गुजराती दैनिक) मुंबई, आवृत्ति १८-११-४९" पानुं ४

नाहिन बृंद जु गोपीजन को, जा कारन मृदु बेन बजाऊँ।
नाहिन जमलार्जुन वृख दोऊं, जा कारन हुँ आप बँधाऊँ॥
नाहिन प्रेम अैसो कोउकुं, जाकुं मेरी कथा सुनाऊँ।
'भालण' को उर सीक जु नाहीं, अहियां के आगे ब्रज के गुन गाऊँ।
अब पढबे कौ आयौ दिन।
अैसे बरस पढे गने नाहीं, क्रीडा कीनी नद-भुवन॥
सुत कौ सुख पायौ जसोदा, मेरे पूरब नाहीं जु पुन्न।
आएँ दो दिन भए जु नाहीं, उठ चले फुन जुग-जीवन॥
अहि बाजकर हरि जु चले फुनि, देखन हु कहाँ बृंदाबन।
हम पर प्रीत नाहिन मोहन की, जैसौ ब्रज ऊपर है मन॥
कहाँ कुमति आनकदुंदुभि की, पठव रहे जो सावर-घन।
पाछे आए की कहाँ आसा, राम सग चले पीत-बसन॥
जहाँ सिधावै गिरिधर वे, अवनी लोक सब धन।
बिरह बेदना हरि नहि जानत, जानत है वे 'भालण' जन॥
सुत, मैं सुनित लोक में बात।
मेरे सो तुम सत्य कहौ, सुदर स्यामल गात॥
संदीपन कौ सुत मृत्यु भयौ, उदधि जल में पात।
बहोत दिवस ताकु निवड गए ते रोइ रहे वे मात॥
तम पे गुरु दच्छना माँगी, आँन दीयौ विख्यात।
खट सुत कसे बधे है मेरे, जेष्ट तिहारे भ्रात॥
सो मोकु को देत जु नाहीं, जो कछु बल्लभ मात।
'भालण' प्रभु बिरद अति ताते, मेरो मन उकलात॥"
—पृ० २०१,२०७

भालण के यह सभी पद कृष्ण के बाल अथवा किशोर रूप से सबधित है और इनमें या तो यशोदा का या देवकी का वात्सल्य-भाव अकित है। भालण ने कृष्ण की बाललीला के विषय में अनेक पद गुजराती में भी लिखे है। यह वस्तु-सत्य इस बात की सभावना को और भी बढा देता है कि कदाचित् सूरदास के ब्रजभाषा के वात्सल्य विषयक पदो से उनका परिचय पर्याप्त रूप में रहा होगा। सूरदास ने इस तरह के पदो की रचना सप्रदाय-प्रवेश अर्थात् स० १५६७ के पश्चात् की। अतएव यदि भालण पर सूरदास का प्रभाव स्वीकार किया जाय तो उनका कविता-काल १६ वी शती ई० का पूर्वार्ध निश्चित किया जा सकता है।

विष्णुदास तथा मेहा के विषय में यह नही कहा जा सकता कि वे गुजराती के कवि थे। यही सभावना अधिक है वे ब्रजभाषा के ही कवि रहे होगे। यो विष्णुदास नामक दो-एक गुजराती कवि भी हुए है। मेहा का नाम ब्रजभाषा के कवियो के साथ गिनाया गया है—

"सूरदास, मेहा, परमानंद, नृत्य करें ततथेई।"

केशवदास के कृष्ण-क्रीडा-काव्य मे केवल एक स्थल पर ब्रजभाषा का प्रयोग मिलता है। पहले राधा की मान लीला के सबध का एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है—

गीत, राग-आसावरी

"बिरह भावे भजतां निशी भामिनी, जाणी जगदाधार।
साद करे प्रेम 'राधा राधा' तोहे ने खोले द्वार'[1]॥

[1] दो गुजराती पक्तियाँ।

त्यज अभिमान गोवाली ! घरय आयो श्री बनमाली। (ध्रुवपद)
याके चरण चतुर्मुख सेवे, किंकर होय कपाली ।।
जो बनमाली तो फूल बेंचजे चुवे बेल गुलालाँ।
सुण्य चतुरी ! हूं चक्री तूं काण कवण कुलालाँ ।।
अरे, अरे अनग हूं अबला "नाग तमें हम नारी।
हूँ हरि हेलां हश महि रखणी, तू माँकड़ बन मुरारी ।।
प्रेम कलह प्रेम पस्य पस्य मडे, जम होय कोयक कामी।
वार उघाड़ी मल्यौ मधुसूदन, 'केजवदास' चो स्वामी ।।"

इसके आगे फिर चौपै की दो पक्तियाँ गुजराती की है, जो वर्ण्य-विषय की सूचना देती है, जैसे उपर्युक्त पद में—

"एक बार आवी गोलणी, रात करी केशव नी घणी।
मात ! माँड न वारो तम्ने, एम करनाँ क्यम वसिऐ अहो ।।"

तदुपरात एक निश्चित क्रम से कारिका की एक-एक पक्ति के पश्चात् त्रोटक की चर-चार पक्तियाँ दी गयी है। इस प्रकार ४० पक्तियो का यह ब्रजभाषा का एक दूसरा पद प्राप्त होता है, जो यशोदा और गोपी के सवाद के रूप मे पहिले पद के तत्काल वाद में दिया हुआ है। जैसे—

कारिका

"सुन हो जसोमति माय ! कृष्ण करत हैं अति अनिआय।

त्रोटक

कृष्ण करत है अनियाय, अतलीबल गोपी कौ कह्यौ न मानें।
देखत लोक लाज कुछ नाहीं, नारच बोलावत ही शानें ?
हम गुनवती सती सुलखणी, यह बिध्य रहौ न जाय।
कोपहि काल्य सुनेंगौ कंसासुर, सुन हो जसोमति माय ।।

कारिका

अरे, अरे बाउरी गोपी ! तें लाज हमारी लोपी।

त्रोटक

लाज हमारी लोपी, तुमही सब मिल बाल भूलायौ।
जहाँ जहाँ फिरैं गहन बन गोचर, तहाँ तहाँ संग आयौ ।।
अजी अँखियाँ कीयौ तुम अंजन ! "कहे इम माता कोपी।
छांडो सब चतुरी चतुराई, अरे, अरे बाउरी गोपी ।।

कारिका

कपट करे हे तुम आगें, सेज सूये नही जागे।

त्रोटक

सेज सूये नहीं जागे, सुंदर बालक आय बोलावे।
जमुना-तीर तरुन सब देखत, मोहन बेनु बजावे ।।
लीना चित्त चुराइ 'चत्रभुज', कहते कछु न लागे।
हम अबला अे धीर धरनीधर, कपट कर ही तम आगे ।।

कारिका

कुँअर मेरो री छोटौ, माननी बोल नाँ इम खोटौ।

त्रोटक

क्यो कर चित्त चोरायो, हूं बोलत कुछ न आवे।
फल परसु कौ जायी तुम चित्त किस्त विघ्य चुरावे॥
ग्रही अगुली चलावू गोविंद, नाहं मावौ मोहोटौ।
स्त्री को चरित करो अम आगे, कुँअर मेरौ छोटौ॥

कारिका

माता! कहनो न मानें, कामणगारो ताहारो कान।

त्रोटक

कामणगारो काहानउ कहीये, बहु विध रूप दिखावे।
हम आगे होय मयण मनोहर, बालक होकर आवे॥
बूझो नहीं यह पूत के प्राक्रम, जो लहीऐ भगवाने।
जीनकौ भेद कलहि नहीं कन हो, माता कहनो न माने॥

कारिका

ये धाता सरजी नारी, सहि ते रूप से हारी।

त्रोटक

सहि ते रूप से हारी, सुनी है अघटित घाट घटावें।
माया करके विश्वकू मोहैं, अबला अचल चलावें॥
कहाँ तुम सह सगने हो सुदरि, कहाँ यह अेक मुरारी।
त्रिभुवन माँहि नहीं को तोले, धाता सरजी नारी॥

कारिका

न रुवे नद की रानी! मत कहौ मात रिसानी।

त्रोटक

मत कहौ मात रीसानी, बोलै यह अपराध हमारौ।
घर में रहे सदौ गुनसागर, कोमल कुँवर तह्मारौ॥
सबही सखी तम्हारी पूर्वे, हम अहिरी अजानी।
बडे से हेती अेसी बात न कीजें, न रुवे नंद की रानी॥

कारिका

यह बिद्ध करही अनुदिन क्रीडा, बनिता छाँडयन व्रीडा।

त्रोटक

बनिता व्रीडा छाँडय हि बोले, हर्षे मात हँसावे।
मिंदर काज करे नही कैसे, मिस कर माननी आवे।
'कैसोदास' कहे धन्य गोपी, धन्य युव सहेनीडा।
चरण्यकी रेण चतुर्मुख बछे, यह बिध अनुदिन क्रीडा।" —पृ० १०६-१

इसका सवादात्मक रूप, सिंहावलोकन पद्धति, गुजराती पन लिये हुए शब्दावली तथा छद-विन्यास इसे व्रजभाषा की पदशैली से भिन्न कर देते है। लगता है कि कवि को व्रजभाषा का ऊपरी ज्ञान है और वह उसे काव्य में प्रयुक्त करने का प्रयास सा कर रहा है इसी लिये दोनो का मिश्रण हो गया।

केशवदास पर अष्टसखाओ के काव्य का प्रभाव स्वीकार करने के विषय में गुजराती विद्वानो में मतभेद है। रामलाल चू० मोदी ने इसे स्वीकार किया है और केशवराम काशीराम शास्त्री ने अस्वीकार[1]

[1] 'व्रजभाषामा रचेला . . न गई होय।' —कवि-चरित भाग १ पृ० ८३

यद्यपि अब शास्त्री जी भी दूसरी ओर झुक गये है। 'भालण ब्रजभाषा नो आदिकवि' शीर्षक अपने लेख मे उन्होने भालण के आदिकवि होने की ही बात कही है, केशवदास को छोड दिया है।

इन कवियो के बाद 'लक्ष्मीदास', कृष्णदास' तथा 'ब्रेहदेव' पर विचार करना शेष रह जाता है जिनके विषय मे समय की सगति-असगति का कोई प्रश्न नही उठता।

ब्रेहदेव की 'भ्रमरगीता' नामक प्रति मे भी एक पद ब्रजभाषा का प्राप्त होता है। पद का विषय वही है जो समस्त कृति का। पूर्वापर प्रसग की दृष्टि से भी यह पद उचित स्थान पर ही प्राप्त होता है। पद निम्नोक्त है—

"प्रीत बनी है ऐसी नीकी।
नाही री ऊधो दिवस चार की, मोहे तौ पेले भवकी।।
—प्रीत बनी है ऐसी नीको।।
बिन-दिन प्रीत बढी जाए ऊधौ तिल क्यो आ तन छूटे।
अब निसि गाँठ पडी माधौ सु नवि छूटे तन तूटे।।
—प्रीत बनी है ऐसी नींकी।।
माधौ बिन मेरे हैऐ ऊधौ, उर ना कोय सुहाए।
बिबिध रूप छाँरी मेरे नयनाँ, स्वरूप स्याम को चाहे।।
—प्रीत बनी है ऐसी नींकी।।
बचन पराए सुनत दुख उपजै, हरि-लीला-बिन सोई।
'ब्रेहदे' प्रभु बिना री ऊधौ, वानी सफल न होई।।
—प्रीत बनी है ऐसी नींकी।।"

—भ्रमरगीता कडवू २५ बृहद्काव्य दोहन भा० १ पृ० ६७५

इस पद के अत मे 'सूरदास प्रभु' की तरह ब्रेहदेव ने भी अपने नाम की छाप "ब्रेहदेव" के रूप मे अकित कर दी है। अन्य अनेक भक्त-कवियो के पदो मे भी इसी प्रकार की शैली मिलती है। ब्रेहदेव की ब्रजभाशा में केशवदास की अपेक्षा गुजराती का बहुत कम मिश्रण है।

लक्ष्मीदास नामक गुजराती कवि ने भी कृष्ण-भक्ति के अनेक स्फुट पदो की रचना की, जिनमे व्रजभापा का पर्याप्त मिश्रण है। कुछ पद तो शुद्ध ब्रजभाषा में ही रचे गये है जिनमे से एक नीचे उद्धृत किया जाता है—

"आजु सरे सफल भए नैंन।
कोटि मनमथ रूप चतर जु, निरखे गिरिधर चैंन।।
कोटि रबि-छबि जोति आनन, अंबर कोटिक मैंन।
'जन लखिमिदास' बिचित्र तरूनी, लिखी चित्र से ऐंन।।"

इसके अनतर चार और पद एक पद 'केदारा' का, एक 'रामगरी' का, एक 'बसत' का तथा एक 'कानरा' का प्राप्त होते है।

कृष्णदास नामक एक अन्य कवि की एक 'श्री रुक्मणी-विवाह नाँ पदो' नामक रचना मे भी कुछ पद ब्रजभापा के प्राप्त होते है। यह रचना वस्तुत विभिन्न विषयो के पदो का एक लघु सग्रहमात्र लगती है। सूर आदि कुछ ब्रजभापा के कवियो के पद भी इसमे प्रक्षिप्त रूप से मिलते है। इन पदो की प्रामाणिकता का पूर्णतया निर्धारण सभव नही है।

विष्णुदास और मेहा के पद

राग-देवगाधार

कर मोदक माँखन-मिसरी लै, कुँवर के सँग डोलत नँदरांनी।
मिस करि पकर न्हवायौ चाँहत, बोलत मधुरी बाँनी।।
कँनक-पटा आँगन में राख्यौ, सीत-उस्न धरि पाँनी।
रतँन-कटोरा सोधौ-उबटँन, चँदन काँकसी आँनी।।
यों लाई मंजन-हित जननी, चित्त चतुरई ठाँनी।
मन में मतौ करत उठ भाजे, बुखित केस-अरुझांनी।।
निरख नैंन-भरि देखत रांनी, सोभा कहत न बांनी।।
गात सचिक्कन यों राजत है, ज्यो घन बिजु लपटांनी।।
आओ मनमोहन मेरे ढिंग, बात कहो इक छाँनी।
एक खिनोंनां तात जु लाए, बल अजहूँ नहिं जांनो।।
राजकुँवर इक न्हात ते भाज्यौ, ताकी कहों कहांनी।
बढी न बैंनी रही जु तनक-सी, वाकी दुलहिन देखि हँसानी।।
बैठे आइ न्हाइ पट पेंहरे, आँनद मन में आँनी।
'बिस्नुदास' गिरिधरँन सयाँने, मात कही सोई माँनी।।

राग-केदारी

छाँडिबे तु माँनिनी, स्याँम-सग रूठिबौ।
रहत तुव-लीन, जल-मीँन ज्यो सुंदरी, करौ क्यो न कृपा नवरग पर तूठिबौ।।
बेगि चलि जाँमिनी जात पल-छिन घटत, कुंज में केलि करि अमी-रस-घूटिबौ।
बलि 'बिस्नुदास' नाथ नंद-नदन कुँवर, सेज-चढि ललँन-संग मदन-गढ लूटिबौ।।

राग-सारग

आँगन नंद के दधिकाँदौ।
छिरकत गोपी-ग्वाल परसपर, प्रघटे जग में जादौ।।
दूध लियौ, दधि लियौ, लियौ घृत, माँखन-माँट सँजूत।
घर-घर ते सब गावत आवत, भयौ मँहँर कें पूत।।
बाजत तूर करत कोलाहल, वारि-वारि दँइ दाँन।
जियौ जसोधा पूत तिहारौ, या घर सदां कल्याँन।।
छिरके लोग रँगीले दीसें, हरदी पति जु सुवास।
'मेहा' आँनद-पुंज सु मगल, या ब्रज सदां हुलास।।

राग-बिलावल

हमारौ देव गोबरधँन परबत, गो-धँन जहां सुखारौ।
मघवा को बलि-भाग न दीजै, सुनिएँ मतौ हमारौ।।
बड़रे बैठ बिचार मतौ कर, परबत कौ बलि दीजै।
नंदराइ कौ कुँमर लाड़िलौ कॉन्ह कहै सो कीजै।।
पावक, पवन, चंद, जल, सूरज, बरतत आग्या सींन्हें।
या ईस्वर कौ कियौ होत है, कहा इंद्र के दींन्हें।।
जाके आस-पास सब ब्रज-कुल सुखी रहें पसु-मारें।
जोरौ सकट अछू ते लै-लै, भलौ मतौ कोउ टारें।।
माँखन, दूध, दह्यौ, घृत, घृत-पक, लै जु चले ब्रजबासी।
अदभुत रूप धरें बलि भुगतत, परबत सदां निबासी।।
मिट्यौ भाग सुरपति जब जाँन्यौं, मेघ दए हँकराई।
'मेहा' प्रभु गिरि कर-धरि राख्यौ, नव-सुबन सुखदाई।।

भ्रमरगीत की परंपरा

श्री सरला शुक्ल

हिंदी-साहित्य मे भ्रमरगीतो की परपरा का आरभ भक्तिकाल मे अष्टछाप कवियो के द्वारा हुआ। इस परपरा का मूलाधार भागवत है, किंतु हिंदी-भ्रमरगीतो और भागवत के भ्रमरगीत मे मूलत अतर है। भागवत के भ्रमरगीत मे अध्यात्म की झलक है, उसमे गोपी-हृदय की विरह-विह्वलता तथा यशोदा के मातृ-प्रेम की उत्कठता का अधिक वर्णन नही और न ब्रज के अन्य उपकरणो का शोभाहीन होना, उतना वर्णित है। भागवतकार का ध्येय भक्ति और ममत्व के ऊपर ज्ञान की प्रतिष्ठा करना ही ज्ञात होता है। भागवत के उद्धव गोपियो के उत्कट प्रेम की प्रशसा तो करते है, किंतु उससे प्रभावित नही होते, विजय ज्ञान की ही होती है। उद्धव की ज्ञान-चर्चा के बाद भागवत की गोपियाँ एकदम शात हो जाती है, उन्हे कृष्ण के सर्वव्यापकत्व का विश्वास हो जाता है और किसी प्रकार का प्रतिरोध किए बिना ही वे उद्धव के मत से सहमत हो जाती है। यहाँ गोपी-विरह की व्यापकता तथा गभीरता का दर्शन नही होता, ऐसा ज्ञात होता है कि भागवतकार अपने विचारो की बलात् प्रतिष्ठा कर रहा है। भागवत की इस कथा का आधार लेकर भ्रमरगीतो की रचना करने वाले हिंदी-कवियो ने अपने भ्रमरगीतो की दिशा ही परिवर्तित कर दी। भागवतकार ने मातृ-हृदय यशोदा तथा सरल प्रेमिका गोपियो का मुँह ज्ञान-चर्चा से बद कर दिया, किंतु बाद के कवियो ने ऐसा नही किया। परवर्ती सभी भ्रमरगीतो मे भक्तियोग की प्रतिष्ठा ज्ञानयोग पर होती है। ज्ञानी उद्धव भी भक्ति से प्रभावित होकर ही लौटते हैं। हिंदी-भ्रमरगीतो में काव्य-सौदर्य भी अधिक है, वे मनोविज्ञान की दृष्टि से भी सफल है, इनमें गोपी-प्रेम की वह प्रबल तथा अनत धारा बह निकली है, जिसमे ज्ञानयोग के झाड-झखाड बहते चले जाते है। वास्तव मे गोपियो की अवस्था किसी योगी से कम नही है, सभी कवियो ने इस प्रसग के अतर्गत "गोपी-उद्धव-सवाद" को लिया है, उसी प्रसग में मधुकर के प्रवेश के पश्चात् वे उसी को लक्षित कर अपनी वेदना-विवृति करने लगती है। किन्ही कवियो ने मधुप का प्रवेश बिना कराये ही केवल मधुकर शब्द से सबोधित करा के अपना कथन प्रारभ कर दिया है, किंतु लगभग सभी भ्रमरगीतो में यशोदा के मातृ-हृदय का अभाव है, केवल 'सत्यनारायण जी कविरत्न' ने यशोदा को प्रधानता दी है। उनके भ्रमरगीत में गोपियाँ नही श्री यशोदा जी दुखी है तथा वे ही मधुकर को अपने लाडले के पास से आया हुआ जान कृष्ण के प्रति अपनी व्यथा कहने लगती है, इनके काव्य में उद्धव का भी अभाव है। श्री कृष्ण स्वय भ्रमर के रूप मे यशोदा के समुख प्रकट हो जाते है। इस प्रकार भ्रमरगीतो की यह परपरा समय और परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तित अवश्य होती गई, किंतु इसके प्रवाह मे किंचित् भी व्यवधान नही आया है।

इस परपरा के अतर्गत आने वाले कविगणो मे 'अष्टछाप' के कवि प्रमुख है। इस प्रसग की रचना ब्रजभाषा और खडी बोली दोनो में ही हुई है। ब्रजभाषा में रचना करने वाले कवियो में सूरदास, नददास, परमानददास, सत्यनारायण कविरत्न जी, जगन्नाथदास, रत्नाकर, तथा रामशकर शुक्ल 'रसाल' का नाम प्रमुख है। अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त ने भी खडीबोली में भ्रमरगीतो की रचना की है।

भ्रमरगीत की परपरा का यह सक्षिप्त विवेचन कई दृष्टियो से महत्वपूर्ण होने के साथ ही काव्य की एक परपरा विशेष की कथा व्यजित करता है। भ्रमरगीत के अतर-विकास मे साहित्य, दर्शन समाज एव राजनीति का जो हाथ रहा है वह अत्यत महत्वपूर्ण है।

भ्रमरगीत काव्य का मधुर और सरस अग बन गया। कृष्ण-भक्त कवियो ने इसके द्वारा मनोभावो का जो चित्र प्रस्तुत किया उसमें उनके हृदय का राग और बुद्धि की वक्रता दोनो का सकेत मिलता

है। भ्रमरगीत काव्य-परपरा को प्रबधात्मक मुक्तक काव्य कहा जा सकता है। इस काव्य में [illegible] कथा-प्रवाह का अनवरत स्रोत प्रवाहित है। छद-योजना भी मुक्तक के ही अनुकूल है, उनमें प्रत्येक [illegible] स्वत पूर्ण है। सजीव कथनोपकथन, परिचित भावव्यजना और अद्वितीय काव्य-कौशल के [illegible] काव्य-परपरा में चित्रोपमता भी उपलब्ध है। काव्याध्ययन के पश्चात् प्रत्येक चित्र मानस-पटल पर स्पष्ट हो जाता है। इस चित्रोपमता तथा सजीवता का कारण है पात्रो के द्वारा की गई सजीव भाव-व्यजना जो अमूर्त भावनाओ को भी मूर्तरूप प्रदान करने में समर्थ है।

यद्यपि भ्रमरगीत की रचना खडी बोली मे भी हुई है, किंतु व्रजभाषा के लालित्य में इस काव्य विषय का कलेवर अत्यत ललित हो उठा है। अष्टछाप के इन कृष्ण-कवियो के काव्य का मुख्य विषय [illegible] की लीलाओ का भावात्मक चित्रण है। इन कवियो ने कृष्ण चरित्र के केवल उन भावात्मक स्थलो को ही चुना है जिनमे उनकी अतरात्मा की अनुभूति गहरी उतर सकी है। इन कवियो ने वाह्य विषयात्मक शैली का अनुकरण न करके आत्म विषयात्मक शैली को ही अपनाया है यही कारण है कि उनमें तन्मय करने वाली हृदय-द्रावक शक्ति है। महाकवि भवभूति ने वाणी को "आत्मा की कला" कहा है। [illegible] कवियो के केवल इसी प्रसंग को पढकर पाठक इस उक्ति की सत्यता का अनुभव कर लेंगे। प्रत्येक भाव की व्यजना इस प्रकार हुई है कि वह स्वत संपूर्ण रूप से पूर्ण प्रतीत हो। सपर्क होते ही वह एक प्रकार के अवर्णनीय आनद को उल्लसित कर देती है। कवि के भाव जिस मूर्ति का सहारा लेते है, उससे फिर अलग नहीं हो सकते। भावाभिव्यजक, ध्वन्यात्मक, उपयुक्त शब्दो में प्रकट भाव जब अनुभूत होता है तब [illegible] और वह एक नये ससार की सृष्टि कर देता है जहाँ केवल वही प्रकाशित होता है और किसी प्रकार की रिक्तता का अनुभाव नही होता।

तल्लीनता ही गीतिकाव्य की कसौटी है, जिसकी पूर्ण प्राप्ति हमें भ्रमरगीत-प्रसग में हो जाती है। गीति-काव्य हमारे मन मे बहुत दिनो का सचित अव्यक्त भाव होता है जो किसी सुयोग का आश्रय [illegible] फूट उठता है। भाद्रमास में भरे बादलो मे सूने घर की वेदना कितने लोगो के हृदय मे कितने दिना [illegible] चुपचाप चक्कर लगाती रही है। विद्यापति के उपयुक्त छद ने उसे मूर्त रूप प्रदान कर दिया—

"भरा बादर, माह भादर, सून्य मदिर मोर।"

कुमारसभव में कवि ने नारी के प्रेम की सबसे अधिक कमनीय मूर्ति तपस्या की [illegible] उज्ज्वल करके दिखाई है, उसी कवि ने 'मेघदूत' में प्रिय को प्रियतमा के वियोग मे व्याकुल भी [illegible]। काव्यगत तल्लीनता ही उसे हृदय की वस्तु बना देती है। यह तल्लीनता विरह-वर्णन में और [illegible] सजग हो जाती है, क्योकि यही वह सात्विकोद्रेक की अवस्था है जब मानव, समस्त विश्व को, [illegible] भी अपनी भावनाओ से अनुरजित देखता है, यही वह अवस्था है जिसमे ऊँच-नीच, [illegible]— [illegible] प्रत्येक व्यक्ति के मनोभावो में साम्य हो जाता है। विप्रलभ शृगार का प्रसग जीवन के [illegible] तथा गभीर क्षेत्र में है, इसके अतर्गत मानव के मनोभावो और गुह्यतम विचारो का [illegible] व्यक्तीकरण होता है वैसा और किसी अवस्था मे नहीं। विरह की ऐसी कोई [illegible] जिसकी अभिव्यक्ति भ्रमरगीत प्रसग में न हुई हो। केवल सूर के भ्रमरगीत में ही विरह [illegible] तथा असौष्ठव, मलीनता-आदि अवस्थाएँ उपलब्ध हो जाती हैं।

इन कवियों ने वेदना के स्वरूप का विश्लेषण किया है, वेदना की [illegible] स्वभावोक्तियो तथा परिचित उपमानो का आश्रय लिया है। कहीं-कहीं [illegible] किंतु वह इतनी कम तथा बुद्धि-गम्य है कि किसी भी प्रकार से [illegible] भावो का पूर्ण ध्यान रक्खा गया है। बिहारी की कल्पना की भाँति वह [illegible] नही रह जाती प्रत्युत हृदय पर एक अमिट चित्रांकन कर जाती है।

भावाभिव्यजन की पृष्ठभूमि में प्रकृति का वर्णन भी प्राप्त है। [illegible] रूप में किया गया है। गोपियो के लिये प्रात और सध्या रंगहीन हो गई, [illegible]

"मदनगुपाल बिना या तन की, सबै बात बदली।"

इसी प्रकार पृष्ठभूमि के रूप में कवियो ने लगभग प्रत्येक मास का वर्णन किया है। प्रकृति के इस रूप का विशेष दर्शन सूर और रत्नाकर के भ्रमरगीतो में होता है। सत्यनारायण कविरत्न तथा मैथिलीशरण गुप्त के प्रकृति-वर्णन भी सजीव हैं। हरिऔध जी का पूरा भ्रमरगीत प्रसग इतिवृत्तात्मक है। केशव की भाँति हरिऔध जी ने भी प्रकृति के उपकरणो का वर्णन करके सतोष कर लिया है।

भावो के साथ ही भाषा, छद, अलकार-आदि की दृष्टि से भी भ्रमरगीत पूर्ण है। ऐसा ज्ञात होता है कि भावो की पूर्ण व्यजना के हेतु ये उपकरण स्वत उनसे आ मिले हैं। सुदर मनोभावो के साथ ही उनमे चमत्कृत शैली, शब्द चयन, सरस पदावली, स्वाभाविक कल्पना, वर्णन में मौक्तिक क्रम सजीव साकारता और मधुर सगीतात्मकता के भी दर्शन होते हैं।

भ्रमरगीत में कवियो की तन्मयता और आलोचनात्मक प्रकृति के दर्शन होते हैं। सगुण एव निर्गुण विचारधारा का खडन-मडन भी मिलता है। उस समय की इस खडन-मंडन परपरा का सामाजिक महत्व है। पूर्ववर्ती कवि कबीर-आदि निर्गुणोपासना पर जोर दे चुके थे, किंतु उनके उपदेश तथा भर्त्सना से जनता का कोई लाभ न हुआ। लोग भक्ति तथा उपासना के वास्तविक मर्म को न समझ कर केवल शाब्दिक इद्रजाल मे फँसे थे। रहस्यात्मकता के कारण जनता की मनोवृत्तियो में विशृखलता उत्पन्न हो गई थी। न तो उन्हें ज्ञान का वास्तविक स्वरूप समझ में आता था और न वे भक्ति की रसात्मकता का अनुभव कर पाते थे। उनकी इसी अवस्था को लक्ष्य करके गोस्वामी जी ने कहा है—

"अंतरजामिहु तें बड़ बाहिर जामी।"

भ्रमरगीतकारो ने सगुणोपासना की बडी सफल प्रतिष्ठा की है। इन कवियो ने निराकार ब्रह्म की उपासना का खडन नही किया, किंतु सुलभता और उपयोगिता के आधार पर सगुणोपासना की महत्ता स्वीकार की है। रहस्यात्मकता का आधार लेकर विकसित हुआ निर्गुण पथ अधिक उपयोगी है या हृदय की गभीर तथा विस्तृत-वृत्ति पर आधारित सगुण भक्ति अधिक सुलभ है। यह प्रश्न दार्शनिक न रहकर व्यावहारिक हो गया था। तत्कालीन साहित्य मे इस विवाद का दर्शन सर्वत्र हो जाता है। राजस्थान में भी ऐसे ही भ्रमरगीतो तथा सगुण-निर्गुण विवाद-सबधी पदो की रचना हुई है।

कृष्ण की स्थापना इष्टदेव के रूप में हुई। भक्त अपनी समस्त सद्-असद् वृत्तियो को केवल कृष्ण की ओर प्रेरित कर अपने मनोविकारो और चित्त-वृत्तियो के उन्नयन का प्रयास करता है। गोपियो ने अपनी समस्त भावनाओ को कृष्णार्पण कर दिया था। राधा तो कृष्ण को रटते-रटते कृष्ण ही हो गई। इस भावचित्र में कवि ने इसी (Sublimation) के सिद्धात का प्रतिपादन किया है। गोपियो की प्रत्येक वृत्ति का नग्न चित्र कृष्ण के समुख था। वे किसी प्रकार का भेद-भाव नही रखती, वे अपने समस्त भावो (वात्सल्य, दापत्य, सख्य) का आरोपण कृष्ण पर करती है और आरोप्य-पदार्थ अलौकिक होने के कारण उनकी भावनाएँ भी अलौकिक हो जाती हैं।

गोपियो का प्रेम एकागी भक्ति का प्रतीक है। प्रेम का प्रतिदान न लेकर वह अलौकिक त्यागमय प्रेम है, जिसकी आवश्यकता समाज को सदैव रही है। आज की अहिंसा तथा क्राइस्ट की परहित-तत्परता इसी निस्वार्थ प्रेम की प्रतीक है। इस प्रकार कृष्ण के सगुण रूप का आधार लेकर कवियो ने समाज सस्कार का प्रयास किया। कल्पना के विमान पर बैठ लीलाधाम की विभिन्न लीलाओ का दर्शन करने वाले अधे कवि 'सूरदास' उस समय की राजनीतिक परिस्थिति से अभिज्ञ नही थे। राजसत्ता के साथ जनता का सहयोग न होने पर उसका निर्वाह कठिन है—

"राज-धरम सब भए 'सूर' जहँ प्रजा न जाइ सताएँ॥

तथा—

'सूर' स्याम कैसें निबहैगी, अँधाधुंध सरकार॥"

इस प्रकार के कथनो से उस समय की जनता तथा शासको की मनोवृत्तियो का कुछ आभास हो जाता है।

आधुनिक भ्रमरगीतो पर तो सामयिक सामाजिक परिस्थिति का स्पष्ट प्रभाव है। बुद्धिवादी युग के क्यो और कैसे प्रश्नो का आरोपण कृष्ण-लीलाओ पर भी हुआ। कृष्ण के गोपियो के साथ किये गये विहार (रास) के औचित्यानौचित्य पर बहुत पहले ही लोक-दृष्टि गई थी और उसे आध्यात्मिक चूनरी का आवरण प्रदान कर उसका समाधान कर दिया गया था, किंतु ऐसे आश्चर्यजनक प्रभाव तथा परोक्ष तत्वो का आधुनिक समाज सहसा विश्वास नही कर पाया। हरिऔध जी ने इसे समझा और उसका समाधान भी किया। सतोगुण प्रधान शरद ऋतु की पूर्णिमा मे जब रास हुआ था उस समय केवल गोपियाँ ही कृष्ण की वेणु से मोहित न हुई थी। गोपियाँ और ग्वाले सब समान रूप से उस रसास्वादन मे रत थे। उपाध्याय जी ने 'राधा' को जो नवीन चरित्र प्रदान किया है वह भी उस समय के समाज की आवश्यकता थी। उन्हो ने भक्ति की ग्यारह आसक्तियो को भी समाज-सेवा के विभिन्न रूपो में देखा है।

कविरत्न जी का भ्रमरगीत समाजके गीत का ही प्रतिबिंब है, उसमे दार्शनिक-विचारधारा का प्राय लोप-सा है। यशोदा की कृष्ण-विरह-अवस्था मे कवि स्वातंत्र्य-विहीन भारत का ही चित्रण करता है, उसके बाद कवि यशोदा की निरक्षरता की ओर सकेत करता है जो पूर्णत उस समय की स्त्री-शिक्षा के अभाव का स्पष्टीकरण है। भारतीय समाज सदियो से प्राचीनता का पक्षपाती है, कवि ने उसकी इस मनोवृत्ति से यथास्थान लाभ भी उठाया है तथा स्त्री-शिक्षा के पक्ष में वह प्राचीन शिक्षित स्त्रियो के ही उदाहरण देता है।

इसी प्रकार नारी-वर्ग के समाज मे समानाधिकारो की चर्चा चल रही थी, मुगलकाल मे जो नारी केवल उपभोग की वस्तु बन कर रह गई थी, वही अब पुन अर्धांगिनी का रूप धारण कर रही थी। समाजोद्धार और स्वदेशोद्धार, स्त्री शिक्षा के अभाव में असभव माना जाने लगा था।

उस समय समाज में स्वतत्रता, समता, सहभ्रातृता की विशेष चर्चा थी, सारा समाज उन तीन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये लालायित था। छूतछात, परतत्रता, विषम व्यवहार समाज में निराहृत थे, इन भावनाओ का प्रकाशन भी 'कविरत्न' जी ने अपने 'भ्रमरदूत' में किया है।

विदेशी वस्तुओ के प्रति विशेष कर पाश्चात्य-सभ्यता और वस्तुओ के प्रति उस समय का समाज विशेष अनुरक्त था। पूर्वीय सभ्यता, आचार-विचार, सामाजिक रहन-सहन प्रत्येक के प्रति शिक्षित लोगो के विचार सराहनीय नही थे। स्त्रियो का पाश्चात्यो का अनुकरण करना, अपने स्वाभाविक गुण नम्रता को भुला देना इन सभी बातो का सकेत 'भ्रमरदूत' में प्राप्त होता है। स्वदेशी भेष और भाषा का प्रश्न भी उग्र रूप धारण कर रहा था। कुछ लोग इनका सर्वथा त्याग करके पाश्चात्य अनुकरण करना चाहते थे और कुछ केवल विचार परिवर्तन के समर्थक थे। खडी बोली और ब्रजभाषा का प्रश्न, काले गोरे का भेद, इन सभी सामाजिक तत्वो की ओर कविरत्न जी ने सकेत किया है।

नये-नये आविष्कारो ने देश के प्राकृतिक सौंदर्य को नष्ट कर दिया था। अकाल, दुर्वृष्टि, अति वृष्टि-आदि से समाज पीडित था, शासक वर्ग को केवल शोषण की चिंता थी। इन सभी समस्याओं की ओर कविरत्न जी ने सकेत किया है। कविरत्न जी के भ्रमरदूत में जो दार्शनिक पक्ष का अभाव है वह भी समाज का अभाव है, आज के बौद्धिक युग में लोग आध्यात्मिक उन्नति की अपेक्षा लौकिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान देते है। इस प्रकार आरभ में भ्रमरगीत कवियो के व्यक्तित्व और युग के निर्माण तत्वो का अंग बन गया।

आधुनिक युग के प्रारभ में भ्रमरगीत की इस परपरा ने नया परिधान धारण किया और सामाजिक जागरण का सदेश दिया।

इस प्रकार भ्रमरगीत हृदय का स्वाभाविक उद्गार, काव्य की पद्धति विशेष, उपकरण एवं परपरा और रूढि बना। आगे चल कर यही राजनीतिक और सामाजिक विचारो का सदेश वाहक बना। काव्य की एक ही वस्तु किस प्रकार कवि तथा युग के प्रभाव से भिन्न प्रकार के भावो के वहन का साधन बन जाती है इसकी सुदर तथा रोचक कथा हमें भ्रमरगीत की परपरा में प्राप्त होती है।

भ्रमरगीतों में दार्शनिक-पक्ष

मानव एक सीमित शक्ति, बुद्धि और व्यापारो का केंद्र है। वह चेतन अवश्य है, किंतु आनद से परे। वह अपनी सपूर्ण शक्ति से इसी "आनद" की खोज में तत्पर रहता है, किंतु ऐश्वर्यादि षड्गुणो के अभाव में वह अपने प्रयास में सतत तो नही, किंतु अधिकाश असफल ही रहा है। उसे सासारिक आधिव्याधियाँ, मोह बधन आकर जकड लेते है और वह अपने को असहाय, निरवलब तथा अशक्त पाकर सर्व शक्तिमान् का सबल ढूंढता है। विभिन्न बौद्धिक विचार धाराओ ने उस शक्ति को निराकार ब्रह्म अथवा साकार ईश्वर मान कर भिन्न-भिन्न रूपो में परखा।

भारतीय दर्शन के दो भाग सदैव दृष्टिगोचर होते है—"भावपक्ष" और "ज्ञानपक्ष", एक मे हृदय की प्रधानता है दूसरे में मस्तिष्क की। वह ईश्वर जिसका सभी सहारा खोजते है, सभी जिसके आश्रय को पाने के हेतु लालायित रहते है, केवल ज्ञानियो के तर्क का विषय हो कर नही रह सकता। उपनिषद् जिसे 'नेति-नेति' कह कर अपनी असमर्थता प्रकट करके शात हो जाते है, भावुक भक्त उसी की एक साकार प्रतिमा बना कर अपनी सारी भावनाओ की बागडोर उसे थमा देता है और वह तन, मन, धन से पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है। उसे अपने आराध्य मे भी सदय-हृदय के दर्शन होते है, जो विपन्नो, विपदग्रस्तो तथा निराश्रयो का सबल है। वर्णाश्रम-धर्म से नियमित भारतीय जीवन किसी न किसी रूप में दर्शन के निकट रहता ही है। कवि-हृदय जो स्वभाव से ही भावुक होता है यदि शील, शक्ति और सौदर्य के अधिष्ठाता भगवान् की ओर उन्मुख हो उठा तो उसका गान सर्वश्रेष्ठ आश्रय को पाकर सर्व जनहितोपकारक हो उठता है। हिंदी-साहित्य के भक्तिकाल को जन्म देनेवाली परिस्थितियो मे राजनीतिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत निराश्रयता का भी बडा हाथ है। व्यक्ति को जब कोई आश्रय न रहा तो वह अपनी विपत्ति में सवेदनात्मक हृदय की खोज मे निकला और उसे भगवान् का आनद और ऐश्वर्य स्वरूप अपने वरदहस्त से उसकी रक्षा करता हुआ दिखाई दिया। वह तार्किको तथा तान्त्रिको के वहन को छोड अपने उपास्य मर्यादा-पुरुषोत्तम राम या लीलावतार आनद-स्वरूप श्री कृष्ण के गुणगान में लीन हो गया। अत भक्ति काल की रचनाओ में मे दर्शन का प्रत्यक्षीकरण प्रत्येक स्थान पर होता है।

भ्रमरगीत भी विरह-काव्य होते हुये भी दार्शनिक विचारधारा से पूर्ण है। सभी धर्म-ग्रथो में श्रेष्ठ भागवत के क्रोड में इस प्रसग का जन्म हुआ और फिर काव्य-क्षेत्र में इसका विस्तार हुआ। विभिन्न कवियो ने जिन्होने इस विषय पर कुछ लिखा है ज्ञान और भाव दोनो ही पक्षो का उद्घाटन किया है।

कुछ कवियो की कृतियो में निर्गुण-सगुण का विवाद तथा ज्ञानयोग और भक्तियोग की महत्ता का विशेष दर्शन होता है। सूरदास, नददास तथा जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के भ्रमरगीतो मे दार्शनिक पक्ष विशेष रूप मे है।

दार्शनिक पक्ष के विवेचन में इसके दो विभाग किये जा सकते है। प्रथम तो "दार्शनिकपक्ष" और दूसरा "साधनपक्ष"।

सिद्धात पक्ष के अतर्गत उद्धव के निर्गुण, निराकार ब्रह्म-सबधी विचार तथा गोपियो की सगुण-सरलता सबधी विचार-धारा का विवेचन आता है। साधन पक्ष के अतर्गत गोपियो का सगुण साकार भगवान की प्राप्ति के लिये भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन करना, उद्धव की निर्गुण ब्रह्मोपासना तथा प्राप्ति-विधि के पक्ष में ज्ञानयोग का समर्थन आता है।

धर्म के तीन प्रधान अग है, ज्ञान, भक्ति और कर्म। इनमें से किसी एक के अभाव में धर्म विकलाग हो जाता है। इन तीनों अगों या परब्रह्म-प्राप्ति के मार्गों का ध्येयच्युत होना भी सभव है,

जब इन मार्गों में रहस्य या गुह्य का प्रवेश हो जाता है तो यही मार्ग लोक संग्रह न करके लोक-बाधा हो जाता है।

"सूरदास" के आविर्भावकाल की स्थिति का पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है कि उनसे पूर्व सिद्ध, साधू, तथा योगी अपने विचार जनता के सम्मुख प्रकट कर चुके थे। जनता का मन तथा उन विचारों में पूर्णत लीन न हो सका। किसी में शारीरिक कठिन यातना थी तो किसी में शून्य निराकार तथा निर्गुण का ध्यान। ये दोनो ही बाते जनता के लिये कष्टसाध्य थी, उनके लिये एक निश्चित मार्ग न था। जनता की इस समस्या को सुलझा कर "सूर" ने सीधा, सरल तथा सहज भक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया। उन्होने निर्गुण का खंडन करके सगुण की स्थापना नही की है और न ज्ञान को ही भक्ति के सम्मुख निरर्थक सिद्ध किया है—वरन् भक्ति के द्वारा सगुण ईश्वर की उपासना को सहज तथा सुलभ बना कर ही अधिक श्रेयशालिनी घोषित किया है। कुछ आलोचको ने उनके भ्रमरगीत में योगियो की वेषभूषा तथा नियमो का सागोपाग वर्णन पा कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सूरदास जी पहले 'ब्रह्मज्ञान-सम्प्रदाय' मे थे, किंतु सत्य यह है कि सूरदास जी अपने समय की स्थिति से पूर्ण परिचित थे और उन्हें योगियो और सिद्धो के सिद्धातो का भी ज्ञान था।

प्रत्येक भ्रमरगीत-रचयिता ने सगुण-निर्गुण के विवाद को उठाया है और अत में तुलसी के अनुसार—

"ग्यानिहिं, भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव सभव खेदा॥"

की समभूमि पर पहुँच कर समन्वय कर दिया है। यद्यपि भक्ति की सरलता और उपयोगिता को ही अधिक श्रेष्ठ बताया है।

वल्लभाचार्य से पूर्व शकराचार्य जी अपने विवर्तवाद का प्रतिपादन कर चुके थे। उन्होंने ब्रह्म को निरुपाधि, निर्गुण और निर्विशेष ही माना है। वे न ब्रह्म को निमित्त कारण मानते हैं, न उपादान। ब्रह्म नित्य एक रस, अविकारी है, वह न कर्त्ता है न भोक्ता।

वल्लभाचार्य ने उपनिषद् के वाक्यो और बादरायण के ब्रह्म-सूत्रो को लेकर ही ब्रह्म को उभय-लिंग-युक्त तथा निर्गुण और सगुण दोनो ही माना है। उन्हो ने ब्रह्म में मनुष्य की बुद्धि को विरोधी जान पडते हुये धर्म का आरोप किया है। शकराचार्य ने ब्रह्म के सोपाधि, निरुपाधि, सगुण, निर्गुण और व्यावहारिक और परमार्थिक ऐसे दो भेद स्वीकार किये है। उपनिषद् के ज्ञानकाड में भी ब्रह्म के स्वरूप का कथन कई ढग का है। कही ब्रह्म अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगध, अदृश्य, अग्राह्य, इत्यादि निर्गुण और अव्यक्त कहा गया है और कही सर्वकर्मा, सर्वरस, सर्वकाम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वगंध और सर्वस्व। इसके अतिरिक्त बहुत जगह वह उभयात्मक भी कहा गया है।

शकराचार्य जी ने निर्गुण और अव्यक्त को ही ब्रह्म का लक्षण स्वीकार किया है, [illegible] रहने वाले नाम रूपात्मक जगत् को ब्रह्म की सत्ता से भिन्न मिथ्या प्रतीति या भ्रांति [illegible] जगत की वास्तविक सत्ता न होते हुये भी मन की जिस वृत्ति-द्वारा यह मिथ्या प्रतीति होती है, [illegible] कही गई है। शकराचार्य ने ब्रह्म के अतिरिक्त सर्वजगत को मिथ्या स्वीकार किया है, [illegible] को 'अद्वैतवाद' की संज्ञा दी गई है, इसे 'विवर्त्तवाद' भी कहते है। इस विवर्त्तवाद [illegible] जी ने परिणामवाद के विरोध में की। उनके अनुसार ब्रह्म का पारमार्थिक [illegible] कारी है, उसका परिणाम या विकार सभव ही नही है, अत ब्रह्म जगत का उपादान कारण [illegible] इसी प्रकार ब्रह्म सर्वकामना-रहित, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर, निमित्त कारण भी नही [illegible] न कर्ता है न भोक्ता। शंकराचार्य ने उपनिषदो-द्वारा प्रतिपादित सर्वज्ञ, सर्वरूपी, ईश्वर [illegible] रूप न मान कर अविद्यात्मक सोपाधि रूप माना है। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्म [illegible]

"नामरूपादि भेदोपविष्ट" या सगुण और दूसरा "सर्वोपाधिविवर्जित" या निर्गुण। दूसरे प्रकार के निर्गुण, निराकार और निर्विरोध रूप को ही ब्रह्म का वास्तविक या पारमार्थिक स्वरूप माना है[1]। सोपाधि सगुण रूप को उन्होने केवल व्यावहारिक, अर्थात् उपासना के व्यवहार के लिये माना।

शकराचार्य ने जीवात्मा और ब्रह्म के स्वरूप मे कई भेद नही माना है, वे ब्रह्म के समान आत्मा को भी नित्य, ज्ञान-स्वरूप और विभु मानते हैं। वे जीवात्मा को कर्ता और भोक्ता नही मानते। जीवात्मा में कर्तव्य को भी वे स्वाभाविक नही मानते, क्योकि यदि कर्तव्य स्वाभाविक हो तो वह जीव से उसी प्रकार पृथक् नही हो सकता जिस प्रकार ताप अग्नि मे पृथक् नही हो सकता। कर्तृत्व दु ख रूप है, अत जीवात्मा का दु ख-मुक्त होना असभव हो जायगा।

वल्लभाचार्य का सिद्धात शकराचार्य के विरोध मे है। वल्लभाचार्य ने उपनिषद् के वाक्यो और वादरायण के ब्रह्मसूत्रो को ही लेकर ब्रह्म को उभयलिंग-युक्त, अर्थात् 'निर्गुण' और 'सगुण' दोनो माना[2]। उनके अनुसार श्रुति-वाक्यो का समन्वय वारदायण के ब्रह्मसूत्रो मे है, इन सूत्रो के आरभ मे जिज्ञासा के उपरात "जन्माद्यस्य यत" (जिससे इस जग की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है) द्वारा जिस ब्रह्म का निर्देश किया है वह केवल निर्विशेष और निर्गुण नही हो सकता, सर्व शक्तिमान् और सर्वधर्मा ही हो सकता है। यही सर्वशक्तिमान् ब्रह्म कारण रूप में सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता भी हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार यही सारी सृष्टि ब्रह्म की ही आत्मकृति है। इस सारी सृष्टि को वह "लीला" के लिये ही रचता है[3]। ब्रह्म का यह परिणाम रूप जगत असत् या मिथ्या नही है।

"उसने अपने को स्वयम् किया" "बहुत हो जाना चाहिये" "एक मैं हूँ बहुत हो जाऊँ"[4] आदि श्रुति-वाक्यो से ब्रह्म का कर्तव्य और कर्मत्व दोनो ही सिद्ध होता है। ब्रह्म का विचार, यह सृष्टि ब्रह्म से अनन्य है, उसी प्रकार जिस प्रकार मिट्टी, मिट्टी के घड से भिन्न नही है उसी प्रकार यह जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नही है।

वल्लभाचार्य ने शकराचार्य की भाँति ब्रह्म और जीव के स्वरूप में अभिन्नत्व नही माना है। वे "पदोऽस्य-सर्व भूतानि" इस वेद वाक्य तथा "अशो नानाव्यपदेशात्" इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्म को सावयव मानते है और जिस प्रकार अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती है उसी प्रकार ब्रह्म से जीव निकलते हैं[5]। वल्लभाचार्य जी ने इसी अणुत्व का प्रतिपादन किया है, इसी कारण उनका भाष्य—"अणुभाष्य" कहलाता है। शकराचार्य ने ब्रह्म को निरावयव माना है और जीवात्मा को ज्ञान स्वरूप कहा है। वल्लभाचार्य ने जीवात्मा को ज्ञाता माना है। जीवात्मा ब्रह्म मे अनन्य भी है और भिन्न भी। यह भिन्नत्व अधिकत्व का है। ब्रह्म जीवात्मा से अधिक है[6]।

१, द्विरूप हि ब्रह्मावगम्यते। नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपं उपदिश्यते भवति तत्र शास्त्रम्।

—शारीरकभाष्य

२ उभय व्यपदेशात्वहिकुंडलवत्। इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार उन्होने कहा—'यथा सर्पो ऋजुरने-काकार.कुंडलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्व प्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति। तस्मात् सकलविरुद्ध-धर्मा भगवत्येव वर्त्तन्त इति न कापि श्रुतिरूपचरितार्थेति सिद्धम्"

—अणुभाष्य

३, आत्मकृतेः परिणामात्। "लोकवत् तु लीला कैवल्यम्"।

४, तदात्मानं स्वयमकुरुत। "बहु स्यां प्रजायेय"। "एकोऽहं बहु स्याम्।"

५ यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगा।

६, अधिक तु भेदनिर्देशात्।

—ब्रह्मसूत्र,

3) दर्शन के क्षेत्र में वल्लभाचार्य जी की सबसे गहरी पहुँच उनके आविर्भाव-तिरोभाव के सिद्धात में है। अक्षर ब्रह्म अपने सत्, चित् और आनद इन तीनो स्वरूपो का आविर्भाव और तिरोभाव करता है। तीनो स्वरूपो का विकास तीन भिन्न-भिन्न शक्तियो से होता है। सत् का प्रकाश "सधिनी" से, चित्त का "सवित" से और आनद का "ह्लादिनी" से। पुरुषोत्तम ब्रह्म में ये तीनो शक्तियाँ अनावृत्त रहती है, जीव मे सधिनी और सवित् अनावृत तथा ह्लादिनी आवृत् रहती है। इस व्यवस्था के अनुसार न तो ब्रह्म को ग्रस्त करने वाली उससे अन्य कोई दूसरी वस्तु "माया" है और न जीवात्मा को ही। जीवात्मा भी वस्तुत ब्रह्म ही है जिसमे 'आनद' स्वरूप आवृत रहता है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के शुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने से यह सिद्धात "शुद्धाद्वैतवाद" कहलाता है। भ्रमरगीतो के सिद्धात-पक्ष में शकराचार्य के मत का आभास केवल ज्ञान-चर्चा तथा निर्गुण-मतप्रतिपादन में प्राप्त होता है। वल्लभाचार्य के सगुण और सोपाधि ब्रह्म का प्रतिपादन गोपियाँ करती हैं। गोपियो के द्वारा ही सूरदास, नददास तथा रत्नाकर अपने विचारो की विवृत्ति करवाते है, जो परोक्ष रूप से वल्लभ-सप्रदाय के सिद्धातो का प्रतिपादन ही है।

✓ "सूरदास" "परमानददास" नददास आदि सभी अष्टछापके कवि कृष्ण को ब्रह्म का अवतार या सगुण और साकार रूप मानते है। उनके पदो में निर्गुण-ब्रह्म का ही पृथ्वी पर सगुण रूप में अवतरित होना मान्य है।

"बेद-उपनिषद जस कहै, निरगुनहिं बतावै।
सोइ सगुन होइ नंद की, दाँवरी बधावै॥"

—सूरसागर

उद्धव शकराचार्य के "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" सिद्धात से प्रभावित ज्ञात होते है। वे गोपियो को निर्गुण, निराकार तथा निर्विकार ब्रह्म की आराधना करने को कहते हैं, किंतु वल्लभ-सप्रदायी 'सूर' के विचारो की प्रतिनिधि स्वरूपा गोपियाँ उद्धव के सिद्धातो से सहमत नही होती।

"गोपी, सुनहुँ हरि को सदेस।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावौ त्रिगुन मिथ्या-भेष॥

❋

मात-पित कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या ल्याइ।
'सूर' सुख-दुख नाहिं जाकैं, भजौ ताको जाइ[1]॥"

गोपियाँ इस जगत को सत्य मानती है वे जगत के मिथ्यत्व और मिथ्यावाद के भाव को अस्वीकार करती हैं, किंतु उनके विचारो का आधार, उनकी भावनायें ही है। वे केवल इतना ही कह पाती हैं—

"यै मत जाइ तिनहिं तुम्ह सिखवहु, जिन हीं ये मत सोहत।
'सूर' आजु लौं सुनी न देखी, पोत सूतरी-पोहत॥"

[1]गोपी, सुनो हरि-सदेस।
कह्यौ पूरँन ब्रह्म ध्यावौ, त्रिगुन मिथ्या भेष॥
मै कह्यौ सो सत्य मानौ, सगुन डारौ नाँखि।
पंच-त्रय-गुन सकल देही, जगत ऐसौ भाँखि॥
ग्यांन-बिन नर-मुक्ति नाहीं, यै बिषै संसार।
रूप, रेख न नाम जल-थल, बरँन-अबरँनसार॥
मात-पित कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या लाइ।
'सूर' सुख-दुख नाहिं जाकैं, भजौ ताकौं जाइ॥

—सूरसागर १४९६ ४३०२

नददास की गोपियाँ भी जगत को सत्य मानती है। यह सारी सृष्टि ब्रह्म-स्वरूप है, केवल अविद्या-माया के कारण भिन्न ज्ञात होती है। वास्तव मे जगत ब्रह्म के सत् अश का परिणाम है। ब्रह्म सत्य है, अत जगत भी सत्य है—

"मोमें उनमें अंतरौ, एकौ छिन भरि नाँहि।
ज्यों देखौ मो माँहि वे, तौ मै उनहीं माँहि ॥
—तरगनि वारि ज्यो ॥"

इस प्रकार नददास भी 'शुद्धाद्वैत' तथा 'अविकृत परिणामवाद' का समर्थन करते हैं। उद्धव इस सारे जगत को मिथ्या तथा प्रपच बताते है,[1] किंतु गोपियाँ इस मत का समर्थन किस भाँति कर सकती है, जबकि उन्हें इसी जगत के बीच ब्रह्म के अवतार कृष्ण का दर्शन हुआ है। कृष्ण के ससर्ग के कारण उन्हे अपने चारो ओर की सृष्टि सजीव ज्ञात होती है। उस प्रवृत्ति के अदर भी उन्हें एक अपने समान ही स्पदन करता हुआ हृदय दृष्टिगोचर होता है। उनके मतानुसार असत्य वस्तुएँ केवल दो है, एक तो "अविद्या—माया" और दूसरा "ससार"। यह माया भी दो प्रकार की है—एक तो ब्रह्म की आदि शक्ति स्वरूपा माया जो सृष्टि का सृजन, पालन और लय करती है दूसरी वह माया जो मनुष्य से अहता-ममतात्मक ससार की सृष्टि कराके उसके ईश्वरीय गुणो का आच्छादन करती है।

उद्धव ब्रह्म के निर्गुण होने की चर्चा करते है, गोपियाँ प्रत्युत्तर में उसकी सगुणता प्रतिपादित करती है तथा विद्या और अविद्या माया का परिचय देती है। वे कहती है—

"जो उनकें गुन नाँहि, और गुन भए कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमें मोंहि तुम्ह कहौ कहाँ ते ॥
वा गुन की परछाहँ री, माया-दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भए अमल वारि मिलि कीच ॥
—सखा सुन स्याम के ॥"

ईश्वर यदि निर्गुण है तो इस सृष्टि में गुण कहाँ से दिखाई देते है, जबकि समस्त विश्व उसी का अशमात्र है। वस्तुत ईश्वर सगुण है और उसके गुणो की परछाही ही उसकी छाया के दर्पण मे पड रही है। ईश्वरीय गुणो से प्रवृत्ति के गुण अविद्या—माया के ससर्ग के कारण भिन्न दिखाई देते है। स्वच्छ जल के समान शुद्ध ईश्वरीय गुणो को, जो प्रकृति माया के माध्यम में परिणाम स्वरूप व्यक्त हो रहे है, अविद्या—माया की कीच में सान दिया है और इन्ही सने हुये गुणो को ससारी-जन अपनाते है। नददास ने परिणामवाद के साथ ही अविद्या-माया के द्वारा उपस्थित किये गये भ्रम को भी स्वीकार किया है। मुक्ति चार प्रकार की मानी गई है—"सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य।" भक्त जब चरम विरह की व्याकुलता में आत्म-विस्मृति कर देता है तब भक्त और भगवान का एकीकरण हो जाता है, यह अवस्था जीवनमुक्त होने पर प्रेम-भक्ति-द्वारा इसी शरीर के रहते हुये एक प्रकार की 'सायुज्य' अवस्था है। इसी लिये सूर आदि वल्लभ-भक्तो ने —"विरह की सायुज्य अवस्था तथा परमार्थ भक्ति की सायुज्य अवस्था में ही सायुज्य माना है। सूर की गोपियाँ उद्धव की परमार्थ-चर्चा से ऊब कर कहती है "कि तुम्हे विरह और परमार्थ के सामीप्य का ज्ञान ही नही है"—

"ऊधौ, ब्रज की दसा बिचारौ।
ता पाछें यै सिद्धि आपनी, जोग-कथा बिस्तारौ ॥
❀
कितनो बीच बिरह-परमारथ, जाँनति हौ कै नाहीं।"

1. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।

गोपियाँ योग, ज्ञान, ब्रह्म तथा समाधि के विभेद को भी उसी प्रकार निरर्थक समझती हैं, जिस प्रकार इस संसार के सारे कर्तव्य। मोह और ममत्व के दृढ़ पाश में ही मुक्ति पाकर वे कहती है—

"जोगी होइ सो जोग बखानें, नवधा भक्ति दास रति मानें।
भजनानंद अली, हम प्यारौ, ब्रह्मानंद-सुख कौन विचारौ ॥"

परमानंददास तो यहाँ तक कहते हैं—

"सेवा मदनगुपाल की, मुक्ति हूँ ते मीठी।"

इन अनेक प्रकार के आध्यात्मिक सुख और मोक्ष-अवस्था विषयक विचारों के साथ-साथ 'सूर' का यह भी मत है कि जो जिस भाव से भगवान् को भजता है उसको भगवान् उसी प्रकार से मिलते हैं तथा उसे इच्छित मोक्ष प्राप्त होता है—

"मधुकर, कौन मनायौ मानैं।
सिखवौ जाइ समाधि-जोग-रस, जहँ सब लोग सयानैं ॥

❀

जिन्ह के तन, मन, प्रान, 'सूर' सुनि मुख-मुसकानि बिकानें।
परी जु पय-निधि अल्प बूँद-जल, सो पुनि को पहिंचानें ॥"[1]

सूर के इस प्रकार के भाव भगवद्गीता के—"ये यथा मां प्रपद्यते तां स्तथैव भजाम्यहम्" से साम्य रखते हैं।

गोपियों को कृष्ण-ध्यान में ही तथा सगुण ईश्वर की सेवा में ही चारों प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं—

"ऊधौ, सूधें नैंकु निहारौ।
हम अबलाँन को सिखवन आए, सुनो सयाँन तिहारौ ॥
सेवत सगुन स्यामसुंदर कों, मुक्ति लहीं हम चारी ॥
हम सालोक, सरूप, सरोज्यौ, रहत समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरैं, तुम्ह अलि बडे अदाई ॥"

❀

"ऊधौ, सूधें नैंक निहारौ।
हम अबलँन को सिखवत आऐ, सुन्यौं सयाँन तिहारौ ॥
निरगुन कहौ कहा कहियतु है, तुम्ह निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याँम सुंदर कौं, मुक्ति लही हम चारी ॥
हम सालोक, सरूप, सयुज्यौ, रहत समीप सदाई।
सो तज कहत और की औरैं, तुम्ह अलि बडे अदाई ॥

१. मधुकर, कौन मनायौ मानैं।
अविनासी, अति अगँम तुम्हारौ, कहा प्रीति-रस जानैं ॥
सिखवौ जाइ समाधि-जोग-रस, जहँ सब लोग सयानै।
हम अपने ब्रज ऐसैं हीं रहि हैं, बिरह-बाइ-बौरानैं ॥
जागत, सोवत, सुपन रैंन-दिन, वहै रूप उर-आनैं।
बालमुकंद-किसोर जु लीला, सोभा-सिंधु-समानैं ॥
जिन्ह के तन, मन, प्रान 'सूर' सुन, मृदु-मुसिकान-बिकानैं।
परै पयोध जु अलप बूंद-जल, सो कहौ को पैहचानैं ॥
—सूरसागर (ना० प्र० स० काशी)

हम मूरख, तुम्ह बड़े चतुर हौ, बौहौत कहा अब कहिऐ ।
ऐ ही काज फिरत भटकत कित, अब मारग निज गहिऐ ।।
तुम्ह अग्यांन कतहिं उपदेसत, ग्यांन-रूप जब हम हीं ।
निस-दिन ध्यांन 'सूर' प्रभु कौ अलि, देखत हम जित-तित हीं ।।"

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पृ० १५६२

कृष्ण ने गोपियो के पास उद्धव को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने के लिये साभिप्राय भेजा था। कृष्ण चाहते थे कि गोपियो की प्रीति और तन्मयता देख कर उद्धव शिक्षा-ग्रहण करे और सगुण-मार्ग की सरसता तथा सुगमता के सामने निर्गुण-ज्ञान-गर्व दूर हो—

"त्रिगुन तन करि लखति हम को, ब्रह्म मांनत और ।"

इसी भ्रम का निवारण कृष्ण करना चाहते थे। जगत् से ब्रह्म को सदा अलग मानना, जगत् की नाना-विभूतियो में उसे न स्वीकार करना भक्ति-मार्गियो के निकट बडी भारी भ्रांति है। वे तो—

"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।"

—गीता १०।२०

इस भगवद्वाक्य के सबल के सहारे जीवन-यात्रा पूर्ण करते है।

उद्धव बात-बात में केवल एक ब्रह्म या अद्वैतवाद का राग अलापते हैं, किंतु रस-विहीन उपदेश से लोक-व्यवहार नही चलता और न साधारण बुद्धि के व्यक्ति के लिये ऐसे उपदेश हितकारक ही होते है। निर्गुण ब्रह्म की इसी क्लिष्टता तथा नीरसता का परिचय गोपियो के वाक्यो-द्वारा प्रकट होता है। ज्ञानी उद्धव को उचित था कि वे सगुणोपासक गोपियो की श्रद्धा चलायमान न करे,—श्री कृष्ण स्वयं इस मत के समर्थक है—

"प्रकृतेर्गुणसमूढा. सज्जंते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।"

—गीता, ३।२९

सारे सासारिक कर्तव्यो से विमुख कृष्ण-विरह में सारी आपदाओ को सहन करते हुए गोपियाँ कृष्ण की अनुयायिनी तथा आज्ञाकारिणी शिष्याओ की भाँति ज्ञात होती है। कृष्ण ने स्वयं कहा है—

"मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः ।।"

—गीता, ३।३०

गोपियो को—प्रेम-वियोगिनियो को मुक्ति से क्या काम। उद्धव का उपदेश उनके लिये निरर्थक था। श्री कृष्ण उनके लिये प्रत्यक्ष थे। उन्हें छोडकर एक निराकार, निर्गुण ब्रह्म की कल्पना करके उसकी उपासना करना उन्हें उसी प्रकार उपहासास्पद ज्ञात होता है जैसे दीवाल पर चित्रांकन करने के पश्चात् उसी कल्पित चित्र की उपासना करना—

"नंदनंदन-व्रत छाडिकें हो, को लिखि पूजै भीति ।"

—सूरसागर (ना० प्र० स० काशी) पृ० १६२३

उद्धव गोपियो को सहजोपासना का उपदेश देते हैं—

"एकै अलख अपार, आदि अवगत है सोई ।
आदि निरंजन नाम, ताहि रीझें सब कोई ।।
नैंन, नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म कौ वास ।
अविनासी विनसै नहीं हो, सहज जोति-परकास ।।"

—सूरसागर (ना० प्र० स० काशी) पृ० १६२३-२४

गोपियो को इस "सहज-ज्योति" का ज्ञान समझ में नही आता है, उन्होने अपने उपास्य को, अवतारी ब्रह्म, प्रत्यक्ष और साकार देखा है, फिर भला वे उद्धव की निराकारोपासना का समर्थन किस प्रकार कर सकती है—

"जौ वहि कर-पग नाहिं, कहौ ऊखल क्यों बाँध्यौ।
नैन, नासिका, मुख न, चोरि दधि कौनें खाँध्यौ॥
कौन खिलायौ गोद लै, किन्ह कहे तोतरे-बैन।
ऊधौ, ताकौ न्याव है, जाहि न सूझै नैन॥"

—सूरसागर (ना० प्र० स० काशी) पृ० १६२४

गोपियों को उद्धव की ज्ञान-चर्चा अंधे के न्याय जैसी लगती है जिसे स्वय तो कुछ दृष्टिगत होता नहीं, पर स्पर्श-द्वारा वस्तु के जिस अश का अनुभव करता है उसे वैसा ही बता देता है। वास्तव में उसका ज्ञान अपूर्ण है। गोपियाँ कृष्ण को प्रत्यक्ष देखती है, वे उनके अतर, बाह्य प्रत्येक रूप से परिचित है, फिर भला इस अपूर्ण ज्ञान-चर्चा से कैसे सतुष्ट हो सकती है। उन्होने कृष्ण को विविध बार क्रीडाएँ करते तथा किशोरावस्था में चापल्ययुक्त भावभगिमाओ में रत देखा था। वे एक ऐसी साकार और क्रियाशील मनोहर छवि के समुख निर्गुण ब्रह्म की अव्यक्तता को कैसे स्वीकार करती। वे उद्धव को उन्ही के तर्क-द्वारा परास्त करती है—

"सू का की है करत प्रसंसा, कौनें घोष पठायौ।"

ऐसी पक्तियो में उद्धव के अज्ञान को ही लक्षित किया गया है।

गोपियाँ अपने लिये योग-चर्चा को सर्वथा निरर्थक समझती है। उनको "जोग अपनाने को कहना" उसी भाँति है जिस प्रकार—

"बूचिहिं खुभी, आँधरी काजर, नकटी पैहरैं बेसरि।"

ऊधौ, जगत को मिथ्या बताते है तथा केवल ब्रह्म को सत्य मान कर उसी सत्य ब्रह्म की आराधना करने को कहते है, किंतु गोपियाँ कृष्ण को सत्य मानती है, सारे जगत को सत्य मानती हैं। वे ब्रह्म को ही इस जगत का निमित्त और उपादान कारण मानती हैं।

"कहाँ लौं कीजै बहुत बड़ाई।
अतिहिं अगाध, अपार, अगोचर, मनसा तहाँ न जाई॥
जल बिन तरंग, भीति बिन चित्रन, बिन चित ही चतुराई।
अब ब्रज में अनरीति कछू यह, ऊधौ आनि चलाई॥
रूप न रेख बरन बपु जाकें, संग न सखा सहाई।
ता निरगुन सों प्रीति निरतर, क्यों निबहै री माई॥
मन चुभि रही माधुरी मूरति, रोम-रोम अरुझाई।
हौं बलि गई 'सूर' प्रभु ताके, जाके स्यौम सदां सुखदाई॥"[१]

[१]. कहा लै, कीजै बौहौत बड़ाई।
अति अगाध, स्तुति-अर्चन अगोचर, मनसा तहाँ न जाई॥
जाकें रूप न रेख बरँन बपु, संग न सखा सहाई।
ता निरगुन सों नेह निरंतर, क्यों निबहै-री माई॥
जल-बिन तरँग, चित्र-बिन भीतहिं, बिन-चेतहिं चतुराई।
अब या ब्रज में नई रीति मै ऊधौ आँन चलाई॥
मन हरि लियौ माधुरी मूरत, रोम-रोम उरझाई।
स्यौंम सुभग तन सुंदर लोचन, 'सूर' निरखि बलि जाई॥
—सूरसागर (ना० प्र० स०) पृ० १५७१

ने तप के ... उपकरणो को प्रेमयोग में अपना लिया है, वे मन, वचन तथा कर्म से
ारिक सबधो के साथ ही साथ उनके सुख-दुख की अनुभूति भी लुप्त
भी अपने चित्त को स्थिर रख सकती है। गोपियो ने मानापमान को
के समान स्थिर कर वश मे कर लिया है। उनके चारो ओर लोक-
और शील अग्नि की भाँति तप्त हो रहा है। कृष्ण का अदर्शन
पचाग्नि तप कर रही है। अपने शरीर की सुध-बुध गँवा कर केवल
न करती है। इस क्रिया में वे निर्निमेष हो गई है, इसी प्रकार वे—

मंग भ्रू भंग तराटक, नैंन नैंन-लगि लागें।
ास सुमुख कुंडल मिलि, चंद-'सूर' अनुरागें।।"

ार तप का साम्य प्रदर्शित करती है। उद्धव को गोपियो का लौकिक
ान वे कृष्ण की सर्वज्ञता और व्यापकता का बोध गोपियो को कराना
अपने ब्रह्म स्वरूप से अणुमात्र में व्याप्त है। उनकी एक व्यक्ति विशेष
न तथा सकीर्णता है। इसके विपरीत गोपियो को कृष्ण का अतर्यामी

"जौ पै हिरदे माँझ हरी।
हि इती अवस्था उन्ह पै, कैसे सही परी।।
*
निकसि नंद-नंदन हम सीतल क्यो न करीं।।"

—सूरसागर (ना० प्र० स०) पृ० १५२८

...या समझें, वे अपनी निर्गुण-चर्चा से विरत नही होते, निरतर अपनी ब्रह्म-चर्चा से गोपियो की प्रेम-ज्वाला को और भी तीव्रतर कर देते है। उद्धव की वह ज्ञान-चर्चा ब्रज-वासियो के लिये न तो उपयोगी ही थी और न हृदय-हारिणी। जब वे व्यग्य, खीझ, झुँझलाहट आदि मानसिक अस्त्रो को विफल होते देखती है, तो बडी शाति-पूर्वक उन्हें समझाती है—

"या ब्रज सगुन-दीप परगास्यौ।
सुनि ऊधौ! भृकुटी त्रिवेदि तर, निस-दिन प्रघट अभास्यौ।।
सब के उर सरवनि सनेह भरि, सुमन तिली कौ बास्यौ।
गुन अनेक ते गुन कपूर सम परमल बारह भास्यौ।।
*
गोकुल कछू रस-रीति न जानत, देखत नाहिं तमास्यौ।
'सूर' करम की खीर परोसी, फिरि-फिरि चरत जवास्यौ।।"

नददास जी के भ्रमरगीत का आरभ ही ज्ञानोपदेश मे होता है। इनके उद्धव उपदेश देने में अधिक चतुर ज्ञात होते हैं। वे पहले गोपियो की प्रशसा करते हैं, फिर क्रमश मुख्य प्रसग पर आते है। इस प्रकार वे पहले अपने को गोपियो के समुख उनका शुभचिंतक तथा विश्वासपात्र बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे कि गोपियाँ उनसे प्रभावित हो सकें। कृष्ण और बलराम की कुशलता का समाचार देते हुये उद्धव उनके शीघ्र आने की सभावना बतला कर गोपियो में आशा का संचार करते हैं। गोपियो को कृष्ण का नाम सुनते ही उनका स्मरण हो आता है और वे मूर्च्छित हो जाती है। "नददास" ने इस प्रसग का समावेश बडी चतुराई से किया है, क्योकि इसके पश्चात् जब वे गोपियो को प्रबोधन दिलवाते हैं तो वह भी सात्वना का ही स्वरूप ज्ञात होता है। नंददास कहते है कि कृष्ण सर्वव्यापक तथा सर्वात्मा हैं, वे गोपियो के पास है तथा सर्वत्र विश्व मे व्याप्त हैं, अत उनके लिये

सासारिक मोह और ममता का प्रदर्शन उचित नही है। गोपियो को अपने चर्म चक्षुओ-द्वारा नही [illegible] विवेक चक्षुओ से उन्हें देखने का प्रयास करना चाहिये—

"वे तुम्हतें नहिं दूर, ग्यांन की आंखिन देखौ।"

गोपियाँ अपने प्रेम मे मग्न है और वे ब्रह्म-ज्योति तथा ज्ञान-मार्ग से सर्वथा अपरिचित [illegible] उन्हें उसकी आवश्यकता भी नही ज्ञात होती, क्योकि गोपियो का प्रेम-मार्ग अत्यत सरल तथा सहज है वे कृष्ण के सुदर रूप और गुणो के चिंतन में पूर्ण आत्म-विस्मृत है। गोपियो के इस रूप, गुण-गान [illegible] सुन कर उद्धव जी निरुपाधिब्रह्म का ज्ञानोपदेश देते है, उनके इस प्रयास में शकराचार्य के मिथ्यावाद [illegible] झलक दृष्टिगोचर होती है। उद्धव कहते है कि ब्रह्म का सोपाधि तथा सगुणत्व होना वास्तविक न है, वे तो—

"यै सब सगुन उपाधि, रूप निरगुन है उनकौ।
निरबिकार, निरलेप, लगत नहिं तीनों गुन कौ॥
हाथ न पाँइ, न नासिका, नैंन, बैंन नहिं कांन।
अच्युत ज्योति प्रकास हीं, सकल बिस्व के प्रांन॥
—सुनो ब्रज-नागरी॥"

ब्रह्म का लीला के हेतु अवतार ग्रहण करने का सिद्धात प्रतिपादन करते हुए उद्धव, वल्लभ-मतानु थायी ज्ञात होते है। वे ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बताते हुए 'पुष्टिमार्ग' का प्रतिपादन करते है। योग साधन के द्वारा ही ब्रह्मत्व प्राप्त हो सकता है, अत गोपियो को प्रेमयोग त्याग कर ज्ञानयोग धारण [illegible] चाहिये। गोपियो को अपना प्रेमयोग तथा सगुणोपासना उद्धव के सदृश हितकर और सुखकर प्रतीत होती है, वे उद्धव के ब्रह्मज्ञान को धारण करना तथा धूरि को समेटना इन दोनो क्रियाओ को समान [illegible] देती है। उद्धव धूरि को भी महत्व देते है—

"धूर बुरी जो होइ, ईस क्यो सीस चढावै।
धूर-छेत्र में आइ, करम करि हरि-पद पावै॥
धूरहिं ते यै तन भयौ, धूरहिं सो ब्रह्मड।
लोक चतुरदस धूर ते, सप्त-दीप, नव खंड॥
—सुनो ब्रज-नागरी॥"

अथवा—

"पंचतत्व यै अधम सरीरा। छिति, जल, पावक, गगन, समीरा॥"

तुलसीदास की भाँति उद्धव भी इस सपूर्ण ब्रह्माड को पचतत्वो-द्वारा निर्मित मानते है और [illegible] का—पृथ्वी का उसमें महत्वपूर्ण स्थान है। अपने "धूरहिं ते यै तन भयौ" विचार के [illegible] में उद्धव [illegible] आंग्ल भाषा के कवि की भाँति Dust thou art to Dust returnest की समीक्षा करते हुए [illegible]

परब्रह्म प्राप्ति या ईश्वर प्राप्ति के तीन साधन कर्म, ज्ञान और भक्ति में उद्धव [illegible] ज्ञानमार्ग के अनुयायी है तथा गोपियाँ भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करती है। [illegible] पश्चात् उद्धव गोपियो को नियत कर्म करने का आदेश देते है, इस स्थल पर उनका मत गीता के [illegible] के सिद्धात से साम्य रखता है—

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण.॥"
—गीता ३।८

उद्धव भी "करम करि हरि पद पावै" ही कहते है। वास्तव में पूर्ण योगी तो [illegible] वे कर्म, धर्म सब कुछ त्याग कर केवल एक कृष्ण के ध्यान में मग्न है, उनकी [illegible] उद्धव की अपेक्षा अधिक दृढ है। उनका कर्म के संबध में भी [illegible] है—

"तब ही लो सब करम हैं, जब लगि हरि उर नाहिं।"

श्याम-दर्शन के पश्चात् तो सभी कुछ श्याममय हो जाता है, किसी भी वस्तु का कोई अलग अस्तित्व नही रह सकता। गोपियाँ कर्म को बधन मानती है, एक कर्म दूसरे कर्म को जन्म देता है। इस प्रकार कार्य-कारण की शृखला सदैव चला करती है और जीव उससे मुक्त नही हो पाता। "प्रसाद जी" ने भी एक स्थल पर ऐसा विचार व्यक्त किया है—

"कर्म का भोग, भोग का कर्म—
यही जड चेतन का आनंद।।"
—कामायनी

उद्धव अपने योगासन-आदि की महिमा का वर्णन करते नही थकते तथा ब्रह्म को निर्गुण बताते है, किंतु गोपियाँ इस सगुण-सृष्टि के कारण ब्रह्म को निर्गुण मानने के लिये तैयार नही है। यदि कर्ता गुणवान नही है तो उसकी कृति में गुण कहाँ से आ सकते है? अपने इस तर्क की पुष्टि के हेतु वे कहती हैं कि जो बीज बोया जायगा उसीके अनुरूप वृक्ष लगेगा और यही पर वे "वल्लभ-मतानुसार" विद्या और अविद्या (माया) का भी परिचय देती है। यह जगत सत्य है, किंतु अविद्या (माया) के ससर्ग के कारण ही असत्य भापित होता है—

"जो उनकें गुन नाहिं, और गुन भए कहाँ ते।
बीज-बिना तरु जमें मोहि तुम कहौ कहाँ ते।।
वा गुन की परछाँह री, माया-दरपन-बीच।
गुन तें गुन न्यारे भए, अमल-वारि मिलि कीच।।"
—सखा सुन स्याम के।।"
—भँवरगीत नददास

उद्धव उन्हें निष्काम कर्म करने को कहते है, वे कहते है कर्म करना श्रेय है, किंतु उसके फल की इच्छा त्यागकर तथा सब कुछ ब्रह्मार्पण या कृष्णार्पण करके ही करना चाहिये। ऐसा करने से कर्म का कारण होना नष्ट हो जाता है और फिर वह नये कार्यो को जन्म नही दे पाता। प्रत्यक्ष कृष्ण-दृष्टा गोपियाँ सत्य ही—"निरगुन भए अतीत के, सगुन सकल जग माहिं" के सिद्धात को मानती है। उद्धव की बेसिर-पैर की बातें सुनकर गोपियाँ उन्हें नास्तिक मानती है तथा उन्हे उद्धव का ज्ञान थोथा प्रतीत होता है। तत्व-ग्रहण करने में असमर्थ "प्रघट भाँनु को छाँडि गहै परछाँही धूपै" कहती है। "सूरदास" और "नददास" दोनो ही अपनी गोपियो-द्वारा निर्गुण ब्रह्म की दुरूहता तथा गहनता का प्रतिपादन करते है। सूरदास ने तो सगुण लीला-गायन के कारण को पहले ही प्रकट कर दिया है—

"अविगत गति कछु कहत न आवै।
❀
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति-बिन निरालंब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम बिचारै तातै 'सूर' सगुन लीला पद गावै।।"

इसी प्रकार नददास की गोपियाँ भी ब्रह्म को केवल दिव्य-दृष्टि के द्वारा दर्शनीय मानती है और सभी प्राणियो को विवेक-चक्षु उपलब्ध नही है। वे व्यक्ति कर्म के कूप में टक्करे मारते हुये सत्य से कोसो दूर है, ऐसे व्यक्तियो की अपेक्षा तो सगुणोपासक व्यक्ति ही भले है—

"जिनकौं वै आँखें नहीं, देखें कब वे रूप।
तिन्हें साँच क्यों उपजै, जे परे करम के कूप।।"

जैसा कि हम ने पीछे कहा है, आधुनिक युग के भ्रमरगीतकारो में "रत्नाकर" के भ्रमरगीत में ही दार्शनिक तत्व प्राप्त होता है। यद्यपि विचार सभी प्राचीन और चिर प्रसिद्ध है, किंतु उनके सगुफन का ढग सर्वथा मौलिक और स्तुत्य है। 'उद्धवशतक' के उद्धव तो पहले कृष्ण को ही ज्ञानोपदेश

देते है। वे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति" तथा "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" का सिद्धात कृष्ण को बताते है और तत्वज्ञान के साथ ब्रह्मज्ञान की भी महत्ता मानते है। वे कहते है—

"पाँचौ तत्व माँहि एक सत्व की ही सत्ता सत्य, याही तत्व-ग्यान कौ मह व स्रुति गायौ है।"

तथा वे इस ससार को स्वप्नवत् ही मिथ्या मानते है। इस प्रकार कृष्ण को अपने विचारो से अवगत कराकर उद्धव कृष्ण के आग्रहानुसार गोकुल जाते है, किंतु मार्गमें ही उनका नीरस, शुष्क, ज्ञानी हृदय सरस हो चलता है। गोपियो के समक्ष पहुँचते ही उनका समस्त ज्ञान-गर्व विगलित हो जाता है, उनकी इस दशा का बडा सुदर वर्णन इस कवित्त में है—

"दीन-दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ, गरि गौ गुमाँन-ग्याँन-गौरव गुठाँने सै।"

किंतु फिर भी उद्धव अपने ज्ञानार्क का दिव्यालोक प्रसारित करना चाहते है, वे गोपियो को कृष्ण सयोग-प्राप्त करने का साधन बताते है, योग की महत्ता उनका प्रिय विषय है। योग के द्वारा अतर्दृष्टि करने और हृत्कमल पर जगने वाली ब्रह्म-ज्योति में ध्यान लगाने से भगवान् कृष्ण का सयोग प्राप्त होता है। जड और चेतन के विलास का विकास होकर अपूर्व आनद प्राप्त होता है। गोपियाँ कृष्ण को 'मोह-भिरत' होने के कारण ही अपने से विलग मान रही है, अन्यथा कृष्ण तो सर्वत्र, सब में निरतर ही निवास करते है—

"मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोह, सो तौ सब अंतर निरंतर बस्यौ रहै।"

वे ब्रह्म की व्यापकता—"कान्ह सब ही में, कान्ह ही मै सब कोई है" के सिद्धात का प्रतिपादन करते हुए काँच के टुकडे में पडे प्रतिविब का उदाहरण देते है। यह सब माया का ही प्रपच है जिसके कारण सच्चिदानद का वह सत्य तत्व (जो पचतत्व-निर्मित इस ससार में एक सा है) अपने सत्य रूप में नही प्रकट होता। ससार की सभी वस्तुओ में उसी एक ब्रह्म का रूप है, किंतु उस रूप का दर्शन विवेक चक्षुओ से होता है इसी लिये भ्रम का निवारण अत्यत आवश्यक है। इस सारे ससार के अनेकत्व में उसी ब्रह्म के एकत्व का दर्शन होता है तथा उस एक ब्रह्म में यह सारा नामरूपात्मक विश्व समाविष्ट है, Unity in diversity and diversity in Unity का सिद्धात उद्धव जी गोपियो के समक्ष रखते है—

"माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै, काँच-फलकनि ज्यो अनेक एक सोई है।"

उद्धव उन्हें योग की कष्ट-साध्य-साधना का उपदेश देते है। कृष्ण में भी वही ब्रह्म है, गोपियो में भी वही, सर्वत्र प्रत्येक अणु में वही ब्रह्म व्याप्त है। यदि गोपियाँ उसी सर्वात्मा से अविचल मिलाप चाहती है तो उन्हें योगाभ्यास के द्वारा अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन कर देना चाहिये तथा मन को दीन न करके शरीर को योग की कष्ट-साधना के द्वारा क्षीण कर देना चाहिये। गोपियाँ जो निरतर कृष्ण का ही ध्यान करती है तथा उद्धव के मुँह से भी कृष्ण का प्रिय सदेश ही सुनना चाहती है, यह सब सुनकर मूर्च्छित हो जाती है। उनकी उस व्यथित दशा का मार्मिक और भावपूर्ण चित्रण 'रत्नाकर जी' ने किया है। गोपियो का जीवन रसमय तथा प्रेममय था, वे उद्धव की बात नही समझ पाती है—

"ह्याँ तौ विषम-ज्वर-बियोग की चढाई, यह पाती कोन रोग की पठावत दवाई है।।"

यदि कृष्ण अपने पूर्व उपकरणो की,—स्थानो की याद करते है तो अवश्य गोपियो को भी याद करते होंगे, इसी आशा पर वे उद्धव से पूछती है—

"आइ जमुना तट पै काहू बट-छाँह माँहि, पाँसुरी उँमाहि कबौ बाँसुरी बजावैं हैं।"

उद्धव बार-बार ब्रह्म ही का गुणगान करते है, उनकी इस वृत्ति का उपहास गोपियाँ इस प्रकार करती है—

"कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप....।"

गोपियाँ न तो एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व के सिद्धात को समझ ही पाती हैं और न उन्हें यह प्रिय ही है। वे तो कृष्ण को अपने से पृथक् सौंदर्य, शील के आगार के रूप में देखना चाहती हैं। गोपियाँ प्रत्यक्ष के हेतु प्रमाण, अनुमान की आवश्यकता नहीं समझती, वे तो—

"देखति जो मानति हैं सूधौ न्याव जानति हैं....।"

इसी कारण—

"लखि ब्रज-भूप-रूप अलख अरूप ब्रह्म, हम न कहेंगीं तुम लाख कहिबौ करौ।"

अनग के ही कारण गोपियाँ विकल थी और ब्रह्म भी अनग है, अत वे उसकी आराधना नहीं करना चाहती—

"एक ही अनंग साधि, साध सब पूरीं अब और अग-रहित अराधि करिहै कहा।।"

गोपियो को अपना सहायक, रक्षक तथा सहयोगी ब्रह्म चाहिये। वे निराकार ब्रह्म को अपने लिये निरर्थक बताती हैं—

"रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म, ऊधौ कहौ कौन धौं हमारे काँम आइ है।"

ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक मानते हुए भी जगत् को स्वप्नवत् असत्य मानना उपहासास्पद है। चेतन जगत् को स्वप्न तथा मिथ्या मानना ही अपनी निद्रावस्था प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है, अत. गोपियाँ सज्ञानी उद्धव को निद्रित तथा विवेक-हीन मानती हैं—

"जग सपनो-सौ सब परत दिखाई तुम्हें, तातै तुम ऊधौ, हमै सोवत लखात हौ।"

ॐ

जग सपनो-सौं सब परत दिखाई तुम्हें, तातें तुम ऊधौ हमें सोवत लखात हौ।
कहै 'रतनाकर' सुनें को बात सोवत की, जोई मुँह आवत सो बिबस बयात हौ।।
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि, त्यौ हीं तुम आप हीं सुग्यांनी समुझात हौ।
जोग-जोग कबहूँ न जाँनें कहा जोहि जाकौं, ब्रह्म-ब्रह्म कबहूं बहकि बररात हौ।।

वे इसी जन्म में नहीं अपने अन्य जन्मो में भी कृष्ण-मिलन की आशा रखती हैं। वे अपना अह, श्रद्धा, स्नेह तथा भक्ति सब कुछ कृष्ण को अर्पित कर चुकी हैं। अत किसी योगी से उनकी समानता हो सकती है। उद्धव व्रज के प्राकृतिक सौंदर्य तथा गोपियो की भावमयी स्थिति को देख कर अपना ज्ञान-गर्व भूल गये और अपने सिद्धातो का सम्यक् प्रत्यक्षी करण नहीं कर सके। उनका ज्ञान गोपियो की अथाह भक्ति में लुप्त हो गया। ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति और प्रेम की विजय हुई। भक्तोने भक्ति को सदैव श्रेष्ठ माना है। तात्विक दृष्टि से ज्ञानी और भक्त में विशेष अतर भी नहीं—

"ग्यानिहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।।"

योग और ज्ञान की अपेक्षा गोपियो के प्रेम को महत्ता प्रदान करना मनोवैज्ञानिक सत्य है। मानसिक भावनाओ की अनुभूति में मनोवृत्तियो और बोध-वृत्तियो दोनो का सामजस्य रहता है। बोध-वृत्तियो में मानसिक भावनाओ की अनुभूति परक व्यंजना आवश्यक नहीं है, इसी लिये वह एक देशीय कही है। योग ऐसे शुष्क साधन में सभी चित्त-वृत्तियो का नितात निरोध हो जाता है। यही कारण है कि मानसिक भावनाओ की अनुभूति से समन्वित मनोवृत्तियाँ बोध-वृत्तियो की अपेक्षा अधिक गुरुतर और गभीर होती है। इसी सिद्धात के आधार पर प्रेम और भक्ति की विजय ज्ञान और योग पर बताई गई।

भक्तियोग और ज्ञानयोग

निष्कपट रूप से ईश्वरानुसधान ही भक्ति योग है, प्रेम ही इसका आदि, मध्य और अवसान है। 'नारद सूत्र', 'शांडिल्य सूत्र' और 'नारद पाचरात्र' प्रभृति शास्त्रोने स्नेह को ही भक्ति-शब्दार्थ माना है। "भगवान् का परम प्रेम ही भक्ति है, जीव इसे प्राप्त करके प्राणिमात्र के प्रति घृणा-शून्य हो जाता है। उसके सारे कर्म प्रेमीभूत होते हैं। इस प्रेम के द्वारा काम्य सासारिक वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, यह

कर्म ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ है, क्योकि साध्य विशेष ही उनका लक्ष्य है और भक्ति स्वय साध्य एव साधन रूप है[1]।

शाडिल्य भक्ति-सूत्र में भी भक्ति को ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति ही बताया गया है। पाचरात्र में इसका कुछ अधिक विवेचन है। भक्ति के पूर्व ईश्वर के माहात्म्य-ज्ञान की आवश्यकता है। उसकी महत्ता जान लेने के पश्चात् जो दृढ और सर्वाधिक स्नेह उनके चरणो में हो जाता है, वही भक्ति है।

भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान दें तो भी यही बात सिद्ध होती है। भज—ति = भज प्रकृति और ति = प्रत्यय अर्थात् भज् = सेवा, ति = भाव—भाव-सहित सेवा को ही भक्ति कहते है। इसी प्रेम और परानुरक्ति के भाव को गोपियो ने अपना आश्रय चुन लिया। गोपियाँ साध्य या पराभक्ति की अनुयायिनी है। प्रेम-लक्षणा भक्ति की अधिकारिणी वे केवल कृष्ण-प्रेम मे मग्न है। भगवान् ने स्वय कहा है कि मेरा भक्त केवल मेरी कामना करता है—

"न पारमेष्ठ्यं न महेंद्रधिष्ण्यं न सार्वभौम न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥"
—भागवत ११।१४।१४

भक्ति रस पाँच प्रकार का है और इन्ही के आधार पर भक्ति भी पाँच प्रकार की है। सख्य, शात, दास्य, सेव्य और माधुर्य। स्नेह का उद्रेग प्रत्येक रस तथा भक्ति में होता है, किंतु रस की सर्वोच्च परिणति मधुर रस मे होती है। आधुनिक भक्ति इसके विकास की चरमावस्था है। इसमें सब मर्यादा और सकोच दूर हो जाते है। शृगार रस की इस सर्वोच्च स्थिति का एक बौद्धिक और तात्त्विक आधार भी है। "प्लैटो" ने अपने सिंपोजियम (Symposium) में काम को मानव आदर्श के प्रति मनुष्य की वह सहज प्रवृत्ति बताया है जिसकी चरितार्थता प्रेम से अथवा मान, ज्ञान या अधिकार प्राप्ति के लिये किये जाने वाले प्रयत्न से होती है। इसी बात को वैज्ञानिक ढग से इस प्रकार कह सकते है कि शृगार चाहे वह इद्रियजन्य हो चाहे अतीद्रिय उसका आधार काम ही होता है। वैष्णव भक्तो ने भक्ति-भाव का ऐसा क्रम बाँधा है जिससे यह भाव अधिकाधिक प्रगाढ होकर उच्च से उच्चतर स्तर को प्राप्त कर अत में उस उच्चतम भाव को प्राप्त होता है जिसे 'महाभाव' कहते है। गोपियाँ इस महाभाव की अवस्था में सदा रहती है। तुलसीदास की भाँति चातक के प्रेम को वे भी श्रेष्ठ मानती है और उद्धव के उपदेश से उसे त्यागने से इकार करती है। वे विवश है, कृष्ण से प्रेम करना ही उनका धर्म हो गया है। "जिस प्रकार नर्तकी सिर पर घडा रख कर नाना प्रकार के तालो से अग लचकाती हुई नृत्य करती है, किंतु ध्यान सिर पर रक्खे घडे की ओर ही रहता है, उसी प्रकार सच्चा भक्त कर्मों में उलझा रहने पर भी हमेशा प्रभु-चरणो में निमग्न रहता है।" भक्ति-रस की अनुभूति भी अपूर्व है, वह भक्तो के हृदय में कृष्ण के रूप तथा लीला-गुण से सबधित रागानुगाभक्ति के उद्रेक से उत्पन्न होती है। भक्ति रस के विभाव, अनुभाव भी भिन्न होते है। रस-रूप-ब्रह्म के विविध सबधो-द्वारा अनुभूत भक्ति रस भक्तो के हृदय का अपूर्व रस है, मम्मटादि अलकारिक भक्ति रस को केवल भाव की सीमा तक ही रखते है और वैष्णव भक्त उसे पूर्ण रस मानते है, भक्ति-काव्य तो रस से ओतप्रोत है।

[1]. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। ॐ सा कर्मे परमप्रेमरूपा।
—अनुवाक १, सूत्र २

ॐ सा कामयमाना निरोध रूपत्वात्।
ॐ सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योप्यधिकतरा।
ॐ स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः।
—नारद भक्ति-सूत्र

वल्लभाचार्य जी ने तथा अन्य कृष्ण-भक्तो ने नवधा भक्ति[1] को प्रेम-भक्ति का साधन कहा है। वल्लभाचार्य जी ने नवधा भक्ति के अतिरिक्त दसवी "प्रेम-लक्षणा-भक्ति" भी मानी है तथा वे इसे सर्वप्रधान मानते है, क्योकि इसके द्वारा भगवान् के स्वरूपानद की प्राप्ति होती है तथा नवधा भक्ति का साधन वैकल्पिक नही अनिवार्य है। अष्टछाप के भक्तो ने भी इन नौ साधनो मे वात्सल्य तथा मधुर भावो को और जोड दिया है। इन्ही साधनो के आश्रय से अनन्य भक्ति सुभल बताई है।

'भ्रमर-गीतो' के अतर्गत आनेवाली भक्ति में "श्रवण, कीर्तन, स्मरण, आत्मनिवेदन"—आदि भावो का पूर्ण परिचय है, अन्य भावो के उदाहरण भी गोपी-प्रेम मे सुलभ है। गोपियाँ निरतर कृष्ण-ध्यान में लीन रहती है, कृष्ण के रूप-गुण का ध्यान ही उनका आधार है। आपस मे कृष्ण-चर्चा का कीर्तन तथा श्रवण ही उन्हें सात्वना प्रदान करता है। अपनी प्रीति तथा विरह-दुख का निवेदन ही उनका जीवन है।

पचधा-भक्तियो में से गोपी-प्रेम माधुर्य भक्ति के अतर्गत आता है। शृगार-भाव की भाँति मधुर-भाव भी दो प्रकार का होता है—सयोगात्मक और वियोगात्मक। भ्रमरगीतो के अतर्गत वियोगात्मक मधुर भाव है। नवधा भक्ति के अ तर्गत जो अतिम "आत्म-निवेदन" का भाव है वह काता या माधुर्य-भक्ति मे ही पूर्णता प्राप्त करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का सर्वाधिक व्यापक भाव रति—प्रेम है। इसके अतर्गत भी परकीय प्रेम में अधिक तीव्रता और गहनता होती है। चैतन्य महाप्रभु भी परकीय प्रेम को ही अधिक महत्व देते है[2]।

लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-सबध की व्यापकता को देखकर ज्ञानी साधको ने आध्यात्मिक-प्रेमानुभूतियो को भी लौकिक अन्योक्तियो-द्वारा प्रकट किया है।

गोपियाँ श्रीकृष्ण से,—अपने प्रियतम से बिछुड गई थी। भक्तो ने कृष्ण-प्रेम की विरह अवस्था की अनुभूति को बहुत महत्वशाली माना है। प्रिय-मिलन, कृष्ण-मिलन या ईश्वर-मिलन की व्याकुलता का भक्ति क्षेत्र में अधिक महत्व है। प्रेम की तीव्रता, प्रिय के प्रति विशेष आकर्षण, उसके अभाव में सदैव उसका ध्यान और मिलन-लालसा की पुष्टि इस विरह-भाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ की अनुभूति से ही होती है। लौकिक प्रेम से कही अधिक बढी-चढी व्याकुलता की मधुर-भावना पतित पावनी गगा की भाँति भक्त की हृदय-भूमि में उसके भावो को और कर्मो को पवित्र करती हुई विराट् प्रेम-समुद्र की ओर बहा करती है। विरह-व्याकुलता की महत्ता के विषय में भी यथेष्ट उक्तियाँ प्राप्त होती है—

"जदुपति, जाँनि उद्धव-रीति।

❀

बिरह-दुख जहाँ नाहिं जामत, नहीं उपजै प्रेम।"

तथा—

"ऊधौ, बिरही प्रेम करै।

ज्यों बिन पुट पट गहत न रँग को, रगन रसै परै॥

'सूर' गुपाल प्रेम-पथ चलि करि, क्यो दुख-सुख्न डरै॥"

विरह-तन्मयता में गोपियो ने अपनी सब भावनाओ को कृष्ण मे ही लगा दिया है। श्री वल्लभाचार्य भी इसी मत को पुष्टि करते है—"सर्वथा सर्व भावेन भजनीयो ब्रजाधिपः"। श्रीकृष्ण भी अर्जुन से

[1] श्रवण कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
—भागवत ७।५।२३

[2] परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
ब्रज बिना इहार, अन्यत्र नाहि बास॥
—श्री चैतन्य-चरितामृत

शरणागत भाव की महत्ता का वर्णन करते हैं, गोपियाँ अपने शरीरो की चिंता भी केवल कृष्ण को प्रसन्न करने के हेतु करती हैं—

"निजांगमपि या गोप्यो ममेति समुपासते ।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढ़प्रेमभाजनम् ।।"

गोपी-भाव मे पाँच प्रधान बातें हैं—(१) श्री भगवान् के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान, (२) श्री भगवान् में प्रियतम भाव, (३) श्री भगवान् मे सर्वस्व अर्पण, (४) निज सुख की इच्छा का पूर्ण त्याग, (५) भगवत्प्रीत्यर्थ जीवन धारण।

श्री भगवान् की तीन स्वरूपा शक्तियाँ है—"संवित्, संधिनी और ह्लादिनी। भगवान् का मधुर अवतार ह्लादिनी नामक आनदमयी प्रेम-शक्ति के ही निमित्त हुआ करता है। ह्लादिनी शक्ति स्वय "श्री राधिका जी" है। समस्त गोपीजन उन ह्लादिनी शक्ति की ही अनत विभिन्न प्रतिमूर्तियाँ हैं। उनका जीवन स्वाभाविक ही भगवदर्पित है, उनकी प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक ही भगवत्सेवारूप होती है। "उनके चित्त भगवान् के चित्त हो गये थे, वे उन्ही की चर्चा करती थी, उन्ही के लिये उनकी सारी चेष्टाएँ होती थी। इस प्रकार वे भगवन्मयी हो गई थी और भगवान् का गुणगान करते हुए उन्हें अपने घरो की भी सुधि नही रही थी।"

"तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायंत्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ।।"

—भागवत १०।३०।४४

घृणा, शका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और मान इन आठो पाशो से वे मुक्त थीं। उनका एक-एक निमेष कृष्णार्पण था। मधुर भाव की सर्व व्यापकता मधुर भावापन्न पत्नी को मत्री, दासी, माता, रभा तथा सखी इन सभी का रूप मानने से ही सिद्ध होती है। इस भाव में शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य सभी भावो का समावेश हैं। हनुमानप्रसाद जी पोद्दार सपादक—'कल्याण' ने अपनी पुस्तक "गोपी-प्रेम" में लिखा है कि परकीया प्रेम तीन कारणो से अधिक उच्च है—(१) प्रिय का निरतर ध्यान, (२) प्रिय-मिलन की तीव्र और न तृप्त होने वाली आकाक्षा, (३) प्रिय के अवगुणो का पूर्ण विस्मरण। ये तीनो ही अवस्थाएँ विरहिणी गोपियो के कृष्ण-प्रेम में सुलभ हैं। गोपियो का प्रेम काम-कालिमा से शून्य है। काम और प्रेम में बडा अतर है—काम विष मिला हुआ मधु और प्रेम स्वर्गीय सुधा है। काम में इद्रिय-तृप्ति सुख रूप दीखने पर भी परिणाम में दुःख रूप है, प्रेम सदा अतृप्त होने पर भी नित्य परम सुख रूप है। प्रेम में तन्मयता, प्रियतम-सुख की नित्य प्रबल आकाक्षा है। काम खड और प्रेम अखड है। काम का लक्ष्य आत्म-तृप्ति है और प्रेम परम आत्मविस्मृति है। गौतमीय तत्र में भी गोपी-प्रेम की महत्ता प्रदर्शित है। गोपियो के प्रेम का नाम काम होने पर भी वास्तव में काम नही, किंतु शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव भी इसी "काम" नामक प्रेम की अभिलाषा करते है। श्री चैतन्य चारितामृत में इन विषयासक्ति शून्य कृष्ण-गत-प्राणा गोपियो के सबध में कहा है—"अपने तन, मन, धन, रूप, यौवन, लोक-परलोक सब को कृष्ण की सुख-सामग्री समझ कर कृष्ण-सुख के लिये शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपी-भाव है।

निजेंद्रिय-सुख हेतु कामेर तात्पर्य,
कृष्ण-सुख तात्पर्य गोपी-भाव वर्य।

❀

कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग,
कृष्ण-सुख हेतु करि शुद्ध अनुराग ।।

गोपी प्रेम में काम-वासना की तृप्ति या रमणाभिलाषा का तनिक भी आभास नही गोपी-कृष्ण-लीला का उद्देश्य ही काम विजय है। बालक जैसे दर्पण में अपने प्रतिबिंब से स्वच्छ

करता है उसी प्रकार कृष्ण ने योगमाया के द्वारा अपनी छाया स्वरूप गोपियो के साथ क्रीडा की।

गोपी-प्रेम में भक्ति का प्रत्येक रूप उपलब्ध है। "नारद-भक्ति-सूत्र" मे प्रेम-भक्ति के ग्यारह प्रकार दिये हैं, इनमे प्रत्येक गोपी-विरह या भ्रमरगीत में उपलब्ध है। अयोध्यासिह जी उपाध्याय ने तो भक्ति के इन प्रकारो में भी नवीनता का समावेश कर दिया है। "उपाध्याय" जी की राधा के लिये आर्तों का करुण क्रदन सुनना ही श्रवण-भक्ति है, विद्वानो और लोकोपकारको के प्रति विनय ही वदन भक्ति है आदि। उनकी राधा ने ससार की सेवा करना ही प्रभु की भक्ति समझ लिया है। गुणमाहात्म्यासक्ति के उदाहरण भ्रमरगीत में प्रचुर तथा सर्वत्र है। गोपियो के वल्लभ श्रीकृष्ण अनुपम रूप तथा गुणो के आगार हैं। गोपियाँ उनके रूप तथा गुण पर मोहित हैं। अत गुणमाहात्म्यासक्ति और रूपासक्ति तो उनके प्रेम की प्रथम सीढी ही है। पूजासक्ति, दास्यासक्ति और सख्यासक्ति का रूप भ्रमरगीत में गौण है। स्मरणासक्ति तो उनका अवलव ही था, वे स्मृति का सबल लिए हुए अपने विरह-दिवस व्यतीत करती रही। चरमेवा विरह तथा मातृ-हृदया गोपियो का कृष्ण विरह वात्सल्यासक्ति के अतर्गत आता है। विरह की अस्वस्था मे जब गोपियाँ कृष्ण बन कर उन्ही के से व्यापार करने लगती है तथा राधा का कृष्ण रटते-रटते कृष्णमय ही हो जाना तन्मयतासक्तिके अतर्गत है। सपूर्ण भ्रमरगीत तो परमविरहासक्ति से ओतप्रोत है।

"इहि विधि बैंन-बैंन बूझि, बूझि उनमत की नाई।
करैंन लगीं मन-हरैंन-लाल-लीला मन-भाई।।"
मोहन लाल रसाल की लीला, इन्हहीं सोहै।
केवल तन-मइ भईं कछु न जांनत हम को हैं।।
भृंगी-भै ते भृंग होत ज्यो कीट महा जड।
कृष्ण-भगति तें कृष्ण भईं, नहिं कछु अचरज बड़।।"

अथवा—

आपनी ओर की चाहें लिख्यौ, लिखि जाति कथा उत मोहन ओर की।
प्यारी, दया करि बेगि मिलौ, सहि जाति बिथा नहिं मैंन मरोर की।।
आपु हीं बाँचि लगावति अंग, अहो किन्ह आँनी चिठी चित-चोर की।
राधिका, राधे रही जकि भोर लो, ह्वै गईं मूरति नंदकिशोर की।।

गोपी-प्रेम की महानता उद्धव ऐसे ज्ञानी भी मानते हैं। सूरदास ऐसे विरक्त भक्त ने भी गोपी-भाव की महिमा गायी है। चतुर्भुजदास जी ने सूरदास के महाप्रयाण के समय उनसे पूछा था कि "सो कोन प्रकार सो पुष्टिमारग के रस को अनुभव करिऐ।" तब सूर ने एक पद गाकर बताया कि गोपी-जनो के भाव से भावक भगवान् कृष्ण को भजने से "पुष्टि-मारग" के रस का अनुभव होता है। इस 'मार्ग' में वेद-विधि (मर्यादा) का नियम नही है। केवल एक प्रेम की ही पहिचान है—

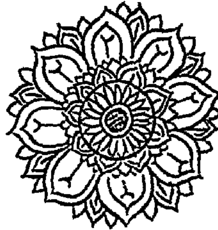
"भजि सखि, भाव भावक देव।
कोटि साधन करौ कोऊ, तऊ न मानें सेव।
*
वेद विधि कौ नेंम नाहीं न प्रीति की पैहचांन।
ब्रज-वधू बस किए मोहन, 'सूर' चतुर सुजांन।।
*
"भजि, सखि-भाव-भाविक देव।
कोटि साधन करौ कोऊ, तौऊ न मांने सेव।।
धूमकेत कुंमार माँग्यौ, कोंन मारग प्रीति।
पुरुष तें तिय-भाव उपज्यौ, सबै उलटी रीति।।

बसँन, भवँन पलटि पँहरे, भाव सो संजोइ ।
उलटि मुद्रा दई अगन, बरँन सूधे होइ ।।
वेद-विधि कौ नेम नाहिं, जहँ प्रेम को पँहचाँन ।
व्रज-वधू बस किए मोहन,' सूर' चतुर सुजाँन ।।

गोपी-प्रेम की सर्वश्रेष्ठता सर्वमान्य है[1] ।

[1]. भ्रमरगीत-संबंधी काव्य निम्न-लिखित कवियों का मिलता है—"अक्षर अनन्य (प्रेम-दीपिका), अग्रदास, (फुटकल छंद), आनंदघन (फुटकल काव्य), कालिदास (भ्रमरगीत), केशव—'ये आचार्य केशवदास नहीं, राजपूताने के दूसरे केशव हैं—(भ्रमरगीत), गौरीशंकर (उद्धवलीला), ग्वाल—व्रजवासी—(गोपी पच्चीसी तथा फुटकल छंद), घनश्याम कवि (प्रेमरस-सागर), दास—भिखारीदास—(फुटकल छंद), देव कवि (फुटकल छंद), नंददास—अष्टछाप—(भँवरगीत), नवनीत—मथुरा—(गोपी-प्रेम-पीयूष प्रवाह, गोपी पच्चीसी), नारायणदास (उद्धव व्रज-गमन लीला), पद्माकर (फुटकल छंद), परमानंददास—अष्टछाप—(भ्रमरगीत), प्रागन—(भ्रमरगीत), प्रेमघन (फुटकल काव्य), बिंदु (फुटकल काव्य), भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र (फुटकल छंद), मतिराम (फुटकल छंद), मथुरानाथ (विरह बत्तीसी), महाराज रघुराज सिंह रीवाँ (भ्रमरगीत—भागवत-अनुवाद), मैथिलीशरण (खड़ीबोली फुटकल), रत्नाकर (उद्धव शतक), रसनायक—(भ्रमरगीत), रसरूप (वियोगवल्ली, उपालंभ-सतक), रसाल (फुटकल छंद), रसिकराय (रसिक पचीसी), रहीम (फुटकल छंद), लक्ष्मीनारायण (प्रेम-तरंगिणी), वचनेश (फुटकल छंद), वृंदावनदास—प्राचीन—(भ्रमरगीत), वृंदावनदास—दूसरे रीवाँ वाले—(गोपी-पचीसी), शिवराम (प्रेम-पचीसी), सत्यनारायण कविरत्न (भ्रमरगीत), सूरदास—अष्टछाप—(भ्रमरगीत), सेन कवि (एक छंद, पर अति सुंदर), सेवाराम (फुटकल छंद), हरिऔध (प्रियप्रवास), हरिराय गोस्वामी—उपनाम 'रसिकराय'—(सनेह लीला) आदि" और भी अनेक कवियों ने इस विषय को अपनाया है। जहाँ-तहाँ उनके सुंदर छंद यदा-कदा मिल जाते हैं।

—जवाहरलाल चतुर्वेदी



ब्रजविलास

श्री संकठाप्रसाद सिंह

प्रबंध के क्षेत्र मे कृष्ण-चरित्र की प्रतिष्ठा का श्रेय एकमात्र 'ब्रजवासी' दास को है। पूर्वापर प्रसगो के अनुबधन मे ब्रजविलास की कथा द्रुत-बिलबित गति से प्रवाहित होती है। कही उसका आयास विस्तृत है, कही सकुचित, परतु अतरंग तथा बहिरग मे प्रबधत्व का अभाव दो-चार स्थलो मे ही दृष्टि-गोचर होता है। ब्रजविलास के प्रति "प० रामचद्र शुक्ल" की निष्ठुरता तथा आलोचको की उदासीनता, आवश्यकता से अधिक गभीर है।

ब्रजविलास, अपने ढग का अनूठा काव्य-ग्रथ है। इसका सृजन समन्वय की उत्कट प्रेरणा का परिणाम है। ग्रंथ-रचना सवत् १८०६ वि० मे प्रारभ हुई[1]। इस समय तक काव्य के क्षेत्र मे रीति और भक्ति-काव्यो का समन्वय पूर्णत. प्रतिष्ठित हो चुका था। प्रबध के अतर्गत कवि ने कथा-प्रसग को लीलाओ में विभक्त किया है, काडो और सर्गों में नही। अस्तु, फारसी की 'मसनवी-शैली' का प्रभाव नही है। भगवान् श्री कृष्ण की लगभग अस्सी, 'लीलाओ'[2] को कवि ने भागवत की भाँति पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में सकलित किया है। अत मे कवि कहता है—

"ब्रजविलास ब्रजराज कौ, को कहि पावै पार।
भगत-भाव गावत भगत, भजन-प्रभाव बिचार।।"

अस्तु, इन लीलाओ में ब्रज की लीलाएँ ही है। मथुरा-गमन लीला के साथ-साथ कसादिक असुर-सहार का कार्य पूर्ण होने पर जब उद्धव गोपियो को कृष्ण का सदेश देकर और उससे भी अधिक स्वय भक्ति का मार्ग लेकर ब्रज से कृष्ण के पास मथुरा लौट आते है और उन्हें ब्रज की दशा का परिचय करा देते है, तभी 'ब्रजविलास' समाप्त हो जाता है।

१. संवत सुभ पुरान सत जांनौं, ता पै और नछत्रहि आंनो।
माघ सुमास पच्छ उजियारा, तिथि पंचमी सुभग ससि वारा।

२ ये लीलायें प्राय: ये है:—वंदना, कथा-प्रसंग, पूतना वध, कागासुर वध, तृणावर्त वध, अन्न-प्रासन, नामकरण, वर्षगाँठ, ब्राह्मणलीला, चंद्रप्रस्ताव, पुरातन कथा, कर्णछेदन, माँटी भक्षण, शालिग्रामलीला, ह्नवावन लीला, माखन चोरी, दाँवरी बंधन, वृंदावन गमन, वत्सासुर वध, धेनु दुहन, मोतीबोवन लीला, बकासुर वध, चकई-भौरा खेलन, राधा प्रथम मिलन, अघासुर वध, ब्रह्मा मोह, गोदोहन, धेनुक वध, कालीय-दमन, दावानल पान, प्रलंबासुर वध, पनघट लीला, चीर-हरण, वृंदावन वर्णन, द्विजपत्नि याचन, गोवर्धन-लीला, नद वरुण-द्वारा हरण, वैकुंठ दर्शन, दानलीला, गोपी-प्रेम, स्नानलीला, वाट में मिलन, सकेत मिलन. प्यारी के घर मिलन, गर्वव्याज-विरह, परस्पर अभिलाष, शृंगार भूषण, नैंन अनुराग, मुरली वर्णन, रासलीला अंतर्ध्यान, महामंगल रास, मान चरित्र, मध्यम मान, गुरु मान, हिंडोरा, फागुन (होरी), सुदर्शन शाप-मोचन, शंखचूड़ वध, वृषभासुर वध, केशी वध, व्योमासुर वध, मथुरा गमन, रजक वध, मल्लयुद्ध, कंस वध, वसुदेव गृह उत्सव, कुब्जा-गृह गमन, नंद-बिदा, ब्रज-विरह वर्णन, यज्ञोपवीत, उद्धव ब्रज गमन, उद्धव ब्रज-आगमन, उद्धव-गोपी संवाद, उद्धव बिदा। -

—ब्रजविलास (नवलकिशोर प्रे० लखनऊ)

'ब्रजविलास' के अंत मे कवि ने जिस प्रकार कथा को समाप्त किया है, उसे जानने के लिए कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"यो कहि सब ब्रज-बाँम, भईं विरह-सागर-मगँन।
करि ऊधौ परनाँम, आए जसुमति-नंद पै ॥"

माँगी बिदा जोरि कर दोऊ, तुम्ह-सम धन्य और नहि कोऊ।

क्योकि—

राम-कृष्ण करि सुत जिन्ह पाए, बाल-भाव करि गोद खिलाए।

और—

अब तुम्ह मोको देहु निदेसू, जाइ कृष्ण सो कहौं सँदेसू।
सुनि सप्रीति ऊधौ की बाता, नंद बबा औ जसुमति माता।
उँमग्यौ प्रेंम नैंन जल बाढे, भए जोर कर आगे ठाढ़े।
उरवर स्याँम-बिरह की पीरा, कहत सँदेस बहुत दृग-नीरा।

नंद दोंहनीं भरि दई (औ) कह्यौ नैंन-भरि नीर।
या धौरी कौ दूध है, भावत जो बल-बीर ॥

सोरठा

दई जसोमति माइ, मुरली ललित गुपाल की।
ऊधौ, दीजो जाइ, प्यारी ही अति लाल की ॥

मथुरा लौटने पर कृष्ण उद्धव से पूछते है—

कहिऐ सखा, कुसल सो आए, ब्रज में जाइ बौहौत दिन लाए।

❀

कहौं कहा प्रभु तुम्हें सुनाई, ब्रज की रीति कही नहीं जाई।

★

यद्यपि मैं बोधे बहुत, तुम्ह-बिन कछू न सुहात।
तिन्ह की दसा बिलोकि मोहि जुग-सम बीती रात ॥

सोरठा

नंद-जसोदहि पाइ, गयौ प्रात बृषभाँनपुर।
सुनि सब आईं धाइ, धाँम-काँम तजि बाँम तहँ ॥

❀

जब मैं कह्यौ सँदेस तुम्हारौ, सुनतहि आयौ सबन्हूं तमारौ।

★

अतिहि दुखित तन छीँन, ब्रजवासी तुम्ह-बिरह-बस।
तुम्ह तन-धन मन लीँन, रटत चातकी लो सबै ॥

❀

सुनिकैं प्रभु ऊधौ के बैंनाँ, उँमग्यौ प्रेंम भरे दोऊ नैंनाँ।
ब्रज-जन-प्रीति आइ उर साली, भए बिबस जन-प्रन प्रतिपाली।

★

पुनि हा ब्रज कहि छाँडि उसासू, पोंछि पीत-पट नैंनन-आसू।
ऊधौ सो यो बचन उचारे, भले सखा सीख दै आए।

मन करि हरि ब्रज में रहे, मिलि ब्रज-जन-मन साथ ।
तन कहि देवन-काज हित, भए द्वारिकानाथ ।।"

ब्रजविलास की रीति-मत्ता उसकी शृगारिकता मे मुखरित है। भक्ति के अतर्गत कवि ने कृष्ण की लोकोत्तरता स्थान-स्थान पर प्रतिपादित की है—

"कीन्हीं तीन पेंड जिन्ह बसुधा, देहरि ताहि लँघावत जसुधा ।
✿
भुजा चारि धरि दरस दिखायौ, ग्वालिनि लखि अति अचरज पायौ ।
दधि-माँखन के बुंद सुहाए, सुभग स्याँम-उर अति छबि छाए ।
मानहुँ जमुना जल के माँहीं, दीख परत उडुगन-परछाँहीं ।
यै छबि निरखि रही छकि ग्वालो, दौहरो भए द्वि-भुज बनमाली ।"
—आदि,

इस प्रकार लीलाओ में स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक सकेत है। कवि की भक्ति-भावना अमर्यादित है, जिसकी समालोचना लौकिक दृष्टि के स्थान पर पारलौकिक दृष्टि से होनी चाहिये।

ब्रजविलास मे केवल भक्ति और रीति का ही समन्वय नही, उसमें सूर, नददास और तुलसी का समन्वय भी है। कवि की अनेक उक्तियो में सूर, नददास तथा तुलसी के स्वर झकृत है। सूर से भाव, नददास से युक्ति और तुलसी से काव्य का रूप कवि ने ग्रहण किया है। सूरदास के प्रति तो कवि ने स्पष्टत अपनी कृतज्ञता प्रकट की है, पर तुलसी के प्रति उसकी कृतज्ञता उसकी छद-प्रणाली और कवि की शब्दावली स्थान-स्थान पर प्रकट कर रही है। कवि स्वय मौलिकता का श्रेयार्थी बनना नही चाहता। वह कहता है—

"या में कछु क बुद्धि नहिं मेरी, उक्ति-जुक्ति सब 'सूर' हिं केरी ।
कियौ 'सूर' रस-सिंधु उधारा, तामें प्रेंम-तरग अपारा ।
हरि के चरित-रतन बिधि नाना, ब्रजबिलास सो सुधा समाना ।
पद-रचना करि 'सूर' बखाँन्यौं, कोमल, बिमल मधुर-रस-साँन्यौं ।"

फिर इस (ब्रजविलास) की रचना के उद्देश्य-रूप में कवि कहता है—

"अतिसै करि मोहत मनहिं, गँधरब गुन के संग ।
कहत बनत तामें नहीं, क्रम सो कथा-प्रसंग ।।
★
मेरे मन अभिलाष, प्रभु-प्रेरित ऐसौ भयौ ।
कहि हो सो रस भाष, क्रम सौं कथा प्रसंग सब ।।"

अस्तु, इसके लिए कवि ने तुलसी की दोहा-चौपाई की पद्धति को अधिक सतर्कता से ग्रहण किया है—

"द्वादस चौपाई प्रति दोहा, तहँ पुनि एक सोरठा सोहा ।
कहुँ-कहुँ सुभ छंद सुहाई, भाषा सरल, न अरथ दुराई ।"

और इन चौपाइयो तथा छदो मे स्थान-स्थान पर तुलसी की शब्दावली भी चमक उठी है। यथा—

"संतन-हितकारी, असुर सँघारी, आवत छिति सुख छाए ।
✿
गुन-गन सब गावें, प्रभुहि सुनावें, आँनद उर न सँमाता ।"
—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ०२१

"पति देवता सुतीय कहैं, वेद-बचन परमांन् ।
जाहु वेगि तुम्ह पतिन्ह पहैं, ताते यें जिय आंन ॥"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० १६१

इस प्रकार रीति-युग में प्रणीत कथा-काव्यो में प्रबंधत्व के समीप यही ग्रंथ पहुँचता है।

प्रबंध-काव्यो की प्राचीन परपरा के अनुसार कवि ने कथा-प्रसंग के अंतर्गत कृष्ण की कथा सक्षेप में वर्णित कर दी है। इस कृष्ण-कथा की परपरा का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है —

"श्री सुखदेव कही हरि लीला, सुनीं परीच्छित सब गुन सीला ।
सूरदास सोई रस-सागर, गायौ बहु बिध प्रेम-उजागर ।"

❀

"सो तौ कथा अमित बिस्तारा, मो पै पायौ जात न पारा ।
ता में 'ब्रजबिलास' सुखदाई, सो कछु कहि हों करि चौपाई ।
भाषा की भाषा करो, छमिऐ सब अपराध ।
जिहि-तिहि बिध हरि गाईऐ, कहत सकल स्रुति-साध ।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३,

कवि ने जिन प्राकृतिक दृश्यो के मध्य में "ब्रजविलास' की अवतारणा की है वे प्राकृति, अति प्राकृत तथा मानवीय सौंदर्य से परिपूर्ण है । रास, जिसके सबध में कवि की उक्ति है—

"बेदब्यास जो रास बखांनो, सो गंधरब-ब्याह-बिधि जांनो ।"

वह रास वृंदावन की जिस रम्य स्थली में अवतरित हुआ है, उसके सौंदर्य का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

"श्री वृंदावन छबि समुदाई, सम्यक बरनि कोन पै आई ।
जा की पटतर को नहिं आंना, वन अनूप अद्वैत बखांना ।
ऐसो कछु परत है हेरी, है असथूल वपुष प्रभु-केरी ।
गोपीजॅन इद्रिय-गन तामैं, है चेतन्न आप हरि जामैं ।
नित्त धांम ताही तें गायौ, यें पटतर मेरे मन भायौ ।
सुख-निधि, रस-निधि, रूप-निधि, वृंदा-बिपिन उदार ।
सारद, नारद, सेस, सिव, बरनत बिधि, स्रुति-चार ॥"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० न०) पृ० ३८२,

यह सौंदर्य कथानक का आध्यात्मिक दिव्य सौंदर्य है, जिसमें प्राकृतिक उपादान प्रतीक रूप किसी अलौकिक स्थिति की अनुभूति कराते है, किंतु ऐसी दिव्य कथा के प्रतीको के प्राकृतिक सौंदर्य की भी कवि ने उपेक्षा नही की। यह अवश्य है कि ऐसे वर्णनो में कवि ने प्राकृतिक श्री के ऐश्वर्य पर ही विशेष ध्यान दिया है। जैसे निम्न अवतरण में—

"बहत समीर त्रिबिध सुखदाई, कुसुम-धूरि-धूंधरि छबि-छाई ।
उड़त सुगंध-लपट चहुँ ओरा, गुंजत भँवर चारु चित चोरा ।

❀

भई भूमि कपूर-मनि-मै रज बरसि जस कुंमकुंम-सिची ।
परँम कोमल सुभग सीतल, ज्योति मनि-कंचन-रिची ॥
हरसि तहँ घनस्यांम सुंदर, रास-मंडल-बिधि रची ।
बरनि का पै आइ सो छबि, निरखि सारद मति सची ॥"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० न०) पृ० ३८२-३८४

इस रास वर्णन में कवि (ब्रजवासीदास) पर अष्टछाप के उस भक्त कवि का काफी प्रभाव पडा है, जिसके संबंध में उक्ति है—"और कवि गढ़िया, 'नंददास' जड़िया।

अस्तु, ब्रजविलास की ऊपर की पंक्तियाँ—"बहत समीर त्रिविध सुखदाई, कुसुम-धूरि धूँधरि छवि छाई" और नंददास जी की निम्न उक्तियाँ साथ-साथ देखें, जैसे—

"कुसुम-धूरि धूँधरी कुंज, छवि-पुंजन छाई।
गुंजत मंजु मलिंद, बेनु जनु बजत सुहाई॥"
—रासपंचाध्यायी नंददास

अथवा—
"तब कर-लई सकल गुन जुरली, ललित जोगमाया-सी मुरली।
नाँद ब्रह्म की उतपति जासो, निगॅम-अगॅम उपजे पुनि तासौं।"
—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३४३

और—
"तब लीन्हीं कर-कॅमल जोगमाया-सी मुरली।
अघटित-घटना चतुर, बहुरि अवरॅन-रस-जुरली॥
जा की धुनि ते अगॅम-निगॅम, प्रघटे बड़ नागर।
नाँद ब्रह्म की जननि, मोहिनी सब सुख-सागर॥"
—रासपंचाध्यायी नंददास

सगुण-भक्ति-काव्यों में उपास्य के रूप-सौंदर्य के वर्णन उपलब्ध होते हैं। ब्रजविलास में गतिमान सौंदर्य का एक मनोहर वर्णन इन पंक्तियों में है—

"नचत मॉनी मोर-जूथॅन, मुकट-लटकॅन यो फबै।
चलत गति लै नागरिन्हँ सॅग, स्यॉम नटनागर जबै॥
धरनि पग-पटकॅन, झटकि कर, भोंह-मटक न कहि परै।
ग्रीव-चालॅन, हलॅन कुंडल, कर जु फेरन मन-हरै॥"

कभी-कभी कवि अपने से पूर्ववर्ती कवियों के भाव और भाषा के सहारे उनसे कहीं आगे बढ जाता है। उदाहरण के लिए जहाँ नंददास जी श्री गोपीजनों द्वारा भगवान् श्री कृष्ण को उनके पास से अंतर्ध्यान होनेपर उनका पता वृक्ष-लतादि से पूछने तथा उनके जड होने के कारण कुछ उत्तर न देने पर 'तीर्थबासियों' की निष्ठुरता पर एक मृदु कटाक्ष करते हैं—

"जमुना तट के विटप पूछि भईं निपट उदासी।
क्यो कहि है सखि, महा कठिन तीरथ के बासी॥"
—रासपंचाध्यायी नंददास

वहाँ ब्रजवासीदास जी व्यापक उदारता के भाव का समावेश करके उत्प्रेक्षा का भावानुकूल चमत्कार प्रस्तुत कर देते हैं। वे कहते है—

"बोलत नहिं कोउ कहत तर्यॅन को, लै गए स्यॉम इनहुँ के मन को।'
—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३५७

अथवा—
"इहि विधि प्रेम-सुधा-निधि बढ गईं अधिक कलोलैं।
ह्वै गईं बिह्वल बाल, लाल सो अलिबल बोलैं॥
तब तिनहीं में प्रघटे, सुंदर नंद-नॅदन यों।
दृष्टि बंद करि दुरै, बहुरि प्रघटै नटवर ज्यो॥"
—रासपंचाध्यायी . नंददास

"अंतर नैंक रह्यौ नहिं, भई स्यांम ब्रज-बांम।
तब अंतर नहिं कर सकें, भए निरंतर स्यांम॥"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३५६

"मनि कंठ मुक्ता-माल उर, बनमाल चरनँन लौ बनीं।
बदँन पंकज अलक सम-कँन-झलक छबि ससि की भनीं॥
पट पीत फरकँन, काछिनीं कटि लाल किंकिनि सोहई।
भलै चित्रित बाहु-भूषँन, स्यांम तन-मन मोहई॥"

※

"जटित माल, जराव बेंदी, उदित द्युति भुव-अंक की।
ललित बेसर नाक, अंजन नैंन, श्रुति ताटंक की॥
अधर, दसँन, कपोल, चिबुकँन, कंठ-भूषँन अति बने।
करत रास-बिलास अदभुत, हरत मनमोहन मने॥"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०) पृ० ३-५०

समस्त काव्य में कवि का उद्देश्य उपमा अथवा रूपकों के वर्णन से काव्य को अनुरंजित करना न होकर वस्तु को ही वास्तविक तथा प्रभविष्णु रूप में उपस्थित करना है। यही कारण है कि कवि ने रूप-सौंदर्य की तीव्रता और प्रभावोत्पादकता के लिए अलंकारों की विशेष योजना पर ध्यान नहीं दिया है। उसने उतने ही अलंकारों का उपयोग किया है, जितने से लक्ष्य की यथार्थ सिद्धि हो जाती है। यहाँ भी अतिशय अलंकारों का घटाटोप नहीं है। उदाहरणार्थ राधा पर विमुग्ध श्याम की दशा का चित्र तीन उपमानों से ही प्रस्तुत कर दिया है—

"भए स्यांम नागरि-बस ऐसें, फिरत छांह सँग-ही-सँग जैसें।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

'छांह' उपमान के द्वारा श्री कृष्ण को राधा के पीछे-पीछे निरंतर फिरते रहने का भाव पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। इससे अधिक सुंदर उपमान किसी 'पिछलग्गू' के लिए नहीं हो सकता। अथवा—

"बदँन-कँमल-रस-रूप लुभाने, रहत सिलीमुख ज्यौं मड़राने।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

यहाँ रूप का लोभ भ्रमर-वृत्ति से प्रकट किया है। तदनंतर—

"बचन-नाद-रस मृग ज्यों गीधे, नैंन-कटाच्छ-बक-सर-बीधे।"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

वचन की माधुरी पर—वंशीनाद पर रीझे मृग की भाँति कृष्ण को रीझा बताकर परवर्ती पंक्तियों से कटाक्ष-बाण से भी कृष्ण को बिद्ध कर दिया है। बस इसके उपरांत कवि अलंकार छोड़ कर [illegible] वर्णन में रस-परिपाक की दृष्टि से संचारियों का उल्लेख करने लग गया है। इस प्रकार की सरल, [illegible] प्रभविष्णु अलंकार-योजना और रस-पोषण की प्रणाली इस रचना में सर्वत्र मिलती है। इसमें कवि के मस्तिष्क और हृदय की संतुलित सौंदर्य-वृत्ति का पता चलता है।

कवि ने अपने वर्णन में परंपरागत उक्तियों में भी यथेष्ट सहायता ली है—

"भलो दिखाई आज यँ, अदभुत छबि अभिरांम।
सूर-उदै-लोचन-कँमल, चंद उए पै स्यांम॥"

※

"उर-कुच-कुंमकुंम-दाग, अधर-दसँन छबि गत हीं।
रँगी महावर पाग, पै सोना सनुसम बनीं॥"

—ब्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

सूर की अपेक्षा व्रजविलास की राधा और गोपियाँ अधिक मुखर है। कृष्ण भी अधिक क्रीडा-शील परिलक्षित होते हैं। गोपियो की मुखरता विरह मे भी मौन नही दिखलाई पडती। उद्धव के प्रति गोपियो की तार्किकता कार्य-कारण परंपरा पर आधारित नही, वह तो अपना वल भावुकता से प्राप्त करती हैं। वे स्वय अपने सबध में निवेदित करती है—

अंध आरसी, बधिर धुनि, रोग ग्रसित तन भोग।
उद्धव तिनकौ न्याव है, हमें सिखावत जोग॥

—व्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

व्रजविलास मे कवि का ध्यान कृष्ण की वाल-लीला की अपेक्षा उनकी किशोर-लीला पर अधिक स्थिर है। यह किशोर-लीला अपनी समस्त प्रबधता मे भी गीतो की सरलता से उद्वेलित है। स्थल-स्थल पर सुकुमार सूक्तियाँ है—

"सनमुख सर सहि सूर, जब रवि-रथ वेधत जाइ।
प्रथम बीज अंकुरन माँहि, पुनि फल फरत अघाइ॥

❀

बिन ही तोइ तरग अद, बिन चेतँन चतुराइ।
अब लो व्रज में माँहि हुती, मधुप करी तुम आइ॥

❀

लोचँन रूप अधीँन, सगुन सलोने स्याँम के!
क्यो सुख पावै मीँन, जल-बिन डारैं दूध में॥"

—व्रजविलास (न० कि० प्रे० ल०)

व्रजविलास का अध्ययन सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से सप्रति आवश्यक है। आशा है इस ओर साहित्य सेवियो का ध्यान आकर्षित होगा।



आनंदघन और रूपमती (बाजबहादुर) के पद

राग-टोडी

ए मेरे मन-नैनन, रोम-रोम मधि कृष्ण रम्यो है।
कहूँ बेचत कहूँ लेत गुपाल गोरस, सो घर-घर—
फिरत बिकात जात कहूँ नींकें नेह जम्यो है॥
गोकुल प्रेम की पेंठ सुहाई, जहाँ जग-जीवन पाँइ-भ्रम्यो है।
'आँनदघन' अचरज सनकादिक, सकर-गिरिजा-सीस नम्यों है॥

राग-धनाश्री

एरी, बन-बाजी बाँसुरिया, कैसें रहो घर दैया।
कलमलात जियरा मिलवे को, है कोऊ धीर-धरैया॥
गाज परौ या लाज निगोडी, करि हूं कहा चवैया।
'आँनदघन' पिय उघरि मिलोंगी, अब डर करै-बलैया॥

राग-विहाग

मोहन, प्रीति करी में जाँनी।
दै बिसवास गयौ तजि मथुरा, रालि कुब्जा सो माँनी॥
कपट-भरो अति-कारौ तैंन कौ, कपट-भरी सब बाँनी।
'आँनदघन' हित-चित की बातें जाँनत नाहिं बिराँनी॥

राग-विहाग

श्याँम-बिनाँ उमगे री, बहु बदरा।
बरसत रहत रैन औ बासर, हिऐ कियौ अगि कदरा॥
कासो कहो, सुनें को मेरी, जोहत बैठी पिय कौ मगरा।
'रूपमती' कौ बाजबहादुर, तजि दियौ गोकुल मिट गयौ झगरा॥

राग-देवगंधार

तू जो अब मुखदेखेंन कहत, एतौ गुमाँन करें रीझें ललना भावें।
बाद ही बकिबौ करत, पूं छेंतें उत्तर न देति, कंचन की सम काँच क्यों मावें॥
साहू कसौटी के नाह मेरे आँन, सही की सैहूनाँ जो मन में रहे जावें।
'रूपमती' कहै साही कौ सेंहूनो, जो बाजबहादुर को आइ रिझावें॥

राग-टोडी

देखौ री, वौ आवत बगर में, होरी खेलत स्याँम-सँलोनाँ।
छिन में मन बस करत सबन कौ, वाको मुरली में है कछु टोंनाँ॥
मोर-मुकट कुंडल की अति छबि, अरुँन नेंन अजन धरें कोनाँ।
'रूपमती' मन होत विरागी, बाजबहादुर के नव-ढिटोंनाँ॥

वल्लभ-संप्रदाय के ब्रजभाषा-साहित्य की खोज

श्री प्रभुदयाल मीतल

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियो के कारण ब्रजभाषा-साहित्य पर वल्लभ-सप्रदाय का प्रभाव सर्व विदित है, किंतु इसका यथार्थ स्वरूप अभी तक हिंदी-जगत् के समुख नही आ पाया है। हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रथो में भी इसका वास्तविक मूल्याकन नही किया गया है। इधर जो ब्रजभाषा-साहित्य की नयी खोज हुई है, उसके फलस्वरूप इस सप्रदाय का अपार साहित्य उपलब्ध हुआ है। जिसे देखकर किसी भी ब्रजभाषा-प्रेमी को हर्ष और आश्चर्य हुए बिना नही रह सकता। निंबार्क, हरिदास, हितहरिवश और चैतन्य आदि वैष्णव-सप्रदायो ने भी ब्रजभाषा-साहित्य की उन्नति में महत्वपूर्ण कार्य किया है, किंतु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर अन्य सप्रदायो की अपेक्षा वल्लभ-सप्रदाय के महत्व का पलडा भारी दिखलाई देता है। अन्य सप्रदायो ने ब्रजभाषा के पद्य-साहित्य की ही अभिवृद्धि की है, किंतु वल्लभ-सप्रदाय ने पद्य के साथ गद्य पर भी अपना व्यापक प्रभाव डाला है।

पुष्टि-सप्रदाय के सस्थापक 'महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य' जी ने अपने कतिपय सेवको को श्रीनाथजी के कीर्तनार्थ ब्रजभाषा में पद-रचना करने की प्रेरणा दी थी। उन सेवको मे सूरदास, कुभनदास, परमानददास और कृष्णदास मुख्य थे, जिनको बाद मे विट्ठलनाथ जी ने अष्टछाप मे समिलित किया था। अष्टछाप के इन कवियो को प्रेरित करने के कारण ही हिंदी के इतिहास ग्रथो में वल्लभाचार्य जी का नामोल्लेख किया गया है, किंतु स्वय वल्लभाचार्य जी ने ब्रजभाषा में रचना की या नही तथा उनके अष्टछापी सेवको के अतिरिक्त अन्य कितने शिष्य-सेवक ब्रजभाषा के काव्य रचयिता थे, इस सबध में हिंदी के इतिहास-ग्रथो में प्राय कुछ भी नही लिखा गया है। यह बात सर्व विदित है कि श्री वल्लभाचार्य जी के सहस्रो सेवको में चौरासी प्रमुख थे, जिनका वृतात ब्रजभाषा-गद्य की प्राचीन रचना 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है। इस वार्ता-ग्रथ का कोई सुसपादित सस्करण प्रकाशित नही हुआ है, अत हिंदी के साहित्यकारो को उसके वास्तविक स्वरूप का अभी तक बहुत कम ज्ञान है। 'चौरासी वार्ता' पर श्री हरिराय जी ने 'भाव-प्रकाश' नामक टिप्पणी की है। इस टिप्पणी के साथ उक्त वार्ता 'लीला-भावना वाली चौरासी वैष्णवन की वार्ता' कहलाती है। हिंदी-साहित्यकारो को इस दुर्लभ ग्रथ का परिचय अभी तक नही था। यह ग्रथ स० १७५२ की हस्तलिखित प्रति के आधार पर अभी छप कर प्रकाशित हुआ है। इससे श्री वल्लभाचार्य जी के सेवको के साप्रदायिक महत्व पर तो अच्छा प्रकाश पडता ही है, साथ ही उनकी साहित्य-सेवा के विशेष सकेत भी मिलते है। लीला-भावना वाली इस 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि अष्टछाप के पूर्वोक्त चार कवियो के अतिरिक्त निम्न लिखित महानुभाव भी ब्रजभाषा के कवि थे—

१. गोपालदास काशीवाले, २. गदाधरदास, ३. मुकुंददास, ४. प्रभुदास भाट, ५. त्रिपुरदास, ६. कृष्णदास घघरी, ७ कृष्णादासी, ८. रामदास सेवाड़ी, ९. भगवानदास साँचौरा, १०. लघु पुरुषोत्तमदास ११. कविराज भाट, १२. गोपालदास ईंटोडा क्षत्री, १३ गोपालदास नरोडावाले, १४. रामदास मुखिया।

इनके अतिरिक्त वल्लभाचार्य जी के कतिपय अन्य सेवको के कवि होने की सूचना चौरासी-वार्ता से तो नही मिलती, पर अन्य वार्ताओ और अत साक्ष्यादि से उनका कवि होना प्रमाणित है। उन कवियो के नाम इस प्रकार है—

१. दामोदरदास हरसानी, २. पद्मनाभदास, ३. विष्णुदास छीपा, ४. जीवनदास क्षत्री, ५. कन्हैया शाल, ६. अवधूतदास।

उपर्युक्त सभी महानुभावो के नाम तथा उनका विवरण 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता में' दिया हुआ है, चाहे वार्ता मे उनके कवि होने का सकेत न मिलता हो। इनके अतिरिक्त वल्लभाचार्य जी के निम्नलिखित सेवक ऐसे है, जिनका विवरण अथवा नाम उक्त वार्ता में नही दिया गया है, किंतु खोज में उनकी व्रजभाषा की रचनाएँ प्राप्त हुई है—

१. अग्रदास, (छाप—अगर, अगरदास) २. यादवेंद्र, ३. लकुटी, ४. ज्ञानचद्र, ५. विष्णुदास, ६. श्रीभट्ट।

इनमें अग्रदास और लकुटी विष्णुस्वामी-सप्रदाय में दीक्षित होते हुए भी वल्लभाचार्य जी के सेवक थे। शेष सब पुष्टि-सप्रदाय के अनुयायी थे। जिन 'श्रीभट्ट' का नाम ऊपर लिखा गया है वे निंबार्क-सप्रदायी श्रीभट्ट से भिन्न व्यक्ति है। उपर्युक्त सभी महानुभावो की व्रजभाषा-रचनाएँ खोज में प्राप्त हुई है, जिनसे ज्ञात होता है कि वे उत्कृष्ट कवि थे। आश्चर्य की बात है कि हिंदी के इतिहास-ग्रथो में उनके नाम का भी उल्लेख नही है।

कुछ लेखको ने महाप्रभु वल्लभाचार्य के रचे हुए 'विष्णु-पद' नामक एक ग्रथ का उल्लेख किया है। यह ग्रथ व्रजभाषा का कहा जाता है। हमारी खोज के अनुसार यह ग्रथ वल्लभाचार्य जी रचित नही है। उनके नाम से प्रसिद्ध 'चौरासी अपराध' नामक व्रजभाषा गद्य की भी एक रचना प्राप्त हुई है, किंतु यह इसी रूप मे उनकी लिखी हुई हो, इसमें भारी सदेह है। सभव है, मौखिक प्रवचन के रूप में इसकी रचना वल्लभाचार्य जी द्वारा हुई हो, किंतु अन्य अनेक वार्ता-ग्रथो की तरह इसको लिखित रूप बाद में गोकुलनाथ जी अथवा हरिराय जी द्वारा ही दिया गया होगा। पुष्टि-सप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य जी अपने ग्रथो में सस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे, किंतु अपने व्याख्यान और प्रचार-कार्य में व्रजभाषा का उपयोग करते थे। उनको व्रजभाषा इसलिए भी प्रिय थी कि यह उनके इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-भूमि से सबधित है। वे इसको 'पुरुषोत्तम-भाषा' कहा करते थे। उन्होने गुजरात, काठियावाड और उत्तर भारत के अनेक दूरस्थ स्थानो में इस भाषा का व्यापक प्रचार किया था। अस्तु, वल्लभाचार्य जी ने भी व्रजभाषा की उन्नति में महत्वपूर्ण योग दिया था।

वल्लभाचार्य जी के सुयोग्य पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा व्रजभाषा-साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई है। उन्होने विक्रम की १७ वी शताब्दी के आदि में सूरदासादि चार अपने पिता के और गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास एव नददास आदि चार अपने शिष्यो की एक मडली बनायी, जो 'अष्टछाप' के नाम से विख्यात है। अष्टछाप की रचनाओ का व्रजभाषा-साहित्य पर कितना व्यापक प्रभाव पडा है, यह बतलाने की आवश्यकता नही है।

अष्टछाप के अतिरिक्त विट्ठलनाथ जी के अनेक शिष्य-सेवकों की ऐसी व्रजभाषा रचनाएँ खोज में प्राप्त हुई है, जिनके कारण उनका सुकवि होना सिद्ध होता है। पुष्टि सप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सहस्रो शिष्य-सेवक थे, जिनमें २५२ मुख्य थे। उन प्रमुख सेवकों का वृत्तात 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में दिया हुआ है। हम यहाँ पर विट्ठलनाथ जी के कुछ ऐसे सेवकों की तालिका देते है, जिनके सुकवि होने का निश्चित प्रमाण मिल चुका है। उनमें से अधिकांश का नामोल्लेख हिंदी के इतिहास-ग्रथो में नही हुआ है। यह तालिका अकारादि क्रम से इस प्रकार है—

१. अलीखान, २. ऋषीकेश (हृषीकेश), ३. कटहरिया, ४. कान्हरदास, ५ कृष्णदास ज्या ६. गदाधर मिश्र, ७ गोपालदास (वल्लभाख्यान के रचयिता), ८. लघुगोपाल, ९ गोवर्धनदास १०. गगाबाई (जिसने श्रीविट्ठल-गिरिधरन की छाप मे काव्य-रचना की है), ११ गोकुलनाथ जी (सुप्रसिद्ध वार्ताकार), १२ घनश्याम जी (गोस्वामी जी के सप्तम पुत्र) १३ चतुर्भुज मिश्र १४. कृष्णजीवन लच्छीराम, १५. चतुरबिहारी, १६ चरणदास, १७ जगजीवन, १८ [illegible]

कविराय (गोस्वामी जी के दौहित्र), १९. माधुनाथदास, २० तुलसीदास जलघरिया (लालदास की छाप), २१ ताज (अकबर की बेगम), २२. थिरदास, २३. दयाल, २४. ध्यानदास, २५. २५. धर्मदास, २६. धोधी, २७. राजा पर्वतसेन, २८. राजा पृथ्वीसिंह, २९. वीरबल, ३०. वंकट, ३१. भानु, ३२. मान-सुत, ३३. भीमराजा, ३४. मथुरामल्ल, ३५. मदनमोहन, ३६. माणिकचंद्र, ३७. माधवदास, ३८ लघु माधव, ३९. मदनगोपाल, ४०. मुरारीदास, ४१. मुरली, ४२. मेहा, ४३. मोहनदास, ४४. रघुनाथ जी (गोस्वामी जी के पंचम पुत्र), ४५. राघवदास, ४६. राघवदास की बेटी, ४७. रामदास, ४८. रामदास दूसरे, ४९. रूपमुरारी, ५०. वृंदावन, ५१. व्यास, ५२.विनय ५३. श्यामदास, ५४ लीलाधर, ५५. सगुणदास, ५६. हरजीवन, ५७ त्रिलोक, ५८. रामराय, ५९. भगवान हित, ६०. जन भगवान ६१. भगवान दूसरे, ६२. मनोहर ।

हिंदी के इतिहास-ग्रथो में सुप्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन और भक्त कवि रसखान के अतिरिक्त अकबर के सुप्रसिद्ध मुसाहब बीरबल और टोडरमल का नामोल्लेख हुआ है, किंतु पुष्टि-सप्रदाय के इतिहास से विदित होता है कि ये गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के भी कृपापात्र थे। राजा आसकरण को 'भक्तमाल' में किसी अन्य सप्रदाय का अनुयायी लिखा गया है, पर उनकी जो रचनाएँ है वे पुष्टमार्गीय है।

वल्लभाचार्य जी एव विट्ठलनाथ जी से पूर्व ब्रजभाषा-साहित्य का अस्तित्व नाम मात्र को था, अस्तु, उनके प्रोत्साहन से इसकी यथेष्ट उन्नति हुई। उक्त दोनों महानुभावो के प्रोत्साहन के कारण ही ब्रजभाषा में पद-रचना के रूप में जो पद्यात्मक साहित्य निर्मित हुआ, उसने कई शताब्दियो तक हिंदी-साहित्य को प्रभावित किया तथा आज भी उसके गौरव का कारण माना जाता है। विट्ठलनाथ जी के पश्चात् भी इस प्रकार के पद-रचयिता कवियो की अटूट शृखला चलती रही। इन कवियो की अगणित रचनाएँ पुष्टि-सप्रदायी मदिरो के पुस्तकालयो में सुरक्षित है।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने समय में ही सप्रदाय के मदिरो की दर्शन-झाँकी में पद-गायन की आवश्यक व्यवस्था कर दी थी, जिसका पालन आज तक समस्त भारतवर्ष के पुष्टि-सप्रदायी मंदिरो में होता है। इसके फलस्वरूप समस्त देश में जहाँ भी इस संप्रदाय के मंदिर और अनुयायी है, वहाँ ब्रजभाषा-काव्य की लहरी प्रतिदिन अबाध गति से प्रवाहित होती रहती है। यह क्रम कई शताब्दियो से प्रचलित है और जब तक पुष्टि-सप्रदाय का अस्तित्व रहेगा, तब तक यह क्रम प्रचलित रहेगा। इसके अनुकरण पर वैष्णव-धर्म के कई अन्य सप्रदायो ने भी ब्रजभाषा-काव्य को आश्रय दिया, जिसके कारण सुदीर्घ काल तक ब्रजभाषा-साहित्य की अतीव उन्नति होती रही।

ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के विकास और उसकी उन्नति का तो एक मात्र श्रेय वल्लभ-सप्रदाय के वार्त्ता साहित्य को है। हिंदी-साहित्य के इतिहास ग्रथो में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी का नाम वार्त्ताओ के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध है, किंतु कुछ समय से हिंदी के कतिपय विद्वान् इन वार्त्ताओ की प्रामाणिकता और इनके गोकुलनाथ जी कृत होने में सदेह प्रकट करने लगे है। इन विद्वानो के सर पर सदेह का ऐसा भूत चढा है कि उनको पुष्टि-संप्रदाय का समस्त वार्त्ता-साहित्य अप्रामाणिक ही नही, साहित्यिक जाल भी मालूम होता है। वास्तविक बात यह है कि इन विद्वानो को समस्त वार्त्ता साहित्य के अवलोकन करने का अभी अवसर ही प्राप्त नही हुआ। इन्हो ने इस सबंध की जो थोडी-बहुत सामग्री इधर-उधर से देख ली है, उसका भी इन्होंने गभीर अध्ययन नही किया है। इस प्रकार अपने अधूरे ज्ञान के आधार पर इन्होंने अपना भ्रमात्मक मत बना लिया है। श्री द्वारकादास परीख, श्री कंठमणि शास्त्री और डा० दीनदयाल गुप्त प्रभृति कुछ ऐसे विद्वान् है जिन्होंने वार्त्ता-साहित्य का गभीर अध्ययन किया है, वे सब इसको प्रामाणिक मानते है। इस विषय के अपने ज्ञान के आधार पर मेरा निश्चित मत है कि पुष्टि-सप्रदाय का वार्त्ता-साहित्य ब्रजभाषा-साहित्य की अमूल्य निधि है। इसमे ब्रजभाषा के आरभिक गद्य का स्वरूप ज्ञात होता है। इसके साथ ही इसमें सप्रदायी गद्य

अठारहवी शतियो के उत्तरी भारत की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पडता है। इस प्रकार वार्त्ताओ का साहित्यिक एव ऐतिहासिक महत्त्व स्वय सिद्ध है।

वार्त्ता-साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसका अधिकाश भाग श्री गोकुलनाथ जी एव श्री हरिराय-द्वारा कथित एव रचित है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी अपने समय मे पुष्टि-सप्रदाय के सुप्रसिद्ध व्याख्याता एव मार्मिक वक्ता थे। वे सिद्धात-ग्रथो की व्याख्या और सुबोधिनी की कथा के अनतर वल्लभाचार्य जी एव विट्ठलनाथ जी के सेवको की जीवन-घटनाओ की चर्चा भी किया करते थे। गोकुलनाथ जी के मौखिक प्रवचन अत्यत रोचक और शिक्षाप्रद होते थे और कल्याण भट्ट आदि उनके अतरग सेवको-द्वारा वे उसी समय लिपिबद्ध कर लिये जाते थे। खोज में इस प्रकार के लिपिबद्ध विवरण 'वचनामृत' रूप में अत्यधिक सख्या में उपलब्ध हुए है। इन वचनामृतो में कही-कही पर इनके लेखन का समय, स्थान, प्रसग और दिनाक का भी उल्लेख मिलता है, जिनके कारण इनका धार्मिक, साहित्यिक एव ऐतिहासिक महत्व ज्ञात होता है।

श्री गोकुलनाथ के मौखिक प्रवचन रूप 'वचनामृत' जिन वार्त्ताओ के मूल रूप है, उनमें 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' मुख्य है। इन वार्ताओ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनको स्वय गोकुलनाथ जी ने कभी नही लिखा था। इनके गोकुलनाथ जी कृत होने का इतना ही अभिप्राय है कि इनके मूल वचन सर्व प्रथम उनके श्री मुख से निकले थे। इन वार्त्ताओ का यथार्थ रूप में सकलन और सपादन बाद में गोकुलनाथ जी के ज्येष्ठ भ्राता गोविंदराय जी के पौत्र और कल्याणराय जी के पुत्र श्री हरिराय जी ने किया था। 'चौरासी वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वार्त्ताओ' के अतिरिक्त श्री गोकुलनाथ जी के नाम से जो अन्य वार्त्ताएँ प्राप्त हुई है, उनमें निम्न लिखित मुख्य है—

१. श्री गुसाँई जी और दामोदरदास जी का सवाद, २ वन-यात्रा, ३. नित्य-सेवा-प्रकार, ४. बैठक चरित्र, ५. घरू वार्त्ता, भावना और हास्य प्रसग विषयक अनेक वचनामृत।

गोकुनाथ जी के अतिम समय में और उन्ही के तत्वावधान मे श्री हरिराय जी ने वार्ताओ का सकलन और सपादन किया था। उसी समय वार्त्ताओ के प्रसगो की पूर्ति के लिए जहाँ-तहाँ उनमे गोकुलनाथ जी के नाम का भी समावेश किया गया, जो हरिराय जी ने अपनी ओर से किया था। चौरासी और दो सौ बावन वार्त्ताओ के सपादन के अतिरिक्त हरिराय जी ने 'निजवार्त्ता', 'घरुवार्त्ता', 'महाप्रभु जी की प्रागट्य वार्त्ता' आदि अनेक वार्त्ता-ग्रथो की स्वय भी रचना की थी। उन्होने अपने अतिम समय में वार्त्ताओ के प्रसगो की पूर्ति और उनके स्पष्टीकरण के लिए उन पर टिप्पणियाँ भी लगायी थी। ये टिप्पणियाँ 'भाव' नाम से प्रसिद्ध हैं। हरिराय जी कृत कई 'भाव' युक्त वार्त्ताएँ खोज में प्राप्त हुई है, जिनमें 'तीन जन्म की लीला-भावना वाली चौरासी वैष्णव की वार्त्ता' और 'अष्टसखान की वार्त्ता' मुख्य है।

पुष्टि-सप्रदाय के वार्त्ता-साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'व्रजभाषा-गद्य' के लेखक के रूप में जो श्रेय श्री गोकुलनाथ जी को दिया जाता है, वह वास्तव में श्री हरिराय जी को देना चाहिए, क्योंकि व्रजभाषा-गद्य की वार्त्ता पुस्तको के यथार्थ रचयिता वे ही थे। खेद है, इतने बडे साहित्यकार होने पर भी हिंदी-साहित्य के इतिहास ग्रथो मे उनके महत्त्व का दिग्दर्शन नही कराया गया है। आचार्य रामचद्र शुक्ल और डा० श्यामसुदरदास जैसे धुरधर विद्वानो के इतिहास-ग्रथो मे हरिराय जी के नाम का भी उल्लेख नही है और मिश्रबधुओ एव 'रसाल' जी के इतिहास-ग्रथो में उनका वर्णन अधुरी सूचनाओ के साथ दिया गया है।

'मिश्रबधु-विनोद' में हरिराय जी का जीवन वृत्तात न देकर उनकी कुछ रचनाओ का नामोल्लेख मात्र किया गया है। इस ग्रथ मे उनका रचनाकाल स० १६०७ लिखा गया है, जो खोज में अशुद्ध सिद्ध होता है। हरिराय जी का जन्म स० १६४७ में और देहावसान स० १७७२ में हुआ था।

यदि उन्होंने बीस वर्ष की आयु मे ग्रंथ-रचना आरभ की हो, तब भी उनका रचनाकाल स० १६६७ से पूर्व नही आता है। रसाल जी ने गोकुलनाथ जी कृत गद्य-ग्रथो के उल्लेख के अनतर अपने इतिहास के पृ०३७४ में लिखा है—

"जान पड़ता है कि वार्त्ता लिखने की शैली सी चल पड़ी थी, क्योंकि इसी प्रकार की वार्त्ताएँ श्री हितहरि जी ने भी लिखी है"।

श्री हितहरि जी से अभिप्राय साधारणतया श्री हित हरिवश से होता है, क्योंकि 'हित' शब्द का प्रयोग 'राधावल्लभीय सप्रदाय' के सस्थापक हरिवश जी के साथ ही किया जाता है। यह सिद्ध है कि हितहरिवश जी ने किसी वार्ता पुस्तक की रचना नही की थी, अत रसाल जी का अभिप्राय 'श्री हितहरि' से श्री हरिराय जी से ही ज्ञात होता है। पुष्टि-सप्रदाय के कुछ अध्ययनशील व्यक्तियो के अतिरिक्त श्री हरिराय जी इतने बडे साहित्यकार होते हुए भी, हिंदी-ससार के विद्वानो तथा प्रेमियो के लिए अपरिचित ही बने हुए है। हिंदी-जगत् को उनके नाम का परिचय सर्व प्रथम, अभी कुछ वर्ष पूर्व स० १९९६ में हुआ, जब कांकरौली विद्याविभाग-द्वारा 'प्राचीन वार्त्ता-रहस्य' प्रथम भाग छप कर प्रकाशित हुआ। 'लीला-भावना वाली चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के सपादक श्री द्वारकादास जी परीख ने उसके आरभ मे पुष्टि-सप्रदाय के विभिन्न लेखको की ८९ वार्त्ता-पुस्तको का नामोल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि वल्लभ-सप्रदाय के कारण व्रजभाषा के पद्य-साहित्य के साथ ही साथ उसके गद्य-साहित्य की भी अतीव उन्नति हुई थी और उसका देशव्यापी प्रचार हुआ था। व्रजभाषा-वार्त्ता-साहित्य के रूप में हिंदी की ऐसी व्यवस्थित एव पुष्ट शैली रहते हुए हिंदी गद्य के लिये खडी बोली क्यो स्वीकृत हुई, यह एक ऐतिहासिक उलझन है, जिसको यथार्थ रूप मे सुलझाने की चेष्टा हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रथो मे नही की गयी है।

वल्लभ-सप्रदाय के व्रजभाषा-साहित्य की खोज करने पर यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि इस सप्रदाय के कारण व्रजभाषा पद्य और गद्य दोनो प्रकार के साहित्य की यथेष्ट अभिवृद्धि हुई थी। ऐसी दशा में हिंदी-साहित्य का पूर्ण रूपेण अध्ययन करने वाले विद्वानो का आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि वे पुष्टि-सप्रदाय के व्रजभाषा-साहित्य का गभीरतापूर्वक अवलोकन करे। खेद की बात है कि हिंदी के अधिकाश विद्वानो ने इस साहित्य को अभी तक उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा है। जिन कतिपय साहित्य-कारो ने इसके अध्ययन की चेष्टा की है, उनका दृष्टिकोण सहानुभूति-रहित ही नही, बल्कि शकापूर्ण रहा है।

इस साहित्य के यथासाध्य अवलोकन और मनन करने के उपरात मेरा निश्चित मत है कि यदि सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि मे इस साहित्य का अनुसधान एव अध्ययन किया जाय, तो इसमे से ऐसी अमूल्य-सामग्री सकलित की जा सकती है, जो प्राचीन हिंदी-साहित्य के महत्त्व की वृद्धि कई गुना अधिक कर सकती है, साथ ही वह हिंदी-साहित्य के इतिहास मे क्रातिकारी परिवर्तन कर सकती है[1]।

[1]. श्रीवल्लभ-संप्रदाय में 'नित्य-कीर्त्तन' और 'वर्षोत्सव' के उपलक्ष्यमें नित्य प्रति सवेरे—'मगला' से लेकर रात्रि—'शयन-पर्यंत' तथा भगवान् श्री कृष्णके 'जन्म' से लेकर 'हिंडोले' के उत्सव तक जो पद गाये जाते हैं उनमे अष्टछाप के कवियो को भी समिलित करते हुए अन्य पद (कीर्त्तन) रचयिताओं की सूची, उनकी अपनी विविध-छाप के अनुसार इस प्रकार है—

"अंग, अग्रदास (अगरदास), अलीखांन, अलीदीन, अनुचरदास, आनंदघन, आसकरण, इच्छा-राम, उदयराम (उदय), ऋषीकेश (हृषीकेश), कटहरिया, कल्याण, कल्याण (दूसरे मुकुंद-नात), कविराज भाट, कान्हर (कान्हरदास), किशोरीदास, कुंजविहारी, कुंभनदास (अष्टछाप), कृष्णदमन, कृष्णजीवन लच्छीराम, कृष्णदास (अष्टछाप), कृष्णदास गगरो, कृष्णादासी, केशवकिशोर, केशुकिमोरी, केसौराम (केसौ, केसव), गग, गगग्वाल, गंगा दास, गदाधर, गदाधरमिश्र, गदाधरराय, गरीबदास, गिरि-

धर, गिरिधर जन, गिरिधरलाल, गुनरूप, गोकुल, गोकुलचंद, गोकुलनाथ (प्रख्यात वार्त्ता-रचयिता), गोकुलनाथ जू प्यारे, गोकुलपति, गोपाल, गोपालदास (मदनमोहन), गोपालदास (लघुगोपाल), गोवर्धन, गोवर्धनदास, गोवर्धनेश, गोविंद, गोविंददास, गोविंददास (दूसरे), गोविंदस्वामी (अष्टछाप), ग्वाल, घनश्याम प्रभु, घनश्याम सनाढ्य, चंचल (शशि), चतुर, चतुरविहारी, चतुरानन, चतुर्भुजदास (अष्टछाप), चरणदास, छविनाथ (छविनायक) कन्नौजिया, छीतस्वामी (अष्टछाप), जगजीवन (जग), जगत-जनक, जगतानंद, जगन्नाथ कविराय, जगन्नाथ प्रभु, जन, जन भगवान, जन हरिया, जयदेव, जुगल, ठाकुरदास, ताज, तानसेन, तुलसी, दयाराम भाई, दयाल प्रिय, दामोदर वल्लभ (पद किंकर), दामोदर हित, दाससखी (दास-सरण), द्वारिकादास (दास), द्वारिकानाथ, द्वारिकेश, धर्मदास, धर्मराज, धीरज, धोंधी, नंददास (अष्टछाप), नवनीत, नवल सखी, नागरीदास (कृष्णगढ़), नाथ, नारायण, निज-जन, निज-जन कौ दास, निजदास, निजदासन, निजदासी, निर्भयराम, पद्मनाभदास, परमानंददास (अष्टछाप—छाप, परमानंद, परमानंददास, परमानंद स्वामी), पर्वत, पर्वतसेन, पियविहारी, पुरुषोत्तम, पुरुषोत्तमदास (लघु), पुरुषोत्तम प्रभु, पुरुषोत्तम सेठ, प्रभुदास (भाट), प्रवीण, प्रह्लाद, प्रानजीवन (प्रान), प्रेमदास, प्रेम प्रभुदास, वंशीधर, बलराम, बलिदास, बलिनंद, बहादुर सिंह (कृष्णगढ़), बालकेश, बालकृष्ण (गोस्वामी), बालिकी, बिहारिनदास, ब्रह्म (ब्रह्मदास—महाराज बीरबल), भगवानदास, भगवान हित रामराय, भीम (भीमा), मथुराजन, मथुरानाथ, मदनमोहन (श्याम), मधुकर, मधुप, मनोहरदास, मराल, महीपति पाँडे, माधुरीदास, माधौ, माधोदास, मानदास, मानिकचंद, मुकुंद प्रभु (माधौ), मुरली, मुरारीदास, मेहा, मोहन, यादवेंद्र (जादो), रघुनंदन, रघुनाथ (रघुनाथदास), रघुवीर, रतनारे, रसखान, रसिक (गोस्वामी श्रीहरिराय-प्रसिद्ध), रसिकदास, रसिकन कौ दास, रसिक विहारी, रहसे, राघव (राघौ) दास, राजाराम, रामकृष्ण, रामदास, रामराय (रामराय के प्रभु), रूपमाधुरी, लच्छीदास, लच्छीराम, ललित, ललितादि, लालगुपाल, लालदास, लाल-लडैती, वल्लभ (गिरिधरन), वल्लभ (वल्लभदास), वासुदेव (लाल कल्याण), विचित्रविहारी, विट्ठल, विट्ठलगिरिधरन, विट्ठलदास, विट्ठलविपिन-विहारी, विट्ठलविपुल, विष्णुदास, वेणुबाबा, वृंदावन (वृंदावन कौ चंद), वृंदावन हित-माधुरी, वेणीमाधव, व्यास, व्रजईश, व्रजजन (व्रजजन-सिरताज), व्रज जीवन, व्रजनाथ, व्रजपति, व्रजभूप, व्रजभूषण, व्रजराज, व्रजाधीश, श्याम, श्यामधन, श्यामदास, श्यामदास हरिनारायण, श्यामसहाय, श्यामसुंदर, श्रीभट्ट, श्रुतिरूपा आभीर, सगुणदास, सरसरंग, सुंदरदास, सुखसाज (सुजान), सुघरराय, सूरजपुर, सूरदास (अष्ट-छाप—सूर, सूरज, सूरजदास, सूरजप्रभु, सूर के प्रभु, सूरदास, सूर के प्रभु, सूरश्याम, सूरस्वामी-आदि) सूरदास मदनमोहन, सूरसेन, हरि, हरिजीवन, हरिदास, हरिदास, (हरिदास के स्वाँमी के स्वाँमी स्याँमा कुंजविहारी), हरिनारायण-श्यामदास, हरिवंश, हरिवंश (व्यास), हित हरिवंश, त्रिपुरजन, त्रिलोकजन, ज्ञान, ज्ञानचंद।"

इन कवियों अथवा कीर्तन-कर्त्ताओं को वल्लभ-सम्प्रदाय में आठ-श्रेणियों में विभाजित किया गया है, अर्थात् अष्टछाप के प्रत्येक कवि के अंतर्गत आठ-आठ कवि (पद-रचयिता और गायक) अंग-भाव से नियोजित किये गये हैं। जैसे—

"सूरदास" (अंग)—"तानसेन, अलीखाँन, जगन्नाथ कविराय, हरिनारायण-श्यामदास, मुरारीदास, मुकुंददास, जन भगवान, कृष्णजीवन लच्छीराम।"

"कुंभनदास" (अंग)—"हित हरिवंश, हरिदास, रसखान, लघु गोपाल, किशोरी, माधुरीदास, दास (वैष्णव), रसिक।"

"परमानंददास" (अंग)—"पद्मनाभदास, गोपालदास, आसकरण, गदाधरदास, सगुनदास, हरजीवनदास, मानिकचंद, रसिकविहारी।"

"नंददास" (अंग)—"हरिदास, ताज, कटहरिया, रामदास, धोंधी, भगवानहित-रामराय, रघुनाथदास, जन हरिया।"

"गोविंद स्वामी" (अंग)—"हरिराय, काका वल्लभजी (दास छाप), द्वारिकेश, ब्रजाधीश, ब्रजपति, गंगाबाई (श्री विट्ठल गिरिधरन छाप), कृष्णदास (दूसरे), कल्याण के प्रभु।"

"चतुर्भुजदास" (अंग)—"व्यासदास, मानदास, दामोदरहित, विचित्रविहारी, श्रीभट्ट, प्रेमप्रभु, जगजीवन, बिहारीदास।"

"छीतस्वामी" (अंग)—"श्यामदास, सुघरराय, केशकिशोरी, अग्रदास, भगवानदास, हृषीकेश, माधुरीदास, जन गिरिधर।"

"कृष्णदास" (अंग)—"रामराय, गोपालदास (भाईला), चतुरविहारी, जन त्रैलोक, दास-माधौ, जगजीवन, रूपमाधुरी, नागरीदास।"

—जवाहरलाल चतुर्वेदी



मुगलसम्राटों की ब्रजभाषा-गेय-पद-रचनाएँ

राग-भैरव

लाल के संग ललनाँ रैंन-जागी, भए लाल लोचँन लगो है आली, माँनो बधू-पसीठे।
ता-मधि पूरी ऐसी सोभा माँनो भँवर लपटात उन्ह मधि, उड़ि परे रस-मँजीठे।।
उन्ह के देखें भूँख न रही री मेरे जाँन, खजन, कँमल, मीँन, मृग लागे बसीठे।
'साह अकबर' पिय मोहन अरसाँने नींदन, अलख लड़े पुनि बाँढ छबि-ढीली चितवत मींठे।।

राग-टोडी

बार-बार बरजी तोहिं यें कोन चतुराई।
ज्यों-ज्यो प्यारे की प्रकृति, त्यो हीं पेंच लए याही में बडाई।।
धन तेरौ रूप, सुहाग, भाग जाँनें, सौतिन्ह घट लागत माई।
'साह आलम' कहत री धन तेरौ लैहनो, तेरी कृपा सुखदाई।।

राग-आसावरी

प्यारी, बोली तू चलि री, होहूँ तो सो कहति हो माँनि जिन गहूँ।
नीची नार कहा कर रही री सुंदरि, ऊँचे चितै नेंक मो-तन मत जिय में दहूँ।।
सबरी तियँन में तूही सुभाइ रही पिय-जिय में, क्यो हठ हिऐं रहूँ।
'साह बहादुर' तू अति बिचित्र री, ता सो रस-ही-रस निबहूँ।।

राग-भैरव

बनि बनिता आई, पिय मन-भाई, सौतिन्ह मधि माँनो फूली फुलवारी।
एकँन सों नेंन-सेंन, एकँन सो मींठे बेंन, पाछे तें अंक भरत भई दुनीं छबि माई।।
उसम मधु-रितु फूली, इत काम-बेली, पिय-तिय दोऊ भाँति इकवाई।
अति सुख दियौ दोऊ बिबसँन राई, 'सुलताँन सलेंम' पिय रूसी मनाई।।

ख्याल-भैरव

ऐसें देखियतु लालँन, जागे भाग हमारे आज रस-भींने।
एक बसंत जाँन सब कों उतै देखत, कृपा ते करि सुगंध नवींने।।
उदै भएं गरभ दोऊ भी रीते आए, अ जन अधर लगाइ लींने।
"सदाँरंग' महमद साह' छबि-नायक, या ते मन बस कींने।।

राग-टोडी

अब ही डारि दें रे इँडुरिया कन्हाई, मेरी पँच-रँग-पाट की।
हा-हा खात तेरे पैंयाँ परति हों, लालच मोहि मथुरा-नगर-हाट की।।
मेरे सग की दूरि निकसि गईं, हो न रही किहूं घाट की।
'तान-तरग' प्रभु झगरौ ठान्यों, हँसत लुगाई बाट की।।

मीरा : पद-विधान

श्री कुमारी जगदीश्वरी सिंह

मीरा-रचित भजन राग-रागिनियो मे बँधे पदों के रूप में उपलब्ध होते है। मीरा का काव्य मुक्तक-शैली में है, प्रबध शैली मे नही। इसलिए उसमें विषय-विस्तार नहीं है, साथ-साथ भावनाओ का घनत्व और वर्ण्य-विषय का सकोच भी है। उनके पदो का विषय कृष्ण तथा उनकी कुछ लीलाएँ है। लीलाओ में विशेष रूप से दान-लीला, मान-लीला, पनघट-लीला, कुबरी-लीला, गोवर्धन-लीला, रास-लीला, नाग-लीला आदि है। इन लीलाओ का भी वर्णन विस्तार से नही किया गया है।

मीरा की छाप से प्रचलित कुछ ऐसे भी पद है, जिनमें उनकी जीवन-सबधी घटनाओ का उल्लेख है। ऐसे पद अधिक नही है। "माता और मीरा का वार्तालाप," "ऊदाबाई और मीरा का वार्तालाप" तथा कतिपय भिन्न स्वतत्र प्रसगो में ऐसे उल्लेख मिलते है। कुछ पद राणा' और 'सिसौद्या' को सबोधित करके लिखे गए है, जिनमें कृष्णके प्रति मीरा के अटल प्रेम की अभिव्यक्ति है। इनमें से भी कुछ पदो में उसके जीवन की कुछ घटनाओ का सकेत हुआ है जैसे विष का प्याला पिलाये जाने, गले में साप डालने जैसी घटनाएँ है। ये राणाके कुचक्र की ओर ध्यान आकृष्ट करती है।

कुछ ऐसे भी पद मिलते है, जिनमें वे गोपी-रूप मे अपना प्रेम-निवेदन करती है। इन पदो मे 'मीरा' उस 'गोपी' से भिन्न नही दिखाई देती जिन्होने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कहा था—

"सत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्....।"[1]

और अपने को उन पर न्योछावर कर दिया था।

पूर्णतया भक्ति-भावना से सबधित है जिनमें प्रेम तथा विरह की छाया नही है, केवल शात-भाव का प्राधान्य है। ऐसे पदो में ही मीरा के कृष्ण–सबधी विचार स्पष्ट होते है। कुछ अन्य पद ऐसे भी है जिनमें वह स्वय एक योगिनी के रूपमे है तथा योगी-रूप कृष्ण से आत्म-निवेदन करती है।

निर्गुणी सतो के समान मीरा के पदो में प्रेम की मस्ती, अनहदनाद की झकार, त्रिकुटी, शून्य, निरजन, राम, साहब, साईंयाँ का सबोधन, गुरुकी महिमा का वर्णन आदि का भी उल्लेख मिलता है।

मीरा के विरह-निवेदन सबधी पद सर्वोत्कृष्ट है। इनमे करुना, वेदना और टीस कूट-कूट कर भरी है। विरह की विभिन्न अवस्थाओ का चित्रण भी है। थोडे पदो में कृष्ण के रूप-सौंदर्य का चित्रण किया गया है। मीरा के पद उसके सरल हृदय के उच्छ्वास है–—हृदय की वेदना की अनुभुतियो से परिप्लावित। उनमें आदि से अत तक कोई कथा नही है, हृदय की वेदना का अनुभव है।

मीरा का समस्त काव्य गेय है। गीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हमें उनके पदों में मिलती है। गीति-काव्य की प्रधानतया दो विशेषताएँ होती है—प्रथम पदो की सगीतात्मकता, द्वितीय स्वानुभूति का प्रकाशन। अत जिस काव्य में सगीतात्मकता तथा आत्मानुभूति एक साथ पाई जाय वह गीति-काव्य माना जा सकता है। मीरा को गीति-काव्य रचयिताओं में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। उसके पद स्वाभाविक वेदना-विकास के द्योतक है। सगीत का अविरल प्रवाह आदि से अत तक पदो में मिलता है।

[1] मैवंविभोऽर्हतिभवान् गदितु नृशस संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्देवोयथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
—भागवत १०।२९।३१

मीरा के पदो में अतर्जगत् का चित्रण ही प्रधान है। मीरा अपने प्रेम और विरह के निवेदन में इतनी तल्लीन हो जाती है कि बहिर्जगत् का प्रभाव अस्पष्ट होने लगता है। इसी प्रकार के पदो में उसकी आत्मा की गहरी वेदना निहित पुकार है।

"कोई कहियो रे, प्रभु-आवन की।
आवन की, मन-भावन की ॥
आप न आवै लिख नहिं भेजै, बाँण पडी ललचावन की।
ए दई नैंणं कह्यौ नहिं मानैं, नँदिया वहै जैसें सावन की ॥
कहा करूं कछु वस नहिं मेरौ, पाँख नहीं उड जावन की।
'मीरा कहं प्रभु' कबरे मिलोगे, चेरी भई हूँ तेरे दाँवल की ॥"

इस पद में उनकी व्याकुलता, वेदना की तीव्रता और भावो का आलोडन स्पष्ट होता है। दुख चरम पर पहुँच गया है। शरीर ही वधन हुआ जा रहा है। निश्चित समय की अवधि व्यतीत हो चुकी है। उसके पास 'पख' भी तो नही है जो उडकर प्रिय के पास पहुँच जाय।

गीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ मीरा के पदो मे मिलती है। यह माना जाता है कि मध्यकालीन भक्त-कवियो की रचनाओ में गीति-भावना जितने शुद्ध रूप में मीरा के पदो तथा तुलसी की "विनय-पत्रिका" में मिलती है उतनी उस समय की किसी भी रचना में नही है।

पदो में अलकार-योजना स्वाभाविक है। अलकारो को लाने के लिए मीरा ने विशेष प्रयत्न और कवित्व-शक्ति का व्यय नही किया है। उनका उद्देश्य साधारण ढंग से अपने प्रेम और विरह का निवेदन करना रहा है। अत भावोद्गार 'स्वात सुखाय' ही व्यक्त हुए हैं। इसी से हृदय-स्थित भाव इनमें सरल ढग से पद-बद्ध हो गए हैं। इन पदो के सहज, स्वाभाविक अर्थ में ही इतना बल है कि सीधे हृदय को छू ते है। कृष्ण-भक्त-कवियो ने कृष्ण के जिस रूप-सौदर्य का वर्णन इतना बढा-बढा कर किया, उसे मीरा ने केवल एक पद की परिधि में ही सीमित कर दिया, जिसमें कृष्ण के यौवन और शैशवावस्था का पूर्ण समन्वय है—

"बस्यां म्हारे नैंनाण मां नंदलाल।
मोर-मुगट मकराकृत कुंडल, अरुण तिलक सोहाँ भाल ॥
मोहण-मूरत साँवरां सूरत, नैंणां बण्या बिसाल।
अधर सुधांरस मुरली राजां, उर वैजंणता माल।
'मीरां' प्रभु संतां सुखदायां भगत बछल गोपाल ॥"

मीरा ने न प्रवध-काव्य लिखा और न लिखने की चेष्टा ही की। इधर-उधर कृष्ण की कुछ लीलाओ का उल्लेख पदो मे है, परतु उन लीलाओ में से अधिकाश का वर्णन भागवत में वर्णित लीलाओ के समान नही है, यद्यपि आधार भागवत का ही है।

मीरा के भाव इतने जटिल नही है कि उन्हें सुलझाने का बारबार प्रयत्न किया हो। भावो की पुनरावृत्ति पदो में मिलती है जो गीति-काव्य के लक्षण के अनुकूल ही है। एक पद एक सपूर्ण भाव का द्योतक है। पूरे पद में अपने भावो को व्यक्त करके अतिम पक्ति में मीरा की छाप देकर अपनी उत्कट अभिलाषा को व्यक्त कर देती है। उसी अतिम पक्ति में उसका उद्देश्य और निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है।

पदो की भाषा सरल और सुबोध है। पदो को प्रामाणिक सकलन के अभाव में भाषा-सबधी प्रश्न को उठाना कठिन है। जनसाधारण में यह पद इतने अधिक प्रचलित रहे है कि भाषा में रूपातर हो गया है। जो संकलन अभी तक प्राप्त है उनमें विशेषरूप से राजस्थानी, व्रजभाषा और गुजराती का सम्मिश्रण है तथा कही-कही पर फारसी शब्दो का भी प्रयोग मिलता है। मीरा के पद गीति-शैली की दृष्टि से पूर्ण सफल है।

किसी-किसी सकलन में मीरा के पदो में रागो का निर्देश मिलता है। मीरा ने उन पदो को स्वय गाकर और ताल में बैठाकर उन-उन रागो का निर्देश किया था, यह कहना कठिन है। ये पद इतने लोक-प्रिय

है कि गायक और साधु-मडली आज भी इन्हे गाती रहती है। विदित यह होता है कि सग्रह-कर्त्ताओ ने स्वय मनमाने ढग से इन रागो का निर्देश किया है, क्योकि एक ही पद विभिन्न सकलनो मे विभिन्न रागो के अतर्गत मिलता है। जो कुछ भी हो सगीतात्मकता इन पदो का प्राण है। कमला देवी गर्ग का कथन है—

"लोक-गीतो की भाँति उन्हो (मीरा) ने भी विशेष राग-रागनियो की धुन अपनाई होगी। इसके अतिरिक्त, राजस्थान में प्रचलित रागनियों एवं पद्धतियों को ही प्रथम श्रेय मिला होगा। राजस्थान में मारू (कुछ संगीतज्ञ मारवा को मारू मानते हैं, और कुछ मालव को मारू कहते हैं। कुछ मालव की भार्या को मारू मानते हैं), मेवाड़, मारवा, माँड आदि का प्रचलन विशेष है। माँड और मेवाड़ा तो पदो की प्रचलित धुन हैं। लोक-गीतों में इसका प्रचार विशेष है। अतः कीर्तनो में इनका प्रयोग किया जाना अधिक संभव जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न ऋतुओ एवं अवसरों पर गाए जाने वाले लोक-गीतों की धुन जैसे—'होली', 'कजरी', सावन आदि को भी अपनाया होगा। व्यक्तिगत रूप से स्वयं अपने गाने के लिए संभवतः उन्होने अपने भावो के अनुकूल कुछ राग-रागनियो का व्यवहार किया हो। रिषभ, धैवत, मध्यम की कोमलता एवं तीव्रता विभिन्न वृत्तियों एवं मनोदशाओ का संकेत करती हैं। कोमल रिषभ (रे) से वैराग्य की ध्वनि फूटती है। कोमल धैवत (ध) से करुणा का बोध होता है। तीव्र मध्यम (म) हृदय की अभिलाषाओं की तीव्रता की ओर संकेत करता है। अतः 'रे', 'ध', 'म' का प्रयोग जिन राग-रागनियो में होता होगा उनका वे विशेष प्रयोग करती होंगी। भैरवी के सारे कोमल स्वरो ने, संभवतः उन्हें आकृष्ट किया हो। पीलू में आतुरता और व्याकुलता ध्वनित होती है। वेदना के अश्रु उसमें झरते-से प्रतीत होते हैं। बागेश्वरी में करुणा और आश्वासन का बोध होता है। इसी प्रकार सोरठ, मलार, बिहाग, देश के स्वरों में मीरा ने पदों को गाकर अपने को अभिव्यक्त किया होगा[1]।"

उपर्युक्त अनुमान अंशत ठीक जान पडता है। विरह के पदो में अभिव्यक्त होनेवाली पीडा की भावना देश, बागेश्वरी आदि रागो से व्यक्त की गई होगी, परतु साथ ही साथ मीरा के पदो में निरतर बहने वाले आनद के स्रोत का भी दर्शन होता रहता है। अत उन्होंने कुछ इस प्रकार के रागो का भी प्रयोग किया होगा जिनसे आनंद की अधिक अभिव्यक्ति होती है। उनके पदो में कर्ण-कटु-शब्दो का प्रयोग नही मिलता, पद बहुत बडे भी नही है। पदो का प्रथम चरण इतना छोटा है कि स्वभावत उसकी पुनरावृत्ति की जा सकती है।

मीरा ने अधिकाश रूप से पदो में उन्ही छदो का उपयोग किया है जिनको उससे पहले के कवि करते चले आए थे। गेय पद राग-रागनियो में होते हैं। उनमें छद-योजना भी होती है, यद्यपि गेय होने के कारण उनमें आए छदों में और साधारण छदों मे कुछ अतर अवश्य होता है। पदो में एक टेक होती है और उस टेक के अनुसार निश्चित छद चलता है। प्रत्येक चरण के अत मे टेक की पुनरावृत्ति होती है। एक टेक के साथ कई प्रकार के छद और एक छंद के साथ कई प्रकार की टेकें आ सकती है, परतु टेक का और छद के अतिम यति-खंड का स्वरावरोह एक-सा होना चाहिए। कही-कही पर छद के पूरे चरण की ही टेक होती है और कही-कही आशिक। छद का अतिम यति-खड यति के अतिम खड से अनिवार्यत मिलता है और ऐसी अवस्था में यति के निश्चित अतिम खड के पहले कुछ अनुकूल मात्राएँ भी बढाई जा सकती है, किंतु उस अतिम खड के पहले एक यति अवश्य होगी।

विष्णु-पद छद २६ मात्राओ का होता है। १६ और दस के बाद यति का प्रयोग होना है। विष्णु-पद की टेक के साथ १० मात्रा के पहले कितनी ही अनुकुल मात्राएँ आ सकती हैं, जैसे—

"बादल देखाँ झरी स्याँम, बादल देख्याँ झरी।
काला पीला घटयाँ ऊमडयाँ, बरस्याँ च्यार घरी॥"

[1]. दे० मीरा-स्मृति ग्रंथ, पृ० १८१,

पदो में सर्वत्र छंदो का ही प्रयोग होता है। छद और पदो में केवल इतना ही अतर होता है कि पद में प्रथम पक्ति टेक की होती है और चरण की अन्य पक्तियो का अत्यानुप्रास प्रथम पक्ति के अनुकूल होता है। टेक का और छद का अभिन्न सबध है। कुछ निश्चित टेको के साथ कुछ निश्चित छद ही पदो में रखे जा सकते हैं, जिनका स्वरावरोह उसी टेक की गति से साम्य रखता है। १६ मात्रा की टेक के साथ सार छद (१६-१२) का प्रयोग मीरा ने किया है—

"भज मॅण, चरॅण कॅवल अवणांसी ।
जे ताँई दीसाँ धरॅण गगॅण माँ, ते ताँई उठ्ठ जासी।"

कही-कही ३२ मात्राओ की टेक के साथ भी सार छद का प्रयोग किया है, जैसे—

"निपट बंकट छब अटके, म्हारे नैणाँ निपट बंकट छब अटके।
देख्याँ रूप मदण मोंहण री, पियत पियूखॅण मटके।।"

कही पर पूरा चरण ही एक टेक के रूप में है—

"स्यॉम बिण दुखपावाँ सजणी, कुण म्हाँ धीर बंधावाँ।
यो संसार कुबुध री भाँड़ो, साध-सगत ना भावाँ।।
साधाँ जण री निद्याँ ठाणाँ, करम रा कुगत कुभावाँ।
साध-संगत माँ भूल णा जावाँ मूरिख जणम गुमावाँ।।
'मीराँ, रे प्रभु थारी सरणाँ, जीव परम-पद पावाँ।"

तीस मात्राओ की टेकें भी मीरा के पदो मे मिलती हैं—

"थाणें काँई-काँई बोल सुणावाँ, म्हाराँ साँवरा गिरधारी।"

१२ मात्राओ की टेक के साथ सार छद का प्रयोग मीरा के पदो में विशेष मिलता है, क्योंकि यह १२ मात्राएँ सार छद की अतिम १२ मात्राओ के बराबर होती हैं और लय में एक रूप हो जाती है—

"म्हाँ, गिरधर रॅग-राँती।
पचरॅग चोला पहेर्याँ सखि म्हाँ, झरमट खेल्याँ जाती।।"

२६ मात्राओ (१४-१२) की टेक का प्रयोग सरसी छद के साथ एक पद मे मिलता है—

"थे मत बरजाँ माई री, साधाँ दरसण जावाँ।
स्यॉम रूप हिरदाँ बसाँ म्हारे ओर णा भावाँ।।"

११ मात्राओ की टेक के साथ भी सरसी छद (१६-११) का प्रयोग हुआ है, क्योंकि इसकी अंतिम ११ मात्राएँ टेक के अनुकूल होती हैं। टेक की ११ मात्राओ में गीतात्मकता के अनुसार मात्राओं में परिवर्द्धन भी हो सकता है। उदाहरण के लिए—"साँवरे मारया तीर" इसमें १२ मात्राएँ है, परतु उच्चारण ११ मात्राओ के अनुरूप ही होता है, क्योंकि 'साँवरे' शब्द के 'रे' अक्षर को ह्रस्व करके पढा जायगा। इन ११ मात्राओ की टेक के पहले भी कुछ मात्राएँ आ सकती हैं परतु ऐसी अवस्था में टेक में अतिम ११ मात्राओ के पहले यति होगी, जैसे—

"चाणाँ मलवा जमणाँ का तीर।"

इसमें ११ के पहले ६ मात्राएँ है। इस प्रकार यह १७ मात्रा की टेक है, परन्तु ६ मात्राओं के बाद एक यति लगती है। इसी प्रकार १५ मात्राएँ भी हो सकती हैं, जिनके साथ सरसी छद का प्रयोग होता है—

"चाणाँ मलवा जमणाँ का तीर।
या जमणाँ का निरमल पाँणी, सीतल होयाँ सरीर।।"

११ मात्राओ के पहले और १२ मात्रा जोड कर २३ मात्राओं की टेक भी मीरा के पदो में मिलती है। ऐसी दशा मे १२ मात्राओं पर यति का प्रयोग होता है और उसके साथ सार छद का प्रयोग है—

"जाणाँ रे मोहणाँ, जाणाँ थारी प्रीत ।
प्रेम-भगति से पैडाँ म्हारो, और ण जाणाँ रीत ।।
इमरत पाइ बिषा क्यूं दीजाँ, कूण गाँव री रीत ।
'मीराँ' रे प्रभु हरि अविणासी, अपणो जण रो मीत ।।"

सरसी छद के प्रयोग मे २४ मात्राओ तक की टेके आई है, परतु उनके अतिम भाग की ध्वनि अनुकल होने के कारण गेयता मे कोई बाधा नही पडती, जैसे—

"प्रभु जी, थे कठाँ गया नेहड़ा लगाइ ।
छोड्या म्हाँ विसवास सँगाती, प्रीत री बाती जगाइ ।।
बिरह समद माँ छोड गया छो, नेह री नाव उचाइ ।
'मीरा' रे प्रभु कबरे मिलोगा, थे विण रह्याँ ण जाइ ।।"

सरसी छद में ११ मात्राओ के पहले भी टेक मे कुछ अधिक मात्राओ का प्रयोग मीरा के पदो मे मिलता है, जैसे—

"आवाँ मोहणाँ जी, जोवाँ थारी बाट ।
खाण-पाण म्हारे 'णेक' णा भावाँ, नैणाँ खुलाँ कपाट ।।"

११ के पहले १२ मात्राएँ है। अतिम ११ मात्राएँ सरसी छद की अतिम ११ मात्राओ के अनुकल ही है, इसलिए लय मे कोई अतर न होने के कारण टेक में ११ मात्राओ के पहले कही अनूकूल मात्राओ को भी जोडा जा सकता है—

"हेरी म्हाँ तो दरद दिवाणी, म्हारा दरद णा जाण्याँ कोइ ।
घायल री गत घायल जाण्याँ हिवड़ो अगँण सँजोइ ।।
जौहर कीमत जौहराँ जाण्याँ, क्या जाण्याँ जिण खोइ ।"

इस पद में सरसी छद के साथ वीर छद की टेक आई है और इसकी अतिम ११ मात्राएँ सरसी के अनुकूल पड जाती है।

रूपमाला (१४—१० अत मे गुरु-लघु) छद के साथ १४ मात्राओ की टेक का भी प्रयोग हुआ है, जिसमे ४ मात्राओ के बाद यति होती है और शेष रूपमाला की अतिम १० मात्राओ की लय के अनुकूल होती है। उदाहरण के लिए—

"मैंण थें परस, हरि के चरण ।
सुभग सीतल, कँवल कोमल, जगत ज्वाला-हरण ।।
इण चरण प्रह्लाद परस्याँ, इंद्र-पदवी-धरण ।
इण चरण ध्रुव अटल करस्याँ, सरण असरण-सरण ।।"

इस पदमे रूपमाला छद ही पूरी टेक के रूप मे प्रयुक्त हुआ है—

"रास पूणो जणमिया री, राधका अवतार ।
ग्याँण-चौरस मँडी चौहेट, खेलताँ संसार ।।
गिरधराँ री रची बाजी, जीत भावाँ हार ।
साध-सता, ग्याँनवंता, चालताँ उच्चार ।।
दासि 'मीरा' लाल गिरधर जीवणाँ छिण-च्यार ।"

मीरा ने अपने पदो की रचना उक्त विशेष छदो को दृष्टिकोण मे रख कर साभिलाष चाहे न की हो, परतु उस समय के प्रचलित छद गीतात्मकता के कारण स्वत पदो में आगए है।[1]

[1]. मीरा के पदो के कितने ही पाठ मिलते है, जो विविध ग्रथो में विद्वानों ने दिये है। इस लेखिका ने 'मीरा-स्मृति-ग्रथ' में दिये हुए पाठ को स्वीकार किया है और उस से ही उदाहरण लिये है।

संगीत-निपुण बाई मीरा ने गेय-पद-सम्राट् 'सूर' और संगीत-सम्राट् 'तानसेन' की भाँति कुछ नये रागों का निर्माण किया है। संगीतज्ञों में शुद्ध मलार के अतिरिक्त मेघ मलार, नट मलार, गौड़ मलार, देश मलार, रामेरी मलार, सोरठ मलार, धूरिया मलार, पावस मलार, श्रावणी मलार, मोहन मलार, गुंड मलार, रूपमंजरी मलार, सूर मलार, चरजू दास की मलार, रामदासी मलार, और मियाँ (तानसेन) की मलार के साथ-साथ "मीरा की मलार" भी प्रसिद्ध है। ये मलार रचयिता 'मीरा' कौन-थीं इस विषय में संगीतज्ञों का भारी मतभेद है। कोई इन्हीं भक्ताग्रगण्य बाई मीरा को मानते हैं और कोई प्रसिद्ध संगीतज्ञ 'गोपाल नायक' की पुत्री, जिसका नाम भी मीरा था को मानते हैं। बात जो कुछ भी हो, पर है यह मलार स्त्री-गायिका की—रचयिता की उत्पत्ति और उसमें अपनी खास विशेषता है। संगीत के आचार्यों में मलार, मल्लार या मल्हार को मेघजन्य राग माना है, किंतु 'संगीत दामोदर' के लेखक ने इसे संपूर्ण जाति का राग मानते हुए इसकी 'षड् रागों' में स्थापना की है। एवं इसकी—वेलावती, पूर्वी, कानडा, माधवी, कोड़ा और केदारिका पाँच स्त्रियाँ मानी हैं। संगीत दर्पणकार ने भी इसे प्रधान षड् रागों में चौथा स्थान देते हुए लिखा है—

"भैरवः पंचमो नाटो, मल्लारो गौड मालवः।
देशाख्यश्चेते षड्रागाः प्रोच्यन्ते लोकविश्रुतः॥"

राग-विबोध के कर्त्ता ने भी विविध राग-रागनियों का वर्गीकरण करते हुए इसे मेघ-जन्य राग, व्यंकट मुखी ने गौड-जन्य राग, राजन्तरंगिणी के कर्त्ता ने मेघ-जन्य राग, राग-मंजरी के रचयिता ने केदारा-जन्य राग और श्री भातखंडे ने काफी मेल-जन्य राग इसे माना है। मियाँ तानसेन अपनी 'राग माला' में मलार का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"नट-सारंग सँजोगते, मेघराग की तान।
मिलै एक करि गाइए, यै 'मल्लार' सुजान॥"

अस्तु: मलार में पाँच—"सा, रे, म, प, और ध स्वर लगते हैं। धैवत—'ध' इसका प्राण है। रिषभ—'रे' और धैवत—'ध' तीव्र, षड्ज—'स' वादी, तथा पंचम—'प' संवादी स्वर हैं।

धुरपद-गायक इसमें निषाद—नि (कोमल) का प्रयोग भी करते हैं और ख्यालिया तीव्र निषाद का। कुछ चाल में भी फरक है। एक ब्रज की मलार भी प्रसिद्ध है, जिसे 'रासधारी' गाया करते हैं और जो संगीतज्ञों में 'अताई मलार' के नाम से प्रसिद्ध है। यह अन्य मलारों की अपेक्षा मधुर और सुगम है। इसके स्वर हैं—

"सा रे, नीसा सा ध नी प।"

मीरा की मलार में ऋषभ—रे तथा धैवत—ध, चढ़े (तीव्र), गधार—ग और मध्यम—म तथा निषाद्—'नि' उतरे (कोमल) स्वर लगते हैं। आरोह में गधार और निषाद छोड़ दिये जाते हैं। अवरोह में भी उसका कम ही व्यवहार होता है। अतएव इसकी चाल है—"रे, मम पप म ग, ध सा।" इससे ज्ञात होता है कि श्री 'मीरा' संगीत में कितनी पारंगत थीं।

श्री चैतन्य और साकार-निराकार वाद

श्री राजनारायण कपूर

ईश्वर साकार है या निराकार? इस प्रश्न को लेकर दर्शन-शास्त्र के युद्ध-क्षेत्र मे न जाने कितने भयकर युद्ध हो चुके है।' बडे-बडे शक्तिशाली योद्धाओ ने अपने बल और पराक्रम की आजमाइश की है। श्री शकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य जैसे महारथियो ने अपने तर्क-कौशल के द्वारा विपरीत दल के योद्धाओ को छिन्न-भिन्न कर डालने के प्रयत्न में कोई कसर नही रखी है, परतु समस्या उतनी ही जटिल होती गई है जितना तर्क-द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। साकारवादियो को निराकारवादियो की बुद्धि पर और निराकारवादियो को साकारवादियो की बुद्धि पर उतना ही खेद और अपने विचारो पर उतना ही दृढ विश्वास होता गया है।' इस वितडावाद के अत न होने का कारण है दोनों ओर के दार्शनिको का सकीर्ण दृष्टिकोण। दोनों पक्ष के दार्शनिकों के विचार से निराकारत्व और साकारत्व वस्तुओ मे परस्पर विरोधी गुण है और जिस प्रकार और वस्तुओ मे परस्पर विरोधी गुणो का एक साथ होना असगत है उसी प्रकार ईश्वर में भी परस्पर विरोधी गुणो का आरोप करना युक्तियुक्त नहीं। जितनी शक्ति साकार और निराकार के वितडावाद में व्यर्थ व्यय की गई है उसका एक अंश भी यदि यह विचार करने में खर्च की गई होती कि ईश्वर के संबध में परस्पर विरोधी गुणों का एक साथ रहना कहाँ तक असंभव है, तो शायद यह समस्या कभी की सहज मे ही हल हो गई होती। क्या ईश्वर साकार होते हुए भी निराकार और निराकार होते हुए भी साकार नहीं हो सकता? क्या वह अनंत, अदृश्य, अरूप और सत्ता-मात्र होते हुए भी अनत रूपवान, अखिल रसामृतमूर्ति, भुवन-मन-मोहन, प्रेम-पुंज, करुणा-सागर और क्रीडा-कौतुक-पूर्ण, चिन्मय लीला-विग्रह नहीं हो सकता?

साधारण बुद्धि से तो यह बात बिल्कुल असंभव-सी ही प्रतीत होती है। जिस वस्तु का कोई रूप नही वह फिर रूपवान कैसे हो सकती है और जो रूपवान है वह अरूप कैसे कही जा सकती है? किसी वस्तु में यदि किसी गुण विशेष का होना स्वीकार किया जाय तो उसके विपरीत गुण का उसमें न होना तो अपने आप ही स्वीकृत हो जाता है। किसी वस्तु को यदि सफेद कहा जाय तो यह कहने की आवश्यकता नही रहती कि वह उसी स्थान पर और उसी समय स्याह नही है।' इसी प्रकार यदि ईश्वर के सबध में कहा जाय कि वह ऐसा है तो यह भी कहना ही पडता है कि वह वैसा नही है, परंतु ईश्वर के संबंध में यह कहना कि वह वैसा नही है, उसको अपूर्ण स्वीकार करना है। उसमें किसी न किसी गुण का अभाव मान कर उसे सीमाबद्ध करना है। इसलिये वेदांतियो ने निर्णय किया है कि ईश्वर के संबध में कुछ न कहना ही ठीक है, उसकी सब से श्रेष्ठ वर्णन यही है कि वह अवर्णनीय है।

यदि ईश्वर के लिये यही अंतिम शब्द है तब उसके विषय में कुछ कहना-सुनना अथवा चितन करना दूर रहा, उसके प्रति संकेत करना भी असभव है और जिस वस्तु का चिंतन नही किया जा सकता, जिसका कथोपकथन नही हो सकता, जिसका अन्य किसी भी प्रकार से निर्देश नही किया जा सकता, वह वस्तु ही कहलाने योग्य नही रहती, परंतु यह सिद्धात कहाँ तक सही माना जा सकता है कि ईश्वर के बारे में कुछ भी नही कहा जा सकता, क्योंकि यह कहना भी तो उसके विषय में कुछ कहना ही है, दूसरे शब्दो में यदि उसके विषय में जो भी कहा जाय असत्य है तो यह भी असत्य है कि "उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाय असत्य है" और यदि यह असत्य है तो स्पष्टत यह सत्य है कि उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाय असत्य नही है।

इतना ही नही, उसके विषय मे जो कुछ भी कहा जाय सब सत्य है, वह सर्वशक्तिमान, सर्वगुणसपन्न, अनत और सीमा-हीन है। ऐसी कोई शक्ति नही जो उसमें न पाई जाती हो, ऐसा कोई गुण नही जो उसमे विराजमान न हो। हमें जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, जो कुछ भी हमारे चिंतन का विषय बनता है या बन सकता है सब उसी की अनत शक्तियो में से किसी न किसी शक्ति का तुच्छ प्रकाश है[1]। उससे कोई वस्तु अथवा गुण पृथक् नही। यदि होता तो वह उसी अश मे अपूर्ण होता।

"सर्वैश्वर्य परिपूर्ण स्वयं भगवान।
तारे निराकार करि काहू व्याख्यान॥"

—चै० च०, मध्य ६।१४०

वह तो सभी प्रकार से पूर्ण है। उसकी अनत शक्तियाँ और अनत गुण है। उसे निराकार या निर्गुण कहना हमारी सबसे बडी भूल है।

वह अवर्णनीय अवश्य है, किंतु इस दृष्टि से नही कि वह निर्गुण है, बल्कि इस दृष्टि से कि उसके अनत गुण है और उसका कैसा भी वर्णन उसके एक अश का वर्णन है, उसका नही। वह निराकार अवश्य है, पर केवल निराकार नही। साकार भी है पर केवल साकार नही, उसके अनत रूप है—

"एकई विग्रह तार अनंत स्वरूप।"

—चै० च०, म०, २०।१६४

यही तो ईश्वरत्व है।

शास्त्रो मे भी भगवान् के इस पूर्ण रूप का वर्णन है। कही साकार पर विशेष जोर दिया गया है, कही निराकार पर। जिन शास्त्रो में ईश्वर के साकार रूप का वर्णन है उन्हे निराकारवादी नही मानते, जिनमें निराकार ब्रह्म का वर्णन है उन्हें साकारवादी नही मानते और यदि मानना ही पडे तो जहाँ अपने सिद्धात का खडन होता देखते हैं वहाँ लक्षणा-वृत्ति-द्वारा शास्त्रो का उलटा-पुलटा अर्थ निकाल कर अपने मत की पुष्टि करने की चेष्टा करते है। इसमे उनका दोष भी क्या है? दोष तो है उनकी साम्प्रदायिकता का जो उनकी बुद्धि को आच्छादित किए रहती है। साम्प्रदायिक और हठधर्मी लोग सत्य की उपलब्धि के हेतु शास्त्रो का अध्ययन नही करते। वे शास्त्रावलोकन तो अपने कल्पित विचारो की शास्त्रो से पुष्टि कराने के लिये करते हैं। शास्त्रो का सरल अर्थ उन्हें तभी तक ग्राह्य होता है जब तक उससे उनका मतलब सिद्ध होता है, अथवा उनके मत की पुष्टि होती है, पर जब शास्त्र किसी विपरीत सिद्धात का प्रतिपादन करते हैं तब निष्पक्ष भाव से शास्त्रोक्त अन्य सिद्धातो से उसका समन्वय करने की अपेक्षा शास्त्रो की खीचतान करने लगते है। ऐसा जान पडता है कि निराकारवादियो ने समन्वयात्मक वृत्ति का थोडा-बहुत आदर किया है, परतु विशेष ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी समन्वयात्मक वृत्ति कुछ नही, वह पूर्ण रूप मे साम्प्रदायिकता से भरी हुई है। निराकारवादी साकार-निराकार का समन्वय इस प्रकार करते है—

"ब्रह्म वास्तव में निराकार है, परतु भक्तो पर अनुग्रह कर कभी-कभी विशिष्ट रूप से आविर्भूत होता है। जिस प्रकार जल जमने पर बर्फ हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म निराकार होते हुए भी कभी-कभी साकार हो जाता है, परंतु उसका यह साकार रूप मायिक होता है। वह [illegible] ही माया में अधिष्ठित हो कर रूप धारण करता है।"

इसका अर्थ दूसरे शब्दो में यह है कि ब्रह्म निराकार है साकार नही। साकार रूप [illegible] मायिक है तो वह कितना ही सुदर और कितना ही शक्तिमान क्यो न हो [illegible]

1. कृष्णेर अनत शक्ति ताते तीन प्रधान, चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीवशक्ति नाम।

—चै० च०

अन्य मायिक पदार्थों के समान तुच्छ है। इसलिये निराकारवादियो का यह कहना कि ईश्वर साकार भी है और निराकार भी, केवल साकारवादियो के लिये रचा हुआ शब्द-जाल-सा प्रतीत होता है, समन्वयात्मक होते हुए भी यह वास्तव मे समन्वयात्मक नही है। ईश्वर के रूप को मायिक कहना सूर्य मे अधकार का आरोप करने के समान है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में अधकार नही रह सकता, उसी प्रकार चैतन्य-सत्ता-पूर्ण भगवान् में माया का कोई स्थान नही हो सकता—

"जहाँ कृष्ण तहाँ नाइ माया अधिकार।"

श्रीमद्भागवत मे भी कहा है—

"विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थंते ममाहमिति दुर्धियः॥"

—भागवत (गी० प्रे० स०) २।५।१३

जितनी दूर ईश्वर की दृष्टि जाती है उतनी दूर तक माया पास आते लजाती है, दुर्बुद्धि-जीवगण उस माया से विमोहित हो जाते हैं और 'मैं' और 'मेरेपने' का अभिमान कर नाना प्रकार की बातें किया करते हैं—

"कृष्ण-नाम, कृष्ण-गुण, कृष्ण-लीला-वृंद।
कृष्णेर स्वरूप संग, सब चिदानंद॥"

—चै० च०, म० १७।१३५

भगवान् चिद् वस्तु है, इसलिये उनसे सबध रखने वाली सभी वस्तुएँ उनके रूप, गुण, लीला आदि सभी चिन्मय हैं। बहुत से लोग भगवान् का मनुष्यो की भाँति जन्म-ग्रहण और देह-त्याग करना देख कर उनके शरीर को प्राकृत समझ बैठते हैं, परतु गीता में भगवान् का वाक्य है—

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वत.।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥"

—गीता ४।६

हे अर्जुन, मेरा जन्म और कर्म दिव्य, अर्थात् अलौकिक हैं। इस प्रकार जो पुरुष तत्व से जानता है वह शरीर त्याग कर फिर जन्म नही लेता, किंतु मुझको प्राप्त होता है।

"अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम्॥"

—गीता ९।११

तथा—

"तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥"

—गीता १६।१९,

अर्थात्, मूढ व्यक्ति मेरी सच्चिदानद मूर्ति को मानव शरीर समझ कर यह स्थिर करते है कि मैं प्रपच के नियमो में बँध कर मायिक शरीर ग्रहण करता हूँ। वह नही जानते कि मेरा शरीर नित्य सच्चिदानद है। उन क्रूर और अधम मनुष्यो को मैं संसार मे आसुरी योनियो में बार-बार फेंका करता हूँ।

ईश्वर के साकार रूप के मायिक होने के विरुद्ध इससे अधिक और क्या शास्त्र-प्रमाण हो सकता है। श्री चैतन्य ने कहा है—

"प्राकृत करिया माने विष्णु कलेवर।
विष्णु निंदा आर नाहिं इहार ऊपरि॥"

—चै० च० आ० ७।११५

भगवान् के शरीर को प्राकृत मानने से बढ कर भगवान् के श्री चरणो में दूसरा कोई अपराध नही हो सकता[१]।

शास्त्रो में प्रत्येक स्थल पर भगवान् के नित्य सच्चिदानंद-विग्रह के स्पष्ट प्रमाण पाए जाते है। निराकारवादियो ने उन्हें लक्षणा-वृत्ति-द्वारा तोड-मरोड कर अपना मतलब निकालने में बडी चतुराई दिखलाई है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम भट्टाचार्य से शास्त्रार्थ करते समय इस संबंध में अपने विचारो को प्रकट किया है। वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य उस समय के सर्व प्रधान मायावादी पंडित थे। चैतन्य महाप्रभु जब सन्यास-ग्रहण कर जगन्नाथपुरी में श्री जगन्नाथ के दर्शन करने आए उस समय यह घटनाक्रम से श्रीमंदिर में ही उपस्थित थे। वह चैतन्य के रूप, लावण्य, भाव-भंगी को और उनके शरीर से स्पष्ट सात्विक-भावो का निरतर प्रकाश होते देखकर सहसा उनकी ओर आकृष्ट हो गए। वे उन्हें उसी समय अपने निवास-स्थान पर ले गये और उनकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे। एक दिन श्रीमंदिर से लौट कर भट्टाचार्य जी शिष्यो को वेदात पढाने बैठे। उन्होंने श्री चैतन्य से भी यह कहते हुए वेदात सुनने का आग्रह किया कि 'वेदात-श्रवण' सन्यासी का मुख्य धर्म है। इसका पालन किये बगैर संन्यास कदापि नही टिक सकता। श्री चैतन्य बोले—"आप मुझे अपना प्रिय जान कर सदा मेरे ऊपर अनुग्रह किया करते है। मैं अवश्य आपकी आज्ञा का पालन करूँगा," और वेदात सुनने को तत्काल प्रस्तुत हो गए, सात दिन लगातार श्री चैतन्य वेदात श्रवण करते रहे, लेकिन बिल्कुल मौन रहे। आठवें दिन सार्वभौम ने उनके मौन का कारण पूछा। श्री चैतन्य ने उत्तर दिया—"मैं नितांत मूर्ख हूँ। सत्य-असत्य, भला-बुरा समझने की बुद्ध में योग्यता नही। मैं तो केवल आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर तथा वेदात-श्रवण सन्यासी का धर्म समझ कर वेदात-सूत्र का पाठ सुन रहा हूँ। फिर भी विनयपूर्वक यह कहने की आज्ञा चाहता हूँ कि आप जो ईश्वर-तत्व को निराकार, निर्विकार और नि शक्ति बतला रहे है, वह वेदात-सूत्र का कल्पित अर्थ प्रतीत होता है। उपनिषदो के मुख्य अर्थ को वेदव्यास ने निजकृत सूत्र में वर्णन किया है। वही मुख्य अर्थ जानने योग्य है। आप मुख्यार्थ छोड कर गौण अर्थ की कल्पना करते है। अथवा अभिधा-वृत्ति छोड कर गौण लक्षणा-वृत्ति से वेदांत-सूत्रो का अर्थ कहते हैं। वेद-वाक्य स्वत प्रमाण है, इसमें सदेह नही; परतु उसी समय तक जब तक कि उनके मुख्य अर्थ पर ध्यान रखा जाय। सूर्य जिस प्रकार स्वय प्रकाश होते हुए भी बादलो के घिर आने से छिप जाता है उसी प्रकार लक्षणा-वृत्ति की सहायता से किया हुआ स्वकल्पित भाष्य वेद-सूत्रो के सरल और वास्तविक अर्थ को आच्छादित कर देता है।[२]

'वह कर्म करते है'—इसका तात्पर्य यही है कि भगवान् के मनुष्य जैसी प्राकृतिक कर्मेंद्रियाँ नही है, बल्कि उनका शरीर और इंद्रियाँ अप्राकृत है।

१ ईश्वरे श्री विग्रह सच्चिदानंदाकार। से विग्रह कह सत्व गुणेर विकार॥
जे न माने सेई तो पाखंड। अस्पृश्य, दृश्य ओइ हय यम दंड्य॥
—चै० च०, म० ६।१६६-१६७

चिदानंद कृष्ण विग्रहे मायिक करि मानि। एई बड़ पाप सत्य चैतन्येर वाणी॥
—चै० च०, म० २५।३५

२. उपनिषद शब्दे जेई मुख्य अर्थ हय। सेई अर्थ मुख्य व्यास सूत्रे सब कय॥
मुख्यार्थ छाडिया कर गौणार्थ कल्पना। अभिधा वृत्ति छाड़ि कर शब्देर लक्षणा॥
प्रमाणेर मध्ये श्रुति-प्रमान प्रधान। श्रुति जे मुख्यार्थ कहे, सेई से प्रमान॥
—चै० च० म० ६।१३२-१३५

यही कारण है कि उनका शरीर मनुष्य जैसा दीखने पर भी उससे बिलकुल भिन्न है। उसमे ऐसा विलक्षण सौंदर्य है कि उसे देखते ही जीव सब कुछ भूल कर उसमे तन्मय हो जाता है। अनेको बार देखने पर भी वह नित्य नवीन और उत्तरोत्तर अधिक सुदर प्रतीत होता है। उसे जितना देखा जाय उतना ही उसे देखने की और प्रबल इच्छा होती है—

"तदेव रम्यं रुचिरं नवंनवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।"

—भागवत (गी० प्रे० स०) १२।१२।४९

इसीलिए भक्त कहता है—

"जन्म अवधि हम रूप निहारल, नयन ना तिरपित भेल।"

—चै० च०,

जिस प्रकार निराकारवादी निराकार ब्रह्म को सत्य और उसके साकार विग्रह को मायिक मान कर साकार और निराकार का समन्वय करने की चेष्टा करते है, उसी प्रकार साकारवादी भी कभी-कभी भगवान् के साकार और निराकार दोनो रूपो को स्वीकार करते है, परतु साकार को सत्य और निराकार को असत्य, अथवा जीव का भ्रम बतला कर इस समस्या को हल करने का प्रयत्न करते है। उनका प्रयत्न भी उतना ही निष्फल होता है जितना निराकारवादियो का। यदि एक बार यह स्वीकार कर लिया जाय कि निराकार भी भगवान् का एक रूप है तो उसे किसी भी युक्ति से मायिक नही सिद्ध किया जा सकता। भगवान् के सविशेष रूप को उनका रूप मान कर फिर उसे मायिक नही कहा जा सकता, क्योकि जैसा पहले कहा जा चुका है, सत्य के साथ असत्य का अथवा चित् के साथ जड का सबध नही हो सकता।

भगवान् के रूप को ठीक प्रकार से निश्चित करने के लिए दो बातो को विशेष रूप से ध्यान में रखने की आवश्यकता है। एक तो साधारण बुद्धि की क्षमता और दूसरे भगवान् की पूर्णता। भगवान् की पूर्णता तो साकारवादी और निराकारवादी दोनो ही स्वीकार करते है, पर जिस बुद्धि से भगवान् के रूप का निर्णय किया जाता है उसकी कमजोरी दोनो में से कोई भी ठीक-ठीक स्वीकार नही करना चाहता। यद्यपि वेद बार-बार कहते है कि भगवान् साधारण बुद्धि की पहुँच से बाहर है और भारतवर्ष के अधिकाश तत्ववेत्तागण तथा बहुत से पाश्चात्य दार्शनिक एक प्रकार से इस बात को स्वीकार भी करते है, परतु फिर भी उनका यह विश्वास मालूम पडता है कि कम से कम भगवान् के सबध मे कुछ प्रश्नो का उत्तर हमारी साधारण बुद्धि की सहायता से अवश्य दिया जा सकता है। 'भगवान् साकार है या निराकार', 'एक है या अनेक', 'ससार से पृथक् है या अपृथक्' इन प्रश्नो को साधारण बुद्धि बगैर किसी कठिनाई के हल कर सकती है। 'भगवान् की पूर्णता और उनके रूप को निर्धारित करने की हमारी साधारण बुद्धि में क्षमता' इन दोनो बातो पर पूर्ण रूप से विश्वास कर हम भगवान् का रूप निर्णय करने का प्रयत्न करते है, परतु जब विचारो के सघर्ष मे एक विश्वास की दूसरे पर जबरदस्त ठेस लगती है, जब बुद्धि अन्य पदार्थों की भाँति भगवान् को भी अपने साँचे में ढाल कर उसे एक विशिष्ट रूप देने का प्रयत्न करती है और भगवान् का रूप बुद्धि के सीमित और सकीर्ण साँचे में पूर्णतया नही समाता, तब स्वाभिमान के कारण अपनी बुद्धि की कमजोरी स्वीकार न कर भगवान् के रूप में काट-छाँट करने का प्रयत्न करते है।[1] यदि वह साकार रूप को स्वीकार करते है तो निराकार को अस्वीकार करना पडता है और निराकार को स्वीकार करते है तो साकार को अस्वीकार कर देते है। उनकी तुलना प्राचीन ग्रीस के एक विख्यात डाकू 'प्राक्रस्तस' से की जा सकती है। उसका

1. हस्त पद मुख मोर नाहिक लोचन। एई मत वेदे मोर करे विडंबन ॥
काशी ते पडाय बेता प्रकाशानंद। एई बेटा करे मोर अंग खंड खंड ॥

—चै० मा० म, ३।२६-२७

नियम था कि जब कोई व्यक्ति उसके चगुल में फँस जाता तो वह उसे अपनी चारपाई पर लिटा दिया करता, यदि उसका शरीर चारपाई से लबा होता तो उसका सर काट डालता और यदि छोटा होता तो खीच-खीच कर चारपाई के बराबर कर लिया करता। इस खीचतान और काट-छाँट में बेचारे मनुष्य के प्राण निकल जाते और प्राक्रस्तस उसे उठा कर फेंक दिया करता। प्राक्रस्तस और तत्ववेत्ताओ में अंतर केवल इतना ही है कि प्राक्रस्तस उस मरे हुए मनुष्य को फेक दिया करता था, परतु तत्ववेत्ता अपने बुद्धि-कौशल से भगवान् के पूर्ण रूप की हत्या करने के पश्चात् उसके रहे-सहे कृत्रिम रूप को ही उसका वास्तविक रूप समझ कर उसकी पूजा करते है और यदि कोई विपरीत विचार वाला उसकी ओर उँगली भी उठा देता है तो इस अपमान के कारण उसका सर काटने को उद्यत रहते हैं।

भगवान् के अनत, अपार और पूर्ण रूप को समझने के लिए हमें अपनी बुद्धि की कमजोरी स्वीकार करनी होगी। साधारण बुद्धि के स्तर से थोडा ऊँचा उठना होगा। समस्त प्रकार के दुराग्रहो और काल्पनिक विचारो से मस्तिष्क को खाली करना होगा और यदि भगवान् के रूप को ग्रहण करने की कदाचित् हमारी बुद्धि में सामर्थ्य न हो तो उनकी पूर्णता की हानि न कर हमें अपनी बुद्धि को ही यथाशक्ति उनके पूर्ण रूप को ग्रहण करने के योग्य बनाना होगा। इस उद्देश्य से यदि हमें उन नियमो को भी उल्लघन करना पडे, जो हमारी बुद्धि को सर्व-प्रिय है और जिनके बगैर वह एक पग भी नही रख सकती, तो वह भी करना होगा। सभव है कि इस क्रिया में हमारी बुद्धि का कायापलट ही हो जाय। हमें इसके लिए भी तैयार रहना होगा। जब हम इतना बलिदान करने को तैयार हो जायँगे तभी भगवान् के रूप का कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे अन्यथा नही।"

श्री चैतन्य ने इस सबध में अपूर्व साहस का परिचय दिया है। उन्होने हमारी जड बुद्धि की निर्बलता स्वीकार करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि जिन साधारण नियमो पर हमारी बुद्धि निर्भर करती है उनकी सहायता से हम भगवान् के सबंध मे कुछ भी निर्णय नही कर सकते। हमारी बुद्धि का मुख्य नियम है विरोध-न्याय का पालन करना अथवा इस सिद्धात के अनुकूल चलना कि एक वस्तु में एक ही समय पर दो विरोधी नही हो सकते, परतु भगवान् नियम के आधीन नही है, उनमें अनत गुण भी एक साथ रह सकते है। वह सभी परस्पर विरोधी गुणो का एक मात्र आश्रय है[1]।

भगवान् की अनत शक्तियो में (अविचिंत्य) एक 'विरोध-भजिका' शक्ति भी है जिसका कर्त्तव्य है समस्त विरोधी गुणो का भगवान् के रूप में सुदर समावेश करना। निम्नोक्त कारिकाओ में इसी शक्ति का सुदर उल्लेख है—

"विरोधभंजिका शक्ति युक्तस्य सच्चिदात्मनः।
वर्तंते युगपद्धर्माः परस्पर विरोधिन.॥
सरूपत्वमरूपत्वं विभुत्वं मूर्तिरेव च।
निर्लेपत्वं कृपावत्वमजत्व जायमानता॥
सर्वाराध्यत्वं गोपत्व सर्वज्ञं नरभावता।
सविशेषत्व संपत्तिस्तया च निर्विशेषता॥
सीमाभावयुक्तियुक्तानामसीमत्व वस्तुनि।
तर्को हि विकलस्तस्माच्छ्रुत्याम्नाये फलप्रदा॥"

१ आमि जेछे परस्पर विरुद्ध धर्माश्रय।
राधा प्रेम मेछे सदा विरुद्ध धर्ममय॥
—चै० च०, आ ६।१२३

और देखिये सर्वसंवादिनी, पृष्ठ ६५।

अर्थात्, सच्चिदानद स्वरूप श्री भगवान् मे 'अविचिंत्य विरोध-भजिका' नाम की एक शक्ति है, जिसके बल से भगवान् मे समस्त विरोधी गुण अविरोध रूप से वर्तमान है। सरूपता और अरूपता, विभुता और श्री विग्रह, निर्लेपता और भक्त-कृपालुता, अजत्व और जन्मवत्व, सर्वाराधत्व और गोपनशीलता, सविशेषत्व और निर्विशेषत्व इत्यादि अनेक विरोधी धर्म भगवान् में सुदर रूप से रह कर अपना कार्य करते है। इस विषय में जो तर्क करते है वह सत्य से वचित रह जाते है, क्योकि नर सीमाविशिष्ट है और सत्य वस्तु असीम। भाग्यवान् व्यक्ति शुद्ध तर्क का परित्याग कर 'आप्त वाक्यो पर ही विश्वास करते है।

इस शक्ति के कारण ही भगवान् पूर्ण है और इसके अभाव के कारण जीव तथा समस्त जड पदार्थ अपूर्ण है। भगवान् की भगवत्ता इसी मे है कि उनके लिये असभव भी सभव है और असगत भी सगत है तथा जीव की क्षुद्रता इसी मे है कि उसकी शक्ति सीमाबद्ध है और उसमें किसी एक गुण के होते हुए उसके विपरीत गुण के लिये स्थान नही रहता। भगवान् सर्वव्यापक होते हुए भी एक स्थान में विशिष्ट रूप से स्थित रह सकते है। जीव एक समय पर एक से अधिक स्थानो में निवास नही कर सकता। जीव तथा अन्य जागतिक् वस्तुओ का एक समय में एक ही रूप होता है, परतु भगवान् एक ही समय अनत रूप धारण कर सकते है। आजकल के कुछ पाश्चात्य दार्शनिक तो जागतिक् वस्तुओ के बारे में भी यह सिद्ध करते है कि प्रत्येक वस्तु के अनत रूप है, जिनका पृथक्-पृथक् दशा में तथा पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से अनुभव होता है। जब जागतिक् वस्तुओ के बारे मे इस प्रकार की कल्पना की जा सकती है तब भगवान् निराकार, निर्विकार, निष्क्रिय तथा सत्तामात्र होते हुए भी सर्वशक्तिमान् अनत क्रीडा-कौतुक-पूर्ण चिन्मय विग्रह के रूप में देवकी आदि के गर्भ से जन्म लेकर लीला करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

भगवान् देश-कालादि से परिच्छिन्न प्रतीत होने पर भी देशकालादि से परिच्छिन्न नही है। देहधारी होकर भी मनुष्य के समान सीमित और जडभावापन्न नही है। जो असीम शक्ति उनके महान् स्वरूप में है, वही असीम शक्ति उनके खड-रूप से प्रतीत होने वाले छोटे शरीर में भी है। ब्रह्माड में वह जिस 'पूर्णात्पूर्णतर' रूप में विराजमान है, एक परमाणु में भी उसी प्रकार पूर्णतर रूप से विराजमान है। ईशावास्यादि उपनिषदो के इस शाति-मत्र से भी यही बात सिद्ध है—

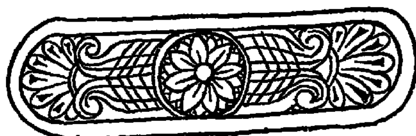
"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

आजकल के प्रमुख गणितज्ञ गणित-शास्त्र-द्वारा इसी बात को सिद्ध करते है। 'आस्पेन्स्की' ने अपनी पुस्तक Tertium organum मे अनत सख्याओ की गणित Mathematics of Trans-Infinite Numbers पर जिसे वह यथार्थ गणित Real Mathematics के नामसे पुकारते है, प्रकाश डालते हुए कहा है कि अनत सख्याओ में यह विशेषता है कि उन्हें घटाइये-बढाइये अथवा उनका गुणन या भाग कीजिये, उनमें उसी प्रकार परिवर्तन होता रहता है और फिर भी वह उतनी की उतनी ही बनी रहती है। जिस प्रकार शून्य कोई मात्रा नही है, उसी प्रकार अगणित सख्या अथवा अनत भी कोई मात्रा नही है। शुन्य जिस प्रकार मात्रा के अभाव का चिन्ह है, उसी प्रकार अनत उस अविराम सत्ता Continuity of Existence का चिन्ह है, जिसे सीमाबद्ध करने के लिये हमें कल्पनात्मक रूप से स्वतत्र हिस्सोमें विभाजित करने की आवश्यकता पड़ती है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'आइन्स्टीन' (Ainstien) ने यह सिद्ध किया है कि ज्ञान के विभिन्न स्थल और विभिन्न दृष्टिकोण (Standards of Reference) होते है। जो बात एक स्थल पर असभव जान पडती है, वही दूसरे स्थल पर बिल्कुल सभव हो सकती है। मि० 'हिंटन' (Mr. Hinton) ने भी अपनी पुस्तक Scientific Romances मे कई सुदर उदाहरण देकर विस्तार सहित इस सिद्धांत को समझाने का प्रयत्न किया है।

मान लीजिए कि एक जीव-सूची (Microbe) केवल दो परिमाणोकी दुनियाँ (Two Dimensional World) में रहता है, अर्थात् उसे एक कागज के सफे पर रख दीजिये और कागज के बीच में एक कार्डबोर्ड खडा कर दीजिये। जीव-सूची को कार्डबोर्ड की तरफ आने दीजिये। जब वह कार्डबोर्ड तक पहुँच जायगा, तब वह अनेक चेष्टा करने पर भी न समझ पायेगा कि उसका रास्ता क्यो और किस प्रकार बद हुआ, क्योकि उसे ऊँचाई का कोई ज्ञान नही है। उसके लिये यह एक बहुत आश्चर्यजनक घटना होगी और इस स्थान से आगे बढना उसे असभव जान पडेगा। यदि उसे कार्डबोर्ड से ऊँचा उठा कर कार्डबोर्ड के दूसरी ओर रख दिया जाय तो ऊँचे उठते समय उसे एक प्रकार का विचित्र अनुभव होगा और दूसरी तरफ पहुँच कर वह फिर विस्मय में पड जायगा कि यह सब कैसे हुआ! यदि उसे ऊँचाई का ज्ञान होता तो यह बात साधारण प्रतीत होती, जो बात दो परिमाणो की दुनियाँ में असभव थी वही तीन परिमाणो की दुनिया में बिलकुल सभव हो गई। इसी प्रकार बहुत सी बातें जो तीन परिमाण की दुनियाँ मे असभव है तीन से अधिक परिमाण की दुनियाँ में सभव हो सकती है। जो बातें वर्तमान में असभव है और आज की अवस्था में हमारे ज्ञान की सीमा के बाहर है, उन्हे दर्शन-शास्त्र के मूल-सिद्धातो से तथा बीसवी शताब्दी के विज्ञान की नवीन प्रगति से परिचय रखने वाले लोग मनुष्य के मस्तिष्क की कल्पना-मात्र कह कर नही टाल दे सकते, क्योकि वे बल अपने से अधिक परिमाण के ज्ञान से पूर्ण सभव हो सकती है। 'पाल केरस' (Paul Carus) के अनुसार उस ज्ञानस्थल पर वर्गाकार वृत्त (Squared circle) तथा वृत्ताकार सीधी रेखा भी हो सकती है। वहाँ १ तथा २ भी सभव है और २,२ तथा २ भी सभव है। इस सबध में आजकल के वैज्ञानिक गणितज्ञ, दार्शनिक तथा रहस्यवादी सब एक ही भाषा का प्रयोग करते हुए जान पडते है।

यदि अपने ज्ञान-स्थल से एक ही परिमाण ऊपर उठने पर हमें इस प्रकार की असभव बातें सभव प्रतीत होती है तो भगवान् के विषय मे जो अनत प्रकार से पूर्ण होने के कारण अनत परिमाण-युक्त है क्या-क्या बातें सभव हो सकती है, उनकी तो हमारे लिये कल्पना करना भी असभव है। इसलिये यदि भगवान् के सबध में कोई बात असभव अथवा विरोधात्मक जान पडती हो तो हमें उसे अपनी बुद्धि का ही दोष समझना चाहिये। यही भगवद्-ज्ञान-प्राप्त करने की पहली सीढी है। इसे पार करते ही हमारी भगवद्-रूप-सबधी समस्याओ का तथा अनेक प्रकार के वितडावादो का अपने आप ही अत हो जायगा, परतु जब तक हम भस्मासुर की तरह भगवान् के दिये हुए बुद्धि-रूपी मत्र को उनके ही ऊपर चला कर उनके रूप में मनमानी काट-छाँट कर उन्हें अपनी बुद्धि के नियमो के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते रहेंगे हमें भगवद्-ज्ञान का तुच्छ आभास भी प्राप्त न हो सकेगा।



श्री निंबार्क-संप्रदाय के हिंदी कवि

श्री सत्येंद्र

श्री निंबार्काचार्य जी का प्रादुर्भाव संभवतः ग्यारहवीं शती विक्रमी में हुआ। निंबार्काचार्य जी वैष्णव-संप्रदाय में द्वैताद्वैत-सिद्धांत-दर्शन का आधार प्रस्तुत करने वाले हैं। ये कहा जाता है कि जिस सिद्धांत को लेकर निंबार्काचार्य जी का मत प्रवर्तित हुआ उसकी परंपरा निंबार्काचार्य जी से बहुत पहिले से चली आ रही थी। कुछ लोग तो इसे पाँच सहस्र वर्ष प्राचीन मानते हैं। जो भी हो द्वैताद्वैत के सिद्धांत पर निंबार्काचार्य जी ने उस वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया जिसमें राधा और कृष्ण का साथ-साथ समभाव से ध्यान और स्मरण किया जाता है। निंबार्काचार्य जी ने 'राधा और कृष्ण' के जिस स्वरूप की उपासना स्वीकृत की वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

"स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेष कल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहांगिन ब्रह्मपर वरेण्यं ध्यायेम कृष्ण कमलेक्षण हरिम्॥
अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥"

यदि उपर्युक्त वचन श्री निंबार्काचार्य जी के हैं तो राधा और कृष्ण का इस प्रकार का संयोग, ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से कृष्ण-राधा के पूर्णत पल्लवित होने के उपरांत ११वीं—१२वीं शती ई० में ही हो सकता है। हमें यहाँ श्री निंबार्काचार्य जी के समय का निरूपण नहीं करना, हमें तो केवल यह जानना है कि वैष्णव-धर्म की प्रधान चार शाखाओं में से जो श्री निंबार्काचार्य जी वाली शाखा थी, उस शाखा ने भी राधा और कृष्ण को इष्ट मान कर हिंदी में ब्रजभाषा-साहित्य का निर्माण किया और वल्लभ-संप्रदाय के जैसे कितने ही उच्चकोटि के कवि प्रदान किए। यों तो 'गीत गोविंद' के प्रसिद्ध कवि जयदेव को भी कुछ महानुभाव निंबार्क-संप्रदाय का मानते हैं, किंतु एक तो उनकी रचनाएँ संस्कृत में हैं और दूसरे इनकी सांप्रदायिक-आस्था संदिग्ध है, इसलिए इस संप्रदाय के सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध भक्त 'श्रीभट्ट' जी को ही इस संप्रदाय का सबसे पहला हिंदी का 'महाकवि' माना जा सकता है। श्रीभट्ट जी ने 'युगल-शतक' लिखा। इस 'युगल-शतक' का साधारणत यह क्रम है कि पहिले एक दोहा है और बाद में दोहे के भाव को पद में विस्तृत किया गया है। श्रीभट्ट जी इस संप्रदाय के प्रथम ब्रज-भाषा कवि हैं और 'युगल-शतक' के द्वारा उन्होंने इस संप्रदाय के सिद्धांतानुकूल वृंदावन और राधा-कृष्ण की माधुर्य-पूर्ण सरस रागानुगाभक्ति का स्वरूप खड़ा किया है। इसीलिए इस 'युगल-शतक' को संप्रदाय में 'आदि वाणी' कहा जाता है। सैद्धांतिक दृष्टि से युगल-स्वरूप राधा-कृष्ण ही इष्ट होने से इस संप्रदाय के समस्त कवियों का क्षेत्र विषय की दृष्टि से बहुत संकुचित हो गया है। कृष्ण की, बाल्य-काल से अंत-समय तक की लीलाओं के विस्तृत क्षेत्र में से यह संप्रदाय केवल राधा और कृष्ण के संयोग-संबंधी 'शृंगार रस' से ही अपनी रचनाएँ अभिमंडित कर सकता है, वियोग तक को इसमें कोई स्थान नहीं है, किंतु इस संप्रदाय के कवियों को शब्दों की मधुरता का वरदान मिला हुआ है। इसका आभास हमें श्रीभट्ट जी के 'युगल-शतक' को देखने से ही मिल जाता है। इस एक उदाहरण को लीजिए, राधा और कृष्ण मुकुर (दर्पण) में अपनी छवि देख रहे हैं। श्रीभट्ट जी ने कैसी तन्मयता से कुशल चित्रकार की भाँति एक सजीव गति-मत शब्द-चित्र उतार दिया है—

"सुकर मुकुर निरखत दोऊ, मुख-ससि नैंन-चकोर।
गौर-स्यांम अभिरांम अति, छबि न फबी कछु थोर ॥
गौर-स्यांम, अभिरांम बिराजें।
अति उमग अँग-अंग भरे रँग, सुकर मुकुर निरखत नहिं त्याजें ॥
गंड सो गंड बाहु-ग्रीवा मिलि, प्रतिबिंबित तन उपमा लाजें।
नैंन-चकोर बिलोकि बदन-ससि, आँनद-सिंधु मगँन भए भ्राजें ॥
नील निचोल, पीत पट के तट, मोहन मुकट मनोहर राजें।
घटा छटा आखंडल कोदंड, दोउ तन एक बेस छबि छाजें ॥
गावत सहित मिलत गति प्यारी, मोहन मुख मुरली सुर बाजें।
'श्रीभट' अटकि परे दंपति-दृग, मूरति. मनहुँ एकही साजें ॥"

इस प्रकार श्रीभट्ट जी ने 'युगल-शतक' के द्वारा अपने सम्प्रदाय के कवियो के लिए विषय और भाव के क्षेत्र का ही निर्देश नही किया, काव्य के रूप-सौंदर्य और शब्द तथा स्वर-माधुर्य का भी आदर्श प्रस्तुत किया। इसी परिपाटी को प्रस्तुत करते हुए श्रीभट्ट जी के शिष्य श्री निंबार्क सम्प्रदाय की आचार्य-गद्दी की इकतीसवी पीढी के अधिकारी श्री 'हरिव्यास देव' जी ने 'महावाणी' की रचना की। श्री हरिव्यास जी के सबंध में 'नाभादास' जी ने 'भक्तमाल' मे यह छप्पय लिखा है—

"खेचर नर की सिष्य, निपट यहै अचरज आवै।
बिदित बात संसार संत-मुख कीरति गावै ॥
बैरागिन के बृंद, रहत सँग स्यांम सनेही।
ज्यो आगें वर मध्य मनो सोभित बैदेही ॥
'हरिव्यास' तेज हरि-भजन बल, देवी कौं दीच्छा दई।
'श्रीभट्ट'-चरन-रज-परसि कैं, सकल सृष्टि जाकी नई ॥"

इससे यह सिद्ध है कि 'भक्तमाल' की रचना के समय तक श्री 'हरिव्यास' देव जी का यश भली प्रकार व्याप्त हो चुका था। यो तो वैष्णव धर्म का ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी से आरंभ होने वाला, यह तृतीय पुनुराहरण शकर के मायावाद के विरुद्ध था, किंतु उसी के साथ उसे शाक्त-तत्वो का भी विरोध इस काल के भक्त-सम्प्रदायो को, विशेषत उनके उत्तर-भारतीय रूपातरो को करना पड़ा था। हरिव्यास जी के जीवन में भी यह चमत्कार समाविष्ट है कि उन्होने देवी को वैष्णव बना लिया। साधारण दृष्टि से इसका अर्थ यही होगा कि समस्त शाक्त गाँव को हरिव्यास जी ने वैष्णव बना लिया। जो भी हो, ये श्री हरिव्यास देव जी निंवार्क-सम्प्रदाय में अत्यन्त प्रतिभाशाली आचार्य हुए। यही कारण है कि इनके शिष्यो की परपरा अलग हो 'हरिव्यासी-सम्प्रदाय' के नाम से अभिहित होने लगी। इस सम्प्रदाय का आधार-ग्रंथ यही 'महावाणी' है। इस 'महावाणी' में पाँच सन्दार्य हैं, जिन्हें 'सुख' कहा गया है। इनमें सेवा, उत्सव, सुरत, सहज और सिद्धात सुखो का काव्यमय विव-रण है। कुछ विद्वानो का विचार है कि यह 'महावाणी' वह भाष्य है जिसे 'हरिव्यास देव' जी ने अपने गुरु श्री श्रीभट्ट जी की आज्ञा से उनके 'युगल-शतक' पर लिखा था, किंतु 'श्री निंबार्क-माधुरी' के सपादक 'ब्रह्मचारी विहारी शरण' के मतानुसार यह 'महावाणी' कई एक विषयो में 'जुगल-शतक' से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र है।" 'युगल-शतक' की रचना में व्रज एव निम्न-रस का मिश्रण रूप से वर्णन है, पर महावाणी में शुद्ध नित्य विहार-रस वर्णित है।" महावाणी में दोहा और उसकी व्याख्या प्रणाली को अपनाया गया है, जो प्रणाली 'युगल-शतक' में है। आरम्भ में दोहा और उसकी व्याख्या की भाँति पद। इन पदो में हरिव्यास जी ने अपनी छाप 'हरिप्रिया' रखी है। हरिव्यास जी के पदो में भाव-सौंदर्य तो इसलिए मिलता है कि कवि सौंदर्य का मूर्त रूप अपनी कल्पना के द्वारा प्रत्यक्ष देखता है और उसी के अनुकूल उस रूप को शब्दो में उतारने के लिए उसे अपनी रचना में गढ़-

सौंदर्य भी समाविष्ट करना पड़ा है, किंतु भाव और शब्द-सौंदर्य से भी अधिक हरिव्यास जी की रचनाओं में नाद-सौंदर्य मिलता है। रस-मंजरी श्री राधिकाजी के इस वर्णन को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है—

"जै श्रीराधा रसिक रस-मंजरि प्रिय सिर-मौर।
रहसि रसिकिनीं सखी सब, वृंदावन रस-ठौर॥
जयति जै राधिका रसिक रस-मंजरी, रसिक सिरमौर मोंहन विराजै।
रसिकिनी रहसि रस-धाम वृंदा-विपिन, रसिक-रस-रसी सहचरि समाजै॥
रसिक रस-प्रेम-सिंगार-रंग रँगि रहे, रूप आगार सुखसार साजै।
मधुर माधुर्य सौंदर्यतावर्य पैं, कोटि कोटि ऐस्वर्य की कला लाजैं॥
नित्य नव नायिका, नित्य सुख-दायिका, नित्य नव कुंज में नित्य राजै।
नित्य नव केलि, नव नित्य नायक नवल, नित्य नव निपुनता भव्य भ्राजै॥
कसिव कौसेय कोमल कँमल कँनक-द्युति, चिकुर मेचक मुरित छुरित छाजै॥
दिव्य आभूखनाभूषिता भाँनुनी, अदभुतानंददा जै सदा जै।
चंचला लोचनी, चातुरा चित-हरा, चारुभा-चंद्रिका चंद्रिका जै॥
सच्चिदानंद की सिद्धिदा सक्तिदा, स्याँमा सुधाँमा सुधादा सुभा जै।
चातिकी कृष्ण की, स्वाँति की वारिदा, वारिधा रूप-गुन-गर्विता जै॥
मदन-मद-मोचिनी, रोचिनी रति-कला, रतन-मनि-कुंडला जगमगा जै।
प्राँन प्रियतम प्रिया, प्रियतमा, प्रेयसी, पद-पदमपांसु पावनकरा जै।
परम रस-राखिनी, कराखिनी-चित्त-प्रिय, नित्य हिय-हरखिनी श्रीहरिप्रिया जै।

हरिव्यास देव जी ने भाषा अथवा व्रज-भाषा में केवल यही ग्रंथ लिखा है। इसके अतिरिक्त पाँच ग्रंथ और हैं, जो संस्कृत मे हैं। श्री हरिव्यास देव जी के शिष्यो मे से तीन शिष्यो का नाम हिंदी-साहित्य की दृष्टि से विशेष स्मरणीय है। एक श्री 'परशुराम' देव जी, दूसरे श्री 'रूपरसिक' जी, तीसरे श्री 'तत्ववेत्ता' जी। श्री परशुराम देव जी के संबंध में श्री नाभादास जी ने लिखा है—

"जंगली देस के लोग सब, श्री परसुराम किय पारषद।"

❀

ज्यो चंदन कौ पवन, निंब पुनि चंदन करई।
बहुत काल तम-निबिड़, उदै दीपक ज्यो हरई॥
श्रीभट पुनि हरिव्यास, संत मारग अनुसरई।
कथा, कीरतन, नेंम, रसँन हरि गुन उच्चरई॥
गोविंद-भक्ति-गद-रोग गति, तिलक-दाँम सद वैद हद॥
जंगली देस के लोग सब, श्री परसुराम किय पारषद॥"

इनके जीवन के संबंध में इतना ही विदित है कि ये जयपुर राज्य के किसी ग्राम्य में पंच-गौड ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न हुए और श्री हरिव्यासदेव जी के शिष्य हुए। परशुराम देव जी ने 'परशुराम-सागर' नामक एक वृहद् ग्रंथ लिखा। यह अभी तक अप्रकाशित है। श्री विहारी शरण जी के अनुसार इस ग्रंथ मे २२०० दोहे, छप्पय, छंद और हजारो पद हैं। इस संप्रदाय में यह पहिले कवि हैं जिन्होने राधा और कृष्ण की शोभा, शृंगार और स्तुति के अतिरिक्त प्रेम, वैराग्य, सतसंग, गुरु-निष्ठा आदि पर भी पर्याप्त लिखा है। इनके दोहो में कहीं-कहीं कबीर की-सी झलक दिखाई पड़ती है। यद्यपि भाषा मे कबीर से अधिक मार्दव है। यह झलक भी गुरु तथा साधु-संबंधी वर्णनों में विशेष मिलती है। इनके पदों में राधा और कृष्ण-संबंधी शृंगार-माधुर्य-विषयक मुग्धता और नम्र-

यता नही है। इनमे विनय का भाव विशेष है और इस विनय के अतर्गत वैराग्य अथवा समर्पण की प्रेरणा है। उदाहरण के लिए इनका ऐसा ही एक यह पद है—

"मेरी तुम ही कौं सब लाज बडाई।
ज्यो जानो त्योहीं त्यो राखौ, अपनौ करि आपन हरि राई॥
करम उपाइ बौहौत करि देखे, मति निरकलप तृपति नहि आई।
हरी-कल्प-तरुवर की छायाँ-बिन, कबहूँ मन कल्पना न जाई॥
दीनानाथ, अनाथ निवाजन, कृपँन-पाल गोपाल कँन्हाई।
परम पवित्र, पतित पावन प्रभु, अधम उधारँन बिरद सदाई॥
पाप-हरँन, त्रैताप निवारँन, असरँन-सरँन बड़ी सरनाई।
अब न तजो तन, मन ह्वै भजि हौ, हरि-अमृत-निधि प्यासै पाई॥
श्री गुरु कही, सुनी मैं नीकैं, कीरति प्रगटि सकल धरि छाई।
सेस आदि निगमादि सु महिमाँ, भव बिरचि उर-धरि मुख गाई॥
दीनदयाल, कृपाल, कृपानिधि, हरि दुख-हरँन सकल सुखदाई।
लै निबहँन को 'परसुराम' प्रभु, तुम बिन कोउ सूझै न सहाई॥"

श्रीरूपरसिक देव जी को दक्षिणी पच द्रविड-ब्राह्मण कुलोत्पन्न माना जाता है। ३६ वर्ष की अवस्था में मथुरा में इन्होंने श्री हरिव्यास देव जी का शिष्यत्व स्वीकार किया, किंतु यह जनश्रुति है कि श्री रूपरसिक जी जब हरिव्यास देव जी का शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए मथुरा पहुँचे तो वहाँ विदित हुआ कि हरिव्यास जी की मृत्यु हो चुकी है, किंतु इन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक आचार्य हरिव्यास जी के दर्शन नही कर लूगा कोई कार्य नही करूँगा। यह विश्वास किया जाता है, कि इनकी इस प्रतिज्ञा के कारण श्री हरिव्यास जी को प्रकट होना पडा और इन्हें विधि-पूर्वक मंत्र-दीक्षा देने के उपरात उन्होंने अपना दिव्य स्वरूप लुप्त किया। इसके उपरात 'रूपरसिक देव' जी का संमान इस सप्रदाय में विशेष हुआ। रूपरसिक देव जी ने तीन काव्य-ग्रथ लिखे। एक 'बृहदोत्सव मणिमाल', दूसरा 'हरिव्यास-यशामृत' और तीसरा 'नित्यविहार-पदावली।' इस सप्रदाय में रूपरसिक जी का जो समान है, वह अकारण नही, क्योकि इनकी रचना में माधुर्य और वही श्री है जो हरिव्यास जी में मिलती है। यही नही, काव्य-मार्दव इनमें अपने गुरु से भी अधिक मिलता है। इनकी कोई भी रचना, कोई भी पद ऐसा नही विदित होता, जिसमें कोई प्रमाद हो। जिस सौंदर्य का दर्शन इन्होंने किया है वह गतिमत सौंदर्य है। कृष्ण और वारिद का रूपक बहुत प्रचलित रूपक है, किंतु इन कवि ने 'श्यामघन' का वर्णन करने में जो एक नया सौंदर्य प्रस्तुत किया है, वह इस पद से विदित होता है-

"स्याँम-घन, उमँगि-उमँगि इत आवै।
कीट, मुकुट, कुंडल, पीतांबर, मनु दामिनि दरसावै॥
मोतिन-माल ललल उर ऊपर, मनु बग-पाँति लखावै।
मुरली-गरज मनोहर धुनि सुनि, स्रवन-मोर सचुपावै॥
हम पर कृपा करी हरि मानौं नीर-नेह-झर लावै।
'रूपरसिक' यह सोभा निरखत, तन, मन, नैंन सिरावै॥"

रास के संबंध मे भी इनका यह पद पठनीय है—

"निरखत-रास कँमल-दल-नैंन, सरद सुरैंन अति सुख-दैंन॥
श्री वृंदावन वंसीवट तट, जमुना पुलिन पवित्र।
पूरन चंद अमंद किरनि करि, रंजति रुचिर बिचित्र॥
नवल फूल फूले अनुकूले, नाना रंग सुरग।
मधुकर पुंज लुब्ध-मधु गुंजत, लिएँ संग अरधंग॥

त्रिविध पवन मन रवन सहायक, सुख-दायक सब काल।
परसत अंग अंग सचुपावत, उपजावत रस-जाल॥
हँ-हँ बिच सुचि एक-एक तन, विहरत स्यांम सुबेस।
कँनक-कँनी बिच मनहुँ नील-मनि, सोहत सुघर सुबेस॥
मध्य जुगल मन-हरँन बिराजत, छाजत छबि जु अपार।
राग-रंग बहु भाँति भेद भर, तरत रंग बिस्तार॥
नूपुर, कंकन, किंकिनि की धुनि, सुनि लज्जित कलहंस।
भुज फरकनि, तरकनि कुंचुकि कच-छु्रि जु रहे ढुरि अंस॥
कुंडल झलक, ढलक सीसनि की, भलक भाल-छवि वेत।
पलक ललक नग चलक कलक मुख वलक सँगीत स-हेत॥
पग-पटकँन, पट-झटकँन, खटकँन भूखँन नख-चटकाँनि।
लटकँन हार, भुखँन की मटकँन, अंग-अंग लटकाँनि॥
मंद हँसन, मोहन की लसँन, सु खुलँन कसँन तन-फूल।
रसँन बसँन तन सिथिल सु स्रम-कँन, किरँन सिरँन ते फूल॥
पावनि, धावनि, धरनि सुहावनि, चावनि नृत्य करंते।
गावनि, सुरहिं मिलावनि, पियहिं रिझावनि, बच उचरंते॥
बंसी बजावें, ग्राम जमावें, कल सुर अधिक चढाइ।
निकट आइ परसावें उरवर, अदभुत ताँन बढ़ाई॥
डोलँन मुकुट, सु कुंडल लोलँन, थेई-थेई बोलँन बोल।
पट झट-झोलँन, ओप अतोलँन, ढरि-ढरि देँन तँबोल॥
परसत, अरसत, सरसत तन, मन, मधुर सुधा-रस पाइ।
स्रमित जाँनि स्रम-कँन पिय पोछत, कहि रस-बँन सुहाइ॥
क्रीड़त बहु-गत रास-विलासहिं, थकित भए दोउ चंद।
'रूपरसिक' यह सोभा निरखत, बाढ़त अति आँनंद॥"

मुग्ध और तन्मय करने वाली इस रस-अभिव्यक्ति की प्रचुरता होते हुए भी रूपरसिक जी ने सिद्धात, उपदेश तथा भक्ति और नीति का वर्णन भी विविध छदो तथा दोहो में किया है।

इन्हें अपने गुरु श्री हरिव्यास जी मे अत्यत श्रद्धा थी। ये उनसे बढ कर किसी दूसरे को योग्य नही समझते थे, इन्होने लिखा है—

"रीति चलावें आपनी, है कलि की यह टेक।
बिना सरँन 'हरिब्यास' की, उपजै कहाँ विवेक॥"

यही कारण है कि इन्होने श्री 'हरिव्यास-यशामृत' नाम का ग्रथ हरिव्यास जी की स्तुति और प्रशसा से युक्त पदो में लिखा। उनकी यह प्रशसा अन्य कवियो की ईश्वर की कृपा के समकक्ष प्रतीत होती है—

"रे मन, भजि हरिव्यास उदार।
बिन हरिव्यास न जग में तेरौ, मेरौ बचँन विचार॥
माँनुस तन अति दुरलभ पायौ, काहे करत दुवार।
बेगि सँम्हारि मूढ मति बौरे, अब क्यो करत अबार॥
जो दायक दंपति-सुख-संपति, वृंदा-विपिन-विहार।
पतित-उधार-हेत जग प्रघटे, आप जुगल अवतार॥
असरँन सरँन, हरँन ससृति दुख, निराधार आधार।

भगवानी सो रग धाँम की, महा चाँनि करतार ।।
दस-दिसि-जीति भक्ति-विस्तारी, तिन्ह की कथा अपार।
कृपा-सिधु सो दीन-बधु है सगुन-निगुन-आगार ।।
श्री हरि-प्रिया अनूप रूप सो, मूरति रस सिंगार।
'रूपरसिक' भक्तेस-भूप-बिन, अँनत फजीता चार ।।"

'रूपरसिक' जी के उपरात 'तत्ववेत्ता' जी का नाम उल्लेखनीय है, तत्ववेत्ता जी भी श्री हरिव्यास जी के शिष्य थे। इनका जन्म मारवाड के जेतारेन (जयतारण) नगर के पास के किसी गाँव में छन्याती ब्राह्मण-वश में हुआ, ऐसा कहा जाता है। ये हरिद्वार में श्री हरिव्यास देव जी से मिले थे और वही श्री हरिव्यास देव जी द्वारा श्री निवार्क-सप्रदाय में दीक्षित हुए। तत्ववेत्ता जी का अपना क्षेत्र राजस्थान ही था, यही इन्होने निंबार्क-सप्रदाय की गद्दियाँ स्थापित की।

तत्ववेत्ता जी ने अधिकाशत छप्पय लिखे है, जिनमे अपने सिद्धातो का वर्णन किया है। इनकी भाषा में वह मृदुता, मधुरता और सरसता नही है, जो इस सप्रदाय के अब तक के कवियो में मिलती रही है। कारण स्पष्ट है, इनका ध्यान काव्य-सौदर्य की अपेक्षा सिद्धात के मर्म को स्पष्ट करने का विशेष रहा। उदाहरण के लिए एक छप्पय जो नीचे दिया जा रहा है, ससार के कल्याण के लिए उद्भावित विविध मार्गों का उल्लेख कर परम मार्ग की अनुभूति का सकेत करता है—

"धरम-मार्ग खग-धार, करम-मारग कछु नाहीं।
साध-मार्ग सिरताज, सिद्ध-मारग मन माहीं ।।
जोग-मार्ग जोगेंद्र, जोगि जोगेस्वर जानें।
हरि-मारग हरिराइ, वेद-भागवत बखानें ।।
'ततवेत्ता' तिहुँ लोक में, विविध मार्ग बिस्तरि रह्या।
सब मारग कौ सुमिरताँ, परम मार्ग परचै भया ।।"

इन्होने उत्सव के पद भी लिखे हैं।

हरिव्यास जी के इन तीन शिष्यो में से यद्यपि काव्य-प्रतिभा सबसे अधिक श्री रूपरसिक जी में थी, फिर भी श्री परशुराम देव जी की शिष्य परपरा ने अच्छे कवि प्रदान किए है। रूपरसिक तथा तत्ववेत्ता जी की शिष्य परपरा में भी हो सकता है कुछ अच्छे कवि हुए हो, किंतु उनके नाम और रचनाओ का अभी तक कोई पता नहीं है। परशुराम देव जी की शिष्य-परपरा मे तीसरी पीढी पर श्री 'वृंदावन देव' जी हुए। ये परशुराम देव जी के शिष्य श्री हरिवश देव जी के शिष्य श्री नारायण देव जी के शिष्य थे। श्री वृदावन देव जी के जीवन के सबंध में कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नही है, केवल इतना ही विदित है कि ये राजपूताने के किसी गौड ब्राह्मण-वश में उत्पन्न हुए। इन्होनें पद ही लिखे है, जो सग्रह रूप में श्री 'कृष्णामृत-गगा' कहा जाता है। इनके काव्य में रस की सरस लहर के साथ अलकारो की झलक भी बहुत सुदर बन पडी है। यह अलकार-सौंदर्य कवि के भावो को निखारता है। यद्यपि कभी-कभी ऐसा विदित होता है कि कवि भक्ति-भाव की रस-सरिता से निकल कर अलकारो के सँवाल-जाल मे फस गया हो, उदाहरण के लिए यह पद दिया जा सकता है—

"सुकुमार सिवार से, मरकत-तार से, कज्जल-सार से, बार-निवारि सुकावति बाला।
मार के जार, सिंगार के चौर से, एड़ी छिऐं पुनि ऐसे बिसाला ।।
स्याँम घटा ते मनो निकसे, मुख-चंद दिऐं तन दामिनि-माला।
'वृंदावन' प्रभु ओट भए लखि, पाँनि परी सुत नंद के लाला ।।"

कवि ने अपनी अलकार-प्रियता में नख-शिख का वर्णन करते हुए सूरदास जी की भाँति 'रूपकातिशयोक्ति' भी लिखी है। जिसमे यथार्थत नख-शिख न होकर 'शिख-नख' है, यथा—

देखौ, अचरज कँनक-लताचल ता पर पूरन-चंद ।
नील नलिन ता पर द्वै राजत, तिन्ह पर दोइ मिलिंद ।।
नींकें चंपकली इक सोहति, ता पर बिंबी जु दोइ ।
तिन्ह मधि दमकति बीज-दाड़िमी, तरे अंब-फल जोइ ।।
ता तर द्वै लागति अति नींकें, अरुन जु नलिन सनाल ।
तिन्ह-मधि द्वै श्रीफल भल दीसत, तिन्ह तर बेलि सिवाल ।।
ताके मूल अलौकिक बापी, बँधी कनक-सोपाँन ।
ता तर द्वै कदली, द्वै तिन्ह पर कँनक-केतकी-कली समाँन ।।
तिन्ह तर द्वै पुनि कँमल अधोमुख, तिन्ह दल पर दस इंद ।
'वृंदावन' प्रभु बनमाली, जिंहि रस सींचत गोविंद ।।

इस प्रकार वृंदावन देव जी में रस, अलकार तथा शब्द-सौंदर्य की मनोरम त्रिवेणी मिलती है। वृंदावन देव जी की शिष्य-परपरा मे कई कवि हुए है। जिनमे से प्रमुख है 'श्री गोविंद देव' जी, श्री 'बाँकावति' जी तथा श्री 'सुदर कुँवरि'।

श्री गोविंद देव जी की रचना 'जयाति चतुर्दशी' नाम से मिलती है। श्री बाँकावति जी कृष्णगढ-नरेश महाराजा 'राजसिंह' की रानी थी। कृष्णगढ का यह राज-घराना कवियो तथा कवियित्रियो के लिए बहुत प्रसिद्ध है। साधारणत यह सपूर्ण घराना 'निंबार्क-सप्रदाय' की परशुराम देव जी की शिष्य-परपरा मे सलेमाबाद की गद्दी का अनुगामी था। बाँकावति जी ने अपनी 'व्रजदासी-भागवत' में स्पष्टत अपने गुरु का नामोल्लेख किया है—

"नमो नमो गोपाल लाल, गोवरधन धारी ।
नमो नमो वृषभाँनु कुँवरि, पिय-प्राँन-पियारी ।।
नमो नमो मम गुरु प्रसिद्ध, 'वृंदावन' नामं ।
नमो नमो हरि-भक्त, रसिक जे अति अभिरामं ।।
नमो नमो श्री भागवत, कृपा-सिंधु मंगल करँन ।
दिनकर-सँमान झलमलत सो, प्रघट जगत अघतम हरँन ।।"

इन्होने भागवत के ग्यारह स्कधो का भाषा में अनुवाद किया था। यही भागवत 'व्रजदासी-भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है।

बाँकावति जी की पुत्री 'सुदरि कुँवरि' भी इसी गद्दी की शिष्या थी। चार वर्ष की अवस्था में ही 'श्री वृंदावन देव जी' से इन्होने मत्र-दीक्षा ली थी। सुदरि कुँवरि मे अपनी माता से भी कही अधिक काव्य-प्रतिभा थी। इन्हें विद्या-दान वृंदावन देव जी के पर-शिष्य 'सर्वेश्वर' जी ने दिया था, क्योकि वृंदावन देव जी, इनके शैशव-काल में ही इन्हें मत्र-दीक्षा देकर शरीर त्याग चुके थे। सुदरि कुँवरि ने स्वय ही लिखा है—

"श्री वृंदावन देव प्रभु, जिन्ह की दासि जु आप ।
लही बाल-वय में तबहिं, उदए भाग अमाप ।।
सो अब यैं दरसी प्रघट, महा भाग को ओप ।
श्री सरबेसुर सरँन प्रभु, दिए सुभेव निज गोप ।।
सुथल सलेँमाबाद की, हौं दासानुज दासि ।
जिंहि प्रभाव यैं रहसि किय, मेरे हृदैं निवासि ।।"

—मित्र-शिक्षा

श्री सुदरि कुँवरि-रचित बारह ग्रथ प्रसिद्ध है। नेह-निधि, (स० १८१७), वृंदावन-गोपी-माहात्म्य (स० १८२३), सकेत-युगल (सं० १८३०), रस-पुज (स० १८३४), प्रेम-सपुट (स०१८४५).

रंग-क्षार (सं० १८४५), गोपी-माहात्म्य (सं० १८४६), भावना-प्रकाश (सं० १८५०), राम-रहस्य (सं० १८५३), मित्र-शिक्षा (सं० १८६२) तथा फुटकल पद-रचना। इन्होंने पद तो रचे ही हैं, कवित्त, सवैया तथा कुछ अन्य छंदों का भी उपयोग किया है। दोहा छंद तो इनके स्वकुल-परंपरा की देन ही है। भाषा का माधुर्य आपके छंदों में बिखरा पड़ा है, जैसे—

"मेरी प्राँन-सँजीवन राधा।
कब तुव बदँन-सुधाधर दरसो, मो अँखियँन हरै बाधा॥
ठमकि-ठमकि लरकौंहीं चालँन, आउ साँमुहें मेरे।
रस के बचन पियूष पोषि कें, कर-गहि बैठो तेरे॥
रंग-मँहँल-संकेत सुगल करि, टहलँन करो सहेली।
आग्या लहों रहों तहँ ततपर, बोलत प्रेंम-पहेली॥
मन-मंजरी जु कीन्हो किंकर, अपनावौ किन्ह बेग।
'सुंदरि कुँवरि' स्वाँमिनी राधा, हिय कौ हरौ उदेग॥"



"मद ब्रज-बिपिन-रसासव भावै।
जुगल-रूप भरि नैंन-पियाले, छिन-छिन छाक चढ़ावै॥
निभृत नवल निकुंज बिनोदँन, स्वाद बिबिध रुचि पावै।
लगत बिभव बैंकुंठ अभावँन, तासों सीस फिरावै॥
इंद्र-लोक ठकुराइ तपावँन, मतवारिन ठुकरावै।
तीन लोक की रचना जेती, कछु न नजर में आवै॥
जमुना-पुलिन, नलिन-रज-रंजित, मत्त पछरि मुसिक्यावै।
नवल नेह मतवारी कों गहि, राधा प्राँन उठावै॥"

सवैया

"एहो सुजाँन-सिरोमँनि मोहन, क्यों मन जाँन अजाँन बने अति।
प्रीति प्रतीत रसासव वै छकि, कै हितवारी मैं हारी सबै मति॥
तापै कछू बरसात यहै नाँहि, चाहिऐ जैसें सु सोचि लई हृति।
तेरी सों तोही सो पूछति हों, कहि मेरी सो, मेरी सो मेरी कहा गति॥"

यहाँ श्री कृष्णगढ़ाधीश नागरीदास जी की पासवान 'बनीठनी जी' का भी नाम भुलाया नहीं जा सकता। आपका जन्म संवत तो नहीं, पर मृत्यु संवत १८२२ वि० आषाढ़ शुक्ला १५ बुधवार निश्चित है। यह उनकी समाधि के शिला-लेख पर उद्धृत है। बनीठनी जी की ब्रज-भाषा उतनी सुंदर तो नहीं जितनी कि कृष्णगढ़ की अन्य कवयित्रियों की है, पर उसमें भाव और राजस्थानी का मिश्रण बहुत अनूठा है, जिससे वह खिल उठी है। आप स्वामी हरिदास जी की शिष्य-परंपरा में प्रसिद्ध 'श्री रसिक दास जी' की शिष्या थीं। कविता में आपकी छाप गुरु प्रयुक्त—'रसिक बिहारी' है। जैसे—

"मन-मोहन, सोहन स्याँम, नंद-ढिठोनाँ री।
बिन देखें पल कल न परत है, मेरौ जीव लगोनाँ री॥
होरी में मो पै ठगोरी-सी डारी, हो रिझई रीझि-रिझोनाँ री।
खेलोगी मिलि 'रसिक बिहारी' सों, वा बिन खेल अलोनाँ री॥"



ए बँसुरिया वारे, ऐसें जिन्ह बतराइ रे।
यो न बोलिए अरे घर-बसे, लाजँन दबि गई हाइ रे॥

हौं धाई या गैलहिं सो रे, नेंक चल्यौ घों जाइ रे।
'रसिक बिहारी' नाम पाइकें, क्यो इतनौं इतराइ रे ॥"

इनकी रचना विशेष तो नही, जो कुछ है वह 'नागर-समुच्चय' में प्रकाशित है।

श्री गोविंद देव जी के शिष्य श्री 'गोविंद शरण देव जी' तथा शिष्या छत्रकुँवरि भी अच्छे काव्य-रचयिता हुए हैं। श्री गोविंद देव जी की रचना में शब्द और भाव दोनो का मनोरम सगम है। भावानुभूति का आधार साम्प्रदयिक रखते हुए भी आप ने उसकी सीमाएँ विस्तृत कर दी है, जिससे अवलव और आश्रय के रूप मे 'राधा-कृष्ण' कितने ही छदो और उनकी व्यजना से ग्राह्य होते हैं। गोविंद शरण देव जी की रचना में प्रवाह है और अलकारो की छटा भी। उपदेश तथा सिद्धात-सवधी रचनाओ मे यद्यपि ये उतना कला-सौष्ठव नही ला सके, पर उनमे भी प्रवाह और हलकी सरसता अवश्य मिलती है। तृष्णा पर लिखते हुए आपने मनुष्य के भ्रम-ग्रस्त उद्योगो का वर्णन इस प्रकार किया है—

"धन कौ भ्रम मन जांन, महीतल-खोदि निहारचौ।
भसँम करीं गिरि-धातु, अरथ वित काठ बिगारचौ ॥
सरिता कौ पति सिंघु, सोउ दुसतर रह्यौ भोई।
सेए बहु नरदेव, कमी राखी नहिं कोई ॥
मंत्र-साधि सार्मेन थक्यौ, हाथ-जोर ह्वौ कहत तोहिं।
मिली न कौड़ी एक अब, हे तिसनाँ, तू त्यागि मोहिं ॥"

इनके रचे पदो व कवित्त-सवैयो की सख्या बहुत अधिक है, जो इन की सलेमावाद (राजस्थान) की गद्दी में सुरक्षित है। 'वार है' की समस्यापूर्ति के रूप में इस कविता को लीजिये—

"राजै मृग-नैंनी, पिक-बैंनी, छवि-रैंनी बोरी, लचकत लक छीन कटि सोभा भार है।
बेंगनिया सारी पै किनारी जरतारी भारी, देखिकें सु भार भयौ अति सुकुमार है ॥
मानो रूप-सागर में सरस सिवार लसै, कैंधो चंद लपटांने पन्नग-कुँमार है।
कैंधौं मखतूल स्यांम मरकत के तार किधो, ठाढी फुलवारी माँहि सुखवत वार है ॥"

छत्र कुँवरि बाई उसी घराने की हैं, जिसकी सुदरि कुँवरि थी। 'प्रेम-विनोद' मे अपना परिचय देते हुए इन्होने लिखा है—

"रूप नगर नृप राजसिंघ, जिन्ह सुत नागरिदास।
तिन्हँन पुत्र जु सरदारसिंघ, ह्वो तनया मैं जास ॥
※
छत्र कुँवरि मम नाम है, कहिबे कौ जग माँहि।
प्रिया सरन दास्युत तें, ह्वो हित-चूर सदाँहि ॥"

छत्र कुँवरि की रचनाओ में काव्य-सौष्ठव अधिक है। इनमें चित्रमय वर्णन है, इनमें सहज भावुकता का स्पर्श भी है। चौपड के खेल में इस कवियित्री ने रूप-निधि में लहर उठा कर मन-मीन को कैसे कौशल से लीन किया है, यह इस रचना से विदित होगा—

"रसिक बिहारी-प्यारी खेलत खिलारी मिलि, बाढयौ रँग भारी राँचे रंग रिझवारी है।
झमकि उठाइ पाँसे, रमकि चलाइ प्रिया, रूप-निधि मानौं कर-लैंहर पसारी है ॥
ता में मन-मींन पिय लींन ह्वै कलोलत है, निकस न चाहें कैसें मौज सुखकारी है।
लंपट है नैंन आंनि पांनि-कंज-संपुट में, कढत न लोभी अलि गति मतवारी है ॥"

भावो और अलकारो का शब्द-सौष्ठव के साथ इस रचना में छत्र कुँवरि जी ने अच्छा सयोग किया है। प्रेम-विनोद की रचना-समाप्ति स० १८४५ वि० में हुई थी। यह ग्रथ बूदी राज्य की राजमाता-द्वारा सुदरि कुँवरि-कृत ग्यारह ग्रंथो के साथ प्रकाशित हो चुका है।

श्री परशुराम जी की गद्दी की शिष्य-परंपरा में 'श्री सर्वेश्वर शरण देव जी के शिष्य 'रसिक गोविंद' जी का नाम भी उल्लेखनीय है। रसिक गोविंद जी का साहित्यिक महत्व हिंदी के इतिहासकारो ने भी स्वीकार किया है। इनके नौ ग्रंथ अभी तक मिले है। वे ये है—

१, "रामायण सूचनिका"—३३ दोहों में अक्षर-क्रम से राम-कथा।

२, "रसिक गोविंदानंदघन"—सात-आठ सौ पृष्ठ का रीति-ग्रंथ।

इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व इसलिए है कि इसमे—रस, नायक-नायिका-भेद, अलंकार, गुण, दोष आदि के लक्षण तथा विस्तृत विवरण और व्याख्या 'गद्य' में है। १९वी शताब्दी की पुष्ट ब्रजभाषा-गद्य का स्वरूप इस पुस्तक मे मिलता है। यथा—

"अन्य-ग्यांन-रहित जो आनंद सो रस। प्रश्न—'अन्य-ग्यांन-रहित आनंद तौ निद्राहू है। उत्तर—'निद्रा जड़ है, यै चेतन। भरत आचार्य सूत्र-कर्त्ता कौ मत विभाव, अनुभाव, सचारी-भावके जोग ते रस की सिद्धि .... ।"

इस पुस्तक मे रसिक गोविंद जी ने सस्कृत के आचार्यों के मतो का उल्लेख विविध स्थलो पर करते हुए अपनी काव्य-गत आस्था का सुदर ढग से प्रतिपादन किया है।

३, "लछिमन-चंद्रिका"।

यह पुस्तक (स० १८८६) में किन्ही 'लछिमन कान्यकुब्ज' के अनुरोध से बनाई गयी। पुस्तक मे काव्यागो के लक्षण जो 'रसिक गोविंदानद घन' मे प्रस्तुत किये गये थे उनका ही सग्रह है।

४, "अष्टदेश-भाषा"।

ब्रजभाषा से लेकर पूर्वी तक आठ भाषाओ में राधा-कृष्ण का शृगार वर्णन।

५, "पिंगल"—छंद-शास्त्र।

६, "समय-प्रबंध"—सांप्रदायिक, श्री राधा-कृष्ण की ऋतु-चर्या।

७, "कलिजुग रासौ"—१६ कवित्तों में कलियुग-वर्णन। सं० १८६५,

८, "रसिकगोविंद-चंद्रलोक"—अलंकार-पुस्तक, स० १८९०।

९, "युगल-रस-माधुरी"—राधा-कृष्ण-विहार तथा वृंदावन-वर्णन।

इन रचनाओ के विषयो पर दृष्टिपात करने से वह कारण स्पष्ट हो जाता है, जिससे इनका साहित्य मे विशेष महत्त्व बढा। इनकी अधिकाश रचनाएँ "साहित्य-शास्त्र" से सबधित है।

रसिक गोविंद जी को भाषा पर पूर्ण अधिकार है, इसीलिए इनकी रचनाओ मे वृत्ति-अनुकूलता विशेष है। राधा-कृष्ण के वर्णनो में भी इस रीति-कालीनता का कवि पर यह प्रभाव पडा है कि उसने प्रत्येक वर्ण्य-विषय को अवर्ण्य के चमत्कार से हृदयगम कराना चाहा है। उसकी इस शैली में विहारी की झलक झिलमिला उठती है। चिबुक के नीले बिंदु का वर्णन जैसे—

"ललित चिबुक-बिच सुभग स्यांम लीला सोभित अनु।
गिरयौ गुलाब सुमनस मँझार मधु-छक्यौ मधुप जनु।।"

नासिका और बेसरि-मुक्ता पर कवि की उक्ति है—

"दीप-सिखा सी नाक, मुक्त पर भुज-ढिग डोलै।
मनो चंद की गोद, चंद कौ कुँमर किलोलै।।"

कपोलो की गाढ और उसके तिल को देखिए—

"हँसत कपोलँन गाढ परत, पुनि इक तिल स्यांमल।
मनौं सुधा-सर-मध्य, खिल्यौ इक नील-कँमल कल।।"

कानो के तरौनाओ में जो सौंदर्य कवि ने प्रस्तुत किया है, वह तो अद्वितीय है—

"मुकुर-कपोलँन स्तुति-भूषँन, प्रतिबिंब सुहाए।
अँमल-कँमल बर बदँन, अलक-अलि कौतुक आए।।"

"करैंन-तरौंनी तरल, झलमलत नीलांचल में।
परचौ प्रात प्रतिबिंब-भाँनु जनु जमुना-जल में॥"[१]

अनूठी उक्तियों और अलकारो की छटा कवि ने पद-पद पर प्रस्तुत की है—

"नीलांबर-मधि गौर-वदंन, सोभित स-विलासा।
जनु पावस-घँन-घीर, सरद ससि कियौ प्रकासा॥"

उपरोक्त उदाहरण कवि की कृति 'युगल-रस-माधुरी' के हैं।

यहाँ तक 'निंबार्क-संप्रदाय' की उस शाखा के कवियों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है जो "हरि व्यासी" कहलाता है। ये समस्त कवि श्री "हरिव्यास देव" जी की शिष्य-परंपरा में हैं।

निंबार्क-संप्रदाय की एक 'दूसरी शाखा' भी है जिसे "हरिदासी" कहते हैं। श्री हरिदासजी स्वामी से हिंदी-प्रेमी ऐसा कौन है जो परिचित न होगा। इनकी तुलना का 'संगीतज्ञ' दूसरा नही मिलना[२]। हरिदास जी भी निंबार्क संप्रदाय के हैं। इनकी एक दीर्घ शिष्य-परंपरा है और इस परंपरा में भी अनेक उच्चकोटि के कवि हुए हैं।

श्री स्वामी हरिदास जी के संबंध में यह विख्यात है कि ये वृंदावन के पास 'राजपुर' नामक गाँव मे उत्पन्न हुए थे। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम 'चित्रा देवी' और पिता का नाम 'गंगाधर' था। पच्चीस वर्ष की अवस्था मे इन्हें वैराग्य हुआ, तभी संभवत ये श्री आशुधीर जी से दीक्षा लेकर निंबार्क-संप्रदाय में प्रविष्ट हुए। ये प्रतिभाशाली महात्मा थे। अत इनका अपना अलग ही "हरिदासी"—संप्रदाय चल निकला, जो आगे चल कर "ललित किशोर देव" जी के समय मे "टट्टी-संप्रदाय" भी कहा जाने लगा। श्री राधा-कृष्ण-भक्ति की तन्मयता की चरमावस्था श्री हरिदास जी में मिलती है। यही कारण है कि इनके भाव और शब्दो की कोमल सार्थक संयोजना उत्कृष्ट संगीतिता से युक्त होकर मन और शरीर को ही नही प्रकृति के अणु-अणु को विमोहित करने वाली प्रतीत होती है। अस्तु इनके विषय मे नाभादास जी ने लिखा है—

"जुगल-नाम सो नेंम, जपत नित कुंज-बिहारी।
अवलोकत रस-केलि, सखी-सुख के अधिकारी॥

[१] यहाँ विविध कवियो के नीचे लिखे दोहे बरबस अपनी याद दिला रहे हैं, जैसे—

गोरे मुख पै 'तिल' लसत, ताहि करौ परनाम।
रूपे के अरघा मनो, पौढे सालिगराम॥
ललित स्याँम लीला ललँन, बढी चिबुक छबि दून।
मधु-छाक्यौ मधुकर परचौ, मनो गुलाब-प्रसून॥
तिय-कपोल तिल लसँन कौ, मैं जान्यो यह हेत।
रूप-खजाँने को मनो, हबसी चौकी देत॥
तिय-कपोल अनमोल तिल, मनि-बरनत मन-मोद।
गई कहूँ धरि नागिनी, कुँवर इंदु की गोद॥
मोंती हलत बुलाक कौ, ताकौ यै तफसील।
मनौं नूर भरिपूर कौ, लटकि रही कंदील॥
छप्यौ छबीलौ मुख लसँ, नीले अंबर चीर।
मनौं कलानिधि झलमलँ, कालिंदी के नीर॥

[२]. ब्रज में दो संगीत की पाठशालाएँ थीं। एक के आचार्य थे श्री स्वामी हरिदास जी, तथा दूसरे के श्री गोविंद स्वामी। ये दोनों ही महात्मा संगीत के प्रकांड पंडित थे।

गान-कला गंधरव, स्याम-स्यामा के तोषे।
उत्तम भोग लगाइ, मोर-मरकट तिमि पोषे॥
नृपति द्वार-ठाढ़े रहें, दरसन-आसा जासु की।
आसुधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदासु की॥"

इनके सबंध में प्रसिद्ध है कि 'तानसेन' जैसा प्रसिद्ध गवैया इनका शिष्य था। 'बैजू बावरा' भी इनका शिष्य माना जाता है।

इनके रचना ग्रथ—"केलि-माला" और ""सिद्धात के पद" नाम से मिलते है। केलि-माला में 'नित्य-विहार' के १०८ पद हैं और सिद्धात-पद की सख्या १८ है। इनके अतिरिक्त भी आपने स्फुट पद-रचना और भी रची जो आज प्राप्त नही है। कभी-कभी इधर-उधर से कुछ पद प्राप्त हो जाते हैं।

श्री स्वामी हरिदास जी की रचना में—सगीत की मधुरता, चरणो की दीर्घता और मदता तथा मादक शब्दो की अल्पाक्षरी योजना से युगल श्री राधा-कृष्ण के सौदर्य और केलि-क्रीडा की उग्रता में अद्भुत सयम आ गया है। इनकी रचना 'केलि-माला' के कुछ उदाहरण जैसे—

"आज तृन-टूटत है री, ललित -त्रिभंगी पर।
चरँन चरँन पर, मुरली अधर धरें, चितवँन बंक, छबीली भ्रू पर॥
चलौ न वेगि राधिका पिय पै, जो भयौ चाहँत सरबोपर।
श्री 'हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा-कुंजबिहारी कौ समयौ नींकौ—
बन्यो री, हिलमिल केलि अटल रति भई बू पर॥"

❁

"प्यारी जू, जब-जब देखो तेरौ मुख, तब-तब नयौ-नयौ लागत।
ऐसौ संभ्रम होत मैं कबहूँ देख्यौ न री, दुति कौ दुति लेखन कागत॥
कोटि चंद तें कहा री दुराए, नए-नए रागत।
श्री 'हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा-कुंजबिहारी कहत काँम की सांति—
न होइ, न होइ, तृपति रहौ निसि-दिन जागत॥"

★

"स्याँमा प्यारी, आगें चलि-आगें चलि, गैहबर-बन-भीतर जहाँ बोलत कोइल री।
अति ही बिचित्र फूल-पत्तन की सैया रची, रुचिर सँवारी तहाँ तू सोइल री॥
छिन-छिन, पल-पल, तेरी यैही कहाँनी, तो मग जोइल री।
श्री 'हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा कहत छबीली, तू काम-रस-भोइल री॥"

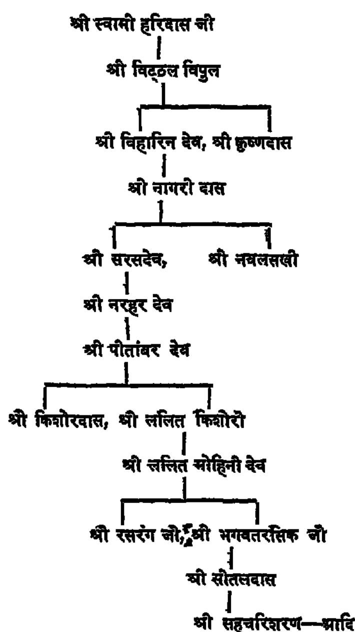
❁

"प्यारी तेरौ बदन अंमृत कौ पंक, तामें बींधे नैंन द्वै।
चित चल्यौ काढ़ँन को, बिकच संधि-संपुट में रह्यौ भ्वै॥
बौहोत उपाइ आहि री प्यारी, पै न करत स्वै।
श्री 'हरिदास' के स्वाँमी स्याँमा कुंजबिहारी, ऐसें रह्यौ ह्वै॥"

एक सिद्धात पद, जैसे—

"ज्यों हीं, ज्यो हीं तुम्ह राखत हौ, त्यों हीं, त्यो हीं रहियत हो हरि।
और तौ अचरचे पाँइ धरो, सो तौ कहौ कोन के पेंड भरि॥
जदपि हो अपनों मन भायौ कियौ चाँहो, सु तौ कैसें कर सको जो तुम्ह राखौ पकरि।
कहैं श्री 'हरिदास' पिंजरा के जिनावर लो, तरफराइ रह्यौ उडिवे को कितौक करि॥"

स्वामी जी की शिष्य-परंपरा में व्रजभाषा-कवियो की सूची इस प्रकार दी जा सकती है—



ये सभी महानुभाव उत्कृष्ट कवि हैं, पर इनमें से विशेष प्रतिभाशाली हैं—"श्री विहारिन दास, श्री सरस देव, श्री किशोरीदास, श्री भगवत रसिक, श्री सीतलदास, श्री सहचरिशरण।" इन कवियो की पुनीत प्रतिभा ने अपने विषय को साप्रदायिक-सीमाओ के रहते हुए भी चमकाया है। राधा-कृष्ण की भावमयी अवतारणा में भक्ति-विह्वल-हृदय उडेल दिया है और कल्पना के अलंकारो से सुसज्जित कर दिया है।

श्री विहारिन देव जी ने ७०० दोहा तथा पद रचे हैं, सभी रचना सिद्धात-विषयक हैं। नागरीदास जी के १०० पद प्रसिद्ध हैं। सरस देव जी के पदो में प्रवाह तथा गति है, इनकी वाणी भी 'आचार्य-वाणी' की भाँति सप्रदाय में आदृत है। एक उदाहरण से आपकी विशेषता जानी जा सकती है—

"लाल, प्रिया को सिंगार बनावत।
कोमल कर कुसुमॅन कच-गूंथत, मृग-मद-आड-रचत सुख पावत॥
अंजन मन-रंजन नख बर कर, चित्र बनाइ-बनाइ रिझावत।
सेत बनाइ, भाइ नव उपजत, रीझि रसाल माल पँहरावत॥
अति आतुर आसक्त दीन भए, चितवन कुँवरि, कुँवरि मन-भावत।
नॅनन में मुसिक्यात जात पिय, प्रॅम-बिवस हँस कंठ लगावत॥
रूप, रस सीवाँ ग्रीवा भुज, हँमन परतपर मदन बढावत।
'सरसदास' सुख निरख निहाल भए, गई निसा नव मुन-उपजावन॥"

श्री पीतांबर देव जी के रचे—"रस के पद, सिंगार के पद, श्री स्वामी हरिदासजी कृत 'केलि-माला' की टीका (गद्य), सिद्धात की साखी और सिंगार की साखी" कहे जाते है। श्री रसिक देव जी ने भी १०-११ ग्रंथ रचे। जो—"भक्त-सिद्धात-मणि, पूजा-विलास, सिद्धात के पद, रस के पद, रस-सिद्धात के पद, कुंज-कौतुक, रस-सार, गुरु-मगल-यश, बाल लीला, ध्यान लीला और वाराह संहिता" नाम से विख्यात हैं।

श्री ललित किशोरी जी ने भी चार सौ दोहा तथा पद रचे है। श्री ललित मोहिनी जी की रचना भी व्रजभाषा के पद विशेषो में मिलती हैं।

श्री किशोर दास जी ने 'निजमत-सिद्धात' नामक 'महाकाव्य' लिखा तथा एक 'सवैया-पचीसी' भी लिखी। कुछ 'पद' भी रचे। निजमत सिद्धात दोहे-चौपाइयो में लिखा गया है। श्री भगवत रसिक जी ने पद, छप्पय, कुडलिया और दोहे लिखे है, जिनमें पद-लालित्य के अतिरिक्त भाषा और भावों की की प्रचुर सरसता है। पदो में आपका निम्न पद बहुत प्रसिद्ध है—

"तेरो मुख चंद, चकोरी मेरे नैंना।
अति आतुर, अनुरागी, लंपट, भूल गई गति पलहु लगैं ना॥
अरबरात मिलवे को निसदिन, मिलेई रहैं मनो कबहुँ मिले ना।
'भगवत रसिक' रसिक की बातें, बिना रसिक, कोऊ समझि सकै ना॥"

सीतल जी ने ख्याल के ढग की रचना 'इश्क चमन' और 'गुलजार चमन' वा 'आनद चमन', 'विहार-चमन' नाम से की है, जो अनूठी है। इनकी भाषा की मादकता बडी सुदर है। भाव बेजोड है। उदाहरण जैसे—

"पंकज पर भौंरे मधु-माते, ससि पर अहि-पति की भीरें हैं।
मखतूल, नील-मनि चारु चोर, उपमा नहिं आवत नीरें हैं॥
कै बरक तिल्लई पै 'सीतल', ए खैंच दईं तहरीरें है।
या लाल बिहारी के मुख पर, क्या कहर जुल्फ-जंजीरें हैं॥"

❀

"छवि सरद-कंज पर पुन्य-पुंज, मकरंद मधुव्रत पिए हुए।
मखतूल, नील-मनि, केकी की गरदन पर दावा दिए हुए॥
लहराती चोवा चारु चुनीं, जालिम कपोल को छिए हुए।
मुख-सरद-सुधाकर में बैठी अहि-बाल मंडली किए हुए॥"

★

"कारी, सटकारी, लहरदार, छबिदार अतर से पाली हैं।
मखतूल, नील-मनि, चंचरीक, उपमा के जी में साली है॥
कर साफ अतर से मुखडे पर बेतरह पेचवाँ डाली हैं।
इस लाल बिहारी की जुल्फें मत छेड़ नागिनो काली है॥"

❀

"वेवई-कानो से कढी हुईं, देखत-ही चित में पैठीं हैं।
मोती से निकलीं उलझ रहीं, चुन्नी से मुख में ऐंठीं है॥
नीलम के तार सिवार किधौं, छबि चंचरीक की मैंठीं है।
जुल्फें इस लाल बिहारी की, मनिदार-नागिनीं बैठीं है॥"

★

"मखतूल, नीलमनि, चचरीक, सब की उपमा को मैनें हैं।
मुख-सरद चद से लगी हुईं, क्या सहम की-सी बैनें हैं॥

लहराती हुई नजर आईं, दिल में जहरो की रेलें है।
रुख़सार-हेम के थालो पर दो चढी नागिनी खेलें है।।"

❀

"मज्जन करने को जमुना पर, जानो उठ-धाया भोर कहीं।
मुख सरद-कंज-सा खिला हुआ, छूटीं जुल्फें दो ओर कहीं।।
दे पेच निचोडी लहर-भरीं, टपके मुक्ताहल-कोर कहीं।
ज्यो चंद नाग ने चूस लिया, मधु चुवा पूछ की ओर कही।।"

सीतल जी की भाषा में बल है,—ताजगी है। रूपको मे अनूठापन है और भावो मे बहार है। काव्यगत बारीकियो की खासी घुसपेंठ है।

श्री सहचरि शरण देव जी (जन्म स०—१८२९ वि०) के दो ग्रंथ—"ललित प्रकाश" और "सरस-मंजावली" प्रसिद्ध है। ये टट्टी-स्थान के अधिपति स्वामी श्री राधिका दास जी के शिष्य थे। राधिका दास जी श्री ललित मोहिनी जी के शिष्य थे। सरस-मजावली मे १४० मज (माँझ—एक प्रकार का छद विशेष) है, जो बडे सुदर है। वियोगी हरि ने 'सरस-मजावली' की रचना के विषय में लिखा है—

"इसकी रचना बड़ी-ही उच्चकोटि की है। काव्य-चमत्कार के साथ-साथ ही इसमें 'प्रेम-माधुरी' और 'रसिक-वारुणी' की एक निराली छटा और मादकता है।"

ललित-प्रकाश और सरस-मजावली दोनो ग्रथ छप चुके है। ललित प्रकाश में श्री स्वामी हरिदास जी से लेकर श्री ललित मोहिनी दास जी तक सभी गद्यस्थो—आचार्यों का सक्षिप्त वर्णन विविध छदो में किया गया है। सरस मजावली के कुछ उदाहरण यहाँ देखिये—

"दामन गहें रहें जामे का, इती अरज मुदकंदे।
दरस दिया कर, महर किया कर, महरबान हरफंदे।।
छवि-चिराग रोशन चित चहिए, 'सहचरि सरँन' अमंदे।
ऐ गरीब परवर, ग़रीब हम इन कदमों के बंदे।।"

❀

"हरदम याद किया कर हरि की, दरद निदान हरेगा।
मेरा कहा न खाली ऐ दिल, आँनदकंद ढरेगा।।
ऐसा नहीं जहाँ-बिच कोई, लगर लोग लरेगा।
'सहचरि सरँन' शेर दाँ बच्चा, क्या गजराज करेगा।।"

★

"मंद हँसन शमशेर मार, वर इश्क बलाइ मरोरे।
रसिक आशिक़ाँ-दिल तमाम गहि, सबज रंग बिच बोरें।।
झमक 'सहचरी सरँन' बिदरदाँ, जुल्फ-जाल झकझोरे।
ब्रज-बृंदावनदे - मतवाले, प्रिय मुख-चंद चकोरें।।"

❀

"समझ लिया महबूब खूब, तुम कहत बात इतराते।
ऐंडायल, अलबेले अगन बर, गुम रख हुरखाते।।
रसिक 'सहचरी सरँन' स्यॉम-रस-बस जोबन उमदाते।
आशिकान की तरफ नजर कर, नव दुलहिन मदमाते।।"

★

"जरीदार पगरी उदार, उर मुक्तमाल थहरत है।
जरद लपेटा फेंटा कटि से, गुरु गरबीली गत है।।

'सहचरि सरँन' मयंक-बदन की, मदन-मोहनी मूरत है।
छबि-सागर की छबि को बरनैं, कवि की क्या कुदरत है ॥"

इनके अतिरिक्त हिंदी के अत्यत प्रसिद्ध महाकवि 'घनानद' भी इसी सप्रदाय के थे। इनके कवित्त, सवैया और पद ब्रजभाषा-प्रेमियो के हृदय के हार है।

बिहारी शरण जी ने अपने ग्रथ—"निंबार्क-माधुरी" में महाकवि केशवदास, विद्यापति ठाकुर, महाकवि देव, महाकवि बिहारी लाल, कुलपति मिश्र तथा कृष्ण कवि के साथ-साथ रसखान, सेनापति, लाल, वृद आदि हिंदी के उच्चकोटि के प्राय सभी कवियो को इसी सप्रदाय का माना है। रसखान और विद्यापति के अतिरिक्त शेष कवियो के सबध में कहा जा सकता है कि उनके लिए सप्रदाय का निजी महत्त्व कोई भले ही रहा हो, पर उनकी रचनाएँ तो शुद्ध काव्य-प्रतिभा को अभिव्यक्त करने के लिए हुई। ये सभी कवि रीति-विषयक रचना करने वाले है।

बुदेलखंड के 'सेन', 'प्राननाथ' जी को भी स्वामी हरिदास जी की शिष्य परपरा में निंबार्क-सप्रदाय का माना जाता है, फलत. उनका—"प्रणामी" या "धामी" सप्रदाय भी निंबार्क-सप्रदाय के अन्तर्गत आ जाता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि श्री निंबार्क-सप्रदाय की देन हिंदी-साहित्य के लिए अत्यत महत्त्व-पूर्ण है।[१]

[१] यह निबंध मुख्यतः श्री बिहारीशरणजी लिखित—"श्री निंबार्क-माधुरी" नाम की पुस्तक के आधार पर लिखा गया है। इस संप्रदाय के कवियों का अधिकांश साहित्य अप्रकाशित है और अधिकांश कवियो के नाम तक हिंदी-साहित्य के इतिहासकार नहीं जानते हैं। इस दृष्टि से बिहारीशरणजी का यह उद्योग प्रशसनीय है। ब्रज के अन्य संप्रदायों पर भी ऐसी पुस्तकें प्रकाशित होने की आवश्यकता है।



रासपंचाध्यायी : भागवत

श्री गोविंदलाल हरगोविंद भट्ट

श्रीमद्भागवत भगवान् का शब्दात्मक रूप है और "दशम स्कंध" उनका हृदय। कुछ लोगो के मतानुसार दशम स्कंध भगवान् का मुख भी माना जाता है। श्री 'वल्लभाचार्य' जी दशम स्कंध के तीन अध्यायो (१२-१४) को प्रक्षिप्त मानते हैं। अतएव उनका अभिप्राय यह है कि २६ से ३० तक ये पाँचो अध्याय 'रासपचाध्यायी' नाम से कहे जाने चाहिए। अन्य विचारक १२ से लेकर १४ तक तीन अध्यायो को प्रक्षिप्त नही मानते, अतएव उनके मत से २९ से ३३ तक के पाँचो अध्याय 'रासपचाध्यायी' नाम से संबोधित होते है।

भारतीय दर्शन के इतिहास में इस रासपचाध्यायी का स्थान अत्यत महत्त्वपूर्ण है। भगवान् श्री कृष्ण और गोपियो के प्रसग का वर्णन इन पाँच अध्यायो में आया है जो तत्त्वज्ञान की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। भगवान् के वेणुनाद से गोपियो का आकर्षण, गोपीजनो का त्याग और सर्वात्मभाव, उनका गर्व और भगवान् का तिरोधान, इनका विलाप और दैन्य, भगवान् का प्रादुर्भाव और गोपीजनो के ऊपर अनुग्रह, रासलीला का आरभ और भजनानद का दिव्य अनुभव[1]—ये सब प्रसग काव्य और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अत्यत मर्मस्पर्शी है।

श्रीमद्भागवत के टीकाकारो ने इस 'रासपचाध्यायी' का और विशेषत इस 'रासलीला' का तात्पर्य भिन्न-भिन्न दृष्टि से दिखलाया है। 'वोपदेव' कहते है कि गोपिकाएँ सर्वथा शुद्ध है और इसीलिए भक्तिरस के अनुभव करनेका अधिकार भोगती है। इस भक्तिरस का अनुभव ही 'रासलीला' है। भागवत में जो शृगार देखने में आता है उसका पर्यवसान भक्ति में है—ऐसा वोपदेव का अभिप्राय है। 'श्रीधरस्वामी' कहते है कि भगवान् की रासक्रीड़ा उनकी 'कामदेव' के ऊपर विजय प्रकट करती है।[2] रासलीला में वर्णित शृंगार रस की कथा का तात्पर्य विशेषत. काम-निवृत्ति में ही है। काम-विजय रूप इस रासक्रीड़ा के श्रवण का फल भी काम-विजय ही है। अतएव शृगार रस मे आसक्त अत्यंत बहिर्मुख पुरुषो को भी भगवन्मय बनाने के लिये ही भगवान् ने यह शृगार रसवाली लीला की है। श्रीधर-स्वामी का यह मतव्य अन्य बहुत से टीकाकारो को भी मान्य है।

चैतन्य संप्रदाय वाले 'सनातन गोस्वामी' के अनुसार भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन व्रज-सुदरियो के मनोरथ परिपूर्ण कर 'प्रेमरस' का विस्तार करना है। इसी संप्रदाय के 'विश्वनाथ चक्रवर्ती' कहते है कि भगवान् ने आठ वर्ष की अवस्था में रासक्रीडा की तथा इस रास से गोपियो को इतना अधिक सौभाग्य प्राप्त हुआ कि वे सर्व शिरोमणि लक्ष्मी जी से भी अधिक संमानित हुई।[3]

[1] ब्रह्मानंदात्समुद्धृत्य भजनानंदयोजने।
लीला या युज्यते सम्यक् सातुर्ये विनिरूप्यते॥

[2]. ब्रह्मादिजयसंरूढ दर्पकंदर्पदर्पहा।
जयति श्रीपतिगोपीरासमंडलमंडनः॥
—श्रीधर स्वामी

रासो जयति यद्दत्त सौभाग्या गोपियोषितः।
धरास्या अधरी चक्रुः सर्वोच्चस्यां रमामपि॥
—विश्वनाथ चक्रवर्ती

मध्वसप्रदायी टीकाकार—'विजयध्वज' कहते है कि निर्दोष-भक्ति से उत्पन्न हुआ ब्रह्म-ज्ञान ही मुक्ति का साधन है—इस शास्त्रीय सिद्धात का समर्थन करने के लिये रासपचाध्यायी की कथा है। 'धनपतिसूरि' का अभिप्राय ऐसा है कि भगवान् ने नवें वर्ष में रासलीला की और गोपीजन रूपी असख्य सेनावाले कामदेव के साथ युद्ध में विजय प्राप्त की। यह रास-वर्णन सब भागवत का सार है। परमहस शिरोमणि श्री 'शुकदेव जी' ने रास का वर्णन परम प्रेम से किया है, अतएव परमहसो को भी आदर से उसका श्रवण करना चाहिये। श्रीमद्भागवत भक्ति-रस प्रधान और शाति-रस प्रधान है। इसमें शुकदेव जी ने प्रसगोपात शृगाररस की अवतारणा करके निवृत्तिमार्ग का ही अपना गूढ सिद्धात प्रकट किया है। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी 'सुबोधिनी' नाम की टीका में 'रासपंचाध्यायी' के विषय में बहुत अच्छा विवेचन किया है। मूल भागवत में ही परीक्षित ने रासपचाध्यायी के विषय में शका उठायी है और शुकदेव जी ने उसका समाधान दो प्रकार से किया है। एक प्रकार तो लोक-रीति के अनुसार है और दूसरा वस्तु-स्थिति के अनुसार है। श्री वल्लभाचार्य जी भागवत में ही वर्णित इन दोनो प्रकारो को लक्ष्य करके कहते है कि भगवान् सर्व-समर्थ और अतर्यामी है। उनको किसी प्रकार का बंधन होता ही नही है। वे क्रीडा करने के लिये पुरुष देह धारण करते है। उनकी इस लीला में किसी प्रकार का लौकिक काम नही और जो कोई श्रद्धा से भगवद्-लीला का श्रवण करेगा वह अल्प समय में ही परा-भक्ति प्राप्त करके काम रूप हृदय-रोग से मुक्त होगा।[1]

श्री वल्लभाचार्य जी के मत से भागवत में जो रासलीला का वर्णन आया है वह 'सारस्वत कल्प' की रासलीला है। भगवान् की समस्त लीलाओ में ऐतिहासिक और रूपक इन दोनो दृष्टियो का मिलना सहज है। भगवान् की प्रत्येक लीला का प्रयोजन होता है। भगवान् का प्राकट्य सबके उद्धार के लिये होता है और विशेषत निस्साधन जीवो के उद्धार के लिये। भगवान् निस्साधन पुरुषो का उद्धार किस प्रकार करते है—यह दिखलाने का प्रयोजन ही रासलीला है। गोपियो के समान साधन-रहित जनो का उद्धार करके भगवान्—'पुष्टिमार्ग' (कृपामार्ग) का उपदेश करते है और गोपी भगवान् के इस कृपा-मार्ग का प्रवर्तन करती है अतएव पुष्टिमार्ग की गुरु मानी जाती है।

शुद्धाद्वैत वेदात में भगवान् का स्वरूप रसात्मक माना जाता है। सब रसो का अतर्भाव शृगाररस में होने से भगवान् शृंगार-स्वरूप है। जो रसात्मक काम है वह अत्यत गूढ है और उससे 'काम-शास्त्र' तथा 'नाटच-शास्त्र' प्रवृत्त हुए है, अर्थात् काम-शास्त्र एव नाटच-शास्त्र केवल भगवान् के लिये ही है। गोपीजनो की निर्दोषिता और श्रेष्ठता भगवान् ने स्वय कई वार स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की है और उद्धव समान ज्ञानी भक्त तो गोपीजनो के चरण में गिर कर कहने लगे थे—

"वदे नंदव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥
—भागवत १०।४७।६३

रासलीला को वास्तविक प्रसग मान करके शब्द और तर्क-प्रमाण से उसकी पवित्रता सिद्ध की गई है। रूपक की दृष्टि से भी यह कथा निर्दोष है, ऐसा सिद्ध होता है। इस लीला का सर्वथा गान और श्रवण अलौकिक भजनानंद का अनुभव कराता है।

रासलीला का रूपक की दृष्टि से विचार प्राचीन काल से ही होता आया है। सब वेद भगवान् का ही प्रतिपादन करते है—इस सिद्धात को ही दरसाने के लिये रासलीला का प्रसग है। गोपियाँ वेद की ऋचाएँ है और जिस प्रकार शब्द तथा अर्थ का संबंध नित्य है उसी प्रकार ऋचा रूपी गोपियो और भगवान् का संबध भी नित्य है। इसी का नाम 'नित्य रासलीला' है।

[1]. क्रिया सर्वत्र संवापि परं कामो न विद्यते।

भगवान् परमात्मा हैं, अतर्यामी है और गोपियाँ प्रकृति है, अत करण की वृत्तियाँ हैं—यह मान करके भी रासलीला का रहस्य रूपक की दृष्टि से समझा जा सकता है। रासलीला ब्रह्मानुभव का रहस्य प्रकट करती हैं। परमात्मा के साथ अनेको सबध बाँधकर जीवात्मा भगतस्वरूप प्राप्त करता है। यह सबध काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता और भक्ति से सिद्ध होता है। अतएव रासलीला इस जीवात्मा का परमात्मा के साथ का घनिष्ट सबध प्रकट करती है।

ऋग्वेद में विष्णु देवता के जो विशेषण हैं वही आगे भक्ति-सप्रदायो में कृष्ण के लिए प्रयोग किये गये हैं। कृष्ण वैदिक विष्णु एव सूर्य के विकसित स्वरूप हैं। सूर्य अखिल चराचर विश्व की आत्मा हैं अतएव वे विश्व के आधार और मध्यबिंदु बने हुए है तथा विश्व उनके चारो ओर फिरता है। इसी बात को श्रीकृष्ण की रासलीला का स्वरूप दिया गया है। रासलीला तो मनुष्य तथा विश्व का परमात्मा के साथ का सबध प्रकट करती है।

कृष्ण सूर्य हैं और गोपीजन किरण हैं। सूर्य की किरणे सूर्य में रहती हैं, सूर्य में से बाहर निकलती है और फिर सूर्य में ही प्रवेश कर जाती हैं। सूर्य गोलाकार है और सर्वदा गतिवान् है। यही सुदर रहस्य रासलीला में सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार प्राचीन तथा अर्वाचीन तत्त्व-चिंतको ने रासलीला की उदात्त भावना का विचार किया है। रासलीला की भावना काव्य की दृष्टि से और तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से अत्यत भव्य और सुदर है। अतएव इसका स्थान साहित्य और तत्त्व-ज्ञान के इतिहास में चिरतन है।

—अनु० श्री अनंतराम नागर



रास के पद

राग-भैरव

मॉन लाग्यौ, गिरिधर गावै।

ता-ता-थेई, ता-ता थेई, ता ता ता थेई-थेई, भैरो राग-मिलि मुरली बजावै॥
नाँचत नव वृषभाँन-दुलारी, श्रीधर गति में गति उपजावै।
गिरिवर-पिय-प्यारी की पद-रज, 'कृष्णदास' लै सीस चढावै॥

❀

प्यारी भुज-ग्रीवा मेलि निरतत पिया सुजाँन।

मुदित परसपर लेति गति में गति, गुन-रास राधे गिरिधरॅन गुन-निधाँन॥
सरस मुरली-धुनि मिलै मधुर सुर, रास-रँग-भीने गावैं श्रीधर ताँन-बधाँन।
'चतुरभुज' प्रभु स्यांमा-स्याँम को नटँन देखि, मोहे खग, मृग बन, थकित व्योम-विमाँन॥

राग-रामकली

देखौ, देखौ री नागर-नट, निरतत कालिंदी-तट, गोपिन के मध्य राजै मुकट लटक।
काछिनी, किंकनी, कटि पीतांबर की चटक, कुंडल किरँन रवि-रथ की अटक॥
ता-ता-थेई, ता-ता-थेई सबद सकल उघटत, उरप-तिरप गति पग की पटक।
रास में श्री राधे राधे मुरली में एक रट, 'नंददास' गावै तहाँ निपट निकट॥

राग-टोडी

रुचिर रमित रुचि रासम्।

कुसुमित काँनन द्रुम, बेली प्रति, निज कृत उडप प्रकासम्॥
जुवती जुगल जुगल-प्रति माधौ, करत बिनोद विलासम्।
बेंनु, मृदंग, मंजीर, किंकिनी, क्वनित मधुर मृदु हासम्॥
जमुना-तीर, नीर खग-मृग को, मंद समीर सुवासम्।
बरखत कुसुम इंद्र-सुर नावत, संकर तजि कैलासम्॥
निरख नैंन छबि मुरझ्यौ मनमथ, लोचँन पदम-पलासम्।
'बिस्नुदास' प्रभु गिरिधर क्रीड़त, कथा-कथित सुक-व्यासम्॥

राग-नट

नागरी, नट-नाराइन गायौ।

ताँन, माँन, बंधाँन सप्त सुर, राग सौं राग मिलायौ॥
चरँन घूघरू जंत्र भुजँन धर, नीकौ झँमक जमायौ।
'व्यास' स्वांमिनी धन-धन श्री राधे, रास में रंग-रचायौ॥

राग-पूर्वी

निरतत गोपाल लाल, तरनि-तनय-तीरे।

जुवती-जन संग लिएँ, मनमथ-मन करखि किएँ अंग-अंग सुरद दिएँ, राजत बन-नीरे॥
लावन-निधि गुन-आगर, कोक-कला गुन-सागर, त्रिबिध-ताप हरत भरत सीतल समीरे।
'आसकरन' प्रभु मोंहन नागर गुन-निधाँन, संगीत-सार त्रिभवन ब्रज-बधू नागर कान्ह धीरे॥

रीतिकाल : पृष्ठ-भूमि

श्री सत्येंद्र

किसी भी युग के साहित्य का सृजन उस युग की भूमि पर होता है। कवि युग में रहता है। उसकी मुक्त-दृष्टि उस काल की ठोस परिस्थितियो के चक्र मे होकर ही ऊपर उठती है। रीति-काल के कवियो का हिंदी-साहित्य में एक विशेष स्थान है। वीर-गाथा-काल के कवियो ने वीर-पुरुषो की प्रशस्तियाँ प्रस्तुत की। उनका उस समय यह धर्म था कि राजा और राजनीति की दृष्टि से उस प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत करे। वे वीर-पूजा के भाव से उद्वेलित थे, ऐसा कहा जा सकता है। सत-कवियो, सूफी-प्रेम-गाथाकारो तथा कृष्ण और राम के भक्त-कवियो ने जो रचनाएँ रची उनका उद्देश्य अत्यत स्पष्ट है। वे सृष्टि के मर्म और जीवन को समझ कर उनके पारस्परिक सबध का निर्देश करना चाहते थे, जीवन के लिए एक आदर्श देना चाहते थे। ऐसे जीवन-सदेश देने वाले महान् युग के पश्चात् यह रीति-काल! इसका क्या उद्देश्य था?

यह 'काल' रीतिकाल कहा जायगा, ऐसा ज्ञान इस युग के रचयिता कवियो को नही था। रीतिकाल से पूर्व के काव्य-आदर्शों को प्रस्तुत करने का जैसे एक विधिवत व्यवस्थित आदोलन था, इस काल के कवियो के लिए वैसा कोई आदोलन भी किसी महापुरुष ने—किसी महात्मा वा अवतार जैसे—आचार्य वल्लभ अग्नि के अवतार है, ने नही किया था। जैसे अपने आप ही कोई पौधा उग आता है, उसी प्रकार उस काल की भूमि में से यह रीतिकाल उदय हुआ और एक दीर्घ काल तक पोषित और पल्लवित हुआ, क्यो हुआ? वह भूमि कैसी थी? यह हमे अध्ययन करने की आवश्यकता है। बिना आदोलन के, बिना किसी नेता के आदेश और निर्देश के स्वयमेव जो वस्तु उदय हो जाय, उसकी जड़ें गहरी ही होनी चाहिये। आज के समालोचक इस कार्य पर एक अनोखी दृष्टि से विचार करते है। वे कहते है कि यह काव्य कृत्रिम-अभिजात्य काव्य है, स्वाभाविक नही, अतः सूर और तुलसी तो युग की भावनाओ को प्रकट और अभिव्यक्त करने वाले—उस युग की आकाक्षाओ को रूप देने वाले प्रगतिवादी कवि है, बिहारी और देव वैसे कवि नही। रीति-कालीन कवियो ने प्रगति-गामी-काव्य और समाज को तथा जन को पतन की ओर प्रवृत्त किया है। इस दृष्टि का पोषण सर्वत्र ही हुआ है। हमें इस दृष्टि के मर्म को भी समझने की आवश्यकता है, क्योकि 'सूर' और 'तुलसी' तथा 'कबीर' जो सामयिक आदोलन के प्रवाह और दबाव मे लिख रहे थे, स्वाभाविक और प्रगतिवादी-काव्य के रचयिता हुए और क्यो सहज रूप से, बिना किसी आदोलन और दबाव के जो रचनाएँ की गयी वे अस्वाभाविक और अप्रगतिगामी हुईं। इसके लिए इतिहास को, काव्य की पृष्ठ-भूमि को समझने की आवश्यकता है।

इतिहास यह बात बतलाता है कि जन-जीवन के इतिहास के युगो मे जो परपरा मिलती है वह एक की दूसरे के प्रतिक्रिया के रूप में होती है। वैदिक-कर्म-काड के विरुद्ध बौद्ध और जैन-धर्मो का उदय हुआ और अहिंसा का युग प्रतिष्ठित हुआ। इस बौद्ध-युग की प्रतिक्रिया ब्राह्मण-युग में हुई। इसी प्रकार सर्वत्र। फलत. 'रीतिकाल' भक्तिकाल की प्रतिक्रिया कहा जाना चाहिये—और वह है भी। भक्तिकाल में प्रेम को जन-जीवन के व्यावहारिक धर्म से अलग कर दिया, उसे अपने से इतर पुरुष—निर्गुण अथवा सगुण के लिये समर्पित कर दिया, उसकी अपनी भावना का अपने ही हाड-मास के लिए कोई भी स्थान और उपयोग नही रहा।

भक्ति एक भावावेश की चरमावस्था है। वह हृदय के भावो में उत्ताल गति चाहती है। ऐसी भावाविष्ट-दशा सदा नही बनी रह सकती, न सदा रुचिकर ही हो सकती है। रीति-काव्य ने उसी प्रेम-तत्त्व को दिव्य धरातल से उतार कर शरीर—हाड-मास में अनुरक्त कर दिया, यह एक प्रतिक्रिया थी। ईश्वर में से उन्होने ईश्वरत्व निकाल कर अपने जैसा नग्न मानव नायक अथवा नायिका का रूप दे दिया।

आदोलन में मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओ की ओर विशेष आकर्षण होता है, प्रत्येक आदोलन पूर्ण-मानव के लिए नही उठ सकता, वह उसके किसी अश को सतुष्ट करने के लिए प्रवृत्त होता है। फलत मूल-मानव कभी इन आदोलनो का विषय नही बनता। शाश्वत और कुछ नही, मूल-मानव ही है। यही युग-युग में समान रहता है। आदोलन केवल युग-धर्म को, एक विकार को अथवा एक हानि को प्रस्तुत करता है। वह जब सफल अथवा विफल हो जाता है तो शाश्वत-तत्त्वों की ओर पुन दृष्टि जाती है और मानव कुछ विराम की ओर आकृष्ट होता है। इसी मनोदशा में रीतिकालीन-साहित्य की प्रेरणा निहित है। प्रत्येक साहित्यिक अभिव्यक्ति अपने लिए कोई न कोई रूप चाहती है। भक्तिकाल ने बहुधा प्रबधात्मकता को प्रश्रय दिया। वह सर्ग-बद्ध रही हो, जैसे—'रामचरित-मानस' में, अथवा खड-खड रही हो, जैसे—'सूर-सागर' में। भक्ति-काव्य ने वस्तु को प्राधान्य दिया, शैली को गौण स्थान मिला। रीतिकाल ने इस स्थिति की प्रतिक्रिया में शैली और रूप को सुनिश्चित व्यवस्था देने का यत्न किया। ये कुछ अत्यत स्थूल और स्पष्ट बातें है, जो यह प्रकट करती है कि रीतिकाल मे भक्तिकाल की प्रतिक्रिया हुई। रीतिकाल भक्ति-काल के ह्रास का विकृत रूप नही था। इसे और भी स्पष्ट करने के लिये हम यो तुलना कर सकते है—

१, भक्ति-काल 'कृष्ण भगवान' को नायक मानता है।	१, रीति-काल नायक को 'कृष्ण' मानता है।
२, भक्ति-काल नायक को 'भगवान् ब्रह्म' मानता है।	२, रीति-काल नायक को 'मनुष्य' मानता है।
३, भक्ति-काल संप्रदाय और आंदोलन का परिणाम है।	३, रीति-काल असंप्रदायिक तथा स्वभाविक है।
४, भक्ति-काल प्रेम को दिव्य भावावेश का रूप देता है।	४, रीति-काल प्रेम को रति, स्त्री-पुरुष की साधारण स्वभाविक ऐंद्रिक रति के रूप में ग्रहण करता है।
५, भक्ति-काल प्रेम को अभोग्य, ब्रह्म-समर्पणीय मानता है।	५, रीति-काल प्रेम को भोग्य और ऐंद्रिक विषय मानता है।
६, भक्ति-काल सिद्धांत और दर्शन के आधार पर खड़ा होता है।	६, रीति-काल जीवन को ऐसे किसी माध्यम से नहीं देखना चाहता।
७. भक्ति-काल विषय और वस्तु को महत्व देता है।	७, रीति-काल शैली और रूप को महत्व देता है।
८, भक्ति-काल उपयोगितावादी है।	८, रीति-काल कलावादी है।
९. भक्ति-काल प्रबंधात्मकता की ओर आकृष्ट है।	९, रीति-काल सर्वथा मुक्तक है।

इस प्रकार और भी तुलना के विषय मिल सकते है, जो एक दूसरे के विरुद्ध-स्थिति अभिव्यक्त कर सकते है। अत. रीति-काल भक्ति-काल की प्रतिक्रिया तो है ही; हमें उसकी अन्य ऐतिहासिक स्थिति को भी समझ लेना है।

अस्तु, इस काल की ऐतिहासिक प्रवृत्ति पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकाल का आरंभ मुगल-साम्राज्य के वैभव के सपन्न होने के युग में हुआ था। यो तो इस रीतिकाल का बीजारोपण करने के लिये महाकवि 'केशवदास' 'अकबर' के समय मे हुए[1], ठीक उस काल मे जब भक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी और सूर-तुलसी जैसे महान् कवि अपनी रचना से काव्य को वह स्थान प्रदान कर रहे थे, जो किसी भी साहित्य को कठिनाई से ही मिला करता है। तुलसी और सूर स्वतत्र कवि थे, केशव राजदरवार के कवि थे। अकबर का समय धार्मिक और साहित्यिक पुनराहरण का युग कहा जा सकता है। इस पुनराहरण मे संस्कृत-भाषा के पुराण और धार्मिक ग्रथो का ही अध्ययन और अनुवाद नही हुआ, काव्य-ग्रथो की ओर भी ध्यान आकर्षित हुआ। केशवदास ने 'अलकारवादी' संस्कृत आचार्यो का अनुकरण किया। अब उनकी शास्त्रीय रचना के प्रधान आधार 'दडी' का 'काव्यादर्श', 'अमर' की "काव्यकल्पलतावृत्ति' और 'केशवमिश्र' का 'अलकार-शेखर' है। आगे के रीतिवादी आचार्यों ने भी संस्कृत-आचार्यों से प्रेरणा और सामिग्री ली। यह पुनराहरण भी इस बात का द्योतक है कि ऐतिहासिक स्थिति, व्यवस्था और शांति के अनुकूल होती जा रही थी। आगे दो-तीन पीढियो तक यह व्यवस्था और शांति बनी ही रही, यह स्वाभाविक ही था कि पूर्वकालीन आदोलनो का वेग आगे चलकर मद पड जाता है, यही हुआ भी। इसी कारण कवियो का ध्यान दूसरी ओर गया। राज्य की व्यवस्था ठीक हो जाने पर राजा मे पुन श्रद्धा लौटी, उनके दरबारो में फिर ऐश्वर्य की भीड होने लगी। ऐतिहासिक जीवन में जो पतवार जनता के हाथ में चली गयी प्रतीत होती थी, वह पुन राजाओ के हाथ मे आ गयी। भक्ति-आदोलन जीवन की वैषम्य-पूर्ण दशा का द्योतक था, रीतिकाल में जीवन में सौम्य-दशा लौटी तो काव्य और साहित्य की भूमि भी बदल गयी। अब साहित्य माध्यम नही रहा, अब वह साध्य हो गया। उसका विषय हो गया जीवन की मासल-छवि या सौंदर्य का निरूपण। इसके लिये उसे वैसे ही अलकार-रस जैसे काव्य-साधन और उक्तियो का आश्रय लेना पड गया।

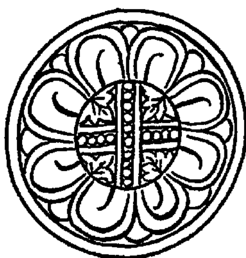
[1]. ब्रजभाषा-रीतिकाल की नीम संस्कृत के सुदृढ़ रीति-ग्रंथो के आधार पर केशव के बहुत पहिले पड़ चुकी थी। अब तक की खोज से प्राप्त प्राचीन रीति-विषयक ग्रंथ कृपाराम की हित-तरगिणी (सं० १५४२ वि०) का उल्लेख किया जाता है। यह ग्रंथ 'भरतमुनि' के प्रसिद्ध 'नाट्य-शास्त्र' के आधार पर बना। जैसे—

"कृपाराम यों कहत हैं, भरत-ग्रंथ अनुमान।।"

इसके बाद उदाहरण और लक्षण के ग्रंथो में ब्रजभाषा-साहित्य के सूर्य भी सूरदास की 'साहित्य-लहरी' (सं० १६०७ वा सं० १६१७) का नाम लिया जाता है। श्री सूर का यह लक्षण ग्रथ न होकर उदाहरण ग्रंथ है। 'स्वकीया, परकीया, स्वकीया के अंतर्गत मुग्धा, मुग्धा के दो भेद—ज्ञात और अज्ञात यौवना, फिर मध्या और प्रौढा, तदनंतर धीरा, ज्येष्ठा-कनिष्ठा, परकीया के—ऊढा-अनूढा भेद के बाद 'सुरतिगुप्ता', विदग्धा, लक्षिता, मुदिता और अनुशयाना के बाद 'अन्य सुरति-दुःखिता, गर्विता, मानवती, प्रोषितभर्तृका, खंडिता, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारका, पतिगमनी, आगतपतिका और कलहांतरितादि नायिकाओ के उदाहरण लिखे हैं। श्री सूर के बाद 'पोहकर' कवि का 'रसरत्नाकर' (सं० १६१३), लक्ष्मीचंद और मोहनलाल कवि के 'शृंगार-सागर' (सं० १६१६), महाकवि नददास (अष्टछाप) की रसमंजरी (सं० १६२०), कविंद्र की 'कल्पलतावृत्ति' (स० १६२२), निवाजी और किसी अज्ञात कवि रचित 'विक्रम-विलास' तथा 'रसमंजरी' (सं० १६४०), गोपाल कवि का 'रसविलास' (सं० १६४४), अबुर्रहीम (रहीम) खानखाना का 'बरवैनायिका भेद' तथा 'नगर शोभा वर्णन' (सं० १६४५), वृंदकवि की 'भाव पंचाशिका (सं० १६४६) और निधान कवि का 'जसवंत-विलास' तथा किन्हीं नरेश कवि का 'नायिका-भेद (सं० १६४७) बन चुके थे।

कोई भी साहित्य बिना आवश्यकता के नही पनप सकता, कम से कम उसका युग तो नही हो सकता। रीतिकाल दीर्घ काल है। इस काल मे अनेको कवि हुए। इनमें से अधिकांश राज्याश्रय में रहे, किंतु इनका काव्य सर्वत्र फैला और समादृत हुआ। बिहारी की 'सतसई' पर रची टीकाओ का निर्माण यह सिद्ध करता है कि इस रीति-युगीन-साहित्य को गभीर दृष्टि मे अध्ययन का विषय बनाने का एक महत्-उद्योग होता रहा। फिर भी प्रश्न यह है कि यह ऐसा [illegible] वादी साहित्य क्यो इतना अनिवार्य रहा?

साधारण जन के जीवन में प्रत्येक भाव-धारा अपना एक विशेष स्थान रखती है। वह केवल न भक्त हो सकता है, न केवल वीर। ये उसके जीवन में अपना स्थान रखते है, पर इनकी सीमाएँ भी हैं। इस जीवन में उसे मनोरजन, भक्ति-चमत्कार और ऐंद्रिक-सौंदर्य-विषय की भी आवश्यकता है। इसी रीति-साहित्य ने उसकी इस आवश्यकता को पूर्ण किया। यह रचना बिना काव्य-शिक्षा के नहीं हो सकती थी, यह केवल आत्मानुभूति का उद्गार नहीं थी कि जिस रूप में भी प्रकट हो जायगी उसीमें ग्राह्य हो सकेगी, इसकी सहायता के लिये संगीत भी नहीं आ सकता था। इसे तो अपने रूप की व्यवस्था स्वय करनी थी। इस आवश्यकता ने साहित्य शास्त्र की रीति को आवश्यक बना दिया। ये दोनो बातें युग-धर्म बन गयी। यही कारण है कि इस काल में दोनो प्रकार के कवि मिलते है, एक वे जो आचार्य भी है, दूसरे वे जो केवल कवि ही है। इनकी कविताएँ भी दो प्रकार की हुई। एक रीति-युक्त और दूसरी रीति-मुक्त। रीति-काल के अध्ययन का यह भी एक रूप है।



ब्रजभाषा का नायिका-भेद

श्री राकेश गुप्त

ब्रजभाषा-साहित्य का नायिकाभेद अनेक साहित्यिक एव असाहित्यिक परपराओ का विकसित रूप है। अतएव इसकी आत्मा तक पहुँचने के लिये उन आधारभूत परपराओ का, जिन्होने इसके विकास मे महत्वपूर्ण योग दिया है, सम्यक् अध्ययन नितात आवश्यक है।

नायिकाभेद का विषय सबसे पहले हमें 'नाट्यशास्त्र' और 'कामशास्त्र' विषयक ग्रंथो मे मिलता है। इन दोनो विषयों के सर्वप्रथम प्राप्य ग्रथ 'भरत' का 'नाट्यशास्त्र' तथा 'वात्स्यायन' का 'कामसूत्र' हैं। जैसा कि इन ग्रथो में प्राप्त निर्देशो से ही स्पष्ट है। इन में से प्रत्येक अपने विषय का सर्वप्रथम ग्रथ न होकर एक प्राचीन परपरा का अत्यत प्रौढ एव विकसित रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यद्यपि इन ग्रथो के रचना-काल के सबध में विद्वानो में मत-भेद है, पर सामान्यत हम इनका समय ईस्वी सन् के प्रारभ के आस-पास मान सकते है। इन दोनो ग्रथो के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय के विभेद के कारण इनमें नायिका-भेद की रचना भी दो विभिन्न एव स्वतत्र दृष्टिकोणो से हुई है।

भरत का 'नाट्यशास्त्र' अभिनय-सबधी ग्रथ है। इसमे नायक एव नायिकाओ का वर्णन नाटकीय पात्रो के रूप में किया गया है। भरत ने यद्यपि शील, स्वभाव[1] तथा सामाजिक-स्थिति[2] के आधार पर अनेक प्रकार की स्त्रियो का कथन किया है, पर शुद्ध नायिकाभेद के रूप में उन्होने केवल आठ प्रकार की नायिकाओ का ही वर्णन किया है[3]। भरत-कृत प्रत्येक भेद का लक्ष्य, चाहे वह स्त्रियो का हो चाहे नायिकाओ का, स्पष्ट रूप से नाटकीय दृष्टि से पात्रो की ही विभिन्न प्रवृत्तियो, स्थितियो एव स्तरो का निर्देश करना है। भरत का यही दृष्टिकोण उन्हें उनके परवर्ती आचार्यो से अलग करता है। इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि यद्यपि उन्होने अपने ग्रथ मे रस का भी विस्तृत विवेचन किया है, पर नायक एव नायिकाओ का कथन उन्होने शृगार रस के आलबन विभाव के अंतर्गत नही किया, उससे बहुत दूर ग्रथ के अतिम अध्यायो में नाटकीय पात्रो की चरचा करते हुए ही किया है।

वात्स्यायन के "कामसूत्र" में स्त्री-पुरुष अथवा नायक-नायिकाओ के जिन भेदो का कथन है, उनका आधार मानव की काम-भावना अथवा उसीसे सबधित अन्य कोई विषय है। मनुष्य की काम-वासना को अदम्य मानकर उसकी तृप्ति के लिये समाज ने विवाह नाम की सस्था स्वीकृत की है, पर मनुष्य की प्रवृत्ति सदैव स्वीकृत मार्ग पर ही नही चलती, फल-स्वरूप पुरुष और स्त्री के बीच मे कुछ ऐसे सबधो की सृष्टि होती है, जिनके अस्तित्व को, समाज के लिये अश्रेयस्कर मानते हुए भी हम अस्वीकार नही कर सकते। पुरुष का इस प्रकार का सबध जिन स्त्रियो से हो सकता है उन्हें वात्स्यायन ने चार वर्गो मे विभाजित किया है—कन्या, पुनर्भू, वेश्या तथा परस्त्री।

1. शील के आधार पर भरत ने स्त्रियो के देवशीला, असुरशीला आदि बाईस भेद किये हैं। स्वभाव अथवा प्रवृत्ति के आधार पर उन्होने स्त्रियो के उत्तमा मध्यमा तथा अधमा ये तीन भेद किये हैं।

2. स्त्रियो के वेश्या, कुलजा, प्रेष्या, तथा महादेवी, देवी, अनुचारिका आदि भेद उनकी सामाजिक स्थिति अथवा स्तर के आधार पर हैं।

3. नायिकाओं के आठ भेद ये हैं—वासकसज्जा, विरहोत्कठिता, स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिका।

वात्स्यायन-द्वारा किया गया यह विभेद कुछ परिवर्तित रूप में साहित्य-शास्त्र के परवर्ती आचार्यों-द्वारा प्रमुख नायिका-भेद के रूप में गृहीत किया गया है। 'कामशास्त्र' के ग्रंथो में इस भेद के अतिरिक्त शरीर-रचना,[१] मानसिक-आवेग[२] तथा कामेच्छा-काल[३] के आधार पर भी स्त्री-पुरुषो के भेद किये गये हैं। पर ये भेद नायिका-भेद के साहित्यिक आचार्यो-द्वारा प्राय स्वीकृत नही किये गये[४]। वात्स्यायन ने अपने ग्रंथ में नायक और नायिका को मिलाने में सहायता देने वाले दूत और दूतियो का भी विस्तृत वर्णन किया है तथा उनके कार्य एवं गुणो के सबंध में भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।

काव्यशास्त्र में नायिकाभेद के विषय का ग्रहण सर्वप्रथम 'अग्निपुराण' के लेखक-द्वारा किया गया है। इस ग्रंथ में नायक-नायिका भेद सबंधी विषय का प्रतिपादन अत्यंत सक्षिप्त होते हुए भी[५] मौलिक एव महत्त्वपूर्ण है। नायक और नायिका को, जिनका अब तक रस से कोई सबंध नही था, अग्निपुराण के लेखक ने शृंगार-रस के आलबन-विभाव के अंतर्गत रखकर काव्य-शास्त्र में एक ऐसी परंपरा को जन्म दिया जो आजतक अक्षुण्ण है। आश्चर्य की बात तो यह है कि नाटयशास्त्र-संबंधी ग्रंथो के लेखकों ने भी इस परपरा को निर्विरोध रूप में स्वीकार कर लिया। यद्यपि नाटक के नायक की दृष्टि से किये गये नायक के चार प्रमुख भेदो का[६] शृंगार रस अथवा उसके आलंबन-विभाव से कोई सीधा सबंध नही है।

अग्निपुराण के पश्चात् सस्कृत के काव्यशास्त्र एव नाटयशास्त्र-सबंधी अनेक ग्रंथो में नायिका-भेद के विषय का प्रतिपादन किया गया। इन ग्रंथो के लेखकों ने अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार भरत, वात्स्यायन तथा अपने पूर्ववर्ती अन्य आचार्यो का आधार ग्रहण करते हुए इस विषय का अपने मौलिक योग-द्वारा सवर्द्धन एवं विकास किया[७]। इस विकास की चरम सीमा हमें 'भानुदत्त' मिश्र-कृत 'रसमंजरी' तथा 'विश्वनाथ-कृत' 'साहित्य-दर्पण' में दृष्टिगोचर होती है।[८]

इस प्रकार लगभग सौ वर्षों तक नायिका-भेद की यह धारा काम अथवा शृंगार-सबंधी मनोविज्ञान से अनुप्राणित होकर तथा नाटयशास्त्र एव कामशास्त्र के उपकूलो का अभिसिंचन करती हुई अपने शुद्ध शास्त्रीय रूप में प्रवाहित होती रही, पर इसके पश्चात् १६ वी शताब्दी के प्रारंभ में इसका मिश्रण एक दूसरी अत्यंत बलवती धारा से हुआ और परिणाम स्वरूप इसने एक सर्वथा नवीन रूप धारण किया। वह दूसरी धारा थी कृष्ण-केलि-वर्णन की। सामग्री तथा विषय-प्रतिपादन के दृष्टिकोणो में विभिन्नता

१ शरीर-रचना के आधार पर स्त्रियों को पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी, हस्तिनी में अथवा मृगी, बड़वा, हस्तिनी में तथा पुरुषों को शशक, वृष, अश्व में विभाजित किया गया है।

२ मानसिक आवेग के आधार पर दोनों को मंदवेग, मध्यमवेग तथा चंडवेग में विभाजित किया गया है।

३. कामेच्छा-काल के आधार पर दोनों को शीघ्र, मध्य तथा चिरकाल में विभाजित किया गया है।

४. कुछ हिंदी-आचार्यों ने इन भेदों का भी कथन किया है।

५. अग्निपुराण में नायिका-भेद के संबंध में केवल निम्नांकित एक श्लोक है।

"स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिका।

सामान्या न पुनर्भूरित्याद्या बहु भेदत ॥" ३३८।४१

६. नायक के चार प्रमुख भेद ये हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरशांत। —१ रुद्रट कृत काव्या-

७. नायिकाभेद की विकास-परंपरा में निम्नांकित ग्रंथों के नाम उल्लेखनीय हैं—धनंजय कृत दशरूपक (ग्यारहवीं

लंकार (नवीं शताब्दी), २. रुद्रभट्ट कृत शृंगारतिलक (ग्यारहवीं शताब्दी), शताब्दी), ४ सरस्वती-कंठाभरण तथा ५ शृंगार-प्रकाश भोजकृत (ग्यारहवीं शताब्दी)। विषय-प्रतिपादन में सबसे अधिक मौलिकता यद्यपि भोज के ग्रंथों में मिलती है, पर भोज का अनुकरण किसी भी पश्चवर्ती लेखक-द्वारा नहीं किया गया।

८. इन ग्रंथों की रचना ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुई।

होते हुए भी इन दोनो धाराओ मे एक बहुत बड़ी समानता थी—शृंगार संबंधी विविध परिस्थितियों का चित्रण।

कृष्ण-केलि-वर्णन की धारा का उद्‌गम खोजने के लिये जब हम अतीत की ओर बढ़ते हैं तो महाभारत के खिल-पर्व अथवा हरिवंश-पुराण पर पहुँच कर हमें रुक जाना पड़ता है। हरिवंश के अतिरिक्त पद्म, विष्णु, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणो मे भी कृष्ण की शृंगार-क्रीडाओं का वर्णन है।[1] इन पुराणो में कृष्ण और गोपियो को लेकर शृंगार-संबंधी जिन परिस्थितियो का चित्रण किया गया है उनकी एक संक्षिप्त सूची इस प्रकार बनाई जा सकती है—

१. हरिवंश पुराण—

शरद पूर्णिमा की रात्रि को कृष्ण के मन में गोपियो के साथ हल्लीश-क्रीडन की इच्छा,-गोपियो का अपने पति आदि के वर्जन करने पर भी परकीया नायिकाओ के रूप में कृष्ण से मिलन—रति का संकेत से वर्णन तथा रति के बाद की शारीरिक अवस्था का वर्णन।

२. पद्म पुराण—

नित्य वृंदावन में कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति तथा आद्या प्रकृति के रूप में राधा का वर्णन।

३. विष्णु पुराण—

कृष्ण की गोपियो के साथ रास-क्रीडा करने की इच्छा, गोपियो का आतुरता-पूर्वक आगमन, कृष्ण के अदृश्य होने पर गोपियो की व्याकुलता और निराशा, रासक्रीडा के पश्चात् गोपियो-द्वारा कृष्ण का आलिंगन और चुंबन, कृष्ण के मथुरा जाते समय प्रवत्स्यत्प्रेयसी के रूप में गोपियो का वर्णन, विरह की अवस्था में पीडित और निराश गोपियो के द्वारा कृष्ण के प्रति तीखे व्यंग।

४. भागवत पुराण—

बालक कृष्ण के प्रति गोपियो के मन में अनुराग का क्रमश विकास, कृष्ण का दर्शन प्राप्त करने के लिये बेचैनी, कृष्ण की वंशी के प्रति गोपियो का ईर्ष्या पूर्ण सपत्नी-भाव—गोपियो-द्वारा कृष्ण को वरण करने की इच्छा से कात्यायनी देवी की पूजा—यमुना में स्नान करती हुई गोपियो के वस्त्रों का कृष्ण-द्वारा हरण, कृष्ण के आग्रह से गोपियो का उनके समक्ष दिगंबर रूप में उपस्थित होना।

कृष्ण की वंशी का रव सुनकर पिता, पति, भाई के द्वारा रोके जाने पर भी गोपियों का कृष्ण के पास पहुँचना—कृष्ण-द्वारा गोपियो का आलिंगन—जघा, नीवी आदि का स्पर्श—[illegible], गोपियो के गर्व-शमन के लिये कृष्ण का अदृश्य होना, गोपियों की व्याकुलता—कृष्ण के चरण-चिह्नों के साथ एक अन्य गोपी के चरण-चिह्नों को देखकर ईर्ष्या, कृष्ण के प्रकट होने पर उनका गोपियों के साथ रास-क्रीडा, रास-लीला के पश्चात् जल-विहार तथा वन-विहार।

विरह-पीड़ित गोपियों को सान्त्वना देने के लिये उद्धव का ब्रज में आगमन, प्रेमाकुल गोपियों-द्वारा कृष्ण के प्रेम की परिपक्वता के प्रति नाना-प्रकार के व्यंग, कुरुक्षेत्र में गोपियों से भेंट होने पर कृष्ण-द्वारा गोपियों का आलिंगन।

५. ब्रह्मवैवर्त पुराण—

"[illegible]

१. इन पुराणों का [illegible]

ऊपर की सूची से यह स्पष्ट है कि पुराणकारो ने कृष्ण, राधा और गोपियोको लेकर परकीयत्व एव स्वकीयत्व, सयोग एव विरह से सबध रखने वाली विविधि शृगारी परिस्थितियो का चित्रण अत्यत विस्तार-पूर्वक किया है। पुराणो का काल समाप्त होने के पश्चात् ईसा की ग्यारवी शताब्दी से हमारे देश में एक प्रवल वैष्णव भक्ति-सप्रदायो का प्रादुर्भाव होना प्रारभ हुआ। इनमें से कुछ ने हरि अथवा नारायण अथवा राम की उपासना पर बल दिया और कुछ ने राधा और कृष्ण की। राधा और कृष्ण को जनता की भक्ति तथा प्रेम का आलवन बनानेवालो में निंवाकाचार्य (११ वी शताब्दी), माध्वाचार्य (१४ वी शताब्दी), वल्लभाचार्य (१६ वी शताब्दी) तथा चैतन्य महाप्रभु (१६ वी शताब्दी) मुख्य हुए। इन्होने पुराणो के आधार पर नारायण के वैकुठ-लोक से भी ऊपर कृष्ण के 'गोलोक' की कल्पना की और इस लोक में कृष्ण की ब्रज की लीलाओ को नित्य रूप में माना। भगवान् के प्रति प्रेम तथा नित्य गोलोक मे भगवान् की लीलाओ का आस्वाद ही इन्होने जीवन का परम उद्देश्य माना।

इन धार्मिक एव दार्शनिक आचार्यों की अथवा इनसे भी बहुत पहले से केवल धार्मिक रूप में चली आती हुई कृष्ण-भक्ति-परपरा की प्रेरणा से अनेक श्रेष्ठ कवियो की वाणी राधा और कृष्ण के पौराणिक व्यक्तित्वको और भी अधिक मनोरम रुप में प्रस्तुत करने के लिये तत्पर हुई। अपनी कल्पना के द्वारा इन कवियो ने राधा, कृष्ण और गोपियो की प्रेम-लीलाओं मे अनेक नवीन एव हृदयस्पर्शी परिस्थितियो की उद्भावना की और इस प्रकार कृष्ण के शृगारिक व्यक्तित्व के क्षेत्र को और भी अधिक व्यापक बनाया।

कृष्ण-काव्य की इस परपरा का आरंभ कदाचित् ग्यारहवी शताब्दी में उमापति की रचना मे लिखी गई रचनाओ से हुआ। बारहवी शताब्दी में सस्कृत कवि जयदेव ने अपनी अमृतोपम मधुर वाणी में राधा और कृष्ण के विलास का अत्यत सजीव चित्र उपस्थित किया। पता नही कि हिंदी के रीति-कालीन कवियो पर अश्लीलता का आरोप लगानेवाले आलोचको की 'जयदेव' के सूक्ष्म विवरण-युत विपरीत रति-वर्णन के प्रति क्या भावना होगी। चौदहवी शताब्दी में 'चडीदास' ने प्रेमोन्माद की साकार प्रतिमा राधा की मर्म-भेदी व्यथा को शब्दो में बाँधने का सफल प्रयत्न किया। पद्रहवी शताब्दी में विद्यापति[1] ने यौवन और शैशव की सधि पर खडी हुई राधा के अतुल सौंदर्य-सपदा तथा विलास-विभ्रम से पूर्ण व्यक्तित्व को सरस गीतो के साचे में ढाल दिया।

चडीदास और विद्यापति के बाद भी कृष्ण-काव्य की यह परपरा बगाल और मिथिला में कई शताब्दियो तक चलती रही। इस परपरा के कवियो की एक सामान्य विशेषता यह भी रही कि उन्होंने राधा को परकीया नायिका के रुप में चित्रित किया। इस परपरा के विरुद्ध 'सूरदास' ने गोस्वामी [illegible] में राधिका के स्वकीयत्व की स्थापना करके उनका कृष्ण के साथ बडी धूमधाम से विवाह भी करा दिया। फल-स्वरूप सूर की राधा में हमे प्रेम के उद्वेग और विकलता के दर्शन नही होते, इसके स्थान पर मिलती है एक गभीरता। इस गभीरता तथा इस अन्तर्मुख प्रेम का विशेष परिचय हमें राधा की वियोगावस्था में कृष्ण के मथुरा चले जाने के पश्चात् मिलता है, पर इस गभीरता का यह अर्थ नहीं कि सूरदास ने राधा और कृष्ण के संयोग शृगार के चित्रण में किसी प्रकार का संकोच दिखाया है। [illegible] इस क्षेत्र में भी जितनी विविध परिस्थितियों की आयोजना उन्होंने की है, उतनी शायद ही किसी [illegible] कवि ने नही की। रति के स्पष्ट वर्णन में भी वे अपने पूर्ववर्ती विद्यापति अथवा जयदेव से [illegible]

१. पं० रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार 'विद्यापति' को हम भक्त-कवियो की परंपरा में नहीं रख सकते। संभव है, शुक्ल जी का यह कथन ठीक हो, पर कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि विद्यापति की रचना को हम भक्त-कवियों की रचनाओं की परंपरा से किसी प्रकार भी अलग नहीं कर सकते।

"नवल गुपाल, नवेली राधा नये प्रेम-रस पागे।
अंतर-बन-बिहार दोउ क्रीड़त, आपु-आपु अनुरागे॥
सोभित सिथिल-बसँन मनमोहन, सुखवत स्रम के पागे।
मानहुँ बुझी मदन की ज्वाला, बहुरि प्रजारँन लागे॥
—सूरसागर, दशम स्कंध, ६८६ वाँ पद (का०ना० प्र० सभा-संस्करण)

नायिका-भेद की शास्त्रीय-धारा को कृष्ण-केलि वर्णन की पौराणिक एवं काव्यमय धारा से मिलाने का महान् कार्य चैतन्य महाप्रभु के प्रधान शिष्य 'रूप गोस्वामी' द्वारा सोलहवी शताब्दी मे हुआ[1]। उन्होंने अपने ग्रंथ 'भक्तिरसामृतसिंधु' में शात, वात्सल्य, दास्य, सख्य तथा मधुर इन पाँचो की भक्ति-रस के अतर्गत स्थापना की और मधुर अथवा शृगार को भक्ति-रसो का सम्राट् मानते हुए अपने दूसरे ग्रंथ "उज्ज्वलनीलमणि' में इस रस की विस्तृत व्याख्या भी की थी। अत उक्त रस के आलंबन विभावो के अतर्गत उन्होंने कृष्ण का नायक तथा उनकी वल्लभाओ का नायिकाओ के रूप मे वर्णन किया[2]। उनके नायिका-भेद में तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—

१. गणिका के कथन का अभाव, २. मुग्धा, प्रगल्भा भेदों का परकीया के अंतर्गत भी कथन तथा ३. विभिन्न प्रकार की नायिकाओ के रूप में विभिन्न गोपियो का नामोल्लेख।

रूप गोस्वामी-द्वारा इन दोनो धाराओ का समन्वय किये जाने के पश्चात् संस्कृत में इस विषय पर किसी महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना नही हुई, पर ब्रजभाषा के नायिका-भेद संबधी विशाल साहित्य का समय रूप गोस्वामी के समय के आसपास से ही प्रारंभ होता है। ब्रजभाषा का नायिका-भेद-सबधी प्रथम ग्रंथ है कृपाराम-कृत 'हिततरंगिणी'। इस ग्रंथ की रचना १५४१ ई० में हुई और इस प्रकार कृपाराम रूप गोस्वामी के समसामयिक हुए। अतएव जैसा कि स्वाभाविक है, इस ग्रंथ पर हमें "उज्ज्वलनीलमणि' का कोई भी प्रभाव दृष्टि गोचर नही होता।

हिततरंगिणी के पश्चात् १६०० ई० तक नायिका-भेद-सबधी तीन प्रमुख ग्रंथो की रचना और हुई—नंददास-कृत 'रसमंजरी', रहीम-कृत 'बरवै नायिका-भेद' तथा केशवदास-कृत 'रसिकप्रिया'। इन ग्रंथो मे से रसमजरी में तो केवल विभिन्न प्रकार की नायिकाओ के लक्षण ही गिनाये गये हैं। बरवै नायिका-भेद में, जिसकी भाषा अवधी है—केवल उदाहरण है और इन उदाहरणो पर भी रूप गोस्वामी का कोई भी प्रभाव परिलक्षित नही होता। रसिकप्रिया हिंदी अथवा ब्रजभाषा का पहला ग्रंथ है जिस पर 'उज्ज्वलनील-मणि' के समन्वित दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है।

केशवदास रीति-काल के आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने केवल नायिका-भेद का ही नही, साहित्य-शास्त्र के अन्य सभी अंगो का भी सम्यक् विवेचन अपने ग्रंथो में किया है। उनकी 'रसिकप्रिया' पर उज्ज्वलनीलमणि का प्रभाव निम्नांकित सीमाओ तक दृष्टिगोचर होता है।

१. केशव ने नायिकाओं का वर्णन जग-नायक श्रीकृष्ण की नायिकाओ के रूप में किया है। जैसे—

"जगनायक की नायिका बरनौं केसवदास।"

[1]. संभव है कि वैष्णव रस-शास्त्र की यह परंपरा पहले से भी चली आती हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इसे निश्चित शास्त्रीय रूप 'रूप गोस्वामी'-द्वारा ही प्रदान किया गया था।

[2]. उज्ज्वलनीलमणि के पश्चात् संस्कृत में लिखे गये नायक-नायिका-भेद-संबंधी दो ग्रंथ उपलब्ध हैं। १. केशव मिश्र कृत 'अलंकार-शेखर' (सोलहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) तथा २. अच्युत शर्मन कृत 'साहित्य सार' (सं० १८३१), पर इन ग्रंथों में इस विषय का प्रतिपादन अत्यंत संक्षेप में किया गया है और साथ ही किसी प्रकार की मौलिकता के दर्शन भी इनमें नहीं होते।

२. सामान्या का उन्होंने कथन तो किया है, पर एक बार उसका नाम-मात्र कथन करके फिर उसके संबंध में कोई चरचा नहीं की—उसका लक्षण या उदाहरण यथास्थान नहीं दिया।

३. नायक-नायिका का वर्णन परंपरागत नौ रसों में से शृंगार-रस के आलंबन विभावों के रूप में है। रूप गोस्वामी के पाँच भक्ति-रसो की उन्होंने कोई चरचा नहीं की।

४. केशव ने विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के रूप में विभिन्न गोपियो का नाम से उल्लेख नहीं किया। केवल राधा का नाम कुछ उदाहरणो में पाया जाता है।

रूप गोस्वामी का उज्ज्वलनीलमणि वास्तव में एक साम्प्रदायिक ग्रंथ है। अतएव साहित्यिक ग्रंथो पर उसका प्रभाव केवल एक सीमा तक ही पड सकता था और वह सीमा इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती थी कि नायिका-भेद के शास्त्रीय ढाँचे में कृष्ण की शृंगार-क्रीडाओ का यथासभव ग्रहण हो। केशव के परवर्ती कवियो ने इसी रूप में इस नये प्रभाव को ग्रहण किया। प्रत्येक नायिका को कृष्ण की ही प्रेयसी के रूप में चित्रित करने के आग्रह को छोडकर उन्होंने "सामान्या" का भी यथावसर यथोचित वर्णन किया। इस प्रकार नायिका-भेद की नाट्यशास्त्र तथा कामशास्त्र से पोषित शास्त्रीय परपरा को पुराण-निर्दिष्ट कृष्ण-केलि-वर्णन की पौराणिक एव साहित्यिक परपरा के योग से उन्होंने और भी अधिक वैभवपूर्ण बनाया। इतना ही नही, शास्त्रीय-क्षेत्र में अपनी अनेक मौलिक उद्भावनाओ के द्वारा तथा काव्य-क्षेत्र में अपनी अनेक मर्मस्पर्शी उक्तियो एव चुभते हुए भावो के योग से उन्होंने व्रजभाषा-साहित्य की अभूतपूर्व श्रीवृद्धि की।

व्रजभाषा के इस वैभव-सपन्न विशाल साहित्य का अध्ययन, इसकी आधारभूत परपराओ के सबध में विचार कर चुकने के पश्चात्, तीन दृष्टिकोणो से और किया जा सकता है—

१. काव्योत्कर्ष-संबधी, २ शास्त्रीयता (विभाजन की मौलिकता तथा वैज्ञानिकता) से तथा ३. सामाजिक।

इनमें से एक भी दृष्टिकोण से इस साहित्य का, एक सम्यक् अध्ययन मे प्रस्तुत निबंध की सीमा के सर्वथा बाहर है[1]। यहाँ पर अत्यंत सक्षेप में इन दृष्टिकोणो से सबधित कुछ समस्याओं पर प्रकाश इस प्रकार डाला जा सकता है।

व्रजभाषा के नायिका-भेद-सबधी साहित्य का महत्व सबसे अधिक उसके काव्योत्कर्ष के कारण ही है, पर इस साहित्य में कला-पक्ष की प्रधानता होने के कारण कुछ समालोचक उसे श्रेष्ठ काव्य अथवा काव्य मानने के लिये तैयार नही होते, यों तो मत-स्वातंत्र्य का सबको अधिकार है और कोई भी व्यक्ति, चाहे वह एक विद्वान् आलोचक हो, चाहे एक साधारण पाठक, किसी विशेष मत को मानने के लिये बाध्य नही किया जा सकता। पर थोडी देर के लिये यदि हम व्यक्तिगत मान्यताओ से ऊपर उठकर देखें तो हमें स्वीकार करना होगा कि काव्य के दो अनिवार्य आधार स्तंभ है—कला और भाव। बिना एक के दूसरे का [illegible] पर अत्यत कठिन अवश्य है। यह दूसरी बात है कि किसी काव्य-[illegible] में एक की [illegible] और किसी में दूसरे की। इसी प्रकार यह भी सभव है कि किसी का [illegible] रचना की ओर अधिक हो और किसी का कला-प्रधान रचना की ओर, पर यदि [illegible] दूसरी श्रेणी की रचना को काव्य के प्रात से बहिष्कृत कर मानने की आशा करें तो [illegible] दुराग्रहमात्र ही होगी।

वास्तव में काव्य के मुक्तक और प्रबध जो दो भेद किये गये है, [illegible] पक्ष के उभारने के लिये अधिक उपयुक्त है और प्रबंध [illegible]

[1] इस विषय के विस्तृत एवं विशेष अध्ययन के लिये लेखक का [illegible] ग्रंथ—"स्टडीज इन नायक-नायिका भेद" देखिये।

मुखी समस्याओ, रोमाचकारी परिस्थितियो एव मर्मस्पर्शी भावनाओ का चित्रण, प्रवध-काव्य के पट पर ही अधिक सफलता के साथ किया जा सकता है। पाठक अथवा श्रोता के हृदय मे रसोद्रेक का होना भी, यदि रसोद्रेक का अर्थ पाठक का वर्ण्य-भावना से अभिभूत होना माना जाय तो, प्रवध-काव्य की विस्तृत भूमि पर ही संभव है। कारण यह है कि पाठक किसी भी भावना से तभी अभिभूत हो सकता है जब उस भावना से सवधित पूर्वापर परिस्थितियो से वह सम्यक्रूपेण अवगत हो और यह स्पष्ट है कि एक मुक्तक रचना के सबध में ऐसा होना अत्यत कठिन है। विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के सयोग मात्र से रस की निष्पत्ति मानना सर्वथा असमीचीन है।

मानव स्वभाव से ही विविधता का प्रेमी होता है। जीवन की गूढ और गभीर परिस्थितियो के परिदर्शन से जब उसका जी ऊबता है, तब यही कला-पक्ष-प्रधान मुक्तक कविता उसके मन की एक-रसता को दूर कर उसे स्फूर्ति और प्रफुल्लता से भर देती है। लेखक की हृदय को विदीर्ण करने-वाली विचित्र उक्तियो से वह घायल होकर भी सजीव हो उठता है और उसके भाव और शैली-सबधी नाना-प्रकार के चमत्कारो से चमत्कृत होकर वह अनायास ही आनद-विभोर हो जाता है। कवि की कल्पनाओ की मौलिकता-पूर्ण सुकुमारता एव उसके अद्भुत रचना-कौशल की कमनीयता श्रोता अथवा पाठक की वाणी को प्रशसा के शब्दो से बरवस मुखरित कर देती है।

ब्रजभाषा के नायिका-भेद-साहित्य में ऊपर दिग्दर्शित उक्ति वैचित्र्य और चमत्कार पूर्ण शब्द, भाव, योजना तथा अलकार-विधान आदि तो है ही, पर इसके अतिरिक्त भी और बहुत कुछ है। उसमें है स्त्री-स्वभाव का शृगार-सबधी विभिन्न परिस्थिति में सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रण, उसमे है मुग्धा का कौतूहल, मध्या का अतर्द्वंद्व तथा प्रगल्भा का अबाध विलास-प्रेम। उसमे है सपत्नी की ईर्ष्या और परकीया के हृदय की ज्वाला। उसमें है स्वाधीनपतिका का सहज अभिमान और विप्रलब्धा की घोर निराशा, वासकसज्जा का सरल विश्वास और खडिता की मर्म-भेदी विडबना, प्रवत्स्यत्प्रेयसी की आशका और आगतपतिका का उत्साह। उसमें है सयोग के यौवन की मादकता से छलकते हुए चित्र तथा वियोग की वेदना से उमडते हुए आँसू। क्या विदग्ध-काव्य-रसिको को मोहने के लिये यह सब पर्याप्त नही है?

सभव है मौलिकता की कसौटी पर कसने से इनमे से बहुत से चित्र, बहुत सी उक्तियाँ जूठी जान पड़ें, पर इसमें सदेह नही कि इनमें सहस्रो उक्तियाँ और सहस्रो चित्र ऐसे भी भरे पडे है जिनकी मौलिकता, सुदरता, सजीवता और स्वाभाविकता के लिये उनके कवि-हृदय-लेखक ही परम साधुवाद के पात्र है। सच तो यह है कि इतना वैभव सपन्न, इतना अनुभूति पूर्ण साहित्य और इतने अधिक परिमाण में, ससार के किसी भी देश में, ससार की किसी भी भाषा में कठिनता से ही होगा।

शास्त्रीय-दृष्टिकोण से जब हम नायिका-भेद के इस विशाल साहित्य को देखते है तो हमे उसमें मौलिकता की कोई कमी नही दिखलाई देती, पर यहाँ पर नायिका के नवीन भेदोपभेदो का, जिनकी उद्भावना ब्रजभाषा के आचार्यों ने की है, परिगणन करना विशेष उपयोगी न समझ कर हम पाठको का ध्यान नायिका-भेद-सबधी कुछ ऐसी बातो की ओर आकर्षित करना चाहते हैं, जो कि अवैज्ञानिक होने के कारण खटकनेवाली प्रतीत होती है।

पहली खटकने वाली बात है—नायिका-भेद-वर्णन का अत्यत सकुचित ससार, जिसमें शृंगार के अतिरिक्त जीवन के और किसी भाव तथा और किसी परिस्थिति का प्रवेश किसी भी रूप में वर्जित

१. गीति-काव्य को इस दृष्टि से प्रबंध-काव्य के अधिक निकट समझना चाहिये, यद्यपि उसमें कला और भाव दोनो के उत्कर्ष के लिये पर्याप्त अवकाश रहता है।

२. लेखक के रस-संबंधी विचारों के लिये उसका—"साइकालाजिकल स्टडीज इन रस" नामक ग्रंथ देखिये।

है। उदाहरण के लिये वास्तविक जीवन में नायिका के मान के कारण विविध प्रकार के हो सकते हैं, पर नायिका-भेद के ससार में उन कारणो का सीधा सबध एक मात्र पर-स्त्री-रति से ही होना चाहिये। इसी प्रकार परकीया के अ तर्गत द्वितीय 'अनुशयाना' के उदाहरणो मे पितृ-गृह से ससुराल जाती हुई नायिका को उसकी सखियाँ यही सात्वना देती हुई दिखाई देती हैं कि तुम्हारी ससुराल में भी 'उपपति' से मिलने के लिये पर्याप्त उपयुक्त 'सहेट-स्थल' है, अत तुम हृदय में धैर्य धारण करके प्रसन्नता के साथ श्वसुरालय को गमन करो। इस प्रकार के उदाहरणो से यह प्रकट होता है कि उपपति को अपनी प्रेमिका से मिलने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं है और वह बहुत आसानी से अपनी प्रेमिका के साथ-साथ उसके श्वसुरालय के नगर मे पहुँच जायगा।

दूसरी खटकने वाली बात यह है कि आचार्यों ने नायिकाओ की पूर्ण संख्या का एक दूसरे से गुणित कर दिया है, पर ऐसा करते हुए उन्होंने यह विचार नही किया कि एक वर्ग की कोई नायिका अन्य वर्गों में सब प्रकार की हो भी सकती है, या नही। उदाहरण के लिये देव ने 'भाव-विलास' में तीन वर्गों की १६, ८, तथा ३ प्रकार की नायिकाओ को मिला कर उनकी सख्या (१६×८×३=) ३८४ कर दी है। यह सख्या तभी सभव हो सकती है जब कि प्रथम वर्ग की सोलह प्रकार की नायिकाओ मे से प्रत्येक दूसरे वर्ग के अतर्गत कहे हुए भेदो के अनुसार आठ प्रकार की हो तथा इस प्रकार प्राप्त १२८ प्रकार की नायिकाओ में प्रत्येक तृतीय वर्ग के अतर्गत कहे हुए भेदो के अनुसार तीन प्रकार की हो, पर विस्तार करने पर बहुत से योग असभव प्रतीत होते है। प्रथम वर्ग की छ कनिष्ठा नायिकाएँ द्वितीय वर्ग के अतर्गत 'स्वाधीनपतिका' किस प्रकार होगी? प्रथम वर्ग की धीरा, अधीरा और मध्यमा नायिकाएँ द्वितीय वर्ग के अतर्गत खडिता अवस्था को छोड कर अन्य अवस्थाओ में किस प्रकार रक्खी जा सकेंगी? प्रथम वर्ग की धीरा तृतीय वर्ग मे अधमा तथा प्रथम वर्ग की अधीरा तृतीय वर्ग में उत्तमा कैसे हो सकेगी?

तीसरी आपत्तिजनक बात यह है कि यद्यपि नायिकाओ के विभिन्न वर्गीकरण किसी न किसी सिद्धात के आधार पर किये गये है, पर उन वर्गीकरणो को वैज्ञानिक ढग से पूर्ण बनाने का कोई प्रयत्न नही किया गया। उदाहरणार्थ अवस्था (अथवा परिस्थिति) के आधार पर किया गया नायिकाओं का वर्गीकरण देखिये। इसके अ तर्गत 'स्वाधीनपतिका' का भी एक भेद माना गया है, पर इसे हम किसी नायिका की अवस्था विशेष नही कह सकते। इस वर्गीकरण के अतर्गत सयोग की किसी अवस्था का निर्देश नही है, यद्यपि ऐसा होना अत्यत उचित एव आवश्यक था। परकीया के छ भेदो में से पाँच (कुलटा को छोड़कर) उसकी विभिन्न परिस्थितियो के ही द्योतक है। उन भेदो का कथन भी इसी वर्गीकरण के अतर्गत होना चाहिये था।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी आपत्तिजनक बातें हैं, पर उन सबका निर्देश यहाँ पर सभव नही है। वैज्ञानिकता की दृष्टि से ब्रजभाषा के आचार्यों ने जो इन त्रुटियो को हटाने का प्रयत्न नही किया, इसका एक मात्र कारण उनका सस्कृत के आचार्यों की दीर्घ परपरा के प्रति मोह तथा प्रेम था, न कि उनमें विवेचन-शक्ति का अभाव।

नायिका-भेद-सबधी साहित्य तथा उसके लेखको पर अनेक विज्ञ आलोचको-द्वारा सामाजिक दृष्टि से कुछ अत्यंत गभीर आरोप लगाये गए है। यहाँ पर सक्षेप में उनका निराकरण करना अत्यत आवश्यक प्रतीत होता है।

पहला आरोप यह है कि नायिका-भेद-सबधी साहित्य की रचना अत्यत विलासिता के वातावरण में हुई, उसकी सृष्टि कवियों-द्वारा अपने आश्रय-दाताओ की वासनाओ को उत्तेजित करने की दृष्टि से की गई। इस आरोप के संबध में जब हम गभीरता पूर्वक विचार करते है तो हमें तत्कालीन इतिहास से ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता, जिसके आधार पर उस युग के वातावरण को अन्य युगो के वातावरण की अपेक्षा हम अधिक विकासमय मान सकें। भारतवर्ष के प्राचीन कवियो ने

राजाओ तथा राज-दरवारियो के वैभव और विलास का वडा विषद एव ऐश्वर्य पूर्ण चित्र खीचा है। उस वैभव-पूर्ण विलास का एक अश भी रीति-कालीन राजा-महाराजाओ के दरवार मे रहा होगा, यह मानना कठिन है। आश्रय-दाताओ की प्रसन्नता के हेतु उनकी वासना को उत्तेजित करने के लिये शृगार-रस की वासना-पूर्ण कविता लिखी गई, यह कहने का अर्थ तो यह है कि शृगार-रस केवल उन वैभव सपन्न राजा-महाराजाओ के ही आकर्षण की वस्तु थी , न तो स्वय उन कवियो की उस रस मे कोई रुचि थी और न साधारण जनता की, पर ऐसा सोचना अत्यत भ्रम-मूलक है। शृगार-रस के प्रति जन-साधारण का भी उतना ही आकर्षण है जितना कि किसी विशिष्ट वर्ग का। इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि लोक-गीतो में भी शृगार-रस को वही प्रधानता मिली है जो कि उसे सुपठित समाज के साहित्य में प्राप्त है। रीति-कालीन नरेशो के प्रति लगाये गए इस निराधार घृणित आक्षेप को त्याग कर हमें उनके काव्य-प्रेम एव कवि-पोषण के लिये उनका आभार स्वीकार करना चाहिए, क्योकि उनके सहयोग के अभाव में उस युग में कविता की धारा यदि सर्वथा लुप्त नही हो जाती तो मद तो अवश्य ही पड जाती।

दूसरा आरोप यह है कि नायिका-भेद के लेखको ने राधा और कृष्ण को लेकर, जो कि जनता की भक्ति के आलवन थे, अश्लील लौकिक शृगार की सृष्टि की और इस प्रकार उन्होंने अपनी कुरुचि का परिचय तो दिया ही, उनकी रचना का जनता के ऊपर भी अत्यत दूषित प्रभाव पडा। राधा और कृष्ण जनता की भक्ति के आलवन थे, इसमे तो किसे सदेह हो सकता है, पर उनको नायिका और नायक के रूप में स्वीकार करके नायिका-भेद के लेखको ने किन्ही अश्लील उक्तियो का कथन किया, यह वात मानने में जरा सकोच होता है। कृष्ण-केलि-वर्णन की पौराणिक एव भक्त-कवियो की परपराओ से, जिनका दिग्दर्शन पहले हो चुका है—परिचित कोई भी व्यक्ति 'नायिका-भेद' के लेखको पर ऐसा आरोप लगाने का साहस नही कर सकता, फिर भी यदि कहा जाय कि भक्त-कवियो का दृष्टिकोण तो पारमार्थिक था और नायिका-भेद के कवियो का लौकिक, तो यह वात भी जरा कम समझ में आती है। पहली वात तो यह है कि नायिका-भेद के कवि भक्त नही थे, यह कैसे जाना गया? निश्चय ही वे विरक्त सन्यासी न होते हुए भी भक्ति-भावना से शून्य नही थे, इसका प्रमाण हमें उनकी रचनाओ में भी मिल जाता है। दूसरी वात यह है कि जव एक रचना में राधा और कृष्ण का नाम आ गया तो उसके पीछे उसके लेखक की भावना कुछ भी रही हो, पाठक के ऊपर तो उसका प्रभाव पाठक की भावना के आधार पर ही पडेगा। विद्यापति को भक्त-कवि नही माना गया, पर उनकी रचनाओ को गाते हुए स्वय चैतन्य महाप्रभु प्रेम-मग्न होकर मूर्छित हो जाते थे और फिर नायिका-भेद की रचना आज के सिनेमा-सगीत की भाँति सुकुमार वालको अथवा जन-साधारण की जिह्वा पर तो नही रहती होगी , वह तो वयस्क साहित्य-मर्मज्ञो के ही आस्वादन की वस्तु थी। ऐसी परिस्थिति में उस रचना का जनता अथवा समाज पर कोई दूषित प्रभाव पडा होगा, यह कल्पना तो सगत अथवा विश्वसनीय प्रतीत नही होती।

इस प्रकार अल्प रूप में व्रजभाषा के नायिका-भेद-सवधी-साहित्य की आधार भूत परपराओ तथा उसके अध्ययन के सभावित दृष्टिकोणो का निदर्शन-मात्र सभव हो सका है। जिस विषय पर लगभग तीन शताब्दियो तक विशाल साहित्य का निर्माण हुआ, उसके सम्यक् अध्ययन के लिये तो वास्तव में कई ग्रथो के लिखे जाने की आवश्यकता है। आशा है हिंदी के विद्वान् इस विषय के प्रति अपनी उपेक्षा का भाव हटाकर हिंदी-आलोचना के एक वडे अभाव की पूर्ति की ओर प्रवृत्त होगे।[1]

[1]. नायिका-भेद प्रकृति, अवस्था और स्थिति के अनुसार स्त्रियो के वर्णन को कहते हैं। वय के उतार-चढाव के साथ प्रेम की अवस्था में उनकी विभिन्न दशाओ को अकित करने के वाद प्रिय के मिलन और विरह तथा आगमन या प्रतीक्षा के, प्रेम की प्रतिकूलता में अथवा काम के जागृत होने पर लज्जा और

संकोच के द्वंद्व में—और सपत्नी-प्रति ईर्षा के भावो में, स्त्री-मन की क्या-क्या दशाएँ होती हैं, कवियों-द्वारा यह वर्णन ही 'नायिका-भेद' है। ब्रजभाषा के कवियो ने सस्कृत-रीति-शास्त्रो के आधार पर इसके सूक्ष्म से सूक्ष्म नये-नये भेद-विभेद करते हुए इसे वर्णनातीत बना डाला है। यदि हम इस नायिका-भेद सागर को गागर में भर कर निरखना-परखना चाहे तो इस प्रकार देख सकते हैं—

१, प्रकृति-अनुसार—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

२, धर्मानुसार—१, स्वकीया (ज्येष्ठा—कनिष्ठा)। २, परकीया—ऊढा (परोढा) अनूढा (उद्बोधिका)। ३, गुप्ता-भूत, भविष्य, वर्तमान। ४, विदग्धा (वचन और क्रिया)। ५, लक्षिता, ६, कुलटा। ७, अनुशयाना (संकेत विघट्टना, भाविसंकेतनष्टा, रमण-गमना)। ८, मुदिता, ९, स्वयदूतिका। १०, सामान्या (गणिका)।

३, वय-अनुसार—१, मुग्धा (अज्ञात-ज्ञात यौवना,—नवोढा-विश्रब्धनवोढा)। २, मध्या, ३, प्रौढा—मान-भेदानुसार मध्या-प्रौढा के धीरा, अधीरा, धीराधीरा, क्रियाभेदानुसार—रतिप्रीता, आनद-समोहिता, स्वभावानुसार—अन्यसंभोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता, मानवती, गर्विता—रूप और प्रेम गर्विता।

४, अवस्थानुसार—प्रोषितपतिका, खडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका (कृष्णाभिसारिका, शुक्लाभिसारिका, दिवाभिसारिका) प्रवत्स्यत्पतिका, आगत्पतिका।

५, जाति-अनुसार—पद्मिनी, चित्रणी, शंखनी, हस्तिनी।

६, लोक-भेदानुसार—दिव्य, अदिव्य, दिव्यातिदिव्य वा दिव्यादिव्य।

७, भरत : मतानुसार—देवी, देविरीध, गांधर्वी, मानुषी, शुद्धमानुषी, गौरी, लक्ष्मी, सरस्वती, कन्या, बाला, तरुणी, प्रौढ़ा।

१, रसीलन ने परकीया के असाध्या (सभीता, गुरुजन-सभीता, दूती-वर्जिता, प्रतिज्ञाता, खल-पृष्टनायक), सुखसाध्या—वृद्धवधू, बालवधू, नपुंसकवधू, विधवा, गुनीवधू, रिक्षवतोवधू और निरंकुशा आदि भेद किये हैं। २, गुप्ता के प्रत्यक्ष और भुविभरत, ३, क्रियाविदग्धा के पतिवंचिता, दूतीवंचिता, लक्षिता के हेतुलक्षिता, सुरतलक्षिता, प्रकाशलक्षिता, रमणगामना के स्वैनाधिष्ठित, संकेतस्थलरचनानुगमन, प्रेम-अस्थानाधिष्ठज्ञ, संकेतवर्णवनुगमननष्टमाना, सामान्या के मध्य-स्वतंत्र, जननी आधीना, नेमता, प्रेम-दुःखिता भेद माने हैं। मुग्धा के देव कवि ने—वय.संधि, नववधू, नवयौवना, नवलअनंगा, सलज्जरतिका, रसलीन ने अंकुरितयौवना, शैशवयौवना, नवयौवना, अज्ञात तथा दीर्घातियौवना, नवल अनंगा के (प्रवदित काम-विदितकाम), नवलवधू (नवोढा, लज्जाप्रासक्तिरतिकोविदा) भेद माने हैं। देव ने मध्या के रूढ-यौवना, प्रादुर्भूतमनोभवा, प्रगल्भवचना, विचित्रसुरता, रसलीन ने उन्नतयौवना उन्नतकाम, प्रगल्भवचना, सुरतविचित्रा, लघुलज्जा भेद किये हैं। प्रौढ़ा के देव कवि ने—लब्धापति, रतिकोविदा, आक्रांता, सविभ्रमा, रसलीन ने निजपति अनुरागवती, उद्भटयौवना, मदनमाती, लब्धापति, समस्तरतिकोविदा, आनंदसमोहिता और रतिप्रिया के अनंतर पतिदु.खिता, मूढपतिदु.खिता, बालपतिदु खिता, वृद्धपति दु.खिता के बाद मध्याधीरा धीरा का आकृतिगोपना भेद माने हैं।

गुजरात के ब्रजभाषी शुक-पिक

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

रसमूल ब्रजभाषा की श्रीवृद्धि में, उसके चिर प्रशसनीय अतुल भडार को अधिकाधिक भरने मे, केवल व्रजवासियो अथवा उत्तर प्रदेश-निवासियो का ही सहयोग नही रहा, अपितु भारत के विभिन्न-प्रातो—गुजरात, राजस्थान, पजाव, विहार, वगाल, महाराष्ट्र और दक्षिण के उस प्रात का भी, जिसकी भाषा के प्रति इतर प्रातवासियो का कहना है कि वह 'मिट्टी के पात्र मे ककड भर कर वजाने जैसी है', का पूरा सहयोग था। कारण चाहे ब्रजभाषा की कोमलता हो या उसकी भाव-विभूति के प्रति उनका आदर अथवा उसके सास्कृतिक सदेश तथा साहित्यिक सौष्ठव के प्रति उनकी भूरि-भूरि भक्ति, पर इन सभी का उसके प्रति हार्दिक स्नेह था, यह नि सकोच कहा जा सकता है। चौहानराज पृथ्वीराज के प्रसिद्ध कवि चदवरदाई, सिक्ख-सप्रदाय के आदि प्रवर्त्तक गुरु नानक, गुरु गोविंद सिंह, महाराज रणजीत सिंह, वीर-भूमि मेवाड के महाराणा कुभ, जोधपुर के राठौडराज महाराज जसवतसिंह, बीकानेर के महाराज पृथ्वीसिंह, किशनगढ के महाराज भक्ताग्रगण्य सावतसिंह प्रसिद्ध नाम 'नागरीदास', आपके भ्राता, दासी वनीठनी, जयपुर के महाराज सवाई प्रतापसिंह, मध्यभारत के महाराज इद्रजीत—ओडछानरेश, महाकवि केशवदास तथा रायप्रवीण (स्त्री) आदि से लेकर 'छत्रप्रकाश' के रचयिता लालकवि, महाराज छत्रसाल, रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह तथा महाराज रघुराजसिंह, महाराष्ट्र के हिंदुत्व-रक्षक प्रात स्मरणीय महाराज शिवाजी, सभाजी साहु उपनाम—'नृप शभु' कवि, विहार के मैथिल-कोकिल-विद्यापति, वगाल की 'व्रजवोली' के गायक—उसके अनन्यतम उपासक—अनतदास, उद्धवदास, कविरजन, कवि वल्लभ, कृष्णदास, कृष्णदास कविराज, गिरिधर, गोकुलानद, गोपालदास, गोविंद घोष, गोविंद चक्रवर्त्ती, गोविंददास, गौरसुदर, घनश्यामदास, चडीदास, चद्रशेखर, चपतिपति, चाँद काजी, जगदानद ठाकुर, जगदानद ठाकुर—द्वितीय, जगन्नाथदास, जगमोहन, ज्ञानदास, दयालदास, दु खिनी, नरहरि चक्रवर्त्ती, नरोत्तमदास, नृसिंहदास, नेमानद, परमानद, प्रेमानद, भीम द्विज, भूपति, मनोहरदास, माधवदास, माधवेद्रपुरी, मुरारिदास, मोहन, यदुनदन, यदुनाथ, रघुनाथदास, राधामोहन, राधावल्लभ, रामानद, राय-शेखर, लक्ष्मीकात, लोचनदास, वलराम, वल्लभ, वल्लभीदास, वसतराय, वशीदास, वशीवदन, वासुदेव, वृ दावनदास, शकर घोष, शचीनदन, शशिशेखर, शिवराम, शिवा, शिवानद, सालवेग, सुदरदास और सैयद मूर्त्तिजा आदि अनेक ज्ञात-अज्ञात व्रजभाषा के सेवक हुए हैं जिन्होंने व्रजभाषा की—उसके साहित्य की तन, मन, धन से उपासना की। उसके श्रुति-मधुर अति कोमल गीत गाये। गुजरात-प्रात भी व्रजभाषा की साहित्य-साधना में भारत के किसी प्रात से पीछे नही, अपितु आगे रहा है। उसने भी व्रजभाषा के कितने ही कोमल-कवि उत्पन्न किए है, जिन्होने व्रजभाषा साहित्य के भडार को अपनी सुदर रमणीय रचना-रत्नो से भरा है। साथ-ही वह व्रजभाषा-साहित्य के प्रसार में तथा उसके सरक्षण मे भारत के अन्य प्रातो से कही अधिक जागरुक रहा है। उदाहरण के लिए सूरदास, नंददास, परमा-नददास, कुभनदास, चतुर्भुजदास, गोविंदस्वामी तथा छीतस्वामी आदि अष्टछाप के कवियो के अतिरिक्त इनके अग-प्रत्यग-रूप अन्य अनेको व्रजभाषा-गेय-पद-रचयिताओ के नाम लिए जा सकते हैं। गुजरात ने इनके कीर्त्तन रूप समृद्ध-साहित्य का अपने क्रोडमें आदर के साथ भली-भाँति लालन-पालन किया है। व्रज से दूर होने के कारण यद्यपि वहाँ व्रजभाषा का प्रचार और प्रसार होना सुगम न था। मुसलमानो तथा मरहठो के निरतर आक्रमण हो रहे थे। अशाति का साम्राज्य चारो ओर फैला होने के कारण

साहित्य-सेवा का अभाव था। अन्य प्रातो की भाँति वहाँ कवियो को आश्रय देने वाले राजा, महाराजा, जमीदार, जागीरदार, सेठ-साहूकार भी न थे। स० १७४० वि० के लगभग गुजराती-भाषा की भी उन्नति होने लगी थी। उसके प्रसिद्ध कवि प्रेमानद अपने अनेक अनुयायियो के साथ गुर्जरभाषा को उठाने में तथा उसको निखारने में तन-मन-धन से जुट गए थे। अत. इस प्रकार की अनेक कठिनाइयो के रहते हुए भी उसने जो व्रजभाषा की सेवा में सहयोग दिया है, वह अन्य प्रातो से कम नहीं अपितु अधिक ही कहा जा सकता है।

गुजरात-प्रात ने व्रज से दूर बसते हुए भी व्रजभाषा को जो इतना अपनाया उसके कारण थे। विक्रम संवत् की पंद्रहवी शताब्दी के पूर्व 'गुजराती-भाषा केवल बोलचाल की भाषा थी, वह इतनी प्रौढ भी नही थी कि उसके द्वारा कोई कवि मनोगत भावो को भली-भाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती-भाषा के प्रथम कवि जूनागढ वासी भक्त प्रवर 'नरसी मेहता' हैं, जिनका कविता-काल सवत् १५१२ वि० माना जाता है। इस समय तथा इसके बाद भी गुर्जरदेश-वासी सभी शिक्षित वर्ग सस्कृत या उस समय के प्राप्त व्रजभाषा-साहित्य को ही उलटा-पलटा करते थे। गुजराती-भाषा के साहित्यिक रूप ग्रहण करने से पूर्व—महाकवि चद, जल्हण, पद्मनाभ, विद्यापति, गोरखनाथ, रामानद, कबीर, सूर, तुलसी आदि अनेक कवियो ने शौरसेनी-भाषा के साथ-साथ डिंगल तथा पिंगल अथवा 'व्रजभाषा' की इतनी अधिक उन्नति कर दी थी तथा उसमें इतनी प्रौढता भर दी थी कि उसके द्वारा प्रत्येक भाव, विशेषत धार्मिक तथा आध्यात्मिक भाव सुगमता से व्यक्त किए जा सकते थे। अस्तु गुजरात अपनी अपरिपक्व-भाषा का मोह-त्याग एक उन्नत, सपूर्ण देश-प्रिय तथा भाव-भरी भाषा को अपनाने के लिए स्वाभाविक रूप से ही अग्रसर हुआ था और फिर गुजरात में वैष्णव-धर्म की प्रमुख शाखा 'वल्लभ-सप्रदाय', अर्थात् 'पुष्टिमार्ग' की अधिक प्रबलता रही। पुष्टिमार्ग के आदि प्रवर्त्तक महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य और उनके सुपुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी ने स्वसप्रदाय तथा स्वसिद्धातो के प्रचारार्थ अति मधुर व्रजभाषा को ही माध्यम बनाया। फलत पुष्टिमार्ग का प्राय समस्त साहित्य व्रजभाषा में है। इन लोक-नमस्कृत पिता-पुत्र के आठ मुख्य शिष्यो जो 'अष्टछाप' नाम से प्रसिद्ध और व्रजभाषा के धार्मिक साहित्य के सुदृढ स्तंभ है, साप्रदायिक सेवा-प्रणाली के अनुसार इन अष्टछाप के महाकवियो के 'कीर्तन' नित्य-प्रति सेवाओ के अवसर पर 'हलराये, दुलराये और मल्हराये' जाते है। इस कारण भी गुजरात में वैष्णव-धर्म-प्रचार के साथ व्रजभाषा-प्रचार भी प्रबलता से हुआ। वहाँ उसके प्रति श्रद्धा बढी, मान बढा। फलत व्रजभाषा को गौरवान्वित करने वाले श्रीकृष्णदास (अष्टछाप), दयाराम, मुक्तानद तथा ब्रह्मानंद जी जैसे गेय-पद रचयिता भक्त कवियो के साथ-साथ व्रजभाषा की रीति-कालीन परिपाटी के भी अनेक कोमल कवि वहाँ उत्पन्न हुए। इनका यश यद्यपि समय के पृष्ठो पर अकित हुआ फिर भी आज वह धुँधला पड चला है।

गुजरात में श्री नरसी मेहता से पूर्व व्रजभाषा या उस समय की भाषा का कोई कवि हुआ अथवा नही, इसका आज पता नही चलता। गुजरात में व्रजभाषा का अभ्युदय यथार्थत सवत् १७०० वि० के लगभग हुआ, जिसे हिंदी के इतिहास में 'रीति-काल' के अभ्युदय का समय कहा जाता है। इस समय गुजरात में कितने ही व्रजभाषा के कवि हुए जिन्होने अपनी-अपनी सुदर रचनाओ से व्रजभाषा-साहित्य के भंडार को भरा। इसी काल मे गुजराती भाषा तथा उसके साहित्य पर व्रजभाषा का प्रभाव भी गहरा पडा। यदि गुजराती भाषा पर व्रजभाषा का प्रभाव न पड़ता, तो आज उसका दूसरा ही रूप होता। रविदास पटेल के आश्रित 'श्यामल भट्ट' ने तुलसीकृत रामायण को देख कर ही गुजराती में दोहा-चौपाई जैसे व्रजभाषा के छदो में काव्य-रचना की। इनकी कविता में व्रजभाषा का अधिक समावेश है। सवत् १७४० के लगभग कवि प्रेमानंद ने अपने पैंतीस शिष्य-प्रशिष्यो-द्वारा व्रजभाषा के प्रति अश्रद्धा दर्शाते हुए वर्तमान गुजराती-साहित्य की उन्नति की नीव डाली। इसके बाद व्रजभाषा का ह्रास वहाँ होता गया। फिर भी सौराष्ट्र में व्रजभाषा के प्रेमी और कवि अधिक से अधिक हुए। कुछ भावुको ने तो व्रजभाषा को धार्मिक-भाषा समझ कर ही उसमें कविताएँ की।

विक्रम की १२ वी शताब्दी के लगभग प्राकृत से शौरसेनी और शौरसेनी से व्रजभाषा का विकास हो चुका था। उसके अपने इस बाल्यकाल में ही अधिक तो नही, पर उँगली पर गिनने योग्य 'पद्मनाभाचार्य', महाराज 'मानसिंह तोमर' (तनवर), 'लाला देवी' बैजू बावला आदि अनेक उद्गायको का प्रादुर्भाव हो चुका था। इन्होंने अपनी-अपनी शैली में नये-नये शब्दो का समावेश कर भाषा में स्थिरता लाते हुए उसका भडार-भरना प्रारभ कर दिया था। उधर गुजरात के तत्कालीन कवियो ने जो कुछ लिखा वह सस्कृत अथवा अपभ्रश मे ही लिखा। प्राकृत-भाषा का अतिम वैयाकरण 'हेमचद्र सूरि' गुजरात का था। उसने स० ११५४ में जन्म लिया और गुर्जरराज 'जयसिंह' की आज्ञा से "सिद्ध हेम-शब्दानुशासन" नाम का प्राकृत-व्याकरण रचा। अन्य लेखको ने भी 'व्याकरण' तथा 'पिंगल' पर ग्रथ लिखे। इन में नीचे जो टिप्पणियाँ भावो को सुगमता पूर्वक ग्रहण कराने की इच्छा से दी गयी है, उन मे ही उस समय की प्रचलित भाषा मिलती है, इसी में गुजराती का प्राचीन रूप है। 'मुग्धाववोध औक्तिक' नाम का व्याकरण 'देवसुदरगुरु' के किसी शिष्य ने स० १४०० वि० के लगभग लिखा था, जिससे वर्त्तमान भाषाओ की उत्पत्ति का ज्ञान-प्राप्त करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है।

सवत् १४४४ से सवत् १६८० वि० तक व्रजभाषा की बडी उन्नति हुई। सूरदास, तुलसीदास, हितहरिवश, व्यास जी, स्वामी हरिदास आदि ने अपनी-अपनी ललित-मधुर रचनाओ द्वारा अपूर्व धार्मिक-स्रोत बहा दिया था। मुगल-सम्राट् 'अकबर' ने भी कवियो तथा सगीतज्ञो को सम्मान और आश्रय दे कर तथा व्रजभाषा में स्वय रचना रच कर व्रजभाषा को अधिकाधिक उत्कृष्ट बनाने में किसी प्रकार की कसर नही रखी। इस समय गुजराती-भाषा के पाँच कवि हुए है। इन में से तीन तो केवल नाम मात्र के कवि थे। शेष दो ने जो कविताएँ रची उन में तत्कालीन उत्तर-भारतीय जैसी पुष्ट व्रजभाषा का स्वरूप तो देखने में नही आता, पर गुजराती-मिश्रित व्रजभाषा का शैशव रूप अवश्य लक्षित होता है। सच बात तो यह है कि वह समय 'शैव मत' के ह्रास तथा वैष्णव-धर्म के उत्कर्ष का था। वैष्णव-धर्म का मुख्य साधन 'भक्ति' है। अत इस व्रजभाषा के यौवन-रूप माध्यमिक-काल में 'भक्त-कवि' ही अधिक हुए, जिन्होने गोस्वामी तुलसीदास जी के अमर वचनो—

"स्वांतः सुखाय 'तुलसी' रघुनाथ-गाथा।"

को अपनाते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और विशेष कर लीलापुरुषोत्तम श्री कृष्ण के प्रेम मे उन्मत्त हो कर भक्ति-विषयक लोकोपकारी सरस रचनाएँ रची और समस्त भारत में धर्म का प्रचार बढाया।

वैष्णव-धर्म की सभी शाखाओ ने कविता-द्वारा ही अपना-अपना मत फैलाया है, जिससे धर्म-परिवर्द्धन के साथ-साथ व्रजभाषा-साहित्य की अच्छी उन्नति हुई। गुजरात में इस समय के तीन व्रज-भाषा के कवियो का पता चलता है। यो तो इनकी कविता का ढग कुछ निराला है, पर इन तीनो में से एक ने व्रजभाषा की अपेक्षा गुजराती में तथा शेष दो ने गुजराती की अपेक्षा व्रजभाषा में अधिक रचना की।

गुजराती भाषा के प्रथम कवि 'नरसी मेहता' वडनगरा नागर जाति के कुलीन ब्राह्मण 'जूनागढ' (सौराष्ट्र) के वासी थे। मेहता जी के कुटुबी शैव होने के कारण वैष्णव-धर्म के कट्टर विरोधी थे, पर आप की माता वैष्णव-धर्मावलवनी थी, जिस से आप को वैष्णव-धर्म का कुछ-कुछ ज्ञान हो गया। एक बार आप अपनी 'भाभी' से अपमानित हो घर-द्वार त्याग कर सगति-द्वारा श्री कृष्ण के पूर्ण भक्त हो गये। कहते है, इन के साथी निम्न श्रेणी के हिंदू थे। अतएव ससर्ग-दोष के कारण कुटुबियो ने इन्हें जाति-च्युत मान अपने जाति-भोज में समिलित नही होने दिया। इस पर आप के साथियो ने उन पर आक्रमण कर मेहता जी को जाति मे पुन लेने को वाध्य किया। यह भी प्रसिद्ध है कि भगवान श्रीकृष्ण ने ही मेहता जी की लाज रखने के लिए इन परगणित जातीय का रूप धारण कर आप की सहायता की थी। गुजरात के वैष्णव-समुदाय में आपके प्रति इस प्रकार की कितनी ही चमत्कार-पूर्ण रोचक कथाएँ प्रसिद्ध है।

नरसी मेहता के काल-निर्णय में मतभेद है। केशवराम-काशीराम जी शास्त्री ने आपका समय स० १४६९-७० वि० से स० १५३५ वि० के लगभग माना है। गुजरात के प्रसिद्ध कवीश्वर 'दलपतिराम' के यहाँ हस्त लिखित पुस्तको का अक्षय-भडार है, उस में नरसी मेहता कृत 'हारमाला' में 'रचना-काल' इस प्रकार दिया गया है,—

"सवत पद्रह वहोतरा, सपतमी सोम-वार।
वैसाख उजआली परव, नरसैंयें आपी हार ॥"

नरसी मेहता गुजराती-साहित्य के जन्म-दाता थे। आपने गुजराती में—'हारमाला', 'रास-लीला' तथा 'फुटकल पद' रचे।[1] आप के इन काव्यो में व्रजभाषा का बहुत कुछ प्रभाव है। इन्होंने व्रजभाषा में भी कुछ पद तथा 'साँवलदास ना विवाह' नाम से एक काव्य-रचना की। शिव सिंह जी ने अपने 'सरोज' में इनका उल्लेख व्रजभाषा के कवियो के साथ किया है और 'मिश्र-बंधुओं' ने अपने 'विनोद' में भी। स० १९०० के लगभग कृष्णानद व्यास देव ने अपने 'राग-सागरोद्भव' 'राग-कल्पद्रुम' में सूर, तुलसी, मीरा, तानसेन आदि भक्तो और कवियो की कविताओ के साथ इनकी भी रचनाएँ उद्धृत की है। राग-कल्पद्रुम, सरोज, तथा विनोद में इनकी जो रचनाएँ दी गयी हैं वही गुजराती में भी मिलती है। इस लिए इन्हें व्रजभाषा का कवि तो नही कहा जा सकता, पर इनकी रचना में व्रजभाषा की सुदर झलक है, यह नि सदेह कहा जा सकता है। स० १६४० वि० में 'प्रेमा-नद भट्ट' ने इनके जीवन की मुख्य-मुख्य विलक्षण घटनाओ का वर्णन—"नरसी मेहता नू मामेरू" नामक काव्य-ग्रथ में वडी सुदरता के साथ किया है। अस्तु, इनकी कविता रस-पूर्ण है और उसका प्रत्येक चरण भगवान् श्री कृष्ण के प्रेम में मत्त तथा आत्म-विस्मृत-भक्त-हृदय के चमत्कृत उद्गार युक्त है।

स० १५५३ के लगभग 'चलोतर' (गुजरात) मे पुष्टमार्गी 'अष्टछाप' के चतुर्थ रत्न 'कृष्ण-दास' का जन्म वहाँ की 'कुनबी' जाति में हुआ। कृष्णदास व्रजभाषा-साहित्य-सूर्य श्री सूरदास जी के बाद महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी के प्रधान शिष्य और उनके परम सेव्य श्री श्रीनाथजी के मदिर के अधिकारी थे। ये भारतीय सगीत के परपरा-मूलक गायक, काव्य-मर्मज्ञ और पद-रचना में अग्रणी थे। आप के रचे कोई ग्रथ-विशेष तो नही मिलते, स्फुट-पद अधिक मिलते है। श्रीसूर के 'सागर' की भाँति आप की पद-रचनाओ का सागर—'कृष्णसागर' मिला है। सगीत, काव्य और कलाओ के मर्मज्ञ गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी ने इनकी रचना सौष्ठव को देख कर इन्हें पुष्टिमार्गी आठ प्रधान पद-रचयिताओ में, जिन्हें सप्रदाय में 'अष्टछाप' अथवा भगवान् के 'अष्टसखा' कहा जाता है, समिलित किया। हिंदी-साहित्य की 'खोज रिपोर्टों' मे कई कृष्णदास-कवियो का उल्लेख है और उनके ग्रंथ—

"जुगल मान-चरित्र, भ्रमरगीत, प्रेम-तत्त्व-निरूपण, भक्तमाल की टीका, वैष्णव-वंदन, प्रेम-रस-रासि, हिंडोरा लीला, दान लीला, और कृष्णदास की बानी"

—आदि लिखे है। परतु उक्त ग्रथ-रत्न-समुच्चय अभी सदिग्ध है। हिंडोला तथा दानलीला इन के रचे पदो का एक प्रकार से सकलन है। कृष्णदास कोरे कवि ही नहीं, अति प्रबध-पटु भी थे। श्री श्रीनाथ जी के मदिर के अधिकारी (व्यवस्थापक) होने के कारण आपने मदिर की सुव्यवस्था, भोग-राग का प्रबध बडे अच्छे ढग से किया था। इन के पद-साहित्य की भाषा सुदर, भाव गभीर और सगीत-पटुता स्पर्द्धा की वस्तु है। दो उदाहरण जैसे—

"मो मन गिरिधर-छबि पै अटक्यौ।
ललित-त्रिभंगी-अंगँन पै चलि, गयौ तहाँ हीं ठटक्यौ ॥

[1] केशवराम-काशीराम जी शास्त्री ने नरसी मेहता के २७ ग्रंथोंकी सूचना दी है। और कवीश्वर दलपतिराम के पुस्तकालय में—"पदसंग्रह, हारसमय के कीर्तन (हारमाला सं० १७६४ की प्रति), चातुरी-छत्री सी" तीन पुस्तकें है।

सजल-स्याँम-घँन-चरँन लीन ह्वै, फिर चित अँनत न भटक्यौ ।
'कृष्णदास' कियौ प्रौंन-नुछावर, यै तन जग-सिर पटक्यौ ।।"

❀

"ग्वालिन, कृष्ण-दरस सो अटकी।
बार-बार पनघट पै आवत, सिर जँमुना-जल-मटकी ।।
मनमोहन कौ रूप-सुधा-निध, पीयत प्रेंम-रस गटकी ।
'कृष्णदास' धनि-धन्य राधिका, लोक-लाज सब पटकी ।।"

—नित्यकीर्त्तन-सग्रह

मेडतिया राठौडराज रत्नसिंह की कन्या 'बाई मीरा' का 'द्वारिका' (सौराष्ट्र) में अधिक समय रहने के कारण गुजराती-साहित्यकार उन्हें गुजरात की कवियित्री ही मानते है। मीरा का विवाह स० १५७३ वि० के लगभग चित्तौड के प्रसिद्ध सिसोदिया-कुल में हुआ था। विवाह के कुछ दिन बाद ही ये विधवा हो गई, पर इसका उन पर कुछ प्रभाव न पडा और उन्होने श्री 'गिरिधरलाल' से नाता (स्नेह) जोड लिया। ये सदा साधु-सेवा और भगवद्-भजन मे जीवन-व्यतीत करने के लिए चित्तौड-त्याग कर वृदावन चली आई। वृदावन भी थोडे ही दिन रही तथा शेष जीवन द्वारिका में व्यतीत किया। ये रात-दिन 'गिरिधर-गुपाल' के गुण-गान में लीन रहती थी। कहा जाता है तत्कालीन राणा ने इनका चित्त साधु-सेवा और भगवद्-गुणानुवाद के गान से विरत करने के लिए कई गुप्त-प्रगट षड्यत्र रचे, पर ये अपने प्रण से न डिगी—न डिगी।

प्रेम-रस-मतवाली मीरा ने द्वारिका में रह कर 'ब्रजभाषा' तथा 'गुजराती' दोनो के साहित्य-क्षेत्र में पूर्ण अमृत-वर्षा की है। आपकी कविता में भक्ति-रस का अजस्त्र-स्रोत बहा है। गुजरात मे नरसी मेहता तथा मीरा बाई का बडा समान है। दोनो ने गुजराती-साहित्य को जन्म दे कर उसे अमर कर दिया है। इस लिए ही गुजरात के कवियो में इनकी गणना विशेष कर होती है।[1]

मीरा के समय-निरूपण के सबध में विभिन्न मत है। कोई मीरा को 'राणा कुभा' की रानी अथवा भक्ति-भावना की पैतृक सपत्ति मान भक्त और योद्धा वीर मेडतिया 'जयमल' की कन्या लिखते हुए इसके अनुसार ही जन्म-काल स्थिर करते है। चौरासी वैष्णवो की वार्त्तानुसार आपका जन्म स० १५५५ से १५६० वि०, प्रसिद्ध इतिहास-लेखक 'मुशी देवीप्रसाद'—'कर्नल टाड' और 'कात्तिक प्रसाद खत्री' के मतो का उल्लेख करते हुए स० १५५० तथा १५५५ वि० के बीच, हरिविलास सारदा, गोरीशकर-हीराचद ओझा, डा० रामकुमार वर्मा और परसुराम चतुर्वेदी स० १५५५ वि० के आस-पास का समय मानते है। इसी प्रकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी, वियोगी हरि स० १५५७, मेकालिक स० १५६१, बृहद् काव्य-दोहन के रचयिता—तनसुखराम-मनसुखराम स० १५५० से १५६० वि० के बीच, कुँवर कृष्ण, विष्णुकुमारी 'मजु' तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा आपका जन्म सं० १५६० वि० मानते है। ऊपर उद्धृत जन्म-समय के निर्णयो में विभिन्नता होते हुए भी यह माना जा सकता है कि मीरा बाई का जन्म स० १५५० से १५६० वा ६१ के बीच का है। तथ्य जो कुछ हो, पर—

'संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्...।'

[1], बाई मीरा ने गुजराती भाषा में भी पद रचना की यह समझ में नहीं आता; क्योकि आप की प्राप्त रचनाओ का जो भी भडार मिला है उसे देखने पर उसे 'डिंगल-पिंगल' जो ब्रजभाषा का ही डिंगल की जोड का अनुप्रास-युक्त (पिंगल) नाम है, का मधुर मिश्रण ही कहा जा सकता है। साहित्य के इतिहासकारो ने आप की टवर्ग-युक्त तथा सानुनासिक भाषा देख कर आपको गुजराती की कवियित्री मान लिया है। अत.—'महाजनो येन गतः स पथा.' के अनुसार हम ने भी इन्हें गुजराती कवियित्री लिखा है, पर वास्तव में यह बात नहीं है।

की एकमात्र उदाहरण गोपी-रूप 'मीरा बाई' की रम्य-रचनाओ में उनकी अलौकिक भक्ति, भावो का मधुर उद्रेक और रहस्योन्मुखी गंभीर प्रतिभा का सुदर सयोग है और रचना अद्वितीय। वह सीधे हृदय पर चोट करती है। पदो मे न तो कोई कथा की अतर-धारा है और न किसी साहित्यिक-परपरा का सहारा, वह तो मुक्तक के रूप में अत सलिला सरस्वती की भाँति सीधे-सादे ढग से बही है। भाषा सरल, स्पष्ट तथा सीधी है। छद, भाव और अनुभूति का सयोग है। पदो में राग है, अदम्य आवेग है—बधनो की सीमा उल्लघन करने का उत्साह है, पर उनमें लोक-लाज और समाज का भय नही। नाभादास जी ने ठीक ही तो कहा—

"सदृस-गोपिका-प्रेम, प्रगट कलिजुग दिखरायौ।
निर अंकुस अति निडर, रसिक-जस रसना गायौ॥
दुष्टन दोष-बिचार, मृत्यु कौ उद्यम कीयौ।
बार न बाँकौ भयौ, गरल अमृत ज्यो पीयौ॥
भक्ति-निसान-बजाइ कैं, काहू तें नाहिन लजी।
लोक-लाज-कुल-सृंखला, तजि 'मीरा' गिरिधर-भजी॥"[1]

—भक्तमाल

मुशी देवीप्रसाद ने मीरा बाई रचित ग्रथो की सूची मे—'गीतगोविंद की टीका', नरसी-मेहता का माहिरा, सोरठ-पद सग्रह और फुटकल पदो का उल्लेख किया है। प० रामचद्र शुक्ल अपने इतिहास-ग्रथ में "राग-गोविंद" का और कृष्णलाल-मोहनलाल झवेरी इनके रचित कुछ 'गर्वा' गीतो के रचने का उल्लेख किया है। गर्वा गुजरात की मधुर वस्तु है। सगीतज्ञो मे 'मीरा की मलार' प्रसिद्ध है।[2]

✓ मीरा बाई के पदो की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा, ब्रजभाषा-मिश्रित राजस्थानी अथवा ब्रजभाषा-मिश्रित गुजराती देखने में आती है।

यहाँ मीरा बाई के भाव-मधुर, भाषा-मधुर और समय तथा छद की—राग की कोमलता से आयुक्त उदाहरण रूप में दो पद यथेष्ट है। जैसे—

[1] श्री व्यास जी (हरीराम व्यास ओड़छा) ने अपनी 'बाणी' में एक पद-द्वारा अपने सम-सामयिक भक्त-कवियो का वर्णन किया है—

'बिहारै, स्वामी-बिन को गावै।
बिन हरिबंस राधिका-बल्लभ की रस-रीति सुनावै॥
रूपसनातन बिन को बृंदा-बिपिन-माधुरी पावै।
कृष्णदास बिन गिरधरजू कौं, को अब लाड़-लड़ावै॥
मीरा के बिन को भक्तन कौं, पिता-जान उर-लावै।
स्वारथ-परमारथ जैमल बिन, को सब-बंधु कहावै॥
परमानंददास बिन को अब, लीला-गाइ सुनावै।
सूरदास बिन पद-रचना को, कोन क्वी कहि गावै॥

यहाँ 'स्वामी' से मतलब 'श्री हरिदास स्वामी' से है।

[2] मीरा की मलार में ऋषभ-धैवत चढे, गाधार-मध्यम और निषाद उतरे लगाये जाते है। आरोह में गाधार और निषाद को छोड देते है तथा अवरोह में भी इन्हें कम ही लगाते है। मलार राग के अनेक भेद है, जैसे—मेघ मलार, शुद्ध मलार, गौड़ मलार, रामदासी मलार, नट मलार, सूर मलार, धूरिया मलार, मीरा की मलार, चरजूदास की मलार, सोरठ मलार, मोहन मलार, मीराँ मलार, चंचल मलार, श्रावणी मलार, देश मलार और रूपमंजरी मलार।

"छाँड़ो लँगर, मोरी बहियाँ गहौ ना।
मैं तो नारि पराए घर की, मेरे भरोसें गुपाल रहौ ना।।
कित मेरो तुम बाँह गहत हो, नैंन-जोर मेरे प्रांन हरौ ना।
❀
वृंदावन की कुंज-गलिन में रीति-छाँडि अनरीति करौ ना।
'मीराँ' के प्रभु गिरिधर नागर, चरँन कमल चित टारे टरौ ना।।
❀
सखी-री, मेरी नींद नसाँनी हो।
पिय कौ पंथ निहारत सिगरी रैंन-बिहाँनी हो।।
सब सखियँन मिलि सीख दई, मन एक न माँनी हो।
बिन देखें कल नाहीं जिय, ऐसी ठाँनी हो।।
अग-अंग व्याकुल भई, मुख पिय, पिय, बाँनी हो।
अंतर बेदँन बिरह की, वौ पीर न जाँनी हो।।
ज्यौं चातक घँन कौ रटैं, मछरी जिमि पाँनी हो।
'मीराँ' व्याकुल बिरहनी, सुध-बुध बिसराँनी हो।।

भाषा-मणि व्रजभाषा के ही नही, उसकी वर पुत्री 'खडी बोली' के नाते भी 'दादू दयाल' का नाम व्रजभाषा के क्षेत्र में ही लिया जाता है। रामानुज सप्रदाय की एक शाखा विशेष 'दादूपथी' के नाम से प्रसिद्ध है। दादू उसके सस्थापक कहे जाते है। दादू का जन्म समय स० १६०२ वि० माना जाता है, पर जन्म-स्थान पर मत-भेद है। किवदति तो ये है, कि ये—'लोदीराम नागर ब्राह्मण को अमदाबाद की साबरमती नदी में बहते हुए मिले थे।' अत जाति का निश्चय करना कठिन है। प० चद्रिका प्रसाद त्रिपाठी तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन ने दादू और दादू-पथ के सबध में अधिक खोज की है। इन विद्वानो की खोज का निष्कर्ष अभी कम ही देखने में आया है। प० सुधाकर द्विवेदी इनका जन्म 'जौनपुर' (उत्तर प्रदेश) मानते है, पर उस में कुछ तथ्य नही है। दादू दयाल को कोई ब्राह्मण, कोई धुनियाँ और कोई—मोची मानते है। धुनियाँ मानने वाले इनका पूर्व नाम—दाऊद जो पीछे दादू के रूप में बदल गया, इनके पिता का नाम—सुलेमान, स्त्री का नाम हव्वा और गुरु का नाम बुरहानुद्दीन बताते है। इसी प्रकार इनके पुत्रो के नाम—गरीबदास और मिस्कीनदास तथा पुत्रियो के नाम—अव्वा और सव्वा। कुछ इनके नाम—नानी बाई व माता बाई भी बतलाते है।

"गरीब, गरीबी गहि रह्या, मसकीनी मसकीन।"

इनके गुरु के सबध में भी सदेह है। कोई इनके गुरु कमाल (कबीर के पुत्र) और कोई बुरहानुद्दीन, तथा कोई—वृद्धानद वा बुड्ढन बाबा का नाम लेते है। दादूदयाल भी इस सबध में चुप है। वे इतना ही कहते है—

"गैब माँहि गुरुदेव मिला, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरा कर धरा, दछया हमें अगाध।।"

—दादूबानी-दछ्या : प्रयाग

दादू के इस कथन से गुरु-रूप किसी पुरुष-विशेष की ओर सकेत करना लक्षित नही होता। अपितु कई अन्य प्रसगो-द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी अलौकिक व्यक्ति वा स्वय भगवान् के लिए यह उद्गार प्रगट किया गया है। लोगो का अनुमान है कि ये बुड्ढन कबीर की शिष्य-परपरा के थे, जिनका वश-वृक्ष क्रमश —कबीर, कमाल, जमाल, विमल और बुड्ढन बताया जाता है।

दादू बड़े दयालु थे, क्षमाशील भी अत्यत थे, इसी कारण इनका नाम—दादूदयाल पड़ा। इन्हो ने प्राय. समस्त राजपूताने की यात्रा की थी। दादू की कविता से इनके धार्मिक विचार भली-भाँति प्रगट होते हैं। ये हिंदू-मुसलमानो में भेद नही मानते थे। मूर्त्ति-पूजा, अनेकेश्वरवाद के कट्टर विरोधी थे। कबीर के समान इन्होंने भी अपने ज्ञान-मार्ग का प्रचार करने के लिए 'दोहे' और 'साखियाँ' रची, पर कबीर और दादू मे इतना भेद है कि इन्होंने किसी के मत का खडन नही किया,—विवेक-पूर्ण शब्दो में निर्भय हो कर अपने मत का प्रतिपादन अवश्य किया है। दादू की कविता में छदोभग की भरमार है, साथ ही उसमें भावो की उत्कृष्टता तथा सत्योक्ति—किसी से कम नही है। अपनी बहुत-सी कृतियो में ये कबीर से कही अधिक बढ गये है। आपने पजाबी, गुजराती और राजस्थानी आदि मिश्रित भाषाओ में कविता की है, फिर भी भाषा सरल और शब्दो में यथेष्ट बल के साथ परिवर्त्तन किया गया है। दादू की कविता से पता चलता है कि ये 'राम-भक्त' थे। इनके राम नर-तन-धारी अयोध्यापति महाराज दशरथ के पुत्र नही—निराकार, निराधार, निर्लेप, सर्वज्ञ, व्यापक परब्रह्म हैं। दादू ने इनका सबोधन 'रोम-रोम में रमि रहे' के कारण 'राम-नाम' से किया है।

दादू का सप्रदाय 'परब्रह्म-सप्रदाय' और उनके स्थान को 'अलख दरीबा' कहा जाता था—

"आसिक असली साध सब, अलख दरीबे जाइ।
साहिब दर-दीवार में, सब मिलि बैठे आइ ॥"

—परचा-अग

इस स्थान को दादू ने 'चौगान' की उपाधि भी दी है। इससे ज्ञात होता है कि ये उसे दैनिक प्रपचो से परे विश्राम का स्थान मानते थे।

दादू की 'बानी' बीस हजार कही जाती है। जिसका अभी तक कोई प्रामाणिक सस्करण उपलब्ध नही है। दादू के शिष्य सतदास और जगन्नाथ ने इनकी 'बानी' का सग्रह वर्गीकरण-रहित 'हरडे वाणी' नाम से किया था। इनके बाद इनके शिष्य 'रज्जब' ने इस सग्रह को ३७ विभिन्न अगो वा प्रकरणो में विभक्त कर 'अग-बधू' नाम से उपस्थित किया। तत्पश्चात् प० सुधाकर द्विवेदी ने 'रज्जब-प्रणाली' का अनुकरण करते हुए 'काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा' से २६२३ साखियाँ तथा ४४५ पद प्रकाशित कराये। इसी प्रकार—एक दूसरा सग्रह, डाक्टर राय दलजगसिंह का भी है, जो जयपुर से प्रकाशित हुआ था। इन सब से प्रामाणिक एक तीसरा सग्रह भी है, जिसे प० चद्रिका प्रसाद त्रिपाठी ने सपादित कर अजमेर से प्रकाशित किया। इस में भी रज्जब के अनुसार ३७ अगो में २६५२ साखियाँ तथा २७ रागानुसार ४४५ पद है। प्रयाग के 'बेलवेडियर' प्रेस से भी इनका एक सग्रह निकला है।

दादू की कविता में गुजराती तथा राजस्थानी का बाहुल्य होते हुए भी ब्रजभाषा की झलक बहुत कुछ है। रचना में यथार्थोक्ति, गूढोक्ति, लोकोक्ति और उपमा-उत्प्रेक्षा-आदि का अच्छा जमघट है।

विक्रम स० १६८० से स० १८८० तक ब्रजभाषा का 'अलकृत-काल' माना जाता है। इस दो सौ वर्ष के काल मे ब्रजभाषा की प्रभूत उन्नति हुई। इस समय काव्य का प्रवाह धर्म की ओर न बह कर अलौकिक की आड में लौकिक शृगार की ओर बहा। इस प्रवाह के अधिनायक थे महा-कवि केशवदास'। यो तो इनसे प्रथम रीति-ग्रथो का प्रणयन होने लगा था, फिर भी रीति-प्रधान-काव्य के ये ही आदि प्रवर्त्तक माने जाते है। इस काल में महाकवि-सेनापति, महाराज जसवतसिंह, मतिराम, बिहारी, सूदन, भूषण देव, दास, बेनी, बेनीप्रवीण, ठाकुर, पद्माकर, ग्वाल-आदि अगणित उत्कृष्ट कवि हुए है, जिन्होने शृगार-प्रधान रचनाएँ की। सूदन और भूषण ने जहाँ वीर-रस-प्रधान कविता द्वारा निर्जीव प्राणो में वीरता का सचार किया—वहाँ गोपाल, मधुरानाथ, जगन्नाथ, गणेश, गुलाबसिंह, यशवतसिंह—तिरवा नरेश, नोनेराम, सुखदेव मिश्र, फतेसिंह, ग्वदास, द्विज, राजा लक्ष्मणसिंह, भूपति, खुमान आदि अनेक ज्ञात-अज्ञात कवियो ने ब्रजभाषा के भडार को—"हाथियो

का सालहोत्र, जवाहरात की तोल-विधि के लिए 'चौसर-चक्र', युद्ध के रीति-रिवाजो का वर्णन, दफ्तर के कार्य-विवरण, पक्षियो की चिकित्सा, धनुर्वेद, वाणिज्य-भेद, बागवानी, शतरंज-खेलने की विधियाँ, जडी-बूटियो का वर्णन, रत्न-परीक्षा, शकुन-शास्त्र, पहलवानी, सभाओ के कायदा-कानून, राजनीति, गणित आदि विविध कलाओ पर प्रचुर ग्रंथ रच कर भरा—उसे अति समृद्ध किया, नाटकों की भी रचना हुई। रीति-ग्रथो का, विशेष कर 'नायिका'-भेद' का निर्माण तो अति विशिष्ट था ही, अलकार, छंद (पिंगल) आदि साहित्य के विविध अगो का भी विशेष निर्माण हुआ, जो गिनती की परिधि में नही आ सकता। इस काल मे अनुप्रास, यमक, श्लेष से व्रजभाषा देवी को पूर्ण अलकृत किया गया। इन प्रचुर रचनाओ में अनेकों ने भावो की अपेक्षा शब्द और उसके अलकारो पर ही अधिक ध्यान दिया। इस समय गुजरात-प्रात में शृगार-विषयक रीति-प्रणाली की कविता का प्रचार नही हुआ था। वहाँ केवल 'दया-राम' ने सर्व प्रथम राधा-कृष्ण की आड में शृगार-विषयक-विशिष्ठ रचना की, जो केवल गुजरात में ही फलफूल सकी। दयाराम कवि श्रीकृष्ण के पूर्ण भक्त थे, अत. उनकी कविता में विशुद्ध शृगार का समन्वय है। शृगार के अतिरिक्त भक्ति, ज्ञान, उपदेश, राजनीति, लोकनीति, सदाचार और पिंगल-आदि पर भी कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ रचे गए। इसी समय गुर्जर-साहित्य को गौरवान्वित करने और उसे अधिकाधिक समृद्ध बनाने वाले प्रेमानद, श्यामल भट्ट, वल्लभ, कालिदास (मेघदूत-रचयिता कवि-कुल-गुरु कालिदास से पृथक्), प्रीतम, रेवाशकर, मुक्तानद, ब्रह्मानंद और दयाराम आदि प्रथम श्रेणी के अनेक कवि हुए। इन गुर्जर-भाषी कवियो में से अनेको ने व्रजभाषा में कविता की जो सुदर ही नही, अति सुदर है। प्राय सभी कवियो ने शुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग किया है।

गुजरात में व्रजभाषा के अलकृत-काल के सर्व प्रथम कवि के रूप मे 'रघुराम' जी का नाम आता है। इनका वर्णन 'शिवसिंह-सरोज' और 'मिश्रबधु-विनोद' दोनो में मिलता है। रघू जी अम-दावाद के नागर ब्राह्मण थे। आपका रचना-काल स० १७५७ वि० माना जाता है। इन्होने—"सभा-सार" और "माधव-विलास" नाम के नाटक ग्रथ व्रजभाषा में रचे। रामाश्वमेध और लवकुश-आख्यान भी आपके कहे-सुने जाते हैं, जो देखने में नही आए। 'माधव-विलास' तो व्रजभाषा के प्राचीन नाटको में अग्रगण्य कहा जा सकता है। रघुराम जी की व्रजभाषा साफ-सुथरी और मुहावरे दार है।

मिश्रबधु-विनोद में रघुराम जी का रचना काल स० १७०१ वि० लिखा गया है, यह ठीक नही है। सभा-सार में आपने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"दिसि पस्चम गुरजर सुघर, सैहैर अहमदाबाद।
भू-पर के सब नगर-सर, ऊपर मंडित बाद॥
ता-मधि सागरपुर सुभग, सुख-दायक सब धाँम।
नागर विप्र सु सत-मति, कवि-पद-रज-रघुराँम॥
सत्रै-सै सत्तवनाँ, चैत्र-तीज गुरुवार।
पख उज्जल, उज्जल सुमति, कवि-किय ग्रंथ-विचार॥"

सभा-सार, रघुराम जी की नीति-उपदेश आदि विभिन्न विषयो की फुटकल रचनाओ का सग्रह है, जिससे इनके ऊँचे काव्य-कौशल, पैनी-दृष्टि और भावुकता का पता चलता है। उदाहरण-रूप "फूटे ढोल के साथ अस्थिर-चित्त मनुष्य की तुलना" वाला एक छद नीचे देखिये—

"एक सौ कहत जात, एक कौं बिसरि जात, साँझ के विचार और, औरहि प्रभात हैं।
जासौं-तासो बात सब अंतर की कहें देत, रोस-रीझ एक है, न और से जनात हैं॥
जो ही भरमावै ताकी बातें सब मानत हैं, कहत बुराई तासो अति-ही डरात हैं।
बोलत हैं जेते बोल, एते सब पोल-पोल, ऐसी विधि 'फूटे ढोल' ते नर कहात हैं॥"

कवि केवलराम, केशवराम नागर ब्राह्मण (वीसलनगरा) अमदावाद के पुत्र थे। इनका जन्म स० १७५६ वि० में हुआ था। ये जूनागढ़ के नवाब जो 'बाबी' कहलाते थे, के आश्रय में

रहते थे। इन्होंने 'बावी नवाबों' की प्रशसा मे "बावी-विलास" नाम का ब्रजभाषा का एक सुंदर ग्रंथ बनाया। जिसमें आपने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"अमदाबाद जु राजपुर, तहँ सुरसी की पोल।
केसव-सुत केवल बसै, नागर बिप्र अमोल ॥"

केवलराम ने अस्सी वर्ष की वय (स० १८३६ वि०) में सन्यास ले कर शरीर छोड़ा। कविता विशुद्ध ब्रजभाषा में हैं। उदाहरण के लिए दिल्ली के फखरुद्दीन खाँ को परास्त करने वाले बाबी नवाब 'जवाँमर्द खाँ' की प्रशसा में कहा गया एक कवित्त यहाँ देखिये। जैसे—

"गजब गरूरी गाज दिल्ली ते दलॅन साज, लूटिबे के काज पंथ गुज्जर को लीनौं है।
बूंदी कों बिदारी, मारे हाड़ा गाढ़ा जोरॅन कै, और राउ-राजा तिन्ह बाँह-बल छीनौं है॥
प्रबल पठाँनन सों भिरयौ रन-जीतिबे कों, भारत सौ कीन्हौं जुद्ध बीर-रस-भीनौं है।
नवल 'नबाब जवाँमर्द' खाँ बहादुर नें, फकरू नबाब कों फकीर करि दीनौं है॥"

केवलराम जी ने 'लूनवाडा' के राणा दीपसिंह की प्रशसा में भी एक रचना रची थी, जो आज अज्ञात है। उसका एक छद सुनने में आता है, वह इस प्रकार है—

"मोहि कबीसुर-ईस करयौ, सुनो मानित है नव-खंड के राजा।
और सबै मुगलॉन-पठॉन, भली-बिधि चाँहि करैं सिरताजा॥
हैबर, हैमकडा बकसे, सिरपाव दिए सब ही जस-काजा।
दीपसी रॉनर सुनों बिनती, अब राखिए 'केवलराम' की लाजा॥"

सवत् १७६७ वि० के लगभग 'किसन' कवि ने ब्रजभाषा में 'किसन-बावनी' उद्बोधक-रूप में रची। किसनदास या कृष्णदास—लोकागच्छ गुजरात के जैन साधु थे। कवि ने यह रचना मरण-शैया पर पडी किसी "रतनबाई" साधवी के अनुशोचन से प्रेरित हो कर जीव, देह और संसार की नश्वरता का भान करा कर भगवान् पर श्रद्धा रख कर चिंतन और मनन करने वालों के लिए सदुपदेश के रूप में रची। जैसे—

"श्रीय संघराज गुरु लोकागछ-सिरताज, तिनकी कृपा तें पाई कविताई पावनी।
संवत सतरै-सत-सठै बिलै दसमी कों, ग्रंथ की समापति भई है मन-भावनी॥
साधवी सग्यॉन मा की जाई 'रतनबाई', तज्यौ देह ताके हेत रची परचावनी।
मत की न मति लीनीं, याचक 'किसन' कीनी, ... उपदेस बावनी॥"

आप की ब्रजभाषा गुजराती होते हुए भी सुदर और सरल बन पडी है। गुजराती प्रतिलिपि कर्त्ताओ नें अपने ब्रजभाषा-अज्ञान के कारण उसमें गडबड की है, फिर भी वह प्राजल है—सुबोध है। जैसे—

"ग्यॉन की न गूंझि, सुभ ध्यॉन की न सूझि, खॉन-पॉन की-ही बूझि ऐब मुझ मही है।
मोसौ कठोर, गुन-चोर न हरामखोर, तोपी न गीर ठौर और दौर यही है॥
अपनी-सी कीजें, मेरे फैल पैं न दिल दीजे, 'किसन' निबाहि लीजे जो पै ज्यों-हीं त्यों-हीं है।
मैं तो मनमॉने ठाँड पोहच्यौ ठिकॉने अब, तेरी गति तू ही जॉनें, मेरी गति तू ही है॥"

रत्नजित् नाम के ब्रजभाषा-कवि ने सवत् १७७० वि० के आस-पास "ब्रजभाषा-[illegible]" नाम से तीन-प्रकरणो में—'ब्रजभाषा-व्याकरण, ब्रजभाषा-शब्द-सिंधु और ब्रजभाषा-[illegible]' [illegible] प्रथम प्रकरण-रूप ब्रजभाषा-व्याकरण में कवि ने —"सात विभक्तियाँ, तीन लिंग, तीन [illegible] उनके भेद-उपभेद, सर्वनाम, विभक्तियो के साथ उनके भेद, काल-विधि, स्वर, व्यंजन, [illegible] दृष्टातो के साथ शब्दालकार और अर्थालंकार तथा चित्रालकारो का वर्णन किया है। [illegible] प्रकरण में कवि ने 'ककारात से लेकर ग्य (ज्ञ)—कारान्त तक के शब्दो का वर्णन करते हुए [illegible] के ३०-३० शब्दो का उल्लेख करते हुए 'धकारान्त' के पाँच शब्द दिए हैं। ब्रजभाषा के [illegible]

अनुसार कवि ने 'ङकारांत' के स्थान पर 'नकारांत' शब्दों का वर्णन किया है। ईकारांत शब्द जैसे—झांई, सांईहवा अकारांत शब्द जैसे—माझ, साद्य, वझा आदि शब्द भी दिए है। यही नहीं, कवि ने—मोहन, सोहन को मोहन, सोहन और नाम, धाम, काम, राम, गाम, वाम, थाम, दाम आदि को नाम, धाम, काम, राम, गाम, वाम, थाम और दाम रूप दिया है, जो व्रजभाषा-उच्चारण तथा उसकी प्राचीन लेखन-प्रणाली के द्योतक है। णकारांत शब्दो का उल्लेख भी नहीं किया है। कवि ने इस प्रकरण मे संज्ञा-वाचक-शब्द ही दिए हैं। क्रिया-वाचक शब्द भाषा-धातु-माला नाम के तृतीय-प्रकरण में दिये है। इस प्रकरण में कवि ने—'क' से 'ह'-पर्यंत अक्षरांत वाली धातुओं का वर्णन किया है।

यह ग्रंथ दोहा, सवैया आदि छंदो में लिखा गया है। कवि की भाषा प्रसादगुण-संयुक्त, सरल और सुंदर है। गुजराती-भाषा का रंचक भी मिश्रण नहीं है। कवि ने व्रजभाषा-निंदकों के प्रति कितना सुंदर लिखा है—

"रंचन अगँम, पढिवौ सुगँम, व्रजभाषा कौ ग्रंथ।
ता ते बहु नृप अनुसरत, या भाषा कौ पंथ ॥५
जो पंडित वेखान-विद, तौ पुनि भाषा चाहि।
निंदत है व्रजभाष कौं, पोंहुचत बुद्धि न जाहि ॥६
भाषा कौ रस जान-हीं, भाषा-जाँननहार।
ज्यों केसव गिरवाँन को, जाकी बुद्धि अपार ॥"७

अथवा—

"देव-गिरा अति कठिन है, बहु दिन सो समुझात।
ताते कवि नर-बाँनि सौं, बहु-बिधि ग्रंथ बनात ॥२,
सुर-बाँनी गिरिवाँन सो, नर की व्रज-पैहचाँन।
अवर गिरा सो छुद्र की, भौत प्रवर्ति न जाँन ॥३,
नर-बाँनी नर-लोक में, सुगम पढत संसार।
ताकी बोलँन-रीति को, कहो कछूक बिचार ॥४,

✿

अगनित सागर सबद को, कछु विसि कहूँ समुझाइ।
ज्यों कासी सत-कोस पै, अँगुरी-पंथ बताइ ॥५,
जिहि बाँनी कौं ऊचरे, राम[1]-कृष्ण नर-रूप।
सो बाँनी सब देस में, पढ़त-सुनत कवि-भूप ॥६,
देस, काल-अनुसार सो, लोक-गिरा फिरि जात।
सास्त्र-बिरग कवि-बदन में, सुद्ध सारदा आत ॥७,

✿

"स्यादिक सप्त बिभक्ति सौं, पढ़त गिरा गिरवाँन।
को-आदिक व्रज-बाँनि में, पंच-बिभक्ति प्रमाँन ॥८,
प्रथमा के प्रत्यय नहीं, बुतिय-चौथि इक अर्थ।
ता बिन एक रु बहु बचँन, प्रत्यै कहत समर्थ ॥९,

[1]. श्री बलदेव जी।

"प्रथम पद्म-भव-पुत्रि[1] कों, पुनि-पुनि करो प्रनाम।
जाकी प्रभुता सों रचो, भाषा-धातु कि दाम॥
जाको मित्र जु कवि मिले, अमर भए महिपाल।
नाँहि मिले जा को कवी, ताहि भखि गयो काल॥
ताहि भख गयो काल, कोट-जुग नाम न जाँना।
कहाँ जनम, कहाँ मरे, उडि गए तूर-समाँना॥
ज्यो निधि में गत नीर रहैं, बधित करि ताको।
निज उक्तिन में अमर किए, कवि-मित्र सु जा को॥"

❀

"देव-कृपा तें कवि बनें, न बनें करि अभ्यास।
ता तें कवि को चाँहते, बहु नृप गए निरास॥"

ककारात और हकारात-धातु—

"सरक, खरक, चुक, खिरक, कहुक, अटक, पटक, अवलोक।
चमक, दमक, बक, चोंक, सक, हुलक, बिलोक-हि रोक॥"

❀

"कह, गह, दह, रह, गुह, लह, मोह, सोह, अवगाह।
रोह, गाह, अवरोह, ढह, सह, चह, निवह, सराह॥"

इस समय के आस-पास ही किन्ही 'कुशलधीर' उपाध्याय ने ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि केशव-दास जी की 'रसिक-प्रिया' का गुजराती अनुवाद किया है। पुस्तक मे प्रथम गुजराती-भाषा में वर्णित छद का विस्तृत अर्थ दे कर बाद में रसिक-प्रिया के छद उद्धृत किये गए हैं। ग्रथ-कर्त्ता का 'गुजराती-साहित्य' के इतिहास-ग्रथो में कुछ पता नही लगता। केवल भाषा के सहारे जाना जाता है कि ये कोई काठियावाड के जैन-साधु थे। भाषा पुरानी नही है, पर उसे अर्वाचीन गुजराती भी नही कहा जा सकता। फिर भी भाषा सुदर, सरल, सरस और मूल-ग्रथ-कर्त्ता के भावो को भली-भाँति प्रगट करने में पूर्ण समर्थ हुई है। भावो को अधिक स्पष्ट करने के लिये कही-कही सस्कृत तथा ब्रजभाषा के रीति-ग्रथो के अवतरण दिये हैं।

इस प्रकार इसी समय किन्ही ब्रजभाषा के प्रेमी ने 'बिहारी-सतसई' का भी गुजराती-भाषातर किया है। इस भाषातर मे उक्ति, कथन तथा दोहो में अलकृत अलकारो का भी उल्लेख किया गया है। ध्वनि-व्यजना का भी कही-कही दिग्दर्शन है, जिससे अनुवादक की काव्य-प्रवीणता का पता चलता है।

दलपतिराम और बशीधर दोनो कवि अमदावाद के निवासी थे। दलपतिराम—महाजन (वनियाँ) तथा वशीधर श्रीमाली ब्राह्मण थे। जोधपुर के महाराज जसवतसिंह जी के प्रसिद्ध अलकार ग्रंथ—'भाषाभूषण' की टीका करते हुए इन्होने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"भाषा-भूषँन अलंकृत, कहुँ-कहुँ लच्छन-हीँन।
स्रम-करि ताहि सुधारि सो 'दलपतिराइ' प्रवीँन॥
अरथ, कुवलयानद की, बाँध्यी दलपतिराइ।
बसीधर कवि नें धरे, कहूँ कवित्त बनाइ॥
मेदपाट श्रीमालि-कुल विप्र-महाजन काइ।
बासी अमदावाद के, बसी-दलपतिराइ॥"

1. श्री सरस्वती।

अस्तु, जैसा कि ऊपर लिखा गया है—वशीवर-दलपतिराम वा राय ने प्रथक् जाति होते हुए भी अभिन्न बघु की भाँति युगल नाम से 'भाषाभूषण' की टीका—ब्रजभाषा मे 'अलकार-रत्नाकर' के नाम से स० १७९८ के लगभग की। इन दोनो कवियो ने बडे प्रयास से अलकारो को सरलता से समझाने के लिये ब्रजभाषा-गद्य मे ग्रथ लिखा और उदाहरणो मे ब्रजभाषा के चुने हुए ४४ कवियो की चुनी हुई सरस कविताएँ दी है। ये चुने हुए कवि इस प्रकार है—

"जसवंतसिंह—भाषाभूषण-कर्त्ता, सेनापति, केशव, बलभद्र, गोप, भगवतसिंह, गंग, बिहारी, मुकुद, बदनसिंह, शिरोमणि, सुखदेव, चतुर, सुरति मिश्र, नीलकठ, मीरन, रामकृष्ण, आलम, देवी, दास, धोरी, कृष्ण, देव, कालिदास, विनेश, बिट्ठलराम, अनीस, कासीराम, चिंतामणि, पुखी, शिव-कवि, रघुराम, नेही, मुबारक, रहीम, मतिराम, रसखान, निरमल, निहाल, निपट निरजन, नंदराम, महाकवि, राधाकृष्ण और ईश।"

इन दोनो कवियो ने 'छद-शास्त्र' पर भी एक ग्रथ—'पिंगल-भाषा' बनाया है। कविता सुदर और शुद्ध ब्रजभाषा है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अनुप्रास आदि पर पूर्ण ध्यान रखा गया है। उदाहरण जैसे—

"रहै सदाँ विकसत विमल, धरैं बास-मृदु-मंज।
उपज्यौ नहिं पै पक सौं, प्यारी तब मुख-कंज।।"



"भौहैं कुटिल कमाँन-सी, सर-से पैंने नैंन।
वेधत ब्रज-बनिताँन-हिय, 'बंसीधर' दिन-रैंन।।"

—इत्यादि

कवि ने अपने नाम—वशीधर का कविता में किस प्रकार 'नाजायज-फायदा' उठाया है, जो देखते ही बनता है। दलपतिराम के गुजराती-भाषा मे भी दो 'प्रकरण' मिलते है—'भूत-निबध' और 'रास-माला'।

सवत् १८०० के आस-पास—तपागच्छीय 'कनक कुशल' के शिष्य 'कुँवर कुशल' ने 'लखपति-जस-सिंधु' नाम से अलकार का रीति-ग्रथ ब्रजभाषा में बनाया। लखपति कच्छ के राजा थे। कच्छ के इतिहास में इनका समय स० १७९८ से १८१७ वि० बताया गया है। अत कवि के ग्रथ का समय इसके आसपास ही होना चाहिये। कच्छ के इतिहास के अनुसार कवि 'कनक कुशल' ने राजा लखपति को ब्रजभाषा के तत्समय प्राप्त काव्य-ग्रथो का अभ्यास करवाया था। राजधानी मे बाहर से जो भी विद्यार्थी ब्रजभाषा पढने को आते थे, उनके भोजनादि का प्रबध राज्य की ओर से 'पेटिया' (रसोई का कच्चा सामान—आटा-दाल-इत्यादि" के रूप में होता था। कवि की भाषा सरल और सुदर है—

"सकल देव सिर सेहरा, करत परम परकास।
सविता, कविता द्वै सफल, इच्छित पूरैं आस।।
कविन प्रथम जें-जे कहे, अलंकार उपजाइ।
कुँवर कुसल तें-ते लहे, उदाहरन सुखदाइ।।"

गुजरात के अतर्गत 'आमोद' जिला भडोच के निवासी "जसराम" कवि 'राजनीति' विशारद थे। जसराम जी ने अपनी रचना—'ब्रजभाषा-राजनीति' में अपने को 'चारण' जाति का लिखा है। जैसे—

"पढवे तें मालुम परत, आछी नीति-अनीति।
'जसूराम' चारँन कही, राजनीति की रीति।।"

यह ग्रथ स० १८१४ वि० में लिखा गया। कवि ने इस राजनीति-ग्रथ को 'आठ अगो' में विभक्त किया है। जैसे—

"प्रथम अंग भूपाल, राजरानी अंग दूजौ।
तीजौ राजकुमार, मंत्रि चौथौ गनि लीजौ।।
पाँच मुसाहिब-अंग, और रावत खट मानौं।
सातें रैयत-अंग, कबौ अस्टांग बखानौं।।
जुग नीति-रीति बरनें 'जसु', बिबिध बिवेक बिचार बहु।
जे कर . . . . समरथ्थ जस, अस्टाग बरनेंन सहु।।"

जैसा इस छद में कहा गया है—राजा, रानी, राजकुमार, मत्री, मुसाहिब, राव, प्रजा और कवि इन आठो के कर्त्तव्य-नियम बडी योग्यता से लिखे है, जिससे कवि का पाडित्य और काव्य-चातुर्य भली-भाँति प्रगट होता है। पौराणिक-आख्यायिकाओ से उदाहरण देकर भावो को सुदर रीति से स्पष्ट किया है। भाषा शुद्ध व्रजभाषा है, कही-कही गुजराती की झलक है। अन्योक्तियो से इनकी कवित्व-शक्ति सुदर रूप से प्रगट होती है। साथ ही लोकोक्तियाँ भी खासी सुदर बन पडी है। जैसे—

"राज के वजीरेंन सबै लोग 'जसराम', "तँबोरि के पाँन ज्यो सँवारिबौई चहिऐं।"

❀

"राजनीति राज के वजीरेंन को 'जसराम', "गुर-हीतें मरै ताहि बिष तें न मारिऐ।"

❀

. . . . "पूत-हू के लच्छिन, सुपालनें पैहचाँनिऐं।"

एक स्थान पर आप लिखते है—

"जसु न जाँचै जाँम सो, वड़-भाटेंन की टेक।
तेरें माँगन बौहोत है, मेरें भूप अनेक।।"

इस से प्रतीत होता है कि जसराम जी प्रथम जामनगर (कठियावाड) के राजदरबार में भी गये थे और पीछे कुछ वैमनस्य हो जाने के कारण इन्होने अपने आश्रय-दाता की इस प्रकार भर्त्सना की। आपकी रचना के उदाहरण, जैसे—

"चातक, दादुर, मोर छिति, सदाँ निवाहत नेह।
नृप ऐसौ चहिऐं 'जसु', जैसो उत्तम मेह।।
कबहूं कलह न कीजिए, अपने घर में आप।
कीजै आप कुटिलता, सत्रुंन कों सताप।।
जो दीजै परवाँन-पत्र, तौ कीजै इतबार।
जो इतबार न होइ तौ—'जसु' परवाँन निवार।।"

जसराम जी ने अपने उक्त ग्रथ की छद-सख्या का भी उल्लेख किया है, जैसे—

"राजनीति कीन्हीं प्रथम, अंग जु कहिऐं आठ।
छप्पै दस, छाँसठ कवित, बने दोहरा साठ।।"

कवि 'रत्नपाल' ने सं० १८३९ वि० में एक "प्रेम-रत्नाकर" नाम से व्रजभाषा-ग्रथ की रचना की है। इसकी खडित प्रति मिली है। कवि ने इसे पाँच तरगो में विभक्त किया है। रत्नपाल कहाँ के और कोन थे इसका पता नही चलता, पर पुस्तक के अत में कवि ने लिखा है।

"इति श्रीमन्महाराजकुमार जदुवंसावतस भैया रतनपाल जू बिरचते 'प्रेमरतनाकरे' पंचमस्तरग ।। प्रेमरतनाकर संपूर्णः ।। सं० १८ उगणचालीस चईत्र वदे ७ बार बुधे सपूरण लिखो भरूच मध्ये ।।"

इससे ज्ञात होता है कि ये जाति के सोमवशी ठाकुर थे और भडोच (गुजरात) के रहने वाले थे। प्रथम तरग खडित है, द्वितीय में—"तीर सूरज कौ प्रेम', तीसरी में—"चकोर-चद्रमा कौ प्रेम', चौथी में—भ्रमर-नलिनी कौ प्रेम, समुद्र-वडवानल कौ प्रेम, और पाँचवीं में—हस-पानी, मीनौ मच्छी, परेवा आदि" के प्रेम का वर्णन किया है। अत का छद इस प्रकार है—

"जुग-जुग कीरति-बढ़ाइवे कौं राजैन की, सभा में पुछाइवे कौं आछौ गुन-गायौ है।
प्रेमिन कौं प्यारो है, कृपारचौ इन काहू-ही, जगत-भगत सो तौ सब को सुनायौ है।।
सूरज के बस राजा सगर के सगरेन, सत्य-जुग-माँहि जैसें सागर खनायौ है।
त्यौं-हीं कुल-माँहि 'सोमवंस के सपूत भैया, रतन जू' नें यै प्रेम-रतनाकर बनायौ है।।"

पुस्तक गुजराती अक्षरो में और वह भी घसीट में लिखी होने से, पढने में बडी कठिनाई प्रस्तुत होती है।

सवत् १८५३ वि० में अहमदावाद के सुखवासी भारद्वाज गोत्री पुष्करणा ब्राह्मण अडक—सेवक के 'महासिंह' ने व्रजभाषा में "छद-सार-पिंगल" नाम से एक ग्रथ विशेष की रचना की। महासिंह जी प्रथम—मेडता (माडवार) के रहने वाले थे। बाद में ये अमदावाद मे रहने लगे, जैसा कवि ने स्वय लिखा है—

"भारद्वाज गोत्र पुसकरनौं, सेवक जात कहावै।
महासिंह कवि नगर मेरता, बसें परम सुख पावै।।"

ग्रथ-रचना का समय देते हुए कवि लिखता है—

"सवत लोक, पांडव, नग, चंद, नभ मास, धवल तिथि पंचमीं कुजवार ठाँनियो।
स्वाँति-नच्छत्र सुंदर, चंद तुला-रासि आए, मध्य रबि समें इंद्र जोग आँनियो।।
छंद-सिंगार-नाम ग्रंथ जो समापत भयौ, 'नवानगर' सहर निज मन-माँनियो।
कहै कवि 'महासिंघ' जोई पढै-बाँचै सोई, मेरौ नित-प्रति कौ जै श्रीकृष्ण जाँनियो।।"

अन्य उदाहरण में वदना का 'छप्पय' छद नीचे दिया जाता है, जिससे इनके व्रजभाषा-ज्ञान पर काफी प्रकाश पडता है। अस्तु—

"अरुन बरन, गज-बदन, सदन-बुधिवर सुख-दायक।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि-बृद्धि, नितप्रति गन-नायक।।
बिमल ग्याँन-बरदाँन, तिमिर-अग्याँन निकंदन।
सब कारज सिधि लहै, प्रसन जासो जग-बदन।।
गौरी सुनद आनद-मय, विघँन, ब्याधि, भव-भै-हरँन।"

आगे की पक्ति दीमको की भेंट है।

कवि कल्याण, वैष्णव-धर्मानुयायियो के गढ और प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान 'डाकोर' जी के सत थे। इनका अखाडा 'डाकोर' में अब तक प्रसिद्ध है। कविता-काल स० १८४५ वि०। कल्याण जी ने—'छद-भाष्कर' तथा 'रस-चद्रिका' दो ग्रथ लिखे है। कुछ कीर्त्तनो (पदो) का उल्लेख भी मिलता है। इनका एक उद्बोधन, जैसे—

"जीवन अपार जाकी जात कौ न आवै थाह, किए कोख भाँति-भाँति रतनैंन की ढेरी है।
सपति की सागर जगत में 'कल्यान' कहै, औरैंन को दीजिऐ बडाई सब तेरी है।।
अंग-अंग पूरैंन तरगन ते छाइ रह्यौ, सोहै चद तात एक बात घट घेरी है।
बाट के बटाऊ प्यासे पूछें तीर कूप कहाँ, अहो छीर-सागर बडाई धिक तेरी है।।"

गुजराती के उच्च कोटि के कवियो मे 'मुक्तानद' का नाम गिना जाता है। मुक्तानद के धार्मिक-विचार और कविता का गुजरात में विशेष आदर है। आप गढहा-निवासी स्वामी नारायण-संप्रदाय, के एक उत्कृष्ट और प्रभावशाली साधु थे। कविता-काल स० १८६० वि० है। मुक्तानद जी ने—"विवेक-चिंतामणि, सत्सग-शिरोमणि, उद्धव-गीता, सुख-सिद्धात, स्त्री-गीता आदि अनेक ग्रंथो की रचना की है। विशेषकर इन्होंने ज्ञानमार्गी-नीति और उपदेश-विषयक ही अधिक रचना की है, जो उत्तम है। उपमाएँ अनूठी लाये है। वृद कवि के समान दोहो के उत्तरपाद में सुदर दृष्टान दिए है। सस्कृत के भी ये अच्छे ज्ञाता थे। कितने ही सस्कृत-श्लोको का सुदर अनुवाद आपने किया है। व्रज-

भाषा भी आपकी सुदर है—प्राजल है। यो तो आपने विशेषकर गुजराती-साहित्य की ही अधिक वृद्धि की है, पर व्रजभाषा में भी जो कुछ रचना की है वह उपेक्षणीय नही है। एक उदाहरण, जैसे—

"चंद सौ सीतल, रूप अनग सौ, देव गजानन से जग-जाँनें।
सिद्ध-सिरोमनि गोरख से, कविराज हू काव्य रचे सुख-साँनें॥
सूर जरासंध-रावन से, रिपु-जीति कें देस सबै घर आँनें।
ऐसौ भयौ तौ कहा 'मुक्तानँद', कारन-रूप श्रीकृष्ण न जाँनें॥"

प्रारभिक काल के गुजराती-काव्य रचयिताओ में जो स्थान मीरा और दादूदयाल का है, वही स्थान इस अलकृत-काल मे 'भक्त दयाराम भाई' तथा 'ब्रह्मानद' का है। मीरा तथा दयाराम और दादू तथा ब्रह्मानद मे बहुत कुछ समानता भी है। दयाराम भाई गुजराती के प्रथम श्रेणी के प्रतिभाशाली कवि है। गुजराती में इन्होने श्रीभगवद्‌गीता-माहात्म्य, भक्तिपोषण-नीति तथा भक्ति के पद, शृगार-रसात्मक भजन आदि अनेक विषयो पर रोचक रचना की है। व्रजभाषा में भी आपकी रचनाएँ उच्च कोटि की है। इन्होने व्रजभाषा में 'सतसई' (बिहारी-सतसई के अनुकरण पर), 'वस्तु-वृ द-दीपिका', 'वृ दावन-विलास' तथा अनेक फुटकल पदो की रचना की है। इस कवि-कुल-भूषण ने अपना परिचय जो 'सतसई' के अत में दिया है, उससे ज्ञात होता है कि ये नर्मदा-तट के चडीपुर ग्राम के रहने वाले साठोदरा नागर ब्राह्मण थे। स० १८७२ वि० में आपका जन्म हुआ था। आप श्रीमत भट्ट के वंशज तथा प्रभुराम के पुत्र वल्लभ-सप्रदायी परम वैष्णव थे। और थे, श्रीकृष्ण भगवान् के पूर्ण भक्त। प्रसिद्ध है कि आपका बाल्यावस्था में अच्छी सगति के अभाव के कारण चरित्र बहुत कुछ बिगड गया था, परतु बाद में सत्सग के प्रभाव से इन्हें ज्ञान हुआ और ये अच्छे तथा कहने-सुनने योग्य वैष्णव बन गये। इनकी शृगार-रस विषयक कविता भी मिलती है। आपकी ग्रथ-रचनाओ में 'सतसई' सर्वोत्तम है। यह सतसई बिहारी-सतसई के १५० वर्ष बाद बनी है। जिससे अनुमान होता है कि 'रामसहाय', 'मतिराम' और 'विक्रम' के समान इन्होने भी बिहारीलाल का अनुकरण किया है। भाई दयाराम को व्रजभाषा-मुकुट-मणि कवि बिहारी के समान कहना तो धृष्टता होगी, फिर भी इनके रम्य-रचना रूप कुछ दोहे बिहारी की जोड के ही नही, सरसता तथा भाव-गभीरता में उनसे कही आगे बढ गये है। कवित्व-शक्ति में श्री बिहारीलाल इनसे कही अधिक ऊँचे है, इसमें सदेह नही, तो भी ये भक्ति-रस-विषयक कविता तथा चित्रालकार-युक्त नीति-वैराग्य विषय के दोहे रचने में बिहारीलाल जी से बाजी ले गये है। कुछ उदाहरण जैसे—

"ललना-लोचन सित-असित, गोलक-डोरे लाल।
यै त्रिबेंनि मज्जन लही, मुक्ति विरह गोपाल॥

मुकुर, मुकुर सब बस्तु भइ, नैंन-ऐंन किय लाल।
दृग-पसारि जित-जित अली, तित-तित लखि गोपाल॥

चाँह बसाएँ हृदै में, धरो त्रिभंगी ध्याँन।
तातें राख्यौ कुटिल-उर, होइ असी ज्यों म्याँन॥"

इन उदाहरणो से ज्ञात होगा कि आपकी व्रजभाषा कितनी मधुर है। श्लेष-समुक्त अन्य अलकारो से सुशोभित दोहो में काव्य-प्रौढता के दर्शन होते है। 'वस्तु-वृ द-दीपिका' मे सख्या-वाची शब्दो का स्पष्टीकरण तथा गूढार्थ-कोष के समान पद्यो में सख्यायुक्त शब्दो की पूर्णतया व्याख्या की गई है। यह ग्रथ स० १८७४ वि० में समाप्त हुआ था। फुटकल पदो की सख्या अधिक है, जो सगीत और काव्य-प्रेमियो के लिए रुचिकर है। वृ दावन-विलास बडा गूढ है। उसमें वृ दावन की महिमा का वर्णन बडी विचित्र रीति से किया गया है। व्रजभाषा-रसिक श्रीदयाराम भाई के निम्न-लिखित व्रजभाषा के ग्रथ देखने मे आये है—

"पत्रलीला, अजामेल-आख्यान, सतसैया, वस्तु-वृंद-दीपिका, रसिक-रंजन, श्रीमद्भागवत-अनुक्रमणिका, श्रीभगद्गीता-माहात्म्य, ब्रजविलासामृत, रसिकवल्लभ, चतुर चित्त-विलास, कौतुक-रत्नावली, पिंगलसार, छंदरसावली, चरित्र-चंद्रिका, सिद्धांत-सार, संप्रदाय-सार, क्लेश-कुठार, श्रीकृष्ण-स्तवनामृत, पुष्टिपथसार-मणिदाम, विज्ञप्ति-विलास, श्रीकृष्णस्तवन-चंद्रिका, पुष्टिभक्ति रूप दीपिका, मूर्ख-लक्षण सप्तदशी, हरिदास-मणिमाला, ताल-माला, राग-माला, श्रीकृष्ण-नामामृतधारा, श्रीकृष्णाष्टोत्तरशत नाम, श्रीकृष्ण-नाम-माहात्म्य, विश्वासामृत, मंगलानंद-माला, प्रस्ताव-पीयूष, स्वल्पापार प्रभाव, श्रीकृष्ण-नामावली, श्रीकृष्ण-नाम-चंद्रिका, श्रीकृष्ण-अनन्य-चंद्रिका, पुरुषोत्तम-पंचांग, सत्संग-काशी,—श्रीकृष्ण-विवाह,—चीर-हरण,—वेणु-नाद,—विरह-विलाप,—रास और प्रेम की लावनियाँ, वृंदावन-बिलास, श्रीहरि स्वप्न-सत्यता, भक्ति-विधान और अनुभव-मंजरी आदि।"

ब्रह्मानद जी का यथार्थ नाम—'लाड' था। ये आबू के निकट खाँन ग्राम के थे। इनके पिता का नाम शंभूदान था। ससार से विरक्त होकर ब्रह्मानद जी ने अपनी जीविका त्याग दी और काठियावाड चले आए। कठियावाड मे इन्होने 'स्वामी नारायण-सप्रदाय' के उस समय के प्रसिद्ध गुरु स्वामी सहजानद से दीक्षा ली। दीक्षा के बाद प्रथम तो आपने अपना नाम 'श्रीरग' रखा, फिर उसे बदल कर "ब्रह्मानद" नाम धारण किया, जैसा ऊपर है। इन्होने स्वामी सहजानद को अपना गुरु बताया है। जैसे—

"संसार-बिघँन सब मेंटिकें, कियौ पार भव-फंद सौं।
'ब्रह्मानंद' ममता टरी, सद गुरु सहजानंद सो।।"

आपकी कविता का विषय धार्मिक तथा सामाजिक है, वह नीति और सदाचार की शिक्षाओ से पूर्ण है। इन्होने कविता-द्वारा कठी-धारण, मूर्त्ति-पूजा आदि वैष्णव-धर्म के साधनो को निरर्थक कह कबीर के समान ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन सुदर रीति से किया है। कबीर की भाँति ही इनकी कविता में छदोभग की भरमार है, पर भाव उनसे कही उत्कृष्ट है।

कविता में गुजराती का मिश्रण अधिक है, जिससे भाषा के सहज माधर्य में कुछ कर्कशता आ गयी है। आप दयाराम, मुक्तानद आदि गुजरात के ब्रजभाषा-कवियो के समान ब्रजभाषा के अच्छे ज्ञाता नही थे। उदाहरण जैसे—

"दिन ख्वै गए खेलन-दौरन में।
जुवा होइ रम्यो जुबतिन-रँगैं, दिन ख्वै गए खावन-पीवन में।।
बृद्ध होइ बँधी अँग व्याधा, दिन ख्वै गए साधन-सोखन में।
'ब्रह्मानंद' करतार भज्या बिन, धूर तेरे नर-जीवन में।।"

दीन दरवेश, पालनपुर—गुजरात के आस-पास कही के रहनेवाले थे। इनका कविता-काल स० १८८० वि० के लगभग है। मिश्रबंधु-विनोद में एक दीन दर्वेश-बुंदेलखडी का समय स० १८७७ दिया गया है। सभव है ये दोनो एक ही हो और वृद्धावस्था में पालनपुर त्यागकर बुंदेलखड मे आ बसे हो। ये जाति के लुहार थे और बालनाथ साधु के शिष्य होकर सन्यासी हो गये थे। बालनाथ बडनगर के नाथ-पथी विरक्त साधु थे। दीन दरवेश ऐसे लोगो में से थे, जो परिस्थिति के कारण अपने जीवन की धारा पलट दिया करते है। एक समय इन्हें ईस्ट इडिया कपनी की सेना मे काम करते समय तोप का गोला लग गया, जिससे इनकी एक बाँह कट गई तथा नौकरी से भी निकाल दिये गये। इस घटना से इनके जीवन में परिवर्तन आ गया और प्रवृत्ति निवृत्ति के रूप में बदल गयी। पश्चात् दूर-दूर तक भ्रमण कर इन्होने अपने समय के अनेक साधु-महात्माओ के दर्शन किये और उनसे लाभ उठाया। ये पढे-लिखे तो अधिक नही थे, पर फारसी और हिंदी का साधारण ज्ञान अवश्य था। इन्होने अनेक हिंदू-मुस्लिम तीर्थो की यात्रा की थी, जिससे इन दोनो प्रमुख धर्मो का आपको ज्ञान हुआ था। सूफी-सप्रदाय के साथ वेदात व अन्य मतो का भी रग गहरा चढा था, पर इन्होने आत्म-

चिंतन को ही अधिक महत्त्व दिया और स्वतंत्र रूप से अपने सिद्धात स्थिर किये। फलत अपने जीवन की पद्धति ही बदल डाली। कहते है कि ये अपने जीवन में प्रथम किसी प्रसिद्ध स्थान में रहकर प्रत्येक पूर्णिमा को सरस्वती में भक्ति-भावना के साथ स्नान किया करते थे। यह स्थान 'सिद्धपुर'—जिसे आज कल 'सीतपुर' कहा जाता है, हो सकता है। वही इनके निवासस्थान पालनपुर के निकट था। सिद्धपुर 'कपिलमुनि' का आश्रम, सरस्वती के तट पर है। इसे 'मातृ-गया' भी कहते है। दरवेश जी के दैनिक जीवन का कार्यक्रम अपने अनुभवो के अनुसार कुछ न कुछ रचना कर सर्वसाधारण में अपने मत का उपदेश रूप मे प्रसार करना था। इस प्रकार इन्होने अपने हृदय के शुद्ध उद्गारो को व्यक्त करते-करते सवा लाख कुंडलियाँ रच डाली, ये आज अप्राप्य है। यह 'सवा-लाख' की सख्या बहुतो के साथ जुडी हुई है, जिनमे—भक्ताग्रगण्य कविकुल शिरोमणि श्री सूर और ओडछा के श्री हरिराम व्यास जी आदि प्रधान है।

दीन जी की उपलब्ध रचनाओ को निरखने-परखने से पता चलता है कि इनके विषय भी प्राय वही थे जो अन्य सतो की कृतियो में पाये जाते है। सरल स्वतंत्र जीवन, सपूर्ण विश्व से प्रेम, परोपकार, ईश्वर की भक्ति, बाह्य विधानो वा प्रदर्शनो के प्रति विरक्ति आदि-आदि। फलत हिंदू-मुसलमान का वर्ण-भेद ये नही मानते थे। वे अपनी एक रचना में कहते है—

"हिंदू कहें सो हम बडे, मुसलमान कहें हंम।
एक मूंग दो फाड़ है, कुण जादा, कुण कंम॥
कुण जादा, कुण कंम, कभी ना करना कजिया।
एक भगत हो राम, दूसरा मानें रहिया॥
कहै 'दीन दरवेस' दोइ सरिता-मिल सिंधू।
सब का साहिब एक, एक मुसलिम और हिंदू॥"

इस प्रकार अपनी शैली में सर्वसाधारण को जीवन की क्षण भगुरता के प्रति सचेत करते हुए इन्होने भाग्यवाद की ओर अग्रसर किया है। पद-पद पर कहा है कि जो कुछ होता है, वह सब करतार के किये ही होता है। बिना उसकी प्रेरणा के एक पत्ता भी नही हिल सकता। अस्तु—

"बंदा-बाजी झूंठ है, मत साँची कर मांन।
कहाँ बीरबल-गंग है, कहाँ अकब्बर खाँन॥
कहाँ अकब्बर खाँन, भले की रहैं भलाई।
फतेसिंघ महाराज, देख उठ चल गए भाई॥
कहै 'दीन दरवेस' सकल माया का धधा।
मत साँची कर मांन, झूंठ है बाजी-बंदा॥"

कहान या कान अथवा कान्ह—राधनपुर गुजरात के रहने वाले थे। ये जाति के ब्राह्मण और एक आँख से काने थे। कहा जाता है कि सिद्धपुर के एक मेले में इनसे तथा दीन दर्वेश से एक कुंडलिया की रचना पर वाद-विवाद हो गया था। अत इनका समय भी स० १८८० के लगभग कहा जा सकता है। इनकी कविता नीति तथा शिक्षा-परक है। जैसे—

"मिसरी घोरै झूंठ की, ऐसे होंइ हजार।
जैहेर पियावै साँच की, सो बिरला-संसार॥
सो बिरला-संसार, पटंभर उनका ऐसा।
मिसरी जैहेर-समाँन, जैहेर है मिसरी जैसा॥
कहे 'सुकबिया काँन', भूलि मति जैयो भोरैं।
तिन के सिर पैजार (जु) झूंठ की मिसरी घोरैं॥"

रणछोड कवि जाति के नागर ब्राह्मण शैव मतवाले जूनागढ के नवावो के यहाँ प्रधान-अध्यक्ष थे। इन्होंने शिवरहस्य, भाषा शिवपुराण, काम-दहन, सदाशिव-विवाह आदि कई ग्रथो की रचना व्रजभाषा में की है। इनकी शिव की स्तुति सुदर है, जैसे—

"अहि बिन मनि जैसें, महि बिन धनी जैसें, कहे बिन सुनी जैसें, मोती बिन पाँनी है।
राजा बिन ग्राँम जैसें, लाज बिन बाँम जैसें, दीपक बिन धाँम जैसें सुखमा की हाँनी है।।
वच्छ बिन छीर जैसें, वृच्छ बिन नीर जैसें, लच्छ बिन तीर जैसें, सत्य बिन बाँनी है।
'राइ रंछोर' कथा सरबथा सुनीं सिव की, और कथा वृथा जथा बाल की कहाँनी है।।"

रणछोड जी के जन्मादि का समय अभी अज्ञात है। रचना प्रौढ, मुहावरेदार और अलंकार-युक्त है।

रामानुज-सप्रदाय के सत कवि 'हरिदास' खादडपुर—काठियावाड के वासी थे। इन्होंने स० १८८१ के आस-पास व्रजभाषा का एक ग्रथ—'हरि-विलास' नाम से रचा है, जिसमे लोकाचार तथा धार्मिक विषय के साथ नीति के अच्छे उपदेश है। ग्रथ की 'धार्मिक-तरग' में आध्यात्मिक विचारो के अतिरिक्त काव्य-चातुर्य की भी अपूर्व छटा है। जैसे—

"चंचल इंद्रपुरी सुख पाइकें, अत को बेर महा दुख पाँऊँ।
जा सुख में दुख चौगुनो होत है, ता सुख के ढ़ो नजीक न जाँऊँ।।
दानो चुगाइ कें पंख मरोरत, ऐसे चुगे पै में न रिझाँऊँ।
कहि 'हरिदास' सुनों सब सज्जन, ना गुर खाँउ न काँन -बिधाँऊँ।।"

हिंदी-क्षेत्र में संवत् १८६० वि० से व्रजभाषा नें नया रूप धारण किया। उसने शृगार-वेश त्याग खडी बोली का नवीन वस्त्र पहिना। व्रजभाषा का ह्रास और उसकी पुत्री खडी बोली का प्रचार बढने लगा। पत्र-पत्रिकाओ में केवल खडी बोली की ही कविताएँ अब लिखी जाने लगी, पर इधर गुजरात में खडी बोली की अपेक्षा व्रजभाषा का ही अच्छा प्रचार रहा। गुर्जर-साहित्य भी खूब फला-फूला। गुजराती कवियो ने अपनी भाषा पर अधिक ध्यान दिया, उसे भली-भाँति सँवारा, जिससे यहाँ—गुजरात में, जैसे गुजराती के प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न हुए वैसे व्रजभाषा के नही हुए। फिर भी 'आदित्यराम' और 'गोविंद-गिल्लाभाई'—दोनो व्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि हुए है। इस समय भी गुजरात में व्रजभाषा का काफी प्रचार बढा।

काठियावाड के 'मूली ग्राम' के रहने वाले चारण 'कालिदास' राजा जसवतसिंह के राज-कवि थे। चारण जी का कविता-काल स० १६२५ वि० के लगभग है। इन्होंने अपने आश्रय-दाता महाराज जसवतसिंह की प्रशंसा में वीर-रस-पूर्ण शुद्ध व्रजभाषा में सुदर कविता की है। जैसे—

"साजें चतुरंग-सेंन भूप फतमाल[1] सुत, भाँनु छिप जात आसमाँन रज अटके।
धसकि पहार यों धरनि भार धूजत है, लचक फँनिंद मै कमठ-पीठि कटके[2]।।
कहै 'कालिदास' दल हू तें दाबा दारँन के, पट्टँन-दुपट्टँन धुँधलो कै रूप अटके।
भूप जसवंत तेरे सुँनत निसाँन अहो, भीम-गज खोखा के समाँन रिपु भटके।।"

ठाकुर केशरी सिंह ध्रौल के वासी और भूपसिंह के पुत्र थे। इनकी कविता का समय भी स० १६२५ वि० ही ठहरता है। ये अपने पिता की मृत्यु के उपरांत पालीताने मे अपने मामा के यहाँ रहने लगे थे। बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, कविता सुदर करते थे। केशरीसिंह ने नीति, शृगार आदि पर शुद्ध व्रजभाषा में सानुप्रास सरल-सुदर कविता की है। यथा—

"चंपक, चमेली और केतकी, कन्हैर, जुही, ताके बाँन साजिकें उमग सरसायी है।
दाउदी के तुर्रा और मुकट हजारा को, हेगल हमेल इस्कपेचा मन-भायो है।।

1. राजा फतेहमालसिंह।
2. पा०—खटके।

५५

चिंतन को ही अधिक महत्त्व दिया और स्वतत्र रूप से अपने सिद्धात स्थिर किये। फलत अपने जीवन की पद्धति ही बदल डाली। कहते है कि ये अपने जीवन में प्रथम किसी प्रसिद्ध स्थान में रहकर प्रत्येक पूर्णिमा को सरस्वती में भक्ति-भावना के साथ स्नान किया करते थे। यह स्थान 'सिद्धपुर'—जिसे आज कल 'सीतपुर' कहा जाता है, हो सकता है। वही इनके निवासस्थान पालनपुर के निकट था। सिद्धपुर 'कपिलमुनि' का आश्रम, सरस्वती के तट पर है। इसे 'मातृ-गया' भी कहते है। दरवेश जी के दैनिक जीवन का कार्यक्रम अपने अनुभवो के अनुसार कुछ न कुछ रचना कर सर्वसाधारण में अपने मत का उपदेश रूप में प्रसार करना था। इस प्रकार इन्होंने अपने हृदय के शुद्ध उद्गारो को व्यक्त करते-करते सवा लाख कुंडलियाँ रच डाली, ये आज अप्राप्य है। यह 'सवा-लाख' की सख्या बहुतो के साथ जुडी हुई है, जिनमे—भक्ताग्रगण्य कविकुल शिरोमणि श्री सूर और ओडछा के श्री हरिराम व्यास जी आदि प्रधान है।

दीन जी की उपलब्ध रचनाओ को निरखने-परखने से पता चलता है कि इनके विषय भी प्राय वही थे जो अन्य सतो की कृतियो मे पाये जाते है। सरल स्वतत्र जीवन, सपूर्ण विश्व से प्रेम, परोपकार, ईश्वर की भक्ति, बाह्य विधानो वा प्रदर्शनो के प्रति विरक्ति आदि-आदि । फलत हिंदू-मुसलमान का वर्ण-भेद ये नही मानते थे। वे अपनी एक रचना में कहते है—

"हिंदू कहें सो हम बड़े, मुसलमान कहें हंम।
एक मूंग दो फाड़ हैं, कुण जादा, कुण कंम॥
कुण जादा, कुण कंम, कभी मा करना कजिया।
एक भगत हो राम, दूसरा भालें रजिया॥
कहै 'दीन दरवेस' दोइ सरिता-मिल सिंधू।
सब का साहिब एक, एक मुसलिम और हिंदू॥"

इस प्रकार अपनी शैली में सर्वसाधारण को जीवन की क्षण भगुरता के प्रति सचेत करते हुए इन्होंने भाग्यवाद की ओर अग्रसर किया है। पद-पद पर कहा है कि जो कुछ होता है, वह सब करतार के किये ही होता है। बिना उसकी प्रेरणा के एक पत्ता भी नही हिल सकता। अस्तु—

"बंदा-बाजी झूंठ है, मत साँची कर मॉन।
कहाँ बीरबल-गंग हैं, कहाँ अकब्बर खॉन॥
कहाँ अकब्बर खॉन, भले की रहै भलाई।
फतेसिंघ महाराज, देख उठ चल गए भाई॥
कहै 'दीन दरवेस' सकल माया का धंधा।
मत साँची कर मॉन, झूंठ है बाजी-बंदा॥"

१७ कहान या कान अथवा कान्ह—राधनपुर गुजरात के रहने वाले थे। ये जाति के ब्राह्मण और एक आँख से काने थे। कहा जाता है कि सिद्धपुर के एक मेले में इनसे तथा दीन दर्वेश से एक कुडलिया की रचना पर वाद-विवाद हो गया था। अत इनका समय भी स० १८८० के लगभग कहा जा सकता है। इनकी कविता नीति तथा शिक्षा-परक है। जैसे—

"मिसरी घोरै झूंठ की, ऐसे होंइ हजार।
जेहर पियावै साँच कौ, सो बिरला-संसार॥
सो बिरला-संसार, पटंभर उनका ऐसा।
मिसरी जेहर-समॉन, जेहर है मिसरी जैसा॥
कहै 'सुकविया कॉन', भूलि मति जैयो भोरें।
तिन के सिर पैजार (जु) झूंठ की मिसरी घोरें॥"

रणछोड कवि जाति के नागर ब्राह्मण शैव मतवाले जूनागढ के नवाबो के यहाँ प्रधान-अध्यक्ष थे। इन्होंने शिवरहस्य, भाषा शिवपुराण, काम-दहन, सदाशिव-विवाह आदि कई ग्रथो की रचना ब्रजभाषा मे की हैं। इनकी शिव की स्तुति सुदर है, जैसे—

"अहि बिन मनि जैसें, महि बिन धनी जैसें, कहे बिन सुनी जैसें, मोती बिन पाँनी हैं।
राजा बिन ग्रॉम जैसें, लाज बिन बॉम जैसें, दीपक बिन धाँम जैसें सुखमा की हाँनी हैं।।
बच्छ बिन छीर जैसें, वृच्छ बिन नीर जैसें, लच्छ बिन तीर जैसें, सत्य बिन बाँनी हैं।
'राइ रंछोर' कथा सरवथा सुनौं सिव की, और कथा वृथा जथा बाल की कहाँनी हैं।।"

रणछोड जी के जन्मादि का समय अभी अज्ञात है। रचना प्रौढ, मुहावरेदार और अलकार-युक्त हैं।

रामानुज-सप्रदाय के सत कवि 'हरिदास' खादडपुर—काठियावाड के वासी थे। इन्होंने स० १८८१ के आस-पास ब्रजभाषा का एक ग्रथ—'हरि-विलास' नाम से रचा है, जिसमे लोकाचार तथा धार्मिक विषय के साथ नीति के अच्छे उपदेश हैं। ग्रथ की 'धार्मिक-तरग' में आध्यात्मिक विचारो के अतिरिक्त काव्य-चातुर्य की भी अपूर्व छटा हैं। जैसे—

"चंचल इंद्रपुरी सुख पाइकें, अंत की बेर महा दुख पाऊँ।
जा सुख में दुख चौगुनो होत है, ता सुख के ह्वो नजीक न जाऊँ।।
दानों चुगाइ कें पंख मरोरत, ऐसे चुगे पै में न रिझाऊँ।
कहि 'हरिदास' सुनौं सब सज्जन, ना गुर खाँउ न काँन -बिधाऊँ।।"

हिंदी-क्षेत्र में सवत् १८९० वि० से ब्रजभाषा ने नया रूप धारण किया। उसने शृगार-वेश त्याग खडी बोली का नवीन वस्त्र पहिना। ब्रजभाषा का ह्रास और उसकी पुत्री खडी बोली का प्रचार बढने लगा। पत्र-पत्रिकाओ में केवल खडी बोली की ही कविताऍं अब लिखी जाने लगी, पर इधर गुजरात में खडी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा का ही अच्छा प्रचार रहा। गुर्जर-साहित्य भी खूब फला-फूला। गुजराती कवियो ने अपनी भाषा पर अधिक ध्यान दिया, उसे भली-भाँति सँवारा, जिससे यहाँ—गुजरात में, जैसे गुजराती के प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न हुए वैसे ब्रजभाषा के नही हुए। फिर भी 'आदित्यराम' और 'गोविंद-गिल्लाभाई'—दोनो ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि हुए हैं। इस समय भी गुजरात में ब्रजभाषा का काफी प्रचार बढा।

काठियावाड के 'मूली ग्राम' के रहने वाले चारण 'कालिदास' राजा जसवतसिह के राज-कवि थे। चारण जी का कविता-काल स० १९२५ वि० के लगभग है। इन्होंने अपने आश्रय-दाता महाराज जसवतसिह की प्रशसा में वीर-रस-पूर्ण शुद्ध ब्रजभाषा में सुदर कविता की है। जैसे—

"साजें चतुरंग-सैंन भूप फतमाल[1] सुत, भाँनु छिप जात आसमाँन रज अटके।
धसकि पहार यौं धरनि भार धूजत है, लचक फनिंद मैं कमठ-पीठि फटके[2]।।
कहै 'कालिदास' दल हू तें दाबा वारेंन के, पट्टेंन-कुपट्टेंन धुंधली कै रूप अटके।
भूप जसबंत तेरे सुंनत निसाँन अहो, भीम-गज खोखा के समाँन रिपु भटके।।"

ठाकुर केशरी सिंह ओल के वासी और भूपसिह के पुत्र थे। इनकी कविता का समय भी स० १९२५ वि० ही ठहरता है। ये अपने पिता की मृत्यु के उपरात पालीताने में अपने मामा के यहाँ रहने लगे थे। बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, कविता सुदर करते थे। केशरीसिह ने नीति, शृगार आदि पर शुद्ध ब्रजभाषा में सानुप्रास सरल-सुदर कविता की है। यथा—

"चंपक, चमेली और केतकी, कन्हेर, जुही, ताके बाँन साजिकें उमंग सरसायी है।
दाउदी के तुर्रा और मुकट हजारा कौ, हेगल हमेल इस्कपेचा मन-भायी है।।

1. राजा फतेहमालसिह।
2. पा०—खटके।

'केसरी' कहत सब फूलॅन कौ सिंगार साजि, मकर कौ धुज सो तौ केवरा बनायौ है।
सैल के करन काज साजिकें समॉन ऐसौ, मानो रितुराज रति-राज बन आयौ है॥"

जेठालाल चारण, बीजापुर के रहने वाले थे। इनका कविता-काल भी स० १६२५ के आस-पास है। कविता की ब्रजभाषा शुद्ध है। हास्य-रस-प्रधान कविता लिखने में ये अधिक सफल हुए है। इनकी कविता में गूढ हास्य के साथ काव्य-चातुरी देखने-सुनने लायक है। जैसे—

"गोरे-गोरे भुजदंड, दीरघ बने है नॅन, सोभा के ऐंन सब-ही के मन-मॉने है।
अजब जलेब सो जलेबदार जेवरॅन, द्वारें गज, बाज, हेम-पूरॅन खजॉने है॥
ऐसे सुन नर-नाह, सुजस की बाढ़ी चाह, ता ते कवि आस-पास आँनि मडरॉने है।
हम मरदाँने जॉन जस के कवित्त पढ़े, द्वारें बरबॉन कहै साहब जनॉने है॥"

कवि रविराज भी काठियावाड के मूली गॉव के निवासी चारण थे। इन्होने जाडेजा ठाकुर केशरीसिंह की प्रशसा में कविता की है। कविता का समय स० १६३५ वि० और मृत्यु स० १६५१ वि० के आस-पास हुई। रविराज जी की "नर्मदा-लहरी" 'पद्माकर' और 'कवि ग्वाल' की 'गगा-लहरी' तथा 'यमुना-लहरी' के तोड की बेजोड रचना है। इन्होने कुछ फुटकल रचनाएँ भी की है, जो साधारणत सुदर है। इनकी अन्य रचनाओ का पता नही चलता। कविता की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। एक उदाहरण जैसे—

"सुंदर सरीर होइ, महा रनधीर होइ, बीर होइ भीम-सौ लरैया आठो जॉम कौ।
गरबी, गुमॉन होइ, बड़ौ सावधॉन होइ, सॉन होइ साहिबी प्रताप पुज धॉम कौ॥
पढ़त अमॉन जो पै मघवा महीप होइ, दीप होइ बंस कौ जनैया सुख स्यॉम कौ।
सर्ब गुन-ग्याता होइ, जदपि बिधाता होइ, दाता जो न होइ तौ हमारे कोन कॉम कौ॥"

काठियावाड़ के अतर्गत 'लीमडी'-राज्य के 'जुगलकिशोर' कवि भी जाति के चारण थे। 'उदर निमित्त' ये राज्यो में आया-जाया करते थे। इनका कविता-काल स० १६३५ है। इनकी रचना का विशेष पता नही चलता। फुटकल छद ही मिलते है। एक उदाहरण जैसे—

"गरजन लागी गूज गर्गॅन मृदगॅन की, बीजुरी तरनि पातुरीन पाइमाल की।
झर के झरॅन-सी परॅनि पिचकारिन की, घरॅनि में छाई धूँम आँनद रसाल की॥
जैंसिघ महीपति के आज दरबार-बीच, पावस-सी भई रितु फागुन बिसाल की।
घरी-घरी घर में किसोर घनघोर-सम, घूम, घूम आई घटा गरद गुलाल की॥"

आदित्यराम—कविता नाम 'रबिराय' जामनगर (काठियावाड) के प्रश्नोरा नागर [illegible] थे। ये सगीत और वाद्य के विशेषज्ञ थे। इनका 'सगीतादित्य'[1] ग्रथ सगीत-शिक्षा के लिये बहुत प्रसिद्ध है। आपकी ब्रजभाषा सुदर तथा सानुप्रास है। अनुप्रास-प्रेमी होने के कारण आपकी कविता 'पद्माकर' जैसी सुदर, यमक की ओपनी से ओपी हुई अति चमत्कारपूर्ण है। भक्ति और नीति पर भी आपकी सरस कविताएँ है। उदाहरण जैसे—

"गॉन, तॉन, मॉन-जुत नाच्यौ नट-भेस धरें, कामिनी बसीकरॅन बेरयौ महा फंद में।
करत बिलास, रास, हास सुख-संपति सो, जमुना के तीर धीर धरं न अनद में॥
कहत 'रबिरॉम' तोहि सूझत न कछु कॉम, धॉम, धॅन, धरा, धनि मॉने दुग-दंध में।
सिरी मदनमोंहन जू की माधुरी सु मूरति पै, मोह्यौ मन मेरौ ज्यों मलिंद मकरंद में॥"

महारमण[2], राजकोट-गुजरात के ठाकुर थे। उन्होंने अपने पढ़े पडित-मित्रों [illegible] ब्रजभाषा का एक सुदर शृगार-रस-पूर्ण ग्रथ 'प्रवीण-सागर' रचा है। यह नाम और [illegible]

१. यह ग्रथ छप चुका है।
२. इनका नाम 'महरामण' भी मिलता है।

से सरस है। आप इस ग्रंथ की समाप्ति के पूर्व-ही दुर्भाग्य-वश काल-कवलित हो गये। पीछे 'कवि गोविंद-गिल्ला भाई' ने स० १६४५ में इसकी समाप्ति की। कवि ने प्रवीन (प्रवीण) सागर स० १६३८ वि० में बनाना प्रारम्भ किया था। 'प्रवीण-सागर' अमदावाद से प्रकाशित हो चुका है जो गुजराती अक्षरो में है। काशी से भी इसका कुछ अंश-विशेष लाला भगवानदीन 'दीन' ने बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की सहायता से संपादन कर प्रकाशित किया था। भाषा शुद्ध, सरस तथा कही-कही गुजराती के शब्दो से सुशोभित है, पर स्वाभाविक है। जैसे—

"जैसें निरमल होत है, कँनक अँनल के संग।
तैसें प्रेमी विरह-वल, चढ़ै सुरति के रंग॥

❀

वेदरदी जरदी समर, ताकों लगै न तीर।
दरदी घटपट है नहीं, कैसें बचै सरीर॥"

नीलकंठ कवि के विषय में कुछ पता नहीं चलता। इनके एक छंद के चरण से जाना जाता है कि ये 'श्रीमत मल्हार राव गायकवाड' के समय में थे। जैसे—

"महिपति मल्हार सौं स्वार ह्वै गयौ कैद, या की ही विचारौ भेद तौ हू पर-नारी है।"

मल्हारराव एक उद्दंड शासक होने के कारण स० १६३२ वि० मे वडोदा के सिंहासन से अंगरेजो-द्वारा हटा दिये गए थे। मल्हारराव की मृत्यु स० १६४० के आस-पास मदरास (दक्षिण) मे हुई थी। अत नीलकंठ का कविता-काल सं० १६४० वि० के लगभग होना चाहिये। ये वडोदा के ही वासी थे। इनकी व्रजभाषा-कविता में बहुत सरसता और मधुरता है। वंशी-संबंधी एक छंद जैसे—

"वे जग-अंधन के मगदा, चलिवौ इन नौंकन हू कौं विगारचौ।
वे वलि वास-वसावत है, इन वास-उजारि कुवासँन पारचौ॥
सुरँन थाह जतावत वे, इन प्रेम अथाह के वारिधि डारचौ।
देखहु-री, हरि की वँसरी, इन कैंसे सुंवस कौ वंस विडारचौ॥"[1]

हरिजीवन, काठियावाड—पोरबंदर के निवासी पूर्ण ब्रह्म-निष्ठ थे। समय अज्ञात है। काव्य-दोहन में जो भी कविता इनकी देखने में आती है, वह गुजराती-शब्द-बाहुल्य होते हुए भी सरस है। एक उदाहरण—

"कोउक रांम-हिं-रांम रटै, और कोउक कृष्ण-हिं-कृष्ण कों ध्यावै।
कोउक जोग-समाधि धरै, प्रतिमा कोऊ पूंजिकें पूंज बढ़ावै॥
कोऊ ईमांन रे, मांन सौ जारत, कोउक एक अनंत ठहरावै।
चेतन चाह् वन्यौं अपनी, 'हरिजीवन' भाव निमित्त धरावै॥"

काठियावाडी 'चौरामल्ल' साधारण श्रेणी के व्रजभाषा-कवि थे। इनका कविता-समय सं० १६४५ के पास है। इन्होने 'भारत-दुर्दशा' पर कुछ छंद लिखे हैं। जैसे—

"आया है कलू का दौर, घरो-घर कौंगारौल, पौर, पौर, ठौर, ठौर, पाप-बेलि जागी है।
केती हुती रिद्धी-सिद्धी, केते हुते संत-वृद्ध, छोड़ा हिंदवाना तुरकाँन हद्द लागी है॥
झूंठ को जु सांच करें, सांच को बनावत झूंठ, पैसे विन बात नहिं लोभ-ज्वाल जागी है।
राजेंन की नीति गई, पंचन-प्रतीति गई, अब तौ प्रतीति सो अनीति होंन लागी है॥"

*. यह प्रयाग—दारागंज से प्रकाशित हो चुकी है।

१. वंशी पर सूरदास जी के पद तो दर्शनीय हैं हीं, पर 'कविवर ग्वाल' ने भी 'वंशी-बीसा' रचकर उसे और भी जगमगा दिया है—चमका दिया है।

फकीरुद्दीन सूरत के सीपाही थे। अन्य विवरण अज्ञात है। व्रजभाषा मध्यम श्रेणी की, फिर भी भावो में ऊहा अच्छी है। एक रचना जैसे—

"सूरत की सार गयौ, लोक-व्यौहार गयौ, रोजगार डूब गयौ, वसा ऐसी आई है।
टूट गए साहूकार, उठि गई धीर-धार, नाहिं कोऊ यार-वास वैरी सगा भाई है।
खाने को जैहैर नहीं, रहने को ठौर नहीं, बात कहा कहौं यार सब-ही दुखदाई है।
कहते 'फकीरद्दीन' सुनों हो चतुर जन, टूट गए तौ भी पक्के सूरती सिपाई है।"

काठियावाड के हालार जिले के 'मालिया' गाँव के 'मोडजी' कवि जाति के जाडेजा ठाकुर थे। इन्होने सं० १९५० के आस-पास अफीम की निंदा में 'पोस्त-पचीसी' एक सुंदर रचना की है। व्रजभाषा अति सरलता से अपने मूल स्रोत में ही बही है। जैसे—

"होती जो मैं विधवा तौ सांख्य के सिद्धांत होते, ध्यान-धरि ईस्वर में मन को लगावती।
होती जो सधवा तौ प्रेम-उद्दीपेंम ते, प्रेम-लपटाइ अति नाथ को रिझावती॥
होती जो कुमारिका तौ पेखती न अन्य नर, जोग तें अनूप महा मोच्छ कौं मिलावती।
हाइ नाँहि विधवा, न सधवा, कुमारिका न, अमली-मती तें नाँहि ऐकौ पार पावती॥"

कविवर 'गोविंद-गीला-भाई'[1] का जन्म भावनगर (काठियावाड़) के पास सीहोर गाँव में सं० १९०५ वि० को हुआ था। इनके पिता का नाम गीला (गिल्ला) भाई था और जाति चौहान-राजपूत थी। ये बड़े व्रजभाषा के प्रेमी और उसके अजोड रचयिता थे। घर में अनेको उपलब्ध और अनुपलब्ध व्रजभाषा के ग्रंथ विराज रहे थे। बीसवी शती के व्रजभाषा के ह्रास-काल में, गुजराती होते हुए भी उसके हितैषियो में ये अग्रगण्य थे। इन्होने स्वरचित "राधा-मुख-षोडसी" में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"कोबत कमन देस काठियावाड़ ता में जु, सुंदर सिहौरपुर पुनीत प्रख्यात है।
कुटुँम-कलित वा में रहत सदाँ-ही हम, जाति के खवास खास विस्व में विख्यात है॥
बिक्रम संबत बार उनईस पचास मधि, उर में उमंग धरि नेह तें नितात है।
'गोविंद' सुकवि रची 'राधा-मुख-षोड़सी' यँ, रसिक रिझाइवे कौं आछी अवदात है॥"

इन्होने व्रजभाषा में अनेक रचनाएँ रची है, जिनमें प्रमुख है—नीति-विनोद, षट्ऋतु-वर्णन, शृंगार-सरोजिनी, राधा-मुख-षोडसी, विष्णु-विनय-पचीसी, विवेक-विलास, लक्षण-बत्तीसी, प्रवीण-सागर का उत्तरार्ध, पावस-पयोनिधि, समस्यापूर्ति-प्रदीप, वक्रोक्ति-विनोद, श्लेष-चंद्रिका, गोविंद-ज्ञान-बावनी और प्रारब्ध-पचासा। इन सभी ग्रंथो में प्राय भक्ति, शृंगार, वैराग्य और नीति-विषयक कविताएँ है। भाषा—शुद्ध व्रजभाषा, सानुप्रास और स्वाभाविक अलकारो से चमत्कृत है। एक-दो उदाहरण जैसे—

"सुनिएँ 'चतुरविधि' अरज हमारी एक, आप की उमग-धारि चाँहत कहँन कौं।
पूरब के पुन्न-पाप जो हू जमे होंइ मेरे, देहु फल ता के मन चाँहें सो सहँन कौं॥
चाँहें तौ दरिद्र और कीजिए धनेस पुनि, चाँहें तौ वल सौं वेर बपु में बहँन को।
'गोविंद' सुकवि पै लिखियो लिलार नाँहि, नीरस-नरेन-पास कविता कहँन को॥"[2]

प्रसादगुण-युक्त कुछ अन्य छंद, जैसे—

"आंगन पै गज-खाल नहीं, यँ अंबर नील हमारौ विसाल है।
मुंडन की नाँहि माल-गरें, यँ हाटक-हार-हमेल रसाल है॥

१. ब्रह्मा
२. इतर पापफलानि यथेच्छया वितरतानि स हे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्तनिवेदन शिरसि मालिख मालिख मालिख॥

सीस-जटा 'कवि गोविंद' ए नहिं, भोपन सों अति घंमल-जाल है।
रे रतिनाथ, सँहारि कें मारियो, ईस नहीं यें कोंमल बाल है ॥"



"है न जटा, ए बार बिराजत, नील न ग्रीब में मुस्क लगाए।
सीस न चंद-कला यें 'गुविंद' पुस्प-प्रभा बिलसे सुख वाए ॥
अंग बिभूत नहीं सितता, हम नाथ-बियोगँन ते तन-ताए।
रे मनमथ्थ, महेस-भ्रमें, हम बाल को मारँन कहाँ धसि आए ॥"

संवत् १९१५ में बारोठ 'व्रज' कवि ने 'हरि-विजय-विलास' नाम का एक ब्रजभाषा ग्रंथ बनाया, जिसमें भावनगर के गोहिलवंशी राजा जसवंतसिंह के दरबार का वर्णन सुंदरता से किया गया है। दीवान गौरीशंकर आदि मुसद्दियो, गौरीशंकर के पुत्र—बजल भाई, साँवलदास और परमानंददास के गुण-लक्षणो का वर्णन करते हुए हरि-विष्णु की महिमा का सवाद लिखा है। ग्रंथ का प्रथम-विलास मात्र ही मिलता है। भाषा व्रज है, कही-कही डिंगल से भूषित है। जैसे—

"साइ सप्त साइर करी, करी कलम बनराइ।
तदपि चरित्र हि साह कौ, लै कें कोंन लिखाइ ॥
थावर, जंगम आप है, सब घट आप-निवास।
चेतन लीनो आप-ही, तऊ भयौ घट नास ॥
थावर, जंगम, जल-हिं-थल, मही, तूल आकास।
लख चौरासी जाँन लख, चेतन आप प्रकास ॥"

औघड उपनाम—उद्धव काठियावाड़ के लक्तर-निवासी जाति के औदीच्य ब्राह्मण थे। इन्होने कर्णसिंह ठाकुर ने नाम पर—'कर्णजुक्त-मणि' तथा 'कुकवि-कुठार' दो व्रजभाषा ग्रंथ बनायें हैं।

जीवा भक्त जाति के राजपूत भावनगर के रहने वाले थे। ये ३५ वर्ष की अवस्था में सन्यास लेकर नर्मदा-तट पर रहने लगे थे। इनकी कविता ज्ञान-वैराग्य मय है। रचना भी साधारण है, जैसे—

"धीरज तात, छमा तिम मात, अरु सांति सुलोचन बाँम प्रमाँनों।
सत्य सुपुत्र, दया भगिनी, अरु भ्रात भलें मन संजम आँनो ॥
ग्यान कौ भोजन, वस्त्र दसो दिसि, भूमि पलंग, सदाँ सुख-साँनो।
'जीवन' ऐसे सगे जग में, तब कष्ट कहा अब जोग कौ जाँनो ॥"

कवि भाण जी भाई—गिरिनारा ब्राह्मण, मीन जी के पुत्र और कच्छ-अंतर्गत माँडवी के रहने वाले थे। इन्होने 'भाण-विलास', 'भाण-बावनी' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। इनकी ब्रजभाषा साधारण है।

कवि अनंत का भी कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नही होता। इन्होने 'पीपाजी की कथा' ब्रजभाषा मे रची है। रचना दोहा-चौपाई में है। जैसे—

"सब संतन की आग्या पाऊँ, तौ पीपा की कथा सुनाऊँ।
गाँगरूनपुर पाटन स्थान, कीयौ रास अनंत बखाँन।
गाँगरूनपुर बरनौं कैसा, पाप-हि छेदि, धरम तहँ बैसा।



साखि दास अनंत कहै, लहै न सारद छोर।
सेसनाग गावैं सदाँ, नौतम गुन उठ भोर ॥"

ब्रजभाषा सरस और सरल है। अंत में तुलसीदासजी की प्रशंसा मे भी दो छंद लिखे हैं।

कुछ ऐसे ब्रजभाषा-कवियो का और भी उल्लेख मिलता है, जिनके स्थिति-काल का ठीक-ठीक पता नही चलता। ये है—विष्णुदास, मेहा (गेय-पद रचयिता), हरीसिंह, दीहल, अर्जुन, मोहनदास, कृष्णजित् आदि। हरीसिंह या हरिसिंह खानकोटडा-कच्छ के रहने वाले थे। जाति के जाडेजा ठाकुर और स्वामी रामदास के शिष्य। इन्होने 'ज्ञान-कटारी' नाम की ब्रजभाषा-रचना की है। दीहल जाति के मुसलमान काठियावाड के कुडला गाँव में रहते थे। भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति मे विभोर होकर उन्होने भी ब्रजभाषा में रचना की है, जो आज अज्ञात है। अर्जुन कवि ने—'दान समय के सवैया' और मोहनदास ने—'जम-फाँसी के पद' तथा 'मूल रामायण-सबधी पद' ब्रजभाषा मे रचे। कृष्णजित् ने 'रत्न मालिका' नाम से ब्रजभाषा में इतिहास-ग्रथ की रचना की है। यही गुजरात के इतिहास-प्रेमियो के लिये मुख्य आधार-ग्रथ है। कवि ने गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह के विविध चरित्रो का अपनी ओजपूर्ण भाषा में वर्णन किया है। जैसे—

"जस सिधरा-जैसिंघ कौ, सब ग्रंथन कौ सार।
पढ़ै-सुनैं जो पुरुष सो, पावै बुद्धि अपार॥"

कवि ने अपने इस ग्रथ के 'रत्न' नाम से कई विभाग किये है, जैसे—

"श्रीमद्गुरु पकज हृदिधारक द्विजराज कुलोत्पन्न काव्य-कला-कुसल कृष्णजिदाह्वयेन रचित ग्रथं सिद्धराज जयसिंह चरित्ररत्नमालायां प्रथम रत्न"—आदि।

इस अवतरण से ज्ञात होता है कि ये जाति के ब्राह्मण थे और काव्यो का अच्छा ज्ञान था। कवि ने आनुषगिक रीति से 'चावडा वश' का आरभ से लेकर गुजरात का इतिहास सवतो-सहित सक्षिप्त रूप से ब्रजभाषा में लिखा है। कवि का विचार उक्त ग्रथ की जप-माला की १०८ रत्न-मणिकाओ की भाँति १०८ भागो में लिखने का था। जैसे—

"अष्टोत्तर-सत रतन की, रचि हो मंजुल-माल।
एक रतन कौ मोल पुनि, जानैं बुद्धि बिसाल॥"

किंतु इसके सात रत्न पूर्ण और आठवाँ खडित मिला है। भाषा सुदर ब्रजभाषा है, पर जहाँ युद्धो तथा जन्मादि का वर्णन कथात्मक रूप से किया है, वहाँ डिंगल का विशेष प्रभाव पडा है। उदाहरण जैसे—

"दास कौ प्रनाम मन-धारि कैं, दयालु मात, दीजिए हिंमत, बल, कल ब्रह्म-बालिका।
सबद रतन ओंकार तै अनेक कवि, पाए ग्रंथ-रतन तो अधार दीन-पालिका॥
मैं पुनि सुनीं सुबात चाल हू विख्यात मात, 'रत्न' यों आगें कवि पाइकैं प्रनालिका।
तो को अवलंब कैं सुपुरुष होत कोविद कौंम, नाँम मेरौ रच्छन रची हो रत्न-मालिका॥"

डिंगल-युक्त पुष्पिताग्रा छद जैसे—

"भवति चुलक-बस के उजाला, नृप सिधराइ चरित्र रत्न माला।
अनघ कवित्त बंध के जु प्रयत्नं, रचत विचार उच्चार आदि रत्नं॥"

कृष्णजित् जी ने अपने को—'कविराज कुलोत्पन्न, गुर्जरधर मडन' और 'कृष्णजिदाह्वय' आदि विशेषण-युक्त लिखा है। ब्रजभाषा-व्याकरण के रचयिता 'रत्नजित्' ने भी अपने ग्रथ की पुष्पिका में कुछ इसी प्रकार—'श्रीमद्गुरुपदपकजदृष्टिधारक' आदि लिखा है, इनकी शब्दावलि की साम्यता बरबस अपनी ओर ध्यान खीचती है। इन दोनो कवियो का आपस में कुछ सबध भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इन अज्ञात-कुलशील ब्रजभाषा के कवियो में—'ब्रजनाथ' त्रिविक्रम सुत—भरोच निवासी और 'बालकृष्ण' भागनगर (अमदावाद) का नाम भी भुलाया नही जा सकता। प्रथम ने 'सरस-रस' नाम से नायिका-भेद और द्वितीय ने—"सूर गढार्थ पद सग्रह सटीक" ब्रजभाषा में रचा। यह टीका सूर के दृष्टिकूट-पदो पर पहली टीका है, इसके बाद सरदार कविने टीका की है। सूर-गूढार्थ-पद सटीक प्रकाशित हो चुका है।

अज्ञात-काल की कुछ और रचनाएँ भी मिलती है, जिनके कर्ता वा रचयिताओ का पता नही चलता। इनमें 'सोलकी वश की वशावली' भी है, जिसके रचयिता अज्ञात है। इस वशावली में पौराणिक-काल के सूर्य वशी राजा "अंबरीष" से लेकर 'घट टोडर' के सोलकी राजाओ की वशावली लिखी है। भाषा सुदर ब्रज की है। जैसे—

"श्रीमद् श्री नाभाग तनै, असकंद कहायौ।
सूरज वंस प्रताप सुजस, अमरीष जु गायौ॥
दुरबासा-उत्पात चक्र-रच्छा जो कीनौं।
उलटि दिखायौ त्रास, भज्यौ मुनि दीन प्रबीनो॥
सिव, ब्रह्मा अरु बिष्णु-हूं, कोउ न राखि सके सरैन।
भगवंत हु . . . . ॥



सरमायौ आयौ सरैन, तब पायौ आनंद।
समझायौ नृप चक्र कौ प्रवल छुड़ायौ फंद॥"

—इत्यादि।

चाँद खाँ, याकूब खाँ और राहत के नाम भी ब्रजभाषा-साहित्य रचयिताओ के नाते हृदय-पटल पर अकित किये जा सकते है। बीसवी सदी में इन मुसलमान कलाकारो ने भी ब्रज-साहित्य की बहुत कुछ सेवा की है।

चाँद खाँ, शेख राहत अली वडोदा के मौंमू थे। ये शेख सगीत के मधुर जगत मे नई ठनगन-युक्त 'ठुमरी-क्षेत्र' के प्रसिद्ध कथक और उसके गायक थे। चाँद खाँ वडोदा-गायकवाड में ही रहा करते थे। याकूब खाँ भी वडोदा के रहने वाले 'जमादार याकूब अली खाँ गरबे वाले' के नाम से प्रसिद्ध थे। विशेष इतिवृत्त इनका नही मिलता, पर ये बड़े ब्रजभाषा-प्रेमी और अपने समय के प्रसिद्ध गायक तथा ठुमरी रचयिता थे। इनके उदाहरण जैसे—

ठुमरी, राग—तोड़ी-भैरवी, त्रिताल-बिलबित, विषय-खंडिता नायिका



"भाई रे, तोरी साँवरे लटपटी-चाल।
मानों मद के रस झूमत, आवत हौ नँदलाल॥
रैन बीती करत केलि सौतिन सँग, सिंदूर भरि गयौ—
अधरैन 'चाँद' हरि-मुँख अंजन गाल॥"

खाँ साहब ने अपने नाम 'चाँद' को हरि-मुख से सबधित कर एक सुदर रूपक बाँध दिया है।

गरबा, राग—जगला ताल-दीपचदी[1]



"जावौ वहाँ हो गिरिधारी।
जहाँ खट्‌रितु खोई है सारी, जावौ वहाँ हो गिरिधारी॥
चित चैत में लागी उदासी, मैंने चाँहा था लगाऊँ फाँसी।
बोलें सारे ये ब्रज के वासी, यानें पिया-बिन प्रौन तजा-री॥"

[1]. कुछ संगीतज्ञो का कहना है कि 'दीपचंदी' ताल का नहीं ठेके का नाम है। ताल का नाम तो 'जत' है और उसके ठेके का नाम दीपचंदी है। जत ताल का दूसरा ठेका झूमरा भी है, पर आज कल इन दोनो—दीपचंदी और झूमरा को ताल ही कहते हैं।

जब मगसिर फूला चंपा, तब जियरा न मोरा झंपा।
बिन तोरे थरहर कंपा, चंपा-बरन-देह भई कारी ।।



मोरे पूस में पास न आए, कहीं औरेंन-सग लुभाए।
तुम आए ना, आए ना, ना आए, हम पाती लिखी कई बारी ।।



रोई फागुन चोरी-चोरी, भई "याकूब" यै गति भोरी।
सब खेलें सखी मिल होरी, मोहूं बौरी कहे जग सारी ।।"[१]

प्रसिद्ध ठुमरीकार मियाँ राहत अली लखनऊ के रहने वाले थे, इनके पिता का नाम था घिस्सू भाई। इनको नृत्य-गायन की शिक्षा इनके बड़े मामा और उस समय के प्रसिद्ध नर्त्तक कन्हैया जी से मिली थी। कन्हैया जी का असली नाम 'महम्मद बख्श' और इनके पिता का नाम 'मुराद अली' था, पर प्रसिद्धि इनकी कन्हैया नाम से ही थी। कन्हैया जी को नृत्य 'लल्लू जी नटवे' (नट) ने सिखाया था तथा गायन प्रसिद्ध वीनकार 'अमीरखाँ-उमराव खाँ' ने। लखनऊ की नवाबी के समाप्त होने पर कन्हैया जी तथा इनके गुरु अमीरखाँ लखनऊ छोड़ कर रामपुर के नवाब यसुफ अलीखाँ के दरबार में आ गये। इसके बाद कन्हैया जी की नृत्य-कला की अति प्रशंसा सुनकर बड़ोदा के तत्कालीन महाराज 'खंडेराव' ने इन्हें अपने पास बुला लिया। खंडेराव के बाद जब मल्हारराव बडोदा की गद्दी पर बैठे तब कन्हैया जी राहत अली को लखनऊ से बडोदा ले आए।

उस समय राहत अली की अवस्था आठ वर्ष की थी और इनकी जोड़ में इनके समवयस्क ममेरे भाई 'अजमद अली' नाचा करते थे। राहत और अजमद अली का साथ-साथ नृत्य देख कर महाराज मल्हारराव बहुत प्रसन्न हुए और तत्काल एक-एक भारी (कीमती) पोशाक तथा एक-एक हजार रुपया देकर इन्हें पुरस्कृत किया। फिर तो राहत अली बड़ोदा ही में रहने लगे और अत में १५ मई सन् १९४२ ई० की रात्रि को बडोदा ही में अपना यह शरीर छोडा।

राहत अली खाँ, नृत्य और गान के विशेषज्ञ तो थे ही, कवि भी अच्छे थे। इनके बनाये भजन और ठुमरियो की सगीत-समाज में भारी कदर है। खाँ साहब के पास प्राचीन सगीत घरानो की मजी हुई चीजो का खासा भडार था। गाते भी खूब थे। सगीत-विषयक कुछ मौलिक बातें भी आपने कविता-रूप में लिख रखी थी। इनकी बनाई ठुमरी का एक उदाहरण, जैसे—

ठुमरी, राग—काफी-सिंदूरा, ताल—त्रिताल



मोरी बँगरी मुरकाइ डारी,—
झट पकर निडर नटवर । ध्रु०।
कह्यौ न मानत निलज कछू, तनक मेरी—
सगरे जतन कर-कर हारी। मोरी बँग०.....।।



ठुमरी-होरी, राग—काफी, ताल तीन प्रकार के विलंबित



मन लूटत बहुत कन्हैया।
बरछी दिखाइ चितवन की तनक ।।ध्रु०।।[२]
तान के भौंहें कमान, मारें जब बान—

१. यह 'गरबा' हमें पूरा नहीं मिला है, जितना सुनने में आया वह दे दिया है।
२. ताल—दीपचंदी।

बने नैंन सिपाही लरैया . . . .॥[१]
सनमुख आवत ठौर रहे सब,—
इन चोटंन कौ कौंन सहैया . . . .।[२]
लूटे गए बौहौतेरे कटक ॥"[३]

गुजरात में ब्रजभाषा के साथ-साथ उसकी पुत्री खडी बोली की भी यत्किंचित् रस-धारा बही, जो ख्याल-लावनी की परंपरा में पाई जाती है। ख्याल-बाजी उत्तर भारत की ही विशेष वस्तु थी, पर कुछ संग्रामो—लडाइयो को लेकर दूसरे-दूसरे प्रांतो में भी फैली। इन संग्रामो मे 'भरतपुर'—ब्रज का साका (लडाई) जो अंग्रेजो के साथ सन् १८०५ ई० में हुआ था, प्रधान विषय रहा। बडोदा—गायकवाड और अमदाबाद आदि की लडाइयो का वर्णन भी ख्याल-लावनियो में अवश्य किया गया है, पर प्रधानता भरतपुर की ही रही। इस इतिहास प्रसिद्ध 'रासे' का किसी 'धर्मा' ब्राह्मण ने जिसका इतिवृत्त कुछ नही मिलता, इस प्रकार वर्णन किया है—

"भरतपुर का गढ़ बंका थाना बलदेव का।
करै रंजीत सिंघ राज बहादुर बेटा सूरजमल का॥
स्याबास है सदाराम तुम को रंजीतसिंघ राजा।
हिंदू पद की टेक राखी धन तू महाराजा॥
डीग-ऊपर चढ़ा फिरंगी लेकर सब साजा।
निमक-हराम दीवान बिग्रा सँग नहीं दिल में समझा॥
फितूर कर-कर किला गँमाया, नहीं रन में जूझा।
निमक-हरामी दिवान दिया-सँग जनम का खोजा॥
डीग-ऊपर तँबरा बाजा, देखो फिरंगी का।
करै रंजीतसिंघ राज, बहादुर बेटा सूरजमल का॥"

❀

धामा[४] जो महाराज बलदेव, खबर भई उनकूं।
पैहर्नां पीताबर तन के ऊपर आए भरतपुर कूं॥

❀

करो भजन सद्गुरु का, तुकनगीर किया कहना।
धरर्मां बावन पंथी गाते, दसनामी गाना॥

इसी प्रकार किन्ही 'हरिवाला' या 'हरिवल्लभ' ने—जसवंतराव सवाई (सन् १८०५ ई०) का पँवाडा (लडाई) रचा जो गुजरात प्रांत में अति प्रसिद्ध है। जैसे—

"सवाई जसवंत राउ बहादुर, सवाई डंका बजा दिया।
मंद सहर से मारा फिरंगी जा, जमना के पार किया॥
मंद सहर में कूंच किया जब, सैंन चली महा जंगी की।
जमना नदी आए उतर कर, तब गाँठ पड़ी फिरंगी की॥
मुकद्दरे का पकड़ा रास्ता, भाजी फौज फिरंगी की।
उजाड़ खेड़ा वाँ एक नाला, रसवन गोरों पर झंगी की॥

१. ताल—आड़ा चौताला।
२. ताल—धमार।
३. ताल—दीपचंदी।
४. धामाजी—धाऊजी।

महाराज का सिपाही बंदू, खूब करी बीने नकसेरी।
जा कर मारे रसबन गोले, टोपी पानी में गिरती ॥"

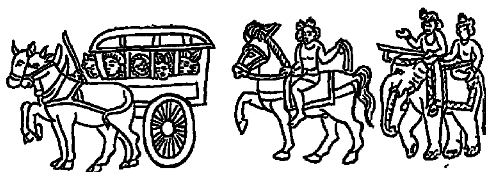
❀

"लीक साहब ने चिट्ठी भेजी, जा पहुँची कलकत्ते कूं।
सब कंपनी मिलकर आया, लगे बाँचने चिट्ठी कूं ॥
बनारस पर मारा फिरंगी, नहीं ठिकाना रहने कू।
लीक साहब ने भला नहीं किया, लगी कंपनी रोने कू ॥
आया मीरखाँ नवाब यारो, सभी पिंडारा साथ लिया।
सहर फरुक्काबाद के ऊपर महाराज से दगा किया ॥"

यह लावनी बहुत बडी है, अत मे रचयिता कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"सवाई खडेराव प्रसन्न रहें, महाराज पर है छाया ॥
'हरिबाला' ने गाई लड़ाई, तमाम लश्कर खुशी किया ॥
मंद सहर से मारा फिरंगी, जा जमना के पार किया ॥"

यह सक्षिप्त वर्णन उन उपेक्षित कवियो का है, जिन्होंने सुदूर गुजरात-प्रात में रह कर ब्रज-भाषा की तन-मन से सेवा की है। इनके अतिरिक्त और भी ब्रजभाषा-कवि वहाँ हो सकते हैं तथा ऐसे ज्ञाताज्ञात अन्य विद्वान् भी हैं, जो गुजराती भाषा-भाषी होते हुए वर्तमान समय में भी ब्रजभाषा के दीवाने हैं—उसके सहज माधुर्य पर मिटने वाले हैं। बडे खेद की बात है कि हम उनके विषय मे कुछ नही जानते और न उनके जानने का कोई साधन ही है।



काव्य-साहित्य में अलंकारों का स्थान

श्री मथुरानाथ भट्ट

साहित्य राष्ट्र के उत्कर्ष और सभ्यता की कसौटी है। जिस देश का साहित्य जितना ही उन्नत और विस्तृत होगा उस देश का गौरव और सभ्यता भी उतनी ही उन्नत गिनी जायगी। भारत का साहित्य कितना उन्नत और गभीर है इसे हम भी नही निष्पक्ष विदेशी तक मान चुके है। भारतीय साहित्य में भी काव्यो का एक विशेष स्थान है। वेद उपनिषद आदि आध्यात्मिक-शास्त्रो से जिस तरह भारत का गौरव भूमडल-विख्यात है, उसी तरह काव्यो ने भी इस देश के सभ्यो का मस्तक उन्नत किया है। भला आज ऐसा कोन सा सुशिक्षित देश होगा जिस को भारत के महाकवि 'कालिदास' का थोडा भी परिचय नही मिला होगा। सात समुद्र-पार की वैदेशिक जातियाँ भी आज कालिदास के काव्यो की कीर्ति उदार हृदय से गा रही है। काव्यो की प्रशसा में कहा जाता है कि 'कवि' की वह उक्ति और तीरदाज का वह बाण ही क्या जो हृदय पर लगते ही सिर न घुमा दे।[१] वास्तव में काव्य का चमत्कार अलौकिक है। कविता करना यावन्मात्र ललित कलाओ में प्रधान गिनी जाती है। अत काव्य में ऐसी कोन सी बात है जिसके कारण उसमें ऐसा अद्भुत चमत्कार आ जाता है।

साहित्य में सार है—मार्मिक विचार। साहित्य में जितना ही तल में पैठ कर गभीर विचार किया जाता है, साहित्य की उतनी ही उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है। इस सिद्धात के अनुसार काव्य में आज रस और भाव भी प्रधान गिने जा रहे है। विकासवाद ने आज यह दिन दिखाया है कि हम काव्य की आत्मा 'रस' को मान रहे है,[२] किंतु आरभ से लेकर अब तक काव्य पर जिसका अखंड साम्राज्य चला आ रहा है वह तत्व है 'अलकार'। काव्य में चमत्कार लाने वाला अलकार ही एक मात्र सार है। प्राचीन आलकारिको में श्रेष्ठ आचार्य वामन का सूत्र है—

"काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।"

अर्थात् अलकार के कारण ही काव्य उपादेय अथवा सर्वसेवनीय हो जाता है। अलकार शब्द का अर्थ यहाँ जरूर सुदरता है, जिससे कि रसिको के लिये काव्य रोचक हो जाता है। केवल यमक उपमादि ही अलकार नही, क्योकि अलकार शब्द के दो अर्थ है। जिनके द्वारा असाधारण रूप से सुदरता लाई जाय यो करणव्युत्पत्ति से (अलक्रियते-अनेन) अलकार शब्द का अर्थ होता है—यमक, उपमादि और 'अलकरणम्-अलकार, अर्थात् सब तरह की वह सुदरता जो कि गुण-रस-भावादि के रहने से और काव्य दोषो के त्याग से होती है, वह भी अलकार-पद वाच्य हुआ करती है। ऊपर कहे हुए सूत्र में आचार्य 'वामन' का तात्पर्य सब तरह की सुदरता से है, अर्थात् काव्य-दोषो के त्याग से और गुण-रस-अलकारादि के उपनिबधन से अद्भुत एक सुदरता आती है और वही सुदरता काव्य को उपादेय बनाती है।

यह ठीक ही है, पर यदि अलकार-शास्त्र के इतिहास को गंभीर दृष्टि से खोजा जाय तो बात दूसरी ही सिद्ध होती है। वर्तमान में यह मान लिया गया है कि काव्य में रस-भावादि व्यग्यार्थ

१. किं कवेस्तेन काव्येन किं काण्डेन धनुष्मत।
परस्य हृदयं लग्नं न घूर्णयति यच्छिर.॥

२ वाक्यं रसात्मकं काव्यं।

ही प्रधान है और वही काव्य की आत्मा भी है, किंतु पहले के जितने भी आचार्य हुए हैं, उनका दृष्टि-कोण अलकारो की प्रधानता पर ही था। अलकार के इतिहास में सबसे पहले 'दंडी' फिर 'भामह' इसके अनतर 'भट्टोद् भट्टरुद्रट' और पीछे आचार्य 'वामन' का समय आता है। इन सब ही ने अलकारो को प्रधान माना है। वामन के समय में ध्वनि का आविर्भाव हो चुका था, अर्थात् ध्वनि (व्यग्यार्थ) को साहित्य-शास्त्र में मान्यता मिल गयी थी, किंतु वामन ने उस व्यग्यार्थ को भी वाच्यार्थ का उपस्कारक (शोभाजनक) बनाकर अलकारो की कुक्षि (कोख) में ही डाल दिया था। इसीलिये वामनादि के मत में ध्वनि का स्वरूप समासोक्ति—अप्रस्तुतप्रशसा आदि उच्च जाति के अलकारो पर ही आ ठहरा था और वामन ने रीति को ही, अर्थात् शैली को ही काव्य की आत्मा माना था। दडी आदि प्राचीन आचार्यों से लेकर आज तक काव्य की शोभा का सर्वस्व अलंकार ही प्रधान रूप से रहा। इसीलिये तो इस शास्त्र का नाम अलकार के आधार पर "अलंकार-शास्त्र" यही हुआ। गुण-रीति-दोषादि के निरूपण करने पर भी गुणादि के आधार पर नामकरण नही हो सका और हो क्या, आज रस, भावादि ध्वनि को काव्य की आत्मा मान लेने पर भी इस शास्त्र का नाम 'रस-शास्त्र' अथवा 'ध्वनि-शास्त्र' न होकर अलंकार-शास्त्र ही स्थिर रहा।

काव्य में अलकारो की प्रधानता की एक उपपत्ति और भी सुझाई जाती है कि जैसे महर्षि गौतम का बनाया न्याय-शास्त्र प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजनादि षोडश पदार्थों के निरूपण करने पर भी परार्थानुमान रूप न्याय की प्रधानता के कारण आज तक 'न्याय-शास्त्र' नाम से प्रसिद्ध है, उसी भाँति दोष-गुण-रीति आदि का प्रतिपादक भी यह शास्त्र अलकारो की प्रधानता के कारण अलंकार-शास्त्र नाम से ही प्रख्यात हुआ। जो कुछ हो, ध्वनि और व्यग्य को काव्य की आत्मा मान लेने वालो को भी यह बात स्वीकार करनी पडी है कि अलंकार ही काव्य की सुदरता के लिए एकमात्र आश्रय है। ध्वनि के स्थापन करने वाले प्रधान आलंकारिक 'आनदवर्धनाचार्य' तथा 'मम्मट भट्ट' ने भी कई स्थानो पर अलकारो की प्रधानता स्पष्ट शब्दो में स्वीकार की है। काव्य-व्यवहार के प्रयोजक अलकार ही है, यह बात मम्मट भट्ट ने—

"काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्।"

—पचमोल्लास

अर्थात् काव्य-व्यवहार के सचालक अलकार ही है, इस कारिका से कही है। उद्योतकार ने इसकी टीका भी की है कि "अलकारो के विना काव्य बन ही नही सकता, क्योकि काव्य के लक्षण में शब्द और अर्थ का सालकार, अर्थात् अलकार सहित होना अनिवार्य है।" मोटी बात है कि शब्द और अर्थ काव्य के रूप में तब ही आ सकते है जब शब्दालकार के कारण शब्द में और अर्थालकारो के कारण अर्थ में कुछ चमत्कार आ जाय।

ध्वनि (व्यग्यार्थ) पर सर्वात्मना जोर देने वाले आचार्य मम्मट भट्ट ने एक और स्थान पर भी अलकारो को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है।

"स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।"

—अष्टमोल्लास

इस पद्य मे विशेषोक्ति और व्यतिरेक अलकारो के कारण ही काव्यता की सिद्धि हुई है, अर्थात् "गुणादि चाहे हो न हो, पर यहाँ अलंकारो के कारण ही यह उक्ति काव्य-कोटि में आने [illegible] हुई।" एक ध्वनिस्थापक आचार्य के मुख से निकलकर यह बात काव्य में अलकारों का [illegible] स्थान स्पष्ट घोषित कर रही है। देश का साहित्य (अलकार-शास्त्र) क्रम से परिपुष्ट होता हुआ आज सर्वांग पूर्ण हुआ है और हम रस, भाव, गुण, रीति आदि साहित्यिक पदार्थों का विशेष रूप से [illegible] समन्वय, वर्णन आदि देख रहे हैं, किन्तु आदि काल से लेकर आज तक अलकारों की प्रधानता [illegible] यों चली आ रही है। जिस मध्यकाल में साहित्य (अलकार) शास्त्र के [illegible]

पुष्ट नही हुए थे, उस समय अलकार-शास्त्र के पडित और काव्य-कला के मार्मिक इन अलकारो पर ही अपना सर्वस्व समर्पित किए हुए थे।

व्रजभाषा का पुराना साहित्य देखिये—उसमे अलकार ही एक मात्र काव्य की शोभा के आधार थे। उनमें भी शब्दालकार की तरफ लोगोका विशेष आकर्षण था। जो-जो लोकप्रिय प्राचीन कवि सूर, तुलसी, बिहारी, पद्माकर आदि हुए है उनकी कविता का चमत्कार पहले शब्द पर ही टिकता है, अर्थात् कवि का हार्दिक सरस इसी पर होता है कि शब्द-शय्या चमत्कार जनक हो। अतएव उनकी कविता सुनते ही कानो में पहले शब्दालंकार चमत्कार की सृष्टि करते है। गुण-भरपूर महात्मा सूर को देखिये—

"तरनि-ताप तलफति चकोर गति, पिवत पियूष पराग।
लोचन-नलिन नए राजत रति, पूरन मधुकर भाग॥"

भक्त कवि तुलसी का वसीकरण मत्र सुनिये—

"जय रघुवंस बनज बन भानू। गहन दनुज-कुल-दहन कृसानू॥
जय सुर-बिप्र-धेनु उपकारी। जय मद-मोह-कोह-भ्रम-हारी॥"

विहारी और पद्माकर तो शब्द चमत्कार के ही आचार्य है—

"नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।"
रतिपाली आली अँनत, आए बनमाली न॥
बिहारी : सतसई

को कौन नही जानता? फिर इस वसत में पद्माकर तो—

"बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में, बनन में, बागन में, बगरयौ बसंत है।"[१]

बोलते हुए वसत की बहार बगरा ही रहे है। यही नही, शब्दालकार इतना प्रिय बना कि उसकी वृद्धि होते-होते, धीरे-धीरे शब्द चित्र, फिर चित्र-बध-काव्य, खड्ग,-चक्र,-चामर,-धनुष,-पद्म बंधनादि चारो ओर चल पडे। इनमे भी व्रजभाषा के साहित्यकारो ने इतनी भरमार की कि अभूतपूर्व नये-नये चित्र-बधो की अद्भुत सृष्टि कर डाली। भारत विख्यात आयुर्वेदमार्तंड स्वर्गीय श्री लक्ष्मीराम स्वामी जी के यहाँ चित्र-बधो पर मैने एक विशालकाय पुस्तक देखी थी जिसमें ऐसा कोई वृक्ष, पशु, पक्षी आदि नही जिनके आकार पर उसमें बध-काव्य नही बाँधा गया हो।

मर्म-विचार करने वाले सस्कृत के आलकारिको ने—उनमे भी अत्यत बारीक विमर्ष करने वाले पडितराज जगन्नाथ ने, विशेषत जोर दिया है कि—'खड्ग-धनुष-बधादि चित्रबध में काव्यत्व ही नही। शरीर में जैसे मेद (घेघा) आदि निरर्थक लटका करते है, उनमें जीवन-अगो जैसा स्वारस्य नही, उसी तरह खड्गबध-धनुर्बंध आदि काव्य जैसे दीखने वाले अक्षरगुफो में भी काव्य का स्वारस्य नही, पर

[१] कूलन में, केलिन में, कछारँन में, कुंजन में, क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
कहैं 'पद्माकर' परागहूँ में, पौनहूँ में, पातन में पीकन पलासन पंगत है॥
द्वार में, दिसान में, दुनी में, देस-देसन में, देखौ दीप-दीपन में दीपति दिगंत है।
बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में, बनन में, बागन में, बगरयौ बसंत है॥
—जगद्विनोद : पद्माकर

तालन पै, ताल पै, तमालन पै, आलन पै, लाल, माल, वाल पै रसाल सरस्यौ परैं।
कहै कवि 'रामचंद' कुंद, कंद, बंदन पै, चंदन पै, चंद पै, मलिंद दरस्यौ परै॥
केकी, केलि, केसर, करंज, केतिकी पै कज, कारकुल, कोकिल, कदंब परस्यौ परैं।
रंग-रंग रागन पै, संग ही परागन पै, वृंदावन-बागन पै बसंत बरस्यौ परै॥
—हजारा : हफीजुल्लाह खाँ

ध्यान देने की बात है—आलोचना करने वाले रुकावट डालते ही रहे, किंतु चित्र-काव्यो का निर्माण नहीं बद हुआ। माघ-भारवि से लेकर आज तक के कवियो ने चित्रबधो में अपनी प्रतिभा का चमत्कार बराबर दिखलाया है। बात यह है कि यदि खड्ग-धनुष-पद्म-बधो के पद्यो में लोगो को चमत्कार और अद्भुतता का अनुभव होता है और यह भी रचना करने वाले की विशेष शक्ति के बिना, साधारण अक्षर जोड़ देनेवाले से नही बन सकता तो इसके चमत्कार का अपह्नव (छुपाव) भी कौन कर सकता है ? क्योकि सबका सिद्धात है कि 'काव्ये सारश्चमत्कारः' (काव्य में चमत्कार ही सार है)'।

अलकारो को मध्यम दर्जे की चीज समझनेवाले, वाच्यार्थ को केवल उपाय (साधन) मात्र माननेवाले, व्यग्यार्थ को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करने वाले ध्वनिवादी अलकारो को चाहे जितना नीचा ढकेलें, परतु काव्य से उनका आसन शिथिल नही होता। ध्यान देने की बात है कि यदि हम रस-भावादि व्यग्यार्थ को काव्य की आत्मा मान भी लेते है तो भी जनता के हृदयाकर्षण में अलकार ही बाजी ले जाते है, क्योकि किसी मनुष्य को पहले पहल देखते ही सबसे पहले उसके शरीर पर ही दृष्टि पडती है। वह मन का कैसा है, उसकी आत्मा कितनी उन्नत और शुद्ध है, यह हमें बहुत पीछे मालूम पडता है। इस ही तरह, किसी काव्य को सुनते ही सबसे पहले उसके शब्द और अर्थ हमारे हृदय में उतरते है। बस, उस ही समय शब्द और अर्थ के साथ-साथ अलकार—हमारे हृदय पर अधिकार जमा लेते है, क्योकि अलकार इन शब्द और अर्थों के आश्रित ही तो है। अब आप ही देख लीजिए—काव्य के व्यग्यार्थ, रस, भाव आदि पर पीछे प्रतिभा पहुँचेगी, पहले शब्द और अर्थ के साथ-साथ अलकार ही हमारे हृदय को वशीभूत कर सकेंगे।

आप देखेंगे कि ध्वनि-स्थापना के लिये प्रकाड परिश्रम करने वाले आनदवर्धनाचार्य और मम्मट भट्टादि को भी अलकारो की प्रधानता कई स्थानो पर सब की अपेक्षा अधिक माननी पड़ी है। यावन्मात्र अलकारिको ने काव्य को 'कांतासंमित उपदेश' माना है। प्रभु की तरह नि शक आज्ञा देने वाले वेद की आज्ञा पर, मित्र की तरह हित-अहित समझाकर अच्छे मार्ग का उपदेश करने वाले पुराण, धर्म-शास्त्रो की शिक्षा पर, जो लोग आकृष्ट नही हो पाते उनको भी यह काव्य की मधुर उक्तियाँ प्रियतमा की हित-शिक्षा की भाँति रसास्वाद से आनदित बनाकर—

"संसार में राम की तरह वर्ताव करना चाहिए, रावण की तरह नहीं, जिसको कि एक दिन विनाश के घाट उतारना पड़ा।"

यो यह काता-समित काव्य के उपदेश वेद-धर्म-शास्त्रादि के उन उपदेशो से भी अधिक माग-जनक सिद्ध होते है, जिन उपदेशो से किसी तरह भी असन्मार्ग से नही मुडने वाले विलासी और भी अच्छे रास्ते पर चलकर मोक्ष तक के अधिकारी हो जाते है। अब आप ही देखिए—जिन्ने [illegible] (धर्मशास्त्रादि) के उपदेश पर कान नही दिया वे अपनी प्रियतमा जिनको कि वे अपने आधीन [illegible] है, उसके उपदेश को, उसकी शिक्षा को उपदेश्य (शिष्य) की तरह सुनने और उस पर अमल [illegible] का अपमान क्या सहसा ही सहन कर सकते है ? नही, बडी सावधानी से पहले उनके मन [illegible] को अपनी ओर खीचना पडता है। जब वह प्रसन्न होकर उपदेश सुनने के लिये अभिमुख होते [illegible] वह उपदेश दिया जाता है और वह सफल भी होता है।

कडवी दवा नही लेने वाले बच्चे को जैसे 'गुडजिह्विका (दवा के साथ साथ मिठाई [illegible] दिया जाता है उसी भाँति काता-समित उपदेश के साथ काव्यस्य रसास्वाद की '[illegible]' [illegible] जाती है। जब वह आनदमग्न होकर प्रियतमा की बात सुनने के लिये आकृष्ट हो जाते है, [illegible] रसास्वाद में लपेट कर—

"रामादिवद् वर्तितव्यम्।"

अर्थात् इतिहास के अच्छे नायक की तरह हमको चलना चाहिये, यह उपदेश दिया जाता है, [illegible] बिल्कुल मोटी बात है कि यदि कान्ता की उक्ति सुनते ही कानो को बुरी लगी और [illegible]

हृदय न झुका तो बेपरवाही से संसार-यात्रा चलाने वाले विलासी जीव उसकी उक्ति को क्यों सुनने लगें? इसी तरह काव्य सुनते ही प्रिय लगे इसलिए काव्य के शब्द और अर्थ में मधुरता भी लाना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। शब्द और अर्थ में मधुरता लाना उसका अर्थ ही यह है कि शब्द और अर्थ को मधुर बनाना, उनमें अलंकारों को स्थान देना।

उनमें भी शब्दालंकारों को बहुत महत्त्व दिया जाता है। आलंकारिक लोग कहते हैं कि "काव्य के गुण (ओज, प्रसाद आदि) चाहे हमें विदित न हो, किंतु काव्य के अक्षर संगीत की भाँति हमारे कानों को प्रिय लगते हैं तो वह हमारे कानों में अमृत-सा उँडेलते हैं। सुंदर मालती के पुष्पों की माला का गंध चाहे हमारे तक न पहुँचा हो, किंतु उनका गुंफन-चातुर्य दूर से देखने पर ही हमारी दृष्टि को आकृष्ट कर लेता है।"[1]

बस, काव्य में शब्दालंकार यही काम करते हैं कि सुनने वालों के कानों में वे काव्य के अक्षर-संगीत की भाँति मधुरता बरसाते हैं जिनसे आकृष्ट होकर वे उस काव्य के उपदेश को सुनने के लिए बड़े उत्साह से अभिमुख हो जाते हैं। आप ही कहिये, शब्द और अर्थ के अलंकारों का आसन कितना ऊँचा है?

शरीर में आत्मा सबसे उत्कृष्ट और ऊँची चीज है—यह बात ठीक है, किंतु वह दीखने की चीज नहीं। क्या साधारण और क्या उन्नत पुरुष, सबकी दृष्टि में आने वाला होता है शरीर। शरीर के दृष्टि में आते ही यदि मनुष्यों की श्रद्धा हो जाती है तो फिर धीरे-धीरे आत्मा तक भी पहुँचने का अवसर होता है, किंतु यदि शरीर को देखते ही देखने वालों का मनोयोग न हुआ और उनकी बात सुनने के लिये ध्यान ही न दिया तो आत्मा तक पहुँचने का अवसर ही कहाँ आवेगा? बस, इसलिये शब्द और अर्थ रूपी काव्य के शरीर को लोकाकर्षक बनाना अलंकारों का काम है। इसीलिये अलंकारों का उत्कर्ष कहा जाता है—

"तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।"

गुण आदि के द्वारा जो कुछ सुंदरता आती है उसका अतिशय (आधिक्य) दिखाने वाले (जिससे कि वह दृष्टि में पड़े) अलंकार ही हैं। इस विषय में विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं। राजानक रुय्यक ने 'अलंकारसर्वस्व' में, भामह-उद्भट-वामनादि सबके मत संग्रह करके अंत में स्पष्ट अक्षरों से उपसंहार किया है कि—

"तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।"

इस तरह अलंकार ही काव्य में प्रधान हैं यह प्राचीनों का मत है।

हाँ, यह जरूर हुआ कि जैसे-जैसे अलंकारों की प्रधानता और काव्यों में उनके प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ता गया वैसे-वैसे उनके प्रयोग के संबंध में कवियों की ज्यादती भी बढ़ने लगी। अलंकारों की एकदम भरमार, स्थान-अस्थान न देखकर उनका अंधाधुंध प्रयोग, अर्थ चाहे बिगड़ जाए, परंतु अलंकारों को ठेठ तक घसीटते जाना इत्यादि बहुत कुछ चल पड़ा था। यहाँ तक कि आलंकारिकों को उसकी रोक-थाम करनी पड़ी। 'ध्वन्यालोक' में अलग एक प्रकरण है जिस के आरंभ का शीर्षक है—

"एषा चास्य (अलंकारवर्गस्य) विनिवेशने समीक्षा।"

अर्थात् यह उन अलंकारों के स्थापन के विषय में आलोचना मीमांसा है। इस शीर्षक से अलंकारों के प्रयोग के नियम बनाने पड़े कि व्यंग्य को प्रधान मानकर उसके अनुकूल अलंकार रखने चाहिये, न कि अलंकारों

[1]. अविदित गुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला॥



विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कथंचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नाति निर्वहणैषिता॥

—काव्यप्रकाश . द्वितीयोद्योत

को ही प्रधान मान कर। उचित अवसर देखकर ही अलकार को स्वीकार करें, न कि अवसर-अनवसर सर्वत्र ही। फिर स्वीकार करने पर भी जहाँ अलकार से अर्थ विगडता हो उसे नि शक त्याग दे। यह न करें कि उस अलकार के पूरे निर्वाह पर ही कमर कस ले—इत्यादि।

अलकारो के स्थापन के सबध में ऐसे-ऐसे कई नियम बनाए गए थे जिनके उदाहरण देने से व्यर्थ विस्तार होगा। यह एक अलग नियम का विषय है, किंतु यह सर्वथा सत्य है कि काव्यो में अलकारो का प्रधान स्थान है। इन अलकारो के सौदर्य से आकृष्ट होकर आजकल के उदीयमान साहित्यकार नि शक सिद्ध करते है कि "काव्य-चमत्कार के भेद ही अलकार है," "भावना को मूर्त-स्वरूप देने का साधन ही अलकार है", आदि।[1]"

१, 'विचार-वैभव' पृष्ठ ४५ ले० प्रभुनारायण चतुर्वेदी एम. ए.



ब्रज की अलंकार परंपरा

श्री ब्रजरत्नदास

सत्रहवीं शताब्दि विक्रमीय के अंत तक हिंदी में बहुत कुछ साहित्य प्रस्तुत हो चुका था और उसके इतिहास के भक्तिकाल के सूर्य, चद्र आदि प्रमुख कविगण अपनी रचनाओ से इसके भाडार को सजा चुके थे। हिंदी के उसी स्वर्णयुग में साहित्यकारो, साहित्यप्रेमियो तथा पाठको को काव्य-कला के ग्रथो की आवश्यकता ज्ञात हो चुकी थी और इसकी पूर्ति की ओर भी कार्य आरभ कर दिया गया था। जिस प्रकार व्याकरण भाषा का अनुगमन करता है, उसी प्रकार रीति-ग्रंथो का प्रणयन भी उच्च कोटि के साहित्य-ग्रथो के निर्माण के बाद ही होता है। हिंदी के सौभाग्य से उसे उसकी माता सस्कृत का अमूल्य साहित्य-भांडार प्राप्त ही था, जिससे उसके पास इतना अधिक साधन प्रस्तुत था कि उससे वह खूब लाभ उठा सकती थी, पर दैवदुर्विपाक से या अकर्मण्यता से वह उसका उचित उपयोग न कर सकी। हिंदी के आरभिक कालोके प्राय. सभी सुकविगण संस्कृत के ज्ञाता थे और हिंदी में वैसे ग्रथो के अभाव में भी वे काव्यकला के मर्मज्ञ थे। इस कारण इन सुकवियो को यह अभाव नही खला, परतु इसीके अनतर हिंदी साहित्येतिहास का रीति-काल आरंभ होता है, जो विक्रमीय स०१७०१ से सं० १६००तक माना जाता है। इस काल में कुछ कवियो को छोडकर प्राय. सभी ने काव्य-शास्त्र के एक-एक अग को लेकर उस पर लिखा है, परतु देखा जाता है कि उनमें बहुत कम कवि आचार्यत्व के उच्चासन तक पहुँच पाए हैं। अधिकतर कवियो ने अपर्याप्त, अस्पष्ट तथा कहीं-कहीं भ्रामक परिभाषाएँ देकर उनके उदाहरणो को प्रस्तुत करने में अपनी सारी कवित्व-शक्ति दिखलाई है। अलंकार, नायिका-भेद, नखशिख आदि पर बहुत ही रचनाएँ हुई, पर सभी के रचयिताओ की जो कवित्व-शक्ति उनके रचित पदोमें प्रस्फुटित हुई वैसी शक्ति विवेचना मे नही दिखलाई पड़ी। तात्पर्य इतना ही है कि सस्कृत के समान हिंदी में आचार्यवर्ग अलग न हो सका और इसका मुख्य कारण गद्य-साहित्य का अभाव था? गभीर विवेचना का मुख्य साधन गद्य ही है।

रीति-काल मे भाषा का भी नियंत्रण होना चाहिए था, पर वैसा न हो सका। इसके विपरीत यहाँ तक कह दिया गया—

"'भाव अनूठो चाहिए, भाषा कैसिहु होइ।"

ऐसे विचार का यही फल हुआ कि शब्दो को तोड़-मरोड़कर प्रयोग करने का, ब्रज-अवधी आदि भाषाओ के शब्दो का सुविधानुसार मिश्रण करलेका तथा व्यवहार से उठे गले-सडे शब्दो को व्यवहार में लाने का लोभ कविगण संवरण न कर सकते थे। धनलिप्सा के कारण प्रमुख कविगण तक धनाढ्य-आश्रयदाताओ को प्रसन्न तथा सतुष्ट करने के लिये असख्य मनुष्यों के हृदयाधार आराध्यदेव श्रीराधाकृष्ण को साधारण नायिका-नायक रूप में मानकर एवं उनकी लीला का वर्णन कर अपने कलुषित हृदयो का परिचय देते थे और इसे धनोपार्जन का सुगम मार्ग बना लेते थे। इसी कारण इस काल मे शृगार रस पर अधिक कविता हुई और यह रस शृगारिकता के नाम से प्राय निंद्य सा हो उठा, पर सर्प-मुख में पडकर दुग्ध के विष हो जाने से दुग्ध विष नहीं हो जाता।

भक्ति-काल ही में काव्यशास्त्र के कुछ अगो पर रचनाएँ हो चुकी थी। सं०१५९८ वि० में कोई कृपाराम अपनी 'हिततरंगिणी' में थोडा बहुत रस-निरूपण कर चुके थे। इन्होने अपने कुछ पूर्ववर्ती कवियो की ऐसी रचनाओ का उल्लेख भी किया है, जो अभी तक अप्राप्य हैं। चार सौ दोहो में यह

रचना है जो अत्यंत सुदर, सरस तथा भावमय है। इसके अनतर स० १६१६ वि० में 'मोहनलाल मिश्र' ने 'श्रृगार-सागर' नामक बडा ग्रथ लिखा, जिसमें नायिकाभेद, अलकार आदि का साधारण विवेचन है। इसकी भाषा भी शिथिल है और कवित्व-शक्ति भी साधारण है। सत्रहवी शताब्दि विक्रमीय में तो इन कवियो ने और भी कई रीति-ग्रथ लिखे है, जिनमें गोप, महाकविराम सुदरदास ग्वालियरी, हरीराम, देव, निधान आदि की रचनाएँ प्राप्त है। इसी शताब्दि में भक्त सुकवि नददास जी ने 'रसमजरी' में नायिका-भेद तथा 'विरहमजरी' में 'विप्रलभ शृगार' पर कुछ लिखा है। बलभद्र मिश्र ने 'नखशिख' पर एक छोटी रचना तैयार की और नवाब अब्दुर्रहीम खाँ खानखाना ने 'बरवै नायिका-भेद' में केवल उदाहरण प्रस्तुत किए। इतना होते हुए भी महाकवि केशवदासजी ही प्रथम आचार्य-कवि है, जिन्होंने काव्य के सभी अगो का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया है। इनके बाद प्राय पचास वर्ष तक कोई अच्छा रीति-ग्रथ नही लिखा गया।

केशवदास जी का जन्म स० १६१२ में तथा मृत्यु स० १६७४ में हुई थी। ये ओडछा नरेश वीरसिंह देव तथा उनके भाई इद्रजीतसिंह के आश्रित थे। ये हिंदी के सुकवि तथा सस्कृत-साहित्य-शास्त्र के विद्वान थे। इन्हें हिंदी में काव्य-कला पर ग्रथों का न होना खला और इन्होने इसकी पूर्ति करने का निश्चय किया। भामह, दडी, उद्भट आदि प्राचीन अलकार-शास्त्रियोके ग्रथो के परिशीलन से इनकी मनोवृत्ति अलकार ही को प्राधान्य देने की ओर झुकी और यह भी रस, रीति आदि सभी को अलकार के अतर्गत समझने लगे। इन्ही आचार्यों के ग्रथो के आधार पर केशवदास जी ने अलकारो पर 'कविप्रिया' तथा रस पर 'रसिकप्रिया' दो ग्रंथ लिखे। इनका एक ग्रथ 'नखशिख' पर भी है। 'रामचंद्रिका' यद्यपि प्रबंध-काव्य है, पर यह अनेक प्रकार के छदो के उदाहरणो के सग्रह-रूप में प्रस्तुत हुआ है। रसिकप्रिया स० १६४८ की रचना है और इसमें रसो पर, विशेषतया शृगार पर लिखा गया है। इस कारण नायिका-भेद, हाव-भाव आदि की भी विवेचना आ गई है। कविप्रिया स० १६५८ की रचना है, जिसमें अलकार, गुण-दोष, नखशिख, चित्र-काव्य आदि की विवेचना है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि केशवदास जी का निज का विवेचन नाम मात्र को है, सारी सामग्री सस्कृत-ग्रथो से ली गई है। इनके अन्य ग्रथ 'रीति' पर नही है।

चितामणि, भूषण, मतिराम तथा जटाशकर उपनाम नीलकठ ये चारो तिकवाँपुर-निवासी 'रत्नाकर' त्रिपाठी के पुत्र थे। इनमें प्रथम तीन हिंदी-साहित्य के विशेष ख्यातिलब्ध कवि हो गए हैं। चितामणि ने स० १७०७ वि० में 'कविकल्पतरु' ग्रथ लिखा जिसमें गुण, दोष, अलकार, ध्वनि, भाव आदि का विस्तार के साथ विवरण दिया है। पिंगल पर एक ग्रथ 'छदविचार' लिखा है। इनके सिवा 'काव्यविवेक' तथा 'काव्यप्रकाश' भी इनकी रचना कही जाती है। खोज में 'रसमजरी' नाम की भी इनकी एक रचना मिली है। इस प्रकार चितामणि जी ने काव्य के सभी अंगो पर लिखा है। [illegible] व्रजभाषा अत्यत शुद्ध है और सुदर सानुप्रास है। यह आचार्य तथा कवि दोनो ही थे। भूषण 'वीर रस' के प्रसिद्ध कवि थे और सौभाग्य से इन्हे शिवाजी, साहूजी तथा छत्रसाल जैसे आश्रयदाता मिल गए थे। ऐसे देशभक्त वीरो के यशकीर्तन से इनकी कविता सारे भारत मे लोकप्रिय हो गई। इनका [illegible] ग्रथ 'शिवराजभूषण' अलकारो पर लिखा गया है। यद्यपि इनकी कविता बडी ओजस्विनी है, पर अलकारोका निरूपण ऐसे प्रसिद्ध कवि के अनुरूप नही हुआ है। अलकारो की परिभाषाएँ [illegible] पाई है और भाषा भी अव्यवस्थित है। मतिराम भी रीतिकाल के प्रमुख कवि है। इनके ग्रंथ [illegible] तथा 'ललितललाम' रस तथा अलकार पर बहुत अच्छे बन पडे है। इनमें जो [illegible] हरण दिए गए है उनसे रस अलकारादि अच्छी प्रकार समझे जा सकते है और इसीलिये [illegible] लिये उपयोगी है। इनके अन्य ग्रथ 'छदसार' (स० १७५८) 'साहित्यसार', [illegible] 'पचाशिका' (स० १७४७) कहे जाते है, ये सभी काव्य-कला-सबंधी है। इन्होंने [illegible]

में अपनी रचना की है, जो सहज स्वाभाविक तथा सरस है। भाषा ही के समान भावो मे भी कृत्रिमता का लेश नही है और अभिव्यजना सीधी तथा सरल है।

मारवाड-नरेश महाराज यशवतसिंह ने अपनी सारी आयु युद्ध-क्षेत्र ही में व्यतीत की थी। ये ऐसे प्रतापी थे कि औरगजेब भी इनका पूरा सम्मान करता था। इनका जन्म स० १६८३ में हुआ था और स० १७३५ में मृत्यु हुई। ये संस्कृत तथा भाषा के अच्छे ज्ञाता और तत्वज्ञानी थे। ये साहित्य-मर्मज्ञ तथा सुकवियो और विद्वानो के आश्रयदाता थे। इनकी कई रचनाएँ हैं, पर इनमें विशेष प्रसिद्ध 'भाषाभूषण' नामक अलकार ग्रंथ है। यह 'चद्रालोक' की सक्षिप्त प्रणाली पर लिखा गया है, जिसमें दोहे की एक अर्द्धाली में 'परिभाषा' तथा दूसरी में 'उदाहरण' दिया गया है। इस ग्रंथ के कारण ये हिंदी-साहित्य के प्रधान आचार्यो में गिने जाते हैं और आचार्य के रूप में ही इन्होने इसकी रचना की है।

कुलपति मिश्र महाकवि बिहारी के भाँजे कहे जाते हैं। यह सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और जयपुर नरेश मिर्जाराजा जयसिंह के पुत्र 'रामसिंह' के आश्रित थे। स० १७२७ में इन्होने मम्मट के काव्य-प्रकाश के आधार पर 'रसरहस्य' नामक ग्रथ लिखा है, जिसमें कही-कही गद्य में कुछ टीका-सी भी कर दी गई है। गद्य-पद्य दोनो की भाषा क्लिष्ट हो गई है और इस कारण विषय-प्रतिपादन स्पष्ट रूप से नही हो पाया है। साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखते हुए भी शास्त्रीय-निरूपण में ये विशेष सफल नही हुए। इनके अन्य ग्रथ 'नखशिख', 'द्रोणपर्व,' 'संग्रामसार' तथा 'युक्तितरगिणी' हैं। ब्रजभाषा पर इनका पूरा अधिकार स्वाभाविक ही था, क्योंकि यह आगरा के निवासी थे।

सुखदेव मिश्र कंपिला निवासी थे और काशी में भी विद्याध्ययन के लिये बहुत दिन रहे। इन्होने सात-आठ राजा-बाबुओ का क्रमश आश्रय लिया और प्राय इतनी ही रचनाएँ तैयार भी की। इनमें 'वृत्त-विचार', 'छद-विचार', 'रसार्णव' आदि रीति-ग्रंथ हैं, जिनमें दो का रचनाकाल स० १७२८ तथा स० १७३३ दिया हुआ है। प्रथम दो में पिंगल का अच्छा वर्णन है और उदाहरण भी बहुत अच्छे भक्ति-रस से भरे दिए गए हैं। 'रसार्णव' में 'नवरस' का सुदर वर्णन है तथा नायिका-भेद भी वर्णित है। 'फाजिलअली-प्रकाश' में गणागण तथा रस-भेद वर्णित है। इनमें आचार्यत्व तथा कवित्व दोनों ही समान थे और ये साधु प्रकृति के पुरुष थे।

महाकवि 'कालिदास' त्रिवेदी कान्यकुब्ज के निवासी थे। इनके पुत्र 'कवींद्र' तथा पौत्र 'दूलह' भी सुकवि हो गये हैं। स०१७४६ वि० में इन्होने 'वारवधू-विनोद' लिखा जिसमें नायिका-भेद का अच्छा वर्णन है। ये शाहजहाँ बादशाह के आश्रित कहे जाते है। इन्होने गोलकुडा पर औरगजेब की चढाई का ओजपूर्ण वर्णन किया है। 'जजीराबद' बत्तीस कवित्तो का एक छोटा काव्य है तथा इनके स्फुट पद भी मिलते हैं। इनका एक सग्रह-ग्रंथ 'कालिदास-हजारा' भी प्रसिद्ध है, जिसमें २१२ कवियो की रचनाएँ सकलित हैं। ये सिद्धहस्त निपुण कवि थे।

सुप्रसिद्ध महाकवि 'देव' सनाढ्य ब्राह्मण थे, पर कुछ लोग इन्हे दुसरिहा कान्यकुब्ज मानते हैं। इनका जन्म स० १७३० और मृत्यु स० १७८५ है। सोलह वर्ष की अवस्था ही से ये कविता करने लगे। उदार आश्रयदाताओ की खोज में ये बहुत घूमे और बहुतो के लिये इन्होने बहुत से ग्रथ रच डाले। कहा जाता है कि इन्होंने बावन या बहत्तर ग्रंथ लिखे थे, पर नाम केवल छब्बीस के मिलते हैं। इनमें से भी सब प्रकाशित नही हुए हैं। देव जी अपने पूर्व-निर्मित ग्रंथों से कुछ पद लेकर तथा कुछ नये बनाकर अपने नये आश्रयदाता के लिए एक ग्रथ तैयार कर लेते थे। यद्यपि यह बडे प्रतिभा-शाली कवि थे, पर इनका आचार्यत्व समयानुसार ही रहा और यह भी उचित, गंभीर तथा विशद विवे-चन एव व्याख्या नही कर पाए। इनकी कविता बहुत उत्कृष्ट है, पर वह लोकप्रिय नही हो सकी। इनका काव्यक्षेत्र सौंदर्योपासना ही के भीतर रहा, पर लौकिक प्रेम मात्र होनेके कारण विशेष ऊँचे नही उठ सके। भाषा पर पूरा अधिकार होते हुए भी भरती के तथा तोडे-मरोडे शब्दो की कमी नहीं है। 'भावविलास', 'भवानीविलास', 'सुजानविनोद', 'सुखसागर-तरग', 'काव्यरसायन' आदि इनके अच्छे रीति-ग्रंथ हैं।

सुरति मिश्र आगरा-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये सुकवि तथा साहित्य-मर्मज्ञ थे। इनकी विद्वत्ता इनकी लिखी 'विहारी-सतसई', 'रसिकप्रिया' आदि की टीकाओ से प्रकट होती है। इन्होने स० १७६८ में अलकारो पर दोहो मे 'अलकार-माला' लिखी और एक-एक दोहे में परिभाषा तथा उदाहरण दोनो दे दिये है। नायिका-भेद तथा रसो पर—'रसरत्नमाला' 'सरसरस', 'रसरत्नाकर' आदि लिखे। 'काव्यसिद्धात', 'नखशिख' आदि भी इनकी ऐसी ही रचनाएँ है। इनके सिवा कृष्णचरित्र आदि भी इनके अन्य ग्रथ है। इनमें कवित्व तथा आचार्यत्व दोनो ही प्राय समान है।

श्रीपतिजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण तथा कालपी के रहने वाले थे। भाषा-साहित्य के आचार्यों में वह समान्य है। इनमें कवित्वशक्ति अच्छी थी और इनकी कविता दोष-रहित तथा सरस हुई है। इन्होने काव्य के प्राय सभी अगो पर लिखा है और अच्छा लिखा है। इनका 'काव्यसरोज' स० १७७७ वि० की रचना है, जिसमें इनके रचित 'काव्यकल्पद्रुम' का उल्लेख है। अत यह इसके पहिले की रचना है। खोज तथा मिश्रबधुविनोद में—'विनोदाय काव्यसरोजे अर्थदोष-निरूपण' को लेकर एक नया ग्रथ मान लिया गया है, पर यह अशुद्ध है। एक ही ग्रथ का पूर्वांश एक ग्रथ तथा उत्तरार्ध दूसरा ग्रथ समझ लिया गया है। खोज में दिये गए उद्धरण को देखा जाता तो यह अशुद्धि न होती। इसी प्रकार 'अनुप्रास' रचना अग्रेजीमें लिखे जाने के कारण 'अनुपरास' हो गई। यह भी स्वतत्र ग्रथ है या किसी का अश मात्र है, यह ठीक नही कहा जा सकता। इनके सिवा विनोद में 'अलकारगगा', 'विक्रमविलास' आदि इनके ग्रथ कहे गये है। श्रीपति जी ने आचार्यों के समान विवेचन करने में विशेष प्रयत्न किया है और बहुत कुछ सफल भी हुए है। 'काव्यसरोज' इनका प्रौढ ग्रथ है। भिखारीदासजी ने अपने ग्रथो में इनकी रचनाओ से विशेष सहायता ली है।

भिखारीदास 'दास' श्रीवास्तव कायस्थ प्रतापगढ के अतर्गत ट्योगा के निवासी थे। इन्होने आठ-नौ ग्रथ लिखे है। 'रस सारश' स० १७९१ की रचना है, जिसमे प्रधानत शृगाररस का तथा अन्य रसो का वर्णन है। 'छदोर्णव' या 'छदार्णव' (स० १७९९), 'काव्यनिर्णय' (स० १८०३) तथा 'शृगारनिर्णय' (स० १८०७) आदि इनके तीन मुख्य रीति-ग्रथ है, जो प्रकाशित हो चुके है। ये तीनो विशद ग्रथ है और इनमें क्रमश पिंगल तथा काव्य के विविध अगो का विवेचनापूर्ण वर्णन किया गया है। इनका भाषा पर अच्छा अधिकार था तथा ये सरल आडबरहीन भाषा के पक्षपाती थे। यद्यपि यह भी अपने समयके अनुरूप आचार्यत्व को कवित्व से अलग न रख सके, पर तब भी कह सकते है कि इनमें प्रथम के गुण विशेष है। दासजी के रीति-ग्रथ आज भी आदर की दृष्टि से देखे जाते है। विनोद में इनके रचे अन्य कई ग्रथो का उल्लेख है, पर वे रीति-ग्रथ नही है।

सोमनाथ माथुर ब्राह्मण तथा जयपुर के निवासी थे। इन्होने स० १७९४ वि० में 'रसपीयूषनिधि' नामक एक बडा ग्रथ तैयार किया, जिसमें काव्यकला के प्राय सभी अगोका अच्छा विवेचन किया है। पिंगल, पदार्थनिर्णय, ध्वनि, रस, अलकार आदि सभी को बडी सरल सुगम रीति से समझाया है। ये भावुक तथा सहृदय कवि भी थे और ब्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था। सरल मधुर भाषा में दोष-रहित कविता करते थे और ये उन इने-गिने सुकवियो में से है, जो आचार्य कहे जाते है। उक्त ग्रथ के सिवा इन्होने कई अन्य काव्य-ग्रथ भी लिखे है तथा रामायण के कई काडो का पद्यमय अनुवाद किया है।

रघुनाथ काशिराज बलवतसिंह के आश्रित तथा उनके दरबार के राजकवि थे। इन्होने स० १७९६ वि० मे अलकारो पर 'रसिकमोहन' स० १८०२ वि० में, भाव, रस तथा नायिका-भेद पर 'काव्य-कलाधर' और स० १८०७ वि० में 'अष्टयाम', अर्थात् श्री कृष्ण की दिनचर्या वर्णन करते हुए अनेक विषयो पर 'जगतमोहन' लिखा है। राजनीति, न्याय, ज्योतिष आदि के साथ-साथ रत्न, सेना, अश्व आदि का भी अच्छा वर्णन किया है। 'इश्कमहोत्सव' में खडी बोली हिंदी का पुट अधिक है। ये सुकवि थे और काव्य-कला विषय को समझाने का इन्होने अच्छा प्रयास किया है। इनके पुत्र 'गोकुलनाथ', पौत्र 'गोपीनाथ' तथा शिष्य 'मणिदेव' भी सुकवि हो गए है।

कालिदास त्रिवेदी के पुत्र 'उदयनाथ कवींद्र' सहृदय कवि हो गए हैं, जिन्होने स० १८०४ वि० में शृगार पर 'रसचंद्रोदय' ग्रथ लिखा। कवींद्र के नाम से स० १७९९ वि० में रचित एक ग्रथ 'रसदीप' या 'रसदीपास्य' खोज में और मिला है, जो इन्ही का हो सकता है। इनके पुत्र 'दूलहराय' का 'कविकुल-कठाभरण' प्रसिद्ध ग्रथ है। यह चद्रालोक के अनुसार अलकारो पर लिखा गया है और छोटा होते हुए भी माधुर्य, प्रौढता आदि के कारण लोकप्रिय है। कवित्त, सवैया आदि बडे छदो के कारण परिभाषा तथा उदाहरण दोनो के पूर्ण विवरण देनेका अच्छा अवकाश मिला है। इनके स्फुट छद भी थोडे से मिलते हैं।

बेनी प्रवीण लखनऊ निवासी बाजपेयी ब्राह्मण थे। इन्होने 'नवरसतरग' स० १८७४ मे प्रस्तुत किया और इसके पहिले 'शृगार-भूषण' लिख चुके थे। इनके अनतर 'नानाराव-प्रकाश' के नाम से एक विशद अलकार-ग्रथ बनाया। प्रथम दोनो ग्रथ नायिका-भेद, रस, भाव आदि पर लिखे गए हैं। अन्य स्फुट पद भी मिलते हैं। कविता में सरसता तथा माधुर्य है और इस कारण ये रीतिकाल के सुकवियो में माने जाते है। इनकी भाषा सयत तथा प्रवाहपूर्ण है।

पद्माकर भट्ट बाँदा के तैलग ब्राह्मण 'मोहन भट्ट' के पुत्र थे, जो स्वय विद्वान् तथा सुकवि थे। इन्होने नागपुर, पन्ना, जयपुर आदि कई राज्यो मे सम्मान तथा जागीर पाई थी। पद्माकर का जन्म स० १८१० में तथा मृत्यु स० १८९० में हुई थी। इन्होने भी कई मराठा तथा राजपूत राज्यो में आश्रय प्राप्त किया था। इनकी रचनाओ में 'जगद्विनोद' स० १८६७ में तैयार हुआ, जिसमें भाव, रस आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इनकी यह रचना विशद होते हुए भी बहुत अच्छी बन पडी है और बहुत प्रसिद्ध है। इसी समयके लगभग इन्होने अलकारो पर 'पद्माभरण' ग्रथ लिखा, जो दोहो मे है। प्रथम ग्रथ शृगार रस पर है। दोनो ही ग्रथ इतने अच्छे बन पडे है कि काव्यरसिको के कठहार हो गये है। भाषा पर इनका-सा अधिकार कम कवियोमे मिलता है। इनकी जैसी मधुर स्वाभाविक कल्पना है वैसी ही मूर्त्ति विधायिनी शक्ति भी है। कही सरल प्रवाह है, कही दर्पपूर्ण ओज है तो कही गभीर स्थिरता भी है। भाषा की ऐसी अनेकरूपता विरले ही कवियो में मिलती है।

चरखारी-नरेश विक्रमशाहि के आश्रित कवि 'प्रतापसाहि' ने आठ-नौ ग्रथ रीति पर लिखे हैं, जिनमें कई प्रसिद्ध हैं। इन्होने स० १८८२ में 'व्यग्यार्थकौमुदी' शब्दशक्ति पर लिखी। स० १८८६ में 'युगल नखशिख' तथा 'काव्यविलास' दो ग्रथ लिखे। इसके अनतर स० १८३२ में शृगारमजरी', स० १८३७ में 'शृगारशिरोमणि' तथा 'अलकार-चिंतामणि' और स० १८३९ में 'काव्यविनोद' प्रस्तुत किए। इन्होने काव्य के प्राय सभी अगो पर लिखा है और सफल कवि होते हुए भी इनमे आचार्यत्व की मात्रा कम नही थी। रीतिकाल के यह प्राय अतिम प्रसिद्ध कवि हुए हैं। भाषा इनकी कही शिथिल नही होने पाई है। इन्होने और भी कई ग्रथ लिखे हैं।

बा० देवकीनदन के आश्रित असनी के 'ठाकुर' कवि के पुत्र 'सेवक' भी इसी वश के आश्रित थे। इन्होने 'वाग्विलास' नामक नायिका-भेद का एक बडा ग्रंथ बनाया है और बरवै छद में 'नखशिख' नामक एक छोटा ग्रथ भी लिखा है। इनका जन्म स० १८७२ में और मृत्यु स० १९३९ मे हुई थी। इनके सवैये आकर्षक तथा मनोहर है। पद्य में 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद भी किया था, ऐसा सुना जाता है।

भारतेंदु बा० हरिश्चद्र के पिता बा० गोपालचद्र 'गिरिधरदास' का जन्म सं० १८९० में और मृत्यु स० १९१७ में हुई थी। इतनी छोटी अवस्था में इन्होने चालीस ग्रंथ रचे थे। इनका 'भारतीभूषण' अलकारो पर विशद ग्रथ है, जिसमें ३७८ दोहे है। इन्होने एक दोहे में लक्षण तथा एक में उदाहरण दिये है। हाव, भाव आदि पर 'रसरत्नाकर' ग्रथ लिखा है, जो अपूर्ण है। ग्रीष्म-वर्णन पर भी एक पुस्तक लिखी है। इन्हें यमक, अनुप्रास बहुत प्रिय थे और क्लिष्ट काव्य करने के पक्षपाती थे।

ललितपुर-निवासी हरिजन के पुत्र 'सरदार' कवि काशीराज 'ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह' के आश्रित थे। ये साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ तथा सुकवि थे। इन्होने केशवदास जी की 'कविप्रिया' नया

'रसिकप्रिया' पर विशद टीकाएँ लिखी है। इनके सिवा 'साहित्य-सुधाकर' तथा 'व्यग्यविलास' की रचना की है। ऋतुओ पर 'ऋतुविलास' ग्रथ लिखा है। इनके अन्य काव्य-ग्रथ बडे मनोहर है तथा टीकाएँ विद्वत्तापूर्ण है। इन्होने साहित्यिक विवेचन प्राचीन ढग पर अच्छा किया है।

स० १६२८ की लिखी हुई 'वक्तिजुक्ति-रस-कौमुदी' नामक एक विशद ग्रथ की प्रति मिली है, जो श्री चैतन्य सप्रदाय के गोस्वामी श्री कृष्ण चैतन्य उपनाम 'निज' ने तैयार की थी। इसमें काव्य-कला के सभी अगो का विस्तृत वर्णन व्रजभाषा-गद्य में दिया है और उदाहरण भी कुछ 'निज' कवि ने स्वरचित दिए है, पर अधिकतर पूर्ववर्ती कवियो के चुनकर दिए गए है। यह सोलह कलाओ में विभक्त है और क्रमश भाव, नवरस, नायिकाभेद, षट्ऋतु तथा अलकारो का एक-एक दो-दो कलाओ में विवरण है। भारतेंदु जी-द्वारा प्रकाशित केवल एक 'प्रथम कला' देखने में आई है, पर ज्ञात होता है कि चार कलाएँ प्रकाशित हुई थी। भारतेंदु जी ने इन गोस्वामी जी से काव्य-कला का कुछ अध्ययन किया था। यह ग्रथ अत्यत सुदर सारगर्भित है और एक विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञ तथा सुकवि के अध्यावसाय के अनुरूप है।

यहाँ तक हिंदी-साहित्येतिहास में प्राचीन-काल की रीति-परंपरा प्राय समाप्त हो जाती है और वर्त्तमान काल आरभ होता है। जितने रीतिकारो का ऊपर उल्लेख दिया गया है वे उस काल के प्राय प्रमुख कवि तथा आचार्य हो गए है। इनके सिवा साधारण कोटि के प्राय एक सौ से अधिक कवि हुए है, जिन्होने काव्य-कला के एक-एक अग को लेकर रचनाएँ तैयार की है। वर्तमान काल के आरम मे भी 'लाला भगवानदीन' ने 'अलकार-मजूषा' तथा 'व्यग्यार्थ-मजूषा' और डा० जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने 'छद-प्रभाकर' तथा 'काव्य-प्रभाकर' लिखे, पर ये सब भी प्राचीन परिपाटी पर लिखे गए है, परंतु अब समय गद्य का है और इस प्रकार के ग्रथ विशेष रूप से गद्य ही में लिखे जाने चाहिए। साथ ही सस्कृत के इस प्रकार के ग्रथो के अच्छे अनुवाद हिंदी में अपेक्षित है, कुछ के हो भी चुके है। प्राचीन आचार्यों में दडी के 'काव्यादर्श' का अनुवाद मूल सहित प्रकाशित हो चुका है। बाद के आचार्यों में जयदेव के चद्रालोक के, विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा पडितराज जगन्नाथ के 'रसगगाधर' के अनुवाद निकल चुके है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम' विशद ग्रथ है और गद्य में इसमें जो व्याख्याएँ की गई है, वे बहुत अच्छी बन पडी है। विवेचन के साथ समझाने का प्रयास स्तुत्य है। अब यह ग्रथ 'रसमजरी' तथा 'अलकारमजरी' नाम से दो भागो में प्रकाशित हुआ है।[1]

[1] ब्रजभाषा के अंतिम रीतिकालिक प्रसिद्ध कवि 'श्री ग्वाल' जी का इस लेख में कोई उल्लेख नहीं हुआ है। कविवर ग्वालजी ने—रस और अलंकार पर काफी लिखा है। आपका अलंकार-ग्रंथ "अलंकार-भ्रमभंजन" और रसग्रंथ—"रसिकानंद" बहुत सुंदर है। यही नहीं, आपने अपने-से पहले के कवियों के काव्यों की भूलों का, उनकी साहित्यक त्रुटियो का बड़े सुंदर, सरल और विशद ढंग से निराकरण करते हुए एक बृहद् ग्रंथ—'दूषणदर्पण' की भी रचना की है। यह ग्रंथ बड़ा विशद और तत्कालीन आलोचना-क्षेत्र का जगमगाता सूर्य है, जो दीमक-राहु से ग्रसित होते हुए भी बचे-खुचे रूप में अपनी प्रभा से ब्रजभाषा के साहित्याकाश को प्रकाशित कर रहा है।

हिंदी के प्राचीन आलंकारिक आचार्य

श्री रामदहिन मिश्र

पहले वे ही आचार्य कहलाते थे, जो ऐसे नियमो का निर्धारण करते थे, जिन पर चलने से जन-समाज का जीवन-पथ प्रशस्त होता था। चाहे वे धर्माचार्य हो चाहे शास्त्राचार्य। वे आचार्य अपने निर्माण का कार्य अपने समक्ष जो देखते थे उसीके अनुसार करते थे। वह ऐसा सकलित होता था कि टस से मस नही होने देता था। जिन आचार्यो में लोक-शास्त्र के निरीक्षण और परीक्षण की जितनी मार्मिकता होती थी समाज उनका उतना ही अनुगमन करता था। ये नये-नये सिद्धातो की स्थापना भी करते थे। हमारे सस्कृत के आलकारिक आचार्य ऐसे ही हुए।

सस्कृत के आलकारिक आचार्यो की परपरा वडी लवी है। महामुनि भरत के नाटय-शास्त्र मे ४, अग्निपुराण में १६, दडी, उद्भट और वामन के समय तक वह संख्या ५२ हो गयी। फिर रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक तक अलकारो की सख्या १०३ हो गयी। तत्पश्चात् जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और जगन्नाथ तक अर्थात् १८ वी शताब्दी तक अलकारो की सख्या १६१ तक पहुँच जाती है। इनमें ऐसे अनेको अलकार है जो चमत्कार-शून्य है और कुछ में कुछ का अतर्भाव हो जाता है।

सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समाप्त होते-होते हिंदी-काव्य प्रौढता को प्राप्त हो चुका था। भाषा परिमार्जित, परिष्कृत और सुसस्कृत हो चुकी थी। उसमें विचारो की प्रौढता, गभीरता तथा स्थिरता का समावेश हो चुका था। साथ ही ललित कलाएँ भी उसमें खुलकर खिलने लगी थी। कला की विदग्धता अपना वैभव दिखलाने लगी थी। सरसता तथा मधुरता सहृदयो को सरस और मुग्ध वनाने लगी थी। सक्षेप मे यह कि काव्य अपने कला-विकास तथा सौदर्य से परिपूर्ण हो गये थे।

जव लक्ष्य स्वरूप वहुत से काव्य-ग्रथो का निर्माण हो चुका तो बहुत से कवियों ने उनको शास्त्रीय-दृष्टि से परखना प्रारम किया। यह स्वाभाविक भी था, क्योकि उन्हें नियमवद्ध वनाने की प्रवल प्रेरणा अनुभूत हुई। इतिहास से पता चलता है कि अकबर के दरवारी 'नरहर' कवि के साथी 'करनेश' कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूपभूषण' नामक ग्रथ लिखे। आभरण और भूषण शब्द इनके अलकार ग्रथ होने की सूचना देते है। इसमें सदेह नही कि इनका मूल सस्कृत के अलकार ग्रथ है, जिनका भडार उस समय तक भरपूर हो गया था।

सस्कृत में दो प्रकार के आलकारिक आचार्य हुए। एक तो वे जिन्होने काव्यागो में केवल अलकारो को ही अपनाया और उसकी विवेचना करके भेदोपभेद किए। ऐसे प्राचीन आचार्यों मे 'काव्यालकार' के कर्त्ता भामह, 'काव्यादर्श' के प्रणेता दडी और 'काव्यालकार-सार-सग्रह' के रचयिता उद्भट प्रधान है। 'काव्यालकार सूत्र' के कर्त्ता वामन और 'काव्यालकार' के प्रणेता रुद्रट अलकार ही के पोषक और समर्थक थे। काव्यादर्श को छोड कर आचार्यो के अपने ग्रथो का नामकरण ही काव्य में अलकारो की प्रधानता को द्योतित करते हैं। इनमें काव्यागो का प्रतिपादन भी है, पर इनकी मुख्यता नही है।

दूसरे आलकारिक आचार्य वे है जिन्होने पाडित्य-पूर्ण मार्मिक विवेचन से साहित्य-शास्त्र को समुन्नत और सर्वांगपूर्ण बनाया। इनमें 'काव्यप्रकाशकार' मम्मट, 'ध्वन्यालोक' रचयिता आनंदवर्द्धन, 'साहित्य-दर्पणकार' विश्वनाथ आदि है।

इसी प्रकार हिंदी के आचार्यों में भी दो दल दीख पडते है। पहले में आचार्य केशव, जसवतसिंह, भूषण आदि आते है और दूसरे में वे आचार्य आते है, जिन्होने अलकार के अतिरिक्त अन्यान्य काव्यागो को भी

अपनाया। इनमें चिंतामणि, कुलपति मिश्र, भिखारीदास आदि है। मतिराम, देव और पद्माकर ने काव्यागो मे से रस को लिया,—पर उसमें नायिका-भेद ने प्रधान स्थान ग्रहण कर लिया।

संस्कृत के कुछ आचार्यों और हिंदी के आचार्यों में दो-एक बातें ध्यान देने योग्य है। संस्कृत के आलकारिक आचार्य बडे ही उद्‌भट् विद्वान थे। उन्होने न्याय-शास्त्रो के ज्ञाता होने के कारण अपने साहित्य-शास्त्र में उन विषयो की अवतारणा बडी योग्यता से की है। उनके साहित्य-शास्त्र में सर्वत्र दर्शन-शास्त्र की झलक पाई जाती है। उन्होने काव्यार्थ-विचारने को अनेक दर्शन-शास्त्रो को अपना लिया है। अर्थ-निर्भर होने के कारण उनके अलकारो ने अत्यत सकीर्णता और सूक्ष्मता को प्राप्त कर लिया है। हिंदीके आचार्य ऐसे प्रगाढ विद्वान् नही थे। इससे उनके ग्रथो में मौलिकता और विवेक का अभाव बडा ही खलता है। दूसरी बात यह कि सस्कृत के आचार्य अपने प्रचड पाडित्य से सूक्ष्मातिकया तार्किक विवेचन से 'अलकार-सप्रदाय', 'रस-सप्रदाय', 'वक्रोक्ति-सप्रदाय' जैसे अपने-अपने सैद्धातिक सप्रदाय स्थापित करने में समर्थ हुए, हिंदी के आचार्य वैसे अपना कोई सप्रदाय स्थापित करने में समर्थ नही हुए। इसीसे हिंदी के आलकारिक आचार्यों के अलकार ग्रथोमें न तो कही मौलिकता का आभास है और न स्वतत्र सत्ता का अस्तित्व ही प्राप्त होता है। इसीसे उनके ग्रथो मे न तो परिपूर्णता है और न सप्रदाय-विशेष की स्थापना का आग्रह।

एक बात और, सस्कृत-साहित्य में आचार्यों की श्रेणी पृथक् थी और कवियो की पृथक्। यद्यपि अनेको आचार्य काव्य-शक्ति-सपन्न थे, तथापि उनकी प्रतिभा का विकास आचार्यत्व के पोषण में ही था। पडितराज ही ऐसे थे, जिन्होने साहकार कहा था कि अनुरूप उदाहरण बनाकर मैंने यह काव्य बनाया है। इसमें दूसरे का कुछ भी नही है। जो कस्तूरी के उत्पादन की सामर्थ रखता है वह क्या फूलो की सुगध को भी सूघ सकता है?[1] अस्तु, उनकी प्रतिभा का प्रखर प्रवाह कवित्व और आचार्यत्व के दोनो कूलो को प्लावित करता है। उन्होंने लक्षणो और लक्ष्यो दोनो की रचना में अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है। एक-दो और भी ऐसे आचार्य हुए। इसी प्रणाली को हिंदी के आचार्यों ने अपना लिया, पर वे दोनो विषयो मे सफल न हुए। इन आचार्यों में जैसी कवित्व-शक्ति थी वैसी आचार्यत्व के अनुरूप सूक्ष्म-निरीक्षण और परीक्षण की शक्ति नही थी। इसी से इनके द्वारा काव्यागो का मार्मिक विवेचन न हो सका।

हिंदी के आचार्यमाण कवियो के लिये नायिका-भेद और अलकार को छोड कर अन्य काव्याग अरुचिकर प्रतीत हुए जिससे उनके वर्णन और विवेचन की ओर जिनकी आखे नही गयी, भले ही वे प्रगाढ विद्वान् न हो पर वे भावुक, सहृदय और प्रतिभाशाली अवश्य थे। उन्होंने उदाहरणो के रूप में स्फुट काव्यो की जो धारा बहायी वह आज भी सहृदयो को आमज्जन-निमज्जन कराती हुई अनिवर्चनीय आनद प्रदान करती है और करती रहेगी। अलकारो की अपेक्षा नायिका-भेद के उदाहरणो में ऐसे पद्यो की बहुलता दीख पडती है। हिंदी के आचार्यों ने आचार्यत्व के अनुरूप भले ही अपना कौशल न दिखाया हो, किंतु उचित विशेषता में सस्कृत के आचार्यों से वे न्यून नही कहे जा सकते।

इस प्रणाली के अपनाने से भले ही और जो कुछ हुआ हो, पर एक नुकसान ऐसा हुआ जिसकी पूर्ति नही हो सकती। सस्कृत के आचार्यों ने अपने ग्रथो में प्रतिपाद्य विषयो के भिन्न-भिन्न कवियो के ग्रथो से जो उदाहरण दिये है, वे ही आज उन कवियो को लुप्त होने से बचाये हुए है। उनके ग्रथ भले ही लुप्त हो गए हो, पर वे सूक्ति-रूप हमारे स्मरणातीत नही हुए। उन उदाहरणो के आधार पर ही आज उनके समय का निर्धारण हो रहा है और वे हमारे इतिहास की पूर्णता में सहायक हो रहे है। उन उदाहरणो पर अनुसधान कार्य चल रहा है और इसी के फलस्वरूप अनेक ग्रथो का उद्धार भी हो रहा है। यही नही, उनके तात्कालिक साहित्य की गति-विधि का भी पता लगता है। यदि हिंदी के ये आचार्य अपने ग्रथो में स्वनिर्मित उदाहरण न देकर तात्कालिक कवियो

१. निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गंधः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥
—रसगगाधर

के उदाहरण देते तो उक्त सभी उद्देश्य सिद्ध होते। अच्छा होता कि ये कवि आचार्यत्व का मोह छोडकर 'सुदामाचरित्र' जैसा छोटा-मोटा काव्य ही लिखते या 'घनानद' जैसी स्फुट रचना ही करते। अपनी कविता के लिये शास्त्रीय विषयो को नही अपनाते। यह नही कि इन्होने ऐसे प्रबध-काव्य नही लिखे। ऐसे आचार्यो में से 'केशव', 'मतिराम', 'भूषण', 'देव' और 'पद्माकर' मुख्य है। सस्कृत के प्राय सभी आचार्यो ने एक ही पुस्तक में सभी काव्यो का वर्णन किया है, पर उक्त पाँचो आचार्यो मे से केशव ने 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया', 'मतिराम' ने 'रसराज' और 'ललित-ललाम' तथा पद्माकर ने 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' नामक रस और अलकार के सबध मे भिन्न-भिन्न ग्रथ लिखे। देव ने अपने 'काव्य-रसायन' नामक ग्रथ में सभी काव्यागो का वर्णन किया है, फिर भी उन्हे इससे सतोष नही हुआ तो 'भाव-विलास' नामक रस-ग्रथ लिखा, जिसमें नायिका-भेद ने प्रधानता ग्रहण कर ली। ऐसे तो कहने को उसमें अलकारो का भी उल्लेख हो गया है। भूषण ने 'शिवराज-भूष ण' मे केवल अलकारो का ही वर्णन किया है। यद्यपि इनमें से पद्माकर और देव का झुकाव रस के प्रति विशेष दीख पडता है, क्योकि पृथक् रूप से 'भाव-विलास' की रचना तथा जगद्विनोद की विशेषता इसके साथ भी है, तथापि इनके अलकार-ग्रथो की रचना इन्हें आलकारिक होने की घोषणा करती है।

आचार्य केशव

यह कहना अनावश्यक है कि हिंदी के आचार्यो ने सस्कृत-अलकार-शास्त्र के आधार पर ही अपने अलौकिक ग्रथ रचे है, क्योकि इनके कार्यकाल पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि उस समय तक पडितराज के 'रसगगाधर' तक की रचना हो चुकी थी। इन आचार्यो ने 'चद्रालोक' जैसे सहज ग्रथो को ही अपनाया, गभीर विचार वाले ग्रथो को नही। केशव ने अपनी अलकार रचना के लिये केशव मिश्र के 'अलकार शेखर' और अमरचद्र की 'काव्यकल्पलता वृत्ति' को अपना आधार बनाया।

कविवर केशव के आधारभूत 'काव्यकल्पलता वृत्ति' का दूसरा नाम 'कविशिक्षावृत्ति' भी है। इस नाम से यह ज्ञात होता है कि यह 'काव्यकल्पलता' की वृत्ति, अर्थात् टीका है। इसका रचना-काल १३ वी शताब्दी माना गया है। इसके पहले मूल पुस्तक की रचना हुई होगी। अलकारशेखर के ५१ वें पृष्ठ मे कविकल्पलताकार का जो उद्धरण है, सभव है, उसी की यह वृत्ति हो, क्योकि देवेश्वर या देवेंद्र द्वारा रचित 'कविकल्पलता' में वह अश नही मिलता, जिससे समय निर्देश नही किया जा सकता। हो सकता है वृत्ति के पूर्व कोई 'काव्यकल्पलता' नाम की पुस्तक रही हो, क्योकि ६ वी शताब्दी की 'काव्यमीमासा' से यह प्रकट है कि ऐसे कवि-शिक्षा-विषयक ग्रथो की रचना होती आ रही है। यह भी सभव है कि मूल पुस्तक का ही यह नाम हो, क्योकि इसकी रचना टीका-ग्रथ की भी नही है।

'काव्यकल्पलतावृत्ति' के प्रथम प्रतान के पचम स्तवक मे और 'काव्यकल्पलता' के प्रथम स्तवक के तृतीय कुसुम में एक ही प्रकार का श्लोक है[1]। उक्त श्लोक अलकारशेखर मे नही है। यह कहना कठिन है कि 'काव्यकल्पलतावृत्ति' पर से या 'काव्यकल्पलता' पर से 'अलकार शेखर' बना है, किंतु यह स्पष्ट है कि अलकार शेखर' में उनकी अपेक्षा नूतनता है। काव्यकल्पलता और अलकार शेखर मे राजवर्णन का जो श्लोक है वह एक ही सा है[2]। आगे के राजवर्णन के श्लोक भी प्राय एक ही भाव के है, पर एक मे नही है। केशव का यह दोहा उक्त श्लोक के ढग पर चला है—

> "प्रजा प्रतिग्या पन्यपन, परम प्रताप प्रसिद्ध।
> सासन नासन सत्रु के, बल-विवेक की वृद्धि॥"
>
> —कविप्रिया

[1] अथ वर्ण्यानि कथ्यते तानि यानि कवीश्वरै.।
महाकाव्यप्रभृ तिषु प्रबधेषु बबधिरे॥

[2] नृपेकीर्ति प्रतापाज्ञा दुष्टशान्तिविवेकता:।
धर्मप्रयाणसग्राम शस्त्राभ्यासनयक्षमा.॥

यह नि सदेह कहा जा सकता है कि केशव ने अन्यान्य विषयो में काव्यकल्पलतावृत्ति तथा अलकारशेखर से एव अलकारो के विषय मे काव्यदर्शन से सहायता ली।

हिंदी के आचार्यों ने अलकार को क्या समझा और अलंकार के सबध में उनका क्या आदर्श रहा आदि विषयो का कही भी स्पष्ट विवेचन नही है। एक-दो आचार्यों ने अलकार की परिभाषाएँ दी है, किंतु उनसे अलकार क्या है, इसका बोध होना बडा ही कठिन है। सस्कृत के आचार्यों ने अलकार की जो परिभाषाएँ दी है उनमे मुख्य ये है। शब्द और अर्थ को अलकृत करने वाला साधन अलकार है[१]। इसका उद्देश्य है सौंदर्य-सपादन,[२] जैसा कि इसका शब्दार्थ है। शब्द और अर्थ दोनो के शोभाधायक धर्म अलकार है[३]। काव्य के जायात्मक होने से अलकार भी दो भागो में विभक्त है। शब्दालकार और अर्थालकार। अलकार के उक्त व्यापक लक्षण के अतर्गत सभी प्रकार के सौंदर्यधायक साधन आ सकते है।

कुछ आचार्यों के जो अलकार-लक्षण है उनसे यह प्रकट होता है कि अलकारो की इयत्ता नही। उनमें कुछ चमत्कार होना आवश्यक है, क्योकि वाग्विकल्प, कहने के निराले ढंग, अनत है और उनके प्रकार ही अलकार है[४]। इसी बात को इस ढग से भी कहा गया है कि कथन के प्रकार-विशेष, अर्थात् कवि-प्रतिभा से प्रादुर्भूत उक्ति-वैचित्र्य ही अलकार है[५]। इनमें वाग्विकल्प और प्रकार-विशेष इस बात के द्योतक है कि काव्यमें कुछ चमत्कार होना चाहिये। जहाँ ऐसा होगा वहाँ अलकार का अस्तित्व माना जायगा।

"सूर सूर तुलसी ससी, उड़गन केसौदास।"

के अनुसार हिंदी-कविता में केशवदास को तीसरा स्थान प्राप्त है। केशव के पूर्व जो रीति-ग्रथ बने उनमें एकागिता की अधिकता रही। इन्होंने ही हिंदी में लक्षण-ग्रथों की रचना की परिपाटी सुदर रूप से चलायी। इससे वे आचार्य की उपाधि से विभूषित हुए। इन्होंने काव्य के सभी अगो पर अपनी कलम चलायी। 'कविप्रिया' उनके आचार्यत्व की उतनी विधायिका प्रतीत नही होती जितनी 'रसिकप्रिया'। यद्यपि उनकी कविता श्रम-साध्य प्रतीत होती है, उसमें प्राकृतिक प्रतिभा का स्फुरण कम दिखायी पडता है, तथापि वे अपने को स्वय 'कविराव' कहने के अधिकारी थे।

केशवदास अलकार के, अलकारो में चमत्कार के[६] पक्षपाती थे। इससे वे अपनी अप्रस्तुत-योजना में आकाश-पाताल के कुलावे मिलाते थे, दूर की कौडी लाते थे। उनके सामने यह भी आदर्श था कि 'कांता' का मुख सुदर होने पर भी अलकार के बिना सुशोभित नही होता[७]। यही कारण है कि उन्होंने—

"जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥"

१. अलंकृतिरलंकारः।
२. सौंदर्यमलंकारः।
—काव्यालकार
३ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिन.।
—साहित्यदर्पण
४ अनताहि वाग्विकल्पाः तत्प्रकारा एवालंकाराः।
—ध्वन्यालोक
५. अभिधानप्रकारविशेषा एवालकाराः।
—अलंकारसर्वस्व
६. तत्र चमत्कारविशेषकारित्वमिति सामान्यलक्षणम्।
—अलंकारशेखर
७. न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनितामुखम्।
—काव्यालंकार

का सिद्धात स्थिर कर अपने अलकारवादी होने का उद्घोष किया। इनके काव्यशास्त्र के प्रधान ग्रथ 'कविप्रिया' में अलकार का ही विशेष वर्णन है। अलकार-विषयक उनका विवेचन प्राचीनो के इस मत को पुष्ट करता है कि काव्य में अलकार ही प्रधान है।[1]

केशव के उपर्युक्त दोहे मे श्लेषगर्भित-वाचक-लुप्ता 'लुप्तोपमा' है। कोई-कोई समालोचक कविता-वनिता में 'रूपक' मानते है। इस दशा में पूर्वार्द्ध के पाँचो श्लिष्ट विशेषण अपनी सार्थकता सिद्ध नही कर सकते। कविता पर वनिता के आरोप से कविता छिप जाती है और वह उक्त विशेषणो से विशिष्ट नही बनती।

केशव ने अपनी अलकार-योजना में इस बात का ध्यान नही रक्खा कि अलकारो का मुख्य उद्देश्य या तो प्रस्तुत का रूप खडा करना है या भावो को तीव्र करना है। केशव ने अपनी अलकार-प्रियता और पाडित्य-प्रदर्शन के पचडे में पडकर अस्थान-स्थान का विना विचार किये ही जवर्दस्ती अलकारो की कसरत करायी है। इससे उनके काव्यो में कृत्रिमता, जटिलता, दुरूहता, अस्पष्टता तथा कवियो की जाँच के लिये—"पूछत केशव की कविताई" जैसी उक्ति की चरितार्थता पाई जाती है।

"सुदर सेत सरोरुह में, करहाटक हाटक की द्युति को है।
तापर भोर भलो मनरोचन, लोक-बिलोचन की रुचि रो है।।
देखि दई उपमा जल-देविन, दीरघ देवन के मन मोहै।
केसव 'केसवराय' मनो, कमलासन के सिर-ऊपर सोहै।।"

श्वेत कमल के छत्ते पर बैठे भौरे पर की गयी यह उक्ति है। इसमे आये 'उपमा' और उत्प्रेक्षा-वाचक 'मनो' ये दो शब्द दो अलकारो को सिद्ध करते है। ब्रह्मा के सिर पर विष्णु के बैठने की बात ही तो उपमा कही जा सकती है और यदि उसकी सभावना हो तो उत्प्रेक्षा होगी, पर इस कल्पना की उडान में कौतूहल ही मालूम होता है। यह हमारे हृदय-राग को उद्दीप्त करने में सर्वथा असमर्थ है। सरकसी करामात से आश्चर्य ही होता है, उल्लास नही।

"भृकुटी बिराजत स्वेत मानहुँ मंत्र अद्भुत साँम के।
जिनके विलोकत ही बिलात, असेस कामुकि काँम के।।
मुख बास आस प्रकास 'केसव' भौंर भौरेंन राज हीं।
जनु साँम के सुभ स्वच्छ अच्छर, वहँ समच्छ बिराज हीं।।"

इसकी अप्रस्तुत-योजनाएँ बडी ऊटपटाग है। भारद्वाज की भौहे एक ओर तो 'साम' के स्वच्छ मत्र बनती है, दूसरी ओर 'काम' के धनुष को मात करती है। शात और शृगार का गठबधन किया गया है। काली भौहें उद्दीपक होने के कारण 'काम कामुकि' की समता करती है, सफेद भौहे नही—उसमें भी बुड्ढे भारद्वाज की। मत्रो के स्वेत होने की बात भी विचारणीय ही है। भारद्वाज के मुख की सुगध से भौरो की भीर लगी रहती थी। जान पडता है भारद्वाज जी इलायची चबाते होगे या सुवासित शर्बत पिया होगा। ये भौरे काले है, पर उत्प्रेक्षा है सपक्ष स्वच्छ अक्षरो की। ये अक्षर'स्वेत मत्र' से नही निकलते। ये अक्षर शायद काले कागज पर हो। इस प्रकार भावो में विषमता पैदा करने वाले अलकारो को तमाशा दिखाने के सिवा दूसरा क्या कहा जा सकता है।

केशव ने अलकारो के दो भेद किये है—सामान्यालकार और विशेपालकार। इनके सामान्यालकार के चार प्रकार है—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राजश्री। वर्ण और वर्ण्य मे बताया गया है कि कवियो को किन-किन वस्तुओ का किस-किस रग और किस-किस आकार की होने का वर्णन करना चाहिये। भूश्री और राजश्री में किन-किन प्राकृतिक पदार्थों तथा उनकी किन-किन विशेषताओ का और राजमत्री आदि का कैसा वर्णन होना चाहिये। जिन ग्रथो का उद्देश्य कवियो को साम्प्रदायिक शिक्षा देना था, उन्हें भी अलकारो में गिन लिया है। इन्हें अलकार की व्याख्या देना अनर्थक है। हाँ, विशेपालकार में केशव ने ३७ अलकारों का वर्णन किया है।

[1] अलकारा एव काव्ये प्रधानामिति प्राचा मतम्।
—अलंकारसर्वस्व

उपमा, आक्षेप आदि के भेदो तथा आशिष आदि अलकारो के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि काव्यादर्श ही अलकारो के लिये मार्ग प्रदर्शक रहा, किंतु आश्चर्य ये है कि इन्होने 'अतिशयोक्ति' जैसा अलकार, जिसकी अलकारमात्र में सत्ता मानी जाती है, छूट गया। ज्ञात होता है जिन-सस्कृत ग्रथो को केशव ने अपना आदर्श बनाया उनको सम्हालने की पूरी चेष्टा नही की, क्योकि इनके लक्षण और उदाहरण ऐसे अस्पष्ट और भ्रामक है कि शिक्षार्थी को इनकी तह में पेठना असमव ही है। इन्होने अपने वर्णित अलकारो में विशेषता लानेकी चेष्टा की, पर सर्वथा असमर्थ रहे। सस्कृत के पडित होते हुए भी इन्होने 'काव्यप्रकाश' जैसे प्रौढ ग्रथो को समक्ष नही रक्खा, जिससे उन्हें अलकारो के सबध में परिपूर्णता प्राप्त न हो सकी। केशव के 'युक्त' और 'स्वभावोक्ति' अलकार के एक से लक्षण हो गये है—

"जाको जैसो रूप बल, कहिऐ ताही रूप।
ताको कवि-कुल 'जुक्ति' कहि, बरनत विविध सरूप॥
—युक्ति अलकार

जाको जैसो रूप गुन, कहिऐ ताही साज।
तासो जानि 'स्वभाव' सब, कहि बरनत कवि राज॥"
—स्वभावोक्ति

दडी ने धर्माक्षेप में धर्म से गुण का तात्पर्य लिया है, पर केशव ने धर्म से सीधे धर्म का आशय समझ लिया है। दडी साफ कहते है कि "हे कृशागी, तुम्हारे अगो की जो सुकुमारता प्रसिद्ध है वह झूठ है। यदि सचमुच वह सुकुमार है तो मुझे अकारण क्यो कष्ट देता है। इस प्रकार इसमे प्रेमी सुकुमारता के विरोधी कर्म से नायिका के शरीर सुकुमारता का निषेध करता है, इससे यह धर्माक्षेप है[1]। केशव का यह लक्षण है—

"राखत अपने धरम कौ, जहँ कारज रहि जाइ।
धरमाक्षेप' सदा इहै, बरनत सब सुख पाइ॥"

यहाँ सीधी धर्म चर्चा है। इससे स्पष्ट है कि केशव ने धर्माक्षेप का तात्पर्य नही समझा। इनका पातिव्रत धर्म का उदाहरण बडा सुदर है——

"जो हो कहो रहिऐ तौ प्रभुता प्रघट होति, चलँन कहो तौ हित-हाँनि नाहिं सहिनो।
भावै सो करौ तौ उदास भाव प्राँननाथ, साथ लै चलौ कैसें लोक लाज बहिनो॥
'केसौराइ' की सो तुम सुनो हो छबीले लाल, चलेंही बनत जौ पै नाहीं राज रहिनों।
तैसीऐ सिखावौ सीख तुम ही सुजाँन पिय, तुमहिं चलत मोंहि जैसो कछू कहिनों॥"

केशव के कुछ अलकार तो प्राचीन परिपाटी पर है, पर अनेक अलकारो के रूप इन्होने अपने ढग पर भी बनाये है। दडी के 'आशी' अलकार को केशव ने विस्तृत रूप दिया है। अर्थातरन्यास अलकार के उपभेद दडी के समान है, पर लक्षणो और उदाहरणो में साम्यता नही है। इस तरह की अन्य कई बातें है जो इनके अलकार-ज्ञान की गभीरता में सशय उत्पन्न करती है।

अलकार की अलकारिता को केशव न समझ सके। अलकारो में गणना की गणना इस बात को सिद्ध करती है। काव्यकल्पलतावृत्ति के चतुर्थ प्रतान के षष्ठ स्तवक में इसका वर्णन है। इसके प्रथम श्लोक में[2] अल-

१ तव तन्वांगि मिथ्यैव रूढमगेषु मार्दवम्।
यदि सत्यं मृदून्येव किमकांडेरुजासिमाम्॥
धर्माक्षेपोऽयमाक्षिप्तमंगनागात्रमार्दवम्।
कामुकेन यदत्रैवं कर्मणा तद्विरोधिना।
—काव्यादर्श

२ औचित्यरचितै. सख्या वंधुबंधुरतिक्रमै।
उपमाद्यैरलंकारै. सुधीरर्थं समर्थयेत्।

कार का और आगे[1] भी अलकार शब्द का उल्लेख देखकर केशव ने इसे अलकारो मे रख लिया, परतु केशव ने केशव मिश्र के इस कथन पर ध्यान नही दिया कि काव्य-कर्त्ता को एक से लेकर हजार तक जो-जो वस्तुएँ है उन्हें कवि-प्रयोगो से जान लेना चाहिये। अमरचद्र ने गणना के सबध मे जो उद्धरण दिये है उनमे यत्र-तत्र सख्या-मूलक 'उपमालकार' की झलक पायी जाती है,[2] पर केशव ने सख्या-सूचक वस्तुओ की गणना कर दी है।

केशव की कुछ अप्रस्तुत योजनाएँ ऐसी है जो हृदय को छूती है, जिनमे रागात्मकता है और भाव को तीव्र करने की शक्ति भी। एक उदाहरण ले—

"मातु सबै मिलिबे कहँ आईं, ज्यो सुत को सुरभी सुलवाई।।"

सद्य प्रसूता गाये जिस प्रकार अपने बच्चे को दूध पिलाने और चाटने-पोछने को छटपटाती हुई दौडती है, उसी प्रकार माताएँ भरत से मिलने के लिये अकुलाई हुई दौड पडती है। यहाँ की अप्रस्तुत-योजना भावोत्कर्ष में जीवन डाल देती है।

"सोहैं घनस्यामल घोर घनें, मोहैं तिन मैं बक-पाँति मनें।
सखावलि पी बहुधाँ जल सो, मानो तिनको उगले बल स्यो।।"

समुद्र-जल से बने बादल समुद्र-तट के शखो को भी पी गये। पानी के साथ मेघ में शख भी समा गये। बादल के नीचे उडने वाले 'बगले' ऐसे मालूम होते है जैसे मेघ के उगले हुए शख हो।' ये अलकार अपने स्वाभाविकता से सहृदय-हृदयावर्जक हो गये हैं।

कवि केशवदास के अनेको निंदको के साथ प्रशसक भी है। हिंदी मे ऐसा ग्रथ न होने के कारण ही ये आचार्य नही हुए बल्कि इनमे आचार्यत्व के भी कुछ गुण थे।

आचार्य भूषण

कविवर भूषण अपने समय के अनुसार शृगार के प्रवाह में नही बहे, पर रीति-ग्रथो की रचना के प्रवाह में अवश्य वह गये। उनका उद्देश्य इस दोहे से स्पष्ट है कि वे शिवाजी के सुयश का बखान करने ही को इस ग्रथ की रचना की, न कि अलकार-विवेचना के लिये।

"सिव-चरित्र लखि यों भयौ, कवि भूषन के चित्त।
भाँति-भाँति भूषननि सो, भूषित करौ कवित्त।।"

इस प्रकार भूषण ने जो कवित्त बनाये उन्हे अलकारो से ला भिडाया और दोहो मे उनके लक्षण लिख डाले। यही कारण है कि लक्षणो और उदाहरणो मे ऐसी अस्पष्टता आ गयी है कि आलकारिक भी चक्कर मे पड जाते है। एक उपमा अलकार के विचार से ही इनके आचार्यत्व की समीक्षा हो जायगी। शिवराज-भूषण में उपमा की यह परिभाषा दी गयी है—

"जहाँ दुहुन की देखिए, सोभा बनत समान।
उपमा भूषन ताहि को, भूषन कहत सुजान।।"

यह जयदेव के लक्षण का अनुवाद ज्ञात होता है, जिसका यह आशय है कि जहाँ दोनो की सादृश्य लक्ष्मी का विकास हो[3]। यहाँ लक्ष्मी का अर्थ ऐसी शोभा हो जो चमत्कारक हो। ऐसे सादृश्य में ही उपमा होती है। 'उल्लसति' का स्थान 'देखिये' ने ले लिया है और लक्ष्मी का स्थान शोभा ने। बस सब गुड गोबर हो गया है। उक्त लक्षण से यह भी स्पष्ट नही होता कि समान शोभा ही उपमा है या उसके सौदर्यातिशय का सादृश्यमूलक दर्शन। समान धर्म के कथन मे ही उपमा अलकार होता है।

[1] एवमन्येऽपि तत्सख्या अलंकारेण केनापि सकलिता: काव्या सगृह्यंते।
[2] पंचेंद्रियाणीवपरच्वजिन्या प्राग् द्रौपदेयान् विधुरीचकार।

—काव्यकल्पलतावृत्ति

[3]. उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसतिद्वयो:।

—चद्रालोक जयदेव

यद्यपि इन्होने पूर्णोपमा में उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म इन चारो का उल्लेख किया है, पर प्रारभ में उपमान और उपमेय की बातें ही कह कर छुट्टी पा गये है। इसका भी उदाहरण—

"मिलतहि कुरुख चकत्ता को निरखि कीन्हो, सरजा सुरेस ज्यो दुचित ब्रजराज कों।"

समुचित नही कहा जा सकता, क्योकि औरगजेब को कृष्ण के स्थान पर और शिवाजी को इद्र के स्थान पर रखा गया है। दूसरी बात यह कि इद्र ही दुचित हुआ था कृष्ण नही। यहाँ ब्रजराज को ही दुचित करने की बात कही गयी है। सभी भेदो की बात भी वे भूल गये है। भूषण ने 'भ्रमालकार' की यह परिभाषा दी है—

"आँन बात कौ आँन में, होत जहाँ भ्रम आइ।
तासों 'भ्रम' सब कहत हैं, भूषन सुकवि बनाइ॥"

अन्य बात का अन्य बात में भ्रम होना 'भ्रमालकार' है। इस प्रकार सीप मे चाँदी का भ्रम होना ही भ्रमालंकार हो जायगा, पर ऐसा नही माना जाता। भ्रमालकार वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तु में उसके सदृश अन्य वस्तु का कवि-प्रतिभा-द्वारा उत्थापित चमत्कार होता है। भूषण का उक्त लक्षण 'विश्वनाथ' के लक्षण का अनुवाद प्रतीत होता है, पर उसमें से सादृश्य और प्रतिभोत्थित का भाव छोड दिया गया है। यदि इसमें भ्रमवश अन्य वस्तु को अन्य वस्तु समझ लेने की बात होती तो एक प्रकार से लक्षण कोटि मे यह आ जाता। अस्तु भ्रमालकार का उदाहरण है—

"वृंदावन विहरत फिरें, राधा-नंदकिसोर।
नीरद-जामिनि जांनि सँग डोलें, बोलें मोर॥"

राधा-नदकिशोर को नीरद-यामिनी मान लेना भ्रम है। इसमें सादृश्य भी है और कवि-प्रतिभा का चमत्कार भी। अब भ्रमालंकार का भूषण का उदाहरण लें—

"पीय पहारँन पास न जाहु, यों तीय बहादुर सो कहै सोयें।
कौन बचैं है नवाब तुम्हें, भनि 'भूषन' भोंसिला भूप के रोयें॥
बंदि सइस्तखं हूं कों कियौ, जसवंत से भाउ करन्न से वोयें।
सिंध सिवा के सुबीरन सों, गो अमीरन बीच गुनीजन घोयें॥"

इसमें भ्रमालंकार का अस्तित्व तक नही है। यह उदाहरण भ्रमालकार का हो ही नहीं सकता। जान पडता है भूषण को इसीमें भ्रमालकार का भ्रम हो गया कि पति कही पहाड पर गया और वहाँ मार न दिया जाय।

भूषण शब्दालकार के बडे प्रेमी थे, उनकी भाषा में अनुप्रास और यमक खूब जमे हुए है। एक कवित्त देखें—

"साजि चतुरंग बीर रंग में तुरग चढ़ि, सरजा सिवाजी जंग जीतँन चलत हैं।
'भूषन' भनत नाँद विहद नगारन के, नदी, नद, मद, गब्बरँन के रलत हैं॥
ऐल, फैल, खैल, भैल, खलक में गैल-गैल, गजँन की ठैल पैल सैल उसलत हैं।
तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत, जिमि थारा पर पारा पारावार यों हलत हैं॥"

इसमें भूषण का अतिम चरण तो असाधारण है। थाल में पारा जैसे चंचल होता है वैसा [illegible] चचल हो जाता है। इनकी दोनो अप्रस्तुत योजनाएँ इतनी स्वाभाविक है कि भूषण की [illegible] नहीं रहा जाता। इस प्रकार भूषण के अधिकाश अलकार स्वभावतः उनकी रचनाओं में आ गये हैं, [illegible] कष्ट-कल्पित नही मालूम पडते और कही भी कुछ खटका नहीं पैदा करते।

"सुधा मधुर तेरे अधर, सुंदर सुमन सुगंध।
पीय जीव के वंधु ए, वंधु जीव को वंध ॥"

मतिराम ने अलकार का यह लक्षण लिखा है—

"रस अरथन ते भिन्न जो, सब्द अर्थ के मॉहि ।
चमत्कार भूषन सरिस, भूषन मानित तॉहि ॥"

यह लक्षण विश्वनाथ के इस लक्षण पर बना मालूम होता है, जिसका आशय है कि "शब्द और और अर्थ के शोभाधायक रस आदि के उपकारक जो अस्थिर धर्म है, वे ही अगद आदि के समान अलकार कहे जाते हैं"[1], पर इसका उपपादन मतिराम के लक्षण मे ठीक से नही हो सका है। अर्थ में अर्थ से भिन्न चमत्कार क्या? यह शका पैदा होती है। शोभातिशायी धर्म के लिए उक्त लक्षण में 'चमत्कार' शब्द लाया गया है। रसादि[2] में जो आदि है उसका भाव अर्थ समझ लिया गया है, पर वहाँ आदि से रसाभास आदि है। अन्य बातो में विश्वनाथ के लक्षण से यह मिल जाता है। जहाँ अन्य आचार्यो ने लक्षण नही दिया वहाँ यह बहुत कुछ है।

महाकवियो की कविता में जैसे अनायास वर्णन में अलकार आ जाते है, वैसे ही मतिराम की रचना मे अलकार आ पडे है। उनके लिये कही भी आयास नही करना पडा है। रस, भाव आदि का तात्पर्य ग्रहण करके अलकारो का जैसा सन्निवेश होना चाहिए वैसी ही इनकी अलकारिक योजना है। उनके शब्द और भाव ऐसे है जिससे अनायास ही आप से आप अलकार आ पडे है। शब्दार्थावृत्ति 'दीपक' का एक उदाहरण, जैसे—

"सकल सहेलिन के पीछें-पीछें डोलति है, मंद-मंद गौन आज आप ही करति है।
सनमुख होत सुख होत 'मतिराम' जबै, पौन लागें घूंघट के पट उघरत है ॥
जमुना के तट बंसीवट के निकट, नंदलाल को सकोचन ते चाहयौ ना परत है।
तन ती तिया कौ वर भाँवरें भरत, मन साँवरे बदन पर भाँवरें भरत है ॥"

इसमें शब्दालकार का लावण्य तो लबालब भरा ही है। भाँवरे भरना शब्दो की आवृत्ति है, जिसका अर्थ एक स्थान पर चारो ओर घूमना, परिक्रमा करना है और दूसरी जगह श्यामसुदर पर मुग्ध होना है। इस प्रकार अर्थ की भी आवृत्ति है।

मतिराम ने जयदेव के अनुसार स्मृति, भ्राति तथा सदेह अलकारो का एक साथ लक्षण किया, पर स्पष्ट न कर सके। जैसे—

"एक वस्तु लखि आन की, सुमरैन, भ्रम, संदेह।
बरनत भूषन तीन विधि, जे कविजन मति-गेह ॥"[3]

क्या एक वस्तु को देख कर स्मरण, भ्रम और सदेह करने से स्मरण, भ्रम तथा सदेह अलकार हो सकते है? आम देखकर क्या इमली का स्मरण, भ्रम, सदेह होना सभव है? जयदेव के लक्षण में ऐसी शका नही की जा सकती, क्योकि सादृश्य के कारण स्मरण, भ्रम और सदेह होने से ही इन नामो के अलंकार हो सकते हैं। मतिराम का यह लक्षण भ्रामक ही नही, अधूरा भी है। इनका स्मृति का उदाहरण भी ठीक नही है।

1. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
2. रसादीनुपकुर्वन्तोऽलकारास्तेऽगंदादिवत् ॥
—साहित्यदर्पण

3. स्यात्स्मृतिभ्रातिसंदेहैस्तदेवालंकृतित्रयम्।
—चंद्रालोक

इसमें सदेह नही कि अधिकाश आचार्यों की अपेक्षा इनका अलकार-वर्णन विस्तृत तथा भेदोपभेद युक्त है और अधिकाश उदाहरण बडे सुदर बन पडे है। मतिराम भाषा और भाव के कोमल और कात कवि थे।

आचार्य देव

अलकार के सबध में लिखते समय देव के सामने केशव का उक्त दोहा था जो सस्कृत के आशय पर बना था। यह ठीक वैसा ही है—

"कविता, कामिनि सुखद प्रद, सुबरँन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरें अधिक, अद्भुत रूप लखाति।।"

यह दोहा भी इस[1] श्लोक पर बना हुआ है—

"अलकार रस-सबद के, सोहत सुबरँन रूप।
अग-अग मनि-मानिकै, धरे भरे ब्रज भूप।।"

देव का यह दोहा विचारणीय है—

"अलंकार में मुख्य है, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारन विषै, परसत प्रघट प्रभाव।।"

इसमे सदेह नही कि उपमा अलकार अलकारो में सर्व श्रेष्ठ है। केशव मिश्र ने लिखा है कि उपमा काव्य-सपत्ति का सर्वस्व, अलकारो का शिरोरत्न और कवि-वश की माता के समान है[2]। भूषण ने भी लिखा है—

"भूषन सब भूषननि में, उपमहिं उत्तम चाहि।"

दडी ने 'स्वभावोक्ति' अलकार को प्रथम स्थान दिया है। इससे अलकारो में इसका महत्त्व माना जा सकता है, पर सभी अलकारो के मूल में हो यह बात नही मानी जा सकती। उपमा भी सभी अलकारो का नही, सादृश्यमूलक अलकारो का प्राणभूत है। सभी अलकारो के मूल में, यदि कोई अलकार है तो अतिशयोक्ति। आचार्यों का यही मतव्य है[3]। इससे सभी अलकारो में उपमा और स्वभाव के प्रकट रूप से प्रभाव परसने की बात नही जचती। देव ने स्वभावोक्ति के जो लक्षण और उदाहरण दिये है, उनसे कोई स्वभावोक्ति को नही समझ सकता। इसी समझ से स्यात् देव ने सभी अलकारो में स्वभावोक्ति के होने की बात कही हो।

देव को शब्दालकार पसद नही। उन्होने कई दोहो मे इसके विरुद्ध अपना अभिमत प्रकट किया है। इसे अधम काव्य कहा है। उन्होने—

"जिनहिं न अनुभव अर्थ कौ, मानत नहिं रस भोग।"

उनके लिए शब्दालकारो का वर्णन किया है। देव ने अर्थालकारो के मुख्य और गौण नाम से—जो दो भेद किये है वे अनावश्यक प्रतीत होते है। पृथक् रूप से गौण अलकारो का निर्देश भी नहीं किया है। 'इति मुख्यालकार' लिखकर 'अथ तद्भेद गौणाभिमित' लिख कर पिंड छुड़ा लिया है।

१. गुणवत्यपिनिर्दोषेऽलकारैः काव्यराजनि।
जायतेऽन्यैवसुषमा रत्नालकारणैरिव।।
—अलकारशेखर

२. अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्व काव्यसपदाम्।
उपमा कविवंशस्यमातेवेति मतिर्मम।।
—काव्यमीमासा

३ अलंकान्तराणामप्येकमंदः मपिपरायणाम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।
—काव्यादर्श

देव ने शब्दालकार-प्रेमियो पर बडा ही कुटिल कटाक्ष किया है, पर वे स्वय शब्द-चित्र के फेर में पड कर 'वाम सुचाम चवाति' के शिकार वन गये हैं। एक नमूना ले—

"आई बरसाने तें बुलाई वृषभांन-सुता, निरखि प्रभानि प्रभा भाँनु की अथै गई ।
चकि चकवान के चकाएँ चक चोटँन सो, चोकत चकोर चकाचोधी सी चकै गई ।।
'देव' नंद-नदन के नैनन अनंद भई, नंद जू के मंदरनि चंद मई छ्वै गई ।
कंजनि कलिन मई, कुजनि नलिन भई, गोकुल की गलिन अलिन मई कै गई ।।"

अद्भुत रस का उदाहरण अद्भुत है। इसमे चाम चबाने का स्वाद नही बल्कि उनके कथनानुसार दधि, घृत, मधु, पायस का ही स्वाद है। शब्दालकारो की दृष्टि से यह पद्य बडा सुदर है।

देव ने अलकारो के लक्षण लिखे ही नही। केवल अलकारो के नाम देकर उदाहरण दे दिये हैं। जो लक्षण दिये हैं, वे अस्पष्ट हैं, भ्रामक हैं। उपमा का उदाहरण देखिये—

"गुन औगुन सम तोलि कें, जहाँ एक सम और।
सो उपमा कहि वाच्य यह, सकल अर्थ लघु ठौर ।।"

जहाँ उपमान और उपमेय भाव मे समान धर्म का कथन हो वहाँ उपमा अलकार होता है। वस्तुओ में विभिन्नता रहते हुए भी रूप, गुण और धर्म की समता का वर्णन किया जाता है, पर एक समान की बात और वह भी समान तौला हुआ समान होना चाहिये, ऐसा होना जरा कठिन है। जहाँ आकार-प्रकार की समता होती है, वहाँ भी उपमा अलकार होता है। यह इस लक्षण के अतर्गत न आयेगा। उनका 'वाक्योपमा' के उदाहरण में उपमा को ढूँढ निकालना भी सबके लिये सभव नही।

इसमें सदेह नही कि 'काव्य-रसायन' एक उत्तम रीति-ग्रथ है, पर अलकार तक पहुँचते-पहुँचते देव कुछ शिथिल से हो गये हैं और अलकारो के लक्षण लिखने से भी बाज आये हे। उदाहरणो को देखने से ज्ञात होता है कि वे अलकारो पर दृष्टि-पात करके नही लिख गये, बल्कि लिखे हुए काव्य को अलकारो के उदाहरणो पर भिडा दिया गया है। भिडाने के समय उनके मन मे जो भाव हो, पर पाठको के लिये ये लक्षण और उदाहरण दोनो कठिन ही हो गये।

आचार्य पद्माकर

कोमलकात पदावली के प्रसिद्ध पुजारी कविवर 'पद्माकर' ने अपनी रीति-परपरा मे 'पद्माभरण' नामक ग्रथ की रचना की। इनके पूर्व चद्रालोक के अलकार प्रकरण का अनुवाद स्वरूप 'भाषाभूषण' की रचना हो गई थी। उसकी छाप पद्माभरण पर भरपूर पडी हुई है, क्योकि उनके अनेको दोहे ऐसे है जिनमे लक्षण और उदाहरण एक साथ ही आये है। इनके पहले 'वैरीसाल' क 'भाषाभरण' वन चुका था। यहा भी चद्रालोक के आधार पर वना था। कही-कही पद्माभरण और भाषाभरण एक से मिल जाते है। जैसे—

"सब्दहुं तें, कहुं अर्थ तें, कहुं दुहुं तें उर आँनि ।
अभिप्राय जिहि भाँति जहँ, अलकार सो माँनि ।।"

—पद्माभरण

"कहुँ पद तें, कहुँ अर्थ तें, कहुँ दुहुँन तें होइ ।
अभिप्राय जैसो जहाँ, अलंकार त्यो होइ ।।"

—भाषाभरण

पद्माकर ने जो अपना उक्त अलकार का लक्षण लिखा है, वह चद्रालोक के लक्षण पर ही वना मालूम होता है, क्योकि उसके लक्षण में शब्दार्थ का उल्लेख है, पर उसका भाव[१] भिन्न है।

[१] शब्दार्थयो प्रसिद्धया वा कवे प्रौढिवशेन वा ।
हारादिवदलंकार सन्निवेशोमनोहरः ।।

—चद्रालोक

इनके लक्षण से ज्ञात होता है कि शब्दालकार, अर्थालकार और उभयालकार होते है और उनमे अभिप्राय की प्रधानता है। अभिप्राय शब्दालकार का द्योतक नही हो सकता। वह अर्थ का ही—भाव का ही द्योतक हो सकता है। उनके आगे के दूसरे दोहे से—

"अलकार इक थलहि में, समुझि परें जु अनेक।
अभिप्राय कवि कौ जहाँ, वहै मुख्य गनि एक।।"

—पद्माभरण

कवि का अभिप्राय समझा जाय तो अलकार की लक्षण-कोटि में यह नही आ सकता। पद्माकर के पेट में अभिप्राय का जो अभिप्राय हो, पर अलकार के लक्षण का निरूपक वह नही हो सकता। साफ बात यह है कि 'कवे प्रौढिवर्णन' का भाव बैरीसाल या पद्माकर की समझ में नही आया।

फिर भी पद्माकर के लक्षण अधिकाश स्थलो पर भ्रम-जनक नही। उनके उदाहरण अपने और सुदर है। उनके लक्षणोदाहरण दोहो और चौपाइयो मे ही सीमित हैं। अन्यान्य आचार्यो के समान सवैया और कवित्त को नही अपनाया। यह प्रणाली अभ्यासियो के लिये श्रेयस्कर है। थोडे में अलकारो का अभ्यास हो जाता है। इनके सवैये और कवित्तो में भी अलकार योजना अच्छी हुई है। उपमा का उदाहरण लें—

"मंद-मंद उर पै अनंद ही के आँसुन की, बरसें सुबूदें मुकतान ही के दानें-सी।
कहै 'पदमाकर' प्रपची पंचबान हू के, सुकानन के मानि पै परी त्यो घोर घानें-सी।
ताजी त्रिवलीन में बिराजी छबि छाजी सबै, राजी रोमराजी करि अमित उठानें-सी।।
सौंहें पेखि पी को बिहसौंहें भए दोऊ दृग, सौंहें सुनि भौंहें गई उतरि कमानें-सी।।"

इसमें शब्दो की जैसी मनोहर लडियाँ है, वैसी ही उपमा की बहार है। चारो उपमाएँ अनुपम है। अतिम उपमा तो भाव को अपनी योजना से आसमान पर पहुँचा देती है। एक रूपक का उदाहरण सवैया—

"जाहिरै जागत सी जमुनाँ, जब बूडें बहै उमहै वर बेंनी।
त्यों 'पदमाकर' हीर के हारँन, गग-तरगनि को सुखदेंनी।।
पाँइन के रँग सो रँग जाति-सी, भाँति-हि-भाँति सरसुति-सेंनी।
पैरै जहाँ ई जहाँ वह बाल, तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिबेंनी।।"

भाषा की कोमलता तथा सजीवता में रूपक की अपरूपता दर्शनीय है। कही-कही अलकारो के समझाने और उदाहरणो मे पद्माकर से भी भूल हुई है, पर अधिक नही। यह सब होने पर भी दूसरो की अपेक्षा पद्माकर के लक्षण और उदाहरण स्पष्ट है।

हिंदी के इन प्राचीन आचार्यो के केवल अलकार ग्रथो की आलोचना और सस्कृत के आचार्यो के ग्रथो के साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिये एक-एक पृथक् पुस्तक की आवश्यकता है। फिर भी यह 'स्थालीपुलाक' न्याय से यह अध्ययन अलकार-प्रेमियो के लिये एक दिशा का अवश्य निर्देश करेगा।

अलंकार : एक अध्ययन

श्री बद्रीप्रसाद वाजपेयी

अखिल भारतीय ब्रज-साहित्य-मडल की विशेष अनुकपा से आज मुझे श्रद्धेय सेठ "कन्हैयालाल" जी पोद्दार के 'अभिनदन' का जो यह पुण्य-पर्व प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं 'पोद्दार-अभिनदन-ग्रथ' के सपादन-विभाग का चिर ऋणी हूँ। साहित्य-शास्त्र-विषयक जो कुछ भी मेरी पूँजी है, उसका अधिकाश श्री पोद्दार जी का ही उदार दान है, अत उसके व्याज-रूप अपने 'सेठ' को यत्किंचित् प्रतिदान करने में मैं 'त्वदीय वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्प्यते' के अतिरिक्त और क्या कह सकता हूँ।

भारत की अलकार-निधि सस्कृत-मजूषा में ही सदा बद रही आयी है। समय-समय पर जो समर्थ हिंदी-जन उस मजूषा में से जो कुछ भी निधि निकाल सकते थे, उसे निकालने का वे प्रयत्न करते रहे हैं। उसका कितना अश अभी तक निकल कर हिंदी में आ पाया है, यह सब के समक्ष है। मैं तो केवल इतना ही देख पाता हूँ कि अभी तक निकालने लायक हम कुछ भी नहीं निकाल पाये। पर निकालने का कार्य अभी चालू है, इससे कुछ सतोष होता है—भविष्य आशा-प्रद है।

अन्यान्य सप्रदायो के समान भारत का अलकार-सप्रदाय भी अत्यत प्राचीन है—कदाचित् अनादि भी कहा जा सकता है। उसका क्रमिक विकास भी होता रहा है और आज भी हो रहा है—विकास की इयत्ता नहीं। विकास-वाद जगत का अनादि और अनत सिद्धात माना ही जाता है।

सस्कृत-साहित्य में अलकार-शास्त्र के तीन उत्थान उपलब्ध होते हैं—१ आदि-काल में अलकारो का बीज-वपन तथा अकुरण प्राप्त होता है, जो क्रमश विकसित होते-होते एक समृद्ध उद्यान का रूप धारण कर रहा था। इस काल के प्रधान मालियो में भामह, उद्भट, रुद्रट आदि उल्लेखनीय हैं। २ माध्यमिक-काल अलकारोद्यान का रक्षा-काल है। उस समय एक ओर अतिवृष्टि, अनावृष्टि के लिए उपाय सोचे जा रहे थे और दूसरी ओर सभी ओर से उठे हुए झझावर्त एव ईति-भीति का प्रत्यवरोध किया जा रहा था। उस समय रीति-गुण-वाद तथा रस-ध्वनि-वाद आदि के विरुद्ध अलकारोद्यान के चतुर्दिक चहार-दिवाली का निर्माण आवश्यक हो गया था। कुतक, मम्मट, रुय्यक आदि इस काल के प्रधान सरक्षक थे। ३ उत्तर-काल में पिष्ट-पेषण, सक्षिप्तीकरण अथवा पाडित्य-प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति दिखायी देती है। सभी लोग यथाशक्ति कुछ न कुछ जोड-बटा कर आचार्य पदवी प्राप्त कर लेने में लगे थे। अलकारो के अध्ययन की दृष्टि क्षीण पड गयी थी—अध्यापन की दृष्टि से सस्ते लक्षण और उदाहरणो के निर्माण का कार्य चालू हो गया था। अपूर्ण एव अव्यवस्थित विवेचन, अनुपादेय भेदोपभेदो की कल्पना और अनावश्यक विस्तार इस काल की विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

हिंदी में अलकार-सप्रदाय का प्रस्रवण सस्कृत के उक्त उत्तर-काल से ही हुआ और यही स्वाभाविक भी था। अत हिंदी में अलकारशास्त्र के उत्थान का क्रम सस्कृत के उत्थान-क्रम का विलोम समझना चाहिए। सस्कृत का उत्तर-काल हिंदी का आदि काल था। उस समय 'कुवलयानद' और 'चद्रालोक' की पद्धति पर हिंदी-रीति-ग्रथो का निर्माण प्रारभ हुआ। इस काल के पश्चात् हिंदी में अलकार के माध्यमिक युग की पुनरावृत्ति दिखायी देती है। रीति-कालीन अलंकार-संबधी अव्यवस्था एवं अपरिपूर्णता को दूर कर व्यवस्थित विवेचन और सामजस्य-स्थापन इस काल का प्रधान लक्षण है। इस समय मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' आधार-स्तभ बन चुका है और प्राचीन अलकार-परपरा के स्वच्छ, निर्मल एवं स्वस्थ प्रवाह का स्रोत खुल गया है, अधिकाश प्राचीन ग्रथो के अनुवाद हो चुके हैं और हो रहे हैं।

किंतु हिंदी में अलकारोत्थान का उत्तर-काल अभी नही आया। अभी रुय्यक, कुतक, अभिनवगुप्त, महिम भट्ट, मुकुल भट्ट आदि की परपरा हिंदी में नही चली—उस प्रकार का मौलिक विवेचन, प्रतिभा-पूर्ण प्रतिपादन और भिन्न-भिन्न मतमतातरो का आलोडन-विलोडन नही प्रारभ हुआ। अभी हमने प्राचीन परपरा के सरण और मम्मट-निर्मित लीक को छोडकर स्वतत्र उद्भावना के क्षेत्र में प्रवेश पाने का प्रयत्न नही प्रारभ किया। 'बाबा-वाक्यं प्रमाणम्' के कीचड में हिंदी-अलकार-शकट इस तरह धँस रहा है कि

"लीकै लीक गाड़ी जाय, और जाय कपूत।
लीक छोड़ के चलत है, सायर, सेर सपूत ।।"[१]

की उक्ति अरण्य-रोदन बन गयी है।

अब आवश्यकता इस बात की है कि हम अलकारो के प्राचीन लक्षणो की परीक्षा करें, विभिन्न अलकारो की सीमा का पर्यवेक्षण करें, उनके वर्गीकरण के सिद्धातो की खोज करें, भेदोपभेदो की काट-छाँट करें और दुर्गम एव दुर्भेद्य अलकारावली की जटिलता को एक सुरम्य उद्यान में सदा के लिए परिणत कर दें। यदि हम अलकारो के प्राचीन नामो, उनकी रूढि-ग्रस्त परिभाषाओ और रस-वाद, ध्वनि-वाद आदि के सुलहनामो में ही बँधे रहे आये तो अलकार-परंपरा की मुक्ति असभव है। अभीतक हम इसी प्रयत्न में पडे है कि आज पर्यंत जितने भी अलकार प्राचीन ग्रथो मे उपलब्ध हो सकते हैं उन सभी का सकलन कर दिया जावे, उनका एक भी भेदोपभेद छूटने न पावे—यदि सभव हो तो दो-चार अवातर अनुभेद और जोड दिये जावें, कुछ न बन पडे तो कुछ अलकारो के विलोम-रूपो की ही उद्भावना कर डालें। हर्ष है कि जिस प्रकार सस्कृत में मम्मटचार्य एक सामजस्य-पूर्ण व्यवस्था उपस्थित कर 'वाग्देवतावतार' के पद पर आसीन हुए उसी प्रकार हिंदी में "सेठ कन्हैयालाल पोद्दार" अलकाराधकार को दूर करने के लिए, 'मम्मटावतार' के रूप में अवतरित हो गये। हमें अब आगे बढ कर 'पोद्दार' जी के सफल अध्यवसाय से उऋण होने का प्रयत्न करना चाहिए।

अलंकारो के प्राथमिक वर्गीकरण का आधार शब्द और अर्थ है—शब्दो की चारुता का साधन शब्दालकार और अर्थ की रमणीयता का साधन अर्थालकार माना जाता है। यह ठीक ही है, क्योंकि काव्य में शब्द और अर्थ की ही सत्ता तो उपलब्ध है। कवि कुछ शब्दो का प्रयोग कर किसी अर्थ को उपस्थित किया करता है। शब्द और अर्थ के अतिरिक्त काव्य की अन्य कोई स्थूल सामग्री नही। कल्पना, भाव, विचार आदि तो मन के सूक्ष्म उपादान हैं, जिनकी सत्ता कवि और श्रोता के अत करण में रहा करती है। अत अलकारो का प्राथमिक वर्गीकरण शब्द और अर्थ के ही आधार पर करना सर्वथा तर्क-संगत है। अलकारो के प्रथम दो भेद माने गये हैं—१ शब्दालकार २ अर्थालकार।

अत शब्दालकारत्व क्या है और अर्थालकारत्व क्या है, इसका कोई विवेचन न करके मम्मटाचार्य शब्दालकार और अर्थालकार की भेदक कसौटी के निर्धारण में लग गये हैं—वे अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर कुछ अलकारो को शब्दालकार और कुछ को अर्थालकारो के वर्ग में रख देते हैं। वे इस बात की कोई आवश्यकता नही समझते कि पहिले अलंकारत्व का स्वरूप स्पष्ट कर दिया जावे। अन्वय-व्यतिरेक[२] के आधार पर किसी शब्द-विशेष के प्रयोग में ही अलकारता का प्रतीत होना और

१. लीक-लीक गाड़ी चलै, लीकहि चलै कपूत।
लीक छोड़ तीनों चलें, सायर, सूर, सपूत ।।

इसके विपरीत यह लोकोक्ति इस प्रकार भी कही जाती है—

लीक-लीक गाड़ी चलै, लीकहि चलै सपूत।
लीक छोड़ तीनों चलें, कायर, कूर, कपूत ।।

२. शब्दसत्वे अलंकारसत्वः अन्वयः।
शब्दाभावे अलंकाराभाव. व्यतिरेकः ।।

उसी शब्द के किसी पर्यायवाची का प्रयोग कर देने से उस अलकारता का नष्ट हो जाना शब्दालंकार की पहिचान है। इसी प्रकार यदि एक शब्द के स्थान पर उसके अन्य पर्यायवाची का प्रयोग कर देने पर भी अलकारता ज्यो की त्यो बनी रहती है तो वहाँ 'अर्थालकार' समझना चाहिए। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा हम अलकार के आश्रय का पता लगा सकते हैं—यह जान सकते हैं कि कोई अलकार शब्दाश्रित है अथवा अर्थाश्रित, किंतु प्रश्न यह है कि क्या आश्रयाश्रयी-सबध ही अलकार-अलकार्य-सबध है? क्या आश्रित होना ही अलकरण करना कहा जाता है? क्या शब्दाश्रित अलकार को शब्द का और अर्थाश्रित अलकार को अर्थ का अलकरण करना ही चाहिए? क्या कोई किसी पर आश्रित भर हो जाने से उसे अलकृत करने लगता है?

शब्द का अलकारत्व वस्तुत है क्या? नाद-सौदर्य ही न, और शब्दाश्रित अलकार यदि नाद-सौदर्य की सृष्टि ही न करे तब भी क्या उसे शब्दालकार मान लिया जावेगा? इसी प्रकार अर्थाल-कारत्व दो अर्थो की सम-अनुभूति अथवा विपय-अनुभूति के अतिरिक्त और क्या है। अत अर्थाश्रित रहते हुए भी यदि कोई अलकार दो पदार्थो अथवा वाक्यार्थो की समानुभूति अथवा विपयानुभूति नही उत्पन्न करता तो उसकी अर्थालकारता कैसी? एक उदाहरण ले लीजिए—

"अली, भवर गूंजन लगे, होंन लगे दल पात।
जहँ-तहँ फूले रूख तरु, प्रिय पीतम कित जात॥"

यह 'पुनरुक्तिवदाभास' का दृष्टात है और पुनरुक्तिवदाभास शब्दालकार भी माना जाता है और अर्थालंकार भी माना जाता है, अर्थात् वह उभयालकार है। अब जरा इस पुनरुक्तिवदाभास की शब्दालकारता और अर्थालंकारता का विश्लेपण कीजिए—अली और भँवर, दल और पात, रूख और तरु तथा प्रिय और पीतम शब्द आपातत पुनरुक्तवत् आभासते है, क्योकि उनका अर्थ एक ही होता है, किंतु यत्किंचित् विचार करने पर प्रतीत हो जाता है कि उनके अर्थ भिन्न-भिन्न है, किंतु पुनरुक्तवत् आभासित होनेवाले उक्त पदो में से एक ही एक पद परिवृत्ति-सह है, दूसरा पद परिवृत्ति-असह है—एक पद को उसके पर्यायवाची-द्वारा परिवर्तित कर देने से भी अलकारता बनी रहती है, पर दूसरे पद को उसके पर्यायवाची-द्वारा बदल देने से अलकारता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार शब्दाश्रित और अर्थाश्रित दोनो होने के कारण 'पुनरुक्तिवदाभास' को उभयालकार कहना ही चाहिये। कुछ पदोका परिवृत्ति-सह होना और कुछ का परिवृत्ति-सह न होना ही उभयालकार की कसौटी है। अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा परिवृत्ति-सहत्व और परिवृत्यसहत्व का निर्णय कर शब्दालकार और अर्थालकार का पृथक्करण कर लेना कितना सरल है! शब्द का परिवृत्ति-सहत्व अलकार के अर्थाश्रित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है और शब्द का परिवृत्य-सहत्व अलकार के शब्दाश्रित होने का निर्विवाद हेतु है। शब्दाश्रित अलकार शब्दालकार है और अर्था-श्रित अलकार अर्थालकार। आश्रयाश्रायी-सबध ही अलकार-अलंकार्य-सबध है!!

अन्वय-व्यतिरेक की कसौटी में इस बात के विचार की कोई आवश्यकता नही कि काव्याश्रित अलकार में शब्दालंकारत्व और अर्थाश्रित अलकार में अर्थालकारत्व भी है अथवा नही। शब्द की अल-कारता नाद-सौंदर्य की सृष्टि है और अर्थ की अलकारता दो अर्थो की समानुभूति या विपयानुभूति है, किंतु पुनरुक्तिवदाभास में कोई नाद-सौंदर्य न रहते हुए भी शब्दालकारता तथा दो अर्थो की कोई समानुभूति अथवा विपयानुभूति न मिलने पर भी अर्थालकारता स्वीकार करनी पडती है, क्योकि अन्वय-व्यतिरेक के अतिरिक्त आज तक अन्य कोई कसौटी ही नही बनायी गयी!

मुख-नि सृत ध्वनि को 'शब्द' कहते है, शब्द का मुख्यार्थ यही है। मुख-नि सृत ध्वनि को जब कपित चिन्हो (वर्णो) द्वारा लिखित रूप दे दिया जाता है तब उस लिपि-बद्ध ध्वनि को भी गौण अर्थ में शब्द कह देते है। शब्द की अलकारता उसकी पुनरावृत्ति में है, क्योकि पुन-पुन. एक ही ध्वनि जल्दी-जल्दी अथवा एक निश्चित अतर पर सुनने में अत्यत रमणीय प्रतीत हुआ करती है। बैंड, भेरी आदि मे ध्वनि की सुनिर्दिष्ट आवृत्ति ही तो पायी जाती है। ध्वनि की आवृत्ति-जन्य यह

रमणीयता ही शब्द की अलकारता है। शब्दावृत्ति मे नादात्मक सौदर्य की सृष्टि होती है और नाद-सौंदर्य शब्द को अलंकृत कर देता है। अत शब्दालकार की सूक्ष्म कसौटी नाद-सौंदर्य और [illegible] शब्दावृत्ति होनी चाहिए, न कि अन्वय-व्यतिरेक। आश्रयाश्रयी-सबध ही अलकारालकार्य-सबध [illegible] नही है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो पुनरुक्तिवदाभास में शब्दालकारता तो हो ही नहीं [illegible], क्योकि उसमे शब्द की आवृत्ति ही नही पायी जाती—विभिन्न अर्थवाले दो पृथक्-पृथक् शब्दो का [illegible] पाया जाता है और उसे अर्थालकार भी नही कहा जा सकता; क्योकि उसमें वस्तु या व्यापार [illegible] पदार्थो अथवा दो वाक्यार्थो की समानुभूति या विषयानुभूति भी नही पायी जाती।

अब, आभास-मात्र की अलकारता स्वतत्रतया विवेचनीय हो सकती है।

अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर तो यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, आवृत्ति-दीपक, निरुक्ति, [illegible]-रूपक आदि अनेक अलंकार उभयालकार सिद्ध होते है, क्योकि उनमें भी कुछ पद परिवृत्ति-सह [illegible] कुछ परिवृत्ति-असह रहा करते है, किंतु यहाँ पर मम्मट एक और सिद्धात उपस्थित कर देते है—

प्राधान्येनव्यपदेशा भवति।"

अत अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा उभयालकारता रहते हुए भी शब्द अथवा अर्थ की प्रधानता के आधार पर उन्हे शब्दालकार और अर्थालकार समझना चाहिए—केवल शब्दार्थ की सम-प्रधानता में ही 'उभयालकार' कहना चाहिए और इस प्रकार पुनरुक्तिवदाभास के अतिरिक्त अन्य कोई भी अलकार उभयालकार नही माना जा सकता, पर इस प्रधानता का निर्णय कैसे किया जावे—

"सहृदयानां हृदयमेव प्रमाणं तत्त्व।"

तात्पर्य यह कि प्राचीन रूढि में जो अलकार जिस खूटे से कस दिये गये है, बस वे वहीं बंधे रहे।

वस्तुत उभयालकारता ही असिद्ध है—अलंकार या तो शब्द को अलंकृत करेगा या अर्थ को अलकृत करेगा। जहाँ शब्द और अर्थ दोनो की अलकारता रहेगी वहाँ अलकार-'सकर' अथवा [illegible]-'ससृष्टि' हो जायगी। एक अलंकार की उभय अलकारता विरोधाभास है।

शब्द तीन रूपो में मिला करता है—१ वर्णरूप में, २ पद-रूप में और ३ वाक्य-रूप में, अत. शब्दावृत्ति के भी तीन ही रूप होगे—१ वर्णावृत्ति, २ पदावृत्ति और ३ वाक्यावृत्ति, [illegible] शब्दालकार भी तीन ही प्रकार के हो सकते है—१ वर्णावृत्ति-मूलक, २ पदावृत्ति-मूलक और ३ वाक्यावृत्ति-मूलक। अब इनके नाम चाहे जो रख लिए जावे।

प्राचीनो ने नाना-नाम रूपात्मक अलंकारो की कल्पना की है और उन्हे [illegible] व्याप्ति और असभव नामक दोष-त्रय-शून्य परिभाषाओ में जकड देने का प्रयत्न किया है। [illegible] उन्ही रूढि-वादी परिभाषाओ को स्वीकार करते चले आवेंगे तो अलकारो की मुक्ति [illegible] सभव नही। अत हमें अलकार-शास्त्र के नव विकास के लिए नवीन दृष्टि का उन्मेष [illegible] इसे प्राचीन परपरा में अव्यवस्था उत्पन्न करना नही समझना चाहिए। हमें परपरानुरोध के [illegible] को त्यागना पडेगा और राजानक रुय्यक, कुतक, महिम भट्ट, मुकुल भट्ट आदि की [illegible] नमस्कार करना पडेगा।

इस प्रणाली से बहुत से शब्दालकार अर्थालकार और बहुत से अर्थालकार [illegible] होने लगेंगे। बहुत से अलकार अलकार ही न रह जावेंगे—वे निरलकार या [illegible] कई एक अलकार एक ही अलकार में अतर्भूत हो जावेंगे और [illegible] अलकार-शास्त्र में एक सुव्यवस्था स्थापित होगी और अलकारो के [illegible] अलकार-परपरा विलुप्त होने से बच जावेगी।

अभी अलकारो का पठन-पाठन यूक्लिड की ज्यामिति (जामेट्री) की [illegible] हो रहा है। उपपादो का नंबर रट लेने और उदाहरणार्थ दी हुई [illegible]

समान अलकारो का नाम और उनका लक्षण रट कर दिये हुए उदाहरण में उसे घटा सकने तक ही अलकार-शास्त्र का अध्ययन आज सीमित हो गया है और इसलिए उसमें सडाँद पैदा होने लगी है। जिस प्रकार 'ज्यामिति' के पठन-पाठन मे आज न तो उपपाद्यो के नवर को रटने पर ही वल दिया जाता है और न किसी पिटी-पिटाई आकृति का ही हल पूछ कर सतोष कर लिया जाया करता है, वरन् उसके स्थान पर प्रमेयोपपाद्य के वास्तविक स्वरूप और उसके व्यावहारिक प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया जाया करता है, उसी प्रकार अव हमें विभिन्न अलकारो के नाम और उनकी रूढ परिभाषाओ की अपेक्षा अलकारो के मौलिक स्वरूप तथा उनके वर्गीकरण के आधारो का विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति पर करने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए। भिन्न-भिन्न अलकारो और उनके भेदोपभेदो के सूक्ष्म-दर्शक यत्र वनाने की अपेक्षा आज साम्य, वैषम्य, अतिशय और आलकारिक वक्रता के स्वरूप को समझने तथा श्लेष, लक्षणा और सकेत के महत्व को जानने की अधिक आवश्यकता है—इन्ही के आधार अलकार का भव्य भवन निर्मित है और ये ही काव्य-भाषा की अलौकिकता के आपादक है।

श्लेष, वक्रता और अतिशय को तो आज हमने अलकार-विशेष के कठघरे मे परि-वद्ध कर दिया है और लक्षणा-व्यजना की शब्द शक्तियो से अलकार को सर्वथा अछूता रखने की एक सफल, किंतु घातक योजना स्वीकार कर रखी है—अलकार अभिधा-मात्र का विषय है, क्यो? क्योकि ध्वनि-वाद का भूत पीछे लग गया है! अलकार-ध्वनि अलकार थोडे ही है, क्योकि प्रतीयमान की गौणता-पर्यंत ही तो अलकार का क्षेत्र है—उसके आगे वढने से अलकार पर 'ट्रेस-पास' का अभियोग न चला दिया जायगा?

अनेककार्थता भाषा की विभूति है और आलकारिक उक्तियो की तो वह सर्वस्व ही है। इसीलिये काव्य-भाषा में अनेकार्थता का अक्षुण्ण साम्राज्य स्वीकार कर लिया गया है। अव, यह अनेकार्थता रूढि एव व्युत्पत्ति तथा सामीप्य-समवाय-सादृश्य-वैपरीत्य-क्रियायोग आदि सवधो और प्रसगो की साकेतिकता पर आश्रित रहा करती है। रूढि और व्युत्पत्ति में शब्द की अभिधावृत्ति, सामीप्यादि सवधो-द्वारा ज्ञात अर्थ, गौणार्थ या लक्ष्यार्थ कहलाता है और प्रसग-प्राप्त अर्थ प्रतीयमान या व्यग्यार्थ माना जाता है। अनेकार्थता उसी समय उपस्थित हुआ करती है जव किसी पद अथवा वाक्य में अनेक वृत्तियो का व्यापार पाया जाता है—अभिधा-अभिधा की अनेकार्थता, अभिधा-लक्षणा की अनेकार्थता अभिधा-व्यजना की अनेकार्थता और लक्षणा-व्यजना की अनेकार्थता—अनेकार्थता अनेक प्रकार की हुआ करती है, जिसे अलकार-सप्रदाय में 'श्लेष' नाम दिया गया है। इस अनेकार्थता में कभी एक अर्थ की प्रधानता और दूसरे की गौणता तथा कभी दूसरे की प्रधानता और पहले की गौणता सभव है। अर्थ की प्रधानता अथवा गौणता के कारण शब्द-शक्तियो की प्रधानता और गौणता भी कह दी जा सकती है, किंतु शब्द-शक्तियो की प्रधानता और गौणता के कारण अनेकार्थता की आलकारिता में कोई अतर नही आ सकता।

अभिधा, लक्षणा और व्यजना शब्द-शक्तियाँ है जो यथावसर उपस्थित हो-होकर अर्थ-वोध कराती रहती है। अभिधा, लक्षणा और व्यजना अलंकार नही है—अलकरण की साधन है। अलकार—अर्थालकार शब्द और अर्थ के वीच की वस्तु है। शब्द से किसी भी शब्द-शक्ति द्वारा, अर्थ का—पदार्थ और वाक्यार्थ का—वोध हो जाने पर अर्थालकार प्रारभ हुआ करता है और विभिन्न शब्द-शक्तियो-द्वारा उपस्थित अनेकार्थता में साम्य अथवा वैषम्य की अनुभूति कराकर सफल हो जाता है। अर्थ तो, चाहे वह अभिधार्थ हो और चाहे लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ, सदा वस्तु अथवा तथ्य-रूप ही रहेगा और उसमें जो रमणीयता पायी जावेगी वह उस वस्तु अथवा तथ्य की रमणीयता होगी। इसके विपरीत अलकार 'लोकातिक्रांतगोचरता वाचाम्' या 'लोक-सीमातिवर्तिनी विवक्षा' है, उसकी रमणीयता उक्ति की रमणीयता होगी। उक्ति की रमणीयता और वस्तु अथवा तथ्य की रमणीयता एक ही चीज नही है। वस्तु अथवा तथ्य की रमणीयता स्वयं वस्तु अथवा तथ्य में रहेगी जो भौतिक वस्तुओं और व्याव-हारिक तथ्यो में प्रत्यक्ष होगी—अथवा जो लौकिक वस्तु-व्यापार की प्रतिकृतियो में, रग-मचो और रजन-

पटो पर प्रदर्शित हो सकेगी। उक्ति की रमणीयता प्रत्यक्ष अनुभूति या प्रदर्शन की वस्तु नही है—कवि और श्रोता के मानस-प्रत्यक्षीकरण की वस्तु है और वह शब्द से उठकर अर्थ की उपलब्धि-पर्यंत ही पायी जायगी। शब्द-द्वारा कवि के प्रयोजन पर पहुँचते ही अर्थालकार अतर्ध्यान हो जायगा। अर्थालकार शब्द और अर्थ की मध्यवर्तिनी शृखला है—अत उसे शब्द-शक्तियो का अनुचर नही स्वीकार किया जा सकता। शब्द-शक्तियाँ अलकार की अग्रचर अवश्य कही जा सकती है।

'श्लेष' का अर्थ—श्लिष् (श्लिष्यति) से व्युत्पन्न होने के कारण—चिपकना या जोड है, एकता में अनेकता की सधि है। जब एक ही शब्द में अनेक शब्द अथवा अनेक अर्थ चिपके हुए पाये जाते है तब वहाँ 'श्लेष' कहा जाता है—एक में अनेक का सश्लेष ही तो श्लेष की श्लेषता या श्लिष्टता है। श्लिष्ट एकता में से अनेकता का उद्घाटन श्लेष-विश्लेषण कहलाता है। राजानक रुय्यक् एक शब्द-गत अनेक शब्दो के सश्लेष का पृथक्करण 'जतुकाष्ठ'-न्याय-द्वारा तथा एक शब्द-गत अनेक अर्थो के सश्लेष का पृथक्करण 'एक वृन्त फल द्वय'-न्याय-द्वारा करते है और उद्भटाचार्य ने शब्दो के सश्लेष को शब्द-श्लेष एव अर्थों के सश्लेष को अर्थ-श्लेष नाम दिया है। यह नाम-करण सर्वथा अन्वर्थ है, किंतु मम्मटाचार्य की अन्वय-व्यतिरेक वाली कसौटी उद्भटाचार्य के उक्त शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष दोनो को ही शब्दाश्रित सिद्ध कर देती है और मम्मटाचार्य आश्रयाश्रयी-सबध को ही अलकार-अलकार्य-सबध माना करते है, अत मम्मट के मत में पद की सभगता एव अभगता पर आधारित उक्त शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष शब्द के अलकार है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मम्मट ने शब्द की अलकारता एव अर्थ की अलकारता का स्वरूप निर्दिष्ट करने का प्रयत्न नही किया—उन्होने अन्वय-व्यतिरेक-द्वारा केवल आश्रयाश्रयी-सबध देखकर शब्दालकारो और अर्थालकारो का विभाजन कर दिया है।

अस्तु, श्लेष की अलकारता पर विचार कीजिये। एकता में अनेकता का सश्लेष श्लेष की श्लेषता है, पर एक पद अथवा वाक्य से किसी भी शब्द-शक्ति-द्वारा अनेक अर्थों की उपलब्धि हो जाने ही से तो अलकारता की योजना हो नही जाया करती। जब तक उन अनेक अर्थों में साम्य या वैषम्य का सबध नही स्थापित होगा तब तक श्लेष श्लेष-मात्र रहा आवेगा—उसमें अलकारता का विधान नही हो सकता। कोई अनेक अर्थों का बोध कराने के लिये ही अनेक अर्थों का बोध नही कराया करता—वह उन अनेक अर्थों की सम-अनुभूति अथवा विषम-अनुभूति कराने के लिये ही एक साथ अनेक अर्थोंका विधान कर दिया करता है। अत एक पद अथवा वाक्य के अनेक पदार्थो अथवा वाक्यार्थो की समता या विषमता ही श्लेष की अलकारता होगी। साम्य-वैषम्य-विहीन अनेकार्थता शब्द-क्रीडा मात्र होगी जो काव्य-कौतुक की वस्तु है, न कि काव्यालंकार की वस्तु।

यहाँ विचारना होगा, कि श्लेषालकार शब्दालकार है अथवा अर्थालकार? शब्द की अलकारता नाद-सौंदर्य है, जो श्लेष में पायी नही जाती, क्योकि नाद-सौंदर्य आवृत्ति मूलक है और श्लेष में शब्दा-वृत्ति होती ही नही। अत श्लेष शब्दालकार कदापि नही हो सकता। उद्भटाचार्य का यही मत है—उनके मत में श्लेष जब भी अलकृत करेगा तब अर्थ को ही अलकृत करेगा, वह शब्द को कदापि अलकृत नही कर सकता', किंतु मम्मटाचार्य, आश्रयाश्रयी-सबध को ही अलकारालकार्य-सबध मानने के कारण, श्लेष में शब्दालकारता और अर्थालकारता दोनो स्वीकार करते है।

मम्मटाचार्य की अर्थालकार-भूत श्लेष की धारणा भी विचारणीय है। श्लेषार्थालकार पर मम्मट ने दो प्रतिबध लगाये है—एकवाक्यता का प्रतिबध और दूसरा एकार्थक प्रतिपादक शब्दता का प्रतिबध। श्लेषार्थालंकार "एकस्मिन्नेववाक्ये" सभव है। इससे सभग-पद-श्लेष तो अर्थालकार हो नही सकता, क्योकि उसके विश्लेषण में अनेक वाक्य हो जाते है। इसके अतिरिक्त 'एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दाना यत्रानेकार्थता' वही पर वह श्लेष अर्थालकार हो सकेगा। इससे अभग-पद-श्लेष भी अर्थालकार नही हो सकता; क्योकि उसमें सदा अनेकार्थी ही पद रहा करते है।

पर, जब पद एकार्थ-प्रतिपादक ही रहेंगे तब उनसे अनेकार्थता की उपलब्धि कैसे सभव होगी ? स्वय मम्मट-द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में "उदयमयते" आदि पदो के क्या भिन्न-भिन्न अनेक अर्थ नही लिए गये ? यदि "एक शब्द एकार्थप्रतिपादक" का सिद्धात लगावे तो भी 'उदयमयते' आदि में अनेकार्थ-वाची विभिन्न पदो का एक पद मे सश्लेष ही मानना पडेगा और उस दशा में 'उदयमयते' आदि पदो में अनेक अर्थो का न सही, अनेक शब्दो का सश्लेष कह दिया जायगा। इस प्रकार शब्द-श्लेष अथवा अर्थ-श्लेष की सत्ता श्लेषालकार मे सदा बनी ही रहेगी और मम्मट के "एकार्थप्रतिपादकाना एव अनेकार्थता" के विरोधाभास का परिहार असभव हो जायगा।

इसके अतिरिक्त 'उदयमयते' आदि पदो के मम्मट ने जो अनेक अर्थ लिए है वे किस शब्द-शक्ति से निकले है, यह भी विवेचनीय है। शब्द के श्रुति-गत होते ही सर्वप्रथम उसकी अभिधा-शक्ति व्यापार किया करती है—रूढिवशात् उस शब्द का रूढार्थ उपस्थित होता है और तत्पश्चात् व्युत्पत्ति-वशात् उसका व्युत्पन्नार्थ उपस्थित हो सकता है। रूढि और व्युत्पत्ति दोनो में अभिधा-वृत्ति मानी गयी है, अत रूढ और व्युत्पन्न (यौगिक) दोनो अर्थ वाच्यार्थ कहलाते है। ये ही दोनो अर्थ शब्द के मुख्य अर्थ है और अभिधा शब्द की मुख्यावृत्ति है, किंतु यहाँ पर भी मम्मट व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ को मुख्य और रूढि-प्राप्त अर्थ को गौण कहते है, क्यो ? सो मम्मट ही जानें। इसी कारण 'कुशल' आदि शब्दो मे मम्मट लक्षणा उठाते है। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के इस मत का खडन किया है।

लक्षणा का उत्थापन अन्वय की अनुपपत्ति के कारण हुआ करता है—जहाँ पर अभिधा-व्यापार-द्वारा अर्थ-बोध नही हो पाता वहाँ पर लक्षणा-वृत्ति का व्यापार हुआ करता है। अत "लक्षणा द्वितीय-स्थानीया गौणी वृत्ति" कहलाती है, किंतु जहाँ पर अन्वय उपपन्न हो जाने पर भी वक्ता के अभीष्ट तात्पर्य का अवगमन नही हुआ करता वहाँ पर अभिधा के पश्चात् ही, अथवा अन्वय के अनुपपन्न होने पर लक्षणा के पश्चात् भी, व्यजना-वृत्ति अपना व्यापार प्रारभ करती है। इस प्रकार व्यजना भी, लक्षणा के समान ही एक गौणवृत्ति ही हुई—मुख्यावृत्ति[1] अभिधा ही है।

अब, श्लेष में अनेकार्थता रहती है और इसलिए उन अनेक अर्थो का बोध कराने के लिए अनेक शब्द-शक्तियो का व्यापार अनिवार्य है—एक ही शब्द-वृत्ति से काम नही चल सकता, क्योकि "विरम्य व्यापाराभाव" का नियम है, किंतु श्लेष में व्यग्यार्थ का रहना साहित्य-सविधान के विरुद्ध है—क्यो? क्योकि व्यग्यार्थ ध्वनि का विषय है और श्लेष एक अलकार-विशेष है। गुणीभूत होकर व्यग्यार्थ भले ही अलकार के क्षेत्र में घुस जाय, किंतु अलकार ध्वनि की सीमा का उल्लघन कैसे कर सकता है ? श्लेष वाच्यार्थ में ही रह सकता है—श्लेष की अनेकार्थता अभिधा की ही अनेकार्थता हो सकती है, लक्षणा और व्यजना की अनेकार्थता उसके लिए अस्पृश्य है! श्लेष काला आदमी है—मुख्यार्थ जातीय होने से वह गौण और प्रतीयमान जाति के साथ कैसे बैठे—यह ध्वनि-वादी साम्राज्य है।

वास्तविक बात यह है कि श्लेष के यदि अगाडी-पिछाडी न लगायी जाय तो वह सारे ध्वनि-खेत को रोद डाले! इसीलिए श्लेष को ध्वनि एव गुणीभूतव्यग्य दोनो से सर्वथा पृथक् रखे रहने के अभिप्राय से उसे एक अलकार-विशेष के अस्तबल में जकड दिया गया है। इसके लिए अनेक प्रयत्न करने पडे है—कई योजनाएँ बनानी पडी है। यह उद्भावना की गयी है कि अनेकार्थता के विधान में कवि के तीन अभीष्ट हो सकते है—१ या तो वह प्रासगिक ही प्रासगिक विषयो का वर्णन करेगा, २ या वह अप्रासगिक ही अप्रासगिक विषयो का वर्णन किया करेगा, अथवा फिर ३ वह प्रासगिक और अप्रासगिक विषयो का मिला-जुला वर्णन करने लगेगा। प्रासगिक वर्णनीय विषय को प्रकृत या प्रस्तुत अर्थ कहते है और अप्रासगिक अवर्ण्य को 'अप्रकृत' या 'अप्रस्तुत' अर्थ कहते है, यदि कवि के पास

[1]. मुख्या प्राथमिका न तु प्रधानभूता।

कुछ प्रासंगिक विषय वर्णन करने के लिए है ही नहीं तो वह सब अप्रासंगिक ही अप्रासंगिक का वर्णन ही क्यों करने चला? इसी प्रकार यदि उसके पास सब प्रासंगिक ही प्रासंगिक विषय हैं और उन प्रासंगिक विषयों की किन्हीं अप्रासंगिक विषयों के साथ सम या विषम अनुभूति कराना उसे अभीष्ट नहीं तो वह एक ही पद अथवा एक ही वाक्य-द्वारा अनेक अर्थों का बोध-मात्र करा देने के अतिरिक्त करता ही क्या है? और अर्थ का बोध-मात्र करा देना कवि-कर्म नहीं। अतः प्रासंगिक और अप्रासंगिक का मिला-जुला वर्णन करना तो समझ में आता है, पर प्रासंगिक ही प्रासंगिक अथवा अप्रासंगिक ही अप्रासंगिक का वर्णन करना आलंकारिक-दृष्टि से समझ में न आने की ही बात है। भला, यह कौन मानेगा कि मम्मट-प्रदत्त उदाहरण में कवि का अभीष्ट राजा और रवि का एक साथ वर्णन भर कर देना था, न कि राजा और रवि के परस्पर साम्य की अनुभूति कराना था। यदि राजा और रवि का पृथक्-पृथक् और सर्वथा स्वतंत्र वर्णन करना ही कवि का अभीष्ट था तो उसने केवल दो अर्थों का बोध-मात्र करा दिया—उन अर्थों में अलंकारता का उसने क्या विधान किया? दोनों के एक साथ वर्णन कर देने में उसका अभीष्ट दोनों ही के प्रति उदासीनता कही जा सकती है, तब तो यही कहना चाहिए कि वह काव्य करने नहीं, कवि—कौतुक-वश शब्द-क्रीडा भर करने लगा है और इस परिस्थिति में यहाँ श्लेष अलंकार भी नहीं कहा जा सकेगा—अनेकार्थता-मात्र के विधान में अलंकारता कहाँ! क्या अनेकार्थता ही अलंकारता है? मम्मट अनेकार्थता को ही श्लेष की अलंकारता मान लेते हैं। यह सब श्लेष को एक अलंकार-विशेष सिद्ध करने और उसे शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि से पृथक् करने की खुराफात भर है—अन्यथा संपूर्ण शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि श्लेष में ही अंतर्भूत हो जाय, क्योंकि श्लेष और शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि में केवल इतना ही तो अंतर है कि ध्वनि में संयोगादि संबंध-द्वारा अनेकार्थता के एक प्राकरणिक अर्थ में सीमित हो जाने पर भी अन्यान्यार्थ प्रतीत होते रहते हैं और श्लेष में अनेकार्थता संयोगादि संबंध-द्वारा प्रकरण-गत किसी एक अर्थ में सीमित नहीं हुआ करती, प्रत्युत असीमित रही आती है। अब, अनिर्दिष्ट प्रकरण वाली अनेकार्थता में अलंकारता का प्रतिपादन ही मम्मट के अर्थालंकार-भूत श्लेष में मिलता है और इसी से वे श्लेष की अनेकार्थता को अभिधाजन्य सिद्ध कर लेते हैं।

वस्तुतः श्लेष कोई एक अलंकार विशेष नहीं—वह प्रायः सभी अर्थालंकारों का प्राण है—

"श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्।"

इसीलिए तो उद्भटाचार्य को कहना पड़ा है कि श्लेष भिन्न-भिन्न अलंकारों का आधार दिखायी देता है, क्योंकि जहाँ-जहाँ अनेकार्थता होगी वहाँ-वहाँ उन अर्थों में साम्य अथवा वैषम्य का संबंध भी स्थापित हो जायगा और ऐसा हो जाने पर वे अनेक अर्थ केवल प्रकृत ही प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत ही अप्रकृत न रह जायँगे—उनमें से कुछ प्रकृत और कुछ अप्रकृत बन जायँगे और तब वे उपमेय और उपमान होकर किसी न किसी अर्थालंकार-विशेष का रूप धारण कर लेंगे।

पर, इतना होने पर भी आचार्य-गण श्लेष को एक अलंकार-विशेष ही सिद्ध कर डालने की धुन में उसका अन्यान्य अर्थालंकारों से भेद दिखलाने का प्रयत्न करते चले आ रहे हैं।

यही दशा 'वक्रता' और 'अतिशय' की भी कर दी गयी है।

ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य

श्री शिवनाथ

यदि ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की श्री, समृद्धि का दर्शन करना है तो ब्रजभाषा के मूल स्रोत की एक झलक ले लेनी होगी। भाषा, साहित्य की वाहिका जो ठहरी, विना भाषा के साहित्य का अस्तित्व कहाँ ? किसी भाषा का जो पूर्ण और सुष्ठु रूप दृष्टिगत होता है वह सहसा ही सपन्न नही हो जाता, उसकी यह सपन्नता क्रमिक रूप में होती है। किसी भी विकसित भाषा के विषय में यही बात कही जा सकती है। भाषा की सपन्नता में देश-काल की अनुकूलता का भी कम महत्त्व नही गिना जा सकता। भाषा न्यूनाधिक रूप मे कई पीढ़ियो के उत्तराधिकार को क्रमश ग्रहण करती हुई पूर्ण विकसित होती है। ब्रज की भाषा के साथ भी यह तथ्य लगा हुआ है।

ब्रज की भाषा को जिन भाषाओ का उत्तराधिकार मिला वे है—शौरसेनी प्राकृत, तदोद्भूत अपभ्रश और अपभ्रश तथा ब्रज की भाषा के मध्य की भाषा की एक अवस्था जिसे 'पुरानी हिंदी' कहा जाता है। शौरसेनी प्राकृत से यह स्पष्ट है कि इस प्राकृत का सवध 'शूरसेन-प्रदेश' से है, जो प्रदेश आज 'ब्रज-मडल' के अतर्गत आता है। इस प्राकृत का आधार शूरसेन प्रदेश की सामान्य जनता की वोलचाल की भाषा रही। प्राकृत का अर्थ ही है प्रकृति से सवद्ध, स्वाभाविकता वा अकृत्रिमता से सवद्ध, अर्थात् प्राकृत का सवध उस भाषा से है जिसका आधार जन-सामान्य की स्वाभाविक बोली है। यद्यपि 'प्राकृत' का सवध जनता की स्वाभाविक वोली से है तथापि यहाँ स्मरण रखने की वात यह है कि उस वोली में साहित्य-निर्माण भी हुआ। इससे जन-सामान्य की भाषा ने साहित्य-निर्माण का साधन होने का गौरव प्राप्त किया और तव यह 'प्राकृत' भी, जो जनता की स्वाभाविक वोली थी, सस्कृत हुई। उसमें सुधार किया गया, उसका व्याकरण वना, वह इतनी समर्थ वनायी गई कि उसमें साहित्य-निर्माण हो सके। इस पर भी ध्यान रखना है कि जव कोई भाषा साहित्य-निर्माण के लिये गृहीत होती है तव उसका प्रसार कुछ व्यापक होता है, वह अपने मूलस्थान के साहित्यकारो-द्वारा ही व्यवहृत नही होती, प्रत्युत अन्य प्रदेश के साहित्यकारो-द्वारा भी व्यवहृत होती है, अर्थात् जव शौरसेनी का व्यवहार साहित्य-निर्माण के लिए हुआ तव उसकी व्याप्ति वढी। शौरसेनी प्राकृत का सवध मध्यप्रदेश-स्थित शूरसेन प्रदेश की वोलचाल की भाषा से है। उस मध्य देश से जहाँ की संस्कृत भाषा में महत्त्वपूर्ण साहित्य का निर्माण हुआ था। जहाँ की संस्कृत में 'रामायण', 'महाभारत' और कालिदास आदि के काव्य वने थे। अभिप्राय यह कि इस प्राकृत का क्षेत्र वह प्रदेश था, जहाँ सस्कृत का पूर्ण उत्कर्ष हुआ था। ऐसी अवस्था में हम यह भी देखते है कि इस प्राकृत पर सस्कृत का भी अच्छा प्रभाव रहा। इस प्राकृत तथा सस्कृत में साम्य भी विशेष है।

महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी प्राकृतो का व्यवहार नाटको के लिए विशेष रूपसे होने के कारण इन्हें नाटकीय प्राकृत भी कहते हैं। भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में शौरसेनी के व्यवहार की व्यवस्था इस प्रकार दी गई है—

नायिकानां सखीनां च शौरसेन्यविरोधिनी।
यौधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या च दिव्यताम्॥

—भरत नाट्यशास्त्र १८।३६

शौरसेनी का व्यवहार उसकी कोमलता के कारण प्राय नायिकाएँ (स्त्री-पात्र) करती है। इसका प्रयोग विदूषक भी करते हुए देखे जाते है, जैसे—अभिज्ञान शाकुतल में। कर्पूरमजरी में तो राजा भी इसी का प्रयोग करते है।

शौरसेनी प्राकृत का एक भेद 'जैन शौरसेनी' भी है, क्योंकि 'दिगबर-सप्रदाय' के धार्मिक ग्रथो की भाषा किन्ही अशो में 'शौरसेनी प्राकृत' से मिलती-जुलती है।

एक समय ऐसा भी था जब प्राकृत से पूर्व की आर्य-भाषा 'पालि' पर भी शौरसेनी का प्रभाव पड़ा और इसीके अनुसार उस (पालि) में भी ओकारात रूप की प्रतिष्ठा हुई। जैसे शौरसेनी प्राकृत में ओकारात रूपो का बाहुल्य है वैसे ही ब्रज की भाषा में भी। इस विवरण से शौरसेनी प्राकृत के प्रसार और प्रभाव का परिचय मिल जाता है।

यद्यपि प्राकृतो में भी काव्यो की रचना हुई, तथापि नाटको में विभिन्न पात्रो के लिये विभिन्न प्राकृतो के व्यवहार की व्यवस्था होने के कारण भी इसका प्रचुर प्रसार हुआ। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार बौद्धो ने 'पालि' को अपनाया उसी प्रकार जैनो ने 'प्राकृत' को। इनके द्वारा इसकी प्रभूत उन्नति हुई।

प्राकृत के जीवन-काल में एक समय ऐसा भी आया जब वह घोर साहित्यिकता तथा व्याकरण के नियमो से जकड़ गई, सामान्य जनता के लिए वह बोध-गम्य नही रह सकी और तब पुन जनता की व्यावहारिक बोली में साहित्य-निर्माण का श्री गणेश हुआ। आरभ में जिस व्यावहारिक बोली का आदर न होने के कारण वह 'अपभ्रश' नाम से पुकारी गई। साहित्यिकता तथा व्याकरण के नियम आदि से उस समय च्युत होने के कारण ही पडितो ने इसे 'अपभ्रश' कहा, परतु जब इसमें भी साहित्य-निर्माण अनवरत रूप से होने लगा तब वैयाकरणो की दृष्टि इसकी ओर गई और 'हेमचद्र' आदि ने इसका व्याकरण प्रस्तुत किया। अपभ्रश, प्राकृत तथा आधुनिक भाषाओ को मिलाने वाली बीच की कड़ी समझी जाती है। अपभ्रश के कुछ और विकसित रूप को, जो हिंदी से बहुत ही निकट है, चद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' कहा है, परतु अपभ्रश और 'पुरानी हिंदी' के बीच में कोई निश्चित सीमा—रेखा नही खीची जा सकती, यही कारण है कि गुलेरी जी ने विकसित अपभ्रश को 'पुरानी हिंदी' कह दिया है।

शौरसेनी प्राकृत की भाँति 'शौरसेनी अपभ्रश' का भी अच्छा प्रसार और प्रभाव रहा। विक्रम की लगभग दशवी शती से लेकर लगभग चौदहवी शती तक सपूर्ण उत्तरापथ में इस अपभ्रश का बोलबाला था। मध्यदेश तथा अतर्वेद के शासक राजपूतो के सशक्त राज्यो ने अपभ्रश की प्रतिष्ठा में अधिक सहायता की। शौरसेनी प्राकृत की भाँति गुजरात के जैनो-द्वारा भी इसे अच्छी प्रतिष्ठा मिली।

प्राकृतसर्वस्वकार 'मार्कंडेय' ने अपभ्रश के तीन भेद माने हैं—नागर, उपनागर और ब्राचड। नागर अपभ्रश में—जिसे पश्चिमी अपभ्रंश भी कह सकते हैं और जो राजस्थान, गुजरात में प्रचलित थी, पर शौरसेनी अपभ्रश, अर्थात् मध्यदेशी अपभ्रश का प्रभाव मिलता है। अपभ्रश-काल में पूरब के कवियो ने जिस पूर्वी अपभ्रश का व्यवहार किया वह शौरसेनी अपभ्रश ही है। इस प्रकार हम देखते यह है कि शौरसेनी प्राकृत की भाँति ही शौरसेनी अपभ्रश का भी प्रचुर प्रसार और प्रभाव था। इसी शौरसेनी अपभ्रश अथवा इसी का कुछ और विकसित रूप 'पुरानी हिंदी' का उत्तराधिकार ब्रज की भाषा को मिला और इस 'ब्रजभाषा' का भी प्रसार-प्रभाव कम नही था।

इसका निर्देश ऊपर हुआ है कि अपभ्रंश और उसकी कुछ विकसित अवस्था 'पुरानी हिंदी' में भेद कम है। इसी 'पुरानी हिंदी' से हिंदी की अनेक बोलियो का उद्भव हुआ जो अपनी सामर्थ्य के कारण भाषा कहलाई। ब्रज की भाषा उनमें से एक है। अपभ्रश की ऐसी रचनाएँ जिनमें 'पुरानी हिंदी' का बीज मिलता है, विक्रम की ग्यारहवी शती से लेकर लगभग चौदहवी शती तक मिलती हैं। उनमें 'पुरानी हिंदी' के साथ ही ब्रजभाषा के रूप भी मिलते हैं। इन उद्धरणो से बात स्पष्ट हो जायेगी, जो श्री 'चद्रधर शर्मा' गुलेरी-द्वारा लिखित और नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित 'पुरानी हिंदी' नामक प्रबध से गृहीत किए गए हैं—

मजु 'भणइ' मुणालवई जुव्वण 'गयउ' न झूरि।

बाह बिछोड 'बिजाहि' तुहुँ 'हउँ' तेवँइ को दोसु।

जइयहु 'रावणु जाईयउ' 'दहमुह' 'इक्कु सरीरु'।
जणणि वियंभी चिंतवइ कवणु पियावउँ खीरु ॥

'तइं' गडुआ गिरनार, काहूँ मणि 'मत्सरु धरिउ'।

—प्रबंध-चिंतामणि

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज।
मा दुज्जण कर-पल्लविंहि दसज्जिंतु 'भमिज्ज' ॥

को रवि पईवु सहस्स करु, नगरी मज्झिम सामि।
जइ न रडंतु तइँ 'हरउँ' (तइ) अग्गिहिं पविसामि ॥

❀

वेस वसिट्ठह 'वारियइ' जइवि मणोहर-गत्त।
मइँ जाणियउँ पिय विरहि यह कवि धर होइ वियालि।
जे परिरंभहिं पर रमणि ताहं, फुसिज्जइ लीह।

—'कुमारपालप्रतिबोध-कार' सोमप्रभ-द्वारा उद्धृत

नंदु जंपइ 'पढ़इ' पर कव्व।
कह एस वररुइ सुकइ—
'कहइ' मति मह थूयसत्त विधि।

—सिद्धपाल

जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ, सत्तु वि मित्तु वि किहैं वि हु आवहु।
'अम्हे निंदहु' कोवि जणु, अम्हहँ वण्णउ कोवि।
'अम्हारउँ' 'तुम्हारउँ' वि एहु ममत्तु न तासु।

—हेमचंद्र

अंगहिं अंग न 'मिलिअउ', अहरें अहरु न पत्तु।

—हेमचंद्र . व्याकरण

उपर्युक्त उद्धरणो मे ब्रजभाषा के अनेक रूप मिलते हैं। शौरसेनी प्राकृत तथा ब्रजभाषा की ओकारांत बहुला प्रवृत्ति की चर्चा हम कर चुके हैं। खड़ी बोली की आकारांत पुल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और भूत कृदंत, यत्र-तत्र वर्तमान कृदंत भी ओकारांत हो जाते हैं, जैसे—घोडो, बडो, जान्यो (जाणियउ), मिल्यो (मिलिअउ)[1]। ब्रजभाषा की अकारांत संज्ञाएँ और विशेषण उकारांत हो जाते हैं, जैसे—दोसु, रावणु, एकु (इक्कु), सरीरु, मत्सरु। संस्कृत के स्वार्थे 'क' की भाँति ब्रजभाषा मे 'रा' का प्राबल्य है। जैसे—जियरा, हियरा आदि। ऊपर के उद्धरण में 'देसडा' है, जो 'डलयोऽभेद' और 'रलयोऽभेद' के अनुसार 'रा' के क्षेत्र की ही वस्तु है। शौरसेनी प्राकृत, अपभ्रंश और पुरानी हिंदी का 'ण' ब्रजभाषा में 'न' हो जाता है, इसके अनेक प्रमाण ऊपर के उदाहरणो में मिलते हैं। साथ ही 'ण' और 'प' दोनो के लिये 'न' चलता है। ब्रजभाषा मे 'प' का प्रयोग 'न' के लिये भी होता है। उपर्युक्त उद्धरणो मे ब्रजभाषा के और रूपो के मूल भी दृष्टिगत होते हैं, यथा—भनै (भणइ), गयौ (गयउ) जाहि, हौ (हउ) जायौ (जाईयउ), पियावौ, तैं (तइ), धर्यो (धरिउ), भ्रमीजै (भमिज्ज), हरौ (हरउ), वारियइ (वरजिए), परिरंभहि, पढ़ै (पटइ), कहै (कहउ), आवहु, निंदहु, हमारो (अम्हारउ), तुम्हारो (तुम्हारउ) आदि।

[1] ब्रजभाषा में कृदंतक शब्द–घोडो, बडो, जान्यो और मिल्यो नहीं बनते, इनका शुद्ध रूप–घोडा, बडौ, जान्यौ और मिल्यौ होता है। इसी प्रकार 'य' भी आदि में ज और अंत इकार हो जाता है।

ब्रजभाषा का प्रसार-प्रभाव उतना ही व्यापक था, जितना उसके प्रदेश की पूर्ववर्तिनी भाषाओं का प्रसार-प्रभाव। ब्रजभाषा सारे उत्तरापथ की काव्य-भाषा के रूप में गृहीत हुई। दक्षिण के कुछ कवियों ने भी इसमें रचना की। इसके प्रसार-प्रभाव की इस व्यापकता का प्रधान कारण था कि इसे धर्माश्रय तथा राज्याश्रय दोनों मिले। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश को ये आश्रय एक साथ और पूर्ण रूप से नहीं मिल पाए थे।

ब्रजभाषा का प्रयोग काव्य के लिये ही इतने व्यापक रूप से हुआ, जो प्रधानतः पद्य में लिखा जाता था। इसका प्रयोग 'गद्य' के लिये विरल रूप से ही हुआ, अतः ब्रजभाषा का 'गद्य-साहित्य' उतना अधिक नहीं प्राप्त होता, जितना कि पद्य। ऐसा होने का स्पष्ट कारण है, वह यह कि गद्य में व्यक्त किए जाने वाले विषयों के लिये गद्य का प्रयोग हमारे साहित्यकारों ने नहीं किया। अतः हिंदी-साहित्य को गद्य में साहित्य-निर्माण की परंपरा अच्छी नहीं मिली। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश सर्वत्र गद्य का ग्रहण विरल ही है। श्री चंद्रधर शर्मा—गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' में लिखा है—

"प्रबंध-चिंतामणि' में केवल दो प्रसंगों में कुछ गद्य आया है। 'कुमारपाल प्रतिबोध' में भी गद्य की विरलता है।"

तात्पर्य यह कि हमारे साहित्य में पद्य के ग्रहण का आधिक्य और गद्य के ग्रहण की विरलता है। सभी विषयों को पद्य में ही व्यक्त करने की चाल थी। हिंदी-साहित्य में भी यही परंपरा चली। अतः ब्रजभाषा का ग्रहण गद्य के लिये कम होने के कारण उसमें साहित्य का निर्माण भी कम हुआ।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी-साहित्य के भक्ति और शृंगार-काल में ब्रजभाषा-साहित्य का प्रभूत निर्माण हुआ, परंतु इनमें काव्य का ही अधिक निर्माण हुआ। जैसा ऊपर कहा गया है कि ब्रजभाषा को धर्माश्रय और राज्याश्रय दोनों पूर्ण रूप से मिले, यह बात पद्य काव्य को ही दृष्टि-पथ में रखकर समझी जानी चाहिए। ब्रजभाषा के गद्य को कोई आश्रय मिला हो, ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। भक्ति-काल में वल्लभ-संप्रदाय के कुछ आचार्यों और भक्तों ने इसका ग्रहण वार्ता तथा स्व-स्व संप्रदाय के संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद आदि के लिये किया। भक्ति-काव्य को राजाश्रय भी नहीं मिला, कारण कि उनमें भक्ति-प्रवृत्ति का प्राधान्य न था, विलास-प्रवृत्ति का ही आधिक्य था। शृंगार-काल में भी गद्य का ग्रहण केवल टीकाओं के लिए हुआ। इस काल में काव्य (पद्य) को राजाश्रय मिला, गद्य को नहीं। काव्य-रचना के कारण ही राज-दरबारों में कविगण पूजे जाते थे, जहाँ कलाबाजी दिखाना आवश्यक था। गद्य-द्वारा यह कार्य संभव नहीं था। इससे यह स्पष्ट है कि ब्रजभाषा का जो गद्य-साहित्य निर्मित हुआ वह प्रधानतः स्वतंत्र या निरवलंब रूप से। फिर ब्रजभाषा-काव्य के इस आधिपत्य काल में भी उसका जो गद्य-साहित्य निर्मित हुआ वह एकदम नगण्य तो नहीं कहा जा सकता, वह जितना रचा गया, वही क्या कम है। इसके अतिरिक्त अभी संपूर्ण हिंदी-साहित्य का पूर्ण अनुसंधान भी प्रस्तुत नहीं हो पाया है। संभव है ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य विभिन्न स्थानों में दबा पड़ा हो।[2]

ब्रजभाषा का जो गद्य-साहित्य हमारे संमुख है उसे हम दो श्रेणियों में रख सकते हैं—धार्मिक श्रेणी में और साहित्यिक श्रेणी में। धार्मिक का संबंध भक्ति-काल से विशेष है, जिनमें वार्ताएँ बनीं, पुराणों एवं धार्मिक ग्रंथों के अनुवाद हुए, आचार्यों तथा भक्तों ने अपने धर्म को लोगों पर प्रकट करने के लिये भाष्य किए या गद्य ग्रंथ लिखे। साहित्यिक श्रेणी का गद्य शृंगार-काल में प्रधानतः टीकाओं के लिये गृहीत हुआ। इसमें कुछ मौलिक रचनाएँ भी इस काल में हुईं, जिनका संबंध साहित्य से है। इस प्रकार हम देखते हैं

१. ब्रजभाषा में गद्य का प्रयोग 'अनुवादों' में प्रधान रहा, अतः गीता, भागवत आदि अनेक पुराणों के गद्यानुवाद हुए। उनमें आज बहुत कुछ मिलते हैं।

२. यह यथार्थ ही प्रतीत होता है, क्योंकि नयी शोध के परिणाम-स्वरूप ब्रजभाषा गद्य के नये ग्रंथों का निरंतर उद्घाटन हो रहा है। यह शोध की रिपोर्टों से विदित होता है।

कि ब्रजभाषा-गद्य का उपयोग धार्मिक साहित्य के लिए भी हुआ और साहित्यक रचनाओ के लिए भी। इसका उपयोग वैद्यक, ज्योतिष, शालहोत्र आदि की रचनाओ के लिये भी हुआ, परतु ऐसी रचनाएँ कम हुई।

जिस-जिस ढग की रचनाओ के लिए ब्रजभाषा के गद्य का उपयोग हुआ है उसके अनुसार भी इस (ब्रजभाषा के गद्य) में निर्मित साहित्य का श्रेणी-विभाजन हो सकता है। प्रधानत तीन प्रकार की रचनाओ के लिये इसका उपयोग हुआ है—"मौलिक, अनुवाद और टीका-टिप्पणी के लिए।" इन तीनो प्रकार की रचनाओ का एक-एक भेद और हो सकता है। वह यह कि इनमें से प्रत्येक कुछ तो केवल गद्य में है और कुछ ऐसी है जिनमें गद्य के साथ पद्य भी है। इनमें से किसी में गद्य का प्राधान्य है, किसी में पद्य का। ब्रजभाषा के गद्य मे जो मौलिक रचनाएँ है, उनमें धार्मिक रचनाएँ भी है और साहित्यक रचनाएँ भी। प्राधान्य भी ऐसी ही रचनाओ का है। प्रधान रूप से वल्लभ-सप्रदाय के भक्त-रचनाकारो से इन रचनाओ का सबध है, जिनमें पुष्टिमार्गी भक्त, वल्लभ-सप्रदाय के महाप्रभुओ और वैष्णवो की वार्त्ता वा उनका जीवन-विवरण तथा श्री कृष्ण की लीला आदि का विवरण है। स्वामी श्री हरिदास जी की सप्रदाय के भी कुछ ग्रथ ब्रजभाषा-गद्य में बने। वल्लभ-सप्रदाय से सबध रखने वाले रचनाकारो ने वार्त्ताओं की खूब रचना की। गोकुलनाथ की 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता' के अतिरिक्त अन्य लोगो ने भी वार्ताएँ लिखी। गोकुलनाथ जी के समकालीन हरिराय जी ने 'श्री आचार्य महाप्रभून की द्वादस निज वार्ता,' श्री आचार्य महाप्रभून के सेवक चौरासी वैष्णवो की वार्ता की 'टीका', 'श्री आचार्य महाप्रभून की निज वार्ता और घरू वार्त्ता' आदि ग्रथ लिखे। स० १८३३ के लगभग किसी ने 'पुष्टिदृढाव भाषा की'[1] रचना की, जिसमें पुष्टिमार्गी-सिद्धातो का उल्लेख है। स० १८०० के लगभग टट्टी सप्रदाय से सबद्ध गुरु-शिष्य श्री 'ललित किशोरी' और 'ललित मोहिनी' ने 'श्री स्वामी जी महाराज की वचनिका लिखी। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी ने 'शृगार-रस-मडन' लिखा, जिसमें श्री कृष्ण की लीला है। इस प्रकार हम देखते है कि ब्रजभाषा-गद्य में वल्लभ-सप्रदाय से सबद्ध भक्तो, एव सप्रदाय से सबद्ध श्री कृष्ण की लीला तथा उस के सिद्धातो आदि का वर्णन खूब हुआ। इन रचनाओ की प्रवृत्ति मूल मे प्रधानत धार्मिक ही रही।

कुछ ऐसी धार्मिक वा पौराणिक रचनाएँ भी हुई, जिनका सबध किसी सप्रदाय से नही था। जैसे—स० १६८० के लगभग श्री वैकुठमणि शुक्ल' ने 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' ओरछा के राजा यशवतसिंह की रानी 'चद्रावती' की आज्ञा के अनुसार लिखे। विक्रम की अठारहवी शती के मध्य के लगभग 'मीनिराज प्रधान' ने 'हरतालिका की कथा' लिखी। इसी प्रकार स०१८९७ में 'नवलसिंह' ने 'महाभारत वार्तिक' मे 'महाभारत' की कथा कही।

कृष्ण को लेकर ही मौलिक गद्य-ग्रथ नही लिखे गए, राम को भी लेकर लिखे गए। 'नाभादास' (स०१६५७ के आस-पास तक थे) ने 'अष्टयाम' की रचना की, जिसमें राम की दिनचर्या का वर्णन है।

नाथ-सप्रदाय के भी कुछ ग्रथ ऐसे है, जो गद्य में लिख गए हं और इनका समय स० १४०० के आस-पास है, जैसे—'गोरखसार'।

ब्रजभाषा-गद्य में साहित्य-सबधिनी रचनाएँ भी हुई। इसमें अलकार, रस, नायिका-भेद आदि भी लिखे गए। जैसे—'जयगोविंद वाजपेयी' (सं०१७१६-१७६५) का 'कविसर्वस्व'।

शकुन-विचार सबधी ग्रथ भी ब्रजभाषा-गद्य में लिखे गए। 'व्यास' ने विक्रम की उन्नीसवीं शती के आरभ में 'शकुन-विचार-सबधी ग्रथ लिखा है।

इस प्रकार विदित होता है कि ब्रजभाषा के गद्य में अनेक ढग की मौलिक रचनाएँ हुई, जिनमें धार्मिक विषयो का प्राधान्य है। साहित्यक विषयो पर भी रचनाएँ हुई।

पहले निर्देश किया गया है कि कुछ मौलिक ग्रथ ऐसे भी बने जिनमें पद्य के साथ गद्य भी है। ऐसे ग्रंथो का सबध प्रधानत साहित्यक विषयो मे ही है, जैसे, पिगल, अलकार, नख-शिख ऋतु-वर्णन-आदि।

१. पुष्टिदृढाव भाषा श्री हरिराय कृत है।

'बख्शी समनसिंह' (स०१८७८ के आस-पास) का 'पिंगल-काव्य-भूषण,' मारवाड के महाराज 'मानसिंह' कृत 'नाथ-प्रशसा' (ऋतु-वर्णन), बनारसीदास' (स०१६६८) कृत 'बनारसी-विलास', ग्वाल कवि का दूषण-उल्लास या कवि-दूषण आदि ग्रथ ऐसे ही हैं।

गद्य-पद्य मय कुछ ग्रथ ऐसे भी मिलते हैं जिनका विषय कृष्णलीला, वेदात या ब्रह्मज्ञान आदि से है। 'वैष्णवदास' (लगभग स० १८२९) कृत 'भक्तमाल-प्रसग' मे श्री कृष्ण की लीला का वर्णन है। जोधपुर के राजा 'यशवतसिंह' (विक्रम की १८ वी शती का मध्य) के 'सिद्धातबोध' में 'ब्रह्मज्ञान' का विचार है।

इस विवरण से स्पष्ट हो गया होगा कि ऐसी मौलिक रचनाएँ जो केवल ब्रजभाषा-गद्य में है, उनमें धार्मिक विषयो का प्राधान्य है और ऐसी रचनाएँ जिनमें गद्य-पद्य दोनो है, उनमें साहित्यक-विषयो का प्राधान्य है।

जैसे ब्रजभाषा के कुछ मौलिक गद्य-ग्रथो में केवल गद्य का उपयोग किया गया है और कुछ मे गद्य और पद्य दोनो का, वैसे ही कुछ ग्रथ केवल ब्रजभाषा-गद्य में अनूदित मिलते है और कुछ गद्य और पद्य दोनो मे। अनुवाद प्राय सस्कृत से किए गए है। सस्कृत के अतिरिक्त उस समय, अर्थात् भक्ति और शृगार-काल में किसी अन्य भाषा का भारत में प्रचार भी नही था, जिससे अनुवाद किया जाता। कुछ ग्रथ फारसी से अनूदित भी मिलते है। गद्य और गद्य-पद्य मिश्रित दोनो में अनूदित ग्रथो के विषय प्राय धार्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक, कथा-कहानी, वैद्यक आदि है। धार्मिक ग्रथो में पुराणो के अनुवाद विशेष रूप से मिलते है। स० १६१७ के लगभग किसी 'नददास' (प्रसिद्ध कवि नददास नही) ने 'नासकेतु पुराण' का केवल 'ब्रजभाषा-गद्य में 'नासकेत पुरान-भाषा' के नाम से अनुवाद किया। केवल गद्य तथा गद्य-पद्य-मिश्रित गद्य में वेदात, उपनिषद्, भगवद्गीता आदि तत्त्वज्ञान-सबधी ग्रथो का अनुवाद भी हुआ। फारसी में अनूदित उपनिषद् से भी एक हिंदी-अनुवाद मिलता है। स० १७७६ के आस-पास किसी ने 'शाहजहाँ' द्वारा (स० १७१२ में) फारसी में लिखवाए गए कई उपनिषदो का अनुवाद हिंदी (ब्रजभाषा) मे किया। इसका नाम 'उपनिषद्-भाष्य' है। 'मनोहरदास' निरजनी ने लगभग स० १८२३ मे वेदात-विषयक किसी ग्रथ का अनुवाद 'षट्दर्शनी निर्णय' नाम से गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में किया। जोधपुर के महाराज मानसिंह के समय में (स०१८६०-१९००) किसी ने 'गोरखनाथ'-द्वारा लिखित' सिद्धसिद्धात-पद्धति' का अनुवाद किया। इसका विषय वेदात तथा परमनाथ' की उपासना है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुवाद भी अधिक मिलते है, ब्रजभाषा गद्य में भी और गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में भी। स० १७५६ मे 'भगवानदास' ने 'भाषामृत' नाम से भगवद्गीता का अनुवाद किया। स० १७९८ के आस-पास किसी ने 'भगवद्गीता भाषा' के नाम से गीता का अनुवाद किया। ये दोनो ग्रथ केवल गद्य में है। 'आनद राम' ने स १७६१ में गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में गीता का अनुवाद किया।

'प्रबोधचद्रोदय' जैसे नाटको का अनुवाद भी ब्रजभाषा गद्य में हुआ। जोधपुर के राजा यश-वतसिंह-द्वारा इस नाटक का अनुवाद मिलता है।

उपदेशात्मक कथा-कहानी के अनुवाद भी हुए। स० १८०० के आस-पास का किसी का 'हितो-पदेश-भाषा सटीक' मिलता है। सूरत मिश्र ने "वैतालपचविंशति' का अनुवाद किया।

चाँद के पुत्र किसी आलम ने स० १७४९ के बाद किसी वैद्यक ग्रथ का फारसी से गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में 'ग्रथ सजीवन' नाम से अनुवाद किया।

टीकाएँ भी मौलिक रचनाओ तथा अनुवादो की भाँति ही केवल गद्य तथा गद्य-पद्य-मिश्रित ब्रजभाषा में बनी। टीकाओ का समय लगभग विक्रम की अठारहवी शती के मध्य मे लेकर उन्नीसवी के अत या बीसवी के आरम तक समझना चाहिए। विक्रम की अठारहवी शती के मध्यतक प्रचुर साहित्य निर्मित हो चुका था और ऐसा साहित्य निर्मित हो चुका था, जिसके समझने में कुछ बाधा उपस्थित हो सकती थी। ऐसी परिस्थिति में टीकाओ का बनना स्वाभाविक था। जिन ग्रथो पर टीकाएँ लिखी गई निश्चित ही वे दुरूह हैं। जैसे—'बिहारी सतसई', 'केशवदास कृत 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया'। बिहारी

तथा केशव[1] की रचनाओं की अनेक टीकाएँ मिलती हैं। मतिराम कृत 'रसराज' तथा महाराज जशवंत-सिंह कृत 'भाषाभूषण' पर भी टीकाएँ मिलती है, परन्तु उतनी नही, जितनी कि विहारी और केशव की रचनाओं पर। इन ग्रथो पर कुछ टीकाओ तथा उनके कर्त्ताओं के नाम इस प्रकार हैं—विहारी के पुत्र[2] 'कृष्ण कवि' की 'विहारी सतसई' की टीका (स० १७८५-१७९० के मध्य), सूरत मिश्र कृत 'अमरचद्रिका' (स० १७६४ विहारीसतसई की टीका)। आपने' कविप्रिया-तिलक' नामसे केशव की 'कविप्रिया' के क्लिष्ट स्थलो की मार्मिक और स्पष्ट टीका की है। केशव की 'रसिकप्रिया' पर आपने 'रसगाहक-चद्रिका' नाम से टीका की। रघुनाथ (स०१७९६-१८०७) कृत "विहारी सतसई" की टीका। काशी के बाबू देवकीनदन के आश्रित 'ठाकुर कवि' (स०१८००) की 'सतसैंयावरणार्थ' नामक विहारी सतसई की टीका, हरिचरणदास कृत 'विहारी सतसई', 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' तथा 'भाषाभूषण' की टीका। ये टीकाएँ लगभग स० १८३४-३५ में बनी। हरिचरणदास जाति के ब्राह्मण तथा कृष्णगढ (मारवाड) के निवासी थे। ईसव खाँ की विहारी सतसई की टीका, प्रतापसाहि कृत 'रसराज' की टीका (१८९६), याकूब खाँ (स०१७७५) कृत 'रसिकप्रिया' की टीका, दलपतिराय तथा वसीधर कृत 'अलकार रत्नाकर' नामक 'भाषाभूषण' की टीका; ये सभी टीकाएँ ब्रजभाषा-गद्य में हैं। विहारी सतसई पर कुछ टीकाएँ ऐसी है जो गद्य-पद्य दोनो में है। जैसे—राधाकृष्ण चौबे कृत विहारी सतसई की टीका (स०१७५०), अमरसिंह कायस्थ (स०१८४५) की विहारी सतसई की 'अमरचद्रिका' नामक टीका।

सूरदास के दृष्टिकूट पदो की टीकाएँ भी यत्र-तत्र मिलती है। काशीस्थ-वल्लभ-संप्रदाय के गोस्वामी गिरधरलाल के शिष्य वालकृष्ण दास ने 'श्री सूरदास जी कृत कूट (सटीक)' लिखा, जिसमें एक सौ दृष्टि-कूट पदो की टीका है। यह सं० १८८५–१९०० के लगभग लिखा गया।[3]

सस्कृत ग्रथो पर भी टीकाएँ लिखी गई। श्री विट्ठलनाथ जी की 'नवरत्न' पर टीका मिलती है[4], जिसमें वल्लभ-सप्रदाय के सिद्धात है। जिन नददास ने 'नासकेतु पुराण' का अनुवाद किया उन्होने ही 'विज्ञानार्थ प्रकाशिका' नामक सस्कृत-ग्रथ की ब्रजभाषा गद्य में टीका लिखी।

कुछ टीकाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें गद्य-पद्य दोनो का उपयोग किया गया है। जैसे—जमुना दास कृत 'गीत रघुनदन' की टीका, जो रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह द्वारा स० १९०१ में लिखी गई। इसका नाम 'गीतरघुनदन-प्रभाविका टीका' भी है। श्री नाभादास के 'भक्तमाल' पर प्रियादास की टीका पर टीका और दृष्टात का नाम 'भक्ति-रस-बोधिनी टीका' है। यह लगभग स० १८४४ में रची गई। इसमे प्रथम कविता में ग्रथकर्त्ता का नाम 'अग्रनारायण दास' है और अत में दृष्टातकार का नाम "वैष्णव दास' है। अत निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इस ग्रथ का रचयिता कोन है। सभवत टीकाकार अग्रनारायण दास हो और दृष्टातकार वैष्णव दास।

इस विवरण से ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की गतिविधि का आभास मिल जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की वैसी स्पष्ट और अनवरत परपरा नही चली जैसी आधुनिक काल में खडी बोली के गद्य की चल रही है। इसमें बहुत थोडी मौलिक रचनाएँ हुई। जिन्हे हम अभी मौलिक रचनाओं के रूप में स्वीकार करते हैं, वे यथार्थ में मौलिक हैं अथवा अनूदित, अभी इसका निर्णय अनुसधान-द्वारा नही हो पाया है। इसमें अनुवाद भी थोडे ही हुए। यदि अनुवाद ही प्रभूत मात्रा में होते तो ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य का अच्छा रूप खडा हो सकता था। मौलिक और

१. दे० ग्वाल कृत आलोचना जैसे—"सूरत नें केसव को सूरत सुधार दी"।

२. ये बिहारी के पुत्र नहीं, भानजे (बहिन के पुत्र) माने जाते हैं।

३. श्री काशीराज के आश्रित सरदार कवि की टीका भी प्रसिद्ध है।

४. श्री आचार्य के 'नवरत्न' पर ही नहीं उनके प्रायः सभी षोडशादि ग्रंथों पर आपकी, संप्रदाय के अनेक आचार्यों तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों की 'ब्रजभाषा-गद्य' टीकाएँ हैं।

अनूदित रचनाओ में भी कुछ ऐसी है, जिनमें पद्य घुसा हुआ है। टीकाओ का भी यही हाल है। बहुत दिनो तक ब्रजभाषा का गद्य टीकाओ में उलझा या लगा रहा, परतु परिणाम कुछ नही हुआ।

ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के प्रभूत और अनवरत रूप से निर्मित न होने के कारणो की ओर निर्देश किया जा चुका है। उन कारणो का स्मरण कराते हुए हम यहाँ यह भी कहना चाहते है कि गद्य-साहित्य की अनवरत परपरा प्राय तभी देखी जाती है जब जनता किसी आदोलन में सक्रिय रूप से हाथ बटाए—विशेषत राजनीति में। ब्रजभाषा-काल में राजनीति जनता की नही थी, वह शाहशाहो और छोटे-मोटे राजाओ के बीच चलने वाली राजनीति थी, जनता उसकी तटस्थ दर्शक मात्र थी। ब्रजभाषा-काल में यदा-कदा धार्मिक आदोलन अवश्य चले, जिसमें जनता उभर नही पाती थी, अत्याचार उन्हें दबाए रहता था।

ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य के क्रमिक विकास की रूपरेखा से परिचित होने के लिए उसके प्रमुख रचनाकारो और रचनाओ पर दृष्टि डालनी होगी। ब्रजभाषा-गद्य की प्रथम रचना सवत् १४००के आस-पास मिलती है। इसका नाम 'गोरखसार' है। कुछ लोग इसे गोरखनाथ की रचना मानते है, परतु यह उनकी रचना नहीं है, प्रत्युत उनकी रचनाओ का अनुवाद प्रतीत होता है। सभव है 'गोरख-पथ' के किसी व्यक्ति-द्वारा इसमें उपर्युक्त पथ के सिद्धांत कहे गए हो। इस प्रकार यह मौलिक रचना भी हो सकती है। इसकी भाषा इस प्रकार की है—

"सो वह पुरुष संपूरन तीर्थ स्नान करि चुकौ, अरु संपूरन पृथ्वी ब्राह्मननि को दै चुकौ, अरु सहस्र जग्य करि चुकौ, अरु देवता सर्ब पुंजि चुकौ, अरु पितरनि को संतुष्ट करि चुकौ, स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य कौ मन छिन-मात्र ब्रह्म को बिचार बैठो।' . 'पराधीन उपराति बंधन नांहीं, सु आधीन उपरांति मुकति नांहीं, चाहि उपराति पाप नांहीं, अचाहि उपरांइति पुनि नाहीं, क्रम उपराति मल नांहीं, निहिक्रम उपराइति निरमल नांहीं, बुध उपराति कुबुधि नांहीं, निरदोष उपराति सुबधि नाहीं, घोर उपरांईति मंत्र नांहीं, नारायण उपरांईति ईसर नाहीं, निरंजन उपरांईति ध्यान नाहीं।"

यह ब्रजभाषा-गद्य का प्राचीन रूप है, जिसकी वाक्य-रचना तथा शब्द-रूप अवश्य अव्यवस्थित है, अन्यथा भाव स्पष्ट ही हो जाते है।

ब्रजभाषा गद्य के दूसरे लेखक श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाई विट्ठलनाथ जी निर्धारित होते है। इनका जन्म स०१५७२ और मृत्यु सं० १६४२ में हुई थी। इनका रचना-काल विक्रम की सत्रहवी शती का आरंभ माना जा सकता है। इन्होने 'शृगाररस-मडन' मौलिक, 'यमुनाष्टक' और 'नवरत्न' पर टीका लिखी है। प्रथम ग्रथ में श्री राधाकृष्ण का विहार-वर्णन है। इससे एक उदाहरण देखें—

"प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरन बिषै सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमांमृत में डूबि कें इनके मंद हास्य को जीतें हैं। अंमृत समूह ताकरि निकुंज बिषै शृगार रस श्रेष्ठ रसना कीनों सो पूर्ण होत भई।"

अंतिम ग्रंथ की भाषा इस प्रकार की है—

"तहाँ प्रथम श्री भगवान कलिजुग में अधर्म विशेष प्रवर्त भयौ देखि कें धर्म के स्थापिबे को आप श्री कृष्ण रूप पूरण प्रगट होत भए, सो धर्म की स्थापना करि पीछें कलि के जीवन को मोक्ष के अधिकार सें हीन देखि कें भक्तिमार्ग प्रगट करि जो वा समय भक्त हुते तिनकों उद्धार करि पृथ्वी कौ भार उतार आप वैकुंठ को पधारत भए।"

प्रथम उदाहरण की भाषा उलझी अवश्य है, परंतु द्वितीय की पूर्णव्यवस्थित और स्पष्ट है। इसे समर्थ ब्रज-भाषा के गद्य की श्रेणी में अवश्य रख सकते है।

गोसाई विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ जी ब्रजभाषा-गद्य के प्रसिद्ध लेखक माने जाते है। इन्होने 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' और 'दोसौ बावन वैष्णवो की वार्ता' लिखी है। आचार्य रामचद्र शुक्ल का कथन है कि "ये वार्ताएँ उनके द्वारा नही, प्रत्युत उन्ही की सप्रदाय के किसी दूसरे व्यक्ति-द्वारा लिखी गई जान पड़ती हैं।" प्रथम के विषय में उनका मत है कि "यह श्री गोकुलनाथ के किसी गुजराती शिष्य की लिखी हुई हो सकती है। कारण कि इसमें गोकुलनाथ जी द्वारा कही गई बातो का उल्लेख व

आदर और समान के साथ किया हुआ मिलता है।" द्वितीय के विषय में उनका मत है कि "वह औरंगजेब के समय में लिखी गई होगी। इन वार्ताओं को जीवन-संबंधी विवरण या कथा के रूप में समझना चाहिये। इनकी भाषा सामान्य बोलचाल की भाषा है।"

नागरी प्रचारिणी सभा काशी की सन् ३२,३३,३४ की त्रैवार्षिक खोज की रिपोर्टों में श्री गोकुलनाथद्वारा लिखे ये ग्रंथ भी मिले हैं—वनयात्रा, पुष्टिमार्ग के वचनामृत (लिपि-काल सं० १९०५), रहस्य-भावना (लिपिकाल सं० १९११), सर्वोत्तमस्तोत्र, सिद्धांतरहस्य और वल्लभाष्टक। ये सभी ग्रंथ गद्य में हैं और इनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धांत तथा भक्ति का वर्णन है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' की भाषा ऐसी है—

"बहुरि श्री आचार्य जी महाप्रभून नें श्री ठाकुर जी के पास यह माँग्यौ जो मेरे आगें दामोदरदास की देह न छूटै और श्री आचार्य जी महाप्रभू दामोदर दास सौं कछू गोप्य न राखते और श्री आचार्य जी महाप्रभू श्री भागवत अहर्निस देखते, कथा कहते और मार्ग की सिद्धांत, भगवत-लीला-रहस्य श्री आचार्य जी महाप्रभू आप दामोदर दास के हृदय में स्थापन कीयौ।"

'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' की भाषा भी जनता में प्रचलित ऐसी ही बोलचाल की भाषा है। इस भाषा में इतनी शक्ति अवश्य है कि इसमें कथा कही जा सके।[१]

श्री विट्ठलनाथ और श्री गोकुलनाथ के समय के आस-पास ही श्री 'हरिराय जी' (वल्लभीय) हुए। इन्होंने भी व्रजभाषा-गद्य में अनेक रचनाएँ की। नागरी प्रचारिणी सभा काशी की सन् १९०९-१०,११ की त्रैवार्षिक खोज की रिपोर्टों में इनके इन ग्रंथों का उल्लेख है—'श्री आचार्य महाप्रभून की 'द्वादस निज वार्ता', श्री आचार्य श्री महाप्रभून के सेवक 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', श्री आचार्य महाप्रभून की 'निज वार्ता' और 'घरू वार्ता'। 'मिश्रबंधु-विनोद' में इनके इन ग्रंथों के अतिरिक्त ये ग्रंथ और उल्लिखित हैं—'ढोलामारु की वार्ता', 'भागवती के लक्षण', 'द्विदलात्मक स्वरूप विचार', 'गद्यार्थ भाषा', 'गुसाईं जी के स्वरूप के चिंतन कौ भाव', 'कृष्णावतार स्वरूप निर्णय', 'सातों स्वरूपन की भावना', 'वल्लभाचार्य जी के स्वरूप कौ चिंतन भाव', 'वर्षोत्सव', 'यमुना जी के नाम'। सभा की सन् १९३२,-३३,-३४, की खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्टों में इनके-द्वारा लिखित इन गद्य-ग्रंथों का नाम भी है—'कृष्णप्रेमामृत, 'पुष्टिदृढावन की वार्ता' 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा भेद', 'सेवाविधि', 'वर्षोत्सव की भावना' और 'भाव-भावना'। 'भाव-भावना' से एक उदाहरण देखिए—

"सो पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया है सो सब स्वामिनी जी के भाव तें हैं। तातें मंगलाचरण गावें। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरन-कमल को नमस्कार करत हूं जिनकी उपमा दैबे कों मन बसो दिसा दौरचौ। परंतु कहूं पायौ नाहीं।"

श्री गोकुलनाथ की रचनाओं में प्रयुक्त गद्य का-सा चलतापन इस गद्य में नहीं है, परंतु व्रज-भाषापन का अंश अधिक अवश्य लक्षित होता है।

एक नंददास का उल्लेख ऊपर कई स्थलों पर आया है। इनका समय भी लगभग विक्रम की सतरहवीं शती का प्रथम चरण है, अर्थात् सं० १६१७-२० के आस-पास। इनके अनूदित ग्रंथ 'नासकेत पुरान भाषा' का गद्य इस प्रकार का है—

"अहो विप्र नादंराजा जन्मेजय नासकेतु पुरान ही कृतारथ होत भयौ है। और नासकेत पुरान' कैसौ है।। महा पवित्र है जैसें कोई प्रानी एकाग्र चित्त ह्वैकरि सुणं-पढ़ै जो पारग्रामी होइ। जैसें राजा जनमेजय पार होत भयौ और सहस गऊ दिये कौ फल होइ।"

[१] व्रज में अब भी जो कथाकार—अर्थात् श्रीमद्भागवतादि की कथा बाचने वाले हैं, उनकी व्रजभाषा इतनी परिमार्जित तथा मीठी है कि सुननेवाले मुग्ध हो जाते हैं।

इस गद्य की भाषा में प्रश्नोत्तर वाली संस्कृत की गद्य-शैली विद्यमान है। भाषा में अधिक स्पष्टता नहीं है।

विक्रम की सतरहवीं शती के मध्य के व्रजभाषा-गद्य का नमूना नाभादास (सं०१६५७ के-लगभग तक विद्यमान थे) के 'अष्टयाम' में देखा जा सकता है, जो इस प्रकार है—

"तब श्री महाराज-कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जुहार करि कें श्री महेंद्रनाथ दसरथ जू के निकट बैठते भए।"

इस गद्य में संस्कृत का पुट विशेष है।

सं० १६६८ के आस-पास के व्रजभाषा-गद्य का नमूना 'वनारसीदास' कृत 'वनारसी-विलास' में मिलता है—

"सम्यग्दृष्टि कहा सो सुनों। संसय, विमोह, विभ्रम ए तीन भाव जामें नाहीं सो सम्यग्दृष्टि। संसय, विमोह, विभ्रम, कहा ताकौ स्वरूप दृष्टांत करि दिखाइयतु है सो सुनो।"

इसमें भी संस्कृत की प्रश्नोत्तरवाली शैली का आभास मिलता है।

सं०१६७५-८४ के आसपास के व्रजभाषा-गद्य का रूप वैकुंठमणि शुक्ल कृत 'अगहन महात्म्य' और 'वैशाख महात्म्य' में देखा जा सकता है। द्वितीय ग्रंथ से एक उदाहरण देखिए—

"सब देवतन की कृपा तें वैकुंठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चंद्रावती के धरम पढ़िवे के अरथ यह जय रूप ग्रंथ वैसाख महातम भाषा करत भए। एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा सो उठि कें सुमेर पर्वत कों गए।"

इसकी भाषा तथा वाक्य-रचना सुलझी हुई है। अस्पष्टता नहीं है।

इसका निर्देश हो चुका है कि विक्रम की अठारहवीं शती के मध्य से टीकाओं की रचना का प्राधान्य लक्षित होता है, यद्यपि मौलिक तथा अनूदित ग्रंथ भी इस समय के आस-पास के मिलते हैं। सं० १७५० में राधाकृष्ण चौबे ने 'विहारी सतसई' की गद्य-पद्य मयी टीका लिखी, इसका एक उदाहरण देखें—

"यह मंगलाचरन है श्री राधा जू की स्तुती ग्रंथकर्ता कहै है। राधा नामनी और हू है यातें 'जा तन की झांईं परें स्याम हरित-दुति होइ' या पद तें श्री व्रषभान-सुता की प्रतीत भई।"

इस प्रकार की टीका में कोई मार्मिकता लक्षित नहीं होती। कवि की बात को ही टेढ़े-मेढ़े ढंग से कह दिया गया है।

सं० १७५६ में भगवान दास ने श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद "भाषामृत" नाम से किया। यह अनुवाद रामानुजाचार्य के भाष्य के आधार पर है। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

"अरु गीता भाष्य का अर्थ के विषै बहुत रुचि हे। शरण मात्र हे तिनकू समझ में ह्वै श्री गीताभाष्य। श्री रामानुजाचार्य जी प्रगट करि हे। ताको अर्थ रूपी जो अंमृत भगवानदास नाम श्रीवैष्णवन को दासानुदास भाषा बिस्तार करयो है।'

इसकी भाषा सामान्य है। 'है' को 'हे' के रूप में रखा गया है।

सं० १७६१ में आनंदराम ने भी श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद किया। [illegible] यह अनुवाद उज्जैन में लिखा गया था। उदाहरण—

"हे अर्जुन, जो अनन्य चित्त ह्वै कें सदां मेरो सुमिरन करै सो पुरुष [illegible] है, एकाग्रचित्त है, ताते वह मोकों सुष होते पावै अरु और पुरुष [illegible]।"

इसकी भाषा में संस्कृत का पुट है। भाषा समर्थ [illegible] है।

सं० १७७६ में किसी ने फारसी में अनूदित [illegible] का व्रजभाषा [illegible] निषद्-भाष्य' नाम से किया। फारसी का अनुवाद [illegible] द्वारा सं० १७१[illegible] में [illegible] उदाहरण इस प्रकार का है—

"आत्मा को केवल ज्ञान ही के मार्ग प्रापत हूज्यत है, काम जो कर्णे के जोग्य है सो यही है। अरु यह मारग ही ब्रह्म है अरु यही सत है। या मार्ग ज्ञान कैसो अज्ञात न चाह्य ।। भाषा ।। अरु या मार्ग को त्याग कर अवर मार्ग कौ अंगीकार न चाह्यौ की या पुरातन रिषीओ ने याही मार्ग का अगीकार किया है।"

इसकी भाषा खिचडी और अव्यवस्थित है। भाव स्पष्ट नही होते है।

विक्रम की अठारहवी शती के अतिम चरण के आस-पास ही मीनराज प्रवान ने (१) 'हरतालिका की कथा', किसी ने (२) 'भगवदगीता भाषा' और एक ने (३) 'श्री कृष्ण जी की लीला' लिखी। तीनो के उदाहरण देखे—

(१) श्री गणेशायनम.। अथ हरतालिका कथा लिख्यते। कैसौ है यह व्रत जा व्रत के करे ते अस्त्री भागवती होती है। सु यह व्रत महादेव के गन इंद्रानी आदि दै तें रहत है। सो कथा कहत है।। एक समऐं विषै श्री महादेव जू अरु श्री पार्वती जू कैलास पर्वत पर बैठे हुते। अरु मदार की माला श्री पार्वती जू पहिरै हुतीं।

(२) श्री राजा धृतराष्ट संजे प्रत पूछत है हमारे पुत्र और पंडव के पुत्र कुरुषेत भिषे मिले है हमारे पुत्र और पडू के पुत्र कहा करत भए सो तुम हम सो कहौ।

(३) श्री राधा जी अपनी सखियन मैं आई। अर अपनी अपनी मटुकियाँ सिर पर धरी। अर सब सखियन सहित घर कू चली। तब पैडा बीच मुषरा मिली। तब मुषरा सब सहेली समेत श्री राधा जी को बाँह गहि कें घर कूं लै चली। इहाँ आनि अवनी को भोजन करायौ।

अतिम उद्धरण की भाषा सामान्य है और दोनो की तो बहुत ही अव्यवस्थित है। सूरत मिश्र ने भी अनुवाद और टीकाएँ इसी समय की। इनके व्रजभाषा-गद्य का नमूना देखिए—

"कमल नयन कमल से है नैन जिनके, कमलदल वरैंन कमलदल कहिऐ मेघ कौ स्यांम स्वरूप है कमलनाभि श्री कृष्ण कौ नाम ही है, कमल जिनकी नाभि तै उपज्यौ है कमलय कमला लक्ष्मी ताके पति है तिनके चरन कमल समेत गुन कौ जाप क्यो हूं मेरे मन में रहौ।"

यह उद्धरण 'रसिकप्रिया' की टीका 'रसगाहक-चद्रिका' से लिया गया है। इसकी शैली मे पडिताऊपन है।

विक्रम की उन्नीसवी शती मे भी व्रजभाषा-गद्य की रचनाएँ होती रही। स० १८२३ के आस-पास मनोहरदास निरजनी द्वारा गद्य-पद्य में अनूदित 'षटदर्शनी-निर्णय' नाम का ग्रथ मिलता है। यह वेंदात विषयक है। इसकी भाषा इस प्रकार की है—

"ग्रथकरता गुरु कू भी इष्ट देवता सु अभेद करिकें ग्रथ को बिघनता दूरि करिबे के हेत बहुरि निमसकार करत है।"

इस भाषा में इतनी शक्ति अवश्य लक्षित होती है जिसके द्वारा भाव वा विचार स्पष्टत अभिव्यक्त किए जा सकें।

स० १८२५ के लगभग किसी ने 'हितोपदेश-भाषा सटीक' लिखा है। यह भी अनुवाद ही है। इसकी शैली में भी पडिताऊपन है।

इसी समय के लगभग वैष्णवदास ने गद्य-पद्य में 'भक्तमाल-प्रसग' लिखा, जिसकी भाषा इस प्रकार है—

"तब श्री कृष्ण ने अघोर बसी बजाई। व्रजगोपिकिनि सुनी राधिका, ललिता, विसाषादि गोपीं आंई। रासमंडल रच्यौ रागरंग, नृत्यगान, आलाप, आलिंगन, संभासन भयौ। उहाँहि सर में जल क्रीडा स्नान गोपी कुच-कुंकुम-केसर छूट्यौ सो गोपीचदन भयौ, गोपी तलाई भई, वृज प्राप्ति।"

इस भाषा में साहित्यकता का कुछ रुप दृष्टिगत होता है।

स० १८३३ के आस-पास किसी ने 'पुष्टिदृढाव-भाषा' लिखी। उदाहरण—

"और जो माटी ही कौ पात्र होइ और जो उत्तमोत्तम सामग्री सो भर्‍यौ होइ सो लीजिए तौ सुख होइ तातें भीतर ही कौ गुन देखकें सगत करनी। गुन देखे बिना संगत करै तौ दुख पावै यह सिद्धांत पूर्ण भयौ।"

इसकी भाषा में ब्रज तथा खडी बोली की खिचडी है।

स०१८३५ के आस-पास व्यास ने 'शकुन विचार' विषयक एक ग्रथ लिखा। इसकी भाषा इस प्रकार की है —

"सुन भो पृछक तोहि सगुन कौ आधीन एक बा . हाइगौ। पै जो मन चाहि है सो तेरौ कार्ज होयगौ।"

यह बोलचाल की सामान्य भाषा है।

विक्रम की उन्नीसवी शती के अतिम भाग के आस-पास के ब्रजभाषा-गद्य के नमूने भी देख लें। स० १८९६ में प्रतापसाहि-द्वारा लिखी गई 'रसराज' की टीका के गद्य का रूप ऐसा है—

"कवि मतिराम कहै कै मैनें जो रसराज ग्रंथ कियौ सो जे रसिक रस के जाननवारे सज्जन अरु कविन के समाज तें सुनि समुझि कै सब रीझि हैं।"

गद्य का यह रूप स्पष्ट है।

सं० १८९७ में नवलसिंह ने 'महाभारत वार्तिका' लिखी। इसके गद्य का उदाहरण भी देखें-

"पुन भविष्य प्रादुर्भाव मै पुष्कर छेत्र की उतपति कौ बर्नन है ताके स्नान, दान, हवन की महिमा है, सत सहश्र संहिता भारत व्यास जी के वोष्ट् पुठन तें निकसौ है, पुन्य कौ बढ़ावन वारौ महा पवित्र है, पापन कौ हर्त्ता है।"

गद्य का यह रूप कथा कहने में समर्थ है।

इसी समय के आस-पास बालकृष्णदास-द्वारा लिखा गया 'श्री सूरदास जी के दृष्टि-कूट (सटीक)' की भाषामें विचार के कथन का तारतम्य स्पष्ट नही है, उलझा हुआ है।

कालक्रमानुसार ब्रजभाषा गद्य के कुछ नमूने समुख उपस्थित है। इससे स्पष्ट है कि विक्रम की चौदहवी शती से लेकर उन्नीसवी के अत या बीसवी के आदि तक ब्रजभाषा-गद्य का कुछ न कुछ रूप दृष्टिगत होता है। आधुनिक काल के 'भारतेंदु युग' में खडी बोली सशक्त होकर खडी हुई। इस खडी बोली में भी ब्रजभाषा-गद्य के किन्ही रूपो का दर्शन होता है। लल्लू जी लाल आदि की भाषा 'ब्रज-रजित' है। इसे हम भली भाँति जानते है। भारतेंदु युग के गद्य लेखको की भाषा में भी ब्रजभाषा की रचना प्राय दिखाई पडती है। ऐसा हुआ क्यो? क्या ब्रजभाषा के गद्य का प्रभाव खडी बोली के गद्य पर पडा? बात ऐसी तो नही कही जा सकती। कारण कि उस समय ब्रजभाषा-गद्य का बोलबाला न था कि वह खडीबोली के गद्य को छोप रखकर उसे प्रभावित करती। ब्रजभाषा-गद्य की तूती तो कभी नही बोली। खडी बोली के गद्य के ब्रज-रजित होने का स्पष्ट कारण यह है कि जिस समय खडी बोली गद्य का आरभ हुआ उस समय ब्रजभाषा-पद्य का प्राधान्य था। काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही थी। अत खडी बोली के गद्य पर उस समय काव्य-भाषा का कुछ न कुछ पुट होना स्वाभाविक था। खडी बोली के गद्य के आरभ से तात्पर्य है जब से खडी बोली में गद्य लिखने की अनवरत परपरा का श्री गणेश हुआ। अभिप्राय यह कि खडी बोली के गद्य पर भी ब्रजभाषा का कुछ प्रभाव कुछ समय तक था, परंतु यह प्रभाव क्रिया आदि के रूपो तक ही सीमित था।

ब्रजभाषा के गद्य का विकास नही हुआ। वह भाव तथा विचार की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त तो होता रहा, परंतु प्रयोग में आते-आते मँजा नही। ब्रजभाषा के गद्य में वह शक्ति नहीं आई जो शक्ति सूर, बिहारी, घनानद, रसखान आदि की पद्य-रूप ब्रजभाषा में स्थित है, अर्थात् ब्रजभाषा के काव्य की भाषा मँजी, परतु उसके गद्य-साहित्य की भाषा नही मँजी। इसका कारण ब्रजभाषा-गद्य-साहित्य की कुछ समय तक अनवरत परपरा का न चलना ही है। वह छुटपुट रूप से अवश्य होती

रही। यदि अनवरत रूप से कुछ काल तक इसमें प्रभूत साहित्य बनता तो निश्चय ही व्रजभाषा के गद्य मे माँज आती—ओप आती। कहना यह है कि व्रजभाषा के काव्य की भाषा मे जो साहित्यकता, जो शक्ति, जो सामर्थ्य का सन्निवेश हुआ वह व्रजभाषा के गद्य-साहित्य की भाषा में नही सन्निहित हो सका। वह इतनी सशक्त नही हो सकी कि भाव तथा विचारो का वहन भली भाँति कर सके। उसकी अक्षमता के कारण उसमे व्यक्त भाव तथा विचार प्राय उलझे मे रहे। ऐसा होने का भी कारण था, जिसका निर्देश हो चुका है। अत व्रजभाषा के गद्य-साहित्यकारो को कोसा नही जा सकता।

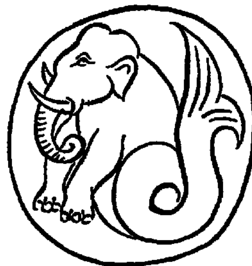
व्रजभाषा के गद्य-साहित्य के दर्शन की ओर अभी हमारी दृष्टि लगी भी नही है। इसके अनुसधान की ओर अभी हम भली भाँति प्रवृत्त भी नही हुए है। सभव है इसका साहित्य अभी पूर्णत हमारे समुख न आया हो, वह अनुसधानित ही हो। यदि इसका सपूर्ण साहित्य समुख आ जाय तो सभव है कि इसमें सशक्त और साहित्यक व्रजभाषा के गद्य का भी दर्शन हो जाय। इस कार्य मे हम कब से प्रवृत्त हो, इसका निर्णय कर ले।[1]

[1] लेखक का अभिमत है कि 'व्रजभाषा' के 'गद्य-साहित्य' का विकास और परिवर्द्धन संस्कृत के अनुदित ग्रंथो से हुआ और व्रज से संबधित सप्रदायो ने इसे काफी आगे बढाया। इन सप्रदायो ने समय-समय पर अपने आचार्यवर्गो तथा सेवको द्वारा अपनी-अपनी सप्रदायो के सस्कृत के अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथो के अनुवाद ही नहीं, मौलिक ग्रथ भी रचे। इन ग्रंथ-रत्नो से व्रज-भारती का गद्य-अग भी उसके पद्य-अग की भाँति चमकने लगा। वेद, उपनिषद् और पुराणो के अनुवादो ने तो इसमें चार-चाँद लगाये ही, इन साप्रदायिक गद्य-ग्रथोने भी इसे बहुत कुछ पूर्ण बना दिया, किंतु समय के प्रवाह ने इसे भी झकझोर डाला। फलस्वरूप व्रजभाषा-गद्य के अनेक उत्कृष्ट ग्रंथ साहित्येतिहास के स्वर्ण-पृष्ठो पर अपने नामो की छाप छोड कर छिप गये—आँखो से ओझल हो गये। जो कुछ बचे, वे आकाश की हीरक-हारावलि की भाँति यदा-कदा भारत के पुस्तकालयो तथा जनता-जनार्दन के घरो में चमक जाते है। अस्तु, व्रजभाषा के इन चमकने वाले गद्य-ग्रंथो में 'श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य-द्वारा स्थापित 'पुष्टि (शुद्धाद्वैत) संप्रदाय के ग्रथो की ही अधिकता है। ये गद्य-ग्रंथ जो नयी खोज से प्राप्त हुए है, निम्न प्रकार है—

"श्रीवल्लभाचार्य कृत—चौरासी अपराध। श्री गोपीनाथ (श्री वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र) जी कृत—स्फुट वार्ता। श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी कृत—कोसी (व्रज) की वार्त्ता तथा स्फुट वार्ताएँ। श्री गोकुलनाथ जी कृत—चौरासी वैष्णवन की तथा दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ताएँ, श्री गुसाँई जी और दामोदर दास कौ संवाद, स्फुट वचनामृत, श्रीवर वाक्यामृत रस-रत्न-कोष, वनयात्रा, खट्रितु की वार्ता, भावना वचनामृत, उत्सव-भावना, नित्य सेवाप्रकार, श्री जी के स्वरूप की भावना, श्रीवल्लभाचार्य की चौरासी बैठकँन के चरित्र, अट्ठाईस बैठकँन के चरित्र, श्री गिरिधर जी की बैठकँन के चरित्र, रहस्य भावना, घरू-वार्त्ता, चरण-चिन्ह भावना, भाव-सिंधु श्री हरिराय जी कृत—द्वादश निकुंज की भावना, चौसठ अपराध वर्णन, निजवार्ता, सात स्वरूपन की भावना, श्री महाप्रभु और श्री गुसाँई जी के स्वरूप कौ विचार, श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की प्रागट्य-वार्ता, चौरासी वैष्णव तथा दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता पर 'भावना' (टीका), श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की प्रागट्य-वार्ता पर भावना, निजवार्ता तथा घरूवार्ता की भावनाएँ, चरण-चिन्ह की भावना (द्वितीय), सात स्वरूपन की भावना (द्वितीय), वसत-होरी, छप्पन-भोग,-छाक,-बीड़ी,-सेवा-नित्यलीला,-उत्सव,-वनयात्रा,—श्री नाथ द्वारा,-नवग्रह,-सातो बालकन के स्वरूप की भावनाएँ, श्री नाथ जी के चरण-चिन्ह वर्णन, भावना त्रय (मूल लीला), समर्पण-गद्यार्थ, रास-प्रसग, श्री गोकुलनाथ जी की बैठकँन के चरित्र, चौरासी भाषा-शिक्षा के पत्र, जप-प्रकार, प्रयात्मक भगवत्स्वरूप, निरूपण, दस मर्म, मार्ग-स्वरूप सिद्धांत, पुष्टिदृढाव, श्री स्वामिनी जी के चरण चिन्हो की भावना, द्विदलात्मक स्वरूप विचार, समर्पण गद्यार्थ (द्वितीय) और स्फुट वचनामृत।

श्री गिरिधरलाल जी कृत—शरण मन्त्र-गद्यार्थ तथा उत्सव-मालिका। श्री गोपेश्वर जी कृत—श्री हरिराय जी के 'शिक्षा पत्र' की टीका। श्री काका वल्लभ जी कृत—बावन वचनामृत। श्री यदुनाथ जी कृत—श्रीमुख की वार्ता। श्री ब्रजभूषण जी कृत—नित्य-विनोद, नीति-विनोद, श्री महाप्रभु तथा श्री गुसाँई जी के चरित्र, श्री द्वारिकाधीश जी की प्रागट्य-वार्ता। श्री व्रजराय जी कृत—नित्यसेवा-विधि। श्री द्वारिकेश जी कृत—श्री आचार्य महाप्रभुन कौ जन्म-प्रकरण। श्री द्वारिकेश जी (द्वितीय) कृत—श्री श्री नाथ जी आदि सात स्वरूपन की भावना, धनुर्मास की भावना, उत्सव भावना, भाव-संग्रह तथा श्री यमुना नाम की टीका। श्री द्वारिकेश जी (गुम्मु जी) कृत—सप्त स्वरूपोत्सव वार्ता। श्री गोपिकालंकार (भट्टू) जी कृत—श्री नाथ जी की सेवा-विधि। श्री ब्रजाभरण जी कृत—वल्लभाख्यान (गोपाल दास कृत) की टीका। श्री पुरुषोत्तम जी कृत—तृतीय घर की सेवा-विधि। श्री गिरिधर लाल जी कृत—एक सौ बीस वचनामृत। श्री गिरिधर लाल जी (द्वितीय) कृत—सज्ञान पट कौ ख्याल। श्री रमण लाल जी कृत—सेव्य-स्वरूपन की वार्त्ता, तथा प्रकीर्ण उपदेश। श्री बालकृष्ण लाल जी कृत—श्री द्वारिकाधीश जी की प्रागट्य वार्ता, श्री वल्लभाचार्य जी कौ जीवन-चरित्र, तथा पौराणिक प्रकीर्ण-रचना। श्री गोकुलाधीश जी कृत—पच्चीस वचनामृत तथा श्री गोवर्धन लाल जी कृत—बयालीस वचनांमृत" विशेष उल्लेखनीय '। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य गद्य-ग्रंथ भी मिले हैं, जो इस प्रकार हैं—"श्री हितहरिवंश जी कृत 'राधासुधा-निधि' की टीका, टीकाकार अज्ञात है। श्रीहित-चौरासी की 'टीका'—प्रेमदास कृत। 'व्यवहार पाद' अर्थात् याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्यवहार-पाद की टीका प्रियादास कृत। संस्कृत की 'तत्त्वज्ञान-तरंगिणी' की टीका, टीकाकार अज्ञात। उत्तर पुराण-भाषा खुस्याल दास कृत। पुण्याश्रव-कथा-कोष-भाषा दौलतराय कृत। कविता-कल्पतरु सागर कवि कृत।"

—ज० च०



ब्रजभाषा के नाटक

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

जिस युग में ब्रजभाषा का बोलवाला था, वह युग आधुनिक युग से ठीक पूर्व से चल कर हिंदी के जन्म-समय तक फैला हुआ है, किंतु इतने दीर्घकाल मे भारत की सास्कृतिक स्थित अत्यत क्षुब्ध रही। यही कारण है कि 'नाटक' जैसी उपयोगी सास्कृतिक और साहित्यिक प्रवृत्ति का इस दीर्घ युग में यथार्थतया एकात-अभाव रहा। ऐसी रचनाएँ तो मिलती हैं, जिनको नाटक नाम दिया गया है, इतिहासकारो ने ऐसी रचनाओ मे 'निवाज' कृत—'शकुतला नाटक, 'हृदयराम', 'मनजू' तथा 'राम' कवि कृत—'हनुमन्नाटक', ब्रजवासीदास तथा महाराज विश्वनाथ सिंह कृत— 'आनद रघुनदन नाटक', गणेश कवि कृत—'प्रद्युम्न नाटक', इच्छादास कृत—'गगा नाटक, जसवतसिंह (जोधपुर), ब्रजवासी दास और आनद कवि कृत—'प्रबोधचद्रोदय नाटक', रघुराम नागर कृत—'सभासार नाटक', बनारसीदास कृत—'समयसार नाटक', कीर्त्तिकेशव कृत—'सखी-समाज नाटक', प्राण चौहान कृत—'रामायण महा नाटक', मेघनाथ कृत—'यशवर्णन नाटक', देव कवि कृत—'देव-माया प्रपच नाटक' और प्रभावती नाटक इत्यादि का उल्लेख मिलता है, पर इनमें से अधिक इस लिए नाटक-नाम से अभिहित किए जाते हैं कि वे सस्कृत के उसी नाम के नाटको के अनुवाद है, जिनको इस नये रूप मे ब्रजभापा के प्रबध-काव्यो के अतर्गत ही समिलित किया जा सकता है[1]।

देव कवि कृत 'देवमाया-प्रपच नाटक अवश्य ही किसी सस्कृत नाटक अनुवाद तो नही, पर 'प्रबोधचद्रोदय' नाटक की शैली पर लिखा हुआ है, इसीलिए देव ने उसे नाटक-नाम दिया प्रतीत होता है। इसके सबध में मिश्र-बधुओ ने लिखा है—

> "यह नाटक नहीं है, यद्यपि नाटको की भाँति इसमें नट, नटी, नेपथ्य, प्रवेश प्रस्थान आदि का कथन है। इसे अर्ध नाटक-सा कह सकते है। इसमें छह अक है। आदि...."
>
> —दे० हिंदी नवरत्न पृ० २९८,

प्रभावती आदि शेष नाटको को कुछ-कुछ नाटक का रूप ग्रहण करते देखते है, यथार्थ नाटकीयता इनमे नही है, पर कुछ-कुछ रूप में नाटकीय शैली का प्रयोग इनमें हुआ है। नाटको का यथार्थ आरभ तो आधुनिक युग के जन्मदाता श्री भारतेंदु हरिश्चद्र से हुआ। भारतेदु जी ने अपनी पुस्तक 'नाटक' में लिखा है कि हिंदी का सबसे पहला नाटक उन्ही के पिता श्री 'गोपालचद्र जी' का लिखा 'नहुप-नाटक' था। गोपालचद्र जी का कवि नाम—'गिरिधरदास' अथवा 'गिरिधर' या गिरिधरन' था। यह हिंदी का प्रथम नाटक ब्रजभापा में लिखा गया है। कहते है कि श्री भारतेंदु जी ने भी प्रथम 'चद्रावली

[1] ब्रजभाषा में इनके अतिरिक्त और भी नाटक मिलते है, जैसे—गोविंदसिंह कृत—'चंडी चरित्र', सोमनाथ कृत—'माधव विनोद', लच्छीराम कृत—करुणाभरण नाटक, परमानंद कृत—'हनुमन्नाटक दीपिका (हनुमन्नाटक का ब्रजभाषा में अनुवाद), हरीराम कृत—'जानकीराम-चरित नाटक', अक्षयरप्रशाद शाही कृत—'पुरश्री नाटक', गौरीशकर (सुधाकर) कृत—"विश्वविलास नाटक', केदारनाथ कृत—'प्रहलादचरित्र नाटक', भक्तराम (जैपुर) कृत—'मिथ्यत्व-खंडन नाटक' और शिवनाथ कृत—'रोशन नाटक।

नाटिका' ब्रजभाषा में ही लिखी थी, जो आज नहीं मिलती है और उसका अभिनव रूप ब्रजभाषा और खड़ी बोली में ही मिलता है[1]।

गिरिधरदास जी के 'नहुष-नाटक' का केवल एक अंक मिलता है[2]। यह प्रथम अंक 'कवि वचन सुधा' के प्रथम वर्ष के अंक में छपा था। इसका रचना-काल जब भारतेंदु जी नव वर्ष के थे, अर्थात् सन् १८४१ ई० कहा जाता है। अस्तु, नहुष-नाटक ब्रजभाषा का ही नहीं हिंदी का भी प्रथम प्रख्यात नाटक का रूप प्रस्तुत करने के लिए उसका प्राप्त कुछ अंश यहाँ प्रकाश किया जा रहा है।

॥ श्री ॥

नहुष-नाटक

"महाकवि 'गिरिधरदास' उपनाम—बाबू गोपालचंद्र कृत"

प्रस्तावना

(दोहा)

नागर नट पटपीत-धर, जिमि घन बिज्जु-बिलास।
भव-आतप कौ भय हरत, होत सुखी सब दास॥

(मंगलाचरणांतर नांदी—कवित्त)

मेचक बरन बर, जीवन निवास धर, बकुलनि की लसत सुंदर परम दाँम।
सहित पर भंजन की गति धरें अवर बिराजैं, प्रगटावैं तिय-तन काँम॥
हिय हरखित महा सारँग धनुष धरैं, बरसत सर पर पूरे जन अभिराँम।
'गिरधरदास' देखि नीलकंठ नृत्य करैं, ऐसौ बसौ आइ मेरे मन कोऊ घनस्याँम॥

(अमिच—सवैया)

नित गावत सेस, महेस, सुरेस से, पावत बांछित भृत्य औ भृत्या।
सुति कीरति विस्तुत जासु महा, जग-पातक बृंदनि पातक कृत्या॥
भव तारन को 'गिरधारन' जा मधि, आपुने सो अधिकी धरी सत्या।
वर आँनद-धाँम सुधाँम गुनाकर,-स्याँम कौ नाँम हरै सब हत्या॥

(नाद्यते सूत्रधार)

सूत्र०—सब कोऊ मौन ह्वै हमारी बात सुनो। बिबिध बिबुध बृंदारक बृंद-बंदित, बृंदावन-धन्य ब्रजवनिता-वनजवनी बिभाकर, बंसीधर बिधु-बदन-चकोर चारु चतुर चूरामनि चरचित चरन परमहंस प्रणमि. मायाबाद-बिध्वंसकर श्रीमद् वल्लभचार्य वंस अवतंस श्री गिरिधर जी महाराजधिराज नें मोकों आज्ञा दीनी है, सो में 'गिरिधरदास' कृत 'नहुष-नाटक' आरंभ करो हो।

(तब आगें बढि हाथ जोरि कें .)

इहाँ सब सुभ सभ्य सभाध्यच्छ अपने-अपने पच्छन के रच्छन में परम विचच्छन दच्छ हैं, इनो समच्छ इह ढिठाई है, तथापि कृपा करि सब सुनो।

(छप्पय)

जदपि मात-पितु भ्रात, थिग्य गुन-गन अधिकाई।
तदपि तोतरे बोल, सुनत सिसु के मन लाई॥

1. भारतेंदु जी के बाद 'गोप कवि' ने जो भारतेंदु जी के अभिन्न मित्र थे, इसका अनुवाद ब्रजभाषा में किया था वह भी आज नहीं मिलता।

2. सुनते हैं 'नहुष-नाटक' संपूर्ण काँकरोली (मेवाड़) के 'सरस्वती-भंडार' में सुरक्षित है।

जदपि प्रकासक आप, सूर जग और न दूजा ।
तदपि भक्त जो दीप देति, तिहि मानत पूजा ।।
तिमि जदपि सबै पडित सुघर, गुन बिन कोउ न लेखिऐ ।
यह तदपि हमारी नाटच-विधि, चित दैकें अब देखिऐ ।।

(तव पारिपार्श्वक)

(भाव) अहो, तुम्हारी बात सो मेरे गात में आनद नाहिं समात है। तासो कोन श्री गिरिधर जी महाराज हैं सो बतावौ ।

सूत्रधार (सानद)—

अहो, तुमनें नाहिं जाने। (तव सामुहें देखि कें) वे सिंहासन पैं सूरज समान तेजमान, चद-समान सीतल सुभाव, मगल समान मगल नाम, बुध-समान बुध, गुरु-समान गुरु, कवि-समान कवि, सप्तम ग्रह सो रहित बिराजें हैं।

(छप्पय)

स्तुति-उद्धारक मीन, कमठ निरजर कुल जयकर ।
महि-उद्धरैंन बराह, भक्त भय-हर नर-नाहर ।।
असुर मोह कर बटुक, दुष्ट-मद-हरन परसु-धर ।
धरम धीर रघुबीर, सीर-धर ब्रज-जन प्रियवर ।।
बुध सदाँ अहिंसा रति धरन, कलकी कलि-कलमस-हरैंन ।
गिरधर-सम दस वपु धर प्रगट, 'गिरधरलाल' कृपा-करैंन ।।

पारिपार्श्वक—तुमने जैसें कृपा करि श्रीमहाराजाधिराज कौ दरस करायौ, तैसें अब कृपा करि नाटक हू दिखानो चाहिऐ ।

(सवैया)

थावर, जंगम सृष्टि रची विधि, न्यारी करी सबहीन की रीतें ।
तामें सिरोमनि मानव कौ तन, बेदहू गावत जा गुन-गीतें ।।
बिद्या बनी सिगरी इहि हेत, बिचारिकें जा सुख-सार प्रतीतें ।
सोई घरी अहै कंचन की धन, जो रस की चरचा-मधि बीतें ।।

सूत्रधार—घर सो सुघर घरनी को बुलाइ कें यामें प्रवृत्त होउ हो। (यें कहि नेपथ्य की ओर देखिकें कह्यौ) अरी, यहाँ आउ ....

(तव प्रविसि के नटी कही)

आर्यपुत्र, कहा आग्या ....।

सूत्रधार—(दोहा)

जा बिधि राजा नहुष नें, कियौ स्वर्ग कौ राज ।
सो नाटक चाँहत करन, हुकम कियौ महाराज ।।

नटी—जो आज्ञा ।

सूत्रधार—सो तू सावधान ह्वै कें कारज को साधि ।

(इतने में नेपथ्य मे)

अरे सैलूषाधम,—

(सवैया)

जथा स्तुति में बरन्यो बिसतार, तथा हयमेध करे सतवार ।
हजारन पुन्न कै पाप दहे, 'गिरिधारैंन' पूंजे अनेक प्रकार ।।

मिलै तब आसन इंद्र कौ स्वर्ग में, आइ करें सुर वृंद जुहार।
कहुँ तिहिं बैठिहुँ मानव छुद्र, अरे नट पापी, गँवार-लबार ।।

सूत्रधार (करन दैकें)—

(सवैया)

गौर सरीर अबीर से लोचन, मस्तक में कसमीर बनाएँ।
सीस किरीट मफीस लसैं, विवि कुंडल कांचन रत्न जराएँ ।।
श्री 'गिरिधारन' के बल सों, बधि बृत्तासुरै सब देत नसाएँ।
मो बतियाँ सुनि कोप भरो, सुर-नायक आवत बज्र उठाएँ ।।

(दोहा)

यह हम सों सब विधि बड़ौ, निरजर कुल कौ छत्र।
अब इत रहिबो उचित नहिं, तासों चलु अन्यत्र ।।

(यैं कहि दोऊ निकरे)

इति प्रस्तावना

प्रथम अंक

स्थान—राजभवन

(तब प्रविस्यौ इंद्र)

अरे सैलूषाधम, (यह कहत फिरन लाग्यौ) इतने में नेपथ्य में....

(सवैया)

देखहु तौ बिपरीतता काल की, जो करतार हू अन्यता ठानें।
ऊँचौ सिंघासन देइ अघी कहुँ, धर्म-धरै तिहिं दारिद-सानें ।।
माया बली 'गिरिधारन' की, जिहि नैन सहस्रन सों पैहचानें।
काटि कें ब्राह्मन-मस्तक कों, यह आपुने को धरमातमाँ मानें ।।

इंद्र (सभय करन—कान दैकें)—

(कवित्त)

भलौ हू करत हाइ बिपति परत सीस, यह बिपरीति रीति विधि की कुचाली-सी।
लोक-सोक हरयौ हरि असुर की आसु तऊ, कढी ब्रह्म-हत्या दीह साँस लेत व्याली-सी ।।
मेरे जाँन मेरी जाँन लैंन पाछें आवति है, सूल लिएँ कोप भरी प्रलै-कपाली-सी।
कुमति, कलंकिनि, कुचालिनि, कुचैल, कूर, काल-सी कराल, कालरात की-सी, काली-सी ।।

(यह कहि चल्यौ, तब इंद्र आभूगत)

(दोहा)

एक बार मारयौ गुरु-हिं, तब विधि मारयौ ताप।
अब दूजी हत्या लगी, हा, किमि जैं है पाप ।।

(यह कहि निकस्यौ, तब प्रविसी ब्रह्म-हत्या)

ब्रह्म-हत्या—अरे, निज मुख निज प्रसंसक नृसंस, ब्राह्मन-बध करनवारे, कहाँ भाग्यौ जाय है।

(यैं कहि ललित नृत्य कियौ, फेरि निकरी)

(तब प्रविसे जयंत, कार्त्तिकेय)

जयंत—(सवैया)

मैं जननी घर बैठौ हुतो, तित दूत नें आइ हवाल उचारयौ।
नरमदा-तीर भयौ अति संगर, काल नें दानव देव सँघारयौ ।।

श्री 'गिरिधारेन' के परताप सो, बासव वृत्र कौ प्रान निकारयौ ।
जानत ता कहँ आप अहो, सो कहौ किमि तात महारिपु-मारयौ ।।

कार्तिकेय (साचरज)—दोहा

सुरपति-सुर यह वचन सुनि, अचरज मोहि बिसाल ।
कहा न तुम रँन में रहे, जो पूंछत हौ हाल ।।

जयंत—(सवैया)

जा दिन सो अरि के भै भागि कें, त्याग कियौ घर मेरे पिता नें ।
ता दिन सो जननी नें तज्यौ सब, धारे हिऐं 'गिरिधारेन'-ध्यांनें ।।
सेवन तासु लियौ हम प्रीति सो, सामा प्रसून-फलादिक आँनें ।
सगर में नहिं संग रहे, कछू तासो न ता के हवालहिं जाँनें ।।

कार्तिकेय—जब वृत्रासुर के भय सो सुर सब भागे, तब छीरनिधि के निकट आइकें यह कहँन लागे ।

(छप्पय)

जै रमेस, परमेस, सेस, साँईं सुरेस हरि ।
जै अनंत, भगवंत, संत बंदित दानव-अरि ।।
जै दयाल, गोपाल, लाल प्रतिपाल दयाकर ।
जै अनन्य गति धन्य, धरमधुर पंचजन्य-धर ।।
वृंदारक वृंद अनंदकर, कृपाकंद भव-फंद-हर ।
हरिचंद्र मनोहर रूप धर, जै मुकुंद दुख-दंद दर ।।

जयंत (सानंद)—तब कहा भयौ ।

कार्तिकेय,—जब देवतांन नें ऐसी बीनती करी, तब आकासबांनी भई ।

(दोहा)

सब सुर जाहु दधीच पैं, माँगहु तिन कौ गात ।
तासु अस्थि कौ कुलिस रचि, करहु वृत्र कौ घात ।।

जयंत (सानंद)—तब कहा भयौ ।

कार्तिकेय,—यह सुनि प्रनाम करि देवता दधीच पैं जाय हाथ जोरि कहन लागे . .

(दोहा)

जय मुनि-मंडन धरम धर, पर उपकारक आर्ज ।
दीनबंधु करुना-सदँन, साधहु सुर कौ कार्ज ।।

जयंत,—तब, तब,

कार्तिकेय,—ऐसें सब के वचन सुनि दधीच बोले—

(बरवै)

जौ मोसो जाँचत सुर, सहित सनेह ।
तौ मन-इच्छित दैहौ, मम व्रत एह ।।

जयंत (सानंद)—तब, तब,

कार्तिकेय,—ऐसे मुनि के वचन सुनि प्रसन्न होइ देवता बोले . . . .

(दोहा)

वृत्रासुर-भय-भीत हम, माँगत तुम्हरौ गात ।
वज्र विरचि कें अस्थि कौ, मरि हैं तासौं घात ।।
जदपि देह सन्मान सबहि, चाहत जासु जग-जेत ।
तदपि धरमधुर धरन कौ, नहिं कछु मन संदेह ।।

जयंत,—तब, तब,

कार्त्तिकेय,—ऐसे देवतान के वचन सुनि खिन्न मन होइ कें (मुनि) बोले....

(सवैया)

देखहु तौ जग-जीव की रीति-हिं, आपुने-ही हित सो हित ठानें।
देवहु भूलि रहे इहि में, तब और की बात कहा कहि छानें॥
का करतव्य, निसेध कहा, 'गिरिधारन' कोऊ नहीं पैहचानें।
स्वारथ में मन दौरि रह्यौ, परमारथ ता सो अकारथ जानें॥

(दोहा)

निज अरि कारन हेत तुम, अस्थि चहूँत मम देव।
कैसौ दुख मोहि मरँन कौ, सो नहिं जानत भेव॥
सक्र चाँप टंकारि कें, हने अनेकॉन पत्र।
तिनहिं सहत दौरत भयौ, महाकाल-सम बृत्र॥

(छप्पय)

तब सुरपति गहि-गदा, असुर-दिसि भए चलावत।
ताहि पकर कर बाँम, तजी लखि कें ऐरावत॥
तासो ह्वै कें बिकल भयौ गज, भूतल आवत।
चेत खोइ, बल गोइ, तुरत गिरि परयौ महावत॥
सुरनाथ महा संभ्रम सहित, उतरि सँमर ठाढे भए।
सो लखि अमरँन हा, हा कियौ, उर अति ही चिंता-मए॥

जयत (सकप)—तब,

कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

तब मातलि लायौ सु रथ, सुंदर अर्व लगाइ।
ता पै बैठ सु पर्व-पति, भिरे बृत्र सो जाइ॥

जयंत—तब, तब,

कार्त्तिकेय,—

(अरिल्ल)

बृत्रासुर सह-कोपि, सूल कर धारि कें।
धायौ सुरपति-ओर, घोर ललकारि कें॥
सुनासीर, रनधीर, बीर तिहिं डाटि कें।
कुलिस त्यागि सह सूल दियौ भुज-काटि कें॥

जयंत (सानद)—तब, तब,

कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

तब दूजे कर परिघ गहि, हन्यो बासवहिं झूँमि।
ता प्रहार तें हाथ सो, कुलिस गिरयौ रन-भूँमि॥

(सोरठा)

लाज सहित सुर-राज, वज्र उठावन नहिं चहैं।
तबहिं दनुज-सिरताज, बिहँसि वचन बोलत भयौ॥

(छप्पय)

देह करम-आधीन, चलै ताके अनुसारहिं ।
तासो बरबस जीव, लहै सुख-दुख ससारहिं ।।
और चाह अनुसरै, काज तहँ औरहि जोवै ।
कोटि जतन कोउ करौ, जोन होनी सो होवै ।।
द्वै करत जहाँ संगर तहाँ इक जीतत इक मरत ध्रुव ।
यह गुनि बुध इहि चिंतत नहीं, अति असार ब्यौहार भुव ।।

(कवित्त)

जेते जग-भोग जामें भूलि रहे लोग, ते करहिं सब रोग, कहि सोग कै बताइऐ ।
करम कौ गेह पंचभूत मई देह, नासमान गुनि एह नेह काहे को बढ़ाइऐ ।।
'गिरिधरदास' कोऊ काहु कौ न संगी स्वास करि बिसवास बृथाँ त्रास उपजाइऐ ।
दारा,सुत बिरत अहैं सबहिं अनित तासो,गुनि निज हित चित स्याँम-पद लाइऐ ।।

(दोहा)

तातें तुम भय लाज तजि, बज्र उठावहु हाथ ।
जो भवितब्य सो होइ है, समर करहु मम साथ ।।

जयत (साचरज)—वाह,
कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

वृत्रासुर के बचन सुनि, चकित होइ सुर-राइ ।
सत्रुहि बहुत प्रसंसि कें, कहत महत हरखाइ ।।

(सवैया)

लहि कें यह तामस दानव कौ तन, जामें बिबेक न नेंक रहै ।
मुनि-सी बर बात बखाँनत हौ, गुनि कें जन जो भव-ताप दहै ।।
'गिरिधारँन' भक्ति-प्रभाव महा, कहिऐ किमि जा जस बेद कहै ।
हरि-भक्त अनन्य मै गन्य सदाँ, तुम्हरे सम धन्य न अन्य अहै ।।

जयत (मानद)—तब,
कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

इमि कहि कुलिस उठाइ कें, प्रमुदित चित सुरनाथ ।
परिघ सहित असुरेस कौ, काट्यौ दूजौ हाथ ।।
तब निज बदन पसारि कें, वृत्रासुर अरिकाल ।
बाहँन सहित सुरेस को, लील गयौ बिकराल ।।
लखि सहसा सहसाच्छ कहँ, निगलत समर मँझार ।
देवँन हा-हाकार किय, असुरन जै-जैकार ।।

(छप्पय)

असुर-उदर में सुरप-सहित धसि गए पुरंदर ।
जैसें कोउ जाइ, स्याम-गिरि-कंदर-मंदर ।।
कृष्ण-कवच परभाव, भयौ कछु कौ प्रभाव नहिं ।
काटि कुलिस सौं कुक्षि, कढ़े सुरपति ता छन महिं ।।

जिमि फारि महातम निकर को, निकरत नभ में नखत-पति ।
तिमि कढ़त भए अरि-अंग सौं, सुरपति वर भट विमल मति ।।

जयंत (सानद)—तब, तब,

कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

तब निजकर में कुलिस गहि, रोस सहित सुरनाथ ।
कंठ वरस में काटि कें, महि पारयौ अरि-माथ ।।

(कवित्त)

वृत्रासुर-धर जबै धरनी पै आइ गिरयौ, थर-थर हाले तीन लोक नव खंड ।
मेरे जाँन स्याँम ने अपानी सता धरी लाइ, तासो बची सृष्टि प्रलैकाल ना भयौ अखंड ।।
'गिरिधरदास' ना तौ कोन जानें कहा होतो, पाइकें प्रहार महाकाल दंड सौ अखंड ।
छूटि जातो गज-प्रांन, टूटि जातो कौल-रद, कूटि जातो सेस-फन, फूटि जातो ब्रह्म-अंड ।।

(दोहा)

वृत्रासुर की ज्योति कढ़ि भई व्योम में लींन ।
लखि व्याकुल भागे असुर, सुरँन नगारे दींन ।।

जयंत (सानद)—पाप कटयौ, पाप कटयौ,

(दोहा)

अब मोहि उपजी चित्त में, पितु-दरसँन की चाह ।
ते कित, देहु बताइ मोहि, निरजर-सेँना-नाह ।।

कार्त्तिकेय,—

(दोहा)

वृत्रासुर के नास लौ, हम देखे अमरेस ।
अब तिन्हको जाँनत नहीं, अहैं कोन से देस ।।

(इतने मे मातलि आइ दोउँन के पाँइ-परि ठाढ़ौ भयौ)

जयंत,—

(दोहा)

कहि मातलि अरि-मारि कें, कित राजत सुरराज ।
मै तिनकौ दरसँन चहत, भयौ सिद्ध सब काज ।।

मातलि,—

(दोहा)

वृत्रासुर को मारिकें, द्विज भय हत्या पागि ।
हम नहिं जानत कोन थल, गए देव-पति भागि ।।

जयंत,—

(दोहा)

सत्रु मरयौ, हत्या लगी, मनु दुहरांनो रोग ।
अब चलि तिनको खोजिकें, हरिऐ कोउ विधि सोग ।।

कार्त्तिकेय, मातलि,—सत्य, सत्य,...

(इमि कहिकें सब निकरे)

इति श्रीनहुष-नाटक के प्रथमांक

॥ श्रीः ॥

श्री चंद्रावली-नाटिका

(भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र कृत)

दूसरा अंक

स्थान—केरांन कौ बॅन

समँ सझा कौ, कछुक बादर छाए भए है
(बियोगिनी बनीं भई श्रीचंद्रावलीजी आवें है)

(एक बृच्छ के नीचे बैठ कें) वा प्यारे, वा . तुम्ह और तुम्हारौ प्रेंम दोनो बिलच्छॅन, और निसचें बिनां तुम्हारी कृपा के याकौ भेद कोऊ नांहि जांन सकै। जांनें कैसें? सभी तौ वाके अधिकारी नांहि है। जांनें जैसौ समझौ वानें वैसौ-ही मांन राख्यौ है। हा, यै जो तुम्हारौ अखड परमानदमैं प्रेंम है और जो ग्यांन-बैराग को तुच्छ करि परँम सांति दैवे वारौ है वाकौ सरूप कोऊ नांहि जांनें सब अपने-अपने सुख में और अभिमांन में भूले भए है। कोऊ काहू स्त्री वा पुरुष सो, वाकौ सुदर रूप निहारि कें वासो चित्त लगानो और वासो मिलवै के अनेक जतॅन करनो याही को प्रेंम कहे है और कोऊ ईस्वर की बडी लंबी-चौरी पूजा करिबे को प्रेंम कहे है—पर प्यारे, तुम्हारौ प्रेंम तौ इन दोनोन सो बिलच्छॅन है, क्योकि यै अमृत तौ वाही को मिलै है जाहि तुम्ह आप देउ हौ। (कछु ठैंहॅरि कें)—हाइ कोन सो कहो और कहा कहो, क्यो कहो, कैसें कहो, कोन सुनें औरु सुनें हूँ तौ कोन समझें, हाइ ....

(सवैया)

जग जांनत कौंन है प्रेंम-बिथा, किहिसो चरचा या बियोग की कीजिऐ।
पुनि को कही मांनें, कहा समझें कोऊ, क्यो बिन बात की रारहि लीजिऐ॥
नित जो 'हरिचंद' जू' बीतै सहै, बकिकें जग क्यो परतीतहि छीजिऐ।
सब पूंछत मोन क्यो बैठि रही, पिय प्यारे कहा इन्हें ऊतर दीजिऐ॥

क्योकि—

मरॅम की पीर न जांनत कोइ।
कासो कहो कौंन पुनि मांनें, बैठि रहो घर रोइ॥
कोऊ जरॅन न जांननहारौ, बे भरमी सब लोइ।
अपनी कहत सुंनत नांहि मेरी, किहि समझाऊं सोइ॥
लोक-लाज कुल की मरजादा, दींनीं है सब खोइ।
'हरीचद' ऐसें हि निबहैगी, होंनी होइ सो होइ॥

पर प्यारे, तुम्ह तौ सुंनवेवारे हौ, यही तौ अचरज है कि तुम्हारे होत मेरी यै गति होइ। प्यारे, जिनके 'नाथ' नांहि होइ वे 'अनाथ' कहा में है (आँखिन सो अँसुवा गिरें है)। (कछु ठैंहॅरि कें) प्यारे, जो यैही गति करनी ही तौ अपनायौ क्यो?

(सवैया)

पैहलें मुसकाइ, लजाइ कछू, क्यो चितै मुरि मो तॅन छाँम कियौ।
पुनि नैंन लगाइ बढ़ाइ कें प्रीति, निबाहॅन कौ क्यों कलांम कियौ॥
'हरिचंद' भए निरमोही इते निज नेह कौ यों परनांम कियौ।
मन-मांहि जो तोरॅन-ही को हुतौ, अपनाइ कें क्यों बदनांम कियौ॥

६३

प्यारे, बड़े निरमोही हौ। हाइ तुम्हें मोह हू तौ नाँहिं आवै ? (आँखिन में अँसुवा भरि कैं) अरे, इतनो तौ वेहू नाहिं सतावें हे जो पैहलें सुख देंइ है, तुम्ह कोन से नीति ते इतनौ सताइ रहे हौ ?

(सवैया)

जिय सूधी चितोन की साधें रहीं, सदा बातेंन में अँनखाइ रहे।
हँसि कें 'हरिचंद' न बोले कभू, जिय दूरि-ही सो ललचाइ रहे॥
नहिं नेक दया उर आवत है, करिकें कहा ऐसे सुभाइ रहे।
सुख कोन-सौ प्यारे दियौ पैहलें, जिहि के बदलें यो सताइ रहे॥

हाइ, तुम्हें तो लाज हू नाहिं आवै, लोग तौ सात पेड संग चले पै जैंनम-भरि वातौ निरवाह करे है और तुम्ह , नित्त की प्रीति कौ हू निरवाह नाहिं करौ ? अरे, तुम्हारौ तौ ऐसौ सुभाव नाहिं हो, यै तौ नई बात है, यै नई बात है या तुम्ह आप नए है गए हौ, भला कछू तौ लाज करौ.

(सवैया)

कित को ढरिगौ वौ प्यार सबै, क्यों रुखाई नई यै साजत हौ।
'हरिचंद' भए हौ कहा के कहा, अँनबोलिबे में नहिं लाजत हौ॥
नित कौ मिलनो तौ किनारें रह्यौ, मुख देखत ही दुरि भाजत हौ।
पैहलें अपनाइ बढ़ाइ कें प्रीति, न रूसिबे में अब लाजत हौ॥



ब्रजभाषा : साहित्य-शोध

श्री जानकीनाथ सिंह मनोज

ऊपर दिये हुए शीर्षक का अर्थ सदिग्ध है। इस कारण यह आवश्यक प्रतीत होता है कि शीर्षक-सबधी कठिनाई को थोडा स्पष्ट कर दिया जाय, जिससे लेख और शीर्षक मे पूर्ण साम्य उपस्थित हो जाय, अन्यथा भ्राति होने की सभावना बनी ही रहेगी। प्रथम ब्रजभाषा-साहित्य के विषय मे कुछ कहा जाय, इससे शोध शब्द की व्याख्या कर लेना उचित है। 'शोध' शब्द प्राय सुधार करना, शुद्ध करना, ठीक करना इत्यादि के अर्थ मे लिया जाता है, परतु प्रयोग-सदर्भ से अनेक अर्थ हो सकते है, जैसे—परीक्षा, अन्वेषण, खोज, अनुसधान इत्यादि। पहले तो यही प्रश्न रहा कि उक्त शीर्षक के उपयुक्त कौन सा अर्थ लिया जाय। यदि प्रथम अर्थ लिये जायँ तो हमें केवल उसी सामग्री का उल्लेख और विवेचन करना होगा जो सपादित है और उसमें भाषा एव पाठ के स्वरूपो के सबध में निश्चित ढग से व्याख्या देनी होगी। इस प्रकार की सामग्री इतनी स्वल्प है और साथ ही साथ दृष्टिकोण भी इतना अवैज्ञानिक है कि इसके द्वारा इस भाषा के मूलस्वरूप का निर्धारण करने के लिये कुछ वर्षो का परिश्रम और समय चाहिये। दूसरा अर्थ लेख के लिये अधिक उपयुक्त जान पडा। अतत यह निश्चित किया गया कि इन दोनो का समन्वय कर दिया जाय।

ब्रजभाषा-साहित्य पर भी विचार कर लेना समीचीन है। ब्रजभाषा के दो रूप है—एक तो टकसाली शुद्ध ब्रजभाषा, जिसका प्रयोग हमारे ब्रज-प्रदेश के कवियो ने अपनी सुमधुर रचनाओ मे किया है और दूसरा ब्रजभाषा—काव्य-भाषा वाला वह रूप जिसको ब्रज में न रहने वाले अथवा बहुत दूर बसने वाले कवियो ने काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण किया और अपनी प्रखर प्रतिभा और काव्य-कौशल से अपनी रचना का समुज्ज्वल प्रकाश प्रदान कर साहित्य-गगन को जगमगा दिया। ब्रज-भाषा ने हिंदी-साहित्य में काव्य-भाषा के रूप में लगभग ३५० वर्ष एकछत्र राज्य किया, क्योकि ब्रजभाषा की परपरा मे महाकवि पद्माकर ही अतिम कवि थे।[1] पद्माकर का समय स० १८९० तक है, इसके बाद से जो कवि 'ब्रजवाणी' के पुजारी हुए और अब भी है, उनपर भाषा की बदलती हुई धारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित है। भारतेंदु बाबू 'हरिश्चन्द्र' ने जब देखा कि ब्रजभाषा के परिष्कार की आवश्यकता है, तो उन्होंने रूढियो से चले आते और जनता की रुचि और बुद्धि के बाहर रहने वाले शब्दो को व्यवहार से दूर कर दिया। इस परिष्कार से नवीन भावनाओ और नवीन योजनाओ के शब्दो के प्रयोग से उस काल में ह्रास की ओर जाती हुई ब्रजभाषा एक बार फिर चमक उठी। फिर भी भारतेदु के समय में खडीबोली अपना पदार्पण काव्य-क्षेत्र मे धीरे-धीरे कर रही थी। उनके समकालीन विद्वान् उस भाषा में अपनी रचना भी करने लगे थे। दिन पर दिन ब्रजभाषा-कवियो की वह अभिवृद्धि नही हो रही थी, जितनी कि नवीन भाषा की हो रही थी। नयी भाषा को लोग साहित्यिक-स्वरूप देने के लिये लालायित थे। गद्य के लिये ब्रजभाषा की अनुपयुक्तता मान्य हो गई थी। भारतेदुजी ने स्वय ही गद्य के लिये खडीबोली को अपनाया था। यह परिवर्तन स० १८९० के उपरात दृष्टिगोचर होता है। तात्पर्य यह कि ब्रजभाषा का काव्य-क्षेत्र में स० १५५५ से लेकर स० १८९० तक

१. ब्रजभाषा का रीति-काल—पद्माकर जी पर ही समाप्त नहीं होता है, अपितु वह 'नवीन' और 'श्री ग्वाल' जी पर समाप्त होता है।

एकात प्रभाव बराबर बना रहा। मै 'सूरदास' का रचनाकाल स० १५५५ से ही मानता हूँ। सूरदास और महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य, जन्मोत्सव एव साम्प्रदायिक जनश्रुति के अनुसार समवयस्क थे। सूरदास की दीक्षा का समय स० १५६१ के बाद पडता है। महाप्रभु से दीक्षा लेने के समय 'स्वामी सूरदास' गायक रूप से प्रसिद्ध थे। दीक्षा के अनंतर ही उनके 'सागर' का निर्माण हुआ। आचार्य महाप्रभु के गोलोकवासी होने पर उनके पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथ जी ने गद्दी को सुशोभित किया और इन्होने ही 'अष्टछाप' की स्थापना की, जिसमें सप्रदाय के सर्वोत्तम आठ 'कविरत्न' थे। उस समय तक अष्टछाप के कवि प्रचुर मात्रा में अपनी काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत कर चुके होगे। अत ब्रजभाषा-साहित्य का वास्तविक प्रारभ हम स० १५६० के बाद से मान सकते है।

ब्रजभाषा-साहित्य इतना अधिक है कि उसका अभी तक पूर्ण रूप से मूल्याकन नही हो सका है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि साहित्य का यह अपार भडार बिना अन्वेषण के अभी तक बहुत कुछ यो ही अधकार में पडा हुआ है। इसका उत्तरदायित्व हमारी विगत सरकार पर भी था। साहित्य-सबधी खोज के सबध में कुछ इतिहास पर भी दृष्टि डाल लेना चाहिये। साहित्य-सृजन एव अध्ययन का कार्य बराबर प्राचीन काल से चला आ रहा था और यह एक प्रकार से जीविकोपार्जन का साधन भी था। हमारे देशी नरेशो के पुस्तकालयो में जो प्राचीन कवियो की रचनाओ की पोथियाँ (हस्त-लिखित) विद्यमान है वे उन नरेशो के विद्या-प्रेम एव विद्या-व्यसन का फल है। राजाओ से पुरस्कार पाने के लिये ब्राह्मणो व अन्य विद्वानो व कवियो द्वारा गण्यमान कवियो की रचनाओ की प्रतिलिपियाँ होती रहती थी। उनके द्वारा दो कार्य पूरे होते थे। एक तो कुछ इस लिये भी लिखी गई कि वे राजकुमारो के अध्ययन के निमित्त हो और कुछ इसलिये कि वे राजपुस्तकालय के कोष की वृद्धि करे। समय की दुर्दमनीय विनाश-शक्ति से रक्षित रहकर, इन पुस्तकालयो में विद्यमान कतिपय रत्न भारतीय मातृभाषा-सेवको के कण्ठहार बने है।

सर्व प्रथम हिंदी-कवियो के बारे में एक 'वृत्त सग्रह' स० १९४० में 'शिवसिंह' सेंगर ने 'सरोज' नाम से उपस्थित किया, जो अब 'शिवसिंह-सरोज' के नाम से प्रसिद्ध हो चुका है। सन् १८५७ ई० (स० १९१४) के बाद भारत मे अग्रेजी राज्य को स्थापित हुए २५ वर्ष हो चुके थे और वातावरण शांत हो चुका था। कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज में 'जान गिलक्राइस्ट' की अध्यक्षता मे देशी गद्य का निर्माण स० १८६० से ही प्रारभ हो चुका था। ध्यान देने की वस्तु है कि विद्रोह होने के कुछ समय पूर्व ही छापेखाने खुलने लगे थे और उनमें पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगी थी, कुछ स्कूल कालेजो के लिए और कुछ ईसाई-सप्रदाय के लिये, पादरियो-द्वारा। प्रेस प्राय मिशनरियो के ही थे। स० १९१४ के विद्रोह के पूर्व मिर्जापुर से 'शेरिंग' साहिब के सरक्षण एव सपादन में 'विद्वान्-सग्रह', 'भूलोक विद्या' आदि पुस्तकें स० १९१२ से लेकर १९१९ तक प्रकाशित हुई। इस उल्लेख से हम यह निष्कर्ष निकालना चाहते है कि उस समय लोगो और विदेशियो की भी अभिरुचि भारतीय भाषा में लिखने, प्रचार करने एव यहाँ के साहित्य की खोज करने की ओर हो रही थी। इस स्तुत्य प्रयास को भारतीय हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा प्राप्त थी और इसके लिये विद्वानो ने अनवरत परिश्रम किया। ऐसे ही समय 'सरोजकार' की कृति आगे आई। इसके ६ वर्ष के ही अनतर डा० सर जार्ज 'ग्रियर्सन' ने उसी प्रकार का कवियो का वृत्त-सग्रह—'माडर्न वरनाकुलर लिटरेचर आफ नार्दर्न हिंदुस्तान' नाम से स० १९४६ में प्रकाशित कराया। इसी समय सरकार की आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाने से 'नागरी प्रचारिणी सभा' काशी ने राज-पुस्तकालयो तथा अन्य लोगो के पास से उन हस्त-लिखित प्राचीन प्रतियो का पता लगाने का कार्य उठाया जो अब तक सहस्रो की सख्या में अधकार में अथवा अज्ञात रूप से पडी हुई थी। नागरी प्रचारिणी-सभा की खोज की रिपोर्टें ८ भागो में स० १९५७ से लेकर १९६८ तक (या सन् १९०० ई० से सन् ११ तक) प्रकाशित हुई।[1] इनमें बहुत बडी सख्या में अज्ञा

[1]. इसके उपरांत भी कई त्रिवर्षी रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी है।

कवियो की रचनाओ की अनेक प्रतियो एवं विविध पृथक् रचनाओ का पता तो लगा ही साथ ही साथ प्रकाश में न आये हुए सैकडो कवियो की बहुमूल्य रचनाओ के स्थान, विषय, उदाहरण आदि का पुस्तक की रूपरेखा सहित पता लगा। डा० ग्रियर्सन के ग्रथ, सरोज तथा खोज-रिपोर्टो आदि में दी गई सपूर्ण सामग्री का उपयोग करके स० १९७० में मिश्र बधुओ ने एक ग्रथ 'मिश्रबधु-विनोद' के रूप में प्रकाशित किया। इसमें न केवल प्राचीन लेखको के बारे में सग्रह किया गया, वरन् वर्तमान काल के लेखको को भी स्थान मिला। यह बहुमूल्य पथ-प्रदर्शक ग्रथ ४ भागो मे प्रकट हुआ। इस समय से कुछ पूर्व 'मिश्र-बधुओ' द्वारा 'हिंदी नवरत्न' नामक साहित्यिक समालोचना-युक्त ग्रथ हिंदी-ग्रथ-प्रसारक मडली खँडवा द्वारा स० १९६८ में प्रकाशित हो चुका था। इसके उपरात प्राचीन कवियो तथा उनकी रचनाओ को लेकर परिचय-रूप में हिंदी-साहित्य के इतिहासो का निर्माण प्रारभ हुआ, जिनमें से स्व० श्यामसुदरदास कृत 'हिंदी-रत्न-माला' स० १९६६ मे, 'मिश्रबधु-विनोद' मे पहले ही प्रकाशित हो चुका था। प० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा 'कविता-कौमुदी' के तीनो भाग स० १९७५ से लेकर स० १९८० तक प्रकाशित हुए। इसके अनतर आचार्य शुक्ल जी का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' और बाबू श्यामसुदरदास का वृहद् इतिहास—'हिंदीभाषा और साहित्य' स० १९८७ में प्रकाशित हुए। वास्तव मे ये कृतियाँ ऐसी है जिनमें कवि एव रचना-परिचय के साथ-साथ साहित्य-सबधी खोज और उसके वर्गीकरण को भी स्थान दिया गया। इन पुस्तको में रचनाओ का परिचय समालोचनात्मक है। इसके बाद तो हिंदी-साहित्य के इतिहासो की परिपाटी-सी चल पडी, जिनमे कुछ हेर-फेर के साथ वही बातें दुहरा-सी दी गईं, जो इन इतिहासो में थी।

ब्रजभाषा के साहित्य का पृथक् परिचय और उसके कतिपय मान्य कवियो की रचनाओ का वास्तविक स्वाद दिलाने का श्रेय श्री 'हरिप्रसाद जी वियोगी हरि' को है। उनका 'ब्रज-माधुरी-सार' ग्रथ स० १९८० मे ही प्रकाशित हो चुका था। ब्रजभाषा के साहित्य के शोध मे यह अमूल्य ग्रथ है। मिश्रबधुओ ने 'नवरत्न' लिखकर जो आलोचना की परिपाटी चलाई उससे हमारे साहित्य-सेवियो का ध्यान कवियो की रचना की परख की ओर गया और इस प्रकार का प्रयत्न प्रारभ हुआ कि प्राचीन कवियो की रचनाओ का अच्छा सुसपादित सस्करण विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ प्रकाशित किया जाय।

यहाँ पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि एक बार सपूर्ण सामग्री का दिग्दर्शन करा दिया जाय। ब्रजभाषा-साहित्य की सामग्री दो प्रकार की प्राप्त है—एक प्रकाशित और दूसरी अप्रकाशित। अप्रकाशित सामग्री की जो सूचनाएँ खोज-रिपोर्टो में उपलब्ध हुई, उसको लेकर जैसा ऊपर बताया गया है, हमारे हिंदी-साहित्य के इतिहासो का निर्माण हुआ। लेकिन इन इतिहासो मे भाषा-सबधी कोई वर्गीकरण नही किया गया। कवियो की रचनाओ की तिथि एव उनके जन्म, मरण, जीवन आदि के विवरण के रूप में समयानुसार वर्णन इन इतिहासो में रखा गया। यद्यपि ऐतिहासिक क्रम का वर्णन अपनी महत्ता अवश्य रखता है, पर अमुक भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन की उपादेयता पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक था। उदाहरण के लिये हिंदी की विविध बोलियो मे कालक्रम निर्धारित करके उनके साहित्य-सबधी अन्वेषणो का उल्लेख किया जाना चाहिए। इन इतिहासो के पढने मे किसी विशेष बोली में कितना साहित्य बना और उसके कौन-कौन से कवि थे, अथवा उस बोली में किस परिमाण मे साहित्य-रचना हुई, इस बात का पता नही लग सकता, जब तक कि पाठक स्वय बैठकर प्रत्येक कवि और उसकी रचना की पृथक् सूची न तैयार करे। हमारे इतिहास-लेखकों ने इस दृष्टिकोण को अपने ध्यान में नही रखा। अतएव आवश्यक है कि अब इस ढग पर नये साहित्य के इतिहास की रचना की जाय।

ब्रजभाषा-साहित्य का एक अलग ही इतिहास हो सकता है, जिसमें भाषा के कवियो एव उनकी रचनाओ का दिग्दर्शन कराया जा सकता है। साहित्य के इतिहास में जो अप्रकाशित सामग्री

है, उसका विस्तार पूर्वक यहाँ विवरण देना संभव नही है, क्योकि इन ३०० वर्षो के अंतर में कवियो की सख्या सहस्रो के ऊपर है। स्थूल रूप से यदि हम देखें तो प० रामचद्र शुक्ल के इतिहास में हिंदी के काव्य में प्रयुक्त विशेष भाषाओ के आधार पर तो वर्गीकरण नही मिलता, पर उसको देखने से यह पता लगा लेना कठिन नही है कि किस बोली में कितना साहित्य उपलब्ध है। यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो इस इतिहास से विविध शीर्षको के अतर्गत ब्रजभाषा के काव्य-निर्माता कवियो की सख्या १६४ ही आती है। इनका ब्योरेवार वर्णन कवि और उनकी रचना के साथ नीचे दिया जाता है। इसमें प्रकाशित और अप्रकाशित दोनो प्रकार की सामग्री समिलित है। प्रकाशित सामग्री का उल्लेख यथा सभव करने के पहले यह देखना है कि इन १६४ कवियो को शुक्ल जी ने विभिन्न शीर्षको में किस प्रकार दिया और फिर उनकी प्रकाशित और अप्रकाशित रचना का उल्लेख किया जायगा। ब्रजभाषा में रचना करने वाले कवियो की सख्या रामभक्त-शाखा मे ४, कृष्णभक्त-शाखा में १७, भक्तिकाल की फुटकल रचनाओ में १९, रीति-ग्रथकार कवियो में ५७, रीति-काल के अन्य कवियो मे ४७ और पुरानी धारा के कवियो में २० है।

राम-भक्त शाखा

१. तुलसीदास—"रामचरितमानस, रामलला नहछू, वैराग्यसदीपनी, बरवै रामयण, पार्वती-मगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञाप्रश्न, दोहावली, कवितावली, गीतावली, कृष्णगीतावली, विनय-पत्रिका (प्रकाशित)।"

२. स्वामी अग्रदास—"हितोपदेश, अपर बारतावानी, ध्यानमजरी, रामध्यानमजरी, कुडलियाँ, (अप्रकाशित)।"

३. नाभादास—"भक्तमाल (प्रियादास की टीका सहित प्रकाशित), राम-चरित्र-सबधी पद-सग्रह, अष्टयाम (अप्रकाशित)।"

४. हृदयराम—"हनुमन्नाटक (अप्रकाशित)।"

कृष्ण-भक्त शाखा

१. सूरदास—"सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी, बारहमासा या मासी, गोपालगारी, दानलीला, बिसातिनलीला, चीरहरणलीला, बाँसुरीलीला, मोरध्वजलीला, (प्रकाशित), सूरगीता, सेवाफल (अप्रकाशित)।"

२. नंददास—"पाँचो मजरी—अनेकार्थ,-मान,-रस,-विरह और रूप मजरी, भागवत दशमस्कंध (पूर्वार्द्ध २९ अध्याय तक), रासपचाध्यायी, सिद्धातपचाध्यायी, श्यामसगाई, रुक्मिणीमगल, सुदामाचरित्र, भँवरगीत और पदावली, अनेकार्थमजरी, मानमजरी (प्रकाशित) बाँसुरीलीला (अप्रकाशित)।"

३. कृष्णदास—"पद-सग्रह (कृष्णसागर अप्रकाशित)।"

४. परमानंददास—"परमानदसागर (प्रकाशित)[1], दानलीला, दधिलीला, ध्रुवचरित्र (अप्रकाशित)।"

५. चतुर्भुजदास—"द्वादश यश, भक्ति-प्रताप, हितजू की मगल पद-सग्रह (अप्रकाशित)[2]।"

६. छीतस्वामी—"पद-सग्रह (अप्रकाशित)।"

७. कुंभनदास—"पद-सग्रह (अप्रकाशित)।"

८. गोविंद स्वामी—"पद-सग्रह (१५२ पद, प्रकाशित)।"

१. परमानंद-सागर जयपुर से प्रकाशित हुआ कहा जाता है, पर वह कहीं देखने में नहीं आया। दान और दधिलीला एक ही पुस्तक के दो नाम हैं। ध्रुवचरित्र इन परमानंददास का नहीं किन्हीं और का है।

२. द्वादश यश, भक्ति प्रताप और हितजू को मंगल ये पुस्तकें अष्टछाप के चतुर्भुजदास की कृतियाँ नहीं है।

९. हित हरिवंश—"राधा-सुधानिधि, हित-चौरासी, वृंदावन-सतक, हित-सुधा-सागर (प्रकाशित) ।"

१०. गदाधर भट्ट—"केवल पद (अप्रकाशित) ।"

११. मीराबाई—"पद (प्रकाशित) ।"

१२. स्वामी हरिदास—"हरिदास जी की वानी, हरिदास जी के पद, हरिदास जी कौ ग्रंथ,[1] केलि-माला, सिद्धांत के पद (अप्रकाशित) ।"

१३. सूरदास मदनमोहन—"फुटकल पद (अप्रकाशित) ।"

१४. श्रीभट्ट—"युगल-सतक (पद), आदिवानी (अप्रकाशित) ।"

१५. हरिराम व्यास—"रासपंचाध्यायी, फुटकल पद (अप्रकाशित), व्यासवाणी (प्रकाशित ।"[2]

१६. रसखान—"सुजान-रसखान, दोहावली, (प्रकाशित) ।[3]

१७. ध्रुवदास—"वृंदावनसत, सिंगारसत, रसरत्नावली, नेहमंजरी, रहस्यमंजरी, सुखमंजरी, रति-मंजरी, वनविहार, रंगविहार, रसविहार, आनंददसा-विनोद, रंगविनोद, नृत्यविलास, रंग-हुलास, मानरसलीला, रहसलता, प्रेमलता, प्रेमावली, भजन-कुंडलिया, भक्तनामावली, मनशृंगार, भजन-सत, प्रीतिचौवनी, रसमुक्तावली, वृहद् वामन पुराण भाषा, सभामंडली, रसानंदलीला, सिद्धांतविचार, सिहरिवती, हित-शृंगारलीला, ब्रजलीला, आनंदलता, अनुरागलता, जीवदशा, वैद्यलीला, व्याहलौ, भक्तनामावली (अप्रकाशित) ।"[4]

भक्ति-काल के फुटकल कवि

१. छीहल—"पंचसहेली (अप्रकाशित) ।"

२ लालदास—"हरिचरित्र (अप्रकाशित) ।"

३. कृपाराम—"हिततरंगिणी (प्रकाशित) ।"

४. नरहरि (बंदीजन)—"रुक्मिणी-मंगल, छप्पयनीति, कवित्त-संग्रह (अप्रकाशित) ।"

५. नरोत्तमदास—"सुदामाचरित्र (प्रकाशित) ।"

६. महाराजा टोडरमल—"स्फुट कविता (अप्रकाशित) ।"

७. महाराजा बीरबल—"स्फुट कविता (अप्रकाशित) ।"

८. गंग कवि—"स्फुट कविता (प्रकाशित) ।"

९. मनोहर कवि—"शतप्रश्नोत्तरी (अप्रकाशित) ।"

१०. बलभद्र मिश्र—"नीति-शृंगार के फुटकल दोहा, नखसिख,[5] हनुमन्नाटक, बलभद्र-व्याकरण, दूषण-विचार (अप्रकाशित) ।"

११ केशवदास—"कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, विज्ञानगीता, वीरसिंहदेव-चरित्र, नखसिख[6] (प्रकाशित), रतनबावनी, जहाँगीर-चंद्रिका (अप्रकाशित) ।"

१२. होलराय—"फुटकल रचना (अप्रकाशित) ।"

१३ रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना)—"बरवै नायिका-भेद, रहीम-सतसई, शृंगार-सोरठ, मदनाष्टक,

१. हरिदास जी की वाणी, हरिदास के पद या हरिदास जी को ग्रंथ कोई पृथक् ग्रंथ नहीं हैं, अपितु ये 'केलिमाला' और सिद्धांत-पद के नाम-रूपांतर हैं। २. व्यास जी की वाणी वृंदावन से प्रकाशित हो चुकी है। ३. रस की खान 'रसखान' के स्फुट छंद—रसखान और घनानंद, रसखान-कवितावली, रसखान : दोहावली, रसखान : पदावली, रसखान : रत्नावली, रसखान : सतक क्रमशः काशी, लखनऊ, मथुरा, प्रयाग और पटना से प्रकाशित हो चुके हैं। ४. ध्रुवदास के ये सभी ग्रंथ—'ध्रुव-ग्रंथावली' के नाम से भारतजीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुके हैं। ५-६. ये दोनों नखसिख—भारत जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुके हैं।

रहीम-काव्य, (प्रकाशित), नगर-शोभावर्णन, फुटकल बरवा, फुटकल कवित्त-सवैया (अप्रकाशित)।"[१]

१४. कादिर—"स्फुट कवित्त (अप्रकाशित)।"

१५. मुबारक—"अलक सतक—तिल सतक (अप्रकाशित), कुछ स्फुट छंद।"[२]

१६ बनारसीदास—"बनारसी विलास, नाटक समयसार, नाममाला कोष, अर्द्ध कथानक, बनारसी-पद्धति, मोक्ष पदी, ध्रुव वदना, कल्याण मदिर-भाषा, वेदनिर्णय पचाशिका, मारण-विद्या (अप्रकाशित)।"

१७. सेनापति—'कवित्त-रत्नाकर (प्रकाशित), काव्यकल्पद्रुम (अप्रकाशित)।"

१८. पुहकर कवि—"रसरतन (अप्रकाशित)।"

१९. सुदर कवि—"सुंदरश्रृंगार, सिंहासनबत्तीसी, बारहमासा (अप्रकाशित)।"[३]

रीति-काल के ग्रंथकार कवि

१. चिंतामणि त्रिपाठी—"छंद-विचार, काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, रामायण (अप्रकाशित), कवि-कुल-कल्पतरु (प्रकाशित)।"

२. बेनी—"फुटकल कवित्त सुने जाते हैं।"

३. महाराज जसवंतसिंह—"अनुभव प्रकाश, आनद विलास, सिद्धातबोध, सिद्धातसार, प्रबोध-चद्रोदय नाटक (अप्रकाशित), भाषाभूषण (प्रकाशित)।"

४. बिहारीलाल—"बिहारी-सतसई (प्रकाशित)।"

५. मंडन कवि—"रसरत्नावली, रसविलास, जनकपचीसी, जानकी जू की ब्याह, नैन-पचासा (अप्र-काशित)।"

६. मतिराम—"छदसार, साहित्यसार, लक्षणश्रृंगार (अप्रकाशित), रसराज, ललित-ललाम, मतिराम-सतसई (प्रकाशित)।"

७. भूषण—"शिवराज भूषण, शिवाबावनी, छत्रशाल दशक, (प्रकाशित)।"

८. कुलपति मिश्र—"रस-रहस्य, (प्रकाशित), द्रोणपर्व, युक्तितरगिणी, नखसिख, सग्रहसार, गुणरहस्य (अप्रकाशित)।"

९. सुखदेव मिश्र—"वृत्तिविचार, छंदविचार, रसार्णव, श्रृंगार-लता, अध्यात्म-प्रकाश, दशरथराय (अप्रकाशित), फाजिल अली प्रकाश (प्रकाशित)।"

१०. कालिदास त्रिवेदी—"वारवधू विनोद, जजीराबद, राधा-माधवबुधमिलन विनोद, कालिदास-हजारा (अप्रकाशित)।"

११. राम कवि—"श्रृंगारसौरभ, हनुमान नाटक (अप्रकाशित)।"

१२. निवाज कवि—"शकुंतला नाटक, (अप्रकाशित), फुटकल कवित्त (यत्र-तत्र प्रकाशित)।"

१३. देव कवि—"प्रेमतरग, रागरत्नाकर, देवचरित्र, सुखसागर-तरंग, वृक्षविलास, देवमाया-प्रपच नाटक, पावसविलास, ब्रह्मदर्शन पचीसी, तत्त्वदर्शन पचीसी, आत्मदर्शन पचीसी, जगदर्शन, प्रेमदीपिका, सुमिल-विनोद, राधिका-विलास, नीतिसतक, नखसिख, प्रेम दर्शन (अप्रकाशित), भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, सुजान विनोद, प्रेम चद्रिका (प्रकाशित)।"

१. रहीम की कविताओं का संग्रह 'रहीम-रत्नावली' नाम से—"दोहावली, नगरशोभा, बरवै नायिक भेद, फुटकल बरवै, मदनाष्टक अन्य फुटकल छंद तथा पद", पं० मयाशंकर याज्ञिक के सपादकत्व में काशी से प्रकाशित हो चुके हैं। २, ३. अलक और तिल-सतक भारतजीवन प्रेस काशी में छप चुके हैं।
३. सुंदरश्रृंगार भी भारतजीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुका है।

१४. श्रीधर या मुरलीधर—"नायिका-भेद, नखसिख (अप्रकाशित), जगनामा (प्रकाशित)।"
१५. सुरत मिश्र—"अलकार माला, रसरत्न माला, सरसरस, रसगाहक चद्रिका, नखसिख, काव्य-सिद्धात, दिन रत्नाकर (पद्य), विहारी सतसई की टीका, रसिकप्रिया की टीका, कविप्रिया की टीका (गद्य-पद्य), बेताल पचीसी (अप्रकाशित)।"
१६. कविंद्र (उदय)—"रसचद्रोदय, विनोदचद्रिका, जोगलीला (अप्रकाशित)।"
१७. श्रीपति—"काव्यसरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोज-कलिका, अलकार-गगा (अप्रकाशित)।"
१८. वीर कवि—"कृष्ण-चद्रिका (अप्रकाशित)।"
१९. कृष्ण कवि—"विहारी सतसई की टीका (प्रकाशित)।"
२०. रसिक सुमति—"अलकार-चद्रोदय (अप्रकाशित)।"
२१. गंजन कवि—"कमरुद्दीनखाँ हुलास (अप्रकाशित)।"
२२. अलीमुहिब खाँ (प्रीतम कवि)—"खटमल वाईसी, रस-धमार (अप्रकाशित)।"[1]
२३. दास (भिखारी दास)—"रससाराश, शृगारनिर्णय,[2] नामप्रकाश (कोष), विष्णुपुराण भाषा, छदप्रकाश, शतरज शतिका, अमर प्रकाश (अप्रकाशित), छदार्णव, काव्यनिर्णय (प्रकाशित)।"
२४. भूपति (राजा गुरुदत्त सिंह)—"सतसई,[3] कठाभूषण, रसरत्नाकर, बारहमासा (अप्रकाशित)।"
२५. तोषनिधि—"सुधानिधि,[4] विनय सतक, नखसिख (अप्रकाशित)।"
२६-२७. दलपतिराय-वशीधर—"अलकार रत्नाकर (भाषाभूषण की टीका अप्रकाशित)।"
२८. सोमनाथ—"रसपीयूषनिधि, कृष्णलीलावती, अर्थात् रासपचाध्यायी,[5] सुजान-विलास (सिंहासन बत्तीसी), माधवविनोद नाटक (अप्रकाशित)।"
२९. रसलीन (सैयद गुलामनवी)—"रसप्रबोध, अगदर्पण (अप्रकाशित)।"[6]
३०. रघुनाथ—"काव्य-कलाधर, रसिक मोहन,[7] जगत मोहन, इश्क महोत्सव (अप्रकाशित)।"
३१. दूलह कवि—"कविकुलकठाभरण (प्रकाशित)।"
३२. कुमारिल भट्ट—"रसिक रसाल (अप्रकाशित)।"[8]
३३. शंभुनाथ मिश्र—"रसकल्लोल, रसतरगिणी, अलकार दीपक (अप्रकाशित)।"
३४. शिव सहाय—"शिव चौपाई, लोकोक्ति-रस कौमुदी,[9] (अप्रकाशित)।"
३५. रूप सहाय[10]—"रूप-विलास (अप्रकाशित)।"
३६. ऋषिनाथ—"अलकार-मणि-मजरी (अप्रकाशित)।"
३७. वैरीसाल—"भाषाभरण (प्रकाशित)।"
३८. दत्त कवि—"लालित्य-लता (अप्रकाशित)।"
३९. रतन कवि—"फतेह भूषण, अलकार दर्पण (अप्रकाशित)।"
४०. हरिनाथ (नाथ कवि)—"अलकार-दर्पण (अप्रकाशित)।"

[1]. अलीमुहिब खाँ प्रीतम के—अलीमुहीब खाँ तथा अली महबूब खाँ पीतम भी नाम मिलते हैं। [2]. शृंगार-निर्णय भारत जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित हो चुका है। [3]. भूपति-सतसई भी छप चुकी है। [4]. सुधानिधि भारत जीवन प्रेस काशी में छप चुका है। [5]. सोमनाथ जी की रास-पंचाध्यायी दारागंज प्रयाग से प्रकाशित हो चुकी है। [6]. ये दोनो ग्रंथ भी—भारत जीवन प्रेस काशी में छप चुके हैं। [7]. रसिक मोहन—भारत जीवन प्रेस काशी में छप चुका है। [8]. कुमारिल भट्ट नाम ठीक नहीं है, आप का नाम है—"कुमारमणि भट्ट', रसिकरसाल छप चुका है—गंगाफाइन आर्ट प्रेस लखनऊ में। [9]कवि का नाम—शिव सहाय नहीं 'शिवदास राय' है। [10] यह भी सुधार कर द्विवेदी के संपादकत्व में भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित हो चुका है। —ज० च०।

४१. सनीराम—"छंदछप्पनी, आनंदमंगल (अप्रकाशित)।"

४२. चंदन कवि—"शृंगारसागर, काव्याभरण, कल्लोलतरंगिणी, केशरीप्रकाश, चंदनसतसई, पथिकबोधिका, नखसिख, नाममाला (कोष), पत्रिकाबोध, तत्त्वसंग्रह, शीतवसंत (कहानी) कृष्णकाव्य, प्राज्ञविलास (अप्रकाशित)।"

४३. देवकीनंदन—"शृंगारचरित्र, अवधूतचरित्र, सरफराजचंद्रिका (अप्रकाशित)।"

४४. महाराज रामसिंह—"अलंकार दर्पण, रसनिवास, रसविनोद (अप्रकाशित)।"

४५. मान कवि—"नरेंद्रभूषण (अप्रकाशित)।"

४६. भान कवि—"दलेलप्रकाश (अप्रकाशित)।"

४७. बेनी (बंदीजन)—"टीकैतराय प्रकाश, रसविलास (अप्रकाशित)।"

४८. बेनी प्रवीण—"नवरस-तरंग (प्रकाशित), भड़ौवा संग्रह, शृंगारभूषण (अप्रकाशित)।"

४९. जसवंतसिंह (द्वितीय)—"सालिहोत्र (अप्रकाशित)।"

५०. यशोदानंदन—"शृंगारशिरोमणि (अप्रकाशित)।"

५१. करन कवि—"बरवै नायिका-भेद, साहित्य-रस (अप्रकाशित)।"

५२. गुरुदीन पांडे—"रसकल्लोल, बागमनोहर (अप्रकाशित)।"

५३. ब्रह्मदत्त—"विद्वद्विलास (अप्रकाशित)।"

५४. पद्माकर—"जगद्विनोद, पद्माभरण, प्रबोधपचासा, गंगालहरी, रामरसायन, हिंमतबहादुर विरुदावली (प्रकाशित)।"

५५. ग्वाल कवि—"भक्तभावन, दूषण-दर्पण, राधा-माधव मिलन, राधाष्टक (अप्रकाशित), यमुना-लहरी, षट्रितु, कृष्ण जू को नख-सिख, कुब्जापच्चीसी (प्रकाशित)।"

५६. प्रतापसाहि—"जयसिंह-प्रकाश, काव्यविलास, शृंगारमंजरी, शृंगारशिरोमणि, अलंकार चिंतामणि, काव्यविनोद, रत्नचंद्रिका, रसराज (मतिराम कृत) की टीका, सीताराम-जुगल नखसिख, बलभद्रकृत नखसिख की टीका (अप्रकाशित), व्यंग्यार्थ कौमुदी (प्रकाशित)।"

५७. रसिक गोविंद—"रामायण सूचनिका, रसिक गोविंदानंदघन, लछिमनचंद्रिका, अष्टदेश भाषा पिंगल, समयप्रबंध, कलिजुगरासौ, रसिकगोविंद, जुगलरसमाधुरी (अप्रकाशित)।"

रीति-काल के अन्य कवि

१. बनवारी—"स्फुट रचना (अप्रकाशित)"

२. सबलसिंह चौहान—"महाभारत (प्रकाशित), रूपविलास, पिंगल (अप्रकाशित)।"

३. वृंद कवि—"शृंगारशिक्षा, भाव-पचासिका[1] (अप्रकाशित), वृंदसतसई (प्रकाशित)।"

४ छत्रसिंह (कायस्थ)—"विजयमुक्तावली (अप्रकाशित)।"

५. बेताल—"कुंडलिया—स्फुट (प्रकाशित)"

६. आलम कवि—"माधवानलकामकंदला (अप्रकाशित), आलमकेलि (प्रकाशित)।"

७. गुरु गोविंदसिंह—"सुनीति प्रकाश, सर्वलोक प्रकाश, प्रेम सुमार्ग, बुद्धि सागर (अप्रकाशित)।"

८. श्रीधर वा मुरलीधर[2]—"चंडीचरित्र, संगीतशिक्षा, नायिकाभेद, जैन मुनियों के चरित्र, कृष्णलीला के पद, चित्रकाव्य (अप्रकाशित), जंगनामा (प्रकाशित)।"

९. लाल (गोरेलाल)—"छत्र प्रकाश (प्रकाशित)।"

१०. घनानंद—"सुजानसागर, विरहलीला (प्रकाशित), कोकसार (अप्रकाशित)।"

११. रसनिधि—"रतनहजारा, बिष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासा, रसनिधिसागर, हिंडोला, अरिल्ल-हजारा (अप्रकाशित), रतन-हजारा (प्रकाशित)।"

1. यह ग्रंथ किशनलाल श्रीधर बंबई के छापेखाने में छप चुका है।
2. श्रीधर-मुरलीधर कवियों के नाम दो बार आए हैं, ग्रंथ भी पृथक् हैं।

१२. नागरीदास—"मनोरथमजरी, सिंगारसमय, गोपीप्रेम-प्रकाश, पद-प्रसगमाला, ब्रज-बैकुठ तुला, ब्रजसार, भोरलीला, प्रातरस-मजरी, विहारचद्रिका, भोजनानद-अष्टक, जुगल-रस माधुरी, फूल-विलास, गोधन-आगमन-दोहन, आनदलग्नाष्टक, फागविलास, ग्रीष्म-विहार, पावसपचीसी, गोपीनेन-विलास, रासरस-लता, नेंन-रूप-रस, शीत-सार, इश्कचमन, मजलिस मडन, अरिल्लाष्टक, सदा की मांझ, वर्षाऋतु की मांझ, होरी की मांझ, कृष्ण-जन्मोत्सव के कवित्त, साँझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवरधन धारण के कवित्त, होरी के कवित्त, फागु, गोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमग-दीपिका, तीर्थानद, फागवहार, बालविनोद, बनविनोद, सुजनानद, भक्तिसार, देहदशा, वैराग्यवल्ली, रसिक रत्नावली, कवि-वैराग्य वल्लरी, अरिल्ल पचीसी, छूटक विधि, भागवत पारायण विधि, सिखनख, छूटक कवित्त, चाँचरियाँ, रेखता, मनोरथ-मजरी, रामचरित्र-माला, पद-प्रबोध-माला, जुगल भक्ति-विनोद, रसानुक्रम के दोहा, शरद की मांझ, साँझी-फूलवीनन—सवाद, वसत वर्णन, रस-अनुक्रम के कवित्त, फाग खेलन समै अनुक्रम के कवित्त, निकुज विलास, गोविंद परचई, बनज प्रशसा, छूटक-दोहा, उत्सव माला और पद मुक्तावली (अप्रकाशित), नागरसमुच्चय (प्रकाशित)।"[1]

१३. जोधराज—"हम्मीर रासो (प्रकाशित)।"

१४. बख्शी हंसराज—"स्नेहसागर,[2] विरह विलास, रामचद्रिका, (अप्रकाशित)।"

१५. जनकराज किशोरीशरण—"आदोलन रहस्य दीपिका, तुलसीदास चरित्र, विवेकसारचद्रिका, सिद्धात चौतीसी, बारहखडी, ललित-श्रृगार-दीपक, कवितावली, जानकी-शरणाभरण, सीताराम मुक्तावली, अनन्य तरगिणी, रामरस तरगिणी, आत्म-सबध-दर्पण, होलिका-विनोद-दीपिका, वेदातसार, श्रुतिदीपिका, रसदीपिका, दोहावली, रघुवर-करुणाभरण (अप्रकाशित)।"

१६. अलबेली अलि—"श्रीस्तोत्र, समय-प्रबध पदावली (अप्रकाशित)।"

१७. चाचा वृंदावनदास—"बीस हजार पद, जिसमे भगवान कृष्ण के छद्म, अष्टयाम, नखसिख आदि विषय हैं (अप्रकाशित)।"

१८ गिरिधर कविराय—"कुडलिया (प्रकाशित)।"

१९ भगवत रसिक—"स्फुट-छद—पद, छप्पय, कवित्त, कुडलिया, दोहा तथा ध्यान मजरी, अनन्य-निश्चयात्मक (प्रकाशित)।"

२० हठी जी—"राधासुधा-शतक, (अप्रकाशित)।"[3]

२१. गुमान मिश्र—"कृष्णचद्रिका (अप्रकाशित), श्री हर्ष के 'नैषध' का पद्यानुवाद (प्रकाशित)।"

२२. सरजूराम पंडित—"छदाटवी (अप्रकाशित)।"

२३. भगवंतराय खीची—"हनुमान पचीसी (अप्रकाशित)।"

२४. सूदन चौबे—"सुजान चरित्र (प्रकाशित)।"

२५. हरिनारायण—"माधवानल-कामकदला, वेताल पचीसी (अप्रकाशित)।"

२६ ब्रजवासीदास—"ब्रजविलास (प्रकाशित)।"

[1]. नागरीदास जी के ये सपूर्ण ग्रंथ—जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है 'नागरसमुच्चय' नामसे बबई के श्रीधर शिवलाल के ज्ञान सागर प्रेस में छप कर प्रकाशित हो चुके हैं। [2]. यह ग्रंथ ला० भगवानदीन के संपादकत्व में साहित्यभूषण कार्यालय काशी से छप कर प्रकाशित हो चुका है। [3]. यह भी भारत-जीवन प्रेस काशी में छप चुका है। —ज० च०।

२७. गोकुलनाथ-गोपीनाथ—"महाभारत और हरिवंश पुराण का अनुवाद केवल गोकुलनाथ-द्वारा (अप्रकाशित), चेतचंद्रिका (प्रकाशित)।"

२८. मणिदेव—"राधाकृष्ण विलास, राधा नखसिख, नामरत्नमाला, सीताराम-गुणार्णव, अमरकोष-भाषा, कवि-मुख-मंडन (अप्रकाशित)।"

२९. बोधा कवि—"विरह बारीश, इश्कनामा[१] (प्रकाशित), माधवानल-कामकंदला (अप्रकाशित)।"

३०. रामचंद्र कवि—"चरण-चंद्रिका (अप्रकाशित)।"

३१. मंचित कवि—"सुरमदीन लीला, कृष्णायन (अप्रकाशित)।"

३२. मधुसूदन दास—"रामाश्वमेध (अप्रकाशित)।"

३३. मनियाँ सिंह—"महिम्न-भाषा, सौंदर्यलहरी, हनुमतछब्बीसी (अप्रकाशित)।"

३४. कृष्णदास—"सुंदरकांड-माधुर्य-लहरी (अप्रकाशित)।"

३५ गणेश कवि—"वाल्मीक रामायण-श्लोकार्थ प्रकाश (अप्रकाशित)।"

३६. संमन कवि—"स्फुट दोहा (अप्रकाशित)।"

३७. (अ)—"स्फुट कवित्त, सतसई-वरणार्थ, ठाकुर-ठसक'

३८. ललकदास—"सत्योपाख्यान (अप्रकाशित)।"

३९. सुमान—"अमर-प्रकाश, अष्टयाम, लक्ष्मण-शतक, हनुमान-नख-सिख, हनुमान-पंचक, हनुमान-पचीसी, नीतिविधान, समरसार, नृसिंह-चरित्र, नृसिंह-पचीसी (अप्रकाशित)।"

४०. नवलसिंह कायस्थ—"रासपंचाध्यायी, रामचंद्र-विलास, सकटमोचन, जौहरिन-तरंग, रसिक-रंजनी, विज्ञानभास्कर, ब्रजदीपिका, रंभा-शुक संवाद, नामचिंतामणि, मूल भारत, भारत सावित्री, भारत कवितावली, भाषा सप्तशती, कवि जीवन, आल्हा-रामायण, रुक्मिणी मंगल, मूल ढोला, रहस लावनी, अध्यात्म रामायण, रूपक रामायण, नारी प्रकरण, सीता-स्वयंवर, राम-विवाह खंड, भारत वार्तिक, रामायण सुमरिणी, पूर्व शृंगार खंड, मिथिला खंड, दान-लोभ संवाद, जन्म खंड (अप्रकाशित)।"

४१. रामसहाय (कायस्थ)—"रामसतसई, वाणी भूषण, ककहरा (अप्रकाशित)।"

४२. चंद्रशेखर कवि—"हम्मीर हठ, विवेक-विलास, रसिक-विनोद, हरिभक्ति-विलास, नखसिख, वृंदावन शतक, ग्रह-पचासिका, ब्रह्मज्योतिश, माधवी-वसंत (अप्रकाशित)।"

४३. बाबा दीनदयालगिरि—"अन्योक्तिकल्पद्रुम (प्रकाशित), अनुरागबाग, वैराग्य दिनेश, विश्वनाथ नवरत्न, दृष्टांत तरंगिणी (अप्रकाशित)।"

४४. पजनेश कवि—"पजनेश-प्रकाश (प्रकाशित)।"

४५. गिरिधरदास—"जरासंध-वध महाकाव्य, भारतीभूषण, भाषाव्याकरण,[२] रसरत्नाकर, ग्रीष्म-वर्णन, मत्स्यकथामृत, वाराहकथामृत, नृसिंहकथामृत, वामनकथामृत, परशुरामकथामृत, कलि-कथामृत, नहुष नाटक,[३] गर्गसंहिता, एकादशी महात्म्य, वाल्मीकि रामायण, छंदार्णवनीति, अद्भुत रामायण, लक्ष्मी-नख-सिख, वार्त्ता संस्कृत, ककारादि, सहस्रनाम, गया-यात्रा, गयाष्टक, द्वादशदलकमल, कीर्त्तन-संकर्षणाष्टक, दनुजारिस्तोत्र, शिवस्तोत्र, भगवत स्तोत्र, श्रीराम स्तोत्र, शिव स्तोत्र, गोपाल स्तोत्र, श्री राधा स्तोत्र, रामाष्टक, कालियकथाष्टक, (अप्रकाशित)।"

१. विरहवारीश लखनऊ से तथा इश्कचमन भारतजीवन प्रेस काशी से छप कर प्रकाशित हो चुके हैं।

२,३. ये दोनो ग्रंथ भी 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' में छप चुके हैं।

४६. द्विजदेव (महाराज मानसिंह)—"शृंगारलतिका, शृंगारबत्तीसी (प्रकाशित)।"

आधुनिक-काल पुरानी धारा

१ सेवक कवि—"वाग्विलास, नखसिख, (प्रकाशित)।"

२. महाराज रघुराजसिंह—"रामस्वयंवर, रुक्मिणीपरिणय, आनंदाम्बुनिधि,[1] रामाष्टयाम (प्रकाशित)।"

३. सरदार कवि—"वाग्विलास, षट्ऋतु, हनुमतभूषण, तुलसीभूषण, शृंगारभूषण, शृंगार संग्रह,[2] रामरत्नाकर, साहित्यसुधाकर, रामलीला प्रकाश, रसिकप्रिया की टीका, सूर के दृष्टिकूट,[3] बिहारी सतसई की टीका (अप्रकाशित), साहित्य सरसी, कविप्रिया केशवदास की टीका (प्रकाशित)।"

४. बाबा रघुनाथ दास (रामसनेही)—"विश्राम सागर (प्रकाशित)।"

५. ललित किशोरी-ललित माधुरी (लखनऊ वाले)—"अभिलाष माधुरी–स्फुट रचना (प्रकाशित)।"

६. राजा लक्ष्मणसिंह—"संस्कृत मेघदूत और शकुंतला नाटक के अनुवाद (प्रकाशित)।"

७. लच्छीराम—"मानसिंहाष्टक, प्रतापरत्नाकर, लक्ष्मीश्वररत्नाकर, रावणेश्वरकल्पतरु, कमलानंद-कल्पतरु (प्रकाशित)।"

८. गोविंद-गिल्लाभाई—"भूषण, नीतिविनोद, शृंगारसरोजिनी, षट्ऋतु, पावसपयोनिधि, समस्यापूर्ति प्रदीप, वक्रोक्तिविनोद, श्लेष-चंद्रिका, प्रारब्धपचीसी, प्रवीणसागर (प्रकाशित)।"

९. भारतेंदु हरिश्चंद्र—"हरिश्चंद्र ग्रंथावली[4] (प्रकाशित)।"

१०. प्रतापनारायण मिश्र—"स्फुट रचना संग्रह (प्रकाशित)।"

११. बदरीनारायण चौधरी—"प्रेमघन सर्वस्व (प्रकाशित)।"

१२. ठाकुर जगमोहनसिंह—"मेघदूत का अनुवाद, प्रेम-संपत्ति-लता (प्रकाशित)।"

१३. अंबिकादत्त व्यास और रामकृष्ण वर्मा (उप० बलवीर)—"श्यामलता, श्यामासरोजिनी, समस्यापूर्त्ति प्रकाश, बिहारी-बिहार (प्रकाशित)।"

१४. लाला सीताराम (उप० भूप)—"रघुवंश और मेघदूत के अनुवाद (प्रकाशित)।"

१५. हरिऔध—"रसकलस (प्रकाशित)।"

१६. श्रीधर पाठक—"ऋतु-संहार का अनुवाद (प्रकाशित)।"

१७. बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—"रत्नाकर-संग्रह, बिहारी सतसई की टीका—बिहारी रत्नाकर, सूरसागर (प्रकाशित)।"

१८. राय देवीप्रसाद पूर्ण—"पूर्ण संग्रह (प्रकाशित)।"

१९. सत्यनारायण कविरत्न—"भ्रमरदूत, स्फुट रचना—पद, मालती-माधव (प्रकाशित)।"

२०. वियोगी हरि—"वीरसतसई (प्रकाशित)।"

[1]. यह ग्रंथ श्रीमद्भागवत का पूर्ण अनुवाद है और बंबई के वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हो चुका है।[2],[3]. ये ग्रंथ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हो चुके हैं। [4]. हरिश्चंद्र-ग्रंथावली के दो खंड—द्वितीय और तृतीय छपे हैं। द्वितीय खंड में निम्न- लिखित काव्य ग्रंथ हैं—"भक्तिसर्वस्व, प्रेमाश्रु-वर्षण, प्रेममालिका, कार्तिकस्नान, वैशाख महात्म्य, प्रेम- सरोवर, जैन कुतूहल, प्रेम-माधुरी, प्रेम-तरंग, उत्तरार्द्ध भक्तमाल, प्रेमप्रलाप, गीतगोविंदानंद, सतसई शृंगार (बिहारी सतसई के १०१ दोहों पर कुंडलिया), होली, मधुमुकुल, राग संग्रह, वर्षाविनोद, विनय-प्रेम-पचासा, फूलोंका गुच्छा, प्रेम फुलवारी और कृष्णचरित।" तृतीय भाग में (जो अभी छपा है) आपके लिखे नाटक हैं।

ऊपर कुछ वर्गीकरण के साथ ब्रजभाषा की रचनाओ की सूची प्रस्तुत की गई है। अब यहाँ यह विचार कर लेना चाहिए कि ब्रजभाषा में सपादित सामग्री की क्या दशा है और सपादको ने प्राचीन कवियो की रचना के स्वरूप-निर्धारण में किन सिद्धातो का उपयोग किया है। प्राचीन कवियो की बहुत सी रचनाएँ नागरी-प्रचारिणी सभा काशी के सराहनीय प्रयत्न और उसके सरक्षको एव कार्यकर्ताओ की लगन तथा प्राचीन साहित्योद्धार-भावना के फल-स्वरूप प्रकाश में आई। कुछ ग्रथ-मालाएँ भी निकाली गई और इन मालाओ मे पूर्ण रूप से प्रमुख कवियो की रचनाओ ने कारागार के निविडतम मे मुक्त होकर जीवन का आलोक देखा और अपनी सुरभि से साहित्योद्यान और रसिक-सहृदयो के कठहार बन गए। इसके अतिरिक्त प्राचीन रचनाओ को प्रकाश में लाने का श्रेय बाबू 'रामकृष्ण' वर्मा काशी को है, जिन्होने 'भारत जीवन प्रेस' से मुद्रित करके बहुत बडी सख्या में ब्रजभाषाकी पुस्तको को छापा। इसके अतिरिक्त नवल किशोर प्रेस लखनऊ तथा अन्य प्रातो के प्रेस और उसके अधिकारियो-द्वारा भी यह महान् कार्य सपन्न हुआ, जिसके लिये हिंदी-ससार इन मातृभाषा-सेवियो से उपकृत है।

जो ग्रथ इन प्रेसो और सस्थाओ-द्वारा प्रकाशित हुए, वे दो प्रकार के है। एक वह जिनमे कोई टीका-टिप्पणी एव समालोचनात्मक भूमिका नही दी गई है। वरन्, जैसी उनकी कोई प्रतिलिपि मिली वैसी ही वह प्रकाशित कर दी गई है। इसमें अधिकाश बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा प्रकाशित और प्रारभ मे नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित एव स्वर्गीय बाबू (बाद में डा०) श्यामसुदरदास द्वारा सपादित है। इन ग्रथो के विषय में इतना ही बतलाना पर्याप्त है कि इनके सपादन के सबध में कोई नियम निर्धारित नही किये गए है और न अनेक प्रतियो को सामने रखकर भाषा के स्वरूप को स्थिर करने का ही प्रयास किया गया है। इन पुस्तको के सपादन में कोई दृष्टि नही रखी गयी, एक-आध प्रति जो भी उपलब्ध हो सकी उसको उसी प्रकार छाप दिया गया। इस प्रकार की कुछ पुस्तको का सक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसे—

१. जसवतभूषण ग्रंथ—यह महाराज जसवंतसिह-द्वारा लिखित और जोधपुर के मारवाड़-स्टेट प्रेस से स० १९५४ वि० में प्रकाशित हुआ। प० रामकर्ण-द्वारा इसमे सशोधन भी किया गया है, पर यह सशोधन केवल यत्र-तत्र छापे या हस्तलिखित प्रति के शब्दो का है, कोई नियमपूर्वक भाषा-सबधी सशोधन नही किया गया है।

२. विहारी सतसई—यह कृष्ण कवि के कवित्तो सहित छठीबार मार्च १९०५ ई० में नवल किशोर प्रेस लखनऊ से मुद्रित हुई। छठे सकरण में भी कोई विशेष बात उल्लेखनीय नही है।

३. ठाकुर शतक—चरखारी के निवासी ठाकुर कवि की कृति काशी प्रसाद द्वारा सगृहीत की गई है और सन् १९०४ ई० मे भारतजीवन प्रेस काशी से मुद्रित है। कोई टीका-टिप्पणी नही है और न भाषा के सबध में कोई विचार ही उपस्थित किया गया है।

४. श्री राधासुधा शतक—यह प्रसिद्ध 'हठी' कवि रचित है। इसके मुख्य सपादक भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र और हरिप्रकाश यत्रालय से सन् १८९७ ई० मे प्रकाशित है। इसमें केवल मूल पाठ ही दिया गया है।

५. हम्मीर रासो—यह नागरी प्रचारिणी-ग्रथमाला का १३ वाँ पुष्प है। बा० श्यामसुदरदास इसके सपादक है। यह स० १९०८ ई० मे प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के रचयिता कवि 'जोधराज' है। भूमिका तो इस पुस्तक मे ७९ पृष्ठ की दी गई है, जिसमें प्रदत्त ऐतिहासिक 'हमीर' और उसके सबध में विचार उपस्थित किये गए है। इसके अतिरिक्त काव्य-कला अथवा भाषा के सबध में कुछ नही लिखा गया।

६. रुक्मिणी स्वयवर—यह महाराज रघुराज सिंह जू देव द्वारा रचित है और सन् १८८८ ई० में भारत माता यत्रालय रीवाँ से मुद्रित है।

७. छत्रप्रकाश—यह भी नागरी-प्रचारिणी सभा-ग्रंथ-माला का ३४वाँ पुष्प है जो सन् १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके संपादक बाबू श्यामसुंदर दास और कृष्णबलदेव वर्मा हैं। भूमिका में केवल इतिहास वर्णित है। संपादन या भाषा के संबंध में एक शब्द भी नहीं दिया गया।

८ आलमकेलि—लाला भगवानदीन द्वारा संपादित प्राचीन कवि-माला' का पहिला पुष्प है। इसमें आलम और उनकी पत्नी शेख की रचनाएँ हैं। संपादक महोदय ने केवल यह लिखा है—

"अपने विषय में मुझे यह कहना है कि मैंने इस पुस्तक .... देखा है, टिप्पणियाँ लिखी हैं और यत्र-तत्र दोषों का संशोधन किया है, तो भी जहाँ-जहाँ छंदों का अर्थ समझ में नहीं आया वहाँ मैंने पाठ ज्यों का त्यों रहने दिया है।"

इससे स्पष्ट है कि भाषा के संबंध में कोई विचार नहीं किया गया है।

९. हिंमत बहादुर विरुदावली—संपादक लाला भगवानदीन। यह सन् १९१६ ई० में नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से प्रकाशित हुई और उसकी ग्रंथ-माला का १६ वाँ पुष्प है। भूमिका में पद्माकर की जीवनी और हिंमतबहादुर की जीवनी पर प्रकाश डाला गया है। संपादन एवं भाषा-शोधन में कुछ श्रम नहीं किया है।

१०. दीनदयाल ग्रंथावली—संपादक श्यामसुंदर दास। यह नागरी प्रचारिणी सभा-ग्रंथ-माला २५ वें के नाम से प्रकाशित है और सन् १९१९ में छपी।

इस प्रकार सन् १८९५ ई० में बाबू रामकृष्ण वर्मा के संपादन में उनके प्रेस भारतजीवन यंत्रालय काशी से अनेक प्राचीन कवियों की कृतियाँ निकलीं, पर इनमें न भूमिका थी और न इनमें किसी प्रकार का भाषा-शोध। 'देव' का अष्टयाम सब से पहले इन्होंने ही छापा। इस प्रकार हम देखते हैं, कि उस समय हिंदी के कितने ही गण्यमान कवियों की रचनाएँ प्रकाशित की गईं, पर उस समय इस बात पर विचार नहीं किया गया कि इन कवियों की भाषा के संबंध में भी या तत्कालीन कवियों की भाषा के वास्तविक स्वरूप को निर्धारण करने के लिये भी यत्नशील होना चाहिए। इसके उपरांत हमारे साहित्यक विद्वानों ने कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन प्रारंभ किया, बिहारी आदि की रचनाओं को लेकर ग्रंथावलियाँ प्रकाशित की गईं। इनमें प्राय कवियों की समस्त रचनाओं को देने के साथ ही साथ सुंदर और विस्तृत एवं तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखी गईं। उदाहरण के लिये 'मतिराम-ग्रंथावली' को लीजिये, इसका संपादन हिंदी के सुयोग्य विद्वान् प० 'कृष्णबिहारी' मिश्र द्वारा हुआ है और गंगा-पुस्तकमाला लखनऊ से प्रकाशित है। प्रथम संस्करण स० १९८३ वि० में निकला। विस्तृत भूमिका २४८ पृष्ठ की है। इसमें विद्वान् लेखक ने केवल साहित्य एवं मतिराम के काव्योत्कर्ष एवं काव्य-कला के विषय में ही अपने उन्नत और गवेषणात्मक विचार उपस्थित नहीं किये, वरन् तुलनात्मक ढंग से मतिराम की रचना की भी परख की है। मतिराम की तुलना अंग्रेजी और संस्कृत कवियों से भी की गई है। जैसे—मतिराम-बेनीप्रवीन, मतिराम-कालिदास, मतिराम-शेक्सपियर। इस प्रकार की आलोचनाएँ अनेक कवियों की की गईं। महाकवि बिहारीलाल पर तो अलग साहित्य-सा ही बन गया—देव और बिहारी, बिहारी और देव, सतसई-सहार इत्यादि अनेक ग्रंथ आए। सबसे प्रथम प्रयास भाषा के संबंध में यदि किसी ने किया तो वह 'मिश्रबंधु' थे। ४ अप्रैल १९०७ ई० को प्रकाशित भूषण-ग्रंथावली की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

"सहृदय पाठकों को ग्रंथावलोकन से विदित होगा कि इसमें शब्दों के लिखने में उनको शुद्ध संस्कृत के स्वरूप में न लिखकर बिगड़े हुए (हिंदी) स्वरूप में लिखा गया है, यथा—स्रम (श्रम) सकति (शक्ति) भूखन (भूषण) दुग्ग (दुर्ग) छिति (क्षिति) इत्यादि।.... ..उस विषय में हमें केवल यही वक्तव्य है कि भाषा में जो रूप उत्तम समझा जाता है और जो रूप भूषण जी एवं अन्य कविगण पसंद करते हैं, वही लिखा गया है। भाषा के कविगण केवल कटुता बचाने एवं श्रुति-माधुर्य लाने के लिये ऐसा किया करते हैं और इसमें कोई दूषण भी नहीं है।"

मिश्रबंधुओ के इस कथन की हमें कोई आलोचना नही करनी है। अभिप्राय केवल इतना है कि इन विद्वानो ने वास्तव में कोई उचित प्रयत्न नही किया कि भूषण ने वास्तव में कौन से शब्द का कौन-सा स्वरूप रखा और उन्होने किस आधार पर अपने सपादन में उस रूप को स्थान दिया। हिंदी-साहित्य के प्रकाड पडित एव व्रजभाषा-काव्य के एकमात्र कवि विद्वद्वर 'रत्नाकर' जी ने इस ओर ध्यान दिया और 'बिहारी-रत्नाकर' का सपादन करके भाषा के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर दिया। इसके उपरात उन्होने 'सूरसागर' का सपादन भी प्रारभ कर दिया, पर दैव-कोप से हिंदी-ससार उनके निधन से सूर की रचनाओ का वास्तविक रूप न देख सका और उन्होने उसे अपूर्ण छोडकर गोलोकवास किया। बिहारी-रत्नाकर के प्रकाशन के पूर्व भाषा के सबध में विद्वानो में बहुत विचार-विनिमय हुआ और इस बात की भी आवश्यकता समझी गई कि अभी तक जो कुछ प्राचीन कवियो की सामग्री प्रकाशित हो चुकी है उसे तथा अन्वेषण के उपरात प्राप्त होनेवाले अन्य प्राचीन कवियो की रचनाओ के सस्करण आधुनिक सपादन-कला के अनुसार निकाले जायें। स० १९२६ ई० तक मुद्रित और प्रकाशित सस्करणो का अच्छा परिचय श्री 'दुलारेलाल भार्गव' ने 'बिहारी-रत्नाकर' के सपादकीय निवेदन में दिया है। वे लिखते है—

"इसमें संदेह नहीं कि कुछ साहित्यिक गोताखोरो ने बस्तो की कंदराओ से निकाल कर अनेक ग्रंथ-रत्नो का मुद्रण-उद्धार अवश्य किया है, परंतु वे भी प्रकाशन के उस प्राचीन परिच्छेद में प्रकट हुए है, जो इस समय बिलकुल प्रचलित नहीं। इसके अतिरिक्त ये ग्रथ रत्न जिस रूप में प्राप्त हुए है, उसीमें प्राय. प्रकाशित कर दिये गये है। उनका समुचित सशोधन और संस्करण करके भूमिका-टिप्पणी आदि की ओप तथा डाक देकर सुदर सुसज्जित स्वरूप में साहित्य-संसार को समर्पित करने का पर्याप्त प्रयत्न नहीं किया गया है।"

पाठ-सशोधन का प्रयास सर्व प्रथम रत्नाकर जी ने ही किया। वे 'बिहारी-रत्नाकर' के प्राक्कथन में लिखते है—

"दोहो के पाठ शुद्ध करने में हमको बड़ा श्रम उठाना पडा। प्रत्येक दोहे के पाठ का मिलान पाँचो प्राचीन प्रतियो से करने के अतिरिक्त जो शब्द सतसई में अथवा अन्यान्य व्रजभाषा ग्रंथो में कई-कई रूपो से लिखे मिलते है, उनके बिहारी-स्वीकृत रूपो को निर्धारित करने में बहुत समय व्यय हुआ और बड़ी कठिनाई पड़ी।"

इसके आगे के वक्तव्य में स्वरूप-निर्धारण के जिन उपायो को उन्होने अपनाया है उनका वर्णन दे दिया है। उस समय के उपरात यद्यपि अनेक प्रतियो के आधार पर अनेक स्वरूप निर्धारित रचनाओ के कुछ अच्छे संस्करण प्रकाशित हो गए है, पर ऐसा स्वरूप-निर्धारण जैसा रत्नाकर जी ने किया है किसी भी सपादक ने नही किया। मेरा विचार है इस दिशा में कार्य रूप से अवश्य ही हाथ डाला जाय। व्रज-साहित्य-मडल के तत्वावधान मे व्रजभाषा के आचार्यों एव विद्वानो का एक सहयोगी-समाज बनाकर व्रज-साहित्य के शुद्ध रूप के दर्शन कराए जाएँ। अत मे मैं व्रजभाषा के कवियो और उन पर लिखी गई आलोचनाओ की एक सूची देना आवश्यक समझता हूँ, जो कि यथा सभव व्रजभाषा-साहित्य पर प्रकाशित पूरी सामग्री पाठको के सम्मुख उपस्थित कर देगी। इससे विदित होगा कि आज तक व्रजभाषा-साहित्य का अध्ययन और अन्वेषण एव शोधन कहाँ तक हो सका है। लेख का कलेवर अत्यधिक बढनेकी आशका से हम इस सामग्री के विषय में विशेष नही लिखना चाहते है। पाठको को इसमे अवश्य स्पष्ट हो जायगा कि व्रज-साहित्य का कितना अश प्रकाश में आ चुका है। यथा—

१. उमाशंकर शुक्ल—नददास (समालोचना तथा ग्रथ), प्र०—प्रयाग विश्वविद्यालय, स० १९४२ ई०।
२. कवि किंकर—घनानद रत्नावली, पद्माकर रत्नावली, रसखान रत्नावली (समालोचनात्मक), प्र०—भारतवासी प्रेस दारागज प्रयाग, स० १९४१।
३. कृपाराम—हित-तरगिणी (साहित्य शास्त्र), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १९१९।

४. कृष्णविहारी मिश्र—पूर्णसंग्रह (समालोचना), देव और विहारी (आलोचना), मतिराम ग्रंथावली (समालोचना-सहित) प्र०—गंगा पुस्तक-माला कार्यालय लखनऊ, मुद्रण समय क्रमशः सं० १९२५ तथा १९२६।

५. कृष्णशंकर शुक्ल—केशव की काव्य-कला (समालोचना), प्र०—सीताराम प्रेस काशी, सं० १९३४। कविवर रत्नाकर (समालोचना) प्र०—देवेंद्रचंद्र काशी, सं० १९३५।

६. केशवदास—रसिकप्रिया (साहित्य-शास्त्र), प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, सं० १८७७।
२ प्र०—नारायण भारती—जसवंत भारती बंबई, सं०—१९००।
३. सरदार कवि की टीका सहित, प्र० नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सं० १८९८
४, वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, सं० १९१४।
२ कविप्रिया सटीक (साहित्य शास्त्र) प्र०-नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सं० १८८६।
२ " (टीका-हरिचरणदास) प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सं० १८९०
३ कविप्रिया (सटीक) टीका नाम—'प्रियाप्रकाश' टी०—ला० भगवानदीन—प्र० नेशनल प्रेस, काशी सं० १९२५
३ रामचंद्रिका (काव्य-सटीक), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सं० १८८२
२ " (सटीक) जानकी प्रसाद कृत टीका, प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, सं० १९०७।
३. " सं०—ला० भगवान दीन, प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० १९२२।
४. " (सटीक—टीका का नाम 'केशव कौमुदी) कर्त्ता—ला० भगवान दीन, प्र०-साहित्य-सेवासदन काशी, सं० १९२३, दो भागो में।
४ नखशिख सं०—रत्नाकर, प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, सं० १९२३।
५ वीरसिंहदेव चरित, सं०—रत्नाकर, प्र०—ओरछा-दरबार, सं० १९४०।
६ विज्ञान गीता (धर्म), प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, सं० १८३४।

७. गंगाप्रसाद सिंह—पद्माकर की काव्य-साधना (समालोचना), प्र०—साहित्य सेवा-सदन काशी, सं० १९३४।

८ गजाधर—छंदोमंजरी (साहित्य-शास्त्र), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, सं० १८८७।

९. गिरिधर कविराय—कुंडलिया (नीति), प्र०-मुस्तफाये प्रेस लखनऊ, सं० १८७४।
२ प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सं० १८८३।
३ प्र०—गुलशन ए पंजाब प्रेस रावलपिंडी, सं० १८९६।
४ प्र०—जैन प्रेस लखनऊ, सं० १८९७।
५ प्र०—किशनलाल श्रीधर बंबई, सं० १९०२।
६ भार्गव बुकडिपो काशी, सं० १९०४।

१० गिरिधरदास (गोपालचंद्र)—जरासंध-वध (काव्य), प्र०—चौखंबा काशी, सं० १८७४।
२ भारतीभूषण (साहित्य-शास्त्र), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, सं० १८८१।
३ रस-रत्नाकर (साहित्य-शास्त्र), प्र०—खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर पटना, सं० १९०६।

११ गिरिधर गोपाल तथा हरिश्चंद्र—प्रेमतरंग (काव्य), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, सं० १८८४।

१२. गुलाबसिंह (कविराज)—बृहद्व्यंग्यार्थ-चंद्रिका (साहित्य-शास्त्र), प्र०—रामकृष्ण वर्मा काशी, सं० १८८७।

१३. गोकुलनाथजी गोस्वामी—वचनामृत (धर्म), प्र०—अगद शास्त्री अलीगढ़, सं० १८७०।
२ वचनामृत (धर्म), प्र०—हरीदास तेवरदास, वैष्णव अहमदाबाद, सं० १९०९।
३. चौबीस वचनामृत (धर्म), प्र०—माणिकलाल छोटालाल भाई प्रेस अमदाबाद, सं० १८८७।

२. चौबीस वचनामृत (धर्म), लल्लूभाई छगनलाल देसाई अमदाबाद, स० १६२६।
३ गोवर्धनवासी चिंतन (धर्म), प्र०—हरीदास तेवरदास वैष्णव अमदावाद, स० १६०६।
४ वनयात्रा (धर्म), प्र०—हरिदास तेवरदास वैष्णव, अमदाबाद, स० १६०७।
५ पवित्रा एकादशी नू धौल (धर्म), प्र०—गोवर्धनदास लक्ष्मीदास ववई, स० १८६५।
६ चौरासी वैष्णवन की वार्ता (धर्म), प्र० रणहर पुस्तकालय डाकौर, स० १६०३।
७ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता (धर्म), प्र०—रणहर पुस्तकालय डाकौर, स० १६०३।

१४. गोरेलाल (कवि)—"छत्रप्रकाश (काव्य), प्र०—नागरीप्रचारिणी सभा काशी, स० १६०३।

१५. ग्वाल कवि—यमुनालहरी (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८१।
२ षट्ऋतुवर्णन (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस, काशी, स० १८६३।
३ नख-सिख (काव्य), प्र०—लक्ष्मीनारायण प्रेस मुरादाबाद, स० १६०३।

१६. घनानंद—सुजानसागर (काव्य), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, स० १८८७।
२ विरहलीला (काव्य), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १६०७।

१७. चिंतामणि—कविकल्पतरु (साहित्य-शास्त्र), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८५७।

१८. छत्रसिंह (कवि)—विनय मुक्तावली (काव्य), प्र०—मुहम्मद वजीर खाँ आगरा, स० १८६७।
२ प्र०—केशवप्रसाद आगरा, स० १८८१।
३. प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस ववई, स० १८६६।

१६. जगन्नाथदास (रत्नाकर)—समस्यापूर्ति (काव्य), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, स० १८६४।
२ हिंडोला (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८६४।
३ हरिश्चद्र (काव्य), प्र०—नागरीप्रचारिणी सभा काशी, स० १८६४।
४ गगावतरण (काव्य), प्र०—इडियन प्रेस प्रयाग, स० १६२८।
५. उद्धवशतक (काव्य) प्र०—इडियन प्रेस प्रयाग।

२०. जवाहरलाल चतुर्वेदी—आँख और कविगण (आलोचना-सहित ब्रजभाषा के विविध कवियों के काव्य का तत्सवंधी वृहद् सग्रह), प्र०—साहित्य सेवा सदन काशी, स० १६३२।
२ भक्त और भगवान् (आलोचना-सहित, ब्रजभाषा के विविध कवियो की सूक्तियों का सग्रह), प्र०—हिंदी साहित्य कुटीर काशी, स० १६३८।
३ रास पचाध्यायी नददास (सपादन), प्र०—ज्ञान हितकारी पुस्तकालय प्रयाग, स० १६३०।
४ शृंगारलतिका-सौरभ द्विजदेव (सपादन) प्र०—राजसदन अयोध्या, स० १६३८।
५ नंददास · पदावली स०—१६४२।
६. दानलीला श्री हरिराय कृत (आलोचना सहित) प्र०—साहित्य सेवा सदन काशी, स० १६३२।

२१. ठाकुर (कवि)—ठाकुर-सतक (काव्य), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १६२६।
२ ठाकुर-ठसक (काव्य), प्र०—साहित्य सेवक कार्यालय काशी, स० १८६३।

२२. तुलसीदास गोस्वामी—गीतावली (काव्य), प्र०—चद्रशेखर प्रेस काशी, स० १८६७।
२ प्र०—इद्रनारायण घोप कलकत्ता, स० १८६८।
३ प्र०—नृत्यलाल शील कलकत्ता, स० १८७३।
४ स०—वैजनाथ कुर्मी, प्र०—नवल किशोर प्रेस लखनऊ, स० १८७८।
५ प्र०—रामकुमार प्रेस काशी, स० १८८३।
२. कृष्ण गीतावली (काव्य) प्र०—रामकुमार प्रेस काशी, स० १८७२।

३ कवित्त-रामायण (काव्य), प्र०—मधुसूदन शील कलकत्ता, स० १८६८ ।
२. प्र०—अजीरखाँ आगरा, स० १८७० ।
४ विनय-पत्रिका (काव्य सटीक), टी०—शिवप्रकाश सिंह काशी, स० १८६८ ।
२. " (सटीक) टीका—ला० भगवानदीन, स० १८२७ ।
३ " (सटीक) टीका—वियोगी हरि, प्र०—साहित्य सेवा सदन काशी, स० १८२३ ।

२३. दूलह कवि—कवि-कुल-कंठाभरण (काव्य-शास्त्र), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८८६ ।
२, प्र०—गंगा फाइन आर्ट प्रेस लखनऊ, स० १९०६ ।

२४. देव (कवि)—अष्टयाम (काव्य), प्र० भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९२ ।
२ भावविलास (सा०शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९३ ।
३, रसविलास (सा०शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९३ ।
४, भवानी विलास (सा० शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १९०० ।

२५. नंददास—बाँसुरीलीला, (काव्य), प्र०—ब्रह्मप्रेस दिल्ली, स० १८७१ ।
२ श्याम-सगाई (काव्य), प्र०—ब्रह्मप्रेस दिल्ली, स० १८७४ ।
२ " प्र०—मोतीलाल फतेहपुर सीकरी, स० १९१० ।
३. " प्र०—अग्रवाल प्रेस प्रयाग, स० १९३४ ।
३ अर्थ चन्द्रोदय (भाषा-दर्शन), प्र०—चश्मएकर प्रेस अमृतसर, स० १९०० ।
४ नाममाला (कोष), प्र०—अमीरसिंह बनारस, स० १८७७ ।
५ अनेकार्थ और नाममाला (कोष), प्र०—प्रयाग विश्वविद्यालय ।
६ रास-पंचाध्यायी (काव्य), प्र०—रामस्वरूप शर्मा मुरादाबाद, स० १८९९ ।
७ भँवरगीत (काव्य), प्र०—गोवर्धनदास लक्ष्मीदास, प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९०३ ।
८ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, (काव्य), स०—जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्र०—छात्र हितकारी पुस्तकालय प्रयाग ।
९ नंददास (नंददास जी के काव्य ग्रंथ और आलोचना) प्र०—प्रयाग विश्वविद्यालय ।

२६. नरोत्तमदास—सुदामा चरित्र (काव्य), प्र०—काशी प्रेस दिल्ली, स० १८८२ ।
२ स०—लल्लीप्रसाद शुक्ल, प्र०—हिंदी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग, स० १८९० ।

२७. नागरीदास—नागरसमुच्चय (काव्य-संग्रह), प्र०—श्रीधर शिवलाल ज्ञानसागर प्रेस बंबई, स० १८९८ ।

२८ नाभादास—भक्तमाल (सा०इ०) प्र०—नृत्यलाल शील कलकत्ता, स० १८७३ ।
२ रामाष्टयाम (काव्य), प्र०—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, स० १८९४ ।

२९ पजनेश (कवि)—पजनेश-पचीसा (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९२ ।
२ पजनेश-प्रकाश (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८९४ ।

३०. पद्माकर—जगद्विनोद (सा० शा०), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८७९ ।
२ पद्माभरण, (सा०शा०), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १९०० ।
३ गंगालहरी (काव्य), प्र०—श्रीधर शिवलाल बंबई, स० १८७४ ।
४ पद्माकर-पंचामृत, (काव्य-संग्रह, आलोचना), स०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र०—रामरत्न पुस्तकालय काशी, (पद्माकरजी के पाँच ग्रंथ)
५ रामरसायन (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स० १८१४ ।
२ " अयोध्या कांड—स० १८९९ ।

३ " अरण्य कांड—सं० १८६५ ।
६ प्रबोधपचासा (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, सं० १८६२ ।
७ हिंमतबहादुर विरुदावली (काव्य), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० १९०८ ।

३१. परमानंददास (अष्टछाप)—दधि लीला (काव्य), प्र०—असनी प्रेस दिल्ली, सं० १८६८ ।
२. परमानंदसागर (काव्य), प्र०—रामचद्र त्रिवेदी जयपुर, सं० १९१४ ।

३२. पद्मसिंह शर्मा—सतसई-सौष्ठव और सतसई-संहार (आलोचना) ।

३३. बेनीप्रवीण—नवरस-तरंग (सा०शा०), प्र०—एम० एस० मेहता काशी, सं० १९२५ ।

३४. बोधा (कवि)—विरह वारीश—माधवानल कामकदला (काव्य), प्र०—गनेशप्रसाद लखनऊ, सं० १८६४ ।
२ कामकदला-चरित्र, सपा०—ला० भगवान दीन ।

३५. भगवानदीन—सूक्तिसरोवर (सा० सं०) प्र०—मिश्रबंधु कार्यालय जबलपुर, सं० १९२३ ।
२ बिहारी और देव (आलोचना), बनारस, सं० १९२६ ।
३ संपादित ग्रंथ—तुलसीपंचरत्न, सूरपंचरत्न, केशव, रहिमन-सतक आदि । प्र० नंदकिशोर ब्रदर्स काशी, रामनारायणलाल अग्रवाल प्रयाग, साहित्य भूषण कार्यालय काशी ।

३६. भिखारीदास (दास कवि)—छंदार्णव (सा०शा०), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, सं० १८६८ ।
२ रससारांस, (सा० शा०), प्र०—राणाप्रतापबहादुरसिंह प्रतापगढ़, सं० १८६३ ।
३ शृंगार-निर्णय (सा० शा०), प्र०—गुलशन ए अहमदी प्रेस दिल्ली, सं० १८६२ ।
४ काव्यनिर्णय (सा० शा०), प्र०—गुलशन ए अहमदी प्रेस दिल्ली, सं० १८६२ ।

३७. भूषण—शिवा-बावनी और छत्रशाल-दशक (काव्य), प्र०—गोवर्धनदास लक्ष्मणदास, सं० १८६० ।
२ शिवराज-बावनी (काव्य), प्र० ब्रजजीवन मुरारजी त्रिपाठी, सं० १८६३ ।
३ शिवराजभूषण (सा० शा०) प्र०—परमानंदसुहाने लखनऊ सं० १८६४ ।
२ " प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० १९०८ ।

३८. मतिराम—रसराज (सा० शा०), प्र०—किशनलाल आगरा, सं० १८१४ ।
२ ललित-ललाम (सा० शा०), प्र०—भारजीवन प्रेस काशी, सं० १८१४ ।

३९. महाराज मानसिंह (द्विजदेव)—शृंगार-बत्तीसी (काव्य), प्र०—महाराज सर त्रिलोकीनाथ सिंह अयोध्या, सं० १८७७ ।
२ शृंगार-लतिका (काव्य), प्र०—ब्रह्मशंकर मिश्र काशी, सं० १८८३ ।
३ शृंगारलतिका-सौरभ, सटीक—ब्रजभाषा-टीका-कर्ता पं० जगन्नाथ अवस्थी, हिंदी टीकाकार—महाराज प्रतापनारायण सिंह अयोध्या, सं०—जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा, प्र०—महारानी जगदंबादेवी अयोध्या, मु०—इंडियन प्रेस प्रयाग सं० १९९३ । यह पुस्तक इतनी सुंदर छपी है कि इसके तोल-मोल में हिंदी की कोई पुस्तक आज तक नहीं । संपादन तथा पाठ-निर्णय में बड़ा परिश्रम किया गया है ।

४०. मिश्रबंधु—लवकुश चरित्र (काव्य), प्र०—राजकिशोर गोलागंज लखनऊ, सं० १८६६ ।
२ देव-ग्रंथावली (समालोचना), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० १९१० । (प्रेम-चंद्रिका—रसविलास) -
३ भूषण-ग्रंथावली (समालोचना सहित), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० १९१२ ।
४. देवसुधा (आलोचना और काव्य), प्र०—गंगा फाईन आर्ट प्रेस लखनऊ, सं० १९३५ ।

४१. रणछोड़दास-वरजीवनदास—पचमजरी नददास (काव्य), प्र०—सूरतवाला मदिर भूलेश्वर सामने बवई, स० १९१६। पचमजरी जैसे—अनेकार्थ० नाममाला, विरह०, रस० और रूप०।

४२. रसखान—रसखान शतक (काव्य), प्र०—भारतजीवन प्रेस काशी, स०—१८९२।

२ सुजान-रसखान (काव्य-सग्रह), प्र०—किशोरीलाल गोस्वामी, वृंदावन (मथुरा), स० १८६७।

३ प्रेमवाटिका (काव्य), प्र०—किशोरीलाल गोस्वामी, वृदावन, स० १८६७।

४ रसखान-पदावली (काव्य), प्र०—हिंदी प्रेस प्रयाग, स० १९३०।

४३. रसनिधि—रतन-हजारा (काव्य), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८१२।

४४. रसलीन—रसप्रवोध (सा० शा०), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६९।

२ अगदर्पण (काव्य० शा०), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८८५।

४५ रहीम—नीति कुडलिया (धर्म), प्र०—बच्चनलाल मिश्र आगरा, स० १८९३।

२ वरवै नायिका-भेद, (सा० शा०), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८९३।

४६. राधाकृष्णदास—कविवर बिहारीलाल (समालोचना), प्र०—चद्रप्रभा प्रेस काशी, स० १८१६।

४७. रामचंद्र शुक्ल—(सपादक, तुलसी-ग्रथावली—समालोचना तथा ग्रथ), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९२३।

२ वुद्धचरित (काव्य), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९२२।

३ भ्रमरगीत-सार (आलोचना), प्र०—गयाप्रसाद शुक्ल काशी, स० १९२३।

४८. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—भूषण ग्रथावली, (समालोचना सहित सपादन) प्र०—साहित्य सेवक कार्यालय काशी, स० १९३१।

२ पद्माकर-पचामृत (समालोचना, काव्य, सपादन), प्र०—रामरत्न पुस्तकालय काशी, स० १९३५।

३ विहारी की वाग्भूमि (आलोचना), प्र०—द्वारिकादास काशी, स० १९३६।

४९ विहारीलाल—सतसई (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९०।

५०. वृंदकवि—वृद सतसई (नीति), प्र०—खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर पटना, स० १८९८।

५१ सुंदरदास—सवैया (धर्म)।

२ सुदर-ग्रथावली, स०—हरिनारायण प्रोहित जैपुर, स० १८९०।

५२. सूदन—सुजान चरित्र (काव्य), प्र०—बनारस लायट प्रेस काशी, स० १८६७।

५३. सूरदास—सूरसागर-रत्न (काव्य), प्र०—बनारस लायट प्रेस काशी, स० १८६७।

२ सूरसगीत-सार (काव्य), प्र०—अरुणोदय प्रेस कलकत्ता, स० १९०२।

३ विनय-पत्रिका (काव्य), प्र०—ज्ञानसागर प्रेस बवई, स० १८५७।

२ „ (सटीक), टी०—सरदार कवि, प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६९।

३ सूर-विनय, स०—सरदार कवि, प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८७०।

५ सूर-सतक (काव्य), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६९।

६ दृष्टिकूट (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८९०।

७ सूरपूर्वार्द्ध (काव्य), स०—भारतेंदु हरिश्चद्र, प्र०—खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर पटना, स० १८८९।

८ सूर-रामायण (काव्य), प्र०—गोपीनाथ पाठक काशी, स० १८६९।

२. " प्र०—शिवलाल गणेशीलाल मुरादाबाद, स० १८९८।

९ बिसातिनलीला (काव्य), प्र०—हुसेनबक्स फतेगढ, स० १८७६।
१० गोपालगारी (काव्य), प्र०—श्रीनाथ ३१६ चितपुर रोड कलकत्ता।
११ भवँरगीत—(काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८७८।
१२ मयूरध्वज राजा की कथा (काव्य), प्र०— नदराम नवलराम, स० १८८३। द्वितीयबार—स० १८६०।
१३ सूर-पचीसी—सूरसाठी (काव्य), प्र०—मनसुखदास शिवलाल मथुरा, स०१६३०।
१४ सूर-वैराग सतक (काव्य), प्र०—मनसुखदास शिवलाल मथुरा, स० १६३०।
१५ सूरसागर (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८२।
२ „ कृष्णलाल आगरा, स० १८८२।
३ „ ईजाद ए किशन प्रेस आगरा, स० १८८६।
४ „ वेकटेश्वर प्रेस, बबई, स० १८१७।
५ „ मुर्वे उलउलूम प्रेस मथुरा सं० १८७८।
६ „ (सचित्र), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, (८ खड) अपूर्ण, स० १६३४।

५४. सेनापति—कवित्त-रत्नाकर (काव्य), प्र०—हिंदी परिषद् प्रयाग, स० १६३४।
५५. सेवक कवि—नख-सिख (काव्य), प्र०—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १८६३।
२ वाग्विलास (सा० शा०), प्र०—राजा कमलानदसिंह पूर्नियाँ, स० १६६५।
५६ सोमनाथ—रासपचाध्यायी (काव्य), प्र—भारतवासी प्रेस प्रयाग, स० १६३७।
५७. सोमलाथ गुप्त—अष्टछाप-पदावली (सपादन, साहित्य-इतिहास), प्र०—हिंदी भवन लाहौर, स० १६४०।
५८. हजारीप्रसाद द्विवेदी—सूरसाहित्य (समालोचना), प्र०—मध्य भारत हिंदी-साहित्य समिति, इदौर, स० १६३६।
५९. हफीज्जुल्ला खाँ—नवीन सग्रह (सा० इति०), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, (कानपुर ब्राच का छपा), स० १८८२।
२ हजारा (सग्रह), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८६।
३ षट्ऋतु-काव्य-सग्रह (काव्य-सग्रह), प्र०—नवल किशोर प्रेस लखनऊ, स० १८८६।
४ प्रेमतरगिणी (काव्य), प्र०—शिगूफए गुलनार अवध प्रेस बबई, स० १८६०।
५ मनमोहिनी (काव्य), प्र०—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, स० १८६४।
६०. हरिनारायण प्रोहित—सुदर-सागर (समालोचना), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १६१८।
२ ब्रजनिधि-ग्रथावली (सा० इति०), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १६३३।
३ सुदर-ग्रंथावली (समालोचना तथा काव्य-सग्रह), प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १६३६।
६१. हरिप्रसाद द्विवेदी (वियोगी हरि)—सक्षिप्त सूरसागर (समालोचना और काव्य-सग्रह), प्र०—हिंदी-साहित्य-समेलन, प्रयाग, स० १६२२।
२ ब्रजमाधुरी-सार (समालोचना तथा काव्य सग्रह), प्र०—हिंदी-साहित्य-समेलन प्रयाग, स० १६२३।
३ छत्रसाल-ग्रथावली, (समालोचना), प्र०—छत्रसाल-स्मारक समिति, छतरपुर,
४ वीरसतसई
६२. हरिरायजी—गोवर्धननाथ जी की प्रागट्यवार्ता (धर्म), प्र०—मोहनलाल विष्णुलाल पड्या, बबई, स० १८७६।

२ नित्यलीला भावना प्रकाश, (धर्म), प्र०—जोशी मूलचंद बंबई, सं० १८६८।

३ बड़े शिक्षापत्र (धर्म), प्र०—सुबोधिनी पाठशाला बंबई, सं० १८९१।

४ श्रीनाथ जी के प्रागट्य की वार्ता (धर्म), प्र०—अधिकारी चरणदास मथुरा सं० १९९५।

६३. हरिश्चंद्र (भारतेंदु)—विरह सतक (काव्य), प्र०—ज्वालाप्रसाद भार्गव आगरा, सं० १८६७।

२ प्रेमतरंग (सा० इति०), प्र०— गोपीनाथ पाठक काशी, सं० १८६९।

३ सुंदरी-तिलक (सवैया-संग्रह), प्र०—फौकं काशी प्रेस काशी, सं० १८८०।

४ परिहासिनी (काव्य संग्रह), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस, काशी, सं० १८८०।

५ पावस कविता-संग्रह (संग्र०), प्र०—खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर पटना, सं० १८९७।

६ रस-बरसात (काव्य-संग्र०), प्र०—हरिप्रकाश प्रेस काशी, सं० १९००।

६४. हित हरिवंश—वृंदावन सतक (काव्य), प्र०—लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, सं० १८९४।

२ हित चौरासी (काव्य), प्र०—गो० गोवर्धनलाल वृंदावन (मथुरा) सं० १९०६।

३ हित सुधासागर (काव्य), प्र०—श्रीनारायण अलीगढ़, सं० १९३६।



मीराजी के पद

(सं० १६४२ की डाकोर वाली प्रति से)

हरि म्हारा जीवण प्राण अधार।[1]
ओर आसिरो णा म्हारा थे विणा तीणू लोक मझार।
थे विणा म्हाणे जग णा सुहावाँ निरख्याँ जग संसार।
मीराँ रे प्रभु दासी रावली ळीज्यो णेक णिहार॥

❀

साँवरे मारया तीर।
री म्हारा पार निकड़ गयाँ तीर साँवरे मारया तीर।
विरहा अनड़ लागी उर अंतर व्याकुड म्हारो सरीर।
चंचड़ चित्त चड़ाँ णा चाड़याँ बांध्यां प्रेम जंजीर।
क्याँ जाणाँ म्हारो प्रीतम प्यारो क्या जाणाँ म्हा पीर।
म्हारो काँई णा बस सजणी नैण झरयाँ दो नीर।
मीराँ रो प्रभु थे बिछुड्याँ बिण प्राण धरत णा धीर॥

❀

मण थे परस हरि रे चरण।
सुभग सीतड कँवड़ कोमड़ जगत ज्वाड़ा हरण।
इण चरण प्रह्लाद परस्याँ इंद्र पदवी धरण।
इण चरण ध्रुव अटड करस्याँ सरण असरण सरण।
इण चरण ब्रह्मांड भेट्याँ णख सिखाँ सिरि भरण।
इण चरण कालियाँ णाथ्याँ, गोपड़ीड़ा करण।
इण चरण धारयाँ गोवरधण गरब मधवा हरण।
दासि मीराँ लाल गिरधर अगम तारण तरण॥

❀

स्याम शुंदर पर वाराँ जीवड़ा डाराँ स्याम।
थारे कारण जग जण त्यागा ळोक डाज कुड डारा।
थे देख्याँ विण कड़ णा पड़ताँ णेणा चड़ता धारा।
क्याँ सूं कहवाँ कोण बुझावाँ कठण बिरह री धारा।
मीराँ रे प्रभु दरशण दीज्यो थे चरणाँ आधारा॥

❀

सखी म्हारी णींद णशाणी हो।
पिय रो पंथ निहारता सब रैण बिहाणी हो।
सखियाँ सब मिड सीख दयाँ मण एक णा माणी हो।
विण देख्या कड़ णा पड़ा मण रोस णा ठाणी हो।
अङ्गखीण व्याकुड़ भया मुख पिव पिव वाणी हो।
अन्तर वेदण बिरह री म्हारी पीड णा जाणी हो।
ज्यूं चातक घण कूं रटा मछरी ज्यूं पाणी हो।
मीराँ व्याकुड़ बिरहणी सुधबुध बिसराणी हो।

१. मीराजी ने 'न' के लिए 'ण' का प्रयोग किया है और 'ल' के लिए 'ड' का प्रयोग किया है।

ब्रजभाषा के काव्य-ग्रंथों की खोज

श्री किशोरीदास वाजपेयी

अब से लगभग पचास वर्ष पहले 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य अपने सिर लिया था—हिंदी-ग्रथो की खोज का। इस काम मे उसे सरकार से और रजवाडो से भी पर्याप्त आर्थिक सहायता मिली, परतु खोज का काम जैसा होना चाहिए था, न हुआ। 'सभा' खोज की रिपोर्ट प्रति वर्ष प्रकाशित किया करती थी। उसकी ऐसी ही एक रिपोर्ट की आलोचना करते हुए प० 'महावीर प्रसाद द्विवेदी' ने लिखा था—

यह तो मालूम हुआ कि खोज में इतने रुपए खर्च हुए; परंतु (रिपोर्ट से) इसका कोई पता नहीं चलता कि यह खोज किसने की, कहाँ की और कब की।"

द्विवेदी जी की आलोचना बहुत विस्तृत और व्यौरे-से थी। 'सभा' के अधिकारी इससे बहुत चिढ गए थे, परतु पीछे कुछ सुधार भी हुआ, किंतु वह 'खोज' वस्तुत बडी विचित्र हुई थी! उसी खोज के आधार पर 'मिश्रबधुओं' ने अपना महाग्रथ "मिश्रबधु-विनोद" तैयार किया। जहाँ-जहाँ खोज में गलती है, वही 'मिश्रबधु-विनोद' में हुई, होनी ही थी; फिर मिश्रबधु-विनोद के आधार पर ही आचार्य प० श्री 'रामचद्र' शुक्ल ने हिंदी-साहित्य का इतिहास खडा किया। स्वभावत शुक्ल जी के ग्रथ में भी वे ही सब भूलें आयी। उदाहरण के लिए—'युगल-शतक' ले सकते है। ब्रजभाषा में सुदर 'सौ दोहे' श्री 'श्रीभट्ट जी' ने लिखे और प्रत्येक दोहे का विकास नीचे मधुर पद्य में किया। सो, सौ दोहे और सौ गेय पदो की समष्टि का नाम है—'युगल-शतक'। 'युगल' से अभिप्रेत है श्रीकृष्ण तथा श्री राधिका जी। निश्चय ही खोज करने वाले ब्रज में न पहुँच पाये थे, यद्यपि बीच में न कोई हिमालय था, न कोई महासागर! मरुस्थलीय मैदान भी बीच में नही, न दुर्गम जगल। रेल सीधी गयी है, परतु 'युगल-शतक' जैसी पुस्तको की खोज करने उतनी दूर कोन जाय! यह भी न हुआ कि 'प० किशोरीलाल' गोस्वामी जी से पूछ-ताछ कर ली जाती जो उस समय काशी में ही रहते थे और उसी श्री निंवार्क-सप्रदाय के अनुयायी थे, जिसके आचार्य श्री श्रीभट्ट जी 'युगल-शतक' के लेखक है। उस समय कार्ड एक पैसे का ही मिलता था, सो भी खर्च न किया गया, नही तो भारतेंदु हरिश्चद्र के अंतरग मित्र वृदावनवासी श्री 'राधाचरण' गोस्वामी से पूछा जा सकता था! यह भी न किया गया और खोज में मन-गढन बातें लिख दी गयी। खोज में, मिश्रबधु-विनोद मे तथा साहित्य के इतिहास में 'युगल-शतक' के बारे में जो गपडचौथ है, उसका सार यह है—

"युगलशतक' श्री श्रीभट्ट जी की रचना है। इस को 'महावानी' भी कहते है।"

इस तरह 'महावानी' के सबध में भी खोजी लोगो ने भ्रम फैलाया! वस्तुत 'महावानी' एक पृथक् रचना है और उसके रचयिता भी (श्री श्रीभट्ट से) पृथक् है—श्री हरिव्यास देव जी! ये श्री श्रीभट्ट के शिष्य थे। 'युगल-शतक' को निंवार्क-सप्रदाय में 'आदि बानी' कहते है और श्री हरिव्यास देव जी के इस बडे ग्रथ को 'महावानी'। 'महावानी' की रचना 'युगलशतक' की ही पद्धति पर है—पहले एक दोहा और फिर नीचे एक (टीका रूप) सुदर 'पद'। मैंने वृदावन में अपने हाथ से 'युगल-शतक' की और 'महावानी' की प्रतिलिपि की थी; इस लिए मेरी खोज को ब्रह्मा भी गलत नहीं बना सकते है।

यह एक उदाहरण है उस खोज का। और न जाने कितने ग्रथो की कही खोज-खबर है ही नही। मैंने अपने हाथ से 'परशुराम-सागर' की भी प्रतिलिपि की थी। यह बडा ग्रथ श्री परशुरामदास की रचना है, जो निबार्क-सप्रदाय में हुए है। इन्ही से गोस्वामी 'तुलसीदास' की भेंट का वह गलत वर्णन है, जिसमे प्रचलित है कि परशुरामदास जी ने गोस्वामी जी से राम की उपासना छोड देने के लिए कहा था। यदि 'परशुराम-सागर' छप जाय, तो लोग स्वत समझ जायें कि वह किवदन्ती कितनी झूठ है। भेंट होना ठीक है, पर वह उपासना वाली बात तो कतई झूठ मालूम देती है, क्योकि 'परशुराम-सागर' तो राम-नाम की महिमा मे भरा हुआ है। नीति तथा सदाचार से सबध रखनेवाले भी बहुत दोहे है।

ऐसे और भी बहुत से ब्रजभाषा-काव्य निकल सकते है, यदि खोज की जाय। ब्रजभाषा-गद्य-ग्रथो की तो खोज बिलकुल ही नही की गयी है। निबार्क-सप्रदाय के 'वेदातकामधेनु' नामक ग्रथ की टीका ब्रजभाषा-गद्य में बहुत सुदर है, लगभग ढाई सौ वर्ष की पुरानी और श्रीमद्भगवद्गीता की टीका ब्रजभाषा-गद्य में देखिए—

"यत्र नाम जा पक्ष में, योगेस्वरः नाम सर्वके चित्त कौ नियता स्वामी ग्रैसौ श्रीकृष्ण वर्तमान है, अरु यत्र नाम जा पक्ष में पार्थ जो अर्जुन जैसौ धनुर्धर नाम गाडीव धनुष को धारण कर कें स्थित है....."

यहाँ 'ग्रैसौ' शब्द ध्यान देने योग्य है। यह टीका ब्रज में नही, विन्ध्याचल के पास गगा जी के तट पर कही लिखी गयी थी—

"बिध्य निकट सुरतटिनि-तट .. ।"

टीकाकार है, प० अनतराम जी, जो भूमिका मे कहते है—

"ता गीता-सास्त्र कौ अति गभीर अर्थ जानि कें अनेक आचार्य अरु तिनके सप्रदायी अनेक पडित व्याख्या करत भए। ताहू को व्याकरण, न्याय, वेदांतादि पठित कर कें जे बुद्धिमत है, तेई ग्रहन करि सकें। जिनकें यह सास्त्रन कौ अध्ययन नहीं है अरु गीता के पदार्थन की जिज्ञासा है, तिनके उपकार के अर्थ ग्रथन कौ अर्थ संग्रह करिकें अपनी मति-अनुसार श्री गीतापदार्थ बोधिनी 'वचनिका' भाषा मैंने करी है।"

'अपनी मति-अनुसार' श्री रामचद्र वर्मा की 'अच्छी हिंदी' के अनुसार गलत है, पर श्री अनतराम जी के समय में यह परिष्कार हुआ ही न था। गद्य को तब 'बचनिका' कहते थे क्या?

ब्रज-साहित्य मंडल

सो, ब्रजभाषा-ग्रथो की सुव्यवस्थित खोज का काम अभी ज्यो का त्यों पडा है। क्या ही अच्छा हो कि 'ब्रज-साहित्य-मडल' इस काम को अपने हाथ मे ले और पूरी शक्ति लगाकर अगले दो बरस में पूर्ण करके सपूर्ण सामग्री का सक्षिप्त परिचय प्रकाशित कर दे। यह एक काम होगा, काशी की 'सभा' का पूरक और हिंदी-साहित्य के इतिहास का आधार।

आशा है, 'पोद्दार-अभिनदन ग्रथ' के समर्पण-महोत्सव पर ही हमें 'ब्रज-साहित्य-मडल' से [illegible] शुभसकल्प की घोषणा सुनने को मिलेगी। अन्यथा, इस अभिनदन-ग्रथ में ये पक्तियां पढी [illegible] कभी न कभी, किसी न किसी विशिष्ट व्यक्ति या सस्था का ध्यान इधर जायगा ही। [illegible] इतना निवेदन किया है।

ब्रजभाषा का सबसे प्राचीन व्याकरण : एक परिचय

श्री चंद्रभान 'राधे-राधे'

ब्रजभाषा का जादू प्रायः समस्त मुगल बादशाहों पर अपनी करामात दिखाता रहा। अकबर से लेकर औरंगजेब तक सभी मुगल-बादशाहों की ब्रजभाषा-रचना की शोध श्री 'चंद्रबली' पांडे ने की है। अकबर ने दो धर्मों और संस्कृतियों को मिलानेवाली कड़ियों की खोज 'अबुलफजल' जैसे अध्येता के माध्यम से कराई। फलतः सांस्कृतिक संघर्ष का तनाव कम हुआ। शुष्क दर्शन-शास्त्र की खोज से ऊबे हुए अकबरी दरबार को 'ब्रजभाषा' के संगीत ने विभोर कर दिया। इस युग में ब्रजभाषा का संगीत अपने चरम पर था। इस प्रकार कला के क्षेत्र में भी एक समन्वय-समझौते की झाँकी हुई। अकबर के इन प्रयत्नों ने अनेक उलझनों को सुलझा दिया—समन्वय और एकता का मार्ग प्रशस्त कर दिया। राजनैतिक दृष्टि से भी मार्ग निर्बाधित था। फलतः शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में ब्रजभाषा-काव्य का जादू सामने आया। ब्रजभाषा-काव्य के माधुर्य से दरबारों की शुष्क दरारें भरने लगीं। काव्य-शास्त्र का गंभीर और बारीक अध्ययन अवकाश-प्राप्त दरबारियों के मनोविनोद का साधन हो गया। अतः काव्यशास्त्र का अध्ययन विशेष रूप से और ब्रजभाषा-संबंधी भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन साधारण रूप से हुआ।

औरंगजेब, उसके मंत्री अथवा उसके पुत्रों ने ब्रजभाषा-काव्य का किसी न किसी रूप में संरक्षण अवश्य किया। 'कालिदास त्रिवेदी' का नाम औरंगजेब के साथ संबद्ध है। स्व० श्री 'रामचंद्र शुक्ल' ने लिखा है कि "उक्त कवि सन् १७४५ वाली गोलकुंडा की चढ़ाई में औरंगजेब की सेना में गया था।" औरंगजेब की प्रशंसा में इनका लिखा हुआ एक छंद भी शुक्ल जी ने उद्धृत किया है।[1] 'सुखदेव मिश्र' का संरक्षण कुछ दिनों औरंगजेब के मंत्री 'फाजिलअली शाह' ने किया था। औरंगजेब का पुत्र 'आजमशाह' ब्रजभाषा, ब्रजभाषा के कवियों और ब्रजभाषा-काव्य का बड़ा योग्य संरक्षक था। शुक्ल जी ने उन्हीं आजमशाह के यहाँ एक 'निवाज' कवि का रहना बतलाया है।[2] अन्य अनेक लेखों में भी आजमशाह को ब्रजभाषा का अत्यंत प्रेमी बताया गया है।

आजमशाह 'भाषा' का इतना प्रेमी था कि उसने निवाज कवि से संस्कृत के महाकवि कालिदास के 'शकुंतला नाटक' का 'भाषा' में अनुवाद कराया था।[3] इनकी ही आज्ञा से 'बिहारी-सतसई' का संपादन हुआ, जिसका नाम ही 'सतसई आजमशाही' प्रसिद्ध हुआ। इसी संपादन के आधार से दोहों का वर्तमान क्रम काफी-कुछ निर्धारित किया गया है। यहाँ जिस ब्रजभाषा के व्याकरण का जिक्र होने जा रहा है, उसके लेखक का संरक्षक भी आजमशाह ही था। आजमशाह ने ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही यह 'व्याकरण' लिखवाया था।

यह व्याकरण 'तुहफत-उल-हिंद' है, जिसका अर्थ है—'भारतवर्ष का उपहार'। इसके रचयिता हैं 'मीर्जा खाँ', और लिखा गया है—फारसी भाषा में।

1. 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' रामचंद्र शुक्ल, पृ० २१५।
2. वही, हि० सा० इ०, पृ० २१७।
3. जियाउद्दीन—'ग्रामर ऑफ ब्रजभाषा', पृ० ३।

इसका सर्वप्रथम उल्लेख 'सर विलियम जोन्स' ने सन् १७८४ में, अपने एक लेख 'ऑन दि मोड्स ऑव हिंदूज' में किया था।[१] उन्होंने लेखक और पुस्तक का परिचय इस प्रकार दिया है—

"यह फारसी पुस्तक 'भारतवर्ष का उपहार' मीरजाखाँ ने आजमशाह के सरक्षण में लिखी थी। इसमें हिंदू-साहित्य का सूक्ष्म विवरण है।"[२]

जोन्स साहब ने जिस हस्त-लिखित प्रति के आधार पर यह परिचय दिया है, वह 'इंडिया आफिस-लाइब्रेरी' मे अब भी सुरक्षित है[३]। इस प्रति के हाशियो पर जोन्स साहब की हस्तलिपि में कितने ही सकेत अकित है। जिनसे ज्ञात होता है कि उक्त विद्वान् ने इस पुस्तक का गभीर अध्ययन किया था। इस पुस्तक की कई प्रतियाँ अन्य स्थानो पर भी उपलब्ध है।

इस 'इंडिया आफिस' लायब्रेरी वाली प्रति के पृ० २९८ (अ) पर लिखा है कि "२८वी रज्जब सन् ११८२ हि० शुक्रवार, ३ घटे दिन चढे पुस्तक समाप्त हुई।" यह लेख किसी 'शहरयार खाँ' की हस्त-लिपि में है। उसी पृष्ठ पर एक दूसरी हस्त-लिपि में लिखा है—"१६ वी शब्वल ११८२ हि०।" ४३१ वें पृष्ठ पर लिपिकार ने इस कथन के साथ पुस्तक समाप्त की है—"मूल प्रति से तुलना करते हुए, यह प्रतिलिपि बहुत ही सावधानी के साथ की गई है। ५वी जिलकादाह ११८२ हि० को समाप्त हुई," किंतु इन सब में सन् ११८२ हि० समान रूप से मिलता है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसका रचना-काल लगभग सन् १६७५ ई० से पूर्व माना है।[४] प्रत्येक दृष्टि से यही रचना-काल प्रामाणिक दीखता है।

'तुहफत' की भूमिका मे लिखा है कि इस पुस्तक की रचना बादशाह औरगजेब के राज्य-काल में हुई। लेखक ने पुस्तक के दो पृष्ठो में बादशाह की प्रशसा की है। कुछ हस्त-लिखित प्रतियो की भूमिका मे इस प्रकार का उल्लेख है कि लेखक का सरक्षक शाहजादा आजमशाह था। इसके विपरीत, कुछ प्रतियो में शाहजादा 'मुईजुद्दीन जहाँदारशाह' का नामोल्लेख मिलता है। इसी नाम के साथ-साथ 'कुकुल्ताश खाँ' का नाम भी है जिसके कहने पर पुस्तक लिखी बताई गई है। कुकुल्ताश खाँ के सबध में थोडी प्रशसा भी की गई है। उसको बादशाह का 'रजी-ए-शाह' कहा गया है। इस प्रकार के विभिन्न उल्लेखो से मीरजाखाँ के यथार्थ सरक्षक की समस्या जटिल हो जाती है, किंतु, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, जोन्स साहब ने आजमशाह को ही यथार्थ सरक्षक माना है।[५] जोन्स साहब के इस मत का समर्थन 'जियाउद्दीन' ने ऐतिहासिक आधार पर किया है।[६] निष्कर्ष यह निकलता है कि जहाँदारशाह और कुकुल्ताश खाँ पीछे से जोडे गये नाम है जो पुस्तक की भूमिका में किसी ने लिख दिये है। इसका कारण यह है कि आजमशाह का नाम जहाँदारशाह के स्थान पर पीछे जुडा हुआ नही हो सकता, कारण ऐतिहासिक है। आजमशाह को उसके भाई 'मुअज्जम-शाह' ने सन् १७०७ ई० मे अकबराबाद की लडाई में हराया था आजमशाह इस युद्ध में पराजित ही नही हुआ, मारा भी गया। मुअज्जमशाह ने, 'बहादुरशाह' के नाम से ५ वर्ष तक दिल्ली में राज्य किया। ५ वर्ष पश्चात् उसका बेटा 'जहाँदारशाह' गद्दी पर बैठा। इस ऐतिहासिक क्रम को दृष्टि में रखते हुए

१ दे० Asiatic Researches, Vol III p 1

२ The Pershian book, entitled, "A present from India" was composed under the patronage of Azam Shah, by the very delight and ingenious Mirza Khan and contains a minute account of Hindu literature in all or most of its branches'

३. दे० [LXXVIII, 18 × 19½, ff 431, II, 15, p 1 06]

४. दे० ग्रामर ऑव दि 'ब्रजभाखा' (जियाउद्दीन) भूमिका, पृ० ६।१०

५. दे० 'Asiatic Researches', Vol III, p I

६ दे० Grammar of the Brizbhakha, p 3

निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आजमशाह का नाम पीछे से जुड़ा हुआ नही है। यह सभव अवश्य हो सकता है कि जहाँदारशाह के राज्य-काल में किसी प्रति-लिपिकार ने बादशाह को प्रसन्न करने के लिए उसका नाम जोड दिया हो। साथ ही, पहले यह भी देखा जा चुका है कि आजमशाह 'भाखा' का बडा प्रशसक और हिमायती था। 'भाखा' के कवियो का वह आदर करता था। अत आजमशाह ही लेखक का यथार्थ सरक्षक माना जा सकता है।

लेखक के विषय में भी प्रतियो के लेखो से विशेष प्रकाश नही पडता। विभिन्न हस्त-लिखित प्रतियो में उसके भिन्न-भिन्न नाम मिलते है। एक में उसका नाम 'मिरजा-जान-अबू-फखरुद्दीन-मुहम्मद' दिया गया है[1]। ब्रिटिश म्युजियम के 'कैटलग' में—"मिरजा-मुहम्मद-अबू-फखरुद्दीन-मुहम्मद" पाया जाता है[2]। यही नाम 'बोदलिअन लाइब्रेरी कैटलाग' में मिलता है[3]। इनमे 'खा' और 'जान' का नाम भी नही है। जोन्स और जियाउद्दीन साहब ने अपनी सुविधा के लिए 'मीरजा खाँ' ही लिखा है। यही लेखक का प्रचलित नाम हो सकता है।

इस पुस्तक मे क्या है? सबसे बडी कठिनाई एक फारसी बोलने वाले के सामने यह थी कि वह ब्रजभाषा का शुद्ध उच्चारण करने मे असमर्थ रहता था। इस प्रकार की कठिनाई का अनुभव प्रत्येक नयी भाषा सीखने के इच्छुक व्यक्ति को होता है। इस पुस्तक मे सबसे अधिक परिश्रम कठिनाई को दूर करने के लिए किया गया है। ब्रजभाषा का शुद्ध, व्यावहारिक उच्चारण फारसी के माध्यम से समझाया गया है। इस कार्य को पुस्तक के चार छोटे-छोटे अध्यायो मे सपादन करने की चेष्टा की गई है। प्रथम भाग में उन १८ ध्वनियो का विवेचन है जो 'भाषा' और अरबी-फारसी मे समान है। फिर उन १७ ध्वनियों का विवेचन किया गया है जो अरबी-फारसी में नही मिलती और 'भाषा' मे मिलती है। इन ध्वनियो को फारसी लिपि मे किस प्रकार लिखा जाय, इसकी विधि बताई गई है। आगे के अध्याय में हिंदी अक्षरो की सख्या और परिचय है और उनकी ३२ फारसी अक्षरो से भिन्नता दिखाई गई है। इसी अध्याय के आगे के भाग में इन अक्षरो को फारसी मे लिखने की विधि बताई गई है, फिर मात्राओ का परिचय दिया गया है। इसी अध्याय में सयुक्ताक्षरो का भी परिचय है, साथ ही इस अध्याय में विशेष रूप से 'सदाच्छर' (सध्याक्षर), 'विसरग (विसर्ग), 'बिंजन' (व्यजन)। अनुनासिक, 'लघ' (लघु), 'दीर' (दीर्घ) और 'पुलित' (प्लुत) मात्राओ का परिचय है। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दो में भी लेखक ने प्रचलित उच्चारणो को ही लिया है। चतुर्थ अध्याय में स्वरो और उनके १६ प्रतीको का अध्ययन है। पुस्तक का यह भाग ब्रजभाषा की ध्वनियो का तुलनात्मक अध्ययन करने वालो के लिए बहुत उपयोगी है। इस प्रकार पुस्तक-विधान के साधारण परिचय से यह ज्ञात हो जाता है कि इस पुस्तक में वैज्ञानिकता और व्यावहारिकता का मिश्रण ठीक प्रकार से किया गया है। पुस्तक के इस विभाग के पश्चात् 'ब्रजभाषा-व्याकरण' पर बिखरे विचार है। व्याकरण के सामान्य नियमो का इस प्रकार परिचय देने के पश्चात् पुस्तक मे ब्रजभाषा के काव्य-शास्त्र तथा छदो के सबध में विस्तार से उल्लेख है। अत में लगभग ३००० शब्दो का ब्रजभाषा-शब्दकोश जोड दिया है। इसमें ब्रजभाषा के शब्दो का फारसी में अर्थ दिया हुआ है।

एक बात यहाँ अवश्य विचारणीय है। श्री 'सी०री' ने इस पुस्तक का जो परिचय दिया है, उसमें उन्होने ब्रजभाषा-व्याकरण और शब्द-कोष वाले अतिम अध्याय की कोई चर्चा नही की है। कारण समझ में नही आता कि ऐसा क्यो? शब्द-कोष पुस्तक के आधे पृष्ठो में है। इसका एक कारण हो सकता है। अतिम अध्याय का शीर्षक है 'खातिम', यह शीर्षक अवश्य ही भ्रामक है। इसका शायद

[1] दे० W. Pertsch's Cat. (1888)। न०—३४,४०,२२४

[2] दे० MS No. ADD. 16,868.

[3]. दे० पृ० १०२२ b.

उन्होने 'तमामशुद' अर्थ समझ लिया हो। सभवत इसी कारण से उन्होने इसका जिक्र नही किया है। अन्य 'कैटलागों' मे इसका विवरण मिलता है।

यह तो सर्व विदित है कि अकबर के समय में ब्रजभाषा घरेलू प्रयोग में आने वाली भाषा थी। ब्रजभाषा के काव्य और सगीत की धूम प्राय सर्वत्र थी। राज्य-कार्य फारसी में अवश्य होता था; फारसी-काव्य का भी दरबार मे मान था, किंतु 'भाषा' की लोकप्रियता भी बढ रही थी। इसका प्रमाण 'रहीम' का भाषा में काव्य करना है। पीछे के बादशाहो के दरबार मे तो 'भाषा-काव्य' पर्याप्त सम्मान पाने लगा। जब भाषा-कवियो का माधुर्य दरबारो का एक अग बन गया, तब बादशाहो, उनके वशजो तथा दरबारियो को ब्रजभाषा का ज्ञान, उसके अलकृत काव्य की समझ और भाषा तथा व्याकरण-सबधी कुछ नियमो की जानकारी परम आवश्यक हो गई। इसी दृष्टि से उक्त पुस्तक की रचना हुई, यह एक आवश्यकता की पूर्ति थी।

यह पुस्तक उस वर्ग के लिए लिखी गई जो ब्रजभाषा से नितात अपरिचित था और जो वर्ग केवल फारसी ही जानता था। अत लेखक का कार्य काफी कठिन था। ब्रजभाषा की बारीकियाँ उसे फारसी के माध्यम से बतानी थी। फलत पुस्तक की शैली चाहे वैज्ञानिक कम हो, पर ठोस व्यावहारिकता पर टिकी है। साथ ही ब्रजभाषा-काव्य अपना लबा जीवन उस समय तक पार कर चुका था; काव्य के लिए 'भाषा' का रूप निर्धारित हो चुका था और उर्दू-काव्य का वह शैशव-काल था। अत उर्दू-काव्य ब्रजभाषा के अनेक तत्व और प्रभाव ग्रहण करने लगा, जो तत्कालीन उर्दू-काव्य में स्पष्टत दीख पडते है। इसलिए उर्दू के कवि, तथा पाठको को भी ब्रजभाषा का ज्ञान आवश्यक हो गया। लेखक ने इन सभी आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए, उक्त पुस्तक की रचना की और शैली को व्यावहारिक रूप दिया।

इस व्यावहारिक शैली के विषय में एक बात और कही जा सकती है। अलबेरूनी ने भी हिंदू-जीवन का अध्ययन किया, पर उसका दृष्टिकोण यह था कि वह एक विदेशी, विजातीय मनुष्य समाज के जीवन और विचार-धारा के सबध में शोध कर रहा है। अबुलफज़ल तक आते-आते मनोवृत्तियों में काफी अतर आ गया। उसने हिंदुओ को विदेशी समझ कर अध्ययन नहीं किया। तब तक बहुत कुछ मेल-भाव दोनो वर्गों में हो चुका था। अकबर स्वय तथा मुस्लिम-उच्चवर्ग हिंदुओ के जीवन, धर्म और सस्कृति में रुचि रखने लगे थे। अबुलफज़ल ने इसी उच्चवर्ग की जिज्ञासा की पूर्ति के लिए हिंदू-साहित्य, सस्कृति और धर्म का विवरण दिया और विश्लेषण किया। मीरज़ा खाँ की दृष्टि में उस पुस्तक लिखते समय निश्चय ही मध्यवर्ग और निम्नवर्ग रहे होंगे। उच्च वर्ग तो पहली शताब्दियों में हिंदू-रहन-सहन से परिचित हो चुका था। साधारण वर्ग और मध्यवर्ग हिंदुओ के जीवन से नित्य-व्यवहार के कारण परिचित हो चुका था। उनकी भाषा से भी साधारण परिचय हो गया था, पर ब्रजभाषा-काव्य के नियमो और ब्रजभाषा के व्याकरण के सामान्य नियमो से इस वर्ग को परिचय नहीं था। इसीलिए व्यावहारिक शैली में 'तुहफ़त' लिखी गई।

इस पुस्तक का अध्ययन करने से लेखक की एक विशेष चेष्टा के दर्शन होते है। ऐसा [illegible] होता है कि लेखक सबसे अधिक यह स्पष्ट करने का उद्योग कर रहा है कि ब्रजभाषा को फारसी लिपि में किस प्रकार लिखा जाय। कारण यह कि दरबारी भाषा फारसी थी। प्राय सभी दरबारी इस भाषा को जानते-समझते थे। अत ब्रजभाषा-काव्य का रसास्वादन दरबार में फारसी लिपि के माध्यम से [illegible] सकता था। औरगज़ेब के अनेक प्रयत्न इस दिशा मे मिलते है। उनको ब्रजभाषा का '[illegible]' [illegible] प्रथम सुधारक कहा जाता है।[1] यही कारण है कि हिंदी-ध्वनियो और अरबी-फारसी ध्वनियों का तुलना-त्मक विवेचन बहुत ही विस्तार से दिया हुआ है।

[1] दे० डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या,—'ग्रामर ऑव दि ब्रजभाषा' (ज़ियाउद्दीन) की भूमिका, पृ० १।

पुस्तक के अध्ययन से यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ तक उच्चारण, लेखन तथा व्रजभाषा-व्याकरण का सबध है लेखक मे पर्याप्त मौलिकता के दर्शन होते हैं। शब्द-कोश मे भी एक नयी प्रवृत्ति की झाँकी मिलती है। ध्वनियो के विवेचन में लेखक एक बहुत अच्छा निरीक्षक और व्यावहारिक ज्ञान-युक्त तो दीखता है, पर वैज्ञानिकता उतनी गहरी नही—निरीक्षण शुद्ध और समीचीन है, पर निष्कर्ष और परिभाषाएँ अधिक वैज्ञानिक नही है[१]।"

सबसे पहले इस व्याकरण का ऐतिहासिक महत्त्व है। इससे पहले के किसी भी व्रजभाषा-व्याकरण की अभी शोध नही हुई है। इसलिए मीरजा खाँ के व्रजभाषा-व्याकरण सबधी विचारो का ऐतिहासिक और शोध-विषयक मूल्य बहुत बढ जाता है। इससे पीछे के दो व्याकरणो का तो पता लगता है। एक तो 'केटलार' (John Goshua Katelar) ने लगभग सन् १७१५ ई० मे लिखी थी, जिसको सन् १७४३ मे 'डेविड मिलिअस' ने प्रकाशित किया था। एक दूसरे व्याकरण का उल्लेख डा० 'ग्रियर्सन' ने किया है। यह लल्लू लाल जी का लिखा हुआ 'मसादिरे भाखा' है।[२] इनके अतिरिक्त और सभी व्याकरण काफी पीछे के है। मीरजा खाँ के व्याकरण का एक महत्त्व यह भी है कि व्यावहारिक धरातल पर सस्कृत-व्याकरण से प्रभावित न होते हुए, यह व्याकरण लिखा गया है। साथ ही फारसी-व्याकरण और व्रजभाषा-व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन इसमें प्रस्तुत किया है। अत सभी दृष्टियो से उक्त व्रजभाषा-व्याकरण का महत्त्व है।

व्रज और व्रजभाषा की सीमाओ के विषय में 'व्रजसाहित्य मडल' मथुरा की मुख-पत्रिका 'व्रज-भारती' में समय-समय पर काफी लिखा गया है। पर, मीरजा खाँ की पुस्तक का अभीतक पता न होने के कारण व्रज की सीमाओ के सबध में इसकी विचार-धारा का अभी तक उपयोग नही हुआ है। व्याकरण-भाग में सबसे पहले लेखक व्रजभाषा और व्रज का परिचय देता है। लेखक इस प्रकार आरभ करता है—

"वैसे तो भारतवर्ष में अनेक भाषाएँ है, पर जिन भाषाओ में पुस्तकें लिखी जाती है, काव्य होता है और जिनका संभ्रांत वर्गों में संमान है, ऐसी भाषाएँ तीन है[३]—सहंसकिरत (संस्कृत), पराकिरत (प्राकृत) तथा (भाखा)।"

'सहंसकिरत' वह भाखा है जिसमें कला और विज्ञान पर अनेक पुस्तकें लिखी गई है। हिंदुओ का विश्वास है कि सहंसकिरत देव-भाखा है। हिंदू इसे 'आकाश-बानी' या 'देव-बानी' के नाम से पुकारते है।"....

"दूसरी भाखा 'पराकिरत' (प्राकृत) है। इस भाषा का उपयोग मुख्यतः राजा-महाराजाओं तथा मन्त्रियो की प्रशंसा करने में हुआ है। इस भाषा का सबध पाताल से बताया जाता है और हिंदू इसे 'पाताल-बानी' या 'नाग-बानी' के नाम से पुकारते है। ... यह भाषा 'सहसकिरत' और 'भाखा' के मिश्रण से बनी है।

[१] मीरजा खाँ के इस ग्रंथ 'तुहफतुल हिंद' में जिन विषयों का वर्णन है, वे तो कुछ और ही है। इस लेख के लेखक ने यहाँ तक जो परिचय दिया वह इस ग्रंथ का नहीं, इस ग्रंथ की भूमिका-भाग का परिणाम है। इस ग्रंथ का भूमिका-भाग चार अध्यायो में है। इन्हीं का परिचय ऊपर लेखक दे चुका है। 'व्याकरण' इसी भूमिका-भाग के चौथे अध्याय के दूसरे अंश में दी गयी है। इस भूमिका के उपरांत मूल तक का प्रथम अध्याय छंदशास्त्र (पिंगल) विषयक है। दूसरा 'तुक' विषयक, तीसरा रस-अलंकार विषयक चौथा शृगार रस तथा नायक-नायिका-भेद पर, पाँचवाँ संगीत शास्त्र पर, छठा काम-शास्त्र विषयक, सातवाँ सामुद्रिक संबंधी है। परिशिष्ट में हिंदी-फारसी कोष है, यह 'तुहफतुल-हिंद' की रुपरेखा है।

[२] इसस भी पूर्व सन् १७४५ में 'शुल्ज' नाम के व्यक्ति ने हिंदुस्तानी की व्याकरण लिखी थी—देखिए प्रोसीडिंग्स एसियाटिक सोसाइटी बंगाल, मई १८९५ ई०।

[३] Fol. 30 (a)

"तीसरी 'भाखा' है। 'भाखा' में जो काव्य मिलता है, वह अलंकृत काव्य है। उसका मुख्य विषय प्रेमी-प्रेमिका की कथा है। यह व्यवहार की भाखा है। 'सहंसकिरत' और 'पराकिरत' को छोड़कर प्रायः सभी बोली-भाखाओं का इसमें मिश्रण है। विशेषतः यह ब्रजवासियों की भाखा है। ब्रज भारत के उस प्रदेश का नाम है जो मथुरा को केंद्र मानकर ८४ कोस के बीच मंडलाकार स्थित है।[१] ब्रजवासियों की भाखा सब भाखाओं से अधिक मधुर, प्रवाहशील और प्रचलित है। गंगा-जमुना के बीच के समस्त प्रदेश की भाखा यही प्रचलित भाखा है। 'चंदवार' (एक प्रसिद्ध जिला) भी इसमें संमिलित है।"[२]

आगे चलकर लेखक उस कारण को स्पष्ट करता है जिससे प्रेरित होकर वह ब्रजभाषा का व्याकरण लिख रहा है। लेखक कहता है—

"क्योंकि ब्रजभाखा में रंगीन और मधुर अभिव्यक्ति-युक्त काव्य मिलता है; क्योंकि उसमें प्रेमी और प्रेमिकाओं की सरस प्रशंसा है और क्योंकि ब्रजभाखा प्रायः सभी कवियों और सभ्य-सुसहंसकिरत समाज में प्रचलित है, इसीलिए मैं ब्रज-भाखा-व्याकरण के नियमों को लिखता हूं।"

ब्रजभाषा के इस व्याकरण का पूर्ण अनुवाद अविकल रूप में यहां दे सकना संभव नहीं है, पर उसमें क्या है, इसका एक संक्षिप्त परिचय दिया जा सकता है और इसका विषय विभाजन इस प्रकार है—

प्रथम उप विभाग 'भाषा का परिचय' जिसका संक्षिप्त उल्लेख अभी हो चुका है।

द्वितीय उप विभाग (अ) 'शब्द की परिभाषा और शब्द के प्रकार'।[3]

शब्द के प्रकार—

१ 'संपादन' (Substantive)

२. 'करतब' (कर्तव्य, The Verb)

३. करता (कर्ता, The Nominative)

(आ) संपादन की परिभाषा। संपादन के दो भेद —

१. संपादन, इसे अरबी में 'इस्म' कहते हैं।

२. विर्त, इसे अरबी में 'हुरूफ' कहते हैं।[४]

(इ) 'करतब'—क्रिया को कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—

१. 'भूत'

२. 'बरतमान' (वर्तमान)

३. 'भविक्ख' (भविष्य)

४. 'किरिया' (क्रिया)

५. 'किरत' (कृत)

इसके पश्चात् काल-विवेचन है—

१. पृ० १६५(b) पर लेखक ग्वालियर को भी उस प्रदेश में संमिलित कर लेता है जहाँ ब्रजभाषा बोली जाती है।

२. चंदबार या जनवार का परिचय अबुलफजल ने इस प्रकार दिया है—यह एक जिला है। आगरे से इटावा जाने वाली सड़क पर यमुना किनारे, आगरे से २५ मील पूर्व स्थित है। इसमें चौहान वंशी ठाकुर रहते हैं (Jarrets ain-i-Akbari, II, p 183)

३. Fol 31 (b).

४. Fol 31 (b).

१ भूतकाल ।[१]

२. 'वरतमान'काल

३. भविक्ख काल ।[२]

आगे 'किरिया' (क्रिया) का विवेचन है[3] । उसके ये भेद हैं —

१. संभाव

२. असंभाव

३. 'भाव'

४. अन-भाव

इसके पश्चात् किर्त (कृत) का विवेचन किया गया है ।

(ई) कर्ता। कर्ता के दो भेद दिये हैं[४]—

१. स्वाधीन ।

२. पराधीन ।

कर्ता का विवेचन काफी विस्तृत है ।

तृतीय उप-बिभाग-लिंग-विचार —

१. 'पुलिंग' (पुल्लिंग) इसके दो भेद किये गये हैं—

(क) निश्चित ।

(ख) अनिश्चित ।

चतुर्थ उप-विभाग स्त्री लिंग —

२. 'अस्त्रीलिंग' (स्त्रीलिंग) इसके भी तीन भेद हैं—

(क) निश्चित ।

(ख) अनिश्चित ।

अनिश्चित के फिर दो भेद किये गये हैं—

१. एक वह जिसकी तुलना का 'पुलिंग' हो, जैसे—'तुरंगिनी'-(तुरंग)

२. दूसरा वह जिसकी तुलना का पुलिंग न हो, जैसे—'बयार'

(ग) अनियमि (अस्त्रीलिंग)

इसी उप-विभाग में आगे चलकर पुल्लिग से स्त्रीलिंग बनाने के नियम दिये गये है । इसमें उन 'प्रत्ययों' की एक सूची दी गई है जिन्हे यदि पुल्लिग में जोड दिया जाय तो स्त्रीलिंग बन जायगा । वे प्रत्यय ये हैं—

१. 'आ' : जैसे—'बिर्ध' (वृद्ध) से 'बिर्धा' (वृद्धा) ।

२. 'ई' : जैसे'—देव' से 'देवी' ।

३. 'आनी' : जैसे'—रुद्र' से 'रुद्रानी' ।

४. 'नी' : जैसे—तुरंग से 'तुरंगनी' ।

पचम उपविभाग 'नपुसक लिंग'

इसका बहुत ही साधारण-सा परिचय दिया गया है । लेखक लिखता है कि इसका विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक है । विशेषत यह लिंग सहसकिरत (संस्कृत) मे प्रयुक्त होता है, भाषा में नहीं ।

[१] Fol 32 (a), 32 (b).

[२]. Fol 33 (a); 33 (b).

[3]. Fol 34 (a).

[४]. Fol 35 (a).

छठवा उपविभाग बहु वचन (बहु वचन)

इस उपविभाग में वचनो पर विस्तार से विचार है। साथ ही इस प्रकार के प्रत्ययो का भी विवेचन है जिनके जोड़ने से एक वचन का बहु वचन बन जाता है। जैसे—

'न' : पग (एक वचन) से 'पगन' (बहु वचन)

सातवाँ उपविभाग सकेत वाचक सर्वनाम

इस सर्वनाम के सात प्रयोगात्मक उदाहरण दिये गये हैं—

१. 'वा' (that) एक वचन, अन्य पुरुष ।
२. 'ता' (that) एक वचन, अन्य पुरुष ।
३. 'या' (this) एक वचन, मध्यम पुरुष ।
४. 'जा' (whoever) एक वचन, अन्य पुरुष ।
५. 'उन' (they) बहु वचन, अन्य पुरुष ।
६ 'इन' (these) बहु वचन, मध्यम पुरुष ।
७. 'जिन' (whoever) बहु वचन, अन्य पुरुष ।

ये ७ सकेत-वाचक सर्वनाम दोनो लिंगो (स्त्रीलिंग और पुलिंग) मे समान रहते हैं।

आठवाँ उपविभाग 'पदवित्त' (पद-वृत्ति) वाक्य

इसका अर्थ वाक्य है। इसमें दो तत्व रहते हैं। उदाहरण—'राम आयौ'।

नवाँ उपविभाग 'सवध' (The genetive relation)

इसका विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। अरबी से स्थान-स्थान पर तुलना मिलती है।

दसवाँ उपविभाग

इसमें उपसर्ग तथा प्रत्ययो का विवेचन है। साथ ही इनकी एक बड़ी तालिका भी दी गई है।

यह 'तुहफत-उल-हिंद' के व्याकरण की स्थूल रूप-रेखा ऊपर दी गई है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यही समस्त व्याकरण का अनुवाद है। यह तो एक मात्र शीर्षको और मोटे-मोटे विभागो का साधारण परिचय है, जिनकी विवेचना यहाँ नही दी जा सकी है।

अभी तक ऐसे किसी भी 'ब्रजभाषा-व्याकरण' की शोध नही हुई जो इससे भी प्राचीन हो। उक्त व्याकरण ब्रजभाषा के विद्वान् लेखको और अधिकारी शोधको की आँखो से ओझल ही रहा। फारसी भाषा मे इस व्याकरण का अंग्रेजी में अनुवाद हो गया है—उसे भी जियाउद्दीन ने किया है। यदि इस समस्त पुस्तक का हिंदी मे अनुवाद हो जाय, तो ब्रजभाषा और उसके गंभीर अध्येताओं को [illegible] सामग्री मिल जाय। 'ब्रजभाषा' और वर्तमान हिंदी का तुलनात्मक और विकासात्मक अध्ययन करने के लिए उक्त पुस्तक पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इसमें ध्वनि-शास्त्र, व्याकरण तथा [illegible]-शास्त्र का [illegible] वैज्ञानिक ढग से किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि 'इशा अल्ला खाँ' से पहले [illegible] ऐतिहासिक कड़ी मीरजा खाँ ही है। मीरजाखाँ के लिए 'हिंदी' और 'भाखा' दोनों [illegible]

॥ श्री ॥

श्री गोपीजनवल्लभायनम ।

ब्रजभाषा-व्याकरण

बाबू गोपालचंद्र (गिरिधरदास) विरचित

दोहा

संस्कृत के मधि रहति, जैसें सात विभक्ति ।
तें भाषा महँ होति हुं, लिखति तिन्हनि की पक्ति ॥

आडिल्ल (अरिल्ल)

प्रथमा, द्वितिया, बहुरि तृतीया जानिऐं ।
बहुरि चतुरथी, पंचमी, षष्ठी मानिऐं ॥
सप्तमि सात बिभक्ति, इही सिगरे भनें ।
एक बचन, बहु बचन, और सबोधनें ॥

इनके रूप कवित्त

जो, सो, जे, ते, कौ, नकौ, सो, नसो, को, नको, तें, नतें, को, नको, में, नमें, ए बिभक्ति सात जाँनिऐं ।
करता, करम, करन, संप्रदान, अपादान, संबधौ सु अधिकरन सातों नाम माँनिऐं ॥
संबोधन-बीच होत हैं ओ, ए कथन, पूर्व कहूँ एरी बिभक्ति लोप कहूँ ठाँनिऐं ।
अर्द्ध लोप कहूँ जैसें देव अरे कहें तहाँ, देव देवन कहें हूँ अर्थ आँनिऐं ॥

दोहा

इन विभक्ति बहु वचन कौ, अहैं नकार सु जोइ ।
ता ..कहहिं निकार हू, रीति बुधन की दोइ ॥
सब्द हलतन में अहैं, सोभा सहित निकार ।
कँ पुनि आकारात में, अरु थल नाहिं प्रचार ॥
पुलिंगौ स्त्रीलिंग ए, सबद दोइ विधि जाँन ।
होहिं हलत स्वरात तित, पहिलौ कहो बखाँन ॥
होत हलंत सु सब्द नहिं, भाषा में कवि-कंत ।
अकारात कौं कहत हैं, तातें इहाँ हलत ॥
स्याम, राम, तन, मन, गगन, आदिक सब्द हलंत ।
सह बिभक्ति बरनन अबै, उदाहरन कवि-कत ॥

कवित्त

देव जो सो सुखी देव जे हैं ते सु पूजनीय, देव को नमत पूजें देवन को मति सित ।
देव सों मिलाप मेरो देवन सो रमें मन, देव को सु दीनो चित देवन कों गृह-वित ॥
देव तें न दूजौ साथी, देवन तें बडौहू न, देव कौ रसिक दास देवन कौ न गुन हित ।
देव में बिरति नति, देवन में सत गति, करौ कृपा हे देव, हे देवौ द्रवौ नित ॥

दोहा

जहाँ विभक्ति कौ लोप हैं, तहँ प्रसग के जोर ।
प्रथमा आदि विभक्ति को, मानहिं कवि सिर मोर ॥
राम बचन सुनि कें इहाँ षष्ठी लोप सु जाँनि ।
राम बचन को माँनिऐं, इमि औरहुँ अनुमाँनि ॥

जहाँ विषै संबंध के और कथन कछु होइ ।
षष्ठी कौ को होत तहँ, के जाँनहु सब कोइ ॥
जैसें हरि के दास को नौमि कहैं सब लोग ।
भावें हरि कौ दास को, अहै असुद्ध प्रयोग ॥

छप्पय

बहुधा कवि की रीति, हलंतहि उकारात करि ।
बरनहि पै नहि अपर अरथ, जहँ होइ तहाँ परि ॥
रामहि जैसें रामु होइ, धन धनु नहि होई ।
राम रामु दोउ सुद्ध, असुद्ध सु धनु है सोई ॥
यैं ह्रस्व उकारातहि लखौ, सब बिभक्ति में सुबुध जन ।
सो उ एक बचन में होत है, तहँ न होत जहँ बहु बचन ॥

दोहा

जिमि धन धनु नहि होत है, तिमि सुर सुरु नहि होइ ।
पूर्व उकार निपात तें, स्रवन बिरोधी सोइ ॥
चित्र, जमक, तुक अंत में, सबद हलंत सु जोइ ।
ऊकारांतहु होत है, आकारांतहु होइ ॥
तजि उकार आकार के, ईकारादिक अंत ।
सबद हलंत न होत है, नियम गुनहुँ गुनवंत ॥
धन कौ धनु चित्रादि में, सुर कौ सुरु न विरुद्ध ।
रामू रामा होहि सति, रामी आदि असुद्ध ॥
अब हल स्त्रीलिंग को, बरनत सहित सनेह ।
साँन, सैंन, दिग, ताँन, तिय आदि सब्द गुन लेहु ॥
प्रथमा के बहु बचन में, साँन, सैंन ही जाँन ।
सोइ संबोधन के बिषें, भेद इतौई माँन ॥
और रूप पुंलिग सो, जानहुँ उर निरधार ।
बरने 'गिरिधरदास' इमि, सबद हलंत बिचार ॥

अथ आकारात पुंलिंग 'राजा' शब्द

राजा यै पुंलिग कौ, सबद सु आकारांत ।
बरनत ताकौ रूप अब, समझहु कवि-कुल-कांत ॥
राजा प्रथमा इक बचन, राजे बहु बच होइ ।
राजा कों राजाँन को, द्वुतिया जानहुँ सोइ ॥
सो, को, तें, कौ मैं गुनो, राजा प्रथम लगाइ ।
त्रितिया सों, सप्तमी कौ, एक बचन कविराइ ॥
धरि नकार सो आदि कै, आदि बहु बचन होइ ।
हे राजा, राजे कहैं, राजाओ हूँ सोइ ॥
द्वितियादिक बहु बचन में, राजा सबद सु जोइ ।
होत राज राजाँन पै, एक बचन में होइ ॥

आकारात पुंलिंग 'वाजा' शब्द

होत सब्द राजा सरिस, बाजा के सब रूप ।
अधिकौ एक इक बचन में, द्वितीयादि के अनूप ॥

आकारात हु होइ अरु, एकारातहु होइ।
बाजे को ऐसें गुनहुँ, राजें को नाँहि सोइ॥
दरवाजा, लाजा, मजा, बीरा, चीरा जाँन।
सेंना उपरेंनादि ए, बाजा सम पैंहचाँन॥
होत सु हीरा सब्द के, बाजा सम सब रूप।
याहि हलतहु कहुँ तहुँ, सबै सरिस कवि-भूप॥

अथ आकारात 'धाता' शब्द

धाता जो पुलिंग हैं, आकारात प्रसिद्ध।
प्रथमा के बहु बचन में, धाते कहें निषिद्ध॥
द्वितियादिक बहु बचन में, रूप दोइ हीं आंहि।
धातेंन को, धाताँन को, धातेन को सु नाँहि॥
या में राजा सब्द सो, अधिक इतौई जोइ।
हे धाता सबोधनँहि, हे धाताओ होइ॥
करता, सहंरता, पिता, हरता, भरता जाँन।
ग्याता, दातादिकँन को, धाता सम पैंहचाँन॥

अथ आकारात-स्त्रीलिंग शब्द

सिया, तिया, सेंना, प्रिया, नारि लिंग इन आदि।
होइ सुधाता सब्द सम, समझौ कवि मरजादि॥
आकारांत सियादि को, कहुँ कवि करहिं हलंत।
सात सब्द सम रूप तब, होत लखौ कवि-कंत॥
गगा-जमुना को कहूँ गग, जमुन सब कोइ।
दोऊ सिद्ध प्रयोग हैं, जहूँ थल जैसौ होइ॥

अथ आकारात-'कमला' शब्द

नारि लिंग कमला सबद, आकारात सु जाँन।
सब बिभक्ति में इक बचन, राजा सम पैंहचाँन॥
प्रथमा के बहु बचन में, सबद सीस अध-बिंदु।
कमलाँ सति, कमले असति, जानो कवि-कुल-इंदु॥
सबोधन प्रथमा सरिस, ए, हे, है, कैं आदि।
रमा, छमा, पदमा, धरा, कमला तुल्य जरादि।

अथ आकारात—'गैया' शब्द

गैया आकारांत के, कमला सम सब रूप।
अधिक इतौ द्वितियादि बहु बचन बीच कबि-भूप॥
आकारांत हलंत ए, दोऊ सिद्ध प्रयोग।
गैयेंन को गैयाँन को, इमि जाँनहु कवि लोग॥
कला, बिभा, सोभा, प्रभा, स्वकिया-परकीयादि।
कथा, कृपा, चिंता, दया, इन से सब्द गयादि॥

आकारात 'राधा' शब्द में विशेष

गैया सम राधा सबद, पै इक कवि की चाल।
सब थल एकारांत करि, कहैं सुद्ध दोउ हाल॥

राधा, राधे होत यह, प्रथमा औ संबोध।
राधे को, राधांन को, इमि औरहु को बोध॥
अथ आकारांत 'धारा'—शब्द
धारा प्रथमा के बिर्षे, सिया सब्द सम होइ।
आकारांत हलंत हू, लखो सुकवि सब कोइ॥
द्वितिया सो सप्तमि अवधि, गैया सरिस प्रमांन।
एकारांतहु होत है, तहँ राधा सम जांन॥
धारेंन को, धारांन कों, धारेन कों जु प्रसिद्ध।
संबोधन प्रथमा सरिस, धारा, धार सु सिद्ध॥
कमला गैया सब्द अरु राधा, सिया कहांहि।
धारादिक तिय-लिंग ए, कवि-भाषा के मांहि॥
इनके सबोधन बिर्षे, लै सस्कृत को रीति।
एकारांतहु कहत हैं, कहुँ-कहुँ कवि करि प्रीति॥
हे कमले, गैये, सिये, राधे, धारे जांन।
इमि इक के संबोधनें, बहु में नांहि पैंहचांन॥५१॥

"इत्याकारांत शब्दा. आकारात शब्दे विशेषा।"

'भ्रातादि शब्दे'
भ्राता, जामाता, पिता, माता, दुहिता जांनि।
स्वसा, सब्द पुलिंग-त्रय, नारि लिंग त्रय मांनि॥
ए सु सब्द इक बचन में, उकारांत हूँ होंहि।
सात बिभक्तिन में लखौ, संबोधन हूँ त्योंहि॥
पूर्व पिता शब्द-हि कह्यौ, धाता में कवि-भूप।
इन सबवँन को जानियो, ताते तैसो रूप॥
'शका, लका शब्दे विशेष'
सका, लंका सब्द ए, सिया सबद से दोउ।
उकारांत हू होत हैं, एक बचन में सोउ॥
'दिसा शब्दे विशेष'
दिसा सब्द संका सरिस, इतो अधिक या मांहि।
इकारातहू होत सब, रूपँन बोध सदांहि॥

'इति इकारात शब्द नियमा'

अथ इकारांत पुलिंग—'हरि' शब्द
इकारांत हरि सब्द है, पुरुष-लिंग कवि-भूप।
बरनत 'गिरिधरदास' अब, भाषा में ता रूप॥
जो, सो आदि बिभक्ति रिधि, बरनी पूर्व अनूप।
हरि पै तिनकों धरि सोई, क्रम सो चौदह रूप॥
प्रथमा हरि जो, सो बहुरि, हरि जे, ते पैंहचांनि।
द्वितिया हरि को, हरिनें कों, औरहु इहि बिधि जांनि॥
संबोधन—हे हरि कहैं, इक हरि कों सब ठौर।
हे हरियौ बहु बचन कों, कहहिं सुकवि सिरमौर॥

मुनि, मुरारि, त्रिपुरारि, करि, कपि, कवि, रवि, सनि, बारि।
कलि, बलि, अलि, आराति, अहि, ए सब हरि अनुहारि॥

अथ इकारात स्त्री लिंग—'सरि' शब्द

इकारांत तिय-लिंग सरि, ताके हरि सम रूप।
सह बिभक्ति सबोधनहुँ, समझहु सत-कवि-भूप॥
कोरि, खोरि, रति, गति, भगति, कांति, पाँति, मति, जाति।
नीति, प्रीति, छिति, छवि, अवलि, ए सब 'सरि' की भाँति॥

ईकारात पुलिंग—'ग्याँनी' शब्द

ग्याँनी ईकारांत हैं, सबद पुलिंग सु जोन।
होत दीर्घ (जो) अंत है, हरि सम सब थल तोन॥
बनमाली, माली, छली, माँनी, दाँनी, जाँनि।
बली, धँनी, चक्री, गृही, ग्याँनी सम पैहचाँनि॥

ईकारात स्त्री लिंग—'नदी' शब्द

ईकारांत नदी सबद, नारि लिंग है जोइ।
ग्यानी के सम रूप सब, ताके भाषा होइ॥
समी, लच्छमी, मोहनी, बाँनी, राँनी और।
लाली, काली, काँमिनी, नदी सरिस सब ठौर॥

इतीकारात शब्दा। अथ इकारात शब्द-नियमा

होइ दीर्घ ईकार लघु, लघुहू दीर्घ न दोस।
भाषा में, दोऊ लिंग में, इमि बरनहिं दोउ कोस॥
हरी, सरी ज्यो ग्याँनि, नदि, तहँ हू इतौ बिसेस।
ताहि कहत संछेप में, समझहु सुकवि-नरेस॥
आरातिंन से सब्द ए, आराती नहीं होंहि।
जोति आदि जोती नहीं, बली नहीं बलि त्योंहि॥
राँनी राँनि न होइ पै, एक वचन में एहु।
नेंम नाहिं बहु बचन में भाषा में बुधि-गेहु॥
अनुप्रास तुक अंत में, चित्र, जमक के माँहि।
थल संकीर्न इकार लघु-दीर्घ-दोस है नाँहि॥

इतीकारात शब्द नियमा.

अथ उकारात पुलिंग—'भाँनु' शब्द .

भाँनु सब्द पुलिंग है, उकारांत ता रूप।
क्रम सो होत विभक्ति-जुत, हरि सम गुनहुँ अनूप॥
कटु, पटु, गुरु, उरु, साधु, बिधु, बिभु, प्रभु, मनु, धनु जाँन।
असु, बसु, संभु, स्वयंभु, मधु, भाँनु सरिस पैहचाँन॥

उकारात स्त्री लिंग—'धेंनु' शब्द

उकारांत तिय लिंग जो, धेंनु भाँनु सम तासु।
संबोधन सह रूप सब, बरनत 'गिरधरदासु'॥
बेंनु, रेंनु, रंभोरु, रितु, चंचु, बिज्जु, दंनु जाँनि।
कद्रु, बस्तु अरु सासु ए, धेंनु सरिस पैंहचाँनि॥

'ऊकारांत पुलिंग—'दाऊ' शब्द

दाऊ ऊकारांत है, सबद पुलिंग प्रसिद्ध।
होत दीर्घ ऊ अंत सो, भानु सरिस सब सिद्ध ॥
भालू, सालू, कम...भू, बाजू, आँसू जाँनि।
तिरसंकू, गेंहू, लहू, दाऊ सम ए माँनि ॥

ऊकारांत स्त्री लिंग—'गऊ' शब्द

गऊ सब्द स्त्री लिंग है, दीरघ ऊकारांत।
दाऊ सम ताके सकल, रूप लखहु कवि-कांत ॥
बहू, बधू, सुभ्रू, भटू, आफू, जोरू जाँनि।
दारू, रू, बू भू, चमू, गऊ सरिस अनुमाँनि ॥
संभू, सासु, आँसु, वधु, बिन चित्राविहु ठीक।
धनू, रितु, चित्रादि में, कमलु, भु, भटु, कवि-लीक ॥
लघु-दीरघ ईकार के, नेंम कहे जे सोइ।
तैसोई अहै उकार को चित्राविहु में सोइ ॥

इत्युकारांत शब्दा.

वरना : दोहा

इकारांत औ उकारांत लघु-दीरघ लिंग है जोइ।
इनमें किते हलंत, किते नहिं, होहिं कहों अब सोइ ॥

दोहा

बिना प्रयोजन सब्द ए, तजें न अपनों रूप।
स्वल्प होत कहुँ मध्य हित, अति हित कहुँ कवि-भूप ॥
स्वल्प होत जिमि बार कहि, जात, भाँन, औ बेंन।
दीरघ ई, ऊकार ए, तर्जाहें रूप मति ऍन ॥
मध्यम हित आरात, छित, बाल, नार इमि जाँनि।
तरु अरु संभु सुआँस कहि, वार लेहु पैहचाँनि ॥
सुकव, भगत अत्यत में, मानसु रागिँन होइ।
साध, विज्ज औ भाल ए, आफ विलहुँ सम सोइ ॥
सन कह मुन सर औगुनी, चकराँन सम काल।
पट, उर, बिध, रंभोर, दन, गोह, लोह औ साल ॥
कमल, भवाज, त्रिसक, बहु, बध, चम आदि सदैव।
होहिं हलंत कदापि नहिं, आइ करें जो दैव ॥

अथ एकारांत पुलिंग-शब्द

चौबे एकारांत है, पुलव लिंग विख्यात।
क्रम सों धरें विभक्ति कों, रूप होत ईं-सात ॥
प्रथमा चौबे जो कहे, बहु को जेते जाँन।
चौबेंन कों, चौबेन कों, इमि औरहु अनुमाँन ॥
द्वितिया आदि विभक्ति के, बहुत बचन में एहु।
होत हलंतहु सो जथा, चौबेंन कों गुनि-नेहु ॥
हे चौबे, संबोधन हिं, हे चौबेओ होत।
चौबे सम पाँडे, दुबे, इमि जानहुँ मति-पोत ॥

अथ एकारांत स्त्रीलिंग—'स्यांमदे' शब्द

नारि लिंग ए अंत है, सब्द 'स्यांमदे' जोन ।
बिन हलंत बहु बचन सब, चौबे के सम तोंन ।।
एकहि बहु कौ स्यांमदे, संबोधन बुध-केतु ।
ग्रांम रीति तिय नाम के, पाछें दे-दे देतु ।।
उभै लिंग ए अंत नहीं, जदपि अहें ग्रंथस्थ ।
तदपि कहे ग्रांमीन लै, क्रम हित करि मति-स्वस्थ ।।

अथ ऐकारांत पुलिंग—'हृदै' शब्द

हृदै सब्द पुलिंग है, भाषा में कवि-कांत ।
होत स्यांमदे सरिस सो, सब थल ऐकारांत ।।
संस्कृत में बहुधा जदपि, नहिं 'ऐ' अंत लखांहि ।
यकारांत सु हलंत बहु, तदपि इहाँ हैं जाँहि ।।
बिजै, धनंजै, है सदै, निरदै, हिरदै तूल ।
राय, पीय, जिय, तोय ए, ऐकारांत अमूल ।।
ऐकारांत सु होंहि बहु, एकारांतहु अत्र ।
हृदे जथा पै नहिं सदे, मध्य प्रयोजन तत्र ।।
हृदयादिक ऐ अंत जहाँ, तहें है ऐसौ रूप ।
जहें हलंत तहें देव सम, इमि बरनहिं कवि-भूप ।।

अथ 'पै' शब्द .

पयस सब्द संस्कृत बिषै, सोउ पय ह्वै 'पै' होइ ।
इक पै सब्द परंतु कौ, बाचक अब्यै सोइ ।।

अथ ऐकारांत स्त्रीलिंग—पै शब्द .

नारि लिंग 'पै' खोट कौ, सूचक ऐकारांत ।
हृदै सब्द सम रूप सब, ताके कवि-कुल-कांत ।।
हृदै सरिस तिय लिंग बहु, है हलंत ऐ अंत ।
जै, लै, आसै, भै, प्रलै, पै सम सबै समंत ।।

अथ ओकारांत पुलिंग—'प्यारो' शब्द,...

प्यारो ओकारांत है, पुरुष लिंग कवि-भूप ।
इक प्रथमा इक बचन में, राखें अपनों रूप ।।
प्रथमा के बहु बचन सो, सब थल एकारांत ।
हे प्यारे, संबोधनहि, बहुतेंन को औ अंत ।।
उरदू की मत लै कहूँ, महा प्रयोजन पाइ ।
आकारांत सु होत है 'प्यारा' पढित राइ ।।
सब प्रथमा बहु बचन सो पूरब सम मत मोइ ।
द्वितिया सो आ अंत कहूँ, यै बारह थल होइ ।।

अथ ओकारांत पुलिंग में विशेष नियमा..

हिंदी आकारांत जे, ते ब्रज औकारांत ।
होत बिसेसन में बहुत, सँमझहु कबि-कुल-कांत ।।
लडौ, बड़ौ, नांचौ, पढौ, प्यारौ आदिक जांन ।
भांषे आकारांत ए, उरदू होन सुजांन ।।

बाजादिक बहु सब्द के, दोऊ होत सरूप ।
बाजा, बाजौ सुद्ध दोउ, समझहु कवि-कुल-भूप ॥
हीरा, राजादिक सबद, होत न ओकारात ।
कहें असुद्ध बखानिऐं, यह समझहुँ मति भाँति ॥

अथ ओकारांत स्त्रीलिंग-'बन्नो' शब्द

बनी सुद्ध है जदपि तउ, कहुँ बन्नो हू होइ ।
सब विभक्ति में एक ही, रूप राखि है सोइ ॥
जदपि लगत बहु बचन में, या में अंत नकार ।
पै सो सुंदर होत नहिं, लीजै मन-हिं विचार ॥
यासो दोऊ बचन में, ए सब एक समान ।
राखें सुंदर होत है, जानहु कवि मति-मान ॥
लाडो, मुन्नो आदि सब, जानहुँ याही रीति ।
नियम सु ओकारांत के, कवि-जन करि अति प्रीति ॥

अथ औकारांत शब्द-नियमा

वकारांत करि होत है, सब्द सु औकारांत ।
होत विभक्ति हलंत सो, यह समझहु कवि-कांत ॥
राघौ, जादौ आदि सब, राघव, जादव होइ ।
बरनहिं तिन कहँ राम सम, यह जानहुँ सब कोइ ॥
वकारांत जो होइ नहिं, कहुँ संजोग सरूप ।
तौ सब थल निज रूप में, रहि हैं पंडित-भूप ॥
पासौं, भादौं आदि जे, सब्द सु सानुस्वार ।
तिनहूँ कों इमि जानिऐं, एकहि रूप बिचार ॥

अथ अनुस्वार विसर्गांत-नियमा

अनुस्वार नहिं अंत में, कहुँ भाषा-मधि होइ ।
तैसेंहि होत बिसर्ग नहिं, ए संस्कृत के दोइ ॥
होइ अनुस्वारांत जो, तौ है जाइ नकार ।
रांत, सांत, अरु हांत लिमि, अंत बिसर्ग बिचार ॥
चित्र-काव्य में होत सोउ, साधु कथंन में नाँहि ।
ए इन दोउँन के नियम, जानहुँ भाषा-माँहि ॥

अथ अन्य स्फुट नियमा

ऋ, ॠ, ऌ, ॡ होत है, सब इकार ईकार ।
तैसेंहि होत हलंत सब, आकारांत निरधार ॥
भाषा के इमि जानिऐं, सब्द-नियम-परकास ।
लिखहु, पढ़हु, कबिता करहु, बरनत 'गिरधरदास' ॥

इति भाषा-व्याकरन संपूर्ण

ब्रजभाषा के कोष-ग्रंथ

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

कोष ग्रथ भाषा-विज्ञान तथा भाषा-शास्त्र के महत्त्वपूर्ण और उपयोगी अग है। मानव को व्याकरण के बिना अधा और कोष के बिना बधिर (बहरा) कहा जाता है।[1] व्याकरण यौगिक शब्दो की सिद्धि करता है, किंतु रूढ तथा योगरूढ शब्दो के लिए हमें कोषो का ही सहारा लेना पडता है। कोष का अर्थ है—

"कोषानामार्थरासीनां जातं समूहो येन तं कोषः।"

—रघुवंश ५।१

भारत में वैदिक-काल से ही कोषो का महत्त्व स्वीकार किया गया है, वैदिक वाङमय में कोषो का 'निघटु' नाम था। वेदो पर निरुक्त रचने वाले 'यास्क मुनि' से पहिले 'निघटु' नाम के पाँच पृथक्-पृथक् कोष सग्रह थे। इन पाँचो में पहिले तीन मे एकार्थ वाले विविध शब्द सग्रहीत है। चौथे में अनेकार्थ शब्द और पाँचवे में वेद के देवताओ का वर्गीकरण करते हुए उनके नामो का सग्रह किया गया है। यो तो ये निघटु-कोष बाद की पद्धति-सर के लौकिक शब्द-कोषो से पृथक् पडते है, पर इनसे वेदादि सहिता-ग्रथो के अस्पष्ट अर्थों को समझने मे जो सहायता मिलती है उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। लौकिक कोषो में कवियो एव अन्य शास्त्र-रचयिताओ द्वारा प्रयुक्त इच्छित, उपयोगी, विविध विषयो के शब्दो का सचय है, निघटु में केवल नाम और धातुओ का। लौकिक कोषो में—नाम, अव्यय तथा लिंग-बोध कराने वाले अपार शब्द सग्रहीत है। अस्तु वैदिक कोष-ग्रथ (निघटु) वैदिक ग्रथो मे वर्णित विषयो तथा सदर्भो की पूर्त्ति करने वाले है और बाद के कोष सस्कृत-वाङमय के सपूर्ण शब्दो के अर्थ को स्फुट करने वाले शब्द-भाडार है।

निघटु के पीछे 'यास्क' के 'निरुक्त' में विशिष्ट शब्दो का और 'पाणिनि' की 'अष्टाध्यायी' में यौगिक शब्दो का विशाल समूह कोष की समृद्धि का विकास करता हुआ हमारे ज्ञान को पूर्ण बनाता है। पाणिनि के समय तक जितने भी कोष ग्रथ मिलते हैं वे सब गद्य रूप में ही उपलब्ध है। इसके बाद कोषो की रचना अनुष्टुप्-आर्या आदि वृत्तो (छदो) में हुई। यह छद-बद्ध पद्धति शब्दो को कठस्थ करने में अधिक सुगम और सफल हुई। इन कोष-ग्रथो में शब्दो के शोध की कोई पद्धति नही है, जिससे आधुनिक पद्धति-अनुसार आकारादि क्रम की अनुक्रमणिका आदि का अभाव खटकता है। प्रो० 'कीथ' का कहना है कि "इस प्रकार की रचना कदाच धातु-पाठ तथा व्याकरण की अन्य सूचियो के अस्तित्त्वकाल से विकसित हुई है।"

देव-भाषा सस्कृत के कितने ही प्राचीन कोष-रचयिताओ के नाम अर्वाचीन कोषो तथा काव्य-ग्रथो की टीकाओ में मिलते है। कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'ससारावर्त्त', व्याडि की 'उत्पलिनी', भागुर का 'त्रिकाड' तथा धन्वतरि का निघटु। इनके अतिरिक्त बाण, मयूर, मुरारि और श्रीहर्ष के—'श्लेषार्थ-पद-सग्रह' है, जो एक ही शब्द के दो या अधिक अर्थों के द्योतन करने वाले है, पर आज धन्वतरि के निघटु के अतिरिक्त अन्य कोष उपलब्ध नही है। उपलब्ध कोषो मे 'अमरसिंह' का 'नामलिंगानुशासन', अर्थात् 'अमरकोष' ही प्राचीन है जो सुदर तथा अभूतपूर्व उपादेय है।

[1] अवैयाकरणस्त्वधो बधिर. कोषवर्जितः।

अमरसिंह से पहिले जो भी कोष-ग्रंथ थे, वे नामानुशासन अथवा लिंगानुशासन दरसाने वाले थे। साथ ही वे इतने अस्तव्यस्त थे कि उनसे किसी अंश तक लाभ नही उठाया जा सकता था। अमरसिंह के अमरकोष में—नामानुशासन, लिंगानुशासन, अव्यय तथा नानार्थ शब्दो का समावेश किया गया है। इस स्तुत्य प्रयत्न को गागर में सागर भरने जैसा कहा जा सकता है। अमरकोष के प्रथम कांड में—"स्वर्ग, व्योम, दिग् काल, धी, शब्द, नाट्य, पाताल, नरक तथा वारि", द्वितीय कांड में—"भूमि, पुर, शैल, वनौषधि, सिंहादि जंतु, मनुष्य, ब्रह्म (ब्राह्मण), क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र" तथा तृतीय कांड में—विशेष्यनिघ्न, संकीर्ण, नानार्थ, अव्यय और लिंगादि वर्गों मे संपूर्ण उपयोगी शब्दो का समावेश किया गया है। इस प्रकार लगभग १५०० अनुष्टुप् छंदो—श्लोको में यह कोष ग्रंथ बडा ही सुंदर बन पडा है। लोगो ने जहाँ अमर की निंदा—

"अमरसिंहो हि पापीयान्सर्वं भाष्यमचूचुरत्।"

जैसी उक्तियो से की है वहाँ इनकी सरस-मधुर रचना से प्रभावित हो इन्हें प्रातःस्मरणीय बनाते हुए २६ कोष-ग्रंथ-कर्त्ताओ में गिनाकर अमर कर दिया है—

"भैविन्यामरमाला च त्रिकांडो रत्नमालिका।
रति देवो भागुरिश्च व्याडिशब्दार्णवस्तथा॥
द्विरूपश्च कलिंगश्च रभसः पुरुषोत्तम।
दुर्गोऽभिधानमाला च संसारावर्त शाश्वतौ॥
विश्वो बोपालितश्चैव वाचस्पति हलायुधौ।
हारावली साहसांको विक्रमादित्य एव च॥
हेमचंद्रश्च रुद्रश्चाप्यमरोऽयं सनातन.।
एते कोषाः समाख्याता. संख्या षड्विंशति स्मृता.॥"

अमरकोष संस्कृताभ्यासी विद्यानुरागियो को कितना प्रिय है, इसका ज्ञान उसकी अनेक टीकाओ से होता है। ये टीकाएँ निम्न प्रकार हैं—

१ अमरकोषोद्घाटनम्,—क्षीरस्वामी।
२ अमरदीपिका,—वंद्यगतीय सर्वानंद।
३ पदचंद्रिका,—रायमुकुट (१४३२)।
४ बुधमनोहरा,—वेदांती महादेव (स्वयंप्रकाश के शिष्य)।
५ पीयूषव्याख्या,—रामकृष्ण दीक्षित।
६ अमरचंद्रिका,—परमानंद मैथिल।
७ पदविवृत्ति,—लिंगसूरि।
८ व्याख्या सुधा,—भानु दीक्षित।
९ अमरविवेक,—महेश्वर।

इन पुरानी टीकाओ के अतिरिक्त नयी टीकाएँ भी है, जो उसको अधिक उपादेय बनाने में सहायक सिद्ध हुई है।

अमरकोष के बाद् कोष-ग्रंथो की रचना में बाढ-सी आई। अस्तु विशिष्ट शब्दो की अनुपूर्ति में रचा हुआ पुरुषोत्तम का—'त्रिकांडशेष', बारह वर्ष के विशेष प्रयत्न पूर्ण एकार्थ तथा अनेकार्थ शब्दोश छोटा सा संग्रह—'हारावलि' तथा शाश्वत का—'अनेकार्थ समुच्चय' अमरकोष जैसे ही प्राचीन कोष-ग्रंथ है। अनेकार्थसमुच्चय में अनेकार्थ शब्द तथा पूर्ण, अर्द्ध तथा चतुर्थांश श्लोको में भी समाहित हो जाँय ऐसे अल्प अनेकार्थ-वाची शब्दो के साथ अव्यय शब्दो का भी संग्रह किया गया है। इसके बाद हलायुध (९५०ई०) का 'अभिधानरत्नमाला', इसके एक शताब्दी बाद यादवप्रकाश का 'वैजयंती कोष'

जिसमे श्रुति, लिंग तथा आद्यवर्ण से लेकर व्यजनात तक सपूर्ण शब्दो का क्रमपूर्वक सग्रह है। यह 'कोष' एक अनोखी रचना माना जाता है।

सन् १०८८ ई० में हेमचद्राचार्य ने पूर्व-अनुश्रुत एक महान् कोष—"अभिधानचितामणि" नाम से रचा। इसके वाद—'निघटु', 'अनेकार्थ सग्रह', 'हेमलिंगानुशासन', 'उणादिसूत्र' तथा 'देशी नाममाला' आदि कोष-ग्रथ रचे गये। देशीनाममाला, देश्य शब्दो का सग्रह है, जो प्राकृत शब्दो के विकास पर अच्छा प्रकाश डालता है। हेमचद्र ने अपने इस कोष-ग्रथ में अपने से पूर्व के देशी कोष-कर्त्ताओ की सूची मे—अभिमानचिन्ह, गोपाल, देवराज, धनपाल, पादलिप्ताचार्य, राहुलक और शीलाक आदि के नाम दिये है। धनपाल का 'पाइअलच्छी नाम माला' अति उपादेय कोष है। उसमें आधुनिक पद्धति के अनुसार अकारादि से लिखे शब्दो के साथ, एकाक्षरी, द्वाक्षरी—आदि क्रम भी सुदरता से दिया गया है। जिस अक्षर से प्रारभ होने वाला शब्द जहाँ दिया है, वही उसके नानार्थ शब्दो का सग्रह भी दे दिया गया है। यही नही, कोष में उस समय के रीति-रिवाज, तथा विनोद सूचक शब्दो का भी सकलन है। इसके वाद, धनजय की 'नाममाला' ११२३ ई० के लगभग वनी, जिसमे २५० छदो मे अपने समय के प्रचलित शब्दो का सरस रीति से सकलन किया गया है। विश्वलोचन कोष तथा साधु सुदरगणि के 'शब्द-रत्नाकर' की भी काफी ख्याति है। महेश्वर का 'विश्वप्रकाश' (११११ई०), मख का स्वोपयज्ञ टीका युक्त 'अनेकार्थ कोष' (११५० ई०), केशव स्वामी का 'नानार्थार्णव'—सक्षेप (१२००ई०), मेदिनीकार का 'अनेकार्थ शब्द कोष' (१४ वी शती) तथा इरुगुप्त द्वारा रचित 'नानार्थरत्नमाला' का विशेष महत्त्व है। अनिश्चित् काल के अज्ञात-नामा कोषो में एक श्रुतिवाले 'एकाक्षरी कोष', पृथक्-पृथक् रूपो वाले द्विरूप, त्रिरूप कोषो का भी उल्लेख मिलता है, जो समय के पलडे पर तुलकर अदृश्य हो अपनी स्मृति मात्र छोड गये हैं।



ब्रजभाषा का कोष-अग भी उसके 'रीति-शास्त्र' की भाँति देववाणी सस्कृत के कोष-ग्रथ-रूप स्वस्थ तरुवर पर अमरवेलि की तरह पल्लवित हुआ और फूला-फला है। समय-समय पर इसमे भी अनेक कोष-ग्रथ रचे गये, जो सस्कृत के कोष-ग्रथो के समान परिपूर्ण, उपादेय तथा लोकप्रिय तो न वन सके, पर सरसता में उनकी वरावरी अवश्य कर सके है। ब्रजभाषा के कोष-ग्रथ-रचयिताओ ने भी 'अमर' की भाँति ही छोटे छद वाली सरस-सरल शैली अपनाई, जो अद्वितीय सिद्ध हो चुकी थी। शीघ्र कठस्थ होने वाले अल्प 'अनुष्टुप्-वृत्त' के समान इन्होने भी 'दोहा' जैसा छोटा छद चुना। ब्रजभाषा के कवियो ने और उसके विद्वान ग्रथ-प्रणेताओ ने शृगार-रस के भाव, विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावो के निरूपण में—विभावातर्गत आश्रय-अवलव स्वरूप नायक-नायिका के भेदोपभेदो तथा उनके सर्वांग नख-शिख के उद्दीप्त वर्णनो के साथ-साथ दूत-दूतियो की सृष्टि में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए जो वुद्धि का वैभव दिखलाया है, इनकी बारीकी दिखाने में जिस तबीअतदारी का परिचय दिया है, वह गगा-यमुना की भाँति अति पावन, सरस, सुदर सिद्ध होने में अपनी धातृ-रूपा सस्कृत से भी चढ-वढ गया है। शृगार-रस के सग्रह-ग्रथ-प्रणयन में भी अति चातुर्य दिखलाया गया है। नये-पुराने अनेक कवियो के अपनी-अपनी दृष्टि से चोटी के छद इन सग्रह ग्रथो में चुनकर रखे गये है, पर कोष तथा व्याकरण जैसे उपादेय ग्रथ-प्रणयन में जितना चाहिये था उतना ध्यान ब्रजभाषा के कविवर्गो ने नही दिया है। कारण ब्रजभाषा का वह समय शृंगारपूर्ण था, उसके वनने-सँवरने का था, भक्त कवियो द्वारा अपने-अपने इष्ट देवो के चरणो में नित्य नये रूप से अपने-अपने अंतर्गत भावो को उलटने-पलटने का था। प्रात स्मरणीय ब्रजभाषा के इन भक्त-कवियो को छोडकर उस समय के और जो भी कवि थे वे नपुमक-दरवारो की ही शोभा थे, अत उस समय का प्रभाव ब्रजभाषा-साहित्य के सभी अगो पर पडा। कोष-ग्रथ-प्रणयन में भी वाधक रहा, फिर भी इस अग की जो कुछ भी पूर्त्ति हुई वह साधारण होते हुए भी असाधारण ही कही जा

सकती हैं। इन कोष-ग्रथ प्रणेताओ में जिनका सर्व प्रथम नाम-वदन किया जा सकता है, वे हैं अष्टछाप के प्रसिद्ध, अति विशिष्ट, मधुर कवि—

"और कवि गढिया, 'नददास' जड़िया।"

नददास जी ने कोष-ग्रथ-प्रणयन जैसे नीरस विषय को सस्कृत के अमरकोष की भाँति सरस ही नही बनाया, उसे भगवच्चरित्र-गान-विषयक अपने ध्येय के अनुकूल ढाल कर एक नयी स्फूर्ति उत्पन्न की—एक नयी-ही वदिश बाँधी।

श्री नददास ने—नाम-माला (मान-मजरी) तथा अनेकार्थनाम-माला (अनेकार्थ-मजरी) नाम से दो कोष ग्रथो का प्रणयन किया जो अति प्रसिद्ध हैं। इनसे पूर्व व्रजभाषा का कोई अन्य कोष-ग्रथ न तो इतिहास प्रसिद्ध है और न अभी तक हमारे देखने-सुनने में ही आया है। इन दोनो कोष-ग्रथो के प्रणयन में नददास जी ने सस्कृत के अमरकोष को ही अपना आधार बताया है, जैसे—

"उचर सकत नहिं सस्कृत, जान्यो चाहत नाँम।
तिन्ह-हित 'नंद' सुमति लगि, रचत नाँम की दाँम॥
※
ग्रंथन्ह नाना नाँम के अमरकोस के भाइ।
माँनवती के नाँम पै, मिले अरथ सब आइ॥"

—नाममाला,

अनेकार्थनाम-माला मे बताया गया है कि "जो लोग सस्कृत भाषा नही जानते उनके लिये मैंने (नददास ने) अनेकार्थी सस्कृत-कोष को भाषा में लिखा।" कहने को तो नददास जी ने अपने दोनो कोष-ग्रथो के लिए "ग्रथन्ह नाना नाँम के अमरकोस के भाइ" को ही आधार बताया है, पर वास्तव में केवल आपकी 'नाम-माला' और 'अमरकोष' मे ही विशेष साम्य है। अनेकार्थ-माला, शाश्वत के 'अनेकार्थसमुच्चय' के अधिक समीप है। नाम-माला में श्री नददास ने—"मान, सखी, बुद्धि, सरस्वती, शीघ्र, धाम, सुवर्ण, रूपा (चाँदी), उज्ज्वल, शोभा, किरण, मोर, सिंह, अश्व, हाथी, सिद्धि, नवनिधि, भुक्ति, राजा, इद्र, देव, अमृतादि" २०७ दो सौ सात शब्दो का सग्रह उनके पर्यायवाची शब्दो के साथ २६४ दो सौ चौसठ दोहा छदो मे वर्णन किया है। इसी प्रकार 'अनेकार्थनाममाला' में भी—"गो, सुरभी, मधु, कलि, आत्मा, अर्जुन, धनजय, पत्र, पत्री, वरही, धाम, काम—आदि ११३ एक सौ तेरह शब्दो के विविध अर्थ १२० एक सौ बीस दोहो में वर्णन किया है। इन लोकप्रिय दोनो कोष-ग्रंथो की सैकड़ो-हजारो प्रतियाँ यत्र-तत्र मिलती है, जिनमें लोगो ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार बहुत कुछ शब्दो और दोहो में घटावढी की है। जिससे आज इनका मूलस्वरूप स्थिर करने मे—शब्दो तथा छदो की सख्या का निर्णय करने में बड़ी कठिनाई आ गयी है, परतु इन सब कारणो के होते हुए भी उसकी सरसता और उपादेयता में कोई कमी नही आ पाई है। नाममाला की सबसे बडी प्रति में शब्दो की सख्या २५७ तथा छद सख्या ३२४ पाई जाती है। नददासजी के इन दोनो कोष-ग्रथो के नामो (पुस्तक-शीर्षक) में बडी भिन्नता मिलती है। 'नाममाला' के—"नाममजरी, नाममणि-मजरी, नाम-चितामणिमाला" तथा 'अनेकार्थमाला' के—अनेकार्थमजरी, अनेकार्थमणिमंजरी, अनेकार्थध्वनिमजरी और अनेकार्थ नाम-चितामणिमाला" नाम मिलते हैं। शिवसिंह, मिश्रबधु, प० रामचद्र शुक्ल, डा० श्यामसुदरदास, डा० रामकुमार वर्मा, प० चतुरसेन शास्त्री आदि हिंदी साहित्य के इतिहास-रचयिताओ ने इन नामो के साथ खासी खिलवाड की है। इन सभी महानुभावो ने नददास जी के रचना-समुच्चय मे इनका उल्लेख कर प्रत्येक को पृथक्-पृथक् ग्रथ माना है। उक्त ग्रथो को तनिक भी मिलाकर या समीप से देखने का कष्ट नही उठाया है। बराबर एक के पीछे दूसरे, तीसरे—"मक्षिकास्थाने मक्षिका पात" करते चले आये है।

श्री नददास के इन दोनो ग्रथो में उनके अगाध भाषा-पाडित्य तथा सुदर काव्य-कौशल का अच्छा परिचय मिलता है। इन दोनो कोष-ग्रथो मे नददास जी ने अपने कल्पनात्मक कथानक को प्रिय

सुंदरता से सटाया है वह एक कलात्मक कार्य है। कवि की कल्पना स्थान-स्थान पर अनुपम उपमा और उत्प्रेक्षा के सुमधुर रूपों में अनिर्वचनीय सुंदरता के साथ निखरी है। वाक्चतुर सखी के शिक्षा और उपालंभ से सने मधुर वाक्य छंदों के अंतिम चरणों में कुछ इस प्रकार मिलते-जुलते चलते हैं कि उनसे कवि की काव्यमयी मधुर-भाषा के परिचय के साथ-साथ उनकी वर्णन-शक्ति की महत्ता की छाप रसिक हृदयों पर बरबस पड़ती जाती है। उदाहरण-रूप में दो नाम, जैसे—

"गो इंद्री, बिबि, बाक, जल, सरग, बज्र, खग छंद।
गो धरु, गो तरु, गो किरँन, गो-पालक, गोबिंद॥"[1]

—अनेकार्थमंजरी

बाँनी, बाक, सरस्वती, गिरा सारदा नाँम।[2]
चली मनाँमन भारती, बचँन-चातुरी काँम॥"

—मानमंजरी

सं० १६८५ में फतेपुर (मारवाड़) के कवि 'श्रीखजन' ने 'भारती नाम-माला' नाम का एक ब्रजभाषा-कोष ग्रंथ रचा। कवि पुष्करणा आचारज (आचार्य) ब्राह्मण देवीसहाय के पुत्र तथा दादू-पंथी संतदास के शिष्य थे।

सं० १७०० के लगभग शिरोमणि मिश्र ने "उर्वशी-कोष" नाम से ब्रजभाषा का कोष-ग्रंथ रचा। मिश्र जी मुगल-सम्राट् 'शाहजहाँ' के दरबार में थे। ये मथुरा-निवासी मोहन कवि के पुत्र तथा शतावधानी परमानंद जी के पौत्र थे।

अचल गच्छीय कल्याण सागर सूरि के समय 'विनयसागर' ने सं० १७०२ में 'नाम-माला', 'अनेकार्थनाम-माला' कोष-ग्रंथ ब्रजभाषा में बनाये, जैसा कि आप कहते हैं—

"अनेकार्थ जो अनेक विधि, प्रबल बुद्धि-परकास।
सास्त्र-समूहँन सोधि कें, विरच्यौ विनय-विलास॥"

किन्हीं 'बद्रीदास' कवि ने 'नंददास जी' की नाममाला के आधार पर उन्हीं की भाँति 'नाम-माला' अर्थात् 'मान-मंजरी' लिखी। जैसे—

"बहु विध नाम निहारि, अरथ अमर जू कोष कै।
सरब सुभाव विचारि, माँन छुड़ावति राधिका॥"

प्राप्त पुस्तक पर सं० १७२५ लिखा है। यह प्रति 'जेतारँन (माड़वार)' में लिखी गयी है। भाषा सुंदर तथा प्रांजल है। उदाहरण स्वरूप एक छंद 'मान-नाम', जैसे—

"दरपक, मद, अहँकार, माँन, गरभ, मति छोह-भरि।
'बद्रीदास' अघार, माँनिनि कौ अभिमाँन सुभ॥"

कवि 'महासिंह' ने श्री श्री नंददास की 'अनेकार्थ-नाम-माला' को लक्ष्य में रखकर सं० १७६० में अपनी 'अनेकार्थ-नाम-माला' रची। ये सभी महाकवि नंददास जी की भाँति अपनी कृति में 'अमर-कोष' को आधार मानते हुए कहते हैं—

"अमर-आदि जो कोस प्रति, तिन्ह की सत ह्याँ लीँन।
'महासिंघ' कबि यो भनें, अनेकार्थ यह कीँन॥"

यही नहीं, कवि ने नंददासजी की अनेकार्थ-मंजरी को ज्यों की त्यों अपना ली है, रंचमात्र भी हेर-फेर नहीं किया है। उदाहरण के लिये दोनों—नंददास और महासिंह के 'धनंजय' नाम के छंद देखिये, जैसे—

1. पाठांतर—सरग सुदीठि अनिंद।
2. „ —इला, सारदा नाँम।

"अग्नि, धनंजै कहत कवि, पवन धनंजै आहि।
अरजुन वोहौरि धनजै, कृष्ण सारथी जाहि॥"
—अनेकार्थ नददास

"अग्नि धनजय कहत कवि, पवन धनंजय आहि।
अरजुन बहुरयौ धनंजय, कृष्ण सारथी जाहि॥"
—अनेकार्थ महासिंह

सवत् १७७० मे किन्ही गुजराती कवि 'रत्नजित्' ने व्रजभाषा-व्याकरण के साथ-साथ 'भाषा-शब्द-सिंधु' तथा 'भाषा-धातु-माला' नाम से कोष ग्रथ रचे। इनका विवरण—ये कौन और कहाँ के थे, आदि कुछ भी नही मिलता। केवल नाम से 'जैन' ज्ञात होते हैं। आपने अपनी इस (व्रजभाषा-व्याकरण) पुस्तक में व्रज-भाषा की बडी प्रशसा की है। जैसे—

"रचैन अगॅम, पढ़िवौ सुगॅम, व्रजभाषा के ग्रंथ।
ताते बहु नृप अॅनुसरत, या भाषा कौ पंथ॥"
जो पंडित वॅखानॅविद, तौ पुनि भाषा चाहि।
निंदति है व्रज-बॉनि को, पहुँचत बुद्धि न जाहि॥
भाषा कौ रस जॉन-हीं, भाषा जॉनन-हार।
ज्यो केसव गिरवॉन को, जाको बुद्धि अपार॥"

"ते नैवोक्त रसिकप्रियाया श्लोके"—
"गीर्वाणवाणीषु विशेष बुद्धिस्तथापि भाषा रस लोलुपोऽहम्।
यथाऽमराणाममृतेषुसत्सुस्वर्गागना नामधरेषु लुब्धिः॥"

रत्नजित् ने अपने 'भाषा-शब्द-सिंधु' में 'ककारात' शब्दो से लेकर 'क्षकारात' तक सपूर्ण शब्दो का सग्रह अनुक्रमणिकानुसार विविध वृत्तो में वर्णन किया है। ये शब्दनाम, अर्थात् सज्ञा-वाचक है, क्रिया-वाचक शब्दो का सग्रह अपनी 'धातु-माला' में किया है। पुस्तक का आरभ इस प्रकार है—

"अथ भाषा शब्द सिंधु लिख्यते। वचनिका। ककारांत शब्दाः—
तिलक, किलक, पलक, ललक, तलक, नरक, वक, वृक, कटक, मसक, ससक आदि।
इस प्रकार प्रत्येक शब्द (अक्षर) के तीस-तीस भेद दिये है। धातु-माला में "अथ 'देख' वा वाचक (सकर्मक) धातु यथा—
देख, अवदेख, लख, झॉंख, अवलोक, बिलोक, निरख, निहार, परेख, हेर, चितव (चितै)।"
और अकर्मक धातु जथा—दरस, दीस
ककारात जथा—
"तरक, खरक, चुक, छिरक, कुहुँक, अटक, पटक, अवलोक।
चमक, दमक, बक, चोक, सक, हुलक, बिलोक हि रोक॥"
(अंत) अथ हकारात जथा—
"कह, गह, वह, रह, गुह, लहह, मोह, सोह, अवगाह।
रोह, गाह, अवरोह, डह, सह, चह, निवह, सराह॥"

सारंगधर कवि ने 'विराहचन्द्रिका' नाम से एक कोष ग्रथ लिखा है, जिसमें विविध अन्य शब्दो के साथ-साथ 'स्वर्णकारी'-विद्या-सबंधी पारिभाषिक शब्दो का भी सकलन किया गया है। इनकी प्रति सं० १७७४ की मिलती है। कवि के इतिवृत्त का कुछ पता नही चलता।

सवत् १७९२ में हरिजू मिश्र ने 'अमरकोष' का व्रजभाषानुवाद किया। आपकी भाषा प्राजल है—साफ-सुथरी है। हरिजू मिश्र आगरा के थे।

खडन कवि ने 'नाम-प्रकाश' नाम से एक कोष ग्रथ स० १८१५, विक्रमी मे लिखा है। खडन जी जाति के कायस्थ और दतिया के रहनेवाले थे।

कविवर 'भिखारीदास' उपनाम्—'दास' ने स० १७९५ मे 'नाम-प्रकाश' नाम से अमरकोष का अनुवाद व्रजभाषा में किया। आप श्रीवास्तव शाखा के श्रीवास्तव कायस्थ थे। पिता का नाम कृपालदास और पितामह वीरभानु थे। ये प्रतापगढ (अवध) के समीप मौजा टेंउगा के निवासी थे। नाम-प्रकाश की रचना विविध छदो में हुई है।

तपागच्छीय साधु 'ऋद्धिविजय' जैन के शिष्य 'चेतनविजय' ने स० १८४७ मे 'आत्मबोध-नाममाला' नाम से एक कोष लिखा है। इन्होने अपनी 'लघु-पिंगल' नाम की पुस्तक मे अपने को बगाल का होना बताया है, पर कहाँ और किस ग्राम में—इसका कुछ पता नही है। आप 'आत्मबोध' मे कहते है—

"भाषा आतम बोध की, रचना रचो सुदाँम।
बहुत बस्तु है जगत में, तिनको कहो बखाँन॥"

सवत् १८६३ में भिनगा के राजा जगतसिंह ने 'रत्न-मजरी' नाम से एकाक्षरी कोष लिखा। आपके इस कोष में 'क' से 'ह' तक तथा 'क्ष' 'ब' स्वरो की नाम-सज्ञा का भी वर्णन है, जैसे—

"सास्त्र-धातु अभिधाँन अरु अँमित सबद ले साधि।
भाषा करि 'एकाच्छरी', समझौ बुद्धि अगाधि॥"

और 'क' नाम, यथा—

"ब्रह्मा, वायू, आतमा, अरु अकार परकास।
ए पाँचौ कः जाँनबौ, बरनत बुद्धि-बिलास॥"

स० १८६४ विक्रमी में 'सुवश' कवि ने 'उमरावकोष' रचा। ये जाति के ब्राह्मण शुक्ल टेढा-विगहापुर जिला उन्नाव के रहनेवाले अमेठी के राजा उमरावसिंह बघेल के आश्रित थे। इन्होने अपने आश्रयदाता उमरावसिंह के नाम पर 'उमरावकोष' लिखा। भाषा सुदर और मधुर है, इससे पता चलता है कि कवि का ब्रजभाषा पर यथेष्ट अधिकार है।

सन् १६७५ ई० के लगभग 'मीरजाखाँ' ने 'तुहफतुल-हिंद' नाम के फारसी ग्रथ मे परिशिष्ट की भाँति 'लुगत-ए-हिंदी' (हिंदी-फारसी) कोष दिया है। आधुनिक परिभाषा में कोष का जो रूप होता है उसके अनुसार 'मीरजाखाँ' का कोष पहला 'हिंदी-फारसी' कोष विदित होता है। इस कोष मे तीन हजार से अधिक हिंदी शब्दो के अर्थ दिए हुए है। यहाँ हिंदी से 'ब्रजभाषा का मतलब है।

सन् १७०४ में फ्रांसिस्कस एम० टुरोनीसिस Franciscus M Turonesis ने हिंदोस्तानी भाषा की डिक्सनरी लिखी जो सन् १७६१ ई० तक रोम की 'प्रोपागेंडा लाइब्रेरी' मे थी। सन् १७४० ई० मे दयाराम त्रिपाठी ने एक हिंदी कोष लिखा।[1]

इस समय के लगभग ही 'उदोत' कवि ग्वालियर वासी ने टीकमगढ मे 'अनेकार्थ-मजरी' नाम से ब्रजभाषा का कोष-ग्रथ रचा। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। औरगजेब के दरबार मे भी आपका जाना-आना था। इनकी इस 'अनेकार्थ मजरी' की रचना में पद-पद पर श्री नददास जी की 'अनेकार्थ-नाम-माला' की छाप है। प्रयागदास ने स० १८६९ में सस्कृत के अमरकोष का व्रजभाषानुवाद 'शब्दरत्नावली' नाम से किया—

"संबत नव, खट्, बसु, ससी, साँमन सुदि बुधवार।
भई 'सबद-रतनावली', तिथि द्वादसी प्रचार॥"

संवत् १८७० में काशी के गोकुलनाथ भट्ट ने सस्कृत अमरकोष को भाषा-बद्ध 'रत्न-माला' नाम से किया। गोकुल भट्ट बदीजन रघुनाथ कवीश्वर के पुत्र थे। रघुनाथ कवि को काशी-नरेश ने चौरा ग्राम दिया था। वही इनका कुटुंब रहने लगा। कवि ने अपने ग्रथ का रचना-काल इस प्रकार दिया है—

[1]. दे० 'ए ग्रामर ऑव दी ब्रजभाखा : भूमिका, पृ० ८'।

"गगन, आग्र, वसु, बिधु सवत बर, कातिक पुन्य कदंभ।
सुकुल पचमी पाइ पुन्य भव, कियौ कोष प्रारभ ॥"

उदाहरण-रूप "कमल-केसर" नाम जैसे—

"केसर, अक, किंजलव कहत हैं, होत जो वारिज-बीच।"

और नाममाला मे 'विष्णु-नाम', जैसे—

"बिष्नु, नराइन, नरपती, बनमाली, हरि, स्याँम।
मधुसूदन अरु दैत्य-रिपु, रावन-अरि श्री राँम ॥"

उन्नीसवी शती के आरभ मे 'सागर' कवि ने 'अनेकार्थी' तथा 'घनजी-नाम-माला' नाम से दो उपादेय कोष-ग्रथ रचे, जो नददास जी की अनेकार्थ और नाममाला जैसे है। कवि के जन्म, स्थानादि का विवरण नही मिलता। अनेकार्थी मे ६० और नाम-माला में १४५ पद्य है। उदाहरण रूप 'सारग' नाम, जैसे—

"कँमल, कुरग, मराल, ससि, पावस, कुसुम, अनग।
चातक, केहरि, दीप, पिक, हेंम, राग सारग ॥"

—अनेकार्थी,

अमरकोष-भाषा नाम से 'शिवप्रसाद' कायस्थ भिनगा-वासी ने स० १८७४ में एक कोष ग्रथ लिखा। जैसे—

"अमरकोष भाषा कियौ, लीजैं सुकवि विचारि।
सुर-बाँनी बुध-लोग को, भाषा अबुध निहारि ॥
छद अधिक बहु ग्रथ में, है पढ़िबौ अति क्लिष्ट।
तातें हूँ अति सरल लखि, पढत सबै करि इष्ट ॥
चौपाई औ दोहरा, ए है छंद प्रसिद्ध।
ह्वो इन हीं में ग्रथ किय, है दोहँन की वृद्धि ॥"

और उदाहरण, जैसे—

"अमर तीसरे काड में आठ वर्ग को देख।
चारि बरग भाषा बिषै, आवत काज बिसेख ॥
सो मै भाषा करि कह्यौ, दोहा छदँन माँहि।
भाषा बिषै प्रबीँन सो, पढ़ि है जो करि चाँहि ॥
चार बरग जो लिंग के, भाषा में नहिं होइ।
स्त्री, पुस, नपुसकहि, इस्त्रि-नपुंसक सोइ ॥
तातें भाषा नहिं किए, नाम मात्र को काज।
सस्कृत सबद जु होत है, आवत जे तव काज ॥
लिंग-भेद भाषा बिषै, बिन कारज के पेखि।
तातें छाँड़े चाहिएँ, स्वार्थ-रहित को देखि ॥"

खोज रिपोर्ट सन् १९२३-२५ के पृष्ठ १३६२ तथा ६६ पर इस पुस्तक का दो बार उल्लेख किया गया है। प्रथम उल्लेख में यह पुस्तक जैसा कि ऊपर विवरण दिया है—"शिवप्रसाद कायस्थ" के नाम से तथा द्वितीय में 'शिवसिंह' के नाम से है। निर्माणकाल दोनो में एक है, अर्थात् १८७४ ही लिखा है। पृ० ६६ के विवरण में शिवप्रसाद जी के चौथे छद—

"अमरकोष भाषा कियौ, लीजैं सुकवि विचारि।"

को इस प्रकार बदल दिया गया है—

"अमरकोष भाषा कियौ श्री सिवसिंह बिचार।"

और पुस्तक के अंत में इति श्री स्वरूप—"इति श्रीमहाराजकुमार विसेनवशावतश वरिवडसिंहात्मज सर्वदमनसिंह तनुज शिवसिंह कृते अमरकोष भाषाया तृतीय खड" लिखा है। इससे यह ज्ञात होता है कि "या तो यह ग्रथ शिवप्रसाद कायस्थ ने जो इन महाराज के आश्रित कवि हो, अपने पालक-आश्रयदाता के नाम से लिखा, अथवा शिवप्रसाद जी इसके लिपिकर्त्ता हो।

स० १८७४ में ही 'मातादीन' शुक्ल' ने "नानार्थनवसग्रहावली' नाम का एक कोष-ग्रथ रचा तथा झाँसी-निवासी श्रीवास्तव 'नवलसिंह प्रधान' ने भी 'नामचिंतामणि' और 'नामरामायण' दो व्रजभाषा-कोष ग्रथ लिखे। प्रधान जी, समथर-नरेश हिंदूपति तथा दतिया और टीकमगढ के (मध्यप्रदेश) राज्यो में—उनके दरबार में आते-जाते थे। ये स० १९०६ वि० में विद्यमान् थे।

किन्ही 'लाडिलीप्रसाद' ने स० १९०६ में 'नाममाला' नाम से व्रजभाषा कोष-ग्रथ रचा। 'रत्नहरि' ने स० १९२१ में 'दूरादूरार्थ दोहावली' नाम में अनेक-अर्थात्मक एक कोष-ग्रथ रचा। जैसे—

"संवत ससि, दृग, खड ससि, चैत दरस ससिवार।
दूरादूरारथ दई, दोहावलि दातार।।"

और उदाहरण, जैसे—

"भज भव, भै करतार तें भज भज भै करतार।
तज भव भय भरतार को, तज भव भय भरतार।।"

❀

"भजन भजन तें भजन भव, तब भव भवम बहोइ।
भजन भजन को भय दहै, है अभयद को जोइ।।"

अज्ञात-कुलशील व्रजभाषा कोष-ग्रथ रचयिताओ में—चदनराम के अनेकार्थ और नामार्णव, सुबुद्धि कवि की 'नाम-माला' वा 'आरभ-नाम-माला', विष्णुदत्त के पुत्र रघुनाथ का 'प्रदीपिका-नाम-माला', चदनराय का 'तत्वसजा' कोष तथा राय साहिबसिंह का 'तुलसीरामायण' कोष भी प्रसिद्ध है। सुबुद्धि कवि नाम-माला में कहते हैं—

"अमर-ग्रंथ में जे कहे, सुने, लहे करि सुद्ध।
कुछ उपजाए अर्थ सो, नए नाम निज बुद्ध।।
भाषा-महिमाँ अधिक है, दिन-दिन गुन अधिकाहिं।
मृतक(जु) जीवित मत्र सो, तु ही तौ भाषा माँहि।।
जो कवित्त भाषा पढ़ैं, जो रत भाषा सुद्ध।
तिन्ह के समुझन को इते, बरनें बिबिध सुबुद्ध।।"

उदाहरण—'जम'-नाम, जैसे—

"सूरज-सुत, जँम जगत-अरि, जिय-निपात करि जाँन।
सिष्ट-भखी, निरदई, अयुनि, रवितन जो परिवाँन।।"

रघुनाथ कवि ने 'प्रदीपिका-नाम-माला' का प्रारभ इस प्रकार किया है—

"अविरल मद-रेखा दिऐं, गनपति ललित कपोल।
गध-लुब्ध मनु मगन ह्वै, षटपद करत कलोल।।
अब हो वरनो सबद-निधि, पार होंन की आस।
चित विलसत 'रघुनाथ' कवि, नाना-उकति प्रकास।।
विविध नाम-रत्नावली, सुनत हरैं दुख दंद।
कृत 'रघुनाथ' प्रदीपिका, विष्णुदत्त के नद।।"

चदनराय कृत 'तत्त्व-सज्ञा कोप' मे—त्रिगुण नाम, ज्ञानेद्रिय नाम, सूक्ष्म इद्रिय नाम, ज्ञानेद्रिय-देवता नाम तथा कर्मेद्रिय नाम—आदि विभिन्न विषय-रूप शब्द दिये है और राय साहिबसिंह के 'तुलसीरामायण-कोप' में आकारादि-क्रम से आधुनिक पद्धति-अनुसार गो० तुलसीदास जी कृत 'मानस' के सपूर्ण शब्द तथा उनके अर्थ दिये है।

किसी अज्ञात कवि ने 'अनेकार्थ-नामावलि' नाम से ब्रजभाषा कोप-ग्रथ रचा, जिसका पता रिपोर्ट सन् १९०२ से लगता है। रिपोर्ट मे इस ग्रथ के प्रति-रचयिता के लिये लिखा है—

"शायद यह कोष जोधपुर निवासी जालंधरनाथ के किसी भक्त ने रचा हो।"

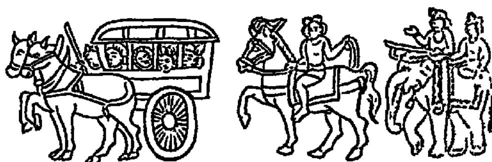
दौलतराम ने 'पुण्याश्रव-कथा-कोष' लिखा, जिसमे केवल कथाओ का सग्रह है। यही नही, ब्रजभाषा में वैद्यक के 'निघटु' कोप भी अनेक लिखे गये। इन निघटु कोपो में 'लक्ष्मण प्रसाद' का 'नाम चक्र' तथा 'मदनपाल' का 'निघटु-भाषा' अति प्रसिद्ध है।

ब्रजभाषा में सस्कृत कोपो का ही नही अपितु अरबी-फारसी के खालिकबारी' और 'गुनिया' आदि के अनुवाद, अथवा वे हिंदी-लिपि में लिखे ही नही गये, किंतु उनमे नूतनता लायी गयी—मधुरता भरी गयी। जैसे—

"खालिक बारी सिरजनहार, वाहद एक बिदा करतार।
रसूल पैगबर जान बसीठ, यार-दोस्त बोले जाइ ईठ॥"

यहाँ 'बसीठ' और 'ईठ' शब्द विचारणीय है। बसीठ का अर्थ—'सदेशवाहक', अर्थात् सदेश लाने और ले जानेवाला (चिट्ठीरसा) होता है, जो उपयुक्त है, पर 'ईठ' का अर्थ 'यार-दोस्त' के पर्याय रूप हिंदी में उचित नही बैठता। अत ब्रजभाषा के कवियो—उसके अनुवाद-कर्ताओ ने बसीठ को 'वशिष्ठ' और ईठ को 'इष्ट' कर जो सार्थक रूप दिया है वह ईठ की कष्ट कल्पना से परे है।

"तमन्ना, वहम्, आरजू, चाह कहिए।
इदोदस्त, हाथो, कदम पाइ गहिए॥"



हिंदी में शब्द-समस्या

श्री रामचंद्र वर्मा

हमारे यहाँ शब्दो को ब्रह्म कहा गया है। जिस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप समझना और उस तक पहुँचना बहुत कठिन है, उसी प्रकार शब्द का स्वरूप समझना और उसकी आत्मा तक पहुँचना भी बहुत कठिन है। बोलने को तो सभी लोग सदा कुछ न कुछ बोलते ही रहते है और सुननेवाले अपनी समझ से उनकी बातो का कुछ न कुछ अर्थ लगा ही लेते है, पर शब्दो के ठीक-ठीक अर्थ समझ कर उनके मूल तक पहुँचनेवाले लोग बहुत कम होते है। तुलसी-कृत रामायण को ही लीजिए—सारे भारत में उसका नित्य थोडा-बहुत पाठ करनेवालो की सख्या लाखो-करोडो तक पहुँचती है, पर उसका ठीक आशय समझनेवालो की सख्या सैकडो या हजारो तक ही पहुँच कर रह जाती है। कबीर, सूर, मीरा, जायसी आदि प्राचीन कवियो की कृतियो के सबध मे भी यही बात है।

हमारा देश भारतवर्ष अपनी और सब बातो की तरह आकार-प्रकार आदि में भी बहुत विस्तृत और विशाल है। इसे एक छोटा महादेश ही समझना चाहिए। इसके अतर्गत अनेक प्रदेश या छोटे देश, अनेक जातियाँ, अनेक धर्म, अनेक आचार-विचार, अनेक भाषाएँ और अनेक बोलियाँ है और उन सबका मिला-जुला एक ऐसा सहत रूप है, जो अनेकता में एकता का बहुत बडा प्रतीक है। उस एकता का ठीक-ठीक स्वरूप समझने के लिये सारी अनेकताओ पर ध्यान रखना पडता है—यह देखना पडता है कि वे अनेकताएँ कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुई और उनमे परस्पर कैसा सबध है। तभी हम उसकी आत्मा तक पहुँच कर उनके समष्टिगत रूप के दर्शन पा सकते है। फिर प्राचीन कवियोकी कृतियो का ठीक अर्थ समझना कई कारणो से और भी कठिन होता है। एक तो अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि अनेक स्थानिक भाषाओ में प्राचीन हिंदी साहित्य लिखा गया है, तिसपर पुराने शब्दो का प्रयोग दिन-पर-दिन कम होता जाता है। भाषा नया रूप धारण करती रहती है—पुराने शब्द छूटते जाते है और नये आते या बनते रहते है। कवि और लेखक अपनी मातृ-भाषा के तथा अपने यहाँ के स्थानिक शब्दो का उपयोग भी करते है। अन्य भाषा-भाषी या दूसरे स्थानो के लोग उन शब्दो के ठीक-ठीक रूप और अर्थ सहज मे नही समझ पाते। हमारे यहाँ के प्राचीन कवि और महात्मा, बहुत कुछ आजकल के कवियो और महात्माओ की तरह अन्यान्य प्रदेशो और तीर्थो की यात्रा भी करते थे और सब जगह के लोगो से मिल-जुलकर विचार-विनिमय भी करते थे—उनमे शब्दो और विचारो या भावो का आदान-प्रदान भी होता था। यदि उन्हें कही से नये या अच्छे विचार अथवा अधिक सुदर और भाव-व्यंजक शब्द मिलते थे, तो उन्हें ग्रहण करके अपनी कृतियो मे उनका प्रयोग करनेमें वे कभी सकोच नही करते थे। यही कारण है कि बहुत से प्राचीन कवियो में अनेक प्रकार की स्थानिक बोलियो के शब्द भी यथेष्ट मात्रा मे मिलते है। आज-कल के आलोचक तो ढूढ-ढूढ कर इस बात का पता लगाते है कि हमारे आलोच्य कवि ने किन-किन भाषाओ और किन-किन बोलियो के कैसे-कैसे शब्दो का प्रयोग किया है और इसी आधारपर उन्हे बहुज्ञ और बहुश्रुत तथा अनुभवी पर्यटक के रूप में उपस्थित करते है वास्तव मे इस प्रकार की प्रस्थापनाएँ हमे उन कवियो की आत्मा तक पहुँचाने में बहुत अधिक सहायक होती है।

'प्रामाणिक हिंदी-कोष' का काम करने मे मुझे प्राय प्राचीन कवियो के प्रयुक्त किये हुए बहुत से शब्दो की छान-बीन करनी पडती है। 'हिंदी शब्द-सागर' के प्रणयन के समय तो प्रामाणिक

और अच्छा साहित्य बहुत कम था , पर अब बात दूसरी हो गई है। आज-कल अनेक प्राचीन कवियो की कृतियो के कई ऐसे सुदर सस्करण प्राप्य हैं, जो बहुत ही परिश्रम तथा योग्यतापूर्वक सपादित हुए हैं और ऐसे सस्करणो से वास्तविक और शुद्ध अर्थ जानने मे बहुत कुछ सहायता मिलती है, पर कोई विद्वान् सर्वज्ञ होने का दावा नही कर सकता। भाषा के स्वरूप के सबध में ऊपर जो बातें कही गई हैं, उनके कारण अच्छे सपादको की कठिनाइयाँ और भी बढ जाती है। सभी लोगो से कही न कही भूले हो ही जाती हैं, पर ऐसी भूलो के लिए न तो विद्वान् लोग दोषी समझे जाते है, न अल्पज्ञ। यदि कही किसी से कोई भूल हो तो और लोग जाँच-पडताल करके, बिना किसी फालतू अभिमान के, वे भूले सुधार सकते है। ज्ञान का क्षेत्र सदा से इसी प्रकार परिष्कृत और विस्तृत होता आया है और होता रहेगा।

शब्दो और अर्थों की छान-बीन करते समय बहुत सी बाते ध्यान में आती रहती है, पर समय के अभाव से मै उन सब बातो का कोई शृखलाबद्ध सग्रह नही करने पाता। मेरे पास प्राचीन कवियो-द्वारा प्रयुक्त अनेक ऐसे शब्दो और प्रयोगो का एक अच्छा-खासा सग्रह तैयार हो गया है, जिनके अर्थ स्पष्ट नही होते और जो विद्वानो के लिए विचारणीय है। ऐसे शब्द बिना किसी निराकरण के प्राय. मेरे पास पडे रहते है, और कभी-कभी महीनो बाद सयोग अथवा प्रसग से ऐसे शब्द स्वय ही अपना अर्थ प्रकट कर देते है। यहाँ मै कुछ ऐसे ही शब्दो की चर्चा करना चाहता हूँ।

कोई छ मास पूर्व मीरा के शब्द सग्रहीत करते समय मुझे "दोवडी" शब्द मिला। मीरा का पद है—

'गैणो तो म्हारो माला, दोवडी और चदन की कुटकी।'

एक सुयोग्य टीकाकार ने दोवडी को 'एक प्रकार का गहना' बतलाया था, पर मुझे यह अर्थ इसलिए ठीक नही जँचा कि गहनो का तो मीरा तिरस्कार ही कर रही है—फिर दूसरा गहना कहाँ से आया 'दोवडी' तो गहने से भिन्न कोई चीज होनी चाहिए। इधर हाल में जब 'कबीर साहित्य का अध्ययन' प्रकाशित हुआ और मै उसमें के शब्द लेने लगा, तो उसमें मुझे कबीर का पद मिला—'पाँच गज दोवटी माँगी, चून लीयौ सानि।' यहाँ आकर पता चला कि दोवटी और दोवडी दोनो एक है, और 'दोवडी' का अर्थ चादर, दुपट्टा या और कोई कपडा होना चाहिए। एक सुयोग्य मित्र से बात-चीत करने पर पता चला कि राजपूताने में 'दोवडी' साधारण मोटे देशी कपडे को कहते है। हमारे यहाँ प्राचीन काल मे इसी अर्थ में 'द्विपट्ट' शब्द प्रचलित था, इसके विपरीत बढिया रेशमी कपडा 'दुकूल' कहलाता था। इस प्रकार 'दोवडी' की गुत्थी जैसे-तैसे सुलझ गई है।

मीरा के एक और पद में आया है—'मोती-माणिक परत न पहरूँ, मैं कब की नटकी।' उसी टीका मे मुझे 'परत' का अर्थ 'इकहरे-दोहरे गहने अथवा जडाऊ गहने' मिला और 'नटकी' का अर्थ 'अस्वीकार कर दिया।' साधारणत राजस्थानी में 'का' का प्रयोग अपत्य के अर्थ में होता है, जैसे—राँडका, अर्थात् राँड (विधवा) के पुत्र की तरह अनाथ और दीन-हीन। ब्रज में भी यह शब्द इसी अर्थ में अबतक बोला जाता है। इसलिए यह तो समझमें आ गया कि 'नटकी' शब्द 'नटका' का स्त्रीलिंग रूप है और 'नटका' का अर्थ नट जाति का पुरुष, पर 'परत' वाली समस्या बनी रही। महीनो बाद, मातृ-भाषा पजाबी होने के नाते, इस 'परत' का भी अर्थ एक बातचीत के प्रसग में ध्यान में आ गया। पजाबी में 'परतना' के अर्थ होते है—(क) लौटना या वापस आना और (ख) पीछे की ओर मुडना या मुडकर देखना। पजाबी मुहावरे के अनुसार 'परतकर कोई काम न करना' का अर्थ होता है—भूल कर भी कोई काम न करना। अत. मीराँ के उक्त चरण का अर्थ हुआ—"मै भूलकर भी मोती-माणिक नहीं पहनती, क्योकि मैं कोई नटनी (नट जाति की स्त्री) नही हूँ।" और सारे पद के प्रसग में यही अर्थ बिल्कुल ठीक घटता है।

महात्मा कबीरदास के स्थलों का स्पष्टीकरण भी कुछ इसी प्रकार, पजावी भाषा के सहारे हुआ। उदाहरणार्थ 'सुति मुकलाई अपनी माउ' का अर्थ एक प्रतिष्ठित और सुयोग्य मित्र ने किया है 'लडके ने अपनी माता को मुक्त कराया' (अज्ञान-रूपी पुत्र ने माया-रूपी माता को मुक्त कराया है, वह उसे ससार में ले आया है), पर पजावी में (मुकलावा) कहते हैं द्विरागमन को और 'मुकलाना' का अर्थ है—वर का वहू को ससुराल से पहले-पहल विदा कराके अपने घर लाना। इसलिए उक्त पक्ति का सीधा अर्थ हुआ—लडका अपनी माँ का द्विरागमन कराके (अपनी वहू के रूप मे) अपने घर लाया है। अब पूरा पद लीजिए और आदि से अत तक उसकी सगति मिलाइए तो अर्थ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। पद इस प्रकार है—

"जोइ खसमु है जाइया,
पति बापु खिलाइया।
देखहु लोगा कलि का भाउ,
सुति मुकलाई अपनी माउ ॥"

यहाँ उलटबाँसी के विचार से पुत्र का अपनी माता का गौना करा लाना ही ठीक बैठता है। ठीक यही बात 'पाहू घर आए मुकलाऊ आए' के सबध मे भी है। इसका यह अर्थ नही है कि पाहुने विदा कराने के लिए घर आये हुए हैं। यहाँ 'पाहू' ठीक उसी प्रकार 'दामाद' के अर्थ मे आया है, जिस प्रकार आज भी अनेक स्थानो मे दामाद के लिए 'पहुना' 'मेहमान' आदि शब्दोका प्रयोग होता है। इस चरण का वास्तविक अर्थ है—प्रियतम गौना ले जाने के लिए घर आये है। इसी प्रकार कबीर के एक पद में आया है—

'मजी न मिनिग्रै, तोलिन तुलोग्रे पाँचन सेर अढाई।'

इसमें का 'मिनिग्रै' पजावी के 'मिनना' का विकृत रूप है। पजावी में 'मिनना' का प्रयोग नापने के अर्थ में आज-तक होता है। कपडा तो मिना (नापा) जाता ही है, बरतनो मे भरकर पदार्थ भी मिने जाते हैं। जैसे—गेहू मिनना, तेल मिनना, दूध मिनना आदि। अत उक्त पक्ति का अर्थ है—वह नापा नही जा सकता, तौलना चाहे तो तौला नही जा सकता, आदि। इसी प्रकार—

'तुलि नहीं चढै जाइ न मुकाती हलुकी लगै न भारी'॥

मे 'मुकाती' भी पजावी 'मुकाना' का ही रूप है, जिसका अर्थ है—समाप्त या पूरा करना। अत उसका अर्थ 'वह छोडी नही जा सकती' के बदले होगा—वह समाप्त नही की जा सकती, उसका अत या इति नही की जा सकती।

अब कुछ और प्रकार के शब्द लीजिए। सूरदासजी का एक बहुत बडा पद है—

प्रभु जू, हौ तौ महा अधरमी।
अपत, उतार, अभागी, कामी, विषई, निपट कुकरमी ॥
घाती, कुटिल, ढीठ, अति क्रोधी, कपटी, कुमति, जुनार्ढ।'

इस पद में सूरदास जी ने अपने आपको परम तुच्छ और हीन बतलाते हुए अपने [illegible] में पचासो निकृष्ट विशेषणो का प्रयोग किया है। इनमें बहुत-से विशेषण ऐसे हैं जिनका अर्थ शायद इसलिए नही खुलता कि अब लोक में उनका प्रयोग उठ गया है, यथा—जुनार्ढ, [illegible] आदि। इनमें से 'पढ़ैनी' शायद उसी प्रकार का शब्द है, जिस प्रकार का शब्द [illegible] 'पूरा' हुआ है और 'मूकू' शायद मसलता की तरह शब्द है, पर ये सब अनुमान ही अनुमान हैं। [illegible] पता लगाने पर इनके ठीक-ठीक अर्थ मिलें। [illegible] शब्दो की सूची भी मेरे पास यहाँ नहीं होगी। [illegible] में हैं। आज सभी ने अपने यहाँ से [illegible]

है। आज-कल अनेक सुयोग्य विद्वान प्राचीन कवियो की कृतियो का संपादन करते समय बहुत कुछ परिश्रम और खोज तो करते है, पर अनेक स्थानो पर उन्हें कल्पना का सहारा भी लेना पडता है। कभी तो तीर निशाने पर बैठता है और कभी चूक जाता है। धीरे-धीरे बहुतसे शब्दो पर प्रकाश तो पड़ेगा। ऐसे पुराने शब्दो तथा मुहावरो के ठीक अर्थ जानने के लिए सारे भारत में खोज करनेकी आवश्यकता होगी और फिर भी अनेक ठीक अर्थ मिलेंगे या नही, इसमें संदेह ही है और यदि यह खोज आज न करके सौ-पचास वर्ष बाद की गई तो शब्दोके अर्थ मिलना बहुत कुछ असंभव हो जायगा।

राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा हो जाने के कारण हिंदी का सारे भारत में प्रचार हो रहा है। हजारो अन्य भाषा-भाषी हिंदी की ओर प्रवृत्त हो रहे है। ऐसे लोगो के हिंदी-अध्ययन मे एक और प्रकार की समस्या बाधक होती है। खड़ी बोली या आधुनिक गद्य हिंदी तो वे सहज में समझने लग जाते है, पर हिंदी के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने में उन्हें इसलिए बहुत अधिक कठिनाई होती है कि अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि की प्रकृति और प्रवृत्तियो से वे परिचित नही होते। हमारे यहाँ के अनेक कवियो ने शब्दो को इतना अधिक तोडा-मरोडा है कि कभी-कभी हिंदी भाषियो तक को उनके ठीक रूप का जल्दी पता नही चलता औरो की तो बात ही क्या है, यदि तुलसीदासजी 'अतिदीन' को मिलाकर 'तिदीन' बनाते है तो भूषण 'कहा अब' से 'कहाव' और 'सो अब' से 'सोव' बना डालते है। पद्माकर, केशव आदि ने भी खूब तोड-मरोड की है। कभी-कभी छंदो के विचार से भी कवियो को शब्दो के विकट रूप बनाने पडते है। अमृत-ध्वनि छंद मे तो बिना शब्द तोडे-मरोडे और साधारण वर्णों को द्वित्व वर्णों का रूप दिये रचना हो ही नहीं सकती। उलटबाँसियो और कूटो की कृपा से भी कविताएँ परम दुरुह हो जाती हैं। श्लिष्ट शब्दो का प्रयोग भी कविताओ को जटिल बनाने में सहायक होता है। फिर कुछ शब्द कुछ विशिष्ट प्रसगों में कुछ विशेष अर्थों में प्रयुक्त होते है, और बिना उन प्रसगो का पूरा-पूरा उल्लेख किए शब्दो के अर्थ बतलाए ही नही जा सकते। इस प्रकार की कठिनाइयाँ शब्द-कोषो में तो दूर हो नही सकती। महत्त्वपूर्ण ग्रंथो के प्रामाणिक, सुसंपादित और सटीक संस्करणो से ही उक्त समस्याओ का निराकरण हो सकता है। सुयोग्य विद्वानो को इस काममें अधिक तत्परता से लगना चाहिए।

शब्दो के संबंध की अंतिम समस्या यदि बिलकुल नई नही तो भी बहुत कुछ हाल की है और वह है—अंग्रेजी से सभी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण शब्दो के लिए हिंदी के उपयुक्त पर्याय ढूढना और स्थिर करना। इस संबंध मे कई प्रकार के लोगो ने कई तरह के काम किये है और अपने-अपने अनुभव से इसके लिए लोगो ने कई तरह के उपाय सुझाये हैं। कुछ लोगो की समझ में यह काम अलग-अलग क्षेत्रो में होना चाहिए। कुछ लोगो के विचार से एक केंद्र में होना ठीक होगा। बहुत-से लोग यह चाहते है कि यह काम एक-साथ और जितनी जल्दी हो सके, हो जाय, और कुछ लोग यह समझते है कि यह धीरे-धीरे और क्रम से ही होगा। मेरी समझ मे इस काम के दो अंग होने चाहिएँ—एक साधारण और नित्य व्यवहार के शब्दो का और दूसरा वैज्ञानिक शब्दो का। पहले अंग का जो काम अब तक कुछ राज्य-सरकारो या केंद्रीय सरकार ने किया-कराया है, वह प्राय. बहुत महंगा भी पडा है, और बहुत कुछ असतोषजनक भी हुआ है। यह काम अंग्रेजी और सस्कृत के कोरे विद्वान् उतना अच्छा नही कर सकते, जितना अच्छा तपे-तपाये और अनुभवी साहित्य-सेवी कर सकते है। जिन सुयोग्य साहित्य-सेवियो की इस ओर विशेष रुचि हो, उन्हें स्वय अपने शौक से इस काम में लगना चाहिए और सरकारो की ओर से उन्हें उपयुक्त प्रोत्साहन और सहायता मिलनी चाहिए। इससे काम जल्दी और थोड़े खर्च में होगा। वैज्ञानिक शब्दावलियो का काम अलग-अलग विभागो के विशेषज्ञो पर छोड देना चाहिए, पर उन्हें भी उसी प्रकार प्रोत्साहन और सहायता मिलनी चाहिए। ऐसे कार्यों के लिए हमें कई बातो का ध्यान रखना होगा। सभी नये शब्द गढे जाते ही काम में आने के योग्य नहीं हो जाते। प्राय प्रयोग में आने पर उनमें कुछ परिवर्तन की भी आवश्यकता प्रतीत होती है। उच्चारण

लेखन आदि के विचार से सुगम होने चाहिए, नही तो जल्दी ही या तो उनके अपभ्रष्ट रूप बनने लगेंगे या वे टकसाल-बाहर समझे जायेंगे। अत नये शब्द ऐसे होने चाहिए जो प्रयोग की कसौटी पर पूरे उतरें और प्रयोग की कसौटी शब्दो को कसने के लिए कुछ समय लेती है। इधर हाल में अंग्रेजी शब्दो के कुछ ऐसे हिंदी पर्याय भी चल गये है, जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध या अव्याप्ति दोष से युक्त है और अब उन्हे बदलना कठिन है। अत नये शब्द पहले से ही खूब सोच समझकर बनाये जाने चाहिए। हमे यह भूल नही जाना चाहिए कि अंग्रेजी कई सौ वर्षो के व्यवहार के बाद इतने उन्नत रूप तक पहुँची है। हम दस-पाँच वर्षो मे अपनी भाषा को उसका समकक्ष नही बना सकते। हाँ, उसके दिखलाये हुए मार्ग का अनुसरण करके हम अपेक्षाकृत कुछ जल्दी उसकी बराबरी करनेका प्रयत्न कर सकते हैं।[१]

१. ब्रजभाषा के कवि-प्रयुक्त शब्दो, यथार्थ रूपो और उनके वास्तविक अर्थों को जानने को एक कठिन समस्या है। हिंदी के शब्द-कोषो से जो अबतक प्रकाशित हुए है, जहाँ इनके सुलझाने की आवश्यकता थी वहाँ उन्होंने उसे और भी दुरूह ही बनाया है। ये कोष-कर्त्ता अपने आलोचको-द्वारा शब्द विशेषो का ठीक-ठीक अर्थ बतलाने पर भी उसपर विचार नहीं करते—उसे नहीं अपनाते। उदाहरण के लिए ऐसे ही श्री सूरदास और गो० तुलसीदास प्रयुक्त दो शब्दो–"अतरौटा" और पाल-भरी "सहरी" का उल्लेख यहाँ किया जाता है, जिसपर साहित्य-संसार में काफी चरचा रही है। स्वर्गीय बा० जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' की जिज्ञासा के अनुसार ब्रज में खोज करने पर श्री सूर के 'अतरौटा' का अर्थ—उदर-आच्छादन के प्रयोग में आनेवाला वह वस्त्र विशेष है जो कचुकी (अँगिया) के साथ सबधित रहकर कमर के नीचे और घुटनों से कुछ ऊपर रहता है, किंतु इसका अर्थ अब भी यही शब्द के विकृत रूप के साथ जैसे—"अतरौटा" (संज्ञा पु०) (हि०) महीन साड़ी के नीचे पहनने का कपडा—"पेटीकोट" ही माना जाता है। यहाँ यह विचार नहीं किया जाता है कि 'अष्टछाप' के कवियो के समय ब्रज में पेटी-कोट जिसे आजकल चनियाँ, साया आदि भी कहते है, चलन था, या नहीं। ब्रज के स्त्री-वस्त्रो में 'ओढ़ना, 'अँगिया' और 'लहँगा' तीन ही वस्त्र प्रधान थे और इनका ही चलन था। साडी का भी उल्लेख कवियो द्वारा मिलता है, पर पेटीकोट का चलन ब्रज के स्त्री-वर्ग में तब भी नहीं था और आज भी नहीं है। शहराई स्त्रियाँ ही आज इसका प्रयोग करती है, वह भी साडी के साथ—लहँगे के साथ नहीं। हाँ, मुगल काल के राग-रग-प्रधान समय में लहँगा के नीचे 'पाजामे' का प्रयोग स्त्रियाँ अवश्य करती थीं। इसी प्रकार गो० तुलसीदासजी के 'शहरी' या 'सहरी' शब्द की अवस्था है। गोस्वामी जो 'केवट' की क्षुद्रता, दीन-हीन अवस्था के साथ प्रकट करते हुए उसकी आजीविका (रोजी) की साधन "नौका" की भी क्षुद्रता, अल्पता—हलकापन प्रकट करना है। सहरी का वास्तविक अर्थ जल में चलने वा रहनेवाला होता है, अत. सहरी का अर्थ 'मछली' ही क्यो माना जाय? जबकि जल में चलने वा रहने के कारण उसका अर्थ नौका (नाव) भी हो सकता है, जोकि यहाँ अभीष्ट है। भरी का अर्थ भी तुल्य, बराबर और हलके पने का द्योतक है। अस्तु, गो० तुलसीदासजी ने–'पाहन ते न काठ कठिनाई' द्वारा नाव के हलके पने की ओर इशारा करते हुए उस (नाव) के, प्रभु के रज-रंजित पाद-स्पर्श से सुदरी बन जाने का भय दिखलाते हुए भक्त की चरण-अर्चना की उत्कट अभिलाषा को प्रकट किया है, जो कि उनका अभीष्ट अर्थ है, पर आज भी इसके प्रति यही धांधली चल रही है—उनका नौका अर्थ न मान कर 'मछली' ही अर्थ माना जा रहा है, जो सार-हीन है, व्यंजना-रहित है और अर्थ के चमत्कार से शून्य है। अत जो शब्द अर्थ की ऐसी गूढ़ता मे गुम्फित हों उन्हें ब्रज भाषा के विशेष जानकारो, वहाँ की संस्थाओ अथवा वहाँ जाकर जिज्ञासा करनी चाहिये, पर होता विपरीत है और उससे शब्दों के अर्थ की गुत्थी सुलझने के बजाय उलझनी ही अधिक है।

शिकार-साहित्य के रचयिता और विशाल-भारत पत्रकत्ता के [illegible] पं० श्री-राम शर्मा का ब्रजभाषा का एक शब्द 'देमचरा' जो ब्रज के [illegible] में कोई [illegible] (खेल) [illegible]

हैं और जिसकी पत्रों में प्रायः चर्चा हो चुकी है, अभी अपने अर्थ की बाट जोह रहा है। इसी प्रकार—लुकंदा, गेंत आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो अपने-अपने अर्थ की आकांक्षा अपने अंक में छिपाए हुए अज्ञात-कुलशील के रूप में पड़े हुए हैं। सूर-प्रयुक्त शब्दों का तो कहना ही क्या , क्योंकि उनके 'सागर' का अभी तक कोई प्रामाणिक संस्करण नहीं है, जो भी है वे अपने से आगेवाले की समकक्षता में अधिक भ्रष्ट के रूप में ही उल्लेखनीय हैं। ऐसी अवस्था में 'ब्रजावधी' के शब्दों, उनके कवि प्रयुक्त रूपों और अर्थों की एक विकट समस्या है, जिसे यदि चाहें तो काशी की 'नागरी-प्रचारिणी सभा' और ब्रज का 'अखिल भारतीय—'ब्रज-साहित्य-मंडल' सुलझा सकता है। आवश्यकता है, सहयोग की—उपेक्षा की नहीं। ब्रज-साहित्य-मंडल को अपने ग्रंथों और शब्द-कोषों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।



कवि-समय

श्री गुलाब राय

बहुत प्राचीन काल से कवि लोग अपनी बात को विशेष चुभनेवाली बनाने के अर्थ कुछ ऐसे विश्वासो, प्रसिद्धियो या प्रशस्तियो से काम लेते आए हैं कि जिनके पीछे एक पुरानी परपरा लगी हुई हो और जिनके द्वारा कविता के मर्म जानने वालो पर गहरा प्रभाव डाला जा सके। इन विश्वासो और प्रसिद्धियो का आधार चाहे प्राकृतिक सत्य न हो, परतु इनके सबध मे सब सहृदय समाज एकमत रहता है और एक परपरागत विना लिखा-पढी का समझौता-सा बन जाता है कि कम से कम कविता में इन बातो का इसी प्रकार से वर्णन किया जाय। ये रेखागणित की पूर्व स्वीकृतियो (Postulates) की भाँति मान-सी ली जाती हैं।

ऐसे विश्वासो को पारिभाषिक शब्दावली मे 'कवि-समय' कहते हैं। समय—वायदे वा समझौते को कहते हैं। वानर-राज सुग्रीव जब राज और स्त्री-पाकर सीता जी की खोज-खबर लेना भूल गए थे तब श्री रामचन्द्रजी ने रोष कर सुग्रीव से कहा था 'समये तिष्ठ सुग्रीव', अर्थात् अपने वाइदे पर रहो। समय, वह वात है जो सबके लिये सम, अर्थात् एक-सी हो। कवियो के आपस के समझौते को कवि-समय कहते हैं।

एक उदाहरण देकर यह बात अधिक स्पष्ट की जा सकती है। सासारिक मिलन का सुख कमल के पत्ते के ऊपर की पानी की बूद की भाँति क्षणिक और बहजाने वाला होता है। उसमें वियोग की बाधा लगी रहती है, किंतु परमात्मा के साथ आध्यात्मिक मिलन में यह वात नही होती। कवि यदि उस दैवी मिलन की चाह को प्रकट करना चाहे तो केवल इतना कह देने से न वक्ता को सतोष होगा और न श्रोता को ही पूरा-पूरा आनद मिलेगा कि परमात्मा के साथ मिलन में वियोग का भय नही, किंतु वह चकवी और चकवे के सबध मे इस विश्वास का सहारा ले कि रात मे इस जोडे का वियोग हो जाता है और यदि नर-पक्षी नदी के इस पार रहता है तो मादा दूसरी पार, यह कहे—

"चल चकई वा सर विषय जहँ नहिं रैन-बिछोह।"

तो वात का कुछ गहरा प्रभाव पडेगा और हमारे सामने चिर मिलन की एक तसवीर-सी खिच जायगी।

कवियो के ऐसे विश्वास प्रत्येक भाषा के साहित्य में वर्तमान हैं। वे कविता को कुछ और गौरव पूर्ण बना देते हैं। अग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी परपरागत इस विश्वास से परिचित हैं कि 'स्वान' (Swan), अर्थात् राजहस मरते समय गीत गाया करता है। इसीलिए मरने से पहले किसी मनुष्य की लुभावनी बातो को 'स्वान सोग' (Swansong) कह देते हैं। इसी प्रकार अरब के रेगिस्तान की फिनिक्स (Phoenix) नाम की चिडिया के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि मरते समय उसके शरीर से अग्नि उत्पन्न हो जाती है और उसी चिता में उसका शरीर भस्म हो जाता है। फिर उसी भस्म से एक अडा निकलता है और उसके द्वारा चिडिया पुन जन्म लेकर अपनी जीवन यात्रा एक नए सिरे से चलाती है। यह कवि-प्रसिद्धि किसी सस्था के शिथिल होकर नष्ट होने और उसके पश्चात् फिर जन्म लेकर नये उत्साह के साथ काम करने की बात को बडी सुविधा के साथ व्यक्त कर देती है।

झूठे दिखावटी आँसुओ को अग्रेजी में 'क्रोकोडाइल टीअर्स' (Crocodile Tears) कहते हैं। इसके पीछे यह विश्वास है कि घडियाल बनावटी आँसू बहा कर अपने शिकार को आकर्षित कर लेना

है और उसका भक्षण करते हुए भी वह रोता ही रहता है। फारसी साहित्य में 'हुमा' नाम की एक चिडिया का जिक्र आता है। वह हड्डी खाती है, किंतु इसकी छाया जिस आदमी पर पडती है वह बादशाह हो जाता है।

सस्कृत और हिंदी के कवियो में कुछ ऐसी ही प्रसिद्धियाँ चिरकाल से चली आ रही है। राजशेखर जैसे 'काव्य-शास्त्र' के व्याख्याताम्रो ने इन कवि-समयो का विशद वर्णन किया है। उन्होने पृथ्वी (भौम), पाताल और आकाश की वस्तुओ के सबध में अलग-अलग कवि-समय माने है। इन तीनो के भी तीन प्रकार के कवि-समय है—

१. असत् बात का कहना।

२. सत् बात का न कहना।

३. अनियत को नियत करना।

इनमें पृथ्वी से सबध रखने वाले कवि-समय मुख्य है। अस्तु, असत् बात को कहने के उदाहरण है—कमल का नदी में वर्णन करना, पर कमल झील या तालाब के बँधे हुए पानी में ही होता है, नदी के बहते पानी मे नही। स्त्री की कमर को 'मुष्टि-ग्राह्य', अर्थात् मुट्ठी में आजाने वाली कहना और अधकार को 'सूची-भेद्य'—सुई से छेदे जाने योग्य कहना। यह शायद उसकी प्रगाढता के कारण ऐसा कहा जाता हो।

सत् के न कहने के उदाहरण है—चदन के फूलो और अशोक के फलो का वर्णन न करना। वास्तव में चदन में फूल और अशोक में भी फल होते है, किंतु चदन में फूल न मान कर कवियो को ब्रह्मा की अकल पर टीका-टिप्पणी करने का अवसर मिल जाता है। चदन के सबध में यह सुना जाता है कि उसके तने पर साँप लिपटे रहते है[1] और उसकी खुशबू से नीम कटुक आदि वृक्ष भी चदन हो जाते है। चदन के सबध में एक विचित्र बात है कि उसके सूखने पर ही उसमें खुशबू निकलती है। इसी प्रकार यद्यपि शुक्ल पक्ष के उत्तरार्ध में अधकार होता है और कृष्ण पक्ष के उत्तरार्ध में उजाला होता है, तथापि कवि लोग न शुक्ल पक्ष में अँधेरे का वर्णन करते है और न कृष्ण पक्ष में उजेले का। गोस्वामी तुलसीदास जी का इस ओर ध्यान गया था, देखिए—

"सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि पोसक सोसक समुझि, जग जस अपजस दीन्ह॥"

—दोहावली, ३७२

अनियत को नियत कर देने के उदाहरण है—मगर का केवल 'गगा' में और मोतियो का केवल 'ताम्रपर्णी' नदी में वर्णन करना। चदन वृक्ष यद्यपि बहुत से स्थानो में होते है तथापि उनका वर्णन केवल 'मलयागिरि' पर ही किया जाता है। इसी प्रकार भोज-पत्र का वर्णन केवल हिमालय पर्वत पर किया जाता है और कोयल के बोलने का केवल वसत में उल्लेख होता है। बरसात में कोयल का मौन धारण कर लेना कहा जाता है।

पशु-पक्षियो के सबध में भी कवि-प्रयुक्त प्रसिद्धियाँ है और वृक्ष तथा पौधो के विषय में भी। हस कवियो का बडा प्यारा पक्षी है। वह सरस्वती जी का जो विद्या की देवी है, वाहन माना गया है। इसके बारे में कवियो का विश्वास है कि वह मोती चुगता है। तभी तो यह कहावत है—

'कै हंसा मोती चुगै कै फाँके मर जाइ'।

यह ऐसे आदमियो के लिए कहा जाता है जो, या तो अपने आदर्श के अनुकूल अच्छी से अच्छी वस्तु लेंगे, या कुछ न लेंगे। हस के सबध में दूसरी प्रसिद्धि यह है कि वह दूध और पानी को अलग कर देता है, इसी लिये वह आलोचक का प्रतीक माना गया है। वह पानीमे अलग

[1] चदन विष व्यापै नहीं, लिपटे रहत भुजग।

कर दूध को पी लेता है। तुलसीदास जी ने उसकी सज्जनो से उपमा दी है, जो दुनियाँ मे बुराई छोड देते है और भलाई को ग्रहण कर लेते है। तुलसीदास जी कहते है—

"जड़ चेतन गुँन-दोष-मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस-गुँन गहहिं पर, परिहरि बारि बिकार॥"

हस के लिये यह भी कहा जाता है कि इसकी जगह हिमालय—पर्वत पर 'मानसरोवर' है। वास्तव में उनका मोती चुगना और मानसरोवर मे होना दोनो बाते एक साथ नही हो सकती है। मोती तो समुद्र में होता है और सीप के भीतर से निकलता है। पडित 'महावीरप्रसाद द्विवेदी' का यह विचार है कि मानसरोवर का जल मोती की तरह निर्मल होता है, इसीलिये हस के मोती चुगने की बात चल पडी है। ऐसी ही बात उसके दूध पीने की है, नही तो मानसरोवर में उसके लिये गाय-भैंस कहाँ रक्खी है? इस सबध मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने बहुत कुछ छान-बीन की है। उनका कहना है कि कमल की डडी से निकलने वाले ततुओ को वह बडे चाव से खाता है। उनके चबाने में दूध-सा रस निकलता है और उसी के आधार पर यह 'कवि-प्रसिद्धि' चल पडी है कि हस दूध-दूध पी लेता है और पानी-पानी छोड देता है। हस के सबध में यह भी प्रसिद्धि है कि वह वर्षा ऋतु में साधारण तालाबो को छोड कर मानसरोवर चला जाता है।

वर्षा में 'खजनो' का भी अभाव हो जाता है और कमल भी विलीन हो जाते है, तभी तो आचार्य केशवदास जी ने श्री रामचद्र जी से कहलाया है कि जो वस्तुएँ श्री सीता जी की याद दिला सकती थी वे भी वर्षा में विलीन हो गईं, अब वे किसका सहारा लेकर जिये—

"कलहंस, कलानिधि, खजन, कंज, कछू दिन 'केसव' देखि जिए।
गति, आँनन, लोचॅन, पाँइन, के अनुरूपक से मन माँनि लिए॥
यहि काल कराल ते सोधि सबै, हठि कै बरखा-मिस दूरि किए।
अब धौं बिन प्राँन प्रिया रहि है, कहि कौन हितू अवलंब हिए॥"[1]

—रामचद्रिका, १३।२२

चकवी-चकवे की बात हम पहले बता चुके है। इस विश्वास को लेकर भी कविता मे बडी सुदर-सुदर उक्तियाँ आई है। भरत जी के सबध में तुलसीदास जी कहते है कि यदि कोई बहेलिया चकवी-चकवे को रात में एक पिंजडे में बद कर दे तो भी वे एक दूसरे को नही देखेंगे। उसी प्रकार भरत जी ने भरद्वाज मुनि द्वारा उपस्थित की हुई राज-भोग की सामग्री की ओर नही देखा—

"संपति चकई, भरत चक, मुनि आयुस खिलवार।
तिहि निसि आश्रॅम-पींजरा, राखे करि भिनुसार॥"

—दोहावली २।६

चकवी-चकवे के अलग रहने के सबध मे 'स्टुआर्ट बेकर' (Stuart Baker) तथा 'ह्विसलर' (Whistler) के आधार पर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि चकवी-चकवे का जोडा दिन मे एक साथ रहता दिखाई पडता है और रात को अक्सर ये अलग-अलग देखे जाते है। सभव है कि इस विश्वास का यही आधार हो। इसके सबध मे एक पौराणिक आख्यान भी है कि चकवी-चकवे ने सीता जी के वियोग में जाते हुए श्री रामचद्र जी की हँसी उडाई थी, तभी तो उनको यह शाप दिया गया था कि वे रात को नही मिल सकेंगे। सूर्योदय होते ही चकवा चकवी से मिलन की आशा में प्रसन्न हो उठता है। सूर्योदय के वर्णन के साथ प्राय कोकी के शोक के दूर होने का वर्णन भी आता है—

"बीत गई सिगरी रजनी, चहुँ ओर सो फैल गई नभ-लाली।
कोक-वियोग मिट्यौ परिपूर, उदै भयौ सूर महा छबि-साली॥"

[1] पहली दो पक्तियो में 'क्रम' अलंकार की सुंदर छटा है।

कविवर विहारी लाल जी ने वर्षा-ऋतु के संबंध में कहा है कि उस ऋतु में दिन और रात का भेद केवल चकवी-चकवा के संयोग-वियोग से ही जाना जाता है—

"पावस निसि अँधियार में, रह्यौ भेद नहिं आँन।
रात द्यौस जाँन्यों परै, लखि चकई-चकवाँन॥"

पक्षियो में 'चकोर' के संबंध में यह भी 'कवि प्रसिद्धि' है कि चकोर चंद्रमा की ओर देखता है और आग को चुगता है। इस विश्वास को आधुनिक कवि प्रसाद जी ने भी 'सौंदर्य की महिमा' बतलाने के काम में लिया है—

"सौंदर्य सुधा बलिहारी, चुगता चकोर अंगारे।"

सौंदर्य की उपासना में जो कठिनाइयो के अंगार से चुनने पड़ते है उसी के आधारभूत रूपक की बात को सत्य मान लेने से यह प्रसिद्धि चल पड़ी होगी। इस संबंध में हिंदी के एक पुराने कवि ने ऊँची उड़ान ली है। वह कहता है कि चकोर इसलिये अंगार चुगता है कि उसका शरीर जल कर भस्म हो जाय और शायद भस्म के रूप में उसको शिव जी अपने माथे से मल लें और इस प्रकार उसकी पहुँच चंद्रमा तक हो जाय—

"चिनगी चुगत चकोर यों, भसँम होइ यह अंग।
ताहि रमावैं सिव तहाँ, मिलै पाँउ ससि-संग॥"

अपनी कविता में तुलसीदास जी ने भी 'चंद्र' और 'चकोर' के परंपरागत प्रेम का खूब लाभ उठाया है। विनय में वे कहते हैं—'रामचंद चंद तू, चकोर मोहि कीजिये'। पुष्प-वाटिका के प्रसंग में उन्होंने सीता जी के मुख को चंद्रमा और रामचंद्र जी के नेत्रो को चकोर बना दिया है—

"असकहि फिर चितए तिहिं ओरा। सिय मुख-ससि भे नयन-चकोरा।"

चंद और चकोर के प्रेम का आधार लेकर सूर ने व्यक्तित्व के महत्त्व पर बल दिया है, देखिए—

"दुइ लोचन जो बिरद किये, स्रुति गावत एक समाँन।
भेद चकोर कियौ ताहू में, बिधु प्रीतम रिपु भाँन॥"
—भ्रमरगीत-सार

सेनापति जी ने तो शिशिर-ऋतु के वर्णन में सूर्य को इतना शीतल कर दिया है कि उसमें चंद्रमा का आभास होने लगता है और चकोरी उसकी ओर देखने लगती है।[1] चंद्रोदय के भय से चकवा भी शंकित हो उठता है और उसका धैर्य छूट जाता है। नीचे के छंद में सेनापति ने कई कवि-प्रसिद्धियो से काम लिया है, इसमें चंद्रोदय पर कुमोदिनी के प्रसन्न होने की और कमलिनी के संकुचित हो जाने की बात का भी उल्लेख हुआ है, यथा—

"सिसिर में ससि को सरूप पावै सविताहू, घाँमहू में चाँदनी की दुति दँमकति है।
'सेंनापति' सीतलता होति है सहस गुनीं, रजनी की झाँई दिनहूँ में झँमकति है॥
चाँहत चकोर सूर-ओर दृग जोर करि, चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरँम होत मोद है कुमोदनि कों, ससि संक पंकजिनी फूलि ना सकति है॥"

कोयल के संबंध में भी एक कवि प्रसिद्धि यह है कि वह अपने अंडे स्वयं नही सेती है, वरन् वह कौवो के घोंसलो में रख आती है। कौवो के बच्चो के साथ कोयल के बच्चे भी बड़े होने लगते है। बसंत ऋतु आने पर जब कोयल के बच्चे दूसरी बोली बोलते है तब या तो वे खुद ही जाति-भेद समझ कर भाग जाते है या कौवे मार-मार कर उनको भगा देते है। इसीलिये कोयल को 'काक-पाली' भी कहते है।

१ 'तेरो मुख चंद, चकोरी मेरे नैंनाँ।'
—भगवत रसिक

इस कोयल विषयक कवि-समय का सूर की गोपियो ने कृष्ण के प्रति उपालम्भ देने में बड़ा अच्छा उपयोग किया है। कृष्ण को भी तो वसुदेव जी नद-यशोदा के घर रख आए थे और बाद मे वे भी कोयल-बच्चो की भाँति अपने कुल के लोगो के साथ जा मिले थे। देखिए गोपियाँ क्या कहती है—

"ज्यो कोइल-सुत काग जियावत, भाव-भगति-भोजनहिं खवाइ ।
कुहकुहाइ आऐं वसत रितु, अंत मिलें कुल अपने जाइ ।।"

पपीहे के सवध में कवियो का यह विश्वास है कि वह वारहो मास 'पिउ-पिउ' पुकारा करता है, किंतु उसकी यह आन है कि वह स्वाँति के नक्षत्र मे जो वर्षा की दो-चार बूदे मिल जाती है उसीसे अपनी प्यास बुझाता है। स्वाँति की बूद के आगे वह गगाजल के पानी को भी तुच्छ समझता है। वह प्रेम की प्यास का प्रतीक और मछली की भाँति प्रेम की अनन्यता का द्योतक है। गोस्वामी तुलसीदास जीने भी "चातक-चोतीसी" लिखकर उसको भक्ति की अनन्यता का आदर्श वनाया है—

"रटत-रटत रसनाँ लटी, तृषा सूखिगे अग।
'तुलसी' चातक-प्रेम कौ, नित नूतन रुचि रंग ।।
चढत न चातक चित कवहुँ, प्रिय-पयोद के दोख।
'तुलसी' प्रेम-पयोधि की, तातें नाँप न जोख ।।
उपल वरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ-तजि, कवहुँ दूसरी ओर ।।"

—दोहावली, २८०,२८१,२८३

सूर की गोपियो ने भी 'चातक-रट' का सहारा लिया है—

"वरखा वरखत निसि-दिन ऊधौ, पुहुमी पूरि अघात।
स्वाँति-बूंद के काज पपीहा, छिन-छिन रहत रटात ।।"

स्वाँति-बूद के विषय में यह भी प्रसिद्धि है कि जव स्वाँति नक्षत्र का वर्षा हुआ जल केले पर पडता है तो उससे कपूर उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वाँस से वसलोचन, सीप से मोती और साँप में मणि या विष (स्वाँति बूद से) उत्पन्न होते हैं। सगति के प्रभाव के सवध मे 'रहीम' ने स्वाँति-बूद का उदाहरण दिया है—

"कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाँति एक, गुँन तीँन।
जैसी संगति बैठिऐ, वैसौई गुन दीँन ।।"

चिडियो की भाँति पौदो के सवध में भी 'कवि-समय' है। पीली चपा से सुदरियो के वर्ण की उपमा दी जाती है। चपा के विषय में कवियो का यह विश्वास है कि उसके पास भौरा नही आता है। इस सवध में एक दोहा प्रचलित है—

"चंपा तो में तीँन गुँन, रूप, रंग अरु वास।
औगुँन तो में एक है, भँवर न आवत पास ।।"

महाकवि भूषण ने इसी प्रसिद्धि के आधार पर और राजाओ को दूसरे-दूसरे फूल वताया है, जिनसे औरगजेव रूप भौरा मधु-सचय करता है और शिवाजी महाराज को चपा वनाया, जिसके पास भौरा नही फटकता है। कवि ने एक अवगुण को गुण वना दिया है, देखिए—

"कूरम कँमल, कँमधुज है कदँम-फूल, गौरहे गुलाव, रानाँ केतकी विराज हैं।
पाँडरि पँवार, जूही सोहत है चंद्रावत, सरस वुँदेला सो चमेली साज-वाज हैं ।।
'भूषन' भँनत मुचकुद वड़गूजर हैं, वघले वसंत सव कुसुम समाज हैं।
लेइ रस एतेंन कौ, वैठि न सकत अहै, अलि नवरगजेव चंपा सिवराज हैं ।।"

—शिवा-वावनी, १६

इस छंद में राना (उदयपुर महाराणा) को केतकी कहा गया है, क्योंकि केतकी का फूल काँटेदार होता है। राना ने बादशाह को काफी कष्ट दिये थे।

साकेत की उर्मिला ने भी इस 'कवि-प्रसिद्धि' से लाभ उठाया है, देखिए—

"भ्रमर इधर मत भटकना, ये खट्टे अंगूर।
लेना चंपक गंध तुम, रहो दूर ही दूर ॥"

भ्रमर, रूप के लोभी प्रेमी का प्रतीक माना जाता है।

वृक्षों के फूलने का संबंध स्त्रियों से बताया जाता है। यह शायद नारी-सौंदर्य को महत्ता देने के लिये ही है। प्रियंगु स्त्रियों के छूने से, बकुल (मौलश्री) स्त्रियों के मुख से दिये हुए मधु के छींटों से, अशोक उनके पैरों के आघात से और कर्णिकार उनके नाचने से फूलता है। इस संबंध में नीचे का श्लोक प्रसिद्ध है—

"स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति बकुलः सीधु गंडूषसेकात्,
पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौवीक्षणालिंगनाभ्याम्।
मंदारो नर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चंपको वक्त्रवातात्,
चूतो गीतान्नमेर्विकसति हि पुरोनर्तनात् कर्णिकारः॥"

—कविरहस्य, पृ० ८५

साकेत में अशोक के स्त्रियों के पदाघात द्वारा फूलने का उल्लेख उर्मिला के विरह-वर्णन में भी हुआ है—

आई हूँ सशोक मैं अशोक, तेरे तले, आती है तुझे क्या हाय ! सुध उस बात की।
प्रिय ने कहा था प्रिये, पहले ही फूला यह, भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की॥"

कर्णिकार को कोई कनेर कहते हैं, किंतु पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उसको अमलतास की जाति का एक वृक्ष माना है। इसके फूलों में खुशबू नहीं मानी जाती है। इसी विश्वास के आधार पर साकेत की उर्मिला कहती है कि गंध पृथ्वी का सहज गुण है, जैसे—आकाश का शब्द, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि माता (पृथ्वी) के विपरीत गुण होने का दृष्टांत देने के लिये ही शायद कर्णिकार ने गंध के गुण को जो उसे माता की संपत्ति होने के कारण सहज प्राप्य था, त्याग दिया है। दूसरा कुछ इशारा भरत जी की ओर भी है। जैसे—

"सहज मातृ-गुण गंध था, कर्णिकार का भाग।
विगुण रूप दृष्टांत के, अर्थ न हो यह त्याग॥"

भारतीय साहित्य में 'कमल' और 'आम' को विशेष महत्ता दी गई है। प्रायः सभी अंगों की कमल से उपमा दी जाती है। गोस्वामी जी ने श्रीरामचंद्र के नेत्र, मुख, हाथ और चरणों की कमल से उपमा दी है, देखिए—

"नव कंज लोचन, कंज-मुख, कर-कंज पद-कंजारुणम्।"

इसीलिये गुप्त जी ने कहा है—

"एक मात्र उपमान तू, हैं अनेक उपमेय।
रूप, रंग, गुण, गंध में, तू ही गुरुतम गेय॥"

कमल सूर्योदय के साथ विकसित होता है और सूर्यास्त के साथ मुँद जाता है। यदि भौंरा उसपर बैठा हो तो वह भी उसमें कैद हो जाता है। कमल का पत्ता जल में रहता है उससे भीगता नहीं है, इसीलिये 'कमलपत्रमिवांभसि'—रूप मेधावी लोग संसार में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होते। आम के लिये कहा जाता है कि कोयल उसपर बैठती है। माधवी लता उसके ही सहारे बढ़ती है। साहित्य में आम के वृक्ष ही नहीं आम की लता भी मानी गई है और वास्तव में कहीं-कहीं होती भी है।

कुद की कलियों से कवि लोग दाँतो की उपमा दिया करते हैं—"कुद-कली दाड़िम दसन"। इसलिये वे उनको हमेशा सफेद ही मानते है, यद्यपि वास्तव मे उसमें कुछ लालिमा भी होती है।

रगो के सबंध में भी कवियो का कुछ समझौता-सा बना हुआ ह। 'यश' का वर्णन करते हुए वे उसे 'चाँदनी' की तरह 'सफेद' ही कहेंगे। पाप को 'काला' कहेंगे। अग्रेजी मे भी ऐसी रूढियाँ हैं। शेक्सपियर ने ईर्ष्या को 'हरी आँख' वाला बतलाया है। पाप को उनके यहाँ भी काला ही माना गया है। हमारे यहाँ एक रग की चीजो की एक लबी फेहरिस्त गिनाई गई है। उदाहरणत — क्षत्रियो के धर्म, रौद्र रस, कोकिल और कबूतर के नेत्र, तेज, मगल, तक्षक-जीभ, जुगनू, बिजली आदि वस्तुओ का रग लाल माना गया है। इसी प्रकार श्री कृष्ण, चद्र-चिन्ह, व्यास, राम, अर्जुन, अगरु, पाप, मद और मोर का कठ नीला माना गया है। ये बाते बिल्कुल निराधार नही। कविता मे श्याम, नील, कृष्ण एक-दूसरे के पर्याय मान लिये जाते हैं। केशवदास जी ने 'नीले वर्ण' की चीजो की सूची दी है। वह इस प्रकार है—

"दूब, बाँस, कुबलय, नलिन, अनिल, व्योम, तृ`न, बाल।
मरकत मनि, हय सूर के, नील बरन सँबाल।।"

सूरदास जी ने तो भगवान कृष्ण के मस्तक पर के लटकन मे जडे हुए रत्नो के रग के आधार पर शनि, शुक्र, बृहस्पति और मगल आदि नक्षत्रो के रग का भी वर्णन कर दिया है। उसमे क्रमालकार की छटा भी आ जाती है —

"नील सेत पर पीत लाल मनि, लटकँन भाल लुनाई।
सनि गुरु, असुर, देव-गुरु मिलि मनों, भोम-सहित सँमुदाई।।"

इस प्रकार पुरानी कविता में बँधी-बँधाई रुढियो से अधिक काम लिया जाता था। इसमे यद्यपि कविता में नवीनता और निजी निरीक्षण के लिए कम गुजाइश छोडी जाती थी, तथापि साथ मे इस बात का भी आनद रहता था कि बहुत से लोग एक-सी शब्दावली का प्रयोग करते हैं और वह शब्दावली परपरा से मँज कर साफ हो गई है।



विद्यापति-पद्यावली

प्रो०-श्री सूर्यनारायण झा

(विरह)

माधव, कति परिबोधव राधा।
हा हरि, हा हरि कहितहिं बेरि-बेरि, अब जिऊ करब समाधा॥
धरनि धरिए धनि जतनहिं, बइसहिं पुनहिं उठए नहिं पारा।
सहजहिं विरहिन जग-मह तापिनि, बौरि मदन-सर धारा॥
अरुण नयन नोर[1] तितल[2] कलेवर, विलुलित दीघल केसा।
मंदिर बाहिर करइत सशय, सहचरि गनतहिं सेसा॥
आनि अनिल केओ रमनि सुताओल, केओ देई मुख पर नीरे।
निशबद पेखि केओ सांस निहारए, केओ देई मंद समीरे॥
की कहब खेद भेद जनि अंतर, घन-घन उतपत सास।
भनहिं 'विद्यापति' से हो कलावति, जीव बंधल आस-पास॥

❀

सखि है, हमर दुखक नहिं ओर।
ई भरि भादर माह भादव, सून मंदिर मोर॥
झंपघन[3] गर्जत संतत, भुवन भर बरसंतिया।
कंत पाहुन काम दारुण सघन खर[4] सर हंतिया॥
कुलिश[5] कत शत पात मुदित मोर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक[6], फाटि जायत छातिया॥
तिमिर दृग भरि घोर जामिनि, अथिर[7] बिजुरिक पाँतिया।
'विद्यापति' कहु कोनाक गमायब, हरि बिना दिन-रातिया॥

अभिसार

माधव, करिए सुमुखि समधाने।
तुअ अभिसार[8] कएलि जत सुंदरि, कामिनि कए के आने॥
बरिस पयोधर धरनि बारि भरि, रयनि महा भय भीमा।
तइओ चललि धनि तुअ गुन मन गुनि, तसु साहस नहिं सीमा॥
देखि भवन भित लिखल भुजग-पति, तसु मन परम तरासे।
से सुवदनि कर झपइत फनि-मनि, बिहुँसि आएलि तुअ पासे॥
निज परि-हरि आएलि कमल-मुखि, परि-हरि निज कुलगारी[9]।
तुअ अनुराग मधुर-मद मातिल, किछुनहिं गुनलि बर नारी॥
ई रस रसिक बिनोदक बिंदक, कवि 'विद्यापति' गावे।
काम प्रेम दुहु एक मत भए, कखने कीने करावे॥

1. आँसु, 2 भींगना, 3 बादल, 4 तीक्ष्ण, 5 वज्र, 6 दुखद, 7 थिर, 8 गमन, 9 पितृगृह।

आधुनिक ब्रजभाषा के कुछ कवियों का परिचय

श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा

ब्रजभाषा का जो स्वरूप अपभ्रंश और वीरगाथा-काल के अंतराल मे संगठित हुआ, तुलसी के पावन प्रयोग से जिसका पल्लवन और संवर्धन हुआ, सूर की मधुर वृत्तियो की शीतल छाया में जिसके पीयूष-माधुर्य को निखार मिला, केशव आदि ने जिसका चमत्कारपूर्ण अलंकरण किया, जिसके मनोरम शृंगार-विधान मे योग देने के लिए अनेकानेक उद्भट प्रतिभा-संपन्न वाणी के वरद पुत्रो ने अथक परिश्रम किया और संपूर्ण भारतेंदु-युग ने अपनी सरस चाँदनी से जिसे धवलित किया उसकी अस्तोन्मुख गति बीसवी शताब्दि के आरंभ से ही दिखाई पडने लगी थी। उत्तरोत्तर जिस क्रम से हिंदी-कविता के राज्य में खडी बोली का प्राधान्य बढता गया उसी क्रम से ब्रजभाषा की निगति उभ-डती आई। फिर भी कई शक्तिशाली प्रौढ कवि सर्जना के मैदान मे सामने आए और प्राचीन कविता-पद्धति को पुन उज्जीवित करने के लिए अनेक चमत्कारी प्रयोग सामने रखे। समाज ने भी कुछ दूर तक उनका अच्छी तरह साथ दिया। इस प्रकार समाज-द्वारा अभिनंदित और परिरक्षित होकर इस शताब्दि के तृतीय दशक तक ब्रजभाषा की कविता कही-सुनी गई। तबतक उसमे निर्माता और भावक की संगति साधारणत समगति से चली आई थी। कवि-संमेलनो में, शिक्षालयो में और सबसे अधिक पत्र-पत्रिकाओ में ब्रजभाषा की कविताएँ निरंतर दिखाई पडा करती थी और समाज के अनुरंजन में योग देती थी, पर चतुर्थ दशक में आकर वस्तुस्थिति मे परिवर्तन होने लगा। लोगो की अभिरुचि धीरे-धीरे उस प्रकार की रचना-प्रणाली की ओर से हटने लगी। पठन-पाठन मे तो उसका प्रयोग उसी तरह बना रहा पर समीक्षा और संस्तुति के क्षेत्र मे उसकी चर्चा में कोई उत्साह नही दिखाई पडता था। लिखने वालो में भी 'रत्नाकर' ऐसा उद्भट अन्य कोई कवि पनपा नही। दूसरी ओर खडी बोली में जो रहस्य-परक छायावाद की प्रवृत्ति बढ रही थी उसमें भी काव्य-तत्व का उत्तरोत्तर परिष्कार होता गया और सरस अभिव्यंजनाओ की अतिशयता बढती गई। परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा की उक्ति-भंगिमा और मिठास की ही तरह आकर्षक चीजें खडी बोली में भी दिखाई पडने लगी। इस-लिए कवित्त, सवैया और दोहावली रूप छंद-योजना और बँधी-बँधाई मधुर वृत्तियो के उद्घाटन की ऐकांतिकता कुछ पीछे छूटने लगी। इस तरह साहित्य-रचना के ऊपरी सतह पर खडी बोली का प्राधान्य ज्यो-ज्यो होता गया उसी क्रम से ब्रजभाषा मे कविता बनाने वालो की सामान्य स्थिति दुर्बल और अशक्त होकर विस्मृति के अंतराल मे पडती गई।

गत दशक मे तो आते-आते ब्रजभाषा की बातचीत ही बंद हो गई। शिक्षा की सीमा के भीतर अवश्य उसकी अभ्यर्थना चल रही है, पर निर्माण और आलोचना के क्षेत्र में उसके प्रेमी प्रतिक्रिया-वादी और सामंती-सर्जना के प्रतिनिधि समझे जाने लगे है। ब्रजभाषा की शुद्ध—'स्वान्त सुखाय' कविता-लिखनेवाले ही अब रह गए है। उनको न तो कोई पूछता है, न सुनता है और न वहाँ उनकी कोई चर्चा ही चलती है। यथार्थ में यही दिखाई पडता है कि ब्रजभाषा के माध्यम से निर्माण करनेवाले साहित्य-समाज से प्राय बहिष्कृत से हो गए है। न उनका कोई संगठन करने वाला है और न प्रशंसा। इस स्थिति का परिणाम यह दिखाई पडता है कि ऊपरी सतह पर से तो ब्रजभाषा-काव्य विलीन-सा हो गया है, पर अंत सलिला पयस्विनी की भाँति अभी भी उसका मधुर अस्तित्व बना है। अभी भी

न जाने कितने ब्रजभाषा लिखनेवाले ऐसे हैं जो निरंतर रचनाएँ तैयार करने में सलग्न रहते हैं और एक से एक अनूठी कृतियाँ सजा कर अपनी मजूषाओ की शोभा बढाए चल रहे हैं।

इन पक्तियो के लेखक को ऐसे उपेक्षित साहित्य-साधको के प्रति बडा ममत्व रहता है। समय-समय पर प्रसंग प्राप्त होने से जब उसका सपर्क इन लोगो से स्थापित होता है तो सहृदयता पुकार उठती है और कहती है कि इनका ऐसा निरादर क्यो? खड़ी बोली की अमित रचनाओ का प्रसार-प्राधान्य और परिष्कार अवश्य हो, पर इसका तात्पर्य यह नही होना चाहिए कि जो पुराने हो और पुरानी पद्धति का अनुगमन करने में ही अभ्यस्त और कुशल हो उन्हें उपेक्षा के गर्त में डाल दिया जाय। इसे साहित्य की सच्ची आराधना नही कहा जा सकता। सच्ची बात तो यह है कि यदि किसी का अस्तित्व है तो उदारता पूर्वक उसको स्वीकृत करना चाहिए और उसका यथा योग्य ऐतिहासिक महत्त्व निरूपित होना चाहिए। इसीमें सजीव साहित्य का वैशिष्ट्य है, इसीमें साहित्य-प्रेमियो की रसवत्ता की पूरी परीक्षा हो सकती है और इसीमें पूर्वापर की सुसबद्धता भी सुरक्षित रह सकती है।

मै इसे समुद्धार का प्रश्न मानता हूँ, इसलिये हिंदी साहित्य के मर्मज्ञो से निवेदन करना चाहता हूँ और उनकी भावुकता और संग्राहक बुद्धि को जगाना चाहता हूँ। चतुर्दिक न जाने कितने ऐसे अनेक कवि और निर्माता आज भी जीवित हैं, अथवा अभी-अभी आँखो से ओझल हुए हैं जिनकी वाणी में बल है, सौंदर्य है, काव्य का सत् स्वरूप निहित है और समय की गति-विधि के अनुरूप सजीवता भी है। उनका सग्रह होना चाहिए, उनकी विशेषताओ का परिचय प्राप्त करना चाहिए और उनका लेखा-जोखा सुरक्षित रखना चाहिए। इस अभिप्राय से कुछ ऐसे ही ब्रजभाषा के लिखने वालो का यहाँ विवरण उपस्थित किया जा रहा है और आशा की जाती है कि साहित्य के सच्चे पारखी अपने-अपने समीप के कुशल निर्माताओ के इतिवृत्तो और उनकी रचनाओ के कुछ नमूनो को सकलित करके प्रकाशित करेंगे। इसका एक साहित्यक अभिप्राय और ऐतिहासिक उपादेयता है। इस प्रयास के परिणाम स्वरूप यह समझा जा सकेगा कि खडी बोली के वैभव पूर्ण साम्राज्य में आज भी ब्रजभाषा-काव्य की जर्जरीभूत काया हिल-डोल रही है—अपनी प्राचीन गरिमा को वहन करती हुई और अपनी गत सपूर्ण विभूतियो की ध्वंसावशिष्ट झलक को बिखेरती हुई।

पं० अयोध्यानाथ (अवधेश)

काशी के अंतर्गत ईश्वर गगी (नई बस्ती) में प्रसिद्ध ज्योतिषी और विद्वान् प० श्यामाचरण त्रिपाठी रहते थे। काशी के समाज में, विद्वानो में और राज-रियासतो में उनका बडा सम्मान था। उनके एक मात्र पुत्र महामहोपाध्याय प० अयोध्यानाथ जी 'अवधेश' थे। 'अवधेश' जी का जन्म सन् १८६५ में आषाढ की पूर्णिमा को हुआ था। पिता के कठोर नियंत्रण में ही इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई, इसलिए बहुत छोटी अवस्था ही में ये पूर्ण पडित हो गए थे और पिता-द्वारा स्थापित की गई पाठशाला में अध्यापन कार्य भी बडी उत्तमता से करने लगे थे। स्वभाव से वे बडे सरल, दयालु और सच्चरित्र व्यक्ति थे। सन् १९१० से १९२५ तक इनके जीवन का उत्कर्ष काल था। इनके यश और पाडित्य के आदर में भारत सरकार ने उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि स० १९२१ में दी थी। उनका भविष्य कथन सत्य होता था और इस विषय में इनकी बडी ख्याति थी। बीकानेर नरेश महाराज स० 'गगासिंह' उनके अनन्य भक्तो में से थे। 'युक्त प्रात के भविष्य-द्रष्टा' के नाम से उनकी प्रसिद्धि थी। कुछ लोग तो उन्हें इष्टबली और सिद्ध पुरुष मानते थे। काशी के तत्कालीन श्रेष्ठ नागरिक भारतेंदु हरिश्चद्र, रत्नाकर आदि उनके नित्य मिलने और आदर करने वालो में थे। आरम्भ से ही उनमें आराधना की ललक दिखाई पडती थी और इनका अधिक समय हरि-चिंतन में बीतता था। सीताराम के वे अनन्य उपासक थे और दिन-रात जप किया करते थे। कहा जाता है प्राय एक लक्ष नित्य जप का उनका लक्ष्य रहता था। उनके दोनों हाथों मे तुलसी की माला और सुमिरिनी दिन रात दिखाई

दिखाई पडती। पूर्वापर उनके घर की यही प्रथा थी। निरतर प्रयोग मे आने के कारण उनकी सुमिरिनी माला घिस गई थी और उर्दू-शायर के शब्दो को चरितार्थ करती थी—

"नाम ऐसा उस बुते काफिर ने जाहिद का जपा।
दानये तसबीह सारा 'रामदाना' हो गया।।"

इस प्रकार आराधन-परक दिनचर्या और शुद्ध सत्व से अनुप्राणित होकर 'अवधेश' जी का हृदय भावमय हो गया था। आशु कवियोकी भाँति काव्य-वाणी उनके भीतर से फूट पडा करती थी। सस्कृत के प्रार्थना-श्लोको के अतिरिक्त हिंदी मे कवित्त, सवैया, पद आदि इन्होने बहुत रचे हैं। उनकी प्राय सभी रचनाएँ भक्ति प्रधान है। उनका एक सामान्य नियम सा हो गया था कि नित्य भक्ति-विषयक कविता लिखकर ही रात्रि में शयन करते थे। उनके काव्य निर्माण के विषय या तो 'जानकी-वल्लभ' होते थे अथवा 'भगवती दुर्गा' के विभिन्न स्वरूप। सरलता से इस विषय का अनुमान लगाया जा सकता है कि जो नियमित रूप में लिखता रहा हो उसने कितना लिखा होगा, परतु खेद का विषय है कि अभी इतने समीप की बात होने पर भी उनकी लिखी समस्त कृतियो का सकलन ढूंढ-खोज का विषय मालूम पडता है। अभी तो 'अवधेश' जी के पुण्य स्वरूप उनका वश फला-फूला वर्तमान है और इन पक्तियो के लेखक के प्रति उसका बडा प्रेम है, पर फिर भी इस भक्त कवि के कृति-भाडार का दर्शन नही हो सका। शुद्ध स्वात सुखाय के लिए जो कृति निर्मित होती है, उसमे—"सपोदानायमानं च मतिमान् न प्रकाशयेत्" के अनुसार प्रचार की आकाक्षा तो रहती नही, अतएव उसकी सुरक्षा की भी उपेक्षा हो जाती है। 'अवधेश' जी जितने सयमित रूप में काव्य-रचना करते थे, उतनी चिंता उसकी व्यवस्था की नही करते थे। सैकडो पद-कवित्त आदि उनके लिखे है, पर प्रकाशित केवल एक छोटी-सी पुस्तिका है—"श्री दुर्गामख-महोत्सवोपहार" (१६१८)। इसमे दुर्गाराधन के केवल पद्रह कवित्त और अत में एक श्लोक है। पूछ-ताँछ करने पर विदित हुआ कि उनके एक शिष्य प० रामाज्ञा त्रिपाठी (आजमगढ) के पास 'अवधेश' जी की अधिकाश रचनाओ का सग्रह सुरक्षित है।

उदाहरण रूप मे उनकी कुछ कविताओ को सामने रखा जाता है। इतने ही से दो बातो का ज्ञान हो सकता है—अनुभूति की प्रधानता और भाषा का अधिकार। सामान्यत 'अवधेश' जी भक्त जन थे। इसलिए इनकी रचनाओ में एकनिष्ठ भावुकता का उद्रेक और विनतिपूर्ण आत्म-निवेदन अधिक मिलता है। भाषा का चलता और व्यवहारिक रूप ही अधिक प्रयुक्त हुआ है। सामान्यत उनमें लाक्षणिक प्रयोगो का अभाव, चमत्कार प्रियता के प्रति अनास्था और उक्ति-भगिमा की आकाक्षा कम मिलती है। कवि का सारा ध्यान विषय-निवेदन की ओर ही लगा मालूम पडता है। थोडे में कहा जा सकता है कि 'अवधेश' जी में भाव-पक्ष की विशुद्धता और कला-पक्ष की न्यूनता है। यह स्थिति भक्त कवि के लिए उपयुक्त ही है। कवि का निधन-काल ४ जून स० १६२५ है।

कवित्त

"संयम-नियम जप-तप की न सक्ति रही, प्रेम नेम भूल्यौ सब समय सहाएँ देत।
हाइ न पसीजे तऊ निरदय भए धौ कैसे, वेद तो अखेद तुम्हें सदय जनाएँ देत।।
आपही अपानी बात राखें औ मनावें हठि, द्विज 'अवधेश' राँम तुमहीं दिखाएँ देत।
कठिन कुठार कौ कराल कलि-काल यामें, अब न निभैगी भक्ति रावरी चिताएँ देत।।"



"सावन सुहावन को पावन बनावन को, सीय मन-भावन सु खेलें सखियाँन मैं।
अमित प्रमोद भरे झूलत हिंडोरे प्रभु, नवल प्रमोद बन दिव्य पगियाँन मैं।।
कौन 'अवधेश' की बिसेसता बखानें कवि, कमक मिटावें कौन ऐनी लगियाँन मैं।
जाकी भौंहि कोरैन में जगत तमाँम झूलैं, सोई राँम झूलन सिया की अँखियाँन मैं।।"

"कब मेरे आँनन कुहर ते कढेंगे अब, दुरगा सुभ नाँम बसु-जाँम जित जाऊँगो।
कब सब बासनाँ बिहाइ बिन्ध्य-भूधर पै, माई बिन्ध्यवासिनी को ध्याँन उर लाऊँगो॥
कब 'अवधेस' द्विज दीँन तेरे दासँन में, हो हूँ बैठि तेरो लघु बालक कहाऊँगो।
कब तेरो चरँन सरोज मकरंद बिंदु, मंद-मंद पीवत अमंद सुख पाऊँगो॥"

❀

"कछु दिन ह्वैक ही तें लंक लचकाँन लागी होन लागी छवि त्यो नितंब गरुता की है।
भनि 'अवधेस' त्यों पीतम सँदेस सुनि, होत रुचि कंटकित कँनक-लता-सी है॥
राग, ताँन, गाँन, माँन, भाँन लागे भाँमिनी कों, ह्वैलर लरँन लागीं माल मुकता की है।
औरें गति, औरें मति, औरें रंग, औरें ढंग, औरें सब बात भई नई वनिता की है॥"

पद

दीँन-जँन कैसें विनय करैं।
थिर न जासु मन चंचल योंहो, सोचत दृगँन भरैं॥
और विचार होत उर अंतर, औरें करनि करैं।
उलटौई परिनाँम निहारत, सबसो प्रेंम टरैं॥
बिना रावरी नेंक दया तें, चाहें कछु करैं।
ब्रह्मादिक हू सुख नाँहि पावत, यह दृढ़ जोउ धरैं॥
निज कृत पाप-पहार बिलोकत, मेरो चित्त डरैं।
चरन भक्ति 'अवधेस'-हिं दीजै, जो सब बिपति हरैं॥

ठा० बैजनाथ सिंह (किंकर)

ठाकुर श्री बैजनाथसिंहजी 'किंकर' का जन्म काशी के औरंगाबाद स्थान में संवत् १९२५ अगहन सुदी चौदस को हुआ था। आप नगर के प्रतिष्ठित भूमिहार ब्राह्मण ठा० श्री हरनारायणसिंहजी के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपकी प्रारंभिक शिक्षा हिंदी और उर्दू की हुई थी और अनेक वर्षों तक आप काशी के प्रसिद्ध रईस राजा मोतीचंद के यहाँ प्रधान कार्यकर्त्ता के रूप में काम करते थे। जब से महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन आरंभ किया तभी से आपकी रुझान राजनीति की ओर हुई। फिर तो आपने छ बार कारावास तक का सामना किया और राजनीतिक गति-विधि के साथ निरंतर चलते रहे। काशी की राजनीतिक मंडली में वयाधिक्य के कारण आदर पूर्वक लोग उन्हें दादा नाम से अभिहित करते हैं। कांग्रेस वालो में आप अपरिवर्तनवादी रहे और चरखा-खद्दर की बात को पक्की तबीयत से मानने वाले हैं। स्वभाव से बड़े मिलनसार और मस्त प्रकृति के व्यक्ति हैं। सादे ढंग की रहन-सहन आप को अत्यधिक पसंद है। स्वर्गीय बाबू शिवप्रसादजी गुप्त के अंतिम दिनों में 'किंकर' जी उन्ही के साथ 'सेवा उपवन' में रहते थे।

श्री किंकरजी अल्पवय से ही ब्रजभाषा की कविताओं के पढ़ने तथा कवियों के सत्संग के प्रेमी रहे हैं। आपकी स्मृति बड़ी अच्छी थी, इससे प्राचीन कवियों की कविताओं को आपने खूब कंठस्थ किया है। इतना सुंदर संग्रह शायद ही किसी के पास हो। आपकी रची हुई कृतियों में भक्ति, शृंगार, राजनीति, अन्योक्ति तथा पुराने श्रेष्ठ कवियों के पद्यों पर पद्यात्मक टीकाएँ हैं। बिहारी सतसई के एक-एक दोहे पर दो-दो और रसलीन के कुछ दोहों पर लिखी आपकी बहुत अच्छी कुंडलियाँ हैं। गंगा की स्तुति, राधा रानी का इजलास और सुदामा-चरित्र आदि अनेक विषयों पर आपने लिखा है। इनके अतिरिक्त विगत स्वतंत्रता युद्ध के वर्णन में ही आपने प्राय तीन हजार से अधिक छंद लिखे हैं। संख्या के विचार से इतना बहुत कम लोगों ने लिखा होगा। आपकी कविताओं में प्रसाद गुण

पूर्ण प्रवाह अधिक मिलता है और इतिवृत्त-कथन की प्रधानता रहती है। आपकी चुनी हुई कुछ रचनाएँ यहाँ उपस्थित की जाती हैं—

"मुख-छवि निरखि चकोर अरु तँन-पानिप लखि मीँन।
पद-पंकज देखत भँवर, होत नयन रस लीँन।।[1]
होत नयन रस लीँन, दीँन भई सुखमा सारी।
भाभरि मारति बैठि रही, समता न विचारी।।
लखि चकोर मन मीँन, भौँर भगि जात देखि रुख।
करैं कितेक छल छंद, चंद तउ लहै न छबि-मुख।।"

❀

"मोरँन-पखौवन कौ रखि कें किरीट भाल, गुंजन बटोर गुहि मालहिं सँवारे हौ।
काँमरी पुरानी सो चिराँनी नंद रायजू की, तागि-तागि ताकों निज दिवस गुजारे हौ।
धूरनि धुरेते पहिरे ते सब साथ लिये, व्रज-बीथिकाँनि मैं कुकीरति पसारे हौ।
सुनो हो कँवाई (अब) लाज हूँ पराई पेलि, राधा सो सगाई हेत होस हिय धारे हौ।।"

❀

"कौंन भाँति धाए नाँथ गज के गुहार हेत, कौन भाँति द्रौपदी के चीर में सँमाने हौ।
कौन भाँति राजा अंबरीष काज महाराज, छाँड़ि कें सुदरसन ऋषिराज पै रिसाँने हौ।।
कौन भाँति भिच्छुक सुदामाँ को कुबेर कियौ, कौन भाँति बाँमन ह्वै बलि सौं बिकाँने हौ।
'किंकर' पुकारत है भारत अति आरत सो, तारत न काहे कहौ काहे सो भुलाँने हौ।।"

❀

"जग ना जुरयौ है जोन संख को जरूर परी, ग्रस्यौ नाँहिं ग्राह नाँहिं चक्र को चलाओगे।
गरुई गदाहू को परि है जरूरत नाहिं, ठाँव-ठाँव व्यर्थ कहाँ हाथहिं थकाओगे।।
पद्म को कहा है पद्मासना सदाँ ही संग, जहाँ रूचि होइ तहाँ तुरतहि पाओगे।
'किंकर' पुकारत है भारत अति आरत सौं, खाली करि हाथ कबै इसको कढाओगे।।"

❀

"मौखिक सहानुभूति कबहूँ न आवै काँम, लाग बदि जाइ जबै द्वंदी प्रतिद्वंद्वी सो।
'किंकर' छछदी मन थाहु फरफंदी चालु, ताल को बजाइ ठाठ होइ निज द्वंद्वी सो।।
वेस की सिवकाई जदि भाई है तिहारे चित्त, करिलै कमाई निज हियरा पसवी सो।
चाहें चढें दार, चाहें तन सो कपार जाइ, भीति में चुनाइ जाँइ चाहें रहु बदी सो।।"

बलरामप्रसाद मिश्र (द्विजेश)

उत्तर प्रदेश के बस्ती नगर के एक किनारे पर पुरानी बस्ती नाम का एक मुहल्ला है। उसमें राजा साहब बस्ती की हवेली या प्रासाद है। राज-प्रासाद के निकट ही मिसरौलिया ग्राम है। उसमें सरयूपारीण पंक्ति मिश्रो का प्राचीन वंश निवास करता है। इसी वंश में प० हरिदयालजी मिश्र के पुत्र श्री "बलरामप्रसादजी मिश्र" उपनाम 'द्विजेश' का जन्म सन् १८७२ में हुआ। इन वंश के लोगों का राजा साहब बस्ती के यहाँ बडा सम्मान रहा है और 'द्विजेश' जी के पिता बस्ती-राजगृह में मैनेजर भी रहे। 'द्विजेश' जी की आरम्भिक शिक्षा फारसी की हुई है। साथ मे उन्होंने संस्कृत और कुछ अँगरेजी भी पढी है। आरम्भ से ही उनमें सत्य निष्ठा और अभिमान के प्रति ममत्व दिखाई पडने लगा था। यों तो आप बडे मिलनसार और प्रेमी जीव हैं, पर टेक की भावना

१. अंग-दर्पण : रसलीन।

आपमें प्रबल है। इनके टेक-पालन के अनेक उदाहरण प्राप्त है। टेक में पडकर ही घर की सारी जमीदारी खो बैठे थे और अनवरत परेशानियाँ उठाकर इधर आकर पुन उसे प्राप्त किया। एक मित्र के व्यग से क्षुब्ध होकर उन्होने अधिक वय में गाना और सितार बजाना सीखा और अब तो अध्यवसाय पूर्वक इस विद्या मे आपने सफलता भी प्राप्त कर ली है। उनके जीवन में लाग ने बहुत कुछ किया है। यही लाग उनके जीवन की कुजी है।

यो तो 'द्विजेश' जी आरम से ही ब्रजभाषा-काव्य के रसिक प्रेमी थे और स्वय भी रचना-कार्य मे प्रवृत्त थे, पर जब से आप तीस वर्ष की अवस्था मे उस प्रात के प्रसिद्ध कवि 'यशराज' की सगति मे आए तब से साहित्यकला उनमें बढी। उन्ही से 'द्विजेश' जी ने 'काव्य-निर्णय' और 'भाषा-भूषण' का अध्ययन किया और कवि-कर्म का पूरा ज्ञान आप में तभी से हुआ। आपके रचना-कौशल का एक मर्म रहा है। आपकी छद-योजना मन में ही गढी जाती रही है। सारी काट-छाँट भीतर ही सपूर्ण होती रही। उसपर मीना की पच्चीकारी भी भीतर ही समाप्त करके रसना उसे बहिर्गत होने देती है। यही कारण है कि आपकी अनेकानेक रचनाएँ आज तक लिखित रूपमें एकत्र नही हो सकी। प्राय आपके प्रेमी मित्र समय-समय पर जो चीजें लिख लेते रहे है, वही ठीक से सुरक्षित है। उनके प्रमुख मिलने वालो में औरगाबाद काशी के प० 'काशीपति' जी त्रिपाठी है। उनके पास 'द्विजेश' जी की कृतियो का अच्छा सग्रह है। इस सग्रह के आधार पर ही अब कुछ छपाने की फिक्र हो रही है। काव्य-निर्माण के अतिरिक्त असन-बसन दोनो की ओर आपकी सुदर अभिरुचि दिखाई पडती है। भोजन की उतमोत्तम सामग्री प्रस्तुत करने में आप विशेष कुशल है और आपके हाथ की कटी टोपियाँ देख कर लोग तर्जदारी सीखते है। लखनवी नवाबो की दरबारी ठसक आपमें अधिक उमडी नजर आती है—"पल्ला टोपी की बहार, चुस्त लबी अचकन और पायजामा की बदिश तथा तिरकोनी रूमाली की लटक आज भी वृद्धावस्था में खूब रग लाती है।"

'द्विजेश' जी के प्रशसको में स्वर्गीय 'रत्नाकर' जी प्रमुख थे। इन पक्तियो के लेखक के सामने ही कई बार रत्नाकर जी ने उनकी कविताओ में प्राप्त वर्ण-मैत्री और अलकरण-पद्धति की स्तुति की थी। बात वस्तुत. सत्य भी है। 'द्विजेश' जी की मार्मिकता भाव-पक्ष में उतनी स्फुट नही है, जितनी उक्त-वैचित्र्य और चमत्कार-प्रदर्शन में। रीति कालीन कविता-शैली का प्रभाव आपकी रचनाओ में अधिक दिखाई पडता है। पद-लालित्य और कारीगरी की अन्य बातो की ओर ही आपका अधिक ध्यान जाता है। कही-कही तो उनकी कृति इसलिये क्लिष्ट-सी हो गई है कि अनेक प्रकार की चमत्कार-भगिमा एक ही में उलझी मिलती है। काव्य-मर्मज्ञ विद्वद्जनो में आप की बडी स्तुति होती रही है। आपके पढने में भी ओज की अच्छी झलक रहती है। आपने उर्दू की भी बहुत शायरी की है। इतना सब होने पर भी समय की बलवत्ता प्रधान है। ऐसा प्रौढ और सरस कवि अपना ८० वर्ष का बूढा वय लिए एक कोने मे पडा है। आज तक किसी समालोचक और प्रशसक ने उसकी ओर आँख उठाकर देखा नही। इतिहास में नाम तो उन्ही का होता है जिनके ग्रथ सामने हो और कुछ लोगो की 'वाह-वाह' साथ लगी हो। इस भीड-भाड के युग में, उपेक्षा के अतराल में दबी पडी कृतियो अथवा कृतिकारो की ओर जाने की फुर्सत किसे है?

'द्विजेश' जी की रचनाओ में मुख्यत. भक्ति, शृंगार और नीति विषयक कविताएँ अधिक है। नर-स्तुति भी आपने बहुत की है और अच्छी की है। कुछ छद तो ऐसे भी आपने रचे है जिनमें प्रौढ चमत्कार की झलक है। बानगी रूप में निम्नलिखित कविताएँ देखिए—

वसंत का वर्णन

"बौरे पै नए रितु के सुमँन सुमँन बौरे, बौरे अब बैरी हूँ बियोगी बनितॉन के।
जरनैल ज्यो अँनार, करनैल कचनार, सुमँन कनैर-कला कीनें कपतॉन के।।
मुंअन के झुंड ए 'द्विजेस' लाले मुंअन के, पुलिस पलास लाब लीने यों लसॉन के।
बाँधि अब जात प्रॉन कीबे को चलॉन मानो हुकुँम इलॉन है बसंत सुलतॉन के।।"

"यारी या सुराज पाइबेते फथ पैहौ कहा, यामें है अक्कर कछु रावरे बिचारो की।
ब्राह्मन अरु छत्री, सूद्र, खत्री ह्वै एकत्री सबै, कीन्हो सहभोज देखि पत्री लेक्चरारो की ।।
देखौ या सुराज के प्रतच्छ फल ये ई चार, जातें हिंद राज मैं अकाज है हजारो की।
नित की निजा है, किते जीवो की कजा है, कास्तकारों की मजा है और सजा है जमीदारो की ।।"

मध्या नायिका

"भूमि तैंन ती के भूमि भागी है भए 'द्विजेस', लाज औ मनोज क्रम अंग मैं समाँने के ।
सो बिधि अमींन तखमींन कौन ऐसी कछू, राख्यौ है कमीं न बेस काहूऐ समाँने के ।।
ऊँचौ भाग उर तें उरोजंन तें नीचौं भाग-बीचो ह्वै उरोज पीन इमि उपमाँने के ।
माँनो ह्वै जमीपति के झगरे निवारिबे को गाडि दीन्हे पृथक पखाँन ह्वै सिवाँने के ।।"

वचन-विदग्धा

"पथ की थकी ह्वो मनमथ के अरथ की ना मथ की महूकि भरी है 'द्विजेस' लखि लै ।
छलकी परति याते हलकी करैन चाहो छल की कहूँना बलकि चाहें तू चखि लै ।।
जैंहो अब, ऐहो पुनि, सोह तेरे तेरी सोह, करैना रिसोह मोह मेरी या परखि लै ।
माँनत नहीं तौ जमाँनत मैं कान्ह जाँनि, मेरी आँग-आँगी तू अमाँनत में रखिलै ।।"

कृष्ण-जन्म

"अलख निरंजन, मुनीन मन-रंजन, भंजन-बिपत्ति के 'द्विजेस' है न यामें संस ।
आइ ब्रज-बीच यो प्रतच्छ परखाई सबै, बरखाइ आँनंद, कहाइ कान्ह-जदुवंस ।।
काई कस गोद 'जसुदा' की यो निकाई करी; निज लरिकाई मैं तकाई अस पूरी अंस ।
परकाई पूतनै, कुछोर कठ सरकाई, गज दंत दरकाई, करकाई छाती कंस ।।"

❀

"पावन पतित पुरसोत्तम सो पारब्रह्म, परम 'द्विजेस' प्रजा पीर हरवर हौ ।
कृष्णचंद, केसव कृपाल, करुना के सिंधु, गुरु गुबिंद गिरिधर गरीब परवर हौ ।।
बाँमन के बीस, ईस अमित अराँमन के, काँमन के तुमही कलप तरुवर हौ ।
करद कुकालन के, पुंज प्रतिपालन के, मुकुती-मरालन के माँन सरवर हौ ।।"

गगा की स्तुति

"आचमन कीन्हें आचमन कौ समन होत, साँच मन होत तो तें जाँच मन कीन्हे ते ।
कीन्हे ते सकल्प होत प्रानिन कौ काया कल्प जीवै अल्प जीवी कोटि कल्प वास लीन्हे ते ।।
तेरे दरसैंन जम-दरस न होत फेर, परस न पावै पाप परसैंन कीन्हे तें ।
अरपैंन कीन्हें दरपैंन सौं दिखात चित्र, नरपैंन जात तो मैं तरपैंन कीन्हे ते ।।"

राजा साहिब मझौली की अग्नि से मृत्यु होने पर—

"तानें साहम्याँने मैं जरी के नमगीर तानें, तानें चोख चाँदनी विचित्र छत्र ताँने हैं ।
सेर सम सिर तानें समसेर कर तानें, तिय सो नजर तानें मद सो मताँने हैं ।।
एतौ सब तानें अंत आनि धरि तानें जबै, तव तो 'द्विजेस' मानो कछू ये न ताँने हैं ।
दीप सो बुताँनें, सो दखिन पाँय ताँने तानें, तानें एक चादर तें सोवत उताँने हैं ।।"

पं० काशीपति त्रिपाठी "प्रेमीहरि"

सरयूपारीण कुलावतस 'विद्यारत्न' पडित प्रवर श्री नारायणपति जी त्रिपाठी काशी की पडित मडली में बडे समानित व्यक्ति थे । उनके कुल मे पाडित्य की अग्नि प्राचीन परंपरा चली आ रही थी। उसे अपने सात्विक जीवनचर्या और पडिताई ने उन्होंने अक्षुण्ण बना रखा था । उन्हें

घराने के लोग दारा शिकोह के गुरू थे। इस प्रकार उनके कुल की प्राचीनता का अदाज लगाया जा सकता है। दूसरी ओर भारत विख्यात महामहोपाध्याय प० शिवकुमारजी शास्त्री के वे जामाता थे। उन्ही के ज्येष्ठ पुत्र प० 'काशीपति' जी त्रिपाठी है। इनका जन्म सन् १८९३ में हुआ तथा बाल-जीवन सब प्रकार की सपन्नता और दिव्य-सस्कारो के बीच आरभ हुआ था। घर की परपरा के अनुसार इनकी सस्कृत एव हिंदी की पढाई तो हुई ही साथ में युग-धर्म के अनुरूप अँगरेजी की भी शिक्षा पूरी दी गई। स्थानीय 'क्वीस कालेज' में अध्ययन कर इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। काशी विद्यापीठ की स्थापना के उपरात त्रिपाठीजी उसमें अध्यापन-कार्य करते रहे और आगे चलकर उसके 'पीठ-स्थविर' (रजिस्ट्रार) बनाए गए। साथ में घर की जमीदारी और प्रबंध-कार्य भी करते रहे।

आप में आरंभ से ही साहित्य का अनुराग दिखाई पडा। निरतर अध्ययन-अध्यापन के कार्यों से सबध रहने के कारण आपकी अभिरुचि परिष्कृत होती गई। काशी के धुरधर विद्वान् डा० 'भगवान दास' की आप पर विशेष कृपा रही है, क्योकि दर्शन में भी आपका अच्छा प्रवेश है। इसके अति-रिक्त अपने समय के काशी के श्रेष्ठ साहित्यको के समागम का आपको सुयोग प्राप्त था। समय के प्रसार में आप बाबू 'देवकीनदन' खत्री, प० 'किशोरीलाल' गोस्वामी, श्रीलाला 'भगवानदीन', बाबू 'जग-न्नाथ दास' 'रत्नाकर' प० 'रामचद्रशुक्ल और बाबू 'जयशकर प्रसाद' के सपर्क में अधिक आ चुके है। इसलिए काव्यानुराग को इनमें पनपने का खूब अवसर मिला। आप स्वय तो कविता लिखते ही है, साथ ही रीति-कालीन कविता के अनुशीलन की प्रवृत्ति भी आप में अच्छी है। इसलिए कवि-कर्म की विशेषताओ में आप परिचित है। आपके लिखे हिंदी-अँगरेजी के लेखादि तो बहुत है, पर ब्रजभाषा में कवित्त-सवैया लिखने की ओर आप की विशेष रुचि है। आपकी लिखी 'स्नेह' नामक पुस्तक में विवेचना और काव्य दोनो का अच्छा समन्वय हुआ है। आपकी लिखी अधिकाश कविताएँ या तो भक्ति मूलक है, अथवा रीति काल की परपराओ को लिए हुए। भाषा में कही प्रसाद माधुर्य है और कही ओज, सामान्यत आपकी गति इतिवृत्त की ओर रहती है। भक्ति-परक कविताओ में दैन्यपूर्ण निवेदन और ममत्व कथन का अच्छा रूप दिखाई पडता है। विषय-कथन में अलकरण की भी झलक झलकती है। घर के वातावरण का प्रभाव आप पर काफी पडा है। आरभ से ही जो मातृ-विछोह हुआ और पूजा-पाठ, देवी-देवता, गुरुजन-वदना चली उसने भक्ति-भावना जगाई और स्वस्थ सुडौल शरीर, पुष्प वाटिकादि का प्रेम, जीवन के सामान्य सुख-सुपास की सतुष्टि ने स्वभाव में एकात प्रेम तथा सकोच उत्पन्न कर दिया। इसलिए कहा जा सकता है कि आपमें काव्य-प्रेम सस्कार-गत है और इसीलिए काव्य-रचना का शास्त्रीय पक्ष अथवा बहिरग उतना निखार नहीं पा सका जितना भाव-पक्ष। आपकी कुछ रचनाएँ सामने रखी जाती है—

वाणी-वदना

"अंब दै अगाह ओंनकार बिस्वनाँद बीन, लीन करि जग मन मोहन करावै है।
'प्रेमीहरि' सुचि सुभ्र आपु ग्यान-जोति रूप, करिबे सचेत हेत बीन धुनि गावै है॥
बिस्व-सिरमौर नर, नरमौर मनि ग्यान, चेतन जु एक तोर मोर जो जतावै है।
कब मन हंस मोर करत कलोर तोर, पद-कंज पौर लै सुठौर सहरावै है॥

विधेश्वरी-स्तुति

दास दुख दारिद दबे सों देखि 'प्रेमीहरि', नेह मेह बारिद की रूप दरसावै है।
षटरिपु प्रबल चढाई लखि धाई कस, घेरि-घेरि घँन घोर घुँमडति आवै है॥
करक करेजों करै टूक सो बिपच्छिन कौ, मूक हिय हरषि सपच्छिन मैं लावै है।
सरसति आवै करुना की भरी बूंदन तें, बिंध-गिरि 'काली' घटा बरसनि आवै है॥"

नद-नदिनी—महिला

"प्रेम के दिवाने हेरो कोऊ अभिराम नैन, कीनो ब्रज-धाम हेत प्रीत सो हमारी को।
तरनि-तनूजा-तीर तरुन तमाल कुंज, झूलत झमाल जित नित ही बिहारी को।।
होड़ करें रूप में जो ग्वाल बाल 'प्रेमीहरि', गजब गुवारिन मुकुट मनि नारी को।
चेरे फिरो चहुधाँ एकै कत के हम सब, चेरी अरु चेरे वृषभाँन की दुलारी को।।

ब्रजेश-स्मरण

भली बुरी तजि कें बिचार हम देंइ परें, चित-वित आपुनो वै बाँकुरे विहारी पै।
एकते हैं एक रूपवंत जाको नाहीं अंत, काछनी जु काछें वारो कंत बनवारी पै।।
काहू चहो तोतें नहि जानों वस्यौ 'प्रेमीहरि', चैन हित जात चित सुरति तुम्हारी पै।
मोको काँम तोसो हो निकाँम तोहूँ तेरो, अहौ प्रवि हौं न स्याँम कवो दीनता हँमारी पै।।

नायक-वर्णन

गोर गोर गात सुठि सुदर सलोन ग्वाल, अंग-अंग राचे हैं अनंग रुचिराई के।
पीन बषछ, केहरि कटि, पट्टुतर पोढ़ पीठि, छड छड़कीले रगरेसैन कलाई के।।
रुभ सम जंघ, खँमदार पेंडुली है सची, ठमकि मतग मतवारी वीरताई के।
वोल मीठि, सीलवत, दीरघ दृगंत देखै, रसिक सुभागि कंत पैयै तरुनाई के।।

आधुनिक उद्यान

सुखद समीर नीर-विंदु लै फुहारन सो, हारन सो कुसुम कियारिन हिलावै है।
लगत पलाकस भला कस सुरति मेरी कर वर विना तोहि को नेटसर दिलावै है।।
रग वेली छाइ ब्रज नौनियाँ लै 'प्रेमीहरि', आइ-पोमियाँ को बेगम वेलि तै मिलावै है।
आनँद करन फरन फेर जोटन सो, रजित करोटन कौ खेल सौ खिलावै है।।

कट्रोल

अधिक सुखै है, दौंन पीन ह्वै है घँनवारे, रोल कट्रोल पै दुकाँनि अन्न सून है।
ग्रीषम बसन जु व्यर्थ और सिसिर आए, बाधक सहिष्नुता कौ सूत अरु ऊन है।।
संपति धनी कौ करै चित्त को बिकार आवै, दौंनता तै याव ईस वित्त कीनो खून है।
नूनता है आहू ओर दून-दून निस-दिन, खाँन कों कँनून परिधाँन को कँनून है।।"

अत में निवेदन है साहित्य के प्रेमियो से और विशेष कर ब्रजभाषानुरागियो से कि अपने पास-पडोस के प्रातो में निवास करनेवाले कवियो का सक्षिप्त परिचय और रचनाएँ एकत्र करे और उक्त पद्धति से लिखकर पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित कर दें, अथवा मेरे पास ही भेज देने की कृपा करे।[1]

[1] इस विस्मृति और अनादर की बहिया में डूबने-उतरानेवाले ब्रजभाषा के ऐसे अनेक नये-पुराने उत्तमोत्तम कवि हैं, जिनकी सुमधुर सूक्तियाँ साहित्य-जगत और सहृदय ब्रजभाषा-प्रेमियो में आज भी समादृत हैं, पर उनके रचनेवाले अज्ञात-कुलशील है। उदाहरण के लिए निम्न छंद ही लीजिये—

"आगँम बसत कौ बिचारि कें बिवेस-तजि, आयौ मन-भावँन मदँन सरसैंनी सो।
आँनद अनंत भयौ नैंनन-बिलोकति ही, आँनन अदँन अँनुराग रंग-रँनी सो।।
नौतिय बियोग रूखि बिरह कौ आँन ताहि, काढयौ मन मोहन सनेह-सुख-छैंनी सो।
जौलों प्यारौ पीतम बिहार करै उर बर, तौ लो उर-हार तू बिहार करि बैंनी सो।"

यह 'आगतपतिका' नायिका का प्रशंसनीय छंद है। इस की तुलना किसी उच्च कोटि के कवि की उपयुक्त रचना से की जा सकती है। इधर खोज-खबर से जाना गया है कि उक्त रम्य-रचना 'करौली' (राजपूताना) के राजा 'सुजानसिंह' उपनाम—'फकीरसिंह जी की है। सुजानसिंह जी ने लग-

भग सं० १७८१-१८१२ वि० में 'सुजानविलास' नाम से ब्रजभाषा में एक सुंदर रीति-ग्रंथ लिखा था। यह ग्रंथ अभी देखने में आया है और उससे ज्ञात हुआ है कि उपरोक्त सुप्रसिद्ध छंद आपकी ही अनोखी रचना है। आपका एक और छंद जैसे—

"कंचन कौ री किधौं जरिया विधि, नीलम कौ कानिका जरयौ पावका।
कै रवि कौ सुत जीव की गोद में, मोद भरयौ बरसै रस-नावका॥
आँनन चंद, चकोर से नैंन, लगैं पुतरीन की कांति सुहावका।
गूजरी ऊजरी के ठोडी कौ बिंदु, गुलाब कौ फूल मलिंद कौ सावका॥"

इसी प्रकार भोजपुराधीश महाराज प्रबल सिंह जी का भी उल्लेख किया जा सकता है। आपका ब्रजभाषा का ग्रंथ—'बारहमासा' बहुत ही सुंदर है। उदाहरण रूप एक छंद इसका भी देखिये—

"माघ नहीं है निदाघ प्रचंड यै, चंद नहीं तैंन भाँन दहै री।
राति नहीं दिनें बाढ़यौ अपार, सो सीरे समीरन लूवें बहै री॥
फूले-री बारिज है सर में, प्रेम-भूलि कमोदिनि ताहि कहै री।
जाडौ नहीं यै आतप है 'प्रबलेस' बिना दुख कैसें सहै री॥

—इत्यादि



ब्रजभाषा के आधुनिक कवि[1]

श्री रामनारायण अग्रवाल

एक समय था, जब ब्रजभाषा लगभग संपूर्ण भारतवर्ष की सर्वसमत काव्य-भाषा थी, परंतु हिंदी-गद्य के विकास के साथ ही साहित्य पर से ब्रजभाषा का एकक्षत्र राज्य समाप्त हो गया। इसके अनेक कारण थे, परंतु प्रमुख कारण जिसे प्राय सभी हिंदी इतिहासकारो ने मान्य किया है, वह था कि मधुरिमा की मजुल मूर्त्ति 'ब्रजनागरी' आज के सघर्षशील युग की विभिषिका के द्वद्वो और थपेडो को सहन करने के लिए अनुकूल सिद्ध नही हो सकी थी और इसीलिए उसने अपने स्थान पर खडी बोली को राष्ट्रभाषा के पद पर स्वेच्छा से ही अभिषिक्त कर दिया, किंतु यह होने पर भी आज तक ब्रज-भाषा के अनुरागी देश मे एक छोर से दूसरे छोर तक अभी-भी यत्र-तत्र बिखरे हुए है और निरतर 'ब्रजभारती' का भडार भर रहे है। हमें दु ख है कि अपने साधनो के अभाव मे हम ऐसे अनेक विगत और वर्त्तमान कवि-कोविदो का उल्लेख इस स्थान पर नही कर सके होगे, जिनका उल्लेख इस लेख की श्री वृद्धि के लिए आवश्यक था, अत हम अपनी अल्पज्ञता से विवश होने के कारण उनके प्रति विनम्रतापूर्वक क्षमा प्रार्थी है।

हम यहाँ रीतिकाल के उपरात हुए वर्त्तमान युग के ब्रजभाषा-काव्यकारो का सक्षिप्त परिचय उपस्थित कर रहे है, जिन्होने ब्रज-साहित्य की सलग्नता से सेवा की है। मोटे रूप से इन कवियो के काव्य को हम तीन विभागो में विभक्त कर सकते है, (१) पूर्व भारतेदु काल—जिसमें भारतेदु जी से पूर्व के उन कवियो का उल्लेख हमने किया है जो प्राय रीति-कालीन परपरा से ही अधिक प्रभावित रहे है। जिन कवियो का विवरण यहाँ हमने दिया है उनमें ऐसे अनेक ब्रजवासी व अन्य प्रसिद्ध कविगण है जिनका उल्लेख हिंदी के इतिहास में नही हुआ है। (२) भारतेदु युग है, जिसमे ब्रजभाषा-काव्य को नई प्रेरणा मिली। (३) तीसरा युग—वर्तमान काल है जिसमें उन कवियो के विवरण है जो आज भी सलग्नतापूर्वक ब्रजभाषा-काव्य साधना मे सलग्न है। भारतेंदु मडल का युग समाप्त होते ही हमें पं० श्रीधर पाठक के दर्शन होते है, जो प्रकृति के प्रति एक नया दृष्टिकोण और कुछ नई प्रेरणा लेकर साहित्य में अवतीर्ण हुए थे। वह खडी बोली के साथ-साथ ब्रजभाषा के भी कुशल कवि थे। अत हमने उन्ही से वर्तमान काल का आरभ किया है। हमें आशा है कि ब्रजभाषा साहित्य की यह काव्य-सुधा-निर्झरिणी आगे भी इसी प्रकार अपनी मधुरिमा-वर्षिणी काव्य-धारा को प्रवाहित रखेगी और भावुक रसिकगण इससे आगे भी रुचि से छकते रहेंगे।

हम रीतिकाल के अतिम स्तभ और महाकवि 'ग्वालजी' से इस परिचय विवरण को आरभ करके रीतिकाल के उपरात हुए अन्य ब्रजभाषा-कवियो का काल-क्रमानुसार सक्षिप्त विवरण उपस्थित करने का यहाँ प्रयत्न करते है।

[1]. इस लेख की सामग्री एकत्रित करने में लेखक को, मथुरा के वयोवृद्ध साहित्यसेवी श्री पुरुषोत्तमदास सैयाँ, पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, कविवर रामलला जी और श्री गोविंद जी तथा दरबार कालिज के हिंदी विभाग के अध्यक्ष श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल से पर्याप्त सहयोग मिला है, जिसके लिए लेखक उक्त सज्जनो का आभारी है।

—लेखक

पूर्व भारतेंदु काल

कविवर ग्वाल (रचना काल लगभग १८७९ से १९२५ तक)

रीतिकालीन परपरा के अंतिम स्तभ कविवर 'ग्वाल' जी ने अपना परिचय स्वयं निम्न प्रकार दिया है—

"वासी वृंदाविपन के, श्री मथुरा सुखवास।
श्री जगदंब दई हमें, कविता बिमल बिकास॥
बिदित विप्र बंदी बिसद, बरने व्यास पुरांन।
ता कुल सेवारांम को, सुत कवि ग्वाल सुजांन॥"

आपके काव्य-गुरु राधारमण जी के गोस्वामी श्री 'दयानिधि' जी थे। ग्वाल जी ने अपने जीवन मे अनेक यात्राएँ की थी और महाराज 'रणजीतसिंह', 'लहनासिंह' तथा 'शेरसिंह' के दरबारो में भी आप रहे थे। ग्वाल जी उन महा कवियो में से थे—जिन्होंने 'पद्माकर' की शैली पर सुदर रचना करके व्रजभाषा का मस्तक उन्नत किया है। आपकी वाग्विदग्धता और भाषा की चुस्ती दर्शनीय है। ग्वाल जी के बहुत से छद बाजारू भी हैं, परतु वे निस्सदेह एक उच्चकोटि के कवि थे। उनके मुख्य ग्रथो में—"रसकानद, रसरंग, कृष्णजू कौ नखसिख, दूषण-दर्पण, अलकार-भ्रम-भजन, गोपी-पच्चीसी, राधा-माधव मिलन, राधा-अष्टक, कवि-हृदय-विनोद, रसिकोल्लास, भक्त-भावन, हम्मीरहठ" आदि सुने जाते हैं, जिनमें से अभी तक कई ग्रंथ अप्राप्य हैं।

ग्वाल जी के व्रज में अनेक शिष्य थे, जिनके कारण व्रज में काव्य-रसिको का एक सुदृढ गढ स्थापित था, जो उनके बाद भी निरतर बना रहा। दुख है कि अधिक समय न होने पर भी उनके शिष्यवर्ग में से अनेको के नाम और रचनाओ का विवरण अब उपलब्ध नही है। ग्वाल जी के एक गुरुभाई श्री 'नवीन' जी थे, जिनसे ग्वाल जी की प्रतिद्वंदिता रहती थी। ग्वाल जी के दो पुत्र हुए जिनके नाम थे—'खेमचंद और खूबचद'। यह दोनो ही अच्छे कवि थे।

ग्वाल जी मथुरा की चूनाकंकड गली में निवास करते थे जहाँ उनकी हवेली आज भी बनी हुई है। आपने अपने घर के पास ही एक 'ग्वालेश्वर' महादेव की स्थापना भी की थी। इसी स्थान पर ग्वाल जी का स्मारक बनाने के लिए 'व्रज-साहित्य-मंडल' प्रयत्न कर रहा है। आपका एक छद नीति-विषयक यहाँ उद्धृत करते हैं—

"जाकी खूबखूबी खूब खूबन की खूबी यहाँ, ताकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गाहना।
जाकी बदजाती बदजाती यहाँ चारन में, ताकी बदजाती बदजाती ह्वाँ उराहना॥
'ग्वाल कवि' वेही परसिद्ध सिद्ध जो हैं जग, वेही परसिद्ध ताकी यहाँ वहाँ सराहना।
जाकी यहाँ चाह ना है, ताकी वहाँ चाह ना है, जाकी यहाँ चाहना है, ताकी वहाँ चाहना॥"

कवि उरदाम (उडदाम) जी चौबे

उरदाम जी का जन्म और मृत्यु सवत् यद्यपि हमें ठीक रूप से ज्ञात नही हो सका, परतु यह निश्चित है कि 'उरदाम' जी ग्वाल जी के समकालीन थे और दोनो में बडी प्रतिस्पर्द्धा रहती थी। यद्यपि उरदाम जी की कविता किसी प्रकार भी 'ग्वाल' जी से निकृष्ट कोटि की नही है, परतु उन्होंने उतनी प्रचुर मात्रा में नही लिखा, जितना ग्वाल जी ने लिखा है। इसके अतिरिक्त उरदाम जी मथुरा या करौली में ही स्थित रहे, जबकि ग्वाल जी ने राजदरबारो में आश्रय-प्राप्त करने के साथ देशाटन भी खूब किया था। यही कारण है कि आज ग्वाल जी की सर्वत्र ख्याति है, जबकि उरदाम जी का हिंदी के इतिहास में नामोल्लेख भी नही मिलता, फिर भी उनकी महत्ता जब तक व्रजभाषा-प्रेमी हैं, सदा अक्षुण्ण रहेगी।

कहते हैं कि एक बार ग्वाल जी और उरदाम जी दोनो ने ही भगवान के चरणो के नूपुरों का वर्णन लिखा। ग्वाल जी ने चाँदी के और उरदाम जी ने सोनेके नूपुरों का वर्णन किया। दोनों

ही कवियो के छद टकसाली थे, किसी एक के छद को श्रेष्ठ कहना कठिन था। अत मे दोनो कवियो ने स्वय ही निश्चय किया कि भगवान के मदिर में चलकर देखा जाय और जिसके वर्णन के अनुसार भगवान ने नूपुर धारण कर रखे होगे उसी का छद श्रेष्ठ समझा जाय। फिर क्या था, दोनो कवि तत्काल ही मदिर में जा पहुँचे। जैसे ही कपाट खुले तो देखा गया कि भगवान ने स्वर्ण के नूपुर धारण कर रखे है।

इसी प्रकार की अनेक रोचक किंवदतियाँ इन दोनो कवि महोदयो के सबध मे प्रचलित है। कहा जाता है कि उरदाम जी को 'भैरो' का इष्ट था और आप प्रातःकाल ४ बजे उठकर 'चतुष्पथ' पर शौच जाया करते थे। इसपर बिगडकर कालिकाप्रसाद नामक किसी चुगी के कर्मचारी ने कवि जी का चालान कर दिया, जिससे इन्हें बहुत कष्ट हुआ। अत आपने एक छद काली को सबोधन करते हुए लिखा, जिसका अतिम चरण था—

"कालिका प्रसाद कौ कलेवा कर कालिका।"

कहते है कि इस छद के लिखे जाने के दूसरे दिन ही कालिकाप्रसाद का स्वर्गवास हो गया।

इसी प्रकार मथुरा के वयोवृद्ध साहित्य-मर्मज्ञ श्री पुरुषोत्तमदास 'सैंयाँ' ने हमें बतलाया कि उरदाम जी मथुरा की चूडीवाली गली में रहने वाली एक 'रँगरेजिन' पर अनुरक्त थे, जिसका विवाह करौली में हुआ था। उरदाम जी का यह नित्य-नियम था कि प्रतिदिन एकबार जाकर उस रँगरेजिन को अवश्य देखना। वह प्रतिदिन उसके द्वार पर जाकर उसे आवाज देते और जब वह उनके सामने आ खडी होती तो वह उसे देखकर लौट आते, पहिले तो कुछ दिन रँगरेजिन के घरवालो ने उरदाम जी को रोकने की बडी चेष्टा की, परतु उनके हठ के कारण उन्हे अत में झुकना ही पडा। इस प्रकार जब वह रँगरेजिन मथुरा रहती तो उरदाम जी भी मथुरा रहते, किंतु जब वह रँगरेजिन अपनी ससुराल करौली जाती तो कवि जी भी करौली ही रहा करते थे। उरदाम जी का उर अपनी प्रेमिका के कटीदार-नयनो से कैसा विदीर्ण था यह निम्न छदो से प्रगट होता है—

"नैंन नवला के नैंक निरखें निहाल होत, हेरें रहि जात मृग-मींन लट गए हैं।
कहें 'उरदाँम' काँम बाँनन की नोकन पै, कहाँ यह रग कवि कोटि रट गए हैं॥
मोह रूप सरस-सरोवर में सुख सँने, कँमल दलँन-डर-डार डट गए हैं।
आँन अवलाँन के गुमाँन घट गए मानों सेंन चढ़ि केतिक सुजाँन कट गए है॥"



"जोबन-मुलक लहि मदॅन महीप जू नें, मीन-छाप वॅके राखे भट जुग जोरदार।
उरज-बुरज दै मवासी छल रासी मनो, पीय-मन चंचल वनीं के नीके मोरदार॥
'उरदाँम' सिसुता सहर चढ़ि लूटि लीन्हों, सरॅम, धरॅम, रह्यौ एकहू न छोरदार।
ये न कंज खंजन चकोर भौंर गंजन सो, करत कजाकी कजरारे नैंन कोरदार॥"

'मालती बसत'—औषधि विशेष के निर्माण की 'रासायनिक क्रिया' को इन कवि ने अपनी नायिका में कितनी सुदरता से घटाया है, यह देखिये—

"लगत अतॅन तॅन, कंचन जरद पीरी, मदॅन-मरद खूबी खपरी रलाई है।
माखन-मिलॅन-मोद मुकता-मनोरथॅन, चाँह की मिरच चटपटी चित्त लाई है॥
सौतिन के मन मनो निबुआ निचोरि दीनें, 'उरदाँम' याही सो सरस सुहाई है।
बिरह बिषम जुर जाँनिकें हमारें जाँन, यह बाल 'मालती बसंत' बनि आई है॥"

आपकी अधिकाश कविताएँ अतीत के अतस्तल में विलीन हो गई है। केवल नवनीत जी के सुपुत्र कविरत्न 'गोविंद' जी चतुर्वेदी के यहाँ आपका कुछ संग्रह अभी वर्त्तमान है। अच्छा हो कि उसे अंतर्घ्यान होने से पूर्व प्रकाशित करा दिया जाय।

नवीन कवि (वृंदावन)

कवि नवीन सवत् १९०० के लगभग वर्त्तमान थे और ग्वाल जी के गुरु भाई थे। इनके परिवार-वश आदि के विवरण के सवध में कोई प्रामाणिक बात अभी नहीं कही जा सकती। यह नाभा नरेश महाराज देवेंद्रसिंह जी के यहाँ थे और वहाँ आपने एक प्रकार का राजकीय समान प्राप्त किया था। मिश्रवधुओ ने इनके 'सरस-रस' 'सुधासर', ग्रथो का उल्लेख किया है। इनका एक ग्रंथ 'रग-तरग' मिश्रवधुओके निजी सग्रह में भी था। ब्रज में इनके बहुत से स्फुट छंद प्राचीन लोगो को याद है। मिश्र-बधुओ ने इन्हें पद्माकर की कोटि का कवि माना है। सवत् १९०५ की शोध में 'नेह-निदान' नामक एक ग्रंथ नवीन कवि का और मिला है, जिसे मिश्रबधु इन्ही नवीन जी का समझते है, किंतु हमारे विचार से ये नवीन इनसे भिन्न और पूर्ववर्त्ती हैं। नवीन जी का एक छद यहाँ उद्धृत है—

वह मनमाँनी सो बखाँनी है रसिक जन, यह पटराँनी जग जाँनी जस नीँकौ है।
वाके अनुकूल याके कूल पै किलोल करै, वह स्याँमा नाँम यह स्याँम-रंग पीकौ है॥
दोऊ ए अनूप ब्रज-भूप के छकैंन छकीं, दोउँन के भाग में सुहाग ही कौ टीकौ है।
आसरौ हमें तो निसि-बासर 'नवीन' सदाँ, भाँनु-नंदिनी कै बृषभाँनु-नदनी कौ है॥

हरदेव

हरदेव जी भी ग्वाल जी के गुरुभाई और जाति के वैश्य थे। इनकी कविता बडी सरस होती थी। पिंगल-शास्त्र के आप पडित थे। आपने एक वृहद् रीति-ग्रथ लिखा है, जिसकी एक प्रति मथुरा मे "श्री मैयाँ जी" के पास है। हरदेव जी वृंदावन के निवासी थे और अपने गुरु गोस्वामी दयानिधि जी के बहुत निकट रहने के कारण उनके विशेष कृपापात्र थे। इसलिए ग्वाल जी से इनकी कुछ कम बनती थी। आपकी 'मुदिता नायिका' का एक वर्णन दिखिये—

"गग-नहावन को नर नारि, चले हैं अरौस-परौस के सोऊ।
वासी औ दास जिते 'हरदेव जू' रोकिऐ ताहि रुकै नहिं कोऊ॥
सास कही सुनरी बुलही, घर तू रहि और रहूँ ननदोऊ।
यों सुनिकैं उँमग्यौ अँनुराग, समान न कुंचकी में कुच दोऊ॥"

लाला साधूराम

लाला 'साधूराम' भी अग्रवाल वैश्य और कविवर ग्वाल जी के शिष्य थे, जो मथुरा के चौक बाजार में कपड़े की दुकान करते थे। आप बडे ही सरल स्वभाव के काव्य प्रेमी जीव थे। इनका जन्म सवत् ज्ञात नहीं है। आपकी मृत्यु १९४३ में हुई। सुना जाता है कि इन्होंने बहुत प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना की थी, परतु वह अब अप्राप्य है। बड़ी कठिनता से हम केवल उनके कुछ ही छदो का संग्रह कर पाये हैं, जो उनके परिवार के ही एक वयोवृद्ध सज्जन को स्मरण थे। गोपीचंद के योगी होनेकी कथा को लेकर आपने १०८ विविध छदो में एक सुदर 'प्रबंध-काव्य' भी लिखा है। यद्यपि यह अधिक पढ़े लिखे न थे, परंतु पिंगल-शास्त्र का इन्हें अच्छा ज्ञान था। इनकी भाषा में फारसी का पुट पर्याप्त है, एक उदाहरण—

"जाँनदै री, जमुनाँ के कूल फूल-बीनबे को, रोकै मत गैल, सैल बागँन कूँ जाँन दै।
जाँनदै री, झूलनाँ झुलाँमन कूँ आज नेंक, गढ़ौ है हिंडोरा बट ताके तट जाँन दै॥
जाँनदै री, बरसा बुढात दिन द्वै-इक में 'साधू' यों कहत री घटाँन घटि जाँन दै।
जाँनदै री, साँमरे सँलोने नंद-नंदन पै, चूंदरी चुचाल याकौ रंग बहि जाँन दै॥

किशोर

कवि 'किशोर' ग्वाल जी के शिष्य और जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। यह लाला साधूरामजी के समकालीन थे और उन्ही की दुकान के पास चौक बाजार मथुरा में ही आपकी दुकान थी, जिसका वर्णन आपने

भरतपुर की एक पढत में भाग लेने के लिए जाने पर, अपना परिचय पूछे जाने पर अनायास ही 'आशु' कविता के रूप मे निम्न प्रकार दिया था—

"वास श्री मथुरा, निवास तट जमुनाँ की, बिकट चौरायौ पवन आवत चहूँ ओर की।
सेख, सैयद, मुगल, पठाँन तहाँ बाँक देत, ताके तल बैठे बाँनी कहत मरोर की।।
नीम की है पेड, नेंक आगें चल पूँछ लीजें, सुनार की दुकाँन लंग-उत्तर के ओर की।
बोलै मत ताव सो, वदाव क्यो करै है रे, लदाव के नीचें दुकाँन है किसोर की।।"

दु:ख है आपकी कोई पुस्तक अभी तक नही मिली, परतु इनके स्फुट छद वैसे बहुत से महानुभावो को याद है। आपकी रचना 'किशोर नाम' के अनेक कवियो के छदो मे इतनी घुल-मिल गयी है कि उनका अलग छाँटना कठिन है। सभवत निम्न छद इन्ही किशोर का है—

"भृकुटी-कमाँन ताँन फिरत अनोखी भटू, बरने 'किसोर' कोए कज्जल-भरे है री।
तेरी मुखि-छवि लखि काँन्हर डिगत जासो, मघवा निगोडी औह रोष पकरै है री।।
कीरति कुमारी, ए दुलारी वृषभाँनु जू की, मेरौ कह्यौ माँन तेरौ कहा बिगरै है री।
चंचल चपल ललचोहे नेंन मूद लीलो, औलो गिरधारी गिरि नख पै धरै है री।।"[1]

खडग कवि

खडग कवि जाति के माथुर ब्राह्मण मथुरा के थे। आपका पेशा यजमानी था और 'दतिया नरेश' भी आपके यजमान थे। एक बार कवि जी महाराज 'भवानीसिंह' जी से मिलने दतिया गये, उस समय वे मसनद के सहारे बैठे वेश्या का नृत्य देख रहे थे। वे कविजी को देखकर बैठे ही रह गये, उनकी अभ्यर्थना के लिए उठे नही। यह देखते ही कविजी बिगड गये और उन्होने उसी समय एक छद कहा, जिसका अतिम चरण था—

"देबी को वाँहन जाँन कें आए, पै बैठौ है मसनद सीतला-बाँहन।"

इस पर महाराज भवानीसिंह बिगड गये और आपको काठ (बेडी) मे दे दिया, परतु महाराज के सिंह के शिकार से लौटने पर आपने उन्हे देखकर एक दूसरा छद कहा जिसे सुनकर महाराज आप पर अत्यत प्रसन्न हो गये और आपको मुक्ति ही नही, साथ में कुछ जागीर भी दी।

खडग कवि का अपनी चाची से जिसका नाम 'सतिया' था कुछ जायदाद सबधी झगडा था, जिससे दोनो में प्राय लडाई हुआ करती थी। कहते है कि सतिया भी कविता लिखती थी इस कारण दोनो की लडाई भी कविता में ही होती थी। सतिया और खडग जी की लडाई मे विशेषता थी। लडाई देखने के लिये दोनो की ओर से पाल तान दिये जाते थे और खडग की ओर से अपने दर्शको के लिए भाँग की तथा सतिया के समर्थको के लिए शर्बत की प्याऊ लगा दी जाती थी। सतिया के व्यवहार से कुपित होकर खडग जी ने एक छद लिखा था—

"बिनाँ दाँत खाइ गई, लाखँन को सतिया।"

और इसी के उपरात कवि की मृत्यु हो गई। आपने बहुत से स्फुट पद और भडौआ छद लिखे है, जो ब्रज में बहुत से लोगो को याद है और प० नकछेदी तिवारी (कविअजान) भडौआ सग्रह में छपे भी है। यहाँ आपका श्री यमुना जी के माहात्म्य-वर्णन का एक छद उद्धृत करते है—

पाठांतर—

१. बधू, ता पै ए बिसिख कोर ।
तोहि देखि मेरे गुविंद-मन डोलि उठै, मघवा निगोड़ी उतै . ।।
बलि-बलि जाँउ वृषभाँन की कुँमारी तेरी, मेरी कह्यौ . ।
चंचल चपल ललचोहे नेंन मूंदि राखि .. ।।

"जौन कर दूजा में न पूंजा करी ठौर ठौर, भौनु की तैंनजा नौम तेरी एक जौच्यौ है ।
आठो जौम करत रहत जो निकौम कौम, माया, मद, मोह सदौ मदता में मौच्यौ है ।।
'सरग कवि' कौन्हौं ना बिचार तरिबे कौ कछू तौ पै ये यार यौं विचार उर आँच्यौ है ।
न्हाइ जमुनौं में जो पै तरिबौ न सौंचौ तौ पै पाप करि नर्क हूँ में परिबौ न सौंच्यौ है ।।"

राजकुमार रत्नसिंह "नटनागर"

नटनागर जी सीतामऊ नरेश श्री राजसिंह जी के पुत्र और दादूपंथी श्री अूपदास जी के शिष्य थे। आपका जन्म संवत् १८६५ वि० और मृत्यु संवत् १९२० में पिता के सामने ही हो गयी। महाराज कुमार बड़े गुरुभक्त, कलाविद्, सहृदय और गुणग्राही थे। आपने शृंगार आदि विषयो की अनेक सरस रचनाएँ की है। सितार बजाने में भी आप बड़े निपुण थे और अपने समय के समस्त सत्कवियो से आपका निकट का परिचय था। डिंगल के प्रसिद्ध कवि सूर्यमल ने इनकी उदारता की कई छदो में प्रशसा की है। आपकी रचनाओ का सग्रह 'नटनागर-विनोद' नाम से छप चुका है। डिंगल-पिंगल आदि कई भाषाओ पर आपका पूर्ण अधिकार था। बरवै में आपकी कुछ अनूठी विरह-सूक्तियाँ देखिये—

"साजन कथा बिरह की, लिखी न जाइ ।
कहि है वह अंबुव उत, कछु समुझाइ ।।
देखहु यह बिपरित मति, करवत मेह ।
तऊ झार नहिं मिटती, पजरत देह ।।
देखहु यह कस लाग्यौ, नैनन मेह ।
बूडे जलहिं रहत हैं, सूखति देह ।।"

सेवक

कवि सेवक का जन्म सवत् १८७२ में और मृत्यु १९३८ में हुई थी। यह प्रसिद्ध कवि ठाकुर (असनी वालो) के पौत्र थे। स्वय आपने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

"श्री रिषिनाथ कौ हौं मैं पनाती, औ नाती हो श्री कवि ठाकुर केरौ ।
श्री धनीरांम कौ पूत मैं 'सेवक' संकर कौ लघु बंधु ज्यौं चेरौ ।।
मौन कौ बाप, बबा कसिया कौ, चचा मुरलीधर कृष्ण हू हेरौ ।
आसनी में घर कासिका में, हरिसंकर भूपति रच्छक मेरौ ।।"

आपका 'वाग्विलास' नायिका-भेद का बहुत बड़ा ग्रंथ है। 'बरवा' छदो में आपने 'नखसिख' भी लिखा है। सेवक जी आजन्म एक ही आश्रयदाता के यहाँ रहे और कई नरेशो के निमत्रण तक आपने स्वीकार नही किये, जहाँ से आपको यथेष्ठ लाभ होता। यह बड़े स्वाभिमानी थे। आपकी 'अन्य-सभोग-दुःखिता' नायिका का एक वर्णन देखिये—

"अँगना में बुलाइ घँनी अँगना, कँगना पहिराइ बै जौसनीं कौ ।
दछिना दिल खोल कै दीजै भटू, सो बधाई सुनाऊँ सँतोसिनीं कौ ।।
कवि 'सेवक' पाँइ परों सब के, बिधि दाहिनो आज सबोसिनीं कौ ।
बिन औषध मै तौ अरौम भई, पति आइगौ मेरी परौसिनीं कौ ।।"

रीवाँ नरेश महाराज रघुराजसिंह

महाराज रघुराजसिंह अपने समय के बड़े प्रसिद्ध कवियो में से थे। 'राम-स्वयंवर' आपका प्रसिद्ध प्रबध-ग्रथ है, जिसमें राम और सीता के विवाह का विस्तार पूर्वक वर्णन है। इसके अतिरिक्त आपने 'रुक्मिणी-परिणय', 'आनदाबुनिधि' (सपूर्ण श्रीमद्भागवत का व्रजभाषा में अनुवाद) 'रामाष्टयाम' आदि कई ग्रथ लिखे हैं। आपका जन्म सवत् १८८० और अवसान सवत् १९३६ में हुआ था। ये महाशय काव्य-प्रेमियो का बड़ा सत्कार करते थे। रसिक नारायण, रसिक विहारी, श्री गोविंद, बालगोविंद व रामचद्र

शास्त्री आदि अनेक कवि इनके दरबार में रहते थे। इन कवियो ने भी बहुत स ग्रथ रचे हैं और इनकी कविता महाराज रघुराजसिंह के ग्रथो में मिल गई हैं। इस प्रकार महाराज रघुराजसिंह के २६ ग्रथो का उल्लेख मिश्रबधु-विनोद में हुआ है। आपकी एक रचना यहाँ दी जाती है—

"अनल उदंड कौ प्रकास नवखंड छायौ, ज्वाला चंड मांनो ब्रह्मड फोरै जाइ-जाइ।
पुरी न लखात ज्वाल-मालै बरसात एक, लोहित पयोधि भयौ छाया इक छाइ-छाइ।।
देवता, मुनीस, सिद्ध, चारँन, गंधर्ब जेते, मांनि महा प्रलै बेगि व्योम ओर धाइ-धाइ।
देखि रांमराइ हेत दीन्ही लक लाइ सबै, चाइ भरे चले कपि रांम-जस गाइ-गाइ।।"

नारायण स्वामी

श्री नारायण स्वामी का जन्म रावलपिंडी मे सवत् १८८५ मे और मत्यु फाल्गुन कृष्णा ११ सवत् १६५७ वि० मे 'कुसुम सरोवर' (गोवर्धन के निकट) पर हुई। आप जन्म से ही कृष्ण-भक्ति के रग में रँग गये थे। अत आप सवत् १६१६ मे ही गृहस्थ होते हुए भी वृ दावन में एकाकी निवास करने लगे और यही आपने लालाबाबू के मदिर के कार्यालय में नौकरी कर ली। बाद में उसे भी त्याग कर स्वामी जी विरक्त भाव से सन्यासी होकर 'केशीघाट' पर 'खटपटिया' बाबा के घेरे में निवास करने लगे। सवत् १६५५ में आप गोवर्धन गये और वहाँ की रमणीयता को देखकर वही रुक गये। यही कुसुम सरोवर पर उद्धव जी के मदिर में आप रहने लगे और स्वर्गवासी हुए।

पजाबी होते हुए भी ब्रजभाषा पर आपका असाधारण अधिकार था और आपने प्रसाद-गुण-पूर्ण भाषा मे 'ब्रज-विहार' नामक ग्रथ की रचना की है, जो भक्तो में बडी लोकप्रिय हुई। आपकी सरलता और सहृदयता तथा वाक्पटुता की अनेक कथाएँ कही जाती हैं। भगवान को आप 'लालजी' कह कर पुकारते थे और समदृष्टि के कारण जो भी आपसे मिलता उसी को आप लालजी कहकर सबोधित करते थे। एक बार किसी व्यक्ति ने आपसे 'हरिद्वार' चल कर गगा-स्नान कर लेने का आग्रह किया तो आप बोले—

"लालजी, हम तो महलों में रहने वाली प्रिया-प्रियतम की सहचरी हैं, हरि के अंत पुर में ही रहती हैं, द्वार पर नहीं जातीं।'

आपके सबध में प्रसिद्ध साहित्य-सेवी विद्वान् गो० राधाचरण जी (वृ दावन) ने अपनी नव-भक्तमाल में निम्न छप्पय लिखा है—

"अच्छर अर्थ अनूप, अलंकारन सु अलंकृत।
भाव हृदय गंभीर, अनुप्रासन-गुन-गुंफित।।
राग नवीन नवीन, प्रवीनन की मन मोहैं।
नृत्य करत गति भरत, रासमंडल अति सोहैं।।
बेस बिदेस प्रचार श्री वृंदावन विस्रांम।
श्री नाराइन स्वांमी नवल (पद) रचना ललित ललांम।।"

आपका एक बधाई का पद यहाँ उद्धृत करते हैं—

"आज मेंहँरि घर बेउरी बधाई।
सुभ लच्छिन सुदर सुत जायौ, बड़भागिन हैं जसुमति माई।।
वृद्ध बधू सब जुरि मिलि आंईं, जथा जोग कुल-रीति कराई।
दांन, मांन, बिप्रन कों दीनों, मनि-मुक्ता पट भूषनताई।।
मृग-नैंनी, कल कोकिल बैंनी, करि सिंगार बैठीं अँगनाई।
लै-लै नाम नद-जसुमति कौ, गावत गारी परम सुहाई।।
धुजा पताक, तोरन, मनि-जाला, द्वारन बदनवार बँधाई।
'नाराइन' ब्रज आँनद छायौ, प्रघट भए जहाँ कुँवर कन्हाई।।'

रगीलाल

रगीलाल जी का असली नाम खैरातीलाल था और यह 'व्रजविहार' के लेखक श्री 'नारायण स्वामी' के समकालीन थे। इनके जन्म काल और मृत्यु-समय का ठीक पता हमें नहीं लग सका। रगीलाल जी कुशल कवि तो थे ही, साथ ही शतरज के भी प्रसिद्ध खिलाडी थे और मथुरा के प्रसिद्ध राजाजी वालो के वशजो के यहाँ आपका इसीलिए बडा आदर था। आप मथुरा के पुराने छापेखाने 'श्यामकाशी' प्रेस मे लीथो की कापी लिखने का कार्य करते थे।

श्री रगीलाल जी भावुक भक्त थे और श्री राधाकृष्ण की अनेक लीला और पौराणिक कथाओ को काव्य-बद्ध करके उन्होने अपने समय मे साहित्य की श्री वृद्धि की। अब उनकी अधिकाश रचनाएँ नही मिलती, परतु उनका 'व्रजविहार' मिलता है। आपकी रचना का एक उदाहरण लीजिये—

"ए अँखियाँ मोहन सो अटकीं ॥
एक दिना की बात स्याँम की, सुधि नहिं भूलत बसीवट की।
डोलत फिरी दिएँ गलबैयाँ, त्रिविध पवन कालिंदी-तट की ॥
कब धो भर-भर नैंन सखी री, हम देखें छबि नागर-नट की।
तबते भोर जात वृंदावन, सीस भरी गोरस की मटकी ॥
निस-दिन आठो जाँम सखी री, बैरिन बंसी-धुनि उर-खटकी।
'रंगीलाल' सब सुधि-बुधि त्यागी, कुल-मरजाद लाज घूघटकी ॥"

राजा लक्ष्मणसिंह सवत् १८८७ से १९५६

राजा साहब आगरा मे जन्मे थे। इन्होने कालिदास के ग्रथों के सरस अनुवाद करके सदा के लिए अपने को हिंदी-साहित्य मे अमर बना लिया है। सबसे पहिले आपने गद्य में शकुतला का अनुवाद किया था, जिसकी योरोप तक मे धूम रही। इसके बाद राजा साहब ने गद्य-पद्य-युक्त शकुतला का अनुवाद किया। 'मेघदूत' और 'रघुवश' के भी आपके अनुवाद बडे सरस है। इन अनुवादो के कारण जहाँ राजा साहब का नाम हिंदी-गद्य-निर्माताओ में अग्रगण्य है वहाँ आप एक सरस और भावुक व्रजभाषा-कवि के रूप में भी सदा स्मरण किये जायेंगे। शकुतला-नाटक मे बालक भरत का भव्य चित्र कवि ने निम्न घनाक्षरी मे अकित किया है—

"हाँसी बिन-हेत माँहि दीखति बतीसी कछू, निकसी मनौं है पाँति ओछी कलिकाँन की।
बोलैंन चहत बात निकसि आति टूटी-सी, लागति अनूठी मीठी बाँनी तुतलाँन की ॥
गोद तें न न्यारी और भावै मन कोऊ ठाँव, दौरि-दौरि बैठें छोडि भूमि अगनाँन की।
धन्य-धन्य वे हैं नर मैले जो करत गात, कनियाँ लगाइ धूरि ऐसे सुवनाँन की ॥"

बेनी द्विज

आपका जन्म सवत् १९०० के लगभग कहा जाता है और आप काशी के निवासी थे। यह रीतिकालीन परपरा की कविता करने वाले साधारण कोटि के कवि थे। आपकी कुछ रचनाएँ पडित 'कृष्णशकर' शुक्ल एम० ए० के पास हैं। आपका एक छद नीचे दिया जाता है—

"सीता-राँम-लखँन बिलोक ग्राँम-नारी-नर, मोहित ह्वै ठाडे इक टक लाइ कें।
तामें जे सयाँनी नारी अरज गुजारी इम जेंनक, दुलारी आगें सीसँन नवाइ कें ॥
काकी हौं पियारी दोऊ राजहंस-बसिन में, 'बेंनी द्विज' दीजिऐ दया सो समुझाइ कें।
लाजँन लजाइ अकुलाइ तबै नैंनन सों, दीन्हें हैं लखाइ राँमें मुरि मुसिकाइ कें ॥"

सरदार

सरदार कवि का कविता काल सवत् १९०२ से सवत् १९४० तक कहा जाता है और कवि की कविता से आपका 'सरदार' नाम भली प्रकार सार्थक होता है। आप काशी नरेश ईश्वरीप्रसाद-

नारायणसिंह के आश्रित थे। आपने अपने मौलिक ग्रथो के अतिरिक्त केशव, सूर और बिहारी के ग्रथो पर टीकाएँ भी वडी सुदर लिखी हैं। इनके ग्रथ हैं 'साहित्य-सरसी', 'वाग्विलास', 'पट्-ऋतु', 'हनुमत-भूषण', 'शृगार-सग्रह', 'राम-रत्नाकर', ''साहित्य-सुधाकर' और 'रामलीला-प्रकाश'। आपका एक छंद यहाँ उद्धृत करते हैं—

"वा दिन तें निकसौ न बहोरि कें, जा दिन आगि-दै अंदर बैठौ।
हाँकत हूँकत ताकत हैं मन, भाँखत मार-मरोर-उमैठौ॥
पीर सहो न कहो तुमसो 'सरदार' विचारत चार कुठौठौ।
ना कुच-कचुकी छोरौ लला, कुच-कदर-अदर बंदर बैठौ॥"

गोविद गिल्ला भाई

आप गुजरात के उन कवियो मे अग्रगण्य हैं, जिन्होने ब्रजभाषा मे सुदर रचना की है। आपका जन्म सवत् १९०५ है। भूपण की कविताओ का प्रामाणिक सस्करण निकालने के अतिरिक्त आपने निम्न ग्रथ लिखे हैं—"नीति-विनोद, शृगार-सरोजिनी, षट्ऋतु, पावस-पयोनिधि, समस्या-पूर्ति, वक्रोक्ति-विनोद, श्लेष-चद्रिका, प्रारब्ध-पचासा, प्रवीन-सागर, राधा-मुख-षोडसी आदि। काशी के कवि समाज मे इनकी समस्या-पूर्तियो की वडी धूम थी। एक पूर्ति नीचे दी जाती है—

"बारिद के बुंद मद-मद बरसत अरु मद-मद बोलत मयूर मन भावनो।
चंचला चँमक चहुँ ओर लसै मद-मंद, मंद-मंद मारुत सुहात सुख छावनो॥
मंद-मद झूलत हिंडोरें नर-नारी सबै, मंद-मंद पपिहा पुकारै पिय-आवनो।
'गोबिंद' अनेक ऐसे कौतुक उपावन को, आयौ मन भावन ये सावन-सुहावनो॥"[1]

बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही'

रामसनेही जी अयोध्या के महत थे और वही रामघाट के निकट 'रामनिवास' नामक स्थान पर रहते थे। आपका रचना काल सवत् १९११ के आस-पास है। आपका एक ग्रथ 'विश्राम सागर' श्री रामचरित मानस के अनुकरण पर रचा हुआ मिलता है। यह ग्रथ दोहा-चौपाइयो में है, जिसमे रामचरित के साथ कृष्ण-चरित और कुछ पौराणिक कथाएँ वर्णित हैं। ग्रथ मे कवि-कल्पना या मौलिकता यद्यपि नही है, परतु धार्मिक-समाज में इस ग्रथ का काफी आदर है। स्त्रियाँ इसे बडे प्रेम से पढती हैं। इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है। कस कहता है—

"नंद सग जे गोप हैं, लूट लेहु तुम झारि।
उग्रसेंन वसुदेव को, अबहीं डारौ मारि॥
सुनत कृष्ण ढिंग पहुँचे जाई। पकरि सिखा महिं-दींन गिराई॥
काढ़े प्रांन घसीट घसीटी। डारें सकल निसाचर पीटी॥
लखि सुर हरषि सुँमन वरषाए। कढिलावत जमुनाँ-तट आए॥
तहँ बिस्राम कींन मन भावा। सोइ बिस्रामघाट कहावा॥"

हनुमान

हनुमान कवि प्रसिद्ध कवि मणिदेव वदीजन के पुत्र थे और बडी श्रेष्ठ कविता करते थे। कविता पढने का ढग भी इनका बडा प्रभावोत्पादक था, जिससे प्रसन्न होकर भारतेंदु जी ने आपको एक बहुमूल्य दुशाला और हीरा-जडी अगूठी भेंट की थी। दुख है कि ३८ वर्ष की अल्पायु मे ही (सवत् १९३६ में) आपका देहावसान हो गया। आपका कोई ग्रथ तो नही मिलता किंतु स्फुट-छद आपने बहुत से लिखे हैं। एक उदाहरण लीजिए—

[1]. यहाँ, ० नकछेदी तिवारी—उपनाम 'अजान' कवि जो ब्रजभाषा-काव्य के प्राचीन ग्रथो के सग्रहकर्त्ता और उनके सपादक के रूप में भी प्रसिद्ध थे, उनका उल्लेख छूट गया है।

"निज चालसो ग्रौर जे बाल तिन्हैं, कुल की कुलकानि सिखावती हैं।
ननदी श्रौ जिठानी हँसावैं तऊ, हँसी श्रोठन ही लो बितावती हैं।।
'हनुमान' न नैकौ निहारैं कहूँ, दृग नीचे किएँ सुख पावती हैं।
बड-भागिन पी के सुहाग-भरी, कबो ग्रांगनहूँ लो न ग्रावती हैं।।"

ललित किशोरी

भक्त कवि ललित किशोरी जी लखनऊ निवासी शाह बिहारीलाल जी के पौत्र थे। आपका नाम शाह 'कुदनलाल' था। सवत् १६१३ में आप वृदावन आये और वही सवत् १६३० में आपकी मृत्यु हो गई। आपने कई ग्रथ लिखे हैं, जिनमें कृष्ण भक्ति और प्रेम का हृदयग्राही वर्णन है। आपने ब्रज-वर्णन के अतिरिक्त कृष्ण के ब्रज-गमन के उपरात के चरित्र पर एक पक्ति भी नही लिखी है। आपने कुछ कूट और खडी बोली की कविता भी लिखी है। वृदावन का सुविख्यात शाहजी का मदिर आपका ही बनवाया हुआ है। आपकी कविता में कृष्ण भक्ति की मार्मिकता और विह्वलता की छटा दर्शनीय है। आपका एक 'प्रभाती' पद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"कँमल-मुख खोलौ आज पियारे।।
बिकसित कँमल, कुमोदनी मुकलित, ग्रलिगँन मत्त गुँजारे।
प्राचीदिसि रबि-थार आरती, लिएँ ठँनी छबि छारे।।
'ललितकिसोरी' सुनि यह बाँनी, कुरकुट बिसद पुकारे।
रजनी राज बिदा माँगै बलि, निरखौ पलक उघारे।।"

ललित माधुरी

आपका नाम शाह फुदनलाल था और आप 'ललित किशोरी' जी के छोटे भाई थे। उन्ही के साथ वृदावन आये तथा काव्य रचना भी की। इनकी कविता भी बिल्कुल ललितकिशोरी जी जैसी ही है और उसे पृथक् छाँटना कठिन है। हाँ, जिन पदो मे ललित माधुरी नाम (जो आपका उपनाम था) आता है वे अवश्य पहँचाने जा सकते हैं। ललित किशोरी जी की मृत्यु के उपरात उनके अपूर्ण ग्रथ आपने ही पूर्ण किये थे। आपका एक पद यहाँ उद्धृत है—

"प्रिया-मुख राजत कुटिनी ग्रलकैं।
माँनहुँ चिबुक-कुंड-रस चाखँन, द्वै नागिनि अति उँमगी थलकैं।।
बेंनी छूट परी ऐंड़ी लौं, बिथुरी लट घुँघरारी हलकैं।
गै अरबिंब सुधारस कारँन, भँवर वृद जुरि माँनहुँ ललकैं।।
चंचल भाल कुटिल भ्रू मोरीं, ता पर यह उपमा है झलकैं।
गे चढ़ि ग्राघ चब-लट ग्रहिनी, ग्रँमी लूटिबे श्रम करि चलकैं।।
पुहुँप खचित उरँमाल बिराजत, चरन-कँमल परसत ढल-ढल कैं।
मँनहुँ तरग उठत पुनि ठिठुकत, रूप-सरोवर माँहि बिमल कैं।।
'ललितमाधुरी' बदन-सरोजहि, रास करत प्रिय स्रँम-कँन झलकैं।
भृग दृगनि पिय छबि मकरदहि, घूटत मुदित परत नहिं पलकैं।।"

लच्छीराम (ब्रह्मभट्ट)

इनका जन्म ग्रमोढा गाँव जिला बस्ती में सवत् १८९८ मे हुआ था। ये अयोध्या के महाराज मानसिंह (सुप्रसिद्ध कवि द्विजदेव) तथा अन्य कई नरेशो के आश्रय में रहे और सब की ही प्रशस्ति में इन्होंने कुछ न कुछ लिखा। समस्या-पूर्ति में यह महानुभाव बडे कुशल थे। सभी रसो पर इन्होने थोडा बहुत लिखा है। इनकी रचनाओ में 'प्रताप-रत्नाकर', 'मानसिंहाष्टक', 'प्रेम-रत्नाकर', 'लक्ष्मीश्वर-रत्नाकर', 'रावणेश्वर-कल्पतरु' व 'कमलानद-कल्पतरु' आदि अनेक ग्रथ है। इनकी मृत्यु अयोध्या में सवत् १९६१ में हुई। आपका वसत वर्णन देखिए—

"चैत चंद चाँदनी प्रकास छोरि छिति पर, मंजुल मरीचिका तरंग रंग बरसौ।
कोकनद, किंसुक, अनार, कचनार, लाल, बेला, कुंद, बकुल, चमेली, मोती लरसौ।।
श्रीमति सरस स्याँम सुंदरी बिहार थल, 'लछिराँम' राजै ब्रुज आँनद अमर सौ।
यो ही ब्रज बागन बिथोरत रतन फैल्यौ, नागर बसंत रतनाकर सुघर सौ।।"

गोप भट्ट (गोकुल निवासी)

गोकुल निवासी गोप[1] कवि भट्ट परिवार के थे और चित्रकला तथा काव्यकला के मर्मज्ञ थे। कई नरेशो के दरबार मे भी आप समानित हुए थे। आपका जन्म सवत् १६०० से कुछ पूर्व हुआ था और आप लगभग ६५ वर्ष की अवस्था मे स्वर्गवासी हुए। वल्लभ-सप्रदाय मे आप अपने समय के सर्वमान्य कवि थे। आपका एक सवैया यहाँ दिया जाता है—

"चपक काँनन मध्य हरी तट, ता मधि वेख बिरंच हू भूलौ।
सुक-सँनकादिक, नारद, सारद, ब्यासहु के मुख जात न हूलौ।।
ता छबि को कवि 'गोप' कहै, बड़वानल होइ रह्यौ अँनुकूलौ।
भक्तन के हित बल्लभ को मुख, पावक-पुंज में पंकज फूलौ।।"

लाल बलवीर

इनका जन्म नाम बद्रीदास था और यह वृदावन निवासी अग्रवाल वैश्य थे। आपकी तवाकू की दूकान थी। पढत-समेलनो में लाल वलवीर जी बडे उत्साह से भाग लेते थे। आपकी कविताएँ बहुत अधिक है। आपका ग्रथ 'ब्रज-विनोद-हजारा' बहुत समय पूर्व मथुरा के श्यामकाशी प्रेस से छप चुका है, जो अब अप्राप्य है। आपका एक 'राधाष्टक' भी छपा था। इधर ब्रज-साहित्य-मडल की शोध में भी आपकी 'वाल-विनोद-पचीसिका' मिली है।

✓ राधिका जी के आप अनन्य भक्त थे और पहलवानी का आप को बडा शौक था। आपकी मृत्यु को लगभग ३० वर्ष हो चुके है। आपने अपना परिचय एक छंद में यो लिखा है—

"बावा वनखंडी महादेव जग जाहिर है, ब्यासजू को घेरो सो अनूप छबि छायौ है।
चारो ओर सदैन बने है लाल-लाडिली के, चंद से दुचद तेज दिव्य दरसायौ है।।
सदाँ ब्रजबासी रूप माधुरी निहारी करे, और सो न काँम स्याँम-स्याँमा-गुँन गायौ है।
'लाल बलवीर' नाम लै-लै सब टेरत है, राधिका-कृपा सो बास वृंदावन पायौ है।।"

नवनीत जी चतुर्वेदी (स० १६१५ से १६७६ तक)

श्री नवनीत जी का स्थान आधुनिक ब्रजभाषा-काव्यकारो मे बहुत ऊँचा है, परतु उनकी रचनाओ का कोई ऐसा सग्रह प्रकाशित नही हो पाया है जिससे उनके कमनीय काव्य का ठीक स्वरूप सामने उपस्थित हो। नवनीत जी ब्रजभाषा के रस-सिद्ध कवि थे। कहते है कि काशी कवि-समाज में आपने किसी विषय पर एक वार चालीस कवियो की बोलती बद कर दी थी। जिस पर प्रसन्न होकर काँकरौली नरेश गो० वालकृष्णलाल जी ने आपको "कवीद्र" की उपाधि दी थी। विदेशी विद्वान डाक्टर ग्रियर्सन व मैक्समूलर ने स्वय नवनीत जी के घर जाकर आपसे काव्य-रस का आस्वादन किया था। नवनीत जी की कविता से प्रभावित होकर तत्कालीन मथुरा के जिलाधीश 'फीमेटल' ने भी आपको एक स्वर्णपदक प्रदान किया था। नवनीत जी का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला ५ सवत् १६१५ व मृत्यु आषाढ़ पूर्णिमा सवत् १६७६ में हुई। आपका गणगज-वसत का एक रूपक यहाँ उद्धृत करते है—

[1]. ब्रज में इस नाम के दो कवि हुए है—प्रथम है आप और दूसरे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के अभिन्न मित्र "राव कृष्णदेवशरणसिंह" जो उपनाम -'गोप' कवि। ये दोनो ही अपने समय के ब्रजभाषा-कवि-भूषण थे।

"लागत पौन-प्रमान पात ज्यों कान हला में।
कोमल सुंड रसाल, मौर इक दंत ललामें।।
गुंजत भौर विहंग छुद्रघंटिका बजाई।
चार भुजा सोई गध, थोद सरसो सुखदाई।
'नवनीत' चरन बंदत जुगल, गुल-गुलाब के मोद में।
खेलत वसंत गनराज ए, बन गिरजा की गोद में।।"

भोलाराम 'भंडारी'

भोलाराम जी भंडारी का जन्म संवत् १६१४ के लगभग हुआ था और आपकी मृत्यु संवत् १६६० के आस पास हुई। भंडारी जी अत्यंत ही विनयी और भगवद्भक्त थे। आपने ६५ वर्ष निरंतर मथुरा में भगवान् द्वारिकाधीश जी के मंदिर में भंडारी पद को सफलतापूर्वक निबाहा। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। भंडारी जी प्रसिद्ध कवि तो थे ही, आपकी स्मरण-शक्ति भी गजब की थी। एक-एक विषय के सहस्रों प्राचीन कवित्त-सवैया आदि आपको कंठस्थ थे। उनकी इस विलक्षण प्रतिभा के कारण ही कविरत्न नवनीत जी ने उन्हें 'कविता का कोष' कहा था—

"छंद कवित्त अनेक विधि, राखत अपने पास।
पद-रचना रस-भक्ति की, करत सदा परकास।।

❀

राखत है थैली पद छंद औ प्रबंधन की रतन अमोल, नवरस के अदोष हैं।
अलंकार पूरन, रीति, ओज, माधुरी, प्रसाद, कंचन रजत, पद पूरन संतोष हैं।।
नायिकादि भेद, प्रस्तारादिक लेन-देन, करत विसेष साहूकार के जोष हैं।
उदर की कोठी में भरे हैं सब्द-सिक्का घने, भोला जू भंडारी मनो कविता के कोष हैं।।"

यहाँ भंडारी जी द्वारा रचित उनके 'होली वर्णन' का एक छंद दिया जाता है—

"खेलन नवेली गई साँवरे सुजान जू सों, छबि सो छबीली खेली बेंदी दुति भाल की।
मोहन कौ संग भयौ, रंग रह्यौ खेल बीच, जाँमिनी कौ अंत भयौ, भौंन सुधि हाल की।।
बसन उतारि डारे, झारि डारे केस सबै, मोती पोंछि डारे नथ मूरति रसाल की।
कंचुकि के बंदन ते छार कँ दियौ है रंग, अलिन कपोल गाढ़ गरद गुलाल की।।"

यद्यपि भोला जी आज इस संसार में नहीं रहे, परंतु उनके सुपुत्र श्री लाडिलीलाल जी भंडारी एक कुशल कवि और भागवत के अच्छे व्याख्याता हैं।

नारायणदास 'सेंगरिया'

सेंगरिया जी का जन्म वैशाख संवत् १६०१ विक्रमी में हुआ और मार्गशीर्ष, संवत् १६६६ में आप स्वर्गवासी हुए। आपके पिता का नाम 'खुशालीराम' था। आप सनाढ्य ब्राह्मण थे। सेंगरिया जी ब्रजभाषा के प्रख्यात आशुकवि थे। इनकी कविता 'कविजीत' या 'नारायण' नाम से हुई है।

आप कविताओं को प्रकाशित कराने के पक्ष में नहीं थे। अतः उनकी रचनाएँ केवल उनकी ही शिष्य-मंडली को स्मरण हैं। आप गिरिराज जी के अनन्य भक्त थे और गोवर्द्धन में ही निवास करते थे। इसी संबंध का एक छंद यहाँ उद्धृत करते हैं—

"बरुन-कुबेर सेवें, भूमि-गिरि-मेरु सेवें, रंभा-उमा हेरि सेवें सुमन सुमंगला।
गिरिजा-गनेस सेवें, सारदादि सेस सेवें, नारद-महेस सेवें गावें गति छंदला।।
बुधजन धीर सेवें, 'नाराइन' बीर सेवें, सकल अहीर सेवें, ध्यांन मत मदला।
सुर-सिरताज सेवें, नंद महाराज सेवें, सेवें ब्रजराज राज गिरिवर को कंदला।।"

प्रेमी जी (मुखराई-निवासी)

श्री प्रेमी जी मथुरा जिले के बडे प्रसिद्ध कवि हो गये हैं, उन्हे अन्य कवियो के भी सहस्रो छद याद थे। इन छदो को एक बार लिखने का प्रयत्न भी ब्रज-साहित्य-मडल की ओर से हुआ था और उसकी व्यवस्था हो ही रही थी कि अचानक ९० वर्ष के वयोवृद्ध श्री प्रेमी जी की मृत्यु सवत् २००४ में हो गई।

भारतेदु-युग

भारतेंदु हरिश्चद्र (जन्म संवत् १९०७ व अवसान सवत् १९४२)

भारतेदु हरिश्चद्र हिंदी-काव्याकाश के ऐसे उज्ज्वल नक्षत्र है, जिनकी शीतल चद्रिका से प्रत्येक हिंदी प्रेमी का मन कुमोद सदैव विकसित है। उन्होने यद्यपि गद्य के क्षेत्र में खडी बोली को स्थिर किया, परतु काव्य-भाषा के रूप में उनके रसिक हृदय ने अत तक ब्रजभाषा का साथ नही छोडा। वह युग-निर्माता महापुरुष थे और आज के ब्रजभाषा-काव्य पर उनके व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव पडा है। भारतेंदु जी ने ब्रजभाषा को भाषा की दृष्टि से परिष्कृत करके उसके उस रीतिकालीन स्वरूप को सम्हाला जो जनता से दूर होता जा रहा था और उसको पुन जनता के लिये हृदय-गम्य बनाया। उन्होने कविता को पहली बार नये विषय दिये और कविता-कामनी को नायिका के केश-पाश के बधन से मुक्त किया।

"आवहु सब मिल रोवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दसा, न देखी जाई ॥"

या—

"अंग्रेज-राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात, यहै अति ख्वारी ॥"

जैसी बात कह कर उन्होंने ही कवि को समय के साथ चल कर ससार को या स्वदेश को अनुभूतिपूर्ण नेत्रो से देखने के लिये नेतृत्व प्रदान किया और उसे कल्पनाकाश का व्योम-विहारी पक्षीमात्र बन जाने से बचाया। इसके अतिरिक्त भारतेदु जी ने कवियो के निर्माण मे भी बडा योग दिया। वह सच्चे गुण-ग्राहक थे और अपने समय के कुशल कलाकारो को मान, धन और हार्दिक प्रेम-प्रदान करके उन्होंने उन्हें हिंदी की सेवा के लिये तैयार किया। कवियो को प्रोत्साहन देने के लिये ही आपने 'कवि-वचन-सुधा पत्रिका' निकाली और 'कविता-वर्द्धनी सभा'[1] की स्थापना की। खेद है कि भारतेदु-जी का भौतिक शरीर बहुत कम समय तक ही हमारे बीच रहा और वह अपनी अल्पायु में ही स० १९४२ में हिंदी-जगत को अनाथ छोड कर चल बसे, परतु अपने यश शरीर से वह सदा ही माता नागरी के मानस-हस पर आसीन रहेंगे। भारतेदु जी अपनी छोटी-सी आयु में ही हिंदी का जो कार्य कर या करा गये, वह बहुत समय मे कई सस्थाओ-द्वारा भी होना सभव नही हुआ। वास्तव मे वह स्वय अपने आप में एक चलती-फिरती सस्था थे। उनकी कविताओ के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते है—

[1] भारतेंदु जी के समय कविता और समस्या-पूर्तियो की काशी नगरी केंद्र थी। भारतेंदु जी द्वारा संस्थापित कवि-सभाओ में गोष्ठियों की परिपाटी खूब पनपी। इन गोष्ठियो में भाग लेने वाले अग्रगण्य कवियों में पं० सुधाकर द्विवेदी, अंबिकादत्त व्यास, बाबू रामकृष्ण वर्मा, ब्रजचंद्र जी वल्लभीय, बेनी द्विज आदि थे। वर्मा जी इस समाज के मंत्री थे। इस कवि-समाज में बाहर के भी बड़े-बड़े प्रसिद्ध कवि उपस्थित होते थे या डाक से ही समस्या-पूर्त्ति करके भेजते थे, जिनमें से निम्न नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—बाबा सुमेरसिंह, श्रीमती चंद्रकला बाई (बूंदी), बाबू शिवनंदन सहाय (सीहौर), गोविंद गिल्ला भाई (काठियावाड़), ठाकुर रामेश्वर बक्ससिंह (सीतापुर), कविराय लछीराम (अयोध्या) और श्री नवनीत जी चतुर्वेदी मथुरा।

"रचि बहु बिधि के वाक्य, पुरानन माँहि घुसाए।
सैव, साक्त, वैष्णव, अनेक मत प्रगट चलाए॥
बिधवा-ब्याह निषेध कियौ, बिभचार प्रचारयौ।
रोकि बिलायत - गमन कूप-मंडूक बनायौ।
बहु देवी-देवता, भूत-प्रेतादि पुजाई।
ईस्वर सो सब बिमुख किए, हिंदुन घबराई॥
अपरस, सोल्हा, छूत रचि, भोजन प्रीति छुड़ाइ।
किये तीन तेरह सबै, चौका चौका लाइ॥"

भक्ति-परक

"ब्रज के लता-पता मोहि कीजै।
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामैं सिर भीजै॥
आवत-जात कुंज की गलियँन, रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे-राधे मुख यह बर, मुँह माँग्यौ हरि दीजै॥"

शृंगार-परक

"बिछुरें पिय के जग सूनो भयौ, अब का करिऐ किहि पेखिऐ का।
सुख-छाँडि कें सगम कौ तुम्हरे, इन तुच्छन को अवरखिऐ का॥
'हरिचंद जू' हीरँन कौ व्यवहार कै, काँचन को लै परेखिऐ का।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यौ, उन आँखिन सो अब देखिऐ का॥"

भारतेंदु जी ने प्रकृति-वर्णन के साथ-साथ और सभी विषयो पर सुदर कविता की है, वह भक्ति-काल व रीति-काल के साथ वर्तमान-काल का सामजस्य करके कविता का सर्वांगीण-स्वरूप उपस्थित कर गए है।

राव कृष्णदेवशरणसिंह जी 'गोप'

गोप जी, भारतेदु जी के समकालीन और उनके निकटवर्ती मित्रो मे थे। आप भरतपुर के राजवश से सवधित थे। इनके बाबा 'दुर्जनसाल' ने राज-विप्लव-काल में एक बार भरतपुर राज्य पर अपने को आसीन भी कर लिया, किंतु सवत् १८८१ मे वह लार्ड 'एम्हर्स्ट' द्वारा पराजित कर दिये जाने पर ये प्रयाग में रहने के लिये चले गए। सन् १८६८ में काशी आ बसे। राव साहिब का सगीत मे भी दखल था।

कृष्ण के आप अनन्य भक्त थे और प्राय अपने यहाँ रासलीला कराया करते थे। जब काशी में कवि-समाज स्थापित हुआ तो आप भी उसके सदस्य हो गये। इनकी अधिकाश रचना 'हरिश्चद्र-चद्रिका' या 'हरिश्चद्र-मेगजीन' में छपी थी। इनके निबंधो का एक अश मिर्जापुर की 'आनद-कादबिनी' पत्रिका जिसका सपादन भारतेंदु जी की सखी (आप अपने को सखी ही कहा करते थे) प० बद्रीनारायण चौधरी करते थे—में भी छपा था। आपकी रचनाओ मे से 'प्रेम-सदेश', 'मान-चरित्र' हरिश्चद्र मेगजीन में तथा 'दोहावली' हरिश्चद्र-चद्रिका मे छपी थी। उदाहरण जैसे—

"प्यारी, मोहि अचभौ आयौ।
सुनि त्रिभुवन में कोऊ सर नहिं, देखत ही मन भायौ॥
तो पटतर औरहु कोउ कहुँ तें बिधि दूजौ सिरजायौ।
प्यारी भौ यै रह्यौ गयौ नहिं, यहि सुनि हौं उठि धायौ।
पूछि देखिऐ सखी संग मैं, जो मैं झूठ कहायौ।
'गोप' स्वामिनी भोरे जीकी, सब साँचो करि पायौ॥"

—मान-चरित्र, जनवरी सन् १८७४ की हरिश्चद्र मेगजीन से।

दोहावली

"बिवस करत आ धीन पुन, बैरी छ्, तवत लाज।
बैरिन यैं ब्रज मुरलिका, जारत जिय बेकाज॥
चलत चूँम ग्रीखँम तनयँ, तरुँन रहत छिन छाँहि।
तरफरात बाहर खरी, सोचत आपन नाँहि॥"

—हरिश्चंद्र-चंद्रिका संवत् १८७८ दिसंबर संख्या ६ से।

श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

प्रेमघन जी की अनुप्रासमयी ललित रचना भारतेंदु-मंडल में प्रसिद्ध थी। आप केवल काव्य-क्षेत्र में ही नहीं, वरन् जीवन के सभी क्षेत्रों में भारतेंदु जी से प्रभावित हुए। आपने 'आनंद-कादंबिनी' मासिक और 'नागरी-नीरद' साप्ताहिक प्रकाशित किया था। आप नागरी-प्रचार के पक्के समर्थक थे। प्रेमघन जी का जन्म संवत् १९१२ है और आपकी मृत्यु संवत् १९७९ में हुई। आपका अधिकांश जीवन 'मिर्जापुर' में व्यतीत हुआ। आपकी कविता का एक उदाहरण देखिये —

"बगियाँन बसंत बसेरों कियौ, बसिऐ तिहि त्याग तपाइऐ ना।
दिन काँम कुतूहल के जो बने, तिन-बीच वियोग बुलाइऐ ना॥
'घँनप्रेम' बढ़ाइ कें प्रेम अहो, बिथा-वारि वृथा बरसाइऐ ना।
चित-चैत की चाँदनी चाँह भरी, चरचा चलवे की चलाइए ना॥"

प्रतापनारायण जी मिश्र

प्रतापनारायण जी, भारतेंदु-मंडल के बहुत ही विनोद-प्रिय मस्त और सजीव महाकवि थे। आपने अपनी मन की मौज में सरस सवैयों से लेकर लावनियाँ तक लिखी हैं। मिश्र जी का जन्म संवत् १९१३ में और मृत्यु संवत् १९५१ में हुई। जहाँ आपने अपने को बेजोड़ निबंधों के कारण इतिहास में अमर किया है वहाँ कविता में 'हर गंगा' से लेकर 'गौ रक्षा', 'बुढ़ापा' आदि के सजीव वर्णनों के साथ देश की दुर्दशा पर भी निम्न प्रकार आँसू बहाये हैं—

"तबहिं लख्यौ जहँ रह्यौ एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटी को तरसत॥
जहाँ कृषी, बानिज्य, सिल्प सेवा सब माँहीं।
देसिन के हित कछु, तत्व कहुँ कैसहुँ नाँहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ रिन-भारन।
कहँ तिनकी धन कथा, कौन जे गही सधारन॥"

पं० नाथूराम जी शर्मा 'शंकर'

श्री शर्मा जी, प्रतापनारायण मिश्र जी के घनिष्ठ मित्र थे। आपका जन्म संवत् १९१६ में और अवसान १९८९ में हुआ। कवि समाजों में 'शंकर' जी की समस्याओं की सर्वत्र धाक थी और उनका सर्वत्र पगड़ी, दुशालों और पदकों से स्वागत होता था। आप ब्रजभाषा के रससिद्ध कवि थे, किंतु बाद में आप खड़ी बोली की ओर आकर्षित हो गये थे। आपका एक वियोग-वर्णन यहाँ दिया जाता है—

"संकर नदी नद नदीसँन के नीरँन की, भाप बन अंबर तें ऊँची चढ़ि जाइगी।
दोनो ध्रुव छोरँन लों पल में पिघल कर, घूँम-घूँम धरनी धुरी सी बढ़ि जाइगी॥
झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति, जारेंगे खमंडल में आग मढ़ि जाइगी।
काहू बिधि बिधि की बनावट बचैगी नाँहि, जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ि जाइगी॥"

ठाकुर जगमोहनसिंह

ठाकुर साहब का जन्म संवत् १६१४ और मृत्यु १६६० में हुई। आप भारतेंदु-परिवार के अग्रगण्य कवियों में से थे। आपने लौकिक के माध्यम द्वारा आध्यात्मिक प्रेम का भक्तिमय सुंदर वर्णन किया है। आलंबन के रूप में प्रकृति की नैसर्गिक छटा के सुंदर शब्द-चित्र भी खींचे हैं, उदाहरण—

"याही मग ह्वै कें गए, दंडक बन श्रीराम।
तासों पावन देस वह, विंध्याटवी ललाम।।
विंध्याटवी ललाम, तीर तरुवर सों छाई।
केतकि, कैरव, कुमुद, कमल सब रहे सुहाई।।
भन 'जगमोहनसिंह', न सोभा जात सराही।
ऐसौ बन रमनीक, गए रघुवर मग याही।।"

❀

"साल, ताल ौं तालवर, सोभित तरुन तमाल।
नव कदंब अरु अंब बहु, बिलसत निंब बिसाल।।"

लाला सीताराम बी० ए०

लाला जी का जन्म संवत् १६१५ ई० है। आपने कई अंग्रेजी ग्रंथों का और महाकवि कालिदास के तीनों काव्यों के सफल अनुवाद किये हैं। रघुवंश के अनुवाद का कुछ अंश यहाँ दिया जाता है—

"प्रिया फेरि अवधेस कृपाला। रच्छा कीन तासु तिहिं काला।।
व्रत में चले भाइ करि आगे। सेवक सेस सकल नृप त्यागे।।
इन केवल निज वीर्ज अपारा। मनु संतति तन रच्छन-हारा।।
कबहुँक मृदु तृन नोंचि खिआवत। हाँकि माछि कहुँ तनहिं खुजावत।।
जो दिस चलत चलत सोइ राहा। इहि बिधि तिहिं सेवत नरनाहा।।"

श्री राधाचरण जी गोस्वामी

विद्यावागीस गोस्वामी राधाचरण जी भारतेंदु-मंडल के प्रभापूर्ण नक्षत्रों में थे। आपका जन्म संवत् १६१५ है। गोस्वामी जी अपने संप्रदाय के आचार्य व वृंदावन के प्रमुख रईस थे। आप आरंभिक हिंदी-लेखकों में अग्रगण्य माने जाते हैं, परंतु गोस्वामी जी ब्रजभाषा के कुशल कवि भी थे। आपकी कविता पुस्तक 'नव-भक्त-माल' ब्रज-साहित्य-मंडल के हस्तलिखित-ग्रंथों की शोध में प्राप्त हुई है। इसमें गोस्वामी जी ने भारतेंदु जी की गणना नवीन भक्तों में करते हुए लिखा है—

"वनिज बस अवसंत धैर्ज, धीरज बपु-धारी।
चौंसठ कला प्रवीन, प्रेम-मारग प्रतिपारी।।
विद्या, विनय, विसिष्ट सिष्ट समुदाइ सभाजित।
कविता कल कमनीय कृष्ण-लीला जग प्लावित।।
कई लच्छ बाँनी भगतमाल उत्तरारध करन।
आवि-अंत सोभित भए, हरीचंद प्रात स्मरन।।"

शायद यह पुस्तक 'चैतन्य-चरितामृत' खंड २ के अंतर्गत प्रकाशित भी हो चुकी है।

पं० अंबिकादत्त 'व्यास'

व्यास जी का जन्म संवत् १६१५ में और मृत्यु संवत् १६५७ में हुई। आप आशु कवि थे और काशी की 'ब्रह्मामृत-वर्षिणी' सभा ने आपको 'घटिका शतक' की पदवी प्रदान की थी। आपने 'बिहारी' के दोहों पर 'बिहारी-बिहार' लिखा था, जिसमें बिहारी के प्रत्येक दोहे पर आपने 'कुंडलियाँ'

लिखी हैं। हिंदी के साथ आप सस्कृत के भी विद्वान् थे। खडी वोली पद्य में भी आपने 'कस-बध' लिखा था। एक कुडलिया यहाँ दी जाती है—

"मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तँन की झाँई परँ, स्यामँ हरित-दुति होइ ॥
स्यामँ हरित-दुति होइ, परत तँन पीरी-झाँई।
राधा हूँ पुनि हरी होत, लहि स्यामँलताई ॥
नँन हरे लखि होत, रूप रस रग अगाधा।
'सुकवि' जुगल छबि-धाँम, हरहु मेरी भव-बाधा ॥"

बाबू राधाकृष्णदास

आपका जन्म सवत् १९२२ में हुआ था और आप भारतेंदु जी के फुफेरे भाई थे। आपने भारतेंदु जी के काम को आगे बढाने मे वडा प्रयत्न किया। आप केवल कवि ही नही थे वरन् साहित्य के अन्य अगो मे भी अधिकारपूर्वक लेखनी उठाई है। 'रहीम' के दोहो पर आपने सरस 'कुडलियाँ' लिखी हैं। आपकी कविताओ का एक सग्रह भी 'राधाकृष्ण-ग्रथावली' नाम से निकला था, परतु अभी आपकी वहुत-सी रचनाएँ अप्रकाशित हैं। एक सवैया देखिये—

"मोहन की यह मोहिनी मूरति, जीय सो भूलत नाहिं भुलाए।
छोरँन चहत नेह कौ नातौ, कोउ विधि छूटत नाहिं छुटाए ॥
'दास जू' छोरि कें प्यारे हहा हमें, और के रूप पै जाइ लुभाए।
भूलि सकै अव कोन जिया, इन तौ हँसिकें पहिलें ही चुराए ॥"

व्रजचद्र जी वल्लभीय

वल्लभीय जी के कवित्त-सवैया भारतेंदु जी की ही टक्कर के होते थे। यहाँ तक कि कुछ छद तो 'व्रजचद' के स्थान पर 'हरिचद' करके लोगो ने वाद में हरिश्चन्द्र जी के नाम से ही प्रचलित कर दिये। इनका कोई ग्रथ अभी तक नही मिला। काशी के भारतेंदु-कालीन कवियो में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी एक समस्या पूर्त्ति यहाँ दी जाती है—

"आई मैं बिलोकिवे को दोऊ रघुबसिन को, माँनी नहीं कोऊ मुख लोगँन की हरकनि।
चकित निहार छबि थकित भई है गति, जकति भई हो सखि, ठाढी लगी तरकनि ॥
मधुराति मुख-श्री सहेलिन निहारत ही, दोऊ सुकुमारँन की लाली छबि छरकनि।
थरकँन लागी देह मेरी दोऊ काँनन में, एरी मीँनकेत के धुजा की देख फरकनि ॥"

पं० विजयानंद जी

आप बाबू 'रामकृष्ण' वर्मा के मित्र और सहयोगी थे। वर्मा जी को 'भारतजीवन' निकालने मे आपने वहुत सहयोग दिया, जिसमें इनके वहुत से छप्पय छपे हैं। व्रजभाषा के साथ आप संस्कृत मे भी कविता करते थे। एक उदाहरण देखिये—

"चुनि कें चूनरी हूं पहिरावत, भाव कौ जावक देति हूं पैंया।
आपने हाथँन पाटी सँवारि, सिंगार-सिंगार कें लेत बलैया ॥
कैसी भई कछु जान परै नहीं, 'श्री कवि' पूछे पै भावत हूंया।
जीवन नाथ की जीवन-मूरि यै, मेरिउ जीवन-मूरि हूं दैया ॥"

वर्तमान-काल

पं० श्रीधर पाठक

पाठक जी का जन्म सवत् १९१६ में व्रज के ही 'जोधरी' नामक ग्राम मे हुआ था, जो आगरा जिले मे स्थित है। इस कारण व्रजभाषा पर उनका जन्म जात अधिकार था। इसीलिये न्टी

बोली काव्य के प्रवृत्तको मे होते हुए भी पाठक जी की अधिक मार्मिक कविताएँ व्रजभाषा में ही है। पाठक जी ने नये शब्द, नये वाक्य-विन्यास और नये विषयो पर लेखनी उठा कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया और 'गोल्डस्मिथ' के 'डेजर्टेड विलेज' का व्रजभाषा मे 'ऊजड़गाँव' के नाम से सुदर अनुवाद किया। पाठक जी प्रकृति-वर्णन में बेजोड़ कवि थे और हिमालय प्रदेश की रमणीय शोभा को शब्दो में अकित करने में उनकी प्रवृत्तियाँ खूब रमी हैं। सरकारी कार्य से पेंशन लेकर पाठक जी अपने अंतिम समय में प्रयाग रहते थे, जहाँ सवत् १९८५ मे आपकी मृत्यु हो गई। आपके 'ऋतु-संहार' से वर्षा-वर्णन का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

"बारि फुहार भरे बदरा, सोई सोहत कुंजर से मतवारे।
बीजुरी जोति धुजा फहरै, घँन गरजँन सब्द सोई हैं नगारे॥
रोर के घोर को ओर न छोर, नरेसँन की-सी छटा छवि धारे।
काँमिन के मन कों प्रिय पावस, आयौं प्रियें नव मोंहिनी डारे॥"

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (जन्म सं० १९२२)

हरिऔध जी उन अमर महाकवियो में से है, जिन्होंने खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनो का ही काव्य क्षेत्र में समान रूप से प्रतिनिधित्व किया। 'प्रिय-प्रवास' और 'रस-कलश' यदि किसी अपरिचित के सामने एक साथ रख दिये जावें तो सहसा यह विश्वास नही होगा कि एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न धारणाओ में इतने अधिकार के साथ मार्ग दर्शन कर गया है। 'हरिऔध जी' ने अपने घर निजामाबाद में ही सिक्ख-सम्प्रदाय के महत 'बाबा सुमेरसिंह' की काव्य-गोष्ठी मे कविता का अभ्यास आरंभ किया था। तब से अपनी मृत्यु के अंतिम समय तक आप साहित्य-साधना में तल्लीन रहे। रस-कलश में आपने नायिकाओ को सामयिकता का पुट देकर कुछ नये रूप में चित्रित किया है। 'व्रज-साहित्य-मडल' पर हरिऔध जी का आरंभ से ही वरद हस्त था। मडल के द्वितीय दिल्ली-अधिवेशन में आपको 'ताम्रपत्र'-द्वारा सम्मानित किया जाना निश्चित हुआ था, परतु आपने सहज सकोच की प्रवृत्ति और स्वास्थ्य की खराबी के कारण उस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया। दुख है कि आप हाल ही में संवत् २००३ में इस संसार को त्याग कर गये। आपका जन्म वैशाख कृष्णा ३ सवत् १९२२ में हुआ था। उनका एक छद यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"बसि घरबार में बिसारै घर बारिन कों, घरी-घरी बीच घेर-घारँन के घेरे तें।
तँम में उजारौ किएँ उर कौ उजेरौ लहि, देखि जग-जीवँन के जीवँन कों नेरे तें॥
'हरिऔध' कहैं भेद खुलत अभेद कौ हैं, सारे फेर-फारँन तें मानस कों फेरे तें।
कानन के काँनन की बातँन कों कान करि, आँखिन की आँखिन कों आँख माँहि हेरे तें॥"

महापात्र—लाल जी

महापात्र लाल जी का जन्म विक्रमी सवत् १९१४ में 'असनी' जिला फतेहपुर में हुआ। ये व्रजेश जी के चाचा हैं और अच्छे कवि हैं। ये अवध के ताल्लुकेदारो में विशेष आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं और वहाँ उनका अच्छा सम्मान है। इन्होंने 'अस्विनी-चरित्र' 'षट्-ऋतु-विनोद' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। कविता का उदाहरण है—

"बरसैं घनस्याँम न कैधौं यहाँ, गति चाय चकोरँन की टरी है।
उड़े चातक, मोर, मलिंद किधौं, मति कोकिल, दादुर की अरी है॥
अब लों घर आए न 'लालजी' हा, घो बिरँचि न भूमि हरी करी है।
हर मारयौ मनोज कै फेरी छुटी, बिजुरी पै किधौं बिजुरी परी है॥

बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

आपका जन्म संवत् १९२३ में काशी में हुआ था। आपने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की और कई रजवाड़ों में उच्चपदो पर कार्य किया। आप पहिले अवागढ राज्य में सेक्रेटरी थे और बाद

में अयोध्या नरेश के निजी सेक्रेटरी रहे। अयोध्या नरेश की मृत्यु के उपरात आप उनकी महारानी के साथ रहे। रत्नाकर जी हिंदी-साहित्य-समेलन प्रयाग, नागरी-प्रचारिणी सभा काशी, रसिक-मडल व अन्य अनेक साहित्यिक-संस्थाओ से सबद्ध थे। ब्रजभाषा की आपने बडी सलग्नता से सेवा की है। आपने मौलिक ग्रथो की रचना तो की ही, साथ ही 'सूरदास' और 'नददास' के ग्रथो का सपादन करने की भी उनकी बडी इच्छा थी। सूरसागर के सपादन का कार्य बडी योग्यता से प्रारभ किया, किंतु आपका अवसान सवत् १९८९ मे हरिद्वार में हो गया और 'सूरसागर' के सपादन का कार्य अधूरा ही रह गया। आपकी काव्य-रचना के दो-एक उदाहरण जैसे—

"नद-जसुधा की अरु गाय-गोप-गोपिका की, बात बृषभान-भोनहूँ की जनि कीजियो।
कहै 'रत्नाकर' कहत सबै हा-हा खाइ, यहाँ के परपचँन सो नैंक ना पसीजियो।।
आँसू भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वै है हाइ, ब्रज-दुख-त्रास की न यातें साँस लीजियो।
नाँम को बताइ नैंन-नीर अवगाहि बस, स्याँम सो हमारी राँम-राँम कहि दीजियो।।"

❀

"छहरावति छवि कबहुँ, काहु सित सघँन घटा पर।
फबति फैलि जिमि जोन्ह-छटा हिंम प्रचुर पटा पर।।
तिहिं घँन पर लहराति, लुरति, चपला घँन चँमकै।
जल प्रतिबिंबित दीपि-दाँम, दीपति सी दँमकै।।"

लाला भगवानदीन

लाला जी का जन्म फतेहपुर जिले के बरवटा गाँव में हुआ था। लालाजी कुशल साहित्यकार और सफल अध्यापक थे। आपने छतरपुर सेंट्रल-हिंदू कालेज काशी तथा बाद में विश्व-विद्यालय काशी में भी अध्यापन का कार्य किया। दीन जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। आप कवि के अतिरिक्त एक कुशल लेखक, समालोचक और सपादक भी थे। 'हिंदी-शब्द-सागर' के सपादन में सहयोग देने के अतिरिक्त आपने गया की 'लक्ष्मी' पत्रिका का भी सपादन किया था। लाला जी खडी बोली और ब्रज दोनो मे ही सुदर रचना करते थे तथा उर्दू में भी 'रोशन' नाम से लिखते थे। समस्या-पूर्त्ति में भी लाला जी बडे सिद्धहस्त थे। आपका जन्म सवत् १९२३ में व मृत्यु स० १९८७ में हुई। आपकी प्रसिद्ध कविता 'श्री रामगिर्याश्रम' की कुछ पक्तियाँ यहाँ उद्धृत करते है—

"रितु बसंत तृन, तरु, बल्लिरि सब नव दल फूलँन छावें।
ज्यो सुकृती जन राँम कृपा ते सुख-सपति जस पावें।।
असँन सुच्चिकँन कोमल-दल-जुत, बिटप बल्लरी सोहैं।
दिनकर किरँन परस बिलकें अति जग-जँन-दीठिनि मोहैं।
कूजत पिक, गूजत अलि-माला, कलरव जन-मन मोहैं।
ज्यो उदार जन-द्वार सदाँ हीं, जय-जय धुनि-जुत सोहैं।
बनबासी खग मृग उमंग जुत दंपति-भाव जनावें।
जँननी जँनक होन की इच्छा, सब मन बसे बतावें।।"

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

'पूर्ण' जी का जन्म सवत् १९२५ में कानपुर में हुआ था। आप यहाँ की सभी साहित्यिक, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियो के केंद्र थे और वहाँ के प्रमुख वकीलो में भी आपकी गणना थी। पूर्ण जी ने 'रसिक-समाज' को नवजीवन देकर उसे जमा दिया। आपने सरस-शृगार के अतिरिक्त वेदात व ऋतुओ पर भी लिखा है। प्रकृति की सहज शोभा को हृदयगम करने और कराने में पूर्ण जी ने बडी सफलता प्राप्त की है। आप प्रकृति वर्णन की पाश्चात्य प्रणाली मे भी पूर्णत परिचित थे। इनकी

भाषा सरस, मुहावरेदार व व्याकरण समत होती थी। आपका निधन सवत् १९७२ मे हुआ। ससार की विविधता का वर्णन आपने एक छद में निम्न प्रकार किया है—

"कोऊ पाट ही के नीके अंबर जरी के सजे, कोऊ दु ख-मगेंन नगेंन दीन काया है ।
कोऊ स्वाद-पूरें खात विजन सुधा सो रूरे, काहू पै विधाता की न साग हू की दाया है ॥
कहूँ सोक छायौ, कहूँ आँनद को पायौ रग, कोऊ अति छु्द्र, कोऊ आसमान पाया है ।
'पूरॅन' विचित्र है चरित्र भूमि-मडल के, रॉमजी की माया कहूँ धूप, कहूँ छाया है ॥"

व्रजेश जी

व्रजेश जी का जन्म नरहरि वशीय व्रह्मभट्ट परिवार मे सवत् १९२८ में हुआ था। आपके पूर्वज महापात्र 'नरहरि' जी सम्राट् 'अकवर' के दरवारी कवि थे। महापात्र इन की परपरागत उपाधि है और इनका वश 'रीवाँ' नरेशो'-द्वारा बहुत समय से समानित है। आपने 'रसाग-निर्णय' नाम से एक रीति-ग्रथ तथा 'रमेश-रत्नाकर' और 'विश्वनाथ-भूषण' दो अलकार-ग्रथ लिखे है। अन्य ग्रथो में विरह-वाटिका, षात-शतक, सोरठ-शतक, रामायण आदि है। व्रजेश जी पद्माकरी शैली के कवि है, जो पुराने ठाठ के कवि है। अब सत्तर वर्ष से अधिक की अवस्थामें भी आप दाढी में खिजाब लगाते है। आप-द्वारा रचित एक नायिका का चित्र यहाँ दिया जाता है—

"सौरभिन सारी सेत, सोहत सुमन-हार, सारदा ते सुषमा सवाई उछरति है।
कहत 'व्रजेस' बैठी आदरस आठी करि, भा की, रॅगा को रग-रूप निदरति है॥
आर सों आँगुरी में चदन लगाइ चाइ, चित्र चारु गोलॅन कपोलॅन करति है।
आरसी सु छवि स्यांमा, आरसी करॅन स्यांमें, आरसी में मांनों जन्न आरसी भरति है॥"

आपने अपना परिचय स्वय यो 'गर्वोक्ति' मे दिया है—

"साहॅन के सुकवि महापात्र हरिनाथ जिन्हें, एक लच्छ दीन्हौं रॉम बाधव के रवि है।
वसज है तिनके 'व्रजेस' व्रजभाषाचार्ज, काव्याचार्ज, कोविद-महीपॅन में छवि है॥
जानें अलंकार-गूढ-तत्व-ध्वनि-भाव-भेद, छंद-रचना में दास-देव तें न दवि है।
आज है नवीन पै प्रवीन कविराज हॅम, वाघव-अधिराज के पुराने राजकवि है॥"

वलरामजी मिश्र 'द्विजेश'

द्विजेश जी बस्ती जिले के वर्त्तमान वयोवृद्ध व्रजभाषा-काव्यकारो में अग्रगण्य माने जाते है। हमें अत्यत खेद है कि अधिक जानकारी के अभाव में हम यहाँ चेष्टा करने पर भी उनके सबध में अधिक नही लिख सके।

सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार

पोद्दार जी का जन्म सवत् १९२८ मे हुआ था। सेठ जी व्रज की ऐसी अनोखी विभूति है, जिन्होंने खडी बोली और व्रजभाषा दोनो में ही समान रूप मे काव्य-रचना की है। तात्कालिक मे प्रकाशित होने वाले 'हिंदुस्थान' में आप की भी कविताएँ आचार्य द्विवेदी जी के साथ छपती थी। आपका भर्तृहरि-शतक' का अनुवाद भी 'हिंदुस्थान' मे ही क्रमश छपा था, जो व्रजभाषा का एक सुदर काव्य था। 'सरस्वती' (पत्रिका) मे आपकी खडी बोली की अधिकाश रचनाएँ छपी है। आपके 'काव्य-कल्पद्रुम' ग्रथ में आपके आचार्यत्व और कवित्व-शक्ति का यथार्थ रूप प्रकट हुआ है। सेठ जी ने इस ग्रथ में काव्य-सिद्धातो का पाडित्यपूर्ण विवेचन किया है और उन सिद्धातो को स्पष्ट करने के लिये अन्य कवियो के साथ ही अपनी स्फुट मार्मिक रचनाओ को भी उदाहरण के रूप में रक्खा है। बसत के प्रति कवि की एक उक्ति देखिये—

"अलि पुजन की मद गुजन सों, बन कुजन मजु बनाइ रह्यौ।
लगि अग अनग तरंगन सों, रति-रंग-उमग बढाइ रह्यौ॥

विकसे सर कंजन कंपित कै, रज-रंजन लै छिरकाइ रह्यौ।
मलयानिल मंद दसों दिस में, मकरंद अमंद बहाइ रह्यौ।।"

आप द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवियो मे माने जाते हैं। आपने महाकवि कालिदास के मेघदूत का समश्लोकी अनुवाद खडी बोली में बहुत सुदर किया है। उसका गद्यानुवाद भी हिंदी भाषा मे किया है, जिसमें ऐतिहासिक स्थानो का वृहद् विवेचन है। कालिदास की सूक्तियो के अनुकरण पर संस्कृत के अन्य कवियो द्वारा की गई रचना की तुलनात्मक आलोचना भी की है और 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' दो खडो में लिखा है, जो अत्यत पाडित्यपूर्ण है। अब बहुत वृद्ध हो जाने पर भी आप युवकोचित-उल्लास से साहित्य-सेवा में सलग्न हैं।

मिश्रबंधु

यद्यपि मिश्रबधु मुख्य रूप से समालोचक थे और वही उनका वास्तविक कार्य-क्षेत्र था, फिर भी अपनी सहज भावुकता-वश ब्रजभाषा काव्य रचना की ओर भी वह आकृष्ट हुए हैं। इनकी कविताएँ प्रभावपूर्ण और भाषा प्रौढ है। ओज, माधुर्य और प्रसाद तीनो गुण इनके काव्य में यत्र-तत्र अपनी-अपनी छटा देते हैं। डा० श्यामाबिहारी मिश्र तो सवत् २००३ में ससार को छोड ही गये थे, किंतु गत वर्ष प० शुकदेव बिहारी मिश्र भी स्वर्गवासी हो गये। आपका युद्ध-वर्णन-सबधी एक उदाहरण यहाँ दे रहे हैं—

"जब दगैं वर बंदूक गाजत मेघ सी तिहिं ठौर।
तब निकसि पावक-ज्वाल तिनसो चलै अरि की ओर।।
मनु धारि रूप कराल दारुन वीर-गँन को कोप।
रिपु ओर धावत तेज तिन्हकौ, गुँनत करिबे लोप।।"

राजा रामसिंह जी सीतामऊ नरेश

राजा रामसिंह जी उन अध्ययनशील व्यक्तियो और कुशल कवियोमें हैं, जिन्होने हिंदी और संस्कृत दोनो में ही सरस रचना की है। आपकी कविताओ को देखकर प्राचीन रीति-कालीन-कवियो का स्मरण हो आता है। विज्ञान और ज्योतिष में भी राजा साहब को बडी रुचि है और इन विषयो पर भी आपने लिखा है। राजा रामसिंह जी का जन्म सवत् १९३६ में हुआ था और आप सवत् २०५७ में गद्दी पर बैठे। आपकी कविताओ का सग्रह 'मोहन-विनोद' नाम से छपा है। आपके दोहे उच्च कोटि के होते हैं। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। जैसे—

"नैंन बिहीनो नेह है, यहै जथारत बात।
ना तौ क्यो न चकोर कौं, बिधु कौ अंक लखात।।
जांनत हरि की बाँसुरी, उर छेदँन की पीर।
फिर तू मो उर छेंदिबे, हा क्यो होत अधीर।।
तव मूरति की लटक नित, अटकि रही इन नैंन।
जिहिं ढूँढन भटकति फिरी, पटकि सीस दिन-रैन।।"

वचनेश जी

आप ब्रजभाषा के प्रसिद्ध और पुराने कवि हैं। पहिले आपकी कविताएँ प्राय 'सुकवि' मे प्रकाशित होती रहती थी। कालाकाँकर नरेश महाराज रमेशसिंह जी के यहाँ आप बहुत रहे है, जो स्वय ब्रजभाषा के एक मर्मज्ञ कवि थे। शृगार व सामयिक विषयो के अतिरिक्त आपने 'शबरी' नामका एक खड-काव्य भी लिखा है। उदाहरण—

"हाइ, हाइ आइ कै पराइ गयो प्यारी कहाँ, भागी तजि गेह नाँहि देह की सुरति है।
खोजै-खोजै खिरक खरीक कल धारै नहीं, कुंज-बँन-कूलँन-कछारँन भ्रमति है।।

बूझै तरु-बेलिन, अरुझै मृग-वृ दन सो, जित को डुलत पात, तित ही को धावति है।
टेरति मुरारी चोंकि हेरत खरक सुनि, छाँह सो सुमति करि रोवति-हँसति है॥"

लाला किशनलाल जी (कृष्ण कवि)

किशनलाल मथुरा के प्रसिद्ध कवि तो थे ही शतरंज के भारत-विख्यात खिलाड़ी भी थे। शतरंज खेलने के लिये आपको दूर-दूर से बुलावे आते थे और आपने बहुत से अंग्रेजो और अन्य विदेशियो को भी शतरंज में हराया था। आपका जन्म संभवत संवत् १६३१ में और मृत्यु लगभग १९९० के आस-पास हुई। मथुरा के प्रसिद्ध सेठ 'राधाकृष्ण जी पोद्दार' आपकी प्रतिभा से बहुत प्रभावित थे और उन्ही के कारण वे आर्थिक चिंता मे सदा मुक्त रहे। आपने कई ग्रंथ लिखे जो अब नही मिलते। बहुत समय हुआ आपके दो बहुत छोटे-छोटे ग्रंथ 'गजेंद्र-मोक्ष' तथा 'कृष्ण-कवितावली' छपे भी थे।

कवि-किशनलाल जाति के माहौर वैश्य थे और आपके पिता का नाम सालिग्राम था। आपने अपने परिचय में दो दोहे लिखे है जो आपकी सरल हृदयता के परिचायक है—

"लरिकाई तें आज लों, कियौ नहीं कछु काज।
द्वै विद्या बस सीख लीं, काव्य और सतरज॥
'महादेव' सतरज के, काव्य-गुरु 'नवनीत'।
इन दोउंन सिच्छा दई, राखि पुत्र-सँम प्रीत॥"

आपकी खंडिता नायिका का एक उदाहरण लीजिये—

"आए भोर उठिकैं बिताई प्रिय रैंन कहाँ, आलस उँनीदे दृग लाजँन सो छूटी है।
अंजन अधर छवि देत मँनो नीलँम की, जावक लिलार प्रभा माँनिक की तूटी है॥
'कृष्ण कवि' कहै माल बिन-गुँन मुकतँन की, ठौर-ठौर अंजन में राजत बुटूटी है।
साँच कहि दीजै हा-हा नेंक ना दुराव कीजे, कौंन से नवीन जौहरी को हाट लूटी है॥"

वल्लभ सखा

आपका जन्म मथुरा में सन् १८६० ई० में और मृत्यु सन् १९३५ में हुई थी। वल्लभ जी जाति के मैथिल ब्राह्मण थे और आपके पूर्वज सदूरपुरिया सरसव (जिला दरभंगा) के निवासी थे। इनके पूर्वज श्री भगवानदत्त जी को भरतपुर नरेश श्री सूरजमलसिंह जी के समय वजह की जागीर भी मिली थी, जो बाद में छीन ली गई। तब से इनके पूर्वज मथुरा मे ही आकर बस गये।

वल्लभ जी अच्छे चित्रकार, गायक और कवि थे। श्री वियोगीहरि जी ने आपको 'ब्रज के धूल-भरे हीरे' बहुत ही ठीक कहा था। आपकी 'प्रेम-प्रीति-माला' नामक दोहो की एक भक्ति-रस पूर्ण पुस्तिका प्रकाशित हुई थी, किंतु शेष रचना अभी तक अप्रकाशित ही है। आपने शकुतला, देश, कादंबरी, रघुवंश, कृष्ण-जन्म, अभिमन्यु, रुक्मणी-मंगल आदि नाटक भी लिखे थे, जिनमें से अधिकांश अब अप्राप्त है। आपका एक गीता का सुंदर अनुवाद भी आपके सुपुत्र के पास सुरक्षित है, जो स्वयं एक भावुक व्यक्ति और सहृदय कवि है। यहाँ आपकी कविता के दो उदाहरण उपस्थित कर रहे है—

"श्री राधा राधा रटें, अलिन अगार-अगार।
तै देखी मेरी कहूँ, प्यारी प्राँनाधार॥"

"प्यारी प्राँनाधारी तें निहारी है हँमारी कहूँ, कीरति कुँमारी सो सिधारीं रिसियाँन पै।
ओढ़ें नील सारी, जाँमें जरद किनारी जरी, चंद-उजियारी मंद होत मुख-भाँन पै॥
'वल्लभ' बिलासी तू तौं वारिज वदँनँन कौ, विरँम रह्यौ है मोहि मृदु-मुसक्याँन पै।
भूलिहू तिहारो मति डोलती न मारी, जौ पै होती डीठ डारी तें पियारी अधरौंन पै॥"

सत्यनारायण 'कविरत्न'

'ब्रज-कोकिल' कवि-रत्न सत्यनारायण जी जैसी मधुर काकली उनके उपरात फिर आज तक नही सुनी गई। दुःख है कि उनका जीवन बड़ा विपिन्न था और वह आरंभ से अंत-तक अपनी विप-

मताओ से जूझते रहे। इनकी कविता मे सरसता, सरलता और अकृत्रिमता आदि से अत तक व्याप्त है। महाकवि रवीद्र भी आपकी मर्मस्पर्शी कविताएँ सुनकर मुग्ध हो गये थे। इनका जन्म अलीगढ जिले के सरॉय नामक ग्राम मे सवत् १९४१ मे हुआ था और बाबा रघुवरदासजी ने इन्हें आरभिक शिक्षा दी। घांघूपुर रहने पर आपने ब्रज के ठेठ निवासी होने के कारण इनके काव्य मे कही-कही ग्राम्य शब्दो के प्रयोग भी मिलते है। भगवान श्री कृष्ण के प्रति अनन्य निष्ठा आपके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। साथ ही कविरत्नजी के काव्य में समयोचित नव्य भव्य भावो की प्रचुरता विशेष है। 'भ्रमर-दूत' से आपका 'वृ दावन-वर्णन यहाँ उद्धृत करते है—

"पैहले कौ सौ अब न तिहारौ यह वृंदावन।
याके चारो ओर भए बहु-विधि परिवरतन।।
बने खेत चौरस नए, काटि घने बन-पुज।
देखॅन को बस रहि गए, निबबन सेवा-कुंज।।
—कहाँ चरि है गऊ।।
पहिली-सी नहिं या जमुना हूँ में गैहराई।
जल कौ थल अरु थल कौ जल अब परत लखाई।।
कालीद्रह कौ ठौर अहें, चॅमकत उज्जल रेत।
काछी-माली करत तहें, अपने-अपने खेत।।
—घिरे झाउँन सो।।"

आचार्य रामचद्र जी शुक्ल

हिंदी-साहित्य के अग्रगण्य आलोचक आचार्य प० रामचद्र जी शुक्ल से हिंदी-जगत भलीभाँति परिचित है। आचार्य शुक्ल जी का गहन अध्ययन और साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अगो का विश्लेषण करने की अनुपम सूक्ष्म-दृष्टि भी उनकी भावुक कल्पना और अनुभूति के वेग मे किसी प्रकार बाधक नही थी, यह उनके प्रसिद्ध काव्य 'बुद्ध-चरित' से प्रगट ही है। ब्रजभापा के अतिरिक्त शुक्लजी ने खडी बोली में भी थोडी कविता की है। आपका जन्म अगोना (जि० बस्ती में) सरयूपारीण गर्ग गोत्रिय ब्राह्मण परिवार मे आश्विन पूर्णिमा स० १९४१ को हुआ और काशी में जब आप हिंदू-विश्व विद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष थे, माघ शुक्ला ६ सवत् १९९७ को रात्रि के ८ बजे अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

यहाँ 'गौतम-बुद्ध' काव्य से चैत्र-पूर्णिमा की रात्रि मे कपिलवस्तु के राज-प्रासाद की एक झांकी उपस्थित की जाती है—

"छिटकी विमल बिस्राम बन पै, जामिनी मृदुता-भरी।
बासित सुगंध प्रसून परिमल सो, नछत्रन सो जरी।।
ऊँचे उठे हिमवान की हिम-रासि सो मन-भावनी।
सचरित सैल सुबायु सीतल, मद-मंद सुहावनी।।
चमकाय सु'गन चद चढि अब अमल अंबर पथ गह्यौ।
झलकाय निद्रित भूमि, रोहिनि के हिलोरन को रह्यौ।।
रस-धाम के बाँके मुडेरन पै रही द्युति छाय है।
जहँ हलत-डोलत नाहिं कोऊ कतहुँ परत लखाय है।।"

श्यामसेवक

आपका जन्म सवत् १९४८ मे हुआ था और आप 'मऊगज'—रीवॉ के निवासी तथा जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। आपने प्रेम-फौजदारी, ज्ञान-मजरी, कीर्ति-मुक्तावली, गृहस्थोपदेश, प्रेम-प्रवाह आदि कई ग्रथ लिखे है। प्रेम-फौजदारी का एक छद यहाँ उद्धृत है—

"झुती धरें गुंजन की माला, चहुँ दिसि प्रभा-पसार।
मोर-पखँन कौ मुकुट मनोहर, झुते सीस पर धारें॥
पटका पीत झुती कटि में, सुचि नटवर भेष बनाएँ।
अँनियारे नैनन्‌को काजर, सुंदर साज पिन्हाएँ॥
देखत ही राधा प्यारी कौं, दौर धरे वे नैंना।
बदल पैंतरा तिरछौंहि ह्वै, हन्यों राधिका सैंना॥"

रामाधीन, रीवाँ

आपका जन्म सवत् १९४१ मे एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार मे हुआ था। इनके पिता मुशी रामचरन लाल "मैहूर राज्य" के एकाउन्टेंट थे। सत्तरह वर्ष की अवस्था में ही रामाधीनजी ने 'सुदरकाड' की कथा कवित्त, घनाक्षरी आदि छदो मे लिखी थी। आजकल आप रीवाँ-नरेशके राजकवि हैं। ओरछा नरेश ने आपको 'अन्योक्त्याचार्य' की उपाधि प्रदान की है। रामाधीन जी के आठ ग्रथ अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। कृष्ण के श्याम होने का कारण आपने यो लिखा है—

"मचौ है विवाद ठाँव-ठाँवन में मेरी बीर, पुर प्रति गाँवन में सखि-सखियाँन में।
कहत बतात सबै लोग कृष्ण कारे भए, धारैं सीस सघन मयूर-पखियाँन में॥
रामाधीन' मेरी जाँन जब तें भए है स्याँम, प्रेम-प्रन-पालिबे की रुचि रखियाँन में।
जब तें बसायौ राधिका नें गरबीली निज, कुटिल-कटीली-कजरारी-अँखियाँन में॥"

पुरुषोत्तमदास 'सैयाँ'

सैयाँ जी मथुरा में ब्रजभाषा-साहित्य के मर्मज्ञ माने जाते हैं। आप एक कुशल कवि हैं और समय-समय पर आपने बहुत से स्फुट छद लिखे हैं। कविता में आपका उपनाम 'उत्तम' है। श्री नवनीत जी चतुर्वेदी से आपने पिंगल पढा था और श्री भोलाराम जी भडारी की प्रेरणा से उसमे प्रवीणता प्राप्त की थी। अब नेत्र-कष्ट के कारण आप लिखने-पढने में असमर्थ हैं, किंतु आपकी प्रसिद्ध-'साहित्यिक दुकान' आज भी साहित्य-सेवियो का प्रमुख केंद्र बनी हुई है। सैयाँजी अग्रवाल वैश्य है। आपका जन्म सवत् १९४२ में हुआ था। यहाँ आपका एक छंद उद्धृत करते हैं, जिसमें राजा विराट के नगर में बृहन्नला के वेष में छिपे हुए अर्जुन का उत्तम के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय का वर्णन है—

"कंकन करैन कटि, किंकनी विराज रही, धीरता विराज रही मन की उमग में।
'उत्तम' निहार बैंनी, सैंनी मृग-नैंनी रहीं, अँग की नसैंनी बाँन सोहत निखंग में॥
बीरी, पाँन, हार, जामैं बाँधि राखी तरवार, रथ के अगारी बैठ्यौ केसरी उमंग में।
हीजरा के ढंग में सुबीरता के रंग-रँग्यौ, उत्तर के संग जाइ पारथ यो जंग में॥"

नाथूराम माहौर

माहौर जी का जन्म झाँसी मे सवत् १९४२ में हुआ और वह ब्रजभाषा में सुदर काव्य-रचना करते हैं। इनकी बीर-बँधू, बीर-बाला, अश्रु-माल आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपके अप्रकाशित ग्रथो में रस-प्रवाह, षट-ऋतु-दर्शन छत्रसाल गुणावली, सूर-सुधा, द्रौपदी-दुकूल आदि तथा बहुत से स्फुट पद हैं। माहौर जी ब्रजभाषा के उत्साही सेवको में से हैं। आपकी ब्रजभाषा के प्रति अनन्य निष्ठा निम्न छदों से प्रगट है—

ब्रजनागरी-वंदना

"मधु भावनी है मधु-रासि दुहूँ, कवि को बरनैं गुन माधुरी के।
दुहूँ कोमल काति पदावली है, लख पकज लाजैं विभावरी के॥
मनमोहक है सुषमा में दुहूँ, निरखै उपमाँन बराबरी के।
ब्रज-नागर के मन माहि रमैं, पद बंदौं दुहूँ ब्रज-नागरी के॥"

ब्रजनागरी का शृंगार

"तुलसी भए भाग सुहाग के बिंदु, सु देव वृगंजन आगरी के।
कवि केसव अंग के राग भए, मुख-राग मे सूर उजागरी के।।
भए 'माहुर' पकज पाँइन के, मेंहदी कवि ग्वाल प्रभागरी के।
मतिराम, रहीम, बिहारी घँनानद, भूषँन मे ब्रज-नागरी के।।"

नवीबक्श 'फलक'

मुशी नवीबक्श 'फलक' दतिया के निवासी हैं। यही आपका जन्म १६५० मे हुआ था। आप ब्रज, ब्रजचद और ब्रजेश्वरीजी के अनन्य उपासक हैं। राम और कृष्ण दो ही आपके काव्य के अधिष्ठाता हैं और आपका काव्य भक्ति-रस से ओत-प्रोत है। आपने आज भी उस परपरा को जीवित बनाये रक्खा है, जिसके लिए भारतेंदु जी ने कहा था कि "इन ुसलमाँन हरि-जँनन पै कोटिक हिंदू वारिऐ"। आपके द्वारा रसखान जी की-सी वाणी आज भी प्रतिध्वनित हो रही है, फलक जी ने हाल ही में ७०० दोहो में 'फलक-सतसई' नामक ग्रथ तैयार किया है। यह काव्य अभी अप्रकाशित है। फलक जी की रचना का एक उदाहरण यहाँ देते हैं।[1]

"राधा राँनी के चरँन, गहौ वेगि ही जाइ।
बिगरे काज बनाइ लै, 'फलक' न वेर लगाइ।।"



"राज के भरोसें कोऊ, काज के भरोसें कोऊ, साज के भरोसें कोऊ, कोऊ बर बाँनी के।
देह के भरोसें कोऊ, गेह के भरोसें कोऊ, नेह के भरोसें कोऊ, कोऊ गुरु ग्याँनी के।।
नाँम के भरोसें कोऊ, ग्राँम के भरोसें कोऊ, दाँम के भरोसें कोऊ, कीरत कहाँनी के।
ब्रज है भरोसें सदाँ स्यामँ-ब्रजराज के तौ, 'फलक' भरोसें एक राधा-ब्रजराँनी के।।"

रामप्रसाद त्रिपाठी

डा० त्रिपाठी जी की वेषभूषा और रहन-सहन से यह तनिक भी भासित नही होता कि उनके हृदय में 'ब्रज-साहित्य' के प्रति अनुराग का एक प्रवल सागर तरगित हो रहा है, परतु त्रिपाठी जी स्वात सुखाय ब्रजभाषा का शृगार चुपचाप ही करते रहते हैं। आपका जन्म सवत् १६४६ मे मुजफ्फरनगर में हुआ था। १६७३ से प्रयाग मे इतिहास के अध्यापक थे और अब वे 'सागर-विश्व-विद्यालय' के उपकुलपति हैं। आपने इगलैंड जाकर 'डी० एस० सी०' की प्रशस्त उपाधि प्राप्त की और अपनी योग्यता की गहरी छाप वहाँ के अध्यापको पर छोड आये। आप कई भाषाओ के पडित हैं। 'अ०भा० ब्रज-साहित्य-मडल' ने अपने तृतीय शिकोहाबाद समेलन मे आपको अपना सभापति निर्वाचित किया था। आपकी ब्रजभाषा मे कविता बडी भावमयी है। जैसे—

"नैंन बुझाइ बुझाइ थके, अँनुराग की आग बरौई करै।
कोटि निरास कुठार चलें, तऊ प्रेंम की बेलि फरौई करै।।
नैंनन नीर बह्यौ करै पै, उर अतर नेह भरौई करै।
मोन रहै हिय हारि तऊ, रसना सब नाम ररौई करै।।"

ब्रजनदन जी 'कविरत्न'

श्री ब्रजनदन जी का जन्म सवत् १६४६ में जिला रायबरेली के मनुवामऊ ग्राम मे हुआ। आपके पिता रामधीन ने कोई सतान न होने के कारण ब्रज आकर श्री गिरिराज जी की परिक्रमा की,

[1]. दुख है कि गत वर्ष श्री फलक जी स्वर्गवासी हो गये।

जिसके कुछ ही दिन उपरात 'व्रजनदन' जी का जन्म हुआ। आप व्रजभाषा के बडे अनुरागी और काव्य-रसिक हैं।

व्रजनदन जी ने सवत् १९६९ से काव्य रचना आरभ की थी। आपका सर्वप्रथम छद यह है—

"मन-मोहन मोहि कें कूबरि पै, निज प्रेमिन सों मुख मोरिऐ ना।
जेहि प्रेम पियूष पियाएहु ताहि, वियोग के वारिध बोरिऐ ना॥
नित नेह कौ नातौ बढ़ाइ कियौ तरु, सो तिनका इव तोरिऐ ना।
व्रज-जीवन फेरि वसौ व्रज में, बिसवास में यों विस-घोरिऐ ना॥"

आप 'वरवै' लिखने में भी सिद्धहस्त हैं, 'वृ दावन-विरहनी-वरवै' के दो-चार नमूने यहाँ दिये जा रहे हैं, यथा—

"श्री वृंदावन दल-फल, थल-जल जोहि।
आवत सुधि सु स्याम-छल, पल-पल मोहि॥
बरवै[1] करि[2] वारत हैं, विरह दवारि।
बर वै[3] वारिद वरसौ, विनिमय वारि[4]॥
जदि बेला हिय बेला, हार पहार।
हार-हार हरि होत, ह्वै रही हार॥
वैजती जो आवें, व्रज व्रजराइ।
तौ मैं बिजै जयती, रमैहु सनाइ॥"

वियोगी हरि

वियोगी हरिजी का जन्म सवत् १९५३ है, आप 'व्रजमाधुरी' के अनन्य उपासक और एक भावुक जीव हैं। आजकल आप हरिजन-सेवा का कार्य कर रहे हैं और 'हरिजन-सेवक' के सपादक हैं। बीच में आपने साहित्य-क्षेत्र से सन्यास ले लिया था, परतु आप अब फिर से अपने पुराने कार्य-क्षेत्र में लौट आये हैं। आप 'व्रज-साहित्य-मडल' की मुखपत्रिका 'व्रजभारती' के सपादक भी रहे हैं। आपकी 'वीर-सतसई', 'प्रेम-शतक', 'प्रेम-पथिक' और 'प्रेमाजलि' उत्कृष्ट और हृदय-स्पर्शनी रचना है। 'वीर-सतसई' पर आपको 'मगलाप्रसाद-पारितोषिक' भी प्राप्त हो चुका है। आपके 'शूरवीर' वर्णन का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

"खंड खड ह्वै जाँय बरु, देत न पाछें पेंड़।
लरत सूरमाँ खेत की, मरत न छाँड़त मेंड॥
सहज सूर रन-सूर उर, चहिऐं चातक-चाह।
चहिऐं हारिल-हठ बहै, चहिऐं सती-उमाह॥
खल खडन, मंडन सुजन, सरल सुहृद सबिबेक।
गुन-गँभीर, रन सूरमाँ, मिलत लाख महँ एक॥"

हरदयालु सिंह

आप आजकल के व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में से हैं, आप सस्कृत ग्रंथों के भावों को व्रजभाषा छदों में इस प्रकार ढालते हैं कि छद में अनुवाद जैसी शिथिलता नहीं प्रतीत नहीं होती। आपका 'दैत्य-वश' एक मौलिक व्रजभाषा-काव्य है। आपको दैत्य-वश पुस्तक पर 'देव-पुरस्कार' प्राप्त हो गया है। 'दैत्य-वश' से 'लक्ष्मी' का स्वयवर-मंडप में आने समय का एक दृश्य देखें—

१. बेवर २. वरण करके ३. बरवै छद ४. पानी।

"ठाढी लजात तहाँ कँमला, न स्वयंबर-भौंन सकी पगु धारी।
भूषँन श्रौ सुषमा-छबि भारँन, जाति हूँ मानौ दबी सुकुमारी।।
मानस कौ घन हस कुमारि कौ, लै चलें तैसें चलीं सखी सारी।
लोचन देवँन के उरझे मग, कैसें धरै पग सिंधु-दुलारी।।"

डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल'

रसाल जी का जन्म मऊ (जिला बादा) में सवत् १९५५ में हुआ था। आजकल आप 'प्रयाग-विश्वविद्यालय' में अध्यापक हैं। आपने इस विद्यालय से 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त की है। रसाल जी योग्य लेखक और कुशल कवि भी हैं। आपके 'भ्रमरगीत' का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

"यह अवसर स्याँम-कथा कौ मिलौ, सो गयौ रसना की रलारली में।
कहिवे-सुनिवे की रही सो रही, इन बातँन ही की बलाबली में।।
मन-मौंन मलौंन भरे से परे, यहि ग्याँन की कोरी बलादली में।
मन भावती हू कहि जाते कछू, अब ऊधव ऐसी चलाचली में।।"

श्री अमृतलाल जी चतुर्वेदी

प० अमृतलालजी चतुर्वेदी आजकल के ब्रजभाषा के सरस कवियो मे अग्रगण्य हैं। आपके कमनीय कठ से ब्रजभाषा-काव्य की निर्झरिणी जब प्रवाहित होती है तो श्रोता मत्रमुग्ध-सा खडा रह जाता है। आपकी एक पुस्तक 'श्याम-सदेसौ' इडियन प्रेस से प्रकाशित हो चुकी है। चतुर्वेदी जी आगरा मे वकालत का व्यवसाय करते है।

प० रामदयाल जी (लोहवन निवासी)

आप मथुरा जिले के वयोवृद्ध कवियो में है, ब्राह्मण है। इस समय आपकी अवस्था ७० वर्ष के लगभग है, किंतु कवि-समेलनो में आप आज भी युवकोचित उत्साह से भाग लेते हैं। वीर और हास्य-रस के आप सिद्ध कवि हैं।

उमरावसिंह पाँडे (मैनपुरी)

ये मैनपुरी के जमीदार प० चिंतामणिजी के पुत्र हैं और खडी बोली व ब्रजभाषा दोनो मे ही रचना करते हैं। इनका जन्मकाल स० १९५९ है। मैनपुरी के माथुर चतुर्वेदी पुस्तकालय की स्थापना में आपका मुख्य हाथ रहा है। इनका एक छद देखिये—

"मोर-पखा राजत, विराजत उत चंद्रकला, वेसरि सुहाई उत बाँसुरी बनाई है।
बाँनिक बनायौ इतै कृष्ण जदु-नदन आज, उतै चंद-चंद्रिका सुनैनी चाव चाई है।।
पीत पट अंग फहरात झहरात उत चूनरी सुचारु चारु चित्रित जुन्हाई है।
गाल की गुराई 'उमराव' कवि गाई उतै मुख-मधुराई इत ललित लुनाई है।।"

अबिकेश

प० अबिका प्रसाद भट्ट 'अबिकेश' का जन्म सवत् १९६० वि० को रीवाँ में हुआ था। अबिकेशजी रीवाँ-नरेश के तो पुश्तैनी राजकवि है ही, आपको ओरछा नरेश और सरगुज्जा-नरेश ने भी अपना राजकवि बनाया। हिंदी-साहित्य-समेलन ग्वालियर, अखड-भारतीय-कवि-समेलन कानपुर तथा रीवाँ नरेश ने आपको 'कवि-मार्त्तंड' की उपाधि प्रदान की है। 'ज्योति' नाम से आपका एक कविता-संग्रह स० १९४१ में छपा है। आजकल आप विंध्य-सरकार के राजकवि हैं। आपका 'वीर-रस' का एक छद देखिये—

"जाकी ओर ताकत न ताकत रहत तामें, ताकत कहा है मुरि एक बार हेरें हैं।
पीठ ही दिखात ना दिखात फिर बीठि कबौ, भगें ऊँच-नीच भूमि भौंन ना निवेरें हैं।।

झूँमत मतंग से बिखात जुग क्रोध भरे, लीलि जैहैं विस्व लेत तीछन तरेरें हैं।
दुवन दरेरें दाबि कोल्हू सम पेरें घोर, प्रलै घन घेरें जब बीर दृग फेरें हैं।।"

प० रूपनारायण पाँडेय

माधुरी के यशस्वी सपादक प० रूपनारायण पाँडेय ने अनुवादो के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह सर्व विदित है। पाँडेय जी व्रजभाषा के सुकवि भी है। 'शिव-शतक' और श्री कृष्ण-महिमा' के अतिरिक्त आपने 'गीत-गोविंद' की टीका भी की है। पाँडेय जी का जन्म स०१९६० में हुआ था। आपकी कविता का एक नमूना यहाँ दिया जाता है—

"बुद्धि बिबेक की जोति बुझी, ममता-मद-मोह-घटा-घनी घेरी।
है न सहारौ, अनेकन है ठग, पाप के पन्नग की रहै फेरी।।
त्यौं अभिमान कौ कूप इतै, उतै कामना-रूप-सिलान की ढेरी।
तू चल मूढ़ सँभारि अरे मन, राह न जानी है रैनि-अँधेरी।।"

जगनसिंह सेंगर

ठा० जगनसिंह सेंगर अलीगढ जिले के प्रमुख साहित्य-सेवी हैं। आपका जन्म-स्थान सिकंदरा राऊ तहसील के गाँव राजनगर में सवत् १९६० को हुआ था। 'मुरली', 'झाँकी' और अभी हाल में किसान-सतसई नामकी आपकी तीन रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है। आप अच्छे लेखक और पत्रकार भी है। विद्वत्समेलन ने अपने वार्षिक अधिवेशन में आपको 'साहित्यालकार' व 'साहित्य-रत्न' की उपाधि प्रदान की है। आपकी 'किसान-सतसई' से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते है—

"नीचे स्यामल निरमला, ऊपर नभ नीलाभ।
पर दुख कातर, तप निरत, जयतु हली अभिलाभ।।
पटवारी, पतरौल अरु, पुलिस, पटैल प्रधान।
पंच प्रकार प्रपंच परि, पनप न सकत किसान।।
सुर-तरु, सुर-मुनि, सुर-सुरभि, जानहु सकल असार।
मेरे मते किसान ही, अभिमत फल दातार।।
विस्वभरा, बसुधरा, रसा, उरवरा, भूमि।
बनति बिनीत किसान कैं, बार-बार पद चूँमि।।"

रामलला—(जन्म सवत् १९६४)

व्रजकी उन गिनी-चुनी विभूतियो में रामलला जी का प्रथम स्थान है जिनके आकार-प्रकार, वेप-भूषा, बोल-चाल और काव्य-रचना सभी से व्रज-सस्कृति का स्वरूप नेत्रो के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। श्री रामलला मथुरा के सतीबुर्ज पर प्राय विजया और साहित्य की साधना में तल्लीन देखे जाते है। इस पवित्र ऐतिहासिक स्थल 'सतीबुर्ज' पर कवि रामललाजी ने एक उत्प्रेक्षा लिखी है जो यहाँ दी जाती है—

"कैधौं पूतना कौ एक उरज उतंग तुंग, स्याँम नें न पीयौ सोई बाकी रह्यौ ठीकौ है।
'लला कवि' प्यारे कैधौं भूमि-सुत ठाढ़ौ, लह्यौ अचल अनन्य ब्रत भाँनुजा रती कौ है।।
कैधौं भरतादिक कौ वीर रस भेलौ भयौ, प्रज्वलित तेज पै प्रखंड रवि ही कौ है।
पति-भगती कौ स्वाद लहत प्रेमी कौ कैधौं, कंस-नृप-स्त्री कौ नीकौ बुरज-सती कौ है।।"

जाति से आप सनाढ्य ब्राह्मण है। आपने 'द्रौपदी-दुकूल', 'वीर विक्रमाजीत' तथा 'मीरा-द्वादशी' नामक तीन ग्रथ तथा सैकड़ो स्फुट छद लिखे हैं। आपको प्राचीन कवियो के हजारो छद याद हैं। आपकी रचना के कुछ उदाहरण देखिये—

"जब तौ तिहारे नैंन देखत दुरे हे बीर, अब तौ तिहारे नैंन सैनन सजाए हैं।
'लला कवि' जब तौ तिहारे नैंन स्यामी रहे, अबतौ तिहारे प्रेम पगेन पगाए हैं।।

जब तौ तिहारे नैंन कंज हे, निरंजन हे, अब तौ तिहारे नैंन खंजैंन खिसाए हैं ।
जबतौ तिहारे नैंन लाजैंन लजाए भरी, अब तौ तिहारे नैंन नैंन नैंन छाए हैं ।।"

❀

"सुंनि ब्रजरांनी नेंदबारे की कहांनी, हूंम राखि-राखि हारी तोऊ राखैंन बचै नहीं ।
'लला कवि' प्यारे की अंनोखी करतूति, जिन्हें, भांति-भांति भाखें कहा भांखन बचै नहीं ।।
ताखैंन छिपाइ हारीं, ताखैंन लगाइ हारीं, औचक निकारैं रच चाखैंन बचै नहीं ।
जाखैंन सुजांन कांन्ह घर-घुसि आवै वीर, लाखैंन उपाइ किएँ मांखन बचै नहीं ।।"

सेवकेंद्र त्रिपाठी

आधुनिक ब्रजभाषा के श्रेष्ठ सुकवि श्री 'रामसेवक' त्रिपाठी 'सेवकेंद्र' का जन्म कार्तिक शुक्ला षष्ठी सवत् १९६६ को झाँसी में हुआ। आप के पिता पं० रामचरणजी तिवारी हैं। आपने अंग्रेजी एव मराठी-कविताओं का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया है। आपके मीरा-मानस, ताजमहल, सूरदास छत्रसाल आदि खडकाव्य अप्रकाशित हैं। बुंदेलखड और मध्यभारत के राजदरबारो में सेवकेंद्र जी का अच्छा समान है। यहाँ 'रास-पूर्णिमा' का एक छद उद्धृत करते हैं—

"उत सुधासर सुधाधरि बिलसत मजु, इत सुधाधर बर सुर कौ बिलासु है ।
उत मद चंद तारिकांन झिलमिल जोति, इत दृग-तारिकांन अमित उजासु है ।।
'सेवकेंद्र' सोरह कला कौ उत प्रांन दांन, सोरह सहस्त्र-कला कौ इत बिकासु है ।
उत नील अबर जुन्हैया कौ प्रकासु होत, इत पीत-अबर कन्हैया कौ प्रकासु है ।।"

गोविंद जी चतुर्वेदी

आप ब्रजभाषा काव्य के नवनीत कविवर नवनीतजी के पुत्र हैं। आपने अपने पिताजी से ही काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया है। आठ वर्ष की अवस्था में ही आप सुदर कविता करने लगे थे। सामवेद का आपने विधिवत् अध्ययन किया है और सस्कृत की शास्त्री-परीक्षा उत्तीर्ण है। आपको कांकरौली के गो० ब्रजभूषणलालजी ने स्वर्णपदक प्रदान किया था। आपकी कविता ओज से परिपूर्ण है। आपकी 'ब्रजवानी' पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। आपका जन्म-सवत् १९६९ आश्वनि कृष्णा १४ को हुआ था। आजकल आप 'ध्वन्यालोक' सस्कृत का सरस ब्रजभाषा में अनुवाद कर रहे हैं। उसी के दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

मूल

"पथिक नास्त्यत्र संस्तर मनागपि प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नत पयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ।।"

अनुवाद

"पथिक गाँव यै लेख, पथरीलौ कछु नहि लहत ।
उठे पयोधर पेख, जो बसिबौ चाँहउ बसहु ।।"

मूल प्राकृत

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अह दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्ति अंधअ सेज्जाए महणिमज्जहिसि ।।[1]

अनुवाद

"सोवत सास यहाँ अरु हो यहाँ, हूँ दिन देखिलै पथ अंनारी ।
'गोविंद' ढूंक घरीक के जात, झुकैगी निसा घँनघोर अँध्यारी ।।
चूक भएँ झुकि है गुरु-लोग, सुझावत हो यै बात बिचारी ।
एरे बटोही रतोधिया तू, परियो जनि आइकें सेज हमारी ।।"

[1]. ध्वन्यालोक १।४

रामनाथ ज्योतिषी

ज्योतिषी जी व्रजभाषा के एक कुशल कवि हैं। 'रामचंद्रोदय' काव्य पर आपको देव-पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। रामनाथ जी का जन्म भैरमपुर ग्राम में हुआ था। आजकल आप अयोध्या के राजकवि हैं। एक उदाहरण देखिये—

"कैधो अलु-जाल-माल मिथिला नगर की है, कैधो मिथिलेस के मनोरथ की माला है।
कैधो राम-रूप माँहि सागर सुमेर जुत, कैधों चाप-खंडन कौ सुजस निराला है॥
कैधो मंद-भूपँन के माँनस-कँमल-ऐंचि, गूथ हिय डारयौ हार 'जोतिसी' बिसाला है।
ताला प्रेम भौन कौ, विचित्र मन-माला किधो, वीरँन-बिजै की कैधो कंठ 'जयमाला' है॥"

रामचंद्र शुक्ल 'सरस'

आप डाक्टर रसाल जी के छोटे भाई हैं। आपका जन्म संवत् १९६० में हुआ था। 'सरस' जी ने व्रजभाषा में 'अभिमन्युवध' नामक एक सरस 'खंड-काव्य' लिखा है। एक शब्द-चित्र देखिये—

"सुभट सुभद्रा-सुत वीरँन की भीरँन में, चारो ओर केसरी-किसोर लौ गाजै है।
'सरस' बखानें, देखि भीरि रिपु-बाँनन की, आँनन पै ओप लै सचोप कोप छाजै है॥
रंग बदरंग त्यौं बिपच्छिनि कौ ढंग देखि, रंग निज लेखि मंद-हास मुख राजै है।
रौद्र रस राच्यौ त्यौ भयानक सो भाज्यौ मनो, बीर-रस हास के बिलास में बिराजै है॥"

स्वर्गीय चौधरी लक्ष्मीनाराण सिंह 'ईश'

ईश जी काशी के निवासी थे। आपने अपने माता-पिता और गुरु के नाम क्रमशः पार्वती, शिवमंगल और 'रसमय-सिद्ध' ग्रंथ लिखें हैं। ईशजी ने 'लंका-दहन' नामक एक सुंदर काव्य लिखा है, जो 'काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित हुआ है। इस काव्य में आपने काशी में प्रचलित अवधी-मिश्रित व्रजभाषा को अपनाया है, फिर भी यह काव्य उच्च कोटि का है। हनुमान जी और मेघनाद के युद्ध का एक छंद देखिये—

"ऐंचि-ऐंचि पेचँन पै पेच बाँधि-बाँधि दोऊ, दावँन पै दाव कै कुदाव मै सँभाने जात।
छू टि-छू टि, जुटि-जुटि, दपटि-दपेट-जुति, लपटि-लपेटि कै चपेटि सँमुहाने जात॥
झपटि-झपटि कै झुकाइ झट झोकन सो, झार दै-दै अरझि, सुरझि बिरझाने जात।
आँने जात बिलग न चक्कर करत दोऊ, चक्कर सँभाल एक-एक मै अँमाने जात॥"

श्री राजेशदयालु श्रीवास्तव

आप लखनऊ के निवासी हैं और श्री गणेशदयालु श्रीवास्तव के सुपुत्र हैं। राजेश जी हरिस्मरण में ही अपना यौवनकाल व्यतीत कर रहे हैं। आपने व्रजभाषा में सुंदर भक्ति-रस से ओत-प्रोत काव्य रचना की है। 'श्याम-रसमयी, राजेश-सतसई, गौरांग-चरित्र, बालिका, राजेश-दोहावली' आदि आपकी अनेक सुंदर रचनाएँ हैं। राजेश जी कम लिखते हैं, परंतु जो लिखते हैं वह सुंदर लिखते हैं। इसका कारण आपने स्वयं एक सोरठे में लिख दिया है, जैसे—

"कहू बुध बैंनु ललाँमु, गुँन चाहिय, परिमाँनु नँहि।
गुँनँहि करो परनाँमु, गुँन परिमाँनो चाहियै॥
जो पै कलमु चलाइऐ, कबि जू कहो निहोरि।
कि तौ डारिऐ तोरि हीं, कि तौ डारिये तोरि॥
सँभरि चलौ साहित्य-मग, है काई कलि-काल।
ए सुख छँन के जाँनिएँ, बिनु मरजाद बिहाल॥
जातें भलौ कहूँ न सो, जाके भाउ न कोइ।
ताहू भाँखें कबि रतनु, पहिलौ मूरख सोइ॥

आता दोहा सोरठा, कविता के संसार।
सबै गुंननि-सिरमौर ए, सबै गुंननु-भंडार।।"

अनूप शर्मा

शर्माजी के पिता का नाम 'बदरीप्रसाद' त्रिपाठी है, जो स्वय व्रजभाषा के एक सुदर कवि हैं। अनूप जी सीतापुर के निवासी हैं। इनका जन्म सवत् १९५७ मे हुआ था। बहुत समय तक आप धामपुर में प्रधानाध्यापक रह चुके हैं। आप सनेही जी के शिष्य और वीररस के प्रमुख व्रजभाषा कवि हैं। अनूप जी की 'फेरि-मिलिबो' पुस्तक पर 'देव-पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। अन्य ग्रथो मे 'कुणाल' और 'सिद्धार्थ-चरित' उल्लेखनीय हैं। आपकी रचना का एक उदाहरण देखिये—

"नाँम रतनाँकर जथारथ परचौ है यातें, चौदहौ रतँन धारें सोहतै रहत है।
तरल तरगनि उमंगनि के सगनि सो, विस्व-मोहिनी कौ मन मोहतै रहत है।।
निखिल नदी-नद कौ निपुन निधाँन एकै, वोहित के वृंदनि बिमोहतै रहत है।
एहो कुंभजात, एतौ बारिधि बढचौ तौ कहा, रावरी कृपा की कोर जोहतै रहत है।।"

दुलारेलाल भार्गव

श्री दुलारेलाल लखनऊ के निवासी और हिंदी पुस्तको के प्रमुख व्यवसायी हैं। आपका जन्म सवत् १९५२ में हुआ था। 'माधुरी' और 'सुधा' के सपादक के रूप मे आपकी विशेष ख्याति रही है। महाकवि बिहारी के अनुकरण पर आपने 'दुलारे-दोहावली' नामक पुस्तक की रचना की है, जो इनकी प्रथम और अतिम रचना है। उस पुस्तक पर 'दुलारेलाल जी को 'देव-पुरस्कार' मिल चुका है। कुछ दोहे देखिये—

"पट, मुरली, माला, मुकुट, धरि कटि, कर, उर, माल।
मंद-मंद हँसि बसि हिएँ, नंद-दुलारे-लाल।।
हो सखि सोसी आतसी, कहति साँच ही साँच।
बिरह-आग लाई इती, तऊ न आई आँच।।
बिन विवेक यो मन भयौ, ज्यो बिन-लंगर पोत।
भ्रमत-भ्रमत भव-सिंधु में, छिन न कहूँ थिर होत।।
होइ सयाँन अयाँन हू, जुरि गुनवाँन सँमीप।
जगमग एक प्रदीप सो, जगत अँनेक प्रदीप।।"

श्री रामलाल श्रीवास्तव 'लाल'

आप जिला गोरखपुर के निवासी हैं और 'सुकवि-मडल' गोरखपुर के प्रमुख कवियो मे से हैं। 'लालजी' ने खडी बोली में भी लिखा है और आपकी 'काव्य-मौरभ' और 'विभावरी' प्रकाशित हो चुकी हैं। व्रजभाषा मे आपकी 'राधारमन-विनोद' प्रकाशित हुई है। आप 'किसान-सदेश' नामक पत्र के सपादक भी हैं। आपकी कविता का उदाहरण जैसे—

"तरनि-तनूजा-तीर हेरि हरि रावरे को, पारावार पावरे पै पाव परिबौ कहा।
कोमल कलित कँमला की केलि-कला पेखि, चचला चला पै चित्त-चोर धरिबौ कहा।।
बिरह तपाए पाइ सुलभ सनेहिन को, पागल-पपीहै पै बिचार करिबौ कहा।
एक घनस्याँम देह-गेह-नेह नातौ छाँरि, दूजौ घनस्याँम-मेह-माँहि तरिबौ कहा।।"

"व्रज में और विशेष कर मथुरा में व्रजभाषा के ही नहीं खडीबोली के भी ऐसे अनेक 'कवि' इस बीसवीं शती में हो गये हैं, जो—यदि उनकी असमय में ही मृत्यु न हो जाती तो व्रजभाषा के भंडार को अपनी-अपनी रचनाओ से अधिकाधिक भरते। इन प्रात स्मरणीय नाम-सूचीज में—"उस्ताद बिरजौसिंह, आपके शिष्य नत्थनलाल जड़िया, उस्ताद छीतूसिंह के अखाड़े के कवि, गुरू मनियाँ भट्ट,

और इन के शिष्य लाला नारायणदास, बाबू श्यामाचरण जी, सोहनलाल जी चतुर्वेदी, हीरालाल जी चतुर्वेदी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आप लोगों ने ब्रजभाषा की रीति-कालिक कविता ही नहीं अपितु खड़ी बोली में भी—ख्याल, लावनी, भगत (नोटकी), डडेशाही, लोक-गीत, संस्कृत की उपयोगी पुस्तकों के अनुवाद आदि अनेक सुंदर रचनाएँ कीं। भगत-नाटक-साहित्य तो मथुरा की वह अमर देन है, जिसने विकसित होकर अपने सौरभ से गोवर्धन, वृंदावन, मांट, राया, हाथरस, सासनी, अलीगढ़ मेंडू, आगरा, भरतपुर आदि अनेक ज्ञाताज्ञात स्थानों को भर दिया—उन्हें सुवासित कर दिया। वर्तमान समय में भी कभी-कभी इसकी हिलोर समय-असमय आकर अपनी मधुरता से रसिक हृदयों को भर जाती है—मन को मतवाला बना जाती है। उदाहरण रूप—"उद्धव लीला" का स्वांग है, जो अभी-अभी मथुरा के कसेरट-कटरा में बड़े ठाठ से खेला गया था। अस्तु, भगत-साहित्य का अपना अनोखा इतिहास है, जो रोचकता के साथ-साथ मधुरता से भी भरा हुआ है। साथ ही—

"कागद थोरौ, हित घनों"

को बार-बार याद दिला रहा है, फिर भी 'श्री हीरालालजी' चतुर्वेदी की रीति-कालिक एक कविता यहाँ उद्धृत कर रहे हैं, यथा—

"मन-हिं मनमोहन मधुर मुसिक्याउ कहा, बैठी उत मानिनी सो मान-सर-मूले हौ।
फबन-फबीले फल पाउगे किए कौ आज, कहौ मन-भावते, सु कौन मन-फूले हौ॥
सुकवि 'रसिक' तेरी अब ना गरेगी दार, परि-परि पाँइन जो मनाउ मन-सूले हौ।
अब का करिहौ सो बताउ ना गुपाललाल, "कौन प्रेम-बेलिनि अमर प्रान भूले हौ॥"

यह आपकी 'समस्यापूर्ति' मथुरा के सुप्रसिद्ध रीति-काल के अंतिम मधुर कवि स्व० श्री नवनीतजी द्वारा स्थापित 'कवि-समाज' में पढ़ी गयी थी। हीरालालजी की बारह खड़ी—

"कक्का कहि कृष्ण-कृष्ण गाओ प्यारे।"

जो 'कालाकाँकर' (अवध) के राजा श्री रमेशसिंह जी द्वारा प्रशंसित होकर वहीं मुद्रित हुई थी, इतनी प्रसिद्ध है—भजनीकों में इतनी प्रातःस्मरणीय बन गयी है कि उसकी हर समय माँग बनी रहती है। इस अतीत की झाँकी के बाद ब्रजभाषा के वर्तमान कवियों में भी इस लेख में आये हुए कवियों के अनंतर अनेक कवि रह गये हैं, जो ब्रजभाषा के उत्तम कवि हैं और उसकी उन्नति में बराबर संलग्न हैं। इन में कम से कम—विठ्ठलवेचजी चौबे, गोपालप्रसाद व्यास, गोपालदत्त एम० ए०, नागर-बंधु और ब्रजभाषा की 'जीती-जागती लायब्रेरी "सैयाँ"—ला० पुरुषोत्तमदास के सुपुत्र चुन्नीलाल 'शेष' को नहीं भुलाया जा सकता। शेषजी ने तो अभी-अभी एक अनूठी रचना—'लक्ष्मी-स्वयंबर' नाम से प्रस्तुत की है, जो कि भाषा, भाव, अलंकारादि भाषा के जितने भी गुण हैं, उन सबसे ओत-प्रोत है।"



ब्रजभाषा और मुसलमान कवि-गण

श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी

विभूतमती ब्रजभाषा में मधुरता, मृदुता और सरसता उसके सुदर बाँकपन के साथ जन्म-काल १२ वी शती से ही भर गई थी, जब कि वह डिंगल के पलडे पर तुलकर 'पिंगल' नामसे अवतीर्ण हो चुकी थी, पर उसका सच्चा निखार 'सूर-समय' (१६ वी शती) में ही हुआ। इस समय उसे—"नंददास (अष्टछाप) जैसे 'जड़िया', 'स्वामी हरिदास' और 'गोविंद स्वामी' जैसे वीत रागी संगीत-सम्राट्, 'रहीम' जैसे गुण-ग्राहक, रस की खान 'रसखान' जैसे प्रेमी-भक्त, 'आनंदघन' जैसे आन के पक्के और 'रसलीन' जैसे सुमधुर सूक्तिकार जिनकी यह रस-निर्झरणी सूक्ति—

"अमी, हलाहल मद-भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुक-झुक परत, जिहिं चितवत इक बार॥"

आज भी मरु-हृदयो में रस का संचार कर बरबस अपनी ओर खीच लेती है—मिले। ब्रजभाषा का यह समय (१६ वी शताब्दी) स्वर्ण-युग था। वह मुगल सम्राट् अकबर जैसा सहायक पाकर दिन-दिन फलती-फूलती गयी। उसने अनेक मुसलमान कवि-हृदयो को जिनकी एक लंबी सूची है—अपनी ओर आकर्षित किया। ब्रजभाषा इनकी गोद में पली और खेली। यह सूची दो प्रकार की है,—एक गेय-पद-रचयिताओ—संगीतज्ञो की और दूसरी रीति-परंपरा के कवियो की, जिनके लिए वृंदावनवासी स्व० पं० राधाचरणजी गोस्वामी ने—

"इन मुसलमान-कवि जनन पै, कोटिन हिंदू वारिऐ।"

कह कर उनके रचना-माधुर्य की स्तुति की है। यह स्तुति अकारण नही है, वास्तव में अनेक मुसलमान कवि और कलाकारो ने ब्रजभाषा को जो अमर देन दी है, ब्रज के प्रति जो अपार श्रद्धा और निष्ठा दिखलाई है वह आदरणीय और वंदनीय तो है ही, स्पर्धा के योग्य भी है, क्योंकि—

"शायरी जुज्वेस्त अज पैगंबरी।

—यूनानी कवि रूमी

सचमुच, कविता अवतारी होने का एक भाग है, जो इन मुसलमान कवि और कलाकारो—संगीतज्ञो के पद-पद से प्रकट होता है। अस्तु, वह कवि-सूची अकारादि-अनुक्रमण मे इस प्रकार है।

गेय पद-गायक और रचयिता

"अविया (औलिया), अचगर, अचपल, अजब, अजबरंग, अजमेरी, अजीज्जुदीन, अजीव, अवारग, अनलहक चिस्ती, अमीर खाँ, अलहक, अलहदाद, अलाउद्दीन शाह, अलावदीन, अली, अली अकबर हुसैन, अली अहमदाली, अली खाँ पठान (रसखान), अली गुलाम शाह हामानी, अलीमन, अली मुरतजा, अली रतन, अशरफ, असकर या असगर अली खाँ, असलेम शाह (असलम), अहमद अली, अहमद शाह, आगर (आगार), आगा मौतुमद्दौला सन्दी बहादुर, आजमशाह, आनंद-रंग, आरिफ, आलमगीर, आलम, मदत शाह, आलम शाह, आलमहुसेन, आली, आनी म्हागे (भारो), आवमी, आदाक, आनकरन, आशिक, आमफद्दौला, आमान शेख, आमिफ, [illegible], इन्मा, इनायत अली, इबलिस, इब्राहीम, इमानदीन (ईमान), इमाम खाँ, इमामबदम, इन्नमाम, [illegible], इश्क मुहब्बत, इश्कमुहम्मद, इश्करंग, इसना शाह गाजी, इमफ मने, उद्दोनमेन, [illegible], उस्साक (उश्शाक), ऐगाजुद्दीन हैदर, औरंगजेब, औमान, कबीर खाँ, कमाल, करीम, [illegible] शाह,

कलबरिया, कशम शाह, काजम, काजी अकरम खाँ, कादिर, करीम, कायम खाँ, काले मिर्जा, काशिम शाह, कीरत शाह,[१] कुतुबमुलुक, कुतुबुद्दीन, केसर रंग, कौसर, खान आलम (नवाब), ख्याल खुशाल या खुशाल,[२] ख्वाजा कुतुब, ख्वाजाखिजर, ख्वाजा दीनशकरगंज, ख्वाजा मोज्जुद्दीन,-कुतुबुद्दीन, ख्वाजा मीर, ख्वाजा हसन, ख्वाजहीन, ख्वाजे खिजर, खुशरंग, गफूर, गवरु, गाजी, गामू, गुजर, गुलशन, गुलशन पीर, गुलामी, चाँद शाह, छज्जू खाँ, जगनू-मगनू खाँ, जलाल मुहम्मद, जलालुद्दीन मुहम्मद गाजी, जलालुद्दीन मुहम्मद बाकर, जलील, जहूर, जान खाँ, जानजाना, जाफर खाँ, जाफर पीर, जाफर (जाकर) सादिक, जालिम, जिन्द या जिन्ह, जीवन खाँ, जुलकर नैन, जुल्फकार, जैन लाबुद्दीन, जैनुद्दीन, ताज, तामतरंग, तानप्रवीन, तान बरस, तानसेन, तुराब, दरिया खाँ, दारा शिकोह, दिलरंग, दिलाराम, दिलरा शाह, दूल्हे खाँ, दौलत खाँ, नजफ शाह, नजीर, नरीमुहम्मद, नवल अजब, नबी मुहमद, नसीरुद्दीन, नाजमुद्दीन, नाजामदीन, नाशर अली, नाशिर खाँ, नाशिर पीर, निजामी, निजामुद्दीन, निजामुद्दीन औलिया, निजामुद्दीन औलिया (दूसरे), निजामुद्दीन चिस्ती, निवाज, निवाज खाँ, निशात, न्यामत खाँ, पंथी, पान खाँ, प्यार खाँ, पीर मुरताज अली, प्रेमजान, प्रेमी (शाहबरकत का उपनाम), फकीर हुसेन शाह, फकीर सकरगज, फजल अली (फलन अली), फजायल खाँ, फरीद, फरीद शकरगंज, फारातुला, बक्स शाविल, बदरुद्दीन पीर, बहराम खाँ, बाँकाबरस, बागबहार, बाजबहादुर, बाजिदअली शाह (लखनऊ), बानीविलास, बासद खाँ, बेदिल शाह, मजनूं, मदत अली, मदन साहिब, मदन हैदरी, मदनायक, मनरंग, मर्दान अली, मर्दान औलिया, मलिक नूर महम्मद, मस्तान, महताब, महबूब, महबूब पीर, महबूब बाँदा, महम्मदी, महम्मद अली, महम्मद इलाही, महम्मद इश्कदा, महम्मद खाँ, महम्मद नबी, महम्मद बाकर, महम्मद मेंहदी साहिब जमान, महम्मद शाह, मान खाँ, मारु, मियाँ मिरजा, मीम मुहब्बत, मीर अली शाह (शाह गूदर), मीर माधौ, मीर रुस्तम, मुबारक हजरत औलिया, मुरतजा, मुराद, मुराद अली, मुरशा अली, मुहम्मद नबी, मुहम्मद बाकर (दूसरे), मूरखाँ, मूरत शाह अली, मेंहदी मुहम्मद, मौज, मौजुद्दीन, मौजुद्दीन अजमेरी (मनुद्दीन अजमेरी), मौजुद्दीन ख्वाजा (मौनुद्दीन ख्वाजा), मौनुद्दीन शाह, यूसुफ अली खाँ (उपनाम—'आलम', रामपुर के नवाब), रंगबरस, रगरस, रज्जब, रसखान, रसरंग, रहमतुल्ला, रहमान, रहीम, रहीम बक्स, रागरस खाँ, रौशनशाह, लतीफ, लाल हुसेन, शाह आजम, शाह आलम, शाह जमन, शाह जमाल, शाह जलाल, शाहजहाँ, शाह जहाँगीर, शाह निवाज, शाह पना, शाह बहादुर, शाह मुहम्मद, शाह मौजुद्दीन, शाह शफी, शाह सवाल, शाह साबी, शाह सिकंदर, शाह हुसेन फकीर, शुकरजामी, शेखगदाई, शेख फरीद, शेख मशायक औलिया, शेख शाहजादा, शेख सलीम (सलेम), शौक रंग, शौरी मियाँ, सजन-मसन, सदारंग महम्मदशाह, सदारंग मुहम्मद शाह रंगीले, सरस रंग, सादीखाँ, सालारजंग, साह आलम (दूसरे), साहजी, साहनशाह पीर, साह भीमपलासी, साहब किरान शाहेजहाँ, साहब खाँ, साहबदीन, साहमर्दान, साह सिकंदर (दूसरे), साहूर (सहूर), सुजान अली, सुभान, सुलतान अली खाँ, सुलतान इब्राहीम, सुलतान दूलह, सुलतान मसादिक (मसायिक), सुलतान सलेम, सुलतानी, सुबलशाह, सेख नसीरुद्दीन, सेख फरीद (फकीर), सैयद सालार, सौरोट पचारे, हजरत अली, हजरत अली औलिया, हजरत बरवा औलिया, हजरत मिराज (मिर्जा), हजरत शिराजी, हद्द खाँ, हमदम, हलखाँ, हसन साहिब, हस्सू खाँ, हाफिज, हाफिज तुरक, हाशिम बीजापुरी, हिदायत, हिदायत अजीज (आजिज), हिम्मत, हिम्मत बहादुर, हुमायूं, हुसेन मारहरी, हुसेनशाह, हुसेन हानो खाँ (हलीखाँ), हुसेनी।"

[१] ये हिंदू थे, पर बाद में मुसलमान हो गये।

[२] ये भी हिंदू थे, बाद में मुसलमान हुए।

जिन गेय-पद-रचनाकार तथा संगीतज्ञ कवियो का ऊपर उल्लेख हुआ है, उनकी रचनाएँ विविध संगीत-पुस्तको में जैसे—रागकल्पद्रुम, संगीत-रत्नाकर आदि में हुआ है। एक ह० लि० पुस्तक कांकरौली के सरस्वती-भंडार में भी—'मुगल सम्राटो के ब्रजभाषा पद' नाम से है।

ब्रजभाषा : रीतिकाल के कवि

"अकबर शाह (सं० १५९९) कवित्त, सवैया और पद, अकबर खाँ (१८८९) योगसार वा योगदर्पण-सार (वैद्यक), अकरमफैज (१२०५) वृत्तरत्नाकर (छंदशास्त्र), अख्तर (मूलनाम-वाजिद अली शाह लखनऊ) फुटकल छंद-ठुमरी आदि, अजबरंग, अजमत, अजमेरी मुंशी (१९३८), अजीजुद्दीन, अनवर खाँ (१७८५) विहारी-सतसई पर टीका, अनीस (सं० १९११) स्फुट रचना, अफसोस, अब्दुल अजीज (१७६५) बरवै, अब्दुल जलील (रचना और रचना-काल अज्ञात), अब्दुलरहमान (१७६३) यमक-शतक, अमीर खुशरो (१३१२), अलमस्त, अली महबूब खाँ या मुहीब खाँ (पीतम) आगरा (१७८७) खटमल-बाईसी और रस-धमार,[1] अल्ली खाँ, अहमद (१६६०) रस-विनोद (वैद्यक) और बारहमासा,[2] अहमदुल्लाह वहरियाबाद दिल्ली (१७७३) दक्षिण-विलास, आजम (१८९०) नखसिख, षट्रितु-दर्पण, आजम खाँ (१७८६) शृंगार-दर्पण, आजम शाह (१७६४) स्फुट पद, आदिल (१७८५) स्फुट कवित्तादि, आदिलशाह इब्राहीम (१६०८) नवरस, आलम (१७२०) आलमकेलि (स्फुट रचना) तथा माधवानल-कामकंदला-नाटक, आलम—लखनऊ के नवाब वाजिदअली का दूसरा उपनाम, रचना—ठुमरियाँ,[3] आशक, आसिफ खाँ (१७३८) स्फुट रचना, आसी[4] सिकंदरपुर बलिया के (१८९०) स्फुट रचना, इकरंग, इसाअल्ला (१८७४) रानीकेतिकी की कहानी, इब्राहीम सैयद (१६५१) स्फुट रचना, इसदाद, इश्क, इश्कदीन, उलफतराय राजा (मस्तपिया), उसमान (१६१३) चित्रावली, औरंगजेब (१६७५) स्फुट रचना, कदर—पूरा नाम "अलीकदर", लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह के कोई रिश्तेदार, कदरपिया, कबीर (१४५५) प्रसिद्ध, कमाल (१६२२), करीम (१७५४) स्फुट रचना कवित्त-सवैया, करीम दूसरे (१७५४) स्फुट-रचना[5] करीम बक्स (१९४५) नगमए-मुहब्बत (ब्रज-भाषा में), काजम कायम, काजिम, काजी अशरफ महमूद, काजी कदम (१७०६) साखियाँ, कादर, कादर करीम, कादिरबक्स—पिहानी हरदोइ वाले (१६३५) स्फुट रचना, कारेखाँ फकीर रहली—सागर (१८४३) कृष्णस्तव, कासिम शाह दरियाबाद—बाराबंकी (१७८८) हंस-जवाहिर की कहानी, किसवर अली—सार चंद्रिका, कासिम—रसिक-प्रिया (केशवकृत) की टीका, कुतुब, कुतुब अली—स्फुट रचना, कुतुबन शेख (१५६०) मृगावती की कहानी, खलील, खलील दूसरे, खान सुल्तान (१६२५) स्फुट रचना, खालिश, खिरदमंद, खुशहाल, खैराशाह, चाँदखाँ (शेख राहत अली के मामू—बड़ौदा गुजरात) ठुमरियाँ, जमाल (१६२५) जमाल-पचीसी, जहाँगीर बादशाह, (१६२५), जान (कविजान) शुद्ध नाम अलफखाँ (१७११) प्रेम कथानक,—७० ग्रंथ,—रसमंजरी, रसवर्णन[6], जायसी (१५९७) पद्मावत, जुल्फिकार (१७१४) विहारी-सतसई की टीका, जैनदी-

[1]. यह पुस्तक काँकरौली के 'पुस्तक भंडार' में है।

[2]. यह पुस्तक उदयपुर मेवाड़ के पुस्तकालय में है।

[3]. वाजिदअली शाह की प्रथम बेगम का नाम—'आलम' था, उन्हीं के नाम से कुछ ठुमरियाँ ब्रजभाषा में लिखी गई हैं।

[4] पूरा नाम—मौलाना शाह अब्दुल अलीम आसी।

[5]. इनका उल्लेख 'सूदन' के सुजान चरित्र में आया है।

[6]. इनके संपूर्ण ग्रंथो का संग्रह स्व० हरिनारायणजी प्रोहित जयपुर के यहाँ है।

मुहम्मद[1] (१७३६) ताज (१७००) स्फुट रचना, गेय-पद[2] तथा कवित्त-सवैया, तानतरंग (१६४०) स्फुट गेय-पद, तानसेन (१६१७) गणेश स्तोत्र, रागमाला, संगीतसार, स्फुट रचना, गेय-पद, तालिब अली (१८०३) स्फुट रचना, तालिब शाह (१७६८) स्फुट रचना, तावाँ (समय अज्ञात) स्फुट रचना, ताहिर अली (१६७८) कोकसार, तुराब अली, (समय अज्ञात) गेय-पद—ठुमरियाँ, तेग अली (१९५०) बदमाश दर्पण, दरिया साहिब (१७३३) साखियाँ, दादन (समय अज्ञात), दानिशमंदखाँ (२७३७) स्फुट रचना, दाराशाह (१७१०) सार-संग्रह, दोहास्तव, दीनदरवेश—पालनपुर गुजरात (१८७५) दीनप्रकाश, स्फुट कुंडलियाँ, भजन-भड़ाका, नज्म (समय अज्ञात), नजीर आगरा (१८३७) स्फुट रचना, नजीर (दूसरे) पूरा नाम—हाफिज मुहम्मद नजीर देवग्रामी लखनऊ (समय अज्ञात) ठुमरियाँ और दादरे, नबीशेख (१६७६) ज्ञानदीप, निजामी—पूरा नाम निजामुद्दीन लखनऊ (समय अज्ञात) स्फुट रचना, निजामुद्दीन औलिया (देहली के ख्वाजा) ठुमरियाँ और दादरा स्फुट, निवाज (१८३०) बिलग्राम-हरदोई, स्फुट रचना, नूर (समय अज्ञात) वृंदावन रचना—नूर संग्रह,[3] नूरमुहम्मद (१८०१) इंद्रावती, प्रेमी यवन (१८३५) कोष—अमरकोष का अनुवाद, फकीरहुसैन शाह (समय अज्ञात) स्फुट छंद, फकीरद्दीन (१९५०) स्फुट रचना, फरहत (समय अज्ञात) स्फुट रचना, फहीम (१६०७) स्फुट रचना, फाजिल अली (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, फाजिल शाह (१९०५) प्रेमरतन (कहानी), फैजी (१६००) स्फुट छंद, बख्तावर खाँ बिजावरवाले (१९२२) धनुष-समैया, बहजन (समय अज्ञात) स्फुट रचना, बहादुरशाह—जफर (१९१८) स्फुट रचना, बहाव (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, बावरी साहिबा (अकबर-काल से प्रथम) सत्यनामी पंथ की आदि प्रवर्त्तिका—स्फुट रचना, बाहिद (समय अज्ञात), स्फुट रचना, बीरू साहिब (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, बुल्ला साहिब (समय अज्ञात) साखियाँ, मंझन (१५६०) मधुमालती, मसूर (समय-अज्ञात) स्फुट रचना, मकसूद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मसऊद (समय अज्ञात) दीवान ए हिंदी, महताब (समय अज्ञात) स्फुट रचना, महबूब और काशिम (१७६१) स्फुट रचना—कवित्त-कुंडलिया, मीर अहमद बिलग्रामी (१८००) स्फुट रचना, मीरन (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मीर रुस्तम (१७३५) स्फुट रचना—कवित्त-सवैया, मुबारक अली बिलग्रामी, पूरा नाम—'सैयद मुबारक अली' (१६४०) अलक और तिल सतक तथा स्फुट छंद, मुल्तान आलम (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मुल्ला दाऊद (१२६०) स्फुट रचना, मुश्तरी (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मुहम्मद शाह (१७३५) बारहमासा, संगीतमालिका,[4] मुहम्मद जलालुद्दीन (१६१५) स्फुट रचना, मुहम्मद शाह रंगीले (१७७६) स्फुट रचना, मुहम्मद गौस (तानसेन के प्रथम गुरु) पूरा नाम—शेख मुहम्मद गौस (समय अज्ञात) स्फुट रचना, मोजुद्दीन (समय अज्ञात) प्रसिद्ध ठुमरीकार, याकूब खाँ (१७७५) केशवदास कृत 'रसिक प्रिया' की टीका, रसभूषण, याकूब खाँ (दूसरे) बड़ोदा वाले (समय अज्ञात) स्फुट रचना, यारी साहिब (१७२५) साखियाँ, यूसुफ खाँ (१२२०) केशवदास कृत रसिकप्रिया की टीका, रज्जब (१५९५) साखियाँ, रसखान (१६४०) स्फुट छंद—कवित्त-सवैया-दोहा तथा प्रेमवाटिका, रसलीन, पूरा नाम—सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' (१७४६) रसप्रबोध (नायिका भेद का ग्रंथ) अंग-दर्पण (नखसिख), स्फुट छंद, रसिया—नजीब खाँ (१८९९) स्फुट छंद, रहीम पूरा नाम—अब्दुल रहीम खानखाना (१६१०) दोहावली, नगरशोभा, बरवै नायिका भेद, शृंगार सोरठ, मदनाष्टक,

१. इनका नायिका की पीठ का वर्णन बड़ा ही सुंदर है।

२. ताज की १२॥ साढ़े बारह धमार प्रसिद्ध हैं।

३. यह संग्रह बड़ा सुंदर है, कवि ने अपने समय के प्राय सभी कवियों की रचना ली है।

४. ये ग्रंथ 'अनूप-संस्कृत लायब्रेरी' बीकानेर में हैं।

खेटकौतुक जातक तथा पद, रहीम—दूसरे (१७८०) स्फुट रचना, राहत-बड़ोदा, पूरा नाम—शेख राहत अली (समय अज्ञात) स्फुट रचना, रूपमती—बेगम बाजबहादुर (१६३७) स्फुट रचना, रूपरतन—बेगम भूपाल (भारतेंदु-काल) स्फुट रचना, लतीफ (१८३४) स्फुट रचना, लतीफ हुसेन (समय अज्ञात) स्फुट रचना, लालदास, (समय अज्ञात) स्फुट रचना, वाजिद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, शहरयार (१६६२) स्फुट रचना,[1] शाद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, शाहजहाँ (१६४७) स्फुट छंद, शाह तुवक अली (समय अज्ञात) स्फुट रचना, शेख रँगरेजिन[2] (१६२०) स्फुट रचना, शेख अहमद (समय अज्ञात) वियोग सार, मोहिनी, शौखरंग—देहली के अंतिम बादशाह बहादुरशाह, रचना—स्फुट विशेष कर ठुँमरियाँ, सनद लखनऊ (समय लखनऊ के नवाब वाजिदअली-काल) स्फुट रचनाएँ—ठुँमरी और दादरा, सनद 'पिया' (समय अज्ञात) स्फुट रचना, सरमद (समय अज्ञात) बैन-सरमद, सुंदर कली[3] (समय अज्ञात) स्फुट रचना, सुल्तान (समय अज्ञात) स्फुट रचना, सैयद अमीर अली 'मीर' सागर (१६३०) स्फुट रचना, सैयद छेदाशाह पीहार—कानपुर (१६३७) स्फुट रचना, सैयद बर्कतुल्ला (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हकीम हाजी अली खाँ (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हफीजुल्लाह खाँ करजई—हरदोईवाले (१६१३) 'नवीन संग्रह' हफीजुल्लाह खाँ का 'हजारा', 'प्रेम तरंगिनी', 'रसिक-संजीवनी', हाफिज (समय अज्ञात), हामिद (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हिम्मत खाँ (१८३०) स्फुट रचना, हुसेन (१७०८) स्फुट रचना, हुसेन शाह (समय अज्ञात) स्फुट रचना, हैदर (समय अज्ञात) स्फुट रचना।"

उपरोक्त सूची—नामावलि, अधूरी कही जा सकती है। साथ ही कवि-नामों में पुनिरुक्ति भी उनकी रचना-वैविध्य—गेय-पद-रचना और रीति-कालीन कविता के कारण है। उदाहरण के लिए मुगल सम्राट् 'अकबर', 'रहीम' और 'ताज' को ले सकते हैं। अकबर की दोनों प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। गेय-पद पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ में अन्यत्र दिये जा चुके हैं। रीति-कालीन कविता जैसे—

"साह 'अकब्बर' एक समैं, चले कान्हि बिनोद-बिलोकन बालहिं।
आहट ते अबला निरख्यौ, चकि-चौकि चली करि आतुर चालहिं॥
त्यौं बलि बेंनी सुधार धरी, सु भई छबि यौ ललनाँ अस लालहिं।
चंपक चारु कमांन चढ़ावत, कांम ज्यो हाथ लए अहि-बालहिं॥"

रहीम के कवित्त-सवैया कम मिलते हैं, किंतु जो भी मिलते हैं, वे सुंदर ही नहीं अति सुंदर हैं, यथा—

कौन धौ सीख 'रहीम' इहाँ, इन नैंन अँनोखिए नेंह की नाधनि।
प्यारे सो पुन्न-भेंट भई, पै लोक की लाज बड़ी अपराधनि॥
स्याँम-सुधानिधि-आँनन को, भरिएँ सखि, सूधें चितैवे की साधनि।
ओट किएँ रहते न बनें, कहते न बनें बिरहानल-दाधनि॥

❀

पुतरी-अँतुरीन कहूं मिलि कें, लगि-लागि गयौ कहुँ काहु करेंटी।
हिरदौ दहिबे सहिबे ही को है, कहिबे कों कहा कछु है गहि फेंटी॥
सूधें चितै तन हा-हा करें हूं, 'रहीम' इतौ दुख जात समेंटी।
ऐसे कठोर सों औ चितचोर सो, कौन सी हाइ घरी भई भेंटी॥

[1]. इनका एक ही छंद मिला है।

[2]. हिंदी-साहित्य-संसार में आप आलम कवि की स्त्री-रूप में प्रसिद्ध हैं।

[3]. ये लखनऊ के किसी नवाब की बेगम थीं, आपकी कविता बड़ी सुंदर शुद्ध ब्रजभाषा में है।

दोहे तो परम प्रसिद्ध हैं। एक उदाहरण जैसे—

"धूरि उड़ावत सीस पै, कहु 'रहीम' किहि काज।
जिहि रज मुनि-पतिनी तरी, सो ढूंढ़त गजराज॥"

और आप की गेय-पद-रचना—

"कँमल-दल नेंनन की उँनमाँनि।
बिसरत नाँहि सखी मो मन ते, मंद-मंद मुसिकाँनि॥
यै दसनँन-दुति चपला हू ते, महा चपल चँमकाँनि।
बसुधा की बस करी मधुरता, सुधा-पगी बतराँनि॥
चढ़ी रहै चित उर बिसाल की, मुकत-माल पैहराँनि।
नृत्त-समें पीतांबर हू की, फँहरि-फँहरि फँहराँनि॥
अनुदिन श्री बृंदाबन में ते, आवन-जावन जाँनि।
अब 'रहीम' चित ते न टरति है, सकल स्याँम की बाँनि॥"

कवि 'ताज' की वल्लभ-सप्रदाय में साढे बारह धमारो में से निम्न-लिखित 'धमार' अति प्रसिद्ध है। यथा—

"बहुरि डफ बाजन लागे हेली।
खेलत मोंहन साँवरौ हो, किहि मिस देखँन जाउ।
सास-नँनद बैरिन भई मेरी, कीजै कोन उपाउ॥
भरी गागरी ढोरिए हो, जमुनाँ-जावन काज।
इहि मिसि बाहर निकसिकैं हो, जाइ मिलो तजि लाज॥
आयौ बछरा मेलिए नाँहि, बन कौं देहु बिडारि।
वे देहैं मोको पठै, मैं रहो घरी द्वै-चारि॥
हा-हा री, हों जाति हों, मो पै नाँहिन परत रह्यौ।
तू तो सोचति ही रही, तें मान्यौं नाँहि कह्यौ॥
राग-रंग गैहगड़ मच्यौ री, नंदराइ-दरबार।
गाइ, खेल, हँसि लीजिए हो, फाग बड़ौ त्यौहार॥
तिन्ह में मोहन अति बने हो, नाचत सँग लै ग्वाल।
बाजे बहु बिधि बाज-हीं हो, रंज, मुरज, डफ, ताल॥
मुरली अधर बिराजहीं हो, कटि पट-बाँधें पीत।
निरतत आवत 'ताज' के प्रभु, गावत होरी-गीत॥"

और आप की रीति-काल की कविता तो सुदर है ही। उदाहरण जैसे—

एरे दिलजाँनी, मैंड़े दिलदी कहाँनी, तुब दस्त हूँ बिकाँनी, बदनाँमी हूँ सहूँगी मैं।
देव-पूजा ठाँनी औ निवाज हूँ भुलाँनी, तजे कलमा-कुरान ताडे गुनना गहूँगी मैं॥
साँवला सलोना सिर 'ताज' सिर कुल्ले दिएँ, तेरे नेह-दाग मैं निदाग ह्वै रहूँगी मैं।
नंद के फरजंद कुरवाँन ताँडी सूरत पर, तेरे नाल प्यारे, हिंदुवाँनी ह्वै रहूँगी मैं॥"

ये अल्प उदाहरण उन मुसलमान कवियो की सगीत-परक कृष्ण-भक्ति-शाखा और रीति-काल के है, जिसे—'परधर्मोभयावह' होते हुए भी इन महानुभावो ने अपनाया और अपनी-अपनी अमर कृतियाँ ब्रजभारती को भेंट की। कृष्ण-भक्ति की इस सीतल-मद-सुगधित पावन धारा में आकठ निमग्न रहते हुए भी इन्होंने अपने परपरागत मूल धर्म को नहीं त्यागा। उसे सगीत के मजुल पट में लिपटा कर हृदय से लगाए रहे। उदाहरण, जैसे—

राग-भैरव

"बेचुन, बेचगुन, बेसुबे, बेनमुन, दूसरौ रच्यौ महंमद अचल आखर हकीक।
पुनि कीन्हों चारो यार वासिफत बाकरार प्रथम सदिक सावत हजरत —
अल्ला रसूल कौ पुरदीन दीनपूर, मज्जब जैसें दरिया अगम-अथाह अमीक।।
कहत सुजान हजरत इमाम पाक इमान, नबी प्रान चाहत अली बली साहब।
मारफुक रजेर महमदी बलमा कहायौ, सबनें मनायौ वह दूल्हा सरीक।।

❀

मुसकिल आसाँन कीजै बेगि अल्ला साहब।
वास्ते रसूल के हूं मेरी सो मो मन की चिंता बिसर जाइ, दुख-पाप कटैं या रहीम रहमान रब।।
अरज करत तिहारे दरवार जो, आप वाको देति एक दिन में राज-पाट, अरब-खरब।
मंगता हौं, दाता तुम्ह सुन लीजै कीजै निहाल, अली-वली इबोतुल सफी दीजिए सुख-संपत अब।।

❀

प्रथम अल्ला हो अकबर कहि रे तू मेरे मन, दूजें रसूल चित-धरि रे।
बेचुन, बेचुगुन, बेसुबे, बेचमुन, परब पोसवाना, पाक-जात याद करि रे।।
ऐसौ आलम करीम करम कौ करनहार, जो सुधि लेत तेरी नित निसि-वासरि रे।
हिदायत अजीज को दीजै सुख-संपत, दीन दुनी कुसल-छेम तिहारे नाम के अधरि रे।।

राग-टोडी

जो चाहें सो करैं तुही तू, ऐसौ पाक परवरदिगार।
बेचुन, बेचगुन, बेसुबे, बेनमुन, कुनफे, कुनके कहूं कोन रचना अपनी सिकार।।
जीव-जंतु, पवन-पाँनी, आसमाँन सब तोहि रटत, तोही नाँम कौ लिऐं अधार।
जबते सुने तबते एक महंमद नाम के कारन, कीन्हे नूर महूर रसना चाहत दीदार।।

राग-गूजरी

हजरत अली की सुदिष्ट भली मोपर जौ, दुख जाइ सब तन ते भाज।
हौं सेवक तिहारौ तुम्ह पाक करीम करम कीजै, राख लीजै जगत में मेरी अब लाज।।
बेचुन, बेचगुन, बेसुबे बेनमुन पाक, जात रियाज सो न्याज।
'ताँनसेंन' रब रहमान करीम-रहीम, विनती सुनिऐं अवाज।।

राग-आसावरी · ख्याल

महंमदसा पातसा, आज हमसेंन-तुमसेंन भेंट भइली,
कोटि बरस सूरजनुवाँ कजवा पुजील।
जीवौ, जागौ कोटि बरस लो ढोटवा तुम्हारा—
कायम दायम रहूं 'सदाँ रंगीले' कर मन चीते हुजील।।

राग-धनाश्री

पाक रसूल महंमद अल्ला तेरी नूर जहूर।
धँन-धँन परवरदिगार गुन्हैंगार तू बखतन, तुही जग रमि रह्यौ भरपूर।।
बेचुन, बेचगुन, बेसुबे, बेनमुन, अव्वल-आखिर तुही, निकट तुहो दूर।
जित-तित देखौं तुही-तुही व्यापि रह्यौ, जल थल-धरनी-अकास तू ही हजूर।।

❀

जाकौ मन अल्ला-संग रहैं, जैमें पाछैं-पाछैं फिरत नरद।
वौ कोन है चल्यौ देखियो, हजरत रजाजे मीर दरद।।

जिन्ह भूँख-प्यास मारि राखी, वे कहावत जग में मरद।
कबहूँ होत हैं सुए-बरंन औ कबहूँ होत हैं जरद ॥

राग-पूरबी

तुम्ही हो औलिया निजामी तुम्ह जानों नीके,
अल्लाह अबूदे हो याते जिकर-फिकर।
जिकर जाहर साबत करना बुत मल कूत जबरूत,
लाहूत मजकूर सुनों कहूँ गुपत, कहूँ प्रघट ॥
ताकर राखो याते तिहूँ लोक मानत-जानत,
नीको बिधि घर-घर हो जीय बर।
कबहूँ अल्ला आसिक होत तुम मासूक,
करत रहत अल्ला-अल्ला एक-एक घरी-पल ॥

—इत्यादि

अस्तु, इस प्रकार की रचनाएँ उतनी सुंदर और सरस तो नहीं, जितनी कि भारतीय रंग में रँगी कृष्ण-भक्ति-शाखा की हैं। यहाँ उन्हें केवल लकीर-पीटनी थी, जो पीटते रहे और उसे भक्ति-शाखा जैसी रोचक न बना सके, कारण आलंबन अलक्ष का था। सरस रचना का आकर्षण वहाँ ही होता है, जहाँ सुंदर आलंबन प्राप्त हो और जिसे वे अलंकार की दृष्टि से उपयोग में ला सकें। बुत-परस्त न होते हुए भी वे इश्क के पाक पुजारी थे, अत. भारत के अनुपम आराध्यदेव—

"स्याँम सुंदर मदन-मोहन...."

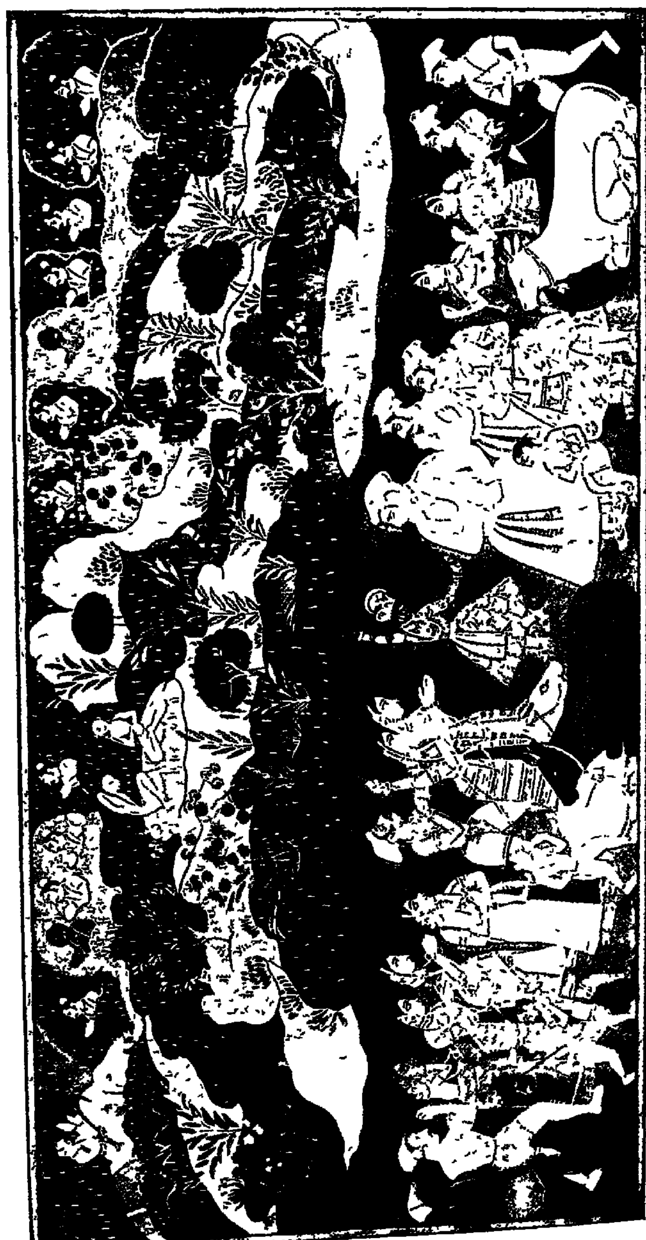
और माधुर्य-रस की साकार अधिष्ठात्री व्रजेश्वरी श्री राधा को कैसे अपनी आखो से ओझिल रख सकते थे। इस युगल-माधुर्यमयी मूर्ति का बरबस आश्रय ले व्रज-साहित्य को अपनी अनूठी रचनाओ से अधिक से अधिक ऊँचा उठा दिया। भाषा पर तो अधिकार था ही, विषय भी पूर्ण अधिकार के साथ ग्रहण किया।

कृष्ण-भक्ति का मूलाधार प्रेमा-भक्ति ही है। प्रेम ही इसका तात्त्विक मर्मस्थल है, जिसे इन विदेशी कवियो ने अपनी संस्कृति से वरदान-रूप में पाया। प्रेम की परंपरागत तल्लीनता और उसके ऊहात्मक आधार को लेकर ये विकल मुसलमान कवि राधा-कृष्ण जैसा मनचाहा आश्रय पाकर अपने मजाजी इश्क को हकीकी में परवर्तित कर अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया। फल-रूप व्रजभाषा को प्रेम-भाव के अंतर्लोक के अनेक चमकते हुए सुंदर भाव-रत्न अनायास ही मिल गये। अस्तु—

"इन्ह मुसलमान कवि-नँनन पै कोटँन हिंदू बारिऐं।"



श्रीकृष्ण और उनकी लीलाएँ



श्रीकृष्ण और उनकी लीलाएँ

कृष्ण जो न होते . .

पढते पुरांन कोन पडित प्रवीन पाठ, प्रघट न होते रूप-ध्यांन कोन धरते ।
बूझतो न बात कोऊ समझि न परती कछू बृंदाबन-चंद जो न आंन अवतरते ।।
'दत्तू कवि' सूर औौर रसिक रस लेते कहा, कूर कसादिक ते कोन भाँति तरते ।
नंद के न होते कांन्ह, राधा बृषभांन जू के गुंनी गुंन-गाइ कहा कविताई करते ।।

—दत्तू कवि

श्री कृष्णावतार पर वैज्ञानिक दृष्टि

श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् 'श्री कृष्णचद्र साक्षात् भगवान् परमेश्वर परब्रह्म हैं'—यह आर्यजाति का अटल विश्वास है। श्रीकृष्ण-चरण से ही भक्तिमदाकिनी का सुधानिर्झर प्रवाहित होकर शातिमय प्रवाह से संपूर्ण जगत् को आप्लावित करता हुआ ब्रह्माड को वेष्टित कर वही पहुँच कर लीन होता है, जिसमें डूबकर सनातन धर्मावलवी समाज सदा से अपने आप को सफलजन्मा कृतकृत्य बनाता आया और आज भी बना रहा है। कृष्णलीला भक्त-जगत् का सर्वस्व है, उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, ध्यान और अनुकरण में प्रलीन भक्तचित्त को तर्क, वितर्क, कुतर्क का अवकाश ही नही मिलता, उस आनद-स्रोत में जिन्होंने अपने आप को बहा दिया है, उनके आगे तर्क के तिनको की कदर ही क्या है? भक्तिरत्नमच के सामने विज्ञान-दर्पण क्या प्रतिष्ठा रख सकता है? तथापि अपने-अपने अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न जिज्ञासु जन की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति होती है। वहुत-से जिज्ञासु जन प्रतिकूल तर्कों के आघात से विकल होकर 'ईंट का जवाब पत्थर से चाहते हैं', वहुत-से अपनी बुद्धि को सतुष्ट करने के लिये प्रत्येक विचार वा कर्तव्यता को वैज्ञानिक-भित्ति पर ही खडा रखना चाहते है। किसी को प्रत्येक बात की तह में आध्यात्मिक चासनी का चसका है, तो कोई प्रत्येक विचार को विज्ञान के मसाले से चटपटा बनाना चाहता है। किंतु आश्चर्य यह है कि इन सब की ही साध श्रीकृष्णलीला में पूरी हो जाती है। उसे जिस दृष्टि से देखो, उसी दृष्टि से परिपूर्णता की ओर बढते चले जाओ किसी अधिकारी को वहाँ निराशा की चट्टान से टकराना नही पडता। वैज्ञानिक दृष्टि से हमारा अभिप्राय उस दृष्टि से है जिस में केवल श्रद्धा ही अवलव न हो, शास्त्रो के वाक्य ही एकमात्र आधार न हो, किंतु प्रत्यक्ष और अनुभव का भी जिसमें सहारा लिया जा सके, तर्क के कर्कश प्रहार भी जहाँ कुठित होते जायँ, प्रथमाधिकारियो की बुद्धि भी जिससे विकसित होती जाय और यो सब लोग जिससे लाभ उठा सकें।

पहले यह भी समझ लेना चाहिये कि मन, बुद्धि से अगम्य निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व में बुद्धि का प्रवेश कराने के जितने उपाय शास्त्रो में निर्धारित हुए हैं, उनमें 'अवतारवाद' सबसे उत्तम कहा जा सकता है। निर्विशेष ब्रह्म जब मन में नही आ सकता, तो उसकी उपासना भी नही हो सकती। इसलिये शास्त्र निषेधरूप से, उपलक्षण रूप से वा आरोपरूप से उपासना के भिन्न-भिन्न प्रकार बताता है। प्रत्यक्ष देखे जानेवाले पदार्थों में परमेश्वर के लक्षण देख कर उन्हें आलबन मान ब्रह्मभाव से उपासना करना सब अधिकारियो के लिये उपयोगी है, अतएव वह श्रेष्ठ प्रकार है। उनमें भी चेतन में—विशेष कर मनुष्य-रूप में ब्रह्मदृष्टि उपासना का अत्यत उपयोगी साधन है, क्योकि उपासक मनुष्य का मन अपने सजातीय में विशेष रूप से प्रेम करे—यह प्रकृतिसिद्ध नियम है और प्रेम के द्वारा चित्तकी स्थिरता अति सुकर है। यही अवतारोपासना कही जाती है। इस उपासना की सिद्धि के लिये ही परम दयासागर परमेश्वर अपने आप को चेतनरूप में विशेषत मनुष्यरूप में प्रकट करता है और ईश्वर के अनन्य प्रेमी ज्ञानवान् महात्मा शास्त्रोक्त परमेश्वर-लक्षणो की प्रकटता देख परमेश्वर रूप से उसकी उपासना करने लगते हैं, उसे ही परब्रह्म का प्रकटरूप मानते हैं—यही अवतारवाद कहा जाता है। यह अवतारवाद सनातनधर्म का प्राण और उपासना का सर्वस्व कहा जा सकता है। मानुष-अवतारो में भी भगवान श्री कृष्णचद्र पूर्णावतार वा साक्षात् परमेश्वर परब्रह्म कहे गए है, क्योकि उनमें

परमेश्वर के सब लक्षण पूर्णतया प्रकट हुए हैं। अच्छा, तो इसी पर विचार[1] किया जाय कि परमेश्वर के कौन-से लक्षण हैं—और वे भगवान् श्रीकृष्ण में किस रूप में पाये गये।

त्रिपुरुष-विज्ञान

भगवान् श्री कृष्ण ने भगवद्गीता में अपने आप को अव्यय आत्मा कहा है—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥"

—भगवद्गीता ४।६

इसी अव्ययात्म-स्वरूप का आगे पंद्रहवें अध्याय में विशेषरूप से स्पष्टीकरण—

"परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥"

—भगवद्गीता ८।२०—१५।१६,१७,१८

लोक में दो पुरुष हैं—एक क्षर, दूसरा अक्षर। इंद्रियों से जो जाने जाते हैं वे सब भूत क्षर हैं, उनमें कूटस्थ—नित्यरूप से रहनेवाला—विकृत न होनेवाला—पुरुष अक्षर कहा जाता है। वह अक्षर पुरुष भी अव्यक्त है, अर्थात् इंद्रियग्राह्य नहीं, किंतु उससे भी पर और एक अव्यक्त नित्यभाव है, जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका धारण कर रहा है, उसे अव्यय या ईश्वर कहते हैं। मैं क्षर से परे हूँ, और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिये (अव्यय पुरुषस्वरूप) मैं लोक में और वेद में 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ।' यह उक्त श्लोकों का तात्पर्य है। इन तीनों पुरुषों का विवेचन ब्राह्मण-ग्रंथों में बहुत कुछ है, उसका संक्षेप यहाँ लिखा जाता है।

पुरुष का अर्थ है पुर में रहनेवाला, जगत् में जो पंचभूतात्मक मूर्तियाँ दिखायी देती हैं, वे पुर हैं। हम पुरों को ही देखते हैं, किंतु यदि इनका उपादानकारण 'पुरुष' इनके भीतर न रहे, तो ये पुर ठहर ही नहीं सकते। उदाहरण के लिये—दीपशिखा एक पुर है, उसमें तैल पुरुष है, यदि तैल प्रतिक्षण उसे बनाता न रहे, तो दीपशिखा कभी की गायब ही जाय। वृक्षों में रस यदि न हो, तो वृक्ष कभी सूख जायँ, ठहर ही न सकें, तभी तो रस की स्थिरता के लिये उनकी जड़ में बार-बार जल देना पड़ता है। यों ही हमारे शरीरों की रक्षा के लिये अन्न-जलादि की आवश्यकता होती है, वे ही अन्न-जलादि रस, रुधिर आदि रूप में परिणत होकर शरीरों को स्थिर रखते हैं। यही मिट्टी, पत्थर आदि जगत् के सब पदार्थों की गति है। तात्पर्य यह कि जगत् के सब पदार्थों की स्थिति 'यज्ञ' पर निर्भर है। 'यज्ञ' पाँच प्रकार की क्रिया का नाम है—आदान, अर्पण, उत्सर्ग, भैक्ष्य और विकास। अन्य वस्तुओं में से अपना अन्न[1] लेकर उसे अपने स्वरूप में प्रविष्ट कर लेना आदान कहा जाता है, जैसा कि हम लोग वृक्ष, औषधि, नदी आदि से फल, अन्न, जल आदि लेकर उससे अपने स्वरूप की रक्षा करते हैं, वृक्ष जल लेते हैं, दीपक तैल लेता है—आदि-आदि। इसके विरुद्ध अपने स्वरूप में से कुछ पदार्थ दूसरे की रक्षा के लिये अन्न रूप से देना 'अर्पण' कहाता है—जैसे कि दीपक प्रकाश देता है, वृक्ष पुष्प, फल आदि देते हैं। यही दान यदि किसी व्यक्तिविशेष को लक्ष्य कर न हो, किंतु विश्वात्मा के लिये आत्मसमर्पण हो, तो उसे 'उत्सर्ग' कहते हैं, जैसा कि वृक्ष, लता आदि अपने पुष्पों का

[1] जयपुर-राज-पंडित गुरुवर श्री ६ मधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पति के 'भगवद्गीताविज्ञान-भाष्य' ग्रंथ के 'कृष्ण-रहस्य' प्रकरण को इस विचार का आधार बनाया गया है।

गंध वायु में देकर जगत् के उपकार में लगा देते हैं, वृक्ष अपने बीज द्वारा एक नया वृक्ष उत्पन्न कर जगत् को दे देता है, प्राणी अपने शरीर के भाग से सतान उत्पन्न कर जगत् को अर्पण कर देते है, इत्यादि। अब जो अन्न[१] लिया गया है, वह अर्क, प्राण आदि अवस्थाओ में प्राप्त होकर उस-उस वस्तु की क्षीण होती हुई केंद्रशक्ति (प्रजापति) को जो आप्यायित करता रहता है—वह 'भैषज्य क्रिया' है और उस अन्न के द्वारा किसी नियत परिमाण तक जो उस वस्तु की वृद्धि होती है—वह 'विकास' समझा जाता है, जैसा कि वृक्षो का वा प्राणिशरीरो का अपनी-अपनी मात्रा तक बढना, विद्या पढने से वृद्धि का विकास होना—आदि-आदि। यह यज्ञ बराबर सर्वत्र होता रहता है, इसी प्राकृत यज्ञ के आधार पर हमारे धार्मिक यज्ञ भी अवलबित है। अस्तु, यद्यपि जड वस्तु मिट्टी, पत्थर आदि में ये क्रियाएँ स्फुट रूप से नही देखी जाती, किंतु अनुमान से माननी अवश्य पडती है, तब ही तो ये जड वस्तुएँ भी क्रम-क्रम से पुरानी होती है, वा कालक्रम से निर्जीव हो जाती है। अर्पण की अपेक्षा आदान का अधिक होना जैसे वृद्धि का कारण है, वैसे ही आदान की अपेक्षा अर्पण अधिक होना ह्रास वा क्षीणता का हेतु है। आदान, प्रदान न होता हो, तो वह वस्तु सदा के लिये एक रूप रहे, किंतु ऐसी कोई वस्तु ससार में है नही। अत जड-वस्तुओ में भी आदान-प्रदान अवश्य है। सब ही वस्तुएँ सूर्य से प्रकाश लेती हैं, मेघो से जल लेती है, पृथ्वी से जीवन लेती है और अपना-अपना भाग यथोचित सूर्य, वायु, पृथिवी आदि को देती भी है। लोहे पर जग लग जाना, पानी पर झाग आना, पत्थर पर पपडी उतरना, मिट्टी का सडना आदि तो आदान-प्रदान के स्फुट उदाहरण है। अस्तु, यह यज्ञ जिनपर होता है, अर्थात् यज्ञ द्वारा भिन्न-भिन्न पदार्थो के उपादान जो बनते रहते है, वे क्षर-पुरुष है। वे स्वय क्षीण होकर पुरो को बनाते है, उनका रूप परिवर्तन होता है, इसलिये उन्हें क्षर कहा जाता है। और जो उस यज्ञ-क्रिया के प्रवर्तक है, जिनकी प्रेरणा से यज्ञ-क्रिया होती है, जो क्षर-पुरुषो का परिणाम कराते है, वे अक्षर-पुरुष है। ये परिणाम में निमित्तकारण मात्र है, स्वय विकृत नही होते—इसलिये इन्हें अक्षर-पुरुष कहते है। ये परिणामी पदार्थ, परिणामरूप यज्ञ-क्रिया और परिणाम के निमित्त—सब जिसके आश्रित हैं—वह सर्वाधार, कार्य-कारणशून्य निर्विकार अव्यय पुरुष कहा जाता है।

इन तीनो पुरुषो को सृष्ट, प्रविष्ट और विविक्त-शब्दो से भी कहते है। क्षर-पुरुष की ही भिन्न-भिन्न रूप से सृष्टि होती है, इसलिये वह सृष्ट है, अक्षर उसमें प्रविष्ट और अव्यय विविक्त, अर्थात् सब में रहता हुआ भी सबसे पृथक्—बे-लाग रहनेवाला है। इस विषय को और थोड़ा स्पष्ट करने के लिये ऊपर से नीचे की ओर आइये। इस सब परिवर्तनशील, विकारी, अनित्य, परस्पर भिन्न पदार्थों के समूहरूप जगत् का एक नित्य मूल अवश्य है—यह श्रुति ने निश्चय किया है। इसके अनुकूल तर्क भी श्रुति उपस्थित करती है और अनुभव के प्रकार भी बताती है। प्रकरणातर हो जाने के भय से इस विषय को यहाँ नही बढाया जाता। विकार, परिच्छेद, गुण और धर्म—ये सब जगत् के अतर्गत है, इसलिये सपूर्ण जगत् के एक मूल में इनका होना सभव नही। अतएव वह तत्त्व इद्रियातीत मनोवागतीत, सत्तामात्र निर्विशेष कहा जाता है। यद्यपि निर्धर्मक, निर्गुण होने के कारण उसका कोई नाम नही हो सकता, तथापि व्यवहार के लिये उसे शुद्ध ब्रह्म, निर्विशेष वा रस कहा करते है। इस रस की जो शक्ति सपूर्ण जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, सहार का कारण बनती है, उसे बल-शब्द से समझिये। बल की तीन दशाएँ है, जब तक वह प्रकट नही होता, उस अव्यक्त वा प्रसुप्त दशा में उसे बल ही कहेंगे, जब वह कार्य करने को प्रस्तुत हो, तब प्राण कहावेगा और कार्यरूप में जाकर विनाशोन्मुख होने की दशा में उसे ही क्रिया कहते है। बल की अविवक्षा कर शुद्ध-रस का निर्विशेष-शब्द से व्यवहार करते है—और प्रसुप्त दशावाले बल-सहित रस का 'परात्पर' शब्द से। ये दोनो विश्वातीत हैं, सृष्टि में ये कोई भाग नही ले सकते। न इनका कोई लक्षण कहा जा सकता है। जब वह बल

१. अन्न सात प्रकार का होता है, इसका विस्तृत विवरण 'बृहदारण्यक-उपनिषद्' में है।

जागरित—कार्योन्मुख होता है, तो सब से प्रथम असीम रस में सीमा—परिच्छेद (लिमिट) बनाता है, क्योकि वह (बल) स्वय परिच्छिन्न और अनित्य है, अत जहाँ वह रहेगा उस रस को भी परिच्छिन्न रूप में ही दिखावेगा, जैसे कि घट, मठ आदि असीम आकाश को परिच्छिन्न रूप में दिखाते है। अमित रस का मान (परिच्छेद, सीमा) यह बल कर देता है, इसीलिये इसे 'माया' (मान का कारण) कहा जाता है। असीम का ससीम से सबध ही कैसे बना? निर्विकार, शुद्ध एकरस में विकारी, परिच्छिन्न, अनेक बल आये कहाँ से—इत्यादि बातें बुद्धि के द्वारा अगम्य है—इसलिये इस बल या माया को अनिर्वचनीय कहना पडता है। माया द्वारा सीमाबद्ध होने पर मायाविशिष्ट रस का नाम 'अव्यय पुरुष' होता है। अव्यय पुरुष में यद्यपि बल द्वारा परिच्छेद हो गया है, किंतु 'ग्रथि' नही है, बल इसे बधन में न ले सका, इसलिये यह सृष्टि का उपादान या निमित्त नही बनता, केवल आलबनमात्र रहता है। विकारात्मक सृष्टि से यह परे ही रहता है, इसलिये इसे पर-पुरुष या पुरुषोत्तम कहते है।

अर्वाचीन वेदात-ग्रथो में इसे 'मायाशबलित ब्रह्म' कहा है और पचदशीकार ने ससार रूपी चित्र के लिये घट्टित (चावल आदि के द्वारा चिकनाया हुआ) पट इसे बताया है। इसमें दो भाग है, जिन्हें रस और बल, ज्ञान और कर्म या अमृत और मृत्यु कह सकते हैं। इसी अव्यय पुरुष का वर्णन यह श्रुति करती है—

> "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
> न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
> परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
> स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥"
>
> —श्वेताश्वतर
>
> "न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।"
>
> —भगवद्गीता ५।१४

इत्यादि भगवद्गीता-वचन का भी यही प्रतिपाद्य है।

बल के द्वारा परिच्छेद होने पर परिच्छिन्न वस्तु का एक केंद्र भी अवश्य बन जाता है। उस केंद्र में इच्छा शक्ति उत्पन्न होती है, जिसे श्रुति ने 'एकोऽहं बहुस्याम्' (मै एक ही बहुत रूप में प्रकट होऊँ, सृष्टि करूँ) इन शब्दो में कहा है, इस इच्छा शक्ति के द्वारा मायाबल पर काम, तप और श्रम नाम के तीन बल और उत्पन्न होते हैं, जिन्हें श्रुति ने—'सोऽकामयत' 'सोऽश्राम्यत्' 'सतपोऽतप्यत' इन शब्दो में स्थान-स्थान पर प्रकट किया है। यो बल[१] पर बल की चिति (चिनाई) आरभ होती है। यद्यपि प्रत्येक बल क्षणिक है, एक बल दूसरे का आधार बन नही सकता, किंतु स्थिर रस के आश्रय से धारावाही होकर वह स्थिर-सा बन जाता है और यो बलो पर बलो की चिति सभव हो जाती है। बल पर बल के ससर्ग का नाम ही सृष्टि है। ससृष्टि में से 'स' का लोप कर देने पर 'सृष्टि' शब्द बनता है। इस चिति के द्वारा निष्कल अव्यय पुरुष में पाँच कलाएँ प्रकट हो जाती हैं। इच्छाशक्ति उत्पन्न होते ही इसका नाम 'मन'[२] होता है, चिति के कारण इसी मन को 'चित्पुरुष' या 'चिदात्मा' भी कहा करते हैं। चिति दो प्रकार की होती है, अतश्चिति और बहिश्चिति। जो सृष्टि की ओर प्रवृत्त करनेवाली है, जिसके द्वारा कर्म का प्राबल्य होकर रस का आवरण हो जाता है, उसे 'बहिश्चिति' कहते हैं, यह 'ग्रथि' डालनेवाली चिति है और जिसके द्वारा कर्म-ग्रथि खुलती जाय, कर्म लीन होता जाय

१. जैसे मकान बनाने में ईंट पर ईंट या पत्थर पर पत्थर रखकर चिति (चिनाई) की जाती है, उसी प्रकार बल पर बल की भी चिति होती है। ऊपर-नीचे जमाना ही 'चिति' शब्द का अर्थ है।

२. इंद्रियों में जिस मन की गणना है, या भूतात्मा रूप जो मन है—वह इससे पृथक् है।

—लेखक

और रस का विकास होता जाय, वह 'अंतश्चिति' कहाती है। गाँठ लगना और गाँठ खुलना—दोनो कर्म के ही फल है, अत: दोनो चिति बल की ही हैं। बहिश्चिति सृष्टि का कारण बनती है और अंतश्चिति मुक्ति का। बहिश्चिति से प्राण और वाक्—ये दो कलाएँ प्रकट होती है और अंतश्चिति से विज्ञान और आनंद का विकास होता है। यो आनद, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये पाँच कलाएँ अव्यय पुरुष की सिद्ध होती है। इन्हें ही तैत्तिरीय-उपनिषद् में पाँच 'कोश' बताया है। वाक् का नाम वहाँ 'अन्न' आता है और सब नाम यथाक्रम ये ही है। कोश, अर्थात् निधान-खजाना। जो अक्षर, क्षर, पुर आदि आगे बनने वाले है—उनका आलंबन-निधान—खजाना ये ही अव्यय पुरुष की पाँच कलाएँ है, जिनके बिना जगत् की सृष्टि वा स्थिति नही हो सकती।

जो पदार्थ परिच्छिन्न—सीमाबद्ध होता है, वह अपूर्ण समझा जाता है और अपूर्ण की प्रवृत्ति पूर्ण होने की ओर रहती है, यह स्वाभाविक है। पूर्ण ही अपूर्ण बना है, इसलिये विज्ञानानुमोदित आकर्षण[1]-सिद्धात के अनुसार वह अपनी पूर्ण दशा में ही जाना चाहता है। अव्यय पुरुष ज्ञान (रस) और कर्म (बल) उभयात्मक है—यह कहा जा चुका है, अत रसरूप से यद्यपि वह पूर्ण है, किंतु बलरूप से सीमाबद्ध है। अपूर्ण बल पूर्णरूप में जाना चाहता है—क्योकि उसका भी विकास पूर्ण से ही हुआ है। पूर्ण होने के लिये यह आवश्यक है कि जो अपने से भिन्न हैं, उन्हें अपने में लिया जाय—उनको 'अन्न' बनाया जाय—उनका 'अशन' किया जाय। इस प्रवृत्ति का हेतु जो बल होता है, उसे श्रुति में 'अशनाया' बल कहा गया है—'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्, अशनायया, अशनाया हि मृत्युः' (बृहदारण्यक) इत्यादि श्रुति में सृष्टि के आरभ में इस ही अशनाया बल की स्थिति बतलायी गई है। मरणधर्मा होने के कारण बल का नाम मृत्यु भी है—यह कहा जा चुका है। अस्तु, अशनाया बल दूसरे बलो पर आक्रमण कर उन्हें अपनी ओर ले लेता है—यह आदान-क्रिया है, आदान के साथ ही निष्क्रमण—विसर्ग भी प्रारभ हो जाता है। ये आदान और विसर्ग अनवच्छिन्न—निरन्वय रूप में चलें, तो किसी पदार्थ की स्थिति ही न बन सके, इसलिये साथ ही 'प्रतिष्ठा' बल भी रहता है, जो आदान, विसर्ग होते हुए भी वस्तु की सत्ता रखता है। ये सब बल अव्यय पुरुष की 'प्राण' कला को आलबन बनाकर प्रकट होते हैं और ये ही 'अक्षर' पुरुष कहे जाते हैं। अक्षर पुरुष यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से बल-प्रधान-बलात्मक हैं, किंतु बिना 'रस' के आधार के बल की स्थिति ही नही, इसलिये रसात्मक अव्यय पुरुष इसमें अन्वित—अनुस्यूत (भीतर घुसा हुआ) है, वही इन बलो का आधार है, इसलिये अक्षर भी पुरुष है। इस अक्षर पुरुष की भी पाँच कलाएँ है—ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, अग्नि और सोम। पूर्वोक्त प्रतिष्ठाबल से अवच्छिन्न रस का नाम ब्रह्मा है, आदान (यज्ञ) बलवाला विष्णु और उत्क्रांति बलवाला इंद्र[2] कहा जाता है। जब आदान बल दूसरे बलो को अपनी तरफ लेता है, तो वहाँ अन्न, अन्नादभाव हो जाता है, एक वस्तु दूसरी वस्तु के अंतर्गत हो जाती है। जो अंतर्गत होती है, वह अन्न, और जिसके अतर्गत होती है, वह अन्नाद कहा जाता है। अन्न को सोम और अन्नाद को अग्नि कहते है। इन पाँच देवताओ के ही अवातर भेदो में सब देवता अंतर्गत होते हैं—जैसा कि निम्न निर्दिष्ट श्रुति में कहा गया है—

"यदक्षरं पञ्चविधं समेति
युजो युक्ता अभि यत् संवहंति।

[1] जो जिसमें से निकला हो, जिसका अवयव हो, वह अपने घन की ओर गति रक्खे—यहीं आकर्षण-सिद्धांत है। जैसे मिट्टी का ढेला पृथिवी की ओर अप् का विकार धूम अंतरिक्ष की ओर और तेज सूर्य की ओर स्वाभाविक गति रखता है।

[2] पौराणिक भाषा में इंद्र के स्थान में रुद्र कहा गया है, अप्रस्तुत होने से यह विचार यहाँ बढ़ाया नहीं जाता।

सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते
तत्र देवाः सर्व एकीभवंति ॥"

इन पाँच कलाओं में ब्रह्मा, विष्णु और इंद्र—ये तीन हृदय (केंद्र) में रहने के कारण हृद कहलाते हैं और अग्नि, सोम बाह्य कहे जाते हैं। जैसे अव्यय की प्राण-कला में अक्षर-पुरुष का विकास हुआ है, ऐसे ही अक्षर की ये अग्नि और सोम नाम की दो कलाएँ क्षर-पुरुष-बाह्यपिंड—भूतात्मा को बनाने में प्रधान भाग लेती हैं। शक्तिरूप अक्षर पुरुष से ही भूतरूप क्षर विकसित होता है, प्राण ही 'रयि' का उत्पादक है, फोर्स ही मैटर बनाती है, यह वैदिक सिद्धांत है। श्रुति में स्पष्ट कहा है—

"अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम् ।"

अक्षर-पुरुषरूप प्रजापति का अर्द्ध भाग मर्त्य—क्षर होता है और अर्द्ध अमृत—अपने रूप में रहता है। इस क्षर-पुरुष का आलंबन अव्यय की पाँचवी कला 'वाक्' है। इसी लिये सब भूतों को श्रुति 'वाक्' ही कहती है—

"अथो वागेवेदं सर्वम् ।"

क्षर-पुरुष की भी पाँच कलाएँ हैं, किंतु क्षर-पुरुष ही संपूर्ण सृष्टि का उपादान है, अत- वह अनेक भावों में देखा जाता है। प्रत्येक भाव में उसकी पाँच-पाँच कलाओं के पृथक्-पृथक् नाम हैं। आत्म-क्षर की कलाओं के अक्षर वाले ही नाम रहते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, अग्नि, वायु। मर्त्य-क्षर या विकार-क्षर दशा में इन पाँचों से क्रम से प्राण, आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद—इन पाँच कलाओं का विकास होता है। वेदांत की पंचीकरण-प्रक्रिया के अनुसार इन पाँचों मर्त्य-क्षरों का पंचीकरणात्मक यज्ञ होता है, अर्थात् ये पाँचों परस्पर मिलाये जाते हैं—जिनमें आधा भाग प्रधान का और आधे में शेष चार। इसी पंचीकरण-प्रक्रिया से पिंडों की उत्पत्ति है। जिसमें आधा भाग प्राण का और आधे में समान मात्रा में आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद चारों हों—वह प्राण-प्रधान 'स्वयंभू' मंडल कहा जाता है। जिसमें आधा भाग 'अप' का और आधे में समानमात्रा में प्राण, वाक्, अन्न और अन्नाद चारों हों—वह अप्-प्रधान 'परमेष्ठी' मंडल बनता है। यों ही वाक्-प्रधान 'इंद्र' (सूर्य) मंडल, अन्न-प्रधान 'चंद्र' मंडल और अन्नाद-प्रधान 'पृथिवी' मंडल—पूर्वोक्त पंचीकरण की प्रक्रिया से बनते हैं। इस प्रकार यज्ञ-क्षर की पाँच कलाएँ, स्वयंभू, परमेष्ठी, इंद्र (सूर्य), चंद्रमा और पृथिवी नाम से कही जाती हैं। इसे ही लोक-सृष्टि या भुवन-सृष्टि कहते हैं। इसका विवरण मनुस्मृति के आरंभ में ही इन श्लोकों में है—

"ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
योऽसावतींद्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिंत्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदंडमभवद्धैमं[1] सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा[2] सर्वलोकपितामहः ॥
तस्मिन्नंडे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदंडमकरोद्द्विधा ॥

१. यह हैम-अंड ही सूर्य है, इस मंडल में इंद्र ही की प्रधानता है—'यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिंद्रेण गर्भिणी' श्रुति का वचन है। जैसे पृथिवी में अग्नि व्याप्त है, वैसे सूर्यमंडल में इंद्र-प्राण व्याप्त है।

२. यह ब्रह्मा सूर्यमंडलस्य प्रजापति है।

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम[1] दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ।।"

इनमें उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व की व्याप्ति में उत्पन्न होता है और पूर्व से ही बद्ध उसके वश में रहता है। चद्रमा पृथिवी की व्याप्ति के अतर्गत है और पृथिवी से बद्ध है, इसी के चारो ओर घूमता है। पृथिवी सूर्य से बद्ध है। सूर्य परमेष्ठी (इस नाम के मडल) से बद्ध है, उसकी व्याप्ति में है, उसके चारो ओर घूमता है और परमेष्ठी भी स्वयभूमडल से बद्ध है, उसके चारो ओर घूमता है। ये पाँचो मंडल विश्व की एक 'वल्श' (शाखा) कही जाती है, ऐसी अनत शाखाएँ अनत आकाश में परिव्याप्त है । इन पाँचो क्षरमडलो में एक-एक अक्षर-प्राण की प्रधानता है, इसलिये ये उन (अक्षर) नामो से भी कहे जाते है। स्वयमू में ब्रह्मा, परमेष्ठी में विष्णु, सूर्य में इद्र, पृथिवी में अग्नि और चद्रमा में सोम प्रधान है, अतएव इन मडलो को क्रम से ब्रह्मा, विष्णु, इद्र, अग्नि और सोम नाम से भी कहा जाता है। इनमें पृथिवी और सूर्य के मध्य में जो अतरिक्ष है, उसमें रहनेवाला चंद्रमा मडलो की सख्या में ले लिया गया है, किंतु सूर्य और परमेष्ठी के मध्य के अतरिक्ष के ब्रह्मणस्पति, वरुण आदि मडल वा परमेष्ठी और सूर्य के मध्य के अतरिक्ष के विश्वकर्मा आदि का मडल पृथक् नही गिने गये है, क्योकि उनसे हमारा (इस पृथिवी का) साक्षात् सबध नही है, चद्रमा से घनिष्ठ सबध है। यदि उन दोनो अतरिक्षो की भी गणना कर ली जाय तो सात लोक हो जाते है, जो कि भू, भुव, स्व, मह, जन, तप, सत्यम्—इन नामो से प्रसिद्ध हैं। भू—पृथिवी, भुव—अतरिक्ष, स्व—द्युलोक—सूर्य, मह—अतरिक्ष (दूसरा), जन—परमेष्ठी, तप—अतरिक्ष (तीसरा), सत्य—स्वयमू। इनमें तीन पृथिवी, तीन अतरिक्ष और तीन दिव (द्युलोक) है, किंतु दो जगह दिव और पृथिवी एकरूप हो जाते है—इसलिये सात ही लोक रहते है। जैसे हमारी पृथिवी की अपेक्षा सूर्य दिव है, किंतु उसे पृथिवी मान कर परमेष्ठी-दिव बनता है और परमेष्ठी को पृथिवी मान कर स्वयमू-दिव होता है, यो सूर्य और परमेष्ठी पृथिवी रूप भी होते है—और दिवरूप भी। अतरिक्ष तीनो पृथक्-पृथक् रहते है। इसी आशय से श्रुति में तीन पृथिवी और तीन द्युलोको का कई जगह उल्लेख हुआ है—

"तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेकः
तिस्रो द्यावो निहिता अंतरस्मिन् ।
तिस्रो भूमीरुपरा षड्विधानाः ।"

—इत्यादि

ये स्वयमू आदि पाँच 'यज्ञ-क्षर' वा 'अधिदैवत-क्षर कहे जाते हैं'—इनसे क्रमसे पाँच 'आध्यात्मिक-क्षर' होते है—जो प्रत्येक प्राणी में वर्तमान है। इनके नाम अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान और शरीर है। यहाँ शरीरपद से स्थूल-शरीर लिया गया है। प्रज्ञान इद्रिय-सहित मन का नाम है, विज्ञान बुद्धि को कहते है, महान् तीन प्रकार का है—आकृतिमहान्, प्रकृतिमहान् और अहकृतिमहान्। पहले के अनुसार प्रत्येक प्राणी का आकार (अवयवसनिवेश, छोटा-बडापन आदि) होता है, जैसा कि श्रीभगवद्गीता में कहा है—

"सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः संभवंति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।"

—भागवद्गीता, १४।४

दूसरे के अनुसार प्रत्येक प्राणी की प्रकृति (आदत) होती है, तीसरा अहकाररूप है। ये तीनो (प्रज्ञान, विज्ञान और महान्) मिल कर सूक्ष्म शरीर कहे जाते है। अव्यक्त कारण शरीर है,

[1] व्योम—अंतरिक्ष—अंतरिक्षस्थ चंद्रमा।

जिसमें से दोनो शरीरों का विकास है। इन पाँचो आध्यात्मिक क्षरो की समष्टि उक्त पाँचो आधिदैविक क्षर है, उन पाँचो मडलो के 'रस' से क्रम से ये पाँचो उत्पन्न होते हैं। आध्यात्मिक क्षर की पाँच कलाएँ दूसरी प्रक्रिया से भी कही-कही उल्लिखित हुई हैं—बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा और वित्त। बीजचिति—कारण शरीर है, देवचिति—सूक्ष्मशरीर, भूतचिति—स्थूलशरीर, प्रजा-पुत्रादि और वित्त-सपत्ति। इस प्रक्रिया में क्षर-आत्मा की व्याप्ति जहाँ तक है, उन सब बाह्य पदार्थों का भी सग्रह हो जाता है। मतातर में उन्हें 'पशु' शब्द से कहा गया है, तीन पुरुषो की गणना में नही लिया गया। अस्तु, इस सक्षिप्त लेख में पुरुषत्रय के सबध में इससे अधिक नही लिखा जा सकता, इसका विस्तार जिन विद्वान् सज्जनो को समझना हो, वे गुरुवर विद्यावाचस्पति श्री६ मधुसूदन जी ओझा का 'भगवद्गीता-वैज्ञानिक भाष्य' वा उनके 'ब्रह्मविज्ञान' का 'सिद्धातवाद' पढें।

साराश यह सिद्ध हुआ कि सपूर्ण जगत् का उपादान कारण क्षरपुरुष, उसमें अव्यक्त रूप से रहकर शक्तिविशेष रूप से उसे चलानेवाला निमित्तकारण अक्षरपुरुष और दोनो का आलबन कार्य-कारणातीत अव्यय पुरुष कहा जाता है। यद्यपि अव्यय-पुरुष सृष्टि में कोई काम नही करता, वह निर्विकार, निष्क्रिय है, किंतु वह रसमय है, उसी का रस अक्षर और क्षर दोनो में अनुस्यूत-समन्वित है, उस रस का आश्रय न हो, तो शक्तिरूप अक्षरपुरुष वा उससे उत्पन्न क्षरपुरुष ठहर ही न सकें, इसलिये समन्वय के कारण अव्यय-पुरुष ही सब सृष्टि का मूल कहा जाता है। उछल-कूद सब कुछ लहरो की ही हैं, लहरे ही फेन आदि बनाती है, किंतु आधारभूत जल न हो तो लहरे रहें किसपर? जल को धारण करनेवाला घट ही है, किंतु आकाश न हो तो घट और जल दोनो ही कहाँ रहें? अतएव केवल अव्यक्त (अक्षर) से सृष्टि माननेवाले अव्यक्त को ही परतत्त्व कहनेवाले साख्यवादियो को भगवद्गीता में फटकार बतायी गयी है—

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः।
परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम्॥"

—भगवद्गीता ७।२४

निर्बुद्ध लोग मुझे (परतत्व, परमात्मा को) अव्यक्त (अक्षर, शक्तिविशेष) रूप कहते है—और अव्यक्त की ही व्यक्ति (प्रकटता) को जगत् मानते है, वे सबसे उत्तम अव्यय नाम के मेरे पर-भाव (स्व-रूप) को नही जानते। इसीलिये परमपुरुष परमात्मा अव्यय अकर्ता होता हुआ भी कर्ता है—

"तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।"

क्षर की पाँच कला, अक्षर की पाँच और अव्यय की पाँच इन पद्रह कलाओ का श्रुति निष्कल अव्यय (मायाविशिष्ट रस) में ही लीन होना बताती है—

"गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्वं एकीभवंति॥"

यो यह अव्यय-पुरुष सब में समन्वित होकर भी असग है। सग नाम आसक्ति का है, जिसे 'बंध' भी कहते है। जैसे कि किसी पात्र में तेल डालने पर तेल का सग हो जाता है, कपडे में मैल का या रगत का सग हो जाता है—इत्यादि। जिस प्रकार काच में प्रतिबिंब का सग नही होता, कमल-पत्र में जल का सग नही होता, आकाश में मेघ का सग नही होता—वैसे ही अव्यय-पुरुष में अक्षर, क्षर-प्रपच का सग नही होता। वह बेलाग रहता है।

ईश्वर और जीव

इन पंद्रह कलाओ में, सर्वत्र अनुस्यूत-समन्वित, निष्कल 'परात्पर' रस को भी एक कलारूप में जोड दिया जाय तो सोलह कलाएँ हो जाती है। ये सोलह कलाएँ ईश्वर और जीव दोनों में है,

अतएव दोनो ही 'षोडशी' (सोलहवाले) कहलाते है, किंतु भेद इतना ही है कि ईश्वर में (षोडशी) अव्यय-आत्मा का क्षर द्वारा आवरण नही होता, किंतु जीव में आनद, विज्ञान आदि अव्यय-पुरुष की कलाएँ क्षर से आवृत हो जाती है। आवरण करनेवाला 'काम' बल है, उसकी जीव में प्रधानता है, अत जीव में अव्ययात्मा आवृत रहता है। यद्यपि 'सोऽकामयत'—इत्यादि श्रुतियो से ईश्वर में भी काम सिद्ध होता है, काम न हो, तो सृष्टि ही कैसे करे? किंतु 'सर्ग' काम ही उसमें है, 'भोग' काम नही है। आप्तकाम, आत्माराम होने के कारण सुख-दुःख भोग वह नही चाहता। इसीलिये काम उसके अव्यय-स्वरूप का आवरण नही कर सकता। अनावृत अव्ययात्मा की प्रधानता के कारण ही परमेश्वर अव्यय-स्वरूप कहलाता है। जीव स्वयम् अक्षर होता हुआ भी क्षरानुगामी होने से क्षर-कोटि में अपने को मान लेता है। अक्षर की ब्रह्मा, विष्णु आदि कलाएँ आपेक्षिक ईश्वर रूप में मानी जाती है।

क्षर की आध्यात्मिक कलाओ में—मध्य में जिस विज्ञान (बुद्धि) का नाम आया है वही बध, मोक्ष का प्रधान कारण है। उसके दो रूप है—एक रूप बधन का हेतु है, वही अव्यय की कलाओ का आवरण करता है, दूसरा रूप मोचन (मोक्ष) का हेतु है, वह आवरण को दूर कर अव्ययात्मा का प्रकाश करता है। मोक्ष-हेतु रूप को व्यवसायात्मक बुद्धि कहते है और बध-हेतु रूप को अव्यवसायात्मक। काम बल और उससे होनेवाले कर्म वा इन दोनो की वासना—जहाँ प्रबल होकर आवरण कर लेती है—वह अव्यवसायात्मक रूप है और जहाँ ये न हो, वह व्यवसायात्मक। व्यवसायात्मक बुद्धि के चार रूप है—धर्म, ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य। इनके विपरीत अव्यवसायात्मक बुद्धिके भी चार रूप है—अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। ये ही रूप 'पचक्लेश' कहे गये है। ज्ञान के विरोधी अज्ञान (अन्यथा-ज्ञान) का नाम अविद्या है, ऐश्वर्य का विरोधी अनैश्वर्य ही अस्मिता (अहकार, देहादिरूप से परिच्छिन्नता) रूप से प्रतीत होता है, अवैराग्य—राग और द्वेष दो शब्दो से कहा जाता है और अधर्म रज और तम की वृद्धि के द्वारा अभिनिवेश रूप में परिणत होता है। जीव इन पाँचो क्लेशो से अभिभूत रहता है, किंतु ईश्वरमें इनके विरोधी चारो रूप पूर्ण मात्रा में स्वत सिद्ध रहते है। बुद्धिप्रसादका नाम ज्ञान है, स्वच्छ बुद्धिमें ज्ञान रूप अव्ययात्मा का पूर्ण प्रतिबिंब होता है, यह बुद्धि का रूप अविद्या का निवर्तक है—इसका विवरण 'अमानित्वमदंभित्वम्' इत्यादि गीता बचनो में किया गया है। बुद्धि का विकास ऐश्वर्य है, इससे शरीरादि परिच्छेदरूप अस्मिता निवृत्त होती है। आसक्ति रूप ग्रथिबध का अभाव वैराग्य है। इससे राग, द्वेष हट जाते है। सत्त्वगुण की वृद्धि को धर्म कहते है, इससे रज और तम का अभिभव होकर अभिनिवेश निवृत्त होता है। बस, क्लेशो की निवृत्ति होने पर अव्ययात्मा का आवरण नही रहता और उसकी कलाओ का पूर्ण विकास होता है। जीव में भी यह चतुःस्वरूपा व्यवसायात्मक बुद्धि अष्टागयोग आदि प्रयत्नो से ईश्वर-भक्त होने पर उत्पन्न हो सकती है, किंतु वह यत्नसाध्य है, ईश्वर की तरह स्वत सिद्ध नही। जीवो में विद्यमान आवेशो की ध्वस-रूप निवृत्ति करनी पडती है, किंतु ईश्वर में क्लेशो का स्वत सिद्ध अत्यताभाव है। प्रयत्न करने पर भी जीवो में चारो रूपो की परिपूर्णता नही हो पाती। जब तक जीवभाव है तब तक सूक्ष्म वा स्थूल किसी रूप में क्लेशो का अनुबध रहता ही है, अत अव्यय की कलाओ का भी पूर्ण विकास जीवो में नहीं हो पाता। योग-सूत्रकार भगवान् पतजलि ने भी ईश्वर का यही लक्षण किया है—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।"

बस, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य जिसमें स्वत सिद्ध पूर्ण रूप से हो, अविद्या आदि पाँच क्लेशो का जहाँ लेशमात्र न हो, अव्यय पुरुष की कलाएँ जहाँ अनावृत हो—यही परमेश्वर, परमात्मा का लक्षण सिद्ध हुआ।

अवतार का विवरण

वह परमेश्वर परमात्मा स्व-स्वरूप से अविज्ञेय है, स्वरूप-लक्षण द्वारा हम उसे पहिचान नही सकते। वह सब में निलीन—निगूढ है, किंतु जगत् जो कि प्रत्यक्ष है, वह भी उससे पृथक् नहीं।

वही जगत् है और वही जगत् का नियता है, इसलिये जगत् में जो-जो रूप उसके जगत् का नियमन करते दिखायी देते हैं, उनके द्वारा ही हम परमात्मा को पहचान सकते है, उनके द्वारा ही उपासना कर सकते है, वे ही परमेश्वर के 'अवतार' है, दूसरे शब्दो में यह कहिये कि क्षर-पुरुष में अव्यय-पुरुष की जो कलाएँ परिचित होती है, वे ही 'अवतार' है, उनके द्वारा ही अव्यय-पुरुष उपास्य या ध्येय होता है। इसी कारण अवतार का वाचक श्रीमद्भागवतादि में 'आविर्भाव' शब्द भी आया है और जगद्व्यापी विराट्-रूप को ही भागवत में पहला अवतार बताया गया है—

"एतन्नानावताराणा निधान बीजमव्ययम् ।"

—भागवत १।३।५

जगत् में परमात्मा जो आविर्भूत होता है, सो मानो अपने स्व-स्वरूप—स्वधाम से जगत् में उतरता है, अव्यय-पुरुष ही क्षररूप में उतरकर आया है, इसलिये उसे 'अवतार' कहते है। परमात्मा का रूप 'सत्य' है, वह तीनो कालो में, सब देशो में, सब दशाओ में अबाधित रहता है, कारण को सत्य कहते है, वह सबका कारण है—इसलिये परम सत्य है। वह सत्य जगत् में 'नियति' रूप से प्रकट है। प्रत्येक पदार्थ के भीतर एक नियम काम कर रहा है, जल सदा नीचे की ओर ही जाता है, अग्नि की ज्वाला सदा ऊपर को ही उठती है, वायु सदा तिरछी ही चलती है, सूर्य नियत समय पर ही उदय होता है, हरिण के दोनो सीग बराबर नाप में बढते हुए समान रूप से मुडते है, बेर के वृक्ष में प्रत्येक पर्व पर दो काँटे पैदा होते हैं—जिनमें एक मुड जाता है, एक खडा रहता है। वसत-ऋतु आते ही आम के वृक्षो में मजरी निकलने लगती है। इस प्रकार सब जगत् को अपने-अपने धर्म में नियत रूप से स्थिर रखनेवाली शक्ति जिसमें कि चेतना भी अनुस्यूत है, अतर्यामी, नियति वा सत्य-शब्द से कही जाती है। कह सकते है कि उस परम सत्य का नियति रूप से यह जगत् में अवतार है। इसी प्रकार सत्, चित्, आनद परमात्मा के रूप शास्त्रोमें वर्णित है, उनका जगत् में प्रतिष्ठा, ज्योति और यज्ञ के रूप में अवतार होता है। सत्ता और विधृति ये दोनो प्रतिष्ठा के रूप है, प्रत्येक पदार्थ अपना अस्तित्व रखता है और अपने कार्य को अपने आधार पर धारण करता है। जैसा कि मृत्तिका-घट का वा ततु पटका—ये सत्ता के 'विश्वचर' रूप हुए। चित् (ज्ञान) का विश्वचर रूप 'ज्योति' है, इसके तीन भेद है—नाम, रूप और कर्म। इन्ही से सब पदार्थों का प्रकाश (ज्ञान) होता है, ये ही सब पदार्थों के भेदक है। आनद का विश्वचर रूप 'यज्ञ' है, अन्नाद का अन्न-ग्रहण करना ही यज्ञ कहाता है, इसलिये 'अन्न' नाम से भी इस रूप का व्यवहार करते हैं। अन्न-ग्रहण से वस्तु का विकास होता है और विकास ही आनद का रूप है, इस 'यज्ञ' का विवरण पूर्व में किया जा चुका है। इन तीनो विश्वचर-रूपो को भी 'प्रतिष्ठा वै सत्यम्', 'नामरूपे सत्यम्' इत्यादि श्रुतियो में 'सत्य' शब्द से कहा है—

"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमय तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥"

इस श्रुति में सर्वज्ञ पर-पुरुष अव्यय से इन्ही तीन विश्वचर-रूपो की उत्पत्ति कही गयी है। विश्वातीत रूपो का विश्वचर-रूप से अवतार ही उत्पत्ति है, श्रुति में ब्रह्म नाम प्रतिष्ठा का और अन्न नाम यज्ञ का है। इन तीनो सत्यो का भी सत्य परमात्मा है, इसलिये वह 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण की 'गर्भस्तुति' आरभ करते हुए देवताओ ने कहा है—

"सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥"

जिनके व्रत-कर्म या संकल्प सत्य हैं, (देवताओ के—अग्नि, वायु, सूर्य आदि के धर्म व्यभिचारी नही होते, इस विशेषण से सर्वदेवरूपता भगवान् की बतायी गयी है) सत्य ही जिनका पर—

आश्रय—आधार है (इससे पूर्वोक्त नियति-रूपता भगवान् की कही गयी) जो तीनो काल में सत्य—अबाधित है वा तीन रूप से जो सत्य है (अतर्यामी, वेद और सूत्रात्मा—ये तीन भगवान् के सत्य रूप हैं), जो सत्य के (पूर्वोक्त प्रतिष्ठा, नाम-रूप और यज्ञ के) कारण है, जो उक्त तीनो सत्यो में निहित-निगूढ रूप से प्रविष्ट हैं वा जो अव्यय पुरुष रूप भगवान् परम सत्य—शुद्धरस रूप ब्रह्म में निहित आत्म रूप से स्थित है, जो सत्यके भी सत्य है, अर्थात् कारणो के भी कारण है (कार्य की अपेक्षा कारण को सत्य कहा जाता है), अथवा प्रजापति का नाम सत्य है, उसमें भी जो सत्य है, अर्थात् प्रजापति की सत्यता भी जिन पर अवलवित है, ऋत और सत्य दोनो जिनके नेत्र (सूत्र) है, (जिनका केंद्र न हो, उन्हें ऋत कहते हैं—जैसे वायु, जल आदि और जो केंद्रबद्ध हो, वे सत्य कहाते हैं—जैसे तेज, पृथिवी आदि। इन दोनो प्रकार के नेताओ में (रई चलाने की रस्सियाँ) से जिन्होने सब प्रपच को पकड रक्खा है, इन दोनो भावो की अभिव्यक्ति परमेष्ठि डल में होती है। इससे भगवान् का परमेष्ठी रूप बताया गया) स्वय भी जो सत्य स्वरूप है—उन भगवान् की हम शरण है।" इस श्लोक में भगवान् के सत्य रूपो का सक्षिप्त विवरण है।

उक्त (नियति, प्रतिष्ठा, नाम-रूप आदि) रूपो से परमात्मा का प्रथम अवतार स्वयभू में होता है, वही विश्व का प्रथमोत्पन्न[1] रूप है। अत. सत्य का प्रथम आविर्भाव यही है। आगे परमेष्ठी में, सूर्य में, चद्रमा में और पृथिवी में क्रमिक अवतार है। पृथिवी द्वारा पृथिवी के सब प्राणियो में भी परमात्मा के विश्वचर-रूपो का आशिक अवतार होता है। अत. स्वयभू भगवान् का प्रथमावतार और आगे के परमेष्ठी आदि भी अवतार कहे जाते है। इनमें पूर्व-पूर्व का 'प्राण' उत्तरोत्तर में अनुस्यत होता है, इससे पूर्व-पूर्व के धर्म न्यूनाधिक मात्रा में उत्तरोत्तर में सक्रात है, स्वयभू का 'प्राण' और उसके धर्म परमेष्ठी में, दोनो के सूर्य में, तीनो के चद्रमा में, चारो के पृथिवी में और पाँचो के प्राणियो में सक्रात होते है। कौन-कौन मडल किस-किस 'प्राण' का अन्यत्र सक्रमण करता है—यह भी श्रुतियो से प्रमाणित हो जाता है। स्वयभू भडल से सत्य, चित् और सूत्र—(ऋत, सत्य), परमेष्ठि मडल से भृगु, अगिरा, अत्रि, सूर्य से ज्योति, गौ, आयु, चद्रमा से यश, रेत और पृथिवी से वाक्, गौ, द्यौ—ये प्राण निकलते रहते है और अन्यत्र सक्रात होते है। इन सबका विवरण इस लेख में नही किया जा सकता, सक्षेप में इतना ही कहना है कि प्राणिमात्र में, विशेषत मनुष्यो में जो शक्तियाँ देखी जाती है, वे इन्ही भगवान् के अवतारो से प्राप्त है। भिन्न-भिन्न शक्ति के अधिष्ठान भिन्न-भिन्न आत्माओ का विकास भी प्राणियो में इन मडलो से प्राप्त प्राणो द्वारा ही होता है, जैसे खनिज आदि में केवल वैश्वानर आत्मा, वृक्षादि में वैश्वानर और तैजस, आगे प्राणियो में वैश्वानर, तैजस और प्रज्ञान ये तीनो भूतात्मा, मनुष्यो में भूतात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, सूत्रात्मा आदि विकसित होते है। जहाँ-जहाँ जिस मडल के प्राण की अधिकता हो, उसीके अनुसार उसमें विशेष शक्ति पायी जाती है और उसे उसका ही अवतार कहा जाता है। इस प्रकार सभी प्राणी एक प्रकार से भगवान् के विभूति-अवतार कहे जा सकते है, किंतु जिसमें शक्तियो का जितना अधिक विकास होता है, वह उतने ही रूप में औरो का विभूति रूप से उपास्य हो जाता है। जिनमें जीव-कोटि से अधिक शक्तियो का विकास हो, बुद्धि के चारो ऐश्वर-रूप या उनमें से एक, दो या तीन मनुष्य कोटि से अधिक मात्रा में जहाँ प्रकट हुए हो, जीव साधारण आवरण हट कर अव्ययात्मा की कलाएँ जिनमें आविर्भूत दीख पड़े, उन्हें विशेष रूप से अवतार माना जाता है और जहाँ पूर्ण रूप से सब शक्तियो का विकास हो, पूर्ण रूप से अव्ययात्मा की सब कलाएँ प्रकट हो, वे पूर्णावतार वा साक्षात् परमेश्वर रूप से उपास्य होते है।

श्री कृष्णावतार

यह ईश्वर और अवतार का रहस्य दृष्टि में रखकर अब भगवान् श्री कृष्ण के चरित्रो की आलोचना कीजिये तो स्फुट रूप से भासित हो जायगा कि वे 'पूर्णावतार' है। दुराग्रह छोड़ दिया जाय, तो

१. देखिये, पहले क्षर-पुरुष की आधिदैविक कलाओं का निरुपण।

विवश होकर कहना ही पड़ेगा—'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' (श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान्—परब्रह्म परमेश्वर है)। पहले बुद्धि के चारो ऐश्वर रूपो को ही देखिये (धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य), इनकी पूर्णता श्रीकृष्ण में स्पष्ट प्रतीत होगी। धर्मकी स्थापना के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार है, उनका प्रत्येक कार्य धर्म की कसौटी है, उनके सब चरित्र शुद्ध, सात्विक है, रज और तम का वहाँ स्पर्श भी नही है। 'अमानिता', 'अदम' आदि बुद्धि के धार्मिक गुणो को पूर्ण मात्रा में वहाँ मिला लीजिये। युधिष्ठिर महाराज के यज्ञ में आगतुको के चरण-प्रक्षालन का काम आपने लिया था, महाभारत में अर्जुन के सारथि बने थे। इन बातो से बढ़कर निरभिमानता क्या हो सकती है? भगवान् श्री रामचंद्र इसलिये धार्मिक-शिरोमणि-मर्यादा-पुरुषोत्तम कहाते है कि पिता की आज्ञा से उन्होने राज्य छोड़ दिया था। अब विचारिये—वहाँ साक्षात् पिता की साक्षात् आज्ञा थी, किंतु कस के मारने पर जब भगवान् श्री कृष्ण से मथुरा का राज्य ग्रहण करने का सब बाधवो ने अनुरोध किया तो आपने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि 'हमारे पूर्व पुरुष यदु का महाराज ययाति ने वश-परपरा तक के लिये राज्याधिकार छीन लिया है—इसलिये हम राजा नहीं हो सकते'। यो आपने बहुत पुराने पूर्वपुरुष की परोक्ष आज्ञा का संमान कर राज्य छोडा, इससे आपका धार्मिक आदर्श कितना ऊँचा सिद्ध होता है? धर्म के प्रधान अग सत्य में आप इतने सुदृढ थे कि शिशुपाल की माता को शिशुपाल के सौ अपराध सहन करने का वचन दे दिया था। युधिष्ठिर की यज्ञ-सभा में शिशुपाल के कटुभाषण पर सदस्यों को क्रोध आ गया, किंतु आप सौ की पूर्ति तक चुपचाप रहे, सौ पूर्ण होने पर ही उसे मारा। इसके अतिरिक्त धर्मके नाम पर जो लोग उलटे मार्ग में फँसते है, दो धर्मों का परस्पर विरोध दिखायी देने पर उस ग्रथि को सुलझाने में जो बड़े-बड़े विद्वानो की भी बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है और भ्रातिवश अधर्म को धर्म मान लेती है, उन ग्रथियो को अपने आचरण और उपदेश दोनो से भगवान् श्री कृष्ण ने खूब सुलझाया है। धर्म के सब अंगो को पूरा निभाया है। धर्म का स्वरूप सदा देश, काल, पात्रसापेक्ष होता है, एक समय एक के लिये जो धर्म है, भिन्न अवसर में वा भिन्न अधिकारी के लिये वही अधर्म हो जाता है। इस अधिकार-भेद—'श्रेयान् स्वधर्मः' के आप पूर्ण ज्ञाता थे। धर्म का बलाबल आप खूब देखते थे। दुष्टो का किसी भी प्रकार दमन आप धर्मानुमोदित मानते थे। कर्णार्जुन-युद्ध में रथ का पहिया पृथिवी में चले जाने पर, धर्म की दुहाई देकर अर्जुन से शस्त्र चलाना बद करने का अनुरोध करते हुए कर्ण को आपने यही कहकर फटकारा था कि 'जितने अपने जीवन के आचरणो में धर्म का कभी आदर नही किया, उसे दूसरे से अपने लिये धर्माचरण की आशा करने का क्या हक है?' कालयवन जब अनुचित रूप से बिना कारण मथुरा पर चढ़ाई कर आया, तो उसे धोखा देने में आपने कुछ भी अनौचित्य नही समझा। अधार्मिको के साथ भी यदि पूर्ण धर्म का पालन किया जाय, तो अधार्मिको का हौसला बढता है और धर्म की हानि होती है। इसलिये समाज-व्यवस्थापक को इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। रथचक्र लेकर भीष्म के सामने दौडते हुए आपने जब भीष्म पर आक्षेप किया कि 'तुमने धार्मिक होकर भी अधर्मी दुर्योधन का साथ क्यो दिया' तब भीष्म के—'राजा परं दैवतम्' (राजा बड़ा देवता है, उसकी आज्ञा माननी ही चाहिये) रूप उत्तर देने पर आपने स्पष्ट कहा था कि 'दुष्ट राजा कभी माननीय नही होता, तभी तो देखो मैंने स्वय कस का निग्रण किया।' यो सामाजिक नेता के धर्मो की आपने खूब शिक्षा दी है और धर्म के साथ नीति का क्या स्थान है, कहाँ-कहाँ नीति को प्रधानता देनी चाहिये और कहाँ-कहाँ धर्म को—इसे खूब स्पष्ट किया है। नीति का उपयोग जहाँ धर्म रक्षा में होता हो—वहाँ आप नीति को प्रधानता देते है। इस व्यवस्था को भूल जाने से ही भारतवर्ष विदेशियो का पादाक्रात हुआ है और परिणाम में इसे धर्म की दुर्दशा देखनी पड़ी है। अस्तु, कर्ण-पर्व में महाराज युधिष्ठिर के गांडीव-धनुष की निंदा करने पर सत्य-प्रतिज्ञा-निर्वाह के उद्देश्य से युधिष्ठिर पर शस्त्र चलाने के लिये उद्यत अर्जुन को ऐसे अवसर में सत्य-पालन का अनौचित्य बताते हुए आपने रोका था—और 'बडो की निंदा ही उनका हनन है', इस अनुकल्प से सत्य-रक्षा करवायी थी। सौप्तिक-पर्व में अश्वत्थामा ने जब सोते हुए द्रौपदी के पाँचों पुत्रों

को मार दिया और अर्जुन उसके वध की प्रतिज्ञा से, विलखती द्रौपदी को सान्त्वना देकर युद्ध में जीतकर उसे पकड लिया—तब युधिष्ठिर और द्रौपदी कह रहे थे कि 'ब्रह्म-हत्या मत करो, इसे छोड दो' भीमसेन कह रहे थे 'कि ऐसे दुष्ट को अवश्य मार दो' अर्जुन की प्रतिज्ञा भी मारने के पक्ष में थी—उस समय भी आपने 'धन-हरण मारने के ही सदृश होता है, इसके मस्तक की मणि निकाल लो' यह अनुकल्प बताकर अर्जुन से दोनो गुरुजनो की आज्ञा का पालन कराया था और उसे ब्रह्म-हत्या से बचाकर अनुकल्परूप से सत्य-रक्षा करवायी थी। ऐसे प्रसग 'धर्मग्रथि' सुलझाने में आदर्श उदाहरण है। भगवद्गीता के प्रारंभ में अर्जुन के विचार स्थूल दृष्टि से बिल्कुल धर्मानुकूल प्रत्युत एक आदर्श धार्मिक के विचार प्रतीत होते हैं, किंतु आपने 'स्व-धर्म' विरुद्ध कहकर—'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' के द्वारा उन विचारो को बिल्कुल अनुचित ठहराया और उसे युद्ध में प्रवृत्त किया, जो कि गीता का स्वाध्याय करने पर बिल्कुल ठीक मालूम होता है। बाल्यकाल में ही गोपो द्वारा इद्र की पूजा हटाकर आपने जो गोवर्धन-पूजा प्रवृत्त की, उसमें भी यही अधिकार-भेद का रहस्य काम कर रहा है। आपका यही अभिप्राय है कि ईश्वर जब सर्वव्यापक है, तो गोवर्धन जो हमारे समीप है और जिससे हमारी सब प्रकार पालना होती है, उसे ही ईश्वर की मूर्ति मानकर क्यो न पूजा जाय ? क्या वह ईश्वर की विभूति नही है ? 'इंद्र की पूजा करनेसे इद्र वर्षा करेगा' इस काम्य-धर्म के आप सदा से विरोधी रहे हैं, इसे आपने स्थान-स्थान पर 'दूकानदारी' बताया है और धर्म-सीमा से बहिर्भूत माना है। अपना कर्तव्य समझ धर्म का अनुष्ठान करना—यही श्रीकृष्ण भगवान् की शिक्षा है। अस्तु, विस्तार का प्रयोजन नही, सर्वागपूर्ण, बलाबल-विवेचना-सहित, आदर्श धर्म का आपकी कृति और उपदेशो में पूर्ण निर्वाह है। इसीलिये उस कालके धार्मिक नेता भगवान् व्यास जी, बाल-ब्रह्मचारी भीष्म वा धर्मावतार युधिष्ठिर आदि आपको साक्षात् ईश्वर मानते थे और धर्मग्रथि सुलझाने में आपको प्रमाणित करते थे। महाराज परीक्षित का जब मृत बालकदशा में जन्म हुआ, तो उसको जिलाते समय भगवान् श्री कृष्ण ने अपनी धर्मपरायणता का ही आधार रक्खा है—ऐसा महाभारत में भी आख्यान है। वहाँ उनकी उक्ति यही है कि 'यदि मैने आजन्म कभी धर्म का वा सत्य का अतिक्रम न किया हो तो यह बालक जी उठे.। इससे अपनी धर्मपरायणता का आदर्श और धर्म की अलौकिक शक्ति भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वय प्रकट की है।

दूसरा बुद्धिका रूप 'ज्ञान' भी भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वांगपूर्ण था। क्या व्यावहारिक ज्ञान, क्या राजनैतिक ज्ञान, क्या धार्मिक ज्ञान, क्या दार्शनिक ज्ञान—सबकी आप में पूर्णता थी। आप सर्वज्ञाननिधि थे, इसके लिये आपका एक 'भगवद्गीता' का उपदेश ही पर्याप्त प्रमाण है—जिसके ज्ञान की थाह आज पाँच हजार वर्षतक भी मिल न सकी।

नित्य नये-नये विचार और नये-नये विज्ञान उस ७०० श्लोको के छोटे-से ग्रथ-से प्रस्फुटित हो रहे है और भी श्रीभागवत-एकादश-स्कध आदि के आपके कई-एक उपदेश हैं, जो ज्ञान में आपकी पूर्णता के प्रबल प्रमाण है। इनके अतिरिक्त व्यवहार में भी आपका पूर्ण ज्ञान विकसित है। व्यावहारिक-ज्ञान कार्य-कारण-भाव-ज्ञान का नाम है, किस उपाय से कौन-सा कार्य सिद्ध हो सकता है, यह जान लेना ही व्यावहारिक ज्ञान होता है, इसका चिह्न है—सफलता। जितना व्यावहारिक ज्ञान जिसमें होगा, उतनी ही सफलता उसे होगी। जीव-कोटि के बडे-बडे विद्वान् और महान् नेता भी खास-खास अवसरो पर धोखा खा जाते हैं और सफलता से हाथ धो बैठते हैं, इसके इतिहासो में सैकडो उदाहरण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का व्यावहारिक मार्ग बाल्यकाल से ही कितना कंटकाकीर्ण था, यह उनके चरित के स्वाध्याय करनेवालो से छिपा नही है। चारो तरफ आसुर-भाव-पूर्ण राजाओं का दबदबा था, उन सबका दमन करना था, किंतु इस दशा में भी उन्हें कहीं असफलता नही हुई। इतना ही नही, किसी दशा में चिंतित होकर सोचना भी न पडा, प्रत्येक स्थान में सफलता हाथ बाँधे खडी रही। क्या यह विज्ञान की पूर्णता का प्रत्यक्ष प्रमाण नही है ? क्या इससे भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण ईश्वरत्व प्रकट नही होता ? भारत का सम्राट् जरासध और उसका मित्र कालयवन अपने अतुल सैन्यसागर से मथुरा का घेरा दिये पडे

हैं, उस दशा में सब यादवो को अपने अक्षत सामान-सहित सुदूर काठियावाड के द्वारका-स्थान में ले जाकर बसा देना और समुद्र के मध्य में एक आदर्श नगर बना उसे भारत के सब नगरो से प्रधान कर देना वास्तव में व्यावहारिक ज्ञान की मनुष्य-सीमातीत काष्ठा है। एक छोटे-से यादवो के राज्य का इतना दबदबा जमा देना कि सपूर्ण भारत के महाराजाओ को उनकी आज्ञा माननी पडे, यह राजनैतिक-ज्ञान की सीमा है। महाभारत में भी आप का राजनैतिक ज्ञान स्थान-स्थान में अपनी अलौकिक छटा दिखा रहा है और वर्तमान युग के राजनैतिक भी आप के राजनैतिक ज्ञान का लोहा मानते है। ज्ञान की सर्वांगपूर्णता में किसी विचारक को सदेह नही हो सकता। अब ऐश्वर्य लीजिये, कहा जा चुका है कि बुद्धि के विकास का नाम ऐश्वर्य है, उसके प्रतिफल आध्यात्मिक अणिमा, महिमा आदि सिद्धि और बाह्य अलौकिक सपत्ति आदि होते है। जिन्होने द्वारका की समृद्धि का वर्णन पढा है, उन्हें बाह्य अलौकिक सपत्ति की बात बतानी न होगी। बाल्यचरित्रो में—कालि-यदमन, गोवर्धन-धारण आदि या आगे के चरित्रो में विश्वरूप-प्रदर्शन, अनेक रूप-प्रदर्शन आदि आध्यात्मिक शक्तियो की पराकाष्ठा के उदाहरण भी प्रचुरता से मिलते है—जिन्हें आध्यात्मिक-ज्ञानशून्य आजकल की जनता असमव-कोटि में मानती है। वस्तुत. भगवान् श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य जन्मसिद्ध है, आध्यात्मिक शक्तियो की विभूतियो के रूप में ही उनके अलौकिक कार्य हुए है। कालवश भारत के दुर्दैव से योगविद्या आज नष्ट हो गयी, आध्यात्मिक-शक्तियो का, जिनके कारण भारत जगद्गुरु था, आज परिचय ही न रहा, इससे आध्यात्मिक शक्तियो के कार्यों को आज असंभव समझा जाय, तो आश्चर्य नही, किंतु किसी बात को असमव बता देना कोई बुद्धिमत्ता का लक्षण नही है। कार्य-कारण-भाव-पूर्वक उपपत्ति सोचना बुद्धिमत्ता का लक्षण है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि का चौथा रूप वैराग्य है, जो कि राग-द्वेष का विरोधी है। इसकी पूर्णता का चिन्ह यह है कि सब काम करता हुआ भी—पूर्णरूप से संसार में रहता हुआ भी, सब में अनासक्त रहे, किसी बंधन में न आवे। कमल-पत्र की तरह निर्लिप्त बना रहे। ससार छोड कर अलग हो जाना अभ्यासवश जीवो में संभव है, किंतु संसार में रहकर सर्वथा निर्लिप्त रहना शुद्ध ऐश्वर्य-धर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रो में आदि से अततक वैराग्य का—राग-द्वेषशून्यता का पूर्ण विकास है। कहाँ बाल्यकाल का गोप-गोपियो के साथ, नद-यशोदा के साथ वह प्रेम कि जिसमें बँधकर एक क्षण वे बिना श्रीकृष्ण के न रह सकते थे और कहाँ यह आदर्श निष्ठुरता कि अक्रूर के साथ मथुरा जाने के बाद आप एक बार भी वृंदावन नही गये। उद्धव को भेजा, बलराम को भेजा, उन्हें सात्वना दी, किंतु अपना 'बेलाग' पन दिखाने को एक बार भी किसी से मिलने को स्वय उधर मुख नही किया। पहले गोपियो के साथ रासलीला करते समय ही मध्य में अंतर्धान होकर अपनी निरपेक्षता आपने दिखा दी थी, प्रकट होने पर जब गोपियो ने व्यग्य से प्रश्न किया कि अपने साथ प्रेम करनेवालो से भी जो प्रेम नही करते, उनका क्या स्थान ? तब आपने कहा था कि वे दो ही हो सकते है—

"आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः।"

या तो पूर्ण ज्ञानी या कृतघ्न। साथ ही अपना स्वभाव भी आपने बताया था कि—

"नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जंतून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।"

बस, इस स्वभाव का पूर्ण निर्वाह आपने किया। यादवो के राज्य का सब काम आप चलाते थे, किंतु बंधनरूप कोई अधिकार आपने नही ले रक्खा था, वहाँ भी 'बेलाग' ही रहे। महाभारत-युद्ध अपनी नीति से ही चलाया, किंतु बने रहे 'पार्थ-सारथि।' बहुत-से दुष्ट राजाओ को मारा, किंतु उनके पुत्रो को ही उनके राज्य का अधिकार दे दिया, राज्य-लोलुपता कही भी न दिखायी। अपने कुटुंबी यादवो को भी जब उद्दंड होते देखा, उनके द्वारा जगत् में अशांति की संभावना हुई, तो उनका भी अपने सामने ही सर्वनाश करा दिया। वैराग्य का—रागद्वेषशून्यता का ही सहज 'समता' है जो आपके आचरणो में

ओतप्रोत है, हरएक यही समझता था कि श्रीकृष्ण मेरे हैं, किंतु वे थे किसी के नही, सबके और सबसे स्वतन्त्र। पटरानियो में भी यही दशा थी, रुक्मिणी अपने को पटरानी समझती थी, सत्यभामा अपने को अतिप्रिया मानती थी, सब ऐसा ही समझती थी। यह भगवान् श्रीकृष्ण की समता का निदर्शन है। नारद ने परीक्षा करते समय इसी 'समता' पर आश्चर्य प्रकट किया था। आप सत्यभामा का हठ रखने को पारिजातहरण करते हैं, तो जाबवती को पुत्र प्राप्त होने के लिये शिव की आराधना करते है, किसी भी प्रकार समता को नही जाने देते। महाभारत-युद्ध के उपस्थित होने पर दुर्योधन और अर्जुन दोनो ही सहायता मांगने आते है और दोनो का मनोरथ पूर्ण होता है, अर्जुन से पूर्ण सौहार्द है, किंतु गर्व-भजन के लिये स्थान-स्थान पर उसका भी शासन किया जाता है। ये सब समता के प्रबल प्रमाण है। ये बुद्धि के चारो सात्त्विक रूप जिसमें हो, वही भगवान् कहा जाता है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
वैराग्यं ज्ञानमैश्वर्यं धर्मश्चेत्यात्मबुद्धयः।
बुद्धयः श्रीर्यशश्चेति षड् वै भगवतो भगाः॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

—इत्यादि

यश और श्री इन दो बाह्य लक्षणो को भग-शब्दार्थ में और अतर्गत किया गया है, सो इन दोनो का भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्णमात्रा में विकास सर्वप्रसिद्ध है, इसपर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नही। तृतीय श्लोक में जो भगवान् का लक्षण लिखा है—भूतो की उत्पत्ति, प्रलय, लोक-लोकातर-गति, वहाँ से लौटना, विद्या और अविद्या—इन सब का ज्ञान, सो गीता में इन सब विषयो का विस्पष्ट प्रतिपादन ही बता रहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण में इन ज्ञानो की परिपूर्णता है। भगवद्गीता में उक्त चारो सात्त्विक बुद्धिरूपो का विशद निरूपण है। बुद्धियोग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है, उसमें—वैराग्ययोग, ज्ञानयोग, ऐश्वर्ययोग और धर्मयोग, यह क्रम रक्खा गया है, इनको क्रम से राजर्षि विद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या-नाम से भी कहते है, इनका फल क्रम से अनासक्ति (समता), अनावरण, भक्ति और बधनमुक्ति द्वारा बुद्धि का अव्ययात्मा में समर्पणरूप योग है—यह सब 'भगवद्गीताविज्ञानभाष्य' में संगतिपूर्वक निरूपित हुआ है। इससे भी उक्त चारो रूपो की पूर्णता गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण में सिद्ध होती है, यो 'भग' लक्षण की पूर्णता से श्रीकृष्ण (अच्युत) भगवान् कहाते हैं। यद्यपि योगसाधन से जीवो में भी ये सात्त्विक-बुद्धि-लक्षण प्रकट हो सकते हैं, किंतु किसी मात्रा में ही होते हैं, एक कोई पूर्णरूप में प्रकट हो जाय—यह भी संभव है और ऐसे ब्रह्मर्षि, राजर्षि, मुनि आदि भी 'भगवान्' कहे जाते है, किंतु सब रूपों की परिपूर्णता जीव में अशत भी जीवभाव रहते असभव है, सब की पूर्णता ईश्वर में ही होती है। फिर यह भी विलक्षणता है कि जीवो में ये लक्षण प्रयत्नसाध्य होते है और ईश्वर में स्वत सिद्ध। भगवान् श्रीकृष्ण का योग-साधनरूप प्रयत्न किसी इतिहास में नही लिखा और बाल्यकाल से ही व्यवसायात्मक-बुद्धि के लक्षण उनमें प्रकट है, इससे उक्त बुद्धि-लक्षण उनमें स्वत सिद्ध है—यही कहना पडेगा और उन्हें अच्युत भगवान्, ईश्वर का पूर्णावतार या साक्षात् परमेश्वर ही मानना पडेगा।

व्यवसायात्मिका-बुद्धि की पूर्णता के कारण 'अव्ययपुरुष' का आवरण अंशत. भी भगवान् श्रीकृष्ण में नही है, अव्ययपुरुष की पाँचो कलाओ का पूर्ण विकास है, अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने आपको भगवद्गीता में 'अव्ययपुरुष' कहा है। अव्ययपुरुष का लक्षण पूर्व लिखा जा चुका है कि सब में समन्वित रहता हुआ भी, सब का आलंबन होता हुआ भी वह सर्वथा निर्लिप्त रहता है,—बिल्कुल 'बेलाग' रहता है, यह लक्षण भगवान् श्रीकृष्ण में किस प्रकार समन्वित है, यह हम 'वैराग्य' निरूपण में

दिखा चुके हैं। अब अव्यय की कलाओ के विकास पर भी पाठक विचार करे। आनंद, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—ये अव्ययपुरुष की कलाएँ पूर्व लिखी जा चुकी है—इनको क्रम से नीचे से देखिये। वाक् के विकास के लक्षण है भौतिक समृद्धि और वाक्शक्ति। भौतिक समृद्धि की पूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण में हम दिखा चुके है, वाक्शक्ति से भी आपने कई जगह काम लिया है—भगवद्गीता की घटना सुप्रसिद्ध ही है, युद्ध छोड कर भागते हुए एक दृढप्रतिज्ञ हठी वीर को अपनी वाक्शक्ति से ही आपने स्वधर्म में लगाया, छोटी-सी अवस्था में वाक्शक्ति से ही गोपो से इंद्र-पूजा छुडवा कर गोवर्धन-पूजा करवा दी। ग्राम की भोलीभाली जनता का विश्वास—धार्मिक विश्वास बदल देना कितना कठिन काम है—यह आपने सात वर्ष की अवस्था में ही वाक्शक्ति के प्रभाव से कर दिखाया। गोप-कन्याओ का नग्न-स्नान रोकने में भी आपने वाक्शक्ति से काम लिया है, ऐसे वाक्शक्ति-विकास के कई-एक उदाहरण है। दूसरी प्राणकला के विकास के लक्षण है—बल, शौर्य, क्रियाशीलता आदि। जिनने 'शिशु' अवस्था में अपनी लात से बडे शकट को उलट दिया, कुमारावस्था में पुराने अर्जुन-वृक्षो को एक झटके में उखाड फेंका, किशोर-अवस्था में कंस के बडे-बडे मल्लो को अखाडे में पछाड दिया, मत्त हाथी को मार गिराया। यौवन में नग्नजित्-राजा के यहाँ सात मत्त वृषभो को एक साथ नाथ दिया, क्षत्रियत्व की पूर्णता के उस समय में—महामहा वीर क्षत्रियो के भारत में विराजमान रहते—जिनके सामने लडकर कोई न जीत सका, सब दुष्ट राजाओ पर आक्रमण कर सबका दमन जिन्होने किया, सारे भूमडल का भार उतारा, इकले इद्रपुरी पर चढाई कर 'पारिजातहरण' में इद्रतक का मानभग किया—उनके बल और शौर्य के अमानुष-विकास में सदेह को स्थान ही कहाँ है? क्रियाशीलता भी आपकी जगद्विदित है। आज द्वारका में है, तो कल देहली में, परसो युद्ध में चढाई हो रही है तो अगले दिन तीर्थयात्रा। हजारो रानियो के साथ पूर्ण गार्हस्थ्य-धर्म का निर्वाह, यादव-राज्य का सब प्रबध कर भूमडल में उसे आदर्श प्रतिष्ठित राज्य बनाना, पांडवो के प्रत्येक कार्य में सहायक और सलाहकार रूप से उपस्थित रहना, भूभार-हरण का अपना कर्तव्य-पालन भी करते जाना, महाशत्रुओ से द्वारका की रक्षा भी और शत्रुओ पर आक्रमण कर उनका विध्वस भी, अत्यल्प समय में द्वारका से विदर्भ-देश पहुँच रुक्मिणी का मनोरथ पूर्ण कर देना आदि क्रियाशीलता के अमानुष उदाहरण है। यो अव्ययपुरुष की दूसरी कला का विकास पूर्ण रूप में सिद्ध होता है। तीसरी कला 'मन' के विकास के लक्षण है—मनस्विता—उत्साहशीलता, मनोमोहकता (मनोहरता) आदि। शिशुपाल-जैसे वीर राजा के मित्रो और सेना-सहित उपस्थित होने का समाचार सुन कर भी अकेले कुडिनपुर चले जाना, भारत के सम्राट् परम शत्रु जरासध से लडने को केवल भीम और अर्जुन को साथ ले बिना सेना जा पहुँचना, भरी सभा में कूदकर कस जैसे राजा के केश पकड उसे गिरा देना, मणि-चोरी का कलक लगने पर सबके मना करते रहने पर भी अकेले अपार गुफा में चले जाना, ऐसे मनस्विता-हिम्मत के उदाहरण आपके चरित्रो में सैकडो है। मनोहरता तो आपकी प्रसिद्ध है, आपका नाम ही 'चितचोर' है। शत्रु भी लडने को सामने आकर एक बार आकृष्ट होकर चौकडी भूल जाते थे। विदेशीय क्रूर वीर कालयवन को भी अनुताप हुआ था कि 'ऐसे सुदर नौजवान से लडना पडेगा।' चौथी कला 'विज्ञान' के संबंध में पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है। बुद्धिप्रसाद रूप 'ज्ञान' के रहते अव्ययपुरुष की इस 'ज्ञान' कला का विकास होता है। यहाँ विज्ञान-संसार-अधिमोचक आत्मविज्ञान ही अभिप्रेत है, सो उसके विकास में भगवद्गीता के उपदेश से बढकर किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

अब पाँचवीं सबसे उत्कृष्ट अव्यय की (प्रथम) कला आनद है, वही ब्रह्म का मुख्य स्वरूप बताया गया है—'रसो वै सः।'

इसका पूर्ण विकास अन्य अवतारों में भी नहीं देखा जाता। अयोध्या-अधिपति भगवान् श्रीरामचद्र में अन्य सब कलाओ का विकास है, किंतु आनद का सर्वांश में विकास नहीं है। उनका जीवन 'उदासीनतामय' है, उनमें शात्यानद है, किंतु भगवान् श्रीकृष्ण में आनद के सब रूपो का पूर्ण

विकास है। आनंद के दो भेद है—एक समृद्धयानंद, दूसरा शात्यानंद। जिस समय मनुष्य को किसी इष्ट वस्तु—धन-पुत्रादि की प्राप्ति होती है, तो उसका चित्त प्रफुल्लित होता है, उस प्रफुल्लता को मनोवृत्ति रूप आनंद वा समृद्धयानंद कहा जाता है। यह प्रफुल्लता थोड़े काल रहती है, आगे वह इष्ट वस्तु—धन-पुत्रादि मौजूद रहती है—किंतु वह चित्तविकास—वह प्रफुल्लता नही रहती, अब वह समृद्धयानंद शात्यानंद रूप में परिणत हो गया, निर्धन की अपेक्षा धनवान् को, अपुत्र की अपेक्षा पुत्रवान् को अधिक आनंद है, किंतु उस आनंद का सर्वदा अनुभव नही। चित्तविकास सदा नही रहता। बस, अनुभवकाल में—चित्तविकास-दशा में, समृद्धयानंद और अनुभव में न आने वाला, मनोवृत्ति से गृहीत न होने वाला आनंद शात्यानंद कहाता है। मनमें इच्छारूप तरंग न उत्पन्न होने की दशा में वा दु:ख-निवृत्ति-दशा में भी शात्यानंद ही होता है। शात्यानंद के ब्रह्मानंद, योगानंद, विद्यानंद आदि भेद पचदशी आदि ग्रंथो में बताये गये हैं और समृद्धयानंद के मोद, प्रमोद, प्रिय आदि भेद तैत्तिरीयोपनिषद् में आनंदमय के शिर, पक्ष आदि के रूप से कहे गये हैं। अभिमत वस्तु के दर्शन में 'प्रिय' रूप आनंद है, उसके प्राप्त होने में मोद और भोगकाल में प्रमोद होता है—ऐसी भाष्यकारो की व्याख्या है। अस्तु, शात्यानंद तो ईश्वर के प्राय. सभी अवतारो में रहता है, क्योंकि ईश्वर है ही आनंदरूप, किंतु भोग-लक्षण समृद्धयानंद का भगवान् श्रीकृष्ण में ही पूर्ण विकास है। चित्तविकास रूप आनंद की पूर्ण मात्रा हमारे चरित-नायक में ही है। अनेक ग्रंथो में सक्षेप या विस्तार से भगवान् श्रीकृष्ण का जीवनचरित लिखा गया है, किंतु कही आप के जीवन में ऐसा अवसर दिखाई नही देता, जहाँ आप हाथ पर कपोल रख कर किसी चिंता में निमग्न हो, जीवन भर में कोई दिन ऐसा नही, जिस दिन आप शोकाक्रांत हो आँसू बहा रहे हो! कैसे भी झंझट सामने आये हो, सब को खेल-तमाशो में ही आपने सुलझाया। भय, चिंता वा शोक को कभी पास न फटकने दिया। बाल्यकाल में ही नित्य कंस के भेजे असुर मारने को आ रहे है, किंतु खेल-तमाशो में ही उन्हें ठिकाने लगाया जाता है। कंस-जैसा घोरकर्मा पातकी ताक में है, किंतु यहाँ गोवत्सो को चराने के मिष से गोप-सखाओ के साथ वंशी के स्वरो में राग अलापे जा रहे है। गोपियो के घरो का माखन उड़ाया जा रहा है, चीर-हरण का विनोद हो रहा है, रास-लीला रची जा रही है। वर्तमान सभ्यता के अभिमानी जो महाशय इन चरित्रो पर आक्षेप करते है वे श्रीकृष्णावतार का रहस्य नही समझते। इन लीलाओ में धर्मातिक्रम क्यो नही है, इस विवाद को हम इस लेख में नही उठा सकते—यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है, किंतु इतना अवश्य कहेंगे कि यदि ये लीलाएँ न होती तो भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णावतार या साक्षात् भगवान् न कहाते, आनंद की पूर्ण अभिव्यक्ति उनमें न मानी जा सकती। आगे यौवनचरित्रो में भी दुष्टो का संहार भी हो रहा है, राज्य की उन्नति भी हो रही है, और जो-जो सुंदरी अपने में अनुरूप सुनी जाती है, उनके साथ विवाहो का आयोजन भी चल रहा है। सब प्रकार के झंझट भी सुलझाये जा रहे है और राजधानी को पूर्ण समृद्धिमय बना कर अनेक रानियो के साथ आदर्श गार्हस्थ्य-सुख का उपभोग भी हो रहा है। पारिजात-वृक्ष लाकर सत्यभामा के मान का भी अनुरोध रक्खा जा रहा है, भूमि को स्वर्गरूप भी बनाया जा रहा है, अर्जुन-जैसे मित्रो के साथ सैर का आनंद भी लूटा जा रहा है। कदाचित् कोई मनचले महाशय प्रश्न करे कि बहुतसे पुरुष मद्यपानादि में वा अनेक स्त्रियो के सहवास में—ऐशोआराम में ही अपना जीवन विताना जीवन का लक्ष्य मानते है—क्या उन्हें भी ईश्वर का पूर्णावतार समझा जाय, तो उत्तर होगा कि हाँ, समझा जा सकता था, यदि वे अपने धर्म से विच्युत न होते, यदि सब प्रकार के ऐशोआराम में रहकर भी उनमें निर्लिप्त रह सकते, यदि विनोदमय रहकर भी अपने कर्तव्य को न भूलते, यदि लौकिक और पारलौकिक उन्नति से हाथ न धोते, यदि सब कुछ भोगते हुए भी क्षणमात्र में सबको छोड़ कर कभी याद न करने की शक्ति रखते, यदि ऐसे भोग के परिणाम-रूप में नाना आधि-व्याधि वा भयानक शोक, मोह आदि से ग्रस्त न होते, यदि पूर्ण समृद्धयानंद भोगते हुए भी शात्यानंद में निमग्न रहते, यदि उस दशा में भी अपने अनुभव के—

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशति सर्वे
स शातिमाप्नोति न कामकामी ॥
—भगवद्गीता, २।७०

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥"
—भगवद्गीता, ३।२२

ऐसे सच्चे उद्गार निकाल कर ससार को शातिसमुद्र में लहरा सकते। क्या ससार में कोई जीव ऐसा दृष्टात है जिसके जीवन में दु ख का स्पर्श भी न हुआ हो ? जिसने सब प्रकार के लौकिक सुख भोगते हुए भी अपना पूर्ण कर्तव्य पालन किया हो ? जो ससार में लिप्त दीखता हुआ भी आत्मविद्या का पारगत हो। जो जगत्‌भर को अन्याय हटाने की चिनौती देता हुआ भी भय और चिंता से दूर रहे ? नि सदेह ये परमानद परमात्मा के लक्षण है, जीव-कोटि के बाहर की बात है।

वेदात के ग्रथो में आनंद का चिह्न 'प्रेमास्पदत्व' को माना है, आत्मा को आनंदरूप इसी युक्ति से सिद्ध किया जाता है कि वह परमप्रेमास्पद है। औरो के साथ प्रेम 'आत्मार्थ' होने पर होता है, आत्मा में निरुपाधिक प्रेम है। भागवत में जब ब्रह्मा ने गोप, गोवत्सहरण किया था और भगवान् श्रीकृष्ण ने सब गोप-वत्स अपने रूप से प्रकट कर दिये थे, उस प्रसंग में कहा है कि गौओ को या गोपो के पिताओं को उनमें बहुत अधिक प्रेम हुआ। परीक्षित के कारण पूछने पर शुकाचार्य ने यही कारण बताया कि आत्मा आनदरूप होने से परम प्रेमास्पद है, भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मा है, आनंदमय है, अत उनके स्वरूप से प्रकट गोप-वत्सादि में अत्यधिक प्रेम होना ही चाहिये। अस्तु, जिसमें अधिक प्रेम हो, वह आनंदमय होता है। इस लक्षण के अनुसार परीक्षा करे, तो भी भगवान् श्रीकृष्ण की आनदमयता पूर्ण रूप से सिद्ध होती है। जैसा प्रेम का प्रवाह उन्होंने बहाया था, ऐसा किसी ने नहीं बहाया। बाल्यकाल से ही सब उनके प्रेम में बँध गये थे। ब्रज के खग, मृग, वृक्ष, लता भी वशी की ध्वनि से प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। गोप, गोपागनाएँ अपने कुटुबियो से प्रेम छोड़ उनसे प्रेम करते थे। जो आसुर भाव से दबे हुए थे उन्हें छोड श्रीकृष्ण-प्रेम का प्रवाह भूमंडल को प्लावित कर चुका था। शत्रु भी क्षणमात्र उनके प्रेम से आकृष्ट हो जाते थे—यह हम लिख चुके है। उस दिन ही क्यो ? आज भी सब श्रेणी के, सब धर्मो के, सब जाति के मनुष्यो का जितना प्रेम भगवान् श्रीकृष्ण पर देखा जाता है, उतना किसी पर नही देखा जाता। एक गवैया यदि गान का अभ्यास करता है, तो पहले श्रीकृष्ण उसकी जबान पर आते है, किसी जाति का कोई ऐसा अभागा गायक न होगा—जिसने श्रीकृष्ण के पद न गाये हो, तुकबंदीवालो तक कोई ऐसा कवि न होगा—जिसने श्रीकृष्ण के संबंध में कभी अक्षर न जोडे हो। चित्रकला पर जिसने जरा भी हाथ जमाया है, वह श्री कृष्ण की मूर्ति एकाध बार अवश्य लिख चुका होगा, मूर्त्ति बनाने का शिल्प जानने वाला प्राय. ऐसा नही मिलेगा जिसने श्रीकृष्ण की मूर्ति कभी न बनायी हो। धार्मिक, भक्त, विलासी-रसिया, राजनैतिक, रिफार्मर-न्यूसेंटलमैन, दार्शनिक, निरपेक्ष—सबके कमरो में या मकान की दीवारो पर किसी न किसी रूप में आप नजर आ जायेंगे, ताना-रीरी करने वाले छोटे बच्चे, कुमार, किशोर, मार्ग में अलापते हुए तानसेन को मात देने की इच्छा रखने वाले रसिया, खेतों के किसान, गाँवो की भोली-भाली स्त्रियाँ—सबकी जिह्वा पर किसी न किसी रूप में आपका नाम विराजित सुन पडेगा। और तो क्या, होली के उन्माद से उन्मत्त जनता भी आपके ही यश को अपनी वाणी पर नचाती है। भक्त लोग अपना सर्वस्व समझ कर, धार्मिक लोग धर्मरक्षक समझकर, विलासी विलास के आचार्य समझकर, दार्शनिक गीता के प्रवक्ता समझकर, राजनैतिक

नीति के पारगत समझकर, देशहितैषी देशोद्धारक समझकर और गोसेवक गोपाल समझकर समय-समय पर आपका स्मरण करते है। साप्रदायिक भेद रहते भी वैष्णव विष्णु का पूर्णावतार मानकर, शाक्त आद्याशक्ति का अवतार कहकर और शैव शिव का अनन्य समझकर आपको भजते है। शिव, विष्णु, शक्ति की उपासना में चाहे मतभेद रहे, श्रीकृष्ण–मूर्ति की ओर सबका झुकाव है। भारत के ही नही, अन्यान्य देशो के लोग भी कृष्ण प्रेम से प्रभावित हुए है, आपके उपदेशो का और आपके चरितो का रूपांतर में आदर सब देशो में हुआ है।[1] मुसलमानो में रसखान, खानखाना, लिवाज, ताजबेगम आदि की बात तो प्रसिद्ध ही है। वर्तमान युग के ईसाइयो में भी कई विद्वानो ने इस बातकी चेष्टा की है कि क्राइस्ट को श्रीकृष्ण का रूपातर सिद्ध किया जाय। आजकल के महात्मा गाँधी के अनुयायी महात्मा गाँधीजी का चित्र सुदर्शन हाथ में देकर या गोवर्धन-पर्वत भुजा पर रखकर श्रीकृष्ण रूप में देखने को उत्सुक है। यह बात क्या है? क्यो श्रीकृष्ण के प्रेम का प्रवाह सबको आप्लुत कर रहा है? उत्तर स्पष्ट है कि वे आनद रूप है, सर्वात्मा है, परब्रह्म है, इसलिये प्राकृतिक रूप से सबको विवश होकर उनसे प्रेम करना पडता है। आसुर-भावावेश से जिनके अतरात्मा पर आवरण है उनकी बात तो सदा ही निराली है। अस्तु, अव्यय पुरुष की पाँचों कलाओ का विकास भगवान् श्रीकृष्ण में परिपूर्ण है, यह सक्षेप में दिखा दिया गया। ब्रह्म के अन्य विश्वचर रूप प्रतिष्ठा, ज्योति. आदि जो पूर्व लिखे गये है उनका विकास पाठक स्वय विचार सकते है। अब क्षर की आध्यात्मिक कलारूप स्वयभू आदि पाँच अवतार जो पूर्व लिख आये है, उनके प्राण रूप शक्तियो का आविर्भाव सक्षेप में भगवान् श्रीकृष्ण में बताकर यह लेख पूर्ण किया जाता है।

पूर्व कहा जा चुका है कि परमेष्ठिमडल विष्णु प्रधान है और भगवान् श्रीकृष्ण विष्णु के ही अवतार माने जाते है, अत परमेष्ठिमडल के सबध पर ही मुख्यतया विचार किया जाता है।

श्री राधा और श्री कृष्ण

बहुतो के चित्त में यह शका होती है कि द्विजो का गौरवर्ण होना ही प्राकृतिक है, फिर ऐसे प्रतिष्ठित कुल के विशुद्ध क्षत्रिय राम और कृष्ण कृष्णवर्ण क्यो है? कदाचित् कहा जाय कि ये विष्णु के अवतार है, विष्णु भगवान् कृष्णवर्ण है, इसलिये ये भी कृष्णवर्ण है, तो वहाँ भी प्रश्न होगा कि सत्त्वगुण के अधिष्ठाता भगवान् विष्णु भी कृष्णवर्ण क्यो? सत्त्व का रूप शास्त्रो में श्वेत माना गया है, रज का लाल और तम का काला। तमोगुण का अधिष्ठाता कृष्णवर्ण हो सकता है, सत्त्व का अधिष्ठाता श्वेत वर्ण होना चाहिये। आइये, फिर पहिले इसी प्रश्न पर विचार करे। कृष्णवर्ण तीन प्रकारका है—अनुपाख्य-कृष्ण, अनिरुक्त-कृष्ण और निरुक्त-कृष्ण। सृष्टि के पहिले की अवस्था को कृष्ण कहा जाता है 'आसीदिदं तमोभूतम्' (मनु०), यह अनुपाख्य कृष्ण है। जिसका हमें कुछ ज्ञान न हो सके, उसे कृष्ण और जो हमारी समझ में आ जाय, वह शुक्ल कहाता है। निगूढ को कृष्ण और प्रकाशित को शुक्ल कहते है। यह औपचारिक प्रयोग है, काला परदा पडने पर कुछ नही दीखता—इसलिये न दीखनेवाली वस्तु काली कही जाती है, प्रकाश श्वेत मालूम होता है, इसलिये प्रकाशमान् वस्तु को श्वेत कहते है। कार्य जबतक उत्पन्न न हो, तबतक अपने कारण में निगूढ रहता है, उसका ज्ञान हमें नही होता इसलिये कार्य की अपेक्षा से कारणावस्था को कृष्ण और कार्योत्पत्ति-दशा को शुक्ल कहते है। सब जगत् जहाँ निगूढ है, जहाँ आज दीखनेवाले जगत का कोई ज्ञान नही, उस सब जगत् की कारणावस्था—पूर्वावस्था को दृश्यमान जगत् की अपेक्षा से कृष्ण ही कहना पडेगा, इसीलिये सब जगत् के कारण भगवान् विष्णु वा आद्याशक्ति कृष्णवर्ण ही कहे जाते है। इस कृष्ण का हमें कभी अनुभव नही होता,

१. किस-किस देश में किस-किस रूप से श्रीकृष्णचरित व्याप्त है इसका विस्तृत विवरण जिन्हें देखना हो वे जयपुर के धर्ममित्र जी की लिखी 'धर्मदिवाकर' नाम की पुस्तक देखें।

—लेखक

यह केवल शास्त्र-वेद्य है, इसलिये इसे अनुपाख्य-कृष्ण कहेंगे। दूसरा अनिरुक्त-कृष्ण वह है, जिसका अनुभव तो हो, किंतु इदमित्थम् रूप से एक केंद्र में पकड कर निर्वचन न किया जा सके। जैसे—ऊपर आकाश में, अन्धकार में वा आँख मीच लेने पर काले रूप का अनुभव होता है, किंतु वह सर्व रूप का अभाव कालेपन से भासित है, किसी केंद्र में पकड़कर उस काले रूप को निरुक्त नही किया जा सकता। तीसरा निरुक्त-कृष्ण कोयला आदि पदार्थों में है। इनमें अनुपाख्य-कृष्ण का अनिरुक्त-कृष्ण में और अनिरुक्त-कृष्ण का निरुक्त-कृष्ण में अवतार होता है। या यो कहो कि पूर्व-पूर्व कृष्ण से ही उत्तरोत्तर कृष्ण का विकास होता है। चन्द्रमा, पृथिवी और सूर्य ये तीनो मडल निरुक्त-कृष्ण है यह वैदिक सिद्धात है। पृथिवी को वेद में 'कृष्णा' कहा जाता है, अन्धकार पृथिवी के काले किरणो का समूह है यह भी वेद में प्राप्त होता है। 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्ण.' (शतपथ १३।२।१।७) इत्यादि श्रुतियो में चन्द्रमा को भी कृष्ण कहा है और 'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृत मर्त्यं च। हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन् ।' इत्यादि मन्त्रो में सूर्यमडल को भी कृष्ण कहा है और हिरण्मय-प्रकाशभाग को सूर्य का रथ बताया है। तात्पर्य यह कि प्रकाशमडल सयोगज है, कई प्राणो के सबध से बनता है, सूर्यमडल स्वभावत कृष्ण ही है। आजकल के वैज्ञानिक भी इस सिद्धात के अनुकूल ही आ रहे है। अस्तु, इन तीनो से परे जो परमेष्ठीमडल है वह अनिरुक्त-कृष्ण है। रूपो का अधिदेवता सूर्य है, सूर्यकिरणो से ही सब रूप बनते है, अत सूर्यमडल की उत्पत्ति से पूर्व परमेष्ठी-मडल में कोई रूप नही कहा जा सकता। उसे 'आपोमयमडल' वा 'सोममयमडल' कहा जाता है। सोम, वायु और आप—तीनो एक ही द्रव्य की अवस्थाएँ मानी जाती है, वायु घनीभूत होने पर 'आप'—अवस्था में आ जाता है और तरल होने पर 'सोम'—अवस्था में। इसी द्रव्य में 'अनिरुक्त-कृष्ण' वर्ण प्रतीत हुआ करता है। यह द्रव्य परमेष्ठी की किरणो द्वारा बहुत बडे आकाश प्रदेश में व्याप्त है। सूर्य यद्यपि हमारे लिये बहुत बडा है, किंतु इस सोममडल की अपेक्षा उसकी पोजीशन ऐसी ही है जैसे घोर अन्धकारमय जगल में एक टिम-टिमाते दीपक की, एक सूर्य का प्रकाश जहाँ तक पहुँचता है, उसकी परिधि कल्पनाकर वहाँ-तक एक ब्रह्माड समझा जाता है, उस परिधि से बाहर अनत आकाश में यह 'अनिरुक्त-कृष्ण' सोम वा आप भरा हुआ है। वही अनिरुक्त-कृष्ण काले आकाश के रूप में हमें प्रतीत हुआ करता है। वह कृष्ण है और सूर्य प्रकाश की प्रतिमा 'राधा' है। 'राध' धातु का अर्थ है, 'सिद्धि' सूर्य प्रकाश में ही व्यावहारिक सब कार्य सिद्ध होते है—अत 'राधा' नाम वहाँ अन्वर्थ (सार्थक) है। कृष्ण श्याम तेज है, राधा गौर तेज। कृष्ण के अक (गोदी में), अर्थात् श्याम तेजोमयमडल के बीच में राधा विराजित है। ब्रह्माड की परिधि के भीतर भी वह सोममडल व्याप्त है। जैसे व्यापक आकाश में कोई दीवार (भित्ति) बनायी जाय, तो हमें प्रतीत होता है कि यहाँ अब आकाश (अवकाश) नही रहा, किंतु यह भ्रम है, उस दीवार के आधार रूप मे आकाश वहाँ मौजूद है, उसीमें दीवार है और दीवार हटते ही फिर आकाश ही आकाश रह जाता है। इसी प्रकार सूर्य प्रकाश होने पर वह कृष्ण-सोममडल हमें प्रतीत नही होता, किंतु प्रकाश उसीके आधार पर है, वह प्रकाश में अनुस्यूत है और प्रकाश हटते (सूर्यास्त होते) ही फिर वह श्याम तेज प्रतीत होने लग जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर बिना अन्धकार के प्रकाश और बिना प्रकाश के अन्धकार कही नही रहता, दोनो दोनो में अनुस्यूत है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जहाँ एक दीपक का प्रकाश हो, वहाँ दूसरा दीपक और लाया जाय, तो प्रकाश अधिक प्रतीत होता है और तीसरा दीपक और आवे, तो और भी अधिक। जितने दीपक अधिक होगे उतनी ही प्रकाश में स्वच्छता आती जायगी। भला यह क्यो? जब एक दीपक के प्रकाश ने अपनी व्याप्ति के प्रदेश में से अन्धकार हटा दिया, तो फिर उसी प्रदेश में दूसरे दीपक का प्रकाश क्या विशेषता पैदा कर देता है कि उसमें अधिक स्वच्छता प्रतीत होती है? मानना पडेगा कि एक दीपक का प्रकाश रहने पर भी उसमें अनुस्यूत अन्धकार था, जिसे दूसरे दीपक ने हटाया, फिर भी जो था, उसे तीसरे ने और चौथे ने। इसका यह नि

श्याम तेज ही अधकार रूप से प्रतीत हुआ करता है। यो प्रकाश में अनुस्यूत—श्यामतेज, जब सिद्ध हो गया, तो मानना होगा कि हजारो दीपो का वा सूर्य का प्रकाश रहने पर भी आधिक श्याम तेज की व्याप्ति हट नही सकती, वह आकाश की तरह अनुस्यूत रहती ही है। दूसरा प्रमाण यह है कि जिस स्थान में अनेक दीपक हो, वहाँ भी एक दीपक के सम्मुख भाग में कोई लकडी आदि आवरक पदार्थ रक्खो, तो उसकी धीमी-सी छाया उसके सम्मुख भाग में प्रतीत होगी। जितने अश में प्रकाश का आवरण होकर स्वत सिद्ध तम दीख पडता है, उसे ही छाया कहते है। जब एक दीप के प्रकाश का आवरण होने पर भी दूसरे दीपो का प्रकाश उसी स्थान में मौजद है, तो यह छाया की प्रतीति क्यो ? मानना होगा कि प्रकृत दीपक जिस अधकार के अश को हटाता था—उसके प्रकाश का आवरण होने पर वह अश छाया रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार निविड अधकार में भी प्रकाश का कुछ भी अश न रहे, तो अधकार का प्रत्यक्ष ही न हो सके। विना प्रकाश की सहायता के नेत्ररश्मि कोई कार्य नही कर सकती। सिद्ध हुआ कि गौरतेज और श्यामतेज—राधा और कृष्ण, अन्योन्य आलिगित रूप में ही सदा रहते है, कभी कृष्ण के अक में राधा छिपी हुई है, कभी राधा के अचल में कृष्ण दुबक गये हैं। इसीसे दोनो एक रूप माने जाते है, एक ही ज्योति के दो विकास है और एक के विना दूसरे की उपासना निंदित मानी गयी है—

"गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत् ।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे ।।
तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम् ।"

—समोहनतत्र, गोपालसहस्रनाम

इस विष्णु रूप परमेष्ठिमडल का अवतार होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण का श्याम रूप था और गौरवर्णा भगवती श्रीराधा से उनका अन्योन्य तादात्म्य-सबध था, निरतिशय प्रेम था। वहाँ राधा (प्रकाश भाग) परमेष्ठिमडल की अपनी नही, परकीया है, इसलिये यहाँ भी राधा के साथ कृष्ण का विवाह सबध नही है। परमेष्ठिमडल को वेद में 'गोसव' और पुराण में 'गोलोक' कहा गया है, इसका कारण है कि गौ—जिन्हें किरण कह सकते है, उनकी उत्पत्ति परमेष्ठिमडल में ही होती है, आगे के मडलो में उन गौओ का विकास है, अतएव सूर्य और पृथिवी के प्राणो में 'गौ' नाम आया है। इन गौओ का विवरण ब्राह्मणग्रथो में बहुत है, ये प्राण विशेष है। हमारे 'गौ' नामसे प्रसिद्ध पशु में इस प्राण की प्रधानता रहती है, अतएव यह गौ भी हमारी आराध्य है। अस्तु, गौका, उत्पादक और पालक होने से परमेष्ठी गोपाल है, प्रथमत गौ उसे प्राप्त हुई—इसलिये 'गोविंद' है। अतएव, हमारे चरितनायक भगवान् श्रीकृष्ण भी परमेष्ठी का अवतार होने के कारण गौओ के सहचारी बने और गोपाल वा गोविंद कहलाये। इसी प्रकार परमेष्ठी का इद्र से सख्य (साहचर्य) है, (देखो, पूर्व आधिदैविक क्षरकलाओ का विवरण, परमेष्ठी के आगे इद्रमडल उत्पन्न होता है, और इद्र परमेष्ठी से ही बद्ध है) इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण का भी इद्राश अर्जुन मे साहचर्य-पूर्ण सौहार्द रहा।

आगे चद्रमडल भी अवतारो में (अर की आधिदैविक कलाओ में) आया है, उसके 'प्राणो' का प्रतिफल भी कृष्णचरितो में बहुत कुछ दीख पडता है। चद्रमा समुद्र (आपोमयमडल [1]) में रहता है—

"चंद्रमा अप्स्वंतरा सुपर्णो धावते दिवि।"

—ऋग्वेद

इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण भी समुद्र के बीच में 'द्वारका' बसाकर रहे। चद्रमडल श्रद्धामय है—इस कारण भगवान् श्रीकृष्ण में भी श्रद्धा बहुत अधिक थी। सामान्य ब्राह्मणो के भी अपने हाथो

१ आपोमय होने के कारण अतरिक्ष का नाम निघंटु में समुद्र आया है।

से चरण धोना, स्वयं उनके चरण दबाना, देवयजन, शिवाराधन आदि श्रद्धा के बहुत-से निदर्शन है। रासलीला का भी चंद्रमा से बहुत संबंध है। चंद्रमा राशिचक्र से रासलीला करता रहता है। प्राचीन काल में नक्षत्रो की गणना कृत्तिका से की जाती थी, उसके अनुसार विशाखा (नक्षत्र) सब नक्षत्रों की मध्यवर्तिनी होने से 'रासेश्वरी' है, उसका दूसरा नाम राधा भी है, अतएव उसके आगे के नक्षत्र को 'अनुराधा' कहते है। विशाखा पर जिस पूर्णिमा को चंद्रमा रहता है—उस दिन सूर्य कृत्तिका पर रहता है। संमुख स्थित सूर्य की सुषुम्णारश्मि से विशाखायुत चंद्रमा प्रकाशित होता है, कृत्तिका का सूर्य 'वृष' राशि का है। अतएव यह राधा वृषभानुसुता कही जाती है। फिर जब पूर्णचन्द्रमा (पूर्णिमा का चद्रमा) राधा के ठीक समुख भाग में कृत्तिका पर आता है, तो कार्तिकी पूर्णिमा रास का मुख्य दिन है—इत्यादि। ये सब घटनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण की 'रासलीला' में भी समन्वित होती है। अब लेख बहुत बढ गया—इसलिये इस विषय का विस्तार किसी स्वतत्र लेख के लिये छोड दिया जाता है, और अन्य मडलो के सादृश्य का विवरण भी विस्तार के भय से छोड़ दिया गया है।

जो यूरोपीय विद्वान् वा उनके शिष्य हमारे इतिहासो को सर्वथा कपोलकल्पना मानते हैं, जिनके विचार में श्रीकृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर आदि कोई हुए ही नहीं—उन सर्व मिथ्यात्ववादी वेदा-तिशिरोमणियो से तो कहा ही क्या जा सकता है? किंतु जो इस प्रकृति के सज्जन है कि इतिहास तो मानते है—किंतु उनमें आयी हुई 'अवतार' आदि अलौकिक घटनाओ में संदेह करते हैं, वे यदि इस दृष्टि से विचार करेंगे, तो आशा है उन्हें भी भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्णावतार होने में सदेह नहीं रहेगा। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेमी भक्त भी श्रीकृष्ण के इस गुणानुवाद से 'श्रीकृष्ण-कथा' में कालयापनकर प्रसन्न होगे, ऐसी आशा है।



प्रकट लीला या नर लीला

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

सच्चिदानद भगवान् वृदावन में अवतीर्ण होकर अपनी महिमामयी लीला का विस्तार करते है। श्रीकृष्ण स्वय भगवान है,[1] उनके अवतार की क्या आवश्यकता है ।गीता में स्वय भगवान ने ही अपने श्रीमुख से कहा है कि वे धर्म के सस्थापन के लिये, दुष्टोके विनाश के लिये और साधुओ के परित्राण के लिये अवतार धारण करते है[2], किंतु परवर्ती वैष्णव सप्रदायो का यह विश्वास है कि भक्तो पर अनुग्रह करने की इच्छा से, अपनी लीला का विस्तार करने के उद्देश्य से प्रकट होते है। यही उनके प्रकट होने का उत्तम हेतु है।[3] जब वह अवतीर्ण होते है तब दुष्टो का दमन भी हो जाता है, सिष्टो का पालन भी हो जाता है और धर्म की स्थापना भी हो जाती है, पर इन बातो के लिये स्वय रूप में उनके अवतीर्ण होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह काम तो अशावतारो से भी हो जाता है। इसके लिये स्वय रूप में अवतीर्ण होने की क्या जरूरत है। वस्तुत भगवान में 'रिरसा वृत्ति' के साथ ही साथ सिस्टक्षावृत्ति और युयुत्सावृत्ति भी रहती है, पर ये दोनो वृत्तियाँ सामयिक होती है। रिरंसा वृत्ति ही नित्य होती है। रिरसा, अर्थात् रमण करने की इच्छा। रिरसा वृत्ति उस शक्ति का परिणाम है, जिसे 'परा शक्ति' कहते है। यह जो भगवान की नित्य रिरसा वृत्ति है वही सच्चिदानदमयी लीला में सदा अभिव्यक्त होती रहती है। यह नित्य लीला गोलोक में होती है। गोलोक की नित्य लीला प्रपच गोचर न होने के कारण 'अप्रकट' लीला कही जाती है। इसमें विरह-भाव का अभाव रहता है। अतएव यह देव-लीला है। भगवान के सभी लीला सहचर इसमें नित्य विराजमान रहते है। गोलोक में तो भगवान अपने अनत प्रकाशो से नित्य क्रीडा करते रहते है, उनमें से किसी एक प्रकाश के द्वारा अपने सहचरो के साथ वृदावन में प्रकट हो जाते है यह दुर्लभ सयोग है।[4]

१. एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् ।
—भागवत १।३।२८

२. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
—भगवद्गीता ४।७,८

३. स्वलीला कीर्तिविस्तारात् लोकेष्वनु जिघृक्षुता ।
अस्य जन्मादि लीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तम ॥
—लघु भागवतामृत २४३

४. सधानंतैः प्रकाशैः स्वैर्लीलाभिश्च स दीव्यति ।
तत्रैकेन प्रकाशेन कदाचिज्जगदंतरे ॥
सहैव स्वपरीवारैर्जन्मादि कुरुते हरिः ।
—लघु भागवतामृत २५८

परतु जहाँ विरह की आशका नही, नयनपक्ष्म में अश्रुगल का भार नही, हृदय में मिलनोत्कठा की व्यग्रता नही, प्राणो में विरहाशका की हूक नही, वह देव-लीला उतनी मधुर भी नही हो सकती। अपने सपूर्ण ऐश्वर्य और महिमा के साथ यह लीला तब प्रकट होती है जब भगवान नर लीला करते है। देवताओ को यह सुख अनुभव नही हो सकता, जो नर लीला के सहचरो को प्राप्त होता है। व्रजसुदरियो को जो सुख मिला उसे पाने के लिये वैकुठ धामस्थ भगवान की परम प्रिया लक्ष्मी का चित्त भी चचल हो उठा था। उन्होने दीर्घकाल तपस्या कर के भगवान से प्रार्थना की कि नाथ, ऐसा प्रसाद हो कि मैं वृदावन में गोपी रूप में अवतीर्ण होकर तुम्हारा सहवास पा सकू, परतु भगवान ने ऐसी अनुमति नही दी, फिर लक्ष्मी जी ने कहा कि यदि यह सभव नही, तो ऐसा ही करदें कि जब आप वृदावन में अवतीर्ण हो तो मै आपके वक्षस्थल में सुवर्ण रेखा बन कर रहूँ। भगवान ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की। यद्यपि इस प्रकार की कथा भागवत में नही आती, तथापि भागवत में ऐसे वचन मिल जाते है जो इस कथा का समर्थन करते है।[१] उद्धव ने भी यह स्पृहा की थी कि इन गोपियो की चरणरज पाने के लिये कही मै वृदावन के गुल्म लताओ के रूप में हो सकना।[२]

नर लीला ही प्रकट लीला है। वृदावन इसका मुख्य क्षेत्र है। मथुरा और द्वारका सहकारी है, अतएव गौण है। ऐसा कहा जाता है कि भगवान वृंदावन में पूर्णतम, मथुरा में पूर्णतर और द्वारका में पूर्ण रूप में विराजित होते है। नर रूप को धारण करने के लिये वे वसुदेव और देवकी के घर में चतुर्भुज रूप में और नंद और यशोदा के घर में द्विभुज रूप में जन्म ग्रहण करते हैं। इनमें वसुदेव और देवकी तो भगवान के वैकुठ धाम के नित्य माता-पिता है और नद यशोदा गोलोक धाम के नित्य पिता-माता है।

भगवान का नित्य धाम गोलोक या कृष्णलोक और वैकुंठ या परम व्योम नाम से दो प्रकार का बताया गया है। ऐसा समझना चाहिए कि गोलोक पुष्प की कर्णिका के समान है और परम व्योम दलो के समान है, परम व्योम के सबसे ऊपर गोलोक का अवस्थान है। यह गोलोक ही वृदावन के रूप में प्रकट हुआ है। शास्त्रकारो ने बताया है कि गोलोक का ही माधुर्य प्रधान प्रकाश वृदावन है, माधुर्य और ऐश्वर्य उभय प्रधान प्रकाश मथुरा है। ऐश्वर्य प्रधान प्रकाश द्वारका है। गोलोक और वृदावन में तात्विक दृष्टि से कोई अतर नही है, फिर भी वृंदावन की लीला की विशेषता है। गोलोक की लीला देवलीला है, उसमें विप्रलभ-भाव नही है, इसीलिये श्रीकृष्ण-मिलन रूप वैष्णवजन के परम पुरुषार्थ की लब्धि में जो आनद मिलना चाहिये वह जैसा वृदावन में प्राप्त

१. भागवत में नाग-पत्नियो ने कहा—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवांघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥

—भागवत १०।१६।३६

२. आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

—भागवत १०।४७।६१

होता है वैसा अन्यत्र नही होता। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान का लोक एक होकर भी लीला-भेद से चतुर्धा प्रकाशित होता है—गोलोक, गोकुल, वृंदावन और मथुरा। भक्तो ने वृंदावन की लीला के उत्कर्ष का बखान किया है, क्योकि यद्यपि भगवान के लीला, धाम, रूप और गुण सभी नित्य और अनत है तथापि उसका जो प्रकाश वृंदावन में होता है उसमें एक विशेष प्रकार का वैचित्र्य है। श्री वृंदावन की लीला एक ही साथ नित्य भी है और क्रमिक भी है, भूम्न या व्यापक भी है और परिच्छिन्न भी है। इस क्रमिकता और परिच्छिन्नता के कारण इस में प्रेमतत्त्व अधिक गाढ और आनदमूलक होता है। अन्यान्य साधनाओ में मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है और इसीलिये जब मनुष्य एक बार परमपद प्राप्त कर लेता है और भगवत् स्वरूप का एकत्व प्राप्त कर लेता है तो उसका सब करणीय समाप्त हो जाता है। इस साधना में भगवान का प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। उनके मिलन का जो अलौकिक-अचित्य-अप्राकृत आनद है, वही नित्य काम्य है। इस प्रेम के लिये क्रमिकत्व भाव पोषण का काम करता है। यही कारण है कि भक्तो में वृंदावन लीला का इतना मान है, नही तो लीला का तारतम्य बताना कौतुक-मात्र है। लीला एक है और अनत प्रकाशमयी है। वह भगवान् के अनत आनद का प्रकाश है।

इस प्रपचगोचर नरलीला को उत्कृष्ट बताकर वैष्णव आचार्यो ने एक बहुत बडे तत्त्व को स्वीकार किया है। सत्य, जब तक मनुष्य-निरपेक्ष है तब तक वह यथार्थ नही होता। जो सत्य मनुष्य की बुद्धि द्वारा, मन द्वारा और इद्रियो द्वारा अधिगम्य नही है वह कैसा है, यह हम नही कह सकते। जो कुछ जगत् में दीख रहा है, अनुभव किया जा रहा है वह मनुष्य का जाना हुआ सत्य है और इसीलिये यथार्थ है, अर्थात् हमारा अपना सत्य है। विश्वव्यापक सत्ता का हम स्वरूप नही जान सकते है, जो हमारे अनुभव में आ सकता है। उसके बिना भी, अर्थात् हमारे अत करण के अनुभवो की कोई अपेक्षा न रख कर जो सत्य है वह केवल बात की बात है। हम ऐसी किसी वस्तु की धारणा तक नही कर सकते जो मानव-निरपेक्ष हो। इसीलिये सत्य का वही रूप मनुष्य के काम का है जो उसकी अनुभूतियो का विषय बन सका है। नित्य लीला बहुत बडी चीज है, भगवान का शाश्वत रूप और भूम्न रूप निस्सदेह बडे महत्त्व के है, लेकिन मानव रूप का माहात्म्य अधिक है, क्योकि मनुष्य अपनी सीमाओ के भीतर से, अपने देश-काल परिच्छिन्न मन से, जो अनुभव करता है वही उसका अपना यथार्थ है। जो नित्य-सुख की भावना है, जिसमें केवल आनद ही आनद है, वह मनुष्य का स्वप्न हो सकता है, मनुष्य का अपना यथार्थ नही। सब आशाओ, आकाक्षाओ, व्याकुलताओ और आशकाओ के भीतर से नित्य-सत्य का वह मधुर रूप उपलब्ध होता है जो मनुष्य को चरितार्थता प्रदान करता है। मनुष्य अपनी सीमाओ से बँधा है। सीमाएँ ही उसे वास्तविकता का अनुभव कराती है। इसीलिये भगवान के मनुष्य-निरपेक्ष नित्य रूप की अपेक्षा उनका वह रूप मनुष्य के लिये श्रेष्ठ है जिसे वह अपने प्राणो की व्याकुलता के भीतर से प्राप्त करता है। यही वह बहुत बडा तत्त्व है जिसका प्रतिपादन वैष्णव आचार्यो ने इतने सुदर ढग से किया है। भगवान् का सबसे आकृष्ट रूप जो मनुष्य को चरितार्थता देता है,—नर-रूप है।

व्रज की लीला में इसी महासत्य की अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ मनुष्य का चरम प्राप्तव्य उसकी समस्त आशाओ—आकाक्षाओ और दुर्बलताओ के भीतर से प्राप्त हुआ है। यहाँ वे जन-निवास है, साधारण मनुष्य के साथ एक होकर वास करते है। यहाँ वे माता के हृदाह्लादक पुत्र है, पिता की स्नेह वृत्ति को चरितार्थ करने वाले बालक है, पुरजन-परिजन के हृदयानददाता है, दुष्टो को दमन करने वाले और शिष्टो का पालन करने वाले धर्म-सस्थापक है और सबसे बढकर व्रज-सुदरियो के प्रेम के आश्रय है—सब प्रकार से मानव-सुलभ भावो के आधार। इस व्रजलीला का उत्कर्ष इसी मान-

वत्व के कारण है। देवलीला इसके सामने फीकी है। जय हो इस महिमामयी लीला के आश्रय नर-देह-धारी भगवान् श्री कृष्ण की—

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्न सुस्मितश्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ।।

—भागवत १०।९०।४८



ब्रज का आध्यात्मिक रहस्य

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

"मथ्यते तु जगत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वै।
मत्सारभूतं यद्यत्स्यान्मथुरा सा निगद्यते ।।"

—गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद्

भारतवर्ष के धर्म प्रधान इतिहास में यहाँ के महानगरो ने जो भाग लिया है वह अत्यत विलक्षण है। सप्त महापुरी यहाँ के विशाल अध्यात्म-साम्राज्य की सप्त राजधानियाँ हैं, जिन्होने अपने ज्ञानमय वैभव के द्वारा इस राज्य की सीमाओ का अनत विस्तार किया है। अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काची, अवतिका, और द्वारका ये हमारे राष्ट्र के सप्त महा प्राण है, जिन्होने सदा जागरूक रह कर राष्ट्रीय जीवन में स्फूर्ति और चैतन्य का सचार किया है। देवयुग में जब विधाता ने भारत-मही की रचना करके उसके श्रोत्रगह्वर में अध्यात्म सदेश का मत्र फूका था, तभी मानो इन सप्त पुरियो के लिए भी कर्तव्य निर्धारित कर दिया गया था—अर्थात् तप पूत जीवन के द्वारा अध्यात्म-भावो का शाश्वत प्रचार। इतिहास इस बात का साक्षी है कि काशी, मथुरा आदि पुरियो ने भौतिक साम्राज्य निर्माण के आसुरी प्रलोभनोसे अपनी रक्षा करते हुए धर्म और सस्कृति के सवर्धन के लिए ही सदा यत्न किया है। इन सप्त महापुरियो ने सप्त महाप्राणो के सदृश ही राष्ट्र के अध्यात्म शरीर की रक्षा की है। श्रुतियो में कहा है—

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे।
सप्त रक्षंति समवप्रमादम् ।।"

शरीर पद से भौतिक देह और राष्ट्र शरीर दोनो ही अभिप्रेत हो सकते है। सप्तपुरी रूपी सप्तर्षियो का इतिहास ही भारतवर्ष का सच्चा इतिहास है। जो भावी इतिहासकार इस दृष्टि से इन नगरो के अतीत का लेखा तैयार करेगा, वह अवश्य ही भारतीय प्रजाओ के प्रति अपने कर्तव्य से यथार्थ रूप में उऋण हो जायगा। एथेंस, रोम, परसिपोलिस अथवा पैरिस, लडन और बर्लिन के जो इतिहास तैयार हुए है उनमें राज्यो के उलट फेर की दु खभरी गाथाएँ है, परतु मथुरा, काशी, काची के जो अतीत वृत्त सकलित होगे उनमें सृष्टि और मानवी जीवन के गूढ प्रश्नो का समाधान ही प्रधानतया देखने को मिलेगा।

लेख के आदि में उपनिषद् का जो श्लोक है उसमें मथुरा की व्युत्पत्ति जिस ढंग से की गई है उस पर पर निरुक्त शास्त्र के पडितो का चाहे जो मत हो, परतु अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि से वह निर्वचन यथार्थ है। ब्राह्मणकारो का सिद्धात है—

"परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः।"

यहाँ भी ऋषि ने परोक्ष शैली के द्वारा यह बताया है कि समस्त विश्व का मथा हुआ जो सारभूत मक्खन, अर्थात् ब्रह्मज्ञान है वही 'मथुरा' है। वह मथित ज्ञान जहाँ हो उपचार से वह ब्रह्मज्ञान-मयी पुरी ही मथुरा है। अथवा मथुरा का ही नामातर मधुरा है। ब्रह्म विद्या या आत्म विद्या की वैदिक-सज्ञा मधु विद्या है। कारण कि जो रस या मिठास इसमें है, वह अन्यत्र कहीं नहीं। वह देव-मधु या माधुर्य जहाँ प्रभूत मात्रा में हो वही मधुर प्रदेश है।

मधुरा ही नामातर से मथुरा है। पूर्ण पुरुष भगवान् कृष्णचद्र की लीला भूमि मथुरा में भक्त और सतो ने जिस माधुर्य का अनुभव किया है उनका साक्षी हमारा साहित्य है। उनके वर्णनो के अनुसार आध्यात्मिक मथुरापुरी की महिमा अगम्य है।

ब्रज, गौएँ, ब्रजगोपाल, गोप, गोपी—कृष्णलीला के ये पाँच सूत्र हैं। उपनिषद् तथा अन्य रहस्य ग्रंथों में इनके अर्थ दिए गए है। यह शरीर ब्रजभूमि है, इद्रियाँ गौएँ है, निर्लेप आत्मा गोपाल है, जीव गोप और वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। वैदिक साहित्य में भी सहस्रो स्थानो पर इद्रियो को 'गौ' की सज्ञा दी गई है। ये गौएँ जहाँ अमृतमय दुग्ध या सोम का प्रस्रवण करके गोपाल को अर्पण करती है, वह ब्रजभूमि धन्य है। सब प्रकार के सामंजस्य से समन्वित—स्थिर इद्रिय धारण से सपन्न—देह ही गोपाल की लीलास्थली है। प्रत्येक नवद्वारयुक्तापुरी में इस लीला के दर्शन हो सकते है। यह शरीर ही द्वारकापुरी है। नौ ईद्रिय-द्वार और दसवाँ विदृति-द्वार ये दस फाटक है। इन से युक्त पुरी द्वारका है, उसका अधिपति द्वारिकेश या द्वारकाधीश आत्मा है। ब्रह्मज्ञानमयी मथुरा के द्वारकाधीश का यही रहस्य है।

कृष्णोपनिषद् और गोपालोत्तरतापिनी आदि उपनिषदो में और भी विस्तार से अध्यात्म-रूपको का वर्णन किया है।

"देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते।
निगमो वासुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः ॥"

अर्थात् देवकी ब्रह्मपुत्री है जिसका वेदों में बखान है, वेद वसुदेव और वेदार्थ ही कृष्ण है।

"गोप्यो गाः ऋचस्तस्य।"

अर्थात् वेद की ऋचाएँ ही गोपियाँ और गौएँ हैं। गोकुल नंदनवन है तथा लोभ-क्रोधादिक दैत्य है, जिनके साथ गोपाल का गौओ की रक्षा के हेतु अजस्र सग्राम हुआ—

"द्वेषश्चाणुर मल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः।
दर्पः कुवलयापीड़ो गर्वो रक्षः खगो बकः ॥
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै।
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः चमूपतिः ॥"

अर्थात् काम-क्रोधादिक पाप-वृत्तियाँ अनेक असुर हैं। कस स्वय कलि या पाप रूप है।

"कस—कलि—पाप—वृत्र

ब्राह्मण में—

पाप्मा वै वृत्रः।"

अर्थात् पाप की सज्ञा वृत्र है, यह परिभाषा पाई जाती है। शबर, वृत्र, नमुचि, बल आदि असुरो के साथ इद्र युद्ध के देवासुरी उपाख्यानो की तरह ही कस और अघासुर, बकासुर, शकटासुरादि दैत्यो के साथ कृष्ण-सग्राम की कथाएँ हैं। कृष्णोपनिषद् के अनुसार वृदा भक्ति है, अतएव वृदावन भक्तिवन है। भक्ति क्षेत्र में अवतरित गोपाल की लीलाएँ कृष्णलीलाएँ है। इसी उदात्त भक्तिभाव को अनेक प्रकार से अपने अनुभव से आत्मसात् करके भक्त कवियो ने कृष्ण चरित्र और ब्रज-भूमि का गान किया है। उनके आदर्श काव्य के वर्ण्य विषय कृष्ण हैं।

नवीन सशोधक इस अध्यात्म स्वरूप के अतिरिक्त मथुरा का एक ऐतिहासिक रूप भी स्वीकार करते है, ठीक वैसे ही जैसे आदर्श तथा अखड कृष्ण का बुद्धि और तर्क द्वारा ऐतिहासिक अन्वेषण के नाम पर उन्होने वामन और खड युक्त वर्णन किया है। सत्य के सशोधक इतिहासज्ञ उद्धव के वशज है। सत्य का रूप वामन और कल्पना का विराट् है। ब्रज भूमि की महिमा उद्धव के आदर्शो में नही वरन् गोपियो के कल्पनामय भावादर्शों में है।

वेदों में ब्रजलीला

श्री नीरजाकांत चौधुरी देव शर्मा

"श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि ते।"

—श्रीधर स्वामी

परब्रह्म स्वयं श्रीभगवान् श्री कृष्ण भक्तो के प्रति अनुग्रह करके द्वापर के अंत में माया-मानुष रूप से ब्रजमंडल में अवतीर्ण हुए थे।

भगवान् की लीला दो प्रकार की है—ऐश्वर्यमयी और माधुर्यमयी। जिस लीला में वे कभी जन्म ग्रहण नही करते अथवा किसी के भी साथ पिता-माता-भ्राता आदि सबंध नही रखते, केवल अपने अचिंत्य ऐश्वर्य के प्रभाव से भक्त का मनोरथ पूर्ण करने के लिये अवतीर्ण होते है, श्री भगवान् की उस लीला को 'ऐश्वर्यमयी' कहते हैं। श्रीमत्स्य, श्रीवराह, श्रीनृसिंह आदि में इसी प्रकार की ऐश्वर्यमयी लीला है। जिस लीला में वे जन्म ग्रहण करते है, एव पिता-माता आदि सबधो के अनुगत रहकर भक्त का मनोरथ पूर्ण करते है, वह माधुर्यमयी लीला है। श्री राम, श्री कृष्ण, श्री संकर्षण-रूप में ऐसी लीला है।

श्री भगवान् का धाम—गोलोक

श्री भगवान् चिन्मय निर्विशेष ब्रह्म के रूप में सर्वत्र और अंतर्यामी रूप में सपूर्ण जीवो के हृदयो में स्थित है, परतु ब्रह्मांड या जीव-हृदय उनका लोक अथवा धाम नही है। श्री भगवान् का धाम ब्रह्मांड की भाँति मायिक नही है, वह प्रकृति से अतीत सच्चिदानंदमय है। अनत ब्रह्मांडो में अनत जीव अपना-अपना कर्मफल भोग करते हैं। श्री भगवान् भी अनत वैकुंठो में अनत श्री-मूर्ति प्रकट करके लीला-रसास्वादन करते है।

"स हि भगवान् कुत्र तिष्ठति? महिम्नि स्वे।"

—गोपालतापनी उपनिषद्

अनंत वैकुंठो में गोलोक नामक वैकुंठ में ही उनकी लीला की परिपूर्णता है। वहाँ सभी पार्षद ऐश्वर्य-ज्ञानहीन विशुद्ध माधुर्यमय है। इसीसे उनके गोलोकधाम को 'परमलोक' अथवा 'श्रेष्ठधाम' कहा जाता है—

"परिपूर्णतमः साक्षात् श्रीकृष्णो भगवान् स्वयम्।
असंख्यब्रह्माण्डपतिर्गोलोके धाम्नि राजते॥"

—गर्गसंहिता गो० ख० १।१८

असख्य ब्रह्मांडपति परिपूर्णतम साक्षात् भगवान् स्वय श्री कृष्ण गोलोकधाम में विराजित है—

"सर्वोपरि श्रीगोकुल ब्रजलोकधाम।
गोलोक श्वेतद्वीप वृंदावन नाम॥
सर्वग अनंत विभु कृष्णतनुसम।
ऊपर्यधे व्यापि आछे नाहिक नियम॥
ब्रह्मांडे प्रकाश तार कृष्णेर इच्छाय।
एकई स्वरूप तार नाहि दुइ काय॥"

—चैतन्यचरितामृत

इस गोलोकधाम में श्री भगवान् गो, गोप और गोपियों के साथ नित्य लीलाविलास करते हैं—

"वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सरामो बालकैर्वृतः ।
वृंदावनांतरगतः सदा क्रीडति कंसहा ॥"
—स्कांदे

कंस-निषूदन श्री कृष्ण-बलदेवजी, गोप-बालक तथा वत्सादि के साथ वृंदावन में नित्यविहार किया करते हैं ।

किसी-किसी समय जगत् को कृतार्थ करने के लिये यह धाम, पार्षद और लीला किसी-किसी ब्रह्मांड में प्रकट होती है । इस ब्रह्मांड में—

"अष्टाविंश चतुर्युगे द्वापरेर शेषे ।
ब्रजेर सहित हय कृष्णेर प्रकाशे ॥"
—चैतन्यचरितामृत

"वेदनागक्रोशभूमिं स्वधाम्नः श्रीहरिः स्वयम् ।
गोवर्धनं च यमुनां प्रेषयामास भूपरि ॥"
—गर्गसंहिता वृं० ख० ३।३

स्वयं श्री हरि ने निजधाम (गोलोक) से चौरासी कोस भूमि गोवर्द्धनगिरि और यमुना को भूतल पर भेजा ।

श्री भगवान् नराकृति में प्रपंच से अतीत धाम में नित्य लीला किया करते हैं । उनकी लीलाएँ अनंत होने पर भी उनमें यही लीला सर्वोत्तम है—

"कृष्णेर यतेक खेला सर्वोत्तम नरलीला ।
नरवपु ताँहार स्वरूप ॥
गोपवेश वेणु कर नवकिशोर नटवर ।
नर लीलार हय अनुरूप ॥"
—श्रीचैतन्यचरितामृत

श्री कृष्ण रूप में एक ही साथ ऐश्वर्य, माधुर्य, अवतारभाव और अवतारी भाव प्रकट करके श्री भगवान् अपने लीलाविलास से जगत् को कृतार्थ करते हैं ।

जगत् के जीवों को योगमाया का वैभव दिखलाने के लिये भगवान् ने इस मायामानुषदेह को स्वेच्छा से ग्रहण किया है—

"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।"
—भागवत ३।२।१२

श्रीकृष्ण हमारे सदृश मनुष्य न होने पर भी माया साधारण जीवों के मन में यही धारणा उत्पन्न कर देती है कि ये मनुष्य हैं । साधारण जीव इस लीला के अप्राकृत अंश को ग्रहण नहीं कर सकते—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥"
—गीता ७।२५

"महायोगमायाविशेषानुयुक्तः विभासीश लीलानराकारवृत्तिः ।"
—अ० रामायण क० १३ । २८

हे ईश्वर महान् योगमाया के गुण विशेष से युक्त होकर आप लीलामानुष रूप में विराजमान हैं । यह जो अप्राकृत में प्राकृतबोध है, इसीमें मानो उनकी लीला का माधुर्य प्रकट होता है—

"धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥"
—गीता ४ । ८

भगवान्, धर्मग्लानि के अवसर पर धर्मसंस्थापन के लिये अवतीर्ण होते हैं—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥
तदाहं संप्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥
कर्मकाले पुनर्देहमविचिंत्यं सृजाम्यहम् ।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबंधकारणात् ॥"

(महा० वन० १८९ । २७-३१)

मुनि मार्कंडेय से वटपत्र पर शयन किये हुए श्रीभगवान् ने कहा था—'जब धर्म की ग्लानि होकर अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब मै अपने को सृजन करता हूँ। मै उस समय मनुष्य-देह धारण करके शुभकर्म करनेवालो के घर में उत्पन्न होकर सबका प्रशमन करता हूँ। कर्म के समय पुन मर्यादा-बंधन के निमित्त मनुष्यरूप ग्रहण करके अचिंत्य शरीरो का सृजन करता हूँ, परतु मूढ और असुर प्रकृति के जीव केवल मायामनुष्य-रूपधारी भगवान् को पहचान नही पाते । इतना ही नही है—दुर्योधनादि श्री व्यास, भीष्म, विदुर तथा ऋषियो के सैकडो तरह से उपदेश करने पर भी, यहाँ तक कि कौरव-सभा में श्री कृष्ण का विश्वरूप देखकर भी, उनको नही पहचान सके और उनके प्रति द्वेष तथा अवज्ञा ही की।

खृष्टी-पूर्व चतुर्थ शताब्दी में ग्रीक दूत 'मेगास्थिनीज' ने सौरसेनों के द्वारा यमुना-तट पर स्थित मथुरा नगरी में 'हृरकेलस' की उपासना का उल्लेख किया है।[1] यह श्रीकृष्ण-पूजा ही है। इसको Cambridge History of India में भी स्वीकार किया गया है।

अनेक विद्वानो के मतानुसार पाणिनि का काल १२०० खृष्टी पूर्व है। उन्होने वासुदेव-अर्जुन का उल्लेख (वासुदेवार्जुनाभ्याम्) किया है। भारत-युद्ध की बात भी आयी है।[2] पातजल-महाभाष्य में भी महाभारत और श्री कृष्ण के सबध की बहुत-सी बातें मिलती हैं (अक्रूरो ददते मणिम्)। महर्षि पतजलि का समय द्वितीय शताब्दी के बाद नही है।

राजपूताना के घोसुडी-शिलालिपि में (Luders, Brahmi Inscriptions no 6) राजा 'सर्वतात' के द्वारा वासुदेव-सकर्षण के लिये शिलाप्राकार बनाने की बात आयी है। यह अनुमानत खृष्टी-पूर्व तीसरी शताब्दी की बात है।

वेशनगर में 'हेलिओडोरा' के प्रसिद्ध गरुडध्वज के लेख में वासुदेव और भागवत धर्म के प्रति ग्रीको की भक्ति का प्रमाण मिलता है। यह अनुमानत खृष्टी पूर्व दूसरी शताब्दी है।

नानाघाट में १ नबर की गुफा में वासुदेव-सकर्षण की पूजा का उल्लेख है। यह समवत खृष्टी-पूर्व पहली शताब्दी का है।

महाकवि भास का समय ईसा से पूर्व का माना जाता है। उनके बहुत से नाटको में कृष्ण, बलराम और महाभारत का प्रसंग है। कालिदास का काल खृष्टी-पूर्व प्रथम शताब्दी का होना चाहिये।

१. "This Heracles is held in special honour by the Sourasenoi, an Indian tribe, who possess two large cities Methora and Cleisobora"

(Megasthenes quoted by Arrian—Mc Crindle p 206)

२. "There are satisfactory proofs of the anti-Christian growth of a Krishna legend in the *Mahabharata story*."

(Seal : *Comparative Studies*, p 8)

"Patanjali's *Mahabhasya* (1 4 92, 4. 1. 14, 5 3 99) also conclusively establishes the fact that Krishna was worshipped as a God or Avatara long before the commencement of the Christian era" (Seal. *Comparative Studies*, p 9.)

उनके 'काव्यों' में व्रज के श्री कृष्ण का स्पष्ट उल्लेख है—'बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णो'—(मेघदूतम् १५)। 'सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्।' (रघु० ६।४९)

शाकाब्दप्रवर्तक राजा शालिवाहन या सातवाहन ने 'गाथासप्तशती' की रचना खृष्टी प्रथम शताब्दी में की थी। इसमें श्रीकृष्ण और गोपीलीला का उल्लेख है—

"मुहमारुएण तं कन्ह गोरअं राहिआए अवणेंतो।
एताण वल्लवीणं अण्णाणँ वि गोरअं हरसि॥"
—गाथासप्तशती १।८९

'हे कृष्ण, तुम मुख-मारुत के द्वारा (फूंक मारकर) राधिका की आँखो से धूल निकाल रहे हो, इसके द्वारा अन्यान्य गोपियो का भी गौरव हरण कर रहे हो।'

"अज्जवि वालो दामोअरो त्ति इअजंपिए जसोदाए।
कण्हमुहपेसिअच्छं निहुणं हसिणं वअवहूहिं॥"
—गाथासप्तशती २।१२

यशोदाजी कहती है कि दामोदर अब भी बालक है। इससे व्रज-वधुएँ छिपकर श्री कृष्ण-मुख देखकर हँस रही है।

उपर्युक्त श्लोको से केवल गोपी-लीला ही नही, राधाकृष्ण-लीला की प्राचीनता भी सिद्ध हो जाती है।

ज्योतिष और विभिन्न पुराणो को देखने से महाभारत-युद्ध का समय ३१०० वर्ष खृष्टी-पूर्व प्रमाणित होता है। अतत १५०० खृष्टी-पूर्व से बाद तो है ही नही।

सर जी० हिगिंस (Sir G Higgins) ने कहा है कि कृष्ण ईसा के बहुत पहले हुए हैं, यह बात भास्कर्य से और ग्रथो से नि सदिग्ध रूप में प्रमाणित है।[१] वे यह भी कहते है कि ब्राह्मणो ने एक नयी कहानी रचकर उसे शास्त्रो में घुसेड़कर एक नये देवता को सर्वोच्च आसन पर बैठाकर सब का समन्वय करके समझा दिया और करोड़ो लोगो को मिथ्या जानकर भी इसी को मानकर उपासना करने लगे, यह क्या सभव है?

असल में देखा जाय तो खृष्ट की जन्म-कथा, जीवन की घटनाएँ और धर्म-मत के साथ श्री कृष्ण-चरित्र की तुलना करने पर हेरड' की शिशु-हत्या आदि दो-एक गौण प्रसगो के अतिरिक्त और किसी बातमें सादृश्य ही नही मिलता।

खृष्ट का असली नाम येशुआ' (हिब्रू) या जेसस (Jesus) था। अग्रेजी क्राइस्ट (Christ) शब्द बना ग्रीक क्राइस्टस् से। यह एक उपाधिविशेष है—अर्थ है, मसीहा या अभिषिक्त। ग्रीक क्राइस्टस् शब्द को किसी कारीगरी से भी कृष्ण में परिणत नही किया जा सकता। वर्ण का परिवर्तन करके भाडारकर और उन्होने जिनकी प्रतिध्वनि की है उन पाश्चात्य विद्वानो का कृष्ण और क्राइस्ट के एकीकरण का प्रयास नितात नगण्य है। सौ वर्ष से भी पहले 'मौरिस' ने कहा था कि 'भाषातत्त्व की दृष्टि से इस व्युत्पत्ति की कोई सत्ता नही है। कारण 'कृष्ण' शब्द के साथ ग्रीक 'क्राइस्टस' शब्द का कोई भी साम्य नही है।'

पडित-कुल-धुरधर श्रीमत् 'नीलकठ सूरि' ने अपनी प्रसिद्ध 'मिलत्विमन्त्रटीका' में कुछ वेद-मत्रों का उल्लेख व्याख्या-सहित किया है। इन मंत्रो का सायण-भाष्य भिन्न है, परन्तु नीलकठ का

[१] "In fact, the sculptures on the walls of the most ancient temples .....as well as written works equally old prove, beyond the possibility of doubt, the superior antiquity of the history of Cristna to that of Jesus." *Anacalypsis, Vol* I, p 160 by Sir G. Higgins

पाण्डित्य भी सर्वसमत है और उनकी व्याख्या भी सर्वजनग्राह्य है। इससे पता लगता है श्री कृष्ण की प्राय प्रत्येक व्रजलीला का ही वेद में उल्लेख है। यहाँ उन मन्त्रो को नीलकठीय टीका-सहित दिया जाता है—

१—शकटभंजन (हरिवंश विष्णु० ६।४७)

"पृथु रथो दक्षिणाया अयोज्येनं देवासो अमृतासो अस्थु·।
कृष्णादुदस्थादर्या विहायश्चिकित्संती मानुषाय क्षयायैतेन ।।"

—ऋग्वेद १।१२३।१

(पृथ) महान् (रथो) शकटं (दक्षिणायाः) विद्या· संबंधी मृत्युकरमित्यर्थः (अयोजि) योजितः शत्रुभिरित्यर्थाल्लभ्यते। तम् (एन) रथं (देवासो) देवा· (अमृतासो) अमृता. आसमंतात् (अस्थु·) परिवार्य स्थितवंतः। एतस्मिन्नंतरे स. रथः (कृष्णात्) कृष्ण प्राप्य तत्प्रेरणेन (उदस्थात्) उत्थितः (विहायः) आकाशमाश्रित. विशेषेण हयते गच्छतीति वा, यंत्रोत्क्षिप्तगोलकवदाकाशमार्गेणोत्थाय पतितः सन्नष्ट इत्यर्थः। ततश्च (अर्या) ईश्वरी स्वामिनी माता तत्रत्यप्रजा वा, (चिकित्सती) संशयवती (मानुषाय) मानुषस्य (क्षयाय) नाशाय एतेन पतता रथेनायं बालकः कथं न नाशित इत्यत्र कारणविशेषमपश्यती संदिहानैवातिष्ठ-अस्त्वीश्वरकृत्यमेतदित्यवेदीति भावः। एवमेव सर्वेषामर्थानां प्रत्यक्षश्रुतिमूलकत्वमुन्नेयं वेदोपबृंहणत्वादस्य शास्त्रस्य।

शत्रुओ ने उस बृहत् और भयकर शकट को योजित किया था। अमर देवगण शकट को घेरे हुए थे। इसी बीच में कृष्ण के द्वारा प्रेरित शकट आकाश में यत्र से फेंके हुए गोलक की भाँति उत्क्षिप्त होकर गिरा और नष्ट हो गया। तदतर माता या वहाँ के लोग 'जिससे मनुष्य मर सकते है' इस प्रकारसे पडे हुए रथ के द्वारा वह बालक क्यो नही मरा? इसका कारण न समझकर सदेह में ही रह गये। यह ईश्वर का कृत्य है, ऐसा नही समझ सके।

इसी प्रकार सभी अर्थो को प्रत्यक्ष श्रुतिमूलक समझना चाहिये, क्योकि यह शास्त्र वेद के ही अर्थका विस्तार पूर्वक निरूपण करता है।

२—पूतनावध (विष्णु० ६।३०-३४)

"हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मा-
नाष्ट्र्यां पदं कृणुते अग्निधाने ।
शन्नो गोभ्यश्च पुरुषेभ्यश्चास्तु
मा नो हिंसीदिह देवा. कपोत ।।"

—ऋग्वेद १०।१६५।३, अथर्ववेद ६।२७।३

(हेति) आयुद्धवद्वधकारिणी (पक्षिणी) पूतनारूपा (अस्मान्) व्रजस्थान् (न दभ्रति) नाभिभवति प्रत्युत (अग्निधाने) जाठराग्नेर्धाने निमित्ते शिशोर्जाठरमग्नि स्तनदानेन तर्पयितुम् (आष्ट्र्याम्) 'आप गतिदीप्त्यादानेषु' आपयति परलोक गमयति मृत्युना ग्राहयति वा देह दीपयति वा आष्ट्री कृष्णतनुस्तस्यां (पदं) स्थानं (कृणुते) कृष्णं पाययितुं स्वमृत्युरूपां तां तनु स्पृशति स्मेत्यर्थः।

३—यमलार्जुन-उद्धार (विष्णु० ७।१७-२१)

"यत्र मन्था विबध्नते रश्मीन् यमितवा इव। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुल., ता नो अद्य वनस्पती, ऋष्वावृष्वेभि· सोतृभि· इंद्राय मधुमत् सुतम् ।।"

—ऋग्वेद १।२८।४-८

(यत्र) उलूखले (मन्था) मन्थानमिव मन्थानं लोक क्लेशकर मा (विबध्नते) विशेषेण बध्नाति मातर. (रश्मीन्) आदाय रश्मिभिरित्यर्थः (यमितवा इव) निगृहीतुमिव न तु वस्तुतो निगृहीतुं मानन्धेन यमि

स्निग्धत्वात्, तेन (उलूखलेन सुतानां) पीडितानां कर्मणि षष्ठी । उलूखलपीडितान् अस्मान् हे (इंद्र) मोचनसमर्थं (अव) रक्ष । पादादित्वादा द्युदात्तमाख्यातम् । (इंदु) एवमेव त्वं (जल्गुल.) असि एनम् मुंचामीति जल्पितु मां च गोपितु त्रातुं लातुम् आदातुम् स्वाधीनं कर्तुं च समर्थोऽसि यत अतः अव मामित्यर्थ । एवं यदा सर्वान् प्रार्थयन्नपि न मोचनं लभते ततो वनस्पत्योरंतरा गत्वा वंधनदाम त्रोटितुं यावद्बलं करोति तावद्वनस्पती एव उन्मूलितौ दृष्ट्वा वदति—(ता नो) इति । एतौ (नो) अस्माकं व्रजवासिना वनस्पतिभूतौ अतिप्रसिद्धौ यमलौअर्जुनजातीयौ भो (वनस्पति अद्य इंद्राय) इंद्रं प्रति गंतुं (सुतं) तदुन्मूलनेन आत्मान पीडयंतं सदेव (मधुमत्) अमृतयुक्तम् अतिसम्यगित्यर्थं. । यतः (ऋष्वौ) गतिमंतौ युवां स्थावरत्वान्मुक्तौ स्थ इत्यर्थः । (ऋण्वेभि.) गतिमद्भिर्जंगमैः जनै. (सोतृभिः) अस्मद्बन्धनकरैरुपलक्षितौ ।



श्री कृष्ण का लीला-वपु

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

साहित्य अध्यात्म संस्कृति का विकास है, साहित्य को पाकर मनुष्य के मन का मैल धुल जाता है, पहले से भरी हुई मन की संकीर्णता मिट जाती है। साहित्य तपते हुए सूर्य के समान है, जिस के संपर्क में आकर मन में भरा हुआ अंधकार दूर किया जा सकता है। मानस व्याधियों की परम औषधि साहित्य के भंडार में भरी हुई है। ऐसे पवित्र, प्रभावशील और जीवन के लिए मूल्यवान् साहित्य रूपी तत्त्व के निकट कौन न आना चाहेगा? सूर और तुलसी दोनो हमारे आदर्श है। दोनो ने ही स्पष्ट कहा है कि जिस साहित्य का उन्होंने सृजन किया उसकी रचना में उनका मुख्य हेतु मन के अंधेरे को हटाना ही था। मन का अंधकार ही कर्मों में प्रकट होता है। अतएव समाज के विचारो और कर्मों में पवित्रता, नियमितता, सुव्यवस्था और सप्रीति का भाव लाने के लिए सुंदर साहित्य से बढ कर और कोई साधन नही है। साहित्य सेवी के मन का आनंदमय प्रकाश साहित्य का स्रोत होता है। समाज प्रत्येक युग में और प्रत्येक दशा में अपने ही विकसित सूक्ष्म मानस को साहित्य सेवी के रूप में पाता है। जब समाज में उत्तम साहित्य सेवियो को जन्म देने या उनका निर्माण करने की क्षमता घट जाती है तब समाज का नाता रस के समुद्र से टूट जाता है। साहित्य समाज की प्रगति का—'अष्टांगिक मार्ग' कहा जा सकता है।

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, सूर, तुलसी आदि के अमर काव्यो के साथ प्रत्येक पीढी को फिर से नया परिचय प्राप्त करना पडता है। हमारे पूर्वजो के लिए वे अच्छे थे, इससे हमें संतोष नही मिल सकता। हमें तो अपने ज्ञान-तन्तुओ की फैली हुई शक्ति से स्वयं उनके रस-स्रोत तक पहुँचना होगा, उनकी व्याख्या करनी होगी और उनसे मिलनेवाली जो आनंद-धारा है, उस गंगा को अपने भूतल पर स्वय लाना होगा। प्रत्येक पीढी को इस 'गंगावतरण' की आवश्यकता होती है और ज्ञान की इस गंगा का अवतरण कराने वाले साहित्य सेवी ही होते है। साहित्य सेवियो के मानस के द्वारा ही प्राचीन काव्यो के रस-स्रोतो तक पहुँचा जा सकता है। साहित्य का अनुशीलन करने वाले व्यक्ति ही उन काव्यो में छिपे हुए रस के सोतो को ढूँढ निकालते है। सूर, तुलसी, जायसी का अध्ययन नयी शक्ति से और रुचि से वर्तमान पीढी में होने लगे इसके लिये नवीन प्रयत्न की आवश्यकता है। एक भी सच्चा साहित्य-सेवी अपने ध्यान की संचित शक्ति से 'सूरसागर' का अनुशीलन कर सके तो अवश्य वह उस अमृत-तत्त्व तक पहुँच सकेगा, जिसे सूरदास ने अपने भक्त-हृदय की तृप्ति के लिए उसमें भर दिया था। सूरदास और उनके एक सौ एक बधु कवि ब्रजभाषा में जिस काव्य की रचना कर गए है वह उनका तत्त्व दर्शन हृदय से किया हुआ शुद्ध प्रयत्न था। ब्रजभाषा की भक्ति रस की कविता ने कई सौ वर्षों तक ज्ञान-तत्त्व की रक्षा के लिए समाज में वैसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था जैसा किसी समय उपनिषदो ने प्राप्त किया था। अनेक संत, महात्मा, साधक, आचार-शुद्ध भक्तो के ध्यान की साकार प्रतिमूर्ति ब्रजभाषा की कविता है। इस काव्य और तुलसी के रामचरितमानस काव्य में एक अविनाशी अचिंत्य ब्रह्म-तत्त्व की ही उपासना की गई है। जो व्यक्ति कृष्ण और राम को उस रूप में देखने या मानने में असमर्थ है, जिसमें सूर और तुलसी ने उन्हें देखा था वह इस काव्य के बाह्य रूप से तो परिचित हो सकता है, पर इसमें अंतर्निहित आनंद-तत्त्व या रस-सिंधु से उसका सान्निध्य नही हो सकता, अर्थात् मन नही जुड़ सकता।

सूर के कृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं। वैदिक साहित्य से लेकर भारतीय मस्तिष्क ने जिस चैतन्य-तत्त्व की बराबर खोज की है, युग-युग में नये-नये नामो और रूपो में समाज ने जिसका अनुभव किया है, जनता के मानस को जिसने प्राणवत, उत्साहित और आनदित बनाया है। उसी आनदघन चैतन्य तत्त्व को सूर ने 'कृष्ण' संज्ञा प्रदान की। सूरसागर में वे इस सत्य को कहते हुए नहीं थकते। कृष्ण के आनंद रूपी ब्रह्म-पक्ष का तिरोभाव हो जाये तो उनकी लीला का रस ही जाता रहे, वह तो जड शरीर से होने वाली चेष्टाओ की एक निरर्थक लडी बन कर रह जा सकती है।

कृष्ण के इस नित्य स्वरूप के साथ इतिहास की उलझन है। इतिहास मनुष्य को देश-काल में जकडकर पकड़ना चाहता है। वह सत्य घटनाओ को ढूँढता है। लीला मानवी जीव की नित्य व्याख्या प्रस्तुत करती है। लीलावपु रसमय और आनदी होता है। इतिहास का व्यक्ति काल के गाल में पडा हुआ बापुरा प्राणी है। जिन अभिप्रायो (मोटिफ्स) के अनुसार जीवन रूपी कमल अपने आनद केंद्र आकाश स्थित सूर्य की प्रेरणा पाकर निज पखड़ियो का विकास करता है, वे सदा सर्वत्र सबके लिए एक है, एक सत्य उनका नियामक है। कमल के विकास के लिए अंधकार का तिरोभाव चाहिए। उसे आतरिक जीवन, प्रेरणा, आनंद, उल्लास, सौंदर्य और रूप मिलना चाहिए, तभी उसका विकास संभव है। यह आदर्श स्थिति कमल की जीवन लीला है, जो सब पद्मो के लिए आधारभूत सत्य है। एक कमल के जीवन में कौन सा सरोवर था, कितने जल में वह खडा था, उसे पुष्ट करने वाले कर्दम में कितने रासायनिक तत्त्व थे, उनके कारण किस पखुड़ी ने सूर्य-दर्शन के लिए पहले अपने नेत्र खोले और किस भौंरे ने उसका चुबन किया इस प्रकार का लेखा इतिहास की उत्सुकता को अवश्य शात कर सकता है, किंतु कमल की नित-नित घटने वाली जीवन लीला इससे अधिक व्यापक और अमृतमय है। आज हमारा शिक्षित मस्तिष्क ऐतिहासिक कृष्ण को पकड़ना चाहता है। हमारे मन के किसी परदे में ऐसी आशंका बनी रहती है कि जिस कृष्ण का जंजाल सूर ने खडा किया है, वह हमारी बुद्धि को ठगने के लिए है। वैज्ञानिक बुद्धि बार-बार सूर के कृष्ण से टकराकर वापिस लौट आती है। यह हमारे लिए बडा असमजस बन जाता है। न तो हम अपनी सत्यानुसधान की नयी पद्धति को ही छोडकर जी सकते है और न उसके द्वारा चैतन्य को ही पकड पा सकते हैं। यह उलझन सच्ची है और मै समझता हूँ इससे इन्कार करना बुद्धि की ईमानदारी न होगी, परतु ब्रह्म-सत्त्व, चैतन्य या नित्य आत्म-तत्त्व, इसी प्रकार की एक पहेली रही है जो पहले भी थी और आज भी है। हमारे लिए बुद्धिमानी यही होगी कि सूर ने कृष्ण का जो आदर्श लिया था उसे ही अपने मन की शक्ति से जीवित या प्राणमय बनाने का प्रयत्न करे। कम से कम सूर के मन में तो कृष्ण उस ब्रह्म रूप में ही सत्य प्रतिष्ठित थे और उसी स्रोत से ही सूरसागर का जगत् निर्मित हुआ है। अथवा यो मान लें कि सूर का सत्य भी तो किसी मानस में अपनी सत्ता रखता था, जो उनका अनुभव था उसकी खोज और पहचान भी तो वैज्ञानिक पद्धति का अग है। वस्तुत. कवि के सत्य को उसी के नेत्र से देख सकना ही सच्ची वैज्ञानिक बुद्धि कही जा सकती है।

सूर के मानस का मानचित्र कुछ इस प्रकार खीचा जा सकता है। ससार में एक अमृत ब्रह्मात्मक सत्य है जो आनद से परिपूर्ण, रस से तृप्त और ज्योति से भरा हुआ है। उस अमृत-सत्य की प्राप्ति मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है और उसके पाने का एक मार्ग है। उस सत्य के साथ एक अनृत पक्ष भी है, जो सत्य से विपरीत है वही अनृत है। जो ज्योति का प्रति पक्षी है वही तम है। तम को हटा कर ही ज्योति प्रतिष्ठापित होती है। यह निर्गुण वाचना हुई। उसी तीन पैंड सत्य की सगुण वाचना भी है। सूर के शब्दो में वह इस प्रकार है—कृष्ण ही परब्रह्म के पूर्ण प्रतीक या रूप हैं। वे लीला से मानव पर वस्तुत परब्रह्म हैं। उनमें अक्षय आनद या रस परिपूर्ण है। कृष्ण आनद के छूटते हुए फव्वारे हैं। ब्रज के ईनरे यादव के रूप में वे सुवर्णगौर ज्योति के स्फुलिंग हैं जो अधेरे को हटाकर सर्वत्र प्रकाश करते हैं। जहाँ कृष्ण प्रकट होते हैं वहीं

वे शांति, तृप्ति, सौहार्द के वरदान से मनुष्य के मन को सींच देते है। कृष्ण को पा लेने पर और कुछ पाने की इच्छा शेष नही रहती। कृष्ण जीवन के रसात्मक आनदी निर्झर है। वे इंद्रियो के संसार के भीतर से उठती हुई आनद ज्योति है। वे चैतन्य की सरसता है, जिससे समस्त जड जगत पुलकित और प्रफुल्लित होता है। सूर-दर्शन का यह प्रथम पद है।

कृष्ण रूपी इस अमृत सत्य को प्राप्त करने का मार्ग सूर दर्शन का दूसरा सत्य है। यह मार्ग हृदय की श्रद्धा है, वही भक्ति है। इसी एक रस्सी से चैतन्य तत्त्व बाँधा जा सकता है, अथवा यो कह सकते है कि चैतन्य को बधन में लाने के लिए प्रकृति ने श्रद्धा के अतिरिक्त और कोई रस्सी बनाई ही नही। बाँधने के लिए मनुष्य के हाथ केवल एक यही रस्सी आई है। मन को चाहे देवता के साथ बाँधो, चाहे मातृ-भूमि या राष्ट्र के साथ, श्रद्धा या प्रेम की दामरी के सिवा और कोई उपाय नही है। लोभ या बल के बधन सब निकृष्ट है। कृष्ण को यशोदा बहुत सी रस्सियो में बाँधने लगी, पर सब व्यर्थ हुई। वे तो अंत में एक ही रस्सी से बाँधे जा सके। उस रस्सी का वैदिक नाम श्रद्धा और लौकिक नाम भक्ति है। निरुक्त के अनुसार श्रत् सत्य का पर्याय है (सत्य नामसु-पठितम्) या सत्य जिसमें रक्खा हो वह श्रद्धा है। बिना जीवन-सत्य के श्रद्धा की आग नही जलती। यही जीवन ध्रुव अविचाली नियम है। जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वही है—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

श्रद्धा ही जीवन को निष्ठा प्रदान करती है और श्रद्धा ही उसमें प्रेरणा भरती है। चैतन्य तत्त्व को पकडने, अनुभव करने या आत्मसात् करने का एकमात्र उपाय सुदर सात्विकी श्रद्धा है, यही सूर के मानचित्र की दूसरी रेखा है।

सूर के मदिर की तीसरी पैडी ज्योति के विरोधी तम की स्वीकृति है। यही कृष्ण के विरोधी असुरो के विनाश की कथा अथवा आसुरी तत्त्व के पराभव की लीला है। देवासुर सग्राम में देवो के साथ असुरो की भिडत के वर्णन ऋग्वेद से आरभ होते है। इद्र और वृत्र के युद्ध को ज्योति और तम, आनंद और विषाद, अमृत और मृत्यु के सघर्ष का रूपक बता कर बहुत रोचना के साथ वेदो में कहा गया है। ब्राह्मणकारो ने उस ढक्कन के परे देखते हुए स्पष्ट कहा है कि यह देवासुरी युद्ध कोई इतिहास की घटना नही है।[1] यह तो प्रकाश और उसका आवरण करनेवाले पाप की लडाई है। 'पाप्मा वै वृत्र', पाप ही वृत्रासुर है—यह वैदिक परिभाषा है। इसी का नाना रूपो में विस्तार (उपबृहण) पुराणो में पाया जाता है। सूर की कृष्ण लीला भी उसी का एक नवीनतम संस्करण प्रस्तुत करती है। यही सूर के दार्शनिक त्रिकोण की तीसरी भुजा है। यह भी नही भुलाया जा सकता कि आसुरी शक्तियो से युद्ध और उनका पराभव सृष्टि-प्रक्रिया का अत्यंत आवश्यक धर्म है। इद्र अथवा कृष्ण दोनो के जीवन में इसे प्रकट होना ही चाहिए। श्री 'कुमार स्वामी' के अनुसार असुर आदि के प्रतीक तत्त्वज्ञान की भाषा के लिए वैसे ही अत्यावश्यक बारहखडी है जैसे दर्शन शास्त्र के लिए शब्द।[2]

[1] न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा युयुत्सः॥
—शतपथ ब्राह्मण, ११।१।६।१७

हे इंद्र, तुम किसी दिन लड़े नहीं, न तुम्हारा कोई शत्रु है, तुम्हारे युद्धों की बात माया (रूपक लीला) है।'

[2] . . . Visual symbols being essentially the language of metaphysics, as words are of philosophy?—Angel and Titan (Daivasuram) निबंध, पृ० ४१४ पाद-टिप्पणी।

कृष्ण के जीवन की लीलाएँ तत्त्व-ज्ञान की बारहखड़ी या अक्षरौटी (अक्षरवर्तिका, हिज्जे) के रूप में ही सार्थक हो सकती है, अन्यथा वे बच्चों के मन बहलाव के उदाहरण है। वन में लगी हुई भीषण अग्नि का पान कृष्ण के जीवन की एक उभरी हुई लीला है। दावानल-आचमन का सूर सागर में अत्यत चमत्कारी वर्णन है।[1] "दावानल अचयौ ब्रजराज, ब्रज-जन जरत बचायौ।"

यह घटना भौतिक ब्रज तक सीमित नही है यह दावानल तो जीवन की कराल अग्नि है, जो उसे भस्म करने के लिए कही भी प्रकट हो सकती है। अभी-अभी हमारे राष्ट्रीय जगत् में एक कठोर दावानल फैल गया था। उसने मनुष्य मात्र के हृदयो को झुलसा डाला था, उसके आतक से सभी प्राणी व्याकुल थे। इस दावानल का आचमन एक तपस्वी महात्मा ने किया और राष्ट्र के भस्म होते हुए शरीर और मन को उबार लिया। उस घटना को मानवी कहें या अति मानवी? हम सब उस चमत्कार के साक्षी रहे है।

इस प्रकार के दावानल को स्वतेज या शक्ति से शात करने का अभिप्राय या अलकार अर्जुन के जीवन में भी आता है। दावानल या विष की अग्नि स्थूल रूप में भले ही भिन्न दीख पड़ें, पर अध्यात्म-भाषा की दृष्टि से दोनो एक ही सूक्ष्म तत्त्व के प्रतीक है। समुद्र मथन से उत्पन्न विष की दाहक ज्वालाओ से जिस समय सब देवता जल रहे थे, उस समय 'शिव सज्ञक' दैवी तत्त्व ने उस (विष) का पान कर लिया था—"जरत सकल सुर-बृंद, बिषम गरल जिहिं पान किय।"

शिव जी विष पान न करु जाते तो समुद्र मथन से उत्पन्न अमृत देवो की बाँट में कभी न आता। आता भी तो उसका शात उपयोग वे कभी न कर सकते। जो शाति के रस से सिक्त नही वह अमृत नही रह जाता। हमारे विगत राष्ट्रीय मथन से उत्पन्न जो अमृत था उसके आस्वादन के लिए दावानल के आचमन या विषपान की अनिवार्य आवश्यकता थी। समाज या राष्ट्र के जीवन का जो सत्य है वही व्यक्ति के जीवन का सत्य भी है। एकोदय और सर्वोदय दोनो धर्म एक ही दैवी विशेषता से प्रेरणा पाते है।

यमलार्जुन को उखाड फेंकने की छोटी-सी लीला भी आध्यात्मिक-भाषा के साँचे में ढली है। हम सभी यमलार्जुन से बँधे है, नाम रूप के ये दो ठाड़े वृक्ष हमारे जीवन को रोके खड़े है। कृष्ण-लीला की परिभाषा में यमलार्जुन यक्षराज कुबेर के दो पुत्र थे, जो निज स्वरूप खोकर शाप से वृक्ष बने थे। वैदिक परिभाषा में नाम रूप दो महान् यक्ष है—

"ते (नामरूपे) ह महती यक्षे महती अभ्वे।"

अर्थात् नाम और रूप ये दो बड़े यक्ष है, पर ऐसे यक्ष जिनकी सत्ता नही, जो अभ्व है, दिखाई पड़ने पर भी जो है नही। जीवन को बाँधने वाले इन खूँटो को जड़ामूल से उखाड फेंकना ही पुराना अध्यात्म का मार्ग है। श्री कुमार स्वामी ने वैदिक परिभाषाओ की व्याख्या करते हुए 'मुच्यु' को वरुण-पाश या मृत्यु का रूप कहा है और बताया है कि इस मुच्यु या मृत्यु पर विजय पाना अध्यात्म शास्त्र की आवश्यक सीढी है। उनके अनुसार मुचलिंद नाग के ऊपर बुद्ध की विजय और मुचुकुद के ऊपर कृष्ण की विजय एक ही तत्त्व को कहने की दो परिभाषाएँ है।

[1] चकित देखि यह कहि नर नारी।
धर आकास बराबरि ज्वाला, झपटत लपट करारी।
नहिं बरष्यौ, नहिं छिरक्यौ काहू, कहूँ धौं गयौ बिलाई।
अति आघात करत बन भीतर, कैसें गयौ बुझाई॥
तृन की आग बरत ही बुझ गइ, हँसि-हँसि कहत गुपाल।
सुनहु 'सूर' यह करनि, कहनि यह, कैसे प्रभु के ख्याल॥

वरुण या आवरणात्मक पाश डालने वाली शक्ति ही अहि-वृत्र है। उस वरुणा से छुटकारा पाना वैदिक अध्यात्म शास्त्र का अत्यंत प्राचीन संकेत था। वरुण के पाशों में जकड़ा हुआ रोहित उनसे छूटने का प्रयत्न करता है। यूरप के उत्तराखंडी देशों के 'नार्डिक-गाथा' शास्त्र में भी समंदरी बुड्ढे ('ओल्ड मैन ऑव दी सी') से छुटकारा पाने की कल्पना पाई जाती है। समुद्रवासी यह जरठ बुड्ढा जब पीठ पर सवार होता है, कठिनाई से उससे छुटकारा मिलता है। वरुण ही समुद्र वासी बुड्ढे हैं। वे नंद को पकड़ते हैं और कृष्ण उनसे नंद का उद्धार करते हैं। कालिय-दमन कृष्ण के जीवन की अन्य प्रसिद्ध लीला है। वैदिक परिभाषा में आकाशचारी प्रकाश शक्तियों की संज्ञा गरुड़ और भूतल पर रेंगने वाली अंधकार प्रधान वृत्तियों की संज्ञा सर्प है। जीवना जल के सब सोतों पर नागों का अधिकार है। जीवन के जितने जल, कमल या शक्ति चक्र हैं, सब कालिय नाग के अधिकार में हैं। शक्ति का प्रतीक यह कालिय नाग सब के भीतर बैठकर जीवनी शक्ति को अपने ही वश में रखना चाहता है और अपने ही ढंग से चलाना चाहता है, किंतु उसके कालीदह में जीवन नहीं, वहाँ तो मृत्यु का निवास है। नाग-नथैया कृष्ण उन कमलों का उद्धार करते हैं जो जीवन के रूप हैं। नाग-नाथन या कालिय-दमन भारतीय अध्यात्म शास्त्र की परंपरा की प्रसन्न परिभाषा है जिसके पीछे रक्खा हुआ अर्थ सरलता से समझा जा सकता है।

इन लीलाओं का अध्यात्म अर्थ समझते हुए हम कृष्ण को खोते नहीं, वरन् उन्हें एक नए लोक में प्राप्त करते हैं, जिस लोक में हमारे अध्यात्म शास्त्र की प्राचीन धारा का सारस्वत जल भरा हुआ है।

कृष्णलीला इस रूप में अकेली नहीं है, रामलीला और बुद्धलीला भी उसी अध्यात्म शैली पर निर्मित है। बुद्ध का मानवी रूप उनके लीला विग्रह में कहीं छिपा पड़ा है। श्रीमती 'राइस डेविड्स' ने 'गौतम दी मैन' पुस्तक में बुद्ध के मानवी रूप का आग्रह करके उसे उद्घाटित करने का प्रयत्न किया, किंतु बुद्ध का लीला विग्रह मानवी रूप का पदे-पदे निराकरण करके शताब्दियों में बड़े प्रयत्न और कौशल से अध्यात्म-अर्थों का ताना-बाना बुन कर बनाया गया था। बुद्ध के तीन रूप हैं—मानवी (ह्यूमन), अति मानवी (सुपर-ह्यूमन) और अलौकिक (सुपर-मंडेन)। मानवी रूप का आज तक पुरातत्त्व में कोई भी समसामयिक प्रमाण नहीं मिला। पिपरावा गाँव (बस्ती—गोरखपुर की सीमा) के स्तूप से मिली हुई धातु-गर्भ-मंजूषा के लेख से ज्ञात होता है कि सुकीर्ति आदि शाक्यों ने बुद्ध के शरीर से संबंधित कुछ चिह्न (सलिल निधने बुधस भगवतो) उसमें रखे थे। बस बुद्ध के इतने ही मानवी प्रमाण से पुरातत्त्व धनी है। शेष परंपरागत अनुश्रुति और साहित्यिक प्रमाण हैं, जिसमें बुद्ध की अति मानवी लीला है—माता की दाहिनी कोख से जन्म लेना, जन्मते ही सात पैर चलना—बातें कब मानवी हुई हैं? इससे भी आगे एक युग ऐसा आया जब महायान संप्रदाय के आचार्यों ने बुद्ध के धर्म कार्य की व्याख्या करते हुए यहाँ तक कहा—वे मूर्ख हैं जो समझते हैं कि बुद्ध का भी हाड़-मास का शरीर कभी रहा होगा, वस्तुतः बुद्ध पृथ्वी पर कभी हुए ही नहीं, वे तो धर्म शरीर से सत्य हैं जो अनादि अनंत हैं। मानवी ढाँचे पर बुद्ध का लीला-विग्रह तैयार करने की एक युक्ति भारतीय अध्यात्म-परिभाषाओं के अनुसार जान-बूझ-कर बनाई गई। उस युक्ति को खोलना और उसके अभीष्ट अर्थ को समझना उन्हीं परिभाषाओं के अनुसार संभव है।

यही प्रक्रिया और तथ्य कृष्णलीला के विषय में भी घटते हैं। कृष्ण के तीन विग्रह हैं जिन्हें मूर्ति शास्त्र के भाषा में—द्विभुजी, चतुर्भुजी और सहस्रभुजी कह सकते हैं। मानवी कृष्ण द्विभुजी हैं या उन्हें होना चाहिए। उनका इतिहास-पुरातत्त्व-गत बहुत दूर का प्रमाण, बस एक वृष्णि-गण का बचा हुआ सिक्का है जो काल के गाल से छटक कर हम तक आ पहुँचा है। वृष्णि-गण-राज्य के अर्ध भोक्ता राजन्य की कुछ झलक महाभारत के शांति पर्व में है, जब अपने-अपने दलों का गण सभा में नेतृत्व करते हुए कृष्ण और अक्रूर की नोक-झोंक भी हो जाती थी। कृष्ण के मानवी रूप के उद्धार

का प्रयत्न श्री 'बंकिमचंद्र' ने अपने 'कृष्ण चरित' में किया पर वैज्ञानिक इतिहास की आधार शिला तो उसे प्राप्त नही हो सकी।

दूसरा अवतारी कृष्ण का लीला विग्रह है जो चतुर्भुजी है। भागवत की आधार-भित्ति वही है। वह भक्ति से जन्मा है। इससे भी ऊपर कृष्ण का ऐश्वर रूप है जो सहस्रभुजी है और गीता के ९, १०, ११ वें अध्याय का विषय है। गीता के शब्दो में वह रूप अनत, अव्यय, शतसहस्र नानाविध, अद्भुत, उग्र, सदसत्, कालरूप, सुदुर्दश, विराट् और विश्व रूप है। उसे नरलोक में मनुष्य की आँखो ने पहले कभी नही देखा। ठीक उस बुद्ध विग्रह की तरह जिसके लिए महायान सप्रदाय के लोकोत्तर वादी आचार्यों ने डपट कर कहा था कि बुद्ध मानव चर्म-नेत्र से कैसे देख सकते थे। कृष्ण का ऐश्वर रूप भी चर्म चक्षुओ का विषय नही उसे देखने के लिए अर्जुन को दिव्य चक्षु दिए गए। मनुष्य तो क्या देवता भी उसे देखना चाहते है, पर देख नही पाते। वह दिव्य शाश्वत पुरुष सहस्रभुजी रूप केवल भक्ति से देखा जा सकता है। गीता की साक्षी के अनुसार ही जान पडता है कि नारद, असित, देवल, व्यास की परपरा ने पचरात्र दर्शन में कृष्ण के इस अनत विराट् विग्रह के निर्माण में भाग लिया। गीता में इस विराट् रूप से घबरा कर अर्जुन उसी सौम्य रूप को देखना चाहता है। वह 'तदेव' (वही) रूप कौन-सा था दो हाथो वाला मानवी नही, बल्कि गदा और चक्र लिए चतुर्भुजी रूप—

"किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त मिच्छामि त्वां द्रष्टु महं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥"

—गीता ११।४६

भागवत में मिट्टी खाते हुए कृष्ण ने और रामलीला में राम ने माताओ को क्षण भर के लिए इस विराट् रूप की झाँकी दी थी। दुर्योधन को भी कृष्ण ने एक बार विराट् रूप की झलक दिखलाई थी, किंतु यह विराट् या सहस्रभुजी रूप हमारे लिए ऐसे ही काम (या बेकाम) का है जैसे सृष्टि का निर्गुण, निराकार तत्त्व। मधुर रस अपने परमाणु रूप से सृष्टि में ही है, पर वह किस काम का? मनुष्य को तो अणु-परमाणु से आगे बढकर मिस्री की डली चाहिए। इस मीठी डली के निर्माण का ही नाम लीला वपु है। प्रकृति का सूक्ष्म अतरगी ठाठ तो शायद कोर-कोर गणित के नियमो में समाप्त हो जाता है, पर वह अलभ्य है। उससे निर्मित स्थल रूप मानव के काम का है। गणित का मधु तत्त्व गन्ने और गुड रूप में आना ही चाहिए। यही बात सगुण के विषय में है। राम कृष्ण जो भी उसका रूप बनाना चाहो बनाओ, सगुण के लिए लीला-वपु आवश्यक है और उसका प्रयोजन भी पदे-पदे निर्गुण-तत्त्व की महिमा की ख्याति ही है। निर्गुण की महिमा के वरदान से ही सगुण पर अतिमानवी आवरण चढता जाता है। उदाहरण के लिए शकटलीला को लें। बच्चे के जीवन में सामान्य रूप से छोटी गाडी का सभी को परिचय है। उसे ही शकटासुर मान कर बाल रूप द्वारा उसका वध लीला वपु का निर्माण करता है। लीला वपु की कल्पना में अध्यात्म-परिभाषाओ की सहायता लेनी पडती है।

वैदिक साहित्य में मानवी शरीर की कई सज्ञाएँ है, जैसे—पूर्णघट, दैवी-नाव, देव-रथ या शकट। प्राण रूपी बैल इस शरीर के छकडे को चला रहा है। इसीलिए प्राण को 'अनडवान्' (अनट् या छकडेवाला) कहा गया है—

"अनडवान् प्राण उच्यते।"

—अथर्व

इस शरीर रूपी शकट या शकटासुर को बाल-कृष्ण ने विलट दिया। इसके गान कीर्तन-कल्पना से एक मधुर लीला बनी। छोटी गाडी के उलटने-पुलटने में कोई वैचित्र्य या माधुर्य नहीं है, पर शकटासुर के बालकृष्ण द्वारा ध्वस्त होने में लीला का माधुर्य है। लीला आनद घन है। मनुष्य

के मन को आनद-घन वस्तु की आवश्यकता है। उसी तत्त्व पर लीला वपु का निर्माण होता है। आनद घन लीला चाहे वह कृष्ण की हो चाहे बुद्ध की माधुर्यमय या मिस्री की डली का रूप है। हमारा अपना जीवन जो उसी लीला के ठाठ पर बना है, उस मिस्री को चखने वाली जिह्वा है। मानव को यह विश्वास या श्रद्धा रखनी ही पड़ती है कि लीला वपु माधुर्य और आनद घन है, जितना मिठास उसमे हम अपने जीवन की पुष्प-फलनमयी लीला में ले सकें वही हमारे काम का है। इस प्रकारजीवन की आवश्यकता के भीतर से भक्तों ने प्राचीन अध्यात्म परिभाषाओं का सहारा ले कर लीला का विकास किया।

लीला का स्थूल रूप ही कवि के लिए अत्यावश्यक है। इसीलिए उद्धव की भाँति कृष्ण को ध्यान अथवा योग-गम्य बनाना सूर अथवा ब्रजवासियो को रुचिकर नही। सूर का बड़ा साका इस बात में नही है कि उन्होंने पुरानी परिभाषाओं की बारीक शल्य-क्रिया करके उनके भीतर छिपे हुए अध्यात्म को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। सूर की सफलता इस बात में है कि उन्होंने देश-समत परिभाषाओं के स्थूल रूप की मातृका या साँचे को जैसा उन्होंने पाया वैसा स्वीकार करके चतुर शिल्पी या चितेरे की भाँति अनेक सुदर रूप या आलेखन प्रस्तुत किए। सूर के चित्र अत्यत सजीव हैं, उनकी वर्णना शक्ति की प्रयत्न करने पर भी थाह नही मिलती। एक ही कृष्ण के चित्र को रगों और तूलिका की शक्ति से कितने अपरिमित भावो में वे सजा सके है, इससे उनके कवि रूप की महिमा प्रकट होती है। सूरसागर का 'भ्रमरगीत' तो कविता की पराकाष्ठा है। वह शुद्ध आनद का अक्षय सोता है। सहृदय के लिए उसमें रस-प्राप्ति की अतुल सामग्री है। हमारी दृष्टि में भ्रमर-गीत की तुलना में रखने के लिए विश्व साहित्य में हमारे पास बहुत कम कृतियाँ है। मन और बुद्धि के शाश्वत द्वद या तारतम्य का इससे अधिक काव्यपूर्ण, पल्लवित, सरल और श्रद्धा से किया हुआ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है, किंतु भ्रमरगीत तर्क की कैंची से तत्त्व की कतर-ब्योंत नही है। मानवीय आत्मा में चैतन्य की साक्षात् प्राप्ति के लिए जो जन्म-जन्म की आकुलता है वह भ्रमर-गीत का सार, उसका प्राण और रस है। स्त्री के मन में पुरुष के लिए जो सर्वात्म समर्पण का भाव प्रकृति ने स्वय भरा है, उसमें जो अचित्य और अपरिमेय प्रेम तत्त्व है—इसमें सदेह है कि विश्व में पूरी तरह उसकी थाह कभी लग सकेगी—और जो शरीर के स्थूल रक्त-मास से लेकर मानस के सूक्ष्म ततुओं तक में प्रेम का स्वय अनुभव करने की जो उत्सुकता या छटपटाहट है, आत्मा की चैतन्य के लिए जाग्रत् आकुलता की उपमा यदि किसी से दी जा सकती है तो केवल उससे ही। इसी सुदर, स्वस्थ्य प्राणमय तत्त्व से भ्रमरगीत का निर्माण हुआ है। सूर ने भ्रमरगीत के भीतर इस मणि को कही रख दिया है, जिसका प्रकाश धुधला नही पड़ता। भ्रमरगीत में ऐसा सोता उनके हाथ लग गया है जिसमें से कभी न छीजने वाली आनद की रसझड़ी सदा निकलती जान पड़ती है। भ्रमरगीत के वर्णन साहित्यिक ठाठ से सँवारे हुए हैं, फिर भी उनमें दायें-बायें नए-नए हेर-फेर की अद्भुत शक्ति सर्वत्र मिलती है। उसकी भाषा की टकसाली गठन ब्रजभाषा के प्रति नूतन श्रद्धा उत्पन्न करती है। उसके अर्थों की पैनी शक्ति दूर तक बेधती है—

"बिलग मति मानो ऊधौ प्यारे।
वौ मथुरा काजर की उबरी, जे आवें ते कारे॥
तुम कारे, सुफलक-सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनहूँ माँझ अधिक छवि उपजत, कमल-नैन मनियारे।
मानों नील माँट में बोरे, लै जमनां जु पखारे।
ता गुन स्याँम भई कालिंदी, 'सूर' स्याँम गुन न्यारे॥

अथवा—

"ऊधौ, तुम बेग हीं ब्रज जाहु।
सुरति सँदेस सुनाइ मेटौ वल्लभनि कौ दाहु॥

काम पावक तुलित मन में, बिरह स्वास समीर।
भसम नाहिंन होन पावत, लोचननि के नीर ॥"

इस पद को लिखते समय मानो सूर-तुलसी ने एक दूसरे के साथ टीपने मिलाई हो। तुलसी की प्रसिद्ध उक्ति है—

"बिरह अगिनि तन तूल समीरा। स्वास जरै छन माँह सरीरा।
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी। जरै न पाव देह बिरहागी ॥"

सूर के विनोदी मधुवनियाँ श्याम ने उद्धव के अद्वैत दर्शी मन के साथ विनोद का एक अति शिष्ट रूप भ्रमरगीत में रचा है। उसमें गोपियो की अपरिमित कसक और करुणा का व्यंग भरा है। उसके भीतर से सूरदास के भक्त हृदय की अमर वाणी आज भी सुनाई पड़ती है—

"कहौ संदेस 'सूर' के प्रभु के, यह निरगुन अँधियारौ।
अपनो बोयौ आप लोनिऐं, तुम आपहि निरवारौ ॥

अर्थात् हे ऊधो, सूर के सगुण प्रभु की बात कहो (तो भला) निर्गुण तो अँधियाला है। निर्गुण की अपनी खेती बोई है तो आप ही काटो,—निर्गुण को गाँठ लगाई है तो आप ही सुलझाओ।

सूर की यह माँग व्यक्ति के हृदय की माँग तो है ही, हो सकता है निर्गुण की गाँठ न सुलझने पर कभी युग की माँग भी बन जाय। सगुण और निर्गुण की उलझन का लोक पक्ष भी है। राष्ट्र (स्टेट) निर्गुण, व्यक्ति या जन सगुण और प्रत्यक्ष सिद्ध है। उसी के कल्याण में रस है। कोरा सिद्धांत या वाद निर्गुण या अमूर्त है, किंतु जन का जीवन मूर्त और प्रेम का पात्र है। हमारे समस्त सिद्धांतो या मतवादो को सगुण जन-जीवन की कसौटी पर खरा उतरना चाहिये। जीवन से पराङ्मुख मतवाद उद्धव के रूप है। जीवन स्वयं गोपियो की भाँति रस तृप्ति का इच्छुक है। सच्ची ब्रज-संस्कृति मध्य युग के बहके हुए व्यक्तियो का कर्म से बच निकलने का मार्ग नही है। यह तो भारतवर्ष के कई सहस्र वर्षो के धार्मिक इतिहास के प्रचंड मन्थन से उत्पन्न हुआ मक्खन था, अथवा उस समुद्र में तैरता हुआ सुंदर कमल था जिसने देश को समन्वय, सप्रीति और समवाय का सुंदर संदेश दिया। यह वह महायान या चौड़ा मार्ग था जिस पर संकीर्णता को दूर करके सबको चलने का निमंत्रण दिया गया। उस महायान की पताका पर यह मंत्र लिखा था—"हरि को भजै सो हरि को होई।"

इन्ही दीप्तिपटो से तो समाज के मन में नया प्रकाश भरा जाता रहा जिसके भरने वाले अनेक ध्यानी, ज्ञानी, आचार-पूत तपस्वी संत महात्मा और भक्त थे। वे ही ब्रज-संस्कृति के संस्थापक थे। इसी संस्कृति के मार्ग से लोक के छटपटाते हुए मन को नया प्राणवायु पहुँचता रहा। मतवाद की चारदीवारी के लौह-प्राचीरो ने जब जीवन को रूँध दिया, तब ब्रज की प्रेम-भक्ति-प्रधान संस्कृति ने सब प्राणियो के लिये जीवन को रहने के योग्य बनाया और मानव को मानव के प्रति श्रद्धा का पाठ पढ़ाया। समाज में जो सहस्रो वर्षों से पंगु बने थे वे इस संस्कृति की कृपा से पर्वत लाँघने लगे, जो अंधे बने थे वे सब कुछ देखने लगे, जो बहरे थे उनके कान कर्तव्य, सम्मान, मर्यादा के संदेश सुनने के लिये खुल गए और जो गूंगे थे उनके कंठो में स्वर आ गया। ऐसे बंधन-मुक्त कंठो के गान आज भी भारत की सांस्कृतिक निधि में रत्नो की भाँति सुपूजित है—इस संस्कृति के द्वारा की गई ईश्वर के चरणो की वंदना ऐसी सुखदाई और सिद्धि की देने वाली हुई—

"बंदौ श्री हरि-पद सुखदाई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कौं सब कछु दरसाई।
बहिरौ सुनैं, गूंग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।"

मनुष्य ने जहाँ आपस में विभेद डाला था वही ईश्वर के चरणो की करुणा उन्हें मिलाने वाली सुधा सिद्ध हुई।

रासलीला

श्री मुंशीराम शर्मा 'सोम'

रास शब्द रस से बना है। रसो वै स, अर्थात् भगवान् स्वयं रस रूप है—आनद रूप है। उपनिषद् में कहा है—आनद रूप प्रभु से समस्त प्राणी प्रकट हुए है। यह रसरूप ब्रह्म केंद्र है और उसकी परिधि है ब्रह्माड का यह चक्र, जिसे उसकी 'लीला' कहा जाता है। कहाँ तो वैष्णव भक्ति का आचार्यों द्वारा वर्णित यह आनद रूप जिसके मल में आनद और परिणाम में भी आनद और कहाँ ईसाइयो का वह घोर दु खवाद एवं पाप-बोध की भावना ? मालूम नही पाश्चात्य विद्वानो ने भागवत-भक्ति को ईसाइयो की प्रायश्चित वाली भावना से कैसे मिला दिया। एखार्ट नामक ईसाई सत ने ईसाइयो की आध्यात्मिकता प्रिय वृत्ति को शास्त्रसमत रूप अवश्य दिया था, जिसमें पाप-बोध, सस्कारो का सुधार, पवित्रीकरण, महनीय भाव की अनुभूति और अत में प्रभु के साथ तादात्म्य भाव की प्रधानता थी, परतु ईसाइयो का यह भाव वैष्णव धर्म की आनद भावना से एकदम विपरीत है। वैष्णवो की रासलीला, इसी आनद-भावना के अनुभव करने का नाम है।

बगीय विद्वानो ने जहाँ वैष्णव भक्ति को विवेचना के आधार पर वैज्ञानिक रूप दिया है, वहाँ उन्होंने 'रासलीला' को भी विज्ञान समत सिद्ध किया है। इन विद्वानो की समति में बाह्य जगत् में, भौतिक विज्ञान द्वारा अनुमोदित आकर्षण का एक नियम पाया जाता है। इस अनत आकाश में अनेक सूर्य है। एक-एक सूर्य के साथ कई ग्रह और उपग्रह लगे हुए है, सूर्य केंद्र में है और वे समस्त ग्रह-उपग्रह उसके चारो ओर चक्कर लगा रहे हैं। आकर्षण की शक्ति इनको परस्पर सबद्ध किए है, इधर-उधर गिरने नही देती। रासलीला में कृष्ण केंद्रस्थ सूर्य हैं, राधा तथा अन्य गोपियाँ ग्रह और उपग्रहो के रूप में है।

इस विचार से भी अद्भुत एक और विचार है। भौतिक शास्त्र के आधुनिक अनुसधान-कर्त्ताओ ने अपनी गवेषणा द्वारा सिद्ध किया है कि प्रकृति का एक-एक अणु कई शक्तियो के समूह का नाम है। अणु का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसके बीच में एक केंद्र विंदु है, जिसके चारो ओर अनेक गति और प्रगति के तार चक्कर काट रहे है। इनमें अनत लहरें और अपरिमित कपन है। रासलीला में वह केंद्रीभूत कृष्ण अपने चारो ओर गोपियो के रूप में ऐसी ही तो लहरें उत्पन्न कर रहे हैं।

किसी-किसी विद्वान् ने रासलीला का वर्णन शाश्वत नृत्य की भावना के रूप में किया है, वे कहते है—यही तो शिव का नृत्य है। डम-डम डमरू की ध्वनि इस आकाश में फैली हुई अनंत शब्द ध्वनियाँ है और शिव के पद तल की कभी सम और कभी विषम गति लास्य एव ताडव नाम के नृत्य को जन्म दे रही है। नृत्य का यही शाश्वत रूप रासलीला-द्वारा प्रकट किया गया है।

एक विचार और भी रासलीला के साथ सबद्ध है, जिसके अनुसार यह लीला शुद्ध रूप से अध्यात्म-क्षेत्र की घटना है। अध्यात्म पक्ष में कृष्ण परमात्मा है और राधा तथा गोपियाँ अनेक जीव, वृ दावन (वल्लभायो का गोकुल) सहस्र दल कमल है। यही तो आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है, परतु जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है, वैष्णव पुष्टिमार्गीय विचारो के अनुकूल आत्मा और परमात्मा मोक्ष में भी भिन्न-भिन्न रहते है। मुक्त जीव परमात्मा के साथ क्रीडा करते है, उसकी लीला में भाग लेते है। गोपिकाएँ भी रासलीला में कृष्ण के साथ खेल खेलती है।

उपरोक्त विचार से कम से कम एक बात अवश्य सिद्ध होती है कि रासलीला एक प्रकार का रूपक है। अमरकोष में विशाखा नक्षत्र का एक नाम 'राधा' भी दिया है। यह नक्षत्र कृतिका नक्षत्र से चौदहवाँ

नक्षत्र है। पहले नक्षत्र-गणना कृतिका से होती थी। इस गणना के अनुसार विशाखा, अर्थात् राधा नक्षत्र ठीक बीच में पडता है। वैष्णव भक्ति में राधा कृष्ण की पूरक शक्ति मानी गई है और रास में सर्वदा कृष्ण के साथ रहती है। अत रास-मडल के मध्य में स्थित होने के कारण, कम से कम, रासमडल के अनुसार उसका प्रधान स्थान है।

रास में राधा का पारकीया रूप

यह प्रश्न होता है कि लौकिक परिवेश में कृष्ण का राधा के साथ क्या सबध है? वह स्वकीया है अथवा परकीया? महाभारत, विष्णु पुराण और हरिवश पुराण में कृष्णकी पत्नियो के नाम दिये है। जिनमें सत्यभामा, रुक्मिणी जाववती आदि नाम आते है, परतु राधा का नाम नही आता। राधा को किसी भी प्राचीन ग्रथ में कृष्ण की पत्नी नही कहा गया है। तो क्या राधा परकीया है? 'सूर' ने ऐसा नही कहा। उसने अपने 'सूरसागर' में राधा और कृष्ण का विवाह बडी धूमधाम के साथ कराया है, परतु चैतन्य-सप्रदाय में राधा को परकीया ही माना गया है। यही वासना को कर्दम से निकाल कर भगवद्भक्ति रूपी परिमल में परिवर्तित कर देना है। दूसरा विचार है वैराग्य को निवृत्ति-परायणता में परिणत कर देना। वैराग्य की यह भावना, जिसने हमारे हृदयो में घर कर रक्खा था और जिसके कारण हम ससार को मिथ्या समझने लगे थे, भक्ति की इस प्रबल धारा में बहकर न जाने कहाँ विलीन हो गई। कृष्ण की बाललीला एव रासलीला में मग्न होकर मानव-मन खिन्नता से पृथक्, उदासीनता से दूर और नैराश्य से हटकर घर के कार्यों में तत्पर होकर भाग लेने लगा। वैष्णव धर्म की यह देन आर्य जाति के लिये रामबाण की औषधि सिद्ध हुई है। धन्य है वे कवि जिन्होने अपनी वाणी द्वारा इस भक्ति का जनता में प्रचार किया।

सूर की रास लीला

ऊपर जिस लीला के सबध में हमने कुछ विचार प्रकट किये है, उसका वर्णन विष्णु-पुराण, हरिवश, श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी पाया जाता है। सूर ने इस रासलीला का वर्णन श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी से लिया है पर, जैसा हम लिख चुके है, भागवत में राधा का नाम नही आता। भगवान् की एक ऐसी आराधिका गोपी का वर्णन अवश्य आता है जिसे वे सर्वाधिक प्यार करते थे। सूर ने इसी गोपी को राधा नाम दिया है।

यद्यपि वल्लभ-सप्रदाय के अनुयायियो ने परकीया के स्थान पर स्वकीया को महत्व दिया है, परतु व्यवहार के क्षेत्र में बगीय वैष्णव-शाखा से भी प्रभावित जान पडते है। तभी तो उस शरन्-चद्रिका-धौत निर्मल विभावरी में जब रास प्रारभ होने से पूर्व मोहन की मुरली बजती है, तो गोपिकाएँ अपने समस्त गृह-कार्यों को परित्याग करके, आर्य-मर्यादा का उल्लघन करती हुई, अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी, शीतल, मद, सुगध समीर से मादक-तरग-सकुल यमुना तट पर जा पहुँचती है। सूर इस समय का वर्णन करते हुए लिखते है—

"जब मोहन मुरली अधर-धरी।
गृह ब्यौहार थके आरज पथ, तजत न संक करी।।
पद-रिपु-पट अटक्यो आतुर ज्यौं-ज्यो उलटि-उलटि उबरी।।"

*

"जबहिं बन मुरली स्रवन परी।
चकित भई गोप-कन्या सब, काँम धाँम बिसरी।।
कुल-मरजाद बेद की आग्या, नैंकहु नाहिं डरी।
स्याँम-सिंधु, सरिता-ललनाँ-गँन, जल की ढरँन ढरी।।
जो जिहिं भाँति चली सो तैंसेंई, निसि बन कौं जु खरी।
सुत-पति-नेह, भवन-जन-सका, लज्जा नाहिं करी।।"

"मुरली, मधुर बजाई स्याँम ।
मन हरि लियौ भवन नहिं भावै, व्याकुल ब्रज की बाँम ।।
भोजन, भूषन की सुधि नाहीं, तन की नाहिं सँभार ।
गृह-गुरु-लाज सूत सौं तोरचौ, डरी नहीं ब्यौहार ।।"

❀

"मुरली सुनत भईं सब बौरी,
छुटि सब लाज गईं कुल-काँनी, स्रुति, पति, आरज-पंथ भुलानी ।।"

—सूरसागर

इन गीतो से श्री सूर ने जिस आर्य-पथ, कुल-मर्यादा, वेद की आज्ञा, सुत-पति-स्नेह, भवन, जन-शंका, गुरु, गृह, लज्जा आदि के परित्याग का उल्लेख किया है, वह परकीया प्रेम को ही अभिव्यजित कर रहा है। नीचे लिखे पदो में विश्वमोहक मुरली ध्वनि के प्रभाव को देखिये—

"जब हरि, मुरली-नाँद, प्रकास्यौ ।
जंगम, जड़, थावर चर कीन्हें, पाहँन जलज बिकास्यौ ।।
सरग-पताल दसौं दिसि पूरँन, धुनि आच्छादित कीन्हो ।
निसि चर कल्प समाँन बढ़ाई, गोपिन को सुख दीन्हौं ।।
मैंमत भए जीव जल-थल के, तन की सुधि न सँभार ।
'सूर' स्याँम-मुख बेंन मधुर सुनि, उलटे सब ब्यौहार ।।"

❀

"मुरली, गति बिपरीत कराई ।
तिहूँ भुवन भरि नाँद सँमान्यो, राधा-रमन बजाई ।।
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरत नहीं तृन धेंनु ।
जमुनाँ उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेंनु ।।"

—सूरसागर

मुरली की इस ध्वनि को सुनकर ऐसी किसमें सामर्थ्य थी जो चुपचाप बैठा रहता ? जो मुरली यमुना की धारा को उलट कर बहा सकती है, पवन को मूक, चद्र को स्तब्ध और सुर-गधर्वों को व्याकुल बना सकती है, जिसकी ध्वनि को सुन कर गायें चरना छोड देती है, बछडे दूध नही पीते, शिव की समाधि भग हो जाती है, खग, मृग, तरु, सुर, नर, मुनि आदि सब पर जिसका अबाध अधिकार है, उसकी ध्वनि कान में पडते ही गोपिकाएँ कुल-लज्जा को दूर करती हुई कृष्ण के पास पहुँच ही तो गईं। कैसा जादू है इस मुरलिका में। सूर कहते हैं—

"लै-लै नाम सबनि कौ टेरें, मुरली-धुनि घर ही के नेरें ।।"

तथा—

"राधिका-रवन बन-भवन-सुख देखि कें, अधर धरि बेंनु सु ललित बजाई ।
नाँम लै-लै सकल गोप-कन्याँन के, सबन के स्रवन वह धुनि सुनाई ।।"

—सूरसागर

अर्थात् मुरली की ध्वनि कानो में पडते ही प्रत्येक गोपी ने अनुभव किया जैसे उसी का नाम ले-लेकर मुरली उसे ही बुला रही है। सोलह सहस्र गोपिकाएँ[1] और प्रत्येक का नाम पुकारती हुई

१. गईं सोलह-सहस हरि पै, छाँडि सुत-पति-नेह ।

—सूरसागर

वशी की एक-एक ध्वनि। सदेश भी सब के लिए पृथक्-पृथक्—अद्भुत है यह मुरली। यह जिसको जिस ढग से चाहती है, वह वैसा ही सदेश उसके कानो में अपनी ध्वनि से डाल देती है। मुरली क्या है, मानो भगवान् की कार्य-साधिका यत्र रूप माया है, जो विश्व के समग्र भूतो को अपने-अपने कार्य में निरत कर रही है और यह कार्य क्या है? ससार के इस ससरण का, प्रत्येक व्यक्ति के स्व-कर्तव्य पालन का क्या भाव है? यह भाव एक ही है, अपना-अपना कार्य करते हुए उधर ही दौड लगाना, उसी केंद्र में समा जाना। गोपिकाओ का कृष्ण के पास आना अध्यात्म-पक्ष में जीवात्माओ का परमात्मा की ओर उन्मुख होना है, जो धारा ससार की ओर बह रही थी, उसे उलट कर ईश्वर की ओर बहाना है। तभी तो सूर लिखते हैं—

"मुरली स्याम अनूप बजाई। बिधि-मरजादा सबनि भुलाई ।।
निसि बन को जुबती सब धाँई। उलटे अंग अभूषन ठाँई ।।
कोउ चलि चरन हार लपटाई। काहू चौकी भुजनि बनाई ।।
अँगिया कटि, लहँगा उर लाई। यै सोभा बरनी नहिं जाई ।।"

—सूरसागर

अर्थात् गोपियो की जो वृत्ति गृहस्थी में, संसार में, रमण कर रही थी वह मुरली-नाद सुनते ही इधर से हट परमार्थ की ओर लग गई। साधक साधना करता हुआ कभी-कभी अनुभव करता है, जैसे कोई उसे बुला रहा है। गोपिकाओ को भी ऐसा ही अनुभव हुआ और वे चल पडी। नशे में चूर, मतवाले मनुष्य को अपने तन-वसन का स्मरण नही रहता, गोपियो की भी ऐसी ही दशा है, वे भी कृष्ण दर्शन के नशे में मतवाली बनी हुई है, तभी तो हार चरणो में लिपटाया जा रहा है और चौकी भुजाओ में पहनी जा रही है। सब अगो में उलटे आभूषण धारण किये जा रहे हैं, पर यह सब हो रहा है, घर की निशा से निकल कर कृष्ण की चाँदनी के दर्शन करने की धुन में, अँधेरे में भला कौन रहना चाहेगा?

"जा की मन हरि लियौ स्यामघन, ताहि सँभारै कौन ?"

जिसकी वृत्ति इधर फिर गई है, वह इधर की सँभाल क्यो करने लगा? गोपिकाएँ चल पडीं, पद-रिपु (कटकादि) रूपी विघ्नो को जैसे-तैसे पार करती हुई कृष्ण के पास पहुँची, परतु यह क्या? कृष्ण तो उन्हें डाट रहे हैं, कहते हैं—निशीथकाल में अपने पतियो को छोड कर तुम यहाँ कैसे आ गई? आर्य-मर्यादा की यह अवहेलना? जाओ, जाओ, लौट जाओ, जाकर घर में पति की सेवा करो। यही नही, कृष्ण गोपियो को मर्यादा-पालन का उपदेश भी देते हुए कहते हैं—

"इह बिधि बेद-मारग सुनौं।
कपट-तजि पति करौ पूजा, कह्यौ तुम जिय गुनौ ।।
कत मानहुँ भव तरौगी, और नाहिं उपाइ।
ताहि तजि क्यों बिपिन आईं, कहा पायौ आइ ।।
बिरध अरु बिन भागहू कौ, पतित जौ पति होइ।
जऊ मूरख होई रोगी, तजै नाहीं जोइ ।।
इहै में पुनि कहत तुम्ह सो, जगत में यै सार।
'सूर' पति-सेवा बिना क्यों, तरौगी संसार ।।"

—सूरसागर

एक आर्य सद्गृहस्थ की मर्यादा यही है जो सूर के इस पद में प्रगट हुई है। सूरसागर में रासलीला-अध्याय में यहाँ तक गोपियो का परकीया-भाव ही प्रगट हुआ है, पर कृष्ण द्वारा दी हुई परकीया-भाव रूपी भर्त्सना को क्यो गोपियो ने आँख मीचकर स्वीकार कर लिया? नहीं, गोपियों ने

इन पदो में व्यावहारिक रूप से परकीया कहा गया है जो प्रातिभासिक सत्ता के अंदर स्थान पाता है। वास्तव में उनका प्रेम पारमार्थिक दृष्टि से स्वकीया का ही प्रेम है। तभी तो गोपियाँ कहती हैं—

"तुम पावत हम घोष न जाहिं।
कहा जाइ लैहैं ब्रज में हम, यै दरसन त्रिभुवन में नाहिं ।।
तुम हूँ ते ब्रज हितू कोउ नाँहि, कोटि कहौ नहिं मानैं।
काके पिता, मात है काकी, काहू हम नहिं जानैं ।।
काके पति, सुत, मोह कौन कौ, घर है कहाँ पठावत।
कैसौ धरम, पाप है कैसौ, आस निरास करावत ।।
हम जानैं केवल तुम ही को, और वृथाँ संसार।
'सूर' स्यौम निठुराई तजिऐ, तजिय बचन बिन-सार ।।"

धाड-मार कर रोती हुई गोपियो की इस कातर एव व्याकुल वाणी को सुनकर कृष्ण ने उनके अनन्य प्रेम का अनुभव किया—

"हरि सुनि दीन-बचन रसाल।
बिरह-व्याकुल देखि बाला, भरे नैन बिसाल ।।"

❀

"हरखि बाँनी कहत पुनि-पुनि धन्य धनि ब्रज-बाल।
'सूर' प्रभु करि कृपा जोह्यौ, सदय भए गोपाल ।।"

—सूरसागर

भक्त की वेदना का अनुभव करके भगवान् द्रवित हो गये और गोपियो के प्रेम को धन्य धन्य कहने लगें।

रास प्रारंभ हुआ। कितना सुहावना समय है, शरद कालीन निर्मल नभ में पूर्ण चद्र का प्रकाश, रोम-रोम में मादकता की तरगें उत्पन्न करने वाली शीतल मद सुगधित वायु, परम रुचिकर यमुना का तट, सूर कहते हैं—

"आज निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मंद सुगंध पवन बहै, रोम-रौम सुखदाई ।।
जमुनाँ-पुलिन पुनीत परम रुचि, रुचि मंडली बनाई।
राधा बाँम अंग पर कर धरि, मध्यहिं कुँवर कन्हाई ।।"

—सूरसागर

राधा और कृष्ण बीच में है। चारो ओर गोपियाँ हैं, वैसा ही समय, वैसा ही सौदर्य, और वैसी ही हार्दिक प्रेम की उमग, रासलीला क्या है, मानो भगवान का एक-एक आत्मा के साथ तद्रूप हो जाना है, पहले राधा के साथ नृत्य प्रारंभ हुआ। उसे सूर के शब्दो में ही सुनिये—

"कुंडल सँग ताटंक एक भए, जुगल कपोलनि झाँई।
एक उरग मानो गिरि ऊपर, द्वै ससि उदै कराँई ।।
चारि चकोर परे मनो फंदा, चलत है चंचलताई।
उरपति-गति तजि रह्यौ निरखि लजि, 'सूरदास' बलि जाई ।।"

—सूरसागर

रास में राधा और कृष्ण दो नही मालूम पडते; दोनो मिल कर एक हो गये हैं। कृष्ण के कुडल और राधा के ताटक अब पृथक्-पृथक् दिखलाई नही देते। दोनो कपोलो पर उनकी झलक भर पड रही है, यह झलक सर्प के समान लहरे ले रही है। राधा के स्तन रूपी पर्वत के ऊपर राधा और कृष्ण दोनो के दो मुख दो चंद्रमाओ के समान उदय हो रहे हैं। दोनो की दो-दो मिल कर चार

आँखें चचल हो रही हैं। एक दूसरे के जाल में फँसी हुई हैं और वह वास्तविक चद्रमा? वह देखता है, मेरे जैसे दो-दो चद्र आज पृथ्वी मडल पर अपूर्व लीला कर रहे हैं। अत वह देखते ही लज्जित हो जाता है और अपना चलना छोड कर चुपचाप खडा हो जाता है। हाँ, यह रासलीला ऐसी ही है। वह देखो, विमानो में बैठ कर देवता भी इस रास-दृश्य को देखन के लिये आ गये और ब्रजबालाओ को धन्य-धन्य कहते हुए उनके ऊपर पुष्पो की वर्षा करने लगे। धन्य है वह वृंदावन धाम, जहाँ उस लीला पुरुषोत्तम ने ऐसा अद्भुत रास किया।

शिव, शारदा और नारद, किन्नर, गधर्व और मुनि सभी तो इस रास-दृश्य के दृष्टा बने हुए हैं। देवागनाएँ तो तरस रही हैं, चाहती हैं—वे भी ब्रजबालाएँ होती, तो इस रसिक शिरोमणि के साथ कुछ तो रस का आस्वादन कर सकती। अरे, यह नही तो वृंदावन की लताएँ और वृक्ष ही वे बन जाती, किसी प्रकार उस नटनागर का सामीप्य तो प्राप्त हो—

"हम को विधि ब्रज-वधू न कीन्हीं, कहा अमरपुर-बास भएँ।
बार-बार पछितावत कहि-कहि, सुख हो तो हरि-संग रएँ॥
कहा जनम जो नहीं हमारी, फिर-फिरि ब्रज अवतार भलौ।
वृंदावन द्रुम-लता हूजिऐ, करता सों माँगिऐ चलौ॥"

रास अपनी चरमसीमा पर पहुँचता है। सोलह सहस्र गोपियाँ, पर नृत्य की द्रुति गति द्वारा सबको कृष्ण अपने ही साथ क्रीडा करते दिखाई पडते हैं, एक गोपी में समाया हुआ एक कृष्ण और एक कृष्ण में समायी हुई एक गोपी। उस अतर्यामी, घट-घट व्यापक छबीले की सर्वत्र फैली हुई छबि का कुछ ठिकाना है? सूर जैसा क्रातदर्शी कवि ही उसे कुछ-कुछ समझ और समझा सकता है। नीचे के पद से उस अलौकिक पारखी द्वारा अनुभूत रासलीला का दृश्य देखिये—

"मानो माई, घन-घन-अंतर-दाँमिनि।
घन दाँमिनि, दाँमिनि घन अंतर, सोभित हरि-ब्रज-भाँमिनि।
जमुनाँ-पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई जाँमिनि।
सुंदर ससि गुन रूप राग निधि, अंग-अंग अभिरामिनि।
रच्यौ रास मिलि रसिकराइ सौं, मुदित भई गुन-ग्राँमिनि।
रूप निधान स्याँमसुंदर घँन, आँनद मन बिस्राँमिनि।
खंजन, मीन, मराल हिरन छबि, भाइ भेद गज-गाँमिनि।
को गति गुनै 'सूर' स्याँम सँग, काँम बिमोह्यौ काँमिनि॥"

एक बादल अपनी उमड-घुमड के साथ श्याम काति लिये हुए प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है, जिसमें क्षण-क्षण क्षणदा का प्रकाश हो आता है, यह विद्युत् प्रभा अपनी चमक-दमक को लिये हुए राधा और गोपियो का ही तो रूप है, घनश्याम तो घन रूप है ही, इस दृश्य से ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक ही समय कृष्ण प्रत्येक गोपी के साथ नृत्य में निमग्न हो रहे हो, रसिकराज श्रीकृष्ण के साथ तद्रूप बनी हुई ब्रजबालाएँ हर्षपुलक से ओतप्रोत हो रही हैं। खजन, मीन तथा मराल की शोभा को अपनी अमद छबि से पराजित करने वाली इन अनिंद्य रास-विह्वला गोपियो की गति का कोई क्या वर्णन करेगा।

रास लीला की कला ताल का तारतम्य भी देखिये—

"बिराजत, मोंहन मडल-रास।
स्याँमाँ-सुधा-सरोवर मानो, कीडत बिबिध बिलास॥
ब्रज-जुवती सत जूथ मंडली, मिलि कर परस करे।
भुज-मृनाल-भूषन तोरन जुत, कंचन-खंभ खरे॥
मृदु पद-न्यास, मंद मलयानिल, बिगलित सीस-निचोल।

नील, पीत, सित, अरुन धुजाचल, सीर-सँमीर झकोल ।।
विपुल पुलक कंचुकि बंद छूटे, ह्वै अनंद भए ।
कुच जुग चक्रवाक अवनी तजि, अंतर रैंन गए ।।
दसन-कुंद-दाडिम द्युति-दामिनि, प्रगटत औ दुरिजात ।
अधर-बिंब मधु अमी जलद-कन, पीतम बदन समात ।।
गिरत कुसुम कबरी केसन ते, टूटत हैं उर हार ।
सरद जलद मनु मंद किरन-कँन कहूँ-कहूँ जलधार ।।
प्रफुलित बदन सरोज सुंदरी, अति रस-रंग रँगे ।
पुहुकर पुंडरीक पूरन मनु खंजन केलि खगे ।।
पृथु नितंब पर भीर, कमल पद, नख मनि चंद अनूप ।
मानो लुब्ध भयौ बारिज-दल, इंदु किए दस रूप ।।
स्रुति कुंडल धर गिरत न जानति, अति आनंद भरी ।
चरन-परस ते चलत चहूँ दिसि, मानहुँ मीन करी ।।
चरन रुनित नूपुर, कटि किंकिनि, करतल ताल रसाल ।
तरुनी नैंन समेत सहज सुख, मुखरति मधुर मराल ।।
सकल विनोद सहित सुर-ललनाँ, मोहे सुर, नर, नाग ।
विथकित उरपलि-बिंब बिराजत, श्री गुपाल-अनुराग ।।
जाचक दास आस चरनन की, अपनी सरन बसाव ।
मन अभिलाष स्रवन जस पूरित, 'सूर' हि सुधा पिआव ।।"

—सूरसागर : वेंकटेश्वर

ऊपर के पद में व्रज की युवतियो का हाथ पर हाथ रखे हुए मृदुल पद विन्यास पढते ही बनता है, जिसमें रास करते हुए कभी उनके सिर से वस्त्र नीचे खिसक जाता है, केशपाशो में गुथी हुई कुसुमो की माला नीचे गिर पडती है, हार में पिरोये हुए मोती इधर-उधर बिखर जाते हैं और कानो के कुडल पृथ्वी पर गिर पडते हैं। चरणो की गति से नूपुरो की शिजन नव रुनझुन करने लगती है, तो कटि में पडी हुई किंकणी उसके साथ ताल मिलाने लगती है और करताल से उत्पन्न सुदर तालिका की ध्वनि उसके साथ समवेत स्वर हो स्वर्गीय समाँ बाँध देती है। साथ ही मृदग, मुरज, मुरली आदि अनेक वाद्य बज रहे हैं, रासलीला के इस रसीले राग से व्योम में विमान-स्थित देव-वृ द आश्चर्य चकित हो रहा है और तारकावलि टकटकी लगाये इस नृत्य के निरखने में निमग्न है और अधा सूरदास? वह भी चाहता है—इस अमृत का अनवरत आस्वादन करता रहे।

कितना अद्‌भुत इस रास का प्रभाव है। सत सूर की तो सपत्ति ही कितनी। इस रास-लीला ने तो नारद जैसे मुनीश्वर, शारदा जैसी विद्या की अधिष्ठातृ देवी और शिव जैसे योगेश्वर तक को आत्मविस्मृत कर दिया। शिव जी ही नही, नारायण तक मुग्ध हो गये और अपनी प्रियतमा रमा से कहने लगे—प्यारी, सुनो, सुनो, आज श्याम वन में विहार कर रहे हैं, जिस सुख-विलाम में आज, व्रजागनाएँ मग्न है, वह सुख हमारे भाग्य में कहाँ? धन्य है ये व्रजबामाएँ!

"रास-रस मुरली ही तैं जाँन्यो ।
स्याँम-अधर पर बैठि नाँद कियौ, मारग चद हिराँन्यो ।।
धरनि जीव जल-थल के मोहे, नभ-मंडल सुर थाके ।
तृन, द्रुम, सलिल, पवन गति भूले, स्रवन सब्द परयौ जाके ।।
बच्यौ नाँहि पाताल-रसातल, कितिक उदै लो भाँन?
नारद-सारद सिव यै भाखत, कछु तन रह्यौ न स्याँन ।।

यै अपार रस रास उपायौ, सुन्यौं न देख्यौ नैंन।
नाराइन धुनि सुनि ललचाँनै, स्याँम अधर सुनि बैंन।।
कहत रमा सौं सुनि सुनि प्यारी, बिहरत है बन स्याँम।
'सूर' कहा हमकौं वैसौ सुख, जो बिलसति ब्रज-बाँम।।"

और सब से बढ कर तो रास रस का स्वाद मुरली को मिला। वही तो श्याम-अधरो पर बैठी हुई शब्द कर रही है। चद्रमा का मार्ग विस्मृत हो जाना तो साधारण बात है, देवताओ के मुग्ध होने में भी कोई विशेषता नही, पर तिनको और वृक्षावलियो से तो पूछो, इन्हें काठ क्यो मार गया? अरे, ये बिचारे क्या करे, जल और पवन तक अपना बहना भूल इस नाद-निनादिनी में बहने लगे है। पाताल, रसातल और तलातल भी तो न बच सके, इस रस प्रवाह में बरबश बहे जा रहे है।

इसी रास के बीच में सूर ने राधा-कृष्ण का विवाह कराया है। इस विवाह का सूर ने बडा ही सागोपाग वर्णन किया है। कृष्ण की प्राप्ति के लिये राधा व्रत रखती है, यमुना के पावन पुलिन पर वेदी बनाती है। कुज मडप का कार्य करते है। मुरली निमंत्रण देकर गोपिकाओ को बुला लाती है। गोपियाँ वर-वधू का ग्रथि बधन करती है। भाँवरे पडती है और बडी धूमधाम के साथ विवाह की विधि समाप्त होती है। सूर ने यहाँ गालियाँ भी दिलवाई है, जिन्हें पढकर केशव-कृत 'रामचद्रिका' की याद आ जाती है। ककन-खोलने के समय का दृश्य भी चमत्कार युक्त है। विवाह के इस प्रसग का समावेश करके सूर ने राधा के परकीया भाव का स्पष्ट रूप से निराकरण कर दिया है। विवाह के पश्चात् फिर रासलीला प्रारभ होती है।

विवाह होने के पश्चात् राधा को गर्व हुआ। उसने समझा, यह रासलीला उसीके लिये हुई है, यह सारा समाँ उसीके लिये जोडा गया है। वह है समस्त गोपियो की पटरानी, फिर गर्व का क्यो न अनुभव करे। सूर लिखते है—

"तब नागरि, जिय गरब बढ़ायौ।
मो समाँन तिय और न कोऊ, गिरिधर मैं हीं बस करि पायौ।।
जोइ-जोइ कहत, करत सोइ-सोइ पिय, मेरे हित यै रास उपायौ।
सुंदर, चतुर और नहिं मो-सी, देह धरे कौ भाव बनायौ।।"

और इस गर्व में भूली हुई राधा कुछ धृष्ठ भी हो गई। भक्ति पक्ष में साधक अभिमानी बन बैठा, उदडता करने लगा। सूर के शब्दो में ही सुनिये—

"कहै भाँमिनी कंत सौं, मोहि कध चढ़ावहु।
निरत करत अति स्रँम भयौ, ता स्रँमहि मिटावहु।।
धरनी धरत बनै नहीं, पग अतिहि पिराँनै।
तिया-बचन सुनि गरब के, पिय मन-मुसकाँनै।।"

राधा कहती है—नृत्य करते हुए मै थक गई हूँ। पैरो में पीडा होने लगी है। पृथ्वी पर चलते नही बनता। जरा अपने कधो पर बिठा लो, थोडी देर विश्राम कर लूँ, जिससे थकावट दूर हो जाय। राधा के इन गर्वीले वचनो को सुनकर कृष्ण मन ही मन मुसकराने लगे।

कृष्ण की यह मुसकान राधा के लिये अमृत के स्थान पर विष बन गई। थोडी ही देर में कृष्ण अतर्धान हो गये।

कृष्ण को न पाकर राधा बिलखती हुई एक वृक्ष के नीचे मूर्छित होकर गिर पडी। गोपियाँ रुदन करने लगी—

"व्याकुल भई घोष-कुमारि।
स्याँम तजि सँग ते कहाँ गए, यै कहति ब्रजनारि।।

"वृंदाबन हरि यहि बिधि क्रीडत, सदाँ राधिका-संग।
भोर-निसा कबहूँ नहिं जानत, सदाँ रहत इक रंग।।"

वह रास जिसमें हरि एव राधा दोनो में से किसी भी खेलनेवाले को न रात्रि का पता चलता है, न प्रभात का। जिसमें सर्वदा एक रस क्रीडा बनी रहती है, वह भगवान् का नित्य रास है,—शाश्वत लीला है।[1] सूरसागर के दशम-स्कध में इसी भाव का एक पद और आता है—

"नित्य धाम वृंदावन स्याँम। नित्य रूप राधा ब्रजबाँम।।
नित्य रास, जल नित्य विहार। नित्य माँन खंडितामिसार।।
ब्रह्म रूप एही करतार। करनहार त्रिभुवन ससार।।
नित्य कुंज सुख, नित्य हिंडोर। नित्यहिं त्रिविध सँमीर-झकोर।।"

वृंदावन भी शाश्वत धाम है और उसमें होने वाला राधा और कृष्ण का रास भी नित्य है। रास की इस नित्यता को सूर ने भगवान् की 'शाश्वत लीला' कहा है। आचार्य वल्लभ ने इसी शाश्वत लीला के सूर को दर्शन कराये थे।

निर्गुण लीला का अत नही है, फिर भी उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है, गोलोक में यह लीला नित्य और सूक्ष्म रूप से कल्प के अत में भी होती रहती है। जो जीव रस-मार्गीय और नित्य लीला के आकाक्षी है, वे विष्णु की कृपा से इसे करते हैं, रास रसाविष्ट मुरलीधर मुक्त जीवो से सेवित हुआ रमा के साथ नित्य रमण करता रहता है। काल की भी यहाँ गति नही होती, प्रभु की साक्षात् एक इच्छा ही वहाँ कार्य करती है। श्लोक १४८ में लीला रूपिणी राधा का भी उल्लेख है, वृंदा को कमल-सभवा लक्ष्मी और सुषुम्ना में प्रविष्ट भक्तो की वैष्णवी गति को ही विमुक्ति कहा गया है।

फिर लिखा है—

योऽहं सामम लीला, या तु लीला सो स्म्यहं पुनः।
अतरं नैव पश्यामि यथा वै शेष शेषिणो:।।

हरि में और लीला में कोई अतर नही है। दोनो एक है।

[1]. बृहद् ब्रह्मसंहिता में नित्य लीला का इस प्रकार वर्णन है। ब्रह्मा ने पूछा भगवान्, वृंदावन किस प्रकार आपकी नित्य लीला भूमि है? वृंदा क्या है? परमानंद नाम की विमुक्ति क्या है? लीला क्या है? (२,४,६८) श्रीनारायण ने उत्तर दिया—

निर्गुणायास्तुलीलाया ह्यद्यप्यंतीन विद्यते।
आविर्भावस्तिरोभावो ह्यस्ति केनापि हेतुना।।
※
गोलोक गोकुलोद्भूत श्वेतद्वीपादि केलिवत्।
नित्या सूक्ष्म स्वरूपेण कल्पांते चाति वर्तते।।
ये जीवा. कृपया विष्णोर्वीक्षिता' सुरसत्तम।
वसंति रसमार्गीया नित्यलीलाभिकांक्षिण।।
सदा रास रसाविष्टो वेणुवाद्यधरो हरि.।
मयूरपिच्छाभरण कोटिकंदर्प सुंदरः।।
रमते रमया साकं नित्यं मुक्तैरुपाश्रित।
नात्र कालगति. साक्षादिच्छै का परमात्मन।।

पहाड़ी लोक-गीतों में कृष्ण-लीला

श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा

(अ)

"जा मेरा कान्हा, भैंसियूं दुह्याल, हे मेरा, गौ को ऐंडाट सुण्याल ।
दूहण कू बुलोंदी त्वे थें गुपाल, जा मेरा कान्हा, भैंसियूं दुह्याल ।।
हे मेरा बालम, छांछ छोल्याल, झटपट कर तो मेरों मोठयाल ।
देर व्हैगे कन्हैया, माखन खैयाल, ग्वैर छोरा बोदा बौण चल्याल ।।
चल भुला किस्न, मुरली छोरयाल, चल भुला किस्न, खोंखी पैरियाल ।
लाठी भी हाथू लियाल, गोपी खड़ी दोव देखियाल ।।
गोऊ लि जौला जमुना किनारा, दीन-दोफरी व्हूणा घर सुना सारा—
तब किस्न बंसी बजै गोरू बुलै, बंसी सुणी लोक समझला होणू खेलै ।
और ग्वैर छोरा हम लुकी-लुकी जौला, चौण चोरी तब वेख अभी लौला ।।"

जा मेरे (लाडले) कन्हैया भैंसो को दुहले। हे मेरे (प्रिय) गोपाल, गायो का रँभाना सुन। दुहे जाने के लिए वे उत्सुक हैं। तुम्हें बुला रही हैं। हे मेरे दुलारे, दही विलो (मथ) कर छाछ (मट्ठा) तैयार कर ली। जल्दी ही वची-वेंठो को छानी से बाहर कर दो। बडी देर हो गई है, जल्दी से मक्खन खा लो। गो-रक्षक गोपाल, छोहरे (छोकडे) वन चलने को जल्दी गुहार रहे हैं। चलो भइया कृष्ण, मुरली साथ रख लो, (भंग-छाल, पट छाल की बनी) दोखी (कवल) पहन लो। लकुटी भी ले लो। गोपी तुम्हारी ताक में छिपी खडी है, उसे भी देख लो, गायो को यमुना किनारे ले चलेंगे। मध्यान्ह दुपहरी को जब सारे घर सुनसान पडे हुए होगें तब तुम बाँसुरी बजाकर गायो को बुला लेना। बसी सुनकर लोग समझेंगे खेल में ग्वाले मस्त हैं और इधर हम सब ग्वाल लुक-छिप कर घरो में पहुँच जायँगे। तनिक-सी देर में मक्खन उडा लावेंगे।

(आ)

खेल गेंदूवा, खेल गेंदूवा, कनो खेलदो गेंदूवा चांद जून वाँ।
चाँदी न मढयं छ रमा सोना का घुंघर, छम छम बाजद कनो, चम चम सुंदर।

गेंद खेला जा रहा है। खेलो, खेलो, खेले जाम्रो। वह चंद्र जैसा (कृष्ण) कैसा अच्छा खेल रहा है। वह रुपहली शोभा से आच्छादित है। खेलते समय तेजी से चलते पावो में सुवर्ण के रमणीय घुघरू छम-छम कैसे सुदर बज रहे हैं।

(इ)

हम नी जाणदा तुम्हारी कख गे चादरी स्या नारी।
बगैं लीगे वीं तै या त जमुना धारी, या त गौन चबैले था चादरी ।।
बोल, बोल, बोल क्या करन हे बनवारी ?

[illegible] को [illegible] गायों को खरीकों भेज दिया गया। इधर ग्वालों ने उनकी चदर [illegible] दी। लौटने पर [illegible] चदर ढूंढने लगते हैं। न पाकर ग्वालों से पूछते हैं तुम ने भी देखी मेरी चदर? उत्तर में एक कहता है—"हमने नहीं देखी तुम्हारी वह सुंदर चादर [illegible] तो नहीं देंगे।" दूसरा कहता है—"उसे जमुना की धारा बहा ले गई"। तीसरा कहता है—"गाय उसे खा गई है।"

महारास

महाकवि श्री सूरदास

(ए, ए, ए, ए, ए, ए..)[1] श्रीनंद-नँदन नचत सुधंग, (नचत सुधंग)।[2]
वृंदावन जमुनाँ तट, श्रमित मनमथ मद-बिमरदन,
सघन कुंजन मंजु अभिनव जलज सुंदर अंग ।।
(ए), तन दिपत दामिनि द्युतिकारी[3] मुख सुधाकर-मानहारी—
भृकुटी कुटिल कटाच्छ-संजुत चपल नैंन कुरंग ।।
(ए) संग गोपिन बीच राजत, भूषन मनिमय किरन झलकत,
स्रवन कुंडल गंड मंडित, सुभग बसन सुरंग ।।
(ए) कठ-ताल (अ)रु मंजीर, बंसी, मुरज, बीन, रवाब ;
डफ, आनक,[4] महुवर, उपंग, झाँझ, किन्नरी, मुखचंग ।।
ततताथिक, दिमक द्रिम द्रिम, मृदंग—
बाजत थेइ ताथेइ ता तततावि दुरंग ।।
सुर-गन विमाननि चढ़े ब्रह्मा, रुद्र, नारद, इंद्र, पुलकित[5]—
'सूर' जय, जय, जयति, जय, जय, जयति ललित त्रिभंग ।।

राग-ईमन

ललनाँ-सँग रास-रंग लेति माँन रसिक रँमन—
प्र प्र त्ता, प्र प्र त्ता ततत-ततत थई-थेई गति लीँने।
सा री ग म प ध नी-धुँनि सुँनि ब्रजराज कुँवर—
गावत री प्रति जति संगीत-निपुन—
तनन, तनन, तनन आँनि आँन गति चीँने ।।
उदित मु दित सरद-चंद, बंद टूटे कचुकि के—
बैंभव निरखि-निरखि कोटि मदन हीँने ।
बिरहत बन रास-बिलास, दंपति मन ईषद हास—
'छीत स्वाँमि' गिरिवरधर रस-बस तब कीँने ।।

१. ताल और स्वर मिलाने के लिये कोष्ठांतर्गत ध्वनि का उच्चारण।
२. पुनरुक्ति में पुन: उच्चारण।
३. पाठ भेद में अन्य भी होगा।
४. 'आवज' भी पाठ हो सकता है।
५. प्राचीन रास के चित्रो में विमानारूढ इन देवो की ही उपस्थिति बतलाई गई है, अत: अधिकांशत यही पाठ होगा।

श्रीकृष्ण का ऐतिहासिक समय

श्री तिलकधर शर्मा

भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का इतिहास महाभारत और रामायण में उपलब्ध होता है। वेदो का काल इससे भी पहिले का है।

भारतीय धार्मिक परपरा के अनुसार प्रत्येक कर्तव्य-परायण व्यक्ति कर्तव्य-अनुष्ठान के लिए सकल्प किया करता था और उसमें देश, काल, व्यक्ति, कर्म और कर्म के उद्देश्य का निर्देश करता था। यह सकल्प-प्रथा आज तक प्रचलित है और इससे सबसे बडा लाभ यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश, काल और उद्देश्य तथा कर्तव्य का पूर्ण ज्ञान रहता है। इतना ही नही, बल्कि ऐतिहासिक घटनाओ के संकलन में भी सकल्प सहायक होते है। बहुत प्राचीन काल में जब इस देश में लिखने और छापने की प्रथा न थी तब इन सकल्पो के सहारे बहुत सी घटनाएँ अमर रहती थी।

महाभारत में भगवान् श्री कृष्ण की धर्म-सस्थापना का सकल्प, एक राष्ट्रीयसत्ता-निर्माण करने का सकल्प, कुरुकुल-पितामह भीष्म का आजन्म ब्रह्मचारी रहने का संकल्प और उत्तरायण में निश्चित तिथि पर शरीर त्याग का सकल्प तथा इसी प्रकार के अन्य सकल्प महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक है। उनसे परपरागत श्रीकृष्ण के समय की ऐतिहासिकता बनी रही। उन्ही के द्वारा चित्र, मूर्ति आदि निर्मित हुए तथा उन्ही का सकलन करके कवियो द्वारा कुछ लिखा गया।

भगवान् श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता के प्रमाण में चार विषयो का स्पष्टीकरण चाहिये—

(१) श्रीकृष्ण किस देश में हुए,
(२) श्रीकृष्ण किस काल में हुए,
(३) श्रीकृष्ण का क्या ध्येय था,
(४) श्रीकृष्ण ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्या किया।

महाभारत तथा अन्य ग्रथो में श्रीकृष्ण के जन्म, जन्म-स्थान, कर्म आदि का सपूर्ण इतिहास प्राप्त होता है। अत यहाँ केवल श्रीकृष्ण के ऐतिहासिक काल का अनुसंधान करना ही हमारा मुख्य विषय है।

श्रीकृष्ण के काल का अन्वेषण करने में भारतीय धर्म-ग्रथो से जो साधन उपलब्ध होते है, उनके अनुसार श्रीकृष्ण को हुए ५००० वर्षो से अधिक हो गए है। कलियुग के प्रारभ से पहिले महाभारत और श्रीकृष्ण हुए थे, परतु पश्चिमीय लेखको ने भारतीय इतिहास तथा सस्कृति को अल्पकालीन सिद्ध करने के लिए जो प्रयत्न किये उनसे प्रभावित होकर उनकी सभ्यता के अनुयायी अपने इतिहास को बहुत अल्पकाल का मानते है। वास्तविकता का निश्चय करने के लिए प्राचीन और अर्वाचीन दोनो ही मतो की समालोचना करते हुए श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता और समय पर जुटाए हुए प्रमाण हम पाठको की सेवा में उपस्थित करते है।

पुराणो द्वारा सृष्टि-काल का समय लगभग दो अरब वर्ष पूर्व है और आज रेडियम के आविष्कर्ता भी पृथ्वी का जन्म पुराण-निर्दिष्ट मानने को तैयार है। विज्ञान-वेत्ताओ का कहना है कि आज से ५००० वर्ष पूर्व चतुर्थ 'हिमयुग' की सीमा थी। यह 'हिमयुग' एक प्रकार की प्रलय कही जाती है। वह प्रलय महाभारत के युद्ध के समय हुई थी, जिसका निर्देश महाभारत में इस प्रकार किया गया है—

"प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः।
फेनायमाणाः कूपाश्च कूर्दंति वृषभा इव॥
पतंत्युल्का सनिर्घाताः शक्रा शनिसमप्रभाः।
कैलाशमंदराभ्यात्तु तदा हिमवता विभो॥
सहस्रशो महाशब्दाः शिखराणि पतंति च।
महाभूता भूमिकंपे चत्वारो सागराः पृथक्॥
वेलामुद्वर्तयंतीव क्षोभयंतो वसुंधराम्।
वृक्षानुन्मूल्य वात्युग्राः वाता. शर्करवर्षिणः॥"

नदियाँ उल्टी बहने लगी, नदियो का जल लाल (मृत्तिका-मिश्रित हो जाने से) हो गया, कूओ का पानी उफनने लगा और उनमें से ैल के हिंवाने का सा शब्द हो रहा था। उल्कापात होने लगे, हिमालय से बडे-बडे हिम-खड हजारो भागो में विभक्त हो कर टूटने लगे। उस महाभूकप में चारो ओर से समुद्र पृथ्वी को क्षोभित करने लगा। आँधियाँ वृक्षो को उखाड-उखाड कर फेंकने लगी। इस प्रकार हस्तिनापुर में यह भयंकर भूकप हुआ था।

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से इसी भूकप का हाल बतलाते हुए कहा—

"समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरींच प्लावयिष्यति।"

—भागवत ११।७।३

हे उद्धव! आज से सातवें दिन समुद्र इस द्वारका को डुबा देगा।

श्रीकृष्ण के इस वाक्य से पता चलता है कि हस्तिनापुर के भूकप का प्रभाव द्वारका तक में था, क्योकि भूकप के प्रथम दिन ही श्रीकृष्ण द्वारकावासियो से कह रहे थे कि—

"एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठंतीह सर्वत.।"

आज द्वारका में चारो ओर से महा-उत्पात, आँधी, तूफान आदि उठ रहे है।

इस प्रकार यह भूकप दो स्थानो में एक साथ पाया जाता है। एक तीसरे स्थान 'उर नगर' में भी इसी भूकप का वर्णन है और वहाँ से प्राप्त शिला-लेखो से उस भूकप के समय का भी निर्णय हो जाता है।

ईराक में बसरा नगर से १०० ील की दूरी पर पश्चिम दिशा में 'फरात' नदी के किनारे एक 'उर' नामक नगर था। उर नगर का वर्णन बाइबिल में भी मिलता है। आज वहाँ पर उजाड है। अनुसंधान कार्य के लिये स० १९२९ में कुछ अमेरिकन अन्वेषक वहाँ पर गए थे। १९३० के, जनवरी मास में उन अन्वेषको के अनुभव तथा उपलब्ध सामग्री के चित्र अमेरिका के मुख्य पत्र 'नेशनल ज्योग्रॉफिकल मैगजीन' में प्रकाशित हुए थे। उसमें से एक लेख का आवश्यकीय अश यह है—

"बैबिलोनियम जनता में यह एक पुरानी आख्यायिका प्रसिद्ध है कि प्रलय के बाद जो नगर बसाए गए थे, उनमें उर नामक नगर मौजूद था।"

बैबिलोनिया की 'कीलाक्षरी' लिपि में लिखा हुआ एक शिला-लेख प्राप्त हुआ है, जोकि ईस्वी सन् से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व का लिखा हुआ है। उस शिला लेख में प्रलय का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"छै दिन एवं छै रातों तक मूसलधार वर्षा जारी रही और सातवें दिन आँधी का वेग तनिक घट गया। ज्योंही मैने खिड़की खोल दीं त्यों ही मेरे मुख पर सूर्य-प्रकाश तनिक जा गिरा। समूचे खेत और मेंड जल से लबालब भरे दीख पड़ते थे।"

उर नगर के प्रथम नरेश की कबर खोदने पर सुवर्ण, चाँदी आदि के आभूषण भी प्राप्त हुए है, जो लगभग ईसा से ३००० वर्ष पूर्व के कहे जाते हैं, ईराक में सोने वा चाँदी की खानें बिल्कुल नहीं है। भारत में निर्मित सुवर्णादि की वस्तुएँ ही वहाँ पायी गई हैं। उर नगर की खुदाई में (भारत-

निर्मित) ३० मुद्राएँ प्राप्त हुई है। इन मुहरो में से एक पर हाथी का और दूसरी पर यज्ञीय-स्तंभ से बँधे बैल का चित्र है। मोहनजोदडो की खुदाई में भी यज्ञस्तम्भ से बँधे बैल के चित्रवाली मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनका काल भी ५००० वर्ष पूर्व निश्चित किया जाता है। दोनो स्थानो की मुद्राएँ एक-सी होनेके कारण उन मुद्राओ का भारत से ही जाना सिद्ध होता है।

इस प्रकार इस समाधि की खुदाई तथा शिला-लेख से ईस्वी सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व, अर्थात् आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व ईराक में भी भूकप तथा प्रलय का होना सिद्ध होता है। हस्तिनापुर और बगदाद दोनो एक अक्षाश पर स्थित है। समान अक्षाशो के स्थान में एक साथ भूकप का आना प्रकृति-सिद्ध है।

अमेरिका के उपनिवेशो में एक 'मय' जाति का उपनिवेश (मैक्सिको) है। उस उपनिवेश की खोज के बाद अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र 'नेशनल ज्योग्रॉफिकल मैगजीन' के अगस्त स० १९३९ के अक में उस खोज के कुछ अनुभव प्रकाशित हुए थे। उसमें लिखा था कि मय जाति का सवत् ५००० वर्षों के कुछ पहिले का पाया जाता है। भूगर्भ से बाहिर आये हुए पाषणरस (लावा) के नीचे दबा हुआ एक स्मृति-भवन भी प्राप्त हुआ है। भूशास्त्रवेत्ताओ ने उसे ५००० वर्ष पूर्व का ठहराया है।

मय प्रदेश द्वारका के अक्षांश पर स्थित है, सभवतया द्वारका के भूकप के समय मैक्सिको में भी भूकप के कारण भूमि विभक्त हुई हो और उसमें से लावा निकला हो और उसमें यह स्मृति-भवन दब गया हो।

इन चारो भिन्न-भिन्न स्थानो में एक साथ भूकप का होना निश्चित करता है कि महाभारत तथा भागवतका वर्णन ५००० वर्ष पूर्व का है जिस समय महाभारत-महायुद्ध के बाद हस्तिनापुर में, द्वारका में, उर नगर में तथा मैक्सिको में एक साथ भूकप हुआ उस समय श्रीकृष्ण विद्यमान थे। अत श्री कृष्ण के जन्म का समय आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व कहा जा सकता है।

❀

जैसे वर्तमान काल में वर्ष का प्रारभ चैत्र से होता है और महीनो की गणना करते समय चैत्र से मासो की गिनती की जाती है, वैसे ही श्रीकृष्ण-काल में मार्गशीर्ष से वर्ष का आरंभ होता था और मार्गशीर्ष से ही महीनो की गिनती की जाती थी।

अमरकोषकार ने जहाँ मासो की गिनती की है वहाँ लिखा है—

"मार्गशीर्षं सहामार्गं आग्रहायणिकश्च सः।"

मार्गशीर्ष प्रथम महीना है। वर्ष का आरंभ इसी मास से होता है, अतएव इसे 'आग्रहायणिक' कहते हैं।

'काल-माधवकार' ने भी इसी मत की पुष्टि की है—

"मार्गमासादिकैस्त्रिभिर्ऋतुभिः कल्पितःकाल षण्मासात्मकमुत्तरायणम्।"

मगशिर से लेकर तीन ऋतुओवाला छै महीनो का समय उत्तरायण होता है। काल-माधवकार के आदि शब्द से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनके समय में वर्ष का आरभ मार्गशीर्ष से ही होता था।

पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी के 'आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक' (४।२।२२) सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने भी मृगशिरा नक्षत्र युक्त पौर्णमासी को, अर्थात् मगशिर की पूर्णिमा को आग्रहायणी कहा है। अत पता चलता है पाणिनि के समय तक मार्गशीर्ष को वर्ष का प्रथम मास माना जाता था।

किसी भी समूह की प्रथम अग्रगण्य वस्तु को महत्त्व देने की बहुत पुरानी प्रथा है। अकार वर्णो का प्रथम अक्षर है, अत इसे ईश्वर की विभूति माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता में—'अक्षराणामकारोऽस्मि' कहकर अकार को विभूति बतलाया है। इसी प्रकार—'ऋतूना कुसुमाकर' कहकर प्रथम ऋतु वसंत को विभूति कहा है।

"प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः।
फेनायमाणाः कूपाश्च कूर्दंति वृषभा इव।।
पतंत्युल्का सनिर्घाताः शक्रा शनिसमप्रभाः।
कैलाशमंदराभ्यांतु तदा हिमवता विभो।।
सहस्रशो महाशब्दाः शिखराणि पतंति च।
महाभूता भूमिकंपे चत्वारो सागराः पृथक्।।
वेलामुद्वर्तयतीव क्षोभयतो वसुंधराम्।
वृक्षानुन्मूल्य वात्युग्रा. वाताः शर्करवर्षिणः।।"

नदियाँ उल्टी बहने लगी, नदियो का जल लाल (मृत्तिका-मिश्रित हो जाने से) हो गया, कूओ का पानी उफनने लगा और उनमें से ैल के हिंवाने का सा शब्द हो रहा था। उल्कापात होने लगे, हिमालय से बडे-बडे हिम-खड हजारो भागो में विभक्त हो कर टूटने लगे। उस महाभूकप में चारो ओर से समुद्र पृथ्वी को क्षोभित करने लगा। आँधियाँ वृक्षो को उखाड-उखाड कर फेंकने लगी। इस प्रकार हस्तिनापुर में यह भयकर भूकप हुआ था।

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से इसी भूकप का हाल बतलाते हुए कहा—

"समुद्र' सप्तमेऽह्न्येतां पुरींच प्लावयिष्यति।"

—भागवत ११।७।३

हे उद्धव! आज से सातवें दिन समुद्र इस द्वारका को डुबा देगा।

श्रीकृष्ण के इस वाक्य से पता चलता है कि हस्तिनापुर के भूकप का प्रभाव द्वारका तक में था, क्योकि भूकप के प्रथम दिन ही श्रीकृष्ण द्वारकावासियो से कह रहे थे कि—

"एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठंतीह सर्वत.।"

आज द्वारका में चारो ओर से महा-उत्पात, आँधी, तूफान आदि उठ रहे है।

इस प्रकार यह भूकप दो स्थानो में एक साथ पाया जाता है। एक तीसरे स्थान 'उर नगर' में भी इसी भूकप का वर्णन है और वहाँ से प्राप्त शिला-लेखो से उस भूकप के समय का भी निर्णय हो जाता है।

ईराक में बसरा नगर से १०० ील की दूरी पर पश्चिम दिशा में 'उफ्रात' नदी के किनारे एक 'उर' नामक नगर था। उर नगर का वर्णन बाइबिल में भी मिलता है। आज वहाँ पर उजाड है। अनुसधान कार्य के लिये स० १९२९ में कुछ अमेरिकन अन्वेषक वहाँ पर गए थे। १९३० के, जनवरी मास में उन अन्वेषको के अनुभव तथा उपलब्ध सामग्री के चित्र अमेरिका के मुख्य पत्र 'नेशनल ज्योग्रॉफिकल मैगजीन' में प्रकाशित हुए थे। उसमें से एक लेख का आवश्यकीय अश यह है—

"बैबिलोनियन जनता में यह एक पुरानी आख्यायिका प्रसिद्ध है कि प्रलय के बाद जो नगर बसाए गए थे, उनमें उर नामक नगर मौजूद था।"

बैबिलोनिया की 'कीलाक्षरी' लिपि में लिखा हुआ एक शिला-लेख प्राप्त हुआ है, जोकि ईस्वी सन् से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व का लिखा हुआ है। उस शिला लेख में प्रलय का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"छै दिन एव छै रातो तक मूसलधार वर्षा जारी रही और सातवें दिन आंधी का वेग तनिक घट गया। ज्योंही मैंने खिड़की खोल दीं त्यो ही मेरे मुख पर सूर्य-प्रकाश तनिक आ गिरा। समूचे खेत और मेंड जल से लबालब भरे दीख पडते थे।"

उर नगर के प्रथम नरेश की कबर खोदने पर सुवर्ण, चाँदी आदि के आभूषण भी प्राप्त हुए है, जो लगभग ईसा से ३००० वर्ष पूर्व के कहे जाते है, ईराक में सोने वा चाँदी की खानें बिल्कुल नहीं है। भारत में निर्मित सुवर्णादि की वस्तुएं ही वहाँ पायी गई है। उर नगर की खुदाई में (भारत-

निर्मित) ३० मुद्राएँ प्राप्त हुई है। इन मुहरो में से एक पर हाथी का और दूसरी पर यज्ञीय-स्तभ से बँधे वैल का चित्र है। मोहनजोदडो की खुदाई में भी यज्ञस्तभ से बँधे वैल के चित्रवाली मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनका काल भी ५००० वर्ष पूर्व निश्चित किया जाता है। दोनो स्थानो की मुद्राएँ एक-सी होनेके कारण उन मुद्राओ का भारत से ही जाना सिद्ध होता है।

इस प्रकार इस समाधि की खुदाई तथा शिला-लेख से ईस्वी सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व, अर्थात् आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व ईराक में भी भूकप तथा प्रलय का होना सिद्ध होता है। हस्तिनापुर और वगदाद दोनो एक अक्षाश पर स्थित हैं। समान अक्षाशो के स्थान में एक साथ भूकप का आना प्रकृति-सिद्ध हैं।

अमेरिका के उपनिवेशो में एक 'मय' जाति का उपनिवेश (मैक्सिको) है। उस उपनिवेश की खोज के वाद अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र 'नेशनल ज्योग्रॉफिकल मैगजीन' के अगस्त स० १९३९ के अक में उस खोज के कुछ अनुभव प्रकाशित हुए थे। उसमें लिखा था कि मय जाति का सवत् ५००० वर्षो के कुछ पहिले का पाया जाता है। भूगर्भ से वाहिर आये हुए पाषणरस (लावा) के नीचे दबा हुआ एक स्मृति-भवन भी प्राप्त हुआ है। भूशास्त्रवेत्ताओ ने उसे ५००० वर्ष पूर्व का ठहराया है।

मय प्रदेश द्वारका के अक्षाश पर स्थित है, सभवतया द्वारका के भूकप के समय मैक्सिको में भी भूकप के कारण भूमि विभक्त हुई हो और उसमें से लावा निकला हो और उसमें यह स्मृति-भवन दव गया हो।

इन चारो भिन्न-भिन्न स्थानो में एक साथ भूकप का होना निश्चित करता है कि महाभारत तथा भागवतका वर्णन ५००० वर्ष पूर्व का है जिस समय महाभारत-महायुद्ध के वाद हस्तिनापुर में, द्वारका में, उर नगर में तथा मैक्सिको में एक साथ भूकप हुआ उस समय श्रीकृष्ण विद्यमान थे। अत श्री कृष्ण के जन्म का समय आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व कहा जा सकता है।

❀

जैसे वर्तमान काल में वर्ष का प्रारभ चैत्र से होता है और महीनो की गणना करते समय चैत्र से मासो की गिनती की जाती है, वैसे ही श्रीकृष्ण-काल में मार्गशीर्ष से वर्ष का आरभ होता था और मार्गशीर्ष से ही महीनो की गिनती की जाती थी।

अरकोषकार ने जहाँ मासो की गिनती की है वहाँ लिखा है—

"मार्गशीर्ष सहामार्ग आग्रहायणिकश्च सः।"

मार्गशीर्ष प्रथम महीना है। वर्ष का आरभ इसी मास से होता है, अतएव इसे 'आग्रहायणिक' कहते हैं।

'काल-माधवकार' ने भी इसी मत की पुष्टि की है—

"मार्गमासादिकैस्त्रिभिऋतुभिः कल्पितःकाल षणमासात्मकमुत्तरायणम्।"

मगशिर से लेकर तीन ऋतुओवाला छै महीनो का समय उत्तरायण होता है। काल-माधवकार के आदि शब्द से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनके समय में वर्ष का आरभ मार्गशीर्ष से ही होता था।

पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी के 'आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक' (४।२।२२) सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने भी मृगशिरा नक्षत्र युक्त पौर्णमासी को, अर्थात् मगशिर की पूर्णिमा को आग्रहायणी कहा है। अत पता चलता है पाणिनि के समय तक मार्गशीर्ष को वर्ष का प्रथम मास माना जाता था।

किसी भी समूह की प्रथम अग्रगण्य वस्तु को महत्त्व देने की वहुत पुरानी प्रथा है। अकार वर्णो का प्रथम अक्षर है, अत इसे ईश्वर की विभूति माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता में—'अक्षराणामकारोऽस्मि' कहकर अकार को विभूति बतलाया है। इसी प्रकार—'ऋतूना कुसुमाकर' कहकर प्रथम ऋतु वसंत को विभूति कहा है।

"प्रतिस्रोतो महानद्यः सरितः शोणितोदकाः।
फेनायमाणाः कूपाश्च कूर्दंति वृषभा इव ॥
पतंत्युल्का सनिर्घाता शक्रा शनिसमप्रभा ।
कैलाशमंदराभ्यांतु तदा हिमवता विभो ॥
सहस्रशो महाशब्दाः शिखराणि पतंति च।
महाभूता भूमिकंपे चत्वारो सागराः पृथक् ॥
वेलामुद्वर्तयंतीव क्षोभयंतो वसुंधराम् ।
वृक्षानुन्मूल्य वात्युग्राः वाताः शर्करवर्षिणः ॥"

नदियाँ उल्टी बहने लगी, नदियो का जल लाल (मृत्तिका-मिश्रित हो जाने से) हो गया, कूओ का पानी उफनने लगा और उनमें से ैल के हिंवाने का सा शब्द हो रहा था। उल्कापात होने लगे, हिमालय से बडे-बडे हिम-खड हजारो भागो में विभक्त हो कर टूटने लगे। उस महाभूकप में चारो ओर से समुद्र पृथ्वी को क्षोभित करने लगा। आँधियाँ वृक्षो को उखाड-उखाड कर फेंकने लगी। इस प्रकार हस्तिनापुर में यह भयकर भूकप हुआ था।

द्वारका में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से इसी भूकप का हाल बतलाते हुए कहा—

"समुद्र· सप्तमेऽह्न्येता पुरींच प्लावयिष्यति।"

—भागवत ११।७।३

हे उद्धव! आज से सातवें दिन समुद्र इस द्वारका को डुवा देगा।

श्रीकृष्ण के इस वाक्य से पता चलता है कि हस्तिनापुर के भूकप का प्रभाव द्वारका तक में था, क्योकि भूकप के प्रथम दिन ही श्रीकृष्ण द्वारकावासियो से कह रहे थे कि—

"एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठंतीह सर्वत.।"

आज द्वारका में चारो ओर से महा-उत्पात, आँधी, तूफान आदि उठ रहे है।

इस प्रकार यह भूकंप दो स्थानो में एक साथ पाया जाता है। एक तीसरे स्थान 'उर नगर' में भी इसी भूकप का वर्णन है और वहाँ से प्राप्त शिला-लेखो से उस भूकप के समय का भी निर्णय हो जाता है।

ईराक में बसरा नगर से १०० ील की दूरी पर पश्चिम दिशा में 'उफ़ात' नदी के किनारे एक 'उर' नामक नगर था। उर नगर का वर्णन बाइबिल में भी मिलता है। आज वहाँ पर उजाड है। अनुसधान कार्य के लिये स० १९२९ में कुछ अमेरिकन अन्वेषक वहाँ पर गए थे। १९३० के, जनवरी मास में उन अन्वेपको के अनुभव तथा उपलब्ध सामग्री के चित्र अमेरिका के मुख्य पत्र 'नेशनल ज्योग्रॉफिकल मैगजीन' में प्रकाशित हुए थे। उसमें से एक लेख का आवश्यकीय अश यह है—

"बैबिलोनियन जनता में यह एक पुरानी आख्यायिका प्रसिद्ध है कि प्रलय के बाद जो नगर बसाए गए थे, उनमें उर नामक नगर मौजूद था।"

बैबिलोनिया की 'कीलाक्षरी' लिपि में लिखा हुआ एक शिला-लेख प्राप्त हुआ है, जोकि ईस्वी सन् से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व का लिखा हुआ है। उस शिला लेख में प्रलय का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"छै दिन एवं छै रातो तक मूसलधार वर्षा जारी रही और सातवें दिन आँधी का वेग तनिक घट गया। ज्योंही मैने खिड़की खोल दीं त्यो ही मेरे मुख पर सूर्य-प्रकाश तनिक आ गिरा। समूचे खेत और मेंड जल से लबालब भरे दीख पड़ते थे।"

उर नगर के प्रथम नरेश की कबर खोदने पर सुवर्ण, चाँदी आदि के आभूषण भी प्राप्त हुए है, जो लगभग ईसा से ३००० वर्ष पूर्व के कहे जाते है, ईराक में सोने या चाँदी की खानें बिल्कुल नहीं है। भारत में निर्मित सुवर्णादि की वस्तुएँ ही वहाँ पायी गई है। उर नगर की खुदाई में (भारत-

निर्मित) ३० मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इन मुहरो में से एक पर हाथी का और दूसरी पर यज्ञीय-स्तभ से बँधे बैल का चित्र है। मोहनजोदडो की खुदाई में भी यज्ञस्तभ से बँधे बैल के चित्रवाली मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनका काल भी ५००० वर्ष पूर्व निश्चित किया जाता है। दोनो स्थानो की मुद्राएँ एक-सी होनेके कारण उन मुद्राओ का भारत से ही जाना सिद्ध होता है।

इस प्रकार इस समाधि की खुदाई तथा शिला-लेख से ईस्वी सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व, अर्थात् आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व ईराक में भी भूकप तथा प्रलय का होना सिद्ध होता है। हस्तिनापुर और बगदाद दोनो एक अक्षाश पर स्थित हैं। समान अक्षाशो के स्थान में एक साथ भूकप का आना प्रकृति-सिद्ध है।

अमेरिका के उपनिवेशो में एक 'मय' जाति का उपनिवेश (मैक्सिको) है। उस उपनिवेश की खोज के बाद अमेरिका के प्रसिद्ध पत्र 'नेशनल ज्योग्रॉफिकल मैगजीन' के अगस्त स० १९३९ के अक में उस खोज के कुछ अनुभव प्रकाशित हुए थे। उसमें लिखा था कि मय जाति का सवत् ५००० वर्षो के कुछ पहिले का पाया जाता है। भूगर्भ से बाहिर आये हुए पाषणरस (लावा) के नीचे दबा हुआ एक स्मृति-भवन भी प्राप्त हुआ है। भूशास्त्रवेत्ताओ ने उसे ५००० वर्ष पूर्व का ठहराया है।

मय प्रदेश द्वारका के अक्षाश पर स्थित है, सभवतया द्वारका के भूकप के समय मैक्सिको में भी भूकप के कारण भूमि विभक्त हुई हो और उसमें से लावा निकला हो और उसमें यह स्मृति-भवन दब गया हो।

इन चारो भिन्न-भिन्न स्थानो में एक साथ भूकप का होना निश्चित करता है कि महाभारत तथा भागवतका वर्णन ५००० वर्ष पूर्व का है जिस समय महाभारत-महायुद्ध के बाद हस्तिनापुर में, द्वारका में, उर नगर में तथा मैक्सिको में एक साथ भूकप हुआ उस समय श्रीकृष्ण विद्यमान थे। अत श्रीकृष्ण के जन्म का समय आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व कहा जा सकता है।

❀

जैसे वर्तमान काल में वर्ष का प्रारभ चैत्र से होता है और महीनो की गणना करते समय चैत्र से मासो की गिनती की जाती है, वैसे ही श्रीकृष्ण-काल में मार्गशीर्ष से वर्ष का आरंभ होता था और मार्गशीर्ष से ही महीनो की गिनती की जाती थी।

अमरकोषकार ने जहाँ मासो की गिनती की है वहाँ लिखा है—

"मार्गशीर्ष सहामार्ग आग्रहायणिकश्च सः।"

मार्गशीर्ष प्रथम महीना है। वर्ष का आरभ इसी मास से होता है, अतएव इसे 'आग्रहायणिक' कहते हैं।

'काल-माधवकार' ने भी इसी मत की पुष्टि की है—

"मार्गमासादिकैस्त्रिभिर्ऋतुभिः कल्पितःकाल षणमासात्मकमुत्तरायणम्।"

मगशिर से लेकर तीन ऋतुओवाला छै महीनो का समय उत्तरायण होता है। काल-माधवकार के आदि शब्द से यह स्पष्ट विदित होता है कि उनके समय में वर्ष का आरभ मार्गशीर्ष से ही होता था।

पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी के 'आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक' (४।२।२२) सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने भी मृगशिरा नक्षत्र युक्त पौर्णमासी को, अर्थात् मंगशिर की पूर्णिमा को आग्रहायणी कहा है। अत. पता चलता है पाणिनि के समय तक मार्गशीर्ष को वर्ष का प्रथम मास माना जाता था।

किसी भी समूह की प्रथम अग्रगण्य वस्तु को महत्त्व देने की बहुत पुरानी प्रथा है। अकार वर्णो का प्रथम अक्षर है, अत इसे ईश्वर की विभूति माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता में—'अक्षराणामकारोऽस्मि' कहकर अकार को विभूति बतलाया है। इसी प्रकार—'ऋतूना कुसुमाकर' कहकर प्रथम ऋतु वसत को विभूति कहा है।

मार्गशीर्ष मास वर्ष का प्रारम्भिक मास है, अतएव इसे भी श्रीकृष्ण अपनी विभूति बतलाते हैं।

प्रसिद्ध 'परमार्थप्रपा' टीकाकार सूर्य पंडित—'मासाना मार्गशीर्षोऽहम्' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"मार्गशीर्षः मृगशीरः पूर्णिमासंबंधे वर्षादिरभिहितः तस्मिन्नेवाऽग्रहायणीत्यभिधानात्। आग्रहायणं यस्यां सा आग्रहायणी, अत आग्रहायणक इति मार्गशीर्ष नाम। अतोऽस्य मासस्य मुख्यत्वाद् विभूतिमत्वम्।"

मृगशिर नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा के संबंध से मार्गशीर्ष नाम है, यह आरम्भिक मास है, अतएव इसका नाम आग्रहायणिक है। सब मासों में मुख्य होने से इसे 'विभूति' कहा है।

उपरोक्त प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि जिस समय श्रीकृष्ण पवित्र यमुना के किनारे विहार किया करते थे, जिन दिनो भारत-समराग्नि भारत-वीरो को स्वाहा करने को प्रस्तुत थी, उन दिनो वसंत-संपात मार्गशीर्ष में होता था यही वर्षारंभ का मास था।

अब हमें देखना है कि ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वह काल कितने वर्ष पहिले हो सकता है, जिसमें मार्गशीर्ष से वर्षारंभ होता था।

श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षित ने अपने भारतीय 'ज्योतिःशास्त्र' नामक ग्रंथ में लिखा है—

"मार्गशीर्षांत वसंत संपात शक पूर्वी सुमारे ४००० हजार वर्षे या कालीं होता।"

अर्थात् मार्गशीर्ष में वसंत-संपात शकारंभ के पहिले लगभग ४००० वर्ष पूर्व था और पृ० ३४ पर सारांश निकालते हुए लिखा है कि शकारंभ से लगभग ३००० वर्ष पहिले जब कृत्तिकादि नक्षत्रों की गणना होती थी तब मार्गशीर्ष से वर्षारंभ होता था।

महाभारत में अन्य कई स्थानो पर भी मार्गशीर्ष से मासो की गणना की गई है।

इस प्रकार वर्तमान शक में यदि ३००० वर्ष और जोड़ दिये जांय तो १८७३ + ३०००= ४८७३ वर्ष आते हैं, इन्ही दिनो मार्गशीर्षादि मास गिने जाते थे। अतः सिद्ध होता है कि ४८७३ वर्ष के लगभग का समय श्रीकृष्ण का समय है।

गीता में 'मार्गशीर्षोऽहम्' के साथ-साथ 'ऋतूना कुसुमाकरः' भी लिखा है। जबकि मार्गशीर्ष से वर्ष का आरंभ होता था तब वसंत-संपात भी मार्गशीर्ष में होता था।

उस समय संवत्सर यज्ञ किया जाता था, जिसका वर्णन शतपथ ब्राह्मणादि ग्रंथों में उपलब्ध होता है।[1]

यह 'संवत्सर' यज्ञ आग्रहायणी के प्रयोग में ही होता है। इस यज्ञ में जौ का सत्तू ही खाया जाता था। भारतवर्ष के प्राकृतिक नियमानुसार 'जौ' वसंत में ही पकता है। उस समय मार्गशीर्ष में वसंत-संपात होता था और उसी समय संवत्सरयज्ञ होता था और उसके लिये पके हुए जौ प्राप्त हो जाते थे, इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि वसंत का आरंभ भी आज से ५००० वर्ष पूर्व मार्गशीर्ष में ही होता था।

श्रीकृष्ण ने गीता में जो—'मासाना मार्गशीर्षोऽहम् ऋतूनां कुसुमाकर' कहा है, वह ५००० वर्ष पहिले ही कहा जा सकता था।

पुराण-वर्णित, ज्योतिष-शास्त्र की गणना-पद्धति से सिद्ध और भी प्रमाण हैं।

भारतवर्ष के ज्योतिष-शास्त्रविद् काल-गणना आकाशस्थित सप्त ऋषियों के आधार पर किया करते थे। शुकदेव परीक्षित से कहते हैं—

"ते त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः।"

—भागवत १२।२।२८

1. शत० ४।२।३१

अर्थात् सप्तर्षि तुम्हारे जन्म-समय में और अब भी मघा नक्षत्र में स्थित हैं।

सप्त-ऋषि एक नक्षत्र पर सौ वर्ष रहते हैं। नक्षत्र सत्ताईस हैं, अत संपूर्ण नक्षत्रो का एक पूरा चक्कर २७ X १०० = २७०० वर्षों में होता है। आजकल सप्त-ऋषि कृत्तिका नक्षत्र में पाये जाते हैं। मघा से कृत्तिका नक्षत्र २१ वाँ है, अत मघा से कृत्तिका तक आने में सप्त-ऋषियो को २१०० वर्ष लगते हैं। यह समय महाभारत का काल नही हो सकता, अत प्रतीत होता है कि मघा से मघा तक सप्त-ऋषि पूरा एक चक्कर लगा चुके हैं और दूसरी बार के इस चक्कर में कृत्तिका तक पहुँच गये हैं। इस प्रकार २७००+२१००=४८०० वर्ष होते हैं। यह परीक्षित के समय का वर्णन है। श्रीकृष्ण इससे भी कुछ पहिले थे, अत आज से ५००० वर्ष पूर्व में श्री कृष्ण-काल कहा जा सकता है।

आज से २२३४ वर्ष पूर्व वृद्ध गर्ग नामक एक ज्योतिषी हुए हैं। उन्होने लिखा है कि युधिष्ठिर सवत् के आज २५६६ वर्ष वीत चुके हैं। आज भी सप्त-ऋषि मघा नक्षत्र पर हैं।

उपरोक्त गर्ग का वचन भागवत के कथन और हमारी युक्ति का समर्थक है।

श्रीयुत् वकिमचद्र इस सप्तर्षि-भ्रमण-काल की समालोचना करते हुए लिखते हैं कि "सप्तर्षि-मडल मघा नक्षत्र में कभी रह नही सकता, क्योकि मघा नक्षत्र सिंह राशि में है। राशि-चक्र के भीतर बारह राशि हैं। सप्तर्षि-मडल राशि-चक्र से बाहर है। जैसे इगलैंड भारतवर्ष में नही हो सकता वैसे ही सप्तर्षि-मडल मघा नक्षत्र में नही हो सकता। पुराणकार ने क्या समझकर ऐसा लिखा यह हम नही समझ सकते।"

इससे पहिले श्री वकिमचद्र ने विष्णुपुराण के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उनका अर्थ लिखते हुए उन्होने लिखा है—

"सप्तर्षि-मडल के जो दो तारे आकाश में पूर्व की ओर उदय होते हैं, उनसे समानांतर पर बीच में जो नक्षत्र दिखाई पड़ता है उसी में सप्तर्षि सौ वर्ष रहते हैं। परीक्षित के समय सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे, उस समय कलि को लगे १२०० वर्ष हुए थे।"

उक्त श्लोको का अर्थ स्पष्ट है, हम नही समझते कि श्री वकिमचद्र इनको क्यो न समझ पाये। 'द्वादशाब्दशतात्मक' का अर्थ करने में तो वकिम बाबू बडी भारी भूल कर गये हैं, क्योकि १२०० वर्ष प्रमाणवाला कलियुग प्रारभ हुआ, यह पूर्वोक्त पद का अर्थ है।

कलियुग १२०० वर्ष का नही होता, अपितु ४३२००० वर्ष का होता है, परतु १२०० वर्ष-यहाँ पर देवताओ के वर्ष लिये गये हैं, क्योकि इसी अध्याय के ११५ के श्लोक में कलि का मान बतलाते हुए विष्णुपुराण में ही लिखा है—

"शतानि तानि दिव्यानां सप्तपंच च संख्यया।
निश्शेषेण गते तस्मिन् भविष्यति पुनः कृतम्॥"

अर्थात् १२०० दिव्य वर्षो के संपूर्ण कलि के बीतने पर 'कृतयुग' का आरभ होगा।

तीन सौ साठ मानवी वर्षो का एक दिव्य वर्ष होता है (विष्णु० ६।३।१०)। इस प्रकार १२०० X ३६० = ४३२००० मानव-वर्ष कलि का मान सिद्ध होता है।

यदि श्री वकिमचद्र के ही अर्थ को मान लिया जाय तो कलियुग के लगभग ११०० वर्ष बीतने पर श्रीकृष्ण का होना प्रमाणित हो जायगा, जो किसी भी इतिहासज्ञ को मान्य नही है। अब सप्तर्षि-मडल की मघा स्थिति पर विचार किया जाता है।

मरीची, वसिष्ठ, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु यह आकाशस्थित-सप्तर्षि-मडल हैं। इनमें से पुलह और क्रतु नामक दो तारो को अन्य पांच तारो से प्रथम दृष्टिगोचर होने के कारण 'मुख्य' कहा जाता है। सप्तर्षि-मडल के समीपस्थ ध्रुव से विपरीत, अर्थात् दक्षिण दिशा में एक सीधी रेखा खींची जाय तो वह रेखा अपने समानान्तर में स्थित जिस नक्षत्र के सामने पड़ जाय वही सप्तर्षि-मडल का नक्षत्र माना जाता है।

सप्तर्षि-मंडल में सात तारे है, उनमें से नक्षत्र-साधन पुलह अथवा क्रतु से ही किया जाता है, क्योकि विष्णु पुराण के तथा श्रीमद्भागवत के कथनानुसार ये सप्तर्षि-मडल के मध्य में स्थित हैं।

श्रीमद्भागवत के उक्त अभिप्राय के श्लोको (भा०१२।२।२७,२८) की व्यारया करते हुए श्रीस्वामी श्रीधर ने भी हमारी उक्ति का समर्थन किया है।

प्रयाग प्रात के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य पं० इन्द्रनारायण जी द्विवेदी ने आज से कुछ वर्ष पूर्व उक्त रीति से गणित करके यह बतलाया था कि आजकल सप्तर्षि-मडल उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में हैं। परीक्षित के समय से आज तक सप्तर्षि-मडल ने मघा से मघा तक दो पूरे चक्कर काट लिये हैं, इस समय उत्तरा फाल्गुनी में हैं। इस प्रकार इनके मत में—२७००+२७००+१००=५५०० वर्ष परीक्षित से अब तक बीत चुके है। अयन गति के कारण लगभग ४०० वर्ष का इसमें अतर पड गया है अत आज से ५००० वर्ष पूर्व ही महाभारत काल कहना चाहिये, यही श्रीकृष्ण का काल है।

इसी प्रकार प० बद्रीनारायण मिश्र ने भी प० हरिनदन मिश्र नामक ज्योतिषी का मत दिखाते हुए स० १९७२ में पुलह और क्रतु नामक तारो के मध्य बिंदु से रेखा खीच कर बतलाया कि आज कल सप्तऋषि पुनर्वसु नक्षत्र पर हैं। इस प्रकार इनके मत से भी २७००+२५००=५२०० वर्ष पूर्व का समय महाभारत काल होता है यही हमारा कृष्ण-काल है।

बहुत से गणितज्ञ सप्तर्षि-मडल के पुलह और क्रतु ताराओ से रेखा न खीच कर सातो में से मन माने तारे से रेखा खीच लेते है, अत उनके काल में अतर आ जाता है। जैसा कि श्री हरिमगल मिश्र एम० ए० ने अपनी 'प्राचीन भारत' नामक पुस्तक में एक ज्योतिषी का मत दिखाया है। उन्होंने मरीची और वसिष्ठ नामक तारोंसे रेखा खीचकर गणित किया है। अत उनका समय पुराणो से नही मिलता। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सप्तर्षि-मडल यद्यपि किसी राशि में स्थित नही होता और राशि, चक्र से बाहर ही रहता है, तथापि मघा आदि नक्षत्रो के समानातर पर स्थित होने के कारण उन्हें नक्षत्रस्थित कह दिया जाता है। हम वह कारण नही जानते जिससे यह मत शुद्ध होते हुए भी श्री बकिम बाबू इसकी उपेक्षा करते हैं।

यूनान के प्रसिद्ध यात्री मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीय अपना इतिहास ६४६२ वर्ष पहले से शुरु करते हैं। मेगस्थनीज महाराज चद्रगुप्त के समय भारत में आया था। चद्रगुप्त का समय ३२६ ई० पूर्व है।

मेगस्थनीज के इस वर्णन से यही स्पष्ट होता है कि भारतीय अपना इतिहास श्रीकृष्ण तक ही नहीं जानते थे, अपितु उससे भी पहिले का इतिहास उन्हें ज्ञात था। एक दूसरे स्थान पर मथुरा का वर्णन करते हुए मेगस्थनीज ने लिखा है—

'यहाँ शौरसेनी जाति के लोग रहते हैं और ये हरक्युलीज के उपासक हैं।' हरक्युलीज स्पष्टतया श्रीकृष्ण ही हैं। वह आगे चल कर उस समय के दृढ आधारो एव प्रमाण के द्वारा लिखता है—हरक्युलीज डायोनिसियस से १५ पीढी पीछे हुए हैं। चद्रगुप्त और डायोनिसियस में वह १५३ पीढ़ियों का अतर बताता है। इस प्रकार मेगस्थनीज के वर्णन से पता चलता है कि श्रीकृष्ण और चद्रगुप्त में १३८ पीढ़ियों का अतर है। यदि ऐतिहासिको की प्रथा का आश्रय लेकर प्रत्येक पीढी २० वर्ष की मान ली जाय तो १३८+२०=२७६० वर्ष हुए। हम पहिले बतला चुके हैं कि चद्रगुप्त का समय ईसा पूर्व ३२६ वर्ष है। इस वर्ष को तथा आज के १९५२ सन् को यदि उक्त संख्या में युक्त करदें तो २७६०+३२६+१९५२=५०३८ वर्ष होते हैं। यही भारत-युद्ध काल और यही कृष्ण-काल है।

श्री बङ्किमचद्र भीष्म की मृत्यु के प्रसग को लेकर 'नक्षत्रों' [illegible] इत्यादि प्रमाण देते हुए लिखते हैं—'उस समय आश्विन मास से वर्षारम्भ होता था। [illegible] तब भी आश्विन से शुरू होता है।' ६४ पल ४ [illegible] मान लेने से ईस्वी सन् से १२६३ वर्ष पूर्व होते हैं। इससे पहिले कुरुक्षेत्र का युद्ध कभी भी नहीं हो सकता।

हम प्रथम ही यह सिद्ध कर चुके हैं कि महाभारत-काल में वर्षारंभ (वसंत-संपात) मार्गशीर्ष से होता था, आश्विन से नहीं और वहीं पर काल-माधवकार का प्रमाण देते हुए हमने बतलाया है कि मार्गशीर्ष में ही सूर्य उत्तरायण हो जाता था। भीष्म ने—'माघोऽयं समनुप्राप्तो' कह कर यह बतलाया है कि अब तो माघ भी आ गया, अर्थात् सूर्य तीन मास में पूर्ण उत्तर में पहुँच चुके हैं, अतः अब मुझे शरीर-त्याग करना चाहिये।

श्रीनारायण शास्त्रिवर ने अपनी पुस्तक 'शकर का समय' में बतलाया है कि जिस दिन भीष्म ने शरीरांत किया था उस दिन माघ मास, उत्तरायण सूर्य, शुक्ल पक्ष, अष्टमी तिथि, रोहिणी नक्षत्र था। महाभारत में भी भीष्म के शरीर-त्याग का यही अवसर लिखा है (महा० शा० ४६।५,४)। उक्त समय का, हस्तिनापुर से श्रीकृष्ण का द्वारका प्रस्थान, महाभारत आरंभात तिथियों आदि का समन्वय करके श्री दीक्षित ने यह प्रमाणित किया है कि उक्त समय ३१३९ ई० पूर्व ही हो सकता है। इस प्रकार इनके मतानुसार भी ३१३९+१९५२=५०९१ वर्ष महाभारत युद्ध को हुए व्यतीत हुए हैं, यही कृष्ण-काल भी है।

आर्य भट्ट ने २३ वर्ष की अवस्था में संवत् ५४६ में कलियुग का आरंभ अपने से ३६०० वर्ष पहिले माना है, इस प्रकार इनके मतानुसार भी २००२–५५६+३६००=५०४६ वर्ष होते हैं यही महाभारत तथा श्रीकृष्ण-काल भी है।

श्री लोकमान्य तिलक ने भी गीता रहस्य के 'भागवत धर्म का उदय और गीता' नामक शीर्षक में लिखा है कि 'ईसाई सन् के लगभग १४०० वर्ष पहिले भारतीय-युद्ध और पांडव हुए होंगे, अर्थात् श्रीकृष्ण का अवतार काल भी यही है।'

उसी प्रकरण में एक दूसरे स्थान पर मैत्र्युपनिषद् का वर्णन करते हुए मैत्र्युपनिषद् के ६।१४ के मंत्र—'मघाद्यं श्रविष्ठार्धम्' द्वारा प्राप्त उदगयन (प्राचीदिग्साधन, अर्थात् पूर्व-दिशा का सिद्ध करना) से वेदांग ज्योतिष के उदगयन का अंतर स्पष्ट करते हैं।

'ज्योतिर्गणित से यह सिद्ध होता है कि वेदांग-ज्योतिष में कही गयी 'उदगयन' स्थित ईसाई सन् के लगभग १२०० या १४०० वर्ष पहिले की है और आधे नक्षत्र से उदगयन के पीछे हटने में लगभग ४८० वर्ष लग जाते है, इसलिये गणित से यह बात निष्पन्न होती है कि मैत्र्युपनिषद् ईसा के पहिले १८८० से १६८० वर्ष के बीच कभी न कभी बना होगा और कुछ नहीं तो यह उपनिषद् निस्संदेह वेदांग-ज्योतिष से पहिले का है। अब यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि छांदोग्यादि जिन उपनिषदों के अवतरण मैत्र्युपनिषद् में दिये गये है, वे उससे भी प्राचीन हैं।

श्री लोकमान्य के मत में मैत्र्युपनिषद् आज से ३८२५ वर्ष पूर्व का है, तब छांदोग्यादि चार अथवा साढे चार हजार वर्ष पूर्व के सुतरां सिद्ध हो जाते हैं। छांदोग्य के निर्माण-काल से पूर्व कृष्ण विद्यमान थे, क्योंकि उसमें देवकीपुत्र श्रीकृष्ण का घोर आंगिरस से शिक्षा पाने का उल्लेख है।

विद्वानों की संमति में 'शतपथ ब्राह्मण' और 'छंदोग्य' समकालीन ग्रंथ हैं। शतपथ ब्राह्मण में—

'कृत्तिका स्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै न च्यवते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवते।'

अर्थात् कृत्तिका नक्षत्र में अग्नि का आधान करे, यह नक्षत्र और नक्षत्रों की भाँति पूर्वदिशा से च्युत नहीं होता, लिखा है।

श्रीशंकर बालकृष्ण दीक्षित ने आज की और शतपथ-वर्णित खगोल स्थिति की ज्योतिष-नियमानुसार तुलना करके यह निश्चित किया है कि यह स्थिति ३००० वर्ष ई० पूर्व में थी।

इस प्रकार विदित होता है छंदोग्य उपनिषद् शतपथ के समकालीन होने से ३००० ई० पूर्व का है, अर्थात् ४९४५ वर्ष पूर्व का है, श्रीकृष्ण का उसमें उल्लेख है अतः वे उनसे भी ५०,६० वर्ष पूर्व के थे ऐसा सिद्ध होता है, परंतु लोकमान्य इस धारणा का स्पष्टीकरण करते हुए भी श्रीकृष्ण-काल को न जाने कैसे ३३४५ वर्ष पूर्व ही मानते है।

हमारे मत में श्रीकृष्ण का काल आज से ५००० वर्ष पूर्व ही है और उसके लिये यथेष्ट प्रमाण भी हमने दिये है। इतने पर भी बहुत से विद्वान् श्रीकृष्ण का समय आज से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व ही मानते है। पुरातत्त्व-विभाग के अन्वेषणो से भी श्रीकृष्ण ३५०० वर्ष के पहिले होने सिद्ध किये जाते हैं। ये अन्वेषण अभी चल रहे है और आशा है कि इनकी खोज होते-होते ५००० वर्ष तक पहुँच जायगी।



माखन चोरी-रहस्य

श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार

भगवान् की लीला पर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान् का लीला-धाम, भगवान् के लीला-पात्र, भगवान् का लीला-शरीर और उनकी लीला प्राकृत नही होती। भगवान् में देह-देही का भेद नही हैं। महाभारतमें आया है—

"न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः।
यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत्॥"

'परमात्मा का शरीर भूतसमुदाय से बना हुआ नही होता। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्मा के शरीर को भौतिक जानता-मानता है, उसका समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मों से बहिष्कार कर देना चाहिए, अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्म में अधिकार नही है। यहाँ तक कि उसका मुँह देखने पर भी सचैल (वस्त्र-सहित) स्नान करना चाहिए।'

श्रीमद्भागवत में ही ब्रह्माजी ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा है—

"अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।"

—भागवत १०।१४।२

'आप ने मुझ पर कृपा करने के लिए ही यह स्वेच्छामय सच्चिदानद स्वरूप प्रकट किया है, यह पाञ्चभौतिक कदापि नही है।'

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् का सभी कुछ अप्राकृतिक होता है। इसी प्रकार यह "माखन-चोरी की लीला" भी अप्राकृत—दिव्य ही है।

यदि भगवान् के नित्य परम धाम में अभिन्न रूप से नित्य निवास करने वाली नित्य-सिद्धा गोपियो की दृष्टि से न देख कर केवल साधन-सिद्धा गोपियो की दृष्टि से देखा जाय तो भी उनकी तपस्या इतनी कठोर थी, उनकी लालसा इतनी अनन्य थी, उनका प्रेम इतना व्यापक था और उनकी लगन इतनी सच्ची थी कि भक्तवांछाकल्पतरु प्रेमरसमय भगवान् उनके इच्छानुसार उन्हें सुख पहुँचाने के लिए 'माखनचोरी' की लीला करके उनकी इच्छित पूजा ग्रहण करे, 'चीरहरण' करके उनके रहे-सहे व्यवधान का परदा उठा दें और 'रासलीला' करके उनको दिव्य सुख पहुँचाएँ तो कोई बडी बात नही है।

भगवान् की नित्य-सिद्धा चिदानदमयी गोपियो के अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी गोपियाँ और थी, जो अपनी महान् साधना के फलस्वरूप भगवान् की मुक्तजन-वाञ्छित सेवा करने के लिए गोपियो के रूप में अवतीर्ण हुई थी। उनमें से कुछ पूर्वजन्म की 'देवकन्याएँ' थी, कुछ 'श्रुतियाँ' थी, कुछ 'तपस्वी ऋषि' थे और कुछ अन्य भक्तजन। इनकी कथाएँ विभिन्न पुराणो में मिलती हैं। श्रुतिरूपा गोपियाँ, जो 'नेति-नेति' के द्वारा निरतर परमात्मा का वर्णन करते रहने पर भी उन्हें साक्षात् रूप से प्राप्त नहीं कर सकती, गोपियो के साथ भगवान् के दिव्य रसमय विहार की बात जानकर गोपियो की उपासना करती है और अत में स्वयं गोपीरूप में परिणत होकर भगवान् श्रीकृष्ण को साक्षात् अपने प्रियतम

रूप से प्राप्त करती हैं। इनमें मुख्य श्रुतियो के नाम हैं—उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलकंठिका और विपंची आदि।

भगवान् के श्रीरामावतार में उन्हें देख कर मुग्ध होनेवाले—अपने-आप को उनके स्वरूप-सौंदर्य पर न्यौछावर कर देनेवाले सिद्ध ऋषिगण, जिनकी प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें गोपी होकर प्राप्त करने का वर दिया था, व्रज में गोपी-रूप से अवतीर्ण हुए थे। इसके अतिरिक्त मिथिला की गोपी, कोसल की गोपी, अयोध्या की गोपी—पुलिंद गोपी, रमावैकुंठ, श्वेतद्वीप आदि की गोपियाँ और जालंधरी गोपी आदि गोपियो के अनेको यूथ थे, जिनको बडी तपस्या करके भगवान् से वरदान पाकर गोपी रूप में अवतीर्ण होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पद्मपुराण के पातालखंड में बहुत-से ऐसे ऋषियो का वर्णन है, जिन्होने बडी कठिन तपस्या आदि करके अनेको कल्पो के बाद गोपी-स्वरूप को प्राप्त किया था। उनमें से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं—

१—एक 'उग्रतपा' नाम के ऋषि थे। वे अग्निहोत्री और बडे दृढव्रती थे। उनकी तपस्या अद्भुत थी। उन्होने पंचदशाक्षर मंत्र का जाप और रासोन्मत्त नवकिशोर श्यामसुंदर श्रीकृष्ण का ध्यान किया था। सौ कल्पो के बाद वे 'सुनंद' नामक गोप की कन्या 'सुनंदा' हुए।

२—एक 'सत्यतपा' नाम के मुनि थे। वे सूखे पत्तो पर रह कर दशाक्षर मंत्र का जाप और श्रीराधाजी के दोनो हाथ पकड कर नाचते हुए श्रीकृष्ण का ध्यान करते थे। दस कल्प के बाद वे 'सुभद्र' नामक गोप की कन्या 'सुभद्रा' हुए।

३—'हरिधामा' नाम के एक ऋषि थे। वे निराहार रह कर 'क्लीं' कामबीज से युक्त विंशाक्षरी मंत्र का जाप करते थे और माधवीमंडप में कोमल-कोमल पत्तो की शय्या पर लेटे हुए युगल-सरकार का ध्यान करते थे। तीन कल्प के पश्चात् वे 'सारंग' नामक गोप के घर 'रंगवेणी' नाम से अवतीर्ण हुए।

४—'जाबालि' नाम के एक ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे, उन्होने एक बार विशाल वन में विचरते-विचरते एक जगह बहुत बडी बावली देखी। उस बावली के पश्चिम तट पर बड के नीचे एक तेजस्विनी युवती स्त्री कठोर तपस्या कर रही थी। वह बडी सुंदर थी। चंद्रमा की शुभ्र किरणो के समान उसकी चाँदनी चारो ओर छिटक रही थी। उसका बायाँ हाथ अपनी कमर पर था और दाहिने हाथ से वह ज्ञानमुद्रा धारण किए हुए थी। जाबालि के बडी नम्रता के साथ पूछने पर उस तापसी ने बतलाया—

"ब्रह्मविद्याहमतुला योगींद्रैर्या च मृग्यते।
साहं हरिपदांभोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
ब्रह्मानंदेन पूर्णाहं तेनानंदेन तृप्तधीः।
चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायती पुरुषोत्तमम्॥"
"तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना॥"

'मैं वह ब्रह्मविद्या हूँ, जिसे बडे-बडे योगी सदा ढूँढा करते हैं। मैं श्रीकृष्ण के चरणकमलो की प्राप्ति के लिए इस घोर वन में उन पुरुषोत्तम का ध्यान करती हुई दीर्घकाल से तपस्या कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानंद से परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनंद से परितृप्त है, परंतु श्रीकृष्ण का प्रेम मुझे अभी प्राप्त नही हुआ, इसलिये मैं अपने को शून्य देखती हूँ।' ब्रह्मज्ञानी जाबालि ने उनके चरणो पर गिर कर दीक्षा ली और फिर व्रजवीथियो में विहरनेवाले भगवान् का ध्यान करते हुए वे एक पैर से खडे हो कर बडी कठोर तपस्या करते रहे। नौ कल्पो के बाद 'प्रचंड' नामक गोप के घर वे 'चित्रगंधा' के रूप में प्रकट हुए।

५—'कुशध्वज' नामक ब्रह्मर्षि के पुत्र 'शुचिश्रवा' और 'सुवर्ण' देवतत्त्वज्ञ थे। उन्होने शीर्षासन करके 'ह्रीं' हंस-मंत्र का जाप करते हुए और सुंदर कंदर्प-तुल्य गोकुलवासी दस वर्ष की उम्र के भगवान्

श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए घोर तपस्या की। कल्प के बाद वे व्रज में 'सुधीर' नामक गोप के घर उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी गोपियो के पूर्वजन्म की कथाएँ प्राप्त होती है, विस्तारभय से उन सब का उल्लेख यहाँ नही किया गया। भगवान् के लिए इतनी तपस्या करके इतनी लगन के साथ कल्पो तक साधना करके जिन त्यागी भगवत्प्रेमियो ने गोपियो का तन-मन प्राप्त किया था, उनकी अभिलाषा पूर्ण करने के लिए—उन्हें आनद-दान देने के लिए यदि भगवान् उनकी मनचाही लीला करते है, तो इसमें आश्चर्य और अनाचार की कौन-सी बात है? रासलीला के प्रसग में स्वय भगवान् ने श्री गोपियो से कहा है—

"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतयातु साधुना॥"
—भागवत १०।३२।२२

'गोपियो' तुमने लोक और परलोक के सारे बधनो को काटकर मुझसे निष्कपट प्रेम किया है, यदि मै तुममें से प्रत्येक के लिये अलग-अलग अनत कालतक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेम का बदला चुकाना चाहूँ तो भी नही चुका सकता। 'मै तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा। तुम मुझे अपने साधुस्वभाव से ऋण-रहित मानकर और भी ऋणी बना दो। यही उत्तम है।' सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वय जिन महाभागा गोपियोके ऋणी रहना चाहते है, उनकी इच्छा, इच्छा होनेसे पूर्व ही भगवान् पूर्ण कर दें—यह तो स्वाभाविक ही है।

भला विचारिए तो सही श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णरसभावितमति गोपियो के मन की क्या स्थिति थी। गोपियो का तन, मन, धन—सभी कुछ प्राण-प्रियतम श्रीकृष्ण का था। वे ससार में जीती थी श्रीकृष्ण के लिये, घर में रहती थी श्रीकृष्ण के लिये और घर के सारे काम करती थी श्रीकृष्ण के लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्रदुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्ण के सिवा अपना कुछ था ही नही। श्रीकृष्ण के लिये ही, श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने के लिये ही, श्रीकृष्ण की निज सामग्री से ही श्रीकृष्ण को पूजकर—श्रीकृष्ण को सुखी देखकर वे सुखी होती थी। प्रात काल निद्रा टूटने के समय से लेकर रात को सोने तक वे जो कुछ भी करती थी, सब श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये ही करती थी। यहाँ तक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्ण में ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनो में ही वे श्रीकृष्ण की मधुर और शात लीला देखती और अनुभव करती थी। रात को दही जमाते समय श्यामसुदर की माधुरी छवि का ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी यह अभिलाषा करती थी कि मेरा दही सुदर जमे, श्रीकृष्ण के लिये उसे बिलोकर मै बढिया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छीके पर रक्खूँ, जितने पर श्रीकृष्ण के हाथ आसानी से पहुँच सकें। फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओ को साथ लेकर हँसते और क्रीडा करते हुए घर में पदार्पण करे, माखन लूटें और अपने सखाओ और बदरो को लुटाएँ, आनद में मत्त होकर मेरे आँगन में नाचें और मै किसी कोने में छिपकर इस लीला को अपनी आँखो से देखकर जीवन को सफल करूँ और फिर अचानक ही पकड कर हृदय से लगा लूँ। सूरदासजी ने गाया है—

"मैया री, मोहिं माखन भावै।
जो मेवा, पकवाँन कहति तू, मोहिं नाहिं रुचि आवै॥
ब्रज-जुवती इक पाछें ठाढ़ी, सुनत स्याँम की बात।
मन-मन कहति कबहुँ अपने घर, देखौं माखन-खात॥

बैठें जाइ मथनियाँ के ढिंग, मैं तब रहौं छिपाँनी।
'सूरदास' प्रभु अंतरजाँमी, ग्वालिनि-मन की जाँनी ॥"

एक दिन श्याम सुदर कह रहे थे, "मैया, मुझे माखन भाता है, तू मेवा-पकवान के लिये कहती है, परतु मुझे तो वे रुचते ही नही।' वही पीछे एक गोपी खडी श्यामसुंदर की बात सुन रही थी। उसने मन ही मन कामना की—"मै कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी, ये मथानी के पास आकर बैठेंगे, तब मै छिप रहूँगी?' प्रभु तो अंतर्यामी है, गोपी के मन की जान गये और उनके घर पहुँचे तथा उसके घर का माखन खाकर उसे सुख दिया—

'गए स्याँम तिहिं ग्वालिनि के घर।'

और तब उसे इतना आनद हुआ कि वह फूली न समायी। सूरदासजी गाते हैं—

"फूली फिरति ग्वालि मन में री।
पूँछति सखीं परसपर बातें, पायौ परचौ कछू कहूँ तेंरी?
पुलकित रोम रोम, गदगद मुख-बाँनी कहत न आवै।
ऐसौ कहा आहि सो सखि री, हम कौं क्यों न सुनावै ॥
तन न्यारौ, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप।
'सूरदास' कहै ग्वालि सखिनि सो, देख्यौ रूप अनूप ॥"

वह खुशी से छककर फूली-फूली फिरने लगी। आनंद उसके हृदय में समा नहीं रहा था। सहेलियो ने पूछा—'अरी' तुझे कही कुछ पड़ा धन मिल गया क्या?' वह तो यह सुनकर और भी प्रेम विह्वल हो गयी। उसका रोम-रोम खिल उठा, वह गद्गद् हो गयी, मुँह से बोली नहीं निकली। सखियो ने कहा—'सखि, ऐसी क्या बात है, हमें सुनाती क्यो नहीं? हमारे तो शरीर ही दो हैं, हमारा जी तो एक ही है—हम-तुम दोनो एक ही रूप हैं। भला, हमसे छिपाने की कौन-सी बात है?' तब उसके मुँह से इतना ही निकला—'मैंने आज अनूप रूप देखा है।' बस, फिर वाणी रुक गयी और प्रेम के आँसू बहने लगे। सभी गोपियो की यही दशा थी।

"ब्रज घर-घर प्रगटी यै बात।
दधि-माँखन-चोरी करि कें हरि, ग्वाल-सखा-सँग खात ॥
ब्रज-बनिता यै सुनि मन हरषति, सदँन हमारे आवैं।
माँखन खात अचाँनक पावें, भुज-भरि उरहिं छिपावें।"
मन हीं मन अभिलाष करति सब, हृदें धरति यै ध्याँन।
'सूरदास' प्रभु कों घर में लै, दैहौं माँखन खाँन ॥"

❀

"चली ब्रज घर-घरनि यै बात।
नंद-सुत, सँग सखा लीन्हें, चोरि माँखन खात ॥
कोउ कहति, मेरे भवन भीतर, अबहिं पैठे धाइ।
कोउ कहति मोहिं देखि द्वारें, उतहिं गए पराइ ॥
कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कौं, देखौ अपने धाँम।
हेरि माँखन देहुँ आछौ, खाँइ जितनो स्याँम ॥
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवार।
कोउ कहति मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवार ॥
'सूर' प्रभु के मिलन कारन, करति बिबिध बिचार।
जोरि कर बिधि को मनावति पुरुष नंद-कुँमार ॥"

रातो गोपियाँ जाग-जागकर प्रात काल होने की वाट देखती। उनका मन श्रीकृष्ण में लगा रहता। प्रात काल जल्दी-जल्दी दही मथकर, माखन निकालकर छीके पर रखती; कही प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये सब काम छोडकर वे सबसे पहले यही काम करती और श्यामसुदर की प्रतीक्षा में व्याकुल होती हुई मन ही मन सोचती—'हा, आज प्राण प्रियतम क्यो नही आये ? इतनी देर क्यो हो गयी ? क्या आज इस दासी का घर पवित्र न करेंगे ? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए इस तुच्छ माखन का भोग लगाकर स्वय सुखी होकर मुझे सुख न देंगे ? कही यशोदा मैया ने तो उन्हें नही रोक लिया ? उनके घर तो नौ लाख गौएँ हैं। माखन की क्या कमी है ! मेरे घर तो वे कृपा करके ही आते हैं !' इन्ही विचारो में आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षण में दौडकर दरवाजे पर जाती, लाज छोडकर रास्ते की ओर देखती, सखियो से पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युग के समान हो जाता ! ऐसी भाग्यवती गोपियो की मन कामना भगवान् उनके घर पधारकर पूर्ण करते। सूरदास जी ने गाया है—

"प्रथम करी हरि माँखन-चोरी।
ग्वालिनि मन-इच्छा करि पूँरन, आपु भजे ब्रज-खोरी ।।
मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबकें माँखन खाउँ ।।
बाल रूप जसुमति मोहि जानें, गोपिनि मिलि सुख-भोग।
'सूरदास' प्रभु कहत प्रेम सो, ए मेरे ब्रज लोग ।।"

—सूरसागर ३५२।८८६

अपने निज जन ब्रजवासियो को सुखी करने के लिये ही तो भगवान् गोकुल में पधारे थे माखन तो नदबाबा के घर पर कम न था, लाख-लाख गौएँ थी। वे चाहे जितना खाते-लुटाते, परतु वे तो केवल नदबाबा के ही नही, सभी ब्रजवासियो के अपने थे, सभी को सुख देना चाहते थे। गोपियो की लालसा पूरी करने के लिये ही वे उनके घर जाते और चुरा-चुराकर माखन खाते। यह वास्तव में चोरी नही, यह तो गोपियो की पूजा-पद्धति का भगवान् के द्वारा स्वीकार था। भक्तवत्सल भगवान् भक्त की पूजा स्वीकार कैसे न करें ?

भगवान् की इस दिव्यलीला—माखन चोरी का रहस्य न जानने के कारण ही कुछ लोग इसे आदर्श के विपरीत बतलाते है। उन्हें पहले समझना चाहिये चोरी क्या वस्तु है, वह किस की होती हैं और कौन करता है। चोरी उसे कहते हैं जब किसी दूसरे की कोई चीज, उसकी इच्छा के बिना, उसके अनजान में और आगे भी वह न जान पाये—ऐसी इच्छा रखकर ले ली जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियो के घर से माखन लेते थे उनकी इच्छा से, गोपियो के अनजान में नही—उनकी जान में, उनके देखते-देखते और आगे जनाने की कोई बात ही नही—उनके सामने ही दौडते हुए निकल जाते थे। दूसरी बात महत्त्व की यह है कि ससार में या ससार के बाहर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो श्रीभगवान् की नही है और वे उसकी चोरी करते है। गोपियो का तो सर्वस्व श्रीभगवान् का था ही, सारा जगत् ही उनका है। वे भला, किसकी चोरी कर सकते हैं ? हाँ चोर तो वास्तव में वे लोग है, जो भगवान् की वस्तु को अपनी मानकर ममता-आसक्ति में फँसे रहते हैं और दड के पात्र बनते हैं। उपर्युक्त सभी दृष्टियो से यही सिद्ध होता है कि माखन-चोरी चोरी न थी, भगवान् की दिव्य लीला थी। असल में गोपियो ने प्रेम की अधिकता से ही भगवान् का प्रेम का नाम 'चोर' रख दिया था, क्योकि वे उनके 'चित्तचोर' तो थे ही।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्ण को भगवान् नही मानते, यद्यपि उन्हें श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवान् की लीला पर विचार करने का कोई अधिकार नही है, परतु उनकी दृष्टि से भी इस प्रसग में कोई आपत्तिजनक बात नही है, क्योकि श्रीकृष्ण उस समय लगभग दो-तीन वर्ष के बच्चे थे और

गोपियाँ अत्यधिक स्नेह के कारण उनके ऐसे-ऐसे मधुर खेल देखना चाहती थी । आशा है, इससे शंका करनेवालो को कुछ सतोष होगा ।[१]

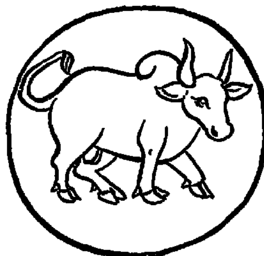
१. श्रीसूर ने गोपियों के घरो में माखन-चुरा कर खाते हुए 'श्रीमाखन-चोर' का बड़ा सुदर वर्णन किया है, जैसे—

"आज सखी, मनि-खंभ-निकट हरि जहाँ गोरस को गो-री ।
निज प्रतिबिंब सिखावत ज्यों सिसु, प्रघट करै जिन चोरी ।।
अरध-बिभाग आज ते हँम-तुम्हें, भली बनीं हूं जोरी ।
माँखन खाहु कित-हिं डारत हौ, छाँड़ि देहु मति भोरी ।।
बाँट न लेहु, सबै चाँहत हौ, इहै बात है थोरी ।
मींठौ अधिक परँम रुचि लागै, तौ भरि लेहु कँमोरी ।।
प्रेंम-उँमगि धीरज न रह्यौ तब, प्रघट हँसी मुख-मोरी ।
'सूरदास' प्रभु सकुचि निरखि मुख, भजे कुंज की खोरी ।।

अथवा—

गोपाल, दुरें-दुरें माँखन-खात ।
देखि सखी, सोभा जु बनीं है, स्याँम-मनोहर-गात ।।
उठि अवलोकि ओट ठाढ़ी ह्वै, जिहिं बिधि नहिं लखि लेत ।
चकित नेंन, चहूँ दिसि चितवत, और सखँन कों देत ।।
सुदर कर-आँनन-सँमीप अति राजत या आकार ।
जलरुह मँनो बैर बिधु सो तजि, मिलत लएँ उपहार ।।
गिरि-गिरि परत बदँन ते उर पर, दुधि-सुत के कछु बिंद ।
माँनो सुभग सुधा-कँन बरखत, प्रिय-जँन-आगँम इद ।।
बाल-बिनोद बिलोकि 'सूर' प्रभु, सिथिल भई ब्रज-नारि ।
फुरै न बचँन बरजिबे-कारँन, रही बिचारि-बिचारि ।।

* राग—गूजरी ।
† राग—धनाश्री ।



महाभारत और श्रीकृष्ण

श्री मुंशीराम शर्मा

महाभारत मुख्य रूप से कौरवो और पाडवो के वृत्तातो से भरा पडा है, पर प्रासगिक रूप से उसमें श्रीकृष्ण का चरित्र भी आ गया है। इस चरित्र का जितना और जैसा रूप महाभारत में अकित हुआ है, उसको उसी रूपमें प्रस्तुत करना इस लेख का लक्ष्य है।

आदिपर्व

श्रीकृष्ण के प्रारभिक बालचरित्र का उल्लेख स्वभावत महाभारत में नही किया गया। उनके जीवन का जितना सबध कौरवो और पाडवो के जीवन वृत्तो के साथ है, उतना ही महाभारत में पाया जाता है। श्रीकृष्ण का नाम सर्वप्रथम 'आदिपर्व' के अतर्गत द्रौपदी-स्वयवर में आया है। इस स्वयवर को देखने के लिये अनेक क्षत्रिय रगभूमि में एकत्रित हुए थे। रुद्र, आदित्य, वसु आदि देवगण और सुपर्ण, उरग, गुह्यक, चारण, विश्वावसु, देवर्षि आदि गधर्व भी आये थे।[1] बलराम और कृष्ण आदि यदुवशी वीर भी वहाँ पहुँचे। महाभारत के अनुसार इसी स्वयवर भूमि में श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम पाडवो को देखा और सकेत द्वारा उनकी उपस्थिति बलराम को सूचित की।[2] अर्जुन के लक्ष्यभेद के उपरात श्रीकृष्ण पुन पाडवो का परिचय देते हुए बलराम से कहने लगे—

"य एष सिंहर्षभखेलगामी महद्धनुः कर्षति तालमात्रम्।
एषोऽर्जुनो नाऽत्र विचार्यमस्ति यद्यस्मि सकर्षण वासुदेवः॥
यस्त्वेष वृक्ष तरसाऽवभज्य राज्ञा निकारे सहसा प्रवृत्तः।
वृकोदरान्नाऽन्य इहैतदद्य कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम्॥
योऽसौ पुरस्तात्कमलायताक्षस्तनुर्महासिंहगतिर्विनीतः।
गौरः प्रलबोज्ज्वलचारुघोणो विनि सृतः सोऽच्युत धर्मपुत्रः॥"

—महाभारत, आ० प० १६१। २०,२१,२२

"श्रेष्ठ सिंह की भाँति गतिवाले और लगभग पाँच हाथ के धनुष को खीचनेवाले निस्सदेह अर्जुन ही है। जिन्होंने शीघ्रता से वृक्ष उखाड लिया है और राजाओ का अत करने में प्रवृत्त हुए है, वे भीम के अतिरिक्त अन्य कोई नही है। इनके पूर्व जो कमल के समान प्रशस्त नेत्रवाले, सिंह के सदृश गतिवाले, विनीत, गौर वर्ण, लबी-उज्ज्वल और सुदर नासिकावाले महापुरुष यहाँ से चले गये है, वे ही धर्मपुत्र युधिष्ठिर है।"

इसके पश्चात् जब राजाओ ने उपद्रव मचाया, तो श्रीकृष्ण ने ही समझाया और युद्ध से विरत किया।[3] पाडवो को श्रीकृष्ण का परिचय इसके उपरात ही हुआ।

1. आदिपर्व १८६। ६,७।
2. " १८६। १०।
3. निवारयामास महीपतींस्तान् धर्मेणलब्धेत्यनुनीय सर्वान्॥

—आदिपर्व १९२।३८

द्रौपदी-स्वयवर के अनतर महात्मा विदुर पाडवो को हस्तिनापुर लाने के लिये महाराज द्रुपद के पास पहुँचे, तो उन्होने बलराम तथा श्रीकृष्ण को भी वहाँ देखा।[१] इससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण स्वयवर के पश्चात् बराबर पाडवो के साथ लगे रहे और जब महाराज द्रुपद से आज्ञा पाकर पाडव द्रौपदी, कुती तथा विदुर के साथ हस्तिनापुर को चल दिये तो श्रीकृष्ण भी उनके साथ गये।

श्रीकृष्ण पाडवो की हित-चिंतना में सदैव निरत रहते थे, यह बात द्रुपद ने स्वय अपने शब्दो में स्वीकार की है—

"यथैव हि महाभागाः कौंतेया मम साप्रतम् ।
तथैव वासुदेवस्य पांडुपुत्रा न संशयः ॥
न तद्ध्यायति कौंतेयः पांडुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यथैषां पुरुषव्याघ्रः श्रेयो ध्यायति केशवः ॥"

—आदिपर्व २०१।८,९

"हे विदुर, जिस प्रकार ये महाभाग पाडव मेरे प्रेमपात्र है, उसी प्रकार ये कृष्ण के भी प्रिय है। पाडवो के हित की चिंता इनकी पाडु-पुत्र युधिष्ठिर को भी नही है, जितनी इन पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्ण को है।"

पाडवो के हस्तिनापुर पहुँचने पर धृतराष्ट्र ने संघर्ष बचाने के लिये इन्हें आधा राज्य दे दिया। पाडवो ने 'खाडवप्रस्थ' को अपनी राजधानी बनाया और श्रीकृष्ण की सहायता से उस नगर को स्वर्ग के समान सुसज्जित कर लिया। यही खाडवप्रस्थ 'इद्रप्रस्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जब पाडव खाडवप्रस्थ में सुखपूर्वक निवास करने लगे, तो उनकी अनुमति प्राप्त करके श्रीकृष्ण बलराम के साथ द्वारकापुरी को चले गये।

इस प्रसंग के पश्चात् अर्जुन और श्रीकृष्ण का मिलाप प्रभास क्षेत्र में हुआ—

"आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी ।"

—आदिपर्व २२०।५

श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनो प्रिय सखा पूर्व जन्म में नर और नारायण नाम के ऋषि थे।[२]

प्रभास क्षेत्र से श्रीकृष्ण और अर्जुन 'रैवतक' पर्वत पर चले गये। रात भर वहाँ विश्राम करके, प्रात काल होते ही अर्जुन श्रीकृष्ण के साथ द्वारका पहुँचे और वहाँ के राजभवन में उन्होने अनेक दिन निवास किया। महाभारत में इस स्थल पर रैवतक पर्वत पर जुड़े हुए 'वृष्णि' और 'अधक' वश के वीरो के उत्सव का भी मनोरम वर्णन किया है। इसी उत्सव में अर्जुन श्रीकृष्ण की बहिन और बलराम की सहोदरा सुभद्रा को देख कर कामासक्त हुए। श्रीकृष्ण ने उनके इस भाव को जान लिया और कहा—

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्याऽनिमित्ततः ॥
प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
विवाहहेतु. शूराणामिति धर्मविदो विदुः ॥
स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम ।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ॥

—आदिपर्व २२१।२१,२२,२३

१. आदिपर्व २०८। ११

२ वनपर्व अध्याय १२ में श्लोक ११ से २० तक, तथा श्लोक २५, २८ और ४२ से ४४ तक श्रीकृष्ण के विविध योनियों में जन्म लेने, असुरो का वध करने और दान, यज्ञ एवं तप करने का भी वर्णन पाया जाता है।

"हे अर्जुन, क्षत्रियो में स्वयवर विवाह का विधान है, पर इसमें संशय है कि सुभद्रा इस रीति से तुम्हारा वरण करेगी या नही, क्योकि इस विषय में मनुष्य की रुचि के लिये कोई कारण नही होता। क्षत्रियो में बलपूर्वक अपहरण करके ले जाना भी विवाह का हेतु माना गया है। अत तुम मेरी इस कल्याणी बहिन को हरकर ले जाओ।"

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से भी इस विवाह के लिये अनुमति मँगा ली और उनके सकेत से देवार्चन के पश्चात् द्वारका जाती हुई 'सुभद्रा' को बलात् अपने रथ में बिठाकर अर्जुन चल दिया। सुभद्रा के अपहरण से वृष्णी वीर उत्तेजित हो उठे। बलराम को भी यह कृत्य असह्य लगने लगा, पर वे श्रीकृष्ण के चुप रहने से कुछ न कर सके। श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाया भी—

"नावमानं कुलस्याऽस्य गुडाकेश. प्रयुक्तवान्।
संमानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः॥
उचितश्चैव संबंधः सुभद्रा च यशस्विनी।
एष चाऽपीदृशः पार्थःप्रसह्य हृतवानिति॥"

—आदिपर्व २२३।२,६

"अर्जुन के इस कृत्य से हमारे कुल का अपमान नही, प्रत्युत समानवर्धन हुआ है। यह सबध भी उचित ही है। जैसी सुभद्रा यशस्विनी है, वैसा ही अर्जुन भी यशस्वी है।" परिणामत परमेष्ठी पुरोहित अर्जुन को लौटा लाये और अर्जुन तथा सुभद्रा का विवाह विधिवत् हुआ।

महाभारत में आदिपर्व के अध्याय २२३ का नाम 'हरणाहरण' पर्व है। इस पर्व के अनुसार जब अर्जुन सुभद्रा के साथ इद्रप्रस्थ पहुँच गए तो श्रीकृष्ण, बलराम आदि दहेज की विपुल सामग्री लेकर वहाँ गये। इस दहेज को महाभारतकार ने 'सुभद्रा का हरण' नाम दिया है, (हरणं वै सुभद्रायाः ......श्लोक ४४) अर्थात् ऐसा धन जिसे कन्या अपने मातृ-गृह से पति-गृह को हरण करके ले जाती है। कौरवो से सम्मानित होकर बलराम आदि तो द्वारकापुरी को लौट आये, परतु श्रीकृष्ण वही पर रह गये और जब सुभद्रा से अभिमन्यु ने जन्म लिया, तो श्रीकृष्ण ने उसके जातिकर्म प्रभृति सभी मगल संस्कार कराये। महाभारत में लिखा है—

"कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाऽऽकृतौ।"

—आदिपर्व २२३।७७

अर्थात् अभिमन्यु शौर्य, वीर्य, रूप तथा आकृति में कृष्ण के ही सदृश था।

श्रीकृष्ण को मृगया तथा आखेट में विशेष रुचि थी। वे बाहर कानन, पर्वत आदि पर विहार करने के भी प्रेमी थे। महाभारत में इस स्थल पर तथा अन्य कई और भी स्थलो पर इस विषय का उल्लेख हुआ है।[1]

खांडव वन इद्र से रक्षित था, उसका सखा 'तक्षक' नाग भी अपने गणो के साथ इसी वन में रहता था। प्रजा इन सब के कारण सत्रस्त थी। अत खाडव वन को जला देने का कार्य प्रारभ कर दिया गया। कृष्ण और अर्जुन दोनो महारथी वन के दोनो ओर खडे हो गये और चारो ओर भागते हुए भयानक प्राणियो का विध्वस करने लगे। महा बलवान् नागराज तक्षक उस समय वहाँ पर नहीं था[2] और बच गया। तक्षक के भवन से निकल कर 'मय' नाम का असुर भी भागा जा रहा

1. व्यचरद्यमुनातीरे मृगयांस महायशाः।
मृगान्विध्यन्वराहांश्च रेमे सार्धं किरीटिना॥
—आदिपर्व २२३।६४

2. आदिपर्व २२६।४

था, पर वह पकड गया। यह दानवो का श्रेष्ठ शिल्पी था। अर्जुन की शरण ग्रहण करने से यह बच गया।[१]

सभापर्व

मय ने अर्जुन से कहा—'महाभाग, आपने मेरे प्राण बचाये हैं। कहिये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' अर्जुन ने कहा—

"कृष्णस्य क्रियतां किंचित् तथा प्रतिकृतं मयि।"

—सभापर्व १।८

'तुम श्रीकृष्ण का कोई कार्य कर दो, वही मेरे लिय प्रत्युपकार होगा।' इसके अनतर मय ने श्रीकृष्ण से निवेदन किया, तो श्रीकृष्ण बोले—हे शिल्पियो में श्रेष्ठ, यदि तुम मेरा प्रिय कार्य करना चाहते हो, तो युधिष्ठिर के लिये अपनी इच्छानुरूप एक सभा बना दो। वह सभा[२] ऐसी हो जिसे देखकर पृथ्वी का कोई मनुष्य वैसी दूसरी सभा न बना सके। मय ने एक उत्तम राजसभा का निर्माण किया। यह सभा चौदह महीनो से भी कुछ अधिक दिनो में बनकर तैयार हुई थी।"[३]

इसके पश्चात् युधिष्ठिर ने 'राजसूय यज्ञ' पर विचार-विमर्श करने के लिये श्रीकृष्ण को, जो द्वारका चले गये थे, बुलाया। श्रीकृष्ण ने आकर युधिष्ठिर से कहा—

"राजन्, जब तक 'जरासध' जीवित है, तब तक तुम मेरे विचार में राजसूययज्ञ नही कर सकते। इस जरासध ने एल तथा इक्ष्वाकु-वश के एक सौ राजाओ को गिरि-व्रज में बदी कर रखा है और उनकी राज्यलक्ष्मी को जीतकर सुर तथा असुर सबके लिये अपराजेय बन गया है। इसे प्राणात-कारी मल्लयुद्ध द्वारा ही पराजित किया जा सकता है। जैसे तीन अग्नियो से यज्ञ संपादित होता है, वैसे ही मेरी नीति, भीम का बल और अर्जुन का रक्षा कार्य—इन तीनो से ही जरासंध मारा जा सकेगा।" महाभारतकार ने यहाँ स्पष्ट शब्दो में श्रीकृष्ण की नीतिज्ञता का उल्लेख किया है। युधिष्ठिर ने भी श्रीकृष्ण की बात का अनुमोदन करते हुए कहा—

"गोविंद, जिनसे लक्ष्मी विरुद्ध हो जाती है, उनके अग्रणी आप कभी नहीं बनते अतः आपकी नीति से हम निस्सदेह सिद्धि को प्राप्त करेंगे।"[४]

श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन ने तेजस्वी स्नातको का वेष धारण किया और वे 'गिरिव्रज' पहुँच गये। यहाँ सर्वप्रथम उन्होंने अपनी विशाल भुजाओ के आघात से मागधो के अत्यत प्रिय 'चैत्यक' के प्राचीन, दृढ एव विशाल शृग को तोडकर नीचे गिरा दिया (२१।२१)। फिर तीनो ने गेरुए वस्त्र, माला और कुडल धारण कर जरासध के भवन में प्रवेश किया। इन वीरो को देखकर मगध-निवासियो को अत्यत आश्चर्य हुआ (२१।३१)।

जरासंध के साथ वार्तालाप करते हुए श्रीकृष्ण ने अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया और कहा—"राजन्, तुमने भिन्न-भिन्न देशो में रहनेवाले क्षत्रियो को बंधन में डालकर जो पाप किया है वह हमें लगेगा, यदि हम उसका निराकरण न करे, क्योकि धर्मपूर्वक आचरण करनेवाले हम धर्म की रक्षा करने में समर्थ हैं। जाति के अभ्युदय का ध्यान करके हम तुम्हारे जैसे जाति-नाशक का वध करने के लिये ही यहाँ आये हैं (२२।१०, १४)।

१. आदिपर्व २३०।४३
२. सभापर्व १।११,१२
३. सभापर्व ३।१३,३८
४. सभापर्व १४।५३, २०।२, ३
५. सभापर्व २०।१८

"त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुंच वा नृपतीन्सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ॥"
—सभापर्व २२।२७

अत युद्ध के लिये हम तुम्हें आहूत करते है। या तो तुम समस्त क्षत्रियों को छोडो, नही तो यमराज के घर जाओ।

भीम तथा जरासंध में युद्ध प्रारभ हुआ। यह युद्ध कार्तिक मास की प्रतिपदा को आरम हुआ और विना भोजन किये चतुर्दशी की रात्रि तक चलता रहा।[1] जरासध मारा गया। बदी क्षत्रिय कारागार से मुक्त किये गये। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपनी बुद्धिमता से प्रथम राजनैतिक विजय प्राप्त की और भारत के एक वडे भाग के क्षत्रियो को अपनी ओर कर लिया। इन क्षत्रियो ने महाराज युधिष्ठिर की राजसूय यज्ञ में सहायता की।

जरासंध का आश्रय पाकर 'चेदि देश' के अधिपति 'शिशुपाल' ने भी राजसूय यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करना चाहा। युधिष्ठिर के इस यज्ञ में ब्राह्मणो के चरण धोने का कार्य श्रीकृष्ण ने स्वय स्वीकार किया था।[2] जब योग्य राजाओ के सत्कार करने का प्रश्न आया, तो भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से सर्वप्रथम श्रीकृष्ण को अर्घ देने के लिये कहा। इस क्रिया पर शिशुपाल ने आपत्ति की[3] और श्रीकृष्ण को ऋत्विक, आचार्य तथा राजा के सभी लक्षणो से रहित बतलाया। भीष्मपितामह उसकी बातो का उत्तर देते हुए बोले —

"ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥
वैश्यानां धान्यधनवान् शूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविंदे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥
वेदवेदांगविज्ञानं वलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणां हि लोके कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥"
—सभापर्व ३८।१७,१८,१९

"ब्राह्मणो में विद्वान्, क्षत्रियो में वलवान्, वैश्यो में धनवान् और शूद्रो में जन्म से पूज्य माना जाता है। श्रीकृष्ण की पूजा में दो हेतु वड़े प्रबल हैं—एक तो इनमें बल की अधिकता है और दूसरे ये वेद—वेदागो के विद्वान् हैं। अत कृष्ण के अतिरिक्त मनुष्यो में इस समय अन्य कौन श्रेष्ठ हो सकता है।"

"दानं दाक्ष्यं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽच्युते ॥
तमिमं लोकसंपन्नमाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हम् सर्वे संक्षंतुमर्हथ ॥"
—सभापर्व ३८।२०,२१

[1] कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रांतमवर्तत ॥
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ॥
—सभापर्व २३।२९,३०

[2] चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ॥
—सभापर्व ३५।११

[3] शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥
—सभापर्व ३६।३१

अर्थात् दान, चतुरता, शूरता, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनम्रता, श्री, धैर्य, सतोष, पुष्टि—ये सब बातें श्रीकृष्ण में विद्यमान् हैं। अत लोकसपन्न, आचार्य, पालक, पूजनीय, अर्घ देने के योग्य और[1] पूजा के योग्य पूजित हुए श्रीकृष्ण की पूजा करना सबके लिये उचित ही है।

इन शब्दो को सुनकर शिशुपाल भीष्मपितामह पर कटूक्तियो की वर्षा करने लगा। उसने युद्ध के लिये श्रीकृष्ण का आह्वान किया। श्रीकृष्ण बोले —

"एष नः शत्रुरत्यंत पार्थिवाः सात्वतीसुतः।
अपराध शतम् क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने॥
दत्तं मया याचितच तद्वै पूर्णं हि पार्थिवाः।
अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम्॥"

—सभापर्व ४५। ७,२४,२५

"यह 'सात्वती' का पुत्र शिशुपाल हम सात्वतो का बडा भारी शत्रु है। इसकी माता के वर मॉंगने पर मैं ने इसके सौ अपराध क्षमा करने का वचन दिया था। वह अब पूरा हो चुका है। अब मैं आप सब राजाओ के सामने ही इसका वध करूँगा।" यह कह कर श्रीकृष्ण ने उसी क्षण शिशुपाल का शिर चक्र से काट डाला। इस प्रकार जरासध के पश्चात् अनार्य पद्धति के प्रबल अनुयायी इस शिशुपाल की मृत्यु से आर्य मर्यादा के प्रचार का पथ श्रीकृष्ण ने और भी अधिक प्रशस्त कर दिया।

वनपर्व

श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में विराजमान् थे, उसी समय अपने भ्राता शिशुपाल का उनके द्वारा मारा जाना सुनकर 'सौभ' नगर के अधिपति 'शाल्व' ने द्वारका पर आक्रमण कर दिया और वृष्णि वश के अनेक वीरो को मारकर नगर और बगीचो को नष्ट कर डाला। जब श्रीकृष्ण द्वारका पहुँचे, तो उन्होने सौभ नगर पर चढाई कर दी और मायावी शाल्व को मारकर समस्त सौभ नगर को धराशायी कर दिया। इसी समय द्यूत-क्रीड़ा में अपना सर्वस्व हारकर पाडव वनवासी हुए थे। श्रीकृष्ण वन में ही पाडवो से मिले। द्यूत के साथ उन्होने व्यभिचार, शिकार और सुरापान की निंदा की[2] और पाडवो को आपत्ति में ग्रसित देखकर अत्यंत दुखी हुए पर, अब कुछ हो नही सकता था, अत वे सुभद्रा तथा अभिमन्यु को लेकर द्वारका लौट गये।

विराटपर्व

जब पाडव वनवास के तेरहवें वर्ष में अपना नाम तथा वेष बदलकर अज्ञात रूप से 'मत्स्य' देश के राजा विराट् के यहाँ रहने लगे, तो गोहरण-प्रसग को लेकर विराट् और कौरवो में युद्ध छिड गया। अर्जुन विराट् के पुत्र उत्तर के सारथी बने और उन्होने विराट् की ओर से युद्ध करते हुए दुर्योधन की विपुल वाहिनी को मार भगाया तथा गोधन का उद्धार किया। विराट् ने इस विजय से प्रभावित होकर अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन से करना चाहा। अर्जुन ने इसे अस्वीकार किया और अपने पुत्र अभिमन्यु के साथ उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव किया। श्रीकृष्ण की अनुमति से महाराज युधिष्ठिर ने उत्तरा का विवाह अभिमन्यु के साथ कर दिया।

उद्योगपर्व

विवाह के उपरात श्रीकृष्ण ने समागत राजाओ की सभा की और उसमें यह प्रस्ताव रखा कि पाडवो ने तेरह वर्ष के वनवास की अवधि पूरी कर ली है, अत —

१ सभापर्व ४५।१,२

२. स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतद् कामसमुत्थितम्।
दु.खं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रिय॥

—वनपर्व १३।७

"तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः ।।
दूतः समर्थः प्रशमाय तेषा राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य ।।"

—उद्योगपर्व १।२४, २५

यहाँ से धर्मात्मा, आचारवान, कुलीन, अप्रमादी एव समर्थ एक दूत कौरवो को शात करने और युधिष्ठिर को उनका आधा राज्य दिलाने का प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर भेजा जाय। ऐसा प्रस्ताव करके श्रीकृष्ण पुन द्वारका लौट गये।

दुर्योधन को अपने गुप्तचरो से पता लगा कि श्रीकृष्ण भावी युद्ध में पाडवो का साथ देंगे, तो वह उन्हें अपनी ओर करने और उनकी सहायता प्राप्त करने के लिये द्वारकापुरी पहुँचा। इधर अर्जुन भी उसी दिन द्वारका पहुँच गये। महाभारतकार कहता है—

श्रीकृष्ण उस समय सो रहे थे। उनके शयन की अवस्था में ही दुर्योधन उनके भवन में चला गया और श्रीकृष्ण के शिर की ओर बिछे हुए उत्तम आसन पर जा बैठा। अर्जुन भी दुर्योधन के पीछे-पीछे श्रीकृष्ण के भवन में गये और उनके पैंताने खड़े रहे।[1] श्रीकृष्ण के जगने पर उनकी सर्व-प्रथम दृष्टि अर्जुन पर गयी, फिर भी उन्होंने दोनो को सहायता देनेका आश्वासन दिया और कहा—

"मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत् ।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ।।
ते वा युधि दुराधर्षा भवंत्वेकस्य सैनिकाः ।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ।।"

इस कथन के अनुसार सहायता रूप में एक श्रीकृष्ण को ले सकता था जो युद्ध करने से विरत और निरस्त्र रहेंगे और दूसरा उनकी एक अरब गोपो से बनी समस्त 'नारायणी' नाम की सेना को जो उन्ही के समान युद्ध करने वाली थी। अर्जुन ने निरस्त्र श्रीकृष्ण को और दुर्योधन ने उनकी सेना को स्वीकार किया (७।२१,२३)।

इधर धृतराष्ट्र ने सूत-पुत्र सजय को युधिष्ठिर के पास भेजा। उस समय श्रीकृष्ण भी पाडवो के पास आ गये थे। उन्होने सजय से कहा—

"अविनाशं संजय पांडवानामिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च ।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम् ।।
जानासि त्वं संजय सर्वमेतद् द्यूते वाक्यं गर्ह्यमेवं यथोक्तम् ।
स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गंतुं समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ।।"

"सजय, मैं पाडव और कौरव दोनो का हित चाहता हूँ। धर्म-प्राण युधिष्ठिर के साथ कौरवो ने जैसा व्यवहार किया है, उसे तुम जानते हो। फिर भी मैं इस बिगडे हुए काम को बनाने के लिये स्वय हस्तिनापुर जाना चाहता हूँ।"[2]

"हे सजय, धृतराष्ट्र अपने पुत्रो के साथ वन के समान हैं और पाडव व्याघ्र के समान हैं। तुम न वन को काटो और न व्याघ्र को वन से निकालो। वन के बिना व्याघ्र मारा जाता है और व्याघ्र के बिना वन काटा जाता है। अत व्याघ्र को वन की और वन को व्याघ्र की रक्षा करनी चाहिये। कौरव यदि लता हैं, तो पाडव शाल वृक्ष हैं। लता वृक्ष के बिना नही रह सकती। इसी प्रकार कौरव भी पाडवो की सहायता के बिना सुरक्षित नही रह सकते। जाओ और धृतराष्ट्र से हमारा यह सदेश कह दो।[3]

1 उद्योगपर्व ७।८,९
2. उद्योगपर्व २९।१,४७
3. उद्योगपर्व २९।५२-५५

संजय के चले जाने पर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर जाने का निश्चय किया। कार्तिक मास का प्रारंभ था। खेतो में धनधान्य की समृद्धि फैली हुई थी। ऐसे उत्तम समय में ब्राह्मणो की मांगलिक मधुर वाणी सुनते हुए, प्रात काल का नित्यकृत्य, स्नान, शुद्ध वस्त्र-धारण और सध्या-हवन समाप्त करके भगवान् कृष्ण ने वृषभ की पीठ का स्पर्श और ब्राह्मणो को प्रणाम किया।[1] इसके अनतर रथ पर सवार होकर वे हस्तिनापुर को चल दिये।

सभा पर्व अध्याय ४५ श्लोक ६२ में श्रीकृष्ण के रथ का नाम 'मेघवपु' लिखा है—

"ततो मेघवपु प्रख्यं स्यंदन च सुकल्पितम्।"

इस रथ पर गरुड ध्वज था। यह रथ पर्जन्य के समान घोष करता था और आदित्य के समान चमक रखता था (वनपर्व १२।३१)। उद्योगपर्व अध्याय ८३ के श्लोक १७,१८ और २१ में भी श्रीकृष्ण के रथ के लिये इसी प्रकार के विशेषण दिये हुए हैं। यह भी लिखा है कि यह रथ विमान के समान कामग, अर्थात् इच्छानुसार चलनेवाला और व्याघ्र चर्म से मढा हुआ था। इस रथ में चार घोडे, जुते हुए थे जिनके नाम—शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक थे।

"वाजिभिः शैव्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः।"
—उद्योगपर्व ८३।१९

श्रीकृष्ण के आने का समाचार सुनकर दुर्योधन के अतिरिक्त अन्य धृतराष्ट्र के पुत्र, भीष्म, द्रोण, कृप आदि के साथ उनका स्वागत करने के लिये आगे आये। श्रीकृष्ण के स्वागत में नगर तथा राजमार्ग अलंकृत किये गये। नगर के स्त्री, बालक तथा वृद्ध श्रीकृष्ण के दर्शनो के लिए लालायित हो उठे। भीष्म, द्रोणादि से घिरे हुए श्रीकृष्ण ने अट्टालिकाओ से शोभायमान श्वेतभवन में प्रवेश किया। श्रीकृष्ण राजमदिर की चौथी कक्षा में राजा धृतराष्ट्र के पास पहुँचे। जब श्रीकृष्ण स्वर्ण के विशाल आसन पर बैठ गये, तो धृतराष्ट्र के पुरोहितो ने जल, मधुपर्क और दूध द्वारा नियमानुसार उनका स्वागत किया। इसके पश्चात् वे विदुर के भवन में पहुँचे और वहाँ से अपनी बुआ कुती के पास गये। कुती ने इस अवसर पर श्रीकृष्ण के द्वारा अपने पुत्रो को यह सदेश भेजा कि क्षत्राणी जिस कार्य के लिये पुत्र उत्पन्न करती है, उसका समय अब आ गया है।[2] श्रीकृष्ण ने कुती को आश्वासन दिया और कहा कि वे शीघ्र ही अपने पुत्रो को ऐश्वर्य से युक्त और राज्यलक्ष्मी से मडित देखेंगी।[3]

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण कौरवो के भवन में पहुँचे। दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को भोजन के लिये निमत्रण दिया, पर उन्होने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि भोजन दो प्रकार से ही किया जाता

१. मंगल्याः पुण्यनिर्घोषा वाचः शृण्वंश्च सूनृता।
ब्राह्मणानां प्रतीतानामृषीणामिव वासव॥
कृत्वा पौर्वाह्णिकं कृत्यं स्नात. शुचिरलंकृतः।
उपतस्थे विवस्वंतं पावकं च जनार्दनः॥
वृषभ पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणानभिवाद्यच॥
—उद्योगपर्व ८३।८,९,१०

२. यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागत·।
—उद्योगपर्व ९०।७५

३ अरोगान् सर्वसिद्धार्थान् क्षिप्र द्रक्ष्यसि पांडवान्।
ईश्वरान्सर्व लोकस्य हतामित्रान् श्रिया वृतान्॥
—उद्योगपर्व ९०।९९

हैं—या तो कोई प्रेमपूर्वक भोजन करावे या विपत्ति में ग्रसित कोई व्यक्ति किसी के यहाँ भोजन करे। यहाँ दो में से एक भी प्रकार नहीं है।[1]

श्रीकृष्ण ने विदुर के यहाँ भोजन किया। विदुर ने इस समय दुर्योधन की समस्त कुचालों का उल्लेख करते हुए कहा—केशव, आप का यहाँ आना उचित नहीं था। दुर्योधन नीति और धर्म का उल्लंघन कर रहा है और उससे कुछ भी कहना निरर्थक प्रतीत होता है (६२।१,२,१५)।' श्रीकृष्ण विदुर से बोले—

"मै दुर्योधन की दुष्टता और क्षत्रियों के वैरभाव को जानता हूँ, फिर भी कौरवो की सभा में आया हूँ। इस समय समस्त पृथ्वी मृत्यु के मुख की ओर जा रही है। जो मानव इस पृथ्वी को मृत्युपाश से छुड़ा दे, वह उत्तम पुण्य प्राप्त करेगा। धर्म कार्य में शक्ति भर प्रयत्न करने के उपरांत भी यदि कोई मानव सफल न हो सके, तो भी वह उसके पुण्य को प्राप्त कर लेता है। अतः धृतराष्ट्र के पुत्रो को मेरी धर्म-संमत एवं हितकारी बात मान लेनी चाहिये।"[2]

इसके अनन्तर श्रीकृष्ण राजसभा में पहुँचे। उनके पहुँचते ही धृतराष्ट्र उनका स्वागत करते हुए अन्य वीर तथा राजाओ के साथ उठ खडे हुए। श्रीकृष्ण के बैठने पर सब अपने-अपने आसन पर बैठ गये। राजसभा में मेघ के समान गरजते हुए श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्र की ओर मुख करके सारी सभा को सुना कर कहने लगे—

"राजन्, कौरवों और पाडवों में संधि हो जावे तथा वीरों का भावी विनाश रुक जावे, मै इसी अभिलाषा की पूर्ति के लिये यहाँ आया हूँ। आपके पुत्रों का अपने धर्मात्मा भाई पांडवों के साथ अनुचित व्यवहार महाभयंकर विपत्ति को खड़ा कर रहा है। यदि आपने इसकी उपेक्षा की, तो यह समस्त पृथ्वी का विनाश कर डालेगी। इस समय शांति की स्थापना करना आपके और मेरे अधीन है। आप अपने पुत्रों को रोक लें, मै पांडवो को रोक दूंगा। आप पाडवों के ज्येष्ठ पिता है। अतः उनके साथ की गयी शर्तं का आप पालन करें। पाडवो के सहयोग से आप समग्र संसार का राज्य प्राप्त कर लेंगे और शत्रुओ से निर्भय हो जावेंगे। पांडव आपकी सेवा करने के लिये भी तैयार है और युद्ध के लिये भी। आपको जिस कार्य में अपना हित दिखाई दे, आप वही कार्य करें (उद्योगपर्व ६३।३,६,१०,११,१३,२२)।"

धृतराष्ट्र बोले—

"न त्वहं स्ववशस्तात क्रियमाणं न मे प्रियम् ।
अंग दुर्योधनं कृष्ण मंद शास्त्रातिगं मम ।।
अनुनेतुं महाबाहो यतस्व पुरुषोत्तम ।
न शृणोति महाबाहो वचनं साधुभाषितम् ।।"

—उद्योगपर्व १२४।३,४

"केशव, आप का कथन यथार्थ है, पर मै इस समय स्वाधीन नहीं हूँ और जो कुछ किया जा रहा है वह भी मेरे लिये प्रिय नहीं है। आप इस दुर्बुद्धि दुर्योधन को समझाइये, जो न शास्त्र की बात मानता है और न सत्पुरुषो के कथन को स्वीकार करता है।"

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को भी समझाया, पर उसने बार-बार यही कहा—

[1] सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः ।
न च संप्रीयसे राजन्नचैवाऽऽपद्गता वयम् ।।
—उद्योगपर्व ६१।२५

[2] उद्योगपर्व ६३।४,५,६,१२

"मेरे जीवित रहते तीक्ष्ण सुई की नोक के बराबर भी भूमि पांडवो को नहीं दी जा सकती।"[1]

जब दुर्योधन क्रुद्ध होकर सर्प की तरह श्वास लेता हुआ अशिष्ट की भाँति खडा होकर राजसभा से चल दिया (१२८।२५, २७), तो श्रीकृष्ण भी धृतराष्ट्र आदि को समझाते हुए हस्तिनापुर से चल दिये और कुंती के पास होते हुए उपप्लव नगर में पाडवो के पास पहुँच गये (१४७।१)।

पाडवो के समक्ष उन्होंने कौरव-सभा का समस्त वृतात सक्षेप में सुनाते हुए कहा—

"भीष्म, द्रोण, विदुर, गांधारी और धृतराष्ट्र के बहुत समझाने पर भी मूर्ख दुर्योधन न माना। मैंने संधि का प्रस्ताव किया, पर उसने मेरे इस हितकारी प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया। जब साम नीति से काम निकलता न देखा, तो मैंने भेद द्वारा तुम लोगों के दैवी एव मानवी कर्मों का कथन करके उसे भयभीत करना चाहा। फिर शाति की वार्ता करके आधा राज्य देने का प्रताव किया। मैंने यह भी कहा कि सारा राज्य कौरव ही लें, केवल पांच ग्राम पाडवो को निर्वाह के लिये दे दें, पर दुष्ट दुर्योधन इन्हें कुछ भी भाग देने को उद्यत न हुआ। अब इन पापियों के प्रति चतुर्थ उपाय दंड का प्रयोग करना ही उचित है।"[2]

परिणामत दोनो दलो में युद्ध की तैयारी हुई। पाडव दल में द्रुपद, विराट्, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, धृष्टकेतु, शिखडी और मगधराज सहदेव—ये सात महारथी सेनापति के पद पर अभिषिक्त हुए। महासेनापति का अधिकार धृष्टद्युम्न को प्राप्त हुआ। इन सबके भी ऊपर अर्जुन को सेनापतियो का अधिपति बनाया गया और अर्जुन के भी ऊपर अर्जुन के रथ को चलानेवाले महाबुद्धिमान् श्रीकृष्ण को नेतापद दिया गया।[3]

भीष्मपर्व

महाभारत में भीष्मपर्व के अतर्गत अध्याय २५ से ४२ तक अर्जुन के मोह और श्रीकृष्ण के उस उपदेश का वर्णन है जिसे 'भगवद्गीत' कहते हैं। इसमें श्रीकृष्ण ने आत्मा के अमरत्व की उच्च स्वर से घोषणा की है और अर्जुन को मोह छोडकर क्षत्रियोचित कर्तव्य का पालन करते हुए युद्ध करने के लिये सन्नद्ध किया है।

श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए गीता के कुछ महत्वपूर्ण वाक्य नीचे अकित किये जाते हैं—

श्रीकृष्ण के अवतार लेने का हेतु

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे॥"

जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं साधुओ की रक्षा, दुष्टो के विनाश और धर्म की स्थापना के लिये जन्म लेता हूँ।

उद्बोधन

"कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥
क्लैब्यं मा स्म गम. पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥"

[1] उद्योगपर्व १२७।२५
[2] उद्योगपर्व १५०।१,२,३,१८,१,१७
[3] उद्योगपर्व १५७।११,१२,१३,१४,१५,१६

अरे अर्जुन, युद्ध के समय यह कश्मल कहाँ से आ गया? यह तो अनार्यों को होता है। यह दुखद और अकीर्तिकर है। तुम कायर मत बनो। यह तुम्हारे योग्य नहीं है। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता छोडकर, खडे हो जाग्रो।

आत्म-ज्ञान

"नजायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।"

आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है और न ऐसा ही है कि यह पहले थी और फिर न रहेगी। यह अजन्मा, नित्य, सनातन और सर्वदा रहनेवाली है। शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरती।

इसी सबध में गीता के द्वितीय अध्याय के १२, १३, १६, १९, २२, २३, तथा अध्याय ६ का ५ वाँ श्लोक भी देखने योग्य है।

योग

"योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।"

—गीता २।४८,५०

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।"

—गीता ६।१७,१८

"सिद्धि और असिद्धि में समान रहने का नाम योग है। योग कर्मों के करने में कुशलता है। युक्ताहार-विहार, कर्मों में युक्त चेष्टा, युक्त स्वप्नावबोध वाले को ही सुखद योग प्राप्त होता है। जब नियत चित्त आत्मा में स्थिर होता है और मानव समस्त कामनाओ से निस्पृह हो जाता है, तभी वह योगी कहलाता है।"

विनाश

"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

—गीता २।६२,६३

"विषयो के ध्यान से आसक्ति, आसक्ति से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति भ्रम, उनसे बुद्धिनाश और बुद्धि के नष्ट होने से विनाश हो जाता है।"

शांति

"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी।।
विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति।।"

—गीता २।७०, ७१

"अचल रूप से स्थित, चारो ओर से ऊपर तक भरे हुए समुद्र में जैसे नदियो का जल समा जाता है, वैसे ही कामनाएँ जिस व्यक्ति में प्रविष्ट हो जाती हैं (पर उसके अंदर कोई हलचल या

उपद्रव उत्पन्न नही कर पाती) उसी को शाति प्राप्त होती है, कामनाम्रो के पीछे भागनेवाले को नही।"

"जो व्यक्ति समस्त कामनाम्रो को छोडकर नि स्पृह होकर विचरता है, ममत्व और अहकार से रहित हो जाता है, वही शाति प्राप्त करता है।"

ज्ञानयोग

"सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥"

—गीता ४।३६, ३७'३८, ३९

"ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नही है। ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान की नौका पर चढकर मानव पाप के समुद्र को पार कर जाता है। ज्ञान से परम शाति शीघ्र ही प्राप्त होती है।"

कर्मयोग

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह. ॥"

—गीता २।४७, ३।८, ९, ३५

"करणीय कर्म के करने में ही मानव का अधिकार है, उसकी फल-प्राप्ति में नही। अत न तो कर्मफल को कर्म करने का प्रेरक हेतु बनाम्रो और न अकर्म करो। अपने लिये नियत कर्म को करो। कर्म अकर्म से श्रेष्ठ है। यज्ञ अथवा परोपकार के लिये किये गये कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म बंधन का कारण है। अत आसक्ति छोडकर कर्म करना चाहिये। अपना गुणरहित कर्तव्य दूसरे के भली-भाँति संपादित कर्तव्य की अपेक्षा श्रेयस्कर है। अपने लिये निश्चित कर्तव्य का पालन करते हुए मर जाना अच्छा है, पर दूसरे के लिये नियत किये हुए कर्म को कभी ग्रहण न करना चाहिए।"

भक्ति-योग

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंतिते ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजंदेहं स याति परमां गतिम् ॥
सततं कीर्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥"

—गीता ७।१४, ८।१३, ९।१४, २२

"मेरी दैवी गुणमयी माया अनुल्लंघनीय है, परन्तु जो मेरी शरण आ जाते है, वे इस माया से पार हो जाते हैं। ओ३म् अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर को छोडता है, वह परम गति को प्राप्त करता है। लगातार मेरे नाम को जपता हुआ, दृढ-व्रती बनकर मेरी सेवा करता हुआ और भक्तिपूर्वक मुझे प्रणाम करता हुआ जो व्यक्ति नित्य भक्ति-योग में निरत रहता है, वही मेरा सामीप्य प्राप्त करता है। अनन्य रूप से मेरा ही चिंतन करते हुए जो भक्त उपासना करते हैं, उनके योग क्षेम को मै ही वहन करता हूँ।

इसी सबध में १२ वें अध्याय के २, ८ तथा १३से लेकर २० तक के श्लोक ध्यान देने योग्य हैं।

अध्याय १३ में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेचन, अध्याय १४ में सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की व्याख्या, अध्याय १५ में क्षर और अक्षर पुरुष का ज्ञान, अध्याय १६ में दैवी और आसुरी सपद् का वर्णन, अध्याय १७ में श्रद्धा, यज्ञ, दान, तप आदि का त्रिविध विभाजन और अध्याय १८ में सन्यास से कर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। गीता समस्त औपनिषद्-ज्ञान का सार कहलाती है। श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये ज्ञान से अर्जुन प्रबुद्ध हो उठा। उसका मोह नष्ट हो गया और वह युद्ध में प्रवृत्त हुआ।

भीष्मपर्व से मौसलपर्व तक

इस युद्ध में भीष्म, जयद्रथ, कर्ण, द्रोण और दुर्योधन की मत्यु श्रीकृष्ण की नीतिमत्ता के कारण ही सभव हो सकी। महापराक्रमी भीष्म को मारने के लिये तो श्रीकृष्ण अत्यंत तीक्ष्ण चक्र सुदर्शन को लेकर और रथ को छोडकर स्वयं आगे बढ गये थे।[1] उनके उस समय के क्रोधावेग को रोकने में अर्जुन भी असमर्थ प्राय हो गया था। जैसे आँधी में वृक्ष उडा चला जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण रोकनेवाले अर्जुन को अपने साथ लिये हुए वेगपूर्वक बढे चले जा रहे थे। बडी कठिनाई से अपने पैरो को अडाकर अर्जुन ने दसवें कदम पर उन्हें रोक पाया।[2]

जयद्रथ-वध श्रीकृष्ण की योगजन्य माया और चातुर्य का ही परिणाम था। कर्ण के रथ के पहिये जब कीचड में धस गये और वह उनको निकालने के लिये रथ से नीचे कूद पडा, तो श्रीकृष्ण अर्जुन को बाण चलाने के लिये प्रेरित करते रहे। कर्ण ने धर्म की दुहाई दी, तो श्रीकृष्ण ने ही उसे आडे हाथो लिया और उसके धार्मिक पाखड को दूर किया। इस प्रकार मानसिक बल में आहत होकर जब कर्ण अर्जुन से युद्ध में पुन प्रवृत्त हुआ, तो श्रीकृष्ण की अनुमति से अर्जुन ने महान् ब्रह्मास्त्र से अभिमत्रित 'अजलिक' नाम का बाण चलाकर सूर्यपुत्र कर्ण का शिर काट डाला।[3]

"द्रोणाचार्य जब तक शस्त्र धारण किये हैं, तब तक उन्हें कोई नही जीत सकता। जब वे शस्त्र रख दें, तभी मारे जा सकते हैं। अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का संवाद किसी विश्वसनीय व्यक्ति से सुनकर ही वे अस्त्र रख सकते हैं।"—आचार्य द्रोण की मृत्यु का यह उपाय भी श्रीकृष्ण ने ही बतलाया था।[4]

दुर्योधन का अंत भी श्रीकृष्ण ने माया (छल) द्वारा कराया, क्योंकि धर्मयुद्ध में भीम दुर्योधन को अपनी गदा द्वारा पराजित नही कर सकता था। अत मायावी दुर्योधन माया द्वारा ही निहत हो सका।[5]

इन सब बातो पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि पाडवों का पराक्रम, श्रीकृष्ण की बुद्धि से सयुक्त होकर ही कौरव-पक्ष के महान् वीरो को समाप्त करने में समर्थ हुआ।

वास्तव में पाडवो की विजय के मूल में श्रीकृष्ण ही थे। महाभारतकार कहता है—

[1] भीष्मपर्व ५९।८८-९५। २. भीष्मपर्व ५९।१००-१०१। ३. कर्णपर्व ९०।१०८-११६ तथा ९१।१ से १२ और ५०। ४. द्रोणपर्व १४६।६४-१२२। ५. शल्यपर्व ७९।७,८

उपद्रव उत्पन्न नही कर पाती) उसी को शांति प्राप्त होती है, कामनाओं के पीछे भागनेवाले को नही।"

"जो व्यक्ति समस्त कामनाओं को छोडकर नि स्पृह होकर विचरता है, ममत्व और अहंकार से रहित हो जाता है, वही शांति प्राप्त करता है।"

ज्ञानयोग

"सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सतरिष्यसि ॥
ज्ञानाग्नि. सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥"

—गीता ४।३६, ३७'३८, ३६

"ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नही है। ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान की नौका पर चढकर मानव पाप के समुद्र को पार कर जाता है। ज्ञान से परम शांति शीघ्र ही प्राप्त होती है।"

कर्मयोग

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
नियतं कुरु कर्म त्व कर्म ज्यायो ह्यकर्मण. ।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण. ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधन. ।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंग. समाचर ॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेय. परधर्मो भयावह. ॥"

—गीता २।४७, ३।८, ६, ३५

"करणीय कर्म के करने में ही मानव का अधिकार है, उसकी फल-प्राप्ति में नही। अत न तो कर्मफल को कर्म करने का प्रेरक हेतु बनाओ और न अकर्म करो। अपने लिये नियत कर्म को करो। कर्म अकर्म से श्रेष्ठ है। यज्ञ अथवा परोपकार के लिये किये गये कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म बंधन का कारण है। अत आसक्ति छोडकर कर्म करना चाहिये। अपना गुणरहित कर्तव्य दूसरे के भली-भाँति संपादित कर्तव्य की अपेक्षा श्रेयस्कर है। अपने लिये निश्चित कर्तव्य का पालन करते हुए मर जाना अच्छा है, पर दूसरे के लिये नियत किये हुए कर्म को कभी ग्रहण न करना चाहिए।"

भक्ति-योग

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंतिते ॥
ओमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
य. प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥
सततं कीर्तयंतो मा यतंतश्च दृढव्रता ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जना. पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥"

—गीता ७।१४, ८।१३, ९।१४, २२

"मेरी दैवी गुणमयी माया अनुल्लघनीय है, परतु जो मेरी शरण आ जाते है, वे इस माया से पार हो जाते हैं। ओ३म् अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर को छोडता है, वह परम गति को प्राप्त करता है। लगातार मेरे नाम को जपता हुआ, दृढ-व्रती बनकर मेरी सेवा करता हुआ और भक्तिपूर्वक मुझे प्रणाम करता हुआ जो व्यक्ति नित्य भक्ति-योग में निरत रहता है, वही मेरा सामीप्य प्राप्त करता है। अनन्य रूप से मेरा ही चिंतन करते हुए जो भक्त उपासना करते है, उनके योग क्षेम को मै ही वहन करता हूँ।

इसी सबध में १२ वें अध्याय के २, ८ तथा १३से लेकर २० तक के श्लोक ध्यान देने योग्य है।

अध्याय १३ में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेचन, अध्याय १४ में सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की व्याख्या, अध्याय १५ में क्षर और अक्षर पुरुष का ज्ञान, अध्याय १६ में दैवी और आसुरी सपत् का वर्णन, अध्याय १७ में श्रद्धा, यज्ञ, दान, तप आदि का त्रिविध विभाजन और अध्याय १८ में सन्यास से कर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। गीता समस्त औपनिषद्-ज्ञान का सार कहलाती है। श्रीकृष्ण द्वारा दिये गये ज्ञान से अर्जुन प्रबुद्ध हो उठा। उसका मोह नष्ट हो गया और वह युद्ध में प्रवृत्त हुआ।

भीष्मपर्व से मौसलपर्व तक

इस युद्ध में भीष्म, जयद्रथ, कर्ण, द्रोण और दुर्योधन की मत्यु श्रीकृष्ण की नीतिमत्ता के कारण ही सभव हो सकी। महापराक्रमी भीष्म को मारने के लिये तो श्रीकृष्ण अत्यत तीक्ष्ण चक्र सुदर्शन को लेकर और रथ को छोडकर स्वय आगे बढ गये थे।[1] उनके उस समय के क्रोधावेग को रोकने में अर्जुन भी असमर्थ प्राय हो गया था। जैसे आँधी में वृक्ष उडा चला जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण रोकनेवाले अर्जुन को अपने साथ लिये हुए वेगपूर्वक बढे चले जा रहे थे। बडी कठिनाई से अपने पैरो को अडाकर अर्जुन ने दसवें कदम पर उन्हें रोक पाया।[2]

जयद्रथ-वध श्रीकृष्ण की योगजन्य माया और चातुर्य का ही परिणाम था। कर्ण के रथ के पहिये जब कीचड में धस गये और वह उनको निकालने के लिये रथ से नीचे कूद पडा, तो श्रीकृष्ण अर्जुन को बाण चलाने के लिये प्रेरित करते रहे। कर्ण ने धर्म की दुहाई दी, तो श्रीकृष्ण ने ही उसे आडे हाथो लिया और उसके धार्मिक पाखड को दूर किया। इस प्रकार मानसिक बल में आहत होकर जब कर्ण अर्जुन से युद्ध में पुन प्रवृत्त हुआ, तो श्रीकृष्ण की अनुमति से अर्जुन ने महान् ब्रह्मास्त्र से अभिमन्त्रित 'अजलिक' नाम का बाण चलाकर सूर्यपुत्र कर्ण का शिर काट डाला।[3]

"द्रोणाचार्य जब तक शस्त्र धारण किये हैं, तब तक उन्हें कोई नही जीत सकता। जब वे शस्त्र रख दें, तभी मारे जा सकते हैं। अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का सवाद किसी विश्वसनीय व्यक्ति से सुनकर ही वे अस्त्र रख सकते हैं।"—आचार्य द्रोण की मृत्यु का यह उपाय भी श्रीकृष्ण ने ही बतलाया था।[4]

दुर्योधन का अत भी श्री कृष्ण ने माया (छल) द्वारा कराया, क्योकि धर्मयुद्ध में भीम दुर्योधन को अपनी गदा द्वारा पराजित नही कर सकता था। अत मायावी दुर्योधन माया द्वारा ही निहत हो सका।[5]

इन सब बातो पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि पाडवो का पराक्रम, श्रीकृष्ण की बुद्धि से सयुक्त होकर ही कौरव-पक्ष के महान् वीरो को समाप्त करने में समर्थ हुआ।

वास्तव में पाडवो की विजय के मूल में श्रीकृष्ण ही थे। महाभारतकार कहता है—

[1]. भीष्मपर्व ५९।८८-९५। [2]. भीष्मपर्व ५९।१००-१०१। [3]. कर्णपर्व ९०।१०८-११६ तथा ९१।१ से १२ और ५०। [4]. द्रोणपर्व १४६।६४-१२२। [5]. शल्यपर्व ७८।७,८

कृष्णो हि मूलं पांडूनां पार्थः स्कंध इवोद्गत· ।
शाखा इवेतरे पार्थाः पांचालाः पत्र संज्ञितः ॥

—द्रोणपर्व १८२-२३

"जैसे किसी वृक्ष का मूल उसका समस्त बोझ वहन करता है, उसका एक मात्र आश्रय होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण पाडवो की विजय रूप वृक्ष के मूल थे। अर्जुन इस वृक्ष का स्कंध (तना) था। अन्य पाडव शाखा और पाचाल पत्तो के समान थे।" श्रीकृष्ण की नीतिमत्ता और अर्जुन के गाडीव ने मिलकर समस्त अनार्य प्रवृत्तिवालो को समाप्त किया और आर्यत्व की प्रतिष्ठा की। कौरवो-की पराजय और पाडवों की विजय में इन दोनो शक्तियो का ही विशेष हाथ था।

समरभूमि में श्रीकृष्ण ने अर्जुन तथा अन्य पाडवो की भी कई बार रक्षा की। जब प्राग्ज्योतिष के राजा भगदत्त ने अर्जुन के वाणो से पीडित होकर वैष्णवास्त्र उठाया और उससे अपने अकुश को अभिमत्रित करके अर्जुन की छाती पर दे मारा, तो श्रीकृष्ण ने ही अर्जुन को अपने पीछे करके उसे स्वय अपनी छाती पर ग्रहण कर लिया था, अन्यथा इस अकुश से अर्जुन का प्राणात होने में कोई सदेह नही था।[१]

अर्जुन के वाणो का निराकरण करनेमें अशक्त होकर जब क्षत-विक्षत कर्ण ने अपना समस्त पौरुष एकत्रित करके सर्प के समान प्रज्ज्वलित, अत्यत तीक्ष्ण एक शत्रुनाशक वाण धनुष पर चढाया जिसे उसने अर्जुन को मारने के लिये सुरक्षित रख छोडा था, उस समय श्रीकृष्ण ने उस प्रदीप्त वाण को अर्जुन की ओर वेग से आते हुए देखकर बडी शीघ्रता से अश्वो को अपने पैरो से दबाकर घुटनोंके बल बैठा दिया। इस क्रिया-कौशल से रथ का बहुत सा भाग पृथ्वी में दब गया। रथ के नीचे झुक जाने से वह वाण अर्जुन के इद्र प्रदत्त किरीट को ही बीध सका।[२] इस प्रकार कर्ण का छोडा हुआ वह वाण श्रीकृष्ण के कौशल के कारण व्यर्थ हो गया। अर्जुन बाल-बाल बच गये।

कर्ण को जो अमोघ शक्ति इद्र ने दी थी उसे भी श्रीकृष्ण की नीति ने ही घटोत्कच पर चलवाकर अर्जुन के प्राण बचा लिये थे।[३]

युद्ध की समाप्ति पर, प्रथम दिन की रात्रि के समय श्रीकृष्ण ने समस्त पाडव-दल को शिविरो के बाहर रहने का आदेश दिया था और सब ने सरस्वती नदी के तट पर रात्रि व्यतीत की थी।[४] इस नीति ने भी पाडवो की रक्षा की।

जब पाडव, युद्धके अत में, धृतराष्ट्र से मिलने गये, तो धृतराष्ट्र ने भीम से मिलने की इच्छा प्रगट की। श्रीकृष्ण उनकी पुत्र-शोक से धधकती हुई कोपाग्नि को समझ गये और उन्होने भीम की लौह-मूर्ति धृतराष्ट्र के सामने प्रस्तुत कर दी, जो उनकी भीषण बाहुओ में पडकर चकनाचूर हो गयी।[५] इस प्रकार श्रीकृष्ण ने भीम को मृत्यु के मुख में से निकाल लिया।

जब युधिष्ठिर वैराग्य के हिंडोले में झूलते हुए राज्य करनसे इनकार करने लगे, तो श्रीकृष्ण ने ही उनका शोक-शमन किया और निष्काम होकर प्रजा का अनुरजन करते हुए कल्याण मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया।[६]

अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनो सखा कहलाते हैं। महासमर के पूर्व जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण और उनकी सेना में से अपने लिये केवल श्रीकृष्ण को ही चुना, तो श्रीकृष्ण ने इसका कारण पूछा। अर्जुन बोले—

[१]. द्रोणपर्व २९।१८। [२]. कर्णपर्व ९०।२७,२९,३२। [३]. द्रोणपर्व १७९।५७। [४]. शल्यपर्व ६२।३७,३९। [५]. स्त्रीपर्व १२।१५,१६,१७। [६]. आश्वमेधिकपर्व २।१,८

"भवांस्तु कीर्तिमांल्लोके तद्यशस्त्वां गमिष्यति ।
यशसां चाहमाप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः ।।"
—उद्योगपर्व ७।३६

"आपकी कीर्ति ससार में फैली हुई है। आपके हमारी ओर हो जाने से वह यश भी हमारी ओर आ जायगा। इसी हेतु मैंने आपको चुना है।" इससे प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण अपने सद्गुणो के कारण उस समय विश्व विख्यात हो रहे थे। विश्व-ख्याति का ऐसा महापुरुष जिसके साथ होगा, उसकी कीर्ति निस्सदेह दिग्दिगत व्यापिनी होगी। अर्जुन के सबध में यही हुआ भी। उसका नाम आज तक श्रीकृष्ण के साथ लिया जाता है। महाभारत (भगवद्गीता) में लिखा है—

"यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धर. ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिमम ।।"
—भीष्मपर्व ४२।७८

"जहाँ योगेश्वर कृष्ण और गाडीवधारी अर्जुन है, वही श्री है, वैभव है और विजय है।"

श्रीकृष्ण के ऐसे लोकोत्तर, पावन चरित्र पर कतिपय छिद्रान्वेषियो ने अनेक लाछन लगाये है। उन्हें व्यभिचारी, असत्यभाषी आदि कहकर अपमानित करने की चेष्टा की है पर, यह सब अनर्गल प्रलाप है। वे वास्तवमें उच्च कोटि के उज्ज्वल तथा तेजस्वी-चरित्रवाले थे और शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक तीनो दृष्टियो से अत्यत विकसित उदात्त कोटि के मानव रूप में साक्षात् ईश्वर थे।[१] महाभारत के अनेक स्थलो पर उन्हें बलिष्ठ शरीर वाले योद्धा, नीति-निपुण राजदूत, अत्यत दक्ष सारथी, समर विद्या में पारगत, वेदो के विद्वान्, योगाचार्य, सत्यवादी, इद्रियजयी और अत्यत विनय सपन्न महापुरुष कहा गया है। परीक्षित को जीवित करने के समय उनके मुख से जो वाक्य निकले हैं, वे उनके जीवन की समस्त साधना को नितात स्पष्ट कर देते हैं। वे कहते है—

"नोक्तं पूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात्परावृत्तः तथा संजीवतामयम् ।।
यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ।।
यथा सत्यंच धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ।।
यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालो हि पुनः संजीवतामयम् ।।
इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ !
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पदत सचेतन. ।।"
—आश्वमेधिकपर्व ६९।१९, २०, २२, २३, २४

"मैंने खेलकूद में भी कभी मिथ्याभाषण नही किया है और युद्ध में कभी पीठ नही दिखायी है। मेरे इस पुण्य के प्रभाव से अभिमन्यु का यह बालक जीवित हो उठे। यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष रूप से प्रिय है, यदि सत्य और धर्म मुझ में सदैव प्रतिष्ठित रहे है, यदि कस और केशी

[१]. द्रोणपर्व अध्याय ११ में धृतराष्ट्र ने संजय से श्रीकृष्ण के बल-पराक्रम का वर्णन किया है, जिसमें उनके बाल्यावस्था में ही अश्वराज, वृषभासुर, प्रलंब, नरकासुर, कंस आदि के मारने का उल्लेख है।

भीष्मपर्व में अध्याय ६५ से ६७ तक विश्वोपाख्यान है, जिसमें श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक-विकास का चित्रण ईश्वर के रूप में किया गया है।

धर्म पूर्वक हमारे हाथ से मारे गये है, तो उस सत्य और धर्म के प्रभाव से यह बालक जीवित हो उठे। वासुदेव के ऐसा कहने पर बालक धीरे-धीरे साँस लेने लगा।"

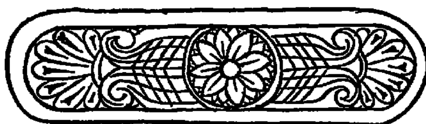
यदि वाणी में सत्य का बल है, तो वह निस्सदेह फलवती होती है। श्रीकृष्ण के वचन सफल हुए और परीक्षित के निर्जीव मासपिंड में चेतना का सचार हो उठा। जीवन-सचार का यह प्रभाव श्रीकृष्ण के निर्मल चरित्र और उज्ज्वल आध्यात्मिक शक्ति का ही परिणाम था।

श्रीकृष्ण का जो चरित्र आशा और उल्लास का प्रतीक है, जिसने एक बार समस्त विश्व को अपने यश सौरभ से व्याप्त एव प्रभावित किया था, जो सात्वत धर्म का प्रतिष्ठाता तथा अनासक्ति योग का आचार्य था, उस जीवन का पटाक्षेप जिन करुण स्मृतियो के बीच हुआ, उन्हें अनुभव करके मानव-हृदय कराह कर चीख उठता है। जिस महाप्राण ने महाभारतीय समर में पाडवो को विजय दिलायी, वह दैवाधीन हो अपने ही यादव-वश को विनाश की कराल दाढो में जाने से न बचा सका। उसकी आँखो के ही सामने उसके पुत्र-पौत्रादि, पारिवारिक बधु-बाधवादि पारस्परिक सघर्ष की अग्नि में पडकर भस्मीभूत हो गये। अधिकाश उन्हींके हाथो से मारे गये। अत में वे स्वय भी एक बहेलिये के बाण से आहत होकर अपने लीला-धाम में प्रविष्ट हुए।[1] उनके पश्चात् अर्जुन जैसे धनुर्धर के रहते हुए भी यदुकुल की स्त्रियो की जो दुर्दशा हुई[2] उसे पढकर मानव का हृदय विचलित हो उठता है। तो क्या भारत ग्रीक-ग्रथो जैसा विषादात काव्य है?

महाभारत में सब कुछ है, यह सत्य है, पर उसके पढने से गृह-युद्ध की जो विभीषिका खडी हो जाती है, आत्म सहार का जो बीभत्स चित्र उपस्थित हो जाता है, वह हृदय-गगन को भेदकर निकली हुई हाहाकार की करुण ध्वनि से इस व्योमविवर को आप्लुत भी कर देता है। जो यथार्थ है, इतिहास (ऐसा ही निश्चय हुआ) है, उससे मानव अपनी आँखें कैसे मूँद सकता है?

महाभारत की कथा और श्रीकृष्ण का चरित्र हमारे सामने जीवन का कठोर सत्य उपस्थित करते है। जीवन का यह यथार्थवाद रामायण के आदर्शवाद से नीचे ही सही, पर वह हमारी आँखें खोलने के लिये पर्याप्त सामग्री रखता है। आदर्शवाद हमारी आँखो को ऊपर ले जाता है, पर प्रत्यक्ष-वाद उन्हें सामने, पीछे और अगल-बगल देखने के लिये विवश कर देता है।

[1]. मौसलपर्व, अध्याय ४।
[2]. मौसलपर्व, अध्याय ७।



गीता-ज्ञान

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

गीता-ज्ञान मनुष्य के लिये है। मनुष्य के जीवन की समस्याओ को सुलझाने की सामग्री गीता में है, यही इसके नित्य-मूल्य का कारण है। आज भी वह जीवन के निकट की वस्तु है, इसीलिये उसमें रस है। जीवन से परे किसी अनजाने स्वर्ग की टोह में गीताकार ने अपना प्रयत्न नही किया। नित्य प्रति जीवन में जो समस्याओ का जमघट है—जिसे सघर्ष कहा जाता है, उसे वुद्धि की सहायता से सुलझा कर निर्मल मन और स्पष्ट कर्म के द्वारा जीवन-यात्रा में अग्रसर होना इसी लक्ष्य के साथ गीताकार बार-बार हर सिद्धात का सूत्र मिलाते है। यही उनका अविचल केंद्र है, जिस पर व्यक्ति को खडा करके वे विश्व के साथ समता प्राप्त कराना चाहते है। यह दृष्टिकोण मानवी-बुद्धि को ग्राह्य है। हम में से प्रत्येक व्यक्ति इसे अपने लिये अपना कर उसके साथ तन्मय हो सकता है। गीता न केवल योगी के लिये है, न ससार छोडकर वैराग्य-साधनेवालो के लिये है, न कर्मकाड में रुचि रखनेवालो के लिये है और न नाम जपनेवाले भक्तो के लिये है, वह इन सब के लिये एव इनसे भी अधिक उन सब मानवो के लिये है जो जीवन के मार्ग पर कही न कही चल रहे है। उनमें से हरएक के जीवन की समस्या तय करने के लिये प्रकृति के दिये हुए साधनो में हमारे पास मन, शरीर, इद्रियाँ और बुद्धि है। इनसे ठीक प्रकार काम लेकर मनुष्य अपनी मानवोचित महिमा को प्राप्त करता है और जीवन में कठिनाइयो पर विजय पाता है। यह प्रश्न लगभग वैज्ञानिक स्वरूप रखता है और गीता उसके समाधान का वैज्ञानिक कर्म शास्त्र है।

गीताकार का दृष्टिकोण स्पष्ट, निश्चित और सरल ढग से व्यक्त किया गया है, उसमें काव्य का सौंदर्य है। मानवी जीवन में भी एक छिपा हुआ सौदर्य है जिसे प्रकट करना जीवन की कला है। गीताकार ने इस साहित्यिक शैली को भली प्रकार समझा था, अतएव उन्होने 'यह करो, यह न करो' के उपदेशो की लडी गूँथने के बजाय जीवन की सरलता से भरा हुआ काव्य ही प्रस्तुत कर दिया है। गीता को प्राचीन परिभाषा में 'अमृत-तुल्य दूध' कहा गया है। यह दूध ज्ञान की उन बडी-बडी वेदोपनिषद् रूपी गौओ से दुहा गया था, जिन्होंने सैकडो वर्षो तक भारतीय ज्ञान-कातार में स्वच्छद विचरण और पोषण प्राप्त किया था। इस देश में जो तत्व-चितन हुआ वह वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन आदि ग्रथो में और लोक के मन में भरा हुआ था। उसके एकत्र स्पष्ट कथन की आवश्यकता थी, जिससे यह ज्ञात हो सके कि परिभाषाओ के घटाटोप के मूल में सच्चा अर्थ क्या है। गीता इस प्रकार के स्पष्ट-निश्चित कथन का सर्वोत्तम रूप है। जहाँ तक पूर्ववर्ती साहित्य का सबध है गीता का दृष्टिकोण समन्वय-प्रधान है। दार्शनिक उखाड-पछाड में गीताकार को कोई रुचि नही है। उनकी एक ही दृष्टि है—वे ज्ञान को व्यवहार के निकटतम लाकर उसे सरस और जीवन के लिये अधिक उपयोगी बनाना चाहते है, उस सब की कुजी मन है, जो मन अपने आप से जूझ रहा है, उसकी शक्ति बिखरी हुई है, वह अशात है, वह समाधान नही—एक समस्या है। अतएव गीता की दृष्टि में पहली आवश्यकता मन में पडी हुई गाँठो को सुलझाना है। प्रत्येक व्यक्ति पहले अपने मन का सस्कार करे—स्वय अपना मित्र बने, तब वह दूसरो के लिये उपयोगी बन सकता है।

हर एक व्यक्ति को प्रकृति ने इद्रियाँ, शरीर और मन ये साधन प्रदान किए है। इद्रियों के विषय में कृष्ण का दृष्टिकोण एक शब्द में यह है कि उन्हें 'युक्त' बनाना चाहिए, अर्थात् उचित

मध्यम वृत्ति के अनुसार चलाना चाहिए। न तो त्रिकाल सयम का कनटोप चढाने से इद्रियाँ वश में आती है और न एक दम ढील छोड देने से ही। बुद्ध ने भी यह अनुभव किया था। ठीक आहार, ठीक विहार, ठीक सोना, ठीक जागना, कामो में ठीक प्रवृत्ति—इस मार्ग से मनुष्य इद्रियो और विषयो के बीच की कशमकश को बहुत अशो में सुलझा कर मन-बुद्धि के तनाव को कम कर सकता है।

शरीर के विषय में कृष्ण का मत है कि शरीर एक क्षेत्र है, इस क्षेत्र का जो पेचीदा ठाठ है उसे ठीक तरह से पहिचानना, यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। जो इस क्षेत्र को अच्छी तरह जानता है उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहा है। अत करण का साक्षी अपना आत्मा प्रत्येक क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है। जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के पारस्परिक सबध, बलाबल और महत्त्व को जान लेता है और व्यवहार में उससे काम लेता है, वही सच्चा क्षेत्रज्ञ है। शरीर की 'क्षेत्र-सज्ञा' पुरानी वैदिक परिभाषा थी। कहा है—

"अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्ट.।"

—ऋग्वेद, १०।३२।७

"जो क्षेत्र को नही जानता वह जाननेवाले से पूछता है और उसकी सीख के अनुसार काम करता है।"

बुद्ध ने भी आध्यात्मिक अर्थो के लिये खेत, खेती और किसान के रूपक को स्वीकार करके कई तरह से उसे पल्लवित किया था, किंतु कृष्ण का जो सबसे महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है वह मन से संबध रखता है। मन को ठीक करने के लिये उन्होने जो युक्तियुक्त दृष्टिकोण बताया है, वही गीता-ज्ञान का जगमगाता हुआ हीरा है। मन सबसे मूल्यवान् तत्त्व है, मन सबके भीतर बैठा हुआ अपूर्व यक्ष है। मन को मित्र बनाने से काम चल सकता है। यदि मन के नाम बाकी निकलती रही तो हलके होकर जीवन-यात्रा करना कठिन है। बुद्ध ने भी सब कर्मों के मूल में मन को ही श्रेष्ठ कहा है—

"मनो पुब्बंगमा धंमा मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततोन दुक्खमन्वेति चक्क व वहतो पदम्॥"

—धम्मपद

"सब धर्म या अवस्थाएँ पहले मन में उत्पन्न होती है, उनमें मन ही मुख्य है, वे मनोमय है। यदि हम दुष्ट मन से बोलते या काम करते है तो दुख पीछे-पीछे चलता है, जैसे बैल के पीछे—पहिया।"

मन की ठीक स्थिति प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिए? इस विषय में श्रीकृष्ण का अभिमत सक्षेप में यह है कि मन इच्छाओ की भूमि है, कोई ही मन ऐसा होगा जो कामनाओ का लीला-क्षेत्र न हो। कामनाओ को लेकर हम जब कर्म में प्रवृत्त होते है तो मन पर एक बोझ रहता है। वैज्ञानिक शब्दो में कहें तो कह सकते है कि कामना से भरा हुआ मन तनाव की स्थिति में हो जाता है। यह तनाव हटाना आवश्यक है। तनाव के कारण मन की धारा कुटिल हो जाती है। तनाव मन की—'ऋजुगति' को डावाँडोल कर देता है, या दायें-बाये झुका देता है। मन को ऐसी तनाव की स्थिति से बचाना आवश्यक है, तभी हम कर्म को परिशुद्ध बना सकते है, नही तो कर्म पर स्वार्थ की छाया पड जाती है और कर्म बहका हुआ हो जाता है। यह तनाव की स्थिति किस कारण से उत्पन्न होती है, इसका उत्तर यह है कि कर्म करते समय मन जब फल पर जाकर अटकता है, तब कर्म परिशुद्ध नही रह जाता। कर्म करने की इच्छा या कामना होना बुरा नही, वह तो स्वाभाविक और आवश्यक है, किंतु कर्म-क्षेत्र से बाहर जाकर जब हम उसके फल की लालसा मन में ले आते है, तब मन पर बोझ पड जाता है और भय, शंका, लोभ, स्वार्थ आदि वृत्तियाँ हमारे समस्त व्यक्तित्व को तनाव से भर देती है। फल के लिये लोलुप न होना यही कर्म करने का सच्चा ढंग है, इसी

का नाम 'निष्काम कर्म' है। कर्म का त्याग करना कर्म-सन्यास नही, कर्म के फल की आशा से ऊपर उठ कर कर्म करना यही कर्म-सन्यास है और यही सच्चा कर्म-योग है। कोई कर्म शुरू ही न करे तो क्या वह इतने से ही बडा निष्कर्मी बन जायेगा ?

"न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।"

—गीता ३।४

कोई क्षण भर भी तो बिना कर्म के रह नही सकता। जनक आदि राजर्षियो की लबी परपरा में जिन्हें हम आदर्श मानते हैं, सभी ने तो कर्म किया, फिर कर्म से झिझक क्यो ? इत्यादि अनेक काव्यमय प्रश्न पूछकर हर एक पहलू से श्रीकृष्ण ने मूल प्रश्न को झकझोरा है। जीवन है तो कर्म भी साथ जुडा है। कर्म-त्यागा जाय तो यह लोक ही ठप हो जाय। इससे ज्ञात होता है कि कर्म तो शरीरधारी को करना ही पडेगा। जब कर्म के बिना छुटकारा नही तो बुद्धि-पूर्वक उसका महत्त्व और उसकी युक्ति का निर्णय किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से गीता ससार के समस्त धार्मिक ग्रथो में अकेली है, वह कर्म का शास्त्र है। प्राचीन या अर्वाचीन, चाहे जिस कसौटी से कसें, कर्म की आवश्यकता माननी पडती है, फिर उसके करने का युक्तियुक्त ढग जानना भी जीवन का आवश्यक और अनिवार्य प्रश्न बन जाता है। गीता इस प्रश्न का उत्तर है।

कर्म अनत है। एक समय ऐसा था जब यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म मानते थे। अशोक ने धर्मानुशासन को श्रेष्ठ कर्म कहा—

"एस हि सेस्टे कमे य धंमानुसासनम् ।"

कर्म के प्रकार युगधर्म के अनुसार परिवर्तनशील है। देश, काल और व्यक्ति के अनुसार कर्म अनेक प्रकार के हो सकते है और रहेंगे, किंतु उन सब की सामान्य विशेषता है, फल की आशा के साथ करनेवाले का सबध। फल का महत्त्व कर्ता की दृष्टि में जहाँ बडा वही कर्म के शुद्ध रूप को ग्रहण लग जाता है। इस दृष्टि से कृष्ण के निष्काम कर्मयोग का जीवन के लिये बहुत मूल्य है।

प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य के लिये इस प्रकार का निष्काम कर्म सभव है ? जैसा हमने आरभ में ही कहा है—'गीताज्ञान मनुष्य के लिये है'। अतएव इस प्रश्न का सच्चा उत्तर यही है कि कर्म करते हुए भी कर्म के तनाव और बोझ से बचने के लिये गीताकार ने जो निष्काम कर्म या कर्म-फल में लिप्त न होने की युक्ति बताई है वह भी मनुष्य के लिये सभव है। सब उसे प्राप्त कर सकते है। वस्तुत जीवन में जो कर्म उज्ज्वल है, जो कर्म गुणवान् है, जो कर्म भव्य है, वे इसी ऊँचे धरातल से किये जाते है। कर्मी का सौरभ उनके निष्काम गुण की मात्रा पर ही निर्भर है।

दूसरा प्रश्न यह है कि जब कर्म निष्काम धर्म बन जाता है, जब कर्म बिना फल की आशा के किया जाता है, तब समाज और विश्व के सस्थान के साथ मनुष्य की क्या स्थिति होती है ? किस कारण से ऐसे व्यक्ति के कर्म में बडप्पन आ जाता है ? इस प्रश्न का जो उत्तर गीता में दिया गया है, वह गीताज्ञान का खिला हुआ पुष्प है। गीता में कई प्रकार की और काव्यात्मक शैली से इसे समझाया गया है। जब मनुष्य फल की इच्छा से ऊपर उठ कर अपने आपको तनाव से मुक्त कर लेता है तो वह प्रकृति के ही विराट् सस्थान का अग बन जाता है। प्रकृति मनुष्य से बलवान् है, वह जगत् की प्रेरक शक्ति है, सुख-दु ख, शांति-क्षोभ, प्रकृति ही इनकी नियामक है। प्रकृति की स्थिति 'ब्राह्मी स्थिति' है, राग और द्वेष, हानि और लाभ, लोभ और त्याग के प्रभावो से प्रकृति ऊपर है। मनुष्य को भी उसी ब्राह्मी स्थिति के आदर्श के अनुसार अपने आपको ढालना होगा। भारी दु ख हो या सुख हो—दोनो अवस्थाओ में जो समता रख सकता है, वह ब्राह्मी स्थिति के निकट है, उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहते है।

स्थितप्रज्ञ ही गीताकार का आदर्श व्यक्ति है। ऐसे व्यक्ति हर-एक युग के लिये उपयोगी और आवश्यक है। प्रत्येक समाज और जन-समुदाय उन्हें चाहता है। जिस क्षेत्र में ऐसा व्यक्ति काम

करता है उसे ही उलझनो से रहित बनाता है। प्रत्येक सस्कृति, धर्म और दर्शन में युग-युग से जिस प्रकार के आदर्श पुरुप की कल्पना की गई है, उस तरह का आदर्श गीता के स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के गुणो में बहुत कुछ चरितार्थ हुआ है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति मानवमात्र के नैतिक आदर्श की पूर्ति है। हमारे अपने युग में गीता की जो प्रधान व्याख्याएँ हुई है, उनमें लोकमान्य तिलक ने तो निष्काम-कर्मयोग को गीता के मथित अर्थ के रूप में समझाने का प्रयत्न किया था एव महात्मा गाँधी ने स्थित-प्रज्ञ के रूप में गीता के साराश को समझाने का प्रयत्न किया। दोनो ही अर्थ गीताकार को मान्य है और वे एक दूसरे के पूरक है। लोक के लिये गीता का उपयोग है। गीताकार की दृष्टि में लोक का बहुत महत्त्व है। वेदव्यास के शब्दो में श्रीकृष्ण को—'लोकविधानवित्' कहा जाय तो ठीक होगा। लोक के विषय में श्रीकृष्ण का बहुत ही सुलझा हुआ और नवीन युग का-सा दृष्टिकोण है—

"लोक-व्यवहार के लिये कर्म करना आवश्यक है, मै स्वय इसी दृष्टि से कर्म करता हूँ। कर्म से भाग कर, जीवन के कर्त्तव्यो से मुँह मोड कर, अपनी परिस्थितियो से अलग शाति ढूँढना निरर्थक है। वैसी शाति यहाँ है ही नही, वह मृगमरीचिका है।" सघर्ष में कर्तव्य-पालन से जो समस्थिति मिलेगी वह सच्ची शाति की स्थिति होगी। हम यह मानते है कि लोक में सभी कुछ अच्छा नही, यहाँ गुण है तो दोष भी है। हमें लोक के प्रति सहिष्णु बनना होगा। यदि यहाँ सब कुछ हमारी इच्छा के अनुकूल नही तो खीझ कर लोक का परित्याग करना अनुचित है। वस्तुत जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा है—

"जड-चेतन गुन-दोष-मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हस-गुन गहहिं पय, परिहरि बारि-बिकार ॥"

—रामचरितमानस

कृष्ण ने जगत् के सबध में वैदिक दृष्टिकोण को ही जो पुराना दार्शनिक मत था, स्वीकार किया है—यह ससार त्रिगुणात्मक है। सत्व, रज और तम इन तीन गुणो से इसका प्रत्येक अश नियमित है। सत्-असत् के मेल से विश्व बना है। जगत् की रचना के भीतर ही उसकी त्रिगुणमयी विषमता का ज्ञान भी हमें होता है। ससार की इस प्रकार सरल सुबोध व्याख्या साख्य-शास्त्र की पुरानी विशेषता थी। वस्तुत साख्य शब्द गिनती परक सख्या शब्द से न होकर ज्ञान-परक सख्या शब्द से बना था। त्रिगुणात्मक जगत् का ज्ञान ही सच्चा चक्षु है। चक्षु धातु के स्थान पर 'ख्या' आदेश करके सख्या और उससे 'साख्य' शब्द की सिद्धि ऐतिहासिक सत्य के अधिक निकट जान पडती है। महाभारत में साख्य ही प्रमुख दार्शनिक दृष्टिकोण है, किंतु साख्य की परपरा आरभ से ही भिक्षु-धर्म को साथ लेकर चली थी। इस कारण से यद्यपि साख्य के दार्शनिक दृष्टिकोण को गीता में स्वीकार किया गया, किंतु जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को गीताकार स्वीकार न कर सके। इस विषय में गीताकार ने एक नया और उच्चतर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और वह 'कर्मयोग' का मार्ग था। गीता में कई स्थानो पर कर्मयोग को केवल 'योग' ही कहा गया है—

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥"

—गीता ६।४६

इस श्लोक में चार तरह के मार्गों का उल्लेख है—

१ ज्ञान, अर्थात् साख्य, २ तप, अर्थात् उग्र शरीर-साधना, ३ कर्म, अर्थात् वैदिक कर्मकाड और ४. योग, अर्थात् कर्म-फल का सन्यास या निष्काम कर्म-योग।

ऐतिहासिक दृष्टि से हम जानते हैं कि पहले तीन मार्ग प्राचीन धार्मिक जगत् में प्रचलित थे। कठिन तपश्चर्या से सिद्धि प्राप्त करने के पीछे बुद्ध ने भी बहुत धक्के खाए थे। उस काल के इतिहास में बड़े-बड़े निर्मम तपश्चर्याओं का उल्लेख मिलता है। ज्ञानवादी भिक्षु या साख्य प्रसिद्ध ही है।

यज्ञो पर आश्रित वैदिक कर्मकाड के बारे में जहाँ एक ओर विस्तृत ब्राह्मण और श्रौत साहित्य उपलब्ध है वहाँ स्वय कृष्ण ने भोग, ऐश्वर्य और स्वर्ग के लिये किये जानेवाले कर्मकाडो का उल्लेख किया है। वैदिक वाणी की यही उस समय सजी हुई फुलवाडी (पुष्पितावाक्) थी। कृष्ण ने इन तीनो मार्गो से ऊपर निष्काम कर्मयोग को श्रेष्ठ कहा है, किंतु उनका मौलिक दृष्टिकोण समन्वय प्रधान था, दूसरे मत के केवल निराकरण में उनकी रुचि न थी। साख्य और वेद इन दोनो की आलोचना वे ऊँचे स्तर से करते है।

कृष्ण ने कहा कि साख्य के त्रिगुणात्मक दृष्टिकोण को और निष्काम कर्मयोग के दृष्टिकोण को जो पृथक् या विरोधी समझते है, उनका दृष्टिकोण बच्चो का है, बुद्धिमानो का नही। बाल-बुद्धि व्यक्ति को भेद में कुतूहल होता है, किंतु पडित भेद के मूल में छिपी हुई एकता को देखता है। मिथ्याचार या बाहरी ढोग को छोडकर उचित ढग से यदि साख्य और योग इन दो में से एक का भी पालन किया जाय तो दोनो का फल मिलता है—

"साख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पडिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।" —गीता ५।४

वेद के विषय में भी गीताकार ने स्थान-स्थान पर समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न किया है—

"वेदैश्च सर्वेरहमेव वेद्य. ।"

सब वेदो या अतर्यामी अर्थ या ईश्वर का ज्ञान कराना ही है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के पुरुष सूक्त में स्पष्ट एक ईश्वर के अनुभव का उल्लेख हुआ है—

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं सर्वं यच्चभाव्यम् ।"

भूत और भविष्य सब ईश्वर ही है। अथवा—

"वेदाहमेतं पुरुष महातमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।"

स्पष्ट रूप से वेदो के सारभूत अध्यात्म-पुरुष का वर्णन करता है। वेद के विषय में यह उच्चतर दृष्टिकोण 'यास्क' के समय में भी पल्लवित हो रहा था, वहाँ कहा गया है कि मत्रो के द्वारा एक आत्मा का ही गुणगान किया जाता है—

"एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।"

इद्र, अग्नि आदि सब उसी के नाम है। वैदिक यज्ञो के सबध में सजे हुए शब्दो की कृष्ण ने उपेक्षा की और यही उस युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि थी। उपनिषद् भी कह रहे थे—

"अदृढा ह्येते प्लवा यज्ञरूपाः ।"

जब कि गीताकार ब्रह्मज्ञान, ब्राह्मीस्थिति, स्थितप्रज्ञ अवस्था को सच्चा सार मानते है, निरुक्त और ब्राह्मण ग्रथो में हम पढते है—"जो अर्थ को नही मानता, केवल वेद के शब्द पर ध्यान देता है, वह भारवाही है।" उस समय भारतीय अध्यात्मज्ञान शब्दो के जिस दलदल में फँस रहा था, उससे कृष्ण ने उसे निकाला।

कृष्ण ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से जिन कई प्रश्नो का समाधान किया, उनमें देवताओ का प्रश्न भी एक था। बहु देवतावाद धर्म का लोकपक्ष है। लोक में अनेक देवताओ की पूजा और विश्वास प्रचलित है। लोक को उनमें भक्ति और प्रतीति होती है और सभवत आगे भी रहेगी। अनेक देवो में न एक अच्छा है, न दूसरा बूरा। वे सभी ईश्वर की विभूति है। यह विभूति शब्द पीछे से (पचरात्र सप्रदाय में) विविध अवतारो के लिये पारिभाषिक ही बन गया था। गीता का 'विभूति-योग' नामक दसवाँ अध्याय ठेठ लोक पर आश्रित है। भूत, प्रेत, यक्ष, नाग, वृक्ष, पीपल, पर्वत, नदी, समुद्र, मगर, मछली आदि जल के प्रतीक, सूर्य, चद्र, तारे इस प्रकार का एक बहुमुखी देवतावाद लोक-धर्म के रूप में फैला हुआ था जिसकी जडें भूमि के साथ सबधित थी। इस धर्म के अस्तित्व का सबसे अच्छा प्रमाण 'साँची' और 'भरहुत' के स्तभो पर अकित देवी-देवताओ में मिलता है, जिनमें कितने

ही यक्ष और नाग हैं। महाभारत के सभापर्व में यक्ष, नाग और नदी देवताओ की लवी सूचियाँ मिलती हैं। बौद्धो के 'आटानटीय सुत्तत' में भी कितने ही यक्षो के नाम आते है जिनकी लोक में मान्यता थी। 'महामायूरी ग्रथ' में भिन्न-भिन्न स्थानो के यक्षो की सूचियाँ है। भारतीय पुरातत्त्व में मणिभद्र, वैश्रवण आदि यक्ष, दधिकर्ण, एलापत्र आदि नाग, एव नदी, देवताओ की मूर्तियाँ मिली है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि लोक-जीवन की जो वास्तविक सच्चाई थी उसके तत्वो से गीता के दसवें अध्याय की रचना हुई, किंतु उसमें गीताकार का समन्वय-प्रधान दृष्टिकोण मुख्य है। वे कहते है कि इस बहुदेवतावाद के भीतर ईश्वर के विराट् स्वरूप का दर्शन हमें करना चाहिए। अनेक विभूतियो के रूप में ईश्वर ही इस लोक में व्याप्त हो रहा है। इस दृष्टि से गीता के दशम अध्याय का ऐतिहासिक महत्त्व बढ जाता है। वस्तुत इस दृष्टिकोण को स्वीकृत और विकसित करके भागवतो ने धार्मिक समन्वय की दिशा में इस देश में बडा कदम उठाया। धीरे-धीरे सभी सप्रदायो को यह मत मान लेना पडा। ऐतिहासिक कशमकश के भीतर से होता हुआ यह दृष्टिकोण धर्म के विषय में राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही बन गया।

गीता में जो जीवन के प्रति नीतिमत्ता और बुद्धिपूर्वक व्यवहार का दृष्टिकोण है, उसकी कुछ गूँज लोक-साहित्य में भी मिलती है। यह सर्व विदित है कि गीता का उपदेश कुरुक्षेत्र में हुआ। कुरुजन-पद की एक पुरानी कहानी 'कुरुधम-जातक' के नाम से पाली जातको के सग्रह में बची रह गई है।[१] उस कहानी का ठाठ कुछ अपूर्व है। उसमें राजा से लेकर रक तक लोक-जीवन के ११ प्रतिनिधि व्यक्ति लिये गये है। वे अपने केंद्र में रहते हुए कठिन और सूक्ष्म शीलधर्म पालने का आदर्श अपने सामने रखते है। उनका मुख्य दृष्टिकोण यह है कि शील या गुणो का बाह्य रूप में पालन अधिक महत्त्व का नही, मन का भाव विशुद्ध होना चाहिए। यदि मन का भाव बिगडा हुआ है तो धर्म या शील आडबरमात्र है। ये ११ व्यक्ति और इनके धर्म इस प्रकार है—

१.	राजा	अहिंसा
२	राजमाता	समत्व
३.	राजमहिषी	ब्रह्मचर्य
४.	उपराजा	स्वामिधर्म
५.	पुरोहित	अलोभ
६.	रज्जुग्राहक	परदु ख-निवृत्ति
७.	सारथी	पशुओं पर दयाभाव
८.	श्रेष्ठी	परद्रव्य के विषय में सूक्ष्म विवेक।
९.	द्रोणमापक-महामात्य	प्रजानुकंपा
१०.	द्वारपाल	निष्ठुरवाक् का परित्याग।
११.	वेश्या	कर्त्तव्य से उऋण होना।

यह जातक ११ कहानियो का सग्रह है जो सब समान दृष्टिकोण की परिचायक है। जातक की भूमिका में कहा गया है कि बुद्ध के जन्म से पहले ही पुराने पडितो ने स्त्री-सहित घर में रहते हुए अल्पमात्र भी शील के अतिक्रमण करने में हिचकिचाहट प्रकट की थी। यह भिक्षु-धर्म के मुकाबले में गृहस्थ-धर्म का आदर्श था जो 'कुरुजनपद' के साथ विशेष रूप से सबधित दिखाया गया है। इन दृष्टातो का मर्म समझने के लिये एक दृष्टांत पर्याप्त होगा।

"कलिंग के ब्राह्मण अपने देश में वर्षा न होने के कारण 'कुरुजनपद में' शील का आदर्श-ग्रहण करने के लिये भेजे गये। उन्होंने जनपद के श्रेष्ठी के पास पहुँच कर धर्म की याचना की।

१. जातक संग्रह भाग ३।

वह भी एक दिन जब धान की बाली निकल आई थी अपने धान के खेत में पहुँचा। देखकर उसने सोचा कि धान को बँधवाऊँगा और धान के पूजे बँधवाकर मणनी के खमे के पास रखवा दिए। तब उसे ध्यान आया कि इस खेत में से मुझे राजा का हिस्सा देना था, बिना लगान दिए गए खेत में से ही मैंने धान ले लिए। मैं कुरुधर्म का पालन करता हूँ, वह भग हो गया होगा। उसने यह बात सुन कर कहा—

हे ब्राह्मणो, इस कारण मेरे मन में कुरुधर्म के प्रति, सदेह है, इसलिये मैं उसे आपको सिखाने के योग्य नही हूँ। ब्राह्मणो ने कहा—'आपकी चोरी की नीयत नही थी, बिना नीयत के चोरी का दोष घोषित नही किया जा सकता। कुछ न करने पर भी जब आप इस प्रकार सदेह करते है, तब आप किसी की चीज कैसे ले सकते है? ब्राह्मणो ने उससे शील ग्रहण कर सोने की पट्टी पर लिख लिया।' इस जातक में कुरुधर्म के विषय में तीन बातें विशेष रूप से ज्ञात होती है। प्रथम यह कि कुरुधर्म सारे जनपद का धर्म था। राजा, ऋषि, मुनि, या केवल भिक्षुओ के लिये ही वह मार्ग न था। वेश्या, नौकर-चाकर, सेठ-मुनीम सभी इसका पालन कर सकते थे। यह गीता के—

"स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परांगतिम्।"

—गीता

के अति निकट है।

दूसरी बात यह है कि कुरुधर्म गृहस्थ-जीवन का धर्म था। घर में रहते हुए शीलधर्म पालन सबके लिये करना सभव है और प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य कर्म को ही इस धर्म के पालन का विषय बना सकता है।

तीसरी बात यह है कि कुरुधर्म का सबध स्वर्ग, नरक से न होकर सीधे-सादे नीतिप्रधान जीवन-मार्ग से था। ईमानदारी से भरा हुआ जीवन ही इसकी विशेषता है।

इस कुरुधर्म या गृहपतियो के आदर्श के लिये ही सभवत लोक में—'कुरुगार्हपत' यह सार्थक शब्द प्रचलित हो गया था, जिसका उल्लेख 'पाणिनि' ने (लगभग ५०० ई० पू०) अपनी अष्टाध्यायी में किया है। ज्ञात होता है कर्म योग का कुरुधर्म-आदर्श ही कुरुदेश में कहे जानेवाले गीताधर्म के रूप में प्रकट हुआ था। भिक्षुधर्म से पृथक् यह गृहस्थो का जीवनमार्ग था। एक लोक कहानी के रूप में गीता के दृष्टिकोण की यह प्रतिध्वनि कम आश्चर्य-कारक नही।

गीता भारतीय जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से सबधित रही है। हमारी उदयोन्मुखी राष्ट्रीयता के निर्माण में भी गीता के दृष्टिकोण से सहायता मिली है। गीता-ज्ञान ने प्रेरक शक्ति के रूप में राष्ट्र का मार्ग-दर्शन किया है। यह इस शास्त्र की पर्याप्त प्रशसा है कि अर्वाचीन जीवन के लिये भी इसकी उपयोगिता में किसी प्रकार की कमी नही हुई।



श्रीमद्भगवद्गीता-महिमा

—— ० ——

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते ।
हरि-हिय-कमल-बिहारिनि, सुंदर सु पुनीते ।।
—जय भगवद्गीते ।।

कर्म-सुमर्म-प्रकासिनि, कामासक्ति-हरा ।
तत्त्व-ज्ञान-बिकासिनि, बिद्या-ब्रह्म-परा ।।
—जय भगवद्गीते ।।

निसचल-भक्ति-बिधायिनि, निर्मल मलहारी ।
सरन-रहस्य-प्रदायिनि, सब बिधि सुखकारी ।।
—जय भगवद्गीते ।।

राग-द्वेष-बिदारिनि, कारिनि-मोद सदा ।
भव-भय-हारिनि, तारिनि, परमानंद-प्रदा ।।
—जय भगवद्गीते ।।

आसुर-भाव-बिनासिनि, नासिनि तम-रजनी ।
दैवी सदगुन-दायिनि, हरि-रसिका सजनी ।।
—जय भगवद्गीते ।।

समता-त्याग-सिखावनि, हरि-मुख की बाँनी ।
सकल-सास्त्र की स्वामिनि, स्तुतियँन की राँनी ।।
—जय भगवद्गीते ।।

दया-सुधा-बरसावनि मात-कृपा कीजै ।
हरि-पद-प्रेम-दान करि, अपनौं करि लीजै ।।
—जय भगवद्गीते ।।

प्राचीन जैनग्रंथों में कृष्ण-चरित्र

श्री अगरचंद नाहटा

भारतवर्ष में श्रीकृष्ण और राम एव बुद्ध और महावीर वहुत ही श्रद्धेय महापुरुष माने जाते है। प्राचीन ग्रथो के अनुशीलन से पता चलता है कि वास्तव में इनका व्यक्तित्व असाधारण था। श्रीकृष्ण और राम के चरित्र ने तो लोक-मानस एव साहित्य पर वडा भारी प्रभाव डाला। फलत लोक-मानस में भक्ति की धारा उमड़ चली। इनका गुण-वर्णन कवियो का एक प्रिय विषय हो गया। कवियो की अलकारिक भाषा एवं विलक्षण प्रतिभा ने इस दशा में खूब काम किया, अत श्रीकृष्ण के सवध में तो इतना विशाल एव विविध साहित्य का निर्माण हुआ है कि उसकी सूची बनावें तो भी एक स्वतत्र ग्रथ बन सकता है। आज तो श्रीकृष्ण के वास्तविक इतिवृत्त का पता लगाना भी वडा कठिन कार्य हो गया है।

श्रीकृष्ण के चरित्र-सवधी जैनेतर साहित्य में सव से प्राचीन ग्रथ महाभारत है। जिसका उपलब्ध वर्तमान् रूप पाश्चात्य विद्वानो के मतानुसार ईस्वी की पाँचवी शताब्दी माना जाता है।[१] इसके वाद श्रीमद्भागवतादि में तो कृष्ण-चरित्र वहुत विकसित रूप से उपलब्ध है। अत इस निवध में उन्ही प्राचीन जैन-ग्रंथो का आधार लिया गया है, जोकि एतद्विषयक जैनेतर प्राचीन से प्राचीन ग्रथो के समकालीन या उनसे प्राचीन हो। जैन-साहित्य में सव से प्राचीन ग्रथ 'आगम' है, जोकि भगवान् महावीर के कथित कहे जाते है। अतत उनका वर्तमान रूप—लेखन-काल ई० सन् ३५३ होने से उससे पूर्ववर्ती है। इसके परवर्ती ग्रथो में 'वसुदेव हिंडी' प्रधान है, जोकि ४-५ वी शती का महत्त्वपूर्ण तथा कथा-ग्रथ है। अत श्रीकृष्ण के चरित्र का रहस्य जानने एव तुलनात्मक अध्ययन के लिये ये साधन महत्त्वपूर्ण है। आशा है कि जैनेतर विद्वान् मेरे इस प्रयत्न से समुचित लाभ उठावेंगे और जैनागमो के अध्ययन में विशेष रस लेने लगेंगे।

प्रसगवश यहाँ जैनागमो के महात्म्य पर भी दो शब्द लिख देना आवश्यक समझता हूँ। प्राचीन जैनागम भारतीय प्राचीन सस्कृति, सामाजिक परिस्थिति, रीति-मर्यादा, साहित्य, कला, दर्शन आदि विविध विषयो की जानकारी के लिये महान भाडागार है। ऐतिहासिक, साहित्यिक, भाषा-विज्ञान आदि सभी दृष्टियो से उनका वहुत महत्त्व है। इस वात का वास्तविक पता तो जव शोधक विद्वान् इनका गभीर अध्ययन करने में प्रवृत्त होंगे तभी विदित होगा, मैंने तो प्रसगवश केवल निर्देशमात्र कर दिया है। मूल आगमो के साथ उनकी निर्युक्ति, भाषा पूर्ण व टीकाओ में इतनी मूल्यवान् सामग्री भरी पडी है कि अनुभवी ही उसका उचित मूल्याकन कर सकते है। खेद है कि इस ओर हमारे विद्वानो का ध्यान वहुत ही कम गया है।[२]

१. महाभारत के निर्माण काल के विषय में पाश्चात्य विद्वानो का यह मत नितांत भ्रामक है। महाभारत का निर्माण काल ईस्वी सन् के पूर्व ३१०१ वर्ष है, जैसा कि सेठ कन्हैयालाल पोद्दार कृत "सस्कृत साहित्य का इतिहास" में स्पष्ट किया गया है।—सं०

२. पचास वर्ष हुए बंगाल के ख्यातनाम विद्वान् 'वकिमचद्र' ने वड़ी छानवीन कर 'कृष्ण-चरित' प्रकाशित किया था, खेद है कि विगत पचास वर्षों में वह कार्य और आगे नहीं वढ़ सका। इस ग्रथ के गुजराती अनुवाद की गवेषणा में 'मनसुखलाल रत्नजी भाई मेहता' ने लिखा है कि यदि वंकिम वावू जैन-साहित्य का उपयोग करते तो उनको तथ्य पाने में अधिक सफलता होती।

श्रीकृष्ण को जैनेतर लोग अवतार रूप से पूज्य मानते है, तब जैन उन्हें भावी तीर्थंकर के रूप में पूज्य मानते है। अत जैनागमो में भी उनका महत्त्व कम नही है। जैनागमो में जैनो के बाईसवें तीर्थंकर 'नेमिनाथ' का जहाँ भी वर्णन आता है, श्रीकृष्ण को वहाँ उस समय के प्रधान पुरुष के रूप में उल्लिखित किया है। जैनागमो के वर्णनो को पढते हुए सहज यही विश्वास होता है कि श्रीकृष्ण महापुरुष थे। जब कभी भी नेमिनाथ द्वारका आते श्रीकृष्ण उनके वचनो को श्रद्धा से सुनते, उनके त्याग-मार्ग को आदर्श मानते थे। ऐसा होने का एक प्रधान कारण भी था, जिससे जैनागमो के कथन की प्रामाणिकता में जोर दिया जा सकता है। वह यह है कि नेमिनाथ उन्ही के (कृष्ण के पिता वसुदेव के बडे भाई 'समुद्रविजय' के पुत्र) भाई थे। उनका त्याग महान् था, जिसके कारण श्रीकृष्ण को उनके प्रति विशेष आदर होना स्वाभाविक ही है।

जैनागमो की वर्णनात्मक शैली विस्तार से है। यहाँ उनका सार-मात्र ही दिया जाता है।

श्रीकृष्ण के माता पिता

"सौरियपुर नगर में वसुदेव नामक महर्द्धिक राजा थे, उनके 'रोहिणी' एवं 'देवकी' नामक दो भार्याएँ थीं, जिनमें से रोहिणी से बलराम और देवकी से केशव, अर्थात् कृष्ण का जन्म हुआ था।"

द्वारकानगरी

उस समय में "द्वारका" नगरी बारह योजन (९७ मील) लबी और नव योजन (७२ मील) चौडी (विस्तारवाली) थी। वह धनपति (कुबेर) की बुद्धि-द्वारा निर्मित स्वर्ण के प्राकारवाली, नानाविधि पाँच रग के मणिमय कागरो से सुशोभित मनोहर, अलकापुरी के समान सुदर प्रमुदित क्रीडावाली, प्रत्यक्ष देवलोक रूप प्रसन्नता प्रदायक, दर्शनीय अभिरूप रमणीय थी।

[र]वतपर्वत

उपरोक्त द्वारकानगरी के बाहर, उत्तर-पश्चिम भाग में 'रैवत' नामक पर्वत था। वह ऊँचाई में गगन-तल का अवलबन कर रहा था, जहाँ नाना-विधि वृक्ष, गुल्म-लता, वल्लियो से अभिराम, हस, मृग, मयूर, क्रोच, सारस, मैना, साल, कोकिल, आदि पक्षी-कुलो से व्याप्त, तालाब, झरने, पर्वत-शिखर से जल का प्रचुर मात्रा में प्रपात, अप्सराओ, देवसघ, विद्याधरो के समूह ऊपर से नीचे उतर रहे हैं—क्रीडा कर रहे हैं। दशार्ह वीर, पुरुषतिलक जहाँ बहुधा पधारते है। ऐसा वह पर्वत सौम्य, प्रियदर्शन स्वरूप प्रसन्नता-दायक एवं प्रतिरूप था।

न दनवन

उस रैवत पर्वत के समीप ही 'नदनवन' था जिसमें सर्व ऋतुओ में पुष्पादि उत्पन्न होने से दर्शनीय था।

उस द्वारका नगरी में श्रीकृष्ण—वासुदेव राज्य करते थे। उनके समुद्रविजयादि १० दशार्ह, बलदेवादि ५ महावीर, प्रद्युम्नादि ३११२ क्रोड कुमार, साबादिक ६० हजार दुर्दातकुमार, महासेनादि ५६ हजार, बलवान् वीरसेनादित् २१ हजार वीर पुरुष, उग्रसेनादि १६००० हजार राजा, रुक्मिणी आदि १६००० रानियाँ, अनेको गणिकाएँ एव और भी बहुत से राजेश्वर, श्रेष्ठि, सेनापति, तलवर, माडाविय, कौटुबिक एव सार्थवाह यहाँ रहते थे। श्रीकृष्ण द्वारका नगरी एव वैताढ्य पर्वत से सागर-पर्यंत दक्षिण (अर्द्ध) भारत का आधिपत्य करते रहते थे।

अरिष्टनेमि का आगमन

एक बार 'अरिष्टनेमि' भगवान् १० धनुष के शरीर वाले द्वारका नगरी में—समवसरे, परिषदा वदनार्थ आए। भगवान् का आगमन सुनकर श्रीकृष्ण बहुत हर्षित हुए और उनका बड़ा सत्कार किया।

१. उत्तराध्ययन सूत्र अध्यापन २२ की प्रथम गाथा।

श्रीकृष्ण के जीवन से पाडवो एव द्रौपदी का चरित्र भी सबधित है, अत 'ज्ञातासूत्रानुसार' उसे भी यहाँ दे दिया जा रहा है।

द्रौपदी-चरित्र

(द्रौपदी का जन्म एवं विवाह)

जबूद्वीप के भरत क्षेत्र के पाचाल देश में कापिल्यपुर नगर था। वहाँ के नृपति 'द्रुपद' के 'चुलणी' नाम की रानी थी। उसके 'धृष्टार्जुन' नामक (युवराज) पुत्र एव द्रौपदी' नामक पुत्री थी। द्रौपदी के यौवनावस्था-प्राप्त होने पर द्रुपद राजाने स्वयवर मडप की रचना की एव द्वारका के श्रीकृष्ण समुद्रविजयादि, हस्तिनापुर के पाँचो पाडव—युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, दुर्योधनादि १०० भ्राता, गागेय, विदुर, द्रौण, जयद्रथ, शकुन क्लीव, अश्वथामा, चपा नगरी के कर्ण अगराज सल्यनदि, सोक्तिमती नगरी के राजा शिशुपाल दमघोषादि ५०० पुत्रो के साथ, हस्तिशीर्ष नगर के दमदत राजा, मथुरा के धरराजा, राजगृह के राजा जरासघ के पुत्र सहदेव, कौडिन्य नगर के भीष्मक पुत्र रुप्पि राजा, विराट् के कीचक राजा को १०० भाइयो के साथ, एव अवशेष ग्राम, नगरो के राजाओ को (द्रौपदी के स्वयवर में पधारने के लिये) आमन्त्रणार्थ दूत भेजे। आमत्रण पाकर कृष्णादि बहुत से राजा वहाँ पधारे। द्रुपद राजा ने गगा नदी के पास अनेक स्तभोवाला सुदर स्वयवर-मडप बनवाया। कृष्णादि अतिथियो के ठहरने के लिये अतिथि-गृह बनवाये गये थे। चारो प्रकार के आहार, पुष्प, वस्त्र, गध, माला, अलकारादि से वासुदेवादि की भक्ति की।

नियत समय में स्वयवर की उद्घोषणा की जाने के बाद सभी राजागण स्वयवर में आये। द्रौपदी भी आई। वहाँ से दासियो के साथ उपस्थान शाला में जाकर ४ घटवाले अश्वरथ पर स्वयवर मडप में प्रवेश कर द्रौपदी ने वासुदेवादि सब को प्रणाम किया। सुरूपा दासी न बाँए हाथ में स्वच्छ दर्पण रखा, जिसमें राजाओ के रूप-प्रतिबिंबित हो और दाहिने हाथ से उनका परिचय कराने लगी। प्रथम यादव-वशीय १० दशार्हो आदि का, फिर उग्रसेन आदि के गुणादि वर्णन किये। द्रौपदी वह सुनती हुई जब पाँचो पाडवो के पास आई तो पाँचो पाडवो के गले में पचवर्ण वाली माला डाल दी और कहने लगी मैने इन पाँचो पाडवो को वरा। यह सुनकर कृष्ण—वासुदेवादि हजारो राजाओ ने बडे जोर के शब्दो में कहा कि हे द्रौपदी, तूने अच्छा वरा। ऐसा कहकर वे अपने-अपने आवासो में चले गये। इधर धृष्टार्जुन कुमार ४ घटवाले अश्वरथ में द्रौपदी एव पाँचो पाडवो को बैठा कर अपने भवन में लाया। द्रुपद राजा ने द्रौपदी के साथ पाँचो पाडवो को पट्ट पर बैठा कर श्वेत, पीत कलशो से स्नान कराया। अग्नि-होम कराके पाँचो पाडवो के साथ द्रौपदी का पाणिग्रहण करवाया। द्रुपद राजा ने प्रतिदान में ८ करोड हिरण्य, प्रेषणकारी दासियाँ एव विपुल धन एव कनक दिया। वासुदेवादि आगत राजाओ को अशनादि से सत्कृत व समानित कर विसर्जित किया। उस समय पाडु राजा ने वासुदेवादि राजाओ से प्रार्थना की कि हस्तिनापुर में पाँचो पांडव एव द्रौपदी का कल्याणकारी उत्सव होगा, अतएव कृपा कर आप सब उसमें समिलित हो। पाडु राजा के आग्रह से वासुदेवादि हस्तिनापुर पधारे। शुभ महूर्त में पाँचो पाडवो को द्रौपदी के साथ पट्ट पर बैठा कर पूर्ववत् उत्सव किया। तदतर पाँचो पाडव द्रौपदी के साथ बारी-बारी से भोग भोगते रहने लगे।

द्रौपदी-अपहरण

एक समय पाडुराजा, पाँचो पाडव, कुती एव द्रौपदी आदि परिवार-सहित अत पुर में सिंहासन पर बैठे हुए थे। उस समय कच्छुल्ल नारद वहाँ पधारे। नारदजी को आते देख पाँचो पाडव, कुंती एव पांडुराजा ने खडे होकर वदन, नमस्कार करते हुए आसन देकर अभ्यर्थना की। तब नारदजी जल से पृथ्वी को छिडक दर्भासन पर बैठे और पाडुराजा से कुशल-क्षेम पूछा। नारदजी का पाडुराजा ने आदर सत्कार किया, पर द्रौपदी ने उनका सत्कार नहीं किया। अत नारद ने अपने असमान से रुष्ट होकर द्रौपदी को विपत्ति में डालने का निश्चय किया और

वहाँ से वे विद्याधर-गति से घात की खडवर्ती 'अमरकदा' नगरी में पधारे। वहाँ पद्मनाभ राजा जिनके ७०० रानियाँ एवं सुनाम युवराज कुमार था, अत पुर में रानियो के साथ सिंहासन पर बैठे हुए थे। नारद को आते देख पद्मनाभ ने भी सत्कार किया और गर्विष्ठ होकर राजा ने पूछा कि क्या आपने मेरी रानियो के सदृश रुपवान् स्त्रियों का समुदाय कही देखा है। नारदजी ने मृदु हास्य पूर्वक कहा—हे पद्मनाम, पाडवो की पत्नी द्रौपदी के पैर के अगूठे की समता करनेवाली भी तुम्हारी रानियो में कोई नही है। वह ऐसी अद्भूत रूपवती है। इन वचनो से उत्कठित होकर पद्मनाभ ने अपने परिचित मित्रदेव का आराधन किया, देव ने द्रौपदी के सती होने की बात कही, पर अत में पद्मनाभ के अनुरोध से युधिष्ठिर के साथ सोई द्रौपदी को अवस्वापिनी निद्रा देकर वहाँ से उठाई और पद्मनाभ के भवन में लाके रख दी। जागृत होने पर द्रौपदी अपरचित स्थान में अपने को देख कर विस्मित हुई। उसी समय पद्मनाभ ने उपस्थित होकर अपना कुत्सित अभिप्राय विदित किया। द्रौपदी ने उससे ६ महीने की अवधि माँगी और तप करना प्रारभ कर दिया।

इधर थोडी देर बाद युधिष्ठिर ने जागृत होकर द्रौपदी को वहाँ नही देख चारो ओर तलाश शुरु की। फिर भी न मिलने पर उसने सारा वृतात पाडु राजा को कहा, उन्होने भी द्रौपदी का पता लगानेवालो को विपुल धन देने की घोषणा करवाई। फिर भी कोई पता न लगने पर उन्होने कुती को श्रीकृष्ण के पास भेजकर द्रौपदी का पता लगाने का निवेदन किया। कुती ने द्वारका जाकर श्रीकृष्ण को सारी घटना कहते हुए द्रौपदी के अन्वेषण के लिये कहा। कृष्ण जी ने भी आश्वासन देकर कुती को विदा कर उद्घोषणा करवाई, पर पता नही चला।

द्रौपदी-अनुसंधान एव आनयन

एक बार नारदजी के आने पर कृष्ण ने द्रौपदी के सबध में उनसे पूछा, उन्होने कहा—अमरकका के राजा पद्मनाभ के भवन में द्रौपदी जैसी कोई स्त्री देखने में तो आई थी। कृष्ण ने आतरिक रहस्य जानकर नारदजी से कहा—यह करतूत आप ही की प्रतीत होती है। अस्तु, नारद के चले जाने पर कृष्ण ने अपने दूत को हस्तिनापुर भेजा और पाडु राजा से पाँचो पाडवो को सेना-सह वैतालिक समुद्र के पास भेजकर वहाँ अपनी प्रतीक्षा करने को कहलवाया। इधर से श्रीकृष्ण भी ससैन्य नियत स्थान पर पहुँच कर पाडवो के साथ रथो-सह अमरकका पहुँचे। राजनीति के अनुसार श्रीकृष्ण ने सारथी को पद्मनाभ के पास दूत के रूपमें भेजा। उसके समझाने पर भी पद्मनाभ के न मानने पर युद्ध प्रारभ हुआ। प्रथम युद्ध पाडवों ने किया और वे हारे। भाग कर पाडवो ने सारा हाल कृष्ण से कहा। तत्काल कृष्ण रथारूढ हो युद्ध में पधारे। सर्व प्रथम शंखनाद किया। उसके शब्द-श्रवण मात्र से पद्मनाभ की तिहाई सेना भाग खडी हुई, फिर धनुष के टकार से तिहाई सेना और भाग खडी हुई, तब हताश हो पद्मनाभ ने अपनी राजधानी में घुसकर नगरके द्वार बद कर दिये। यह देखकर श्रीकृष्ण नगर के समीप आये और 'नृसिंह' रूप धारण किया और बडे शब्दो के साथ पावो से आस्फालन करने लगे। इससे नगरी में मकान आदि गिरने लगे। अत नगर में हा-हाकार-सा मच गया। इससे भयभीत हो पद्मनाभ द्रौपदी की शरण में आया। द्रौपदीने कहा—हे देवानुप्रिय (मूर्ख), तुमने पहिले नही जाना कि तुम कृष्ण से बैर बाँध रहे हो। अब भी अविलब स्नान कर भीगी साडी पाँव तक पहिन, अत पुर की स्त्रियो एव रत्नो के साथ मुझे आगे रख कर कृष्ण के चरणो में चलके उनकी शरण लो। वे उत्तम पुरुष है, सभव है कि ऐसा करने पर तुम्हें जीता छोड देंगे। पद्मनाभ ने अन्य उपाय न देख द्रौपदी के कथनानुसार वासुदेव के चरणो में पड कर कहने लगा कि "कृपया मेरी भूल क्षमा करिये, यो कहते हुए उसने द्रौपदी को कृष्ण के सुपुर्द की। कृष्ण ने भी उपालभ देते हुए कहा, असमय की मृत्यु के प्रार्थी हे पद्मनाभ, तूने मेरी भगिनी (सदृश) द्रौपदी का हरण करते हुए तनिक भी विचार नही किया, जा चला जा। तदनतर कृष्ण ने द्रौपदी को रथ में बैठा कर पाडवो के सुपुर्द की। पाँचो पाडव एव द्रौपदी के साथ लवण समुद्र को पार कर जबू द्वीप

के भरत क्षेत्र में पधारे। गंगा के समीप आकर कृष्ण ने पाडवो से कहा कि तुम गंगा के उस पार पहुँचो, मैं जरा सुस्थित देव से मिल के आता हूँ।

श्रीकृष्ण के चरित्र की अन्य घटनाएँ

जैनागमो के अनंतर कृष्ण-चरित संबंधी महत्त्वपूर्ण ग्रंथोमें 'वसुदेव हिंडी' सबसे प्राचीन एव उल्लेखनीय ग्रंथ है, जिसकी रचना 'संघदास' गणिवाचक ने ५ वी शदी के लगभग की है। उक्त ग्रंथ में प्रधानता तो कृष्ण के पिता वसुदेव के १०० वर्षों तक परिभ्रमण कर अनेक विवाह करलेके वृतात की है, पर कृष्ण, उनकी रानियो व पुत्रादि का भी उसमें अच्छा वर्णन पाया जाता है। इस ग्रंथ के अनुसार श्रीकृष्ण का जन्म हरिवश यादव कुल में हुआ था। इस वश में एक 'हरि' नामक राजा हुआ उसकी रानी का नाम हरिणी था। इसी हरि राजा का वश आगे चलकर 'हरिवश' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

हरि के वश में एक 'यदु' नामक राजा हुए। यदु के नामसे ही यादव प्रसिद्ध हुए। यदु के वश में 'शौरि' और 'वीर' राजा बड़े भ्रातृ-प्रेमी हुए, जिनमें से शौरि ने शौरीपुर बसाया और वीर ने सौवीर। सौवीर के अंधकवृष्णि और वीर के भोजवृष्णि ये दो पुत्र हुए। इनमें से अंधकवृष्णि के भद्रा देवी से समुद्रविजय अक्षोभ, स्तिमिति, सागर, हिमवत, अचल, धरण, पूरण, अभिचंद्र और वसुदेव ये १० पुत्र एवं कुंती एवं मद्री दो पुत्रियाँ हुई और भोजवृष्णि के पुत्र उग्रसेन हुआ, जिसके बंधु, सुबंधु, कस आदि पुत्र हुए।

प्रस्तुत ग्रंथ में उपर्युक्त वसुदेव के पूर्वभव व अनेक कन्याओ से विवाह के वृतात के पश्चात् कृष्ण की माता देवकी से विवाहादि का उल्लेख आता है।

मृतिकावति के राजा देवक के देवकी नामक पुत्री थी। उससे विवाह करके वसुदेव वापिस मथुरा पधारकर कस, जो कि उनका बाल मित्र था—के यहाँ रहने लगे। एक बार कस ने मुनि-वचन से अपनी मृत्यु देवकी के सातवें गर्भ से होना ज्ञात कर वसुदेवजी की प्रसन्नता के प्रसग में उनसे देवकी के सात गर्भों की याचना की, उन्होने भी सरलभाव से (मूल रहस्य को न जानकर) उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। देवकी से इसकी चर्चा होने पर उसने अतिमुक्त मुनि के वचन का सारा वृतात वसुदेवजी को बतलाया। इससे वसुदेवजी को भी बडा पश्चाताप हुआ, पर उन्होने अपने वचन-प्रतिपालनार्थ 'देवकी' के ६ गर्भ-जात पुत्रो को कस को समर्पित कर दिये और कस ने उन्हें मार डाला। इसके पश्चात् देवकी के गर्भ में कृष्ण अवतरित हुए। इससे उसने सात महास्वप्न देखे। अत उसको भावी महापुरुष जान कर देवकी ने वसुदेव से अनुरोध किया कि जिस किसी प्रकार भी इस गर्भ की रक्षा कीजिये। दैवयोग से प्रसव के समय कस के प्रेषित कचुकी (विश्वासी पहरेदार) गाढ निद्रा में सो गये। इधर कृष्ण का जन्म हुआ, वसुदेव बालक को लेकर यमुना पर जाने लगे। उस समय चद्र श्रवण नक्षत्र के योग में था। बालक को ले जाते हुए को उग्रसेन ने पूछा कि इस अद्भुत बालक को कहाँ ले जा रहे हो। वसुदेव ने कहा इसके प्रभाव से आप पुन राजा होंगे। अत इस बात को गुप्त रखिये। आगे जाने पर यमुना नदी ने भी मार्ग दे दिया। अत उसे पारकर व्रज—गोकुल में, वसुदेव पहुँचे। वहाँ नद गोप की पत्नी यशोदा के थोडे समय पूर्व ही कन्या उत्पन्न हुई थी। वसुदेव ने कुमार को उसे सोपा और कन्या को स्वय लेकर देवकी को सोप दी और तब वसुदेव शीघ्र ही बाहर चले गये। इसी समय कस की परिचारिकाओ की निद्रा भग हुई और कन्या होने की कस को खबर दी गई। कसने उसकी नाक काट के उसे नाक हीन बना दी।

कुछ समय बाद गौ-पूजा के बहाने से पुत्र के निरीक्षणार्थ देवकी व्रजमें गई। उसी समय से गौ-पूजा की परिपाटी चालू हो गई। इस प्रकार समय-समय पर देवकी व्रज में जाकर कृष्ण को खिलाने लगी। इधर कस ने नैमित्यक से अपने शत्रु के सबध में पूछा तो उसने—व्रज में वृद्धि पा रहा है, बतलाया। कस ने कृष्ण को मारने के उद्देश्य से—यक्षोको आदेश दिया कि वे नंद गोप के गोकुल में पहुँचें और गधे, घोडे खुले छोड देवें। तदनुसार उनके खुले छोडने पर वे लोगो को कष्ट देने लगे। इससे

कृष्ण ने उनको मार डाला। कृष्ण के कलाभ्यास के लिये वसुदेव ने सकर्षण उपाध्याय को वहाँ भेजा। कृष्ण ने उससे कलाओ का अभ्यास किया।

कस ने अपना पहला प्रयत्न विफल गया देख देवाधिष्टित धनुष सत्यभामा के गृहमें रखवा कर उद्घोषणा करवाई कि जो इस धनुष को चढावेगा उसके साथ सत्यभामा का विवाह किया जायगा। इस सूचना को पाकर सत्यभामा से विवाह करने का इच्छुक 'अनाधृष्टि कुमार' के व्रज में आने पर बलदेव एव कृष्ण उनके साथ हो गये। मथुरा पहुँच कर अनाधृष्टि धनुष को चढाने में असफल रहे, तब कृष्ण ने उसे चढा दिया। अनाधृष्टि ने वसुदेव को जाकर कहा मैंने धनुष चढाया है। वसुदेवजी ने कहा अच्छा किया। पूर्व उद्घोषणानुसार धनुष चढानेवाले से सत्यभामा का विवाह होगा। वसुदेव हिंडी का प्रथम खड वर्तमान में यही तक उपलब्ध होता है, अतएव पूर्ति के लिये उसे आचार्य हेमचद्र के त्रिषष्टि शाला का पुरुष चरित[1] से यहाँ दे दिया जाता है।

आचार्य हेमचद्र ने कृष्ण की जन्म-तिथि, गोकुल में बाल-लीला व कृष्ण के साथ गोपियो का बलदेव को भेजना, प्रेम होना, शकुनी और पूतना को मारना, कस के प्रेषित अरिष्ट बैल, केशी अश्व, खर और मेष को मारना, धनुष चढाने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वसुदेव ने अनाधृष्टि को कहा कि यदि तुमने धनुप चढाया है तो शीघ्र यहाँ से चला जा, अन्यथा तुम्हें कस मरवा देगा। इससे भयभीत होकर वह कृष्ण के साथ गोकुल आया व कृष्ण को वहाँ छोड कर स्वय शौरीपुर चला गया।

कस ने इस दावपेंच में भी अपनी विफलता देख कर मल्लयुद्ध की उद्घोषणा करवाई, जिसे सुनकर बलराम ने कृष्ण से कहा चलो, मल्लयुद्ध मथुरा चलकर देख आवें। बलराम ने यशोदा को स्नानादि के लिये गरम जल तैयार करने के लिये कहा, पर अन्य कार्य में व्यस्त रहने के कारण उसने देरी कर दी। तब बलराम ने यशोदा से कहा कि तुम मेरे भाई का पालन करने से रानी हो गई हो क्या? क्या तू अपना दासीपन भूल गई? कृष्ण अब तक यशोदा को अपनी सगी माता समझ रहे थे। अत बलराम का यह वचन उन्हें बहुत अखरा। कृष्ण के साथ यमुना में स्नान करने को जाते हुए रास्ते में बलराम ने सारा वृतात बतलाते हुए यशोदा से उनका वास्तिविक सबध प्रगट किया। कृष्ण ने बलदेव को कंस के अन्याय व अपने ६ भ्राताओ के मारने का वृतात ज्ञातकर तत्काल कस को मारने की प्रतिज्ञा की यमुना में स्नान करते हुए कालियनाग को फुकार करते हुए देख कृष्ण ने कमल की नाल के सदृश उसको पकड कर ऊपर स्वय चढ बैठे। उसका दमन कर दोनो भ्राता मथुरा के द्वार पर पहुँचे तो वहाँ 'पद्मोत्तर' व 'चपक' नामक दो हाथी उपद्रव मचा रहे थे। अत पहले को कृष्ण ने और दूसरे को बलदेव ने मार डाला।

तदनतर दोनो भाई कस के मल्लयुद्ध के स्थान पर पहुँचे। कस की आज्ञा से 'चाणूर मल्ल' कृष्ण से मल्ल युद्ध करने लगा, और 'मुष्टिक' बलराम से युद्ध करने लगा। अत में दोनो भाइयो ने दोनो मल्लो को मारकर धराशायी कर दिया। यह देखकर कस ने कृष्ण बलराम को पकडने के लिये सेवको को आज्ञा दी। तब कृष्ण ने कस के मस्तक पर पैर रखकर उसे मार डाला। तदनतर कस की रानी वहाँ से राजगृह जाकर रुदन करते हुए अपने पिता जरासंध से सारा वृतात कहा। पिता ने आश्वासन देते हुए कृष्णादि यादवोको सपरिवार मारने को कहा। सोमक राजा के द्वारा जरासध ने समुद्रविजयी को कहलाया कि कस के द्रोही राम व कृष्ण को मुझे सौंप दो, पर समुद्रविजयी इसे कैसे स्वीकार करते। सोमक ने जरासध के सेना, पराक्रमादि का भय बतलाया तो कृष्ण ने साफ कह दिया कि पिता के पास पुत्रो की याचना करते जरासध व तुम्हें शर्म नही आती, जाओ अब से जरासध हमारा स्वामी नही, कंस के समान शत्रु है। हमारे भ्राताओ को कस ने मारा, यह हम अभी भूले नही है।

कृष्ण और अनाधृष्टि से तिरस्कृत हो सोमक ने जरासंध के पास जाकर सारा वृतात कह सुनाया।

[1]. जैन-धर्म प्रसारक सभा भावनगर से इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

इधर उग्रसेन राजा ने अपनी सत्यभामा कन्या को कृष्ण से विवाह दी। सोमक के जाने के बाद दर्शाहों ने इकट्ठे होकर कौष्टुकि नैमित्तिक से पूछा कि अब त्रिखडपति जरासध से हमारा विग्रह खडा हुआ है कहो, इसका क्या परिणाम होगा। नैमित्तिक ने कहा—"राम और कृष्ण थोडे समय में उसे मारकर त्रिखड-पति बनेंगे। फिर भी आप लोग पश्चिम दिशा के समुद्र-तट की ओर चले जावो और जहाँ सत्यभामा के युगलिक उत्पन्न हो वही नगर बसा के रहो।" कौष्टिक के वचन पर विश्वास होने से समुद्रविज-यादि ग्यारह कुलकोटि के साथ मथुरा से रवाना हो शौरीपुर आये और वहाँ से पाँच कुल कोटि यादवो को साथ ले उन्होंने पश्चिम समुद्र की ओर प्रयाण कर दिया।

इधर जरासध सोमक से सर्व वृतात जानकर क्रोधित हुआ, इसी समय उसके पुत्र काल-कुमार ने कहा कि यादव हमारे सामने क्या है, मुझे आज्ञा दीजिये मैं उन्हें समुद्र, अग्नि व आकाश में भी होगे तो पकड के ले आऊँगा। जरासध ने ५०० राजाओं की विशाल सेना के साथ कालकुमार को चढाई करने की आज्ञा दे दी। तदनुसार कालकुमार ने यादवो का पीछा किया। चलते-चलते विंध्या-चल के समीप पहुँचने पर यादव थोडी दूर रह गये, तब यादवो की कुल देवी ने कालकुमार को छल द्वारा वही भस्म कर दिया। इससे यादव निर्विघ्न आगे बढे और सत्यभामा के युगलिक उत्पन्न होने के स्थान पर ठहर गये। युगलिक पुत्रो का नाम 'भानु' और 'भ्रामर' रखा गया। कृष्ण ने स्नान कर 'अट्ठम तप' द्वारा लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का आराधन किया। उसने प्रसन्न होकर कृष्ण को 'पाचजन्य' शख व राम को 'सुघोष' शख देते हुए अपने को स्मरण करने का कारण पूछा। कृष्ण ने नगर बसाने के लिये प्रार्थना की। तब देव ने इद्र से निवेदन किया। इद्र की आज्ञा से कुबेर ने १२ योजन लबी ९ योजन चौडी रत्नमयी द्वारका नगरी बसाई। कुबेर ने कृष्ण को पीताबर, नक्षत्र माला, हार, मुकुट, कौस्तुभमणि, शार्ङ्गधनुष, अक्षय बाणवाले भाथे, नदक खग, कौमोदकी गदा, गरुडध्वज रथ और राम को नील वस्त्र, लाल ध्वजादि दिये। कृष्ण ने दारुक नामक सारथि वाले रथ में बैठ कर द्वारका में प्रवेश किया। यादव अब वहाँ सुखपूर्वक रहने व बढने लगे।

त्रिषष्ठी सलाका पुरुष चरित में इसके पश्चात् कृष्ण के विवाहादि का उल्लेख आता है, वह वर्णन वसुदेव हिंडीमें भी आता है।

बलराम के 'रेवती' नामक पटरानी थी, जो उसके मामा 'रेवत' की पुत्री थी। कृष्ण के उग्रसेन की पुत्री सत्यभामा प्रिय पटरानी थी। समवायाग सूत्र में भी कृष्ण की आठ पटरानियो के नाम हैं, यथा—

१. रिटपुर के राजा रुधिर की पुत्री 'पद्मावती' जिसको स्वयंवर-मंडप से श्रीकृष्ण ने हरण कर के विवाह किया था।
२. सिंधु देश के मेरु राजा की पुत्री 'गौरी'।
३. गांधार-जनपद के राजा नग्नजित की पुत्री 'गांधारी'।
४. सिंघल द्वीप के राजा हिरण्यलोम की पुत्री 'लक्ष्मणा'।
५. अराकरी नगरी के राजा राष्ट्रवर्धन की पुत्री 'सुसीमा'।
६. गगनंदन नगर के विद्याधर राजा की पुत्री 'जाबवती'।
७ विदर्भ जनपद के कुंडिनपुर नगर के राजा भेषक की पुत्री 'रुक्मिणी'।

रुक्मिणी का सबध रुक्मिणी के भाई रुक्मी ने दमघोष के पुत्र शिशुपाल के साथ निश्चित कर दिया था, पर रुक्मिणी की बुआ और रुक्मिणी कृष्ण के साथ विवाह करना चाहती थी। अत उनके द्वारा कृष्ण को सूचना देने पर विवाह के अवसर पर द्वारका से श्रीकृष्ण और बलराम कुडिनपुर आकर रुक्मिणी का हरण करके ले जाने लगे तब रुक्मिणी के भाई रुक्मी ने श्रीकृष्ण-बलराम के साथ घोर युद्ध किया और उनसे परास्त हो गया। तदनतर श्रीकृष्ण रुक्मिणी को लेकर द्वारका के समीप पहुँचे तो यक्षो ने उनका विवाह सबध कर दिया। इस प्रकार सत्यभामा के पश्चात् उपर्युक्त सात कन्याओं से पाणिग्रहण कर इन आठो को श्रीकृष्ण ने पटरानी-पद पर आसीन कर दिया।

इसके पश्चात् वसुदेव हिंडी में भी श्रीकृष्ण के पुत्रो के जन्म होने की कथा है, जिसमें रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न के प्रथम उत्पन्न होने, उसके हरण, शोध, पुनर्मिलन, चमत्कार दर्शन, रुक्मी की पुत्री वैदर्भी से विवाहादि का वृतात जो कि वसुदेव हिंडी से सक्षेप में दिया जाने पर भी कृष्ण-चरित्र की महत्त्व-पूर्ण एक घटना बाकी रह जाती है। अत उसे 'त्रिषष्ठी सलाका पुरुष चरित' से सक्षेप में यहाँ देकर लेख समाप्त किया जाता है। वह घटना यह है—

"जरासध को मार कर श्रीकृष्ण का अर्द्ध भरताधिपति वासुदेव होना, कालकुमार के साथियो के वापिस लौट कर आने पर उनके कथनानुसार यादवो के विनाश को जानकर जरासध और जीवयशा निश्चित हो गये थे, पर एक दिन कुछ व्यापारी यवन द्वीप जाते हुए जल-मार्ग से राजगृह पहुँचे और उनके द्वारा जरासध की पुत्री जीवयशा (कस की विधवा स्त्री) को ज्ञात हुआ कि कृष्ण जीवित है, इस पर वह जरासध के पास आकर कहने लगी कि मैं जलकर भस्म हो जाऊँगी। तब जरासध ने उसको आश्वासन देकर मत्रियो के निषेध करने पर भी द्वारका पर चढाई कर दी और उसका श्रीकृष्ण से घोर युद्ध हुआ। अत में जरासध ने अपनी विजय होते न देख कर कृष्ण पर चक्र फेंका। चक्र, श्रीकृष्ण ने हाथ में ले लिया और उसी चक्र से जरासध का वध कर दिया। तदनतर श्रीकृष्ण नवम वसुदेव अर्द्ध-भरताधिपति हुए और देवताओने पुष्प वर्षा की।

कृष्णचरित-सबधी जैन-ग्रथ

जैनागमो एव वसुदेव हिंडी के परवर्ती जैन-ग्रथो में निर्युक्तिचूर्णि भाषा आदि जैनागमो की प्राचीन टीकाओ का स्थान है। प्रथमानुयोग ग्रथ में महापुरुषो के चरित थे, वे ग्रथ अब उपलब्ध नही है। उपलब्ध स्वतत्र महापुरुष चरित ग्रथो में 'पउम चरित' ही सबसे प्राचीन ग्रथ है, जिसमें रामायण की कथा भी वर्णित है। इसके रचयिता विमल सूरिने 'हरिवश ग्रथ' भी बनाया था, पर वह अब अनुपलब्ध है। उपलब्ध कृष्ण-चरित-सबधी स्वतंत्र ग्रथो में 'दि० पुनाटसधीय जिनसेन रचित 'हरिवश पुराण' है जो कि शक स० ७०५ में रचित है।

कृष्ण-चरित-सबधी परवर्ती जैन-ग्रथो में हरिवश पुराण, चउपन्न महर त्रिषष्ठी पुरुष चरित, नेमिचरित एव प्रद्युम्न चरित सज्ञक ग्रथ है। ये ८ वी सदी से १९ वी तक रचे गये है और वैसे अब भी नेमिचरित्रादि ग्रथ प्रकाशित हो रहे हैं। उन ग्रथो-द्वारा कृष्ण-चरित-सबधी विशाल जैन-साहित्य का परिचय पाठको को प्राप्त हो सकता है। ये ग्रथ प्राकृत, सस्कृत, हिंदी, गुजराती, राजस्थानी यावत् कन्नड भाषा तक में लिखे गये है। उनकी सूची जिनसेन कोष, जैनगुर्जर कवियो अनेकादि में प्रकाशित, दिगबर-ग्रथ-सूची आदि के आधार से तैयार की गई है।





रामलीला के विदेशी-दर्शक

रासलीला के विदेशी दर्शक

श्री नारविन हईन हेषन

रासलीला मथुरा मडल की अपनी विशेषता है, जिसमें व्रज की भक्ति, कला, सगीत और नृत्य धर्म-काव्य के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। इन पक्तियो के लेखक को हिंदी भाषा-भाषियो से रासलीला के सबंध में कुछ कहने में सकोच हो रहा है, क्योकि अनेको ने प्रत्यक्ष रूप से रासलीलाएँ देखी हैं, अथवा उनके विषय में पर्याप्त सुना है और बाल्यवस्था से ही रास-सबधी गीत वे गाते रहे हैं, किंतु तब ऐसे बहुश्रुत व्यक्तियो को भी रासलीला से सबधित अग्रेजी साहित्य के विवरण अत्यधिक रोचक प्रतीत होगे तथा योरुप के उन आदि यात्रियो के विवरणो का स्वागत करेंगे, जिनको ब्रज के रास देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

रासलीला धार्मिक कृत्य है, अत विद्वानो को विस्मय होगा कि विदेशियो को ये लीलाएँ देखने का अवसर कैसे प्राप्त हुआ। रासलीलाएँ खुले राज-मार्गो और जन-वीथिकाओ में नही होती। सर्वसाधारण उन्हें देखने का अवसर भी नही पा सकता। रासधारी-वर्ग इन लीलाओ का प्रदर्शन कौतूहल मात्र के लिये भी नही करता। कृष्ण-भक्तो का यह आनद रहस्य है, जिसे वे खुले मार्ग में सर्व-साधारण स्थल, सिनेमाघरो में नही दिखा सकते। कुजविहारी के मदिर में अथवा रसिक भक्तो के निवास-स्थानो में रासलीलाएँ की जाती है। विद्वान् से विद्वान् यात्री भी जो उत्तरी भारत में दीर्घकाल तक रहे हैं और जिन्होने यहाँ का पर्याप्त पर्यटन किया है, रास के आनद-दायक दर्शनो से वचित रहे हैं, वे नही जान सके हैं कि 'सूरसेन' की इस प्राचीन नगरी में भारतीय 'नाटच' की अनुकृति अपनी परपरा सदा से बनाये हुए है और भारतीय-कलाओ में अपना विशेष स्थान रखती है। केवल थोडे से विदेशी यात्री भाग्यवश अथवा अपनी प्रकृति के सौहार्द्र से इन रासलीलाओ का आनद-लाभ कर सके हैं और उन्होने अपनी अक्षुण्ण स्मृति को लेख-बद्ध किया है। यह सब विद्वान् यात्री एक मत है कि "रासलीला निश्चय रूप से अतीव आनददायी दृश्य-काव्य है और साधारण नाच-तमाशो से श्रेष्ठ है।"

इन विवरणो का पूर्वापर आज से डेढ सौ वर्ष पूर्व लिखा गया है। अग्रेजी भाषा में रास-लीला का सर्वप्रथम उल्लेख 'जेम्स टाड' की कृति "दि टानल्स एड एन्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान" (१८२९ में प्रकाशित) में मिलता है। सन् १८०५ में मि० टाड को उनकी सरकार द्वारा डिप्लोमैटिक सर्विस में राजस्थान भेजा गया था। आप इदौर में श्रीमत 'दौलतराव सिंधिया' के दरबार में दस वर्ष तक रहे। टाड लिखते हैं कि रासधारी वर्ग रास प्रदर्शन के लिये प्रत्येक वर्ष जन्माष्टमी के अवसर पर मथुरा से आया करता था तथा दरबार में जन्माष्टमी के दिन गोपी तथा कृष्ण-कन्हैया के प्रसग का दृश्य उपस्थित करता था। यही निश्चित रूप से रासलीला थी। यद्यपि टाड साहब इस उत्सव का विषय उल्लेख नही करते, फिर भी वह लिखते हैं कि 'रासमडल-नृत्य' हुआ था तथा ब्रज की लय-धारा में मौखिक अभिनय हुआ था, अनेको अवसरो के विवरणो का टाड साहब इस प्रकार उल्लेख करते हैं—

"उन पात्रो की जो कृष्ण तथा उनके सखाओं और सखियो का अभिनय करते हैं, भाव-गीत अत्यंत प्रभावपूर्ण होते हैं, उनके कथोपकथन अत्यंत हृदयस्पर्शी होते हैं। मथुरा और वृदावन के चौबे संगीत-विद्या में पारंगत हैं। इन गायक-अभिनेताओ की करुणार्द्र स्वर-लहरियो में जब

भक्त-हृदयो का आनंद-रस संमिलित हो जाता है तो मुरली के स्वर में यह राग अत्यत आह्लाद-कारी प्रतीत होता है ।"

इस उल्लेख ने दूसरे विदेशी यात्रियो के विवरणो का पर्याप्त समर्थन पाया है।

दूसरा अत्यत रोचक एव पूर्ण रासलीला-सबधी उल्लेख सन् १८०६ में 'टामस डूएर ब्रोटन' द्वारा लिखा गया था। ये माधोजी सिंधिया के कैंप में ब्रिटिश रेजिडेंस के प्रधान अग-रक्षक थे। ये विवरण "लैटर्स रिटिन इन ए मरहैठा कैंप ड्यूटिंग दी इयर १८०६" में मिलता है। ३० अगस्त सन् १८०६ का पत्र जो उदयपुर की उत्तरी सीमा पर 'रुपहली' नामक स्थान पर लिखा गया था, इस सबध में महत्त्वपूर्ण है। जन्माष्टमी का पर्व था, शिविर में इस महोत्सव की सज्जाएँ हो रही थी। महाराजा ने इस वर्ष भी एक बडा शामियाना बनवाया था। मथुरा से रासधारी आये हुए थे। रासधारियो के कृत्य के सबध में वह लिखता है—

"वे प्राय. किशोर होते है, ब्राह्मण होते है। मथुरा में रास-सबधी शिक्षा पाते है, जहाँ एक बडा भूभाग उनकी आजीविका का साधन है। इस ऋतु में वे देश के विभिन्न भागों में हिंदू राजाओ के दरबारो में रास करने के लिये निकल पड़ते है। गायको के अतिरिक्त चार अभिनेता भी है और सब सुदर बदन है।"

महाराजा ने शिविर के प्रभावशाली व्यक्तियो को जन्माष्टमी के उत्सव में रात्रि को निमत्रित किया। ब्रोटन भी बुलाये गये और उन्होने जिस उत्सव में भाग लिया, उसका उल्लेख वह इस प्रकार करते है—

"जिस शामियाने में हमें बिठाया गया था, वह १५० फीट लबा था। वह तीन भागों में विभाजित था, बाँसों और बल्लियों पर रंगीन कागज चढा कर एक बाड खडी कर दी गई थी, जिन पर दीपक जल रहे थे। सामने दो फीट ऊँचा रगमच था। इसके स्तभ और शिविकाएँ भली प्रकार चित्र-वेष्ठित थीं, इसे सिंहासन कहते है। इसके मध्य में फूलडोल था। फूलडोल में पुष्प, हीरक रत्न और बहुमूल्य मणियाँ सुसज्जित थीं। पुष्प-गुच्छ, पुष्प-मालाएँ फूलडोल में विहँसते हुए बालगोविंद को ढकेल रहीं थीं। पंडितों, ब्राह्मणों का समुदाय अर्चना कर रहा था। कुछ व्यक्ति पंखा खींच रहे थे। शामियाने का मध्यभाग नर्तकों के लिये छोड़ दिया गया था। शेष दोनों ओर का स्थल दर्शको से परिपूर्ण था।"

मि० ब्रोटन उस दृश्य का उल्लेख शब्दो में ही नही करते, वरन् इस अवसर का तैल-चित्र भी उन्होने रेखाकित किया है, जिसमें रगमच तथा पात्रो के वाद्य, आभूषण आदि सभी कुछ चित्रित है, शब्दो में उसका चित्रण इस प्रकार है—'शामियाने के मध्य में कृष्ण और गोपियाँ नृत्य कर रही है, उनके वस्त्र वैसे ही है, जैसे आज भी ब्रज की रासलीला में प्रचलित है। उनके बाईं ओर सगीत-समाज सुशोभित है, उसमें कुछ गायक ऐसे वाद्य बजाते है जिनका प्रचलन अब नही रहा है। दाईं ओर महाराजा अपने सिंहासन पर विराजमान है। उनके निकट उनके शरीर रक्षक खडे है और विशेष अतिथि बैठे हुए है। अतिथियो में हमें लालकोट पहिने तीन ब्रिटिश अफसर बैठे दिखाई पडते है जो अपने समय का परिधान किये हुए है उनमें से एक सभवत ब्रोटन साहब है', जिन्होने उस रात्रि का वर्णन इस प्रकार किया है—

"एक या दो नृत्य होने के उपरांत रासधारी जो सामने की ओर एक ऊँचे मच पर बैठे थे और जिनके चारों ओर चोबदारो, चौरीबर्दारो तथा अन्य सेवको का समूह था—आगे-आगे उनमें जो तरुण किशोर था वह कन्हैया के स्वरूप में था—कन्हैया, कृष्ण का—ब्रज का और बाल-लीला का नाम है। सबसे छोटा किशोर कन्हैया की प्रेयसी—राधिका बिना था। रास 'बैलेट' (समूह-नृत्य) के समान हुआ, इसमें प्रेम की भावना और चांचल्य का प्रादुर्भाव था, किंतु सब

कुछ रोचक और दिव्य था, गोपियो के साथ—गोकुल की बालाओ के साथ—भाषा में, जो ब्रज-प्रांत में बोली जाती है—गायन हुआ। ब्रज, मथुरा के आसपास का भू-प्रांत है, यहाँ कृष्ण का प्रारंभिक जीवन व्यतीत हुआ था। उस प्रदेश की भाषा का ज्ञान यूरोपवासियो को अधिक नहीं है, फिर भी सुनने में भी यह कर्ण प्रिय नहीं लगती—सुनी हुई-सी भी नहीं जान पड़ती, किंतु प्राचीन हिंदू-कवियो की अधिकतम निधियाँ इस भाषा में सुरक्षित हैं और मुझे विश्वास है कि इस भाषा के किसी भी विद्यार्थी के लिये यह आकर्षण और रुचि की वस्तु है।"

मि० ब्रोटन ने इस अवसर पर गाये हुए, दो पदो की भी प्रतिलिपि लेकर उन्हें अपने 'पत्रों' में सकलित कर दिया। पदो का अग्रेजी-अनुवाद अत्यत सुदर है। रासधारियो की यह रासलीला इस तथ्य की द्योतक है, आज से एक सौ-पचास वर्ष पूर्व भी रासलीला पूर्णत भारतीय विद्या थी, क्योकि उसका स्वरूप भारतीय कथोपकथन के समान था। गीत, कृष्ण और गोपियो के प्रेमानुद्दीपिका है और इसी में गोपियाँ यशोदा को कृष्ण की माखन-चोरी का उपालभ देती है—वैसे ही जैसा आजकल की 'दानलीला' और 'माखनचोरीलीला' में होता है। यद्यपि अग्रेजी के अनूदित पदो में भी पर्याप्त सौंदर्य है तथापि उनका पुर्नानुवाद देने की यहाँ आवश्यकता नही है ऐसा करने से वस्तु की आत्मा खो जायगी।

मि० ब्रोटन ने जिस सौंदर्य से चित्रण किया है, मि० टाड भी उसका अनुमोदन करते है—

"रासधारियो का संगीत और नृत्य दोनो साधारण कलाकारो से उत्कृष्ट था। उनके हाव-भाव आकर्षक थे और उनका स्वर स्वाभाविकता का अतिक्रमण नहीं करता था। उनका परिधान रुचि पूर्ण और समुचित था—विशेष रूप से कन्हैया जिनके सिर पर सूर्यकांत मणि थी, गले में रत्नो की माला थी; अत्यंत भव्य लग रहे थे। समस्त वस्त्र जो कन्हैया और अन्य पात्र पहने हुए थे महाराजा के भंडार से प्रदत्त थे। नृत्य के उपरांत कृष्ण की प्रमुखतम लीलाओ का प्रदर्शन हुआ और यह प्रदर्शन इतना सफल और संयत हुआ कि इतने छोटे बालकों में वैसी कला आश्चर्य की वस्तु जान पड़ी। रासधारियो के साथ जितने वादक थे और बालक थे—सभी ब्राह्मण थे और यह अत्यत आनंद का विषय था कि रास समाप्त होने के उपरांत उनमें से प्रत्येक राजा के समुख विनत होने के स्थान पर एक-एक करके महाराज के सामने आया—और अपने छोटे-छोटे हाथ उठा कर राजा को आशीर्वाद देने लगा। महाराज आशीर्वाद ग्रहण करने के लिये उनके संमुख विनत हुए। उसके उपरांत शीघ्र ही हम चले आये। इस संध्या के उत्सव से हम अत्यंत प्रमुदित थे।"

ब्रोटन के पत्र उन विद्वानो का ध्यान 'रासलीला' की ओर आकर्षित नही कर सके जिन्होने भारतीय नाटको पर अपने विचार प्रकट किये है। उनके उपरात सन् १८७४ ई० में दूसरा साक्ष्य अग्रेजी-साहित्य में हमें प्राप्त होता है—'एफ० एस० ग्रूस, मथुरा डिस्ट्रिक्ट मोमायर, गवर्नमेंट प्रेस इलाहाबाद' का, लेखक ने इसमें रासधारियो और रासलीला को समझाने का प्रयत्न किया है। रासधारियो के विषय में वह कहता है—

"ब्राह्मणो का एक वर्ग जो मुख्यतः 'करहला' और 'पिसाये' के ग्रामो में निवास करता है और जिनका मुख्य कार्य रास-लीलाओ का निरीक्षण है। रास अलिखित धार्मिक रूपक है, जिसमें कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाएँ व्यक्त होती है, यह मध्य कालीन यूरोप के 'मिरेकिल-प्लेज' के सम रूप है। संपूर्ण रास एक या उससे अधिक समय में समाप्त होता है। प्रत्येक दृश्य अपने मौलिक रूप में, मौलिक स्थल पर प्रदर्शित होता है। जिस दृश्य को बड़े सौभाग्य से मैं देख सका विवाह का दृश्य था, जो संकेत में व्यक्त किया गया था। रंगमंच के स्थान पर एक वाटिका थी, पृष्ठ-भूमि में एक लाल पत्थर का मंदिर था, ऊपर पूर्णिमा का चंद्रमा था, सामने से अनेको दीप-रश्मियो का प्रकाश पात्रो के मुख पर बिखर कर एक अपूर्व दीप्ति फैला देता

था। दृश्य अत्यंत मनोहारी था और प्रेम की लीला में भी किसी प्रकार के अविचार का आभास नहीं था।"

मि० ग्रूस के कथन का यह अभिप्राय है कि यद्यपि रासलीला कृष्ण और गोपियों के प्रेम-तत्त्व का निर्वाह करती है और इसीलिये अनैतिकता संबंधी प्रश्न उन पर उठाया जा सकता है, किंतु ये लीलाएँ वैसी समस्त कलुषित भावनाओं से परे हैं।

हमारे इन तीनों लेखकों का रास-संबंधी विवरण वास्तव में अपर्याप्त है और वे कुछ ऐसे विचार व्यक्त कर गये हैं—जो भ्रांति-पूर्ण हैं। उदाहरण के लिये टाड ने लिखा है कि 'जन्माष्टमी पर रास में जो गीत गाये जाते हैं वे जयदेव के 'गीतगोविंद' का भाषानुवाद हैं'। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि रासधारी सखियों तक गीतगोविंद का ही अभिनय करते रहें, यद्यपि रासलीला में कभी-कभी जयदेव के संस्कृत के पद भी गाये जाते हैं। मि० ग्रूस ने रासलीला को मथुरा प्रांत की ही वस्तु मानी है और विश्वास प्रकट किया है कि रास 'वनयात्रा' के अवसर पर ही—

जो मथुरा की सीमा में ही विचरती है, होते थे।

जबकि हम देख चुके हैं कि ग्रूस के समय में वे ही रास-मंडलियाँ देश के विभिन्न भागों में रास करने जाती थीं। दूसरे अवतरण में जो यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है, ग्रूस ने यह लिख कर भूल की है कि रासलीला के अभिनेता मूक अभिनय करते थे और मंडली का स्वामी कथनोपकथनों की पूर्ति करता था। ब्रूटन और टाड के लेख इस बात के साक्षी हैं कि गत ई० शताब्दी के प्रारंभ में ही रासलीला कथोपकथन-पूर्ण अभिनय के रूप में थी और उसके सब पात्र कथोपकथनों में भाग लेते थे।

इन तीनों लेखकों की कृतियों का मूल्य इस बात में नहीं है कि वे किसी सत्य का उद्घाटन करते हैं, वरन् वे हमारे ध्यान को मथुरा-प्रांत की इस अपूर्व 'नाट्य-कला' की ओर आकर्षित करते हैं, जो परंपरा से वहाँ चली आ रही है और कला की दृष्टि से जिसका परम मूल्य है। वे लेखक अत्यंत विद्वान् और प्रतिभाशील मनुष्य थे। इनका कथन प्रभाव पूर्ण है। इन तीनों ने रासलीला की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। जिन लीलाओं को उन्होंने देखा, वे सांगोपांग उन्हें अच्छी लगीं। वस्त्र, परिधान के विषय में वे लिखते हैं कि "वह अत्यन्त आकर्षक, रंग-बिरंगी और सुंदर थी, मंडली का प्रत्येक पात्र अपना अभिनय सफलता से और प्रवाह-पूर्ण रीति से करता था।" रासधारियों के संगीत पर तो हमारे लेखक मुग्ध थे। हम जानते हैं कि विदेशियों के लिये किसी देश का सुंदर से सुंदर और भाव-पूर्ण संगीत भी कोई अर्थ नहीं रखता। वह उसका आनंद उपलब्ध नहीं कर सकते और न अपने शब्दों में उसके स्वाद को व्यक्त कर सकते हैं। विदेशी संगीत सदैव प्रशंसा और श्रद्धा से वंचित रहता है, किंतु रासलीला को इसका गर्व है। इन लेखकों ने उसके संगीत की प्रशंसा में कहा है कि "रासधारियों का स्वर कोमल है, मंजा हुआ है और आकर्षक है।" मुझे यह और कहने का साहस है कि इन लेखकों ने ऐसा लिखकर कोई अतिशयोक्ति अथवा भूल नहीं की है—नहीं इसमें भी अधिक यह कहना भी आवश्यक है,—"बालक अभिनेताओं के कथोपकथन अत्यंत शुद्ध और पूर्ण होते थे—वे भाषा के शुद्ध वाहक थे। जिस स्वाभाविक उत्साह से ये बालक अभिनय करते थे—वार्तालाप करते थे, उनमें इन बालकों के शिक्षकों का धैर्य और प्रतिभा परिलक्षित होती थी और अंत में यह भी कह देना अनुचित नहीं है कि यद्यपि ये लीलाएँ अतीव भक्ति पूर्ण हैं तथापि इनमें आमोद और प्रमोद का पर्याप्त अवकाश है।"

बीती हुई शताब्दी के अन्य जन-प्रिय विनोदों में रास का क्या तुलनात्मक स्थान है? अठारह और उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदू जाति की कला और कलात्मक जीवन दोनों निम्न [illegible] थे। विद्वद्वर्ग भी अपने प्राचीन साहित्य को भूल गया था, सामान्य जीवन में प्राचीन [illegible] कोई सूत्र संबंधित नहीं था। जन-रुचि कुंठित हो गई थी, किंतु ऐसे समय भी [illegible] [illegible]

समान और श्रद्धा प्राप्त की। भारतीय नाट्य के अधकार युग से रासलीला क्यो अप्रभावित—अक्षत रही? इसके कई कारण हो सकते हैं, किंतु दो कारणो का उल्लेख नि सकोच किया जा सकता है। प्रथम तो यह कि रासलीला अतत धार्मिक-रूपक है। भारतवर्ष के सभी प्राचीन नाटक,—यह सत्य है नाम से तो धार्मिक हैं, किंतु रासलीला में केवल रूढि के लिये ही धर्म की छाया नही रहती, वह नितात भक्ति-पूर्ण भावावेशो का समीकरण है। इसके दर्शक भी वे भक्त-हृदय होते हैं, जो अपने इष्टदेव का लीलामृत पान करने के इच्छुक होते हैं ऐंद्रिक आमोद-प्रमोद ग्रहण करने वाले नही। इस प्रकार रास-लीला सामूहिक उल्लास के कुप्रभाव से सदा सुरक्षित रही है।

रासलीला को दूसरा सलाभ यह था कि इसे विद्वान् और मेधावी व्यक्तियो का नेतृत्व प्राप्त हुआ, जिन्हें जन-समान और पर्याप्त धन प्राप्त था। भारतीय अभिनेता को कालातर से अत्यत कठिन-जीवन व्यतीत करना पडा है। समाज में न उनका समान था न उन्हें अपने परिश्रम का पर्याप्त पारितोषक मिलता था, समाज के उच्चतर और विद्वद्वर्ग में उन्हें समता प्राप्त नही थी। समाज के उच्च वर्ग के व्यक्ति भी आत्म-समान को ठेस लगाये विना अभिनेता का जीवन नही अपना सकते थे। अत भारतीय रगमच नितात रूप से अशिक्षित वर्ग के हाथ में दे दिया गया और इसका नैतिक तथा कलात्मक स्वरूप नष्ट हो गया। रासलीला का ऐसा नैतिक और सास्कृतिक पतन अपने शिष्ट नेतृत्व के कारण सभव न हो सका। रासलीला के दिग्दर्शक और अभिनेता विद्याभ्यासी व्यक्ति थे, वे रास में सुदर एव उत्कृष्ट काव्य का प्रयोग करते थे। उनकी आय भी पर्याप्त थी और दीनता-दरिद्रता के अभि-शाप से वे मुक्त थे। सभी प्रकार के समाज में उनकी पहुँच थी। ऐसे सुसस्कृत और आत्मसमानी विद्वानो के नेतृत्व में रासलीला कला के दुर्द्दैव युग में भी सुरक्षित और सुसपन्न रही है।



कृष्ण की बुंदेलखंडी रास-मंडली

श्री कृष्णानद गुप्त

"कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरज की गुजरिया।
तुलसाँ, रुकमिन, पुनियाँ, मुनियाँ,
सुनियाँ और खुमनियाँ,
वा[1] तो ओढ़ें कुसुम-रंग-चुंनरिया—
कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरज की गुजरिया॥
चतुरा, मथुरा, बेटी बैया,[2]
रँमबैया, हरबैया, जेंबैया
वा तौ पैरें बजनू नोंनीं[3] घुंघरिया—
कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरिज की गुजरिया॥
लछिया, मंनो, बिरज की गोरी,
हरकुरिया रँमकुरिया, मोरी,
रोजई[4] करै रास की चोरी—
वा तौ पैरें चिलकनीं[5] नोंनीं मुंदरिया[6]—
कृष्ण, तुम को बुला गई बिरज की गुजरिया॥
जमुनाँ, सरसुतिया, परबतिया,
तिजिया, पुतिया, सुतिया, बुंदिया,
पैरें नाक में नोंनीं पुंगरिया[7]—
कृष्ण, तुम को बुला गई बिरज की गुजरिया॥
छूंम छूंम छंना न न नाँ हूँम चले आवें,
तुम कों गीत-मलार सुनावें।
नाँच, गावें, ताल-बजावें,
हूँम तूँम हिल-मिल रास-रचावें,
घर के लोग कुटँम खिसयावें।
सिर सें उड़-उड़ जावें मोरी, चुंनरिया,
कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरज की गुजरिया॥
कृष्णा प्यारे, बंसी-वारे,
जसुमत-वारे, नंद-दुलारे,
सब के प्यारे, सबसें न्यारे,
सब हि के हो तूँम रखवारे।
तूँमनें गिरिवर नख पै धारे,
तूँम पेंहलाद भक्त से तारे,
ऐसे दीन दयाल के प्यारे,
फिर से ऊंसिंयई[8] बजा दैं धुँन की मुरलिया,
कृष्ण, तुम कों बुला गई बिरज की गुजरिया॥"

१. वा तौ—वह तो। २. बेटी बैया—बेटी बाई। ३ नोंनीं—भली, अच्छी, शोभन। ४. रोजई—नित्य-ही। ५. चिलकनों—चिलकदार। ६. मुंदरिया—मुंदरी, अंगूठी। ७ पुंगरिया—पूंगरिया, नाक की कील। ८. ऊंसियई—उसी तरह की, वैसी ही।

प्राचीन गुजराती-साहित्य में श्रीकृष्ण

श्री बेचरदास, दोषी

गुजराती भाषा के तीन युग माने जाते हैं, प्राचीन युग की गुजराती, मध्यम युग की गुजराती और अर्वाचीन युग की गुजराती—प्रस्तुत लेख में केवल प्राचीन और मध्ययुग की गुजराती-भाषा में जो साहित्य लिखा गया है, उसमें श्रीकृष्ण के साथ सीधा या परपरा से जो साहित्य पद्य या गद्य में लिखा गया है उसका कुछ परिचय दिया जाता है।

प्राचीन युग की गुजराती में लिखा गया साहित्य केवल जैन पडितो का ही लिखा हुआ है। जैन कवियो की दृष्टि में श्रीकृष्ण उत्तम प्रकार के मानव, बडे वीर, बडे पराक्रमी और प्रजा पालक थे। लगभग बारहवी शताब्दी के महान् वैयाकरण, आलकारिक और अपने देश की भाषा का सर्व-प्रथम व्याकरण बनाने वाले गुजराती के महा ज्योतिर्धर आचार्य 'हेमचद्र' ने गुजराती व्याकरण में बहुत से उदाहरण ऐसे दिये हैं, जिनका सबध श्रीकृष्ण के साथ है। देखिये—

"बलिमभ्यर्थने मधुमथनः लघुकी भूतः सोऽपि।
यदि इच्छति वृद्धत्वं बदत मा मार्गयतः कस्यापि॥"[१]

अर्थात्, जब मधु-मथन नारायण बलिराज के पास अभ्यर्थना के लिये गये तब वे भी लघु (छोटे) होकर ही गये थे, जो अभ्यर्थना करनेवाला है उसे छोटा होना ही पडता है। इसी प्रसग का एक पद्य इस प्रकार लिखा है—

"मया भणितः बलिराजत्वं कीदृशः मार्गणो ह्येषः।
यादृशः तादृशः क्वापि भवति मूढ स्वयं नारायण एषः॥"

हे बलिराज, मैने तुमको कहा कि यह भिक्षुक कैसा है, बलिराज कहते हैं कि यह भिक्षुक कैसा भी है, किंतु हे मूढ, यह तो स्वय नारायण है और—

"एकामेकां यद्यपि पश्यति हरिः सुष्ठु सर्वादरेण।
तथापि दृष्टिं यत्र क्वापि राधाकःशक्नोति संवरीतुं बृद्ध नयनां स्नेहेन प्रक्षिप्ताम्॥"

अर्थात्, श्रीहरि प्रत्येक गोपी को बडे स्नेह भाव से आदर के साथ देख रहे हैं, तो भी जहाँ कही राधा जाती है वहाँ ही श्रीहरि की स्नेह दृष्टि जाती है, ऐसी स्नेह-दृष्टि को कौन छिपा सकता है।

जैन-संप्रदाय में चौबीस तीर्थंकर माने जाते है, उसमें तेईसवें तीर्थंकर 'नेमिनाथ' को श्रीकृष्ण के चचेरे भाई माने गये है। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव थे और माता देवकी थी, नेमिनाथ के पिता 'समुद्रविजय' थे और माता 'शिवा' देवी थी। नेमिनाथ बड़े बलिष्ठ थे, बालब्रह्मचारी थे, श्रीकृष्ण का पाचजन्य नाम का शख कोई नही फूंक सकता था। उस शख को नेमिनाथ ने फूक कर बजा दिया था। तब श्रीकृष्ण को इनके विवाह की चिंता हुई कि इतना जबरदस्त बलिष्ठ भाई क्यो अविवाहित रहे, अत उनको विवाह के लिये मनाने को श्रीकृष्ण अंत पुर-उद्यान-क्रीडा करने के लिये उपवन में ले गये, उसका सरस वर्णन 'श्रीनेमिनाथ-फाग' में है।

१. लेखक महाशय ने जो पद्य लिखे हैं वे प्राकृत और उसका संस्कृत-रूपांतर दोनों लिखे हैं, यहाँ केवल संस्कृत का रूपांतर ही दिया गया है।—सं०

उसके अनुसार नेमिनाथ जब विवाह के रथ में बैठ कर गये तब मार्ग में एक घेरे में पशुओं को बँधे देख कर तथा सारथि से पूछने पर और यह ज्ञात होने पर कि इन पशुओं से आपके लिये भोज्य-सामग्री बनेगी तो नेमिनाथ रथ को लौटा कर गिरनार पर्वत पर जाकर तप करने लगे और वहीं उनका निर्वाण हो गया। श्रीनेमिनाथ के फाग का समय वि० स० १४०५ का और उसके रचयिता 'राजेश्वर सूरि' है।

वैदिक-परपरा के गुजराती कवियों ने कृष्ण के सबध में जो काव्य प्राचीन अथवा मध्य-युग की गुजराती भाषा में लिखे हैं उनका नाम निर्देश मात्र यहाँ दिया जाता है। वैदिक परपरा में श्री-कृष्ण को परमात्मा का अवतार माना गया है—

१—भक्त कवि 'नरसिंह (नरसी) महता' ने श्रीकृष्ण को अपना इष्टदेव माना है और उनके सबध में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने हार, हुडी, वोसालो और विवाह नामक काव्य लिखे हैं। नरसिंह महता की सभी कविताओं में श्रीकृष्ण का स्तवन-वदन प्रमुख है। यह कवि काठिया-वाड में तलाजा गाँव के थे, उनका समय १४७०–१५३६ वि० है। गाँधी जी का प्रिय भजन–

'वैष्णव जण तो तेंणें कहिए, जे पीर पराई जाणें रे।"

नरसीजी का ही है।

२—"कवि-चरित्र"। लेखक-केशवराम-काशीराम शास्त्री।

३—"मयण छद"। लेखक—कवि मयण, इसमें श्रीराधिका जी के शृगार का वर्णन है। समय लगभग वि० १४५०–१५०० है।

४—"उषा-हरण"। लेखक—कवि वीरसिंह, समय लगभग वि० १५२०-१५२५ है।

५—"कृष्ण-क्रीडा-काव्य"। लेखक—केशवदास कायस्थ, समय वि० १५२९ है। यह कवि प्रभास-पाटण का रहने वाला था। यह काव्य चालीस सर्ग का है और प्रत्येक सर्ग अनेक छदों में रचा गया है तथा इस काव्य में कवि ने व्रजभाषा के भी बहुत सुदर पद लिखे हैं, जैसे—

"मत कहो मात रिसानी, वोलैं, यह अपराध हमारौं।
घर में रहैं सदा गुन-सागर, कोमल कुँमर तुम्हारौ॥"

६—"सतभामा नूं रूसणो"। लेखक—कवि माँडण बधारो, समय वि०१६ वी शताब्दी। इसमें सत्यभामा का रूठना वर्णित है। इस काव्य में जैसे महाराष्ट्र में श्रीकृष्ण को विट्ठोवा कहते है, उसी प्रकार 'विठला' कहा गया है और इस काव्य में मरैठी-भाषा का भी पुट मालूम होता है।

७—"श्रीभागवत दसमस्कध"। लेखक—पाटन नगर निवासी 'कवि भालन ब्राह्मण', समय लगभग १५४०–१५४५ वि०। इस ग्रथ में ४५७ पद है। इस कवि ने अपने समय की गुजराती में अनेक ग्रथ लिखे है और ब्रजभाषा में भी सुदर कविता लिखी है, जैसे—

"ब्रज कौ सुख सुमरत स्याँम।
परम कुटी सो विसरत नाहीं, नांहिन भावत सुदर धाँम॥
नवीर (?) मातृ नवनीत के कारन, उखलें बाँधे ते वहु दाँम।
चित में वे जु चुभी रही है, चोर-चोर कहत है नाँम॥
निसदिन फिरतो जु सुरभी के सगे, द्वार पर परत सील घन घाँम।"

८—"हरिलीला षोडस कला"। लेखक—कवि 'भीम', समय वि० १५४१–१५४९। कहा जाता है कि यह कवि काठियावाड में सुप्रसिद्ध तीर्थ 'प्रभास-पाटण' का था।

९—"ऊषा-हरण"। लेखक—'जनार्दन' तिवारी, वि० १५४८। इसमें ऊषा के पिता बाणासुर के साथ कृष्ण के युद्ध का और ऊषा के विवाह का वर्णन है। यह कवि गुजरात में नडियाद के पास उमरैठ का रहने वाला ब्राह्मण था।

१०—"मीराबाई"। वि० १५६५-१६०३। मीरा की कृष्ण-भक्ति और उनके रचित अनेक पद प्रसिद्ध है, जैसे—

"बंसीवाला आजो म्हारा देस ॥
आजो म्हारा देस, हो बंसीवाला आजो म्हारा देस।
थारी साँवली सूरत हृदय वसै, बंसीवाला आजो म्हारा देस ॥
आवन, आवन कह गए, कर गए कौल अनेक।
गणताँ-गणताँ घिस गई जीभाँ, म्हारी आँगलियो नी रेख ॥
एक वन ढूंढ़ी, सकल वन ढूंढ़ी, ढूंढ़ौं सारो देस।
थारे कारन जोगिन हूँगी, करूँगी भगवाँ भेस ॥
कागद नाहीं, म्हारे स्याही नाहीं, कलम नाहीं लवलेस।
पंखी नूं परवेस नाहीं, किण लिखूं संदेस ॥
मोर मुकट सिर छत्र विराजै, घूंघरवाला केस।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, आवो नी अणै देस ॥"

*

"म्हांनें, चाकर राखो जी, गिरिधारी लाला, चाकर राखो जी।
चाकर रहस्यूं, बाग लगास्यूं, नित उठ दरसण पास्यूं।
बिंद्रावण री कुंज-गैल माँ, गोविंद-लीला गास्यूं ॥
चाकरी माँ दरसण पास्यूं, सुमरण पास्यूं खरची।
भाव-भगत-जागीराँ पास्यूं, जणम-जणम री तरसी ॥
मोर-मुकुट पीतांबर सोहाँ, गल वैजणताँ-मालो।
बिंद्रावण माँ धेण चरावाँ, मोहण मुरली वालो ॥
हरे-हरे नवाँ कुंज लगास्यूं, बीचाँ-बीचाँ बारी।
साँवरिया रो दरसण पास्यूं, पैहण कसुंबी सारी ॥
आधी रात प्रभु दरसण दीस्यौ, जमणा जी रे तीराँ।
'मीरा' रे प्रभु गिरिधर नागर, हिवड़ो घणो अधीराँ ॥"

११—"ओखा-हरण"। लेखक—'कवि 'नाकर', वि० १५७२—१६२४। ये कवि वड़ौदा का रहनेवाला वीसावाल वैश्य था, इसकी कई और कृतियाँ भी हैं।

१२—"भ्रमर-गीत फाग"। लेखक—कवि 'चतुर्भुज', वि० १५७६।

१३—"विष्णु-पद"। लेखक—'आशा भगत', वि० १८ वीं शताब्दी।

१४—"राधाजी नो गर्वो"। विष्णु-पद, विष्णु-विचार, राधा-कृष्ण नी चातुरी, लेखक—कवि 'अज्ञराम'।

१५—"कृष्ण-चरित"। लेखक—कवि 'आत्माराम'।

१६—"राधाजी नो गर्वो"। लेखक—कवि 'उदयराम'।

१७—"कृष्ण-जन्म-वधाई"। कवि—'करनदास'।

१८—"गीत-गोविंद"। लेखक—'महादेव', वि० १६२५।

१९—"गर्जेंद्र-मोक्ष"। लेखक—'लक्ष्मीदास', वि० १६३८।

२०—"बाल-लीला"। लेखक—'शिवदास', वि० १६६७।

२१—"दशमस्कंध"। लेखक—'लक्ष्मीदास', वि० १६७४।

२२—"कृष्ण-चरित ना श्लोका"। लेखक—'डोसी वालाजी', वि० १७००।

२३—"सुदामा-चरित"। लेखक—'प्रेमानंद', वि० १७३१।

२४—"नाग-संवाद"। लेखक—'ब्रह्मानंद', वि० १७३१।

२५—"मथुरा-लीला"। लेखक—'केशवदास', वि० १७३३।

२६—"मथुरा नो काजल"। लेखक—'रघुराम', वि० १७७२।

२७—"रसिक-वल्लभ"। लेखक—'दयाराम', वि० १८८४।

इसके सिवा और भी अनेक कृतियाँ गुजराती कविगणो ने श्रीकृष्ण के विषय में लिखी हैं, उन सब का संपूर्ण निर्देश यहाँ सभव नही, प्रस्तुत लेख में जिस सामग्री का उपयोग किया है, वह यह है—

१. कवि-चरित्र भाग—१, लेखक—केशवराम-काशीराव शास्त्री।

२. गुजराती—हस्त-लिखित ग्रंथों की संकलित यादी।

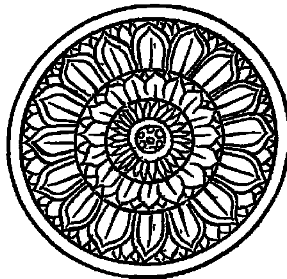
३. कृष्ण-लीला-काव्य—अंबालालजी जानी।

४. हस्त-लिखित पुस्तकों की नामावली—अंबालालजी।

५. प्राचीन विनोद-काव्य—छगनलाल रावत।

६. कवियो, भाग—१,२। संपादक—स्वर्गीय मोहनलाल भाई देसाई।

इस लेख में जिस-जिस ग्रंथ और ग्रंथकार का उल्लेख हुआ है उनका कृतज्ञता के साथ स्मरण करता हूँ।

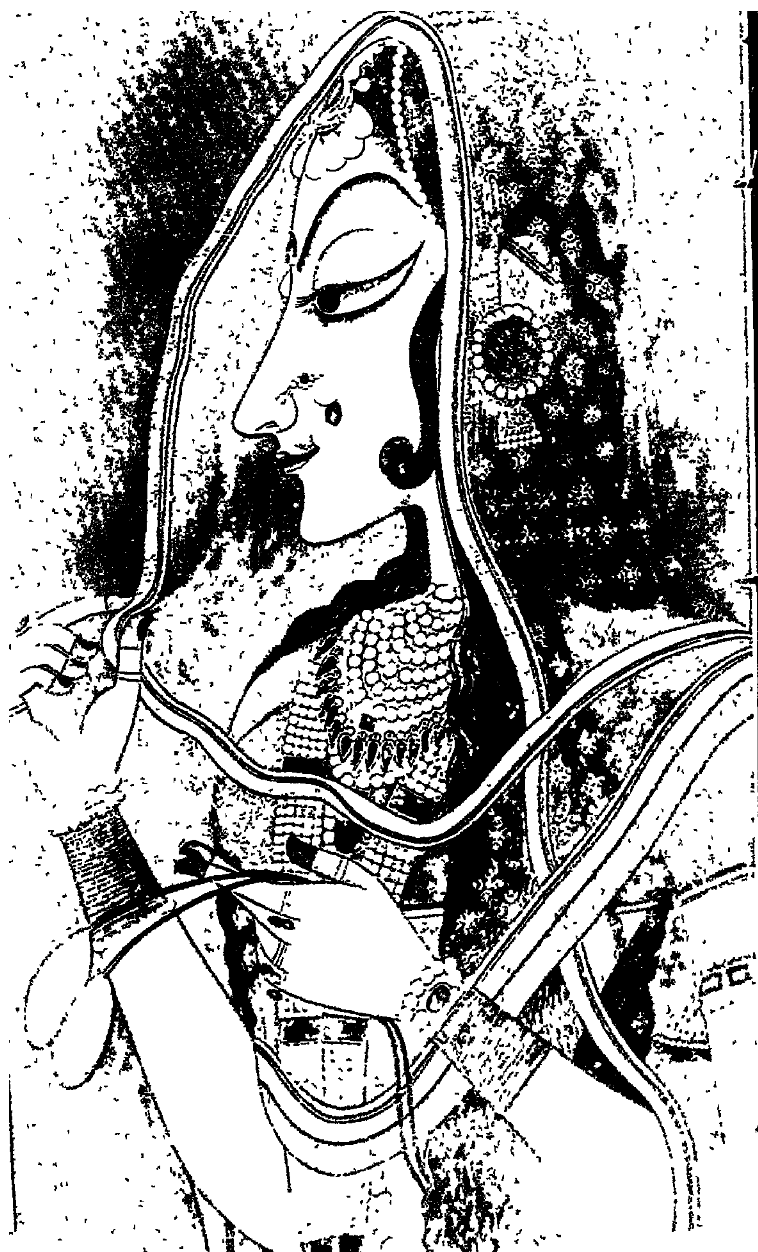


इतिहास, पुरातत्त्व और कला

राग-केदारा

"ललित ब्रज-देस, गिरिराज राजै।
घोष-सीमतनी-संग गिरिवरधरैंन, करत नित्त केलि तहाँ कांम लाजै॥
त्रिबिध-पोन संचरै, सुखद झरनाँ झरैं, ललित सौरभ, सरस मधुप गाजै।
ललित तरु, फूल, फल-फलित खट-रितु सदाँ, 'चत्रभुजदास' गिरिवर-समाजै॥"

—चतुर्भुजदास (अष्टछाप)



किशनगढ़ चित्र-शैली में बनीठनी राधा[1]

श्री एरिक सी० डिकिंसन

"यह एक ऐसी कला हमारे सामने है, जिसका वर्णन नारी-रूप में उचित होगा, क्योंकि
अधिकांशतः स्त्री-सौंदर्य के चित्रण के लिये ही यह समर्पित की गई है। यह कला निश्चय ही
मानवोन्मुख और प्रेम-रस से भरी है। वन-देवताओं की कल्पना प्रसूत सुंदर छवियों से अलंकृत
यह कला परिष्कार की उस सीमा को पहुँच गई थी, जहाँ से फिर वह ह्रास का किनारा छूने
लगती है।"

—इवान स्चुकिन कृत 'भारतीय चित्रकला' (ल पाल्यूर आदिश)

"........सुंदरतम कला प्राय. उस कल्पना-शील युग में प्रस्फुटित होती है, जिसमें कल्पना-
लोक में जन्म लेनवाले सौंदर्य का प्रवाह पृथ्वी पर उतर कर कुछ धीमा पड़ जाता है और
वास्तविक विषयोन्मुख सौंदर्य का प्रवाह उमड़ने लगता है और ये दोनो धाराएँ एक दूसरे में
घुल-मिल जाती है। इसके फलस्वरूप एक उदात्त कला की सृष्टि होती है जो एक ओर कल्पना
के सूत्रो से जुडी रहती है और दूसरी ओर चकाचौंध करनेवाले उदार, निर्मल एवं इंद्रिय-
प्रत्यक्ष में आनेवाले नारी-सौंदर्य का चित्रण करती है।"

—पी० ए० सोरोकिन कृत 'कला के रूपो की लोल गति' फ्लक्चुएशंस इन फार्म्स ऑव आर्ट, भाग १

मेरा किशनगढ (शुद्धरूप—कृष्णगढ) से प्रथम संपर्क सितंबर सन् १९४३ में हुआ। उस समय
संयोग से ही वह बहुमूल्य वस्तु हाथ लगी, जिसका वर्णन इस लेख का उद्देश्य है। किशनगढ के पुराने
किले में चित्रो के संरक्षक प्रशंसनीय गर्व के साथ हमें किशनगढ के मुगल-कालीन चित्रो का संग्रह दिखा
रहे थे। वैसे तो उसे देखने के बाद किसी नई वस्तु को पाए बिना ही हम किशनगढ से लौट आते,
पर हिमाचल-शैली के चित्रो की मोहनी मेरे मन पर पहले पड चुकी थी। अतएव मैंने पूछा—जब
राज्य का नाम किशनगढ है, तो क्या भगवान् कृष्ण के नाम के साथ इसका कोई आनंदप्रद संबंध नही
है? यदि है, तो क्या कृष्ण-लीला-संबंधी कुछ चित्र भी यहाँ है?

अनुमान सत्य सिद्ध हुआ। यह बताया गया कि ऐसे चित्र तो स्थानीय कलाकारो की ही
कृतियाँ है और उनकी तुलना संभवत उन मुगल कालीन विशिष्ट चित्रो से नही हो सकती, जिन्हें हम
देख रहे थे और अधिक जाँच-पड़ताल करने पर संग्रहालय के संरक्षक महोदय अनिच्छापूर्वक वहाँ से
गए और चपरासी के साथ एक बड़ा-सा गट्ठर लादे हुए लौटे। यह कहना अनुचित न होगा कि उस समय
किशनगढ के पुराने महल में एकत्र हम लोगो में से किसी को यह पूर्वाभास नही था कि शीघ्र ही हम क्या
देखनेवाले थे और किस प्रकार पार्थिव जगत् से ऊपर उठकर क्षण भर में ही हम एक दूसरे अपार्थिव लोक
में पहुँच जानेवाले थे, पर हुआ यही, जब कि नीले आवरण के भीतर से एक-एक बड़े आकार के चित्र
निकलने लगे। जिन्हें देखकर हममें से प्रत्येक हर्ष से प्रफुल्लित होकर आह्लाद-ध्वनि करने लगा। हमने
ऐसा अनुभव किया जैसे हम भगवान् कृष्ण के संमोहक स्वर्ग में प्रवेश पा गए हो।

अब हमारे नेत्रो के सामने चित्रो का ऐसा दृश्य उपस्थित था जो नितांत, नया, विमुग्धकारी
और रहस्यपूर्ण था और जैसा हम में से किसी ने पहले न देखा था। इन चित्रो के स्वर्ग लोक में निर्मल

[1]. अंग्रेजी का भावानुवाद, अनुवादक—वासुदेवशरण।

भरी वापियाँ, सघन वन, संगमर्मर की वेदियाँ और सुंदर आवासों से परिपूर्ण थे। उसकी अगणित सहायक सामग्रियों में सेवा-निरत सखियों के सुंदर झिलमिल परिधान भी थे, जिनके बीच में कृष्ण और राधा की युगल मूर्ति विराजमान थी और दोनों एक दूसरे के साथ हास-विलास और सुगंधित पान-फूल के आदान-प्रदान में व्यस्त दिखाए गए थे।

उस समय की हमारी यह चित्र-झाँकी क्षणिक ही रही और कर्तव्य के आदेश से प्रेरित होकर बीस मिनट बाद हम अजमेर लौट आए। किशनगढ के चित्रों का यही प्रथम परिचय था।

राज्य का संग्रह

किशनगढ के तत्कालीन दीवान डाक्टर आर० के० सिंकद के आमंत्रण पर सन् १९४३ ई० में बड़े दिन की छुट्टियों में मैं फिर किशनगढ गया। उद्देश्य यह था कि किशनगढ के चित्र-संग्रह का निरीक्षण अधिक अवकाश के साथ कर पाऊँगा और उसकी विविधता और विस्तार से परिचित होने के साथ ही भारत की सांस्कृतिक थाती में उसके स्थान का मूल्यांकन भी कर सकूँगा।

हमारे मन में एक गुप्त प्रश्न बार-बार चक्कर काट रहा था 'क्या अचिर-प्राप्त किशनगढ के चित्र राजस्थानी चित्र-कला की किसी अज्ञाती शैली के प्रमाण हैं? यदि हाँ, तो उसकी पहचान के कौन-कौन से विशेष लक्षण हैं?' ऐसा मन में आया कि इन प्रश्नों के उत्तर को मुख्य रूप से और बातों से अधिक महत्त्व मिलना चाहिए।

हमारा दैनिक कार्यक्रम राज्य के चित्र संग्रह में से सैकड़ों चित्रों का निरीक्षण करना था। चित्रों के बस्ते बराबर सामने आते-जाते थे और विषय के हिसाब से चित्रों को सरियाने का काम हो रहा था।

पहले थी 'शबीहा' या प्रतिकृति की श्रेणी, जो संख्या में सबसे अधिक थी। इसमें प्रसिद्ध संत, दरवेश, गायक, राजा-महाराजा, नवाब-बादशाह और नायिकाओं के चित्र थे। भिन्न समयों पर किशनगढ की चित्रशाला में ये चित्र लिखे गए थे और काफी विश्वसनीय थे, किंतु ये कृतियाँ राजपूत कालीन चित्रकला की 'राजस्थानी' शबीहों की भाँति ही थीं। राजा और उमरावों के चित्रों में उदयपुर, जोधपुर और जयपुर का विशेष स्थान था। संभवतः इनमें से कुछ चित्र प्रेमोपहार के रूप में किशनगढ आए होंगे।[१]

एक श्रेणी ऐसे चित्रों की थी जिनमें शिकार के दृश्य थे। इनसे प्रकट होता था कि किशनगढ के अनेक राजा जंगली सूअरों के पीछे घोड़ा डालकर शिकार करने के शौकीन थे। उसके लिये घुड़सवारी की निपुणता चाहिए। इस श्रेणी के चित्रों में पशुओं का चित्रण विशेष रूप से रहता है, जिनमें 'राजवल्लभ तुरंग' और शाही हाथियों के चित्र बहुत से मिले। संख्या की दृष्टि से ये चित्र जितने प्रभाव-जनक थे, कला की दृष्टि से उतने अच्छे न थे।

केवल एक श्रेणी के चित्रों में शैली की विशिष्ट छाप अंकित थी और वह थी नायिकाओं के चित्रों में। इनमें भी एक विशेष प्रकार के चित्र अत्यंत आश्चर्य-जनक थे जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

कृष्ण-लीला के चित्र

कृष्ण-लीला-संबंधी चित्रों में मौलिकता की छाप थी और उनकी शैली में भी एक निजी विशेषता थी। ये चित्र आकार में बड़े थे और चित्रकार के साहस-पूर्ण अंकन के परिणाम थे। उनके

१. किशनगढ का चित्र-संग्रह हमें अभी नवंबर सन् १९४९ में देखने को प्राप्त हुआ। उसके प्रतिकृति चित्रों में एक विशिष्ट संग्रह पुष्टिमार्गीय आचार्य एवं अष्टछाप के कवियों के चित्रों का है। सूरदास, मीरा, कबीर, हित हरिवंश, वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ, उनके परिवार के गुसाईं आचार्य, एवं स्वयं महाराज सावंतसिंह या 'नागरीदास' के चित्र इस संग्रह में हैं। —वासुदेवशरण

विषय सयुजन और वर्ण-सौष्ठव में भी काफी आकर्षण था, लेकिन सबसे अधिक आकर्षक उनकी अपनी 'अकन-शैली' थी। अकन की यह निजी विशेषता न तो चित्रो के विशेष प्रकार के पहनावे में थी और न आभूषणो में, यद्यपि इनके लिखने में भी चित्रकार ने बहुत ही सावधानी से काम लिया था। युगल-छवि के परिधान एव राधा जी की चोली के ऊपर लहराते हुए मोतियो के बडे-बडे हारो में चित्रकार ने काफी निपुणता से काम लिया था, जैसी कि जयपुरीय 'रासलीला' के चित्रो में देखा जाता है, परतु इसमें से किसी भी अलकार या शृगार की आकर्षण-शक्ति ऐसी न थी जैसी कि दुलहिन राधा या दूल्हा माधव के 'एक चश्मी' चित्रो की विशिष्ट अकन-शैली की मोहिनी छवि थी। चित्रों की शैली प्रचलित राजस्थानी-विधि के अनुसार होते हुए भी उसका एक अपना आकर्षक प्रकार था। इस अकन-शैली की विशेषताओ को हमें विशेष रूप से देखना आवश्यक है, क्योकि कृष्णगढ के कृष्ण-लीला-सबधी चित्रो की पहचान इन्ही गुणो से की जा सकती है।

सामान्यत जिसे हम राजस्थानी अकन-विधि समझते हैं, उससे कुछ विशेष परे हटकर किशन-गढ के चितेरो ने अपने ये चित्र लिखे। ज्ञात होता है कि किसी अनुभवी उस्ताद के हाथो में कोई बडा भावाविष्ट गुरुमत्र उतर आया था, जिसका प्रयोग उसने राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के चित्रण के लिये ही किया है। किशनगढ जिसे हम 'किशनढग की अकन-शैली' का नाम देते है, उसमें निजी आकर्षक विशेषता के अतिरिक्त बडा जीवन और प्राण है और वह अनजाने ढग से अपनी मोहिनी शक्ति बिखेरती हुई जान पडती है। जिन मुरक्कों में नायिकाओ के चित्र थे उनको देखते-देखते शीघ्र ही हमें किशनगढ-शैली की इस विशेषता का पुष्ट परिचय मिल गया।

लगभग आठ सौ चित्र जब हम देख चुके थे तब एक बडे लिफाफे में १९"×२२" का एक बडा चित्र हमारे सामने आया। इस प्रकार कृष्णगढ की राधा हमारे आश्चर्य-चकित दृष्टिपथ पर अवतीर्ण हुई और उसके सौदर्य के सभवेग ने हमारे मन की समाधि को छितरा दिया।[१] किशनगढ की जिस निजी अकन-शैली और सजधज का सौदर्य-प्रधान अकन-शैली और सजधज का अनुभव हमें दूसरे चित्रो में मिल चुका था, उन्ही की एक निकट की झांकी राधा के इस चित्र में हमारे लिये सुलभ हो गई।

किशनगढ़ की अनुपम कृति—'राधा'

किशनगढ की राधा किसी बडे कलाकार की एक अनोखी कृति है। इसकी अपनी धज है और अपनी बनठन है। कमान-सी तनी हुई ऊँची भोहो के ऊपर पीछे को ढलता हुआ माथा इसकी पहली विशेषता है। सुए-सी लबी नाक और आगे को झुकी हुई ठोडी दोनो बहुत ही अनोखी बन पड़ी हैं, पर सुदरता में चार चांद लगाने वाली बाँकी मछली के जैसी कटावदार आँख है। उसका अपाग भाग ऊपर की ओर झुकता हुआ भो की वकिम-कमानी के साथ छूता हुआ जान पडता है। किशनगढ की इस राधा के लिये एक उपयुक्त विशेषण होगा—"कटाक्षवती नायिका"। निपुण चित्रकार ने उसे सँवारने के लिये एक और अनोखी कलम लगाई है, वह है ठोडी के पास तक लहराती हुई काली लट जो कपोल के प्रात-भाग को सीमित करने की रेखा सी जान पडती है।

किशनगढ-शैली की इस छबीली नारी-कृति को देखकर ऐसा जान पडता है कि इसके चित्रकर्ता ने अपनी सूझ-बूझ के साथ शृगार की परपरा का खूब मिलान किया है। सस्कृत और हिंदी-काव्यो में शृंगार-सौंदर्य का जो चित्रण किया गया है, चित्रकार ने मानो चित्र में लिख दिया

[१]. सौंदर्य की अनुभूति से उत्पन्न होनेवाले इस प्रकार के मानसिक धक्के (इस्थेटिक शौक) को 'संवेग' कहा है। चित्र-सौंदर्य को जानने की दूसरी परिपाटी बौद्धिक है, जिसके द्वारा आचार्य या पडित (विचक्षण) लोग चित्र की परख करते हैं, लेकिन रसिक-जन तो चित्र के सौंदर्य का रसानुभव करके लाहालोट हो जाते हैं।

है। कर्णांत को छूनेवाले विशाल लोचनो का आदर्श चित्र में साकार हो उठा है। स्त्री के लिये 'उत्पलाक्षी' विशेषण इस चित्र में सत्य होता जान पडता है।

अब हममें से अनेको के हृदय इस बात की साक्षी देते होगे कि सचमुच इस कृति के द्वारा कोई एक महान् चित्रकार हमारे समुख उपस्थित हुआ है। उसकी अनुपम राधा की यह एक चश्मी शबीह् इटली देश के पद्रहवी शताब्दी के अभ्युत्थान-काल में उत्पन्न होने वाले 'पिसनेलो' और 'बल्दोविनेती' जैसे चित्रकारो की कृतियो से लोहा लेने वाली है। प्रश्न यह है कि क्या इस तरह का कोई विशिष्ट चित्रकार किशनगढ-शैली के इतिहास में पाया जाता है? अपनी खोज के फलस्वरूप हमें जो ज्ञात हुआ उसके अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह है।

किशनगढ़ का उस्ताद चितेरा

यह बात सहज मानी जा सकती है कि जब किशनगढ में यह विचार उत्पन्न हुआ कि उसकी चित्रशैली की कोई ऐसी निजी विशेषता होनी चाहिए जो पास-पडोस के रजवाडों में विशेषत.—जयपुर, जोधपुर, बीकानेर के बडे तिगड्डे में कही भी देखने को न मिलती हो, तो इस प्रकार की एक विशेष रूपाकृति-निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई और हमारा विश्वास है कि उसका उत्तर किशनगढ के राधा और कृष्ण की इस विशेष प्रकार की मुखाकृति में प्राप्त हुआ। ऐसी मौलिक रचना किसी रहतवा-भरतवा चित्रकार के मान की न थी। प्रश्न होता है कि क्या किशनगढ के इतिहास में इस काम के लिये समर्थ किसी के सचिव श्री 'अली फैयाजखाँ' से मुझे जो सूचना मिली उससे इसकी पुष्टि होती है।

कृष्ण-लीला के दो आकर्षक चित्रो पर लिखे हुए सुदर नस्तालीक अक्षरो की ओर जब मैंने ध्यान दिया तब उनपर यह लिखा हुआ था—"अमल सुरधज निहालचद", अर्थात् सुरध्वज निहालचद (चितेरे) का लिखा हुआ (चित्र)। दोनो ही चित्रो में उसी प्रकार की विशेष शैली थी, जैसी कि कृष्ण और राधा की युगल मूर्ति के लिये इस कला में मिली थी। इस कला के सुदरतम् चित्रो में शैली की जो निजी विशेषता है वह उस सूक्ष्म सीमा तक है, जिसका अतिक्रमण करने पर चित्र कजदार हो जाता है या भडऊवा बन जाता है।

निहालचद चितेरे का नाम ज्ञात होने के बाद कुछ सामग्री जिस पर किशनगढ-शैली के समय पर प्रकाश पडा, एक बडे चित्र में श्री 'शुकदेव' जी गगा के किनारे राजा परीक्षित और ऋषि-मुनियो को कथा सुना रहे है। चित्र उतना सुदर नही था, पर उस पर लिखा हुआ था कि उसे सवत् १७०० (१७५७) में 'सुरधज निहालचद' ने बनाया, इससे यह निश्चित हुआ कि १८ वी शती के दूसरे भाग के आरभ में निहालचद दरबार के लिये सुदरतम् चित्रो के लिखने का काम कर रहे थे। निहालचद की कलम की अपनी खूबी थी। किसी कच्चे उस्ताद के हाथों में पड कर उस कलम की किरकिरी हुए बिना न रहती। यह शका किशनगढ के ही 'अमरचद' और 'सीताराम' नामक दो लिखे हुए अन्य चितेरो के लिखे हुए चित्रो में स्पष्ट दिखाई पडती है। सभवत वे निहालचद के ही सहायक थे, पर उस्ताद निहालचद की हठौती की अपनी शान है और वह अलग-अलग पहिचानी जाती है।

निहालचद के बाद दूसरो के हाथ में पडकर जब यह कलम कमजोर हुई, तब चेहरे में नाक और ठुड्डी के एक ही ओर बढाव के कारण शशक की आकृति का कुछ आभास आ गया। निहालचद की कलम का पैनापन दूसरे चित्रो में प्राय जाता रहा है। किशनगढ के चित्रागारो (मुरक्को) में सुरक्षित नायिकाओ के चित्र इस बात के साक्षी है। बडोदा-सग्रहालय में वल्लभाचारी के दो चित्रपट या पिछवाई हैं। मेरा अनुमान है कि ये किसी समय 'कल्याणराय' की मूर्ति के दोनो ओर दीवार पर टाँगे जाते थे। कल्याणराय, कृष्ण के उस स्वरूप का नाम था जिसे महाराजा रूपसिंह ने किशनगढ के पुराने राजमहिलो के मदिर में सवत् १७११ में स्थापित किया। मेरे मित्र प्रो० गौरी-

शकर ने किसी समय उन दो चित्रपट पिछवाइयो को वही लगा हुआ देखा भी था। किशनगढ किसी समय वल्लभ-सप्रदाय का अच्छा केंद्र था।

एक प्रश्न मेरे मन में यह भी उत्पन्न हुआ कि शैली की यह निजी विशेषता निहालचद की कलम में स्वय उत्पन्न हुई या उसने कही से उसे प्राप्त किया। किशनगढ के राजाओ के जो चित्र उपलब्ध थे उनमें महाराज 'सहसमल' (१६१६ ई०) के चित्र की छवि देखकर मुझे ऐसा लगा जैसे निहालचद ने किशनगढ के नरेशो में सबसे सुदर सहसमल की प्रतिकृति या छवि को अपना आदर्श माना हो। मैंने सहसमल का यह चित्र 'हेंडले' की पुस्तक 'भारतीय नरेश' (रूलर्स आफ इडिया) के फलक १६ पर देखा, पर सभव है कि सहसमल का यह चित्र असली न हो, निहालचद के बाद बनाया गया हो।

निहालचद के समय में किशनगढ के शासक महाराजा 'सावतसिंह' जी थे। निहालचद के साथ उनका अनूठा सबध था।

कवि-नरेश

किशनगढ में सुरक्षित पत्रो से ज्ञात होता है कि निहालचद को एक जागीर मिली थी। राजकीय चित्रशाला में काम करनेवाले चितेरो को तीन रुपया रोज मिलता था। सभवत यह वृत्ति सहायको के लिये थी। निहालचद को इससे दूना या और अधिक मिलता होगा। उनका घर अब भी किशनगढ में है और उनकी शबीह भी जो उनके सहयोगी अमरचद ने बनाई थी,—जिसमें 'रूपनगर' के राजमहल में महाराज 'सरदारसिंह' की राजसभा में दूसरे दरबारियो के साथ निहालचद भी दिखाए गए है। सभवत निहालचद की कलम का यश अन्य रजवाडो में भी पहुँचा, जैसे बूदी के महल में बने हुए एक भित्ति-चित्र में निहालचदी कलम की छाप दिखाई पडती है। यो तो किशनगढ के कई राजाओ की निहालचद पर कृपा रही, पर महाराज सावतसिंह उसपर विशेष रूप से ढरे थे।

किशनगढ के चित्रो को देखकर मेरे मन में जो सौदर्य-बोध उत्पन्न हुआ उससे मुझे कुछ ऐसा लगा कि इन चित्रो का प्राण और भाव-स्रोत किसी साहित्यिक की आत्म-प्रेरित मुक्तक कृति में होना चाहिए। शीघ्र ही मुझे इसका प्रमाण भी मिल गया। दरबार की कृपा से कृष्णगढ के बीस चित्र इस विचार से अपने साथ ले आया था कि मै उन्हें प्रकाशित करूँगा। एक चित्र के पीछे कुछ कविता लिखी हुई थी। मेरे मित्र पं० 'बालसहाय शास्त्री' ने जो स्वय पुष्टि सप्रदाय के है, उसका पता-ठिकाना 'नागर-समुच्चय' नामक ग्रथ में निकाल लिया। उन बीस चित्रो में से निश्चय ही राधा, दीवाली, तिरात्री, प्रेम की नौका और वन-भेंट—नागर-समुच्चय पर आश्रित थे।

और चित्रो के वर्णन का यहाँ स्थान नही, परतु 'दीवाली की रात' नामक चित्र का जिस पर वह कविता लिखी हुई थी—परिचय आवश्यक जान पडता है। काली जमीन पर दीपको की झिलमिल में कुछ भवन बने है और सामने की ओर एक सरोवर के तट पर ऊँचे आसन पर दिव्य दपति रूप में राधा और कृष्ण पूर्ण शृगारी वेश में विराजमान् है। सामने सखियो के मध्य में एक सखी अजलि से फूलझडी देखती हुई दिखाई गई है। कैसा सुदर अनुपम दृश्य है। चित्र में मानो कृष्ण के लीला-लोक की एक झाँकी साकार हो उठी और स्वय चित्र की आत्मा ज्योति के पख लगाकर सौदर्य के भाव-लोक में विचरण करती-सी जान पडती है।

किशनगढ के महाराज सावतसिंह ही कवि 'नागरीदास' थे, जिन्होने समुच्चय की रचना की। महाराज सावतसिंह कृष्ण के अनन्य भक्त और लीलाओ में अत्यधिक रस लेनेवाले थे। उनके मन में भक्ति और वैराग्य का उदय हुआ और वे राजपाट त्याग कर वृदावन-वास करने लगे। कहते है, उनकी एक दासी जिसका नाम 'बनीठनी' था, जो अंत तक वृंदावन में महाराज की सेवा में रही। किशनगढ शैली में निर्मित राधा की छवि एक अत्यत यशस्वी कृति है। मुगल-चित्र-कला के रास के

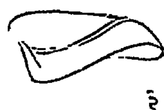
बाद राजस्थानी-कला और राजस्थान की यात्रा का जो सगर्व उत्थान हुआ, उसकी पूरी झलक किशनगढ-चित्र-शैली में है।

किशनगढ के चित्रो की विशेषताएँ उनके रग है, जो राजस्थानी शैली के चटकीले रगो की अपेक्षा कुछ ठडे है और इस बात में कुछ-कुछ मिलते है । इन चित्रों की दूसरी विशेषता राजदरबारो के ठाठ-बाट है। जान पडता है मानो दर्शक वे रोक-टोक महलो के अत पुर के वैभव को विश्रब्ध होकर देखने की अनुमति पा गया हो। इन चित्रो की तीसरी विशेषता भक्ति के साथ भोग-शृगार का मेल है। भौतिक-जीवन के राग-भोग को पूरी तरह सँवार कर धार्मिक जीवन के साथ साधने की प्रवृत्ति वल्लभ-सम्प्रदाय की विशेष रीति थी। वही इन चित्रो की प्राण-दायिनी सुदरता है। इन चित्रो में शृंगार का पक्ष बहुत प्रबल है, लेकिन वह हमारे मन में जमे हुए शृगारी मैल को बाहर उडेलने में सहायक बनता है और निजी (अपनी-अपनी) मानसिक तैयारी के अनुसार हमें विश्व से भी हुए प्रेम, सौंदर्य और कल्याण के साक्षात् दर्शन के योग्य बनाता है।




१

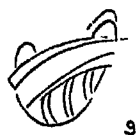

२

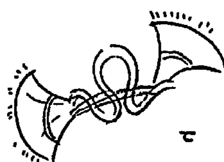

३


४


५


६


७


८


९


१०

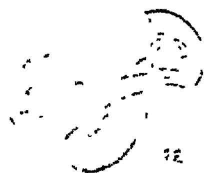

११


१२


१३


१४

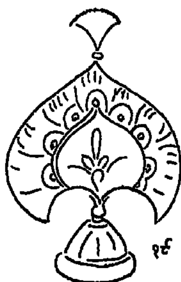

१५

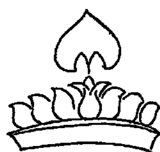

१६

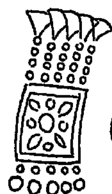

१७

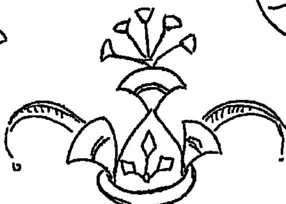

१८


१८ अ


१९


२०


२१


२२ अ


२२ आ


२३


२४


२५

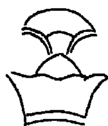

२६


२७


२८


२९


३०


३१

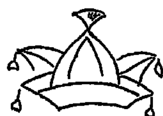

३२


३३


३४


३५

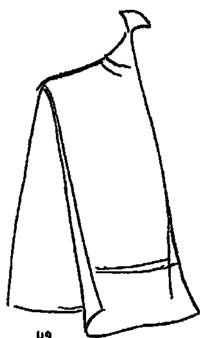

३६


३७

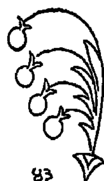

३८


३९

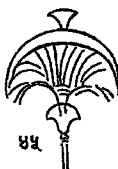

४०

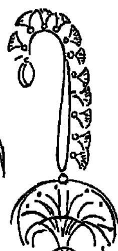

૪૧


૪૨


૪૩


૪૪

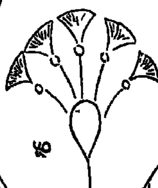

૪૫

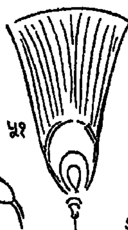

૪૬


૪૭


૪૮

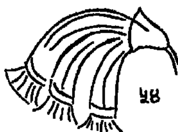

૪૯


૫૦

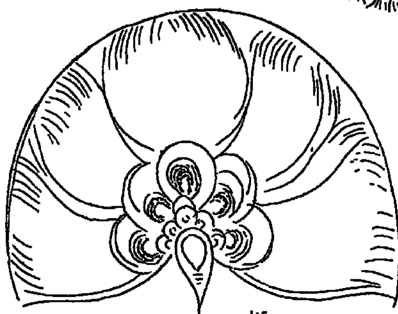

૫૧

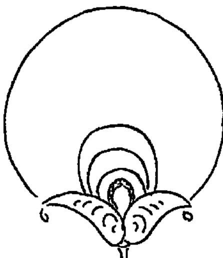

૫૨


૫૩


૫૪


૫૫


૫૬

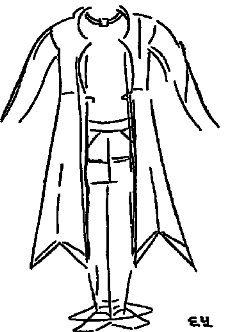

૫૭


૫૮

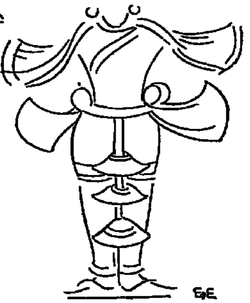


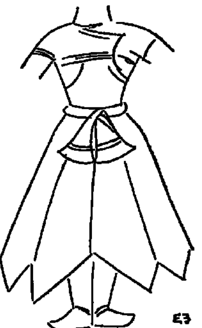


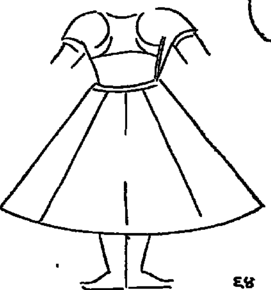




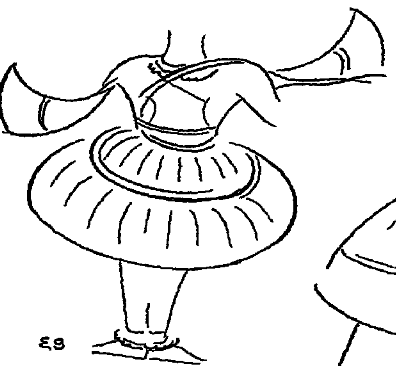


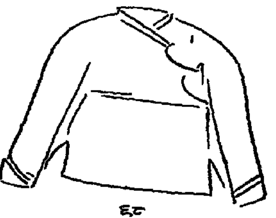


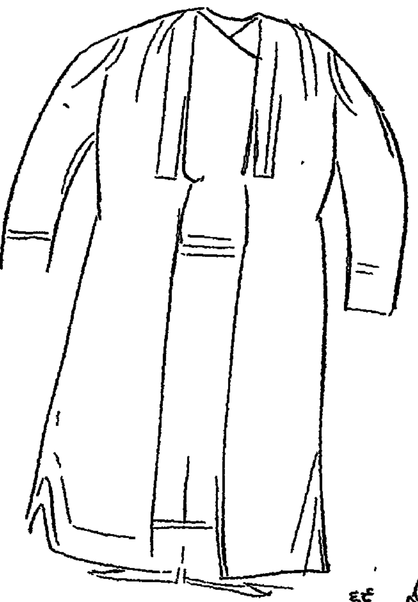


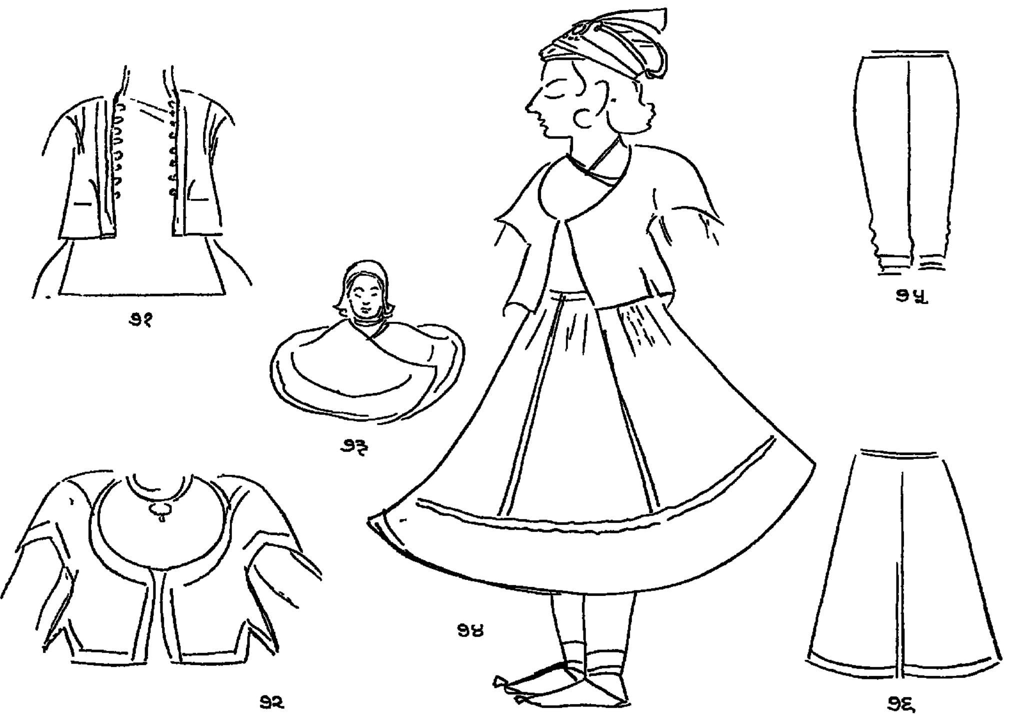













७७

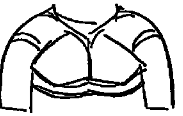

७८



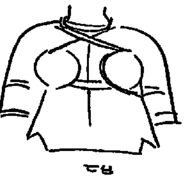
७९

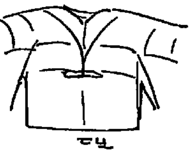

८०


८१


८२


८३


८४


८५

छिन-छिन बानिक और-ही-और

श्री जगन्नाथ अहिवासी

गुप्त-समय के पीछें सोरहवी शताब्दी में श्रीमद्वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ (गुसांईं जी) प्रगट भए। तैलग-सस्कृति कू लैकें आप व्रज में पधारे और व्रजवास करिकें व्रजवासी वने। आपने जो भगवद्-रस वहायौ वौ—

"ना परस्यौ करमठ और ज्ञोगी, अटक रह्यौ रसिकन के मन मे।"

वा रस सागर में जो कोई आयौ वौ तरावोर ह्वै गयौ, यहाँ लो कि वा समय अकवरशाह तथा वाके दरवार के कछु रसिक-जन हू नें वामें गोता लगाए।

आपनें 'अष्ट-छाप' की स्थापना करी, तामें भक्त शिरोमणि श्री 'सूरदास' जी प्रभृति अष्ट सखांन नें जो भगवद्-रस गायौ वौ हरें-हरें सारे भारतवर्ष में फैल्यौ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी तौ परम त्यागी हते और आपनें श्रीजी को सेवा-सिंगार प्रणाली वडी-ही सून्छम वाँधी, जैसे सिंगार में मोर-पिच्छ कौ मुकुट और गुजा की माला, वस्त्रन में हार-सिंगार के फूलन की डाँडी सूं रँगे भए केसरी वस्त्र और मृत्तिका की झारी और भोग में भीजे भए छोला (चना), परतु जव श्री गुसांईं जी के अनेक राजा और धनिक शिष्य भए और आपकी सरन में आए तथा स्वय श्री गुसाँईं जी हू अपने दीक्षित नाम के सग ही महाराज-पद पै सुशोभित भए और सरनागत आए भए राजा-महाराजान के तथा वैष्णवन के द्वारा सेवा करे भए द्रव्य कू श्रीमद् वल्लभाचार्य जी की आज्ञानुसार—

"धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।

कृष्णार्थं तत् प्रयुंजीत कृष्णोऽनर्थस्च वारक.॥"

प्रभु में विनियोग कियौ। अपनें उपास्य श्री ठाकुर नदकुमार-लाडिलौ, ठकुराइन वृषभांन-लली कू मध्य राखिकें अनेक प्रकार के मनोरथन की रचना करी और विविध-भाँति के भोग-सिंगार, रग-राग, सुगधन[1] आदि, पलना, हिंडोरा, रथ, हठरी, सुखपाल, सिंहासन, चौकी, चौपड, गेंद चौगांन, सतरज आदि खेल-खिलौना, आरती, साँझी आदि की रचना, हाथी-दाँत, चाँदी-सोने और अनेक रतनंन की कलात्मक वस्तुएँ आपनें जहाँ सू देखी और मिली वे सव प्रभुन कू अगीकार कराईं। मदिर की वनगत हू तत्कालीन समय की 'हवेलीन' के अनुसार वनवाई। पोशाक में हूं आपनें वा समय के राजांन के तथा शाही पोशाक में सू सुदर कलात्मक वस्त्र प्रभून कू अगीकार कराए। रागेंन में हू राँगन की विविध-रचना समयानुकूल राग, ऋतु और सधि के रागन की योजना करी। आपने संप्रदाय के भक्तंन के सिवाय अन्य भक्तंन के हू जैसें—स्वामी श्री हरिदास जी, श्री हितहरिवश जी, श्री व्यासजी, श्रीभट्ट जी, श्री गदाधर जी भट्ट आदि वृंदावन के महानुभाव और अन्यं हूं हरिजन गायकन के पद जैसे—तानसेंन, धोंधी, रसखान, घनानद आदि के पद हू अपनाए। वास्तव में आपने जहाँ सू सुदर सरस और भाव-

1. श्रीवल्लभ संप्रदाय में चार सुंगधित-द्रव्यों—'सौंधौ', 'अरगजा', 'सखकरदम' (यक्षकर्दम) और 'जवाद' का प्रयोग प्रभुकी सेवा में होता था, अष्टछाप के कवियों ने भी इनका वर्णन अपनी रचनाओं में किया है और वाद में भी इनके प्रयोग कवि-रचनाओ में मिलते हैं, जैसे—"लाल तिहारौ 'अरगजा', उर है लग्यौ अबीर"—आदि, पर ये क्या हैं? कैसे बनते हैं? इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

—ज० चतुर्वेदी

भरी वस्तु देखी लई और प्रभून कू अर्पण करी। यह है आपकौ विशाल हृदय और परम दयालुता। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में एक प्रसग आयौ है—जब तानसेंन गोकुल आए हते और वही गुसांई जी ने उनकौ गांन सुन्यो तब अति प्रसन्न ह्वै कें एक सहस्र मुद्रान के सग एक कौडी धरि कें तानसेंन कौ समान कियौ। कौडी कू देखिकें तानसेंन नें बिनती करी जो जैराज, या कौडी कौ कहा कारन है? तब आपनें आज्ञा करी—

"जो तुम गुनी हो, राज्य-गायक हौ, याके समानार्थ तो एक सहस्र मुद्रा है, परंतु ऐसौ सुंदर संगीत यदि प्रभून में बिनियोग न भयौ तौ एक कौडी के ही मूल्य कौ है।"

तब तानसेंन नें आपसू दीक्षा के लिएँ प्रार्थना करी और आपनें वाकू दीक्षा दई। तब सू जितने पद तानसेंन नें गाए वे सब पद प्रभु कू सबोधन करकें ही गाए, जैसे हरेक पद में—

"तानसेंन के प्रभु तुम बहुनायक..।"

कौ आभोग राख्यौ। परमानद दास जी नें कही है—

"सोई कुलीन 'दास परमानंद', जो हरि सनमुख जाई।"

विद्या, कला, चतुराई, सुघरता, रूप, गुन आदि वही उत्तम है जो प्रभून कू अगीकार होइ।

आपने जा मार्मिकता सू सेवा की परिपाटी बांधी है सो ऐसी तौ सुदर, कलात्मक और समझिवे लायक है, वाके लिएँ तौ एक अलग ही ग्रथ लिख्यौ जाय सकै है। या लेख कौ विषय तो 'श्रीअग' के वस्त्र बाधादिकन कौ ही है, उनकौ वर्णन नीचे प्रमान है। जैसें—

पाग-अनेक प्रकार की

छज्जेदार पाग—(चित्र १-३) यह पाग राजपूत राजांन के तथा बादशाहन के प्राचीन चित्रन में दीखबे में आवै है। पीछे की ओर छज्जे जैसौ आकार निकारिवे सू 'छज्जेदार पाग' कहैं है।

या पाग के कछू और हू भेद हैं, जैसे—'खिडकी' की और 'भीतर की खिडकी' की। खिडकी की पाग दो अलग-अलग पेचन सू बांधी जाइ है, तामें एक गहरौ और एक हलकौ रग होइ है। जो खिडकी की रीति सू बीच-बीच में दीखते रहैं है। जैसे शाहजादा 'दारा शिकोह' के चित्र में है।

भीतर की खिड़की—गर्मी के दिनांन में गहरे रग के पेच कू महीन वस्त्र सू गोंण करकें पाग बांधी जाइ है, जासू याकू भीतर की खिडकी की पाग कहैं है।

गोल पाग—सौ अभी तक हू ब्रज में बांधी जाइ है, जो एक आडी विशेष ढरकौ-ही रहे है (चित्र ४)। जथा—

"रही धसि पाग लाल-माथे सिर।"

लडपटी पाग—यह ढीली-ढाली बांधी जाइ है और वाकौ ऊपर को एक ही पेच कस्यौ जाइ है। जैसें—बादशाह जहांगीर के चित्र में है (चित्र ५, ६)।

खूंट की पाग—या में दोनो आडी खूट के-से आकार निकरें है (चित्र ७)। उदयपुर के महाराणान की पाग ऐसी ही है।

सुरंग-कुरग पाग—या में एक ही पेच दो रग में रँग कें बांधी जाइ है। जैसे लाल और हरयौ। कोई जगह दुर जाइ और कोई जगह दीसै।

दुपेची पाग—यह पाग गरमीन में रात कू बांधी जाइ है और इतनी छोटी होइ है कि दो ही पेच आवें है (चित्र ८)।

चीरा—यह छोटी पाग होइ है और जरी की होइ है (चित्र ९)। पागन में छोर नहीं दिखाए जांइ है। छोरन के हेर-फेर सू और हू अनेक प्रकार के भेद है जांइ है। जैसें—स्वरन के हेर-फेर सू रागन में भेद है जाइ है।

पेच या पेची—यह पाग के ऊपर कौ पेच होइ है। वौ और हू रग कौ तथा जरी कौ हू होइ है। राजा-महाराजा जडाऊ रतनेंन कौ पेच हू बांधें है। याकू 'पेची' हू कहैं है। तदुपरात

पागन पै मोतिन की लर, सिरपेच, कलगी, तुर्रा, लूम, कतरा, पख, ताइत, चंद्र इत्यादि अनेक अलकार हू पहरे जांइ है। 'शिखा-वस्त्र' ठंड में पहरयौ जाइ है। जो रुई कौ होइ है और पाग के नीचें रहै है।

फेंटा—यह पाग जैसौ ही होइ है, या कौ केवल एक छोर बगल में निकारि कें बांध्यौ जाइ है (चित्र १०)।

ऐंठवाँ फेटा—जो ऐंठ कें बाँध्यौ जाइ, याकू 'मरोडी' कौ फेंटा हू कहैं है (चित्र ११)।

पगा—पाग के मध्य में छोर दीखतौ रहै है तौ या कू 'पगा' अथवा—'ग्वाल-पगा' कहैं हैं (चित्र १२)।

गोटी-पगा—पाग के बीच में गोटी जैसे गोल आकार निकरें है। यासू याकू 'गोटी-पगा' कहैं हैं (चित्र १३)।

कुलह-पगा—कुलहा टोपी पहरिकें चारो आडी सू ऐसी पाग बाँधनो कि कुलहा दीखतौ रहै और वाकौ एक छोर वाहर कू निकरतौ रहै (चित्र १४, १५)।

दुमाला खूंट कौ—यह ग्वारियान की पोशाक है। काठियावाड में याकू "धोवाला" कहैं है। याके छोड़ दोनो आडी निकरते रहैं है और पाग की भाँति बाँध्यौ जाइ है (चित्र १६)। याके ऊपर 'मयूर-पिच्छ', मयूर-पिच्छन के 'कतरा' उरसे जांइ है। गायन कू खिलाइवे के लिएँ गाय के कान के आकार के 'गोकर्ण' हू दुमाले पै उरसे जांइ है।

दुमाला बीच कौ—एक छोर बगल में और एक छोर बीच में आइवे सू 'बीच कौ दुमाला' बाजै है (चित्र १७)।

श्री मस्तक के मुख्य शृंगार

(कुलह वा कुल्हैया मुकुट, टिपारौ और सेहरौ)

कुलह वा कुल्हैया—यह शृंगार शाही है (चित्र १८ और १८ अ)। कुलह टोपी कौ नाम है, जो समयानुकूल जरी की, रतनैंन की, मोती की, चदन के चित्र की होइ है। टोपी पैहरि कें गोटी दीसती रहै है और चारो ओर पाग बाँधी जाइ है। या पाग कू 'कुल्हा की मेंड' हूं कहैं है। दोनो आडी दोनो छोर बाहर राखे जांइ है। जैसें—पंजाबी या पठान बाँधें है। यह कुलह गुसाँई जी कू बडी सुदर लँगी और हरेक बडे उत्सवन पै याही कौ मुख्य सिंगार राख्यौ गयौ है। छोटे बालकन कू जब यह पहरायौ जाइ है तब या कू कुलही व कुल्हैया कहैं है।[1]

मुकुट—मुकुट (चित्र १९) तौ श्री कृष्ण के सिंगारन में मुख्य है। यामें मोर-मुकुट "बर्हापीड" मुख्य है। यदि मयूर-पख बिना कौ मुकुट होइ तो वाकू 'सूप कौ मुकुट' कह्यौ जाइ है।

किरीट—यह राजान कौ मुकुट है (चित्र २०)। कागरा के चित्रन में बहुतायत सूं दीसै है।

सेहरौ—यह ब्याह की सूचक पोशाक है[2]। याकौ नाम 'मौर' हू कहैं है (चित्र २१)।

[1]. आज की बौंनक कही न जाइ।
रही धँसि पाग लाल-आधे सिर, कुलह-चपक-भरी ता मधि हीरा लटकाइ॥
बसनौ पीत पैहरें, छूटे बंद अरगजा मौजें, तन बिबित स्यांम झाइ।
दरसनीय बनमाल, तिलक, निरखि वियके कोटि मदन, 'गोविंद' बलि-बलि जाइ॥
—गोविंद स्वामी (अष्टछाप)

[2]. जुगल वर आवत हैं गठ-जोरें।
संग सोहत वृषभांन-नंदिनी, ललितादिक तृन तोरें॥
सीस 'सेहरौ' बन्योंरी लालन के, हरखि, निरखि चित-चोरें।
निरखि-निरखि बलि जाइ 'गदधार', छबि न बढी कछु थोरें॥
—गदाधर भट्ट

टिपारौ[1]—यह ग्वारियान कौ शिरोभूषण है। मल्ल-काछ के संग पहरयौ जाइ है। छोरदार एक टोपी पैहरकें ताके उपर पाग की मैंड कू बाँध कें दोनो आडी दोनो छोरन कू राखे जाँइ है, अर्थात् दो बगल के और एक टोपी के ऊपर ऐसें मिल कें तीन छोरन कौ टिपारो बाजै है। टिपारे के उपर मयूर-चंद्रिका, मोर-शिखा व मयूर के पखन के कतरा धरे जाँइ है। प्राचीन चित्रन में श्री कृष्ण के श्री मस्तक के उपर गोधन के संग देखिवे में आवे है (चित्र २२-२२ 'अ')। और हू—टोपी (चित्र २५), टोपा (चित्र ३८), टोप (चित्र ३४), खोई आदि श्री मस्तक के सिंगार है। जैसें—

कुब्जा की टोपी (चित्र ३१), शमला (चित्र ३२), दुपल्ली (चित्र ३५), चौगोशिया (चित्र ३६), ग्वाल टोपी (चित्र ३०), बावरी की टोपी (चित्र ३३) और मुकुट की टोपी (चित्र २४)।

टोप—यह स्वर्ण को होय है और रुई के टोपा के उपर पहरयौ जाइ है (चित्र ३४)।

टोपा—सादा (चित्र ३८), वृंदावनी (चित्र ४०) और कानदार (चित्र ३८) ये तीन प्रकार के होइ है।

अंग-वस्त्र बाघा (बागा)

चाकदार या चौबगला बाघा,—यह राजपूती पोशाक है (चित्र ६३)। जहाँगीर के समय के चित्रन में बहुधा दीसै है। कमर के नीचे के भाग कू दामन और ऊपर के भाग कू चोली कहें है। चोली समयानुकूल अनेक रंगीन वस्त्रन की, चित्र की, चदन की, अबीर-गुलाल की पैहरी जाइ है।

घेरदार बाघा,—यै हू राजपूती पोशाक है, घोटू सू नीचे ताँइ होइ है और या में थोडी घेर होइ है (चित्र ६४)।

छूटे बंद कौ—चाकदार बाघा कू बिना तनी बाँधें पहिरिवे सू 'छूटे बंद कौ बाघौ' कहें है (चित्र ६५)।

काछनी (काछिनी)—यह नृत्य की पोशाक है और छाती सू ऊपर कसिकें पैहरी जाइ है। याके घेर में दो-तीन रंग होइ है और मुकुट के नीचें रास में खास पैहरें है। यामें घेर विशेष होइ है (चित्र ६७)। मयूर की समता के लियें माथें-मुकुट और घेरदार काछनी पैहरी जाइ है। जथा—

"इन मोरेंन की भाँति देखौ नाचत गोपाला।"

फतवी या फतूरी—यै कब्जा के ढंग की होइ है। बिना बाँह की व आधी बाँह की हू होइ है और बाघा के ऊपर पैहरी जाइ है (चित्र ७१-७२)।

आतम-सुख—याहि ठढ में रूई के गद्दल के नीचें पहरें है।

गद्दल—यह रुईदार अँगरखी कौ नाम है (चित्र ६८)।

फरगुल—यह शाही पोशाक है और ठढ में उपर सू पैहरि लई जाइ है, याकौ आकार पूर्ण गोल होइवे सू कदाचित या कौ नाम फरगुल परयौ होइगौ (चित्र७३)।

बद—यह यावनी पोशाक है और कब्जा की भाँति एक आडी कुदा और एक आडी घुडीदार होइ है। ठढ में बाघा के ऊपर पैहरें है (चित्र ७१-७२)।

कबाय—यह पाँइ तक कौ अँगरखा होइ है, यामें तनी नही होइ है और सब पोशाकन के ऊपर पैहरि लियौ जाइ है (चित्र ६९)। यदि रुईदार होइ तौ वाकू 'लबादौ' कहें है।

१. गायॅन के पाछें-पाछें नटवर काछें-काछें, बन्यों है 'टिपारौ' आछौ लाल गिरधारी कें।
धातु कौ तिलक किएँ, बनी गुंजमाल हिएँ, बन के सिंगार आछे बिपिन-बिहारी कें॥
नटवर-भेष किएँ, ग्वाल-मडली संग लिएँ, गावत-बजावत देत कर तारी कें।
'गोविंद' प्रभु बनतें ब्रज-आवत, पौर-पौर ब्रज-नारी झाँकत अधि आरी कें॥

कटि सूं नीचे के वस्त्र

धोती, परघनी, आडबंध, जोगिया आडबंध, जाँघिया, मल्लकाछ (चित्र ६६), पटका, पिछौरा, सूथन (चित्र ७५), तमाम (चित्र ७६) और तनियाँ। नीचे सू चौडे सूथन कौ नाम 'तमाम' है और तनियाँ लँगोटी की भाँति सूथन (चित्र ७६) के भीतर पहरयौ जाइ है।

मोजा—ठंढ में रुईदार मोजा पाँइन में पैहरे जाँइ है (चित्र ६५)।

याही प्रकार हरेक सिंगार के सग गहने कुंडलादिक, हार, हस्त और चरणन के भूषण हूं पृथक्-पृथक् पैहरे जाँइ हैं। इन वस्तून के विसेष परिचय के लिये पुष्टि-सम्प्रदाय के मर्मज्ञ वैष्णवन द्वारा समझ लैनो चहिएँ। सेवा-सिंगार की और हूं अनेक ऐसी वस्तुएँ है जिनकौ सग्रह कर लैनो अति आवश्यक है।

भक्ति-पथ में मनोनिग्रह कौ यह एक सरल उपाय है, जाके द्वारा वैष्णव-जन अपने प्रभून कू सहज ही पाइ सकें हैं। जथा—

"आज और काल्ह और दिन प्रति और और, देखिऐ रसिक श्री गिरिराज-धरैंन।
छिन-छिन प्रति नई छबि बरनें सो कोंन कवि, नित ही सिंगरि बाबौ बरेंन-बरेंन।।
सोभा-सिंधु अंग-अंग, मोहत कोटि अनंग, छबि को उठत तरंग, बिस्व कौ मन-हरैंन।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधर कौ सरूप सुधा-पान कीजें, जीजें रहिऐ सदाँ हीं सरैंन।।"[1]

❀

"श्री ब्रह्मिवासी जी ने 'वल्लभ-सम्प्रदाय' की जो शृंगार-प्रसाधन सामग्री—वस्त्र-विशेषो का यहाँ उल्लेख किया है उसमें कुछ वस्तुएँ और हैं, जैसे पाग—गोखड़ादार, बत्तीदार, चूंदड़ी की, गुलाबी, हरी, लाल, नीली आदि विविध रंगों की, तिकोनी, चौखूटी, बत्ती की, मंदील (मंडील), दुमाला, गुच्छा, पिछौरा, पीतांबर, काछा, बागा—कटावदार, खड़ो, चौबगला, पटका, चौतनियाँ (चौतनी), अगुली, तनियाँ, गाती, नीमा, सेला इत्यादि और आभूषण—मुकुट (आडा-और खड़ा), मोर-मुकुट, क्रीट-मुकुट, टोपीदार मुकुट, मोरचंद्रिका, जोड़ की चद्रिका, कारचौबी की, डाक की, पिटारा, कतारे, बाँक, टिकरा, थेंकड़ा, पान, चखौड़ा, दुमाला, पगा, छोर (टिपारे के दोनो ओर धराया जानेवाला आभूषण), लटकन (यह प्रिया-प्रीतम दोनों को धराये जाते हैं), मोरशिखा, पतुवा (कलंगी के पास धराने का आभूषण), सीका (यह टीका के दोनो ओर धराया जाता है), दाढ़ी (कलंगी के साथ धरायी जाती है), चीड़ा (पक्षी के समान आभरण जो मस्तक पर धराया जाता है), पुगोटी (कुल्है के साथ धरायी जाती है), ढकमा (यह जड़ाऊ होता है और बीच में ठेकड़ा भी होता है), तुर्रा, पानतुर्रा, आदि...। ये सब आभूषण श्री ठाकुर जी के मस्तक के शृंगार हैं। श्री प्रियाजी के —शीशफूल, बेंदियाँ, भेंड़ी-बंदी (बेंनावदी), लर (यह प्रिया-प्रीतम दोनों को धरायी जाती है), अलकावली, चंद्रमा, चोटी, पानड़ी, झूमर और चाक, शीश के शृंगार हैं। कान के आभूषण जैसे—कुंडल (मकराकृति, मीनाकृति, मयूराकृति और शुकाकृति), लोलबंदी, मुरकी, बाला, छुंलकड़ी या बिचकनी। श्री प्रियाजी के कर्णाभूषण—वारी, झेला, कर्णफूल, तरकी, पीपलपत्ता, झूमका, झूमकी, पत्ते, चौकड़ा, काँप, दुद, लरझर और झौरा आदि...। नासिका के आभूषण प्रिया-प्रीतम के—बेसर, बुलाक, चौकड़ी, लौंक, फूल, भोगली, नथ, नथुनी। ठोड़ी का आभूषण,—चिबुक। कंठ के भूषण—ठुसी, गोप, हार, जंभहार (एक प्रकार का कठला), माला, त्रिवल, कंठी, कंठा, पदक, हौस, कंठाभरण, कंठमाल, कंठमणि (कौस्तुभ मणि), कठो बिजौरा की, बघनखा (केहरि-नख), ढोलना (इसे तायत भी कहते हैं), कठला, वज्रमाल

[1]. या लेख में बंबईवारे गोस्वामी श्री गोपीनाथजी ने शृंगारन के भेदन कौ सुझाव दीयौ है।

(हीरा की), तोड़ा, सिकरी, चौकी, त्रिसेठिया, दुगदुगी (धुकधुकी), बद्दी, बादला, चकती, चद्रमा की कंठी, तिलकहार, हायसा का हार, नवग्रही-हार, हँसुलिया, तिमनियाँ। हस्त-कमल के आभूषण—बरा, बाँकड़ा, जोसन, थपिया, बाजूबंद, बाजू, पोंहची, छल्ला, दूबा, बंगली, ककना-ककनी, चरा, कड़े, रतनचौक, पछेली, गूजरी, साँकड़ा, चाँगट, जोड़ी, हथफूल (हस्त-साँकला), बँड, आरसी, छाप, छल्ला, अँगूठी (मुद्रिका), कंकण, नख-भूषण। कमर के—कटिपेच, छुद्रघटिका, किंकणी, करधनी (कंधनी-कंदोरा), मल्लकाछ और मेखला जो कंधनी से विशेष चौड़ी होती है। पद-आभूषण—चूरा (ठोस व पोले), रूरा, जेहर, तेहर, साँकड़ा, पायल, पायजेब (इसे पैंजनी भी कहते हैं), गूजरी लच्छे, झाँझन, झाँझरी, पद-पान, तोड़ा, अनवट, बिछिया, नूपुर, छल्ला, छल्ली, (इन्हें मट्ठर भी कहते हैं) और चीप इत्यादि अनेक प्रकार के होते हैं।

संप्रदाय में ये आभूषण—हीरा, पन्ना, माणिक मोती, मूगा, नीलम के अबाजदार और खुले अर्थात् जड़े हुए होते हैं। मोती के आभूषण जड़े हुए और पोए हुए होते हैं। यही नहीं, ये आभरण सोने-चाँदी के और विविध रंग की 'मीना' के साथ-साथ जरी—(सुनहली और रुपहली) के और सीप के भी होते हैं।"

—अ० चतुर्वेदी



छिन-छिन बानिक और-ही-और : चित्र-परिचय

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

मित्रवर श्री अहिवासी जी ने मदिरो में ठाकुर जी के वेष और शृगार के विषय में यह सुदर लेख २३ जून १९५० को भेजने की कृपा की थी। ३० अक्तूबर १९५० को अपनी बंबई-यात्रा में इस लेख के चित्रो को मुझे उन्ही से समझने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय जो स्पष्टीकरण मिला वह यहाँ दिया जाता है। कृष्ण-सबधी साहित्य में ब्रजभाषा के कवियो ने वेष-भूषा-सबधी जिन अनेक पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया है, उनका सचित्र परिचय श्री 'अहिवासी' जी के लेख से प्राप्त होता है। जैसे—

चित्र १—'छज्जेदार' पाग। यह पाग मुगलकालीन पहनावे की एक विशेषता थी। शाहजहाँ से बहादुरशाह के समय तक इसका प्रयोग रहा। अकबर के समय में 'लटपटी पाग' का रिवाज था। जहाँगीर के समय में लटपटी पाग में डेढपेच या लपेट पाया जाता है। उसके बाद शाहजहाँ (१६२७-१६५८) कालीन चित्रो में छज्जेदार पाग मिलने लगती है। पाग के पीछे गुद्दी की रेखा से निकलते हुए जो लपेट हैं उन्ही का नाम 'छज्जा' है, जो कुछ नीचे की ओर झुका हुआ है। सिर पर पट्टेदार बालो के कारण पाग को थोडा पीछे तक निकलता हुआ बाँधना आवश्यक था।

चित्र में देखिए, पाग के ऊपर कलगी है। 'कलगी' में खोसा हुआ 'तुर्रा' है। तुर्रे से पीछे की ओर लटकता हुआ 'मखतूल' है। कलगी और तुर्रा पूरे शृगार के साथ चलते हैं। शयन के समय सादा पाग रहती है। छज्जेदार पाग में कुछ समय बाद एक जडाऊ 'सरपेंच' या चौडी 'पेची' बाँधी जाने लगी। सिरपेच में तीन नग या पाँच नग लगाए जाते थे और वह पाग के ऊपर डोरियो से बाँधा जाता था।

छज्जेदार पाग का ही भेद 'खिड़की की पाग' है। पाग का हरएक लबा वस्त्र पेच कहलाता है। जब अलग-अलग दो रगो के पेचो की पाग बाँधी जाती है तब वह खिड-कीदार कही जाती है। इसके दो प्रकार हैं—'बाहर की खिडकी और भीतर की खिड़की।' जब नीचे के पेच का रग प्रधान हो और ऊपर के पेच का गौण तब बाहर की खिडकी हुई, जैसे—'दाराशिकोह' के प्रसिद्ध चित्र में है। गहरे रंग का पेच प्रधान और हल्के रंग का गौण समझा जाता है। हल्के रग का पेच ही 'खिडकी' समझनी चाहिए। जैसे हरी पाग पर लाल रंग की खिडकी देनी हो तो नीचे हरे रग का पेच बाँधा जाय और उसके ऊपर लाल रंग का पेच बाँधना चाहिए। यह बाहर की खिडकी हुई। इसके विपरीत जब नीचे खिड़की का रंग गौण हो और उसके ऊपर की पाग का रंग प्रधान हो तो भीतर की खिड़की हुई। बाहर और भीतर की खिड़की के चित्र यहाँ नही दिए गए, क्योकि यह भेद रगीन चित्र में अधिक स्पष्ट होता है।

चित्र २—छज्जेदार पाग सामने से दिखाई गई है। सरपेंच के ऊपर पाग में सामने तीन कल-गियाँ लगी हुई हैं।

चित्र ३—छज्जेदार पाग बडे बूदे की, अर्थात् जिसका छज्जेवाला भाग कुछ बड़ा है।

चित्र ४—'गोल पाग'। यह पाग सिर के आधी ओर को ढरकी हुई बाँधी जाती थी। इसे—'ढरकोंही पाग' भी कहते हैं।

चित्र ५—'लटपटी' पाग। जहाँगीर के समय में इसे 'डेढपेची पाग' भी कहने लगे। पूरी पाग ढीली बाँधी जाती है। अंत का डेढ पेच कसकर बाँधा जाता है। आखिर का पेच थोडी जगह छोडते हुए जरा ऊपर कसा जाता है, जिससे बाल दीखते रहें। चित्र में यह स्पष्ट दिखाया गया है।

चित्र ६—लटपटी पाग का सामने का भाग।

चित्र ७—'खूँटादार पाग'। इसके दो भेद हैं—एक खूँटे की जो सिर्फ 'खूँटादार' कहलाती है और दूसरी दो खूँटे की जो 'दो खूँटादार' कही जाती है। उदयपुर के महाराणा खूँटादार पाग पहनते हैं।

चित्र ८—'दुपेची'। इसमें छोटा 'पिछौरा' लेकर ही पाग की तरह बाँध लिया जाता है। बाँधने के ढग में पाग का पेच दो बार ऊपर से लपेटा हुआ दिखाई पडता है। बडे दाऊजी के सिर पर शयन के समय हल्की 'दुपेची पाग' लपेट दी जाती है। ठड के समय में टोपे के ऊपर भी दुपेची बाँध लेते हैं।

चित्र ९—'चीरा'। छोटी जरी की पाग।

चित्र १०—'छोटा फेंटा'। जिसे कभी-कभी 'बडी पाग' के अभाव में पहनते हैं।

चित्र ११—'फेंटा'। वह पाग जिसमें एक छोर हो। यही 'मुरोरी का फेंटा' या 'ऐंठवाँ फेंटा' भी कहलाता है।

चित्र १२—'बडा फेंटा'। जिसे गवैये और ग्वालिये आदि बाँधते हैं। इसमें भी सामने की ओर एक छोर है।

चित्र १३—'गोटी पगा'। इसके बीच में गोटी के से आकार की छोटी टोपी रहती है जो चित्र में स्पष्ट दिखाई पडती है।

चित्र १४—'कुलह पगा'। वह पाग जिसमें बीच में 'कुलह टोपी' मुख्य रहती है। हिंदी कुलह ईरानी 'कुलह' से निकला है। यह टोपी गुप्त काल में सासानवशी ईरान की सस्कृति के सपर्क में आने से हमारे देश में भी चल गई थी। बाणभट्ट ने कुलह का सस्कृत रूप 'खोल' हर्षचरित में दिया है। हिंदी का 'कुल्हिया' (कुल्हैया) शब्द इसी कुलह से बना ज्ञात होता है। आज भी पठानो में कुलहे की टोपी का व्यापक प्रचार है।

चित्र १५—यह भी कुलह पगा ही है। पहले की भाँति इसमें भी एक ही छोर है, किंतु बीच में कुलहे की गोटी दर्शनीय है। गोटी के नीचे चारो ओर जरी का काम दिखाई पडता है। गर्मियो में जो ठाकुर जी का शृगार होता है, उसमें कुल्हे के ऊपर चदन से ही यह सजावट बना दी जाती है।

चित्र १६—'दुमाला खूँट का'। दुमाला दो छोर का नाम है। ग्वालिये लोग दुमाले का पगा पहनते हैं। पगा पाग से बडा होता है। पाग छोटी होती है। पाग में छोर गौण होते हैं, छोरो को उन्स लेते हैं, लेकिन पगा में छोर अवश्य रहते हैं और प्राय दो होते हैं। खूँट के दुमाले में दोनो छोर दो कोने या खूँट में दिखाए गए हैं।

चित्र १७—'दुमाला बीच का'। इसमें एक छोर तो खूँट या कोने में है और दूसरा छोर बीचो-बीच दिखाया गया है।

चित्र १८—'कुलह'। सामने का दर्शन है। बीच में पान और कोनो में दो छोर हैं। कुलह के ऊपर बीच में गोटी है। बेलन की तरह घूमा हुआ किनारा 'मेंड' कहलाता है।

वल्लभाचार्य जी ने उत्सवो में ठाकुर जी के शृगार के लिये 'मुकुट' रखा था। 'विट्ठल-नाथ' जी ने उत्सव-शृगार में 'कुलह' कर दिया और उसके ऊपर वल्लभाचार्य जी वाला शृगार भी शामिल कर लिया।

चित्र १९—'मुकुट'। इसमें सब से नीचे मुकुट की टोपी है। उसके ऊपर पान के आकार का मुकुट है और उसके भीतर मयूर-पख है, जिनमें चंद्रका साफ दिखाई पड़ते हैं। सबसे ऊपर छोर या तुर्रा है।

चित्र २०—'किरीट-मुकुट'। नीचे किरीट और ऊपर मुकुट है। राजाओ के लिये 'किरीट-मुकुट' का बाना है। रामनवमी के उत्सव में ठाकुरजी को किरीट धारण कराते हैं।

चित्र २१—'सेहरा'। यह विवाह में पाग के ऊपर बाँधा जाता है। सेहरे के बीच में चौकोर टिकरा है, जो जडाऊ होता है या जरी के काम का काढकर बनाया जाता है। टिकरे के ऊपर मोतियो की पाँच लड है। हर एक लड के अत में तुर्रा है। टिकरे के नीचे भी लटकते दोहरे मोती हैं।

चित्र २२—'टिपारा तीन छोर का'। एक छोर बीच में, दो कोनो में है। बीचो-बीच तिकोनी ओधे कुल्हड जैसी आकृति ही 'टिपारा' है। उसके ऊपर पाग की मेढ लिपटी हुई है। टिपारे के छोर के ऊपर 'मोरशिखा' है। मोरशिखा वास्तविक मोर के पखो से बनाई जाती है और देखने में बडी कलात्मक मालूम होती है। श्री अहिवासी जी ने अपने ठाकुर जी के शृगार की असली मोरशिखा हमें दिखाई। कवियो ने कृष्ण की शिरोभूषा में प्राय. मोरशिखा का वर्णन किया है।

चित्र २२ (आ)—'टिपारा पाँच छोर का'। एक छोर तो बीच में टिपारे की टोपी का हो। दो रगो की दो पाग बाँधने से चार छोर और है।

चित्र २३—यह प्राचीन पग्गड या पगडा है। बीच में टोपी है। उसकी जड में मेढ के रूप में पाग लिपटी हुई है। पाग में छोर नही दिखाई देते।

चित्र २४—'किरीट की टोपी'। नीचे किरीट की, ऊपर पाँच कँगूरे और हरएक कगूरे के सिरे पर गोल टिकरे जडे हुए हैं।

चित्र २५—'टोपी बनारसी'।

चित्र २६—'छोर की टोपी'। इसे ही 'छोगा' की टोपी भी कहते है। टोपी के ऊपर छोर है।

चित्र २७—'किश्तीनुमा टोपी'। इसे ही 'नोकदार' टोपी भी कहते है।

चित्र २८—'सादा टोपी'। नीचे टोपी की बाड, ऊपर छोटे कँगूरे और ऊपर फुन्गी है।

चित्र २९—'शाही टोपी'। बादशाहो के पहनने की 'ताजनुमा' टोपी है। नीचे बाड और ऊपर 'खरबुजिया' आकृति की फाँकदार टोपी है। उसके ऊपर तुर्रा है।

चित्र ३०—'ग्वाल टोपी'। प्राय पहाडी चित्रों में ग्वालबालों के सिर पर देखी जाती है। टोपी की पीछे को मुडी हुई नोक के सिर पर गोल लटकन है।

चित्र ३१—'कूजा की टोपी'। मिट्टी के कुजे की आकृति की होने से यह नाम पडा। फ़ारसी कूज़ा, हिंदी कुजा से ब्रजभाषा का कुजा शब्द बना है। चित्र में टोपी के ऊपर छोर है।

चित्र ३२—'शमला की टोपी'। इसमें बीच में टोपी है। टोपी के आगे तुर्रा और पीछे लूम रहते है। तुर्रे के आगे छोर या शमला है।

चित्र ३३—'बाबरी की टोपी'। यह बच्चो के लिये होती है। टोपी के पीछे गर्दन को ढकने के लिये रेशम के काले बाल लटकते रहते है। शेर की अयाल की तरह होने के कारण इन्हें 'बब्बरी' या 'बाबरी' कहते है। चित्र में टोपी की चोटी पर फूदा लगा है।

चित्र ३४—'टोप'। ठड के समय में टोपा पहनकर ऊपर टोप पहनते है। सोने के बने टोप पर

बीच में मीने का काम रहता है। टोप के ऊपर छतरी है और छतरी के नीचे मोती लटकते दिखाए गए हैं।

चित्र ३५—'दुपल्ली टोपी'। दो पल्लो को बीच में सीकर नीचे गोल बाढ लगा कर बनाई जाती है। पहले इसका देहातो में आम रिवाज था।

चित्र ३६—'चौगोशिया टोपी'। इस टोपी में बीच में कुलह जैसा चँदोवा, उसके ऊपर तुर्रा और टोपी की चार खूँटो में चार कान निकले हुए है। चित्र ३६ में ये कान ऊपर की ओर मुडे है।

चित्र ३७—'चौगोशिया'। इसमें चारो कान बाहर की ओर निकले हुए हैं। बच्चो के ओढने के लिये इसका बहुत रिवाज था।

चित्र ३८—'टोपा सादा'। टोपे में कान अवश्य ढकने चाहिए। उसी के लिये दोनो ओर कनपटे लटकते है जो तनी से बाँध लिये जाते हैं।

चित्र ३९—'टोपा मुडा हुआ'। जब कान न ढकने हो तब कनपटो को ऊपर की ओर मोड लेते हैं।

चित्र ४०—'वृदावनी टोपा'। इससे सिर का अगला भाग ही ढकते हैं। कान गर्दन नही ढकते यह कुछ टेढा ओढा जाता है।

चित्र ४१—'खोई'। इसे घोघी (घुग्घी) भी कहते हैं। यह मेह बरसते में ग्वालबालों के सिर पर ढकने के काम में आती है।

चित्र ४२—'कतरा'। चित्र में दुहरा कतरा दिखाया गया है। हर कतरे की नोक पर एक मोती की लटकन है।

चित्र ४३—'कतरा दूसरा'। इस कतरे में चार तारो में चार मोती लटकते दिखाए गए है।

चित्र ४४—'तुर्रा'। यह पगडी के ऊपर लगाने का बादले का गुच्छा होता है।

चित्र ४५—'तुर्रा दूसरा'। यह तुर्रा सामने की ओर फैला हुआ है।

चित्र ४६—'तुर्रा-कलगी'। नीचे तुर्रा है और उसके ऊपर बीच में से कलगी निकली है।

चित्र ४७—'लूम'। लूम का अर्थ पूछ है। जरी या जडाऊ काम के फूँदनो का लबा गुच्छा जो टोपी, पगडी आदि में लटकता हुआ लगाया जाता है।

चित्र ४८—'लूम दूसरी'। अपेक्षाकृत सादा।

चित्र ४९—'मोरशिखा'।

चित्र ५०—'मोरशिखा' (दूसरी)। इस चित्र में तुर्रे बाँधकर उनसे मोर-शिखा बनाई गई है।

चित्र ५१—'मोरचद्रिका डाँक की'। जरी के बाल जैसे महीन तारो को डाँक कहते हैं। डाँको का गुच्छा बाँध कर मूल में मोरपख के चद्रक की आकृति रखकर मोरचद्रिका बनाई गई है।

चित्र ५२—'गोकर्ण'। गायो के साथ खेल के लिये बन में जाते समय 'गोकर्ण' पाग के ऊपर पहरे जाते हैं। अन्नकूट के दिन भी गोकर्ण कुलह के ऊपर पहने जाते हैं।

चित्र ५३—'खडेला'। छडी के एक ही तरफ का आधा मोरपख 'खडेला' कहा जाता है।

चित्र ५४—'लूम का कतरा'। इसमें शुरू में तुर्रा, फिर तीन कतरे और उनके अत में लूम है। यह 'तिहेरा लूम का कतरा' कहा जाता है।

चित्र ५५—'जरी की लूम'।

चित्र ५६—'मोरचद्रिका का जोड या मुकुट'। पाँच मोरपख जोड़कर बनाए जाने के कारण इसका नाम 'पाँच का जोड' है।

चित्र ५७—'मोर की गरदन के पखो का जोड या मुकुट'। यह बिल्कुल 'मेघनील' होता है। इसे कुलह के ऊपर उत्सवो में धारण कराते हैं।

चित्र ५८—'मोरशिखा'। मोर के सिर पर जो सुकुमार कलगी होती है उसी की असली मोर-शिखा बनती है। उसके अभाव में रेशमी या जरी की या जड़ाऊ मोरशिखा भी बनाई जाती है। सब की आकृति हूबहू असली मोरशिखा जैसी बनाते हैं।

चित्र ५९—'मुकुट काछनी का शृंगार'। सिर पर पहले टोपी है, फिर मुकुट है, उसके ऊपर छोर है। बाहो पर पिछौरे की फहरान है। कटि में दो रंग की काछनी है। पहले घेर तक एक रंग है, दूसरे घेर तक दूसरा रंग है। नृत्य के समय कटि-काछनी का शृंगार बहुत मनोहर होता है। साहित्य में काछनी का बहुत वर्णन आता है। रास-नृत्य में भी मुकुट-काछनी का शृंगार धरा जाता है।

चित्र ६०—'दूल्हे या ब्याहुले का शृंगार'। सिर पर सेहरा है। कंधो पर उपरना सीधा पहना जाता है। कमर में पटका है। नीचे चाकदार बागा है।

चित्र ६१—'कुलह का शृंगार'। इसमें श्रीकृष्णजी के सिर पर टोपी, उसके दोनो ओर दो छोर, बीच में पान ऊपर पाँच मोर के पख और सबसे ऊपर मुकुट है। दाहिनी बगल से बाएँ कंधे के पीछे तक उपरने के छोर फहरा रहे हैं। कमर में पटका बँधा है जिसके दो छोर सामने लटके हुए हैं। नीचे चाकदार बागा या चाकदार जामा पहने हुए हैं। जहाँगीर ने चाकदार जामा चलाया। राजपूतो के साथ ठाकुर जी के शृंगार में इसका चलन हुआ।

चित्र ६२—'मल्लकाछ और टिपारे का शृंगार' किए हुए कृष्ण जी। इस चित्र का शृंगार अत्यंत सुंदर है। सिर पर बीच में तिकोनिया टिपारा है जो बाँकेपन से धरा है। टिपारे के सामने की ओर जरी का फूल है। इसे बाहरी चित्र का टिपारा कहते हैं। टिपारे के नीचे पाग की मेड़ है। टिपारे के ऊपर बीचो-बीच में एक छोर या छोगा है। दोनो खूटो में दो छोर या छोग और हैं। बगल के छोगो में एक-एक कतरा है। बीच के छोगे में मोरशिखा है। मोरशिखा असली, जरी की या जड़ाऊ भी हो सकती है।

कृष्णजी के कंधो पर उपरना पड़ा है, जिसका दाहिना छोर बगल के नीचे से और बायाँ कंधे के ऊपर से होता हुआ बाँह के नीचे की ओर फहरा रहा है। बाईं ओर चोटी गूँथी हुई लहरा रही है। चोटी के अंत में फूंदना है। कमर में पटका या पिछौरा बँधा है। वह दोनो कूल्हो के पास गठियाया जाकर दाएँ-बाएँ छूटे छोरो के साथ फहरा रहा है। कमर में छुद्रघंटिका बँधी है। इन्हें ही साहित्य में 'कटि-किंकिणी' भी कहा गया है। पैरो में नूपुर पहने हैं—

> "पाँइन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
> साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
> माथे किरीट बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुख-चंद-जुन्हाई॥"

सामने की ओर तीन छोर दिखाए गए हैं, जो टाँगो के बीच में लटके हुए हैं।

चित्र ६३—'चाकदार बागा या जामा'। बागा और जामा एक ही वस्तु है। जिस बागे में कोनें निकले रहते हैं उसे 'चाकदार बागा' या 'जामा' कहते है।

चित्र ६४—'घेरदार बागा'। कमर से ऊपर चोली या चोलना है और नीचे दामन है। चोली और दामन मिलकर बागा या जामा बनता है। बागे से नीचे सूथना पहना जाता है। सूथने के ऊपर घुटने से ऊपर तक की दुरंगी, तिरंगी कछनी पहनी जाती थी। मयूर-नृत्य में मोरपंखो की बनी कछनी पहनते थे। यदि कछनी घुटने से नीचे तक की हो तो वही घेरदार 'बागा' कहा जाता है, जो मुगल चित्रो में प्राय मिलता है।

चित्र ६५—'खुलेबंद का चाकदार बागा'। इसे 'छूटे बंद' का बागा भी कहते हैं, क्योंकि बंद खुले रहते हैं, बाँधे नही जाते। टाँगो में सूथना, पैरो में मोजा पहने हुए हैं।

चित्र ६६—'शृंगार मल्लकाछ का'। कंधे पर उपरना, कमर में पिछौरा है। बिना नृत्य के समय का सीधा मल्लकाछ घुटनों से ऊपर तक पहना हुआ है। सामने तीन छोर है।

चित्र ६७—'शृंगार काछनी का'। घेरदार दो हरे रंग की काछनी घुटने से ऊपर तक पहने हुई दिखाई गई है।

चित्र ६८—'गद्दल'। रुईदार 'अंगरखी' जो कमर में आधी दूर तक रहती है और अकेली पहनी जाती है। इसके सामने के परत एक दूसरे के ऊपर चढ़े रहते हैं। बंद बगल में बाँधे जाते हैं। यह सर्दी की पोशाक है।

चित्र ६९—'कबा'। यह भी ठंड की पोशाक है। इन विविध वस्त्रों का क्रम इस प्रकार समझना चाहिए। सबसे नीचे बागा, उसके ऊपर फतुही और उसके ऊपर कबा। कबा बाँह-दार होती है। कभी-कभी बाँहें पहनते नहीं, यों ही लटका ली जाती हैं।

चित्र ७०—'ठंड की पोशाक'। बिना रुई भरा हुआ पैर के टखनों तक का अंगरखा कबा हुआ। वही यदि रुईदार हो तो 'लबादा' हुआ। रुईदार अंगरखी लवान में यदि आधी हो तो 'गद्दल' कहलाती है (चित्र-६८)। गद्दल के ऊपर कड़ाके की सर्दी में दोनों बाहों को ढकनेवाला जो रुईदार वस्त्र पहना जाता था वह 'फरगुल' कहलाता था।

बागा, फतुही, कबा या लबादा, गद्दल, फरगुल यही इन कपड़ों का उत्तरोत्तर क्रम था। चित्र ७० में सिर के ऊपर टोपा है। पैरों में मोजे हैं। शरीर पर सबसे नीचे टखनों तक लंबी कबा है। कबा के ऊपर रुईदार आधी दूर तक का गद्दल है। उसके ऊपर लपेटा हुआ फरगुल है।

चित्र ७१—'फतवी'। इसे फतूही या कब्जा भी कहते हैं। अधिक ठंड के समय नीचे बागा, ऊपर फतवी पहनते हैं। इसमें सामने दाहिनी ओर कुंदे और बाईं ओर घुंडी लगी है, पर उन्हें लगाते नहीं खुला रखते हैं। चित्र ७१ में बिना बाँह की फतवी है।

चित्र ७२—इस चित्र में आधी बाँह की फतवी है। बाँहें कोहनी से ऊपर कोनेदार कटाव लिये खुली रक्खी जाती हैं।

चित्र ७३—'फरगुल'। ठंड की पोशाक जो बाँहों की नीचाई तक गद्दल के ऊपर पहनी जाती थी। फरगुल साटन का बनाकर उसमें रुई भरते थे। किमखाब की भी दो परत की बिना रुई की फरगुल हो सकती है। लेकिन ऊनी कपड़े की नहीं। कहते हैं कि ऊनी कपड़ा, लाल मिर्च और गोरोचन ये तीन वस्तुएँ कभी मंदिर में नहीं आतीं।

चित्र ७४—'छज्जेदारपाग, घेरदार बागा और बिना बाँह की फतवी या कुरती की पोशाक।' जैसे ऊपर कहा जा चुका है, बागे के ऊपर फतवी पहनी जाती थी। चोली और दामन मिलकर बागा या जामा कहलाता था।

चित्र ७५—'सूथन'। टाँगों में कसा हुआ पाजामा। पाजामे को 'मानसोल्लास' में 'द्विपदी' कहा है।

चित्र ७६—'तमाम'। खोलीदार ढीली मोहरी का पाजामा। नीचे से चौड़ा जिसे पीछे के बाद-शाहों ने चलाया। ठंड के समय एक दिन ठाकुर जी को 'तमाम' का शृंगार पहनाते हैं। मुगलों के निशान या झंडों के रखने का खोल 'तूमान' कहलाता था। उसी से संभवत यह शब्द निकला है।

चित्र ७७—'धोती या साड़ी ओढ़ने का प्रकार'। पल्ला या मुरगाँटा बाँए कंधे पर डाला हुआ है।

चित्र ७८—इस वेष में साड़ी का पल्ला बाईं बगल में खोसा हुआ है।

चित्र ७९—इस भाँति में साड़ी का छोर चोली में उरसा हुआ है। यह गूंजरी स्त्रियों का रिवाज था।

चित्र ८०—इसमें साड़ी का पल्ला एक लपेटा लेकर सिर के ऊपर ओढ़ा हुआ है।

चित्र ८१—इसे गुजरानी वेष कहेंगे। सिर पर ओढनी है, जिसका एक ठोक (छोर) चोली में उन्सा हुआ है। अंग में आधी बाँह की चोली है। कटिप्रदेश से नीचे लहँगा या घाघरा है। इस चोली का यथार्थनाम 'अँगिया'—स० अगिका है। अहिच्छत्रा (बरेली) से प्राप्त सप्तम शती की स्त्री-मूर्तियों में अँगिया का पहनावा पाया गया है। अँगिया का साहित्यिक पद अहिवासी जी ने इस प्रकार सुनाया—

"अँगिया खँमक खऐं बनीं, कुच सूं भरमारे।
बदत नाहिन ग्वालिनी, जोबन के मारे।।"

चित्र८२—'चोली'। यह मुलकट के कटाव की 'आँगी' कहलाती है। इसमें स्तन के नीचे का भाग खुला दीखता है।

चित्र ८३—'खरबूजा की चोली'। इसमें अलग-अलग टुकडे या कलियाँ सीकर चोली सी जाती है।

चित्र ८४—'अँगरखी की चोली'। यह बहुत ही चुस्त स्त्री-वेष है।

चित्र ८५—'अँतरौटा की अँगिया'। इसमें बीच का कपडा (अतरपट) स्तनों के बीच से लटकता रहता है।



मथुरा-महिमा

श्री बहादुरसिंहचंद छावड़ा

जयतितरां व्रजभूमिर्धन्या पुण्याप्यनन्यसामान्या ।
सकलकलासंपूर्णो भगवान् अवतीर्णवान् यस्याम् ॥

२

जयति पुनर्मथुराख्या व्रजभूमेः सारभूता सा ।
अनुयमुनं विनिविष्टा स्फीता रम्या महानगरी ॥

३

श्रीकृष्णबाललीलास्थलीति साद्यापि तीर्थरूपेण ।
धर्मार्थकाममोक्ष प्रवणैः संश्रीयते भक्त्या ॥

४

भुवनं भूषति कृष्णे मथुरा सुतरां बभूव संपन्ना ।
कालक्रमेण किंतु प्राप्नोत्सोच्चावचान् भावान् ॥

५

संवत्कर्तरि शासति भूपे श्रीविक्रमादित्ये ।
पुनरेकदाथ लोके भाग्यं ह्यु दियाय मथुरायाः ॥

६

समवर्ततैकमयनं नानाधर्मानुयायिनां मथुरा ।
येषां मुख्या आसंछ्रौता बौद्धाश्च जैनाश्च ॥

७

तेषामेव महिम्ना सालंकारेव सा पुरी भेजे ।
मंदिरविहारचैत्यैर्यूपस्तूपादिभिश्चापि ॥

८

किंचोत्तरापथीये महापथे सुस्थितं निविष्टेति ।
मथुरा बभूव नूनं वाणिज्यस्यापि गुरु केंद्रम् ॥

९

सर्वासु दिक्षु दवृशे यातायातं हि सार्थवाहानाम् ।
शकटैरनिशं वहतां मथुरागामीनि भाण्डानि ॥

१०

तद्वल्ललितकलानां मथुरैवासीत्सदा सदावास ।
मूर्तिकला तु विशेषात् तत्रारोहत्परां काष्ठाम् ॥

११

मथुरां निकषा लब्धा भग्नाभग्नाः सहस्रशः प्रतिमा ।
मुखरं प्रमाणयति प्राचीनं तत्कलोत्कर्षम् ॥

१२

एतादृशी समृद्धा मथुरा कथं बहुजिगीषून् यत् ।
तत्स्वाभाविकमासीन्मल्लीं भ्रमरा कथं जह्युः ॥

१३

मौर्याः शुंगा यवनाः शकाः कुषाणास्तथान्यराजन्या ।
क्रमशः शशासुरेतां मथुरां निजविक्रमाक्रांताम् ॥

१४

यावद्विक्रमवंतः संत्यधुना हंत नामशेषाम्ने ।
तावत्तथा मथुरा महीयते पूर्ववल्लोके ॥

श्रीकृष्ण : जन्मभूमि या कटरा केशवदेव

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि 'मथुरापुरी' भारतवर्ष की सप्तमहापुरियो में एक विख्यात नगरी हैं। भारतीय धर्म-प्राण जनता के हृदय में मथुरा नगरी का एक अद्भुत प्रभाव रहा है। त्रेतायुग में यहाँ मधु नामक असुरवशीय राजा की राजधानी—'मधुपुरी' में थी। यही स्थान आजकल 'महोली गाँव' के नाम से वर्तमान शहर के दक्षिण-पश्चिम में करीब ४ मील दूर है। साहित्यिक किंवदती यह है कि जब शत्रुघ्नजी ने लवण दैत्य का दमन कर दिया तब उन्होंने मधुपुरी के नाम से नगर की स्थापना यमुना के किनारे पर की। यह मधुपुरी या मधुरा ही 'मथुरा' नाम से प्रसिद्ध हुई। प्राकृत उच्चारण-के नियमो के अनुसार मथुरा और मधुरा दोनों ही शब्द मान्य है।[1]

इस नवीन स्थापना के बाद मधुपुरी का उत्कर्ष बहुत बढा। यही यमुना के तट पर महाभारत कालीन मथुरापुरी बसी हुई थी, जिस समय कि भगवान् श्रीकृष्णचद्र का जन्म इस पुण्यभूमि पर हुआ। विद्वानो के अनुसार इस प्राचीन मथुरा नगरी का केंद्र 'कटरा केशवदेव' होना चाहिये। 'कनिंघम साहब' ने स्वलिखित पुरातत्त्व विभाग की रिपोर्टों में इस प्रश्न पर विस्तार के साथ विचार करने के बाद यही समति निश्चय की है कि कटरा केशवदेव के उत्तर-पश्चिम की ओर फैले हुए खँडहरो का सिलसिला ही प्राचीन मथुरा नगर है।

श्रीयुत 'ग्राउस' महोदय का भी जो मथुरा के प्रसिद्ध कलक्टर और स्थानीय सग्रहालय के सस्थापक थे और जिन्होने मथुरा पर एक अमर ग्रंथ की रचना की है, यही मत था कि कटरा केशवदेव ही पुरानी वस्ती है। कटरा केशवदेव की भूमि के सिलसिले में ही कम से कम दो सहस्र वर्ष के पुराने स्थान जैसे—चौरासी, ककाली, चौबारा, गणेशरा, पालीखेडा आदि का ताँता है। सैकडो टीले मीलों तक फैले हुए प्राचीन नगर के भग्नावशेषों का स्मरण दिलाते है।

कटरा केशवदेव के सबंध में जिस प्राचीनतम जनश्रुति का श्री कनिंघम साहब ने ऊपर उल्लेख किया है, उसकी पुष्टि में लाखो हिंदू जनता का सनातन काल से चला आता यह विश्वास है कि कटरा केशवदेव ही भगवान् श्री कृष्णचद्र की 'जन्मभूमि' है। इसी स्थान से लगा हुआ 'पोतराकुड' है जो एक बहुत ही विशाल और पक्का सरोवर है। जन्मभूमि के पास ही पोतराकुड का होना भी स्वाभाविक है। कनिंघम साहब ने कटरा के प्राचीन इतिहास पर विचार करते हुए अपनी समति इस प्रकार दी है—

> "वर्तमान केशौपुरा मुहल्ले में कटरा स्थान है। इसमें सदेह नहीं कि केशवदेव का प्राचीन मंदिर इसी स्थान पर बना हुआ था। यह मंदिर कितनी ही बार नष्ट हुआ है। मेरे विचार से केशौपुरा ही वह स्थान है जिसका नाम 'एरायन' ने 'किलसोबोरा' या 'केसोबोरा' और 'प्लिनी' ने 'किलसोबोरा' लिखा है।"

इस प्रकार किलसोबोरा या कृष्णपुरा और केसोबोरा या केशवपुरा पर्यायवाची शब्द है। यदि कनिंघम साहब का यह अनुमान ठीक है तो यह सिद्ध हो जाता है कि केशवपुरा का अस्तित्व यूनानियो के आगमन काल, अर्थात् ईस्वी चौथी शताब्दी में अवश्य था। कटरा केशवदेव की भूमि से जो प्राचीन मूर्ति और पत्थर के टुकड़े मिले है उनके आधार पर भी इसी बात की पुष्टि होती है कि केशवदेव का स्थान अवश्य ही इतना प्राचीन माना जा सकता है।

१. देखिये—माथुरिय सुत्तांत मज्झिमनिकाय २।४।४

सन् १९१८ में पुराने सिक्के ढालने के तीन जोड़ साँचे स्व० पं०राधाकृष्णजी को खुदाई कराते समय प्राप्त हुए थे। श्री पन्नालाल जी आई०सी०एस० ने जून सन् १८ के हिस्टोरिकल सोसाइटी के जनरल में इन साँचो के सबंध में एक विस्तृत लेख लिखकर उनका समय निर्धारित किया था, अर्थात् पुराण नामक प्राचीन भारतवर्षीय सिक्के ढालने के यह साँचे कम से कम छठी शताब्दी ई० पूर्व से भी पहले के होने चाहिये। मनु, कौटिल्य और पाणिनि ने इन सिक्को को 'पुराण कहा है।' बुद्ध के जीवन काल में भी यह पाली-ग्रथो के अनुसार पुराण ही कहलाते थे। श्री दुर्गाप्रसाद जी ने हाल ही में पुराण-मुद्रा के ऊपर विशेष अनुसधान करते हुए उनका प्रचलन काल १००० ई० पूर्व तक माना है। कम से कम शुग काल के पूर्व तक अवश्य ही इन सिक्को का प्रचार रहा। यदि उस समय भी उनके ढालने-वाले साँचे बनाए गए हो तो भी कटरे का प्राचीन स्थान तीसरी शताब्दी के आस-पास अवश्य था।

मथुरा के अजायबघर में सुरक्षित बहिर्द्वार तोरण की सिरदल का पत्थर है। यह तोरण जनरल कनिंघम को १८६२ की शीत ऋतु में कटरे की खुदाई कराते समय मिला था। उसके एक ओर नौ ऊँचे तोरण खुदे हुए है, जिनमें से स्त्री और पुरुषो की भीड झाँक कर देख रही है। दूसरी ओर नौ बुद्ध भिक्षु है जो विहार के अदर भोजनशाला में भोजन प्राप्त कर रहे हैं, उनके पास ही स्तम स्तूप और बोधि-वृक्ष क अकित है। यह तोरण लगभग द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व या शुग काल का होना चाहिये। इससे विदित होता है कि शुग काल में कटरे की भूमि में बौद्ध-विहारो का अस्तित्व अवश्य था। इसका एक अकाट्य प्रमाण यह भी है कि कटरा से महाराजा वासुक कुषाण सम्राट् 'वाशिष्क' का एक लेख मिला है जिसमें सवत् ७६, अर्थात् १५४ ई० ? में एक बौद्ध स्तूप के जीर्णोद्धार का वर्णन है। सम्राट् वाशिष्क द्वितीय शताब्दी के प्रारभ में हुए, जिस स्तूप के जीर्णोद्धार का वर्णन कुषाण काल में हो उसका—निर्माण अवश्य ही शुग काल में हुआ होगा।

कटरा में खुदाई के अवशेषो का जो वर्तमान रूप है उनके आधार पर वहाँ एक से अधिक लगभग चार-पाँच स्तूपो के अस्तित्व का अनुमान होता है। स्तूपो की शृखला केशवदेव के हिंदू मदिर की कुर्सी से उत्तर की ओर थी। मालूम होता है कि मदिर के स्थान के पास ही बौद्धो को भी स्तूप और विहार बनाने का स्थान दे दिया गया था, उस समय की धार्मिक सहिष्णुता तो प्रसिद्ध ही है। एक ही स्थान पर बौद्ध, जैन और ब्राह्मणो के देवस्थान बनाए गए, ककाली-टीला इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यद्यपि यहाँ जैनो का सबसे बडा स्तूप था तथा वही बौद्धो के चैत्य और हिंदुओ के मदिर भी थे, जैसा कि उस स्थान से मिली हुई बौद्ध और विष्णु-मूर्तियो से सिद्ध होता है। कटरा केशवदेव से भी जैन-मूर्तियाँ मिली है, जिसको 'सगर' और 'सागरिक' नामक भाइयो ने स्थापित किया था। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कटरा केशवदेव केवल बौद्धो का ही स्थान नही बल्कि यहाँ पर जैन-मदिर भी थे। चूंकि जैन और बौद्ध स्तूपो का स्थान वर्तमान केशवदेव के मदिर या ऊँचे चबूतरे से हट कर उत्तर की ओर है, इससे यह भी अनुमान होता है कि ब्राह्मण-धर्म-सबधी मदिर प्राचीन काल में अपने वर्तमान स्थान पर ही था, उस भूमि के विशेष महत्त्व और पवित्रता के कारण बौद्ध और जैनो ने भी उसे अपनाया। भगवान् बुद्ध भी मथुरा जी में आए और 'ह्वेनसाग' के लेख के अनुसार बुद्ध भगवान् के बाद यहाँ स्तूपो का निर्माण हुआ। गुप्त काल में यह स्थान बहुत ही समृद्ध दशा में था। एक बुद्ध-मूर्ति पर खुदा हुआ गुप्त काल का एक प्रसिद्ध लेख इस समय 'लखनऊ-सग्रहालय' में सुरक्षित है। उससे मालूम होता है कि भिक्षुणी 'जयभट्टा' ने गुप्त सवत् २३०, ५४९, ५५० ई० में एक बुद्ध-प्रतिमा 'यशोविहार' को दान में दी। इसके अतिरिक्त चद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य तक की वशावली का उल्लेख करने वाला एक प्रसिद्ध लेख भी कटरा में ही जनरल कनिंघम को सन् १८५३ में मिला था। वह लेख इस प्रकार है—

पंक्ति, १—सर्व राजोच्छेत्तु पृथिव्य मिप्रतिरथ

" २—स्य चतुरदधि सलिलो स्वादित यशसो ध

पंक्ति, ३—मद वरुणेंद्रांतकस मस्य कृतांत पपशोः

" ४—न्यायागतानेकगो हिरण्य कोटि प्रदस्य चिरो

" ५—त्सन्नाश्वमेघाहर्तुर्महाराज श्री गुप्त प्रपौत्र स्य

" ६—महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराज

" ७—श्री चंद्रगुप्त पुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महा दे

" ८—व्यासकुमार देव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज

" ९—श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगृ

" १०—हीतेन महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्ने

" ११—न परम भागवतेन महाराजाधिराज

" १२—श्री चंद्रगुप्तेन.................................

गुप्त सम्राटों के अन्य लेखों के अनुसार ही यह वंशावली भी है, परंतु इसमें मार्के की बात यह है कि महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त के पुत्र चंद्रगुप्त तक समाप्ति करके चंद्रगुप्त के द्वारा किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के होने का वर्णन इसमें था। परम भागवत महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त ने अपने अनुरूप कौन-सा कार्य इस कटरा केशवदेव की पुण्यभूमि पर किया होगा, इसका अनुमान कर लेना कुछ कठिन नहीं मालूम होता। समस्त उत्तरापथ के राजाओं का उच्छेद करके जिनमें देव पुत्र शाहानुशाही 'शकमुरुंड' भी शामिल थे,[1] विजयी समुद्रगुप्त ने मथुरा के राजा 'नागसेन'को परास्त करके मथुरा को भी गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया था। उनके परम भागवत पुत्र ने अवश्य ही अपने नये विरुद को चरितार्थ करने के लिए यहाँ पर कोई विशेष धर्म-संबंधी कार्य किया। कटरा केशवदेव-स्थान ही उस कार्य के लिए चुना गया, इस बात से हमें भागवत शिरोमणि विक्रमांक चंद्रगुप्त के देय-धर्म का अनुमान करने में सहायता मिलती है।

हमारी संमति में हिंदू धर्म और संस्कृति का सब प्रकार से नवाभ्युत्थान करनेवाले सूर्य के समान तेजस्वी महाराजाधिराज श्री चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने जिन्होंने अपने पराक्रम का मूल्य देकर मानो समस्त पृथ्वी को मोल ले लिया, अपने 'राजाधिराजर्षि' और 'परम भागवत' इन नवोत्पत्ति उपाधियों को अन्वर्थ करने के लिए पुराकाल से विश्रुत श्री कृष्ण की जन्मभूमि के स्थान पर अवश्य एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया, वह देव-स्थान अत्यंत विशाल और कला का एक अद्भुत उदाहरण होगा।

कटरे की तत्कालीन बौद्ध-प्रतिमाओं से सूचित बौद्ध-कला के समान ही ब्राह्मण मंदिर की कला भी सर्वगुण संपन्न रही होगी। शिला लेख में अवशिष्टाक्षर—

"श्री समुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगृहीतेन महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नेन....।"

इन तृतीयांत पदों से निकलनेवाली जिस ध्वनि के आधार पर हमने चंद्रगुप्त के देय-धर्म की कल्पना की है उसका समर्थन भी एक प्रकार से मिल जाता है। कटरा केशवदेव से मिली हुई मूर्तियों से उपरोक्त अनुमान की पुष्टि होती है। अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए हम दो मूर्तियों का वर्णन करेंगे जो कटरा केशवदेव से ही प्राप्त हुई हैं, यह दोनों ही निःसंदेह गुप्त-काल की ब्राह्मण-कला में हैं।

पहली रायबहादुर 'पं० राधाकृष्ण' को सन् १९११-१२ ई० में कटरा की खुदाई करते समय मिली थी।[2] यह एक मंदिर के द्वार का उपरी भाग है, जिस पर जल-मार्ग, कीर्ति-मुख और सिंह-मुखों की शृंखलाएँ हैं, हो न हो यह पत्थर केशवदेव पर बने हुए किसी ब्राह्मण मंदिर का भाग है, यह सब प्रकार से ठेठ गुप्त-कला का नमूना है। इससे भी अधिक निश्चयात्मक दूसरी मूर्ति गुप्त-कालीन स्तंभ

[1]. समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति। [2]. म्यूजियम नं० के० टी० २४३।

का एक टुकड़ा है जो इसी वर्ष हमें कटरा केशवदेव के स्थंडिल पर बसे हुए एक घर से मिला था[1] यह दरवाजे की चौखट का अगली खंभा या तमंचे का टुकड़ा है, जिसके सामने की ओर कच्छप वाहन पर खड़ी हुई यमुना जी की मूर्ति है, दाहिने हाथ में पूर्ण घट और बाँये हाथ में फूलों की डाली है। गुप्त-कालीन केश-विन्यास कंठ में एकावली माला और सूक्ष्म विमल वस्त्र—इनसे स्तंभ और मूर्ति के समय-निर्धारण में संदेह नहीं रहता।

कच्छप वाहन पर आरूढ नदी की अधिष्ठात्री देवी (यमुना) का मथुरा से कितना घनिष्ठ संबंध है, यह भी अनुमान किया जा सकता है। पुरातत्त्व और काव्य दोनों इस बात के साक्षी हैं कि द्वार के पार्श्व स्तंभों पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ चित्रित करने की प्रथा सर्वप्रथम हिंदुत्व के अनुप्राणित गुप्त-कालीन मंदिरों में ही मिलती है[2]। कालिदास की निम्नलिखित पंक्तियों से इसी प्रकार का संकेत मिलता है—

"मूर्ते च गंगा यमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ॥"

—कुमारसंभव ७।४२

अर्थात्, गंगा और यमुना अपने नदी रूप को त्याग कर—'समुद्रगारूप विपर्ययेऽपि' मनुष्य-विग्रह में चामर-ग्राहिणी बन कर देव की सेवा करने लगीं।

उपरोक्त दोनों मूर्तियाँ इस बात के अकाट्य प्रमाण हैं कि गुप्त-काल में कटरा केशवदेव की भूमि पर एक अत्यंत विशाल और भव्य हिंदू मंदिर का निर्माण हुआ। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के असमाप्त लेख के साथ उसका संबंध दिखाते हुए हम यह दिखा चुके हैं कि गुप्त सम्राटों में परम भागवत महाराजाधिराजर्षि की यश-गाथा से विश्रुत श्री चंद्रगुप्त द्वितीय ने ही इस परम विशिष्ट धार्मिक कार्य का सूत्रपात किया होगा। हमारा विश्वास है कि भविष्य की खुदाई में इस मंदिर के संबंध के अन्य प्रमाण भी अवश्य मिलने चाहिये। कम से कम यह तो प्रतीत होता है कि वर्तमान ऊँचे स्थंडिल से भी नीचे जो कुर्सी है, वह इसी मंदिर की रही हो। उस कुर्सी के चतुर्दिक नक्काशीदार गोलें दिखाई पड़ते हैं। वर्तमान 'कृष्ण-चबूतरे' से दस फीट नीची और चौड़ाई में उससे उत्तर की ओर लगभग २० फुट निकली हुई पुराने मंदिर की कुर्सी है, इस चौकी के चारों तरफ खुदाई करने से इस प्रश्न पर विशेष प्रकाश पड़ने की आशा है।

चंद्रगुप्त द्वितीय (३७५ से ४१३ तक) के बाद महाराजाधिराज कुमारगुप्त (४१३ से ४५५ ई० तक) और उसके बाद स्कंदगुप्त का शासन हुआ। कुमारगुप्त के अंतिम वर्षों में हूणों के आक्रमण प्रारंभ हो गए थे, पर गुप्तों की विजयी सेना के समक्ष वे ठहर न सके। स्कंदगुप्त ने समरांगण में लोहा लेकर अपने भुजदंडों से मेदिनी को कंपायमान ही कर दिया था।

"हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कंपिता।"

—भीतरी शिलालेख

गुप्त-वंश्य वीर सेनानी ने अपने विपुल पराक्रम से हूणों की धारा को रोकने के लिये तीक्ष्ण 'कुंतप्रास' और 'भालों' की एक अभेद्य प्राचीर ही खड़ी कर दी थी। फल यह हुआ कि मथुरा के देवस्थान उस समय में सुरक्षित रह गए। हूणों की आँधी छठी शताब्दी के प्रारंभ में समाप्त हो गई। हमें सन् ५५० ई० की मूर्ति में भिक्षुणी जयभट्टा के यशोविहार का वर्णन मिलता है, जिससे यह प्रकट होता है कि हूणों के बाद तक वहाँ बौद्ध विहार और मंदिर प्रमुख बने रहे। 'फाहियान' ने मथुरा में (४०० ई०) तीन हजार भिक्षु और बीस विहार तथा छः स्तूपों का वर्णन किया है, उनसे मिला

[1]. म्यूजियम नं० २६५६।

[2]. देखिए—चंद्रगुप्त द्वितीय की उदयगिरी-गुफा का विष्णु-मंदिर।

दो सौ वर्ष बाद 'हर्ष' राजा के राज्य-काल में चीनी यात्री 'ह्वेनसांग' (६३० से ६४५) भी मथुरा आया। उसने यहाँ २००० भिक्षु और पाँच ब्राह्मण-धर्म संबंधी देवालय देखे।

हमारा अनुमान है कि इन मंदिरों में एक मंदिर कटरा केशवदेव का गुप्त-कालीन मंदिर भी होगा, जो हूणों के बाद भी सुरक्षित रह गया था, परंतु भिक्षुणी जयभट्टा की मूर्ति गुप्त-मंदिर से लगे हुए उत्तर-पश्चिम के कोने में स्थित कुँए में पड़ी हुई मिली थी। जिससे यह ज्ञात होता है कि यशोविहार और उसके साथ के अन्य देवालय भी छठी शताब्दी के बाद किसी समय विध्वंसकारियों-द्वारा नष्ट कर दिए गए थे।

गजनी का आक्रमण

इतिहास में मथुरा के आक्रमणों का जो वृतांत मिलता है उससे तो यही ज्ञात होता है कि गुप्त-काल के अभ्युदय का प्रवाह 'महमूद गजनी' के समय में आकर टूटा। सन् १०१७ ई० में उसने केशवदेव के मंदिर को आकर लूटा। अलउत्बी जो महमूद का मीरमुंशी था, अपनी 'तारीख यामिनी' में कटरा केशवदेव के विषय में लिखता है और मि० ग्राउस साहब ने उसका अवतरण यों दिया है—

"शहर में सुलतान ने एक इमारत देखी जिसे लोग देवताओं की बनाई हुई कहते थे।"

वह आगे चलकर कहता है—

"और शहर के बीच में एक मंदिर सबसे बड़ा और सुंदर था, चित्र से या शब्द से उसका पूरा वर्णन असंभव है, सुलतान ने उसे देख कर कहा कि अगर कोई ऐसी इमारत बनवाये तो लगभग दस करोड़ दीनार खर्च होंगे और बनने में दो सौ वर्ष लगेंगे।"

बीस दिन की लूट

महमूद का आँखो देखा वर्णन और उसके आधार पर किया हुआ अनुमान दोनो ही सत्य हैं, क्योंकि गुप्त काल से १००० ई० तक लगभग ६०० वर्षों की अवधि में केशवदेव का विराट् मंदिर सँवारा गया था और इस दीर्घ समय में यहाँ अतुल धन-संपत्ति और सुवर्ण-राशि एकत्र हो चुकी थी। उसका वर्णन भी यथार्थ ही महमूद के मीरमुंशी ने किया है। बीस दिन की लूट में पाँच सोने की प्रतिमाएँ मिली, जिनमें माणिक्य की आँखें जड़ी हुई थी। उनका मूल्य ५० हजार दीनार था। एक और सोने की मूर्ति मिली जिसका वजन ६८३०० मिस्कल या लगभग १४ मन था इसमें करीब डेढ सेर का एक नीलम जड़ा हुआ था। चाँदी की सौ भारी-भारी मूर्तियाँ सौ ऊँटों पर लाद कर ले जाई जा सकी। इस मेरु-तुल्य राशि या कुबेर के कोष को, जिसे देख कर लुटेरों की आँखें फट गई थी और उन्होंने समझा था कि रत्नों की खान ही हाथ आ गई। शनै-शनै. संचय करने का श्रेय महा वैभवशाली हिंदू-सम्राट् और धर्म-प्राण प्रजा को था। लगभग ६०० वर्षों तक वे विविध-रीति से मधुमक्षिका की भाँति इस कोष का संचय करते आ रहे थे। अंत में डड-बल के क्षीण पड़ जाने के कारण उन्हें उससे हाथ धोना पड़ा।

इसी आपत्ति-काल में अनेकानेक बौद्ध तथा हिंदू मूर्तियों को कुआँ में फेंक दिया गया। जयभट्टा की मूर्ति भी उसी समय केशवदेव के कुँए में फेंक दी गई होगी, अभी इस कुँए में सफाई कराने से अन्य अनेक मूर्तियो के मिलने की आशा है। महमूद के कुछ काल बाद शांति और व्यवस्था स्थापित होने पर मथुरा फिर से आबाद हुई। गुप्त-कालीन कुर्सी के ऊपर बनी हुई कुर्सी का मंदिर महमूद के बाद किसी समय बना।

सिकंदर लोदी द्वारा विध्वंस

उसका विध्वंस आगे चलकर फिर हुआ। इस मंदिर के जीर्णोद्धार अथवा पुनर्निर्माण का समय निश्चित करने के लिये भी कुछ साधन उपलब्ध होते हैं। सन् १८८६ के फर्वरी मास में डा० 'ब्यूहरर' ने मथुरा में कई स्थानो पर खुदाई कराई थी, उस समय कटरे के टीले को काट कर

मथुरा-वृंदावन रेलवे की लाइन बनायी जा रही थी। १० फरवरी सन् १८८९ को खोदने वाले मजदूरों को कटरे के टीले में एक लेख प्राप्त हुआ, जो इस समय लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है। लेख संस्कृत पद्य में है और उसमें २९ पंक्तियाँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि संवत् ११०७ अर्थात्, सन् १०५० ई० में इस स्थान पर एक विष्णु के विशाल मंदिर (विष्णोर्हर्म्यमनल्प ..) का निर्माण हुआ, उस समय मथुरा में महाराज 'विजयपाल देव' का राज्य था। उन्हीं के किसी प्रतिष्ठित अधिकारी ने मंदिर की रचना में विशेष भाग लिया। उस व्यक्ति का नाम 'जज्ज' अथवा 'यज्ञ' था। मंदिर के प्रबंध के लिये एक गोष्ठी (सभा) थी, जिसमें १४ सदस्य थे। उनके नाम भी इसी शिला लेख में अंकित हैं। जज्ज उसका प्रधान था। मंदिर के बनवाने के बाद देवता की पूजा के लिए वृत्ति का भी प्रबंध किया गया था, जिसमें उस समय के राजा और प्रजा ने दान दिया था। छः दुकानें और एक बड़ी वाटिका यह मंदिर की संपत्ति थी। इस लेख का संपादन डा० 'बूलर' ने 'एपिग्रेफिका' इंडिका पत्र की पहली जिल्द (नवंबर १८९० के पृष्ठ २०७ से २९३) में किया है। इस प्रकार जो मंदिर श्री विष्णु का वहाँ बनाया गया उसका विध्वंस सुलतान सिकंदर लोदी के हाथों (सन् १४८८-१५१६) हुआ, उसके १२५ वर्षों बाद जहाँगीर के शासन-काल में हिंदुत्व के अभिमानी ओरछा के बुंदेले राजा 'बीरसिंह देव' ने करीब ३३ लाख रुपया लगाकर केशवदेव के विशाल मंदिर का निर्माण कराया। इस मंदिर को सन् १६५९ ई० के लगभग 'टैवर्नियर' ने और सन् १६६३ ई० में 'बर्नियर' ने देखा था, टेवर्नियर लिखता है—

"बनारस और जगन्नाथ के बाद सबसे प्रसिद्ध मंदिर मथुरा का है। यहाँ का मंदिर इतना बड़ा है कि वह छः कोस दूर से ही दिखाई देता है। इसकी बड़ी कुरसी अठपहल बनी है। मंदिर के चारों ओर पत्थरों पर नक्काशी है, जिसमें भाँति-भाँति के जानवर खुदे हुए हैं। चित्रों की एक पट्टी जमीन से दो फुट ऊँची और दूसरी शिखर से दो फीट नीचे है। विशाल चबूतरे पर आधे में मंदिर और आधे में 'जगमोहन' बना है, बीच में एक बड़ा मंडप बना है। मंदिर में अनेक खिड़कियाँ और गौख हैं, मंडप के भीतर बनी हुई जाली की दीवार के पास से मुझे पुजारियों ने मूर्ति का दर्शन कराया। मैंने देखा कि मूर्ति काले पत्थर की बनी हुई है और आभूषण तथा वस्त्र पहने है।"

संक्षेप में हमारा अनुमान है कि इस मंदिर की रचना वृंदावन के गोविंददेव जी के सदृश ही थी जो अकबर के समय में बना था।

यह मंदिर सन् १६६९ ई० में औरंगजेब की कट्टरता का शिकार बना। उस समय मंदिर के मंडप और जगमोहन को विध्वंस करके सब मूर्तियाँ आगरे भेज दी गईं। मंदिर की जो विशाल कुर्सी रह गई उसके पूर्वी भाग पर औरंगजेब ने मसजिद बनवा दी।

मसजिद के फर्श में दो देवनागरी के लेख जड़े हुए हैं, जिनमें संवत् १७१३, अर्थात् सन् १६५६ ई० और संवत् १७२०, अर्थात् १६६३ ई० खुदा हुआ है। मंदिर का ही मशाला मसजिद के काम में लाया गया। बहुत से खुदे हुए पत्थर अब भी उसकी चौकी में जावजा लगे हुए हैं। मसजिद की पक्की कुर्सी ७२ फीट लंबी और ८६ फीट चौड़ी है, जिसपर मसजिद की चौड़ाई ६० फीट तक है। पाँच फीट नीचे एक कच्ची कुर्सी है, जो लंबाई-चौड़ाई में २६८×२५८ फीट है। मसजिद का नाम 'ईजाद' है और इसके पीछे करीब १७० फीट लंबी मंदिर की पुरानी कुर्सी पूर्व-पश्चिम है। उत्तर-दक्षिण के सीध में उसकी चौड़ाई ६६ फीट है। इसमें दोनों तरफ १६×१६ फीट चौड़ा पुश्ता है, जिसे सिकंदर लोदी से पहले की कुर्सी की सीध में राजा 'बीरसिंह देव' ने बढ़ा कर परिक्रमा-पथ का काम देने के लिए बनवाया था। इससे करीब १० फीट नीची गुप्त-कालीन मंदिर की कुर्सी है, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है।

फिर मरहठों ने बनवाया

औरगजेब के बाद कटरा केशवदेव मरहठो की अमलदारी में आया। किंवदती है कि मरहठो ने केशवदेव के प्राचीन मदिर को श्रीकृष्ण-जन्मभूमि की मान्यता के कारण प्राचीन कृष्ण-चबूतरे पर फिर मदिर बनवाना चाहा। मथुरा के पडितो ने उसके लिए अपनी समति भी दे दी, परतु काशी के पडितो से मतभेद हो जाने के कारण यह विचार स्थगित हो गया।

ईस्ट इंडिया के द्वारा नीलाम

जिस समय सन् १८०२ में मरहठो की पराजय के बाद मथुरा अग्रेजी राज्य में आया, उस समय कटरा केशवदेव की भूमि को ईस्ट 'इडिया कपनी' ने निलाम चढाकर 'राजा पटनीमल' के नाम तमाम कटरे की बोली छोड दी। श्रीकृष्ण-जन्मभूमि या चबूतरे पर अधिकार पाकर राजा पटनीमल की जन्म-पर्यंत यह अभिलाषा रही कि फिर से केशवदेव के मदिर का निर्माण करावें, परतु अपने जीवन-काल में वे इसे पूर्ण नही देख सके। तब से अब तक उस भूमि पर राजा पटनीमल के वशजो का अधिकार चला आता है। कई बार सरकारी अदालतो से भी इस प्रकार के निर्णय हुए है।

इसी वर्णन से यह भी ज्ञात हो जाता है कि कटरा केशवदेव का स्थान पुरातत्त्व की दृष्टि से लगभग ढाई हजार वर्ष प्राचीन अवश्य है। साहित्यिक सामग्री के आधार पर श्रीकृष्ण के अवतार को ५००० वर्ष हुए। स्थानीय परपरा इस बात को सदा से मानती रही है कि कटरा ही प्राचीन कृष्ण-जन्म-भूमि है। उसका समर्थन इस बात से होता है कि ऐतिहासिक काल में अनेक बार कृष्ण या विष्णु-मदिरो का बारबार इसी स्थान पर निर्माण हुआ। जैसा 'ग्राउस मैमौयर' पृष्ठ ६४ में लिखा है कि "कई युगो से केशवदेव के अनेक मदिरो का निर्माण इसी भूमि पर हुआ।" चद्रगुप्त द्वितीय के मदिर का उल्लेख हम कर ही चुके है। गुप्त-समय की कई सुदर मूर्तियाँ इस समय मथुरा के सग्रहालय में सुरक्षित है, उनमें से एक चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति है, जो सुदर किरीट, मकरिका, कुडल, अगद, वैजती, यज्ञोपवीत, स्थूल-मुक्ताकलाप चद्रहार, मेखला और सूक्ष्म परिधानीय धोती पहने हुए है। यह मूर्ति गुप्त-कालीन विष्णु-मूर्तियो में सर्वोत्तम कही जा सकती है। दुर्भाग्य से इसके प्राप्ति-स्थान का कुछ उल्लेख अजायबघर के पुराने रजिस्टरो या रिपोर्टों में लिखा नही मिलता। इस मूर्ति का नबर 'ई० ६' है। डा० 'बोगल' ने अपनी सूची में इस पर यथोचित प्रकाश नही डाला। इस मूर्ति से मिलती हुई मूर्ति कटरे की पूर्वी दीवार के सहारे एक चबूतरे पर अभी तक स्थापित है। बहुत सभव है कि यह अजायबघरवाली मूर्ति भी कटरे की खुदाई में या उसी स्थान पर किसी जगह मिली हो। उस हालत में इस मूर्ति का सबध गुप्त-कालीन मदिर के साथ ही रहा होगा।

विष्णु की मूर्तियो का आदि रूप हमको कुषाण-काल से पहिले की एक भी विष्णु-मूर्ति में अभी तक मथुरा या भारतवर्ष में अन्यत्र कही भी नही मिला है। ऐसा मालूम होता है कि मथुरा के भक्ति-प्रधान क्षेत्र में ही सर्वप्रथम विष्णु-मूर्तियो का निर्माण हुआ, पुरातत्त्व-विभाग की साक्षी भी इसी के अनुकूल है। कुषाण-काल में शिव-मूर्तियो की भी अधिकाश प्रतिष्ठा हुई। वेमकँडफसिज कनिष्क, हुविष्क आदि सम्राट् 'परम माहेश्वर' थे। उनके सिक्को पर शिव और वृष की मूर्तियाँ पायी जाती है। अतिम सम्राट् 'वासुदेव' के नाम से ही विदित होता है कि उसके राज्यकाल में विष्णु वासुदेव की प्रबल पूजा हुई। सभव है कुषाण-युग, अर्थात् ईस्वी प्रथम और द्वितीय शताब्दी में कोई नया विष्णु मदिर बना हो। अभी तक कुषाण-काल के एक शिला-पट्ट पर वासुदेव का कृष्ण को लेकर यमुना पार करने का दृश्य अंकित पाया गया है।[1] यह शिला-पट्ट कुषाण-कालीन किसी ब्राह्मण-मदिर में लगा हुआ होगा।

[1]. मथुरा—संग्रहालय नं० १३४५।

इससे पहिले प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व में 'महाक्षत्रप सुदास' के समय मथुरा में भगवान् वासुदेव का एक स्थान अवश्य था। उसके प्रमाण स्वरूप सुदास का तोरण मथुरा-सग्रहालय में सुरक्षित है। भारतवर्ष में अब तक के मिले हुए सस्कृत लेखो में भगवान् वासुदेव के महास्थान से सबध रखने वाला यह लेख सबसे पुराना है। यथा—

पंक्ति–६ वसुना भगव (तो वासुदे)
" ७ वस्य महास्थान (चतु'शा)
" ८ लं तोरणं व (विकः प्रति)
" ९ ष्ठापितो प्रीतो। (वतु वासु)
" १० देवः स्वामिस्य (महाक्षत्र)
" ११ पस्य शोडास (स्य)
" १२ संवर्तेयाम् ।

अर्थात्, "भगवान् वासुदेव के महास्थान में चतु शाल तोरण और वेदिका 'वसु' के द्वारा स्थापित की गई। वासुदेव प्रसन्न हो। स्वामी महाक्षत्रप सुदास शोडास का राज्य स्थायी हो।" इस तोरण-लेख का प्राप्ति स्थान भी सदिग्ध है। यह नगर से पूर्व की ओर एक कुँए में से पं० राधाकृष्ण जी को मिला हुआ बताया जाता है। करीब ८ फीट लबे तोरण का कुँए में गिर कर साबित रहना सभव नही मालूम होता। हमारा अनुमान यह है कि भगवान् वासुदेव का महास्थान कटरा केशवदेव में ही होना चाहिये। शुगकाल में और उसके आस-पास नगरी में वासुदेव और संकर्षण के मदिरो का लेख और वेश नगर में गरुणध्वज-सबधी लेख मिल चुके है। मथुरा में भी उसी प्रकार के लेख की प्राप्ति बहुत स्वाभाविक है और चूकि कटरा ही अत्यत प्राचीन काल से कृष्ण-जन्म-भूमि की तरह प्रसिद्ध रहा है। अतएव कृष्ण-मदिर का पुरातन स्थान यही होना चाहिये। इस प्रकार सभावना यही है कि रायबहादुर प० राधाकृष्ण जी को यह महत्त्वपूर्ण लेख कटरे मे ही प्राप्त हुआ हो। शुगकाल में मथुरा एक समृद्धशाली नगरी थी। भाष्यकार पातजलि ने लिखा है—

"सांकाश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतरा इति।"

—सूत्र ५।३।५७

अर्थात्, साकश्य (वर्तमान सकिसा) और पाटलिपुत्र (पटना) के निवासियो से भी मथुरा के रहनेवाले अधिक सुदर और समृद्ध हैं। इस काल में ब्रह्मणत्वाभिमुख नृपतियो के साम्राज्य में मथुरा सम्मिलित थी। जब अन्यत्र वासुदेव के मदिर बने तब मथुरा में भी उनका बनना अनुमान किया जा सकता है। विशेषत. जबकि यही स्थान भागवत-सप्रदाय का प्राणभूत केंद्र था। वाराहपुराण में लिखा है—

"न केशवसमो देव. न माथुरसमो द्विज।"

अर्थात्, केशव के समान कोई देव महात्म्य-युक्त नही है और माथुर ब्राह्मणो के समान और ब्राह्मण नही है। कृष्ण-जन्म-भूमि होने के कारण ही कटरा केशवदेव को यह गौरव प्राप्त हुआ समझा जा सकता है। इस प्रकार ढाई सहस्र वर्षों का इतिहास कटरा केशवदेव का प्राप्त होता है। साहित्य और पुरातत्त्व दोनो की सम्मिलित साक्षी से हमारे अनुमानो की पुष्टि होती है कि यह स्थान ही पुरातन "कृष्ण-जन्म-भूमि" है और उसका वर्तमान 'कृष्ण-चबूतरा' नाम यथार्थ ही है।

गुर्जर-चित्रशैली में लिखित गीतगोविंद : एक सचित्र प्रति[1]

श्री नान्हालाल चमनलाल मेहता

पश्चिमी भारत की चित्र-शैली जो 'गुर्जर-चित्रशैली' के नाम से भी विख्यात है, भारतीय चित्र-कला में अपना विशेष स्थान रखती है। लगभग ११०० से १६०० तक की पाँच शताब्दियो में पश्चिमी भारत एव मध्यभारत में इस चित्र-शैली का प्रमुख महत्त्व रहा और सैकडो की सख्या में अत्यत सुदर सुवर्णाक्षरी-कल्पसूत्र इस शैली में लिखे गए। जैन-कल्पसूत्रो के अतिरिक्त कालकाचार्य-कथानक, निशीथ चूर्णि, उत्तराध्ययनसूत्र, सग्रहणीसूत्र आदि की सचित्र प्रतियाँ भी उपलब्ध हुई है। इधर हाल में जैनधर्म-ग्रथो के क्षेत्र से बाहर के ग्रथ भी इस चित्र-शैली में प्राप्त हुए है। उनमें श्री मजुलाल जी मजूमदार ने गीतगोविंद, बालगोपालस्तुति, देवीमाहात्म्य, रति-रहस्य और श्रीमद्भागवत के कुछ फुटकर चित्रो का (१६१० ई० में लिखित) अध्ययन प्रस्तुत किया है। स्वय मुझे 'वसत-विलास' नामक एक 'कुडलित पट' प्राप्त हुआ था, जिसमें ७६ चित्र लिखे हुए थे। सबसे बडे चित्र की माप ५७" × ७६" थी। यह चित्रपट १४५१ ई० में लिखा गया था। वनमें वसत का अवतार एव नर-नारियो के उद्दाम यौवन को प्रदीप्त करने वाली उसकी कल्याणी शोभा का अत्यत सजीव चित्रण इस पट के चित्रो में हुआ है और उसी के अनुरूप भाव-बोधक सस्कृत-गुजराती छद भी लिखे गए है।

गुर्जर-चित्र-शैली को महिमा प्रदान करनेवाला एक अन्य ग्रथ कवि 'विल्हण' कृत 'चौर-पचाशिका' भी मुझे प्राप्त हुआ है, जिसमें कविराज विह्लण और उनकी प्रेयसी 'चपावती' की प्रणय-लीला का आलेखन है।

प्रस्तुत लेख का विषय गीतगोविंद की एक आदर्श प्रति है। डा० मजु मजूमदार ने जिस गीतगोविंद का अध्ययन किया था, उसमें कृष्ण के दस में से केवल छ अवतारो का उल्लेख है और आरभ में शारदा का आलेखन है। डा० 'स्टे ला क्रेमरिश' ने 'जर्नल ऑव दी इडिया सोसाइटी ऑव ओरियटल आर्ट' की पत्रिका के दिसबर १९३४ के अक में गीतगोविंद की अन्य उपलब्ध प्राचीन सचित्र प्रतियो का वर्णन किया था। जो प्रति मुझे उपलब्ध हुई है वह गीतगोविंद की समस्त आलिखित प्रतियो में सभवत सिरमौर है। उसमें १५६ पत्रे है, चार पत्रे गुम गए है। प्रति सभवत १६ वी शती के आरभ में लिखी गई थी और अभी तक बहुत अच्छी दशा में है। पत्रो की माप १२$\frac{3}{4}$" + ७" है।

महाकवि जयदेव कृत 'गीतगोविंद काव्य' अति विचित्र है। उसमें राधा और माधव की विलास-लीलाओ का सरस काव्यमय वर्णन है। साथ ही कवि ने भक्ति के उन्मुक्त भाव से उस शृगार को अध्यात्म की भूमिका प्रदान की है। यही जयदेव के गीतगोविंद का महत्त्व है। मानवी-पृष्ठभूमि में दैवी पात्रों की केलि स्वय एक वैचित्र्य है, जिसका जयदेव ने काव्य-कौशल से अपने वर्णनो को सजाने में लाभ उठाया है। बगाल के राजा 'लक्ष्मणसेन' की राजसभा में (१२ वी शती) गीतगोविंद-काव्य की रचना हुई थी। जयदेव के अवसान के दो सौ वर्षो के भीतर ही गीतगोविंद पश्चिमी भारत, अर्थात् गुजरात-राजपूताने में लोकप्रिय हो गया। वैष्णव धर्म की भक्ति-प्रधान शाखा का जो उत्थान इस समय हो रहा था, गीतगोविंद उस उत्थान के प्रारभ में प्रकट हुआ और उसके पक्ष

१. भावानुवादक—वासुदेवशरण।

लगाकर चारो ओर फैल गया। यही वैष्णव-धर्म भारत वर्ष के मनस्तत्त्व को पोषण देनेवाला मुख्य धर्म बन गया और लगभग सत्तरहवी शती तक पल्लवित होता रहा। न केवल सस्कृत के प्रेमी और वैष्णव भक्त-जन गीतगोविंद के अनुरक्त थे, बल्कि चित्र-कला के प्रेमी चितेरे भी गीतगोविंद को अपने आलेखन से १८ वी शती के अत तक अथवा १६ वी शती के आरभ तक अलकृत करते रहे। बबई के श्री 'कवस जी जहाँगीर' के सग्रह में मुझे गीतगोविंद के कुछ पत्रे देखने को मिले थे, जो लगभग अकबर के समय की मुगल-शैली के चित्रो से युक्त थे। महाराज टीहरी के यहाँ गीतगोविंद की एक अति भव्य सचित्र प्रति है जिसके कुछ चित्र मैंने अपने ग्रथ 'स्टैडिज इन इडियन पेंटिंग' में प्रकाशित किये थे। गीतगोविंद की एक दूसरी विलक्षण प्रति वह है जिसके कुछ पत्रे 'लाहौर सग्रहालय' में प्रदर्शित थे। यह प्रति 'बसोहली' चित्र-शैली में लिखी गई और इसका चित्रकार 'माणकू' था, जिसने सवत् १७८७ (१७३० ई०) में यह प्रति लिखी।

उत्तरकालीन राजस्थानी शैली में भी गीतगोविंद की कुछ अत्यधिक साज-सजावटवाली प्रतियाँ मेरे देखने में आई है, किन्तु 'टीहरी नरेश' अथवा 'लाहौर सग्रहालय' की प्रतियो के जोड के सुदर चित्र उनमें नही है। गीतगोविंद की जिस प्रति का यहाँ वर्णन कर रहा हूँ उसमें गुजराती शैली के चित्रो की सख्या सभवत सबसे अधिक है। हरएक पत्रे के ऊपरी भाग में सस्कृत पद का कुछ अश लिखा हुआ है, शेष पत्रे भर में चित्र बने है। चित्र के चारो ओर लाल लकीरो से चौखटा बनाया गया है। पत्रे के केवल एक ओर चित्र लिखे गए है।

शैली और सौंदर्य की दृष्टि से चित्र ध्यान देने योग्य है। रेखाओ में गति, निश्चितता और जीवन है। चितेरा आत्मविश्वास से एक दृश्य से दूसरे दृश्य का चित्रण करता बढता है। चित्रों में एक प्रकार की सजीवता है जो प्रत्युत गुजराती शैली के चित्रो में नही पाई जाती। रग चटकीले है और बडे तर है। लाल, नीले, सफेद और हरे रग का प्रयोग हुआ है। रगो को फैला कर मिश्रित रगतें दिखाने का प्रयत्न इन चित्रो में नही पाया जाता। चित्रो में रेखा और रगो की सरसता है जिससे चितेरे और पाठक दोनो ही परिचित जान पडते है। प्राय प्रत्येक चित्र को बढाकर प्रभावशाली भित्ति-चित्र का रूप दिया जा सकता है। ऐसा ज्ञात होता है मानो भित्ति-चित्र सिकुड कर पुस्तक के छोटे पत्रो में समा गए हो। सचित्र पत्रे इस प्रकार है—

सर्ग,—	पत्र-संख्या,—
१	१-४०
२	४१-५१
३	५२-५८
४	५६-७०
५	७१-८४
६	८५-८६
७	६०-११०
८	१११-११५
६	११६-११६
१०	१२०-१२८
११	१२६-१४१
१२	१४२-१६३

चित्रो में यमुना-तट का अकन हुआ है। यमुना की धारा शात है, जिसके किनारे कदब के वृक्ष फैले है और जल में मछलियाँ भरी है। यह जमुना पहाडी चित्रकारो की जमुना से भिन्न है, जिनमें नदी की धारा पहाडी ढोको पर उछलती-कूदती अत्यत रमणीय वृक्ष-लता और पुष्पो से भरे वनो के

भीतर होकर बहती है। गुजराती चित्रकार की जमुना ब्रजमडल की शात और धीर गृहस्थी पुरखिन जैसी है। इन चित्रो में चित्रकारो ने गीतगोविंद का एक सुबोध रग भरा और सपाटेदार अकन किया है। इन चित्रो की आकृतियो को देखकर ऐसा जान पडता है मानो किसी 'स्वाग' या' भावई' नामक देहाती नाटक-मडली के पात्रो को देख रहे हो।

चित्रो में बनी आकृतियो के चेहरे लगभग एक से हैं। चितेरे ने उनमें जो अर्थ भरा है वह उनके शरीर की मुद्राओ या अग-सचालन की अभिव्यक्ति के द्वारा किया गया है। हाथो की मुद्राएँ और शरीर के विभिन्न कॅंडे चित्रकार की बारहखडी का काम देते हैं। प्रेम के अधिदेवता कामदेव का प्राय चित्रण विशिष्टता के साथ हुआ, एक पैर से खडे होकर वह अपने पुष्प-बाणो को चलाते हुए दिखाया गया है।

गीतगोविंद के रचयिता जयदेव का भी पत्रो में चित्रण हुआ है। वे धोती, दुपट्टा और टोपी पहने और एकतारा बजाते हुए दिखाए गए हैं। यह उनकी प्रतिकृति (शबीह) न होकर केवल परपरा के अनुसार एक विनीत भक्त की छवि है। चौडे पत्तो से लदे हुए वृक्ष, उनकी झुकी हुई डालें, गुजारते हुए भौरे और चहचहाती हुई चिडियाँ इन के द्वारा मेघाच्छन्न आकाश के नीचे राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओ के लिये अनुकूल वातावरण तैयार किया गया है। जब अँधेरी रात में भीरु कृष्ण जमुना के उस पार अपने घर अकेले लौटने में भय खाते थे। भौरे और कोयल चित्रो में वसत की आगमन की सूचना देते हैं।

मुगलो से पहले लोगो की जो वेश-भूषा थी उसका कुछ परिचय इन चित्रो से होता है। मर्द झीना चाकदार जामा पहने हुए हैं और स्त्रियाँ महीन चूनडी ओढे है। इस प्रकार का चाकदार अँगरखा आरभिक अकबरकाल के चित्रो में पाया जाता है, विशेषत हिंदुओ की पोशाक में। ज्ञात होता है कि यह राजस्थान की पोशाक थी, आगरा और दिल्ली के दरबारो में जिसे ग्रहण कर लिया था। पुरुष देशी जूता, टोपी और कमरबद पहने हुए है। नोकदार उठी हुई टोपी 'वसत-विलास' के चित्रो में भी पाई गई है। बारहवी शताब्दी के 'अभिलषितार्थ चितामणि' ग्रथ में 'टोपिका' शब्द आया है जो विशेषत वर्षा ऋतु में ओढी जाती थी। स्त्रियाँ सिर पर चूनडी ओढे, उनके बालो की वेणी बँधी है और कलाइयो में काले फुँदने बँधे हैं। इस प्रकार के काले फुँदने अकबर-कालीन चित्रो में तो मिलते हैं, पर सोलहवी शती के बाद प्राय नही पाए जाते। माथे पर बिंदी लगाने का रिवाज बस आरभ ही हुआ था। स्त्रियो के वेष को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि यह ग्रथ नाथद्वारा-सदृश राजस्थान के किसी एक केंद्र में रखा गया। पुरुष दुपट्टा, पाजामा और साफा पहने भी दिखाए गए हैं।

गीतगोविंद की इस पोथी का समय निश्चित करना कठिन है। सब बातो पर विचार करके मैं समझता हूँ कि ये चित्र सोलहवी शताब्दी के आरभ में लिखे गए होंगे, लेकिन फिर भी इस विषय में सावधानी रखने की आवश्यकता है। साडी का पल्ला सिर के ऊपर आया हुआ है। यह प्रथा सोलहवी शती के शुरू में चली, उससे पहले सिर नगा या मुकुट पहनने की प्रथा थी। इसमें सदेह नही कि इस सस्करण के किसी निपुण चित्रकार ने जयदेव के गीतगोविंद का अनूठा भाष्य चित्रो के द्वारा प्रस्तुत किया।

---o---

गीतगोविंद : एक पद

भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र

राग-बसंत

हरि बिहरत लखि रसमय बसंत ।
जो बिरही-जन कहँ अति दुरंत ।।
वृंदावन-कुंजन सुख-समंत । नाचत-गावत कामिनी-कंत ।।
लैं ललित लवंग-लता सुबास ।
डोलत कोमल मलयज बतास ।।
अलि-पिक-कलरव लहि आस-पास ।
रह्यौ गूंज कुंज-मंडप अवास ।।
उँनमादित ह्वै तपि मदन-ताप । मिलि पथिक-बधू ठाँनहि बिलाप ।।
अलि-कुल कल कुसुम-समूह-दाप ।
बन सोहत मौरसरी-कलाप ।।
मृगमद-सौरभ के आलबाल ।
सोहत बहु नव दलदल तमाल ।।
फूले पलास बन लाल, लाल । जुव-हृदै-बिदारन नख-कराल ।।
बन प्रफुलित केसर-कुसुम आँन ।
मनु कनक-छरी लिएँ मदन राँन ।।
अलि, सह गुलाब लागे सुहाँन ।
बिष-बुझे मैंन के मनो बाँन ।।
नव नींबू-फूलन कर बिकास । जग निलज निरख मनु करत हास ।।
तिमि बिरही हिय-छेदत हतास ।
बरछी-से केतिक-पत्र पास ।।
लपटत यों माधविका सुबास ।
फूली मल्ली मिल कर उजास ।।
मोहे मुनि-जन कर काँम-आस । लखि, तरुन-सहायक रितु-प्रकास ।।
पुसपित लतिका नव संग पाइ ।
पुलकित बौराँने आँम आइ ।।
लहि सीतल जमुना-लैहैर बाइ ।
पावन बृंदाबन रह्यौ सुहाइ ।।
'जयदेव'-रचित यह सरस गीत । रितु-पति बिहरन हरि-जस पुनीत ।।
गावत जे करि 'हरिचंद' प्रीत ।
ते लहत प्रेंम, तजि काँम-भीत ।।

—:॰::—



वल्लभ-सम्प्रदाय के देवालयों में ललित कलाएँ

वल्लभ-संप्रदाय के देवालयों में ललित कलाएँ

श्री रमणलाल नागर मेहता

मूर्ति-भजक यवनो के विरुद्ध अविरत एव अप्रिय सघर्षों ने पराक्रमी हिंदू-रक्षक को पराभूत तथा ध्वस्त कर दिया था और उसके सामाजिक, आर्थिक एव धार्मिक निर्माण में नियोजन तथा विनाश का समावेश होने लगा था। वस्तुत अतर में अब भी वीर-भावना सचरित थी, परतु मानवी सीमाओ का आभास होना आरभ हो गया था और इसका स्वाभाविक परिणाम हुआ सर्व-शक्तिशाली दैव-इच्छा के समुख नतमस्तक होना। पद्रहवी शताब्दी के अत एव सोलहवी शताब्दी के आरभ में 'वीर-काव्य' का स्थान, कबीर, नानक, दादू, मीरा, चैतन्य और अन्य अनेक सतो के भक्ति-काव्य ने ग्रहण किया। भक्ति-सप्रदाय का उत्कर्ष हो रहा था और अगणित साधारण व्यक्तियो ने, जो दुर्भिक्ष एव अनवरत द्वद्व से पीडित थे द्वितीय जीवन के आनद के विचार का आश्रय लिया।

ऐसे युग में अनेक महात्मा धार्मिक जीवन का उपदेश दे रहे थे। सभवत पूर्व में चैतन्य सर्व अधिक सफल उपदेशक थे और पश्चिम में पुष्टिमार्ग के समर्थक वल्लभाचार्य अत्यधिक अनुगामियो पर स्वाधिकार उद्घोषित करने लगे थे। वल्लभाचार्य (१५२९ व १५३५-१५८७ वि० स०) कृष्ण-यजुर्वेद के तैत्रीय शाखा के ब्राह्मण थे। उन्होने कृष्ण भगवान् की आराधना का उपदेश दिया और उनके मतानुसार परब्रह्म[1] कृष्ण के प्रति सपूर्ण भक्ति-सहित आत्म-समर्पण इस कलियुग में मोक्ष[2] प्राप्त करने का एक आदर्श उपाय था। उन्होने ब्रज के स्वामी एव बाल गोपाला रूप में कृष्ण की वदना तथा भक्ति का परामर्श दिया।[3] उपासक को अपने अतस्तल में नद, यशोदा तथा गोपियो[4] के सुख और दुख का अनुभव करने का प्रयास करना चाहिये और विभिन्न रूपो में कृष्ण की आराधना करनी चाहिये, उदाहरणार्थ—दर्शन, श्रवण, पाद्सेवन, कीर्तन इत्यादि।[5]

१. परं ब्रह्म तु कृष्णोऽहि सच्चिदानंदकं बृहत्।
तथा कृष्ण पर ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति॥
—सिद्धातमुक्तावली ३-१४

२. सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।
पाखडप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम॥ —कृष्णाश्रय १

३. सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
—चतु श्लोकी १

४ यच्च दु.ख यशोदाया नंदादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद्दुखं तद्दुखं स्यान्मम क्वचित्॥
गोकुले गोपिकाना च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥

५. हरिर्मूर्ति: सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा॥
श्रवण कीर्तनं स्पष्ट पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
—निरोधलक्षण १, २, १७, १८

भक्तो के लिये कृष्ण एक भयावह देवता नही हैं, जिनका रोष भय कारक है, पर वे एक अति सुदर देवता हैं। भगवान् का समस्त शरीर एव कार्य, अलकार एव गति, गौ एव गोपाल, क्रीड़ा एव सगीत—उनकी और उनसे सबधित प्रत्येक वस्तु मनमोहक है।[1] ऐसे आकर्षक स्वामी की अर्चना-हेतु, जो विश्व की समस्त मनोरम वस्तुओ के प्रभु हैं। एक अति सुदर सत्कार विधि की आवश्यकता है। कृष्ण और उनसे सबधित राधा, यमुना तथा ललिता, विशाखा तथा अन्य अष्ट मित्रो की ऐसी उपासना ने वल्लभ-सम्प्रदाय में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया और उसकी क्रमिक उन्नति होने लगी।

इस सुरूप शारीरिक देवता का—जगत् के पिता का, राजराजेश्वर के सदृश समस्त सम्मान सहित उचित पूजन होना चाहिये, इस भावना को अपना कर ज्यो-ज्यो इस सम्प्रदायके अनुयायियों की सख्या में वृद्धि होती गयी त्यो-त्यो दैनिक उपासना में ललित कलाओ के उपयोग, उन्नति तथा उत्साह का अवसर प्राप्त होता गया। वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र एव उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ जी (१५७२-१६४२ वि०स०) के जीवनकाल में इस संप्रदाय ने तीव्र गति से उन्नति करना आरभ कर दिया।

विट्ठलनाथजी की नव पद्धतियाँ नाना-प्रकार की थीं। वे दीक्षा-सस्कार को अधिक गभीर बना देना चाहते थे और यह गभीरता दी गयी दीक्षा-मत्र—"कृष्ण त्वास्मि" में अनेक वाक्य खडो का योग करके। उनमें असीम सौंदर्य की भावना निहित थी और फलस्वरूप उन्होने वैष्णव-पूजा-विधि को नयी तथा सुदर सपूर्णता प्रदान की। अर्वाचीन समय में वैष्णवो के इस पुष्टि-मार्ग-सप्रदाय के देवालयो में पूजन-विधि, यद्यपि वह गत-काल के सप्त गृहो से कुछ विभिन्न है, पर साधारण स्वरूप में वही है जो विट्ठल-नाथजी ने—जो गोसाईं जी के नाम से विख्यात हैं, आविर्भूत की थी। ऐसा कहा जाता है कि गुसाईं जी के सम्राट् अकबर (१५५६-१६०५ ई० प०) से अच्छे सबध थे। सम्राट् एक बार आश्विन पूर्णिमा के दिन देवालय में गये और प्रस्ताव किया कि मदिर में पूजन-सामग्री का रग कृष्ण न होकर श्वेत हो। यह प्रस्ताव साहर्ष स्वीकृत किया गया और आज भी वहाँ श्वेत-वर्णीय वस्तुओ और रजत का प्रयोग किया जाता है।

ईसा-पश्चात् सोलहवी एवं सत्रहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में संप्रदाय का उत्थान हुआ पर अंतिम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औरगजेब की मूर्ति-नाशक नीति का सप्रदाय पर प्रभाव पडा और धर्माध्यक्ष अपनी प्रतिमाओ तथा अपनी रक्षा करने में धर्मोन्मत्त औरगजेब के कोप के भाजन हुए। उनमें से अनेक ने भाग कर वृदावन एव मथुरा के समीपवर्ती शक्तिशाली राजपूत-राज्यो में शरण ली। श्रीनाथ जी तथा श्री द्वारकाधीश जी की प्रतिमाएँ मेवाड आ गयी और अन्य कोटा, सूरत तथा दूसरे स्थानो को चली गयीं। पर, देश की राजनीति में अति तीव्रता से यह परिवर्तन हुए। औरगजेब के निधन के साथ ही मुगल राज्य के अध पतन ने प्रबल रूप धारण किया और उनके प्रातीय शासक स्वतत्र हो गये। महाराष्ट्र, मध्य, पश्चिमी और उत्तरी भारत में मराठे शक्ति-सचय कर रहे थे। पजाब में सिक्खो का अभ्युत्थान हो रहा था। अग्रेज तथा फ्रासीसियो की अपनी अलग राजनीतिक आकाक्षाएँ थीं। इन सभी बातों ने सासारिक अरक्षा का वातावरण अभ्युदित कर दिया और उन्नति का मार्ग अवरोधित हो गया। पारस्परिक नाशकारी सग्राम देश की शाति और समृद्धि के लिये घातक सिद्ध हुए। विभिन्न प्रदेशों एव प्रातो के शासक तथा छोटे-छोटे स्वतत्र राज्यो के स्वामी उस निर्धन साधारण जनता की उपेक्षा करके, जो युद्ध-प्रिय सेनापतियो तथा विलासी स्थानीय शासको द्वारा पीडित थी, भोग विलास में डूब गये। देश की ऐसी परिस्थिति भक्ति-भावना के प्रसार के अनुकूल थी और साम्प्रदायिक

1. गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरम् ॥
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा ।
—मधुराष्टक ७-८

इस युग में वैष्णव-संप्रदाय का समुचित समुत्थान हुआ। उत्तरी भारत में गुजरात, काठियावाड (सौराष्ट्र) राजपूताना तथा ब्रज में यह समुन्नत तथा समुत्थित हुआ। इस संप्रदाय के धार्मिक-आचरणो ने सेवा-पद्धति को जन्म दिया, जिसका आज भी पालन किया जाता है।

इस सप्रदाय में शिल्प विद्या, सगीत, नृत्य, नाट्य, चित्रकला, कल्पना, साहित्य इत्यादि ईश्वर-उपासना के हेतु प्रयुक्त किये जाते हैं। आगे की पक्तियो में इन कलाओ का उपयोग एव साधारण कला की परपराओ में उनका स्थान चित्रित करने का—साराश देने का प्रयास किया गया है।

वैष्णवो ने अपने शरीरधारी परमात्मा के आदर्शानुसार शिल्प-कला की उन्नति की। उनका देवालय शैव, जैन तथा बुद्ध-मदिरो से मौलिक रूप में भिन्न है। इस सप्रदाय का उत्कर्ष यवनो के अभ्युदय एव धर्मान्धता के युग में हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप हिंदू धार्मिक केंद्रो का विनाश हो गया। इन अभ्याघातो से सुरक्षा प्राप्त करने के अभिप्राय से जैनियो ने उत्तर मध्यकालीन समय में अपने मदिरो पर अविज्ञात शिखरो का निर्माण इस हेतु करना प्रारभ किया कि वे उनको निवास स्थानो का रूप प्रदान कर सकें। कबीर-पथियो, सिक्खो तथा रामानदियो के मदिरो में इसी विधि का अनुकरण किया गया है। वैष्णवो ने भी इसी विधि का अनुगमन किया और उन्होंने अपने पूजा-गृहो को देवालयो के नाम से सबोधित न करके 'हवेली' अथवा 'राजप्रसाद' का नाम दिया। गुजराती में हवेली शब्द का आशय है एक धनी व्यापारी अथवा सामत का निवास-भवन। काँकरोली तथा नाथद्वारा (जो पूर्व उदयपुर-राज्य में थे) में प्रयुक्त 'महल' शब्द का आशय धनी-कुलीन मनुष्य के निवास-स्थान या भवन से है।

वैष्णव-देवालय में एक विशाल भवन अथवा कमरे में जिसके अग्रभाग में एक खुला प्रकोष्ठ होता है, प्रतिमा प्रतिष्ठित रहती है। मध्य खुले प्रकोष्ठ के चतुर्दिश हवेली का शेष भाग वल्लभाचार्य के वशजो अथवा देवालयो के पदाधिकारियो के निवास के लिये प्रयोग किया जाता है। यदि कोई इससे परिचित नही है तो वह इसका बाह्य रूप देखकर इसको मदिर नही समझ सकता।[1]

इस सप्रदाय के कुछ देवालय शोभायुक्त अवश्य हैं, परतु उनकी निर्माण-कला आकर्षक नही है। जिस निर्माण-कला का व्यवहार किया गया है, वह केवल अलकृत करने के अभिप्राय से है और वह लौकिक निवास-स्थानो की भवन-निर्माण-शैली के अनुरूप है, पर उसपर कृष्ण की जीवन-कथाओ के चित्रण का बाहुल्य है, पर यह वैष्णव-मदिरो की विशेषता नही है, क्योकि अठारहवी तथा उन्नीसवी शताब्दियो के व्यक्तिगत-गृहोमें इस प्रकार के दृश्य उभडी आकृति में दृष्टिगोचर होते हैं।

भवन-निर्माण के अविज्ञात रूप के प्रयोग का कारण यह हो सकता है कि यवन उससे घृणा करते थे और उसे ध्वस करने के अवसर को हाथ से जाने नही देते थे, पर भवन-निर्माण की अपूर्णता

१. यह संप्रदाय निम्नलिखित रूपों में एक रूप की प्रतिमा प्रतिष्ठित करता है—

(१) गोवर्धननाथ जी—कृष्ण अपना वाम हस्त उठा कर अपने भक्तों को निकुंज में आने को आमंत्रित करते हैं।

(२) नवनीत-प्रिया जी—कृष्ण अपने हाथ में मक्खन लिये हुए है।

(३) मथुरेश जी—कृष्ण गौओं को चरा रहे हैं।

(४) विट्ठलेश जी—गोपियो के गीत-गाते समय कृष्ण का कटि पर भुजाओ का रखना।

(५) द्वारकानाथ जी—कृष्ण का चतुर्हस्त रूप—तीन भुजाओ में शंख, चक्र और गदा लिये हुए।

(६) गोकुलनाथ जी—कृष्ण एक भुजा से गोवर्धन पर्वत उठाये हुए, दूसरे में शंख लिये हुए और शेष दो से बाँसुरी बजाते हुए।

(७) गोकुल-चंद्रमा जी—रासलीला के कृष्ण।

(८) बालकृष्ण जी—बालक के रूप में कृष्ण, एक हाथ में मोदक लिये हुए।

(९) मदनमोहन जी—कृष्ण बाँसुरी बजाते हुए और गोपियों को आमंत्रित करते हुए।

को चित्रकारी का मुक्त प्रयोग करके पूर्ण कर दिया गया है। अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक उत्थान में यह संप्रदाय दिल्ली, जयपुर, उदयपुर तथा अन्य स्थानो के चित्र-विद्या-विशारदो के आश्रय एव अवलबन का प्रदाता हुआ और नाथद्वारा में चित्रकारी का अधिष्ठाता बना।

चित्रकारी का यह विभाग अर्वाचीन समय में चित्रकला की दृष्टि से विभिन्न मूल्य की धार्मिक वस्तुओ की अपरिवर्तनशील प्रतिलिपियाँ निर्मित करता है। वैष्णव अपने देवताओ के प्रतिमा-स्थापन एव अभ्यर्थना हेतु पत्थर के छापे के चित्र अथवा आलोक-चित्रो का प्रयोग नही कर सकते, अपितु विभिन्न रगो से रजित ही रगराज के चित्र के ही प्रयोक्ता होते है। पत्थर के छापे के चित्रो अथवा आलोक-चित्रो के अवरोध ने फलस्वरूप ही आज भी मौलिक चित्रो की माँग है और इसीलिये ही स्थानीय चितेरो एव नाथद्वारा-चित्रकारी के अध्ययन का सरक्षण हो रहा है। इन चित्रो के अतिरिक्त किरमिच के चित्रो की भी सदैव माँग रहती है, जिनका प्रयोग मदिरो को सुसज्जित करने में किया जाता है। विभूषित करने की इस सामग्री में सिढि, सिंहासन, पिछवाई, पीठिका इत्यादि होते है। साधारणतया ये चित्र आकार में बडे होते है और उनमें से अनेक विभिन्न कौतुक-भडारो में स्थान पा चुके है। अततोगत्वा नाथद्वारा-कला के चित्रकार आज्ञा पर सासारिक चित्र भी चित्रित कर देते है, पर ऐसा केवल गुप्त रूप से ही होता है।

इस सप्रदाय के देवालयो की भित्तियो, चित्रो एव एक विशेष प्रकार की पिछवाइयो अथवा आवरणो से अलकृत होती है, जिसके परिणाम स्वरूप इस कला के चितेरो को अपनी योग्यता प्रदर्शन का समुचित अवसर प्राप्त हो जाता है। उदयपुर-राजप्रसाद तथा अन्य पूर्णतया सासारिक स्थानो में नाथद्वार-शिल्पियो की कला की स्पष्ट छाप लगी हुई व्यक्त होती है।

वैष्णव-धर्म में सगीत का भी एक अति विशिष्ट स्थान है। भारतीय सगीत की मधुर ध्वनि प्राय प्रत्येक देवालयों में कर्णेंद्रिय तक पहुँचती है और प्राय अन्येष्ट मदिर-सगीतज्ञो के समूह का समय-पालन करता है। ध्रुपद तथा धमार-पद्धति का शास्त्रीय सगीत मत्र-मुग्ध कर देता है। रामकली ऊषा समय की प्रिय रागिनी है। सारग, बिलावल एवं अन्य राग-रागनियाँ भी दिवस के निर्दिष्ट समय पर श्रवण की जा सकती है।

सगीत एव सूचना-सहित भक्तो के दर्शनार्थ भगवान् के पट खुलते है। इस समय प्रदर्शन तथा परिष्कार का यथेष्ट अवसर प्राप्त होता है। जिस कोष्ठ में प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, वह राजकीय रीति के अनुसार समस्त सौंदर्य-सहित सुसज्जित किया जाता है। यह शृगार दिवस के विभिन्न दर्शन अवसरो, विभिन्न पर्वो एव विभिन्न ऋतुओ पर परिवर्तित होता रहता है। प्रात काल के मगल-दर्शन पूर्णतया सामान्य होते है। भगवान् केवल एक धोती और शिर पर पाग धारण किये रहते है। उनके आभूषण न्यूनतम होते है और वातावरण साधारण। राजभोग-दर्शन में, जो मध्यकालीन दर्शन भी होता है, प्रभु को ऋतु के अनुकूल वस्त्रो एव अलकारो से सुसज्जित किया जाता है। वे एक सिंहासन पर, जिसके समक्ष सोपान दृष्टिगोचर होता है, आसीन होते है। सोपान के निम्नतम भाग के निकट एक काष्ठासन होता है जिस पर तीन छोटी-छोटी काष्ठ-वेदियाँ रखी रहती है और उनमें से एक पर चतुरग का खेल फैला रहता है। ये सभी आवरण सुवर्णीय वस्त्रो से शोभनीय रहते है। सिंहासन पर आस्तरण विशेष और दोनो ओर दो उपधान होते है। सिंहासन के पार्श्व भाग में पिछवाई अथवा चित्रित, रजित एव कसीदा किया हुआ आवरण लटका रहता है। इसके दोनो ओर दो दिवाल गौरियाँ होती है और पिछवाई के समुख प्रतिमा के समीप पीठिका नामक एक सुसज्जित वस्त्र-भाग होता है। ये अति आभूषित वस्त्र-भाग दर्शक को शृगार की ऋतु, समय एवं अवसर का परिज्ञान कराते है। उदाहरणार्थ दानलीला की पिछवाई तथा वृदावन की दानलीला की घटना भाद्रपद मास प्रभावित करती है। इस प्रस्ताव को साँझी[1] नामक सुशोभन से, जो नद्दुल, फलो, पुष्पो एव अन्य

[1] इसकी तुलना बंगाल एवं महाराष्ट्र के अल्पना तथा रगवली रंगवल्ली या रांगोली से की जा सकती है।

वस्तुओं से किया जाता है और भी गमीरता प्रदान कर दी जाती है। यह अलकृत वेष व्रज-यात्रा की घटना, जो इसी मास में हुई थी, प्रस्तावित करता है। इस अवसर पर गाये हुए गीत भी उपयुक्त सगीत-सहित 'दान-लीला' का वर्णन करते है। इन सपूर्ण सौदर्य-साधनो एव अराधना की सामग्री के सामजस्य के फलस्वरूप भक्त के मस्तिष्क पर वाछित प्रभाव प्रबल प्रकार से अधिकार जमा लेता है। ऐसा मेवाड के शासक जगतसिंह जी (१६२८-१६५२ ई० प०) के साथ, जो एक बार ग्रीष्म ऋतु में गोकुल के मदिरो में दर्शन करने गये थे, हुआ। वे उस देवालय में गये जो विट्ठलनाथ जी के तृतीय पुत्र 'बालकृष्ण जी' के पौत्र 'गिरिधर जी' (१६१४-१६६२ ई० प०) के रक्षण में था और वे वहाँ की मनमोहक पूजन-विधि एव सादृश्यता से इतने उल्लसित हुए कि वे इस सप्रदाय के अनुयायी हो गये। इस सबध ने भविष्य में औरगजेब के क्रोध से दो प्रतिमाओं की रक्षा की, क्योकि जयसिंह जी के राज्य-काल में उन्हें मेवाड में सुरक्षित गुप्त स्थान प्राप्त हुआ।

इन देवालयो में गाये जानेवाले वैष्णव-गीत सस्कृत, ब्रजभाषा अथवा प्राचीन हिंदी में होते है।[1] सप्रदाय की अभिवृद्धि के साथ अधिकतम गीतो एव प्रार्थनाओं की आवश्यकता-पूर्ति मुख्यत आठ सत कवियो के समूह ने की जो 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अष्टछाप के अतर्गत—'सूरदास, कुभनदास, चर्तुभुजदास, परमानददास, नददास, कृष्णदास, छीतस्वामी एव गोविंदस्वामी' उच्चकोटि के प्राज्ञ कवि थे। इन कवियो ने सहस्रों अत्युत्तम श्रेष्ठ श्रेणी के भक्ति-गीतो की रचना की है, जिनमें उन्होंने कृष्ण, राधा तथा गोपियो के अनेक प्रकार के कृत्यो का गुण-गान किया है। इन कवियो ने न केवल काव्य-रचना ही की अपितु उसको अपने देवता के समक्ष गाया भी और वे किसी रूप में भी निम्न-प्रकार के सगीतज्ञ न थे, वस्तुत वे गहन विचार-युक्त थे। इनमें से 'सूरदास' भारत के कोने-कोने में सुविख्यात है।

आधुनिक काल में परम पवित्र काँकरोली के महाराज, पडित कठमणि शास्त्री, त्रैमासिक वल्लभ-सुधा के सपादक श्री द्वारकादास परीख एव सर्वाधिक मथुरा के ब्रजभाषाचार्य प० जवाहरलाल चतुर्वेदी के सतत प्रयासो द्वारा अष्टछाप कवियो के साहित्य का जनता को परिज्ञान कराया जा रहा है।

कविता के अतिरिक्त इस सप्रदाय ने व्रजभाषा में गद्य-लेखन को भी पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया है। ऐसे लेखो में चौरासी एव दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ताएँ विशेषरूपेण उल्लेखनीय है।

इन देवालयो में कृष्ण-जन्म के हर्ष को व्यक्त करने के लिये छोटे-छोटे नाटको का अभिनय किया जाता है। गोप-गोपिकाओं के वेष में अनेक भक्त नाचते, गाते और कूदते है, एव दर्शको के ऊपर हरिद्रा-चूर्ण युक्त दधि फेंकते है। इसी प्रकार शरद्-पूर्णिमा के दिन कृष्ण की रासलीला का अभिनय होता है। इस प्रकार के प्रदर्शन के लिये व्रज में एक विशेष प्रकार के नृत्य और गान करनेवाले होते हैं, जो 'रासधारी' नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस धर्म का कला-सबधित जीवन विभिन्न भेदो से युक्त तथा अति भावना-पूर्ण है। कला के स्थायी रूपो के अतिरिक्त, हिंडोला अथवा झूला-उत्सवो के अल्पकालिक रूप भी है, जिनका श्रावण मास में अवलोकन होता है। जब वर्षा ऋतु में पृथ्वी नव फलो एव पत्रो से सुवासित रहती है तथा प्रकृति नव वर्षागमन से प्रफुल्लित होती है, तब सगीत की मधुर ध्वनि से निनादित अति आह्लाद-पूर्ण वाता-वरण में, पुष्पो, फलो तथा पत्तो से सुसज्जित काष्ठ, रजत अथवा सुवर्ण के हिंडोले में प्रभु के झूलने का आनद लेते है।

१. वल्लभ-सप्रदाय के मदिरो में संस्कृत और ब्रजभाषा के ही पद गाये जाते हैं, प्राचीन हिंदी आदि के नहीं।

इस प्रकार भगवान् के माधुर्य अथवा सौंदर्य को विशेष महत्त्व देकर उनके—'सत्य, शिव, सुदर' रूप का बोध होता है। प्रभु के प्रति भक्ति मुख्यत. एक भावना-पूर्ण अनुभव है, जिसमें विलीन होकर भक्त ब्रज की गोपिकाओ के सदृश भगवान् को सपूर्ण स्व समर्पण कर देता है।

हिंदू-समाज की सुरक्षा, समुत्थान, सस्कृति एव सुधर्म के लिये वल्लभ-सप्रदाय की यह अमूल्य देन है, जो वस्तुत. अद्वितीय और अपूर्व है।



अहिल्या : उद्धार

पश्चिमी-शैली में बालगोपाल-स्तुति : एक और प्रति[१]

श्री मंजुलाल रणछोड़लाल मजूमदार

सन् १९४८ के 'इंडियन 'हिस्टोरिकल रेकर्ड कमीशन' की बैठक पर मैं दिल्ली आया। [illegible] का निमित्त तब श्रीमान् डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जी ने पश्चिम-हिंदी शैली में कागज और [illegible] पर चित्रित एक प्रति मुझे दी। उसमें के चित्र प्रसग और सस्कृत-श्लोकों से उन्होंने बताया था कि यह प्रति जैनेतर विषयक है। बाद में उसके सूक्ष्म अवलोकन से मुझे निश्चय हुआ कि 'कृष्णकर्णामृत' के रचयिता "बिल्वमगल लीलाशुक स्वामी" रचित 'बाल-गोपाल-स्तुति' नामक प्रकीर्ण और अप्रसिद्ध स्तोत्र सग्रह की यह प्रति है, क्योंकि इसी स्तोत्र की दूसरी ऐसी पाँच सचित्र प्रतियाँ इसके पहले मैं देख चुका था।

प्रस्तुत प्रति बीकानेरवासी राजस्थानी-भाषा-साहित्य के अपूर्व प्रेमी श्रीयुत अगरचन्द जी नाहटा के सग्रह से प्राप्त हुई थी। श्री नाहटा जी की सम्मति से मेरे अभ्यास की सुविधा के लिये उन सारी प्रति की फोटू कापी परम प्रेमास्पद डा० अग्रवाल जी ने करवाई थी। उसके बाद प्रति की चित्र-शैली के एक लाक्षणिक नमूने के तौर पर उसमें का एक पत्र असल रग और कद में प्रसिद्ध करने का भी उन्होंने स्वीकार किया। इस तरह प्रस्तुत प्रति की खोज से लेकर यथायोग्य स्वरूप में कलाभिज्ञों तक पहुँचाने की योजना का पूरा श्रेय श्रीमान् डा० अग्रवाल जी को है। लेखक उसमें निमित्त मात्र है।

आनद-निर्दोष और नि स्वार्थ-प्राप्त करना मनुष्य-जीवन का परम ध्येय है। ऐसा आनद- भारतीय कला [illegible] सौंदर्य-दर्शन में से मिलता है। कला और साहित्य-सौंदर्य पैदा करने और अपने- [illegible] का हेतु [illegible] अपने ढग से मूर्त करते हैं। कला का अन्तिम-उद्देश्य आनद प्राप्ति और [illegible] शुद्धि [illegible] और से प्रत्येक धर्म और सप्रदाय ने कला को अपनाया और पूजा का साधन बना कर उसे स्थान दिया।

साहित्यकारों ने पुराण, गाथा, जातक बनाकर कलाकारों के लिये असीम साहित्य-सामग्री दी है। उसमें से चित्रकार, शिल्पी, नाटककार, नर्तक और गायकों ने भिन्न-भिन्न समय में प्रचलित धर्म-सप्रदायों के लिये आवश्यक सुदर कलाकृतियाँ बनाईं। उनमें की कुछ कलाकृतियों के मिले हुए अवशेष [illegible] कला के सुवर्ण युग का स्मरण कराते हैं।

बौद्ध-जातकों का श्रवण, अजता के भित्ति-चित्र और शिल्प के अवशेषों से [illegible] है। [illegible] की शिल्प कृतियाँ देव-देवियों के आख्यानों को विशेष हृदयंगम कराती हैं। [illegible] उसके कथा-प्रसगों के चित्र द्वारा विशेष बोधगम्य और प्रभावोत्पादक [illegible] है। [illegible] (पटचित्र) की चित्र-[illegible] में विशेष [illegible] है। [illegible] के प्रसगों का वर्णन [illegible] प्रसगों के चित्रों के अवशेषों से [illegible] है।

[illegible] वसुदेव की [illegible] है। [illegible]

१. श्री [illegible] द्वारा मूल गुजराती से हिंदी में अनूदित। [illegible] गुजराती हैं, [illegible] हिंदी-शैली में गुजराती की [illegible] है।

हुए। भारतवासियो ने कला को मानवीय संपत्ति और भक्ति का परम साधन माना, इससे देवस्थान कला-केंद्र बने हो यह स्वाभाविक है।

निराकार का साकार स्वरूप-निर्माण

निराकार की साधना आकार द्वारा होती है। इसीसे आकार का हेतु भारतीय शिल्प की आत्मा है और इसीसे ही उसकी मुख्य ध्वनि भी आध्यात्मिक या 'भावात्मक' है।[1] मंदिर हिंदू-धर्म का शरीर है। हिंदुओ का साहित्य, संगीत, शिल्प, स्थापत्य, चित्र-नृत्य इन सब कलाओ का रचना कौशल वही इकट्ठा होता है और सारा समाज वहाँ आकर वहाँ की कला-भावना की समझ से और प्रत्यक्ष दर्शन से मिलता आनंद जीवन में भरते है। इसी से कला जो मंदिर में थी, वह घर में भी थी, गावो में और नगरो में भी थी। धर्म से जैसे जीवन व्याप्त था वैसे जीवन कला से व्याप्त था।

एशिया की प्राचीनतम चित्र-संपत्ति

एशिया की चित्र-कला के प्राचीनतम अवशेष अजंता की गुहाओ में के भित्ति-चित्र है। यद्यपि उसके अस्तित्व का पता जगत् को अकस्मात ही सबसे पहले सन् १८१६ में चला। एक ओर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से सातवी शताब्दी तक के अजंता, बाघ और सितन्नवासल में हिंद के सिगिरिया तथा अनुराधापुर में सिंहल के एवं मध्य-एशिया के भित्ति-चित्रो के सप्रदाय का पता था, दूसरी ओर सोलहवी शताब्दी से हिंदी, फारसी सप्रदाय से उत्पन्न राजपूत और मुगलकला के छोटे कद के पोथी-चित्रो का अति प्रचार देखने में आया।

सात सौ साल के अंतर का अज्ञान

पर, इन दोनो शताब्दियो के बीच करीब आठ सौ वर्ष के अंतर का हिंदी चित्र-कला का इतिहास ठीक रूप से मिलाया नही गया था। अजंता की विकसित स्वरूप में अभिव्यक्त भित्ति-चित्रो की कला सोलहवी और सत्तरहवी शताब्दी में 'हिंदू राजपूत कला' के नाम से इतने लंबे अरसे के बाद यकायक छोटे कद के पोथी-चित्रो के रूप में कैसे आ पडी यह एक पहेली सी थी।

सचित्र जैन पुस्तक की खोज 'कल्पसूत्र' और 'कालक कथा'

दरमियान, ईस्वी सन् की ग्यारहवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक के कुछ श्वेतांबर जैन ग्रथो से ताड़-पत्र और कागज की पुस्तको के छोटे चित्रो का पता बीसवी शताब्दी के शुरू में करीब १९२० के आस-पास विद्वानो को चला। ई० सन् १९१३ में 'बर्लिन म्यूजियम' के एक 'सचित्र कल्पसूत्र' का नोट डा० कुमारस्वामी ने 'नोट्स आन जैन आर्टस्' से अमेरिका के बोस्टन म्यूजियम की चित्र सामग्री का परिचय कराया। सन् १९२४ में उन्होने उसका विस्तृत परिचय दिया।

'वसंत विलास' के चित्रपट्ट की खोज

इसी साल में श्री एन० सी० मेहता ने 'रूपम्' में बताया कि 'वसंत-विलास' के चित्रपट की जिसका विषय धर्मेतर यानी अजैन तदरिक्त वसंत की शृंगार-सामग्री का परिचायक है, शैली जैन-कल्पसूत्र से ठीक मिलती है और यह चर्चा शुरू की कि इस सप्रदाय की कला का परिचय किस नाम से दिया जाय? किसी भी धर्म के नाम के बजाय प्रादेशिक नाम देने की भी उन्होने सूचना की।[2] हिंदी-चित्रकला का विस्तृत प्रकरण इस गुजराती चित्रपट द्वारा मिल गया और मुगल सप्रदाय की चित्रकला के अस्तित्व में आने से पहले के भारतीय चित्र-सप्रदाय की यह महत्त्व की कडी है, ऐसा प्रतिपादन किया।

इस अरसे में सन् १९२६ में 'डी० बी० रोमसन' ने 'रूपम्' के २६ वें अक में इलूरा की गुफा के भित्ति-चित्रो का अस्तित्व खोजा। एक ओर अजता के भित्ति-चित्र और दूसरी ओर श्वेतांबर

१. न काष्ठे विद्यते देवो न शिलायां न कर्दमे।
भावेषु विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम् ॥

२. 'रूपम्' के १९२४ के अक के बाद १९२६ में 'स्टडीज इन इंडियन पेंटिंग्ज' पुस्तक में एक स्वतंत्र प्रकरण 'सेक्यूलर पेंटिंग्ज आफ गुजरात', इस चित्रपट पर लिखा और उसका सिलसिलेवार अभ्यास सन् १९३१ में 'इंडिया सोसाइटी आफ आर्ट लंदन' के जर्नल में प्रकाशित किया।

८ वीं ६ वीं शताब्दी के इलोरा के भित्ति-चित्रो की खोज

जैन-ग्रथो के छोटे चित्र इन दोनो के बीच सयोगी कडी की तरह इलोरा के भित्ति-चित्र है। करीब ८वी ६वी शताब्दी में अकित इन चित्रो में गुजराती चित्रो की मुखाकृतियो का साम्य सबसे पहले नजर आता है। कानो तक पहुँची हुई आँखें, तीन चतुर्थांश चेहरे के आलेखन में दूसरी आधी आँख का निदर्शन, नुकीली नाक और आगे उकसा हुआ सीने का हिस्सा ये सभी लक्षण इलोरा में सबसे पहले मिले है। उसकी परपरा गुजराती ताड-पत्रीय और कागज की पोथी के चित्रो में मिलती है। इस तरह इलोरा के भित्ति-चित्र गुजराती छोटे कद के चित्रो के पुरोगामी है, ऐसा सिद्ध हुआ।

'बाल गोपाल-स्तुति' की वैष्णव पोथी की खोज

इलोरा के चित्रो का पता लगने के बाद दो-तीन वर्ष में ही गुजराती अथवा पश्चिमी हिंदी-चित्रकला का एक और प्रमाण प्रकाश में आया। सन् १६२६ में श्री अर्धेदुकुमार गागुली को पश्चिम राजस्थान से 'बाल-गोपाल-स्तुति' (वैष्णव स्तोत्र) की सचित्र प्रति मिली। उसके चित्र 'जैन-कल्पसूत्र' और 'कालक-कथा' के चित्रो से सर्वांशेन सदृश मिले। तदतिरिक्त उनमें पूरा वैविध्य भी देखा गया। २६ वी चित्रो वाली खडित प्रति के विषय में उन्होंने तीन लेख लिखे। बाद में वह प्रति 'बोस्टन म्यूजियम' में अमेरिका चली गई। वहाँ प्रो० 'नार्मन ब्राऊन' ने सन् १६३० के 'ईस्टर्न आर्ट' त्रैमासिक में उन्ही चित्रो का विस्तार से परिचय कराया।

'बाल-गोपाल-स्तुति' 'बिल्वमगल स्वामी' के वैष्णव स्तोत्र-ग्रथ की गुजराती शैली के चित्रो-वाली प्रति की खोज से गुजरात में—उस जमाने के विस्तृत गुजरात में, यानी जिसमें राजस्थान और मालवा का भी समावेश था—एक विशिष्ट प्रकार के छोटे कद के पोथी-चित्रो (मिनिएचर) का प्रचार था, ऐसा मानने का कारण मिला। यह प्रादेशिक चित्रशैली किसी एक धर्म या सप्रदाय की नही, पर समस्त पश्चिम-हिंद-वासियो की थी, यह भी स्वीकार किया गया।

बाल-गोपाल-स्तुतिकी और सचित्र पोथियाँ

श्री गागुली की खोज के तीन साल बाद सन् १६३३ में उसी 'बाल-गोपाल-स्तुति' की दूसरी दो सचित्र प्रतियो का परिचय बडोदे में हुई 'आल इडिया ओरियटल कॉंफ्रेंस' में प्रस्तुत करने का मुझे मौका मिला। ऐसी अजैन चित्र विपुलता के कारण गुजरात में से प्राप्त जैन-धर्मी, सासारिक तथा वैष्णव-धर्मी पोथियो में एक-सी चित्र-पद्धति का प्रयोग हुआ है, यह सुलभ और साधार हुआ। बाद में दूसरी तीन विशिष्ट सचित्र प्रतियाँ भी मिली। इससे स्पष्ट होता है कि इस दक्षिणी सत की वैष्णव स्तोत्र-ग्रथ रूपी रचना की पश्चिमी हिंद में कितनी प्रसिद्धि और लोक-प्रियता थी। इस विषय में कलकत्ते के 'जर्नल आफ दी इडियन सोसायटी आफ ऑरियटल आर्ट' १६४२ में और बबई यूनीवर्सिटी जर्नल १६४८ में मैंने विस्तृत लेख प्रकाशित किये है।

पश्चिमी हिंद की चित्र-शैली की यह आठवीं प्रति

गुजराती सप्रदाय की मेरी अपनी खोज में प्राप्त सचित्र अजैन-ग्रथो में 'दुर्गामहात्म्य' (बडी सप्तशती) की तीन प्रतियाँ, 'गीतगोविंद' की तीन, 'भागवत दशम स्कध' की दो, सासारिक ग्रथ 'रतिरहस्य' की दो प्रतियाँ, एव शकुन-शास्त्र-विषयक 'काकरुत' प्रति के आलेखन सपूर्णतया जैन-चित्रो मे मिलते-जुलते हैं। 'माधवानल-कामकदला-कथा' और 'चौर पचाशिका' जैसी शृगार-कथाओ की इस शैली में चित्रित प्रतियाँ मिलने मे शैली की व्यापकता स्पष्ट रूप से ध्यान में आती है।

चित्रशैली का नामकरण

ऊपर सक्षेप में देखा कि गुजराती चित्र-शैली की खोज का इतिहास पचीस साल से अधिक पुराना नही है। इसलिये इस चित्र सप्रदाय की पहचान के लिये अनेक नामो की सूचना की गई। आज तक तो इन चित्रो का सबसे बडा संग्रह जैन-ग्रथो मे मिला। इसमे उसे जैन-चित्र-कला के नाम से पहचाना गया, पर जब गुजरात, मारवाड, मालवा और राजपूताना मे भी दूसरे सप्रदायों में और साहित्य-ग्रंथो में इसी शैली के चित्र मिलने लगे तब कला-निष्णातो के समक्ष सारी परपरा खडी हुई।

गुजरात के राजपूत राने और बाद के सुलतानो के जमाने में गुजरात की सीमाएँ विस्तृत थी। इससे पश्चिम हिंद में सुरक्षित इस कला को 'गुजराती कला' या 'पश्चिमी हिंद की कला' का नाम सूचित हुआ। बौद्ध लेखक 'तारानाथ' के उल्लेख के अनुसार 'स्कूल आफ एशेंट वेस्ट' मरुभूमि में सातवी शताब्दी में परिचित था। उसी की एक धारा ताड-पत्रीय चित्रो की 'वलभी राज्य' के पतन के बाद नेपाल और ब्रह्मदेश में गई। दूसरी पश्चिम हिंद में व्याप्त हुई। पगान (बर्मा) के मदिर के भित्ति-चित्रो में लबी नुकीली नाक और डेढ आँख का आलेखन इस चित्र-शैली के प्रवास को ध्यान में लि` बिना समझाना शक्य नही है। नेपाली ताड-पत्रो में 'प्रज्ञापारमिता' आदि के चित्रो की शैली और रग-पूर्ति गुजराती ताड-पत्र के चित्रो के साथ खूब मिलती-जुलती है।

गुजराती चित्र-शैली का प्रधान उद्देश्य वृतात-निरूपण का होने से लेखन में जो कार्य शब्दो से बनता है वही कार्य चित्रकार रग और रेखा से, अधिकतर रेखा से ही साध लेते है, इसलिये यह चित्र-शैली भावात्मक साकेतिक बनी दीखती है। इससे अजता की भव्य और सस्कृत परपरा के अनु-सधान में विकसित हुई यह छोटे कद की चित्र-शैली बडी भद्दी और भाव-व्यजना रहित दिखाई पडती है। इससे उसका नाम 'अपभ्रश शैली' दिया जाय तो सार्थक हो ऐसा श्री 'राय कृष्णदास' का मत है और डा० मोतीचद के मत से, यह शैली पश्चिम हिंद से दूर-दूर भी पाई जाती है, इसलिये इसका नामकरण फिर सोचना चाहिए, यह भी विचारणीय है।

गुजराती चित्र-संप्रदाय का महत्त्व

सोलहवी शताब्दी तक विशिष्ट स्वरूप में व्यापक इस ग्रथस्थ चित्र-भडार को किसी नाम से पहचानने पर इसका महत्त्व अनेक दृष्टि से ध्यान में आता है, जैसे—

१. शताब्दियो से चली आई अजंता, बाघ और इलोरा की भित्ति-चित्र-परंपरा को समय और साधन-संकोच और परिवर्तन के साथ छोटे कद में ताड़-पत्र पर सुरक्षित रक्खा।

२. भित्ति-चित्र-कला और राजपूत-मुगल-कला के बीच के अंतर को समझाने के लिये यह संप्रदाय ध्यान देने योग्य बना।

३. यह गुजराती चित्र-शैली राजस्थान और रजपूत-कला की जन्मदात्री है। खासकर पच-महाभूतो का आलेखन पर्वत, जल (नदी-सागर) पृथ्वी, अग्नि, बद्दल, मेघ, क्षितिज, वृक्ष आदि का आलेखन गुजराती चित्रशैली से राजस्थानी में उतर आया और उसके आकार और परपरागत-चित्र-भावना भी। प्रसिद्ध 'रागमाला' के चित्रो का मूल लाटवासियो की चित्र-कला में है।

४. अकबर की दरबारी चित्र-कला में काम करने वाले हिंदी चित्रकार, ईरानी और फारसी-कला के संस्कार जल्दी ग्रहण कर सके, उसका यही कारण है कि देशज-पद्धति में वे पारगत थे, इसलिये परदेशी वातावरण का अनुकरण उन्हें सुलभ हुआ। अकबर की शाही चित्रशाला में गुजरात के करीब सात चित्रकार थे। उनमें से केशव, माधव और भीम विशेष प्रसिद्ध है।

इस पूर्व भूमिकावाली चित्र-शैली के तीन दृष्टात 'बाल-गोपाल-स्तुति' में देकर शैली के लक्षणो का परिचय करेंगे, उससे पहले वैष्णव स्तोत्र-ग्रंथ की रचना के विषय में जान लेना आवश्यक है। भक्ति में वासुदेव की भक्ति कब से शुरू हुई यह भी सोच लें।

नवधा भक्ति-मार्ग की परपरा अति प्राचीन है। वेद के समय में भी मानव-हृदय भक्तिवाले थे, पर उसका साहित्य वेद में सगृहीत न होकर कुछ अलग रहा। फिर वासुदेव ने 'गीता' कही। तब से भक्ति-मार्ग को स्थिर रूप मिला। धीमे-धीमे उसका विकास, विस्तार, प्रचार बढता गया।

वासुदेव-भक्ति महाभारत में प्रतिपादित हुई हो ऐसा मानने के लिये कारण है। उसके एक श्लोक—

"वासुदेवाऽनंतशक्ति सृष्टिसंहारकारक ।
सर्वेश्वरो देव देवो परमात्मा सनातन ।।"

में प्रयुक्त दो विशेषण जिनका उल्लेख ई० पू० दूसरी शताब्दी के बेसनगर (विदिशा) के लेख में देव-देव वासुदेव का गरुडध्वज खडा करवाया ऐसा उल्लेख है और राजपूताने में घोसूडी के उसी समय के लेख में सर्वेश्वर भगवान् सकर्षण और वासुदेव का पूजा शिला-प्राकार करवाया, ऐसा उल्लेख है।

इससे यह सिद्ध होता है ई० पू० दूसरी-तीसरी शताब्दी में वासुदेव के मदिर थे और उनकी पूजा का विस्तृत प्रचार था। मेगेस्थनीज चद्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में (ई०पू०३२०) प्रचलित धर्मो के परिचय देते हुए लिखता है कि "हिंदी शौरसेनी-प्रजा में 'हिरेक्लीस' पूजा जाता है। शौरसेनी-प्रजा का एक शहर मथुरा, नदी यमुना और शूरसेन प्रजा क्षत्रिय था।" इससे लगता है कि मेगेस्थिनीज का हिरेक्लिस मथुरा के कृष्ण ही होने चाहिए।

बौद्ध-धर्म के पुरातन ग्रथ 'पालीनिदेश' में अनेक प्रचलित धर्मो में—गो-पूजा, श्वान-पूजा, वासुदेव-पूजा, बलदेव-पूजा आदि को गौण माना है, जो समय के प्रवाह में बौद्ध-धर्म और अन्यमार्गो को दबाकर इस देश में व्यापक हुई। ई० पू० पाँचवी शताब्दी के मध्य में पाणिनि की अष्टाध्यायी के—

"वासुदेवार्जुनभ्यां वुन्।" (४।३।९८)

सूत्र से कहा जा सकता है कि उनके समय में वासुदेव निःसशय देव माने जाते थे।

इन आधारो से यह फलित है कि ई० पू० प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एव पचम शतक में वार्ष्णेय वासुदेव की पूजा प्रचलित थी। उसका प्रथम दर्शन महाभारत के 'नरायणी पर्व' में होता है।

इस पूजा का मूल भगवद्गीता है। जिस समय तीव्र तपश्चर्या और त्याग से समाज में अव्यवस्था फैल रही थी, तब जनक के द्वारा उज्ज्वल किये हुए निष्काम कर्म रूप आश्वासक और सर्व-सग्राहक धर्म का वासुदेव ने उपदेश किया। परिणामत भक्तिमार्ग का धर्म लोक-प्रिय हुआ और कुछ समय में गीता के भगवान् वासुदेव परमेश्वर के रूप में पूजे जाने लगे। क्रमश उनके उपदेश के बजाय पूजा-धर्म का प्रचार हुआ।

भक्ति-मार्ग का प्रवाह 'गीता' से चला। इस भक्ति-मार्ग के उपदेशक वासुदेव का जो चरित्र मिलता है वह बडी उमर का है, बाल्यावस्था का नहीं है। इस कमी को पीछे से महाभारत के 'खिल-पर्व' रूप—'हरिवश' में पूरा किया गया। पीछे के भक्ति-सम्प्रदायो में कृष्ण के बाल-चरित्र का अधिक उपयोग हुआ है।

'हरिवश' का समय ई० स० दूसरी-तीसरी शताब्दी से अर्वाचीन नहीं है। उसका कुछ भाग शायद इससे भी प्राचीन हो। हरिवश के दूसरे पर्व में कृष्ण-जन्म से लेकर पूरा चरित्र विस्तार से दिया है।

हरिवश में जो कथा है वही कुछ घटा-बढाकर ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में है और भागवत और ब्रह्मवैवर्त में कुछ अधिक बढावा किया है।

हरिवश, विष्णुपुराण और भागवत के कृष्ण-चरित्र को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कृष्ण के बाल-चरित्र को भागवतकार ने ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं देखा। उनकी दृष्टि में भगवान् की भक्ति-प्रेरक कथा है। खासकर गोपियो और कृष्ण की मूल बातो का भक्ति-पोषक कल्पनाओ ने विस्तार किया और वस्त्र-हरण जैसे प्रसग बढाये। उसके द्वारा भक्ति के आवेश में भक्त लोग लोक-लज्जा, लोक-बुद्धि और लोक-व्यवहार को छोड देते हैं, इस सिद्धात का उदाहरण दिया। विष्णुपुराण के रासक्रीडा के अध्याय के पच अध्याय करके प्रसग को विस्तृत महत्त्व दिया। इतना ही नहीं वर्णन को ऐसी सर-सता दी कि 'रासपचाध्यायी' पाँच अंको का गीत-मय नाटक बन गया। भागवतकार का सिद्धात किसी तरह मन को कृष्ण में जोडता है। काम से भी भगवान् में मन जोडने का उदाहरण गोपियो का दिया, क्योंकि जार बुद्धि से कृष्ण को भजने पर गोपियाँ भगवान् में लीन हो सकी। तेरहवी शताब्दी में 'बिल्वमगल स्वामी' ने रास-प्रसग का अष्टक बनाया, जिसके प्रत्येक छद का ध्रुवपद—

"संजगौ वेणुना देवकीनंदनः।"[१]

यह वालगोपाल-स्तुति के अतर्गत है।

कृष्ण के साथ राधा का स्मरण कब से होने लगा यह सोचने का विषय है। इष्टदेव के साथ उसकी पत्नी के भजन की प्रथा तो वेद-काल जितनी पुरानी है। विष्णु-पत्नी लक्ष्मी का उल्लेख मिलता है, दो हजार साल से पुरानी लक्ष्मी की मूर्तियाँ मिलती हैं। रामावतार की पूजा से सीता-राम का युगल रामायण द्वारा पूजा जाने लगा। इसी तरह कृष्ण-पूजा प्रचलित होने से रुक्मिणी-कृष्ण के युगल की पूजा होनी चाहिए थी, पर एक महाराष्ट्र को छोड़कर (और उन्नीसवी शताब्दी में गुजरात के स्वामीनारायण सप्रदाय में लक्ष्मी-नारायण की पूजा होती है) कृष्ण के साथ रुक्मिणी का स्मरण कही प्रच-लित नही है। रामानुज तथा मध्व-सप्रदाय में विष्णु या वासुदेव के साथ लक्ष्मी का पूजन है, लेकिन सोलहवी शताब्दी से तो 'गोपीजनवल्लभ-कृष्ण' के साथ राधा का नाम सविशेष जुड़ा हुआ मिलता है।

अब राधा का नाम कहाँ से मिला यह देखें। कृष्ण-चरित्र-प्रधान पुराणो में से हरिवंश, विष्णु-पुराण या भागवत में राधा का उल्लेख नही है, पर ब्रह्मवैवर्त, गर्गसहिता, पद्मपुराण और स्कदपुराण के कुछ भागो में है। विष्णुपुराण में जो स्थान लक्ष्मी का है वह ब्रह्मवैवर्त में राधा का है। भागवत में रासलीला-प्रकरण में एक गोपी के विषय में लिखा है—

"अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वर ।"

—भागवत १०।३०।२८

ऐसे, जिसने आराधन (भजन) किया वह 'राधा' है। इस तरह भागवत के बाद विशेष भाग्यवती गोपी 'राधा' नाम से प्रसिद्ध हुई। बारहवी शताब्दी में जयदेव की राधा-भक्ति प्रसिद्ध है, पर जयदेव से पहले हेमचद्रसूरि (११४५-१२२६) ने काव्यानुशासन में राधा-कृष्ण के विहार-वर्णन के श्लोक उद्धृत किये है। 'औचित्य विचार चर्चा' में क्षेमेंद्र ने अद्भुत रस के उदाहरण रूप—'कृष्णेनाब०' प्रतीक उद्धृत किया है।[२] वही हेमचद्र 'काव्यानुशासन' में देते है। वही श्लोक बिल्वमगल या लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत ग्रथ' में सकलित है और बाल-गोपाल-स्तुति में भी। बिल्वमंगल भी जयदेव की तरह राधा-कृष्ण के विहार का गान करते है।

लीलाशुक का प्रकीर्ण स्तोत्र-ग्रथ 'बालगोपाल-स्तुति' "खडित और अप्रकट है। इसकी सात सचित्र प्रतियाँ सिर्फ पश्चिम हिंद से प्राप्त हुई है। अतिम सचित्र प्रति श्री नाहटा जी के सग्रह से मिली है। उसकी चित्रशैली का परिचय इस लेख का प्रयोजन है।

हेमचद्र से भी प्राचीन रुद्रट के 'काव्यालकार' परनमिसाधु (१०६८) की टीका में यह श्लोक है—

"यो गोपीजनवल्लभ. स्तनतटव्यासगलब्धास्पदः ।
किं राधे मधुसूदनो नहि नहि प्राणाधिकश्चोलक ॥"

इसी समय के क्षेमेंद्र 'दशावतारचरित्र' में कृष्ण-चरित्र-वर्णन के चार श्लोको में राधा का उल्लेख करते है। तात्पर्य यह कि जयदेव से पहले सौ वर्ष पर कृष्ण के साथ राधा का उल्लेख कश्मीर तक पहुँच गया। लेकिन मध्य-हिंद में राधा के विषय में इससे भी पुराना उल्लेख मिलता है।

भोज (१००४।४५) के 'सरस्वती-कंठाभरण' में राधा-कृष्ण-विषयक चार श्लोक है। आनद-वर्धन (नौवी शताब्दी) 'ध्वन्यालोक' में उसका उल्लेख करते है। ये उल्लेख साप्रदायिक या धार्मिक-साहित्य में नही है, अर्थात् इन लेखको ने अपने जमाने की प्रचलित मान्यता या सुभाषित उद्धृत किये है, यानी राधा-कृष्ण की बात जयदेव या बिल्वमगल के सस्कार पूर्वजो की अपनी उत्पन्न की हुई नहीं है।

१. इस प्रसंग का, बड़ा बनाकर छपा हुआ रेखांकन 'जर्नल आफ दी इडियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्ट' कलकत्ता के सन् १९४२ के अंक में प्रसिद्ध है।

२. इस प्रसंग का रेखाकित चित्र 'बंबई यूनिवर्सिटी जर्नल १९४८ के अक में प्रकाशित है।





पश्चिमी-शैली में बालगोपाल-स्तुति : एक और प्रति

पचतत्र (तत्र.४) में चमत्कारिक लकडी के गरुड पर बैठकर वासुदेव के वेष में एक जुलाहा राजकुँवरी से कहता है—

"तुम राधा नाम से गोकुल में जन्मी हुई मेरी स्त्री हो।"

यह उल्लेख पाँचवी शताब्दी का समझा जाता है। ऐसा दूसरा उल्लेख 'हाल' कवि की 'गाहासत्तसई' में इस अर्थ की गाथा है कि "हे कृष्ण, गौओ के चलने से राधा के मुँह पर पडी हुई रज को तुम फूक से उडाते हो, तब और गोपियो के दर्प का हरण करते हो।"

पचतत्र या गाहासप्तशती का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अति उपयोगी है, क्योंकि इस समय भागवत जैसे पुराणो में भी राधा का उल्लेख नही है। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण के साथ राधा का प्रयोग सबसे पहले ग्रामीण लोगो में हुआ होगा। आभीरो के राज्यकाल में यह राधा-कृष्ण-कथा, कृष्ण की बाल-कथा के साथ विकसी है। फलित यह कि राधा-कृष्ण की पूजा का मूल लोक-कथा या लोक-कविता में है।

बालगोपाल-स्तुति में पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के अवतार-चरित्र के साथ और-और अवतार-कथाओ से प्रसगो को लेकर मुक्तक रचे या उद्धृत किये हुए मिलते हैं। असल रग में छपे हुए पत्र में राम-चरित्र से अहल्योद्धार का प्रसग चित्रकार ने लिया है।

दृष्टांत—चित्र परिचय

प्रथम—सश्लोक चित्र, दोनो श्लोको में अहल्या का उद्धार राम-चरण-रज-स्पर्श से हुआ, उसका वर्णन है। अनेक वर्षो के बाद गौतम फिर गृहस्थी हुए वह प्रताप राम-चरण-स्पर्श का है। यह उन दोनो का पिंडितार्थ है, जैसे—

"सकृदपि किलजंतुर्यैरभिध्यानमात्रैः परिमृदितकषाय कल्पते मोक्षणाय।
रघुकुलकुमुदेंदोर्हंत तैरेव पुण्यैः पदकमलरजोभिर्गौतमोऽभूत् कुटुंबी ॥
चरण नलिन सगानुग्रह ते भजंती भवतु चिरमिय न. श्रीमती पातपात्री।
उपलतनुरहिल्या गौतमस्यैवशापात् इयमपि मुनिपत्नी शामिता कापि वा स्यात् ॥

सारी पोथी में यह पत्र इसलिये लाक्षणिक है कि इसमें तीन चतुर्थाश मुख के आलेखन के साथ ही अर्धमुखालेखन की परपरा मानो विदा लेती हो, ऐसा एक ही स्थान में प्रतिबिंबित है। वि० सोलहवी शताब्दी के अत तक 'डेढ चश्म तस्वीर' की पद्धति इसमें देखी जाती है, पर उसी समय की और उसके बाद की राजपूत-कला में निरपवाद देखी जाती एक-चश्म-तस्वीर (प्रोफाइल) ही चित्रकार का विषय बन जाती है, उसकी यहाँ शुरूआत देखी जाती है।

धनुर्धारी राम के पीछे धनुर्धारी लक्ष्मण है। सिर पर जटा और श्मश्रुधारी गौतम ऋषि उनके पीछे खडे हैं। सामने अहल्या माला लेकर राम का अभिवादन करती है। वनवासी राम-लक्ष्मण के मुँह पर पतली श्मश्रुराजि प्रसग की सचाई को प्रकट करती है। लक्ष्मण की जटा भी दीखती है।

चित्र की पृष्ठभूमि लाक्षणिक ढग से पक्की ईंट के लाल रग की है जो प्राचीन परपरा के अनुसार है। राजस्थानी के बाद राजपूत और मुगल-समय में चित्र की पृष्ठभूमि बदल जाती है। गौतम-आश्रम टेढी-मेढी लकीरो द्वारा बताया गया है। चित्र की खाली जगह को फूलो के शोभन से भर दिया है।

अहल्या और लक्ष्मण की मुख-मुद्रा के आलेख में दूसरी आँख स्पष्ट दीखती है, पर गौतम और राम के आलेखन एक चश्मी (प्रोफाइल) अर्ध-स्वरूप के है।

वस्त्र-परिधान ध्यान देने योग्य है। छपा कपडा पश्चिम हिंद की प्राचीन कला मानी गई है, जिसमें फोस्टाट के खंडहर की खुदाई में से हजार वर्ष पहले के ठप्पे से छपे कपड़ो के टुकडे मिले हैं। वे खभात-बदर होकर प्राचीन काल से पश्चिमी देशो में निर्यात होते थे।

गुजराती शैली के ताड-पत्र, लकडी की पाटली, वस्त्र पट या काग़ज पर आलेखित रगीन चित्रो में छपा कपडा स्त्री-पुरुष दोनो पहनते थे, ऐसा दिखाया गया मिलता है। पुरुष के वेश में धोती और उत्तरीय, स्त्री के वेष में वस्त्र, उत्तरीय और चोली ये तीन वस्त्र अलग-अलग रग के होते हैं।

अहल्या की खुली वेणी के अत में काला गुच्छा लटकता है। गुजरात की स्त्रियाँ पद्रह्वी शताब्दी तक साडी सिर पर नही ओढती थी, ऐसा चित्रो का आधार है। मुगल-समय के नये शिष्टाचार में ढका सिर और घूँघट शिष्ट समाज में प्रविष्ट हुआ ऐसा सभव है।

पुरुष और स्त्री के कान में चद्राकार कर्णफूल का शौक सदियो से परिचित है। गुप्त-समय के बाद के 'चतुर्भाणी' नामक चार भाणों में लाटवासियो के शौक का निरूपण है। शिल्प कृतियो में भी गोल बड़े कर्णफूल पश्चिमी हिंद की आभूषण-शैली की विशिष्टता सँभाले रखे हैं।

'सूँप' जैसा फूल का मुकुट स्त्री-पुरुष दोनो पहनते हो, ऐसा चित्र से मालूम होता है। इतने बाह्यलक्षणो से स्त्री-पुरुष चित्रो में पहचाने जाते है, वाकी व्यक्तित्व विशिष्ट भिन्न-भिन्न पात्रो के बजाय इस शैली के चित्रकार एक जैसा आकार स्वरूप ही पेश करते है। प्रसग और वातावरण को समझ कर हमें उसका परिचय पाना होता है, अर्थात् वैविध्यपूर्ण व्यक्तित्व खोजनेवाले को ये चित्र निराश करते है।

दूसरा चित्र-प्रसंग--

राधा-कृष्ण मिलन का है। सप्रमाणता के ख्याल से अकित दो-दो घटादार पेडो के झुड के बीच एक लाल वृक्ष है, जो चित्र की पश्चाद् भूमि में है। पेड की घटा छाया-चित्रानुसारी ढग पर व्यक्त की है।

पीछे को दो-दो पेडो के बीच की खाली जगह में दो-दो फूल की आकृति बनाकर चित्रकार ने वृदावन की घेरी-घटा को समझाने का यत्न किया है। पीछे क्षितिज की समातर तीन लकीरे सारे आकाश को सीमित करती हुई दिखाई गई है।

कृष्ण और राधा के वस्त्राभूषण प्रथम पत्र से एकदम भिन्न है, ऐसा नही कहा जा सकता, फिर भी राधा और कृष्ण के मुख पर हाथ, पैर, अगुलियो की मरोड में और वातावरण की व्यजना से जो गीत-तत्व उत्पन्न होता है वह प्रथम चित्र में नही है। यानी हकीकत यह है कि पात्रो का व्यक्तित्व स्पष्ट और सुरेख एव छँट कर पकड में नही आ सकता, फिर भी अवातर वातावरण से चित्र का मर्म समझ में आ जाता है।

तीसरा चित्र—

यमुना नदी के किनारे 'मधुवन' में ध्रुव के तप का है। चित्रकार ने परपरागत ढग से सादी उलटी लकीरो को काटकर जल की तरगो द्वारा नदी का सूचन किया है। तदतिरिक्त मत्स्य भी उसमें दिखाये हैं। किनारे पर हस, सारसयुग्म बच्चो के साथ रेत में चलते दिखाकर किनारे को भरा है। दाये कोने में ऊपर तुलसी की क्यारी, किसी बड़े क्यारे में उगे हुए घटादार छोड के साथ दिखाई गई है। खजूर का पेड़ चित्र के मध्य में चित्र-वस्तु की सप्रमाणता दिखाने के लिये रखा है। आस-पास गोल सुशोभन है।

इस चित्र में सब पात्रो की दोनो आँखें प्रकट है। श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप से वर देने आए है। ध्यान से जागे हुए बालक ध्रुव की स्वाभाविक निर्दोषिता और अजलि करके एव घुटने को नीचा करके बैठने का ढग भक्ति जगाता है।

इन तीनो चित्रो को देखने के बाद ऐसा असर होता है मानो यह भित्ति-चित्र का विषय है और सयोजना भी इसी ढग पर की है। केवल कागज के छोटे साधन में इतना विस्तृत विषय

भर दिया है, यह चित्रकार की खूबी है। इस चित्र को अधिक विस्तार से देखा जाय तो वह भित्त-चित्र ही मालूम हो।

इन उदाहरणो से गुजराती चित्र-सप्रदाय के सामान्य लक्षण ध्यान में लिये जायँ तो लगता है कि उसकी खास खूबी, सरल रेखाओ में हूबहू कथा-निरूपण करने की उसकी शक्ति में है। वाङमय के साथ चित्र-कला का सुमेल दिखाने में यह शैली बहुत कामयाब होती है। आकृति और रगो के अनेक सकेत-पूर्ण प्रयोग द्वारा इन चित्रो में साहित्य, विचार और दृष्टि को उद्दीपन करने वाली सामग्री है।

गुजराती सप्रदाय सामान्य लक्षण

गुजराती-सप्रदाय के चित्र भाव से अधिक वृतात निरूपण पर बल देते है और इसी से कल्पसूत्र', कालक-कथा', भागवत दशमस्कध और 'देवी-माहात्म्य' के चित्र देखते हैं तब चित्रो से ही वृतात समझ में आ जाता है। कथानक का चोखापन और एक-सा चित्राकन इस शैली के मुख्य लक्षण है। इस शैली का चित्राकार किसी तरह चित्र से हकीकत प्रकट करना चाहता है, जिससे पत्थर में खुदी हुई रामायणी-कथा, कृष्ण-कथा या जातक-कथाओ को परपरा की तरह अनपढ को भी इन चित्रो से समझने को और देखने को मिल जाता है। धर्म-प्रचार की सार्थकता यही इन चित्रो का ध्येय और फल है।

इस सप्रदाय के पोथी-चित्र सभी एक-से उच्च कक्षा के नही होते, फिर भी चित्रो की महत्ता जितनी वृतात-कथन की ओर है उतनी बल्कि कुछ विशेष तत्कालीन रिवाज, वस्त्राभूषण, घर, मदिर की स्थापत्य रचना, खान-पान, आसन-शयन उपस्कर इन सब का रस-प्रद खयाल इन चित्रो द्वारा मिल जाता है। वि० स० ग्यारहवी से सोलहवी का पश्चिम हिंद का लोक-जीवन इन चित्रो में मिल सकता है।

रग-विधान-कला में चित्रकार ने भाव-व्यजना और रस-ध्वनि का परिचय दिया है। प्रसगा-नुसार ऋतु और काल-दर्शक वृक्ष, वेली, मनुष्य, जानवर, पक्षी आदि से सब अनुमान हो सकता है। नदी, सर, कुड, जल-भँवर रेखाओ से मालूम हो जाता है। जलचर—मत्स्य, कच्छप, सर्प भी दिखाये जाते है।

वृक्ष, फल, वनस्पति ठीक पहचानी जाँय इसलिये पत्ते आदि चित्रित दिखाई पडते है। वास्तव-दर्शन से अधिक ऐसा लाक्षणिक-दर्शन चित्र-कर्म के नियमो में अधिक उपयोगी माना है।

गुजराती चित्र कुछ तेजी से खीचे हुए लगते है। उनमें राजपूत-कलम-सी पूर्णता और ओप (फिनीश) का अभाव है। शायद ऐसा हो कि चित्र-कर्म के लिये कुछ खास आधारभूत आकार निश्चित हुए हो, जिनके अनुसार चित्र कैसा बनाना है, उसकी समझ चित्रकार तत्काल पा ले।

एक ही ग्रथ की भिन्न-भिन्न समय की प्रतियो में वैविध्य कम होता है। फिर भी क्वचित् निरकुश कलाकार नयी ऊर्मि, नयी छटा, नये प्रसग लाता है। सामाजिक वातावरण भी अपने समाज का बताता है। इन चित्रो में कुछ विचित्रता भी है। खासकर आँखें प्रकट करने की रीति अजीब ढग की है। अजता के चित्रो में अर्धमुखाकृति कम है, राजपूत-कलम में वह विशेष है। गुजरात के चित्रो में अर्धमुखाकृति होते हुए भी दबे हुए अर्धमुख की सूचना के तौर पर आँख और भौहे आलिखित है। उसे दाबकर राजस्थानी कलम का आरम्भ होता है।

इन चित्रो में आकाश, बादल, पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प आदि के आलेखन के लिये चित्रकार ने अपने रूपको की कल्पना की है।

गुजरात के ये चित्र वर्णनात्मक है। उनमें आलिखित वस्त्र, अलकरण और अन्य सामग्री में तत्कालीन गुजरात का दिग्दर्शन है। चित्र-कर्म ध्यान से किया गया है, पर भावालेखन से अधिक सूचकध्वनि की व्यजना विशेष है।

वस्त्र-परिधान की दृष्टि से गुजरात के चित्र रस-दायक है। स्त्रियो के वेष में मुगल-समय के पहले के चित्र में सिर खुला है, केशकलाप की शैली वर्तमान् गुजरात में प्रचलित छूटी वेणी जैसी है। वेणी के नीचे सिर पर काला गुच्छ लटक रहा है।

स्त्रियाँ चोली पहनती है, पर लँहगा कही दीखता नही है, वह सबसे पहले राजस्थानी और राजपूत-कलम में दिखाई देता है। उसके साथ चुनरी आती है, पर गुजराती चित्रो में स्त्रियाँ उत्तरीय गले में डालती थी। पुरुष धोती और उत्तरीय।

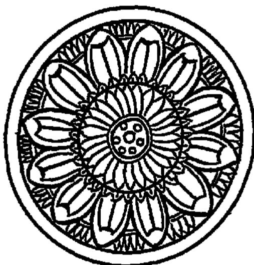
बालो की शोभा जितनी स्त्रियो को उतनी पुरुषो को भी प्रिय दिखती है। लबे बाल, पीछे वेणी या चोट्टला, साथ-साथ मूछ और दाढी। स्त्री-पुरुष दोनो बालो में फूलो के शौकीन है। मुगल असर में स्त्रियो ने जैसे सिर ढकना वैसे पुरुषो ने वेणी, दाढी निकालना शुरू किया।

आभूषण में भी दोनो समान शौकीन है। दोनो में बडे गोल कर्णफूल, हाथ में कनक-वलय, पैरो में नूपुर, गले में माला।

पहनावे की रसम तरह-तरह की है। विविध बेल-बूटे, नक्कासीदार छाप-काम अधिक लोक-प्रिय होगा। पुरुष की धोती, स्त्री की साडी और दोनो के उत्तरीय यह रस-दायक सामग्री है।

गुजरात की कला प्रधानतया ग्रामवर्ग की है। उसकी प्रेरणा, विकास और पोषण गुजरात के सस्कार जीवन से घुला हुआ है। इसलिये सुखी मध्यमवर्ण के आश्रय से कला फूली-फली है।

अजता की कला को सुसस्कृत पडितो की वाणी कहा जाय तो गुजराती और राजपूत-कला में लोक-गायको का सुरीलापन और जमावट है, जिसे 'अपभ्रश-शैली' नाम दिया जा सकता है। उसकी तुलना में राजदरबारी, सयानी और भडकीली मुगल-कला बिल्कुल अलग हो जाती है।



असम लोक-नृत्य में कृष्ण लीला

श्री कमलनारायण

असम प्रदेश मुख्यत ९५ जातियो का निवास स्थान है। इस नन्हे से प्रदेश में इतनी जातियो का समागम कब और कैसे हुआ, इसका उत्तर तो इतिहासकार दे सकेंगे। एक करोड दस लाख की आवादी में जातियो का आ जाना, सभव है समाज-शास्त्रियो को विस्मय में डाले।

इन जातियों का अपना अलग समाज, अलग भाषा, अलग आकृति, अलग पोशाक-पहिनावे-रीति-नीति, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, अदब-कायदे, साहित्य, सास्कृतिक परपरा, धर्म और विश्वास सब कुछ अलग-अलग है।

सर्वप्रथम हम 'असमीया जाति' को लें। जनसख्या में यह कोई २५ लाख है। इसमें मुख्य ब्राह्मण, क्षत्रिय—कलिता और कायस्थ है। इस जाति के अधिकाश लोग उत्तर भारत से आए और अपना उपनिवेश स्थापित कर यही रह गए। तेरहवी सदी से अठारहवी सदी तक इस प्रदेश पर 'आहोम' राजाओ का आधिपत्य रहा। यह जाति असम के उत्तर-पूर्व की ओर से आई थी। हिंदू सस्कृति से इसका कोई सबध न था, पर कुछ ही दिनो के बाद इस शासक जाति ने अपना धर्म-परिवर्तन कर, शासित प्रजा का हिंदू-धर्म स्वीकार कर लिया। किसी शासक ने शासित का धर्म स्वीकार किया हो ऐसा उदाहरण ससार में विरला ही मिलेगा। जो हो, आहोम जाति भी 'आर्य सस्कृति' के अतर्भुक्त होकर प्राचीन 'असमीया जाति' का ही एक अग बन गई।

इस 'सास्कृतिक समन्वय' के फलस्वरूप असमीया जाति ने भी आहोम लोगो की बहुत-सी छोटी बातें अपनायी। 'आहोम' जाति के अलावा 'कोच', 'कछारी', 'चुटीया' आदि कुछ छोटी-छोटी आरण्यक जातियो ने भी कुछ दिनो तक असम के कुछ हिस्सो पर राज्य किया और धीरे-धीरे प्रजा-धर्म में विलीनता प्राप्त कर ली। इनका कुछ हिस्सा आज भी आरण्यक अवस्था में ही है।

असमीया जाति चौदहवी सदी तक शाक्त-धर्म को मानने वाली थी। शाक्त-धर्म असम-प्रदेश में कब से प्रचलित हुआ, इस पर भिन्न-भिन्न ऐतिहासिको ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। उत्तर भारत के नवागतुक प्राय स्मार्त और बौद्ध थे। यहाँ आने के बाद वे शाक्त हुए। फिर भी उनमें स्मार्त-धर्म की छाप लगी रही। सूर्य, विष्णु, शिव आदि देवताओ के मदिर जहाँ-तहाँ असम में मिलते हैं। इन मदिरो से प्रमाणित होता है कि कुछ लोग श्रौत, वैष्णव और शैव रहे हो। पद्रहवी सदी में एक विराट् धर्म-क्राति हुई। क्राति के अग्रदूत थे महापुरुष 'शकरदेव'। शकरदेव असम के 'तुलसी-दास' है। आप के ही पुरुषार्थ और एकात साधना के फलस्वरूप वैष्णव-धर्म असम में आया। आधुनिक असमीया जाति 'महापुरुषीया-धर्म' मानती है। इतना होते हुए भी यहाँ शाक्तो की सख्या कम नही है।

धर्म और सस्कृति के इस व्यापक समन्वय का प्रभाव असमीया नृत्य-कला पर स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। असमीया समाज में 'ओजापाली', 'देओधनी', 'देओधाइ', 'मदिर', 'भावना', 'खुलीया', 'ढुलीया', 'पुतला', 'बिहू'—आदि नृत्य विशेष प्रचलित है।

इनमें 'भावना' और 'पुतला' को छोडकर बाकी नृत्य 'आदि निवासियों' के नृत्य से सबध रखते है। आदर्श की दृष्टि से 'भावना' और 'पुतला' वैष्णव-नृत्य है। वैष्णव-धर्म के ही साथ इनका आरभ हुआ। उक्त सभी नृत्यो की अपेक्षा 'ओजापाली' नृत्य अधिक शास्त्रीय है। 'बिहू' नृत्य सर्वापेक्षा

अधिक प्राचीन है। दरअसल यह नृत्य 'मीरा' और 'कछारी' जाति का नृत्य है, जिसे असम के हिंदुओं ने अपना लिया है। रूप सज्जा, आदर्श और 'टेकनिक्' की दृष्टि से इनमें पर्याप्त भेद है।

अगर यह कहा जाय कि 'मधुरा-भक्ति' से परिप्लावित शुद्ध वैष्णव-संस्कृति भारत में कहीं जीवित है, तो सैकड़ों मीलों में फैले हुए घोर अरण्य और गगनचुंबी पर्वतों को पार कर हमें 'मणिपुर' ही पहुँचना होगा। कहा जाता है—भक्ति द्रविड देश में उपजी, वहाँ से उत्तरापथ में उसे 'रामानंद' ले आए और उसका प्रचार 'कबीरदास' ने किया। किसी जमाने में भक्ति-रस के उच्छ्वास से भारत का सारा वायुमंडल उच्छ्वसित हो उठा था, पर आज वह कहाँ पाया जाता है? भारत के वैष्णव साधुओं में? गार्हस्थ्य जीवन में भक्ति का पूर्ण संचार नहीं हो सका। बौद्ध-धर्म की भी यही हालत हुई। भक्ति बेचारी ठोकरें खाती हुई अपनी विहार भूमि को छोड़कर, सैकड़ो मीलों का दुर्गम पथ पार कर मणिपुर की कदराओं में जा पहुँची। चैतन्य-पंथियों ने मणिपुर को ही अपनी 'मधुरा-भक्ति' का सुरक्षित निराला उपनिवेश बनाया। भक्ति का सागर उमड पड़ा। मणिपुरी जनता उसी में गर्क हो गई। गार्हस्थ्य जीवन में उसे सुंदर आसन प्राप्त हुआ। वह वहाँ का जीवन धर्म बन बैठी। अरसा हुआ, मैंने हिंदी कवि निराला जी की एक कविता पढ़ी थी। उनकी पक्तियाँ अब मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है, पर शायद वह—

"चलचरणों का व्याकुल पनघट...कहाँ गया वृंदावन धाम।"

कुछ ऐसी रही हो, सो अब 'पनघट' और 'वृंदावनधाम' की रासलीला के लिये उन्हें तड़पने की जरूरत नहीं है। वे कृपया मणिपुरमें तशरीफ लाएँ। यहाँ वे छक कर 'पनघट' की बहार का मजा लूट सकेंगे, 'वृंदावनी रासलीला' का रसास्वादन कर अपने प्यासे हृदय को तृप्त कर सकेंगे।

भारत में जब कभी सम्मानित शास्त्रीय-नृत्य (क्लासिकल डांस) की चर्चा होती है, तो सबसे पहले 'मणिपुरी-नृत्य' की ओर इंगित किया जाता है। सच पूछा जाय तो भारत में तीन ही नृत्य आज जीवित हैं। दक्षिणात्य नृत्य, उत्तर भारतीय नृत्य और मणिपुरी नृत्य। आयु के विचार से 'दक्षिणात्य नृत्य' सबसे अधिक प्राचीन है। इसका प्रभाव सुदूर पूर्व के देश जावा, सुमात्रा, लंका, हिंद चीन, बर्मा, श्याम यहाँ तक कि चीन और जापान के नृत्यों पर भी दृष्टिगोचर होता है। 'कामरूपी देव-दासी नृत्य' भी सभव है दक्षिण की ही देन हो, क्योंकि वह नृत्य दक्षिण में ही प्रचलित था। दक्षिणात्य-नृत्यों में मालाबारी 'कथकलि' नृत्य का प्रचार सबसे ज्यादा है।

भारत के तीन शास्त्रीय-नृत्यों में सबसे शुद्ध, सबसे सुसंस्कृत और सबसे महत्त्वपूर्ण नृत्य है—'मणिपुरी नृत्य'। यह विजातीय-प्रभाव से सर्वथा मुक्त है।

'मणिपुरी नृत्य' भक्ति-मूलक शुद्ध वैष्णव-नृत्य है। गीति-मूलक वैष्णव-साहित्य को अपनी नृत्य-कला द्वारा मूर्त रूप देना ही इसका अपना आदर्श है। मणिपुरी लोक-सप्रदाय कृष्ण का उपासक है। यहाँ की जनता अपनी आंतरिक भक्ति, भिन्न-भिन्न प्रकार की नृत्य-लीलाओं के स्मारक चिन्हों में व्यक्त कर उपास्य देवता कृष्ण को समर्पित करती है। नृत्य के साथ गाये जानेवाले गीत—'कीर्तन' कहलाते हैं। यह नृत्य कृष्ण की सपूर्ण जीवन-लीला अपनी मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्त करता है।

मणिपुरी नृत्य में गोपियों के अकृत्रिम प्रेम की प्रधानता रहती है। इस प्रेम के रूपकार्थ की तुलना पुरानी इंजील (ओल्ड टेस्टामेंट) के गीतों के गीत (साग अव साग्स) से की जा सकती है। यह प्रेम परमात्मा के प्रति जीवात्मा के अकृत्रिम प्रेम का एक लौकिक रूपक मात्र है। आप अथ से इति तक नृत्य देखते जाइए, कहीं भी वासना या कामोत्तेजना की गंध नहीं मिलेगी। नृत्य में सर्वत्र 'परम प्रेम' और 'पराभक्ति' का वातावरण रहता है। नर्तकों को कठोर विधि-निषेधों का पालन करते हुए नाचना पड़ता है। कमर-लचकाने, नितंब-हिलाने, बाँकी-तिरछी कनखियो, नाज-नखरे व चोचले-बाजियों पर कड़ा पहरा रहता है। नर्तक बड़ी सावधानी से इनका बहिष्कार करते हुए नाचते हैं। इस नृत्य में दक्षिणात्य-नाटकीय मनोवृत्ति का सर्वथा अभाव रहता है।

मणिपुरी नृत्य में दूसरी जो लक्ष्य करने की बात है, वह है 'प्राकृतिक-सौंदर्य की हूबहू अभिव्यक्ति।' अनत प्रकृति में हम सौंदर्य के जिन उठते हुए हिलोरो का दर्शन करते है, मणिपुरी नृत्य में उनकी अभिव्यक्ति की चरम भावुकता पाई जाती है। नृत्य देखते समय हमें कभी अनुभव होगा जैसे किसी उद्यान में हम भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलो की सुरभि से मतवाले हो रहे हैं, कभी चाँदनी रात की रुपहली-शीतलता का अनुभव होगा, कभी गोधूलि के सुनहले मधुर, स्निग्ध, उष्ण, निर्मल रश्मि-स्रोत में अवगाहन करने का आनद मिलेगा और कभी शिशिर-स्निग्ध-उषालोक में सिहर उठनेवाले चैतन्य की सनसनी का अनुभव होगा। अठखेलियाँ करती हुई लहरो की तरह मणिपुरी-नर्तकों की लहरदार, घुँघराली नृत्य-भगमाएँ बरबस हमारे हृदय को ले जाकर सुदर प्रकृति के हृदय में लीन कर देती है।

असम के प्रचलित लोक-नृत्य, जो आरण्यक-जातियो में प्रचलित है, अति प्राचीन अनार्य-नृत्य है। असम में आर्यो के उपनिवेश स्थापित करने के पश्चात्, अनार्य-नृत्य असम के नवागत आर्यो में भी धीरे-धीरे प्रचलित हो गए। आज का असमीया 'बिहू नृत्य', जो यहाँ के हिंदुओ में भी प्रचलित है, उन्ही प्राचीन अनार्य आरण्यक-नृत्यो में से है।

नवी शताब्दी के भास्कर्य (शिलालेख) में, असम में प्रचलित नृत्य-भगिमाओ का निदर्शन पाया जाता है। हाजो, डुवि और देरगाँव के मदिर में जिस नर्तकी के नृत्य की और कामाख्य-मदिर में जिस 'देवबा' और 'देवधनी' के नृत्य की भगमाएँ अकित है, वे आज भी प्रचलित है। असमीया समाज में आज 'अकीया-भावना' (एकाकी नाटक) और सूत्रधारी नृत्य का विशेष आदर देखा जाता है। इस नृत्य का सबध वैष्णव-धर्म से प्रत्यक्ष है। कतिपय पुरानी हस्तलिखित पोथियो में भी नृत्य-गीत-परायण नर्तकी के चित्र मिलते है। असम में नृत्य-मुद्रा सबधित 'श्रीहस्त-मुक्तावली' नाम का एक प्रसिद्ध ग्रथ भी मिलता है। यह ग्रथ 'शुभकर' नाम के किसी नृत्य-कला-विशारद कवि ने सस्कृत भाषा में लिखा है। खेद है यह उपयोगी ग्रथ अब तक हस्तलिखित-अवस्था में ही पडा है। कामरूप-अनुसधान समिति अपने मुखपत्र में क्रमश इसे प्रकाशित कर रही है। सौभाग्य से इसकी एक प्रतिलिपि मेरे पास भी है। आद्यत पढने से मालूम होता है कि यह ग्रथ भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखा गया है।

सुदूर असम में भरत के 'नाट्यशास्त्र' के टक्कर का यह ग्रथ इस प्रदेश की प्राचीन नृत्य-कला का शास्त्रीय विवेचना करता है। ६०० से ६५० ई० तक कामरूप पर कुमार 'भास्कर' वर्मा ने राज किया था।

कहा जाता है कि भास्कर वर्मा अपने युग के एक श्रेष्ठ कला-रसिक थे। नृत्य-गीत के प्रति उनका प्रबल आकर्षण था। उन्होने आजीवन अविवाहित रहकर अपने को 'कुमार' उपाधि से विभूषित किया था। ऐतिहासको का कहना है कि भास्कर वर्मा ने एक वेश्या को उपपत्नी बनाकर रक्खा था। उसी वेश्या के गर्भ से 'अवती वर्मा' नाम का एक पुत्र भी हुआ, जो भास्कर वर्मा के पीछे राज-सिंहासन पर बैठा। 'कुमार' के मरने पर उनकी प्रेयसी वेश्या ने भी उन्ही की चिता में जल कर अपने उज्ज्वल सतीत्व का परिचय दिया। भास्कर वर्मा ने उस वेश्या को केवल नृत्य-गीत की चर्चा के लिये ही रक्खा था। नृत्य-सगीत से राजा की महफिल हमेशा गरम रहती थी। चीन के प्रसिद्ध यात्री 'ह्वेन च्याग' को भी राजा ने कामरूपी नृत्य दिखलाया था। ह्वेन च्याग ने यहाँ की नृत्य-कला की भूरि-भूरि प्रशसा की थी। कामाख्या में गोधूली के समय 'नृत्य-शिल्पी' का 'आरती-नृत्य' देखकर वह आश्चर्य-चकित हुआ था।

नुमलीगढ के देव पर्वत के ध्वसावशेष में नटराज शिव के 'आनद ताडव' की एक मूर्ति पाई गई है। इसके साथ वीणावादरता 'पार्वती' की भी एक मूर्ति है। 'प्रलय ताडव' की एक मूर्ति 'तेजपुर' पहाड के ध्वसावशेष में मिली है। वही हलेश्वर मौजा में एक तालाब के किनारे पाँच फीट लबी गणेश के 'आनद नृत्य' की एक मूर्ति पाई गई है, जो भास्कर्य-कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। ऐसी ही एक मूर्ति 'मयूरभंज राज्य' के खिचिंग में भी मिली है। आकाशी गगा वशिष्ठाश्रम के मदिर में

भी गणेश की एक नृत्यमान मूर्ति का सवाल मिला है। तेजपुर के वामुनी पहाड़ में 'देवदासी नृत्य' की कई भगिमाओं का निदर्शन है। कामरूप में एक समय नर्तक-नर्तकी के युग्म नृत्य का भी प्रचलन था।' 'देवदासी नृत्य' को यहाँ 'कुमारी-नृत्य', 'पुजारिणी-नृत्य' और 'मदिर-नृत्य' भी कहते थे। वैष्णव-धर्म के आगमन के पहले यहाँ इसी 'कुमारी-नृत्य' की प्रथा थी। 'कुमारी-पूजन' के महत्त्व को आज भी यहाँ भुलाया नहो जा सका है।

भावना-नृत्य

असम के वैष्णव सतो में इस नृत्य का प्रचार अधिक है। महापुरुष शकरदेव स्वय इसके उद्भावक और सस्थापक है। श्रीकृष्ण के जीवन वृत्तात को लेकर 'भावना' में अभिनेता अभिनय करते है। यह 'नाटच कोटि' की वस्तु है। इसमें शकरदेव लिखित 'रुक्मिणीहरण, कालियदहन', 'पारिजात-हरण' आदि नाटक अभिनीत होते है। इसके नर्तक पहले से ही रग-मच पर नृत्य के साथ आते है और अत में नाचते-नाचते ही जाते है। नृत्य के साथ मृदगताल बनाए जाते है। अभिनय के बीच-बीच दर्शको के मनोरजन के लिये 'बहुआ', 'नतुआ' आदि परिहास-नृत्यो की सयोजना भी की जाती है।

मणिपुरी-नृत्य

मणिपुरी-नृत्य की उत्पत्ति के बारे में एक ऐतिह्य प्रचलित है। वह यो है—

"श्रीकृष्ण की रासलीला के पहरेदार शिवजी थे। रासलीला-समाप्त होने पर शिव कैलाश पहुँचे। पार्वती ने उनसे रासलीला दिखलाने का आग्रह किया। महादेव ने कहा 'वह एक ऐसी गुप्त लीला है, जो दुबारा खेली नहीं जा सकती।' पर पार्वती का त्रिया-हठ कैसे दूर हो? न हो तो भी आफत। शिवजी बड़े पेशोपेश में पडे। बोले—'वह तो एक ऐसी रहस्य-लीला थी, जिसमें आत्मा-परमात्मा की रहस्यमयी मिलन-लीला नृत्य द्वारा दिखलाई गई थी। उसका पुनरायोजन आसान काम नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि सभी देवी-देवता आमंत्रित किए जायें, फिर किसी निराली जगह में रासलीला मैं दिखलाऊँ।' पार्वती खुश हो गई। लीलाभूमि का चुनाव हुआ। शिव जी पार्वती के साथ 'मणिपुर' पधारे। सचमुच वैसी निराली जगह और कहाँ मिल सकती थी—पर्वत-प्राचीरो से आवेष्ठित मणिपुर गधर्वलोक। देवी-देवता आमन्त्रित किए गए। रासलीला आरंभ हुई। शिव अपनी पार्वती के साथ रगमच पर आए, पर शिवजी जैसी लीला दिखलाना चाहते थे, वैसी लीला दिखला न सके। उनका नृत्य 'ताडव' हो गया और पार्वती का नृत्य हुआ 'लास्य'। मणिपुरी जनता का विश्वास है कि लास्य और तांडव नृत्य की उत्पत्ति का यही कारण है।"

मणिपुर की प्राकृतिक सुरम्यता को देखकर बेचारे देवता मुग्ध हो गए। सबो ने वही अपना-अपना उपनिवेश स्थापित किया। सदाशिव ने गधर्व नगरी बसा दी। आज की मणिपुरी जाति गधर्वों की सतति मानी जाती है। गधर्व राजाओ की परपरा चल पडी। वही के गधर्व राना की कुमारी लडकी 'चित्रागदा' के अनुपम सौंदर्य पर मोहित होकर अर्जुन ने 'बभ्रुवाहन को जन्म दिया था। आज तक उसी बभ्रुवाहन की सतति मणिपुर-राज्य पर शासन करती चली आई है। वर्तमान राजा उसी वश का है।

इसी प्रसग में एक और आख्यायिका प्रचलित है। कहा जाता है मणिपुर के महाराज 'भगीपचद्र' (जिन्हें महाराज जयसिंह भी कहते है) ने एक बार सन् १७७६ ई० के लगभग रासलीला-भूमि वृदावन की यात्रा की। वहाँ से वे श्रीकृष्ण के प्रेम की मस्ती लेकर वापस आए। एक दिन रात को राजा ने सपना देखा। सपने में श्रीकृष्ण ने बतलाया—'राजा, अमुक जगह एक कटहल का पेड है। उसे काटकर मेरी एक मूर्ति तैयार कर किसी मदिर में प्राण-प्रतिष्ठा करो और साथ ही तुम ऐसा प्रयत्न करो कि दुनिया में 'रास-नृत्य' का प्रचलन हो।' श्रीकृष्ण ने सपने में रासलीला के विभिन्न नृत्यो की तरकीबें भी बतलाई। महाराज जयसिंह ने श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन किया। सन् १७७६ ई० में

मार्गशीर्ष महीने की 'शुक्ला एकादशी के दिन स्वप्नानुसार मूर्ति स्थापित हुई। प्राण-प्रतिष्ठा के समय जो पाँच रातो तक नृत्य हुआ, वही मणिपुरी रासलीला-नृत्य का प्रारम माना जाता है। शिवजी ने जो रासलीला दिखलाई थी, उसे 'लाइहराउवा' कहते है। जयसिंह द्वारा अनुष्ठित रास-नृत्य उसी 'लाइहराउवा' की श्रेणी का नृत्य हुआ। 'रसपन चेइपेइ' की तरह महारास-नृत्य हुआ। गीतगोविंद के अनुसरण पर 'वसत-रास' हुआ। इस रास-नृत्य की ये तीन अवस्थाएँ है।

(क) 'लाइहराउवा'

इसके सबध में एक और अतर कथा है। मणिपुरियो का विश्वास है कि सृष्टि के रहस्य का एक काल्पनिक रूप है। 'लाइहराउवा' या रास-नृत्य उसी का एक अशमात्र है। मणिपुरी मानते है कि सृष्टि के आरभ में 'सिदवा' नाम के एक गुरु थे। सीमाहीन, देदीप्यमान् शून्य-मडल में वे घिरे हुए थे। अकस्मात् उस विराट् शून्य में इद्र-धनुष-जैसी चमचमाती सतरगी किरणें दिखाई दी। किरणो से उत्पन्न होते ही वह इद्र-धनुष अधकार और आलोक के दो टुकडों में बँट गया। तब सदगुरु ने उसमें प्रवेश किया। उन्होने लता-गुल्म, जन-प्राणियो से परिपूर्ण एक महान् विश्व के देखने का सकल्प किया। सकल्प के साथ ही उनके दायें कधे से ६ पुरुष और बायें कधे से ७ नारियाँ पैदा हुईं। सद्गुरु ने इन १६ पुत्र-पुत्रियो को सृष्टि का कार्य करने का आदेश दिया। इसी कल्पना की याददाश्त के लिये मणिपुरी लोग 'रास-नृत्य' करते है।

सृष्टि के इस रहस्य को लेकर 'लाइहराउवा' नृत्य के १२ प्रकार है। पहला रूप है—'नदाई जो गाई'। शून्य के दो टुकडे हो जाने का रहस्य इस नृत्य में व्यक्त किया जाता है। नाचने के समय नर्त्तक अपने हाथो को आकाश की ओर उठाकर भिन्न-भिन्न मुद्राओ द्वारा उस दो टुकडेवाले शून्य में सृष्टि पैदा होने की लीला दिखलाते है।

'लेकेन'

लेकेन-नृत्य में कटि प्रदेश वर्तुलाकार घुमाकर गोल भूमडल की सृष्टि का अभिनय किया जाता है। लेनेत—नृत्य में पैर के अँगूठे पर खडा रह कर बतलाया जाता है कि पृथ्वी किसी आधार पर टिकी नहीं है। 'लेइतेइ' में महाशून्य के कई भागो में विभक्त होने की स्फुट मुद्राएँ दिखलाई है। 'लाइहराउबा' के १२ स्तवको का सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

१ 'लेइकोवा'—पहले दिन का नृत्य है। इस स्तवक में पुजारी और पुजारिन दोनो आत्मा का अह्वान कर रूप-धारण करने की प्रार्थना कर नाटय करते हैं।

२ 'हेलेवा'—सृष्टि के प्रारभ होने पर गुरु 'सिदवा' के महान् आनद का नृत्य है।

३ 'अमन कथी कोफया'—आह्वान् के पश्चात् आत्मा के रूप धारण के उपलक्ष्य में आनद का अभिनय है।

४ 'चौथा नृत्य'—'पुजारिन का नृत्य' है। गुरु 'सिदवा' ने सृष्टि के किसी सकट पर एक देवी को भेजा था, उसी की स्मृति में यह नृत्य होता है।

५ 'पाँचवाँ नृत्य'—गुरु 'सिदवा' के रुष्ट होने का नृत्य है। यह नृत्य बहुत-सी रमणियो द्वारा होता है।

६ 'छठा नृत्य'—पुरुषो का है, जो 'सिदवा' की सृष्टि को स्थायी रूप देने के उपलक्ष्य में होता है।

७ 'परिहास नृत्य'—यह देवी-देवताओ के पारस्परिक हास-परिहास का नृत्य है।

८ 'हेरावो'—सबसे कठिन नृत्य है। अग-भगी और ताल की दृष्टि से कठिन नहीं, बल्कि इसलिये कि इसमें जरा सी भी त्रुटि हुई, कि देवता का अभिशाप पडा। यह 'सिदवा' के सृष्टि-सबधी ध्यान का नृत्य है।

९ 'लेबाम्रो'—कथोपकथन और अग-भगी द्वारा शरीर के अवयवो की रचना का नृत्य है।

१० 'फांगारेल'—फांगा का अर्थ है अग्नि । मनुष्य के पारस्परिक जीवन के आरभ होने में 'अग्नि' की आवश्यकता को लेकर यह नृत्य किया जाता है।

११ 'क्रमी हांजेन'—मानव जीवन के इतिहास का यह नृत्य है।

१२ 'लाइरेल मथेक'—(वक्र सर्प)। इस नृत्य में सर्प की गति पर सृष्टि को निर्धारित करके समाप्त किया जाता है।

'लाइहराउवा' नृत्य को सपूर्ण करने में १५ दिन लगते हैं।

पहले मणिपुर-राज्य के तीन हिस्से थे—'मोइरां', 'खुमन' और 'मैते'। 'लाइहराउवा-नृत्य का जन्म 'मोइरां' में हुआ था। यही शिव की रासलीला हुई थी। नृत्य के बीच-बीच में गान भी होता जाता है। पुरुष पगडी बाँधते हैं, स्त्रियाँ मेखला पहनती हैं। यह मणिपुर का शास्त्रीय नृत्य है। विभिन्न मुद्राओ द्वारा गूढ भावो की व्यजना की जाती है। नृत्य की समाप्ति के दिन स्त्री-पुरुष दोनो की शोभा यात्रा होती है। लगातार दो-तीन दिनो तक स्त्री-पुरुषो में कुश्ती दगल होता रहता है।

(ख) 'थाबल-चोंबा'

यह 'लाइहराउवा' की एक शाखा है। होली के समय रात में यह नृत्य होता है। इस नृत्य में स्त्री-पुरुष एक दूसरे का हाथ पकड कर मृदग के ताल-ताल पर उछलते हुए मडलाकृति में नाचते हैं। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओ द्वारा सृष्टि के छोटे-बडे सभी प्राणियो की गति-विधि की व्यजना की जाती है।

(ग) सकीर्तन या गौर-लीला

यह चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित नृत्य-भगिमा है। चैतन्य महाप्रभु के वैरागी हो जाने पर 'विष्णुप्रिया' को जो विरह हुआ था, उसी विरह की गूढ भावनाओ को नृत्य द्वारा व्यक्त किया जाता है। यह चार भागो में विभक्त है—(१) निपापाला, (२) नूपीपाला, (३) निपाखुबाक इशे, (४) नूपी खुबाक इशे।

१ निपापाला—इसमें तीस या चालीस आदमी सिर पर विशाल पगडी बाँधे करताल के साथ नाचते और गाना भी गाते जाते हैं। इसमें मृदग बजानेवाले कमाल कर देते हैं। ताल पर विशेष दृष्टि रक्खी जाती है। ताल चाहे जितना द्रुत हो, पर मजाल क्या कि एक भी मात्रा इधर-उधर हो जाय।

२ नूपीपाला—इसका प्रचलन कम है। औरतें करताल लेकर मृदग के साथ नाचती-गाती हैं।

३ निपाखुबाक इशे—यह नृत्य रथ-यात्रा के समय होता है। नृत्य के साथ 'गीतगोविंद' के पद गाए जाते हैं। दल के दल आदमी एक से पहिनावे, एक से आभूषण पहनकर अभिनय करते है, तालियाँ बजाते हैं, चुटकियाँ बजाते है और कठिन से कठिन मुद्राएँ दिखलाते हैं। यह एक दिल दहलानेवाला मतवाला नृत्य है।

४ नूपीखुबाक इशे—यह महिलाओ का एक मनोहर नृत्य है। अपनी कोमलता, और मार्मिकता को लेकर यह नृत्य अपना सानी नही रखता। कृष्ण, कस-वध के लिये रथ पर सवार होकर मथुरा जा रहे हैं। गोपियाँ जाने देना नही चाहती। विरह असहनीय है। वे लाख चेष्टाएँ करती हैं, पर कृष्ण नही मानते। रथ के घोडे चल पडते हैं। गोपियाँ उन्हें रोकने के लिये रथ के आगे सडक पर लेट जाती हैं, अपनी आलुलायित केशराशि से रथ के पहिए बाँध देना चाहती हैं। कितना करुण दृश्य है यह। इस नृत्य में यही दृश्य दिखलाया जाता है। इस नृत्य में कृष्ण की शैशव-क्रीडा भी दिखलाई जाती है। यह इतना करुण नृत्य है कि देखनेवालो की आँखो मे बरबस आँसू ढुलक पडते हैं। खास कर यह नृत्य आषाढ और श्रावण के महीने में होता है।

(घ) शनषेणवा

यह श्रीकृष्ण की बाल्य-लीलाओ का एक महत्त्वपूर्ण नृत्य है। फाल्गुण में इसका आयोजन होता है। तीस-चालीस गोप-साखाओं के साथ हाथ में बाँसुरी लेकर कुमार कृष्ण के नाचने की अभिव्यक्ति इस नृत्य द्वारा होती है। 'मैदान' में ही यह नृत्य दिखलाया जाता है। 'गोचारण', 'चोरी', 'असुर-वध' आदि के दृश्य नृत्य द्वारा दिखलाए जाते हैं। नृत्य में 'वात्सल्य रस' का पूर्ण समावेश रहता है। कभी-कभी रौद्र रस की रसात्मक लीलाएँ भी होती है। मणिपुरियो का यह बहुत प्यारा नृत्य है। साल भर में कई बार इसका आयोजन होता है। यह नृत्य विशेष कर लडकों द्वारा दिखलाया जाता है। लडके रग-विरग की वेप-भूषा धारण करते है। मृदग वजते है। एक गायक गाना गाता है। करताल वजानेवाले अलग होते हैं। एक सूत्रधार भी होता है। एक प्रौढा स्त्री यशोदा सजती है। इनके अलावा कई महिलाएँ गोपिकाओ की भूमिका में उतरती है। लडको की पोशाक एक ढग की होती है। नृत्य सवेरे आठ बजे शुरू होकर शाम को पाँच बजे खतम होता है।

(ङ) 'रासलीला'

यह उच्च कोटि का कलात्मक मणिपुरी-नृत्य है। पहले रासमडल सजाया जाता है। उसकी सजावट अनुपम होती है। सारा मडल मृन्मय प्रदीपो से जगमग हो उठता है। पहले सकीर्तन होता है। सकीर्तन के समाप्त होने पर स्त्रियाँ गोपियों के रूप में आकर मंडप के एक कोने में बैठती है। दो नायिकाएँ दूसरी तरफ बैठती हैं। गोपिकाओं के पास ही दो मृदग-बजाने-वाले होते है। नृत्य में शुरू से आखिर तक ताल-मृदग और गाने का प्रावल्य रहता है। जब शखध्वनि सुनाई पडती है, तो श्रीकृष्ण की अभिसार-यात्रा आरभ होती है। कृष्ण का अभिनय करने वाला लडका ९-१० साल का होता है। नृत्य में अभिसार की रहस्यमयी गूढ लीलाओ को देखकर दर्शक आत्महारा हो जाते हैं। मिलनकुज में पहुँचने पर कृष्ण अपनी बाँसुरी बजाने लगते हैं। साथ ही शखध्वनि भी गूँज उठती है। तब राधा को बीच में लेकर गोपियाँ मृदु-मथर गति से नाचती हुई कृष्ण से मिलने आती है। कृष्ण को सजाने के लिये फूल चुनते समय प्रधान गोपी का 'मयूरी-नृत्य' देखकर दंग रह जाना पडता है। इसके बाद राधा कृष्ण के चरणो में पुष्पाजलि चढाती है। कृष्ण उसे उठाकर जब आलिगन करते है, जनता ब्रह्मानद में डूब जाती है। उस मिलन को मणिपुरी लोग जीवात्मा-परमात्मा का मिलन समझते है। यह जितना पवित्र है, उतना ही उदात्त, उतना ही आह्लाद-जनक। रास-नृत्य के तीन प्रकार है—(१) वसत-रास, (२) महारास और (३) नृत्तरास। वसत-रास, वसत ऋतु में, महारास आषाढ-श्रावण में और 'नृत्तरास' प्राय सदा हुआ करता है।

वस्तुत श्रीकृष्ण के 'रासलीला-नृत्य' का जन्म मणिपुर में ही हुआ। गोपियो ने श्रीराधा की प्राण-पीडा की सहचरी होकर न जाने कितना रुदन-विलाप किया है, किंतु फिर भी कृष्ण का हृदय नही पसीजा। मणिपुर शहर या गाँव के प्रत्येक मुहल्ले में एक-एक देवमदिर है। किसी में राधा-कृष्ण, किसी में कृष्ण-बलराम, किसी में चैतन्य-महाप्रभु के विग्रह मिलेंगे। मदिर के सामने दिखलाई पड़ेगा एक सुसज्जित मडप। उसी के पास नाट्य-मदिर भी रहता है। सभा-समिति, गान-नृत्य आदि सामाजिक उत्सव उन्ही नाट्य-मदिरो में हुआ करते हैं।

झूलन-यात्रा और रासपूर्णिमा ये नृत्य के दो बडे-बडे उत्सव है। सुर-शिल्पियो के सुकठ-निसृत भक्ति-विह्वल गानो से वैष्णव-धर्मावलवी मणिपुरियो का मन उन्माद से भर जाता है। राधा के विरह-गाथा-गान के समय जन-मडली के बीच में भावोन्मत्त नर-नारियो को सिसक-सिसक कर रोते देखकर हृदय करुणा से विह्वल हो जाता है। रास-नृत्यो में कुमारियो की रूप-सज्जा देखते बनती है।

नृत्य-नाट्य और नृत्याभिनय से जो समझा जाता है उसका पूर्ण विकास मणिपुरी नृत्य में देखा जा सकता है। श्रीकृष्ण के रासलीला-नृत्याभिनय के समय रगमच की सजावट, गोपिकाओ

की वेषभूषा, रूपसज्जा, सिर की समाभूषित मुकुट-चूडाएँ, चाक-चिक्यर्तमय सुवर्ण-रजित घाघरा आदि साज-सज्जाओ से आभूषित होकर बीस या उससे भी अधिक रास-शिल्पी जिस वक्त रगमच पर अपनी-अपनी गाथाओ के साथ समयोपयोगी गान माधुर्य की सृष्टि करते है तथा नियमित ताल और छद के साथ नृत्य करते है तो यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि ससार के नृत्याभिनयो में मणिपुरी-नृत्य का क्या स्थान है। मणिपुरी युवक-युवतियो की कला-निपुणता उनका श्रेष्ठ अवदान है।



मोहेंजोदड़ो से प्राप्त यमलार्जुन-दृश्य : मिट्टी-गुटिका

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

मोहेंजोदड़ो से मिट्टी की तीन लबोतरी गुटिकाएँ मिली है, जिनमें से एक यहाँ सचित्र, प्रकाशित की जाती है। श्रीयुत 'मैके' महोदय ने अपनी सन् १९२७।३१ की खुदाई में इन्हें पाया था और अपनी पुस्तक 'फर्दर एक्सवेवस ऐट मोहेंजोदड़ो' में इनका वर्णन करते हुए इन पर अंकित दृश्य को 'यमलार्जुन-घटना' अनुमान किया है (जिल्द १, पृष्ठ ३५४।५५ जिल्द २, प्लेट ९०, चित्र २३,२४)। आरंभ में श्री मैके के शब्दों में ही इनका प्रामाणिक वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—

"फलक ९० पर चित्र २३ (डी० के० १०२३७) एक अत्यंत रोचक रक्षा-गुटिका का है जिस पर अंकित दृश्य इतने स्पष्ट हैं कि उनके समझने में कठिनाई नहीं होती।

चौकोर गुटिका के दो ओर दृश्य अंकित हैं। उनके दो भाग अलग-अलग साँचो में दवाकर निकाले गए थे और बाद में जोड़ मिला कर एक कर दिए गए।

पहली ओर—शुरू में एक नए ढंग का 'गोरखधंधा' है। उस तरह का दूसरा मेरे देखने में नहीं आया, यद्यपि उसकी पेचक लगश से प्राप्त लुगल-अंबा की एक मुद्रा से मिलता-जुलता है। गोरखधंधे की रेखाओं से बाहर निकलते हुए फंदे हैं, जैसे प्राय: मोहेंजोदड़ो में नहीं मिले। इस तरह के फंदेदार पेचक प्राचीन 'सुमेर' में देखे जाते है और हो सकता है कि ये वहीं से भारत में लाए गए हो। अवश्य ही उनका महत्त्व रक्षात्मक या तावीज-परक था। इसके बाद चित्रात्मक लिपि के चार अक्षरो वाला कोई शब्द है, अंत में एक व्यक्ति वृक्ष-देवता के लिये कुछ चढ़ा रहा है।

दूसरी ओर—गुटिका की दूसरी ओर के दृश्य और भी रोचक है। बाईं ओर शुरू में एक लंबोतरा ढक्कनदार थंमू है। इस तरह के गिलास मिट्टी, ताँबे और चाँदी के बने हुए मोहेंजोदड़ो से मिले हैं।

इसके बाद के दृश्य में एक व्यक्ति पेड़ पर चढ़ा हुआ है और बाँई ओर जमीन पर खड़ा हुआ एक बाघ गर्दन घुमाकर उसे घूर रहा है। हमारी समझ से यह भी कोई धार्मिक दृश्य है।

दाहिनी ओर के तीसरे दृश्य में दो व्यक्ति दिखाए गए हैं, जो अपने हाथो में दो उखाड़े हुए पेड किसी वृक्ष-देवता को बंधन-मुक्त करने के लिये पकड़े हुए है, अथवा जो उन वृक्षो को रोपना चाहते हैं। वृक्ष-देवता ने उनकी ओर अपने दोनो हाथ बढ़ा रक्खे हैं, जो मुद्रा उसके आशीर्वाद या प्रसन्नता को प्रकट करती है। वृक्ष-देवता की भुजाएँ गोल-गोल कड़ो से भरी हुई हैं। उन्हें पत्ते न समझ लेना चाहिए। इस दृश्य में दो वृक्षों का वैवाहिक गठबंधन मानना मुझे उपयुक्त नहीं जँचता। भारत के कई भागो में यह प्रथा प्रचलित है, पर उसमें दोनो वृक्ष अलग-अलग जाति के होते हैं।

मैं समझता हूँ कि इस दृश्य की तुलना भागवत के उस दृश्य से की जा सकती है जिसमें कुबेर के दो पुत्र 'नलकूबर' और 'मणिग्रीव' नारद के शाप से अर्जुन के दो वृक्षो के रूप में बदल गए थे और जिन्हें कृष्ण ने 'यमलार्जुनोद्धार-लीला' के द्वारा शाप-मुक्त किया था। कृष्ण-लीला की यह कथा अनुमानतः किसी अति प्राचीन कथा का अवशेष है।"

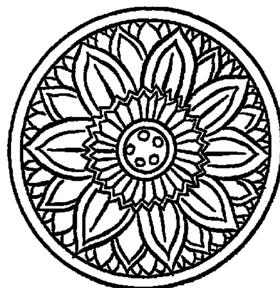
श्री मैके ने जिस दृश्य में यमलार्जुन लीला का अनुमान किया है उसकी व्याख्या भारतीय प्राचीन अध्यात्म-परपराओ से और भी अच्छी तरह समझी जा सकती है। इनकी कुछ व्याख्या हमने अन्यत्र प्रकाशित अपने 'श्रीकृष्ण का लीला वपु' शीर्षक लेख में प्रस्तुत की है। पुराण के अनुसार नलकूवर और मणिग्रीव यक्ष-परपरा के अग हुए, जिसकी मान्यता जातक और पाणिनि के समय में सारे लोक-जीवन में फैली हुई थी। बुद्ध से भी पूर्व उपनिषदो और अथर्ववेद के समय में भी यक्षो और नागो की पूजा लोक-समत थी। कुबेर इद्र, वरुण, अर्यमा ये सब अपने-अपने क्षेत्र में महान् यक्ष समझे जाते थे। 'भरहुत' की लोक-शिल्पकला में कुवेर यक्ष (कुपिरोयखो) की एक मूर्ति भी मिली है। गीता के अनुसार यक्षो में भी कुवेर भगवान् की विभूति है। अब इसी प्रकार की जो बहुत सी विभूतियाँ कही गई है वे लोक में मान्य देवी-देवताओ के रूप है, जिन्हें सात्वत धर्म ने भगवान् के अवतार रूप में स्वीकार करके उनका समन्वय श्रुति-समत धर्म के साथ स्थापित किया।

यमलार्जुन यक्षो की तुलना उन दो यक्षो से की जा सकती है जिन्हें 'शतपथ ब्राह्मण' में 'नाम-रूप' कहा गया है—

"अथ ब्रह्मैवपरार्द्धमगच्छता तत्परार्द्धंगत्वा ऐक्षत कथचेन्माल्लोकान् प्रत्यवेयमिति। तद्द्वाभ्यामेव प्रत्यवैत् रूपेण चैव नाम्ना च॥"

—शत० ११।२।३

अर्थात् ब्रह्म का त्रिपाद, अमृत या परार्ध-भाग तीन लोको से बाहर निकला हुआ था, उसने सोचा किस प्रकार इन लोको में फिर लौट कर जाऊँ। तब वह इन दो के द्वारा वापिस आया, नाम के द्वारा और रूप के द्वारा। नाम और रूप ही दो बडे यक्ष है, जो है नही, पर फिर भी हुए से जान पडते है।



मथुरा-कला

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

प्राचीन शूरसेन-जनपद की राजधानी 'मथुरा' भारत की सप्त महापुरियो में विख्यात है, उत्तरापथ को अलकृत करने वाला गगा-यमुना का जो कण्ठहार है, उसमें सुदर मुक्ताफल की तरह यमुना के दक्षिण तट पर मथुरापुरी का सन्निवेश है। किसी पूर्व युग में आर्यों का लोक-सनादन चक्र पूर्व से पश्चिम तक पृथ्वी को आत्मसात् करता हुआ फैल रहा था। उस समय पाँच नदियो के वाह्लीक देश और गगा-यमुना के मध्यदेश की मिलती हुई सीमाओ पर जहाँ उनके रथ का पहिया भू-मापन के लिये ठहरा होगा, वह स्थान 'मथुरा' ही हो सकता है। देश के पूर्व और पश्चिम-भागो के बीच में यातायात की जो धमनी थी, उस पर जैसी महत्त्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति मथुरा की थी, वैसी अन्य किसी नगर की नही। मध्यप्रदेश के पश्चिमाभिमुखी ललाट पर मथुरा सुदर तिलक कहा जा सकता है।

यह भौगोलिक स्थिति मथुरा के लिये बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुई। पूर्व और पश्चिम के समन्वय का मत्र मथुरा के भाल पर लिख गया था। समन्वय ही मथुरा की सस्कृति का बीज है। उससे जो अकुर पल्लवित हुए उनसे समस्त देश का हित हुआ। मथुरा के बहुविध इतिहास का अतर्यामी सूत्र अनेक सस्कृतियो का मेल या समन्वय है, जिसके द्वारा अनेक प्रकार की विविधता को स्वीकार करते हुए जनता ने उसके भीतर से पारस्परिक प्रेम, समिलन और एकता को प्राप्त किया। मथुरा से इतिहास और शिल्प की जो बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे इस समन्वय के सबध में कई बातें स्पष्टतया ज्ञात होती हैं।

मथुरा की भूमि में पहला समन्वय भारतीय, यूनानी और ईरानी सस्कृतियो के समिलन के रूप में हुआ। ये तीनो धाराएँ ऐतिहासिक क्रम से मथुरा में एक दूसरे के साथ टकराईं, परतु दो-एक शताब्दियो में ही वह सघर्ष समन्वय के रूप में बदल गया और फलस्वरूप भारतीय सस्कृति की मूल-धारा ईरानी और यूनानी-प्रभावो को अपने भीतर समेट कर और भी अधिक वेग से आगे बढी। इस सास्कृतिक समन्वय का स्पष्ट परिणाम मथुरा की कला में लक्षित होता है। भारतीय कला की धार्मिक सत्यता, ईरानी कला की स्पष्ट सरलता और यूनानी कला की बाह्य सुदरता एव मानवीय शरीर के बाहरी आकर्षण को चित्रित करने की प्रवृत्ति, इन तीन गुणो के एकत्र होने से मथुरा कला का सौंदर्य और आकर्षण निखर कर अभूतपूर्व हो गया। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी में मौर्यों के राज-सगठन के टूटने पर यूनानीराज्य-शक्ति के पीछे-पीछे यूनानी सस्कृति और कला ने भी प्रसार पाने के लिये इस देश में पैर फैलाए। लगभग सौ वर्ष बाद प्रथम शती ई० पूर्व से प्रथम शती ई० तक ईरान के शको ने भारत के उत्तर-पश्चिमी अचल पर विशेष रूप से प्रसार पाया, पर मथुरा तक पहुँचते-पहुँचते ये दोनो कलाएँ और सस्कृतियाँ शुद्ध भारतीय सस्कृति के सामने नतमस्तक हो गईं। जान पड़ता है मानो मध्यदेश की प्राणवंत संस्कृति ने उन्हें पचा लिया हो। ईसा की पहली-दूसरी शताब्दियो में शक और कुषाणवशी राजाओ का राज्य मथुरा में स्थापित हुआ, पर उससे भारतीय कला अभिभूत होनेके स्थान में और भी अधिक तेजस्वी बनकर प्रकट हुई। भारतीय कला के इस प्रभावशाली अस्तित्व के कारण ही आगतुक शक, यवन-संस्कृति और कला की गुणमयी विशेषताएँ उसमें पच गईं। ईरानी, यूनानी, भारतीय इन तीन सस्कृतियो और कलाओ के मिलन की पहली त्रिवेणी मथुरा की समन्वय-प्रधान भूमि में प्रकट हुई।

प्राचीन भारत की तीन बडी धार्मिक विचार-धाराओ का समिलन, मथुरा के इतिहास की दूसरी विशेष घटना है। ब्राह्मणधर्म, बौद्धधर्म और जैनधर्म ये तीनो मथुरा के समन्वय-प्रधान वातावरण में कई शताब्दियो तक एक साथ मिलकर फूलते-फलते रहे। भारतवर्ष में शायद ही कोई ऐसा दूसरा स्थान हो, जहाँ तीनो धर्मों की एक साथ इतनी भारी हलचल इतने अधिक दिनो तक एक साथ चलती रही हो। प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से लगभग पाँचवी शताब्दी तक तीनो धर्मों के आचार्यों ने अपने-अपने अभ्युदय के लिये यहाँ भरसक प्रयत्न किया। बौद्धो के सर्वास्तिवादी, महासघिक और धर्मगुप्तक सप्रदायो के केंद्र मथुरा में थे, यह यहाँ के शिलालेखो से ज्ञात होता है। सर्वास्तिवादी आचार्यों का जो एक समय गधार से लेकर सारे उत्तर भारत में फैले हुए थे मथुरा ही बडा अड्डा था। सम्राट् कनिष्क स्वय सर्वास्तिवादियो के पोषक थे। बौद्धो के ये विभिन्न सप्रदाय थोडा-थोडा मतभेद रखते हुए भी आपस में मिलकर रहते और मथुरा के धार्मिक जीवन में चहल-पहल बनाए रखते थे। इसी प्रकार जैनधर्म के शिलालेखो से ज्ञात होता है कि मथुरा के देव-निर्मित जैन-स्तूप में जैन-सघ के अनेक गण, शाखाएँ और कुल मिलकर विद्या और धर्म की उन्नति के लिये काम कर रहे थे।

ब्राह्मण धर्म का मथुरा के साथ सबध भगवान् कृष्ण के युग से था। मथुरा से प्राप्त जो पुरातत्त्व की सबसे पुरानी सामग्री है, उससे इतनी बाते तो निश्चित रूप से जान पडती हैं कि प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से मथुरा ब्राह्मण-धर्म का एक बडा केंद्र बन गया था। मथुरा से लगभग ढाई सौ मील दक्षिण में स्थित बेस नगर में यवन राजदूत हेलियोदोर ने भगवान् वासुदेव का 'गरुडध्वज' स्थापित किया। बेस नगर के पास ही साँची में मथुरा के लाल पत्थर की बौद्ध-मूर्तियाँ मिली हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मथुरा का प्रभाव-क्षेत्र वहाँ तक विस्तृत था। पश्चिम की ओर राजपूताने के 'घोसूडी' नामक गाँव से प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि वहाँ सकर्षण और वासुदेव के मदिर थे। स्वय मथुरा में वासुदेव के एक मदिर की सिरदल पर लिखा हुआ शिलालेख प्राप्त हुआ है, जो शोडास के राज्य-काल (प्रथम शती ई० पूर्व) का है। इससे सिद्ध होता है कि वासुदेव और सकर्षण की भक्ति पर आश्रित भागवत-धर्म का प्रभाव मथुरा से लेकर पश्चिम में चित्तौड और दक्षिण में साँची-भेलसा तक के बडे प्रदेश में फैला हुआ था। समय के साथ यह प्रभाव बराबर बढता गया और धार्मिक जीवन के जो उपयोगी तत्त्व है उन्हें साथ समेटकर भक्ति-प्रधान भागवत धर्म के रूप में प्रकट हुआ। परम-भागवत गुप्त राजाओ के समय में धर्म का यह रूप बहुत अधिक विस्तार और प्रभाव को प्राप्त हुआ। जान पडता है कि भागवत धर्म के निर्माणकारी तत्त्वो ने सहिष्णुता और समन्वय के प्रचार में सबसे अधिक योग दिया। इनकी छाप सभवतया महायान-बौद्ध-धर्म पर भी पडी, जो सर्वथा भक्ति-प्रधान और लोक-सग्रह का समर्थन करनेवाला मार्ग था। न केवल ब्राह्मण, जैन और बौद्ध इन तीन धर्मों को हम मथुरा की भूमि में पनपते हुए देखते है, बल्कि ब्राह्मण-धर्म के अतर्गत भी जो शैव और वैष्णवो के भेद हैं, उन दोनो ने भी मथुरा को अपना केंद्र बनाया। शैव और उनके भेद पाशुपत धर्म की महत्त्वपूर्ण सामग्री मथुरा के पुरातत्त्व में पाई गई है।

तीन प्रधान भारतीय धर्मो का विचार केंद्र होने के कारण यह स्वाभाविक है कि मथुरा में जिस शिल्पकला का निर्माण हुआ उसको इन धर्मो से प्रेरणा मिली। मथुरा-कला—ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध धर्म और जैन-धर्म इन तीनो धर्मों से अनुप्राणित है। उन धर्मों के माननेवालो की जो भक्ति-भावनाएँ थी, उनकी स्पष्ट व्याख्या आज तक हम उन मूर्तियो के रूप में अकित देखते है जो मथुरा में मिली है। यद्यपि शैली की दृष्टि से मथुरा-कला का अखंड व्यक्तित्व है, फिर भी धार्मिक भेदो के अनुसार मथुरा की शिल्प-सामग्री के तीन विभाग सरलता से हो जाते हैं—

"बौद्ध, जैन और ब्राह्मण ।"

मथुरा के भक्ति-प्रधान वातावरण का ही यह फल मालूम होता है कि इतने विभिन्न तत्त्व एक साथ मिलकर यहाँ रह सके और एक समन्वय-प्रधान सस्कृति का निर्माण करने में समर्थ हुए।

पारस्परिक सद्भाव की नीव पर विकसित उस समन्वयात्मक संस्कृति ने गुप्तकाल में समस्त देश में फैलकर राष्ट्रीय सस्कृति का ही रूप धारण कर लिया। आज तक वही सहिष्णुता-प्रधान विचार-धारा भारतवर्ष की मूल सस्कृति के रूप में देश में व्याप्त है।

मध्यदेश की यह समन्वयात्मक सस्कृति ही हमारी राष्ट्रीय सस्कृति है। भेदो को मिलाकर एक करने की इसमें अद्भुत विशेषता है। भारतवर्ष के धार्मिक, सास्कृतिक और शिल्प-स्थापत्य सबधों के इतिहास में मथुरा का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसका सबसे उत्कृष्ट प्रमाण यहाँ से प्राप्त शिल्प की सामग्री में मिलता है। अतएव मथुरा की 'शिल्प-कला' का विशेष अध्ययन आवश्यक है। उससे अपने प्राचीन सास्कृतिक विकास को समझने में सहायता मिलती है।

संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय

पुराणो की अनुश्रुति के अनुसार मधु नाम के असुर ने एक पुरी की स्थापना की थी, जो उसके नाम से 'मधुपुरी' कहलाई। उसका पुत्र लवणासुर हुआ। मधु के नाम से अभी तक मथुरा से लगभग चार मील हटकर 'महोली' नाम का गाँव बसा हुआ है और उसी के पास लवणासुर से सबधित 'नोनासुर की गुफा' भी बताई जाती है। लवणासुर को परास्त करके शत्रुघ्न ने वर्तमान मथुरापुरी की स्थापना की। सभवत इस अनुश्रुति के पीछे निषाद-सस्कृति-संबधी प्रागैतिहासिक इतिहास का सत्य छिपा है। लवणासुर की राजधानी ही पीछे चलकर मथुरा या मधुपुरी नामक आर्य-सन्निवेश बनी। उच्चारण-भेद से 'मधुरा' ही 'मथुरा' कहलाई। जैन और बौद्ध-ग्रथो में इसका नाम 'मधुरा' या 'महुरा' ही पाया जाता है।

मथुरा के इतिहास की दूसरी बडी घटना भगवान् कृष्ण का जन्म है, जिसके कारण यह पुरी अमर हो गई।

महाभारत के बाद महाजनपदों के युग में मथुरा के इतिहास पर प्रकाश की किरणें अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। छठी शती ई० पूर्व में मथुरा का सबध 'अवति' के राजघराने से था। अवति के राजा प्रद्योत की एक कन्या वासवदत्ता वत्सराज उदयन को ब्याही थी। दूसरी कन्या का विवाह मथुरा के राजा के साथ हुआ था। इस प्रकार मथुरा का राजा अवति-पुत्र वासवदत्ता की बहिन का लडका था। माधुरिय सुत्तत के अनुसार अवति-पुत्र ने बुद्ध के शिष्य महाकात्यायन से मथुरा के गुदवन में भेंट की। बुद्ध के दूसरे शिष्य महाकाश्यप की स्त्री भद्रा कपिलानी मथुरा की ही थी। यद्यपि त्रिपिटक सुत्रो में ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता कि भगवान् बुद्ध ने मथुरा में निवास किया हो, फिर भी एक बार हम उन्हें मथुरा और 'वेरंजा' के रास्ते पर जाते हुए देखते है। सभावना तो यही है कि शूरसेन जैसे महाजनपद की राजधानी को भगवान् बुद्ध ने अपनी दीर्घकालीन यात्राओ में अवश्य देखा होगा। बाद की बौद्ध-अनुश्रुति बुद्ध की मथुरा-यात्रा को निश्चित रूप से मानती है। दिव्यावदान के अनुसार बुद्ध ने यह भविष्य वाणी की थी कि आगे चलकर मथुरा बडी नगरी होगी (पृ० ३४७)।

पाँचवी शताब्दी ई० पूर्व में पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रो में मथुरा का नाम नही है, किंतु—"वरणादिभ्यश्च" (४।२।८२) सूत्र के गणपाठ में मथुरा की भी गणना है।

मौर्य काल में मथुरा का बौद्ध-धर्म के साथ विशेष सबध हुआ। शोणवासी नामक आचार्य ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये एक विहार की स्थापना की जिसका नाम 'नटभट विहार' था। इस आचार्य के शिष्य मथुरावासी उपगुप्त ने सम्राट् अशोक को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। कहा जाता है कि अशोक ने मथुरा में बुद्ध के प्रमुख शिष्यो के नाम से कई बडे स्तूप बनवाए थे, जिनका वर्णन चीनी यात्री स्युआन चुआड ने किया है।

सुग काल में मथुरा के महत्त्व का कुछ आभास पतजलि के निम्नलिखित उदाहरणो से चलता है—

"सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा इति। साकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुराः अभिरूपतरा इति॥"

—महाभाष्य ५।३।५७

अर्थात्, साकास्य के नागरिको से पाटलिपुत्र के निवासी अधिक सुदर है। एव मथुरा के नागरिक साकास्य और पाटलिपुत्र दोनो स्थानो के नागरिको से शोभा में बढचढ कर है।

प्रथम शताब्दी ई० पूर्व के लगभग मथुरा पर क्षहरातवशी शको का अधिकार हुआ। उन महाक्षत्रप रञ्जुवुल और उसके पुत्र महाक्षत्रप शोडास के नाम ज्ञात है। सिक्को से क्षत्रप हगामश का नाम भी मिलता है। क्षहरात शको के बाद मथुरा में कुछ समय के लिये दत्त-वश का अधिकार हुआ जिस के राजाओं के नाम के सिक्के मथुरा में पाये गए है। शको के सिक्को से ही मिलते-जुलते कुछ और सिक्के मथुरा में और उसके आस-पास मिले है, जो 'राजन्य जनपद' (राजञ जनपदस) के है।

इसके बाद मथुरा के इतिहास में एक भारी परिवर्तन हुआ और ईस्वी सन् के प्रारभ के लगभग शक-वशी राजाओ ने मथुरा को किसी तरह अपने अधिकार में चाँप लिया। इन राजाओ की तालिका इस प्रकार है—

कदफ प्रथम (कुजुल कर), कदफ द्वितीय (वेमतक्षम) इन दोनो राजाओ ने प्रथम शताब्दी के आरभ से ७८ ई० तक राज्य किया।

कनिष्क,	७८ ई० से १०२ ई० तक,
वासिष्क,	१०२ ई० से १०६ ई० तक,
हुविष्क,	१०६ ई० से १३८ ई० तक,
वासुदेव,	१३८ ई० से १७६ ई० तक,

ये सम्राट् शको की कुषाण शाखा से सबधित होने के कारण कुषाणवशी कहलाते है। वासुदेव के राज्यकाल के बाद भी उत्तरकालीन कुषाणो की शाखा चलती रही, अतएव मथुरा के इतिहास में ईसा की आरभिक शताब्दियो का समय 'शक-कुषाण'-काल के नाम से प्रसिद्ध है। कला की दृष्टि से पहली-दूसरी शताब्दी का समय मथुरा का स्वर्ण-काल माना जाता है। इस समय की कला ने नव निर्माण की अद्भुत शक्ति प्रदर्शित की। कुषाणकालीन शिल्पकला में नेत्र और मन दोनो को प्रसन्न करने की अद्भुत क्षमता और पर्याप्त सामग्री है। तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक का प्रदेश कुषाण सम्राटो के राज्य विस्तार या राजनैतिक प्रभाव के अतर्गत था। मथुरा उस प्रभाव का सबसे बडा मध्यवर्ती केंद्र था।

मथुरा के शिल्पियो ने इस समय कला के क्षेत्र में बडा साका किया। उन्होने जिस नई शिल्पकला-शैली को जन्म दिया वह उत्तरी भारत में सर्वत्र फैल गई। मथुरा की बनाई हुई बौद्ध-मूर्त्तियाँ और शिल्प के अन्य उदाहरण साँची, सारनाथ और श्रावस्ती जैसे दूर के स्थानो में पाए गए है।

कुषाणो के बाद लगभग ३०० ई० से ६०० ई० तक का समय 'गुप्त-युग' कहलाता है। मथुरा-कला की परपरा गुप्त-युग में और भी विस्तृत हुई। परम भागवत महाराजाधिराज श्री चद्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल के दो लेख मथुरा से मिले है। गुप्तो का मथुरा के साथ घनिष्ट सबध ज्ञात होता है। ४०० ई० के लगभग चीनी यात्री फाहियान मथुरा में आया था। उस समय उसने मथुरा के चारो ओर के प्रदेशो को मध्यदेश कहा है। चद्रगुप्त के समय में मथुरा सचमुच मध्य-देश की सस्कृति का केंद्र था। उस समय यहाँ बौद्ध और जैन-विहारो के अतिरिक्त ब्राह्मणो के भी कई देव-मदिर थे। विष्णु आदि देवताओ की उपलब्ध गुप्त-कालीन प्रतिमाओं से यह बात सिद्ध होती है। सातवी शताब्दी के लगभग मथुरा की शिल्पकला का प्रवाह मद पड जाता है। उसमें न तो जीवन की दृष्टि से नवीन कल्पना करने की शक्ति दिखाई देती है और न कला की दृष्टि से ही कोई विशेषता रह जाती है। शिल्पी मानो ललित कला का सदेश भूल जाते है और कुछ गिने-गिनाए लक्षणो के अनुसार स्फूर्ति-हीन मूर्तियो का निर्माण कर सतोष मान लेते है। मथुरा में सातवी शताब्दी से बारहवी शताब्दी का समय कला-निर्माण की दृष्टि से शून्य है। उसमें किसी प्रकार से विचित्र नई प्रतिमाओ के दर्शन नही होते। उस युग में कला-निर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण केंद्र

मथुरा से बाहर अन्यत्र स्थापित हो जाते है, एव मध्यकालीन शिल्पकला की बागडोर उनके हाथ में चली जाती है।

बुद्ध की मूर्ति

मथुरा-कला की सबसे बडी विशेषता बुद्ध की मूर्ति का निर्माण है। बुद्ध की मूर्ति का आविष्कार कुषाण-काल के आरभ में प्रथम शती ई० के लगभग हुआ। इससे पहले शुग काल की कला में बुद्ध का चित्रण मनुष्य रूप में नही पाया जाता। भूपाल के निकट साँची नामक स्थान में और मध्यभारत की नागोद रियासत के भरहुत नामक स्थान में शुग-कालीन कला के दो बडे केंद्र पाए गए हैं। साँची और भरहुत की कला भारतीय बुद्ध-कला में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वहाँ के स्तूपो की चहर दीवारी के खभो (वेदिका स्तंभो) पर और तोरणों पर बुद्ध की जीवन-घटनाएँ और उनके पूर्व जन्म की कथाएँ जिन्हें 'जातक' कहते है, अनेक प्रकार से अकित की गई है। उन सब में बुद्ध का चित्रण केवल प्रतीक रूप में दिया गया है। बुद्ध के प्रतीक की कल्पना कई प्रकार के चिन्हो द्वारा की गई है। उदाहरण के लिये बोधगया में सबोधि प्राप्त करनेवाले बुद्ध के प्रदर्शन के लिये बोधिवृक्ष का सकेत काम में लाया गया है। सारनाथ में उपदेश देते हुए बुद्ध का चित्रण धर्मचक्र अकित करके बताया गया है। बुद्ध ने जो धार्मिक उपदेश सारनाथ में दिया था, उसे बौद्ध-साहित्य में धर्मचक्र-प्रवर्तन कहा गया है। इस घटना के चित्रण के लिये धर्मचक्र सुदर और उपयुक्त चिह्न समझा गया। इसी प्रकार बुद्ध के परिनिर्माण का सकेत चिह्न स्तूप था। कही-कही पर बुद्ध की चरण-पादुका की छाप भी चिह्न रूप में प्रयुक्त हुई है। बोधि वृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप, चरण-पादुका, उष्णीष, बोधिमंड, भिक्षापात्र आदि चिह्नो के द्वारा बुद्ध को व्यक्त करने की युक्ति भरहुत, साँची, बोधगया की कला में प्रयुक्त हुई है।

अशोक (तीसरी शताब्दी ई० पू०) के समय से लेकर शक राजाओ के आने तक जो बीच का काल है उसमें बौद्ध-कला ने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये विलक्षण कार्य किया। शुग कालीन तोरण और वेदिका, प्राचीन भारतीय कला के महाकोश की तरह है, जिनमें प्राचीन जीवन का अनेक प्रकार से चित्रण हुआ है, पर केवल सासारिक जीवन का चित्रण उस कला का उद्देश्य न था, उसकी मूल भावना बौद्ध-धर्म से प्रेरित है। बुद्ध के महान् जीवन की अनेक रोचक घटनाओ को शिल्प में गूँथने पर भी कही बुद्ध को मूर्ति रूप में व्यक्त करने की आवश्यकता शिल्पी को नही जान पड़ी। यह बात नही है कि शुग-कला में मनुष्य की मूर्तियो का बिलकुल अभाव हो। वह कला अनेक प्रकार के यक्ष, नाग, मनुष्य, राजा और तपस्वियो की मूर्तियो से भरी पडी है। जो शिल्पी अनेक प्रकार की छोटी-बडी मानवीय मूर्तियाँ बना सकते थे, उन्होंने बुद्ध-मूर्ति का निर्माण क्यों नही किया? इस प्रश्न का सच्चा उत्तर 'थेर वाद' की धार्मिक भावना में ही पाया जाता है। हीनयान की मूल विचारधारा नकारात्मक थी। व्यक्ति का निर्वाण में पहुँचना जीवन का अतिम लक्ष्य समझा जाता था। निर्वाण तक पहुँचने के लिये ही बीच के जीवन की हलचल है। जो बुद्ध एक बार निर्वाण स्थिति में जा चुके हैं, उनका सपर्क स्थूल मूर्तभूतो के साथ से किसी तरह हो ही नही सकता। बुद्ध की मूर्ति की कल्पना प्रचलित धार्मिक भावना पर सबसे बडा कुठाराघात होता। शास्ता का पंच भौतिक शरीर जब एकबार विशीर्ण हो गया तब तीन लोक और तीन काल में भी उसके उस दिव्य रूप का दर्शन असंभव है। देवता और मनुष्यो में कही भी कोई उसे फिर नही देख सकता। इस भावना के समर्थन में सबसे प्रामाणिक वचन भगवान् बुद्ध के मुख ने ब्रह्मजाल सूत्र में कहलाया गया है—

"उच्छिन्नभवनेत्तिको भिक्खवे तथागतस्स कायो तिट्ठति। यावस्स कायो ठस्सति ताव नं दक्खिस्सति देव मनुस्सा। कायस्स भेदा उद्धं जीवित-परियादाना न दक्खिंति देवमनुस्सा।"

—दीघनिकाय-ब्रह्मजाल सुत्त २।३।२३।

अर्थात् 'ऐ भिक्षुओ, तथागत का स्थूल शरीर तुम्हारे सामने है, पर जो उसको फिर भव-बंधन में बाँधने का कारण है वह कट चुका है। जब तक उसकी यह काया ठहरेगी तभी तक देवता और मनुष्य उसे देखेंगे। काया के नष्ट होने पर जीवन की परिसमाप्ति के बाद, न उसे देवता देख पायेंगे न मनुष्य।'[1]

निर्वाण पर अधिक से अधिक गौरव देने का अर्थ ही मूर्तरूप का सर्वथा निराकरण है। निर्वाण किसी भी प्रकार के भौतिक और अभौतिक सस्थान को सहन नही कर सकता। यह विचार-धारा पूरे वेग के साथ आरंभिक बौद्ध धर्म को प्रेरित कर रही थी। इसी कारण हम देखते है कि लगभग तीन शताब्दियो तक कला का निर्माण करते रहने पर भी शिल्पियो को बुद्ध की मूर्ति बनाने की आवश्यकता प्रतीत नही हुई। उस युग के इस मूल धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता थी।

बुद्ध-मूर्ति का निर्माण पहले मथुरा में हुआ था गधार में, इस प्रश्न को लेकर विद्वानो में गहरा मतभेद है। बहुधा यूरोपीय विद्वान् इस पक्ष में है कि यूनानी कला के प्रभाव से गाधार-कला में पहले-पहल बुद्ध-प्रतिमा का आविष्कार किया गया, उसी की देखा-देखी मथुरा के शिल्पियो ने भी बुद्ध की मूर्ति गढ डाली। भारतीय विद्वान् जिनमें श्री 'कुमार स्वामी' अग्रणी है, बुद्ध-मूर्ति की सर्वप्रथम रचना मथुरा में मानते है,[2] उनके अनुसार मथुरा की कला में बुद्ध-मूर्ति को बनाने के सारे तत्त्व और सूत्र वर्तमान थे। वस्तुत प्रश्न गधार के शिल्पियो की सामर्थ्य और मथुरा के शिल्पियो की असामर्थ्य का नही है, जैसा कि श्री फूशे मानते है। मथुरा के शिल्पी अच्छी से अच्छी यक्ष-मूर्ति बना ही रहे थे, तब बुद्ध-मूर्ति बनाने में उनकी अयोग्यता की दलील में क्या सार है? असली बात यह है कि जब तक बौद्ध-धर्म की ऊपर कही हुई मूल विचार-धारा में क्रातिकारी परिवर्तन पूरा न हो लेता तब तक बुद्ध के अनुयायी किसी प्रकार मूर्ति का स्वागत करने के लिये तैयार न थे। यदि गधार के कुछ शिल्पी बुद्ध की प्रतिमा बना भी लेते तो भी मथुरा के कलाकार उसका ग्रहण कभी न करते, यदि मथुरा के बौद्धो के हृदयो में उसके लिये धर्मानुमोदित स्वागत की भावना उत्पन्न न हुई होती। हीनयान की निर्वाण-प्रधान विचार-पद्धति में सर्वप्रथम मौलिक क्राति की आवश्यकता थी, जिससे बुद्ध की मूर्ति को अगीकार किया जा सकता।

विचारो के इस परिवर्तन का श्रेय भागवत-धर्म को है, जिसका अशोक मौर्य के बाद प्रति-क्रिया-रूप में दूसरी पहली शती ई० पू० में विकास हुआ। शुगो के राज्य-काल में उत्तरी भारत में वैदिक यज्ञ-प्रधान कर्मकाड ने भागवत-धर्म के साथ मिलकर हिंदू-धर्म का एक नया लोक-ग्राह्य रूप सामने रक्खा। स्वय पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया था और उसी के समय में पतजलि ने महाभाष्य में 'कृष्ण' और 'सकर्षण' का उल्लेख किया है—

"संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम्।"

अर्थात्, सकर्षण के साथ कृष्ण की सेना की जय हो। पतजलि ने यह भी लिखा है कि 'कसवध-नाटक' का अभिनय उनके समय में होता था (भाष्य २।३६)। केशव और राम के मदिरो का भी भाष्य में उल्लेख है—'प्रासादे धनपति राम केशवानाम्', (भाष्य २।४३६)। नगरी (प्राचीन मध्यमिका) से मिले हुए लेख से (जिसकी एक प्रति घोसूडी गाव में भी मिली थी) अश्वमेधयाजी भागवत राजा

१. श्री अर्धेंदुकुमार 'गागुली कृत—'दी एंटीक्विटी ऑव दी बुद्ध इमेज', दी कल्ट ऑव दी बुद्ध, पृ० ४३ (ओस्ट आसियाटिशे त्साइतश्रिफ्ट, भाग १४)।

२. आनंदकुमार स्वामी—'दी ओरिजिन ऑव दि बुद्ध इमेज', आर्ट बुलेटिन (१९२७) ३१ २८७-३१७, चित्र २-६७।

सर्वतात के द्वारा स्थापित संकर्षण और वासुदेव की पूजाशिला के चारो ओर बनी हुई पत्थर की 'वेदिका' (पूजा-शिला-प्राकार) और 'नारायण वाटिका' का स्पष्ट उल्लेख है।[1] वेस नगर में महाराज भागभद्र की सभा में समागत यवन-दूत भागवत हेलिओदर ने वासुदेव के प्रासादोत्तम के समुख एक गरुडध्वज स्थापित किया। भेलसा से प्राप्त एक दूसरे लेख में महाराज भागवत के बारहवें वर्ष में भगवान् के प्रासादोत्तम में गरुडध्वज की स्थापना का वर्णन है। मथुरा के एक तोरण पर उत्कीर्ण लेख में महाक्षत्रप शोडास के समय में भगवान् वासुदेव के महास्थान में तोरण, वेदिका और चतु शाल की स्थापना का उल्लेख है। शोडास के समय में ही 'मोरा' नामक गाँव से मिले एक लेख में पाँच वृष्णि वीरो की मूर्तियो के एक मदिर (शैलदेव गृह) में स्थापित किए जाने का वर्णन है। सौभाग्य से वृष्णि वीरो की पाँच प्रतिमाओ में से तीन खडित प्रतिमाएँ भी मिली है। यह सब प्रमाण-सामग्री प्रथम शती ई० पूर्व की है। इससे यह ज्ञात होता है कि भागवत धर्म राजस्थान-मथुरा-भेलसा के प्रदेश में एक लोक-व्यापी आदोलन के रूप में फैल रहा था। भक्ति का आदर्श लोक-सग्रह की भावना के साथ मिलकर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न कर रहा था। इस विचार-धारा ने जनता को दूर तक प्रभावित किया। आनेवाले युग का धर्म व्यक्तिगत देवता में केंद्रित भक्ति के रूप में परिणत हुआ, परतु यह भक्ति अपने आपको देवता में लीन करके केवल अपने लिये मोक्ष प्राप्त करने का उपाय न था। यह एक सामूहिक कल्याण का धर्म था, जिसके मूल में कर्म और लोक-सग्रह की भावना बहुत प्रबल थी। इस दृष्टिकोण का प्रभाव देश के सब सप्रदायो और धर्मो पर पड़ा। बुद्ध के प्राचीन धर्म पर इस भावना का सबसे अधिक प्रभाव पडा, जो प्रथम शती ई० में महायान सप्रदाय के रूप में प्रकट हुआ। महायान-धर्म भागवत-धर्म का बौद्ध रूपातर कहा जा सकता है। इन दोनो धर्मो की समान विशेषताएँ थी। गृहस्थ-आश्रम की महत्ता, व्यक्तिगत कल्याण की अपेक्षा सामूहिक लोक-हित या सर्वजन-हित भावना, एव भक्ति इस क्रांति में बौद्धो के सप्रदायो ने आगे बढकर भाग लिया। महायान का दृष्टिकोण व्यक्ति के निर्वाण से हटकर 'सर्व सत्वो के हित सुख' (सब जीवो के कल्याण) पर केंद्रित हुआ।

"सर्व सत्वानां हित सुखाय, सर्व सत्वानां हित सुखार्थम्।"

यह वाक्य बहुधा कुषाण-कालीन बुद्ध-मूर्तियो की चौकी पर खुदा हुआ मिलता है। समाज के हित की भावना ज्ञान-प्रधान निर्वाण धर्म से तृप्त न होकर भक्ति-प्रधान-धर्म की ओर प्रवृत्त हुई। बुद्ध के जिस भौतिक शरीर को लोग सदा के लिये नितात असुलभ और कल्पना से बाहर समझते थे, उसके दर्शन की उन्हें हर समय आवश्यकता जान पडने लगी। निर्वाण का मार्ग मन को शून्य करता हुआ जीवन को रीता बना देता है। सामाजिक कल्याण का मार्ग मानवी जीवन को चारो ओर से भरा-पूरा देखना चाहता है। समृद्ध जीवन की खोज में बुद्ध का अपना जीवन ही लोगो को सबसे बडा आदर्श जान पडा। जनता की दृष्टि में बुद्ध का जन्म, कुल, शरीर, अलकरण, वेष, मुद्रा सब लोकोत्तर सौंदर्य और आकर्षण से भरे हुए दिखाई दिए। बुद्ध के सारे निर्गुण-विचारो का सगुण प्रतीक उनका अपना शरीर ही तो था। बुद्ध का वह भौतिक स्वरूप नाश या निराकरण के लिये न था, वह तो सानिध्य, साक्षात्कार और स्वागत की वस्तु थी। जनता के मन का सामाजिक आदर्श बुद्ध के प्रत्यक्ष जीवन में केंद्रित हुआ। व्यक्ति के लौकिक जीवन का प्रतिमान बुद्ध का जीवन बना और बुद्ध के जीवन के प्रति लोक का मानस नए उत्साह और उमग से उमड पडा।

सम्राट् कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष का 'बुद्ध-चरित' उसी सार्वजनिक माँग की साहित्यिक पूर्ति थी। कनिष्क के समय में निर्मित बुद्ध की पाषाण-मूर्ति उसी माँग का कलात्मक उत्तर

[1] कारितो यं राज्ञा भागवतेन गाजायनेन पाराशरी पुत्रेण सर्वतातेन अश्वमेधयाजिना भगवद्भ्यां संकर्षण वासुदेवाभ्यां अनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिला प्राकारो—'नारायण वाटिका'।

था। अश्वघोष का काव्य ठेठ भारतीय है, उसके सारे उपकरण इसी देश के थे, और वे जनता के जाने-पहचाने हुए थे। ठीक उसी प्रकार बुद्ध की मूर्ति भी ठेठ भारतीय थी। जब हम बुद्ध-मूर्ति के उपकरणो को देखते है तो उनकी भारतीयता स्पष्ट हो जाती है। पद्मासन, ध्यान-मुद्रा या अभय-मुद्रा, नासाग्र-दृष्टि, योगी की प्रशात मुखाकृति, भ्रुकुटि के बीच का मध्यबिंदु या ऊर्णा, उष्णीष, एकासिक उत्तरीय, हाथ पैरो में अकित धर्मचक्र, त्रिरत्न आदि महापुरुष-लक्षण, कुषाण-कालीन बुद्ध-मूर्ति के ये ही मुख्य उपकरण है। इनमें से किस अश को हम बाहर से उधार लिया हुआ कहे? इनमें से प्रत्येक की परपरा भारतीय है। अश्वघोष ने बुद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है—

> "महर्षि असित ने धात्री की गोद में आश्चर्य-चकित होकर बालक बुद्ध के दर्शन किए। उनके पैरो के तलुवो पर चक्र-चिह्न था, हाथ और पैर की अंगुलियाँ त्वचा से जुडी हुई थीं। भौंहो के बीच में रोए का आवर्त या उर्णा का निशान था; उनके वृषण-कोश हाथी की तरह गुप्त थे।"[1]

कुषाण-काल से पुराने बौद्ध या सस्कृत-साहित्य में भी इन उपकरणो का अस्तित्व प्राप्त होता है। बुद्ध योगी थे, बोधगया में समाधि और ध्यान के द्वारा उन्होने बुद्धत्व प्राप्त किया था। योगी बुद्ध की मूर्ति की कल्पना विदेशी परिभाषाओ की सहायता से बननी सभव ही नही है। प्रथम शती ई० पू० की धार्मिक पृष्ठभूमि और बुद्ध-मूर्ति के उपकरण दोनो इसी बात का सकेत करते है कि बुद्ध-मूर्ति भारतीय धार्मिक विकास की स्वाभाविक देन है। वह विदेशी यूनानी विचार-धारा या कला से प्राप्त कोई आकस्मिक घटना नही है।

गधार-कला में जो उपलब्ध सामग्री है, उससे भी इस प्रश्न पर सचाई के साथ विचार करने में सहायता मिलती है। इस प्रकार के विवाद में पुरातत्व की साक्षी वस्तुस्थिति को निश्चित करने का सबसे प्रबल साधन मानना चाहिए। गधार-कला में अभी तक एक भी बुद्ध की मूर्ति ऐसी नही मिली जिसे हम निश्चय के साथ कुषाणो से पूर्व की कह सकें। प्रथम तो गाधार-कला की बुद्ध-मूर्तियो में निश्चित सवत् या तिथि में उत्कीर्ण मूर्तियो की सख्या बहुत ही कम है। श्री स्टेन-कोनो के खरोष्ठी लेख सग्रह में केवल तीन मूर्तियो पर सवत् पाए गए है—

> "लोरियाँ तांगै की मूर्ति सवत् ३१८ (लेख ४०)। हश्त नगर की मूर्ति स० ३८४ (लेख सं० ५३)। स्कार ढेरी की मूर्ति सं० ३९९ (लेख ६०)।"

यह गणना पुराने शक-सवत् के अनुसार मानी गई है, जिसका आरभ डा० स्टेनकोनो के मतानुसार ई० पूर्व ८८ के लगभग हुआ। इस प्रकार ये मूर्तियाँ तीसरी-चौथी शताब्दी ई० की है और इनसे गाधार-मूर्ति के पौर्वापर्य का निर्णय करने में हमें कुछ सहायता नही मिलती। स्टेनकोनो ने इस प्रश्न पर पूरी तरह विचार करते हुए लिखा है कि 'गधार-कला[2] में सन्-सवत् वाली बुद्ध की मूर्तियाँ बहुत बाद की है। 'टार्न' के अनुसार गधार की कला-शैली कुषाणो के बाद शुरू होती है।'[2]

[1]. चक्रांकपादं स तथा महर्षिर्जालावनद्धांगुलिपाणि पादम्।
सोर्णभ्रुवं वारणबस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श॥
—बुद्धचरित १।६५

[2] All dated statues of Buddha are very late in Gandhāra.... The Gandhāra school begins after the Kushāna period (Tarn *Greeks in Bactria and India*, p 390).

कार्डरिंगटन का मत है कि फूशे के तिथि-क्रम में एक भी तारीख दृढरूप से निश्चित नही है जिससे हम बुद्ध-मूर्ति को गधार से आई हुई कह सकें। स्वय गधार-कला को मथुरा से पहले मानने का कोई भी कारण नही है।[1]

'हर्जफील्ड' के मतानुसार भी गधार-कला के अवशेष बाल्हीक के यूनानी राजाओ से कई शताब्दी बाद के है।[2]

कला की शैली की दृष्टि से मथुरा-कला में जो श्री या सौदर्य है, वैसी उत्कृष्ट शोभा का गधार-कृतियो में नितात अभाव है। गधार-कला भारतीय-कला का श्री-हीन रूप जान पडती है। मथुरा की स्मित वदन कुषाणकालीन बोधिसत्व-मूर्ति (मथुरा सग्रहालय ए १) की तुलना में रखने के लिये एक भी मूर्ति गधार-शैली के पास नही। मथुरा की वेदिकाओ पर जो 'शालभजिका' रूप में स्त्रियो की विविध मूर्तियाँ है, गधार-कला में उसी मुद्रा की स्त्री-मूर्तियाँ नौसिखियो की हथौटी से निकली हुई जान पडती हैं। विविधता, मौलिकता और रूप-विधान की दृष्टि से मथुरा-कला को कुबेर का कोष कहें तो गधार-कला रक की कौडी-सी लगती है। मथुरा का शिल्प-सौदर्य उसकी निजी विशेषता है। सांची, भरहुत की प्राचीन शालभंजिका-मूर्तियो में जो शोभा का अमित भडार और शृगार-प्रधान लीलाओ का अकन है, वही नए सौष्ठव से परिष्कृत होकर मथुरा की वेदिका-स्त्रियो में प्रकट हुआ है। अशोक-पुष्प-प्रचायिका आदि क्रीडाओ के विषय भी दोनो में एक जैसे हैं। तात्पर्य यह है कि विषय और शैली दोनो दृष्टियो से मथुरा का कुषाण-शिल्प मुख्यत भारतीय है और वह अपनी निजी विकास की धारा के सर्वथा अनुकूल है।

जब कि गधार में मिली हुई बुद्ध की मूर्तियो पर उत्कीर्ण तिथियो से हम उनकी प्राचीनता नही सिद्ध कर पाते, मथुरा से प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ इस विषय में निश्चित प्रमाण उपस्थित करती है। मटियाली चित्तियोवाले लाल पत्थर की बनी हुई मथुरा-शैली की मूर्तियाँ मथुरा से बाहर कौशाबी, श्रावस्ती, सारनाथ और साँची तक से मिली हैं। कौशाबी की खडी हुई बुद्ध-मूर्ति कनिष्क के राज्यकाल के दूसरे वर्ष में, और सारनाथ की विशाल बोधिसत्त्वमूर्ति कनिष्क के तीसरे वर्ष में मथुरा के त्रिपिटकाचार्य 'भिक्षुबल' के द्वारा स्थापित की गई थी। स्वय मथुरा में कनिष्क और हुविष्क के राज्यकाल की बहुत-सी मूर्तियाँ मिली है। इनसे निश्चय है कि कनिष्क का राज्यकाल जैसे ही प्रारभ हुआ, बुद्ध की मूर्तियाँ मथुरा में बननी प्रारभ हो गई थी। कनिष्क के पूर्वकाल की सवत् के साथ उत्कीर्ण कोई बुद्ध-मूर्ति अब तक नही पाई गई। अतएव प्रामाणिक रीति से कोई यह नही कह सकता कि मथुरा की बुद्ध-प्रतिमा का प्रादुर्भाव कनिष्क से पहले हो चुका था। कनिष्क के सिक्के के एक ओर बुद्ध की मूर्ति पाई गई है। कनिष्क से पहले राजा 'वेमतक्षम्' थे, जिनकी बैठी हुई एक बडी प्रतिमा मथुरा में मिली है। उनके एक सिक्के पर भी बुद्ध की आकृति बताई जाती है, किंतु अभी तक कोई सिक्का इतनी अच्छी हालत में नही मिला, जिससे इस बात को पक्के रूप में मान लिया जाय। स्वय सम्राट् वेमतक्षम शैव थे। सिक्को पर बडे गर्व से उसने अपने लिये 'माहेश्वर' विरुद का प्रयोग किया है।[3] उनका एक भी सिक्का ऐसा नही है जिसके पटदाँव (पीछे की ओर) शिव अथवा नदी की मूर्ति न बनी हो। इस बात से

1. Foucher's chronology does not contain a single fixed point and there is no reason to antedate Gandhara art in order to provide a borrowed origin for the the Graeco—Bactrian empire (टार्न, वही, पृ० ३९८)

2. Herzfeld has put the Gandhara monuments later by many centuries than Graeco—Bactrian empire (टार्न, वही, पृ० ३९९)

3. वेमतक्षम की मुद्रा पर पूरा खरोष्ठी लेख इस प्रकार है—

"महरजस रजधिरजस सर्वलोगइश्वरस माहिश्वरस विमकदफिशस त्रदर।"

यह तो निश्चित रूप से प्रकट होता है कि कनिष्क से पहले ही शको का हिंदू-धर्म के साथ बहुत घनिष्ट परिचय हो चुका था और उन्होंने हिंदू-धर्म की पूजा-पद्धति और देवताओ को अपना लिया था। ऐसी स्थिति में भागवत-धर्म के द्वारा जिस भक्ति-प्रधान मार्ग का हिंदू-धर्म में प्रचार हो रहा था, उसे बाहर से आनेवाले शको ने भी अपनाया होगा, यही स्वाभाविक जान पडता है। वेमतक्षम् ने उस भक्ति-प्रधान मार्ग के द्वारा शैव-धर्म को स्वीकार किया। ज्ञात होता है कि उसके बाद आनेवाले सम्राट् कनिष्क ने अपने जीवन में वही स्थान बौद्ध-धर्म को दिया जो वेमतक्षम् के जीवन में शैव-धर्म को मिला हुआ था। इन सब ऐतिहासिक तथ्यो पर विचार करते हुए यही सत्य जान पडता है कि कनिष्क के समय में ही प्रथम बार बुद्ध की मूर्ति का निर्माण मथुरा-शैली में हुआ।

श्री कोहन[१] का मत है कि अत साक्षी के आधार पर बुद्ध-प्रतिमा ठेट भारतीय आविष्कार जान पडती है। 'शेरमान' के अनुसार किसी समय मथुरा ही बुद्ध-मूर्ति के निर्माण का प्रथम स्थान सिद्ध होगा, यद्यपि अभी इसके लिये निश्चित साक्षी नही है।[२]

यह कहा जा चुका है कि मथुरा की कला में पहले से ही वे तत्व मौजूद थे, जिनकी सहायता से बुद्ध की मूर्ति का निर्माण सरलता से किया जा सकता था। मथुरा में मिली हुई बुद्ध की मूर्तियाँ दो तरह की है—

१. विशालकाय खड़ी हुई मूर्तियाँ, जिनकी ऊँचाई कभी तो आदमकद और कभी मानवी के काय-परिमाण से भी अधिक है।

२. पद्मासन में बैठी हुई मूर्तियाँ।

पहले प्रकार की मूर्तियो की परपरा मथुरा-कला की उन पुरानी मूर्तियो के साथ सबध रखती है, जिनमें परखम गाँव से मिली हुई यक्ष की विशाल मूर्ति सिरमौर है। ये यक्ष-मूर्तियाँ मौर्य-शुग-कालीन कला के उदाहरण है। मथुरा, पटना, ग्वालियर आदि स्थानो में इस प्राचीन कला के उदाहरण पाए गए है। किसी समय यह कला उत्तरी भारत भर में फैली हुई थी। जिस समय भक्ति-धर्म के उदय के साथ मूर्तियो का निर्माण होने लगा, पहली मूर्तियाँ इसी कला-शैली में बनाई गई। इन मूर्तियो का ठाठ यह था—

"ऊँचा कद और भारी डील-डौल, दाहिना हाथ चमर या फूल लिये हुए या अभय-मुद्रा में, बाँया हाथ लता-हस्त-मुद्रा में शरीर के साथ सटा हुआ, या कटि-विन्यस्त-मुद्रा में कमर पर रक्खा हुआ, कानो में भारी कुडल, गले में कंठा और तिखूंटा चपटा हार, हाथों में कड़े या कंगन, कंधे पर उत्तरीय, और नीचे धोती की वेष-भूषा।"

ये सब लक्षण पूरी तरह मथुरा की खडी हुई बुद्ध-मूर्तियो में घटित होते है। सारनाथ से मिली हुई बोधिसत्व की मूर्ति मथुरा की परखम-यक्ष-मूर्ति की कला-शैली को व्यक्त करती है। दोनो की अनुहार एक है और इसमें तनिक भी सदेह नही कि मथुरा की खडी हुई प्रथम बोधिसत्व-मूर्ति परखम-यक्ष के उत्तराधिकार को सर्वांश में प्रकट करती है। दोनो में एक जैसा डील-डौल और उद्दाम-शक्ति का प्रदर्शन है। शैली की दृष्टि से परखम यक्ष और सारनाथ-बोधिसत्व का सूत्र बुद्ध-मूर्ति के प्रथम विकास की पूरी व्याख्या कर देता है। इस सूत्र में श्री कुमार स्वामी के मतानुसार रत्ती-भर भी विदेशी प्रभाव की सभावना या उसके लिये स्थान नही है।

१. On internal grounds the Buddha statue must be a purely Indian invention—

—टार्न द्वारा उद्धृत, पृ० ३६७।

२. 'The time will come when Mathura will stand forth as the sole place of origin of the Buddha statue, even though it cannot be proved'

—टार्न द्वारा उद्धृत, पृ० ३६७।

मथुरा-शैली की दूसरे प्रकार की बुद्ध-मूर्तियाँ 'बोधिवृक्ष' के नीचे पद्मासन में बैठी हुई हैं। इनमें सबसे उत्कृष्ट बोधिसत्व की एक मूर्ति है जो कटरा केशवदेव से मिली थी (मथुरा संग्रहालय ए १)। उसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं —

१. बुद्ध सिंहासन पर बैठे हैं।
२. उनके दोनों पैर पलौथी लगाए हुए पद्मासन-मुद्रा में हैं।
३. दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में है और बायाँ हाथ घुटने के पास रक्खा है।
४. हथेली और तलुवों पर 'त्रिरत्न' और 'धर्म-चक्र' आदि महापुरुष-लक्षण बने हुए हैं।
५. शरीर पर कोई आभूषण नहीं है।
६. बाँयें कंधे पर सलवटदार उत्तरीय पड़ा हुआ है और नीचे धोती पहने हुए है। छाती पर वस्त्रांत-सूचक यज्ञोपवीत के ढंग की रेखाएँ हैं।
७. मस्तक पर उठा हुआ उष्णीष है जो केशों से ढका है।
८. बाकी सिर का हिस्सा सपाट है, माथे पर बालों को सूचित करनेवाली केवल एक रेखा है।
९. भौहों के बीच उर्णा-बिंदु है।
१०. सिर के पीछे गोल प्रभा-मंडल है, जो बिलकुल सादा है। उसके चारों ओर चुडी-नुमा कटाव की (बंगड़ीदार) किनारी है।[1]
११. मूर्ति के पीछे पीपल के पत्ते और शाखाएँ अंकित है, इसका अभिप्राय यह है कि बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे बैठा हुआ दिखाया गया है।
१२. बुद्ध के दाईं-बाईं ओर एक-एक पार्श्वचर है जो चँवर लिये हैं। पार्श्वचरों का वेष साधारण गृहस्थों जैसा है। वे मुकुट, कुंडल, हार, कड़े, उत्तरीय एवं धोती पहने हुए हैं। न तो उन्हें 'इंद्र' और 'ब्रह्मा' कह सकते हैं और न 'मैत्रेय' तथा 'अवलोकितेश्वर'। इस प्रकार के गृहस्थ-वेषधारी पार्श्वचर इन प्रारंभिक मूर्तियों में पाए जाते हैं।
१३ मूर्ति के ऊपर के कोनों में दिव्य पुष्प-वृष्टि करते हुए दो व्योमचारी देव हैं।
१४. मूर्ति की मुखमुद्रा भावपूर्ण है। उसकी मंद-मुसकान आंतरिक शांति को प्रकट करती है, किंतु यह आध्यात्मिक शांति बाह्य-जगत् से पराङमुख नहीं है। यह मूर्ति इस कारण से अपने समय की ठीक उपज है और महायान के धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण को प्रकट करती है।

उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार बनी हुई यह बुद्ध-मूर्ति ठेठ भारतीय शैली में है और मथुरा की अत्यंत प्राचीन मूर्तियों में है। डा० वोगल के अनुसार यह मूर्ति कुषाण-काल के आरंभिक काल की है। इस मूर्ति की चौकी पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है—

१. बुध रखितस मातरे अमोहू आसिये बोधिसचो पतिठापितो।
२. साहा मातापितिहि सके विहारे
३. सव सत्वाना हित सुखाये

अर्थात्, बुद्ध रक्षित की माता अमोहा ने जो ऋषिक जाति की (आर्षी) थी, अपने माता-पिता के साथ स्वकीय विहार में सब सत्वों के सुख के लिये 'बोधिसत्व' की स्थापना की।

बुद्ध और बोधिसत्व

उपरोक्त कटरा की मूर्ति की तरह की ही आन्यौर गाँव से मिली दूसरी मूर्ति के लेख में उसे बुद्ध की मूर्ति कहा गया है। मूर्ति-कला की दृष्टि से बुद्ध और बोधिसत्व के अंकन में अंतर है।

[1]. अंग्रेजी स्केलपड् बार्डर (scalloped border), अद्धा चूडियों की सेल (बगड़ी-चूड़ी)।

वोधि प्राप्त करने से पहले गौतम बुद्ध की संज्ञा वोधिसत्व है, अर्थात् वे वोधि प्राप्त करने के मार्ग में वढ रहे हैं। वोधि या ज्ञान प्राप्त कर लेने के वाद वे 'बुद्ध' कहलाते हैं। वोधिसत्व की मूर्तियाँ राजकुमारो की तरह मुकुट और आभूषण पहने रहती हैं, परतु बुद्ध की मूर्तियाँ, सादे वेश में चीवर पहने दिखाई जाती हैं। वस्तुत मूर्तियो में यह भेद कुछ काल पश्चात् उत्पन्न हुआ होगा। शुरू में जनता का ध्यान मूर्ति द्वारा गौतम बुद्ध की वास्तविक प्रतिकृति प्रकट करने की ओर था। अतएव वोधिसत्व की मूर्तियो में भी गौतम बुद्ध को आभूषणो से रहित दिखाया गया था, क्योंकि वोध-गया में वोधि-प्राप्त करने से पहले ही जब गौतम बुद्ध ने घरबार से विदा ली थी, तभी से वे अपना राजसी वेष छोड चुके थे। सन्यासी का वेष ही गौतम के लिये उपयुक्त वेष था। मथुरा-कला के आरम्भ में बुद्ध और वोधिसत्व का भेद निराभरण और साभरण मूर्ति का भेद नही है। केवल चौकी पर खुदे हुए लेख वताते हैं कि मूर्ति बुद्ध की है, या वोधिसत्व की। सारनाथ में प्राप्त भिक्षुवल की मूर्ति सादा वेश में है, पर वह बुद्ध नही वोधिसत्व कही गई है। इस प्रकार की प्रतिमाओं में 'वोधिवृक्ष' का चित्रण उन्हें गौतम बुद्ध के जीवन की एक वास्तविक घटना से संबंधित कर देता है। बुद्ध के नाम से और वोधिसत्व के नाम से शिल्पी को गौतम बुद्ध का ही चित्रण अभीष्ट था। अन्य अनेक वोधिसत्व और बुद्धो के चित्रण की परिपाटी का उदय गौतम बुद्ध की मूर्ति के कुछ काल वाद, सम्भवत हुविष्क के राज्यकाल में हुआ। यहाँ पर मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित एक खडित मूर्ति (ए ६६) की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, जो कटरा और अन्यौर के वोधिसत्वो से मिलती हुई है। चौकी पर खुदे हुए लेख से ज्ञात होता है कि यह मूर्ति वोधिसत्व की है और 'सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय' के आचार्यों के लिये समर्पित की गई थी। मूर्ति की स्थापना किसी क्षत्रप के राज्यकाल में की गई थी, जिसका नाम अब खडित है। मूर्ति की शैली विलकुल आरम्भिक काल की है, और यदि इसमें शासक का काल मिल जाता तो यह मूर्ति इस जटिल प्रश्न पर बहुत कुछ प्रकाश डाल सकती। इतना अवश्य सूचित होता है कि सर्वास्तिवादी वौद्ध-आचार्यो की प्रेरणा से ही कटरा से प्राप्त वोधिसत्व-शैली की अभयमुद्रा और पद्मासन में बैठी हुई मूर्तियाँ वनाई गई थीं।

मथुरा में कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं जिनमें पीपल का पेड मूर्ति के शिलापट्ट के पीठ-पीछे चित्रित है। इस प्रकार के अकन की मूर्तियो का दर्शन सम्मुख और पीठ-पीछे दोनो तरफ से होता था और वे खुले हुए वोधि-मड पर रख कर पूजी जाती होगी। यही विशेषता लिये हुए एक दूसरी मूर्ति है (मथुरा सं० ५१४), जिसमें गौतम बुद्ध की प्रतिकृति के साथ उसका सादृश्य सूचित करने का और भी अधिक प्रयत्न किया गया है। इसमें बुद्ध की सघाटी कथरी की तरह वस्त्र-खडो को सीकर वनाई गई है। वौद्ध-साहित्य में गौतम बुद्ध के वस्त्र की उपमा मगधदेश में फैले हुए धान के खेतो से दी गई है। जैसे एक वडे चक्क के भीतर मेंड बँधे हुए अलग-अलग खेत और खेतो में क्यारियाँ होती हैं, उसी तरह लवे चौकोर पैवदो को जोडकर बुद्ध का परिधान वनाया गया था (विनय-पिटक ८।१२।१ महावग्ग)। इस साहित्यिक वर्णन से लाभ उठाकर ऐसी मूर्ति वनाने की कोशिश की गई जिसे देखते ही बुद्ध-रूप में उसके पहचाने जाने में किसी को संदेह न रहे।

मथुरा में एक वर्ग ऐसी मूर्तियो का है जो मुकुट, वस्त्र और आभूषणो से अलकृत राजसी वेष में है। ये खड़ी हुई और वैठी हुई दोनो मुद्राओ में है। खेद है कि इस प्रकार की मूर्तियो पर भी लेख नहीं है, जिससे कटरा-मूर्ति से उनके पहले या पीछे होने का निश्चय किया जा सके। इनमें से खडी हुई मूर्तियो की वेष-भूषा और सज्जा मथुरा की अन्य गृहस्थ-मूर्तियो के जैसी है। वैठी हुई मूर्तियों में आभूषणों का प्रयोग बहुत अधिक है। गले में मोतियो की माला, हार, पदक और रक्षा करंडकों[1] से युक्त रक्षा-सूत्र पहने हुए है। अन्तिम विशेषता साधारणतया गंधार की मूर्तियो में पाई

[1]. तावीज या अंग्रेजी के 'एम्यूलेट' के लिये सस्कृत का शब्द 'रक्षाकरंडक' कालिदास द्वारा 'शकुंतला' में प्रयुक्त हुआ है।

जाती है। मथुरा-कला में इस प्रकार की मूर्तियाँ सभवत बाद को बनाई गई, लेकिन उनके निश्चित तिथि-क्रम के विषय में लेखो के अभाव से ठीक निर्णय समव नही।

अन्य बुद्ध और बोधिसत्व प्रतिमाएँ

मथुरा-कला में बुद्ध-मूर्ति का चित्रण गौतम बुद्ध तक ही सीमित नही रहा। गौतम बुद्ध की मूर्तियो के अतिरिक्त कुछ मूर्तियाँ दूसरे बुद्ध और बोधिसत्वो की भी है। बुद्ध से पूर्ववर्ती दूसरे बुद्धो की मान्यता पुरानी थी। राजा अशोक ने 'कनक मुनि' नामक एक पूर्व बुद्ध के स्तूप का जीर्णोद्धार कराया था, ऐसा उनके एक स्तभ लेख से विदित होता है। बौद्धो के अनुसार विपश्चित्, शिखी, विश्वामित, क्रकुच्छद, कनक मुनि, काश्यप और शाक्य मुनि ये सात बुद्ध हुए हैं। आठवें अभी भविष्य में जन्म लेंगे, जो इस समय बोधिसत्व मैत्रेय की अवस्था में हैं। काश्यप नामक छठवें बुद्ध की एक खडी मूर्ति मथुरा की कुषाण-कला में मिली है। सप्त बुद्धो से चित्रित कई शिलापट्ट भी पाये गए हैं। मैत्रेय बोधिसत्व की भी कई मूर्तियाँ मिली है, जिनकी विशेष पहचान यह है कि मैत्रेय एक हाथ में एक अमृत-घट लिए रहते हैं (मथुरा स० ८६८)। मथुरा के लाल पत्थर की बनी हुई कुषाण-काल की एक मूर्ति अहिच्छत्रा से प्राप्त हुई है। उसकी चौकी पर उत्कीर्ण लेख में मूर्ति को 'मैत्रेय-प्रतिमा' कहा गया है।

महायान-बौद्ध-धर्म में अन्य अनेक प्रकार के बुद्ध और बोधिसत्वो की कल्पना का विकास हुआ। इनमें पाँच बोधिसत्व और उनके उत्पादक पाँच ध्यानी बुद्ध मुख्य है।

भूमिका

बौद्ध-धर्म के अनुसार देवलोक के उत्तरोत्तर ऊपर सोलह ब्रह्मलोक है। जो साधक पहले, दूसरे और तीसरे ध्यान में परिपूर्ण हो जाते है, वे ब्रह्मलोको के प्राथमिक लोको में क्रमश जन्म लेते है। एक-एक ध्यान के लिये तीन-तीन ब्रह्मलोक है। जो चौथे ध्यान की साधना में परिपक्व हो जाते है, वे दसवें और ग्यारहवें ब्रह्मलोक में प्रवेश करते है। अतिम पाँच ब्रह्मलोक उन साधको के लिये है जो पृथ्वी पर ध्यान की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करते हैं और अगले जन्म में निर्वाण प्राप्त करने के अधिकारी बनते हैं। ध्यान की इस अवस्था को प्राप्त हुए साधक को फिर ससार में नही आना पडता, एव उसके भीतर विषय और पाप-बुद्धि का सर्वथा लोप हो जाता है। महायान धर्म के अनुसार इन अतिम पाँच ब्रह्म लोको में एक-एक बुद्ध रहता है जिसे 'ध्यानी बुद्ध' कहते है। ये पाँच ध्यानी बुद्ध जिन पाँच मानवी बुद्धो के रूपातर है वे गौतम बुद्ध समेत चार अतिम बुद्ध, एव पाँचवें भविष्य में जन्म लेनेवाले मैत्रेय है। प्रत्येक मानवी बुद्ध अपने समकक्ष बोधिसत्व और ध्यानी बुद्ध से संयुक्त है। ध्यानी बुद्ध ब्रह्मलोक में उसका तेजस्वी स्वरूप है जो भौतिक जीवन की सब पापावस्थाओ से रहित है। मानवी बुद्ध उस ध्यानी बुद्ध का रूपातर होता है जो सदा ब्रह्मलोक में ध्यानावस्था में लीन रहता है। इन बुद्ध और बोधिसत्वो की तालिका इस प्रकार है—

ध्यानी बुद्ध	बोधिसत्व	मानुषी बुद्ध	मुद्रा	वाहन	स्कध-रूप में स्थान	वर्ग	मस्तक पर चिह्न
१. वैरोचन	सामतभद्र	क्रकुच्छद	धर्मचक्र	नाग	रूप, मध्य	कवर्ग	चक्र
२ अक्षोभ्य	वज्रपाणि	कनकमुनि	भूमिस्पर्श	हाथी	विज्ञान, पूर्व	चवर्ग	वज्र
३ रत्नसभव	रत्नपाणि	काश्यप	वरद	सिंह	वेदना, दक्षिण	तवर्ग	रत्न
४. अमिताभ	पद्मपाणि या अवलोकितेश्वर	गौतम	समाधि	मयूर	संज्ञा, पश्चिम	टवर्ग	पद्म
५ अमोघसिद्धि	विश्वपाणि	मैत्रेय	अभय	गरुड़	सस्कार, उत्तर	पवर्ग	विश्ववज्र (दोहरा वज्र)

यह जटिल कल्पना हिंदुओ के प्राचीन दार्शनिक मूलभूत पंचतत्त्व, पंचप्राण, पचविषय, पच-इद्रियाँ आदि के साथ बुद्ध-दर्शन का मेल मिलाने के लिये की गई। इसी के जोड की कल्पना शैवो में भी विकसित हुई, जिसके अनुसार पचमुखी शिव की मूर्तियो का निर्माण हुआ। वे पचमुख क्रमश — 'ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात' कहलाते है। मथुरा में पचमुखी शिव की कई मूर्तियाँ मिली है। वस्तुत इस पचात्मक मूर्ति-भेद की कल्पना का प्रारभ भागवतो के चतुर्व्यूह और पच वृष्णि-वीरो की कल्पना से ज्ञात होता है। मथुरा के 'मोरा'-शिलालेख में, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, पच वृष्णि-वीरो की मूर्तियो का स्पष्ट वर्णन है। चतुर्व्यूह में भगवान्—सकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की गणना है। इनके साथ पाँचवें साब को मिलाकर पच वृष्णि-वीरों की कल्पना प्रथम शताब्दी ई० पू० में अस्तित्व में आ चुकी थी। विष्णु, शिव और बुद्ध के अनुयायी भक्त अपनी-अपनी मूर्तियो का चतुर्व्यूहात्मक या पचात्मक विभेद करते हुए एक ही मूल-प्रवृत्ति या विचार-धारा का अनुसरण कर रहे थे। वैष्णवो में जैसे चतुर्व्यूह है, शैवो में उसी प्रकार चतुर्मुखी शिवलिंग है। बौद्धो के चतुर्बुद्धात्मक स्तूप जिनमें स्तूप की एक-एक दिशा में एक-एक बुद्ध अकित किया गया है, उसी शैली के हैं। उसी समय की मथुरा-कला में जैन चौमुखी मूर्तियाँ मिली हैं, जिन्हें लेखों में प्रतिमा 'सर्व-तोभद्रिका' कहा गया है। उनकी एक-एक दिशा में एक-एक तीर्थंकर अकित है। ये मूर्तियाँ भी उसी दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रकट करती हैं। जान पडता है कि इस समस्त धार्मिक प्रपच के मूल में एक योग-प्रधान या तात्रिक दृष्टिकोण काम कर रहा था। मनुष्य का शरीर पचात्मक है। पाँच तत्वों या पचभूतो के अनुसार शरीर के पाँच चक्र, पाँच इद्रियाँ, पच विषय, पच प्राण कार्य करते हैं। पाँच चक्रो और सृष्टि के पच महाभूतो के अनुसार देवताओ की व्याख्या और वर्गीकरण, धर्म का तात्रिक विकास है। उपलब्ध मूर्तियो के देखने से ज्ञात होता है कि कुषाण-काल में इस प्रकार का तात्रिक विवेचन बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव इन चारो सप्रदायो में विकसित हो चुका था। मथुरा से प्राप्त ध्यानी बुद्ध और बोधिसत्वो की मूर्ति-सामग्री उत्तर प्रदेश इतिहास-पत्रिका (१९३८) में वर्णित है।

मथुरा की गुप्त-कला

कुषाण-काल में मथुरा की शिल्प-कला सब दिशाओ में उन्नति को प्राप्त हुई, किंतु उसके बाद भी उसका प्रवाह आगे बढा और गुप्त-काल में मथुरा की कला अपने उस श्रेष्ठरूप में विकसित हुई जो उस स्वर्णयुग की कला की देश-व्यापी विशेषता थी।

कला के साथ साहित्य और धर्म भी अपने निखरे हुए स्वच्छ और सस्कृत रूप में उन्नति को प्राप्त हुए। उस युग का आदर्श 'अनुत्तर ज्ञान' या 'अनुत्तर सम्यक् सबोधि' की प्राप्ति थी, जिसके लिये सैकडों, सहस्रो की सख्या में उच्च घराने के नवयुवक अपने यौवन और धन का समर्पण करते हुए सामने आए। सद्धर्म पुडरीक[1] के कुछ अवतरणो में हमें युग की आत्मा के दर्शन होते है। प्रवरमहर्षि, परमार्थदर्शी, लोक-विनायक भगवान् बुद्ध ने चारो ओर दृष्टि डालकर (समत चक्षु) लोक-हित की कामना से (लोकहितानुकपी) कुल-पुत्रो का आवाहन किया—हे कुलपुत्रो, 'धर्म-प्रकाशन-रूप दुष्कर कर्म के लिये कटिबद्ध हो जाओ।' 'जिसके हृदय में इस धर्म को प्रकाशित करने का सकल्प उत्पन्न हुआ हो मैं उसका सिंहनाद सुनना चाहता हूँ। अखिन्न और अविश्रात भाव से जो इस धर्म को धारण करेगा, वह तथागत के पुत्रो में अगुआ (धुरावह) समझा जायगा। अनुत्तर सम्यक् सबोधि में एक बार मन लगाकर फिर मैंने अपने मन को उधर से नही घुमाया। अतएव जो सच्चा शूर है

[1]. सद्धर्म पुडरीक ११।११—४०।

"चिंतेय कुलपुत्राहो सर्वं सत्त्वानुकंपया।
सुदुष्करमिदं स्थानमुत्सहति विनायका।"
—संदर्भ ३१।१६

वह इस कठिन कर्म को धारण करे।' व्यक्तिगत रूप में परमोच्च ज्ञान की प्राप्ति और सामाजिक क्षेत्र में लोकहित के साधन इन दोनो ने गुप्तकालीन बुद्ध-धर्म को विलक्षण सरसता प्रदान की। इसी की तरह गुप्त-कला में भी दो अन्य तत्वो सौंदर्य और अध्यात्म का समन्वय हुआ। बुद्ध की मूर्ति एक ओर सौंदर्य की प्रतीक है और दूसरी ओर जिस व्यक्ति को सर्वोच्च सबोधि प्राप्त हुई है उसकी प्रशात मुखाकृति को भी पूर्णतया व्यक्त करती है।

गुप्त-काल की बुद्ध मूर्तियो में भिक्षु यशदिन्न द्वारा स्थापित खडी हुई मूर्ति अत्यत सुदर और भव्य है। भारतवर्ष की चुनी हुई सुदर मूर्तियो में इसकी गणना है। बुद्ध की प्रशात मुख-मुद्रा के अकन में शिल्पी को विशेष सफलता मिली है और हम प्रथम बार अनुत्तर ज्ञानावाप्त अथवा सम्यक् सबुद्ध योगी को कला में प्रत्यक्ष देखते है।

बुद्ध के दोनो कधो पर (उभयासिक) सघाटी पडी हुई है। उसके सूक्ष्म विमल वस्त्र के भीतर से मेखला और शरीर झाँकता हुआ दिखाई पडता है। नासाग्र-दृष्टि, जुडवाँ भौहें, लबे कर्ण-पाश, चौडा ललाट, कुचित केशो से ढँका हुआ छत्राकार सिर, ये सब गुप्तकालीन कला के स्पष्ट लक्षण है जो इस मूर्ति की विशेषता है। सिर के पीछे जो अलकृत प्रभा-मडल है उसके कारण मूर्ति और भी भव्य जँचती है। रघुवश में इस प्रकार के 'प्रभा-चक्र' के लिये 'पद्मात-पत्र छाया-मडल' शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसा कि रघु के वर्णन में कवि ने लिखा है—

"छायामंडललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥"

—रघुवश ४।५

'रघु के मस्तक के पीछे जो प्रभा-मडल था, उसमें उस कमल के छाते की परछाई व्यक्त हो रही थी, जिसे अदृश्य लक्ष्मी उसके ऊपर लगाए थी।' गुप्तकालीन प्रभा-मडल को कालिदास ने 'स्फुरत् प्रभामडल' भी कहा है।[1]

कमल की पँखुडियाँ, फुल्लावली और पत्र-लता, बीच-बीच में मोरनी, इन अलकरणो से गुप्त-कालीन प्रभा-मडल सजाए रहते है। कुषाणकालीन प्रभा-मडल बहुत सादा था, जिसके बाहरी कोर पर एक वँगडीदार किनार रहती थी। भिक्षु यशदिन्न की यह बुद्ध-मूर्ति उस समय की है जब कि गुप्त-कला अपने सर्वोच्च रूप में थी। पाँचवी शताब्दी का पूर्वार्ध इसका समय ज्ञात होता है। इसके सौ वर्ष बाद की एक दूसरी बुद्ध-मूर्ति 'कटरा केशवदेव' से मिली थी, जिस पर गुप्त सवत् २३० का एक लेख उत्कीर्ण है। लेख के अनुसार भिक्षुणी 'जयभट्टा' ने 'यशोविहार' में इस मूर्ति की स्थापना ५४९-५० ई० में की थी।

मथुरा में बौद्धो के अनेक विहार थे। शिला-लेखो के आधार पर अब तक निम्नलिखित विहारो के नाम मिल चुके है—

१ हुविष्क-विहार— यह जमालपुर टीले के स्थान पर था, जिसकी स्थापना हुविष्क ने की थी।
२ स्वर्णकार-विहार—यहाँ के महोपदेशक आचार्य कुषाण-काल में प्रसिद्ध थे (मथुरा सग्रहालय स० २६०)।
३. श्री-विहार— इसमें समितीय सप्रदाय के आचार्य रहते थे (मथुरा सग्रहालय स० ४६२)।
४. चेतिय-विहार— यह विहार धर्मगुप्तक (धर्मगुतिक) सप्रदाय के आचार्यों का था (मथुरा सग्रह स० १२१)।
५. चुतक-विहार— यह विहार महासधिक सप्रदाय के भिक्षुओ का था। (मथुरा संग्रहालय संख्या १३५०)।

[1]. कुमारसंभव १।२४

६. अपालक-विहार—यह विहार भी महासंघिक सम्प्रदाय के भिक्षुओं का था। (मथुरा संग्रहालय १६१२)। महासंघीय विहार का एक केंद्र मथुरा में था और दूसरा पालीखेडा गाँव में, जैसा कि वहाँ से प्राप्त पत्थर की कूंडी पर लिखे हुए लेख से विदित होता है (मथुरा संग्रहालय सं० ६६२)।

७ मिहिर-विहार— यह विहार सर्वास्तिवादी आचार्यों का था। इसकी एक शाखा कामवन में थी, जैसा कि वहाँ से प्राप्त एक लेख से ज्ञात होता है (ल्यूडर्स लेख-सूची, सं० १२, एपिग्राफिया इंडिका भाग २, पृ० २१२)। मिहिर-विहार का मुख्य केंद्र मथुरा में था। अभी हाल में कंकाली टीले के कुँए से प्राप्त कुवेर यक्ष की चौकी पर उत्कीर्ण लेख में मिहिरगृह का उल्लेख पाया गया है, जहाँ वह मूर्ति पधराई गई थी।

८. गुहा-विहार—

९. क्रौष्टिकीय-विहार—यह विहार महासंघिक आचार्यों का था। मथुरा के कसखार मुहल्ले से प्राप्त एक लेख में इसका उल्लेख मिला है (मथुरा संग्रहालय सं० २७-४०)।

१० रौषिक-विहार—मथुरा की एक बौद्ध-चौकी पर उत्कीर्ण लेखमें यह नाम आया है। वह मूर्ति इस समय बंबई के संग्रहालय में सुरक्षित है (जर्नल बी० बी० आर० एस० या० २० पृ० २६६)।

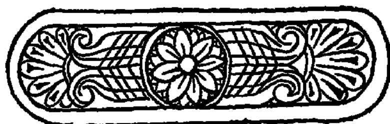
११ ककाटिका-विहार—(ल्यूडर्स लेखसूची, सं० १४०)।

१२. प्रावारिक-विहार—इस विहार का एक केंद्र कटरा केशवदेव में था (मथुरा संग्रहालय सं० के० टी० १३२)। इसकी दूसरी शाखा गिरधरपुर गाँव में थी (मथुरा संग्रहालय १३१६, नागी प्रतिमा)।

१३. यशा-विहार— यह विहार कटरा केशवदेव की भूमि पर गुप्त-काल में विद्यमान था, जैसा कि ऊपर लिखे हुए भिक्षुणी जयभट्टा के लेख से ज्ञात होता है।

१४. खंडविहार— यह विहार महोली गाँव में था (मथुरा संग्रहालय २७६८)।

विहारों की इस सूची से हम इस बात का कुछ अनुमान कर सकते हैं कि मथुरा में धार्मिक जीवन की हलचल कुषाण और गुप्तकाल में कितनी बढ़ी-चढ़ी थी। प्रत्येक विहार शिक्षा और संस्कृति का विशिष्ट केंद्र था। बौद्धों की कला, धर्म और संस्कृति के अतिरिक्त जैनों का भी मथुरा में इसी समय सबसे बड़ा केंद्र था। इसके कारण मथुरा उत्तर भारत में धर्म और संस्कृति का सबसे महान् केंद्र बन गया था। मथुरा-कला में बौद्ध, जैन और वैष्णव-धर्मों के देवताओं की जो मूर्तियाँ बनाई गईं उनसे आगे आनेवाली एक सहस्राब्दी के लिये उन कृतियों का रूप और आदर्श निर्धारित हो गया।



अंकोरवाट के मंदिर में कृष्णलीला के दृश्य

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

अंकोरवाट का प्राचीन नाम 'यशोधरपुर' था। यह कबोडिया (प्राचीन कबुज) देश की पुरानी राजधानी थी। यहाँ बारहवी शती के आरभ (लगभग ११२५ ई०) में विशाल मदिरो का निर्माण हुआ, इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण मदिर सम्राट् 'सूर्य वर्मन्' द्वितीय का बनवाया हुआ है, जिसमें रामायण और महाभारत के अनेक दृश्य शिलापट्टो पर अकित है। वेगवान् चित्रण की दृष्टि से ये मूर्त्तियाँ 'जावा' के 'बोरु बुदुर' की मूर्तियो से कही अधिक प्राणवत है।

इस मदिर में महाभारत-युद्ध के प्रधान अकनो में वीर नेता कृष्ण भी है, परतु मदिर के मडप के दक्षिण-पश्चिमी कोने में कृष्ण की बाललीला के कई दृश्य अकित है। इनमें निम्नलिखित मुख्य है[१]—

१, यमलार्जुन-उद्धार—चकित यशोदा के सामने बालकृष्ण घिसटते हुए देख रहे है। पीछे दो गोपियाँ खड़ी है। उनके पीछे बाईं ओर यमलार्जुन वृक्ष और उनसे उत्पन्न कुबेर के दो पुत्र नल-कूबर बने है।

२, गोवर्धनधारी कृष्ण—यह दृश्य बडा प्रभावोत्पादक है। कृष्ण की मूर्ति सबसे बड़ी है। बीच में खडे हुए वे दहिने हाथ के ऊपर पर्वत उठा रहे है, बाँए हाथ में एक मोड़दार छडी है। उनके समीप एक सखा है। नीचे दो पक्तियो में ग्वाल-बाल और गाय-बछड़े अत्यंत चकित मुद्रा में भक्ति-भाव से कृष्ण की ओर देख रहे है और कुछ उन्हें प्रणाम कर रहे है।

३, एक ही शिलापट्ट पर अंकित दो दृश्यो में एक दावानल-आचमन का है और दूसरे में कृष्ण प्रलंबासुर का वध कर रहे है। कृष्ण का रूप चतुर्भुज है। हिरन-बाघ आदि जंगली जीव घबरा कर भाग रहे है, आग की लपटें बढ रही है, कृष्ण अविचल भाव से अग्नि की ओर देख रहे है।

४, इंद्र के लिये जो भोज्य-पदार्थ लाए गए थे, उन्हें कृष्ण चतुर्भुजी रूप से प्रकट होकर खा रहे है। ग्वाल-बाल भक्ति-भाव से उन्हें प्रणाम कर रहे है।

---

१. "La Legende de Krishna dans les bas-reliefs d' Augkor-Vat" by J. Przyluski, pp 91-97, pl xxviii-xxix, figs 1-4, *Revue des Arts Asiatiques*, Vol V, No 2

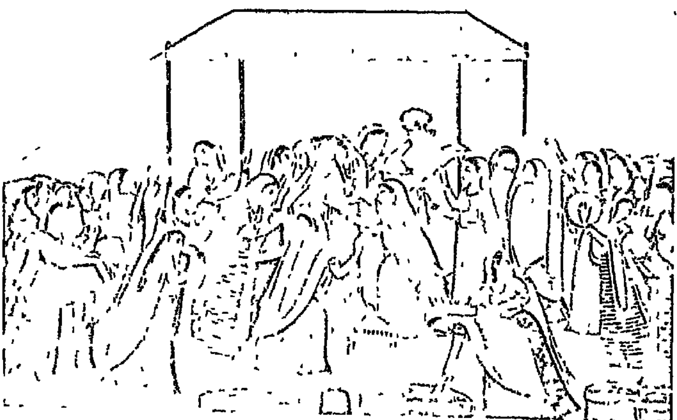
एक : पद

संस्कृत : गीतगोविंद का ब्रजभाषानुवाद

राग-मालव

जय, जय जगदीस हरे ।।
प्रलै भयानक जलनिधि जल-घँसि, प्रभु तुम बेद-उधारे ।
करि पतवार पुच्छ निज बिहरे, मीँन-सरीरहिं धारे ।।
जय जगदीस हरे ।।
कठिन पीँठ मदर मथन किन छिति-भर तिल-सँम राजै।
गिरि-घूँमन-सुहराँन नींद-बस, कमठ-रूप अति छाजै ।।
जय जगदीस हरे ।
कँनक-नैंन-बध-रुधिर-छींट-मिलि, कँनक-बरँन छबि छायौ ।
रद-श्रागें धरि ससि-कलंक मनु, रूप बराह सुहायौ ।।
जय जगदीस हरे ।।
कर-नख-केतिक-पत्र अग्र अलि, कँनक-कसिपु-तन-फारचौ ।
खल-फारि निज-जन-रच्छन-हित हरि नरहरि-बपु धारचौ ।।
जय जगदीस हरे ।।
अदभुत बाँमन बनि बलि छलि कें, तीँन पैंड़ जग-नाप्यौ ।
दरसँन, मज्जन, पाँन समन अघ, निज-नख जल थिर थाप्यौ ।।
जय जगदीस हरे ।।
अभिमाँनी छत्री-गँन बधि तिन रुधिर सीँचि धर सारी ।
इकइस बार निछत्र करी भुव, हरि भृगुपति-बपु-धारी ।।
जय जगदीस हरे ।।
दस-दिसि दस सिर भोल दियौ बलि, सब सुरगँन-भै-हारे ।
सिय-लछमँन-सह सोहत सुंदर, राँम-रूप हरि धारे ।।
जय जगदीस हरे ।।
सुंदर गौर सरीर नील-पट, ससि मैं घँन लपटायौ ।
करसन कर हल सौं जमुनाँ-जल, हलधर-रूप सुहायौ ।।
जयजगदीस हरे ।।
अति करुनाँ करि दीन पसुन पै, निंदे निज-मुख बेदा ।
कलिजुग-धरँम कहे हरि हूँ कें, बुद्ध-रूप हर-खेदा ।।
जय जगदीस हरे ।
म्लेच्छ-बधँन-हित कठिन-धार-तरवार-धारि कर भारी ।
नासे जवन सत्यजुग थाप्यौ, कल्कि-रूप हरि धारी ।।
जय जगदीस हरे ।।
नँद-नदन जग-बंदन दस बपु, धरि लीला-बिस्तारी ।
गाई कवि 'जैदेव' सोई 'हरिचंद' भक्त-भै-हारी ।।
जय जगदीस हरे ।।

——:०:——



चंद्रकला चुनि चूनरी चारु, दई पहिराइ सुनाइ सु होरी।
बेंदी बिसाल रची पदमाकर, अंजन-आँजि समाज करोरी॥
लागी जबै ललिता पहिरावनि, स्याम कों कंचुकी केसरि-बोरी।
हेरि हरैं मुसिकाइ रही, अँचरा मुख दै वृषभान-किसोरी॥

—पद्माकर

ब्रजजनपदीय

ब्रजजनपदीय-भाषा : महिमा

हमारे ब्रज-वानी ही वेद ।
भावभरी या मधुवानी कौ, नाँइ मिल्यौ रस-भेद ।।
निगमागम-कृत सवद-जाल में वा सुख की कहँ आस ।
जो सुख मिलत चाखि ब्रज-पद-रस, सोंधी सहज मिठास ।।
जा वानी मे मचलि कन्हैया, कहै मैहँरि सों रोइ ।
"ना मैया, अब ही मँगाइ दै, चंद-खिलोनाँ मोइ ।।"
जा वानी मैं जसुमति रानो, हरि सों कहत रिसाइ ।
"दारी कौ इत-उत भाजै है, दीनो मोइ थकाइ ।।"
जा वानी मैं कहै छवीली,-छोहरियाँ इठलाइ ।
"पाँइ काँकरो गड़ै साँकरी-खोर, माइ-री-माइ ।।"
जा वानी मैं अष्टछाप सुभ, थाप्यौ ब्रह्मानंद ।
प्रेम-प्रवाहित कियौ चराचर, दियौ सवै रसकंद ।।
जा वानी मैं वन-विहार कौ गायौ रस 'हरिदास' ।
'हित हरिवंस' कियौ नित जामें, हित कौ पंथ-प्रकास ।।
जा वानी की ललित-कुंज मे कविता करति विहार ।
जावै 'हरि' वा ब्रज-वानी पै, वलि-वलि सौ-सौ वार ।।

—वियोगी हरि

अष्टादश पुराणों में मथुरा

श्री भास्करनाथ मिश्र

मथुरा का गौरवमय इतिहास अति प्राचीन है। इसका उल्लेख रामायण, महाभारत, गर्ग-संहिता, अष्टादश पुराण तथा अनेकानेक उत्कीर्ण सस्कृत-अभिलेखो में हुआ है, किंतु पुराणो में 'मथुरापुरी' का वर्णन जितने विशद रूप में पाया जाता है, उतना अन्यत्र नही। पुराणो में भी वराहपुराण, पद्मपुराण, आदिपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, देवीभागवत आदि इस सबध में विशेष सहायक हैं। मथुरा-मडल और मथुरा के इतिहास का सुदर परिचय आदिपुराण और देवीभागवत पुराण में दिया गया है। इसके भौगोलिक परिचय के लिए विष्णुपुराण, वराहपुराण और पद्मपुराण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। वनो और तीर्थो का इतिहास वराहपुराण और पद्मपुराण में अन्य पुराणो की अपेक्षा अधिक मिलता है। मथुरा-मडल की परिक्रमा के लिए वराहपुराण में दी हुई परिक्रमा-सूची पूर्ण और वैज्ञानिक है। वनो में श्रेष्ठ वृदावन-विषयक सामग्री पद्मपुराण में सबसे अधिक मिलती है। गोवर्धन-सबधी सामग्री वराहपुराण में भौगोलिक स्थिति का वैज्ञानिक अनुमान लगाकर दी गई है। यमुना-माहात्म्य के लिए वराहपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण, शिवपुराण तथा पद्मपुराण विशेष उपयोगी है। गोकुल-सबधी इतिहास के लिए पद्मपुराण ही एक सहायक ग्रथ जान पडता है, वैसे इसका उल्लेख लगभग सभी पुराणोमें हुआ है।

पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन से तत्कालीन मथुरा-मडल का सुस्पष्ट, सजीव तथा प्रामाणिक इतिहास प्राप्त होता है। भौगोलिक दृष्टि से तो पुराण और भी उपयोगी है और यदि मथुरा के समान ही अन्य क्षेत्रो, तीर्थो, नगरो, नदियो, पर्वतो एव मडलो का इतिहास लिखा जाय तो पुराण इस विषय में बडे सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

यही नही, मथुरा का प्रचुर वर्णन बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य, ग्रीक-साहित्य आदि भारतीय इतिहास के अन्य सूत्रो में भी हुआ है। फाहियान तथा 'ह्वेन साग' नामक चीनी यात्रियो ने (४०० और ६५० ई० पू० क्रमश) मथुरा को बौद्धो का तीर्थ माना है। जनरल 'कनिंघम' की पुरातत्त्व-सबधी रिपोर्टें इस सबध में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं। जिस समय पुष्यमित्र शुग (१८७-१५१ ई० पू०,) पाटलिपुर में राज्य कर रहा था, उस समय यूनानी राजा मिनाडर ने (१५५ई० पू०) सिंधु तलहटी, काठियावाड, (सौराष्ट्र) और यमुना-तट पर स्थित मथुरा को अपने आधिपत्य में कर लिया था। मथुरा के क्षत्रप राजाओ में से शोडास (११० ई० पू०) का एक उत्कीर्ण अभिलेख अभी तक मथुरा में है।

कुशाण राजाओ के समय में मथुरा उनके कब्जे में रही, किंतु उस समय वहाँ जैनियो का बोलवाला था। कुशाण-काल के कुछ अवशेष अब भी मथुरा में अवशिष्टावस्था में है।

गुप्त-कालीन स्वर्णयुग के दिन भी मथुरा ने देखे और सपत्तिशालिनी बनी, किंतु बाद में हर्षवर्धन-काल समाप्त होते ही ग्यारहवी शताब्दी से मुसलमान आक्रमणो ने उसके अजर-पजर ढीले कर दिये। सन् १०१७ ई० में महमूद गजनवी ने २० दिन तक और १५०० ई० में सिकंदर लोदी ने मथुरा तथा उसके आसपास की बस्तियो को खूब लूटा। मुगलो और मराठो, मराठो और राजपूतो तथा अग्रेजो और देशी राज्यो के सघर्षो का मथुरा पर बडा प्रभाव पडा। दिल्ली और आगरे के बीच में होने के कारण मथुरा सदियो तक इसी प्रकार पीसी जाती रही, तो भी धर्मप्राण और भारतीय सस्कृति की प्रतीक यह नगरी शून्य में विलीन नही हुई।

मथुरा-मंडल

वैसे तो मथुरा-मंडल का वर्णन लगभग सभी पुराणों में कमोबेश मिलता है; किंतु पद्मपुराण और वराहपुराण में इसका जैसा विशद वर्णन हुआ है, वैसा और किसी पुराण में नहीं है। इन दोनों पुराणों में भी वराहपुराण तो इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पद्मपुराण का पातालखंड कई दृष्टियों से बड़े काम का है। मथुरा-मंडल के बारे में भगवान् कहते हैं—

"तस्मात्त्रैलोक्यमध्येतु पृथ्वीधन्येति विश्रुता।
यस्मान्माथुरकंनाम विष्णोरेकांतवल्लभम्॥
स्वस्थानमधिकं नाम ध्येयं माथुरमंडलम्।
विष्णुचक्रपरिमाणं धाम वैष्णवमद्भुतम्॥"

—पद्म० पु० ५८३, श्लो० १२, १३

"अर्थात् त्रैलोक्य के मध्य में स्थित यह पृथ्वी (मथुरा-मंडल) धन्य है और बहुविश्रुत है। यह विष्णु भगवान् का अति प्यारा मथुरा नामक स्थान है। यह मेरा स्थान है और मैं इस मथुरा-मंडल की आराधना करता हूँ। इसका परिमाण विष्णुचक्र से जितना है और वैष्णवों का अद्भुत धाम है।" आगे भगवान् मथुरा-माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"अहो न जानंति नरादुराशया' पुरींमदीयां परमासनातनीम्।
सुरेंद्रनागेंद्रमुनींद्रसंस्तुता मनोरमा तां मथुरा सनातनीम्॥
काश्यादयो यद्यपि संति पुर्यस्तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या।
यज्जन्ममौंजीव्रतमृत्युदाहैर्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिम्॥"

—पद्म० पु० ५९९, श्लो० ४३-४४

"इतनी महात्म्यवाली सनातनी मेरी पुरी (मथुरा) को दुराशयी लोग नहीं जानते। वे नहीं समझते कि सनातनी मनोरमा मथुरापुरी की स्तुति इंद्र, शेष और मुनींद्रगण तक करते हैं। यद्यपि काशी आदि अन्य नगरियाँ संतो को अतिप्रिय है, किंतु ऐसी अनेक पुरियों में मथुरापुरी धन्य है, सेवन करने योग्य है। यहाँ यदि भक्तगण यावज्जीवन व्रतादिको का अनुष्ठान करते रहें, निवास करते रहें, तो मृत्यु, दाह आदि चार प्रकार की व्याधियो से मुक्त हो जाते हैं।"

भगवान् अपने परमभक्त बालक ध्रुव के बारे में कहते हैं—

"बालकोऽपि ध्रुवो यत्र ममाऽऽराधनतत्पर.।
प्राप स्थानं परं शुद्ध यत्र युक्त पितामहैः॥"

—पद्म० पु० ६००, श्लो० ५३

"यहीं (इसी मथुरा में) राजा उत्तानपाद के पुत्र बालक ध्रुव ने मेरी आराधना तन्मय एव तत्पर होकर की और इतनी निष्ठा के साथ अपने उद्देश्य में सफल हुआ कि वह उन्मुक्त होकर परम शुद्ध पितामह ब्रह्मा के लोक को प्राप्त कर गया।"

कृष्ण और बलराम की लीलाभूमि का उल्लेख करते हुए भगवान् कहते हैं—

"कदंबमूल आसीनं पीतवाससमद्भुतम्।
वनं वृंदावनं नाम नवपल्लवमंडितम्॥
कोकिलभ्रमराराव मनोभवमनोहरम्।
नवीमपश्य कालिंदीमिंदीवरदलप्रभाम्॥
गोवर्धनं तथापश्यं कृष्णरामकरोद्धृतम्।
महेंद्रदर्पनाशाय गोगोपालसुखावहम्॥"

—पद्म० पु० ५९८, श्लो० १९, २०, २१

अर्थात्, "(इस मथुरा में) नवपल्लवों से मंडित वृंदावन नाम का प्रसिद्ध वन है। इसमें कदंब की एक डाल पर पीतांबरधारी श्रीकृष्ण विराजमान रहते हैं। इस वन में कोकिला (कोयल) और भौंरा मनोहर स्वरों में चहचहाया करते हैं। पास ही कमल-दलों से सुशोभित कालिंदी (यमुना) प्रवाहित होती दीख पड़ती है और इसके अनंतर कृष्ण-बलराम की इहलोक लीला का साक्षी गोवर्धन पर्वत भी इस मंडल में विद्यमान है, यहीं श्रीकृष्ण ने महेंद्र (इंद्र) के गर्व का खर्व किया था और गो तथा गोपालकों की सुख-समृद्धि की थी।"

वराहपुराण में मथुरा का सबसे अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है। धरणी के यह पूछने पर कि मथुरा जैसे दुर्लभ तीर्थ का तत्त्व (माहात्म्य) क्या है, भगवान् महावराह बोले—"मुझे इस वसुधरा में पाताल अथवा अंतरिक्ष से भी प्रिय मथुरा है।" यह पूछे जाने पर कि पुष्कर, नैमिषतीर्थ एवं वाराणसी की तुलना में मथुरा की क्या महत्ता है, भगवान् बोले—"ऐ देवि वसुंधरे, सुनो—सा रम्या च सुशस्ता च जन्मभूमिस्तथा मम'। मथुरा अति रमणीय, प्रशस्त और मेरी जन्मभूमि' है। यही मथुरा मेरा मंडल है—

'माथुरं मम मंडलम्'

—व० पु० ; अ० १५२, श्लोक-१७

भगवान् ने आगे कहा—"कोटितीर्थ से आधकोस की दूरी पर स्थित शिवक्षेत्र है। वहाँ बैठकर भगवान् हर मथुरा की रक्षा करते हैं (अ० १५४। ३४)। मेरे मथुरा-मंडल का प्रमाण बीस योजन है—'विंशतिर्योजनानातु माथुरं मम मंडलम्' (१५८। १)। मथुरा-मंडल पुण्यक्षेत्रों में भी पुण्यक्षेत्र है (१५८।२)। मानो द्वीपों के जितने तीर्थ और आयतन (मंदिर अथवा भूमि) हैं, वे मेरे विश्राम करने के समय मथुरा-मंडल में आते हैं (१५८।३)। जो व्यक्ति मथुरा आकर केशव के दर्शन और मथुरा की प्रदक्षिणा करता है वह मानो 'सप्तद्विपावसुधरा' की प्रदक्षिणा करता है (१५८।८)।

"मथुरा की रक्षा पूर्व में इंद्र, दक्षिण में यम, पश्चिम में वरुण और उत्तर में कुबेर तथा [illegible] के मध्य में प्रवस्थित उमापति शिव करते हैं (१५८।१८-१९)। मथुरा की भूमि का चप्पा-चप्पा [illegible] तीर्थमय है—'पदे पदे तीर्थफलं मथुरायां वसुधरे' (१५८।२६)।

मथुरा की परिक्रमा

[illegible] मास में शुक्लपक्ष की नवमी के दिन मथुरा की परिक्रमा करने से यात्री को सब पापों से मुक्ति मिलती है (१५९।२३)।

"कार्तिक शुक्ल पक्ष की अष्टमी से मथुरा की परिक्रमा आरंभ की जाए। पहले विश्रांति [illegible] तीर्थ में स्नान करे, फिर पितरों और देवों की अर्चना करे (१६०।१)। नवमी के दिन [illegible] रात्रि में जागरण करे, तत्पश्चात् ब्राह्म मुहूर्त में उठकर यात्रा आरंभ करे (१६०।८)। [illegible] नामक तीर्थ में प्रातः स्नान करे (१६०।९)। [illegible], हनुमान और [illegible] के दर्शन करे (१६०।१३) दीर्घविष्णु, पद्मनाभ के दर्शन करे (१६०।१४)। [illegible] के दर्शन करे (१६०।१५) [illegible] देवि, उग्रसेना देवि, [illegible] देवि, [illegible] के दर्शन करे (१६०।१७)। [illegible] कोटि तीर्थ [illegible] (१६०।१८) [illegible]। यहाँ से [illegible], [illegible] और [illegible] (१६०।२०)। [illegible] की जाए। [illegible] (१६०।२१)।

[illegible] (१६०।२२) [illegible] (१६०।२३) [illegible] (१६०।२५) [illegible] (१६०।२६) [illegible] (१६०।२८) [illegible]

वहाँ से बलिहृद को जाए जहाँ कृष्ण क्रीडा करते थे। उनके दर्शन करके (१६०।३४) उस स्थान को जाए जहाँ कृष्ण और कुकुट ने मिलकर क्रीडा की थी। तदनतर नारायण के स्थान की परिक्रमा कर (१६०।३६) आगे कृष्ण की पाली-पोसी हुई दो ब्राह्मण-स्त्रियो—कुब्जिका (कुबरी) और वामना के दर्शन करके वही गर्तेश्वर भगवान् के दर्शन करे (१६०।४१)। आगे महाविद्येश्वरी[1] देवी के दर्शन करे, जिन्होने कृष्ण की रक्षा की थी (१६०।४२-४३)। वहाँ से सकेतकेश्वरी के स्थान को जाकर उनके दर्शन पाए (१६०।४६)। वही महादेव गोकर्णेश्वर के दर्शन प्राप्त करे (१६०।४७) फिर सरस्वती नदी के दर्शन करके (१६०।४८) वहाँ साध्वी और महापातक नाशिनी गगा के दर्शन करे, उनका स्पर्श करे, ध्यान करे और अपने सभी कार्य सफल बनावे (१६०।५०)।

तदनतर भगवान् रुद्र के महादेव मुखाकार नामक मदिर में जाए। फिर क्षेत्रपत नामक क्षेत्र में वास करे (१६०।५१) और आगे जाकर उत्तर कोटि तीर्थ में गणेश्वरदेव के दर्शन करे (१६०।५२)। वहाँ से यमुना-जल में स्थित महातीर्थ को जाए (१६०।५६) फिर गार्ग्य तीर्थ को जाकर भद्रेश्वर के महातीर्थ सोमतीर्थ को जाए (१६०।५७)। सोमेश्वर के दर्शन करके वहाँ से सरस्वती संगम को जाए। तत्पश्चात् घटाभरणतीर्थ, गरुडतीर्थ (१६०।५६) होता हुआ धारालोटनतीर्थ, वैकुठतीर्थ, खडवेलकतीर्थ, मदाकिनी और सयमनतीर्थ, असिकुडतीर्थ को जाए (१६०।६०)।

फिर गोपीतीर्थ, मुक्तिकेश्वरतीर्थ, वयलक्ष, गरुडतीर्थ को जाकर (१६०।६१) विश्राति-सज्ञक तीर्थ को जाए। वहाँ से सप्तऋषियो द्वारा स्थापित अविमुक्तेशदेव के दर्शन करता हुआ (१६०।६३) अपनी मथुरा-परिक्रमा को सफल एव पूर्ण करे (१६०।६४)। वहाँ से चलकर विश्रातितीर्थ में फिर स्नान करना चाहिए और सुमगला देवी के दर्शन लाभ करना चाहिए (१६०।६६)।"

भगवान् वराह बोले—"मै मथुरा में चार रूपो द्वारा निवास करता हू। (१) वाराह (१६०।४), (२) नारायण (१६०।११), (३) वामन (१६०।११) और (४) बलभद्र (१६०।३३)। जो मनुष्य असिकुड (१६०।३३) में स्नान करके इन मूर्तियो का दर्शन-लाभ करता है, वह चारो समुद्रो-समेत पृथ्वी-परिक्रमा का फल पाता है।

इतिहास

आदिपुराण के ७४ व ७५ वें अध्याय में लिखा है ब्रह्मादिक देवताओ ने क्षीरसागराधिपति गरुडध्वज भगवान् की स्तुति की और भू-भार उतारने के लिए उनसे विनय की। भगवान्ने तथास्तु कहा। यह सुनकर कि देवकी के आठवें गर्भ में भगवान् जन्म लेंगे, कस ने वसुदेव और देवकी को बदी-गृह में डाल दिया। कृष्ण-जन्म होने के पश्चात् जो कन्या देवकी के हुई उसने कस के हाथ से छूट कर और अष्टभुजी मूर्ति-धारण कर के कस को चेतावनी दी कि तेरा नाश करने वाला जन्म ले चुका है। ७६ वें और ७७ वें अध्याय में लिखा है कि कस ने तदनतर देवकी और वसुदेव को कैद से मुक्त कर दिया। कृष्ण ने पूतना को मारा और राक्षसो के डर से सब लोग गोकुल छोड कर वृदावन में जा बसे। ७८ वें, ७९ वें और ८० वें अध्याय में गोवर्धन पर्वत द्वारा अतिवृष्टि से गो-व्रज की रक्षा, धेनुकासुर और प्रलबासुर का वध आदि की लीलाएँ हुईं। ८२ वें अध्याय में कस द्वारा बलराम और कृष्ण को बलवान् बनने के पहले ही विचार करने की बात का उल्लेख है। ८५ वें अध्याय में कृष्ण द्वारा कस का वध होता है, कृष्ण और बलराम वसुदेव-देवकी के पास जाते है, उग्रसेन को कारागृह से छुडाकर सिंहासनारुढ करते और अवतिपुर निवासी सादीपनि गुरु से छ दिनो में सभी विद्याएँ पढ लेते है। ८७ वें अध्याय में मगधाधीश जरासध की कृष्ण से १७ बार पराजित होने की कथा है। जब वह १८ वी बार युद्ध करने आया तो उसी समय दक्षिण समुद्र से कालयवन भी ससैन्य कृष्ण से लडने आ पहुँचा। कृष्ण ने अपने को इस समय निर्बल जान काठियावाड जाकर प्रभ-

[1], यह आजकल 'महाविद्या देवी' के नाम से प्रसिद्ध है।

रावती के समान द्वारकापुरी बसाई और वही एक सुदृढ किला भी निर्माण कराया। मथुरावासियो को वहाँ बसाकर कृष्ण मथुरा वापस आए और कालयवन को राजा मुचुकुद की गुफा में ले गए। मुचुकुद की क्रोधाग्नि से कालयवन भस्म हो गया। ८८ वें अध्याय में बलराम और रेवती के विवाह आदि का वर्णन है। ८९ वें अध्याय में रुक्मिणी-हरण, ९३ वें में उषा-अनिरुद्ध के विवाह का, ९६ वें अध्याय में साब और दुर्योधन-पुत्री के विवाह का, ९८ वें में लौह-मूषल का समुद्र में फेंका जाना और एक टूटे हुए अश को मछली का निगलना व मछली का एक लुब्धक द्वारा पकडा जाना, यादवो का आपस में कट मरना, कृष्ण की लुब्धक द्वारा हत्या, बलराम की यौगिक मृत्यु आदि का मार्मिक वर्णन है। साथ ही कृष्ण की रानियो, बलराम की रानियो तथा उग्रसेन आदि की रानियो का स्वर्गारोहण भी अकित हैं। अर्जुन का द्वारका जाकर बचे-खुचे यादवो को पचनद लाना, वहाँ आभीरो द्वारा उनका अपमान और यादव-स्त्रियो की छिछालेदर होने की गाथा भी उल्लिखित है। कृष्ण के सपूर्ण जीवन का इतिहास प्रत्येक पुराण में किसी न किसी रूप में विस्तार अथवा सक्षेप में दिया गया। पुराणो में से श्रीमद्भागवत आदि ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में तो कृष्ण-चरित्र का विशद वर्णन है। मथुरा और द्वारका प्रमुख रूप से और साथ ही भारत के अन्य नदी-नद पहाड-पर्वत, ग्राम तथा नगर भी पुराणो में स्थान-स्थान पर आए हैं। कृष्ण-चरित का इतिहास ही मथुरा का इतिहास है, अन्यथा मथुरा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ही क्या है? शौरसेनी माथुर लोगो की पुण्यभूमि होनेवाली और यादवो का प्रथम चरण चिह्न पहचाननेवाली मथुरा नगरी ही है।

भौगोलिक परिचय

(मथुरा-मंडल)

वराहपुराण (अध्याय १५२, १५७ और १६२) के अनुसार 'मथुरा-मडल' का प्रमाण २० योजन अर्थात् ८४ कोस का है। १५७ वें अध्याय में लिखा है कि इस मडल को 'कमलवत्' मानना चाहिए, जिसके कर्णिका-स्थान में केशव भगवान् (श्लोक १८) स्थित है। मथुरा रूपी कमल के पश्चिमी दल में गोवर्धन-निवासी भगवान् (श्लोक ७), उत्तरी दल में श्री गोविंद भगवान् (श्लोक ५), पूर्वी दल में विश्राति नामक ईश्वर और दक्षिणी दल में वराह भगवान् (श्लोक ४) है।

मथुरा-मडल में मथुरा, वृदावन, गोकुल, गोवर्धन आदि नगर और ग्राम एव वन, कुड, तडाग, मदिर और असख्य तीर्थों का विधान है। पुराणो में उनका विशद वर्णन है। साथ ही गंगा के समान ही गौरवशालिनी यमुना का भी पर्याप्त विवेचन किया गया है।

मथुरा

लगभग सभी पुराणो में स्थान-स्थान पर मथुरापुरी का उल्लेख किया गया है। इसकी भौगोलिक स्थिति पर भी बडा ही प्रामाणिक और युक्ति-युक्त प्रकाश डाला गया है, जिसकी पुष्टि भारतीय इतिहास के अन्य सूत्रो से भी होती है। वराहपुराण में मथुरा की स्थिति पर निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण श्लोक आया है—

"गोवर्धनो गिरिवरो यमुना च महानदी।
तयोर्मध्ये पुरीरम्या मथुरा लोकविश्रुता॥

—अध्याय १६५, श्लोक २३

वराहपुराण में वर्णन आया है कि मथुरा के पश्चिम भाग में दो योजन (अर्थात् ८ कोस) की दूरी पर—'मथुरा पश्चिमेभागे अदूराद्योजन द्वयम्' के अनुसार गोवर्धन नामक क्षेत्र परम दुर्लभ क्षेत्र है (१६४।१)। यहाँ 'वैवस्वत-सुता रम्या यमुना' बहती है (१५२।३४)। मथरा और गोवर्धन के बीच का आधुनिक अतर १४ मील का है। बाबू साधुचरण प्रसाद विरचित 'भारत-भ्रमण' (प्रथमखंड) के

पृ० २४६ पर लिखा है कि ब्रजमंडल का कोस पुराणों के कोस के अनुसार माना जाता है। 'पुराण में चार हाथ का धनुष और एक सहस्र धनुष का कोस लिखा है'। इस दृष्टि से मथुरा और गोवर्धन की दूरी दो योजन = ८ कोस = ३२,००० हाथ के हुई और आधुनिक दूरी १४ मील = ७ कोस = ७३,९२० हाथ हुई। इन आंकड़ों के अनुसार यह विदित होता है कि आधुनिक मथुरा से प्राचीन काल की मथुरा का विस्तार गोवर्धन गिरि की ओर पश्चिम में काफी दूर तक था और वही विस्तृत मथुरा-मडल अब अत्यंत सीमित हो जाने के कारण गोवर्धन गिरि से दूर होता चला गया। संभव है कि आधुनिक मथुरा और गोवर्धन गिरि के बीच में यदि पुरातत्त्व विभाग द्वारा खनन-कार्य कराया जाय तो प्राचीन संस्कृति पर प्रकाश डालने वाली नवीन शोधों का सुराग लगे।

वराहपुराण (अध्याय १६३) में लिखा है—"अयोध्यापति राम ने रावण को मार कर वराह की मूर्ति को अयोध्या में स्थापित किया। जब शत्रुघ्न ने लवणासुर का वध किया तो इस मूर्ति को ले जाकर मथुरा में स्थापित की (श्लोक ६४)। पद्मपुराण के सृष्टि-खड में लिखा है कि गगा जी के दक्षिण किनारे श्री वामन भगवान् की प्रतिमा स्थापित करके श्री रामचद्रजी ने ब्रह्माजी को प्रणाम किया और पुष्पक विमान पर चढ़ कर मथुरापुरी की यात्रा की। वहाँ सपरिवार ठहरे हुए शत्रुघ्न से मिलकर श्री रामचद्रजी सतुष्ट हुए। उनका आगमन सुनकर समस्त मथुरावासी जिनमें ब्राह्मणों की सख्या अधिक थी, उनके दर्शन करने आए। भगवान् मथुरा में पाँच दिन रहे और चलते समय शत्रुघ्न से बोले अब मथुरा के राज्य पर अपने दोनों पुत्रों का अभिषेक करो।

वाल्मीकि रामायण (सर्ग ६२) में लिखा है कि शत्रुघ्न को युद्ध-यात्रा में तत्पर देख कर भगवान् राम ने उनसे कहा कि मैं तुमको मधुनगर का राजा नियक्त करूँगा। तुम वहाँ जाकर यमुना के किनारे सुदर-सुदर जनपद और नगर बसाओ (श्लोक १५,१६,१७,१८)। विष्णुपुराण के अंश चार में स्पष्ट लिखा है कि शत्रुघ्न ने मधु-पुत्र लवण राक्षस का जो बड़ा बलवान् और पराक्रमी था, हनन किया और मथुरा नामक नगर बसाया—'शत्रुघ्नेनाप्यमितबलपराक्रमो मधुपुत्रो लवणो नाम राक्षसो निहतो मथुरा च निवेशिता' (४।४।१०१)।

देवी भागवत (स्कध चार अध्याय २०) में लिखा है कि यमुना नदी के किनारे मधुवन में लवण रहता था, शत्रुघ्न ने उसको मारकर मथुरा नामक नगरी बसाई और बाद में अपने पुत्रों को वहाँ का राज्य देकर स्वय स्वर्ग को सिधारे।

विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोक भी इस बात की और पुष्टि करते है—

"कृत्य कृत्यमिवात्मानं मन्यमानस्ततो द्विज।
मधुसंज्ञं महापुण्यं जगाम यमुनातटम्॥
पुनश्च मधुसज्ञेन दैत्येनाधिष्ठितं यत.।
ततो मधुवनं नाम्ना ख्यातमत्र महीतले॥
हत्वा च लवणं रक्षो मधुपुत्रं महाबलम्।
शत्रुघ्नो मथुरा नाम पुरीं यत्र चकार वै॥"

अर्थात्, अपने को कृत-कृत्य-सा मानकर वह यमुना-तटवर्ती अति पवित्र मथुरा नामक वन में आया, क्योंकि पीछे उस वन में मधु नामक दैत्य रहने लगा था, इसलिये वह इस पृथ्वी-तल में 'मधुवन' नाम से विख्यात हुआ। वहीं मधु के पुत्र लवण नामक महाबली राक्षस को मारकर शत्रुघ्न ने मधुरा (मथुरा) नाम की पुरी बसाई।

गरुणपुराण में मथुरा को सात मोक्षदायिनी पुरियो में गिना गया है—

"अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायका॥"

जरासंध के आक्रमणों से पीड़ित होकर जब कृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारका जाते हैं, तब का उल्लेख महाभारत में हुआ है।[1]

ललितविस्तर (पृ० २१) नामक प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रंथ में मथुरा को वैभवशालिनी और घनी आबादीवाली तथा कंस के वंशज राजा सुबाहु की राजधानी बताया है।[2] दिव्यावदान में मथुरा की रहनेवाली प्रख्यात गणिका 'वासवदत्ता' का उल्लेख आया है—

"मथुरायां वासवदत्ता नाम गणिका तस्य दासी उपगुप्तसकाश गत्वा गधान् क्रीणीति ।।"[3]

यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ की प्रसिद्ध पुस्तक 'इंडिका' के एक गद्यांश का अनुवाद करते हुए प्रिंसिपल एम० सी० क्रिंडिल कहते हैं—

"But that Hercules who is currently reported to have come as a stranger into the country, is said to have been in reality a native of India, that this Hercules is held in especial honour by the Sourasenı, an Indian tribe possessing two large cities, Methora and Cleisobora, while a navigable river called the Iobares flows through their country."[4]

अर्थात्, लेकिन वह हर्कुलीज़ (कृष्ण) जिसे इस देश में आया हुआ एक अनजान व्यक्ति बताया गया है, वास्तव में भारत का ही निवासी है। इस हर्कुलीज़ को मेथोरा (मथुरा) और क्लेसोबोरा[5] (कृष्णपुर), जहाँ से होकर जहाजरानी के उपयुक्त नदी आयोबैरस (यमुना) बहती है, के अधिनायक शूरसेन लोग बड़े आदर और भक्ति-भाव से देखते हैं।

वैवस्वत मनु ने भी अपनी स्मृति में मथुरा के शूरसेन लोगों का उल्लेख किया है—

"कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पंचालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशोवै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ।।"

—खंड १, पृ० ११३-२।१९

यमुना

वराहपुराण में 'यमुना' को 'वैवस्वतसुता' कहा गया है (१५२।३४)। इसका दूसरा पर्याय 'कालिंदी' नाम से आया है (१५३।७)। कहा जाता है कि पांचाल-विषय में एक कांपिल्य नामक पुर था जो धन-धान्य से युक्त था और जहाँ राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था। वहाँ के एक तिंदुक नाम के एक नाई ने कालांतर में अपने परिवार के विनष्ट हो जाने पर मथुरा आकर दृढ़व्रती होकर यमुना में स्नान करने लगा। उसके नहाने का स्थान बाद में 'तिंदुकतीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ (१५२।४८)। सयमनतीर्थ की कथा इस प्रकार है—एक दुष्ट स्वभाववाला पापी निषाद था। वह नैमिषारण्य में रहता था। किसी समय वह मथुरा गया और कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन कालिंदी के तट पर पहुँचा। यमुना में स्नान करने पर उसका मन संयम-पूर्ण (पवित्र) हो गया। तभी से सयमन तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ (१५३।५-८)। यमुना नदी के 'धारापतन-तीर्थ' में स्नान करने से 'नागलोक' मिलता है (१५४।१२-१३) और दिव्यमूर्ति चतुर्भुज भगवान् विष्णु का लोक प्राप्त होता है (१५४।१४)। यमुना और गोवर्धन के बीच में मथुरा है—

१. महाभारत (पूना-संस्करण) सभापर्व, अ० १३, श्लो० ६५।
२. डा० विमलचरण लॉ—ज्योग्रैफिकल एसेज़, पृ० २६।
३ दिव्यावदान (कावेल और नीलवाला संस्करण) पृ० ३५२।
४. एम० सी० क्रिंडिल—'दि इंडिका आव एरियाना', पृ० १६-१७।
५. प्लाइनी ने इसे 'Charisobora' लिखा है। दे० वही, पृ० ९८ (फुटनोट)।

"गोवर्धनो गिरिवरो यमुना च महानदी।
तयोर्मध्ये पुरीरम्या मथुरा लोकविश्रुता ॥"

—व० पु० १६५।२३

इसका अर्थ स्पष्ट है—'मथुरापश्चिमेभागे अदूराद्योजन द्वयम्' के अनुसार गोवर्धन गिरि ठीक मथुरा के पश्चिम है और मथुरा के ठीक पूर्व में यमुना है। गोवर्धन और मथुरा की स्पष्ट दूरी का पुराणकार ने स्पष्ट उल्लेख करके मथुरा और यमुना की बीच की दूरी के सबंध में कहीं कुछ नहीं कहा, इसे उसकी उपेक्षा या भूल नहीं कह सकते हैं। वराहपुराण (अ० १५२।३४) में स्पष्ट इस बात का संकेत है कि यहाँ (मथुरा में ही) वैवस्वतमुता रम्या यमुना बहती है।

विष्णुपुराण में यमुना को—'सागरगमा' (अंश ५।७।७) और 'कालिंदी लोलकल्लोलशालिनीम्' कहा है (अ० ५।७।२)। वसुदेव जब भगवान् कृष्ण को लेकर यशोदा के यहाँ जाने लगे तब रास्ते में यमुना पार करनी पड़ी थी। यमुना उस ओर गहरी थी और हहराती हुई बह रही थी; किंतु भगवान् के चरण का स्पर्श पाते ही वह गम्या हो गई—

"यमुना चातिगंभीरां नानावर्त्तशताकुलाम्।
वसुदेवो वहन्विष्णु जानुमात्रवहा ययौ ॥"

—वि० पु० ५।३।१८

हलायुध बलराम एक बार वृंदावन में रमण कर रहे थे। उस समय उन्होंने यमुना को वृंदावन में बुलाना चाहा, पर उसके इनकार करने पर उन्होंने अपने हल से उसे खींचा। तब वह वृंदावन के पास बहने लगी (५।२५।१४)।

ज्येष्ठ शुक्ल की द्वादशी के दिन यमुना-जल में स्नान करके मथुरा में हरि का दर्शन करे तो पुरुष को अत्यंत फल-प्राप्ति होती है (६।८।३१-४०)। यमुना में स्नान करके पितृगण का आदरपूर्वक अर्चन करने से मनुष्य के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं (३।१४।१८)।

ब्रह्मपुराण में यमुना-समेत सभी नदियों को—'विश्वमातरः सर्वाः सर्वाः पापहराः स्मृता' कहा है (२७।४०)। सागरगमा और—'कालिंदी लोलकल्लोलशालिनीम्' के भी उल्लेख आए हैं।

शिवपुराण (खंड ८ अध्याय ११ वाँ) में वर्णन है कि सूर्य की पत्नी संज्ञा से श्राद्धदेव और यम नामक दो पुत्र और यमुना नामक एक कन्या उत्पन्न हुई।

पद्मपुराण में यमुना-छवि का वर्णन इस प्रकार दिया है—

"कालिंदी चाकरोद्यस्य कर्णिकाया प्रदक्षिणाम्।
लीलानिर्वाणगंभीरं जलं सौरभमोहनम् ॥
आनंदामृततन्मि (सभि) श्रमकरंदघनालयम्।
पद्मोत्पलाद्यैः कुसुमैर्नानावर्णसमुज्ज्वलम् ॥
चक्रवाकादिविहगै मंजुनानाकलस्वनैः।
शोभमानं जलं रम्यं तरंगातिमनोहरम् ॥
तस्योभयतटीरम्या शुद्धकांचननिर्मिता।
गंगाकोटिगुणः प्रोक्तो यत्र स्पर्शवराटकः ॥
कर्णिकाया कोटिगुणो यत्र क्रीडारता हरिः।
कालिंदीकर्णिका कृष्णमभिन्नमेकविग्रहम् ॥

—प० पु० पु० ५८५, श्लोक ७४-७८

अर्थात्, "कालिंदी के दक्षिण में 'कर्णिका तीर्थ' स्थित है। यहाँ कालिंदी का जल गंभीर और सौरभ-युक्त होता है। रक्तवर्ण के कमल तथा भाँति-भाँति के पुष्प अपनी-अपनी छटा लिए मकरंद की सुगंध बघार रहे हैं। चक्रवाक (चकवा) आदि पक्षीगण नाना-प्रकार का कलरव कर रहे हैं और

तरगें लेते हुए, लहरे मारते हुए कालिंदी के शोभित जल में रमण कर रहे हैं, जो अपने दोनों तटो-समेत ऐसी लगती हैं मानो सोने की निर्माण की गई हो। इस पवित्र तीर्थ के जल को स्पर्श करने से ऐसा फल प्राप्त होता है, जो गगा-जल के स्पर्श करने के फल का कोटि-गुणा है। इस तीर्थ में भगवान् हरि क्रीडा किया करते हैं। यथार्थ है कि कालिंदी और कर्णिका अभिन्न है—भगवान् कृष्ण के लिए भी अभिन्न हैं।

यूनानी इतिहासकार मेगास्थनीज़ ने यमुना को 'Jobares'[1] अथवा 'Jobares'[2] लिखा है। प्लाइनी इसे 'Jomanes'[3] के नाम से पुकारता है और टालेमी ने इसका नाम 'Diamounas' दिया है।[4]

वन

(१) तालवन—यहाँ धेनुकासुर को बलराम ने मारा था (व० पु० १५३।३५)। यह वन मथुरा के पश्चिम में अर्धयोजन (२ कोस) की दूरी पर स्थित है, जिसकी रक्षा धेनुकासुर करता था। यहाँ के कुड में नील कमल खिलते हैं और स्नान करने से मनुष्य को मनोवाछित फल मिलता है (व० पु० १५७।३९-४०)। यह वन ताल-वृक्षो से पूरित था (विष्णुपुराण (५।८।१)। ब्रह्मपुराण (१८६।१-१२) में लिखा है कि तालवन में राम और केशव गायो को चराते हुए वन में भ्रमण करते हुए घूमने लगे। वहाँ खर एव गर्दभाकृतिवाला मासाहारी दानव धेनुक रहता था। उस वन में ताड (ताल) वृक्ष होते थे, जिनमें फल लगते थे—'तालवन रम्य फलसपत्समन्वितम्' जो वृक्ष से गिरकर पृथ्वी पर ढेर के ढेर लग जाते थे—'क्षणेनोलकृता पृथ्वी पक्वैस्ताल फलस्ताय' (१८६।१२)। इसे देखने से यात्री नरकगामी नही होता (व० पु० १६१)।

(२) मधुवन—मथुरा में विष्णु-स्थान रूप यह एक प्रसिद्ध और रमणीक वन है। इसके कुड में स्नान करने का, विशेषकर भाद्रपद शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन बडा माहात्म्य होता है (वराहपुराण—१५३।३३-३४)। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य नरकगामी नही होता (व० पु० १६१)। मथुरा का मधुवन अत्यत उत्तम है (पद्म पु० पातालखड—६९ वाँ अध्याय)।

(३) कुंदवन[5]—यहाँ भाद्रपद कृष्णपक्ष की एकादशी के दिन कुड में स्नान करने से मनुष्य को रुद्रलोक की प्राप्ति होती है (व० पु० १५३।३६)। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य नरकगामी नही होता (व० पु० १६१)। कुमुदवन (पद्मपुराण-पातालखड-६९ वाँ अध्याय) संभवत कुदनवन का ही पर्याय है।

(४) काम्यकवन[6]—यह वन अन्य वनो से श्रेष्ठ है। इस वन में सर्व पापो से मोक्ष देनेवाला 'विमल कुंड' है (व० पु० १५३।३७-३८)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नही होता (व० पु० १६१)। काम्यवन (पद्मपुराण, पातालखड-६९ वाँ अध्याय) सभवत काम्यकवन ही है।

१. जे० डब्ल्यू० एम० सी० क्रिंडिल—'दि इंडिका ऑव एरियन' १८७६ (संस्करण); पृ० १६-१७।

२. वही, पृ० ८९।

३. "Amnis Jomanes in Gangem per Palibothros decurrit inter oppida Methora et Charisobora" —वही, पृ० ९८।

४. वही, पृ० ९८।

५. इसे आजकल 'कमोदवन' कहते है।

६. कामवन।

(५) बकुलवन—यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य को अग्निलोक प्राप्त होता है (व० पु० १५३।३६)। पद्मपुराण (पातालखंड-६९ अध्याय) में इसका उल्लेख है। संभवत वराहपुराण १७।१-३ का बहुलवन यही बकुलवन है, जो यमुना-पार के मलयार्जुन तीर्थ के पास ही स्थित है।

(६) भद्रवणवन—यह यमुना के उस पार स्थित है। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य भगवान् वराह का भक्त और तद्रूप—मत्परायण हो जाता है और इस वन के प्रभाव से यात्री को नागलोक की प्राप्ति होती है (व० पु० १५३।४०-४१)। यहाँ जाते यात्री नरकगामी नही होता (व० पु० १६१ और पद्मपुराण-पातालखंड, ६९ वाँ अध्याय)।

(७) खदिरवन—यह लोक-विश्रुत तीर्थ है। यहाँ की यात्रा करने से नर को भगवान् वराह का लोक प्राप्त होता है (व० पु० १५३।४२)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नही होता (व० पु० १६१)। (पद्मपुराण पातालखंड-६९ वाँ अध्याय) में भी इसका उल्लेख है।

(८) महावन—भगवान् वराह को यह वन अति प्रिय है। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य को इंद्रलोक की प्राप्ति होती है (व० पु० १५३।४३)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नही होता (व० पु० १६१)। पद्मपुराण (पातालखंड, ६९ वाँ अध्याय) में इसे गोकुल का अत्युत्तम वन कहा गया है। बाबू साधुचरण का कथन है कि 'गोकुल' (वर्तमान गोकुल) से लगभग एक मील दूर महावन (पुराना गोकुल) स्थित है (भारत-भ्रमण, प्रथम खंड पृ० २८७)।

(९) भांडीरवन—यहाँ वासुदेव भगवान् के दर्शन करने से यात्री को पुनर्जन्म से मुक्ति मिल जाती है (व० पु० १५३।४७)। भाडीरक नामक तीर्थ अति उत्तम है (व० पु० १५६।३)। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य नरकगामी नही होता (व० पु० १६१)। विष्णुपुराण (५।९।२) में 'भाडीरवट' नामक एक वृक्ष का उल्लेख आया है और पद्मपुराण के (पातालखंड, ६९ वाँ अध्याय) में भी।

(१०) लोह-जंघवन—यह वन सर्वपातक विनष्ट करनेवाला है (व० पु० १५३।४४)। लोहार्गल वन में जाने से मनुष्य नरकगामी नही होता (व० पु० १६१)। पद्मपुराण (पातालखंड, ६९ वाँ अध्याय) में इसे लोहवन कहा गया है।

(११) बिल्ववन—इसे देवगण तक पूजते हैं। यहाँ की यात्रा करने से मनुष्य को ब्रह्मलोक का लाभ होता है (व० पु० १५३।४५)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नही होता (व० पु० १६१)।

(१२) वृंदावन—वृंदावन तीर्थ में केशी नामक राक्षस मारा गया था। यहाँ पिंडदान करने से गया में किए गए पिंडदान का-सा पुण्य-फल मिलता है। यहाँ कालिंदी के प्रसिद्ध सूर्यतीर्थ में कालिय नाग रहता था (१५६।१०-१४-व० पु०)। यहाँ जाने से मनुष्य नरकगामी नही होता (व० पु० १६१)। वृंदावन-वासी गोविंद मथुरा के उत्तर में वसते हैं (व० पु० १६३)। भगवान् वराह पृथ्वी से कहते हैं—

"वृंदावनं द्वादशकं वृंदया परिरक्षितम् ।
मम चैव प्रियं भूमे महापातकनाशनम् ॥
वृंदावनंच गोविंदं ये पश्यति वसुंधरे ।
न ते यमपुरं यांति यांति पुण्यकृता गतिम् ॥"

—व० पु० १५३।४८-४९

अर्थात् हे वसुधरे, ब्रज के द्वादश वनों में वृंदावन भी है, जो सदैव वृंदा देवी द्वारा रक्षित रहता है। जो जन महा पातक-विनाशी वृंदावन और वहाँ के श्री गोविंदजी के दर्शन करते हैं, वे कदापि यमपुर नही जाते, प्रत्युत् सद्गति को प्राप्त होते हैं।"

विष्णुपुराण (अंश ५।६।२८ और अंश ५।७।१) में वृंदावन का उल्लेख है। लगभग सभी पुराणों में वृंदावन को गोविंद भगवान् का आवास कहा गया है। वृंदावन में अधिकतर कदंब के वृक्ष होते हैं (वि० पु० ५।२५।४)।

ब्रह्मपुराण (१८५।१ और १८६।२३-२४) में भी वृंदावन का रमणीक वर्णन किया गया है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण (कृष्ण जन्म खंड, ११ वाँ अध्याय) में लिखा है कि सत्ययुग के एक राजा केदार की पुत्री वृंदा ने जिस वन में तप करके वृंदावन-विहारी कृष्ण को पतिरूप में प्राप्त किया था, वही वन 'वृंदावन' कहलाया।

श्रीमद्भागवत (स्कंध १०—अध्याय ११) में कालिय-दमन की वृंदावन स्थित कालीदह में सपन्न लीला का उल्लेख है।

पद्मपुराण में भी वृंदावन विषयक पर्याप्त सामग्री दी गई है। भगवान् कृष्ण को वृंदावनेश्वर (पृ० ५८६) और राधा को वृंदावनेश्वरी (पृ० ५८७) की उपाधियों से विभूषित किया गया है। वृंदावन का वर्णन करते हुए पुराणकार ने लिखा है कि रमणीक वृंदावन में बड़े-बड़े वृक्ष झूमते हैं। जिनके नीचे सुरभी गाएँ बैठकर विश्राम किया करती हैं। यहाँ स्त्री-रूप लक्ष्मी और पुरुष-रूप विष्णु का वास है (प० ५८५।६१)। मदमाती कोकिलें और भौंरे मनोहर रूप से कूजन करते हैं। कपोत और शुक सहस्रों की संख्या में संगीत अलापा करते हैं। मोद में विभोर होकर मोर-गण (भुजगशत्रु) यहाँ खूब नर्तन करते हैं। सुगंधित पराग (रेणु) से परिपूरित नाना-प्रकार के पुष्प विकासमान होते रहते हैं (प० ५८५।६४-६५)।

इसी पुराण में अन्यत्र लिखा है—

"सहस्रदलपद्मस्य वृंदारण्यं वराटकम्।
यस्यस्पर्शनमात्रेण पृथ्वी धन्या जगत्त्रेय ।।
गुह्याद्गुह्यतर रम्यं मध्ये वृंदावन भुवि।
अक्षरं परमानंदं गोविंदस्थानमव्ययम् ।।"

—प० पु० ५८५।७०-७१

अर्थात् वृंदावन रूपी कमल सहस्रदली है। इसके स्पर्शमात्र से ही पृथवी त्रैलोक्य में धन्या कह कर मानी गई है। पृथवी के मध्य में स्थित यह वृंदावन अति रहस्य-मय और रमणीक स्थल है। यह गोविंद का अक्षर, अव्यय एवं परमानंदमय स्थान है।

इस वृंदावन में इसके अंश के अंश वैकुंठ आदि सभी लोक विद्यमान रहते हैं—'वैकुंठादि-तदंशांशं स्वयं वृंदावन भुवि' (पद्म० प० ५८३।९)। श्री वृंदावन की स्थिति यमुना के दक्षिण में है। इसमें गोपेश्वर नामक एक शिवलिंग की प्रतिष्ठापना भी की गई है—

"श्रीमद्वृंदावन रम्यं यमुनाया· प्रदक्षिणम्।
शिवलिंगमधिष्ठानं वृष्टं गोपीश्वराभिधेम् ।।"

—पद्म०, पृ० ५८४।३६

एक अन्य स्थान पर लिखा है—

"पूर्णामृतनिधेर्मध्ये द्वीपं ज्योतिर्मयं स्मरेत्।
कालिंद्यावेष्टितं तत्र ध्याये वृंदावनं वनम् ।।"

—पद्म०, पृ० ५९७।१३५

अर्थात्, "कालिंदी से घिरा हुआ वृंदावन एक ज्योतिर्मय द्वीप के समान है।"

(१३) श्रीवन—इसका उल्लेख पद्मपुराण के पाताल खंड, अध्याय इस में आया है।

पद्मपुराण (पाताल खंड—६९ अध्याय) में लिखा है कि बारह वनों (भद्रवन, श्रीवन, लोहवन, भांडीरवन, महावन, तालवन, खदिरवन, नकुलवन, कुमुदवन, काम्यवन, मधुवन और वृंदावन) में से सात यमुनाजी के पश्चिमी तट पर और पाँच पूर्वी तट पर अवस्थित है। उन में भी गोकुल का महावन, मथुरा का मधुवन और वृंदावन अत्यंत श्रेष्ठ वन हैं। इन बारहों को छोड़कर और भी बहुत से वन हैं।

"कर्णिकापर्णविस्तारं रहस्यद्रुमसमीरितम् ।
प्रधानं द्वादशारण्यं माहात्म्यं कथितंक्रमात् ॥
भद्रश्रीलोहभांडीरमहातालखदीरकाः (?) ।
बकुलं कुमुदं काम्यं मधुवृंदावनं तथा ॥
द्वादशैतावती सस्या कालिद्याः सप्तपश्चिमे ।
पूर्वे पंचवन प्रोक्तं तत्राऽस्ति गुह्यमुत्तमम् ॥
महारण्यं गोकुलाख्यं मधुवृंदावनं तथा ।
अन्यच्चोपवनं प्रोक्तं कृष्णक्रीडारसस्थलम् ॥"

—प० पु० ५८३ श्लो० १५,१६,१७,१८

गोकुल

पुराणो में कृष्ण-चरित्र के सिलसिले में गोकुल का उल्लेख हुआ है, परंतु इसके विषय में विस्तृत सामग्री का अभाव है। पद्मपुराण (पृ० ५८४, श्लो० २१-२६) में गोकुल को सहस्रपत्री कमल की उपमा दी गई है—

"सहस्रपत्रकमलं गोकुलाख्यं महत्पदम् ।"

तीर्थ-माहात्म्य

(१) विश्राति तीर्थ—यह त्रैलोक्य-विश्रुत तीर्थ है। हे देवि, इसमें स्नान करने से मनुष्य को मेरा लोक प्राप्त होता है (व० पु० १५२।३४-)। सब तीर्थों में स्नान करने का फल एक साथ केवल यही स्नान करने से प्राप्त हो जाता है (व० पु० १५२।३५)। मथुरा-परिक्रमा यहीं से आरंभ की जाती है (व० पु० १६०)। मथुरा नगर के ५ कोस की परिक्रमा विश्राम घाट से आरंभ होकर करीब ६ घंटे में फिर उसी जगह समाप्त होती है (साधुचरण कृत भारत-भ्रमण, प्रथम खंड, पृ० २४१)।

(२) प्रयाग तीर्थ—इस तीर्थ में स्नान करने से अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है और मोक्ष-पाकर स्नान करनेवाला भक्त मेरे लोक को जाता है (व०पु० १५२।३५-३६)। 'यहाँ वेणीमाधव की मूर्ति है (भारत-भ्रमण, प्र०ख० पृ० २४२)।

(३) कनखल तीर्थ—यह परम गुह्य तीर्थ है (व० पु० १५२।४०)। आधुनिक श्यामघाट में यह है (भा० भ्र०, प्र०ख० पृ० २४२)।[1]

(४) तिंदुक तीर्थ—आधुनिक श्यामघाट में यह तीर्थ है (भा० भ्र०, प्र०ख० पृ० २४२)।[2] देखिए यमुना-वर्णन।

(५) सूर्य तीर्थ—यह तिंदुक तीर्थ के पास है। यहाँ वैरोचन-पुत्र राजा बलि ने सूर्य की आराधना की थी और भगवान् सूर्य से 'चिंतामणि' नामक एक दिव्य मणि प्राप्त की थी। इस तीर्थ में स्नान करने से राजसूय यज्ञ संपन्न करने का फल मिलता है (व०पु० १५२।५६-५९)। 'यहाँ सूर्य की मूर्ति है' (भा०भ्र०, प्र०ख० पृ० २४२)।[3]

(६) ध्रुव तीर्थ—इस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को ध्रुवलोक मिलता है। यहाँ लोग श्राद्ध-आदि शुचि-कर्म करते हैं (व० पु० १५२।५९-६०)। 'यहाँ पिंडदान होता है। घाट के पास एक टीले पर छोटे मंदिर में ध्रुवजी की मुकन मूर्ति है। इसी स्थान पर उन्होंने तप किया था (भा० भ्र०, रा० पृ० २४२)।

[1] यह श्यामघाट से ही नहीं, रामघाट से भी दक्षिण में आगे है।
[2] यह भी श्यामघाट, रामघाट और कनखल तीर्थ (क्षेत्र) से आगे है।
[3] यहाँ श्रीकृष्ण-पुत्र 'सांब' ने भी तपस्या की है।

(७) ऋषि तीर्थ—यह तीर्थ ध्रुव तीर्थ के दक्षिण में स्थित है (व० पु० १५२।६४)।

(८) मोक्ष तीर्थ—यह तीर्थ ऋषि तीर्थ के दक्षिण में स्थित है (व०पु० १५२।६४)।
'यहाँ से यमुना जी छूट जाती है। दाहिने घूमना होता है। यहाँ सप्तर्षियो का टीला है, जहाँ सफेद मिट्टी (भस्म) मिलती है, जिसको लोग यज्ञ की विभूति कहते है। टीले पर साधुओ का मठ है (भा०अ०, प्र० ख० पृ० २४२)।

(९) कोटि तीर्थ—यह देव-दुर्लभ तीर्थ मोक्ष तीर्थ के समीप ही है। यहाँ पितरो और देवताओ को जलाजलि दी जाती है (व०पु० १५२।६५-६६)।

(१०) वायु तीर्थ—यहाँ पिंडदान देने से मनुष्य पितृ-लोक को जाता है। यदि जेठ मास में यहाँ पिंडदान किया जाय तो गया में किये गए पिंडदान के समान पितृगणो की तृप्ति होती है (व० पु० १५२।६७-६८)।

(११) संयमन तीर्थ—देखिए यमुना वर्णन। यह तीर्थ शिवकुड के उत्तर में नौ तीर्थों के पास है (व० पु० १५३।१-३) और देखिए (व० पु० १५६।६०)

(१२) विमल कुंड—यह कुड काम्यक वन में स्थित है और सब पापो से मोक्ष देने वाला है (व० पु०-१५३।३७-३८)।

(१३) धारापतन तीर्थ—यह तीर्थ यमुना नदी पर है। इसमें स्नान करने से नागलोक की प्राप्ति होती है और मनुष्य दिव्यमूर्ति चतुर्भुज विष्णु-लोक को जाता है (व०पु० १५४।१२-१४)। 'पत्थर का घाट बना है' (भा० अ०, प्र० ख० पृ० २४४)।

(१४) नाग तीर्थ—यह तीर्थ अन्य तीर्थों में उत्तम है। इसमें स्नान कर लेने से पुनर्जन्म की यातना मनुष्य को नही भोगनी पडती (व०पु० १५४।१५-१६)।

(१५) घंटाभरण तीर्थ—यह सर्व पाप-प्रमोचन तीर्थ है। इसके जल में डुबकी लेने से सूर्य-लोक मिलता है और अत समय में मनुष्य मेरे लोक को जाता है व० पु० १५४। १६-१७) और देखिए (व० पु० १५६।५६)।

(१६) ब्रह्मलोक तीर्थ—यह अत्यत प्रसिद्ध और तीर्थोत्तम है। यहाँ स्नान करने तथा यहाँ का जल-पान करने से मनुष्य विष्णु-लोक को जाता है (१५४।१६-व०पु०)।

(१७) सोम तीर्थ—यमुना-तट पर स्थित यह एक पवित्र तीर्थ है। यहाँ द्वापर-युग में सोम (चंद्रमा) को विष्णु के दर्शन हुए थे (व०पु० १५४।२०)। 'यहाँ सोमतीर्थ और पत्थर के घाट के ऊपर सोमेश्वर महादेव है (भा०अ०, प्र० ख०, पृ० २४४)।

(१८) सरस्वती-पतन तीर्थ—इस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य योगी (यति) हो जाता है (व० पु० १५४।२२-२३)।

(१९) दशाश्वमेध तीर्थ—यह तीर्थ ऋषियो द्वारा पूजा जाता है। इसमें नियमपूर्वक स्नान करने से स्वर्ग-प्राप्ति दुर्लभ नही होती (व० पु० १५०।२५-२६)। 'एक ओर थोडा घाट बधा हुआ है। वर्षा-काल में यमुना यहाँ आती है।' (भा०अ०, प्र० पृ० २४४)।

(२०) मानस तीर्थ—यह तीर्थ मथुरा के पश्चिम में स्थित है। ब्रह्मा द्वारा इसका निर्माण होने के कारण ऋषिगण इसकी आराधना करते है (व० पु० पु० १५४।२६-२७)।

(२१) विघ्नराज तीर्थ—गणपति गजानन का यह तीर्थ मानस तीर्थ के पास ही है। अपने जल में स्नान करनेवालो को विघ्नो से मुक्त करता है (व० पु० १५४।२८-२९)।

(२२) कोटि तीर्थ (द्वितीय)—इस परम पवित्र तीर्थ में स्नान मात्र से एक करोड गौवें दान करने का फल मिलता है।

(२३) शिवक्षेत्र तीर्थ—कोटि तीर्थ (द्वितीय) से आध कोस की दूरी पर यह तीर्थ स्थित है। यहाँ बैठकर भगवान् हर मथुरा की रक्षा करते है। यहाँ के जल में स्नान करने से व जल पीने से मथुरा-गमन का

के सभी तीर्थों का फल प्राप्त होता है (व० पु० १५४।३४-३५)। इस वर्णन से प्रगट है कि उस समय भी वैष्णव-सम्प्रदाय शैव-सम्प्रदाय के प्रति कितना सहिष्णु एवं उदार था।

(२४) अक्रूर तीर्थ—भगवान् वराह का यह अत्यंत प्रसिद्ध तीर्थ है।' यहाँ स्नान-लाभ करनेवाले मनुष्य को राजसूय और अश्वमेघ यज्ञो के सपन्न करने का फल प्राप्त होता है। यह तीर्थ तीर्थराज है और गुह्य तीर्थों से भी गुह्य है। जो फल प्रयाग तीर्थ में स्नान करने से होते हैं, वे ही यहाँ प्राप्त होते हैं। इस तीर्थ के समान तीर्थ न हुआ है न होगा (व० पु० १५५।५-६, १५५।७१)।

(२५) वत्सक्रीड़न तीर्थ—यह तीर्थ भगवान् को प्रिय है। यहाँ स्नान करने से वायुलोक की प्राप्ति होती है (व०पु० १५६।१-२)।

(२६) भाडीरक तीर्थ—सभवत यह तीर्थ भांडीरवन का है। इसे (व० पु० १५६।१०) में अति उत्तम तीर्थ कहा गया है।

(२७) वृंदावन तीर्थ—समवत यह तीर्थ वृंदावन का है। यही केशी नामक राक्षस का वध हुआ था। यहाँ पिंडदान करने से गया-तुल्य फल होता है। यहाँ के एक अन्य (सूर्य तीर्थ) में जो कालिंदी-तट पर है, कालिय-दमन-लीला हुई थी (व० पु० १५६।१०-१४)।'

(२८) मलयार्जुनकुंड तीर्थ—यह जमुना-पार है। यहाँ जेठमास के शुक्लपक्ष की द्वादशी को स्नान करने का बडा माहात्म्य है। यही पास ही बहुलवन है (व०पु० १५७।१-८)।

(२९) भांडह्रद तीर्थ—(व० पु० १५७।१०)।

(३०) अर्कस्थल कुंड—भाडह्रद के पास स्थित है (व० पु० १५७।११))। यह मथुरा-परिक्रमा की यात्रा में पडता है (व० पु० १६०।२०)।

(३१) विमलोदक कूप—इसका नाम सप्त सामुद्रिक कूप भी है (व०पु० १५७।१३)। इसका जल जाडे में गर्म और गर्मी में ठंढा रहता है और न वर्षा-काल में बढता है और न गर्मी में सूखता है। जैसे—

"हेमंते तु भवेच्चोष्णां शीतलं ग्रीष्मके भवेत्।
न वर्धते च वर्षासु ग्रीष्मे चापि न हीयते॥"

—व० पु० १५७।२४।२५।

(३२) विरस्थल क्षेत्र—भगवान् वराह का परम गुह्य क्षेत्र है। यहाँ जल में कमल खिले हुए हैं (व० पु० १५७।२८-२९)। यह क्षेत्र मथुरा की परिक्रमा करते समय यात्रा में पडता है (व०पु० १६०।२०)

(३३) कुशस्थल क्षेत्र—यह विरस्थल के पास ही है (व० पु० १५७।१७)। यह क्षेत्र मथुरा की परिक्रमा करते समय यात्रा में पडता है (व० पु० १६०।२७)।

(३४) पुष्पस्थल क्षेत्र—यह शिव का क्षेत्र है और कुशस्थल क्षेत्र के समीप है (व पु १५७।१९)।

(३५) गोपीश्वर तीर्थ—यह तीर्थ महापातको का नाश करने वाला है। यहाँ कृष्ण सोलह हजार गोपियो के साथ स्मरण करते थे (व० पु० १५७।२१)।

(३६) वसुपत्र तीर्थ—यह तीर्थ परमोत्तम और पुण्यमय है (व०पु० १५७।३५)।

(३७) फाल्गुन तीर्थ—यह मथुरा के दक्षिण में है (व० पु० १५७।३६)।

(३८) वृषभाजन तीर्थ—यह दुर्लभ तीर्थ है (व० पु० १५७।३७)।

(३९) तालवनकुड तीर्थ—देखिए तालवन-प्रकरण। इस तीर्थ में स्नान करने से मनवांछित फल मिलता है (व०पु० १५७।४०)।

(४०) सपीठक क्षेत्र—भगवान् वराह का यह क्षेत्र है। यहाँ के कुड का जल मगलमय और उत्साहवर्धक है। यहाँ स्नान करने से अग्निष्टोम यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है (व० पु० १५७।४१)।

(४१) मुचुकुंद तीर्थ—(व० पु० १५८।५९)

(४२) चतुःसामुद्रिक कूप तीर्थ—(व० पु० १५८।४२)। यह तीर्थ त्रैलोक्य विश्रुत है और इसमें स्नान करने से मनुष्य को देवताओं के साथ रहने का लाभ मिलता है।

(४३) दक्षिणकोटि तीर्थ—(व०पु० १६०।९)। यह मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पडता है।

(४४) वत्सपुत्र तीर्थ—(व०पु० १६०।२०) यह मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पडता है।

(४५) महास्थल तीर्थ—(व० पु० १६०।२१)। यह क्षेत्र मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पडता है।

(४६) हयमुक्ति तीर्थ—व० पु० १६०।२४)। यह तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पडता है।

(४७) अश्वमुक्ति तीर्थ—(व० पु० १६०।२४)। यह तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पडता है।

(४८) शिवकुंड तीर्थ—(व० पु० १६०।२६)। यहाँ मल्लिका देवी के दर्शन होते हैं। यह तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पडता है।

(४९) कदंबखंड तीर्थ—(व० पु० १६०।२७)। मथुरा-परिक्रमा करनेवाले यहाँ योगिनी चर्चिका देवी के दर्शन करते हैं। यथा—

"कदंबखंडकं नंदं वनं नंदीश्वरं तथा।
नंदनं वनखंडं च पलाशाशोककेतकी॥"
—पद्म० पा० ख० पृ० ५८४, १९

(५०) वर्षखात कुंड—यह पापहर तीर्थ मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में पडता है (व०पु०-१६०।३०)।

(५१) क्षेत्रपाल तीर्थ—(व० पु० १६०।३०)। यह भूतेश्वर शिव का स्थान है। मथुरा-परिक्रमा की यात्रा में यह पडता है।

(५२) वलिहृद तीर्थ—यहाँ कृष्ण जल-क्रीडा करते हैं। (व० पु० १६०।३४) मथुरा-परिक्रमा करते समय यात्रा में यह पडता है।

(५३) नारायण-स्थान तीर्थ—(व० पु० १६०।३९) मथुरा-परिक्रमा में पडता है।

(५४) सकेतकेश्वरी तीर्थ—(व० पु० १६०।४६) मथुरा-परिक्रमा में यहीं महादेव गोकर्णेश्वर के दर्शन होते हैं।

(५५) विघ्नराज तीर्थ—(व० पु० १६०।४९) मथुरा-परिक्रमा।

(५६) महादेवमुखाकार मंदिर तीर्थ—(व० पु० १६०।५१) मथुरा परिक्रमा।

(५७) क्षेत्रपंत तीर्थ—(व० पु० १६०।५१) मथुरा-परिक्रमा।

(५८) उत्तर-कोटि तीर्थ—(व० पु० १६०।५२) मथुरा परिक्रमा।

(५९) महातीर्थ—यह यमुना तट पर है (व० पु० १६०।५६)। मथुरा-परिक्रमा।

(६०) गार्ग्य तीर्थ—(व० पु० १६०।५७) मथुरा-परिक्रमा।

(६१) सोम तीर्थ—(व० पु० १६०।५७) मथुरा परिक्रमा।

(६२) सरस्वती-संगम तीर्थ—(व० पु० १६०।५९) मथुरा परिक्रमा और देखिए,—व० पु० १६०।४८।

(६३) गरुड़ तीर्थ—(व० पु० १६०।५९) मथुरा-परिक्रमा।

(६४) धारालोपन तीर्थ—(व० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा।

(६५) वैकुंठ तीर्थ—(व० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा। यहाँ एक मिथिलावासी को यही शांति मिली थी जो ब्रह्म हत्या का पातकी था (व०पु० १६३।१-१०)। 'यह पत्थर का घाट है, जिस पर पानी में निकले हुए पाच व छः सुंदर पुस्ते हैं' (भा० अ०, प्र० स० पृ० २४५)।

(६६) खंडवेलक तीर्थ—(व० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा।

(६७) मंदाकिनी तीर्थ—(व० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा।

(६८) असिकुंड तीर्थ[१]—(वि० पु० १६०।६०) मथुरा-परिक्रमा और देखिए (व० पु० १६३।१३)।

चारो सागरों से घिरी हुई पृथ्वी पर जितने तीर्थ हैं, उनमें मथुरा के तीर्थ अधिक फल देने-

वाले हैं, पर इनमें से भी असिकुड तीर्थ महत्तर हैं (व० पु० १६६।२८)।

(६६) गोपी तीर्थ—(व० पु० १६०।६१) मथुरा-परिक्रमा।

(७०) मुक्तिकेश्वर तीर्थ—(व० पु० १६०।६१) मथुरा-परिक्रमा।

(७१) गरुड़ तीर्थ—(व० पु० १६०।६१) मथुरा-परिक्रमा।

(७२) चक्रतीर्थ—यह तीर्थ मथुरा के उत्तर में स्थित है[1]। यहाँ अभ्रेश्वर महादेव के दर्शन होते हैं (व० पु० १६२।१, ४६, ५७)। यहाँ आने पर शहर और यमुना मिल जाती हैं। घाट पत्थर से बना है (भा० अ०, प्र० स० पृ० २४४)।

(७३) सौकरव तीर्थ—(व० पु० १६३।३)।

(७४) गंधर्व तीर्थ—(व० पु० १६३।१३)।

(७५) गोवर्धन क्षेत्र—(व० पु० १६४)। "यह मथुरा के पश्चिम में दो योजन (आठ कोस) पर स्थित है। वहाँ एक तालाब है जिसमें चार तीर्थ हैं—(१) पूर्व में इंद्र तीर्थ है, (२) दक्षिण में यम तीर्थ है, (३) पश्चिम में वरुण तीर्थ और (४) उत्तर में कुबेर तीर्थ है। जो व्यक्ति इस तालाब में जिसका नाम—'मानसगगा' है, स्नान करके गोवर्धन में हरि के दर्शन करता है और वही अन्नकूट (पर्वत) की परिक्रमा करता है, वह सभी चिंताओ से मुक्त हो जाता है। यहाँ पुडरीक तीर्थ और आप्सराकुड है। सकर्षण तीर्थ की रक्षा बलराम स्वय करते है। अन्नकूट के पास ही इद्र तीर्थ है। एक समय जब कृष्ण ने यहाँ इद्र की पूजा रोक दी तो इंद्र ने रुष्ट होकर खूब पानी बरसाया, किंतु कृष्ण ने गिरि को ऊपर उठाकर उसके नीचे सबकी रक्षा की। तभी से यह पर्वत अन्नकूट नाम से प्रसिद्ध हो गया।

"यही पर कदंबखड नामक कुड है। यहाँ का राधाकुंड सभी पापो को हरनेवाला है। अरिष्ट, राधाकुड और मोक्षराज तीर्थ मुक्ति प्रदायक है। अरिष्ट, राधाकुड के पूर्व में इद्रध्वज तीर्थ है। इद्रध्वज तीर्थ से जाकर चक्रतीर्थ में स्नान करना चाहिए और अन्नकूट पर्वत की परिक्रमा करनी चाहिए।"

गोवर्धन-क्षेत्र—(व० पु० १६५)। 'गोवर्धन-गिरि और यमुना के बीच में रमणीक और लोकविश्रुता मथुरा नगरी स्थित है।' (व० पु० १६८)—गोवर्धन और अक्रूर तीर्थ (मथुरा) की उत्तर-दक्षिण-स्थित दो कोटियाँ है।

विष्णुपुराण (अश ५।१०।३८) में गोवर्धन शैल का उल्लेख आया है। ब्रह्मपुराण (२७।४४ और ६१।१) में गोवर्धन को महात्मा भार्गव का रम्य एव पुण्य स्थान बताया है। ब्रह्मपुराण (१८७ और १८९ अध्याय) में गोवर्धनलीला का वर्णन है। अधिकाश पुराणो में कृष्ण-चरित्र का समावेश होने से मथुरा, गोकुल, गोवर्धन का विभिन्न प्रकार से और बार-बार वर्णन किया गया है।

साराश में इस विशाल भारतवर्ष में मथुरा का अन्यान्य तीर्थों में विशेष स्थान है। भारत भूमि का एक-एक कण अपना निजी इतिहास अपने अतर में छिपाए है। वह इतिहास उस गौरवमय स्वर्णिम दिनो का है और यही कारण है कि भारतवासी अनत सौभाग्य और अक्षय पुण्य वाले हैं। भारतवासी धन्य है और मथुरापुरी से अलकृत यह भारतवर्ष धन्य है, जिसकी वदना करते हुए पुराणादि नही अघाते—

"अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जंबूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोन्या भोगभूमय.॥

[1] इसे अब असकुंडा घाट कहते हैं। 'यह पत्थर का घाट है जिस पर पानी में निकले हुए कई गुम्ते है। इस स्थान को 'बाराह क्षेत्र' भी कहते है। यहाँ एक मदिर में बाराह जी और गणेश जी की मूर्ति और शिवताल कुंड है (भा० अ०, प्र० सं० पृ० २४५)।

अत्र जन्मसहस्त्राणां सहस्रैरपि संतमम् ।
कदाचिल्लभतेजं तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात् ॥"

❋

"गायंति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवंति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

❋

कर्माण्यसंकल्पिततत्फलानि संनस्य विष्णौ परमात्मभूते ।
अवाप्य तां कर्ममहीमनते तस्मिँल्लयं ये त्वमलाः प्रयाति ॥"

—विष्णुपुराण २।३।२२-२५



श्री मथुरा : महिमा

साहित्य-सूर्य—सूरदास

राग-मलार

जै, जै, जै श्री मथुरा सुखकारी।
चक्र सुदरसन-ऊपर राजति, केसव जू की प्यारी ॥
हाटक कोट कँगूरा राजत, हीरा रतन जरे।
मनि-मै भवन उतग सुहाए, नवधा-भक्ति भरे ॥
घर-घर मगल महा महोच्छव, हरि-रस-माँते लोग।
मधु मेवा पकवाँन मिठाई, खट-रस-बिजन-भोग ॥
दही-दूध के ढेर सु जित-तित, सुरभी सबै सुवेस।
अष्ट महा सिधि बीथिन-बीथिन, सुमन गहें सुर केस ॥
परँम धाँम बैकुठ ते आगर, श्री बाराह बखाँनी।
भक्ति-मुक्ति के बाजन बाजें, क्रीडत सारँग-पाँनी ॥
तीरथ सकल मधुपुरी-सेवत, सुर, नर, मुनि-जन आवें।
सदाँ प्रीति-हित काँह्न बिराजें, नारदादि गुन गावें ॥
अखिल भुवन की सोभा मथुरा, महिमा कही न जाइ।
धनि-धनि मथुरापुरी-सिरोमनि, निज मुख करी बडाइ ॥
अगतिनकी गति (जै) श्री मथुरा, हरि-दरसन-रजधाँनी।
मथुरा-छाँडि अँनत रति करिऐ, जाते और न हाँनी ॥
मथुरा निकट कबहुँ नाँहि निरखें, ते मतिमद अभागे।
जननी बोझ बृथाँ ही मारी, जम के कागर दागे ॥
निमिष एक मथुरा कौ बासी, जननी-जठर न आवै।
जे बड भागी रहें निरतर, तिन की कौन चलावै ॥
मथुरा-सरन सदाँ मोहि राखौ, बिनती करो सो दीजे।
'सूरदास' द्वारें ह्वै गावै, कृष्ण-चरँन-रति कीजै ॥

ब्रज और राजस्थान

श्री श्रीपतराम गौड

वैदिक-सरस्वती राजस्थान के टीलो में लीन हो गई, पर उसके रग से शाकभरी के रूप का लावण्य 'सुकुमार-मथुरा काल-भगिनी' में फूट पडा। शमी की समिधा ने 'अर्बुद' के यज्ञकुड से छत्तीस राजकुलो को जन्म दिया और ब्रज के करील-कुजो में जो आचार बनाया गया उसका उपयोग सपूर्ण आर्यावर्त्त ने किया। कूर्म का हृदय और मत्स्य का जीवन एक ही 'सरस्वान्' है। ब्रज-धन के भक्तो की शरण विराट् राजस्थान है, यही पर उनकी लोह-अर्गलाएँ गलती है। ब्रजकिशोर के चरणो की धूल इकट्ठी करते-करते यह राजस्थान रजस्थान बना—वह महिमामयी रज जिसमें निराकार को आकार मिला। ब्रज तो ससार को कहते है। वह स्वय एक विराट् भूमडल है—अपने में ही त्रिलोकी है—बल्कि तीन लोक से भी न्यारी है, पर यदि पृथ्वी से ऊपर उठी हुई त्रिलोकी का दर्शन आप करना चाहते है तो श्याम के मुख की रज देखिये। इसीलिए ब्रज और रज के इस अभिन्न सबध से दो प्रदेश धन्य हुए—एक ब्रजमडल और दूसरा राजस्थान—

"यह ब्रज रज है वह रज-ब्रज है।"

ब्रज-रज में तो रज ही मुख्य और यदि आप कहते है कि "गोकुल गाँव को पैडौ ही न्यारौ"—तो महर्षि विश्वामित्र-विनिर्मित 'मार्गहीन यह रेगिस्तान' भी तो ब्रह्मा के विश्वसे अलग ही है। पुष्कर और गोकुल एक ही विश्वात्मा की दो शक्तियो के रूप हैं।

आभीर देश की एक आभीर-बाला ने अपने आपको एक आर्यपुत्र की दासी बना डाला। विराट् के स्वर-सकेत पर वह आँधी की तरह उस श्यामघन से मिलने गई और उसमें मिलकर एक हो गई। राधा के बिना कृष्ण और कृष्ण के बिना राधा की कल्पना भी कौन कर सकता है? कृष्ण चले गये—राधा को अकेली छोडकर। राधा ने एक आँसू भी न गिराया—ब्रज में। उसने 'रूठी रानी' बन कर अपने आँसू अपने नैहर की धूल में तीन सौ हाथ गहरे गाड दिये। ब्रज आज राधा के विरह को भूल गया है, पर हम राजस्थानी जब 'अपनी राधा को याद करते हैं' और उसके आँसुओ को जेठ की गर्म-गर्म आहो के साथ पीते है तो हम भी 'विरा' जाते है, अर्थात् विरहा जाते हैं—यानी विरह की पीर से मर जाते है।[1]

प्यास, राजस्थान का एक मात्र धन है और धन्य है वह प्यास जो ब्रजकिशोर की रूप-माधुरी से ही बुझती है। राजस्थान की अनेक पुतात्माओ ने अपने आप को इस प्यास पर न्यौछावर किया। प्रेम-विह्वला मीरा ने—'अँसुओ के जल से सीच-सीच कर प्रेम की बेलि बोई' और उन्नीसवें पुराण तथा पाँचवें वेद के वक्ता महाराज पृथ्वीराज ने उस बेलि का ललित विलास दिखलाया।

ब्रज और राजस्थान का स्वर यहाँ एक है, भाषा एक है, भाव एक है। राजस्थानी और ब्रज में अंतर ही क्या है? राजस्थान के षड्भाषा-प्रवीणो ने ब्रज-भाषा को तो 'घर की रोटी दाबडी' समझा और सबसे अधिक उसी में लिखा और कुछ ने अपनी मातृ-बोली को भुला कर काव्य केवल 'पिंगल' में ही रचा तो कोई बराबर दोनों में लिखता रहा, पर एक क्षण के लिए भी राजस्थान ब्रज को

[1] राजस्थानी में विराने का अर्थ है खारे पानी के विष से मरना। इसमें शरीर काला हो जाता है और प्यास बढ जाती है। सभवत. यह विराना विरह से ही बना हो।

भूल नही सका। इसीलिए ब्रज और राजस्थानी दोनो मिलकर एक हो गयी और उनका इतिहास एक साथ लिखा गया। सूर आदि भक्तो की छाप राजस्थान के भक्तो पर स्पष्ट है और डिंगल के वीर-कवियो का प्रभाव भूषण, लाल, सूदन आदि पर भी पड़े बिना नही रह सकता था। ब्रज की अमूल्य साहित्य-निधि राजस्थान के कीटो का कलेवा बन रही है और राजस्थान के गौरवपूर्ण साहित्य के बिना सपूर्ण हिंदी-साहित्य प्राणों की प्रतीक्षा कर रहा है—इस विषय पर बहुत कम लोग सोचते है।

भारतीय सस्कृति में समन्वय पाया जाता है। समन्वय विभिन्न घटको होता है। राजस्थान और ब्रज ने इस समन्वय में योग दिया। राजस्थान ने समर्पण सीखा है, ब्रज ने भी आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण सीखा है। राजस्थान ज्वाला है जिसकी चिंगारी ब्रज में है। राजस्थान में जो होली के साज सजाये गये—वे अनत दूरी के दीपक—'काल-जाह्नवी की तरगो' में कभी बुझ न सकेंगे। राजस्थान ने अपने दीर्घ तपस्या-काल में उपासना सीखी है। राजस्थान ने शक्ति की उपासना की थी, आज भी वह शक्ति का ही उपासक है। पहले रणचडी की उपासना की थी, अब लक्ष्मी की उपासना कर रहा है और भैरवी-चक्रो में त्रिपुर-सुदरी की उपासना भी कर चुका है। ब्रज उपास्य देवो की भूमि है—महाकाल, इद्र, गोवर्द्धन और नटनागर की भूमि है।

राजपूती-जीवन का सार है—वीरत्व और ब्रज-जीवन का सार है—नटनागर से प्रेम। वीरत्व और प्रेम दोनो मिल कर राजपूती जीवन का आदर्श बनते है—

"तीखा तुरी न माणवा, मड़ सिर खग्ग न भग्ग।
जलम अकारथ ही गयो, गौरी गले न लग्ग॥"

राजस्थान और ब्रज का सबध वीरत्व और प्रेम का सबध है।" एकलिंग और श्रीनाथजी में दूरी ही क्या? अर्बुद की चोटियाँ तो केवल गोवर्द्धनधारी के चरणोमें ही झुकी है।

राजस्थान ने अपने रक्त से मृत्यु की उपासना की और ब्रज ने अपने हृदय से अमृत की और दोनो की समिलित उपासना ने आर्यावर्त्त को सदा के लिए अमर बना दिया। प्रेम की पीर के घायल वीरो ने हृदय के रक्त से जिस दिव्य सदेश के लिए स्याही तैयार की थी, उसको तलवार की नोक से काल की छाती पर वे सदा के लिए लिख गये।



प्राचीन जैन-साहित्य में मथुरा

श्री जगदीशचंद्र जैन

जैन छेद सूत्रो के अतर्गत वृहत्कल्प सूत्र (१। ५०) में कहा गया है—"निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथिनी साकेत (अयोध्या) के पूर्व में अग-मगध तक, दक्षिण में कौशावी तक, पश्चिम में स्थूणा (स्थानेश्वर) तक और उत्तर में कुणाला (उत्तर कोशल) तक विहार कर सकते हैं, इसके आगे नही। इतने ही आर्य-क्षेत्र है, क्योकि इन्ही क्षेत्रो में साधुओ के ज्ञान, दर्शन और चारित्र अक्षुण्ण रह सकते है।" इससे मालूम होता है कि आरभ में जैन-श्रमणो का विहार-क्षेत्र आधुनिक विहार और पूर्वीय और पश्चिमीय उत्तर प्रदेश के कुछ भागो तक ही सीमित था। जैन-सूत्रो से पता लगता है कि अशोक के पुत्र तथा आर्य 'सुहस्ती' और आर्य 'महागिरी' के समकालीन 'उज्जयिनी' के राजा 'सप्रति' ने इस सीमा में अभिवृद्धि की। सप्रति ने साढे पच्चीस देशो को 'आर्य-क्षेत्र' घोषित किया। इनमें अधिकतर विहार तथा पूर्वीय उत्तर प्रदेश के ही स्थान गर्भित हैं। पश्चिमीय उत्तर प्रदेश कुरु, कुशावर्त (आगरा के आस-पास का प्रदेश), पाचाल (रुहेल खड), जागल (गगा और उत्तर पाचाल के बीच का प्रदेश), वरणा (वुलद शहर) और शूरसेन (मथुरा के आस-पास का प्रदेश) नामक प्रदेशो की गणना भी उक्त साढे पच्चीस देशो में की गई है। इससे मालूम होता है कि मथुरा तक जैन-धर्म पहुँचने में काफी समय लग गया।

निशीथ सूत्र (६।१६) और ठाणाग सूत्र (१०।७१८) में चपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ति, साकेत, कापिल्यपुर, कौशावी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह ये भारत की दस मुख्य राजधानियाँ गिनाई गई है। जैन-ग्रथो में मथुरा अथवा उत्तर मथुरा (दक्षिण की मथुरा—मदुरा से भिन्न) को उत्तरापथ का महत्त्वपूर्ण नगर बताते हुए उसे 'अर्हंत-प्रतिष्ठित', 'चिरकाल-प्रतिष्ठित' आदि रूप में उल्लिखित किया गया है। इस नगर में खेती नही होती थी और यह व्यापार का केंद्र-स्थल था, इसलिये मथुरा को 'स्थल-पट्टन' के उदाहरणो में गिनाया है। मथुरा वस्त्र के लिये प्रसिद्ध था।

जैन-सूत्रो में मथुरा को 'पाखंडिगर्भ' कहा है, इससे मालूम होता है कि यहाँ अनेक साधु-सन्यासी रहा करते थे। आवश्यक चूर्णि (१, पृ० ४११) से पता लगता है कि युग-प्रधान आर्य-रक्षित आचार्य विहार करते हुए मथुरा में आये और वे 'भूतगुहा' नामक चैत्य में ठहरे। यहाँ आर्य मगु काल-धर्म को प्राप्त हुए और मरकर निद्धवण यक्ष हुए। यहाँ उनका चैत्य निर्माण किया गया (वही २, पृ० ८०)।

मथुरा 'भडीरवन'[1] की यात्रा के लिये प्रसिद्ध था। भडीर नाम का एक वट-वृक्ष था। महाभारत (२।५३।८) और हरिवश पुराण (२।११।२३) में भी भडीर नामक 'न्यग्रोध-वृक्ष' का उल्लेख मिलता है। यह वृक्ष पर्वत के अग्र भाग के समान विशाल (पर्वताग्राभ) था और इसपर कृष्ण अपने साथियो के साथ क्रीडा किया करते थे। आवश्यक चूर्णि (२, पृ० २८०।१) में मथुरा के 'जिनदास श्रावक' की कथा आती है। जिनदास बडा धर्मात्मा था और वह व्रत-प्रत्याख्यान किया करता था। उसके घर एक अहीरन (आभीरी) दूध बेचने आती थी। एक बार की बात है, अहीरन के लड़के का विवाह होनेवाला था। उसने जिनदास को विवाह में संमिलित होने का निमंत्रण दिया। जिनदास विवाह में तो संमिलित नही हो सका, परतु उसने वर-वधु के लिये नाना-प्रकार के वस्त्र और आभरण भेंट दिये। कुछ समय बाद अहीरन ने जिनदास को दो-तीन वर्ष के हृष्ट-पुष्ट दो बछड़े भेंट में भेजे। जिनदास के

[1]. शुद्ध नाम—भांडीरवन।

मना करने पर भी वह इन बछडो को जबर्दस्ती जिनदास के घर बाँध कर चली गई। एक बछडे का नाम था 'कवल', दूसरे का 'शवल'। एक बार श्रावक का कोई मित्र भडीरवट[1] की यात्रा के लिये जा रहा था। वह इन वैलो को गाडी में जोतकर ले गया। इस प्रकार और भी बहुत से लोग जिनदास के वैलो को माँग कर ले जाते। इससे वैल बहुत अशक्त हो गये और घास-चारा न मिलने के कारण मर गये। दोनो वैल मरकर 'नाग कुमार' देवो की योनि में उत्पन्न हुए और महावीर भगवान् की रक्षा करने लगे। स्मरण रखने की बात है कि ब्राह्मणो के हरिवश पुराण (२।२६।५५) में भी हाथ में चामर लिये हुए 'कवल' और 'अश्वतर' नामक दो नागो का उल्लेख आता है, जो कृष्ण भगवान् की पूजा-उपासना में दत्तचित्त रहते थे। दीघनिकाय (२।२५८) और जातक (६।१६५) में भी सुमेरु पर्वत के पादतल में रहने वाले 'नागवशीय' कवल और अश्वतर का उल्लेख मिलता है।

विविध तीर्थ-कल्प (९) के अनुसार मथुरा में 'अक्कस्थल', 'वीरस्थल', 'पद्मस्थल', 'कुशस्थल', 'महा-स्थल' नामके पाँच स्थल और 'लोहज घवन', 'मधुवन', 'विल्ववन', 'तालवन', 'कुमुदवन', 'वृदावन', 'भडीर वन', 'खदिरवन', 'कामियवन', 'कोलवन', 'बहुलावन' और 'महावन' नाम के बारह वन[2] थे। मथुरा के 'विश्रातिक', 'असिकुड', 'वैकुठ', 'कालिजर' और 'चक्रतीर्थ' नामके पाँच तीर्थो का उल्लेख भी उक्त ग्रथ में मिलता है।

जैन-सूत्रो में मथुरा में देव-निर्मित (रामायण ७।७०।५ में भी मथुरा को देव-निर्मित कहा गया है) 'रत्न-स्तूप' होने का उल्लेख मिलता है। वृहत्कल्प भाष्य (५।१५३६) में कहा है कि जैसे 'धर्म-चक्र' के लिये उत्तरापथ और 'जीवत स्वामी' प्रतिमा के लिये कोशल प्रसिद्ध है, उसी प्रकार देव-निर्मित स्तूप के लिये मथुरा प्रसिद्ध है। मथुरा के इस स्तूप का सब से प्राचीन उल्लेख व्यवहार भाष्य (५।२७।२८) में उपलब्ध होता है। एक बार किसी क्षपक (जैन-श्रमण) ने मथुरा में आकर तपस्या की। देवता ने प्रसन्न होकर वरदान माँगने को कहा, परतु क्षपक ने कहा कि तुम असयती हो, इसलिये तुमसे मेरा प्रयोजन सिद्ध न होगा। देवता ने मथुरा में एक रत्नमय स्तूप का निर्माण किया। इस स्तूप को रक्तपट (बौद्ध) अपना बताने लगे। बौद्धो के साथ जैन-सघ का छ महीने तक विवाद चलता रहा। सघ ने क्षपक से देवता का आसन कपायमान करने को कहा। देवता ने उपस्थित होकर सघ से कहा—

"तुम लोग राजा के पास जाकर निवेदन करो कि यदि कल स्तूप पर रक्त पताका फहरेगी तो वह रक्तपटो का है और यदि शुक्ल पताका दिखाई देगी तो वह जन-संघ का है।"

देवता ने स्तूप पर शुक्ल पताका फहरा दी। इस पर राजा ने स्तूप जैनो को दे दिया। वृहत्कल्पसूत्र भाष्य (६।६२७५) से मालूम होता है कि एक बार कुछ साध्वियाँ और श्राविकायें इस स्तूप की पूजा के लिये जा रही थी कि उन्हें वोधिक चोर भगा कर ले गये।

मथुरा में जैन-धर्म का बडा प्रभाव था, जिसके फलस्वरूप मथुरा नगरी में जो नये गृहो का निर्माण होता था, उनके आलो (उत्तरग) में मगलार्थ 'अर्हत-प्रतिमा' स्थापित की जाती थी, अन्यथा उन घरो के गिर जाने की शका रहती थी। इस प्रकार के 'मगलचैत्य' मथुरा नगरी और उसके आस-पास के छियानवें ग्रामो (ग्रामार्ध) के घरो और चौराहो पर बनाये जाते थे (वही, १।१७७४ आदि)।

मथुरा के जैन-स्तूप की कथा 'विविध तीर्थ-कल्प' में भी उल्लिखित है। एक बार की बात है कि 'धर्मरुचि' और 'धर्मघोष' नाम के दो मुनि विहार करते हुए मथुरा में आये। यह नगरी धवल — गृह, वकुल, वापी, कूप, पोक्खरिणी, जिन-भवन, हाट आदि से सुशोभित थी[3] और यहाँ ब्राह्मण पडित

१. भांडीरवट।

२. मथुरा में अभी भी महावन, कदबवन, पीलुवन, मधुवन, खदिरवन, तालवन और वृंदावन मामके जूद है। देखिये आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ इडिया, रिपोर्ट १८८२-३, जिल्द २०, पृ० ३, कनिंघम।

३. मथुरा नगरी के वर्णन के लिये देखिये ब्राह्मणों का हरिवंश पुराण (१।५४।५६ इत्यादि)।

निवास करते थे। ये मुनि चातुर्मास व्यतीत करने के लिये 'भूत रमण' नामक एक उपवन में ठहर गये। मुनियो की तपस्या से प्रसन्न होकर कुबेर देवता उनके समक्ष प्रकट हुई और वर माँगने को कहा, परतु साधुओ ने मना कर दिया। साधुओ ने सघ-सहित मेरु पर्वत के चैत्यों की वदना कराने का देवता से अनुरोध किया, परतु देवता ने कहा कि वह केवल दो व्यक्तियो को मेरु की वदना करा सकती है। इस पर देवता ने वही पर प्रतिमाओ सहित मेरुआकार प्रदर्शित करने के लिये सोने का एक रत्न-जटित स्तूप बना दिया जो तोरण, ध्वजा, मालाओ और तीन छत्रो से अलकृत तथा तीन मेखलाओ में विभाजित था। प्रत्येक मेखला में चारो ओर पच वर्ण के रत्नमय बिंब बनाये गये, जिनमें प्रधान मूर्ति 'सुपार्श्व स्वामी' की थी। प्रात काल स्तूप देखकर लोग परस्पर कलह करने लगे। कोई उसे 'वासुकि-लाछन स्वयभू' कहता, कोई 'शेषशायी नारायण', कोई 'ब्रह्म', कोई 'धरणेंद्र', कोई 'सूर्य', कोई 'चद्र' और कोई उसे 'बुद्धाड' बताता। अत में निश्चय किया गया कि सब अपने-अपने देवो को चित्रपट लिखकर स्तूप पर लगाएँ, जिस देव की मूर्ति स्तूप में होगी, उस देव का पट बच जायगा, बाकी पट नष्ट हो जायेंगे। जैन-सघ ने सुपार्श्व स्वामी का चित्र पट बनाया। आधी रातको बहुत जोर का अघड आया जिसमें सब पट फट-फट कर गिर पडे, केवल सुपार्श्व का पट बाकी बचा। इस पट को नगर में घुमाया गया, पट का अभिषेक किया गया और पुष्प, धूप, वस्त्र, महाध्वज आदि से उसकी पूजा की गयी। इस समय 'धर्म घोष' और 'धर्म रुचि' नामक दोनो मुनियों ने सिद्धि प्राप्त की और उस समय से मथुरा 'सिद्ध-क्षेत्र' माना जाने लगा। बहुत काल तक यह स्तूप अनावृत्त पडा रहा। आगे चलकर इसे ईंटो से ढक दिया गया।

महावीर के मोक्ष प्राप्त करने के १३०० वर्ष पश्चात् (लगभग ७५० ईसवी सन्) बप्पभट्टि का जन्म हुआ। उन्होने इस तीर्थ का उद्धार किया और इसे कानन, कूप, कोह आदि से मडित किया[1] तथा चौरासी[2] एणिका (स्तूप) बनवाई। जब इस स्तूप की ईंटे गिरने लगी तो इसे पत्थरो से वेष्टित किया गया। इसमें हजारो मूर्त्तियाँ, देवकुल, रहने के स्थान (आवासणिआपएस) और गध-कुटी से सज्जित किया तथा 'नर वाहना' 'कुबेरा', 'सिंहवाहना' 'अबिका', और कुत्ते की सवारी किये हुए 'क्षेत्रपाल' इसकी रक्षा करने लगे।

दिगबर परपरा में मथुरा के जैन स्तूप की दूसरी कथा दी गई है। मथुरा में 'पूतिमुख' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम 'उर्विल्ला' था। उर्विल्ला जैन-धर्म की अनुयायिनी थी। एक बार राजा किसी बौद्ध-आचार्य द्वारा पोषित 'दरिद्रिका' नामक एक सुदर कन्या को देख कर मोहित हो गया। राजा ने बौद्ध-भिक्षुओ को बहुत-सी दान-दक्षिणा देकर कन्या के साथ विवाह कर लिया और उसे पटरानी बना दिया। एक बार की बात है, फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन उर्विल्ला 'जैन-रथ-यात्रा' निकालना चाहती थी, परतु बौद्ध पटरानी ने इसका विरोध किया और कहा कि पहले बौद्ध-रथ निकलने के बाद ही जैन-रथ निकल सकेगा। उर्विल्ला 'सोमदत्त' मुनि के पास पहुँची। सोमदत्त ने 'वैर कुमार' के पास जाकर सब हाल कहा। इस पर वैर कुमार 'अमरावती' गये और वहाँ से देव और विद्याधरो को अपने साथ लेकर मथुरा आये। देव और विद्याधर भीषण-रूप धारण कर आकाश में छा गये। उन्होने बौद्ध-रथ को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और उर्विल्ला के सोने के रथ को नगर में घुमाया। इस अवसर पर जिन-गृह के सामने महा रजत निर्मित पाँच

१. देखिये प्रबध कोश में बप्पभट्टि सूरि-प्रबध।

२. मथुरा के ककाली टीले के पास चौरासी टीला है। इसकी खुदाई से चौरासी स्तूपो पर कुछ प्रकाश पड सकता है। मथुरा में चौरासी नामक स्थान आज भी दिगबर जैनो द्वारा पवित्र धाम माना जाता है।

स्तूपो का निर्माण किया गया। इन स्तूपो की पूजा-उपासना करके देव और विद्याधर अपने-अपने स्थानो को लौट आये (बृहत्कथा-कोष १२)।

दूसरी परंपरा कवि 'राजमल्ल' विरचित 'जंबू स्वामि-चरित' (१) में दी गयी है। एक बार भटानिया (कोल-अलीगढ) के निवासी 'साहु टोडर' सिद्ध क्षेत्र की यात्रा करने के लिये मथुरा आये। यहाँ अत्यकेवली जंबू स्वामी का नि सही स्थान (नशियाँ) बना हुआ था और उनके चरणो में 'विद्युच्चर' नामक मुनि का स्तूप विद्यमान था। उसके आसपास 'मोक्षगामी' अन्य अनेक मुनियो के स्तूप मौजूद थे। ये स्तूप कही पाँच, कही आठ, कही दस, और कही बीस की सख्या में बने हुए थे। स्तूप जीर्ण हो गये थे। साहु टोडर को इनका जीर्णोद्धार कराने की प्रबल इच्छा हुई। उन्होने इस कार्य में बहुत-सा धन व्यय करके ५०१ स्तूपो का एक समूह और १३ स्तूपो का दूसरा, इस प्रकार ५१४ स्तूपों का निर्माण कराया। इन स्तूपो के पास १२ द्वारपाल आदि की स्थापना की। स्तूपो की प्रतिमा का यह कार्य विक्रम सवत् १६३० में ज्येष्ठ शुक्ला १२ को बुधवार के दिन सपन्न हुआ।

मथुरा के जैन-स्तूप की अनुश्रुति की सत्यता उत्कीर्ण लेखो से प्रमाणित होती है। कनिघम आदि पुरातत्त्व-वेत्ता विद्वानो की खोजो से इस बात का पता लग गया है कि मथुरा में स्थित 'ककाली टीला' ही प्राचीन काल का जैन-स्तूप है। यहाँ से अनेक जैन-मूर्तियाँ, आयागपट्ट और उत्कीर्ण लेख पाये गये हैं। इन उत्कीर्ण लेखो में जो विभिन्न गण, कुल और शाखाओ का उल्लेख है वह उल्लेख 'भद्रबाहु' के कल्प सूत्र की 'स्थविरावलि' से मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में मथुरा में जैनो का काफी प्रभाव था[१]। बौद्ध-परपरा के अनुसार 'बुद्ध भगवान्' जब विहार करते हुए मथुरा आये तो कहते है कि 'नक्षत्ररात्र' नामक देवता नग्न होकर उनके सामने खडी हो गयी। इससे भी मथुरा में 'नग्न जैन-श्रमणो' का प्राबल्य मालूम होता है।[२]

मथुरा जैन-आगमो की वाचना के लिये भी प्रसिद्ध था। इन आगमो की 'पाटलिपुत्र' में प्रथम वाचना होने के पश्चात् जब कालक्रम से जैन-आगमो का विच्छेद होने लगा तो महावीर निर्वाण के ८२७-८४० (३६०-३७३ ई० स०) वर्ष पश्चात् 'आर्य स्कदिल' की अध्यक्षता में मथुरा में दूसरी परिषद् बुलाई गई। नदि चूर्णि (पृ० ८) से मालूम होता है कि इस समय महान् दुष्काल पडा जिससे जैन-श्रमणो को भिक्षा प्राप्त होना दुष्कर हो गया। जिससे अनेक श्रमण कालधर्म को प्राप्त हो गये और आगमो का अध्यापन रुक जाने के कारण जैन-सूत्रो का अधिकाश भाग विनष्ट हो गया। दुष्काल के समाप्त हो जाने पर मथुरा में परिषद् बुलायी गयी, जिसमें इधर-उधर से जो आगम के अश एकत्रित किए जा सके उन्हें एकत्रित किया गया। विविध तीर्थकल्प के अनुसार 'जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण' ने यहाँ दीमको से खाए हुए 'महानिशीथ' नामक आगम को जोड-तोड कर ठीक किया था।

१. देखिये आर्कियोलौजिकल सर्वे रिपोर्ट्स,—भाग ३, प्लेट्स १३-१५; बुहलर, दी इडियन सेक्ट ऑव दी जैन्स, पृ० ४२-६०; वियना ओरिंटियल जनरल जिल्द ३, पृ० २३३-४०; जिल्द ४, पृ० ३२३-३३२

२. देखिये, मूल सर्वास्ति वाद—विनय वस्तु, गिलगिट मैनस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३, भाग १, पृ० १४. यहाँ पर मथुरा को आदिराज्य कहकर उल्लिखित किया है। बुद्ध यहाँ पर चातुर्वर्णविशुद्धि का उपदेश देने आये थे। यहाँ हजारों यक्ष-यक्षिणी निवास करते थे। मथुरा में पाँच अलाभ (आदीनव) बताये गये है—यहाँ की भूमि पत्थर आदि के कारण विषम थी, यहाँ बहुत धूल उड़ती थी, भयानक कुत्ते थे, भयकर यक्षों का वास था और भिक्षा मिलने में कठिनाई होती थी। देखिये अगुत्तर निकाय, ३, पृ०२५६।

विदेशी लेखकों का मथुरा-वर्णन

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी

प्राचीन मथुरा-जनपद तथा नगर का वर्णन भारत आनेवाले या यहाँ के सबध में अन्य प्रकार से जानकारी प्राप्त करनेवाले अनेक विदेशी लेखको ने किया है। इन लेखको में यूनानी, चीनी, मुसलमान, फ्रांसीसी तथा अंग्रेज मुख्य हैं। इन्होने मथुरा के विषय में जो कुछ लिखा है उससे इस नगर के सबध में अनेक महत्त्वपूर्ण एव मनोरजक बातो का पता चलता है। इस लेख में हम इन लेखको के वृत्तातो की सक्षेप में चर्चा करेंगे।

मथुरा-सबधी सबसे पुराने लेख यूनानी लेखको के मिले हैं। ई० पू० चौथी शती के अत में 'मेगास्थनीज' नामक यात्री चद्रगुप्त मौर्य के दरबार में पाटलिपुत्र (पटना) आया था। उसने भारत के सबध में कितनी ही बातें लिखी हैं। उनमें शूरसेन प्रदेश का भी उल्लेख आया है। ई० दूसरी शती के लेखक 'एरियन' ने अपनी पुस्तक 'इडिका' में मेगास्थनीज के इस उल्लेख की चर्चा की है। इस ग्रथ में लिखा है—

"शौरसेनाइ (Sourasenoı) लोग 'हेराक्लीज' को बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं। शौरसेनाइ लोगो के दो बड़े नगर हैं—मेथोरा (Methora) और क्लीसोबोरा (Kleısobora)। उनके राज्य में जोबरेस (Jobares)[1] नदी बहती है, जिसमें नावें चल सकती हैं।"[2]

प्लिनी नामक एक दूसरे यूनानी लेखक ने लिखा है—

"जोमनेस (Jomanes) नदी मेथोरा और क्लीसोबोरा (Clısobora) के बीच से बहती है।"[3]

इस लेख का भी आधार मेगास्थनीज का उपर्युक्त लेख है।

टॉलमी नाम के लेखक ने मथुरा का नाम 'मोदूरा' Modura दिया है और उसकी स्थिति १२५-२७ ३०' पर लिखी है। उसने मथुरा को 'देवताओ का नगर' कहा है।[4]

यूनानी इतिहासकारो के इन वर्णनो पर विचार करने से पता चलता है कि मेगास्थनीज के समय में मथुरा-जनपद 'शूरसेन'[5] कहाता था और उसके निवासी शौरसेन। हेराक्लीज से यहाँ तात्पर्य श्रीकृष्ण से है। ई० पू० चौथी शती में शूरसेन-जनपद के सात्वत लोग श्रीकृष्ण को यदि देव के रूप में नही तो महापुरुष के रूप में अवश्य मानते रहे होगे और उनके प्रति बडे आदर का भाव रखते रहे होगे।

शौरसेन लोगो के जिन दो बडे नगरो का उल्लेख किया है उनमें पहला तो स्पष्ट ही मथुरा है। दूसरा क्लीसोबोरा कौन-सा नगर था, यह विवादास्पद है। जनरल 'एलेक्जेंडर कनिंघम' ने अब से

[1] किसी-किसी प्रति में यह नाम Jobares मिलता है।

[2] इंडिका, द मैक् क्रिडल—ऐंश्यंट इंडिया, मेगास्थनीज ऐंड एरियन, पृ० २०६ (कलकत्ता, १९२६ ई०)

[3] प्लिनी—नेचुरल हिस्ट्री, ६, २२।

[4] मैक्क्रिडल—ऐंश्यंट इडिया ऐज डिस्काइब्ड बाइ टॉलमी (कलकत्ता, १९२७) पृ० १२४

[5] जनपद का यह नाम शत्रुघ्न के पुत्र शूरसेन के नाम पर पड़ा और लगभग ईस्वी सन् के प्रारभ तक जारी रहा। इसके अनंतर जनपद का नाम उसकी राजधानी मथुरा के नाम पर 'मथुरा प्रचालित हो गया।

लगभग ८० वर्ष पूर्व अपना भारतीय भूगोल लिखते समय यह स्थापना की कि क्लीसोबोरा वृदावन के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसकी पुष्टि में उन्होने लिखा है कि कालिक नाग के वृदावन में रहने के कारण इस नगर का नाम 'कालिकावर्त्त' था। यूनानी लेखको के क्लीसोबोरा का शुद्ध पाठ वे कालिसोबोर्क (Kalısoborka) या कालिकोबोर्त (Kalıkoborta) समझते हैं। उन्हें इडिका की एक पुरानी प्रति में 'काइरिसोबोर्क' (Cynsoborka) पाठ मिला, जिससे उन्हें इस अनुमान को बल मिला,[१] परतु कनिंघम का यह अनुमान ठीक नही है। वृदावन में रहनेवाले नाग का, जिसका श्रीकृष्ण ने दमन किया नाम कालिय मिलता है, न कि कालिक। पुराणो या अन्य किसी साहित्य में वृदावन की सज्ञा कालियावर्त्त या कालिकावर्त्त मिल सके, इसमें भी सदेह है। कनिंघम ने कालिकावर्त्त नाम किस पुस्तक में देखा, यह उन्होने नही लिखा है। यदि हम क्लीसोबोरा को वर्तमान वृदावन मानें तो 'प्लिनी' का यह लिखना कि मथुरा और क्लीसोबोरा के बीच से यमुना नदी बहती थी असगत सिद्ध होगा, क्योकि वृदावन और मथुरा दोनो ही यमुना नदी के एक ही ओर स्थित है।

कनिंघम ने अपनी सन् १८८२-८३ की खोज रिपोर्ट में क्लीसोबोरा के सबध में अपना उपर्युक्त मत बदलकर इस शब्द का मूल रूप 'केशवपुरा'[२] माना और उसकी पहचान उन्होने मथुरा के केशवपुरा या कटरा केशवदेव मुहल्ले से की। केशव या श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान यहाँ होने के कारण यह स्थान केशवपुरा कहलाया। कनिंघम का कहना है कि यूनानी लेखको के समय में यमुना की प्रधान धारा या उसकी एक बडी शाखा वर्तमान कटरा केशवदेव की पूर्वी दीवाल के नीचे से बहती रही होगी और उसके दूसरी ओर मथुरा शहर रहा होगा। उन्होनें इस दीवाल के नीचे की आधुनिक निचली भूमि की ओर सकेत किया है, जो उत्तर में सीधी 'सगम तीर्थ-घाट' तक दिखाई पडती है और लिखा है कि यह उस प्राचीन धारा की सूचिका है जो प्राचीन काल में इधर से बहती थी और कटरा के कुछ आगे से दक्षिण-पूर्व की ओर मुडकर यमुना की वर्तमान बडी धारा में मिलती रही होगी।[३] जनरल कनिंघम का यह मत भी विचारणीय है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि किसी काल में यमुना की प्रधान धारा या उसकी एक बडी शाखा वर्तमान कटरा के नीचे से बहती रही होगी, पर इस धारा के दोनों ओर एक-एक बडा नगर रहा हो, ऐसा नही दिखाई पडता। यदि मथुरा से भिन्न केशवपुर या कृष्णपुर नाम का बडा नगर वास्तव में वर्तमान कटरा केशवदेव और उसके आस-पास होता तो कोई कारण नही कि उसका नाम पुराणो या अन्य साहित्य में न दिया जाता प्राचीन साहित्य में 'मधुरा' या 'मथुरा' का नाम तो बहुत मिलता है, पर कृष्णपुर या केशवपुर नामक नगर का पृथक् रूप से उल्लेख कही नही मिलता। अत ठीक यही जान पडता है कि यूनानी लेखको ने भूल से मथुरा और कृष्णपुर (या केशवपुर) को, जो वास्तव में एक ही थे, अलग-अलग लिख दिया है। भारतीय लोगो ने मेगास्थनीज को बताया होगा कि शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा'कृष्ण-पुरी' है। उसने इन दोनो नामो को एक-दूसरे से पृथक् समझ कर उनका उल्लेख अलग-अलग नगर के रूप में किया होगा। यदि शूरसेन-जनपद में मथुरा और कृष्णपुर नाम के दो प्रसिद्ध नगर होते तो मेगास्थनीज के कुछ समय पहले उत्तर भारत के जनपदो के

[१] देखिए कनिंघम्स ऐंश्यट जिओग्रफी ऑफ इडिया (स०—एस० एन० मजुमदार कलकत्ता, १९२४), पृ० ४२९।

[२] लैसन ने भाषाविज्ञान के आधार पर क्लीसोबोरा का मूल संस्कृत रूप 'कृष्णपुर' माना है। उनका अनुमान है कि यह स्थान आगरा में रहा होगा (इडिश्चे आल्टरटुम्स्कुडे' बॉन, १८६६, जिल्द १, पृ० १२७, नोट ३)।

[३] कनिंघम—आर्कयोलोजिकल सर्वे ऑफ इडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, जिल्द २०, (१८८२-३) पृ० ३१-३२।

जो वर्णन भारतीय साहित्य (विशेषकर बौद्ध एवं जैन ग्रंथों)[1] में मिलते हैं उनमें जहाँ शूरसेन जनपद के मथुरा नगर का उल्लेख है वहाँ इस जनपद के कृष्णपुर या केशवपुर[2] नगर का भी उल्लेख किया जाता, परंतु इन ग्रंथों में कहीं इस दूसरे नगर की चर्चा नहीं है।

यूनानियों के बाद चीनी-यात्रियों के द्वारा मथुरा का वर्णन मिलता है। इन यात्रियों में 'फाह्यान' तथा 'ह्यूआन्-चुआङ' बहुत प्रसिद्ध हैं। फाह्यान पश्चिमोत्तर मार्ग से भारत पहुँचा और ४०० ई० में लगभग मथुरा नगर में आया और यहाँ लगभग एक मास तक रहा। इसने लिखा है—

"यहाँ (मथुरा) के छोटे-बड़े सभी लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं। शाक्यमुनि (बुद्ध) के बाद से यहाँ के निवासी इस धर्म का पालन करते आ रहे हैं। मोटुलो (मथुरा) नगर तथा उसके आस-पास पूना (यमुना) नदी के दोनों ओर २० संघाराम (बौद्धमठ) हैं, जिनमें लगभग ३००० भिक्षु निवास करते हैं। छः बौद्ध स्तूप भी हैं। सारिपुत्र के सम्मान में बना हुआ स्तूप सबसे अधिक प्रसिद्ध है। दूसरा स्तूप आनंद के तथा तीसरा मुद्गल-पुत्र की याद में बनाया गया है। शेष तीनों क्रमशः अभिधर्म, सूत्र और विनय के लिये निर्मित किये गये हैं, जो बौद्ध-धर्म के तीन ग्रंथ (त्रिपिटक) हैं।"

फाह्यान के इस वर्णन से पता चलता है कि उसके समय में मथुरा में बौद्ध-धर्म उन्नति पर था, यद्यपि उसका यह कहना ठीक नहीं मालूम देता कि शाक्यमुनि के बाद से यहाँ के लोग इस धर्म का पालन करते आ रहे थे। भगवान् बुद्ध के बाद मथुरा में हिंदू-धर्म जोर पर था, न कि बौद्ध-धर्म। फाह्यान ने जिन बौद्ध-संघारामों का उल्लेख किया है वे वर्तमान मथुरा नगर के दोनों ओर काफी दूर तक फैले रहे होंगे। 'ग्राउज' का अनुमान है कि इनमें से कुछ स्तूप वर्तमान महावन तक रहे होंगे।[3]

फाह्यान के बाद ई० सन् ६३५ के लगभग 'ह्यूआन्-चुआङ' मथुरा-राज्य में आया। उसने इस राज्य का विस्तार ५००० ली (लगभग ८३३ मील) तथा उसकी राजधानी (मथुरा नगर) का विस्तार २० ली (लग० ३॥ मील) लिखा है। यहाँ की भूमि की बाबत उसने लिखा है—

"यह अच्छी और उपजाऊ है। यहाँ आम बहुत पैदा होता है, जो छोटा और बड़ा दो प्रकार का होता है। पहले प्रकारवाला आम छुटपन में हरा रहता है और पकने पर पीला हो जाता है। बड़ी किस्मवाला आम सदा हरा रहता है। इस राज्य में उत्तम कपास और पीला सोना उत्पन्न होता है।"

यहाँ के निवासियों की बाबत उसने लिखा है कि—

"उनका स्वभाव कोमल है और वे दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। ये लोग तत्त्वज्ञान का गुप्त रूप से अध्ययन करना पसंद करते हैं। ये परोपकारी हैं और विद्या के प्रति बड़े सम्मान का भाव रखते हैं।"

मथुरा की तत्कालीन धार्मिक स्थिति का परिचय 'ह्यूआन्-चुआङ' के निम्नलिखित वर्णन से प्राप्त होगा—

१. देखिए अंगुत्तरनिकाय १, २१३; २५२-५६; भगवतीसूत्र आदि।

२. श्री एफ० एस० ग्राउज का अनुमान है कि यूनानियों का क्लीसोबोरा वर्तमान महावन है, देखिए-ग्राउज—मथुरा मेंबायर (द्वितीय सं०, इलाहाबाद, १८८०), पृ० २५७-८। फ्रांसिस विलफोर्ड का मत है कि क्लिसोबोरा वह स्थान है जिसे मुसलमान 'मूगू नगर' और हिंदू 'कलिसपुर' कहते हैं—एशियाटिक रिसर्चेज (लंदन, १७९९), जि०५, पृ० २७०, परंतु उसने यह नहीं लिखा कि यह मूगूनगर कौन-सा है। कर्नल टॉड ने क्लीसोबोरा की पहचान आगरा जिले के बटेश्वर से की है (ग्राउज—वही, पृ० २५८)

३ ग्राउज—वही, पृ० २५७।

"इस नगर में लगभग २० संघाराम है, जिनमें २,००० भिक्षु रहते हैं। इन भिक्षुओ में 'हीनयान' और 'महायान'—इन दोनों मतो के माननेवाले हैं। यहाँ पाँच देवमंदिर भी हैं, जिनमें बहुत से साधु पूजा करते है। राजा 'अशोक' के बनवाये हुए तीन स्तूप यहाँ विद्यमान हैं। विगत चारो बुद्धो के भी अनेक चिह्न यहाँ दिखाई देते हैं। तथागत भगवान् के साथियों के पवित्र अवशेषो पर भी स्मारक रूप में कई स्तूप बने हुए हैं।....विभिन्न धार्मिक अवसरों पर सन्यासी लोग बड़ी संख्या में इन स्तूपों का दर्शन करने आते हैं और बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट में चढ़ाते हैं। ये लोग अपने-अपने संप्रदाय के अनुसार अलग-अलग पवित्र स्थानो का दर्शन-पूजन करते हैं।....विशेष उत्सवो पर झडे और बहुमूल्य छत्र चारों ओर प्रदर्शित किये जाते हैं। सुगंधित पदार्थों का धुँआ बादलो के समान छा जाता है और सब ओर से फूलों की वृष्टि होने लगती है। सूर्य और चंद्रमा बिल्कुल छिप जाते हैं और पहाड़ों की घाटियाँ तुमुल घोष से निनादित हो उठती हैं। देश का राजा तथा उसके मंत्री लोग भी बड़े उत्साह के साथ धार्मिक कार्यों को करते हैं।"

"नगर के पूर्व ५-६ ली (लगभग १ मील) चलने पर एक ऊँचे संघाराम में पहुँचते हैं। उसके अगल-बगल गुफाएँ बनी हैं।....यह संघाराम पूज्य 'उपगुप्त' के द्वारा बनवाया गया था। इसके भीतर एक स्तूप है जिसमें तथागत के नाखून रखे हैं। संघाराम के उत्तर में २० फुट ऊँची और ३० फुट चौड़ी एक गुफा है। इसमें चार इंच लंबे लकड़ी के टुकडे भरे हैं। महात्मा उपगुप्त जिन लोगों को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर उन्हें अर्हत् पद प्राप्त कराते थे (उनकी संख्या मालूम रहे, इसलिये) उनमें से प्रत्येक विवाहित युग्म एक टुकड़ा उस कमरे में डाल देता था। जो लोग अविवाहित होते थे, उनके अर्हत् हो जाने पर भी उनकी कोई गणना नहीं रखी जाती थी।"

"यहाँ से २४-२५ ली (लगभग ५ मील) दक्षिण-पूर्व एक बड़ा सूखा तालाब है, जिसके पास ही एक स्तूप है। यहीं पर जब भगवान् बुद्ध घूमघाम रहे थे, एक बंदर ने उन्हें थोडा शहद दिया, जिसे बुद्ध ने थोड़े जल के साथ मिश्रित कर उसे अपने शिष्यों में बँटवा दिया। इससे बंदर को इतनी अधिक खुशी हुई कि वह एक खड्डे में गिर कर मर गया और अपने पूर्वोक्त पुण्यजन्य-कृत के कारण अगले जन्म मनुष्य-योनि प्राप्त की। इस सूखे तालाब के उत्तर में थोड़ी-ही दूर पर एक घना जंगल है, जिसमें पिछले चार बुद्धों के चरण-चिह्न सुरक्षित हैं। इसके निकट ही उन स्थानों पर बने हुए स्तूप है, जहाँ सारिपुत्र तथा बुद्ध के अन्य १२५० महान् शिष्यों ने कठोर तपस्या की थी। यहीं धर्म-प्रचारार्थ आये हुए भगवान् बुद्ध के स्मारक स्थान है।"[१]

य्वूआन्-चुआङ के उपर्युक्त लंबे वर्णन से कई बातो का पता चलता है। उसके समय में मथुरा-राज्य का विस्तार काफी था। कनिंघम का अनुमान है कि तत्कालीन मथुरा-राज्य में वर्तमान 'बैराट' और 'अतरजीखेडा' के बीच का सारा प्रदेश ही नहीं अपितु आगरा के दक्षिण में 'नरवर' और 'शिवपुरी' तक का तथा पूर्व में 'काली सिंध' नदी तक का भू-भाग रहा होगा। इस प्रकार इस राज्य में मथुरा आगरा जिलो के अतिरिक्त भरतपुर करौली और धौलपुर तथा ग्वालियर राज्य का उत्तरी आधा भाग शामिल रहा होगा। पूर्व में मथुरा-राज्य की सीमा 'जिझौती' से तथा दक्षिण में 'मालवा' की सीमा से मिलती रही होगी।[२]

१. टामस वाटर्स—ऑन यूवान च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया (लंदन, १९०४), जिल्द १, पृ० ३०१-११

२. कनिंघम्स जिऑग्रफी, पृ० ४२७-२८

इस यात्री के वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि ई० सातवी शती में मथुरा की भूमि अधिक उपजाऊ थी। वर्तमान समय में यहाँ आम नाममात्र को होता है और कपास की उपज भी बहुत कम होती है। सभव है कि अब से १३०० वर्ष पहले यहाँ इन वस्तुओ की तथा अन्न की पैदावार अधिक होती रही हो, परतु हुएनसाग ने सोने की उत्पत्ति के बारे में जो लिखा है वह बडा आश्चर्य जनक प्रतीत होता है, क्योकि मथुरा की जमीन में कही भी सोना नही निकलता।

य्यूआन्-चुआङ का वर्णन मथुरा की धार्मिक स्थिति का अच्छा दिग्दर्शन कराता है। सातवी शती के पूर्वार्ध में भी यहाँ बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार था, पर फाह्यान के समय (ई० ४००) को देखते हुए अब यहाँ के बौद्ध-मतावलबियो की सख्या में कमी आ गई थी। फाह्यान ने मथुरा के बीस बौद्ध-सघारामों का उल्लेख किया, जिनमें लगभग ३,००० बौद्ध सन्यासी रहते थे। य्यूआन् चुआङ के समय यहाँ सघारामो की सख्या तो उतनी ही रही पर बौद्ध-सन्यासियो की सख्या घटकर २,००० के ही लगभग रह गयी। मथुरा में बौद्ध धर्म की क्रमश· अवनति का प्रधान कारण यही प्रतीत होता है कि हिंदू-धर्म की यहाँ उन्नति हो रही थी। हुएन साग ने मथुरा के पाँच बडे हिंदू-मदिरो का उल्लेख किया है, जिनमें बहुत से पुजारी थे।

य्यूआन्-चुआङ ने मथुरा राज्य के किसी भी नगर का जिक्र नही किया। यहाँ तक कि राजधानी मथुरा नगर का भी नाम उसके वर्णन में नही आया और न प्रसिद्ध यमुना नदी या यहाँ के पहाड-वनो आदि का ही। उसने मथुरा-राज्य का बहुत ही अपर्याप्त वर्णन दिया है। बौद्ध-धर्म-सबधी जो बातें इस यात्री ने लिखी है, वे भी अपूर्ण है और कई बातें तो भ्रामक है, जैसे विभिन्न सप्रदायो के अनुयायी बौद्ध-सन्यासियो द्वारा विशेष अवसरो पर पूजन का वर्णन, बदरवाला किस्सा, १२५० शिष्यो की समाधि तथा बुद्ध के कई बार मथुरा आने का कथन। यदि हम केवल पिछले तथ्य को लें तो हमें बौद्ध-ग्रथो से पता चलता है कि भगवान् बुद्ध केवल एक बार मथुरा पधारे थे, न कि अनेक बार। य्यूआन्-चुआङ ने मथुरा के बडे बौद्ध-विहारों का नाम नही दिया, उसके वर्णन से केवल इतना ज्ञात होता है कि यहाँ बहुत से बौद्ध-स्तूप एव विहार थे। एक बात जिस पर विद्वानो में काफी मतभेद है वह है—य्यूआन्-चुआङ द्वारा वर्णित उपगुप्त के सघाराम की पहचान। इस यात्री के लेखानुसार मथुरा नगर के पूर्व में लगभग एक मील चलने पर यह सघाराम मिलता था। कनिंघम ने 'पूर्व' की जगह 'पश्चिम' पाठ ठीक माना है और इस प्रकार उक्त सघाराम की स्थिति वर्तमान कटरा मुहल्ले में प्राचीन 'यशो-विहार' के स्थान पर मानी है, परतु इस पूर्व की जगह पश्चिम पाठ क्यो माना जाय, यह समझ में नही आता। ग्राउज का कहना है कि 'उपगुप्त' वाला विहार 'ककाली टीला' पर रहा होगा,[१] परतु इस सबध में उन्होने कोई पुष्ट प्रमाण नही दिया। ककाली टीला बहुत प्राचीन काल से जैनियो का बडा केंद्र था और ऐसा कम से कम ई० ११ वी शती तक रहा। उस स्थान पर बौद्धो के किसी बड़े स्तूप या विहार का पता नही चलता, यह दूसरी बात है कि एकाध छोटी बौद्ध-मूर्तियाँ इस जगह से प्राप्त हुई है। अधिक सभव यही दिखाई पडता है कि उपगुप्तवाला सघाराम या तो वर्तमान 'सप्तर्षि-टीला[२]' पर था और या उससे पूर्व की ओर कुछ आगे उस स्थान पर जिसे आजकल 'बुद्ध तीर्थ' कहते हैं।

चीनी यात्रियो के अनतर मुसलमान यात्रियो ने भी मथुरा का थोडा-बहुत वर्णन किया है। इनमें सबसे पहला लेखक 'अल-उत्वी' ज्ञात होता है। यह महमूद गजनवी का मत्री था। इसने अपनी किताब 'तारीखे यामिनी' में महमूद के द्वारा सन् १०१७ ई० में भारत पर किये गये नवें हमले का वर्णन

[१] ग्राउज—वही, पृ० ११२

[२]. इस टीले पर एक खंभे का अभिलिखित शीर्षभाग पाया गया है। उसपर के लेख से ज्ञात होता है कि यहाँ गुहा विहार नामक बौद्धों का प्रसिद्ध विहार ई० पू० पहली शती में था, जिसका निर्माण मथुरा के शक-क्षत्रपों ने कराया था।

करते हुए मथुरा की चर्चा की है। यह हमला विशेष रूप से मथुरा को बर्बाद करने के लिये ही किया गया। उत्बी ने मथुरा को एक स्थान पर 'महरतुल हिंद' लिखा है।[1] उसने लिखा है—

"महावन में उस समय 'कूलचंद' नामक राजा का किला था।[2] यह राजा बड़ा शक्तिशाली था और उससे कोई विजय नहीं प्राप्त कर सका था। उसका राज्य बहुत बड़ा था, वह अपार धन तथा एक बड़ी सेना का स्वामी था और उसके सुदृढ़ किले को कोई भी दुश्मन नहीं ढहा सका था। जब उसने सुलतान (महमूद) की चढ़ाई की बाबत जाना तो अपनी फौज इकट्ठी करके मुकाबले के लिये तैयार हो गया, परंतु उसकी सेना शत्रु को हटाने में असफल रही और सैनिक मैदान छोड़कर भग गये, जिससे नदी पार निकल जावें। जब कूलचंद के लगभग ५०,००० आदमी मारे गये या नदी में डूब गये तब राजा ने एक खंजर लेकर पहले अपनी स्त्री को समाप्त कर दिया और फिर उसी के द्वारा अपना भी अंत कर लिया। सुलतान को इस विजय से १८५ बढ़िया हाथी तथा अन्य माल हाथ लगा।"

इसके बाद सुलतान महमूद की फौज मथुरा पहुँची। यहाँ का वर्णन करते हुए उत्बी लिखता है—

"इस शहर में सुलतान ने निहायत उम्दा ढंग की बनी हुई एक इमारत देखी, जिसे स्थानीय लोगों ने मनुष्यों की रचना न बताकर देवताओं की कृति बताई। नगर का परकोटा पत्थर का बना हुआ था, उसमें नदी की ओर ऊँचे तथा मजबूत आधार-स्तंभों पर बने हुए दो दर्वाजे थे। शहर के दोनों ओर हजारों मकान बने हुए थे, जिनसे लगे हुए देवमंदिर थे। ये सब पत्थर के बने थे और लोहे की छड़ों द्वारा मजबूत कर दिये गये थे। उनके सामने दूसरी इमारतें बनी थीं, जो सुदृढ़ लकड़ी के खंभों पर आधारित थीं। शहर के बीच में सभी मंदिरों से ऊँचा एवं सुंदर एक मंदिर था जिसका पूरा वर्णन न तो चित्र-रचना द्वारा और न लेखनी द्वारा किया जा सकता है।[3] सुलतान महमूद ने स्वयं उस मंदिर के बारे में लिखा कि 'यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार की इमारत बनवाना चाहे तो उसे दस करोड़ दीनार (स्वर्ण-मुद्रा) से कम न खर्च करने पड़ेंगे और उसके निर्माण में २०० वर्ष लगेंगे, चाहे उसमें बहुत ही योग्य तथा अनुभवी कारीगरों को ही क्यों न लगा दिया जावे।' सुलतान ने आज्ञा दी कि सभी मंदिरों को जला कर उन्हें धराशायी कर दिया जाय।[4] बीस दिनों तक बराबर शहर की लूट होती रही।[5]"

महमूद के आक्रमण के कुछ समय बाद ही 'अलबेरूनी' नामक प्रसिद्ध मुसलमान यात्री भारत आया। इसने यहाँ संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली और भारत में कुछ दिन ठहरने के बाद इस देश के संबंध में १०३० में 'तहकीके हिंद' नामक एक बड़ी पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने भारतीय इतिहास, साहित्य, दर्शन, ज्योतिष आदि के संबंध में तथा यहाँ के लोगों के विषय में विस्तृत विवरण लिखा है। अपने इस ग्रंथ में अलबेरूनी ने वायुपुराण, बृहत्संहिता आदि पुस्तकों की भौगोलिक सूचियों के आधारपर शूरसेन तथा मथुरा का उल्लेख किया है।[6] उसने लिखा है कि मथुरा नगर यमुना-

१. कनिंघम—आर्कॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट, जिल्द २०, पृ० ३४।

२. संभवतः उस समय मथुरा-राज्य की राजधानी महावन में थी।

३. यह मंदिर भगवान् कृष्ण का प्रतीत होता है और वर्तमान कटरा केशवदेव में जन्म-स्थान पर रहा होगा। शायद इस मंदिर का निर्माण गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय हुआ था। हुएनसांग ने जिन पाँच बड़े देवमंदिरों का उल्लेख किया है उनमें एक यह भी रहा होगा।

४. पिछले मुसलमान लेखकों के वर्णनों से पता चलता है कि महमूद ने कुछ भव्य इमारतों को उनके सौंदर्यसे अत्यधिक प्रभावित ो जाने के कारण भग्न नहीं कराया।

५. ग्राउज—वही, पृ० ३१-३२।

६. ई० सी० साचौ—अलबेरूनीज इंडिया (लंदन १९१४), जिल्द १, पृ० ३००, ३०८।

तट पर बसा है। भगवान् वासुदेव (कृष्ण) के मथुरा में जन्म का तथा उनके चरित का वर्णन अल-बेरूनी ने विस्तार से किया है,[१] परंतु उसने कई बातें भ्रामक लिखी हैं। एक जगह पर वह लिखता है कि कृष्ण के पिता वसुदेव शूद्र थे और वे जट्टवंश के पशुपाल थे।[२] अपनी पुस्तक में अलबेरूनी ने मथुरा में व्यवहृत संवत् का उल्लेख किया है और लिखा है कि मथुरा तथा कन्नौज के राज्यों में श्रीहर्ष (कन्नौज के सम्राट् हर्षशीलादित्य) का संवत् चलता था।[३]

अन्य कई मुसलमान लेखकों ने भी अपने ग्रंथो में मथुरा की चर्चा की है।[४] इनमें से विशेष उल्लेखनीय १६ वी शताब्दी के 'अलवदाऊनी' तथा 'मोहम्मद कासिम फरिश्ता' के विवरण है। पहले लेखक ने अपनी किताब मुन्तखबुत्तवारीख' में मथुरा का जिक्र करते हुए लिखा है—

"मथुरा काफिरो के पूजा की जगह है। यहाँ वसुदेव के लड़के कृष्ण पैदा हुए। यहाँ पर असंख्य देव-मंदिर है। सुलतान (महमूद गजनवी) ने मथुरा को फतह किया और उसे बर्बाद कर डाला। मुसलमानो के हाथ बड़ी दौलत लगी। सुलतान की आज्ञा से उन्होंने एक देवमूर्ति को तोड़ा, जिसका वजन ९८,३००मिस्कल[५] खरा सोना था। एक बेशकीमती पत्थर मिला, जो तोल में ४५० मिस्कल था। इन सबके अतिरिक्त एक बड़ा हाथी मिला, जो पहाड़ के मानिंद था। यह हाथी राजा गोविंदचंद का था।[६]"

१६०० ई० के लगभग फरिश्ता ने भारत का विस्तृत वर्णन लिखा। मथुरा के संबध में उसने कई उल्लेख किये हैं। महमूद गजनवी की चढाई का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि महमूद मेरठ से महावन[७] पहुँचा था। महावन को लूटने के बाद वह मथुरा पहुँचा। फारिश्ता ने लिखा है—

"सुलतान ने मथुरा में मूर्तियो को भग्न करवाया और बहुत सा सोना-चाँदी प्राप्त किया। वह मंदिरों को भी तोड़ना चाहता था, पर उसने यह देख कर कि यह काम बड़ा श्रमसाध्य है, अपना विचार बदल दिया।[८] कुछ लोगों का अनुमान है कि मंदिरो के सौंदर्य से प्रभावित होकर सुलतान ने उन्हें नष्ट करने का ख़याल छोड़ दिया। उसने गजनी के गवर्नर को मथुरा की बाबत जो लिखा उससे प्रमाणित होता है कि इस शहर तथा यहाँ की इमारतो का उसके चित्त पर बड़ा असर पड़ा। सुलतान मथुरा में बीस दिन तक ठहरा। इस अवधि में शहर की बड़ी बर्बादी की गयी।"[९]

फरिश्ता ने दूसरे बड़े मूर्ति-भंजक सिकंदर लोदी के द्वारा भी मथुरा की बर्बादी का हाल लिखा है। वह लिखता है—

१. देखिए साचौ—वही, पृ० ४०१-४०५।
२. वही, पृ० ४०१।
३. वही, जिल्द २, पृ० ५।
४. उदाहरणार्थ—निजामुद्दीन, इब्न असीर, अलबदाऊँनी, फरिश्ता आदि।
५. एक मिस्कल तोल में ९६ जौ की तोल के बराबर होता है।
६. जी० रैकिंग—मुंतखबुत्तवारीख ऑफ अलबदाऊँनी (कलकत्ता, १८४५), जिल्द १, पृ०२४-५। यह राजा गोविंदचंद कौन था, यह बताना कठिन है। निस्सदेह वह कन्नौज के गाहड़वाल राजा गोविंदचंद्र से भिन्न था।
७. अल उत्बी ने 'महावन' नाम नहीं लिखा, यद्यपि उसका अभिप्राय इसी नगर से था।
८ परंतु उत्बी ने लिखा है कि सुलतान ने आज्ञा दी कि सभी मंदिरो को जलाकर धराशायी कर दिया जाय। फरिश्ता का कथन ठीक मालूम पड़ता है।
९. जॉन ब्रिग्स—हिस्ट्री ऑफ दि राइज ऑफ दि मोहेमेडन इन इंडिया (कलकत्ता, १९०८), जि० १, पृ० ५७-५९।

"सिकंदर ने मंदिरों और घाटों को बर्बाद कर उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी कीं और आज्ञा दी कि घाटो पर कोई भी हिंदू स्नान न करने आवे तथा कोई भी नाई उनकी हजामत न बनावे।

हिंदू-यात्री मथुरा आने पर नियमानुसार घा ो पर क्षौर-कर्म करवाते थे, पर अब यह प्रथा बंद कर दी गई।"[1]

मुसलमान लेखको के विवरणो के बाद अब हम युरोपीय यात्रियो के मथुरा संबधी वर्णनो की चर्चा करेंगे। मुगल-काल में सबसे पहला युरोपीय यात्री जिसने मथुरा जिले का कुछ भाग देखा 'जान द लाएट' प्रतीत होता है। इसने अपनी पुस्तक 'इडिया वेरा' में मथुरा जिले का मामूली वर्णन किया है। दोतना गाँव (छाता और कोसी के बीच) की बाबत उसने लिखा है कि यहाँ बहुत से मुसलमान-पीरो की कब्रें है, जिनके दर्शन के लिये बहुत से यात्री आते है।[2]

१६५० ई० के लगभग फ्रासीसी यात्री 'टैवर्नियर' मथुरा आया। इसने श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर बने हुए केशवराय या केशवदेव-मदिर को देखा, जो कोई ३५ साल ही पहले ओडछा के राजा[3] 'वीरसिंहदेव' के द्वारा प्रभूत धन से बनवाया गया था। टैवर्नियर ने इस प्रसिद्ध मदिर का विस्तृत वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

"जगन्नाथ और बनारस के मंदिरों के बाद मथुरा का मदिर सबसे अधिक विख्यात है। यह आगरा से लगभग १८ कोस की दूरी पर दिल्ली जानेवाली सड़क पर स्थित है। यह मदिर भारतभर में अत्यंत उत्कृष्ट मदिरों में से एक है। किसी समय इस स्थान में सबसे अधिक यात्री आते थे, पर अब उनकी संख्या कम हो गई है। इसका कारण यह है कि पहले येमेना (Yemena—यमुना) नदी मंदिर के बिलकुल समीप से बहती थी, परंतु अब उसकी धारा लगभग आध कोस दूर हट गई है।[4] यमुना में स्नान करने के अनंतर मंदिर तक पहुँचने में यात्रियों को अब काफी समय लग जाता है और रास्ते में उन्हें अपवित्र हो जाने का डर रहता है।"

"यह मदिर इतना विशाल है कि यद्यपि वह नीची जगह में अवस्थित है तो भी ५-६ कोस की दूरी से दिखाई पड़ता है। मंदिर की इमारत बहुत ही ऊँची एवं भव्य है। उसमें जो पत्थर इस्तेमाल किया गया है वह लाल रंग का है और आगरा के समीप एक बड़ी खान से लाया गया है....।"

"मंदिर एक बड़े अठपहलू चबूतरे के ऊपर बना है। चबूतरे के चारों ओर की दीवारो पर कामदार पत्थर लगे है और चौतरफा दो पंक्तियों में अनेक तरह के जानवरों विशेषकर बदरों की मूर्तियाँ उकेरी हुई है। पहली पक्ति जमीन की सतह से दो फुट ऊपर है और दूसरी ऊपर की सतह से दो फुट नीचे है। इस चबूतरे पर चढ़ने के लिये १५-१६ सीढ़ियों के दो जीने बने है। सीढियों की लंबाई २-२ फुट है, जिससे दो आदमी एक साथ ऊपर नहीं चढ सकते। एक ओर के जीने से चढ़ने पर मदिर के मुख्य द्वार के सामने पहुँचते है और दूसरे से चढ़ने पर मंडप के पीछे जा पहुँचते है।"

"मंदिर चबूतरे के आधे भाग के ऊपर बना है। शेष आधा भाग मदिर के सामने एक विस्तृत चौक के रूप में खुला है। अन्य मदिरों की तरह यह भी एक क्रुश (Cross) के रूप में

[1] ग्रिग्स—वही, पृ० ५८६।

[2]. ग्राउज—वही, पृ० ३४०-४१।

[3]. ग्राउज—वही, पृ० ११८-२०।

[4]. यात्री का यह कथन इस बात का सूचक है कि यमुना की धारा नगर के पूर्व की ओर को हटती रही है।

हैं। इसके बीच के भाग पर एक बहुत ही ऊँचा शिखर है, जिसके दोनो ओर एक-एक छोटा शिखर है। इमारत का सारा बाहरी भाग नीचे से ऊपर तक भेड़ा, बंदर, हाथी आदि जानवरों की प्रस्तर-मूर्तियों से अलंकृत है। चारो ओर आले ही आले दिखाई पड़ते हैं, जिनमें विभिन्न दानवों[1] की प्रतिमाएँ हैं। तीनो शिखरों में नीचे से लेकर ऊपर तक जगह-जगह ५-६ फुट ऊँची खिड़कियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक के सामने इतने चौड़े छज्जे लगे हैं कि उन पर चार व्यक्ति बैठ सकते हैं। प्रत्येक छज्जे के ऊपर एक छोटा चँदोआ बना है। छज्जों को थामने के लिये उनके नीचे ४-४ या ८-८ जोड़ीदार खंभे एक-दूसरे को छूते हुए लगाये गये हैं। शिखरो के चारो ओर भी आले बने हैं, जिनमें दानवो की मूर्तियाँ भरी हैं। एक दानव के चार हाथ हैं, दूसरे के चार पैर हैं। कुछ मानवो के सिर पशुओ के ऊपर प्रदर्शित हैं। ये पशु सींगोवाले हैं और उनकी लंबी पूँछें उनकी टाँगों में लिपटी हुई हैं। बंदरो की तो बेशुमार मूर्तियाँ हैं। इस प्रकार दानवो के भारी दल का दृश्य देखनेवाले को भयभीत कर देता है।"

"मंदिर में प्रवेश करने के लिये केवल एक ही द्वार है, जो बहुत ही ऊँचा है। उसमें बहुत से खंभे लगे हैं और दोनों ओर जानवरों तथा मानवों की कितनी ही प्रतिमाएँ हैं। मंदिर के भीतरी भाग में चारो ओर ५-६ इंच व्यासवाले पत्थर के खंभों की एक पूरी जाली बनी है। उसके अंदर मुख्य ब्राह्मण पुजारियो को छोड कोई नहीं जा सकता। ये पुजारी किसी गुप्त-द्वार से भीतर पहुँचते हैं, जिसे मैं नहीं देख सका।"

"जब मैं मंदिर में गया और कुछ ब्राह्मणो से पूछा कि क्या मैं बड़े "रामराम" (बड़ी मूर्ति) को देख सकता हूँ तो उन्होंने जवाब दिया कि कुछ मिलने पर वे अपने प्रधान अधिकारी से अनुमति प्राप्त कर सकते हैं। मैंने उन्हें कुछ रुपये दिये और वे अनुमति ले आये। लगभग आध घंटे के बाद ब्राह्मणो ने जालीदार घेरे के बीच का एक भीतरी दरवाजा खोला यह घेरा अन्य सभी तरफ से बंद था।"

"दरवाजे से मैंने भीतर की ओर देखा कि कोई १५-१६ फुट की दूरी पर एक चौकोर चौकी है, जिसपर सोने-चाँदी के कामवाला पुराना वस्त्र बिछा था और उसके ऊपर बड़ी मूर्ति थी, जिसे 'रामराम' कहते हैं। इस मूर्ति का केवल सिर दिखलाई पड़ता था, जो बड़े काले संगमरमर का बना था और जिसमें आँखों की जगह दो लाल मणि जड़ी हुई थीं। गरदन से लेकर पैरो तक मूर्ति का सारा शरीर कढ़े हुए लाल मखमली कपड़े से ढँका था। मूर्ति के हाथ नहीं दिखाई पड़ते थे। बड़ी मूर्ति के दोनो ओर एक-एक और मूर्ति थी, जो ऊँचाई में लगभग २ फुट की थीं। उनकी बनावट बड़ी मूर्ति जैसी ही थी, केवल भेद इतना था कि उन दोनों के चेहरे सफेद थे। इन दोनो मूर्तियों को 'बेच्छोर'[2] कहते हैं।"

"मैंने मंदिर में १५-१६ फुट की एक चौकोर वस्तु और देखी, जो ऊँचाई में १२ से १५ फुट तक होगी। यह एक रंगीन वस्त्र से ढँकी थी, जिस पर सभी प्रकार के दानवों के चित्र बने थे। इससे चार छोटे पहियों के ऊपर खड़ा किया गया था। लोगों ने मुझे बताया कि यह चल-सकने वाली वस्तु है,[3] जिस पर बड़े पर्वों के अवसरो पर बड़े देवता को सवार कराते हैं और

1. ये वास्तव में देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ थीं, जिन्हें टैवर्नियर ने कई जगह अज्ञान-वश दानव कहा है।

2. शायद 'बलदेव' की मूर्ति से अभिप्राय है।

3. यह वास्तव में रथ था, जिसपर विशेष अवसरों पर प्रधान मूर्ति को बैठाकर बाहर ले जाते थे। वृंदावन के रंगजी के मंदिर में यह 'रथोत्सव' अब भी धूमधाम से मनाया जाता है।

उसे अन्य देवताओं से मिलने के लिये ले जाते हैं। मुख्य उत्सवों पर इसे मूर्ति-सहित लोगों के समुदाय के साथ-साथ नदी तक ले जाते हैं।"

टैवर्नियर का यह विस्तृत वर्णन तत्कालीन मथुरा के सर्वोत्तम मंदिर का एक भव्य स्वरूप सामने खड़ा कर देता है। इस यात्री के लगभग १३ वर्ष बाद १६६३ ई० में बर्नियर नामक दूसरे यात्री ने भी इस महान् मंदिर का उल्लेख किया है। वह लिखता है—

"दिल्ली और आगरे के बीच में, जिसका फासला ५० या ६० मील होगा, कोई अच्छा नगर नहीं है। यह सारी सड़क उल्लास-रहित एवं नीरस है। केवल मथुरा ही एक उल्लेखनीय स्थान है, जहां अब भी एक प्राचीन एवं विशाल देव-मंदिर दिखायी पड़ता है।"[1]

बर्नियर के इस लेख के कोई ६ वर्ष बाद ही यह देव-मंदिर औरंगजेब की कट्टरता का शिकार बन गया।

सन् १७४३ ई० में 'जसेफ टीफेंथैलर' नामक फ्रांसीसी यात्री भारत आया और यहां लगभग ४२ वर्ष तक रहा। वह मथुरा में भी आया और यहां के अनेक स्थानों का उसने वर्णन किया है। गोकुल की बाबत वह लिखता है

"यहां की स्त्रियों की शादी यहीं हो जाती है, बाहर नहीं की जाती।"[2]

शायद उसने भूल से मथुरा के स्थान पर गोकुल लिख दिया है, पर हो सकता है कि अब से लगभग दो सौ वर्ष पहले गोकुल में भी वह प्रथा रही हो, जो अब तक मथुरा के चौबों में चली आती है। मथुरा नगर का वर्णन करते हुए यह यात्री लिखता है—

"यहां की गलियां सकड़ी और गंदी हैं और शहर की अधिकांश इमारतें टूटी-फूटी हैं। किला बहुत बड़ा और विशाल है, मानों कामदार पत्थरों का पर्वत हो। उस पर एक वेधशाला है, जो जयपुर की वेधशाला की एक छोटी प्रतिकृति है, पर इसमें एक खूबी यह है कि यह बहुत ऊंचाई पर स्थित है।"[3]

इस यात्री ने मथुरा के 'विश्रात घाट' की भी प्रशंसा की है।[4] वृंदावन की बाबत 'टीफेंथैलर' लिखता है—

"इस नगर में केवल एक बड़ी सड़क है, जिसके दोनों ओर सुंदरता के साथ उकेरे हुए पत्थर की बढ़िया इमारतें हैं। ये हिंदू राजाओं तथा सरदारों के द्वारा या तो केवल शोभा के लिये और या कभी-कभी निवास करने या धार्मिक प्रयोजन के लिये बनवाई गई थीं।"

इस यात्री को वृंदावन की धार्मिकता अच्छी नहीं लगी और इसने यहां धर्मार्थ आनेवाले यात्रियों की तीखी एवं कटु आलोचना की है।[5]

१९ वीं शताब्दी में अनेक युरोपीय यात्रियों ने मथुरा आने पर यहां का थोड़ा-बहुत वर्णन लिखा है। इनमें से 'विशप हेबर' तथा 'विक्टर जैकेमाट' नामक दो यात्रियों के वर्णन देकर हम इस लेख

[1]. ग्राउज—वही, पृ० ११८; इटालियन यात्री मनूची ने केशवदेव-मंदिर की बाबत लिखा है कि इसका सुवर्णच्छादित शिखर इतना ऊंचा था कि वह १८ कोस दूर आगरा से भी दिखाई पड़ता था।

[2]. ग्राउज—वही, पृ० १० (नोट)।

[3]. इस यात्री के समय में मानसिंह द्वारा १६वीं शती के अंत में निर्मित किले की दशा अवश्य ही अच्छी रही होगी। सवाई राजा जयसिंह जयपुर (१६९९-१७४३ ई०) द्वारा उसके ऊपर बनवाई गई वेधशाला तो यात्री के मथुरा-आगमन के समय बिलकुल नवीन अवस्था में रही होगी।

[4]. ग्राउज—वही, पृ० १४१ नोट।

[5]. ग्राउज—वही, पृ० १७४।

को समाप्त करेंगे। हेवर १८२५ ई० में मथुरा आया। इसने मथुरा के प्रसिद्ध द्वारकाधीश मंदिर का मनोरंजक वर्णन किया है। वह लिखता है—

"शहर के लगभग बीचोबीच एक सुंदर मंदिर है, जो आवास-स्थान का भी काम देता है। यह मंदिर हाल में ही बना है और अभी तक पूर्ण नहीं हुआ। सिंधिया के कोषाध्यक्ष 'गोकुलपति सिंह' ने इसे बनवाया है।...इमारत का बर्वाखा यद्यपि छोटा है पर बहुत अलंकृत है। उसमें पहुँचने के लिये सीढ़ियाँ बनी हैं। सड़क से सीढ़ियों पर चढ़ने के बाद चौकोर आँगन मिलता है, जो चारो ओर से घिरा हुआ है। आँगन के बीच में एक चौकोर इमारत है, जो खंभों की तिहरी पंक्ति पर बनी है। खंभे तथा छत बड़ी सुंदरता के साथ उत्कीर्ण एवं चित्रित हैं।[1] बाहर की ओर का पत्थर का कटाव अत्यंत सुंदर है...।"[2]

हेवर ने अपने लेख में 'दोतना गाँव' का तथा सिर पर घड़ा रखकर नाचने वाली ग्वालिनों का भी उल्लेख किया है।[3]

जैकेमाट सन् १८२९-३० ई० में व्रज आया था। उसने इस प्रदेश का वर्णन करते हुए लिखा है—

"यहाँ की जमीन रेतीली है। खेती के योग्य जो जमीन है उसके आस-पास ऊसर भी बहुत है। जमुना नदी में कोई आकर्षण नहीं है। यहाँ के गाँव एक दूसरे से काफी दूर हैं। उनकी हालत बिगड़ती जा रही है। बहुत से गावों के चारो ओर मजबूत दीवालें हैं।"[4]

द्वारकाधीश-मंदिर के संबंध में यह यात्री लिखता है कि "वह ऐसा लगता था मानो एक बैरक हो अथवा रुई का कारखाना हो।"[5] वृंदावन के संबंध में इस यात्री ने लिखा है—

"यह बहुत ही प्राचीन शहर है और मथुरा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण नगर कहा जा सकता है। हिंदुओं के जितने बड़े पवित्र तीर्थ हैं उनमें से यह एक है। यहाँ के मंदिरों में बड़ी संख्या में यात्री आते हैं और नदी के किनारे सुंदर घाटों में पूजा करते हैं। सभी इमारतें लाल पत्थर की बनी हैं, जो आगरा के पत्थर से उम्दा है.....। वृंदावन में मुझे एक भी मस्जिद नहीं दिखायी दी। नगर के छोरों पर अच्छे पेड़ों के घने कुंज हैं, जो बहुत ही सुंदर लगते हैं।[6]"

मथुरा-वृंदावन को छोडकर इस यात्री को व्रज के किसी अन्य स्थान में सौंदर्य नहीं दिखायी पड़ा। मथुरा की गलियाँ भी इसे बिलकुल नहीं भाईं। वह लिखता है—

"ऐसी सँकड़ी, टेढ़ी-मेढ़ी, ढालू और गंदी गलियाँ मैंने कहीं नहीं देखीं।"[7]

१. खेद है कि यह प्राचीन चित्रकारी अब नष्ट हो गई है।

२. ग्राउज—वही, पृ० १४५

३. वही, पृ० ३४०। यह नृत्य अब भी व्रज में प्रचलित है। इसका 'चरकला' नामक रूप सबसे अधिक मनोहर है।

४. ग्राउज—वही, पृ० ६८-९।

५. वही, पृ० १४५।

६. ग्राउज—वही, पृ० १७४-७५।

७. ग्राउज—वही, पृ० १४१ (नोट)।

भगवान् श्री कृष्ण के ब्रज : नाम

(श्री नागरीदास)

राग-सारग

ब्रज-सँम और न कोऊ धाँम।
या ब्रज में परमेसुर हू के, सुधरे सुंदर नाँम॥
कृष्ण नाँम यै सुन्यौं गरग ते, काँन्ह-काँन्ह कहि बोलें।
बाल-केलि-रस-मगँन भए सब, आँनद-सिंधु-झकोलें॥
जसुधा-नंदन, दाँमोदर, नवनीत-प्रिय दधि-चोर।
चोर-चोर, चित-चोर चिकनियाँ, चातुर नवल-किसोर॥
राधा-चंद-चकोर साँवरौ, गोकुलचंद, दधि-दाँनी।
श्री वृंदावन-चंद, चतुर चित, प्रेम-रूप-अभिमाँनी॥
राधा-रमँन सु राधा-वल्लभ, राधा-कांत रसाल।
वल्लभ-सुत, गोपी-जन-वल्लभ, गिरिवर-धर, छवि-जाल॥
रास-बिहारी, रसिक-बिहारी, कुंज-बिहारी स्याँम।
बिपिन-बिहारी, बंक-बिहारी, अटल-बिहारी राँम॥
छैल-बिहारी, लाल-बिहारी, बनवारी, रस-कंद।
गोपीनाथ, मदनमोहन पुनि, बंसीधर, गोविंद॥
ब्रज-लोचन, ब्रज-रमँन मनोहर, ब्रज-उच्छव, ब्रज-नाथ।
ब्रज-जीवन, ब्रज-वल्लभ सब के, ब्रज-किसोर सुभ गाथ॥
ब्रज-भूषन, ब्रज-मोंहन, सोंहन, ब्रज-नायक, ब्रज-चंद।
ब्रज-नागर, ब्रज-छैल-छबीलौ, ब्रजवर सो नँद-नंद॥
ब्रज-आँनद ब्रज-दूल्है नित ही, अति सुंदर ब्रज-लाल।
ब्रज-गौवन के पार्छे-आर्छें, सोहत ब्रज-गोपाल॥
ब्रज-संबंधी नाँम लेत ए, ब्रज की लीला गावै।
'नागरिदास' हि मुरलीधारी, ब्रज कौ ठाकुर भावै॥

—०—

अन्नकूट

श्री कृष्णकांत बागोरा

भारतवर्ष में अन्य धार्मिक समारोहों की भाँति प्रतिवर्ष सनातन धर्मावलंबी जनता द्वारा मनाया जानेवाला 'अन्नकूटोत्सव' भी अपना एक विशिष्ट इतिहास लिये हुए है। इसका प्रारंभ-काल महाभारत के समय से माना जाता है।

जिस प्रकार प्राचीन समय में किसान व गोप राजाओं को राज्य की सुरक्षा एवं समृद्धि बनाये रखने को कर दिया करते थे, उसी प्रकार वर्षा के अंत में इंद्र को बलि (भेंट) दिया करते थे, किंतु भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा उस समय की जनता को इंद्र की पूजा से भी महत्त्वपूर्ण गौ-ब्राह्मण और देवताओं का पूजन कर श्री गिरिराज को बलि (भेंट) देने की आवश्यकता बतलाई और निम्न-विधि द्वारा उत्सव समारंभ करने की प्रेरणा दी गई—

"भृत्वार्थं सर्वं संभारं भक्तियुक्तोजितेंद्रियः। सहस्र शीर्षासंत्रेणह्लदे स्नानं च कारयेत् ॥
गंगाजलेनयमुनाजलेनापि द्विजैः सह। शुक्लगोदुग्धधाराभिस्ततः पंचामृतैर्गिरिम् ॥
स्नापयित्वा गंधपुष्पैः पुनः कृष्णाजलेनवै। वस्त्रं दिव्यं च नैवेद्यमासनंसर्वतोधिकम् ॥
मालाऽलंकारनिचयं दत्वा दीपावलिपराम्। ततः प्रदक्षिणांकुर्यान्नमस्कुर्यात्तत. परम् ॥
कृतांजलिपुटो भूत्वात्विदमेव मुदीरयेत्। नमो वृंदावनांकाय तुभ्यं गोलोकमौलिने ॥
पूर्णब्रह्मातपत्रायनमोगोवर्द्धनाय च। पुष्पांजलिततःकुर्यान्नीराजनमतः परम् ॥
घटाकांस्य मदंगाद्यैर्वादित्रैर्मधुरस्वनैः। वेदाहमेत[1] मंत्रेण वर्षं लाजैः समाचरेत् ॥
तत्समापे चान्नकूटं कुर्याच्छ्रद्धा समन्वितः ॥"

—गर्गसंहिता—गि० ख० १५—२२

उपरोक्त ग्रंथ में एक स्थान पर उल्लेख है, कि "कलियुग की आदि में चार हजार आठ सौ वर्ष पीछे गिरिराज की गुहा के मध्य से सब के देखते-देखते भगवान् का एक स्वरूप स्वत. सिद्ध प्रगट होगा। उस रूप को श्रीनाथ जी, देवदमन सर्वश्रेष्ठ जन वर्णन करेंगे।"[2] इस लेखानुसार श्रावण सुदी नागपंचमी संवत् १४६६ के दिन श्रीनाथ जी की उर्ध्वभुजा का प्राकट्य होकर कार्तिक १५ पूर्णमासी संवत् १७२८ से श्रीजी मेवाड़ांतर्गत श्रीनाथद्वार (सिंहाड़) नगर में विराजमान है। जहाँ प्रतिवर्ष 'दीप मालिका' के अवसर पर जगद्-विख्यात अन्नकूटोत्सव समारंभ में भाग लेने के लिये देश-विदेश से असंख्य नर-नारी आकर श्री देवदमन के दर्शन पाकर अनुपम सौख्य को प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं।

श्रीनाथद्वार में प्रतिवर्ष कार्तिक मास की दीपावली के दिन श्रीजी की गौ माता जी गौशाला से मंदिर के सानिध्य में आती हैं। वहाँ विश्राम कर प्रतिपदा के दिन श्रीजी की परिक्रमा कर श्रीजी के मंदिर में जहाँ श्री गिरिराज का स्वरूप प्रतिष्ठापित रहता है आकर पुष्टि-मार्ग के प्रधान गोस्वामी तिलकायित द्वारा पूजित होती हैं।

1. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णंतमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनान्यःपंथाविद्यतेयनाय ॥
2. गर्गसंहिता—गिरिराज खंड।

श्री जी के संमुख जहाँ अन्नकूट का स्वरूप स्थित होता है उसके नीचे रोपन (श्वेत चावल और हल्दी मिला हुआ) द्वारा स्थान को रेखांकित किया जाकर घास का मूढा (चौकी) बनता है। फिर उसे बडी-बडी पत्तलो से ढक दिया जाता है। उसके ऊपर दो सौ मन श्वेत पके हुए चाँवलो का श्री गिरिराज की आकृति के अनुसार ढेर किया जाता है। श्रीजी के चारो आयुधो की तरह चार गूँझे (जिन चारो की शख, चक्र, गदा, पद्म की आकृति होती है) भात के मध्य में शिखर-जैसे रोपे जाते है। कोट के ऊपर तुलसी की माला इतनी बडी होती है कि वह समग्र सामग्री को ढक ले। भात के साथ आरोगने के लिये घी की चार मिट्टी की चपटिया आती है। श्रीजी के डावी (दाईं) बगल में मोढे के ऊपर एक जल का चौडा पात्र आता है और सकडी सामग्री निम्न प्रकार की आरोगाई जाती है—

वड़ा, मँगोड़ा, तिल-वड़ी, रोचक, पापड़, ढेवरी, पान-वड़ा, पतर-वड़ा, टेंटी की कचरिया, ग्वार की कचरिया, चिवड़ा की कचरिया, खरबूजे की कचरिया, करेले की कचरिया, तोरमी की कचरिया, भिंडी की कचरिया, कमल की कचरिया, निता की कचरिया, जितने तरह के फीके बन सकते है उतने, जितने तरह के साग प्राप्त होसके सब। बेंगन देव-सोते होने पर भी अरोगते है।

कंद

सूरन, रतालू, अरवी, सकरकंद, आलू।

मिष्टान्न

थूली, सेव (छत्तीस-छत्तीस नादें) चौंसठ चपटिया छाछ जिनके अंदर आठ में वड़ा, आठ में मँगोडा, आठ में पतर-वड़ा, आठ में पान-वड़ा, आठ में बूंदी, आठ में बूंदी के क्षारे की सेव, आठ में बेंगन के भुजीने, आठ में पकोड़ी। आखे मूँग, मूँग की दाल (दोनो तरह की), तूअर (अड़हर) की दाल, चने की दाल। कढ़ी ३ कूंड़े, वड़ी का साग ३ कूंडे, कमरख का साग ३ कूंड़े, सूरन का कचूमर ३ कूंड़े। खीर चार तरह की—रवा, मनका, सेव और चाँवल की। पाँच तरह के भात—मेवा-भात, सिकरन-भात, दही-भात, राई-भात और वड़ी-भात। पेठे का बिलसारु, केले का बिलसारु। रायते चार तरह के—दाख (मीठा), बेंगन, नीता और कोले (मीठा) का। नोन, सँघानो, नींबू, आदा-माखरी, माखन-मिश्री।

अनसकड़ी

सेव के लड्डू, गूँझा, मठरी, मेवा-बाटी, फेनी (केसरिया और सफेद), खरमंडा, इंदरसा (अंदरसा), कपूर-नारी, सकरपारा, छूटी बूंदी, मनोहर, पुवा (कठपूवा, मालपूवा), जलेबी, बाबर (सफेद और केसरिया), श्रीखड-वड़ी, तेल के संघाने की चपटिया, बदाम, पिस्ते, खोपरा (गोला), चिरोंजी इन चारों की ढालनी याने मोहनथाल।

दूध-घर की सामग्री

बर्फी, पेड़ा, दूध-पूड़ी, गुजिया, बासूंदी, साग-घर के मीठे चार तरह के—अमरस, अनार, नारंगी, सेव, खोआ मिलमा, बदाम, पिस्ता, चिरोंजी और कोले की बर्फी, पेठे की बर्फी, सूरन की बर्फी, कोले के बीज की, खरबूजे के बीज की, दूध खूब औटा हुआ आदि।

शास्त्रोक्त रीति से पूजन होने व जन-साधारण के दर्शन कर लेने के बाद रात को १२ बजे राजस्थान के विभिन्न भागो से आये हुए सैंकडो भील एकमात्र लँगोटी लगाकर अन्नकूट के विधान दहकते हुए ढेर को लूटने के लिये टूट पडते है, जिसे गले में लटकती झोली में भरकर थोडे ही समय में साफ कर देते है। इन लूटे हुए प्रसाद को ये लोग दूर-दूर अपने हितुओं को भेजते है।

इस दृश्य को देखने के लिये देश के सब भागो से भक्तगण आते है।

——०——

अन्नकूट की सांस्कृतिक परंपरा

श्री कृष्णचंद्र

हमे सभी जानते है कि जब सृष्टि उत्पन्न हुई और उसका शनै शनै विस्तार बढा तो उसके साथ ही मनुष्यों की आवश्यकताएँ बढी, एव उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की कार्य-प्रणालियाँ बनती गई। प्रकृति के जिन तत्त्वो से उन्हें भय ज्ञात हुआ, एव जिनसे आनद एव पोषण-तत्त्व मिले उन्ही से वे प्रसन्नता का अनुभव कर उन तत्त्वो को देव रूप से मान उनकी पूजा के लिए प्रवृत्त हुए। वर्षा के न होने से उसके अधि देवता इंद्र की एव जल, सूर्य, वायु की उपासना में सलग्न हुए। आर्यो के द्वारा जो उपासना इस प्रकार आरभ हुई, वह किसी न किसी रूप से अनवरत चलती रही।

कृष्णावतार का समय

कृष्णावतार का समय—द्वापर के अत और कलि के आदि में जब भगवान् श्री कृष्ण लोकोपकार एव धर्माभ्युत्थान और समाज-रक्षा के लिए ब्रज-भूमि में देवकी के गर्भ से जन्म ले गोकुल में नद-रानी के यहाँ बाललीला करने पधारे तो एक बार परपरागत इद्र-पूजन के प्रसग पर भी आपकी दृष्टि गई और सात वर्ष के आपने नदराय जी से इसका महत्त्व पूछ ही लिया कि तात, यह सामग्रियो का समार क्यो तैयार हो रहा है? क्या कोई महान् देव का पूजन-समारभ है? या अन्य कोई उत्सव! इस पर नदराय ने अपने भोले लाल को गोदी में बैठाकर पुचकारते हुए कहा कि लाल, हम ब्रजवासी अनेक वर्षो से अपनी सुरक्षा, गोधन की पूर्णता, सद्‌वृष्टि, सस्य-धान्य की वृद्धि के लिए देवाधिदेव इद्र की पूजा करते है और उनसे हमें सब प्रकार का आनद मिलता है। नदनदन ने बाबा की बात को बडी शाति से सुना और अपनी कोमल-आकर्षक वाणी से इद्र के विरुद्ध वास्तविक विचार प्रकट करते हुए कहा तात, हम ब्रजवासी है, वन एव पर्वत ही हमारे सब कुछ है, यहाँ हमारी गौएँ चरती है, हमें सुदर तृण, झरनो का शीतल जल मिलता है, अत इस सामग्री से यदि इद्र की पूजा न कर पर्वत राज 'गिरिराज' की पूजा करें तो श्रेयस्कर है, इससे हमें सर्वथा लाभ और सुख होगा। श्री कृष्ण की सार-भरी वाणी ने विश्वासी ब्रजवासियो के हृदय में असर किया और सचित-समार से उन्होने इद्र की पूजा मेट गिरिराज की पूजा करने का दृढ निश्चय कर लिया। वह समय सुख-समृद्धि का था। प्रत्येक में ममता, सह-भ्रातृता, प्रेम का साम्राज्य था, अन्न-धन की पुष्कलता थी। श्री कृष्ण सब के प्राण-धन थे अत द्विगुणित उत्साह से कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को विविध भाँति के पकवानो को गाडो में भरकर अपनी गायो को सजा, स्वय सजधज ब्रज-रमणियो को साथ ले, गिरिराज की पूजा के लिये चल पडे। पर्वत के समीप आ सबो ने आनद-मग्न हो गिरिराज को प्रणाम किया। अनतर विविध भाँति से स्वच्छ कर गिरिवर की परिसर भूमि को गोमय से लीप वाद्य-बाद्यो से परिक्रमा कर पूजा करने लगे। प्रथम स्वच्छ जल, पश्चात् दूध, दही, हरिद्रा, रोली (कुकुम) और स्वच्छ जल से स्नान करा वस्त्र, चदन आदि से भूषित कर सुगधित पुष्प-माला समर्पित की। धूप-दीप के बाद भोग समर्पण किया। पकवानो का समूह इतना था कि एक प्रकार से अन्न का कूट (कोट—पर्वत) बन गया और उसमें गिरिराज भी छुप गये।[1] श्री कृष्ण ने एक स्वरूप से ब्रजवासियो के साथ गिरि का पूजन किया और अपने दूसरे रूप से अनेको भुजाओ के

1. भयो भात को कोट ओट, गिरिराज छिपानो।

—सूरसागर

द्वारा गिरिराज से सभूत हो व्रजवासियो के पकवानो का भोग लगाया। इस प्रकार भगवान् का गिरिराज से प्रकट होकर भोग-लगाना देख व्रजवासियो को बडी प्रसन्नता हुई। भोग के बाद बचे प्रसाद को अपने परिवार, ब्राह्मणो से लेकर सभी जातियों में बाँट दिया और सानद अपने घरो को चल पड़े।

इधर जब समय बीत गया और पूजा न हुई तो इद्र के हृदय में विचार उठा और उसने प्रकारातर से किये हुए व्रजवासियो के सारे कृत्य को समझ लिया और अभिमान में भरकर अपने निकटस्थ मेघो को बुला आदेश दिया कि आज एक साधारण से घोष-कुमार के कहने से मेरी पूजा भेंट व्रजवासियो ने 'गिरि' की पूजा की है, अत इनके बढे मद को चूर कर देना है और व्रज-मडल को डुबाकर ही शाति लेनी है। आज्ञानुसार व्रज पर मूसलाधार वर्षा होने लगी। इद्र का कोप देख सब व्रजवासी सत्रस्त हो इधर-उधर दौडने लगे और अपने सहायक नेता श्री कृष्ण को पुकार कर सारी कथा कह सुनाई। मृदुल हास्य करते हुए श्री कृष्ण ने घबडाहट-भरी व्रजवासियो की दशा का अवलोकन कर उनके भय को दूर करते हुए कहा तुम सभी भय-रहित हो सपरिवार गोधन के सहित गिरिराज के समीप चलो, वही तुम्हारी रक्षा करेगा। गोप-गोपियो ने अपने परम प्रिय श्री कृष्ण की जब बात मानी और सब के सब शीघ्र वहाँ पहुँच गये, तब अतुल बलशाली श्री कृष्ण ने सबो के देखते-देखते गिरिराज-पर्वत को सहसा उठा लिया और सात दिन तक उसे धारण कर अपने व्रजवासियो की उसके नीचे रक्षा कर चकित कर दिया। इद्र अपनी सारी शक्ति लगाकर थक गया और व्रज का कुछ भी न बिगाड सका, तब सुरभि को साथ ले व्रज भूमि में आया और श्री कृष्ण की अनुपम रूप-माधुरी को देख लोटपोट हो गया तथा 'गोविंद' नाम रख विनीत हो क्षमा माँगी। इस कृत्य से व्रजवासी बडे ही प्रमुदित हुए और गिरिराज की महत्ता कहने लगे।

गिरिराज की उत्पत्ति

गिरिराज की उत्पत्ति के विषय में पुराणातरो में यही उपलब्ध होता है कि गोलोक-धाम-स्थित श्री कृष्ण के हृदय में एक समय 'रास-विहार' की इच्छा उत्पन्न हुई, परतु विहार के लिए स्थल चाहिए, तब मुकुद ने सजल-प्रेम-पूरित तेज को प्रकट किया, वही गिरिराज है। जब पूर्णावतार श्री कृष्ण गोलोक से लोक-रक्षार्थ व्रज-भूमि में पधारे तब वृदावन आया, श्रुति-रूपा गोपियो ने जन्म-ग्रहण किया तो वहीं गिरिराज शालमलि द्वीप के बीच द्रोणाचल पर्वत की स्त्री से उत्पन्न हुआ और व्रजभूमि में लाया गया। किसीके द्वारा इसे प्रतिदिन घटने का शाप भी मिला।

अनेक वर्षों के बाद श्री कृष्णावतार के समय इसकी महानता बढी और यह भगवद्-विग्रह के रूप में माना तथा पूजा जाने लगा। कृष्ण-द्वारा सचालित पूजा का क्रम सदियो तक चलता रहा और 'अन्न-कूट' होता रहा, पर बौद्धो एव यवनो के आक्रमणो से इसमें न्यूनता आई और पूजा का क्रम बद हो गया। भक्ति-मार्ग का स्थान ज्ञान और कर्म-मार्ग ने ग्रहण कर लिया। काल-क्रम से भगवान् शकराचार्य ने बौद्धों का मूलोच्छेदन किया और रामानुजाचार्य, माध्याचार्य, निंबार्काचार्य ने भक्ति की पुन सुप्रतिष्ठा की, परतु समुचित भक्ति का प्रचार और व्रज-मडल का उद्धार जैसा होना चाहिए—वह न हो सका।

श्री वल्लभाचार्य का समय

कालान्तर में संवत् १५३५ वै० कृ० ११ को चपारण्य-स्थान में 'श्री वल्लभाचार्य' का जन्म हुआ और उधर उसी दिन सवत् १५३५ वैशाख कृष्ण एकादशी को गर्गसहिता के 'नारद-बहुलाश्व' सवाद के निम्न श्लोको के अनुसार श्री श्रीनाथ—देवदमन' का प्राकट्य हुआ। यथा—

"येन रूपेण कृष्णेन धृतो गोवर्द्धनोगिरि।
तद्रूपं विद्यते तत्र नृप. शृगारमंडलम्॥
अब्दाश्चतु सहस्राणि तथा चाष्टौशतानि च।
गतास्तत्र कलेरादौ क्षेत्रे शृगारमंडले॥
गिरिराजगुहा मध्यात् सर्वेषां पश्यतां नृप।

स्वतः सिद्धं च तद्रूपं हरे प्रादुर्भविष्यति ॥
श्रीनाथं 'देवदमनं' तं वदिष्यंति सज्जनाः ।"

—गर्गसंहिता—गि० ख० २८-३१

इस प्रकार आपने प्रादुर्भूत होने के कुछ वर्षों बाद झारखंड में श्री वल्लभाचार्य को अपने उत्पन्न होने का स्वप्न दिया। आचार्य मथुरा होते हुए गिरिराज पधारे और वहाँ श्रीनाथ के दर्शन कर अपने को कृतार्थ माना तथा एक छोटा मंदिर बनवा सेवा का क्रम प्रारंभ कर दिया। आपके सं० १५७२ में विट्ठलनाथ जी का जन्म हुआ और बड़े होकर आपने श्रीजी के सेवा-क्रम को व्यवस्थित रूप दिया। जो गिरिराज की पूजा और अन्नकूट छिन्न-भिन्न हो गया था, उसका कार्य-क्रम भी पुनः प्रारंभ किया। संवत् १६२८ में गिरिराज पर्वत पर अपने संप्रदाय के—

(१) मथुरानाथ जी—कोटा।
(२) विट्ठलनाथ जी—नाथद्वारा।
(३) द्वारकाधीश जी—कांकरोली।
(४) गोकुलनाथ जी—गोकुल।
(५) गोकुलचंद्रमा जी—कामवन।
(६) बालकृष्ण जी—सूरत।
(७) मदनमोहन जी—कामवन।

जो संप्रति विराजते हैं इन सात सेव्य-स्वरूपों के साथ श्रीनाथजी की गोद में नवनीतप्रिय जी को पधरा अन्नकूट का उत्सव किया, तब से यह परंपरा अविच्छिन्न चल रही है।

यवनों के आक्रमण

संवत् १७२२ या २३ में औरंगजेब की क्रांति हुई और उसने मंदिरों को तोड़ मसजिदें बनाने, हिंदुओं को धर्म-भ्रष्टकर मूर्तियों के तोड़ने का आयोजन किया। उस समय सभी प्राचीन हिंदू-संस्कृति के उपासक घबड़ा गए और इधर-उधर रक्षा के लिए स्थान ढूंढने लगे। श्रीनाथजी ने भी पूर्व-प्रार्थना के अनुसार मेवाड़ में आने की बात कही और सं० १७२६ में आप ब्रजधाम से श्री दाऊजी, श्री गोविंदजी एवं गंगाबाई के साथ चले। बीच में आगरा प्रदेश में आपका 'अन्नकूट-उत्सव' हुआ। यहाँ गोमय का गिरिराज बना, उसके बीच में गिरिराज की शिला रख पूजन किया गया तथा अन्नकूट भोग धरा। वहाँ से चलकर श्रीनाथ जी अनेक स्थानों में परिभ्रमण करते हुए सिंहाड़ ग्राम में आकर विराजे और यह उत्सव हुआ। गोवर्द्धनेश जी ने यहाँ के सेव्य सात स्वरूपों को पधराये। संवत् १८३५ से १८५८ तक मेवाड़ में मेरों और हॉल्करों का उपद्रव हुआ, उस बीच अन्नकूट का उत्सव उदयपुर और "घसियार" में पूर्व-क्रम से होता रहा। सं० १८६४ में श्रीनाथजी घसियार से वापस सिंहाड़ (नाथद्वार) पधारे और राणा भीमसिंह जी के समय दाऊजी महाराज ने उपर्युक्त उत्सव सेव्य छह स्वरूपों को पधराकर किया। इसके अनंतर गोवर्द्धनलाल जी महाराज ने, जिनका जन्म संवत् १६१७ है, चार सेव्य स्वरूपों को पधराकर उत्सव किया। उधर ब्रज-भूमि में यवनों के आक्रमण कुछ न्यून हुए और गिरिराज की विशेष रूप से प्रतिष्ठा तथा कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को पूजन का क्रम श्रीगोकुलनाथ जी द्वारा वल्लभ-संप्रदाय के सेव्य स्वरूप के साथ अन्नकूट का उत्सव प्रचलित हुआ। वह अद्यावधि चल रहा है, किंतु जो वास्तविकता और संस्कृति का पूर्णत्व हमें नाथद्वार में प्राप्त होता है—वह अन्यत्र नहीं। यहाँ अन्नकूट के एक-दो मास पूर्व से ही यात्रियों, राजा-महाराजाओं का आगमन शुरू हो जाता है और सेवा का क्रम भी तभी से होने लगता है।

अन्नकूट का उपक्रम

नाथद्वार में वस्तुओं का संग्रह अनेक मास पूर्व से होने लगता है, किंतु विजय दशमी के दिन से ठीक कार्य प्रारंभ होता है। इस दिन यहाँ श्रीनाथ जी के बाल-भोग की भट्ठी का पूजन कर पकवानों का बनना प्रारंभ हो जाता है। ये पकवान आज से लेकर दीपावली तक बनते रहते हैं। दूध-घर और

साग-घर की वस्तुएँ भी दशमी से ही बनने लगती हैं। ये पकवान मनो के रूप में बनते है और सभी प्रकार के बनते हैं। पकवानो के बनाने के लिये एक लकडियो का ढेर गोवर्धन पूजा के चौक में लगता है, उसमें हजारो मन लकडियाँ रहती है और मुहुर्त से यहाँ के अधिकारी एव सभी ग्रावाल-वृद्ध-वैष्णव उन्हें पकवान-गृह तक पहुँचाते हैं। शरद्-पूर्णिमा के दूसरे दिन से मदिर में नवीन चित्रकारी प्रारभ होती है और उसमें यहाँ के गण्यमान्य चित्रकार भाग लेते हैं। कार्तिक कृष्ण में अन्नकूट की रसोई में कच्चा अन्न (सखडी) बनना प्रारभ होता है। इसके बनाने के लिए सैकडो भट्ट मेवाडा-जाति के व्यक्ति उदयपुर से और साँचीहर गिरनारा अन्य देशो से आमत्रित किये जाते है। उनके साथ यहाँ के सेवक भी सेवा में भाग लेते है। यह सामग्री अखड रूप से अन्नकूट तक बनती रहती है। कार्तिक कृष्ण-पक्ष में ही मुहूर्त से घण (पापड) की सेवा होती है।

कार्तिक वदी १० के दिन से यहाँ के 'टीकेती शृंगार' प्रारभ होते हैं और अन्नकूट-उत्सव का आरभ आज से ही मान लिया जाता है। प्रत्येक दर्शनो पर नौबत (नक्कारे) बजती है तथा गो-पूजन गौ के शृगार करने एव उनके खिलाने के अष्टछाप के कवियो के कीर्तन यहाँ के प्रसिद्ध कीर्तनियाँ करते है। श्रीजी की डोल-तिवारी—मणिकोठा में काँच की हँडियो में शयन के समय रोशनी होती है। यह रोशनी का क्रम घन-त्रयोदशी (धनतेरस) तक चलता रहता है। रूप-चतुर्दशी को रोशनी नवनीतप्रिय के मदिर में होती है और नवनीतप्रिय अपने निज के चबूतरे पर काँच के बँगले में विराजते हैं। रूप चतुर्दशी को हरे शाक की सेवा सारे दिन असख्यों वैष्णव करते रहते हैं। एक प्रकार से शाक का कूट-सा लग जाता है। रात्रि-भर इनके सिद्ध करने की सेवा होती हैं। दीपावली को श्रीजी का मगला के अनंतर अभ्यग होकर शृगार होता है। आज श्वेत जरी का चाकदार वागा, लाल सूथन, श्वेत कुल्हे तथा मस्तक पर मयूर-पच्छ का पाँच का जोड धारण कराया जाता है। केशरी ठाडावस्त्र कदरा पर, तथा मोती, माणिक, हीरा और विभिन्न रत्न-जटित आभूषणो का शृगार होता है तथा शृगार के अनतर यहाँ की विधि के अनुसार भोगादि आने पर ग्वाल एव राजभोग के दर्शन होते है। राजभोग के बाद यहाँ के टीकैत, सेवक-वृद, वैष्णव-समाज एकत्रित हो खासा-भडार पहुँचते है और वहाँ से चावल की टोकरियाँ लेकर अन्नकूट की रसोई तक जाते है। यह चावलो के पधराने का क्रम बहुत समय तक चलता रहता है। इसमें बडी भीड होती है, सभी सेवा कर अपने को कृतार्थ करना चाहते हैं। इस समय श्रीजी के अनोसर (शयन) हो जाते है, फिर समय-क्रम से उत्थापन, भोग, सध्या-आरती के दर्शन होते है। आरती में श्रीजी गायों के घेरने के भाव से ठाडा वेत्र धारण करते है।

उसी दिन रतन-चौक में एक विशाल काँचो के टुकड़ो का बड़ा ही सुदर बँगला बनता है और उसके सामने चाँदी के बडे-बडे हाथी, गायें, सखी साजी जाती हैं और गोवर्द्धन-चौक के थोडे स्थान में कटहरा लगा दिया जाता है, जहाँ नवनीतप्रिय जी विराजते है, बाकी हिस्सा गायो के लिये छोड दिया जाता है, वहाँ गौएँ एकत्रित होती है तथा खेलती है। साय ५ बजे यहाँ की गोशाला के गोप जो कि ब्रजवासी होते हैं, अपनी पागपर मयूर-पच्छ की कलगी धारण कर गायो को रग-बिरगी सजा उनके शीश पर मयूर-पच्छ की पट्टिया बाँध लाते हैं। पहिले गायो को यहाँ एक विशाल चौक में छोड देते हैं और गोप-गण एकत्रित 'हो हीरा'—जो कि एक अन्नकूट-समय का गोपो का प्रधान गीत होता है गाते हुए श्रीजी की परिक्रमा करते हैं। जब समय हो जाता है, यहाँ के टीकैत, सजातीय सेवक-वृद, वैष्णव-समाज, स्थानीय कीर्तनियाँ गाते-बजाते खुले हुए सुवर्ण के सुखपाल में श्री नवनीतप्रिय को विराजमान कर पधराते हैं और सूरजपोल की सीढियो पर उन्हें विराजमान कर पान आरोगाते हैं। इधर गोप बाजार में गायो को खिलाते हुए गोवर्द्धन चौक में लाकर इकट्ठी करते हैं तथा यहाँ आकर खिलाते हैं। नवनीतप्रिय को पान के बाद दूध के मटके आरोगाए जाते हैं, फिर यहाँ के टीकैत नंदवश की गाय का पूजन कर कान में 'रान खेलने को बेगी आना' यह कहते हैं। गोप अधिक उत्साह से गायो को खिलाते हैं। इसे ही 'कान्ह (कान) जगाई' कहते हैं।

इसके बाद नवनीतप्रिय रतन-चौक के विशाल बँगले में विराजते हैं और दर्शन खोले जाते हैं। सर्वत्र दीपावली जोडी जाती है। दर्शनानतर शयन होते है और श्रीजी के मस्तक से मयूर-पच्छ का जोड, आधा शृगार बडा कर लिया जाता है। रात भर नवनीतप्रिय वही रहते हैं।

अन्नकूट

आज का दिन बडा ही सुदर होता है तथा खास रूप से आनद-प्रद। प्रात नवनीतप्रिय के अपने निज मदिर में पधारने पर यहाँ कांच का बँगला उठा लिया जाता है और श्रीनाथ जी के मगला के दर्शन होते हैं तथा कदरा पर गद्दल धराया जाता है। इसके अनतर शृगार, ग्वाल, राजभोग के दर्शन होते हैं और मस्तक पर गोकर्ण, हस्त में पीत पिछोरी, गायो को घेरने के लिये ठाडा वेश धारण कराया जाता है। दर्शन हो चुकने पर अनोसर हो जाते हैं।

डोल-तिवारी में मगला के बाद से ही सफेद चँदोवा तथा काँच की हाँडियाँ तेल भरकर जोड कर लटका दी जाती हैं। गोल देहली के यहाँ पाटिये लगा दिये जाते हैं। नीचे हरिद्रा से चौक पूर दिया जाता है। सभी दरवाजो से चाँदी के किवाड उतारकर लकडी के किवाड चढा दिये जाते हैं, फिर रतन-चौक में घास का पीढा रस्सो से बाँधकर तैयार किया जाता है। उसे डोल तिवारी में ले जाकर गोल बाँधते हैं। इसकी सेवा भी सभी वैष्णव एव यहाँ के सेवक करते हैं। इसमें मनो चोखे (चावल) भरे जाते हैं। यह एक पुरुष ऊँचा और करीबन ३-४ गज की गोलाई से कम नही होता, इसके ऊपर पत्तलें लगायी जाती हैं। डोल-तीवारी और रतन-चौक में घास बिछा दिया जाता है।

इधर गोवर्द्धन-पूजा के चौक में कटहडे के भीतर गो-मय का गोवर्द्धन बनाया जाता है, जो अच्छा बडा होता है। उसमें कई झाड (वृक्ष) लगाये जाते हैं तथा ऊपर रुई डाली जाती है। अन्य आवश्यक उपकरणो से उसे सजाया जाता है। बीच में एक स्थान गिरिराज की शिला पधराने को रक्खा जाता है। पीछे गली छोडी जाती है, जहाँ पूजन के समय कीर्तनिये खडे होकर कीर्तन—गोवर्द्धन-पूजा के करते हैं। पूर्व दिन की भाँति सूरजपोल की सिढियो एव नीचे के स्थान पर चालनी माँड दी जाती है[1] तथा पूजन के योग्य सादे पदार्थ सेवक-गण लाकर साज देते हैं।

श्रीजी के मदिर में अन्नकूट का भोग-सजना प्रारभ हो जाता है। केवल एक गली छोड़ दी जाती है, जिसमें होकर स्वरूप पधराये जाते हैं। निज मदिर मणि-कोठा में दूध-घर, शाक-घर, अन-सखडी के पदार्थ और डोल-तिवारी में एव रतन-चौक में सखडी सजने लग जाती है। इसमें करीबन ५-६ घटे लगते हैं और जिसमें सैकडो व्यक्ति काम करते हैं।

ठीक डेढ-दो बजे के समय यहाँ के अधिकारी समाधानी, छडीदार, कीर्तनियाँ एव वैष्णव-समाज को साथ ले सप्रदाय के सेव्य स्वरूपो को पधराने जाते हैं और गादियो के क्रम से सब स्वरूपो को पधराते है। सब स्वरूप बद-सुखपाल से पधारते हैं। अन्यत्र से पधारनेवाले स्वरूपो के लिये स्थानीय फौज, हाथी, घोडे, बाजा और सरकारी प्रबध नाथद्वारा पधारने तक भेजा जाता है। सब स्वरूपो के पधारने के अनतर नवनीतप्रिय को सभी एकत्रित हो पधराकर लाते हैं और पूर्व दिन के अनुसार सीढियो पर सुखपाल को विराजमान करते हैं। वहाँ पान और दूध का भोग धर यहाँ के तिलकायित गोस्वामी जी गिरिराज का पूजन करते है। सर्वप्रथम गो-मय के गिरिराज में गिरिराज की शिला पधरायी जाती है, फिर शुद्ध जल, दूध, हरिद्रा, कुंकुम आदि के बाद शुद्ध जल, दूध, से स्नान करा वस्त्र, माला, तुलसी धारण करायी जाती है तथा गिरिराज-शिला को चदन-चर्चित की जाती है। धूप-दीप कर भोग धराया जाता है। भोग के पश्चात् आचमन करा बीडा धर आरती की जाती है। यहाँ के ग्वालो और सेव्य-स्वरूपो के ग्वालो को तिलककर प्रसादी उपरना बाँध और गिरिराज का भोग दिया जाता है। उनके हाथ के थापे लगाये जाते हैं। गोवर्द्धन पर गाय चढाई जाती है और नवनीतप्रिय श्रीजी

[1]. ये चालनी विविध रंगो से भरी होती है।

के मदिर में पधारते है[1] बाकी का अवशिष्ट भोग श्रीजी के समक्ष रख दिया जाता है। यहाँ की विधि के अनुसार धूप-दीप हो जाता है। गाऐं गोशाला भेज दी जाती है। भोग धरने के अनतर टीकैत, अधिकारी-वर्ग, कीर्तनियाँ, गोप-गण, वैष्णव-समाज, स्त्रियाँ, बालक सहस्रो की सख्या में श्रीजी की बडी परिक्रमा करते है।

भील लोग अपनी-अपनी स्त्रियो के साथ उन्मत्त हो गाते-नाचते हुए अधिक से अधिक परिक्रमा देते है और महान् आनद का अनुभव करते है। वे मस्त होकर नाचते व गाते है।

दो घटे के अनतर मदिर एव अन्नकूट की रसोई के धुल जाने पर पक्वान का भोग सरना प्रारभ होता है। यह भोग मणि-कोठा, छठी-कोठा, माला-गली होता हुआ अन्नकूट की रसोई में पहुँचाया जाता है। भोग के टोकडे उठाकर नही रक्खे जाते, सरकाये जाते है, तब कही अनेक व्यक्तियो से यह भोग सरता है, फिर दर्शन खुलते है। स्त्रियाँ अलग मार्ग से और पुरुष अलग मार्ग से आकर दर्शन करते है और उन्हें रोक-रोक कर व्यवस्था-पूर्वक यहाँ के अधिकारी वर्गो के द्वारा दर्शन कराये जाते है।

श्रीनाथ जी के दोनो ओर मथुराधीश, द्वारकाधीश एव विट्ठलनाथजी आदि स्वरुप विराजते है। सामने अनेको टोकरे पक्वान के रक्खे रहते है और सखडी का भोग सजा रहता है। एक ओर वैष्णव श्रीनाथ जी के दर्शन एव दूसरी ओर सखडी भोग के दर्शन करते है। ये दर्शन बहुत समय तक होते रहते है। बीच-बीच में आरतियाँ उतरती है। फिर क्रम से द्वारकाधीश, विट्ठलनाथ जी आदि अपने-अपने मदिरो में पधारते है। बाहर गोवर्द्धन-पूजा के चौक की एक कोठडी में अनसखडी-भोग सरने लगता है, जो कि राजा-महाराजाओं, और वैष्णव-समाज में बाँटा जाता है और इसके बाँटने में एक मास लग जाता है। इसके बाद कुछ प्रसाद पीढा बाँधनेवाले अदर जाकर लेते है और फिर दरवाजा खोल दिया जाता है। दरवाजे के खुलते ही मेवाड के भील सहस्रो की सख्या में डोल-तिवारी, रतन-चौक में घुस पडते है। उनकी स्त्रियाँ बाहर अपने टोकरे लेकर बैठ जाती है। भील चावल में लथपथ हुए झोली भरकर आते है और "म्हाँ-वाली" इस प्रकार पुकार-पुकार कर अपनी-अपनी स्त्रियो के टोकरे में चोखे (चावल-भात) डाल जाते है। कोई गिरता है, कोई पडता है, परतु भील इतनी मस्ती में सराबोर रहते है कि उन्हें देह का ध्यान भी नही रहता। एक ओर भात का लूटना, दूसरी ओर श्रीनाथ जी के दर्शन करना, यही उनका कृत्य हो जाता है। यह लीला घटो चलती रहती है, फिर भीलो का पता भी नही लगता। भीलो के लूटने के बाद नवनीतप्रिय अपने मदिर में पधारते है और श्रीनाथ जी के उत्थापन, भोग, सध्या-आरती, शयन की सेवा होती है। सारा मदिर धुलता है।

इस प्रकार यहाँ प्राचीन सस्कृति का पोषक 'अन्नकूट-महोत्सव' होता है, जिसमें गोधन का पूजन, गायो का शृगार, गोपो का पूजन-शृगार एव अपने आराध्य गिरिराज और अशरण-शरण श्रीनाथ जी को विविध भाँति के पक्वानो का भोग धर सर्वतोभावेन प्रसन्न करते है। सप्रदाय में यह एक प्रकार का यज्ञ माना जाता है। इन दिनो में बालक से लेकर वृद्ध तक अपने कार्यो को भूल जाते है और वही पाँच हजार वर्ष पूर्व का श्री कृष्ण के समय के गिरिराज-पूजन और अन्नकूट का समाँ नेत्रो के सामने बँध जाता है। सहस्रो नर-नारी भीड की अधिकता से दब उठते है, पर उन्हें उस दबने में भी आनद ही होता है। इस तरह के विविध भोगो की तैयारी भी अन्यत्र दुर्लभ है, क्योकि लक्षावधिद्रव्य चाहिये। वैष्णव-जन इस उत्सव के दर्शन से अपने अहोभाग्य समझते है और सहस्रो रुपये खर्च कर-कर आते है। इन दिनो जिधर देखिये उधर व्रज-भूमि, वही आनद, वही प्रेम, वही उन्मत्तता दीख पडती है। अत में यह निर्विवाद रूप से कहना पडता है कि जिसके हृदय में भक्ति का अकुर है, जो हिंदु-सस्कृति का श्रद्धालु है, वह एकबार यहाँ के इस उत्सव के दर्शन कर अपने को कृतार्थ करे।

——·oo——

[1]. चावलों (भात) पर पांच गूंझा पधराये जाते हैं।

यमुना का प्रदेश

श्री अमृतवसंत पंड्या

यमुना का महत्व

आर्यवर्त की नदियो में सरस्वती और सिंधु की महिमा वेदो के मन्त्र-दृष्टा ऋषियो ने गायी है। गगा का सुयश सूतो ने और महर्षि वेदव्यास ने पुराणो में विस्तार-पूर्वक बखाना है और यमुना? भारतवर्ष का ऐसा कौन-सा कवि होगा जिसने भगवान् श्री कृष्ण की बाल-लीलाओ के साथ 'यमुना' की कीर्ति का बखान कर अपनी लेखनी को धन्य नही बनाया होगा। यमुना तो भारत-वासियो के कठ-कठ पर रम रही है। भारतीय इतिहास के महत्तम-पुरुष, गीता के गायक भगवान् श्री कृष्ण जिसके तट पर जन्मे, विचरे, खेले और अपनी बाल-लीलाओ की स्वय क्रीडा-स्थली बनायी वह यमुना वास्तव में धन्य है। भारतीय आर्य-सस्कृति के विकास में यमुना का एक बडा भाग है। इस यमुना और गगा के मध्यवर्ती प्रदेश ने भारतीय इतिहास-चित्र में विविध रग पूरित किये है और आगे करेगा। आर्यावर्त के आँगन में आर्य-सस्कृति का आदि ध्वज जहाँ फहराया वह प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान झूसी जो प्रयाग के समीप है) यमुना के तट पर गगा-यमुना के सगम के समीप ही बसा हुआ था। इसी यमुना के तट पर 'मधुवन' से 'सौराष्ट्र' तक राज्य का विस्तार करनेवाले मधु ने मधुपुरी (मथुरा) नगरी बसायी थी। जैन-साहित्य का प्राचीन नगर सौरिपुर भी इस यमुना के ही तट प्रदेश पर बसा था और महान् नगरी कौशाबी भी इसी यमुना के तट पर बसायी गयी थी।

प्राचीन साहित्य में यमुना

पुराणो में लिखा है कि यमुना विवस्वान् (सूर्य) की पुत्री तथा यम और वैवस्वत मनु की बहिन थी। यम और यमुना दोनो एक ही माता—'सज्ञा' से जन्मे थे। यमुना का दूसरा नाम 'यमी' भी है। ऋग्वेद में यम और यमी का सवाद मिलता है। हिमालय के 'कलिंद' पर्वत से निकलने के कारण यह 'कालिंदी' (कलिंद-पर्वत की पुत्री) भी कहलाती है। इसके अन्य नाम सूर्य-तनया, तरणि-तनया, सूर्यजा, नियामा भी है। ऋग्वेद के दशम मडल के ७५ वें सूक्त में यमुना का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद (४-६-१०), शतपथ ब्राह्मण (१३-५-४-११), ऐत ब्राह्मण (८-१३), जैमिनीय ब्राह्मण (३-२३), तांड्य ब्राह्मण (९-४-१०) इत्यादि ग्रथो में भी यमुना के उल्लेख है। पुराण, महाभारतादि इतिहास-ग्रथो में तो यमुना के वर्णन पर्याप्तरूप में मिलते है।

यमुना की उपत्यिका

यमुना, गगा की मुख्य सहायक नदी है। यह उत्तर से हिमालय के अदर पूछ पर्वत (प्राचीन-कलिंद) गढवाल जिले से निकल कर ८५ मील का मार्ग तै कर प्रयाग में गगा से जा मिलती है। उत्तर-प्रदेश के पश्चिमीय भाग में उत्तर से दक्षिण की ओर बहती हुई कालसी (जहाँ अशोक का लेख है) से शाहपुर (कोसी के पास) तक पूर्व पजाब और दिल्ली प्रात के साथ उत्तर प्रदेश की सीमा बाँधती है। उत्तर प्रदेश—गढवाल, देहरादून, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलदशहर, अलीगढ, मथुरा आगरा, मैनपुरी, इटावा, जालौन, हमीरपुर, बाँदा और इलाहाबाद जिलो में यह यमुना नदी बहती है। भारत की ऐतिहासिक राजधानी 'दिल्ली' इस यमुना के ही तट पर है। अन्य व्यापार के नगर—मथुरा, आगरा इटावा, काल्पी, हमीरपुर और प्रयाग आदि नगर है। वृदावन, मथुरा, गोकुल, महावन, सौरिपुर—बटेश्वर और प्रयाग जैसे तीर्थ भी यमुना के तट पर है। सौरिपुर एक जैन-तीर्थ है और मथुरा भी कई अर्थोमें

जैन लोगो द्वारा तीर्थ माना जाता है। बौद्ध-इतिहास में भी मथुरा का प्रमुख स्थान है। ऐतिहासिक स्थानो में कालसी (जहाँ अशोक का लेख है) बाघपत (प्राचीन व्याघ्रप्रस्थ), दिल्ली, इद्रप्रस्थ, प्राचीन इद्रप्रस्थ जो नयी दिल्ली के बन जाने से समाप्त हो गया है, वृदावन, मथुरा, आगरा, कोट, कौसाबी (प्राचीन कौशाबी) पभोसा (जहाँ अशोक का लेख है), मोटा और प्रयाग आदि स्थान है। इसकी सहायक नदियाँ टोस, हिंदन, चबल, बेतवा और केन है और दो नहर है—अपर जमुना और लोअर जमुना। यमुना के जल में टाइफाइड ज्वर के जतुओ के नाश कर देने के गुण है।

यमुना की उत्पत्ति

उत्तर भारत की नदियाँ मानव जाति के देखते-देखते उत्पन्न हुई है। पुरातत्त्व के अतिम से अतिम शोध और अनुसधान बतलाते है कि पौने पाँच लाख वर्ष पूर्व मानव जाति ने हिंद में प्रवेश किया था[1] और उस समय उत्तर भारत में हिमालय की तलेटी में जहाँ आज 'शिवालिक' पर्वत-माला है एक तीन हजार मील लबी बडी नदी आसाम से पश्चिम पजाब तक बहती थी, जिसको भूस्तर-शास्त्रियो ने 'इडोब्रह्मा' (Indo-Brahma) नाम दिया है।[2]

उस समय सिंधु, सरस्वती, सतलज, गगा, यमुना इत्यादि आधुनिक उत्तर भारत की नदियाँ नही थी। मानव जाति उस समय इसी इडोब्रह्मा नदी की उपत्यिका में रहती थी और उसकी सस्कृति पूर्व-प्रस्तर युग (Palaeolithic age) की थी। लगभग तीन लाख वर्ष पूर्व भूकपो की परपरा यहाँ आई। ये भूकप इतने प्रलयकर थे कि इनके असर से इडोब्रह्मा नदी का पट ऊँचा उठने लगा और उठते-उठते यह शिवालिक पर्वत-श्रेणी बन गया। यह शिवालिक पर्वत-श्रेणी हिमालय की तीसरी पर्वत-माला गिनी जाती है और इसके पाषाणो में से जलचर प्राणियो के अस्थि-अवशेष आज भी मिल जाते है। इस दुर्घटना के परिणामस्वरूप इडोब्रह्म महा नदी नाश को प्राप्त हुई और उसके तीन भाग हो गये। पहला भाग ब्रह्मपुत्रा, दूसरा गगा-यमुना और तीसरा सिंध-सतलज बना। इस तरह यमुना-गगा आदि नदियाँ मनुष्य के देखते-देखते तीन लाख वर्ष पूर्व उत्पन्न हुई है। यह हिमयुग (Ice Age) के समय की बात है। हिमयुग का अत आज से २५ हजार वर्ष पूर्व ही हुआ है।

यमुना-तट पर पूर्व-प्रस्तर युग का मानव

हिमयुग-कालीन फौसिल (अश्मीभूत प्राणी का अवशेष) तथा तत्कालीन मानव जाति के पत्थर के औजार यमुना तट के प्रदेश में मिल जाते है। इनके विषय में मि० ए० सी० लोगन लिखते है—

"The gravels (ककड़ो की स्तर) of the Jamna contains much the same fossils as those of the Narbada and after no doubt of the same age Mr Cockburn collected the fossil of several extinct species in these gravels in Hinavati in the Banda district, and found some chart and quartzite implements in association with the bones"[3]

यमुना-तट प्रदेश में खास कर उत्तर प्रदेश के बाँदा जिलेमें हिम-युग(यह युग ६ लाख वर्ष से २५ हजार वर्ष पूर्व तक रहा था) कालीन प्राणियो और मानवियो की अश्मीभूत अस्थियाँ सन् १८३३ ई० से मिलने लगी है। गगा-तट प्रदेश में ऐसे अवशेष अभी नही मिले है। 'मि० ई० स्मिथ, आर० डी० ओल्डहाम, आर० सी० डेकर, ई० डीन और टी० एस० बर्ट आदि विद्वानो ने इन पर अपने लेख जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायिटी ऑफ बगाल के सन् १८३३, १८३६, १८५५, १८७५, १८८५ और १८८४ के अको में प्रगट किये है।

१. Ice age in India and associated Cultures by Terra and Paterson, 1939 Carnegie Inst Washington

२. Quart-Journal-Geog-Soc-London १९१९ LXXV

3 Old chipped stones of India by A G Logan P 31

यमुना-प्रदेश की रचना

हिमालय पर्वत भी समुद्र की सतह से भूकप के परिणाम से ही निकला है, यह प्रसिद्ध बात है। जब हिमालय पर्वत की तीसरी शृखला शिवालिक पर्वत-माला खडी हुई तब इसकी तलहटी में एक खाई बन गई थी और इस खाई में गगा-यमुना एव अन्य नयी नदियों ने हिमालय के टील, ककड-पत्थर, मिट्टी आदि डालना प्रारभ किया, शनै शनै यह खाई पटने लगी और इस प्रकार सहस्रो वर्षो में जाकर गगा-यमुना का यह मैदान बन गया है।[१]

इस प्रकार नदियो द्वारा बनायी गयी मिट्टी 'एल्युवियम' (Alluvium) कहलाती है। गंगा का प्रदेश इसी 'एल्युवियम' मिट्टी का है, किंतु यमुना के प्रदेश में एक अन्य प्रकार की और मिट्टी भी मिलती है जिसे 'भूड' (loess —लोइस) कहते हैं। यमुना तट के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में यह मिट्टी अन्यत्र कही नही मिलती। यह मिट्टी हिम-युग के अतिम काल में दूर देशो से आँधियो में उड-उड कर आई थी और यमुना-प्रदेश तथा पूर्व राजपूताना में फैली थी। इस प्रकार हिम-युग के अतिम काल में अब से लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व यमुना-प्रदेश की रचना पूरी हुई थी।

यमुना और सरस्वती

भूस्तर-शास्त्रियो (Geologists) का कहना है कि यमुना नदी पहले सरस्वती नदी में मिलती थी और सरस्वती का प्रवाह प्राग्-ऐतिहासिक काल में सूख जाने से यमुना गगा में मिली है।[२]

यमुना-तट पर प्राप्त प्राग-ऐतिहासिक अवशेष

यमुना के किनारे मानव-जाति हिम-युग के अतिम काल में बस चुकी थी, यह बात बाँदा जिले से प्राप्त अवशेषो द्वारा सिद्ध होती है, किंतु इस हिम-युग की मानव-जाति का नाश हो गया है, इसके बाद आज से २५ हजार वर्ष पूर्व यमुना के तट-प्रदेश पर मानव-समुदाय ने बसाहट कब से प्रारभ की इसका अन्वेषण और अनुसधान होना अभी बाकी है। जिला बाँदा में यमुना-किनारे सन् १८८२ ई० तक 'जे० कौकबर्न' को लगभग पच्चीस स्थानो पर उत्तर प्रस्तर-युग के (Neolithic Age) पत्थर के औजार (हथियार), मिट्टी के वर्तन एव अन्य अवशेष मिले थे। इन सब का वर्णन उन्होंने—रायल एशियाटिक सोसायिटी बगाल के जनरल सन् १८७९, १८८२, १८८४ के कितने ही अको में दिया है। सन् १९०७ में मि० 'ए० सिल्वरीड' को इसी बाँदा जिले में पत्थरो पर प्राग-ऐतिहासिक काल के चित्र भी मिले।"[३] सन् १८३७ में कनिंघम को मथुरा के 'चौबारा टीलें' (कटरा केशवदेव से उत्तर पश्चिम १।। मील दूरी पर) की खुदाई में ताम्र-युग की ताँबे की बनी कितनी ही वस्तुएँ मिली थी।

इससे विदित होता है कि मथुरा प्राग-ऐतिहासिक काल में बसा था। यमुना-तट बाँदा जिला से मिले हुए उत्तर प्रस्तर-युग के अवशेप तथा चौबारा-टीला मथुरा से प्राप्त वस्तुएँ ताम्र-युग की होनी चाहिये।

वेद-काल

यमुना-प्रदेश का इतिहास-सबधी विशेष वृत्त वैदिक-साहित्य में नही मिलता है। वेद-मत्र एक युग के नही है और उनका इतिहास या प्राचीन परपरा के साथ सबध भी नही है। वैदिक साहित्य से राजनैतिक इतिहास की शोध करना कठिन है। ऋग्वेद में 'दशराज्ञ' युद्ध का वर्णन है, जिसमें भरत-

१ The origin of the Indo-Gangetic through Proc Royal Society 1915 XCI A - Sir C G Burrard

२ The Saraswati and the lost river of the Indian Desert by C F Oldham Journal of the Royal Asiatic Society, 1893, P. 49.

३. J Asiatic Soc Beng. 1907 P. 567.

४. आर्कियोलौजिकल सर्वे की रिपोर्ट ३, १८७३, पृ० १३—४६।

वशी 'सुदास' के साथ 'मथुरा' के यादव लोगो का होना दिखाया है। यमुना-प्रदेश का आरंभिक इतिहास तो पुराणो से मिलता है।

यमुना-तट के प्राचीन प्रदेश

मनुसंहिता (२।१९) से पता लगता है कि सरस्वती और यमुना के बीच का प्रदेश 'ब्रह्मर्षि-देश' कहलाता था। इस काल में यमुना के प्रदेश में घने वन थे। 'मधु' नामक असुर ने यमुना-तट से लेकर आनर्त (गुजरात) तक फैले हुए इन वनो का 'मधुवन' नाम रखा था। इसके पश्चात् यमुना-तट का प्रदेश कुरु, शूरसेन, कारुष और वत्स प्रदेशो में बँट गया था।

पुराण-काल

पुराणो में लिखा है कि मगध में 'चंद्रगुप्त मौर्य' से ३९ वी पीढ़ी पूर्व में 'जरासंध' नामक राजा 'राजगृह' में हुआ था जो महाभारत-युद्ध के समय होने से श्री कृष्ण के समकालीन था। वायुपुराण (अ० ९९) और मत्स्यपुराण (अ० ५०) में मगध के 'बृहद्रथ', 'प्रद्योत', शिशुनाग' तथा 'नंदवंश' के राजाओ का जो राज्य-काल दिया है, उसके अनुसार जरासंध चंद्रगुप्त मौर्य के राज्यारंभ (३२३ ई० पूर्व) से १५-९९ वर्ष पूर्व होना चाहिये। अत १५९९-३२३=१९२२ ई० पूर्व के लगभग महाभारत-युद्ध होना चाहिए। पुराणो के अन्य राजवंशो के विवरण के आधार पर महाभारत-युद्ध ई० पू० १४५० से ई० पू० ९५० तक होना माना जाता है। इसमें ई० पू० १४५० का वर्ष कुछ प्रामाणिक प्रतीत होता है। ज्योतिष के आधार पर ई० पू० ३१०२ के मत को पुरातत्त्व और इतिहास के विद्वान मान्यता नही देते। पुराणो की वंशावलियो का सर्वश्रेष्ठ अभ्यास और ज्ञान अंग्रेज विद्वान् श्री एफ० ई० पार्जिटर का समझा जाता है (ऐंश्यंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन १९२२ आक्सफोर्ड)। वायु आदि पुराणो के आधार पर पार्जिटर द्वारा दिये गये वंशानुक्रमणिका के अनुसार जरासंध, युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण से ९३ पीढ़ी पूर्व 'वैवस्वत-मनु' हुआ था। जल-प्रलय के पश्चात् यह मनु भरतखंड में सर्वप्रथम राजा हुआ था। इसीने सबसे पहली 'अयोध्या' नगरी भारत में बसाई थी। पुराणो के कथनानुसार अयोध्या भारत की प्राचीनतम नगरी है। वैवस्वत मनु मंत्र-द्रष्टा थे (ऋग्वेद ८।२७।३१), अत वे ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनकी पुत्री 'इला' थी, जिसका विवाह चंद्र के पुत्र बुध के साथ हुआ, अत इनकी संतति चंद्रवंश से प्रसिद्ध हुई। इसे 'ऐलव-वंश' भी कहते है। इन मनु के पिता विवस्वान् का दूसरा नाम सूर्य होने से इनका वंश 'सूर्य-वंश' भी कहा जाता है और 'मानव-वंश' भी कहलाता है। इला और बुध को मनु ने गंगा-यमुना के संगम के पास का राज्य दिया था। वहाँ उन्होने प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग के समीप आधुनिक झूसी) नामक नगर बसाया। मनु ने अपने अन्य नौ पुत्रो को अन्य प्रदेशो का राज्य दिया, जैसे—इक्ष्वाकु को अयोध्या का अपना उत्तराधिकारी बनाया। नाभाग—नृग को यमुना का प्रदेश दिया, कारुष को बघेलखंड, नाभानेदिष्ट को वैशाली प्रदेश, गय—नाभाग को गया का प्रदेश दिया। शर्याति ने गुजरात-सौराष्ट्र में सागर-तट पर राज्य की स्थापना की। धृष्ट-बाह्लक (बलख) का राजा बना इत्यादि। बुध, नाभानेदिष्ट और शर्याति के रचे हुए मंत्र ऋग्वेद के दशम मंडल में मिलते है, अत ये ऐतिहासिक व्यक्ति कहे जा सकते है और ये आर्य थे, क्योकि इनके नाम-व्युत्पत्ति की दृष्टि से आर्य-भाषा के है।

मनु-पुत्र नाभाग और उसका वंश

मनु-पुत्र—नाभाग (नृग) पार्जिटर के अनुसार यमुना प्रदेश का राजा हुआ उसका पुत्र अंबरीष था। ये नाभाग और अंबरीष अयोध्या के नाभाग और अंबरीष से पृथक् थे। सूर्य (मानव) वंश से चंद्र (ऐल) वंश विशेष प्रतापी हुआ है। प्रतिष्ठानपुर में बुध का पुत्र 'पुरुरवा' राजा हुआ, जिसका पुत्र 'आयु' और उसका 'नहुष' हुआ। नहुष का पुत्र 'ययाति' 'सम्राट्' कहलाया। जिसने गंगा-यमुना के संगम से लेकर पश्चिम में सरस्वती नदी तक अपने राज्य का विस्तार किया था। अत इनके इस दिग्विजय के परिणाम स्वरूप ही संभवत. यमुना के प्रदेश से नाभाग के वंशजो की सत्ता समाप्त हो गयी थी।

यदु-कुल

ययाति के पाँच पुत्र हुए—पुरु, अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु और यदु। इन पाँचों में ययाति द्वारा जीता हुआ विशाल राज्य बाँट लिया गया। पुरु—प्रतिष्ठानपुर में ययाति का उत्तराधिकारी हुआ। अनु को यमुना के उत्तरी भाग का राज्य मिला, द्रुह्यु को पश्चिम का भाग, तुर्वसु को दक्षिण-पूर्व और यदु को मध्य-भाग का राज्य मिला था। यदु जिस प्रदेश का राजा हुआ बाद में उसी का विशेषांश 'शूरसेन' प्रदेश कहलाया। उस समय मथुरा का अस्तित्व नहीं था? यमुना से लेकर चंबल (चर्मवती), बेतवा (वेत्रवती) और केन (शुक्तिमति) के प्रदेशों तक यदु का राज्य था। इन राजाओं की शाखा उनके नामसे प्रसिद्ध हुई और ऋग्वेद में वर्णित दाशराज्ञि युद्ध में उनके नाम आते हैं। यदु के ही वंशज 'यादव' कहलाये। यदु के दूसरे पुत्र से जो वंश चला वह 'हैहय वंश' कहलाया। हैहय लोग बेतवा नदी के दक्षिण प्रदेश में चले गये जहाँ आज के मालवा और अनूप (नर्मदा-उपत्यका) प्रदेश में वे अपना राज्य चलाने लगे। इनकी राजधानी 'माहिष्मती' थी, जिसे हैहयवंशी राजा महिष्मान् ने बसायी थी। मोहेंजोदड़ो से भी प्राचीन महत्त्वपूर्ण इस नगरी के अवशेष हाल ही में मिले हैं। यादवों की इस हैहय-शाखा में 'सहस्रार्जुन' बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ है, जिसका वध भार्गव 'परशुराम' ने किया था। सहस्रार्जुन से तीन वंश चले। एक पुत्र 'जयध्वज' अवंति (मालवा) देश का राजा हुआ। दूसरे पुत्र शूरसेन के नाम से यमुना-तट का प्रदेश जहाँ यादव लोग राज्य करते थे—शूरसेन कहलाया।

भरत खंड के बहुत बड़े भाग पर चंद्रवंश की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फैल गयी थी। सहस्रार्जुन के समय से चंद्रवंश की बहुत वृद्धि हुई। माहिष्मती के हैहयों ने समस्त आर्य राजाओं को जीत कर उत्तर हिमालय से लेकर दक्षिण में 'ताप्ती' तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। इन हैहयों को अयोध्या के 'सगर' राजा ने हराया और माहिष्मती नगरी का नाश हुआ। वैवस्वत् मनु से ४१ वी पीढी में 'सगर' हुआ था। सगर की एक ही पीढी बाद प्रतिष्ठानपुर में दुष्यंत राजा हुआ जिसका पुत्र भरत हुआ, जिससे यह वंश 'भरत-वंश' कहलाया। भरत से ८ वी पीढी में 'हस्तिन्' राजा हुआ जिसने हस्तिनापुर बसाकर वहाँ अपनी राजधानी की। हस्तिनापुर के अवशेष मेरठ जिले में 'मवाना' के समीप है। सूर्यवंशी रघु के काल में स्वयंवर में मथुरा के राजा 'सुषेण' ने भाग लिया था।[1]

लगभग इसी काल में यादव शूरसेन के वंश में सात्वत आदि राजा हुए और इसी यदुवंश में मधु हुआ जो यमुना-तट के प्रदेश पर राज्य करता था और इसके राज्य का विस्तार यमुना-तट के प्रदेश से लगाकर गुजरात-सौराष्ट्र तक फैला हुआ अति विस्तृत था तथा इस प्रदेश में बड़े भारी वन थे। यह सब मधुवन कहलाता था और उसने अपनी राजधानी यमुना-तट पर मधुपुरी-नाम से बसायी थी। वह मधुपुरी आज की मथुरा के उत्तर में बसी 'महोली' ग्राम में थी। इस मधु के वंशज होने से ही श्रीकृष्ण 'माधव' कहलाये। हरिवंशपुराण (अध्याय ९४) में यदु-वंश की उत्पत्ति के विषय में कुछ और ही कथा वर्णित है। इस पुराण के अनुसार मधु दानव ययाति के वंश में था। इसकी एक कन्या थी। 'इक्ष्वाकु कुल' के निर्वासित राजकुमार 'हर्यश्व' को मधु ने अपनी कन्या 'मधुमती' विवाहित की और उसे अपने राज्य-विस्तार में से आनर्त-सुराष्ट्र (गुजरात-सौराष्ट्र) प्रदेश का राज्य दे दिया। उसने 'कुशस्थली' नगरी बसाकर वहाँ राजधानी बनायी। हर्यश्व का पुत्र 'यदु' हुआ जिसके वंशज यादव कहलाये। मधु का राज्य भी सुराष्ट्र के इन यादवों को मिला जो कालांतर में आनर्त-सुराष्ट्र पर अन्य भीषण आक्रमण होने से यादवों ने सौराष्ट्र से आकर यमुना-तट पर बसी मथुरा को अपनी राजधानी बनाया और यहाँ राज्य करने लगे।

---

[1]. रघुवंश ६ ठा सर्ग

श्री यमुनाजी के पद

राग—विभास

दोऊ कूल-खंभ, तरंग-सिढी, जमुना-जगत बैकुंठ की निसेंनी।
अति अनुकूल कलोलेंन के भर लिएँ जात हरि के चरेंन सुख-देंनी॥
जेंनम-जेंनम के पाप दूरि-करि काटत करेंम धरेंम-धार पेंनी।
'छीतस्वाँमि' गिरिधर जू की प्यारी, साँवरे अंग कॅमल-दल-नेंनी॥

प्रफुलित बन बिबिध रंग, झलकत जमुना-तरंग, सौरभ घेंन मुदित अति सुहाँमनो।
चिंतामनि कॅनक-भूमि छबि अदभुत, लता झूँमि सीतल मंद अति सुगंध मरुत आँमनो॥
सारस, हंस, सुक, चकोर चित्रित निरतत सु मोर, कल-कपोत कोकिला मधुर गाँमनो।
जुगल रसिक बर बिहार, 'परमानेंद' छबि अपार, जयति चारु बृंदाबन परेंम भाँमनो॥

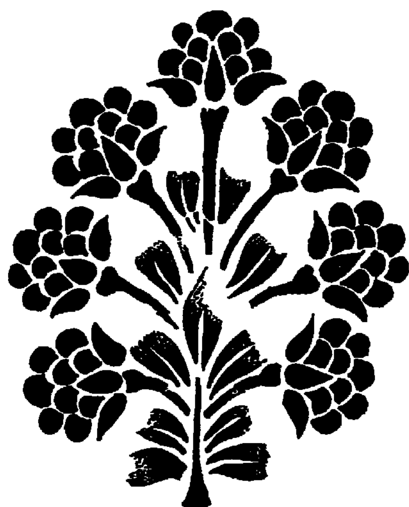
राग—रामकली

श्री जमुना जू, पतित-पावन करे।
प्रथम ही जब दियौ दरसन, सकल पातक हरे॥
जल-तरंग जब परस कीन्हो, पाँन सो मुख भरे।
नाम-सुमरति गई दुरमति, कृष्ण-जस बिस्तरे॥
गोप-कन्याँ कियौ मज्जन, लाल गिरिधर-बरे।
'सूर' श्री गोपाल-सुमरत, सकल कारज सरे॥

पिय-संग रंग-भरि करि बिलासैं।
सुरत-रस-सिंधु में अति ही हरखित भई, कॅमल ज्यौं फूलत रबि-प्रकासैं॥
तॅन ते, मॅन ते, प्राँन ते सरबदाँ, करति हैं हरि-संग मृदुल-हासैं।
कहत 'ब्रजपति' अहो सबेंन सों समझाइ, मिटैं जेंम-त्रास इनहिं उपासैं॥

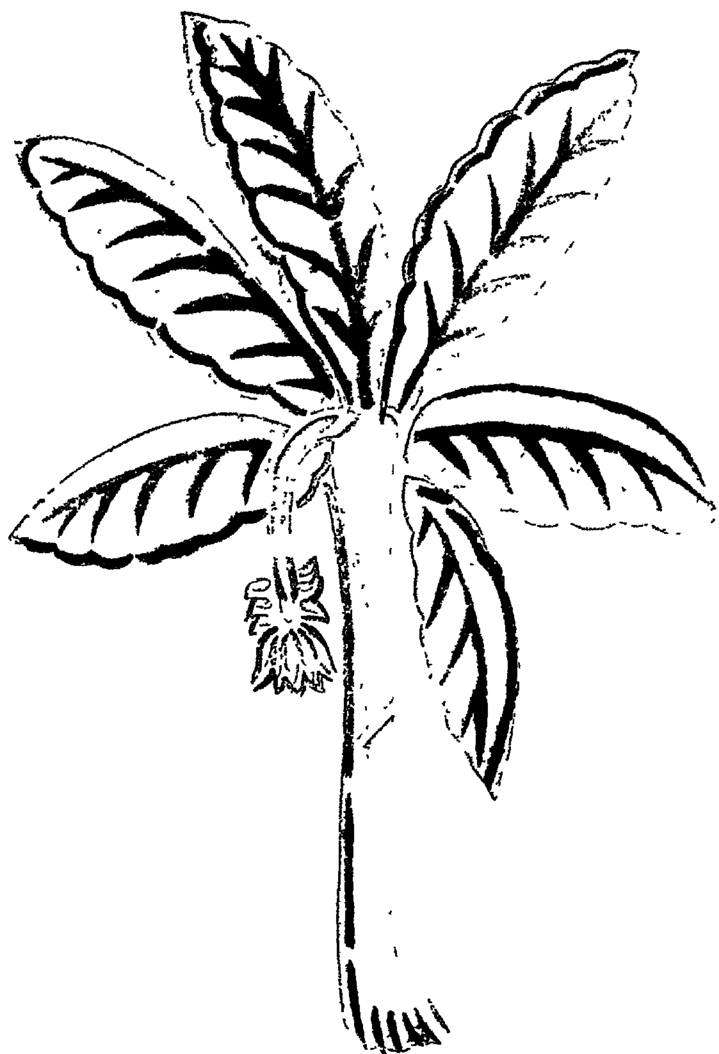
राग—असावरी

दिनकर-घर आँनद उदित बढ्यौ, चलि सखि आज बधाँएँ।
प्रघट भई जमुना जग-तारेंन, सब मिलि मंगल गाँएँ॥
धन्य कोख सज्ञा राँनी की, ऐसी सुता जु जाई।
कृष्ण-प्रिया पटराँनि जनम-सुनि, जित-तित बजत बधाई॥
चैत-मास सुभ लगेंन महूरत, छठ गुरुबार उजेरी।
घुरत निसाँन नचत नर-नारी, गावत दें-दें हेरी॥
घर-घर मंगल मुदित मनावें, मोतिन-चौक पुरावें।
धुजा, पताका, कदली रोपत, बदनवार बधावें॥
अधॅम-उधारेंन-कारेंन भू पर भागेंन दें दरसाई।
मँहमाँ अपरंपार कहा कहौं, बेंद-पुराँनन गाई॥
मज्जन-करत हरत अघ-ओघेंन, भक्ति-मुक्ति की देंनी।
मानौं बिधि बैकुंठ-चढ़ेंन को, द्वै तट रची निसेंनी॥
सोभा श्री मथुरा-मंडल की, बरेंन-सरेंम रहो ता की।
भाधुर-मुनि पोखत-तोखत नित, जिएँ भरोसें जा की॥
श्री बिसरात-निकट बहत हैं, लागत धार सुहाई।
जा के दरस-परस जम-किंकर, कबहुँ न देति दिखाई॥
कीजैं कृपा निज-दास जाँन कें, मन-बाँछित-फलपाई।
'इच्छाराम' मधुपुरी-बसिकें, जनम-करेंम-गुन-गाई॥



ब्रजकी सांझी - कला





ब्रजकी झाँकी - कला

साँझी-कला

श्री ज्योतिषी राधेश्याम द्विवेदी

भारतीय चित्र-कला में ब्रज की साँझी-कला और उसका प्रदर्शन एक अत्यत उपयोगी और मनोरम कला-प्रदर्शन है। चित्र-कला के क्षेत्र में तथा इस कला की शिक्षा और विकास के लिये साँझी-कला सबसे सुलभ और सरल साधन है। साँझी-कला वस्तुत रूप-सर्जन या रूपाकन (डिजाइन) कला की जननी है। केवल हस्त-कला-कौशल तक ही सीमित न रहते हुए यह कला भौमितिक-ज्ञान एव नैसर्गिक सपर्क-ज्ञान और अनुभूति की भी अपेक्षा रखती है। इसके रूपाकन शिल्प, स्थापत्य, वस्त्र-छपाई, आभूषण-निर्माण और नक्काशी तथा अन्य व्यावसायिक क्षेत्रो के लिये महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी है।

प्रारंभ

साँझी-कला-प्रदर्शन श्री कृष्ण के समय से ही ब्रज में चला आता है। साँझी शब्द 'सध्या' या 'साँझ' से बना है। पौराणिक आख्यान के अनुसार श्री कृष्ण ने राधिका जी को प्रसन्न करने के लिये शरद्-काल में सायकाल के समय साँझी बनाई थी। सायकाल को जब श्री कृष्ण और राधिका तथा अन्य गोपिकाएँ उपवनो में विहार करने जाते थे; वहाँ वे विविध प्रकार के फूल-चयन करते थे और यमुना-कूल पर अथवा किसी उपवन या उद्यान में उन पुष्पो को भूमि पर कलात्मक रूप में प्रदर्शित करते थे। साँझी बनाने के अवसर पर वे अपना सुदर, कलात्मक शृंगार बनाकर जाते थे और पुष्पो की सुदर प्रदर्शनी करते थे। इस प्रकार यह कला श्री कृष्ण से तथा 'साँझ' शब्द से सबध रखती है। तभी से यह कला-प्रदर्शन शरद्-काल में (आश्विन कृ० ११ से ३० तक) पाँच दिन का ब्रजवासियो का एक सास्कृतिक किंवा कलानुरजन पर्व-काल है। शनै शनै ब्रजवासी कलाकारो ने इस कला को उन्नत करते-करते पूर्ण विकसित एव सुसस्कृत-स्थिति को पहुँचा दिया। ब्रज के निकटवर्ती अन्य प्रातीय कलाकारो ने भी इसे अपनाया और इसके विकास में अपना योग दिया। राजस्थानी कलाकार इसमें सिद्धहस्त हो गये। ब्रज के कलानुरागियों ने इसको अनेक प्रकार से प्रदर्शन का रूप दिया, फूलो की साँझी, राँग के फूलो की साँझी, पानी पर रग की साँझी, सूखे रग की साँझी आदि अनेक प्रकार से साँझी-कला ब्रज-प्रदेश में विशेष कर, श्री कृष्ण के लीला-धाम मथुरा-वृदावन में प्रदर्शित होती थी। ग्रामो में ब्रज-बालक-बालिकाओं ने गोबर की साँझी बनाकर अपने अनुराग और सस्कृति को जीवित रखा। ब्रज में ही नही, राजस्थान के ग्रामो में भी इन दिनो गोबर की साँझी बनाई जाती है। वल्लभकुल-सप्रदाय ने इस कला की रक्षा और विकास में अपना पूर्ण योग दिया। वल्लभकुल-सप्रदाय के मदिरो में, उनके उत्सवो में इस कला-प्रदर्शन के लिये ऊपर लिखे गये दिवस नियत किये गए और इस समय के कीर्तन के लिये साँझी के सुदर साहित्यिक, भावात्मक पद बनाये गए। प्रसिद्ध सगीतज्ञ श्रीस्वामी हरिदास जी कृत साँझी का एक लंबा पद है जिसका कुछ अश यहाँ देते हैं—

"सखी-वृद सब आइ जुरीं, वृषभाँन-नृपति के द्वारि।
बीनिनि-फूल चलौ बन राधे, नव सत साजि सिंगारि॥
यौं सुनि कीरति जू हँसिकें, प्यारी कौ कियौ सिंगारि।
कबरी-कुसुम गुही है मानो उरगँन की अनुहारि॥
चलति चाल मराल-बाल सी राधा सखियँन-माँझ।
बीनति फूलनि जमुना-कूलनि, खेलति 'साँझी' साँझ॥

जाल-रंध्र देखत मनमोहन, दृष्टि परीं ब्रज-बाल।
तिरिया रूप कियौ है तबहीं, आइ मिले ततकाल।।
छबि-निरखति वृषभानु-दुलारी, भीत करी मनुहारि।
बीनति फूल अकेली हेली ; को है तू सुकुमारि।।
कौनें गाँउ बसति हौ सुंदरि, कहा तिहारौ नाँम।
आजु अबारि भई है प्यारी, चलौ हमारे धाँम।।
नंदगाँउ में बास बसति हौ, 'साँवरि' मेरौ नाँम।
साँझी-मिसि आई हौ या बन, पूजे मन के काँम।।
सोनजुही, चमेली, चंपा, राइबेलि औ बेलि।
गुलाबाँस के गेंद करे कर, करत परसपरि केलि।।
कँमल, कँनेर, केतकी, निबारौ, सेवति सदाँ गुलाब।
गुलतुर्रा औ सदाँसुहागिनि, फूलँन की भरि छाब।।
ललिता, चंपकलता, बिसाखा, स्याँमा, भाँमा जेहु।
चंद्रभगा, तुंगा, चंद्रावलि, आईं करि अति नेहु।।
ठौर-ठौर सब कहति सखिन सों, चलौ भटू घर-जाँहि।
स्याँमा जू औ नवल सखी दोउ, गही परसपरि बाँहि।।

❀

फूल-गेंद सबहिन लिए कर, गावत साँझी-गीति।
गज-गति चाल चलति ब्रज-सुंदरि, बढ़ी परेंम रस-प्रीति।।

❀

केसर, चंदन और अरगजा, मृग-मद, कुंमकुम गारि।
काँमधेनु को गोबर लै कें, 'साँझी' धरित सँम्हारि।।

अंत में—

बरनो कहा अल्प मति मेरी, रसनाँ एक बनाइ।
श्री 'हरिदास' प्रभु की यै सोभा, निरखति मन न अघाइ।।

उक्त पद से 'साँझी' के कलात्मक और सांस्कृतिक पर्व की विशेषता स्पष्ट होती है कि इस पर्व पर ब्रज के गोप-गोपियाँ कितना कलात्मक पर्व मनाती थी। पराधीनता के युग में विदेशी शिक्षा, संस्कृति और कला के प्रचार से इस विशुद्ध भारतीय कला का उस रूप में ह्रास होता चला गया, किंतु वह रंग-द्वारा प्रदर्शन के रूप में आ गई।

आधुनिक साँझी का प्रकार

संप्रति यह कला कागज के कटे हुए साँचो द्वारा सूखे रंगो से भूमि पर मिट्टी (गारे) के ८-९ इंच ऊँचे अष्टकोण या आठ पहलवाले चोतरे पर प्रदर्शित की जाती है। यह चोतरा घुटा हुआ, किंतु कुछ तर रहता है जिससे रंग जमा रहे। साँझी का चोतरा अत्यंत कलात्मक, पल्लेदार, भौमितिक ठीक नाप का अष्टकोण या अठपहला बनाया जाता है। चोतरे का कोई भी भाग या पहल रंच-मात्र छोटा बड़ा नहीं होता। चोतरे पर साँझी बनाने से पूर्व सिंदूर से रँगी हुई पतली डोरी से एक नकशा जैसा नीचे बतलाया गया है, बनाया जाता है, जिसमें मारवाड़ी (किनारे की सबसे छोटी बेल), अन्य छोटी-बड़ी बेल, जाल-फूल, बेलो की लपेट के भाग एवं मध्य में किसी लीलाविशेष के प्रदर्शन का स्थान निर्दिष्ट कर दिये जाते हैं। मध्य-स्थान श्री राम, कृष्ण अथवा अन्य देवताओं की लीला सूखे रंग से बनाने के लिये रखा जाता है। बेल-बूटे, फूल, जाल चारो ओर और मध्य में कोई लीला की मूर्त्तियाँ और स्थल, जलाशय, वृक्षावली, मकान सब उचित रीति से अत्यंत आकर्षक

जाल-रंध्र देखत मनमोहन, दृष्टि परीं ब्रज-बाल।
तिरिया रूप कियौ है तबहीं, आइ मिले ततकाल ।।
छबि-निरखति वृषभांनु-दुलारी, भौत करी मनुहारि।
बींनति फूल अकेली हेली; को है तू सुकुमारि।।
कोनें गाँउ बसति हौ सुंदरि, कहा तिहारौ नाँम।
आजु अबारि भई है प्यारी, चलौ हमारे धाँम।।
नंदगाँउ में बास बसति हो, 'साँवरि' मेरौ नाँम।
साँझी-मिसि आई हौं या बन, पूजे मन के काँम।।
सोनजुही, चमेली, चंपा, राइबेलि औ बेलि।
गुलाबाँस के गेंद करे कर, करत परसपरि केलि।।
कँमल, कँनैर, केतकी, निवारौ, सेवति सवाँ गुलाब।
गुलतुरौं औ सदाँसुहागिनि, फूलँन की भरि छाब।।
ललिता, चंपकलता, बिसाखा, स्याँमा, भाँमा जेह।
चंद्रभगा, तुंगा, चंद्रावलि, आईं करि अति नेह।।
ठौर-ठौर सब कहति सखिन सो, चलौ भटू घर-आँहि।
स्याँमा जू औ नवल सखी दोउ, गही परसपरि बाँहि।।

❀

फूल-गेंद सबहिन लिए कर, गावत साँझी-गीति।
गज-गति चाल चलति बन-सुंदरि, बढ़ी परेम रस-प्रीति।।

❀

केसर, चंदन और अरगजा, मृग-मद, कुंमकुंम गारि।
काँमधेनु को गोबर लै कें, 'साँझी' धरित सँम्हारि।।

अंत में—

बरनो कहा अल्प मति मेरी, रसनाँ एक बनाइ।
श्री 'हरिदास' प्रभु की यै सोमा, निरखति मन न अघाइ।।

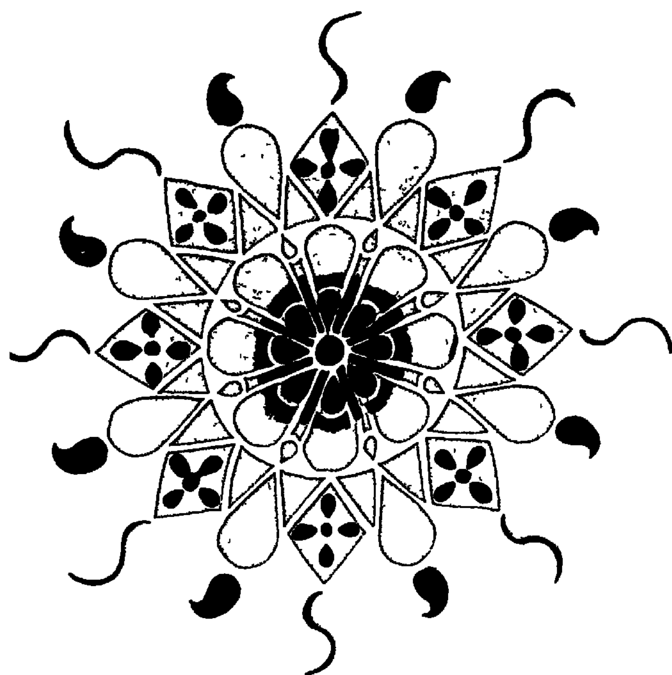
उक्त पद से 'साँझी' के कलात्मक और सांस्कृतिक पर्व की विशेषता स्पष्ट होती है कि इस पर्व पर ब्रज के गोप-गोपियाँ कितना कलात्मक पर्व मनाती थीं। पराधीनता के युग में विदेशी शिक्षा, संस्कृति और कला के प्रचार से इस विशुद्ध भारतीय कला का उस रूप में ह्रास होता चला गया, किंतु वह रंग-द्वारा प्रदर्शन के रूप में आ गई।

आधुनिक साँझी का प्रकार

संप्रति यह कला कागज के कटे हुए साँचों द्वारा सूखे रंगों से भूमि पर मिट्टी (गारे) के ८-९ इंच ऊँचे अष्टकोण या आठ पहलवाले चोतरे पर प्रदर्शित की जाती है। यह चोतरा घुटा हुआ, किंतु कुछ तर रहता है जिससे रंग जमा रहे। साँझी का चोतरा अत्यंत कलात्मक, गल्लेदार, भौमितिक ठीक नाप का अष्टकोण या अठपहला बनाया जाता है। चोतरे का कोई भी भाग या पहल रंच-मात्र छोटा बड़ा नहीं होता। चोतरे पर साँझी बनाने से पूर्व सिंदूर से रँगी हुई पतली डोरी से एक नक्शा जैसा नीचे बतलाया गया है, बनाया जाता है, जिसमें मारवाड़ी (किनारे की सबसे छोटी बेल), अन्य छोटी-बड़ी बेल, जाल-फूल, बेलों की लपेट के भाग एवं मध्य में किसी लीलाविशेष के प्रदर्शन का स्थान निर्दिष्ट कर दिये जाते हैं। मध्य-स्थान श्री राम, कृष्ण अथवा अन्य देवताओं की लीला सूखे रंग से बनाने के लिये रखा जाता है। बेल-बूटे, फूल, जाल चारों ओर और मध्य में कोई लीला की मूर्त्तियाँ और स्थल, जलाशय, वृक्षावली, मकान सब उचित रीति से अत्यंत आकर्षक



ब्रजकी झाँकी - कला



व्रज की साँझी-कला

और कलात्मक रूप से बनाये जाते हैं। प्राकृतिक दृश्य, आकाश, जलाशय वृक्षावली को छोड़कर अन्य वस्तुएँ बेल-बूँटे, जाल, मकान, वृक्ष, पशु, पक्षी, नर-नारी, देवताओं के कागज के कटे हुए खाके (अंग्रेजी स्टॅंसिल, संस्कृत—पत्रच्छेद्य) रहते है, जो बड़ी कारीगरी और योग्यता पूर्वक बनाये और काटे जाते है, परन्तु रंग द्वारा इनसे चित्र बनाये जाने में रंगों की मिलावट, वस्तु का यथोचित निर्देश और उपयुक्त रंग कलाकार की योग्यता, अनुभव और ज्ञान पर अवलंबित रहता है। इसी प्रकार चौंतरे पर सरूप या नक्शों के बनाने का काम भी कलाकार के भौमितिक एवं स्थापत्य-ज्ञान की अपेक्षा रखता है। विविध प्रकार की बेलो की लपेट और जाल की बिछावट के नक्शे सांझी के कलाकार के मस्तिष्क में रहते हैं, जिनकी एक पृथक् पुस्तक ही बन सकती है। सांझी-कला के लिये यह ज्ञान सबसे आवश्यक है और सबसे कठिन है। स्थानाभाव से हम यहाँ प्राचीन और अर्वाचीन कलाकारो के ३-४ खाके देते हैं। नं० १ नक्शा अष्टकोण के चौतरे पर बनाये जानेवाले अनेक नक्शों में से एक है और नं० २, ३, ४ के नक्शे एक ही अठपहले नक्शे में अठपहले चौतरे के नक्शो में है।

खाके

सांझी बनाने का मुख्य माध्यम कागज पर कटे हुए 'साँचे' होते हैं। अनेक बेल-बूँटे, जाल, फूल, वृक्ष, पशु, पक्षी, पुरुष, स्त्री, देवताओं की अनेक लीलाओं के ये साँचे मोटे कागज पर बनाये जाकर एक विशेष प्रकार की कैंची से काटे जाते हैं। इनका बनाना कुशल चित्रकारी और काटना कुशल कारीगरी का ही काम है। ये साँचे १ से लेकर ४० खाके तक के बनाये गए हैं। चित्र में बनाई गयी प्रत्येक वस्तु साँचे में लाने को अनेक खाके बनाये जाते है। बेल और जालों के, फूल-पत्तियो के ५-५ और ४-४ खाके होते हैं। देवताओं और उनकी लीला से संबंध रखनेवाली मूर्तियो के अनेक खाकों में अंग, वस्त्र, आभूषण, अंगो की शेड, लाइट, आदि जहाँ जैसा उपयुक्त होता है उस खाके में काटा जाता है, जिससे वस्तु यथार्थ स्वरूप में प्रदर्शित हो सके। रूपांकन (डिजाइनिंग) और साँचे (स्टॅंसिल्स) बनाने की यह कला भी परिश्रम-साध्य होने से और गुण-ग्राहकता की कमी से अब लुप्त हो रही है। कला के प्रत्येक क्षेत्र में रूपांकन का तत्त्व थोड़े-बहुत अंशों में विद्यमान रहता ही है। प्रत्येक कला, चाहे वह शिल्प-कला हो, चाहे स्थापत्य-कला हो, चाहे चित्र-कला हो, सभी में रूपांकन का खास महत्त्व है। रूप-सर्जन और कला के प्रकार इस देशमें ही नहीं विदेशो में भी मूल्यवान् और कला की संग्रहणीय सामग्री समझे जाते हैं। काश्मीरी दुशालो पर की बेलें, साड़ियों के बूँटे और बाँधनी, विदेशों में अत्यंत आदर की वस्तु मानी जाती है। काश्मीरी शाल और गलीचे, सूती-ऊँनी छीटें, छपी हुई साड़ियाँ और चादरें, जाजम, शतरंजी आदि वस्तुओ पर बनाये गए बूँटे और बेल के नमूने हमको साँझी-कला के प्रदर्शन में सहज देखने को मिलते हैं। साँझी के लिये बनाये गये इन साँचो से सहज पता लगता है कि व्रज के कलाकारों में चित्र-कला का कितना ज्ञान और मौलिकता थी। ये साँचे वास्तव में इन कलाकारों के अत्यंत परिश्रम का फल हैं और चित्रकला के भंडार की अमूल्य निधि है, जो सर्वथा संग्रहणीय है। व्रज में साँचे का अपूर्व भंडार है, जो आज इस कला के लोप होने से प्राचीन पुस्तको (ग्रंथो) की भाँति कौड़ियो के मोल बेंचा जाता है। इनकी रक्षा और संग्रह व्रज की ही नहीं, एक विशिष्ट भारतीय-कला की रक्षा करना है।

बनाते समय का-लक्ष्य

साँझी का कलाकार साँझी-प्रदर्शन द्वारा अपनी कल्पना से थोड़े ही समय में इच्छित नैसर्गिक, काल्पनिक, आलंकारिक, भौमितिक, विविध रूप की कला का सुंदर प्रदर्शन करता है। साँझी बनाने में छ से आठ घंटे का समय लगता है। इसकी मनोहरता, सुंदरता होने से और चौतरे की तरी कम हो जाने के बाद ये सूखे रंग फीके पड जाने से दिन में प्रदर्शन में मंदता लगती है। दिन में यह प्रदर्शन इतना शोभनीय और मनोहारी नहीं होता जितना रात्रि के दीपको के प्रकाश में। साँझी बनाते समय साँचो का ठीक-ठीक मिलान करना, साँचो में काटे हुए स्थानो का स्मरण रखना, उनपर

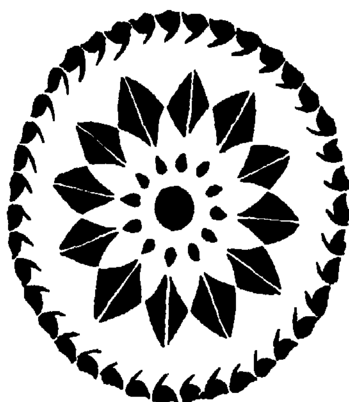
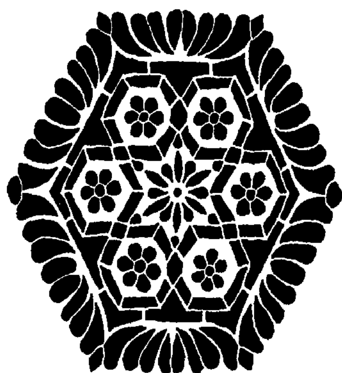
उपयुक्त रग छानना और रग की मिलावट ठीक-ठीक करना कुशल कलाकार का ही काम है। किंचित् भी बेमेल रग होने से या रग की मिलावट न होने से सब रग फीका जँचता है और सारी साँझी में फीकापन आ जाता है। अत. साँझी के कलाकार के लिये सयोजन-चातुर्य और रग-विधान की कला का पूर्ण ज्ञान होना अत्यत आवश्यक है। साँचे द्वारा कोई भी आकृति बनाने में यह पूर्व ही निश्चय करना पडता है कि कैसे रग दिये जायँ, जिससे आकृति के रग खिल उठें और उसमें वास्तविकता आ जाय। गीले रग की चित्रकला में हम अनेक बार वास्तविकता लाने के लिये उपयुक्त रंग की कलम (कूँची) काम में ला सकते हैं, परतु साँझी के कलाकार को एक ही बार मस्तिष्क में निश्चय करके अपनी कृति पर वह रग छानना पडेगा। अधिक रग छानने से कृति भद्दी हो जाती है और कलात्मकता जाती रहती है, अत रंग छानना भी चातुर्य और ज्ञान की अपेक्षा रखता है। साँझी के कलाकार को प्रकृति का सपर्क साधकर उसकी सुदरता और रगो का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर रग उसी प्रकार के बनाकर अपनी कलाकृति को तद्रूप देना होता है। इसके कलाकार का अपने हाथ की पहली उँगली पर पूरा अधिकार होना चाहिए। जिस प्रकार एक कुशल चित्रकार या फोटोग्राफर के लिये उसके हाथ पर काबू होना आवश्यक है, इसी प्रकार इस कला में भी अपेक्षित है। जितनी मात्रा में जितना रग डालना है उतना ही तर्जनी उँगली से छानकर डाला जाय, समीप की अन्य कृति या साँचे के अन्य भाग पर विशेष क्या लेशमात्र रग उडकर न जाय, यह साँझी के कलाकार के लिये खास लक्ष्य रखने की बात है। जितना ध्यान रग उडकर न जाने का और सफाई का रखा जायगा उतनी ही अधिक सुदरता उस कृति में आयेगी और प्रदर्शन प्रशसा-पात्र होगा।

वस्तु-नाम

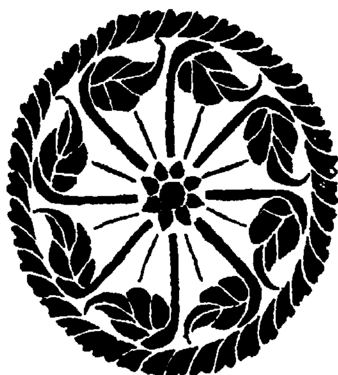
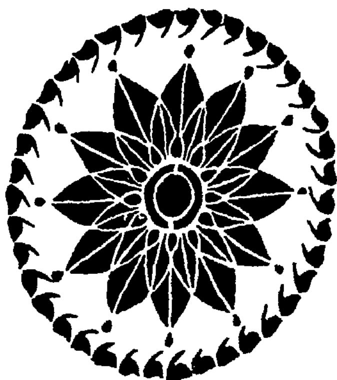
साँझी में जो बेल-बूँटे बनाये जाते हैं, उनके अपने नाम हैं। बीच में तो किसी देवता की लीला प्रदर्शित होती है, उसके चारों ओर नक्शे के अनुसार यथास्थान फूलो के जाल और छोटी-बडी बेलें लपेट के साथ बनाई जाती हैं। अत में चारो ओर एक बेल सँकडी बनाई जाती है, जिसे 'मारवाडी' कहते हैं और सबसे नीचे 'गल्ला' बनाई जाती है। इस प्रकार ठेठ नीचे से ऊपर तक मिट्टी का सारा चबूतरा सूखे रग से अद्भुत प्रकार से चित्रित कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ यहाँ एक-दो नमूने इन वस्तुओ के देते हैं।

साँझी में प्रयोग किये जानेवाले सूखे रग भी पूर्णतः भारतीय होते हैं। वे अति सरलता से बहुत कम व्यय में घरो में ही बना लिये जाते हैं। सफेद रग चावल पिसाकर, काला रग कोयले पिसाकर, पीली, सफेद मिट्टी छनी हुई, ईंट पीसी हुई का मलयागिरी, सफेद में काला कुछ मात्रा में मिलाने से खाकी, सफेद में थोडा लाल मिलाने से कजई, चहरई आदि रग, हरा मिलाने से कपूरी, नीला मिलाने से आसमानी आदि-आदि रग बना लिये जाते हैं। हाँ थोड़ा पीला, हरा, नीला और सिंदूर विशेष सुदर बनाने के लिये अवश्य प्रयोग में लिये जाते हैं।

अभी कुछ वर्षो पूर्व तक ब्रज के बालक घर-घर अपनी-अपनी साँझी बनाया करते थे। कुछ खास मदिरो में और कलानुरागियो के यहाँ बडे रूप में विशेष कलात्मक रूप में साँझी बनाई जाती थी। ये कलाकार स्वय ही साँचे बनाते थे और साँचो में काटी गयी चित्र-कला को सूखे रंग से साँझी में स्वय ही परिश्रम करके अत्यत उत्साहपूर्वक प्रदर्शित करते थे। दुःख है कि वह कलानुराग इस भीषण मँहगाई और गुणग्राहकता की न्यूनतावश लोप हो गया और हो रहा है, जिसके सरक्षण की अति आवश्यकता है। आज प्राचीन कढे हुए और कढे हुए सैकडो साँचे तो विद्यमान हैं, परन्तु ये प्रदर्शन लोप हो गये, जिनके अभाव में वे साँचे भी नष्ट हो जायँगे। ब्रज के कलानुरागियो का, सांस्कृतिक संस्थाओ का कर्तव्य है कि वे इस पर्व-काल को जीवित रखें और साँझी-कला-प्रदर्शन के साथ साँचो की भी प्रदर्शनी की जाने की योजना करें, जिससे ब्रज की ही नहीं, भारत की यह कला अमर रहे और इससे संस्कृति, कला और उद्योग विकसित हो।

ब्रज की साँझी - कला

व्रजवाटिका के पशु-पक्षी

श्री सुरेशसिंह

कालिंदी के स्नेहपाश से आबद्ध हमारी पवित्र 'व्रज-भूमि' हमारे साहित्योद्यान का सबसे सुरभित अंग है। राधा-माधव की इस पवित्र लीलास्थली के कण-कण में कृष्ण-प्रेम की सुगंधि व्याप्त है और इसी पवित्र धूलि से अंकुरित होकर कृष्ण-भक्ति की बेल सारे देश में फैली है।

जिस प्रकार व्रज-भूमि की पवित्र रज को भक्त जन माथे पर चढ़ा कर अपने को धन्य मानते हैं, उसी प्रकार व्रज-भाषा के भक्त-कवियों की रसमयी वाणी को सुन कर प्रेमी जन आनंद विभोर हो उठते हैं।

कृष्ण-वियोग से तप्त और मलिन भूमि पर इन भक्त-कवियों ने प्रेम और भक्ति की ऐसी गंगा-यमुना बहाई कि सारी व्रज-वाटिका इस रस-प्लावन से लहलहा उठी और सारे देश के प्रेमी-भ्रमर यहीं आकर मँडराने लगे।

इस आनंदमयी भूमि के बीच से यमुना मंथर गति से बह रही है, जिसका नीला जल जैसे श्याम से प्रतिबिंबित हो रहा है। किनारे पर कदंब की सघन छाया में रासलीला हो रही है, डफ, मृदंग और करताल से चारों दिशाएँ गूंज रही हैं। बीच-बीच में जब श्याम की मुरली बज उठती है तो सब की जो दशा हो जाती है उसका वर्णन सुनिए—

"सुनि थके देव बिमाँन, सुर-बधू चित्र-समाँन।
झरना झरत पाषाँन, गंधरब मोहे गाँन॥
सुनि खग, मृग मौंन धरे, फल, दल, तृन सुधि बिसरे।
सुनि धेनु थकित रहे, तृन दंतहुँ नहिं गहे॥
बछवा न पीवें छीर, पंछी न मन में धीर।
द्रुम बेली चपल भए, सुनि पल्लव प्रगटि नए॥
धुनि सुनि चली ब्रज-नारि, सुत, देहा गेह बिसारि।
सुनि थकित भयौ सँमीर, बहुँ उलटौ जमुना-नीर॥"

सारे व्रज-मंडल में कृष्ण-प्रेम की धवल चाँदनी छिटक रही है और कृष्ण-भक्ति की यमुना कूल-किनारों को तोड़ कर ऐसी उमड़ रही है कि जान पड़ता है कि सारे व्रज को डुबो देगी। चारों ओर आनंद ही आनंद है।

व्रज के इस सुख-समृद्धि-पूर्ण प्रदेश में प्रत्येक युवती की शोभा किसी वाटिका से कम नहीं है। इसका सुंदर वर्णन सूरदासजी के शब्दों में सुनिए—

"अद्भुत एक अँनूपम बाग।
जुगुल कँमल पर गजबर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरबर, सर पर गिरिबर, गिरि पर फूले कंज पराग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक, पिक, मृगमद काग॥
खंजन धनुष, चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक फनिधर नाग॥
अंग-अंग प्रति और-और छबि, उपमा ताको करत न त्याग।
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधा-रस, माँनहु अधरँन को बड़ भाग॥"

और श्री राधाजी की शोभा तो और भी अपूर्व है। गदाधर भट्टजी से उसका वर्णन सुनिए—

"राधे-रूप, अद्‌भुत-रीति।
सहज जे प्रतिकूल तो तन, रहे छाँड़ि अनीति॥
कचँन रचना राहु ढिग ही, मुदित बदन मयंक।
तिलक-बाँन, कमाँन-दृग, मृग रहें निपट निसंक॥
अधर सुघर सु पक्व बिंबा, सुभग दसँन अँनार।
धीर धरिकें कीर-नासा, करत नहिं संचार॥
निकट ही कटि केहरी पैं, गज-गति न भेंटी जात।
प्रघट गज-गति जहाँ जंघा, कदलि रुचि हुलसाति॥"

लेकिन यह आनंदोल्लास अचानक रुक क्यों गया? ढोल, ढफ और मृदंग अचानक नीरव क्यों हो गए? श्री कृष्ण कर्त्तव्य-पालन के लिए प्रेम-बंधनों को तोड़ कर मथुरा चले गए और सारा वृंदावन कृष्ण-वियोग की दावाग्नि और गोपियों की उसासों से झुलस गया।

श्याम के विरह से राधा की दशा सबसे शोचनीय हो गई। "अद्‌भुत अनूपम बाग" की समानता करनेवाले शरीर की क्या हालत हो गई, यह सूरदासजी के शब्दों में सुनें—

"राधे, बिधि बिपरीत ठई।
कदलि-पत्र सी पीठि मनोहर, सो जनु उलटि दई॥"

लेकिन कृष्ण फिर अपनी क्रीडास्थली को न लौटें तो न लौटें, लेकिन क्या उन्होंने अपनी गोपियों को भुला दिया? नहीं गोपियों को वे भला कैसे भुला देते। देखिए कोई मथुरा से आ तो रहा है। यह तो उद्धवजी हैं, जो गोपियों को कृष्ण का संदेश सुनाने आ रहे हैं। लेकिन गोपियाँ उनसे कहती हैं—

"सँदेसँन, मधुबन-कूप भरे।
जे कोई पथिक गए हैं ह्याँतें, फिर नहिं गवन करे॥
मसि खूँटी, कागद जल भींज्यौ, सर दौं-लागि जरे।
पाती लिखें कहो क्यों करि जो, पलक कपाट अरे॥"

फिर जब उद्धव उनको निर्गुण की उपासना का उपदेश देते हैं, तो वे उनसे पूछती हैं—

"निरगुन कौंन देस कौ बासी?"

और अपनी असमर्थता इन शब्दों में व्यक्त करती हैं—

"ऊधौ, मन न हौंहि दस-बीस।
एक हुतो, सो गयौ स्याँम-सँग, को आरावै ईस?"

अंत में उद्धव को चुप देख कर वे उन्हीं को प्रेम की महत्ता बताने लगती हैं—

"ऊधौ, प्रीति न मरँन बिचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक-परि, जरत अंग नहिं टारै॥
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम-बसि, कंटक आपु सहारै।
प्रीति कुरंग नाँद-रस-लुब्धक, तानि-तानि सर-मारै।
'सूर' स्याँम सों प्रीति गोपिन की, कहु कैसें निरवारै॥"

सत्य ही तो जिस सगुण मूर्त्ति की वे उपासिका हैं, वह निर्गुण ब्रह्म से कम श्रेष्ठ नहीं है और जिसको योगी योग और समाधि के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, उसे उन्होंने अपनी प्रेम-पूजा से ही प्राप्त कर लिया है।

हमने ब्रज-वाटिका की एक झाँकी देख ली, अब आइए कुछ देर इसकी सैर की जावे। हमारे आज के इस भ्रमण का एक तात्पर्य भी है, हमें देखना है कि हमारे भक्त-कवियों ने इस वाटिका

की शोभा बढाने के लिए कौन-कौन से पशु-पक्षी यहाँ एकत्र किए हैं और उनसे अपने सौंदर्य-वर्णन में क्या-क्या सहायता ली है।

सबसे पहले सूरदासजी का एक पद देखें, जिसमें उन्होंने आत्मा को पक्षी मानकर बहुत सुंदर रूपक खींचा है—

"जा दिन, मन-पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन तरुवर के, सबै पात झरि जै है।।
घर के कहें वेगि ही काढ़ौ, भूत भएँ कोउ खैहै।
जा पीतम सौं प्रीति घनेरी, सोऊ देखि डरै है।।
कहँ वह ताल, कहाँ वह सोभा, देखत धूरि उड़ै है।
भाई-बंधु अरु कुटुंब-कबीला, सुमरि-सुमरि पछितै है।।
बिन-गुपाल कोऊ नहिं अपनौ, जसु-अपजसु रहि जै है।
जो 'सूरज' दुरलभ देवन कौं, सत-संगत में पै है।।"

जीवन की यथार्थता का कैसा सुंदर चित्र है।

चलिए अब हम लोग ब्रजवाटिका में चलें, लेकिन यहाँ तो वर्षा होने लगी। कुछ चिंता न कीजिए, व्रज में तो इस प्रकार स्नेह के बादल उमड कर बरसते ही रहते हैं। थोडी देर इस कदंब के तले बैठ कर इन कवियों का वर्षा-वर्णन सुनिए, आपको इसमें भी बहुत से पशु-पक्षी देखने को मिल जावेंगे। पहले 'हरिरामजी व्यास' का एक पद सुनिए—

"आजु कछु कुंजन में बरखा-सी।
बादर-दल में देखि सखी री, चमकत है चपला-सी।।
नान्हीं-नान्हीं बूंदन कछु धुरवा-से, पवन बहै पुरवा-सी।
मंद-मंद गरजनि सी सुनियतु, नाँचति मोर-सभा-सी।।
इंद्र-धनुष बग-पंगति डोलति, बोलत कोक-कला-सी।
इंद्र-वधू छबि-छाइ रही मनु गिरि पर अरुँन-घटा-सी।।
उमँगि महीरुह-सी महि फूली, भूली मृग-माला-सी।
रटति 'व्यास' चातक ज्यौं रसनाँ, रस-पीवत ही प्यासी।।"

इस वर्णन में वर्षा से संबंधित बहुत से पक्षी आ गए। काली-काली घटाओं के बीच धवल बक-पंक्ति की शोभा और मेघ के गरजने पर मोर का आनंद-मस्त होकर नाचने का सुंदर दृश्य वर्षा-ऋतु की एक विशेषता है। अब सत्यनारायणजी का वर्णन सुनिए—

"अलबेली कहुँ बेलि, द्रुमन सौं लपटि सुहाई।
धोए-धोए पातँन की, अनुपम कँमनाई।।
चातक चलि, कोइल ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूकि-कूकि केकी ललित, कुंजन करत किलोल।।
—निरखि घँन की घटा।।"

देवजी का वर्णन भी किसी से कम नहीं है, सुनिए—

"सुनिकैं धुनि चातक मोरन की, चहुँओरन कोकिल कूकनि सौं।
अनुराग-भरे हरि बागँन में, सखि रागँन-राग-अचूकनि सौं।।
कबि 'देव' घटा उनई जु नई, बन-भूमि भई दल दूकनि सौं।
रँगराती हरी हहराती लता, झुकि जाती सँमीर के झूकनि सौं।।"

कैसा स्वाभाविक वर्णन है। वर्षा-ऋतु के सभी प्रमुख पक्षी इस काल्पनिक चित्र में विराजमान हैं। लेकिन सूरदासजी को यह चिंता है कि मथुरा में वर्षा हो रही है या नहीं, जो श्री कृष्णचंद्र को गोपियों के निटक आने के लिए प्रेरित करे। सुनिए वे क्या कहते हैं—

"किधौं घँन गरजत नहिं, उन देसँन।
किधौं वहि इंद्र हठिहिं हरि बरज्यौ, दादुर खाए सेसँन ॥
किधौं वहि देस बकँन मग-छाँडयौ, घर-बूड़त न प्रवेसँन।
किधौं वहि देस मोर, चातक, पिक, बधिकन बधे बिसेसँन ॥
किधौं वहि देस बाल नहिं झूलति, गावति गीत सहेसन।
पथिक न चलत 'सूर' के प्रभु पै, जासौं कहौं सँदेसन ॥"

प्रेम की आतुरता का कैसा सुंदर वर्णन है। मोर, पिक, चातक, दादुर, बक और सर्प सभी वर्षा से संबंध रखने वाले पशु-पक्षी तो आ गए।

'आलम' का भी इसी ढंग का एक कवित्त है, उसे भी सुन लीजिए। उन्हीं को क्यों शिकायत रह जावे—

"कैधौं मोर सोर-तजि गए री अँनत भजि, कैधौं उत दादुर न बोलत है ए दई।
कैधौं पिक, चातक बधिक काहू मारि डारे, कैधौं बग-पाँति उत अंत गति ह्वै गई ॥
'आलम' कहत आली अजहूँ न आए कंत, कैधौं उत रीति बिपरीति बिधि नैं ठई।
मदन महीप की दुहाई फिरिबे तें रही, जूझि गए मेघ, किधो बीजुरी सती भई ॥"

लीजिए वर्षा भी थम गई, आइए चलिए अब इस प्रेम-नगरी में प्रवेश किया जावे, लेकिन कबीर ने प्रेम के बारे में जो कहा है, उस पर पहले सोच लीजिए—

"प्रेंम न बाड़ी ऊपजै, प्रेंम न हाट बिकाइ।
राजा-परजा जो चहैं, सीस देइ लै जाइ ॥"

सूरदासजी भी पहले आगाह करते हैं—

"प्रीति करि, काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सौं, आपै प्राँन दह्यौ ॥
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौं, संपति हाथ गह्यौ।
सारंग प्रीति करी जु नाँद सौं, सनमुख बाँन सह्यौ ॥
हम जो प्रीति करी माधव सौ, चलत न कछू कह्यौ।
'सूरदास' प्रभु-बिन दुख दूनौं, नैंनन-नीर बह्यौ ॥"

इससे जरा सोच-समझ कर आगे बढ़िये, क्योंकि यह प्रेम-पथ बहुत कँटीला है, लेकिन सच्चे प्रेमी को बाधाओं की परवाह नहीं होती। सुनिए सूरदासजी क्या कहते हैं—

"सब जग तजे प्रेंम के नाते।
चातक स्वाँति-बूंद नहिं छाँड़त, प्रघट पुकारत ताते ॥
समुझत मीँन नीर की बातें, तजत प्राँन हठि हारत।
जाँनि कुरंग प्रेंम नहिं त्यागत, जदपि ब्याध सर-मारत ॥
निमिष चकोर नैंन नहिं लावत, ससि-जोवत जुग बीते।
जोति पतंग देखि बपु जारत, भए न प्रेंम-घट रीते ॥
कहि अलि क्यों बिसरत वे बातें, सँग जो करी ब्रजराजै।
कैसें 'सूर' स्याँम हम छाँड़ैं, एक नेंह कें काजें ॥"

सच है, सच्चा प्रेमी अपने आराध्य को कैसे छोड़ सकता है। वह तो आजीवन प्रेम के पथ का पथिक बना रहना चाहता है, लेकिन प्रेमी भक्त 'रसखान' की कामना और आगे बढ़ गई है—

"मानुस हौंउँ तौ वही रसखाँन, बसौं ब्रज-गोकुल-गाँव के ग्वारँन ।
जौ पसु हौंउँ तौ कहा बस मेरौ, चरौ नित नंद की धेनु-मँझारँन ।।
पाँहन हौंउँ तौ वही गिरि कौ, जो धरयौ कर छत्र पुरंदर धारँन ।
जो खग हौंउँ तौ बसेरौ करौ, मिलि कालिंदी-कूल कदंब की डारँन ।।"

आइए, अब आगे चलें। देखिए सामने जो सुदर सरोवर है वह 'भारतेंदु हरिश्चद्रजी' का बनवाया हुआ है। उन्होने उसकी शोभा बढाने के लिए तरह-तरह के पक्षी इसमें एकत्र किए है। आइए, थोडी देर यहाँ भी विश्राम करके उन्ही के मुख से इसका वर्णन सुनें—

"कूजत कहुँ कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त, कहूँ जल-कुक्कुट धावत।।
चक्रवाक कहुँ बसत, कहूँ बक ध्यान-लगावत।
सुक-पिक जल कहुँ पिवत, कहूँ भ्रमरावलि गावत।।
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर विविध पच्छी करत।
जल-पाँन न्हाँन-करि सुख भरे, तट-सोभा सब जिय धरत।।"

कैसा स्वाभाविक वर्णन है, कही जरा भी अस्वाभाविकता नही आने पाई। 'कलहस' (सोना बतक) और 'कारडव—बतक' पानी में तैर रहे है और कबूतर आ-आकर सरोवर में पानी पी जाते है। ताल के एक किनारे चक्रवाक (चकई-चकवा) का जोडा बैठा है और पानी की सतह पर इधर से उधर जल-मुरगियो का झुड दौडता हुआ चला जाता है। सुक और पिक भी बीच-बीच में आ-आकर पानी पीते है और किनारे पर मोर अपने नाच ही में मस्त है। सारा वातावरण भौरो की गुजार से और पक्षियों के कलरव से गूज रहा है।

आइए, अब आगे बढें। सामने की डाल पर हमारा चिर परिचित 'कौआ' बैठा है। इसको भला कौन नही पहचानता। हमारे नित्य के जीवन में इसने जिस प्रकार अपना एक स्थान बना लिया है, साहित्योद्यान में भी उसी प्रकार इसकी अपनी एक सत्ता है ही। इसकी कर्कश बोली हमें भले ही नापसद हो और सर्वभक्षी होने के कारण भले ही हम इसको घृणित समझें, लेकिन हमारे कवियो ने इसको जो समान दिया है वह और किसी पक्षी को सभव नही। गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो सारी रामायण 'काकभुशुडजी' के मुख से कहला कर इनको अमर ही कर दिया है। ब्रज-वाटिका में भी जहाँ डाल-डाल पर कोयल की कुहू-कुहू और पपीहे की पी कहाँ! पी कहाँ! सुनाई पडती है, कवि लोग इसे नही भूले है। सूरदासजी तो इसके उड-उडकर फिर उसी स्थान पर लौट आने के कारण इसकी तुलना नेत्रों से करते है। सुनिए—

"नैंन भए बोहित के काग ।
उड़ि-उड़ि जात पार नहिं पावत, फिरि आवत तिहिं लाग ।।"

लेकिन 'सत्यनारायण'जी कौए से प्रिय के आगमन की सूचना देने का काम लेते है। सुनिए—

"कहु रे कागा परम प्रिय, पिय-आवन की बात।
तिन्ह आएँ हौं बेंउँगी, तोहि दूध अरु भात।।"

लेकिन 'रसखानजी' का काग दूध-भात की प्रतीक्षा नही करता और कृष्णजी के हाथ से माखन-रोटी छीन कर भाग जाता है। उसके भाग्य की सराहना करते हुए रसखानजी ने कहते हैं—

"धूरि-भरे अति सोहत स्याँम जू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना, पग-पैंजनी बाजती, पीरी-कछोटी ।।
वा छबि को 'रसखाँन' बिलोकत, वारत काँम कलानिधि-कोटी।
काग के भाग कहा कहिए, हरि-हाथ सौं लै गयौ माँखन-रोटी ।।"

रत्नाकर जी का कौआ गंगा-तट-वासी है। उसे गंगाजी पर ऐसा विश्वास है कि वह उसे छोड़ कर इंद्रासन भी नहीं चाहता—

"लोटि-लोटि लेत सुख कलित कछारन कौ, सुरतरु-डारन कौ गौरव यहूँ नहीं।
कहै 'रतनाकर' त्यौं कांकर औ सींक चुनि, चाह मुकताफल पै नेंक उँमहै नहीं॥
हेम-हंस होन की न राखत हिए मैं हौंस, नंदन के कोकिल कौ कलित कहै नहीं।
गंगा-जल तोषि, दोषि सुकृति सुधासन कौ, काक पाकसासन कौ आसन चहै नहीं॥"

चलिए, आगे चलिए और इनको गंगा-सेवन करने दीजिए। आगे आम पर जो काली चिड़िया बैठी है उसको भी कहीं कौआ न समझ लीजिएगा। यह हमारे यहाँ की प्रसिद्ध 'कोकिल' है, जो हमें वसंत के आगमन की सूचना देती है और जिससे विरहिणी नायिकाओं की विरह-वेदना और बढ़ जाती है। 'पद्माकरजी' इन काली और कुरूप चिड़ियों को कोसते हुए कहते हैं—

"ए ब्रजचंद्र चलौ किन वा ब्रज, लूकैं बसंत की ऊकन लागी।
त्यों 'पदमाकर' पेखौ पलासन, पावक-सी मनो फूंकन लागी॥
वै ब्रजनारी विचारी बधू, बन बावरी लौं हिऐं हूकन लागी।
कारी कुरूप कसाइन पै सु कुहू-कुहू क्वैलिया कूकन लागी।"

लेकिन सूरदास कोयल की कुहू-कुहू से ऊबते नहीं, बल्कि वे उससे प्रार्थना करते हैं कि वह श्री कृष्ण के पास जाकर बोले, जिससे वे फिर अपने ब्रज को लौट आवें। सुनिए—

"कोकिल, हरि कौं बोल सुनाव।
मधुबन तैं उचटाइ स्याँम कहँ, या ब्रज-महँ लै आव॥
कीजै कछू उपकार परायौ, यहै सयाँनों काज।
'सूरदास' प्रभु कहु या अवसर, बन-बन बसंत बिराज॥"

पता नहीं कोयल सूरदासजी की प्रार्थना स्वीकार करके मथुरा गई या नहीं, लेकिन कृष्ण ने इसके कुहू-कुहू की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, यह तो मालूम ही है।

कोयल की तरह पपीहा भी विरही-जनों को अपने 'पी कहाँ, पी कहाँ' के शब्द से व्याकुल कर देता है। इसके लिए कवियों ने कल्पना यह की है कि यह केवल स्वाति-नक्षत्र का जल पीता है, चाहे जान क्यों न चली जावे। सूरदासजी का एक पद सुनिए—

"बहुत दिन जियौ पपीहा प्यारौ।
बासर-रैनि नाँम लै बोलत, भयौ बिरह-जरि कारौ॥
आप दुखित, पर दुखित जाँनि जिय, चातक नाँम तुम्हारौ।
देखौ सकल बिचारि सखा जिय, बिछुरन कौ दुख न्यारौ॥
जाहि लगै सोई पै जाँनें, प्रेम-बाँन अँनियारौ।
'सूरदास' प्रभु स्वाँति-बूंद-लगि, तज्यौ सिंधु करि खारौ॥"

अरे बचिये, देखिए सामने कैसा भयंकर साँप है। यह तो बड़ी जहरीली काली नागिन है। सूरदासजी ने इसकी उपमा काली रात से की है। देखिए उनका कैसा सुंदर वर्णन है—

"पिय-बिन नागिन कारी रात।
जौ कबहूँ कहूँ उअति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात॥"

काली रात विरहिणी के लिए काली नागिन की तरह है, लेकिन चाँदनी रात तो विरह को और भी बढ़ा देती है। उस समय यह जान पड़ता है कि काली नागिन काट कर उलट गई है और उसका सफेद पेट दिखाई पड़ रहा है, कैसा सुंदर वर्णन है। जहरीले साँपों के लिए प्रसिद्ध है कि जब वे काट कर उलट जाते हैं तो फिर आदमी लहर भी नहीं लेता और उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है।

यह नागिन जिस झाडी में जाकर घुसी थी, उससे यह कौन सुदर पक्षी निकल कर भागा जा रहा है। अरे, यह तो चकोर है। व्रज-वाटिका का बहुत परिचित पक्षी। इसका चद्रमा के प्रति प्रेम प्रसिद्ध है। कवियो ने कल्पना की है कि चद्रमा के प्रति चकोर का ऐसा आकर्षण होता है कि वह बराबर उसी की ओर देखा करता है और अगारे को चद्रमा के टुकडे समझ कर उसे प्रेम-वश खा लेता है। इसी कल्पना के आधार पर प्रेमी का प्रेम-प्रदर्शन करने के लिए 'चद्र-चकोर' का सहारा कवियो ने लिया है और प्रेमी के मुख को 'चद्रमा' और नैनो को 'चकोर' मान कर बडी भाव-पूर्ण रचनाएँ की हैं। देखिए 'भगवत रसिक' जी क्या कहते हैं—

"तेरौ मुख-चंद, चकोरी मेरे नैंना।
अति आरत, अँनुरागी लपट, भूलि गई गति पलहुँ लगैं ना॥
अरबरात मिलिबे को निस-दिन, मिले रहत मनो कबौं मिलै ना।
'भगवत रसिक' रसिक की बातैं, रसिक-बिना कोऊ समुझि सकै ना॥"

'ललित किशोरी' की भी इसी प्रकार प्रार्थना है—

"रे निरमोही, दरस दिखाइ जा।
'ललित किसोरी' नैंन-चकोरैंन, दुति-मुख-चद दिखाइ जा॥"

'सत्यनारायण'जी की भी सुनिए—

"सोहत राधा चंद-मुख, किरन-हँसी, मृदु-कोर।
लागति जनु घनस्याँम के, ससि थिर नैंन-चकोर॥"

'रत्नाकर' जी का वर्णन भी किसी से कम नही है, सुनिए—

"वाही मुख मंजुल की चहति मरीचैं सदौं, हम को तिहारी ब्रह्म-जोति करिबौ कहा।
कहै 'रतनाकर' सुधाकर-उपासनि को, भाँनु की प्रभानि को जुहारि जरिबौ कहा॥
भोगि रहीं बिरचे बिरचि के सँजोग सबै, ताते सोग सारन को जोग धरिबौ कहा।
जब ब्रज-चंद को चकोर चित्त चारु भयौ, बिरह-चिंगारिन सो फेरि डरिबौ कहा॥"

नैनो के लिए चकोर के अलावा एक और पक्षी का सहारा कवि लोग लेते हैं। वह है 'खजन', देखिए पानी के किनारे जो छोटी-सी चितकबरी चचल चिडिया इधर से उधर दौड रही है, यही खजन या 'खडरिच' पक्षी है। जिस कवि ने पहले-पहल इसकी तुलना नेत्रो से की है उसकी जितनी तारीफ की जावे वह थोडी है। सिवा 'सूरदास' जी के और कौन इतना ऊँची उडान भर सकता है। सुनिए उनका प्रसिद्ध पद—

"खजन-नैन रूप-रसमाते।
अति सै चारु चपल अँनियारे, पल-पिंजरा न समाते॥
चलि-चलि जात निकट स्रवनैंन के, उलटि-पलटि ताटंक फँदाते।
'सूरदास' अजन-गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते॥"

नैनो के लिए मृग भी कवियो द्वारा बहुत याद किए जाते हैं। सामने देखिए, एक मृग और मृगा खडे तो हैं। कैसी सुदर आँखें हैं। इनको देखकर कैसे इनकी तुलना नायिकाओ के नेत्रो से न करते? विहारी ने ठीक ही लिखा है—

"बर जीते सर मैंन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैंनाँन तें, हरि नीके ए नैंन॥"

'सूरदास'जी ने भी इसी प्रकार वर्णन किया है—

देखि री, हरि के चंचल नैंन।
खंजन, मीन मृगज, चपलाई, नहिं पटतर इक सैंन॥

नैनों के लिए कवि लोग 'भ्रमर' की भी कम याद नही करते। 'सूरदास'जी कहते हैं—

"लोचन, भृंग भए री मेरे।
लोक-लाज बँन-घँन-बेली तजि, आतुर ह्वै जु गड़े रे ।।
स्यामि-रूप-रस बारिज-लोचन, तहाँ आइ लुब्धे रे।
लपटे लटकि पराग विलोकनि, सपुट लोभ परे रे ।।
हँसनि-प्रक.स विभास देखिकैं, निकसति पुनि तहँ बैठत।
'सूर' स्याँम अंबुज-कर-चरनँन, तहँ-तहँ भ्रमि-भ्रमि पैठत ।।"

धन्य है सूरदासजी, क्यो न हो, आपने तो पूरा चित्र उतार दिया है। चाचा हित वृंदावनदास जी देखिए क्या कहते हैं—

"छबि भरे नव कंज-दल से, नेह पूरित नैंन।
पूतरी मधु मधुप-छोना, बैठि भूले गैंन ।।"

बिहारीलाल जी भला ऐसा अवसर कैसे छोड देते। नैंनो के वर्णन में उनकी दो पक्तियाँ न सुनना उनके साथ अन्याय करना होगा। देखिए, वे अपने छोटे दोहे में कैसा गभीर भाव भर देते हैं—

"वारौं बलि तो दृगँन पै, अलि, खंजन, मृग, मीँन।
आधी दीठि चितौन जिन, किए लाल आधीँन ।।"

वाह, बिहारीलाल जी, क्यो नही, आपके दोहों के बारे में ठीक ही कहा गया है—

"सतसैया के दोहरे, ज्यो नाविक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गभीर ।।"

नेत्रो के बारे में आपका एक दोहा और देखिए—

"लाज-लगाँम न माँनहीं, नैंनाँ मो-बस नाँहि।
ए मुँहजोर-तुरंग-लो, ऐंचत हूँ चलि जाँहि ।।"

कैसा सजीव वर्णन है, व्रज-वाटिका में ऐसे मुँहजोर तुरगो की कमी नही है, लेकिन 'भारतेंदु हरिश्चद्र' जी ने इन नैंनो की तुलना मतवाले हाथियो से की है। सुनिए—

"सखी ऐ, अति उरझौंहे नैंन।
उरझि परत, सुरझ्यौ नहिं जाँनत, सोचत-समुझत हैं न ।।
कोऊ जौ बरजै जो इनकौं, बने मत्त जिमि गैंन।
'हरीचंद' इन बैरिन पाछैं, भए लैंन के दैंन ।।"

बडे अनुभव की बात कह रहे है हरिश्चद जी, लेकिन यह अनुभव तो बाद में होता है, पहले जो होता है उसका वर्णन देवजी से सुन लीजिए—

"धार में धाइ धँसी निरधार ह्वै, जाइ फँसी उकसी न अँधेरी।
री अंगराइ गिरीं गहिरी, गहि फेरें-फिरीं न घिरीं नहिं घेरी ।।
'देव' कछू अपनो बस ना, रस-लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगि ही बूड़ि गईं पखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ।।"

नेत्रो के वर्णन से आप ऊब गए होंगे, लेकिन आपने इन्ही के बहाने खजन, मीन, भृग, कुरंग, तुरग और गयद आदि को इस व्रज-वाटिका में एक ही जगह देख लिया, नही तो इनको ढूँढने में बहुत दिक्कत पडती।

देखिए सामने के पेड़ पर 'तोतो' का झुड कैसा शोर मचा रहा है। इनके बिना तो बाग़ की शोभा ही नही बढती, फिर हमारे कवि लोग भला इनको कैसे भुला देते। ये नाक की तुलना के लिए याद किए जाते है। देखिए 'सूरदास' जी का कैसा कवित्व-पूर्ण वर्णन है—

"देखि सखी, अधरँन की लाली।
मनि मरकत तें सुभग कलेवर, ऐसे हैं बनमाली ।।

कैधौ तरुन-तमाल-बेलि-चढ़ि, जुग-फल-बिंब सु पायौ।
नासा कीर आइ मनो बैठ्यौ, लेत बनत नहि तायौ ॥"

'नंददास' जी भी इसी प्रकार कहते हैं—

"उन्नत नासा, अधर बिंब, सुक की छवि छीनी।
तिन्ह-बिच अदभुत भाँति लसत कछु इक मसि भींनी ॥"

लेकिन सूरदासजी शुक महाशय को दूसरा ही उपदेश देते हैं, सुनिए—

"सुआ, चल वा बन कौ रस लीजै।
जा बन कृष्ण-नाम-अँमरित-रस, स्रवन-पात्र भरि पीजै ॥
को तेरौ पुत्र, पिता तू काकौ, मिथ्या भ्रम जग केरौ।
काल-मँजार लै जै है तोको, तू कहै मेरौ-मेरौ ॥"

जीवन के विषय में ऐसा नग्न-सत्य सूरदासजी के ही मुख से अच्छा लगता है, लेकिन तोते को बालक-बसंत को किस्से-कहानी सुनाने से फ़ुरसत तो मिले। देखिए, देवजी कहते हैं—

"पवन झुलावैं, केकी-कीर बतरावैं 'देव', कोकिल हलावैं, हुलसावैं करतारी दै।
मदन महीप जू को बालक-बसंत ताहि, प्रात हिऍं लावत गुलाब चटकारी दै ॥"

आप चलते-चलते थक गए होंगे, आइए, चल कर किसी सरोवर के किनारे थोड़ा विश्राम किया जावे। वहीं बैठ कर हम पशु-पक्षी-निरीक्षण भी करेंगे। देखिए, कुछ दूर पर जो कमल से भरा हुआ तालाब दिखाई दे रहा है आइए, उसी के किनारे चलें।

यह कौन पक्षी अपने चंगुल में लकड़ी लिए उड़ा जा रहा है? यह तो 'हारिल' है। इसके बारे में यह कहावत है कि यह हमेशा उड़ते समय अपने चंगुल में लकड़ी पकड़े रहता है। सूरदासजी ने इसी को लक्ष करके कहा है—'हमारे हरि, हारिल की लकरी।' हारिल को जाने दीजिए, देखिए सामने मोर नाच रहा है, कैसा सुंदर दृश्य है, देखिए बिहारीजी क्या कहते हैं—

"नाँचि अचाँनक ही उठे, बिन-पावस बँन मोर।
जानति हौं नंदित करी, इहि दिसि नंद किसोर ॥"

लीजिए तालाब का किनारा आ गया। आइए, इसी तालाब के नीचे बैठ कर हम लोग इसकी शोभा देखें। ताल में कैसे सुंदर कमल के पुष्प खिले हुए हैं और उनके ऊपर भौंरो की भीड़ लगी हुई है। इन भ्रमरावलियों को देख कर भला प्रेमी कवियों की वाणी कैसे नीरव रहती। सुनिए सूरदास जी क्या कहते हैं—

"अलकनि की छवि, अलि-कुल गावत।
खंजन, मींन, मृगज लज्जित भए, नैंन-नचावनि गतिहिं न पावत ॥"

नंददास जी की सुनिए—

"नीलोत्पल-दल-स्याँम,- अंग नव जोवन भ्राजै।
कुटिल अलक मुख-कँमल, मनों अलि-अवलि बिराजै ॥"

सरोवर के निर्मल जल में जो चपल मछलियाँ इधर-उधर दौड़ रही हैं, इनको कवियो ने नेत्रों के वर्णन में याद जरूर किया है, लेकिन ये अधिकतर अपने जल के वियोग में अपने प्राण दे-देने के लिए स्मरण की जाती हैं। 'सूरदास' जी से इनका वर्णन सुनिए—

"नैंनौ, भए अनाथ हमारे।
मदनगुपाल वहाँ ते सजनी, सुनियतु दूरि सिधारे ॥
वै हरि जल, हम मींन बापुरी, कैसे जिऍं निनारे।
'सूर' स्याँम कीन्हीं पिय ऐसी, मृतकहुँ तें पुनि मारे ॥"

इन्ही से एक पद और सुनिए—

"ऊधौ, ना हम विरहिन, ना तुम दास ।
कहत-सुनत घट प्रांन रहत है, हरि तजि भजहु अकास ।।
विरही-मीन मरै जल-बिछुरैं, छांडि जियन की आस ।
दास-भाव नहिं तजत पपीहा, बरु सहि रहत पिआस ।।"

'ध्रुवदास' जी ने भी 'मीन' के प्रेम की तुलना करते हुए 'दादुर' को याद किया है। सुनिए—

"जिन नहिं समझ्यो प्रेम यह, तिन सो कोन अलाप ।
दादुर हूँ जल में रहैं, जानें मीन मिलाप ।।"

सरोवर के बीच में हसो की पक्ति कैसी भली लग रही है। सूरदासजी ने इनको कई स्थलो पर याद किया है। देखिए—

"नटवर-भेष काछें स्याम ।
पद-कँमल-नख इंदु-सोभा, ध्यांन पूरन कांम ।।
कनक छुद्रावली पंगति, नाभि कटि के भोर ।
मनौ हंस-रसाल-पंगति, रहे हैं ह्रद-तीर ।।"

और देखिए—

"थकित भई, राधा ब्रज-नारि ।
जो मन ध्यांन करति अवलोकति, ते अंतरजामी बनवारि ।।
रतन-जटित पग सुभग पाँवरी, नूपुर-धुनि-कल परम रसाल ।
मांनहुँ चरन-कमल-दल-लोभी, निकटहिं बैठे बाल-मराल ।।"

अब तो सध्या होने को आई, आप भी थक गए होगे, अत अब लौटना चाहिए। यह कौन पक्षी इतने कातर स्वर में बोल रहा है ? अरे इसे तो हम लोगोने एकदम भुला ही दिया था। यही तो हमारा प्रसिद्ध परिचित पक्षी चक्रवाक है। हमारे साहित्य में इसके—कोक, चक्र, चक्रनाम, रथाग, सुर्खाव आदि अनेको नाम है, लेकिन ग्रामीण जनता इसको 'चकई-चकवा' के नाम से ही जानती है। इसके लिए हमारे कवियो ने यह कल्पना की है कि इनका जोडा दिन-भर तो साथ रहता है लेकिन रात होते ही ये दोनो रात-भर के लिए अलग-अलग हो जाते है। यह कल्पना केवल कल्पना ही है, लेकिन इसी के सहारे हमारे कवियो ने विछोह का बहुत करुण और हृदय-ग्राही चित्र खीचा है। चलते-चलते दो-चार पदो में इन पक्षियो की भी वियोग-कथा सुन लीजिए। सेनापतिजी शीत-काल में कोक-कोकी का क्षणिक मिलन भी सभव न देख कर दुखी है, क्योकि शीतकाल में दिन इतने छोटे होते है कि जब तक कोक कोकी के पास तक पहुँचे तब तक रात हो जाती है और चकवा बेचारा अध-बीच से ही लौट आता है। सुनिए—

"सीत के सहसकर सहस-चरन ह्वै कें, ऐसें भागि जातु तम आवत है घिरि कें।
जौं लौ कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति, कोक अध-बीच ही ते आवत है फिरि कें ।।"

बिहारीलाल जी तो और भी आगे बढ गए है। वर्षा-ऋतु में ऐसा घोर अधकार छा गया कि दिन और रात में कोई भेद ही नही रह गया है और लोग चकई और चकवा देख कर ही जान पाते है कि रात है या दिन। उन्ही के शब्दो में सुनिए—

"पावस निसि अँधियार में, रह्यौ भेद नहिं आँन ।
राति-द्यौस जान्यौं परत, लखि चकई-चकवांन ।।"

वाह बिहारीलाल जी, क्यो न हो, आपकी उडान को कौन पहुँच सकता है। देवजी का भी वर्णन किसी से कम नही है। सुनिए—

"वा चकई कौ भयौ चित-चीतौ, चितौत चहूँ-दिसि चाइ सौं नांची ।
ह्वै गई छीन छपाकर की छबि, जांमिनि जोन्ह मनों जँम जांची ।।

बोलत बैरी बिहंगम 'देव', सु बैरिन के घर संपति सांची।
लोहू पियो जु बियोगिनी को, सु कियो मुँह लाल पिसाचिनी प्राची ।।"

प्रभात का कैसा अनुपम वर्णन है। रस का कैसा सुदर परिपाक हुआ है।

'गग' कवि का भी प्रभात-वर्णन सुनिए। उनकी मानिनी नायिका नायक से मिलने के लिए जाने को तैयार नही है और सवेरा होनेवाला है। चतुर सखी प्रभात होने के सब चिन्हों की ओर सकेत करके उसको नायक के पास चलने का अनुरोध करती है। सुनिए—

"चकई बिछुरि मिली, तू न मिली पीतम सों, 'गंग कवि' कहै ऐसौ कियौ मांन ठांन री।
अथए नखत-ससि, अथई न तेरी रिस, तू न परसन्न परसन्न भयौ भांन री।।
तू न खोल्यौ मुख, खोल्यौ कंज औ गुलाब मुख, चली सीरी बाइ, तू न चली भौं बिहांन री।
राति सब घटी, नाहीं करनी री घटी तेरी, दीपक मलींन, ना मलींन तेरौ मांन री ।।"

बहुत ही सुदर वर्णन है। ऐसा मनोहर चित्र उतार देना कवि 'गग' ही के लिए सभव है। अब हमारी यात्रा भी समाप्त हो गई और हमने थोडे ही समय में इस ब्रज-वाटिका के बहुत से पशु-पक्षियो को देख भी लिया। आइए, अब हम इन सब प्रेमी जीवो से छुट्टी लेकर अपने स्थान को चलें और इनको इसी वाटिका की शोभा बढाने दें।



गली साँकरी माय, काँकरी पाँइ गड़त है

रामनिवास विद्यार्थी

जो अतीत संगीत गुँजाती है उरमाँही।
जिहि सो सरस रसायन आन धरा पर नाहीं।।
अमिय घुला बानी में भाषा रतन जड़ित है।
रसिक-जनन-मन अब लो सहज सुलभ मोहत है।।

२

जिहि में नटवर गिरिवरधर की छटा बिराजै।
गोकुल-बृंदाधाम-मधुपुरी हू छवि-छाजै।।
अगम सूर-सागर में रसगागरि ढरकत है।
स्याम जोन बोली में रूठत, नटत, मनत है।।

३

तरनि-तनूजा सरसाहू कल-कल धुनि सोहै।
प्राणों को बरबस मुरली मुरलीधर मोहै।।
मदिर भामिनी रास लास कौ साज सजत है।
जिहिसों जड़-जंगम पुलकित हरखित-उँमगत है।।

४

मीरा वरव-विवाणी के सरवस जिहि माहीं।
किहि कों सूर पदावलि बरबस मोहत नाहीं।।
सूर प्रवर सौं भारतेंदु-पर्जंत लसत हैं।
कबहुँ न सो मनभावन मोहि उर सो बिसरत हैं।।

५

जिहि उदार नें छाँड़ि भेद सबहू अपनायौ।
रसिक बिहारी, घनानंद, रसनिधि सरसायौ।।
जिहि सो अगनित बिरस प्रान रसखान बनत है।
आलम वा रसलीन, रहीम, निवाज लसत है।।

६

जो साहित्य-माधुरी में सर्वोत्तम नीकी।
बीना-वानि विनंबक, पावन मूरि अमी की।।
स्रोत पुटन में सरस सुधा-धारा उमड़त है।
गली साँकरी माय, काँकरी पाँइ गड़त है।।

———.०.———

गैयों के तकवैया : एक बुंदेलखंडी लोक-गीत

श्री कृष्णानंद

बन में धौरी[१] गैया, लएँ कुँवर कन्हैया।
कृस्नचंद उठ बड़े सवेरें, बिंद्रावन सें गाय उवेरें[२] ;
गोबरधन पै जाइ कें घेरें, उसरन[३] से सब सुरभी फेरें।
सँग बलदाऊ जी भैया, बन में धौरी गैया ।।
सरमन[४], टीकुल[५], बेंदी[६], गेंदी[७], सोड़ऊ[८], पड्डिन[९], बई[१०], बगुरेंदी[११];
कारी[१२], कजरी[१३], कजल[१४], करोदी[१५], लंबू[१६], लॅमछर[१७], फुलइ[१८], गुलेंदी[१९]।
नंदलाल तकवैया[२०], लएँ कुँवर कन्हैया ।।
मुंडी[२१], मेंडी[२२], भेंड़ी[२३], बरई[२४], खोंडू[२५], घोसू[२६], स्यांमा[२७], भौंरई[२८] ;
कौंडी[२९], डुंडी[३०], खिलौंनी[३१], खेरई[३२], चंचल[३३], चपला[३४], चीकन[३५], चेंरई[३६]-
चंवसखा छिकवैया[३७], लएँ कुँवर कन्हैया ।।
लक्खो[३८], लाल [३९], लखेरी[४०], लीली[४१], बॅंवरी[४२], बदक[४३], बदासी [४४], हंसी [४५];
पोरी[४६], पड़ई[४७], रसीलो[४८], छोमर[४९]; छरकन[५०], छिपट[५१], छवीली[५२], ।
छगो छैल छिववैया[५३], लएँ कुँवर कन्हैया ।।
बगुली[५४], बगला[५५], बिचक[५६], बगेली[५७], कबरी[५८], कामधेंनु [५९], अलबेली[६०];
कनफर[६१], करछुल[६२], तिलई[६३], चमेली[६४], मोतिन[६५], मुकटऊ[६६], खरई[६७], हुमेली[६८];
बाघन[६९], संग लिवैया[७०], लएँ कुँवर कन्हैया ।।
केसर[७१], रेसम[७२], रोजी[७३], राजन[७४], मरक[७५], मतवारी[७६], बघराजन[७७];
मस्तानी[७८], गबूल[७९], गजराजन[८०]; हिभाई[८१], मबूर[८२], सिंहासन[८३] ।
कोंह फेरो बड़े भैया, लएँ कुँवर कन्हैया ।।
सुरहिन[८४], सुरई[८५], सुकरतन[८६], डाँसी[८७], चटकुल[८८], मटकुल[८९], उजरऊ[९०], बाँसी[९१],
सूरत[९२], मूरत[९३], कपला[९४], लासी[९५] ; पदमिन[९६] गोपिन[९७], भेंड़ऊ[९८], बतासी[९९] ;
तकें बसी के बजवैया, लएँ कुँवर कन्हैया ।।
सरजू[१००], सुपतू[१०१], नरबद[१०२], नागर[१०३], घूंमर[१०४], झूंमर[१०५], दरसन[१०६] सागर[१०७]
जमनी[१०८], गुर्गी,[१०९] बंटी[११०], बोकन[१११], मरगज[११२], बागर[११३], मोर[११४], मुनागर[११५]
लें पकवान गे घरैया[११६], लएँ कुँवर कन्हैया ।।
सखन-सहित मिल करें कलेवा, पुरी-कचौरी अवर जु मेवा ;
प्रभु को देव करें सब सेवा, सुमुनि वसिष्ठहु ध्यावें देवा।
कहें धन्न जसोदा मैया, लएँ कुँवर कन्हैया ।।
दरसन पाकें जे ब्रज-नारी, गावें लगीं[११७] स्यांम को गारी;
मन मुसक्यावें कुंजबिहारी, हीरालाल प्रभु सरन तिहारी।
पार लगावेव नैया, लएँ कुँवर कन्हैया ।।*

* गरौठा के दीना अहीर से प्राप्त---लोकगीत।

अर्थों की टिप्पणी

१ सफेद।

२. निकालें, हाकें, छोरे।

३ उसरा का बहुवचन उसरन, दालान, सामवान।

४ सरमन, शिरोमणि से बना जान पडता है। बहुधा पुरुषो का नाम होता है।

५ जिसके माथे पर शरीर के रग से भिन्न रग का बडा टीका हो।

६. माथे पर छोटा टीका हो, जो बेंदी की तरह जान पडे।

७. गेंद की तरह छोटी, ठिगनी, गोल-मटोल। अथवा गेंद जैसी नही, बल्कि गेंदा के फूल जैसी हलकी-फुलकी, गोल-मटोल और मन को लुभानेवाली से ही मतलब होना चाहिए। इसके अतिरिक्त गेंदा की एक छोटी जाति को भी गेंदी कहते हैं।

८. भौडे अथवा मटमैले रग की। जो देखने में भोंडी हो उसे भी भौंड़ऊ कह सकते हैं। नोट लिखते-लिखते एक अहीर ने बताया कि यह शब्द भौरऊ होना चाहिए। जिसके माथे पर भौरी हो वह भौंरऊ। टीकुल और बेंदी के साथ इसकी सगति अधिक ठीक बैठती है और यही ठीक है।

९ जिसके माथे पर सीगो के मध्यस्थल से लेकर थुथरी तक भिन्न रग की पट्टी हो। पट्टिन, पट्टी-वाली।

१० अहीर लोग बताते है कि पच्छिम (मारवाड-देश) से जो गायें आती है 'बई' कहलाती है। उनके कान कोसमारे (मुलायम), बीच में चौडे, सिरे पर नुकीले, लबे, माथा चौडा, सींग पीछे को। बई के साथ प्राय बोंडन का नाम लेते है। देशी, ऊँची, बडी गाय बोडन कहलाती है।

११. बगुरदी, अहीर लोग इसका ठीक गुणवाचक अर्थ नही बता सके। एक ने बताया कि छोटी के लिये बगुरदी शब्द का प्रयोग होता है। दूसरे ने बताया कि महुए को कुचल कर गेंद बनाते हैं। उसमें घुमचू चिपकाते है। इसे बगुरदा कहते हैं। इसमें रस्सी डाल कर फेंकते है तो गेंद मनमनाती हुई ऊपर जाती है। इसका कहना है कि सभव है कि यह बगुरदी शब्द उसी बगुरदा से बना हो। गायो के लिये इस शब्द का प्रयोग खूब होता है।

बगुरदा एक हथियार का भी नाम है। दीना भी इसे स्वीकार करता है। कहता है कि बगुरदा शायद एक छोटा पैना हथियार होता है, जिसे मूठ की जगह हाथ में पहिनकर और छिपाकर रक्खा जा सकता है। मैंने जब उससे कहा कि तो फिर बगुरदी का यह अर्थ तो नही कि जिसके सीग बगुरदा की तरह पैने हो, तो कहता है हाँ, बिलकुल ठीक, ऐसा भी हो सकता है।

१२ काली।

१३ कजरी, जिसकी आँख के नीचे काजल की तरह काली रेखाएँ हो।

१४ कजल, कजरी के ही अर्थ में। जिसकी आँखें कुछ अधिक कजरारी हो।

१५ करोंदी, जगली करोदा (जिसे करोदी भी कहते हैं) के अधपके फल की तरह जिसका रग गहरी ललाई लिये हुए घनकृष्ण हो। बगीचे का बडा करोदा तो पकने पर लाल हो जाता है, परतु करोदी पहले गहरी लाल और फिर धीरे-धीरे गहरी काली हो जाती है। उसी अधपके रंग से मतलब है।

१६ लंबू, लबी।

१७ लमछर, लबोतरी, एकहरे बदन की लबी, पतली।

१८ फुलई, जिसके बदन पर भिन्न रग की फूल जैसी छोटी-छोटी बुंदकियाँ हो।

गुलेंदी, गुलेंदा का स्त्री-वाचक गुलेंदी। महुए के फल को गुलेंदा कहते हैं। उसके भीतर जो बीज निकलता है वह गुली कहलाती है। दोनो से ही इस शब्द का सबंध हो सकता है, चिकनी, छोटी, गोल-मटोल। गुली को अनार लिया जाये तो उसके चिकने बादामी रंग का चित्र भी सामने आ जाता है।

तकवैया, देखने वाले।

मुंडी, जिसके सींग न हों, अथवा जिसके सींग बहुत ही छोटे हों, केवल दिखाई देते हो।

मेंडी, जिसके सींग मेंडा की तरह आगे की ओर आकर फिर पीछे मुड गए हो।

मूंडी, जिसके सींग सेंडे—टेढे-मेढे अथवा नमे हुए हो। एक सींग आगे एक सींग पीछे।

बेरई, बडे सींगो की। एक दूसरे अहीर के अनुसार जिसके सींग बडे और पीछे को मुडे हो।

खोडू, जिसके सींग आगे को झुके हो।

घोसू, कुछ सफेद कुछ मटमैले रंग की अथवा जो घांसती हो। किसी वजह से जानवर का गला खराब होने पर अथवा सर्दी लगने पर वह घांसने लगता है। अत इस घांसने से घोसू का सबंध हो सकता है।

घोसू का सबंध धूसर से भी हो सकता है। मटमैली धूल को घोस कहते है। छप्पर में मकर-जारा और घोस लगी रहती है, जिसे बांस में झाड बांधकर छुडाते है। अनाज में घोस निकलती है। दीना अहीर का कहना है कि भूरा—सफेद, अर्थात् एक रोम काला और एक सफेद वह घोंसू।

मोरइ, जो सबसे आगे आगे चलती हो। बोलचाल की भाषा में पैले मौंरा, पैले हल्ला इत्यादि मुहावरो का प्रयोग पहले नबर के अर्थ में होता है।

कैंडी, जिसका एक सींग आंख के पास आकर ईंठ गया हो, दूसरा आगे निकला हो।

डूडी, जिसका एक सींग टूटा हो। एक सींग-टूटे बैल को डूडा कहते हैं।

खिलोनी, जो छुटपन में बहुत खेल-कूद करनेवाली रही हो। देखने में सुदर, सुडौल।

खैरई, खैर (कत्था) के रगवाली।

३३ अर्थ स्पष्ट है।

३५ चीकन, चिकलनी या चिलकनी।

चैंरई, जिसकी पूछ सफेद बालो का चँवर जैसा गुच्छा हो।

छिकवैया, छैंकनेवाले।

लखौ, लाल के रग की।

अर्थ स्पष्ट है।

लखैरी, लाख के रग की, अधिक गहरी।

अर्थ स्पष्ट है।

बँदरी, बदर के रग जैसी भूरे रग की। एक दूसरे अहीर के अनुसार जिसकी पूछ का छोरा लाल, बरौनी लाल तथा रोमावली लाल हो, यह अधिक ठीक जान पडता है।[1]

बदक, बतख-जैसी छोटी।[2]

बदासी, बादामी। दीना बतलाता है कि यह तो बतासी होना चाहिए।

अर्थ स्पष्ट है।

अर्थ स्पष्ट है।

[1] ब्रज में बँदरी या बदरी—बादल के-से रगवाली को कहते हैं।

[2] बदक का अर्थ भी ब्रज में बिचकनेवाली होता है।

४७. पडई, पडेलू रग की।
४८ अर्थ स्पष्ट है।
४६ छीमर, चितकबरी, विशेषकर जिसकी घाँटी (गर्दन) पर सफेद बुँदके हो।
५०. छरकन, छरकनेवाली या विचकनेवाली।
५१ छिपट, एकहरे बदन की पतली। लकडी की पतली फच को छिपट कहते हैं।
५२ छबीली, सुदर।
५३ ५४ ५५ अर्थ स्पष्ट है।
५६ विचक, विचकनेवाली। दुहते समय जो विचक जाती है और दूध न देती हो। छरकन शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में हो सकता है।
५७ वगैली, वगला जैसी।
५८ ५६ ६० स्पष्ट है।
६१ कनफर, जिसके कान कटे हो। कभी-कभी पहचान के लिये गाय के कान फाड डालते हैं।
६२ करछल, करिया (काली) छालवाली। काले हिरन जैसी छालवाली।
६३ तिलई, जिसके कान पर तिल हो।
६४ ६५ अर्थ स्पष्ट है।
६६ मुकटऊ, जिसके सीग एक दूसरे की ओर मुडे हो। मुकुट जैसे सीगवाली।
६७ खरई, जिसके सीग मोटे, कान बडे हो (खरहा जैसे) अथवा जो खरहा जैसी छोटी।
६८ हमेली, जिसकी गर्दन में शरीर से भिन्न रग की कठी (हमेल) सी पडी हो वह हमेली। हमेल एक गहना विशेष है जो हमारे बुदेलखड में भी पहना जाता है।[1]
६६ वाघन, वाघ से वाघन।
७० लिवैया, लेनेवाले अथवा हाँकनेवाले।
७१ ७२ अर्थ स्पष्ट है।
७३ रोजी, रोज के रग की।
७४ राजन, राजा से बना है।
७५ मरक या मरकू, मारनेवाली।
७६ ७७ ७८ अर्थ स्पष्ट है।
७६ गदूल, मोटी-ताजी, ठिनगी, जिसकी खाल मोटी हो। गदूल कमल की तरह का फूल होता है, जो पोखरो—तलैयो में पाया जाता है, कमल से छोटा। उस खिले हुए फूल की तरह गोल-मटोल, फूली हुई और ठिनगी के अर्थ में।
८० अर्थ स्पष्ट है।
८१ हिरनाई, जिसके हिरन-जैसे सीग हो अथवा जिसकी बनावट हिरन-जैसी हो। अथवा जिसके सीग खडे हुए, सीधे अथवा थोडे पीछे की ओर मुडे हो।
८२ शवूर या शवरू, बडे और मुलायम बालवाली।
८३ ८४. अर्थ स्पष्ट है।
८५ भुरई, जिसकी पूछ भुस गाय की तरह हो। भँवर जैसी पूछवाली।
८६ सुरग्गन, सुरही या स्त्री-वाची सुरग्गा। जो सीधी-सादी, सलोनी और अधिक दूध देनेवाली हो। सब सुलक्खन होने से स्थिर रखने में पुन्य हो।

[1] बुदेलखड में ही नही ब्रज का यह प्रमुख आभूषण है।

डाँसी, इसका ठीक गुण-वाचक अर्थ समझ में नही आता। वैसे डाँस तो बड़े जगली मच्छर को कहते हैं, जो बहुधा जानवरो को ही काटता है। सभव है यहाँ पर कोई दूसरा शब्द हो। जो दूसरे को बहुत सताता है उसे 'डाँस' कहते हैं। ऐसी दशा में सुरहिन, सुरई और सुकतरन के साथ एक डाँसी का होना भी आश्चर्य की बात नही, फिर भी शब्द खटकता है।

८९ चटकुल मटकुल चटकीली-मटकीली। बहुत चचल (चटकीली) मटकनेवाली (मटकीली) बोल चाल में। जो लडकी काम करने में बहुत तेज हो, दौड-दौड कर काम करती हो उसे चटकीली कहेंगे।

उजरऊ, उजार करनेवाली। चोरी से खडी फसल चरनेवाली।

बाँसी, जिसका बाँसा (नाक की हड्डी) लबा उठा हुआ और मजबूत हो।

९३ ९४ अर्थ स्पष्ट है।

लासी, जिसके बदन पर लहसुन (काले तिल की तरह का बडा चिह्न) हो।

९७ अर्थ स्पष्ट है ।

मॅडऊ, चोर।

बतासी, बताशा से बतासी। प्यार का नाम।[1]

सरूज, नदी विशेष के नाम पर।

सुपतू, सफेद।

नरवद, सरजू की भाँति, नदी विशेष के नाम पर।

नागर, अर्थ स्पष्ट है ।

घूँमर, यह शब्द घूँमर के स्थान पर घूंमर ही होना चाहिए। घूमर, घूम-घूम कर चलनेवाली।

झूमर, झूम-झूम कर चलनेवाली।

१०७ दरसन-सागर एक शब्द भी हो सकता है और दो अलग-अलग भी। अहीर लोग अच्छी नस्ल की बडी, सुडौल गायो के लिये दरसन[2] शब्द का प्रयोग करते हैं।

जमनी, अर्थ स्पष्ट है।

गुर्गी, छोटी।

बटी, बटा से बटी।

बोडन, देशी बड़े डील की गाय।

मरगज, बडी भारी कम के अर्थ में।

बागर, जो बगर जाती हो, झुड से अलग हो जाती हो।

मोर, अर्थ स्पष्ट है।

मुनागर, ठीक गुण-वाची अर्थ समझ में नही आता। ऐसा जान पडता है कि मोर का अनुप्रास मिलाने के लिये उजागर या मुनागर की ध्वनि के सादृश्य पर कवि ने मुनागर शब्द यहाँ रख दिया है।

घरैया, घर के लोग।

लगी, (गाँवे लगी स्याँम को गारी) लेकर अथवा जोडकर (श्याम का नाम लेकर गाती है)।

---

[1] ब्रज में बतासी--बतासे जैसे रगवाली (सफेद में कुछ पीलापन हो) को कहते हैं।

[2] दरसन-दर्शनीय—देखने योग्य।

गोचारन के पद

राग-सारग

टेरत, ऊँची-टेर गुपाल।
दूर जात गैयाँ भैया हो, सब मिल घेरो ग्वाल।।
लै-लै नाम धूँमरी, धौरी, मुरली मधुर रसाल।
चढि कदंब चहुँ-दिसि को हेरत, अबुज-नैन-बिसाल।।
सुनत सबद सुरभी सँमुहानीं, उलटि पिछौरी चाल।
'चतुरभुज' प्रभु पीतांबर फेरयौ गोबरधँन-धर लाल।।

राग-पूर्वी

आगें गाय, पाछें गाय, इत गाय, उत गाय, गोविंद कों गायँन में बसिबौई भावै।
गायँन के संग धावैं, गायँन में सचु पावैं, गायँन की खुर-रैंनु अंग-लपटावै।।
गायँन सो ब्रज छायौ, बैकुंठ हूँ बिसरायौ, गायँन के हित करि गिरि लै उठावै।
'छीतस्वाँमि' गिरिधारी, बिट्ठलेस-बपुधारी, ग्वारिया को भेष धरें गायँन-सँग आवै।।

हाँकत हटक-हटक, गाय रहीं ठठक-ठठक, गोकुल की गैल अति साँकरी।
जारी, अटारी, झरोखँन, मोखँन झाँकत दुरि-दुरि, ठौर-ठौर ते परत काँकरी।।
चंपकली, कुंदकली बरखत रस-भरी, तामें देखियत कछु लिखे हैं आँकरी।
'नंददास' प्रभु जहीं-जहीं द्वारें ठाढे होत, तहीं-तहीं बचन माँगत लटक-लटक जात—
काहू सों हाँ करी, काहू सो नाँ करी।।

राग-गौरी

आवै माई, ब्रज-ललनाँ-दुख-मोचँन।
गोधँन-संग क्वनित कर मुरली, सरद-कँमल-दल-लोचँन।।
कटि-तट लाल काछिनी काछें, ओढें पीत पिछौरी।
आपँन हँसत हँसावत ग्वालँन, राग अलापत गौरी।।
तुलसी-पत्र पौहोंप की माला, गुहि ग्वालँन पैहरावै।
बाल गुपाल नंदजू के ढोठा, मधुरी बैंनु बजावै।।
बरखत कुसुम देव-मुनि हरखत, मोहीं ब्रज की नारी।
"कृष्णदास' प्रभु रसिक-मुकटमनि, लाल गोबरधँन-धारी।।

मैया, या तें भई अबेर।
आवत भाजि गई इक गैया, जाइ घँसी-बँन फेर।।
दौरे ग्वाल सब वाके पाछें, पकरँन की करि आस।
चढि-कदंब पीतांबर फेरयौ, आइ गई मो पास।।
मैं चुचकार पींठ-कर परस्यौ, लँहडे लई लगाइ।
बतियाँ सुनत 'रसिक'-प्रीतम की, फूली जसुमति माइ।।

वे देखौ, आवत हैं गिरिधारी।
कछुक गाय आगें अरु पाछें, सोहत संग सखा री।।
लमि रही पाग-लटपटी सुंदर, अपनें हाथ सँवारी।
मोतिन की लर उर ऊपर रुरकत औ बँन-माला री।।
अंग-अंग छबि उठत तरंगँन, कापें जात निहारी।
'श्री बिट्ठल गिरिधरँन' सबँन में, बाँह तिहारी न्यारी।।

—'.०.—

रसिया की भाव-भूमि

श्री देवेंद्र सत्यार्थी

ब्रज की प्राचीन मौलिक परपरा में 'रसिया' का स्थान कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही। वैसे तो ब्रज में अनेक लोक-गीत प्रचलित हैं। बालको के खेल-गीतो में लोरी के स्वर घुले हुए प्रतीत होगे। खेल-गीतो में स्वर कपन से कही अधिक विशेषता रखते हैं। जीवन के अनेक चित्र जो शृखलावद्ध न होते हुए भी बालक का दृष्टिकोण बडी सफलता से हमारे समुख प्रस्तुत कर देते हैं। ऐसे गीत भी मिलेंगे जो व्रत और पूजा से सवद्ध है। देवी और माता के भजन, तीर्थ और पर्व-स्नानादि के गीत, त्योहारो के गीत, धोबियो, कुम्हारों और मछेरो आदि विभिन्न-वर्गो के गीत, कडखे और जिकडी के भजन, सावन में झूले के गीत—यह सब सामग्री ब्रज-लोक-साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। विवाह के गीत तो इतने विस्तृत हैं कि इनके साथ विवाह की एक-एक क्रिया गुँथी हुई है। बालक के जन्म पर गाये जानेवाले सोहर की भी ब्रज में कुछ कमी नही। होली की फागो के लिए तो ब्रज विशेष रूप से प्रसिद्ध ही है, पर सच पूछो तो ब्रज के 'रसिया' की अपनी ही विशेषता हैं।

"रसिया की क्या बात है।" ब्रज के एक लोक-गीत-प्रेमी ने हँसकर कहा था, "जब आप रसिया सुनेंगे तब और सब गीत भूल जायँगे।"

"रसिया की प्रशसा पीछे कीजिए", मैंने उत्सुक होकर कहा था,—"पहले यह प्रबध कीजिए कि कोई गायक 'रसिया' गा-गाकर मेरी झोली भर दे।"

"यहाँ आप को असख्य 'रसिया' मिलेंगे, जितने चाहो लिखते चले जाओ।"

"रसिया शब्द ही को लीजिए, कितना प्रिय है। नाम से तो यही सूचना मिलती है कि इस गीत में इसका झरना बहता है।"

उस लोक-गीत-प्रेमी के साथ हुई बातचीत आज भी मानस-पटल पर अकित है। 'रसिया' की रस-सिद्धि के लिए यह तो आवश्यक है कि किसी अच्छे 'रसिया'-गायक की सहायता ली जाय, जिसके गले से रसिया के बोल पूर्ण प्रतिष्ठा और आस्था के साथ सगीत-लहरियो पर उड सकें। मुझे याद है किस प्रकार मेरा वह मित्र स्वय ही रसिया गाने बैठ गया था, किस प्रकार उसने पक्ति पर पक्ति बैठाने की कला दिखा कर मुझे मत्र-मुग्ध कर दिया था।

इससे पहले दो-चार ऐसे व्यक्ति भी मुझे मिल चुके थे जो 'रसिया' के नाम से ही बिदकते थे। उन्हें यह शिकायत थी कि 'रसिया-गायक', प्राय अश्लीलता पर उतर आते हैं और बस चलते वे मर्यादा का उलघन करने से नही चूकते और इसी लिए भले लोगो की गोष्ठी में रसिया नही गाया जा सकता। यह अच्छा ही हुआ कि मैंने यह सब सुनकर भी 'रसिया' के प्रति किसी प्रकार की अवहेलना को अपने मन में स्थान नही दिया था।

अब रसिया सुनने को मिला तो मैंने देखा कि जैसे सभी लोक-गीत अपनी मर्यादा स्वय स्थिर करते हैं, रसिया भी स्वय आगे बढता है। मुझे इस परिणाम पर पहुँचते देर न लगी कि रसिया की विशेषता उसकी सर्वांग सुदरता में है। यह सत्य है कि रसिया के स्वर कभी-कभी इतने चचल हो उठते हैं कि उन्हें किसी भी मर्यादा की दीवारें अपने भीतर बद नही कर सकती।

'रसिया' के हृदय-स्पर्शी स्वरो की उठान इसकी सुंदरता की प्रतीक है। जी हाँ, 'रसिया' आनद-विभोर मन की वाणी है और दैनिक जीवन ही इसका धरातल है।

जहाँ तक रसिया की भाव-भूमि का सबध है, यह कहा जा सकता है कि स्नेह-धारा और शृगार-प्रियता ही इसकी विशेषताएँ हैं। विश्व के लोक-सगीत में प्रेम-गीत अपना अलग स्थान रखते हैं और इस क्षेत्र में ब्रज का रसिया किसी भी देश के प्रेम-गीतो से पीछे नही। रसिया-गायक एक प्रेमी के रूप में ही शब्दो और स्वरो में तारतम्य स्थापित करना है।

'रसिया' की एक और विशेषता है, इसकी चित्र-सुलभ शैली। हो सकता है कि दो-चार अस्त-व्यस्त-सी रेखाओ में ही पूरा चित्र प्रस्तुत करने का यत्न किया गया हो। भाषा और भावो का जो-जो ओज रसिया में मिलता है, वह ब्रज के लोक-सगीत में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। साधारण शब्दों में भी जैसे रसिया के स्पर्श से नये अर्थों का सचार हो उठता है।

रसिया-गायक आगे बढकर प्रेयसि के समुख पहुँचने के लिए उत्सुक रहता है। वह अपने मन पर किसी की अवहेलना नही जमने देता। स्नेह ही रसिया का मूल-स्वर है और यही उसकी समूची भाव-धारा पर छाया रहता है। प्रत्येक रसिया-गायक से यही स्वर निकलता है कि स्नेह ही महान् है और स्नेह का पक्ष छोडकर मानव का कहीं भी कल्याण नही हो सकता।

रसिया की प्रशसा करते समय बात को रत्ती-भर भी बढ़ा कर कहने की आवश्यकता नहीं, क्योकि रसिया का प्रत्येक बोल कुछ न कुछ नवीनता लिए रहता है, यही नवीनता चित्र में रग भरती है, यही नवीनता रसिया की भाव-भूमि पर बार-बार मचल उठती है।

रसिया के बोल जब एक बार वातावरण में गूज उठते हैं तो यह प्रतीत होता है कि चतुर्दिक् रसिया का आधिपत्य हो गया है—

१. "उठोऐ ज्वांनी या ढब ते, जैसें आंधी में भबूड़ो बल-खाइ!"
२. "मेरे इन हाथेंन की मेंहदी, काऊ दिन सुपनों है जाइगी!"
३. "हैल मो पै गोबर की, लडुआ काहे कूं दिखावै लंबरदार!"
४. "चना के लडुआ चों लायो, मेरे पीहर में जलेबी रसदार!"
५. "लंबरदार की लुगाई, तो ते राम डरपै!"
६. "तेरी खसॅम दरोगा, अब डर काहे कौ!"
७. "बंबे पै बोली तीतरिया, तू बन परवाइबे कब जाइगी?"
८. "मॅंझोली न लइयौ,[1] मेरी गूंठी माँमन जाइ!"
९. "चिलकनें गोटें पै, तेरौ सब जोबन लँहराइ!"
१०. "तेरे मंदे बाजें बीछिया, बदलवाइ लै!"
११. "बैठक पोखर पै बनवाइ दै, कलाबती के बादा!"
१२. "कोंधनी सोंने की, बनवाई दै दाबेदार!"
१३. "मेरी रातॅन जरो मसाल, बगद गयो पुल पै ते!"
१४. "गैलऊआ गोला दै जैयो, कॅरी[2] हरिअल पक रही ज्वार!"
१५. "लपट आवैं निबुअॅन की, रस बगिया कितनी दूर!"
१६. "अॅंगिया गोटादार, भूलि आई जंगल में!"
१७. "पदमा पुजारिन बन बैठी, तुलसी के पात चबाइ!"
१८. "बछेरी डोलै पीहर में, जा पै को होइगो असवार!"

१. पाठांतर—मॅंझोली ना लायौ, अथवा—मॅंझोली चों ना लायौ।
२. „ —कॅसी।

१९. "बलमा झोंक लगै लटकॅन की, मो पै अटा चढ़्यो ना जाइ !"
२०. "हूरे की अँगिया जो पैरै, जाइ रीझै लंबरदार !"
२१. "घटा गई पीहर कूँ, परमेसर है गई माँदी !"
२२. "लंबरदारी में लगाइ दै बैरी आग, परेला लै दै काँचन कौ !"

ये सब रसिया के आरम्भिक बोल है जो व्रज के वातावरण में सदैव तैरते रहते हैं । कुछ लोग तो टेक ही में उलझकर रह जाते है, परतु रसिया का पूरा रस पूर्ण रूप में ही पनपता है। रसिया के चार पूरे उदाहरण भी लीजिए—

२३. "तू भँवर बन्यौ बैठ्यौ रहिओ, चल बस मेरे प्यौसार !"
घोड़ी लै बऊँ नाँचनी, हर्‌यौ बनाती जीन ।
—चल बस मेरे प्यौसार !
नथ के गढाइ बऊँ गोलरू, खनवारे की छल्ला छाप ।।
—चल बस मेरे प्यौसार !
दही जमाऊँ भूरी भेंस कौ, औउ पुरा भर खाँड ।
—चल बस मेरे प्यौसार !
चदन-चौकी पै बैठनो, औउ अँचरन ढोरू बियार ।।
—चल बस मेरे प्यौसार !"

❀

२४. "लै आए हमारे महाराज, आज हमें छल करकें !
ए सइयाँ, तेरे राज में कबहूँ न पैरी चूरियाँ, कलइयाँ भर-भर कें,
लै आए हमारे महाराज, आज हमें छल करकें !"

❀

२५ "कारी चूँदरिया रँगाइ दै, मेरौ जोबन लच्छेदार !
जब ते आई तेरे घर में, गुजर करी टूटे छप्पर में ;
ना देखे तेरे महल तिवारे, ना सोई पलंग-निवार ।
—मेरौ जोबन लच्छेदार !"

❀

२६ "ज्वाँनी सरर-सरर सरावै, जैसें अँगरेजन कौ राज !
अँगरेजन कौ राज, जैसें उड़ै हवाई जहाज !
ज्वाँनी सरर-सरर सरावै, जैसें अँगरेजन कौ राज !
काजर दै मैं का करूँ, मेरे बैसेंई नैंन-कटार !
ज्वाँनी सरर-सरर सरावै, जैसें अँगरेजन कौ राज !

❀

जाते मिल जाइ निगाह, वुही मेरौ है जाइ तावेदार !
ज्वाँनी सरर-सरर सरावै, जैसें अँगरेजन कौ राज !

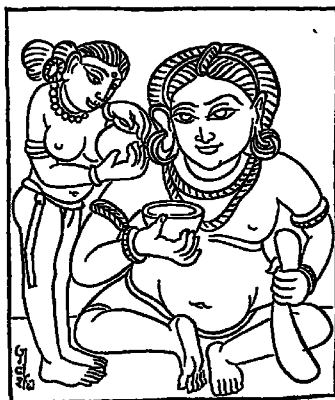
❀

उमर-खिचे पै कोई न पूछै, ज्वाँनी कौ संसार ;
ज्वाँनी सरर-सरर सरावै, जैसें अँगरेजन कौ राज !"

व्रज के रसियो का विस्तृत अध्ययन किया जाना चाहिये । क्या यह आशा नही की जा सकती कि कोई माई का लाल ऐसा भी निकलेगा जो सैकडो नही, हजारो रसिया-सग्रह करने के पश्चात् इन पर एक ग्रथ लिखने का व्रत पूरा करे ?

मै यह भी आशा करता हूँ कि रसिया के सगीत-पक्ष को भी भुलाया नही जायगा। यह व्यवस्था होनी चाहिए कि चुने हुए रसिया-गीतो के रेकार्ड भर लिए जायँ, पर जहाँ तक रसिया की भाव-भूमि का सबध है, इसमें इतनी शक्ति अवश्य है कि वह आधुनिक कवियो को भी प्रेरणा दे सके और उनकी थकी, हारी प्रतिभा को अगली मजिल तक ले चले।

मेरा आग्रह है कि रसिया की शक्ति का साहित्यिक मूल्याकन किया जाय। कोई कारण नही कि आधुनिक हिंदी-कविता में रसिया की शैली और भाव-भूमि से प्रेरणा न ली जाय। आधुनिक चित्रकला में यामिनीराय नें बगाल की लोक-कला के प्राण-तत्त्व फिर से स्थापित करने में मार्ग-प्रदर्शन का महान् कार्य किया है। कविता के क्षेत्र में भी हम लोक-गीतो से ऐसी प्रेरणा प्राप्त कर सकते है।



रासलीला का उदय और विकास

श्री रामनारायण अग्रवाल

ब्रज की रस-सिक्त भूमि में रसिक-शिरोमणि लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने रासलीला का आरम किया, यह सभी स्वीकार करेंगे। हरिवंशपुराण जिसे कि विद्वानो ने ऐतिहासिक दृष्टि से सब पुराणो में अधिक प्रामाणिक तथा प्राचीनतम स्वीकार किया है, भगवान् कृष्ण की सरसर रासलीला के वर्णन से युक्त है। हरिवंशपुराण के द्वितीय पर्व के बीसवें अध्याय "हल्लीसक क्रीडन" में भगवान् कृष्ण की रासलीला का कलात्मक विवरण उपलब्ध है। ब्रज के सघन वन में शरद्-पूर्णिमा की ज्योत्सना-मयी छवि ने रसिक-शिरोमणि के हृदय में रास-क्रीडा की प्रेरणा की थी, यह १५ वें श्लोक से स्पष्ट है। हरिवंशकार कहता है—

"कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशि चंद्रमसो वनम्।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति।।"

और इसके उपरात ग्रथ में रासलीला के लिये गोपिकाओ के आगमन और रासलीला का सरस वर्णन हुआ है।

भगवान् कृष्ण द्वारा रासलीला के आरभ की यह वात समस्त प्राचीन भारतीय साहित्य और कलात्मक वातावरण में इतनी रम गई थी कि प्राचीनतम अनेक साहित्यकारो और आचार्यों ने इसका उल्लेख किया है। यही नही अजता की कदराओ में रास के ही हल्लीशक[1] रूप का एक चित्र मिला

[1]. "ब्रज की लोक-संस्कृति" पुस्तक के ब्रज की कला—स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र तथा संगीत अध्याय में पृ० १४२ पर पं० श्रीकृष्णदत्त जी वाजपेयी ने लिखा है कि रास का पूर्व रूप हल्लीसक नृत्य है। उनके इस कथन के प्रति आदर रखते हुए हमारा मत है कि 'हल्लीसक नृत्य' रास का ही एक भेद था, उसका पूर्व रूप नहीं। भरतमुनि ने 'रासक' के जो तीन भेद—१. ताल रासक, २. दड रासक और ३. मंडल रासक किये है, उनमें से हल्लीशक नृत्य, 'मंडल रासक' अथवा उसका एक रूप ही है, उसका 'रासक' से भिन्न अपना कोई पृथक् स्वरूप नहीं माना जाना चाहिये। हमारे इस कथन की पुष्टि स्वयं उक्त लेख में दिये हुए श्री वाजपेयीजी के ही उद्धरणो से हो जाता है। वत्स्यायन के कामसूत्र में लिखा है—"हल्लीशक क्रीडनकैर्गायिनैर्नाट्य रासकैः"। अंतर केवल यह है कि जिसे भरतमुनि ने मंडल रासक कहा है उसे वात्स्यायन 'नाट्यरासक' कहते है, परंतु कामसूत्र पर की गई टीका से ज्ञात होता है कि वात्स्यायन ने संभवत. इस रासक को 'नाट्यरासक'—किसी गीत विशेष के गाये जाने के कारण लिखा है, जो भिन्न-भिन्न स्थानो पर विभिन्न रूपो में प्रचलित था—"नाट्यरासकैरन्योयदेशीयैः तेषां आव्यत्वाद् गीत विशेषणमेतत्।" हो सकता है कि यह 'नाट्यरासक' भरत के 'मंडल रासक' का बाद में विकसित कोई उपभेद हो, जो किसी गायन विशेष के आधार पर कर दिया गया होगा, परंतु इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि "हल्लीशक नृत्य" रास या रासक का ही एक रूप था। यशोधर ने अपनी टीका में स्पष्ट रूप से हल्लीशकनृत्य का वर्णन यो किया है—

"मंडलेन च यत्स्त्रीणा नृत्यं हल्लीसक तु तत्। नेता तत्र भवेदेको गोपस्त्रीणां यथा हरिः।।"

यह श्लोक मानो यह घोषणा करने के लिये ही रचा गया है कि हल्लीसक नृत्य मंडल रासक से भिन्न नहीं था।

है जो यह सिद्ध करता है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी कलाकार इस ओर आकर्षित थे और उस समय भी लोग रास-नृत्य का आयोजन करके भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा सस्थापित रास-रस का आस्वादन करते थे।

सस्कृत-साहित्य में रास के लिये 'रासक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ईसा की पहली शताब्दी में विद्यमान नाट्यशास्त्र के आदि आचार्य 'भरतमुनि' ने अपने प्रसिद्ध 'नाट्य-शास्त्र' में 'रासक' का उपरूपको में उल्लेख किया है। यह रासक साहित्यदर्पणकार के मत से एक अक में समाप्त होनेवाला नाटक है, परतु इसकी यह परिभाषा तो इसके विकास-काल की है। आचार्य भरत ने तो रासक के तीन भेद निम्न प्रकार बतलाये है—

"तालरासक नामस्यात् तत्रेधा रासकंस्मृतम्।
वंडरासमेकंतु तथा मडल रासकम्।।"

इस प्रकार 'रासक' या रास के भरतमुनि ने तीन भेद किये है—(१) ताल रासक, (२) दंड रासक (जिसे कही-कही लकुट रासक भी कहा गया है) तथा (३) मडल रासक। हमारा विश्वास है कि यह रासक शब्द रास से भिन्न नही है, क्योकि इसके यह तीनो भेद आज भी व्रज के रास में ज्यों के त्यो प्रचलित है। वर्तमान रास में तीनो का सुदर समन्वय है, जैसा कि हम ने आगे उल्लेख किया है, परतु रास का मूलाधार इतना दृढ होने पर भी प्राचीन साहित्य में ऐसे वर्णन नही मिलते जिससे रासलीलाओं के मच पर लाये जाने की किसी प्रकार की परपरा या श्रृखला का पता लगता हो। यों तो यदा-कदा शायद कही रास के आयोजन होते रहे होगे, परतु रास के लिये एक व्यवस्थित रगमच तैयार करने का कोई श्रृखला-बद्ध उद्योग कहीं नही हुआ और अततोगत्वा व्रज में ही रास के रगमच की स्थापना का सफल प्रयास किया गया। यह सब क्यों और कैसे हुआ? इसका इतिहास भी बडा रोचक और रहस्य-रजित है।

अब से कई सौ वर्ष पूर्व व्रज के कलाकारो ने रसिक-शिरोमणि भगवान् श्री कृष्ण की ललित लीलाओ का अमृत-रस सर्वसाधारण को वितरित करने के लिये इस कलामय व्रज-भूमि में रासलीलाओ का रगमंच स्थापित करने का सकल्प किया था, जो आज व्रज की मधुरिमा का सदेश घर-घर पहुँचाता हुआ व्रज-सस्कृति के सजीव रूप में विद्यमान है। इन रासलीलाओ का आरभ यद्यपि धार्मिक उद्देश्य से हुआ था, परतु व्रज की लालित्यमयी भूमि और सुरुचि-सपन्न कलाकारो ने इसमें तत्कालीन व्रज-सस्कृति, कला (जिसमें सगीत का प्राधान्य था) और नाटकीय तत्त्वो का सुदर सम्मिश्रण कर के इसे लोक-जीवन के इतने निकट ला दिया कि आज भी व्रज की जनता का अनुराग इस पर ज्यो का त्यों बना हुआ है।

पूर्व-इतिहास

रास का आरभ कब और किसके द्वारा हुआ, यह प्रश्न साप्रदायिक मनोवृत्तिवाले कुछ साधुओ ने बडे झमेले का विषय बना दिया है। उस विषय की मीमासा में जाना हमें न तो अभीष्ट ही है और न आवश्यक ही। रास के आरभिक इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला कोई प्राचीन ग्रथ अब तक उपलब्ध नही है, अन्यथा बहुत-सी भ्रात-धारणाओ को आश्रय ही न मिलता। कुछ ग्रथो में यत्र-तत्र रास का नामोल्लेख मिलता है। स्वर्गीय श्री राधाकृष्णजी ने जो स्वयं व्रज की एक प्रसिद्ध रास-मडली के सचालक थे, 'रास-सर्वस्व' नाम से एक छोटी-सी पुस्तिका प्रस्तुत की थी। वर्तमान समय में केवल इस पुस्तक से ही रास के संबध में कुछ अपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है।

रास के आरभ के सबंध में पर्याप्त छानबीन कर के हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि रास सवत् १६०० से पूर्व व्रज में प्रचलित हो चुका था। यह किवदती व्रज के सभी रासधारियो में प्रचलित है कि 'मथुरा के विश्रातघाट पर रास के आरभ का सर्वप्रथम निश्चय श्री वल्लभाचार्य जी तथा स्वामी हरिदास जी द्वारा किया गया और माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण भक्तो से आठ बालक माँगकर वहीं

रास का शुभारंभ हुआ। आचार्य जी द्वारा रास का मनोरथ करने पर आकाश से एक मुकुट उतरा और भगवान् कृष्ण के अभिनेता के मस्तक पर इसे धारण कराया गया, किंतु रास में से भगवान् कृष्ण बननेवाले स्वरूप के लोप हो जाने के कारण यह रास पूर्ण न हो सका और श्री वल्लभाचार्य व स्वामी हरिदासजी ने 'घमंडदेवजी' को फिर से रासमंडली के नये संगठन की आज्ञा दी। तब श्री घमंडदेवजी ने करहला जाकर 'उदयकरण' और 'खेमकरण' नामक दो ब्राह्मणों की सहायता से रास का आरंभ किया।"[1] कहा जाता है कि रासलीलाओं के आरंभ के समय ही करहला में एक मुकुट का मंदिर स्थापित हुआ, जो अभी तक वर्तमान है और उसमें उसी मोर-पंखों के मुकुट के अवशेष रखे बतलाये जाते हैं, जो रासलीला के आरंभ के समय धारण कराया गया था। रासधारियों का यह विश्वास है कि यह मुकुट कलियुग के कारण एक तिल नित्य लोप होता जाता है और जब यह एकदम लोप हो जायगा तो घोर कलियुग आ जायगा और रासलीला की यह परंपरा समाप्त हो जायगी। इसी मंदिर में एक ताम्र लेख है, जिसमें करहलावालों को रास का अधिकारी कहा गया है। यह अधिकार-पत्र भी श्री घमंडदेवजी का माना जाता है।

रास सर्वस्वकार ने भी अपने ग्रंथ में उक्त घटना को प्रामाणिक मानकर इसका उल्लेख किया है, किंतु उसने श्री वल्लभाचार्यजी का नाम स्पष्ट रूप से नहीं लिया। केवल विष्णुस्वामी मत के पोषक आचार्य कहकर उनकी ओर अस्पष्ट संकेत मात्र किया है, किंतु स्वामी हरिदासजी का नाम रस के प्रेरक के रूप में उसने स्पष्टता से लिखा है। उसने लिखा है कि "ललिता सखी के अवतार स्वामी हरिदासजी को महल से रास-रस प्रगट करने की आज्ञा हुई, तब उन्होंने मथुरा आकर विष्णुस्वामी-मत के पोषक आचार्यजी से, जो उस समय विश्रांतघाट पर रह रहे थे, सहमति लेकर माथुर भक्तों से आठ बालक माँगे। स्वयं आचार्यजी ने भगवान् कृष्ण और हरिदासजी ने राधा बननेवाले स्वरूप का शृंगार किया। इसी समय आकाश से मुकुट उतरा और रासलीला का आरंभ हुआ, किंतु भगवान् कृष्ण के अभिनेता के अंतर्ध्यान हो जाने से हरिदासजी ने स्वयं रास करने का विचार त्याग कर श्री घमंडदेवजी को पुनः रास आरंभ करने को कहा और फिर घमंडदेवजी ने करहला जाकर 'उदय-करण' और 'खेमकरण' नामक ब्राह्मणों की सहायता से रास की वर्तमान परंपरा चलाई।" इस कथन के अतिरिक्त भक्तमाल के टीकाकार श्री प्रियादासजी ने भी कई स्थलों पर श्री हरिदासजी के रासलीला से संबंधित होने का उल्लेख किया है, जिससे हरिदासजी का रास से संबंध होना और अधिक प्रमाणित हो जाता है। प्रियादासजी ने कहा है—

"रतन सुदेसमयी अवनि निकुंज धाम, अति अभिराम पिय-प्यारी-केलि-रास है।"

तथा—

"स्वामी हरिदास रसरास को बखान सकै, रसिकता की छाप जोई जाइ मध्य पाईऐ।"

उक्त उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि उक्त किंवदंती कल्पना नहीं है। स्वामी हरिदासजी और वल्लभाचार्यजी का रास से अवश्य ही संबंध रहा होगा। बाल-लीलाओं का रास में प्राधान्य होना और अब तक ब्रज की श्रेष्ठ रासमंडली को श्रीनाथजी का मुकुट प्रदान किए जाने की प्रथा भी यह प्रगट करती है कि वल्लभाचार्यजी का रास की स्थापना में सहयोग था।

श्री वल्लभाचार्यजी की जीवनी से यह पता लगता है कि आप संवत् १५४८ में ब्रज आये और मथुरा में विश्रांतघाट पर ठहरे थे[2], अतः रास का आरंभ अवश्य इसी समय हुआ होगा। यदि रास इसके बाद भी आरंभ हुआ हो, तब भी वह संवत् १५८७ से पूर्व अवश्य आरंभ हो चुका होगा, क्योंकि यह वर्ष ही श्री वल्लभाचार्यजी का निर्वाण-काल है।

[1]. देखिये, ब्रज-भारती वर्ष १ अंक ४ श्रावण १९९८ वि० में पृष्ठ १२ पर प्रकाशित लेख।

[2]. देखिये, काँकरौली का इतिहास पृ० ३१।

आचार्य शुक्लजी ने स्वामी हरिदासजी का कविता-काल भी अनुमान से संवत् १६०० से १६१७ तक माना[1] है, अत वह भी अवश्य ही सवत् १५५० के लगभग वृदावन में विद्यमान रहे होगे। कौन जानता है कि रासलीला के प्रादुर्भाव ने ही हरिदासजी जैसे महान् सगीतज्ञ को सवत् १६०० के लगभग स्वय काव्य लिखने की प्रेरणा प्रदान की हो। उक्त तथ्यो के आधार पर ही हमारी धारणा है कि अधिक से अधिक व्रज में सवत् १६०० तक अवश्य ही रास प्रचलित हो चुका होगा, क्योकि २०-२५ वर्ष के अवकाश काल में श्री घमडदेवजी ने रास का आरसिक रूप अवश्य निश्चित कर लिया होगा, परतु श्री 'ग्राउस महोदय' ने श्री 'नारायणभट्ट' को 'रास का आरभकर्त्ता' कहा है। यह ठीक है कि रास के विकास में नारायणभट्ट जी का भाग बडा महत्त्वपूर्ण है और इसी कारण उनके सप्रदायवालो ने उनको अपने कुछ साप्रदायिक ग्रथो में रास का आरभकर्त्ता भी कह दिया है, जिसके आधार पर कुछ महानुभावो को प्राय भ्रम हो जाता है।[2] शायद ग्राउस महोदय भी कुछ ऐसी ही पुस्तको के आधार पर अपने 'मेमोयर' में निम्न वाक्य लिख गये है—

" It was disciple Narayan Bhatt who first established the Banjatra and Raslila "

किंतु यदि रासलीला के आरभकर्त्ता श्री नारायणभट्टजी को माना जाय तब रास का आरभ सवत् १६०० के बाद मानना होगा, क्योकि स्वय भट्टजी सवत् १६०२ में व्रज आये थे। यहाँ आने पर ही तुरत रास की स्थापना कर देना दक्षिण से आये हुए किसी भी व्यक्ति द्वारा सभव न था। पहले तो उन्हें यहाँ जमने के लिये ही कम से कम ४-५ वर्ष का अवकाश आवश्यक हुआ होगा, फिर वल्लभाचार्यजी का निधन स० १५८७ में हो चुका था। यदि नारायणभट्टजी को रास का सस्थापक माना जाता है तो फिर वल्लभाचार्यजी से उसके सबध का कोई सामजस्य सिद्ध नही होता। कुछ महानुभाव 'भक्तमाल' के आधार पर रास के आरभकर्त्ता श्री नारायणभट्टजी को कहते है, परतु श्री नाभादासजी ने स्वय भट्टजी के रास से सबधित होने का कोई उल्लेख नही किया है। प्रियादासजी ने अपनी टीका में केवल यही कहा है कि नारायणभट्टजी ने—

"ठौर-ठौर रास के बिलास लै प्रवास किए,..।"

इसका अर्थ हमारी तुच्छ बुद्धि के अनुसार यही है कि इन्होने स्थान-स्थान पर रास के विलास (रास-स्थल) स्थापित कराये। इस उल्लेख से भी यही प्रकट होता है कि रास व्रज में पहले ही प्रारभ हो चुका होगा, जिसके प्रचार की ओर ध्यान देकर भट्टजी ने स्थान-स्थान पर रास-मडल बनवाये होगे। यदि रास उस समय प्रचलित न होता तो रास-स्थल बनवाने की उन्हें इतनी शीघ्रता न होती, परतु चाहे भट्टजी रास के सस्थापक न हो फिर भी रास के उत्थान और विकास में भट्टजी की रास के प्रति सेवाएँ रास के सस्थापको से भी अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण हैं। रास-सर्वस्व से प्रतीत होता है कि भट्टजी ने रास का सारा ढाँचा ही बदल दिया था और उसे केवल सगीत-मात्र ही न रख कर अभिनय का रूप भी आपने ही दिया था। उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य का उल्लेख हम आगे करेगे।

दुर्भाग्य की बात है कि अभी तक प्रयत्न करने पर भी श्री घमडदेवजी के जीवनवृत्त की उचित शोध नही लग सकी है। जनश्रुति के आधार पर केवल यही निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वे रासलीलाओ के सस्थापक थे। साथ ही यह भी मानना पडेगा कि करहला गाँव से भी श्री घमडदेवजी का निकट का सपर्क था और कदाचित् उनकी मृत्यु भी वही हुई थी, अन्यथा उनकी

[1]. देखिये, आचार्य शुक्लजी का हिंदी-साहित्य का इतिहास (सवत् १९९१ का संस्करण, पृष्ठ २०८।

[2]. देखिये, व्रज-भारती वर्ष ४ अक ४,५६ संवत् २००३ वि० के पृष्ठ ६ पर प्रकाशित 'नारायण भट्ट' शीर्षक लेख।

समाधि जो अद्यावधि करहला में वर्तमान है, वहाँ न बनाई जाती। रासलीला को करहला जाकर आरभ करना भी यह सिद्ध करता है कि करहला से उनका अवश्य ही निकट का सपर्क था। कुछ रासधारियो का मत है कि करहला ही घमडदेवजी का जन्म-स्थान भी है, परतु कुछ निंवार्क-सप्रदायी सज्जन उनका जन्मस्थान पजाब को बतलाते है। पजाब में निंवार्क-सप्रदाय के अतर्गत घमडदेवजी द्वारा सस्थापित कुछ प्रसिद्ध गद्दियाँ भी है, किंतु यह भी अभी शोध का ही विषय है कि करहलावाले घमडदेवजी और पजाबवाले घमडदेवजी एक ही महानुभाव थे या पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे। यहाँ हमें इस विवाद में जाने की आवश्यकता नही है, फिर भी हम इस सबध में इतना तो कह ही सकते है कि हमारी रास-लीलाओ के जनक घमडदेवजी स० १५४८ के लगभग अवश्य वर्तमान रहे होंगे, अत यदि वह नारायण भट्ट के पूर्ववर्ती नही भी हो तो भी उनसे वयोवृद्ध अवश्य थे। हमारा अनुमान है कि घमडदेवजी की मृत्यु नारायणभट्टजी के आगमन से पूर्व ही हो चुकी थी, अन्यथा नारायणभट्टजी रास के विकास और सस्कार में अवश्य ही उनका सहयोग प्राप्त करते, किंतु उसका उल्लेख 'रास-सर्वस्व' तथा अन्य ज्ञातव्य-सामग्री में नही होता है।

जैसा उल्लेख है कि घमडदेवजी ने करहला निवासी खेमकरण तथा उदयकरण के सहयोग से रास का आरभ किया और तभी से करहला गाँव (जो पुराणो में राधिकाजी की अनन्य सहचरी ललिताजी की जन्मभूमि के नाम से उल्लिखित है[1]) रासलीला का केंद्र बना और आज भी है। जब नारायणभट्टजी ने रास को शास्त्रीय रूप दिया तो उन्हें भी करहला के ब्राह्मण 'रामराय' और 'कल्याणराय' का सहयोग लेना पडा था।

इस विवरण से भी यही प्रगट होता है कि घमडदेवजी ही नही वरन् उनकी पीढी के उदयकरण और खेमकरणजी, नारायण भट्टजी के व्रज आते-आते अपनी जीवन-लीला समाप्त कर चुके थे, अन्यथा श्री नारायणभट्ट को करहला के ही दूसरे ब्राह्मणो को अपने सहयोग के लिये बुलाने की आवश्यकता न पडती।

यह सोचना भी भ्रमपूर्ण है कि श्री नारायणभट्टजी ने किसी ईर्ष्या या द्वेष के कारण इन लोगो का सहयोग न लिया होगा, क्योंकि वे अत्यत ही निस्पृही भगवद्भक्त-विभूति थे। साथ ही यदि वह किसी ऐसी भावना से प्रेरित होकर कुछ व्यक्तियो की उपेक्षा करते भी तो उपेक्षित लोगो का एक पृथक् विरोधी दल अवश्य ही उनके विरुद्ध उठ खडा होता, जैसे कुछ समय पहले ही दायें-बायें मुकुट के एक व्यर्थ के विवाद को उठाकर ही रासधारियों में घोर द्वद हो चुका है, परतु उस समय ऐसी किसी भावना का आभास तक नही मिलता। श्री नारायणभट्टजी को तो व्रजवासी मात्र का सहयोग रास के विकास के लिये प्राप्त हुआ था।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि आज से लगभग ४५० वर्ष पूर्व कला के विकास की दृष्टि से व्रज में यह कार्य बडा महत्त्वपूर्ण हुआ। जिस प्रकार ब्रह्माजी ने ऋग् से पाठ, साम से गायन, यजु से अभिनय और अथर्व से रस लेकर सस्कृत-साहित्य में नाट्य-शास्त्र का पचम वेद बनाया ठीक उसी प्रकार से ही व्रज के कलाकारो ने भी भागवत से प्रेरणा, अष्टछाप से गायन, अनुभवी कलाकारो से अभिनय और रसिक शिरोमणि भगवान् श्री कृष्ण के जीवन से रस लेकर व्रज-सस्कृति का अमर सदेश घर-घर वितरित करने के लिये 'रासलीला' को अवतीर्ण किया।

श्री घमडदेवजी के बाद सन्-सबत्वार रास के सस्थापको का उल्लेख रास-सर्वस्वकार ने किया है। कहते हैं कि घमडदेवजी के साथी उदयकरण और खेमकरण के बाद 'उदयकरण' के पुत्र 'विक्रम' ने रासलीला की बागडोर सँभाली और रास का चमत्कार दिखाकर न केवल औरंगजेब को ही चकित किया वरन् बाद में महाराज जयसिंह को भी प्रभावित कर के करहला के रानवासियो के

१. श्री ललिताजी की जन्म-भूमि करहला नहीं 'रीठौरा' ग्राम है, जो बरसाँने के निकट है।

मकान पक्के बनवाये, जो अब भी वहाँ वर्तमान है और 'झूलावारा' मंदिर तथा 'रास-चौतरा' भी उक्त महाराज से ही बनवाकर अपने आप को 'महल-हवेलीवाले रासधारियों' के नाम से विख्यात किया। इन महल-हवेलियों के खंडहर और उन रासधारियों के वंशज अब भी करहला में विद्यमान हैं और यह अब भी 'महल-हवेलीवाले रासधारी' कहे जाते हैं, परंतु इसके बाद ही भ्रष्टाचार फैल जाने के कारण करहला के रास का प्राचीन गौरव छिन्न-भिन्न हो गया, जो फिर से बिहारीलाल ब्राह्मण (रास-सर्वस्वकार के पिता) द्वारा स्थापित किया गया। ग्रंथ में इन घटनाओं का जो काल दिया गया है, उनका विवेचन स्थानाभाव के कारण यहाँ उचित न होगा फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि 'रास-सर्वस्व' में घटनाओं का जो समय दिया गया है वह अधिकांशतः अनुमान पर ही आधारित प्रतीत होता है। करहला रास का मुख्य गढ़ रहा है, यह उस गाँव के वातावरण से ही स्पष्ट लक्षित होता है, परंतु कालांतर में उसने उसके विकास में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं दिया। वास्तव में उसके व्यापक प्रचार, मौलिक सुधार तथा विकास का सारा श्रेय श्री नारायणभट्ट और उनके परिकर को ही है।

हमारा अनुमान है कि व्रज में आकर श्री नारायणभट्ट ने रास का जो स्वरूप प्रचलित देखा वह उन्हें अधिक आकर्षक प्रतीत नहीं हुआ। भट्टजी ने करहला के ही दो ब्राह्मण 'रामराय' और 'कल्याणराय' के अतिरिक्त बादशाह की सेवा से अवकाश प्राप्त सुप्रसिद्ध नर्तक 'वल्लभ' के सहयोग से रास को शास्त्रीय रूप देकर प्रचलित किया और रास के नव विकास की योजना बनायी। रासलीलाओं की इस शास्त्रीय परंपरा का आरंभ इस बार बरसाने की रस-सिक्त भूमि से—जो करहला के अति निकट रासेश्वरी राधिकाजी का प्रसिद्ध स्थान है, से हुआ। इन रासलीलाओं के आरंभ की स्मृति अब भी बरसाने में प्रत्येक भाद्रपद मास में राधा-अष्टमी के पुण्य-पर्व पर "बूढ़ी लीलाओं" के मेले के रूप में समस्त व्रजवासियों द्वारा बड़ी श्रद्धा और प्रेम से मनाई जाती है। श्रीनारायणभट्टजी ने ही इस बूढ़ी लीला को आरंभ किया और स्थान-स्थान पर पृथक्-पृथक् लीलाओं का स्थान निर्दिष्ट कर के रास-मंडलों का निर्माण भी कराया, जैसा कि भक्तमाल के अतिरिक्त ध्रुवदासजी के निम्न दोहों से भी प्रकट होता है—

"भट्ट नराइन अति सरस, ब्रज-मंडल सों हेत।
ठौर-ठौर रचना करी, निकट जाँन संकेत॥"

नारायणभट्टजी द्वारा संस्थापित यह परंपरा बड़ी लोकप्रिय सिद्ध हुई और रासलीला का बड़ा विकास हुआ। नर्तक वल्लभ का सहयोग रास की सफलता का एक प्रमुख कारण बना। यह नर्तक बड़ा गुणी था। वल्लभ की नृत्य-कुशलता की सराहना स्वयं नाभादासजी ने निम्न छप्पय में की है—

नृत्य-गाँन-गुन-निपुन, रास में रस-बरसावत।
अव लीला ललितादि बलित, दंपतिहिं रिझावत॥
अति उदार निस्तार, सुजस ब्रज-मंडल राजत।
महा महोच्छव करत, बहुत सबही सुख साजत॥
श्री नाराइन भट्ट प्रभु, परम प्रीति रस-बस किए।
ब्रज वल्लभ वल्लभ परम, दुरलभ सुख नैंनन दिए॥"

वल्लभजी की नृत्य-कुशलता और नट-नागर भगवान् श्रीकृष्ण के नृत्य-प्रधान व्यक्तित्व का रास पर बहुत ही व्यापक प्रभाव पड़ा है। रास के प्रत्येक संवाद और कथनों में इंगितों और नृत्यों का प्रचलन सर्वत्र व्याप्त रहता है।

इस प्रकार नारायणभट्टजी ने रास के मूल रूप का जीर्णोद्धार कर के उसे शास्त्रीय रूप दिया और इस दृष्टि से वह निश्चित रूप से रास-लीलाओं के एकमात्र आचार्य कहे जाने चाहियें, क्योंकि उनके बाद रास की निश्चित प्रणाली में कोई विशेष परिवर्तन किये गये हों ऐसा प्रतीत नहीं होता। उन्होंने स्थान-स्थान पर रास-मंडल स्थापित करा कर उनका लोक-जीवन से घनिष्ठ संपर्क तो स्थापित किया ही जैसा कि प्रियादासजी ने लिखा है, साथ ही उन्होंने इस से भी महत्त्वपूर्ण कार्य यह

किया कि रास को केवल सगीत तक ही सीमित न रख कर नृत्य, वादन और गायन के साथ-साथ अत में उसे अभिनय का रूप भी दे दिया, यद्यपि यह किया उन्होने धार्मिक-कारणो से ही था। इस प्रसग को रासधारी 'राधाकृष्णजी' ने निम्न प्रकार लिखा है—

"कुछ दिन पीछें भए विचार। प्रघटचौ भाव जदपि संसार।।
रास-बिलास स्वामिनी प्यारी। सखी-भाव बिन नहिं अधिकारी।।
प्राकृत दंपति लीला माँहीं। परिचारक कोउ अबसति नाँही।।
रहैं पास तिहि अवसर दासी। जो स्वामिनि की कृपा निवासी।।
प्रभु के भक्त अनेक बिधाना। उज्जल सख्य, दास्य रस-नाना।।
तिनकहँ सुख उपजै जिहि भाँती। प्रभु-पद में मन रहै दिन राती।।
अस बिचारि हरि की ललित, लीलॅन की अनुहारि।
रसिक नाराइन भट्ट नें, प्रथित कियौ ससार।।
जिहि प्रकार रहि प्रेम दृढ, निखिल भक्ति जिय होइ।
निज-निज रुचि हरि-भाव कर, सुख पावें सब कोइ।।"

इस प्रकार नित्यरास के साथ होनेवाली भगवान् की जीवन-घटनाओ के अभिनय का सूत्र-पात करने का श्रेय भी भट्टजी को ही है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि श्री नारायण भट्टजी ने यद्यपि रास का स्वरूप एकदम बदल दिया, परतु फिर भी उन्होने नित्य-रास की उस प्रणाली को ज्यो की त्यो रास के आरंभ में शीर्ष स्थान दिया, जो श्री घमडदेवजी द्वारा सस्थापित थी और इन प्रयत्नो का ही यह परिणाम था कि रास लोकप्रिय हो गये और यह लीलाएँ व्रज की कला के सरक्षण के साथ ही कृष्ण-चरित के प्रचार का मुख्य माध्यम बनी। इन रासलीलाओ का जनता पर बडा व्यापक प्रभाव पडता था। भक्तमाल में लिखा है कि प्रसिद्ध रामोपासक भक्त 'अलि भगवान' रास-लीला के देखने मात्र से अपनी सारी भट्टरता छोडकर कृष्णोपासक हो गये[१] और गुरु के देहावसान से व्यथित हरिदासजी के शिष्य बिट्ठल विपुल जिनका कविता-काल स० १६१५ के लगभग है,—रास देखते ही देखते इतने रस-मग्न हो गये कि उनका शरीरात[२] ही हो गया। इस घटना से रास में रस की निष्पत्ति की चरमसीमा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची प्रतीत होती है। भक्तो की दृष्टि में तो उस समय यह अभिनय ही भगवान् का वास्तविक रास था, तभी तो शरदपूर्णिमा के रास में नृत्य करते हुए राधा बने हुए स्वरूप के चरण का घूघरू टूट कर गिर जाने पर सुप्रसिद्ध भक्त कवि श्री व्यासजी ने निस्सकोच अपना जनेऊ तोडकर बाँध दिया था, जैसा कि भक्तमाल में उल्लेख है[३]—

सरद उज्यारी रास रच्यौ पिय प्यारी तामें, रंग बाढयौ भारी कैसें कहि कें सुनाइऐ।
प्रिया अति गति लई, बिजरी सी कौंधि गई, चकाचौंधि भई छबि-मंडल में छाइऐ।।
नपुर सो टूट-छूट परयौ अवरेख्यौं मन, तोरिकें जनेऊ कस्यौ वाही भाँति भाइऐ।।
सकल समाज में यो कहे आज काम आयौ, ढोयौ हो जनम ताकी बात जिय आइऐ।।"

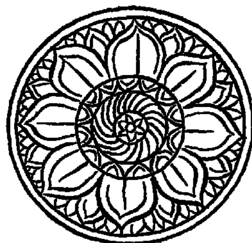
इस प्रकार व्रज में व्रज-सस्कृति और हिंदी का यह प्रथम रगमच अपने आरभकाल से ही रागात्मक, व्यापक और प्रचलित रहा, परतु आश्चर्य है कि हिंदी का रगमच स्थापित करने में इससे कोई प्रेरणा नही ली गयी, यद्यपि इसमें सभी नाटकीय तत्वो का उचित समिश्रण मिल जाता है। वैसे भी रास का रगमच बहुत सरल तथा आडबर हीन है।

१. अलि भगवान राम-सेवा सावधान मन, बृंदाबन आए कछु औरें रति भई है।
देखे रासमंडल में बिहरत रस-रास बाढ़ी छबि-प्यास दृग सुधि-बुधि गई है।।
२. जुगल सरूप अवलोकि नाना नृत्य-भेद, गाँन, ताँन सुनि रह्यौ न सह्यार है।
मिल गए वाही ठौर, पायौ नाम तन और, कहे रस-सागर सो ताकौ यो बिचार है।।

एक छोटे से आयताकार मच पर पीछे एक पिछवाई और आगे एक यवनिका डालकर ही रास का मच तैयार हो जाता है। मच के ऊपर मध्य में राधाकृष्ण का एक छोटा सिंहासन और पार्श्व में गोपिकाओं के लिये चौकियाँ या आजकल प्राय कुर्सियाँ डाल दी जाती है। मच के नीचे आगे की ओर मडलाकार या चतुरस्त्र स्थान नृत्यादि के लिये खाली छोड दिया जाता है और इसके बाद सामने फिर रग-बिरगी बगलबदियाँ डाटे और मस्तक पर पागो की पताका-सी फहराता हुआ रास-मडली का सगीत-समाज बैठता है। पर्दा खुलते ही कटि-काछनी व किरीट-धारण किये भगवान् ब्रजराज की ब्रजागनाओ से घिरी हुई झाँकी होती है। ब्रज-गोपिकाएँ राधा-सहित यहाँ की प्रसिद्ध पोशाक "लहँगा-फरिया" धारण करती है। रासारभ के पूर्व रास-मडली का सगीत-समाज विविध-पदो द्वारा मगलाचारण करता है फिर आरती के उपरात "नित्यरास" आरभ होता है, जिसमें गायन व नृत्य का प्राधान्य होता है। नित्यरास के उपरात किंचित् विश्राम होता है और फिर भगवान् कृष्ण की किसी एक जीवन-घटना का अभिनय होता है।

रास की सब से बडी विशेषता है उसका नृत्य प्रधान होना। जैसा कि हम पहले निवेदन कर चुके है, यह नृत्य ब्रज के ठेठ नृत्य है, जो आज से लगभग ४०० वर्ष पूर्व की ब्रज-सस्कृति के मर्म को छिपाये अपने उसी रूप में किंचित् परिवर्तनो के साथ विद्यमान है, परतु इन सब नृत्यो का आधार भी अति प्राचीन 'भरतमुनि' के 'नाट्य-शास्त्र' में उल्लिखित "रासक" के ही अनुसार है। भरत ने रासक को एक उपरूपक माना है और उसके तीन भेद किये है। इन तीनो भेदो का मिश्रण रास के वर्तमान नृत्यो में मिल जाता है। ताल के अनुसार विभिन्न नृत्यो द्वारा रास में—"ताल-रासक" और हाथ में डडा ले कर उन्हें बजाते हुए नृत्य में—"दडरासक" और "द्वै-द्वै गोपी बिच-बिच माधव" का मडलाकार नृत्य द्वारा प्राचीन "मडलरासक" का स्वरूप रासलीलाओ में आज भी दृष्टिगम्य है।

रास के इतिहास और विकास से यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अब तक रास का ब्रज के लोक-जीवन से घनिष्ट सपर्क रहा है, परतु दुर्भाग्य की बात है कि अब धीरे-धीरे यह सपर्क घटता जा रहा है। इसका कारण यह है कि रास पर धार्मिकता का जो भारी आवरण पडा है वह नव-शिक्षित महानुभावो की दृष्टि सहज ही इस ओर आकर्षित नही होने देता। साथ ही रास-मंडलियो के गढ गाँवो में होने के कारण नगर की परिवर्तनशील रुचि के अनुसार रासलीला-प्रणाली में कोई घुमाव नही दिया जा सका है। रास को दीर्घजीवी बनाने के लिये अब शीघ्र ही कोई प्रयास होना अत्यावश्यक है।



ब्रज-जनपद की एक विशेष काव्यधारा : ख्याल-लावनी

श्री रतनलाल बंसल

ब्रज-जनपद की यदि हम उन काव्य-धाराओ का पर्यवेक्षण करे, जिन्होने साधारण जनता की रसानुभूति को जाग्रत रक्खा और उस पर धार चढाई तो हमें ज्ञात होगा कि ख्याल या लावनी ने इस महत् कार्य में कितना महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

ख्याल या लावनी मुख्यत उस वर्ग का साहित्य है जिसे हम नगरो में रहनेवाला श्रमजीवी-वर्ग कह सकते हैं। यह वर्ग ग्रामो से दूर पड जाने के कारण एक ओर राजपूती होली, जिकडी के भजन, ढोला, रसिया आदि ग्रामीण-साहित्य के उपादानो से अपनी तृप्ति करने में असमर्थ था तो दूसरी ओर अपनी शिक्षा-सबधी विशेष स्थिति के कारण पद्माकर-विहारी जैसे कवियो के काव्यामृत से भी लाभ न उठा सकता था। ऐसी स्थिति में ख्याल-लावनी-साहित्य की उत्पत्ति हुई और उसके प्रचार, प्रसार का भी मुख्य क्षेत्र जनता का यही वर्ग रहा है।

ख्याल-लावनी का ब्रज से संबंध

आज भारतवर्ष और पाकिस्तान के उन सभी भागो में ख्याल-लावनी के कहने-सुननेवाले मिलते है जहाँ हिंदी-उर्दू बोली—समझी जाती है। यह स्थिति इस शका को उत्पन्न कर देने के लिये पर्याप्त है कि फिर भी क्या हम ख्याल-लावनी-शैली की जन्म-भूमि ब्रज को मान सकते हैं।

इस सबध में इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि ख्याल-लावनी-शैली की उत्पत्ति और विकास का कोई ऐतिहासिक और प्रामाणिक लेखा-जोखा प्रस्तुत नही किया जा सकता, किंतु यह निश्चित है कि आगरा और उसके आस-पास ही इस शैली का जन्म और विकास हुआ है। ख्याल-गोई के एक पुराने आचार्य श्री रिसालगिरी जी आगरे में ही थे और आज भी ख्याल-बाजो के एक प्रधान सप्रदाय तुर्रेवालो के प्रधान गुरु जनाब मौलवी मुहम्मद हुसैन साहब 'आशिक' आगरे की इस विशेषता और महत्त्व को कायम रक्खे हुए हैं। इसके अतिरिक्त ख्याल-गोई के जितने सप्रदाय है, जैसे—'कलगीवाले', 'तुर्रेवाले' 'सेहरावाले', 'छतरवाले', 'मुकुटवाले', 'डडावाले', 'दतवाले', 'तोडेवाले' आदि उन सबकी यदि गुरु-परपरा का अन्वेषण किया जाय, तो इन सबका निकास 'ब्रज-जनपद' से ही सिद्ध होता है। इस प्रकार इसमें कोई सदेह नही है कि ख्याल-लावनी की जन्म-भूमि होने का गौरव ब्रज-भूमि को ही प्राप्त है।

भिन्न-भिन्न संप्रदायो का आधार

ऊपर ख्याल-गोई के अनेक सप्रदायो के नाम दिये गये हैं। वास्तवमें मुख्य सप्रदाय दो ही हैं—(१) तुर्रेवाले, (२) कलगीवाले। तुर्रेवाले अपने को 'ब्रह्मवादी' और कलगीवाले अपने को 'मायावादी' कहते है। यह मान्यता इस अन्वेषण की अपेक्षा रखती है कि कही इस विभिन्नता का प्रारभिक सबध योगी-सप्रदाय के पुराने मत-मतातरो से तो नही है? पर इतना स्पष्ट है कि दार्शनिक सिद्धातो सबधी मत-भेद यदि कभी इस विभिन्नता का आधार रहा भी, तो वे कुछ ही दिन चले और बाद में तो इनका आधार केवल भिन्न गुरु-परपरा ही रहा है। इनके अतिरिक्त जो अन्य सप्रदाय है, वे प्राय. इन दोनो सप्रदायो से ही निकले हुए कुछ ऐसे विद्रोही प्रकृति के आचार्यो की देन है, जिन्होने अपने गुरु से थोडा-सा मतभेद उत्पन्न होते ही उनकी छाप अपनी रचनाओ पर लगानी छोड दी और अपना एक स्वतत्र 'अखाडा' कायम कर लिया।

ख्याल : लावनी-शैली की लोक प्रियता का रहस्य

वास्तव में ख्याल-लावनी की शैली ही हमारे काव्य-साहित्य की एक मात्र ऐसी शैली है, जो यद्यपि एक विशेष जनपद में उत्पन्न हुई, फिर भी वह शीघ्र ही समग्र हिंदी-उर्दू-भाषा-भाषियो के मध्य लोक-प्रिय हो गई। भाषा सबधी बडे-बडे कटु विवाद चले, राजनैतिक कारणो से भी साप्रदायिक उत्तेजना अपनी चरम सीमा तक जा पहुँची और उसने समस्त देश को जला डाला, किंतु क्या यह कुछ कम गौरव और आश्चर्य की बात है कि 'माँ सरस्वती' के उपासको का यह छोटा-सा वर्ग इस आग से न केवल अछूता ही रहा, बल्कि निरतर इस आग को बुझाने में प्रयत्नशील रहा है।

इसका एकमात्र कारण यह है कि ख्याल-लावनी-शैली का जन्म ही साधारण जनता के लिये सुबोध-सरल-साहित्य को जुटाने के उद्देश्य से हुआ था। बोल-चाल की भाषा ही इस साहित्य की भाषा थी, अत न कही हिंदी-उर्दू का प्रश्न था और न हिंदू-मुसलमान का। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक जन-पद के एक विशेष वर्ग ने इस शैली का स्वागत किया और इसके कलाकार उत्पन्न किये।

ख्याल-लावनी-शैली की लोक-प्रियता का दूसरा आधार उसकी निरतर प्रगतिशीलता है। ऊपर कहा जा चुका है, कि इस शैली का क्षेत्र नागरिक श्रमिक-समाज रहा है। देश की राजनैतिक, सामाजिक प्रगतियो का इस समाज से सीधा सपर्क रहता ही है अत उसका प्रभाव इस शैली की रचनाओ पर भी पडता रहा। यही कारण है कि आपको प्रत्येक ख्याल-गो से दो चार ऐसे ख्याल सुनने को मिल सकते हैं, जो देश और समाज की वर्तमानस्थिति से सबधित होगे।

कुछ उदाहरण

ख्याल-लावनी-शैली के इस विवरण को जान लेने के पश्चात् अब उत्कृष्ट ख्यालो के कुछ उदाहरण सुनिये। ये विरह-प्रधान एक ख्याल के कुछ अश है —

"तकूँ हूँ मारग, मैं बन बियोगन खबर हमारे न कत की है।
तडप रहे है ये प्रान पी-बिन, अनीति ता पै बसत की है॥
तजी है पीतम ने प्रीति मेरी, सखी ये लीला लिखंत की है।
लगन बुझाऊँ मै मन की कैसे, लगी ये अगिनी इकत की है॥
तपन बढावे मदन बिलासी, बिचल गही गति जपत की है।
तनी है तन में मदन की गरमी, जहाँ न हिंमत हिंमत की है॥
त्रिकाल मो पै प्रबल चढ़ाई, इतै तो इति पति असत की है।
तरल गनी उत बसंत की है, रितु में होली के तत की है॥
तमाल फूले अनेक तिन पै, अनीति मधुकर अनत की है।
तव पलासन पै जोग छायो, मदन की गद्दी महत की है॥"

बियोग के इस वर्णन के पश्चात् एक सुदरी का नख-शिख-वर्णन सुनिये—

"तोहि रूप की रासि बिरचि-रची, चितचोर चपल चपला रदनी।
चपक-बरनी, मुनि-मन-हरनी, रतिनाथ-बिमोहन ससि-बदनी॥
अति कोमल अग अनग-भरी, कल-कचन-रग सुगध सनी।
कच कुंचित कृस्न कपोलन पै, लट लटकत जनु लहरात फनी॥
भृकुटी वर वंक बिसाल बिसद, बिलसत बसनी अति तीव्र तनी।
मनु बिस्व-बिजै-हित कोप किये, कुटिलकृत काम कमान तनी॥

शेर

कहूं क्या-क्या मैं इन आँखो की करनी,
किये मृग मीन बस कर-कर के भरनी।

निरख अंजन छुपे खंजन विचारे,
ये अंजन मान, रंजन प्रान वरनी ।।
नासा तिल-कुसुम-समान सुभग, सुक-तुंड-निखंडन सुख-सदनी ।
चंपक-बरनी, मुनि-मन-हरनी, रतिनाथ-विमोहन ससि-वदनी ।।"

इसी प्रकार किसी सुंदरी के शीशफूल का वर्णन करते हुए ख्याल-भोई के एक पुराने आचार्य प० 'रूपकिशोर'जी ने कहा है—

"है सीस पर ससिफूल सोभित, सरूप आभा अखंड का है ।
मनो भुजंगो की भूमिका पै, निवास श्री मारतंड का है ।।
सजाये तैंने विचित्र भूषन कि जैसी भूषित तू सुंदरी है ।
खिला है जमना में पीत-पंकज कि जिसमें दिनकर की द्युति भरी है ।।
ये फूल तेरे ने आज उपमा, गगन में गुरु की हरन करी है ।
कनक-सिखर पर कि वासुकी ने, उगल के मस्तक पै मनि धरी है ।।

शेर

घृताची औ सची रति काम चेरी,
कोई यह कर सकें समता न तेरी ।
रची तू बाल विधि ने विस्व-मोहन,
भये हैं स्याम बस मुख बद हेरी ।।
बनाया किसने ये फूल जिसमें, प्रकास मनि-गन प्रचंड का है ।
मनो भुजंगो की भूमिका पै, निवास श्री मारतंड का है ।।

(२)

उदित अंधेरी में आज भृगु है कि जिनमें आभा है सोवरन की ।
मयंक हो निष्कलंक बैठा, बिछा के पर्जंक नीलमन की ।।
चढ़े हैं काली के सीस केसव, सपथ उठा के प्रकासपन की ।
किया है मंगल ने वास चौकी-बिछा के मरकत कनों के गन की ।।

शेर

किधौं कर वास गोलाकार घन में,
चपल थिर हो के बैठी स्याम-घन में ।
तेरे भूषन ने सौ दूषन लगा के,
कलंकित कर दिये गहने घरन में ।।
घरन टटोले हैं आ तरन सब, न बल किसी में घमंड का है ।
मनो भुजंगो की भूमि का पै, निवास श्री मारतंड का है ।।

(३)

दिया सुदरसन ने दिव्य दरसन, वो आके कज्जल के कूट-ऊपर ।
कि नील परवत की इक सिखर पर, गिरा है नच्छत्र टूट ऊपर ।।
या निसिचरो ने समूह सज के, समर में सुरपति से लूट ऊपर ।
सुधा-भरित सोवरन का कलसा, धरा धरन कालकूट-ऊपर ।।

शेर

सुमन की जोति ऐसी जगमगी है,
अंधेरी रात में अगिनी लगी है ।

किधो अलि-माल पै तारा-गनन-जुत,
प्रचानक आइ अरुनोदय जगी है।।
कहीं है सिर सीसफूल चंदा, यें राति आधी निखंड का है।
मनो भुजंगो की भमिका पै, निवास श्री मारतंड का है।।"

सहृदय पाठक अनुभव करेंगे कि उपमा-उत्प्रेक्षादि अलकारो की दृष्टि से यह रचना हमारे साहित्य की अच्छी से अच्छी रचनाओ से टक्कर ले सकती है। शृंगार के पश्चात् अब मन की चचलता पर भी कुछ पक्तियाँ सुनिये—

"फिरै है चहुँ ओर मन ये चंचल, घिरै तो घिरना इसे नहीं है।
भ्रमै है भौंरे की भाँति निसि-दिन, कभी कहीं और कभी कहीं है।।
कभी तो कूदै सुमेर-ऊपर, कभी गिरै अवकूप में यह।
कभी गहै छाँह उपबनो की, कभी जलै ज्वाल-धूप में यह।।
कभी बनै धर्म-ध्यान की धुज, कभी मिलै पाप रूप में यह।
कभी तो दुख-दाह भूरि भोगै, कभी बसै सुख अनूप में यह।।

शेर

कभी चैतन्यता तज के, जो मूरखता में आता है,
तो सोना फेंक देता है, उठा मिट्टी को लाता है।
कभी हो काम-वस अधा, विषय-बन में विचरता है,
जती, सुरपति सरिस तज के, दरिद्री इसको भाता है।।
न ऊँच देखै, न नीच देखै, लगै जहाँ रम रहै वहीं है।
भ्रमै है भौरे की भाँति निस-दिन, कभी कहीं और कभी कहीं है।।"

स्वानुभूति

ख्याल-लावनी-पद्धति पर रीति-कालीन काव्य की भी छाप प्रमुखता से दीख पडती है, इसी लिये पुराने ख्यालों में प्राय वही राधा-कृष्ण की प्रणय-कथाएँ या नायिका का नख-शिख-वर्णन है, किंतु कभी-कभी किसी ख्याल से स्वानुभूति-परक भी बडे सुदर खयाल सुनने को मिल जाते हैं, जिसमें कवि अपने निज का सुख-दुख गाकर अपने मन का भार हलका करता है। ऐसे ही एक ख्याल में कोई कवि मायके (पीहर) गई हुई अपनी पत्नी के वियोग से आहत होकर गा उठा था—

"प्रभात परसो से प्रान प्यारी, गई है पीहर वियोग करके।
विरह के वारिधि में प्रान मेरे, विकल हैं प्यारी-वियोग करके।।
रही न नैनो में नींद वैरिन, लगे पलक पर पलक न मेरे।
सताई संताप-ताप तन में, विनोद सब तज गये बसेरे।।
विलास बिसरे निरास करने, हुलास अपने रहे न मेरे।।
न अंग में कुछ उमंग छोडी, न संग छोड़े, फिरे हैं घेरे।
अरे विसासी वियोग वैरी, बने हैं बानक विचित्र तेरे।।
लगे न जप-तप में चित्त अपना, जो तुझ को जीतूँ प्रयोग करके।
विरह के वारिधि में प्रान मेरे, बिकल हैं प्यारी-वियोग करके।।

तड़ित घटा-घन, मराल, मधुकर, कुरग, मातग, मीन, खजन।
कपोत, करभंट, कीर, केकी, चकोर, चक्वा, कमोद, कजन।।
अयक, मुक्ता, प्रवाल, उड़गन, गुलाब, कदली, अनार, चदन।
सरोज, श्रीफल, मनोज, मृग-मद, प्रिया, भये हैं बिना मुदित मन।।

ये आज सब मन-मगन हैं जैसे, जनम दरिद्री को मिल गया धन।
करे न लज्जित तू इनको आके, ये मान मेरे करें हैं खंडन॥
वियोग तेरे में बन को जाऊँ, तो कैसे जीऊँगा जोग करके।
बिरह के वारिधि में प्रान मेरे, विकल हैं प्यारी-वियोग करके॥"

हास्य

हास्य-विनोद की भी ख्याल-लावनी में कमी नहीं है। शिष्ट हास्य का एक नमूना देखिये। कवि कल्पना करता है कि श्री कृष्ण जी एक रात को देर से राधा जी के द्वार पर पहुँच कर उनके किवाड़ खट-खटाते हैं। मानिनी राधा समझ जाती हैं कि किवाड़ खटखटानेवाला कौन है, पर वे चुप हो जाती हैं। तब श्री कृष्ण जी उनको आवाज देते हैं और इस पर राधा से उनका कैसा विनोद-पूर्ण वार्तालाप होता है—

"हे प्रान प्रिया, उठ, खोलौ कनक-किवारे। तुम को हौ, पिछली रात पुकारन-हारे?
हम माधव हैं, मधुरी धुनि-धारन हारे। तो बसौ जाइ, तिरबेनी नदी किनारे॥
हम हैं ब्रज नायक, ब्रज-बन-बिचरन-हारे। जाओ टोडे में, जहाँ बसे बनजारे॥
हम हैं स्योन, तो घर-घर करौ उतारे। तुम को हौ, पिछली रात पुकारन-हारे॥
हे प्यारी, हम तो हैं घनस्याम पियारे। तो बरसौ, बन-बागन में गरज-सहारे॥
हम भोगी हैं, बस भोग-बिलास हमारे। तो चहिये बन में वास, इकत तुम्हारे॥
हम हैं बनवारी, बन में करौ गुजारे। तुम को हौ पिछली रात पुकारन-हारे॥
हम रागी हैं, अनुरागी पुरुष विचारे। तौ राग-अलापौ, द्वार बजा इकतारे॥
हम हैं बिरही, ब्रजचंद बिरह के मारे। तो बसौ, बिरहनी-ललिता के घर न्यारे॥
हैं हरी, तो क्यों बैकुंठ बिहार-बिसारे। तुम को हौ पिछली रात पुकारन-हारे॥"

इस प्रकार श्री कृष्ण एक के पश्चात् एक नाम और संबोधन बताते गये और राधा अनजानी-बनी उनको यथोचित उत्तर देती गयीं, पर अंत में यह समस्या कैसे सुलझी, इस संबंध में कवि चुप रह गया है।

सामयिक

ऊपर कहा जा चुका है कि ख्याल-लावनी-शैली की एक विशेषता उसकी निरंतर प्रगतिशीलता है। वह जिस समाज का साहित्य है, उस राष्ट्र और समाज के अंतर्गत चलनेवाले प्रत्येक संघर्ष में उसका मुख्य भाग रहता है, अत सामयिक समस्याओं और घटनाओं से यह साहित्य अछूता रह भी कैसे सकता था?

सामयिक घटनाओं पर भी ख्याल व लावनी के कवि की अभिव्यक्ति कैसी सफल होती है, उसका प्रमाण निम्नांकित पंक्तियाँ हैं, जो किसी ख्याल-बाज ने 'राष्ट्र-पिता' के बलिदान पर लिखी थी—

"एक वधिक जाचक बन आया, दे जीवन का दान चले।
इंद्रप्रस्थ से इंद्र-लोक, कर राष्ट्र-पिता प्रस्थान चले॥
तीन गोलियों के लगते ही, सरीर को तज प्रान चले।
गगन-मही थरथरा उठे और अस्ताचल को भान चले।
चंद्रकला बिलगाइ गई, उडगन भी कर प्रस्थान चले॥
सर-सरिता श्री-हत से निरखें, मीनादिक दुख मान चले।
इंद्रप्रस्थ से इंद्र-लोक, कर राष्ट्र-पिता प्रस्थान चले॥

(२)

ब्रह्मा, विष्णु, अखंड अजन्मे, अखंड ज्योति-निधान चले।
अपने को आपे में मिलाने, आप रूप भगवान चले॥
भारत माँ की बंध छुड़ाई, पाके पद-निर्वान चले।
मुक्त हुआ जब देस आप भी, ले मुक्ति का मान चले॥

अग्नि, धरन, आकास, पवन, पानी का कर भुकतान चले।
इंद्रप्रस्थ से इंद्र-लोक, कर राष्ट्र-पिता प्रस्थान चले ।।

अथवा—

न टूटे क्यो हाथ वो सितम गर, चलाई थीं गोलियाँ जी भर के।
हिला न जालिम का किस लिये दिल, हुए न टुकड़े रिवालवर के ।।
बना कलेजे को अपना पत्थर, चला तमचे को ध्यान करके।
छिपाया हाथों के बीच उसको, झुका था पावो पँ शीश धर के ।।
यह पास आने का था बहाना कि सीढ़ियो पँ से चढ़-उतर के।
कठोरता के विचार बदले, अभागे उस नारकीय नर के।।

शेर

महत्मा को अपने निसाना बनाके,
किया अंग छलनी तमंचा चलाके।
रहे हाथ जोड़े खड़े वो सभा में,
हरे राम, हरे राम की रट लगा के ।।

खबर किसी को हुई न इसकी, जो बार थे इन बे-खबर के।
हिला न जालिम का किस लिये दिल, हुए न टुकड़े रिवालवर के ।।"

ख्याल-लावनी-शैली के भविष्य के सबध में आज कोई आशाप्रद बात नही कही जा सकती। रास-लीलाओ में आज जनता को वैसा आकर्षण नही रहा, जैसा १५-२० वर्ष पहिले था। होली, ढोला, आल्हा आदि के भी पहिले जैसे अखाडे अब नही जमते। मानव-स्वभाव ही परिवर्तन प्रिय है और वह प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन चाहता है। पिछले दस वर्षो में ख्याल-लावनी के प्रति जनता के आकर्षण में भी न्यूनता ही आई है, पर यह कोई चिंता की बात नही है। चिंता का विषय केवल यह है कि ख्याल-लावनी-शैली में तो उच्चकोटि की रचनाएँ है, वे कही काल-समुद्र में लुप्त न हो जाँय। इस शैली के प्रधान-प्रधान आचार्यो की स्मृति-रक्षा का भी प्रयत्न होना चाहिये। खेद है कि इस सबध में हमने ही कम ध्यान दिया है। आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व श्री 'अयोध्या प्रसाद'जी पाठक[1] और श्री 'स्वामी नारायणानद'जी ने 'विशाल-भारत' में दो लेख इस सबध में अवश्य लिखे थे, किंतु इसके पश्चात् इस विषय पर कोई दूसरा लेख देखने में नही आया।

ख्याल-लावनी-शैली अधिक से अधिक आगामी पच्चीस वर्षो में विगत स्मृति का विषय बन जावेगी, पर पिछली अनेक शताब्दियो में इसने इस का जो अक्षय दान किया है, उसके लिये हमारे साहित्य का इतिहास इसे कभी भुला न सकेगा। विशेषत 'ब्रज-जनपद' के इतिहास में तो इसकी उपेक्षा किसी भी प्रकार भी नही की जा सकती, क्योकि इस शैली की रचनाएँ हमको साधारण जनता की मानस-धारा के वास्तविक क्षय का परिचय देने की सामर्थ्य रखती है।

— ०० —

[1]. प्रस्तुत लेख में पाठकजी के लेख से बहुत सी सामग्री ली गई है, जिसके लिये लेखक श्री पाठकजी का आभारी है।—लेखक

सत्यनारायण : कविरत्न

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

"जो मोसों हँसि मिलै, होत मैं तासु निरंतर चेरौ।
बस गुन ही गुन निरखत तिहि मिधि, सरल प्रकृति कौ प्रेरौ।।
यह सुभाव कौ रोग जानिऐं, मेरौ बस कछु नाँहीं।
नित नव विकल रहत याही सों, सहृदय-बिछुरन माँहीं।।
सदाँ दारु-योषित-सम बेबस, भाग्या मुदित-प्रमानें।
कोरो सत्य ग्राँम कौ बासी, कहा 'तकल्लुफ' जानें?
—सत्यनारायण

चालीस-इकतालीस वर्ष पहले की बात है। श्रीमान् 'दरभगा-नरेश' के साथ महामना 'मालवीय' जी 'हिंदू-विश्वविद्यालय' का चंदा करने के लिए आगरे पधारे थे। सैकड़ो ही विद्यार्थी उनका भाषण सुनने के लिए गये थे। मै भी इन दिनो आगरा में ही नवें दर्जे में पढ़ता था और श्रोताओ की भीड के पीछे दूर खडा हुआ था। माननीय अतिथियो के स्वागतार्थ कविताएँ पढी गई। खास तौर पर एक कविता ने जादू जैसा असर कर दिया। गजी की मिर्जई और दुपल्लू टोपी पहने हुए युवक ने जब अपने मधुर स्वर में पढा—

"सरल हृदय सहृदय सुख पोहन, अखिल दुरित दल दूखन।
श्री सदगुन-गन-सदन-मदन-मोहन मालवि कुल-भूखन।।
जासो ये पाँहुने हमारे, निज-स्रम कौ फल चाखें।
पूरन होइ सकल विधि सो तिन उत्तम हिय अभिलाखें।।
सकल अभ्युदय सूर्य देव की, किरन-माल परकासै।
हृदय-सरस-सर ओज भरैं, नित मोद-सरोज-बिकासैं।।
जिमि बसंत के राज मुदित मन, वृच्छावलि चहुँ फूलैं।
नेह निरतर मगन रहैं सब, निज पतझर-दुख भूलैं।।
तिमि सुठि सुजन रसाल फरैं, मृदु मजु मंजरी छावैं।
उपकृत मधुप रसिक गुंजारत, तिन कौ सुजस सुनावैं।।"

उस समय सहस्रो की जनता मत्र-मुग्ध-सी उस कविता को सुन रही थी। महामना मालवीयजी को भी वह कविता बहुत पसद आई थी। जब सभा समाप्त हुई तो श्रीमान् मालवीयजी ने उस युवक को अपने पास बुलाकर प्रोत्साहन प्रदान किया। कुछ दूरी पर खडे हुए हम विद्यार्थी लोग यह दृश्य देख रहे थे। मैने अपने एक साथी से पूछा, "ये कौन हैं?" उन्होने उत्तर दिया, "आगरे में रहते साल भर हो गया है, तुम इन्हें नही जानते, ये—'सत्यनारायण' हैं।"

सत्यनारायणजी की सादगी पर और उनके मधुर स्वर पर यद्यपि मै उसी दिन मुग्ध हो गया था, पर उनसे साक्षात परिचय-प्राप्त करने का सौभाग्य 'भारतीय-भवन' फीरोजाबाद में ही प्राप्त हुआ था। पिछले चालीस वर्षों में यद्यपि सैकडो ही साहित्य-सेवियो के दर्शन करने तथा परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य हमें मिला है, पर सत्यनारायणजी जैसा सहृदय, उन जैसा भोलापन कही नही दीख पडा। उनके व्यक्तित्व में एक विशेष आकर्षण था और उसका विश्लेषण करना कठिन है।

सत्यनारायणजी के जीवन की जो बात हमें सबसे अधिक आकर्षित करती है वह है उनकी निस्वार्थ साहित्य-सेवा।

उन्होंने अपने जीवन में कभी रुपये, आने, पाई की हिसाबी-वृत्ति से काम नही लिया और वे उस वणिक-वृत्ति से जो हमारे अनेक साहित्य-सेवियो को असमय में ही ग्रस लेती है, सर्वथा दूर ही रहे। जहाँ तक हम जानते है उन्होने अपनी किसी पुस्तक से एक भी पैसा नही कमाया। उनकी कविताएँ—स्वात सुखाय होती थी और यद्यपि उन्हें कभी-कभी दूसरों के दबाव में आकर व्यक्ति-विशेषों की प्रशसा में तुकबदी करनी पडती थी, पर वे अपने १५ वर्ष के साहित्यिक जीवन में उस कोकिल की तरह ही रहे जो अपने मधुर गीतो के बदले कभी पैसे की इच्छा नही करती। वह गाती है, क्योकि गाना उसका कर्त्तव्य है, गाये बिना वह रह नही सकती—गाना उसका स्वभाव है।

स्व० सत्यनारायण की कविता के विषय में फैसला देते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि वे कुल ३८ वर्ष ही जीवित रहे। २४ फरवरी सन् १८८० में उनका जन्म हुआ और १६ अप्रैल सन् १९१८ को उनकी मृत्यु। इसमें सन् १९१० तक तो उनकी शिक्षा ही चलती रही। इस प्रकार अपना अध्ययन समाप्त करने के बाद केवल ८ वर्ष ही उनके स्वाधीन साहित्यिक जीवन के शेष रहे। इस बीच उन्होंने सैकडो समयोपयोगी कविताएँ और गीत लिखे, 'उत्तर-रामचरित' और 'मालती-माधव' नाटको का अनुवाद किया और रघुवश के कुछ सर्गों का भी रूपातर किया। अग्रेजी कवि 'टेनीसन' की कुछ कविताओ का और 'होरेशन' का भी अनुवाद किया। वास्तव में उनकी कविता का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा था। लेकिन जैसा कि हम पहले लिख चुके है सत्यनारायणजी के कवित्व से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उनका व्यक्तित्त्व था। घोर से घोर शारीरिक और आर्थिक कष्ट, गार्हस्थिक दुश्चिताएँ और भयकर से भयकर मानसिक सताप भी उनके स्वभाव की सरलता, सरसता तथा कोमलता को नष्ट नही कर सके। उन्होने अपने हृदय-पटल को कभी कलुषित नही होने दिया, वह सदा स्फटिक की भाँति स्वच्छ रहा। उनके स्वाभाविक माधुर्य को कठोर कटुता स्पर्श भी नही कर सकी।

ठेठ-ब्रजवासी

सत्यनारायणजी सच्चे अर्थो में—जनपदीय व्यक्ति थे, पृथिवी-पुत्र थे। कविवर नवीनजी ने अपने विषय में जो कहा है—

"तुम पृथ्वी के सुवन अरे, तुम औ मृत्तिका प्रसूत निरे।
तुम खेतो एव खलहानो के सुत, तुम धरती के पूत निरे॥
घास और कड़वी संग शैशव काल बिताने वाले औ।
तुम हो मक्का, ज्वार, चनो के, संग-संग सभूत निरे॥"

वह सत्यनारायण पर भी ज्यो का त्यो लागू होता है। सत्यनारायणजी की कविताओ में यत्र-तत्र जो ग्रामीण शब्द तथा ग्रामीण दृश्य छिटके पडे है, उनका पूर्ण आनद ब्रजवासी-सज्जन ही उठा सकते हैं। अपने भ्रमर दूत में 'जसोदा मैया' द्वारा भगवान् कृष्ण के पास सदेश भिजवाते हुए वह कहते हैं—

"याही कारन निज प्यारे ढिग तोहि पठाऊँ।
कहियो वासों बिथा सबै, जो अबै सुनाऊँ॥
जैयो पद्वद धाइकैं, धरि निज कृपा बिसेस।
सो यों काज बनाइकैं, दै भी यह सदेस॥
—सिदौसो लौटियो।"

सिदौसे[1] में (जो शायद सबेरे का बिगड़ा हुआ या सुधरा हुआ रूप है ?) जो लावण्य है, उसका आस्वाद किसी ब्रजवासी ने ही पूछा जा सकता है। वर्षाऋतु में एक ग्रामीण दृश्य देख लीजिये—

[1] सिदौसो—सबेरे, शीघ्र।

"सुखद सुरीलौ गाँमन में, ललनाँ-गॅन-गाँमन।
भरि उछाह घर सो तिन आँमन, झूलन जाँमन।।
पवन उड़त लखि ए पट को, झटपटहिं सँभारँन।
मंजुल लोल-कलोलनि, बोलनि-विविध-मल्हारँन।।
एक-एक को पकरि बुलावन, करि-गहि लावन।
जोरावरी चलावन, झूला झमकि झुलावन।।
मधुर 'मिसमिसी' सो मिचकी दै, जाहि हिलावन।
"राखौ, मेरी सोह, मरी" कहि तासु रखावन।।"

होली के अवसर पर वसत का स्वागत करते हुए—

"कोऊ सरसो-सुमन फूल, जौ सिर सो बाँधत।
गरियारन गोरिन-सँग कोऊ चूहल मचावत।।
कोउ बावरे भये गुलालहिं गगँन उड़ावत।
करि फगुवारन लाल, गीत फागुन के गावत।।
हुरिहारिन की धूंम और रँग-रेलनि पेलनि।
देखहु तिनकी उमँग, खेल-खेलनि झकझेलनि।।
ऊँधम उमड़चौ परत रँग्यौ, जग सब रस रागत।
गारी, पिचकारी, तारिन सो तेरौ स्वागत।।"

यद्यपि ब्रजभाषा अपने प्राचीन गौरव को कदापि प्राप्त नही कर सकती, समय की गति उसे बहुत पीछे छोड चुकी है और वह क्लासिक की श्रेणी को प्राप्त कर चुकी है, तथापि 'जनपदीय-बोली' के रूप में उसका महत्त्व ब्रज की भूमि में तो अवश्य रहेगा।

खडी बोली तथा ब्रजभाषा के पक्षपातियो में जो साहित्यिक वाद-विवाद छिडा हुआ था वह अब हिंदी-साहित्य के इतिहास में एक अध्याय बन चुका है और उसके बारे में अधिक लिखने की आवश्यकता नही। हाँ, इतना तो कहना ही पडेगा कि ऐसे समय में, जब कि प० 'श्रीधर पाठक' मुख्यतया खडी बोली में ही कविता करते थे और कविवर 'रत्नाकर' जी अयोध्याराज्य की मुकदमेंबाजी में व्यस्त थे, सत्यनारायण कविरत्न ने ही ब्रजभाषा का प्रबल पक्ष-समर्थन किया था। बडे मर्म-स्पर्शी शब्दो में उन्होने लखनऊ के हिंदी-साहित्य-समेलन के अवसर पर कहा था—

"क्यो या सो मन फिरचौ, कृपा करि कछुक बतावौ।
वृथा आतमा या ब्रजभाषा की न सतावौ।।
जिनके तुम बस परे, अहहिं ते सकल बिमाता।
ब्रजभाषा ही सुद्ध संस्कृत, साँची माता।
टपकावति प्रेमाश्रु पुलकि, तन पूत प्रेम सो।
भरि-भरि देखत नैन तुमहिं, जो सत्य नेम सो।
काज जु जब कछु करत, सिथिलता तन में व्यापत।
यही सोचि, जननी ब्रजभाषा निसि-दिन काँपत।।
सुत-सेवा-हित तासु रुचिर, रुचि रहत सदा हीं।
जनमें पूत-कपूत, कुमाता माता नाहीं।।
को बरनन करि सकत, भला ब्रजभाषा कोटी।
मचलि-मचलि माँगी, हरि जामें माखन-रोटी।।"

यद्यपि सत्यनारायणजी स्वयं इस बात को समझ गए थे कि वे एक ऐसे युद्ध में मलग्न है जिसमें उनकी हार निश्चित है, तथापि उन्होने अंत तक ब्रजभाषा के झडे को उठाये रखा।

अपनी मृत्यु के बीस-पच्चीस दिन पूर्व जब उन्होंने 'इंदौर-सम्मेलन' के अवसर पर व्रजभाषा में अपनी कविता 'गांधीस्तव' सुनाई थी, दस-बारह हजार व्यक्ति मंत्र-मुग्ध से रह गये थे। महात्मा गांधीजी की ओर भक्ति पूर्वक नमस्कार करके जब उन्होंने कहा था—

"तुम से बस तुम हीं लसत ग्रौर कहा कहि चित भरें।
सिवि, प्रताप ग्रर मेजिनी, किन-किन सो तुलना करें ?"

तो उपस्थित जनता का हृदय प्रेम से विह्वल हो गया था। गांधीस्तव का अंतिम पद अब भी हमारे कानों में गूंज रहा है—

"आपहिं सारथि बने, कमल-दल आयत लोचन।
अर्जुन सो बतरात विहँसि, त्रयताप-विमोचन॥
धीरज सब विधि देत, यही पुनि-पुनि समझावत।
'दैन्य', 'पलायन' एकहु ना, मोहि रन में भावत॥
इक निमित्त मात्र है तू ग्रहो, फिर क्यो चित-विस्मय धरै।
गोपाल कृष्ण, मोहन मदन, सो तुम्हरी रच्छा करै॥"

समय की बढ़ती हुई गति को कौन रोक सकता है? व्रजभाषा में उतनी दम नहीं थी कि वह प्रगतिशील बन सकती और इस कारण उसकी हार अवश्यंभावी थी, पर इससे सत्यनारायणजी कविरत्न का गौरव कुछ भी कम नहीं होता, क्योंकि वे स्वयं तो समय की गति के साथ निरंतर चल रहे थे। न जाने कितने भारतीय नेताओं को उन्होंने अपनी 'विनम्र श्रद्धांजलि' अर्पित की थी। उनकी रवींद्र-वंदना, तिलक-वंदना, सरोजिनी-षट्पदी, रामतीर्थाष्टक, गांधीस्तव इत्यादि रचनाएँ आज भी सुपाठ्य हैं। इनके अतिरिक्त कुली-प्रथा, दक्षिण-अफ्रीका के प्रवासी भारतीय और कोमागाटामारू-दुर्घटना इत्यादि बीसियों सामयिक प्रश्नों पर भी उन्होंने लिखा था।

अंतिम दिन

श्री गोस्वामी लक्ष्मणाचार्यजी ने सत्यनारायणजी के संस्मरण लिखते हुए लिखा था—
"सत्यनारायणजी ने इंदौर-सम्मेलन के अवसर पर अपनी कविता पढ़ने के पूर्व रसखान के कवित्त पढ़े थे—

"जो खग हो तौ बसेरो करो वहि कालिंदी-कूल कदंब की डारनि।"

कविता-पाठ करने के बाद आप मेरे पास आकर मेरी आधी कुर्सी पर बैठ गए। मैंने कहा "आपने रसखान के कवित्त क्यों पढ़े? उनका यहाँ क्या अवसर था?" कविरत्नजी बोले—

"मैंने सम्मेलन के भ्राताओं के सामने ये कवित्त इसलिए कहे हैं कि जिससे ये सब साक्षी हों कि चलती बार अवश्य भगवान् से 'सत्य' ने चाहे किसी रूप में हो, व्रजवास ही माँगा था।" मैंने कहा "बस रहने दीजिए, मृत्यु का विनोद मुझे नहीं सुहाता" आपने कहा—'हरि-इच्छा' इस घटना के २०-२५ पख बाद ही १६ अप्रैल सन् १९३८ को कविरत्नजी अपने ग्राम धाँधूपुर में ही स्वर्गवासी हुए।"

अंतिम पत्र और अंतिम कविता

इंदौर में मैंने सत्यनारायणजी से निवेदन किया था कि मेरी पुस्तक 'प्रवासी भारतवासी' के टाइटिल पृष्ठ के लिए कोई पद्य बना कर भेज दें। ८ अप्रैल सन् १९१८ को कविरत्नजी का निम्न-लिखित पत्र मुझे मिला—

श्रीमान् भाई बनारसीदास जी,

प्रणाम, यहाँ सकुशल आ पहुँचा। आपके अनुग्रह का इसे फल समझियें। आप लोगों को बड़ा कष्ट हुआ। आपकी आज्ञानुसार टाइटिल के लिए दो पंक्ति भेजता हूँ। पसंद आने पर काम में लाना। बहुत सोचा, किंतु इसके सिवाय कुछ न सूझा—

"कोई मंत्र[1] हो, कोई तंत्र[2] हो, कैसा ही हो काज।
सत्याग्रह स्वरूप ही केवल, सबका एक इलाज ॥"

यहाँ प्लेग का बड़ा प्रकोप है, इसलिए अकल घास-चरने चली गई है। क्षमा करिये और कृपा बनाये रखिये। श्रीमान् 'द्वारिकाप्रसाद' से सेवक का प्रणाम-नमस्ते कह दीजिये। करवे आदि प्रेमियों को प्रणाम।

आपका—
सत्यनारायण

सत्यनारायण कविरत्न की स्मृति-रक्षा के लिए चार-पाँच कार्य सोचे गये थे, जैसे—

१. सत्यनारायण-कुटीर-निर्माण।
२. कविताओं का संग्रह।
३. जीवन चरित।
४. चित्रोद्घाटन।
५. उनके समस्त ग्रंथों का एक जिल्द में प्रकाशन।

इनमें पहले चार कार्य सपन्न हो चुके हैं। सत्यनारायण कुटीर समेलन-कार्यालय प्रयाग में बन चुकी है। हृदय-तरंग तथा जीवन-चरित भी छप चुके हैं और भारतीय-भवन फीरोज़ाबाद, धाँधूपुर तथा नागरी-प्रचारिणी-सभा आगरा में उनके चित्रों का उद्घाटन भी हो चुका है। पाँचवाँ कार्य अभी बाकी है। ब्रज-साहित्य-मंडल का कर्तव्य है कि वह अपने ब्रज-कोकिल की समस्त रचनाओं को एक जिल्द में प्रकाशित कर दे।*

* ब्रजभाषा के भवभूति या करुणरस की साक्षात मूर्ति स्व० श्री सत्यनारायण जी का—'मोहन कब लो मोन गहौंगे' गुन-गुनाते आना और दादी, 'पकौरिन कौ झोर' कहकर खिलखिला पड़ना अब भी बिसारने की नहीं, हृदय में सँजोकर रखने की वस्तु है। यही नहीं—

माधव, आप सदाँ के कोरे।
दीन-दुखी जो दुख को जाँचत, सो दाँनिन के भोरे ॥
किंतु बात यै तुव सुभाव के नेंकहुँ जाँनत नाहीं।
सुन-सुन सुजस रावरौ तुव ढिग, आवन कों ललचाहीं ॥
नाम धरें तुमको जग-मोहन, मोह न तुम को आवै।
करुनाँ-निधि तव हृदें न नेंकहु, करुनाँ-बिंदु समावै ॥
लेत एक कौ देत दूसरेहिं, दाँनी बन जग-माँहीं।
ऐसौ हेर-फेर नित नूतन, लाग्यौ रहत सदाँहीं ॥
भाँति-भाँति के गोपिन के जो तुम प्रभु चीर-चुराए।
अति उदारता सों लै वे ही, द्रोपदि कों पेंहराए ॥
रतनाकर कों मथत सुधा कौ कलस आप जो पायौ।
मंद-मंद मुसिकात मनोहर, सो देवँन को प्यायौ ॥
मत्त-गयंद-कुवलिया के जो खेल-प्राँन हरि लीने।
बड़ी दया दरसाइ दयानिधि; सो गजेंद्र को दीने ॥

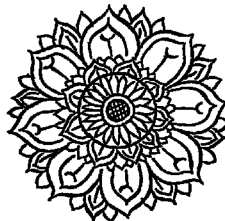
[1] मंत्र, मन्त्रि-मंडल।
[2] तंत्र, शासन-पद्धति, राजतंत्र, प्रजातंत्र।

करिकें निधँन बालि-रांमन कौ राज-पाट जो आयौ।
तहँ सुग्रीव-बिभीषँन को करि अति ऐहसाँन बिठायौ॥
पुंडरीक कौ सर्वनास करि माल-मता जो लीयौ।
ताको बिप्र सुदांमा के सिर, कर सनेह मढ़ि दीयौ॥
ऐसी तूंमा-पलटी के गुँन, नेति-नेति स्रुति गावें।
सेस, महेस, सुरेस, गँनेसहु, सहसा पार न पावें॥
इत माया अगाध-सागर तुम, डोबौ भारत-नैया।
रचि महभारत कहूँ लरावत, आप-आप में भैया॥
या कारँन जग में प्रसिद्ध तुम, 'निवटी-रकँम' कहाओ।
बड़े-बड़े तुम मठा-धुंगारे, क्यों साँची खुलवाओ॥

अथवा—

माधव, तुमहूँ भए बे-साख।
वुही ढाक के तीन-पात हौ, करै क्यो न कोऊ लाख॥
भक्त-अभक्त एक-से निरखत, कहा होत गुँन-गाएँ।
जैसेंई खीर-खवाएँ तुमको वैसेंई सींग दिखाएँ॥
सबै धान 'बाईस पँसेरी, नित तोलँन सो कांम।
बलिहारी, नाँहि नेंक बिदित तुम्हे, ऊँच-नींच कौ नांम॥
बे-पेंदी के लोटा के सँम, तब मति-गति दरसावै।
कछु कौ कछु प्रभु काज-करँन मे तुम्हें लाज नहि आवै॥
जगत-पिता कहि बाइ, भए क्यों अब ऐसे बे-पीर।
दिन-दिन दुर्गुंन बढ़ावत जो नित द्रोह-द्रोपदी-चीर॥
जुगकर-जोरि प्रार्थना यँही निज माया धरि राखौ।
'सत्य' दीँन-दुखियँन के हित कों सदै-हुवै अभिलाखौ॥

आदि उपालंभ से भरे गेय-साहित्य को लोकोक्तियों की ललित सान पर चढ़ाकर जब वे रखा करते थे उस समय की कथा अकथ-कथा ही कही जा सकती है। वास्तवमें आपका नाम 'ब्रजकोकिल' सत्य ही था, जिसे काल ने असमय में ही मरोर डाला। ब्रजभाषा का वसंत आज उसके बिना फीका है और आगे भी फीका ही रहेगा।



प्राचीन मध्यमिका की नारायण-वाटिका

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

उदयपुर में चित्तौरगढ से आठ मील उत्तर 'नगरी' नामक प्राचीन स्थान है। यहाँ से प्राप्त 'शिवि-जनपद' के सिक्कों से इस स्थान का पुराना नाम 'मझमिक' या 'मध्यमिक' ज्ञात होता है। किसी समय यह स्थान अत्यत महत्त्वपूर्ण था। पतजलिने महाभाष्य में लिखा है—

"अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।"

—सूत्र ३।२।१११ पर वार्तिक २ का उदाहरण

अर्थात्, यवन राजा ने मध्यमिका नगरी का घेरा डालकर उस पर अधिकार कर लिया। यह घटना पतजलि की समकालीन थी, क्योकि जिस व्याकरण के नियम के लिये पतजलि ने यह उदाहरण दिया है, उसके अनुसार यह कोई लोक-प्रसिद्ध एव वक्ता की सम-सामयिक घटना होनी चाहिए। सौभाग्य से भारतीय इतिहास के अन्य सूत्रो से इस घटना का पता चल जाता है। दूसरी शती ई० पू० में यवनराज 'मीनडर' और उसके सेनापति "डिमिट्रिअस' ने पजाव पर अधिकार करके मद्र-जनपद के प्रधान नगर 'शाकल' को अपनी राजधानी बनाया और तब उसने मध्य देश की ओर हाथ-पैर फैलाए। उसके इस सैनिक अभियान का पजा एक ओर मथुरा और साकेत की तरफ बढा और दूसरी ओर राजस्थान में मध्यमिका की तरफ। इन दोनो घटनाओं की स्मृति व्याकरण के उदाहरणो में बच गई है। इसी सूत्र में पतजलि का दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—

"अरुणद् यवनः साकेतम्।"

महाभाष्य के अतिरिक्त जैनेंद्र व्याकरण सूत्र २।२।९२ की अभयनदि कृत महावृत्ति में भी दो उदाहरण बच गए हैं—

"अरुणद् यवनः साकेतम्।
अरुणन्महेंद्रो मथुराम्॥"

इसमें यवन के द्वारा साकेत के घेरे का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही किसी महेंद्र के द्वारा मथुरा के अवरोध का भी वर्णन है। वस्तुत राजा का नाम महेंद्र नही था, बल्कि मेनद्र था जो मीनडर का ही भारतीय नाम था, जैसा उसके सिक्को पर मिला है। पीछे के लेखको ने मेनद्र नाम की ठीक पहचान न समझकर उसका पाठ महेंद्र कर डाला। इस उदाहरण से यह निश्चित हो जाता है कि यवन राज मीनडर ने मध्य देश में घुसकर पहले मथुरा और फिर साकेत को छेक लिया था। साथ ही उसकी बढती हुई सेना की दूसरी बाँह मध्यमिका के चारो ओर कस गई थी। ज्ञात होता है कि उसका दाँत उज्जयिनी पर रहा होगा, क्योकि मध्यमिका पर अधिकार जमाने के बाद उज्जयिनी का राज्य स्वय ही उसकी गोद में आ टपकता। उस काल में शुगो का अधिकार विदिशा पर था। इस क्षेत्र में मध्यमिका, उज्जयिनी और विदिशा ये तीन बडे केंद्र थे। ज्ञात होता है मध्यमिका पर अधिकार करके उज्जैन-विदिशा पर दाँत गडानेवाली यवनसेना की भिडत विदिशा के शुगो की प्रबल सेना से काली सिंध के कछारो में हुई जिसमें यवन परास्त हुए। अतिम कडी जानने का साधन कालिदास का—'मालविकाग्निमित्र नाटक' है।

राजनीतिक महत्त्व के अतिरिक्त मध्यमिका का सास्कृतिक और धार्मिक महत्त्व भी कम न था। वस्तुत राजस्थान में अर्बुद पर्वत के दक्षिण-पूर्व के प्रदेश में मध्यमिका में ही तत्कालीन धार्मिक आदोलन के चिह्न पाए गए है।

मथुरा-मध्यमिका-विदिशा का भौगोलिक-त्रिकोण भागवत आदोलन का प्रधान स्थल था। मथुरा इस नवीन भक्ति-प्रधान धार्मिक हलचल का मस्य केंद्र था और उसी की धाराएँ उफन कर विदिशा एव मध्यमिका तक पहुँच रही थी। मथुरा में भगवान् कृष्ण या वासुदेव और उनके भाई सकर्षण—बलराम की पूजा के कई पुरातत्त्व-गत प्रमाण पाए गए है। मोरा गाँव से प्राप्त लेख में वृष्णियो के पचवीरो के एक मंदिर और उसमें प्रतिष्ठित मूर्तियो का उल्लेख है। यह शैल-गृह महाक्षत्रप राजुवुल (प्रथम शती ई० पू०) के समय का है। उसके पुत्र महाक्षत्रप शोडास के राज्य-काल का मथुरा से दूसरा लेख मिला है, जिसमें भगवान् वासुदेव के महास्थान में बने हुए तोरण और वेदिका का उल्लेख है। उस युग में भागवत धर्म के प्रधान पूज्य पुरुष भगवान् कृष्ण थे। उस काल के अन्य देवो के मदिर स्थान कहलाते थे, किंतु महिमा में उनसे अधिक कृष्ण के मदिर महास्थान कहे जाते थे।

मथुरा की तरह विदिशा भी भागवत-धर्म का केंद्र थी। विदिशा (आधुनिक भेलसा) के पास वेसनगर नामक स्थान में (जहाँ वेस नदी और वेत्रवती का सगम है) यवन राजदूत हीलिओदोर ने—जिसने भागवत धर्म स्वीकार कर लिया था, विष्णु का गरुड-ध्वज स्थापित किया। वैष्णव धर्म के इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। भेलसा में एक दूसरा अठपहल गरुड-स्तभ भी पाया गया है, जिस पर निम्नलिखित लेख है—

"गोतमीपुतेन भागवतेन....भगवतो प्रासादोत्तमस
गरुडध्वजकारितो द्वादश वसभिषिते भागवते....।"

अर्थात् भागवत् गौतमी पुत्र ने किसी भागवत महाराज के १२ वें वर्ष में गरुड-ध्वज स्थापित किया।

ऊपर के त्रिकोण के तीसरे बिंदु अर्थात् मध्यमिका में भी वैष्णव पूजा का एक विशिष्ट केंद्र शुग-काल प्रथम शती ईस्वी पूर्व में स्थापित हो चुका था, चित्तौड के पास आधुनिक नगरी गाँव में यह स्थान 'हाथी-बाडा' कहलाता है। जब सम्राट् अकबर की सेना ने चित्तौड पर चढाई की थी तब इसी बडे बाड़े में उसके हाथी रक्खे गए थे। तब से लोक में यह हाथी-बाडा नाम से मशहूर हो गया, किंतु यह बाडा मुस्लिम-काल से बहुत पहले का था। इसका प्राचीन नाम 'नारायण-वाटिका' था जिसकी स्थापना अकबर से १६ सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

हाथी-बाडा, नगरी गाँव से पूर्वदिशा में आध मील की दूरी पर है। यहाँ एक खुला, चौकोर बाडा अभी तक है, जिसकी लबाई २९६' १०" है और चौडाई १५१" है। इसकी दीवार पत्थर की थी। उस चार दीवारी के ऊपर एक मुडेरी या उष्णीष थी, जिसे मिलाकर भीत की ऊँचाई ९।१२ फुट थी। इस दीवार के भारी पत्थरो पर तीन जगह एक ही लेख खोदा गया था। सौभाग्य से उसकी तीनो प्रतियाँ प्राप्त हो गई है। एक लेख तो हाथीबाडे की दीवार में ही लगे हुए पत्थर पर खुदा है। दूसरा लेख नगरी से ६ मील दूर घोसूंडी गाँव के एक कुएँ में किसी समय लोगो ने ले जाकर लगा दिया था। कवि राजा श्यामलदास ने सबसे पहले उसे ढूँढ निकाला और प्रकाशित किया, अब वह कुएँ से हटवाकर उदयपुर के सग्रहालय में रखवा दिया गया है। लेख की तीसरी प्रति जिस पत्थर पर थी वह हाथीबाड़े की दीवार से निकालकर घोसूंडी गाँव की सीमा पर लगा दिया गया था। उसके तीन टुकड़े १९१५-१६ में डा० डी० आर० भडारकर को मिले थे और उनके बाद १९२६-२७ में श्री गौरीशकर हीराचंदजी ओझा ने पुन उन्हें ढूँढकर प्रकाशित किया। तीनो प्रतियो पर एक ही लेख था जो तीनो प्रतियो को मिलाकर डा० भडारकर ने पूरा पढ़ लिया और प्रकाशित किया। लेख इस प्रकार है—

"पंक्ति १. (कारितो य राज्ञा भागव)तेन गाजायनेन पाराशरीपुत्रेण स—
पंक्ति २. र्व तातेन अश्वमेधयाजिना भगव (# द्) भ्यां संकर्षण—वासुदेवाभ्यां
पंक्ति ३. अनिहताभ्या सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिला प्राकारो नारायणवाटिका।"

अर्थ

'यह पूजाशिला, प्राकार और नारायण-वाटिका सबके स्वामी अपराजित भगवान् संकर्षण और वासुदेव के लिये अश्वमेध याजी भागवत राजा सर्वतात ने जो पाराशरी के पुत्र और गाजायन गोत्र के थे, बनवाई।'[1]

लेख के खुदवानेवाले राजा सर्वतात थे। उनका उल्लेख अन्यत्र नही मिला, किंतु वे कण्व-वंश के होने चाहिए ऐसा डा० भंडारकर ने अनुमान किया है, क्योकि उनका जो गोत्र था वह गाजायन गोत्र मत्स्यपुराण की गोत्र-सूची के अंतर्गत आंगिरस गोत्रगण के अंतर्गत काण्व-शाखा में मिलता है। पाराशरी उनकी माता का नाम था। राजा सर्वतात प्रतापी जान पडते है, क्योकि उन्होने अश्वमेध यज्ञ किया था, जिसकी परंपरा पुष्यमित्र शुंग के राज्य-काल से पुन: आरंभ हो गई थी।

लेख में स्पष्ट कहा है कि वह स्थान भगवान् संकर्षण और वासुदेव के लिये बनवाया गया था। संकर्षण-वासुदेव इन दो नामो का जोडा शुंग-काल में साथ-साथ प्रसिद्ध हो गया था। पतंजलि ने महाभाष्य में—

"संकर्षण द्वितीयस्य बल कृष्णस्य वर्धताम्।"

—सूत्र २।२।२५,

इस वाक्य में संकर्षण और कृष्ण को द्वंद्व रूप में साथ माना है। महाभारत-उद्योगपर्व (४७।७२) में कृष्ण को 'बलदेव द्वितीय' कहा गया है और आरण्यक पर्व (१३।३६) में कृष्ण को 'बलदेव सहायवान्' कहा है। पाणिनि सूत्र ८।१।१५ पर द्वंद्व या दो नामो का ऐसा उदाहरण देने के लिये जिसमें उनकी एक साथ लोक-प्रसिद्धि (साहचर्येण अभिव्यक्ति) प्रकट हो, काशिका में—

"संकर्षण-वासुदेवौ"

कहा गया है। निश्चय ही यह उदाहरण काशिका से बहुत प्राचीन था। उसका स्तर पतंजलि के महाभाष्य के युग में ही रक्खा जाना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि शुंग-काल में कृष्ण-बलदेव की पूजा एक साथ होने लगी थी। महावीर के पाँचवे वर्ष के विचरण का वर्णन करते हुए उनके वासुदेव-मंदिर और बलदेव-मंदिर में ठहरने का उल्लेख आता है। मथुरा के पुरातत्त्व में भी इसका प्रमाण पाया जाता है कि जहाँ वासुदेव का मंदिर था उसीके आस-पास बलराम के मंदिर भी थे। मोर गाँव में वृष्णि-पंचवीरो की प्रतिमाएँ मिली हैं। उसीके समीप जुनसुटी गाँव में बलराम की शुंग-कालीन मूर्ति मिली है, जो इस समय लखनऊ-संग्रहालय में सुरक्षित है।

लेख में वासुदेव-संकर्षण के दो विशेषण दिए गए है। एक में उन्हें 'सर्वेश्वर' अर्थात् अन्य सब देवो में अधिपति कहा है। वस्तुत इस युग के धार्मिक आंदोलन में यक्ष, नाग, नदी, पर्वत आदि जितने देवी-देवता थे उनमें सबसे अधिक मान्यता 'कृष्ण-बलराम' की हो गई थी। यही भागवत-धर्म की सिद्धि थी। इसने कृष्ण को केंद्र में रखकर अन्य देवो का भागवत-दृष्टिकोण के साथ समन्वय कर दिया। उन देवो का निराकरण नही किया गया, किंतु भगवान् वासुदेव की पूजा के साथ उनका मेल मिला दिया

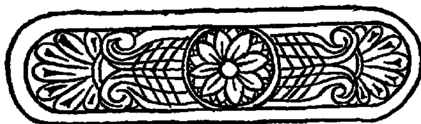
[1]. देखिए, श्री देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर का लेख—
"नगरी का हाथी-बाड़ा ब्राह्मी 'अभिलेख', एपिग्राफिआ इंडिका, भाग २२ (१९३३-३७), पृ०१९८-२०५। मैं इस लेख की अधिकांश सामग्री के लिये श्री भंडारकर जी का ऋणी हूँ।"
—ले०

गया। गीता के दसवें अध्याय में जो 'विभूति योग' का वर्णन है वह कृष्ण को केंद्र में रखकर अन्य छटमैये देवी-देवताओं को उनकी विभूति बताकर दोनो में समन्वय स्थापित करने के लिये ही है, किंतु मेल-जोल का मार्ग अपना लेने पर भी कृष्ण उन सब में प्रधान थे। इसी कारण और देवताओ के मदिर 'स्थान' या 'थान' कहलाते थे, किंतु कृष्ण के मदिर को शोडास के मथुरा के लेख में 'महास्थान' कहा गया है। इसी प्रकार भेलसा के दूसरे लेख में जो ऊपर उद्धृत किया गया है भगवान् वासुदेव के मदिर को 'प्रासादोत्तम' अर्थात् अन्य मदिरो में उत्तम कहा है। 'सर्वेश्वर' पद का सकेत भी तत्कालीन धार्मिक भाषा में यही था।

लेख में कृष्ण-बलराम को 'अनिहत्' अर्थात् अविजित् विशेषण दिया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि उस युग की धार्मिक कशमकश में भागवत-धर्म की और उनके पूज्य देवो की विजय का दृढ विश्वास जनता में था।

लेख का—'पूजाशिलाप्राकार.' पद वास्तुशास्त्र और धार्मिक इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भडारकर ने 'पूजा के लिये पत्थर की दीवार' ऐसा अर्थ माना जो ठीक नही जँचता। वस्तुत 'पूजा-शिला' पद अलग है और 'प्राकार' अलग है। नारायण-वाटिका में दो चीजें बनवाई गईं, एक पूजा का शिला पट्ट और दूसरी उस स्थान को घेरनेवाली ऊँची चार दीवारी, जिसे 'प्राकार' कहा गया। बौद्ध-स्तूपो के चारो ओर जो स्थान वेदिका का था वही यहाँ प्राकार का है। प्राचीनतम मदिरो का यही स्वरूप था। बीच में एक स्थडिल, मडप या चबूतरे पर पूजन का शिलापट्ट रक्खा जाता था और उसके चारों ओर थान को घेरने के लिये बाडा या वेदिका या प्राकार बना दी जाती थी। बौद्ध-स्तूपो के भी वास्तु का ढाँचा यही है। बीच के स्तूप के चारो ओर वेदिका बनाई मिलती है। यहाँ पूजा-शिला ही पूजन का मुख्य साधन थी। 'पूजा-शिला' वही है जिसे मथुरा से प्राप्त जैन लेखो में 'आयाग-पट्ट' या 'आयक पट्ट' कहा गया है। आयाग पट्ट का अर्थ आर्यक पट्ट या पूजन का पट्ट किया जाता है (टैबलट ऑफ होमेज, ब्यूह्लर)। 'पूजा-शिला' का भी वही अर्थ है। डा० भडारकर ने हाथी-बाडा या नारायण-वाटिका की जो खुदाई कराई थी उसमें हाथी-बाडा के पश्चिमी हिस्से में ईंटो का एक छोटा चबूतरा या स्थडिल प्राप्त हुआ था। उसी पर पूजाशिला रक्खी जाती थी। यही आरभिक देवा-पूजन का प्रकार था। मूर्ति-निर्माण से पहले देवता के प्रतीक रूप में एक पत्थर की चौकोर पटिया पर पुष्प-पत्र आदि से पूजन किया जाता था। यह पूजा-विधि सभवत प्राचीन यक्ष-पूजा की विधि से अपनाई गई।

नगरी या मध्यमिका की नारायण-वाटिका भारतवर्ष भर में अपने ढग का एक ही अवशेष है। यह प्राचीनतम वैष्णव-मदिर कहा जा सकता है। हाँ, आरभक अवस्था में इस मदिर का स्वरूप निर्माणात्मक नही था, किंतु आकाश की खुली छत के नीचे एक छोटे चबूतरे पर पूजा का शिला-पट्ट रखकर और उसके चतुर्दिक एक ऊँची चारदीवारी घेरकर इन आद्य कालीन देवस्थानो का स्वरूप बनाया जाता था।



ब्रज का लोक-साहित्य

श्री सत्येंद्र

ब्रज की ऐतिहासिक और भौगोलिक सीमाएँ आज अनिश्चित और विवादास्पद है, किंतु ब्रज की छाप समस्त भारत पर पड़ी है, इसमें कोई सदेह नही कर सकता। इस ब्रज को, इसकी भाषा को और इसके साहित्य को अभी कुछ विशिष्ट ग्रथो के द्वारा ही जाना जा सका था, किंतु ब्रज आज भी जीवित है, ब्रज-लोक का एक सुदर अस्तित्व है। यह ब्रज-लोक प्रकाशित अथवा अप्रकाशित-ग्रथ-साहित्य में अभिव्यक्त ब्रज से कही अधिक अनोखा और प्राणवान है। यह मूल ब्रज युगो-युगो से भाव-सपत्ति को मौखिक-परपरा द्वारा सुरक्षित किये हुए है। आज उसी मूल ब्रज की लोक-सपत्ति का परिचय कराना हमारा अभीष्ट है।

ब्रज-वाणी की अभिव्यक्ति के दो प्रमुख प्रकार है—गीत और कहानियाँ। इन दोनो का ब्रज में अखड भडार है। क्या पुरुष, क्या स्त्री और क्या बालक-बालिकाएँ सभी किसी न किसी सरस अभिव्यक्ति में प्रवृत्त मिलेंगे।

प्रात होते ही चक्की की घरघराहट के साथ और बुहारी की सरसराहट के साथ मद, मधुर स्वर में गृहलक्ष्मी का कठ भी फूट पडता है। वृक्षो पर चहचहानेवाली चिडियाँ ही ब्रज के प्रात को सवाक् नही बनाती, गृहलक्ष्मियो की स्वर-लहरी उसे मधु-स्नात कर देती है, जब वह गाती है—

"जागिऐ ब्रजराज कुँवर भौर भयौ अँगना।
बाट के बटोही चाले, पँछी चाले चुगना ॥
—हम चले सिरी जमुनाँ ॥"

इन शब्दो को थिरकाती प्रभाती ब्रज के घर-घर को मुखरित कर देती है। इनसे प्रेरित होकर करवटें बदलते हुए पुरुष और आँखें मिलते हुए बालक शय्या-त्याग कर नित्य-कार्यों में प्रवृत्त हो जाते है। घर का समस्त वातावरण प्रफुल्ल प्रार्थना-पूर्ण-विनय के भाव से परिपूर्ण हो जाता है। तभी माताएँ बच्चो को मुँह धुलाती हुई जब आँख का कीचड स्वच्छ करती होती है, लाड-भरे स्वर में वे गाती है—

"कीची-कीची कौआ खाइ, दूध-बतासे लल्लू खाइ।"

तब अस्फुट तोतले शब्दो में बालक भी माँ का साथ देता है और दूध-बतासे की स्वाद-कल्पना से उसका मन किलक उठता है। माँ की हृदय-तत्री भी झंकृत हो उठती है।

पुरुष खेतो पर पहुँच कुँआ चलाता है और 'आइ गए रॉम' के साथ पुरहा लेने और राम-मिलने के आनद और सुख को व्यक्त करता हुआ अपनी आस्तिक भावना सिद्ध करता है। बीच-बीच में वह भी कुछ गा लेता है।

इधर घर से निकलकर बालक खेल में लगते है और उन खेलो में भी कही न कही कुछ न कुछ गेय शब्दो का पुट मिलना अनिवार्य है। कबड्डी तो पूरी साँस का सगीत है। चील-झपट्टा, पानी की मछली आदि कितने ही खेलो में वह शारीरिक गतियो को गेय-स्वर-लहरी से एक प्रकार ताल देता है।

क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक प्रत्येक के जीवन-क्रम में जैसे गेय-स्वर समा गया हो। ब्रजवासी उस नित्य के गीत से अघाता नही, वह ऐसे अवसरो की बाट जोहता है जब वह उत्सवो और अनुष्ठानो पर अपने सगीत-प्रेम को विशेष प्रोत्साहित कर सके। चैत्र के महिने में देवी के गीतो से घर-आँगन गूँज उठता है। देवी 'जालपा' और 'लाँगुरिया' स्त्रियो के कठो की समस्त श्रद्धा और विनोद को

आकर्षित कर लेते है, तो उधर पुरुष 'जागरण' का अनुष्ठान कर तान-तमूरो के साथ 'भगतो' को, जागरण के गीत गाने और देवी को प्रसन्न करने के लिये निमन्त्रित करता है।

चैत्र के ये स्वर ग्रीष्म के बढते उत्ताप में शुष्क हो जाते हैं, किंतु जैसे ही वर्षा का आगमन होता है पृथ्वी में फूटनेवाली हरियाली के अकुरो की भाँति कठ-कठ से मधुर, तरल मल्हारे ब्रज को तरगित करने लगती है।

"परे रे हिंडोला नौलख बाग में जी, एजी कोई झूलत रानी राज-कुँमारि।"

गाते-गाते गाँव का प्रत्येक पेड चपा-बाग अथवा नौलख-बाग का रूप ग्रहण कर लेता है। झूले पड जाते है और झूलती रमणियो के रग-बिरगे वस्त्र ऋतु के श्याम-सजल वातावरण में फरफराने लगते हैं, उनके साथ स्वरो के उतार-चढाव से उमगते हुए विविध गीत सुनाई पड़ते हैं—विविध गीत और अनत गीत, प्रात से दिन-भर सध्या तक, सध्या से रात में न जाने किस समय तक ये स्वर चलते रहते है; इनको पीते-पीते सावन की भयावनी रात मनोरम स्वप्नो में सो जाती है।

कही-कही गाँवो की चौपालो पर, वर्षा के अवकाश में गरजते बादलो, चमकती बिजली, झनकारती झिल्ली और टर्राते दादुरो के तुमुल में किसानो की भीड एकत्रित होकर 'आल्हा' या 'ढोला' का गीत सुनती मिलती हैं। ढुलैया अथवा अल्हैत का तीखा स्वर सावन-भादो की उस आर्द्र रात्रि को चीरता हुआ श्रोताओ को ही आहृत नही करता, दूर दिशाओ के अधकार में झिल्ली को चिनौती देता हुआ चुभता चला जाता है। सावन-भादो के महिनो में यह सगीत 'रक्षा-बधन' की पूर्णिमा के दिन तो पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच जाता है और कृष्ण-जन्माष्टमी का त्यौहार, जन्मोत्सव के गीतो का आल्हाद उपस्थित कर देता है।

सावन-भादो के इन रसीले गीतों की गूँज मद होते-होते क्वार के दशहरा और पूर्णिमा के निकट पुन देवी के गीतो और गगा-स्नान तथा तीर्थ-यात्रा के गीतो में सजीवित हो उठती है। उधर लडके-लड़कियाँ टेसू, झाँझी लिये घर-घर में घूमकर गाते दिखाई पड़ते है—

"टेसूराइ की सात बौहरियाँ, नाँचे-कदें चढ़ें अटरियाँ।"[1]

बालक-बालिकाओ के खेल-कूद के गीतो से चंचल हुआ क्वार का वातावरण कार्तिक-स्नान की पवित्र धर्ममयी गीत-ध्वनि से परास्त हो जाता है। प्रात' कार्तिक के शीत में ठिठुरती सौभाग्याकाक्षिणी धर्म-प्राणा स्त्रियाँ अँधेरे ही उठकर कूप वा नदी में स्नान करके राइ-दामोदर के गीत गाने लगती हैं। गाँव के कूँए गा उठते है। प्रात की मंथर मदिर-समीर भक्ति की इस स्वर लहरी को चतुर्दिक् मदमंद वितरित करने लगती है। शीत के प्रकोप के बढने पर पुन कुछ काल के लिये जन-कठ कुछ मूर्छित-सा हो उठता है, किंतु फाल्गुण के लगने से पहले ही फिर ढप-ताल खटकने लगते है। इस बार तो स्वर-संगीत में बाढ ही आ जाती है। उन्माद से परिपूर्ण मानव के मादक स्वर खयाल, जिकडी के भजन और सबसे अधिक होली और रसिया में मचल उठते है। ब्रज की प्रकृति का अणु-अणु थिरकने लगता है। होली और रसिया तो ब्रज की बिल्कुल अपनी ही विशेषता है। इसके परुष, उदात्त और सावेग स्वर शरीर को ही रोमाचित नही करते मानसिक स्तब्धता प्रस्तुत करते हुए आत्मा को आदोलित कर देते हैं। यहाँ शब्द नही स्वर और उनका लय-विधान ही मार्मिक हो उठता है। होली और रसिया के न जाने कितने प्रकार ब्रज में मिलेंगे, पर 'रजपूती होली' में शरीर की धातुओ को प्रकपित करने की अनूठी शक्ति है। इस होली से उन्मत्तता मन, वाणी और मस्तिष्क पर छा जाती है।

इस नियमित क्रम के अतिरिक्त ब्रज में सस्कारो के विशेष अवसर जब-तब आते ही रहते है। जन्म और विवाह ये दो सस्कार सबसे प्रधान है और इन दोनों अवसरो पर गीत उमड़ पड़ते हैं। प्रत्येक कार्य के लिये वह कितना ही छोटे से छोटा क्यो न हो, कोई न कोई गीत अवश्य है और

[1] अथवा—"टेसूरा घंटार बजैयो, इक नगरी दस गाँम बसैयो।" ··· इत्यादि।

इन गीतो के साथ मंगल की भावना इतनी घनिष्ठ हुई कि इनका गाना एक प्रकार से अनिवार्य है। दिन-निकलने के पहले से रात के पिछले पहर तक ये गीत चलते रहते है। विवाह में 'रतजगे' के अवसर पर तो रात-भर गीत गाये जाते है। नाम ही इस अवसर का—'रत-जगा' या रात्रि-जागरण पड गया है।

ब्रज, इसीलिये गीतो का देश है। क्या यह संभव है कि ब्रज के इन समस्त गीतों का संग्रह किया जा सके और उसे प्रकाशित किया जा सके? जो गीत-परंपरा से चले आ रहे है वे ही इतने अधिक है कि संग्रह करना कठिन है, इस पर गाँव का गायक स्वरकार ही नही शब्दकार भी है। ख्याल, होली, रसिया, भजन, जिकडी आदि न जाने कितने रागो के गीत वह प्रति वर्ष नये-नये बनाया करता है। जिससे ब्रजभाषा के मौखिक साहित्य में निरतर नयी वृद्धि होती रहती है। यह भी कठिन है कि इनमें से सर्वोत्तम गीतो का चयन करके कह दिया जाय लीजिए, बस इस समस्त भडार में इतने ही उच्च कोटि के रत्न है। फलत हमने यहाँ कुछ गीत ही दिये है, अधिक के लिये स्थान भी नही हो सकता था। ब्रज के जीवन में गीतो की व्यापकता नीचे के चक्र से समझी जा सकती है।

नियमित

चैत्र—होली-फूलडोल। नवदुर्गा—जात के गीत, देवी के गीत, जागरण।

वैशाख—अखतीज (बहुधा विवाह के होते है—विवाह संस्कार से संबंधित गीत होते है)।

जेष्ठ—गंगा-दशहरा—गंगा-स्नान को यात्रा के कारण यात्रा-संबंधी गीत।

सावन—हिंडोले, मल्हार आदि (सावन-भादो में झूले पड़ जाते है दोनो महिनों में गीत-बाहुल्य रहता है)। हरियाली तीज, हरियाली मावस, नाग-पंचमी, रक्षा-बंधन आदि।

भादो—नाग-पंचमी, जाहरपीर (जहारपीर) का जागरण, कृष्ण-जन्माष्टमी—जन्मोत्सव के गीत, अनंत चौदस, चट्टा चौथ—चट्टो के गीत।

क्वार—नौ देवी—देवी के गीत, न्यौरते के गीत प्रातः, टेसू,—टेसू के गीत (लड़कों-द्वारा), झाँझी झाँझी के गीत (लड़कियो-द्वारा)।

कार्तिक—कार्तिक-स्नान पूरे महिने, प्रातः, भक्ति के गीत विशेषतः राई-दमोदर (राधा-दामोदर) के। करवा चौथ के गीत, स्याहू—स्याहू के गीत (दिवाली के दूसरे दिन प्रातः) भैया-दौज के गीत, देवउठान (देवोत्थान) के गीत।

अगहन—गोपी-व्रत (व्रतचर्या) के गीत।

माघ—वसंत-पंचमी,—होली-रसियों का आरंभ।

फाल्गुण—होली का महिना—पूरे महिने होली-रासियो की धूम।

ब्रज में प्रत्येक पूर्णिमा को ब्रज की परिक्रमा होती है। परिक्रमा के गीत अलग है। इन नियमित गीतो के साथ विवाह तथा जन्म के गीत यथावसर गाए जाते है। फिर ढोला, जिकडी के भजन, आल्हा, निहालदे, चौबोले चाहे जब मनोनुकूल गाये-गवाये जा सकते है। साधारणत ढोला, आल्हा और निहालदे वर्षाऋतु में अच्छे जमते है। जिकडी के भजन और चौबोले फागुन-चैत्र में समाँ बाँधते है।

विवाह-जन्मोत्सव आदि के ऐसे अवसर है, जिनका सबध मनुष्य की सत्ता मात्र से है। मानव मात्र इन अवसरो पर बहुत शुभ-अशुभ का विचार करता है। इसका अभिप्राय यही होता है कि जीवन में जन्म और विवाह से जो नयी अवतारणाएँ होती है, वे सफल हों और सुखद हो। इन से अदृष्ट भविष्य का सबध जुड जाता है। ऐसे सबधो के प्रति मनुष्य अपने उद्योग के विश्वास पर निश्चित नही हो सकता। उसे अन्य शक्तियोका भरोसा करना पडता है। ऐसे अवसरो पर संस्कृत-सभ्य-समाज में भी मानव के आदिम संस्कार जागृत हो उठते है। यही कारण है कि ब्रज में भी जन्म और विवाह के अवसरो के सारे अनुष्ठान स्त्रियो के हाथ में चले जाते है, जो बहुधा आज हमें अर्थ-रहित और रहस्यमय विदित होते है। ऐसे सभी अनुष्ठान गीतो-सहित होते है। इन गीतो में अर्थ

की गहराई नही मिलती, न स्वरो में कोई विशेष मधुर ताल-लय का सधान होता है, पर ऐसा प्रत्येक गीत-गानेवालियो की समस्त कल्याण-भावना से निस्कृत होता है। आदिम मानव के जैसे टूटे-फूटे उद्गार इनमें रहते है, जिनमें टोने (चार्म) का अभिप्राय अवश्य निहित मिलता है। इन गीतो में मिलनेवाले मानस का प्रतिबिंब समस्त भारतीय समाज में प्राय समान मिलेगा। इनका सबध गहन जीवन-तत्व के सरक्षण की मार्मिक मूल मानवीय भावना से होता है।

इन्ही अवसरों पर इन आनुष्ठानिक टोने-सबधी गीतो के उपरात 'खेल के गीत' गाये जाते है। इन गीतो में सभी प्रकार के गीतो का समावेश हो सकता है। इनमें युग की नवीनता भी अपना स्थान पा सकती है।

नियमित गीतो की जो व्यापकता ऊपर दिखाई गई है वे प्राय सभी स्त्रियो के द्वारा गाये जाते है। पुरुषो के गीतो में कोई नियमितता नही रहती, न इनमें टोने का भाव रहता है। हाँ, देवी के जागरण और जाहरपीर आदि के कुछ गीत ऐसे है जो पुरुषो द्वारा गाये जाते है तथा जिनके टोने का मूल्य उतना चाहे न हो पर आनुष्ठानिक मूल्य अवश्य होता है। पुरुष के अन्य गीत—आल्हा, ढोला आदि मनोरजनार्थ होते है, होली, रसिया अधिकाशत पुरुषो द्वारा ही गाये जाते है।

गीतो में विषयों की दृष्टि से यह विशेषता लक्षित होती है—

स्त्रियों के गीत—विवाह-जन्मादि

१. टोने के गीतों में छोटे देवी-देवताओ का उल्लेख होता है।
२ मंगल के गीतो में कृष्ण-रुक्मिणी को भी स्थान मिल जाता है।
३. खेल के गीतों में प्रेम-वृत्तो का बाहुल्य होता है।
४. अनुष्ठान के गीतो में अनुष्ठान की विधि—नेगादि का उल्लेख विशेष रहता है।
५. तीर्थादि के गीत—कृष्ण, राम, गंगा आदि का उल्लेख, दान की और भक्ति की महत्ता।
६. देवी के गीत—देवी, लाँगुरा, भविर, यात्रा की कठिनाइयों का, विशेष भक्तो का, जैसे धानूं का, कान्हर का।
७. कार्तिक के गीतों में—राई-दामोदर (राधा-दामोदर), गणेश, भक्ति, विविध देवताओ के गीत।
८. सावन के गीतों में—मल्हार, वर्षा का वर्णन, पति-वियोग, बारहमासा, भाई का प्रेम, झूलने का आनंद, प्रेम की रोमांस के गीत।

पुरुषो के गीत

१. जागरण के गीतों में देवी के भक्तो की चमत्कार पूर्ण गाथाएँ रहती है, जैसे—जाहरपीर, जगद्देव आदि की।
२. होली और रसिया में कृष्ण और राधा के प्रेम की प्रधानता रहती है, जिसके साथ किसी भी प्रकार के प्रेम की यहाँ तक कि नग्न और अश्लील वासनाओं को भी रेखाएँ उभर आती है।
३. ढोला में नल-मोतिनी या नल-दमयती, ढोला-मारू तथा किशनसिंह आदि के विवाह और विपदाओं तथा चमत्कार पूर्ण कार्यों का वर्णन रहता है; रोमांस, साहस, आश्चर्य और विलक्षण बातों से परिपूर्ण। देवी का महत्त्व अंतरतः व्यापक है।
४. आल्हा में वीर रस की प्रधानता, युद्धों के वर्णन, राजपूतकालीन सस्कृति का चित्रण, जादू-टोने के चमत्कारों से परिपूर्ण।
५. जिकड़ी के भजनो में बहुधा रामायण-महाभारत से ऐसे कथा-प्रसंग लिये जाते है जो बहु प्रचलित नहीं होते, प्रचलित वृत्तों पर भी रचना होती ही है।

इन गीतो पर सरसरी दृष्टि डालने से व्रज में आज तीन सस्कृतियो के सार विद्यमान मिलते है—

१. आदि मानवीय—केवल स्त्रियों के बीच।

२. देवी की भक्ति—स्त्रियों और पुरुषों दोनों में व्यापक।

३. वैष्णवीय—दोनों में समान रूप से व्यापक।

किंतु ब्रज गीतों का ही देश नही, कहानियाँ भी इसे अत्यंत प्रिय हैं। कहानियो में हमें चार प्रकार मिलते हैं—

१. आनुष्ठानिक—ये व्रतो आदि के अवसरों पर कही-सुनी जाती हैं। इसका संबंध स्त्रियो से होता है।

२. कार्तिक में प्रत्येक दिन की एक कहानी होती है, अन्य देवी-देवताओ की कहानियाँ भी कही जाती हैं। भैया दूज, अहोई आठैं, करवा चौथ, स्याहू—आसमैया-प्यासमैया, अनंत चौदस, गाज-पूजा आदि ऐसे अवसर हैं जिनपर कहानी सुनना अनिवार्य है।

३. विश्वास-गाथाएँ—किसी भी कार्य के लिये कारण निरूपिणी ऐसी कहानियाँ प्रचलित हैं जिनपर कहनेवाला पूर्ण विश्वास करता है और जिन्हें अंगरेजी में मिथ (Myth) कहा जा सकता है।

४. नीति-कथाएँ—ऐसी कहानियाँ जिनमें अवसरोपयोगी कोई शिक्षा निहित होती है और अवसर विशेष के लिये ही जो बनाई गई प्रतीत होती है।

५. मनोरंजन-संबंधी—ऐसी कहानियाँ जो मनोरंजन के काम में आती हैं। नानी या दादी जो बच्चो को सुनाती हैं, या चौपाल पर बैठकर कहानी-सुनानेवाला श्रोताओ को सुनाता है।

हम उन कथाओं को यहाँ समिलित नही करते जिसे कोई पंडित विशेष निमत्रण पर धार्मिक-भाव से पूजा-उपचार आदि के उपरात सुनाता है, जैसे-गणेश जी की कथा या सत्यनारायण की कथा आदि।

ब्रज की मौलिक, मौखिक कहानियो का एक सुदर सग्रह 'ब्रज-साहित्य-मंडल' प्रकाशित कर चुका है। यहाँ तो हम उदाहरणार्थ और मनोरंजनार्थ ही कुछ कहानियाँ दे रहे हैं।

मुझे ब्रज, जनपद-कहानियो का मूल प्रदेश प्रतीत होता है। विश्व में आज प्रचलित कहानियों के विश्लेषण से अधिकाश विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत ही वह देश है जहाँ से कहानियो का उद्गम हुआ। भारत में ब्रज वह जन-पद है जहाँ से भाषा ने समस्त भारत को ऐक्य प्रदान किया। इसी क्षेत्र में ढली सस्कृत समस्त भारत के अन्य साहित्य का माध्यम बनी। यही वह प्रदेश है जहाँ के कृष्ण-चरित्र से गुँथी अनेकों कहानियाँ देश-देशातरो में प्रसारित हुई, किंतु यह प्रश्न अभी विशेष खोज-बीन चाहता हैं और हमें भी इस विषय में कोई विशेष आग्रह नही।

ब्रज की कहानियो में हमें चार स्तर मिलने चाहिए। एक आदिम मानव की मौलिक भावना को सुरक्षित रखनेवाला, दूसरा योरोपीय आर्यों से सबधित ; तीसरा सास्कृतिक चेतना-युक्त, चौथा स्थानीय रग से रंजित।

आनुष्ठानिक कहानियो में हमें आदिम मानवीय भावना की झाँकी मिल सकती है। यद्यपि वह बहुत कुछ सशोधित हो चुकी है। योरोपीय आर्य-वर्ग की कहानियाँ वे जो समस्त विश्व के आर्यो की मौलिक परपराओ में आज तक विद्यमान मिलती है। नाम-स्थान के रूपातर को हटा देने पर समस्त आर्य-जातियो की इन कहानियो का ढाँचा एक-सा मिलता है। ब्रज की समस्त कहानियो का तो इस प्रकार अध्ययन अभी नही हो सका है। हमने कुछ ऐसी कहानियो पर विचार किया है, जो इस प्रकार है।

भारतेतर भाषाओ में इस विषय पर गभीर अध्ययन प्रस्तुत किये गए हैं। हम यहाँ उस विषय के अन्य विद्वानो का उल्लेख नही करते, केवल 'बर्न' का नाम लेना चाहते हैं। इन्होंने "भारोपीय' लोगों की कहानियों का तुलनापूर्वक अध्ययन करके सत्तर ऐसे 'रूप' प्रस्तुत किये जो सर्वत्र समान रूप में मिल जाते हैं। इन समस्त रूपो को समझने के लिये तो हमें बर्न की पुस्तक की ही शरण लेनी पड़ेगी। यहाँ तो हम उनके द्वारा निर्दिष्ट कुछ रूपो के सबध में यह विचार करना चाहते हैं कि वे ब्रज में किस रूप में मिलते हैं। हमने पहले बर्न के रूप दिये हैं, अंग्रेजी से अनुवाद करके उनके नीचे ब्रज की कहानियों का आरेखित उल्लेख कर दिया गया है। इससे पाठक का विनोद होगा ; वह पाश्चात्य कहानियों

के रूप को समझेगा, उसे लोक-जीवन में सर्वत्र साम्य का आभास मिलेगा और उसे आगे कुछ इसी दिशा में उद्योग करने की प्रेरणा मिलेगी।

१. क्यूपिड तथा साइक[1]

१. एक सुंदर लड़की को एक दिव्य जाति (Supernatural race) का मनुष्य प्रेम करता है।
२. वह मनुष्य के रूप में रात्रि में प्रकट होता है और लड़की को समझा देता है कि उसे देखे नही।
३. वह उसके आदेश का उल्लंघन करती है और उससे हाथ धो बैठती है।
४. वह लड़की उसकी खोज में निकलती है, कितनी ही कठिनाइयो का सामना करती है, कितने ही कठिन कार्यों का उसे संपादन करना पड़ता है।
५. वह अंत में उसे पा लेती है।

यह कहानी पुरुरवा-उर्वशी की वैदिक कहानी के तुल्य है। यद्यपि थोडा हेरफेर है। पुरुरवा-उर्वशी की कहानी यजुर्वेद के ब्राह्मण में आती है। उसमें उर्वशी ने पुरुरवा से कहा है कि वह उसे नग्न न देख पाये। पुरुरवा मनुष्य योनि का है, उर्वशी दिव्य योनि की। वस्तुत 'मेलूसिना' से इसका अधिक साम्य है। पुरुरवा-उर्वशी की कहानी का उत्तरार्ध विशेष दृष्टव्य है। उसमें पुरुरवा जब प्राण तक देने को सन्नद्ध हुआ तो करुणार्द्र उर्वशी ने कहा कि वर्षांत में आना तब मै मिलूंगी। पुरुरवा गया, तब उर्वशी ने कहा तुम गाधर्वों से यह वरदान माँग लेना कि मै भी तुम में से एक हो जाऊं। इस उत्तरार्ध की घटना लोक-कहानियो में अन्यत्र प्रचलित है। एक मनुष्य एक अप्सरा के प्रेम में फँस जाता है। अप्सरा उसे इद्र के समक्ष ले जाती है। वह नाचती है, पुरुष तबला बजाता है और इद्र से पुरस्कार में इस अप्सरा को माँग लेता है। स्पष्ट ही इस लोक वार्ता में यजुर्वेद के ब्राह्मण के 'पुरुरवा-उर्वशी' का रूपातर ही जीवित है।

२. मेलूसिना

१. एक मनुष्य दिव्य जाति की स्त्री से प्रेम करने लगता है।
२. वह उसके साथ इस शर्त पर रहने के लिये तत्पर हो जाती है कि वह उस स्त्री को सप्ताह के एक विशेष दिन नहीं देखेगा।
३. वह उसकी आज्ञा का उल्लंघन करता है और उससे हाथ धो बैठता है।
४. वह बहुत ढूंढता है, पर उसे नहीं पाता।

यह कहानी शातनु-गगा की कहानी जैसी है। इस पौराणिक कहानी में गगा की शर्त यह है कि शातनु उसे कोई भी कार्य करने से नही रोकेंगे। जिस समय रोकेंगे उसी समय वह चली जायगी। गगा अपने पुत्रो को गगा में बहाती है। अत में शातनु रोक देते है। गगा शातनु को छोड जाती है।

लोक कहानियो में ढोला में मोतिनी की कहानी भी इसी प्रकार की है। मोतिनी मनुष्य योनि की नही, भौमासुर दाने के पास रहती है। नल से इस शर्त पर विवाह करती है कि वह दूसरा मौर (विवाह का मुकुट) सिर पर नही रखेगा। जब रखेगा तभी मोतिनी से हाथ धो बैठेगा। दमयन्ती से विवाह के समय वह नल सिर पर मौहर पहनता है, मोतिनी से वियोग हो जाता है।

३. हंसकुमारी
(Swan-Maidu Mype)

१. एक मनुष्य एक स्त्री को स्नान करते देखता है, उस स्त्री की अभिमंत्रित पोशाक (charm dress) किनारे पर है।

[1] कहानियों के रूपों के ये शीर्षक श्रीमती बर्न की पुस्तक—'ए हैंडबुक आव फोकलोर' में से लिये गए हैं। ये उन्हीं के दिये नाम हैं।

२. वह उसे चुरा लेता हैं, स्त्री उसके वश में हो जाती हैं।
३. कुछ वर्षों के उपरांत वह अपनी भूषा—पोशाक हस्तगत करने में सफल होती हैं और भाग जाती हैं।
४. वह उस स्त्री को पुनः प्राप्त नहीं कर पाता।

इस कहानी की ऊपर की दो घटनाएँ 'गोपी-चीर-हरण' से मिलती हैं। यद्यपि इन घटनाओं की व्याख्या पुराणकार ने और ढग से कर दी है, पर ढाँचा वही है। गोपियाँ वस्त्र-उतार कर स्नान कर रही हैं, कृष्ण उन्हें चुरा लेते हैं। परिणाम वही है, सभी गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में पागल हो जाती हैं। हाँ, यहाँ वस्त्रों को न तो अभिमन्त्रित ही बनाया गया है, न कृष्ण ने उन्हें अधिक समय तक ही रखा है।

४. पेनीलोप

१. पुरुष यात्रा पर बाहर जाता है, स्त्री घर रहती है।
२. वह पातिव्रत की रक्षा करती हुई प्रतीक्षा करती है।
३. पुरुष उसके पास लौटकर आता है।

यह कहानी कथा-सरित्सागर की 'उपकोशा' की कहानी है। उपकोशा की कहानी के विश्व-साहित्य और लोक-साहित्य में कितने ही रूपातर हुए है। यही कहानी स्काट की—एडीशनल अरेबियन नाइट्स में लेडी आव कैरो एंड गैलेंट्स (कैरो की महिला और उसके चार वीर) के नाम से आयी है, शिर्यूस्वरी ने अपने एक सग्रह में इसे 'सौदागर की स्त्री और उसके चार प्रेमी' शीर्षक दिया है। पर्शिया में प्रचलित 'अरौया' भी यही है। भूमि में तो यह अत्यत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। इसका नाम है—

'कांस्टेंट डु हुंमेल 'अथवा—'ला फ़ेम कुइ एट्प अन पेद्रि, अन प्रिवोट एट अन फारेस्टियर' १

किंतु भारत में भी इसके कई रूपातर मिलते हैं। ब्रज में यही कहानी 'ठाकुर रामप्रसाद' की कहानी के रूप में है। उपकोशा की कहानी की और 'ठाकुर रामप्रसाद' की कहानी की तुलना बडी रोचक है। इससे हमें विदित हो सकता है कि ढाँचे की तीलियो को सुरक्षित रखते हुए भी कहानियाँ किस प्रकार स्थानीय वातावरण और ज्ञान-गरिमा के अनुकूल बन जाती है, 'वररुचि' ठाकुर रामप्रसाद बन जाते हैं, उपकोशा ठकुरानी ; सारा वातावरण ग्रामीण हो जाता है। राजधानी के प्रधान कर्मचारियो का स्थान ले लेते हैं, पटवारी मुखिया आदि।

५. जेनोनीवा

१. पुरुष युद्ध पर जाता है, स्त्री घर रहती हैं।
२. स्त्री पर मिथ्या दोषारोपण किया जाता है, वह स्त्री को मृत्युदंड का आदेश देता है।
३. वह मारी नहीं जाती, पर इतस्ततः हो जाती हैं।
४. लौटने पर पति को अपनी भूल विदित होती है।
५. वह उसे पुनः प्राप्त कर लेता है।

स्त्री पर मिथ्यादोषारोपण और मृत्युदड तथा अंत में पुन प्राप्ति की बात कितनी ही लोक कहानियो में है। यथार्थ में इस कहानी का मूलाधार 'दुष्यत-शकुंतला' की कहानी हो सकती है। ढोला में नल के पिता राजा प्रथम ने इसी प्रकार मिथ्या दोष पर अपनी स्त्री को मृत्यु दड दिया था। मंझा पर वधिको को दया आ गई। उन्होंने उसे छोड़ दिया। वह अन्यत्र सेठ के यहाँ चली गई। बाद में राजा को अपनी भूल विदित हुई, वह दुखी हुआ और अत में उसे उसने पुन ग्रहण किया। गुरु गुग्गा जाहरपीर की मा के साथ भी ऐसी ही घटना हुई। उसे मारने की आज्ञा नहीं दी गई, घरसे अपमानित कर निकाल दिया गया। राजा को अपनी भूल विदित हुई तो पुन लिवा लाया।

१. कथा सरित्सागर (अंग्रेजी) सी० एच० टाउनी, एम० ए० द्वारा अनुवादित पृ० २० की दूसरी पाद-टिप्पणी।

६. पंचकिन

(प्राण-प्रतीक—Life-Index Type)

१. एक दाना (दानव) जिसकी आत्मा किसी बाह्य पदार्थ में रहती है, एक ऐसी स्त्री से विवाह कर लेता है जिसका एक प्रेमी है।

२. प्रेमी उस स्त्री को खोजकर पा लेता है और उसे प्रेरित करता है कि वह अपने पति को मार डाले।

३. वह यह जानने की चेष्टा करती है कि पति के प्राण किसमें रहते हैं, दाना बार-बार उसे टाल देता है, पर अंत में रहस्य बता देता है।

४. वह प्राण-प्रतीक वस्तु को नष्ट कर डालती है, जिससे पति मर जाता है।

५. वह प्रेमी के साथ भाग जाती है।

उत्तरी भारत में ऐसी एकानेक कहानियाँ हैं। एक अंतर उनमें विशेष मिलता है, वह यह है कि यहाँ की कहानियों में बहुधा वह 'लड़की' बेटी की भाँति दाने के यहाँ रहती है वह उस दाने की स्त्री नहीं बनी। पंचकिन की कहानी दक्षिणी भारत की कहानी है। उत्तरी भारत में विशेषतः ब्रज में इस कहानी का एक रूप हमें प्रसिद्ध 'ढोला'—गीत में मिलता है। इसमें राजा नल के बाल्यकालीन कृत्यों में से एक कृत्य 'मोतिनी' के विवाह से सबंधित है। मोतिनी भौमासुर दाने की बेटी है। नल उस दाने को मार कर ले जाता है। उस दाने के प्राण एक बगुली में थे। उस बगुली का भेद मोतिनी ने स्वयं दाने से पूछकर जाना था और राजा नल को बताया था। यह कहानी एक नार्स (नार्वे की) कहानी से बिलकुल मिलती है। नार्वे की कहानी में नायक उसी प्रकार दाने के प्राणों का पता लगाता है और उसे मारता है, जैसे पंचकिन अथवा नल। ब्रज में जो कार्य नल—'ढोला' में करता है, वही 'बूट्स' यूरप की कहानियों में करता है। नार्स कहानी में दानव अपने प्राणों के संबंध में कहते हैं—

"बहुत दूर एक झील में एक द्वीप है, उस द्वीप में एक गिरजाघर है। गिरजा में कुआँ है। कुएँ में एक बतख तैरती है। बतख में एक अंडा है। उस अंडे में मेरा हृदय (प्राण) है।"

गालिक ((Gaelic))कहानी में, जिनका नाम है—"यंग किंग आव इसंघ रुआय" में भी इसी प्रकार प्राणों का उल्लेख बताया गया है।

७. सेमसन

१. पति की दानवी-शक्ति किसी बाह्य पदार्थ में है।

२. स्त्री जो विश्वासघातिनी है, पति से उसका रहस्य पूछती है, बहुत बार टालने पर भी अंत में वह रहस्य प्रकट कर देता है।

३. वह उसके शत्रुओं को रहस्य बता देती है, वह मारा जाता है।

जे० जे० मेयर द्वारा संग्रहीत 'हिंदू टेल्स' नाम की पुस्तक में एक जैन-कहानी में एक वीर-पुरुष की वीरता तलवार की मूँठ में बताई गई है।

८. सर्प-पुत्र

१. एक माँ के पुत्र नहीं। वह मानता करती है कि उसे कोई पुत्र मिले, भले ही वह साँप हो या पशु।

२. जैसा उसने चाहा वैसे ही पुत्र का वह प्रसव करती है।

३. उस बच्चे का वह एक स्त्री या पुरुष से विवाह कर देती है। वह रात में मनुष्य का रूप धारण कर लेता है।

४. उसकी माँ उसके चर्म को पा लेती है और जला डालती है, तब उसका लड़का सर्प का रूप धारण करना त्याग देता है।

यह कहानी ज्यो की त्यो ब्रज में प्रचलित है। जर्मनी की एक कहानी में रीछ की खाल का उल्लेख है। इसमें तो किसी दुष्टात्मा के वश में पडे होने के कारण सात साल तक शर्त के अनुसार रीछ की खाल ओढ कर रहना पडता है। इसी अवस्था में वह बादशाह की लडकी से विवाह करता है। 'हस दी हैज होग' में वह रीछ ही है, उसका चर्म जला दिया जाता है, तब वह मानव रूप में रह पाता है। भारत में दक्षिण ओर की कहानियो में ऐसे राजा ा उल्लेख है।

९ गैबर्ट-शैतान

१. माता पिता यह संकल्प करते हैं कि उनके यदि बालक होगा तो वे उसे एक शैतान (evil being) को चढा देंगे। २. बालक पैदा होता है, शैतान माँगता है। ३. बालक बच निकलता है, उससे लड़ता है, या उस दुरात्मा से छल करता है। ४. अंत 'उस पर विजयी होकर अपने को मुक्त कर लेता है।

इस कहानी का ढांचा वेद के हरिश्चद्र की कहानी से मिलता है। हरिश्चद्र सतान की कामना करता है। जो बालक होगा उसे वरुण को प्रदान करने का वचन देता है। रोहित पैदा होता है, वरुण माँगता है। विविध वहानो से पहले वरुण को टाला जाता है, फिर रोहित बडा होने पर जगलो में भागा जाता है। यह वरुण से छल करने के समान है। अत में अपने स्थान पर शुन शेप की वलि देने का विचार करता है। शुन शेप को विश्वामित्र बचा लेते है। बस एक बडे भेद की बात यह है कि वेदो में वरुण देवता हैं और उसका सपूर्ण चरित्र साधारणत उदारता से परिपूर्ण है।

ब्रज की लोक कहानी में "द्वै भाई और दाँनौ" नामक कहानी का भी ऐसा ही रूप है। दाने के आशीर्वाद से दो लडके होते हैं। एक को दाना माँग ले जाता है। पहले लडके को वह खा जाता है और दूसरा छल से उसे मार डालता है और दाने की लडकी से अमृत लेकर अपने पहले भाई को जीवित कर लेता है।

१० स्वर्ण-पुत्र
(Goldchild Type)

१. एक माँ एक विशेष पदार्थ खाने के लिये माँगती है, जिससे वह गर्भवती हो जाती है। २. उस भोजन का कुछ भाग वह फेंक देती है, जिसमें से कुछ को एक घोड़ी या कुतिया खा लेती है, ये भी गर्भवती हो जाती है, शेष जमीन पर उग आता है। ३. स्त्री का बच्चा, घोड़ी का बछेडा या कुतिया का पिल्ला और वह पौधा परस्पर सहजात सहानुभूति रखते है। ४. माँ अपने बच्चे को मार डालना चाहती है, पर उसके सहजात बंधु बछेड़ा अथवा पिल्ला उसे बचा लेते हैं। ५. वे और भी साहस का काम करते है।

१. जाहरपीर, गुरुगुग्गा की ब्रज में प्रचलित कहानी में लीली बछेड़ी, गुरुगुगा के साथ ही पैदा होती है और वही उसकी सवारी में काम आती है। २. ब्रज की एक अन्य कहानी में पुत्र एक घोड़ा खरीद कर लाया है, इससे माँ रुष्ट होकर उसे मार डालना चाहती है, पर घोड़ा उसे हर बार बचाता है। ३ एक जर्मन कहानी में एक दरिद्र मनुष्य को एक मछली पकड़ाई आ जाती है। उसके आते ही वह हवेलियों के भवन का अधिकारी बन जाता है। मछली कहती है मुझे छ. टुकड़ो में काट डालो। दो टुकडे स्त्री को दिये जाते हैं, दो घोड़ी को दो पृथ्वी में गाड दिये जाते हैं। दो पुत्र, दो बछेड़े और दो कमल उत्पन्न होते हैं। आगे के सूत्र प्रधान कहानी की भाँति चलते हैं। ४. ब्रज की एक और कहानी में रानी के फेंके हुए पुत्र को घोड़ा पिता की भाँति पालता है।

११. लीअर

१. एक पिता के तीन पुत्री है, पिता उनके प्रेम की परीक्षा करता है। छोटी विशेष प्रेम घोषित नहीं करती, अत. उसे निकाल देता है।

२. पिता सकट-ग्रस्त है, पहली दो पुत्रियाँ सहायता नहीं देतीं, छोटी से ही सहायता मिलती है।

इसी कहानी के आधार पर शेक्सपीअर का 'किंग लीअर' नाटक लिखा गया है। यह ब्रज में भी प्रचलित है। इसके दो रूप मिलते हैं। एक तो ठीक ऊपर के ढग का है, पिता को सकट में सहायता करती है, छोटी परित्यक्त पुत्री। दूसरे ढग की कहानी में पुत्री अपने भाग्य से राजा की समानता करनेवाला पति प्राप्त करती है। वह पति से कहती है कि राजा को निमत्रण दे। राजा को भोजन में मिठाई दी जाती है, राजा कहता है नमकीन चाहिए। पुत्री स्वय नमकीन परोसती है और कहती है पिता नमक अधिक प्रिय है या मीठा। राजा भूल स्वीकार करता है और पुत्री का आदर करता है।

१२ हाप ओ भाई थबू

१. पिता अत्यंत दरिद्र है, बच्चो को त्याग कर चले जाते हैं। २. सबसे छोटा कई बार सबको घर ले जाने का उद्योग करता है, पर असफल रहता है। ३. वे एक दिव्य प्राणी के वश में पड़ जाते हैं, किंतु सबसे छोटा उसे छल लेता है, और वे सब बच निकलते हैं।

इस सविधान से ब्रज की 'गुरु चेला' कहानी कुछ मिलती है। पिता दरिद्र है, दो बच्चे हैं। वह उन्हें एक गुरु के पास पढने छोड आता है। छोटा बालक गुरु से सभी विद्यायें सीख लेता है और अत में गुरु को समाप्त करके गुरु के चगुल से छूट कर घर आता है।

१३ होल्ले

१ एक सौतेली मा, सौतेली लड़की को घरकी दासी बना लेती है। २. उस लडकी के अच्छे स्वभाव के कारण उसका भाग्य चमक उठता है। ३. दूसरी लडकी को अपने दु.स्वभाव के कारण दु.ख झेलने पड़ते हैं।

यह कहानी 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' में आती है। इस कहानी का नाम 'फूलनदेई-कोलनदेई (कानीटिप्पो) रखा गया है। 'कोलनदेई' सौतेली लडकी है। इस कहानी में सौतेली माँ के अत्याचार का चरम वहाँ है जहाँ वह 'कोलनदेई' के सिर पर कील ठोक कर उसे चिडिया बना देती है और अपनी लडकी फूलनदेई का विवाह कोलनदेई के स्थान पर कर देती है। अत में कोलनदेई का रहस्य उद्घाटन हो जाता है। वह अपने रूप में आ जाती है और पति को प्राप्त कर लेती है।

अवकाशाभाव से हम यहाँ रुकते हैं। वस्तुत मनोरजन की कहानियो में ठगो से सबधित ऐसी अनेको कहानियाँ है जो 'मास्टर थीफ'-चोर—सिरताज की कोटि में आती है और जिनके अनेको रुपातर योरोपीय देशो में मिल जाते हैं। बुझौअल की अनेको कहानियाँ ऐसी ही है। इस विषय पर विधिवत् अध्ययन की आवश्यकता है। श्री 'वेरियर ऐलविन' ने भारत की आदिम जातियो के मौखिक साहित्य को लिपिबद्ध करने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य सपन्न किया है, उससे अब भारतीय आदिम मानवीय स्तर की कहानियो के अभिप्रायो का भी मूल्याकन किया जा सकेगा। ब्रज की इन कहानियो में इन स्तरो के साथ जो अन्य कहानियाँ प्रस्तुत होती है उनमें विक्रमादित्य, भोज, इद्र, शुक्र, शनिश्चर आदि, विष्णु, लक्ष्मी, गौरा—पार्वती, शिव, धर्म आदि तो आते ही है, बीरबल और अकबर भी आ जाते है, पर आश्चर्य यह है कि राम-लक्ष्मण और राधा-कृष्ण ब्रज की इन लोक कहानियो में स्थान नही पा सके हैं।

ब्रज के अनेको स्थानो से कृष्ण का सबध रहा है—उन स्थानो से सबधित कोई न कोई कृष्ण-वार्ता अवश्य है, वह वार्ता विशेषत साम्प्रदायिक वार्ताधिकारियो के पास ही मिलती है। साधारण लोक में कृष्ण के नाम को लेकर चलनेवाली कहानियाँ कम ही मिलेंगी।

कहानियो और गीतो में ही मौखिक लोक-साहित्य समाप्त नही होता। उसके अन्य अनेको भेद है, पर न हमने उनका यहाँ सकलन ही किया है, न उन पर यहाँ विशेष वक्तव्य ही दिया जा सकता है। उन पर विशद प्रकाश 'ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन' नामक पुस्तक में डाला जा चुका है।

—— .० ——

व्रज : लोक-गीत

जन्म के गीत

"भारत के सामाजिक जीवन में जन्म के गीतो का वही महत्त्व है, जो किसी वैदिक-सस्कार में मत्रो का हो सकता है। व्रज-प्रदेश के जन्म-विवाहादि सबधी गीतो में से कुछ का यहाँ सग्रह किया जा रहा है। जन्म-सस्कार पुत्र-जन्म के समय से लगभग दस दिन तक विविध नाम, रूप और अनुष्ठानो के साथ चलता है। यहाँ पर तत्सबधी प्राय समस्त गीतों का सकलन दिया गया है। इनका अध्ययन मनुष्य समाज की मौलिक मनोवृत्ति के समझने में सहायक होगा। ये गीत—चद्रभान लोहवन और व्रज-गाँवो के अनेक महानुभावो ने सकलित किये है।"

आजु महलों के बीच जच्चा[1] नें सोर कियौ ऐं।
आवौ, आवौ, सासु मेरी आवौ, मेरी सोवरि[2] के बीच चरुआ[3] धरावौ ॥[4]
आवौ, आवौ, दाईं री मेरी आवौ, नेंक हँसिकें नार[5] कटावौ।
आवौ, आवौ, नँनद मेरी आवौ, नेंक कौरे[6] से सतिया[7] धरावौ ॥
आवौ, आवौ, जिठाँनी मेरी आवौ, नेंक भीतरि पलगु बिछावौ ॥
आवौ, आवौ, दौराँनी मेरी आवौ, नेंक हँसिकें ब्यारि[8] हलावौ।
आवौ, आवौ, ससुर मेरे आवौ, दरवाजे पै थैली खुलावौ ॥

२

प्रसव

अलबेले कुँवर, तैनें बिरद[9] उठाई। सासु-नँनद वाकी ओली-टोली[10] मारे,
कुत्ता-बिलैया कें टूक न डारचौ, अब कैसे होइ निस्तारौ। अलबेले कुँवर, तैनें बिरद उठाई ॥
सासु-नँनद सो बोल जो बोले[11], अब कैसें होइ निस्तारौ। अलबेले कुँवर, तैनें बिरद उठाई ॥
वैहैनि-माँनजी कौ माँनु न राख्यौ, अब कैसें होइ निस्तारौ। अलबेले कुँवर, तैनें बिरद उठाई ॥
अबऊ ध्याँनु धरौ हरि जू कौ, जब तिहारौ होइ निस्तारौ। अलबेले कुँवर, तैनें बिरद उठाई ॥
जे नौ, जे दस माँस ब्याके हुरिल सबद सुनाए, हुँगौ रे निस्तारौ। अलबेले कुँवर, तैनें बिरद उठाई ॥

३

लगा-बाँधने[12] के दिन गाये जानेवाले गीत

ठाडी वहो धँन सीर[13]-दुवार, ए धँन सीर-दुआर।
बाहिर ते आए पातरिया[14] से नाह, ए मजलसिया नाह ॥
मेरी धँन कहा-गुन अनमनी, उपजत ए जरजोधाऊ पूत।

[1] जनन करनेवाली। [2]. संतान-उत्पन्न होने का स्थान तथा वह स्थान जहाँ बालक और जच्चा छठी तक रहते है। [3]. वह मांगलिक घट जो सतान उत्पन्न होते ही अनुष्ठान पूर्वक स्त्रियाँ रखती है। इसके नीचे सदा आग रहती है और इसी का पानी छ दिन तक जच्चा को पिलाया जाता है। [4]. धराऔ—चरुआ धराना एक अनुष्ठान है, जिसमें मांगलिक घट पर विविध सातिये आदि अकित करके, गीतो के साथ 'सोभर' के पास आग पर रखा जाता है। [5]. नाल। [6]. दो दिवालें जहाँ कोणाकार मिलती है उस स्थानके पास की भित्ती। [7]. स्वस्तिक। [8] हवा। [9]. उत्पात। [10] व्यंग, ताने। [11]. बोल-बोले—वचन-बाण मारे। [12].संतान-उत्पन्न होने के उपरात पूर्णत: शुचि हो जाने के उपरांत प्रायः दसवें दिन नामकरण संस्कार होता है, वहीं सस्कार गाँवो में 'लगा बधने' का संस्कार कहलाता है। [13]. कहाँ से। [14]. पतला दुबला।

ए कुल-मॉडन पूत, उनके करति उकाँमनें[1], तिहारी धँन जा गुन अँनमनी।
ए पिया, हमें पीअरे[2] की साध, पीअरी चो न रँगाइऐ।
ए पिया, हमें ऐ खीचरी की साध, खिचरी चो न मँगाइऐ॥
ए पिया, हमें लडुअरे की साध, लडुआ चो न बँधाइऐ।
ए धँन, पीअरो बीरँन पै ते माँगि, हम पर रातौ माँगिऐ॥
खिचरी भवज पै माँगि, लडुअरे माइ पै ते माँगिऐ।
हम पर केवकौ[3] माँगिऐ॥

ए पिया, धनियो धनोली ते लाइऐ।
अजमाइन अजमेर ते लाइऐ, जीरौ जिरौली ते लाइऐ॥
ए धँन, हम पै इतनो न होइ, तौ होरिलु[4] कैसें खिलाइऐ।
ए पिया, पिछवारे ऊ सूर[5] बखेर, ए पिया, वैरिअरा सब झुरि मरे।
ए पिया, आँगन उरद बखेरि। भाई अरे सबु रुरि मिलें॥[6]

४

तगा का दूसरा गीत

ए पिया, काँहर ऊनरे[7] और काँहर बरस्यौ जाइ।
ए पिया, बरस्यौ ए बवुलरे के खेत, ए पिया, बरस्यौ बाबुलजी के देस में॥
ए पिया, मेरे मन भाई ऐ चूदरी[8], ए बँन[9], अपने बिरँन[10] पे माँगि।
ए मैना, काँहर के छीपिअरा[11] बुलाउँ, काँहर बैठि रँगाइऐ॥
ए मैया, नेंहनी-नेंहनी बँधनि बँधाइऐ, पचरंगौ डोबु लगाइऐ।
ए मैं तौ ओढ़ुंगी अपने हुरिल के चौक, अपने कुँवर के सोइले[12]॥

५

जंति के गीत

बाँटि लेउ कोई पीर[13] हमारी।
तुम सुनिओ सासु हमारी, मेरी नारि[14] की हँसुला[15] भारी॥
तुम सुनिओ जिठाँनी हमारी, मेरे बाँह बाजूबँद भारी।
तुम लीजो दौराँनी हमारी, मेरे हाथ अरसिया[16] भारी॥
तुम लीजो नँनद हमारी, मेरे हाथ ककँनवा[17] भारी।
तुम लीजो दिवर हमारे मेरे हाथ अँगूठी भारी॥
ज्याके होरिलु सबदु सुनाए, बाँटि लई सब पीर हमारी।

१. कं, उलटी। २. पीले रंग का वस्त्र, पोमचा। ३ जच्चा के लिए घी बूरे और गीत में नीचे वर्णित धनियाँ सोठ इत्यादि मसालों के लड्डू। ४. हाल का हुआ शिशु। ५. काटे। 'सूर-बखेरने' और 'उरद बखेरने' के परस्पर विरोधी मुहाविरे दृष्टव्य हैं। ६. रूठे हुए मिल जायें। 'रुरि' शब्द 'रोरना' क्रिया का रूपांतर है। ब्रज में 'रोरना' क्रिया का एक विशेष अर्थ है—मिट्टी अथवा दाल या अनाज में से अच्छी वस्तु छाँट कर एकत्र करनी होती है, तो दोनों हाथों को फैला कर बिखरी वस्तु को एकत्र किया जाता है। यह क्रिया रोरने की क्रिया कहलाती है इसी से बिखरे हुए अथवा रूठे हुओं के मिलने का भाव यहाँ होता है। ७. उठे। ८. रंग-बिरंगी ओढ़नी। ९. स्त्री, पत्नी। १०. भाई। ११. 'छीपी' का लघु-वाचक ग्राम्य-रूप कपड़े छापनेवाला। १२. सोहिले—सोभर के गीत। १३. पीड़ा। १४ ग्रीवा, गरदन। १५. ग्रीवा में पहने जानेवाला एक आभूषण। १६. आरसी। १७. कंगन।

तैनें सासु कहा कीयौ, मेरौ लल्ला राँम नें दीयौ, फेरिजा[1] मेरौ हँसुला हजारी ।।
तैनें जिठाँनी कहा कीयौ, मेरौ लल्ला राँम नें दीयौ, फेरिजा मेरे बजुआ[2] हजारी ।
तैनें द्यौराँनी कहा कीयौ, मेरौ लल्ला राँम नें दीयौ, फेरिजा मेरी आरसी[3] हजारी ।।
तैनें नँनद कहा कीयौ, मेरौ लल्ला राँम नें दीयौ, फेरिजा मेरे ककनाँ हजारी ।
तैनें दिवर कहा कीयौ, मेरौ लल्ला राँम नें दीयौ, फेरिजा मेरी अँगूठी हजारी ।।

६

आजु आँनद भए, आँनद भए जा नगरी, आजु आँनद भए ।
ननँद[4]-भवज[5] दोऊ पानी कूँ निकरी, भावज बात चलाई ।। आजु०
जौ वीवी मेरे हुग्गे नँद लाला,[6] तौ मैं दुग्गी गले की दुलरी[7] और कमरि की तगडी ।
गगरी[8] उतारि धरनि धरि दीनी, व्वाके होरिल सवदु सुनाइ, आजु आँनद० ।।
वाहिर तें नँनद (नँद) रांनी झगरे, भाभी दै देउ गरे की दुलरी और कमरिकी तगडी । आजु आनद०
भाजि-भाजि यांतें[9] जारी नँनदिया, छीडी[10] छिनारि[11]की घँघरी[12] और छिनारि की उढनी[13]।।
वाहिर ते आए प्यारे-से भैया, हमरी वैहिन चो[14] झगरी । आजु आँनद०
तिहारी धनाँ[15] नें भैया, वदनि[16] वदी ई, तुमें दुगी गरे की दुलरी और कमरि की तगडी ।। आजु०
भैया, छीडै हमारौ घाँघरौ, भैया छीडै चाँद[17] की चुँदरी । आजु आनद०
अपनी वैहिन कूँ दुलरी गढाइ दऊँ और कमरि की तगडी ।। आजु आँनद०
याँ ते निकरि तू जच्चा दारी[18] छिनरी, हमरी वैहेंन ते चो अटकी ।
आजु आँनद भए, आँनद भए जा नगरी, आजु आँनद भए ।।

७

जच्चा मेरी भोरी-भारी रे ।
स्याँपै[19] मारि वगल में सोवै, वीछी धरि सिरहाँनें, जच्चा मेरी मच्छर सें डरपी रे ।।
चारि चरस[20] पाँनी के पीवै, नौ वोतल सरवत की पी गई, जच्चा मेरी पीनो न जाँनें रे ।
चारि कनस्तर घी के खाइ गई, द्वै वोरी मेवा री, जच्चा मेरी खानो[21] न जाँनें रे ।।
सासु-नँनद के लैहँगा फारे, वडी जिठाँनी की फरिआ[22], जच्चा मेरी लडनों न जाँनें रे ।
जच्चा मेरी कछू न जानें री, जच्चा मेरी भोरी-भारी रे ।।।

८

तुम खोली जसरथ फाटका, तिहारे वह[23] ठाडीऐ द्वार, हिरनी जौ चरै ।
वह रीती[24] जाउ कुम्हार कें, भरिअ[25] हमारे आउ, हिरनी जौ चरै ।।
तुम खोली राँम जी फाटका, तिहारे वह ठाडीऐ द्वार, हिरनी जौ चरै ।
वह रीति जाउ कुम्हार कें, भरिअ हमारे आउ, हिरनी जौ चरै ।।

1. लौटा जा । 2. बाजूबंद नामका आभूषण । 3. हाथ का आभूषण। । 4. पति की बहिन । 5. भाई की पत्नी । 6. पुत्र । 7. गले का वोलड़ोंवाला आभूषण । 8. छोटा घड़ा, पानी भरने का । 9. यहाँ से । 10. छीनना क्रिया का यह रूपांतर भाषा-वैज्ञानिकों के लिए विचारणीय है । छीनो, छीडी हो गया है । 11. छिनाल एक गाली, अर्थ है परपुरुषों से, एक से अधिक से संबंध रखनेवाली । 12. घँघरिया—लहँगा-घुमावदार कटि से बँधकर पैरों तक आच्छादित करनेवाला वस्त्र । 13. ओढनी, फरिया । 14. क्यों । 15. स्त्री । 16. शर्त-बदना । 17. सिर । 18. एक गाली । 19. सर्प को । 20. खेतों को सींचने के लिए कुँए से पानी निकालने वाला चमडे का एक बड़ा डोल । 21. कुछ भोजन भी । 22. ओढ़नी, चुनरी । 23. वह, संतान देनेवाली शक्ति । 24. रिक्त । 25. भरी हुई ।

९

राजे, गगा किनारे एक तिरिया, सु ठाडी ग्ररज करै ।
गगे, एक लैंहरि हमें देउ तौ जामें डूबि जैएं, ग्ररे जामें डूबि जैऐ ॥
कै दुखुरी तोइ सासु री ससुर कौ, कै तेरे पीया परदेस ।
कै दुखुरी तोइ मात-पिता कौ, कै तेरे मा-जाए बीर, काए[1] दुख डूबि जैऐ ॥
नाँ दुखुरी मोइ मात-पिता कौ, नाँ मा-जाए बीर ।
नाँ दुखुरी मोए सासु री सुसर कौ, नाँएे मेरे पिया परदेस ॥
सासु, बहू-कहि नाँ बोलैं, नँनद, भाभी नाँ कहै, नँनद भाभी नाँ कहै ।
नहो राजे, वे हरि[2] बाँझ कहि टेरैं[3] तौ छतियाँ जु फटि गई ॥
जाई दुख डूबिहो सो जाई दुख डूबि हो ।
राजे, लौटि-उलटि घर जाउ' लाल तिहारे होइ, ललँन तिहारैं होइ ॥
ग्राई बँन तँन-मँन-मारि , राजे, मेरे पिछवारे बढई कौ ।
लाला, तू मेरौ देवर-जेठु. राजे, एकु कह्यौ मेरौ कीजिऐ ॥
काठ-पुतर[4] गढि देउ, सो ब्वाइ लैकें उठि हौं, ब्वाइ लैकें बैठि हो ।
राजे, न्हाइ-धोइ भई ठाढी, तौ सुरजु मनामें ॥
राजे, काठ-पुतर जिउ डारौ, तौ जाइ लैकें उठि हौं, जाइ लैकें सोइऐ ।
राजे, जे नौ, जे दस माँस बीते गरभ के, तौ होरिल-सबद सुनाइऐं ॥
राजे, सासु बहू-कहि बोलै, नँनद भाभी कहि बोलै, नँनद-भाभी बोलै ।
वे हरि, जच्चा कहि बोलैं, तो छतियाँ जुडि गई ॥
सुनि-सुनि रे मेरे दिवर छतारी, तौ बँनसी-बजाग्रौ, मुरली-बजाग्रौ ।
भैया ऐ लाग्रौ जगाइ, तौ देखें मेरौ सोइलौ ।
बाजँन लागे बाजे, घुरँन[5] लागे तवल-निसाँन, गवँन लागे मगलचार ।
धनि-धनि गगे तोइ बन्नि ऐ, तुमनें बढायौ मेरौ माँन ॥

१०

चौकी पै बैठे राजा दसरथ ग्रए, नीचें कौसिल्या ।
राजे, हमें ग्रो संपति की ऐ साध[6], संपति फलु देउ, कुँमर तुम्हारैं होइ ॥
बोलौ ग्रजुध्या के पंडित, हाल चले ग्राँमें, तुरत चले ग्राँमें ।
साटी के ग्राछत[7] डारौ, कुँमर मेरे होइ, लाल तुम्हारे होइ ॥
चिट्ठी तौ होइ जाऐ बाँचि सुनाऊँ, करमु मो पै नाँ बँचै ।
कूग्रा रे होइ जाइ पाटूँ, सँमुद मोपै ना पटै ॥
बोलौ ग्रजुध्या के माली, हाल चले ग्राँमें, तुरत चले ग्राँमें ।
राजे, जँनम-घुटी दै जाउ, ग्रौखदि बतलाग्रौ, दवा बतलाग्रौ न रे ॥
पहलें तौ पीई ऐ कौसिल्या, पीछें सुमित्रा, सिल-धोइ पीई ऐ केकइया, तीन्यो गरभ सूँ न रे ।
कौसिल्या कें भए राजा राँम, सुमित्रा कें लछिमन—केकई कें चरत-भरत दोनो भए, तौ चारि कुँमर भए ॥
तौ बाजत तवल-निसाँन, गवँन लागे सोइले, राजा जसरथ थैली लुटाइ, गौग्रन-दाँन कराइऐ ॥
भीतर ते बोली केकइया, राजा थोरी-थोरी द्रव्व लुटाग्रौ, जे लाला बन कू जौ जाँइगे ।
ऐसे बोल मति बोलौ केकइया, घुरि रहे तवल-निसाँन ॥

१. किस । २. पति । ३. बुलावें—पुकारते है । ४. पुतली ग्रथवा पुत्र । ५. घोर होना । ६. इच्छा, मनोरथ । ७. साठी के चावल ।

११

पाँच पाँन पँच विरियाँ[१], अए पाँच सुपरियाँ, न हो राजे।
सो मेरी नँनदऐ देउ, तौ विरँन जगाइ लाँमें, सो भैयाऐ जगाइ लाँमें, न हो राजे।।
उठि, उठि विरँन छतारे मेरी आँखिन-तारे, मेरे जगत-उजारे।
राजे, तिहारे मैहूँल कछु सोर, तौ भवज बुलावै, सो भाभी बुलावै, न हो राजे।।
सो चिनि-चिन वाँघ[२] पगडिया' वेगें[३] से उठि आए, हाल उठि आए।
आगें, आगें डोला वँहिन की, सो पीछें ते भैया जु आए, सो पीछें ते विरँन चले आए।।
राजे, एक पगु धर्‍यौऐ पलिकिया' दूजी देहरिया।
राजे, लई घँन हियरा लगाइ, कहौ घँन वेंवँन[४] होइ।।
राजे, लाज-सरँम कीऐ बात, हाकिम तुम ते नाँ कहूँ, साहिव तुम ते नाँ कहूँ।
राजे, वाँधति किन हूँ न जाँनी, राजे खुलति सग जग-जाँनीऐ।।
गोरी, छप्पर होइ उठाऊँ, जने दस लाऊँ, भैया दसै बुलाऊँ।
गोरी, जे करतार-गठरिया, सखिन-विच खोलौ, आइ राँमु छुडावै' जाइ कृष्ण छुडावै।।
ए ब्रज-वासी के वालक, वेगी जनमु लै, तुरत जनमु लै न रे।
तेरी मैया वहुत दुखारी, तौ वेगि जनमु लै।।
राजे, मैं कैसें वेगि जनमु लेंउ, तुरत जनमु लेंउ।
माटी के कुंडिल[५] न्हवाऔ' झटोले[६] सुलाऔ।।
फाटी गुदरिया[७] विछाऔ, छोरा[८] कहि-कहि वोलौ।
ब्रजवासी के वालक वेगि जनमु लै, तुरत जनमु लै।।
सोने के कुंडिल न्हवाऊँ, सूत के पलिका सुवाऊँ।
राजे, पीतावरै विछाऊँ, ललँन कहि वोलूँ, हुरिल कहि वोलूँ।।
जो जा जच्चाऐ गाँमें, गाइ-सुनाँमें, जच्चाए रिझावें, बच्चा ऐ सुनाँमें।
कटें जँनम के पाप, सपति-सुख पावें, गोद लै खिलावें।

१२

जेठ के अँगना निवरिया[९], सो झिलिर-मिलिर करै।
जेठ की नारि गरभ ते 'सो कुनुर-कुनुर करै[१०], सो चिरैयाँ चुहुँक-चुहुँक करै।।
राजे, जेठ की नारि दुखारी, तौ हम पर हुकमु करै।
राजे, बिना बुलाई मति जाउ, अदर[११] नहिं होइ।।
सासु मेरी आई लेंनहार, नँनद मेरी फिरि गई।
राजे, जेठ खडे दहलीज[१२] बुलाएँ ते जाइऐ।।
सासु कूँ डार्‍यौ पीढुला[१३], नँनद कूँ डार्‍यौ मूढिला[१४]।
राजे, दौराँनी कूँ पँचरँगु पलँगु, ललँन दुवकाइऐ।।
राजे, सोईऐ चादरि-ताँनि, ललँनु दुवकाइऐ।
राजे, उलटि लौटि घर आइऐ, राजे, नैनन-वहाए नीर, ललँन दुवकाइऐ।
राजे, दिवर के अँगना निवरिया, सो झलर-मलर करै।
राजे, दिवर की नारि गरभ ते, सो कुनुर-कुनुर करै।।

१. पान की बीड़ी। २. चुनचुनकर। ३ शीघ्रता से। ४. वेदना। ५. स्नान कराने का पात्र। ६. वह खाट (पलग) जिसकी बुनावट टूट कर ढीली हो गई हो। ७. गुदड़ी, फटे-पुराने वस्त्र। ८. बालक के लिए एक ग्राम्य शब्द। ९. नीम का वृक्ष। १०. पीड़ा से कराहती है। ११. आदर। १२. पौरी। १३. पीढ़ा। १४. मूढ़ा।

राजे, दिवर की नारि गरभ ते, सो हम पर हुकुम चढाइऐ।
धनियाँ, विना बुलाई मति जाऊ, ग्रदर नँई होइ,
सासु मेरी ग्राई लैनहार, नँनद मेरी फिरि गई।
राजे, दिवर जो ठाडें दहलीज, बुलाएँ ते जाइऐ॥
सासु कूँ डारयौ पीढला, नँनद कूँ डारयौ मूढिला।
राजे, जिठानी कूँ पँचरँग पलँगु, ललँन लुढकाइऐ॥
जीजी, लट छोडि लागूँगी पाँइ, ललँन दूँगी गोद में।
जीजी, तुमनें तौ लीएएँ छिपाइ, तिहारोंई, हैकें जी परै॥

१३

ग्ररी भाभी, हौलें-हौलें बोलि, ग्रँगनाँ में गैया ठाडे।
ऊपर ठाडी भवजिया, नीचें ठाडी नँनदिया॥
ग्ररी बीबी, सुपनो जु देख्यौ राति, 'मालिन लाई गल-हार।
चुप रहि भवजिया', चुप रहि' बैरीन, सुनि पाँमें तिहारें नौए महीनाँ हुँग्गे लाल॥
जौ बीबी, मेरें हुँग्गे लाल, नँदलाल, तुमें दूँग्गी गल-हार'।
जे नौ, जे दस मास,' वाके होरिल सबद सुनाए॥
ढोलिग्ररा के[1] हौलें-हौलें ढोलु बजाइ, नँनदी न सुनि लइ' मो पै माँगैगी गल-हार।
नँनदुलि सुनत जु भाजिऐ, भाभी, दै देउ गल-हार॥
लाली, जे हरवा मेरे बाप कौ, तिहारे बिरँन गढायौ सोई लेउ।
पूत-जनती भावजी, जनियौ[2] नौ-दस धीग्र॥
मेरे बिरँन के चलति इकहरी सीर, चलिग्रौ चौहरी सीर।
बगदौ नँनदिया, बगदौ[3], हरवा पैंहरि घर जाउ।
धीग्र-जनती भावजी, जनियौ नौ-दस पूत, ग्रँगना में०॥

१४

हमरे विरँन कें लाल भए ऐं, खवरि परी सईं-साँझ।'
ग्रबई मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ॥
एक मोहर के कुर्ता-टोपी, ग्रसी मुहर खँगवारौ।
ग्रबै मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ॥
कचहरी बैठते बाबुल पाए, भली भई धीग्र ग्राई।
ग्रबै मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ॥
मदरसा-पढ़ते वीरँन पाए, भली भई बैहिन ग्राई।
ग्रबै मेरें को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ॥
मूढिला बैठती माइल पाईं, भली भई बेटी ग्राई।
ग्रबै मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ॥
सोभरि में ते भावज बोली, किन्नें नँनद बुलाई।
ग्रबै मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ॥
राति की राति डटँन दै[4] भाभी, भोर भएँ उठि जाँउ।
ग्रबै मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ॥
तोइ बाँधू, तेरे लरिकँन बाँधू, ग्रौर छिनरी कौ भैया॥

[1]. ढोल-बजाने वाले। [2]. पैदा करना। [3]. लौटो। [4]. रहने दे।

एक रुपैया कौ रस्सा मगाऊँ, और अधेली कौ खूटा।
चों री मैंना तैनें देखी, नैंनदुलि जाँती देखी॥
अबै मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनराकें जाइ।
एक रुपैया के रस्साऐ लै गई, और अधैली कौ खूटा॥
अबै मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ।
हाँ, हाँ, बैहिनाँ हमनें देखी, खूटा लटकतु जाइ॥
अबै मेरे को सुनरा कें जाइ, हाल मेरे को सुनरा कें जाइ।

१५

आयौ जेठ-असाढ राजे, नैंनद-भवज पाँनी-नीकरी।
राजे, मूत्यौ[1] ऐ बरद-बिजार, राजे नैंनदुलि, हाथ-पखारिऐ॥
हात-पखारत लाग्यौऐ दोसु, अब कहा कीजै मेरी भावजी री?
पहलौ महीनाँ जब लागिऐ, व्याकौ फूलु गह्यौ फलु लागिऐ॥ अब कहा कीजै०
ए व्याइ दूजौ महीनाँ जब लागिऐ,
राजे, तीजौ महीनाँ जब लागिऐ, व्याकौ खीर-खाँड़ मन आइऐ।
अपुबिस[2], अपुबिस खीर रँधाइऐ, लज्जा राखूँ नैंनद की॥
राजे, चौथौ महीनाँ जब लागिऐ, ए व्याकूँ कोल[3] के आँम मँगाइऐ।
ए व्याइ पँचयौ महीनाँ जब लागिऐ, ए मैं अपुबिस आँम मँगाइऐ, मन जौ राखूँ नैंनद कौ॥
राजे, छट्यौ महीनाँ जब लागिऐ, ए व्याइ सातयौ महीनाँ जब लागिऐ।
ए मैं अपुबिस, अपुबिस साधु[4] पुजाऊँ, तौ लज्जा राखूँ नैंनद की॥
राजे, अठयौं महीनाँ जब लागिऐ, ए मैं अपबिस, अपबिस महूल झराऊँ, लज्जा राखूँ नैंनद की।
ए व्याइ नौयो महीनाँ जब लागिऐ, ए मैं अपबिस, अपबिस दाई बुलाऊँ, तौ हुरिल जनाऊँ नैंनद कौ॥
व्याकी दाई देहरि[5] आइऐ, व्याकें गाइ कौ बच्छा है परचौ।
बाहिर ते 'आए पतुरिया[6] नाह,[7] तौ गोरी, हमरी बैहिन कहाँ गई।
राजे, तिहारी बैहिन की दूखें आँख, लैरे भतीजे ऐ सोइ रही।
राजे, आयौ ऐ जेठ-असाढ, हरहारे[8], नें हर रे सम्हारिऐ।
राजे, बोलीऐ गोरी धँन आइ, सुनि-सुनि रे मेरे समरथ साहिबा?
राजे, बछराऐ गारी न दीजिऐ, बछरा तौ लागै तिहारौ भाँनजौ॥
गोरी, तिहारौ तौ काटूँगो मूँड, राजे, जाकौ अरथ बताइऐ।
राजा, काए कूँ काटौगे मूँड, लज्जा राखी तिहारी बैहिन की॥
राजे, मूत्यौ ओ बरध-बिजार तौ नैंनदुलि हाथ-पखारिऐ।
राजे, हात-पखारत लग्यौ ऐ दोसु, तौ लज्जा राखी तिहारी बैहिन की।
गोरी, तेरौ ऊँ असल गुलाँम, लज्जा राखी मेरी बैहिन की॥

१६

राजे, नैंनद-भवज दोऊ बैठिऐ, भाभी कैसी सुरति देखी, राँमनु चितिरु लिखि दिखराइऐ।
भाभी, भैया की नारि गरभ ते, ठाड़े है कें काढिऐ॥
लाली, तिहारे बिरँन की ऐ बैरी, राजे, जौ सुनि पाइऐ, घर ते हाल निकारिऐ।

१. पेशाब किया। २. अपने बहाने। ३. अलीगढ़ का पुराना नाम। ४. साधु या साध-पुजाना एक संस्कार होता है, जो गर्भ के सातवें महीने में संपन्न होता है। ५. देहली, दहलीज। ६. स्त्री। ७. पति। ८. हलधर, कृषक-अभिप्राय गृह-पति से है।

भाभी नें वुहुतेरी समुझाइऐ, हठीली हट परि गई ॥
राजे, पूरी जौ रौंमनु लिखि दयौ, भवज जु ड्यौढी करि दई, राजे, वीरँन चित्र-दिखाइऐ।
वोलौ ओ छोटे भैया ओ लछिमन, राजे, सीता ऐ वनखँड मारिऐ, नेंनुन लाऔ निकारिऐ॥
चंदनु-रथ जु रवाइऐ, लछिमन भए रखवार।
राजे, इक वनु नाँखि, दूजौ वनु नाँख्यौ तीजै वनु पहुँच्यौऐ जाइ ॥
राजे, सीताऐं लगि आई प्यास, देवर पाँनी लाइऐं।
भाभी, वैठौ तरवर की छाँह, हमतौ रे पाँनी लाइऐ॥
सीता सोई ऐ चादरि ताँनि, राजे, लाला जी पाँनीं कूँ गए।
लछिमन लाए ऐं दोनाँ-भरि नीर, तरवर के टाँगें डार पै॥
राजे, लछिमन रथ जौ हाँकिऐ, राजे, टपक वूद मुखड़ा-परी।
सीता, देखति आँखि पसारिऐ, राजे, रोमति जार-वेजार॥
राजे, सुनि-सुनि सवदु कुइलिया, कुटी में ते निकरे वावा जी।
वेटी, चलौ हमारे साथ, मेरी कुटीऐ करौ विसराम जी॥
राजे, कोइल सवदु सुनाँमती और हँमई जनाँमें नँदलाल।
वन की कुइलिया दाई वनिगी, मैना वनिगी मेरी सासु, वावा मेरे करिगे सहाई॥

१७

वधैया, वधैया, म्वाँ हतिनापुर कूँ जाउ, श्री कृष्ण कें वेटा भयौ।
वे कैसें, वे कैसें आँमें आजु, विन डोला, विन पालकी॥
वधैया, वधैया म्वाँ रुकँम-नगर कूँ जाउ, वेटी रुकमिनि कें वेटा भयौ।
वे कैसें, वे कैसे आँमें भइआ आजु, विन रे राते, विन पीअरे॥

१८

नरँगफल का गीत—जच्चा

जे नौ, जे दस मास, राजे, राजकुँमरि गरभ ते नरँगफलु माँगिऐ।
राजे, कौंन दिसा में व्वा की पेड़, कहाँ फलु लागिऐ?
राजा, पुरव-दिसा में व्वाकी पेड़, फुलक[1] फलु लागिऐ॥
गोरी, व्वा फलु कौ लाइवौ कठिनऐ, कैसें फलु लाइऐ?
गोरी, एक लख दिवला[2] जौ जुरत, सवा लख त्याँ कूकरा[3]॥
रौंनी, एक लख हैं पँहरेदार, सवा लख रखवारिएँ!
राजा, जौ रे नरँगफलु नाँइ लाऔ, तौ मरूँगी जहर-विसु खाइ॥
राजे, मारि घुडिल म्वाँ ते चलि दिए, राजे, पहुँचेऐं देस-विदेस, घरैं-चिंता छाइऐं॥
मुढिला-वैठ्ठी माइ तौ रौंमु मनाइ, सुरजु मनाइऐ।
राजे, कव की वैरिन भई वहुअ, वेटा चोरी तें गए॥
राजे, गुड़िया खिलती ऐ वैहिन, सो रौंमु मनावै, सुरजु मनावै।
मेरी कव की वैरिन भई भाभी, विरँन चोरी गए॥
राजे, सेज-चढती ओ धनियाँ,[4] सो रौंमु मनामें, सुरजु मनामें,
मेरी कव की वैरिन भई कौंखि, वलँम चोरी गए॥
राजे, पहुँचि नरँगफल के पास, चढे जु घोडा खोलिऐं।
राजे, वढि[5] गए एक लख दीप, सोए सवा लख कूकरा॥

१. वृक्ष के ऊपर की कोटी। २. दीपक। ३. कुत्ते। ४. स्त्री। ५. वुझ गये।

राजे, सोइ गए इक लख पैहरेदार, सवा लख रखवारिया ।।
राजे, घुडिला की पीठ-लगाइ, पेड पै राजा चढि गए ।
राजे, झटकि लियौ फलु तोरि, जेब-रखि लीजिऐ ।।
राजे, सुनिकैं झडाकौ[1] जागे कूकरा, राजे, जरि गए इक लख दीवला ।।
राजे, आए ऐं एक लख पैहरेदार, सवा लख रखवारिया ।
राजे, चलति खाँडे की धार, पकरि डारे जेल में ।
राजे, चलौ कचैहरी के बीच, चोर हूँम पकरिऐ ।।
राज, पूछत बैठे जौ हाकिम, कहौ, कैसें आइऐ ।
राजे, कौंन बताई तुमें थाँग[2], फलु चोरी जो करि लई ।
राजे, कोन की नारि गरभ ते, नरँगफलु माँगिऐ ।।
राजे, मेरी ई नारि गरभ ते, नरँगफलु माँगिऐ ।
लाला, लै जाओ आजु उज्जगर[3] काए कूं दुबकाइऐ ।।
राजे, जो कोई गरभिनी नारि, वाकूं नाँई रोकिऐ ।
राजे, लै जाउ द्वै के चारि, विनई जाइ कें दीजिऐ ।।
राजे, मारि घुडिलु म्वाँति चलि दए, राजे, पहुँचे ऐं मैहलनु आइ, मैहैल खुलबाइऐ ।
राजे, छँम-छँम आई ऐ नारि, खोलि दीए मैहल जी ।।
राजे, दै दीए दोऊ नरँगफल, जाउ तुम लीजिऐ ।
राजे, झटपट सासु जगाई, नरँगफलु देखिऐ ।।
राजे, झटपट नँनद जगाई, नरँगफलु देखिऐ ।
भाभी, खाइ लेउ झटपट जाइ, ललँन तिहारे होंइ, कुँमर तिहारे होइ ।

१६

छोछक का (भेली लेने के समय का) गीत

उडि, उडि काग सुलाकने[4], उडि मेरे पीहर[5] जाउ ।
मेरी कहिओ माइ समझाइ, धीअरि माँगे लाडूए ।।
मेरे कहिओ बबुल समझाइ, बेटी तौ माँगै खीचरी ।
मेरे कहिओ विरँन समझाइ, भैना तौ माँगै पीअरी[6] ।।
मेरी कहिओ भवज-समझाइ, नँनदुलि तौ माँगै खीचरी ।
बेटी, नित उठि जैंनमोंगी पूत, कहाँ ते लाऊँ लाडूऐ ।
लाली, नित उठि जैंनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ खीचरी ।
बीबी, नित उठि जैंनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ पीअरौ ।।
मेरी बीबी, नित उठि जैंनमोगी पूत, कहाँ ते लाऊँ खीचरी ।।
मरमँनि[7], सोई ऐ चादरि-ताँनि, माइलि बोले बोलने, भावज बोले बोलने ।
जाकी छोटी नँनद बडी अचपली[8], भाभी उठि चो[9] न करौ सिंगार—
गरजतु आवै पीअरौ, लुढकत आँमें लाडूए ।।
टूटत बैंहँगीनु[10] बाँस, खीचरी के बोझ ते ।
झूठौ तिहारी लाली, मेरौ पीहर-सासुरौ,
जौ तू री भावज, मानति झूंठ, चढि चौबारेनु[11] देखिऐ ।।

1. ओर की आहट । 2. पता । 3. बिना छिपे । 4. शुभ (सुलाक्षणिक) । 5. पितृ-गृह ।
6. पीला वस्त्र, पोंमचा । 7. दुखियारी । 8. चंचल । 9. क्यो । 10. बैंहगी-कहार जिसपर माल ढोते हैं ।
11. चौबारा—चार दरवाजोंवाला दालान ।

साँचौ तिहारौ ऐ बोल, साँचौ पीहर-सासुरौ ।
बीबी, लट-छोड़ि लागूगी पाँम, गिरी[1] रे-छुआरे त्यारौ मुख-भरूँ ।
मेरी भरूए सजॅन की ऐ धीश्र, सो झगड़ि मँगायौ पीअरौ ॥

२०

चौं ऐ विषूकी[2] री जाँनकी, चो ऐ विषूकी री ।
इंद्रपुरी ते नगाड़े मँगामँ, तेरे द्वार धुराऊँ[3] री, सीया बेटी चो० ॥
विरँम-पुरी ते बिरमाँ[4] बुलाँमें, तेरे सुत कौ नाँम धराऊँ, सिया बेटी० ॥
कजरी बन ते हस्ती मगाँऊ, तेरे द्वार झुकाँऊ री, सिया बेटी० ॥

२१

सीता ठाड़ी पछिताइ, कुस बन मेँ भए ।
जो घर होती सासु कुसल्या, चरुए देंती धरवाइ ॥
जौ घर होती नँनद हँमारी, सँतिए देंती धरवाइ ।
जौ घर होते ससुर हँमारे, नौबति देंते धरवाइ ॥
जौ घर होते दिवर हँमारे, तीर देते सँधवाइ, कुस बन मेँ भए ॥

२२

जब पहला नहान निकलता है, उस दिन गोबर के साँतिऐ धरे जाते हैं और यह गीत गाया जाता है ।

धरती के दरबार, नौहबति बाजि रही ऐ, बाजि रही ऐ घनघोरि ।
फूलि रहीऐं फुलवारी, चंपा मौरि[5] रही ऐं, मरुअरौ मँहकि रह्यौ ऐ ॥
माता के दरबार नौहबति बाजि रही ऐं, बाजि रही ऐ घनघोरि ।
फूलि रही ऐ फुलबारि, चंपा मौरि रही ऐ ॥
सेढ-मसानी[6] के दरबार, नौहबति बाजि रही ऐ, बाजि रही ऐ घनघोरि ।
फूलि रही ऐ फुलवारि, चंपा मौरि रही ऐ, मरुअरौ मँहकि रह्यौ ऐ ॥

२३

साँतिये[7]

ननद, घर के कौरे से साँतिए रखती है । सास एक हँड़िया पर पाँच साँतिए गोबर के रखती है । इसे चरुआ कहते हैं । दस दिन तक जच्चा इसी हँड़िया के पानी को पीती है । इस दिन का नाम चरुआ-सँतिया है । इसी दिन यह गीत गाया जाता है ।

धरहुँ सुहद्रा[8] साँतिए, अपने बिरँन[9] दरबार, बधाई बाजी नंद कें ।
गैहनन् मेँ बडौ हाँनुला, जो मेरी नँनदी ऐ देउ ॥
जाऊ ऐ नँनद नाँइ लँति, हठीली, हठि परि रही ।
पौहैन[10] मेँ बडी भैंसि ऐ, सो मेरी नँनदी ऐ देउ ॥
जाऊ ऐ नँनद नाँइ लँति, हठीली, हठि परि रही ।
बकुचनि[11] मेँ बड़ी चूँदरी, सो मेरी नँनदी ऐ देउ ॥
जाऊ ऐ नँनद नाँइ लँति, हठीली, हठि परि रही ।

१. नारियल की गिरी । २. बुली । ३. बजवाऊँ । ४. ब्रह्मा । ५. मौरना—बौरना—फूलों से युक्त होना । ६. देवी-देवता । ७. स्वस्तिक । पुत्र-जन्म पर घड़े पर गोबर से स्वस्तिक रखना एक आवश्यक अनुष्ठान है । ८. सुभद्रा—यहाँ तात्पर्य 'बहिन' से है । ९. भाई । १०. पशुओं । ११. संदूक या पिटारा ।

वासँन सें बड़ौ टोकनाँ, सो मेरी नँनदी ऐ देउ।
जाऊ ऐ नँनद नाँइ लैंति, हठीली, हठि परि रही॥
भाभी, हँसुला तौ देउ अपनी सासु ऐ, चरुआ चढाए कौ नेगु[1]॥
भाभी, भैंसि भरारेनु[2] देउ, तिहारी सोमरि भरारे कौ नेगु।
भाभी, चूदरि तौ नाँइन ऐं देउ, नगर बुलाए कौ नेगु॥
भाभी, टोकनाँ तौ देउ धौराँनी ऐं, विजनु[3] ढुराए[4] कौ नेगु।
भाभी, हम तौ वुही लिंगे, बदनि-बदी ऐं आधी राति॥
भाभी, खोलौ ककँनवा की कील, बदनि-बदी ऐ सोई देउ।
लाली, जिहु[5] ककनाँ मेरे बाप कौ, तिहारे बिरँन गढायौ सोई लेउ॥

२४

छटी का दूसरा गीत

तेरे हाथ झुझुना लाल रे।
बाबा के प्यारे खेलि रे, ताऊ के प्यारे खेलि रे॥
तेरी दादी खिलावै तू खेलि रे, तेरी ताई खिलावै तू खेलि रे।
तेरे फूफा[6] लाए झुझुना, तेरी भूआ[7] खिलावै तू खेलि रे॥
तेरे नाना कौ टूट्यौ झुझुना खेलि रे, नानी छिनरी खिलावै तू खेलि रे॥

२५

छटी का तीसरा गीत

धतूरौ, माँचनौं रे लाल।
कोनें बोयौ, कोनें जोत्यौ, कोनें डारयौ ऐ बीजु, धतूरौ माँचनो रे लाल॥
भरत लाल नें जोत्यौ, लछिमँन नें जोत्यौ, राँम नें डारयौ ऐ बीजु।
धतूरौ, माँचनो रे लाल॥
कोनें घोटयौ, कोनें छाँन्यो, कोनें भरि लीयौ घूट।
स्रुति-कीरति नें घोटयौ, उरमिला नें छाँन्यो, सीता नें भरि लीयौ घूट।
धतूरौ, माँचनो रे लाल॥

२६

छटी का चौथा गीत

टोडरमल झूलें पालनाँ।
काए की तेरी चदन-पलकिया, काए के बाँन[8] बुनाइ।
काए की अदमाइनि दीजि ऐ, टोडरमल झूलें पालनाँ॥
जसरथ के चंदन-रूख कटाइऐ, चदन-पलकिया ठुकाइऐं।
रेसम बाँन बुनाइऐ, टोडरमल झूलें पालनाँ॥
टोडरमल दीए ऐं पौढाइ,[9] टोडरमल झूलें पालनाँ।
वाकी ताई, चाची, भूआ झुलावें पालनाँ, टोडरमल झूलें पालनाँ॥

१. किसी संस्कार अथवा अनुष्ठान में विविध काम करने वालो को उनके अधिकार के रूप में जो कुछ दिया जाता है, वह 'नेग' कहलाता है। २ भड़री जो निकृष्ट दान लेते हैं। ३. पंखा। ४. हिलाने या करने। ५. यह। ६. पिता की बहिन के पति। ७. पिता की बहिन। ८. बान—वह भूंज की रस्सी जिससे पलग-खाट बुनी जाती है। ९ सुलाना।

बाबा के प्यारे झूलि रे, चाचा-ताऊ के प्यारे झूलि रे।
तेरी दादी झुलावै तू झूलि रे, टोडरमल झूलें पालनाँ॥

२७

छटी का पाँचवाँ गीत

बिलगु[1] मति मानै री जच्चा, जि तौ भंगी कौ लला।
बिलगु मति मानैं री जच्चा, जितौ कुँम्हार कौ लला॥
बिलगु मति मानै री जच्चा, जितौ चँमार कौ लला।
बिलगु मति मानै री जच्चा, जितौ कोरी[2] कौ लला॥
बिलगु मति मानै री जच्चा, जितौ खटीक[3] कौ लला।
बिलगु मति मानै री जच्चा, जितौ बनियाँ कौ लला॥
बिलगु मति मानै री जच्चा, जितौ धोबी कौ लला।
सबु जगु झूठौ री जच्चा, जितौ साँचौ रामजी कौ लला॥

२८

छटी का छठवाँ गीत—'दमोदरिया'

पंडितु जचरिया कौ यारु, जाँनैं लिखि डारचौ जगु-ससारु, व्वानैं एक न लिखी दमोदरी।
कुँह्मार कौ[4] जचरिया कौ यारु, जानैं भाँनि[5] डारचौ सबु ससारु, व्वानैं एक न भाँनी दमोदरी॥
चमरा कौ जचरिया कौ यारु, जानैं गाँठि[6] डारचौ जगु-ससारु, व्वानैं एक न गाँठी दमोदरी।
कोरिया जचरिया कौ यारु, जाँनैं बुनि डारची जगु-संसारु, व्वानैं एक न बुनी दमोदरी॥

२९

छटी का सातवाँ गीत—'लपसी'

मन गुरु, मन गुरु, द्वै मन मैदा, करउ कौसल्या लापसी।
सब गुरु, सब गुरु, धरचौऐ उठाइ, तौ मिपट अलोनी लंगर लापसी॥
जेतौ री, जेतौ दारी सुमित्रा के काँम, केकई बिचारी कहा करै।
चूल्हे-पाँछें, चूल्हे-पाछें, धरचौ ऐ खड़ेरा, लछिमनु जानें मोकूँ लापसी॥
सरपट, सरपट लाला भरि लीयौ गाल, हवकत डोलें सारे देस में।
आँगन, आँगन भंसि कौ चोथ, नँनदुलि जाँनी मोकूँ सिंग धरी॥
सरपट, सरपट लाली भरि लीयौ गालु, थूकि-भरी सब री देहरी।
तेरी, तौ तेरी, खड़ेरा बोलूँ जाति, निकरि हलक ते बाहिरौ॥
तेरी, तौ तेरी बोलूँ चोथ जाति, निकरि हलक ते बाहिरौ।

३०

छटी का आठवाँ गीत[7]

सोग्रौ कै जागौ हुरिल के बाबा-ताऊ, गाँमनहारी राजे घर चली।
गाँमन हारिन के लँहँगा-सुगरा लेउ उतारि, करौ हुरिल की गदतनी॥
नए-नए देउ पहराइ, पुराँनेन की करि लेउ गड़तनी।
गाँमन-हारिन देउ तँमोल, गोद भरौ तिल-चाँमरी॥

१. बुरा। २. कपड़े बुनने का काम करने वाली जाति का आदमी। ३. भेड़, ऊन और तांत का व्यवसाय करने वाली जाति का मनुष्य। ४. कुम्हार का पुत्र। ५. भानना—बनाना। ६. गाँठना—जूता सीने और सँभालने का काम। ७. यह गीत गानेवालियों को विदा करते समय गाया जाता है।

३१

छठी का नववाँ गीत—'कठुला'

लाला की नानी ग्रावैगी, दरवज्जौ वाँसु गढावैगी, जि थेई-थई नाँचैगी।
जि कौडी-कौडी ओरैगी, लाला कौ छोछक[1] लावैगी।।
लाला की माँई ग्रावैगी, ग्रजुध्या जी में सेज बिछावैगी।
बूढे-बारेनु[2] मोहैगी, जब रोक-रुपैया लावैगी, लाला कूँ कठुला गढावैगी।।
लाला कौ मामा ग्रावैगौ, जब धुनि की रुई धुनावैगौ, जब फोग्रा-फोग्रा जोरैगौ।
मैंना कूँ सौरि[3] भरावैगौ, लाला कूँ टोपा भरावैगौ।।
लाला की मौंसी ग्रावैगी, धवला[4] में सोठि चुरावैगी।
मौंसी कौ पेटु कवाडौ ऐ, दस रोटी कौ एकु निवारौ ऐ।।
देखौ रे लला, तेरी नैंनसार, फिट्टि रे लाला, तेरी नैंनसार।
लाला की दादी ग्रावैगी, बु हँसुली-खडुग्रा लावैगी, लाला ऐ लै पैहरावैगी।।
पैहिरै वाकी झाँझनियाँ, पैहरावै वाकी माइ।
पैहिरै कुल-माँडनियाँ[5], पैहरावै वाकी माइ।।
छज्जे पै बैठि खिलावैगी, ग्राँगन में बैठि खिलावैगी।
देखौ रे लाला, तेरी ददसार, खूबु रे बनी तेरी ददसार।।

३२

जगमोहन-लुगरा

एजे, नँनद-भवज दोनो बैठिऐ, एजे रुक्मिनि नौ-दस माँस गरभ ते, एजे नँनदुलि बात चलाइऐ।
एजे, जौ तिहारे होइ नँदलाल, जगमोहन-लुगरा दीजिऐ।।
बीबी, जो मेरें होइ नँदलाल, जगमोहन-लुगरा लीजिऐ।
एजे, नँनद चली ऐ ग्रपने सासुरे, वाके होरिलु सवदु सुनाइऐ, जगमोहन-लुगरा माँगिऐ।।
एजे, कैसें बचाऊँ ग्रपने ग्राँन, नँनदुलि ते छिपाइऐ।
एजे, धुरि गए तवल-निसाँन, वजैंन लागे सोहिले।।
एजे, नौग्रा कै ऐ लेउ बुलाइ लुचन[6] लैकें भेजिऐ।
एजे, जाग्रौ मेरी माइ, कहौ समझाइ, रुक्मिनि नें जाए हीरा-लाल।
एजे, इक बनु नाँखि दूजे बनु नाँख्यौ, तीजे बनु पहूँचे ऐं जाइ, रुकिमिनी के बवुलकें।
भरी रे कचहरी बवुल जी की बैठी ऐ।
एजे, बिरैंन जो बैठे उनके पास, एजे नौग्रा के नें लुचन दिखाइऐ।
व्याके वावुल खुसी रही उर छाइ, बिरैंन व्याके सुनि रहे।।
एजे, हाथी वँधे ऐं हथसार, जरद ग्रवारी दीजिऐ।
एजे, घोडी वँधी ऐं घुडसार, ग्रच्छौ-सौ जीनु धराइ, झाँझन पहिराइऐ, नौग्रा के ऐ वेग चढाइऐ।
एजे, भरी रे कचहरी वावुल उठि चले।
एजे, छोटे बिरैंन उनके साथ, मैहलनु जाइ पहूँचिऐ।।
एजे, कही ऐ माइ समुझाइ, भवज उनकी सुनि रही।।
एजे, रुकिमिनि जाऐ ऐं नँदलाल, वधाई लैकें ग्राइऐ।

[1]. छोछक—माँ के माता-पिता-भाई-बंधुग्रों द्वारा भेजी हुई सामग्री, जो पुत्र-उत्पन्न होने की बधाई में ग्राती है। [2]. छोटे। [3]. ग्रोढ़ने की रजाई। [4]. लँहगा। [5]. कुल-मंडन करने वाला, कुल की शोभा। [6]. निमंत्रण का रोचन, रोली।

एजे, षटरस भोजनु बनाइ तौ सोरन[1]-थार लगाइऐ ।।
एजे, तोडा[2] देउ पँहिराइ, तौ लाम्रौ पाँचौ कपडे बेवते[3] के सोहिले ।।
एजे, करौ भोजन रुक्मिनि, बिदा करि दीजिऐ ।
एजे, जगमोहन-लुगरा श्रौ लाउ, नाऊ ऐ धरि दीजिऐ ।
एजे, लै जाउ बगल दबाइ, काऊ नाँहि दिखाइऐ ।
एजे, बीच में बसति ऐ सुहद्रा[4], तौ उनें न दिखाइऐ ।।

❀

एजे, इक बनु नाँखि दूजे बनु नाखिए, तीजे बनु श्राइ मँझारि सुहद्रा के मैहल में ।।
एजे, पूँछति पीहर की बात कहा लै श्राइऐ ।
एजे, बाजि रहे तबल-निसाँन, गवत छोडे सोहिले ।।
एजे, हँम तो लूचम लैकें भेजे, रुक्मिनि के बबुल कें ।
एजे, तुमकूँ बधाए लैकें श्राए, किसन लैबे श्राइऐ ।।
एजे, सोने के तोडा लाँउ, नाऊ ऐ पहिराइऐ ।
एजे, साल-दुसाल श्रौ लाउ, नाऊऐ उढाइऐ ।।
एजे, उढाऊँ भतीजे के सोहिले ।।
एजे, षटरस भोजन बनाइ, नाऊ ऐ जिमाइऐ ।
नौश्रा के, भोजन करिबे कूँ श्राउ, तो श्रासन बिछाइऐ ।।
नौश्रा के, जिह[5] का बगल[6] तिहारी, तौ जाइ दिखाइऐ ।
लाली, नहन्न-उस्तरा ऐ पेटी, तौ जाकौ कहा देखिऐ ।
नौश्रा के, हँमते दगा मति खेलै, गाँम कौऐ नाऊ ।
तेरी बगल जगमोहन-लुगरा दबि रहे, तो हँमते छिपाइऐ, एजे चो न दिखाइऐ ।
नौश्रा के, चलूँगी तिहारेई, साथ, बदनि पूरी है गई ।।
लाली, तुम तौ बावरी-गँमारि, मेरे सँग ना चलौ ।
तिहारे बिरँन तो श्राँमें लेंनहार, श्रादर करि जाइऐ ।।
लाली, बिना रे बुलाएँ मति जाश्रौ, श्रादर नाँएँ होइ ।
एजे, रुक्मिनि कौ डोला ऐ साथ, नाऊ के सँग चलि दई ।
एजे, एक बनु नाँखि दूजौ बनु नाँखि ऐ, एजे, तीजे बनु पहुँची ऐ जाइ, बबुल जी के मैहल में ।।
एजे, बिरँन जी बैठे चटसार, देखि मैंनाएँ हँसि दए ।
मैंना, देखि भतीजे को सोहिलौ, भाजहि तुम श्राइ ऐ एजे, मैहलन भावज सुनि रही ।
एजे, हथियँन में बडौ हाती, जरद ऐं श्रबारी ।
एजे, श्ररजुन नँनदेऊ बैठि जाऊ, नँनद सुख पाइऐ ।
एजे, घोड़ियन में बड़ौ घोड़िला—
एजे, चदा-सूरज से मेरे भाँनजे, आ चढि जाइऐ, नँनद सुख-पाइऐ ।
राजे, बकुचिन में बडी चूँदरी, एजे, जाइ नँनदिया ऐ देउ, श्रोढि घर-जाइऐं ।
एजे, गैहनेनु में बडी हाँसुला, सो जाइ नँनदियाऐ दीजिऐ, जाइ पैहरि घर-जाउ ।।
भाभी, हथिया बँधे बहुतेरे, घुड़िल घुडसार में ।
भाभी, बदनि-बदी ऐ सोई देउ, जगमोहन-लुगरा दीजिऐ ।।

[1]. सुवर्ण । [2]. सोने की लड़ । [3]. पुत्री का पुत्र । [4]. सुभद्रा—कृष्ण की बहिन । [5]. यह ।
[6]. शरीर के पार्श्व श्रौर भुजा के बीच का भाग, जिसे 'काँख' भी कहते हैं ।

भाभी, चुंदरी तो मेरें बौहौत ऐं, सो हँसुला तौ मेरें वहु घँने।
भाभी, वदनि-वदीऐ सोई देउ, जगमोहन-लुगरा दीजिऐ॥
लाली, जे लुगरा नाँ देंउ, कुँमरजी के सोहिले।
लाली, भेज्यौ ऐ जनम दिखामनि माइ, मजलसिया वावुल मोलु लै॥
लै आयौ री मेरौ तरकसु-वदी वीर, एजे, अपनी भवजु कौ ऐ साहिवा।
एजे, जाइ नाइ दुंगी, ओढ़ू तौ अपने चौक पै॥
लाली, को तिहारें गए लेंनहार, को तौ छेता[1] धरि गए।
भाभी, ना कोई गए लेंनहार, नाएँ छेता धरि गए॥
भाभी, हमारे ववुलु की अथैया[2], इन देखिवे आइऐ।
भाभी, हमारी माइ की रसोइया, इन देखेंन आइऐ॥
भाभी, हमरे विरैन घर-सोहिलौ, सुनि कैं घर आइऐ।
लाली, लौटि-वगद घर जाउ, तौ फेरि मति आइऐ॥
एजे, नेंननु भरि लाई नीरु, तौ हिलकिनु रोइऐ।
भाभी, हमरे ववुल के ऐ देस, जनम-भुमि मेरी रही॥
भाभी, तुम न जेंमन देउ आजु, लौटि घर जाइऐ।
लाली, वैठी ऐ तन-मन मारि, नेंननु जलु छाइऐ॥
एजे, वाहर तें आए मा के जाए विरैन आए मैहल में, एजे, हमरी वैहिन कैसें अनमनी[3]।
एजे, भीतर ते वोली रुक्मिनी, वैहिन तिहारी रुठिऐ॥
एजे, लाओ जगमोहन-लुगरा मोल, वैहिन कूँ दीजिऐ।
रुक्मिनि, जो कहूँ विकते जे मोल, तौ हाल जु लाइऐ॥
चाहे आमें लाख, द्वै लाख, छै लाख, खरीदि कैं लाइऐ, वैहिन लै पहिराइऐ।
रुकिमिनि, जुरि रही पटनाँ की पैंठ, माँ तौ रे हम जाइऐं॥
मैंना, लाइ दऊँ दखिनी-सौ चीर, वाइ ओढ़ि घर जाइऐ।
एजे, व्वाऊ ऐ वैहिन नाँऐ लेंति, हठीली हठि परि रही॥
रुकिमिन, जौ तुम वैहिन न देउ, जाँइ हम पैंठ कूँ।
गोरी, करे दूसरी व्याहु, सौति तुम पर लाइऐ॥
रुकिमिनि, करहु सोलहो सिंगार, निकरि पीहर जाइऐ।
रुकिमिनि, वनियाँ वहुत-सी लाऊँ व्याहि, वैहिन नाऐं पाइऐ॥
रुकिमिनि, निकरि वाहर तुम जाओ, डुलिया तो ठाडी द्वार पै।
लाली, वगदौ, वगदि घर आउ, जगमोहन-लुगरा पहरिऐ॥
लाली, पैहरि-ओढ़ि घर जाउ, तौ मख-भरि असीस जु दीजिऐ।
भाभी, अमरु रहै तिहारी चुरियाँ, अमरु तिहारे वीछिया॥
भाभी, जीऔ तिहारे कुँमरु कँन्हैया।
कुँमरु तिहारे चौक में, खेलें तिहारे अँगन में॥

— o —

[1]. लिवा कर लाने की तिथि का निश्चय और निमंत्रण। [2]. स्थान। [3]. उदास।

(आ)

विवाह के गीत

"भारतीय समाज में मनुष्य के विविध-सस्कारो में विवाह-संस्कार का सबसे अधिक महत्त्व है। लोक-जीवन में किसी सस्कार के महत्त्व के अनुसार ही एक लौकिक अनुष्ठान का राग-रहस्य-मय वातावरण प्रस्तुत होता है। इस अवसर पर होनेवाली प्रबल भावाभिव्यक्ति का जो रूप नारी-लोक के गीतो में प्रस्तुत होता है, उसकी एक झाँकी यहाँ दी जाती है। यह व्रज के क्षेत्र से सबधित है। इन गीतो का सकलन-सपादन भी चद्रभानुजी आदि अनेक महानुभावो ने किया है।"

सगाई

चंदनऊ की चँदन-पलिकिया, गढि ल्याउ लाल लुहार के।
अचवनि-मचवनि भँमर डराए, पाटिन अरसी लगाइ ऐ।।
रेसम-बाँन बुनाई पलिकिया, दौनि लगाई मखतूल की।
औंइत-पाँइत गिडुआओ लागे, सबाउ दरियाए की सौरि ऐ।।
जा पर बैठि दोउ मिलि साजँन खेलत झुँअना-सारि ऐ।
खिरकी के ओलें-ओलें ओजी औ डोलैं, का पिय झुँअना खेलिए।।
को जिअ हारौ, को जिअ जीतौ, कोन के परि गए दाइ ऐं।
आजुलु हारे, साजनु जीते, परेऐं दुलहु के दाइ ऐं।।
सूँनु धँनु हारे, रूप धँनु हारे, हारे बछा सो गाइ ऐं।
एकु जौ हारे कुँमरि लाडिलडी, आजी के बसत पिराँन ऐं।।
सूँनु धँनु दै हो, रूप धँनु दै हो, दैहौ बछा सो गाइ ऐं।
एकु न दै हो कुँमरि लडिलडी, आजी के बसत पिराँन ऐं।।
खिरकी के ओलें-ओलें मैयाओ डोलै, का पिय झुँअना खेलिऐ।
खिरकी के ओलें-ओलें चाचीओ डोलै, का पिय झुँअना खेलिऐ।।
खिरकी के ओलें-ओलें भाभीओ डोलै, का पिय झुँअना खेलिऐ।
को जिअ हारौ, को जिअ जीतौ, कोन के परि गए दाइ ऐं।।
बाबुल हारे, साजनु जीते, परे ऐं दुलहु के दाइ ऐं।
चाचुल हारे, साजनु जीते, परे ऐं दुलहु के दाइ ऐं।।
बीरनु हारे, साजनु जीते, परे ऐं दुलहु के दाइ ऐं।
सूँनु धँनु हारे, रूप धँनु हारे, हारे बछा सो गाइऐं।।
एकु जौ हारे कुँमरि लडिलडी, मैया के बसत पिराँन ऐं।
एकु जौ हारे कुँमरि लडिलडी, चाची के बसत पिराँन ऐं।।
एकु जौ हारे कुँमरि लडिलडी, भाभी के बसत पिराँन ऐं।।
सूँनु धँनु दै हो, रूप धँनु दै हो, दै हो बछा सो गाइ ऐं।
एकु न दै हो कुँमरि लडिलडी, मैया के बसत पिराँन ऐं।।
एकु न दै हो कुँमरि लडिलडी, चाची के बसत पिराँन ऐं।
एकु न दै हो कुँमरि लडिलडी, भाभी के बसत पिराँन ऐं।।
मोरें औ कौरें गुड्या औ छोडी, रोवत छोडी सहेल री।
कोटि तरे तें निकरी पलिकिया, कोइन मवद सुनादऐ।।
तू मा बोने धारी बन की कोइलिया, छूटी बबुल की देसु ऐं।
गिऐं पनारि जनडु घर आए, मडपु देगौ अँधियार ऐं।।

मैंया के रोजनि नदियाँ बहति ऐं, बबुल रोवत दरिग्राउ ऐ।
बिरैंन के रोजनि पटुका ग्रौ भीजैं, भाभज मौं मसकोरि ऐ।।
ग्रब सुख सोग्रो मेरी दौरि-जिठाँनी, नँनद गई ऐं परदेस ऐ।।

२

हाथ गडुग्ररा लेउ वाके बाबा, सतुग्रा बाँधौ डेढ सेर, बरु ढूँढन कूँ नीकरे।
ग्रग्गिम ढूँढची लाडौ, पच्छिम ढूँढची, ढूँढी है सब गुजराति।
तिहारी जोडी कौ वरु ना मिलै—

(ऐसे ही नाम ले लेकर सब शहरों के लिए)

एकु न ढूँढचौ ग्रगिलास[1] (या जो गाँव हो) तिहारी जोडी कौ वरु माँ मिलै।

लगुन

हाथ डडा, मुख बाँसुरी ग्रौरु खेलत ऐं चौहाँन[2], मनोहर साँमरे।
घर ग्राग्रौ न लाल लडाइते, लगुनाइत ऊवँ[3] द्वार, मनोहर साँमरे।।
लला, कोन रुके तुम नाँतिया, ग्ररु कोन बबुल के पूत, मनोहर साँमरे।
लला, ग्रपने ग्रजुल[4] के नाँतिया, ग्ररु ग्रपने बबुल रजपूत, मनोहर साँमरे।।
लला, कोन के भाइ-भतीजे रे, ग्रौरु कोन के लौहरे-जेठे बीरु, मनोहर साँमरे।
चाचुल भाइ-भतीजौ ग्रौरु बीरैंन लौहरे बीरु, मनोहर साँमरे।।
मूँड[5] नारिग्ररे[6] कौ मूँडिऐ, ग्राँखें ग्राँम कै-सी खाँप[7] ऐं, ग्रौरु भौंहनि चढि ऐ कमाँन, मनोहर साँमरे।
दाँत दरों[8] कैसे बीज ऐं, ग्रौरु ग्रोठनि रची ऐ तँमोरि[9], मनोहर साँमरे।।
जिबिग्रा[10] कँमल कैसौ फूल ऐ, ग्रौरु नाँक सुग्रा[11] कैसी चोंचि, मनोहर साँमरे।
काँनन कुँडल खुलि बने, ग्रौरु चुन्नी ग्रोले लेइ, मनोहर साँमरे।।
बाँह[12] पिपर[13] कैसी डार[14] ऐं, ग्रौरु गोड[15] मरुग्ररे[16] के खभ, मनोहर साँमरे।
ग्रँगुरी तो फरियाँ[17] रमास[18] की, छडियाँ सोभा देइ, मनोहर साँमरे।।
सिर पर चीरा खुलि बने, ग्रौरु कलँगी ग्रोलें लेइ, मनोहर साँमरे।
बदन में कुडिता खुलि बनी, करिग्रा[19] गाई[20] में समाइ, मनोहर साँमरे।।
कटि पीताबर खुलि बनी, ग्रौरु मोजा ग्रोलें लेइ, मनोहर साँमरे।
सजि बरनाँ ठाडे भए, ग्रौरु सूरज भए हैं ग्रलोप[21], मनोहर साँमरे।।
ग्रब काहे सो करिहौ ग्रारती, ना घर में राई-नोन, मनोहर साँमरे।।
राई बिकति बनारसु, ग्रौरु साँमर[22] हाट बिकाइ, मनोहर साँमरे।।
को मेरे जाइ बनारसें, ग्रौरु को मेरे हाटें जाइ, मनोहर साँमरे।
बाबुल जाँइ बनारसें, ग्रौरु चाचुल हाटें जाँइ, मनोहर साँमरे।।
ग्रब करि मैया, ग्राँचनो, ग्रब घर राई-नोन, मनोहर साँमरे।
लला, ब्याहि बहूग्र लै ग्राइऐ, ग्रौ फूली ग्रँग न समाइ, मनोहर साँमरे।।

[1]. उस गाँव का नाम जहाँ वर मिला हो। [2]. चौगान। [3]. उकता रही है, थकी जा रही है। [4]. बाब। [5]. मूंड, शिर। [6]. नारियल। [7]. फाँक। [8]. दाड़िम, ग्रनार। [9]. ताबूल-पान। [10]. जिह्वा। [11]. शुक, तोता। [12]. बांह। [13]. पीयल। [14]. डाल, शाखा। [15]. टाँग-जानु। [16]. मरुग्रा (एक वृक्ष)। [17]. फली। [18]. लोबिय। [19]. कटि। [20]. ग्रगूठे ग्रौर उसके पास की उगली से दूसरे हाथ का ग्रंगूठा ग्रौर उस के पासवाली उँगली मिलाने पर बीच में जो ग्रवकाश रहता है वह गाई कहलाता है—ग्रंगूठे ग्रौर उसके पासवाली उँगली के बीच का भाग भी 'गाई' कहलाता है। [21]. लुप्त। [22]. सांभर, नोन।

अब करि बेंदुल[1] आरतो, माथे पै तिलकु सँजोइ, मनोहर साँमरे।
राँम-सिया जोड़ी बनी, और सोभा बरनी न जाइ, मनोहर साँमरे॥

बधाया

राँम आए अजुध्या अँनद भए, अँनद भए माई, सुख-चैंन भए।
माई, राजा जसरत[2] कें चारि बेटा भए, चारो घूमें अजुध्या अँनद भए॥
माई, राजा जसरत कें चारि हाती[3] हुए, चारो ठाड़े दरवाजें, अँनंद भए।
राजा जसरत कें चारि बहुअलि[4] हुए, चारो तपें[5] रसोई, अँनद भए॥
राजा जसरत कें चारि बेटी हुए, चारयो लाई बधाई, अँनद भए।
माई, राजा जसरत कें चारि नांती हुए, चारो खेलें आँगनवा अँनद भए॥

१

चित्तरसारी में रामचंद्र पौढ़िए[6], इनकी चद-बदन-सुख-सेज।
घँनउ नवै कछु साहिवु नवै, सिढयिंन में भगिनी अड़ि रही॥
भाभी, जे वटुआ हमें देउ, घँनउ नवै कछू साहिवु नवै।
लाली, जे वटुआ मेरे बाप कौ, तिहारे बिरँन गढायौ सोई लेउ॥
चित्तरसारी में लछिमन पौढ़िए, इनकी चद्र-बदँन-सुख-सेज।
घँनउ नवै कछु साहिवु नवै, सिढ़ियँन में भगिनी अड़ि रही॥
भाभी, जे वटुआ हमें देउ, घँनउ नवै कछू साहिवु नवै।
लाली, जे वटुआ मेरे बाप कौ, तिहारे बिरँन गढायौ सोई लेउ।

२

आई, आई नंद जू की पौरि[7], बधाई लाई मालिनियाँ
कहा लाई लल्ला की बधाई, सुघड़-पट मालिनियाँ॥
फूल लाई मालिन, तो पाँन तमोलिनियाँ।
गदका[8] लाई लल्ला की बधाई, सुघड़-पट मालिनियाँ॥
हरे-हरे गोवर अँगन लिपाओ कि सुघड़-पट मालिनियाँ।
गज-मोतिन के चौक-पुराओ, सुघड़-पट मालिनियाँ। आई-आई०
कुम-कलस इमिरितु भरि लाए, चपे की डार झकोरी, सुघड़-पट मालिनियाँ।
ऐंपनु-घोरि पटा गहि मारौ, साटी के आछत डारौ, सुघड़-पट मालिनियाँ। आई-आई०
जा चौक बैठे रामचंद्र, सग सजन की जाई, सुघट-पट०
भूआ-मैंना करे आरती[9], अगरति अपनो नेगु, सुघड़-पट मालिनियाँ॥ आई-आई०
मोतिन के गजरे बेटी सुभद्रा ऐ लै पहिराओ, सुघड़-पट मालिनियाँ।
देंत असीस चली मधुवन कू, जिओ तेरौ कुँमर कँन्हाई, सुघड़-पट मालिनियाँ। आई-आई०

३

सुनि, सुनि रे मेरे समरथ साहिव, नँनद परौसि न राखिऐ।
सोई, सोई देखै, सोई सोई माँगे, नित उठि कोसै राजा बीर॥
छज्जेनु-छज्जे मेरे कुँमर जु डोलें, आँगन डोलै मेरे भाँनजे।
सोंने को तोड़ा मेरे कुँमर जो पैंहिरे, चाँदी कौ पैंहिरे मेरे भाँनजे॥

१. बहिन। २. आरतौ। ३. दशरथ। ४. हाथी। ५. बहुएँ। ६. करें। ७. सोवें। ८. पौली, देहली, देहलीज। ९. बच्चे को हाथों, पैरों और कमर में काले डोरे पहनाये जाते हैं। यही काले डोरे के पहुँची, कोंधनी और गदका कहलाते हैं। १०. आरती की भाँति का एक अनुष्ठान।

सोरँन-थार मेरे कुँमर जी जँमें, बेलँनु जँमें मेरे भाँनजे।
अँगिया बखेरी मेरी नँनद बहुतेरी, टोपी बखेरूँ नँनदऊ बहुतेरे।
रुपया बखेरूँ घँना बहुतेरी, माँ की रे जाई कहाँ पाइए ।।

४

आजु की घड़ी मेरे अँनँद-बधाए जी राज।
भूरी-सी हथिनी जरद अबारी, जा चढ़ि आए मेरे पच हजारी, जी राज ।। आजु की०
सुभ की घड़िनु साहिब घर आए जी राज, सुसर-बिआई मेरी सासु कहाई जी, राज
सासु के जाए देवर-जेठ कहाए, जी राज ।।
जेठ बिआही मेरी जिठाँनी कहाई जी राज, जिठाँनी के जाए जेठौत कहाए, जी राज।
नंद कूं ब्याहे नँनदेऊ कहाए जी राज, नँनद के जाए भाँनँज कहाए, जी राज ।।

५

यह गौने को जाते समय गाया जाता है।
खोलूँगी डिब्बा में पैहिरूँगी गहनो, जी राज।
खोलूँगी बकुचा में पैहिरूँगी कपड़े जी राज, पँहरि दिखाऊँ छोटी बाई जी के बीरा जी राज।
लोग की लकड़ी साहिब हँम मारे जी राज, कछु मारे, कछु लाड़-लड़ाए जी राज।

६

कोकिला, बनि जइयौ नँनदिया।
जइयौ नँनदिया, बधाई लैकें अइयौ नँनदिया ।।
काँनो में ऐरन-तरकी सोहें, बिजली की साही दैकें अइयौ नँनदिया।
नारि में हरवा-निकलस सोहै, लौकट की साही दैकें अइयौ नँनदिया।
बाँह में बाजू-जोसन सोहै, अतो पै नग जड़वइयौ नँनदिया ।। कोकिला बनि०
हाथो में दस्ते-खड़ला सोहें, छड़ियो की साही दैकें अइयौ, नँनदिया।
कमरि में पेटी-तगड़ी सोहै, मच्छी में नग जड़वइयौ नँनदिया ।।
कोकिला बनि जइयौ नँनदिया
पैरो में छल्ले-छागल सोहें, पाइल पै नग जड़वइयौ नँनदिया।
अग में साड़ी-जफल सोहै, बौडी की साही दैकें अइयौ नँनदिया ।।

७

जसरत के चारो लाल, दिन-दिन नीकौ लगै।
कोन कें बाजें ढोलक-मँजीरा, कौसल्या के घुरत निसाँन।
केकई कें बाजे ढोलक-मजीरा, कौसल्या के घुरत निसाँन ।।
कोन नें बाटे बीड़ा-बतासे, कोन नें नागर पाँन। दिन-दिन०
केकई नें बाटे बीरा-बतासे, कौसल्या नें नागर पाँन ।। दिन-दिन०
केकई नें पूँजे कुआ-बावरी, कौसल्या नें सागर-ताल। दिन-दिन नीकौ०
केकई कें बाजे नौबत-नगारे, कौसल्या कें घुरत निसाँन ।। दिन-दिन नीकौ लगै।

८

हरे, हरे गोबर अँगनु लिपायौ, रग-मैंहल में।
अरी, चूँनन चौक पुराए री माई, अरी आजु तो बधाई बाजी रंग-मैंहेल में ।।
अरी कूम-करस इमिरत भरि लाए, ऐंपन मोर पटा धरि दीए, रग-महल में।
कुस्न पटा पै बैठेरी, सग सजन की जाई री माई, रग-मैंहेल में ।।

अरी भूआ-बैहिन करति आरती, उन री झगरति अपनो नेगु, रग-मैहल में।
देति असीस चले ब्रज-वन कूँ, जियौ तुम्हारे कुँमर कन्हाई री माई, रग-मैहल में॥

६

आजु बडी को ओसरौ[1] रे, अरे रस भोरा रे।
रचि-पचि[2] कीयौ ऐ सिंगारु, अरे रस भोरा रे॥
सासु पै माँग्यौ कोरौ[3] दीवला,[4] नँनद पै तेलु-फुलेलु।
सासु नें दै दीयौ फूट्यौ-सौ दिवला, नँनद नें करुओ-सौ तेलु॥
रचि-पचि कीयौ ऐ सिंगारु, पाटी[5] तौ पारी चोखे मोम की।
हाथ-पलँग सिर-सौरि[6], घँमकि अटरिया चढ़ि गई॥
खोलौ तौ खोलौ किवरिया, नाहिं उलटि घर जाउँ अरे, रस भोरा रे॥
आई धँन तँन-मँन मारि, सासु-नँनद पूछें बात, कहौ बहू रैंनि की बात।
सेजँन पै पथरा परे, और पिय पै परयौ ऐ तुसार॥
आजु ल्हौरी[7] कौ ओसरौ रे, अरे रस भोरा रे।
सासु पै माँग्यौ कोरौ दीवला, नँनद पै तेलु-फुलेलु।
सासु नें दै दीयौ फूट्यौ दीवला, नँनद नें तेलु-फुलेलु॥
रचि-पचि कीयौ ऐ सिंगारु, पटिया तौ पारी चोखें मोम की।
हाथ-पलँग, सिर-सौरि, घँमकि अटरिया चढ़ि गई॥
खोलौ पति झँझन-किवार, नहिं तौ उलटि घर जाउँ।
झटपट खोलीऐं किवार, काए कूँ उलटि घर जाउ॥
आई धँन रहसी[8] री फूली, व्याकी धौर[9] जिठाँनी पूँछें बात।
सेजनिरां[10] फुलवा परे, कोई पिउ पै उडत गुलाल॥ अरे रस भौरा रे।

भात

जानें कैसौ कागा बोलौ रे, नीवा तेरी डारिआ।
भैंनि चलीऐ वीर कें कोई गुर की गोनि भराइ॥ जानें कैंसौ कागा०
गैल-बटोई नीकरौ, कोई द्वै बतियाँ सुनि लेउ रे।
हँमरे विरँन सो यों कहौ, त्यारी बैंहन-घर ब्याहु रे॥ नीवा तेरी डारिआ।
कब की रे भैंनि तेरे मांडयौ, औरु कब कौ छिकौ है बिमाहु रे।
परिवा कौ रे मांडयौ औरु मेरें दौज कौ छिकौ ऐ बिआहु रे॥ नीवा तेरी डारिआ।
गैंउओ ई गेउओ मति करै, मैं तौ लाऊँ बौरा-लदाइ रे।
कपडे ई कपडे मति करै, मैं तौ लाऊँ बक्स-भराइ रे॥ नीवा तेरी डारिआ।
रुपिया ई रुपिया मति करै, मैं तौ लाऊँ बसनी-भराइ रे।
हँम तौ बुलाए बीर मांड एँ, तुम आए बडहार रे॥ नीवा तेरी डारिआ।
जो मरचें तेरे मांडए, औरु मोउ मरचूं तेरी बडहार रे।
भातु तौ उनदौ मांड ऐ, और छाल गई पिछवार रे॥ नीवा तेरी डारिआ।

1. अवसर, बारी। 2. भली प्रकार, सँभाल कर। 3 शुद्ध, जिसमे कोई काम न लिया गया हो। 4. दीपक का मिट्टी का पात्र। 5. पाटी पारना, पटिया पारना, बालों की माँग निकालना। 6. ओढ़ने की रजाई। 7. छोटी। 8. आनंद मान। 9. धौरानी, देवरानी। 10. सेज पर।

२

आजु मेरे बागनि रँग चूऐ रे, बाग की फूली फुलवाडि, कलियाँ तुरावै[1] राजा भातई रे।
आजु मेरे तालनि रँग, चूऐं रे, ताल की ऊँची-नीची पारि, करहा[2]-पियावै मेरी भातई रे।।
आजु मेरे ऊसरनि रँग, चूऐ रे, ऊसरा की हरी-हरी दूब, करहा-चुगावै मेरी भातई रे।।
आजु मेरी गलियेंनि रँग चूऐ रे, गलियेंनि की नेंन्ही-नेंन्ही घूरि, करहा नचावै मेरी भातई रे।
आजु मेरे द्वारेंनि रँग चूऐ रे, बैठे हैं देवर, जेठ सीस-नवावै राजा भातई रे।।
आजु मेरे मँड़इनि रँग चूऐं रे, बैठी हैं दीर-जिठांनी, भातु पैरावै राजा भातई रे।
आजु मेरी रसोइनि रँग चूऐं रे, परसति लौहरी-सी नद, भातु-मलोरैं[3], राजा भातई रे।।
परसति लौहरी-सी नद, सैंन-चलावै राजा भातई रे।।

३

भैंनि चली ऐ बीर कें रे, चौपट चादरि ओढ़ि, राजा भातई रे।
एकु बनु नाखो, दूसरौ रे, तीजे बनु पहुँची है जाइ, राजा भातई रे।।
नौआ कौ बोलै बोलनें रे, अजुध्या में परत न पाँइ, राजा भातई रे।
जब बेटी पहुँची ऐ द्वार पै रे, भावज जडे एँ किवार, राजा भातई रे।।
जौ तुम कुल की औ भावजी रे, खोलि देउ बजुर-किवार, राजा भातई रे।
ककुल[4] बबूल सिब[5] देखिऐ रे, बीरँनु कहूँ न दिखाँइ, राजा भातई रे।।
पितीआ के बोलत बोलनें रे, त्यारे[6] बिरँन दस मास, राजा भातई रे।
लौहरी भतीजी अचपली रे, खोलि दए बजुर-किवार, राजा भातई रे।।
नँनद-भवज दोऊ भैंटि ऐ रे, जैसें साँमन कौ ऐ मेउ, राजा भातई रे।
त्यारे बिरँन द्वै बिरछ लगाए, एकु महुआ एकु आँम, राजा भातई रे।।
आँमु मिली है रोइ कें रे, महुआ ऐ छाती फारि, राजा भातई रे।
महुआ की फटि किरचें[7] भईं रे, बैठे हैं गुँजलक[8] मारि, राजा भातई रे।।
जिअतेंन[9] पथरा परे रे, मरेनु पै माँग्यौ ऐ भातु, राजा भातई रे।।
कब कौ भैंनि तेरे माडओ रे, और कब कौ छिकौ ऐ[10] ब्याहु, राजा भातई रे।
परिवा-दौज कौ माडओ रे, औरु तीज कौ छिकौऐ ब्याहु, राजा भातई रे।।
जाउ भैंनि घर आपनें रे, औरु हम पैरांमिगो भातु, राजा भातई रे।
एक बचनु बेटी मानिएँ रे, महुआ पटा न चौकें डारि, राजा[11] भातई रे।।
पैलें तौ आवैगी आँधिया रे, ता पीछें आवैगो मेउ, ता पीछें आमिंगे बीरु, राजा भातई रे।
भातु खरीदत बिरमिएँ रे, बकुचा-बँधत भई देर, राजा भातई रे।।
गेंहू खरीदत बिरमिएँ रे, गाड़ी-लदत भई देर, राजा भातई रे।।
अवसरु आयौ मेरी भातु कौ, रोवति अनी-अनी भाँति, राजा भातई रे।
पै लें तौ आई भैंना आँधिया रे, तौ पीछें आयौ ऐ मेउ, ता पीछें आए हैं बीरु, राजा भातई रे।।
चारि पैंहर बरसा भई रे, औरु पैंहरायौ सिबु परिवार, राजा भातई रे।
नौआ कौ छत्तीसिआ रे, महुआ पटा चौकें डारि, राजा भातई रे।।
सरपटि भए हैं अलोप, राजा भातई रे।
एकु अँदेसौ मेरे मन रह्यौ रे, मिलती रे जिअरा हिलोरि, राजा भातई रे।।

१. तुडवा रहा है। २. ऊँट। ३. खाते हैं। ४ चाका। ५. सब, समस्त। ६. आप के। ७. टुकड़े। ८. सर्प की गुंजल के। ९. जीवितों पर। १०. छिका हूँ, पंडित द्वारा शोध कर निश्चित किया गया है। ११. छत्तीसिया—छत्तीसा-चतुर।

अवका भैंनि मेरी मन पछितायौ भैंटिलै वेदी की खमु, राजा भातई रे।
मति रे विरँनु भइया भैंटिऐ रे, मैंना भेंटू वेदी खमु, राजा भातई ॥

बरनी पै तेल चढ़ाने के समय के गीत।

अलबेली तमोलिनि, मेरी लाडी कू पाँन चववाइ ।
जब मेरी लाडी नें हरदी सँजोई, रोरी पै अजब बहार ॥
जब मेरी लाडी नें मेंहदी सँजोई, कगन पै अजब बहार।
जब मेरी लाडी नें गेंहनों सँजोयौ, कपडा पै अजब बहार ॥
जब मेरी लाडी नें सुरमाँ सँजोयौ, मिस्सी पै अजब बहार।
जब मेरी लाडी नें डोला सँजोयौ, दूलै पै अजब बहार ॥

रतजगे

सई[1] साँझ कौ तिलवा पटकि लै मेरी नँनदी, नातौ घरी उठाइ।
तेरौ तौ भैया अलबेलौ वारी नँनदी, गुरु चोरी कौ खाइ।
वरज्यौ जाइ वरजि लै नँनदी, तेरौ भैया पर घर जाइ।
वारौ होइ तौ वरजू मेरी भावी, भैया ते लगति ऐ लाज ॥
घरकी खीर किरकिरी लागै भाभी, पर-घर की महेरी खाइवे जाइ।
घर की खाँड किरकिरी लागै भाभी, पर-घर सक्कर खाइवे जाइ ॥
वारौ होइ तौ वरजू मेरी भाभी, बिजरा न वरज्यौ जाइ।
कूआ होइ तौ पाटू मेरी भाभी, सँमद न पाटयौ जाइ ॥
चिठिया होइ जाइ बाँचू मेरी भाभी, करँमु न बाँच्यौ जाइ ॥

२

वरद-भरी मेंहदी पिरै ऐ कोई मेंहदी ऐ लेड, मेंहदी राँचनी।
लिग्गे हमारे रामचद से भोगिया, जिनकी सीता जीऐं जोगु, मेंहदी राँचनी ॥
चरत-भरत से भोगिया, जिनकी माता ऐ जोगु, मेंहदी राँचनी ॥

तेल—विवाह

रतजगे से दूसरे दिन तेल चढ़ता है, उस समय के गीत, भाभी वो बहनें या भूआ गाती हैं। इन्हें 'हथलग' कहते हैं।

तेलिन विटिया तेल मेरौ, राँम चमेली कौ तेल ऐ।
बहू सीता तेल चढ़ाइऐ, बेटी रामेसुरी तेल चढइऐ ॥
घरई लछिमन जी बावइयाँ, बहू उरमिला तेल चढ़ाइऐ।
तेलिन विटिया तेल मेरौ, राँम-चमेली कौ तेलु ऐ, भैया बँहन (नाम) तेल चढाइऐ ॥

घोड़ी

एक मथुरा सहर[2] नजीक,[3] नई तेजनि[4] आई ऐ।
न्याके बाबा खरचिंगे दाँम, सौदागर लाई ऐ ॥
घोडी बाँधुंगो सीरक्षुआर, दरो[5] के पेड़ ते।
घोड़ी नीरूँगो[6] नागर पाँन, चना के खेत में ॥

[1]. सांझ। [2]. शहर। [3]. नजदीक (पास) का रूपांतर। [4]. घोड़ी। [5]. अनार, दाड़िम।
[6]. सत्कार करूंगा।

घोड़ी लाइगी हरी ऐ चना की दारि, कटोरा दूवे के ।।
राई वर[1] हुए असवार, चावुक और जीन ते।
चंचल वर हुए असवार, चावुक और जीन ते ।।
घोडी लै चलु अचक[2] वैठारि, सजॅन के खेत[3] में।
चंचल वरै जु लाउ जिताइ, सॅजन[4] के दुआर ते ।।[5]

घुड़-चढ़ी का गीत

वीर, कहाँ हर की तू मालिनि ऐ और सेहरी किस घर जाइ री ?
भेंनि वॅन्यौ री कुॅमर कौ सेहरौ ।।
वीर, अजुध्या की हॅम मालिनी, और सेहरी रजॅन-घर जाइ।
री वैहनि, वॅन्यौ री कुॅमर कौ सेहरौ ।।
वीर, कोन रजॅन की मालिनी, और सेहरौ कौन कू जाइ ?
री वैहनि, वॅन्यौ ऐं कुॅमर कौ सेहरौ ।।
लाला, जसरत की हम मालिनी, और सेहरौ उन घर जाइ।
री वैहनि, वॅन्यौरी कुॅमर कौ सेहरौ ।।
लाला, वावा के नाँती सिरी[6] चढ़ै, जसरत के वेटा सिरी चढै–
लछिमन के भैया सिरी चढै और सेहरौ उॅन-घर जाइ ।।
री वैहनि, वॅन्यौरी कुॅमर कौ सेहरौ ।।
और मालिनि, गुह्यौ री गुह्यायौ सेहरौ ।
और धर्यौ ऐ राँम जी के सीस, री वैहनि वन्यौ ऐं कुॅमर कौ सेहरौ ।।

वरना (विवाह) का गीत

सो अवधपुरी में वरनौं गाँमें ।
नाँइनि[7] नगर वुलाए[8] देंति, लगुन राँम-घर घरवाँमें ।।
सव सखियाँ जुरि मिलि कें आँमें, कौसल-भॅमन[9] भरति आँमें ।[10]
मधुर-मधुर सव सुर गाँमें, सो अवध पुरी वरनौं गाँमें ।।
झुंड के झुंड सखिन के आँमें, भरि-भरि डला[11] चाव[12] लाँमें ।
हीरा, लाल, जवाहर, मोती, भरि-भरि डला चाव लाँमें ।।
चचल नारि नचति अॅगना में, झॅनर-झॅनर नेवर[13] वाजें।
जव रघवर की राति जगाँमें[14], मॅहदी हातॅनु रचवाँमें, सव सखियाँ मगल गाँमें ।।
जव रघवर पै तेलु चढाँमें, हरद तेल में लिपटाँमें।
भूआ-भॅना करे आरती, माँथें मरुअटि[15] लगवाँमें, ऊपर चाँमर चुपटाँमें ।।

[1] राधावर-कृष्ण। राधा का रूप 'राई' हो जाता है, यथा—राधा दामोदर के लिए 'राई-दामोदर। [2]. विना हिले-डुले। [3]. देश। [4]. समधी (सज्जन) का विशेषार्थ। [5]. पाठांतर—मेरे, रहिवर लाइगी जिनाइ सजनि की पौरि ते। [6]. श्री। [7]. नाँइनि। [8]. निमंत्रण। [9]. भवन। [10]. आती है। [11]. डलिया से बड़ा—अरहर की लकड़ियों—सींघों का बना हुआ वस्तुएँ रखने का एक बड़ा पात्र—पला। [12]. बधाई-स्वरूप प्रसन्नता प्रकट करने के लिए बूआ या बहिन जो भेंट लाती हैं, वह 'चाव' कहलाता है। [13]. नूपुर। [14]. रतजगा करती हैं। विवाह के संबंध में कुछ विशेष क्रियाएँ करने के लिए एक रात स्त्रियाँ जागरण करती है। [15]. हलदी चढ़ जाने के बाद रोली के टीके मुख पर लगाये जाते हैं, यह रोली मरुअट कहलाती है।

रघवर की निकरौसी[१] कीनी, मौहरु[२] राँम पै बँधवाँमें ।।
छचन चुरी मोतिन के गजरे, बैहिनँन लै कें पैहरांमें ।
दूल्हे की निकरौसी कीनी, घोडी राँम कूँ मँगवाँमें ।।
पिता जू जसरथ लिएँ सग में, थैली ऊपर लुटवाँमें ।
माइ कौसिल्या लिए गोद में, मंदिर-मंदिर उझकाँमें वे ऊमट[३] ऊमट उझकाँमें ।।
कुआ-बावरी उझकाँमें, जब धूप-सरँयाँ[४] फुरवाँमें, बाग बैहिन पै भुरवाँमें ।
माइ कौसिल्या ठाड़ी समझाँमें, सो जनक पुरी सू जल्दी अइयो ।।
सो व्याहि जानकी ऐ घर लइयो ।
नाऊ-नेगी आसामेदी[५], सब कौ सँनमुख धरि अइयो ।।
राजा जसरथ कौ नामु बडौ ऐ, नेग चुकाइ कें घर अइयो ।
सारी-सरहज ठट्ठा करिंगी, सबु के आगें हँसि जइयौ ।।

बारौठी—विवाह

बारौठी है रही द्वार पै, तिरियँन मँगल गाए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेडू फरकैगौ ।।
धन्य-धन्य वौ पिता तिहारे, धन्य मातु जिन जाए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेडू फरकैगौ ।।
कारी-कारी मात तिहारी, तुम मलूक[६] च्यों जाए, रँग बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेडू फरकैगौ ।।
तीजे पनमें व्याह रच्यायौ, हमऊँ आइ लजाए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेडू फरकैगौ ।।
मैं तौ जानूँ पीहर ते लाई, समधिन लाला जाए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेडू फरकैगौ ।।
सबरी परजा हँसी करै, तुम बूढे व्याहँन आए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेडू फरकैगौ ।।
एक जनी तो न्यो[७] उठि बोली, अपनी मैया ऐ च्यो नाँ लाए, रँगु बरसैगौ ।
हाँ-हाँ राँमु, रँगु बरसैगौ, सौतिन कौ पेडू फरकैगौ ।।

२

सिर तेरे ककरेजी चीरा बरनाँ, पेंचो से लागी अंबर-बेल, चमेली कौ तेल ।।
बरनी[८] की राजा बरनाँ, तेरी उमेद मैंने सच्चे मोती पोऐ बरनाँ ।
कान तेरे नौटंकी कौ मोती बरनाँ, लौरो से लागी अंबर बेल[९] ।।

१. दूलह को श्वसुराल भेजने के लिए जो समस्त गाँव की प्रदक्षिणा की जाती है वह 'निकरौसी' कहलाती है। २. मुकुट। ३. जब लड़का विवाह करने के लिए अपना गाँव छोड़ने को प्रस्तुत होता है तो उससे कुआ उझकवाया जाता है। माँ कुँए में एक पैर डाल के बैठ जाती है और कहती है मैं कुएँ में गिरती हूँ। लड़का कहता है गिरे मत मैं तो तेरे लिए बहू लाऊँगा। ४. कुँआ झाकने के उपरांत लडके को श्वसुराल जाने की दिशा में रखी हुई कच्ची मिट्टी की सरँयों (सरवों) को पैर रखकर फोड़ते हुए आगे बढ़ना होता है। इसके उपरान्त वर पीछे घर की ओर नहीं देख सकता और बिना बहू लाए लौट नहीं सकता। ५. आशा करनेवाले। ६ सुंदर। ७. पाठांतर—यों। ८. बरनी, बरैनी। ९. बेलि।

३

बरनौं, धीरें चलौ सुसराल-गलियाँ ।
तिहारी पैंचें सँभारेंगी वेई सखियाँ ।।
जिनके लवे लवे केस, सलोनी अँखियाँ ।
म्वाँ तौ सोइ रहे स्याँम बनाइ बतियाँ ।।—बरनौं धीरे चलौ० ।।

गारी—ज्यौंनार

जेठ जौ उतरचौऐ असाढ़ जी लाग्यौ, इदर सूखा डारी ।
रँग-बरसैगो, हाँ, हाँ, राँम रँग-बरसैगो ।।
राजा जनक नें पडित बुलाए, किस विधि सूखा डारी ।
देस-देस के पडित बुलाए, करि रहे सोच बिचारी ।। रँग-बरसैगो ।
राजा जनक जी, बुरौ न मानो, सुनि लेउ अरज हमारी ।
राजा जनक तुँम हर लै निकरौ, राँनी ऐं चकरारी ।। रँग-बरसैगो ।
आक-ढाक कौ हर बनवाऔ, पीपर की पनिहारी ।
सुरई गऊन के हर जुरवाऔ, सत की कुसि डरवाई ।। रँग-बरसैगो ।
राजा जनक जी हर लै निकरे, राँनी है चकरारी ।
राजा जनक नें हर हाँक्यौ, तब कुस कन्याँ आई ।। रँग-बरसैगो ।
राजा जनक नें कन्याँ लेकें, राँनी गोद गहाई ।
राजा-राँनी लै घर आए, घर-घर बटति बधाई ।। रँग-बरसैगो ।
तीनि दिनाँ की वे भई कन्याँ, जब सोभरि खुलवाई ।
छटए दिन की जब भई कन्याँ, ब्वा की छटी पुजाई ।। रँग-बरसैगो ।
दसए दिन की जब भई कन्याँ, जब ब्वा कौ नामु धरायौ ।
छै महीनाँ की जब भई कन्याँ, सब नें गोद खिलाई ।। रँग-बरसैगो ।
एक बरस की वे भई कन्याँ, सरकि कचैहरी आई ।
तीन बरस की वे भई कन्याँ, गलियेंन खेलेंन आई ।। रँग-बरसैगो ।
सात बरस की वे भई कन्याँ, सखियेंन खेलेंन आई ।
सुनो बराती प्रेम-प्यार तें, जगत मातु गुन गाई ।। रँग-बरसैगो ।

२

गारी

जौ हरि आजु हँमारे आँमें, केसरि अँगनु बुहारूँगी, फूलँन-माला डारूँगी ।
चदन-चौकी दऊँ बैठनो, दूधँन पाँम-पखारूँगी ।।
हरे-हरे गोबर अँगनु लिपाऊँ, मोतिन चौक-पुराऊँगी ।
कूँम-करस इमिरितु भरि लाए, चपे-डार झकोरूँगी ।।
सकल धीर आँगन बैठारूँ, साठी के आखत डारूँगी ।
जनक के अँगनाँ भीर भई भारी, जुरि आई सबु नारी ।।
चारचो भूप बराबरि बैठे, कहा परस्यौ मैंहतारी ।
जौ कगन की गाँठि न खूटै, बोलि लेउ मैंहतारी जी ।।
अचर-ओट सिया मुसिक्याँनी, चो सकुची तुम नारी जी ।
तोरत धनुस पलक नाँ लाग्यौ, कगन-गाँठि कहा भारी जी ।।
ऊनी औद रेसिमी, सूती, दिए कुसासँन डारी जी ।
थार, गिलास, कटोरा, लोटा, धोइ-धोइ धरे अगारी जी ।

सीता कौ मंगलु

रॉंमु अहेरें[1] नीकरे लछिमनु लागे हूं साथ , सीता कौ मगलु गाइऐ।
मति चलौ लछिमनु, मति चलौ ; मरि हौ भूंक-पियास, सीताकौ मंगलु गाइऐ ॥
ना हमें भूंक ना प्यास ऐ, चलि हूं तुमारे ई साथ ; सीता कौ मगलु गाइऐ।
एकु वन नाखौ, दूसरौ नाख्यौ, तीजे बन लागी ऐ पियास ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ॥
ना वॉं कुअटा, ना बावरी, ना व्हॉं जसरथ के ऐं ताल , सीता कौ मंगलु गाइऐ।
डूंडी[2] पीपरि झकझालरी मॉं[3] चढि लछिमनु देखिऐ ,सीता कौ मगलु गाइऐ ॥
तनिक बिटरिया[4] भाट की, रखावति ऐ जौ की खेतु, सीता कौ मंगलु गाइऐ।
तनिक तलैया जल-भरी, मॉं चलौ जलु पी लेंइ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ॥
प्यासे होउ तो जलु पियौ, भूंकें जौ रे चबाउ, सीता कौ मंगलु गाइऐ।
भाट-बिटरिया जानुकी और जे हैं गे श्रीरॉंम ; सीता कौ मगलु गाइऐ ॥
रॉंम-सिया जोडी वनी, दोउ मिलि होइगौ ब्याउ , सीता कौ मंगलु गाइऐ।
जसरथु पाती लिखि दई है, रखी है जनक जू के हाथ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ॥
विन-[5] घर क्वारी हैं जानुकी, अरु हम घर हैं श्रीरॉंम ; सीता कौ मगलु गाइऐ।
जनक ने पाती लिखि दई, घरी ऐ जसरथु हाथ ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ॥
हम तौ रे भाट-भिखारिया और तुम राजा-महाराज, हमें-तुमें कैसें होइगी सजनई।
कोरे से कागद मँगाइऐ, हरदी, दूब मँगाइ, सीता की लगुन लिखाइऐ ॥
पॉंच सुपारी और नारियर, मोहरे दई हैं धराइ ; सीता की लगुन पठाइऐ।
लगुन चढी बाजे बजे, सजा ऐ बरायत जाइ ; सीता कौ मगलु गाइऐ ॥
नॉं मो पै देंनी-दाइजौ[6] ना कलसनि के ऐं जोट ; सीता कौ मंगलु गाइऐ।
रॉंम-सिया भॉंमरि परी, विरमॉं बेद उचारि ; सीता कौ मंगलु गाइऐ ॥
ब्याहु चलौ री जसरथ कौ छोरा, अवधिपुरी कूं जाइ, सीता कौ मंगुलु गाइऐ।
हाथ-जोरि जनक भए ठाडे, मो पै कछू वनि नहीं आई, सीता कौ मगल गाइऐ ॥
रसोई-तर्पन कूं सीता दीनी, जैंमें सिवु-परिवारु, सीता कौ मंगलु गाइऐ।
सीता की मैया यों कहै, मेरी सिया अकिली न होइ, सीता कौ मगलु गाइऐ।
दौस[7] सहेलिन-झुंड है, राति कौसिल्या की गोद ; सीता कौ मगलु गाइऐ ॥
सीता की मैया यो कहैं मेरी सिया भूंखी न होइ, सीता कौ मगलु गाइऐ।
दिन कू तौ जैंमें सुखपुरी, राति कटोरनि दूध ; सीता कौ मंगलु गाइए ॥
सीता की मैया यों कहैं, मेरी सिय प्यासी न होइ , सीता की मंगलु गाइऐ।
दिन कूं तौ पीवै पानियॉं, और राति कूं सरजू कौ नीरु ; सीता कौ मगल गाइऐ ॥

२

बेटी सितलदे[8] ने लिपनो डारौ[9], धनुष धरचौ ऐ उठाइ, न हो।
बाहिर ते रे जनकु घर आए तो किधों जिन्ने धनुष उठाऔ न हो ॥
सीता की मैया यो उठि बोली, बेटी सितलदे नें लिपनो डारौ, तौ धनुष धरचौ ऐ उठाइ न हो।
राजा जनकु मन अतिरजु[10] मॉंनो, तौ भई ऐ ब्याहु के जोग, न हो ॥
देस-देस के पडित जोरे, तौ देस-देस परिमॉंने, न हो।
देस-देस के राजा आए, भूप जुरे अभिमॉंनी, न हो ॥

[1] सिकार के लिए। [2]. जिसका एक ओर का भाग टूट गया हो। [3]. वहॉं। [4]. बेटी। [5]. उनके। [6]. दहेज। [7]. द्यौस, दिवस, दिन। [8]. सीता देवी। [9]. लीप रही थीं। [10]. आश्चर्य।

जो जा धनुष कूँ टोरै, सोई सिया-वरु होइ, न हो ।।
बिस्वामित्तर जनक-घर आए, सँग जसरथ के ढोटा, न हो ।
सिगरे[1] राजा बलु करि-करि हारे, परि तिलु भरि टारें-टरौ, न हो ।।
बिस्वामितर जब आग्या दीनी, राँम उठे हरखाइ, न हो ।
दाँईं भुजा सूं धनुष उठायौ, तौ करि दए न्यारे-न्यारे टूँक, न हो ।।
धनुष री टूटनि, बदरा की गरजनि, घोर भई तीनो लोक, न हो ।
राँम-सिया की भाँमरि परी, बिरमाँ बेद उचारै, न हो ।
ब्याह चले जसरथ के छोंनाँ[2], देव करे जै जै, न हो ।।

झींचारी

कुंद-कुल्हाडी धरी रे कँन्हैयाँ, दवँन लागे नाँह काँन्हा कदरी-से बन कूँ ।
कौंन से बन कूँ राँम सिधारे, कौंन बन कूँ मेरे लछिमनु दिवर ।
कजरी से बन कूँ राँम सिधारे, नदन बन कूँ मेरे लछिमनु दिवर ।।
पात-पात कजरी बन ढूँढ्यौ, कहूँ न पायौ आली चदनार पिंडुला ।
सीरी-सीरी ब्यारि चलै पुरवैया, महकि रह्यौ चदनार पिंडुला ।।
काटि-कूटि काँन्हा नैया बनाई, जाइ डारी जाइ जँमुन-जल घटवा ।
बूडी-बूडी काँन्हा पार रे उतारौ, जमाँन पठिया ऐ राखौ घर बिरमाइ ।।
एक लँगु धरी काँन्हा दधि की चपटिया, एक लँगु धरि साढे सोलै सै गुजरिया ।
गोरी धनाँ की काँन्हा बहँया रे मरोरी, सँमल चँन के चुरिला डारौ मसकोरि ।।[3]

२

ढब-ढब डौंरू बजि रह्यौ, बिकट बनी के बीच, बन मे हरी ऐं सीया जाँनुकी ।
लंका ते राँमनु चल्यौ, कोई धरि जोगी को भेखु ।।
सीता भिच्छा डारिदै, तेरे जोगी ठाडौ द्वार ।। बन में० ।
मै कैसें भिच्छा डारि दू घर, देवर दै गए आँनि ।।
सीता भिच्छा डारि दै तेरे जोगी ठाडौ द्वार । बन में० ।
थर[4] भरि मोती सीया लाइऐ, कोई लै जोगी के भीखु ।।
आँनि की भिच्छा ना लऊँ, रेखा ते बाहिर आउ । बन में० ।
सीता भिच्छा लाइऐ, भीतर लई ऐ झोरिया[5] में डारि । बन में ० ।।

विवाह

भूआ-भतीजी दोऊ पाँनी कूँ चाली, धरि गागरि पै लेजु, बेटी अरजुन की ।
ए जी, भूआ तौ उचि कें चलि दई, दीनी भतीजी पल्लीपारि, बेटी अरजुन की ।।
ए जी, जाइ उतारी बाग में, निबुअँन ते भरि लाई झोद ।
ए जी, जाइ उतारी बजार में, लड अँन ते भरि लाई गोद ।। बेटी अरजुन की ।
ए जी, जाइ उतारी पैंठ में, कोई बिछुअँन भरि लाई झोद ।
ए जी, जाइ उतारी बारू रेत में, बिछुअँन भरि गयौ रेत ।। बेटी अरजुन की ।
ए जी, कुची ते निखारूं तिहारे बीछिया, कोई दुपटा ते पोछू तिहारे पाँम ।
ए जी, जाइ उतारी मेंहल में और मैंहल झिगारै ल्हौरी सौति ।। बेटी अरजुन की ।
ए जी, कै तुम लाए ल्हौरी दूसरी और कै लाए मैंहमाँन ।
ए जी, ना मैं लायौ ल्हौरी दूसरी और नाँहि लायौ मैंहमाँन ।। बेटी अरजुन की ।

[1]. समस्त । [2]. पुत्र । [3] यह गीत कहारों में ही गाया जाता है । [4]. थाल । [5]. झोली ।

ए जी, राति पिसाश्रौ इन पीसनो श्रौर चौस खिलावैं नँदलाल।
ए जी, बगर बरकेरु तिहारौ पीसनो श्रौर धरि-पटकूँ नँदलाल।। बेटी अरजुन की।

भाँमर पड़ने के समय का गीत

जुरि आई नर-नारि, जनक जी के अँगना में सखियाँ।
हरे-हरे गोवर अँगन लिपाए, मोतिन-चौक पुराए। जनक जी के०।
कूँम[1]-कलस इमरत भरि लाश्रौ, ऊपर मरुए की डार। जनक जी के०।
सिया-रघुवर की जोरी बैठी, रामचद दोऊ भाई। जनक जी के०।
रामचद की होति निछावर, हीरा, लाल, जवाहर। जनक जी के०।
पाँनिन मढश्रौ[2] छवाइ[3] मेरे बाबुल, लोगन गूँथि दिवाश्रौ। जनक जी के०।
सिया-रघवर की परे भँमरिया, विन माइल, विन बाप। जनक जी के०।
कगन-गाँठि[4] खुलै हति[5] नाएँ[6], सखियाँ हँसें दै-दै तारी। जनक जी के०।
कगन-गाँठि खुलै हति नाँएँ, एक माइ, द्वै बाप। जनक जी के०।

२

धनुष कैसे तोरौगे हरि बारे।[7]
हरे-हरे गोवर अँगन लिपाए, मोतिन-चौक-पुराए।।
कुंम-कलस इमिरित[8] भरि लाए, चपे की डार झकोरि।
आज मेरी सीता ऐ रघुवर व्याहँन आए।।
ऐंमनु[9] घोरि यहाँ गहि मारी, साही[10] के आखत[11] डारी।
आज मेरी सीता ऐ, रघुनंदन व्याहँन आए।।
कजरी वन के खम मँगाए, गाढे एँ सीम दुआरे—आज मेरी सीता ऐ०।
खमन-खमन दिवला जोरे, जग-मग जोति सवाइ—आज मेरी सीता ऐ०।।
सीता-सिरीपति[12] फिरत भँमरिया[13] सखिअँन मगल-गाए—आज मेरी सीता ऐ०।
पंडित वेद पढें अति निरमल, अच्छे-अच्छे सगुन विचारे—आज मेरी सीता ऐ०।।

पट्टे पर बैठने का गीत

ए अब बोलि न रे हरे हरे सुअनाँ, लाडी चौकें बैठी।
ए व्याके बाबा नें व्याहु सँजोयौ, लाडी कलसँन जोडी।।
ए तेरे पिंजरा में मोतीअरा बिखेरु, सुअनाँ रुगि-चुगि जाइ।
ए व्याके भैया नें व्याहु संजोयौ, बामन्न जोडी।।
बाबुन नें पाँति सँजोई, लाडी लडुअँन जोडी।
एक हीननी, एक पीसनी, राति की रतमानियाँ।।
इतनो तौ रे मेरे बाबुल दीयौ, सजँन भलौ न माँनिएँ।

१. कुंभ। २. मंडप, मांडवा। ३. छवा दे—लड़की के विवाह के अवसर पर भाँवरें पड़ने की वेदी के ऊपर छप्पर जैसी छोटी छान छवाई जाती है। ४. कंकण की गांठ खोलने का एक अनुष्ठान विवाह के अवसर पर होता है। व्रज में दुलहा और दुलहिन दोनों के विवाह से पूर्व मंडप के दिन हाथ में विशेष विधि और पूजा के साथ कंकण बांधा जाता है। विवाहोपरांत, कहीं-कहीं भाँवरें पड़ने के बाद ही ससुराल में ही, कहीं घर आने पर कंकण की गांठ खोलने का अनुष्ठान होता है। लड़की लड़के का कंकण खोलती है, लड़का लड़की का। इस अवसर पर गाली-ठठोलियाँ मजाक भी चलते हैं। ५. है। ६. नहीं। ७. हथियारे छोटे हरि। ८. अमृत। ९. चावल के आटे का घोल। शुद्ध नाम—ऐपन। १०. शु० पा०—साठी। ११. अक्षत, अच्छत—दूसरा पाठ आखत। १२. श्रीपति—राम। १३. भाँवरें।

दूधाबाती

भाँवरों के समय घीम्राबाती खिलाया जाता है। उस समय का गीत

खा मेरे दुलहा घीम्रा-बाती।
भूँखी कौ जायौ ऐ, लप-लप लै गयौ॥
अघाँनी की जाई ऐ, जोरति[1] जाँति ऐ॥
वँन[2]-बीनत जायौ ऐ कारौ खेंकरौ।
मेरी भरमँन जाई ऐ, गोरी दँमदँमी॥
वँन-ओटतु[3] जायौ री कि छीमत[4] गिरि-परचौ।
मैंहलँन बेटी री जाई, री कि नच-कूदनी॥

सबेरे का कूकर

जागौ, जागौ, लाडलढी[5] के बबुल, तौ अब झरि लागौ कूकुरा।
जागौ, जागौ लाढलढी के चचुल, तौ अब झरि लागौ कूकुरा॥
राजे, लँ गडुआ[6] मुख धोइऐ, उठि देउँ न गन के दाँन।
त्यारे द्वार पेहरुआ[7] आगिऐं औरु तुम तौ रे सोवौ सुख-नीद॥
राजे, तुम्हें कैसें आवै सुख नीद, तौ अब झरि लागौ कूकुरा।
औरु तुम घर पसरी बीधि, तौ अब झरि लागौ कूकरा॥
राजे, कोन रजनि कौ कूकुरा[8] औरु कोन कुटँम घँन मोरि[9]।
राजे, राज-रजिन कौ कूकुरा औरु सँमधी-कुटँम घँन मोरि॥
राजे, कँहरि[10] वसैंरे कूकुरा औरु कहाँ रे वसै घँन मोरि।
राजे, द्वार बसैंगौ कूकुरा औरु बाग वसै घँन मोरि॥
राजे, कँहरि[11] पिऐंगौ कूकुरा औरु कँहरि चुनें[12] बन मोरि।
राजे, दूध पिऐंगौ कूकुरा औरु दाख चुनें बन मोरि॥
राजे, कँहरि करैंगौ कूकुरा औरु कँहरि करै बन मोरि।
राजे, घूसत आवै कूकुरा औरु कोहकति आवै बन मोरि॥

❀

काए कूँ[13] धाए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे।
काए के कारन बाबुल मैंहैल चिनाए, काए कूँ गए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे॥
बेटा के कारन लाडो मैंहैल चिनाए, तुम कूँ धाए परदेस री, सुनि लाडो मेरी।
हम तौ रे बाबुल तेरी अँगना की चिरियाँ[14], चुगि-चुगि कें उडि जाँइ रे, सुनि बाबुल मेरे॥
हम तौ रे बाबुल तेरे अँगना कौ कूरौ[15], झरि-पुछि कें फिकि जाँइ रे, सुनि बाबुल मेरे।
हम तौ रे बाबुल, खूँटा की गइयाँ[16], जित हाँकौ हँकि जाँइ रे, सुनि बाबुल मेरे॥
भैया के कारन बाबुल, मैंहैल चो चिनाए, हम कू चो धाए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे।
एकई पेट में जनम लियौ सुनि बाबुल मेरे, एक सँग खेले आँगन में रे, सुनि बाबुल मेरे—
हम कूँ धाए परदेस रे, सुनि बाबुल मेरे॥
जा दिन लाडो मेरें तुम जु भई हूँ, भई वज्जुर की राति, सुनि लाडो मेरी।
जा दिन तिहारे, बिरँन भए ऐं, भई सोने की राति, सुनि लाडो मेरी॥

[1]. जोडतो जाती हं, खाती नहीं। [2]. कपास। [3]. कपास से बिनौले प्रथक् करना। [4]. छूले हो—स्पर्श करते हो। [5]. होनहार दुलहिन, लड़ैती। [6]. लोटा, झारी। [7]. पहरेदार। [8]. मुर्गा। [9]. मोर। [10]. कहाँ। [11]. क्या। [12]. चुगेगा। [13]. क्यों। [14]. चिड़ियाँ। [15]. कूड़ा-करकट। [16]. गाय।

बहू की बिदा का गीत

हूँ तोइ[1] वूझों वारी रे भौंरा, कोन विरछ तेरे मन-वसौ।
सब रे विरछ मेरे अनी-अनी भाँति, बौहौत नीकी भाँति अकिलौ सदाँफल मन-वसौ।
हूँ तोइ वूझों ए बहुअ-बौहरिआ[2], कोन सजँन[3] तेरे मन-वसौ।
सब रे सजँन मेरे अनी-अनी भाँति, बहुत नीकी भाँति, वेई भरत मे ँ वसौ।
वेई राँम मेरे मन-वसौ॥

बहू-आगमन

बहू के आते समय का गीत

तू तौ निकरि चैचूदरि[4] बाहिरी, तू तौ निकरि री सासुलि बाहिरी।
घरबार बहू कौ ऐ, कि खोंड़ी[5] सासु की॥

❀

गोने का गीत

मेरी बारी-सी लाड़लड़ी, सुहाग-भागि माँगै।
बाबा छतारे एकु जस लीजो, लैहटूबारौ चोर पकरि चो न लीजों॥
काए कौ लैहटू काए की ऐ डोरि।
सोने कौ लैहटू, रेसम की ऐ डोरि, मेरी बारी सी० ॥
लैहटूबारे चोरु अजुध्या बसत एँ।
म्वाँऊ[6] ते पकरि बुलाइ चों न लेउ, मेरी बारी सी० ॥

❀

चमारों की लगुन का गीत

जौ तू रे मारू बैंगन अति वड़ौ, बारी-विन सोभा न होइ, कै बैंगन अतिबडौ।
जौ तू रे बाबूल मेरे अतिवड़ौ, मैअँन-विन सोभा न होइ, कै मारू बैंगन अतिवड़ौ॥
जौ तू रे पंडित अतिवडौ, पोथी-विन सोभा न होइ कै मारू बैंगन अति वडौ।
जौ तू री माइअ मेरी अतिवड़ी, चौर-जिठाँनी-विन सोभा न होइ, कै मारू बैंगन अतिवडौ॥

❀

भंगियों का गीत

तिलिया कौ तेलु बनेनियाँ की हरदी।
मेरी लाड़लडी अति सुकवार, सही न जाइ तेल की धार॥
तुम बैठी लाड़लड़े चौक, तुमारी भुआ जी करिंगी आरती॥

---

1. तुझे। 2. बधू। 3. पति। 4. छछूंदर। 5. पाखाना अथवा कूड़ा-करकट या ईंधन रखने की गंदी कोठरी। 6. वहाँ से।

(६)

सामन के गीत

मनिरा

कोन-दिसा ते मँनिरा[1] आइऐ और कोन दिसा कूँ जाइ ।
चूडौ तौ मेरी जाँन, चूडौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
पूरब-दिसा ते आइऐ और पच्छिम-दिसा कूँ जाँइ ।
चूडौ तौ मेरी जाँन, चूडौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
गलिन-गलिन मँनिरा फिरै वीवी, मँनिरा कूँ लाउ वुलाइ ।
चूडौ तौ मेरी जाँन, चूडौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
हरी-जगाली[2] मँनिरा, नाँ पैहनूँ, मँनिरा हरे एँ राजा जी के बाग ।
चूडौ तौ मेरी जाँन, चूडौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
लीली-जगाली मँनिरा नाँ पैहनूँ, माँनिरा, लीलौ ऐ राजा जी कौ घोडा ।
चूडौ तौ मेरी जाँन, चूडौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
कारी-जगाली मँनिरा नाँ पैहनूँ, मँनिरा, कारे एँ राजा जी के केस ।
चूडौ तौ मेरी जाँन, चूडौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
पीरी-जंगाली मँनिरा नाँ पैहनू, मँनिरा, पीरे एँ राजा जी के तोडे ।
चूडौ तौ मेरी जाँन, चूडौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
ऊदी-जगाली मँनिरा नाँ पैहनूँ, मँनिरा, ऊदे मेरे राजा जीके दाँत ।
चूडौ तौ मेरी जाँन, चूडौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
लाल-जगाली मँनिरा, नाँ पैहनूँ मँनिरा लाल मेरे राजा जी के होठ ।
चूडौ तौ मेरी जाँन, चूडौ तौ हाती-दाँत कौ ।।
पैहैरि-ओढ ठाडी भई, मँनिरा, कहु दै चुरीन कौ मोल ।
चूडौ तौ मेरी जाँन, चूडौ तौ हाती-दाँत कौ ।।

२

अँगना बुहारत सीक जौ टूटी, रुति[3] साँमन की ।
सासुलि-मैया गारी देँइ, सो आई रुति साँमन की ।।
उडि जा रे कागा दखिन-देस कू, सो आई रुति साँमन की ।
विरँन खवरि लै आओ, सो आई रुति साँमन की ।।
कागा विचारौ उडन न पायौ, सो आई रुति साँमन की ।
आइ गए मैया-जाए वीर, सो आई रुति साँमन की ।।
कहाँ-वैठारूँ वीरँन मैया, सो आई रुति साँमन की ।
चौका वैठारूँ वीरँन मैया, सो आई रुति साँमन की ।।
खुटीन (धराई) सुई पाग[4], सो आई रुति साँमन की ।
सजि गई डुलिया, सजि गए कहरवा[5], सो आई, रुति साँमन की ।।
सजि गई मैया-सँग भैनि, सो आई रुति साँमन की ।
जमुना किनारैं डुलिया उतारी, सो आई रुति साँमन की ।।

१. मनिहार—चूडी पहनाने वाला । २. चूडी । ३. ऋतु । ४. सूही-पाग । ५. कहार ।

मोड़ देउ मैना वन की लकड़िया, सो आई रुति सौंमन की ।
लै आऊँ जँमुना की थाह, सो आई रुति सौंमन की ।।
डूबी ऐ डुलिया, डूबै कहरवा, सो आई रुति सौंमन की ।
डूबी ऐ मैया-सँग भैनि, सो आई रुति सौंमन की ।।
माइ कहति बेटा धीम्र लिवौआ, सो आई रुति सौंमन की ।
सासु कहति प्यौसार, सो आई रुति सौंमन की ।।

३

सौंमन आयौ सुगढ़[1] सुहाँमनो जी, एजी कोई आई है अजब बहार ।
चैंन कूँ रे रँगाइ दै अंमा मेरी सीकिया जी, पचरंगी छबिदार ।।
झूला तौ झूलें सखियाँ बाग में जी, एजी कोई गावत गीत-मलार ।
घर-घर टूटैं अंमा मेरी सेंमरी[2] जी, राजा, आयौ तीजैंन कौ त्यौहार ।।
बूरौ-खाइवे पाहुँन चल दिए जी, राजा, पहुँचे अपनी-अपनी सुसरार ।
पेंडौ-[3] देखत नैंना दोउ थक गए जी, एजी नहिं आए मेरे भरतार ।।
रच्छा-बंधन मैना मेरी देखिकें जी, एजी कोई मन में खुसी अपार ।
जो नहीं आएँ मैना मेरे बालमाँ जी, एजी गलें मारि मरूँगी तरवार ।।
प्यारे 'वुद्धू' मैना मेरी यो कहैं जी, एजी हम तौ बरसा के तावेदार ।।

४

गढ़यौ री हिंडोला, चंपा-बाग में जी ।
सैयाँ मोइ जाँन न देइ, गड़े रे हिंडोरे ०।।
सासु जी कहैं बहुअलि मति जइयौ जी, नैंनद कहैं भाभी जाउ ।
छोटौ-सौ दिवरा[4] मेरे सँग चलैं जी ।।
सासुलि जी तें कहियो मेरी मीनती[5], सैयाँ सो कहियो मेरी सलाँम ।
नैंनद जू सें कहियो मेरी मीनती ।।
राजा जी सो कहियो करि लेउ दूसरौ व्याहु ।
मेरे भरोसें साँई ना रहैं जी ।।

५

झूला पै रानी राधिका जी, एजी कोई गावत गीत-मलार ।
नन्हीं-नन्हीं बूँदियाँ, देखौ झर लग्यौ जी, एजी कोई बरसत मूसल-धार ।
पटुली-पकरि कर झोंटा दै रहे जी, एजी कोई झुकि-झुकि कृष्णमुरार ।।
पिहू-पिहू पपिहा देखौ री करि रह्यौ जी, एजी कोई पग-पाइल की झँनकार ।
कारे-कारे बदरा बैहनाँ मेरी चढ़ि रहे जी, एजी कोई डरपी काँमिनि नार ।।

६

मल्हार

सौंमन-महिनाँ मलार गावैं काँमनी जी, एजी कोई घटा उठति घनघोर ।
पपिहा पी-पी करै बेरी-थाँम में जी, एजी कोई वन में कोहुकत मोर ।।
आँम की डारैंन बैठी कुहलिया जी, एजी कोई करति निराले सोर ।

[1]. सुघड़ । [2]. सेमरी (सेंमई)—मैदा या आटे की पतली लंबी बत्तियाँ जैसी, जो रक्षाबंधन पर पका कर खायी जाती हैं । [3]. बाट जोहना । [4]. देवर । [5]. बिनती ।

राधा अभागिन घर बैठी रोवती जी, एजी कोई आए न नंदकिसोर।
को समझावै व्याकुलता बढ़ि रही जी, एजी कोई रहि-रहि उठत मरोर।।

७

वियोग

कारी-सी आई बादरी जी, झक-झल्लरि आयौ मेह।
बरसै असाढ़ी मेहरा, एजी कोई इत बालँम परदेस।।
भीजै तबू-ताइफौ, एजी कोई भीजै लसकरिया लोग।
साहिब-सिर भीजै पागड़ी एजी कोई चूऐ कसूंमीं रंग।।
सोने की बुंदियाँ उत परी जी, एजी कोई उत मेरी मा के जाए वीर।
पाँनी की ्ुंदियाँ इत परी जी, एजी कोई इत नँनदुल के वीर।।
अचर-फारि गज करूँ, एजी कोई उँगली तराव[1] कलम।
नैंनन की स्याई[2] करू, एजी कोई लिखूँ सँदेसी भेज।।
पगड़ी के पेचु लचपचे, एजी कोई बैठे मारू तखत बिछाइ।
चिट्ठी तौ आई बडनारि की, एजी कोई बाँचत भए दिलगीर।।
पाँच मुहर खर्ची दई जी, एजी कोई चिठिया तौ दई बगदाइ।
हमरी धनियाँ से यौं कही, एजी कोई दिन दस आँमन नाँइ।।
आँमन-आँमन है रह्यौ जी, एजी कोई बीते बारे माँस।
छप्पर पुराँने परि गए जी, एजी कोई तड़कन लागे बाँस।।

८

मल्हार

गाँमैं गीत मल्हार महीनाँ साँमन कौ।
तीज सँनूनो[3] झूलें प्यारी, ओढ़ें सुआ-कसूंमी सारी।
है नीकौ त्यौहार, सँनूनों साँमिनि कौ। गाँमैं०।।
मुख पै ठिढ़ी[4] बिंदनी सोहै, करनफूल-झुमिका मन-मोहै।
परयौ गले-बिच हार, कीमती दाँमन कौ। गाँमैं०।।
करि सिंगारु बड़ी मन-फूलें, हिलि-मिलि कें सबु झूला-झूलें।
बाग नौलखा डार, रेसमी काँमन कौ। गाँमैं०।।
गाँमैं गीत लहरुआ आँमैं, कोइल कुहुँक-कुहुँक रहि जाँमैं।
'भागीरथी' बिचार, धाँमु जिह बाँमन कौ। गाँमैं०।।

९

मैया कौ प्यारौ रे लाला मैया कौ प्यारौ, मति कौ प्यारौ लाला सुसरारि कौ जी।
मैया बरजै लाला, मैंनाँऊ बरजै, बिन गोने सुसरारि मति जाऔ जी।।
कहाँ री धरे ऐं अंमा पाँचौरी कापड़े, कहाँ री धरे पाँचौ हथियार।
बकस धरे ऐं पाँचौ कापड़े, खूँटी टँगे हथियार।।
छीकत पहिरे बेटा मेरे कापड़े, औ बरजत बाँधे हथियार।
छीकत खोल्यौ लाला मेरे घोड़िला रे, बरजत भयौ असवार।।
लाला, सोचि-समझि बगदि घर आऔ रे।।
पैंहलौ बनु नाग्यौ रे लाला, दूजौ बनु नाग्यौ।

[1]. तराश। [2]. काजल की स्याही। [3]. सलूना। [4]. ढिठौ।

सरपु अगारी काटि जाइ, लाला हिरनु अगारी काटि जाइ।
बेटा, सोचि-समझि बगदि घर आओ रे॥
तीजौ बनु नख्यौ रे लाला, पहुँचे सुसर-दरबार।
छोटौ-सौ सारौ रे लाला, भौतु अचपलौ, सो बेगि सें हुक्का-भरि लायौ।
छोटे-से जीजा मेरे हुक्का तौ पीओ जी॥
सुसर जौ भीतर उठि दए जी।
बिस में तौ सेकौ री राँनी पूरियाँ, बिसई में खीरि रँधाओ।
बिसई में छोकौ सागु जी॥
सँग की सहेलिनु में चलि दई जी, कहि देउ भैनाँ मेरी मन-गुनि बात।
आजु बिरोधी[1] आयौ मैनाँ मेरी पाँहुने जी॥
अकलि बतैयो री भैनाँ, मूँडे लगैयौ, जा परदेसी की जाँनि बचैयौ री।
बिसई में सेकी भैनाँ मेरी पूरियाँ, बिसई में खीरि-रँधाइ।
बिसई में छोक्यौ भैनाँ मेरी सागु री॥

१०

छोटौ-सौ सारौ री भैंना भौत अचपलौ, छोटे-से जीजा मेरे रोटी तौ खाइ लेउ जी।
एकास्सी बरतु रहे ऐं सारे, रोटी न जैमें तेरे हात की॥
कचैहरी ते सुसर जौ आइऐ जी, छोटौ जमैया लियौ साथ, न्हवान कूँ जी।
खाँडे की धार जौ बाबुल हाथ दबाई जी, छिनक में मारयौ रे लाला बन में पछारयौ—
भौंरे में दीयौ गडबाइ, बिरोधी जी॥
उठि-उठि बेटी मेरी किंबरी जौ खोलौ जी, हाथ धुवैयो री लाडो पाँनी जु लाओ जी॥
कैतौ रे बाबुल मेरे हिरनु बिनास्यौ, कै कोई जीव सतायौ जी।
काए रँगी ऐ बाबुल, तेरी पगडिया रे, काए रँगे दोऊ हात जी॥
रकत-रँगी ऐ बेटी मेरी पागडी, छोटे जमैया दोनो हात, बिरोधी जी॥
तेरौ तो जैयौ सत्यानास बाबुल जी, बन की हिरनियाँ तैनें भौतु सताई जी।
चदन-चौकी पै बेटी मेरी बैठियौ जी, चारयौ भौजैया तिहारौ हुकुमु बजामें जी॥
सँमद[2] बहाऊँ रे बाबुल चदन-चौकिया रे, मोईं-सी डोलें रे बाबुल चारयौ भौजैया जी।
घर ते तौ बेटी मेरी चलि दई जी, एकु ग्वारिया भैया पौरी[3] चरावै जी॥
तैनें जौ देख्यौ रे भैया, परदेसी बिनासतु जी।
छिन में तौ मारयौ री लाली, बन में पछारयौ री, भौंरे[4] में दीयौ गड़बाइ बिरोधी जी॥
बन में तौ बीनू रे भैया सूखी लकडिया रे, चिता चिनाऊँ भैया, परदेसी के सग जी।
आँच तौ लैयौ रे भैया, मोइ मँगैयौ जी, तेरौ न गुँन भूलूँ ब्याऊ जँनम में जी॥
एक अँगारी री भैनाँ गढि रह्यी खेत में जी, अपनेई हात री भैनाँ उखारि कें लैयौ री।
सुँनि सुँनि रे मेरे बन के भैया रे, बिजयी जौ आवै मेरी जेठु जी।
पतौ जौ पूछें रे आइ बतैयौ रे भैया, मेरी चिताऐ रे॥
• सुनि-सुनि री मेरी अगिनी भैनाँ री, जौ जू न आवै भैनाँ बिजयी जेठ जी।
तौजू चिता मेरी बुझैंन न पावै जी॥

[1]. विरोगी। [2]. समुद्र। [3]. पौहारि। [4]. कुँए का वह भाग जहाँ चरस खींच कर ले जाने वाले बैल चरस नीचे खींच ले जाने के लिए ठहरते हैं।

सोल्हें दिनाँ भैनाँ बीति गए जी, अबई न आयौ तेरौ बिजई जेठ जी।
छिन री पलक में भैनाँ आइ गए री, पूछन डोलें भैनाँ सब रे सैहर में जी ।।
थुनकी परदेसी कौ पतौ हमेंऊ बतैयौ जी ।।
वुही ग्वारिया भैया आइ जौ पायौ री।
आऔ रे भैया, मेरे परदेसी कौ पतौ बताऊँ जी ।।
जितौ चिता रे भैया, तेरे परदेसी की जी ।।
इमिरितु छिरक्यौ रे भैया जै कारे बोले जी।
हरे-हरे करि कें ठाडे भए ऐं जी, बैयाँ-पसारि कें दोनो ऊ भेंटे जी ।।

१०

खेलत रूप-सरूप राँनी के दोंनों बालिका।

जुरि-मिलि बालकु खेलु बनायौ रामाँ, आइ गए लछिमन-रॉम—
राँनी के दोनो बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
माँजि-धोइ लोटा भरि लाए राँमा, पाँनी तौ पीऔ भगवाँन।
राँनी के दोनो बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
तिहारे हात जलु नाँ पीमें बालिका, जाति बताऔ माई-बापु।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
मात हमारी सीता जौ कहियेंतु राँमा, पिता की सुधि नाँहिं।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
वा सीता कू हमें रे दिखइयो राँमा, कहाँ रे बसति तिहारी माइ ।।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
ठाडी सीता केस सुखावै राँमा, आइ रहे लछिमन-राँम ।।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
फटि जाइ धरती, समाइ जाइ सीता राँमा, जीमत दियौ बन-बास।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।
फटि गई धरती, समाइ गई सीता राँमा, केस राँमु जी के हात।
राँनी के दोऊ बालिका, खेलत रूप-सरूप राँनी के० ।।

११

ऊँची-ऊँची मथुरा, हरे-हरे बाँस, इन बाँसन कौ पीजरा बेटी चंद्रावलि लई रखवाइ।
सात सहेलिन झुड, चंद्रावलि पाँनी-नीकरी जी।
आगें डेरा पठाँन के, चद्रावलि लइ ऐ छिपाइ ।।
सरग-उडंती चीलिया[१], उडि मेरे पीहर जाउ।
जाउ बबुल ते यौं कही, बेटी चद्रावलि लई ऐ छिपाइ ;
जाउ बिरँन ते यो कही, भैना चद्रावलि लई ऐ छिपाइ ।।
बबुल जो सुनिकें रोइऐ जी, माइ लै खाई ऐ पछार।
बिरँन जो सुनि कें रोइऐ जी, भावज खाई ऐ पछार ;
ऐसी चद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
थैली तौ बाँधी डेड सै जी, रुपिअँनु ओर न छोर।
लै रे मुगल के छोहरा, हमरी चंद्रावलि देउ छुडाइ ;

१. चिरहुली।

ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
गिन्नी तौ बाँधी डेढ सै, मौहरँनु ओरु न छोरु ।
लैकें विरँन जौ चलि दए, वैहनाएँ लाँमें छुड़ाइ ;
लै रे मुगल के छोहरा, हमरी चंद्रावलि देउ छुड़ाइ ।।
रुपिया तौ मेरे बहुत एँ, थैलीन् ओरु न छोरु ।
गिन्नी तौ मेरे बहुत एँ, मौहरँनु ओरु न छोरु,
ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
जाओ बबुल घर आपने, जाउ विरँन घर आपने, राखूँगी दोउ कुल-लाज ।
पाँनी न पीऊँ पठाँन कौ, सेजँनु धरूँगी न पाँउ ।।
सरग-उड़ती चीलिया, जा मेरे सासुरें जाउ ।
मेरे कहियौ सुसर सँमझाइ, बहू चद्रावलि लई ऐ छिपाइ ।।
मेरे कहियौ दिवर सँमझाइ, भाभी चंद्रावलि लई ऐ छिपाइ ।।
मेरे कहियौ बलँम-सँमझाइ, धनियाँ लई ऐ छिपाइ ।।
मेरे कहियौ जेठ सँमझाइ, बहुअरि लई ऐ छिपाइ ।।
सुसर जौ सुनि कें रोइऐ जी, सासुलि खाई ऐ पछार ।
जेठ जौ सुनि कें रोईं ऐ, जिठाँनी खाई ऐ पछार ।
दिवर जु सुनि कें रोईऐ, धौराँनी खाई ऐ पछार ।।
हथिया लै ससुर चालिए जी, बहुअरि लाँमें छुड़ाइ ।
लै घुड़िला जेठै चले, बहुअरि लाँमें छुड़ाइ ;
ऐसी चंद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
लै उँटिला बालँम चले जी, धँनियाएँ लाँमें छुड़ाइ ।
गेंद लै दिवरा चले जी, भाभी ऐ लाँमें छुड़ाइ ।
लै रे मुगल के छोहरा, हमारी चद्रावलि देउ छुड़ाइ ।।
हतिया तौ ह्यारे भौतु एँ, हतिनिनु ओरु न छोरु ।
घुड़िला तौ ह्यारें भौतु एँ, घोड़ीन ओरु न छोरु,
ऐसी चद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
ऊँट तौ हमारे भौतु एँ, उँटियँनु ओरु न छोरु ।
गेंद तौ ह्यारें भौतु एँ, बल्लँनु ओरु न छोरु ।
ऐसी चद्रावलि ना मिलै, जैसी राज-कुँमारि ।।
जाओ सुसर घर आपने, जाउ जेठ घर आपने, राखूँगी पगड़ी की लाज ।
खाँनौ न खाऊँ पठाँन कौ, सेजँनु धरूँगी न पाँउ ।।
जाओ दिवर घर आपने, राखूँगी टोपी की लाज ।
जाओ बलँम घर आपने, राखूँगी दोऊ कुल-लाज ।
खाँनौ न खाऊँ पठाँन कौ, सेजँनु धरूँगी न पाँउ ।।
सुनि रे पठाँन के छोहरा, पाँनी तौ भरि लाउ ।
माँजि-धोइ लोटा भरि लाउ, ऐसी चंद्रावलि प्यासी मरी जाइ ।।
मुगलँनु पीठि जौ फेरिऐ, तमुअँन दै लई आगि ।
ऐसी चद्रावलि जरि गई, जैसें राज-कुँमारि ।।
हाड़ जरें जैसें लाकड़ी, केस जरे जैसें दूब ।
हाड़-हाड़ मुगला करे, तोबा करै पठाँनु ।।

१२

गीत-चंद्रावलि

ऊँचौ नगरु गढ़ ग्वालिअरी, नीचें हरे-हरे बाँस, सासु पसीजे ओवारें, बहू बिजनाँ री ल्याउ।
ढूँढें बिजनु नही पाइऐ, बहू बिजनाँ री ल्याउ ॥
पहलें तौ आई जल-माछरी, खिरकनि आयौ है दूध, फौज तो आई पठाँन की, और पटनाँ लीऔ ऐ घेरि।
चीरि न पाई जल-माछरी और औटि न पाई दूध, खाँन न पाई खीचरी, पटनाँ लीऔ ऐ घेरि ॥
सासु गई ऐं माइ कें और ससुर गए ऐं लेंनहार, जेठ महौवे की चाकरी और दिवर पढ़ें चटसार।
फौज तो आई पठाँन की, पटना लीऔ ऐ घेरि ॥

सरग-उडंती चीलरी, सरगै रहौ मँडराइ, मेरे सुसर ते यो कहौ बहू बदि परी।
सरग-उडंती चीलरी, सरगै रहौ मँडराइ, मेरे जेठ ते यों कहौ बहू बदि परी ॥
सरग-उडती चीलरी, सरगै रहौ मँडराइ, मेरे दिवर ते यो कहौ बहू बदि परी।
सरग-उडती चीलरी, सरगै रहौ मँडराइ, मेरे साहिब ते यो कहौ गोरी बदि परी ॥
सरग-उडती चीलरी, सरगै रहौ मँडराइ, मेरे बबुल ते यो कहौ बेटी बदि परी।
सरग-उडती चीलरी, सरगै रहौ मँडराइ, मेरे बिरँन ते यो कहौ भैंनि बदि परी ॥
लै हतिया ससुरै गए सो हाती एक लाखु, बहूऐ छुडाऊँ चद्रावलि, बिन के लबे-लबे केस।
जिअ लै मुगल के छोहरा, हतिया इक लाखु, बहुअ छुडाऊँ चद्रावलि, वा के लबे-लबे केस ॥
काह रे करूँ तेरे हातिया, हतिया मेरेई भौतु, बीबी भली चद्रावलि बैठी पाँन-चवाइ।
लै करहा जेठै चले, सो करहा एक लाखु, बहुअ छुडाऊँ चद्रावलि जाके लबे-लबे केस ॥
जिअ लै मुगल के छोहरा, करहा एकु लाखु, बहुअ छुडाऊँ चद्रावलि जाके लबे-लबे केस।
कहा रे करूँ तेरे कारहा, करहा मेरेंई भौतु, बीबी भली चद्रावलि बैठी पाँन-चबाइ ॥
लै घुडिला देवर चले, सो घुडिला एक लाखु, भाभी छुडाऊँ चद्रावलि जैसी राज-कुँमारि।
काह रे करूँ तेरे घोडिला, घुडिला मेरें ई भौतु, बीबी भली चद्रावलि बैठी पाँन चवाइ ॥
लै डोला साहिब चलौ, सो डोला एक लाखु, गोरी छुडाऊँ चद्रावलि जैसी राज-कुँमारि।
जिअ ले मुगल के छोहरा, डोला एक लाखु, गोरी भली चद्रावलि जैसे राज-कुँमारि।
काहरे करूँ तेरे डोलाँनु को, डोला मेरेंई भौतु, बीबी भली चद्रावलि बैठी पाँन-चबाइ ॥

१३

पाँच पेड मँहदी बए[1] केसरिया लाल, ए उपजे ऐं नौ दस पेड कि मँहदी रँग चुऐ जी महाराज ॥
बा लसकरिया ते यो कहौ, माइ मरे घर-आउ, कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज।
माइ मरी तौ भली भई, घर के दलिद्दर[2] जाँइ, कि मँहदी रँग चुऐ जी महाराज ॥
बा लसकरिया ते यो कहौ, भैंन-मरी घर-आउ, कि मेंहदी रँग चुऐ जी महाराज।
भैंन मरी तौ बुरी भई, आए सजँन फिरि जाँइ, कि मैहदी रँग चुऐ जी महाराज ॥
बा लसकरिया ते यो कहौ, बहू मरी घर आउ, कि मेंहदी रँग चुऐ जी महाराज।
बहू मरी तौ बुरी भई, कोई लरिका बारैबाट[3], कि मेंहदी रँग चुऐ जी महाराज ॥
माइल गाढौ देहुरी कोई ऊपर आँमन जाइ, भैंदुल[4] गाढौ खेत में कोई ऊपर सुर-बबूर[5]।
भैंनहुलि गाढौ बाग में कोई ऊपरि फूल गुलाब, कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज ॥
मायल पाई काततो और भैंन सहेलिन-बीच।
लरिका पाए पालनें और धनाँ[6] रसोई-बीच, कि मैंहदी रँग चुऐ जी महाराज ॥

1. बोये। 2. दरिद्रता, गवगी। 3. बारह बाट—नष्ट-भ्रष्ट। 4. बहिन। 5. काटे। 6. पत्नी।

१४

आयौ है जेठु-असाढ करेला मारू जी, सांमन आयौ धँन कौ नीहरौ जी ।
सब-सब पीहर जांइ करेला मारू जी, हमेंऊँ पठै देउ हँमरे बाप कें जी ।।
को जौ आयौ लेंनहार समल-धँन गोरी जी, गोरी जी, कौन आयौ छेता घरि गयौ जी ।
बीरु मेरे आए लेंनहार करेला मारू जी, मारू जी, नउआ कौ आयौ छेता घरि गयौ जी ।।
काऐ की बगडोर करेला मारू जी, मारू जी, काए[1] की कँऐ[2] पटुली लचपची जी ।
रेसँम की बगडोर समलधँन गोरी जी, गोरी जी, सोने की कँऐ पटुली लचपची जी ।।
झूलेंगी बिज-नारि करेला मारू जी, मारू जी, झोटा तौ दिंगे उनके साहिबा जी ।
लैगई मचक बढाइ करेला मारू जी, मारू जी, लागौ झटोका मरमँन गिरि परी जी ।।
बिआह करू द्वै-चारि समलधँन गोरी जी, गोरी जी तुम-सी हो मरमँन ना मिलै जी ।
जैयौ हमारे प्यौसार करेला मारू जी, मारू जी, हम हूँ ते ल्हौरी बैहिनाँ दो परी जी ।
कै तिल रूप-सरूप समलधँन गोरी जी, गोरी जी, कै तिल आगरी जी ।
इक तिल रूप-सरूप करेला मारू जी, मारू जी, दो तिल कँऐ आगरी जी ।।
चदन-रूख कटाइ करेला मारू जी, मारू जी नदिया-किनारें मरमँन फरैऔ जी ।

१५

संयोग

बैठे मारू तखत बिछाइ, चिठिया तौ आई दखिखन देस ते जी महाराज ।
उठि धँनि दिवला हो जोरि, चिठिया तौ आई दखिखन देस ते जी महाराज ।।
मेरी तौ उठैगी बलाइ, चदा-उजारी चिठिया बाँचिऐ जी महाराज ।
ढिग-ढिग लिखी ऐं जुहार, बीच लिखी बैरिन नोकरी जी महाराज ।।
अबकें ससुर जी कूँ भेज, अब कें चौमासे राजा घर रहौ जी महाराज ।
गलिअँन परैगौ चवाव, बाप-पठाए, बेटा घर रहे जी महाराज ।।
अबकें जेठ जी कूँ भेज, अबकें हरियाली तीजें राजा घर करौ जी महाराज ।
भैआ जी की कुँवारी कन्या धीअ, व्याह सँजोमें अपने घर रहे जी महाराज ।।
अब कें पडौसीऐ भेज, अब कें जनमठमी राजा घर करौ जी महाराज ।
पडौसी की लडिहाई नारि, साँज[3]-सबेरें बौ तौ लडि परै जी महाराज ।।
अब कें मित्तर जी कूँ भेज, अब कें अँनत-चौदस घर करौ जी महाराज ।
मित्तर की चमकँन नारि, ए अनवट-बिछुआ मांगे नित नए जी महाराज ।।
अब धँन देउ असीस, कैसी लगँगी ए चकरिया की चाकरी जी महाराज ।
सँगफेन कू मिलियौ गाम, तुम कूँ मिलिऔ हजारी राजा परगने जी महाराज ।।

१६

मोरा

भर भादौं की मोरा रैन अँधेर, राजा की रानी पानी-नीसरी जी ।
काए की गगरी रे मोरा, काए की लेज, काए जड़ाऊ धँन की इंडुरी जी ।।
सोने की गगरी रे मोरा, रेसँम की लेज, रतँन-जड़ाऊ धँन की इंडुरी जी ।
आगें-आगें मोरा चालें, पीछें पनहारि, जा पीछें राजा जी के पहरुआ जी ।।
एक बन नाँघौ मोरा, दूजौ बन नाँघि, तीजें बन पहुँची रे जाइ जी ।
ओंड़ें भरे गागरि मोरा देइ सुभाइ, पनहारि मोरा जल गिरै जी ।।

१. काहे । २. कहियें । ३. सांझ ।

परें रे सरँकि जा मोरा, भरँन दै नीर, मो घर सासु रिसाइगी जी ।।
त्यारी तौ सासुल धँनियाँ हमारी हो माइ, आज बसेरौ हरियल बाग में जी ।
परें रे सरकि जा मोरा, भरँन दै नीर, मो घर नँनद रिसाइगी जी ।।
त्यारी तौ नँनदुल धँनियाँ हमरी हो भैन, आज बसेरौ हरियल बाग में जी ।
उठि-उठि सासुल ह्मारी गगरी उतारि, ना तौ फोडूँ चौडे चौक में जी ।।
किन तौ रे बहुअल तो सें बोले ऐं बोल, कौनें दीने तोइ ताँइने जी ।
ना काऊ सासुल मोसें बोले ऐं बोल, नाँ काऊ दीनें ऐं ताँइने जी ।।
बँन कौ मोरा सासुल बँन में ही रहत है, वाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।
उठि-उठि बेटा मेरे मोरै पछारि, तेरी धँन रीझी बँन के मोरला जी ।।
मोइ देउ अमा म्हारी पाँचौ हथियार, मोइ देउ पाँचौ कापड़े जी ।
एक बँन नाँघौ राजा दूजौ बँन नाँघि, तीजे बँन मोर पछारिऐ जी ।।
मारि-मूरि राजा लाए लटकाइ, लाइ धरौ ऐ धँन की देहरी जी ।
उठि-उठि धँनियाँ मेरी हरदी जो पीस, मोरा छोंकि बनाइऐ जी ।।
हरदी के पीसें राजा जल्दी न होइ, मोरा के छोंकें मेरौ जी जलै जी ।
बँन कौ हो मोरा राजा बँन ही में रँहत, वाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।।
जो तुम्हें रँनियाँ मेरी, मोरा की साधि, कौरे पै मोर कढाइऐ जी ।
कौरे कौ मोरा राजा लिपि-पुछि जाइ, वाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।।
जो तुम्हें धँनियाँ मेरी मोरा की साधि, सोने कौ मोर गढाइऐ जी ।
सोने कौ मोरा रे राजा, चोरी में जाइ, वाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।।
जो तुम्हें धँनियाँ मेरी, मोरा की साधि, काठ कौ मोर बनाइऐ जी ।
काठ कौ मोरा रे राजा, जरि-बरि जाइ, वाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।
जो तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साधि, छाती पै मोर गुदाइऐ जी ।
छाती कौ मोरा रे राजा बोलै न बोल, वाकी कौहक मेरे मन बसी जी ।[1]

१७

हरिअल सावँन आयौ मेरी सोहनो जी, एजी कोई बरसै गोला-ढार ।।
गई सहेली अमा मेरी सग की जी, एजी कोई झूला डारें बर की डार ।
हरिअल चपा अमा मेरे बाग में जी, एजी कोई मौर करत गुँजार ।।
ता पर झूलें कुँमारी निहालदे जी, ऐजी सँग झूलत कुँमरि-कुँमार ।।
पूरब ते बादल अमा मेरी छाइ गयौ री, एजी कोई बरसै मूसल-धार ।।

१८

अरी भैनाँ, सातो सहेली चलौ सग, झूला पै चलि कें झूलनाँ ।
कैसें खडी हौ री भैनाँ अँनमनी, अरी बीबी कैसौ तिहारौ सतसग ।।
इतनी सुनि कें सातो चलि दई, अरी भैनाँ मन में भरौ ऐ उमग ।
चपा-चमँन के अदर जाइ कें, अरी भैनाँ, सातौं सहेली बैठी सग ।।
कारे-कारे बादर भैनाँ छाइ रहे, अरी भैनाँ, मेहा कौ है रह्यौ ढग ।
न्हेंनी-न्हेंनी बूदें री पडि रही, अरी भैनाँ, चूँदरि कौ छुटि गयौ रग ।।

[1]. स्व० उर्मिला—सत्येंद्र-द्वारा

१९

बाग बहाली आली है रही जी, है रही मेरे महाराज ॥
गेंदा हजारी रौसनु खिलि रह्यौ, चंपा खिलौ है अपार ।
बेला-चमेली फूलौ मोतिया, फूली हारसिंगार ॥
अजब सुगंधी आली चडि रही, झुकी है कँदम की डार ।
हिलि-मिल झूलूँ सखिअँनु-साथ में, गाऔ मिल गीत-मल्हार ॥

२०

मोरली रंगनारी जी, जैपुर में झोका लै रही जी, ऊँचौ सौ खेरा बहेली मैंनाँ मै सुनी जी ।
भईया जी आए बहेली मैना मै सुनी जी, ऐजी कोई, लिल घोड़-असवार, मोरली० ॥
घोडा तौ बाँधो भईया घुडसार में जी, एजी कोई तैंन बैठो चौपार, मोरली० ।
चाँमर राँधूँ भईया जी कूँ ऊजरे जी, एजी कोई हरी मँगौरी, धोवा दारि, मोरली० ॥
पूरी तौ सेकूं भईया जी कूँ लपझपी जी, एजी कोई साग करूँ दस-बीस, मोरली० ।
और करी ऐं भईया जी कूँ सँमरी जी, एजी कोई घेवर मँगाऊँ भईया जी कूं खूब सौ जी ।
एजी कोई फैंनी मँगाई दस-बीस, मोरली० ॥
चदन-चौकी भईया जी बैठिऐ जी, एजी कोई दूध पखारूँ त्यारे पाँइ, मोरली० ।
मथुरा के थार भईयाजी जेंमिएँ जी, एजी कोई अँचरन ढोरूँगी ब्यारि, मोरली० ॥
का तुम देउगे भईया जी मेरे लाडिले जी, एजी कोई दिंगे मौहर पचास, मोरली० ।
ऊँचौ सौ खेरा बहेली मैनाँ बैठनो जी, एजी कोई देवर जी आए बहेली मैना मै सुनी जी ।
एजी कोई काँनी गधईया असवार, मोरली० ॥
चाँमर राधूं देवर जी कूँ किसकिने जी, एजी कोई हरी ऐं मँगोडी, धोवादार, मोरली० ।
पूरी तौ सकूँ देवर जी कूँ लचपचीजी, एजी कोई साग करे दस-बीस, मोरली० ॥
घेवर मँगाऊँ देवर जी कूँ दूरि तें जी, एजी कोई फैंनी कोस पच्चीस, मोरली० ।
आज तौ आए देवर जी मेरे पाहुँने जी ।
चदन-चौकी देवर जी मेरे बैठिऐ जी । एजी कोई पाँनी ते धोऊ त्यारे पाँइ; मोरली० ॥
सोरन-थार देवर जी जेंमिएँ जी, एजी कोई पखन ढोरूंगी बियार, मोरली० ।
का तुम देउगे देवर जी मेरे लाडिले, एजी कोई दिंगे लट्ठ पचास, मोरली० ॥

२१

चमारों के सामन का गीत

बर के रे गोबें झूलती, मेरी ढाबर नैंनी, सात सहेलीनु बीच ॥
सातौन के मुख ऊजरे बहुअरि, तिहारौ चौ मैलौ भेखु ।
सातौंन के ढोला घर रहें जी, हमरे गए ऐं परदेस ॥
एक बटोही यो कहै, मेरी ढाबर नैंनी, चलौ हमारे साथ ।
सोनेनु करि दऊँ पीअरी जी, और चाँदीनु-सेतु सुपेत ॥
ठाडी तौ रहियो जाई गैल में, बटाऊ ढोला, सासु-नँनद आऊ पूँछि ।
एक बटोही यो कहै मेरी सासुलि रौंनी, चलौ हमारे साथ ।
कैसी सूरति कौ बटौहिया, मेरी बहुअल रौंनी, कैसी घोडी असवार ॥
लीलौ तौ बार्प घोडिला सासुल, छोटे दिवर-उनहारि ।
ग्वे तौ ऐं तिहारे साहिबा, मेरी बहुल रौंनी, ग्वे ऊ गए ऐं परदेस ॥
डाढी तौ झारूं ब्वाके बाप की, मेरी सासुल, गोद्धन धरूंगी अँगार ।
नैंना तौ फोरूँ ब्वाके रस-भरे, मेरी सासुल, तकतु बिरौंनी-नार ॥

२२

एक झूलती लड़की से सुना हुआ गीत

रुँमझुँम-रुँमझुँम[1] मेहा बरसै, जि[2] पाँनी कित जाइजी।
आधौ पाँनी नदी किनारें, आधे में मेरौ भैया न्हाइ जी। ।।
आप कूँ लाए, बाप कूँ लाए, माँ की तीअर लाए जी।
बैहैंन कूँ तीअर ना लाए तौ, सौ-सौ नाँम धराए जी ।।
रुँमझुँम-रुँमझुँम मेहा बरसै, जि पाँनी कित जाइ जी।
आप कूँ कठला, बाप कूँ कठला, मा कूँ हुँसला लाए जी ।।
बैहिन कूँ हुँसला जब ना लाए, तौ सौ-सौ नाँम धराए जी।
रुँमझुँम-रुँमझुँम मेहा बरसै, जि पाँनी कित जाइ जी ।।[3]

२३

भर[4] भादो की मोरा रैंन[5] अँधेरी, राजा की राँनी पाँनी नीकरी जी ।।
काहे की गगरी रे मोरा काहे की लेज, काहे जड़ाऊ बैंन की इँडरी[6] जी।
सोने की गगरी रे मोरा रेसँम की लेज, रतँन-जड़ाऊ बैंन की इँडरी जी ।।
आगें-आगें मोरा चालै पीछें पनहारि[7], जा[8] पीछें राजाजी के पैहरुआ जी।
एक बैंन नाँघी मोरा, दूजे बन नाँघ[9], तीजे बैंन[10] पहुँची ऐ जाइकें[11] जी ।।
जोई भरै मोरा देइ लुढ़काइ, पख पसारि मोरा जल[12] पिऐ जी।
परे रे सरकि जा मोरा भरेंन[13] दै नीर, मो घर सासु रिसाँइगी[14] जी।
त्यारी तौ सासुल धैंनियाँ हमरी हो माइ[15], आज[16] बसेरौ[17] हरिअल[18] बाग में जी ।।
परे रे सरकि जा मोरा भरेंन दै नीर, मो घर नँनद रिसाइगी जी।
त्यारी तौ ननदुल धैंनियाँ हमरी हो भैंनाँ, आज बसेरौ हरिअल बाग में जी ।।
उठि-उठि सासुल म्हारी गगरी उतारि, ना तौ[19] फोरूँ[20] चौडे[21] चौक में जी ।।

[1]. रिमझिम-रिमझिम। [2]. यह।

[3]. बाबाजी के बाग में-दो चिड़ियाँ चूँ चूँ करती थीं।
बाबाजी के बाग में हम झल्ल-मल्लरि झूलती थीं ।।
उतते आए भईया-काका, का-का सौदा लाए जी।
आपकूँ घोड़ा, बापकूँ घोड़ा, माँकूँ जोड़ा लाए जी ।।
भैंन की चुँदरी भूलि आए, तौ सौ-सौ नाँम धराए जी।
बहू कूँ लाए अटकन-बटकन, लेउ बहू तुम खेलौ जी ।।
बहू कूँ लाए पाँन-सुपारी, लेउ बहुअल तुम चावौ जी।
हम क्यों खेलें इकली-दुकली, सु जाला नंद बुलाओ जी ।।
हम क्यों चाबें इकली-दुकली, सुजाला नंद बुलाओ जी ।।
आओ नँनदुल, बैठो नँनदुल, मुतियँन-माँग भराओ जी।
जो नँनदुलि तुम लड़ौ-भिड़ौगी, सोटँन[22] ते धमकाऊँगी ।।

[4]. उच्चारण शोध—भरि। [5]. रंन। [6]. इंड्री। [7]. पनिहारि। [8]. ता। [9]. नाँघि। [10]. जाइ। [11]. कें। [12]. जलु। [13]. भरने। [14]. रिसा वूंगी, रिसामनी। [15]. मा। [16]. आजु (साधारण 'उ' ध्वनि से लघु, जो अ के निकट पहुँचती है)। [17]. बसेरा। [18]. हरिअल,। [19]. नाँएँ तौ। [20]. फोड़्। [21]. चौरे। [22]. मूसल।

किन तौ रे बहुअल तो सैं[1] बोले हैं[2] बोल, कौनें दीने[3] तोइ ताँइने जी ।
ना काऊ सासुल मोसैं[4] बोलें ऐं[5] बोल, ना काऊ दीने ऐं ताँइने जी ॥
बँन कौ मोरा सासुल बन में ही रहत[6] ऐं[7], वाकी कौहक[8] मेरे मन बसी जी ।
उठि-उठि बेटा मेरे मोरें पछारि, तेरी धँन रीझी बन के मोरला जी ॥
मोइ[9] देउ अमा म्हारी[10] पाँचौ हथियार[11], मोइ देउ पाँचौ कापडे जी ।
एक[12] बन नाँघौ राजा दूजौ बन नाँघि, तीजे बन मोरा पछारिऐ जी ॥
मारि-मूरि राजा लाऐ[13] लटकाइ[14], लाइ धरौ ऐ धँन कौ[15], देहरी जी ।
उठि-उठि धनियाँ मेरी हल्दी जो[16] पीसि, मोरा छोंकि बनाइऐ जी ॥
हल्दी के पीसें राजा जल्दी न होइ[17], मोरा के छाँके मेरौ जी[18] जलै जी ।
बन कौ ही मोरा राजा बन ही में रैहत, वा की कौहक मेरे मन बसी जी ॥
जो तुम्हें रँनियाँ मेरी मोरा की साधि[19], कौरे पै मोर कढाइऐ जी ।
कौरे कौ मोरा राजा लिपि-पुत जाइ, वाकी कौहक मेरे मन बसी जी ॥
जो तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साधि, सोने[20] कौ मोर गढाइऐ जी ।
सोने कौ मोरा रे राजा चोरी में जाइ, वाकी कौहक मेरे मन बसी जी ॥
जो तुम्हें[21] धनियाँ मेरी मोरा की साधि, काठ कौ मोर बनाइऐ जी ।
काठ कौ मोरा रे राजा जरि-बरि जाइ, वाकी कौहौक मेरे बन बसी जी ॥
जो तुम्हें धनियाँ मेरी मोरा की साधि, छाती पै मोर गुदाइऐ जी ।
छाती कौ मोरा रे राजा बोलै न बोल, वाकी कौहौक मेरे मन बसी जी ॥

२४

मेरे सिर पै बिराजै गोबर-हेल, ए ढोला नें ब्याह लई दूसरी ।
हूँ तौ लैउँगी बबुल बुलबाइ, काहे कूँ ब्याह लई दूसरी ॥
हूँ तौ लैउँगी पटबारी अपने साथ, आगरे में अरजी देउँगी ।
ढोला, हाकिम पूंछै तोइ बात काहे पै ब्याह लई दूसरी ॥
गोरी, गुन थोरे ऐं औगुन भौत, ए जाई पै ब्याह लई दूसरी ।
तेरे ब्याह कूँ आयौ आँधी-मेह, ए गौंने[22] कूँ ओरे परि गए ॥
तेरे रोने[23] कूँ है गए बारें बाट, चाले[24] कूँ सूखा परि गई ।
ढोला, मर्दनि बढि गए भारी सोच, लुगाईं बाँझें है गईं ॥
ढोला, दूँआँ पै परौ ऐ तुसार, सरसो कूँ, ए सरसो कूँ माँऊ[25] लै गई ।
ढोला, चना पै परौ ऐ तुसार, बेझरि पै, ए बेझरि पै ओरे परि गए ॥
ढोला, मटरा कूँ खाइ गई सुडिया,[26] सगु गेंहूँनु कूँ, ए गेंहूँनु कूँ रतुआ[27] लगि गयौ ॥

२५

बडौ निब्बू बडौ-री गँमार, छोटौ-सौ निब्बू रस-भरौ ।
हौं तुमें पूछति सासु, हमारौ पति कौन सौ ?

१. ने । २. ऐं । ३. दए ऐं । ४. मोतें । ५ ऐ । ६. ऐं । ७. रैहत । ८. कुहक-कुहुक । ९. मोइ । १०. मेरी । ११. हतियार । १२. इक । १३. लाए । १४. लटकाइ । १५. की । १६. जु । १७. होइ । १८. साव । १९. सौंने । २०. तुमें । २१. गौना—ब्याह के उपरांत जब दूसरी बार बहू को पति अपनी ससुराल से लेने जाता है, तो वह संस्कार गौना कहलाता है । २२. गौने की उपरात की बिदा 'रौना' कहलाता है । २३. रौने की उपरात की बिदा चाला । २४, २५, २६, २७.—कृमि कीट जो फसलों को नष्ट करते हैं ।

सिर मलमल सुई[1] पाग कधे पै नागिन झुकि रही।
हौं तुमें वरजति माइ, गरमी में गौनो मति करै ॥
गरमी कौ मारौ भरतार, जरद पीरौ परि गयौ।
जाडे की प्यारी बेटा सौरि,[2] गरमी कौ प्यारौ वीजनाँ[3] ॥
सिवु-सिवु[4] परिश्री अकालु, चोतीसा[5] बैरी मति परै।
चोतीसा कौ मारौ भरतारु, बरैदा[6] कूँ भजि गयौ ॥
मन के बिकाइ गए बेर, सबा मन के गोखुरू।
नरें[7] कौ बिकाइ गयौ सागु, गाजरि, मूरी हू गईं ॥
घरौ ऐ डरा[8] भरि चून, बीरैनु भूँखे उठि गए।
सिवु-सिवु परिश्रो अकालु, चोतीसा वैरी मति परै ॥

२६

गाँम पिछौडे ए मेरे प्यारे नीवरी।
लखु आवैं लखु जाँइ, एकु न आयौ मेरौ साहिवा, मैं तौ मरूँ रे जैं हर-बिस खाइ ॥
सासु-विना तौ मेरो सबरँग फीकौ सासुरौ और ससुर-विनाँ कैसी लाज।
दिवर-विनाँ होरी नही, मेरे पिया - बिन विकट उजार ॥
हुँवै, माइ-विनाँ तौ मेरौ सब रँग फीकौ माइकौ।
और बवुल-विनाँ कैसौ लाड, विरन-बिनाँ मिलिवौ नहीं।
मेरे पिया-बिन विकट उजार ॥

२७

ज्यातें जब च्यो न खिसिल्यौ लेंमनाँ[9] और अब खिसिलँन लागी ईंट।
दरवाजें वुघ[10] बाप के अवकें बकसि भरतार ॥
आँमें बगल में मदिर बनवाइ देंऊँ दीनानाथ कौ।
अरु पधराइ देंऊ सालिगराँम, दरवाजें वुघ बाप के ॥
ज्यातें बलि चाहें तौ छेरी[11] कौ चढाइ देंऊ बोकरा।
अरु मध[12] की दिवाइ देंऊ धार, दरवाजें वुघ बाप के ॥
ज्याति सोने में मढाइ देंऊ दरवाजे तेरौ काँगुरा[13]।
विघवा कौ दोसु मिटि जाइ, दरवाजें वुघ बाप के ॥

२८

अरे डरा रे भरि कें करौ पीसनो पीसत-पीसत हो हारी।
समुझत नाँइ बलँमु अँनारी, साझे में नारि दुखारी ॥
हवै तब तें गोरी तैंनें चो न कही, तोइ दौहरी लैहँगा लै देंतौ, तोइ दौहरी उढनियाँ लै देंतौ।
चौपटिया चादरि लै देंतौ, चादरि पै चैंन टकाइ देंतौ ॥
हवै तब तें ढोला तैंने चो न कही, तोइ लीली-धौरी बधियाँ लै देंतौ।
हर पै हर-हारौ करि देंतौ, और पाँनी लगाइबे पै हो रैंतौ ॥

1. सुही, हरी। 2. रजाई। 3. पंखा। 4. समस्त। 5. संवत् ३४। 6. एक स्थान। 7. नर्रा साग या मूली वह होता है जिसकी नसें इतनी पक जाती और कठोर हो जाती है कि पकाने से गल नहीं पाती। 8. डला-पला, (मूँज अथवा कागज कपड़ा की लुगदी से बनाया हुआ छबरा)। 9. दीवाल पर लीपने से बना हुआ भारी पर्त। 10. 'भारू' के पिता का नाम। 11. बकरी। 12. मद्य, शराब। 13. कंगूरा।

२९

सरसो फटकि न जाँनें नल की नारि, तेलिनिग्राँ गारी दै रही। हरे०
तेरे का रे सिखायौ माई-बाप, कहा रे तेरी भामजें ॥
मैनाँ, समुद चराऐं मैने हंस, सखिन-सँग खेली हेलुग्रा रे।
मैनाँ, मेरौ-सौ नाँ ओ माई-बाप, मेरौ-सौ नाँ ओ सासुरौ॥ हरे०
मैनाँ, बिगरि गई ऐ तकदीर, बोली तौ तैनें कहि लई।
मैना, नौलखु[1] खुटिया चबाइ, मछली तौ तालें रिंगि गई॥
मैनाँ, भूँक मरें रे दिनु-राति, बिपता तौ हम पै परि गई॥ हरे०

३०

मेरे घर वैठौ रे मैंहमाँनु, गेंहू तौ ठाडे खेत में। हरे०
तू तौ बैठौई रहि मैंहमाँनु, ए रोटी तौ देंउगी जेठ में॥
मेरे रथ पै पठाइ दै रथमाँनु[2], ए रोटी तौ, ए रोटी तौ दीजै जेठ में।
मेरी चूलि गई ऐं गंगा-पार, ए चाकी तौ, ए चाकी तौ चमिल[3] पार कू॥ हरे०
मेरी पीसनहारी पौसार,[4] ए पमनहारी पेट सौं।
हूँ तौ राँधन कैती[5] रस-खीर, ए भैंसि तौ, ए भैंसें तौ ढिलि गईं झील कूँ।
हूँ तौ राँधन कैती धोवा दारि, चौकलिग्राई[6] रैंधि गई॥

३१

ढोला, हुकुम करौ तौ पीहर-जाउँ, मिलि ग्राऊँ माई-बाप सौ।
गोरी कौ तोकूँ आयौ लैंमनहार, को तेरौ छेता घरि गयौ॥
ढोला, लौहुरे बिरैंन ग्राए लैंन, नौग्रा कौ छेता धरि गयौ।
गोरी, भरि-भाँदो की रैनि (ग्रँधेरि), ग्रकेली मति सोइयो।
लौहुरे बिरैंन लीजौ साथ, हिलि-मिलि कें दौंनो सोइऐ॥
ढोला, भरि भादो की रैनि (ग्रँधेरी), ग्रकेले तुम मति सोइयौ।
ढोला, लौहुरी नैंनद लीजौ साथ, हिलिमिलि कें दोनो सोइऐ॥
लाजो, चौरे में काटू तेरौ मूँड, सैंहुज गारी दै चली।
ढोला, कहिकूँ काटौ मेरौ मूड, ग्रदले कौ बदलौ दै चली॥

१. नौलखा हार जिसे खूंटी निगल गयी थी, (नल की कहानी में)। २. रथवान। ३. चंबल नदी। ४. माइके। ५. कहती, चाहती। ६. छिलकेदार।

(ई)

अवसरों के गीत

विविध अवसरों पर गीत गाये जाते है, ऐसे ही कुछ अवसरों के गीत यहाँ दिये जा रहें हैं।

परभाती

(बुहारी)

उठौ री सुहागिल नारि, बुहारी दै लेउ अगनाँ।
धीश्र मेरी सासु कें, बहू मेरी बाप कें।
कोन बुहारै मेरौ बासौ घर अगनाँ ।। उठौरी०
बहू ऐ बुलाइ लेउ, धीअ ऐ रहँन देउ।
वुही बुहारै तिहारौ बासौ घर अगनाँ ।। उठौरी०
दीए की लोइ फीकी, चाँदनी कौ चदनाँ।
मुख कौ तँमोल फीकौ, नैन में कौ सुरमाँ ।। उठौरी०
गैअँन के गल-बदन छूटे, पछी चले चुगनाँ।
उठौ री सुहागिल नारि, हँम चले जमुनाँ ।। उठौरी०

२

फाँगुन सुदी दौज को घरो में घरघुली खोदी जाती है। उसको सजाते समय स्त्रियाँ यह गाती है।

राजा बलि के द्वार मढी ऐ होरी, राजा बलि के।
कोन के हाथ रँगीलौ ढपु सोहै, कोन के हाथ गुलाव की छड़ी, राजा बलि०।।
किस्न के हाथ रँगीलौ ढपु सोहै, दाऊ जी के हात गुलाव की छडी, राजा बलि० ।।

१. घरघुली या घरगुली—यह शब्द 'गृह-होली' से विकसित हुआ प्रतीत होता है। ब्रज में एक होली तो समस्त गाँव की एक स्थान पर रखी जाती है। इस होली की वृद्धि गाँव का प्रत्येक व्यक्ति करता है। घर-घर से कंडे-लकड़ी इसे बढ़ाने के लिए दिये जाते है। इसी के साथ प्रत्येक घर में भी एक होली जलाई जाती है, इसके लिए गोवर की गूलरियाँ तय्यार की जाती है। गूलरियाँ गोल-गोल गोवर की टिकुलियाँ बनाकर बीच में ऊँगली से छेद करके बनती है। प्रतिदिन नियम से कुछ गूलरियाँ तय्यार की जाती हैं। साथ ही गोवर से एक ढाल, तलवार, चंद्र, सूर्य आदि भी बनाये जाते हैं। जिस दिन होली जलाई जाती है, उसी दिन गूलरियो की कुछ मालाऐं तय्यार की जाती हैं। ढाल-तलवार-चंद्र-सूर्य की भी एक माला अलग बनाई जाती है। घर के आँगन में एक स्थान पर इन्हें एक के ऊपर एक रख कर सूर्य्याकार छोटी होली तय्यार कर ली जाती है। जिस स्थान पर इन्हें रखा जाता है। उस स्थान पर 'घरगुली' खुदी होती है। इस घर की होली की पूजा हो जाने के बाद ढाल-तलवारवाली माला तो कहीं सुरक्षित रख दी जाती है, शेष में गाँव की होली से आग ला कर गृह-होली प्रज्वलित की जाती है।

घरगुली, फागुन सुदी दौज को खोदी जाती है। उसकी आकृति भट्टी जैसी होती है। उसे चंद्राकार चून की टिकुलियो से भरा जाता है और आस-पास चंद्र तथा सूर्य बनाए जाते हैं। यह घरगुली इस प्रकार प्रति संध्या-समय सजाई जाती है, चून से। एकादशी को गुलाल से भरी जाती है।

३

न्यौरता[1] का गीत

गौरि री गौरि[2] खोलि किवरिया, वाहिर ठाढी तेरी पूंजनहारी।
गौरि पुजतरि वेटी आई सुभद्रा ॥
गौरि पुजतरि वेटी कहा फलु माँगै ।
मातु-पिता को राजु जु[3] माँगै, भैअँनु की जोड़ी माँगैं, भाभी-गोद भतीजौ माँगै ॥
गौरि री गौरा वेटी, खोलि किवरिया, वाहिर ठाडी तेरी पूंजनहारी ।
गौरि पुजतरि बहू आई एँ सीता ।
गौरि पुजतरि बहू कहा फलु माँगै ।
सासु-सुसर को राजु जौ माँगैं, होरी-खिलन छोटे दिवरा माँगै ।
हरी-हरी चुरियाँ, मुतियन भरि माँग जु माँगै ।
अमर वोलि के बिछुआ[4] माँगै, अपनी गोद झँडूला[5] माँगै ॥

४

करवा चौथि पर अर्घ्य देते समय का गीत

मैं तौ वरतु रही ऊँ करवा-चौथि, दहीन के अरघ दीए ॥
मैं नें माँग्यौ ऐ अजुध्या कौ राजु, सुसर राजा जसरथ-से।
मैं नें माँगी कौसल्या-सी सासु, सुसर राजा जसरथ-से ॥
मैंनें बर माँगे ऐं सिरी राँम, दिवर छोटे लछिमँन-से ।
मेरे चरत-भरत वेवर-जेठ, नँनद छोटी भगिनी-सी ॥

५

सिले का गीत[6]

धनि-धनि री कौसल्या की कोख, जिन जाए रामचद से लाल, माँग सुहाग-भरी ।
वैठी ऐ राँनी तखतु विछाइ, धीअ बहू सग लिएँ, माँग सुहाग-भरी ॥

६

पुरहा लेने तथा पैर चलाने के गीत

कारी फरिया चटकु रँगु प्यारे, भौं[7] कारे नैंनाँ ॥
अंधे-गूँगे वावरे सो प्यारे, अँनकहनी केहनाँ।
इरिझ्यौ[8] हार हमेल में प्यारे, सुरझाँमें नैंनाँ ॥
कारी फरिया चटकु रँगु प्यारे, भो कारे नैंनाँ ।
उछिटि धार धरती परी, सो प्यारे तेरे कहाँ लागे नैंना ॥
जलु भाढें काँमिनी खडी, करि केसन की छाँह ।
भूलेंनु डगरु[9] वताइ दै नैंकु करि ऊपर कूँ बाँह ॥

[1]. न्यौरता—'नवरात्र' से विकसित हुआ प्रतीत होता है। ब्रज में क्वार के महीने में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नवमी तक न्यौरता खेला जाता है। यह गौरी-पूजन या देवी-पूजन का ही एक रूप है। दीवाल के सहारे एक छोटा-सा मिट्टी का घर जैसा 'न्यौरता' बनाया जाता है। प्रति दिन प्रातः गीत-गाकर उस पर मिट्टी की गौरें चढ़ाई जाती हैं। यह कार्य सूर्योदय से पूर्व ही कर लिया जाता है। [2]गौरी रे गौरा। [3]. जो। [4]. चूडी, मांग और बिछुए सौभाग्य के चिह्न हैं। [5]. पुत्र। [6]. खेत कट जाने के उपरांत जो खेत में अन्न बिखरा रह जाता है, वह 'सिला' कहलाता है। उसे बीनते समय यह गीत गाया जाता है। [7]. भौंर—भ्रमर जैसे। [8]. इरिझयौ—उलझ गया। [9]. मार्ग।

गाँम पँछाई[1] पीपरी, वाकी सीतलु छाँह।
म्वाँ है कें तेरी गैल है, सो मेरी दूखै बाँह ।।
ऊँची पारि समंद की प्यारे, नीर हिलोरें लेइ।
प्यासेलु पाँनी प्याइ कें, जसु अपनी करि लेइ।।
दो गोरी, द्वै साँमरी, द्वै बिरछुलि, द्वै बाँझ।
इन पै जोवन जबु चढ़े, जब होती आवै साँझ ।।
काग पढायौ पींजरा पढ़ि गयौ चारयो वेद।
जब सुधि आई कुटँम की, रह्यौ ढेढ कौ ढेढ ।।
राँम बढाए सबु बढ़े, बलु करि बढ़यौ न कोइ।
बलु करिकें राँमनु बढयौ, छिन में डारयौ खोइ ।।
राँम-नाँम लीयौ नहीं, कियौ न हरि सें हेत।
वे नर यो ही जाँइगे, मूरा[2] कौ-सौ खेत ।।
राँम-नाँम जपते रहौ, जब लग घट में प्राँन।
कबहूँ दीन दयाल के, भँनक परैगी काँन ।।

देवी के गीत

ब्रज में देवी कौ बहुत मान्यता है। कितने ही स्थानों की देवियो की जात करने ब्रज के लोग जाते है। वर्ष में दो बार—क्वार और चैत में प्रत्येक घर में नौदुर्गा, नौदेवी अथवा नवरात्र के व्रत रखे जाते है और पूजा होती है। अष्टमी को 'कन्या-लाँगुंरा' नौते जाते हैं। इन दिनों घर में देवी के गीत गाये जाते है। इन्हीं में से कुछ गीत यहाँ दिये जा रहे हैं।

कन्याँ-रूप भमाँनी मैंने आजु देखी।
बरु अगवारें मैया, बरु पिछवारें, पीपरु घरैंस दुआर, मैंने आजु देखी।
मैया के द्वारे एक बाँझ पुकारै, रोडी की काया करि देउ, मैंनें आजु देखी ।।
मैया के द्वारे एक कोढी पुकारै, रोडी की काया करि देउ, मैंने आजु देखी।
मैया के द्वारें एक अँधरा पुकारै, अँधरे की आँखे करि देउ, मैंनें आजु देखी ।।
मैया के द्वारें एक निरधँन पुकारै, निरधँन कूँ अन्न-धँन देउ, मैंनें आजु देखी।
तोइ सुमिरूँ मैया तेरो छँदु गाँऊ, असने[3] में होउ, सहाई, मैंनें आज देखी ।।

२

मैया रही ऐ नदन-वन छाइ, फूलँन की लोभिनियाँ ।।
माता के द्वारे एक आँधरी पुकारै, मैया देउ नैंन घर जाएँ, फूलँन की लोभिनियाँ।
माता के द्वारे एक कोढी पुकारै ठाडी, मैया देउ काया घर जाएँ, फूलँन की लोभिनियाँ ।।
मैया के द्वारे एक बाँझ पुकारै ठाड़ी, मैया देउ पूत[4] घर जाएँ, फूलँन की लोभिनियाँ।
मैया के द्वारे एक निरधँन पुकारै ठाडो, मैया देउ अन्न-धँन घर जाएँ, फूलँन की लोभनियाँ ।।

३

मेरे पिछवारें गैल, गाड़ी-ढरकँन मैं सुनी हो माइ।
चलौ पिया, दोऊ मिलि जाँइ परसें देवी ज्ञालिफा[5] हो माइ ।।
घर घोडी, घर भैंसि, वाऊ ऐ[6] छोड़ें नाँ बनें हो माइ।
घर दूध, घर पूतु, वाऊ ऐ, छोड़ें नाँ बनें हो माइ ।।
दूधु गुजरिया देउ, लड़िकँनि धाइ लगाइऐ हो माइ ।।

1. पिछाई। 2. मूरा—मूली। 3. विपत्ति। 4. पुत्र। 5. जालिपा। 6. उसे भी।

घर बहुअरि[1], घर धीअ[2], बाऊ ऐ छोड़ें नाँ बनें हो माइ ।
धिअरि पठइ देउ ससुरारि, बऊअरि घर-वर सौंपिऐ हो माइ ॥
देखि पराए-से नाहु, मनु न डुलाइऐ हो माइ ।
जो मनु डुगलेंनु हारु, वीरनु महिकें हेरिऐ हो माइ ॥
देखि पराई सुंदरि नारि, मनु न डुलाइऐ हो माइ ।
जौ मनु डुगलेंन हारु, भैना[3] कहि कें टेरिऐ हो माइ ॥
देखि पराए सुंदर लालु, मनु न डुलाइऐ हो माइ ।
जौ मनु डुगलेंन हारु, गोद लै खिलाइऐ हो माइ ॥
देखि चैंननि कौ खेतु, मनु न डुलाइऐ हो माइ ।
जो मनु डुगिलेंन हारु, मोल लै कें खाइऐ हो माइ ॥

४

अगिम भारी, सो मैया तेरौ पथु कठिन भारी ॥
को ज्याँ आवै डोली-डाली[4], को जा असवार ।
को ज्याँ आवै नगे पाँमन, मैया के दरवार, अगिम० ॥
राँनी आवै डोली-डाली, राजा असवार ।
रैअत आवै नगे पाँमन, मैया के दरवार, अगिम० ॥
को ज्याँ चढ़ावै हीरा-मोती, को ज्याँ नरियार-फूल-सुपारी ।
को ज्याँ चढ़ावै सोने कौ छत्तरु, मैया के दरवार, अगिम० ॥
राजा चढ़ावै हीरा-मोती (औ) रैअत नरियार ।
और रैंनियाँ चढ़ावें सोने कौ छत्तरु मैया के दरवार, अगिम० ॥

५

मैया, भुवन में आउ, मेरी आस लागी तेरे दरसँन की ।
एक वनु कहियतु फूलनि कौ, फूल रहे मेंहकाइ, देवी जी विरमि रही वाई[5] वन में ॥
एक वनु कहियतु लोंगनि कौ, लोंगें रही मेंहकाइ, देवी विरमि रही वाई वन में ॥
एक वनु कहियतु सतँनि कौ संत बोलें राधेस्याँम, देवी जी विरमि रही वाई बन में ।
एकु बनु कहियतु भगतनि कौ, भगत बौलें जै-जैकार, देवी जी विरमि रही वाई बन में ॥

६

सो धंन मेरी ज्वाला मैया, जै-जै राँनी ।
पत्थर-फोरि पहाड़ै निकरी, अगिनि जोति-सी हैहराँनी ॥
ऊँचो आसनु अटल सिंघासनु, तीनि लोक नो जग-जाँनी ।
सिंघ-पौरि पै सिंघ ढ़हारै, लँगुरा[6] जोधा अभिमाँनी ॥

७

नीकौ[7] री मैया, त्यारी भवँनु बटौ नीकौ ।
टेरौ पंडिन पोथी खोलैं, कोन मौ है दिनु नीकौ ॥
और दौज-तीज कूँ चलनु न होइगो, सातें सँनीचर दिनु नीकौ ।
तिरियाँ[8] विन की भगँनु लिपावैं, माइल चौकु पुरावैं, भैंनि सँजोवैं चनकी टीकौ ॥
धरती में बाबुन धरजेंन लागे, पठिन पंथु देवी कौ, देवी की मैया, सिंघ ढ़हाइ रुजरी गौ ।

१. बहुअरि । २. धिअरि—बेटी । ३. बहिन । ४. पालकी । ५. उसी । ६. लाँगुर । ७. नीका—अच्छा । ८. तिरिया ।

बारह कोस बन ईं वन कहिऐ, सिंघ डहाऐ कजरी कौ ; औौर सिंघ-मारि जालिफा परसो ।
तौ बालकु जननी कौ, नीकौ री मैया० ।।

८

लेउ मैया बीरा,[1] मैं कब की ठाडी ।।

कौनें चढाए मैया धजा[2]-नारियर, कौनें चढाए लाल-हीरा, मैं कब की ठाडी ।
रजवा चढाए मैया, धजा-नारियर, रनियाँ चढाए लाल-हीरा, मैं कब की ठाड़ी ।।
माँगन होइ सो माँगि लै रानी, जो मन-भावनि होइ, मैं कब की ठाडी ।
राजु-पाटु मैया तुमरौ दिम्रौ[3] है, रजो अमर करि दीम्रौ[4], मैं कब की ठाडी ।।
जा धरती पै रानी कोई ना अमर है, रजवा अमर कैसें होई है, मैं कब की ठाडी ।
अमर जलफदे[5] की चूंदरी कहिऐ, अमर लँगुरिया की पगिया, मैं कब की ठाडी ।।

९

एक हरी लोगँनु कौ बागु, मैया लकडिनि कौ[6] निकरी ।
एक-एक लकडी बीनि मैया, जूंनें[7] गठरी बाँधी ।।
उतते आयौ असुर, असुर बाकी लकडी बखेरी ।
सुनि रे लाँगुरिया बीर, असुर मेरी लकडी बखेरी ।।
नौ-नौ ठोकौ कील, दरदु नेंकौ[8] मति करिओ ।
असुर की चतुरा नारि, असुर समझाइ दए ।।
मैया जू के चरननि जाउ, सुदरि जू के चरन पलोटौ ।
एक-एक लकडी बीनि, मैया जू को गठरी बाँधी ।।
सुनि रे लाँगुरिया बीर, असुर मेरे चरननु आयौ ।
नौ-नौ खेंचौ कील, कसरि नेंको मति राखौ ।।

१०

धाँनू की धँनुअलि ज्यों[9] कहै, कैसे पिया वे देस कि जिन भूमि तुम गए ।
टाटी तौ लगी ऐं पहार की, लगे ऐं धरँम के खंभ, सुरति बाई देस की ।।
रामचद जी की धँनउलि[10] ज्यो कहै, कैसे पिया वे देस कि जिन भूमि तुम गए ।
अधेनु नेत्तर दै रही, कोढिन काया दै रही, बाँझन पुत्तर दै रही, सुरति बाई देस की ।।

११

मैया, लेजु कसनि कसि डारि, जिअरा मेरौ तोई सौं लगौ ।
परवत चढि देखूँ मोरी माइ, जाती मेरी कहाँ बिलमी ।।
वाके बाबुल राखे बिलमाइ, खरचु बँधावत में ।
वाके चाचुल राखे बिलमाइ, तौ रुपैया गिनावत में ।।
वाके बीरँनु राखे बिलमाइ, तुरिया[11] सजावत में ।
वाकी माइल राखे बिलमाइ, पुरियाँ सिकावत में ।।
वाकी चाची राखै बिलमाइ, तौ लडुआ बँधावत में ।
वाकी बैंदुलि[12] राखे बिलमाइ, देवी-छँद गावत में ।।
वाकी बधुआ नें राखे बिलमाइ, तो पथु सिरावत में ।
मैया, लेजु कसनि कसि डारि, जिअरा मेरौ तोई सो लगौ ।।

१. बीड़ा । २. धुजा । ३. दिया हुआ । ४. देउ । ५. जालपा देवी । ६. कूं । ७. जूना— मूंज की या घास की मोटी रस्सी । ८. किंचित भी, नेंक भी । ९. ज्यों । १०. धनहुलि । ११. घोड़े । १२. बहिन ।

१२

चलि पीया, दोऊ मिलि जाँइ परसें देवी जालिपा ऐ ओ माइ।
घर घोडी,घर भैंसि, दोऊन चालें नाँ बनें ओ माइ॥
घोडी तौ देउ घुडसारें, भैंसि ग्वारिअँन सोपिऐ ओ माइ।
घर बहुअरि, घर धीअ, दोऊन चालें नाँ बनें ओ माइ॥
धीअ पठै देउ सुसरारि, बहुअरि सोपौ घरवार, परसें देवी जालिपा ओ माइ।
घरै दूध और पूत, दोऊन चालें नाँ बनें ओ माइ॥
दूध गुजरियनु देउ, बालक संग लगाइऐ ओ माइ।
चलि पीया, दोऊ मिलि जाँइ, परसें देवी जालिपा ओ माइ॥

१३

जाती पंडित बोलौ रे आपुने और निरमल घडीऐ बताइ, आयौ लाडो चैत सुहाँमनो॥
जाती बाबुल बोलौ रे आपुने, और पूरी सौ खरचु बँधाइ०।
जाती, माइल बोलैं री आपनी, खिअरी सौ पथु सिराइ, आयौ लाड़ो० ॥
जाती, नहँदुलि बोलो री आपनी, और केसरि-तिलक सँजोइ।
जाती, भावज बोलौ रे आपनी, और अच्छे-अच्छे देवी छँद गाइ, आयौ लाडो०॥
जाती, बँनउलि बोलौ रे आपनी, जाती बालक बोलौ रे आपने।
और जिन घर बोली ऐ जात, आयौ लाडो चैत सुहाँमनो॥

१४

करि लीए दूसरौ ब्याहु लँगुरिया, मेरे भरोसें मति रहिए।
मोइ लीपि न आवैं लीपनो और काढि न आवै खूँट, लँगुरिया मेरे भरोसें० ॥
मोइ पीसि न आवै पीसनो और डारि न आवै कौर।
मोइ राँधि न आवै राँधनो और मोइ परसि न आवैं थार, लँगुरिया मेरे भरोसें० ॥

१५

माता बैठी भवँन में लाँगुरा ढोरै ब्यार।
अगारी कँदम हूँ मेरी प्यारी, पीछें वर की डारी, दै ग्वाँन सेंमरीवारी॥
ठाडी नदिया के तीर महल पै दे रही हेला[१]।
मल्हा के डोगा डारि, जुरौ जनकपुर-मेला, उतरे गुरु और चेला॥

१६

भैया लँगुरा रे, अपनी जाति बताउ।
कोन सखस के बालका, उपजे कोन के पेड।
बंमन के हम बालका रे, उपजे तुलसी के पेड, भैया०॥
लँगुरा की माँ न्यो (यों) कहै रे, लाँगुर[२] कछुअ न खाइ।
बारा बाटी मदु पियैं, सौ रे बुकरा[३] खाइ॥
लँगुरा की माँ न्यो कहै रे लँगुरा सोवतु नाँइ।
छै महीना की रातिहूँ रे, लँगुरा सोवतु नाँइ, भैया०॥

१७

मेरौ चिलम-भरन दिनु जाइ, लँगुरिया बडौ पिवैया गाँजे कौ।
पै पीया गाँजौ बमो, पै पीया मद दई भाँग, लँगुरिया बडौ० ॥

१. हेला देना—पुकारना। २. लँगुरा। ३. बकरा।

हाँ, दस बीघा गाँजौ बश्रौ, नौ बीघा बइ दई भाँग, लँगुरिया बड़ौ० ।
हाँ, लाँगुर तौ गाँजौ पिऐं महादेव नें पी लई भाँग, लँगुरिया बडौ० ।।

१८

देख्यौ तेरौ सँहृङ सँलौंनौ रोरी चौपर कौ बाजार ।
जामें बेचत मालु पसारी पूरौ साहूकार ।।
तेरे री भैंमन कारीगर आयौ, जानें सुतु लगायौ ।
टाँकी-टाँकी परबतु काट्यौ, डंडा जामें छेके चारि, देख्यौ० ।।
तेरे री भैंमन एक रहति सुहागिल, पाइल बाजें, जाके पग नेवर बाजें ।
सीसफूल सिर बेंदा सोलह रांनी कीयौ ऐ सिंगार, देख्यौ० ।।
तेरी रे महल एक चंदन-पलकिया, रेसम-बान बुनाई, जाकी हरी ऐ डलाई ।
पौढ़ै मेरी आदि भैंमानी, लाँगुर ढोरै ब्यारि, देख्यौ० ।।

१९

लँगुरिया ढूंढ़त डोलै, मोरी माइ ।
कै मेरी मैया सोइ गई है, कै गई धरती-समाइ, लँगुरिया० ।।
ना तेरी मैया सोइ गई है, परि ना गई धरती-समाइ, लँगुरिया० ।
कनही[1] जाती कें होम रचौ ऐ, परि माँ हरि जागी सिव[2] रात ।
धुजा[3] औ नारियर, लौंग, सुपारी, वे मो दए ऐं चढाइ ।।
सोंने कौ दिअला कपूरं की बाती, परि आरति लई ऐ उतारि, लँगुरिया० ।।
वोइ सुमिर मैया तेरौ छँद गाऊ, परि संकट होउ सहाइ, लँगुरिया० ।।

तीर्थ-व्रत-संबंधी गीत

ब्रज की परिक्रमा देते समय गंगा-स्नान अथवा कार्तिक-स्नान अथवा किसी अन्य तीर्थ करने के समय गीत गाये जाते हैं। उनमें से कुछ यहाँ दिए जा रहे हैं।

सिंघ पौ:र के निकट सरोवर छाचि कुंड की छवि न्यारी ।
मोतीकुंड मनोहर दाता, पास और रुवाँ फुलवारी ।।
टेर कदंम और वट कदंम, सारस की अरु व्यापारी ।
कूआ, कीकू केस विराजैं, अंग भभूत जटाधारी ।।
वरनौं महिमाँ क्रस्नकुंड की, संतन की बैठक न्यारी ।
निरत गुपाल विराजें ठाकुर, सुंदर मूरति है प्यारी ।।
कोई घोटै, कोई रंग लगावै, कोई-कोई छुट्टै त्यौ नारी ।
भरि-भरि लोटा पीमैंन लागे, नंद भैंमन के पुजारी ।।
चंद्रकुंड चितवन प्यारी कौ, जँह पौढ़े श्री गिरधारी ।
जल-विहार जगमगौ जगत में, टेर-कदंम लीला न्यारी ।।
सप्ताह हौंइ वचें पाराइन हौंइ जीव जँह उद्धारी ।
आसेसुर महादेव विराजें, गरें फूल-माला न्यारी ।।
वहकौ जोग आँन अगरा की, भंडारी कीयौ भारी ।
लेपन वन में सखा-मंडली, बटै छाक न्यारी-न्यारी ।।
बैठक तौ अकरूर भगत की, आइ विराजे गिरधारी ।
वस्तरकुंड बने नव माली, पाँडर खड़ी है प्यारी ।।

[1]. प्रसिद्ध भक्त । २ — · -

सूरजकुंड बने सर सुंदर, गऊअँन की वैठक न्यारी।
उद्धवकुंड कहाँ तक वरनौं, छप्पन चौक छिके प्यारी॥
पूरनमाँसी परि पूरन जी, दोऊ मिलि रासु रच्यौ भारी।
इनकी-सुनकीकुंड वने हैं, तिनकी मैंहिमा अति भारी॥
वैठक के पै गऊ चराँईं, कुंड जसोदा छवि छाई।
सैंम-कैंम कौ श्रौर रावरी, माँट बिलोवन जसुधारी॥
वेलनवन श्रौर कोठेलौ, मकसूदनकुंड लता प्यारी।
पनिहारीकुंड की दै परिकमा, रोह्मोखर की करि त्यारी॥[१]

२

व्रज-वनिता वँन करिवे धाँईं।
मधुवन, ताल, कँमोद, वौहुलावल, सातुनकुंड जो न्हाईं॥
राधाकुंड कुंड की मैंहमाँ, कछु वरनी नहीं जाई।
गोवरधँन की करि परिकंमा मानसी-गंगा न्हाईं॥
परमदरी श्रौर श्रादि वद्दरी[२], संकर खोह रचाई।
काँमों काँम काँमनाँ-पूरन, जिहू बन है सुखदाई॥
वसि वरसाँनों-नदगाँमु, वसि कोकिल दाहन श्राई।
वट सकेत, खिदरवन वसि कें, तव यह् जैंरन वुझाई॥
जाव श्रौर बठैंन की मैंहमाँ, कही कौंन पै जाई।
चरँन-पहाडी दरसँन करिकें, तव दधि गाँम पठाई॥
सेसनाग-सिज्जा हरि दरसे, जहाँ पौढे श्री जदुराई।
खेलनवन श्रौर चीरघाट, नदघाट सुखदाई॥
श्री भैंराँम रच्यौ बलदाऊ, उत्तर जमुनाँ वहि श्राई।
बलभद्दर, भाँडीर, कुदरवन, माँनसरोवर न्हाई॥
करि विस्राँम लोहवन वसि कें, दाऊ जी परिस्यौ श्राई।
गोकुल श्रौर महावन की छवि, सारद लिखी न जाई॥
धनि विंदावन धनि श्री मथुरा, धन्न जसोदा माश्रई।
तिनकी मैंहिमाँ कहाँ तक बरनूँ, प्रगटे कुँमर कँन्हाई॥
वारह् बन श्रौर वारह् उपबन, तिनकी लीला गाइ सुनाई।
कृस्नदास, प्रभु करिय सफल तँन, श्रावागँमन-मिटाई॥

३

कार्तिक-स्नान या तीर्थ-यात्रा के समय गाया जाने वाला गीत

हरे राँमा, गंगाजी में बाँसु गढ्यौ ऐ, वापरि चढि गयौ कन्हनी कछि कें।
भाएली मेरे, श्रायौ री स्याँम नट वनि कें, सहेली, मेरें श्रायौ री स्याँम नट वनि कें॥
हरे राँमा, मथुरा जी में बाँसु गढ्यौ ऐ, वापरि चढि गयौ कन्हनी कछि कें।
माएली मेरें, श्रायौ री कँन्हैयाँ नट वनि कें, माएली मेरे, श्रायौ री स्याँम नट वनि कें॥
हरे राँमा, श्रधर कला खा गयौ कँन्हैयाँ, वापरि चित्तु चुरायौ हँसि-हँसि कें।
भाएली मेरे, श्रायौ री कँन्हैयाँ नट वनि कें, सहेली मेरे, श्रायौ री स्याँम नट वनि कें॥

१. यह गीत नंदगाँव की परिक्रमा का है, वहाँ के सब तीर्थों का उल्लेख किया गया है।
२. वद्दरी—वद्रीनाथ।

हरे रांमा, गैहुवरवन में वांसु गढ्यौ ऐ, वापरि चढ़ि गयौ कछनी कछि कें।
भाएली मेरे, आयौ री स्यांम नट वनि कें, सहेली मेरे आयौ री कँन्हैयाँ नट वनि कें॥
हरे रांमा, नई-नई तौ रे तांन कँन्हैयाँ, वापरि नांचु दिखावै नवि-नवि कें।
भाएली मेरे, आयौ री स्यांम नट वनि कें, भाएली मेरे आयौ री स्यांम नट वनि कें॥
हरे रांमा, नई-नई धुनि ते वसी वाजै, वापरि रसिया मारै भरि-भरि कें।
सहेली मेरे, आयौ री स्यांम नट वनि कें, भाएली मेरे, आयौ री कँन्हैयाँ नट वनि कें।
हरे रांमा, सुधि गई सवरी भूलि वदन की, वापरि डोलूँ पगली वनि कें।
भाएली मेरे, आयौ री स्यांम नट वनि कें, सहेली मेरे आयौ री स्यांम नट वनि कें॥

४

कान्हा वरसांने में आइ जइयौ, वुलाइ गई राधा प्यारी।
जौ कान्हा, तोइ गैल न पावै, सिड्ढिन-सिड्ढिन चढ़ि अइयौ।
—वुलाइ गई राधा०॥ (दो वार)
पतरी-पतरी पोई ऐं फुलकियाँ, गरज परै तौ जैं[1] जइयौ।
—वुलाइ गई राधा०॥
जौ कान्हा तोइ गैल न पावै, खोर में है कें आइ जइयौ।
—वुलाइ गई राधा०॥
सोंने कौ लोटा गंगा-जल-पांनी, गरज परै तौ पी जइयौ।
—वुलाइ गई राधा०॥
जौ कान्हा, तोइ गैल न पावै, भाँनोखर है कें आइ जइयौ।
—वुलाइ गई राधा०॥
पाँच-पचीस कौ वीड़ा लगायौ, गरज परै तौ चवाइ[2] जइयौ।
—वुलाइ गई राधा०॥
जौ कान्हा, तोइ गैल न पावै, राधा-वागि में है कें आइ जइयौ।
—वुलाइ गई राधा०॥
कोरी-सी हँडिया में दही जमायौ, गरज परै तौ खाइ जइयौ।
—वुलाइ गई राधा०॥
कान्हा, वरसांने में आइ जइयौ, वुलाइ गई राधा प्यारी।

५

वनि गयौ वैद आप वनवारी।
गली-गलीन में कान्हा डोलै, निरखत डोलै नारी, वनि गयौ०॥
इतें आई कुँमरि राधिका, लै देखौ नवज हमारी, वनि गयौ०॥
सरद-गरम भौत भई तिहारे भारी, वनि गयौ०॥
सँग की सहेलिन वाहिर काढ़ी, मूँदी मैहैल-किवारी, वनि गयौ वैद०॥
एक जड़ी तोइ ऐसी री दुग्गौ, मिटि जाइ अजक[3] तिहारी, वनि गयौ०॥
सँग की सहेली वाहिर काढ़ी, मूदी मैहल-अटारी।
कांनन कुंडल सिर पै मुकट हो, वसी की छवि न्यारी वनि गयौ वैद०॥

६

मेरे किसनां, एक कदम कौ ऐ पेड़, फूलन लरफरि है रह्यौ भगवान।
मेरे किसनां, झोरी भरि तोरे ऐं फूल, मंदिर में चढ़ाइऐ भगवान॥

१. खाइ। २. खाइ। ३. रोग-पीड़ा।

मेरे किसनाँ, सब मदिर चढाऐ, रावा कौ मदिर छेकिऐ भगवान।
मेरे किसनाँ, राघा ऐ थायौ रोस, फिवरिया जड लई मेरे भगवान॥
मेरी सखी, रिमझिम बरसत मेह, कृस्न भीजें द्वार पै भगवान।
मेरी सखी, मोड़ दै लुटिया डोर, कृस्न जाइऐ द्वारिका भगवान॥
मेरी सखी, झटपट खोलिऐ किवार, काँमरिया गहि लई भगवान॥
मेरी सखी, बिनई कँदमन की छाँह, कृस्न बिलखाइ गए भगवान॥

७

मैं तो गोबरधँन कूँ जाऊँ मेरी बीर, नाँइ-मानें मेरौ मनुआँ।
सात सैर की करूँ करइैया, अरी मैं तो पेंड-पेंड पै खाऊँ मेरी बीर।
नाँइ माँनें मेरौ मनुआँ, मैं तौ गोबरधँन० ।
सात कोस की दै परिकमा, अरी मैं तौ मानसी-गगा न्हाऊँ मेरी बीर।
नाँइ माँनें मेरौ मनुआँ, मै तौ गोबरधँन कू० ।
चकलेसुर के दरसँन करिकें, गाँम लौटि कें आऊँ बीर, नाँइ माँनें मेरौ मनुआँ।
मैं तौ गोबरधँन कू जाऊँ मेरी बीर, नाँई माँनें मेरौ मनुआँ॥

८

नाँइ माँनें मेरौ मनुआँ, मै तौ गोबरधँन कूँ जाऊँ मेरी बीर। टेक—।
सौमोती कौ न्हाँनु परचौ ऐ, परमी न्हाइबे जाऊँ मेरी बीर॥ नाँइ० ।
पाँच सेर की करूँ कोथरी, पेंड-पेंड पै खाऊँ मेरी बीर। नाँइ० ।
राधाकुड की राधा राँनी, कुसुम सरोवरि न्हाऊँ मेरी बीर॥ नाँइ० ।
गोबरधँन, आँन्यौर, पूछरी, जतीपुरा लौटि आऊँ मेरी बीर। नाइ० ।
जतीपुरा ते आइ गोबरधँन, मानसी-गगा न्हाऊँ मेरी बीर॥ नाइ० ।
गोबरधँन ते राधाकुड में, आइ कें नाँच दिखाऊँ मेरी बीर। नाइ० ।
सात कोस की दै परिकमा, बाँम्हान-न्योति जिमाऊँ मेरी बीर॥ नाइ० ।

९

सखी री, चलै तौ दरसँन करि आँमें, रोप्यौ-रोप्यौ ऐ नद के नें रासु। सखी री०
कौंन बरँन राँनी राधिका, और कोन बरँन नँदलाल॥ सखी री०
कोई गोरे बरँन राँनी राधिका, और स्याँम बरँन नँदलाल। सखी री०
कोन गाँम राँनी राधिका, और कोन गाँम नँदलाल॥ सखी री०
कोई बरसाँने की राँनी राधिका, और नद-गाँम नँदलाल। सखी री०
वृषभाँनु-दुलारी राँनी राधिका, और नद-दुलारे घनस्याँम॥ सखी री०

१०

बरसाँने ते चली गुजरिया सिर पै धरि लीइ मटकी।
मैं तेरे काजें स्याँम ब्रज बन भटकी॥[1]
मथुरा-छोड़ि वृदावन छोडचौ, मै सूधी बरसाँने माँई सटकी।
मैं तेरे काजें स्याँम ब्रज बन भटकी॥
तातौ पाँनी धरचौ तलेंरा, अरे कि मेरी न्हाने ते कहा अटकी।
मैं तेरे काजें स्याँम ब्रज बन भटकी॥
पतरी रे पतरी पोई[2] फुलकियाँ, अरे कि मेरी खाँने ते कहा अटकी।
मैं तेरे काजें स्याँम ब्रज बन भटकी॥

[1]. ब्रज बन भटको। [2]. पवीं—या करीं।

तातौ दूध धरयौ वेला में, अरे कि काँन्हा मेरी पीवे ते कहा अटकी।
मै तेरे कार्जें स्यांम ब्रज बन भटकी ॥
बरसाँने ते चली गुजरिया, सिर पर धर लई मटकी।
मै तेरे कार्जें स्यांम ब्रज बन भटकी ॥

११

जुरयौ रथु रांमजी कौ जांमें[1] सीआ बैठी जाइ। टेक
एकु रथु तौ जा की मामी नें सजायौ, प्यारे मैया नें जोरे दोनो बैल।
जुरयौ रथु रांमजी कौ, जांमें सीआ बैठी जाइ ॥
एकु रथु तौ याकूँ चाची नें सजायौ, चाचा नें जोरे दोनो बैल।
जुरयौ रथु रांमजी कौ, जांमें सीआ बैठी जाइ ॥

१२

सखी री, नँदगाँम अनोखौ नद कौ, जहँ चपल-चबाई लोग। सखी री, नँदगाँम०
सखी री, पाँन सरोवर हम गईं हो, अरे कोई मिल सखिअंन के झुंड।
निपट अनैंडौ साँवरौ रे, मोते हँसिकें लडावै दोऊ नेंन ॥ सखी री, नँदगाँम अनोखौ०
रोकै-टोकै गैल में, मोते बोलै रसीले बोल। सखी री, नँदगाँम अनोखौ०
जब देखूँ पनघट पै खडौ रहै रे, अरे मोऐ भर-भर देइ उचाइ ॥ सखी री, नँदगाँम०
काँनि काहु की ना करे री, अरी या की रसिया सगरौ गाँम।
सग[2] के री दिल में बसै हो, यै मूरति घनस्यांम ॥ सखी री, नँदगाँम अनोंखौ नद कौ।

१३

घर आइ गए लछिमँन-रांम पुरी में आँनद भए। टेक
हरे-हरे गोबर अँगनु लिपाए, मुतियँन चौक-पुराए।
अरी, माँतु कौसल्या करै आरतौ, तिरियँन मँगल-गाए ॥ पुरी में०
मात कौसल्या पूँछन लागी, कहौ लक की बात।
कैसें तौ गढ लका तोरौ, कैसें तौ लाए सीआ नारि ॥ पुरी में०
आठ घाट लछिमँन नें घेरे, औघट घेरे रांम।
दरवाजौ अगद नें घेरयौ, लका में कूदे हँनुमान ॥ पुरी में०
रांम भजौ, सिया रांम भजौ, गुरु चरनँन चित लाइ।
चारो भैया हैं इकठौ रे, फूलँन की होइ बरसात। पुरी में०

१४

रांम, रांम, रांम, रतैन[3] लागी डिबिया[4]।
पाँव कहैं कछु करलै रे तीरथ, हाथ कहैं कछु करलै रे दाँन।
काँन कहैं कछु करलै रे ग्यांन ॥ रतैन लागी० ॥
दाँत कहैं कछु करलै रे भोजँन, आँख कहै कछु करलै दरसँन। रतैन लागी० ॥

१५

बापु गाँम नें बागु लगायौ, एरी बे आपु भए रखवारी, जलु-भरँन राति में आई।
अरी बु कौंन चतुर पँनिहारी, जलु-भरँन राति में आई ॥ हरे०
बापु गाँम में तालु खुदायौ, एरी बे आपु भए रखवारी। जलु-भरँन राति में आई।
बापु गाँम में मँदिरु चिनायौ, एरी बे आपु भए रखवारी। जलु-भरँन राति में आई ॥ हरे०

१. दामें। २. सबी। ३. रटैन। ४ जिभिया।

१६

चलँन-चलँन वे हरि करे अरु सीता चलँन न देइ, हँमारे मन राँम जी वसेँ।
जो तुम हरि मेरे जात औ मन राँमजी वसेँ, अरु हमहिं कहा वुधि देउ मन राँम जी वसेँ।।
कँनिक-कुठीला घीउ कूपिया अरु करिओ भोग-विलासु, हँमारे मन राँम जी वसेँ।
एक अँदेसी मेरे मन रह्यौ मन राँमजी वसेँ, और सासु न ज्याए देवर-जेठ हँमारे मन राँम जी वसेँ
औरु न सरँन मँ वैठती रे, अरु लडती रे वैइयाँ-पसारि, हँमारे मन राँम जी वसेँ।
औरु अँदेसौ मेरे मन रह्यौ मन राँमजी वसेँ, माइ न ज्याए राजा वीरु, हँमारे मन राँम जी वसेँ।।
गोद मेँ लैकेँ खिलावती, सासुरे मँ हेरति वाट, हँमारे मन राँम जी वसेँ।
औरु अँदेसौ मेरे मन रह्यौ मन राँम जी वसेँ, कोखि न जाए नँदलाल, हँमारे मन राँम जी वसेँ।।
चलत फिरत रे देखती, करतु अजुध्या कौ वासु, हँमारे मन राँम जी वसेँ।।

१७

पग हौलेँ धरौ रे धनुष-धारी।
आगेँ-आगेँ राँम चलत हे, पीछेँ लछिमँन वलधारी।
वीच-वीच मेँ चलेँ सिया जी, सोभा लगँ अधिक प्यारी।।
ग्वा वनखँड मेँ प्यास लगी ऐ, कुँमिलाइ गईं जैसेँ फुलवारी।
देवर लछिमँन जल भरि लाओ, भरि लाओ जल की झारी।।
'तुलसीदास' आस रघुवर की हरि-चरनँन चित वलिहारी।
जाके घर सेँ तीनो निकरे, कैसेँ जी मेँ इनकी मँहतारी।।

१८

उठि मिलि लेउ राँम, भरत आए।
विंदावन में करी रे तपस्या राँमा, मथुरा जी में फल पाए। हरे,
उठि मिलि लेउ राँम, भरत आए।।
हरे-हरे गोवर अँगन लिपाए राँमा, मोतिन चौक पुरत आए।
उठि मिलि लेउ राँम, भरत आए।।
हाती के हौदा चढे री चारो भैया राँमा, ऊपर चोर ढुरत आए।
उठि मिलि लेउ राँम भरत आए।।
वईयाँ[१] पसारि मिले री चारयौ भैया राँमा, नैंनन-नीर ढरत आए।
उठि मिलि लेउ राँम भरत आए।।

१९

गगे कहती ऐं, मोइ दुखी करै ससारु।।
याँ वाँझुलि नारी आती ऐं, आकर कें रुदनु मचाँमति ऐं।
मै कहाँ ते लाऊँ नंदलाल, गगे कहती ऐं, मोइ दुखी०।।
याँ विधवा नारी आँमति ऐं, आकरि कें रुदनु मचाँमति ऐं।
मै कहाँ ते लाऊँ भरतार, गगे कहती ऐं, मोइ दुखी०।।
याँ कोढी-कलकी आँमत ऐं, आकरि कें रुदनु मचाँमति ऐं।
मैं कहाँ ते लाऊँ निरमल काया, गगे कहती ऐं, मोइ दुखी०।।
याँ अंधे-धुधे आते ऐं, आकरि कें रुदनु मचाँमति ऐं।
मै कहाँ ते लाऊँ वड़वड़ी आँखि, गगे कहती ऐं, मोइ दुखी०।।

१. बहियाँ।

२०

गगा जी की उन रेतिन में रामा, बसी बजावै घंन घोर।
सखी री, मैनें मोंहन लै लए मोल।।
काहे के पलरा, काहे की डाँडी रामा, काहे में लै लए तोल।
सखी री, मैनें मोहन लै लए मोल।।
मोंहन की डाँडी, नैंनन के पलरा रामा, हिरदे में लै लए तोल।
सखी री, मैनें मोहन लै लए मोल, हरि आली[1] मैनें मोहन लै लए मोल।। हरे०।।

२१

आपन जाइ गगा जी में छाए रामा, सुधि न लई घर-आँमन की।
मो ते कोई तौ कहौ हरि-आँमन की, हरि-आँमन की, मन-भाँमन की।।
आपन जाइ गोकुल जी में छाए रामा, सुधि न लई घर-आँमन की।
मो ते कोई तौ कहौ हरि-आँमन की।।
ए दोऊ नैंन कह्यौ नाँइ मानें रामा, घटा उठी ऐ जैसें साँमन की।
मो ते कोई तौ कहौ हरि-आँमन की।।
आप नहिं आए, खरच नहिं भेज्यौ रामा, ए अँखियाँ तौ साँमन की।
मो ते कोई तौ कहौ हरि-आँमन की।।

२२

ए तिरवैनी गंगा, करि दै तू सबु दुख-दूरि, निस्तारिनि मैया, करि दै तू सबु दुखु दूरि।
जो जा गगा जी ऐ भोरे ई गावै, सोने कौ लोटा-झारी दौलित पावै।। तिरवैनी०
जो जा गगा जी ऐ धौपर कू गावै, खीर-खड के भोजन पावै। तिरवैनी०
जो जा गगा ऐ राति कू गावै, तोसक-तकिया-गद्दा बिछावै।। तिरवैनी०

२३

गंगा जी कौ ब्याहु

कठ सुरसुती-सुमिरि सहरि आँनद मनाऊँ, मेरी मात-पिता डडौत, सभा कूँ सीसु नमाऊँ।
आपु बुद्धि परगट भई, गुरु-गनेस मनाइ, गगा-ब्याहु सुनें जो कोई, सुनत पापु कटिजाइ।।
वन ते जबू चलौ तीर-गगा के आयौ, पाँनी पियौ अघाइ, कूदि गगा में न्हायौ।
पूँछ मरोरै, सिर धुँनें, कर-मी डै पछिताइ, देखि सरूप गगा राँनी कौ जबू गयौ ऐ लुभाइ।।
जब गगा नें कही स्यार, तू बैंनु-बैंनु डोलै, तेरे मन में कहा आइ, नित हमसें[2] बोलै।
इमिरित लोक पाताल में, निकट बहूँ बैकुठ, जौ तेरे घर भीतर जबू, जाइ तू हमते कहै निसंक।।
तू तौ गगा आँसी जँनम की मेरे अतर जाँमी, मेरे मन में बसी बरूँ गगा-सी राँनी।
गगा तेरे कारनें मैनें सबु घँनु दीयौ खोइ, कै तौ प्राँन तजू ठाकुर पै, कै ब्याहूँ गगा तोइ।।
जबू भारी बन्यो मलूक काम अच्छे करि आवै, गाँम-साँमुहें[3] परै कालु जब तेरौ आवै।
बैठे भूतर टेकि कें तेरे कुल कौ जिही सुभाउ, करि ऊपर कू थूथरी, देइ ऊकरी आइ।।
गगा, जा नगर में जाउँ नगर की दुनियाँ मोहैं, पाँनी-भीमन जाउँ देखि पँनिहारी मोहैं।
लूली नाऊँ, लँगडौ नाऊँ, बने हात और पाँइ, हूँम सी कुँमर छोडि कें गगा और बरौगी काइ।।
जबू, सिव-सकर से जती, सीस-धरि उननें राखी, गगा राज-कुँमारि, यार कहा तेरी दासी।
मोइ भागीरथ लै गयौ कुटँमु-उधारँन-काज, हूँम तौ बैठी भजँन करति ऐं, क्या ब्याहौगे स्यार?[4]

[1]. पाठां—हेरी आली। [2]. ते। [3]. सामुहीं। [4]. यह गीत अधूरा यहीं तक मिला है।

२४

सिवा मोरी मांनों साधूरा संन्यासी ।।
पूजा मोरी मानो गनपति गुरु, भरी खोली मेरे हिरदे का ताला जी।
अन्न चढाऊँ देवा अन्न ना अछूतौ, अन्न मांखी ने दिया है बिडाइ, सिवा मोरी० ।।
जल तौ चढाऊँ देवा जल ना अछूतौ, जल तौ मछली ने दिया है बिडाइ, सिवा मोरी० ।
फूल चढाऊँ देवा फूल नाँ अछूतौ, फूल तौ भौरा नें दिया है बिडाइ, सिवा मोरी० ।।

२५

गरभु[1] कीयौ चंदा-सूरज नें हरी, जा के मांन गँहन[2] नें मारे।
गरभु कीयौ जोइ हारयौ हरे ।।
गरभु कीयौ गंगा-जमुनाँ नें, भरी जाके मांन परव नें मारे।
गरभु कीयौ जोइ हारयौ हरे ।।
गरभु कीयौ बेटा की माँ नें, भरी जा के मांन बहू नें मारे।
गरभु कीयौ जोई हारयौ हरे ।।
गरभु कीयौ ऐ दूध-दही नें, भरी जा के मांन जीभ नें मारे।
गरभु कीयौ जोई हारयौ हरे ।।
गरभु कीयौ मायाबारे नें, भरी जा के मांन चोर नें मारे ।
गरभु कीयौ जोई हारयौ हरे ।।
गरभु कीयौ बेटी की मा नें, भरी जाके मांन जँमाई नें मारे।
गरभु कीयौ जोई हारयौ हरे ।।

२५

तिरिया, तीनो पैंन बिगरौगी, जौ तुम पति ते दगा करौगी ।
पैहले पैंन तुम चील्ह बनोगी, तिरिया आधे-सरग उडौगी, जौ तुम० ।
दूजे पैंन तुम बनौ गधैया, तिरिया पराई गोनि लदौगी, जौ तुम० ।
तीजे पैंन तुम बनौ टैहलिनी, तिरिया करि-करि कांम मरौगी, जौ तुम० ।।

कथा-गीत

यहाँ कुछ ऐसे गीत दिये जा रहे हैं, जिनमें किसी न किसी कथा का वर्णन है। इनमें से अधिकांश देवी के जागरण में गाये जाते हैं।

लव-कुश-जन्म

उडी विहंगम चिडी जाइ सीता समझाई, जा बँन रही बिलखाइ कोन की नारि कहाई।
कोन पुरख की नारि कहा तो पै बनि आई, जा बँन दई ऐ निकारि ।।
जब सीता नें कही बिपति की कहियो जाई, बर पाए रघुराइ अजुध्या ब्याही आई।
जसरत-बहू, जनक की बेटी, राँमचंद की नारि, बिनई खूँन अमूरख कंता, जा बँन दई निकारि ।।
तू तिरिया बड नारि बचनु एक मेरौ लीजै, बाल-जती बँन रहैं, सरँन उनकी जाइ लीजै ।
मोइ कहत आवै नही तोइ मारग देउँ बताइ, काऊ दिनाँ राँमचंद जी, तेरे करे निहोरे आइ ।।
आगें विहंगम चिडी पाछें तें सीता राँनी, बनखँड पोहची जाइ जहाँ तपसीनु की सारी।
तपसी बैठयौ भजँन पै धरि ठाकुर कौ ध्याँनु, सीता सरकि मढी में बैठी खेंचि आपनी आँनि ।।
धरि ठाकुर कौ ध्यानु, मढी के जौरे आए, फिरि आए चहूँओर मढी कौ द्वार न पाए।
ठाडौ तपसी यों कहैं मेरे सिला जु बसकी नाँइ, ऐसौ बली अब कौ घुसि आयौ लीनी मढी छिडाइ ।।

१. गर्व। २. ग्रहण।

वावा, वँन में लीयौ जनम, आजु अजुध्या में होते, वेंते दिरब लुटाइ लछिमँन देवर होते।
लाख बुरी मेरी भगनी-नँनदुलि धरति साँतिए द्वार, ऐसे में कौसल्या होती गाँमती मगलचार।।
वालजती नें कही, सुनो मेरी सीता वेटी, निधरक वैठी रहौ कहूँ ना विन ते खोटी।
कहै घरवाऊँ सातिए, कहै तौ मगलचार, कै निसाँन घुराऊँ वेटी, तपसीन के दरबार।।

२

सीता-व्याहुलौ

कठ सुरसुती-सुमिरि प्रेम आँनद मनाँमें, जौ गुरु अग्या देइ, कै हरि के गुन गाँमें।
आँन बुद्धि परगत[१], भई, गुर-गन्नेस मनाइ, सीता-व्याह राँम की चरचा जाँमें हर-जसु कहूँ बनाई।।
राजा अपने नाँम, जँनकपुर-गाँम बसायौ, सीया लियौ औतार पिता कौ नाँमु चलायौ।
चारयौ कौने झारि कें लीप्यौ चौका लियौ वनाइ, दै रूमाल मगँन भई राँनी म्वाँ हँसै जँनक तेरी नारि।।
राँनी-राजा वैठि वोलि एकु मतौ कमायौ, अपु कूँ मूढा डारि, राज कूँ पलँग नबायौ।
आजु की वात कहा कहूँ राजा, अतरज[२] मेरे गात, परसराँम कौ बाँनु[३] कुँमरि नें धरयौ एक ई हात।।
जब राजा नें कही मोइ परतीति न आवै, जे वेटी चौका देइ बाँन कूँ फेरि उठावै।
परसराँम के वाँन कूँ सीया लावै अबर उठाइ, जो कोई बाँन समा में तानें मे सीया ऐ दुग्गो व्याहि।।
राँनी, कहा ओस कौ नीर, कहा वादर की छाया, कहा ओछे ते प्रीति, कहा सपने की माया।
सपने साँचे ना भए मेरी राँनी राज-कुँमारि, परसराँम कौ बाँनु उठै नाँ जे तीन लोक कौ भार।।
राजा जे सपने की नाँहि, कहूँ मे आँखिन देखी, लीयौ बाँनु उठाइ कुँमरि तेरी सीता वेटी।
सीता सत की आगरी, वित की कही न जाइ, तीन लोक कर पै धरि राखे, कुँमरि तेरी मदमद-मुसकाइ।।
राँनी, कोन कूँ टीकौ करूँ कोन वर व्याहँन आवै, राजा, घर-बर लेउ पैहचाँनि जाँनि बर समरथु ढूढौ।
सिया भई वर-जोग, व्याह वर मारग भेजौ।।
सिया सत-गुन-आगरी भई व्याह सजोग, जुरि-मिलि मतौ करौ मैहलँन में सवु, राजु जँनक कौ लोगु।।
राँनी, कोंन कूँ टीकौ करूँ कोन वर व्याहन आवै ? वडे भूप कौ पूत फेरि माता ना ज्यावै।
आगें साह्यौ[४] सूझतु नाँऐं, सीया भई वर चूक, घरई वैठे वोलि लुग्गो सव देव, सकल मुनि, भूप।।
राजा, करयौ जग्य कौ ठाटु भूप सवु नौंति बुलाए, देस-देस के भूप छोडि सिंगासँन[५] आए।
तीन लोक चिट्‌ठी फिकी, सव देवनु माँनी आँनि, उँमहे कटक, छए दल-वादल म्वाँ जँनक तिहारे गाँम।।
आगे वेसामित्र[६] पाछें ते लछिमँन वारे, जे दोऊ आए वीर, लगें सवु देवँनु प्यारे।
जोगिनु पै मृग-छाला कहिऐ, सोभा कही न जाइ, पहुँचे निकट जँनकपुर-गौडे[७], जोति दई छुडकाइ।।
जुरि आए सब भूप वाँन के सँनमुख धाए, साठिक जोधा गए वाँन के जौरे आए।
कठिन वाँन गमीर कौ कवु लाए अबर उठाइ, उतरि गयौ जोधँन कौ पाँनी सवु भूप गए कुँम्हिलाइ।।
जौ जू न आए दोऊ वीर, बाँन किनऊ नाँ ताँन्यौ, बीस भुजा, दस सीस, गरवु राँमन कौ भाँन्यौ।
असलि जीव संचै परयौ, कठिन वाँन गभीर, सुनतई पैज सूखिगी राँमनु म्वाँ ढरयौ नेंन ते नीर।।
जव मदोदरि कहै सुनें राँमन बलदाँनी, सेज सुकँन गए भूलि सखि[८] तैनें कोन की माँनी।
जल-विन कमल, तेल-विन वाती, तलपि-तलपि वुझिजाइ, कोन की सखि करी पिया राँमन, तेरौ वदँनु रह्यौ-कुँम्हिलाई।।
जवु राँमन नें कही, सुनो मदोदरि राँनी, रुपी जँनकपुर पैज, सखि मैंने म्वाँ ते माँनी।

१. परगट। २. आश्चर्य। ३ प्रसिद्ध शिव-धनुष के स्थान पर यहाँ परशुराम का बाण हो गया है। लोक-मानस शिव-धनुष के लिए परशुराम की व्यग्रता का समाधान नहीं कर सका, अतः शिव-धनुष के लिए परशुराम का वाण हो गया। ४. सायौ, साह्यौ विवाह का दिन। ५. सिंहासन। ६. विश्वामित्र। ७. पार्श्व। ८. शंका, आशंका, भय।

जोबँन आगें बाँन परयौ, घर बैठि रह्यौ नाँ जाइ, तँनिऐं[1] नाँइ भुजा बीसँनु ते, मेरौ मरँनु भरोसौ बाइ ॥
बलँम, बिरध रे भए, बुद्धि ओछी बनि आई, मुखते निकरै बात, छिनक में होइ पराई ।
मैं तोते ऐसी कहूँ सुनि बिसवा के बंस, कूमकरँन[2] कू भेजि दीजो, तुम घरई रहियौ कंत ॥
कूमकरँन से बली काँम मेरे कब-कब आए, कब के काँमी भए, काँम मेरौ सर करिलाए ।
बार-बार मेरें को कहै रौंनी, बचँन कहूँ समझाइ, तेरौ कहन्यो करुगो तिरिया ब्वाईऐ देंउ खँदाइ ॥
कूमकरँन रहे टेरि कठ ते कठ लगायौ, ब्वाकी ठोकी पीठि नैंन राते करि लायौ ।
ऐसे बाँन बहुत घर मेरे, खेलत निपन अजाँन, खड-खड करि देंउ बाँन के मोइ बिरप[3] की आँनि ॥
कूमकरँन से बली जाइ के दल में दाले, हातँनु छीयौ नाँहि धरँन ते बाँन निहारे ।
बैठि गयौ धरनी में जोधा, इत-उत करिकें धूरि, और बाँन के धोकें डोलै बाँन रह्यौ जर पूरि ॥
आजु कहा सो हरि पै धँनुष तनें नाँ, जिन पै धँनुष तनें नाँ जे दोऊ बारे जी ।
देस-देस के भूपति आए लखे परे बिछोना, बेस्वामित्र सग गुरु जिनके जे आए जसरत जी के छौना ।
जिन पै धँनुष तँने नाँ, जे दोऊ बारे जी ॥
पीतबर की कछनी काँछें हातँन में कडे मुरेर्माँ[4], माँथे मुकटु खौरि चदन की स्याँम-बरन हरि के दोऊ नैंनाँ ।
जिनपै धँनुष तनें नाँ, जे दोऊ बारे जी ॥
कहति सुनेंनाँ सुनि मेरी मैंनाँ, जादू चलै न टोनाँ ।
जौ आजु हरि पै धँनुष न टूटै, मरूँगी जहर-बिसु खाइ मेरी मैंनाँ—दोऊ बालक एँ ॥
इतनी सुनि कें लछिमँन बोले, ठाकुर हुकमु करौ नाँ ।
तुलसी दास आस रघबर की तोरि धँनुष द्वै टूक करौ नाँ ॥—जिनपै धँनुष तनें नाँ, जे दोऊ बारे जी ॥
राजा माला लेउ मँगाइ जोरि सीया ऐं गहाओ, जापै देगी डारि कुँमरि ज्याई[5] कू ब्याहौ ।
भरे कटक में सीया डोलै, नजरि गई ठहराइ, देखि रूप लछिमँन बारे कौ दई राँम पै डारि ॥

३

जगदेव कौ पमारौ

जग्गि[6] रची रँनधौर-भूप, सबु नोति बुलाए, देस-देस के भूप आइ धारा-तँन छाए ।
बाँमन गढ चिट्ठी फिकी सबु भैया लए बुलाइ, जगरदेव सौ भैया छोड्यौ, जाइ रही खबरि हति नाँइ, सीस देवी गहें ॥
सगु भैयनु जुरि कही बचँन एक माँनि हँमारौ, भैया ऐ लेउ बुलाइ जग्गि में होइ सहारौ ।
सौ सोती एकु गोत कौ मेरी सुनि भैया रनँधौर, ऊँच-नीच तोतें हु जाइगी, बे करे और ते और, सीस देवी गहें ॥
नाऊ दियौ खँदाइ मैहँल जगदेव के आयौ, सुनि दादा जगदेव, कुँमर तो कूँ नोतौ लायौ ।
पाटमदे[7] डोला सज्यौ करि सोलह-सिंगार, पाटमदे और कुँमर जगदेव पहुँचे जग्गि-मँझारि, सीस देवी गहें ॥
डोला में ते उतरि पाँव मैहलँन में दीयौ, दीवलदे[8] मुख-मोरि नाँइ जाकौ आदरु कीयौ ।
मैं तो बैठी भवँन पै मेरौ देवर निपट अजाँन, जग्गि रची रँनधौर-कुँमर नें मेरी पनि गयौ भगमाँन ॥
आधी राति मौहरौ ठनयौ, रोमनि अनी-अनी भाँति, धारा तौ नगरी पँमार की ।
बोनैं, या कौ बेटा न्यों[4] कहै, मेरी सुनि तैं माता बात, धारा तौ नगरी पँमार की ॥
माता, कै काऊ नें गारी दई, कै काऊ बोले बोल, धारा तौ नगरी पँमार की ।
बेटा, ना काऊ नें गारी दई, ना काऊ बोले एँ बोल, धारा तौ नगरी पँमार की ॥
बेटा, मैहल गई रँनधौर मे ब्वा मोते बोले बोल, धारा तौ नगरी पँमार की ।
सुनि री माता, बार भयौ जोई बनि आवै, मारँगौ रँनधौर राव धारा को राज ॥

१. तोंकें । २. कुंभकर्ण । ३. निरप—नूर । ४. मुरकी—मुड़े हुए । ५. आई । ६. यज्ञ—यज्ञ ।
७. जगदेव की माँ । ८. रनधौर की माँ ।

माइयौ रँनघौर-कुँमर कूँ गादी पै परभात, दीबलदे और लरिका-वारे, मैं करि दऊँ बारह बाट ।
अरी माता, दाँत-खुरपिया, जोरि कें, एक छोटी-सी गढाइ दै साग ।।
बेटा, नाँइ बँनै कीनी लाँमनी, नाँइ ब्वानें की ए नराव—धारा तौ नगरी पँमार की ।
अरे बेटा, तेरे पिता की तोप ऐ, वु धरी ऐ लखैरी बुर्ज ।।
न्यौंति मेरौ राजा चलि दयौ कोई साहिर गहि लई गैल, इढियनु-सिढियनु चढि गयौ दै-दै भँमर कलीन में पाऊँ ।
सैरी ऐ भँमानी हिंगुलाज की, जाकी बैठी ऐ मुर्जन पै आइ ।।
हातु लगाऊँ मेरौ सिर नवै, मेरी पति बाँनें की जाइ ।
ठोकर मारी दाँए पाँइ की, तकुआ सी लई ऐ उठाइ, देदी ने साँग बगाई ।।

लुहार का वृतांत

तयौ-कठौटी बेचि कें चलि अत करिंगें गुजराँन ।।

जगदेव रनधौर के यहाँ जाता है ।

भाई मेरे, सगु भैयँन कूँ रमरमी,[1] भैया कू सात सलाँम ।
बैठे ऐं सहेली गगा-पार के, जिनकी नगिन धरी ऐं तरवारि ।।

साँग का गाड़ना-उखाड़ना ।

पनघट पै हाती लडें, हातिन की करि दै बीच, धारा तौ नगरी पँमारकी ।
भैया, कै मारू तरवारि ते कै फेंकि दऊँ असमाँन ।।
भाई, मारे ते मरि जाँइगे न्योई मालु पिता की जाइ, धारा तौ नगरी पँमार की ।
उन दोनों का पिता अनबोला राँनी के यहाँ बँधा था। अब जगदेव छुड़ाने को चलते हैं ।

माता, हम तौ जात परदेस कूँ, फूलँमदे की लरजा तोइ ।
बेटा, मूर तें प्यारी ब्याज ऐ, कोई तोउर ते प्यारी तेरी नारि ।।
बेटा, राजु बुरौ ऐ रँनघौर कौ, तू तौ लंजा सग लिवाइ ।

फूलमदे इन्द्र से

दै परिकमा खेरे खूट की नवि-नवि करत सलाँम ।
जीमत रहिंगे फेरि मिलिंगे, नरवर कोट जुहार ।।
घोडा भीजै, तगु चुगै, भीजति जीन लगाँम ।
तिहारी तौ भीजै सूई पगडी, मेरी रँगु चूँनरि की जाइ ।।

२

अमरसिंह कौ साकौ

सारद माइ सुरत करि गाऊँ, गुरु-उस्ताद मनाऊँ ।
पच पीर और सबै औलियाँ, सबई कू माँथौ नाऊँ, खेरे की चौंमुडी माता, पहिलें तोइ मनाऊँ ।
बीरा-बतासे और रेवडी, हरि की भेंट चढाऊँ ।।

❀

अमरसिंह नें कियौ पँमारौ, कहौ तौ गाइ सुनाऊँ ।।
कहाँ तें उनिपत्ति भई, कहाँ ते भई ऐ लडाई । दीघ सैहैर उतिपत्ति भई, आगरे ते भई ऐ लडाई ।।
काए की तेरी बँनी कचैहरी, काए कौ बँगला छायौ ।
कचन की तेरी बँनी कचैहरी, कचनु-काटि लगायौ ।।
बिसकरमा[2] तेरी सोभा बरनी, ढिंग-ढिंग पदँमु लगायौ ।
ढिंग-ढिंग पदँमु लगाइ कि बँगला पाँनन ई तें छायौ ।।

[1]. राम-राम । [2] विश्वकर्मा ।

जल में खभु, खभ में जलहल, जाँमें कमँलु बिराजै ।
जगमग जोति जरै ठाकुर की, सिकिलि घिडाघिड़ु बाजै ।।
काऊ नें लादी लोंग-सुपाडी, काऊ नें लादी राई ।
कबिरा लादी राँम-नाँम, बैकुंठ की गादी पाई ।।

❀

बास्याह निकरि तखत पै बैठ्यौ, सबु उँमराइ बुलाए ।
सबु उँमराइ नजरि भरि देखे, ग्रमरसीग नहिं ग्राए ।।
बारह हजारी, तेरह हजारी, वेऊ तौ मुजरे कूँ ग्राए ।
सत्तरि खाँनि बहत्तरि उँमरा, बे मुजरे कूँ ग्राए ।।
चुगल-खोर कौ चुगलई खाई, तेरौ ग्रमरसिंग काए कौ राउ ।
तेरे मुजरें ग्रावै नाँ जाइ, बाईस परगने बैठ्यौ खाइ ।।
द्वै दगरे दिल्ली के खाइ, सब ग्रगरे की चौधर खाइ ।
गाँम जोधपुर बैठ्यौ खाइ, सुनि कें बास्या गयौ रिस्याइ ।।
राउ ग्रँमेडौ करै जुवाब, है कोई मेरौ उँमराइ ।
'चोबदार कूँ लियौ बुलाइ, सुनि रे चोबा मेरे ज्वाब ।।
ऐंदी के कूँ जल्दी लाउ, ज्यौ बैठ्यौ त्योंई लै ग्राउ ।
चोबदार कौ भाज्यौ जाइ, ऐदी के डेरँन पौंहच्यौं जाइ ।।
चोबदार कौ करै जुवाब, सुनिरे ऐदी मेरे ज्वाब, यादि कियौ बास्या-दरबार ।।
ताते से पाँनी ऐदी न्हाइ, न्हाइ-धोइ कें हैगौ त्यार ।
सबजा घोडा लियौ-सजाइ, जीन सुनैरी धरी जमाइ ।।
मुहरौ, पट्टौ, लगाँम चढाइ, धँमकि भयौ ऐदी ग्रसवार ।
गलिग्रँनु-गलिग्रँनु ऐदी जाइ, ऐदी कौ सबजा नाँचतु जाइ ।।
नाँचतु जाइ ग्रौर कूदतु जाइ, चौक-चाँदनी झुलम्यो जाइ ।।
चोबदार कूँ भेजि कें जानें ऐदी हाल बुलायौ ।
करी सलाँम धस्यौ भीतर कूँ, दरबाजे पै ग्रायौ ।।

❀

राउ ग्रँमँडौ करै जुबाब , है कोई मेरौ उँमराब ।
जोई मँगाऊँ जोई लै-लै ग्राउ , कोरौ-सौ कागदु लियौ मँगाइ ।।
दवात-कलम-स्याही मँगबाई, धौरे पै रुक्का धरयौ बनाइ ।
पहलें लिखि दई राँमँ-राँम, दूजें लिख्यौ खुदा कौ नाउँ ।।
तीजें लिखिदई बुरी काइ, चौथें कूँ लिखि दई सात सलाँम ।
पाँचएँ ग्रमरसीग धरे बनाइ, लिखि परमानौ दियौ गहाइ ।।
लै रे ऐदी जोधपुर जा, ग्रमरसिंग कूँ जल्दी ला, ज्यौ बैठ्यौ त्यौ ईं लै ग्रा ।।
जब ऐदी कौ करै जुबाब, ग्रमरसिंग भारी सिरदार ।
मेरे कहे कूँ माने नाँ, ढिग ते जँमदरि देइ चलाइ ।।
मेरे सीस कूँ लेगौ काटि, मेरी खलरी डारै कटबाइ, खाल-काढि भुस दे भरबाइ ।
राइ ग्रँमेंडौ करै जुवाब, एकु रुक्का हम पै भिजबाइ ।।
सब तनु पलटनि देउ सजाइ, दारू-गोला देउ भरबाइ, तोप पै तोप देउ जुतबाइ ।।
पाँच तोप ग्रौर बारह हाती, हजरत हाल सँवायौ ।
हुकँम भयौ बास्याह कौ, जब राठौरी बुलबायौ ।।

भूरीसीग नें हतिनी लई सजवाइ, हरी बनांत-झूल डरवाइ।
दारू की बोतल लइ भरवाइ, सेर कौ सुलफा लियौ मुल्याइ ।।
सेरक मेंगडी लई मुल्याइ, तीन्यो ग्रंटा लिए चढाइ।
न्याऊँ ऐंदी चलतौ जाइ, धमकि भयौ ऐंदी ग्रसवार ।।
ऐंदी कें गरमी ह्वै जाइ, घोरि-घोरि मिसिरी पीमत जाइ।
पीमतु जाइ और चलतौ जाइ, कारी नदी पै झुलम्यौ जाइ ।।

❀

जब ऐंदी को करै जुवाब, मलहा के मोइ पार लगाइ।
भूरा मल्हा कौ करै जुवाब, कहा कौ भुमियाँ कहा कौ राउ? कहा सिपाही भाई तेरौ नाउँ?
जब ऐंदी कौ करै जुवाब, न्याई कौ भुमिया, न्याई कौ राउ, हलका ऐंदी मेरौ नाँम ।।
रोक-रुपैया दियौ गहाइ, पटकि सँदेसौ ह्वै गौपार।
चनां-चबैनां लियौ मुल्याइ, मसकतु जाइ और चलतौ जाइ, गाँम जोधपुर पहुँचौ जाइ
मसका-मसकु चढयौ ऐंदी कौ, गाँम जोधपुर आयौ।
गाँम जोधपुर जाइ कें जानें हलका सोर मचायौ ।।

❀

पैहलौ बँगला, दूजौ बँगला, तीजे बँगला आयौ।
तीजे बँगला, चौथे बँगला, पँच मैहला में आयौ ।।
पाँचो बँगला छटे बँगला, सत मैहला में आयौ।
सातो बँगला आठो बँगला, नौ मैहला में आयौ ।।
पैहली खँनी पै धरि गौ पाउँ, दूजी खनी पै झुलम्यौ जाइ।
तीजी खँनी ते पल्ली पारि, हरे-हरे बाँस छई चौपारि, म्वाँ राठौरी खेलै सार ।।
नवि कें एंदी करै सलाँम, राजा लेगौ सीस चढाइ।
राजा राइ ग्रमैंडौ करै जुवाब, है कोई मेरौ उमँराव ।।
ऐंदी के डेरा देउ लगवाइ, पाँच मुहर हम पै ते लेउ, द्वै बकरा रातिब के देउ।
जब ऐंदी कौ करै जुवाब, तेरी मुहर हम कूँ ना लीन, तेरे बकरे हम कूँ मुरदार ।।
जौ सुनि पावै अकबर बास्याह, जन-बच्चा डारै पिरवाइ।
मेरी खलरी डारै कटवाइ, खाल-काटि भुस देइ भरवाइ ।।
लाल दरवज्जें दे टँगवाइ, ग्वाऊ में देगौ ग्रागि लगाइ ।।
ऐंदी जुवाब करन नाँइ पायौ, जौ जूँ ऐंदी दूसरौ आयौ।
कमरि ते पट्टौ खोलि कें, परमाँनौ हाल गहायौ ।।

❀

पैहले पना कूँ खोलै राउ, बाँचै राउ मगनु ह्वै जाइ।
दूजे पना कूँ खोलै राउ, मन दलगीरी झुलमी आइ ।।
तीजे पना कूँ खोलै राउ, नारी बोली कोठनु आइ।
चौथे पना कूँ खोलै राउ, तन-मन राउ भसँम ह्वै जाइ ।।
पाँचए पना कू खोलै राउ, जाँमैं निकसे ग्रमरसिंग राउ ।।

❀

कमरि-कटारी, सिर पै डुपट्टा, राजा रावर आयौ।
बेटी बीटलिकौरि की राजा कौ दरसँनु पायौ।

ताते पाँनी धरौ ततेरा, मलि माँथे ते न्हायौ।
पीतवर की करी धोवती, सूरज-ध्यांन लगायौ ॥
सवा पैहैर सुमिरेंन करयौ, जल सूरज ढरकायौ।
मलियागिरि ते चदनु लायौ, घिसि-घिसि अंग लगायौ ॥
हीरा पाँडे तपै रसोई, महाराजा जैंमन आयौ।
पैहली ग्रास दियौ धरती कूँ, दूजौ गऊ चढ़ायौ ॥
तीजौ ग्रास दियौ कुत्ते कूँ, चौथौ रांम चढायौ।
पाँच ग्रास किए राजा नें, थारु परें सरकायौ ॥

❀

हीरा पाँडे थर-थर काँपै, राजा ऐ अन्नु न भायौ।
कै तौ मेरी कची रसोई, कै रही दारि अलोनी ॥
नाँइ पाँडे तेरी कची रसोई, नाँ रही दारि अलोनी।
अमखास पै भीर परी, म्वाँ पेट भरें नाँ होनी ॥
हिंदू पारें तीतरु मैना, मुसलमान घर दूती।
बैठि रहूँ दरबार ते मेरी, डूबि जाइ रजपूती ॥

किसुनाँ नाई लियौ बुलाइ, अमरसीग हँसि-हँसि बतराइ, मे तोइ लै चलूँ संग लिवाइ।
किसुनाँ नाई करै जुवाब, मैं तौ तिहारो तावेदार, मारौ चाँहैं छोड़ौ सरकार ॥
राउ अमेंडौ करै जुवाब, पाँचौ कपड़े लाउ निकारि।
लाओ पाँचौ जल्द हतियार, हनि-हनि राजा बाँधै हतियार, घोड़ा तीन लए सजवाइ ॥
लीलौ वछेरा लीलौ तग, बाँधि दई सोने की जंग।
मखमल-फूल सुनहरी जीन, ऐसे सजे वछेरा तीन, अमरसिंग के पैंने तीर ॥
हुकमु अमरसिंग दियौ सुनाइ, घोड़ेंन बीर भए असवार।
न्यांऊ ते राजा चलतौ जाइ, मञ्जिल-मजिल राजा जाइ, किले-आगरे पहुँचे जाइ ॥
दरवाजे पै पहुँच्यौ जाइ, दरबनियाँ ते करै जुवाब।
सुन दरबनियाँ मेरे ज्वाब, दरबनियाँ दरवाजौ खोलि।
मोइ बास्याइ ते मिलने दै, मोकूँ पल-पल होइ अवार ॥
जब दरबनियाँ करै जुवाब, सुनि रे राजा इल[1] गँमार।
दरबनियाँ की सुनिकें वात, अँमरसीग ने दीनी लात ॥
अमरसिंग ठोकर किले लगाइ, नाई के किसुनाँ कूँ घोड़ा सौपि गयौ बलदाइ।
कसी कमरि तरवार, साह की कुलसि[2] नही बजाई ॥
बादस्याइ के पास जाइ पाजी यो चुगली खाई।
देखौ तौ सिरकार बदिगी तक भी नही सुनाई ॥
बाँधि ढाल-तरवार आप के जौरे ठाड़ौ आई।
अमरसिंग कूँ बड़ा गरूर, जाकूँ दैनी सजा जरूर ॥
सुनी सलाँमत खाँ की बात, मीड़ौ बास्या दोऊ हात।
सात लाख जुरमाँनो लेउ, नई तौ होल जेल में देउ ॥
इतनी सुनी सँलामत बात, फूल्यौ नही जु अंग सँमाइ।
राठौरी के कितनौ जोर, देखूँ तेरी आजु मरोर ॥

[1]. हेंच। [2]. कुन्नस।

हुकम् बास्या दीयौ मोइ, ग्राज् जेल में दुग्गो तोइ।
सात लाख जुरमाँनों देउ, नही तौ ठाँसि जेल में देंउ ॥
सुनी सलाँमत खाँ की बात, अमरसीग कौ जरि गौ गात।
इतनी कही खेंचि तरवारि, मीयाँ जी कौ काटी नारि ॥
मीयाँ एँ मारि चल्यौ रजपूत, नाऐं परति गुसा की कूत।
बास्याइ के जौरे जाइ, कहूँन लग्यौ ऐसें समझाइ ॥
बादस्या लेउ ल्हास सम्हारि, परचौ ऐ सारौ गाँडि उठाइ।
देखि पँमारौ अमरसीग कौ, बादस्याइ घबडायौ।
छोडि कचैहरी रैंनमासैंन में, पास हुरैंम के आयौ ॥

सरमन[1]

कास-बास दोऊ अँधा बसें, अमर-लोक नाराँइन बसें।
अबी कहति अघ ते बात, हुँम-तुम चलें रौंम के पास ॥
कहा रौंम हरि तेरौ लयौ, रूकुँ न बालक हमकूँ दयौ।
बालक देउ भलौ-सौ जाँन, मात-पितैंन की राखै काँन ॥
नाँइ मेरी कथा नाँइ मेरी गोद, पूत सरकनो कहाँ ते होइ।
पहले माँचि मचे नीर, दूजें कला पलटि गए खीर ॥
तीन माँस तिरबेनी रची, चौथे माँस गरब में परी।
पाँच माँस पँच अँगुरी रची, छठए माँस मुकलाँने केस ॥
सात माँस सतोसी होइ, और आठ माँस कौ जीवै न कोइ।
जीवैं तो बलधारी होइ, और वह नछतरधारी होइ ॥
नौए माँस दुनियाँ संसार, दसए माँस सरमैंनि औतार।
ज्या दिन सरमैंनि बेटा भए, भैनि-भाँनजी मंगल कहे ॥
कौरे सीक-साँतिए धरे, भैन-भाँनजी तीअरि दई, ब्राह्मँन कूं गायँन के दाँन ॥
दिन-दिन बालक बढबे लगे, मात-पिता-कुल प्यारे भए।
बर्सु दिनाँ के सरमैंनि भए, धरती माता जाँनि गई।
दोई बर्स के सरमैंनि भए, जब चदा-सूरज माँनि गए।
तीनि बर्स के सरमैंनि भए, जब तीन्यो लौकनु माँने गए ॥
चारि बर्स के सरमैंनि भए, पाँचौ पडनि जाँनि गए।
छैई बर्स के सरमैंनि भए, जब छूटे नराँइन माँनि गए ॥
सात बर्स के सरमैंनि भए, जब सातो समदुर न्हाबे गए।
आठ बर्स के सरमैंनि भए, जब अष्ट कुली नागैंन नें लिखे ॥
नौई बर्स के सरमैंनि भए, जब नौऊ नाथैंन जाँनि गए।
दसई बर्स के सरमैंनि भए, लै पोथी ब्रह्मा-घर गए ॥
ब्रह्मा बचन कही दोइ-च्यार, विद्या देऊ अरथ-बल-धार।
खेती करे न बंजी जाँइ, विद्या के बल बैठे खाँइ ॥
ग्यारह बर्स के सरमैंनि भए, जब विद्या में भरपूरैंन भए।
बारैंह बर्स के सरमैंनि भए, गऊ-घोडैंन पै पाखर परे ॥
खेलैंन पूत कुँनज बन गए, कुँज-सरवा उठी घराइ।

1. श्रवण कुमार,—यह गीत सावन के महीने में कुछ विशेष व्यक्ति गा-गाकर भिक्षा माँगते हैं।

कुलँग राजा पूछै बात, कोन तेरी माता कोन तेरौ पिता।
कोन राज में है नैंनसार, मात-पितैंन के नाम बता॥
तुम कूँ बर दें सौंमिल नारि, अँनसुख माता धँनसुख पिता, रघवसीन में है ननसार।
आक- क के सँमद मँगाई, हरे-हरे पातँनु मडप छाई॥
कुलंग राजा टीकौ करै, सरमँनि के मुख बीरा भरै।
आक-ढाक के समँद मँगाइ, हरे-हरे पातँनु मंडप छाइ॥
केरन के दए खंभ लगाइ, सुरै गऊन के घीअ मँगवाइ।
हुवनकुंड दीए भरवाइ, घरई के ब्रह्मा लए बुलवाइ॥
बिरमा देी बारक पढै भैमाता ज्वौ मगल करै।
कुलँग राजा टीकौ करे सरमँनिसुत की भाँमरि परै॥
ब्याह बरनि वुड निच्चू भए, भाँटनु कूँ ज्याँनें गौंडा दए।
डोंमन कूँ हाती दै दए, बिरमन कूँ गाइन के दाँन।
और डोला में बैठारी नारि, ब्याह-बरनि गल[1] लाए नारि॥
जब लग तिरिया आनें लही, सासु-सुसर के कहनें रही।
ज्यों-ज्यों तिरिया स्याँनी भई, त्यों-त्यों सीख बिराँनी लई॥
जब तिरिया है गई बर-जोग, झुकि बोले सरमँनि ते बोल।
सुन लै पीया, सुनि भरतार, ज्याइ कहूँ ज्याइ मानें आज॥
कहदै तिरिया जो मन होंइ, सोंनें कौ हार गढ़ाइ दऊँ तोइ।
कहा माँगूं कहा देउगे धँनी, कोन बात मैंहलँन में कमी॥
अन्न-धन्न ते सब दिन सुखी, दोइ पुरिखँन नें कल्लई दुखी।
समिया-रातें खों-खों करें, भरि अँगना में थूकें भरें॥
सौतेली बुढ़िया ज्ये मरिजाइ, सौतेला बुढ़रा ज्ये मरि जाइ, जिते सैंहैन फंदु कटि जाइ।
मोई लै चलौ मेरे प्योसार, मेरे पीअर खार-बखार, बैठे पीया खेलौ सार॥
कँमरि कोदनी दऊँ गढवाइ, नारि ढोलनाँ दऊँ बनवाइ॥
कोठे-ऊपर अट्टा करूँ, मुँआई बलम मै न्यारी रहूँ।
चुपरी फुलकियाँ पै-पै धरूँ, धोवा दारि चर्द की करूँ॥
जेंओ करूँ जिमायौ करूँ, और भरि-भरि हुक्का प्याओ करूँ।
भरि-भरि बेला दूध के देउँ, कुठिला ते मोटौ करि लेउँ॥
ना पीवै दोइ गुल्चा देउँ, मुमुरिहा[2] तोइ बस में करूँ।
जब सरमँनि नें दयौ जुबाब, चुप्प रे तिरिया लन्छि गँमार॥
मा-बापँन कौ कोन हवाल, अभी मैया घुरबल[3] पिता।
जो गारूँ मै अंधी माइ, पीयौ दूध बाद है जाय॥
जो त्यागूँ मै धुरबल पिता, तीनि लोक में ठौर जु नाँइ।
नाँइ मारी नाँह गारी दई, फूलि नारि कुप्पा है गई, रूठि नारि अट्टा चटि गई॥
मूँगा बाँदी लई बुलाइ, रग-मैंहल में दीपक बारि, गौंधन पुरजा लिखै बनाइ।
पहलें लिखे श्री भगवान, जा पीछें कुँम्हरा कौ नाँम॥
कुँम्हरा कहूँ कै देवर-जेठ[4], एकु न्करि हँडिया है करु पेट, पाँच टका कोरचा के लेउ।
लिख पुरजा बाँदी कूँ दयौ, बाँदी नें डारि जब में लयौ॥

१. घर। २. ज्वाँ—यहाँ। ३. दुर्बल। ४. पाठां०—कुँम्हरा के मेरे देवर-जेठ।

कुँम्हरा के घर पौहची जाइ, कुँम्हरा ऐ परचा दीओ गहाइ, कुँम्हरा बाँच खुस है जाइ।
कुँम्हरा की बू चतुर सुजाँन, लै बैठयौ हँडिया कौ ग्याँन ।।
गोंदा ग्वानें लयौ बनाइ, पीट-पाट कियौ तैय्यार।
पाँनी कौ पौचारौ दयौ, बीच में आढौ पर्दा दयौ ।।
ठोकि-ठाकि म्हौंडौ करयौ एक, नेंक फरैरी हँडिया भई, दमका-दंमाँ बीतन लगी।
चावि कुँम्हरिया मैहलँन गई, कैसें घसू महल के बीच, राजँन कें पर्दन की रीति ।।
मूला बाँदी लई बुलाइ, रंग मैहल में हँडिया जाइ।
जब चातुरि के आगें धरी, चातुरि देख मगँन है गई ।।
कर्तंबहारी नें करतबु करे, छीकत चौका बर्तन भरे, छीक सौति मेरौ कहा करि लेइ।
कै साँमल कौ जियरा नाइ, डुकरी-डुकरैलु लेउ लुढकाइ ।।
एक में राँधी निरमलि खीरि, एक में घोरि महेरी धरी, निरमलि खीरि ग्वाकौ बलमाँ खाइ।
खट्टी महेरी दुआँ कौ तेलु, जे बाँध्यौ पुरिखँन कौ नेगु ।।
खाइ लेउ बुढरा रेलँम-पेल, कबऊ न चले तुम्हारे पेट।
खात-पीत दिन भौतक भए, मरिवे के दिन सातक रहे ।।
सरमँनि फूलि कुठीला भए, तिरिया फूलि गोनि है जाइ।
एक दिन सरमँनि पूछै बात, कैसें पिता धुरवले गात ।।
जब अधा ने दीओ जुवाव, कछु दुख मति पूछै मेरे लाल।
जा दिन विहा तुम्हारे भए, आदर-भाव मैहल तें गए ।।
जा दिन आइ गई साँमलि नारि, कबऊँ न खाई खीरि अघाइ।
सरमँनि नें तब दयौ जुवाव, एकई तिरिया एकई नारि, एकई नारि परोसँन हार ।।
एकई नारि मैहलँन में रही, तोकूँ दूजी को करि गई।
जब अधे नें दयौ जुवाव, साँचौ ऐ तू सरमँनि लाल, हँम दोनों झूठे सिरदार ।।
इक दिन बेटा करनी करै, जब लाला तोइ मालूम परै।
इक दिन सरमँनि परचौ लेइ, काढि दूध मैहलँन में देइ ।।
खिरक दुहाइ लईं तीसों गाइ, माँट भरे मठुका भरवाइ।
टेव न छूटे बाँनि न जाइ, कुत्ता मूँतै टाँग-उठाइ।
दुहरे चटुआ दए जमाइ, सरमँनि पोहचि पिता पै जाइ ।।
एक कधा पै अधी माइ, एक कधा पै धुरवलि पिता।
मैहलँन में जब दए उतारि, चंदन-चौकी दई जमाइ ।।
जब भोजँन है गए तैयार, अपनौ थारु मातु कूँ दयौ, दूजौ थारु आप लै लयौ।
चल्हे ते घूनाँनी नारि, अरे बलम तेरौ कहा सुभाउ ।।
अपनी थारु आप लै लेउ, जिनें के थारु जिनें दै देउ।
जौ अंधन् कौ झूटौ खाउ, तुमऊ बलम अधे है जाउ, ल्याई अँध लकडियाए को लै जाइ ।।
इतनी बात डुकरिया सुनी, लेहा-लेहु खीरि की करी।
जुग-जुग जीओ सरमँनि पूत, बारैह् वर्स में खाई ऐ खीरि ।।
मारि गुस्सा के सरमँनि ज्वाँन, खूटी खैंचि दुधारा लयौ।
तिरिया मारन कूँ चलदयौ, जब बुड्ढे ने पकरयौ हात ।।
मति मारै मति गारी देउ, तिरिआ मारें लगै अपराधु।
ज्याके पीहर रच्यौ ऐ बिमाउ, ज्याइ करि आओ ज्याके प्यौसार ।।
पीहर की उदमादी नारि, पति ते पहलें है गई त्यार।

कारे डोला कारे कहार, कारे बानें दए पैंहराइ, लील के काँटे दए लगाइ।
डोला में बैठारी नारि, आपु भए घोड़ा असवार ॥
इक वन नाँखि दूसरे नाँखु, तीजे बन में बिकट उजार।
उतरौ तिरिया राज-कुँमारि, ज्याँ आइ गयौ तिहारौ प्यौसार ॥
डोला में ते देखें नारि, जानति ऊँ बलमा भरतार, ज्याँ कैसौ मेरौ प्यौसार।
अबकें लै चली सँग लिवाइ, मात-पितँन की सेवा करूँ, दानो-दरिया दरिखौ करूँ।
इतनी बात सरमैंनि नें सुनी, म्वाँ लातँन की मारें दई।
नाँक काटि नकटी करि दई, कम कुठारी सरमैंनि घरी, जाइ काटी चदन की भिरौ ॥
चंदन बिरवा लियौ झुकाइ, खेंचि-खाँचि खाती के द्वार।
खाती के मेरे चतुर सुजाँन, काँवरि गढि दै जुग परमाँन ॥
काँवरि गढि दै चितम-चित, मात-पिता बैठें निहचित।
बढई कौ वौ चतुर सुजाँन, लै बैठ्यौ काँवरि कौ ध्याँन ॥
गढि-गढाइ कें सूधि करी, लै सरमैंनि के आगें घरी।
गगा-जँमना लिखी बनाइ, कालदी बामें धार बनाइ ॥
अडसठि तीरथ दए लिखवाइ, लै काँवरि मैहलँन में जाइ।
हरे-हरे गोवर अँगन लिपाइ, मौंतीन चौक दीए पुरवाइ ॥
मात-पिता दोऊ दए अन्हवाइ, चदन-खौरि दई लगवाइ।
अगले पल्ला धुरवल पिता, पिछले पल्ला अघी माइ ॥
कंठी बाँधी तुमी लई, सव नगर परिकमा दई, कघा पै काँवरि घरि लई।
म्वाँ ते सरमैंनि सूधें जाइ, बिंदरावन में पौंहचे आइ, जमुनाँ-जल ते दए न्हवाइ॥
बिंदरावँन ते सूधें आइ, भाँडीलवन में पौंहचे जाइ, परिकमा मुआँ दई लगवाइ।
कुंड-कुंड चिन्नामित लाइ, माँनसी गगा दए न्हवाइ ॥
दाऊजी में पौंहचे जाइ, दरसँन गुनकूँ दए करवाइ।
कासी-गँया[१] पौंहचे जाइ, गँया पिंड दए भरवाइ, बद्रीनाथ में भटके जाइ॥
इक वन नाँखि दोसरे में जाइ, तीजे वन में बिकट उज्यारि।
म्वाँ कोहौकी ऐ अंधी माइ, पूत सरमनाँ पाँनी प्याइ, प्यास के मारें जिअरा जाइ॥
न्याँ पाँनी कहाँ ऐं मेरी माँइ, ज्याँ तौ वनी ऐं विकट उज्यारि।
कै पाँनी गगा की धार, कै पाँनी माँमाँ के ताल ॥
माँमाँ पाँनी भरँन न देइ, माँमाँ ताल की पैंहरी देइ।
सूनी काँवरि कैसें ध ँ, मै तौ सिध की म्हैंमा डरूँ ॥
कदँम ते काँमरि दई लटकाइ, पत्तँन में बानें दई ढुबकाइ।
लै लोटा जब सरमैंनि जाइ, माँमाँ के जब ताल में आइ ॥
पैंहलौ लोटा सरमैंनि भरयौ, हात-धोइ म्हौं-कुल्ला कर्यौ।
दूजौ लोटा सरमैंनि भरयौ, मैंनि बाँन जगरत नें दयौ ॥
जब हानी जगरत की डोरि, मर्यौ भाँनजी डारयौ कोरि।
अबकें जीओ भाँनजे लाल, मौ लगि गऊएँ करूँ निहाल ॥
जब सरमैंनि नें दयौ जुवाव, मेरे मरे कू मति पछिताइ, मात-पितँन कूँ पाँनी प्याइ।
लै लोटा जब जगरत जाइ, पौंहचि गयौ काँवरि के पास ॥
पी लै री मेरी अघी माइ, पूत सरमनाँ पाँनी ल्याइ।
तब अघी नें दियौ जुवाव, नाँइ मेरौ सरमैंनि, नाँइ मेरौ लाल ॥

तू तौ रे परदेसी लाल, तू आयौ मेरे सरमैंनि मारि।
जाई हाल ते सरमैंनि मरचौ, जाई सोग में हम मरि जइ, औरु ज्याई हाल ते तू मरि जाइ।
म्वाँ जसरत कूँ दयौ सरापु, राँमु-राँमु कही अधी मरी, कृष्ण-कृष्ण करि अधौ मरचौ।।
सरमैंनि लीला पूरी भई, लटी बोवती विरफैंनु दई।
सुनवैइया जे सुनिवौ करैं, औरु गवैया जे गायौ करैं।।
सरमैंनि-कथा अत के द्वार, गए दिलिद्दर पल्ली पार।
गुरू नवलकिसोर कथा गाँमें, औरु जे सरमैंनि लीला सबै सुनाँमैं।।

२

गुरु-उस्ताद सुमिरि लऊँ अपनौं, सुमिरूँ सारद माई।
तोइ सुमिरि फिरि कोनैं सुमिरूँ, जसुदा जी के कुँमर कँन्हाई।।
सुमिरूँ ब्रह्मा, विस्नु, महेस, गवरी गनपति सुमिरूँ लाडिले, जिन दीनी मोइ बुद्धि बिसेस।
गनपति के चरननि की बलिहारी,
मैं तेरोई धरि रह्यौ ध्याँनु, सिव-सँकर से पिता गवरि जिन की मैहतारी।।
गवरी के सुत गिरजा के लाडिले, नैंक राखि सभामैं आइ कें माँन।
तोइ सुमिरि फिरि कोनैं सुमिरूँ मेरी रखि पचनमैं लाज।।
बडे परभात करँन कौ पैहरौ, राजा पिरथम नें अपनें। घोडा सजवायौ।
सबु सिंगार करयौ घोड़ा कौ औरु सोने कौ उडाऊ जीन धरवायौ।
गमकि वान्यौ असवार, नरवरवारी गढपती कैसें खेलँन जातु सिकार।
करी चलिने की त्यारी औरु दीनो ऐं हुकम सुनाइ सार तें सग लगि लीयौ स्वानु सिकारी।
घोडा हाँकि दीयौ छत्तरधारी, होंन हार बलवाँन करँम-गति टरै न टारी।।
इत-उत देखतु जाइ अगारी भगिनि आई, तौरु तीन पोत गई थूकि पाँम ते धूरि उडाई।।
घोडा पै सोचै छत्तरधारी, भगिनि पीठि फेरि भई ठाडी।।
राजा मन ही में रह्यौ विचारि, नरवरवारे भूप नें घोडा दीऔ ऐ पिछमनो अपनो डारि।
सो घोडा तौ घुडसार लगायौ राजा बैठ्यौ कचहरी जोरि कें सोच रह्यौ ऐ छाइ।
नरवरवारे भूप नें अब भूप लीयौ ऐ बुलाइ, कहि रह्यौ हीयौ खोलि।
चिता भंगी की घरवारी ऐ लाऔ सिपाही नेंक जल्दी बोलि।।
सुनत लैंम अब नोकरु धायौ, पल ना करी अवार द्वार, भगी के आयौ।
औरु भगी लीयौ बुलाइ, अपनी घरवारी ऐ भेजि दै, नैंक ब्याइ लै जाँऊँ संग लिवाइ।।
कहा कहि आई जाँने तेरी घरवारी, औरु बोलि रहे ब्याइ छत्तरधारी।
इतनी सुनि कें भगी घर अपने में धँसि गयौ, भगिनि लई बुलाइ, कहा कह आई भूप ते।
मेरे माऊँ तिरिया चाहि, सो तोइ बोलिवे कूँ आयौ सिपाई, आजु नरवरवारे भूप कौ, अब कहि कैसें होइ।।
आपु मरैगी नारि हमारी, मेरे जाँनें लै बैठैगी ब्याँहता मोइ।
सबरी माइ पेट की खोली, फिरि भगी ते भगिनि बोली।
अबर बास कूँ अबई जाऊँ, द्वै-द्वै जूवाब जाते करि आऊँ।।
कै राजा मोइ मरवाइ देगौ, नहिं बचन ते राजा ऐ हराऊँ।
मति जिय में घबराइ, सबु सक्या ऐ छोडि दै, घर-बैठौ मौज उडाइ।।
इतनी कहिकें भगिनि आई, नेंक न कीनी देर सग नौकर के आई, व्वाँनें धरयौ कचहरी में पाँम।।
नरवरवारे भूप कूँ सो दीयौ ऐ सीसु नवाइ।
जब राजा नें बात सुनाई, मोइ नारि मारग में पाई।।
तीनि पोत गई थूकि पाँम ते धूरि उडाई, दीजौ भेद बताइ, जौ तू खैरि जीय की चाहैं, तौ मोइ सबरी हाल सुनाई।

हात जोरि भगिनि भई ठाडी, नीच जाति बँसें सुपच हमारी, तुम राजा, हम रैयत त्यारी।
मैं राजा तुमें साँचु वताऊँ जौ जीव-दाँनु देउ छत्तरधारी ।।
जब राजा कौ लरज्यौ हीयौ, जीहू-दांन हमनें तोइ दीयौ।
इतनी सुनि भगिनि बतराई, फिरि राजा ऐ बात सुनाई, व्याकुल करिकें गात ।।
निरवसिन कौ मौंहू नाँ देखूँ, मैं बडे भोर परभात।
तम राजा परवीन, बिन बेटा सुनि नरवरवारे तेरौ दरसँन नाएँ करिवौ लीन ।।
अलफ-दिसा तिहारे चलत अगारी, श्रोरु ज्याई ते राजा मैं हूँ गई ठाडी, दीनी धूरि उडाइ।
निरबसी आगें ते आयौ, मति मेरी अलफ दिसा टरि जाइ।
सो आइ गई मेरी बचूँ न वचाएँ, धरि ऐ कालु अधरमी लै उडे ।।
राजाऐ है गयौ होसु भगिनि कौ तैं कहि रह्यौ, जा तेरौ नाएँ तिरिया दोसु।
नाँइ कछु बात सुपचिनी मैली, करँम-छीट उघरी मेरी पैंहली सका ऐ दूरि हटाइ।
सबु दुविधाएँ छोडि दै, घर बैठी मौज उडाइ।
सो करँम-छीट हँम ही कूँ लागी, जाँमें दोस कोन कूँ दियौ जाइ ।।

लड़के-लड़कियों के गीत

लड़के-लड़कियों के लिए भी ऐसे अवसर आते हैं, जब उन्हें गीत गाने पड़ते हैं। ऐसे अवसर विशेषतः दो आते हैं। एक अवसर क्वार में दशहरे के अवसर पर टेसू-झांझी खेलने का: लड़के टेसू लेकर घर-घर जाते हैं, गीत गाते हैं और भीख माँगते हैं। लड़कियाँ झांझी लेकर घर-घर जाती हैं।

दूसरा अवसर चट्टाचौथ का आता है। इस दिन बच्चे अपने-अपने विद्यालय से एकत्रित होकर चट्टा डंडा बजाते हुए घर-घर जाते हैं और गुरू के लिए दक्षिणा माँगते हैं। ऐसे ही अवसरों के कुछ गीत यहाँ संकलित हैं। चट्टो के गीतो में खड़ी वोली का पुट रहता है।

भइया को-को बनकूँ चाले रे, बनराइ केसुरा[1] ।।
भइया कहा-कहा बन जीते लायौ रे, बनराइ केसूरा ।।
माइ कूँ तौ हँसुला, बैहँन कूँ कठुला, तौ गोरीधँन कारी-कठी लायौ रे, बनराइ केसूरा।
माइ वाकी खिलकै, बहँन बाकी खिलकै, तो गोरीधँन रोमति डोलै रे, बनराइ केसूरा ।।
माइ पै ते छीडि, बैहँन पै ते छीडौ, तौ गोरीधँन जाइ पहिराई रे, बनराइ केसूरा।
माइ बाकी रोवै, बैहँन बाकी ठिनकै, तौ गोरीधँन खिलकति डोलै रे, बनराइ केसूरा ।।

२

इमिली की जर में धतूरे की माला न्वाँ खेलें गँनगौर के लाला।
कोई खेलै सात काँकरी, कोई खेलै खाई ।।
कूद परे लछिमँन के लडका, नौ सै गऊ घराई।
बिन गऊँन के लाल झूमका, पीरी गर्द उडाई ।।
आगरे में छमक-छमक, दिल्ली में लकराई।
पँचऊ में नाहर मारे, करै राँम बढाई ।।

३

इमली की जर में तेतडी पतग, नौसै मोती नौ सै जग।
जंग-जग मैं ने खीर पकाई, खीरजु मैं ने मोराएँ चटाई ।।
मोरा भईया पंखा दै, पंखा नैं मोइ हाती दियौ।

[1]. टेसूरा।

हाती नें मोइ कुतपाल दियौ, कुतपाल नें मोइ वजाज दियौ।
वजाज नें मोइ धोवती दई, फारि-तोरि लगोटी भई ।।

४

कोई कारी-सी घोडा, करिहलु-सी घोडा, करकर लोहू-चवाइ।
साँकर तोरै गजा बेल की, कोई नरवरगढ कूँ जाइ ।।
भेड परोसै भात, बकरिया सक्कर ई माँगै।
नविजा वेटा गीदुआ,[1] नाँचत ही आँमें ।।
नरवरगढ दो चिरौटियाँ, दो चिरौटियाँ कोई दुमी-दुमा लावें जाइ ।।

५

छोटी-सी गैया, कचपैंदरिया, अस्सी डला भुस खाइ।
वडे ताल को पाँनी पीवै, हँगन बटेसुर जाइ ।।
छोटी-सी गैया, छुटमासी, कोई छोटी सी चामर खाइ।
पीवै पाँनी समुदर को, कोई नगर दुहाँमन जाइ ।।
दूधैंन ते पोखर भरी, घीअँन जैंम गई पार।
लैहँर-लैहँर गाँडर काटूँ, कोई काटूँ सल्ले बाँस ।।
हरे बाँस की बाँसुरी, कोई खेलूँ बारो मॉस।
खेलत-खालत कहाँ पौंहँचे, कै राजा के दरबार ।।
घोडा चढूँ तौ गिर पडूँ, कोई ऊँट चढूँ डुगलाऊँ।
कोई हाती लै दै मोजे कौ, कोई धूँमत-धूँमत जाऊँ ।।

६

कैसूरा वगरें नकवेंना, बारह मोती, बारह गैना।
गैन-गैन की पतर चलाई, पतर चलाँमत कौडी पाई ।।
कौडी लै मैनें गग बहाई, गगा माता रेती दई।
रेती लै मैंने भरभूँजा ऐ दीनी, भरभूँजा नें ठुड्डी दीनी ।।
ठुड्डी लै मैंनें मोर चुगाए, मोर नें मोइ धोती दीनी।
धोती मैने फारि-चीरि लँगोटी कीनी ।।

७

सँन में ते सँनवरिया निकस्यौ, लाओ तँमाखू पीवे कूँ।
तेरी तँमाखू जरि-बुझि जइयौ, मैं तौ बैठी न्हावे कूँ ।।
चारि कुतगा इत धरि बैठी, चारि कुतगा उत धरि बैठी, रूँठि चली वैन पीहर कूँ।
मेरी केसू रग-बिरँगो, कैसें जाइ मनाइवे कूँ ।।

८

केसुरा, केसुरा घटार बजैयौ, दस नगरी दस गाँम बसैयौ।
बसें-बसाए कोर गली, इन कोर गलीन ते टके मँगैयौ, इन गलियँन में चिनते जैयौ ।।
चित-मित को करो सिंगार, सूँमन के मूँह देउ अँगार।
सूँम-सोम तिहारी चतुराई, हाती के डेरे लै गई काई ।।
वा काई को बडो तलाव, वॉमे पौढे केसूला।
केसूला की सात बहोरिया[2] मँन-मँन पीसें मँन-मँन खाँइ, बडे मल्ल में जूझनि जाँइ

[1]. ग्हौवुआ। [2]. बहोरिया—पत्नियाँ।

बडे मल्ल की पतसुरी, बाते काढी अलापुरी, अलापुरी में सौ-सौ तीर।
एक तीर मोइ माँगौ दै रे माँगौ दै, दिल्ली जाइ पुकारूँगो॥
दिल्ली कौ तौ कच्चौ कोट, जाइ परी चूले की ओट।
चूलौ माँगै नौ-नौ रोट, एक रोट घटिगौ, चूलौ बेटा लटिगौ॥

९

पातरिया रे पातरिया, तेरी पतरी तीर-कमान रे।
गाइ ऊँ आई, भैंस ऊँ आई, भैंसा चो नई आयौ रे॥
आधी रात नगाडौ बाज्यौ, भैंसा रेंकतु आयौ रे।
हरीराँम की प्याऊ चलती, बापै जाइ झुकायौ रे॥
पीमत, पीमत होटौ नाऐँ, दै भालौ हौटायौ है।
भालौ को तौ भालौ टूटौ, लाखा बैल मँगायौ है॥[1]
लाखा बैल में दियौ साँटौ, सनसौ बौ घन्नायौ है॥

१०

केसूला[2] घंटार बजइयो, दस नगरी, दस गाँम बसैयो।
बस गए तीतुर बस गए मोर, सरी डुकरिया ऐ लै गए चोर॥
चोरॅन के घर खेती भई, खाइ-खाइ डुकरी मोटी भई।
बाऊ कू लै गयौ बडा लियारी॥
बडा लियारी नें खीर पकाई, सबरे ग्वारिया नोति जिमाए।
डुकरी बैठी क्यारी में, लिरिया[3] बैठी कूड में, दै सारे के मूड में॥

११

चिकनी मलरिया चिकने लड्डु, जाइ परे सरमॅन के टट्टू।
टाटिम टाम[4] मॅजीरा बाजें—
लाओ मनिका सॅन की डोर, मारूँगो गिरधारी डोर[5]॥
गिर्द-गिर्द की ईंट पसार।[6]
एक राई सूआ, एक राई परेवा॥
लाड़-लाड हर जोतॅन जइयो, चिल्लक चोटि गिलोंदे खइयो।
कछु खाई, कछु बाँधी पोट, जाइ परी चिल्लो की चोट, चिल्लो डोलें लइयौ-पइयौ॥
घेरत-घारत चली पुकार, चलियौ रे मेरे आसा ग्वार।
आसा ग्वार की नीली घोडी, दाँतो खात किरोडी[7] कोरी॥
फोरी ऐ जी, फोरी ऐ, दिल्ली जाइ पुकारी ऐ।
दिल्ली कौ है कारौ कोट, जाइ दुबकी चूल्हे की ओट।
चूल्हौ माँगै नौ-सौ रोट, एक रोट घटि गयौ, चूल्हौ बेटा लटि गयौ॥

[1] इससे आगे एक पाठांतर यें मिलता है—
लट्टॅन पै लट्टू टूटि गए, सेलॅन ते भरकायौ रे।
चौंतरा पै रौस-बातसे, बंडा मोर नचायौ रे॥
बंडा मोर में मारयौ-साँटौ, तार मौ झन्नायौ रे।
तार मारौ गेत में, तरवारि मारी रेन में॥
[2] टेसूरा। [3] लिरिया-भेड़िया। [4] टाटमटाट। [5] ओट। [6] पसाई। [7] कमोंगे।

लड़कियों को गीत

फूहरि पीसै पीसनो, मेरी रावरिया, जैसौ गिरारे कौ रेतु, भली मेरी रावरिया।
फूहरि छाँनें छाँननो मेरी रावरिया, जैसौ गिरारे की रेतु, भली मेरी रावरिया।।
फूहरि माड़ें माँडनौ मेरी रावरिया, जैसी भादो की कीच, री मेरी रावरिया।
फूहरि पवै पैवनो मेरी रावरिया, जैसो कुँम्हार कौ चाकु, री मेरी रावरिया।।
पैहली विटौरा खोलती मेरी रावरिया, तऊ न सिकौ मेरौ अगा, भली मेरी रावरिया।
दूजौ विटौरा खोलती मेरी रावरिया, तऊ न सिकौ मेरौ अगा, भली मेरी रावरिया।।
तीजौ विटौरा खोलती मेरी रावरिया, भलौ सिकौ मेरौ अगा, भली मेरी रावरिया।
पैहली कुप्पी खोलती मेरी रावरिया, तऊ न चुपरौ मेरौ अगा, भली मेरी रावरिया।।
दूजी कुप्पी खोलती मेरी रावरिया, तऊ न चुपरौ मेरौ अगा, भली मेरी रावरिया।
तीजी कुप्पी खोलती मेरी रावरिया, भलौ चुपरौ मेरौ अगा, भली मेरी रावरिया।।
पैहली गगरी फाँसती मेरी रावरिया, सरकि परी बहुचद, भली मेरी रावरिया।
सुसरई-सुसर पुकारती मेरी रावरिया, सुसर कचैहरी बीच, भली मेरी रावरिया।।
जेठु ई जेठ पुकारती मेरी रावरिया, जेठु दुहत ऐं भैंसि, भली मेरी रावरिया।
दिवर ई दिवर पुकारती मेरी रावरिया, देवर खेलतु ऐं गेंद, भली मेरी रावरिया।।

२

माँ, भैया कहाँ व्याहे, परेवरिया, वेटा, दिल्ली-आगरे व्याहे, परेवरिया।
माँ, भावी कैसी आई परेवरिया, वेटा, कौआ ऊँ तें कारी आई, परेवरिया।।
माँ, भाभी को मोहड़ो कैसौ, परेवरिया।
नाँक चनाँ-सी, म्हो बटुआ-सौ, घूँघट में मन लाई रे परेवरिया।।
थौरौ खाँनी, वहुत कमाँनी, जे जगु जीती आई, परेवरिया।।
माँ, दरवज्जें कहा-कहा दीयौ परेवरिया, आठ विलैया, नौ चकचूँदरि, सोल्हें मूँसे लाई परेवरिया।
माँ, माभी कहा-कहा लाई परेवरिया, वेटा देहरि-से गूजा, छप्पर-सी पूरी लाई परेवरिया।।
माँ, मामी कैसौ खाँती[१] परेवरिया, वेटा, चका पै चका उड़ाती[२] परेवरिया।
माँ पाँनी कित्ती पीती[३] परेवरिया, वेटी कल्सा पै कल्सा झुकाती[४], परेवरिया।।
माँ, रोटी कैसी करती[५] परेवरिया, वेटा, चकला से सरकाती[६] परेवरिया।

३

ओलाती तर जौ वए, सुगनाँ, उपजे नौ-दस पेड़ सुगनाँ।
एक ललाजू कें सात वहुरिया, तौ एक ते एक मलूक सुगनाँ।।
एक ललाजू की गोवरु करति ऐं, तौ एक उचाँमन जाइ सुगनाँ।
तीजी लला जू की पाँनी भरति ऐं, तौ चौथी खेंचन जाइ सुगनाँ।।
पाँचई लला जू कू रोटी पँमति ए, तौ छटई परोसँन जाइ सुगनाँ।
एक लला जू को वोहोतई प्यारी, तौ पलिका ते पाँम न देइ सुगनाँ।।
फूलि विटोरा है गई सुगनाँ, तौ घर के द्वार न सँमाइ सुगनाँ।
ज्याई गाँम के वढई ऐं वोलौ, तौ घर को द्वार छिलाइ सुगनाँ।।

१. पाठांतर—खाँत्यै। २. उड़ाँत्यै। ३. पीवै। ४. झुकाँत्यै। ५. करिम्यै। ६. सरकाँम्यै।

४

अँगन लिपाँमत द्वै मोती मोइ पाए (री) माँ, वे मोती मैंने सासु कूँ गहाए (री) माँ।
सासु निपूती नें धरि पत्थर पै फोरे (री) माँ, फूटेऊ फुटाए मैंने माइ कूँ दै घाले (री) माँ।
माइ विचारी नें गगा-जमुनाँ बहाए (री) माँ, गंगा-सी मेरी माइल कहिऐ (री) माँ।
और जमनाँ-से मेरे भईया जो कहिऐं माँ, सोने की लौठी मेरे वीरैंन कहिऐं (री) माँ॥
कंजरिया-सी द्यौरांनी जो कहिऐ (री) माँ।
जौ के खेत कडुआ उपजे, हल-मूसर मेरे नँनदेऊ (री) माँ।
कँमल-फूल मेरी भौजइया जो कहिऐ (री) माँ, कारे ई कारे मेरे देवर कहिऐ (री) माँ॥

५

झाँझी

बाबाजी के चेली-चेला, भिच्छा माँगन आए जी।
भरि चुटकी[1] मैंने भिच्छा डारी, चूँदरिया[2] रँगि लाए जी॥
चूँदरिया की उरकँनि-मुरकँनि[3], द्वै मोती मोइ पाए जी।
वे मोती मैंने सासु ऐ दिखाए जी, सासु निपूती ने धरि पत्थर पै फोरे जी॥
फूटे-फाटे मैंने माइ कें दै घाले[4] जी, माइ विचारी नें वे गगा-जमनाँ बहाए जी।
गगा से मेरे वीरैंन कहिऐं, कँमल-फूल भौजाई जी।
कारे-कारे देवर कहिऐं, कजरिया द्यौरांनी जी॥

६

सातो रे भैया जुरि बैठते, रँगीली झाँझी।
जिनमें हमारे भैया कोन से, रँगीली झाँझी॥
पगडी तौ बाँधी भैया लचपची, रँगीली झाँझी।
सातो री भावज जुरि बैठती, रँगीली झाँझी।
सातो री भावज जुरि बैठती, रँगीली झाँझी॥
इनमें हँमारी भाभी कोन सी, रँगीली झाँझी।
बिछुआ तौ पैंहिरी भाभी, रँगीली झाँझी॥

७

तुँम सुखवार कै हूँम सुखवार॥
इमिली की जर मेंते निकरी पतग, ताकी हवा लगी मेरे अग।
जौ नाँ देती झपटि किवार, तो उडि जाती कोस हजार॥ तुम०
मेरी परोसिन कूटै धाँन, ताकी भँनक परी मेरे काँन।
वा रँडिया नें ऐंसे छरे, मेरे हातनि छाले परे॥ तुम०
एकु मिलो खसखस कौ दाँनो, नौ दिन कूटो, दस दिन छाँनों।
ताकी मैंने राँधी खीरि, नौ दिन मरी पेट की पीर॥ तुम सुखवार०

८

बाँमन के घर बनियाँ आया, आकर उसने सीस नवाया।
पानागैं मिस्सर महाराज, न्यौंतो करूँ तुम्हारो आज॥

१. चुटकी—अगूठा और एक उंगलियों से जितनी वस्तु उठाई जा सके, उतनी 'चुटकी' कहलाती है। २. चूँदरिया। ३. उरकनि-मुरकनि। ४. दै घाले।

उन से कह बजार को आया, हलवाई से सौदा लाया।
मालपुआ, रबडी, पकवान, सभी तरह की भाजी आँन॥
मिस्सर जी फिर दौड़े आए, जल्दी से फिर पाँव धुवाए।
चौके में बिठलाए जाइ, सबही माल परोसे जाइ॥
बनियाँ थाली भरि-भरि देइ, बाँमन खाली करि-करि देइ।
जब बनियाँ ने पीटा पेट, कहै बनेंनी सुनि लै सेठ॥
ऐसौ बाँमन कबहुँ न न्योतूँ, आज होइ सो वैसी भुगतूँ।
आयौ बसत कि फूली जाँमन, हारयौ बनियाँ जीत्यौ बाँमन॥

९

भावी नें देवर ललकारयौ, गारी दई और गुलचा मारयौ।
जाइ भइया पै करी पुकार, भइया बोल्यौ अरे गँमार॥
तू कहा जानें भावी की सार, कीयौ होगौ तो पै प्यार।
एक लात मोऊ में दई, सरँम के मारें मैं ना कही॥
आ भइया, उठि वै मेरे प्यारे, हँम-तुँम दोनो हुग्ये न्यारे॥

१०

बड-भागिनि जो होवै नारि, चट्टा आमें ताके द्वार।
हँसि मुसिकाइ सबँन ते बोलै, रैसी फूली आँगन डोलै॥
हमरे धन्य भाग त्रिपुरारी पूरँन आसा भई हमारी।
ऐसे चट्टा नित-नित आँमें, मन हमरे की कली खिलाँमें॥
मेवा सब की करूँ बनाइ, चिरजीवौ सबके लरकाइ।
मन-विचारि हिय सें अस बोलै, पुत्र-खुसी में सब तिय डोलें॥
पुत्र-दुःख जा तिय कूँ होइ, ताकी गति प्रभु जानें सोइ।
सो तिय गनपति पूजा करै, ताके सब दुख गनपति हरै॥

११

गुरु गोविंद का कर ध्याँन, सेठ-चूही का करूँ वर्यांन।
एक चूही नौ मन में डरी, उछरि सेठ की धोती परी॥
चूँ, चूँ, चूँ धोती में करै, बनियाँ धोती-पकरे फिरै।
जब धनिए नें दई दुहाई, घर सें दौड़ बनेंनी आई॥
हुआ घोर कोलाहल भारी, भीर हुई बनियों की भारी।
कोई लेरै सेर-कुसेरी, कोई ले पक्की पँसेरी॥
कोई देवता सुमिरँन लागे, सब नें मिलि पंचायत कीनी, बार-फेर चूही कूँ दीनी॥
आ चूही तू बाहर आ, घी-सक्कर का भोग लगा।
जब चूही नें दाँत दिखाए, सात-पाँच बनियाँ लुढकाए॥
जब चूही नें दियौ झटोका, खुलि गई धोती चलें पिटोका॥
और गयौ बिल में गई चूही, कहन लगे अब हारी तू ही।
मानो कन्हैर मुनि सेठ सही, वीर सेठ की चौपई कही॥

१२

चूही का घर गर ध्यांन, एक फूअर का करूँ बयाँन।
फूहर बैठी पति अपने में, कबहूँ निकासु भयौ ना घर सें॥

अब तौ मैं पीहर[1] कूँ जाँऊ, करि कैं भोजँन तुम्हें जिमाँऊ।
अब फूहर नें न्हाँनु सँजोयौ, तातौ-सीरौ नीर मिलोयौ॥
न्हाय-धोइ चौका में आई, धोती-फाडि आगि-सिलगाइ।
जब फूहर नें राँधी कढी, जब उफने तब रोवै खडी॥
म्हों की फूँक उफाँन में मारें, दोउ हातँन ते माँखी मारै।
फिर फूहर नें पिया बुलाए, अपने लहँगा पै बैठाए॥
फिर फूहर नें कियौ सिंगारु, माथे पै बिंदा असल अँगारु।
जब फूहर ने सुरमाँ सारचौ[2], सुरमा बहि होठँन पै आयौ॥
फिर फूहर पीहर कूँ गई, फरिया[3] नीचें लटकति रई।
बाप कहै मेरी लाडो आई, सिर के बार कहाँ धरि आई॥
ऐ बाबुल, मैंने दोऊ कुल तारे, सास-सुसर हातँन ते मारे।
बडे जेठ ते करी लडाई, नँनदेऊ की डाढी जारी॥
एकु रह्यौ मेरे अरमाँन, खसँम निखट्टू के काटूँ काँन।
आ यौ बसतक सुनि लेउ सही, फूहर राँड की चौपई कही॥

१३

उठ, उठ री मोहन की मा, भीतर ते तू बाहर आ।
गडे-गढाए रुपिया ला, पंडित जी कूँ बागौ ला॥
मिसराँनी कूँ तीहर ला, चट्टँन[4] कूँ मिठाई ला।
चट्टा दिग्गे बडी असीस, बेटा हुग्गे नौ सौ तीस॥
आयौ बसतक सुन चकपैया, अब का देखौ लाऔ रुपैया।

खेल के गीत

विवाह, जन्म आदि के उत्सवों पर स्त्रियाँ जो गीत गाती हैं, उनके दो प्रकार होते हैं। एक तो अनुष्ठान संबंधी होते है—जो परंपरा से बँधे हुए है, जिनका गाया जाना अनिवार्य है। इन गीतों के हो जाने के उपरांत फिर उन्हें यह अवकाश मिलता है कि वे चाहे जैसे गीत गाएँ। यही दूसरे प्रकार के गीत 'खेल के गीत' कहे जाते हैं।

अरे मेरौ चरखा हल्लेदार, परौसिन सुनियो बैहनाँ।
जा दिन ते मैंने करी कताई, नथु सौने की बनवाई,
बनवायौ गरे कौ हारु, परौसिन सुनियो बैहनाँ॥ मेरौ चरखा०
लकडी दिसि पच्छिम ते आई, पाए नए-नए रंग चढाई,
ये तकुआ पै अजब बहार, परौसिन सुनियो बैहनाँ॥ मेरौ चरखा०
जा दिन मेरौ चरखा चटकै, मोइ मरी खाट पै पटकै,
या पै लूटो मौज बहार, परौसिन सुनियो बैहनाँ॥ मेरौ चरखा०

२

सिआ, लछिमन और राँम, तजि कें चले अजुध्या-धाम, पूजे मात-पिता के पाँम, चले री बन कूँ।
ए जी परचौ नगर में सोर, सबरी बस्ती रही ऐ रोक, ऐसी लाग्यौ ऐ जी तोख, बिन के तन कूँ॥
दोउ कुँमरि उँमरि के बारे, वे तौ नगे ई पाँम सिधारे, जसरत की आँखिन के तारे, छोडि चले रजधाँनी कूँ।
रोइ-रोइ कहै सुमित्रा मैया, तरपूँ ज्यों बछरा बिन गैइया, बादर फारे हाइ केकैइया, अब कहाँ ढूढू मन मोहन कूँ॥

१. पीहर—मातृ-गृह। २. सारचौ—लगाया—'सारना' किया से। ३. फरिया—ओढ़नी। ४. चट्टँन—विद्यार्थी।

३

सामयिक

या वनखंड में मेरे भैया नाएँ, बाबुलनाएँ राँमा, नाँइ भैया रघुवीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर ।। हरे
रोइ-रोइ भीजै हरि कौ पीरौ-सौ दुपट्टा राँमा, कौन बँधावै हरि कू धीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयो तीर ।। हरे
या वनखंड में मेरे चाची नाएँ चाचा राँमा, नाँइ भैया रघुवीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर ।। हरे
रोइ-रोइ वहि रही हरि की अँसुअन धारा राँमा, कौन बँधावै हरि कूँ धीर।
दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगिगयौ तीर, बारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर ।।
या वनखंड में मेरे भैया नाएँ भाभी राँमा, नाँइ भैया रघुवीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर ।। हरे
रोइ-रोइ भीजै हरि कौ पीरौ-सौ दुपटा राँमा, कौन बँधावै हरि कूँ धीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ ।। हरे
मात कैकई ते कैसें कहिंगे राँमा, कहाँ छोड़ि आयौ अपनो बीर।
दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर, बारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ ।। हरे
रोइ-रोइ भीज्यौ हरि कौ पीरौ-सौ दुपटा राँमा, कौन बँधावै हरि कूँ धीर।
दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर, बारे लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर ।। हरे
मात सुमत्रा ते कैसें कहुँगौ राँमा, सीआ काजें दै आयौ बीर।
दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर, बारे लछिमन, कहा तेरे लगि गयौ ।। हरे
रोमें हरि छाती फारि अकेले राँमा, कौन बँधावै हरि कूँ धीर।
बारे लछिमन, कहाँ तेरें लगि गयौ तीर, दादा लछिमन, कहाँ तेरे लगि गयौ तीर ।। हरे

४

पिया आँवन कहि गए परसो, कब आवैगी बैरिन परसो।
मन चाँहत लोग-सग जाइ मिलो में, मोपै उडी ऊ न जाइ विनाँ परसो ।। पिया आँवन०
कोई आज कहै, कोई काल कहै, परसो कब आवैगी बैरिन परसो।
मन चाँहत अब छोड लाज-सरम सब, खोल किवरिया मिलौ हर सो पिया-आँवन कहि गए परसो ।।

५

मैनें ओढी स्याँम रजाई जवते, जग-जडी चढि आई।
सील-सूत कतवाइ बुनाई, धरमें के धोवी पै धुलवाई ।।
कारीगर करतार, आप छेंपी नें करी छपाई।
सत्त की सुई, प्रेम की पेचक, मगजी मोच्छ लगाई ।। मैंने ओढ़ी०
पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन, लवाई-चौड़ाई।
'हरीदास' ने ऐसी ओढी, तीन लोक में छाई ।। मैंने०

६

तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ।। टेक
चलि कृष्णा, बागों में चलिगे, तुम माली हम मालिन बनिंगे।
दोनों मिलि फुलवा तोडिंगे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ।।
चलि कृष्णा, तालों पै चलिगे, हम धोबिन तुम धोबी बनिंगे।
दोनों मिलि साडी धोविंगे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा ।।

चलि कृष्णा, मैहलो में चलिगे, तुम राजा हम रांनी बनिगे।
दोनो मिलि सेज बिछाविगे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा।।
चलि कृष्णा, रसोई में चलिगे, तुम बांमन हम बांमनी बनिगे।
दोनो मिलि सेकें फुलकिया रे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा।।
चलि कृष्णा हम मंदिर में चलिगे, तुम पुजारी, हम पुजारिन बनिगे।
दोनो मिलि पूजा करिगे कृष्णा, तेरे दरस की प्यासी रे कृष्णा।।

सामयिक गीत

री बैंहिन मेरी, भारत में फिरगी डाकू घँसि गए।
जिन नें डारी ऐं लूट-मचाइ, बैंहिन मेरी भारत में ०।।
री बैंहिन मेरी, माल-खजांने सबु लै लए।
जिन्नें दीने ऐं लोटु चलाइ, री बैंहिन मेरी भारत में ०।।
री बैंहिन मेरी, गायेंन के खिरक खाली ह्वै गए।
जिन्नें दीनी ऐं सबु कटबाइ, री बैंहिन मेरी भारत में०।।
री बैंहिन मेरी, दधु-दही सुपनो ह्वै गयौ।
और दुरलभ ह्वै गई छाछ, री बैंहिन मेरी भारत में०।।
री बैंहिन मेरी, जांनें सत्य-नीति नहिं जांनी।
और करि दीयौ सकतल गांन, री बैंहिन मेरी भारत में०।।
री बैंहिन मेरी, माल हरांमी खन रहे।
जिन्नें करि दए तग-किसांन, बैंहिन मेरी भारत में०।।
री बैंहिन मेरी, मन कपट, छल-बसि रह्यो,
जाकी करि रहे बिमखांन, बैंहिन मेरी भारत में फिरगी डाकूँ घँसि गए।

२

मेरे दिल के अंदर जादू जांनें डारचौ किनें।।
दुनियां कहति गेंहू-गेंहू, चांवल कोन चीज ऐ।
सगु तौ जाइगो जी को आटो खावै कोन ऐ।।
दुनियां कहति रुपैया-रुपैया, मौहर कोन चीज ऐ।
सग तौ जाइगो कच्चौ-पईसा, बिलसै कोन ऐ।।
दुनियां कहती बेटा-नाती कोन चीज ऐ।
उडि जाउगो हसु अकेलो, मनमति मानें कोन ऐ।।
दुनियां कहती मैहला-मैहला, कबरा कोन चीज ऐ।
उडि जाइगो हसु अकेलो, जाइ बिलमै कोन ऐ।।

३

बंदे ऊँच-नीच नांइ सोचै, तोइ ऐसो रांम दबोचै।
मति करै देही पै गुमांन, याऊ दिन धरनी में मिलि जाइगो।।
तू पापु करै ओटक में, तो ईस्वर देखै सरग में। याऊ दिन धरनी में०
जब पापु-घड़ा फूटैगो, जब सिर धरनो छूटैगो। याऊ दिन धरनी में०
सीता को नामु जो जपै, हनुमान से देखु मगन है, छिनिक मिलै भगवान।। ४

घाटे जब गाए जाते हैं

मैंने माल-मलु मैरो देहि के मामुनि, गोवैया न जांव। देव
गए नगड़ो मुर्दनि घासो री मैनो, गोवैया जिवाइ।।

तोइ पाँनीरा कैसें पिवाऊँ लाला, यै ब्याहे कौ डोलु ।।
ब्याहौ-ब्याहौ मति करे भैंनाँ, मैं तेरौ मा कौ जायौ बीर।
मा कौ जायौ वीरा रे भैया अरथु बताइ ।।
तेरौ सबु कुनवा अच्छे ऐं री, मैया बीमार।
मैंनें डोल कुएँ में छोड़्यौ, सासुलि मैया बीमार ।।
मैं कोस चली नाँ द्वै कोस, वीरा लगि आई मोइ प्यास।
भैया-भैया मति करै, गोरी मैं तेरौ भरतार ।।
तू झंझन किवरिया खोलि री मैया, मैं लायौ बहू नारि।
तेरौ ब्याहु भयौ न सगाई लाला, कहाँ ते लायौ लिवाइ ।।
कुएँ की पनिहारी अमा, मैं लायौ लिवाइ।
सोचि-समझि कैं रहियौ रे बेटा, बहू ऐ जवाँन ।।
मैंने कच्चे दूध पीए जो सासुलि, है गई जवाँन।
तैनें खट्टी छाछि पिवाई री सासुलि, जाते है गए नादाँन ।।

५

काँन्हा, गागरिया मति फोरै, मेरी सासु लड़ैगी रे। टेक
सासु डुकरिया मोरी खोटी, गारी देइ न देगी रोटी। हरे०
नद बडी छरछदी मेरी सुवा धरैगी रे। काँन्हा, गागरिया० ।।
द्वै की चारि, चारि की सोलै, कहि-कहि झूँठ पिया ते बोलै। हरे
सौति बडी खेहारी पिया के काँन भरैगी रे। काँन्हा, गागरिया० ।।
कछू न बिगरै स्याँम तिहारौ, मैरौ होइगौ देस-निकारौ।
दै-दै तारी बिरैंन की परजा, हँसी करैगी रे। काँन्हा, गागरिया० ।।
हा-हा खाऊँ, परूँ तिहारे पैयाँ, डारौ मती गले गल-बैइयाँ
'हुकमसिंग' मोतीन की लरी मेरी टूटि परैगी रे। काँन्हा, गागरिया० ।।

६

एक विरछ तर दुखिया रोवै राँमा, सुखिया मनाँवन जाइ री, भाएली मेरी कोन के लाल हरे।
कहा दुखु री तोइ मैयारी-बबुल कौ राँमा, कै दुख मा-जाए वीर कौ, भाएली मेरी, कोन के लाल हरे ।।
कै दुखु री तोइ सासु री सुसर कौ राँमा, कै परघरिया नाह कौ, भाएली मेरी कोन के लाल हरे।
ना दुखु री मोइ सासुरी-सुसर कौ राँमा, ना परघरिया नाह कौ, भाएली मेरी कोन के लाल हरे ।।
ना दुखु री मोइ मैया री बबुल कौ राँमा, ना दुखु मा-जाए वीर कौ, भाएली मेरी कोन के लाल हरे।
तेरे भैंनि मेरी नौ-दस बेटा राँमा, एकु उधारौ देउ री, भाएली मेरी कोन के लाल हरे ।।
एकु दुखु री मोए कूखि री बैरिनि कौ राँमा, जाँनें मारे मेरे माँनरी, भाएली मेरी कोन के लाल हरे।

७

पति, न्यारौ है जा, रोजु रँधैगी रस-खीरि ।। टेक
पति, खाँनो लाई, खाँने में लाई पूरी चारि।
पति, खाँनो खाइलै, छोटी नैंनदिया के बीर ।। पति न्यारौ०
पति, प्यालौ लाई, प्याले में लाई सरवत-घोरि।
पति, प्यालौ पी लेउ, छोटी नैंनदिया के बीर ।। पति हिंदू है जा०
पति, दोनाँ लाई, दोनाँ में लड्डू लाई चारि।
पति, लडुआ खाइ लेउ, छोटी नैंनदिया के बीर ।। पति हिंदू है जा०
पति, चौपड लाई, चौपड पै लाई गोटें आठ।

पति, बाजी जीती, छोटी नँनदिया के बीर।। पति न्यारौ॰
पति, सेज बिछाई, सेजो पै नगि रहे तकिया चारि।
पति, पलिकनु सोइ जाउ, छोटी नँनदिया के बीर।। पति हिंदू॰
पति, ताँगे मँगाए, ताँगे पै आए इक्का चारि।
पति, मोटर बैठी, छोटी नँनदिया के बीर।। पति हिंदू॰।

८

अब रँगवाड दै सुरख चुँदरिया, अब रँगवाइ दै।
जाँना, जाँना सैहँर कूँ राई लाँना, मेरे राजा की हूँ गई सगाई।। अब॰
जाँना, जाँना सैहँर कूँ लाँना पेड़ा, मेरे राजा के परि गए फेरा। अब॰
जाँना, जाँना सैहँर कूँ लाँना सोना, मेरे राजा का हुँगा गोना।। अब॰

९

सासुलि, सँमरौअनि मिलि आजु, अखीरी बिदा कराइ दै री।
हरे-हरे गोवर अँगन लिपाइ, मोतियनु चौक पुराइ लै री।।
नाँइनि बुलाइ मेरी सिर खुलवाइ, मेरी सिर धुलवाइ दै री।
चंदन-रूख कटाइ मेरी सासुलि, चिता चिनाइ दै री।।
बार बरें जैसें रेसँम-से, हाड़ जरें जैसें चंदन की-सी लकड़ी।
मैया-मैना रोइवे आँमें, उनकूँ धीर बँधाइ दै री।।

❀

सासुलि सँमरौअलि मिलि आजु अखीरी बिदा कराइ दै री।
हात कंगी डोरा बाँदी पै गुभाए बार, सुरई की कीसु कौड़ीन ते छूरे बार।।
माथे ऊपर बैना-बिंदी, बिंदिया सें लागे लाल।
नाँक में बुलाक मेरी अजब बनीएँ लाल, सासुलि लै देउ आले आजु, फेरि नहिं आँने की।
काँनन में करँनफूल बालेन में लागे लाल, सासुलि लै देउ छल्ले आजु, फेरि नहिं आँने की
नारो हरवा-हँसुली, चंपाकली लागे लाल, बीर की जंजीर मेरे गरे में परी ऐ लाल।
सासुलि, लै देउ लोगन हार मै फेरि नहिं आँने की।
बाँहन में बाजूबंद, हथफूल सें लागे लाल, सासुलि लै देउ मुँदरी आजु फेरि नहिं आँने की।
कमरो में माड़ी साजे, पेटी सें लागे लाल, सासुलि जोवन की झंनकार, मोपै गैल चल्यौ नाजाइ
पाँमन में छागल-लच्छे, बिछुअन ते लागे लाल, सासुलि बिछुअनि की झँनकार, फेरि नहिं आँ
हरीचंद के हात मेरी भाएली बुलाइ दै लाल, मैना मिलि लेउ हात पसार, फेर नहिं आँने क
रामचंद के हातँन मेरी रथु दीयौ जुरवाइ।
संग की सहेली न्यो उठि बोली, एक दिनाँ सबइ कों जाँना।
ऐसी सुलोचनि अब न मिलैगी, अखीरी बिदा कराइ दै री।।

१०

चल-चल पिया, तू बाग कूँ, क्या-क्या बसी तेरे ध्याँन में।
माली-मलिनियाँ दो जने, नीबू बसे मेरे ध्याँन में रे।।
चल-चल पिया तू ताल कूँ, क्या-क्या बसी तेरे ध्याँन में।
धीमर-धिमरिया दो जने, मछली बसी मेरे ध्याँन में।।
बनी ए में छोटी नागिनी चल-चल पिया, पिए कुए पै, क्या-क्या बसी तेरे ध्याँन

मकिन[1] मकिनियाँ दो जने, मरुए[2] बसौ मेरे ध्यांन में ।।
चल-चल पिया विस मैहल कूँ, क्या-क्या बसौ तेरे ध्यांन में ।
रजवा-रजनियाँ दो जने, खिडकी बसीं मेरे ध्यांन में ।।
चल-चल पिया, विस रसोई में, क्या-क्या बसै तेरे ध्यांन में ।
बांमन-बँमनियाँ दो जने, कांसौ बसै मेरे ध्यांन में ।।

११

राजा सिलविल्ला, मैं तेरी गैंम खाऊं रे ।
जब मेरे राजा ऐ प्यास लगैगी, फूटी कुल्हरिया, पुखरिया कौ पाँनी रे ।।
जब मेरे राजा ऐ भूख लगैगी, जौ की फुलकियाँ, चौरैया कौ साग रे ।
जौ मेरे सैयाँ ऐ सुरमां चहिऐगौ, सौंने की सराई, अलीगढ़ कौ सुरमौं रे ।।
जब मेरे राजा ऐ जाडौ लगैगौ, फाटी गुदरिया, कँमरिया कौ झूरौ रे ।
जब मेरे राजा ऐ ओष लगैगी, टूटयौ झटोली, कँमरिया कौ झूरौ रे ।।

१२

उरद की दारि गैंहून के फुलंका अबं जेंमन में कहा बीजुरी परै ।
हवेली ते बचि-बचि कें निकरै, अब कहा मेरे मैया कौ सारौ लगै ।।
तातौ पाँनी धरयौ रे ततैंडा[3] अब कहा न्हाइवे पै बीजुरी परै ।
आधी राति छिटकि रहे तारे, खेलत में कहा बीजुरी परै ।।
फूलंन की सेज मैहूल में बिछि रही, सोमत में कहा बीजुरी परै ।।

१३

कबऊ न बोयौ ज्वारि-बाजरौ कबऊ न लाए लढा-भरि कें ।
अब कें लावै ज्वारि-बाजरौ, अब कें लौमें लढा-भरि कें ।।
कबऊँ न बाध्यौ हरयौ-हरयौ स्वाफा, कबऊ न आए जमाई बनि कें ।
अब कें बाधूं हरयौ-हरयौ स्वाफा, अब कें आमें जमाई बनि कें ।।
कबऊ न लाए गाडी-बैहली, कबऊ न बैठी मनु-कर कें ।
अब कें लाऊँ गाडी-बैहली, अब कें बैठौ मनु करकें ।।
कबऊ न लाए स्वाफी में लडुआ, कबऊ न खाए मनु करकें ।
कबऊ न रोई मैया-मैया करि कें, कबऊ न आई मनु करकें ।।
अब कें अइयौ मैया-मैया करिकें, अबकें अइयौ मनु करकें ।।
कबऊ न आए सूत के पलिका, कबऊ न सोई मनु करकें ।
अब कें लाऊं सूत के पलिका, अब कें सोओ मनु करकें ।।
कबऊ न जाए लाली-लाला, कबऊ न बैठी गोद-भरि कें ।
अब कें जाओ लाली-लाला, अब कें बैठी गोद-भरि कें ।।

१४

रे तुम देनौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।। टेक
चींटी चढी पहाड पै रे, नौ मन काजर सार ।
हाँथी तो बानें गोद लियौ ऐ, ऊँट लियौ लटकाइ ।।
रे तुम देनौ रे लोगौ, नईया मे नदिया डूबी जाइ ।।
एक अचंभौ मैं सुन्यो जंगल में उपज्यौ कूइ ।

चीटी के थँन पाँसुरे, कोई पीमँन लागे ऊँट, रे मन ऐसी आवे ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
एक अचभौ मै सुन्यो पोखरि में लगी गई आगि ।
पाँनी-पाँनी जरि गयौ, जामें मछली खेलें सार ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
एक अचभौ मै सुन्यो कूआ में लगि गई आगि ।
धरती के क्योला भए, अबर की है गई राखि ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
पैहिलें तौ रे मै भई, जा पीछें दोउ भाई ।
जाके पिछें पिता हमारे, जा पीछें मैहतारी ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
सुसर हँमारे अस्सी वरस के, सास हँमारी क्वारी ।
सास-सुसर की परे भँमरियाँ, जेठ करे अग्यारी ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
धौर-जिठाँनी बैठि कें रे, करि रही सोच-विचार ।
बलँम हमारे पाँलनें रे, मैई झुलामन हार ।।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।
सई-साँझ बेटा भयौ, औरु आधी पै है गयौ बाप ।
ग्याँनी होइ सो ग्याँन बताऔ, मोरई है गई माइ ।
रे तुम देखौ रे लोगौ, नईया में नदिया डूबी जाइ ।।

१५

सैयाँ मिले मन-घुँमनाँ, हाइ मेरौ ऐसौ नसीब । टेक
मारि-मारि मैंनें पनियाँ कूँ पठाए, फोरि आए गगरी, सँमेटि ल्याए लेजु ।। सैयाँ०
मारि-मारि मैनें हर लै कें पठाए, टोरि आए जुआ, बखेरि आए बीजु ।। सैयाँ०
मारि-मारि मैंनें सुसरारि पठाए, टोरि आए नातौ, लिवाइ लाए मोइ । सैयाँ०
मारि-मारि मैंनें सेजो पै पठाए [१], टोरि आए पलिका, ढकेलि आए मोइ ।। मेरौ ऐसौ नसीब ।

१६

मेरी जीजी, मैं तौ न्यारीअ रहूँगी ।।
मैंहला-दुमैंहला सब लै लउँगी, फूटी मड़ैया ददा जू कूँ दउँगी ।
दउँगी तौ दउँगी, नही बग्रौ लै लउँगी, फूटी मड़ैया मेरी सौवरि कूँ होइगी ।।
गैया-भैंसिया सब लै लउँगी, डूडी-सी छिरिया ददा जू कूँ दउँगी ।
दउँगी तौ दउँगी, नही बग्रौ लै लउँगी, डूडी-सी छिरिया मेरे लग्किंनु कूँ होइगी ।।
साल-दुसाला सिब लै लऊँगी, फटी गुदरिया ददा जू कूँ दउँगी ।।
दउँगी तौ दउँगी, नही बीऊ लै लउँगी, फटी गुदरिया मेरे जनने कूँ होइगी ।
थरिया-बिलिया सब लै लउँगी, फूटी मटुरिया ददा जू कूँ दउँगी ।
दउँगी तौ दउँगी, नही बग्रौ लै लउँगी, फूटी मटुरिया मेरी छोरी कूँ होइगी ।।
गैहने-गुरिया सिब मैं लउँगी, टूटी धरगिया ददा जू कूँ दउँगी ।
दउँगी तौ दउँगी, नहीं बग्रौ लै लउँगी, टूटी धरगिया मेरी ननँदी कूँ होइगी ।।

[१]. पाठान्तर—पौढाए ।

१७

लेते क्यों नहीं आए पिया, मेरी अक्षल सुरमां दाँनी।
कौन के जे बाग-बगीचा, कौन की हवेली, कौन की जिय लाल अटरिया, खिचगई रेसम डोरी।
जेठ के जे बाग-बगीचा, देवर की हवेली, बिनई पिया की लाल अटरिया, खिचि गई रेसम डोरी ।। लेते चौ०
कौंन हँमारौ पिसनो-कुटनो, कौंन भरैगौ पाँनी, कौन हमारी तपै रसुइया हँम फूलदे राँनी। लेते क्यों०
जेठ हमारौ पिसनो-कुटनो, दिवर भरैगौ पाँनी, साहबु हमारे तपैं रसुइया हँम फूलदे राँनी ।। लेते क्यो०
कौंन के जे पेरा-लड्डू, कौन की जलेवी, कौंन की जे बालूसाही, धरि सिरहाँनें सोई।
पेरा खाए, लड्डू खाए, खाइ लई और जलेबी, बालूसाही कुतिया खाइ गई बैठि पलँग पै रोई ।। तुम लेते क्यो०

१८

सुख सोइले की बतियाँ भैया, सुनते जाइयो रे ।।
भैया, भाभी के-से निकिलिस-हरबा लेते अइयो रे।
भैनि क्या पागल है गई हौ, भैनि क्या सिर्रिल है गई हौ।
भैनि क्या छिड़िखा फाँदिगे, भैनि क्या लरिका बेंचिगे ।। सुख सोइले की०
भैया, भाभी के-से दस्ते-घड़िया लेते अइयो रे।
भैनि का पागल है गई हौ, भैनि का सिर्रिल है गई हौ।
भैनि का छिड़िखा फाँदिगे, भैनि का डाँको डारिगे ।। सुख सोइले की०
भैया, भाभी कै-सी तगड़ी-पेटी लेते अइयो रे।
भैनि का सिर्रिल है गई हौ, भैनि का पागल है गई हौ ।।
भैनि का लरिका बेंचिगे, भैनि का तिरिया बेंचिगे ।। सुख सोइले ०
भैया, भाभी कै-सी पाइल-लच्छे लेते अइयो रे।
भैनि का सिर्रिल है गई हौ, भैनि का पागल है गई हौ ।।
भैनि का छिड़िखा फाँदिगे, भैनि का लरिका बेंचिगे ।। सुख सोइले ०
भैया, भाभी कै-सी साड़ी-अंफर लेते अइयो रे।
भैनि का पागल है गई हौ, भैनि का सिर्रिल है गई हौ ।।
भैनि का डाँको डारिगे, भैनि का छिड़िखा फाँदिगे ।। सुख सोइले ०

१९

साँईं सिलबिल्ला, मैं तेरे मारैं मरी रे ।।
जब सिलिबिल्ला नें कपड़े पहिरे, पासी कौ जाँमा, मुसीका कौ टोप रे।
जब सिलिबिल्ला नें बाँधे हथियार रे, सूजा की बरछी, सिरकिया की तोप रे ।।
जब सिलिबिल्ला नें घुड़िला सजायौ रे, चरखा कौ घुड़िला, बौनि की लगाँम रे।
जब सिलिबिल्ला चलौ री ससुरारि रे, राति-दिन चलै बु तौ ढाई-तीन कोस रे ।।
जब सिलिबिल्ला बु पहुँचौ बजार रे, पैरनि के धोकें खपट्टा लै आयौ रे।
जब सिलिबिल्ला मेरे ढिंग आयौ रे, पैंरनि के धोकें खपट्टा चबाइ रे ।।
जब सिलिबिल्ला खपट्टा चबाए रे, मारी जौ लात गिरौ ऐ तर-खाट रे।
जब सिलिबिल्ला गिरौ है खाट-तर, तब जोरै हात कि तू मेरी जोड़ू हू तेरा गुलाम रे ।।

२०

भरी मैं बाई बाप की बेटी ।।
जाके आठ बरष नौ पोढ़ी, बाकें ठुमठ चलैं मैंझोनी, मैं बाई बाप की बेटी
जेठ की प्यारी, जिठाँनी की प्यारी, भरी मैया-बाप की बहुत पिआरी ।। हरे ०

५

नैंनों भरत उड़ाँन, गोरी धँन लै डोरी में।
इस्क बुरौ जजार, काऊ दिन फँसि जांगे चोरी में, रंग भरें फिरें झोरी में।।

६

ओ भो नीदी खिलाल, जुल्फो की धूर झारि डार रे।।
सोमत देर भई गुलसैंन में, अब तौ जगिजा कुँमर हजारी।
बेटा, करमैंन की गति न्यारी, सो लाला मेरौ दुख ना निबटैगौ, मेरौ रोमत जैंनमु कटैगौ।।

७

रँग डारूँ रे तो पै रँग डारूँ, नैंकु आगें आ।
नैंकु आगें आ स्याँम तो पै रँग डारूँ, नैंकु आगें आ।।
रँग डारूँ तेरे अगँन सारूँ, अरे तेरे गालँन पै गुलचा मारूँ यार। नैंकु आगें आ०
एढ़ी-टेढ़ी पगिया बाँधें, अरे तेरी पगिया पै फूल री पारूँ यार।। नैंकु आगें आ०।
ब्रज दूल्हे यै छैल अनोखौ, अरे तोपै तँन-मँन-जोबन वारूँ मेरे यार। नैंक आगें आ०
नैंक आगें आ स्याँम, तो पै रँग डारूँ, नैंक आगें आ।।

८

होरी-खेल स्याँम घर आए।
मातु जसोदा करति आरती, सब सखियन मंगल गाए, होरी-खेल स्याँम घर आए।।

९

काँन्हा, धरें रे मुकट खेलै होरी, काँन्हा धरें रे।
इक ओर खेलें कुँमर कँन्हाई, इक ओर राधा गोरी रे।।
काँन्हा, धरें रे मुकट खेलै होरी।।

१०

ऐसी होरी मचाई दीनानाथ, विरज-आँनंद भए।
उड़त गुलाल लाल भए बादर, सब रँग होत नए।।
सगरी सखी रंग में बोरी, भूषँन भींज गए।
झटका-पटकी मत कर मोहन, होइ उतपात नए।।
कब-कब के दाँनी भए मोंहन, कब-कब दाँन लए।
विरज-आँनंद भए, ऐसी होरी मचाई०।।
दधि की मटकी सिर ते पटकी कब-कब दाँन दए।
मीरा सखी, फागुन के महिनाँ, उच्छव होत नए।।
सब ब्रज-बासी आँनंद-मंगल, होरी तौ खेल रहे।
विरज-आँनंद भए, ऐसी होरी मचाई दीनानाथ विरज-आँनंद भए।

११

चूँदरिया रँग में बोर गयौ काँन्हा बसीबारौ
भर पिचकारी सनमुख मारी, मो पै केसर गागर ढोर गयौ।। काँन्हा बसी०
बिंदाबन की कुंज गलिन में नथ-बुलरी ऐ तोर गयौ। काँन्हा बंसी०
गैहवर बन अरु खोर-साँकरी दधि की मटकी फोर गयौ।। काँन्हा०
चंद सखी भजि बालकृष्ण छवि, चितवन में चित चोर गयौ।।
काँन्हा, बसी बारौ, चुंदरिया रँग में बोर गयौ, काँन्हा बसी बारौ।

१२

अइयौ, अइयौ रे कँन्हैया नँदलाल, रँगीली होरी में ।।
ऊँचौ गाँम धाँम बरसाँनो, खेलैं गोपी-ग्वाल ।
दुलहँन प्यारी राधिका रे, दूलह नद-कुमार ।।
रँगीली होरी में, अइयौ-अइयौ कँन्हैया नँदलाल ।।
फेंट-गुलाल, हाथ-पिचकारी, रँग की उडै फुहार ।
पिचकारी याकी छीनकें रे, गाल-मल्यौ ऐ गुलाल ।।
रँगीली होरी में, अइयौ-अइयौ रे कँन्हैया नँदलाल ।।
जो सुख रमाँ तनिक नहिं पायौ, जदपि पलोटत[१] पाँइ ।
श्री वृषभाँनु-सुता-पद-अंबुज जिनके सदाँ सहाइ ।।
रँगीली होरी में, अइयौ-अइयौ रे कँन्हैया नँदलाल, रँगीली होरी में ।।

१३

को भैया खेलैं होरी-फाग, को भैया ठाड़े ई डोलें ।
कृष्न जी खेलें होरी-फाग, दाऊ जी ठाडे ई डोलैं ।।
खेलौ भैया फागु-सुहागु, तुमें भाई रॉम-दुहाई ।
खेलत-खेलत जाँइ बिंदावन की कुंज-गलिनु में ।।
बिंदाबन की कुंज-गलिनु में, चंपा मौरि रही ऐं ।
चंपा के नौ दस पेड, अनार की एक कली ऐ ।
ददा जू की गेंद गई ऐ, गेंद गई असमाँन कँन्हैया जी नें लति लई ऐ ।।

१४

लडका, मस्त महीना फागुन कौ, कोई जीवै सो खेलै होरी-फाग ।
मुख पर टेढी बदनी सोहै, झुमकिन अजब बहार ।। मस्त०
नाँक चुनी नकबेसरि सोहै, तेरे भलुका अजब बहार । मस्त०
हाव-हमेल, गुदी-खँगवाए, जाकी चौकी अजब बहार ।।
बाँह बरा-बाजूबँद सोहैं, जाकी घुडिनु अजब बहार । मस्त०
लडिकें लै चलि पलँग-अटरिया में रे, चौबरिया में, मेरी पौरी में सोवैगी बलाइ ।। मस्त०

१५

काँन्हा धरैं रे मुकट खेलै होरी ।
खेलै होरी रे, खेलै होरी काँन्हा धरैं री ० ।।
एक लँग खेलै जाकौ कुँमर कँन्हैया प्यारे, एक लँग खेलै राधा गोरी । काँन्हा धरैं०
कै मँन रग भरे मैहलँन में, कै मँन केसरि घोरी । काँन्हा ०
नौ मँन रग भरे मैहलँन में, नौ मँन लै केसरि घोरी ।। काँन्हा०

१६

काँन्हा, बरसाँने में आइ जइयौ, बुलाइ गई राधा प्यारी ।
जो काँन्हा तू गैल न जाँनें, सरँक-सरँक आइ जइयौ ।। बुलाइ गई०
जो काँन्हा तू ठौर न जाँनें, अरे बिषभाँन की पौरी आइ जइयौ । बुलाइ गई ०
काँन्हा, बरसाँने में आइ जइयौ, बुलाइ गई राधा प्यारी ।।

१. पलोटना—दबाना । "जो सुख रमाँ तनक नहिं पायौ"०....यह नंददास (अष्टछाप) कृत 'नवलकिशोरी' की धमार से ज्यों का त्यों लिया गया है ।

१७

तनक दही पिवा जइयौ, सुनि बरसाँने-वारी ।
सद ल्योनी माँखन की लइयौ, अपने ई हात खवा जइयौ ।। सुनि बरसाँने-वारी ।
जौ तेरी सास लड़ै घर तोते, बाऊऐ सींग-दिखा अइयौ । सुनि बरसाँने-वारी ।
जौ तेरौ पती सती तोइ वरजै, बाऊ ऐ खिरक बताइ अइयौ ।। सुनि बरसाँने-वारी ।
चंदसखी भजि बालकृस्न-छबि, हरि-चरनँन-चित लाइ जइयौ ।। सुनि बरसाँने-वारी ।

१८

बनि गए नंदलाल लिलहार, कै लीला गुदवाइ लेउ प्यारी ।।
लँहँगा पैंहरि, ओढि सिर सारी, अँगिया पैंहरी जरद किनारी ।
सीस पै सीसफूल अरु बेंना, लगाइ लियौ काजर दोऊ नेंना ।
पैंहरि लियौ नख-सिख ते गेंहना ।।
बलिहारी वा कृष्न की, आप बने लिलहार ।
सीस-लिख गिरधारी रे, माथे पै मोहन-मुरारि ।।
लिखौ तुम दृगँन पै दीनदयाल, कपोलँन पै श्री कृष्नगुपाल, नासिका पै लिखि दै नंदलाल ।।
स्रवनँन पै लिखि साँमरौ, अरख नारि निज कंत ।
ठोडी पै ठाकुर लिखौ तौ गल में गोकुल चंद ।।
छतियँन पै लिखि छैल तौ, बाँहन पै लिखौ बिहारी ।। बनि०
हातँन में हलधरजू कौ भईया, लिखौ अगुलीन पै तुम गैया ।
पेट पै लिखि दै परमानंद, जाँघ पै लिखि दै जै गोबिंद ।।
लिखौ घोटुन पै केसवचंद रोम-रोम पै लिखौ रमापति, राधे-स्याँम बनवारी ।। बनि०

१९

काँटौ लाग्यौ रे देवरिया, मोपै गैल चल्यौ नाँ जाइ । टेक
काँटौ निकारी कहा दऊँ, मो पै कछू हतु नाइ ।।
भाऊ कें कूँ नौ टका, देवर कूँ छो ी भैन ।
काँटौ लाग्यौ रे देवरिया, मो पै गैल चल्यौ नाँ जा ।।
जौ मेरौ काँटौ जेठु निकारै, जोबँनु दऊँ गहाइ ।
काँटौ लाग्यौ रे देवरिया, मो पै गैल चल्यौ नाँ जाइ ।।
काँटौ लाग्यौ रे देवरिया, मो पै गैल चल्यौ नाँ जाइ ।।

२०

मीठी लागै मठा की रावडी रे ।
ोल-धाल चूल्हे पर रख दी, अरे दो लगाती लकडी रे, मीठी लागै मठा की रावडी ।
राँध-रूँध चूल्हे पर रख दी, अरे भुरस गई जावडी रे, मीठी लागै मठा की ावड़ी ।।

२१

भमँर कारे रे भमँर कारे, छिटकाइ आई केस भमँर कारे ।।
कोन पै पैहरी तैनें हरी-हरी चुरियाँ ।
कोन पै नैंन करे कारे ।। छिटकाइ०
दिवर पै पैहरी मैंने हरी-हरी चुरियाँ प्यारे ।
यार पै नैंन करे कारे ।। छिटकाइ०

२२

अलबेली की रे, अलबेली की, न्योंई जाइगी जुवन अलबेली की।
गोरी बनी एँ मथुरा की-सी बरफी प्यारे, रसिया ऐ साँट जलेबी की। न्योंई जाइगी०
गोरी बनी चौपट की-सी बाजू प्यारे, रसिया ऐ खगु हवेली की॥ न्योंई जाइगी०

विविध

गीतों के कुछ अन्य अटपटे प्रकार ब्रज में प्रचलित हैं। उनमें से कुछ के नाम और उदाहरण ये हैं —

छप्पे

मिरग की, मिरग-छाल बिछाएँ बैठे बमी राघौराइ।
हात लीने बीरा हनुमान ते कहे समझाइ॥
जाश्रौ रे जाश्रौ बीर, हमारे काज सारौगे।
मुदर में भरीर मैंन लोचन बहुत एँ, जानुकी-बिनाँ हम बिपता सहत एँ॥

२

काए कूँ दुखियाश्रौ राँम, देगो चौं न मेरो काँम, छिनेक ऊ में खबरि लाऊँ हूग चारो देस की।
कागद में फारि डारूँ, समुदर में बिलोइ डारूँ, बूँद न छोटूँ या पाँनी के पलेछ की॥
आग्या देउ तौ राँम, लंका उठाइ लाऊँ राँमन में नरेस की॥

३

चामिल-पार[१] जाँन की ठाँनी॥
चामिल-पार जाँन की ठाँनी, जब नाँ बचति दिखाँनी।
याँ सुनि पाई देवसिंग ने, तब मन में अति करी गलाँनी॥ चामिल०
तुरतई चले गाँम अपने ते, मिले बनी में आँनी।
का करि दै गे पुलिस तुम्हारी, नाहक में भैया भै माँनी॥ चामिल०
धनि बिजई पुहपी बोलै, जब नाँ बचति दिखाँनी।
पुलिस हमारे पीछें परि गई, लीहैं पकरि खूब हँम जाँनी॥ चामिल०
दावति कालि खाउ मेरे घर, कही देवसिंग बाँनी।
इतनी सुनि कें डाकू बोले, हँमनें बात मित्र की माँनी॥ चामिल०

४

मैं हरि-बिन ना जीऊँ माई।
पाँन ते पीरी भई मीरा, बिथा तन छाई।
औखधि-मूल असर नहिं लावै, बैंद फिरि जाई, मैं हरि-बिन ना जीऊँ॥
सीकर टूटि, जंजीरउ टूटी, तोप ऊ खँम खाई।
ऐसी गाँसी मारि सतगुर, पार है जाई, मैं हरि-बिन ना जीऊँ०॥
लाल गिरधर की दासी मीरा, उपजी सुखदाई।
अबकें दरसँन देहु मोहन मुक्ति है जाई, मैं हरि-बिन ना जीऊँ०॥

५

नंदगाँम चहु ओर ते, फूल रही फुलवार।
मालिन माला गूँथती, नंदराइ के द्वार॥

१. पाठांतर—चंमिल-पार।

सिगपौर ब्रजराज की, ढाँढी वोल्यौ श्राइ।
जो माँगें सो देउ गो, गोपैन के जस गाइ॥
नंद नदीस्वर राज ही, वरसानैं वृषभाँन।
दोनो कुल दीपक वरें, वाँचै वेद-पुराँन॥
गोधैंन पूजैंन नीकसी, रैयाँ सब के हाथ।
कै तौ पूजूँ एकली, कै कान्हा के साथ॥

६

तेरौ वीत्यौ ऐ फागुन माँसु, श्राइ गयौ चैत सुहाँमनो।
त्याँ तौ सत्य कथा एँ सत की खाँनि, सभा में होइगौ श्राँमनो॥
मारे सुम-असुम असुर महिकासुर, रोप्यौ जाँनें धरि ज्वाला कौ समुद रतनाँगर सोख्यौ।
गहि लिए अष्ट भुजैंन में बाँन।
निरधनियनु कूँ धँनु दीयौ, अग्यानिनु दीयौ ग्याँन॥

७

कोन कहाँ पर रहति हैं, क्यो रोती क्या बात।
मृतक अग सँग कोन है, लाई आधी रात॥
ए अजुध्या के राजा चक्रवर्ती मेरे प्राँनपति।
यँ श्री राज-कुँमार, एक मैं थी राँनी तारावति॥
धनि-धनि रे विधनाँ तेरी कोन जाँनें न्यारी गति।
श्राए साधू एक सुजाँन, पति ते करी याचना श्राँन, सारा राजपाट किया दाँन, द्विज को दीना है॥
वाकी रह गया कर्ज, जब कि छोडि चुके राजपाट।
कासी में विक तीनो प्राँनी, है गयी कुनवा वारह-वाट॥
मरि गयौ राज-दुलारौ, जाते श्राई मैं तिहारे घाट।
विधि नें दुख दिखायौ, तोरैंन फूल वाग में श्रायौ,
मेरौ किसियर नें डसि खायौ, कुँमर नगीना है॥
जगिजा मेरे लाल, मुख ते मैया-मैया कहि कैं टेरि।
जानें कहाँ होइ पिता तिहारे, पूछें तौ कहा कहि हूँ फेरि॥
मो श्रवला निरभागिनी पै क्या विधि नें दीनो सकट घेरि॥
जाग लाडिले जाग, कर-विन कैसे दऊँ तोइ दाग।
मेरौ श्रचल भरौ सुहाग, विधि नें छीना है॥
कहती है क्या सत्य मेरी तू पटराँनी क्या तारा है।
मृतक-सरीर सग तेरे क्या, रोहित राज-दुलारा है॥
भानवंस का प्रिय तारा क्या हो गया श्रस्त सितारा है।
दपति भए निरास, लखि लई सुत श्रपने की ल्हास,
'कल्लन' विना कुमँर रोहितास, विरथाँ जीना है॥

(ए)

कहानियाँ

"ब्रज में कहानियों का अखंड भंडार है। इन कहानियों में से कुछ का संग्रह ब्रज-साहित्य-मंडल मथुरा द्वारा प्रकाशित हो चुका है, जिसका नाम है—'ब्रज की लोक-कहानियाँ'। ब्रज की कहानियों के विशेष परिचय के लिए उसे पढ़ा जा सकता है। यहाँ केवल कुछ कहानियाँ उदाहरण स्वरूप दी जा रही हैं।"

बिल्ली कौ बौहरौ

चारो यार सौखीन ए। एक यार ने पारौ मुर्गा। एक नें पारौ कुत्ता। एक यार नें पारी बिल्ली, एकु यार डंड-कुस्ती करै।

एक दिनाँ मुर्गा कुत्ता ते बोल्यौ—"कै हे यार, कै मोकूँ बिल्ली मारबे कूँ डोलै ऐ। जो मो पै परवस्ती राखौ तौ मेरे दिन गुजरान है जाँइ।"

एक दिनाँ सवेरे की वखत मुर्गा चुगतौ डोलै औ। सो बिल्ली नें वापै झपट करी, सो मुर्गा किल्लायौ सो यार अइयो। सो कुत्ता कूँ मालिम परी, सो कुत्ता नें बिल्ली घेरी। घिरतें-घिरतें कुत्ता सें बिल्ली जगल कूँ चल दई। भाजतें-भाजतें एक गेंदुआ की भाटि में घुस गई। जो बिल्ली भीतर देखै तौ गेंदुआ सोइ रह्यौ ऐ। सो गेंदुआ जाग्यौ का, सो बिल्ली देखी। सो गेंदुआ बोल्यौ—"कै तू कैसें आई।" जब बिल्ली बोली—"मैं जेठजी, आपके पास एक काँमु आई ऊँ"। गेंदुआ बिल्ली ते बोल्यौ—"कि तेरौ कहा काँम परचौ।" सो बिल्ली बोली गेंदुआ ते—"तिहारौ भैया तौ घर है नाँ। बरात कूँ गए हैं। सो मेरे पास बौहरौ[1] आयौ। मैं उनते बोलूँ नाऊँ और तिहारे भैया बरात कूँ गए हैं। सो बौहरे ऐं तुम समझाइ देउ।"

सो गेंदुआ बाहर कूँ निकरौ। सो कुत्ता दरवज्जे पै ठाडौ। सो गीदरा नें बाहर कूँ मुँह कियौ। सो कुत्ता नें मोहडौ भर लियौ। कुत्ता बाहर कूँ ऐंचै और गीदड भीतर कूँ ऐंचै। ऐंचतें-ऐंचतें घटा दो घटा है गए। एक वखत कुत्ता कौ मुँह ढीलौ परि गयौ। सो गेंदुआ भीतर कूँ भागौ। सो गेंदुआ बिल्ली तें बोल्यौ—"कि गुरू की लोडी ऐसे ते लेंन-देंन कियौ। बोलै न बोलैंनु देइ और चुप्प-चाँप लै।"

सो बिल्ली की गाँडै दो लात दईं। निकर गुरू की लोड़ी। सो बिल्ली वहाँ ते भागि आई।[2]

२

न्यौरा भइया

एक राजा कें सात लडका[3] ऐं[4]। सो सातोन कौ ब्याहु है गयौ। सो छेन कें तौ छोरा भए और एक कें न्यौरा भयौ।

तौ छेऊ कुँमर घोडा पै चढिकें सिकार खेलिबे गए। तौ न्यौरा बोल्यौ—"अमा, अमा, में ऊँ सिकार खेलिबे कूँ जाऊँगो[5]।" तौ वाकी माता बोली—"कै तोइ को लै जाइगौ।" न्यौरा बोल्यौ—"मैं इनके पीछें-पीछें चल्यौ जाऊँगो।" वाकी अमा बोली—"कि बेटा, जा।"

तौ चलत-चलत आँम कौ पेड मिलौ। तौ वे छेऊ कुँमर बोले—"कि हमारौ न्यौरा भईया हो तौ तौ आँम तोरतौ।" न्यौरा बोल्यौ—"भईया, ठाडे रहियो। मैं आइ रह्यौ ऊँ।" तौ न्यौरा आँम के पेड पै चढिकें आँम तोरिबे लग्यौ, तौ पके-पके आँम आप खावै और कच्चे-कच्चे बिनकूँ तोरै। सो कुँमर बोले—"कै सुसर, नीचें उतर। याई माटी में मारि कें गाढि दिंगे।" सो बु नीचें उतरि आयौ, तौ फिर चलिबे लगे।

1. बौहारौ। 2. सं० क०—झंमनलाल अग्रवाल, बिलौठी। 3. लरिका। 4. हे। 5. जांगो।

सो चलत-चलत जाँमुन को पेड मिल्यौ। तौ छैऊ कुँमर बोले—"कँ न्यौरा भईया होतौ तौ जाँमुन तोरतौ।" न्यौरा बोल्यौ—"ठाडे रहियो मैं आइ रह्यो हूँ।" तौ न्यौरा जाँमुन के पेड पै चढि गयो। सो पकी-पकी जाँमुन आप खावै और कच्ची-कच्ची विनकूँ डारै। बे छैऊ कुँमर बोले—"कि आ मुसर, नीचे उतर तोइ यहीं[1] मार चलें।" तौ मारत-मारत अधमरौ करि दियौ। सो परे तैं एक कुँम्हार आइ रह्यो। सो वाऐ अपनें घर कूँ लैगौ[2]। सो वाऐ खूब खवायौ करै। सो कुँम्हार के नें कही—"कि न्यौरा, न्यौरा, या छोराऐ निमटा ला[3]।" सो वु गयो, तौ छोरा ते बोल्यौ—"पेसाब करै तौ निमटै मत। निमटै तौ पेसाब मति करै।" सो छोरा उल्टौ अपनें घर कूँ बगदि गयौ। सो फिर अपनें बाप ते बोल्यौ—"कि काका, ई तौ कहै कि पेसाबु मति करै।" वानें कही—"चल तौ।" फिर बोल्यौ—"कि छोरा पेसाबु करै तौ निमटै मत और निमटै तौ पेसाब मति करै।" सो वा छोरा की आफत आइ गई। सो न्यौरा बोल्यौ—"अच्छौ या बात कूँ बता कि तेरी माँ के रुपैया कहाँ गढि रहे हैं और तेरे बाप के रुपैया कहाँ गढि रहे हैं।" सो वु छोरा बोल्यौ—"कि माँ के रुपैया तौ चाखी (चाकी) के काँने में गढि रहे हैं और काका के रुपैया चूले की बगल में गढि रहे हैं।" सो वा छोराऐ निमटाइ लायौ।

फिर व्वा न्यौरा नें अपने पजेन ते सब रुपैया खोदि लिए और वे रुपैया वाँनें काँनी गधैया ऐ गधाड दिए। सो परे ते वे छैऊ कुँमर आइ रहे। सो वे बोले—"न्यौरा भईया, घर कूँ चलें?" सो वानें कही कै चलौ भईया।" तौ कुँम्हार बोल्यौ—"न्यौरा, कछू लेइ सो लै-लै।" वानें कही—"मैं तौ काँनी गधैया ऐ लूँगो।" सो कुँम्हार बोल्यौ—"कि अच्छी-सी लै जा।" वु बोल्यौ—"मैं तो काँनी गधैया ऐ ई लूँगो।" सो दै दई।

सो वे तौ घोडांन पै बैठे जाँइ, और वु गधैया पै बैठौ जाइ। सो बैठौ-बैठौ यो कहै कि—

"अगँन लिपैयो अमा, चगॅन लिपैयो अमा!

कुँम्हार के ते मोंगरी मँगैयो अमा!"

सो वाकी माँ नें आँगन लीप राखौ और कुँम्हार कौ एक डंडा धरि राखौ। सो अपनें घर जाँमें[4] वा गधैया में खूब सोटा लगाए। सो डाइरी[5] खूब लीदु करै। सो रुपैयाँन ते आँगन भरि गयौ सो फिर वे छैऊ कुँमर बोले—"कि या गधैया कूँ बेचैगौ" न्यौरा बोल्यौ कै—"बेचूँगो।" सो तिन हँसन् नें वु गधैया लै लई।

सो वे वा गधैया में सोटा देवें लगे। सो कछू न डारै। वु जानते मारि दई परि कछु न निसरौ। वे याके माँस ऐ बेचिवे गए सो यो कहे—"कि लेउ गधैया कौ माँसु।" सो काऊ नें न लियौ। फिरि वु न्यौरा बोल्यौ—"कि लाऔ मैं बेचि कैं आऊँ।" सो यो कहतौ डोलै—"कै लेउ [illegible] को माँसु। सो लै लियौ। बेचकें अपने घर कूँ आइ गयौ। सो रुपैया विनकूँ दै दिए।

३

गीदड की चालाकी

[illegible] ऊँट और गीदड की यारी हैं। सो एक दिन[6] ऊँट एक वारी में जाइ लग्यौ। सो [illegible] यार गीदड कूँ गवाँर परी। सो गीदरा बोल्यौ—"यार, यार, तू कहाँ कूँ जाइ[7] [illegible]—"मैं हँस नों चरिवे कूँ जायौ करै।" वु बोल्यौ—"कहाँ चरौ करै?" ऊँट [illegible]। सो वु बोल्यौ—"मैं हूँ चलिगो[8]।" सो वे दोऊ चरिवे चले।

[illegible] सो गीदरा बोल्यौ—"भाई, मोइ पीठ पै बैठा[9] लै चलु," [illegible] उतार दियो। सो गीदड एक फूँट में छिकि[10]

1. [illegible]। 2. [illegible]। 3. निपटाइ। 4. जाइकें। 5. दारी। 6. दिनाँ। 7. जायौ। [illegible]। [illegible]। 10. खूब पेट भरकर।

गयौ, ऊँट नाँइ छिको। सो गीदरा बोलौ—"भाई, मेरी हुकहुकी कौ वखत आइ गयौ। सो मैं तौ हुकहुकी लगाऊँ।" सो ऊँट बोल्यौ—"भाई, मोइ एक फूंट और खा[1] लिंदै[2]।" सो वानें एक फूंट खाइ लियौ। फिर गीदरा बोल्यौ—"अब मेरी वोली कौ वखतु आइ गयौ।" तौ ऊँट बोलौ—"भाई, एक फूंट और खा लिंदै।" तौ गीदरा न मान्यौ। सो वारी-वारे की खाट के नीचें जाइ कें हुकहुकी लगाई, सो वारी-वारौ जागि परौ, सो वारी माऊँ भग्यौ। माँ ऊँट चरि रह्यौ ओ। सो ऊँट मारत-मारत अधमरौ कर दियौ। ऊँट भग्यौ चल्यौ गयौ और परे तें गीदरा भग्यौ चलौ आइ रह्यौ। सो वाकौ यार नदी पै ठाडौ मिलि गयौ। सो ऊँट बोल्यौ कै—"चलि यार घर कूँ चलें।" सो गीदरा बोल्यौ—"कै यार, मोइ लै पीठ पै बैठार लै।" सो बैठाइ लियौ। बीच धार में जाइ कें ऊँट बोल्यौ—"कि मेरी लुटलुटी कौ वखत आइ रह्यौ ऐ।" सो गीदरा बोल्यौ—"कै भाई मर जाऊँगो।" ऊँट न मान्यो। लुटलुटी लेंत खेंम गीदरु बह्यौ चल्यौ गयौ।

फिर वाऐ एक गह्रा[3] मिलौ। सो वु गीदर बोल्यौ "कै भाई मोइ निकार लै।" सो वाने निकार लियौ। वाकी और वाकी यारी ई जुर गई। सो एक दिनाँ गह्रा नें गीदर ते कही—"कै भाई, आज तोइ हमारी माँ बोल रही है।" सो गीदर खूब पके-पके तीन-चार बेर लै गयौ।

सो गीदरा नें जाकें[4] वाकी माँ तें राँम-राँम करी। सो वा नें राँम-राँम लै लई, सो गीदरा नें वाकूँ बेर दिए। सो वाकी माँ खाकें[5] खुस है गई। सो वु गह्रा तें बोली—"कै बेटा, याके बेर इतेक मीठे है सो याकौ करेजा कितेक मीठौ होगौ[6]।"

सो व्वा नें अपने यार ते कही—"कि वो यार तेरे बेर इतेक मीठे है सो तेरौ करेजा कितनो मीठौ होगो।" सो गीदरा सोच्यौ कै भाई, यानें मारे।

सो वानें कहा काँम करौ कि यो कहि दई कि "ई, अबतें वो नाँइ कही। अब तौ मैं अपने करेजा कूँ झार पै सुखाइ आयौ ऊँ। ई, अब ते कह दें तौ तौ नाँइ सुकाँतौ।" सो फिर गीदरा बोल्यौ—"कै मैं लै आऊँ।" सो घर में ते निकरि कें कहै कि कहूँ करेजा झारेंन पै नाँइ सूखें।" तौ गह्रा बोल्यौ—"कै देखौ जाइगो।"

सो फिर दूसरे दिनाँ आयौ का पाँनी पीवे सो गह्रा नें वाकी टाँग पकरि लई, सो गीदरा बोल्यौ—"कै यै तौ बर की जर पकरि राखी है।" सो टाँग तौ छोड़ि दई और बर की जर पकरि लई। सो कहै—"कि लै सुसर, टाँग पकर लै।" तौ फिर गह्रा बोल्यौ—"कै देखौ जाइगौ।"

सो फिर एक दिनाँ वाके घर में गह्रा जाइ घुसौ। सो गीदरा चरिकें आयौ। वाऐ वाकी घिसरामेंन दीख गई। सो कहै—"कि घर राँम-राँम", सो बोल्यौ—"कै और दिनाँ तौ हमारो घर बोलै ओ आज क्यो ना बोलै।" सो गह्रा बोल्यौ—"राँम, राँम" तौ फिर गीदरा बोल्यौ—"कै कहूँ घर बोलौ नाँइ करे।"

४

तीन चोर और एक राजा

एक दिनाँ तीनि चोर चोरी करिबे कूँ चले। सैहैर कौ राजा वाई वखत गस्त लगाइवे कूँ भेसु बदलि कें निकरयौ। व्वानें तीन्यो चोट्टा देखे। राजा नें उनतें जाइ कें पूछी—"भाई तुम को औ?" उननें कही—"भाई हूँम चोर ऐं, और चोरी करिबे कूँ आए ऐं।" फिरि उन नें राजा ते पूछी—"और तू को ऐ भाई?" तौ राजा नें कही—"मैं ऊ चोर ई ऊँ।"

फिरि राजा नें पूछी—"भाई तुम में गुन कोन-कोन से ऐं?"

एक नें कही—"मैं भरि नजरि तारे मोंऊ देखि दंऊ तौ तारे खुल जाँइ।"

दूसरे नें कही—"मैं धरती ऐ सूँघि कें बताइ सकतू कि ज्याँ धँन् ऐं।"

[1] खाइ। [2]. लिनदं, लिंबै। [3]. मगर। [4]. जाइकें। [5]. खाइकें। [6]. होइगो।

तीसरे नें कही—"मैं जा आदमी ऐ देखि लुंगो, ब्याइ सौ वर्स पीछेंऊँ पैंहिचांनि सक्तूं।"

तीन्यो चोट्टांन नें अपने-अपने गुंन वताइ दिए। अब विन नें राजा ते पूंछी—"भाई नए चोर, अब तूऊ वताइ कि तो पै कहा गुंन ऐं?" राजा नें ज्वाबु दीयौ—"जौ इतमें नारि-हलाइ दूं[1] तौ फांसी पै चढ़ाइ दूं और जौ[2] इतमें हलाइ दूं तौ फांसी पै ते उतारि दूं। और जो तुम मोइ अपने संग लेउ तौ चोरी के माल में ते आधौ मालु मैं लुंगो।"

चोट्टांन नें सोची—"भाई, हमें फांसी ते जादातर काम परतु[3] ऐ। जाइ लिवाइ चलौ।" झट्ट वुह अपने सग लगाइ लीयौ।

राजा उनें अपनेई खजांने में लिवाइ गयौ। पैंहले नें तारे खोलि दए, दूसरे नें धंनु वताइ दियौ। सव धंनुऐं लैकें चोट्टा निकरि आए। राजा तौ उलकैयां-विलुकैयां दै कें निकरि आयौ और अपने सिपाइन नें इसारौ दैकें वे तीन्यौ चोट्टा गिरफ्तार करवाइ दिए।

दूसरे दिनां राजा की कचैंहरी जुरी। तीन्यो चोट्टा दरवार में आए। अब द्वै चोट्टांन नें तीसरे ते कही—"भाई हूंम तौ अपनो-अपनो कांमु करि चुके। अब तू अपनो कांमु करि और वताइ वु रात्ति-वारौ कहूं दीखतु ऐ।" ब्यानें देखि-भारि कें कही—"कि होइ न होइ जी राजाई औ।"

अब राजा नें फांसी कौ हुकमु सुनाइ दीयौ। चोरंनु नें ब्याते कही—"राजा, हम तौ तीन्यो जनें अपनो-अपनो कांमु करि चुकें। अब तू अपनो कांमु करि। राजा नें झट्ट अपनी नारि इतमें हलाइ दई। सोई फांसी हटि गई।

चोरी कौ आधौ मालु तौ राजा नें अपने खजांने में डरवाइ दीयौ और आधौ चोट्टन नें दैकें उनतें कही—"जाओ अब कबऊ ऐसौ मति करियौ[4]।"

५

फूलनदेई : कौलनदेई

एक फूलेंनदेई और कौलेंनदेई दो वैंहन थीं[5]। फूलेंनदेई की मां हुती[6] और कौलेंनदेई की मां नाईं। कौलेंनदेई गैया चरायौ करै ई। तौ वाकी मोसी ऊपर-ऊपर चून और नीचें गोवर की रोटी करिकें भेजै ई। तौ कौलेंनदेई चून-चून तौ चाट लेई और गोवर ऐ गाँढि देई। तौ एक दिनां वाकी मां, वाइ सुपनें में दीखी। तौ वाकी मानें पूछी—"वेटी, दुखी कै सुखी?" वानें कही—"मैया, वहुत दुखी।" वाकी अमा नें कही—"मैं ववे पै वेरिया वनूंगी।" वानें कही—"मां, फूलेंनदेई न खांन देगी।" कौलें-नदेई की मा नें कही—"कि तू वेर खाइगी तौ पीरे-पीरे और फूलेंनदेई खाइगी तौ वही[7] हरे—कच्च।

एक दिन कौलेंनदेई वेर खाइ[8] रही ई। तौ फूलेंनदेई रोटी लैकें आई। वानें पूछी—"वीवी, का खा रई ऐ।" वानें कही—"वीवी, वेर खा रई ऊं, तूवी खा लै।" जव कौलेंनदेई खाइ तौ पीरे-पीरे और फूलेंनदेई खाइ जव हरे—कच्च। जव वौ[9] फूलेंनदेई घर गई तौ वानें अपनी मां ते कही—"या ववे पै एक वेरिया ऐ। जव कौलेंनदेई खाइ तौ पीरे-पीरे पके और जव मैं वेर उठांऊँ तौ वौ हरौ—कच्चद। तौ वाकी मा असटपाटी[10] लैकें परि गई।

जव फूलेंनदेई कौ चाचा आयौ तौ वानें पूछी—"कि तू कैसें पडी ऐ।" वानें कही—"ववे पै जो वेरियाऐ वाऐ कटवावै तौ रोटी खाऊँ, नही तौ रोटी न खाऊँ।" वाके चाचा नें वेरिया कटवाई। जव वु वेरिया कटि गई तौ कौलेंनदेई की मां सुपनें में फिरि आई। वांनें पूंछी—"वेटी, अब दुखी कै सुखी।" वानें कही—"मां, अब मैं औरवी दुखी।" वानें कही—"देखि वेटी, मैं तेरे घर में 'मोखी' वनुंगी वामें जव तू खायौ करैगी तो लड्डू-पेडा और जव वु फूलेंनदेई खाउ करैगी तौ कंकड-पत्थर।"

१. दऊँ। २. जो। ३. पर्तु-पत्तु। ४. स० क०—चंद्रभान, लोहबन के संग्रह से। ५. ई। ६. ही। ७. भई। ८. खाइ रई ऐ। ९. वु। १०. खटपाटी।

एक दिन कौलैंनदेई लड्डू-पेडा खा रई। इतने में आ गई फूलैंनदेई। तौ वानें कही—"बीबी, का खा रई ऐ।" कौलैंनदेई नें कही—"बीबी, लड्डू-पेडा खा रई ऊँ। आजा, तू बी खा लै।" जब कौलैंनदेई खावै तौ लड्डू-पेडा और फूलैंनदेई खाइ तौ ककड-पत्थर। फूलैंनदेई नें अपनी अमा ते जाइकें य्यौ कहि दई—"कि अमा, कौलैंनदेई तौ लड्डू-पेडा खाइ करै।" वाकी अमा फिरि अनसटपाटी लैकें परि पई। फूलैंनदेई कौ चाचा आयौ तौ वानें पूछी—"कि तू चो अबकें कैसें पडी।" वानें कही—'कि हमारी या मोखी ऐ बद करा देऔ तौ अजल-पानी[1] करूँ, नई तौमें मरूगी।' वानें मोखी भी बद करा दई।

एक दिन फूलैंनदेई की मानें कही—"कि तुम कौलैंनदेई की ऐसी जगें सगाई करियौ कि जो लकडी बेचतौ हो। और मेरी बेटी की ऐसी जगह सगाई करियौ जो राजा-महाराजा हो।" तौ व्वानें ऐसीई जगें सगाई करी।

तौ फूलैंनदेई की बरात खूब सजधज कें आई और कौलैंनदेई की बरात मामूली आई। फूलैंनदेई की बरात में खरवोरिया मचिगौ और कौलैंनदेई की बरात में खूब झमझमाहट आ[2] गयौ। फूलैंनदेई पै कछु बी गैहनो न रह्यौ और कौलैंनदेई पै खूबु गैहनो हुगौ। तौ वाकी मौसी नें कही—"कि कौलैंनदेई, तू कछु गैहनो अपनी बैहन कूँ दै-दै।"

जब फूलैंनदेई की माँ नें कौलैंनदेई कौ सिर बाँधौ तौ वाकौ सिर बाँधती जाइ और कील ठोकती जाइ। तौ जब सबरी कीलु ठुकि चुकी तो वोह चिडिया बनि कें उडि गई। तौ कौलैंनदेई की जगें वानें फूलैंनदेई भेजि देई। तब वाके पती नें पूछी—"कि तू तौ कारी नाँई, अब तू कारी क्यो है गई।" तौ वानें कही—कि मेरी मोसी मोपै कोला पिसवायौ करै ई। सो मैं कारी है गई।" व्वानें कही—"अच्छा।"

जो चिडिया बनकें कौलैंनदेई उड गई तौ वु रोज उनके घर पै बैठि कें य्यो कह्यौ करै ई—"कि कौलैंनदेई डोलै मारी-मारी। फूलैंनदेई सोवै चित्तरसारी।"

तौ एक दिनाँ वु चिडिया कौलैंनदेई के पती नें पकड लई, जब वाके सिर में से कील निकारी तौ देखी तौ कौलैंनदेई। जब कौलैंनदेई नें यह बात देखी तो वानें कही—"कै फूलैंनदेई ऐ देस निकारौ दे वो।" तो कौलैंनदेई मैहलैंनु में रहैंन लगी और फूलैंनदेई कूँ देस निकारौ दै दीयौ।[3]

६

ठाकुर रामपरसाद

ठाकुर रामपरसादु और उँनकी ठकुरानी जे घर में खाली[4] द्वै पिरानी ए। हलुकौ-पतरौ सेतुऊ करत्वे। वापै एक भैंसि, द्वै बरध ए। भैंसिया बूब दैंनी। खेत में कछू ऐसौ पैदा न भई। ऐसैं करिकें तीन बरस की वापै भेज रुकि गई। कारिंदा, पटवारी और लबरदार कौ नित्त तगादौ आयौ करै। जब कारिंदा कौ सिपाई तगादे कूँ आवै, जबई नित्त छाछि लै जायौ करै और जब पटवारी तगादे कूँ आवै तौ वाकौ सबु दहीऐ लै जायौ करै और जब कबऊ कारिंदा कौ चक्कर होइ तौ वु सबु दूधै लै जाइ। बिचारौ रामपरसादु बडौ तगु है गयौ और भूँखनु मरैंन लग्यौ।

अब कारिंदा-पटवारी बोले—"कै तौ तीन बरस की मालगुजारी दै जा, नहीं कुडकमीन लाइकें हम कुडक करांगे।" रामपरसादु आइकें अपनी बहू ते बोल्यौ—"कै आजु कुडकमीन आवैगौ सो मैं तौ दुबकि जाऊँ और तू तारौ दैकै घर में बैठि जइयौ। मैं अबेरौ-सौ राति में आउँगो।" रामपरसादु दुबकि गयौ।

[1] भाषा विज्ञान का एक विचित्र उदाहरण है—"अन्न-जल = अंजल"। इसका एक अर्थ रह गया और यह अन्न का पर्याय बन गया। पानी तब और जोड़ना पड़ा। [2] आइ। [3] जगदीश प्रसाद कोसी कलाँ, मु० तालाबशाही, मथुरा के संग्रह से। [4] केवल।

अब रामपरसादु की बहू हात-पाँम धोइकें, नई फरिया ओढ़िकें पाँनी भरिबे गई। गैल में पटवारी मिल्यौ। बोल्यौ—"कै कोऐ, रामपरसादु की-सी बौहौटिया ?"

'येजी हुवै', फिरिकें ठाडी है गई।

"रामपरसादु कहाँ गयौ ऐ। भेजि देइ, नहीं कुडकी होगी।" ठकुराँनी बोली—"ये जी, वे तौ तिहारे डर के मारें कैऊ दिनाँ के भगि गए।

"भलौ।"

"हाँ जी।"

"तो पौहे-ढोरेंन की कैसें होति होगी ?"

"ये जी, मेंई करतूं।"

"कोई चिंता मति कर। हूँम आजायौ करिंगे।"

आगें चली तौ कारिंदा पायौ। बोल्यौ—"कै, को जाँति ऐ। रामपरसादु की-सी बहू।" बहू, फिरिकें ठाडी है गई—"ये जी, हुवै।"

"तौ रामपरसादु कहाँ गयौ ऐ। भेज-फेज दै-दाइ दे नहीं कुडकी होगी।"

'ये जी, वे तौ कैऊ दिनाँ के भाजि गए।'

"भलौ ?"

"हाँ जी।"

"तौ ढोर-पौहेन की को करि रह्यौ है।"

"ये जी, सबु मैं ई करि रई हूँ।"

"कोई चिंता मति करियौ, राति कूँ हम आइ जाँइगे।"

आगें चली तौ सिपाई पायौ। बोल्यौ—"कै ठकुराँनी ऐं का।"

बोली—"हुँवै जी।"

"रामपरसादु कहाँ ऐं ?"

"ये जी, वे तौ भागि गए।'

"भेज-फेज को देगौ ? नहीं कुडकी आवैगी। परि कोई बात नाऐं। घबडैयौ मति, राति-बिराति कूं हम आइ जायौ करिंगे। और भेजऊ की देखी जाइगी।"

अब दिन मुदौ, राति भई, तौ सिपाई आयौ। फाँटिकु खटखटायौ। बोल्यौ—"कै रामपरसादु हुवै का ?" ठकुरानी बोली—"ठैरियो, आई।" फाँटिकु खोल्यौ, भीतर गए, खाट बिछाइ दई सिपाई बैठि गयौ, बोल्यौ—"कै, रामपरसादु भगि चो गयौ। मैं भेज दै दैंतौ।"

इतेकई में पटवारी आइ गयौ। बोल्यौ—"कै, रामपरसादु हुवै का।" ठकुराँनी बोली—"ठैरियो आई।"

सिपाई बोल्यौ—"को ऐ ?"

"पटवारी जी ऐं।"

"तौ बीर, तू मोइ दुबकाइ। तू मेरी धरँम की बैहैंनु, मैं तेरौ भईया। मोइ बचाइ।"

ठकुराँनी बोली—"कै, सबु लत्ता उतारौ।"

वानें सबु लत्ता उतारे। ठकुराँनी नें पोतनाँ लैकें सबरौ पोति दयौ और मूंडु पै माटी धरिकें और ऊपर दीयौ धरि कें कोनें में ठाडौ कर दीयौ। अब फाटिकु खोल्यौ। पटवारी आए। खाट पै बैठि गए। बोले—"चिंता मति करियौ। तीन्यो बरस की भेज स्याहे में दाखिल करि दुगो।" इतेकई में कारिंदा आयौ। बोल्यौ—"रामपरसादु हुवै का ?" ठकुराँनी बोली—"ठैरियो जी, आई।"

पटवारी बोल्यौ—"को ऐ ?"

"ये जी, कारिंदा ऐं।"

पटवारी बोल्यौ—"भागमाँनु, मोइ दुबकाइ।"

वानें कही—"सबु लत्ता उतारौ।"

वानें झट्टई उतारि दिये। वु वोली—"कोठी की छाँनि के नीचें घुसि जाश्रौ। परि मूँडु नैंकु नीचौई राखियों, ज्या में एकु कारौ स्याँपु कैऊ दिनाँ कौ बैठ्यौ ऐ। जानें कहूँ आँधरौ ह्वै गयौ का। कितऊ कूँ जाइ[१] नाएँ।" वानें कही—"भागमाँनु, काँन तौ हलाउँगोई नाँ।"

ठकुराँनी नें फाटिकु खोल्यौ। कारिंदा आयौ और खाट पै बैठि गयौ। वोल्यौ—"कै, रामपरसादु कवते नाएँ। ठकुराँनी बोली—"ये जी, विन्नें तौ अठवारेतु ह्वै गए।" कारिंदा वोल्यौ—"कोई वात नाएँ। मैं सबु देखि-भारि लुगो और तीन साल अगिली औरु तीन साल पिछली सबु भेज माँफु करि दुंगो वु वोली—"ये जी, वे तौ गए। अब तुम्हें दीखै जैसें करौ।" इतेकई में रामपरसादु आइ गयौ वोल्यौ—"कै, फाटिकु खोलियौ।" ठकुराँनी वोली—"ठैरियो, दूधै धरि आऊँ, भाई।"

कारिंदा वोले—"को ऐ ?"

ठकुराँनी वोली—"वेई ऐं।"

"को, "रामपरसादु?"

"हाँ जी।"

"अरी तौ पैंनमेसुरी, मोइ दुवकाइ।"

"ये जी, कहाँ दुवकाऊँ ?"

"अरी वीर ! तू मेरी धरँम की बेटी ऐ। परि मोइ दुवकाइ। नहीं मेरी वडी जाति विगारैगौ।"

"अच्छौ तौ, लत्ता-पिछौरा वेगि उतारौ।"

वानें डर के मारें सबु उतारि दए। वु बोली—"देखौ तुम कोठी में घुसि जाश्रौ। परि एक काँमु करियो यामें मेरी परु की दवाईन कौ तेलु धरयौ ऐ, कहूँ हलियो-झुलियो मति। नहीं सबु तेल फैलि जाइगौ। चुप बैठे रहियों। मेरें गठिया कौ दुख कबऊँ-कबऊँ ह्वै जातु ऐ। फैलि गयौ तौ कौन पै मँगाउँगी।" कारिंदा वोल्यौ—"भागमाँनु, उसासऊ तौ लुग्गोई नाँ औरु की कहा चल्लाई।"

अब फाटिकु खोल्यौ। रामपरसादु आयौ। वोल्यौ—"भाई, मैं दिन भरि कौ भूखौ ऊँ कोई रोटी-फोटी, दरिया-महेरी होइ तौ दै। परि जि तौ वताइ, कोई तगादे-फगादे कूँ तौ नाँइ आयौ।" वु वोली—"आए तौ हुते। अवेरे-से आए।" ठकुराँनी नें महेरो परोसि दई औरु वाई में दूधु करि दीयौ। रामपरसादु वोल्यौ—"भाई, जितौ नैंक तातौ ऐ।" वु वोली—"बीजनाँ लै लेउ। सीरौ करि लेउ।"

अब वु मन में वोली कै न जाँनें पटवारी कहूँ भूँखौ ह्वै का। वडी देरते इतई कूँ छाँनि में तै देखि रह्यौ ऐ। न होइ तौ ज्याइ दूधु दै आऊँ। पटवारी ते बलाइ काँमु परल्वै। बेला में दूधु लैकें गई और कोठी के ऊपर दैंन लगी। वु तौ विचारौ डरके मारें चुपु बैठ्यौ ओ, तातौ वेला हात में ते छूटि गयौ। कोठी के ऊपर फैलि गयौ। विचारौ पटवारी भुरसि गयौ। फफोला परि गए और धँमारे में ह्वैकें कोठी में भीतर गयौ। म्वाँ कारिंदा बैठ्यौ ओ, वाकी पीठि पै परयौ। सबु सरीर पै परयौ, वाऊ के सबु सरीर में फफोला परि गए। वोल्यौ—'भागमाँनु, मैंनें नाहिं फैलायौ जि तेरौ तेलु, आपई फैलि गयौ ऐ, परि वडौ गरँमु ऐ।" पटवारी वोल्यौ—"हल्यौ मैं ऊँ नाऊँ। मो ताँईं कैसें आइ गयौ।" रामपरसादु वोल्यौ—"महेरी तौ पीछेंई खाउँगौ, परि जि को कोठी में ववरयौ बैठ्यौ ऐ। ज्याइ देखूँ।" वु गयौ औरु कारिंदा कौ हातु पकरि कें खेंचि लयौ। वानें कही—"कै, तैनें वडे पाँम उखारे। अब वताइ दै ?" कारिंदा नें हात जोरे औरु वोल्यौ—"कै भाई, जन्म-भरि भेज मति दीजौ परि मोइ छोडि दै।" कारिंदा जी छोडि दीए।

फिर वोल्यौ—"कै, जि छाँनि में को हलि वे वारौ ऐ, ज्याइ देखूँ।" विचारौ पटवारी पाँम पकरि कें खेंचि लयौ औरु खूब मारि लगाई। पटवारी वोल्यौ—"कै भाई, तेरौ खातौ माँफीदार में करि दुंगो। तू मो ऐ छोडि दै।" पटवारीऊ छोडि दयौ।

१ — -

अब बोल्यौ भाई, मैने जे बडे-बडे आदमी मारे एँ। जे अब मोइ पिटबामिंगे। सो चलि राति मेंई भगि चलें। सबु सामानु बांध्यौ। बोल्यौ—"सोटि-लकडियाऐ को लै चलै, मरन दै, परि एकु कामु करि, मेरो डडा ला। देखि जि तैनें दीवटि कैसी नोठि ते रचि-पचि कें बनाई ऐ औरु कांन, नाँक, आंख, भोह कैसे बढिया बनाए एँ। कोई वैसेंई तौ लै जाइगो। ज्याइ फोरि चलें।" इतनी सुनिकें सिपाई बोल्यौ—"कै अजी ठाकुर साब, मरि जाँउगो।"

ठाकुर बोल्यौ,—"कि अरे कै सारे, मेरी छाछछ तक नांइ छोडतो।"

"अजी मैं ज्या नौकरीऐ ई न करूंगो। कबऊँ न आउंगो मोइ छोडि देउ।" वाऊ कूं छोडि दयौ। धेला काऊ कूं न दयौ।[१]

७

ठगों को ठगनेवाला

एकु राजा ओ। ब्याकें एकु बेटा ओ। ब्या बेटा पै ब्याकौ बौहौत भारी प्यारु ओ। परि ब्याकौ मनु नाँ ओ लगतु। एकु दिनाँ राति कूं उठि कें वु चलि दीयौ। चलाचल-चलाचल वु एकु औरु दूसरे सैहँरु में पौंहँच्यौ। ब्या सैहँरु में एकु साहूकार रह्यो करतो। वु साहूकार बहुत धनी ओ। ब्याके धन कौ कछू वार-पार नाँओ। परि ब्याकें कोई बेटा नाँओ।

जब राजा को बेटा ब्या नगर में पौंहँच्यौ तौ ब्या साहूकार ऐ खबरि परी। ब्यानें वु बुलायौ, वु गयौ तौ साहूकार नें ब्याते पूछी—"कि रे तू को ऐ, कहाँ ते आयौ ऐ?" ब्यानें अपनौ सबरौ ऐहवालु कहि दीनो। साहूकार नें वु राखि लीनो।

साहूकार के सैहँरु में एकु सरोवरि ई। साहूकार को जि हुकँमु ओ कि कोई आदिमी ब्या सरोवरि में न अन्हावै। साहूकार जब जाइकें ब्यामें डुबकी लगाऔ करतु ओ, तौ ब्याके हाथँन में हीरा, पन्नाँ, जवाहिराति आइ जायौ करत ई। परि ब्यानें राजा के बेटा ते तौ न्हाइबे की कहि राखी ई। राजा कौ बेटा जब ब्या में डुबकी लगावै तौ ककर-पत्थर ई ब्या के हात में आँमें।

भौतु दिनाँ राजा के बेटा ऐ म्याँ रहत-रहत है गए। एक दिनाँ वानें साहूकार ते कही—"पिता जी, अब हमें अपने मा-बाप की यादि आइ रई ऐ। अब हम उनके जौरे हैवे जांगे।" साहूकार नें कही—"भौतु अच्छा बेटा, परि लै कहा जाउगे।" ब्यानें कही—"एक घोडा देउ और पोसाक पैंहरिबे कूं देउ औरु द्वै-चारि लाल दै देउ।" साहूकार नें सबु चीज ब्याकी भेंट करी। अब राजा कौ बेटा चलि दीनो।

(२)

दर कूँच, दर मजिल तै करतु भौ वु अपने नगर कूं चलिबे लग्यौ। आगें जाइकें ब्याइ एकु ठगँन की नगरी परी। एकु ठगु जो सबु ठगँनु को सिरदारु हतुकाओ, समझि गौ कि जितौ कोई सौंने की चिरैया ऐ। वु ब्याते झूठी-साँची बात बनाइकें अपने घरकूं लिवाइ लैगौ।

ब्या ठग की द्वै बेटी ई। ब्यानें अपनी बेटीन ते कही—"देखौ जि सौंने की चिरैया ऐ, जैसें बनें तैसें जाइ ठगौ। बेटीनुनें कही—"अच्छा पिताजी!"

राति भई, राजा कौ बेटा ऊपर चित्तरसारी में सोइबे कूं भेज्यौ। अब एक बेटी चौमुख-दिवला एक हात में लैकें औरु तरवारि लैकें ब्याके जौरें गई। जाँतखँम ब्याकी छाती पै चढि बैठी, औरु ब्याते कही—"तो पै जो कछू होइ सो धरि दै, नईं तौ तोइ मारति ऊँ।" ब्यानें कही—"भागिमाँन, मो पै कछू नाँएँ। जौ तू मोइ मारि देगी तौ ऐसेंई पछितावैगी जैसें लाखा बजारौ अपने कुत्ता ऐ मारि कें पछितायौ का ओ।" ब्यानें कही—"लाखा बजारौ कैसें पछितायौ।" ब्यानें कही—"जौ तू मेरी छाती पै ते उतरि परै तौ बताऊँ।" सोई वु छाती पै ते उतरि परी। अबु वु कहिबे लग्यौ—

[१]. पातीराम—अकबरपुर के संग्रह से।

"देखि ठग की बेटी, एकु लाखा बंजारौ ओ। ब्वापै एकु कुत्ता ओ। एक पोत ब्वापै औखा परी। ब्वानें पाँनसौ रुपया में अपनौ कुत्ता गैहनें धरि दीयौ, एकु साहूकार के याँ।

ब्वा साहूकार कें एक दिनाँ चोरु चोरी करिबे आए। कुत्ता उन चोरँनु कूँ देखि रह्यौ ओ। ब्वानें सोची—"जो, जौ मैं भूँसतु ऊँ, तौ-तौ जे मोइ मारि दिंगे। जातें ला चुप्पु-चापुई देखतु रहूँ कि जे कहा करत एँ।" चोरँनु नें सबु मालु-असबाबु निकारि लीयौ। सबु रुप्या और माल-असबाबु उन चोरँनु नें जाइकें एक ताल में गाडि दियौ। कुत्ता नें सब बात देखि लीनी।

सबेरे भएँ हल्ला-सोरु मँच्यौ। कुत्ता सबँन के लत्तानु कू पकरि कें खेंचैं। परि काऊ की समझ में ब्वाकी बताई न आवै। फिरि एकु डोकरा नें कही—"भाई, जा कुत्ता के सग चलौ, जि कछू बतावैगौ।" सोई सबु जने ब्वा कुत्ता के पीछें-पीछें चलिबे लगे। कुत्ता ब्वाई ताल में जाइकें कूदि परचौ। लोगँनु सोची—"कुत्ता करतु कहा ऐ।" कुत्ता नें डूबक मारी और अपने म्हौ में एक रुप्याँन की थैली उठाइ लायौ। लोगँनु नें सोची—"भाई, मालु जाई में ऐ," कै ते उननें घुसि कें ब्वा में ढूँढा-खँखोरी मँचाई, सोई उनें सबु मालु-मता पाइ गयौ अब वु साहूकार कुत्ता पै बडौ राजी भयौ और ब्वाते कही—"जा, अब तू अपने मालिक के जौरे जा।" ब्वानें सब बात एक चिट्ठी में लिखिकें ब्वाकी नारि में बाँधि दीनी।

अब वु कुत्ता, लाखा बजारे के जौरे चल्यौ। जब लाखा बजारे ने कुत्ता आँमतु देख्यौ तौ ब्वानें अपने मन में सोची—"कि, कुत्ता साहूकार ते दगा करिकें चल्यौ आयौ ऐ।" सोई ब्वानें तरवारि निकारि कें कुत्ता कौ मूड काटि दियौ।

जब ब्वाइ ब्वाकी नारि में चिट्ठी दीखी तौ ब्वानें वु खोलि कें पढी। पढिकें एकु दम ब्वाइ छमा आइ गयौ और वु हाइ कुत्ता, हाइ कुत्ता करिकें रोइबे लग्यौ। सो ए ठग की बेटी, जौ तू मोइ मारि देगी तौ तुहू ऐसें ई पछिताइगी, चौंकि मेरे पास कछू हतु नाँएँ।"

❀

ब्वा राजकुँमार नें वे लाल अपनी जाँघ-चीरि कें ब्वा में भरि लए ए।

दूसरे दिनाँ दूसरी ठग की बेटी आई और वु ऊ ब्वाकी छाती पै चढि बैठी। राजा के बेटा नें ब्वाते कही—"जौ तू मेरी जाँनि लै लेगी तौ तू ऐसेंई पछितावैगी जैसें राजा अपने बाज ऐ मारिकें पछितायौ काऔ।" ब्वानें पूछी —"राजा कैसें पछितायौ ?" ब्वानें कही—"मेरी छाती पै तें उतरि तब तोइ बताऊँ।" वु छाती पै ते उतर परी। राजा कौ बेटा कहिबे लग्यौ —

"देखि ठग की बेटी, एक राजा नें एकु बाजु पारि राख्यौ ओ। जब राजा सिकार खेलिबे जायौ करतौ तब वु अपने पखन ते ब्वाकी छायाँ करतु जायौ करतु ओ। एक दिनाँ राजा ऐ बडी प्यास लगी, परि पाँनी कहूँ नाँ। ब्वाई बखत एक चील एक स्याँप ऐ मारि कें एक पेड पै डारि गई, ब्वाके म्हौ में ते जहर की बूँद झरचौ करें। राजा नें समझी कि ईसुर नें मेरे काजें पाँनी बरसायौ ऐ। सोई एक कटोरा में उन बूँदनु कूँ लैंबे लग्यौ। बाज ऐ सब बातँन की खबरि ई। सोई ब्वानें राजा के कटोरा पै झपट्टा मारचौ, सो कटोरा गिरि परचौ। राजा ऐ बडी रिस आई। ब्वानें गोस्समाँन ते झट्ट बाजु मारि दीयौ।

जब वु ऊपर कूँ चाह्यौ सोई ब्वाइ स्याँपु दीस्यौ। अबु वु हाइ बाज, हाइ बाज करिकें गंदबै नाग्यौ। सो ए ठग की बेटी, मेरे पास कछू ऊँ नाँ एँ। जौ तू मोइ मारि देगी तौ तूऊ ऐसेंई पछितावैगी।"

वु ब्वा दिनाँ लौटि गई और अपने पिता ते जाइकें कही—"पिताजी, जाके पास कछू नाँएँ।" बापु नें कही—"हतु कैसें नाँएँ।"

❀

तीसरे दिनाँ वु पैहली ठग की बेटी फिरि आई। ब्वानें आइकें ब्वाते कही—"देखि लाला वे ठग, ब्वाके बापु ठगु ऐ। ब्वाके चगुन में ते तू बचि नाँइ सक्तु। जाते तू मेरौ एकु कैहनौ

मांनि। मेरे बाप की द्वै ऊँटिनी ऐं। एक अस्सी कोस जाँति ऐ और एक साठ कोस जाँति ऐ। तू अस्सी कोस बारी ऊँटिनी ऐं खोलि लीजौ और मोऊ ऐ अपने सग बैठारि कें भाजि निकरिऔ।"

राजा के बेटा नें हाँमी भरि लई। अब बु ऊँटिनी ऐ खोलिबे चल्यौ। परि ब्वाइ पैहचाँनि न परी कि कुनसी ऊँटिनी अस्सी कोस चलति ऐ। ब्वानें साठि कोस-चलिबे वारी ऊँटनी खोलि लई।

अब वे दोऊ ब्वा पै बैठिकें भागि निकरे। आगें जाइकें साठि कोस पै ऊँटिनी बैठि गई। अब ठग की बेटी नें कही—"मेरौ बापु आइकें अब्हाल पकरें लेंतु ऐ। चौंकि वापै अस्सी कोस-बारी ऊँटिनी रहि गई ऐ। सो तू तौ अब जा पेड पै चढि जा और मैं नीचें ठाडी ऊँ।

पीछें ते ब्वाकौ बापु आइ ई चो न गयौ। अब ब्वाकी बेटी नें कही—"पिता, बु ज्यौं ते अब्हाल ई भाजि कें गयौ ऐ। तुँम साठि कोस-बारी ऊँटिनीं पै चढ़िकें जाऔ और ब्वाइ पकरि लाऔ। मैं अब तक जा अस्सी कोसबारी पै चढिकें अपने घर कूँ जाँति ऊँ।" ठग नें कही —"अच्छी बात ऐ।"

ठगु ब्वाइ ढूँढिबे चल्यौ। ब्वाकी बेटी अस्सी कोस-बारी ऊँटिनी पै बैठी और राजकुँमार ऊ बैठारयौ। अब राजा कौ बेटा ऊँटिनी पै चढिकें अपने सैहैर कूँ चल्यौ। रस्ता में ब्वानें अपने मन में सोची—"जो जि अपने बाप की ई नाँड भई तौ मेरी कहा होगी।" सोई ब्वानें तरवारि से ब्वाऊ की नारि उडाइ दई।

अब बु अपने घर आइ गयौ और राज-पाटु करिबे लग्यौ।[1]

८

चोर घरी में जनम

एकु साहूकार बडौ मालदार ओ। परि ब्वाकें कोई सतान नाँईं। भगमाँनु की ऐसी करनी भई कै बुढापे में विनुकें एकु लरिका पैदा भयौ। साहूकार नें बडी खुसी मनाई। खूब ढ्टौनु[2] कियौ। माया गोबिंद की ऐसी भई कै ज्या दिन ते लरिका पैदा भयौ ब्वा दिन ते पईसा में घटोतरा होन लगी और धीरें-धीरें जब बु लरिका स्यानौ[3] भयौ तौ अनेक बुरी आदति ब्वामें परैंन लगी। पढिबे ते ज्यौं[4] चुरौंमन लग्यौ। नसेबाजी, सराफखोरी, जुआखेलिबौ बौहौत-सी बुरी टैब ब्वा में परि गईं। धीरें-धीरें घर कौ पईसा जब बरबादु है गयौ, तौ चोरी करैंन लग्यौ।

ब्वानें कहा काँमु करयौ कै एकु लुहार कें जाइकें लोहें की एकु मेख बनवाई और एकु हतौरा लयौ। राजा के मैंहलैंन में चोरी करिबे जाइ। भीत में मेख गाढि दे और चढि जाइ। ऐसेंई ऊपर चढि गयौ। और ऊपर चढिकें मोरी में लेजु[5] बाँधिकें भीतर मैंहलैंन में उतरि गयौ। और राजा की छोरी की चीज-वस्त[6] गैहनें-गाँठे ऐ लै आयौ। भौंतायौ[7] भयौ तौ मैंहलैंन में हल्ला मच्यौ कै राजा की बेटी कौ जेवर चोरी चल्यौ गयौ।

राजा नें सुनी। राजा नें सुनिकें पैंहरेदारेंनु ते कही। पैंहरेदार बोले—'महाराज, तारौ[8] टूटयौ नाँ, औहैंडौ[9] लग्यौ नाँ, अब और बात कौ कहा इतजाम करें।" राजा नें कहा काँमु करयौ अपने पैंहरेदार और सिपाही सबु बुलाए और बुलाइकें हुकमु दीयौ कै चोर कूँ को पकरैंगौ। दरोगा जी बोले—"कै, आजु पहरौ मैं दुगो और मैं ई चोरु ऐ पकरुँगो।"

इतमें साहूकार के लरिका की एक सिपाही ते यारी ई। सिपाई ब्वाके ढिंग गयौ और ब्वाते सबु किस्सा कहि दियौ कि—"आजु तोइ पकरिबे कौ बीरा दरोगा जी नें खायौ ऐ।" बु बोल्यौ—"देखीं जागी[10]।" दरोगा नें कहा काँमु करयौ कै चौराहे के खरजा पै रुपईया बखेर दए। और हतकडी-बेडी लैकें पैंहरौ दैंन लग्यौ।

[1] स० क०—चंद्रभान, सोहवन। [2]. ढ्टौन-नाम-करण संस्कार का भोज। [3]. बड़ा। [4]. जी। [5]. रस्सी। [6]. वस्तु। [7] प्रात.काल। [8]. ताला। [9]. ओंडा—दीवाल को खोदकर जाने लायक मार्ग बनाना। [10]. जाइगी।

जब आधी रात कौ समैया भयौ तौ चोर नें कहा काँमु करयौ कै जैंनानो भेप बनायौ और खूब बढ़िया लैहँगा पैहरयौ, और खूब बढ़िया फरिया ओढ़ी और सोलह ऊँ सिंगार बनायौ। और पाँमन में गुर की लपटी लपेटी और हात में चौमुख दिवला जोरि कें ब्वा दरोगा कें जौरें चलि दीयो। जब ब्वा दरोगा के जौरे पौंह्च्यौ तौ दरोगा बोल्यौ—"कोन, आधी राति पै कहाँ जाइ?" बु बोल्यौ—"श्री महाराज, आज हँम श्री दुरगाजी कौ बरतु रही, सो जोती-बाती करिकें पथवारी ऐं पूजँन करिबे जाइ रही ऊँ।" इतनी बात सुनिकें दरोगाजी नें ब्वाकूं छोडि दीयौ। परें ते जब बापिस हूकें आई तौ दूसरी सड़क की गैल आइकें सब रुपईया पाँमन में चुपचाइ लए और फिरि दरोगा के ढिग आयी और दरोगा जी ते घूँघट की ओट करकें धीरें-धीरें बोली—"श्री महाराज, तिहारे हात में जि कहा ऐ?" दरोगा जी बोले—"जि हात-पाँमन की हतकडी-बेडी ऐं।" सो बु दरोगा जी पै ते लैकें अपनें हात-पाँमन में पैहरँन लगी और कहँन लगी—"श्री महाराज, कैसें पैंहरत ऐं?" दरोगा जी बोले—"नेकबक्त, ऐसें नाँइ पैहरें। देखि, जि हातँनमें पैह-राई जाति ऐं और जि पाँमन में पैहराई जाँति ऐं और ऐसें तारौ लगायौ जाँत्वै।" दरोगा जी या सबु काँम कूं अपनेंई हात-पाँमन में करँन लगे और तारौ लगाइ कें बोले—"लेउ, तुम खोलि देउ।" ए, सब ऐसें पैंहरी जाँति ऐं।"

लै तारी कूं बु लबी परी। दरोगा हतकडी-बेड़ी में बँधे पड़े रहे। सवेरे भएँ खबरि लगी कै दरोगाजी हतकडी-बेड़ी में बँधे परे ऐं और कहँन लगे कै धोकौ है गयौ।

दूसरे दिन दीमाँनु साब नें बीरा खायौ। कै आजु हँम पकरिंगे[1]। सिपाई नें ब्वाते जाइकें कही—"कै, आजु दीमाँनु साब नें पकरिबे कौ बीरा खायौ ऐ!" बु बोल्यौ—"देखी जागी।"

चोर नें कहा काँमु करयौ कै फटे-पुराँने लत्ता बाँधि कें और धोबिनि कौ भेप बनाइकें ताल पै लत्ता जाइ धोए। आधी-सो राति पै दीमाँनु साबु आहट सुनिकें ताल पै पहुँचे और धोबिनि ते बोले—"तू इतनें खँन क्यों लत्ता धोइ रही ऐ।" धोबिनि बोली—"महराज, फसल कटिबे कौ बखतु ऐ। दिन में नाज-पाँनी की आस में डोलें, याते महाराज, याई खँन सोफतौ परत्वै।" दीमाँनु बोल्यौ—"इतै[2] कहूँ तेंनें[3] कोई आदिमी देख्यौ। धोबिनि बोली—"महाराज, कहा बताऊँ मेरी एक धोवती यै पटवारी की धोवती धोइबे लाई सो लै गयौ।" दीमाँनु बोल्यौ—"कहाँ गयौ?" बु बोली—"महाराज, अब्हाल[4] ई जाई गली में घुसि गयौ ऐ। परि साहबु[5], तिहारे या भेप और घोडा की टापँन के आहटें सुनिकें तौ भागि जाइगौ[6]। एकु काँम करौ, कै ज्या भेप ऐ तौ उतारि देउ और तुँम मेरे बाँने ऐ पहरि कें लत्ता धोओ। ज्याई मिलि जाउगो।" दीमाँनु की समझ में आइ गई। अपनो भेपु तौ उतारि दीयौ और ब्याके लत्ता पहरिकें लत्ता-धोमँन लग्यौ।

बु चोर लै ब्वाके लत्तान्नें[7] लै चढि घोडा पै भगि गयौ। धोताई खबरि मिली कै दीमाँन साबु पै खूबु लत्ता धुवाएँ ऐं। सबेरे भएँ कोतवाल साबु नें बीरा खायो। कै आजु हम पकरिंगे। सिपाई नें आइ कें कही—"कै आजु कोतवाल साब नें पकरिबे कौ बीरा खायौ ऐ।" चोर बोल्यौ—"देखी जागी।[8]"

कोतवाल साब नें कहा काँमु करयौ कै एक ऊँट पै खूबु धँन-माल लादि कें छोडयौ और कही कै देखें याइ को पकरै। घूँमतु-घूँमतु जब ऊँटु आयौ तौ झट ब्वानें घर में घुसाइ[9] लियौ और धँनु-माल लैकें फूँ से घर में ऊँट काटि कें दाबि दियौ।

अब कोतवाल नें ऊँटु ढुंडवायौ। म्वाँ कहूँ होइ तौ ऊँटु पावै। बडी-सी भारी ढूँढ-खोज करौ, परि पतो न चलें। राजानें एक दूती बुलाई और ब्वाते कही—"कै, तू ऊँट कौ पतौ लगाइ दै,

1. पकरिंगे। 2. इधर। 3. तैंनें। 4. अभाल। 5. साब। 6. जाइगो। 7. कपड़े। मसाल ऐं यह ब्रज-बोली में चल रही नवीन संश्लिष्टता की प्रवृत्ति का द्योतक है। यथार्थ में इसका उच्चारण साधारण 'नें' से भिन्न है, यह ऐंकार 'उदात्त स्वर' से बोला जायगा। 8. जायगी। 9. घुसाय।

जो माँगै सो दुंगो।" दूती चली, श्रौर ठौर-ठौर वईयरँन में वैठि-वैठि कें कसोडा[१] लगामति डोलै। एक ठौर व्वानें सुनी—"कै वैहनाँ, व्याह तौ उर ई नाँइ लगैं, परि देखियौ काऊ दिनाँ श्रजामकई[२] जाँन जाइगी।" इतनी वात सुनिकें दूती म्वाँई वैठि गई श्रौर वोली—वैहनाँ, मेरी श्राँखिन्नें दो महीना है गए। धूँश्रा मारते-मारते। वौहौतेरौ ऐलाजु करवाइ लयौ परि कोई फाइदा ई नाँइ[३] परै।" इतेकई[४] में म्वाँ चोट्टा को माँ वोली—"कै वैहिन[५] कोई दवाई करि।" वु वोली—"दवाई कहा करूँ। वैद ऐसी श्रेंनखटोटी दवाई वतामतैं जो कहूँ न मिलि सकै।" वु बोली—"कहा दवाई वताई ऐ।" दूती वोली "ऊँट कौ खूनु वतायौ ऐ। काजर की तरैं श्राँजिलै।" वु चोर की माँ वोली—"तू को ऐ।" दूती बोली—"वैहिन मै गैल चलती ऊँ।" चोर की मा वोली—"काऊ ते किस्सा मति करियौ। कल्लई मेरे छोरानें एकु ऊँट काटचौ ऐ। चलि मैं दऊँ।" दूती वोली—"वीर, तेरौ राँमु भलो करै। तैंनें मै वचाइ लई।" व्वानें एक खीपरा भरिकें खूनु दे दीयौ। दूती नें कहा काँमु करचौ, लगायौ सो लगायौ व्वाकी के ते व्वाके दरवज्जे पै साँतिए काढि श्राई। इतेकई में व्वाकौ छोरा श्रायौ। व्वानें वु साँतियौ कढचौ देख्यौ। व्वानें कहा काँमु करचौ कै लै खीपरा में खून गली-गली में घर-घर पै साँतिए काढि दए[६]। वाँदी कोतवाल कूँ लै कें श्राई। कै महाराज, मै व्वाके दरवज्जे पै साँतिए कौ निसाँन वना श्राई ऊँ। श्रब कोतवाल सावु श्रौर दूती दोऊ देखतु डोलें। म्वाँ[७] गली-गल. में घर-घर पै निसाँन वनि रए। दूती चकराइ गई। हारि कें लौटि श्राई।

श्रव राजा सावु नें फिरि वीरा डारचौ। वीरा काऊ नें न उठायौ तौ सिपट्टर[८] साव नें वीरा खायौ श्रौर कही कै श्राज हूँम पकरिगे। सिपट्टर ने हुकँम दीयौ कै हूँम चोट्टा को जव तारीफ जाँनें जव हूँमरे हात में हात पकराइ दे। राति के समैया पै चारचौं श्रोर रोसनी कराइ दई श्रौर एक कोनें पै डेरा ताँनि कें सिपट्टर साव नें श्रपनी चोकी लगाई लई श्रौर ठौर-ठौर सिपाही पैहरे पै करि दीए। चोर के यार न खवरि दई—"कै, श्राज सिपट्टर साव नें वीडा खायौ ऐ। श्रौर जि सरारति[९] ठहराई ऐ कै जव जाँनें तव हात में हात पकराइ दे।" वु वोल्यौ—'देखी जागी।'

श्राधी-सी राति के श्ररसा में वु चल्यौ। एक हात में तरवार लई श्रौर एकु मरे-से महा गरीव वनियाँ की दूकान पै श्रायौ। व्वाते वोल्यौ—"कै वनियाँ के।" वनियाँ डरपतु-काँपतु वेगि-सीनाँ[१०] वोल्यौ—"हाँ जी।" "तेरें वूरौ हतु ऐ।" वनियाँ वोल्यौ—"हतु ऐ जी।" वु वोल्यौ—"दै तौ एक रुपईया कौ।" वनियाँ विचारौ वूरौ तौलिकें लायौ श्रौर व्वाऊ कें श्रागें तौल्यौ। व्वानें कहा काँमु करचौ कै तरवारि ते व्वाकी कुहनी पै ते वाँह काटि दई। लै वाँह कूँ चलि दीयौ श्रौर सिपट्टर के डेराँन की श्रोर चल्यो, एकु श्रोर ते डेराँन में ईंट फेंकी।

ईंट के लगत ई सिपाई व्वा श्रोर भगे। इतमें सिपट्टर सावु श्रकेले रहि गए। वु झट्ट तवू में घुसि गयौ श्रौर सिपट्टर साव ते वोल्यौ—"लेउ मेरी वाँह पकरौ, मैं चोट्टाऊँ।" श्रौर व्वा वनियाँ-वारी वाँह लवी करिकें पकराइ दई श्रौर श्रापु भाग गयौ।

इतनेई[११] में सिपट्टर साव नें हल्ला मचायौ कै चलो श्राश्रो, मै नें चोट्टा की वाँह कतर लई ऐ। श्रव वु वोल्यौ कै सँमेरे[१२] एकु-एकु श्रादिमी की जाँच करौ। ज्या काऊ की वाँह कटी मिलै तौ सँमझौ कै वुई चोट्टा ऐ।

जव घोतायौ भयौ तौ एकु-एकु श्रादमी देख्यौ गयौ। वु वनियाँ देख्यौ तौ व्वाकी वाँह कटी पाई। वे वोले—"तेरी वाँह कहाँ गई।" वु वोल्यौ—"महाराज, राति एकु वूरौ-लिवैया श्रायौ, सो वूरौ-

१. टोह-खोज। २. श्रचानक ही। ३. नाँइ। ४. इतने ही। ५. वैहिन-भैन। ६ बनाइ। ७. मुश्राँ-मुँहाँ। ८ इंस्पेक्टर। ९. 'शर्त' का सादृश्य-साम्य से 'सरारति' हो गया है। १०. से। ११. इसे। १२. प्रात.काल।

फूटी तौ कहा लीयी मेरी बाँहूँ काटि लैगी।" राजा बोल्यौ—"बडे अचभे की बात ऐ, चोट्टा हात नाँइ आवै।" राजा बोल्यौ—"आजु हूँम पैहरौ दिग्गे।

चोर के यार ने खबरि दई कै आज राजा तुमें पकरिंगे। वु बोल्यौ—"देखी जाइगी।"

व्वानें कहा काँमु करचौ कै एक बोरी नाजु भरि कें ओर एक दतरा[1] लैकें चमरिया कौ भेसु बनाइकें एक दुकाँन पै दाँनो दरँन लग्यौ। जब राजा पैहरौ दैंतु आयौ तौ व्वाते बोल्यौ—"तू को ऐ। जो इतने बखत चाखी चलाइ रही ऐ?" वु बोली—"महाराज, दिन में तौ किसाँननु कौ खेतु काटिबे जाँनो परत्वै ओर इनकौ दाँने कौ भारी तगादौ हो त्वै। सो श्री महाराज, ज्यातें याई बखत दरिबे आई हूँ।" राजा बोल्यौ—"कोई ओर आदिमी तौ नाँ देख्यौ?" चमरिया बोली—"महाराज, अमेंलई न्याँ हूँकें एकु आदिमी गयौ ऐ। वो तुम कहा करते?" "अरे वु चोरु ऐ, हूँम व्वाइ पकरिंगे।" वु बोली—"महाराज, चोरु ज्या तरह ते तिहारे हात न आवैगौ। हाँ, एक तरें ते हात आइ सकत्वै, कै तुम मेरे बाँनें कूँ पहरि लेउ ओर ज्याई ठौर पै बैठि जाओ। मलें दाँनो मति दरियो। मैं तौ फिरिऊ दरि लुगी। परि आवैगौ ऐसेंई हात। ओरु मैं तिहारे घोड़ा-फोडा ऐ तिहारे मैहैल पै पोहोचाइ आऊँ।"

राजा की समझ में आइ गई ओरु व्वाकौ बाँनो पैहरि कें दाँनो दरँन लग्यौ। सँमेरे की हाँनि में खबरि लगी कै राजा पै राति-भरि दाँनो दरवायौ ऐ। राजा के कपडा ओर घोड़ा कूँ लैकें रमतौ भयौ।

राजा बोल्यौ—"भाई, हूँम हारे ओर चोर जीत्यौ, परि अबु वु हमते मिलि जाइ। हम व्वाकूँ आधौ राजु दिग्गे।" चोट्टा, राजा के ढिंग या बात ऐ सुनि रह्यौ ओ। वु बोल्यौ—"राजा साबु, तिरवाचा भरौ। मैं लाऊँ वाकूँ।" राजा तिरवाचा भरि गयौ। वु बोल्यौ—"भारी चाहें छोडौ मैं ऊँ चोर।" राजा नें पीठ ठोकी ओर आधौ राजु दै दियौ।[2]

६

सुपने कौ बेसु

गाँम ते बाहिर एक बहेलिया की झोपडी ई। बहेलिया कें एकु बेटा ओ। बहेलिया रोजु सिकार खेलिबे कूँ जायौ करै। जब व्वाकौ बेटा कछू समरथ भयौ, व्वानें वुही एक दिनाँ सिकार कूँ भेज्यौ। वु छोरा, लै तीर-कँमान बनखंड में चल्यौ जाइ रह्यौ। एक पेड़ की डार पै व्वाई एक हंस-हंसिनी कौ जोडा दीख्यौ। वा छोरा नें हंसु तौ पकरि लीयौ, हंसिनी उडि गई।

हंस ऐ लैकें बहेलिया कौ छोरा अपने घर कूँ आयौ। व्वाकी माँ ओरु व्वाकौ बापु बडे खुस भए। बहेलिया ने कही अपनी बहू ते—"देखि, आजु ई तौ हमारौ लाला सिकार खेलिबे कूँ गयौ ओरु आजुई ऐसौ सुंदर पछी पकरि लायौ। आजु तौ अपने बेटा कौ सिकार ऐ घर ई राँधियौ, बेचिबे नाएँ जांत।" बहू नें कही—"बडी अच्छी बात ऐ।" पींजरा में बंद करिकें हंसु छप्पर ते टाँगि दीयौ। पींजरा में टँगें-ई-टँगे व्वा हंस ने बहेलिया की भौटिया[3] ते कही—"अरी तू जो मेरे प्राँन बचाइदे तौ मैं तोइ नौ रुप्या दिवाइ दऊँ।"

बहेलिया ते आइकें व्वाकी बहू नें सबरी बात कही। बहेलिया नें ज्वाबु दीयौ—"हमारी कहा घटतौ ऐ सो जाइ मारे। हूँमें तो नौ रुप्या मिलि जाँगे तौ ओर काँमु चलैगौ।'

हंस नें कही—"अब मोइ तू बजार कूँ लै चलि। ब्याइँ कोई न कोई मो रुप्या में मोल लै जाइगौ।"

¹ दतरा—दाँन दरने कौ घरकौ। ². कन्हैयालाल अग्रवाल ... से। ³. ... बहू-बहू-(...)—बहुटिया-बहूटिया—बहू-भ-ऊ—भौटिया। इसी 'टिया' प्रत्यय का ओर भी ऐसा ही उदाहरण—'छोहिया'।

बहेलिया ब्याके पींजरा ऐ लैकें सबरे बजार में डोल्यौ। सबु लोग ज्यो तौ कहें कि भाई, जि तौ कोई बडौ सुंदर पच्छी ऐ। परि सौ रुप्या काऊ नें न लगाए। ब्वाई सैहैर कौ राजा ब्वाई बखत की ह्वोनि पै आइ निकरचौ। राजा नें सोचौ—"ला लै चलूं। सुंदर पच्छी ऐ। मैहलैंन में टॅंग्यौ रहैगौ।" ब्वानें झट्ट ब्वाइ सौ रुप्या दै दए और बु हंस मोल लै लयौ।

(२)

राजा के यॉं हंस ऐ रहत-रहायत बहुत दिनाँ है गए।

एक दिनाँ राजा नें राति कूं सुपनो देख्यौ—"सात समुंदर-पार एक बहुत कछू सुंदर एक परीनु कौ देसु ऐ। म्वॉं के राजा की लडिकी ऐसी सुंदर जैसी चंदा की-सी किरनि। रोजु सवेरें ई कॅंमलन के फूलॅंन ते बु तौली जायौ करै। गोरौ-गोरो ब्वाकौ बदनु और ऑंखि ऐसी जैसें ऑंम की-सी फॉंक। बु फूलॅंन की सेज पै सोयौ करै।

राजा जब दूसरे दिनाँ जग्यौ। कचैहरी झझझडाई। सबु सूर, सामंत, बजीरजादे इकिट्ठे भए। भरी सभा में पॉंन कौ बीडा डारि दयो और राजा नें हुकमु चढायौ—"जा बीडा ऐ बुही चबाबै, जो जा परीजादी ऐ दिखावै।" छै दिनाँ बीडा ऐ परे-परे है गए, परि कोई ऐसी माई कौ लालु न निकस्यौ जो ब्वा बीडा ऐ चाबै। इतमें तौ बीडा कुम्हिलायौ और उतमें राजा के प्रॉंन सूखिबे लगे। राजा नें कही—"अब मैं द्वै-एक दिनाँ में अपने प्रॉंन छोडि दूंगो।"

हंसु टॅंग्यौ-टॅंग्यौ जि सबरी बात देखि रह्यौ ओ। ब्वानें अपने मन में सोची—"भई, हमनें राजा के काजें कछू ना करयौ।" ब्वानें राजा अपने पास बुलायौ और ब्वाते कही—"राजा, ऐसें प्रॉंन छोडिवो ठीक नॉंएँ। तू मेरी पीठि पै असवार हैजा और मैं और तू दोऊ ज्याँ ते उडि चलें। देखें बु सैहैर कहाँ एँ और कहाँ बु परीजादी ऐ।" राजा नें हंस की मती मानि लीयी और चलिबे की तैयारी करि लई। एक दिनाँ सुभ-घडी में हंसु राजा ऐ लैकें उडि दियौ।

(३)

कूंच, दर कूंच, मंजिल, दर मंजिल, हंसु उडचौई चल्यौ जाइ। सातो सॅंमुदर चलत-चलॉंमत पार है गए। सात सॅंमुदर-पार जाइकें राजा नें एकु सैहैर दीस्यौ। कॅंगूरनुदार, छज्जेंनुदार, ब्वा सैहैर के घर बनि रहे। चारयौ ओर सरोबरि बनि रही। मोर कोहोकि रहे। चिरैंयाँ कलोल करि रही। राजा नें हंस ते कही—"भाई, होइ न होइ, मेरे सुपने कौ देसु तौ जिही मालिम परतु ऐं, ज्याँई उतरि परि।" हंस उतरचौ। राजा और हंसु दोऊ एक भटिआरिन की सराइ में ठैरि गए।

हंस नें राजा ते कही—"राजा, तुमतो याँई रहौ और मैं जाँतूं और ब्वा परीजादी कौ पतौ लगॉंगो।" जि बात सुनिकें हंसु तौ उडि गयौ और राजा म्वॉंई रहि गयौ।

हंस नें जाइकें कहा देखौ कि चित्तरसारी पै बुही परीजादी अपने केस सुखाइ रही। जैसें कारी नागिन लहराइ रही होइ। हंस ब्वाइ देखिकें झट्ट लौटि आयौ और राजा ते आइकें सबु बात कहि सुनाई।

राति के बारह बजे हंस पै चढिकें राजा परीजादी की चित्तरसारी पै पोहॅंच्यौ। म्वाँ जाइकें देखें तौ परीजादी फूलॅंन की सेज पै अचेत सोइ रही। राजा नें ब्वाकी तौ अॅंगूठी उतारि लई और अपनी अॅंगूठी पैंहराइ दई। झट्ट म्वॉंते दोऊ लौटि आए।

सवेरें परीजादी फूलॅंन ते तौली गई। परि काऊ तरें बु पूरी ई न बैठी। सबु लोग बड़े मसपज में कि "भाई आजु कहा बात भई, जौ जु रॉंनी नाएँ तुलति।" परीजादी की नजरि ब्वा अॅंगूठा पै परी। कोई सबनें समझि लई कि "भाई, कोई तौगा लगि गयौ।" परीन के राजा नें हुकुम चढायौ—"आजु तें मैहल के चारयौ ओर मसीनेंन कौ पैंहरौ लगै।" पैंहरौ लगाइ दीयौ।

दूसरे दिनाँ राति कूं हंस पै चढि कें राजा फिरि परीजादी की चित्तरसारी पै पोहॅंच्यौ। ईस्वर की करनी, होंनी बलवानु, पैंहरेदार सोइ गए। राजा नें अपनी जूती ब्वा के पॉंइन में पैंहराइ

दई और व्याकी जूती ऐ उतारि कें लै आयौ। दूसरे दिनाँ सबु जगे और जि वखुआ देख्यौ। अब बु लोग बड़े असमंज में। कछू समझि में ई न आवै।

(४)

कछू सोचि-समझि कें राजा नें अपना बेटी की सेज के जौरे लीले रंग कौ एकु हौजु भरवायौ। कमजोर लकड़ियन ते बु हौजु पटवायौ। पैंहरीऊ औरु कड़ौ करवाइ दीयौ।

दूसरे दिनाँ राजा हंस की पीठि पै सवार ह्वै कें फिरि व्याई चित्तरसारी पै पौंहचौ। कै तौ व्या हौज पै पाँव परयौ, सोई व्याकी लकड़ियाँ गईं टूटि और गम राजा व्या हौद में। सबरे कपड़ा व्याके लीले रंग में तरबतर ह्वै गए। जैसें-तैसें करिकें बु व्या हौद के ऊपर आयौ और व्या हंस पै चढ़िकें फिरि सराइ में लौटि आए।

लौटि कें सबरें लत्ता धोबी कें डारि दए।

राजा के रेसिमी लत्ता, लपट छूटि रही। धोबी के मन में आई कि ला एक दिनाँ इन लत्तान नें पैंहरि कें सबरे सैहैर में डोलि लऊँ। धोबी नें न्हाइ-धोइ कें बु लत्ता पहरे और सैहैर में घूँमिबे निकरयौ। राजा नें अपने सिपाइन ते कहि ई राखी कि जो लीले लत्ता पैहरे दीखै व्याई ऐ पकरि लाऔ। राजा के सिपाहन नें गम धोबी कूँ पकरि लीयौ। धोबी के ऐ राजा के जौरे बाँधि कें लै आए। धोबी नें सबरौ कच्चौ हालु बताइ दीयौ।

राजा नें सराइ में अपने हरकारे भेजे और बु राजा पकरवाइ मँगायौ और व्या देस के राजा नें हुकमु दीयौ—"जाइ बिनाँ कछू पूछें-गाछें आजुई फाँसी पै चढाइ देउ।"

(५)

फाँसी दैबे की तैयारी भई। हंस व्याँ जौरें ई एक पेड़ पै बैठ्यौ दिरगँन ते आँसू भरि रह्यौ।

फाँसी ते पहलें राजा ते कही गई—"तोइ एक घंटा भरि में जो कछू करनो होइ सो करि लै। एक घटा की तोइ मौलति ऐ।" राजा नें ज्वाबु दीयौ—"कि, भाइयौ, बचपँन ते मोइ पेड़ पै चढ़िबे कौ चावु रह्यौ ऐ। मोइ इजाजति देउ तौ मैं जा पेड़ पै चढ़ि लूं।" राजा नें पेड़ पै चढ़िबे कौ हुकँमु दै दीयौ।

राजा पेड़ पै चढ़यौ। व्याँ हंसु बैठ्यौ ई ओ। झट्ट व्याकी पीठि पै राजा बैठि गयौ और हंसु व्याऐ बैठारि कें उड़ि चल्यौ। राजा के सिपाई देखत के देखत ई रहि गए।

हंस राजा ऐ लैकें सैहैरपनाँ ते बाहिर लायौ और राजा ते वचन उचारे—"राजा, अब अपने नगर कूँ लौटि चलौ।" राजा नें कही—"भाई, ऐसौ नाँएँ ह्वै सकतु। नेहार कूँ तौ जा रानी ऐ लैकें ई चलिंगे। चलि जाई सैहैर कूँ फिरि लौटि चलि।"

हंस और राजा दोऊ व्या सैहैर में लौटि आए और एक दूसरी सराइ में ठैरि गए। हंस नें व्या ते कही—"राजा मेरी हंसिनी मोते बलाइ दिनाँ कि बिछुड़ी ऐ। हमारी माँनसरोवरि ऊ ज्याँ जौरें ई एँ। कहैं तौ व्याऊ ऐ लै आऊँ।" राजा ने कही—"लै आ भैया।"

उतमें व्या परीजादी नें सोची—"जि कोई मेरी बड़ौ सच्चौ प्रेमी ऐ। मेरे पीछें अपनी जाँनि की ऊ सका नाइ करी। ब्याहु करैंगी तौ मैं जाई ते करैंगी।"

उनमें हंस ऐ अपनी हंसिनी मिलि गई। बु व्याइ लैकें राजा के जौरे लौटि आयौ। अब बु राजा ते पूछि कें अकेलोई परीजादी के जौरे गयौ और व्याते बातचीत करी। परीजादी ऊ जुदाई की आगि में जरि रही। व्यानें कही—"जैसें बनें जैसें तुम मोइ ज्याँते लै चलौ।" हंसु व्याते राति के बारह बजे कौ नाम लै आयौ और फिरि राजा के जौरे वापिस चल्यौ गयौ।

राति के बारह बजे पै हंसु, हंसिनी और राजा व्याकी चित्तरसारी पै आए। हंसिनी नें परीजादी बैठारी हंस नें राजा बैठारयौ और तीनों आँनी चलि दीए। चलत-चलत एकु पीपर कौ

रानी बडी खुश हुई और बोली कि मैंने तो केवल देखने के हेतु कि आप आवेंगे कि नही घटा बजाया था, सच्ची बातपर तो अबके घटा बजाऊँगी। राजा बडा नाराज हुआ और यह कहता हुआ चला गया कि चाहे वह अब सारा दिन घटा बजाए वह नही आवेगा।

जब बच्चा पैदा होने के कुछ ही दिन अवशेष थे रानी हिरणावती ने अपनी और रानियो से पूछा कि बच्चा कैसे पैदा होता है। वे तो सब इससे जली थी उन्होने उपाय सुनाया कि आँखो पर पट्टी बाँध लो और कोठी में मुँह दे लो। रानी बडी सीधी थी, उसने वही किया जो कहा था। जब बच्चा हुआ तो रानी ने घटा बजाया, किंतु राजा ने समझा कि घटा झूठमूठ बजाया जा रहा है और नही आया। रानी के एक लडका हुआ और एक लडकी हुई, पटरानी ने सोचा कि राजा अब इसे पटरानी बना देगा क्योकि इसे तो बालक है और हमारें कुछ नही, तो उसने भगिन बुलवाई और उसे एक अशर्फियो से भरी थैली देकर बोली कि तू इन बच्चो को कही फेंक दे और ककड-पत्थर इनकी जगह लाकर रख दे। भगिन ने वही किया। शाम को राजा आया और रानी से पूछा कि क्या हुआ तो पटरानी ऊपर से आकर बोली हुआ क्या यह ककड-पत्थर हुए है। राजा ने हिरणावती रानी को उसी वक्त काग-बिडारी कर दिया। हिरणावती को बडा दुख हुआ कि कहाँ तो राजा उसे इतना प्यार करते थे कहाँ अब महल के कौए उडवाते हैं। यह काम उसे करते-करते दो ही माह हुए होगे कि उसकी सुदरता और भोलापन कुरूपता तथा कडेपन में बदल गई, रानी विक्षिप्त-सी दशा में काग-बिडारने का काम करती रही।

इधर भगिन उन भाई-बहिनो को एक कुम्हार के मिट्टी खोदने के गढे में फेंक गई थी। दूसरे दिन जब कुम्हार मिट्टी खोदने आया तो उसने उनको पडा देखा कुम्हार के सतान न थी इसलिए उसने इन्हें दैवी वरदान समझ कर और अपने घर ले आया जब वे कुछ बडे हो गए तो कुम्हार ने लडके को एक मिट्टी का घोडा तथा लडकी को मिट्टी की एक चाकी तथा तौला बना दिया। सारे दिन वे इन्ही वस्तुओ से खेला करते थे। रानी की एक दासी कुएँ पर पानी भरने आया करती थी। एक दिन उसे ये लडके-लडकी कुए पर मिले लडका घोडे से कह रहा था चल रे माटी के घोडा पानी पी ले, यह सुन कर दासी बोली—"अरे कुँम्हार के, क्यो इतरावै ऐ, कही माँटी के घोडा पाँनी नही पिया करते है"। लडका ठुनक कर बोला—अरी बाँदी, क्यो इतरात है, कही रानी ककड-पत्थर नही जना करती।" दासी यह सुन कर सुन्न रह गई, वह समझ गई कि ये वही लडके-लडकी है। उसने सारा हाल पटरानी को सुनाया पटरानी बहुत बडी घबडाई अत में उसने एक तरकीब उन्हें नष्ट करने की सोची। उसने बहाना किया कि मै बडी बीमार हूँ और करिया हिरन के दिल से अच्छी हो सकती हूँ। राजा ने करिया हिरन का दिल मँगा दिया, रानी ने उसमें मीठा मिलाय तथा जादू के मत्र पढकर दो लड्डू बनाये। दो डोरो पर भी उसने मत्र पढा फिर इनको उसने दासी को देकर कहा कि वह इन्हें कुम्हार के लडकी-लडके को खिला कर उनके गले में ये डोरे बाँध दे। यदि वह ऐसा नही करेगी तो उसे जिदा कोल्हू में पिसवा दिया जावेगा। दासी सब सामान लेकर लडके-लडकी के पास पहुँची और दोनो के हाथ में एक-एक लड्डू रखते हुए बोली बडे मीठे लड्डू है इन्हें खा लो और ये गले में गडे बाँध लो। लडके ने लड्डू खा लिया और गडा जैसे ही गले में बाँधा वह काला हिरन बन गया। लडकी ने अपना लड्डू झोले में रख लिया, जब उसका भाई वन को भागने लगा तो वह भी साथ-साथ चली गई। वन में जाकर वह रात को एक पेड पर चढ गई, उसका भाई मुँह में कभी ककडी, कभी और जगली फल-फूल ले आया करता था वो उन्हें खा लेती थी।

एक दिन वही राजा जिसके कि ये बच्चे थे उसी वन में शिकार खेलने आया। सारे दिन उसने शिकार खेला, रात को उसने उसी पेड-तले डेरा डाला जिसपर वह लडकी चढी बैठी थी। ऊपर लडकी बडी दुखी हुई, वह सोचने लगी कि और दिन तो मेरा भाई शाम को फल-फूल दे जाता था, यदि आज आया तो यह राजा मार देगा। वह फूट-फूट कर रोने लगी, परंतु चुपचाप से। उसकी

आँसुओ की बूँदें राजा की छाती पर पडी, वह उठ कर बोला—"पेड पर कौन है ?" आदमियो ने बतलाया—"हुजूर, एक सुदर लडकी पेड पर बैठी रो रही है।" राजा ने नीचे लडकी को उतरवाया और पूछा कि "वह वहाँ क्यो बैठी रोती थी तथा कौन है," कहाँ रहती है, लडकी ने बताया कि "मैं और मेरा भाई थे, एक दिन राजा की दासी हमें मलीदा खिलाने आई, मेरे भाई ने उसे खा लिया और हिरन हो गया, जब वह हिरन हो कर भागा तो मैं भी साथ-साथ चली आई। इस वन में आकर मै इस पेड पर चढ गई और अब रोती यो हूँ कि यदि मेरा भाई मेरे लिए कुछ खाने को लावेगा तो तुम उसे मार लोगे। राजा ने उसे पुचकारा तथा उससे पूछा कि यदि बहुत से हिरन लाकर खड़े कर दिए जाय तो वह अपने भाई को पहचान लेगी। लडकी ने कहा—"हाँ।" तब राजा ने बरधयो को हुक्म दिया कि सब हिरनो को जिंदे ही पकड लो।

सब हिरन पकडने पर राजा ने लडकी को कहा—"पहिचान लो, तुम्हारा भाई कौन है।" लड़की ने एक काले हिरन की ओर इसारा करके कहा कि—"यह मेरा भाई है" और वह उसके गले से लटक गई। ऐसा करने से उसके गले का डोरा टूट गया और वह हिरन से लड़का हो गया। भाई-बहिन खूब मिले। राजा ने लडके से सब हाल पूछा तो उसने बताया कि—"मैं कुए पर घोडे से यह कह रहा था कि चल पानी पी ले, इसपर एक बाँदी ने मुझसे कहा कि कही माटी के घोडा पानी नही पीते है। मैंने उससे कहा कि यदि मिट्टी के घोडे पानी नही पीते तो रानी भी ककड-पत्थर नही पैदा कर सकती। इस पर वह स्त्री घर चली गयी तथा दूसरे दिन उसने हमें एक मालीदा खिलाया जिससे मैं हिरन हो गया। मेरी बहिन ने वह मलीदा अपने तौला में रख छोडा है। और ऐसा कहके उसने अपनी बहिन वाला मलीदा राजा के हाथ पर रख दिया। राजा ने उसे जाँन कर कहा कि यह तो करिया हिरन का दिल है जिसमें मीठा मिलाया है और उसे पुरानी बातें याद आने लगी। उसे अपनी पटरानी का भेद ज्ञात हो गया। राजा जगल से महल में उन्हें ले आया वहाँ उसने कुम्हार को बुला कर पूछा कि उसे ये सब कहाँ मिले थे ? उसने बतलाया कि आज से ११ वर्ष पहिले। ठीक ११ वर्ष पहिले रानी ने दूसरा घटा बजाया था और पटरानी ने ककड-पत्थर रखवा दिये थे। राजा को खूब विश्वास हो गया कि ये उसीके लड़के-लडकी है और दूसरे दिन उसने दरबार में आकर यह हुक्म सुनाया—

ये लडके तथा लडकी मेरे है। तथा मेरी हिरणावती रानी जो आज कल काग-बिडारने का काम कर रही है इसकी सतान है। पटरानी की नीचतापूर्ण चाल से मैंने उसे काग-बिडारनी बना डाला। इसके लिए मैं क्षमा माँगता हूँ और पटरानी के लिए यह आज्ञा देता हूँ कि उसे जिंदी ही जमीन में गाड दिया जाय और प्रत्येक दरबारी उसके सिरपर दो-दो ठोकर लगाए।

रानी को जमीन में जिंदी गाड दिया गया और हरएक नें उसमें ठोकर लगाई। इधर काग-बिडारनी हिरणावती रानी हुई। अब वह पटरानी हुई, राजा-रानी सुख से सैकडो वर्षों तक राज करते रहे। बाद को लडका शाहशाह हुआ।

११

आदमी की उँमरि

परमात्मा नें पैहलें चार चीजु पैदा करी, एक आदमी, एक बरधु, एक कुत्ता और एकु घुग्घू। चारघो की उँमरि चालीस-चालीस वर्ष की धरी। पैहलें बर्ध नें कही इतनी उँमरि चलाइबौ मेरे बस की बात नाँएँ। ईस्वर नें पूँछी कि तू कितनी उँमरि चलाइ सकतु ऐ। बाँनें कही बीस वर्स। आदिमी नें कही कि लाऔ जिन बीस बर्सनु नें मोई ऐ दै देउ। ईस्वर नें बे बीस बर्स आदमीऐं दै दई। अब आदमी की उँमरि साठ वर्स की है गई।

फिरि कुत्ता नें कही—"कि महाराज, चलनी चालीस वर्स मोऊ पै नाँएँ।

चो कि मोइ पेट-भरिबे कूँ दर-दर भटकनो परतु ऐ।" कुत्ता नें बारह वर्स माँगी। आदमी नें बाऊ की २८ वर्स लै लई।

अब घुग्घू नें ऊ कही—कि महाराज, मैं ऊ बीस वर्ष ई राखि सकतूं। आदमी नें वेऊ बीस वर्ष लै लईं। आदमी की उँमरि अब १०८ वर्ष की है गई।

२

चालीस वर्ष तक तौ वुही अवस्था रहँति ऐ, जो आदिम की मिली काई। चालीस वर्ष तें ऊपर वर्ध-वारी उँमरि लगि जाति ऐं, फिरि वु दिन-राति कमांमतु ऐ। तिसनां वढि जाँति ऐ। वैल की नैयां वहिवे लगतु ऐ। जौ साठि ते ऊपर जीवै तो हाथ-पाँम तौ थकि जाँत ऐं, जीभ में वलु आइ जाँतु ऐ और कुत्ता की तरह भुँघियातु ऐ, काऊ ऐ गारी दै, काऊ ऐ ललकारि। जाऊ उँमरि ऐ पार करि जाइ तौ फिर घुग्घू-वारी उँमरि लगि जाँति ऐ। फिर वाकी नौऊ इद्री सिथिल पड जाँति ऐं। वैठ्यौ-वैठ्यौ फिरि वु चाहयौ करतु ऐ। न कछू कहिवे कौ, न सुनिवे कौ।

जिही आदमी की चारि तरें की उँमरि ऐ।

१२

सगुनियाँ कोरी

एकु कोरी राजा ओ, वु सुसरारि कूं चल्यौ। व्यानें अपनी मा ते कही कि—"अमा मेरे काजें सतुआ बाँधि दै।" सतुआ लैकें वु चल्यौ। मा नें वा ते कहि दई कि—"वेटा, जो आदिमी रस्ता में मिलै वाते रांमु-रांमु करियो।" कोरिया चलि दीयौ।

रस्ता में एकु कपासु कौ खेतु मिल्यौ। वाँ में कपासु के टेंट खिलि रहे। वाँनें सतुआ-घोरि और सव पेड़ैन पै छिरकि दीयौ और सवते रांमु-रांमु कर्तु डोलै। सतुआ सवु निमिटि गयौ। फिरि चलि दीयौ चलत-चलत अपनी सुसरारि पौंहँच्यौ। ससुरारि के ज्यौरें एक गधैया चरि रही और ब्वाँई एकु अँधीआ कूआ ओ। गधैया के गोड बाँधिकें वानें अँधीआ कूआ में डारि दई, अव वु आगें चल्यौ। राति है गई, घर के पिछवार जाइके वु ठैरि गयौ। सुसरारि में रोटी पई जा रही। एकु चँदिया और पांच रोटी पईं। कोरिया कौ सवरी वात सुनि रह्यौ। अव वाकी सासु नें वटवारौ करयौ। आधी तू लै, एक तू लै। चँदिया तू लै। खाइ-पी कें सवु सोइ गए। सासु ऐ आधी राति पै मुतासु लगी। कोरिया पनारे-तर परयौ ई ओ। सासु नें पनारे पै ते मूत्यौ और एकु पदरका मारि दीयौ। कोरी राजा ने अपने मन में कही वरस्यौ सो वरस्यौ परि तडक्यौ ऊ खूवु।

सवेरौ भयौ। कोरिया उठि कें अपनी सुसरारि में आइ गयौ। वाकी सासु नें पूछी—"लाला, कव के आए।" वाँनें कही—"हम तौ जव ई आइ गए, जव चँदिया और पाँच रोटीन कौ वाँटु है रह्यौ ओ।" सुसरारि में नाँमवरी फैली कि कोरिया कौ जँमाई वडौ सगुनियाँ ऐ।

अव कुँम्हार के ऐं खवरि परी। वा कौ गधैया खोइ गईं। वु कोरी जँमाई के जौरें आयौ। वा नें आइ कें अपनी गधैया की वात पूंछी। कोरिया नें कही जगल-झाडौ फिरि आवें, रोटी-पाँनी खाइकें वतांगे। सव ते फारिग है के वानें कुँम्हार ते कही—जा तेरी गधैया अँधीआ कूआ में गोड-वधी परी ऐ। कुँम्हार गयौ, वाइ अपनी गधैया पाइ गई, अव वाकी वडी नाँमवरी फैली।

२

ब्वाँई के राजा कौ हारु खोइ गयौ, वानें ऊ कोरिया की वात सुनी। वाँनें कोरिया वुलायौ और वा नें कोरिया ते कही कि—"जौ तू हमारे हार कौ खोजु देगौ तौ तोइ एकु हजार रुप्या दिंगे और जौ न वतावैगौ तौ जान तें मरवाइ दयौ जाइगौ। कोरी राजा नें कही—"सवेरें वतांगे।

कोरिया के ऐ राति-भरि नींद न आई। सवेरौ भयौ। सिपाई टेरिवे आए। वाँनें कही नैं—"गुन्ना-दाँननि करि कें वतांगे।" राजा नें सिपाईन ते कही—"जाऔ, जल्दी लिवाइ लाऔ।" कोरी नें जाइकें राजा पै ते एकु दिनाँ की और मौलति माँगी। राजा नें एकु दिनाँ की मौलति दै दई।

कोरिया घर लौटि कें आयौ। जगत-जगत वाऐ आधी राति है गई। जाँनें हारु चुरायौ ओ वा कौ नाँमु नींदरिया ओ। कोरिया कहै—"आइ जैऔ नींदरिया, तेरी ओर फटैगी मूंदरिया।"

अब नींदरिया भजति आई। थानें कही—"हार तो मोई पै ऐ। परि मोइ जैसें बनें तैसें मरिबे ते बचाइ।" कोरिया नें पूंछी—"हार कहाँ ऐं।" वानें कही—"राजा के आँगन में घिरोंची ऐ, वाके नीचे गढ़ि रह्यौ ऐ।" कोरिया नें कही—"जा तेरी मारि न कटैगी।"

अब कोरिया तन्नाइ कें सोयौ। सबेरें सिपाई बोलिबे आए, वानें खबरि भेजी आँगन ऐं अब हाल। थोरी देर में राजा के दरबार में गयौ। वानें बतायौ हार घिरोंची[1] के नीचें गढ़ि रह्यौ ऐ। राजा नें खुदाई करवाई हार पाइ गयौ। राजा नें हुकमु दीयौ जितनों जि रुप्या माँगै उतनों रुप्या दै देउ।

फिरि वु एकु हाती पै बैठारयौ गयौ। अब वु हाती पै बैठि कें अपने घर कूँ चल्यौ। हाती पै हचका लगतें ई ऐं। कोरिया ऐ अब डर लग्यौ। वु चिल्लायौ—

"चार पाँइ जाके थामक-थैया, एकु पाँइ नँचकैया।
ता पै चढ़ि के सरगु दिखायौ, तऊ न मरयौ मेरी मैया॥
—भैंटी, भैंटी रे मेरे भैया॥"[2]

१३

कोरिया की मैहमानी

एक कोरिया गरमी के दिनँनु में ठाकुर के संग वाकी सुसरारि कूँ गयौ। ठाकुर की सुसरारि में बड़ी-बड़ी खातिरि भई। जात ई भाँग-ठंडाई, छिरकावु करवायौ। बढ़िया पलका बिछवायौ। दरी और दरी के ऊपर पिछौरा और पिछौरा ऐ चकईया दयौ। खूबु खीर-पूरी, बूरो, घ्यौ ते मैहमाँनी करी। तीन दिनाँ तक बड़ी मैहमाँनी करी। फिर गाँम कूँ आए। कोरिया मन में सोच्यौ कै—"मैं ऊँ सुसरारि में जाइ कें ऐसी ई खातरि करवाऊँगो।"

वाकौ जेठमास में तौ छुटकारो न भयौ। जाड़ेन में गयौ। पैहलें तौ वानें छिरकावु करवायौ। फिरि पलिका बिछवायौ और दरी बिछाई और दरी के ऊपर पिछौरा बिछायौ। पिछौराई ओढ़िबे कूँ लयौ और खूबु खीरि-पूरी ते मैहमाँनी करवाई। राति कूँ जब सोयौ तौ घरवारेन नें कही कै उढ़ैया और लामें जी। वा नें नाहीं करि दई, बिल्कुलि ठाकुर की नकल करी।

जब आधी राति पै जाड़ो लग्यौ तौ गजी घुसबे के गड्ढा में जाइ दुबक्यौ। राति में वाकी सासु पेसाबु करिबे आई। तौ गड्ढाई में पेसाबु करि गई और पावि ऊ गई।

जब भोंनायौ भयौ तौ वाके घर के बोले—"मैहमाँन पलिका तौ खाली पर्यौ रह्यौ ऐ, तुम कहाँ सोए।" वु बोल्यौ—"अजी, हम वाँ सो रहे जहाँ बरस्यौ तौ बरस्यौ, परि गरज्यौ बड़ो।" वाकी सासु सुनिकें मैंक ह्वै गई।[3]

१४

मिश्र और मिश्रानी

एकु मिसर और मिसरानी ए। सो मिसरानी मिसर ते बोली—"कै हे महाराज, तुम मूंड़ गत बोर्नां।" जब मिसर मिसरानी ते बोल्यौ—"मोकूँ रोटी कर दै, मैं मूड़ेंनें छोड़ि आऊँ। सो मिसरानी नें वाके काजें रोटी करदई। सो मिसर रोटीनें लैकें चलि दीयौ।

सो गाँव ते बाहर बगीचा में आइ सोयौ। रोटी खाइकें, पी ठंडो जल हुरैरी बिरमाई। साँझ के बखत बगीचा में ते घर कूँ आयौ। जब मिसरानी बोली—"कै महाराज, मूड़ेंनें छोड़ि आए।" मिसर बोले—"कै तैंनें, रोटी थोरी कर दई सो वे बौहौत दूर नाँइ पौहौंची, सो मैं वापस आइ गयौ।" मिसरानी बोली मिसर ते—"कै तुम्हारी मूँड़ घाले बिनाँ नाँइ निठैं।" सो मिसरानी नें बिचार कियौ कि इनके लियें एक कुंजा सतुआ घोरि कें दऊँ, वानें सतुआ घोरि कें कुंजा में भरि दियौ।

सो सबेरें मिसरानी बोली—"कै नेंक महाराज, छोड़ आयौ नव।" मिसर नें कुंजा कूँ दलो

[1]. पानी रखने की पड़हरी। [2]. सं० क०—चंद्रभान सोहबत। [3]. सं० क०—पातीराम मच्छरपुर के संग्रह से।

सो कुंजा कौ म्हो एक उँगरिया की बराबर चौरौ। सो मिसरु का ह्रौ वा सवुआ ऐ उँगरिया ते खाइ, सो मिसरु कौ पेटु ई न भरेवे में आवै। सो मिसरु नें रिसाइ कें कुंजा पेड ते दै मारौ। सो वाँमें, ते कछु खाइ-पी कें साँम कूं अपने घर कूं चलौ। सो मिसराँनी के पास आयौ।

जब मिसराँनी बोली—"महाराज, भूठँन कूं छोडि आए।" तब मिसरु बोल्यौ कै—"मैं भूठँन कूं छोडि आयौ, और मोइ तेरौ भैया मिल्यौ।" जब मिसराँनी बोली—"कै मेरे भैया की राजी-खुसी बताओ।" तब मिसरु बोल्यौ—"कै राजी-खुसी जब बताऊँगो पैलें मोकूं न्हाइवे कूं पाँनी तातौ कर, फिरु रोटी करियौ। जब खाकें राजी-खुसी बताऊँगो।" सो मिसराँनी नें न्हावे कूं पाँनी तातौ कर दियौ और रसोई करि दई। सो मिस्र जी रोटी जंवे कूं बुलाऐ। जब मिस्र आऐ तब मिस्राँनी बोली—"अब मेरे पीहर की राजी-खुसी बताइ देऔ।" मिस्र बोलौ—"कै मैं रसोई जेंकें तैयार हूं जाऊँ और तूऊ रसोई जेलें, चारपाई बिछाई कें मैं लेट जाऊँ, तब तू मेरे काजें हुक्का भरि कें लईयो, तू मेरे पास पाँव दाबती रहियौ मैं हुक्का पीतौ रहूँगो, तब कहूँगो।"

जब वानें रोटी जें लई और चारपाई बिछा दई और हुक्का भर दीयौ। वु लोट गयौ। मिस्राँनी पाँव दाबवे लगि गई। जब मिस्राँनी बोली—"अब मेरे पीहर की बात बताइ देउ।" मिस्रु बोलौ—"मैं हुक्का पी लऊँ तू पाँव दाबि कें निदरक ह्वै लै।" मिस्राँनी बोली—"अब तूं अपने हुक्काऊ पी लियौ, अब बताऔ।"

अब वु बोलौ—"कै मैं बीयावाँन जगल के बीच में पहुँचौ सो मैंने झूठँन की गठरिया बाँध-बाँध कें चारौ दिसाँन कूं फेंकी। फेंकते-फेंकते मैं थकि गयौ, सो मेरी नजर एक रीछ परयौ, सो रीछ मेरे माऊँ आइ रह्यौ। सो मैं रीछ की देंहसति के मारे भाज्यौ। सो मेरे पीछें रीछऊ भज्यौ। सोमैं भजिकें एक बेर के पेड पै चढि गयौ। सो रीछ पेड के नीचें बैठि गयौ। सो दैहसत के मारें मेरौ मूत निकरि गयौ। जो वु रीछ पेसाव-पकरि कें चढिबे, लग्यौ सो वू मोते चार-छै आँगुर दूर रह्यौ। सो मैंने पेसाव बंद कर लीयौ और रीछ गिरौ और भाग निकरि गयौ। मैं पेड़ पै ते उतरि कें चल्यौ ई आइ रह्यौ ऊँ।" मिसराँनी बोली—"कै निपूते, इन टल्लननें रैहँन दै, और नई-नई मति पथरावै।[1]

१५
चार यार

चारि यार ए, एकु बैहरौ और एकु आँधरौ एकु लँगडौ और एकु गरीब। चारयौ कहूँ कूं मनसुआ करिकें जाइ रहे। तौ कछू दूरि चलिकें रस्ता में बैहरौ बोल्यौ—"कै भाई, मोइ कछू ऐसौ सुनाई दै रह्यौ ऐ, मति कहूँ कोई फौज गोला-से चलामति आइ रही ऐ।" आँधरौ बोल्यौ—"भाई, मोऊ ऐ धुआँधार-सौ कछू गर्द-मर्द-सी मालूम परि रही ऐ।"

लँगडौ बोल्यौ—"भाई आँमति ऊ दीखैगी तौ ह्वै ई फुद्दक भे म्वाँ दीखूंगो।" गरीबु बोल्यौ—"कै भाई, तिहारौ कछू न बिगरैगौ, तुम मोइ लुटवाओगे।"[2]

१६
निन्यानवें का फेर

एकु बनियाँ ओ, परि लोभी भौतु। साढे तीनि पैसा कौ साग लायौ करै और वाइ द्वै दिनाँ कूं करयौ करै। कबऊँ न मिठाई लावै और न अच्छौ खाइवे कूं खावै।

व्वा के परौसु में एकु नित-लावा, नित-खावा कौ घर ओ। वु रोज कँमाइ कें लावै और सबरी कँमाई ऐ रोजु खाइ लें। खूब साग करवावै और खूब मीठौ लावै।

सेठाँनी सेठ जी ते बोली—"हम तौ कछू नाँइ, जि रोजु कँमाइ कें लावै और सबरी कँमाई ऐ रोजु खाँमतु ऐ, परि हमतौ जाके अगार न काऊ गिती में न दरोज में। हमारे भागिमाँन ह्वैवे

[1]. झंमनलाल अग्रवाल : बिलौठी के संग्रह से। [2] सं० क०—पातीराम अकबरपुर के संग्रह से।

कूँ घरकार ऐ।" सेठजी बोले—"अबई जापै निन्यानवें कौ फेरु नाँइ परयौ। जा आजु जाकूँ की छत्ति पै ६६ रुपया धरिआ और फिरि देखि तँमासौ।" वर्ननी नें जिही काँमु कियौ।

अब वा मजूर की वहू ऐ निन्यानवें रुपया पाइ गए। सजा कूँ वाँनें अपने मालिक ते रुपया पाइवे की वात कही। वाँनें कही—"बोल मति, कल्लि की मँजूरी मेंते एकु रुप्या वचाइ कें जाँमें और मिलाइ दिंगे और सौ रुपया करिकें गाढि दिंगे।

दूसरे दिनाँ वाके ज्याँ आघोई साँमान आयौ और एकु रुपैया बचायौ, जा तरे सौ रुपया ते सवासौ, सवासौ ते डेढ सौ करिवे की सोचत जाँइ और खाँन-पाँन में घाटौ आँमतु जाइ।

वनियाँ नें कही—"देखिलै री, परि गयौ सारौ निन्यानवें के चक्कर में।" *

१७

जाट की कहानी

काई गाँम में एकु मेव रहै ओ। वापै घर कौ कोई काँम नहीं होतो। यातें वानें घर के काँम-धवे सँभारिवे कूँ एकु जाट रखि लियौ। वा मेव के और वी भैया-वद ए। सबु आलसी ए।

एकु दिनाँ वाके घर में ते एकु आदिमी मरि गयौ, सो भैया, वे वाऐ रोंमते-पीटते औव कवरस्तान में गाढिवे कूँ लै चले। वाके घर में साँझ कूँ आदमी मरौ ओ परि कवरि तक लै ज्यावे में उन्हनें राति हूँ गई। जब वे वाऐ गाढ चुके तौ स्यासु कियौ कै भाई, कोई जीव-जतु या ऐ नाँइ खोद कें निकार लै जाइ। याते तुम एकु काँमु करौ, आज राति कूँ जाट के ऐ जो हमारे म्हाँ ठौरी काँम करै ऐ, वाऐ रखवारी पै करि देउ। कै याऐ कोऊ जीवु नाँइ उखारि कें भागि जाइ। राति कूँ जाट कौ रखवारौ कवरि कौ वनाइ दयौ।

वे तौ घर कूँ चले गए और वहाँ जाट रहि गयौ। जाडे के मईया दिनाँ ए और जाट के ऐ प्राड गई कवरि के ढौरें ओघ, सो वु तौ एक पेड की जर के जौरे सोइ गयौ। आघी राति कूँ आयौ भइयँन के ही एकु जरखु सो वा मीयाँ कूँ उखारि कें लै भग्यौ। सवेरें वु जाट कौ जागौ तौ कवरि खुदी पाई और वाँमें कोऊ मुर्दा न फुर्दा, बडे स्यास में डूब्यौ।

अब तौ कै उँन मेवँन ते कहा कहूँ गो। इतने में मेव भी घर ते वहाँ कवरि के ढौरें आइ पौंहचे। वहाँ कवरि खुदी परी, सो भैया, अब मीयाँ भी सोच में। उन्होंने वा जाट के ते कहीं—"ओ जाट के, इस कवरि कों कून उखारि के हियाँ डाल गयौ और मुर्दा कूँ लै गयौ।।" जाट नें कही—"जी, मोहूँ वी पतौ नाँएँ। यहाँ एक लै जाँतौ तौ मेंनें ऊँ देख्यौ ओ।" इतने में वा मेव के मईया और वच्चा वोले कै—"अच्चा जाँन, कोई खुदा का फिरिस्ता लेगा होगा।" जाट कौ भी कहँन लगौ—"हवै जी, खुदा कौई फिरिस्तौ लै गयौ। मोहै वी जब ते याद ना रही। अब तुम्हारे कहें ते मोहै वी याद आ गई है।" अब म्याँ ओ सवै खुशी भई, इतने में जाटु बोलो कै—

"बात आई, बात आई, बात में परिगौ फरक।
तुम कहौ वाऐ खुदा कौ फिरिस्तौ, हम कहें वाइ जरख ।।" *

१८

गधा ते आदमी

एकु चटसार में एकु पडितु पढाओौ करतो। वाकी चटसार में एकु छोरा पढतौ। वु चालीस-गेरी गयार ओ। पडित नें एक दिनाँ वु वौहौत मारचौ। छोरा वहुत भारी रोइवे लग्यौ। पंडित नें कही "अरे मूरिख, मैंने तू गधा ते आदिमी वनाइ दीयो।"

एकु कुँम्हारु म्वाँ वाहिर अपने गधा चराइ रह्यौ। वाकें कोई औलादि नाँई, वु पंडित जी के जौरें गयौ, और पालागन करी। पडित जी नें वाते पूँछी—"कि भाई, कहा वात ऐ।" वा नें कही—

"महाराज, एकु किरपा तौ मोऊ पै करि देउ। मैं तुमैं एकु गधा दै जांगो, बाइ मेरें काजें आदिमी बनाइ देउ। मैं तिहारी कबऊ गुनु न भूलूंगो।" पंडित जी नें समझि लई कि जि बिरकुल्लि ई गँमारु ऐ। उँननें कुँम्हार ते कही—"कि ला लेआ अपने गधा ऐ, छोरा बनाइ कें दै दुगो।" कुँम्हारु एकु चाक सौ गधा लाइ कें पंडित जी कूं दै गयौ। पंडित जी नें कही—"जा, आठ महीना पीछें अपने छोरा ऐ लै जैयो।" कुँम्हारु चल्यौ आयौ।

(२)

आठ महीनां जैसें-तैसें करि कें कुँम्हार नें काटे, जब आठ महीनां बीति गए का सोई बु पैहलें ई बेचि दीयौ। कुँम्हार ऐ देखत खँम पंडित जी नें वाते फटकारि कें कही—"अरे, तू इतनी देर करिकें आयौ ऐ। बु गधा तौ तेरो मैंनें आदिमी बनाइ दीयौ और बु तौ जज्जु बनाइ कें भेजि ऊ दीयौ। देखि फलाने सैहरु में घु जज्जु ऐ, औरु वा की नामु ऊ बताइ दीयौ।"

(३)

कुँम्हार मारे खुसी कै फूलि गयौ औरु बाई सैहरु कूं चल्यौ। इजलास में पहुँच्यौ। सिपाई नें रोका-राकी करी। कुँम्हार नें कही—"अरे, तुमैं खबरि न सुधि, ज्याँ जाई के पीछें बरबाद है गए, तुमैं अपनी ई अपनी परी ऐ। आठ महीना ते मैं जाई ऐ ढूंढि रह्यौ ऊँ।" सिपाई बिचारे चुप्पु-चाप है गए। बु कुँम्हारु वा जज्ज के इजलास में पहुँच्यो औरु वाते कही—"अरे मेरे बेटा, तेरे काजें मैंनें कूअँन में बास डारि दिए, चलि अब अपने घर कूं चलि। मैंने ई तू गधा ते आदिमी बनवायौ ऐ।" जज्ज ऐ आई रिस। वानें बाँमैं लात मारिबौ सुरू करयौ। कुँम्हार नें कही—"अरे गधा ते आदिमी बँनवायौ, परि अबई घु पुरानी लात मारिबे की टेब नाँइ छूटी।"

१९

सत्त की जइहरी

एकु डोकरी महादेव जी की भगतनि ई। वा की एकु नाँतिनी ई औरु कोई हतु नाँ औ। अपने घर ते ई बु महादेव कूं झारी में जलु भरि कें लै जायौ करती। एकु दिनाँ बु पाँनी भरि कें लै गई, म्याँ डँकिवारे बैठे। उनें बडी जोर की तिरखा लगि रही ई, उननें कही—"डोकरी हमें पाँनी प्याइ।" डोकरी नें कही—"जोमें तुमें पाँनी प्यामति ऊँ तौ मेरी नित्त नेंमु छूटतु ऐ।" झट्ट वाँनें नाँईं करि दई। डँकिवारेनु नें कही—"जाँन दै मैया, तेरी राजी।"

अब वानें महादेव के ऊपर लोटा औंधौ करि दीयौ, परि जलु निकरै ई नाँ। वानें कही, आजु कहा बातै, ला उनें पाँनी ई प्याइ आँऊँ। बु पाँनी प्याइबे लगी, सबनें पाँनी पी लियौ औरु महादेव जी पै चढाइ बे कूं फिरि ऊ पाँनी बचि रह्यौ।

डँकिवारेनु नें पूछी—"तेरे औरु को ऐ।" वाँनें कही—"बेटाऔ, मेरें एक क्वारी नाँतिनी ऐं।" डँकिवारेनु नें कही—"जब वाकौ ब्याहु होइ तब हँम पै खबरि करि दीजौ।" डोकरी नें कही—"अच्छौ बेटा।"

(२)

छोरी कौ ब्याहु आयौ। डोकरी ऐ तौ कछु, यादि ऊ न रही। डँकिवारेनु नें कहू ते सुनि लई। बिन्नें ऊँट, हाथी, घोडा औरु गऊ, गाडीन पै साँमानु लदवाइ दीयौ औरु आइ गऐ। डोकरी ऐ यादि ऊ न रही। वा के सबु काँम ऐ बेई करि दयौ करे, परि डोकरी पहिचाँन न पाई। कन्या-दाँनु करि कें डाकूननें आइ के राँमु-राँमु करी। डोकरी नें कही—"बेटाऔ, मैं तौ तुमें पैहँचान नाँइ पाई।"

डँकिबारेन कौ बारंटु औ। वाई बखत सिपाई आए औरु डोकरी के सामुईं बु गिरफ्तार करि लिए। डोकरी नें अपने मन में बडी घिरकारी माँनी औरु महादेव जी ते बडी बीनती करी। महादेव जी की करामाति ते बेडी सिपाई डारे औरु बे खुलि जाँइ। फिरि उनें कुतवाल के जोरें लै गए। वानें बे हवालात में बद करवाइ दिए। जब बु उनें हवालाति में बद करै सोई झट्ट वा के तारे खुलि जाँइ। फिरि बु डोकरी बुलाई। वाते जब पूछी-करी कहा बातै तौ डोकरी नें सबु किस्सा कहि दीयौ।

फिरि कुतवाल नें उन डाँकून ते पूछी—"भाई, कहा तुम कहत औ" । उन्नें कही—"साब, सत्त [illegible] हूती हौनि ऐ, हमनें डोकरी कौ सत्तु देखि लीयौ। अब हम सिव जी के भगत ह्वै जांगे और [illegible] काम कियौ करिंगे ।"

कोतवाल नें डँकैवारे छोड दए।

२०

धरमराज

[illegible] गाँम में एकु फकीर और जाट रह्यौ करें। जाट कें एकु छोरा औ। फकीर कें [illegible] औलाद न हौंने से उस जाट के लडके से अपने हुक्का की चिलँम भरि वायौ करैं ओ। जब जाट [illegible] नाहीं करतो तौ फकीर कौ कहतो कि—"या तौ मेरी चिलँम भरिजा, नही तौ मै तेरे ऊपर मसाँन [illegible] गो।" जाई फिकिर में जाट कौ लड़िका सूखिनें लगौ। एकु दिनाँ जाट अपनें खेत पै ते [illegible] जाटिनी ते बोल्यौ—"कि लड़िका क्यों सूखतौ जाइ रह्यौ ऐ। जाहि का दुख है।" जाटिनी बोली— "[illegible] दुखु तौ जाइ कछू वी नाँएँ परि जि फकीर जाते चिलँम भरवावै ऐ और जब लड़िका मनैं [illegible] तब कहतु ऐ कि चिलँम न भरैगौ तौ मैं तेरे ऊपर मसाँन छोड़ि दुगो। जाई फिकिर ते लड़िका [illegible] गयौ ऐ।"

फिरि जाट नें फकीर ते कही कि—"क्यों रे फकीर के, तू लडके कौ क्यों धमकावै ऐ और [illegible] भरवावै ऐ, तेरौ हँम पै कछु आवै ऐ का।" फकीर नें कही—"कि मै तो जाई पै भरवाऊँगो और [illegible] तो मसाँन छोडि दुंगो।" जाट नें कही कै तू यो न मानैगौ तौ मैं धरमराज छोडि दुंगो। [illegible] नें मांची कै जोई धमकावतु ऐ। कही—"छोड़ि दीजौ।"

फिर जाट नें वाई वखत पोखरा में ते एक कछुआ लाइकें वाके ऊपर गीली मिट्ठी थोपि [illegible] तैयार करि लियौ। फिरि आवी रात के समे पै कछुआ के ऊपर कँई दीए जोरि कें वा गीली [illegible] में जमाद दए और कछुआ के पैर में रस्सी बाँधि कें अपने द्वार पै लाइकें रस्सी पकरि कें बैठि [illegible]। फकीर कौ घर-सामनें ई ओ। कछुआ सीधौ फकीर के ई घर लगौ और धीरें-धीरें घर में [illegible] लगौ। इतने में ई वा फकीर की मीयट्टी जगि परी औरु वा कछुआ ऐ देखि कें बोली— "[illegible], ओ जुमा के अब्बा, जाट कौ धरमराज तौ आभी गया, औरु तुम्हारा मसाँन जानें कब [illegible]।" फकीर मो माँ सूतौ, सो जागौ और वा धरमराज ऐ चलतौ देखि घबड़ाइ उठौ और जाट [illegible]—"ऐ जाट के, जा अपने धरमराज कूँ रोक मैंनें बख्शा और मेरे खुदा ने बख्शा। अब [illegible] मैं अपनी चिलँम नही भरवाऊंगा।"

फकीर के बोहोत अनुनैं-विनै करिवे पै जाट नें अपनो धरमराज लौटाइ लियौ, कछुआ [illegible] गोद में लैकें जाट घर में भीतर चलौ गयौ। कछुआ के ऊपर ते मिट्टी हटाइ के सबेरे [illegible] पोखरा में कछुआऐ डारि आयो।[1]

२१

अंधेरे नें घर छौंड़ि सयौ

[illegible] बाप-बेटा ए। अकेले ई ए। कोई बइअर-बाँनी घर में हुति ई नाँ। विचारे एकु [illegible] ए। म्याँई एकु कोने में रोटी वनाइ लेंत ए। जाई तरें उनकौ जीवनु चल्यौ [illegible]।

[illegible] एकु गाँम ते आदमी आयौ। वु आइकें वा छोरा की सगाई करि गयौ। अब [illegible] आई, अब तौ एक कोठी वनामनो चहिएँ। बहू आवैगी तौ कहाँ बैठेगी। जोई वे [illegible]।

[1] [illegible]—रामगोपाल शर्मा तुमोला, पो० छाता, जि० मथुरा।

कोठी बनाइ कें वु उननें पाटि दीयौ। दिनु मुँदौ, राति आई। राति कूँ छोरा वा कोठे में घुस्यौ। सो देखै तौ म्हा अँधेरौ ई अँधेरौ। वानें किल्लाइ कें अपने बाप ते कही—"अरे दादा देखियौ, हमनें तौ इतनी नीठि ते कोठी बनायौ और जि कोठी आजु ई अँधेरे नें छीडि लयौ। अब कंसें होइ, कितकूँ जाइ।" बाप नें ऊँ आइ कें देख्यौ तौ बाइ अँधेरौ ई अँधेरौ दीस्यौ। अब दोऊ बेचारे डरपि गए। कोई भीतर बँस्यौ ई न। फिरि उन दोऊँन नें सोचा-बिचारी करिकें कही ला लवरदार के ज्याँ चलें। वु कछु करै तौ भलें ई करै।

(२)

दोऊ बाप-बेटा मुकद्दम के ज्याँ पहुँचे, वा ते जाइ कें कही—"लवरदार जी, हमनें कल्लि तौ अपनो कोठौ बनाइ कें तैयार करचौ ओ और आजु ई वु अँधेरे नें छीडि लीयौ, अब कहा करे, कित कूँ जाइ।"

लवरदार समझि गयौ कि जे चालीस-सेरे गँमार ऐं। उँननें फैसला दीयौ कै अपने कोठे ऐ खोदि-खोदि कें हमारे खेत में डारि आऔ। अँधेरौ तुम्हारे घर ऐ छोडि देगौ। उँननें कही बडी अच्छी बात ऐ।

आइ कें वे अपने कोठे ऐ फाँवरे ते खोदिबे लगे। द्वै घटा खोदा-खादी करी परि बा में उजीतौ ई न भयौ, हार-झखमारि कें बाप नें बेटा ते कही—"कि बेटा जा, और अपनी बहू ऐ लिवाई कें ला, वा पै कोई तरकीब ओंमति होइ तौ भलेंई ओंमति होइ।" बेटा अपनी सुसरारि कूँ चल्यौ।

(३)

सुसरारि में पहुँचि कें बा नें कही—"हमारौ घर अँधेरे नें छीडि लियौ ऐ। अब मेरी बहू ऐ भेजि देउ। स्याइति जिही वापिस लै ले।" बहू के पीहर वारेनु नें पहलें तौ नाही-नूकर करी, परि वु गोहन परि गयौ कि लिवाई जाँगो। पीहर वारेनु नें भेजि दई।

घर आइ कें बहू नें देखा-भारी करी, वाँनें उनते कही—"बसि, इतनी-सी बात ऐ। लाऔ मैं वापिस लुगी जा घर ऐ।" वानें उनते कही रुई लाऔ, तेल लाऔ और एकु सरवा लाऔ। बाप-बेटा एक लैहमा में लै आए। बहू नें दीऔ बनायौ, जोरघौ और घर में धरि दीयौ। अँधेरौ भागि गौ। बाप-बेटा बडे खुस भए, जो मिलै वाई ते कहें—

"अरे भैया, हमारौ घरु अँधेरे नें छीडि लियौ ओ, हमारी बहू नें अपनी करामाति ते अँधेरौ हराइ दीयौ और घरु वापिस लै लयौ।"[१]

२२

एक ठाकुर की चतुराई

दस बारह जनें मिलिकें काऊ मेले कूँ गए। तीन-च्यार दिन तक मेलौ खूब देख्यौ। फिर गाँम कूँ आए। मेले में सबु दाँम खर्चु है गए। एकु अधेलाऊ काऊ पै ना रह्यौ।

गैल में बिन्नें भूँख लगी और गाँमु बौहौतु दूर, और साँझ बैसें है आई। अब बे अबेर और भूख के मारे बिकल। गैल में एकु गाँमु आयौ। वाई में डटि गए और हलवाई की दुकाँन पै पौंहुँचे। सबु जनें मिठाई तुलवाइ कें खाँमन लगे। खूबु छिकि कें खाई। खाइ-पी कें कुल्ला-दाँतिन करि कें निच्चू है गए। अब बनियाँ बोलौ—"लाऔ जी दाँमु।" एकु बोल्यौ—"भाई, दाँम दिगे धोताऐं। अब का भागे जातें। तेरी दुकाँन पै सोमिगे।" बनियाँ बोल्यौ—"कोई बात नाऐं, धोताऐं दै दिजौ।" वे बोले—"भाई सेठ, अब सोइबे कूँ कहूँ ठौर बताइ दै।" बनियाँ नें एक दूसरी दुकाँन को तारौ खोलि दियौ। और वे वामें सोइ गऐ। बनियाँ नें बाहिर ते तारौ दै दियौ।

अब वे बोले—"भाई, धोताऐं कंसें होगी।"

एकु बोल्यौ—"जब दिन निकसाउ होइ तब द्वै-चारि दर्द की मूडी बनइओ और द्वै-चारि उसासु मचि जैमो। सबु मैं देखि लुगो।" अब धोतायो भयो, कोई किल्लाइ, कोई कछू करै।

[१]. सं० क०—चद्रभान · लोहवन।

बनियाँ आयो, तारो खोल्यो। बनियाँ किल्लामनि सुनिकें घवडायौ, बोल्यौ—"ठाकुर साव, का बात ऐ"। ठाकुर बोल्यौ—"बातें घूरि, जानें मिठाई में राति तेनें कहा खवाइ दियो, मेरे तौ [illegible] आदमी मरे परे एँ और कछुन के पाँम टूटे जातें, किल्लाइ रहे एँ कै पाँम टूटि चले। कछू [illegible] के मारें ऐंठि रहे एँ।" अब बनियाँ घवडायौ। जि भली भई। मेरी तौ जानि कूँ मौवति आइ गई। वो ठाकुर ते बोल्यौ—"भाई, अब कहा होनो चहिएँ।" ठाकुर बोल्यौ—"पैहिलें तो डाकदर कूँ बुलाइकें लाऊँगो, पीछें कछू करेंगो।" बनियाँ बोल्यो—"ठाकुर साव, जैसें बनें जैसें त्याँई फैसलो कर [illegible]। [illegible] काहे कूँ बोलें। आ फैसलो करि लऊँ, भाई, सौ-दोसौ रुपईया तू लै-लै।" ठाकुर बोल्यौ—"[illegible] मानस गैल मो। हम सब बारह जने हैं। बारह सौ रुपईया लुगो। नहीं हटि जा, मोइ जाँन दै।" बनियाँ बोल्यौ—"नाँइ ठाकुर, कहूँ मति जाइ, भई तू बारह सौ ई लै जा। अपनी कला समेंट।"

ठाकुर नें लै बारह सौ रुपईया, बिनते कही कै उठो रे, गाँम में मरियों चलौ झट्ट।" [illegible] ठाड़े है गए और लै गी-सौ रुपईया अपने घर आए।"

२३

धर्म की जर हरी।

एक बिरामनु और एक बिरामनी काऊ गाँम में रहत ऐ। ऐसौ वखतु आइ गयौ कै उनकी गुजर न है वे नगी और काऊ दूसरे सैहर में जाइ कें रहे।

बिरामनु राजा के त्याँ भीक माँगिबे गयौ। राजा काऊऐ कवऊ भीक नाएँ देतो। परि वा दिनाँ जानें वाके मन में कहा आइ गई कै वानें एक गिन्नी वा बिरामनु ऐं दे दई। बिरामनु नें कही—"धर्म की जर भरी हरी ऐ"। और अपने घर कूँ लौटि आयौ।

अब बिरामनु गीधि गयौ। सो रोजु वाके त्याँ जाइ और एक गिन्नी लै कें और "धरँम की जर हरी ऐ" कहि कें चल्यौ आवै।

अब राजा नें राँनी ते कही—"जि बिरामनु तौ बड़ौ गीध्यौ, और जा तरह ते खजाँनो [illegible]।" राँनी नें कही—"कल्लि वाते त्यो कहियो कै भीक अब मिलैगी, जब तू मोइ धर्म की हरी जर दिखाइ देगो।

राजा नें दूसरे दिनाँ जिही काँमु करयौ। बिरामनु विचारी बिनाँ भीक लएँ ई चल्यौ आयौ।

बिरांमनु नें दूसरे दिनां फिरि कही राजा ते जाइ कें कि "सिरी महाराज, आजु और चलौ और धरम की जर देखि आओ।" राजा राजी है गयौ, और बिरांमन के सग चलि दीयौ।

मदिर पै पौंहुचे। तारौ खोल्यौ सो देखें तौ म्वां एक गधा बँध्यो ओ। गधा ऐ देखत खंम राजा को सीना ठनक्यौ। राजा गधा पै बैठ्यौ और गधा उड़ि गयौ। जाइ कें देखै तो नरक कौ दरबज्जौ खल्यौ परयौ और सुरग के तारे ठुकि रए। राजा नें पूछी—"भाई आजु जि कहा बात ऐ।" उननें कही—"वु राजा जैसें-तैसें तौ दांनु करिवौ सीख्यौ और फिरि वानें वद करि दीयौ, सो वाकूं नरक कौ दरबज्जौ खुलि गयौ और सुरग कौ वद है गयौ ऐ।" राजा नें पूछी—"अब सुरग कौ रस्ता मेरे काजें कैसें खुलै।" उननें कही—"तू वारह बर्स तौ भिष्टा खाइ और राजु वा बिरांमन ऐ दांनु में दै देइ तब खुलै।" राजा नें कही चाऐं सुरगु भार में जाओ, मैं भिष्टा न खांगो।" गधा वाइ फिरि वा मदिर में लै आओ।

राजा नें रांनी ते आइ कें सबु हवालु कहि दीयौ। रांनी नें कही—"अच्छा।" रांनी रोजु थारी भरि के राजा कूं भोजन करावै और भगिनि पै सीक ते नेंकु भिष्टा डरवाइ देइ। राजा ऐ कछु खबरि न, और रोजु भोजन करि जाइ। जा तरह ते वारह वर्स वितीत है गए।

वारह बर्स पीछें रांनी नें राजा भेज्यौ कै जा देखि आ। धरम की जर हरी हत्यै कै नांइ। वु मदिर में पौंहुंच्यौ। म्वां ते बैठि घोडा पै म्वां भगवान जी के लोक में पौंहुच्यौ म्वां जाइकें देखै तौ सुरग कौ द्वार खुलि रह्यौ और नरक वद, पर वानें पूछी भाई, जि कहा बात ऐ। उननें कही—"वा राजा नें वारह वर्स तक भिष्टा खाइ लई, अब वाकूं सुरग कौ दरवज्जौ खुलि गयौ।" राजा ऐ बडौ अचभौ भयौ, रांनी के जौरे आयौ।

रांनी नें राजा ते सबु बात कहि दई। राजा नें बिरांमनु बुलायौ और वाइ एक गिन्नी दई। बिरांमन नें कही "धरम की जर सदां हरी ऐ।"[1]

२४

जि कोंन की बहू होगी।

एकु वाढई के छोरा, एकु सुनार के छोरा, एकु दर्जी के छोरा और एकु बिरांमन के छोरा में यारी ई। एकु पोत वे चारयौ व्यापार करिबे कूं गए। एक सेंहरपनां के बाहिर एकु बगीचा में राति बसेरौ करयौ, म्वाईं खावा-पीई करी। खाइ-पी कें जब सोइबे लगे तब उननें सोची—"भाई, जगल कौ मामलौ ऐ। राति कौ मामलौ ऐ। राति की समैया ऐ। द्वै-द्वै घटा जागि कें सबु जनें पैहरौ देउ"। सबु जा बात पै राजी है गए।

पैहलमपत. बढ़ई के छोरा कौ पैहरौ आयौ। बढ़ई कौ बेटा जागि परयौ ही तीनो सोइ गए। बढई के बेटा नें सोची "ला द्वै घटा में पूतरी ई बनाइ लऊं। बैसेंई बैठ्यौ-बैठ्यौ कहा करुंगौ।" सोई वानें अपने पैहरे में एक बौहौत कछू मलूक काठ की पूतरी बनाइ दई। अपने पैहरे ऐ बजाइ कें बढई कौ बेटा सोइगौ और दर्जी कौ बेटा जागि परयौ।

दर्जी के नें वु पूतरी धरी देखी, बा नें अपने मन में सोची—"ला मैं ई बैठ्यौ-बैठ्यौ कहा करूंगो, ला जा पूतरी के काजें पोसाकई बनाइ दूं।" सोई वानें द्वै घटा में पूतरी के काजें खूबु अच्छी पोसाक बनाई और वाइ पैहराइ दई। फिरि बाऊ कौ पैहरौ खतमु भयौ और सुनार कौ जाग्यौ।

सुनार के नें पूतरी के काजें गैहनो गढ्यौ और नख-सिख ते गैहने ते लादि दई, फिरि बाऊ कौ पैहरौ बीति गयौ और बांम्हन कौ जग्यौ।

[1]. सं० क०—चंद्रभान: लोहबन, टोटा भगी से सुनी।

बाँम्हन के नें सोची "बढई के नें पूतरी बनाई, दर्जी के नें पोसाक सी ई ओरु सुनार के नें (गहनो) बनाइ कें पैहरायौ, अब मैं कहा करूँ।" बानें कही—"ला, जाँमें में जीऊ ई डारि दऊँ।" (य)ोइ बानें अपनी उँगरिया चीरि के वा पूतरी के म्हो में निचोरि दई। सोइ बु पूतरी जी उठी।

सबेरें उठि कें चारयौन में लडाई ह्वै बे लगी, वु कहै जाइ मैं लुगौ, औरु बु कहै जाइ मैं लुगौ।

(२)

राजा के ज्याँ न्याउ पौंहँच्यौ। राजा नें सोचि-समझि कें हुकँम सुनायौ—"भाई, बढई के बेटा नें पूतरी बनाई, सो वाकी तौ बेटी रही, बाँम्हन के नें जीउ डारयौ सो बु ऊ बाप थानिक-ही रह्यौ। दर्जी के बेटा नें सीकें कपडा पैहराए, जि काँमु भातई कौ ऐ, सो दर्जी के की बु बैहन लगी। सुनार के नें बु काँमु करयौ ऐ जो मालिक कौ काँमु ऐ। बैइअरबाँनी हमेसाँ ई गँहने की फिराद अपने मालिक ते करति ऐं। जाते जि बैअर सुनार के की रही।[1]

२५

दीन और दोजखु

एक पंडित जी कासी ते जोतिस पढि कें आइ रहे। रस्ता में एकु सैहरु परचौ। म्वाँई पडित जी कूँ राति ह्वै गई। पडित जी नें एक दुकाँन के तखता पै बिस्तरु लगाइ लीयौ औरु सोइ गए। वा दुकाँन के ऊपर एक रंडी रह्यौ करति ई।

पडित जी थोरी-सी देर ही सोइ पाए कि म्वाँ ह्वै कें एक मुरदा निकरयौ। पडित जी नें 'राँम-राँम सत्ति है' सुनी। रडी नें अपनी नोकराँनी ते कही—"कि देखिऔ री, जि दीन कूँ गयौ कि दोजख कूँ।" नोकराँनी बाहिर निकरी। लौटि के वानें रडी ते कही—"अरी, जि तौ दोजख कूँ गयौ।"

पडित जी जि सवरी बात सुनि रए ए। उँननें अपने मन में सोची हमनें बैसई १२ वर्स कासी की घूरि फाँकी और जि विद्या आई ऊ न। जा विद्या के काजें रडी ई ऐ गुरू बनामें।

पंडित जी जि सोचि कें ऊपर रडी के अटा पै चढि गए। रडी ने पडित जी कौ आदरु-सतकार करयौ। पडित जी नें अपने मन की बात रडी ते कही। रंडी ने कही—

"जाकी ल्हास के सग १० आदिमी कानाफुसी करत जाँइ कि भलौ भयौ जि मरि गयौ। वाइ समझौ कि जि दोजख कूँ गयौ, औरु जाकी ल्हास के सग सबु लोग सोग मनावत जाँइ औरु वाकी तारीफ करत जाँइ, वाइ समझौ कि जि दीन कूँ गयौ।"

२६

एक चतुर नारि

एकु गाँम के पास ई एक हरहारौ खेत जोत रह्यौ ओ। बाई गाँम की एक स्त्री वा हरहारे के खेत की मेंड पै ह्वैकें ऐसे समे में निकरी जब कि धूप बौहौत तेज पडरई ई औरु हरहारे सें बोली कि—

"धूप परै धरती जरै, पाँव न मिट्टी खाइ।
हारी हर मत जोतियौ, जब तक पार बसाइ।।"

तब हरहारे से इसको कोई जवाब देते न बनो। स्त्री अपने घर कूँ चली गई औरु हरहारे नें भी समे पै हर छोडि कें अपने घर की रह्या लई औरु घर जाइकें जि दोहा कह्यौ कि—

"धूप परै धरती जरै, पाँव न मिट्टी खाइ।
हारी हर मत जोतियौ, जब तक पार बसाइ।।"

[1] सं० क०—[illegible]

तव वा की स्त्री नें कह्यौ कि—"फिर आपनें कुछ जवाव जा दोहा कौ दियौ कि नाँइ" सो तौ वोलौ—"मोते कुछ उत्तर देंत नाँइ वनो। तो वाकी घरकी नें द्वै दोहा वता दए कि कल वु फिर आवै तौ पैहलें इस दोहे को और दूसरी वार इस दोहे को कह देंनाँ। हरहारे नें दोऊ दोहा सीखि लए। दूसरे दिनाँ हरहारी नें हर जोड दिया और वाई खेत की मेड पै ह्वै कें जव वु पैहले वारी स्त्री निकसी तौ हारी नें कहा कि—

"लौलो लहँगा पहरि कें, नारि नगर कूँ जाइ।
सत-वदनी दारी जव वदूँ, हर कौ वयौ न खाइ।।"

स्त्री नें ऊ अपने पहले दिन के कहे भए दोहा कौ जवाव पाइकें कही कि—

"सीखी-साखी तें कही, जो कहीं कहतौ कालि।
घर कौ वलँम विसारि कें, तू पिया में नारि।।"

फिर मर्द ने कहा—

"औंडो जोतूँ धिन वऊँ, ठोकि लगाइ दऊँ वारि।
जौ लगि जाइ मेरौ एक दरौ, तौ तोसी करि लऊँ चारि।।"

एसौ कोरौ-सौ जवाव पाइ वु स्त्री अपने घर कूँ चली गई।[1]

२७

जा जुग में रह्यौ, कछू वाऊ के गुन गाऔ

एकु ग्याँनी-ध्याँनी पंडित जी ए। वे एक राजा के ज्याँ रह्यौ करत ए। वा राजा के ज्याँ वे कोई अन्याउ नाँएँ होन देत ए। सदाँ धरँम की ई वात करवाऔ करत ए।

वे पंडित जी एकु गाँम में रह्यौ करत ए और रोजु राजा के दरवार में आयौ करत ए। एकु दिनाँ रस्ता में उनें कलजुग मिल्यौ, कलजुग नें पंडित सें आइकें पालागें करी। पंडित जी नें पूछी—"तू को ऐ।" वानें कही—"मैं कलजुग ऊँ, मैं तुमते द्वै वात करँन कहतूँ।" पंडित जी नें कही—"कहा वात है भाई।" जा पै कलजुग नें कही—"महाराज, जि तुम जानत ई औ कि आजु की घरी मेरौ ई सवु जगें राजु ऐं। तुम राजा पै कवऊ मेरे मर्जी-मुताविक काँमु नाएँ होंन देंत। जाते मैं तुम्हारे जौरे आयौ ऊँ। कछू पापु, कछू अन्याउ ऊ है जाँन दे करौ। मेरी पूँजा ई जिनते होति ऐ। जा जुग में रहौ कछू वाऊ के गुन गाऔ।"

पंडित जी नें कही—"जाँतु नाएँ परे में। हम जहाँ रहिंगे म्वाँ पापु है जाँन दिंगे? जा चल ज्याँ ते। हम कवऊ राजा के ज्याँ पापु न होन दिंगे।"

कलजुग नें कही—"तुम्हारी राजी महाराज, और जि कहि कें कलजुग हटिगौ।

(२)

दूसरे दिनाँ पंडित जी अपने गाँम मैंते राजा के दरवार में जाइ रहे। रस्ता में कलजुग नें कहा काँमु करयौ कि एक वौहौत ई फली-फूली वारी अपनी माया ते लगाइ राखी। वा में वेंगन लगि रहे। कासीफलु लगि रहे। पंडित नें वौहौत सुंदर वेंगन के फल देखिकें सोची—"ज्याँ कोई तौ हतु नाएँ और वेंगन जे राजा के लाइक ऐं, अव कहा करें।" फिर उननें चार वेंगन तोरि लीए औरु वा वेगँन के पौदा के जौरे चारि पैसा धरि दीए। जाते धरँमु ऊ न जाइ और काँमु ऊ है जाइ। अव वे उन वेंगँन नें लै कें राजा के ज्याँ पौंहँचे और राजा ते कही—"राजा, आजु हम वहुत ई कछू अच्छे फन लाए ऐं।" राजा नें कही—"निकारौ महाराज, देखूँ कैसे ऐं।"

कै तौ पंडित जी नें अपने रूमाल में ते वे फल खोले, सोई ईस्वर-करनी वे चारि घेंटा मूअर के वच्चा है गए। अव तौ राजा वडौ नाराज भयौ और वानें पंडित जी ते कही—"जाई वखत मेरे

[1] स० क०—रामगोपाल ओझ्टा, पौ० जुगसाना—मथुरा।

दरबार में ते निकरि जाओ। तुमनें मेरे दरबार में मेरे संग जा तरह कौ बरताव करयौ।" पंडित जी बिचारे नारि नीचे कूँ करे, बिना कछू कहें-सुनें दरबार में ते निकरि आए और अपने घर की रस्ता गहि लई।

२८

चतुर की चतुराई

किसी गाँम में एक मियाँ और मीयट्टी रहते। समें पाकर उन पर गकीमी आ,इ गई और मियाँ जी गकीमी आ जाने की वजह से दूर देस में निकरि गए। वहाँ उसनें किसी बादशाह के ह्याँ नोकरी कर ली। मियाँ जब घर ते निकलौ ओ तब मीयट्टी के पास कुछ तौ अनाज और एकु लोटा, दूसरी डोर, तीओ छाज, चौथा कुत्ता, पाँचवी बिल्ली यें ई सामाँन छोड़ि गयौ। उस मीयट्टी नें कुछ दिन तौ उस अनाज ते और कछू दिनों मेंहनत-मजदूरी करकें काटे, पर उसी अरसे में लोटा तौ डोर-टूट जाने सें कूआ में गिर पड़ौ और बिल्ली मरि गई और कुत्ता भागि गयौ। पैहनने के कपड़े भी ऐसे फटि गए कि बिल्कुल खोंसे गए। सिर्फ एक छाजे ई वाके पास रहि गयौ।

बीवी यौंनी मीयट्टी को इस बात का तौ पतौ थौ ही कि मियाँ जी अमुक बादशाह के ह्याँ नौकर हिंगे। वस बीवी नें सोच-विचार के मियट्टी नें मियाँ जी के लिए खत लिख दीयौ और खत में ऐसी बातें लिखी कि उसके खास मियाँ जी ई समझ सकें। खत में अपनी व मियाँ जी की तौहीन होने की वजह से लोटा का नाम डिव्वन साहब और डोर का नाम रूम साहब, व बिल्ली का नाम बिलाव साहब और कुत्ते का नाम कोतवाल साहब तथा छाज का नाम फटकन साहब लिखकर भेज दिया। खत मियाँ जी के पास पहुँचा तो मियाँ जी खत को बाँच कर बड़े उदास भए। तब बादशाह ने मियाँ से पूछा—"कि मियाँ जी, आज आप इतने उदास क्यों ऐं।" झट्ट मियाँ जी ने खत बादशाह के हाथ में दे दिया। बादशाह खत को पढन लाग्यौ तौ बादशाह की समझ में और तौ सब खत आ गयौ, पर खत में जो यह लिखा था—"कि घासीराम नें घर घेर लियौ ऐ, डिव्वन साहब डूब गए। रूम साहब वाकी टूट गए। बिलाव साहब मर गए। नमक हरौमी कोतवाल साहब भागि गए। फटकेंन साहब बाकी रहे ऐं। सो घड़िया की लड़ाई इधर से उधर और उधर से इधर दोनों से ले रहे ऐं।"

इसका मतलब मियाँ तौ समझ गया था कि घासीराम-घास घर में उपज आई होगी और रोटी न मिलने से कुत्ता भाग गया होगा। बाकी रहा छाज सो कपडे न होने की वजह से मीयट्टी उस छाज को कभी तौ आगे लगा लेती होगी और कभी पीछे। बादशाह नें तौ अपने मन में यही समझा कि यह मियाँ किसी रियासत का मालिक होगा और यह मेरे यहाँ छोटे पद पर रह रहा ऐ। इसके यहाँ तौ कई साहब भी घड़ी में रहते थे। ऐसा सोचकर बादशाह ने मियाँ जी से माँफी माँगी और कहा—"कि यह बहुत ही अनुचित हुआ जो आप मेरे यहाँ इतने छोटे से पद पर ही रहे ऐं। अब आपको जितनी जरूरत हो उतना ही रुपया ले जाओ और जल्दी ही अपने घर की राह लो।"

मियाँ जी बहुत-सा रुपया लेकर अपने घर पहुँचे और अपनी बीवी के साथ सुख पूर्वक दिन बिताने लगे। ठीक तौ है चुतरो की चतुराई को चतुर लोग ही जान सकते है।[1]

२९

भाँवरी और रचौंदुआ

एकु गाँम के दो आदमी एकु भाँवरो और एकु रचोंदुआ ए वे दोऊ एकु ई गाँम में ब्याहे। एकु दिनाँ वे दोऊ जनें आपुस में बोले—"कै भाई, मरत-जीमत अबकें काऊ दिनाँ चलि कें

1. सं० क०—रामगोपाल शर्मा, म० ...

सुसरारि है ग्रांमें। दूसरी वोल्यो—"भाई, वात तो साँची कहतु, चलनो चहिऍ परि भाई, भारकसु जरूर चहिऍ। भाई, मेरे तौ वरध हतें और तू अपनी वैहली ऐ लै चलि।" वानें कही—"भाई, ठीकै।"

अब दोऊ पाग-अँगरखी पैहरि कें टिचेंन[1] है कें वैहली लै कें गए। साँझ कूं न्वाँ पौंहुंच गए। नेंक झुकपुकौ सौ है गयौ। एकु वोल्यौ—"भाई, निवटि-फिवटि चलें नहीं म्वाते कोई सग न परयौ तौ जरकटा अटकैगो।" दूसरौ वोल्यौ—"भाई, वात तौ ठीकै परि मोइ तौ अब कछु दीखतु नाएँ। निमटि कें आए और वैहली न पाई तौ।" अब वु अब वोल्यौ—"भाई, पाग ते पाग वाधि लें और छोर पकरि लें। निमटि कें जब आँमिगे तब घेरि कें पकरि लिंगे।" विन्नें जिही काँमु करयौ। निमटि कें हात-पाँनी लैंकें वैहली कूं घेरत डोलें परि वैहली तक न पौंहुंचे।

इतेकई में वरहे ते कछू आदमी आइ रहे। वे वोले—"तुम को औ जी, कहा करि रहे औ। वहली ठाडी करि राखी है वरध उकताइ रहेएँ। करि कहा रहे औ तुम।" वे सरँम के मारे वोले—"अजी, ज्या खेतै नाप रहे ऐं। जि तौ कहि रह्यौ है कै डेढ़ वीघे कौ ऐ, मैं कहि रह्यौ ऊ कै जि वीघे-भरि कौ ऐ।" वे वोले—"अजी आ जाऔ, जि नंवर तौ वीघे कौ ई ऐ।" वे वोले—"अजी ठैर जाऔ, हमऊ चलतें, वैहली में ई वैठि चलियो।" वे वोले—"आइ जाऔ तौ।" वे वेहैली के ढिंग वाँस के सहारे ते आइ गए और वैहली में वैठि गए।

अब साँम में आए और चौपारि के सहारे वैहली छोडि दई। वरध वाँधि दए। आपु चौपारि में जाइ वैठे। सुसरारिवारेन्नें वरधेंन कूं भुस डारि दयौ और विनकूं हुक्का भरि दीयौ, खाट-विछैया करि दीयौ।

नेंक ठैरि कें एकु छोरा रोटीन कूं वोलिवे आयौ। वे रोटी जंमें गए। जब वे पौरी में पौंहुंचे तौ छोरा छोडि कें भगि गयौ, वे विचारे पौरी में ढिविरियात डोलें। पौरी में नाज की खौ ई, परि खाली परी। विन मे तें एकु वा खौ में गिरि परयौ। वडी देर भई। घर के वोले—"लाला, मँह-माँन आए नाँ नें।" छोरा वोल्यौ—"आइ गए ऐं, पौरी में हुगे, मेरे सग पौरी तक तौ आए ई हते।" घर के दीयौ लैंकें पौरी में गए। देखें तौ एकु खौ में परयौ ऐ। घर के वोले—"अजी कैंसें भई। खौ में कैंसें गिरि परे।"

वु वोलौ—"अजी कैंसें ऊ नाँ भई, ज्यानें मौंनी नाँई। मैंने कही खौ खाली परी ऐ और ज्या नें कही कै भरि रही ऐ।" वे वोले—"अजी आजाऔ, अब के संवत कहा ऐं जो खौ भरी जाइ, अब कें तौ पेट भरिवे भारी परि रहे ए। चलौ रोटी सीरी भई जांतिएँ।" खौ वारौ वोल्यौ—"नेंकु हातु पकरि लेउ।" हात पकरिकें ऊपरि निकरयौ। अब वे रोटी जैंमे गए। थारी परोसि दई, खीर-पुरी की मँहमाँनी करी, वे जेंमेंनु लगे।

विन कौ एकु पडेरू खूटयौ डोलि रह्यौ औ। वु वेरि-वेरि जिनके जौरें आ जाइ, वे वाइ वेरि-वेरि टारि दियौ करें।

विन की एकु बूढी सासु ई, वु ऊ विचारी आँधरी ई। वु खीरि परोसिवे आई और धरती में करिकें चली गई। वे विचारे धरती में खाँमन लगे। एकु वेर वु डोकरी फिरि खीरि दंवे आई। विन्नें जाँनी कि वु पडेरु आइ गयौ। जोर ते एक थप्पड मारयौ, डोकरी की कँनपटी ए लग्यौ। थप्पड के लगत ई डोकरी गँरहोल है कें गिर परी।

वडी देर में होनु भयौ। वोली कै—"मँहमाँन, तुमऊ ऐं कमु दीखतु ऐं। वेचारे सरँम के मारें नेंकु है गए।[2]

1. टिचेंन—तैयार। 2. पातीराम अकबरपुर के संग्रह से।

३०

जुगती और टल्ली

एक दिनाँ जुगती बोल्यौ टल्ली ते—"कै तू बिनाँ मेरे देखें टल्ल चलाइ ऊ देइ।" टल्ली बोल्यौ—"देखि चलांगे कै नाँ।" टल्ली चल्यौ और एक अवाँने पै दस-बीस आदमी बैठे तापि रहे ए, मो माँ आपु बु ऊ जाइ बैठ्यौ और तापन लग्यौ। नेंक देर पीछें बोल्यौ—"कै सिरदारौ, आजु एकु बड़ी भारी अचभौ देख्यौ।" बे बोल्ये—"कहा अचभौ देख्यौ भाई"। बु बोल्यौ—"अजी राति मैंने आधे गगन कुत्ता रोमति देख्यौ।" बे बोल्ये—"अरे तौ झूठा, नेंकु सधि कें ई झूठ बोलि। कहूँ आजु तक ऐसौ भयोऊ ए कै आवे सरग कुत्ता रोयौ होइ, कै राति ई रोयौ ऐ।" टल्ली बिचारौ झकमारि कें म्हाँते डिगरि आयौ।" आइकें उदास बैठि गयौ। जुगती आयौ और बातें बोल्यौ—"कहि भाई, टल्ल चली कै नाँ चली। टल्ली बोल्यौ—"भाई, नाँइ चली।" जुगती बोल्यौ—"चलि, अब हमारे साथ चलि, और म्हाँई चलि जहाँ कल्लि कही काई और बाई बातें फिरि कहियौ।" जुगती और टल्ली दोऊ गए और बाई अवाँने पै जाइ बैठे। जुगती बोल्यौ—"चोजी, कल्लि जाँने ऐसी कहाबात कही।" वे बोले—"बात कही थाँनें धूरि, कहूँ कुत्ता आधे सरग रोंमत ऊ हुंगे।" जुगती बोल्यौ—"साँची तौ कही, याँमें कहा झूठ बोल्यौ ऐ जितौ नेंक ऊ नेंक साँची ऐ। देखौ, राति कुतिया ब्याई सो बाके लहौरे-लहौरे पिल्ला बाके जौरे डोलि रहे, ऊपर ते एक भैरौंनी भई चील आई, और पजेन में एक पिल्ला ऐ दबाई लै गई, सो बु पिल्ला आधे सरग काँइ-काँइ कर रह्यौ ओ। बताऔ सिरदारौ, बु पिल्ला आधे सरग काँइ-काँइ करि रह्यौ कुत्ता नाऔ तौ कोन औ। सिरदार बोले—"भाई, साँची कहरवे। जरूर कुत्ताई रोयौ। ऐसें हमें कहा खबर ई तैनें ई तौ बताई ऐ।" अब जुगती और टल्ली दोऊ आरे-आने घर कूं आए। जुगती बोल्यौ—"कहौ टल्ल चली।" टल्ली बोल्यौ—"चली भाव, चली।"

\

३१

जितौ बु चौं, बु तौ जि चौं

एक बिरांमनु परदेसैंन कूं गयौ। बाकी बहू और छोरा घर पै रहि गए बु अपनी बहू ते कहि गयौ कि जा छोरा ऐ खूबु अच्छी तरें राखिऔ।

वा बिरांमनी कौ एकु गैर आदिमी ते मेलु ओ। बु रोजु बा के जौरे आयौ करतु ओ। एकु दिनाँ एकु रस्ता चलतौ बिरांमनु आयौ और वाई की पौरी में ठहरयौ। राति कूं बा लुगाई कौ यारु आयौ। जब बे दोऊ खूबु घुलि-मिलि कें बात करिबे लगे, सोई छोरा रोइ उठ्यौ। बाँनें कही—"आरी, अपने छोरा ऐ राखि आ।" बु छोरा के जौरे गई और दबदोरि कें सुवाइ आई। थोरी देर पीछें ए पोरा मारि दियौ।

जब भौतु देर है गई, तब वा लुगाई के यार नें पूंछी कि—"री, तेरे छोरा ऐ भौतु देर है गई रोयौ ऊ नाँएँ।" बाँनें कही—"तोइ का फिकिरि परी ऐ, सोइ रह्यौ होइगौ सौतेला।" बानें कही—"अरी नाँ, ला देखि आऊँ।" बु देखिबे गयौ, पीछें ते बु लुगाई ऊ तरबारि लेकें गई और झट्ट एक ई हाथ में वाकी मूड भुट्टा-सौ उड़ाइ दीयौ। फिरि फावरौ लाइ और कोठे में गड्ढौ खोदि कें अपनौ छोरा और अपनौ यारु गाढि दए। बु बिरांमनु जो बाकी पौरी में ठैरयौ का औ जा सबु कौतुक ऐ देखि रह्यौ।

सबेरे होंते बु बिरांमनु उठिकें चलि दीयौ।

(२)

आगें चल्यौ सो जाइकें एक सराइ में ठैहरयौ। ईसुर की ऐसी करनी भई कै वाई दिनाँ वु बिरांमनु आयौ और वाई सराइ में ठहरयौ दोऊँन की भेंटौ है गयौ। वा बिरांमनु नें कही—"यार,

जमाँनी बडी बुरी आइ गयौ ए। कालु राति कूं हमनें बडौ भेतुकालु[1] देख्यौ ऐ।" वाँनें पूँछी—"भाई, कहा बात ऐ।" वाँनें बाते सबु किस्सा कहि दीयौ। अब वा बिराँमनु ऐ कछु सुभा भयौ, वाँनें कही—"यार, चलि मोइ वा घर पै लै चलि, मोइ दिखाइ अ।।"

वे दोउ वा सैंहैरपनाँ में आए। वाँनें घरु बतायौ और खुदि वा पौरी में ठैरि गयौ।

वाकी लुगाई नें पूछी—"कै आइ गए का।" वाँनें कही—"आइ गए"। थोरी देर बैठि-उठि कें पूछी—"छोरा कहा गयौ।" वाँनें कही—"याँई कहूँ खेलि रह्यौ होगौ।" फिरि वाँने कही—"ला, फावरौ लै आ। जो मालु-मतौ लायौ काऊँ वाइ गाडि दें।" वु फावरौ लै आई।

वाइ वा अर्थ की तौ खबरि ई, वानें म्वाँई खोदिवौ सुरू करयौ। सोई वा लुगाई नें पीछें ते तरवारि मारी और वु ऊ मारि कें गिराइ दीयौ और हल्ला मचायौ कै "मेरी मालिकु चोट्टाननें मारि दीयौ।" सोइ म्वाँ लोग-बाग इखिट्ठे भए अब वा लुगाई नें कही—"कै, मैं सती हुँगी।" कुनबा-गोताकेन नें नाँही-नूकर करी, परि वु न मानी।

चिता रची बा पै बाँम्हन की ल्हास धरि दई और वु बिराँमनी ऊ बैठारि दई। अबु बिराँमनु पौंहच्यौ और वा नें जाइ कें बाते पूछी—"री, तैनें अपनो छोरा मारि दीयौ, अपनो मालिकु और अपनौ यारु ऊ मारि दीयौ और अब ऐसी धरमेस्सुरी बनी ऐं कि अपने मालिक के सग सती होति ऐं, जि कहा बात ऐ।" वाने ज्वाबु दीयौ—"कै, जा बात कौ ब्याँनु[2] मेरी माली की भाएली ऐ, वु देगी।" बिराँमनु जि सुनि कें वा मालिन के जौरे आयौ।

(३)

मालिन ते जाइकें वाँनें सबरी औखता कही। मालिन नें कही कै चिंता मति करै या कौ ब्याँनो मैं दुगी।"

एक दिनाँ मालिन जादूगरनी नें बिमाँनु मँगायौ और वा में बिराँमनु कूं बैठारि कें इंदर के अखाडे में लै गई और वाइ परी और अपसराँनु कौ नाँचु दिखायौ। थोरी देर में वा बिराँमनु ऐं उतारि लाई।

अब तौ वु बिराँमनु हाइ परी, हाइ परी किल्लाइबे लग्यौ। मालिन नें कही—"कै वु परी अब नाँइ मिलनी।" बिराँमन नें पूछी—"कब मिलैगी।" तौ मालिनि नें कही—"तुम अपनें पैंहलौठी के छोरा की चौमुडी पै बलि चढाइ देउ, जब मिलैगी।" बिराँमनु राजी ह्वै गयौ।

वाकौ पैंहलौठी कौ छोरा अठारे बर्स कौ ओ। दूसरे दिनाँ बिराँमनु वाइ लैकें चौमुडी कें मंदिर में गयौ और काटिबे कू तैयार ह्वै गौ। सोई मालिनि नें जाइकें वाकौ हातु पकरि लयौ और कही—"महाराज, लेउ अब मैं तुमें वा बात कौ ब्याँनो दैंति ऊँ। जि आगि ऐसी ई भयौ करति ऐ। जा अगि कें पीछें तुम अपने ज्वाँन-जमाँन बेटा ऐ मारिबे तैयार ह्वै गए, वाई आगि में वाँनें अपनो बेटा मारयौ और डर के मारे अपनो यारु और अपनो खसँमु मारि दीयौ।" बिराँमनु चुप्प ह्वै कें अपने घर कूं चल्यौ आयौ[3]।

[1]. भयानक कांड। [2]. विवरण (उत्तर)। [3]. स० क०—चद्रभान : लोहबन अपनी अंमा से सुनी।

ब्रज : लोकोक्तियाँ

ब्रज-साहित्य में लोकोक्तियों—कहावतों का भी अक्षय भंडार है। ये लोकोक्तियाँ ब्रज-साहित्य के आदि रूप 'गेय-पदों' (सूर-काल से भी प्रथम) से लेकर 'रीति-काव्यों' में भरी पड़ी हैं। यहाँ तक कि एक कवि ने तो केवल लोकोक्तियों के सहारे ही रीति-परंपरानुसार 'नायिका-भेद' की रचना कर डाली है। अस्तु, यहाँ उन सबका चयन न कर केवल 'सुकवि जगतानंद' कृत 'सौ बातेंन की बात' या 'दशम-स्कंध (भागवत) उपखान" की सभी लोकोक्तियाँ दी जा रही हैं। इन सभी कहावतों का चयन और संपादन जवाहरलाल चतुर्वेदी ने किया है।

अ

१ अंधौ बाँटै जेवरी, पाछें बछरा खाइ।
२ अपनी ओर निवाहिए वाकी वो जानें

आ

३ आँखिन देखें चेतनौं, मुख देखें व्यौहार।
४ आगि-लगते झोंपरे, जो निकसै सो लाभ।
५. आते कौं सँहुजा कहै, जाते को कहै मुक्त।
६ आयौ नाग न पूजिऐ, बाँबी-पूजन जाइ।
७. आवें-जाँइ सु हरि के लेखें।

ए

८ एक पथ द्वै काज।

क

९ कगँन देख्यौ हाथ में कहा आरसी ताहि।
१०. करै-करावै आप ही, सिर औरेंन के देइ।
११. कहूँ-कहूँ गोपाल की गई सिट्टल्ली भूलि।
१२ किस विरतें[१] पर तत्ता पाँनी।
१३. कूआ-पाँनी, कुरेंन-चेंन, गल-बाँधें निकसाइ।
१४. कूआ में कौ मेंडका, करै सिंधु की वात[२]।
१५ कूकुर चौक चढाई ऐ, चाकी चाटेंन जाइ।
१६ कै गुर जानें कोयरा, कै बनियाँ की हाट।
१७ कोऊ रूख जहाँ नहिं, तहाँ अरंडै[३] रूख।
१८ कौडी नाँही गाँठ में करै ऊँट को मोल।
१९ कौडी नाँही गाँठ में चलें वाग की सैर।
२० कौडी मार बिटौरा चूकै।

ख

२१ खाँएँ-पिएँ वर्षांमनो, सिर-चुपरें त्यौहार।

ग

२२ गई छठी की बाँनियाँ, गुड दै पिन्नी खाइ।
२३ गई बात रे पाँहुने, घी-दै, आँन्यों तेल।
२४ गधा चढै पाँचौ असवार।
२५ गाडर आँनी ऊँन की, बाँधी चरै कपास।

घ

२६ घर के घर, बाहर के बाहर।
२७ घर कौ जोगी जोगनौं, आँन गाँव कौ सिद्ध।
२८ घी सौंधौ जौ देखिऐ, कहि गोबर सौ कोथ।

च

२९ चली छाछ कौं नागरी, पाछें पीठि कँमोरि।
३० चारि दिनाँ की चाँदनी, फेरि अँधेरी रात।
३१ चेरी लातेंन-कूटिऐ, दह्यौ गुसाँइन खाइ।

छ

३२ छाँड़ें वनें न सग्रहे, ज्यों कुल-माँहि कपूत।
३३ छोटे मुँह बडी बात।

ज

३४ जग में देखी रावरे, मुख-देखे की प्रीति।[४]
३५. जाके सिर पै बोझ है, सोई करै निवाह।
३६ जाको कोऊ गिनें न गूँथें, सो लाडौ[५] की भूआ।
३७ जे हरिआई गाँ[६] चरे, ते क्यो चरे पियारि।
३८ जैसेई कता घरे रहे, तैसेई रहे विदेस।
३९. जैसौ देखौ चोल्हरा, तैसौई बन्यो बनाव।[७]
४० जैसौ देखौ साँवरौ, तैसौ पाँइ पसारि।[८]
४१ जो दिन जाँइ अँनद सौं, जीवँन कौ फल सोइ।

१. पाठा०—बिसे। २. कहै समुद्र कौ०। ३. तहाँ अंड कौ०। ४. कहति ग्वालिनी रिसभरी, मुख-देखे०। ५. सो लाला०। ६. कौं चरें। ७. बन्यों बिसातु। ८. जैसौ देखौ सौंवरौ, तैसेई पाँइ०।

४२ जो हूं दाझ्यौ दूध कौ, पीवै फूंकें छाछ।
४३ जौ गदहा हर-जोतिऐ, तौ क्यों लीजै बैल।
४४ ज्यों-ज्यों भीजैं कांमरी, त्यौं-त्यौं भारी०।

ट

४५ टट्टू-मारेताजी त्रास।[1]

ठ

४६ ठालो नांइन मूंडै पटा।

ड

४७ डेढ बकांइन देखिऐ, मीयां बैठे बाग।[2]
४८ डेढ सुहारी छाक में, परसे ही ते गीत।

ढ

४९ ढाक चढत बारी गिरै, करै राव सो रोस।

त

५० तेरे घाले घलि गए, कौंदा-खौंनी रौंड।
५१ तोहि बिरांनी का परी, तू अपनी निरवेर।

द

५२ दुधार गाइ की लातहु भली।
५३ देत न वनैं चुनांमनी, हरयौ लगावै सूत।[3]

ध

५४ धोवी कौसौ कूकरा, घर कौ भयौ न घाट।
५५. धोवी-बेटा चांद-सी, सीटी और फटाक।

न

५६ नए चिकनियाँ, बगल में ईंट।
५७ नदी-किनारे रुखड़ा, जब-तब होइ विनास।
५८ नाँच न आवै, आँगन टेढौ।
५९ नाँचन निकसी तौ भलें, घूंघट काहे देति।
६० नाँचै-कूदैं बाँदरा, टूक जोगनी खाइ।
६१ नाऊ बार कितेक है, आगें परि है आइ।
६२ नाज बौहरौ लै गयौ, भुस लै गई बियार।
६३ नांतरि तोहि मँधारि हो, गुड दै कांनें खाइ।

प

६४ परैया को दोष का, अपनो खोटी दाम।
६५ पानी मैं कौ बास है, करै मगर सों बैर।
६६ पिसनहारी कें छोहरा, चारैंनों को लाभ।

ब

६७ बरस दिनों पै वानगें, एकैं फागन होइ
६८ बाप न मारी मेंडिकी, बेटा तीरंदाज।
६९. बाप बिनोंग बापुरो, पूत भयौ पौनार।

७० बूढौ बरद, पाट की नाँथ।
७१, बैठे ते बेगार भली।
७२ बैल न कूद्यौ, कूदी गोन।

भ

७३ भात-लपेट्यौ साग है, साग लपेट्यौ भात।
७४ भुस-ऊपर कौ लीपनो, ज्यों बारू की भीत।
७५ भेड जु भाँती देखिऐ, मेंगनि भाँती देख।

म

७६ माँगैं भैंस रुकांमनी, करै पडा कौ मोल।
७७ मार बफाती खीचरी, यै घर आज न काल।
७८ मारयौ घोटू आइ कें, फूटयौ जाइ लिलार।
७९ मूंग-मोठ में कोन बडौ।
८०. मैंहुता दुरे पयार में, को कहि वैरी होइ।
८१ मो पिय बात न बूझ ही, धन्य सुहागिनि-नाँम।
८२ म्हो में राँम, बगल में छुरी।

र

८३ रोवै कोऊ मुडामनी, कोऊ रोवै मूड।

ल

८४ लगि जैहै तौ तीर, नातर तुक्का जाँन।
८५ लरिका रोवैं माँड को, माँगैं पितर सराध।
८६ लाडैं आई डोकरी, लागी गूदर खाँन।
८७ लेहु परौसिन झोपडी, नित उठि करती रार।
८८ लैंहगा-टाट, पाट की तनी।

स

८९ सपत होइ तौ घर भलौ, नातर भलौ बिदेस।
९० साँप जो मारौ चाँहिऐं, दियौ पाँहुनें-हाथ।
९१ सात मामा की भाँनजी, सदां मरै है भूँख।
९२ सोलै बेटा नाक कौ, कटै बटोही जाँन।
९३ सूनें घर कौ पाँहुनो, ज्यों आवै त्यौं जाइ।
९४. सूनो घर भिडयँन कौ राज।
९५ सोई नारि सबतें बडी, जाकी कोठी ज्वार।
९६. सोनो और सुगंध।
९७ सौ गाहा मूआ पड्यौ, मत बिनाई गाड।
९८. सौ यानैंन की बात।

ह

९९ हँसिया निगलत हौं मुख पड है।
१०० हड़ुवा बंडैन देनि नाहिं, घरैं सुनवौं-सौ सोन।
१०१ हरियाई पे मग में, कपिलाह को नाग।

1. दूसरा रूप—भागो-भागें, कुकौं बोरें। 2. भेड बकाइन वे०। 3. पाठां०—चुनवौ न आवै, हरयौ बनावै०।

ग्राम्य-लोकोक्तियाँ

संकलन-कर्ता—बालमुकुंद भारद्वाज

अ

१. अवरैंम वँनु फलतु ऐ, पाँच वरस या सात वरस ।

२. अन्न-धँन अँनेक धँन, सोनो-चाँदी आधौ धँन, पूछि किरामत नास-धँन ।

३ अपनी-अपनी तूती औ अपनो-अपनो राग ।

४ अपनेई मरे सरग दीखत्वै ।

५ अपनोईं धाँम खोटौ तौ, परखँनवारे ऐ कहा दोसु ।[1]

६ आँखि कौ काजर, नाँक कू भारी होइ है ।

आ

७ आँनिहार वहू, वहेंडाऐ स्याँप वतावै ।[2]

८ आप काज, महा काज ।

९ आयौ और वरात कौ, दूल्हैं गाजर खाइ ।

१० आलस-नींद किसाँनैं खोवै, चोरैं खोवै खाँसी । टका-व्याज वावाजी ऐ खोवै, राँडैं खोवै हाँसी ।।

११. आस विराँनी जे करैं, सो जीमत ई मरि जाँइ ।

उ

१२. उधारिया, पासगै नाँप देखै ।

ऊ

१३ ऊधौ कौ लैंन, न माधौ कौ दैंन ।

ए

१४. एकुतौ वुरी, और वुरेई गीत गावै ।

१५. एकु पूत मति जँनमैं माइ, घर रहै कै वाहर जाइ ।

१६ एकु लटी द्वै असाढ, काँनी आँख चँमकदार । चारिवे गई दूरि कौ हार ।।

१७ एकु लिखतैंम, सौ वकतैंम ।

ऐ

१८ ऐसीई नकटी देवी और ऐसोई पेटू पुजारी ।

ओ

१९ ओछे की प्रीति, झोल[3] की तापनो ।

२० ओछौ वास, कुल कौ नास ।

२१ ओड, गडरिया, नाऊ, जि भेद न दिगें काऊ ।[4]

क

२२ कथा-धरि लई झोरी, चँमार गिनैं ना कोरी ।

२३ कँमीनयार, कुद-हथियार, कवऊँ न उतरै पार ।

२४ करकेंटा की चोट विटौरा पै ।

२५ करनी तौ जोई करै, जाके कुल वनि आई होइ ।

२६ करैंम धनी कौ, जसु लटियाई कौ ।

२७ कहे ते कुँम्हार गधा पै नाँ चढै ।

२८. कागा हंसु न गधा जती ।

२९ काठ की तौ एकु ई पौत चढै ।

३० कारी अच्छर भैंस-वरावरि ।

३१ किसवी किसवु करै तौ छजै, नाँई तौ मूड-मोगरा वाजै ।

३२ कूआ की माँटी कूआ ई में लगि जाऐ ।

३३ कोरिया की छोरी, केसर कौ तिलक ।

३४ क्वारी कन्या, सैंस[5] वर ।

३५. कौवा हंस, न वगुला जती । (वनि॰-व्यौपारी)

ख

३६ खेती, खसँम सहेती, धँन आस-पास ।

ग

३७ गँमार की टाँटि में अकलि होइ है ।

३८ गधा न कूदी, कूदी कौन ।[6]

३९ गधा ना ओ, रैंगटा ओ ।[7]

४० गयौ मरद जाँनैं खाई खटाई, गई राँड जाँनैं खाई मिठाई

४१ गई दुकाँनु जहाँ भई अयाँई ।

४२ गाँम कौ जोगी जोगनाँ, आँन गाँम कौ सिद्ध ।

४३ गाँम में ढूसर, वाडे में ऊसर ।

४४ गाडी ऐ देखिकैं लाडी के पाँम फूल जाँऐं ।

४५ गाडीवारे की नारि जैंनम दुखिया ।

[1]. अपनोईं दाँम खोटौ होइ तौ परखँनवारे ऐ कहा लगत्वै । [2]. आँनिहार वहू वडेडा ऐ स्याँप वतावै । [3]. फूंस कौ तापनों । [4]. जति-संबंधी । [5]. सहस्र का व्रजभाषा रूप । [6]. पाठां॰—गधा न कूदो, कूदी गोन । [7]. गधा नाँऊ, रैंगटाऊँ ।

४६ गिनें न गूँठे में लाला की मूआ ।[1]

४७ गुड़-खांइ गुलगुलनु तें आँनि करें ।

घ

४८ घरु आँएं नाग न पूजिए, बाँबी पूँजन जाइ ।

४९. घरु खीरु तौ बाहरु खीरु ।

५० घर-घर चूल्हे माँटी के ।

५१. घर-घर देखौ, एकु ही लेखौ ।

५२. घी सँमारें रसोई, नाँमु बहू कौ ।

५३. घुट्यौ बाबाजी पिसी दवाई, इनकी-शाख कहा पै भाई ।

५४ घुड़-सवार गिरि परै, गिरै का पीसैंतुहारी । मायाधारी लुटै, लुटै का जैंनमु-भिकारी ।।

५५ घ्यौ कहाँ गयौ, बैसांदर में ।

५६ घ्यौ न खायौ कुप्पा ई बजायौ ।

च

५७. चलि बौ तौ सड़कु कौ, चाएँ फेरुई चौ न होइ । रहिबौ तौ मैयाँन कौ, चाएँ बैरुई चो न होइ ।।

५८ चलिबौ भलौ न कोस कौ, दुहिता भली न एकु । करजा भलौ न बाप कौ, जौ हरि राखै टेकु ।

५९ चारि पैसा की हँडिया तौ फूटी, परि कुत्ता की जाति पैंहचाँनी गई ।

६०. चारि मरिंगी राँमजनी, जब एकु मरैगौ जिंदा ।[2],

६१. चारि महीनाँ ताल कौ, चारि महीनाँ हाल कौ।[3]

६२ चालनी में धार काढ़ै, करु में टटोरै ।

६३. चीजु गँमावै अपनी, चोरै गारी दे । चोरु बिचारौ कहाकरै, जब धँनी खबरि ना लेइ ।।

६४ चोरुबै तौ पिटतौ देखैं, खाँमतौ न देखें ।

६५ चोमंगि के रिपटे कौ और राज के पिटे कौ डरु नाएँ ।

छ

६६ छाछि-माँगन चली पीठि-पीछें धौनाँ ।[4]

ज

६७ जब ई भेड़ पसरु कूँ निकरी, तब ई लैं गयौ ल्यारी ।

६८. जब ई मुड़िया नें मूड़-मुड़ायौ, तब ई परि गए औरे ।

६९. जब गीदरा की मौतु आँमित्वै तौ गाँमु-साँमई भागै ।

७०. जबरदस्त कौ ठेंगा सिर-परु ।

७१ जमीन-जोरू जोरु की, जोरु-घटे पै और की ।

७२ जाँन न पैंहचाँनु, चारि महीनाँ मार्झें रहि जाँन दै ।

७३. जाकी तौ हूरेनु में ई फूटी एँ ।

७४. जाकी नारि सुलाखिनी, जाके कोठी धाँनु ।

७५ जा कौने जौ ब्याके द्वार ।

७६. जाकौ बैंनियाँ यारु, वाइ दुसमनु का दरकार ।

७७ जा घरु-नाँएँ बड़ा, सो घरु डिग्गैम-डिग्गा ।

७८ जाट, भिखारी, भिड़हरा, बार न जाँनें कुवार ।

७९. जैसी तेरी कौमरी, वैसे मेरे गीत ।[5]

८०. जैसे चले बाबुला, वैसे चले काबुला ।

८१. जैसौ गुरु डारैगौ, वैसौई मीठौ होइगौ ।

८२. जैसौ देसु, वैसौ भेसु ।

८३. जोरु-जोरु मरि जाइगी, मालु जँमाई खाइगौ ।

झ

८४. झूठा खईएं मीठे कूँ ।

ट

८५ टाँट-पिटाँमनीं डोकरी, चूल्हे कूँ डडोत ।

ठ

८६ ठाली बहू के नोन में ई हाथु ।

त

८७ तीनुपा चूँन, मुश पै रसोई ।

८८. तेरी मानें खसँमु कियौ, बुरी करी जो छोड़ दियौ ।

८९. तेलु तौ तिलीनु में ते ई निकरै ।

थ

९०. थोथौ फटिकै उड़ि-उड़ि जाइ ।

द

९१ दतुला-खसँमु की हाँसी न साँमी ।

९२. दस रोकु, न बीसु उधारु ।

९३. दादी धँन्ना, एकुई सैंन्नो ।

९४. देवी दिनु काटै और पडा परचौ ई माँगै ।

९५ देना-देना डारु, कुना-कुना ब्यौहारु ।

[1]. कोई गिनें न गूठे पर मैं० । [2]. पाठा०—चार मरैंगी रामजनी तब एक मरैगौ बंदा । [3]. पानी के विषय में । [4]. पाठां०—पीठ-पीछें धौंनाँ । [5]. पाठां०—जैसी तेरी तुंमरी० ।

घ

; बलूके की राजु।

उए सब नगे।

न

ग्राए, पैहरें बैठे झंग।

सुर ते।

ई में मवासो।

ह्वाइ, कहा निचोरै।

ँमा को होइ।

तैतौ न दो जैने ग्राँमैं।

बरसो गुरु माँगै।

बाँसु को नहुग्राँ।

नैं नाँइ, ग्राँगनु टेढ़ौ बतावै।

ग्रौर पुजारी, इन्हें छोड़ि कीजै

यारी ग्रौर जी की जंजाल।

ाँन ढोक-सा।

लच्छि खेवते पै।

पूत करै, खेवती डड मरै।[1]

ग्रावै, नाँ घटा बाजै।

वा, बगल में ईंट।[2]

घई[3],चाएँ तनखा कछुई मति देइ।

ो, भरभूजेंनु।

लुगाई, देसु की भाभी।

ी पीरे टकाँनु ते काँमु,

ई बैठी राँड है जाइ।

ी कै छीकि पाँमु।[4]

प

११९ पढ़्यौ तौ ऐ पर गुंन्यौ नाँएँ।

१२०. पयौ न पीस्यौ, ग्राधौ ई दीस्यौ।[5]

१२१ परायौ पूत परदेसी दाखिल होइ।[6]

१२२ परायौ मनु परदेस-बराबर।

१२३ पाँच पंच मिलि कीजै काजु, हारें-जीतें न ग्रावै लाज।

१२४. पीठ में लड्डू भवानी करै,, सबरौ घर पूजा कूँ चलै।

१२५ पूत के पाँमु पालने में दीखजात्वें।

१२६ पैसा स्वाद कूँ, कै बाद कूँ।

ब

१२७ बर रहै, बराती रहैं, परि माँगै झगाबारी-क्यौ रहै।

१२८. बाँमन-नाऊ-कूकरा ए जाति-देखि घुर्राऊ।

१२९. बासी बचै न कुत्ता खाइ।

१३०. बिटौरा में ते ऊपरा ई निकरैं।

१३१. बिनाँ बुलाएँ जाइ टाँडें-टाँडें गावै।

१३२. बिसु देइ परि बिसबास न देइ।

१३३ बीनैं कडा, गावैं भात ई।

१३४ बुही छिनरा बुही डोला के संग।

१३५. ब्याज-भाड़ी-दच्छिनाँ, पीछें रहै सो कच्छ नाँ।

भ

१३६ भरै न भरैंनु देइ।

१३७ भीतु फूटें, भीतनाँ ई बनें।

१३८ भूत-विद्या-मलई, बारह बरस चल लई।

१३९. भैया काठी में कै लाठी में।

१४०. भैं सोवै, भूखन मरै, जमैं की बैहैन बरात।

म

१४१ मति बारे की मा मरौ, मति बूढ़े की जोइ।

१४२ मन चंगा तौ कठौती में गंगा।

१४३. मन भोगिया, करँमु दरिद्री।

१४४ माँनि न माँनि मै तेरौ मैहमाँन।

१४५ माँनैं तौ देउ, नाँई तौ भीत कौ लेउ।

१४६ मा तौ डोलै पुथी-पुथी कूँ पूत बिटौराई बक्सै।

१४७ मा तौ मरी धीग्र कूँ, धीग्र मरी बोगराँन कूँ।

१४८ मूँह मारे कौ बागडौ, बैलाए कौ जार।

१४९ मैनाँ-गूजर कजर, कुत्ता-बिल्ली-बदर।
जो ए छै नाँ होवें, तौ खोल किवरिया सोवें।।

र

१५०. रँडुआ की बेटी, कहा जानैं कुनबा की सारि।

१५१ रँम जाइ न राउर जूझै।

१५२ रहिऐ सुक्ख तौ रहिऐ सुक्ख।

१५३ रहै तौ रँडुआ रोटी खाइ, जाइ तौ रडुआ का लै जाइ।

[1]. पाठां०—नानी खसँमु कर, खेवतौ०। [2]. पाठां०—नाँम घनिग्राँ, बगल०। [3]. घरिहै—परहे। [4]. पाठां०—नंगी भली कै ग्रौंकें पाँइ। [5]. जो महमान जल्दी-जल्दी ग्रा जाता है, उस पर। [6]. पाठां०—ग्रपनो पूत लुकायो, दूसरे कौ ढींगरा।

१५४ राँड़ के पाँम सुहागिलु लागी हूँ जा मैंनाँ मो-सी।

१५५ राँड ते आगें कोसनो नाँ, ओरु साँझ ते आगें अवार नाँ।

१५६ राँड तौ बुड़ी जाकौ मैया मरि जाइ, खसँमु तौ दूसरौ ऊ करि लै।

१५७ राँड न माँनें वीनती, चनाँ न माँनें जोत।

१५८ राँड रँडापो जब काटै तब रँडुआ काटँनु देइ।

१५९ राँड, साँड अरु भुआ मैंता, बिमरि जाँइ तौ होवै कैसा।

१६० राजा कौ दाँन, परजा कौ न्हाँन, बराबरि होइ।

१६१ राजा हू चोरी करै, न्याव कोन घर जाइ।

१६२ रिपटि परे की हरि-गंगा ऐ।

ल

१६३. लड़ा मारी पाँसुरी, भरि-भरि धोनी देइ।

१६४ लपसी ते तौ भेंटा नाँइ होइ, फिरु दिलद्दर की जेंटु क्यों छोडै।

१६५ लालु जाट पिंगल पढै, परि एकु भुच लागी रहै।

१६६ लैंनाँ एक, न दैंनाँ द्वै।

व

१६७ वा दाता ते सूँम भलौ जो पैंहलें ई करि दे नाँईं।

स

१६८ सजोगी कौ जाँमु, कबऊँ न आवै काँमु।

१६९ सवाँईं चराँईं बालमाँ, इनकी बादर माँऊँ पूछ।

१७० सब राति पीस्यौ और परिया में सकेरै।

१७१ सबरी राति रोई परि एकु ई मरयौ।

१७२ सबेरे कौ मेहु, साँझ कौ मैंहमाँनु टार ते नाँइ टरै।

१७३ सनुझै सोई हारै।

१७४ साँमनु के आँधरे ऐ हरयौ ई हरयौ सूझै।

१७५ सात-पाँच की लाकडी, एक जने कौ बोझु।

१७६ सुतैमनि तौ बौहतेरी, परि छोकू का खसँमु के हाड।

१७७ सेर के तौ लटकते ई आमें एँ।[1]

ह

१७८ हते कूँ हँनिएँ, पाप-दोप नाँ गिनिएँ।

१७९ हाँ कौ मरै, नाँ कौ जीवै।

१८० हाकिमु की अगारी और घोड़ा की पिछारी न आवै।

[1]. सस्ता—थोड़े मूल्य में बहुत मिलने पर।

ब्रज-मंडल के मेले और उत्सव

यदि हम मथुरा की सीमाओं को 'ब्रज-मंडल' मान लें तो इन मेलों का विवरण एक नवीनता रखता है। विशेष रूप से ये मेले श्री कृष्ण तथा अन्य देवताओं से संबंधित हैं। यही नहीं मेलों के साथ-साथ उत्सव भी बढ गये हैं। इसलिये यह उचित होगा कि उनका पृथक्-पृथक् विवरण दिया जाय। ये मेले तिथि और मास में अनेक विधियों से रचे जाते हैं। चैत्र से फाल्गुन तक का ब्यौरा निम्न लिखित है। प्रत्येक मास के अतिरिक्त इनका संबंध स्थान से भी होता है। मथुरा-मंडल वनों, उप-वनों का प्राचीन केंद्र और कूपों, नगरों, तडागों आदि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। प्रभु की परम पावन इस जन्म-भूमि की महिमा जानने का किसे चाव न होगा?

"नाराइन ब्रज-भूमि को सुर-पुर नावें माथ।
जहाँ आइ प्रभु अवतरे, श्री कृष्णचंद्र ब्रजनाथ।।"

यदि इस प्रकार की निष्ठा रखकर इन मेलों का आनंद प्राप्त हो तो उसकी भावना का प्रगट करना असंभव है—

"नाराइन यह प्रेम सुख, मुख सो कह्यौ न जाइ।
ज्यों गूँगो गुड़ खात है, सैनॅन स्वाद लखाइ।।"

इस दोहे के अनुसार मुख्य स्थान ये हैं—

"ब्रज-चौरासी कोस में, चार गाँम निज धाँम।
बृंदावन और मधुपुरी, बरसाँनो, नँदगाँम।।"

प्रसिद्धि की दृष्टि से यहाँ सर्व प्रथम मथुरा का वर्णन किया जाता है।

मथुरा

चैत्र शुक्ल षष्ठी को श्री यमुना जी का जन्मोत्सव-मेला होता है। श्री विश्रामघाट पर फूल-बंगला व गीतों आदि का प्रबंध बड़ी श्रद्धा एवं उत्साह से होता है।

१. राम-नवमी—रामजी-द्वारा।
२. जैन तीर्थंकर महावीर का मेला चौरासी में।
३. गंगा दशहरा—यमुना-स्नान।
४. जन्माष्टमी।
५. दशहरा—पाँच दिन तक महाविद्यालय के मैदान में।
६. दीपावली।
७. यमद्वितिया।
८. मोहर्रम।
९. हर एकादशी को मथुरा की परिक्रमा की जाती है।
१०. गोपाष्टमी-गोचारण का मेला कार्तिक सुदी ८ को होता है।
११. अक्षय नवमी को भी मथुरा की परिक्रमा की जाती है।
१२. देवोत्थान एकादशी को युगल-जोड़ी की परिक्रमा की जाती है।
१३. कार्तिक पूर्णिमा—यमुना-स्नान।
१४. वसंत पंचमी—श्री केशवदेव जी का मंदिर।

१५. सलूना—श्रावण पूर्णिमासी। श्री केशव देव जी का मंदिर।
१६. कार्तिक शुक्ल सप्तमी—धोबी-वध।
१७. कार्तिक शुक्ल दशमी—कंस-वध।
१८. अश्वनि-कृष्ण पक्ष अष्टमी, परिक्रमा मथुरा की पांच रोज।
१९. साँझी।
२० राम-लीला।
२१. अश्वनि शुक्ल पक्ष एकादशी—भरत मिलाप।
२२. अश्वनि शुक्ल १५—शरद-पूर्णिमा।
२३. कार्तिक प्रतिपदा अन्नकूट का मेला।
२४. यमद्वुतिया।
२५. असाढ़—देव-सोमनी एकादशी।
२६. फाल्गुन शुक्ल पक्ष नवमी—बहू जी के बाग की होली।
२७. चैत्र कृष्ण पक्ष १—केशव देव जी के मंदिर का मेला।
२८. चैत्र कृष्ण १ से ११ तक—फूल डोल का मेला।
२९. वैशाख कृष्ण ३—अक्षय तृतीया का मेला।

मथुरा में श्री द्वारिकानाथ जी, श्री मदनमोहन जी, तथा श्री दाऊ जी के मंदिरों में उत्सव और मेले होते हैं। ये उत्सव व्रज-वासियों की अभिनंदनीय भगवद्भक्ति के लिये प्रसिद्ध हैं, जो किसी भी उत्सुक व्यक्ति को आकर्षक और रोचक लगेंगे। एक उत्सव वसंत के दिन से व्रज-विलास के कीर्तन का आरंभ होता है और पूरा होने पर नगर कीर्तन होता है।

कार्तिक शुक्ल पक्ष १—अन्नकूट, ६ बजे गिरिराज-पूजा, दो बजे से चार बजे तक परिक्रमा होती है। फिर अन्नकूट के दर्शन। भैया-दूज।

अष्टमी—गोपाष्टमी-उत्सव गायों की पूजा, भगवान का गौचारण। एकादशी और द्वादशी को झाँकी होती है।

अगहन सुदी १२—व्यंजन-द्वादशी।

पौष कृष्ण सप्तमी—श्री द्वारिकानाथ जी का छप्पन भोग।

पौष शुक्ल दशमी—प्रत्येक रविवार, पूर्णिमा और अमावस्या को सूर्योदय से पहले राज-भोग होता है। माघवदी अमावस्या और नवमी को मंगल-भोग होता है।

वसंतोत्सव—श्रीजी की होली का खेल—गुलाल, अबीर और चंदन की होली। शयन के पश्चात् श्री भागवत का पूजन।

माघ-पूर्णिमा—को डोल-द्वप पर स्वाँग होते हैं।

फाल्गुण कृष्ण सप्तमी—श्रीनाथ जी का पाटोत्सव, श्री चरण का दर्शन।

फाल्गुण कृष्ण अष्टमी—श्री यमुना जी पधारती हैं और रंगीली होली का उत्सव।[1]

फाल्गुण कृष्ण एकादशी—कुंजोत्सव।

फाल्गुण कृष्ण त्रयोदशी—बगीचे का उत्सव (मंदिर में)।

फाल्गुनी अमावस्या—होली पूजन।

चैत्र कृष्ण १—दोलोत्सव, ४ झाँकी।

१. इस दिन श्री मदनमोहनलाल जी अपने मंदिर से होली खेलते—गुलाल उड़ाते हुए बगीचे पधारते हैं और वहाँ होली खेलकर तथा भोग आरोगकर पुनः अपने मंदिर को बाजारों में घूमने—रंग उड़ाते हुए पधारते हैं।

चैत्र कृष्ण दोज—पाटोत्सव। राजभोग से फूल मंडली में विराजमान वैशाख शुक्ल द्वितीया तक।
वैशाख कृष्ण एकादशी—श्री वल्लभाचारी जी का जन्मोत्सव।
वैशाख सुदी अक्षय तृतीया—राजभोग के समय श्रीभागवत जी का पूजन।
वैशाख चतुर्दशी—श्री नरसिंह जी का उत्सव।
ज्येष्ठ बदी—जो सूर्य जिस दिन रोहणी नक्षत्र में हों उस दिन से श्रीजी के वदन में चदन उत्सव।
ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी—श्री यमुना जी साक्षात् श्रीजी के सामने पधारती हैं। फूल बगले अक्षय-तृतीया से रथ-यात्रा तक बनते हैं।
ज्येष्ठ शुक्ल दशमी—श्री गंगाजी का उत्सव।
ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी—श्री द्वारिकाधीश जी महाराज का बड़ा उत्सव।
आषाढ़ कृष्ण एकम—ज्येष्ठा नक्षत्र के प्रारम में श्री जी के स्नान का परमोत्सव, स्नान के समय वेद-मंत्रों से स्नान-दर्शन।
आषाढ़ कृष्ण अष्टमी—श्री द्वारिकाधीश जी का पाटोत्सव। श्री पारख जी ने श्रीजी को विराज-मान किया है।
आषाढ़ शुक्ल द्वितीया—पुष्य-नक्षत्र में रथ-यात्रा का उत्सव।
आषाढ़-पूर्णिमा—पूर्णमासी का उत्सव।
श्रावण कृष्ण एकादशी—श्रीजी का हिंडोला-उत्सव। प्रत्येक दिन हिंडोला झूलते हैं, घटाएँ बनती हैं।
हरयाली अमावस्या का उत्सव—घटा, फुहारे, रोशनी की धूम-धाम रहती है।
श्रावण शुक्ल तृतीया—लाड़ली जी का उत्सव, श्रीजी का फूलों के हिंडोला में विराजना।
श्रावण शुक्ल चतुर्थी—जामुनी घटा।
श्रावण शुक्ल पंचमी—नाग पंचमी-उत्सव।
श्रावण शुक्ल षष्ठं—लाल घटा।
श्रावण शुक्ल अष्टमी—गुलाबी घटा।
श्रावण शुक्ल दशमी—श्याम घटा, चंद्र मडल, तारागण प्रकाश करते हैं।
श्रावण शुक्ल एकादशी—पवित्रा धारण।
श्रावण शुक्ल द्वादशी—श्री गुरुदेव को पवित्रा रखा जाता है। हिंडोला रोहिनी-चौक में पधारना।
श्रावण शुक्ल चतुर्दशी—सफेद घटा का उत्सव।
पूर्णमासी—रक्षा-बंधन।
भाद्रपद अष्टमी—जन्माष्टमी उत्सव। श्रीजी का पंचामृत स्नान, श्रृंगार, नई ध्वजा, ब्रज का महान् उत्सव।
भाद्रपद कृष्ण नवमी—नव बजे नंदोत्सव, नंद बाबा, गोपी, ग्वाल। श्रीजी पालने में झूलते हैं, यशोदा जी झुलाती हैं। भाद्र पद शुक्ल सप्तमी तक प्रतिदिन श्रीजी पालने में झूमते हैं।
भाद्रपद कृष्ण एकादशी—प्रत्येक एकादशी को जागरण, सावन से रासलीला होती है। नंद-उत्सव का रास होता है। ढाँड़ी-ढाँड़ा नाचते हैं। यह आठ रोज का उत्सव होता है। अनेक जगह प्रभु-लीला होती है।
राधा-अष्टमी—श्री राधाजी का छै दिन उत्सव होता है। आठ दिन तक ढाँड़ी-ढाँड़ा नाचते हैं।
भाद्रपद शुक्ल एकादशी—दान-लीला उत्सव। गोपी-ग्वाल का दान-लीला उत्सव।
भाद्रपद शुक्ल द्वादशी—श्री वामन-जयंती-उत्सव।
आश्विन शुक्ल ६ से—नौ दिन का मकट-काछनी का शृंगार।

आश्विन शुक्ल १०—श्रीजी शस्त्र धारण करते हैं। घोडा-पूजन व अन्नकूट-प्रारंभ होता है।

आश्विन शुक्ल १५—शरद-पूर्णिमा उत्सव के दर्शन।

कार्तिक शुक्ल १५—दीपदान आदि गोवर्धन-पूजन। श्री पुरुषोत्तम मास, काँसा-पात्र दान। नई सामग्री का भोग। यह परम उत्सव नियम पूर्वक एव भाग्य-वश व्रज-वासियो को ही मिलते हैं।

श्री वृंदावन

१ वसंत पंचमी—वसत पचमी के दिन शाह जी का मदिर कई प्रकार से सजाया जाता है। उसी में एक कमरा वसती रग के कपडो, झाड-फानूसो से सजाया जाता है जो कि बडा सुदर लगता है। श्री बाँकेविहारी जी की झाँकी।

२ शिवरात्रि—गोपेश्वर महादेव के मदिर में झाँकी होती है।

३ होली—श्री बाँकेविहारी जी के मदिर में।

४ रथ का मेला—श्री रगनाथ जी का उत्सव १० दिन तक रहता है। ठाकुर जी की सवारी प्रत्येक दिवस निकलती है। नवमी को रथ निकलता है, जो कि श्री मदिर से निकलकर बगीचे तक जाता है। गीत चलता है—"अब रथ पहुँचौ साँवलिया कौ दूर।" होली बडे धूम-धाम से होती है। बगीचे में फुहारे भी चलते हैं। चारो ओर से रसियो की ध्वनि सुनाई पडती है। दशमी को घोडे पर श्री रगनाथ जी महाराज की सवारी जाती है और बगीचे में पधारती है। रात्रि को आतिशबाजी छूटती है। यह मेला 'रथ का मेला' के नाम से प्रसिद्ध है।

श्री रामानुज-सप्रदाय के भक्त इस उत्सव को मनाने आते हैं और प्रभु के दर्शन पाकर जीवन सफल समझते हैं। व्रज-मडल के स्त्री-पुरुष चारो ओर से एकत्रित होकर श्री वृदावन के वक्षस्थल को सुशोभित करते हैं। श्री रामचद्र जी के उपासक श्री तुलसीदास जी ने भी श्री बाँकेविहारी जी से उसी रूप की इच्छा की थी। भगवान् ने उनकी ऐसी इच्छा के अनुसार वैसे ही दर्शन दिये।

"कहा कहौं छवि आज की, भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुष-बाँन लेउ हाथ॥"

उसी प्रेरणा के अनुसार आज भी श्री रामचद्र जी की भक्ति की ज्योति प्रकाशित है। यह मदिर दक्षिण के आधार पर बनाया गया है। सेठ जी के द्वारा श्री विग्रह ने अपने भक्तो की अभिलाषा पूरी की। इनको प्रेमी-जन ही अपने जीवन को सफल बनाने के हेतु प्राप्त करते हैं। यह होली का उत्सव शृंगार-रस के नव अगो में से है।

"नौ हो अँग सिंगार के, होरी, चोरी, दाँन॥"

—नागरिया

५, चैत्र शुक्ल अष्टमी—गगौर का मेला गणपति-गौरी की पूजा।

६ चैत्र शुक्ल नवमी—रामनवमी, राम-जन्मोत्सव।

७ शुक्ला एकम—श्री बाँकेविहारी जी का पचाग-श्रवण।

८ पूर्णमासी—श्री हनुमज्जयती।

वैशाख

९ वैशाख शुक्ल अक्षय तृतीया—श्री बाँकेविहारी जी महाराज के सर्वांग चरण-दर्शन होते हैं। मथुरा और वृदावन की परिक्रमा, बन-विहार की की जाती है और रास-लीला गान इत्यादि के अतिरिक्त हरि-कीर्तन का भी आयोजन होता है। कुछ स्थानो पर माथुरो का—बन-विहार के लीला का उत्सव आदि होते है।

१० वैशाख शुक्ल नवमी—जानकी-नवमी। सीता जी का उत्सव अक्रूर घाट पर।

११ वैशाख शुक्ल १० मी—रास-मंडल, हित जी उत्सव, श्री राधावल्लभी संप्रदाय का होता है।
१२ वैशाख शुक्ल चतुर्दशी—नृसिंहावतार। श्री नृसिंह-जयंती बड़े धूम-धाम से मनाई जाती है।
१३ वैशाख सुदी—सूर्य-जयंती।

जेष्ठ

ब्रज भर में प्रधानत श्री वृंदावन में फूल-बंगलों का पूर्णमासी के दिन आनंद रहता है।

१४ ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया—वन-विहार-परिक्रमा। आज के दिन श्री कृष्णमुरारी सखियों से खेले थे। रास-विहार वृंदावन में वंशी-बजाकर खेले थे। जल-यात्रा का उत्सव होता है, फुहारे चलते हैं। माधोदास जी के स्थान में रासोत्सव बड़ी धूम-धाम के साथ होता है।
१५ ज्येष्ठ कृष्ण पंचमी—वन-विहार, रात्रि में परिक्रमा होती है।
१६. ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी—रास-मंडल का मेला।
१७ ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी—निरजला-व्रत रक्खा जाता है।
१८ ज्येष्ठ पूर्णमासी—जल-यात्रा होती है। गज-ग्राह की लड़ाई तालाब के ऊपर सेठ जी के मंदिर में होती है।

आषाढ़

आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को रथ यात्रा का उत्सव होता है। श्री वृंदावन में शाम को बड़े रथ पर श्री ठाकुर जी विराजमान होकर 'ज्ञान-गुदड़ी' में पधारते हैं और भक्त जनों को दर्शन देते हैं। ठाकुर जी को चने की दाल और आम-जामुन का भोग लगता है।

आषाढ़ी पूर्णिमा को श्री मदनमोहन जी के मंदिर में भी धीओं का मेला तथा पवन-परीक्षा का मेला होता है।

श्रावण

श्री वृंदावन में हिंडोला के मेलों का उत्सव बड़ी धूम-धाम से होता है। श्रावण में हिंडोला राग (मलार) गाने का महत्त्व है। श्री ठाकुर जी प्रिया जी समेत हिंडोले में पधारते हैं। गायक हिंडोला-राग गा-गा कर हिंडोला में ठाकुर जी को झुलाया करते हैं। श्री स्वामी हरिदास जी महाराज, जिन्होंने श्री बिहारी जी को लाड़-लड़ाये थे और जो गान-कला में प्रवीण थे वह इस उत्सव को केवल एक ही दिन मनाया करते थे। भक्ति के कारण हिंडोले के राग में वे स्वतः मुग्ध हो जाते थे। उपस्थित भक्तों को वह सुनने को मिलता था। रास-लीला एवं गीतों से मंदिरों की शोभा और भी बढ़ जाती है। प्रिया जी मान करती है और कवि कहता है—

"नाहिं झूलुंगी नाहिं झूलुंगी, श्याम के संग में नाहिं झूलुंगी।
कालिंदी के तीरे-तीरे, हों झूलत हो धीरे-धीरे॥
कंटक ते उरझायो चीरो सो नथिया में।
नाहिं झूलुंगी, नाहिं झूलुगी श्याम के संग में नाहिं झूलुंगी॥"

श्री ललितकिशोरी जी श्री शाह जी के मंदिर में पदार्पण करती हैं। कहते हैं १०८ जोगी श्री श्री १०८ श्रीकृष्ण जी का रास करते थे। आवरण-सेज इत्यादि उसी ढंग से रखते थे। उनके मंदिर का फाटक रासलीला के लिये उसी प्रकार से बनाया गया है। अब रासलीला वहाँ नहीं होती है। बसंती-कमरा में जो कि एकादशी से त्रयोदशी तक खुला रहता है वहीं पर होती है।

श्रावण मास विशेष करके स्त्रियों के प्रफुल्लित होने का समय है। यह ऋतु होली और बसंत का-सा सबंध मनुष्य के उत्साह का समय है। मलार राग इन दिनों में ही गाया जाता है।

"सावन आया अजब बहार, रिम-झिम रिम-झिम पड़े फुहार।
सखियाँ गावें मेरी मलार, झूला चमन-चमन में डाले॥"

श्री वृंदावन के दैनिक मेले और उत्सवों का वर्णन पूर्ण रूप से एक पुस्तक में किया जा सकता है ।

"वृंदावन के राजा दोऊ, स्याँम-राधिका राँनी ।
चार पदारथ करत मंजूरी, मुक्त भरै जहँ पाँनी ।।
करम-धरम जहाँ बटत जेवरी, घर-धाए ब्रह्म-ग्याँनी ।
घट-घट प्रेम-भक्ति की मँहमा, सहचरि व्यास-बखाँनी ।।"

१९. श्रावण कृष्ण पंचमी—राधारमण जी का मेला । गोस्वामी गोपाल भट्ट जी का उत्सव ।

२०. श्रावण कृष्ण अष्टमी—लोकनाथ गोसाईं जी का उत्सव ।

२१. श्रावण शुक्ल तृतीया—दिन में चतुर्दशी तक हिंडोला-झूलन ।

२२ श्रावण शुक्ल नवमी—ब्रह्म-कुंड का मेला ।

२३. श्रावण शुक्ल एकादशी—पवित्रा धारण ।

२४ श्रावण शुक्ल पूर्णमासी—ज्ञानगुदड़ी में मेला ।

रासलीला और हिंडोला उत्सव नित्य-प्रति मंदिरों में होता है और खूब सजावटें रहती है ।

भाद्रपद

श्री राधा-जयती, श्री रसिक शिरोमणि स्वामी श्री हरिदास जी का पाटोत्सव तथा इसी दिन श्री कुंजविहारी जी महाराज के मंदिर में मध्यान्ह में रासलीला होती है और शाम को मंदिर से आप की सवारी बड़े समारोह से गोस्वामी बालक-समाज श्री निधवन-राजा के समेत पधारती है ।

"श्री स्वाँमी हरिदास के, प्रान विहारी लाल ।
बाँकी-झाँकी निरख कें, छिन-छिन होंइ निहाल ।।"

जन्माष्टमी पर श्री बाँकेविहारी जी के मंदिर में भागवत-पाठ होता है । रात्रि को जन्म होने पर दर्शन नहीं होते है । एक ही दिन मंगला-आरती तीन बजे रात को होती है । मंगला-आरती प्रति-दिन नहीं होती ।

२५ भाद्रपद कृष्ण अष्टमी—बाँकेविहारी जी के मंदिर में एक बार साल भर में मंगला होती है ।

२६ भाद्रपद कृष्ण नवमी—श्री वृंदावन में लट्ठा का मेला होता है। उसमें रंग जी के मंदिर में लट्ठे पर चढ़ने के लिये आपस में होड़ होती है । १ धोती, १ लोटा, ५ सेर मिठाई और २५ रुपये उसके सिर में बाँध दिये जाते है और जो कोई उस पर चढ़ जाता है उसको ही वह चीजें मिल जाती है ।

२७ भाद्रपद शुक्ल अष्टमी—श्री वृंदावन में मौनीदास की टट्टी के स्थान पर मेला होता है । श्री बाँकेविहारी जी के मंदिर में सिर्फ नाम मात्र को ही रास-लीला केवल एक ही दिन होती है । उसी रोज संध्या समय श्री बाँकेविहारी जी के साथ आप निधि-वन को जाते है । गोसाईं श्री रासविहारी के साथ जो कि हाथी पर सवार होते है, बड़े धूम-धाम के साथ, बाजे-गाजे के साथ निधिवन को जाते है । वहाँ रासलीला होती है । उसी दिन श्री राधावल्लभ जी के चबूतरे में रास होता है । यह जुगल उत्सव अत्यंत सुंदर और भक्ति-पूर्ण होता है ।

२८ भाद्रपद शुक्ल एकादशी—जल-झूलनी का मेला होता है । विष्णु भगवान् चार मास की निद्रा से करवट बदलते है । कल्पवृक्ष की पूजा का मेला होता है ।

२९ आश्विन कृष्ण एकादशी—साँझी, ५ दिन तक अनदी बाई जी के मंदिर में ।

३०. आश्विन शुक्ल एकम—दान-लीला, ज्ञान-गुदड़ी ।

३१ आश्विन शुक्ल दशमी—दशहरा ।

३२ आश्विन शुक्ल एकादशी—परिक्रमा का मेला होता है ।

३३ आश्विन शुक्ल पूर्णिमा—शरद-पूर्णिमा। शरदोत्सव बड़ी धूम से होता है। इसी दिन श्री कुंजविहारी जी महाराज मुरली, मुकुट, काछनी इत्यादि धारण करते हैं।
३४ कार्तिक कृष्ण तृतीया—दीपोत्सव। बिहारी जी के मंदिर में दीपावली उत्सव बड़ी धूम-धाम के साथ होता है।
३५ कार्तिक शुक्ल एकम—अन्नकूट, झांकी श्री आनदी बाई जी के यहाँ।
३६ कार्तिक शुक्ल अष्टमी—परिक्रमा, गौचारण।
३७ कार्तिक शुक्ल द्वादशी—दावानल का मेला।
३८ कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी—केशी दानव-वध, केशीघाट वृंदावन पर।
३९ कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी—काली-मर्दन घाट पर नाग-लीला होती है।
४० अगहन कृष्ण पक्ष एकम—रामलीला, हंसदास जी के मंदिर में वनखंडी महादेव पर एकादशी से कृष्ण पक्ष से पूर्णिमा तक।
४१ अगहन कृष्ण पक्ष तृतीया—बारे भास कलकत्तेवाले की कुंज में रासलीला होती है।
४२ अगहन शुक्ल पक्ष पंचमी—विहार-पंचमी, जन्मोत्सव, भरत-मिलाप।
४३ अगहन शुक्ल पक्ष एकादशी—दाऊ जी का मेला होता है।
४४ पौष शुक्ल एकादशी से माघ बदी पंचमी—चातुरमासोत्सव, श्री रंगनाथ जी के मंदिर में वैकुंठ-द्वार।
४५ मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी—श्री कुंजविहारी जी का प्रागट्योत्सव तथा श्री स्वामी आशुधीर जी महाराज तथा श्री विट्ठलविपुल जी महाराज का जन्मोत्सव। श्री बाँकेविहारी जी पंचमी को निधिवन में पधारे थे।
४६ माघ—वसंतोत्सव, वसंती-कमरा, श्री बाँकेविहारी जी का उत्सव।

"धन्य धन्य होरी अति प्यारी, लाल कपोलन की छवि न्यारी।"

४७ फाल्गुन कृष्ण—महाशिवरात्रि, श्री गोपेश्वर महादेव जी का मेला।

"नाराइन ब्रज-भूमि को, सुर-पुर नावें माथ।
जहाँ आइ गोपी भए, श्री गोपेस्वर नाथ।।"

४८ फाल्गुन ११—मानसरोवर का मेला हर एक पूर्णिमा को होता है।
४९ फाल्गुन शुक्ल पक्ष ११—फूल-डोल।
५०. एकादशी से पूर्णिमा—विहारी जी का होली-उत्सव।
५१ चैत्र कृष्ण पक्ष एकम—विहारी जी का डोल।
५२ चैत्र कृष्ण पक्ष पंचमी—कालीदह, फूल डोल।
५३ चैत्र बदी द्वितीया—ब्रह्मोत्सव। १० दिन का रथ का मेला होता है।

दिव्य दृष्टि सों देखिऐ, ब्रज को वैभव मीत।
वही स्याम-वृषभानुजा, वही प्रेम की रीति।।
वही मोर-सुक-सारिका, वही मधुप-गुंजार।
वह मरकट की नटखटी, साँडन की धुँधकार।।
वह पावस मन-मोहना, वही हिंडोल मलार।
कुंज-गली वह ही भली, सहित सो सेवा-कुंज।
वह ही निधवन राज हीं, धीर-समीर समुंज।।"

बलदेव, महावन, गोकुल और रावल

१ चैत्र-पूर्णिमा—बलदेव जी में मेला।
२ बलदेव छठ—भाद्रपद शुक्ल पक्ष।
३ गोचारण लीला—गोकुल, महावन, बलदेव।

४ अखंड कीर्तन—गोकुल-बलदेव ।

अगहन सुदी पूर्णमासी के दिन सात दिन का मेला लगता है। नदोत्सव।

गोकुल

१ भादों कृष्ण पक्ष अष्टमी—जन्माष्टमी ।

२ अन्नकूट—कार्तिक शुक्ल पक्ष एकम ।

३ मेला तृणाव्रत—कार्तिक कृष्ण पक्ष चतुर्थी ।

४ महावन—आश्विन मास में राम-लीला ।

५ कार्तिक शुक्ल अष्टमी—पूला मेला ।

६ माघ मास—रविवार, मेला जखैया ।

७ फाल्गुण शुक्ल एकादशी—रमणरेती का मेला ।

८ कार्तिक शुक्ल पंचमी—परिक्रमा महावन, गोकुल और रावल की।

चैत्र

बलदेव जी के मंदिर में पूर्णमासी को रावण मारा जाता है और रामनवमी से राम-लीला आरंभ होती है ।

गोवर्धन-राधाकुंड

१ आषाढ़ी पूर्णिमा—पूजा ।

२ दीपमालिका—अन्नकूट ।

प्रत्येक चतुर्दशी और पूर्णिमा को परिक्रमा होती है और मेला भरता है।

३ कार्तिक कृष्ण पक्ष अष्टमी—राधाकुंड में मेला भरता है।

छाता तहसील

ब्रजमंडल का यह खंड विशेष रूप से ब्रज-सभ्यता का केंद्र रहा है। यहाँ पर अब भी वही प्राचीन शांति-भाव रूप से भक्ति देवी विराजमान है।

१ कोसी कलाँ—यह नंद बाबा का कोषस्थल है। यहाँ के मुख्य मेले तीन हैं। दशहरा—यह मेला ८० वर्ष से होता चला आ रहा है। इसे लालसिंह खत्री और दरबारीसिंह बनियाँ ने आरंभ किया था।

२. मोहर्रम ।

३ फूलडोल—चैत्र शुक्ल पक्ष की द्वितीया को होता है। आसपास के गाँवों से जाट-लोग मेले में इकट्ठे होते हैं। गोमतीकुंड पर फूल-डोल होता है। यह एक बड़ा भारी तीर्थ और रमणीक स्थान है।

भाद्रपद की पूर्णमासी को जल-यात्रा का भी मेला होता है।

४. बठैन कलाँ—चैत्र कृष्ण पक्ष की तृतीया को 'हुरगा' का मेला होता है। यहाँ पंद्रह-सोलह हजार आदमी इकट्ठा होता है। नटों की स्त्री और पुरुषों में लीला-युद्ध होता है। पुरुषों के पास बबूल की डाली होती है।

भाद्रपद शुक्ल पक्ष की दशमी को यहाँ रास-लीला होती है। लगभग दश-बारह हजार आदमी इकट्ठे होते हैं।

महाराजा 'सूरजमल' का बनवाया हुआ श्री मदनमोहन जी का मंदिर है। सब जाट ही इसके शिष्य हैं और चैत्र कृष्ण पक्ष द्वितीया को मेला होता है। फूलडोल में भी सभी इकट्ठे होते हैं।

५. निघमखा—में ५।६ रबी उससानी को मुसलमानों का मेला होता है।

दधिग्राम के पास भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को मेला होता है। लगभग तीन-चार हजार मनुष्य एकत्रित होते हैं। बंदूक से बनावटी युद्ध होता है। ब्रजभूषण ठाकुर जी का मंदिर है, जो कि राजा मानसिंह का बनवाया हुआ है।

६. सेही—वैशाख और कार्तिक की अमावस्या को दो मेले होते हैं, जिनमें हिंदू और मुसलमान सभी मेलो में जाते हैं। जलेसर के पास जाति बूडती है। चढावा हिंदू-मुसलमान दोनो अलग-अलग लेते हैं।

७. गाजीपुर—में भाद्रपद की शुक्ल पक्ष की द्वादशी को नटवर-लीला होती है। यहाँ पर डोगा (नाव) प्रेम-सरोवर में पडता है।

भाद्रपद शुक्ल पक्ष की अष्टमी को रासलीला और चैत्र शुक्ल पक्ष की पचमी को फूलडोल होता है।

८. करहला—भाद्र पद शुक्ल सप्तमी को रासलीला होती है। यहाँ ललिताकुड और कृष्णकुड हैं।

"हे कामिनी तु कर हिला, स्याँम पियासौ जात ।।"

राधारमण का मदिर, कदमखडी है। यहाँ पर कृष्णकुड पर मेला होता है। गोपीनाथ जी का मदिर टोडरमल-द्वारा निर्मित यही पर है।

९. सेंमरी—देवी श्यामला का मदिर है। चैत्र की नवरात्रि भर यहाँ मेला रहता है।

१० साँचौली—चैत्र शुक्ल पक्ष की अष्टमी को ऐसा ही मेला होता है और दूसरा मेला अक्षय तृतीया को होता है।

११. सियारौ—माधवराव सिंधिया के बनवाये हुए तीन छोटे-छोटे मदिर हैं। यहाँ फाल्गुन सुदी एकादशी को फूलडोल का मेला होता है।

१२. कोकिलावन—पाँडर गंगा और कुड पर भादो सुदी १० को मेला होता है।

ब्रज-मंडल तथा मथुरा जिले के मेले

सतोहा—शातनकुड स्नान, भाद्रपद शुक्ल पक्ष छट्ठ वा द्वादशी।

महोली—वनयात्रा, भाद्रपद।

जैंसिहपुरा—कार्तिक शुक्ल नवमी—युगाद नवमी। आषाढ कृष्ण पक्ष एकादशी से कार्तिक शुक्ल पक्ष एकादशी तक प्रति एकादशी को परिक्रमा होती है।

जतीपुरा—भाद्रपद शुक्ल पक्ष एकादशी को रासलीला, कार्तिक शुक्ल पक्ष एकम को अन्नकूट और प्रत्येक पूर्णमासी को परिक्रमा होती है।

छटीकरा—वूप का दिन, ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा।

बाटी—भाद्रपद कृष्ण पक्ष द्वादशी।

ऊँचौ गाँव—भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को दोपहर से पहले मेला भरता है।

प्रोवा—चैत्र शुक्ल पचमी फूलडोल, श्रावण शुक्ल पचमी को हिंडोला।

तरौली—कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी से पूर्णमासी तक (बूढे नाना) का मेल।

सियारौ—फाल्गुण शुक्ल पक्ष एकादशी फूलडोल।

सेंमरी—चैत्र शुक्ल पक्ष की नवमी को मेला, अक्षय तृतीया।

साँखी—भाद्रपद शुक्ल पक्ष पूर्णिमा रासलीला।

पिसायौ—भाद्रपद शुक्ल पक्ष नवमी, वनयात्रा।

पारसौली—भाद्रपद शुक्ल षष्ठीं।

मानपुर—भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को मानलीला, देवता का मेला।

मंडोई—भाद्रपद शुक्ल पक्ष द्वादशी फूलडोल।

खायरौ—मेला-कृष्णकुंड।

करहला—भाद्रपद शुक्ल सप्तमी।

कमई—वनयात्रा, भाद्रपद शुक्ल षष्ठी रासलीला, चैत्र शुक्ल पचमी को फूलडोल।

गाजीपुर—भाद्रपद शुक्ल पक्ष की द्वादशी।

चिकसौली—भाद्रपद शुक्ल नवमी और त्रयोदशी को मोरकुटी पर मेला।

सेही—वैशाख और कार्तिक पूर्णमासी को मेला।
सांचौली—चैत्र शुक्ल पक्ष सप्तमी, आश्विन शुक्ल सप्तमी को देवी का मेला।
फारैन—फाल्गुन सुदी पूर्णिमा को प्रहलाद का मेला।
पै गाँव—आश्विन कृष्ण सप्तमी, नरसी नाभा जी का मेला।
मंझोई—देवी का मेला, चैत्र शुक्ल अष्टमी, आश्विन शुक्ल अष्टमी।
कोटबन—चैत्र कृष्ण तृतीया हुरगा का मेला।
खरौल—चैत्र शुक्ल चतुर्दशी आश्विन शुक्ल चतुर्दशी वाराही-मेला।
जाब—वनयात्रा केंद्र, हुरगा चैत्र कृष्ण द्वतीया।
हसनपुर नगर—चैत्र कृष्ण तृतीया को फूलडोल।
हुजनाला—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी, दाऊ जी का मेला।
सिडौयौ—चैत्र कृष्ण तृतीया, फूलडोल।
धर्मासिंघा—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी रासलीला।
गौहारी—चैत्र कृष्ण पचमी फूलडोल।
वह गाँव—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को मेला।
निशमवरा—चैत्र में मेला।
बरहुनां—भाद्रपद शुक्ल अष्टमी, रासलीला।
कांमर—चैत्र कृष्ण द्वितीया—फूलडोल।
कोकिलाबन—हर शनिवार को और भाद्रपद की पूर्णमासी को मेला भरता है। भाद्रपद शुक्ल दशमी रासलीला।
बठैन कलाँ—चैत्र कृष्ण तृतीया, होली का मेला जिसमें लगभग पद्रह-सोलह हजार मनुष्य इकट्ठे होते हैं।
कोसी कलाँ—भाद्रपद की पूर्णमासी को जलयात्रा, चैत्र शक्ल द्वितीया को फूलडोल, दशहरा और मुहर्रम को भी मेला भरता है।
खानपुर—फाल्गुन शुक्ल द्वादशी को फलडोल।
मानसकुंड—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी।
राधाकुंड—कार्तिक कृष्ण अष्टमी को मेला होता है।
तारसी—भाद्रपद शुक्ल एकादशी।
पाँनी गाँव—फाल्गुन कृष्ण एकादशी।
रावल—भाद्रपद शुक्ल अष्टमी।
कुकर गाँव—चैत्र कृष्ण सप्तमी फूलडोल।
ढारौली—चैत्र शुक्ल एकम।
मरना सुर्व—चैत्र शुक्ल द्वितीया।
अकबरपुर—साह माधुरीशरण, चैत्र शुक्ल अष्टमी।
अमानुल्लापुर—बूढे बाबा का मेला।
नरी-सेंमरी—चैत्र शुक्ल अष्टमी और नवमी।
पसौली—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी।
लाड़पुर—मेला सती, बलदेव पूर्णमासी को होता है।
मझोइ—कार्तिकी पूर्णमासी।
मानपुर—भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को मानलीला का मेला।
चौमुँहा—ब्रह्मा जी का मेला, भाद्रपद शुक्ल पूर्णमासी।

छटीकरा—गरुडगोविंद का मेला, श्रावण शुक्ल अष्टमी को पचतीर्थ।
महोई—चैत्र शुक्ल अष्टमी और आश्विन शुक्ल अष्टमी को मेला होता है।

ब्रज-मंडल के नवीन मेले

मथुरा—गीता का मेला २३ दिसंबर को बिरला-मंदिर जैसिंहपुरा में भरता है।
वृंदावन—गुरुकुल का मेला। २५ दिसंबर से ३१ दिसंबर को होता है।

ब्रज में होली के मेले

ब्रजमंडल में मुख्यतः इस संबंध के मेले फाल्गुन के आरंभ ही से प्रारंभ होने लगते हैं। वसंतोत्सव को मथुरा में गुलाल की होली श्री केशवदेव जी और द्वारिकानाथ जी के मंदिर में होती है। वृंदावन में शाह बिहारीलाल जी के मंदिर में वसंती-कमरा खुलता है, जो कि यात्रियों एवं ब्रजवासियों को आकर्षित करता है।

"धन्य धन्य होरी अति प्यारी, लाल कवोलेंन की छबि न्यारी ।।
कुंज-भवन में कुंजबिहारी, अबीर-गुलाल उड़ावत हैं।
सुनों सखी यें कुंजबिहारी, राग बसंती-गावत हैं।।"

मुख्य मेले

बरसाने का हुरंगा (नवमी फाल्गुन शुक्ल)—एक व्यक्ति के अनुभव पर।

"ऐसौ रस बरसै बरसानें, सो रस तीन लोक में नांइ।
सुर तेतीसन की मत बौरी, ब्रज कें चलें सरग की पौरी,
देख देख यै ब्रज की होरी, ब्रह्मा मन-पछताइ ।।
ऐसौ रस बरसै बरसानें, सो रस तिरलोकी में नांइ ।।"

मेला-राधारानी—मांट, राया, खेडा के मनुष्य आते हैं।
अखंड कीर्तन—महावन में, लगभग पांच मील से आदमी आते हैं।
रंगीली होली—बरसाना और नंदगाँव में क्रमश होती है।
रंगभरनी एकादशी—सुरीर और नौझील में मेला भरता है।
रथ का मेला—वृंदावन में।
फूल-डोल—आयरखेडा।
चैत्र पूर्णमासी—बलदेव।
व्यास-पूर्णिमा—गोवर्धन में जो कि कोसी कलाँ से आठ मील है।
बलदेव छठ—बलदाऊ जी सादाबाद, मथुरा और मांट के आदमी जाते
बूढीलीला—बरसाना।
मेला चतुर्मुखी—चौमुहा, तरौली—सेहर।
अहोई अष्टमी—राधाकुंड, दूर-दूर से आदमी आते हैं।
गोचारण—गोकुल, नंदगाँव, महावन, बलदेव, बरसाना और सौंख।
बूढ़े बाबा का मेला—तरौली में ९० मील के घेरे में
बड़ी सैंमरी—सैंमरी।

ब्रज-मंडल के रासलीलोत्सव

रासलीला श्री ब्रज-मंडल के सब सुखदायनी मेलों में से परम रा परम आनंद देनेवाली प्रणाली है। श्री नागरीदास ने लिखा है—

"नवरस में कवियन कह्यौ, सरस अधिक सिंगार।
ताहू में पुनि अति सरस, सो यह रास-बिहार ।।"

नौ ही अंग सिंगार के, होरी, चोरी, दान।
छल हि करन औ रति-गमन, बिरह-मिलन और मान ॥
नागरिया नव नागरी, खेलत रास बिलास।
पल-पल वारो हे सखी, नित नव नागरि वास ॥"

श्री वृंदावन नित्य रास-स्थली युगल स्वरूप श्री प्रिया-प्रीतम का है। वहाँ नित्य रासलीला क्रम ९ से ११ बजे तक प्रतिदिन श्री वंशीवट में होती है और साँझ को श्री ब्रह्मचारी के मंदिर में होती है। अगहन में कलकत्तावाले मंदिर—श्री राधावल्लभ जी के घेरे में होती है। मुख्य स्थान श्री बाँकेबिहारी जी का बगीचा, श्री हरिदास जी की कुंज, श्री उडयाबाबा जी का स्थान इत्यादि है। रास-लीला श्री 'ब्रजमंडल-यात्रा में श्री गोसाँई जी की यात्रा में नित्य-प्रति और मुख्य-मुख्य स्थानो पर होती है।

इसके अतिरिक्त रास-लीलाएँ जिन तिथियो पर होती रहती हैं। उसका ब्यौरा निम्न-लिखित है—

कोकिलावन-नंदग्राम—भाद्रपद शुक्ल पक्ष दशमी।
बरहूमा—भाद्रपद शुक्ल अष्टमी।
कँमई—चैत्र शुक्ल पक्ष पंचमी।
करहला—भाद्रपद शुक्ल सप्तमी।
मडोई—भाद्रपद पूर्णमासी।
सकेत—श्रावणी पूर्णमासी।
रासमंडल वृंदावन—वैशाख शुक्ल दशमी।
बन-बिहार—ज्येष्ठ कृष्ण पंचमी।
रास-मंडल——ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी।
ब्रह्मकुंड—आश्विन कृष्ण एकादशी से पूर्णमासी तक।
ज्ञानगुदड़ी-वृंदावन—आश्विन शुक्ल एकम।
काली-मरदनघाट—वृंदावन—नागलीला, कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी।
चैनघाट—नाग की लीला, रासमंडल वृंदावन, अगहन कृष्ण एकम।
गोकरणनारायण—जन्माष्टमी, भाद्रपद कृष्ण अष्टमी।
ब्रह्मांडघाट—महावन—प्रति रविवार। अब शायद नहीं होती।
चिंता-हरणघाट—प्रति सोमवार।
बठैन कलाँ—भाद्रपद शुक्ल दशमी।
धर्मसिंहा—भाद्रपद शुक्ल षष्ठी।
सतोहा (मथुरा)—शांतनकुंड, भाद्रपद शुक्ल द्वादशी।
महोली (मधुवन)—बनयात्रा, भाद्रपद।
जैसिंहपुरा—कार्तिक शुक्ल नवमी, युगाद नवमी।
जतीपुरा—भाद्रपद शुक्ल एकादशी रासलीला।
साँखी—भाद्रपद पूर्णमासी, रासलीला।

इसके अतिरिक्त दाऊजी में हुरंगा, दोज के दिन देखने लायक होता है। अतएव उत्त और मेले फूलडोल के करीब अच्छे रूप से ब्रज-मंडल में मनाये जाते हैं।

— ०० —